Suppl.

Vol. 77 2003 No.1-7,9-12

124

130755

130755

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

कल्याण

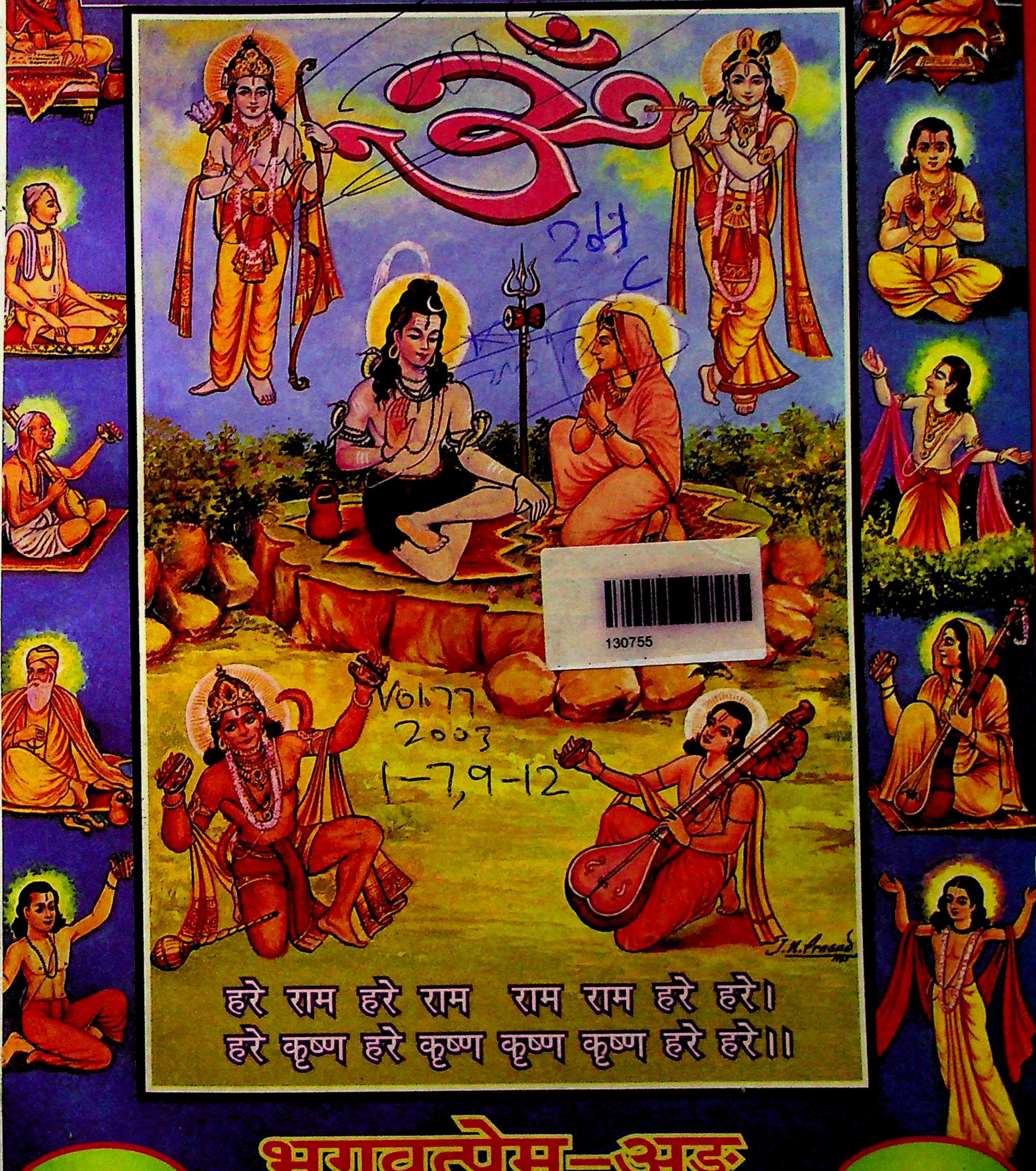

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

247 C

Vol. 77
2003
1-7, 9-12

130755

भगवत्प्रेम-अङ्क

वर्ष ७७

संख्या १

गीताप्रेस, गोरखपुर

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय-जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा-रमा-ब्रह्माणी जय जय, राधा-सीता-रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शँकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवाशिव जानकिराम। गौरीशंकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥

(संस्करण २,५०,०००)

‘सबसों ऊँची प्रेम सगाई’

सबसों ऊँची प्रेम सगाई।
दुरजोधनके मेवा त्यागे, साग बिदुर घर खाई॥
जूठे फल सबरीके खाये, बहु बिधि स्वाद बताई।
प्रेमके बस नृप सेवा कीन्हीं आप बने हरि नाई॥
राजसु-जग्य जुधिष्ठिर कीन्हों तामें जूँठ उठाई।
प्रेमके बस पारथ रथ हाँक्यो, भूलि गये ठकुराई॥
ऐसी प्रीति बढ़ी बृंदाबन, गोपिन नाच नचाई।
सूर कूर इहि लायक नाहीं, कहँ लगि करौं बड़ाई॥

* * *

इस अङ्कका मूल्य १२० रु० (सजिल्द १३५ रु०)

वार्षिक शुल्क*
भारतमें १२० रु०
सजिल्द १३५ रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$25 (Air Mail)
US$13 (Sea Mail)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

पञ्चवर्षीय शुल्क*
भारतमें ६०० रु०
सजिल्द ६७५ रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$125 (Air Mail
US$65 (Sea Mail

* कृपया नियम देखें।

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
गोबिन्दभवन-कार्यालयके लिये केशोराम अग्रवालद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित
visit us at: www.gitapress.org | e-mail: gitapres@ndf.vsnl.net.in

॥ श्रीहरिः ॥

'कल्याण' के सम्मान्य सदस्यों और प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

१-'कल्याण' के ७७ वें वर्ष—सन् २००३ का यह विशेषाङ्क 'भगवत्प्रेम-अङ्क' आप लोगोंकी सेवामें प्रस्तुत है। इसमें ६४ पृष्ठोंमें पाठ्य-सामग्री और ८ पृष्ठोंमें विषय-सूची आदि है। कई बहुरंगे एवं रेखाचित्र भी दिये गये हैं। इस विशेषाङ्कके ाथ फरवरी एवं मार्च माहका अङ्क भी प्रेषित किया गया है। डाकसे सभी ग्राहकोंको विशेषाङ्क-प्रेषणमें लगभग दो माहका मय लग जाता है।

२-वार्षिक सदस्यता-शुल्क प्रेषित करनेपर भी किसी कारणवश यदि विशेषाङ्क वी०पी०पी० द्वारा आपके पास पहुँच ाया हो तो उसे डाकघरसे प्राप्त कर लेना चाहिये एवं प्रेषित की गयी राशिका पूरा विवरण (मनीऑर्डर पावतीसहित) यहाँ भेज देना चाहिये। जिससे जाँचकर आपके सुविधानुसार राशिकी उचित व्यवस्था की जा सके। सम्भव हो तो वी०पी०पी० से किसी अन्य सज्जनको ग्राहक बनाकर उसकी सूचना यहाँ नये सदस्यके पूरे पतेसहित देनी चाहिये। ऐसा करके आप कल्याण' को आर्थिक हानिसे बचानेके साथ-साथ 'कल्याण' के पावन प्रचारमें सहयोगी भी हो सकेंगे।

३-इस अङ्कके लिफाफे (कवर)-पर आपकी सदस्य-संख्या एवं पता छपा है, उसे कृपया जाँच लें तथा अपनी सदस्य-संख्या सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री अथवा वी०पी०पी० का नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये। पत्र-व्यवहारमें सदस्य-संख्याका उल्लेख नितान्त आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना आपके पत्रपर हम समयसे कार्यवाही नहीं कर पाते हैं। डाकद्वारा अङ्कोंके सुरक्षित वितरणमें सही पिन-कोड आवश्यक है। अतः अपने लिफाफेपर छपा अपना पता जाँच लेना चाहिये।

४-*'कल्याण'* एवं *'गीताप्रेस-पुस्तक-विभाग'* की व्यवस्था अलग-अलग है। अतः पत्र तथा मनीऑर्डर आदि सम्बन्धित विभागको अलग-अलग भेजना चाहिये।

'कल्याण' के उपलब्ध पुराने विशेषाङ्क

वर्ष	विशेषाङ्क	मूल्य (रु०)	वर्ष	विशेषाङ्क	मूल्य (रु०)
६	श्रीकृष्णाङ्क	१००	३५	सं० योगवासिष्ठाङ्क	९०
७	ईश्वराङ्क	९०	३६	सं० शिवपुराण (बड़ा टाइप)	१००
८	शिवाङ्क	१००	३७	सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण	११०
९	शक्ति-अङ्क	१००	३९	भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क	८५
१२	संत-अङ्क	१००	४३	परलोक और पुनर्जन्माङ्क	१००
१५	साधनाङ्क	१००	४४-४५	गर्गसंहिता [भगवान् श्रीराधाकृष्णकी दिव्य लीलाओंका वर्णन]	७०
१६	भागवताङ्क	१३०	४४-४५	नरसिंह-पुराणम्	५५
१८	सं० वाल्मीकीय रामायणाङ्क	६५	४४-४५	अग्निपुराण	११०
१९	संक्षिप्त पद्मपुराण	१२०	४८	श्रीगणेश-अङ्क	७५
२१	सं० मार्कण्डेयपुराण	५५	४९	हनुमान-अङ्क	७०
२१	सं० ब्रह्मपुराण	७०	५१	सं० श्रीवराहपुराण	६०
२२	नारी-अङ्क	१००	५३	सूर्याङ्क	६०
२३	उपनिषद्-अङ्क	१००	६६	सं० भविष्य-पुराणाङ्क	७५
२४	हिन्दू-संस्कृति-अङ्क	१२०	६७	शिवोपासनाङ्क	७५
२५	सं० स्कन्दपुराणाङ्क	१४०	६८	रामभक्ति-अङ्क	६५
२६	भक्तचरिताङ्क	१२०	६९	गो-सेवा-अङ्क	७५
२८	सं० नारदपुराण	१००	७२	भगवल्लीला-अङ्क	६५
३०	सत्कथा-अङ्क	१००	७४	सं० गरुडपुराणाङ्क	८०
३१	तीर्थाङ्क	१००	७५	आरोग्य-अङ्क [मासिक अङ्कोंसहित]	१२०
३४	सं० देवीभागवत (मोटा टाइप)	१२०	७६	नीतिसार-अङ्क [” ”]	१२०

सभी अङ्कोंपर डाक-व्यय अतिरिक्त देय होगा। गीताप्रेस-पुस्तक-विक्री-विभागसे प्राप्य है।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस—२७३००५, जनपद—गोरखपुर, (उ०प्र०)

॥ श्रीहरिः ॥

'भगवत्प्रेम-अङ्क' की विषय-सूची

विषय पृष्ठ-संख्या

१-'जित देखौं तित स्याममई है' १३

स्मरण-स्तवन

२-श्रुतिका प्रेममय माङ्गलिक संदेश १४
३-'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्' १५
४-'भजत रे मनुजाः कमलापतिम्' १६
५-'किङ्किणीमञ्जुलं श्यामलं तं भजे' १७
६-प्रियतम प्रभुकी प्रेम-साधना (राधेश्याम खेमका) ... १८

प्रसाद

७-प्रेमदर्शनके आचार्य देवर्षि नारद और उनका भक्तिसूत्र २३
८-महर्षि शाण्डिल्य और उनका भगवत्प्रेम २९
९-श्रीशुकदेवजीकी माधुर्योपासना (आचार्य डॉ० श्रीविष्णुदत्तजी राकेश, विद्यासागर, विद्यावाचस्पति, पी-एच्०डी०, डी० लिट्०)..... ३१
१०-कृष्णप्रिया श्रीरुक्मिणीजीका प्रभुमें अनन्य प्रेम ३४
११-श्रीहनुमान्‌जीका दास्य-प्रेम (श्रीगिरीशचन्द्रजी श्रीवास्तव) ४०
१२-प्रेमी उद्धवका सख्यभाव ४५
१३-अक्रूरजीका भगवत्प्रेम ४७
१४-भक्त श्रीसुतीक्ष्णजीका प्रभु-प्रेम ४८
१५-श्रीमच्छङ्कराचार्यजीका श्रीकृष्णप्रेम (ब्रह्मलीन पूज्यपाद श्रीअच्युतमुनिजी महाराज) ... ५२
१६-सुदर्शनचक्रावतार श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यका भगवत्प्रेम (प्राचार्य श्रीवासुदेवशरणजी उपाध्याय, निम्बार्कभूषण, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य) ५६
१७-आचार्य रामानुज और उनका प्रेम-निवेदन ५९
१८-प्रेमधर्मरूप-सौन्दर्य-माधुर्यसिन्धु भगवान् श्रीकृष्ण [कविता] ६०
१९-श्रीमद्वल्लभाचार्यकी प्रेमोपासना (डॉ० श्रीगजाननजी शर्मा, सम्पादक 'श्रीवल्लभ-चिन्तन') ६१
२०-श्रीमध्वाचार्यजी और उनके प्रेमोपदेश [प्रेषिका—कु० पूजा सैनी] ६३
२१-श्रीचैतन्यमहाप्रभुका दिव्य-प्रेम (प्रो० श्रीलालमोहरजी उपाध्याय) ६५
२२-मोह और प्रेममें अन्तर (सुश्री आभाजी मिश्रा) ६६

विषय पृष्ठ-संख्या

२३-संतशिरोमणि तुलसीदासजीकी प्रेमसाधना (डॉ० श्रीरामाप्रसादजी मिश्र, एम्०ए०, पी-एच्०डी०) ६७
२४-संत सूरदासका वात्सल्य-प्रेम (डॉ० श्रीनिवासजी शर्मा, एम्०ए० (हिन्दी-संस्कृत), पी-एच्०डी०) ६९
२५-भक्त नामदेवका नामप्रेम ७४
२६-भक्त कविरत्न जयदेवजी और उनका श्रीकृष्ण-प्रेम ७५
२७-आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीका श्रीकृष्ण-प्रेम ७९
२८-भगवत्प्रेमी भक्तके लक्षण (पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज) [प्रेषक—श्रीशिवकुमारजी गोयल] ८१
२९-भगवत्प्रेमके साधक और बाधक ८१
३०-प्रेमतत्त्व (ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज) ८२
३१-भगवत्प्रेममें सद्भावनाका महत्त्व (ब्रह्मलीन जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज) ८६
३२-प्रेम-माधुरी (ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज) ८७
३३-भगवत्प्रेमकी प्राप्ति ही मानव-जीवनका लक्ष्य है [परम पूज्यपाद श्रीहरिबाबाजी महाराजके सदुपदेश] [प्रस्तोता—गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी] ... ९२
३४-भगवत्प्रेमकी आनन्दात्मकताका रहस्य [ब्रह्मलीन योगिराज श्रीदेवराहा बाबाजी महाराजके अमृतोपदेश] [प्रेषक—श्रीमदनजी शर्मा शास्त्री 'मानसकिंकर'] ९५
३५-प्रेमकी विभिन्न अवस्थाएँ (गोलोकवासी संत पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज) ९६
३६-श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रेम-साधना (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) १०३
३७-प्रेम-तत्त्व (ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज) १०६

विषय पृष्ठ-संख्या

३८- दिव्य-प्रेम (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) १०८
३९- पूर्णयोगमें भगवत्प्रेम [श्रीअरविन्दके विचार] [प्रेषक—श्रीदेवदत्तजी] ११५
४०- मातृप्रेम, मातृभूमिप्रेम और भगवत्प्रेम (परमादरणीय गुरुजी श्रीमाधवराव सदाशिवराव गोळवलकरजी) [प्रस्तुति—श्रीशिवकुमारजी गोयल] ११७
४१- श्रीरामजीका बन्धुप्रेम (गोलोकवासी परम भागवत संत श्रीरामचन्द्र केशव डोंगरेजी महाराज) १२१

आशीर्वाद

४२- भगवत्प्रेम आत्मोद्धारके लिये है (अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृङ्गेरी-शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीभारतीतीर्थजी महाराज) १२३
४३- भगवान् आद्यशङ्कराचार्यकी प्रेममीमांसा (अनन्तश्रीविभूषित श्रीद्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्द सरस्वतीजी महाराज) १२८
४४- भगवत्स्वरूप और भगवत्प्रेमकी तात्त्विक मीमांसा (अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य पुरीपीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज) १३३
४५- प्रेम हू सब साधन कौ सार [कविता] (पं० श्रीकृष्णगोपालाचार्यजी) १४०
४६- भगवत्प्रेमके प्रचार-प्रसारसे प्राणियोंका परम कल्याण (अनन्तश्रीविभूषित तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीजयेन्द्रसरस्वतीजी महाराज) १४१
४७- भगवान्का प्रेम और शक्ति सदा मेरे साथ हैं १४१
४८- सत्यप्रेम, गूढ़प्रेम, अगमप्रेम और तत्त्वप्रेमकी तात्त्विक मीमांसा (अनन्तश्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशीसुमेरुपीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीचिन्मयानन्द सरस्वतीजी महाराज)......... १४२
४९- बाँसुरीका मन्त्र (श्रीरामनिश्चयजी मिश्र) १४७
५०- श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायमें प्रेमका दिव्य स्वरूप (अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री 'श्रीजी' महाराज) १४८
५१- 'भगवत्प्रेम' [कविता] (श्रीरामलखनसिंहजी 'मयंक', एम्०ए०) १५१
५२- भगवत्प्रेम (अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्विष्णुस्वामिमतानुयायि श्रीगोपाल वैष्णवपीठाधीश्वर श्री १००८ श्रीविट्ठलेशजी महाराज) १५२
५३- दमतक यार निबाहैंगे [कविता] (भारतेन्दु) १५४
५४- भगवत्प्रेमका स्वरूप और महत्त्व (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) १५५
५५- प्रेमपन्थ [कविता] (पं० श्रीजानकीरामाचार्यजी) १५८
५६- भगवत्प्रेम अर्थात् भक्ति (महामहिम आचार्य श्रीविष्णुकान्तजी शास्त्री, राज्यपाल उत्तरप्रदेश) १५९
५७- भगवत्प्रेम और मोक्षसाधना (स्वामी श्रीविज्ञानानन्द सरस्वतीजी महाराज) १६०
५८- दास्य-प्रेम (आचार्य श्रीकृपाशंकरजी महाराज, रामायणी) १६३
५९- फलरूप (सिद्धि) प्रेम (पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र) १७१
६०- सत्सङ्ग और श्रद्धा—भगवत्प्रेमके मूल आधार (श्रीनारायणदासजी भक्तमाली) १७४

प्रेम-दर्शन

६१- प्रेम तथा प्रेम-पुजारियोंका दर्शन १७६
६२- नित्य-मिलन [लीला-दर्शन] १८६
६३- 'सबसों ऊँची प्रेम-सगाई' [पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट] १८७
६४- प्रेम ही परमात्मा है (डॉ० श्रीअशोककुमारजी पण्ड्या, डी-लिट्०) १८९
६५- प्रेमकी प्रगाढ़तामें प्रेमाश्रुओंका महत्त्व [प्रेषक—श्री डी०एल० सैनी] १९४
६६- 'कृष्ण-नाम रसखान' [कविता] (पं० श्रीशिवनारायण शर्मा) १९५
६७- प्रेमका सागर—वृन्दावन (स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज, आदिबदरी) १९६
६८- प्रभुसे अपनत्व २०२

विषय पृष्ठ-संख्या

६९- प्रेमनगरका प्रथम दर्शन २०४

७०- सखा-सत्कार [लीला-दर्शन] २०८

७१- व्रजाङ्गनाओंका भगवत्प्रेम (डॉ० श्रीउमाकान्तजी 'कपिध्वज') २०९

७२- प्रेमकल्पलता श्रीराधाजीका महाभाव (श्रीहरनारायण सिंहजी सिसोदिया, एम्०ए०) २११

७३- 'अगुन अलेप अमान एकरस। रामु सगुन भए भगत पेम बस' (डॉ० श्रीराधानन्द सिंहजी, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, एल्-एल्०बी०, बी०एड्०) २१४

७४- प्रेमकी प्रतिमूर्ति सीताजीका हार्दिक अनुराग (श्रीसुधाकरजी ठाकुर) २१७

७५- प्रेममूर्ति श्रीभरतजीका भ्रातृ-प्रेम (स्वामी श्रीनर्मदानन्दजी सरस्वती 'हरिदास') २२०

७६- संत सचिव सुमन्त्रका श्रीरामप्रेम (डॉ० श्रीदादूरामजी शर्मा, एम्०ए०, पी-एच्०डी०) २२२

७७- श्रीकृष्णका प्रथम गोचारण-महोत्सव [लीला-दर्शन] २२४

७८- भगवत्प्रेमकी निवासभूता—वंशी (श्रीसीतारामजी शर्मा) २३१

७९- विरहयोग २३५

८०- कन्हाईकी तन्मयता [लीला-दर्शन] २३८

८१- भगवान्‌को प्रेम कैसे दें? (डॉ० श्रीभीकमचन्दजी प्रजापति) २३९

८२- 'रामहि केवल प्रेमु पिआरा' (डॉ० श्रीजगेशनारायणजी शर्मा, मानसमराल) २४२

८३- कण्व ब्राह्मणपर अद्भुत कृपा [लीला-दर्शन] २४४

८४- 'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना' (आचार्य डॉ० श्रीपवनकुमारजी शास्त्री, साहित्याचार्य, विद्यावारिधि, एम्०ए०, पी-एच्०डी०) २५१

८५- कन्हाईका पक्षी [लीला-दर्शन] २५३

८६- 'साधन सिद्धि राम पग नेहू' (डॉ० श्रीअवधेशकुमारजी तिवारी) २५५

८७- प्रेमी जादूगर [प्रेषक—श्रीप्रशान्तकुमारजी सैनी] २५८

८८- 'रामु पुनीत प्रेम अनुगामी' (डॉ० श्रीवीरेन्द्रजी शर्मा) २६०

विषय पृष्ठ-संख्या

८९- श्रीचैतन्योपदिष्ट प्रेमदर्शन (डॉ० आचार्य श्रीगौरकृष्णजी गोस्वामी शास्त्री, काव्यपुराणदर्शनतीर्थ, आयुर्वेदशिरोमणि) २६४

९०- माखन-चोरी [लीला-दर्शन] २६६

९१- प्रेम-साधन (पं० श्रीनरहरिशास्त्री खरशीकर) २७०

९२- हृदयके प्रेमसे भगवान्‌को पूजिये २७३

प्रेम-तत्त्व-विमर्श

९३- प्रेम और भक्तिका स्वरूप (डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०, डी-एस्० सी०) २७५

९४- प्रेमाभक्तिका स्वरूप और उसके लक्षण (श्री जय जय बाबा) २८१

९५- प्रेमतत्त्व-मीमांसा (डॉ० श्रीकैलाशनाथजी द्विवेदी, एम्०ए०, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, पी-एच्०डी०, डी०लिट्०) २८२

९६- 'प्रेम हरी कौ रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप' (श्रीकृष्णानन्दजी जायसवाल) २८५

९७- पञ्चम पुरुषार्थ भगवत्प्रेमकी अनिवार्यता (महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीबजरङ्गबलीजी ब्रह्मचारी) २८६

९८- भगवत्प्रेमका स्वरूप (शास्त्रार्थ-पञ्चानन पं० श्रीप्रेमाचार्यजी शास्त्री) २८८

९९- भगवत्प्रेमीका जीवन धन्य है [कविता] २८९

१००- प्रेमकी भगवदीयता और भक्तनिष्ठता (आचार्य श्रीरामनाथजी सुमन) २९०

१०१- भगवत्प्रेमकी महत्ता (डॉ० श्रीराजीवजी प्रचण्डिया, बी०एस्-सी०, एल्-एल्०बी०, एम्०ए०, पी-एच्० डी०) २९३

१०२- भगवत्प्रेमका वास्तविक रूप (श्रीरघुनन्दनप्रसाद सिंहजी) २९५

१०३- प्रेमतत्त्व-मीमांसा (आचार्य श्रीआद्याचरणजी झा) २९७

१०४- भगवत्प्रेमका स्वरूप (डॉ० श्रीभीष्मदत्तजी शर्मा, पूर्वरीडर) २९९

१०५- व्रजरसमें प्रेम-वैचित्त्य (श्रीश्यामजी भाई) [प्रेषिका—अरुणिमा] ३०१

१०६- अव्यक्त प्रेम (श्रीवियोगी हरिजी) ३०२

विषय पृष्ठ-संख्या

१०७- अथात: प्रेम-मीमांसा (आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र, एम०ए०, पी-एच०डी०, व्याकरण-साहित्याचार्य, पूर्वकुलपति) ३०५
१०८- प्रेम ही ईश्वर है (डॉ० श्रीगणेशदत्तजी सारस्वत) ३०८
१०९- प्रेमयोग और भावतत्त्व (डॉ० श्रीभवदेवजी झा, एम्० ए० (द्वय), पी-एच्०डी०) ३११
११०- परानुरक्ति और परम प्रेम (आचार्य श्रीप्रतापादित्यजी) ३१२
१११- प्रेमका प्रभाव (आचार्य श्रीगंगारामजी शास्त्री) ३१५
११२- अनन्य प्रेम और शाश्वत आनन्द (डॉ० श्रीवागीशजी शास्त्री, वाग्योगाचार्य)......... ३१७
११३- भगवान्की प्रेमपरवशता (धर्मरत्न डॉ० श्रीपुरुषोत्तमदासजी कानुगो) ३१९
११४- प्रेमतत्त्व और प्रिय (चक्रवर्ती श्रीरामाधीनजी चतुर्वेदी).................. ३२०
११५- प्रेममें आदान नहीं, प्रदान है (श्रीजगदीशप्रसादजी, एम्०ए० (द्वय), साहित्यरत्न) ३२१
११६- 'साधो! प्रेम बिना सब झूठा' (श्रीभगवन्नामलीन पूज्यपाद स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती) [प्रेषक—वैद्यराज श्रीकुन्दनकुमारजी 'रामलला'] ३२३
११७- प्रेम ही परमात्मा है ('मानसरत्न' संत श्रीसीतारामदासजी).............. ३२५
११८- श्रीद्वारकाधीशके उद्‌गार [कविता] (कुमारी अम्बिका सिंह) ३२६
११९- 'है प्रेम जगतमें सार और कछु सार नहीं' (स्वामी श्रीअच्युतानन्दजी महाराज) ३२७
१२०- भगवत्प्रेम—आनन्दघनकी प्राप्तिका श्रेष्ठतम उपाय (शिवाश्रयानन्दी श्रीरामप्रसादजी प्रजापति) ३२८
१२१- रामप्रेम ही सार है [कविता] ३२९
१२२- भगवत्प्रेम (श्रीहरिजी 'हरिबाबा') ३३०
१२३- कृष्ण प्रेम वर दीजै [कविता] (पं० श्रीरामस्वरूपजी गौड़) ३३०
१२४- जपयज्ञ और प्रेमयज्ञ (पण्डित श्रीमंगलजी उद्धवजी शास्त्री, सद्विद्यालङ्कार) ३३१
१२५- प्रेम-तत्त्व ३३४

विषय पृष्ठ-संख्या

प्रेमोपासना और उसके विविध रूप

१२६- प्रेमोपासना और प्रेमानुभूति ३३५
१२७- रामभक्तिमें रसिक सम्प्रदायके प्रेमी भक्त (श्रीसियाशरणजी शास्त्री, व्याकरणदर्शनाचार्य, साहित्यरत्न) ३३९
१२८- महाराज दशरथका वात्सल्य-प्रेम (श्रीश्यामनारायणजी शास्त्री, रामायणी) ३४१
१२९- प्रेममूर्ति भरत एवं महर्षि भरद्वाज (डॉ० श्रीओ३म् प्रकाशजी द्विवेदी) ३४४
१३०- मानसमें निषादराज और केवटके भगवत्प्रेमका आदर्श (डॉ० श्रीअरुणकुमारजी राय, एम्० ए० (हिन्दी), पी-एच्० डी०) ३४७
१३१- भगवत्प्रेमकी मूर्तिमयी उपासना—श्रीशबरी (श्रीमती उषा एन्० शर्मा) ३५०
१३२- प्रेमी जटायुपर प्रभुकृपा ३५२
१३३- शत्रुभावान्वित भगवत्प्रेमी रावणकी अनूठी साधना (श्रीप्रेमप्रतापजी भारद्वाज) ३५३
१३४- कन्हाईसे प्रेम कैसे करें ? (श्रीसुदर्शन सिंहजी 'चक्र') ३५६
१३५- गोपिकाओंकी प्रेमोपासना ३५८
१३६- यशोदामाताका वात्सल्यप्रेम ३६५
१३७- नन्दबाबाका बालकृष्णमें सहज अनुराग ३६६
१३८- संतहृदय वसुदेवजीका पुत्रप्रेम ३६८
१३९- माता देवकीकी वात्सल्य-निष्ठा ३७०
१४०- माता कुन्तीका अनुपम अनुराग ३७२
१४१- प्रेमका पन्थ (आचार्य श्रीसुदर्शनजी मिश्र, एम्०ए०) ३७४
१४२- हिन्दी-साहित्यके संत कवियोंकी प्रेमसाधना (श्रीनरेन्द्रप्रकाशजी शर्मा) ३७६
१४३- सूफ़ी संतोंकी प्रेमोपासना (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) [प्रेषक—श्रीप्रबलकुमारजी सैनी] ३८२
१४४- महाराष्ट्रके वारकरी संतोंका अहैतुक भगवत्प्रेम (डॉ० श्रीकेशवरघुनाथजी कान्हेरे, एम्०ए०, पी-एच्०डी०) ३८५
१४५- स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजीकी 'इश्क़-कान्ति' में इश्क़ (प्रो० श्रीइन्द्रदेवप्रसादसिंहजी) ३८९

विषय पृष्ठ-संख्या

१४६- 'परमधन राधे नाम अधार' [कविता] ३९१

१४७- राष्ट्रप्रेमकी उदात्त भावनासे प्रभुकी प्रसन्नता (श्रीशिवकुमारजी गोयल) ३९२

१४८- मुसलिम संत-कवि साँई दीनदरवेशकी भगवत्प्रेमोपासना (दंडीस्वामी श्रीमद् दत्तयोगेश्वरदेवतीर्थजी महाराज) ३९९

१४९- जापानसे भगवत्प्रेमकी एक विश्वव्यापी लहर (श्रीलल्लनप्रसादजी व्यास) ४०३

१५०- सेवा—प्रेमप्राप्तिका साधन (डॉ० श्रीसोमनाथ मुखर्जी, एम्०बी०एच्०एस्०, एम्०आर०एच्०सी०) ४०५

१५१- गोस्वामी तुलसीदासजीका दास्य-प्रेम (डॉ० श्रीरामानन्दजी तोष्णीवाल, विशारद, एम्०ए०, एम्०फिल्०, पी-एच्०डी०) ४०६

१५२- संतवाणीमें भगवत्प्रेम एवं प्रेमीकी दशा (खेड़ापा-पीठाधीश्वर श्री १००८ श्रीपुरुषोत्तमदासजी महाराज) ४०८

१५३- प्रेमदीवानी मीरा—खोल मिली तन गाती [प्रो० श्रीइन्द्रदेवप्रसादसिंहजी] ४०९

१५४- मीराकी प्रेम-साधना (श्रीअर्जुनलालजी बंसल) ४१३

१५५- कबीरका भगवत्प्रेम (विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीरंजनसूरिदेवजी) ४१५

१५६- श्रीकृष्णप्रेमी रसखान (श्रीचन्द्रदेवजी मिश्र, एम्०ए०, बी०एड्०) ४१७

१५७- रहीमका भगवत्प्रेम (श्रीसुरेशचन्द्रजी श्रीवास्तव, एम्०कॉम०, एल्-एल्० बी०) ४१९

१५८- महाकवि घनानन्दका प्रेम-निवेदन (डॉ० श्रीलखनलालजी खरे, एम्०ए०, पी-एच्०डी०) ४२१

१५९- निजानन्दाचार्य श्रीदेवचन्द्रजीकी प्रेमोपासना (स्वामी श्रीब्रह्मवेदान्ताचार्यजी) ४२२

१६०- जायसीकी प्रेम-व्यञ्जना (इं० प्र० सिं०) ४२५

१६१- संत सुन्दरदासजीकी प्रेमोपासना (डॉ० श्रीनरेशजी झा, शास्त्रचूडामणि) ४२७

विषय पृष्ठ-संख्या

आर्षग्रन्थों तथा सत्साहित्यमें प्रेम-निरूपण

१६२- वैदिक संहिताओंमें भगवत्प्रेम (डॉ० श्रीभवानीलालजी भारतीय) ४२८

१६३- वैदिक-ऋचाओंमें समर्पण एवं प्रेम-भाव (प्रो० श्रीराजेन्द्रजी 'जिज्ञासु') ४३०

१६४- श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेममयी लीलाका स्वरूप (डॉ० श्रीजगदीश्वरप्रसादजी, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०) ४३२

१६५- गीता और प्रेम-तत्त्व ४३४

१६६- श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवत्प्रेमका गीत (श्रीरामकृष्ण रामानुजदास 'श्रीसन्तजी महाराज') ४३७

१६७- भगवत्प्रेमका सिद्ध सरोवर—मानस (डॉ० श्रीसत्येन्दुजी शर्मा, एम्०ए०, पी-एच्० डी०) ४३९

१६८- अभिन्नतानुभूति—भगवत्प्रेमका श्रेष्ठ साधन (श्रीनाथूरामजी गुप्त) ४४०

१६९- श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें भगवत्प्रेम-साधना (डॉ० श्रीसुभाषचन्द्रजी सचदेवा 'हर्ष', एम्०ए०, एम्०फिल्०, पी-एच्०डी०) ४४१

१७०- मसीही धर्म (बाइबिल)-में भगवत्प्रेम (डॉ० श्री ए० बी० शिवाजी, एम्०ए०, पी-एच्०डी०) ४४५

१७१- ज्योतिषमें प्रेम और भक्ति-योग (वैद्य पं० श्रीपरमानन्दजी शर्मा 'नन्द', एम्०ए०, ज्योतिर्विद्, वास्तुशास्त्री, आयुर्वेदरत्न) ४४७

१७२- उत्तररामचरितमें राम-सीताका आदर्श दाम्पत्य-प्रेम (डॉ० श्रीविनोदकुमारजी शर्मा, एम्० ए० (संस्कृत-हिन्दी), प्रभाकर (संगीत), पी-एच्०डी० (संस्कृत)) ४४८

प्रेमाभक्तिके परम उपासक [प्रेमीभक्तोंके चरित]

१७३- राम-पद-पद्म-प्रेमी केवटका चरणानुराग ४५२

१७४- दास्य-प्रेमके आदर्श हनुमान्जी (मानसमणि पं० श्रीरामनारायणजी शुक्ल, शास्त्री 'व्यास') ४५४

१७५- रागानुरागिणी त्रिजटा (डॉ० श्रीशुकदेवरायजी, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, साहित्यरत्न) ४५५

विषय पृष्ठ-संख्या

१७६- भक्तिसागरका एक अमूल्य रत्न—प्रभुप्रेमी प्रह्लाद
(श्रीमती सरलाजी श्रीवास्तव) ४५६

१७७- जनकनन्दन मिथिलेशकुमारका श्रीसीता-रामके प्रति प्रगाढ़ प्रेम (मानसकेसरी पं० श्रीबाल्मीकि-प्रसादजी मिश्र 'रामायणी') ४५९

१७८- भक्त नरसी मेहता ४६३

१७९- गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्रजी ४६४

१८०- जीव गोस्वामी ४६७

१८१- प्रेमी भक्तोंके भगवत्प्रेमकी विचित्र झाँकी
(श्रीगोविन्दराजारामजी जोशी) ४६८

१८२- प्रेम परम आधार [कविता]
(प्राचार्य श्रीसाकेतबिहारीजी शर्मा, 'मन्त्रमुदित') .. ४६९

१८३- 'भक्त संग नाच्यौ बहुत गोपाल'
(पं० श्रीहरिविष्णुजी अवस्थी) ४७०

१८४- प्रेमसाधनाके पथिक—महात्मा बू अलीशाह कलन्दर
(डॉ० श्रीराजेन्द्ररंजनजी चतुर्वेदी, पी-एच्०डी०, डी०लिट्०) ४७१

विषय पृष्ठ-संख्या

१८५- देशप्रेमके दो अनूठे बलिदानी (श्रीमदनमोहनजी शर्मा, एम्०ए०, एल्०टी०, साहित्यरत्न)
[१] अमरशहीद राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी............. ४७२
[२] अमरशहीद वैकुण्ठनाथ शुक्ल ४७३

१८६- भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य प्रेमी कुछ गैर हिन्दू भक्तजन (गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी 'पिलखुवा')
[प्रे० श्रीशिवकुमारजी गोयल]
[१] श्रीरोनाल्ड निक्सन बने श्रीकृष्णप्रेम-भिखारी ४७४
[२] श्रीकृष्ण-भक्त अंग्रेज डॉ० डेविडसन ४७५
[३] श्रीकृष्ण-भक्त बहन रेहाना तैय्यबजी....... ४७६
[४] श्रीराम-कृष्णके प्रेमी भक्त—मेजर लीद.... ४७८
[५] महान् कृष्णभक्त—मोहम्मद याकूब खाँ 'सनम' ४७९

१८७- भगवत्प्रेमी युगलकिशोर
(वैद्य गोपीनाथजी पारीक 'गोपेश', भिषगाचार्य, साहित्यायुर्वेदरत्न) ४८०

१८८- नम्र-निवेदन एवं क्षमा-प्रार्थना ४८२

* * *

चित्र-सूची

(रंगीन-चित्र)

विषय पृष्ठ-संख्या

१-प्रेमीभक्तोंका भगवत्प्रेम ....आवरण-पृष्ठ
२-प्रेमसिन्धु भगवान् श्रीराम—बालरूपमें ९
३-प्रेमी हनुमान्जीद्वारा सेवक-सेव्य-भावकी याचना १०
४-प्रेममें तन्मय देवर्षि नारद और भगवान् विष्णु.... ११
५-'जित देखौं तित स्याममयी है' १२
६-भगवान् बालकृष्णका सख्य-प्रेम १९७
७-गोपाङ्गनाओंकी प्रेम-विह्वलता......................... १९८

विषय पृष्ठ-संख्या

८-महाभागा शबरीकी प्रेमभक्ति १९९
९-महाभावमें निमग्न प्रेमीभक्त—मीरा, सूर, तुलसी और चैतन्य २००
१०-प्रभुप्रेमी भरत और महर्षि भारद्वाज ३९३
११-भगवत्प्रेममें विभोर भक्तप्रवर रसखान ३९४
१२-प्रेमीभक्त जयदेवका भगवद्गुणगान ३९५
१३-पराम्बा भगवतीका प्रेमानुग्रह ३९६

* * *

(रेखा-चित्र)

१-भगवान् विष्णुद्वारा देवर्षि नारदको भक्तोंकी महिमा बतलाना २४
२-भक्तिमती देवी रुक्मिणीका ब्राह्मणको द्वारका भेजना ३५
३-भगवान् श्रीकृष्णद्वारा ब्राह्मणदेवताका आतिथ्य ३५
४-भगवान् श्रीकृष्णके ध्यानमें निमग्न देवी रुक्मिणी..... ३७
५-श्रीकृष्ण-रुक्मिणी-संवाद ३८
६-भगवान् श्रीकृष्णका प्रेमविह्वल रुक्मिणीको उठाना ३८

विषय पृष्ठ-संख्या

७- भगवान् श्रीकृष्णका उद्धवद्वारा व्रजाङ्गनाओंके लिये संदेश भेजना ४५
८- उद्धवजीका विदुरजीसे कुशल पूछना ४६
९- भगवान् श्रीकृष्णके चरणचिह्नोंको देखकर प्रेमविभोर अक्रूरका रथसे उतरकर उनकी वन्दना करना ४७
१०- श्रीसुतीक्ष्णजीकी प्रेम-यात्रा ४९
११- श्रीरामके ध्यानमें तल्लीन भगवत्प्रेमी सुतीक्ष्ण ४९
१२- श्रीसुतीक्ष्णजीके हृदयमें भगवान् श्रीरामका चतुर्भुजरूपमें प्रकट होना ५०
१३- सुतीक्ष्णजीके आश्रममें प्रभु श्रीराम एवं सुतीक्ष्णका संवाद ५०
१४- महर्षि दुर्वासाका भगवान्की शरणमें आना ५६
१५- महाप्रभु चैतन्यका प्रेम-संकीर्तन ६५
१६- कन्हैयाका नित्य-मिलन १८६
१७- प्रेमीभक्त कूर्मदासको भगवान् विट्ठलका दर्शन १९०
१८- 'ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाहीं' १९२
१९- भगवान् श्रीकृष्णके वंशीकी ध्वनि सुनकर मृगोंका प्रेमविभोर होकर उनकी संनिधि प्राप्त करना २०६
२०- कन्हाईकी वर्षगाँठपर सखाओंद्वारा उनका सत्कार २०८
२१- भगवान् अग्निदेवका सीताजीको लेकर अग्निकुण्डसे बाहर आना २१९
२२- विप्रवेशमें हनुमान्जीद्वारा श्रीरामप्रेममूर्ति भरतजीका दर्शन २२१
२३- वंशीनाद सुनकर ब्रह्मादि देवताओंका मुग्ध होना २३२
२४- कन्हाईकी तन्मयता २३८
२५- माता यशोदाका वात्सल्य २३९
२६- कन्हाईका पक्षी २५४
२७- महर्षि भरद्वाजद्वारा प्रेममूर्ति भरतजीका सत्कार ३४५

विषय पृष्ठ-संख्या

२८- श्रीरामप्रेमी निषादराजका प्रेम निवेदन ३४८
२९- भक्तिमती शबरीपर भगवान् श्रीरामकी कृपा ३५१
३०- प्रेमी जटायुका सौभाग्य ३५२
३१- शूर्पणखा-रावण-संवाद ३५३
३२- साध्वी मन्दोदरीका रावणको भगवान्की महिमा बतलाना ३५४
३३- भगवत्प्रेमी विभीषणका रावणद्वारा तिरस्कार ३५५
३४- भगवान् श्रीकृष्णद्वारा गोपियोंको शिक्षा ३५९
३५- भगवान् श्यामसुन्दरका कालिय-उद्धार ३६५
३६- शोकनिमग्न मैया यशोदा आदिको बलरामजीद्वारा कालियह्रदमें कूदनेसे रोकना ३६६
३७- वरुणलोकमें भगवान् श्रीकृष्णका सत्कार ३६७
३८- देवकीको मारनेके लिये उद्यत कंसको वसुदेवजीद्वारा समझाना ३६८
३९- वसुदेवजीका पहले पुत्रको कंसके पास लाना ३६८
४०- कंसके कारागारमें देवकी-वसुदेवको चतुर्भुजरूपमें भगवान्का दर्शन ३७१
४१- महर्षि दुर्वासाद्वारा देवी कुन्तीको वरदान ३७२
४२- देवी कुन्तीद्वारा ब्राह्मण-परिवारकी रक्षाके लिये भीमसेनसे राक्षसके पास जानेके लिये कहना ३७२
४३- देवी कुन्तीका श्रीकृष्णद्वारा पाण्डवोंके लिये संदेश भेजना ३७३
४४- भीष्मपर सुदर्शनचक्रधारी भगवान् कृष्णकी कृपा ३७४
४५- शरशय्यापर आसीन पितामह भीष्मको भगवान्के दर्शन ३७५
४६- प्रेमी केवटका चरणानुराग ४५२
४७- हिरण्यकशिपुद्वारा पुत्र प्रह्लादसे उनकी शिक्षाके विषयमें पूछना ४५७
४८- प्रह्लादद्वारा असुरबालकोंको भगवत्प्रेमका उपदेश ४५७
४९- प्रभुप्रेमी प्रह्लादके रक्षार्थ खम्भेसे भगवान् नृसिंहका प्राकट्य ४५८

* * *

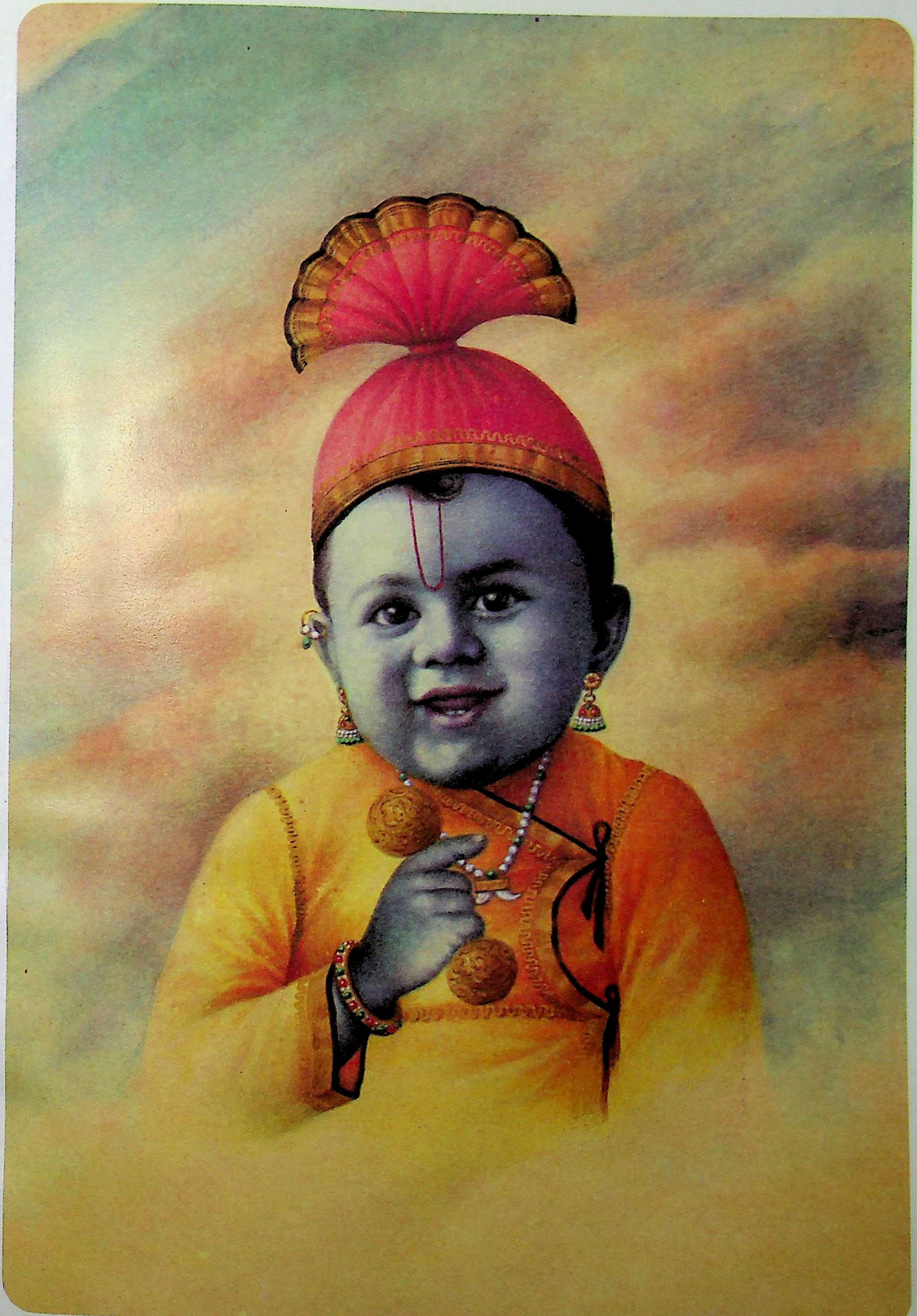

प्रेमसिन्धु भगवान् श्रीराम—बालरूपमें

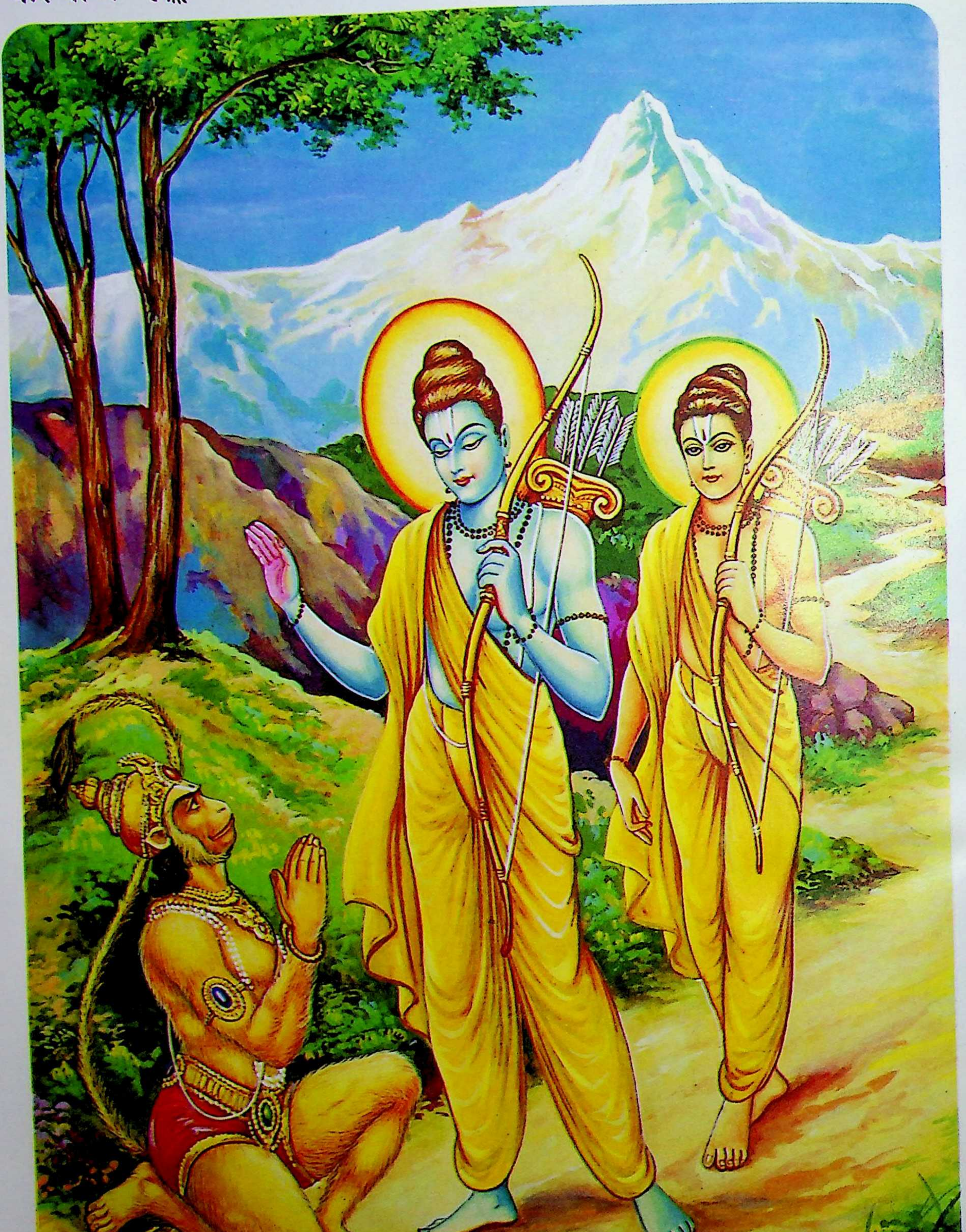

प्रेमी हनुमान्‌जीद्वारा सेवक-सेव्य-भावकी याचना

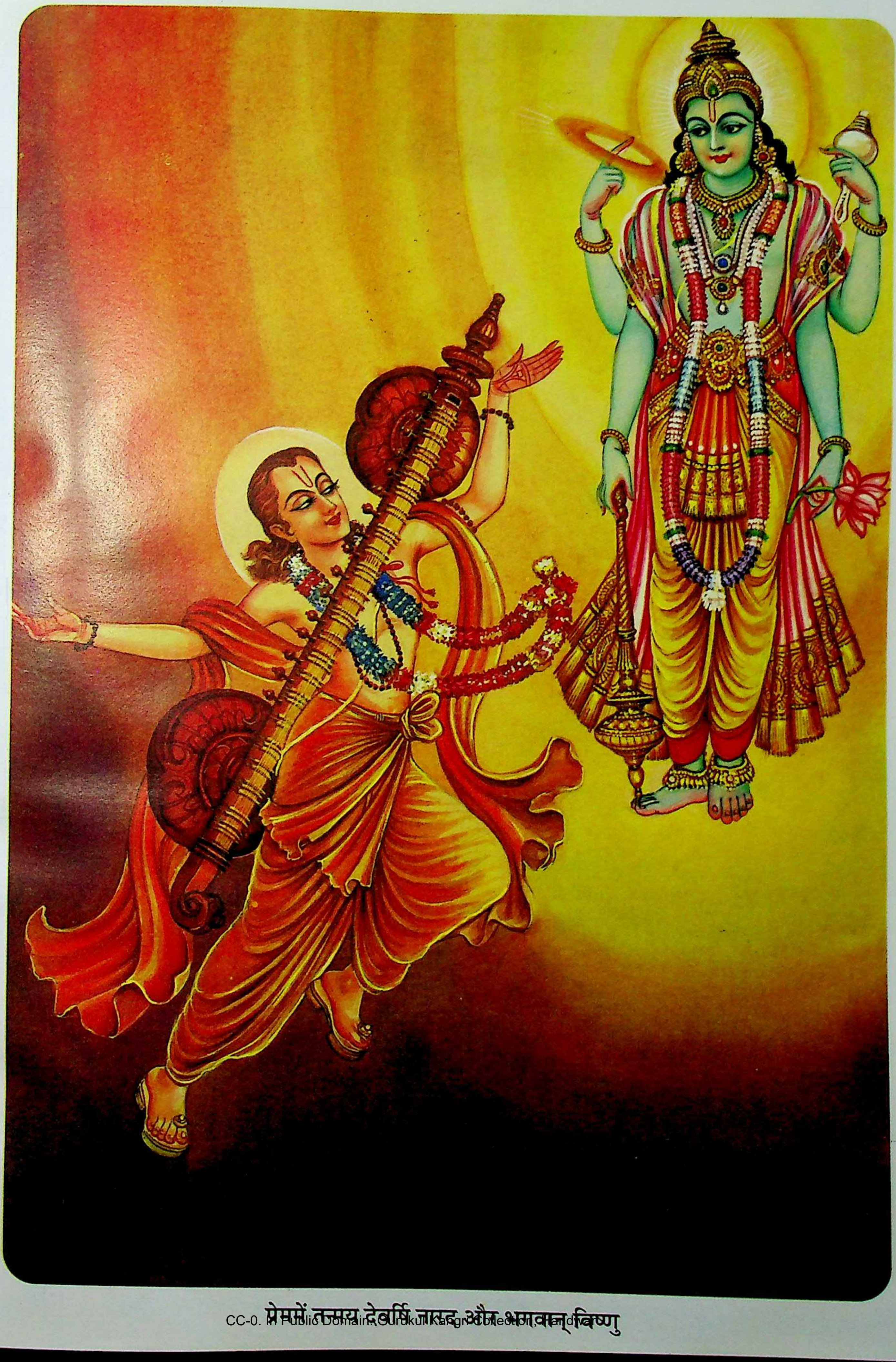

प्रेममें तन्मय देवर्षि नारद और भगवान् विष्णु

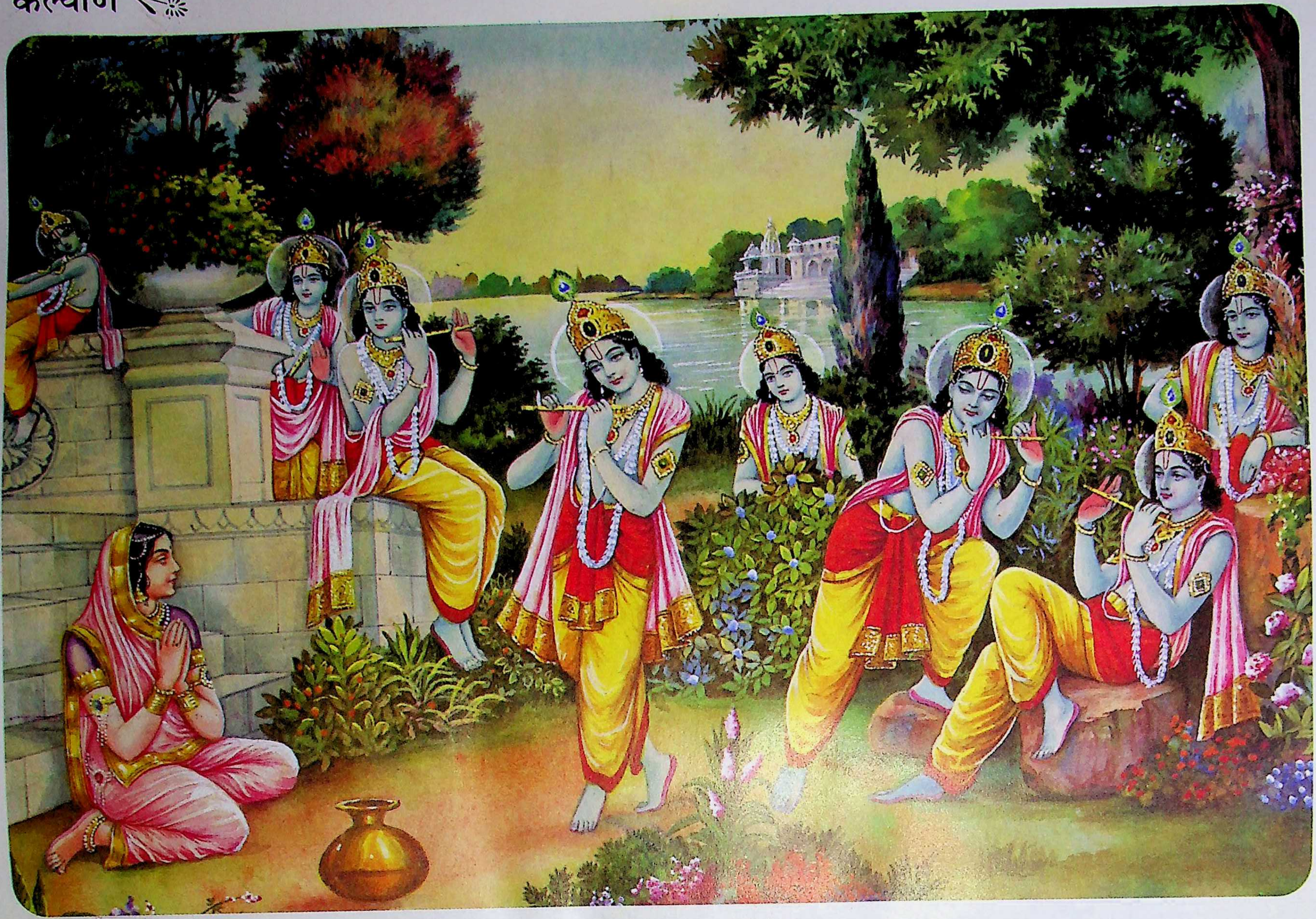

'जित देखौं तित स्याममयी है'

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

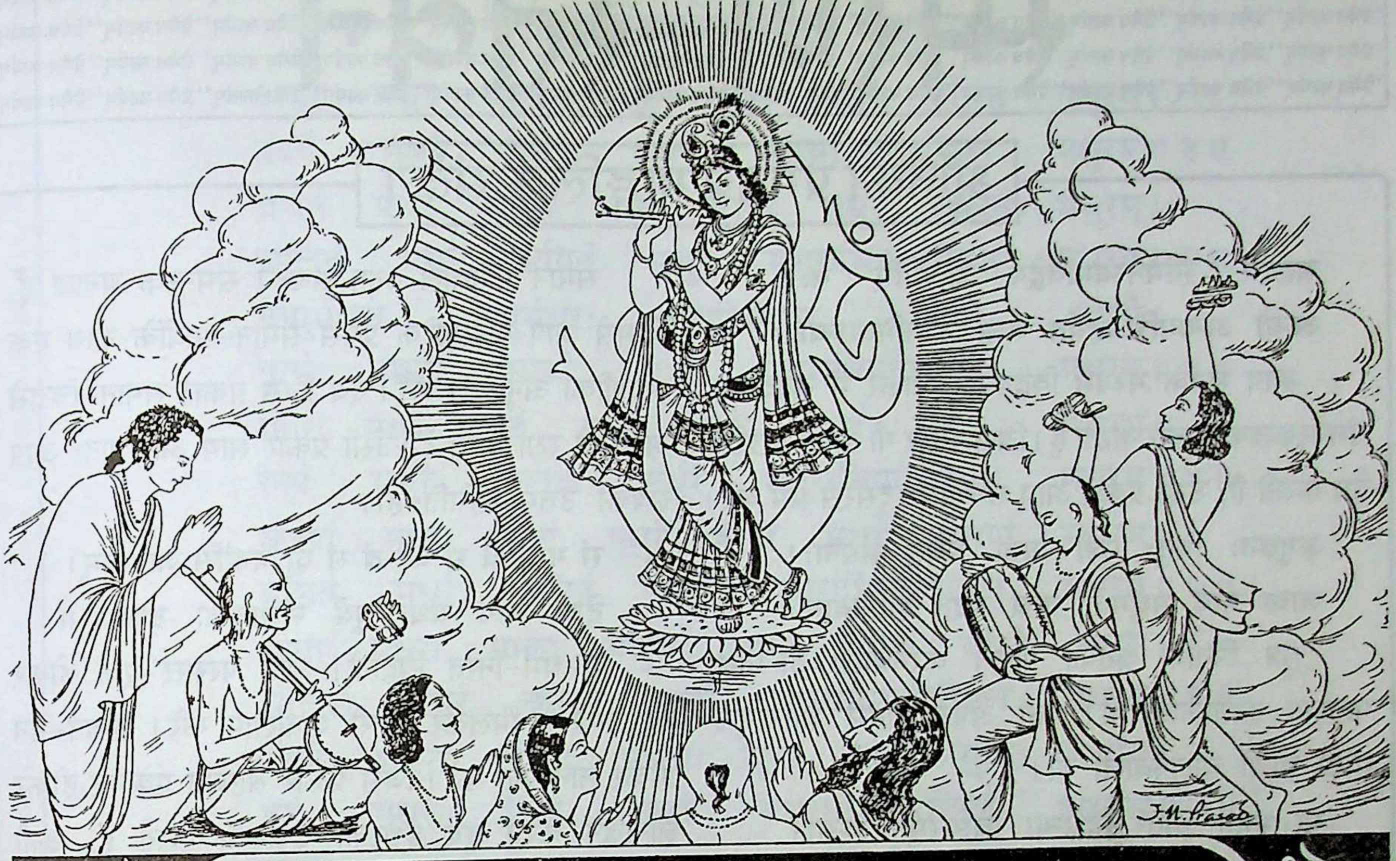

कल्याण

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्धस्त्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

वर्ष ७७
गोरखपुर, सौर माघ, वि० सं० २०५९, श्रीकृष्ण-सं० ५२२८, जनवरी २००३ ई०
संख्या १
पूर्ण संख्या ९१४

'जित देखौं तित स्याममई है'

जित देखौं तित स्याममई है।
स्याम कुंज बन, जमुना स्यामा, स्याम गगन घनघटा छई है॥
सब रंगनमें स्याम भरो है, लोग कहत यह बात नई है।
मैं बौरी, की लोगन ही की स्याम पुतरिया बदल गई है॥
चंद्रसार रबिसार स्याम है, मृगमद स्याम काम बिजई है।
नीलकंठको कंठ स्याम है, मनो स्यामता बेल बई है॥
श्रुतिको अक्षर स्याम देखियत, दीपसिखापर स्यामतई है।
नर-देवनकी कौन कथा है, अलख-ब्रह्म-छबि स्याममई है॥

* * *

स्मरण-स्तवन

श्रुतिका प्रेममय माङ्गलिक संदेश

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

आप सबके मध्यमें विद्वेषको हटाकर मैं सहृदयता, संमनस्कताका प्रचार करता हूँ। जिस प्रकार गौ अपने बछड़ेसे प्रेम करती है, उसी प्रकार आप सब एक-दूसरेसे प्रेम करें।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥

पुत्र पिताके व्रतका पालन करनेवाला हो तथा माताका आज्ञाकारी हो। पत्नी अपने पतिसे शान्तियुक्त मीठी वाणी बोलनेवाली हो।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

भाई-भाई आपसमें द्वेष न करें। बहिन बहिनके साथ ईर्ष्या न रखें। आप सब एकमत और समान व्रतवाले बनकर मृदु वाणीका प्रयोग करें।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥

जिस प्रेमसे देवगण एक-दूसरेसे पृथक् नहीं होते और न आपसमें द्वेष करते हैं, उसी ज्ञानको तुम्हारे परिवारमें स्थापित करता हूँ। सब पुरुषोंमें परस्पर मेल हो।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥

श्रेष्ठता प्राप्त करते हुए सब लोग हृदयसे एक साथ मिलकर रहो, कभी विलग न होओ। एक-दूसरेको प्रसन्न रखकर एक साथ मिलकर भारी बोझको खींच ले चलो। परस्पर मृदु सम्भाषण करते हुए चलो और अपने अनुरक्त जनोंसे सदा मिले हुए रहो।

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु॥

समान गतिवाले आप सबको संमनस्क बनाता हूँ, जिससे आप पारस्परिक प्रेमसे समान-भावोंके साथ एक अग्रणीका अनुसरण करें। देव जिस प्रकार समान-चित्तसे अमृतकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सायं और प्रातः आप सबकी उत्तम समिति हो।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

हे धर्म-निरत विद्वानो! आप परस्पर एक होकर रहें, परस्पर मिलकर प्रेमसे वार्तालाप करें। समान-मन होकर ज्ञान प्राप्त करें। जिस प्रकार श्रेष्ठजन एकमत होकर ज्ञानार्जन करते हुए ईश्वरकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार आप भी एकमत होकर विरोध त्यागकर अपना काम करें।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥

हम सबकी प्रार्थना एक समान हो, भेद-भावसे रहित परस्पर मिलकर रहें, अन्तःकरण—मन-चित्त-विचार समान हों। मैं सबके हितके लिये समान मन्त्रोंको अभिमन्त्रित करके हवि प्रदान करता हूँ।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

तुम सबके संकल्प एक समान हों, तुम्हारे हृदय एक समान हों और मन एक समान हों, जिससे तुम्हारा कार्य परस्पर पूर्णरूपसे संगठित हो।

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥

मेरी जिह्वाके अग्रभागमें माधुर्य हो। मेरी जिह्वाके मूलमें मधुरता हो। मेरे कर्ममें माधुर्यका निवास हो और हे माधुर्य! मेरे हृदयतक पहुँचो।

'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्'

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ १॥
वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं वलितं मधुरम्।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ २॥
वेणुर्मधुरो रेणुर्मधुरः पाणिर्मधुरः पादौ मधुरौ।
नृत्यं मधुरं सख्यं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ३॥
गीतं मधुरं पीतं मधुरं भुक्तं मधुरं सुप्तं मधुरम्।
रूपं मधुरं तिलकं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ४॥
करणं मधुरं तरणं मधुरं हरणं मधुरं स्मरणं मधुरम्।
वमितं मधुरं शमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ५॥
गुञ्जा मधुरा माला मधुरा यमुना मधुरा वीची मधुरा।
सलिलं मधुरं कमलं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ६॥
गोपी मधुरा लीला मधुरा युक्तं मधुरं मुक्तं मधुरम्।
दृष्टं मधुरं शिष्टं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ७॥
गोपा मधुरा गावो मधुरा यष्टिर्मधुरा सृष्टिर्मधुरा।
दलितं मधुरं फलितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ८॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यकृतं मधुराष्टकं सम्पूर्णम् ॥

श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है। उनके अधर मधुर हैं, मुख मधुर है, नेत्र मधुर हैं, हास्य मधुर है, हृदय मधुर है और गति भी अति मधुर है॥ १॥ उनके वचन मधुर हैं, चरित्र मधुर हैं, वस्त्र मधुर हैं, अङ्गभङ्गी मधुर है, चाल मधुर है और भ्रमण भी अति मधुर है; श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ २॥ उनका वेणु मधुर है, चरणरज मधुर है, करकमल मधुर हैं, चरण मधुर हैं, नृत्य मधुर है और सख्य भी अति मधुर है; श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ३॥ उनका गान मधुर है, पान मधुर है, भोजन मधुर है, शयन मधुर है, रूप मधुर है और तिलक भी अति मधुर है; श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ४॥ उनका कार्य मधुर है, तैरना मधुर है, हरण मधुर है, स्मरण मधुर है, उद्गार मधुर है और शान्ति भी अति मधुर है; श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ५॥ उनकी गुञ्जा मधुर है, माला मधुर है, यमुना मधुर है, उसकी तरङ्गें मधुर हैं, उसका जल मधुर है और कमल भी अति मधुर है; श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ६॥ गोपियाँ मधुर हैं, उनकी लीला मधुर है, उनका संयोग मधुर है, वियोग मधुर है, निरीक्षण मधुर है और शिष्टाचार भी मधुर है; श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ७॥ गोप मधुर हैं, गौएँ मधुर हैं, लकुटी मधुर है, रचना मधुर है, दलन मधुर है और उसका फल भी अति मधुर है; श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ८॥

'भजत रे मनुजाः कमलापतिम्'

भुजगतल्पगतं घनसुन्दरं गरुडवाहनमम्बुजलोचनम्।
नलिनचक्रगदाकरमव्ययं भजत रे मनुजाः कमलापतिम्॥ १॥
अलिकुलासितकोमलकुन्तलं विमलपीतदुकूलमनोहरम्।
जलधिजाङ्कितवामकलेवरं भजत रे मनुजाः कमलापतिम्॥ २॥
किमु जपैश्च तपोभिरुताध्वरैरपि किमुत्तमतीर्थनिषेवणैः।
किमुत शास्त्रकदम्बविलोकनैर्भजत रे मनुजाः कमलापतिम्॥ ३॥
मनुजदेहमिमं भुवि दुर्लभं समधिगम्य सुरैरपि वाञ्छितम्।
विषयलम्पटतामपहाय वै भजत रे मनुजाः कमलापतिम्॥ ४॥
न वनिता न सुतो न सहोदरो न हि पिता जननी न च बान्धवः।
व्रजति साकमनेन जनेन वै भजत रे मनुजाः कमलापतिम्॥ ५॥
सकलमेव चलं सचराचरं जगदिदं सुतरां धनयौवनम्।
समवलोक्य विवेकदृशा द्रुतं भजत रे मनुजाः कमलापतिम्॥ ६॥
विविधरोगयुतं क्षणभङ्गुरं परवशं नवमार्गमलाकुलम्।
परिनिरीक्ष्य शरीरमिदं स्वकं भजत रे मनुजाः कमलापतिम्॥ ७॥
मुनिवरैरनिशं हृदि भावितं शिवविरिञ्चिमहेन्द्रनुतं सदा।
मरणजन्मजराभयमोचनं भजत रे मनुजाः कमलापतिम्॥ ८॥
हरिपदाष्टकमेतदनुत्तमं परमहंसजनेन समीरितम्।
पठति यस्तु समाहितचेतसा व्रजति विष्णुपदं स नरो ध्रुवम्॥ ९॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसस्वामिब्रह्मानन्दविरचितं श्रीकमलापत्यष्टकं सम्पूर्णम्॥

रे मनुष्यो! जो शेषशय्यापर पौढ़े हुए हैं, नीलमेघ-सदृश श्याम-सुन्दर हैं, गरुड जिनका वाहन है और जिनके कमल-जैसे नेत्र हैं, उन शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी अव्यय श्रीकमलापतिको भजो॥ १॥ भौंरोंके समान जिनकी काली-काली कोमल अलकें हैं, अति निर्मल सुन्दर पीताम्बर है और जिनके वामाङ्कमें श्रीलक्ष्मीजी सुशोभित हैं, रे मनुष्यो! उन श्रीकमलापतिको भजो॥ २॥ जप, तप, यज्ञ अथवा उत्तम-उत्तम तीर्थोंके सेवनमें क्या रखा है? अथवा अधिक शास्त्रावलोकनके पचड़ेमें पड़नेसे ही क्या होना है? रे मनुष्यो! बस श्रीकमलापतिको ही भजो॥ ३॥ इस संसारमें यह मनुष्य-शरीर अति दुर्लभ और देवगणोंसे भी वाञ्छित है—ऐसा जानकर विषय-लम्पटताको त्यागकर रे मनुष्यो! श्रीकमलापतिको भजो॥ ४॥ इस जीवके साथ स्त्री, पुत्र, भाई, पिता, माता और बन्धुजन कोई भी नहीं जाता, अतः रे मनुष्यो! श्रीकमलापतिको भजो॥ ५॥ यह सचराचर जगत्, धन और यौवन सभी अत्यन्त अस्थिर हैं—ऐसा विवेकदृष्टिसे देखकर रे मनुष्यो! शीघ्र ही श्रीकमलापतिको भजो॥ ६॥ यह शरीर नाना प्रकारके रोगोंका आश्रय, क्षणिक, परवश तथा मलसे भरे हुए नौ मार्गोंवाला है—ऐसा देखकर रे मनुष्यो! श्रीकमलापतिको भजो॥ ७॥ मुनिजन जिनका अहर्निश हृदयमें ध्यान करते हैं, शिव, ब्रह्मा तथा इन्द्रादि समस्त देवगण जिनकी सर्वदा वन्दना करते हैं तथा जो जरा, जन्म और मरणादिके भयको दूर करनेवाले हैं, रे मनुष्यो! उन श्रीकमलापतिको भजो॥ ८॥ दास परमहंसद्वारा कहे गये इस अत्युत्तम भगवान् हरिके अष्टकको जो मनुष्य समाहितचित्तसे पढ़ता है, वह अवश्य ही भगवान् विष्णुके परमधामको प्राप्त होता है॥ ९॥

'किङ्किणीमञ्जुलं श्यामलं तं भजे'

अच्युतं केशवं रामनारायणं कृष्णदामोदरं वासुदेवं हरिम्।
श्रीधरं माधवं गोपिकावल्लभं जानकीनायकं रामचन्द्रं भजे॥ १॥
अच्युतं केशवं सत्यभामाधवं माधवं श्रीधरं राधिकाराधितम्।
इन्दिरामन्दिरं चेतसा सुन्दरं देवकीनन्दनं नन्दजं संदधे॥ २॥
विष्णवे जिष्णवे शङ्खिने चक्रिणे रुक्मिणीरागिणे जानकीजानये।
वल्लवीवल्लभायार्चितायात्मने कंसविध्वंसिने वंशिने ते नमः॥ ३॥
कृष्ण गोविन्द हे राम नारायण श्रीपते वासुदेवाजित श्रीनिधे।
अच्युतानन्त हे माधवाधोक्षज द्वारकानायक द्रौपदीरक्षक॥ ४॥
राक्षसक्षोभितः सीतया शोभितो दण्डकारण्यभूपुण्यताकारणः।
लक्ष्मणेनान्वितो वानरैः सेवितोऽगस्त्यसम्पूजितो राघवः पातु माम्॥ ५॥
धेनुकारिष्टकानिष्टकृद् द्वेषिहा केशिहा कंसहृद्वंशिकावादकः।
पूतनाकोपकः सूरजाखेलनो बालगोपालकः पातु मां सर्वदा॥ ६॥
विद्युदुद्योतवत्प्रस्फुरद्वाससं प्रावृडम्भोदवत्प्रोल्लसद्विग्रहम्।
वन्यया मालया शोभितोरःस्थलं लोहिताङ्घ्रिद्वयं वारिजाक्षं भजे॥ ७॥
कुञ्चितैः कुन्तलैर्भ्राजमानाननं रत्नमौलिं लसत्कुण्डलं गण्डयोः।
हारकेयूरकं कङ्कणप्रोज्ज्वलं किङ्किणीमञ्जुलं श्यामलं तं भजे॥ ८॥
अच्युतस्याष्टकं यः पठेदिष्टदं प्रेमतः प्रत्यहं पूरुषः सस्पृहम्।
वृत्ततः सुन्दरं कर्तृविश्वम्भरस्तस्य वश्यो हरिर्जायते सत्वरम्॥ ९॥

॥ इति श्रीमच्छङ्कराचार्यकृतमच्युताष्टकं सम्पूर्णम्॥

अच्युत, केशव, राम, नारायण, कृष्ण, दामोदर, वासुदेव, हरि, श्रीधर, माधव, गोपिकावल्लभ तथा जानकीनायक श्रीरामचन्द्रजीको मैं भजता हूँ॥ १॥ अच्युत, केशव, सत्यभामापति, लक्ष्मीपति, श्रीधर, राधिकाजीद्वारा आराधित, लक्ष्मीनिवास, परम सुन्दर, देवकीनन्दन, नन्दकुमारका मैं चित्तसे ध्यान करता हूँ॥ २॥ जो विभु हैं, विजयी हैं, शङ्ख-चक्रधारी हैं, रुक्मिणीजीके परम प्रेमी हैं, जानकीजी जिनकी धर्मपत्नी हैं तथा जो व्रजाङ्गनाओंके प्राणाधार हैं उन परमपूज्य, आत्मस्वरूप, कंसविनाशक, मुरलीमनोहरको मैं नमस्कार करता हूँ॥ ३॥ हे कृष्ण! हे गोविन्द! हे राम! हे नारायण! हे रमानाथ! हे वासुदेव! हे अजेय! हे शोभाधाम! हे अच्युत! हे अनन्त! हे माधव! हे अधोक्षज (इन्द्रियातीत)! हे द्वारकानाथ! हे द्रौपदीरक्षक! (मुझपर कृपा कीजिये)॥ ४॥ जो राक्षसोंपर अति कुपित हैं, श्रीसीताजीसे सुशोभित हैं, दण्डकारण्यकी भूमिकी पवित्रताके कारण हैं, श्रीलक्ष्मणजीद्वारा अनुगत हैं, वानरोंसे सेवित हैं और श्रीअगस्त्यजीसे पूजित हैं; वे रघुवंशी श्रीरामचन्द्रजी मेरी रक्षा करें॥ ५॥ धेनुक और अरिष्टासुर आदिका अनिष्ट करनेवाले, शत्रुओंका ध्वंस करनेवाले, केशी और कंसका वध करनेवाले, वंशीको बजानेवाले, पूतनापर कोप करनेवाले, यमुनातटविहारी बालगोपाल मेरी सदा रक्षा करें॥ ६॥ विद्युत्प्रकाशके सदृश जिनका पीताम्बर विभासित हो रहा है, वर्षाकालीन मेघोंके समान जिनका अति शोभायमान शरीर है, जिनका वक्षःस्थल वनमालासे विभूषित है और जिनके चरणयुगल अरुणवर्ण हैं; उन कमलनयन श्रीहरिको मैं भजता हूँ॥ ७॥ जिनका मुख घुँघराली अलकोंसे सुशोभित है, मस्तकपर मणिमय मुकुट शोभा दे रहा है तथा कपोलोंपर कुण्डल सुशोभित हो रहे हैं; उज्ज्वल हार, केयूर (बाजूबन्द), कङ्कण और किङ्किणीकलापसे सुशोभित उन मञ्जुलमूर्ति श्रीश्यामसुन्दरको मैं भजता हूँ॥ ८॥ जो पुरुष इस अति सुन्दर छन्दवाले और अभीष्ट फलदायक अच्युताष्टकको प्रेम और श्रद्धासे नित्य पढ़ता है, विश्वम्भर, विश्वकर्ता श्रीहरि शीघ्र ही उसके वशीभूत हो जाते हैं॥ ९॥

प्रियतम प्रभुकी प्रेम-साधना

प्रेम भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप ही है। जिसे विशुद्ध सच्चे प्रेमकी प्राप्ति हो गयी, उसे भगवान् मिल गये—यह मानना चाहिये। प्रेम न हो तो रूखे-सूखे भगवान् भावजगत्‌की वस्तु रहें ही नहीं।

वास्तवमें प्रभु रसरूप हैं। श्रुतियोंमें भी परमपुरुषकी रसरूपताका वर्णन मिलता है—**'रसो वै सः'** (तै०उप० २।७।२)। प्रेमका निजी रूप रसस्वरूप परमात्मा ही है। इसीलिये जैसे परमात्मा सर्वव्यापक है, वैसे ही प्रेमतत्त्व (आनन्दरस) भी सर्वत्र व्याप्त है। हरेक जन्तुमें तथा हरेक परमाणुमें आनन्द अथवा रसस्वरूप प्रेमकी व्याप्ति है। संसारमें बिना प्रेम या आनन्दरसके एक-दूसरेसे मिलना नहीं हो सकता। स्त्री, पुत्र, मित्र, पिता, भ्राता, पुत्रवधू तथा पशु-पक्षी आदिमें भी प्रीति या स्नेह इस प्रेमरसकी व्याप्तिके कारण ही है।

कहते हैं कि गुड़के सम्बन्धसे नीरस बेसनमें मिठास आ जाती है। इसी प्रकार 'स्व'के सम्बन्धसे अर्थात् अपनेपनके सम्बन्धसे संसारकी वस्तुओंमें भी प्रीति होती है। संसारकी जिस वस्तुमें जितना अपनापन होगा, वह वस्तु उतनी ही प्यारी लगेगी। उसमें राग होना स्वाभाविक है। संसारकी वस्तुओंमें जहाँ राग है वहाँ द्वेष भी है। जहाँ द्वेष है वहाँ राग है—ये द्वन्द्व हैं। द्वन्द्व अकेला नहीं रहता। राग-द्वेष—ये दोनों साथ रहते हैं, इसीलिये इसका नाम द्वन्द्व है। पर एक बात बड़ी विलक्षण है, वह है—रस (प्रेम)-साधनाकी। रस-साधनाका प्रारम्भ भगवान्‌में अनुरागको लेकर ही होता है। एकमात्र भगवान्‌में अनन्य राग होनेपर अन्यान्य वस्तुओंमें रागका स्वाभाविक ही अभाव हो जाता है। उन वस्तुओंमेंसे राग निकल जानेके कारण उनमें कहीं द्वेष भी नहीं रहता। कारण ये राग-द्वेष साथ-साथ ही तो रहते हैं। प्रेमीजन द्वन्द्वोंसे अपने लिये अपना कोई सम्पर्क नहीं रखकर उन द्वन्द्वोंके द्वारा अपने प्रियतम भगवान्‌को सुख पहुँचाते हैं और प्रियतमको सुख पहुँचानेके जो भी साधन हैं, उनमेंसे कोई-सा साधन भी त्याज्य नहीं है तथा कोई भी वस्तु हेय नहीं। कारण उन वस्तुओंमें कहीं आसक्ति रहती नहीं जो मनको खींच ले, इसलिये रसकी साधनामें कहींपर कड़वापन नहीं है। उसका आरम्भ ही होता है माधुर्यको लेकर, भगवान्‌में रागको लेकर। राग बड़ा मीठा होता है, रागका स्वभाव ही मधुरता है और यह मधुरता आती है अपनेपनसे। जहाँ अपनत्व नहीं वहाँ प्रेम नहीं।

इसी कारण साक्षात् अपनेमें अर्थात् 'स्व' में प्राणीका सर्वाधिक प्रेम होता है। इसीलिये भगवान् प्राणके प्राण, जीवके जीवन, आनन्दके आनन्द प्रत्यक्ष स्वात्मा हैं, अतएव प्रेम या रसस्वरूप ही हैं। पर यह अपनापन संसारमें प्रायः दिखायी देनेवाले निकटस्थ प्राणिपदार्थोंमें होना स्वाभाविक है, जो जन्म-मरणके बन्धनका भी कारण होता है। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें यह लिखा है—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
(५।४८।४-५)

माता-पिता, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, अपना शरीर, धन, मकान, मित्र और परिवार—ये ही सब ममताके आस्पद हैं। अतः भगवान् कहते हैं—इन सबकी ममताका कच्चा धागा बटोरकर उसकी एक मज़बूत रस्सी बट लो और मेरे चरणकमलमें बाँध दो। यहाँ कच्चा धागा इसलिये कहा गया कि इन प्राणिपदार्थोंमें जो ममता है—अपनापन है वह स्वार्थपूर्ण है। इसलिये यह कच्चा धागा है, जो कभी भी स्वार्थकी टकराहटसे टूट सकता है, परंतु प्रभुमें जो प्रेम होता है वह कभी टूटता नहीं। स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु, मित्र आदिमें कभी प्रेम और कभी वैर भी हो जाता है। कभी प्रेमकी कमी और कभी अधिकता हो जाती है, परंतु भगवान्‌में वह सदा-सर्वदा एकरस निरतिशय रहता है। क्योंकि जैसे सूर्य प्रकाशका उद्गम-स्थान या प्रकाशस्वरूप ही है, वैसे ही भगवान् भी प्रेमके

उद्गम-स्थान या प्रेमस्वरूप ही हैं। इसीलिये इन्हें प्रेम (रस)-सागर भी कहा जाता है। यह रससागर बड़ा अनुपम, अतुल और विलक्षण है। इसमें प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद वस्तुतः एक भगवान् ही होते हैं, पर सदा ही तीनों बनकर रसास्वाद करते और कराते रहते हैं।

वस्तुतः परमेश्वरमें प्रेम होना ही विश्वमें प्रेम होना है और विश्वके समस्त प्राणियोंमें प्रेम ही भगवान्‌में प्रेम है, क्योंकि स्वयं परमात्मा ही सबके आत्मस्वरूपसे विराजमान हैं। जो व्यक्ति इस भगवत्प्रेमके रहस्यको भलीभाँति समझ लेता है, उसका सभी प्राणियोंके साथ अपनी आत्माके समान प्रेम हो जाता है। ऐसे प्रेमीकी प्रशंसा करते हुए भगवान्‌ने कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६। ३२)

हे अर्जुन! जो योगी अपने ही समान सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखमें भी सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है। अपनी सादृश्यतासे सम देखनेका यही अभिप्राय है कि जैसे मनुष्य अपने सिर, हाथ, पैर और गुदा आदि अङ्गोंमें भिन्नता होते हुए भी उनमें समान रूपसे आत्मभाव रखता है अर्थात् सारे अङ्गोंमें अपनापन समान होनेसे सुख और दुःखको समान ही देखता है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतोंमें जो समभाव देखता है; इस प्रकारके समत्वभावको प्राप्त भक्तका हृदय प्रेमसे सराबोर रहता है। उसकी दृष्टि सबके प्रति प्रेमकी ही हो जाती है। उसके हृदयमें किसीके भी साथ घृणा और द्वेषका लेश भी नहीं रहता। उसकी दृष्टिमें तो सम्पूर्ण संसार एक वासुदेवरूप ही हो जाता है।

इस परमतत्त्वको न जाननेके कारण ही प्रायः मनुष्य राग-द्वेष करते हैं तथा परमात्माको छोड़कर सांसारिक विषय-भोगोंकी ओर दौड़ते हैं और बार-बार दुःखको प्राप्त होते हैं। मनुष्य जो स्त्री-पुत्र, धन आदि पदार्थोंमें सुख समझकर प्रेम करते हैं, उन आपातरमणीय विषयोंमें उन्हें जो सुखकी प्रतीति होती है वह केवल भ्रान्तिसे होती है। वास्तवमें विषयोंमें सुख है ही नहीं, परंतु जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे मरुभूमिमें जलके बिना हुए ही उसकी प्रतीति होती है और प्यासे हिरण उसकी ओर दौड़ते हैं तथा अन्तमें निराश होकर मर जाते हैं, ठीक इसी प्रकार सांसारिक मनुष्य संसारके पदार्थोंके पीछे सुखकी आशासे दौड़ते हुए जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थ ही बिता देते हैं और असली नित्य परमात्म-सुखसे वञ्चित रह जाते हैं।

जबतक साधक विषय-भोगोंके मोहसे मुक्त नहीं होता, तबतक उसमें भक्तिभाव उत्पन्न ही नहीं होता। भक्तिका प्रभाव अमित है। यह सब दुःखोंको मिटानेवाली, सब प्रकारके कल्याणको देनेवाली, मोक्षकी कामनाको दूर भगानेवाली, घनीभूत, आनन्दरूपा, दुर्लभ एवं परमात्मप्रभु श्रीकृष्णको आकृष्ट करनेवाली है—

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु पू० ल० १। १३)

भक्ति मोक्षरूपा भी मानी गयी है। भक्तिका उद्रेक महापुरुषोंके उपदेश, उपनिषद्, पुराण आदिके श्रवणद्वारा होता है, परंतु प्रेम ईश्वरीय देन अथवा नैसर्गिक रूपमें ही स्वयं स्फूर्त होता है। देवर्षि नारदके उपदेशने प्रह्लाद, ध्रुव आदिके मनमें भगवद्भक्तिका बीज अङ्कुरित किया, पर इसके साथ ही नन्दबाबा, माँ यशोदा तथा व्रजाङ्गनाओंके मनमें स्वभावतः ही प्रेम प्रस्फुटित हुआ।

भक्ति दो प्रकारकी कही गयी है—(१) वैधी भक्ति, (२) अनुरागा भक्ति। वैधी भक्तिमें प्रवृत्तिकी प्रेरणा शास्त्रसे मिलती है, जिसे विधि कहते हैं। शास्त्रज्ञ, दृढ़ विश्वासयुक्त, तर्कशील, बुद्धिसम्पन्न तथा निष्ठावान् साधक ही वैधी भक्तिका अधिकारी है। वह शास्त्रविधिके अनुसार अपने आराध्यकी सेवा-पूजा और उपासना करता है। दूसरी रागानुगा भक्ति आत्यन्तिक रागके कारण ही उत्पन्न होती है। रागात्मिका भक्ति और कुछ नहीं स्वाभाविक आसक्तिका नाम है। अपने आराध्य—इष्टमें

जो स्वाभाविक आसक्ति होती है उसे रागानुरागा कहते हैं। रागात्मक भाव प्रगाढ़ हो जानेपर प्रेम कहलाने लगता है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

(श्रीमद्भा० ६।११।२६)

जैसे पक्षियोंके पंखहीन बच्चे अपनी माकी बाट जोहते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माका दूध पीनेके लिये आतुर रहते हैं और जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतमसे मिलनेके लिये उत्कण्ठित रहती है—वैसे ही कमलनयन! मेरा मन आपके दर्शनके लिये छटपटा रहा है।

इस प्रकार प्रगाढ़ प्रेमकी पराकाष्ठा ही रागानुगा (प्रेमा) भक्ति है। इस प्रेमाभक्तिमें अनन्यताका सर्वोपरि स्थान है। अनन्यताके सम्बन्धमें देवर्षि नारदका कथन है कि अपने प्रिय भगवान्‌को छोड़कर दूसरे आश्रयोंके त्यागका नाम ही अनन्यता है—'**अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता**' (ना० भ० सू० १०)। अनन्य प्रेमका साधारण स्वरूप यह है—एक भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य किसीमें किसी समय भी आसक्ति न हो। प्रेमकी मगनतामें भगवान्‌के सिवा अन्य किसीका ज्ञान ही न रहे, जहाँ-जहाँ मन जाय वहीं भगवान् दृष्टिगोचर हों। यूँ होते-होते अभ्यास बढ़ जानेपर अपने-आपकी विस्मृति होकर केवल भगवान् ही रह जायँ, यही विशुद्ध अनन्य प्रेम है। प्रेम करनेका हेतु भी केवल परमेश्वर या उनका प्रेम ही होना चाहिये। प्रेमके लिये ही प्रेम किया जाय अन्य कोई हेतु न रहे। मान-बड़ाई और प्रतिष्ठा तथा इस लोक और परलोकके किसी भी पदार्थकी इच्छाकी गन्ध भी साधकके मनमें न रहे। ऐसा विशुद्ध प्रेम होनेपर जो आनन्द होता है उसकी महिमा अकथनीय है। ऐसे प्रेमका वास्तविक महत्त्व कोई परमात्माका अनन्य प्रेमी ही जानता है।

उत्तम साधक सांसारिक कार्य करते हुए भी अनन्यभावसे परमात्माका चिन्तन किया करते हैं। साधारण भगवत्प्रेमी साधक अपना मन परमात्मामें लगानेकी कोशिश करते हैं, परंतु अभ्यास और आसक्तिवश भजन-ध्यान करते समय भी उनका मन विषयोंमें चला ही जाता है। जिनका भगवान्‌में मुख्य प्रेम है वे हर समय भगवान्‌को स्मरण रखते हुए समस्त कार्य करते हैं और जिनका भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाता है उनको तो समस्त चराचर विश्व एक वासुदेव ही प्रतीत होने लगता है। ऐसे महात्मा बड़े दुर्लभ हैं (गीता ७।१९)।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह प्रेम प्राप्त कैसे हो? इस सम्बन्धमें गोस्वामीजी महाराजने कहा—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(रा०च०मा० ७।६१)

पर वास्तविकता यह है कि हमलोगोंका प्रेम तो काञ्चन-कामिनी, मान-प्रतिष्ठामें हो रहा है। हम सच्चे प्रेमके लिये तो हृदयमें कामना ही नहीं करते। जबतक प्रेमके लिये हृदय तरस नहीं जाता, व्याकुल नहीं हो जाता, तबतक प्रेमकी प्राप्ति हो भी कैसे सकती है। अभी तो हमलोगोंका कामी मन नारी-प्रेममें ही आनन्दकी उपलब्धि कर रहा है, अभी तो हमलोगोंका लोभी चित्त काञ्चनकी प्राप्तिमें ही पागल है, अभी तो हमलोगोंका चञ्चल चित्त मान-बड़ाईके पीछे मारा-मारा फिरता है। जबतक हमलोगोंका यह काम और लोभ सब ओरसे सिमटकर एकमात्र प्रभुके प्रति नहीं हो जाता, तबतक हम प्रभु-प्रेमको प्राप्त करनेके अधिकारी ही नहीं हैं।

भगवान् हमें जल्दी-से-जल्दी कैसे मिलें—यह भाव जाग्रत् रहनेपर ही भगवान् मिलते हैं। यह लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती चले—ऐसी उत्कट इच्छा ही प्रेमास्पद प्रभुके मिलनेका कारण है। प्रभुका रहस्य और प्रभाव जाननेसे ही प्रेम होता है। थोड़ा-सा भी प्रभुका रहस्य

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

जान लेनेपर हम एक क्षण भी नहीं रह सकते। इस सम्बन्धमें विभिन्न प्रेमाचार्योंने विभिन्नरूपसे प्रेमाभक्तिका लक्षण किया है। भगवान् वेदव्यास भगवान्‌के अर्चन-पूजन आदिमें अनुराग अथवा प्रेमको ही वास्तविक प्रेमाभक्ति मानते हैं—'**पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः**' (ना०भ०सू० १६)। इस कथनकी पुष्टि 'विष्णुरहस्य'में भी हुई है। श्रीगर्गाचार्यने भगवत्कथादिमें अनुरागको ही भक्ति माना है—'**कथादिष्विति गर्गः**' (ना०भ०सू० १७)। महर्षि शाण्डिल्यके अनुसार आत्मरतिके अविरोधी विषयमें अनुराग होना ही भक्ति है। श्रीशङ्कराचार्यजीने भी इसी मतकी पुष्टि की है—आत्मरूपसे प्रत्येक प्राणीमें भगवान् ही विराजमान हैं। अतः सर्वात्मामें रति होना वस्तुतः भगवान्‌की भक्ति ही है और ऐसी भक्ति करनेवालेको मुक्ति प्राप्त होनेमें संदेह नहीं।* देवर्षि नारदके अनुसार अपने सभी कर्मोंको भगवदर्पण करना और भगवान्‌का किञ्चित् विस्मरण होनेपर व्याकुल हो जाना प्रेम अथवा प्रेमाभक्ति है—

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।

(ना०भ०सू० १९)

अपने समस्त कर्म (वैदिक और लौकिक) भगवान्‌में अर्पण करके प्रियतम भगवान्‌का अखण्ड स्मरण करना और पलभरके लिये भी यदि उनका विस्मरण हो जाय (प्रियतमको भूल जाय) तो परम व्याकुल हो जाना—यही सर्वलक्षणसम्पन्न भक्ति है। मछलीका जलमें, पपीहेका मेघमें, चकोरका चन्द्रमामें जैसा प्रेम है वैसा ही हमारा प्रेम प्रभुमें हो। एक पल भी उसके बिना चैन न मिले, शान्ति न मिले—ऐसा प्रेम प्रेमी संतोंकी कृपासे ही प्राप्त होता है। पर ऐसे प्रेमी संतोंके दर्शन भी प्रभुकी पूर्ण कृपासे होते हैं। प्रभुकी कृपा सबपर पूर्ण है ही, किंतु पात्र बिना वह कृपा फलवती नहीं होती। भक्तिमती प्रेम-दीवानी मीराबाईके अग्रलिखित पदमें उनकी प्रेमविह्वलताका पूर्ण परिचय प्राप्त होता है—

हे री मैं तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणै कोय॥
घायलकी गति घायल जाणै जो कोइ घायल होय।
जौहरिकी गति जौहरी जाणै की जिन जौहर होय॥
सूली ऊपर सेज हमारी सोवण किस बिध होय।
गगन मँडलपर सेज पियाकी किस बिध मिलणा होय॥
दरदकी मारी बन-बन डोलूँ बैद मिल्या नहिं कोय।
मीराकी प्रभु पीर मिटेगी जद बैद साँवलियाँ होय॥

दयाबाईकी दीनता और विरहवेदना बड़ी ही मर्मस्पर्शी है। कितने करुणकण्ठसे वे प्रभुसे प्रार्थना करती हैं—

जनम जनम के बीछुरे, हरि! अब रह्यो न जाय।
क्यों मन कूँ दुख देत हो, बिरह तपाय तपाय॥
बौरी ह्वै चितवत फिरूँ, हरि आवै केहि ओर।
छिन ऊठूँ छिन गिरि परूँ, राम दुखी मन मोर॥

वस्तुतः मिलन और वियोग प्रेमके दो समान स्तर हैं। इन दोनोंमें ही प्रेमीजनोंकी भाषामें, प्रेमीजनोंकी अनुभूतिमें समान रति है। आनन्दस्वरूप भगवान्‌में जो राग होता है, वह भगवान्‌से मिलनेकी इच्छा उत्पन्न करता है और उनका वियोग अत्यन्त दुःखदायी होता है, परंतु भगवान्‌के लिये होनेवाली व्याकुलता अत्यन्त दुःखदायिनी होनेपर भी परम सुखस्वरूपा होती है। भगवान्‌के विरहमें जो अपरिसीम पीड़ा होती है, उसके सम्बन्धमें कहते हैं कि वह कालकूट विषसे भी अति भयावह होती है, पर उस विषम वियोग-विषके साथ एक बड़ी विलक्षण अनुपम वस्तु लगी रहती है—भगवान्‌की मधुरातिमधुर अमृतस्वरूपा **चिन्मयी स्मृति**। भगवान्‌की स्मृति नित्यानन्द सुखदस्वरूप भगवान्‌को अंदर हृदयस्थलमें विराजमान करा देती है। वस्तुतः जहाँ-जहाँ भगवान्‌की स्मृति है वहाँ-वहाँ भगवत्-रसका समुद्र लहराता है। इसीलिये जहाँ भोगोंके लिये होनेवाली व्याकुलता निरन्तर दुःखदायिनी होती है वहाँ भगवान्‌के लिये होनेवाली आकुलता भगवत्स्मृतिके कारण सुखस्वरूपा हो जाती है। इसीलिये यदि कोई प्रेमी साधकसे पूछे कि तुम संयोग

---

* मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी। स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते॥ (विवेकचूडामणि ३१)

और वियोग दोनोंमेंसे कौन-सा लेना चाहते हो, एक ही मिलेगा, संयोग या वियोग। यह बड़ा विलक्षण प्रश्न है। जो प्राणप्रियतम है, प्राणाधार है, जिसका क्षणभरका वियोग भी अत्यन्त असह्य है। यदि हमसे पूछा जाय तो दोनोंमेंसे कौन-सा चाहते हो तो स्वाभाविक हम यही कहेंगे कि हम मिलन चाहते हैं, संयोग चाहते हैं, वियोग कदापि नहीं। परंतु प्रेमियोंकी कुछ विलक्षण—अनोखी रीति है। वे कहते हैं कि इनमेंसे एक मिले तो वियोग चाहते हैं, संयोग नहीं। बड़ी विलक्षण बात है यह। वे ऐसा क्यों चाहते हैं, इसलिये कि वियोगमें संयोगका अभाव नहीं। यद्यपि वियोगमें बाहरी मिलन नहीं है तथापि आभ्यन्तरमें—अंदरमें मधुर मिलन हो रहा है। प्रियतमकी मधुर स्मृति निरन्तर बनी रहती है। मिलनका अभाव तो है ही नहीं और असली मिलन होता भी है अन्तर्वृत्तिका ही। हमारे सामने कोई वस्तु रहे भी और हमारी आँखें भी खुली हैं, पर मनकी अन्तर्वृत्ति उस आँखके साथ नहीं है। सामनेवाली वस्तु आँखोंके सामने रहनेपर भी दीखेगी नहीं। इस प्रकार बाह्यवियोगमें आभ्यन्तरिक मिलन निरन्तर रहता है और संयोगका मिलन बाहरका मिलन है। इसमें समय, स्थान, लोकमर्यादा आदिके बन्धन हैं। यह बिलकुल स्वाभाविक बात है, इसे सब समझ सकते हैं। किसीसे मिलनेके लिये समय, स्थान निश्चित करना पड़ता है तथा मर्यादा आदिका भी ध्यान रखना पड़ता है, परंतु वियोगके मिलनमें जो अन्तर्मिलन होता है उसमें कोई समयकी अपेक्षा नहीं, लगातार दिनभर होता रहे। स्थानकी अपेक्षा नहीं—जंगलमें, घरमें, बाहर-भीतर कहीं भी हो सकता है, फिर व्यवहारकी भी कोई अपेक्षा नहीं। इस प्रकार जैसा आनन्द अन्तरात्मामें आभ्यन्तरमिलनमें है वैसा बाह्यमिलनमें नहीं। संसारकी किसी प्रिय वस्तुका वियोग हो जाता है तो वह बार-बार याद आती है, मिलती नहीं, इससे उसकी स्मृति भी दुःखदायिनी होती है। परंतु प्रियतम भगवान्‌का वियोग इससे विलक्षण है। यह परम सुखमय होता है। इसीलिये किसी कविने कहा है—

मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जाग्रत् गति है और सुषुप्ति मिलन है॥

—ये पंक्तियाँ भगवत्प्रेममें पूर्णरूपसे लागू होती हैं। प्रियतम प्रभुका वियोग या विरह ही प्रेमकी जाग्रद् अवस्था है।

भगवान्‌को छोड़कर जगत्‌का स्वरूप तमोमय है, अन्धकारमय है और भगवान् हैं प्रकाशमय। उनमें प्रकाश-ही-प्रकाश है। मनमें भगवान्‌को प्राप्त करनेकी जो वृत्ति उत्पन्न होती है, वह वृत्ति सात्त्विक होती है। सात्त्विक वृत्ति प्रकाशरूपा होती है। भगवान् तो परम प्रकाशरूप हैं ही, इसलिये इस प्रेमरसकी साधनामें निरन्तर और निरन्तर एकमात्र परम प्रकाशरूप भगवान् सामने रहते हैं। इसीलिये इसका नाम है—'उज्ज्वलरस' अर्थात् आनन्दरस, मधुररस। *'काम अंधतम प्रेम निर्मल भास्कर'* इसमें कामनालेश न होनेके कारण कहींपर भी अन्धकारके लिये कोई कल्पना ही नहीं है, दुःखके लिये कोई कल्पना ही नहीं है। इस प्रेमरसकी साधनामें आरम्भसे ही भगवान्‌का स्वरूप, भगवान्‌का शब्द, भगवान्‌का स्पर्श, भगवान्‌की गन्ध और भगवान्‌का रस—ये सब साथ रहते हैं। जहाँ शुरूसे भगवत्-रस साथ हो वही वास्तवमें प्रेमसाधना है। यह परम प्रियतम भगवान्‌की साधना है। प्रियतम प्रभुका स्वरूप प्रेमका ही पुञ्ज है।

प्रेम ही आनन्द है और आनन्द ही प्रेम है। भगवान् सगुण-साकारकी उपासना करनेवालोंके लिये प्रेममय बन जाते हैं और निर्गुण-निराकारकी उपासना करनेवालोंके लिये आनन्दमय बन जाते हैं। वे सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही भक्तोंके प्रेमानन्द हैं और वे ही पूर्णब्रह्म परमात्मा मूर्तिमान् होकर प्रकट होते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

हरि सब जगह परिपूर्ण हैं। वे प्रेमसे ही प्रकट होते हैं; क्योंकि वे स्वयं प्रेममय हैं।

—राधेश्याम खेमका

प्रसाद

प्रेमदर्शनके आचार्य देवर्षि नारद और उनका भक्तिसूत्र

अहो नारद धन्योऽसि विरक्तानां शिरोमणिः। सदा श्रीकृष्णदासानामग्रणीर्योगभास्करः॥

(श्रीमद्भा० माहात्म्य २। ५४)

सनकादि मुनीश्वरोंने कहा—नारदजी! आप धन्य हैं। आप विरक्तोंके शिरोमणि हैं। श्रीकृष्णदासोंके शाश्वत पथप्रदर्शक एवं भक्तियोगके भास्कर हैं।

देवर्षि नारदजीकी महत्ताकी क्या इयत्ता, उनके भगवत्प्रेमका क्या निदर्शन, साक्षात् प्रेमस्वरूप प्रेमैकगम्य और परम प्रेमास्पद मनमोहन श्रीकृष्ण जिनकी इस प्रकार निरन्तर स्तुति किया करते हैं, जिन्हें प्रणाम किया करते हैं—

अहं हि सर्वदा स्तौमि नारदं देवदर्शनम्।

× × ×

उत्सङ्गाद्ब्रह्मणो जातो यस्याहन्ता न विद्यते। अगुप्तश्रुतिचारित्रं नारदं तं नमाम्यहम्॥
कामाद्वा यदि वा लोभाद् वाचं नो नान्यथा वदेत्। उपास्यं सर्वजन्तूनां नारदं तं नमाम्यहम्॥

(स्कन्द० माहे० कौमारिकाखण्ड)

मैं दिव्यदृष्टिसम्पन्न श्रीनारदजीकी सदा स्तुति करता हूँ। जो ब्रह्माजीकी गोदसे प्रकट हुए हैं, जिनके मनमें अहंकार नहीं है, जिनका शास्त्रज्ञान और चरित्र किसीसे छिपा नहीं है, उन देवर्षि नारदको मैं नमस्कार करता हूँ। जो कामना अथवा लोभवश झूठी बात मुँहसे नहीं निकालते और सभी प्राणी जिनकी उपासना करते हैं, उन नारदजीको मैं नमस्कार करता हूँ।

स्वयं देवर्षि नारदजी अपनी स्थितिके विषयमें कहते हैं—जब मैं उन परमपावनचरण उदारश्रवा प्रभुके गुणोंका गान करने लगता हूँ, तब वे प्रभु अविलम्ब मेरे चित्तमें बुलाये हुएकी भाँति तुरंत प्रकट हो जाते हैं—

प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः। आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि॥ (श्रीमद्भा० १। ६। ३४)

श्रीनारदजी प्रेमी परिव्राजक हैं। उनका काम ही है—अपनी वीणाके मनोहर झंकारके साथ भगवान्‌के गुणोंका प्रेमपूर्वक गान करना। उनका नित्य सर्वत्र भ्रमण प्रेमरसकी अविकल धाराको प्रवाहित करनेके लिये हुआ करता है और इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये वे अवतरित भी होते हैं। वे प्रेमकीर्तनके आचार्य और भागवतधर्मके प्रधान बारह आचार्योंमें हैं। उन्होंने घर-घर एवं जन-जनमें प्रेमाभक्तिकी स्थापना करनेकी प्रतिज्ञा की है। निरन्तर वे इस भक्तिके प्रचारमें ही लगे रहते हैं। देवर्षि नारदजी कृपामूर्ति हैं, जीवोंपर कृपा करनेके लिये ये निरन्तर त्रिलोकीमें घूमते रहते हैं। इनका एक ही व्रत है कि जो भी मिल जाय, उसे चाहे जैसे हो भगवान्‌के श्रीचरणोंतक पहुँचा दिया जाय। ये सचमुच सबके सच्चे हितैषी हैं। इन्हें भगवान्‌का मन कहा गया है। प्रह्लाद, ध्रुव, अम्बरीष आदि महान् भक्तोंको इन्होंने ही भक्तिमार्गमें प्रवृत्त किया और श्रीमद्भागवत तथा वाल्मीकीय रामायण-जैसे दो अनूठे ग्रन्थ भी संसारको इन्हींकी कृपासे प्राप्त हुए। शुकदेव-जैसे महान् ज्ञानीको भी इन्होंने ही उपदेश दिया। पूर्वजन्ममें इन्हें भगवान्‌की जिस मोहिनी छविका दर्शन प्राप्त हुआ था, उसीको प्राप्त करनेकी छटपटाहटमें देवर्षि नारदने उस जन्मको भगवत्स्मृतिसे कृतार्थ कर पुनः इस जन्मको भगवान्‌के नित्य पार्षदके रूपमें प्राप्त किया। देवर्षि नारद भगवान्‌के विशेष कृपापात्र और लीलासहचर हैं। जब-जब भगवान्‌का अवतार होता है, ये उनकी प्रेमलीलाके लिये भूमि तैयार करते हैं। लीलोपयोगी उपकरणोंका संग्रह और अन्य प्रकारकी सहायता करते हैं। इनका मङ्गलमय जीवन जगत्‌के मङ्गलके लिये ही है। श्रीराम और श्रीकृष्णकी लीलाओंमें तो ये विशेषरूपसे सहयोग देते रहे।

एक समय देवर्षि नारदजीने भगवान्‌से पूछा—देवेश्वर! आप कहाँ निवास करते हैं? इसपर भगवान्‌ने कहा—नारद! न तो मैं वैकुण्ठमें वास करता हूँ और न योगियोंके हृदयमें, मेरे भक्त जहाँ मेरा गुणगान करते हैं, वहीं मैं भी रहता हूँ—

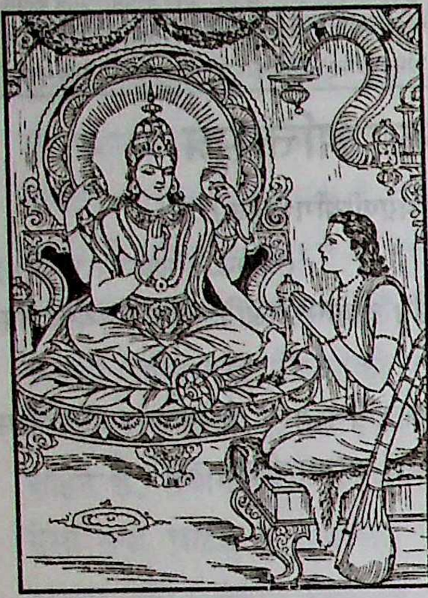

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न वै। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥
(पद्मपु० उ० ९२।२२)

बस, फिर क्या था, देवर्षि नारदजीने भगवद्गुणगान प्रारम्भ कर दिया। देवर्षि नारदजीने अनुभव किया कि भगवान् भक्तके प्रेमके वशीभूत हैं तथा प्रेमका, अनुरागका, अनुरक्तिका मार्ग सहज और सुलभ भी है। इसलिये अनन्य प्रेमसे उन्हें रिझाना चाहिये। इसी बातको बतानेके लिये इन्होंने चौरासी सूत्रोंकी उद्भावना की। ये ही चौरासी सूत्र भक्तिसूत्रके नामसे प्रसिद्ध हैं, जिनमें प्रेमकी महाभावदशाका बहुत ही अद्भुत वर्णन हुआ है। इस भक्तिसूत्रके सूत्र छोटे-छोटे हैं, संस्कृत बहुत ही सरल है, किंतु भाव बड़ा ही गम्भीर है। ये सभी सूत्र याद करनेयोग्य हैं। जैसे प्रेमके स्वरूपके विषयमें बताया गया है—'**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥**' (भक्तिसूत्र ५१)। प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है। यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है—'**गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥**' (भक्तिसूत्र ५४)। साथ ही भक्ति क्या है इसे बताते हुए कहा गया है—'**तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति॥**' (भक्तिसूत्र १९)। अर्थात् अपने सब कर्मोंको भगवान्के अर्पण करना और भगवान्का थोड़ा-सा भी विस्मरण होनेमें परम व्याकुल होना ही भक्ति है। नारदजीने प्रेमाभक्तिको कर्म, ज्ञान और योगसे भी बढ़कर बताते हुए कहा है—'**सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा॥**' (भक्तिसूत्र २५)। भक्तिको प्राप्त करनेके मुख्य साधनोंमें देवर्षि नारदजीने भगवत्प्रेमी महापुरुषोंकी अथवा लेशमात्र भी भगवत्कृपाको ही माना है—'**मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा॥**' (भक्तिसूत्र ३८)। यह भी बताया गया है कि महापुरुषोंका सङ्ग अथवा सत्सङ्ग बड़ा ही दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है तथा यह भगवान्की कृपासे ही प्राप्त होता है—'**महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च। लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव॥**' (भक्तिसूत्र ३९-४०)। भगवान् और उनके भक्तोंमें भेदका अभाव है—'**तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्॥**' (भक्तिसूत्र ४१)।

देवर्षि नारदजी बताते हैं कि भगवत्प्रेमी भक्त स्वयं तो तरता ही है, लोकोंको भी तार देता है—'**स तरति स तरति स लोकांस्तारयति॥**' (भक्तिसूत्र ५०)। इतना ही नहीं, भगवान्के प्रेमी भक्त तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मोंको सुकर्म और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र कर देते हैं—'**तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि॥**' (भक्तिसूत्र ६९)। ऐसे भक्तोंको पाकर पितर आनन्दित होते हैं, देवता नाचने लगते हैं और यह पृथ्वी सनाथा हो जाती है—'**मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति॥**' (भक्तिसूत्र ७१)। निष्कर्षरूपमें देवर्षि नारदजी कहते हैं—'**सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः॥**' (भक्तिसूत्र ७९)। अतः सब समय, सर्वभावसे निश्चिन्त होकर केवल भगवान्का ही भजन करना चाहिये। यहाँ अविकलरूपमें यह भक्तिसूत्र भावानुवादके साथ प्रस्तुत है—

नारदभक्तिसूत्र

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः॥१॥

अब हम भक्तिकी व्याख्या करेंगे।

सा त्वस्मिन्* परमप्रेमरूपा॥२॥

वह (भक्ति) ईश्वरके प्रति परम प्रेमरूपा है।

अमृतस्वरूपा च॥३॥

और अमृतस्वरूपा (भी) है।

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति॥४॥

जिसको (परम प्रेमरूपा और अमृतरूपा भक्तिको) पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है; अमर हो जाता है (और) तृप्त हो जाता है।

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति॥५॥

जिसके (प्रेमस्वरूपा भक्तिके) प्राप्त होनेपर मनुष्य न

---

* पाठभेद 'कस्मै'।

किसी वस्तुकी इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तुमें आसक्त होता है और न उसे (विषयभोगोंकी प्राप्तिमें) उत्साह होता है।

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति॥ ६॥

जिसको (परम प्रेमरूपा भक्तिको) जान (प्राप्त)-कर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध (शान्त) हो जाता है (और) आत्माराम बन जाता है।

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्॥ ७॥

वह (प्रेमाभक्ति) कामनायुक्त नहीं है, क्योंकि वह निरोधस्वरूपा है।

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः॥ ८॥

लौकिक और वैदिक (समस्त) कर्मोंके त्यागको निरोध कहते हैं।

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च॥ ९॥

उस प्रियतम भगवान्में अनन्यता और उसके प्रतिकूल विषयमें उदासीनताको भी निरोध कहते हैं।

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता॥ १०॥

(अपने प्रियतम भगवान्को छोड़कर) दूसरे आश्रयोंके त्यागका नाम अनन्यता है।

लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता॥ ११॥

लौकिक और वैदिक कर्मोंमें भगवान्के अनुकूल कर्म करना ही उसके प्रतिकूल विषयमें उदासीनता है।

भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम्॥ १२॥

(विधिनिषेधसे अतीत अलौकिक प्रेम-प्राप्ति करनेका मनमें) दृढ़ निश्चय हो जानेके बाद भी शास्त्रकी रक्षा करनी चाहिये अर्थात् भगवदनुकूल शास्त्रोक्त कर्म करने चाहिये।

अन्यथा पातित्याशङ्कया॥ १३॥

नहीं तो गिर जानेकी सम्भावना है।

लोकोऽपि तावदेव किंतु भोजनादिव्यापारस्त्वाशरीरधारणावधि॥ १४॥

लौकिक कर्मोंको भी तबतक (बाह्यज्ञान रहनेतक) विधिपूर्वक करना चाहिये, पर भोजनादि कार्य जबतक शरीर रहेगा तबतक होते रहेंगे।

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात्॥ १५॥

अब नाना मतोंके अनुसार उस भक्तिके लक्षण बताये जाते हैं।

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः॥ १६॥

पराशरनन्दन श्रीव्यासजीके मतानुसार भगवान्की पूजा आदिमें अनुराग होना भक्ति है।

कथादिष्विति गर्गः॥ १७॥

श्रीगर्गाचार्यके मतसे भगवान्की कथा आदिमें अनुराग होना ही भक्ति है।

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः॥ १८॥

शाण्डिल्य ऋषिके मतमें आत्मरतिके अविरोधी विषयमें अनुराग होना ही भक्ति है।

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति॥ १९॥

परंतु देवर्षि नारदके मतसे अपने सब कर्मोंको भगवान्के अर्पण करना और भगवान्का थोड़ा-सा भी विस्मरण होनेमें परम व्याकुल होना ही भक्ति है।

अस्त्येवमेवम्॥ २०॥

ठीक ऐसा ही है।

यथा व्रजगोपिकानाम्॥ २१॥

जैसे व्रजगोपियोंकी (भक्ति)।

तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः॥ २२॥

इस अवस्थामें भी (गोपियोंमें) माहात्म्यज्ञानकी विस्मृतिका अपवाद नहीं।

तद्विहीनं जाराणामिव॥ २३॥

उसके बिना (भगवान्को भगवान् जाने बिना किया जानेवाला प्रेम) जारोंके (प्रेमके) समान है।

नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम्॥ २४॥

उसमें (जारके प्रेममें) प्रियतमके सुखसे सुखी होना नहीं है।

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा॥ २५॥

वह (प्रेमरूपा भक्ति) तो कर्म, ज्ञान और योगसे भी श्रेष्ठतर है।

फलरूपत्वात्॥ २६॥

क्योंकि (वह भक्ति) फलरूपा है।

ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च॥ २७॥

ईश्वरको भी अभिमानसे द्वेषभाव है और दैन्यसे प्रियभाव है।

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके ॥ २८॥

उसका (भक्तिका) साधन ज्ञान ही है, किन्हीं (आचार्यों)-का यह मत है।

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥ २९॥

दूसरे (आचार्यों)-का मत है कि भक्ति और ज्ञान एक-दूसरेके आश्रित हैं।

स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः* ॥ ३०॥

ब्रह्मकुमारोंके (सनत्कुमारादि और नारदके) मतसे भक्ति स्वयं फलरूपा है।

राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात्॥ ३१॥

राजगृह और भोजनादिमें वैसा ही देखा जाता है।

न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा॥ ३२॥

न उससे (जान लेनेमात्रसे) राजाकी प्रसन्नता होगी, न क्षुधा मिटेगी।

तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः॥ ३३॥

अतएव (संसारके बन्धनसे) मुक्त होनेकी इच्छा रखनेवालोंको भक्ति ही ग्रहण करनी चाहिये।

तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः॥ ३४॥

आचार्यगण उस भक्तिके साधन बतलाते हैं।

तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च॥ ३५॥

वह (भक्ति-साधन) विषयत्याग और सङ्गत्यागसे सम्पन्न होता है।

अव्यावृतभजनात्॥ ३६॥

अखण्ड भजनसे (भक्तिका साधन सम्पन्न होता है)।

लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात्॥ ३७॥

लोकसमाजमें भी भगवत्-गुण-श्रवण और कीर्तनसे (भक्ति-साधन सम्पन्न होता है)।

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा॥ ३८॥

परंतु (प्रेमभक्तिकी प्राप्तिका साधन) मुख्यतया (प्रेमी) महापुरुषोंकी कृपासे अथवा भगवत्कृपाके लेशमात्रसे होता है।

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च॥ ३९॥

परंतु महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव॥ ४०॥

उस (भगवान्)-की कृपासे ही (महत्पुरुषोंका) सङ्ग भी मिलता है।

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्॥ ४१॥

क्योंकि भगवान्में और उनके भक्तमें भेदका अभाव है।

तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम्॥ ४२॥

(अतएव) उस (महत्सङ्ग)-की ही साधना करो, उसीकी साधना करो।

दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः॥ ४३॥

दुःसङ्गका सर्वथा ही त्याग करना चाहिये।

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात्॥ ४४॥

क्योंकि वह (दुःसङ्ग) काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश एवं सर्वनाशका कारण है।

तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात्समुद्रायन्ति॥ ४५॥

ये (काम-क्रोधादि) पहले तरङ्गकी तरह (क्षुद्र आकारमें) आकर भी (दुःसङ्गसे विशाल) समुद्रका आकार धारण कर लेते हैं।

कस्तरति कस्तरति मायाम्? यः सङ्गांस्त्यजति यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति॥ ४६॥

(प्रश्न) कौन तरता है? (दुस्तर) मायासे कौन तरता है? (उत्तर) जो सब सङ्गोंका परित्याग करता है, जो महानुभावोंकी सेवा करता है और जो ममतारहित होता है।

यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोकबन्धमुन्मूलयति, निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति॥ ४७॥

जो निर्जन स्थानमें निवास करता है, जो लौकिक बन्धनोंको तोड़ डालता है, जो तीनों गुणोंसे परे हो जाता है और जो योग तथा क्षेमका परित्याग कर देता है।

यः कर्मफलं त्यजति कर्माणि संन्यस्यति ततो निर्द्वन्द्वो भवति॥ ४८॥

जो कर्मफलका त्याग करता है, कर्मोंका भी त्याग करता है और तब सब कुछ त्यागकर जो निर्द्वन्द्व हो जाता है।

वेदानपि संन्यस्यति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते॥ ४९॥

जो वेदोंका भी भलीभाँति परित्याग कर देता है और जो अखण्ड असीम भगवत्प्रेम प्राप्त कर लेता है।

---

* पाठभेद 'ब्रह्मकुमारः'।

स तरति स तरति स लोकांस्तारयति॥ ५०॥

वह तरता है, वह तरता है, वह लोकोंको तार देता है।

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥ ५१॥

प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है।

मूकास्वादनवत्॥ ५२॥

गूँगेके स्वाद लेनेकी तरह।

प्रकाशते[१] क्वापि पात्रे॥ ५३॥

किसी बिरले योग्य पात्रमें (प्रेमी भक्तमें) ऐसा प्रेम प्रकट भी होता है।

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥ ५४॥

यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है।

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति[२] तदेव चिन्तयति॥ ५५॥

उस प्रेमको पाकर प्रेमी उस प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है, उस प्रेमका ही वर्णन करता है और उस प्रेमका ही चिन्तन करता है।

गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा॥ ५६॥

गौणी भक्ति गुणभेदसे अथवा आर्तादिभेदसे तीन प्रकारकी होती है।

उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति॥ ५७॥

(उनमें) उत्तर-उत्तर क्रमसे पूर्व-पूर्व क्रमकी भक्ति कल्याणकारिणी होती है।

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ॥ ५८॥

अन्य सबकी अपेक्षा भक्ति सुलभ है।

प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयंप्रमाणत्वात्॥ ५९॥

क्योंकि भक्ति स्वयं प्रमाणरूप है, इसके लिये अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है।

शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च॥ ६०॥

भक्ति शान्तिरूपा और परमानन्दरूपा है।

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात्[३]॥ ६१॥

लोकहानिकी चिन्ता (भक्तको) नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यह भक्त अपने-आपको और लौकिक-वैदिक (सब प्रकारके) कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर चुका है।

न तदसिद्धौ[४] लोकव्यवहारो हेयः किंतु फलत्यागस्तत्साधनं च कार्यमेव॥ ६२॥

(परंतु) जबतक भक्तिमें सिद्धि न मिले तबतक लोकव्यवहारका त्याग नहीं करना चाहिये, किंतु फल त्यागकर (निष्कामभावसे) उस भक्तिका साधन करना चाहिये।

स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं[५] न श्रवणीयम्॥ ६३॥

स्त्री, धन, नास्तिक और वैरीका चरित्र नहीं सुनना चाहिये।

अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम्॥ ६४॥

अभिमान, दम्भ आदिका त्याग करना चाहिये।

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्॥ ६५॥

सब आचार भगवान्‌के अर्पण कर चुकनेपर यदि काम, क्रोध, अभिमानादि हों तो उन्हें भी उस (भगवान्)-के प्रति ही करना चाहिये।

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदासनित्यकान्ताभजनात्मकं वा प्रेमैव कार्यम्, प्रेमैव कार्यम्॥ ६६॥

तीन (स्वामी, सेवक और सेवा) रूपोंको भङ्गकर नित्य दासभक्तिसे या नित्य कान्ताभक्तिसे प्रेम ही करना चाहिये, प्रेम ही करना चाहिये।

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः॥ ६७॥

एकान्त (अनन्य) भक्त ही श्रेष्ठ हैं।

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च॥ ६८॥

ऐसे अनन्य भक्त कण्ठावरोध, रोमाञ्च और अश्रुयुक्त नेत्रवाले होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोंको और पृथ्वीको पवित्र करते हैं।

---

[१] पाठभेद 'प्रकाश्यते।'

[२] किसी-किसी प्रतिमें 'तदेव भाषयति' नहीं है।

[३] पाठभेद 'लोकभेदशीलत्वात्'।

[४] पाठभेद 'तत्सिद्धौ'।

[५] पाठभेद 'स्त्रीधननास्तिकचरित्रं'।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि॥ ६९॥

ऐसे भक्त तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मोंको सुकर्म और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र कर देते हैं।

तन्मयाः॥ ७०॥

(क्योंकि) वे तन्मय हैं।

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति॥ ७१॥

(ऐसे भक्तोंका आविर्भाव देखकर) पितर प्रमुदित होते हैं, देवता नाचने लगते हैं और यह पृथ्वी सनाथा हो जाती है।

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः॥ ७२॥

उनमें (भक्तोंमें) जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादिका भेद नहीं है।

यतस्तदीयाः॥ ७३॥

क्योंकि (भक्त सब) उनके (भगवान्‌के) ही हैं।

वादो नावलम्ब्यः॥ ७४॥

(भक्तको) वाद-विवाद नहीं करना चाहिये।

बाहुल्यावकाशादनियतत्वाच्च॥ ७५॥

क्योंकि (वाद-विवादमें) बाहुल्यका अवकाश है और वह अनियत है।

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधककर्माण्यपि करणीयानि॥ ७६॥

(उस प्रेमाभक्तिकी प्राप्तिके लिये) भक्तिशास्त्रका मनन करते रहना चाहिये और ऐसे कर्म भी करने चाहिये जिनसे भक्तिकी वृद्धि हो।

सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्धमपि व्यर्थं न नेयम्॥ ७७॥

सुख, दुःख, इच्छा, लाभ आदिका (पूर्ण) त्याग हो जाय, ऐसे कालकी बाट देखते हुए आधा क्षण भी (भजन बिना) व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये।

अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्र्याणि परिपालनीयानि॥ ७८॥

(भक्तिके साधकको) अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि आचरणीय सदाचारोंका भलीभाँति पालन करना चाहिये।

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः॥ ७९॥

सब समय, सर्वभावसे निश्चिन्त होकर (केवल) भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये।

स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान्॥ ८०॥

वे भगवान् (प्रेमपूर्वक) कीर्तित होनेपर शीघ्र ही प्रकट होते हैं और भक्तोंको अपना अनुभव करा देते हैं।

त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी, भक्तिरेव गरीयसी॥ ८१॥

तीनों (कायिक, वाचिक, मानसिक) सत्योंमें (अथवा तीनों कालोंमें सत्य भगवान्‌की) भक्ति ही श्रेष्ठ है, भक्ति ही श्रेष्ठ है।

गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति॥ ८२॥

यह प्रेमरूपा भक्ति एक होकर भी १. गुणमाहात्म्यासक्ति, २. रूपासक्ति, ३. पूजासक्ति, ४. स्मरणासक्ति, ५. दास्यासक्ति, ६. सख्यासक्ति, ७. कान्तासक्ति, ८. वात्सल्यासक्ति, ९. आत्मनिवेदनासक्ति, १०. तन्मयतासक्ति और ११. परमविरहासक्ति—इस प्रकारसे ग्यारह प्रकारकी होती है।

इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमारव्यासशुकशाण्डिल्यगर्गविष्णुकौण्डिन्यशेषोद्धवारुणिबलिहनुमद्विभीषणादयो भक्त्याचार्याः॥ ८३॥

कुमार (सनत्कुमारादि), वेदव्यास, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान्, विभीषण आदि भक्तितत्त्वके आचार्यगण लोगोंकी निन्दा-स्तुतिका कुछ भी भय न कर (सब) एकमतसे ऐसा ही कहते हैं (कि भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है)।

य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धत्ते स प्रेष्ठं लभते स प्रेष्ठं लभत इति॥ ८४॥

जो इस नारदोक्त शिवानुशासनमें विश्वास और श्रद्धा करते हैं वे प्रियतमको पाते हैं, वे प्रियतमको पाते हैं।

महर्षि शाण्डिल्य और उनका भगवत्प्रेम

कृपामूर्ति महर्षि शाण्डिल्य परम भागवत हैं। भगवान्के अनन्य प्रेमी हैं। वे भगवान्के सौन्दर्य, माधुर्य एवं औदार्य आदि दिव्य स्वरूपोंका ध्यान करते रहते हैं। भगवान्की मङ्गलमयी कथाओंका प्रेमपूर्वक श्रवण तथा प्रेमाभक्तिका दान—ये ही दो उनके मुख्य कार्य रहे हैं। त्याग, वैराग्य, तपस्या तथा स्वाध्यायका आश्रयण और भगवत्प्रेममें निमग्न रहना—यही उनकी मुख्य चर्या रही है। पद्मपुराणने बताया है कि महर्षि शाण्डिल्य भगवान्की लीलास्थली परम पावन चित्रकूटधाममें रहते हुए श्रीमद्भागवतकी कथाओंका पाठ करते हुए ब्रह्मानन्दमें निमग्न रहते हैं—

इतिहासमिमं पुण्यं शाण्डिल्योऽपि मुनीश्वरः।
पठते चित्रकूटस्थो ब्रह्मानन्दपरिप्लुतः॥

(श्रीमद्भा० मा० ५।८९)

पुराणोंमें आया है कि कश्यपवंशी महामुनि देवलके पुत्र ही शाण्डिल्य नामसे प्रसिद्ध हुए। धर्मशास्त्रकार शङ्ख और लिखित इन्हींके पुत्र कहे गये हैं। ये रघुवंशीय नरेश दिलीपके पुरोहित थे। कहीं-कहीं नन्द-गोपके पुरोहितके रूपमें भी इनका वर्णन आता है। इन्होंने प्रभासक्षेत्रमें शिवलिङ्ग स्थापित कर दिव्य सौ वर्षोंतक घोर तपस्या और प्रेमपूर्ण आराधना की थी, फलस्वरूप भगवान् शिव प्रसन्न हुए और इनके सामने प्रकट होकर इन्हें तत्त्वज्ञान, भगवद्भक्ति और अष्टसिद्धियोंका वरदान दिया।

महर्षि शाण्डिल्यने मथुराधिपति राजा वज्रबाहुको सम्पूर्ण गर्गसंहिता सुनायी। इसका फल यह हुआ कि राजाको पार्षदोंसहित भगवान् राधामाधवके प्रत्यक्ष दर्शन हुए। उस समय महर्षि शाण्डिल्यने भगवान्की बहुत ही सुन्दर स्तुति की, जो इस प्रकार है—

वैकुण्ठलीलाप्रवरं मनोहरं
नमस्कृतं देवगणैः परं वरम्।
गोपाललीलाभियुतं भजाम्यहं
गोलोकनाथं शिरसा नमाम्यहम्॥

(गर्ग० मा० ४।८)

भाव यह है कि प्रभो! आप वैकुण्ठपुरीमें सदा लीलामें तत्पर रहनेवाले हैं। आपका स्वरूप परम मनोहर है। देवगण सदा आपको नमस्कार करते हैं। आप परम श्रेष्ठ हैं। गो-पालनकी लीलामें आपकी विशेष अभिरुचि रहती है—ऐसे आपका मैं भजन करता हूँ। साथ ही आप गोलोकाधिपतिको मैं नमस्कार करता हूँ।

एक बारकी बात है—ऋषियोंने महर्षि शाण्डिल्यसे पूछा—'भगवन्! सब जगह और सब समयमें काम देनेवाला ऐसा कौन-सा उपाय है, जिसके द्वारा मनुष्य सर्वोत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त कर सकता है?'

महर्षि शाण्डिल्यने उत्तर दिया—

क्षेममात्यन्तिकं विप्रा हरेर्भजनमेव हि।
देशकालानपेक्षात्र साधनाभावमप्युत॥

(शाण्डिल्यसंहिता १।९)

अर्थात् 'हे विप्रो! मनुष्य-जीवनमें सबसे बढ़कर कल्याणकारक भगवद्भजन है। किसी देश या कालकी इसमें अपेक्षा नहीं है और न इसके लिये साधन जुटाने पड़ते हैं।'

भक्तिः श्रीकृष्णदेवस्य सर्वार्थानामनुत्तमा।
एषा वै चेतसः शुद्धिर्यतः शान्तिर्यतोऽभयम्॥

(शा० सं० १।१९)

अर्थात् 'भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंसे भी बढ़कर है। इससे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर जीवको शान्ति मिलती है, वह निर्भय हो जाता है।'

महर्षि शाण्डिल्य भक्तिशास्त्रके महान् आचार्य हैं। जैसे भगवान् वेदव्यासने समस्त श्रुतियोंका समन्वय करनेके लिये ब्रह्मसूत्रका प्रणयन किया, वैसे ही श्रुतियों, श्रीमद्भागवत तथा गीताका तात्पर्यपरक निर्णय करनेके लिये इन्होंने एक विलक्षण ग्रन्थका प्रणयन किया, जो 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्र' या 'भक्तिमीमांसा' के नामसे प्रसिद्ध है। यह स्वरूपमें जितना ही लघु है, माहात्म्यमें उतना ही बृहद् है। इसमें छोटे-छोटे एक सौ सूत्र हैं। इन सूत्रोंमें उन्होंने प्रेम, प्रेमी तथा प्रेमास्पदका जो सुन्दर वर्णन किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इनके नामसे एक उपनिषद् भी प्राप्त है, जिसमें इन्हें योगज्ञानके विशिष्ट जिज्ञासु एवं आचार्यके रूपमें निर्दिष्ट

किया गया है। इस उपनिषद्में प्रेमयोगतत्त्व एवं अध्यात्म-साधनाकी प्रक्रियाका निरूपण हुआ है।

आचार्यका अभिमत है कि जीवोंका ब्रह्मभावापन्न होना ही मुक्ति है। जीव ब्रह्मसे अभिन्न है। उसका आवागमन स्वाभाविक नहीं है, किंतु जपाकुसुमके सांनिध्यसे स्फटिकमणिकी लालिमाके समान, अन्तःकरणकी उपाधिसे ही होता है, किंतु केवल औपाधिक होनेके कारण ही वह ज्ञानसे नहीं मिटाया जा सकता, उसकी निवृत्ति तो उपाधि और उपाधेय—इन दोनोंमेंसे किसी एककी निवृत्ति या सम्बन्ध छूट जानेसे ही हो सकती है। चाहे जितना ऊँचा ज्ञान हो, किंतु जैसे स्फटिकमणि और जपाकुसुमका सांनिध्य रहते लालिमाकी निवृत्ति नहीं हो सकती, वैसे ही जबतक अन्तःकरण है, तबतक न तो उपाधि और उपाधेयका सम्बन्ध छुड़ाया जा सकता है तथा न आवागमनसे ही जीवको बचाया जा सकता है। अतः उपाधिके नाशसे ही भ्रमकी निवृत्ति हो सकती है। उपाधिनाशके लिये भगवद्भक्तिसे बढ़कर और कोई उपाय नहीं है। इस भक्तिसे त्रिगुणात्मक अन्तःकरणका लय होकर ब्रह्मानन्दका प्रकाश हो जाता है, इससे आत्मज्ञानकी व्यर्थता भी नहीं होती; क्योंकि अश्रद्धारूपी मलको दूर करनेके लिये ज्ञानकी आवश्यकता होती है। इस प्रकार महर्षि शाण्डिल्यने भगवद्भक्तिकी उपयोगिता और ज्ञानकी अपेक्षा उसकी श्रेष्ठता सिद्ध की है।

भक्ति क्या है, इसे बताते हुए वे अपने भक्तिसूत्रमें कहते हैं—**'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** भगवान्में परम अनुराग ही भक्ति है अर्थात् भगवान्के साथ अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है। इस अनुरागसे ही जीव भगवन्मय हो जाता है, उसका अन्तःकरण अन्तःकरणके रूपमें पृथक् न रहकर भगवान्में समा जाता है, यही मुक्ति है।

भगवान्के सर्वोपरि गुणको बताते हुए महर्षि शाण्डिल्य कहते हैं—**'मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्'** (शाण्डिल्यसूत्र ४९) अर्थात् भगवान्का मुख्य गुण है—कारुण्य या दयालुता। परमात्मा परम दयालु हैं, कृपालु हैं, कृपासागर हैं—इस बातको सदा ध्यानमें रखते हुए प्रेमपूर्वक उनकी आराधना करनी चाहिये। इससे भगवद्विश्वासमें वृद्धि होगी और भगवान्में अनन्य प्रेम होनेमें परम सहायता प्राप्त होगी। करुणावरुणालय प्रभु करुणा—कृपाकी वर्षा कर जीवोंका उद्धार कर देते हैं। महर्षि शाण्डिल्यविरचित यह भक्तिसूत्र बड़े ही महत्त्वका है। इसके छोटे-छोटे सूत्रोंमें भगवत्प्रेमका बड़ा ही निगूढ़ भाव भरा हुआ है।

महर्षि शाण्डिल्य भगवान्की लीलास्थलियोंमें भ्रमण करते हुए, भगवान्के दिव्य चरित्रका अनुस्मरण करते हुए विभोर रहते हैं और भगवत्प्रेमियोंको भगवत्-लीलाधामका रहस्य भी बताते हैं। एक बार ऐसे ही भ्रमण करते हुए महर्षि व्रजभूमिमें पहुँच गये और महाराज परीक्षित् तथा राजा वज्रनाभकी प्रार्थनापर उन्होंने उन्हें भगवान्की अन्तरंग प्रेमलीलास्थली व्रजभूमिका रहस्य बताते हुए कहा—

प्रिय परीक्षित् और वज्रनाभ! मैं तुमलोगोंको व्रजभूमिका रहस्य बतलाता हूँ। तुम दत्तचित्त होकर सुनो। 'व्रज' शब्दका अर्थ है—व्याप्ति। इस वृद्धवचनके अनुसार व्यापक होनेके कारण ही इस भूमिका नाम 'व्रज' पड़ा है। सत्त्व, रज तथा तम—इन तीन गुणोंसे अतीत जो परब्रह्म है, वही व्यापक है। इसलिये उसे 'व्रज' कहते हैं। वह सदानन्दस्वरूप, परम ज्योतिर्मय और अविनाशी है। जीवन्मुक्त पुरुष उसीमें स्थित रहते हैं। इस परब्रह्मस्वरूप व्रजधाममें नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका निवास है। उनका एक-एक अङ्ग सच्चिदानन्दस्वरूप है। वे आत्माराम और आप्तकाम हैं। प्रेमरसमें डूबे हुए रसिकजन ही उनका अनुभव करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा हैं—राधिका; उसमें रमण करनेके कारण ही रहस्य-रसके मर्मज्ञ ज्ञानी पुरुष उन्हें 'आत्माराम' कहते हैं। 'काम' शब्दका अर्थ है कामना—अभिलाषा; व्रजमें भगवान् श्रीकृष्णके वाञ्छित पदार्थ हैं—गौएँ, ग्वालबाल, गोपियाँ और उनके साथ लीला-विहार आदि; वे सब-के-सब यहाँ नित्य प्राप्त हैं। इसीसे श्रीकृष्णको 'आप्तकाम' कहा गया है। भगवान् श्रीकृष्णकी यह रहस्यलीला प्रकृतिसे परे है। वे जिस समय प्रकृतिके साथ खेलने लगते हैं, उस समय दूसरे लोग भी उनकी लीलाका अनुभव करते हैं। प्रकृतिके साथ होनेवाली लीलामें ही रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणके द्वारा सृष्टि, स्थिति और प्रलयकी प्रतीति होती है।

इस प्रकार यह निश्चय होता है कि भगवान्‌की लीला दो प्रकारकी है—एक वास्तवी और दूसरी व्यावहारिकी। वास्तवी लीला स्वसंवेद्य है—उसे स्वयं भगवान् और उनके रसिक भक्तजन ही जानते हैं। जीवोंके सामने जो लीला होती है, वह व्यावहारिकी लीला है। वास्तवी लीलाके बिना व्यावहारिकी लीला नहीं हो सकती; परंतु व्यावहारिकी लीलाका वास्तविक लीलाके राज्यमें कभी प्रवेश नहीं हो सकता।

(स्कन्दपुराणान्तर्गत श्रीमद्भा० माहात्म्य १। १९—२६)

छान्दोग्य श्रुतिमें आपके द्वारा उपदिष्ट विद्याको 'शाण्डिल्यविद्या'के नामसे अभिहित किया गया है। उसमें आपने बताया है कि सारा ब्रह्माण्ड ब्रह्म है, इसका कारण यह है कि परमात्मा '**तज्जलानिति**' है अर्थात् यह संसार उसी परमात्मासे उत्पन्न होता है, उसीमें लीन होता है और उसीसे प्रतिपालित होता है। पुरुष भावनामय है। उसकी जैसी भावना होगी, वैसी ही उसे गति मिलेगी। परमात्मा सत्यसंकल्प, सर्वकर्ता तथा सर्वगत हैं, वे दयालु हमलोगोंके हृदयमें ही विराजमान हैं। यदि हमलोग उनका आश्रय लें तो उन्हें अवश्य प्राप्त कर सकते हैं, इसमें संदेह नहीं—

'**सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।**'
'**एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति।**'

(छान्दो० ३। १४। १, ४)

इस प्रकार भगवत्प्रेमी महर्षि शाण्डिल्यजीने भगवान्‌की प्रेमाभक्तिका उपदेश देकर जीवोंपर महान् अनुग्रह किया है।

श्रीशुकदेवजीकी माधुर्योपासना

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो-
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥

(श्रीमद्भा० १२। १२। ६८)

श्रीशुकदेवजी महाराज अपने आत्मानन्दमें ही निमग्न थे। इस अखण्ड अद्वैत स्थितिसे उनकी भेददृष्टि सर्वथा निवृत्त हो चुकी थी। फिर भी मुरलीमनोहर श्यामसुन्दरकी मधुमयी, मङ्गलमयी, मनोहारिणी लीलाओंने उनकी वृत्तियोंको अपनी ओर आकर्षित कर लिया और उन्होंने जगत्‌के प्राणियोंपर कृपा करके भगवत्तत्त्वको प्रकाशित करनेवाले इस (श्रीमद्भागवत) महापुराणका विस्तार किया। मैं उन्हीं सर्वपापहारी व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजीके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ।

भक्तिका प्रमुख तत्त्व है प्रेम। महर्षि शाण्डिल्यजी इसे परानुरक्ति तथा देवर्षि नारदजी परम प्रेमरूपा मानते हैं। श्रीवल्लभ '**स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः**' तथा श्रीवेदान्तदेशिक '**परमा भक्तिरतिशयिता प्रीतिः**' कहकर भक्तिमें अतिशय प्रेमकी प्रतिष्ठा स्वीकार करते हैं। भक्तका भगवान्‌के प्रति होनेवाला गाढ़ आकर्षण '**राग**' कहलाता है। प्रेमाभक्तिके मूलमें राग केन्द्रीय भाव है। इस रागमें योग-वियोगकी वृत्ति विद्यमान रहती है अर्थात् मिलन होनेपर बिछुड़ जानेकी आशंका तथा वियोगमें मिलनेकी उत्कण्ठा ही प्रेम है। प्रेमवृत्तिकी सर्वोच्च स्थिति आत्मसमर्पणमें प्रकट होती है, जहाँ सौन्दर्यके महासमुद्र श्रीकृष्णमें वह गोपीभाव बनकर अविच्छिन्नरूपमें प्रवाहित होती रहती है। ऋग्वेदकी ऋचाओं—'**पतिरिव जायामभि नो न्येतु धर्ता दिवः**' (१०। १४९। ४) तथा '**जायेव पत्य उशती सुवासाः**' (१०। ७१। ४)-में निहित उत्कट दाम्पत्यभाव ही माधुर्योपासनाका मूलाधार कहा जा सकता है। इन मन्त्रोंमें भक्त कहता है कि उसकी चित्तवृत्तियाँ सब कुछ छोड़कर वैसे ही परमेश्वरकी ओर दौड़ें, जैसे आलिङ्गनके लिये आतुर स्त्रियाँ पतिकी ओर दौड़ती हैं। उपनिषद् परम तत्त्वको '**रसो वै सः**' कहकर रसरूप मानता है, भक्तको यदि उस रसको प्राप्त करना है तो स्वयंको रसिक बनाना होगा। इसलिये रसिकभक्तोंका सिद्धान्त बन गया—

कृष्णप्रिया सखीभावं समाश्रित्य प्रयत्नतः।
तयोः सेवां प्रकुर्वीत दिवानक्तमतन्द्रितः॥

श्रीशुकदेवजी वृत्रासुरके प्रसंगमें स्पष्ट कहते हैं कि आदर्श भक्तको कैसा होना चाहिये और उसकी एकाग्रता, अनन्यता तथा प्रेमकी प्रगाढ़ता कैसी होनी चाहिये? भगवान्‌को प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए वृत्रासुरने प्रार्थना की—जैसे पक्षियोंके पंखविहीन बच्चे अपनी माकी राह देखते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माका दूध पीनेके लिये अकुला उठते हैं और सर्वोपरि जैसे वियोगिनी प्रेमिका अपने प्रियतमसे मिलनेके लिये बेचैन हो उठती है, वैसे ही हे कमलनयन, रमणीयताकी मूर्ति, सर्वसौभाग्यनिधि परमात्मन्! तुम्हें देखनेके लिये मेरे नेत्र छटपटा रहे हैं—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

(श्रीमद्भा० ६।११।२६)

श्रीमद्भागवतकी माधुर्यपरक लीलाओंके चित्रणने निम्बार्क, चैतन्य, हरिदासी, राधावल्लभीय तथा शुकसम्प्रदायके साधकोंको पूर्णरूपसे प्रभावित किया। श्रीजीवगोस्वामीने 'प्रीति-संदर्भ' नामक ग्रन्थमें भगवान्‌की ऐश्वर्य तथा माधुर्यपरक लीलाओंमेंसे माधुर्य लीलाको सर्वश्रेष्ठ बताया है। उनकी दृष्टिमें मधुरोपासना सर्वोपरि साधना है। 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थमें कहा गया है कि रसराज श्रीकृष्ण और उनकी प्राणवल्लभा गोपियाँ माधुर्यभावके आलम्बन हैं—

अस्मिन्नालम्बनाः प्रोक्ताः कृष्णस्तस्य च वल्लभाः।

यहाँ यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि काम तथा भगवत्प्रेममें अन्तर है। जिन लोगोंकी बुद्धि परमेश्वरमें लीन रहती है, उनमें कामनाएँ उत्पन्न होनेपर भी सांसारिक भोगोंकी प्रवृत्ति नहीं होती। भगवद्विषयक रति वह अंगार है, जो मनके बीजको भून डालता है। जैसे भुने हुए अन्नमें अङ्कुर उत्पन्न नहीं हो सकते, वैसे ही कृष्णासक्त मनमें लौकिक कामनाओंको अङ्कुरित होनेका अवसर ही नहीं मिलता। चीरहरण-प्रसंगमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंसे कहते हैं—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥

(श्रीमद्भा० १०।२२।२६)

यह भाव क्योंकि श्रीकृष्णकी प्रियताके लिये है, इसमें साधककी निजी भोगवृत्ति नहीं है। अतः लौकिक दृष्टिसे दीखनेवाला काम यहाँ प्रेममें परिणत हो जाता है। कृष्णदास कविराजने इसीलिये कहा था—

आत्म सुख दुःख गोपी ना करे विचार।
कृष्ण सुख हेतु करे सब व्यवहार॥
कृष्ण बिना और सब करि परित्याग।
कृष्ण सुख हेतु करे शुद्ध अनुराग॥

माधुर्यभावका तात्पर्य निजेन्द्रिय-सुखकी कामना नहीं है, वह तो श्रीकृष्णके सुखके लिये है। श्रीमती कुब्जाको छोड़कर अन्य किसीमें निज सुखकी कामना नहीं है। मेरा विचार है कि शुद्ध माधुर्य वृन्दावनमें है। मथुरा ऐश्वर्यलीलाकी भूमि है, अतः वहाँ कुब्जामें यह भाव उत्पन्न हो सकता है। श्रीशुकदेवजीने कुब्जाको यहाँ गोपियोंसे हीन मानकर कहा है—परीक्षित्! कुब्जाने केवल अङ्गराग समर्पित कर उस परमतत्त्वको पा लिया जो अत्यन्त कठिन है, परंतु उस दुर्भगाने उसे प्राप्त करके भी व्रजगोपियोंकी भाँति सेवा न माँगकर विषयसुख माँगा। जो भगवान्‌को प्रसन्न करके उनसे विषयसुखकी याचना करता है, वह निश्चय ही दुर्बुद्धि है; क्योंकि वास्तवमें विषयसुख अत्यन्त तुच्छ है—

सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम्।
अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत॥
दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम्।
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात् कुमनीष्यसौ॥

(श्रीमद्भा० १०।४८।८, ११)

श्रीशुकदेवजी कुब्जाको दुर्भगा कहते हैं, पर गोपियोंको भगवान् श्रीकृष्ण महाभागा कहते हैं। रासकी रात्रिमें पधारी हुई गोपियोंको देखकर वे कह उठते हैं—

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।

(श्रीमद्भा० १०।२९।१८)

इसपर शुकदेवजीकी टिप्पणी है—गोपियोंने अपने प्यारे श्यामसुन्दरके लिये सारी कामनाएँ, सारे भोग छोड़ दिये थे। श्रीकृष्णमें उनका अनन्त अनुराग तथा परम प्रेम था। गोपियाँ यह निश्चय कर चुकी थीं कि आत्मज्ञानमें निपुण महापुरुष भी उनसे ही प्रेम करते हैं—

प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं
कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः।

× × ×

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।

(श्रीमद्भा० १०।२९।३०, ३३)

श्रीशुकदेवजी स्वयं निकुञ्जसेवी थे। भुशुण्डिरामायण (९९।७३।७४)-में उन्हें सखीरूपमें प्रस्तुत किया गया है—

असौ मुनिर्नित्यविलासदर्शने
कुतूहली श्रीजनकात्मजायाः।
सखीपदं प्राप्य निकुञ्जराज्ये
प्रियेण साकं रमते सदैव॥

यही नहीं, वे राजा दशरथको व्रजके प्रमुख रस-स्थानोंका दर्शन करानेके बाद वहीं निकुञ्जलीलामें भाग

लेनेके लिये अन्तर्धान भी हो जाते हैं। ब्रह्माजी भुशुण्डिरामायणमें कहते हैं—

इति व्रजं दर्शयित्वा राज्ञे दशरथाय सः।
तस्मिन्नेव निकुञ्जान्तः पश्यतोऽन्तर्दधौ शुकः॥

श्रीशुकदेवजी नित्य वृन्दावनधामकी निकुञ्जलीलाको उपास्य मानते हैं। साधकोंके लिये यह लीला प्रकट और संसारी जीवोंके लिये अप्रकट मानी गयी है। साधकका निस्संग आनन्दानुभव ही इसका प्रयोजन है। केवल गोपीभावमें निस्संग सुखानुभवके लिये कोई स्थान नहीं है। श्रीशुकदेवजी श्रीसीता-राम तथा श्रीराधा-कृष्णके निकुञ्जविहारके निस्संग साक्षी हैं, वे प्रिय-प्रियतमाके नित्यविहारदर्शनके अभिलाषी हैं। शुकदेवजीकी मधुरोपासना इतनी उज्ज्वल और प्रगाढ़ है कि श्रीरामभक्तिके तथा श्रीकृष्णभक्तिके रसिक सम्प्रदायवाले समानभावसे उन्हें प्रमाण मानते हैं। चाहे श्रीसीता-राम हों या श्रीराधा-कृष्ण हों, है तो अद्वयतत्त्वका ही द्विधा रूप। वृन्दावनदेवजीका तो कथन ही है—

मूर्तिमान श्रृंगार हरि, सब रस को आधार।
रस पोषक सब शक्ति ले, व्रज में करत विहार॥

आचार्य वल्लभने श्रीशुकदेवजीके इस वचनका उल्लेख करते हुए उपासनामें कान्ताभावको स्वीकार किया है—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
(श्रीमद्भा० १०।२९।१५)

अर्थात् भगवान्से केवल सम्बन्ध हो जाना चाहिये। वह सम्बन्ध चाहे जैसा हो—कामका हो, क्रोधका हो या भयका हो; स्नेह, नातेदारी या सौहार्दका हो। चाहे जिस भावसे भगवान्में नित्य-निरन्तर अपनी वृत्तियाँ जोड़ दी जायँ, वे भगवान्से ही जुड़ती हैं। इसीलिये वृत्तियाँ भगवन्मय हो जाती हैं और उस जीवको भगवान्की ही प्राप्ति होती है।

सुबोधिनीमें कामको स्त्रीभावमें तथा सौहार्दको सख्यभावमें निहित मानते हुए प्रथम स्थानीय-उपासनाभाव, कान्ताभाव या माधुर्यको तथा द्वितीय स्थानीय-भाव सख्यको बताया गया है। इसीलिये यहाँ काम पहले तथा सख्य अन्तमें आया है। जीवका कल्याण भगवान्से सम्बन्ध स्थापित करनेमें है, वह सम्बन्ध चाहे जैसा हो। भगवन्मय वृत्तियाँ परम तत्त्वकी प्राप्तिमें सहायक होती हैं। इनमें प्रबल वृत्ति काम है। अतः मधुरोपासनाको भावदृष्टिसे श्रेष्ठ साधना समझना चाहिये, ऐसी श्रीशुकदेवजीकी स्थापना है।

भागवतमें कामको दैहिक स्तरपर स्वीकार नहीं किया गया, वह भावके स्तरपर अनुरागका रूप धारण करता है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका कथन है कि इस संसारमें उनका अङ्ग-सङ्ग ही मनुष्योंमें प्रीति या अनुरागका कारण नहीं है। इसीलिये याज्ञिकोंकी पत्नियोंको लौट जानेका आदेश देते हुए वे कहते हैं—'हे ब्राह्मणपत्नियो! तुम जाओ और अपना मन मुझमें लगा दो। तुम्हें बहुत शीघ्र मेरी प्राप्ति हो जायगी।'

न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह।
तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ॥
(श्रीमद्भा० १०।२३।३२)

शुकदेवजी पतिके द्वारा बलपूर्वक रोकी गयी एक मधुरोपासिका ब्राह्मणपत्नीकी चर्चा इस प्रसंगमें करते हैं तथा श्रीकृष्णके वाक्यकी पुष्टिमें कहते हैं कि उस ब्राह्मणपत्नीने श्यामसुन्दरके सुने हुए रूपमाधुर्यका ध्यान करते हुए मन-ही-मन उनका आलिङ्गन किया तथा शरीरका विसर्जन कर दिया—

तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम्।
हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम्॥
(श्रीमद्भा० १०।२३।३४)

वेणुगीतकी पृष्ठभूमिमें भी गोपियोंके भावजगत्में विहारका चित्रण शुकदेवजी करते हैं। श्रीकृष्णके नटवररूपकी कल्पनामें आकर्षणकी पराकाष्ठा निहित है। भगवान्से मिलनेकी आकाङ्क्षाने गोपियोंके मनोराज्यमें वृन्दावनविहारीको लाकर खड़ा कर दिया। मनसा प्रत्यक्षीकरणकी इस प्रक्रियामें उन्होंने वंशीध्वनि भी सुन ली और फिर वे इतनी तन्मय हो गयीं कि श्रीकृष्णको पाकर उनका आलिङ्गन करने लगीं। यहाँ **'स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम्'** पर यदि ध्यान देंगे तो भावलोकका सौन्दर्य पकड़में आ जायगा।

योगमें वियोग तथा वियोगमें योगकी भावना इस माधुर्योपासनाका मुख्य आधार है। दिनके समय गोचारणके लिये गये भगवान्का वियोग उनके योगमें ही छिपा है तथा भगवान्के मथुरा चले जानेपर भी गोपियाँ वियोगमें योगका अनुभव करती हैं। वस्तुतः ध्यानयोगकी सिद्धि ही कृष्णवियोगका फल है। श्रीकृष्णने अपने संदेशमें

स्पष्ट कहा है—गोपियो! तुमसे दूर रहनेका एक विशेष कारण है। वह यही कि तुम मेरा प्रगाढ़ ध्यान कर सको, शरीरसे दूर रहनेपर ही मनसे किया गया संनिधिका अनुभव स्मृतिको तरोताज़ा रखता है। विमुक्त होकर ही प्रेममें प्रगाढ़ता आती है—

यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम्।
मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया॥
(श्रीमद्भा० १०।४७।३४)

सचमुच गोपियाँ इसी स्थितिमें पहुँच चुकी थीं। वे सर्वत्र श्रीकृष्णका ही अनुभव करती थीं। तभी तो वे उद्धवजीसे कहती हैं—यह वही यमुना नदी है, जिसमें वे विहार करते थे। यह वही पर्वत है, जिसके शिखरपर चढ़कर वे बाँसुरी बजाते थे। ये वे ही वन हैं, जिनमें वे रासलीला करते थे और ये वे ही गौएँ हैं, जिनको चरानेके लिये वे सुबह-शाम हमलोगोंको देखते हुए आते-जाते थे और यह ठीक वैसी ही वंशीकी तान हमारे कानोंमें गूँजती रहती है जैसी वे अपने अधरोंके संयोगसे छेड़ा करते थे। यहाँका एक-एक प्रदेश, एक-एक धूलिकण उनके परम सुन्दर चरणकमलोंसे चिह्नित है। हम इन्हें देखती रहती हैं और ये भी हर क्षण श्रीकृष्णको हमारी आँखोंके सामने लाकर रख देते हैं। अब उद्धवजी तुम्हीं बताओ, हम उन्हें भूलें भी तो कैसे?

पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत।
श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः॥
(श्रीमद्भा० १०।४७।५०)

इस प्रकार कहा जा सकता है कि शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्यभावकी उपासनामें शुकदेवजीको माधुर्य या कान्ताभक्ति ही अधिक प्रिय है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी अनेक प्रकारके संवेगोंका उदय, विकास तथा लयीकरण इस भावोपासनामें ही हो सकता है। लौकिक रतिके उन्नयनका मार्ग भी इसी प्रक्रियामें मिल सकता है। 'वैष्णवनकी वार्ता' के अनेक भक्तोंका जीवन इस संदर्भमें उद्धृत किया जा सकता है। अतः संस्कृतहृदय भावुक भक्तको श्रीमद्भागवतका यह साधनापक्ष अंगीकार करना चाहिये। परमहंसवृत्तिका साधक ही इस साधनामें सफल हो सकता है, अन्यको इस मार्गपर चलनेका अधिकार नहीं है।

(आचार्य डॉ० श्रीविष्णुदत्तजी राकेश, विद्यासागर, विद्यावाचस्पति, पी-एच्०डी०, डी० लिट्०)

कृष्णप्रिया श्रीरुक्मिणीजीका प्रभुमें अनन्य प्रेम

श्रीमद्भागवतमें अनिर्वचनीय प्रेमके दो चरित्र बड़े ही पुनीत और अलौकिक हैं। प्रथम प्रेमकी जीवित प्रतिमा प्रातःस्मरणीया गोपबालाओंका और द्वितीय भगवती श्रीरुक्मिणीजीका। विदर्भ देशके राजा भीष्मकके रुक्मी, रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश और रुक्ममाली नामक पाँच पुत्र और रुक्मिणी नामकी एक सबसे छोटी कन्या थी। रुक्मिणीजी साक्षात् रमा थीं, भगवान्में उनका चित्त तो स्वाभाविक ही अनुरक्त था, परंतु लीलासे नारदादि तत्त्वज्ञानियोंके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णके माहात्म्य, रूप, वीर्य, गुण, शोभा और वैभवका अनुपम वर्णन सुनकर अपने मनमें उन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि श्रीकृष्ण ही मेरे पति हैं।

आरम्भमें साधकको अपना ध्येय निश्चय करनेकी ही आवश्यकता होती है। ध्येय निश्चित होनेके पश्चात् उसकी प्राप्तिके लिये साधन किये जाते हैं। जिसका लक्ष्य ही स्थिर नहीं, वह लक्ष्यवेध कैसे करेगा? भगवती रुक्मिणीने दृढ़ प्रत्यय कर लिया कि जो कुछ भी हो, चाहे जितना लोभ या भय आये, मुझे तो श्रीकृष्णको ही अपने जीवनाधार-रूपमें प्राप्त करना है। भक्त भगवान्को जैसे भजता है भगवान् भी भक्तको वैसे ही भजते हैं। श्रीरुक्मिणीने जब श्रीकृष्णका माहात्म्य सुनकर उनका पतिरूपसे वरण किया तो उधर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने भी रुक्मिणीको बुद्धि, लक्षण, उदारता, रूप, शील और गुणोंकी खान समझकर—योग्य अधिकारी मानकर पत्नीरूपसे ग्रहण करनेका निश्चय कर लिया।

श्रीरुक्मिणीजीके बड़े भाई रुक्मी भगवान् श्रीकृष्णसे द्वेष रखते थे, उन्होंने अपने माता-पिता और भाइयोंकी इच्छाके विपरीत रुक्मिणीजीका विवाह श्रीकृष्णसे न कर शिशुपालसे करना चाहा और उन्हींके इच्छानुसार सम्बन्ध पक्का भी हो गया। जब यह समाचार श्रीरुक्मिणीजीको मिला, तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने अपना जीवन पहलेसे ही भगवान्पर न्योछावर कर दिया था। अब इस विपत्तिमें पड़कर उन्होंने अपने मनकी दशाके सम्बन्धमें

श्रीकृष्णके प्रति निवेदन करनेके अभिप्रायसे एक छोटा-सा पत्र लिखा और एक विश्वासी वृद्ध ब्राह्मणको उसे देकर द्वारका भेज दिया। पत्र क्या था! प्रेम-समुद्रके कुछ अमूल्य और अनुपम रत्नोंकी एक मंजूषा थी। थोड़ेसे शब्दोंमें अपना हृदय खोलकर रख दिया गया था। नवधा भक्तिके अन्तिम सोपान आत्मनिवेदनका सुन्दर स्वरूप उसके अंदर था।

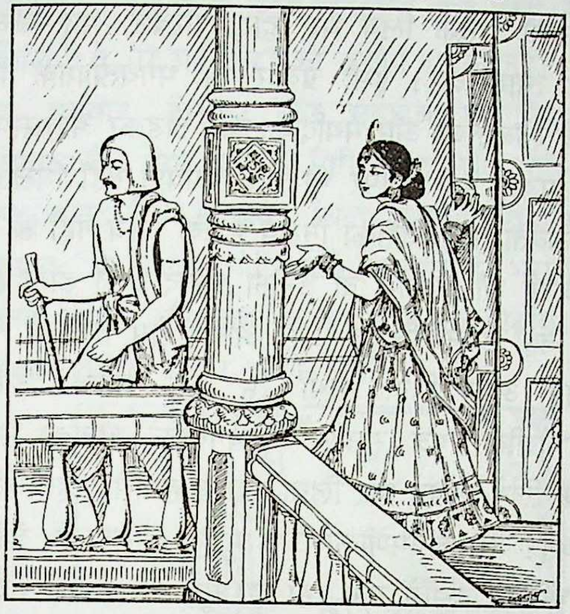

ब्राह्मणदेवता द्वारका पहुँचकर श्रीकृष्णचन्द्रके द्वारपर उपस्थित हुए। द्वारपाल उन्हें अंदर ले गया। भगवान् श्रीकृष्णने ब्राह्मणदेवताको देखते ही सिंहासनसे उतरकर उनकी अभ्यर्थना की। अपने हाथोंसे उठाकर आसन दिया और आदरपूर्वक बैठाकर भलीभाँति उनकी पूजा की। ब्राह्मणके भोजन-विश्रामादि कर चुकनेपर भगवान् श्रीकृष्ण उनके पास जाकर बैठ गये और अपने कोमल कर-कमलोंसे उनके पैर दबाते-दबाते धीर-भावसे कुशल-समाचार पूछनेके बाद ब्राह्मणसे बोले—'महाराज! मैं उन सब ब्राह्मणोंको बारम्बार मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ जो सदा संतुष्ट रहते हैं, जो दरिद्र होनेपर भी सुखसे अपना जीवन बिताते हैं, जो साधु हैं, प्राणिमात्रके परम बन्धु हैं और जो निरभिमानी तथा शान्त हैं। ब्रह्मन्! आप अपने राजाके राज्यमें सुखसे तो रहते हैं? जिस राजाके राज्यमें प्रजा सुखी है, वही राजा मुझको प्रिय है।' इस प्रकार कुशल-प्रश्नके बहानेसे भगवान्ने ब्राह्मण और क्षत्रियोंके उस धर्मको बतला दिया, जिससे वे भगवान्के प्रिय पात्र बन सकते हैं।

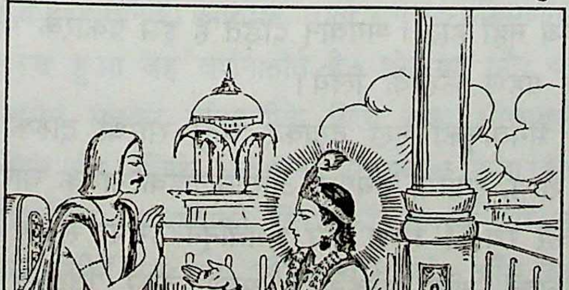

ब्राह्मणने सारी कथा संक्षेपमें सुनाकर वह प्रेम-पत्रिका भगवान्को दिखलायी, जिसपर श्रीरुक्मिणीके द्वारा अपनी प्रेम-मुद्रिकाकी मुहर लगायी हुई थी। भगवान्की आज्ञा पाकर ब्राह्मणने पत्र पढ़कर सुनाया। पत्रमें लिखा था—'हे त्रिभुवनकी सुन्दरताके समुद्र! हे अच्युत! जो कानोंके छिद्रोंद्वारा हृदयमें प्रवेश करके (तीनों प्रकारके) तापोंको शान्त करते हैं, वे आपके सब अनुपम गुण और नेत्रधारियोंकी दृष्टिका जो परम लाभ है; ऐसे आपके मनोमोहन स्वरूपकी महिमा सुनकर मेरा चित्त आपपर आसक्त हो गया है, लोकलज्जाका बन्धन भी उस (प्रेमके प्रवाह)-को नहीं रोक सकता।'

'हे मुकुन्द! ऐसी कौन कुलवती, गुणवती और बुद्धिमती कामिनी है, जो आप-जैसे अतुलनीय कुल, शील, स्वरूप, विद्या, अवस्था, सम्पत्ति और प्रभाव-सम्पन्न पुरुषको विवाह-समय उपस्थित होनेपर पति-रूपसे वरण करनेकी अभिलाषा नहीं करेगी। हे नरश्रेष्ठ! आप ही तो मनुष्योंके मनको रमानेवाले हैं। अतएव हे विभो! मैंने आपको पति मानकर आत्मसमर्पण कर दिया है, अतएव आप यहाँ अवश्य पधारकर मुझे अपनी धर्मपत्नी बनाइये। हे कमलनयन! मैं अब आपकी हो चुकी, क्या सियार कहीं सिंहके भागको हर ले जा सकता है? मैं चाहती हूँ आप वीर-श्रेष्ठके भाग—मुझको सियार शिशुपाल यहाँ आकर स्पर्श भी न कर सके। यदि मैंने पूर्त (कुआँ-बावड़ी आदि बनवाना), इष्ट (अग्निहोत्रादि), दान, नियम, व्रत एवं देवता, ब्राह्मण और गुरुओंके पूजनद्वारा भगवान्की कुछ भी आराधना की है तो भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं आकर मेरा पाणिग्रहण करें और दमघोषनन्दन (शिशुपाल) आदि दूसरे

राजा मुझे हाथ भी न लगा सकें।'

'हे अजित! परसों विवाहकी तिथि है, अतएव आप एक दिन पहले गुप्त-रूपसे पधारिये, फिर पीछेसे आये हुए अपने सेनापतियोंको साथ लेकर शिशुपाल-जरासंध आदिकी सेनाको नष्ट-भ्रष्ट कर बलपूर्वक मुझे ग्रहण कीजिये, यही मेरी विनम्र प्रार्थना है। यदि आप यह कहें कि तुम तो अन्तःपुरमें रहती हो, तुम्हारे बन्धुओंको मारे बिना मैं किस तरह तुम्हारे साथ विवाह कर सकता हूँ या तुम्हें हरकर ले जा सकता हूँ? तो मैं आपको उसका उपाय बताती हूँ। हमारे कुलकी सनातन रीतिके अनुसार कन्या पहले दिन कुलदेवी भवानीकी पूजा करनेके लिये बाहर मन्दिरमें जाया करती है। वहाँ मुझे हरण करना सुलभ है।' इतना लिखनेके पश्चात् अन्तमें देवी रुक्मिणी लिखती हैं—

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो
वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोऽपहत्यै ।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
जह्यामसून् व्रतकृशाञ्छतजन्मभिः स्यात्॥
(श्रीमद्भा० १०।५२।४३)

'हे कमललोचन! उमापति महादेव तथा उनके समान दूसरे ब्रह्मादि महान् लोग, अपने अन्तःकरणका अज्ञान मिटानेके लिये आपके जिस चरणरजके कणोंसे स्नान करनेकी प्रार्थना करते रहते हैं, मैं यदि उस प्रसादको नहीं पा सकी तो निश्चय समझियेगा कि मैं व्रत-उपवासादिके द्वारा शरीरको सुखाकर व्याकुल हुए प्राणोंको त्याग दूँगी। (यों बारम्बार करते रहनेपर अगले) सौ जन्मोंमें तो आपका प्रसाद प्राप्त होगा ही।'

कुछ लोग कहते हैं कि इस पत्रमें कौन-सी बड़ी बात है? किसी पुरुषके रूप-गुणपर मुग्ध होकर घरवालोंकी इच्छाके विरुद्ध उसे प्रेमपत्र लिखना कौन-सी अच्छी बात है? परंतु ऐसा कहनेवाले सज्जन भूलते हैं। श्रीरुक्मिणीजीने किसी पार्थिव रूप-गुणपर मुग्ध होकर यह पत्र नहीं लिखा, पत्रके अन्तिम श्लोकसे स्पष्ट सिद्ध है कि रुक्मिणी किसी राजा या बलवान्‌को नहीं जानती और चाहती थीं। रुक्मिणी जानती थीं देवदेव महादेवादिद्वारा वन्दित-चरण कमललोचन साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णको! रुक्मिणीका त्याग और निश्चय देखिये! इष्ट, पूर्त, दान, नियम, व्रत और देवता-गुरु-ब्राह्मणोंकी पूजा आदि सबका फल रुक्मिणी केवल एक ही चाहती हैं। यही तो भक्तका निष्कामकर्म है। भक्तके द्वारा दान, यज्ञ, तप आदि सभी कर्म किये जाते हैं, परंतु किसलिये? धन, जन, भोग, स्वर्गादिके लिये नहीं, केवल भगवान्‌को पानेके लिये घर, द्वार, परिवार, भाई-बन्धुका ममत्व त्याग कर। इसी प्रकार तो भगवत्प्राप्तिके लिये भक्तको लोकलज्जा और मर्यादाका बाँध तोड़कर आत्मसमर्पण करना पड़ता है। इतनेपर भी यदि भगवान् नहीं मिलते तो भक्त ऊबता नहीं। उसका निश्चय है कि आज नहीं तो क्या है, 'कभी सौ जन्मोंमें तो उनका प्रसाद प्राप्त होगा ही।'

जहाँ इतना विशुद्ध और अनन्य प्रेम होता है, वहाँ भगवान् आये बिना कभी रह नहीं सकते। अतएव रुक्मिणीजीका पत्र सुनते ही भगवान्‌ने भक्तका संकट हरनेके लिये निश्चय कर लिया और ब्राह्मणसे कहने लगे— 'भगवन्! जैसे रुक्मिणीका चित्त मुझमें आसक्त है, वैसे ही मेरा भी मन उसीमें लग रहा है। मुझे तो रातको नींद भी नहीं आती……। मैंने निश्चय कर लिया है कि युद्धमें अधम क्षत्रियोंकी सेनाका मन्थन कर उसके बीचसे, काष्ठके भीतरसे अग्नि-शिखाके समान, मुझको एकान्त-भावसे भजनेवाली अनिन्दिताङ्गी राजकुमारी रुक्मिणीको ले आऊँगा।' वही भक्त सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है, जो अपने अन्तरके प्रेमकी प्रबल इच्छासे भगवान्‌के चित्तमें मिलनेके लिये अत्यन्त व्याकुलता उत्पन्न कर दे। इस प्रकारकी अवस्थामें भगवान् भक्तसे मिले बिना एक क्षण भी सुखकी नींद नहीं सो सकते। जैसे भक्त अपने प्रियतम भगवान्‌के विरहमें तारे गिनता हुआ रात बिताता है, वैसे ही भगवान् भी उसीके ध्यानमें जागा करते हैं; ऐसी स्थिति हो जानेपर भगवत्प्राप्तिमें विलम्ब नहीं होता। भगवान् दौड़ते हैं इस प्रकारके भक्तको सादर ग्रहण करनेके लिये।

भगवान्‌का रुख देखकर चतुर सारथी दारुक उसी क्षण शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामक चार घोड़े जोतकर रथ ले आया और भगवान्‌ने उसपर सवार होकर रथ बहुत शीघ्र हाँकनेकी आज्ञा देकर विदर्भ देशके कुण्डिनपुरके लिये प्रस्थान किया। ब्राह्मणदेवता भी साथ ही थे।

श्रीरुक्मिणीजीने सारी रात जागते हुए बितायी, सूर्योदय होनेको आया, ब्राह्मण नहीं लौटे, रुक्मिणीकी विरह-व्यथा उत्तरोत्तर बढ़ रही थी, वे मनमें इस प्रकार चिन्ता करने लगीं

कि 'अहो! रात बीत गयी, सबेरे मुझ अभागिनीके विवाहका दिन है। कमललोचन भगवान् श्रीकृष्ण अबतक नहीं आये, न ब्राह्मणदेवता ही लौटे? क्या उन अनिन्दितात्मा श्रीकृष्णने मुझमें कहीं कोई निन्दनीय बात देखी है? क्या इसीलिये वे मेरे पाणिग्रहणका उद्योग करके नहीं पधारते? क्या भगवान्, विधाता और महादेव मुझ अभागिनीके प्रतिकूल हैं? क्या भगवती गिरिजा, रुद्राणी, गौरी भी मेरे अनुकूल नहीं हैं?' इस प्रकार चिन्ता करती हुई श्रीरुक्मिणीजी, जिनका चित्त केवल गोविन्दकी चिन्तासे ही भरा हुआ है, जिनके नेत्रोंसे आँसू बह रहे हैं, अपने उन नेत्रोंको मूँदकर भगवान् हरिका ध्यान करने लगीं!

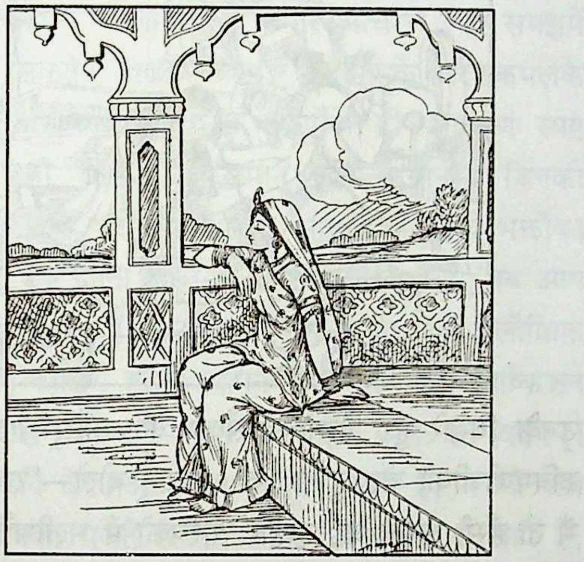

भगवान् श्रीकृष्णके ध्यानमें मग्न होते ही रुक्मिणीजीके बाँह, ऊरु, भुजा और नेत्र आदि अङ्ग भावी प्रियकी सूचना देते हुए फड़क उठे और उसी क्षण भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनका प्रिय समाचार लेकर वही वृद्ध ब्राह्मण आ पहुँचे। भगवान्की आगमन-वार्ता सुनकर रुक्मिणीजीको जो आनन्द हुआ वह वर्णनातीत है। श्रीकृष्ण और बलदेवका आगमन सुनकर रुक्मिणीके पिता राजा भीष्मकने उनके स्वागत और अतिथि-सत्कारका पूरा प्रबन्ध किया। भगवान्की भुवनमोहन रूपराशिको निरखकर नगरके नर-नारियोंका चित्त उसीमें रम गया और सभी प्रेमके आँसू बहाते हुए कहने लगे कि 'यदि हमने कभी कुछ भी सुकृत किया हो तो त्रिलोकके विधाता अच्युत भगवान् कुछ ऐसा करें कि ये मनमोहन अनूपरूप-शिरोमणि श्रीकृष्ण ही रुक्मिणीका पाणिग्रहण करें।'

श्रीरुक्मिणीजी अम्बिकाकी पूजाके लिये गयीं। वहाँ देवीका पूजन कर बड़ी-बूढ़ियोंसे आशीर्वाद प्राप्तकर बाहर आकर अपने रथपर चढ़ना ही चाहती थीं कि इतनेहीमें माधव श्रीकृष्णचन्द्रने आकर शत्रुओंकी सेनाके सामने ही गरुडचिह्नयुक्त अपने रथपर तुरंत ही रुक्मिणीको चढ़ा लिया और चल दिये। लोगोंने पीछा किया, परंतु किसीकी कुछ भी नहीं चली, भगवान् और बलदेवजी शत्रुओंका दर्प-दलन कर देवी रुक्मिणीसहित द्वारकामें आ पहुँचे और वहाँ विधिपूर्वक विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। श्रीकृष्णको रुक्मिणीसे (जो श्रीलक्ष्मीजीका अवतार हैं) मिलते देखकर पुरवासियोंको परम आह्लाद हुआ। भक्त और भगवान्के मिलन-प्रसंगमें किसे आनन्द नहीं होता?

अनन्यगति श्रीरुक्मिणीजी निरन्तर भगवान्की सेवामें रत रहतीं। एक दिन भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्नतापूर्वक मन्द-मन्द मुसकाते हुए रुक्मिणीसे कुछ ऐसी रहस्ययुक्त बातें कहीं, जिसे सुनकर रुक्मिणीजी थोड़ी देरके लिये व्याकुल हो गयीं। अपना समस्त ऐश्वर्य सौंपकर भी भगवान् समय-समयपर भक्तकी यों परीक्षा किया करते हैं, वह इसलिये कि भक्त कहीं ऐश्वर्यके मदमें मत्त होकर प्रेमकी अनिर्वचनीय स्थितिसे च्युत न हो जाय। यद्यपि श्रीरुक्मिणीजीके लिये ऐसी कोई आशंका नहीं थी, तथापि भगवान्ने अपने भक्तोंका महत्त्व बढ़ाने और जगत्को सच्चे प्रेमकी अनुपम शिक्षा देनेके लिये रुक्मिणीजीकी वाणीसे भगवत्प्रेमका तत्त्व कहलाना चाहा और इसीलिये उनसे रहस्ययुक्त वचन कहे। भगवान् बोले—'हे राजकुमारी! लोकपालोंके समान धनसम्पन्न महानुभाव, श्रीमान् तथा रूप और उदारतासे युक्त महान् बली नरपति तुमसे विवाह करना चाहते थे। कामोन्मत्त शिशुपाल तुम्हें ब्याहनेके लिये बारात लेकर आ पहुँचा था; तुम्हारे भ्राता आदिने भी तुम्हारा विवाह शिशुपालके साथ करनेका निश्चय कर लिया था तो भी तुमने सब प्रकारसे अपने योग्य उन राजकुमारोंको छोड़कर; जो किसी बातमें तुम्हारे समान नहीं है—ऐसे मुझ-जैसेको अपना पति क्यों बनाया?

हे सुभ्रु! तुम जानती हो, हम राजाओंके भयसे समुद्र-किनारे आ बसे हैं, क्योंकि हमने बलवानोंसे वैर बाँध रखा है; फिर राज्यासनके अधिकारी भी नहीं हैं। जिनका आचरण स्पष्ट समझमें नहीं आ सकता, जो स्त्रियोंके वशमें नहीं रहते, ऐसे हम-सरीखे पुरुषोंकी पदवीका अनुसरण करनेवाली स्त्रियाँ प्रायः कष्ट और दुःख ही उठाया करती हैं। हे

सुमध्यमे! हमलोग स्वयं निष्किञ्चन (धन-सम्पत्तिरहित) हैं और धन-सम्पत्तिरहित दरिद्र ही हमसे प्रेम करते हैं।

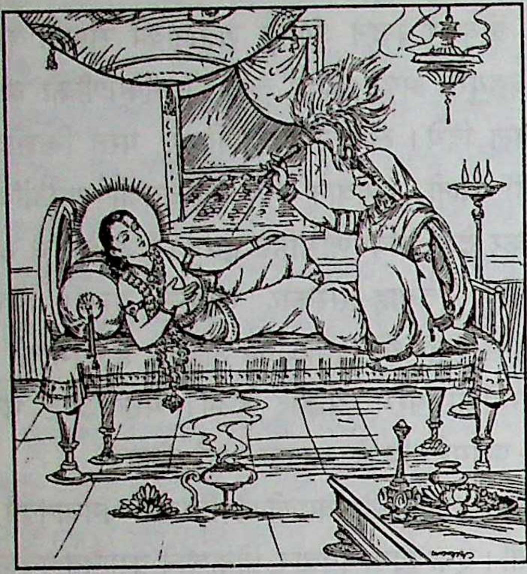

धनवान् लोग प्रायः हमको नहीं भजते। जो लोग धन, जाति, ऐश्वर्य, आकार और अवस्थामें परस्पर समान हों, उन्हींसे मित्रता और विवाह करना शोभा देता है। अपनेसे अत्यन्त विषम परिस्थितिवालोंके साथ विवाह या मित्रता कभी उचित नहीं होती। हे रुक्मिणी! तुम दूरदर्शिनी नहीं हो इसीसे बिना जाने तुमने मुझ-जैसे गुणहीनको नारदादिके मुखसे प्रशंसा सुनकर वर लिया, वास्तवमें तुमको धोखा हुआ। यदि तुम चाहो तो अब भी जिसके संगसे तुम इस लोक और परलोकमें सुख प्राप्त कर सको, ऐसे किसी अन्य योग्य क्षत्रियको ढूँढ़ सकती हो। तुम्हारा हरण तो हमने शिशुपाल-दन्तवक्त्र आदि घमंडी राजा और हमसे वैरभाव रखनेवाले तुम्हारे भाई रुक्मीका दर्प-दलन करनेके लिये किया था; क्योंकि बुरे लोगोंका तेज नाश करना ही हमारा कर्तव्य है। इतना कहकर अन्तमें भगवान् बोले—

उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः।
आत्मलब्ध्याऽऽस्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः॥

(श्रीमद्भा० १०।६०।२०)

'हे राजकुमारी! हम आत्मलाभसे ही पूर्ण होनेके कारण स्त्री, पुत्र और धनादिकी कामना नहीं रखते। हम उदासीन हैं, देह और गृहमें हमारी आसक्ति नहीं है। जैसे दीपककी ज्योति केवल प्रकाश करके साक्षीमात्र रहती है, वैसे ही हम समस्त क्रियाओंके केवल साक्षीमात्र हैं।'

भगवान्‌के इस रहस्यपूर्ण कथनपर हम क्या कहें? भगवान्‌ने इस व्याजसे भक्तको अपना वास्तविक स्वरूप और भक्तका कर्तव्य तथा उसके लक्षण बतला दिये। भगवती रुक्मिणीको (तुम ऐसे किसी अन्य योग्य क्षत्रियको ढूँढ़ सकती हो) इन शब्दोंसे बड़ी मर्म-वेदना हुई, वे मस्तक अवनत करके रोने लगीं, अश्रुधारासे शरीर भींग गया। दारुण मनोवेदनासे कण्ठ अवरुद्ध हो गया और अन्तमें अचेत होकर गिर पड़ीं। भगवान् रुक्मिणीकी इस प्रेम-दशाको देख मुग्ध होकर तुरंत पलंगसे उठे और चतुर्भुज होकर दो हाथोंसे रुक्मिणीको उठा लिया और उनके बिखरे हुए केशोंको सँवार कर आँसू पोंछने लगे। रुक्मिणीजीको चेत हुआ तब भगवान् बोले—'राजकुमारी! मैं तो हँसी करता था, तुम्हारे चरित्रको मैं भलीभाँति जानता हूँ। तुम्हारे मुखसे प्रणयकोप प्रकट करनेवाली बातें सुननेके लिये ही मैंने इतनी बातें कही थीं।'

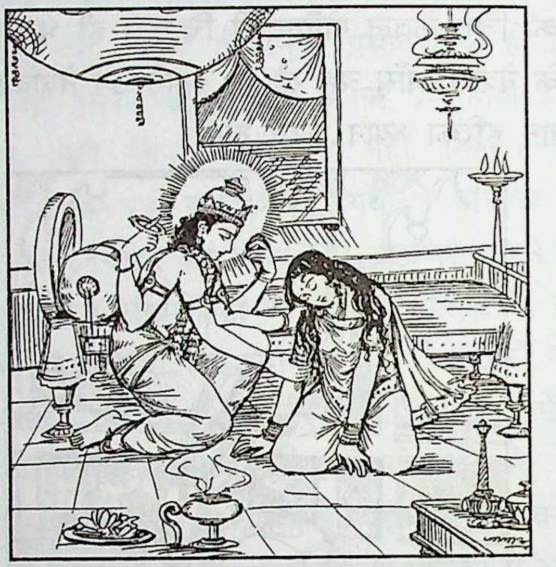

भगवान् भक्तकी परीक्षा तो बड़ी कठिन लिया करते हैं, परंतु फिर तुरंत सँभाल भी लेते हैं। भगवान्‌ने रुक्मिणीको बहुत समझाकर धैर्य बँधाया, तब भगवान्‌के चरणकमलोंकी नित्य अनुरागिणी देवी रुक्मिणी बड़े मधुर शब्दोंमें भगवान्‌से कहने लगीं—'हे कमलनयन! आपने जो ऐसा कहा कि मैं तुम्हारे समान नहीं था, तुमने क्यों मेरे साथ विवाह किया?' सो आपका कथन सर्वथा सत्य है, मैं अवश्य ही आपके योग्य नहीं हूँ। कहाँ ब्रह्मादि तीनों देवोंके या तीनों गुणोंके नियन्ता दिव्य शक्तिसम्पन्न आप साक्षात् भगवान्! और कहाँ मैं अज्ञानी तथा सकाम पुरुषोंके द्वारा पूजी जानेवाली गुणमयी प्रकृति! हे प्रभो! आपका यह कहना कि 'हम राजाओंसे डरकर समुद्रकी शरणमें आकर बसे हैं' सर्वथा सत्य है; क्योंकि शब्दादि गुण ही राजमान

(प्रकाश पानेवाले) होनेके कारण 'राजा' हैं, उनके भयसे ही मानो समुद्रके सदृश अगाध विषयशून्य भक्तोंके हृदयदेशमें आप चैतन्यघन आत्मारूपसे प्रकाशित हैं। आपका यह कहना भी ठीक है कि 'हमने बलवानोंसे वैर बाँध रखा है और हम राज्यासनके अधिकारी नहीं हैं।' बहिर्मुख हुई प्रबल इन्द्रियोंके साथ अथवा जिनकी प्रबल इन्द्रियाँ विषयोंमें आसक्त हैं, उनसे कभी आपको प्रीति नहीं है। हे नाथ! राज्यासन तो घोर अविवेकरूप है।

मनुष्य राजपदको पाकर ज्ञानशून्य कर्तव्यविमूढ़ होकर अन्धा-सा बन जाता है। ऐसे राजपदको तो आपके सेवकोंने ही त्याग दिया है, फिर आपकी तो बात ही क्या है? हे भगवन्! आपने जो कहा कि 'हमारे आचरण स्पष्ट समझमें नहीं आ सकते।' वह सत्य ही है, आपके चरणकमलके मकरन्दका सेवन करनेवाले मुनियोंके ही आचरण स्पष्ट समझमें नहीं आते। पशु-समान अज्ञानी मनुष्य जिनकी तर्कना भी नहीं कर सकते। ऐसे आपके अनुगामी भक्तोंका चरित्र ही जब इतना अचिन्त्य और अलौकिक है, तब आप जो साक्षात् ईश्वर हैं, उनके चरित्रका दुर्बोध या अलौकिक होना कोई आश्चर्य नहीं। आपने कहा कि 'हम निष्किञ्चन हैं, निष्किञ्चन ही हमसे प्रेम करते हैं'; अतः हे स्वामिन्! जिन ब्रह्मादि देवताओंकी सभी पूजा करते हैं, वे भी जब सादर आपको पूजते हैं तब आप निष्किञ्चन तो नहीं हैं, परंतु एक तरहसे आप निष्किञ्चन ही हैं; क्योंकि आपसे भिन्न कुछ है ही नहीं।

जो लोग धन-सम्पत्तिके मदसे अंधे हो रहे हैं और केवल अपने शरीरके पालन-पोषणमें ही रत हैं, वे आप कालरूपको नहीं जानते। आप पूजनीयोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं, जगत्-पूज्य ब्रह्मादि आपको इष्टदेव मानकर पूजते हैं, उनके आप प्रिय हैं और वे आपके प्रिय हैं। आप सम्पूर्ण पुरुषार्थ और परमानन्दरूप हैं, आपको प्राप्त करनेकी अभिलाषासे श्रेष्ठ बुद्धिवाले लोग सब वस्तुओंका त्याग कर देते हैं। हे विभो! ऐसे श्रेष्ठ बुद्धिवाले पुरुषोंसे ही आपका सेव्य-सेवक-सम्बन्ध उचित है; स्त्री-पुरुष-रूप सम्बन्ध योग्य नहीं है, कारण कि इस सम्बन्धमें आसक्तिके कारण प्राप्त हुए सुख-दुःखोंसे व्याकुल होना पड़ता है····इसलिये आपका यह कहना कि समान लोगोंमें ही मित्रता और विवाह होना चाहिये, यह ठीक ही है। आपने कहा कि 'नारदादिके मुखसे प्रशंसा सुनकर मुझे वर लिया', अतः हे भगवन्! ऐसे सर्वत्यागी मुनिगण ही आपके प्रभावको जानते और कहते हैं। आप जगत्के आत्मा हैं और भक्तोंको आत्मस्वरूप प्रदान करते हैं, यह समझकर ही मैंने आपका वरण किया है।

आपने कहा कि 'तुम दूरदर्शिनी नहीं हो' सो प्रभो! आपकी भ्रुकुटियोंके बीचसे उत्पन्न कालके वेगसे जिनके समस्त विषय-भोग नष्ट हो जाते हैं—ऐसे ब्रह्मादि देवताओंको भी मैंने पति बनाना उचित और श्रेष्ठ नहीं समझा तो फिर शिशुपालादि तुच्छ लोगोंकी बात ही क्या है? हे गदाग्रज! हे प्रभो! सिंह जैसे अपनी गर्जनासे पशुपालकोंको भगाकर अपना आहार ले आता है, वैसे ही आप शार्ङ्गधनुषके शब्दसे राजाओंको भगाकर अपना भाग—जो मैं हूँ, उसे हर लाये हैं; ऐसे आप उन राजाओंके भयसे समुद्रकी शरणमें आकर बसे हैं—यह कहना ठीक नहीं है। भगवन्! आप सब गुणोंकी खान हैं, आपके चरणकमलोंके मकरन्द-सुगन्धका वर्णन साधुगणोंद्वारा किया गया है। लक्ष्मी सदा उसका सेवन करती हैं, भक्तजन उससे मोक्ष पाते हैं। ऐसे चरणकमलोंके मकरन्दकी सुगन्ध पाकर अपने प्रयोजनको विवेक-बुद्धिसे देखनेवाली कौन ऐसी स्त्री होगी, जो आपको छोड़कर किसी मरणशील और कालके भयसे सदा शंकित दूसरे पार्थिव पुरुषका आश्रय लेगी?

अतएव आपने जो यह कहा कि 'दूसरा पुरुष ढूँढ़ सकती हो' वह ठीक नहीं है। आप जगत्के अधिपति और सबके आत्मा हैं, इस लोक और परलोकमें सब अभिलाषाएँ पूरी करनेवाले हैं, मैंने योग्य समझकर ही आपको पति बनाया है। मेरी यही प्रार्थना है कि मैं देवता, पशु, पक्षी आदिकी किसी भी योनिमें भ्रमण करूँ, परंतु सर्वत्र आपहीके चरणोंकी शरणमें रहूँ। नाथ! जो लोग आपको भजते हैं, आप समदर्शी और निःस्पृह होते हुए भी उनको भजते हैं और आपको भजनेसे ही इस असार-संसारसे मुक्ति मिलती है।

हे अच्युत! हे शत्रुनाशन! जो स्त्री-प्रधान घरोंमें रहकर गधेके समान बोझा ढोते हैं, बैलकी तरह नित्य गृहस्थीके कामोंमें जुते रहकर क्लेश भोगते हैं, कुत्तेके समान जिनका तिरस्कार होता है, बिलावकी तरह जो दीन बने हुए गुलामोंकी भाँति स्त्री आदिकी सेवामें लगे रहते हैं—ऐसे

शिशुपालादि राजा उसी (अभागिनी) स्त्रीके पति हों; जिसके कानोंमें शिव-ब्रह्मादिकी सभाओंमें आदर पानेवाली आपकी पवित्र कथाओंने प्रवेश नहीं किया हो। हे स्वामिन्! जिसने आपके चरणारविन्दके मकरन्द-सुगन्धको कभी नहीं पाया अर्थात् जिसने आपके चरणोंमें मन लगानेका आनन्द कभी नहीं पाया, वही मूढ़ स्त्री बाहर त्वचा, दाढ़ी-मूँछ, रोम, नख और केशोंसे ढके हुए तथा भीतर मांस, हड्डी, रुधिर, कृमि, विष्ठा, कफ, पित्त और वातसे भरे हुए जीवन्मृत (जीते ही मुर्देके समान) पुरुषको पतिभावसे भजेगी।

हे कमलनयन! आपने कहा कि 'हम उदासीन हैं, आत्मलाभसे पूर्ण हैं' सो सत्य है; क्योंकि निजानन्द-स्वरूपमें रमण करनेके कारण मुझपर अत्यन्त अधिक दृष्टि नहीं रखते, तथापि मेरी यही प्रार्थना है कि आपके चरणोंमें मेरा चित्त सदा लगा रहे। आप इस जगत्की वृद्धिके लिये उत्कृष्ट रजोगुणको स्वीकार करते हुए मुझ (प्रकृति)-पर जो दृष्टि डालते हैं, उसीको मैं परम अनुग्रह मानती हूँ। प्रभो! मैं आपके कथनको मिथ्या नहीं मानती; जगत्में कई स्त्रियाँ ऐसी हैं जो स्वामीके रहते भी अन्य पुरुषपर आसक्त हो जाती हैं····पुंश्चली स्त्रियोंका मन विवाह हो जानेपर भी नये-नये पुरुषोंपर आसक्त होता रहता है, किंतु चतुर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वे ऐसी असती स्त्रियोंसे विवाह कभी न करें। क्योंकि ऐसी स्त्रियाँ दोनों कुलोंको कलंकित करती हैं, जिससे स्त्रीके साथ ही पुरुषकी भी इस लोकमें अकीर्ति और परलोकमें बुरी गति होती है।'

इस प्रकार भगवान्को तत्त्वसे जाननेवाली प्रेमकी प्रत्यक्ष मूर्ति देवी रुक्मिणीजीने अपने भाषणमें भगवान्का स्वरूप, माहात्म्य, भगवत्प्राप्तिके उपाय, भक्तोंकी निष्ठा, भक्तोंके कर्तव्य और भगवान्से विमुख अधम जीवोंकी दशा तथा उनकी गतिका वर्णन किया। देवी रुक्मिणीके इस भाषणसे भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और सकामभावकी निन्दा, निष्कामकी प्रशंसा तथा सब कुछ छोड़कर प्रेमसे भगवत्प्राप्तिके लिये व्याकुल रहनेवाले भक्तोंका महत्त्व बतलाते हुए उन्होंने कहा—

दूतस्त्वयाऽऽत्मलभने सुविविक्तमन्त्रः
प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्यमेतत्।
मत्वा जिहास इदमङ्गमनन्ययोग्यं
तिष्ठेत तत्त्वयि वयं प्रतिनन्दयामः॥

(श्रीमद्भा० १०।६०।५७)

'तुमने मुझको ही वरण करनेका दृढ़ निश्चय करके अपने प्रणकी सूचना देनेके लिये मेरे पास दूत भेजा और जब मेरे आनेमें कुछ विलम्ब हुआ, तब तुमने सब जगत्को शून्य देखकर यह विचार किया कि यह शरीर और किसीके भी योग्य नहीं है। इसका न रहना ही उत्तम है, अतएव मैं तुम्हारे प्रेमका बदला चुकानेमें असमर्थ हूँ। तुमने जो किया वह तुम्हारे ही योग्य है, मैं केवल तुमको प्रसन्न करनेका प्रयत्न करूँगा।'

श्रीहनुमान्जीका दास्य प्रेम

अनन्य भक्त-प्रवर पवनपुत्र हनुमान्जी अपना आध्यात्मिक परिचय देते हुए कहते हैं कि 'देहबुद्धिसे मैं अपने आराध्य श्रीरामका दास हूँ, जीवबुद्धिसे अपने अंशीका अंश हूँ और आत्मासे अभेद वही हूँ जो मेरे इष्टदेव स्वयं हैं*।' इस सूक्तिके गागरमें अर्थका सागर समाया हुआ है।

हनुमान्जी दास्य भक्तिके परम पिपासु हैं। स्वधर्माचरण और प्रभुके प्रति आत्म-समर्पण ही उनके जीवनका साध्य है। उनकी भक्ति भुक्ति और मुक्तिसे परे स्वान्तःसुखाय है। उनके भीतर-बाहर सर्वत्र आराध्य-ही-आराध्य हैं। उनका रोम-रोम रामके अनुरागके रागारुणसे रञ्जित है। आत्म-विस्मरण ही उनके समर्पणकी चरम उपलब्धि है।

हनुमान्जीको अपने इष्टदेवसे चाहिये केवल निर्भरा भक्ति। निर्भरा भक्तिका उद्देश्य है—एकनिष्ठ भगवत्प्राप्ति। वे अपने आराध्यके विनीत दास हैं और आराध्य श्रीराम उनके सर्वसमर्थ स्वामी हैं। सर्वसमर्थ स्वामी उनके साध्य भी हैं और साधनाके लिये साधन भी। साधन इसलिये क्योंकि वे निःसाधन हैं और साध्य इसलिये क्योंकि स्वामीके अतिरिक्त अन्यत्र उनकी अनुरक्ति नहीं। शरणागतिका यह स्वरूप ही उनका सर्वस्व है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

---

* देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवदृष्ट्या त्वदंशकः। वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चला मतिः॥ (अध्यात्मरामायण)

तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

(रा०च०मा० २। १२७। ३-४)

दासकी अनन्य भक्तिसे अभिभूत एक बार प्रभु यह कहनेसे अपनेको रोक न सके कि मैं तुम्हें न स्वर्गका सुख दे सकता हूँ और न मुक्तिका ही सुख। मैं तुम्हें कुछ भी दे सकनेमें असमर्थ हूँ। मैं तो तुमसे स्वयं प्रेमरस ग्रहण करता हूँ। मैं तुम्हारे अनिर्वचनीय प्रेम-रसका आस्वाद ग्रहण करनेके लिये ही तो बार-बार वसुन्धरापर अवतार लेता हूँ।

अयोध्याके राजसिंहासनपर आरूढ़ होनेके पश्चात् श्रीरामके हृदयमें एक दिन असह्य हूक उठी कि अयोध्याका राजसिंहासन तो मैंने ले लिया, किष्किन्धाका राज्य सुग्रीवको दे दिया और लङ्का-जैसी स्वर्णनगरीका अधिपति विभीषणको बना दिया, किंतु अत्यन्त परम प्रिय दास जिसकी निष्कामसेवासे मैं कभी भी उऋण नहीं हो सकता, उसे देनेके लिये अब मेरे पास कुछ भी शेष नहीं रहा। प्रभुके हृदयमें उठती तीव्र कसकसे द्रवीभूत पवनसुत फूट-फूटकर रो पड़े। उन्होंने कहा कि आपके कमलवत् चरणसे बढ़कर मेरे लिये सम्पूर्ण सृष्टिमें कुछ भी नहीं। आपकी चरण-रज-सेवा मेरे लिये पदसे भी श्रेष्ठ परम पद है। आपके इस परम पदको पाकर मैं कृतार्थ हूँ।

ईश्वरीय प्रयोजनकी सिद्धिके लिये जीवनमें कैसी आचार-संहिताका वरण किया जाय, इसके सर्वोत्कृष्ट प्रतिमान हनुमान्‌जी ही हैं। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके निकटतम आत्मीय जनोंमें वे भी हैं। राम-पञ्चायतन सीतासहित चार बन्धुओंका पुञ्ज है, किंतु स्थापनाओंमें हनुमान्‌जीके भी होनेसे संख्या छः हो जाती है। राम-पञ्चायतनके अन्तर्गत उनकी यह स्थापना सर्वोत्तम उपलब्धि है। इसके अतिरिक्त राम-पञ्चायतनकी एक विशिष्टता और भी है, जहाँ श्रीराम-सीता यथास्थान राजसिंहासनारूढ़ हैं और तीनों बन्धु भव्य वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत यथोचित स्थानोंमें सुशोभित हैं, वहाँ सबके बीच मात्र एक कौपीन धारण किये राम-सीताके पदाम्बुजोंमें भक्तिभाव-सम्पृक्त समर्पित मुद्रामें नतमस्तक हनुमान्‌जी भी विराजमान हैं, यह दास्य भावकी भक्तिका मूर्तिमान् बिम्ब है। इस बिम्बसे उन्हें वह श्रेय मिला, जिसे तुलसीने ***'राम ते अधिक राम कर दासा'*** की अपनी अनूठी उक्तिमें प्रकट किया है।

संकटमोचक हनुमान्‌जीकी दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—श्रीरामावतारका सूत्र-संचालक होना। इस स्थितिके प्रकटीकरणकी पुष्टि उस चित्रमें बड़ी सजीव प्रतिबिम्बित है जिसमें वे अपने सुदृढ़ स्कन्धोंपर श्रीराम-लक्ष्मणको बाल-रूपमें धारण किये हुए हैं। इसका अर्थगाम्भीर्य यह है कि वे लोकसेवाके उन उदात्त मूल्योंके निर्वहनके प्रति निष्ठापूर्वक प्रतिबद्ध हैं जो अवतार लेकर श्रीराम-लक्ष्मणद्वारा निर्वहन किये गये। अनन्य भक्तमें लोकसेवाका उन्मेष भी होता है।

इस निष्ठाका सुफल भी भारतीय जनमानसकी ओरसे उन्हें कृतज्ञताके रूपमें मिला। अखिल देशव्यापी स्तरपर आराधनाके लिये राम-मन्दिरोंसे भी कहीं अधिक हनुमान्-मन्दिर प्रतिष्ठापित हैं। इसका अभिप्राय श्रीरामके प्रति पूज्यभावकी लेशमात्र भी कमी नहीं, अपितु रामके दासके प्रति भी जनमानसमें कृतज्ञताके उमड़ रहे स्रोतका प्रकटीकरण है। रामभक्ति तो भारतीय जनमानसका साध्य है ही, परंतु उस उच्चतम शिखरतक पहुँचानेका सोपान तो हनुमान्‌जीकी आचरणमूलक प्रेरणा ही है। गोस्वामी तुलसीदासजी भी तो गुरु हनुमान्‌जीकी अंगुलियाँ पकड़कर श्रीरामके चरणारविन्दोंतक पहुँचे थे।

हनुमान्‌जीके रोम-रोममें श्रीराम रमण करते हैं। उनकी विमलवाणी 'राम-राम'के महोच्चारसे अविराम गूँजती रहती है। ***'राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम'*** ही उनके जीवनका मूल मन्त्र है। इस पुनीत अनुष्ठानके प्रति वे अपनी समग्र चेतना और तत्परता नियोजित करते हैं। उनके हृदयमें व्यक्तिगत आकाङ्क्षाओंका अङ्कुरतक प्रस्फुटित नहीं होता। उन्होंने अपनी सभी इच्छाएँ और स्पृहाएँ प्रभु-भक्तिके पुनीत प्रवाहमें विसर्जित कर दी थीं। इस वस्तुस्थितिका अवबोध उन्होंने एक बार सीता माताको अपना हृदय चीरकर कराया भी था। उनका निर्मल हृदय श्रीरामका अभिराम धाम है—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

(रा०च०मा० २। १३१)

प्रभुका अवतार अधर्मके नियमन और धर्मके संवर्द्धनका हेतु है। इससे सृष्टिमें संतुलन स्थापित होता है। अवतारी महापुरुषोंके ऐसे महान् सत्कार्योंमें उनके निकटतम कारक पुरुष भी उच्चस्तरीय सहयोगी बनकर अवतार लेते हैं। रामकी छत्रच्छायामें हनुमान्‌जी ज्ञान-भक्ति-सेवाके साकार रूप बनकर अवतीर्ण हुए। पवन-पुत्र स्वयं पवनरूप हैं। सृष्टिकी सर्वोपरि अपरिहार्य, सर्वोत्कृष्ट और सर्वसुलभ वस्तु पवन ही हैं जो सबको सब समय सहज ही सेवारूप

अविराम प्राप्त हैं।

लङ्का-अभियानमें आद्यन्त हनुमान्‌जीकी सूझ-बूझकी विविधताएँ द्रष्टव्य हैं।

शक्तिशाली रावणकी सुसज्जित सेनासे युद्ध किस प्रणालीसे किया जाय, इसका प्रशिक्षण हनुमान्‌जीने स्वयं अपने दलको दिया। साधनोंके अभावके बावजूद सुलभ उपकरणोंका युद्धमें यथोचित उपयोग करके विजयश्री प्राप्त की जा सकती है, यह उन्होंने प्रत्यक्ष कर दिखाया। रावणकी अशोक-वाटिकासे ही एक वृक्ष उखाड़कर उसीके वृक्षसे उसीके बेटे अक्षकुमारको उसीकी वाटिकामें मारकर उन्होंने यमपुरी पहुँचा दिया। जिस कौशलसे रामकार्यके लिये लङ्कामें प्रविष्ट होकर रावणके ही तेल-तूल-आगसे उसकी स्वर्णनगरीको आगकी प्रचण्ड लपटोंमें झोंककर उन्होंने लङ्का-दहन किया, ऐसा उदाहरण अन्यत्र नहीं।

सशंकित सुग्रीवद्वारा *‘पुरुष जुगल’*की वास्तविकताकी खोज-बीनके लिये हनुमान्‌जीको भेजनेपर विदित हुआ कि *‘अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार’*। इस भेंटसे दास हनुमान् स्वयं तो प्रभुसे जुड़ गये, किंतु अपनी तरह ही समस्त जीवोंको भी प्रभुके चरणोंतक पहुँचाये बिना उन्हें शान्ति नहीं। जीव स्वयं निर्बल है। उसमें स्वयं उठकर साधनाके द्वारसे प्रभुके द्वारतक पहुँचनेकी शक्ति नहीं है। अतः प्रभुको स्वयं करुणासे द्रवीभूत होकर जीवको शरण देनेके लिये ऊपरसे नीचे उतरकर असीमसे ससीम बनना पड़ता है। यही अवतारवाद है।

प्रभु निष्काम हैं, किंतु असीम शक्तिसम्पन्न हैं। जीव सकाम, किंतु शक्तिहीन है। हनुमान्‌जी जीवकी इच्छा और प्रभुकी शक्तिका समन्वय कराते हैं। प्रभु जीवको बुद्धि देते हैं संसारको समझनेके लिये और हनुमान् उसे विश्वास देते हैं प्रभुसे जुड़नेके लिये, किंतु जीव इस क्रमको ही उलट देता है। वह संसारपर विश्वास करता है और ईश्वरको बुद्धिसे समझना चाहता है। परिणाम यह होता है कि जीव जन्म-जन्मान्तरतक कोल्हूके बैलकी तरह जहाँ है, वहीं रह जाता है। अतः हनुमान्‌जी जीवमें प्रभु-विश्वास उत्पन्नकर उसीसे जुड़नेकी सत्प्रेरणा निरन्तर देते रहते हैं।

ऐसे महत्कार्यका शुभारम्भ वह अपने संरक्षक सुग्रीवसे प्रारम्भ करते हैं। हनुमान्‌जीके माध्यमसे श्रीराम-सुग्रीव-मिलन ब्रह्म और जीवका मिलन है। दोनोंके बीच दास्यभक्तिसे भी सरल सखा-भक्तिकी स्थापना होती है। प्रगाढ़ मैत्रीधर्मका पालन करते हुए जहाँ श्रीराम बालिका संहार करके पत्नीसहित किष्किन्धाका राज्य सुग्रीवको तत्काल दिला देते हैं, वहाँ सुग्रीव विषय-भोगमें संलिप्त होकर सीताकी खोजमें उतनी ही देर लगाता है। सुग्रीव (जीव) वैभव पाकर प्रभुको और उनके कार्यको भूल जाता है। वह श्रीरामकी करुणा और हनुमान्‌के विश्वासका दुरुपयोग करता है।

धैर्यकी भी एक सीमा होती है। सीताकी खोजमें अप्रत्याशित विलम्ब होते देख श्रीरामको अन्ततोगत्वा लक्ष्मणको संकेत देना ही पड़ा कि *‘भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव’* (रा०च०मा० ४।१८)। उधर हनुमान्‌जी भी सीताकी खोजके प्रति सुग्रीवकी अन्यमनस्कता देखकर—

इहाँ पवनसुत हृदयँ बिचारा। राम काजु सुग्रीवँ बिसारा॥
निकट जाइ चरननि्ह सिरु नावा। चारिहु बिधि तेहि कहि समुझावा॥
(रा०च०मा० ४।१९।१-२)

हनुमान्‌जीका सत्परामर्श पाकर—

सुनि सुग्रीवँ परम भय माना। बिषयँ मोर हरि लीन्हेउ ग्याना॥
अब मारुतसुत दूत समूहा। पठवहु जहँ तहँ बानर जूहा॥
(रा०च०मा० ४।१९।३-४)

एक अवसर वह भी था जब हनुमान्‌जीके सत्प्रयाससे श्रीरामने सुग्रीवको भयमुक्त करनेका वचन दिया था—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान॥
(रा०च०मा० ४।६)

और आज इस अवसरपर भय दिखाया, जिससे सुग्रीव काँप उठा। जटिल-से-जटिल समस्या सुलझानेमें हनुमान्‌जी अत्यन्त निपुण हैं। एक ओर सुग्रीवको सचेत कर दिया तो दूसरी ओर क्रुद्ध लक्ष्मण जो सुग्रीवको डराने आ रहे थे, उनका स्वागत करते हुए *‘करि बिनती मंदिर लै आए। चरन पखारि पलँग बैठाए॥’* (रा०च०मा० ४।२०।५)। इधर क्रुद्ध लक्ष्मण भूल ही गये कि अग्रजद्वारा किस प्रयोजनके निमित्त यहाँ भेजा गया हूँ और उधर अन्यमनस्क सुग्रीवको भी कर्तव्य-बोध हो गया। हनुमान्‌जीकी प्रत्युत्पन्नमतिसे प्रतिकूल परिस्थिति अनुकूल हो गयी।

हनुमान्‌जीका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है सीता माताकी खोज। यह कार्य उनके बिना पूर्ण होना कठिन था। पराम्बा सीता ज्ञानियोंकी शान्ति, भक्तोंकी भक्ति और कर्मयोगियोंकी शक्ति हैं। उनकी खोज वस्तुतः शान्ति, भक्ति और शक्तिकी खोज है। सीताकी खोजके अभियानमें सर्वप्रथम सुरसा

उनसे टकराती है और अहंकारकी लड़ाई लड़ती है। किंतु हनुमान्जी तो सीताकी खोजमें ही दत्तचित्त थे। उन्होंने नम्रतापूर्वक सुरसासे कहा—

राम काजु करि फिरि मैं आवौं। सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं॥
तब तव बदन पैठिहउँ आई। सत्य कहउँ मोहि जान दे माई॥
(रा०च०मा० ५।२।४-५)

हे माता! रामकार्यमें शरीरका उपयोग हो जाने दो, फिर तुम मुझे अपने मुखका ग्रास बना लेना। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, किंतु यह विवेकपूर्ण प्रस्ताव अस्वीकृत करके वह अपने अहंकारमें शनैः-शनैः वृद्धि करने लगी—

सत जोजन तेहिं आनन कीन्हा। अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा॥
बदन पइठि पुनि बाहेर आवा। मागा बिदा ताहि सिरु नावा॥
(रा०च०मा० ५।२।१०-११)

वह सुरसासे अहंकारकी लड़ाई नहीं लड़ते। अहंकारसे अहंकारकी टकराहट श्रेयस्कर भी नहीं। वह उनका अत्यन्त लघुरूप खोजती रही कि आखिर यह मर्कट गया तो कहाँ गया? नम्रताने अहंकारको पराभूत कर दिया। वह एकदम शून्य हो गये। ऐसी अभेद दृष्टि विरलोंमें होती है।

इसी अनुक्रममें उनकी भेंट *'लंकिनी निसिचरी'* से भी हुई जिसने धमकाया—*'जानेहि नहीं मरमु सठ मोरा। मोर अहार जहाँ लगि चोरा॥'* (रा०च०मा० ५।४।३)। हनुमान्जीने कहा कि जब सारे चोर तेरे आहार हैं तो चोरोंका सरताज तो तेरा स्वामी लङ्कामें ही है, जिसकी तू सेविका है। सर्वप्रथम तो तू उसे ही अपना आहार बना—इतना कहकर एक ऐसा मुष्टिका-प्रहार किया कि *'रुधिर बमत धरनीं ढनमनी'*। मुष्टिका-प्रहारने सत्संगका कार्य किया। उसे सीख मिली कि ऐसा सुख जिससे प्रभु विलग हो जाते हों उससे तो अधिक स्वागतयोग्य वह दुःख ही है, जो हमें प्रभुसे जोड़ता है। हनुमान्जी एक क्षण भी प्रभुसे विलग नहीं रह सकते। वह उनसे सतत जुड़े हैं और समस्त जीवोंको भी प्रभुसे जोड़नेका पुनीत कार्य अहर्निश करते रहते हैं।

लङ्कामें विभीषण हनुमान्जीसे अपनी मनोव्यथा करुण शब्दोंमें व्यक्त करते हैं—

सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महुँ जीभ बिचारी॥
तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा॥
तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माहीं॥
अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥
(रा०च०मा० ५।७।१—४)

प्रत्युत्तरमें हनुमान्जीके तृप्तिदायक वचन सुनकर उन्हें परम शान्ति प्राप्त होती है—

सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥
कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥
(रा०च०मा० ५।७।६-७)

अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥
जानतहूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी॥
(रा०च०मा० ५।७, ५।८।१)

तत्पश्चात् विभीषणसे सीता माताका सम्पूर्ण वृत्तान्त जानकर वे अशोकवाटिकाके लिये प्रस्थान करते हैं, जहाँ अपनी प्रथम लघु भेंटमें ही सीता माताको तृप्ति और शान्ति प्रदान करते हैं। उसका बोध निम्न पंक्तियोंमें है—

कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास॥
(रा०च०मा० ५।१३)

तथा *'सुनतहिं सीता कर दुख भागा'*—*'तोहि देखि सीतलि भइ छाती'* आदि। सीता माताने पुलकित होकर उन्हें आशिष् भी प्रदान किया—

मन संतोष सुनत कपि बानी। भगति प्रताप तेज बल सानी॥
आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना। होहु तात बल सील निधाना॥
अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥
(रा०च०मा० ५।१७।१—३)

सीताजीकी खोज पूर्ण होनेपर दास हनुमान्के प्रति प्रभुके हृदयोद्गारकी अत्यन्त मनोरम झाँकी प्रस्तुत है—

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥
सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥
(रा०च०मा० ५।३२।७-८, दोहा ३२)

हनुमान्जी कहते हैं कि आत्मप्रशंसा सुनकर अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकारसे पतन होता है और जब प्रभुके मुखसे दासकी प्रशंसा हो रही है तो मेरा गिरना अवश्यम्भावी है। अतः मेरे गिरनेके लिये आपके चरणोंसे बढ़कर अन्य कोई स्थान नहीं है। यहाँ गिरकर मैं धन्य हो जाऊँगा।

प्रभु जब पूछते हैं कि तुमने लङ्का-दहन कैसे किया? तो उत्तर देते हैं *'सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥'* (रा०च०मा० ५।३३।९)।

कर्ता तो आप ही हैं और आपने ही अपनी लीला दिखानेके लिये मुझे निमित्त बनाया है। मैं भी आपका, मेरे अंदर विद्यमान पुरुषार्थ भी आपद्वारा प्रदत्त वरदान है। कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान-सम्बन्ध-अधिकरण और लङ्का-दहनकी अन्तिम निष्पत्ति (फल) सब कुछ आप ही हैं। आपके अतिरिक्त और कौन है? सब कुछ आपको सेवार्पित है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

(गीता ४।२४)

'कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥' ऐसा निवेदन करते हुए वे प्रभुसे अपना अभीष्ट प्राप्त कर लेते हैं—

नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी।
सुनि प्रभु परम सरल कपि बानी। एवमस्तु तब कहेउ भवानी॥

(रा०च०मा० ५।३४।१-२)

सीताकी मनोव्यथा पूछनेपर वे बिना कुछ कहे ही सब कुछ व्यक्त कर देते हैं—*'सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहें भलि दीनदयाला॥'* (रा०च०मा० ५।३१।९) एक ओर अशोकवाटिकामें बड़ी सान्त्वना देकर सीताके अश्रु पोंछकर आये हैं, दूसरी ओर जहाँ प्रभुको आशुप्रेरित करनेकी बात थी वहाँ *'सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आए जल राजिव नयना॥'* जब जहाँ जैसी पृष्ठभूमि रचनेकी आवश्यकता, वहाँ तदनुसार करनेमें परम पारंगत।

इधर लक्ष्मणजीको शक्ति लगनेपर भगवान् राम विषादमें डूब गये, यह विसूरते हुए कि *'मिलइ न जगत सहोदर भ्राता'* तथा *'नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई'* और अब मैं अयोध्यामें किसीको भी अपना मुख दिखानेयोग्य नहीं रहा, उधर दास हनुमान् लङ्कासे सुषेन वैद्यको *'आनेउ भवन समेत तुरंता'* और औषध न पहचाननेपर समूचा पर्वत ही उठा लाये। उनके आते ही *'हरषि राम भेटेउ हनुमाना। अति कृतग्य प्रभु परम सुजाना॥'* (रा०च०मा० ६।६२।१) स्वामी श्रीरामपर जब भी कोई विपत्ति आती है, दास जबतक उसका निवारण नहीं कर लेता, तबतक उसकी एक ही पुकार रहती है—*'राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम'*।

हनुमान्जी स्वयं तो श्रीरामके अनन्य दास हैं ही, सभीमें श्रीरामका दास होनेकी कल्पना करते हैं। एक बार प्रभु रामने सम्मुख आसीन वानरी सेनासे प्रश्न किया कि चन्द्रमामें कालापन क्या है? *'कहहु काह निज निज मति भाई'* सुग्रीवने कहा कि चन्द्रमामें पृथ्वीकी छाया पड़नेसे कालापन है। किसीने अनुमान लगाया कि राहुने चन्द्रमाको मारा है, यह उस चोटकी कालिमा है। अन्य किसीने कल्पना की कि ब्रह्माजीने जब रतिमुखकी रचना की तो सार भाग निकाल लिया। अन्तमें हनुमान्जीके उत्तरसे सभी रीझ उठे और श्रीराम मुसकरा उठे—

कह हनुमंत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति बिधु उर बसति सोइ स्यामता अभास॥

(रा०च०मा० ६।१२ (क))

भगवान् रामने अपनी प्रथम भेंटमें हनुमान्जीसे कहा—*'सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥'* (रा०च०मा० ४।३।७) स्वयं लक्ष्मणजी इसकी पुष्टि करते हैं कि मैं माता सीताके साथ वनमें चौदह वर्ष रहकर भी उनका विश्वास-अर्जन न कर सका, जबकि हनुमान्जीने अपनी प्रथम लघु भेंटमें ही उनका विश्वास प्राप्त कर लिया *'कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास। जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास॥'* (रा०च०मा० ५।१३)। दूसरी बात यह है कि मेरी असावधानीसे ही उनका हरण हुआ, किंतु सीताकी खोजमें दिन-रात एक करके हनुमान्जीने दोनोंको अन्तमें मिला दिया। शेषनागके रूपमें पृथ्वीका भार-निर्वहन तो मैं करता ही हूँ, किंतु उन्होंने दूनेका प्रमाण तो तभी दे दिया जब *'लिए दुऔ जन पीठि चढ़ाई'* (रा०च०मा० ४।४।५)।

एक बार श्रीराम-सीता-हनुमान् विपिनमें एक वृक्षकी घनी छाँहमें आसीनस्थ थे। उस वृक्षकी शाखाओंसे लिपटी एक पल्लवित-पुष्पित लतासे वृक्षकी शोभामें वृद्धि हो रही थी। प्रभु रामने हनुमान्से कहा कि वृक्षकी श्रीवृद्धिका श्रेय लताको है। सीताने कहा कि लताका आश्रयदाता तो वृक्ष है। यदि लताको वृक्षका आश्रय न मिला होता तो लता पल्लवित-पुष्पित ही न हो पाती। ऐसा कहकर दोनों हनुमान्जीकी ओर देखने लगे।

हनुमान्जीने कहा कि प्रभु और उनकी शक्ति *'कहिअत भिन्न न भिन्न'* हैं। भक्तको तो दोनोंकी स्निग्ध छायाका आश्रय चाहिये। भक्तोंको एक बार प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका है कि ज्ञान (राम) और भक्ति (सीता)-के वियुक्त हो जानेसे सृष्टिका संतुलन ही विस्थापित हो जाता है। उस अवधिमें प्रवृत्तिपरक वैराग्य (लक्ष्मण) और निवृत्तिपरक वैराग्य (हनुमान्)-को कैसी विषम स्थिति झेलनी पड़ी थी। विलगावरूप मारीच

असत्‌में सत्‌की भ्रान्ति उत्पन्न करता है। इससे बचनेसे शान्ति (सीता) सुरक्षित रहती है। भक्ति (सीता) निरापद तभी रहती है, जब वैराग्य (लक्ष्मण-हनुमान्)-को श्रीराम-सीता दोनोंकी स्निग्ध छाया प्राप्त होती है।

जब मैं अपने गुरुप्रवर हनुमान्‌जीकी याद करता हूँ तो मुझे तो राम स्वतः याद आ जाते हैं और जब मुझे मर्यादा-पुरुषोत्तम रामकी याद आती है तो रामके पादारविन्दोंमें नतमस्तक हनुमान् स्वतः याद आ जाते हैं। मुझे यह कहना परम प्रिय लगता है कि—

जैसे बाण को चाहिए धनुष और धनुष को बाण।
ऐसे हनुमान को चाहिए राम और राम को हनुमान॥

(श्रीगिरीशचन्द्रजी श्रीवास्तव)

* * *

प्रेमी उद्धवका सख्यभाव

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य॥*

(श्रीमद्भा० १०।४७।५८)

उद्धवजी भगवान्‌के सखा-भक्त थे। अक्रूरके साथ जब भगवान् व्रजसे मथुरा आ गये और कंसको मारकर सब यादवोंको सुखी बना दिया, तब भगवान्‌ने एकान्तमें अपने प्रिय सखा उद्धवको बुलाकर कहा—'उद्धव! व्रजकी गोपाङ्गनाएँ मेरे वियोगमें व्याकुल होंगी, उन्हें जाकर तुम समझा आओ। उन्हें मेरा संदेश सुना आओ कि मैं तुमसे अलग नहीं, सदा तुम्हारे ही साथ हूँ।' उद्धवजी अपने स्वामीकी आज्ञा पाकर नन्द-व्रजमें गये। वहाँ चारों ओरसे उन्हें व्रजवासियोंने घेर लिया और लगे भाँति-भाँतिके प्रश्न करने; कोई आँसू बहाने लगा, कोई मुरली बजाते-बजाते रोने लगा, कोई भगवान्‌का कुशल-समाचार पूछने लगा। उद्धवजीने सबको यथायोग्य उत्तर दिया और सबको धैर्य बँधाया।

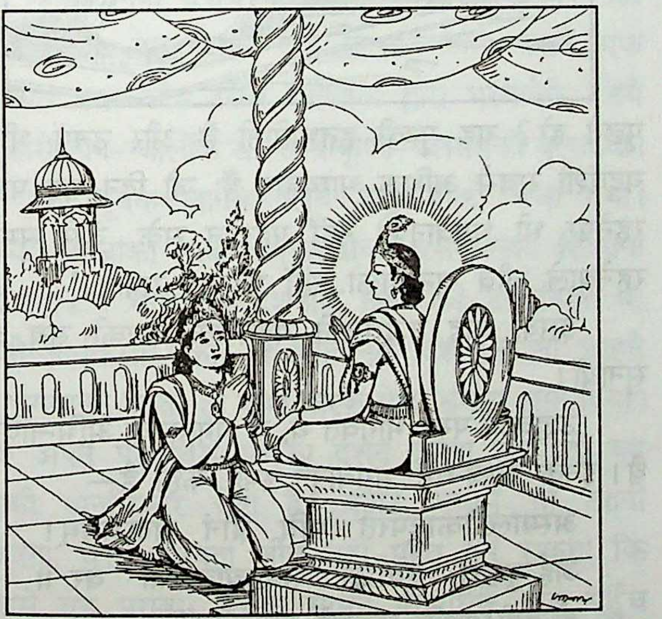

एकान्तमें जाकर उन्होंने गोपियोंको अपना ज्ञान-संदेश सुनाया। उन्होंने कहा—'भगवान् वासुदेव किसी एक जगह नहीं हैं, वे तो सर्वत्र व्यापक हैं। उनमें भगवत्-बुद्धि करो, सर्वत्र उन्हें देखो।' गोपियोंने रोते-रोते कहा—'उद्धवजी! तुम ठीक कहते हो, किंतु हम गँवारी वनचरी इस गूढ़ ज्ञानको भला कैसे समझ सकती हैं। हम तो उन श्यामसुन्दरकी भोली-भाली सूरतपर ही अनुरक्त हैं। उनका वह हास्ययुक्त मुखारविन्द, वह काली-काली घुँघराली अलकावली, वह वंशीकी मधुर ध्वनि हमें हठात् अपनी ओर खींच रही है। वृन्दावनकी समस्त भूमिपर उनकी अनन्त स्मृतियाँ अङ्कित हैं। तिलभर भी जमीन खाली नहीं, जहाँ उनकी कोई मधुर स्मृति न हो। हम इन यमुनापुलिन, वन, पर्वत, वृक्ष और लताओंमें उन श्यामसुन्दरको देखती हैं। इन्हें देखकर उनकी स्मृति मूर्तिमान् होकर हमारे हृदयपटलपर नाचने लगती है।

उनके ऐसे अलौकिक प्रेमको देखकर उद्धवजी अपना समस्त ज्ञान भूल गये और अत्यन्त करुणाके स्वरमें कहने लगे—

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्‌गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।६३)

---

* उद्धवजी कहते हैं—इस पृथ्वीपर जन्म लेना तो इन गोपाङ्गनाओंका ही सार्थक हुआ; क्योंकि इन्हें विश्वात्मा भगवान् नन्दनन्दनके प्रति प्रगाढ़ प्रेम है, जिसे पानेके लिये मुनिगण तथा हम भक्तजन सदा इच्छुक बने रहते हैं! जिनको भगवान्‌की कथामें अनुराग हो गया है, उन्हें कुलीनताकी, द्विजातिसमुचित संस्कारकी और बड़े-बड़े यज्ञ-यागोंमें दीक्षित होनेकी क्या आवश्यकता है?

'मैं इन व्रजाङ्गनाओंकी चरणधूलिकी भक्तिभावसे वन्दना करता हूँ, जिनके द्वारा गायी हुई हरि-कथा तीनों भुवनोंको पावन करनेवाली है।' व्रजमें जाकर उद्धवजी ऐसे प्रभावित हुए कि वे सब ज्ञान-गाथा भूल गये।

भगवान्के द्वारका पधारनेपर ये भी उनके साथ गये। यदुवंशियोंके मन्त्रिमण्डलमें इनका भी एक प्रधान स्थान था। इनकी भगवान्में अनन्य भक्ति थी। जब इन्होंने समझा कि भगवान् अब इस लोककी लीलाका संवरण करना चाहते हैं, तब ये एकान्तमें जाकर बड़ी दीनताके साथ कहने लगे—

नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्धमपि केशव।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि॥

(श्रीमद्भा० ११।६।४३)

'हे भगवन्! हे नाथ! मैं आपके चरणोंसे आधे क्षणके लिये भी अलग होना नहीं चाहता। मुझे भी आप अपने साथ ले चलिये।'

भगवान्ने कहा—'उद्धव! मैं इस लोकसे इस शरीरद्वारा अन्तर्हित होना चाहता हूँ। मेरे अन्तर्हित होते ही यहाँ घोर कलियुग आ जायगा। इसलिये तुम बदरिकाश्रमको चले जाओ और वहाँ तपस्या करो। तुम्हें कलियुगका धर्म नहीं व्यापेगा।'

भगवान्की ऐसी ही मर्जी है, यह समझकर उद्धवजी चले तो गये, किंतु उनका मन भगवान्की लीलाओंमें ही लगा रहा। जब सब यादव प्रभासक्षेत्रको चले गये तो भगवान्की अन्तिम लीलाको देखने विदुरजी भी प्रभासमें पहुँचे। तबतक समस्त यदुवंशियोंका संहार हो चुका था। विदुरजी ढूँढ़ते-ढूँढ़ते भगवान्के पास पहुँचे। भगवान् सरस्वती नदीके तटपर एक अश्वत्थवृक्षके नीचे विराजमान थे, विदुरजीने रोते-रोते उन्हें प्रणाम किया। दैवयोगसे पराशरके शिष्य मैत्रेयजी भी वहाँ आ गये। दोनोंको भगवान्ने इस समस्त जगत्की सृष्टि, स्थिति, प्रलयका ज्ञान कराया और इस अन्तिम ज्ञानको विदुरजीके प्रति उपदेश करनेके लिये भी भगवान् आज्ञा कर गये।

भगवान्की आज्ञा पाकर उद्धवजी बदरिकाश्रमको चले। भगवान् अपने परमधामको पधारे। उद्धवजीके हृदयमें भगवान्का वियोग भर रहा था, अतः उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। वे खूब रोते थे। किंतु रोना भी किसी हृदयके सामने हो तो हृदय हलका होता है। दैवयोगसे उद्धवजीको विदुरजी मिल गये। विदुरजीने पूछा—'यदुवंशके सब लोग कुशलपूर्वक तो हैं?' यदुकुलका नाम सुनते ही उद्धवजी ढाह बाँधकर रो पड़े और रोते-रोते बोले—

कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण ह।
किं नु नः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम्॥
दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम्॥

(श्रीमद्भा० ३।२।७-८)

'कृष्णरूपी सूर्यके अस्त होनेपर, कालरूपी सर्पके ग्रसे जानेपर हे विदुरजी! हमारे कुलकी अब कुशल क्या पूछते हो? यह पृथ्वी हतभागिनी है और उनमें भी ये यदुवंशी सबसे अधिक भाग्यहीन हैं, जो दिन-रात पासमें रहनेपर भी भगवान्को नहीं पहचान सके, जैसे समुद्रमें रहनेवाले जीव चन्द्रमाको नहीं पहचान सकते।'

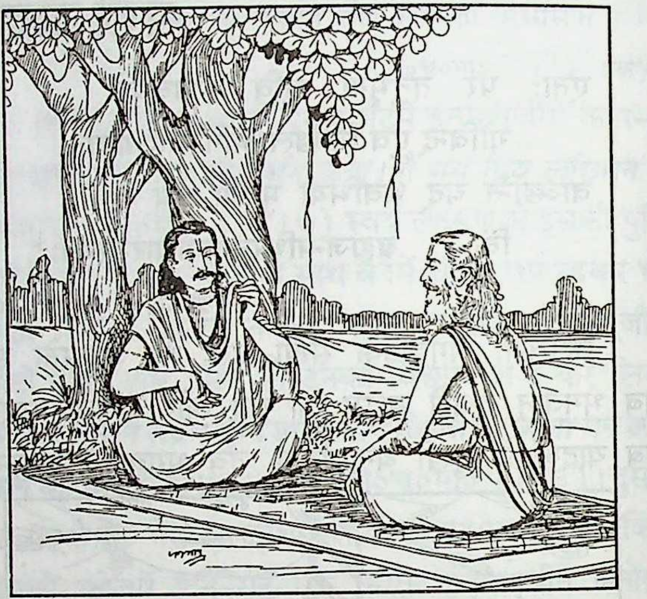

इसके बाद उद्धवजीने यदुवंशके क्षयकी सब बातें सुनायीं।

उद्धवजी परम भागवत थे, ये भगवान्के अभिन्नविग्रह थे। इनके सम्बन्धमें भगवान्ने स्पष्ट कहा है—

अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम्।
अर्हत्युद्धव एवाद्धा सम्प्रत्यात्मवतां वरः॥
नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः।
अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु॥

(श्रीमद्भा० ३।४।३०-३१)

'मेरे इस लोकसे चले जानेके पश्चात् उद्धव मेरे ज्ञानकी रक्षा करेंगे। उद्धव मुझसे गुणोंमें तनिक भी कम नहीं हैं, अतः वे ही सबको इसका उपदेश करेंगे।'

जिनके लिये भगवान् ऐसा कहते हैं उनके भगवत्प्रेमके सम्बन्धमें क्या कहा जा सकता है!

* * *

अक्रूरजीका भगवत्प्रेम

देहंभृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम्।
सन्देशाद् यो हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः॥*
(श्रीमद्भा० १०। ३८। २७)

भक्ति-शास्त्रमें भक्ति श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—इस तरह नौ प्रकारकी बतायी गयी है। इसके उदाहरणमें एक-एक भक्तका नाम लेते हैं—जैसे श्रवणमें परीक्षित्, कीर्तनमें वेदव्यास आदि-आदि। इस तरह वन्दन-भक्तोंमें अक्रूरजीको बताया गया है। ये भगवान्के वन्दन-प्रधान भक्त थे। इनका जन्म यदुवंशमें ही हुआ था। ये वसुदेवजीके कुटुम्बके नातेसे भाई लगते थे। इनके पिताका नाम श्वफल्क था। ये कंसके दरबारके एक दरबारी थे। कंसके अत्याचारोंसे पीड़ित होकर बहुत-से यदुवंशी इधर-उधर भाग गये थे, किंतु ये जिस-किसी प्रकार कंसके दरबारमें ही पड़े हुए थे।

जब अनेक उपाय करके भी कंस भगवान्को नहीं मरवा सका, तब उसने एक चाल चली। उसने एक धनुषयज्ञ रचा और उसमें मल्लोंके द्वारा मरवानेके लिये गोकुलसे गोप-ग्वालोंके सहित श्रीकृष्ण-बलरामको बुलवाया। उन्हें आदरपूर्वक लानेके लिये अक्रूरजीको भेजा गया। कंसकी आज्ञाको पाकर अक्रूरजीकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। वे भगवान्के दर्शनोंके लिये बड़े उत्कण्ठित थे, किसी-न-किसी प्रकार वे भगवान्के दर्शन करना चाहते थे। भगवान्ने स्वतः ही कृपा करके ऐसा संयोग लगा दिया। जीव अपने पुरुषार्थसे प्रभुका दर्शन करना चाहे तो यह उसकी अनधिकार चेष्टा है। कोटि जन्ममें भी उतनी पवित्रता, वैसी योग्यता जीव नहीं प्राप्त कर सकता कि जिससे वह परात्पर प्रभुके सामने पुरुषार्थके द्वारा पहुँच सके। जब वे ही अहैतुकी कृपा करके दयावश जीवको अपने समीप बुलाना चाहें, तभी वह आ सकता है। प्रभुने कृपा करके घर बैठे ही अक्रूरजीको बुला लिया।

प्रातःकाल मथुरासे रथ लेकर वे नन्दगाँव भगवान्को लेने चले। रास्तेमें अनेक प्रकारके मनसूबे बाँधते जाते थे। सोचते थे, उन पीताम्बरधारी बनवारीको मैं इन्हीं चक्षुओंसे देखूँगा, उनके सुन्दर मुखारविन्दको, घुँघराली काली-काली लटाओंसे युक्त सुकपोलोंको निहारूँगा। वे जब मुझे अपने सुकोमल करकमलोंसे स्पर्श करेंगे, उस समय मेरे समस्त शरीरमें बिजली-सी दौड़ जायगी। वे मुझसे हँस-हँसकर बातें करेंगे। मुझे पास बिठायेंगे। बार-बार प्रेमपूर्वक 'चाचा', 'चाचा' कहेंगे। मेरे लिये वह कितने सुखकी बात होगी। इस प्रकार भाँति-भाँतिकी कल्पनाएँ करते हुए वे वृन्दावनके समीप पहुँचे। वहाँ उन्होंने वज्र, अङ्कुश, यव, ध्वजा आदि चिह्नोंसे विभूषित श्यामसुन्दरके चरणचिह्नोंको देखा। बस, फिर क्या था। वे उन घनश्यामके चरणोंको देखते ही रथसे कूद पड़े और उनकी वन्दना करके उस धूलिमें लोटने लगे। उन्हें उस धूलिमें लोटनेमें कितना सुख मिल रहा था, यह कहनेकी बात नहीं है। जैसे-तैसे व्रजमें पहुँचे। सर्वप्रथम बलदेवजीके साथ श्यामसुन्दर ही उन्हें मिले। उन्हें छातीसे लगाया, घर ले गये, कुशल पूछी, आतिथ्य किया और सब हाल जाना।

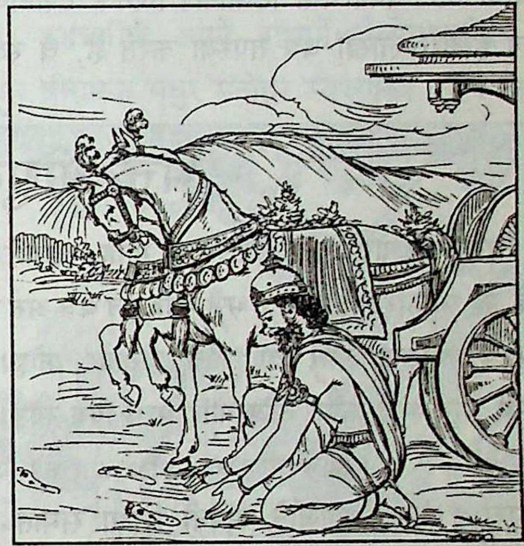

दूसरे दिन रथपर चढ़कर अक्रूरके साथ श्यामसुन्दर और बलराम मथुरा चले। गोपियोंने उनका रथ घेर लिया, बड़ी कठिनतासे आगे बढ़ सके। थोड़ी दूर चलकर यमुना-किनारे अक्रूरजी नित्य-कर्म करने ठहरे। स्नान करनेके लिये ज्यों ही उन्होंने डुबकी लगायी कि भीतर चतुर्भुज श्रीश्यामसुन्दर दिखायी दिये। घबड़ाकर ऊपर आये तो दोनों भाइयोंको रथपर बैठे देखा। फिर डुबकी लगायी तो पुनः

---

* प्राणियोंके देह-धारण करनेकी सफलता इसीमें है कि निर्दम्भ, निर्भय और शोकरहित होकर अक्रूरजीके समान भगवत्-चिह्नोंके दर्शन तथा उनके गुणोंके श्रवणादिके द्वारा अहैतुकी भक्ति करे।

वही मूर्ति जलके भीतर दिखायी दी। अक्रूरजीको ज्ञान हो गया कि जलमें, स्थलमें, शून्यमें कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ श्यामसुन्दर विराजमान न हों। भगवान् उन्हें देखकर हँस पड़े। वे भी प्रणाम करके रथपर बैठ गये। मथुरा पहुँचकर भगवान् रथसे उतर पड़े और बोले—'हम अकेले ही पैदल जायँगे।' अक्रूरजीने बहुत प्रार्थना की कि आप रथपर पहले मेरे घर पधारें, तब कहीं अन्यत्र जायँ। भगवान्ने कहा—'आपके घर तो तभी जाऊँगा जब कंसका अन्त हो जायगा।' अक्रूरजी दुःखी मनसे चले गये।

कंसको मारकर भगवान् अक्रूरजीके घर गये। अब अक्रूरजीके आनन्दका क्या ठिकाना! जिनके दर्शनोंके लिये योगीजन हजारों-लाखों वर्ष तपस्या करते हैं, वे स्वतः ही बिना प्रयासके घरपर पधार गये। अक्रूरजीने उनकी विधिवत् पूजा की और कोई आज्ञा चाही। भगवान्ने अक्रूरजीको अपना अन्तरङ्ग सुहृद् समझकर आज्ञा दी कि 'हस्तिनापुरमें जाकर हमारी बूआके लड़के पाण्डवोंका समाचार ले आओ। हमने सुना है, धृतराष्ट्र उन्हें दुःख देता है।' भगवान्‌की आज्ञा पाकर अक्रूरजी हस्तिनापुर गये और धृतराष्ट्रको सब प्रकारसे समझाकर तथा पाण्डवोंके समाचार लेकर लौट आये।

भगवान् जब मथुरापुरीको त्यागकर द्वारका पधारे, तब अक्रूरजी भी उनके साथ ही गये। ये भगवान्‌के प्रिय सखा और सच्चे भक्त थे। अन्तमें भगवान्‌के साथ-ही-साथ ये उनके धामको पधारे।

~~~

भक्त श्रीसुतीक्ष्णजीका प्रभु-प्रेम

अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजै मोहि मन बच अरु काया॥
पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥
(रा०च०मा० ७।८७।७-८ (क); ७।८७)

'गुरुदेव!' सुतीक्ष्णजीने अपनी शिक्षा समाप्त होनेपर अपने गुरु श्रीअगस्त्यजीसे अत्यन्त विनयपूर्वक कहा—'आपके चरणोंमें रहकर मैंने विद्या प्राप्त की है। आप कृपापूर्वक कुछ गुरु-दक्षिणा बताइये। मैं आपके चरणोंमें क्या उपस्थित करूँ?'

'मैं तुम्हारी श्रद्धासे प्रसन्न हूँ।' श्रीअगस्त्यजीने स्नेहपूर्वक उत्तर दिया—'तुम्हें गुरु-दक्षिणा देनेकी आवश्यकता नहीं, मैं तुम्हें स्नेहपूर्वक वैसे ही उऋण कर दे रहा हूँ।' 'नहीं गुरुदेव!' सुतीक्ष्णजी बोले—'आपने मुझे दुर्लभ विद्यादान दिया है। आप गुरु-दक्षिणाके लिये मुझे कुछ आज्ञा दीजिये।'

'तुम्हें गुरु-दक्षिणा देनेकी आवश्यकता नहीं' अगस्त्यजीने पुनः उत्तर दिया—'मैं तुम्हें ऋणमुक्त कर दे रहा हूँ। तुम सुखपूर्वक चले जाओ।'

'परम पूज्य गुरुदेव!' सुतीक्ष्णजीने आग्रहपूर्वक पुनः निवेदन किया—'आप कुछ-न-कुछ गुरु-दक्षिणामें अवश्य माँगिये। गुरु-दक्षिणा दिये बिना मुझे संतोष नहीं होगा।'

'अत्यधिक हठ उचित नहीं।' अगस्त्यजीके मनमें कुछ रोष उत्पन्न हो गया। 'पर तुम नहीं मानते और मुझे गुरु-दक्षिणा देना ही चाहते हो तो जगद्वन्द्य परमप्रभु श्रीरामको लाकर मुझसे मिला दो।'

श्रीसुतीक्ष्णजीने गुरुदेवके चरणोंमें सादर साष्टाङ्ग दण्डवत् किया और वहाँसे चलकर अरण्यमें एक कुटिया बना ली। श्रीसुतीक्ष्णजीकी कुटियाके समीप अन्य कितने ही ऋषि रहते थे। वह स्थान सुतीक्ष्ण-आश्रमके नामसे प्रख्यात था। उक्त आश्रम अत्यन्त मनोरम था। वहाँ प्रत्येक ऋतुके पुष्प और फल सुलभ थे। आश्रम प्रत्येक दृष्टिसे तपस्वियोंके उपयुक्त एवं सुखद था।

श्रीसुतीक्ष्णजीकी भगवान् श्रीराममें अद्भुत रति थी। वे मन, वाणी एवं कर्मसे श्रीराघवेन्द्रके भक्त थे। स्वप्नमें भी किसी अन्य देवताकी आशा नहीं रखते थे। वे निरन्तर श्रीरामके ध्यान एवं उनके भजन-स्मरणमें ही लगे रहते थे। अत्यन्त सरल एवं निश्छल प्रकृतिके श्रीसुतीक्ष्णजी प्रायः श्रीरामके स्मरणमें रोते-रोते बेसुध हो जाते थे। प्रभु-प्रेममें पगे रहनेके कारण उन्हें फल एवं जल ग्रहण करनेका ध्यानतक नहीं रहता था, इस कारण उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था। देहमें मांसका नाम नहीं था। केवल अस्थिपञ्जर ही शेष रह गया था। श्रीसुतीक्ष्णमुनिमें नवधा भक्तिके सभी आदर्श उपस्थित हो गये
~~~

थे। वे राम-मन्त्रके अनन्य उपासक थे।

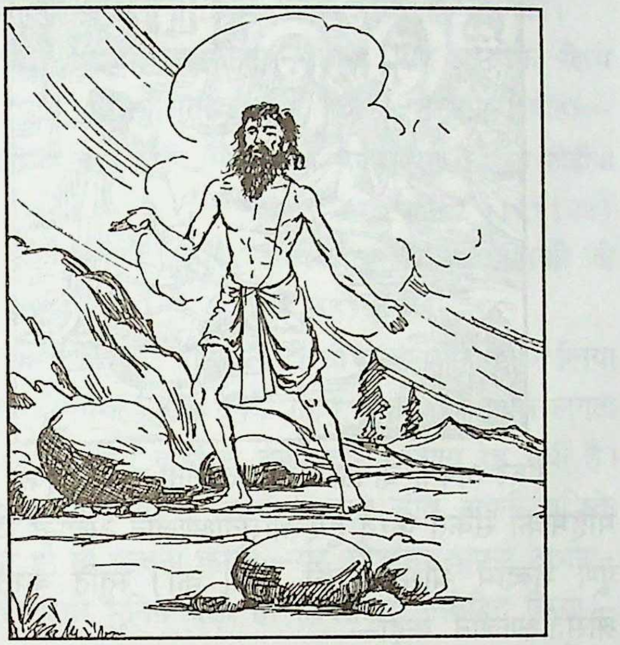

‘भगवती सीता एवं अनुज लक्ष्मणसहित प्रभु श्रीराम इधर ही आ रहे हैं’—यह संवाद पाते ही सुतीक्ष्णजी उठकर खड़े हो गये और मनमें अनेक मनोरथ करते हुए आतुरतासे दौड़ पड़े। उस समय उनके मनकी बड़ी विचित्र स्थिति थी। सुतीक्ष्णजीकी भक्ति, उनकी योग्यता, उनकी नम्रता एवं विनय दुर्लभ है। वे कहते हैं—

हे बिधि दीनबंधु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिं दाया॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यान मन माहीं॥
नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा॥
एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥
(रा० च० मा० ३।१०।४, ६—८)

श्रीसुतीक्ष्णजी प्रभुको प्राप्त करनेकी योग्यताका अपनेमें सर्वथा अभाव देखते हैं। उन्हें अपनेमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, जप, यज्ञ, सत्सङ्ग एवं प्रभु-पाद-पद्मोंमें दृढ़ अनुराग—कुछ भी नहीं दीखता, पर करुणामूर्ति प्रभुके स्वभावकी आशा तथा उसका विश्वास अवश्य है और ये ही भक्तिकी पराकाष्ठाके लक्षण हैं।

‘आज संसार-सागरसे मुक्ति प्रदान करनेवाले प्रभुके मुखकमलका दर्शन कर मेरे नेत्र सफल होंगे, कृतार्थ हो जायँगे।’—अपने इसी भावसे भावित श्रीसुतीक्ष्णजी प्रेममें मग्न हो गये। उस समय उनकी दशा अत्यन्त विचित्र हो गयी थी। वे किस दिशामें, कहाँ, किसलिये जा रहे हैं—इसका उन्हें पता ही न था। उन्हें मार्ग नहीं सूझ रहा था। वे कभी जोरसे श्रीभगवान्‌के परम मङ्गलमय, परम मधुर नामका उच्चारण करने लगते तो कभी सर्वथा मौन हो जाते, जैसे उनकी वाणी ही नहीं है। प्रेमविह्वल श्रीसुतीक्ष्णजी कभी पीछे लौट जाते और कभी अपने आराध्य श्रीरामके गुण गा-गाकर नृत्य करने लगते। वे कभी गाते, कभी रोते और कभी अट्टहास करने लगते। श्रीरामके ध्यानमें तल्लीन होकर वे कभी नाचते तो कभी मौन खड़े हो जाते।

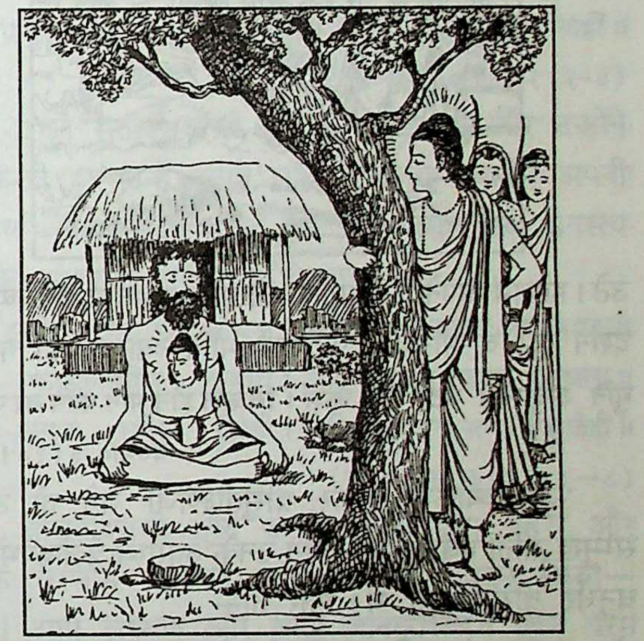

दयासिन्धु, सर्वेश्वर, प्रेममूर्ति प्रभु श्रीराम वृक्षकी ओटसे श्रीसुतीक्ष्णजीकी यह प्रेमपूर्ण स्थिति देख रहे थे। उनकी यह अतिशय प्रीति देखकर प्रभु उनके हृदयमें प्रकट हो गये। महामुनिने अपने हृद्देशमें त्रैलोक्यवन्दित अपने जीवनधन श्रीरामके मधुर मनोहर स्वरूपका दर्शन किया तो उनकी स्थिति अत्यन्त विचित्र हो गयी। उन्हें रोमाञ्च हो आया। वे मार्गमें ही अचल होकर बैठ गये—

मुनि मग माझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥
(रा०च०मा० ३।१०।१५)

फिर तो प्रभु श्रीराम उनके समीप आ गये। प्रभु श्रीसुतीक्ष्णजीको अनेक प्रकारसे जगाने लगे; किंतु ध्यानजनित अनिर्वचनीय सुखकी समाधिके कारण वे नहीं जगे। सच बात तो यह है कि प्रभु श्रीराम वृक्षकी ओटसे श्रीसुतीक्ष्णजीके अतिशय प्रेमकी स्थिति देखकर तत्काल उनके समीप पहुँचकर उन्हें सुखी करना चाहते थे; किंतु श्रीसुतीक्ष्णजीके समीप पहुँचनेमें कुछ देर हो जायगी, यह सोचकर अपने

विरदके रक्षार्थ त्वराके कारण प्रभु उनके हृदयमें प्रकट हो गये थे। फिर श्रीसुतीक्ष्णजीके हृदयकी वह अद्भुत प्रीति अक्षुण्ण बनी रहनेपर वहाँसे हट भी कैसे सकते थे? अतएव लीला-अवतारविग्रह राजकुमारके मधुर रूपको छिपाकर प्रभुने नित्य अवतारी विग्रह शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज रूपका उन्हें दर्शन कराया। फिर तो श्रीसुतीक्ष्णजी छटपटा उठे। हृद्देशमें अपने जीवनाराध्य श्रीरामके स्थानपर श्रीविष्णुके* दर्शन कर वे मणिहीन फणिकी भाँति व्याकुल हो गये—

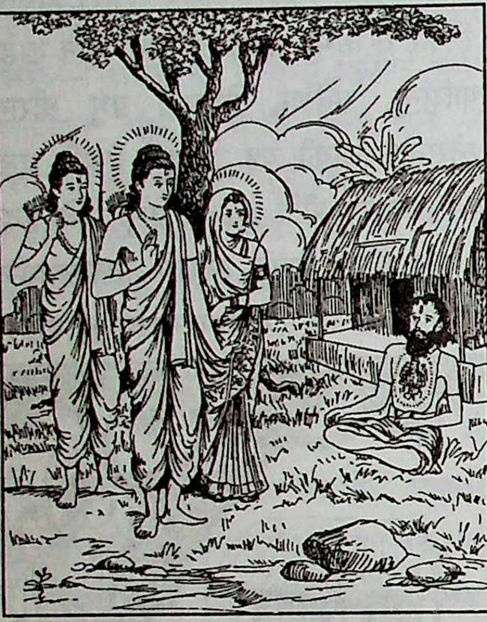

मुनि अकुलाइ उठा तब कैसें। बिकल हीन मनि फनि बर जैसें॥

(रा०च०मा० ३।१०।१९)

जब व्याकुल होकर श्रीसुतीक्ष्णजी जगे तो उनके सम्मुख सीता एवं लक्ष्मणसहित उनके आराध्य त्रैलोक्यमोहन, धनुर्धर श्रीराम खड़े थे। फिर तो—

परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेम मगन मुनिबर बड़भागी॥

(रा०च०मा० ३।१०।२१)

और भक्तप्राणधन भगवान् श्रीरामने उन्हें उठाकर अपने हृदयसे लगा लिया। प्रभु श्रीरामसे मिलते हुए सुतीक्ष्णजीकी ऐसी शोभा हो रही थी, जैसे तमाल-तरुसे कनकवृक्ष मिल रहा हो और मुनि श्रीसुतीक्ष्णजीने खड़े होकर नवनीरदवपु श्रीरामके मुखारविन्दको देखा तो वे चित्रलिखित-से खड़े रह गये। फिर हृदयमें धैर्य धारणकर उन्होंने बार-बार प्रभुके चरणोंमें सिर रखा तथा अपने आश्रममें लाकर प्रभुकी श्रद्धा-भक्तिसे एवं विधिपूर्वक पूजा की।

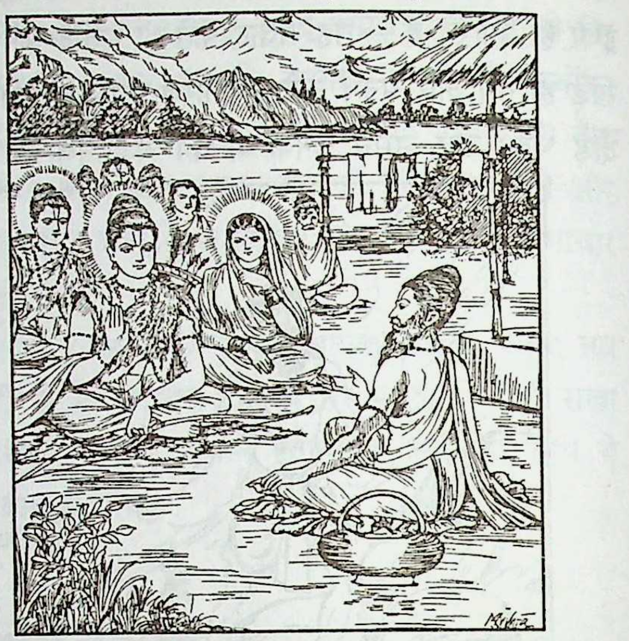

फिर अपनी दीनता एवं अल्पज्ञता तथा प्रभुकी अपार महिमाका संकेत करते हुए श्रीसुतीक्ष्णजीने अत्यन्त विनयपूर्ण शब्दोंमें श्रीभगवान्‌की स्तुति की। स्तुति करते हुए श्रीसुतीक्ष्णजीने कहा—

जो कोसल पति राजिव नयना। करउ सो राम हृदय मम अयना॥
अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

(रा०च०मा० ३।११।२०-२१)

अभी कुछ ही देर पूर्व ध्यानमग्न मुनि तो जगाये नहीं जग रहे थे और अब कितनी चतुराईसे वरकी याचना कर रहे हैं!

इत्येवं स्तुवतस्तस्य रामः सस्मितमब्रवीत्।
मुने जानामि ते चित्तं निर्मलं मदुपासनात्॥
अतोऽहमागतो द्रष्टुं मदृते नान्यसाधनम्।
मन्मन्त्रोपासका लोके मामेव शरणं गताः॥
निरपेक्षा नान्यगतास्तेषां दृश्योऽहमन्वहम्।

(अ०रा० ३।२।३५—३७)

'श्रीसुतीक्ष्णजीके इस प्रकार स्तुति करनेपर श्रीरामचन्द्रजीने उनसे मुसकराकर कहा—'मुने! मैं यह जानता हूँ कि तुम्हारा चित्त मेरी उपासनासे निर्मल हो गया है और तुम्हारा मेरे अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है; इसीलिये मैं तुम्हें देखने

---

* श्रीसुतीक्ष्णजी-जैसे सर्वगुणसम्पन्न भक्तके मनमें अपने इष्टके प्रति अनन्य श्रद्धा एवं भक्ति थी; इस कारण अवतार और अवतारीमें किंचित् भी भेद न मानते हुए भी उन्हें तो अपने परमाराध्य नीलकलेवर श्रीराम ही प्राणप्रिय थे। इसे उन्होंने अपने ही मुखसे स्पष्ट भी कर दिया—

जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सब के हृदयँ निरंतर बासी॥
तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसतु मनसि मम काननचारी॥ (रा०च०मा० ३।११।१७-१८)

आया हूँ। संसारमें जो लोग मेरे मन्त्रकी उपासना करते हैं और मेरी ही शरणमें रहते हैं तथा नित्य निरपेक्ष और अनन्य-गति रहते हैं, उन्हें मैं नित्य-प्रति दर्शन देता हूँ।'

श्रीभगवान्‌ने पुनः कहा—'**त्वं ममोपासनादेव विमुक्तोऽसीह सर्वतः**' (अ०रा० ३।२।३८)—तुम केवल मेरी उपासनासे इस जीवितावस्थामें ही सब प्रकार मुक्त हो गये हो।'

फिर अति आतुरताका आनन्द प्राप्त करनेके लिये अपने प्रेमी भक्त श्रीसुतीक्ष्णजीसे विनोद करते हुए कहा—

परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर मागहु देउँ सो तोही॥
(रा०च०मा० ३।११।२३)

'हे मुनि! मैं आपपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। आपकी जो इच्छा हो, माँगिये। मैं आपको वही दूँगा।'

श्रीसुतीक्ष्णजीने तो पहले ही श्रीभगवान्‌से वर माँग लिया था, पर श्रीभगवान् और देनेके लिये प्रस्तुत हैं। इससे लगता है कि मेरी माँगमें कहीं-न-कहीं त्रुटि अवश्य रह गयी है। अनन्त ज्ञाननिधि प्रभुसे सर्वथा अल्पज्ञ जीव अपनी बुद्धिके अनुसार ही तो याचना करेगा—यह सोचकर अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये मुनिने बड़ी ही विनम्रतासे निवेदित किया—

मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाचा। समुझि न परइ झूठ का साचा॥
तुम्हहि नीक लागै रघुराई। सो मोहि देहु दास सुखदाई॥
(रा०च०मा० ३।११।२४-२५)

श्रीभगवान्‌ने पुनः विनोद किया। श्रीसुतीक्ष्णजीको ध्यान अत्यधिक प्रिय है, पर श्रीभगवान्‌ने अपने वरदानमें ध्यानका स्पर्श भी नहीं किया। वरदान देते हुए प्रभु बोले—

अबिरल भगति बिरति बिग्याना। होहु सकल गुन ग्यान निधाना॥
(रा०च०मा० ३।११।२६)

पर श्रीसुतीक्ष्णजीकी भक्ति अत्यन्त दृढ़ थी। अपने अभीष्टकी सिद्धिके लिये उन्होंने निखिल सृष्टिके स्वामी, अपने परमाराध्य प्रभु श्रीरामसे निवेदन किया—

प्रभु जो दीन्ह सो बरु मैं पावा। अब सो देहु मोहि जो भावा॥
अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम॥
(रा०च०मा० ३।११।२७; ३।११)

'हे धनुष-बाणधारी भगवान् श्रीराम! आप भाई श्रीलक्ष्मण और माता जानकीसहित निष्काम (स्थिर) होकर सदा ही मेरे हृदयाकाशमें चन्द्रवत् निवास करें।'

और मुनिकी श्रद्धा-भक्ति एवं प्रेमके अधीन प्रभुने प्रसन्नतापूर्वक तत्क्षण कह दिया—'एवमस्तु।' और फिर बोले—

गुरुं ते द्रष्टुमिच्छामि ह्यगस्त्यं मुनिनायकम्।
किञ्चित्कालं तत्र वस्तुं मनो मे त्वरयत्यलम्॥
(अ०रा० ३।२।३९)

'अब मैं तुम्हारे गुरु मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजीसे मिलना चाहता हूँ, मेरा चित्त उनके पास कुछ दिन रहनेके लिये उतावला हो रहा है।'

श्रीसुतीक्ष्णजीने तुरंत कहा—'प्रभो! आश्रमसे आये मुझे बहुत दिन बीत गये और इस कारण मुझे गुरुजीके दर्शन किये भी अत्यधिक दिन हो गये। अब मैं आपके साथ ही गुरुजीके यहाँ चलूँगा, इसमें आपके लिये संकोचका कोई प्रश्न नहीं है। मैं अपने स्वार्थसे चलना चाहता हूँ—'

बहुत दिवस गुर दरसनु पाएँ। भए मोहि एहिं आश्रम आएँ॥
अब प्रभु संग जाउँ गुर पाहीं। तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं॥
(रा०च०मा० ३।१२।२-३)

प्रभुने सुतीक्ष्णजीकी चतुराई समझ ली और उन्होंने मुसकराते हुए उन्हें अपने साथ ले लिया। मार्गमें अपनी भक्तिकी अद्भुत बातें सुनाते हुए प्रभु श्रीराम जब अगस्त्य मुनिके आश्रमके समीप पहुँचे, तब—

तुरत सुतीछन गुर पहिं गयऊ। करि दंडवत कहत अस भयऊ॥
नाथ कोसलाधीस कुमारा। आए मिलन जगत आधारा॥
राम अनुज समेत बैदेही। निसि दिनु देव जपत हहु जेही॥
(रा०च०मा० ३।१२।६—८)

श्रीसुतीक्ष्णजी तुरंत अपने गुरुके पास पहुँचे और उनके चरणोंमें दण्डवत् करके उन्होंने निवेदन किया—नाथ! आप लक्ष्मण और माता जानकीसहित जिन परम प्रभुका दिन-रात नामजप करते रहते हैं, वे विश्वाधार कोशलकुमार आपसे मिलने पधारे हैं।

सुनत अगस्ति तुरत उठि धाए। हरि बिलोकि लोचन जल छाए॥
(रा०च०मा० ३।१२।९)

श्रीसुतीक्ष्णजीकी वाणी सुनते ही श्रीअगस्त्यजी तुरंत उठ खड़े हुए और आतुरतासे प्रभुके दर्शनार्थ दौड़ पड़े तथा सीता-अनुजसहित नवघनसुन्दर श्रीरामको देखते ही प्रेम-निमग्न हो गये। उनके नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर आये।

इस प्रकार श्रीसुतीक्ष्णजीने अपनी अनुपम भक्तिसे प्रभु-प्राप्तिके साथ ही अपने गुरुकी माँगी हुई गुरु-दक्षिणा भी उन्हें दे दी और उनसे उऋण हो गये।

* * *

श्रीमच्छङ्कराचार्यजीका श्रीकृष्णप्रेम

प्रबोधसुधाकर नामक ग्रन्थमें श्रीमच्छङ्कराचार्यजीने द्विधा भक्ति, भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान और सगुण-निर्गुणकी एकता आदिका बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। उसे संक्षेपमें भावार्थसहित यहाँ दिया जा रहा है—

द्विधा भक्ति

चित्ते सत्त्वोत्पत्तौ तडिदिव बोधोदयो भवति। तर्ह्येव स स्थिरः स्याद्यदि चित्तं शुद्धिमुपयाति॥
शुद्ध्यति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते। वसनमिव क्षारोदैर्भक्त्या प्रक्षाल्यते चेतः॥
यद्वत्समलादर्शे सुचिरं भस्मादिना शुद्धे। प्रतिफलति वक्त्रमुच्चैः शुद्धे चित्ते तथा ज्ञानम्॥
जानन्तु तत्र बीजं हरिभक्त्या ज्ञानिनो ये स्युः। मूर्तं चैवामूर्तं द्वे एव ब्रह्मणो रूपे॥
इत्युपनिषत्तयोर्वा द्वौ भक्तौ भगवदुपदिष्टौ। क्लेशादक्लेशाद्वा मुक्तिः स्यादेतयोर्मध्ये॥
स्थूला सूक्ष्मा चेति द्वेधा हरिभक्तिरुद्दिष्टा। प्रारम्भे स्थूला स्यात्सूक्ष्मा तस्याः सकाशाच्च॥
(१६६—१७१)

चित्तमें सत्त्वकी उत्पत्ति होनेपर बिजलीकी तरह बोध हो जाता है और यदि चित्त शुद्ध हो चुका हो तो वह बोध उसी समय स्थिर हो जाय। अन्तरात्मा (चित्त)-की शुद्धि श्रीकृष्णके चरणकमलकी भक्ति बिना नहीं होती। जैसे साबुनसे मिले हुए जलके द्वारा वस्त्र प्रक्षालन किया जाता है, इसी प्रकार भक्तिसे चित्त धुलता है। जैसे मलिन दर्पणको भस्म आदिसे भलीभाँति साफ कर लेनेपर उसमें मुखका प्रतिबिम्ब ठीक पड़ता है, इसी प्रकार ज्ञान भी शुद्ध चित्तमें होता है। जो हरिभक्तिसे ज्ञानी हुए हैं वे उसमें भक्तिको ही बीज समझें, ब्रह्मके मूर्त और अमूर्त दो ही रूप हैं। यह उपनिषद् है, भगवान्ने दो ही प्रकारके भक्त बतलाये हैं। उन दोनोंमेंसे एकको मुक्ति क्लेशसे मिलती है, दूसरेको बिना ही क्लेशके मिल जाती है। हरिभक्ति दो प्रकारकी कही गयी है—स्थूल और सूक्ष्म। प्रारम्भमें स्थूल होती है, फिर उसीसे सूक्ष्म हो जाती है॥ १६६—१७१॥

स्वाश्रमधर्माचरणं कृष्णप्रतिमार्चनोत्सवो नित्यम्। विविधोपचारकरणैर्हरिदासैः सङ्गमः शश्वत्॥
कृष्णकथासंश्रवणे महोत्सवः सत्यवादश्च। परयुवतौ द्रविणे वा परापवादे पराङ्मुखता॥
ग्राम्यकथासूद्वेगः सुतीर्थगमनेषु तात्पर्यम्। यदुपतिकथावियोगे व्यर्थं गतमायुरिति चिन्ता॥
एवं कुर्वति भक्तिं कृष्णकथानुग्रहोत्पन्ना। समुदेति सूक्ष्मभक्तिर्यस्या हरिरन्तराविशति॥
स्मृतिसत्पुराणवाक्यैर्यथाश्रुतायां हरेर्मूर्तौ। मानसपूजाभ्यासो विजननिवासेऽपि तात्पर्यम्॥
सत्यं समस्तजन्तुषु कृष्णस्यावस्थितेर्ज्ञानम्। अद्रोहो भूतगणे ततस्तु भूतानुकम्पा स्यात्॥
(१७२—१७७)

अपने वर्णाश्रमधर्मका आचरण, अनेक उपचारोंसे नित्य श्रीकृष्णमूर्तिका पूजनोत्सव, सदा हरिदासोंका सङ्ग, श्रीकृष्णके कथाश्रवणमें महोत्सव, सत्यभाषण, परस्त्री, परधन और परनिन्दासे पराङ्मुखता; ग्राम्य कथामें (विषयी स्त्री-पुरुषोंकी व्यर्थ चर्चामें) उद्वेग, तीर्थगमनमें प्रीति, यदुपति श्रीकृष्णकी कथाका वियोग होनेपर यह चिन्ता कि जीवनका इतना समय व्यर्थ गया। इन साधनोंसे भक्ति करनेवाले पुरुषमें श्रीकृष्णकथाकी कृपासे वह सूक्ष्म बुद्धि उत्पन्न होती है, जिसके भीतर श्रीहरि प्रवेश कर जाते हैं। स्मृति और सत्पुराणोंके वचनोंसे श्रीहरिकी जैसी मूर्ति सुनी है, उसमें मानस-पूजाका अभ्यास, निर्जन स्थानके निवासमें प्रीति, सत्य, सब जीवोंमें श्रीकृष्णकी स्थितिका ज्ञान, भूतसमूहमें अद्रोह—इन साधनोंसे समस्त भूतोंमें कृपा उत्पन्न हो जाती है॥ १७२—१७७॥

प्रमितयदृच्छा लाभे सन्तुष्टिर्दारपुत्रादौ। ममताशून्यत्वमतो निरहङ्कारत्वमक्रोधः॥
मृदुभाषिता प्रसादो निजनिन्दायां स्तुतौ समता। सुखदुःखशीतोष्णद्वन्द्वसहिष्णुत्वमापदो न भयम्॥
निद्राहारविहारेष्वनादरः सङ्गराहित्यम्। वचने चानवकाशः कृष्णस्मरणेन शाश्वती शान्तिः॥

केनापि गीयमाने हरिगीते वेणुनादे वा। आनन्दाविर्भावो युगपत्स्याद्धष्टसात्त्विकोद्रेकः॥
तस्मिन्ननुभवति मनः प्रगृह्यमाणं परमात्मसुखम्। स्थिरतां याते तस्मिन् याति मदोन्मत्तदन्तिदशाम्॥
जन्तुषु भगवद्भावं भगवति भूतानि पश्यति क्रमशः। एतादृशी दशा चेत्तदैव हरिदासवर्यः स्यात्॥
(१७८—१८३)

थोड़ेसे यदृच्छा लाभमें संतोष, स्त्री-पुत्रादिमें ममताका अभाव, निरहंकारता, अक्रोध, मृदुभाषण, प्रसन्नता, अपनी निन्दा और स्तुतिमें समभाव, सुख-दुःख, शीत-उष्णादि द्वन्द्वोंमें सहनशीलता, विपत्तिमें निर्भयता, निद्रा-आहार-विहार आदिमें अनादर, आसक्तिहीनता, व्यर्थ वचन बोलनेमें अनवकाश (समय न मिलना), श्रीकृष्णके स्मरणसे पूर्ण शान्ति, किसी पुरुषने श्रीहरिका गीत गाया हो या मुरली बजायी हो तो उसे सुनते ही तत्क्षण आनन्दका आविर्भाव और सात्त्विक हर्षका उल्लास। ऐसे अनुभवसे मन जब परमात्म-सुखको ग्रहण करके स्थिर हो जाता है, तब (प्रेमसे) उसकी दशा मदमत्त गजराजकी-सी हो जाती है, वह सब जीवोंमें भगवान्‌के भावको और क्रमसे भगवान्‌में सब जीवोंको देखता है, ऐसी दशा हो जानेपर ही वह श्रेष्ठ हरिदास होता है॥ १७८—१८३॥

ध्यानकी विधि

यमुनातटनिकटस्थितवृन्दावनकानने महारम्ये। कल्पद्रुमतलभूमौ चरणं चरणोपरि स्थाप्य॥
तिष्ठन्तं घननीलं स्वतेजसा भासयन्तमिह विश्वम्। पीताम्बरपरिधानं चन्दनकर्पूरलिप्तसर्वाङ्गम्॥
आकर्णपूर्णनेत्रं कुण्डलयुगमण्डितश्रवणम्। मन्दस्मितमुखकमलं सुकौस्तुभोदारमणिहारम्॥
वलयाङ्गुलीयकाद्यानुज्ज्वलयन्तं स्वलंकारान्। गलविलुलितवनमालं स्वतेजसापास्तकलिकालम्॥
गुञ्जारवालिकलितं गुञ्जापुञ्जान्विते शिरसि। भुञ्जानं सहगोपैः कुञ्जान्तरवर्तिनं हरिं स्मरत॥
मन्दारपुष्पवासितमन्दानिलसेवितं परानन्दम्। मन्दाकिनीयुतपदं नमत महानन्ददं महापुरुषम्॥
सुरभीकृतदिग्वलयं सुरभिशतैरावृतं सदा परितः। सुरभीतिक्षपणमहासुरभीमं यादवं नमत॥
कन्दर्पकोटिसुभगं वाञ्छितफलदं दयार्णवं कृष्णम्। त्यक्त्वा कमन्यविषयं नेत्रयुगं द्रष्टुमुत्सहते॥
पुण्यतमामतिसुरसां मनोऽभिरामां हरेः कथां त्यक्त्वा। श्रोतुं श्रवणद्वन्द्वं ग्राम्यं कथमादरं भवति॥
दौर्भाग्यमिन्द्रियाणां कृष्णे विषये हि शाश्वतिके। क्षणिकेषु पापकरणेष्वपि सज्जन्ते यदन्यविषयेषु॥
(१८४—१९३)

'यमुनातटके निकट स्थित वृन्दावनके अति रमणीय किसी काननमें, कल्पवृक्षकी तलभूमिमें चरणपर चरण रखकर बैठे हुए मेघश्याम, जो अपने तेजसे विश्वको प्रकाशित कर रहे हैं, पीताम्बर धारण किये हुए हैं, चन्दन-कर्पूरसे जिनका शरीर लिप्त हो रहा है, जिनके नेत्र कानोंतक पहुँचे हुए हैं, जिन्होंने कानोंमें कुण्डल धारण किये हैं, जिनका मुखकमल मन्द हाससे युक्त है, जो कौस्तुभमणिसे युक्त सुन्दर हार पहने हुए हैं, जो अपने प्रकाशसे कङ्कण, अँगूठी आदि अलंकारोंको शोभित कर रहे हैं, वनमाला जिनके गलेमें लटक रही है, अपने तेजसे जिन्होंने कलिकालका निरास कर दिया है, गुञ्जापुञ्जसे युक्त सिरपर गुञ्जा और भ्रमरोंके शब्द हो रहे हैं, ऐसे किसी कुञ्जके अंदर बैठकर गोपोंके साथ भोजन करते हुए श्रीहरिका स्मरण करो। जो कल्पवृक्षके पुष्पोंकी गन्धसे युक्त मन्द पवनसे सेवित हैं, गङ्गाजी जिनके चरणकमलमें स्थित हैं, जो महान् आनन्दके दाता हैं, ऐसे परमानन्दस्वरूप महापुरुषको नमस्कार करो। दसों दिशाओंको जिन्होंने सुगन्धित कर दिया है, सुरभि-सदृश सैकड़ों गायोंने जिनको चारों ओरसे घेर रखा है, देवताओंके भयको नाश करनेके लिये जो भयानक महासुररूप धारण करनेवाले हैं, उन यादवको नमस्कार करो। जो करोड़ों कामदेवोंसे भी सुन्दर हैं, जो वाञ्छित फलके दाता हैं, ऐसे दयासमुद्र श्रीकृष्णको छोड़कर ये नेत्रयुगल और किस विषयके दर्शनका उत्साह करें। अति पवित्र, अति सुन्दर, रसवती, मनोरम श्रीकृष्णकथाको छोड़कर ये कर्णयुगल संसारी पुरुषोंकी चर्चा सुननेके लिये कैसे आदर करें। सदा विद्यमान श्रीकृष्णरूपी विषयके होते हुए भी पापके साधन क्षणिक अन्य विषयोंमें प्रीति करना इन्द्रियोंका दुर्भाग्य ही है॥ १८४—१९३॥

सगुण-निर्गुणकी एकता

श्रुतिभिर्महापुराणैः सगुणगुणातीतयोरैक्यम्। यत्प्रोक्तं गूढतया तदहं वक्ष्येऽतिविशदार्थम्॥
भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः। प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलकः स एवायम्॥
ननु सगुणो दृश्यतनुस्तथैकदेशाधिवासश्च। स कथं भवेत्परात्मा प्राकृतवद्रागरोषयुतः॥
इतरे दृश्यपदार्था लक्ष्यन्तेऽनेन चक्षुषा सर्वे। भगवाननया दृष्ट्या न लक्ष्यते ज्ञानदृग्गम्यः॥
यद्विश्वरूपदर्शनसमये पार्थाय दत्तवान् भगवान्। दिव्यं चक्षुस्तस्माददृश्यता युज्यते नृहरौ॥
साक्षाद्यथैकदेशे वर्तुलमुपलभ्यते रवेर्बिम्बम्। विश्वं प्रकाशयति तत्सर्वैः सर्वत्र दृश्यते युगपत्॥
यद्यपि साकारोऽयं तथैकदेशी विभाति यदुनाथः। सर्वगतः सर्वात्मा तथाप्ययं सच्चिदानन्दः॥
एको भगवान् रेमे युगपद्गोपीष्वनेकासु। अथवा विदेहजनकश्रुतदेवभूदेवयोर्हरिर्युगपत्॥
अथवा कृष्णाकारां स्वचमूं दुर्योधनोऽपश्यत्। तस्माद्व्यापक आत्मा भगवान् हरिरीश्वरः कृष्णः॥
वक्षसि यदा जघान श्रीवत्सः श्रीपतेः स किं द्वेष्यः। भक्तानामसुराणामन्येषां वा फलं सदृशम्॥
तस्मान्न कोऽपि शत्रुर्नो मित्रं नाप्युदासीनः। नृहरिः सन्मार्गस्थः सफलः शाखीव यदुनाथः॥
लोहशलाकानिवहैः स्पर्शाश्मनि भिद्यमानेऽपि। स्वर्णत्वमेति लौहं द्वेषादपि विद्विषां तथा प्राप्तिः॥
(१९४—२०५)

श्रुतियों और महापुराणोंने जो सगुण-निर्गुणकी एकता गुप्तरूपसे कही है मैं उसे स्पष्ट करके बतलाऊँगा। ज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्द प्रकृतिसे परे परमात्मा जो सर्वभूतोंका अन्तर्यामी है, यह यदुकुलतिलक (श्रीकृष्ण) वही है। (यदि ऐसा कहा जाय कि) यह कृष्ण तो सगुण है, इसका शरीर दृश्य है, एक स्थानमें रहनेवाला है और साधारण पुरुषोंकी तरह राग-द्वेषसे युक्त है, यह परमात्मा कैसे हो सकता है? अन्य दृश्य पदार्थ इस नेत्रसे पहचाने जाते हैं, भगवान् इस नेत्रसे नहीं पहचाना जाता यह ज्ञानदृष्टिका विषय है। विश्वरूप दर्शनके समय भगवान्ने अर्जुनको दिव्यचक्षु दिया था, इसलिये नृहरिमें अदृश्यता युक्त ही है। गोलाकार सूर्यका मण्डल साक्षात् एकदेशमें देखा जाता है, पर (वह) समस्त विश्वका प्रकाश करता है और सब देशोंके निवासी सब पुरुष एक ही कालमें (उसे) अपने सन्मुख देखते हैं। यद्यपि साकार यदुनाथ एकदेशी नजर आता है, तथापि यह सर्वव्यापक सर्वात्मा सच्चिदानन्द ही है। एक ही भगवान्ने एक ही कालमें अनेक गोपियोंमें रमण किया अथवा विदेह जनक और श्रुतदेव ब्राह्मणके घरमें एक ही कालमें हरिने प्रवेश किया अथवा दुर्योधनने अपनी समस्त सेनाको कृष्णाकार देखा, इसलिये कृष्ण व्यापक आत्मा भगवान् हरि ईश्वर ही है। वक्षःस्थलका आघात श्रीवत्स क्या हरिका द्वेष्य है। भक्तोंको (तथा) अन्य असुरोंको फल सदृश ही मिला। इसलिये कोई भी उसका शत्रु, मित्र या उदासीन नहीं है, नृहरि यदुनाथ शुभ मार्गमें स्थित फले हुए वृक्षके सदृश है। लौहशलाकाओंसे पारसके तोड़नेपर भी (वह) लोहा (जिसकी शलाकाएँ बनी होती हैं) सोना हो जाता है, उसी प्रकार द्वेष करनेसे भी शत्रुओंको (उसकी) प्राप्ति हुई॥ १९४—२०५॥

नन्वात्मनः सकाशादुत्पन्ना जीवसन्ततिश्चेयम्। जगतः प्रियतर आत्मा तत्प्रकृते नैव सम्भवति॥
वत्साहरणावसरे पृथग्वयोरूपवासनाभूषान्। हरिरजमोहं कर्तुं सवत्सगोपान् विनिर्ममे स्वस्मात्॥
अग्नेर्यथा स्फुलिङ्गाः क्षुद्रास्तु व्युच्चरन्तीति। श्रुत्यर्थं दर्शयितुं स्वतनोरतनोत्स जीवसन्दोहम्॥
यमुनातीरनिकुञ्जे कदाचिदपि वत्सकांश्च चारयति। कृष्णे तथार्यगोपेषु च वरगोष्ठेषु चारयत्स्वारात्॥
(२०६—२०९)

यदि कहा जाय कि आत्मासे जीवसमूहोंकी उत्पत्ति हुई है, सारे जगत्को अपना आत्मा अत्यन्त प्रिय है तो यह बात कृष्णमें नहीं घटती। वत्सहरणके समय ब्रह्माको मोहित करनेके लिये पृथक्-पृथक् अवस्था, रूप, वस्त्र और भूषणोंवाले वत्स और गोप कृष्णने अपनेहीसे बनाये थे। अग्निसे जैसे छोटे-छोटे चिनगारे निकलते हैं, वैसे ही

परमात्मासे सब जीव निकलते हैं। इस श्रुतिका अर्थ दिखलानेके लिये कृष्णने अपने ही शरीरसे तो जीवोंका समूह रचा था। यमुनाके तीरपर कुञ्जमें कृष्ण बछड़े चरा रहे थे और दूर गोष्ठोंमें वृद्ध गोप गौवोंको चरा रहे थे॥ २०६—२०९ ॥

वत्सं निरीक्ष्य दूराद्गावः स्नेहेन सम्भ्रान्ताः । तदभिमुखं धावन्त्यः प्रययुर्गोपैश्च दुर्वाराः॥
प्रस्त्रवभरेण भूयः स्नुतस्तनाः प्राप्यपूर्ववद्वत्सान्। पृथुरसनया लिहन्त्यस्तर्णकवत्यः प्रपाययन्प्रमुदा॥
गोपा अपि निजबालाङ्कगृहुर्मूर्धानमाघ्राय। इत्थमलौकिकलाभस्तेषां तत्र क्षणं ववृधे॥
गोपा वत्साश्चान्ये पूर्वं कृष्णात्मका ह्यभवन्। तेनात्मनः प्रियत्वं दर्शितमेतेषु कृष्णेन॥
प्रेयः पुत्राद्वित्तात्प्रेयोऽन्यस्माच्च सर्वस्मात्। अन्तरतरं यदात्मेत्युपनिषदः सत्यताभिहिता॥
(२१०—२१४)

दूरसे वत्सोंको देख, स्नेहविवश होकर गौएँ भागकर उनके पास आयीं, गोप हटा न सके। दूधके भारसे स्तन बहने लगे, पहले वत्सोंके पास जाकर लम्बी जीभोंसे चाटती हुई हालके ब्याने—बच्चेवाली गौओंने भी पहलेकी तरह प्रेमसे वत्सोंको दूध पिलाया। गोपोंने भी मुख चूमते हुए अपने-अपने बालकोंको गोदमें ले लिया। इस प्रकार उस क्षणमें उनको अलौकिक आनन्द प्राप्त हुआ। वे सब बालक और वत्स कृष्णरूप ही तो थे, इसलिये कृष्णने इनमें अपनी प्रियतरता दिखा दी। यह अन्तरतर आत्मा पुत्रसे, धनसे और सारे जगत्से अति प्रिय है। इस उपनिषद्की सत्यता कृष्णने बतला दी॥ २१०—२१४॥

नित्यानन्दसुधानिधेरधिगतः सन्नीलमेघः सतामौत्कण्ठ्यप्रबलप्रभञ्जनभरैराकर्षितो वर्षति।
विज्ञानामृतमद्भुतं निजवचो धाराभिरारादिदं चेतश्चातक चेन्न वाञ्छति मृषा क्रान्तोऽसि सुप्तोऽसि किम्॥
चेतश्चञ्चलतां विहाय पुरतः संधाय कोटिद्वयं तत्रैकत्र निधेहि सर्वविषयानन्यत्र च श्रीपतिम्।
विश्रान्तिर्हितमप्यहो क्व नु तयोर्मध्ये तदालोच्यतां युक्त्या वानुभवेन यत्र परमानन्दश्च तत्सेव्यताम्॥

नित्यानन्दरूपी अमृतके समुद्रसे निकलता हुआ सत्पुरुषोंकी उत्कण्ठारूपी प्रबल वायुके वेगसे उड़ाया हुआ नीलमेघ तेरे समीप ही अपने वचनरूपी धाराओंसे अद्भुत ज्ञानरूपी अमृत (श्रीगीता)-की वर्षा कर रहा है। रे चित्त चातक! क्यों नहीं पीता? क्या तुझे किसीने पकड़ लिया है या तू सोया हुआ है? रे चित्त! चञ्चलताको त्यागकर अपने सामने तराजूके दोनों पलड़े रख और विचारकर कि दोनोंके बीचमें विश्राम और हित किसमें है? युक्ति और अनुभवसे जिसमें परमानन्द मिले, उसीका सेवन कर!

पुत्रान्पौत्रमथ स्त्रियोऽन्ययुवतीर्वित्तान्यथोऽन्यद्धनं भोज्यादिष्वपि तारतम्यवशतो नालं समुत्कण्ठया।
नैतादृग्यदुनायके समुदिते चेतस्यनन्ते विभौ सान्द्रानन्दसुधार्णवे विहरति स्वैरं यतो निर्भयम्॥
काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिनं किञ्चित्फलं स्वेप्सितं किञ्चित्स्वर्गमथापवर्गमपरैर्योगादियज्ञादिभिः।
अस्माकं यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिनां किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम्॥

पुत्र, पौत्र, स्त्रियाँ, अन्य युवतियाँ, धन, अन्य धन-भोज्यादि पदार्थोंमें न्यूनाधिक भाव होनेसे कभी भी इच्छा शान्त नहीं होती। अनन्त घनानन्दामृतसमुद्र विभु यदुनायक कृष्ण जब चित्तमें प्रकट होकर इच्छापूर्वक विहार करता है, तब यह बात नहीं रहती (इच्छा शान्त हो जाती है) और चित्त निर्भय हो जाता है। कुछ लोग प्रतिदिन सकाम उपासनासे मनोवाञ्छित फलकी प्रार्थना करते हैं। दूसरे कुछ लोग यज्ञादिसे स्वर्ग और योगादिसे मुक्तिकी प्रार्थना करते हैं, हमें तो यदुनन्दनके चरणयुगलके ध्यानमें सावधान रहनेकी इच्छा है। हमें लोकसे, दमसे, राजासे, स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष)-से क्या प्रयोजन!

(ब्रह्मलीन पूज्यपाद श्रीअच्युतमुनिजी महाराज)*

* * *

---

* पूर्वकालमें अच्युतमुनिजी एक उच्चकोटिके विरक्त संत थे, जो काशीमें गङ्गातटपर निवास करते थे। इनके परम भक्त श्रीगौरीशंकरजी गोइनकाने 'अच्युत-ग्रन्थमाला' के नामसे विभिन्न महत्त्वपूर्ण पुस्तकोंका प्रकाशन भी कराया था।

सुदर्शनचक्रावतार श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यका भगवत्प्रेम

भारतभूमि अखिल ब्रह्माण्डनायक परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् श्रीहरिकी अवतारभूमि एवं लीलास्थली है। नित्य-विभूतिकी तरह लीला-विभूतिमें भी प्रभुके लोकोत्तर प्रभाव प्रकट होते हैं। युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तरमें उचित समय आनेपर भक्तोंकी इच्छाके अनुरूप सद्रक्षण, दुष्ट-दमन और धर्मस्थापनार्थ भगवान् स्वयं भूतलपर अवतीर्ण होते हैं। द्वापरान्तमें एतदर्थ श्रीकृष्णका अवतार हुआ था। अपनी अनन्त शक्तिरूपा गोपियोंके माध्यमसे उन्होंने उत्तम फलरूपा प्रेमलक्षणा भक्तिकी सुमधुर धारा प्रवाहित की। इसी प्रकार दाम, श्रीदाम, सुदाम, वसुदाम, उद्धव और अर्जुनप्रभृति अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग पार्षदोंद्वारा ज्ञान-वैराग्यसंवलित पराभक्ति (भगवत्प्रेम)-का स्वरूप अभिव्यक्त कराकर अनुकरणप्रिय मानव-स्वभावको प्रेममार्गमें चलनेकी सरल सरणि प्रदर्शित की।

भगवान्‌का अवतार भक्तोंकी प्रार्थनापर उनपर अनुग्रहहेतु स्वेच्छासे होता है, परंतु भगवत्पार्षदोंका अवतार प्रभुकी आज्ञासे होता है। लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने जब अपनी लीलाका संवरण अर्थात् अवतार-प्रयोजन पूर्ण करके गोलोकधाम प्रयाण किया, तब कालान्तरमें कलिके प्रवेश-प्रभावसे भागवतधर्म और सनातन वैदिक परम्पराका ह्रास एवं अन्यान्य अवैदिक उपासनाका विस्तार होने लगा। चारों ओर अशान्तिका वातावरण बढ़ने लगा; जिससे भगवत्प्रेम, भक्तिमार्ग, सदाचार, सद्व्यवहार आदिमें शिथिलता आने लगी। सच्चिदानन्द, अनन्त कल्याणगुणार्णव सर्वेश्वर श्रीकृष्णके स्वधामगमनके पश्चात् कलिकालके तीव्र वेगसे स्वयंद्वारा संस्थापित धर्म-मर्यादाओंका उच्छेद होते देखकर **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः'** परमेश्वर श्रीहरिने अपने प्रियतम आयुधवर चक्रराज श्रीसुदर्शनको आज्ञा दी—

सुदर्शन महाबाहो कोटिसूर्यसमप्रभ।
अज्ञानतिमिरान्धानां विष्णो मार्गं प्रदर्शय॥

हे महाबाहो! सुदर्शन! आपका तेज करोड़ों सूर्यके तुल्य है। अतः अज्ञानरूपी अन्धकारसे अन्धे बने हुए अर्थात् किंकर्तव्यविमूढ़ मानवोंको अर्चिरादि पद्धतिद्वारा गोलोक, वैकुण्ठ आदि दिव्य धाम-प्राप्तिका सुगम मार्ग दिखाइये, जो श्रुति-तन्त्रादि शास्त्रोंमें विष्णुमार्गके नामसे परिवर्णित है। चक्रराज सुदर्शन भगवान्‌के अन्तरङ्ग पार्षद हैं। जिस प्रकार असुर-संहार आदिमें उनकी शक्ति अकुण्ठित तथा अप्रतिहत है, उसी प्रकार भक्तोंकी रक्षा तथा प्रेमास्पदके प्रेमस्वरूपको प्रकट करनेमें परम मधुरस्वरूप है।

महर्षि दुर्वासाजीने महाभागवत राजर्षि अम्बरीषकी परीक्षा ली। दुर्वासाने रोषमें आकर कृत्याको प्रकट किया तथा राजाके विनाशहेतु प्रेरित किया। उधर सुदर्शनजी प्रभुकी आज्ञासे भक्त अम्बरीषके रक्षार्थ उनकी संनिधिमें अव्यक्त रूपसे रहते थे। भगवान्‌के प्रति अहैतुकी भक्ति एवं अगाध प्रेम रखनेवाले निष्कपट भक्तके ऊपर संकट आया देखकर सुदर्शनजी प्रकट हुए, कृत्याका विनाश कर दुर्वासाके पीछे लगे और उन्हें संतप्त किया। अब महर्षि व्याकुल होते हुए ब्रह्मलोक गये, सुदर्शनचक्रके तापसे बचानेकी प्रार्थना की, परंतु ब्रह्माजीने अपनी असमर्थता बतायी। वहाँसे शिवलोक गये, श्रीशिवजीसे भी निराशा ही हाथ लगी। अन्ततः वैकुण्ठमें जाकर क्षमा-प्रार्थना करते हुए अपनी रक्षाहेतु विनती की। महान् आश्चर्य! भगवान् श्रीविष्णु कहने लगे—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

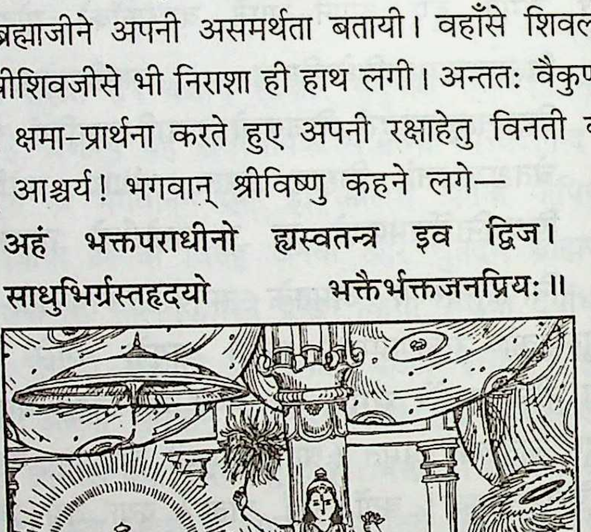

हे द्विजवर! मैं स्वतन्त्र होता हुआ भी भक्तजनोंका प्रिय अर्थात् भक्तवत्सल होनेके कारण सज्जन भक्तोंके अधीन-सा हूँ। सज्जन भक्तोंने प्रेमद्वारा मेरे मनको वशीभूत कर दिया है। अतः मैं उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। महर्षे! जहाँसे आपको यह संकट उपस्थित हुआ, वहीं पहुँचिये, शान्ति मिलेगी। अब दुर्वासाजी समझ गये कि प्रभु

कितने भक्तवत्सल हैं, भक्तोंकी प्रेममयी भावनासे कैसे बँधे हैं! फिर तो वे वैकुण्ठसे नि:संकोच अम्बरीषके पास पहुँचे, क्षमा माँगी। तब राजाने भगवान् श्रीसुदर्शनकी स्तुति की—हे चक्रराज! आप स्वयं अग्नि, सोम, सूर्य आदि समस्त तेजोमय देवोंके भी तेज:स्वरूप हैं। आपका अमित प्रभाव है। इन महर्षिका मङ्गल हो। आप शान्त हो जायँ। इस प्रकार अनेक प्रार्थना करनेपर सुदर्शनजी शान्तरूपमें दर्शन देकर अन्तर्धान हो गये।

वे ही चक्रराज श्रीसुदर्शनजी उपर्युक्त भगवदाज्ञा शिरोधार्य करके जब तेजोराशिके रूपमें भूतलपर अवतीर्ण हुए, उस समय सर्वत्र चारों ओर दिव्य मङ्गलमय प्रकाश फैल गया। दक्षिण भारतमें गोदावरी-तटपर वैदूर्यपत्तन (मूँगी-पैठण) स्थानमें महर्षि अरुण अपनी पत्नी जयन्तीके साथ तपश्चर्या कर रहे थे, उत्तम संतानकी कामना थी। भगवत्प्रेरणासे सुदर्शनजी उन्हीं ऋषि-दम्पतिके पुत्ररूपमें प्रकट हुए। महर्षिने सभी शुभ लक्षण देखकर बालकका नाम नियमानन्द रखा। श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायकी परम्परागत मान्यता है कि द्वापरान्तमें युधिष्ठिर संवत् ६ कार्तिक शुक्ल पूर्णिमाको सायंकाल इनका जन्म हुआ। वर्तमानमें इसी दिन इनकी जयन्ती मनायी जाती है। भविष्यपुराणमें भगवान् श्रीवेदव्यासने निर्देश किया है—

सुदर्शनो द्वापरान्ते कृष्णाज्ञप्तो जनिष्यति।
निम्बादित्य इति ख्यातो धर्मग्लानिं हरिष्यति॥

अर्थात् आयुधप्रवर चक्रराज सुदर्शन भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे द्वापरान्तमें पृथिवीपर जन्म धारण करेंगे और निम्बादित्य (निम्बार्क) नामसे प्रख्यात होकर सनातन वैदिक धर्म, वैष्णव-सम्प्रदाय-परम्पराकी शिथिलताको दूर कर प्राणिमात्रका कल्याण करेंगे।

भगवान् सुदर्शनको पुत्ररूपमें प्राप्तकर महर्षि अरुण और माता जयन्तीके हृदयमें अद्भुत अनुराग एवं प्रेमलक्षणा भक्तिका आविर्भाव हुआ, जो भगवत्कृपैकलभ्य है। अमित प्रतिभासम्पन्न श्रीनियमानन्दजी (निम्बार्काचार्य) अल्पावस्थामें ही अनन्त दिव्य गुणोंसे युक्त होकर शोभायमान रहने लगे। जिनके दर्शन देवताओंको भी दुर्लभ हैं, ऐसे सुदर्शन प्रभुने कुछ वर्ष परम पावन पितृ-सदन अरुणाश्रममें निवास किया।

एक समय व्रजक्षेत्रसे तीर्थयात्रा करते हुए कुछ संत-महात्मा अरुणाश्रम पहुँचे। महर्षिने उनका आतिथ्य किया। सत्सङ्ग-वार्ता-प्रसङ्गमें व्रज-वृन्दावनकी महिमा बतायी। यह सुनकर श्रीनियमानन्दजीको भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञाका स्मरण हो आया। प्रभुके नाम-रूप-लीला-धामकी साक्षात् अनुभूति एवं अगाध रूपमें भगवत्प्रेम जाग्रत् हुआ। श्रीहरिकी जन्मभूमि तथा लीला-विहारस्थली मथुरा, गोकुल, वृन्दावन, यमुना-पुलिन आदिके दर्शनकी तीव्र उत्कण्ठा बढ़ी। अब एक क्षणका विलम्ब भी असह्य होने लगा। अत: वे माता-पितासहित व्रजधाम पधारे। वहाँपर यमुना-पुलिन, वृन्दावन, गोवर्धन, गोकुल आदि व्रजधामके अङ्गभूत स्थलोंका अवलोकन कर अलौकिक प्रेमानन्दसे परिप्लुत होकर उनके नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा बहने लगी और श्रीनियमानन्द (निम्बार्काचार्य) पराभक्ति-पयोधिमें अवगाहन करने लगे।

जो स्वयं अगाध भगवत्प्रेममें निमग्न होगा वही इतर सांसारिक प्राणीको अधिकारानुसार भगवत्प्रेम प्रदान कर सकता है। जैसे पूर्वकालमें भगवत्पार्षद उद्धवजीके व्रजमें पहुँचनेपर समस्त व्रजवासियोंके हृदयमें असीम प्रेमभाव उमड़ पड़ा था, उसी प्रकार सुदर्शनावतार श्रीनियमानन्दके व्रजमें पहुँचनेपर सबमें अपार भगवत्प्रेम प्रकट हुआ। अपने मनोमन्दिरमें ध्यानपरायण हो उन्होंने निकुञ्जलीलाविहारी श्रीराधा-कृष्णकी दिव्य छविको धारण कर लिया। इस प्रकार ध्यानावस्थित अवस्थामें आचार्य श्रीनियमानन्द (श्रीनिम्बार्क)-को सम्पूर्ण व्रजमण्डल प्रभुके बाल-क्रीडा-प्रसङ्गके वत्सहरण-लीलामें जैसे ब्रह्माजीको व्रजरज, लतावृक्ष, गोवत्स, गोपवृन्द, गिरिराज आदि सभी अच्युतमय दिखायी देते थे, वैसा ही दिखायी देने लगा। आचार्यप्रवरने जब भावजगत्में प्रवेश किया, तब बाह्य लौकिक ज्ञान विलुप्त हो गया। स्वयं वे भगवद्धामको प्राप्त होकर सम्पूर्ण विश्वको अपनेमें देखने लगे। बहुत देरतक इसी प्रकार भावजगत्में ही वे विराजमान रहे। यह भगवत्प्रेमकी पराकाष्ठाका स्वरूप है। प्रभुने विचार किया यदि इसी प्रकार प्रेमोद्रेकसे ये भावजगत्में ही निमग्न रहेंगे तो सुदर्शनके अवतारका प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, अत: इनको प्रकृतिस्थ करना चाहिये; ऐसा विचार कर उन्होंने विश्वमोहिनी वैष्णवी मायाका विस्तार किया। अब तो आचार्यप्रवर भावजगत्से उतरकर प्रकृतिस्थ हो गये। जैसे ब्रह्माजीके सामनेसे वह सब दृश्य लुप्त हो जानेपर वे प्रकृतिस्थ हो गये थे। तदनन्तर श्रीनियमानन्दजीने गिरिराज गोवर्धनकी उपत्यका (तलहटी)-में तपश्चर्या आरम्भ की। यहाँ निम्ब-वृक्षोंकी बहुलता होनेसे इस बस्तीको निम्बग्रामके नामसे जाना जाता

है। यहींपर एक समय सायंकाल पितामह ब्रह्माजी यतिवेषमें प्रवेशद्वारपर पहुँचे। नियमानन्दजीने उन्हें सादर आश्रमके भीतर पधराया। आतिथ्य-ग्रहणके लिये प्रार्थना की गयी, पर यतिवेषधारी ब्रह्माजीने सूर्यास्तके बाद भगवत्प्रसाद-ग्रहण न करनेका अपना नियम बताया। इसपर अरुणनन्दनने अपने दिव्य प्रभावसे निम्ब-वृक्षमें उन्हें अर्कबिम्बका दर्शन कराया।

चारों ओर सूर्यप्रकाश देखकर यतिराजने प्रसाद ग्रहण किया। तत्पश्चात् तुरंत अँधेरी रात दिखी। यह देखकर उन्हें विश्वास हो गया कि ये ही सुदर्शनचक्रावतार हैं। यतिराजने अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट किया। यह व्यवस्था दी—**'निम्बे अर्को दर्शितो येन'** अर्थात् निम्ब-वृक्षपर अर्कबिम्ब स्थापित करनेसे आपका नाम 'निम्बार्क' होगा। आपद्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायको 'निम्बार्क-सम्प्रदाय' के नामसे जाना जायगा। यह कहकर ब्रह्माजी अन्तर्धान हो गये। श्रीब्रह्मदेवके स्वधामगमनके पश्चात् श्रीनिम्बार्कप्रभु भक्तिमार्ग और भगवत्प्रेमके स्वरूपको लोकमें प्रवर्तित करनेहेतु आत्म-चिन्तन एवं शास्त्रानुशीलन करते हुए तपश्चर्यामें लीन हुए। भगवत्प्रेरणासे भक्तिसूत्रके प्रणेता देवर्षि श्रीनारदजीका जब आगमन हुआ, तब आश्रम परम आनन्दमय वातावरणसे व्याप्त हुआ। अर्चन-वन्दनके साथ श्रीनिम्बार्क मुनीन्द्रने विनम्रभावसे देवर्षि नारदके चरण-सांनिध्यमें उपस्थित होकर प्रपत्तिपूर्वक उनसे मन्त्रोपदेश ग्रहण किया। मन्त्र-दीक्षाके अनन्तर देवर्षिने निम्बार्कको सम्बोधित करते हुए कहा—हे चक्रराज! हे अरुणनन्दन! आप स्वयं अपनी ज्ञान-ज्योतिके प्रकाशसे जगत्के अज्ञानान्धकारको दूर करनेमें समर्थ हैं। फिर भी रहस्यकी बात बताता हूँ—

ज्ञानिनामपि मनो विचाल्यते
मायया भगवतः प्रसह्य यत्।
निर्मलं तदपि दूषितं पुन-
र्जायते सलिलवत्कुसङ्गतः॥
केशवोऽपि भगवान् भुवं गतो
लीलया स कुरुते मनुष्यवत्।
एवमेव च भवान् प्रवर्तयन्
सम्प्रदायसरणिं व्रजिष्यति॥

श्रीहरिकी दुरत्यय माया ज्ञानियोंके चित्तको भी हठात् विचलितकर संसारकी ओर प्रेरित कर देती है। जिस प्रकार आकाशसे गिरता हुआ निर्मल जल भूमिका स्पर्श पाते ही मटमैला हो जाता है, उसी प्रकार कुसङ्गके प्रभावसे निर्मल मन भी दूषित हो जाता है। जिसका मन श्रीकृष्णके चरणारविन्दमें लगा हुआ है, वह लोकमें सामान्यरूपसे विचरण करता हुआ मायाके बन्धनसे दूर रहता है। ब्रह्म, रुद्र आदि देवोंको भी उपदेश देनेवाले सर्वैश्वर्यसम्पन्न सर्वेश्वर श्रीकृष्ण लीलामय वपु धारणकर जब पृथ्वीपर आते हैं तो वे भी सामान्य पुरुषकी भाँति सब कार्य करते हैं, किंतु अपनी स्वतन्त्र सत्ताके कारण किसीके अधीन नहीं रहते, उसी प्रकार आप भी अनुग्रह-विग्रह धारणकर भूतलपर आये हैं, अतः सत्सम्प्रदाय-सिद्धान्त एवं भक्ति-मार्गको प्रकाशित करते हुए यहाँ विचरण करेंगे। स्वयं मुक्तभावसे रहकर आप जगत्को प्रेमलक्षणा भक्ति तथा मुक्तिका मार्ग दिखायेंगे।

गुरुदेव श्रीदेवर्षिवर्यका आदेश-उपदेश शिरोधार्य कर आपने भगवत्प्रेमको दर्शानेवाले सद्ग्रन्थों, स्तोत्रोंकी रचनाके साथ युगलस्वरूप श्रीराधाकृष्णकी वृन्दावन-निकुञ्जोपासनाका प्रवर्तन किया जो प्रेमैकपुञ्ज मधुरातिमधुर है। आपके सूत्रात्मक सकलशास्त्रसारभूत भाष्य और मौलिक सद्ग्रन्थोंका आश्रय लेकर शिष्य-प्रशिष्य परम्परागत परवर्ती पूर्वाचार्यवर्योंने भगवत्प्रेम और भक्तिके स्वरूपका प्रभूत रूपमें प्रख्यापन किया है।

श्रीनिम्बार्क भगवान्की इसी प्रेमभावनाका उदात्त स्वरूप आचार्य-परम्परा-स्तोत्रमें अभिव्यक्त हुआ है—

यत्सम्प्रदायाश्रयणान्नराणां
श्रीराधिकाकृष्णपदारविन्दे।
प्रेमागरीयान् सहसाऽभ्युदैति
निम्बार्कमेतं शरणं प्रपद्ये॥

जिन आद्याचार्य भगवन्निम्बार्कद्वारा लोकमें प्रवर्तित सम्प्रदाय-परम्पराका आश्रय लेनेसे नित्य किशोर श्यामाश्याम श्रीराधाकृष्णके युगल चरणारविन्दमें परमोत्कृष्ट प्रेमभाव सहसा उदित होता है, वह उन अनुग्रहैकविग्रह आचार्यवर्य श्रीनिम्बार्ककी शरणमें प्रपन्नभावसे प्राप्त होता है। इस प्रकार अनेक भावोंसे सुदर्शनचक्रावतार भगवन्निम्बार्काचार्यका भगवत्प्रेम सदा स्मरणीय एवं अनुकरणीय है।

(प्राचार्य श्रीवासुदेवशरणजी उपाध्याय, निम्बार्कभूषण, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य)

~~~
~~~

आचार्य रामानुज और उनका प्रेम-निवेदन

वैष्णवाचार्योंमें श्रीरामानुजाचार्यजीका विशिष्ट स्थान है। आप भगवान् श्रीसंकर्षणके अवतार माने जाते हैं। आपका भक्तिसिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैत' के नामसे प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदायकी परम्परामें सर्वप्रथम आचार्य नारायण माने जाते हैं। उन्होंने निजस्वरूपा शक्ति श्रीमहालक्ष्मीजीको श्रीनारायणमन्त्रका उपदेश दिया, उनसे यह उपदेश विष्वक्सेनजीको प्राप्त हुआ और आगे नाथमुनि आदिकी परम्परामें वही उपदेश श्रीयामुनाचार्यजीको प्राप्त हुआ। ये ही यामुनाचार्यजी श्रीरामानुजके परम गुरु थे। इस प्रकार इस विशिष्टाद्वैतभक्तिसिद्धान्तमें श्रीनाथमुनि, यामुनाचार्य तथा रामानुजाचार्य—तीन आचार्य विशेष प्रसिद्ध हुए, जो 'मुनित्रय' कहलाते हैं। यामुनाचार्यजी आलवन्दार भी कहलाते हैं। उनका 'आलवन्दारस्तोत्र' प्रपत्तिमार्गका अनूठा स्तोत्र है।

श्रीरामानुजाचार्यजीने भक्तिमार्गका प्रचार करनेके लिये सारे भारतकी यात्रा की और गीता तथा ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखा। वेदान्तसूत्रोंपर इनका भाष्य 'श्रीभाष्य'के नामसे प्रसिद्ध है और इनका सम्प्रदाय भी श्रीसम्प्रदाय कहलाता है; क्योंकि इस सम्प्रदायकी आद्यप्रवर्तिका श्रीमहालक्ष्मीजी मानी जाती हैं।

श्रीरामानुजके सिद्धान्तके अनुसार भगवान् ही पुरुषोत्तम हैं, वे ही प्रत्येक शरीरमें साक्षीरूपमें विद्यमान हैं। वे जगत्के नियन्ता, शेषी (अवयवी) एवं स्वामी हैं और जीव उनका नियम्य, शेष तथा सेवक है। अपने व्यष्टि अहंकारको सर्वथा हटाकर भगवान्की सर्वतोभावेन शरण ग्रहण करना ही जीवका परम पुरुषार्थ है। भगवान् लक्ष्मी-नारायण जगत्के माता-पिता और जीव उनकी संतान हैं। माता-पिताका प्रेम और उनकी कृपा प्राप्त करना ही संतानका धर्म है। वाणीसे भगवान् नारायणके नामका ही उच्चारण करना चाहिये और मन-वाणी एवं शरीरसे उनकी सेवा करनी चाहिये। श्री-भूलीला महादेवियोंके सहित भगवान् नारायणकी सेवा प्राप्त होना ही परम पुरुषार्थ है। भगवान्के इस दासत्वकी प्राप्ति ही मुक्ति है। भगवान् अनन्त गुणगणावलीसे समन्वित हैं। वे सृष्टिकर्ता, कर्मफलप्रदाता, नियन्ता, सर्वान्तर्यामी, अपार कारुण्य, सौशील्य, वात्सल्य, औदार्य, ऐश्वर्य और सौन्दर्य आदि अनन्तानन्त सद्गुणोंके महासागर हैं।

ईश्वरका स्वरूप पाँच प्रकारका है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा। श्रीभगवान् शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज हैं। श्री-भूलीलासहित समस्त दिव्याभूषणोंसे भूषित हैं। वे भक्तोंके प्रेमानन्दमें सदा निमग्न रहते हैं। आचार्यके अनुसार न्यासविद्या ही प्रपत्ति है। अनुकूलताका संकल्प, प्रतिकूलताका त्याग, भगवान्में सम्पूर्ण आत्मसमर्पण—सब प्रकारसे केवल भगवान्के शरण हो जाना ही प्रपत्ति है। अतः सर्वस्व निवेदनरूप शरणागत भक्ति ही भगवान्की प्रसन्नताका प्रधान साधन है। शरणागत भक्तको करुणामय भगवान् अपना विशिष्ट प्रेम प्रदानकर कृतार्थ कर देते हैं। आचार्य रामानुजने दैन्यभावकी प्रतिष्ठा की है। आपने अपने शरणागतिगद्य, श्रीरङ्गगद्य तथा वैकुण्ठगद्य (गद्यत्रय)-में प्रेमाभक्तिका निचोड़ लाकर रख दिया है।

आचार्य स्वयं कहते हैं—भगवान् मेरे नित्य स्वामी हैं और मैं उनका नित्य दास हूँ। मैं कब अपने कुलके स्वामी, देवता और सर्वस्व भगवान् नारायणका जो मेरे भोग्य, दाता, पिता और मेरे सब कुछ हैं, इन नेत्रोंद्वारा दर्शन करूँगा। मैं कब भगवान्के युगलचरणारविन्दोंको अपने मस्तकपर धारण करूँगा? कब वह समय आयेगा जबकि मैं भगवान्के दोनों चरणारविन्दोंकी सेवाकी आशासे अन्य सभी भोगोंकी आशा-अभिलाषा छोड़कर समस्त सांसारिक भावनाओंसे दूर हो भगवान्के युगल-चरणारविन्दोंमें प्रवेश कर जाऊँगा। कब ऐसा सुयोग प्राप्त होगा, जब मैं भगवान्के युगल चरणकमलोंकी सेवाके योग्य होकर उन चरणोंकी आराधनामें ही लगा रहूँगा। कब भगवान् नारायण अपनी अत्यन्त शीतल दृष्टिसे मेरी ओर देखकर स्नेहयुक्त, गम्भीर एवं मधुर वाणीद्वारा मुझे अपनी सेवामें लगनेका आदेश देंगे।*

---

* 'भगवतो नित्यस्वाम्यमात्मनो नित्यदास्यं च यथावस्थितमनुसंधाय कदाहं भगवन्तं नारायणं मम कुलनाथं मम कुलदैवतं मम कुलधनं मम भोग्यं मम मातरं मम पितरं मम सर्वं साक्षात्करवाणि चक्षुषा? कदाहं भगवत्पादाम्बुजद्वयं शिरसा संग्रहीष्यामि? कदाहं भगवत्पादाम्बुजद्वयपरिचर्याशयानिरस्तसमस्तेतरभोगाशोऽपगतसमस्तसांसारिकस्वभावस्तत्पादाम्बुजद्वयं प्रवेक्ष्यामि? कदाहं भगवत्पादाम्बुजद्वयपरिचर्याकरणयोग्यस्तत्पादौ परिचरिष्यामि? कदा मां भगवान् स्वकीययातिशीतलया दृशावलोक्य स्निग्धगम्भीरमधुरया गिरा परिचर्यामाज्ञापयिष्यतीति।' —श्रीवैकुण्ठगद्यम्

आचार्य पुनः प्रार्थना करते हैं—

हे प्रभो! मैं पिता, माता, स्त्री, पुत्र, बन्धु, मित्र, गुरु, रत्नराशि, धन-धान्य, खेत, घर, सारे धर्म और अविनाशी मोक्षपदसहित सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर समस्त ब्रह्माण्डका आक्रान्त करनेवाले आपके दोनों चरणोंकी शरणमें आया हूँ—

पितरं मातरं दारान् पुत्रान् बन्धून् सखीन् गुरून्।
रत्नानि धनधान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च॥
सर्वधर्मांश्च संत्यज्य सर्वकामांश्च साक्षरान्।
लोकविक्रान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो॥

(शरणागतिगद्यम्)

उनका कहना है—हे पूर्णकाम, सत्यसंकल्प, परब्रह्मस्वरूप पुरुषोत्तम, हे महान् ऐश्वर्यसे युक्त श्रीमन्नारायण! हे वैकुण्ठनाथ! आप अपार करुणा, सुशीलता, वत्सलता, उदारता, ऐश्वर्य और सौन्दर्य आदि गुणोंके महासागर हैं; छोटे-बड़ेका विचार न करके सामान्यतः सभी लोगोंको आप शरण देते हैं, प्रणतजनोंकी पीडा हर लेते हैं। शरणागतोंके लिये तो आप वत्सलताके समुद्र ही हैं। आप सदा ही समस्त भूतोंकी यथार्थताका ज्ञान रखते हैं। सम्पूर्ण चराचर भूतोंके सारे नियमों और समस्त जड-चेतन वस्तुओंके आप अवयवी हैं (ये सभी आपके अवयव हैं)। आप समस्त संसारके आधार हैं, अखिल जगत् तथा हम सभी लोगोंके स्वामी हैं। आपकी कामनाएँ पूर्ण और आपका संकल्प सच्चा है। आप समस्त प्रपञ्चसे भिन्न और विलक्षण हैं। याचकोंके तो आप कल्पवृक्ष हैं, विपत्तिमें पड़े हुए के सहायक हैं। ऐसी महिमावाले तथा आश्रयहीनोंको आश्रय देनेवाले हे श्रीमन्नारायण! मैं आपके चरणारविन्दयुगलकी शरणमें आया हूँ; क्योंकि उनके सिवा मेरे लिये कहीं भी शरण नहीं है।*

श्रीरङ्गनाथस्वामीसे अपना प्रेम निवेदन करते हुए वे उनसे अपना दास्य-भाव देनेकी प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

तवानुभूतिसम्भूतप्रीतिकारितदासताम् ।
देहि मे कृपया नाथ न जाने गतिमन्यथा॥

(श्रीरङ्गगद्यम्)

हे नाथ! कृपा करके मुझे अपना सेवक बना लीजिये। मुझे अपनी दासता, किंकरताका दान दे दीजिये। कैसी दासता? जो कि प्रीतिसे होती है—प्रेम जिसको करा लेता है। कैसा प्रेम? आपके अनुभवसे होनेवाला। मैं अनन्त लावण्य, अपार माधुर्य, परम सौन्दर्यकी प्रतिष्ठाभूत आपकी दिव्य मूर्तिका एवं आपके अनन्त सौशील्य, वात्सल्य आदि गुणोंका अनुभव करूँ। वह अनुभव ऐसा होगा कि मेरे हृदयमें आपके प्रति तैलधाराके समान अविच्छिन्न प्रेम लहरा देगा। वह प्रेम मुझसे आपकी सेवा करायेगा। मैं उस प्रेममें विभोर होकर आपकी सेवा-सपर्या, भजन-भक्ति करूँगा। आपकी ऐसी सुन्दर सेवा-भक्तिके अतिरिक्त मुझे अन्य कोई उपाय अपने उद्धारका और अन्य कोई लक्ष्य अपने जीवनका नहीं सूझ रहा है। यह सेवा ही मेरी गति है—उपाय है और जीवनका लक्ष्य है।

* * *

प्रेमधर्मरूप-सौन्दर्य-माधुर्यसिन्धु भगवान् श्रीकृष्ण

जय नँदनंदन प्रेम-विवर्धन सुषमासागर नागर स्याम।
जय कांता-पट-कांति-कलेवर मन्मथ-मन्मथ रूप ललाम॥
जय गोपीजन-मन-हर मोहन राधावल्लभ नव-घनरूप।
जय रस-सुधा-सिंधु सुचि उछलित रासरसेस्वर रसिक अनूप॥
जय मुरली धर अधर गान-रत जय गिरिवरधर जय गोपाल।
मग जोहत बीतत पल जुग सम दै दरसन अब करौ निहाल॥

* * *

---

* 'सत्यकाम सत्यसंकल्प परब्रह्मभूत पुरुषोत्तम महाविभूते श्रीमन्नारायण श्रीवैकुण्ठनाथ अपारकारुण्यसौशील्यवात्सल्यौदार्यैश्वर्यसौन्दर्यमहोदधे अनालोचितविशेषाशेषलोकशरण्य प्रणतार्तिहर आश्रितवात्सल्यैकजलधे अनवरतविदितनिखिलभूतजातयाथात्म्य अशेषचराचरभूतनिखिलनियमननिरत अशेषचिदचिद्वस्तुशेषीभूत निखिलजगदाधार अखिलजगत्स्वामिन् अस्मत्स्वामिन् सत्यकाम सत्यसंकल्प सकलेतरविलक्षण अर्थिकल्पक आपत्सख श्रीमन्नारायण अशरण्यशरण्य अनन्यशरणस्त्वत्पादारविन्दयुगलं शरणमहं प्रपद्ये।' —शरणागतिगद्यम्

श्रीमद्वल्लभाचार्यकी प्रेमोपासना

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य भगवत्प्रेममय थे। वे गोपीप्रेमके साकार स्वरूप ही थे और प्रतिक्षण प्रभुकी परम प्रेममयी निकुञ्जलीलाके दिव्य रसमें मग्न रहते थे। उनके रोम-रोमसे दिव्य भगवत्प्रेम उमड़ता रहता था। जो भी उनकी संनिधिमें रहता, वह श्रीकृष्णप्रेम-युक्त हो जाता।

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यके द्वारा उपदिष्ट पुष्टिमार्ग प्रेममार्ग है। आचार्यका मत है कि पुष्टिमार्गीय जीवकी तो सृष्टि ही भगवत्स्वरूपकी सेवाके लिये हुई है—**'भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्'** (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः १२)। महाप्रभुजी यह स्वीकार करते हैं कि भक्तिमें स्नेह और माहात्म्य दोनोंका सम्मिलन होता है—**'स्नेहो माहात्म्यं च मिलितं भक्तिर्भवति'** (सुबोधिनी)।

वास्तवमें भक्तिका वास्तविक स्वरूप है प्रेमपूर्वक भगवत्सेवा—**'भक्तिश्च प्रेमपूर्विका सेवा।'** (सुबोधिनी) जब भक्तका चित्त भगवत्प्रेममय होकर भगवत्प्रवण हो जाता है, तभी सेवा सधती है। ऐसी ही सेवा सिद्ध करनेके लिये प्रेमी भक्त तनुवित्तजा सेवा करता है—**'चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।'** (सिद्धान्तमुक्तावली २) महाप्रभुजीकी आज्ञा है कि प्रेमपूर्वक सेवा करनेसे सेव्य—स्वामी अवश्य प्रसन्न होते हैं। भगवान् भी अपने प्रेमी भक्तोंके वशमें हो जाते हैं।

जिन प्रमेय भगवान् श्रीहरिको क्रियारूपमें वेदके पूर्वकाण्डमें वर्णित किया जाता है और ज्ञानरूपमें उत्तर-काण्डमें जिनका वर्णन होता है, वे ही भक्तिमार्गमें ज्ञान-क्रिया-उभयरूपमें प्रमेय हैं। वे ही भक्तिमार्गमें फलरूप हैं। उन वेदार्थ, उभयरूप प्रमेय भगवान्की प्राप्तिका साधन प्रेम ही है। नवधा भक्ति उसी प्रेमाभक्तिका साधन है—

विशिष्टरूपं वेदार्थः फलं प्रेम च साधनम्।
तत्साधनं नवविधा भक्तिस्तत्प्रतिपादिका॥

(सर्वनिर्णयप्रकरण)

क्रिया-ज्ञान-उभय-विशिष्ट भगवान् श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव प्रेममयी सेवासे ही होता है। वास्तवमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रेमी भक्तोंको कृतार्थ करनेके लिये ही अवतरित होते हैं, यही उत्तमा अभिव्यक्ति है। उनके प्रादुर्भावका मुख्य कारण प्रेमी भक्तोंको कृतार्थ करना होता है, दैत्यवध करना नहीं।

प्रेममय भक्तिमार्गमें अन्तर्बाह्य सभी प्रकारका त्याग और प्रभु श्रीकृष्णके प्रति एकनिष्ठ अनन्य भाव नितान्त आवश्यक है। यदि देहपातपर्यन्त भक्त कृष्णैकमानस रहे तो उसे शीघ्र ही प्रभु श्रीकृष्णके साथ सायुज्यफल प्राप्त होता है। ऐसा सर्वत्यागी, अनन्य, एकनिष्ठ, कृष्णमात्रैकमानस, जो कि भगवत्प्रेममें स्त्री, घर, पुत्र, आप्तजन, प्राण, वित्त, इहलोक और परलोक सभी छोड़कर कृष्णके प्रति परम भाव-परायण हो जाता है, दुर्लभ है। ऐसा प्रेम-निमग्न, प्रेम-प्लुत भक्त उत्तम है, वह चाहे करोड़ोंमें एक ही क्यों न हो, वही आदर्श है और उत्तम है—

सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे।
सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवं फलम्॥
एतादृशस्तु पुरुषः कोटिष्वपि सुदुर्लभम्।
यो दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा कृष्णे परं भावं गतः प्रेमप्लुतः सदा॥

(सर्वनिर्णयप्रकरण)

यह प्रेममार्ग भगवत्प्राप्तिके सभी मार्गोंमें उत्तम है; क्योंकि इसमें भगवान्‌के वाक्य ही प्रमाण हैं, भगवान् ही इस मार्गमें प्रमेय (जाननेयोग्य) हैं, भगवान् स्वयं ही फलरूप हैं। इसकी यह भी विशेषता है कि इसका साधन जो प्रेममयी भक्ति है, वह मानो फलसे भी अधिक रसमय है। यदि किसी बाधाके कारण प्रेमाभक्तिरूप साधन समुचित ढंगसे न बन पाये तो भी परम दयालु भगवान् अपने निष्ठावान् प्रेमी भक्तको कृतार्थ कर देते हैं, उसकी दुर्गति या नाश नहीं होने देते। भगवान् स्वयं उसकी रक्षा करते हैं—

मार्गोऽयं सर्वमार्गाणामुत्तमः परिकीर्तितः।
यस्मिन् पातभयं नास्ति मोचकः सर्वथा यतः॥

(सर्वनिर्णयप्रकरण)

किंतु यह मार्ग उन्हें ही सिद्ध होता है, जिनपर भगवान्‌की कृपा होती है और उन्हींको प्रेममयी भक्तिके मुख्य फलरूप भगवान् प्राप्त होते हैं—

सर्वथा चेद्धरिकृपा न भविष्यति यस्य हि।
तस्य सर्वं अशक्यं स्यान्मार्गेऽस्मिन् सुतरामपि॥

(सर्वनिर्णयप्रकरण)

जब भगवत्कृपासे किसी दैवी जीवमें भगवत्प्रेमका बीज-भाव स्थापित कर दिया जाता है तो भगवान्‌की प्रेममयी सेवाके प्रेमपन्थ—पुष्टिमार्गमें उसकी अत्यन्त रुचि होती है। वह भगवान्‌के गुणोंमें, भगवान्‌के माहात्म्यमें और भगवान्‌की

लीलाओंमें विशेष रुचि दिखलाता है। उसकी भाषा, वेश और आचरण सभीमें प्रेममार्गकी रुचि दिखलायी देने लगती है। ऐसी रुचिसे ही ज्ञात होता है कि इस जीवपर भगवान्की कृपा है—

कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते।

(सर्वनिर्णयप्रकरण)

भगवान्के गुण, माहात्म्य, लीला आदिके श्रवणमें रुचि प्रथम कक्षाकी आरम्भिक रुचि है। जब श्रवणादिसे स्वाभाविक रूपसे भगवान् भक्तके हृदयमें विराजते हैं, तब उसके मनमें एक विशेष रुचि होती है, जिसे 'परोक्ष रुचि' कहते हैं; क्योंकि भक्तको भगवान्का साक्षात्कार नहीं हुआ होता है। इस परोक्ष रुचिसे पुष्टि जीवमें भगवान्के द्वारा स्थापित बीजरूप भाव श्रवणादि साधनोंसे पनपने-बढ़ने लगता है। वह धीरे-धीरे भगवान्के प्रति स्नेह, प्रेमके रूपमें परिणत हो जाता है। भक्तके अन्तरमें जब भगवत्प्रेम जाग जाता है, तब भगवान्के अतिरिक्त अन्य सभी विषयोंमें होनेवाले रागका नाश हो जाता है।

भगवत्प्रेम इतर राग-विनाशक है। भगवत्प्रेम भावमयी भगवत्सेवा और भगवान्की मङ्गलमयी सरस लीलाओंके श्रवणसे वृद्धिंगत होते हुए आसक्तिका रूप ग्रहण कर लेता है। भगवान्में आसक्त प्रेमी भक्तको वे सारे पदार्थ और व्यक्ति बाधक प्रतीत होने लगते हैं, जो भगवान्से सम्बद्ध नहीं हैं। यहाँतक कि ऐसे स्वजन-परिजन जो भगवद्भावमें सहयोगी नहीं हैं या बाधक हैं, वे भी भगवदासक्त प्रेमी भक्तको बाधक और अनात्मरूप प्रतीत होते हैं। वह उन्हें छोड़ देनेके लिये भी तत्पर हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजीकी भी यही सलाह है—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥

सूरदासजी भी अपने भगवत्-रंगमें रँगे मनको यही सिखावन देते हैं—*'तजौ मन, हरि-बिमुखनि कौं संग।'*

भगवत्प्रेममें रँगे, भगवत्-आसक्त भक्तकी भगवदासक्ति क्रमशः परिपक्व होकर व्यसन अवस्थाको प्राप्त हो जाती है। व्यसन अवस्थामें भगवत्प्रेम-परिप्लुत भक्तके दैहिक धर्मोंका भी निरसन-सा हो जाता है। भगवद्भावके परिपाककी इस रसात्मक स्थितिमें मग्न भक्तको न तो घर-परिवार-स्वजन-परिजनकी याद आती है, न शरीर और शरीरके धर्मोंकी सुध-बुध रहती है तथा न उसे इस लोक एवं परलोकका ध्यान ही रहता है। जिस प्रकार गङ्गाजीका जल-प्रवाह निरन्तर समुद्रमें गिरता है, उसी प्रकार व्यसन-अवस्था-प्राप्त प्रेमी भक्तके मनकी समस्त वृत्तियाँ भगवान्में ही लगी रहती हैं, वह प्रतिक्षण भगवत्प्रवण होकर भगवान्में ही तल्लीन रहता है।

भगवान् श्रीकृष्णमें प्रेमकी यह व्यसनात्मक स्थिति प्राप्त हो जानेपर भक्त कृतार्थ हो जाता है। इस प्रकार भगवान्के द्वारा स्थापित भगवद्भावका बीज श्रवणादिके द्वारा विकसित होते हुए प्रेमके रूपमें अङ्कुरित, आसक्तिके रूपमें पल्लवित और व्यसनके रूपमें पुष्पित होता है। तब भक्तको पूर्ण पुरुषोत्तम रसात्मक परब्रह्म श्रीकृष्णकी फलरूपमें उपलब्धि होती है। यह भावमयी प्रेमसाधना आद्यन्त रसात्मक है।*

भगवत्प्रेमकी परिपक्वावस्थामें पहुँचनेपर प्रेमी भक्तका सुख-दुःख-उत्सव सब कुछ भगवत्सम्बन्धी हो जाता है, निजी नहीं रहता। उसकी यही अभिलाषा रहती है कि श्रीकृष्णके वियोगमें यशोदामैया, नन्दबाबा और गोपियोंको जो दुःख हुआ था, वही कभी मेरे जीवनमें अवतरित हो। श्रीकृष्णकी रसमयी लीलाओंसे व्रजवासियोंको, गोपिकाओंको गोकुलमें जो सुख मिला था, क्या वैसा ही सुख भगवान् मेरे जीवनमें भी प्रदान करेंगे? उद्धवजीके आगमनपर गोकुल और वृन्दावनमें जैसा महान् उत्सव हुआ था, क्या वैसा महोत्सव मेरे मनमें भी होगा?

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित्॥
गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत् सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति॥
उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्॥

(निरोधलक्षणम् १—३)

श्रीमद्वल्लभाचार्यका दृढ़ निश्चय है कि श्रीहरिके

---

* महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यने इसका वर्णन षोडश ग्रन्थोंके अन्तर्गत 'भक्तिवर्धिनी' ग्रन्थमें किया है—

बीजभावे दृढे तु स्यात् त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात्॥
बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः। अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः॥
व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत् सदा। ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत्॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति। स्नेहाद् रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद् गृहारुचिः॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते। यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि॥ (१—५)

स्वरूपका सदा ध्यान करना, उन्हींके विषयमें संकल्प करना, उन्हींका दर्शन करना, उन्हींका स्पर्श करना, उन्हींके लिये प्रत्येक कार्य करना और उन्हींके लिये गतिमान् होना प्रेमी भक्तका जीवन है। जिस भी इन्द्रियका भगवत्सेवामें स्पष्ट विनियोग न मालूम पड़े, उसका विशेषरूपसे निग्रह करना भक्तका सुनिश्चित कर्तव्य है—

तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः॥

(निरोधलक्षण १९)

परमप्रेममें परिप्लुत होकर भगवान्में ही निरुद्ध हो जानेसे बढ़कर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी दृष्टिमें न तो कोई मन्त्र है, न इससे उत्कृष्ट कोई स्तोत्र है, न इससे ऊँची कोई विद्या है और न इससे उत्तम कोई तीर्थ है—

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात् परम्॥

(निरोधलक्षण २०)

श्रीमद्वल्लभाचार्य स्वयं भगवत्प्रेममें पूर्णतः निरुद्ध, तल्लीन और तन्मय रहते थे। वे अपने अनुयायियोंको भी ऐसी प्रेमसाधनाकी राहपर चलाते थे कि वे भी प्रपञ्चको भूलकर भगवत्-आसक्तिमय होकर भगवान् श्रीकृष्णमें ही निरुद्ध होकर कृतार्थ हो जायँ—

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते॥

(निरोधलक्षण १०)

(डॉ० श्रीगजाननजी शर्मा, सम्पादक 'श्रीवल्लभ-चिन्तन')

* * *

श्रीमध्वाचार्यजी और उनके प्रेमोपदेश

श्रीभगवान् नारायणकी आज्ञासे स्वयं वायुदेवने ही भक्ति-सिद्धान्तकी रक्षाके लिये तमिलनाडु प्रान्तके मंगलूर जिलेके अन्तर्गत उडूपीक्षेत्रसे दो-तीन मील दूर वेललि ग्राममें भार्गवगोत्रीय नारायणभट्टके अंशसे तथा माता वेदवतीके गर्भसे विक्रम संवत् १२९५ की माघ शुक्ला सप्तमीके दिन आचार्य मध्वके रूपमें अवतार ग्रहण किया था। कई लोगोंने आश्विन शुक्ला दशमीको इनका जन्म-दिन माना है। परंतु वह इनके वेदान्त-साम्राज्यके अभिषेकका दिन है, जन्मका नहीं। इनके जन्मके पूर्व पुत्र-प्राप्तिके लिये माता-पिताको बड़ी तपस्या करनी पड़ी थी।

बचपनसे ही इनमें अलौकिक शक्ति दीखती थी। इनका मन पढ़ने-लिखनेमें नहीं लगता था; अतः यज्ञोपवीत होनेपर भी ये दौड़ने, कूदने-फाँदने, तैरने और कुश्ती लड़नेमें ही लगे रहते थे। अतः बहुत-से लोग इनके पितृप्रदत्त नाम वायुदेवके स्थानपर इन्हें 'भीम' नामसे पुकारते थे। ये वायुदेवके अवतार थे, इसलिये यह नाम भी सार्थक ही था। परंतु इनका अवतार-उद्देश्य खेलना-कूदना तो था नहीं; अतः जब वेद-शास्त्रोंकी ओर इनकी रुचि हुई, तब थोड़े ही दिनोंमें इन्होंने सम्पूर्ण विद्या अनायास ही प्राप्त कर ली।

जब इन्होंने संन्यास लेनेकी इच्छा प्रकट की, तब मोहवश माता-पिताने बड़ी अड़चनें डालीं; परंतु इन्होंने उनकी इच्छाके अनुसार उन्हें कई चमत्कार दिखाकर, जो कि अबतक एक सरोवर और वृक्षके रूपमें इनकी जन्मभूमिमें विद्यमान हैं एवं एक छोटे भाईके जन्मकी बात कहकर, ग्यारह वर्षकी अवस्थामें अद्वैतमतके संन्यासी अच्युतपक्षाचार्यजीसे संन्यास ग्रहण किया। यहाँपर इनका संन्यासी नाम 'पूर्णप्रज्ञ' हुआ। संन्यासके पश्चात् इन्होंने वेदान्तका अध्ययन आरम्भ किया। इनकी बुद्धि इतनी तीव्र थी कि अध्ययन करते समय ये कई बार गुरुजीको ही समझाने लगते और उनकी व्याख्याका प्रतिवाद कर देते। सारे दक्षिण देशमें इनकी विद्वत्ताकी धूम मच गयी।

एक दिन इन्होंने अपने गुरुसे गङ्गास्नान और दिग्विजय करनेकी आज्ञा माँगी। ऐसे सुयोग्य शिष्यके विरहकी सम्भावनासे गुरुदेव व्याकुल हो गये। उनकी व्याकुलता देखकर अनन्तेश्वरजीने कहा कि भक्तोंके उद्धारार्थ गङ्गाजी स्वयं सामनेवाले सरोवरमें परसों आयेंगी, अतः वे यात्रा न कर सकेंगे। सचमुच तीसरे दिन उस तालाबमें हरे पानीके स्थानपर सफेद पानी हो गया और तरङ्गें दीखने लगीं। अतएव आचार्यकी यात्रा नहीं हो सकी। अब भी हर बारहवें वर्ष एक बार वहाँ गङ्गाजीका प्रादुर्भाव होता है। वहाँ एक मन्दिर भी है।

कुछ दिनोंके बाद आचार्यने यात्रा की और स्थान-स्थानपर विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ किये। इनके शास्त्रार्थका उद्देश्य होता—भगवद्भक्तिका प्रचार, वेदोंकी प्रामाणिकताका स्थापन, मायावादका खण्डन और मर्यादाका संरक्षण। एक जगह तो इन्होंने वेद, महाभारत और विष्णुसहस्रनामके क्रमशः तीन, दस और सौ अर्थ हैं—ऐसी प्रतिज्ञा करके और व्याख्या करके पण्डितमण्डलीको आश्चर्यचकित कर दिया। गीताभाष्यका

निर्माण करनेके पश्चात् इन्होंने बदरीनारायणकी यात्रा की और वहाँ महर्षि वेदव्यासको अपना भाष्य दिखाया। कहते हैं कि दुःखी जनताका उद्धार करनेके लिये उपदेश, ग्रन्थनिर्माण आदिकी इन्हें आज्ञा प्राप्त हुई। बहुत-से नृपतिगण इनके शिष्य हुए, अनेक विद्वानोंने पराजित होकर इनका मत स्वीकार किया। इन्होंने अनेक प्रकारकी योगसिद्धियाँ प्राप्त की थीं और इनके जीवनमें समय-समयपर वे प्रकट भी हुईं। इन्होंने अनेक मूर्तियोंकी स्थापना की और इनके द्वारा प्रतिष्ठित विग्रह आज भी विद्यमान हैं। श्रीबदरीनारायणमें व्यासजीने इन्हें शालग्रामकी तीन मूर्तियाँ भी दी थीं, जो इन्होंने सुब्रह्मण्य, उडूपि और मध्यतलमें पधरायीं।

एक बार किसी व्यापारीका जहाज द्वारकासे मलावार जा रहा था, तुलुबके पास वह डूब गया। उसमें गोपीचन्दनसे ढकी हुई भगवान् श्रीकृष्णकी एक सुन्दर मूर्ति थी। मध्वाचार्यको भगवान्‌की आज्ञा प्राप्त हुई और उन्होंने मूर्तिको जलसे निकालकर उडूपिमें उसकी स्थापना की। तभीसे वह रजतपीठपुर अथवा उडूपि मध्वमतानुयायियोंका तीर्थस्थल हो गया। एक बार एक व्यापारीके डूबते हुए जहाजको इन्होंने बचा दिया। इससे प्रभावित होकर वह अपनी आधी सम्पत्ति इन्हें देने लगा, परंतु इनके रोम-रोममें भगवान्‌का अनुराग और संसारके प्रति विरक्ति भरी हुई थी। ये भला, उसे क्यों लेने लगे। इनके जीवनमें इस प्रकारके असामान्य त्यागके बहुत-से उदाहरण हैं। कई बार लोगोंने इनका अनिष्ट करना चाहा और इनके लिखे हुए ग्रन्थ भी चुरा लिये। परंतु आचार्य इससे तनिक भी विचलित या क्षुब्ध नहीं हुए, बल्कि उनके पकड़े जानेपर उन्हें क्षमा कर दिया और उनसे बड़े प्रेमका व्यवहार किया। ये निरन्तर भगवत्-चिन्तनमें संलग्न रहते थे। बाहरी काम-काज भी केवल भगवत्सम्बन्धसे ही करते थे।

इन्होंने उडूपिमें और भी आठ मन्दिर स्थापित किये, जिनमें श्रीसीताराम, द्विभुज कालियदमन, चतुर्भुज कालियदमन, विट्ठल आदि आठ मूर्तियाँ हैं। आज भी लोग उनका दर्शन करके अपने जीवनका लाभ लेते हैं। ये अपने अन्तिम समयमें सरिदन्तर नामक स्थानमें रहते थे। यहींपर इन्होंने परम धामकी यात्रा की। देहत्यागके अवसरपर पूर्वाश्रमके सोहन भट्टको—जिनका नाम पद्मनाभतीर्थ हो गया था—श्रीरामजीकी मूर्ति और व्यासजीकी दी हुई शालग्रामशिला देकर अपने मतके प्रचारकी आज्ञा कर गये। इनके शिष्योंके द्वारा अनेक मठ स्थापित हुए तथा इनके द्वारा रचित अनेक ग्रन्थोंका प्रचार होता रहा। इनके मतका विशेष विवरण इस संक्षिप्त परिचयमें देना सम्भव नहीं है।

श्रीमन्मध्वाचार्यके उपदेश

१. श्रीभगवान्‌का नित्य-निरन्तर स्मरण करते रहना चाहिये, जिससे अन्तकालमें उनकी विस्मृति न हो; क्योंकि सैंकड़ों बिच्छुओंके एक साथ डंक मारनेसे शरीरमें जैसी पीड़ा होती है, मरणकालमें मनुष्यको वैसी ही पीड़ा होती है; वात, पित्त और कफसे कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है तथा नाना प्रकारके सांसारिक पाशोंसे जकड़े रहनेके कारण मनुष्यको बड़ी घबराहट हो जाती है। ऐसे समयमें भगवान्‌की स्मृतिको बनाये रखना बड़ा कठिन हो जाता है। (द्वा० स्तो० १।१२)

२. सुख-दुःखोंकी स्थिति कर्मानुसार होनेसे उनका अनुभव सभीके लिये अनिवार्य है। इसीलिये सुखका अनुभव करते समय भी भगवान्‌को न भूलो तथा दुःखकालमें भी उनकी निन्दा न करो। वेद-शास्त्रसम्मत कर्ममार्गपर अटल रहो। कोई भी कर्म करते समय बड़े दीनभावसे भगवान्‌का स्मरण करो। भगवान् ही सबसे बड़े, सबके गुरु तथा जगत्‌के माता-पिता हैं। इसीलिये अपने सारे कर्म उन्हींके अर्पण करने चाहिये। (द्वा० स्तो० ३।१)

३. व्यर्थकी सांसारिक झंझटोंके चिन्तनमें अपना अमूल्य समय नष्ट न करो। भगवान्‌में ही अपने अन्तःकरणको लीन करो। विचार, श्रवण, ध्यान और स्तवनसे बढ़कर संसारमें अन्य कोई पदार्थ नहीं है। (द्वा० स्तो० ३।२)

४. भगवत्-चरणकमलोंका स्मरण करनेकी चेष्टामात्रसे ही तुम्हारे पापोंका पर्वत-सा ढेर नष्ट हो जायगा। फिर स्मरणसे तो मोक्ष होगा ही, यह स्पष्ट है। ऐसे स्मरणका परित्याग क्यों करते हो। (द्वा० स्तो० ३।३)

५. सज्जनो! हमारी निर्मल वाणी सुनो। दोनों हाथ उठाकर शपथपूर्वक हम कहते हैं कि भगवान्‌की समता करनेवाला भी इस चराचर जगत्‌में कोई नहीं है, फिर उनसे श्रेष्ठ तो कोई हो ही कैसे सकता है। वे ही सर्वश्रेष्ठ हैं। (द्वा० स्तो० ३।४)

६. यदि भगवान् सबसे श्रेष्ठ न होते तो समस्त संसार उनके अधीन किस प्रकार रहता और यदि समस्त संसार उनके अधीन न होता तो संसारके सभी प्राणियोंको सदा-सर्वदा सुखकी ही अनुभूति होनी चाहिये थी। (द्वा० स्तो० ३।५) [प्रेषिका—कु० पूजा सैनी]

* * *

श्रीचैतन्यमहाप्रभुका दिव्य प्रेम

[प्रेमधनके बिना जीवन व्यर्थ है]

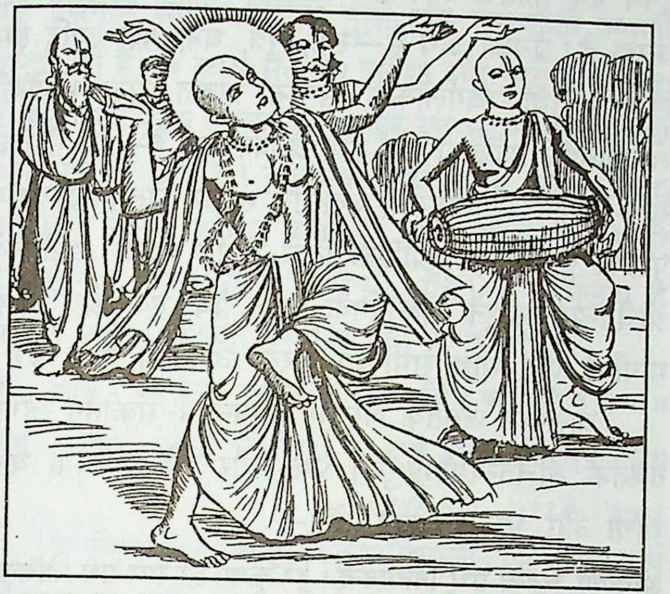

श्रीचैतन्यमहाप्रभु कलियुगमें संकीर्तनके प्रवर्तकाचार्यके रूपमें माने जाते हैं। इन्होंने नवद्वीप (बंगाल)-की पावन धरतीपर जन्म ग्रहणकर उसे पवित्र बनाया और पं० श्रीजगन्नाथ मिश्रको पिता तथा परम भाग्यवती श्रीमती शचीदेवीको माता बननेका गौरव प्रदान किया। ये नीमके नीचे प्रादुर्भूत होनेसे निमाई और गौर अङ्ग (वर्ण) होनेसे गौराङ्ग कहलाये। *'होनहार बिरवानके होत चीकने पात'* की उक्ति इनपर पूर्णरूपेण चरितार्थ हुई है।

कहा जाता है कि चैतन्यमहाप्रभुजी एक बार गयामें अपने पितरोंको पिण्डदान करने हेतु पधारे थे। श्रीविष्णुपादके दर्शन करनेके बाद इनकी भेंट श्रीस्वामी ईश्वरपुरीजी महाराजसे हो गयी। लोकमर्यादाको निभानेके निमित्त इन्होंने हठपूर्वक प्रार्थना करके पुरीजी महाराजको विवश करते हुए उनसे श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा ले ली। मन्त्र-दीक्षा प्राप्त करते ही ये मूर्च्छित होकर धराधामपर धड़ामसे गिर पड़े। साथियोंने मानवीय उपचार करके इन्हें किसी प्रकार चैतन्य किया। बस फिर क्या था, पूर्वसे ही हृदयमें जमा हुआ प्रेम प्रवाहित होकर फूट पड़ा। उस प्रेम-प्रवाहके फूटते ही इनके अंदरसे ऐसी सहज धारा बह निकली, जिसने सम्पूर्ण जगत्को प्रेम-प्लावित कर दिया।

सही बात तो यह है कि चैतन्यमहाप्रभुका आविर्भाव वस्तुतः विशुद्ध प्रेम और विश्वबन्धुत्वका द्योतक है। कारण कि इन्होंने राधाके रूपमें श्रीकृष्ण-राधा-प्रेमामृतका पान करते हुए हिन्दू, बौद्ध, जैन, ईसाई, सिक्ख, मुसलमान आदि सभीको एक प्रेमसूत्रमें ग्रथितकर विश्व-बन्धुत्वकी ज्योति जलायी। महाप्रभुने बताया कि जो भी नाम हमें प्रिय हो, जो भी हमारा धर्म, सम्प्रदाय और आजीविका हो, उसीमें रहकर हमें प्रेमसे भगवन्नाम-संकीर्तन करना चाहिये। इतना ही नहीं द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि चाहे जिस किसी भी आध्यात्मिक, दार्शनिक सिद्धान्तवादको माननेवाले क्यों न हों, वे प्रेमसे नाम-संकीर्तन कर सकते हैं। नाम-संकीर्तन करनेवालोंको वेशभूषा भी नहीं बदलना है और न ही किसी अन्य बाह्याडम्बरकी आवश्यकता है। शुद्धभावसे कीर्तनमात्र करना ही परम मङ्गलकारक है।

चैतन्यमहाप्रभुने प्रेमधर्मके मूलभूत आध्यात्मिक तत्त्वोंकी व्याख्या की। प्रेम-भक्तिके अङ्गरूपमें इन्होंने स्वामी श्रीरामानन्दद्वारा प्रदर्शित सेवा और उपासनाके पाँच उत्कृष्ट तत्त्वोंको स्वीकार किया है—(१) वर्णाश्रमधर्माचारपालनद्वारा भगवद्भक्ति प्राप्त होती है। (२) भगवान्‌के लिये सभी स्वार्थोंका त्याग करना आवश्यक है। (३) भगवत्प्रेमद्वारा सर्वधर्मत्याग होता है। (४) ज्ञानात्मिका भक्तिकी साधना करनी पड़ती है और (५) स्वाभाविक एवं अखण्डरूपमें मनको श्रीकृष्णकी भक्तिमें लगाना जीवमात्रका लक्ष्य है।

श्रीचैतन्यमहाप्रभु अपनेको संसारी जीव मानते हुए श्रीकृष्णसे शुद्ध भक्तिकी प्रार्थना इस प्रकार करते हैं—

धन जन नाहिं माँगो कविता सुन्दरी।
शुद्ध भक्ति देह मोरे कृष्ण कृपा करि॥
अति दैन्य पुनः माँगो दास्य भक्ति दाना।
आपनाके करे संसारी जीवन अभिमाने॥

(श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत)

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने सुप्तप्राय मानव-जातिको प्रेमसे भक्ति-पथ दिखलाकर पुनः जागृति प्रदान की—

जो सिद्ध जोगी मुनी ऋषि, सकले गौर प्रेमे रसि।
आनन्द ए तिनि भूवन, गोर प्रेमरे होई मगन।
हाँ तक कीर्तन ली प्यारे, वृक्षादि पशु पक्षी खरे।

प्रेम रसरे रसिजाई, पाषाण तरल हुअई।
जीव वाकतेक मातर, रसिब नाहिं से भवन।
यकल जीवक उद्धार, कारणे गौर अवतार।
(श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत)

श्रीगौराङ्ग चैतन्यमहाप्रभु कीर्तन करते हुए वृन्दावन जा रहे हैं। वे अरण्यवासी सिंह, हस्ती, मृग और पक्षियोंतकको श्रीकृष्णप्रेममें उन्मत्त करते हुए एवं उनके मुखसे श्रीहरिके सुमधुर नामोंका उच्चारण कराते हुए उन्हें भी अपने साथ ही नृत्य कराते जा रहे हैं। दास्यप्रेम-भक्तिके महत्त्वका वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है—

दास्य सुखरू सुख नाहिं, सकल सुख तुच्छा ताहिं।
कोटिए ब्रह्म सुख जे हिय, दास्य भाव तू समनोहि।
जे लख्मी अति प्रिया होई, दास्य सुखकू से भागई।
विधि नारद भव पुण, आवर सुक सनातन।
सकले दास्य भवे भोग, आपने अनन्त ईश्वर।
दास्य सुखरे मोल होई, सकल भाव पासोरई।
राधा रुकमणी आदि लेते, दास्य जे भागन्ति निरते।
(श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत)

अर्थात् दास्यभक्तिके समान और कोई सुख नहीं, इसकी तुलनामें अन्य सुख व्यर्थ हैं। करोड़ों ब्रह्म-सुख दास्यभावके सुखके सामने तुच्छ हैं। जो लक्ष्मी अति प्रिया होती हैं, वे दास्यभक्तिको माँगती हैं। इसी तरह नारद, शुक और सनातन आदि सभी दास्यप्रेममें विभोर रहते हुए अपने-आपमें अनन्त ईश्वर हैं। राधा, रुक्मिणी आदि सभी सर्वदा दास्यप्रेमकी याचना करती हैं।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने सारे संसारके लिये प्रेम-शब्दाभिधेय ज्योति जलायी। संसारमें प्रेय और श्रेय नामक दो मार्ग हैं। इनमें प्रेय भौतिक और श्रेय आध्यात्मिक पथका अनुसरण करता है। प्रेयका अर्थ है—स्त्री, पुत्र, धन, यश आदि इस लोकके तथा स्वर्गलोकके समस्त प्राकृत सुख-भोगोंकी सामग्रियोंकी प्राप्तिका मार्ग तथा श्रेयका अर्थ है—इन भौतिक सुख-भोगोंकी सामग्रियोंसे उदासीन रहकर नित्यानन्दस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमकी प्रीतिके लिये उद्योग करना। इसीलिये श्रीचैतन्यमहाप्रभुने संकीर्तनके द्वारा प्रेय एवं श्रेय दोनों मार्गोंको एक साथ समन्वित करके चलनेको कहा है।

वास्तवमें जबतक जगत्‌में भगवन्नाम-संकीर्तन रहेगा, तबतक श्रीचैतन्यमहाप्रभुका प्रेम-शरीर ज्यों-का-त्यों बना रहेगा और भक्तगण गाते रहेंगे—

श्रीकृष्ण चैतन्य प्रभु नित्यानन्द। हरे कृष्ण हरे राम राधे गोविन्द।

ऐसे दिव्य प्रेमावतार गौराङ्ग चैतन्यमहाप्रभुकी संकीर्तन-लीलाका आज भी सर्वत्र वितरण हो रहा है। भक्तगण प्रभु-नाम-संकीर्तन कर रहे हैं। आजके युगमें इनके दिव्य प्रेमकी ज्योति पूर्णरूपसे जले तभी विश्व-बन्धुत्वकी भावना जाग सकती है। हम कीर्तनको अपने जीवनका लक्ष्य बनायें, यही उनकी सच्ची स्मृति होगी।

इस तरह हम देखते हैं कि श्रीचैतन्यमहाप्रभु-जैसे भक्तोंकी महिमा अपरम्पार है। इनका जीवन-दर्शन हमें पतनके गर्तमें गिरनेसे बचा सकता है। इनका पावन चरित्र पतित मानवको कल्याणके मार्गपर ले जानेवाला है।

(प्रो० श्रीलालमोहरजी उपाध्याय)

मोह और प्रेममें अन्तर

(सुश्री आभाजी मिश्रा)

मोह बाह्य आडम्बर है, किंतु प्रेमको आन्तरिक अनुभूति कहा जाता है। मोहका सांसारिक पदार्थोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, जबकि प्रेम अलौकिक समर्पणका द्योतक है। मोह एकांगी है, मगर प्रेम उभय पक्षीय है। मोहमें 'मैं' की प्रधानता पायी जाती है, परंतु प्रेममें परमात्माका वास होता है। प्रेम साधन और साध्य दोनों है, लेकिन मोहमें यह गुण नहीं पाया जाता। मोह अधोगामी होता है तो प्रेम उत्कर्षकी राह है। वस्तुतः मोह भवबन्धन है, मगर प्रेम मुक्त अभिव्यक्ति है। मोह दुःखरूप है, प्रेम आनन्दस्वरूप है। मोहके व्यापारी अनेक हैं, परंतु प्रेमके पुजारी विरले ही होते हैं। मोहका अन्त मृत्यु है और प्रेमकी परिणति मोक्ष है। मोह बिका है तो प्रेम टिका है। मोह मस्ताना है पर प्रेम दीवाना है। मोह आदान है, प्रेम प्रदान है। प्रेम उपासना है तो मोह वासना है। रागसे मोहकी उत्पत्ति होती है और अनुरागसे प्रेम पोषित होता है।

* * *

संतशिरोमणि तुलसीदासजीकी प्रेमसाधना

गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने श्रीरामचरितमानसके कई प्रसंगोंमें संतोंके विविध गुणों और लक्षणोंकी अवली प्रस्तुत की है। वे स्वयं संत थे। करुणा और परदुःखकातरता ही संतत्वकी मुख्य पहचान है; क्योंकि यह भावना परोपकारकी ओर प्रेरित करती है। तुलसीके कथनानुसार संतका हृदय नवनीतके समान कोमल होता है, किंतु दोनोंमें एक अन्तर है। नवनीत आत्मपीड़ा (अग्निकी आँच)-से पिघलता है जबकि संतके हृदयको परपीड़ा द्रवीभूत करती है—

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

(रा०च०मा० ७।१२५।७-८)

परपीड़ासे विगलित होकर तुलसीदासजीने लोककल्याणार्थ भक्तिका जो मार्ग प्रशस्त किया, वह अनुपम एवं वरेण्य है। उनका भगवत्प्रेम उनकी साधनाका उदात्त स्वरूप है। उनके श्रीरामचरितमानस एवं अन्य ग्रन्थोंमें इस प्रेमकी उज्ज्वल छविके दर्शन होते हैं।

तुलसीदासजीके लिये रामप्रेम सर्वोपरि था; क्योंकि उनकी दृष्टिमें रामप्रेम विश्वप्रेमका प्रतीक था—*'सीय राममय सब जग जानी।.....'* उनकी मान्यता थी कि प्रेमकी उच्चता लक्ष्यकी व्यापकताके अनुरूप होती है। जिस प्रेमका लक्ष्य जितना व्यापक होगा वह उतना ही ऊँचा होगा। गृहप्रेमसे समाजप्रेम, समाजप्रेमसे राष्ट्रप्रेम और राष्ट्रप्रेमसे यह विश्वप्रेम अथवा श्रीरामप्रेम बड़ा है। विभीषण, भरत, प्रह्लाद, राजा बलि और व्रजवनिताओंने व्यक्तिगत प्रेम या पारिवारिक प्रेमको ठुकराकर विश्वप्रेमके प्रतीक श्रीराम या श्रीकृष्णके प्रति अनुराग प्रकट किया, जिसके मङ्गलकारी औचित्यका समर्थन करते हुए तुलसीदासजीने अपनी विनय-पत्रिका (१७४)-के एक पदमें लिखा है—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी॥

तुलसी-प्रेमके आलम्बन दाशरथि श्रीराम थे जो सगुण और परब्रह्मके अवतार थे। उनके अनुसार श्रीरामके चरणोंके प्रति अनन्य प्रेमका होना ही भक्ति है और इसीलिये उन्होंने श्रीरामके चरणोंके प्रति निरन्तर प्रेमके होनेकी स्पृहा व्यक्त की है—

तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

(रा०च०मा० ७।१३०।७ (ख))

उनके श्रीराम ऐश्वर्यमय, क्षमावान्, शरणागतवत्सल और करुणायतन हैं, इसके कारण भक्तोंको सदैव उनकी उदारताकी छत्रच्छाया सुलभ हो जाती है। तुलसीदासजी इस आस्थाके मूर्तरूप थे कि सर्वव्यापी श्रीहरिका प्रकटीकरण प्रेमसे होता है—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(रा०च०मा० १।१८५।१)

तुलसीदासजी दास्यभक्तिके अनुयायी थे जिसे सेवक-सेव्य भक्ति कहते हैं। उनके एक पात्र काकभुशुण्डिजीका स्पष्ट उद्घोष है—*'सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि'*। इस भक्तिमार्गके अनुसार आराध्यको महान्, उत्कृष्ट, ऐश्वर्यवान् माना जाता है और भक्त अपनेको तुच्छ, दीन तथा निकृष्ट समझता है। इस सन्दर्भमें विनय-पत्रिकाका पद (७९) द्रष्टव्य है—

देव—
तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथको, अनाथ कौन मोसो?
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरो।
तात-मात, गुरु-सखा, तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानियै जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु! चरन-सरन पावै॥

श्रीरामके औदार्यपर तुलसीदासको बहुत भरोसा था। यहाँतक कि उनके श्रीराम बिना सेवाके ही द्रवीभूत हो जाते हैं। उनकी उदारतासे लाभान्वित होनेवालोंकी शृङ्खलामें गीध, शबरी, विभीषण आदि सम्मिलित हैं—

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं॥

× × ×

सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी॥

× × ×

सो संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच-सहित हरि दीन्हीं॥

(विनय-पत्रिका १६२)

श्रीराम **'पुनीत प्रेम अनुगामी'** हैं। ज्यों ही वे अपने भक्तोंको प्रेमविह्वल देखते हैं, त्यों ही उन्हें अनुगृहीत कर देते हैं। दास्यभक्तिमें दीनताके संनिवेशसे भक्तका कल्याण सुनिश्चित हो जाता है; क्योंकि जहाँ दीनता होती है वहाँ अहंकारका भाव तिरोहित हो जाता है और इसीलिये भक्त पतन या स्खलनसे सुरक्षित हो जाता है, किंतु यहाँ एक बात ध्यान देनेयोग्य है कि तुलसीदासजीकी दैन्यभावना दास्यमनोवृत्ति उत्पन्न करनेवाली नहीं है—उनकी दीनता विनम्रताकी पराकाष्ठामें परिवर्तित है।

सरलतासे अनुप्राणित होनेके कारण तुलसीदासजीकी भक्तिभावना या श्रीरामानुराग कई विशेषताओंसे सम्पोषित है। वे रागात्मिका भक्तिके पक्षधर थे, जिसमें आडम्बरका निषेध और तड़क-भड़कका आवर्जन है। उनकी भक्ति आचरणकी परिष्कारक और धर्मप्रवण है। विरति और विवेकपर आधृत होनेके कारण वह श्रेष्ठ तथा कल्याणकारिणी है। श्रीरामसे प्रेम स्थापित करते हुए जितेन्द्रिय बनकर नैतिक पथपर अग्रसर होना ही भक्तिका वास्तविक स्वरूप है—

प्रीति राम सों नीति पथ चलिय राग रिस जीति।
तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति॥

(दोहावली ८६)

चातकप्रेमको अनन्य एवं आदर्श मानते हुए तुलसीने इसी प्रेमके अनुगमनका संदेश दिया है जिसमें अनन्यता, एकनिष्ठता, सरसता, सहिष्णुता, निस्पृहता प्रभृति गुणोंकी विद्यमानता रहती है।* श्रीरामके स्नेही होनेमें ही जीवनकी सार्थकता है। निष्कामभावसे श्रीरामप्रेम करनेमें ही भलाई और कल्याण है। सन्तोषवृत्तिके साथ श्रीरामके प्रति अनुरागात्मक सम्बन्ध रखनेके लिये काननवासकी आवश्यकता नहीं है—

राम सनेही राम गति राम चरन रति जाहि।
तुलसी फल जग जनम को दियो बिधाता ताहि॥
आपु आपने तें अधिक जेहि प्रिय सीताराम।
तेहि के पग की पानहीं तुलसी तनु को चाम॥
स्वारथ परमारथ रहित सीता राम सनेहँ।
तुलसी सो फल चारि को फल हमार मत एहँ॥
जे जन रूखे बिषय रस चिकने राम सनेहँ।
तुलसी ते प्रिय राम को कानन बसहिं कि गेहँ॥
जथा लाभ संतोष सुख रघुबर चरन सनेह।
तुलसी जो मन खूँद सम कानन बसहुँ कि गेह॥

(दोहावली ५८—६२)

श्रीरामप्रेम सर्वोपरि है। इसके बिना सारे नियम व्यर्थ हैं।

श्रीरामके कथनानुसार जिस भक्तिपद्धतिसे उनमें (राममें) आशुद्रवणशीलता होती है, वही भक्ति है जो भक्तके लिये सुखद होती है। इस भक्तिमें आलम्बन श्रीराम हैं।

श्रीरामकी भक्ति सचराचर-सेवाके द्वारा भी की जा सकती है। भक्तिका आलम्बन विश्व भी हो सकता है जिसमें श्रीरामकी अभिव्यक्ति हुई है। विश्वके अन्तरालमें श्रीसीतारामकी विद्यमानताका अनुभव कर तुलसीदासजीने सम्पूर्ण विश्वको प्रणाम किया है—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(रा०च०मा० १।८।२)

(डॉ० श्रीरामाप्रसादजी मिश्र, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

~~~

---

* एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास। एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥
चातक तुलसी के मतें स्वातिहुँ पिऐ न पानि। प्रेम तृषा बाढ़ति भली घटें घटैगी आनि॥
चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष। तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख॥
तीनि लोक तिहुँ काल जस चातक ही कें माथ। तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ॥
बास बेस बोलनि चलनि मानस मंजु मराल। तुलसी चातक प्रेम की कीरति बिसद बिसाल॥

(दोहावली २७७, ७९, ८१, ८८, ९७)
~~~

संत सूरदासका वात्सल्य-प्रेम

भक्तिके आचार्योंने वत्सल अथवा वात्सल्यभक्तिपर बल देकर और उसका भक्तिमें समावेश करके उसके गौरवको और अधिक बढ़ा दिया है। भक्तिके आचार्योंने वात्सल्यभक्तिका निर्वचन भी किया और उसके उदाहरणस्वरूप अभिव्यक्ति भी दी। हिंदीके भक्त कवियोंने उस दायको स्वीकार किया और अपने काव्योंमें आचार्यप्रणीत ग्रन्थोंसे प्रेरणा भी ली। इस तरहके कवियोंमें सूरदास ऐसे ही भक्त-संत हैं, जिन्होंने श्रीमद्भागवतमहापुराणके आधारपर अपने सूरसागरके पदोंकी रचना की। श्रीमद्भागवतमें वर्णित श्रीकृष्णकी लीलाओंको उन्होंने काव्यमय विस्तार दिया। श्रीकृष्णकी बाललीलाओंके चित्रणमें उनकी मतिमें व्यापक विस्तार और निखार आया। उनके विविधताभरे पदोंमें वात्सल्य-वर्णनके कारण विद्वानोंने वात्सल्यरसकी पूर्ण प्रतिष्ठाका श्रेय संत सूरदासजीको ही दिया है।

सूर-साहित्यके दो रूप मिलते हैं—(१) वल्लभाचार्यजीकी भेंटसे पहले जब ये विनय और दीनताभरे भावोंके पद गाते थे और (२) वल्लभाचार्यजीकी भेंटके बाद जब इन्होंने भगवान्‌की लीलाओंका वर्णन किया। 'चौरासी वैष्णवनकी वार्ता' में आया है कि सूरदासजीने वल्लभाचार्यजीके सामने दो पद गाये। पहला पद था—*'हरि हौं सब पतितनि को नायक'* और दूसरा था—*'प्रभु, हौं सब पतितनि कौ टीकौ'*। इन्हें सुनकर वल्लभाचार्यजीने कहा—*'जो सूर है कें ऐसो घिघियात काहे को है कछु भगवल्लीला वर्णन करि'*। सूरदासजीने कहा कि मुझमें ऐसी समझ नहीं है। तब वल्लभाचार्यजीने इन्हें उपदेश दिया। तबसे सूरदासजीको नवधा-भक्ति सिद्ध हो गयी और इन्होंने भगवल्लीलाकी दृष्टिका स्फुरण पाया। जैसे कोई बालक पुराने खिलौनेको छोड़कर फिर नये खिलौनेसे ही खेलता है—ऐसे सूरदासजीने उसके बादसे भगवान्‌की लीलाओंका वर्णन प्रारम्भ किया।

सूरदासजी उच्च कोटिके संत होनेके साथ-साथ उच्च कोटिके कवि भी थे। इन्होंने वात्सल्य और शृङ्गाररसप्रवाहिनी ऐसी विस्तृत और गम्भीरताभरी भावाभिव्यक्ति की है कि इन्हें वात्सल्य और शृङ्गाररसका सम्राट् कहा जाता है। सूरदासजी अन्धे थे, परंतु इन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त थी। ये भगवान्‌के कीर्तनकार थे। जैसा भगवान्‌का स्वरूप होता था, वे उसे अपनी बंद आँखोंसे वैसा ही वर्णन कर देते थे। 'अष्टसखानकी वार्ता' में आया है कि एक बार श्रीविट्ठलनाथजीके पुत्रोंने उनकी परीक्षा लेनी चाही। उन्होंने नवनीतप्रिय बालकृष्णकी मूर्तिका कोई शृङ्गार नहीं किया। नग्न मूर्तिपर मोतियोंकी माला लटका दी और सूरदासजीसे कीर्तन करनेकी प्रार्थना की। दिव्य-दृष्टि प्राप्त सूरदासजीने पद गाया—

> देखे री हरि नंगम नंगा।
>
> जल सुत भूषन अंग बिराजत बसनहीन छबि उठत तरंगा॥

ऐसे दिव्य-दृष्टिप्राप्त संतने अपनी बंद आँखोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी बाललीलाओंका वात्सल्यरससे सिक्त वाणीमें विस्तारभरा वर्णन किया है। उस रसधारामें भक्त और साहित्यकार निमग्न हो गये।

सूरदासजीके वात्सल्यरसकी दो दशाएँ हैं—(क) संयोग-वात्सल्य और (ख) वियोग-वात्सल्य, जो यहाँ संक्षेपमें वर्णित हैं—

(क) संयोग-वात्सल्य

१-पुत्रजन्मका आनन्द और उल्लास।
२-विभिन्न संस्कारोंके अवसरोंपर वात्सल्यसुखानुभूति।
३-श्रीकृष्णकी बालछविका वर्णन।
४-बालस्वभावका चित्रण।
५-बालक्रीडा एवं चेष्टाएँ।
६-माखनचोरी और उलाहने।
७-मातृहृदय।

पुत्र-जन्मके आनन्दोल्लासका वर्णन—श्रीकृष्णके प्रति अभिव्यक्त वात्सल्यके आश्रय नन्द, यशोदा, व्रजकी गोपियाँ और गोप हैं। उन्हींको वात्सल्यसुखकी विशेष अनुभूति होती है। वसुदेव और देवकी तो उनके रूपको देखकर आश्चर्यसे अभिभूत हो जाते हैं। नन्दके यहाँ पुत्रजन्मके हर्ष और आनन्दका बड़ा ही सजीव वर्णन सूरने किया है। माता यशोदा पुत्रके सुखको देखकर अत्यन्त आनन्दको प्राप्त होती हैं। नन्द अपनी प्रसन्नताको वस्त्र, आभूषण, गाय और नाना वस्तुओंका दान करके प्रकट करते हैं। गोपियाँ मङ्गलगान करती हैं, बधाई देती हैं और शिशुको आशीर्वाद देती हैं। ढाढी, जगा, सूत, मागध आदि भी नेग लेते हैं और आशीवांद देते हैं। सारे व्रजमें पुत्रजन्मपर फैली शोभाकी कोई सीमा नहीं है। सूरदासजी वर्णन करते हैं—

> सोभा-सिंधु न अंत रही री।
> नंद-भवन भरि पूरि उमँगि चलि, ब्रज की बीथिनि फिरति बही री।

सूरदासजीने आनन्द-उल्लासका वर्णन वात्सल्यसे पुष्टरूपमें किया है—बढ़ईसे रत्नजटित पालना बनवाया गया है, उसमें रेशमकी डोरी लगी है। श्रीकृष्णको पालनेमें सुलाकर यशोदा आनन्दित होती हैं। श्रीकृष्ण कभी पलक मूँद लेते हैं, कभी अधर फड़काते हैं। पालनेमें झुलाते समय वात्सल्यमयी यशोदाका वर्णन कविने इस प्रकार किया है—

जसोदा हरि पालनैं झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निँदरिया, काहैं न आनि सुवावै।
तू काहैं नहिं बेगहिं आवै, तो कौं कान्ह बुलावै।

(सूरसागर ६६१)

विभिन्न संस्कारोंके अवसरोंपर वात्सल्य-सुखानुभूति—पुत्रोत्सवके पश्चात् होनेवाले अनेक संस्कारोंका वर्णन सूरदासजीने किया है। इनमें नामकरण, वर्षगाँठ, अन्नप्राशन एवं कर्णछेदन मुख्य हैं। नामकरण और अन्नप्राशनपर ज्योतिषी तथा ब्राह्मणको बुलाया जाता है। उस समय भी उत्सव-जैसा वातावरण होता है। कृष्णकी एक वर्षकी अवस्था हो जानेपर सूरदासजीने उनके वर्षगाँठके उत्सवका और उस समयके आनन्दोल्लासका वर्णन किया है। श्रीकृष्णको शृङ्गार कराकर और वस्त्राभूषणोंसे सजाकर यशोदा फूली नहीं समाती हैं। निम्नलिखित पंक्तियोंमें सूरने उस समयके वात्सल्यमय दृश्यका वर्णन करते हुए कहा है—

दोउ कपोल गहि कै मुख चूमति, बरष-दिवस कहि करति कलोल।
सूर स्याम ब्रज-जन-मोहन-बरष-गाँठि कौ डोरा खोल॥

(सूरसागर ७१२)

श्रीकृष्णके कर्णछेदनका वर्णन बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंगसे किया गया है। कर्णछेदनके समय यशोदाको पहले तो बड़ा आनन्द होता है, परंतु जब यह ध्यान आता है कि कर्णछेदन करनेसे बालक कृष्णको कष्ट होगा तो उनका हृदय धड़कने लगता है। वे उधर देख भी नहीं सकीं और मुख मोड़ लेती हैं। श्रीकृष्ण रोने लगते हैं तो कर्णछेदन करनेवाले नाईको धमकाने लगती हैं ताकि रोते हुए बालकको कुछ ढाढ़स बँध सके। बालस्वभावकी परख और माताके हृदयकी अनुभूतिसे भरा कर्णछेदनका यथार्थ चित्रण सूरदासजीकी निम्नलिखित पंक्तियोंमें द्रष्टव्य है—

कान्ह कुँवर कौ कनछेदन है, हाथ सोहारी भेली गुर की।
बिधि बिहँसत, हरि हँसत हेरि हरि, जसुमति की धुकधुकी सु उर की॥

× × ×

लोचन भरि-भरि दोऊ माता, कनछेदन देखत जिय मुरकी।
रोवत देखि जननि अकुलानी, दियौ तुरत नौआ कौं घुरकी॥

(सूरसागर ७९८)

श्रीकृष्णकी बालछविका वर्णन—श्रीकृष्णकी बालछविका वर्णन सूरदासजीने क्रम-क्रम करके उनके बढ़ते हुए रूपके अनुसार किया है। उनके पूरे शरीरके सौन्दर्यके साथ शरीरके एक-एक अङ्गका जैसे पैर, अँगुली, नख, कर, चिबुक, भुजा, कण्ठ, ओष्ठ, मुख, जीभ, दाँत, नाक, कान, नेत्र, भौंह, भाल, बाल आदिका अनेक पदोंमें वर्णन किया है। विभिन्न आभूषणों—पैंजनी, किंकिनी, पहुँची, बघनखा, कठुला शेरनख, मोती और प्रवालके द्वारा अलंकृत उनकी शोभाके वर्णन किये हैं। पिछोरी, झगुलिया, कुलही आदिके साथ बिंदी, डिठौना, तिलक, काजल आदिके वर्णन बालछविके वर्णन हैं। श्रीकृष्णके हँसने, किलकने, तुतलाने, लड़खड़ाकर चलने, धूलधूसरित होने, माखन खाने, लपटाने, प्रतिबिम्बको पकड़ने, खेलने, नाचने आदिका वर्णन सूरदासजीने अनेक पदोंमें किया है। इन वर्णनोंमें सूरकी रुचि इसलिये भी अधिक जगी है; क्योंकि वे उनके अपने हृदयगत इष्टदेवके प्रति भावोंकी तरहके हैं। इस प्रसंगका एक पद अतीव वात्सल्यरसपूर्ण है। वह यहाँपर द्रष्टव्य है—

सुत-मुख देखि जसोदा फूली।
हरषित देखि दूध की दँतियाँ, प्रेममगन तन की सुधि भूली।
बाहिर तैं तब नंद बुलाए, देखौ धौं सुंदर सुखदाई।
तनक-तनक सी दूध-दँतुलिया, देखौ नैन सफल करौ आई॥
आनँद सहित महर तब आए, मुख चितवत दोउ नैन अघाई।
सूर स्याम किलकत द्विज देख्यौ, मनौ कमल पर बिज्जु जमाई॥

(सूरसागर ७००)

यहाँपर श्रीकृष्ण आलम्बन हैं। यशोदा और नन्द आश्रय हैं। दूधके दाँत उद्दीपनविभाव हैं। नन्दको बुलाना और दोनोंका ध्यान देकर देखना अनुभाव है और हर्ष संचारीभाव है।

सूरदासने भगवान्‌की रूपमाधुरीका तरह-तरहसे वर्णन किया है। उनकी किलकारी, हँसी और बालक्रीडा, तोतले वचन आदिकी शोभाका शब्दोंद्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। अत: वे कहते हैं—

जो मेरी अँखियनि रसना होतीं कहतीं रूप बनाइ री।
चिर जीवहु जसुदा कौ ढोटा, सूरदास बलि जाइ री॥

बालस्वभाव-चित्रण—सूरदासजीने बालस्वभावका चित्रण बड़ी बारीकीसे किया है। बच्चोंकी प्रकृतिके भीतर जितनी पैठ सूरने लगायी है, उतनी और किसी कविने नहीं लगायी। आचार्य रामचन्द्र शुक्लने ठीक ही कहा है कि सूरने बालहृदयका कोना-कोना झाँक लिया था। बच्चोंमें स्पर्धाका भाव बड़ा प्रबल होता है। यशोदा श्रीकृष्णको दूध पिलाना चाहती हैं। इससे तुम्हारी चोटी बढ़ जायगी और बलराम-जैसी हो जायगी। स्पर्धावश वे दूध पीने लगते हैं, पर वे चाहते हैं कि दूध पीते ही चोटी बढ़ जानी चाहिये। वे मातासे पूछने लगते हैं—

मैया, कबहिँ बढ़ैगी चोटी!
किती बार मोहिँ दूध पियत भई, यह अजहू है छोटी!

(सूरसागर ७९३)

सूरदासजीने बालकृष्णके स्वभावके अनेक चित्र उरेहे हैं। गाय दुहने तथा चरानेके लिये आग्रह करना, रैता, पैता, मना, मनसुखा और हलधरके साथ गोचारणको जाना, सबके साथ शिलापर बैठकर भोजन करना, दाऊके डरकी बात करना, मिट्टी खाना, कहानी सुननेका चाव रखना, खाना खाते समय कुछ खाना, कुछ गिराना आदि अनेक बालस्वभावके चित्रणके शताधिक पद सूरने लिखे हैं। उनके बालसुलभ हठका बड़ा वात्सल्यभरा और बालमनोविज्ञानसे पुष्ट चित्रण सूरने अनेक पदोंमें किया है। यहाँपर उनका एक बड़ा प्रसिद्ध पद पठनीय है—

मैया, मैं तौ चंद-खिलौना लैहौं।
जैहौं लोटि धरनि पर अबहीं, तेरी गोद न ऐहौं।
सुरभी कौ पय पान न करिहौं, बेनी सिर न गुहैहौं।
ह्वैहौं पूत नंद बाबा कौ तेरौ सुत न कहैहौं।
आगैं आउ, बात सुनि मेरी, बलदेवहिं न जनैहौं।
हँसि समुझावति, कहति जसोमति, नई दुलहिया दैहौं।
तेरी सौं मेरी सुनि मैया, अबहिं बियाहन जैहौं।
सूरदास ह्वै कुटिल बराती, गीत सुमंगल गैहौं॥

(सूरसागर ८११)

बाल-क्रीड़ा और चेष्टाएँ—बालक्रीड़ा वात्सल्यरसके उद्‌बोधनका महत्त्वपूर्ण अंग है। बालक्रीडासे वात्सल्यरस उद्दीप्त होता है। सूरदासने बाल भगवान्‌के शिशुरूप और बालरूप दोनोंकी क्रीड़ाओंका सुन्दर चित्रण किया है। श्रीकृष्ण आँगनमें घुटनोंके बल चल रहे हैं। वे किलकारी मार रहे हैं। नन्द और यशोदा उनकी क्रीड़ापर भावविभोर हो रहे हैं। तोतले शब्द, दौड़ना, गिरना, फिर उठना, मणियोंके आँगनमें अपने प्रतिबिम्बको पकड़ना—इसी तरहकी शिशुक्रीड़ाएँ हैं। श्रीकृष्ण कुछ बड़े होते हैं तो यशोदा उन्हें अँगुली पकड़कर चलना सिखाती हैं। पैरोंकी पैंजनियाँ बजती हैं। यशोदा उन्हें नचाती हैं और बड़ा आनन्द लेती हैं—*'आँगन स्याम नचावहीं जसुमति नँदरानी'*। श्रीकृष्ण अपनी चञ्चलताके कारण स्वयं भी तरह-तरहकी चेष्टाएँ करते हैं। यशोदा दूध बिलो रही हैं। उससे रईकी घुमड़-घुमड़ ध्वनि हो रही है। श्रीकृष्णजी अपनी किंकिणी और नूपुरोंकी ध्वनि करते हुए उसी रईकी ध्वनिके साथ नाचते हैं—

त्यौं त्यौं मोहन नाचै ज्यौं ज्यौं रई-घमरकौ होइ री।
तैसियै किंकिनि-धुनि पग-नूपुर, सहज मिले सुर दोइ री॥

श्रीकृष्णके खेलका बड़ा सुन्दर वर्णन सूरने किया है। कभी खीझते हैं, कभी चौगान खेलते हैं, कभी भौंरा-चकडोरीसे खेलते हैं। कभी खेलमें एक-दूसरेको हारनेपर दावँ देनेका अवसर देना पड़ता है। इस तरहका एक बड़ा वात्सल्यभरा वर्णन खेलके प्रसंगमें सूरदासने किया है। श्रीकृष्ण खेलमें हार जाते हैं। श्रीदामा जीत जाते हैं। श्रीकृष्ण दावँ देना नहीं चाहते, परंतु अन्ततः खेलना भी चाहते हैं तो दावँ देते हैं। इसका वर्णन सूरने इस प्रकार किया है—

खेलत मैं को काकौ गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस हीं कत करत रिसैयाँ॥
जाति-पाँति हमतैं बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातैं जातैं अधिक तुम्हारैं गैयाँ॥
रूहठि करै तासौं को खेलै, रहे बैठि जहँ-तहँ सब ग्वैयाँ।
सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउँ दियौ करि नंद-दुहैयाँ॥

(सूरसागर ८६३)

माखनचोरी और उलाहने—श्रीकृष्णकी बाललीलाओंमें माखनचोरी बड़ी चर्चित रही है। सूरदासने श्रीकृष्णके माखनके अनुराग और माखन चुरानेके अनेक प्रसंग गाये हैं। श्रीकृष्णके साथ माखन चुरानेवाले बालकोंकी पूरी टोली होती है। माखन खाना, माखन और दधिके भाजन फोड़ना, बंदरोंको माखन खिलाना, दूधमें पानी मिलाना, बछड़े गायोंके नीचे दूध पीनेको खोलकर छोड़ देना—इन सब बातोंसे गोपियाँ तंग आ जाती हैं। यशोदाके पास उलाहने

लेकर आती हैं। पुत्रप्रेमके कारण यशोदा यह स्वीकार नहीं करतीं। वे श्रीकृष्णका पक्ष लेकर ग्वालिनोंसे लड़ती हैं—

मेरौ गोपाल तनक सौ, कहा करि जानै दधि की चोरी।
हाथ नचावत आवति ग्वारिनि, जीभ करै किन थोरी।

(सूरसागर ९११)

कई बार दधि-माखन चुराते समय गोपियाँ श्रीकृष्णको पकड़ भी लेती हैं तो वे तरह-तरहके बहाने बना देते हैं। जैसे—मैं तो इस भाजनमेंसे चींटी निकाल रहा था या मैंने अपना घर समझा इस धोखेमें आ गया। कई बार गोपियाँ पकड़कर भी ले आयीं। सूरदासने ऐसे अनेक भावपूर्ण चित्र खींचे हैं। एक बार यशोदाने स्वयं श्रीकृष्णको माखन चुराते देख लिया। उनका मुख दधिसे सना हुआ था। यशोदाने हाथमें साँटी ले ली। उस समय श्रीकृष्ण अत्यन्त कातर होकर जो उत्तर देते हैं और यशोदा सब कुछ जानते हुए भी कि श्रीकृष्ण अपराधी हैं, वे वात्सल्यरसकी दुग्धधवल धारामें निमग्न हो जाती हैं। सूरदासरचित वात्सल्यरसका बड़ा प्रसिद्ध पद है—

मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि, मेरैं मुख लपटायौ।
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचैं धरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हे कर अपनें मैं कैसैं करि पायौ।
मुख दधि पोंछि, बुद्धि इक कीन्हीं, दोना पीठि दुरायौ।
डारि साँटि, मुसुकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ।
बाल-बिनोद-मोद मन मोह्यौ, भक्ति-प्रताप दिखायौ।
सूरदास जसुमति कौ यह सुख, सिव बिरंचि नहिं पायौ॥

(सूरसागर ९५२)

इस उपर्युक्त पदमें वात्सल्यरसकी पूर्ण निष्पत्ति हुई है। इसमें रसके सारे अवयव आ गये हैं। यशोदा इसमें आश्रय हैं। श्रीकृष्ण आलम्बन हैं। श्रीकृष्णकी चतुराई—मुखसे दधि पोंछना और दोना पीछे छुपाना उद्दीपन हैं। साँटी डाल देना एवं कण्ठसे लगा लेना अनुभाव हैं और मुसकराना संचारीभाव है। ऐसी रसमाधुरी लिये हुए वात्सल्यरसका चित्रण देखकर ही आचार्योंने सूरको वात्सल्यरसका प्रतिष्ठापक कहा है।

मातृहृदय—सूरदासको माताके हृदयका सच्चा पारखी कहा गया है। सूरसागरमें भगवान् श्रीकृष्णकी बाललीलाओंके वर्णनमें सबसे अधिक पद माताके हृदयपक्षसे सम्बद्ध हैं। माताके हृदयको पहचाननेके विषयमें सहृदयोंका मानना है कि सूरदास बाललीलावर्णन करनेमें अद्वितीय हैं, यह बात सत्य है, किंतु मातृहृदयका चित्र खींचनेमें ये अपनी सानी नहीं रखते।

यशोदा माता हैं। वे वात्सल्यमयी हैं। उन्हींने श्रीकृष्णके वात्सल्यका सर्वाधिक अनुभव किया है। सूरने उनके हृदयका अनुभव करके यशोदाकी आँखोंसे कृष्णको देखकर स्वयं प्रज्ञाचक्षु होते हुए भी इतनी मार्मिक अभिव्यक्ति की है जो देखते ही बनती है। माताकी अभिलाषा बच्चेके शीघ्र बड़े होनेकी होती है। यशोदा कहती हैं—*'नान्हरिया गोपाल लाल, तू बेगि बड़ो किन होहि'*। यशोदाजी भगवान् श्रीकृष्णको अपना बच्चा समझती हैं। मिट्टी खानेके प्रसंगमें भगवान् अपनी मायासे उन्हें विमोहित तो करते हैं, पर पुनः उन्हें भुलावेमें डाल देते हैं। उन्हें याद नहीं रहता कि उन्होंने श्रीकृष्णके मुखमें ब्रह्माण्ड देखा है।

सूरदासने माता यशोदाद्वारा श्रीकृष्णके घुटनों-चलने, पावों-चलने, दूधके दाँत देखने, तोतले वचन बोलने और बाल-क्रीडा करनेके अपने नाना भाँतिके मनोरथों, अपनी अभिलाषाको शब्दोंद्वारा अभिव्यक्ति दी है। माताके हृदयका एक अत्यन्त भावभरा मार्मिक पद द्रष्टव्य है—

जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरौ लाल घुटुरुवनि रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै॥
कब द्वै दाँत दूध के देखौं, कब तोतरैं मुख बचन झरै।
कब नंदहिं बाबा कहि बोलै, कब जननी कहि मोहिं ररै॥
कब मेरौ अँचरा गहि मोहन, जोइ-सोइ कहि मोसौं झगरै।
कब धौं तनक-तनक कछु खैहै, अपने कर सौं मुखहिं भरै॥

(सूरसागर ६९४)

यशोदाजीके प्रत्येक कार्यमें—बच्चेके लालन-पालनमें वात्सल्य झलकता है। प्रातः उठनेके लिये, मुँह धोनेके लिये और माखन-रोटी खानेके लिये बड़े अनुरागसे श्रीकृष्णको राजी करती हैं। वे श्रीकृष्णके बड़ा होनेपर स्तन्य छुड़ाना चाहती हैं तो कितनी ममता-वात्सल्यभरी कलासे उनको समझाती हैं कि देखो अब तुम बड़े हो गये हो, माका दूध पियोगे तो तुम्हारे अच्छे दाँत बिगड़ जायँगे—

'जैहैं बिगरि दाँत ये अच्छे, तातैं कहि समुझावति।'

ग्वाल-बाल चिढ़ाते हैं कि 'श्रीकृष्णको मोल लिया है', तो समझाती हैं—

'सूर स्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत॥'

खेलते समय श्रीकृष्ण यशोदासे आँख मुँदवाते हैं।

श्रीकृष्ण सब बच्चोंमें छोटे हैं, यशोदा चाहती हैं कि श्रीकृष्ण जीत जायँ। वे बता देती हैं कि बच्चे किधर हैं और श्रीकृष्ण श्रीदामाको पकड़ लेते हैं। श्रीदामाके चोर होनेपर कविने भावाभिव्यक्ति की है—

हँसि-हँसि तारी देत सखा सब, भए श्रीदामा चोर।
सूरदास हँसि कहत जसोदा, जीत्यौ है सुत मोर॥

(सूरसागर ८५८)

ऊखलसे बाँधनेपर, माखन चोरी करनेपर और दूध बिलोते ही मटका फोड़नेपर नाराज होकर भी माता भीतरसे द्रवित हो जाती हैं। उलाहना देनेपर कई बार गोपियोंपर ही खीझ पड़ती हैं कि क्या हो गया जो माखन खा लिया तो—

कहन लगीं अब बढ़ि-बढ़ि बात।
ढोटा मेरौ तुमहिं बँधायौ, तनकहिं माखन खात।

(सूरसागर ९७३)

—ये भाव यशोदा माताके हृदयकी अभिव्यक्ति करनेवाले हैं। जब श्रीकृष्ण गोवर्धनको उठा लेते हैं तो यशोदाका मातृहृदय बड़े आश्चर्यमें पड़ जाता है। माताको पुत्र सदैव कोमल और अशक्त लगता है। यशोदा श्रीकृष्णके हाथ दबाने लगती हैं और बलैया लेती हैं। सूरदासजी वर्णन करते हैं—

गिरिवर कैसैं लियौ उठाइ।
कोमल कर चापति महतारी, यह कहि लेति बलाइ॥

(सूरसागर १५८५)

(ख) वियोग-वात्सल्य

संयोगसुखके अभावका नाम वियोग है। श्रीकृष्णके साथ नन्द-यशोदा, गोप-गोपी, ग्वाल-बाल और गाय-बछड़ोंका बेहद लगाव था। श्रीकृष्णके अलग होनेपर उन सभीको वियोगकी अनुभूति होती है। श्रीकृष्णके वियोग-वात्सल्यकी अनुभूति सबसे अधिक यशोदाको होती है। श्रीकृष्णका वियोग दो अवसरोंपर होता है—एक तो कालीदहमें कूद पड़नेपर और दूसरा मथुरा चले जानेपर। कालीदहमें कूदनेका वियोग थोड़ी देरका होता है, पर यशोदाकी अतिशय वियोग-वात्सल्यभरी छटपटाहट देखनेमें आती है—

खन भीतर, खन बाहिर आवति, खन आँगन इहिं भाँति।
सूर स्याम कौं टेरति जननी, नैंकु नहीं मन साँति॥

(सूरसागर ११५८)

वियोगका दूसरा अवसर श्रीकृष्णके मथुरागमनपर आता है। यह श्रीकृष्णका दीर्घकालीन वियोग है। सूरने संयोग-वात्सल्यकी तरह वियोग-वात्सल्यकी अभिव्यक्ति भी बड़ी गम्भीर, व्यापक और सूक्ष्म चित्रणद्वारा की है। मथुरा जानेके वियोगमें कंसके द्वारा अनिष्टकी आशंकासे वेदना और बलवती हो जाती है। श्रीकृष्णका दीर्घकालीन साहचर्य एकदम भुलाया भी नहीं जा सकता। श्रीकृष्णके मथुरागमनके अवसरपर चार बार वियोगकी अभिव्यक्ति सूरदासजीने अपने विशाल ग्रन्थ 'सूरसागर' में की है—(१) मथुरा जाते समय, (२) नन्द आदिके मथुरासे लौटते समय, (३) कुछ दिन व्यतीत हो जानेपर नन्द तथा यशोदाके वार्तालाप करते समय और (४) उद्धवके आगमनके समय। वियोग-वात्सल्यके चित्रणमें सूरदासने माता यशोदाके विरहोद्गारोंकी ही अभिव्यक्ति की है। मथुरा जाते समय वे अनिष्टकी आशंकासे अभिभूत हो जाती हैं और श्रीकृष्ण तथा बलरामको ले जानेका सारा दोष अक्रूरको देती हैं। वे कातरताभरे शब्दोंमें व्रजके लोगोंको पुकारती हैं। उनके शब्दोंमें वियोग-वात्सल्यकी छटपटाहट व्यक्त होती है—

जसोदा बार बार यौं भाषै।
है कोउ ब्रज मैं हितू हमारो, चलत गुपालहिं राखै॥

(सूरसागर ३५९१)

नन्दजी भी यशोदाजीको समझाते हैं, परंतु यशोदाको धैर्य नहीं बँधता। श्रीकृष्णके जाते समय चारों ओर व्रजके लोगोंकी भीड़ है। बीचमें रथपर श्रीकृष्ण और बलरामजी बैठे हैं। यशोदा पृथ्वीपर लेट जाती हैं। वे अत्यन्त मार्मिक शब्दोंमें श्रीकृष्णसे कहती हैं—'लाल! बिछुड़ते समय मेरी छातीसे लग जाओ।'

उद्धवके व्रज आनेपर उद्धव-गोपीसंवादमें भी यशोदाकी दशाका वर्णन है। वे व्रजकी दशाका वर्णन करती हैं। गोप-गोपी और ग्वाल-बालोंके साथ गायोंकी दशाका वर्णन करती हैं। अपनी मिलनकी उत्सुकता प्रकट करती हैं। सूरने वर्णन किया है कि वे श्रीकृष्णको सुखी देखकर संतोष कर लेती हैं और अपना मातृत्वभरा आशिष् देती हैं—

कहियौ जसुमति की आसीस।
जहाँ रहौ तहँ नंद लाड़िलौ, जीवौ कोटि बरीस॥

(सूरसागर ४७०७)

इस प्रकार सूरदासजीका संयोग-वात्सल्यके साथ वियोग-वात्सल्य भी विस्तृत और सूक्ष्म अन्तर्दशाओंके साथ

पुष्टरूपमें वर्णित है। वियोग, अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण आदि सब दशाएँ भी उनमें आ गयी हैं। सूरदासके वात्सल्यवर्णनमें अनेक स्थलोंपर श्रीकृष्णके अलौकिक रूपका भी संकेत किया गया है। भगवान् जब अपने चरणका अँगूठा मुखमें डालते हैं तो ***'उछरत सिंधु, धराधर काँपत, कमठ पीठ अकुलाइ। सेष सहसफन डोलन लागे, हरि पीवत जब पाइ।'*** ऐसा कहनेमें भगवान्का अलौकिक रूप लक्षित है। ***'सूरदास प्रभु गोकुल प्रगटे, मेंटन कौं भू-भार'*** ऐसा कहनेमें भी अलौकिक स्वरूप प्रकट होता है। सूरदासजीने वात्सल्यका वर्णन अपने भक्तिभावोंकी अभिव्यक्तिके लिये किया है। विद्वानोंने इसीसे सूरके वात्सल्यको वात्सल्य-भक्ति-रसकी कोटिमें रखा है।

(डॉ० श्रीनिवासजी शर्मा, एम्०ए० (हिन्दी-संस्कृत), पी-एच्०डी०)

* * *

भक्त नामदेवका नामप्रेम

'मेरे भाग्यमें ज्ञान-वैराग्य कहाँ?' संत श्रीज्ञानेश्वरजीसे तीर्थयात्राके बीच उनके सत्सङ्गके अनन्तर श्रीनामदेवजीने कहा। 'मुझे तो विठोबाकी कृपाका ही आश्रय है। मुझे तो नाम-संकीर्तन ही प्रिय लगता है।'

हैदराबाद (दक्षिण)-के नरसी ब्राह्मणी नामक ग्राममें भगवद्भक्त छीपी (दर्जी) श्रीदामा सेठकी धर्मपत्नी गोणाईके गर्भसे कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा रविवार, संवत् १३२७ वि०-को प्रत्यूष-वेलामें श्रीनामदेवजीने जन्म लिया था। ये शैशवसे ही श्रीविट्ठलके श्रीविग्रहकी पूजा, उनके गुणगान तथा उनके नामका जप करते रहे। श्रीविट्ठलके चरणोंमें इनका अमित प्रेम था, उनका नाम इन्हें प्राणोंसे अधिक प्रिय था।

सृष्टिके प्रत्येक पदार्थमें केवल विठोबाके ही दर्शन उन्हें होते थे। घरके एक कोनेमें आग लगी तो आप दूसरी ओरका सामान अग्निमें फेंकते हुए बोले, 'प्रभो! इधर कृपा क्यों नहीं करते?' अन्ततः उन्हीं भक्तप्राणधनको उनकी कुटिया छानी पड़ी।

कुत्ता रोटी लेकर भागा तो आप घीकी कटोरी लिये उसके पीछे चिल्लाते हुए दौड़े, 'प्रभो! रोटी रूखी है। उसमें घृत लगा लेने दीजिये।'

अपने आराध्यको इस रीतिसे सर्वत्र देखना, उनके नाम-कीर्तनके बिना क्षणभर भी चैनसे न रह पाना विश्वास, निष्ठा और प्रेमकी पराकाष्ठा है और इसके सजीव प्रमाण श्रीनामदेवजी हैं।

श्रीनामदेवजी यहाँतक कहते हैं कि 'जो नारायणका भजन नहीं करते, मैं उनको देखना भी नहीं चाहता'—

जे न भजति नारायणा। तिनका मैं न करौं दरसणा॥

आप संसारकी कठिनाइयों और जीवनकी निस्सारतापर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि 'भगवान्की लीला अगाध समुद्र है, उसकी गति कोई नहीं देख सकता। ग्रहणके योग्य तो प्रभुका नाम है, उसे ही भजिये'—

तत्त गहनको नाम है, भजि लीजै सोई।
लीला सिंध अगाध है, गति लखै न कोई॥

'सोनेके पर्वत, हाथी और घोड़ेका दान तथा करोड़ों गायोंका दान नामके समान नहीं। ऐसा नाम अपनी जीभपर रखो, जिससे जरा और मृत्यु पुनः न हो'। अतः एकाग्रचित्त होकर नामसंकीर्तन करना चाहिये; क्योंकि इस भवसागर-रूपी संसारको पार करनेके लिये नाम ही जहाज है—

कंचन मेरु-सुमेरु, हय-गज दीजै दाना।
कोटि गऊ जो दान दे, नहिं नाम समाना॥
अस मन लाव नाम रसना। तेरो बहुरि न होइ जरा-मरना॥
एकै मन एकै दसा एकै व्रत धरिये।
नामदेव नाम जहाज है, भवसागर तरिये॥

आप जोर देकर कहते हैं कि 'मेरी बात सच्ची मान लो और निर्भय होकर भगवान्का भजन करो'—

कहत नामदेव साँची मान। निरभै होइ भजिलै भगवान॥

श्रीभगवान्के नामके ये अनन्य प्रेमी महात्मा नाम-जप करनेवाले पुरुषोंके दर्शनसे अपनेको कृतार्थ अनुभव करते थे, उनके लिये अपना प्राण उनके सम्मुख रख देनेमें भी इन्हें हिचक नहीं थी। वे स्वयं कह भी देते हैं—

कहत नामदेव बलि-बलि जैहौं, हरि भजि और न लेखो॥

संवत् १४०७ वि० में ८० वर्षकी आयुमें आपने परमधामकी यात्रा की। महाराष्ट्रमें वारकरी पन्थके संस्थापक एक प्रकारसे आप ही हैं।

* * *

भक्त कविरत्न जयदेवजी और उनका श्रीकृष्ण-प्रेम

प्रसिद्ध भक्त-कवि जयदेवका जन्म लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व बंगालके वीरभूमि जिलेके अन्तर्गत केन्दुबिल्व नामक ग्राममें हुआ था। इनके पिताका नाम भोजदेव और माताका नाम वामादेवी था। ये भोजदेव कान्यकुब्जसे बंगालमें आये हुए पञ्च-ब्राह्मणोंमें भरद्वाजगोत्रज श्रीहर्षके वंशज थे। माता-पिता बाल्यकालमें ही जयदेवको अकेला छोड़कर चल बसे थे। ये भगवान्का भजन करते हुए किसी प्रकार अपना निर्वाह करते थे। पूर्व-संस्कार बहुत अच्छे होनेके कारण इन्होंने कष्टमें रहकर भी बहुत अच्छा विद्याभ्यास कर लिया था और सरल प्रेमके प्रभावसे भगवान् श्रीकृष्णकी परम कृपाके अधिकारी हो गये थे।

इनके पिताको उसी गाँवके निरञ्जन नामक एक ब्राह्मणके कुछ रुपये देने थे। निरञ्जनने जयदेवको संसारसे उदासीन जानकर उनकी भगवद्भक्तिसे अनुचित लाभ उठानेके विचारसे किसी प्रकार उनके घर-द्वार हथियानेका निश्चय किया। उसने एक दस्तावेज़ बनाया और आकर जयदेवसे कहा—'देख जयदेव! मैं तेरे राधा-कृष्णको और गोपी-कृष्णको नहीं जानता या तो अभी मेरे रुपये ब्याज-समेत दे दे, नहीं तो इस दस्तावेज़पर सही करके घर-द्वारपर मुझे अपना क़ब्ज़ा कर लेने दे!'

जयदेव तो सर्वथा निःस्पृह थे। उन्हें घर-द्वारमें रत्तीभर भी ममता न थी। उन्होंने कलम उठाकर उसी क्षण दस्तावेज़पर हस्ताक्षर कर दिये। निरञ्जन क़ब्ज़ा करनेकी तैयारीसे आया ही था। उसने तुरंत घरपर क़ब्ज़ा कर लिया। इतनेमें ही निरञ्जनकी छोटी कन्या दौड़ती हुई अपने घरसे आकर निरञ्जनसे कहने लगी—'बाबा! जल्दी चलो, घरमें आग लग गयी; सब जल गया।' भक्त जयदेव वहीं थे। उनके मनमें द्वेष-हिंसाका कहीं लेश भी नहीं था, निरञ्जनके घरमें आग लगनेकी खबर सुनकर वे भी उसी क्षण दौड़े और जलती हुई लाल-लाल लपटोंके अंदर उसके घरमें घुस गये। जयदेवका घरमें घुसना ही था कि अग्नि वैसे ही अदृश्य हो गयी, जैसे जागते ही सपना!

जयदेवकी इस अलौकिक शक्तिको देखते ही निरञ्जनके नेत्रोंमें जल भर आया। अपनी अपवित्र करनीपर पछताता हुआ। निरञ्जन जयदेवके चरणोंमें गिर पड़ा और दस्तावेज़को फाड़कर कहने लगा—'देव! मेरा अपराध क्षमा करो, मैंने लोभवश थोड़े-से पैसोंके लिये जान-बूझकर बेईमानीसे तुम्हारा घर-द्वार छीन लिया है। आज तुम न होते तो मेरा तमाम घर ख़ाक हो गया होता। धन्य हो तुम! आज मैंने भगवद्भक्तका प्रभाव जाना।'

उसी दिनसे निरञ्जनका हृदय शुद्ध हो गया और वह जयदेवके सङ्गसे लाभ उठाकर भगवान्के भजन-कीर्तनमें समय बिताने लगा। उसका जीवन भगवत्प्रेममय हो गया।

भगवान्की अपने ऊपर इतनी कृपा देखकर जयदेवका हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने घर-द्वार छोड़कर पुरुषोत्तम-क्षेत्र—पुरी जानेका विचार किया और अपने गाँवके पराशर नामक ब्राह्मणको साथ लेकर वे पुरीकी ओर चल पड़े। भगवान्का भजन-कीर्तन करते, मग्न हुए जयदेवजी चलने लगे। एक दिन मार्गमें जयदेवजीको बहुत दूरतक कहीं जल नहीं मिला। बहुत जोरकी गरमी पड़ रही थी, वे प्यासके मारे व्याकुल होकर जमीनपर गिर पड़े। तब भक्तवाञ्छाकल्पतरु हरिने स्वयं गोपाल-बालकके वेषमें पधारकर जयदेवको कपड़ेसे हवा की और जल तथा मधुर दूध पिलाया। तदनन्तर मार्ग बतलाकर उन्हें शीघ्र ही पुरी पहुँचा दिया। अवश्य ही भगवान्को छद्मवेषमें उस समय जयदेवजी और उनके साथी पराशरने पहचाना नहीं।

जयदेवजी प्रेममें डूबे हुए सदा श्रीकृष्णका नाम-गान करते रहते थे। एक दिन भावावेशमें अकस्मात् उन्होंने देखा मानो चारों ओर सुनील पर्वतश्रेणी है, नीचे कल-कल निनादिनी कालिन्दी बह रही है। यमुना-तीरपर कदम्बके नीचे खड़े हुए भगवान् श्रीकृष्ण मुरली हाथमें लिये मुसकरा रहे हैं। यह दृश्य देखते ही जयदेवजीके मुखसे अकस्मात् यह गीत निकल पड़ा—

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः॥

पराशर इस मधुर गानको सुनकर मुग्ध हो गया। बस,

यहींसे ललितमधुर 'गीतगोविन्द' आरम्भ हुआ! कहा जाता है, यहीं जयदेवजीको भगवान्‌के दशावतारोंके प्रत्यक्ष दर्शन हुए और उन्होंने *'जय जगदीश हरे'* की टेर लगाकर दसों अवतारोंकी क्रमशः स्तुति गायी। कुछ समय बाद जब उन्हें बाह्य ज्ञान हुआ, तब पराशरको साथ लेकर वे चले भगवान् श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करने! भगवान्‌के दर्शन प्राप्तकर जयदेवजी बहुत प्रसन्न हुए। उनका हृदय आनन्दसे भर गया! वे पुरुषोत्तमक्षेत्र—पुरीमें एक विरक्त संन्यासीकी भाँति रहने लगे। उनका कोई नियत स्थान नहीं था। प्रायः वृक्षके नीचे ही वे रहा करते और भिक्षाद्वारा क्षुधा-निवृत्ति करते। दिन-रात प्रभुका ध्यान, चिन्तन और गुणगान करना ही उनके जीवनका एकमात्र कार्य था।

विवाहकी इच्छा न होनेपर भी सुदेव नामके एक ब्राह्मणने भगवान्‌की आज्ञासे अपनी पुत्री पद्मावती जयदेवजीको अर्पित कर दी। भगवान्‌का आदेश मानकर जयदेवजीको पद्मावतीके साथ विवाह करना पड़ा। कुछ दिनों बाद गृहस्थ बने हुए जयदेव पतिव्रता पद्मावतीको साथ लेकर अपने गाँव केन्दुबिल्व लौट आये और भगवान् श्रीराधामाधवकी युगल श्रीमूर्ति प्रतिष्ठित करके दोनों उनकी सेवामें प्रवृत्त हो गये।

कुछ समय केन्दुबिल्वमें रहनेके बाद जयदेवजी यात्राको निकले। एक राजाने उनका बड़ा सम्मान करके उन्हें अपने यहाँ रखा और वहाँसे चलते समय इच्छा न रहनेपर भी बहुत-सा धन उन्हें दे दिया। जयदेवजीने उसे लेनेसे इनकार किया; परंतु जब राजा किसी प्रकार भी नहीं माना, तब मन मारकर उन्होंने राजाकी प्रसन्नताके लिये निःस्पृह और निर्मम भावसे कुछ धन साथ ले लिया तथा वहाँसे वे अपने गाँवको चल पड़े। मार्गमें कुछ डाकुओंने पीछेसे आक्रमण करके जयदेवजीको नीचे गिरा दिया और देखते-ही-देखते उनके हाथ-पैर काटकर उन्हें एक कुएँमें डाल दिया। अनित्य धनकी गठरीके साथ ही उन्होंने महान् दुःखके कारणरूप भयानक पापकी भारी पोटली भी बाँध ली। अपनी सफलतापर गर्व करते हुए डाकू वहाँसे चल दिये।

भगवत्कृपासे कुएँमें जल बिलकुल नहीं था, इससे जयदेवजी डूबे नहीं। भगवान्‌की दयासे उन्हें कहीं चोट भी नहीं आयी। वे कुएँके अंदर एक सुन्दर शिलाको पाकर उसीपर सुखसे बैठ गये और प्रभुके विधानपर परम प्रसन्न होते हुए प्रेमसे उनका नाम-गुण-कीर्तन करने लगे। जयदेवजीने सोचा कि हो-न-हो यह मेरे धन-ग्रहण करनेका ही परिणाम है!

थोड़ी देर बाद उधरसे गौड़ेश्वर राजा लक्ष्मणसेनकी सवारी निकली। कुएँमेंसे आदमीकी आवाज आती सुनकर राजाने देखनेकी आज्ञा दी। एक सेवकने जाकर देखा तो मालूम हुआ, कोई मनुष्य सूखे कुएँमें बैठा श्रीकृष्णनामकीर्तन कर रहा है। राजाकी आज्ञासे उसी क्षण जयदेव बाहर निकाले गये और इलाज करानेके लिये उन्हें साथ लेकर राजा अपनी राजधानी गौड़को लौट आये। श्रीजयदेवजीकी विद्वत्ता और उनके श्रीकृष्ण-प्रेमका परिचय प्राप्तकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई तथा उनके लोकोत्तर गुणोंको देख वह उनका भक्त बन गया। राजाने हाथ-पैर काटनेवालोंका नाम-पता और हुलिया पूछा। जयदेवजी नाम-पता तो जानते ही नहीं थे; हुलिया भी उन्होंने इसलिये नहीं बताया कि कहीं राजकर्मचारी उनका पता लगाकर उन्हें तंग न करें।

चिकित्सासे जयदेवजीके घाव सूख गये। राजाने उन्हें अपनी पञ्चरत्न-सभाका प्रधान बना दिया और सर्वाध्यक्षताका सारा भार उन्हें सौंप दिया। इसके कुछ दिनों बाद इनकी पत्नी पद्मावती भी श्रीराधामाधवकी युगल मूर्तिको लेकर पतिके पास चली आयीं। राजा हर तरहसे धनादि देकर जयदेवजीका सम्मान करना चाहते; परंतु धन-मानके विरागी भक्त जयदेव मामूली खर्चके सिवा कुछ भी नहीं लेते थे। एक दिन राजमहलमें कोई महोत्सव था। उसमें भोजन करनेके लिये हजारों दरिद्र, भिक्षुक, अतिथि, ब्राह्मण, साधु आदि आये थे। उन्हींमें साधुवेषधारी वे चारों डाकू भी थे जिन्होंने जयदेवजीको धनके लोभसे उनके हाथ-पैर काटकर कुएँमें फेंक दिया था।

डाकुओंको क्या पता था कि हमने जिसे मरा समझ लिया था, वही यहाँ सर्वाध्यक्ष है। डाकुओंने दूरसे ही जयदेवजीको देखा और लूले-लँगड़े देखकर उन्हें तुरंत पहचान लिया। वे डरकर भागनेका मौका देखने लगे। इतनेमें ही जयदेवजीकी दृष्टि उनपर पड़ी। देखते ही वे वैसे ही आनन्दमें भर गये, जैसे बहुत दिनोंके बिछुड़े बन्धुओंको देखकर बन्धुको आनन्द होता है। जयदेवजीने मनमें सोचा, 'इन्हें धनकी आवश्यकता होगी। राजा मुझसे सदा धन लेनेको कहा करते हैं; आज इन्हें कुछ धन दिलवा दिया जायगा तो बड़ा संतोष होगा।' जयदेवजीने राजासे कहा—

'मेरे कुछ पुराने मित्र आये हैं, आप चाहें तो इन्हें कुछ धन दे सकते हैं।' कहनेभरकी देर थी। राजाने तुरंत उन्हें अपने पास बुलाया और उनकी इच्छाके अनुसार बहुत-सा धन-धान्य देकर आदरपूर्वक खिलाने-पिलानेके बाद वस्त्रालङ्कारोंसे पुनः सम्मानित करके प्रेमपूर्वक उनको विदा कर दिया। धनका बोझ ज्यादा हो गया था तथा रास्तेमें सँभालकी भी आवश्यकता थी, इसलिये जयदेवजीने एक अफसरके साथ चार सेवकोंको उनके साथ कर दिया। राहमें अफसरने उनके इतना धन-सम्मान पानेका रहस्य जाननेके लिये उनसे पूछा कि 'भाइयो! आपका निःस्पृह भक्तवर जयदेवजीके साथ क्या सम्बन्ध है, जिससे उन्होंने आपलोगोंको इतनी अपार सम्पत्ति दिलवाकर आपके उपकारका बदला चुकाया है?'

पापबुद्धि डाकुओंने ईश्वरके न्याय और भयको भुलाकर कपटसे कहा—'साहब! तुम्हारा यह अध्यक्ष और हमलोग एक राज्यमें कर्मचारी थे। हमलोग अफसर थे और यह हमारी मातहतीमें काम करता था; इसने एक बार ऐसा कुकर्म किया कि राजाने गुस्सेमें आकर इसका सिर उड़ा देनेकी आज्ञा दे दी। उस समय हमलोगोंने दया करके इसे बचा लिया और इसके हाथ-पैर कटवाकर छोड़ दिया। हम कहीं यह भेद खोल न दें, इसी भयसे इसने हमारा इतना सम्मान किया-कराया है। हमने भी उसका बुरा हो जानेके डरसे कुछ भी नहीं कहा।'

डाकुओंका इतना कहना था कि धड़ामसे धरती फटी और चारों जीते ही उसमें समा गये! राजकर्मचारी आश्चर्यमें डूब गया।

तदनन्तर अफसर नौकरोंके सिरपर सारा धन लदवाकर वापस राजधानीको लौट आये और राजासे उन्होंने सारा हाल सुना दिया। राजाने जयदेवको बुलाकर चकित मनसे सब बातें सुनायीं। इतनेमें ही राजा यह देखकर आश्चर्य और हर्षमें डूब गया कि जयदेवजीकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही है तथा उनके कटे हुए हाथ-पैर उसी क्षण पुनः पूर्ववत् स्वाभाविक हो गये हैं। राजाने विस्मित होकर बड़े ही कौतूहलसे आग्रहपूर्वक सारा हाल पूछा। जयदेवजीको अब सच्ची घटना सुनानी पड़ी। दयालुहृदय जयदेवजीने कहा—'राजन्! मैं बहुत ही अभागा हूँ, जिसके कारण उन बेचारोंके प्राण गये। मैंने धनको बुरा समझकर छोड़ दिया था, पुनः राजाके आग्रहसे उसे ग्रहण किया। इसीसे वनमें उन बेचारोंकी बुद्धि लोभवश दूषित हो गयी और उन्होंने धन छीननेके लिये मुझे लूला-लँगड़ा करके कुएँमें डाल दिया। इस प्रकार उन्होंने धनका और धन-ग्रहणका प्रत्यक्ष दोष सिद्ध कर मेरे साथ मित्रताका ही बर्ताव किया। मैं उनके उपकारसे दब गया, इसीसे उन्हें आपके पाससे धन दिलवाया। अधिक धन दिलवानेमें मेरा एक हेतु यह भी था—यदि उनकी धनकी कामना पूर्ण हो जायगी तो वे डाकूपनके निर्दय कामको छोड़ देंगे। अवश्य ही मेरे हाथ-पैर किसी पूर्वकृत कर्मके फलसे ही कटे थे, वे तो केवल लोभवश निमित्त बने थे। आज अपने ही कारणसे उनकी इस प्रकार अप्राकृतिक मृत्युका समाचार सुनकर मुझे रोना आ रहा है। यदि उनका दोष हो तो भगवान् उन्हें क्षमा करें। कितना आश्चर्य है कि मेरे दोष न देखकर भगवान्‌ने दया करके मेरे हाथ-पैर पुनः पूर्ववत् बना दिये हैं। राजन्! ऐसे मेरे प्यारे श्रीकृष्णको जो नहीं भजता, उसके समान अभागा और कौन होगा।'

भक्तप्रवर श्रीजयदेवजीकी वाणी सुनकर राजा चकित हो उनके चरणोंमें लोट गया। भक्तहृदयकी महत्ताका प्रत्यक्ष परिचय प्राप्तकर वह उनसे अत्यन्त प्रभावित होकर भक्त बन गया!

जयदेवजीकी पत्नी पद्मावती भी छायाकी भाँति सब प्रकारसे स्वामीका अनुवर्तन करनेवाली थी। भगवान्‌के प्रति उसका प्रेम भी असीम था। पातिव्रत-धर्मका महत्त्व वह भलीभाँति जानती थी। जयदेवजी राजपूज्य थे। इससे रानी, राजमाता आदि राजमहलकी महिलाएँ भी उनके घर पद्मावतीजीके पास आकर सत्सङ्गका लाभ उठाया करती थीं। रानी बहुत ही सुशीला, साध्वी, धर्मपरायणा और पतिव्रता थी। परंतु उसके मनमें कुछ अभिमान था, इससे किसी-किसी समय वह कुछ दुःसाहस कर बैठती थी। एक दिन पद्मावतीके साथ भी वह ऐसा ही दुःसाहसपूर्ण कार्य कर बैठी।

सत्सङ्ग हो रहा था। बातों-ही-बातोंमें पद्मावतीने सती-धर्मकी महिमा बतलाते हुए कहा कि 'जो स्त्री स्वामीके मर जानेपर उसके शवके साथ जलकर सती होती है, वह तो नीची श्रेणीकी ही सती है। उच्च श्रेणीकी सती तो पतिके मरणका समाचार सुनते ही प्राण त्याग देती है।' रानीको यह बात नहीं जँची। उसने समझा, पद्मावती अपने

सतीत्वका गौरव बढ़ानेके लिये ऐसा कह रही है। मनमें ईर्ष्या जाग उठी, रानी परीक्षा करनेका निश्चय करके बिना ही कुछ कहे महलको लौट गयी। एक समय राजाके साथ जयदेवजी कहीं बाहर गये थे। रानी सुअवसर समझकर दम्भसे विषादयुक्त चेहरा बनाकर पद्मावतीके पास गयी और कपट-रुदन करते-करते कहा कि 'पण्डितजीको वनमें सिंह खा गया।' उसका इतना कहना था कि पद्मावती 'श्रीकृष्ण-कृष्ण' कहकर धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़ी! रानीने चौंककर देखा तो पद्मावती अचेतन मालूम हुई—परीक्षा करनेपर पता लगा कि पद्मावतीके प्राणपखेरू शरीरसे उड़ गये हैं। रानीके होश उड़ गये। उसे अपने दुःसाहसपूर्ण कुकृत्यपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह सोचने लगी, 'अब मैं महाराजको कैसे मुँह दिखाऊँगी। जब पतिदेव अपने पूज्य गुरु जयदेवजीकी धर्मशीला पत्नीकी मृत्युका कारण मुझको समझेंगे, तब उन्हें कितना कष्ट होगा! जयदेवजीको भी कितना सन्ताप होगा! हा दुर्दैव!' इतनेमें ही जयदेवजी आ पहुँचे। राजाके पास भी मृत्यु-संवाद जा पहुँचा था, वह भी वहीं आ गया। राजाके दुःखका पार नहीं रहा। रानी तो जीते ही मरेके समान हो गयी। जयदेवजीने रानीकी सखियोंसे सारा हाल जानकर कहा—'रानी-मासे कह दो, घबराएँ नहीं। मेरी मृत्युके संवादसे पद्मावतीके प्राण निकल गये तो अब मेरे जीवित यहाँ आ जानेपर उन प्राणोंको वापस भी आना पड़ेगा।' जयदेवजीने मन-ही-मन भगवान्से प्रार्थना की। कीर्तन आरम्भ हो गया। जयदेवजी मस्त होकर गाने लगे। धीरे-धीरे पद्मावतीके शरीरमें प्राणोंका सञ्चार हो आया। देखते-ही-देखते वह उठ बैठी और हरि-ध्वनि करने लगी। रानी आनन्दकी अधिकतासे रो पड़ी। उसने कलङ्क-भञ्जन श्रीकृष्णको धन्यवाद दिया और भविष्यमें कभी ऐसा दुःसाहस न करनेकी प्रतिज्ञा कर ली। सब ओर आनन्द छा गया। जयदेवजीकी भक्ति और पद्मावतीके पातिव्रतका सुयश चारों ओर फैल गया।

कुछ समय गौड़में रहनेके बाद पद्मावती और श्रीराधामाधवजीके विग्रहोंको लेकर राजाकी अनुमतिसे जयदेवजी अपने गाँवको लौट आये। यहाँ उनका जीवन श्रीकृष्णके प्रेममें एकदम डूब गया। उसी प्रेमरसमें डूबकर इन्होंने मधुर 'गीतगोविन्द' की रचना की।

एक दिन श्रीजयदेवजी 'गीतगोविन्द' की एक कविता लिख रहे थे, परंतु वह पूरी ही नहीं हो पाती थी। पद्मावतीने कहा—'देव! स्नानका समय हो गया है, अब लिखना बंद करके आप स्नान कर आयें तो ठीक हो।' जयदेवजीने कहा—'पद्मा! जाता हूँ। क्या करूँ, मैंने एक गीत लिखा है; परंतु उसका शेष चरण ठीक नहीं बैठता। तुम भी सुनो—

स्थलकमलगञ्जनं मम हृदयरञ्जनं
जनितरतिरङ्गपरभागम् ।
भण मसृणवाणि करवाणि चरणद्वयं
सरसलसदलक्तकरागम् ॥
स्मरगरलखण्डनं मम शिरसि मण्डनम्—

इसके बाद क्या लिखूँ, कुछ निश्चय नहीं कर पाता! पद्मावतीने कहा—'इसमें घबरानेकी कौन-सी बात है! गङ्गास्नानसे लौटकर शेष चरण लिख लीजियेगा।'

'अच्छा यही सही। ग्रन्थको और कलम-दावातको उठाकर रख दो, मैं स्नान करके आता हूँ।'

जयदेवजी इतना कहकर स्नान करने चले गये। कुछ ही मिनटों बाद जयदेवका वेष धारणकर स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण पधारे और बोले—'पद्मा! जरा 'गीतगोविन्द' देना।'

पद्मावतीने विस्मित होकर पूछा,—'आप स्नान करने गये थे न? बीचसे ही कैसे लौट आये?'

महामायावी श्रीकृष्णने कहा—'रास्तेमें ही अन्तिम चरण याद आ गया, इसीसे लौट आया।' पद्मावतीने ग्रन्थ और कलम-दावात ला दिये। जयदेव-वेषधारी भगवान्ने—

'देहि मे पदपल्लवमुदारम्।'

—लिखकर कविताकी पूर्ति कर दी। तदनन्तर पद्मावतीसे जल मँगाकर स्नान किया और पूजादिसे निवृत्त होकर भगवान्को निवेदन किया हुआ पद्मावतीके हाथसे बना भोजन पाकर पलँगपर लेट गये।

पद्मावती पत्तलमें बचा हुआ प्रसाद पाने लगी। इतनेमें ही स्नान करके जयदेवजी लौट आये। पतिको इस प्रकार आते देखकर पद्मावती सहम गयी और जयदेव भी पत्नीको भोजन करते देखकर विस्मित हो गये। जयदेवजीने कहा—'यह क्या? पद्मा, आज तुम श्रीमाधवको भोग लगाकर मुझको भोजन कराये बिना ही कैसे जीम रही हो? तुम्हारा ऐसा आचरण तो मैंने कभी नहीं देखा।'

पद्मावतीने कहा—'यह आप क्या कह रहे हैं? आप कविताका शेष चरण लिखनेके लिये रास्तेसे ही लौट आये थे, कविताकी पूर्ति करनेके बाद आप अभी-अभी तो स्नान-पूजन-भोजन करके लेटे थे। इतनी देरमें मैं आपको नहाये हुए-से आते कैसे देख रही हूँ!' जयदेवजीने जाकर देखा, पलँगपर कोई नहीं लेट रहा है। वे समझ गये कि आज अवश्य ही यह भक्तवत्सलकी कृपा हुई है। फिर कहा—'अच्छा पद्मा! लाओ तो देखें, कविताकी पूर्ति कैसे हुई है।'

पद्मावती ग्रन्थ ले आयी। जयदेवजीने देखकर मन-ही-मन कहा—'यही तो मेरे मनमें था, पर मैं संकोचवश लिख नहीं रहा था।' फिर वे दोनों हाथ उठाकर रोते-रोते पुकारकर कहने लगे—'हे कृष्ण! नन्दनन्दन, हे राधावल्लभ, हे व्रजाङ्गनाधव, हे गोकुलरत्न, करुणासिन्धु, हे गोपाल! हे प्राणप्रिय! आज किस अपराधसे इस किङ्करको त्यागकर आपने केवल पद्माका मनोरथ पूर्ण किया!' इतना कहकर जयदेवजी पद्मावतीकी पत्तलसे श्रीहरिका प्रसाद उठाकर खाने लगे। पद्मावतीने कितनी ही बार रोककर कहा—'नाथ! आप मेरा उच्छिष्ट क्यों खा रहे हैं?' परंतु प्रभु-प्रसादके लोभी भक्त जयदेवने उसकी एक भी नहीं सुनी।

इस घटनाके बाद उन्होंने 'गीतगोविन्द' को शीघ्र ही समाप्त कर दिया। तदनन्तर वे उसीको गाते मस्त हुए घूमा करते। वे गाते-गाते जहाँ कहीं जाते, वहीं भक्तका कोमलकान्त गीत सुननेके लिये श्रीनन्दनन्दन छिपे हुए उनके पीछे-पीछे रहते। धन्य प्रभु!

अन्तकालमें श्रीजयदेवजी अपनी पतिपरायणा पत्नी पद्मावती और भक्त पराशर, निरञ्जन आदिको साथ लेकर वृन्दावन चले गये तथा वहाँ भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीला देख-देखकर आनन्द लूटते रहे। कहते हैं कि वृन्दावनमें ही वे देह त्यागकर नित्यनिकेतन गोलोक पधार गये।

किसी-किसीका कहना है कि जयदेवजीने अपने ग्राममें शरीर छोड़ा था और उनके घरके पास ही उनका समाधि-मन्दिर बनाया गया।

* * *

आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीका श्रीकृष्ण-प्रेम

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

जिनके करकमल वंशीसे विभूषित हैं, जिनकी नवीन मेघकी-सी आभा है, जिनके पीत वस्त्र हैं, अरुण बिम्बफलके समान अधरोष्ठ हैं, पूर्ण चन्द्रके सदृश सुन्दर मुख और कमलके-से नयन हैं, ऐसे भगवान् श्रीकृष्णको छोड़कर अन्य किसी भी तत्त्वको मैं नहीं जानता।

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति॥
(मधुसूदनी गीताटी०)

ध्यानाभ्याससे मनको स्ववश करके योगीजन यदि किसी प्रसिद्ध निर्गुण, निष्क्रिय परमज्योतिको देखते हैं तो वे उसे भले ही देखें; हमारे लिये तो श्रीयमुनाजीके तटपर जो कृष्णनामवाली वह अलौकिक नील ज्योति दौड़ती फिरती है, वही चिरकालतक लोचनोंको चकाचौंधमें डालनेवाली हो।

श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी अद्वैत वेदान्तके महान् तत्त्वज्ञ थे, किंतु भगवान् मनमोहनकी मोहिनी छटाने उनपर ऐसा प्रभाव डाला कि फिर वे सदाके लिये उनकी गुणावलीपर रीझते ही चले गये। भगवान्‌का स्वरूप ही ऐसा है कि उसपर अमलात्मा-विमलात्मा ज्ञानीजन भी मुग्ध हो जाते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
(श्रीमद्भा० १।७।१०)

अर्थात् जो लोग ज्ञानी हैं, जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गयी है और जो सदा आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं, वे भी भगवान्‌की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे मधुर हैं, जो सबको अपनी ओर खींच लेते हैं।

श्रीमधुसूदनाचार्यजीने गीताकी मधुसूदनी टीकाके प्रारम्भमें मङ्गलाचरणके रूपमें उपर्युक्त श्लोकोंद्वारा भगवान् श्रीकृष्णका जो स्वरूप चित्रित किया है, उससे उनका श्रीकृष्णप्रेम स्पष्ट झलकता है।

ईसाकी लगभग सोलहवीं शताब्दीमें बंगालके फरीदपुर जिलेके कोटालपाड़ा ग्राममें प्रमोदन पुरन्दर नामक एक विद्वान् ब्राह्मण रहते थे। उनके तृतीय पुत्र हुए कमलनयनजी। इन्होंने न्यायके अगाध विद्वान् गदाधरभट्टके साथ नवद्वीपके हरिराम तर्कवागीशसे न्यायशास्त्रका अध्ययन किया। काशी आकर दण्डिस्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजीसे इन्होंने वेदान्तका अध्ययन किया और यहीं संन्यास ग्रहण किया। संन्यासका इनका नाम 'मधुसूदन सरस्वती' पड़ा।

स्वामी मधुसूदन सरस्वतीको शास्त्रार्थ करनेकी धुन थी। काशीके बड़े-बड़े विद्वानोंको ये अपनी प्रतिभाके बलसे हरा देते थे। परंतु जिसे श्रीकृष्ण अपनाना चाहते हों, उसे मायाका यह थोथा प्रलोभन-जाल कबतक उलझाये रख सकता है। एक दिन एक वृद्ध दिगम्बर परमहंसने उनसे कहा—'स्वामीजी! सिद्धान्तकी बात करते समय तो आप अपनेको असङ्ग, निर्लिप्त ब्रह्म कहते हैं; पर सच बताइये, क्या विद्वानोंको जीतकर आपके मनमें गर्व नहीं होता? यदि आप पराजित हो जायँ, तब भी क्या ऐसे ही प्रसन्न रह सकेंगे? यदि आपको घमंड होता है तो ब्राह्मणोंको दुःखी करने, अपमानित करनेका पाप भी होगा।' कोई दूसरा होता तो मधुसूदन सरस्वती उसे फटकार देते, परंतु उन संतके वचनोंसे वे लज्जित हो गये। उनका मुख मलिन हो गया। परमहंसने कहा—'भैया! पुस्तकोंके इस थोथे पाण्डित्यमें कुछ रखा नहीं है। ग्रन्थोंकी विद्या और बुद्धिके बलसे किसीने इस मायाके दुस्तर जालको पार नहीं किया है। प्रतिष्ठा तो देहकी होती है और देह नश्वर है। यश तथा मान-बड़ाईकी इच्छा भी एक प्रकारका शरीरका मोह ही है। तुम श्रीकृष्णकी शरण लो। उपासना करके हृदयसे इस गर्वके मैलको दूर कर दो। सच्चा आनन्द तो तुम्हें आनन्दकन्द श्रीवृन्दावनचन्द्रके चरणोंमें ही मिलेगा।'

स्वामीजीने उन महात्माके चरण पकड़ लिये। दयालु संतने श्रीकृष्ण-मन्त्र देकर उपासना तथा ध्यानकी विधि बतायी और चले गये। मधुसूदन सरस्वतीने तीन महीनेतक उपासना की। जब उनको इस अवधिमें कुछ लाभ न जान पड़ा, तब काशी छोड़कर ये घूमने निकल पड़े। कपिलधाराके पास वही संत इन्हें फिर मिले। उन्होंने कहा—'स्वामीजी! लोग तो भगवत्प्राप्तिके लिये अनेक जन्मोंतक साधन, भजन और तप करते हैं, फिर भी बड़ी कठिनतासे उन्हें भगवान्‌के दर्शन हो पाते हैं, पर आप तो तीन ही महीनेमें घबरा गये।' अब अपनी भूलका स्वामीजीको पता लगा। ये गुरुदेवके चरणोंपर गिर पड़े। काशी लौटकर ये फिर भजनमें लग गये। प्रसन्न होकर श्रीश्यामसुन्दरने इन्हें दर्शन दिये।

अद्वैतसिद्धि, सिद्धान्तबिन्दु, वेदान्तकल्पलतिका, अद्वैत-रत्न-रक्षण और प्रस्थानभेदके लेखक इन प्रकाण्ड नैयायिक तथा वेदान्तके विद्वान्‌ने भक्तिरसायन, गीताकी 'गूढार्थदीपिका' नामक व्याख्या एवं श्रीमद्भागवतकी व्याख्या लिखी। ये कहते हैं—'यह ठीक है कि अद्वैत ज्ञानके मार्गपर चलनेवाले मुमुक्षु मेरी उपासना करते हैं; यह भी ठीक है कि आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके मैं स्वाराज्यके सिंहासनपर आरूढ़ हो चुका हूँ; किंतु क्या करूँ, एक कोई गोपकुमारियोंका प्रेमी शठ है, उसी हरिने बलपूर्वक मुझे अपना दास बना लिया है'—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः
स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन
दासीकृता गोपवधूविटेन॥

आचार्यजीका कहना है कि भक्तिका फल प्रत्यक्ष भी है और परोक्ष भी। जिस प्रकार गङ्गास्नानसे तापपीडित मनुष्यको प्रत्यक्ष शान्ति मिलती है और उसका पाप-नाश आदि अदृष्ट फल भी शास्त्रोंमें कहा गया है, उसी प्रकार भक्तिसे प्रत्यक्ष सुख-शान्तिकी अनुभूति होती है तथा भक्तिविधायक शास्त्रोंसे मोक्ष आदि फलकी प्राप्ति भी सुनी जाती है—

दृष्टादृष्टफला भक्तिः सुखव्यक्तेर्विधेरपि।
निदाघदूनदेहस्य गङ्गास्नानक्रिया यथा॥
(भक्तिरसायन २।४७)

* * *

भगवत्प्रेमी भक्तके लक्षण

(पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज)

अन्य समस्त कार्य छोड़कर जो सर्वदा एकमात्र भगवान्का ही अवलम्बन करता है, एकमात्र भगवान्की सेवा-पूजामें तन-मन-धनसे निरन्तर नियुक्त रहता है, वह भक्त नमस्कारयोग्य है।

जो भगवान्में समस्त लोक और समस्त लोकोंमें भगवान्का दर्शन करता है, जो सर्वत्र समानबुद्धि रखता है और सर्वभूतोंमें प्रेम रखता है, वह भक्त नमस्कारयोग्य है।

जिसको अपने और परायेका भेद नहीं है, जिसको इच्छा, द्वेष और अभिमान नहीं है तथा जो सर्वदा पवित्र एवं भगवान्में दत्तचित्त है, वह भक्त नमस्कारयोग्य है।

जिसका मन सम्पत्ति-विपत्तिमें भगवान्को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाता, जो सर्वदा सत्यवादी एवं सदाचारपरायण है, वही भक्त नमस्कारयोग्य है।

जो भगवान्के सर्वत्र दर्शन करता है, जिसको संसारसे अभय प्राप्त है, जो अन्य प्राणियोंको अभय प्रदान करता है, जो संसारसे उदासीन है तथा जो आश्रमधर्ममें कुशल है, वही भक्त नमस्कारयोग्य है।

जिसको प्रेमका ही अवलम्बन है और जिसका हृदय प्रेममय है, वही भक्त नमस्कारयोग्य है।

जो सर्वदा चातककी भाँति एकनिष्ठ है, सर्वदा लक्ष्मणकी भाँति स्वतन्त्रतासे रहित है, सर्वदा द्वन्द्वों अर्थात् शीतोष्ण और राग-द्वेषसे परे एवं संतुष्टचित्त है, वही भक्त नमस्कारयोग्य है।

जो भगवान्के अतिरिक्त और किसीको नहीं जानता और न किसीको चाहता है, जिसका मन स्थिर है और जो संयमी है, वही भक्त नमस्कारयोग्य है।

जो भगवान्को इसी शरीरसे प्राप्त कर लेता है, जिसका भगवान्के चिन्तनमें ही समय व्यतीत होता है, वही भक्त नमस्कारयोग्य है।

जिसने भगवान्को जो कि एकमात्र सत्य वस्तु हैं आत्मसमर्पण किया है, वही नमस्कारयोग्य है।

ऐसे भक्तराजके दर्शन, प्रणाम और सेवा करनेवालेका जीवन धन्य है। ऐसे भक्तकी कृपासे प्रेमकी वृद्धि और कामनासे विरति होती है। भक्तका हृदय ही भगवान्का विलासस्थान है। भक्तके हृदयसे भगवान्का स्वरूप और भगवान्की महिमा प्रकाशित होती है। हे पुरुषो! ऐसे भक्तको त्यागकर और किसका सङ्ग करना चाहिये? भक्त सम्पत्ति, सिद्धि अथवा कैवल्यमुक्ति नहीं चाहता, वह सर्वस्व त्याग देता है और सम्पूर्णरूपसे भगवान्में विलीन होता है अर्थात् आत्मविसर्जन करता है। भगवान्में आत्माकी आहुति प्रदान करना सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है, यही परम पुरुषार्थ है। जो जिस पदार्थको चाहता है वह उसीको प्राप्त करता है। जो कुछ भी नहीं चाहता वह श्रीभगवान्को प्राप्त करता है। भक्तका धन केवल श्रीकृष्णके चरणकमल हैं और वह केवल भगवान्की कृपासे ही प्राप्त होता है।

[प्रेषक—श्रीशिवकुमारजी गोयल]

* * *

भगवत्प्रेमके साधक और बाधक

सूधे मन सूधे बचन सूधी सब करतूति। तुलसी सूधी सकल बिधि रघुबर प्रेम प्रसूति॥
बेष बिसद बोलनि मधुर मन कटु करम मलीन। तुलसी राम न पाइऐ भएँ बिषय जल मीन॥

(दोहावली १५२-१५३)

'जिसका मन सरल है, वाणी सरल है और समस्त क्रियाएँ सरल हैं, उसके लिये भगवान् श्रीरघुनाथजीके प्रेमको उत्पन्न करनेवाली सभी विधियाँ सरल हैं अर्थात् निष्कपट (दम्भरहित) मन, वाणी और कर्मसे भगवान्का प्रेम अत्यन्त सरलतासे प्राप्त हो सकता है। तुलसीदासजी कहते हैं कि ऊपरका वेष साधुओंका-सा हो और बोली भी मीठी हो, परंतु मन कठोर हो और कर्म भी मलिन हो—इस प्रकार विषयरूपी जलकी मछली बने रहनेसे श्रीरामजीकी प्राप्ति नहीं होती (श्रीरामजी तो सरल मनवालेको ही मिलते हैं)।'

* * *

प्रेमतत्त्व

(ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

प्रेमतत्त्वको रसिक लोग 'मूकरसास्वादनवत्' कहते हैं। कोई आन्तर मधुर वेदनाको तो कोई स्नेहात्मक अन्तःकरणकी वृत्तिको ही प्रेम कहते हैं। यद्यपि वधू आदिमें राग, यागादिमें श्रद्धा, गुरु आदिमें भक्ति तथा सुखादिकी इच्छा—ये सभी प्रेमके ही रूप हैं, तथापि सुखमात्रका अनुवर्तन करनेवाली अन्तःकरणकी सात्त्विकी वृत्ति ही प्रेम है। यह प्राप्त, अप्राप्त और नष्टमें भी रहती है। इच्छा नष्ट और प्राप्तमें नहीं होती। प्रेमरसज्ञ लोग रसस्वरूप परमात्माको ही प्रेम कहते हैं। इसीलिये द्रवीभूत अन्तःकरणपर अभिव्यक्त रसस्वरूप परमात्मा ही प्रेमके रूपमें प्रकट होता है। अतएव आचार्योंने कहा है—

भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलाम्॥

अस्पृष्ट दुःख निरुपम सुखसंवित्स्वरूप परमात्मा ही प्रेम है। यह भी कहा गया है—

निरुपमसुखसंविद्रूपमस्पृष्टदुःखं तमहमखिलतुष्ट्यै शास्त्रदृष्ट्या व्यनज्मि।

प्रेमियोंका कहना है कि चित्त लाक्षा (लाख)-के समान कठोर द्रव्य है। वह तापक द्रव्यके योगसे कोमल या द्रवीभूत होता है। जैसे द्रवीभूत लाक्षामें निःक्षिप्त हिङ्गल, हरिद्रा आदि रंग स्थायीभावको प्राप्त होता है, वैसे ही द्रवीभूत अन्तःकरणपर अभिव्यक्त भगवान् ही भक्ति कहे जाते हैं। भगवान्के गुणगणश्रवणसे चरित्रनायक पूर्णतम प्रभुका स्वरूप प्रकट होता है। पुनश्च उनके प्रति स्नेहादिका प्रादुर्भाव होता है। स्नेहादिसे चित्तमें द्रवता होती है। स्नेहास्पद पदार्थके दर्शनसे उसमें संस्कार उत्पन्न होता है, अतएव पुनः-पुनः उसका स्मरण होता है। उपेक्षणीय वस्तुके संस्कार नहीं होते, इसका कारण यही है कि रागके आस्पद या द्वेषके आस्पद पदार्थको ग्रहण करता हुआ चित्त रागादिसे द्रवीभूत हुआ है, इसीलिये उसके संस्कार हो जाते हैं। उपेक्षणीय तत्त्वके ग्रहण-समयमें चित्त द्रवीभूत नहीं होता; क्योंकि वह तापक भाव नहीं है। प्रेमी कहते हैं कि भगवान्के उत्कट स्नेहसे चित्तको इतना द्रुत करे कि वह गङ्गाजलके समान निर्मल, कोमल तथा द्रवीभूत हो जाय। फिर उसमें भगवान्का स्थायीरूपसे प्राकट्य होता है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।११)

अर्थात् भगवान्के गुणोंके श्रवणसे भगवान्में द्रवीभूत चित्तकी वृत्तियोंका ऐसा प्रवाह चलता है, जैसे कोमल, निर्मल, द्रवीभूत गङ्गाजलका प्रवाह समुद्रकी ओर चलता है। जिस समय द्रवीभूत चित्तमें पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभुका प्राकट्य होता है, उस समय ही स्थिर भक्ति कही जाती है। जैसे लाक्षाके कठोर रहनेपर उसमें रंग स्थिर नहीं होता, लाखकी टिकियापर मुहरका अक्षर अङ्कित करनेके लिये भी अग्नि-सम्बन्धसे उसे कुछ कोमल किया जाता है; क्योंकि कठोर लाखपर मुहरके अक्षर अङ्कित नहीं होते, वैसे ही कठोर अद्रुत चित्तपर भगवान्का स्वरूप, चरित्र, गुण तथा अन्यान्य सदुपदेश अङ्कित नहीं होते। परंतु गङ्गाजलके समान कोमल, द्रवीभूत अन्तःकरणमें भगवान्का प्राकट्य होनेसे फिर भगवान् भी निकलनेमें समर्थ नहीं होते। जैसे लाक्षाके साथ एकदम मिला हुआ रंग उसमेंसे निकलनेमें समर्थ नहीं होता, लाख चाहे तो भी रंगसे वियुक्त नहीं हो सकती, वैसे ही यदि भगवान् चाहें तो भी भक्तके द्रवीभूत चित्तसे निकल नहीं सकते। भक्त भी यदि चाहे तो भी वह भगवान्से वियुक्त नहीं हो सकता, भगवान्को अपने अन्तःकरणसे निकाला नहीं जा सकता।

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।५५)

अर्थात् जिसके हृदयकी प्रणय-रशनासे बँधे हुए भगवान् अपनेको न छुड़ा सकें, वही प्रधान भक्त है। कितने स्थलोंमें भक्त भगवान्से कहते हैं कि यदि आप हमारे हृदयसे निकल जायँ तो हम देखें आपकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायकता। कहीं-कहीं भक्त भी हृदयसे भगवान्को निकालना चाहते हैं, भगवान्में दोषानुसंधान करते हैं, परंतु असफल होते हैं—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनोधित्सति
वालाऽसौ विषयेषु धित्सति मनः प्रत्याहरन्ती मनः।

यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति ॥

अतएव कुछ लोग द्रवताको ही प्रेम कहते हैं। यद्यपि द्रवताकी अपेक्षा अवश्य है, तथापि प्रेमका स्वयंस्वरूप द्रवता नहीं है, प्रेमका निजी रूप तो रसस्वरूप परमात्मा ही है। अतएव आचार्योंने उसे निरुपम सुख-संविद्रूप बतलाया है। जिस तरह सच्चिदानन्द ब्रह्म विश्वका कारण है, अतएव उसके सदंश, चिदंशकी सर्वत्र अनुवृत्ति दिखायी देती है। **'घटः सन्'**, **'पटः सन्'** इत्यादि रूपसे सद्विशेष घटादि प्रपञ्चमें सत्की व्याप्ति है। वैसे ही **'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि'** के अनुसार आनन्दरससे भी सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है, अतएव सर्वत्र उसकी अनुवृत्ति या व्याप्ति होनी चाहिये। इसीलिये हर एक जन्तुमें, प्रत्येक परमाणुमें आनन्द, रस या रसस्वरूपभूत प्रेमकी भी व्याप्ति है। बिना प्रेम या रसके एक-दूसरेसे मिलना नहीं हो सकता। पुत्र, कलत्र, मित्र आदिका मिलन भी रस या स्नेहसे है। पशु-पक्षियोंमें, पिता-माता, पुत्र, पुत्रवधूमें प्रीति स्नेह होता है। 'किं बहुना' एक परमाणुका दूसरे परमाणुसे मिलना भी बिना स्नेहके नहीं हो सकता। इस तरह प्रेमतत्त्व आनन्द या रसस्वरूप होनेसे विश्वका कारण है, इसलिये उसकी व्याप्ति है। वह सर्वत्र और सबके पास है। उसका दुरुपयोग करनेसे अर्थात् केवल सांसारिक वस्तुओंमें ही प्रेम करनेसे दुःख होता है। भगवान्में उसका सम्बन्ध जोड़ते ही सारा विश्व आनन्दमय, मङ्गलमय हो जाता है। इसीलिये प्रेमियोंने चाहा है कि संसारसे प्रेम हटकर भगवान्में ही हो जाय—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
× × ×
या जगमें जहँ लगि या तनुकी प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि इक ठाईं॥
(विनय-पत्रिका १०३)

जैसे किसीके पास कोई दिव्यशक्तिसम्पन्न क्षेत्र हो, परंतु वह उसमें दौर्गन्ध्यविषकण्टकादिपूर्ण विषवृक्षको लगाकर उससे दुःख पाता है, यदि हिम्मत बाँधकर सावधानीसे उस वृक्षको काटकर सौन्दर्य, माधुर्य, सौरस्य, सौगन्ध्यपूर्ण आम्र या कल्पवृक्षको लगाये तो अवश्य सुखी हो जाय। ठीक वैसे ही प्रेमको संसारके साथ जोड़कर प्रेममें लौकिक भावोंको जोड़कर प्राणी दुःखी होता है; जबकि प्रेमके साथ भगवान्का सम्बन्ध जोड़ते ही सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द हो जाता है। जैसे कोई कल्याणमयी, करुणामयी, पुत्रवत्सला अम्बा अपने शिशुको कहीं भेजती हुई उसे ऐसा पाथेय अवश्य प्रदान करती है, जिसके सहारे वह पुनः अपनी अम्बाके पास आ जाय, यदि ऐसा न ध्यान रखे तो उसे करुणामयी नहीं कहा जा सकेगा; वैसे ही अनन्त ब्रह्माण्डजननी कृष्णाभिधाना माँने भी जीवोंको प्रेमतत्त्व साथमें ही दे रखा है। उसे भूल जानेसे या उसका दुरुपयोग करनेसे जीव दुःख पाता है। परंतु उसका स्मरणपूर्वक सदुपयोग करते ही अर्थात् गुरुजनों, शास्त्रों एवं भगवान्में प्रेमका उपयोग करनेसे वह कृतकृत्य होकर अपनी कृष्णाभिधाना माँके अङ्क (गोद)-में जा पहुँचता है, सर्वदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है।

कहा जा सकता है कि यदि रस, प्रेम और भगवान् एक हैं तथा नित्य सिद्ध ही हैं तो भगवान्में प्रेमको 'प्रेम' और अन्य प्रेमास्पदमें विषय-विषयीभाव कल्पनाकी क्या अपेक्षा है? इससे तो मालूम पड़ता है कि प्रेमके लिये भेदभावकी ही अपेक्षा है। बिना दोके प्रेम नहीं होता, अतएव प्रेम और भगवान् भी दो वस्तु होनी चाहिये। परंतु गम्भीरतासे विवेचन करें तो मालूम होगा कि आरम्भमें औपाधिक प्रेमके लिये अवश्य ही दोकी अपेक्षा किंवा अभिव्यक्तिके लिये साधनकी अपेक्षा है, परंतु स्वभावतः प्रेम अभेदमें या अत्यन्त संनिहित प्रत्यगात्मामें ही होता है और वह स्वतःसिद्ध भी है। जैसे स्वप्रकाश ब्रह्मके प्राकट्यार्थ भी महावाक्यजन्य परब्रह्माकाराकारित वृत्तिकी अपेक्षा होती है, वैसे ही भगवत्स्वरूप स्वतःसिद्ध प्रेमके भी प्राकट्यके लिये भगवदाकाराकारित स्निग्ध मानसी वृत्ति अपेक्षित है। उस प्राकट्यके लिये ही सद्धर्म, सत्कर्म आदि साधनोंकी अपेक्षा है। प्राकट्यभेदसे ही उसके अणु, मध्यम, महत् एवं परम महत्परिमाणभेदसे अनेक भेद भी होते हैं। साधनकालमें ही भेदभावकी अपेक्षा होती है। अज्ञानके कारण ही भगवान्में प्रेम न होकर विश्वमें होता है या यों समझिये कि नीरस, निस्सार संसारमें रसस्वरूप भगवान्के सम्बन्धसे ही सरसताकी प्रतीति होती है। अतः सरसत्वेन प्रतीयमान विश्वमें प्रेम होता है। जैसे प्रकाशकी अन्यत्र सातिशयता और व्यभिचारिता होनेपर भी सूर्यमें उसका व्यभिचार या सातिशयता सम्भव नहीं है, वैसे ही अन्यत्र प्रेमका व्यभिचार और सातिशयता देखी जाती है, परंतु भगवान्में व्यभिचार और सातिशयता नहीं है। पुत्र, कलत्रादिकोंमें कभी प्रेम, कभी वैर भी हो जाता है, कभी

प्रेमकी कमी, कभी अधिकता हो जाती है, परंतु भगवान्में वह सदा होता है और सर्वदा निरतिशय होता है; क्योंकि जैसे सूर्य प्रकाशके उद्गमस्थान या प्रकाशस्वरूप ही हैं, वैसे ही भगवान् भी प्रेमके उद्गमस्थान किंवा प्रेमस्वरूप ही हैं।

कहा जाता है कि भगवान्में प्रेम प्रत्यक्ष नहीं है, फिर भगवान्में अव्यभिचारी और निरतिशय प्रेम या उन्हें प्रेमस्वरूप कैसे माना जाय? परंतु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि भगवान् सर्वप्रकाशक, अखण्ड बोधरूपसे, प्रत्यगात्मारूपसे प्रसिद्ध हैं। अतएव उनमें प्रेम भी प्रसिद्ध है। केवल अनिर्वचनीय आवरण मिटानेके लिये ही कुछ प्रयत्नोंकी अपेक्षा है। विज्ञानसे सारी वस्तुओंका व्यवहार होता है। सम्पूर्ण वस्तु, सम्पूर्ण व्यवहार बोधसे ही प्रकाशित होता है। फिर बोधमें क्या संदेह? ***'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू'*** जैसे दर्पणदर्शनके पश्चात् तदन्तर्गत प्रतिबिम्ब दिखायी देता है, वैसे ही बोधमानके पश्चात् ही विश्व या उसकी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं—**'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।'** जैसे तरङ्ग व्यामोहसे ही कह सकती है कि 'जल कहाँ है?' जो कुछ है 'मैं ही हूँ।' वैसे ही जीव व्यामोहसे ही कह सकता है कि 'भगवान् कहाँ हैं? जो कुछ है, मैं ही हूँ।' जैसे तरङ्गके भीतर, बाहर, मध्यमें 'किं बहुना' तरङ्गका अस्तित्व ही जलपर निर्भर है, वैसे ही सम्पूर्ण जगत्में विशेषतः जीवमें उसके भीतर, बाहर, मध्यमें सर्वत्र भगवान् ही हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण विश्व या जीव भगवान्की सत्तासे ही सत्तावाले हैं, उनका पृथक् अस्तित्व ही नहीं है।

प्राणीका अपने प्राणोंमें, सुखमें, अपनी आत्मामें स्वाभाविक प्रेम होता है, भगवान् तो प्राणोंके प्राण, सुखके सुख और जीवोंके भी जीवन हैं। फिर उनमें प्रेम स्वाभाविक क्यों न हो? इसीलिये तो महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—***'लोके न हि स विद्येत यो न राममनुव्रतः।'*** अर्थात् लोकमें कोई भी जन्तु या कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है, जो रामका भक्त न हो। वसिष्ठजी कहते हैं—***'प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम। तुम्ह तजि तात सोहात गृह जिन्हहि तिन्हहि बिधि बाम॥'*** अर्थात् हे तात! राघवेन्द्र रामभद्र! तुम्हीं तो प्राणोंके प्राण, जीवोंके जीवन और आनन्दके भी आनन्द हो। प्राणसे या अपानसे प्राणी नहीं जीता, किंतु प्राणीमें प्राणनशक्ति देनेवाले प्राणके भी प्राण भगवान् ही सबको जिलाते हैं। फिर तुमको छोड़कर जगत् किसे अच्छा लगे? इस दृष्टिसे रावणादि भी रामके भक्त ही हैं। भला, अपनी सत्ताका कौन विरोधी होगा? नास्तिक भी अपनी और अपने सिद्धान्तकी सत्ताका बाध या अपलाप नहीं चाहता या करता। हर एक व्यक्तिका निश्चय है कि और कुछ हो या नहीं, रहे या न रहे, मैं तो हूँ ही, मैं तो रहूँ ही। जैसे जलके बिना तरङ्ग क्षणभर भी टिक नहीं सकती, वैसे ही सत्ताके बिना सम्पूर्ण पदार्थ असत् हो जाते हैं। सत्, चित्, आनन्द, रसस्वरूप भगवान्के बिना सब निःस्फूर्ति, नीरस, निरानन्द, 'किं बहुना' असत् हो जाते हैं। उनके योगसे—आध्यात्मिक सम्बन्धसे ही स्फूर्तिमत्ता, सरसता, सानन्दता और अस्तित्व सिद्ध होता है। अतः उनका अमङ्गलमय वियोग किसे सह्य होगा?

जैसे गुड़के सम्बन्धसे नीरस बेसनमें मिठास आती है, वैसे ही 'स्व'के सम्बन्धसे—अपनेपनके सम्बन्धसे वस्तुओंमें प्रीति होती है। अपनेपनके बिना कट्टर वैष्णवोंको भगवान् शिवमें और शैवोंको विष्णुमें भी प्रेम नहीं होता। अनन्त ब्रह्माण्डनायक भगवान्के ही जिस रूपमें अपनापन, अपना उपास्यभाव होता है, उसीमें प्रेम होता है। जिसमें उपास्यबुद्धि, इष्टबुद्धि नहीं, जिसमें अपनापन नहीं, उसमें प्रेम भी नहीं। अपनापन होनेसे अपने क्षेत्र, वृक्षकी बागके काँटोंमें भी प्रेम होता है, उनके नष्ट होनेमें कष्ट होता है। जिस अपनेपनके बिना ब्रह्म भी नीरस, जिस अपनेपनके सम्बन्धसे कण्टकादिमें भी प्रेम, साक्षात् उस अपनेमें 'स्व'में प्राणीका कितना प्रेम हो सकता है? इसीलिये भगवान् प्राणके प्राण, जीवके जीवन, आनन्दके आनन्द, प्रत्यक्ष स्वात्मा हैं, अतएव प्रेम या रसस्वरूप ही हैं। जो वस्तु जितनी अप्रत्यक्ष, दूर और अपनेसे भिन्न है, उसमें उतनी ही प्रेमकी कमी होती है। क्षेत्र, मित्र, पुत्र, कलत्र आदिमें दूरस्थ, अप्रत्यक्ष तत्त्वोंकी अपेक्षा अधिक प्रेम होता है। क्षेत्रादिकी अपेक्षा देहादिमें अधिक प्रेम होता है। देह-विरुद्ध होनेसे उन सबका ही त्याग किया जाता है; क्योंकि उनकी अपेक्षा देह संनिहित एवं प्रत्यक्ष है। देहसे भी इन्द्रियाँ, प्राण अन्तरङ्ग हैं, अतः उनमें प्रेम अधिक होता है। मन उनसे भी समीप है, अतः उसके प्रतिकूल या उसे दुःखदायी मालूम पड़नेपर देहादिका भी त्याग किया जाता है। बुद्धि, अहमर्थका भी निरोध आत्महितके लिये किया जाता है।

'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति' इत्यादिसे मनोनाश, वासनाक्षयके लिये प्रयत्न प्रसिद्ध ही है। इस दृष्टिसे सर्वान्तरङ्ग, सर्वसंनिहित, परम प्रत्यक्ष प्रत्यगात्मस्वरूप ही भगवान् हैं। उन्हींमें मुख्य प्रेम

और वे ही प्रेमस्वरूप भी हैं। उनसे भिन्नमें प्रेमकी कमी स्पष्ट है। आत्माके लिये ही सब कुछ होता है, देवतामें प्रीति भी आत्मकल्याणके लिये ही होती है, आत्म-प्रतिकूल देवताकी उपेक्षा ही होती है। यदि भगवान् प्रत्यगात्मस्वरूप नहीं, तब तो भगवान् शेष (अङ्ग) हो जायँगे, भगवान्के लिये आत्मा नहीं, किंतु भगवान् आत्माके लिये समझे जायँगे, अतः भगवान् परोक्ष होनेसे अस्वप्रकाश समझे जायँगे। भगवान् अनात्मा होनेसे बहिरङ्ग और शेष (अङ्ग) समझे जायँगे, यह सब अनर्थ है; क्योंकि सिद्धान्ततः वस्तुगत्या भगवान् ही सर्वान्तरङ्ग, सर्वान्तरात्मा हैं, वे ही सर्वशेषी हैं। सब कुछ उनके लिये, वे किसीके लिये नहीं। भगवान् ही प्रत्यगात्मा होनेसे स्वप्रकाश और वे ही शेषी हैं, वे ही निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमके आस्पद हैं। इसीलिये तो जैसे सैन्धवखिल्य (सेंधा नमकका टुकड़ा) अपने-आपको अपने उद्गमस्थान समुद्रमें समर्पण कर समुद्ररूप हो जाता है, वैसे ही औपाधिक चैतन्यरूप जीवात्मा अपने उद्गमस्थान परप्रेमास्पद भगवान्में आत्मसमर्पण करके भगवत्स्वरूप हो जाता है। जैसे घटाकाश घट और घटाकाश सबको ही महाकाशमें समर्पण कर देता है—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

(जब आकाशसे ही वायु आदि क्रमसे घट बना, उसीसे घटाकाशकी प्रतीति हुई, घट पृथिव्यादिमें लय-क्रमसे आकाश हो गया, तब घटाकाश सुतरां आकाश हो गया, यही सच्चा आत्मसमर्पण है) वैसे ही जीवात्मा भगवान्से प्रादुर्भूत अपना सर्वस्व और अपने-आपको भगवान्में समर्पण करके सर्वदाके लिये सर्वशेषी, सर्वान्तरङ्ग, सर्वप्रेमास्पद, सर्वान्तरात्मस्वरूप हो जाता है। अपने मिथ्या, काल्पनिक भावका सर्वदाके लिये बाध कर, पारमार्थिक रूपको प्राप्त कर लेता है।

इस तरह औपाधिक प्रेम सापेक्ष, सातिशय होनेपर भी निरुपाधिक प्रेम भेदनिरपेक्ष, स्वप्रकाश, सर्वान्तरात्मा भगवान्का स्वरूप ही है और वह स्वतःसिद्ध है। केवल उसके प्राकट्यके लिये ही प्रयत्नकी अपेक्षा होती है। जैसे ब्रह्माकार वृत्तिकी कोमलता, दृढ़तासे नित्यसिद्ध परमात्मस्वरूप ज्ञानमें भी कोमलता और दृढ़ताका व्यवहार होता है, वैसे ही प्रेममें भी कोमलता, दृढ़तासे नित्यसिद्ध परमात्मस्वरूप ज्ञानमें भी कोमलता और दृढ़ताका व्यवहार होता है। प्रेममें भी कोमलता, दृढ़ता और उत्पत्तिका उपचार ही है। आमाम्र (कच्चा आम) पक्काम्रका हेतु समझा जाता है, वैसे ही साधनावस्थाका प्रेम साध्यावस्थाके प्रेमका साधन माना जाता है। उसमें रक्षाकी भी बड़ी अपेक्षा समझी जाती है। भावुकोंने कहा है कि जैसे दीप बुझ जाता है, वैसे प्रेमके बुझ जानेका भी भय रहता है। जैसा कि किसीकी उक्ति है—

प्रेमाद्वयो रसिकयोरपि दीप एव
हृद्वेश्म भासयति निश्चलमेव भाति।
द्वारादयं वदनतस्तु बहिष्कृतश्चे-
न्निर्वाति शीघ्रमथवा लघुतामुपैति॥

अर्थात् दोनों रसिकोंके हृदयमें रहनेवाला प्रेम एक दीप है, वही हृदयभवनका प्रकाशन करता है और निश्चल होकर स्वयं देदीप्यमान होता है। यदि वह मुखरूप द्वारसे बाहर किया गया तो या तो बुझ जाता है अथवा उसमें लघुता आ जाती है।

वैसे प्रेमतत्त्व निष्कारण बतलाया जाता है—

आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि
क्षीयेताऽपि न चापराधविधिना नत्या न यो वर्द्धते।
पीयूषप्रतिवेदिनस्त्रिजगती दुःखद्रुहः साम्प्रतं
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठता लाघवम्॥

अर्थात् प्रेमदेवने अपने प्रादुर्भावके दिन किसी सूक्ष्मतम हेतुकी भी अपेक्षा नहीं की, किसी भी अपराधके कारण उनका ह्रास नहीं होता और बहुत नमस्कारसे उनकी वृद्धि भी नहीं होती। पीयूषके प्रतिस्पर्धी, त्रिजगती दुःखके द्रोही, परम गुरु प्रेमदेवताको वाग्गोचर करके लघु कैसे बनाया जाय? यद्यपि लोकमें प्रेम त्रिदल होता है—पहला आश्रय, दूसरा विषय और तीसरा प्रेम। तथापि अन्तरङ्गस्थितिमें तीनों एक ही वस्तु हैं, एकमें ही औपाधिक त्रैविध्यकी कल्पना होती है, जैसे जल और तरङ्गमें वास्तविक भेद न होनेपर भी काल्पनिक भेदको लेकर व्यवहार होता है—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥

(रा०च०मा० १। १८)

श्रीभगवान्की आह्लादिनी शक्तिरूपा श्रीजनकनन्दिनी तो इतनी अन्तरङ्ग हैं, जैसे अमृतमें माधुर्य। परमानन्द-सुधासिन्धु भगवान्में माधुर्यसारसर्वस्व ही उनकी आह्लादिनी शक्ति हैं। उन्हींका प्रेम वास्तविक प्रेम है।

* * *

भगवत्प्रेममें सद्भावनाका महत्त्व

(ब्रह्मलीन जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

केवल किसी बातके सुननेसे ही उतना लाभ नहीं होता, जितना सुननेके अनुसार अनुष्ठान करनेसे। शास्त्रमें एक जगह चारों युगोंका लक्षण करते हुए लिखा है कि कलियुग कलियुग नहीं, अपितु उचित कार्यका ज्ञान हो जानेपर भी सोये पड़े रहना और उसके लिये उचित प्रयत्न न करना कलियुग है। इसी प्रकार उस कार्यको करनेके लिये आलस्य त्यागना द्वापर, कार्यमें उद्यत होना त्रेता तथा उसमें संलग्न होकर उसे सम्पादन करने लग जाना सत्ययुग है—

कलिः शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठन्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते परम्॥

इसके लिये सबसे बड़ी आवश्यकता है—सद्भावना। भावना अच्छी होनेपर प्राणीके कल्याणमें कोई बाधा नहीं होती। इसलिये उत्तम भावना बनानी चाहिये। साथ ही अपने ज्ञान और कर्मको भी शुद्ध करना चाहिये। सिद्धान्त तो यह है कि ज्ञान एवं कर्म भी भावनाका ही अनुसरण करते हैं, अतः प्रधानता भावनाकी ही है। साधनावस्थामें चित्तकी शुद्धि अत्यन्त अपेक्षित होती है और चित्तशुद्धि ही भावनाके पवित्र होनेका मूल है। चित्तकी शुद्धताके लिये योगसूत्रकारका कहना है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ (पा०सू० १। ३३)

सुखी प्राणीमें मैत्री-सौहार्द, दुःखीमें करुणा-कृपा, पुण्यशीलमें मुदिता-हर्ष और अपुण्य—पापीमें उपेक्षा-उदासीनता करनेसे चित्तकी शुद्धि होती है अर्थात् सुखसंयुक्त सभी प्राणियोंको देखकर ऐसी भावना करें कि 'ठीक है, मेरे मित्रोंको सुख हो रहा है', इस प्रकार मैत्री-प्रेमकी भावना करनेसे ईर्ष्याकी भावना समाप्त हो जाती है। दुःखितोंको देखकर 'किस प्रकार इनका दुःख दूर होगा'—इस प्रकार कृपाकी भावना करनी चाहिये, उपेक्षा अथवा हर्ष नहीं मानना चाहिये। पुण्यशीलोंको देखकर उनके पुण्यका अनुमोदन करते हुए प्रसन्न होना चाहिये, विद्वेष तथा उपेक्षाकी भावना नहीं अपनानी चाहिये। इसी प्रकार पापियोंके समक्ष आनेपर उनमें उदासीनताका भाव अपनाना चाहिये, न कि उनके पापका अनुमोदन तथा द्वेष करना चाहिये। ऐसा करनेसे शुक्ल धर्म उत्पन्न होता है, फिर राग-द्वेषादिमलरहित होकर मन प्रसन्न होता है तथा भावना अत्यन्त पवित्र हो जाती है। कर्मके कदाचित् ठीक न होनेपर भी यदि भावना पवित्र हो तो प्राणीका कल्याण होता है।

कहते हैं कि एक राजमार्ग (सड़क)-के दोनों ओर आमने-सामने एक वेश्या तथा संन्यासी रहते थे, दोनों युवा थे। अपने पेशेमें लगी वेश्या भजन करनेवाले उस संन्यासी बाबाको देखकर अपनेको धिक्कारती और मनमें सोचती कि 'मैं बड़ी पापिन हूँ, ऐसे दुष्कर्ममें प्रवृत्त हूँ, संन्यासी बाबाका जीवन बड़ा उत्तम है। इन्होंने सर्वस्व त्यागकर अपना मन भगवद्भजनमें लगा दिया है।' उधर संन्यासी वेश्याको देखकर इसके विपरीत सोचते—'मैं बड़ा हतभाग्य हूँ कि इसी अवस्थामें बाबा बन बैठा, संसारके सुखका अनुभव नहीं किया, यह वेश्या ही धन्य है जो अपनी युवावस्थाका आनन्द ले रही है।' यही सोचते दोनोंका महाप्रयाण हुआ। भावनाके अनुसार ही वेश्याको स्वर्गादि पुण्यलोकोंकी प्राप्ति हुई और संन्यासी बाबाको नरक जाना पड़ा। अतः भावना उत्तम होना अत्यन्त आवश्यक है। सद्भावनासे दिव्य प्रेमकी प्राप्ति होती है।

जो व्यक्ति दान करनेमें समर्थ नहीं है, वह भी दानकी भावना कर सकता है। उससे वह भले ही दान न कर सके, किंतु लेनेकी बुरी भावनासे तो बच जायगा। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहिं पापा॥
(रा०च०मा० ७। १०३। ८)

अन्ततः इसका भी अर्थ यही है कि पुण्यकी भावनासे ही पुण्य हो जाता है और मानसकृत पाप नहीं होता। इसका यह तात्पर्य है कि यदि मनसे कोई पाप हो जाय तो भी कर्मसे उसका आचरण नहीं करना चाहिये, जिससे वह वहीं दबकर नष्ट हो जाय। महाभारतकारने भी कहा है—

मनसा रोचयन्पापं कर्मणा नाभिरोचयेत्।
न प्राप्नोति फलं तस्य इति धर्मविदो विदुः॥

यदि मनसे पाप हो भी जाय तो उसे कर्मसे नहीं करना चाहिये; क्योंकि मानसिक पापका फल उसे नहीं होता। यह भावनाको ही शुद्ध करनेका उपाय है। भावनाके दूषित होनेपर प्राणीको जहाँ दूसरेके दुःखको दूर करनेके लिये स्वयं दुःखी होना चाहिये, वहाँ वह इसके विपरीत दूसरेको अधिक दुःख हो, इसके लिये स्वयं थोड़ा दुःख

उठानेको भी प्रस्तुत हो जाता है।

कहा जाता है कि एक दरिद्र ब्राह्मण थे, उसपर भी अधिक संतानें हो गयीं। शास्त्रकी आज्ञा है कि दरिद्रको तप करना चाहिये, वे भी उसीके अनुसार दरिद्रादेवीसे मुक्ति पानेके लिये तप करने लगे। फलतः उन्हें एक शङ्ख प्राप्त हुआ। शङ्खमें विशेषता थी कि ब्राह्मणदेव जितनी वस्तु उससे लेंगे, उसकी दूनी उनके पड़ोसीको मिल जायगी। ब्राह्मणदेवकी भावना अत्यन्त दूषित थी। अपनेसे दूनी सुखसामग्रीकी वस्तु पड़ोसीको मिलनेकी बात उन्हें स्वप्नमें भी स्वीकार नहीं थी, भले ही शङ्खसे बिना कुछ माँगे, वे बाल-बच्चोंसहित स्वयं भूखों मर जायँ। उन्होंने शङ्खको घरमें रख छोड़ा और कभी कुछ नहीं माँगा। दुर्भावना इतनी जबर्दस्त थी कि इतनेसे भी उन्हें संतोष नहीं हुआ। उन्होंने सोचा कि यह शङ्ख हमसे दूनी धन-सम्पत्ति हमारे पड़ोसीको प्रदान कर सकता है तो यदि मैं स्वयं एकाक्ष होनेकी इससे प्रार्थना करूँ तो अवश्य ही मेरा पड़ोसी दोनों आँखोंसे अन्धा हो जायगा। यह दुर्भावनाका दुष्परिणाम है जिसके कारण दूसरेको अन्धा बनानेके लिये अपनेको एकाक्ष होना भी उचित ही प्रतीत होता है। दुर्भावनासे प्रेमका सर्वथा लोप हो जाता है और राग-द्वेष चरम सीमाको प्राप्त कर लेता है।

इसलिये हमारा आपलोगोंसे कहना है कि सत्सङ्गसे देखना चाहिये कि हमारी भावनामें कुछ अन्तर हुआ या नहीं। यदि हुआ तो हमलोगोंका सत्सङ्ग सफल हुआ। यदि न भी हुआ तो कोई चिन्ताकी बात नहीं। प्रयत्न जारी रखना चाहिये, साथ ही भगवान्‌की कृपाका भी भरोसा रखना चाहिये। भगवान् बड़े दयालु हैं, वे अवश्य ही भावनाको शुद्ध करेंगे और भावनाके शुद्ध होते ही प्राणीको आत्मस्वरूपका ज्ञान होगा और तभी भगवत्प्रेमकी जागृति होगी। फिर तो जीवन सफल हो जायगा। जीवनकी सफलताके लिये अपनेमें सद्भावना लानी होगी और सद्भाव लानेके लिये अध्यात्म-पाठशालामें नाम लिखाना होगा। वह आज लिखाइये चाहे दस-पाँच जन्मके बाद, बिना लिखाये जीवनकी सफलताकी कुञ्जी प्राप्त नहीं हो सकती। अध्यात्म-पाठशालामें ही यह पाठ पढ़ाया जाता है कि प्राणिमात्र उस परम प्रसिद्ध अमरणधर्मा परमात्माके ही पुत्र हैं—'**अमृतस्य पुत्राः**'। जहाँ अध्यात्म-पाठशालाका यह पाठ आपके चित्तमें बैठा, वहीं परम कल्याणकारिणि सद्भावनादेवीका प्रादुर्भाव हुआ और आप प्राणिमात्रमें उस परमतत्त्वको जब देखने लगेंगे तो आपका कल्याण सुनिश्चित है। अतः अपनेमें सद्भावना लानी चाहिये। सद्भावनासे ही भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है।

प्रेम-माधुरी

(ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)

चलिये आप मेरे साथ वृन्दावन। शरीरसे नहीं तो मनसे ही सही। यह मत पूछिये कि वहाँ क्या है? वहाँ सब कुछ है—प्रेम है, संगीत है, मिलन है, विरह है, योग है, शृङ्गार है। वहाँ क्या नहीं है? वहाँकी अनुरागमयी भूमिके कण-कणमें एक दिव्य उन्माद भरा हुआ है। वहाँके पत्ते-पत्तेमें एक विचित्र आकर्षण है। आप चाहते क्या हैं? आपकी जन्म-जन्मकी लालसा पूरी हो जायगी। वहीं तो सर्वस्व है। जीवन है वहाँ, रस है वहाँ, पूर्ण रसमें रहकर अतृप्ति है वहाँ। चलिये तो सही। वहाँकी दिव्य लताओंसे आलिङ्गित सरस रसालकी मञ्जरियोंके मकरन्दसे आकृष्ट हुए भौंरोंको, जो अपनी चञ्चलता छोड़कर इस प्रकार उनसे लिपट गये हैं मानो कारागारमें कैद हैं। जब मलयज वायु अपने कोमल करोंसे स्पर्श करती है, बौरोंके झूलेपर मस्त हुए मिलिन्दोंको आन्दोलित करती है और वे एक साथ ही अत्यन्त मधुर दिव्य संगीत गाते हुए मधु-धारा प्रवाहित करनेवाली पुष्पवती लताओंकी ओर बढ़ते हैं, तब हृदयमें कितना आनन्द होता है, उन्हें देखकर सम्पूर्ण हृदय किस प्रकार रससे सराबोर हो जाता है—यह वहीं चलकर देखिये। आप भी श्रीरूप गोस्वामीके समान मधुर कण्ठसे कूक उठेंगे—

सुगन्धौ माकन्दप्रकरमकरन्दस्य मधुरे
विनिष्यन्दे बन्दीकृतमधुपवृन्दं मुहुरिदम्।
कृतान्दोलं मन्दोन्नतिभिरनिलैश्चन्दनगिरे-
र्ममानन्दं वृन्दाविपिनमतुलं तुन्दिलयति॥*

वृन्दावनमें सबसे बड़ा आनन्द तो व्रजदेवियोंके

---

* आमके बौरोंके सुगन्धित एवं मधुर मकरन्दके कारागारमें भौंरोंको बंद करके मलयाचलसे आनेवाली शीतल-मन्द-सुगन्ध वायुके द्वारा मन्द-मन्द आन्दोलित होकर वृन्दावन मेरे अनुपम आनन्दको संवर्धित कर रहा है।

दर्शनका है। वे गाँवकी गँवार ग्वालिनें प्रेमकी मूर्तियाँ ही हैं। नगरकी बनावट उन्हें छूतक नहीं गयी है। कितनी भोली हैं वे! उस दिव्य राज्यमें कपटका तो प्रवेश ही नहीं है। केवल उनका हृदय ही दिव्य नहीं है, शरीर भी दिव्य है। देखिये, सामने यह वृन्दावन है। कितना सुन्दर है यह धाम! परंतु आप अभी धामको मत देखिये; यह सामने जो व्रजदेवी बैठी हैं, उनको देखिये। इस समय यह ध्यान कर रही हैं। क्या यह श्रीकृष्णका ध्यान कर रही हैं? अजी, वृन्दावनमें श्रीकृष्णका ध्यान नहीं करना पड़ता। यहाँ तो वे ही इनका ध्यान करते हैं, इनके पीछे-पीछे घूमते हैं। फिर ये इतनी तन्मयतासे किस साधनामें तत्पर हैं? अच्छा, सुन लीजिये, यह इनका भोलापन है।

आप सुनकर हँसेंगे; परंतु भावपूर्ण हृदयसे तनिक देखिये तो मालूम होगा कितना गम्भीर प्रेम है। इनका हृदय इनके हाथमें नहीं है, निरन्तर श्यामसुन्दरके पास ही रहता है। इनके हृदयमें श्रीकृष्णकी बाँसुरी बजती ही रहती है, एक क्षणके लिये भी बंद नहीं होती। ये प्रतिपल उनके मधुर संस्पर्श और रूप-सुधाके पानके लिये आकुल रहती हैं। घरमें, वनमें, कुञ्जमें, नदी-तटपर—जहाँ भी ये रहती हैं, वहाँ इनका मन उसी चितचोर मोहनको देखनेके लिये मचलता रहता है। अब घरका काम-धन्धा कैसे हो? इन्होंने सोचा—यह हृदयकी विवशता तो अच्छी नहीं है, इसको अपने हाथमें करना चाहिये। यह कैसे हो? बिना योग किये यह वशमें कैसे आये? इसलिये आप योग कर रही हैं। कितना आश्चर्य है! बड़े-बड़े मुनिगण प्राणायाम आदि साधनोंके द्वारा मनको विषयोंसे खींचकर जिनमें लगाना चाहते हैं, उन्हींसे मनको हटाकर यह गोपी विषयोंमें लाना चाहती है। बड़े-बड़े योगी जिनको अपने चित्तमें तनिक-सा देखनेके लिये लालायित रहते हैं, उन्हींको यह मुग्ध गोपी अपने हृदयसे निकाल देना चाहती है! श्रीरूप गोस्वामीने क्या ही सुन्दर कहा है—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनो धित्सते
बालासौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति॥

परंतु क्या इन्हें सफलता मिल सकेगी? ये निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो जायँगी अथवा अपने मनको वशमें करके घरके काम-काजमें लगी रह सकेंगी? ना, इसकी तो सम्भावना ही नहीं है। इनका हृदय एक रंगमें रँगा जा चुका है, अब इसपर दूसरा रंग चढ़नेवाला नहीं। ये जो कुछ कर रही हैं, वह तो इनके प्रेमका दिव्य उन्माद है। भला, श्रीकृष्णके बिना ये जीवित रह सकती हैं? इनका जीवन तो श्रीकृष्णमय है। आप पूछेंगे—भाई, ऐसा उच्च जीवन इन्हें कैसे प्राप्त हुआ?

यह कथा भी बड़ी विचित्र है। गाँवकी बालिका, इन्हें बरसानेके बाहरका तो कुछ पता ही न था। एक दिन इन्होंने किसीके मुँहसे कृष्णका नाम सुन लिया। बस, फिर क्या था—पूर्वकी प्रीति जग गयी। 'कृष्ण' नाममें भी कुछ अद्भुत आकर्षण है। जिनके कानोंमें यह समा जाता है, वह दूसरा कुछ सुनना ही नहीं चाहता। वह तो ऐसा चाहने लगता है कि कहीं मेरे अरबों कान हो जाते। नामने इनपर मोहनी डाली, इन्होंने अपनेको निछावर कर दिया। किया नहीं, इनका हृदय स्वयं निछावर हो गया। एक दिन ये यमुनातटपर घूम रही थीं, मुरलीकी मोहक तान सुनकर मुग्ध हो गयीं। सखियोंने एक बार श्यामसुन्दरका चित्रपट दिखा दिया, आँखें निर्निमेष होकर रूप-रसका पान करने लगीं। इन्हें मालूम न था कि ये तीनों एक ही हैं। एक हृदयकी तीनपर आसक्ति! इन्हें बड़ी व्यथा हुई। श्रीरूप गोस्वामीने इनकी मर्मान्तक पीड़ाका इन्हींके शब्दोंमें वर्णन किया है—

एकस्य श्रुतमेव लुम्पति मतिं कृष्णेति नामाक्षरं
सान्द्रोन्मादपरम्परामुपनयत्यन्यस्य वंशीकलः।
एष स्निग्धघनद्युतिर्मनसि मे लग्नः पटे वीक्षणात्
कष्टं धिक् पुरुषत्रये रतिरभून्मन्ये मृतः श्रेयसी॥*

जब इन्हें मालूम हुआ कि ये तीन नहीं हैं, एक ही हैं, तब कहीं इनके हृदयकी वेदना शान्त हुई। एक वेदना तो शान्त हो गयी, परंतु दूसरी लग गयी। उसी दिनसे इनकी गति बदल गयी। वे कैसे मिलेंगे, इस चिन्तासे धैर्य लुप्त हो गया। बार-बार काँप उठतीं, सारे शरीरपर स्वेद-बिन्दु झलकते ही रहते, सखियोंसे यह बात छिपी न रही। उन्होंने एकान्तमें पूछा—'सखी, तुम्हें क्या हो गया है? कौन-सी

---

* एक दिन किसी पुरुषका 'कृष्ण' यह दो अक्षरका नाम सुनते ही मेरी बुद्धि लुप्त हो गयी। दूसरे दिन किसी पुरुषकी वंशीध्वनि सुनते ही मैं उन्मादिनी हो गयी। तीसरे दिन वर्षाकालीन मेघके समान श्यामसुन्दर नवकिशोरको चित्रपटमें देखकर मेरा मन हाथसे बाहर हो गया। बड़े दुःखकी बात है, धिक्कार है मुझे—तीन-तीन पुरुषोंसे प्रेम! मर जानेमें ही अब मेरा कल्याण है।

ऐसी दुर्लभ वस्तु है, जिसके लिये तुम्हें इतनी चिन्ता हो रही है? बार-बार तुम्हारे शरीरमें रोमाञ्च हो आता है, कभी आँसू तो कभी पसीना! इतनी गम्भीर मुद्रा, जैसी कभी नहीं देखी! ऐसा क्यों? हमलोगोंसे क्या अपराध हो गया है कि अपने हृदयकी वेदना हमसे नहीं बता रही हो? क्या हम तुम्हारी अपनी नहीं हैं? अपने लोगोंसे कोई बात छिपाना अच्छा नहीं है। यदि हम तुम्हारी कुछ सेवा कर सकें तो हमें उसका अवसर दो। हमें हमारे सौभाग्यसे क्यों वञ्चित कर रही हो?' इन्होंने अपनी सखियोंसे अपने हृदयकी बात कही और उन लोगोंने इन्हें वृन्दावनके कुञ्जोंमें श्रीकृष्णके दर्शन कराये। क्या ही सुन्दर दर्शन था! ये श्रीकृष्णको देखकर बोल उठी थीं—

नवमनसिजलीलाभ्रान्तनेत्रान्तभाजः
स्फुटकिसलयभङ्गीसङ्गिकर्णाञ्चलस्य।
मिलितमृदुलमौलेर्मालया मालतीनां
मदयति मम मेधां माधुरी माधवस्य॥

'नवीन प्रेमकी लीलाको प्रकट करनेवाले नेत्रोंकी चञ्चल चितवन, कपोलोंपर मनोहर पल्लवोंकी सुन्दर रचना, मुकुटपर मालतीकी माला—सब मधुर-ही-मधुर! माधवकी यह माधुरी मेरे धैर्यका बाँध तोड़ रही है, मेरी मेधाको उन्मादिनी बना रही है।'

सचमुच ये उन्मादिनी हो गयीं, घरकी सुध भूल गयीं, अपने-आपको भूल गयीं। सखियाँ किसी प्रकार इन्हें घर ले आयीं, परंतु इनकी चेष्टा ज्यों-की-त्यों बनी रही। घरवाले बड़े चिन्तित हुए—'यह क्या हो गया? इस रोगकी क्या चिकित्सा है? वैद्यकमें तो इसका वर्णन नहीं है। हो-न-हो कोई ग्रह लग गया है। सामने मयूरपिच्छ देखकर काँपने लगती है, गुञ्जाके दर्शनमात्रसे आँखोंमें आँसू आ जाते हैं, रोने लगती है। इसके चित्तमें अपूर्व नाट्यक्रीडाका चमत्कार उत्पन्न करनेवाला न जाने कौन-सा नया ग्रह प्रवेश कर गया है, जिससे इसकी यह दशा हो रही है'—

अग्रे वीक्ष्य शिखण्डखण्डमचिरादुत्कम्पमालम्बते
गुञ्जानां तु विलोकनान्मुहुरसौ सास्त्रं परिक्रोशति।
नो जाने जनयन्नपूर्वनटनक्रीडाचमत्कारितां
बालायाः किल चित्तभूमिमविशत् कोऽयं नवीनग्रहः॥

यह ग्रह और कोई नहीं है, श्रीकृष्ण ही हैं। जिसके चित्तमें वे प्रवेश कर जाते हैं, उसकी ऐसी ही दशा हो जाती है। वह न लोकका रहता है, न परलोकका। कम-से-कम लोक और परलोकका स्वार्थ रखनेवालोंके लिये तो वह बेकार हो ही जाता है। एक सखीने श्रीकृष्णके पास जाकर इनकी सारी कथा सुनायी। 'श्रीकृष्ण! यदि कहीं दूरसे भी प्रसङ्गवश तुम्हारे नामके अक्षर उसके कानोंमें पड़ जाते हैं तो हमारी प्यारी सखी सिसक-सिसककर रोने और काँपने लगती है और तो क्या कहूँ, कहीं संयोगवश नये-नये श्याम मेघ उसके सामने आ जाते हैं तो वह उन्हें प्राप्त करनेके लिये इतनी उत्सुक हो जाती है कि तत्क्षण उसके चित्तमें पंख प्राप्त करनेकी इच्छा हो आती है—

दूरादप्यनुषङ्गतः श्रुतिमिते त्वन्नामधेयाक्षरे
सोन्मादं मदिरेक्षणा विरुवती धत्ते मुहुर्वेपथुम्।
आः किं वा कथनीयमन्यदसिते दैवान्नवाम्भोधरे
दृष्टे तं परिरब्धुमुत्सुकमतिः पक्षद्वयीमिच्छति॥

नन्दनन्दन श्यामसुन्दरको जिसने एक बार भर आँख देख लिया, उसको फिर तृप्ति कहाँ? वह तो उन्हें देखे बिना रह ही नहीं सकता। एक-एक क्षण कल्पके समान हो जाता है। प्रतिक्षण प्यास बढ़ती ही जाती है और बार-बार मनमें यही आता है कि हा! अबतक श्रीकृष्ण नहीं आये, उनके बिना यह जीवन निस्सार है। श्रीकृष्णके आनेमें थोड़ा-सा विलम्ब होनेपर इन्होंने अपनी सखीसे कहा—

अकारुण्यः कृष्णो यदि मयि तवागः कथमिदं
मुधा मा रोदीर्मे कुरु परमिमामुत्तरकृतिम्।
तमालस्य स्कन्धे सखि कलितदोर्वल्लरिरियं
यथा वृन्दारण्ये चिरमविचला तिष्ठति तनुः॥

'हे सखी! यदि श्रीकृष्ण मेरे लिये निष्ठुर हो गये, वे अबतक नहीं आये तो इसमें तुम्हारा क्या अपराध है? तुम व्यर्थ उदास मत होओ, रोओ मत। आगेका काम देखो। ऐसा उपाय करो कि इस श्यामवर्ण तमालवृक्षके तनेमें मेरी भुजाएँ लिपटी हुई हों और मेरा यह शरीर चिरकालतक वृन्दावनमें ही अविचलरूपसे रहे।'

यहाँ इन व्रजदेवीकी यह दशा थी, उधर श्रीकृष्ण पश्चात्ताप कर रहे थे। वे सोच रहे थे—'मैंने निष्ठुरता की। कहीं उसके कोमल हृदयका प्रेमाङ्कुर सूख न जाय। प्रेमके आवेशमें आकर वह कहीं शरीर न छोड़ दे। उसकी फली-

फूली मनोरथ-लता कहीं मुरझा न जाय।' उन्होंने तमालवृक्षकी आड़में खड़े होकर देखा, यहाँ प्राणत्यागकी पूरी तैयारी है। व्रजदेवी कह रही हैं—

यस्योत्सङ्गसुखाशया शिथिलिता गुर्वी गुरुभ्यस्त्रपा
प्राणेभ्योऽपि सुहृत्तमाः सखि तथा यूयं परिक्लेशिताः।
धर्मः सोऽपि महान् मया न गणितः साध्वीभिरध्यासितो
धिग्धैर्यं तदुपेक्षितापि यदहं जीवामि पापीयसी॥

'जिसके उत्सङ्ग-सुखके लिये मैंने गुरुजनोंकी बड़ी भारी लाज छोड़ दी; सखियो! जिनके लिये तुमलोगोंको जो कि हमारे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हो, इतना क्लेश दिया; जिनके लिये सती-साध्वी स्त्रियोंद्वारा अनुष्ठित महान् धर्मका भी मैंने आदर नहीं किया, उन्हींके द्वारा उपेक्षित होनेपर भी मैं जीवित हूँ, मैं पापिनी हूँ। मेरे धैर्यको धिक्कार है!'

इस प्रकार कहते-कहते व्रजदेवी तमालसे लिपटनेके लिये अधीरभावसे दौड़ीं; परंतु यह क्या? तमालका स्पर्श भी कहीं इतना शीतल होता है? यह मधुर संस्पर्श तो प्राणोंमें मृत्युके बदले अमृतमय जीवनका सञ्चार कर रहा है! आँखें खोलीं तो देखा यह तो तमाल नहीं, श्रीकृष्ण हैं। एक साथ ही अनेक प्रकारके भाव उठे और तत्क्षण विलीन हो गये। हृदयमें आश्चर्य, प्रेम और आनन्दकी बाढ़ आ गयी। शरीर स्थिर हो गया, आँखें जम गयीं, मानो अब देखते ही रहना है। ऐसी निधि पाकर उसे आँखोंसे ओझल कौन करे? निर्निमेष नयनोंसे रूप-रसका पान करने लगीं। श्रीकृष्ण बहुत देरतक रहे—हँसे, खेले, बोले, अनेक प्रकारकी लीला करते रहे; परंतु वे बड़े खिलाड़ी हैं, आँखमिचौनी खेलनेमें तो उनका कोई सानी नहीं है। वे फिर आनेका वादा करके चले गये, वे वहाँ रहकर भी छिप गये, वे यहाँ रहकर भी छिपे हुए हैं। ऐसी ही उनकी लीला है। उनके जानेपर, सखियोंके बहुत सचेत करनेसे ये घर गयीं। परंतु घरके कर्तव्योंको कौन सँभालता, मन तो इनके हाथमें था ही नहीं। इन्होंने सोचा—'योग करनेसे मन वशमें होता है; चलो, अब योग ही करें।' यह अपने चित्तको श्रीकृष्णके पाससे खींचनेके लिये या यों कहिये कि श्रीकृष्णको अपने चित्तसे निकालनेके लिये योग कर रही हैं। परंतु क्या यह सम्भव है? चित्तमें कोई आ जाय तो उसे निकाल सकते हैं, चित्त कहीं चला जाय तो उसे खींच सकते हैं? देवी, तुम अब क्या कर रही हो यह? जो चित्त हो गया है, जिसके बिना चित्तकी सत्ता ही नहीं है, उसको तुम चित्तमेंसे कैसे निकाल सकोगी? अस्तु, यह भी तो प्रेम ही करा रहा है! प्रेमका ऐसा ही कुछ स्वरूप है।

नन्दनन्दन श्रीकृष्णका प्रेम जिसके चित्तमें उदय होता है, उसके द्वारा कितनी ही उलटी-सीधी चेष्टाएँ होने लगती हैं; क्योंकि इसमें विष और अमृत दोनोंका अपूर्व सम्मिश्रण है। पीड़ा तो इसमें इतनी है कि इसके सामने नये कालकूट विषका गर्व भी खर्व हो जाता है। आनन्दका इतना बड़ा उद्गम है यह प्रेम कि अमृतकी मधुरिमाका अहङ्कार शिथिल पड़ जाता है। श्रीरूप गोस्वामीने इसका वर्णन करते हुए कहा है—

पीडाभिर्नवकालकूटकटुतागर्वस्य निर्वासनो
निष्यन्देन मुदां सुधामधुरिमाहङ्कारसङ्कोचनः।
प्रेमा सुन्दरि नन्दनन्दनपरो जागर्ति यस्यान्तरे
ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः॥

इतना ही नहीं, प्रेमकी गति और भी विलक्षण है। क्योंकि प्रेम तो अपने-आपकी मस्ती है, उसमें किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं है। कोई कुछ भी कहे, सुने, करे, प्रेमी अपने ढंगसे सोचता है। प्रियतमकी स्तुति सुनकर जहाँ प्रसन्न होना चाहिये, वहाँ प्रेमी कभी-कभी उससे तटस्थ हो जाता है; वह सब सुन-सुनकर उसके चित्तमें व्यथा होने लगती है। प्रियतमकी निन्दा सुनकर जहाँ दुःख होना चाहिये, वहाँ प्रेमी सुखका अनुभव करने लगता है—उन बातोंको परिहास समझकर। दोषके कारण उसका प्रेम क्षीण नहीं होता, गुणोंके कारण बढ़ता नहीं; क्योंकि वह तो आठों पहर एकरस, एक-सा रहता है। अपनी महिमामें प्रतिष्ठित, अपने स्वरसमें डूबा हुआ नैसर्गिक प्रेम कुछ ऐसा ही होता है—कुछ ऐसी ही उसकी प्रक्रिया है। श्रीरूप गोस्वामीके शब्दोंमें—

स्तोत्रं यत्र तटस्थतां प्रकटयच्चित्तस्य धत्ते व्यथां
निन्दापि प्रमदं प्रयच्छति परीहासश्रियं बिभ्रती।
दोषेण क्षयितां गुणेन गुरुतां केनाप्यनातन्वती
प्रेम्णः स्वारसिकस्य कस्यचिदियं विक्रीडति प्रक्रिया॥

प्रेम-नगरकी रीति ही निराली है, स्थूल लोककी मर्यादाएँ उसके बाहरी फाटकतक भी नहीं फटक पातीं।

अपने प्रियतमको अपने हृदयसे निकालनेके लिये योग! भला, यह भी कोई प्रेम है? हाँ, अवश्य ही यह प्रेम है। शुद्ध प्रेम है। इसीसे तो श्रीकृष्ण इनके बुलानेसे बोलते हैं, हँसानेसे हँसते हैं, खिलानेसे खाते हैं। श्रीकृष्ण इनके जीवन-प्राणसे एक हो गये हैं, वे अपने श्रीकृष्णको प्राणोंसे अलग करना चाहती हैं। इसका अर्थ है कि वे उन प्राणोंको छोड़ देना चाहती हैं, जो बिना श्रीकृष्णके भी जीवित हैं। इनका यह योग तभीतक चल सकता है, जबतक श्रीकृष्णकी बाँसुरी नहीं बजती। जिस समय विश्वविमोहन मोहनकी मुरली बज उठेगी, उस समय इनकी सब योग-समाधि भूल जायगी। इतनी मधुरिमा है उसमें कि बड़े-बड़े समाधिनिष्ठ योगी इस बातकी अभिलाषा किया करते हैं कि वंशीकी मधुरध्वनि कब मेरी समाधि तोड़ेगी। वंशीध्वनिके सम्बन्धमें जानते हो न, वह क्या-क्या कर गुजरती है इस संसारमें—

रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन्मुहुस्तुम्बुरुं
ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान् विस्मापयन् वेधसम्।
औत्सुक्यावलिभिर्बलिं चटुलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन्
भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः॥

'जब वंशी बजती है, तब बादलोंका गति-रोध हो जाता है। संगीत-सम्राट् तुम्बुरु गन्धर्व बार-बार चमत्कृत हो उठते हैं। सनक, सनन्दन आदिके हृदयमें रसका समुद्र उमड़ने लगता है और वे अपनी सब ध्यान-धारणा छोड़ बैठते हैं। ब्रह्मा चकित, स्तम्भित, विस्मित होकर कहने लगते हैं---'मेरी सृष्टिमें इतना माधुर्य कहाँ!' रसातलके एकच्छत्र अधिपति दैत्यराज बलिका चित्त उत्सुकताकी परम्परासे अस्थिर हो जाता है। शेषनाग आघूर्णित होने लगते हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका घेरा तोड़-फोड़कर सम्पूर्ण जगत्‌में परिव्याप्त हो जाती है यह वंशीध्वनि।'

वंशीकी इस उन्मादक स्वर-लहरीके स्पर्शसे अपनेको कौन नहीं भूल जाता? इसीके द्वारा निखिल जगत्‌का चुम्बन करके श्रीकृष्ण एक गुदगुदी उत्पन्न किया करते हैं, सोये हुए प्रेमको जगाया करते हैं।

अभी जो यह ध्यान कर रही हैं, उनकी यह स्थिति है कि यह अपने चित्तको श्रीकृष्णसे अलग करना चाहती हैं और इनका चित्त अणु-अणुमें, परमाणु-परमाणुमें श्रीकृष्णको ही देख रहा है। इनका प्रेमोन्मत्त चित्त प्रत्येक ध्वनिको श्रीकृष्णकी ध्वनि समझ रहा है, प्रत्येक स्पर्शको श्रीकृष्णका स्पर्श समझ रहा है, इनके हृदयकी आँखें श्रीकृष्णके ही मोहक रूपरसको पीकर छक रही हैं और नासिकामें वही उन्मादक दिव्य सुगन्ध भर रही है। इनके बार-बार मना करनेपर भी मन उन्हींके साथ क्रीड़ा करने लगता है और यह भी उसीमें तन्मय हो जाती हैं। घंटोंतक आत्मविस्मृत रहनेके बाद एकाध बार इन्हें अपनी अवस्थाका ध्यान हो आता है और तब यह अपने चित्तको उधरसे खींचना चाहती हैं। परंतु यह योग-साधना क्या उन्हें श्रीकृष्णसे अलग कर सकती है? अजी, योग-साधनामें क्या रखा है, संसारकी कोई भी शक्ति इन्हें श्रीकृष्णसे अलग नहीं कर सकती और तो क्या, स्वयं श्रीकृष्ण भी इन्हें अपनेसे अलग नहीं कर सकते।

जानते हो इस समय श्रीकृष्णकी क्या दशा होगी? इनका यह प्रेमोन्माद क्या उनसे छिपा होगा? नहीं, नहीं, वे सब जानते हैं, अपने प्रेमियोंकी अनिर्वचनीय स्थिति देखकर स्वयं मुग्ध होते रहते हैं। अपने प्रेमियोंके प्रेमको जगानेके लिये ही तो उनकी आँखसे ओझल हो जाते हैं। वे अब भी कहीं यहीं होंगे। इन व्रजदेवीकी जैसी प्रेममयी स्थिति है, वैसी ही उनकी भी होगी। उन्हें सर्वत्र गोपियोंका ही दर्शन होता होगा। अब वे आते ही होंगे। देखो न, वह आ रहे हैं। वह फहराता हुआ पीताम्बर, मन्द-मन्द पद-विन्यास, हाथमें बाँसुरी, मेघश्याम श्रीविग्रह, मन्द-मन्द मुसकान, प्रेमभरी चितवन, अनुग्रहपूर्ण भौंहें, उन्नत ललाट, गोरोचनका तिलक, काले-काले घुँघराले बाल, मयूरपिच्छका मुकुट—सब-का-सब आँखोंमें, प्राणोंमें, हृदयमें और आत्मामें दिव्य अमृतका सञ्चार कर रहा है। देखो तो कुछ गाते हुए आ रहे हैं। हमलोग अलग होकर सुनें और उनकी लीलाओंका आनन्द लें। अच्छा, क्या गुनगुना रहे हैं?

राधा पुरः स्फुरति पश्चिमतश्च राधा
राधाधिसव्यमिह दक्षिणतश्च राधा।
राधा खलु क्षितितले गगने च राधा
राधामयी मम बभूव कुतस्त्रिलोकी॥

मेरे सामने राधा है, मेरे पीछे राधा है; मेरे बायें राधा है, मेरे दाहिने राधा है; पृथिवीमें राधा है, आकाशमें राधा है—यह सम्पूर्ण त्रिलोकी मेरे लिये राधामय क्यों हो गयी?

* * *

भगवत्प्रेमकी प्राप्ति ही मानव-जीवनका लक्ष्य है

[परम पूज्यपाद श्रीहरिबाबाजी महाराजके सदुपदेश]

भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके कुछ उपाय

भगवत्प्रेमकी प्राप्ति ही मानव-जीवनका प्रमुख लक्ष्य है। सभी धर्मशास्त्रोंने भगवत्कृपाकी प्राप्तिके लिये निश्छल हृदयसे भगवान्‌के प्रति अनन्य प्रेमभावना उद्दीप्त कर, हर क्षण उन्हींका स्मरण करते-करते दैनिक कार्य करनेकी प्रेरणा दी है।

जो भगवान्‌के असली प्रेमी हैं, उनकी यह पहचान है कि यदि उन्हें क्षणभरके लिये भी भगवान्‌की विस्मृति हो जाय तो वे तड़प उठते हैं। अतः भगवत्प्रेममें निरन्तर निमग्न रहना चाहिये। सद्‌गृहस्थ अपने प्रतिदिनके कार्य सुचारुरूपसे चलाते-चलाते भी भगवत्प्रेममें डूबे रहते हैं—यह हमारे धर्मशास्त्रोंकी कथाओंसे स्पष्ट हो जाता है। भगवत्प्रेम-प्राप्तिके लिये हमें भगवन्नामका सहारा लेना पड़ेगा।

श्रीभगवन्नामकी बड़ी अद्भुत तथा विलक्षण महिमा है। श्रीभगवन्नाम ही साक्षात् भगवान् हैं। जिस प्रकार भगवान्‌का अवतार श्रीराम तथा श्रीकृष्णके रूपमें होता है, उसी प्रकार नाम भी भगवान्‌का स्वरूप तथा साक्षात् अवतार है। बंगालमें तो श्रीभगवन्नामको 'नामब्रह्म' कहकर पुकारते हैं। हमने बहुत-से ऐसे मन्दिर देखे हैं कि जिनमें श्रीठाकुरजी महाराजकी प्रतिमाकी जगह 'नाम ठाकुर' की ही पूजा होती है। नामका तत्त्व सबसे उत्कृष्ट है। भगवान्‌के नाममें अचिन्त्य शक्ति विद्यमान है। एक बार भी श्रीभगवन्नामका उच्चारण करनेमात्रसे ही अनन्त जन्मोंके पाप-ताप भस्मीभूत हो जाते हैं। नाम साक्षात् भगवान् हैं—इसमें तनिक भी संदेह मत करो और नामका सहारा लेकर सहज ही भवसागरसे पार हो जाओ।

वास्तवमें संसारी विद्या असली विद्या नहीं है, यह हमें संसारके मायाजालमें फँसानेवाली है। यह तो अविद्या है। असली विद्या वही है जो जीवके सब पापोंको दूर करके उसे भगवान् श्रीकृष्णके सम्मुख कर देती है और मायाजालसे छुड़ाकर प्रभु श्रीकृष्णसे मिला देती है।

जो भगवान्‌के सच्चे भक्त होते हैं, उनकी परीक्षा होती है। इससे वे बड़े दृढ़ हो जाते हैं और प्रभुके परम कृपापात्र बन जाते हैं। छोटे भक्तोंकी छोटी परीक्षा होती है और बड़े भक्तोंकी बड़ी। बड़े भक्तोंकी परीक्षाके लिये तो उनके सामने अप्सराएँतक भेजी जाती हैं और यदि वे उनके चक्करमें फँस गये तो मारे गये। नहीं तो वे सच्चे भक्त बन जाते हैं। भक्तोंको कामिनी-काञ्चनसे दूर रहना चाहिये। इनके जालमें फँस गये तो फिर भक्त कैसे?

किसी भी जीवको नीचा मत समझो, किसीका भी अपमान मत करो और अपनेको तृणसे भी नीचा समझो। जबतक हमारे हृदयमें दीनता न होगी, तबतक कुछ नहीं होगा। इस संसारमें अभिमान ही सबसे बुरी चीज है। इससे घोर अधःपतन हो जाता है। प्रायः ऐसा देखा गया है कि बड़े-बड़े विद्वान् और पण्डित औरोंको तो श्रीभगवन्नाम-जप-कीर्तन करनेका उपदेश देते हैं, परंतु अभिमानवश स्वयं नहीं करते और कीर्तनमें चुपचाप खड़े रहते हैं। वे समझते हैं कि हम तो बड़े विद्वान् हैं, हमें कीर्तन करके क्या करना है? कीर्तन तो छोटे मनुष्योंका काम है। यह अभिमान उन्हें कीर्तनके श्रेष्ठतम लाभसे वञ्चित कर देता है और घोर अधःपतन कर डालता है।

जब जीव भक्ति महारानीकी गोदमें बैठ जाता है, तब सचमुच ही उसका एक प्रकारसे नया जन्म होता है। भक्ति महारानीकी कृपासे उसमें अभिमानका नाम भी नहीं रहता।

श्रीभगवन्नाम-कीर्तनकी बड़ी अद्भुत महिमा है। भगवान् विष्णुने स्वयं अपने श्रीमुखसे देवर्षि नारदजी महाराजसे कहा है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड ९२।२२)

भगवान् कहते हैं कि 'नारदजी! जहाँपर मेरे भक्त कीर्तन करते हैं, मैं वहींपर रहता हूँ।' भगवान्‌ने कीर्तन-प्रेमियोंके प्रति जो उदारता दिखायी है, वह अपूर्व है। जितने भी ईश्वरप्राप्तिके मार्ग हैं, सभी ठीक हैं, परंतु कलियुगमें तो श्रीहरिकी भक्ति और श्रीहरिनाम-संकीर्तन ही कल्याणका एकमात्र सरल तथा सर्वोत्तम साधन है।

जो इस मायासे निकल गये हैं, उनकी यही पहचान है कि वे अपना हठ नहीं रखते और बड़े सरल तथा

निरभिमानी होते हैं। भगवान्‌के नामके प्रतापसे अभिमान उनके पास भी नहीं फटक सकता।

श्रद्धा और विश्वास ही भक्तिके प्राण हैं। श्रद्धा और विश्वासके बिना क्या होगा? कीर्तनमें बैठकर यह समझना चाहिये कि यहाँ भगवान् हमारे सामने बैठे हैं। नामसे ही भगवान्‌की प्राप्ति होगी। यह विश्वासकी बात है। नाम साक्षात् भगवान् है, ऐसा दृढ़ विश्वास होना चाहिये।

जितना प्रेम एक विषयी मनुष्यका विषयोंमें होता है, उतना ही प्रेम भगवान्‌में हो, तभी काम बनता है। प्रेमका राज्य अति विलक्षण है और वेदकी शक्तिकी भी उसमें गति नहीं है। प्रेमकी निष्ठा अति दुर्लभ है।

याद रखो कि जबतक तुम व्याकुल होकर प्रभुको नहीं पुकारोगे, तबतक कुछ नहीं होगा। यही एकमात्र उपाय है कि तुम रो-रोकर प्रभु श्रीकृष्णको पुकारो। बस, इसके सामने अन्य साधन कुछ भी नहीं हैं।

हमारे शास्त्र, वेद, पुराण और स्मृति—सबकी पूर्णता श्रीभगवद्दर्शनमें ही है। विद्याका मद हो जाता है, अतः इस मदसे बचते रहना चाहिये। आजकलके बहुत-से पण्डित ऐसे हैं कि जो विद्वान् तो अवश्य हैं, पर उनका आचरण ठीक नहीं है। वे स्वयंके आचरणपर ध्यान नहीं देते; सो ठीक नहीं है।

हमारे सभी वेद, शास्त्र, पुराण और सभी पूज्य ऋषि-महर्षि, साधु-संत-महात्मा यही कहते हैं तथा यही बतलाते हैं कि इस संसारमें दो ही चीजें पतनके कारण हैं—पहली चीज है सङ्ग और दूसरी भोजन। कुसङ्गसे सदा-सर्वदा बचते रहना चाहिये और भोजन सात्त्विक करना चाहिये। बढ़िया भोजन और बढ़िया कपड़ोंसे बचना चाहिये, यही कल्याणमार्ग है।

हमारा मन जबतक शुद्ध और पवित्र नहीं होगा, तबतक कल्याण नहीं होगा। शुद्ध और पवित्र मन तब होगा, जब हमारा भोजन शुद्ध तथा पवित्र होगा। भोजन शुद्ध और पवित्र तब होगा जब वह बेईमानीके पैसेका न होकर शुद्ध कमाईका होगा एवं उस भोजनको बनानेवाला भी मांसभक्षक तथा नीच, हृदयका पापी और पतित नहीं होगा।

व्यभिचारिणी स्त्री तथा रजस्वला स्त्रीके हाथका बना और होटलोंका बना भोजन करनेसे एवं अंडे, मांस, मछली, प्याज-लहसुन आदि तामसिक पदार्थोंके खानेसे हमारा मन कभी शुद्ध तथा पवित्र नहीं रह सकता। मनके शुद्ध हुए बिना भजन-ध्यान नहीं हो सकता।

हम भोजनके सम्बन्धमें आपको अपना अनुभव सुनाते हैं। जबतक हम बाँधपर रहे और बाँधके आसपासके गाँवोंके लोगोंकी हाथ-पैरकी मेहनतसे शुद्ध कमाईके द्वारा लाये गये अन्नकी रोटी खाते रहे, तबतक तो हमारा मन बड़ा शुद्ध, शान्त, सात्त्विक तथा पवित्र बना रहा और हमें भजन-कीर्तनमें अद्भुत आनन्द आता रहा। इसके विपरीत जबसे हमें शहरोंमें रहनेके कारण बाबू लोगोंका अन्न खाना पड़ रहा है, जो आजकल प्रायः बेईमानीके कमाये धनसे बनता है, हमारा मन पहले-जैसा शुद्ध नहीं दिखलायी देता। वह अशान्त-सा रहता है और भजन-कीर्तनमें भी इसी कारण पहले जैसा अद्भुत आनन्द नहीं प्राप्त होता।

ग्रामोंकी सनातनधर्मी गरीब हिंदू जनताकी रूखी-सूखी शुद्ध कमाईकी रोटी खानेमें जो सुख है तथा विलक्षण आनन्द है और उससे जैसा भजन-ध्यान-कीर्तन होता है, मन शान्त रहता है, वह सुख, आनन्द, शहरमें बड़ी-बड़ी आलीशान कोठियोंमें रहनेवाले, प्रायः असत्-मार्गकी कमाईसे पैसा पैदा करनेवाले लोगोंके छप्पन प्रकारके सुस्वादु भोजन करनेमें कहाँ प्राप्त हो सकता है? इसलिये जिसे अपना परम कल्याण करना हो और मनको शुद्ध, पवित्र तथा सात्त्विक रखकर भजन-ध्यानका विलक्षण आनन्द लूटना हो, उसे होटलोंका और बेईमानीकी कमाईका भोजन भूलकर भी नहीं करना चाहिये। ***'जैसा खावे अन्न वैसा बने मन'***—इस बातको कभी नहीं भूलना चाहिये।

भगवान् अपने भक्तोंके अधीन हैं। भगवान्‌को अपने भक्त जितने प्यारे हैं, उतने और कोई भी नहीं हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे श्रीउद्धवजीसे कहा था कि 'उद्धव! मुझे तुम्हारे-जैसे भक्त जितने प्यारे हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मा शंकर, भाई बलरामजी, अर्धाङ्गिनी लक्ष्मी तथा मेरा अपना आत्मा भी प्यारा नहीं है।' भगवान् भक्तके लिये ही लीला करते हैं। भगवान्‌के लिये उनके प्राणप्यारे भक्त ही लीलाधर हैं।

श्रीमन्महाप्रभु गौराङ्गदेव अपनी माताजीके ऐसे अनन्य भक्त थे कि जितनी बार भी उन्हें उनकी माताजी मिलतीं उतनी ही बार श्रीमन्महाप्रभुजी पृथ्वीपर लेटकर श्रीमाताजीको साष्टाङ्ग प्रणाम किया करते। श्रीमन्महाप्रभुजी अपनी माताजीके इतने बड़े परम भक्त होनेपर भी माताजीसे कहा करते थे—'माताजी! जो भगवान् श्रीकृष्णके भक्तोंसे घृणा करता है, वह

मुझे तनिक भी प्रिय नहीं है।' इसलिये भगवद्भक्तोंका भूलकर भी कभी अपमान नहीं करना चाहिये।

श्रीमन्महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेवका अवतार उस समय हुआ था, जिस समय सब लोग भगवद्भक्तोंको और भक्तिको बड़ी घृणाकी दृष्टिसे देखने लगे थे तथा उनको अत्यन्त तुच्छ समझते थे। उस समय तिलक लगाना भी कठिन हो गया था। श्रीमन्महाप्रभुजीने प्रकट होकर सबको बताया—'भक्तिके बिना जीवका कदापि कल्याण नहीं होगा।' उन्होंने घर-घर जाकर श्रीहरिनाम-संकीर्तनकी धूम मचा दी। आज भी यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो श्रीहरिनामका सहारा लो, तभी कल्याण होगा।

भगवन्नाम-कीर्तन करके अगर तुम किसी अन्य वस्तुको चाहते हो तो भगवान् हाथसे निकल जायँगे। चाहे जो हो जाय कुछ भी न माँगो। भले ही सब कुछ नष्ट हो जाय, किंतु भगवत्सम्बन्ध न टूटने पाये।

मुझे तो सब मार्ग एक ही ओरको गये दीखते हैं; एक ही फल दीखता है। पर वहाँ पहुँचनेके लिये, उससे मिलनेके लिये बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी देनी पड़ेगी।

सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥
(रा०च०मा० ५।४८।५)

हे मन! तू अपनी चतुराई छोड़ दे, यह समझ कि भगवान् हमारे हैं और हम भगवान्के हैं।

नियमपूर्वक सत्संग करके मनको भगवान्में लगाओ। भगवत्प्रेम प्राकृतिक वस्तु नहीं है, वह तो चिन्मय रस है।

जब समष्टिकी लगन होती है, तब भगवान् अवतार लेते हैं और एककी ही लगन होती है तब उसके भावानुसार उसे दर्शन देते हैं। लगन निरन्तर प्रतिक्षण बढ़ती रहनी चाहिये। लगन बढ़ती है—भगवत्कृपासे, महाप्रभुजीकी कृपासे और पूर्ण भक्तकी कृपासे।

समस्त संसारमें जितने भी रस हैं, उन सबके सार श्रीकृष्ण हैं। जीव तभीतक प्राकृतिक रसोंके वशीभूत है, जबतक वह श्रीकृष्णरससे वञ्चित है।

जो श्रीकृष्ण हैं, वे ही श्रीराधिका हैं, जो श्रीराधिका हैं, वे ही श्रीकृष्ण हैं। दोनों परस्पर अभिन्न हैं, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार शक्ति और शक्तिमान्, गुलाबका फूल तथा उसकी सुगन्ध। बल्कि यों कहिये कि श्रीजीके द्वारा ही श्रीकृष्णका आनन्द है। वैष्णवोंने श्रीजीको 'आह्लादिनी शक्ति' कहा है, जिसका सार प्रेम है।

हमारे मन कितने मलिन हैं, जो हम श्रीकृष्ण और श्रीराधामें पुरुष-स्त्रीका भाव करते हैं। वहाँ तो इसकी गन्ध भी नहीं है। उनकी लीलाओंका रहस्य जाननेके लिये, बड़े ऊँचे भाववाले परम पवित्र मन चाहिये। हमारे मन तो प्राकृतिक रागको क्षणमात्र भी नहीं त्याग सकते। सचमुच, यदि मन मायासे ऊपर उठ जाय तो नया जन्म ही हो जाय।

जो लोग भगवान्की लीलाओंमें तर्क-वितर्क करते हैं, उन्हें उत्तर देनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि भगवान्पर उनका विश्वास ही नहीं है।

हमें यदि उस रसको पीना है तो भले ही इसके लिये संसारसे हमारी जड़ कट जाय। उसकी लगनमें हँसते-हँसते सिरतक दे देना चाहिये।

हम कथा-कीर्तन सुनते-करते हैं, पर वे सब ऊपर-ही-ऊपर हवाकी तरह उड़ जाते हैं। अंदर गहरी तहमें चले जायँ तो फिर क्या कहने हैं?

जैसे बच्चा माताकी गोदमें जानेके लिये रोता है, वैसे ही माता भी बच्चेको गोदमें लेनेके लिये आतुर होती है। इसी प्रकार जो जीव भगवान्से मिलना चाहते हैं तो भगवान् भी चाहते हैं कि ये जीव मेरी ओर आयें।

भगवान् बड़ा बनना नहीं चाहते। वे चाहते हैं कि जीव मुझे छोटा बनाकर मुझसे प्यार करे। बड़ा बननेकी धुन तो सांसारिक मनुष्यमें होती है। जो यह समझता है कि भगवान् तो हमारे ही हैं, उसे भजन करनेकी जरूरत नहीं होती। श्रीमहाप्रभुजीने यही बतलाया था कि 'जीवो! भगवान्से डरो मत, राधा-कृष्ण कहो, उनसे खूब प्रेम करो।'

हम छोटे-से त्यागको भी बहुत कुछ समझ लेते हैं, परंतु भगवान्के लिये हमें सारे सांसारिक सम्बन्धोंका त्याग करना होगा। वह भी सदाके लिये और हँसते-हँसते प्रसन्नताके साथ।

साधकको किसी बलकी जरूरत नहीं है, वह केवल यही विश्वास रखे कि भगवान् हमारे हैं। बस, इसीकी जरूरत है। जब महाप्रभुजीने हमें अपना लिया तो फिर डरनेकी क्या आवश्यकता है?

जब भगवत्कृपा होगी, तब सब कुछ अपने-आप ही हो जायगा। हमें कुछ करनेकी जरूरत ही नहीं होगी। हमें तो भगवत्प्रेममें निमग्न रहकर भगवान्की कृपाप्राप्तिके लिये प्रयासरत रहना चाहिये। [प्रस्तोता—गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी]

* * *

भगवत्प्रेमकी आनन्दात्मकताका रहस्य

[ब्रह्मलीन योगिराज श्रीदेवराहा बाबाजी महाराजके अमृतोपदेश]

भगवत्प्रेम ही विश्वप्रेम है और वही परमानन्द है। आनन्द और प्रेम दोनों की प्रक्रिया एक है। आनन्दमें अहम्का बन्धन क्षीण होता है और भगवत्प्रेममें भेद-दृष्टि समाप्त हो जाती है। जबतक जीव अहंता और ममतासे आवृत रहता है, तबतक उसमें भेदभाव भी रहता है और वासनाजन्य प्रेम भी। प्रेमसे जब वासनाका भाव विच्छिन्न हो जाता है तो विशुद्ध आनन्दकी प्राप्ति होती है। अतः आनन्दकी उत्कृष्ट इच्छा ही भगवत्प्रेम कहलाती है। **'वासुदेवः सर्वम्'** की भावनासे पूर्णतः भावित होकर भक्त साधक भगवत्प्रेमकी दिव्यताको प्राप्त होता है। इस प्रकार उपास्य, उपासक और उपासनारूपी त्रिपुटीका लय ही भगवत्प्रेमका सच्चा व्यापार है। इस स्थितिमें सब कुछ आत्मस्वरूप ही हो जाता है, व्यवहारमें कुछ भेद बना भी रहे तो कोई हानि नहीं। तुलसीदास, कबीरदास, ज्ञानदेव, तुकाराम आदि संतोंने समग्र विश्वको उसकी विभूतिके रूपमें ही स्वीकार किया है। संत तुकाराम कहते हैं—

गुड़ सा मीठा है भगवान्, बाहर भीतर एक समान।
किसका ध्यान करूँ सविवेक, जल तरंग से हैं हम एक॥

इसी प्रकार कबीरदासने भी कहा है—

लोगा भरमि न भूलहु भाई।
खालिकु खलक खलक महि खालिकु पूर रह्यो सब ठाईं॥
माटी एक अनेक भाँति करि साजी साजनहारै।
ना कछु पोच माटी के भाँणे ना कछु पोच कुँमारै॥
सब महि सच्चा एको सोई, तिसका किया सब किछु होई।
हुकम पछानै सु ऐकी जानै बंदा कहियै सोई॥
अल्लह अलख न जाई लखिया गुरु गुड़ दीना मीठा॥
कहि कबीर मेरी संका नासी, सर्व निरंजन डीठा॥

(कबीर-ग्रन्थावली परिशिष्ट १२)

सर्वात्म-दर्शनका मूल तत्त्व यही है कि जो आत्मा मुझमें है, वही सभी प्राणियोंमें भी है—**'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'**। श्रीमद्भागवत महापुराणमें भी यही बात कही गयी है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

(११।२।४५)

अर्थात् आत्मस्वरूप भगवान् समस्त प्राणियोंमें आत्मारूपसे—नियन्तारूपसे स्थित हैं। जो कहीं भी न्यूनाधिकता न देखकर सर्वत्र परिपूर्ण भगवत्सत्ताको ही देखता है और साथ ही समस्त प्राणी एवं समस्त पदार्थ आत्मस्वरूप भगवान्में ही आधेयरूपसे अथवा अध्यस्त रूपसे स्थित हैं, अर्थात् वास्तवमें भगवत्स्वरूप ही हैं—इस प्रकार जिसका अनुभव है, ऐसी जिसकी सिद्ध दृष्टि है, उसे भगवान्का परम प्रेमी उत्तम भागवत समझना चाहिये।

भगवत्प्रेमकी वास्तविक उपलब्धिहेतु कुछ सरलभाव निर्दिष्ट हैं—

(१) जब कहीं जाओ तो यह समझो कि भगवान्की परिक्रमा कर रहे हैं।

(२) कुछ भी देखो तो समझो कि हम भगवान्के विभिन्न रूपोंके दर्शन कर रहे हैं।

(३) जब भोजन करो तो यह भाव रखो कि भगवान्का प्रसाद पा रहे हैं।

(४) जब जल पीयो तो यह समझो कि भगवान्का चरणामृत पान कर रहे हैं।

(५) जब सोओ तो भगवान्का नाम-गुण-चिन्तन करते हुए सोओ और यह समझो कि प्रभुकी ममतामयी गोदमें विश्राम कर रहे हैं।

(६) जब जगो तो यह समझो कि भगवान्का ही कार्य करनेके लिये जगे हैं।

[प्रेषक—श्रीमदनजी शर्मा शास्त्री 'मानसकिंकर']

~~~
~~~

प्रेमकी विभिन्न अवस्थाएँ

(गोलोकवासी संत पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज)

कैतवरहितं प्रेम नहि भवति मानुषे लोके।
यदि भवति कस्य विरहो विरहे सत्यपि को जीवति॥

लोक-मर्यादाको मेटकर मोहनसे मन लगानेको मनीषियोंने प्रेम कहा है। प्रेमके लक्षणमें इतना ही कहना यथेष्ट है कि **'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्'** अर्थात् गोपियोंके शुद्ध प्रेमको ही 'काम' के नामसे पुकारनेकी परिपाटी पड़ गयी है। इससे यही तात्पर्य निकला कि प्रेममें इन्द्रिय-सुखकी इच्छाओंका एकदम अभाव होता है; क्योंकि गोपिकाओंके काममें किसी प्रकारके अपने शरीर-सुखकी इच्छा नहीं थी। वे जो कुछ करती थीं केवल श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके निमित्त। इसलिये शुद्ध प्रेम इन्द्रिय और उनके धर्मोंसे परेकी वस्तु है। इसीको 'राग' के नामसे भी पुकारते हैं। इस 'काम', 'प्रेम' अथवा 'राग' के तीन भेद हो सकते हैं—पूर्वराग, मिलन, बिछोह या विरह।

जिसके हृदयमें प्रेम उत्पन्न हो जाता है, उसे घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार और संसारी विषयभोग कुछ भी नहीं सुहाते। सदा अपने प्यारेका ही चिन्तन बना रहता है। रागमार्गके उपासक वैष्णवोंने अपने ग्रन्थोंमें ऐसे प्रेमियोंकी भिन्न-भिन्न दशाओंका बड़े विस्तारके साथ वर्णन किया है। इस संकुचित स्थलमें न तो उनका उल्लेख ही हो सकता है और न यहाँ उनके उल्लेखका कुछ विशेष प्रयोजन ही दिखायी देता है। इस सम्बन्धमें अष्ट सात्त्विक भावोंका बहुत उल्लेख आता है और वे ही अत्यन्त प्रसिद्ध भी हैं, अतः यहाँ बहुत ही संक्षेपमें पहले उन्हीं आठ भावोंका वर्णन करते हैं। वे आठ ये हैं—स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वर-भंग, पुलक और प्रलय। अब इनकी संक्षिप्त व्याख्या सुनिये—

स्तम्भ—शरीरका स्तब्ध हो जाना। मन और इन्द्रियाँ जब चेष्टारहित होकर निश्चल हो जाती हैं, उस अवस्थाको स्तम्भ कहते हैं।

कम्प—शरीरमें कँपकँपी पैदा हो जाय, उसे 'वेपथु' या 'कम्प' कहते हैं। अर्जुनकी युद्धके आरम्भमें भयके कारण ऐसी ही दशा हुई थी। उन्होंने स्वयं कहा है—

'वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥'

अर्थात् मुझे कँपकँपी छूट रही है, रोंगटे खड़े हो गये हैं।

स्वेद—शरीरमेंसे पसीना छूटना या पसीनेमें 'लथपथ' हो जाना, इसे 'स्वेद' कहते हैं।

अश्रु—बिना प्रयत्न किये शोक, विस्मय, क्रोध अथवा हर्षके कारण आँखोंमेंसे जो जल निकलता है, उसे 'अश्रु' कहते हैं। हर्षमें जो अश्रु निकलते हैं, वे ठण्डे होते हैं और वे प्रायः आँखोंकी कोरसे नीचेको बहते हैं। शोकके आँसू गरम होते हैं और वे आखोंके बीचसे ही बहते हैं।

स्वरभंग—मुखसे अक्षर (शब्द)-का स्पष्ट उच्चारण न हो सके, उसे 'स्वरभेद', 'गद्गद' या स्वर-भंग कहते हैं।

वैवर्ण्य—उपर्युक्त कारणोंसे मुखपर जो एक प्रकारकी उदासी, पीलापन या फीकापन आ जाता है, उसे 'वैवर्ण्य' कहते हैं। उसका असली स्वरूप है—'आकृतिका बदल जाना।'

पुलक—शरीरके सम्पूर्ण रोम खड़े हो जायँ, उसे पुलक या रोमाञ्च कहते हैं।

प्रलय—जहाँ शरीरका तथा भले-बुरेका ज्ञान ही न रह जाय, उसे प्रलय कहते हैं। इन्हीं सब कारणोंसे बेहोशी आ जाती है। इस अवस्थामें प्रायः लोग पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं। 'बेहोश होकर धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़नेका नाम प्रलय है।'

उपर्युक्त सभी भाव हर्ष, विस्मय, क्रोध, शोक आदि कारणोंसे होते हैं, किंतु ईश्वर-प्रेमके पक्षमें ही ये प्रशंसनीय हैं।

पहले हम पूर्वराग, मिलन और वियोग अथवा बिछोह—ये तीन अवस्थाएँ प्रेमकी बता चुके हैं। अब उनके सम्बन्धमें कुछ सुनिये—

पूर्वराग—प्यारेसे साक्षात्कार तो हुआ नहीं है, किंतु चित्त उसके लिये तड़प रहा है। इसे ही संक्षेपमें पूर्वराग कह सकते हैं। दिन-रात उसीका ध्यान, उसीका चिन्तन और उसीके सम्बन्धका ज्ञान बना रहे। मिलनेकी उत्तरोत्तर इच्छा बढ़ती ही जाय, इसीका नाम पूर्वराग है। इस दशामें शरीरसे, घर-द्वार तथा जीवनसे भी एकदम वैराग्य हो जाता है। उदाहरणके लिये इसी श्लोकको लीजिये—

हे देव! हे दयित! हे भुवनैकबन्धो!
हे कृष्ण! हे चपल! हे करुणैकसिन्धो!

हे नाथ! हे रमण! हे नयनाभिराम!
हा! हा! कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे?

हे देव! हे दयालो! हे विश्वमें एकमात्र बन्धु! हे श्याम! अरे ओ चपल! हे करुणाके सागर! हे स्वामिन्! हे मेरे साथ रमण करनेवाले! हे मेरे नेत्रोंको सुख देनेवाले प्राणेश! तुम मुझे दर्शन कब दोगे?

उपर्युक्त श्लोकमें परम करुणापूर्ण सम्बोधनोंद्वारा बड़ी ही मार्मिकताके साथ प्यारेसे दर्शन देनेकी प्रार्थना की गयी है। सचमुच अनुराग इसीका नाम है। ऐसी लगन हो, तब कहीं वह निगोड़ा इस ओर दृष्टिपात करता है। बड़ा निर्दयी है!

मिलन—दूसरा है, सम्मिलन-सुख। यह विषय वर्णनातीत है। सम्मिलनमें क्या सुख है, यह बात तो अनुभवगम्य है, इसे तो प्रेमी और प्रेमपात्रके सिवा दूसरा कोई जान ही नहीं सकता। इसीलिये कवियोंने इसका विशेष वर्णन नहीं किया है। सम्मिलन-सुखको तो दोनों एक होकर ही जान सकते हैं, वे स्वयं उसका वर्णन करनेमें असमर्थ होते हैं, फिर कोई वर्णन करे भी तो कैसे करे? अनुभव होनेपर वर्णन करनेकी शक्ति नहीं रहती और बिना अनुभवके वर्णन व्यर्थ है। इसलिये इस विषयमें सभी कवि उदासीन-से ही दीख पड़ते हैं। श्रीमद्भागवत आदिमें वर्णन है, किंतु वह आटेमें नमकके ही समान प्रसंगवश यत्किञ्चित् है। सभीने विरहके वर्णनमें ही अपना पाण्डित्य प्रदर्शित किया है और यदि कुछ वर्णन हो सकता है तो यत्किञ्चित् विरहका ही हो भी सकता है। उसीके वर्णनमें मजा है। सम्मिलन-सुखको तो सिर्फ वे दोनों ही लूटते हैं। सुनिये, रसिक रसखानजीने दूर खड़े होकर इस सम्मिलनका बहुत ही थोड़ा वर्णन किया है, किंतु वर्णन करनेमें कमाल कर दिया है। दो प्रेमियोंके सम्मिलनका इतना सजीव और सुन्दर चित्र शायद ही किसी अन्य कविकी कवितामें मिले। एक सखी दूसरी सखीसे श्रीराधिकाजी और श्रीकृष्णके सम्मिलनका वर्णन कर रही है। सखी कहती है—

ए री! आज-काल्हि सब लोक-लाज त्यागि दोऊ,
सीखे हैं सबै बिधि सनेह सरसायबो।
यह रसखान दिन द्वै में बात फैलि जैहै,
कहाँलौं सयानी! चन्द हाथन छिपायबो॥
आज हौं निहार्‌यो वीर, निपट कलिन्दी तीर,
दोउनको दोउन सौं मुख मुसकायबो।
दोऊ परैं पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ,
उन्हें, भूल गयीं गैयाँ, इन्हें गागर उठायबो॥

कैसा सजीव वर्णन है। वह भी कालिन्दीकूलपर एकान्तमें हुआ था, इसलिये छिपकर सखीने देख भी लिया, कहीं अन्तःपुरमें होता तो फिर वहाँ उसकी पहुँच कहाँ?

'दोऊ परैं पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ,
उन्हें, भूल गयीं गैयाँ, इन्हें गागर उठायबो॥'

—कहकर तो सखीने कमाल कर दिया है। धन्य है ऐसे सम्मिलनको।

वियोग—तीसरी दशा है विरहकी। इन तीनोंमें उत्तरोत्तर एक-दूसरीसे श्रेष्ठ हैं। पूर्वानुरागकी अपेक्षा मिलन श्रेष्ठ है और मिलनकी अपेक्षा विरह श्रेष्ठ है। प्रेमरूपी दूधका विरह ही मक्खन है। इसीलिये कबीरदासजीने कहा है—

बिरहा-बिरहा मत कहौ, बिरहा है सुलतान।
जेहि घट बिरह न संचरै, सो घट जान मसान॥

विरहके भी तीन भेद हैं—भविष्यविरह, वर्तमानविरह और भूतविरह। इनमें भी परस्परमें उत्तरोत्तर उत्कृष्टता है। भावी-विरह बड़ा ही करुणोत्पादक है, उससे भी दुःखदायी वर्तमान-विरह। भूत-विरह तो दुःख-सुखकी पराकाष्ठासे परे ही है।

पहले भावी-विरहको ही लीजिये। 'प्यारा कल चला जायगा' बस, इस भावके उदय होते ही कलेजेमें जो एक प्रकारकी ऐंठन-सी होने लगती है, उसी ऐंठनका नाम 'भावी-विरह' है।

ऐसी विरह-वेदना अपने किसी प्रियके विछोहमें सभीके हृदयमें होती है, किंतु श्रीकृष्णके मथुरा-गमनका समाचार सुनकर गोपिकाओंको जो भावी-विरह-वेदना हुई, वह तो कुछ बात ही अनोखी है। वैसे तो सभीका विरह उत्कृष्ट है, किंतु श्रीराधिकाजीके विरहको ही सर्वोत्कृष्ट माना गया है। एक सखी हृदयको हिला देनेवाले समाचारको लेकर श्रीमतीजीके समीप जाती है। उसे सुनते ही श्रीराधिकाजी कर्तव्यविमूढ़-सी होकर प्रलाप करने लगती हैं। उनके प्रलापका मिथिलाके अमर कवि श्रीविद्यापति ठाकुरने बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है—राधिकाजी कह रही हैं—

'मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? कुछ अच्छा नहीं लगता। अरे! ये निष्ठुर प्राण भी तो नहीं निकलते। प्रियतमके लिये मैं किस देशमें जाऊँ? रजनी बीतनेपर प्रातःकाल किसके

कमलमुखकी ओर निहारूँगी? प्यारे तो दूर देशमें जा रहे हैं, मैं उनके विरह-शोकमें मर जाऊँगी। समुद्रमें कूदकर प्राण गँवा दूँगी, जिससे लोगोंकी दृष्टिसे ओझल रह सकूँ। नहीं तो प्यारेको गलेकी माला बनाकर देश-विदेशोंमें योगिनी बनकर घूमती रहूँगी।' यह भावी-विरहका उदाहरण है। अब वर्तमान-विरहकी बात सुनिये—

जो अबतक अपने साथ रहा, जिसके साथ रहकर भाँति-भाँतिके सुख भोगे और विविध प्रकारके आनन्दका अनुभव किया, वही जानेके लिये एकदम तैयार खड़ा है। उस समय दिलमें जो एक प्रकारकी धड़कन होती है, वह सीनेमें कोई मानो एक साथ ही सैकड़ों सुइयाँ चुभो रहा हो, उसी प्रकारकी-सी कुछ-कुछ दशा होती है, उसे ही 'वर्तमान-विरह' कहते हैं।

गोपिकाओंके बिना इस विरह-वेदनाका अधिकारी दूसरा हो ही कौन सकता है? रथपर बैठकर मथुरा जानेवाले श्रीकृष्णके विरहमें व्रजाङ्गनाओंकी क्या दशा हुई, इसे भगवान् व्यासदेवकी ही अमरवाणीमें सुनिये। उनके बिना इस अनुभवगम्य विषयका वर्णन कर ही कौन सकता है—

एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं
व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः।
विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं
गोविन्द दामोदर माधवेति॥

(श्रीमद्भा० १०।३९।३१)

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्‌से कह रहे हैं—'राजन्! जिनके चित्त श्रीकृष्णमें अत्यन्त ही आसक्त हो रहे हैं, जो भविष्यमें होनेवाले विरह-दुःखको स्मरण करके घबड़ायी हुईं, नाना भाँतिके आर्त-वचनोंको कहती हुईं और लोक-लाज आदिकी कुछ भी परवा न करती हैं, वे ऊँचे स्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर हा गोविन्द! हा माधव! हा दामोदर! कह-कहकर रुदन करने लगीं।' यही वर्तमान विरहका सर्वोत्तम उदाहरण है।

प्यारे चले गये, अब उनसे फिर कभी भेंट होगी या नहीं—इसी द्विविधाका नाम 'भूत-विरह' है। इसमें आशा-निराशा दोनोंका सम्मिश्रण है। यदि मिलनकी एकदम आशा ही न रहे तो फिर जीवनका काम ही क्या? फिर तो क्षणभरमें इस शरीरको भस्म कर दें। प्यारेके मिलनकी आशा तो अवश्य ही है, किंतु पता नहीं वह आशा कब पूरी होगी। पूरी होगी भी या नहीं, इसका भी कोई निश्चय नहीं। बस, प्यारेके एक ही बार दूरसे ही थोड़ी ही देरके लिये क्यों न हो, दर्शन हो जायँ! बस, इसी एक लालसासे वियोगिनी अपने शरीरको धारण किये रहती है। उस समय उसकी दशा विचित्र होती है। साधारणतया उस विरहकी दस दशाएँ बतायी गयी हैं। वे ये हैं—

चिन्तात्र जागरोद्वेगौ तानवं मलिनाङ्गता।
प्रलापो व्याधिरुन्मादो मोहमृत्युर्दशा दश॥

(उज्ज्वलनीलमणि शृ० १५३)

'चिन्तां, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनाङ्गता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु—ये ही विरहकी दस दशाएँ हैं।' अब इनका संक्षिप्त विवरण सुनिये—

चिन्ता—अपने प्यारेके ही विषयमें सोते-जागते, उठते-बैठते हर समय सोचते रहनेका नाम चिन्ता है। मनमें दूसरे विचारोंके लिये स्थान ही न रहे। व्रजभाषा-गगनके परम प्रकाशवान् नक्षत्र 'सूर' ने चिन्ताका कैसा सजीव वर्णन किया है—

नाहिंन रह्यो हियमें ठौर।
नन्द-नन्दन अछत कैसे आनिये उर और॥
चलत, चितवत, दिवस, जागत, स्वप्न, सोवत रात।
हृदयतें वह स्याम मूरति छिन न इत उत जात॥
कहत कथा अनेक ऊधो लोक-लाज दिखात।
कहा करौं तन प्रेम-पूरन घट न सिन्धु समात॥
श्याम गात सरोज-आनन ललित-गति मृदु हास।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास॥

प्यासेको फिर नींद कहाँ? नींद तो आँखोंमें ही आती है और आँखें ही रूपकी प्यासी हैं, ऐसी अवस्थामें नींद वहाँ आ ही नहीं सकती। इसलिये विरहकी दूसरी दशा 'जागरण' है।

जागरण—न सोनेका ही नाम 'जागरण' है, यदि विरहिणीको क्षणभरके लिये निद्रा आ जाय तो वह स्वप्नमें तो प्रियतमके दर्शन-सुखका आनन्द उठा ले। किंतु उसकी आँखोंमें नींद कहाँ? श्रीराधिकाजी अपनी एक प्रिय सखीसे कह रही हैं—

याः पश्यन्ति प्रियं स्वप्ने धन्यास्ताः सखि योषितः।
अस्माकं तु गते कृष्णे गता निद्रापि वैरिणी॥

(पद्यावली)

'प्यारी सखी! वे स्त्रियाँ धन्य हैं जो प्रियतमके दर्शन स्वप्नमें तो कर लेती हैं। मुझ दुःखिनीके भाग्यमें तो यह सुख भी नहीं बदा है। मेरी तो वैरिणी निद्रा भी श्रीकृष्णके साथ-ही-साथ मथुराको चली गयी। वह मेरे पास आती ही नहीं।' निद्रा आये कहाँ, आँखोंमें तो प्यारेके रूपने अड्डा जमा लिया है। एक म्यानमें दो तलवार समा ही कैसे सकती हैं?

उद्वेग—हृदयमें जो एक प्रकारकी हलचल और बेकली होती है, उसीका नाम उद्वेग है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने उद्वेगका कितना सुन्दर वर्णन किया है—

ब्याकुल ही तड़पौं बिनु प्रीतम,
कोऊ तौ नेकु दया उर लाओ।
प्यासी तजौं तनु रूप-सुधा बिनु,
पानिय पीको पपीहै पिआओ॥
जीयमें हौस कहूँ रहि जाय न,
हा! 'हरिचंद' कोऊ उठि धाओ।
आवै न आवै पियारो अरे! कोउ,
हाल तौ जाइकै मेरो सुनाओ॥

LIBRARY
Gurukul Kangri Vishwavidyalaya
HARDWAR

पागलपनकी हद हो गयी न! भला कोई जाकर हाल ही सुना देता तो इससे क्या हो जाता? अब चौथी दशा कृशताका समाचार सुनिये—

कृशता—प्यारेकी यादमें बिना खाये-पीये दिन-रात चिन्ता करनेके कारण शरीर जो दुबला हो जाता है, उसे 'कृशता' या 'तानव' कहते हैं। इसका उदाहरण लीजिये। गोपियोंकी दशा देखकर उद्धवजी मथुरा लौटकर आ गये हैं और बड़े ही करुण-स्वरसे श्रीराधिकाजीकी दशाका वर्णन कर रहे हैं। प्रज्ञाचक्षु सूरने तो इस वर्णनमें कमाल ही कर दिया है, सुनिये—

चित्त दै सुनौ स्याम प्रवीन!
हरि! तुम्हारे बिरह राधा, मैं जु देखी छीन॥
तज्यो तेल, तमोल, भूषन, अंग बसन मलीन।
कंकना कर बाम राख्यो, गाढ़ भुज गहि लीन॥
जब सँदेसो कहन सुन्दरि, गवन मो तन कीन।
खसि मुद्रावलि चरन अरुझी, गिरि धरनि बलहीन॥
कंठ बचन न बोल आवै, हृदय आँसुनि भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनों, ग्रसित आपद दीन॥
उठि बहुरि संभारि भट ज्यों, परम साहस कीन।
'सूर' प्रभु कल्यान ऐसे, जियहि आशा लीन॥

यदि इसी एक अद्वितीय पदको विरहकी सभी दशाओंके लिये उद्धृत कर दें तो यह सम्पूर्ण विरह-वेदनाके चित्र खींचनेमें पर्याप्त होगा। विरहिणी श्रीराधाकी कृशता, मलिनाङ्गता, चिन्ता, उद्वेग, व्याधि, मोह और मृत्युतककी दसों दशाओंका वर्णन इसी एक पदमें कर दिया गया है। मृत्युको शास्त्रकारोंने साक्षात् मृत्यु न बताकर 'मृत्युतुल्य अवस्था' ही बताया है। श्रीराधिकाजीकी इससे बढ़कर और मृत्यु-तुल्य अवस्था हो ही क्या सकती है?

मलिनाङ्गता—'शरीरकी सुध न होनेसे शरीरपर मैल जम जाता है, बाल चिकट जाते हैं, वस्त्र गन्दे हो जाते हैं। इसे ही 'मलिनाङ्गता' या 'मलिनता' कहते हैं। ऊपरके पदमें राधिकाजीके लिये आया ही है—

'तज्यो तेल, तमोल, भूषन, अंग बसन मलीन।'

प्रलाप—शोकके आवेशमें अपने-परायेको भूलकर जो पागलोंकी तरह भूली-भूली बातें करने लगते हैं, उसका नाम 'प्रलाप' है। श्रीसीताजीकी खोजमें श्रीलक्ष्मणजीके साथ श्रीरामचन्द्रजी वनोंमें भटक रहे हैं। हृदयमें भारी विरह है, अपने-परायेका ज्ञान नहीं, शरीरका होश नहीं, चौंककर खड़े हो जाते हैं और प्रलाप करने लगते हैं—

कोऽहं ब्रूहि सखे स्वयं स भगवानार्यः स को राघवः
के यूयं बत नाथ नाथ किमिदं दासोऽस्मि ते लक्ष्मणः।
कान्तारे किमिहास्महे बत सखे देव्यागतिर्मृग्यते
का देवी जनकाधिराजतनया, हा जानकि क्वासि हा॥

भगवान् लक्ष्मणजीसे चौंककर पूछते हैं—'भैया! मैं कौन हूँ, मुझे बताओ तो सही।'

लक्ष्मण कहते हैं—'प्रभो! आप साक्षात् भगवान् हैं।'

फिर पूछते हैं—'कौन भगवान्?'

लक्ष्मण कहते हैं—'रघु महाराजके वंशमें उत्पन्न होनेवाले श्रीराम।'

फिर चारों ओर देखकर पूछते हैं—'अच्छा, तुम कौन हो?'

यह सुनकर अत्यन्त ही अधीर होकर लक्ष्मणजी दीनताके साथ कहते हैं—'हे स्वामिन्! हे दयालो! यह आप कैसी बातें कर रहे हैं? मैं आपका चरणसेवक लक्ष्मण हूँ।'

भगवान् फिर उसी प्रकार कहते हैं—'तब फिर हम यहाँ जङ्गलोंमें क्यों घूम रहे हैं?'

शान्तिके साथ धीरेसे लक्ष्मणजी कहते हैं—'हम

देवीकी खोज कर रहे हैं।'

चौंककर भगवान् पूछते हैं—'कौन देवी?'

लक्ष्मणजी कहते हैं—'जगद्वन्दिनी, जनकनन्दिनी श्रीसीताजी।'

बस, सीताजीका नाम सुनते ही 'हा सीते! हा जानकि! तू कहाँ चली गयी' कहते-कहते भगवान् मूर्च्छित हो जाते हैं। इन बेसिर-पैरकी बातोंका ही नाम 'प्रलाप' है।

व्याधि—शरीरमें किसी कारणवश जो वेदना होती है उसे 'व्याधि' कहते हैं और मनकी वेदनाको 'आधि' कहते हैं। विरहकी 'व्याधि' भी एक दशा है। उदाहरण लीजिये। श्रीराधाजी अपनी प्रिय सखी ललितासे कह रही हैं—

उत्तापी पुटपाकतोऽपि गरलग्रामादपि क्षोभणो
दम्भोलेरपि दुःसहः कटुरलं हृन्मग्नशल्यादपि।
तीव्रः प्रौढविसूचिकानिचयतोऽप्युच्चैर्ममायं बली
मर्माण्यद्य भिनत्ति गोकुलपतेर्विश्लेषजन्माज्वरः॥
(ललितमाधव नाटक)

'हे सखि! गोकुलपति उस गोपालका विच्छेद-ज्वर मुझे बड़ी ही पीड़ा दे रहा है। यह पात्रमें तपाये सुवर्णसे भी अधिक उत्तापदायी है। पृथ्वीपर जितने जहर हैं, उन सबसे भी अधिक क्षोभ पहुँचानेवाला है, वज्रसे भी दुःसह है, हृदयमें छिदे हुए शल्यसे भी अधिक कष्टदायी है तथा तीव्र विषूचिकादि रोगोंसे भी बढ़कर यन्त्रणाएँ पहुँचा रहा है। प्यारी सखि! यह ज्वर मेरे मर्मस्थानोंका भेदन कर रहा है।' इसीका नाम 'विरह-व्याधि' है।

उन्माद—साधारण चेष्टाएँ जब बदल जाती हैं और विरहके आवेशमें जब विरहिणी अटपटी तथा विचित्र चेष्टाएँ करने लगती है तो उसे ही 'विरहोन्माद' कहते हैं। उदाहरण लीजिये। उद्धवजी मथुरा पहुँचकर श्रीराधिकाजीकी चेष्टाओंका वर्णन कर रहे हैं—

भ्रमति भवनगर्भे निर्निमित्तं हसन्ती
प्रथयति तव वार्ता चेतनाचेतनेषु।
लुठति च भुवि राधा कम्पिताङ्गी मुरारे
विषमविषयखेदोद्गारविभ्रान्तचित्ता॥

अर्थात् हे श्रीकृष्ण! श्रीराधिकाजीकी दशा क्या पूछते हो, उसकी तो दशा ही विचित्र है। घरके भीतर घूमती रहती है, बिना बात ही खिलखिलाकर हँसने लगती है, चेतन-अवस्थामें हो या अचेतनावस्थामें, तुम्हारे ही सम्बन्धके उद्गार निकालती है। कभी धूलिमें ही लोट जाती है, कभी थर-थर काँपने ही लगती है। हे मुरारे! मैं क्या बताऊँ, वह विधुवदनी राधा तुम्हारे विषम विरह-खेदसे विभ्रान्त-सी हुई विचित्र ही चेष्टाएँ करती है।

नीचेके पदमें भारतेन्दु बाबूने भी 'उन्मादिनी' का बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है, किंतु इसे 'विरहोन्माद' न कहकर 'प्रेमोन्माद' कहना ही ठीक होगा। सुनिये, साँवरेके स्नेहमें सनी हुई एक सखीकी कैसे विचित्र दशा हो गयी है, पद्य पढ़ते-पढ़ते भाव सजीव होकर आँखोंके सामने नृत्य करने लगता है—

भूली-सी, भ्रमी-सी, चौंकी, जकी-सी, थकी गोपी,
दुखी-सी रहति कछु नाहीं सुधि देहकी।
मोही-सी, लुभाई, कुछ मोदक-सो खाये सदा,
बिसरी-सी रहै नेकु खबर न गेहकी॥
रिस भरी रहै, कबौं फूली न समाति अंग,
हँसि-हँसि कहै बात अधिक उमेहकी।
पूँछे ते खिसानी होय, उत्तर न आवै ताहि,
जानी हम जानी है निसानी या सनेहकी॥

मोह—अत्यन्त ही वियोगमें अङ्गोंके शिथिल हो जानेसे जो एक प्रकारकी मूर्च्छा-सी हो जाती है, उसे 'मोह' कहते हैं। यह मृत्युके समीपकी दशा है। इसका चित्र तो हमारे रसिक हरिश्चन्द्रजी ही बड़ी खूबीसे खींच सकते हैं। लीजिये, मोहमें मग्न हुई एक विरहिनके साक्षात् दर्शन कीजिये—

थाकी गति अंगनकी, मति परि गई मंद,
सूखि झाँझरी-सी ह्वै कैं देह लागी पियरान।
बावरी-सी बुद्धि भई, हँसी काहू छीन लई,
सुखके समाज, जित तित लागे दूरि जान॥
'हरीचन्द' रावरे विरह जग दुखमयो,
भयो कछु और होनहार लागे दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे, बैनहु अथान लागे,
आयो प्राननाथ! अब प्रान लागे मुरझान॥

सचमुच यदि प्राणनाथके पधारनेकी आशा न होती तो ये कुम्हिलाये हुए नैन और अथाये हुए बैन कबके पथरा गये होते। मुरझाये हुए प्राण, प्राणनाथकी आशासे ही अटके हुए हैं। 'मोह' की दशाका इससे उत्तम उदाहरण और कहाँ मिलेगा।

मृत्यु—मृत्युकी अब हम व्याख्या क्या करें। मृत्यु ही

गयी तो झगड़ा मिटा, दिन-रातके दुःखसे बचे, किंतु ये मधुररसके उपासक रागानुयायी भक्त कवि इतनेसे ही विरहिणीका पिण्ड नहीं छोड़ेंगे। मृत्युका वे अर्थ करते हैं, 'मृत्युके समान अवस्था हो जाना।' इसका दृष्टान्त लीजिये। बँगलाके प्रसिद्ध पदकर्ता श्रीगोविन्ददासजीकी अमर-वाणीमें ही व्रजवासियोंकी दशमी दशाका दर्शन कीजिये—

माधव! तुहु यब निरदय भेल।
मिछई अवधि दिन, गणि कत राखब, ब्रजबधु-जीवन-शेल॥
कोइ धरनितल, कोइ यमुनाजल, कोइ-कोइ लुठइ निकुञ्ज॥
एतदिन विरहे, मरण-पथ पेखलु, तोहे तिरविध पुनपुञ्ज॥
तपत सरोवर, थोरि सलिल जनु आकुल सफरि परान॥
जीवन मरण, मरण वर जीवन 'गोविन्ददास' दुख जान॥

दूती कह रही है—'प्यारे माधव! भला, यह भी कोई अच्छी बात है, तुम इतने निर्दय बन गये? दुनियाभरके झूठे, कलकी कह आये थे, अब कल-ही-कल कितने दिन हो गये। इस प्रकार झूठ-मूठ दिन गिनते-गिनते कबतक उन सबको बहलाते रहोगे। अब तुम्हें व्रजकी दयनीय दशा क्या सुनाऊँ, वहाँका दृश्य बड़ा करुणोत्पादक है। कोई गोपी तो पृथ्वीपर लोट-पोट हो रही है, कोई यमुनाजीमें ही कूद रही है, कोई-कोई निभृत निकुञ्जोंमें ही लम्बी-लम्बी साँसें ले रही हैं। इस प्रकार वे अत्यन्त ही कष्टके साथ दिन-रात्रि बिता रही हैं। तुम्हारे विरहमें अब वे मृत्युके समीप ही पहुँच चुकी हैं। यदि वे सब मर गयीं तो सैकड़ों स्त्रियोंके वधका पाप तुम्हारे ही सिर लगेगा। उनकी दशा ठीक उन मछलियोंकी-सी है, जो थोड़े जलवाले गड्ढेमें पड़ी हों और सूर्य उस गड्ढेके सब जलको सोख चुका हो। वे जिस प्रकार थोड़ी-सी कीचमें सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंसे तड़पती रहती हैं, उसी प्रकार ये तुम्हारे विरहमें तड़प रही हैं। यह जीते हुए ही मरण है, यही नहीं, किंतु इस जीवनसे तो मरण ही लाख दर्जे अच्छा। गोविन्ददास कहते हैं, उनके दुःखको ऐसा ही समझो!'

नियमानुसार तो यहाँ विरहका अन्त हो जाना चाहिये था, किंतु वैष्णव कवि मृत्युके बाद भी फिर उसे होशमें लाते हैं और पुनः मृत्युसे आगे भी बढ़ते हैं। रागमार्गीय ग्रन्थोंमें इससे आगेके भावोंका वर्णन है।

अनुरागको शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान प्रवर्धनशील कहा गया है। (**प्रतिक्षणवर्द्धमानम्**) अनुराग हृदयमें बढ़ते-बढ़ते जब सीमाके समीपतक पहुँच जाता है तो उसे ही 'भाव' कहते हैं। वैष्णवगण इसी अवस्थाको 'प्रेमका श्रीगणेश' कहते हैं। जब भाव परम सीमातक पहुँचता है तो उसका नाम 'महाभाव' होता है। महाभावके भी 'रूढ' महाभाव और 'अधिरूढ' महाभाव दो भेद बताये गये हैं। 'अधिरूढ' महाभावके भी 'मोदन' और 'मादन' दो रूप कहे हैं। 'मादन' ही 'मोदन' के भावमें परिणत हो जाता है, तब फिर 'दिव्योन्माद' होता है। 'दिव्योन्माद' ही 'प्रेम' या रतिकी पराकाष्ठा या सबसे अन्तिम स्थिति है। इसके उद्घूर्णा, चित्र, जल्पादि बहुत-से भेद हैं। यह दिव्योन्माद श्रीराधिकाजीके ही शरीरमें प्रकट हुआ था। दिव्योन्मादावस्थामें कैसी दशा होती है, इस बातका अनुमान श्रीमद्भागवतके निम्नाङ्कित श्लोकसे कुछ-कुछ लगाया जा सकता है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४०)

श्रीकृष्णके श्रवण-कीर्तनका ही जिसने व्रत ले रखा है, ऐसा अवशचित्त पुरुष संसारी लोगोंकी कुछ भी परवा न करता हुआ अपने प्यारे श्रीकृष्णके नाम-संकीर्तनमें अनुरागवश कभी तो हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी गाता है और कभी थिरक-थिरककर नृत्य करने लगता है।

इस श्लोकमें '**रौति**' और '**रोदिति**' ये दो धातु साथ ही हैं। इससे खूब जोरोंसे ठाह मारकर रोना ही अभिव्यञ्जित होता है। '**रू**' धातु शब्द करनेके अर्थमें व्यवहृत होती है। जोरोंसे रोनेके अनन्तर जो एक करुणाजनक 'हा' शब्द आप-से-आप ही निकल पड़ता है वही यहाँ '**रौति**' क्रियाका अर्थ होगा। इसमें उन्मादकी अवस्थाका वर्णन नहीं है। यह 'उन्मादकी-सी अवस्था' का वर्णन है। उन्मादावस्था तो इससे भी विचित्र होती होगी। यह तो सांसारिक उन्मादकी बात हुई, दिव्योन्माद तो फिर उन्मादसे भी बढ़कर विचित्र होगा। वह अनुभवगम्य विषय है, श्रीराधिकाजीको छोड़कर और किसीके शरीरमें यह प्रकटरूपसे देखा अथवा सुना नहीं गया।

भावोंकी चार दशाएँ बतायी गयी हैं—(१) भावोदय, (२) भाव-सन्धि, (३) भाव-शाबल्य और (४) भाव-शान्ति।

किसी कारणविशेषसे जो हृदयमें भाव उत्पन्न होता है, उसे भावोदय कहते हैं। जैसे सायंकाल होते ही श्रीकृष्णके आनेका भाव हृदयमें उदित हो गया। हृदयमें दो भाव जब आकर मिल जाते हैं, तो उस अवस्थाका नाम भाव-सन्धि है, जैसे बीमार होकर पतिके घर लौटनेपर पत्नीके हृदयमें हर्ष और विषादजन्य दोनों भावोंकी सन्धि हो जाती है। बहुत-से भाव जब एक साथ ही उदय हो जायँ तब उसे भाव-शाबल्य कहते हैं। जैसे 'पुत्रोत्पत्तिके समाचारके साथ ही पत्नीकी भयंकर दशाका तथा पुत्रको प्राप्त होनेवाली उसके पुत्रहीन मातामहकी सम्पत्ति तथा उसके प्रबन्ध करनेके भाव एक साथ ही हृदयमें उत्पन्न हो जायँ।' इसी प्रकार इष्टवस्तुके प्राप्त हो जानेपर जो एक प्रकारकी सन्तुष्टि हो जाती है, उसे 'भाव-शान्ति' कहते हैं। जैसे रासमें अन्तर्धान हुए श्रीकृष्ण सखियोंको सहसा मिल गये, उस समय उनका अदर्शनरूप जो विरहभाव था, वह शान्त हो गया।

इसी प्रकार निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मरण, आलस्य, जाड्य, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, अमर्ष, असूया, चापल्य, सुप्त, उग्रता, उपालम्भ, निद्रा और विबोध—इन सबको व्यभिचारी भाव कहते हैं। इनका वैष्णव-शास्त्रोंमें विशदरूपसे वर्णन किया गया है।

इन सब बातोंका असली तात्पर्य यही है कि हृदयमें किसीकी लगन लग जाय, दिलमें कोई धँस जाय, किसीकी रूप-माधुरी आँखोंमें समा जाय और किसीके लिये उत्कट अनुराग हो जाय, तब बेड़ा पार हो जाय। एक बार उस प्यारेसे लगन लगनी चाहिये, फिर भाव, महाभाव, अधिरूढभाव तथा सात्त्विक विकार और विरहकी दशाएँ तो आप-से-आप उदित होंगी। पानीकी इच्छा होनी चाहिये। ज्यों-ज्यों पानीके बिना गला सूखने लगेगा, त्यों-त्यों तड़फड़ाहट आप-से-आप ही बढ़ने लगेगी। उस तड़फड़ाहटको बुलानेके लिये प्रयत्न न करना होगा। किंतु हृदय किसीको स्थान दे तब न, उसने तो काम-क्रोधादि चोरोंको स्थान दे रखा है, वहाँ फिर महाराज प्रेमदेव कैसे पधार सकते हैं? सचमुच हमारा हृदय तो वज्रका है। स्तम्भ, रोमाञ्च, अश्रु आदि आठ विकारोंमेंसे एक भी तो हमारे शरीरमें स्वेच्छासे उदित नहीं होता। भगवान् वेदव्यास तो कहते हैं—

तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥

(श्रीमद्भा० २।३।२४)

अर्थात् 'उस पुरुषके हृदयको वज्रकी तरह—फ़ौलादकी तरह समझना चाहिये, जिसके नेत्रोंमें हरि-नाम-स्मरणमात्रसे ही जल न भर आता हो, शरीरमें रोमाञ्च न हो जाते हों और हृदयमें किसी प्रकारका विकार न होता हो।' सचमुच हमारा तो हृदय ऐसा ही है। कैसे करें, क्या करनेसे नेत्रोंमें जल और हृदयमें विकृति उत्पन्न हो? महाप्रभु चैतन्यदेव भी रोते-रोते यही कहा करते थे—

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

अर्थात् हे नाथ! तुम्हारा नाम-ग्रहण करते-करते कब हमारे दोनों नेत्रोंमेंसे जलकी धारा बहने लगेगी, कब हम 'गद्गद कण्ठसे 'कृष्ण-कृष्ण' कहते हुए पुलकित हो उठेंगे?' वे महाभाग तो अपनी साधको पूरी कर गये। १८ वर्ष नेत्रोंमेंसे इतनी जलधारा बहायी कि कोई मनुष्य इतने रक्तका जल कभी बना ही नहीं सकता। गौर-भक्तोंका कहना है कि महाप्रभु गरुड-स्तम्भके समीप, जगमोहनके इसी ओर, जहाँ खड़े होकर दर्शन करते थे, वहाँ नीचे एक छोटा-सा कुण्ड था, महाप्रभु दर्शन करते-करते इतने रोते थे कि उस गड्ढेमें अश्रुजल भर जाता था। एक-दो दिन नहीं, साल-दो-साल नहीं, पूरे अठारह साल इसी प्रकार वे रोये। उन्मादावस्थामें भी उनका जगन्नाथजीके दर्शनोंका जाना बंद नहीं हुआ। यह काम उनका अन्ततक अक्षुण्ण-भावसे चलता रहा। वैष्णव-भक्तोंका कथन है कि महाप्रभुके शरीरमें प्रेमके ये सभी भाव प्रकट हुए। क्यों न हों, वे तो चैतन्यस्वरूप ही थे। अन्तमें श्रीललितकिशोरीजीकी अभिलाषामें अपनी अभिलाषा मिलाते हुए हम इस वक्तव्यको समाप्त करते हैं—

जमुना पुलिन कुंज गहवरकी कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पद-पंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै मधुरे-मधुरे गूँज सुनाऊँ॥
कूकर ह्वै बन बीथिन डोलौं बचे सीथ रसिकनके खाऊँ।
'ललितकिसोरी' आस यही मम ब्रज-रज तजि छिन अनत न जाऊँ॥

* * *

श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रेम-साधना

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—ऐसा समझकर, ज़रा भी स्वार्थ, अभिमान और कामना न रखकर एकमात्र भगवान्में ही अतिशय श्रद्धासे युक्त अनन्य प्रेम करना और भगवान्से भिन्न किसी भी वस्तुमें किञ्चिन्मात्र भी प्रेम न करना—यह अनन्य प्रेम है। अनन्य प्रेमके साधनका स्वरूप और फल गीता (१०।९-१०)-में इस प्रकार बताया गया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं एवं मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उपर्युक्त प्रकारसे ध्यान आदिद्वारा मुझमें निरन्तर रमण करने और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

यहाँ भगवान्ने ९वें श्लोकमें अनन्य प्रेमी भक्तके लक्षणोंके रूपमें छः साधन बतलाये हैं और १०वें श्लोकमें उनका फल बतलाया है। अब इनके विषयमें कुछ विस्तारसे विचार किया जाता है—

'मच्चित्ताः'

जैसे संसारी मनुष्य रात-दिन संसारमें ही रचे-पचे रहते हैं, वैसे ही भगवान्के प्रेमी भक्त भगवान्में ही रचे-पचे रहते हैं तथा जैसे संसारी मनुष्य हर समय मनसे संसारका ही चिन्तन करते रहते हैं, वैसे ही भगवद्भक्त हर समय मनसे भगवान्का ही चिन्तन करते रहते हैं। भगवान्से मिलनेके इच्छुक साधक भक्त मनसे भगवान्का आह्वान करके भगवान्का दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, पूजा, आदर, सत्कार और विनोद करते रहते हैं। सर्वप्रथम भक्त भगवान् श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अपने इष्टदेवका आह्वान करके चरणोंसे लेकर मस्तकतक वस्त्र-आभूषण-आयुध आदिके सहित उनके स्वरूपका श्रद्धा-प्रेमसे चिन्तन करता है। फिर मनसे ही अपने सम्मुख प्रकट मानसिक भगवान्के स्वरूपका मानसिक सामग्री और अपने मानसिक शरीरके द्वारा षोडश उपचारोंसे पूजन करता है। तत्पश्चात् आत्मीयतापूर्वक स्तुति-प्रार्थना करता है तथा मनसे ही उनके साथ आमोद, प्रमोद और विनोद करता हुआ आश्रम, घर या वनमें विचरण करता रहता है। जहाँ-जहाँ भगवान्के चरण टिकते हैं, उस-उस भूमिमें भगवान्का प्रभाव प्रवेश कर जाता है; इसलिये उस भूमिकी रजको परम पवित्र और कल्याणकारिणी हो गयी समझता है। जिस बिछौने, गद्दे या शतरंजीपर बैठकर भगवान्के साथ भक्त मनसे वार्तालाप करता है, उस शतरंजी और गद्दे आदिमें मानो भगवान्के दिव्य गुण-प्रभावके परमाणु प्रवेश कर गये, इसलिये उस शतरंजी गद्देको छूनेसे उसके शरीरमें रोमाञ्च हो जाते हैं तथा हृदय प्रफुल्लित होता रहता है। जैसे दो सखा आपसमें प्रेमकी बातचीत करते हैं, वैसे ही वह भगवान्के साथ दिव्य प्रेमकी मनसे ही बातचीत करता रहता है। प्रेमभरे नेत्रोंसे वे एक-दूसरेको देखते हैं। भगवान्के हृदयमें और नेत्रोंमें समता, शान्ति, ज्ञान, प्रेम आदि अनन्त दिव्य गुण भरे पड़े हैं, भगवान् मुझपर अनुग्रहपूर्ण दृष्टिपात करते हैं, जिससे वे गुण मेरे मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर और रोम-रोममें ऐसे प्रवेश कर रहे हैं कि उनमें समता, शान्ति, ज्ञान, आनन्द तथा प्रसन्नताकी सीमा ही नहीं रही। मानो मैं गुणोंके सागरमें डूबा हुआ हूँ—ऐसा उसे प्रत्यक्ष अनुभव होता है। भगवान्के नेत्रोंकी दृष्टि जहाँ-जहाँ पड़ती है, वे सब वस्तुएँ दिव्य अलौकिक कल्याणदायक हो जाती हैं—ऐसा अनुभव होने लगता है। फिर मानो भगवान् और भक्त दोनों एक साथ भोजन करने बैठे हैं तथा एक-दूसरेको परोस रहे हैं। भगवान्के स्पर्शसे वह भोजन दिव्य, अलौकिक रसमय, परम मधुर हो गया है। उस भोजनके करनेसे सारे शरीरमें इतनी प्रसन्नता, आनन्द, शान्ति और तृप्ति हो रही है कि उसका कोई ठिकाना नहीं है। भगवान्के अङ्गसे जिस वस्तुका स्पर्श हो जाता है, वह भी दिव्य रसमय, आनन्दमय, शान्तिमय, प्रेममय और कल्याणमय हो जाती है। भगवान् जिसको अपने मनसे स्मरण कर लेते हैं, वह वस्तु भी परम शान्ति, परमानन्द और परम कल्याणदायिनी हो जाती है। भगवान्में दिव्य सुगन्ध आती

है, वह नासिकाके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌की वाणी बड़ी ही कोमल और मधुर है, वह कानोंके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का चरण-स्पर्श हाथोंके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का दर्शन नेत्रोंके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का चिन्तन मनके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण-स्वरूपका जो तात्त्विक ज्ञान है, वह बुद्धिके लिये अमृतके समान है। इस प्रकार उनका दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन, आमोद, प्रमोद आदि सभी रसमय, आनन्दमय, प्रेममय और अमृतमय हैं। भगवान्‌के नाम, रूप, लीला और धाम सभी परम मधुर, दिव्य, अलौकिक तथा रसमय हैं। यों चिन्तन करते हुए वे प्रेमी भक्त अपने चित्तको सर्वथा भगवन्मय बना देते हैं, भगवान्‌के सिवा अन्य किसी भी पदार्थमें उनके मनकी प्रीति और वृत्ति नहीं रहती; अत: वे भगवान्‌को एक क्षण भी नहीं भूल सकते। एक भगवान्‌में ही उनका मन तन्मय होकर निरन्तर लगा रहता है।

'मद्‌गतप्राणाः'

वे प्रेमी भक्त उपर्युक्त भगवान्—श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अपने इष्टदेवके साक्षात् दर्शनके लिये उनको अपना जीवन, धन और प्राण—सर्वस्व समझकर अपने जीवनको उन्हींके अर्पण कर देते हैं। फिर उनकी सारी चेष्टाएँ भगवान्‌के लिये ही होने लगती हैं। उनका जीवन भगवान्‌के लिये ही होता है। उन्हें क्षणमात्रका भी भगवान्‌का वियोग असह्य हो जाता है। उनको भगवद्दर्शनके बिना चैन नहीं पड़ता, न रातको नींद आती है और न दिनमें भूख लगती है। भगवान्‌के सिवा कोई भी पदार्थ उन्हें अच्छा नहीं लगता। वे जलके बिना मछलीकी भाँति तड़फते रहते हैं। जैसे मछलीके प्राण जलगत हैं, उसी प्रकार उनके प्राण भगवद्‌गत हो जाते हैं। वे गोपियोंकी तरह विरहाकुल, पागल और उन्मत्त-से हुए भगवान्‌को ही खोजते-फिरते हैं। इस प्रकार वे अपने जीवन-प्राण सबको भगवान्‌के न्यौछावर कर देते हैं, उनका सब कुछ भगवान्‌के अर्पण हो जाता है। उन्हें खाने, पीने, बोलने, चलने आदिकी भी सुध-बुध नहीं रहती। यक्ष, राक्षस, देवता, मनुष्य, पशु आदि किसीकी भी परवा नहीं रहती। वे सबसे निर्भय होकर विचरते हैं। शास्त्रमर्यादा और लोकमर्यादाका भी उन्हें ज्ञान नहीं रहता। मन, तन, धन, जीवन, प्राण और सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण कर देनेके कारण भगवान्‌के सिवा अन्य किसीमें भी उनकी प्रीति तथा ममता नहीं रहती। वे एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर रहते हैं।

ऐसे प्रेमी भक्तके सम्बन्धमें ही श्रीसुन्दरदासजीने यह कहा है—

> न लाज तीन लोक की न बेद को कह्यौ करै।
> न संक भूत प्रेत की न देव यक्ष तें डरै॥
> सुनै न कान और की द्रसै न और इच्छना।
> कहै न मुख और बात भक्ति प्रेम लच्छना॥

'बोधयन्तः परस्परम्'

जैसे गोपियाँ भगवान्‌के प्रेमके तत्त्वको परस्पर एक-दूसरीको कहती और समझाती रहती थीं, वैसे ही वे भगवत्प्रेममें मग्न हुए प्रेमी भक्त अपने प्रेमी मित्रोंके साथ भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, प्रेम, गुण और प्रभावक चर्चा करते हुए एक-दूसरेको उनका तत्त्व-रहस्य समझा रहते हैं एवं अपने परम प्रिय भगवान्‌की लीला, चरित्र महिमा तथा भगवान्‌के माधुर्य, रूप-लावण्य, वस्त्र, आभूषण नाम और गुण-प्रभाव आदिके सम्बन्धमें परस्पर वार्ताला करते-करते उस विशुद्ध परम प्रेम तथा आनन्दमें तन्म एवं मुग्ध हो जाते हैं।

'कथयन्तश्च माम्'

इसी प्रकार वे भक्त भगवान्‌के प्रेमी भक्तों तथा अप प्रिय सखाओंके सम्मुख भगवान्‌के नामोंका कीर्तन औ गुणोंका गान करते रहते हैं एवं भगवान्‌के साकार, निराका सगुण, निर्गुण, स्वरूपके तत्त्वरहस्यका, भगवान्‌के चरि और दिव्य लीलाओंका, भगवान्‌के नामकी महिमाक भगवान्‌के नित्य परम धामके गुण-प्रभाव-तत्त्व-रहस्यक तथा भगवान्‌के दिव्य, अलौकिक, अनन्त नानाविध गुणों तत्त्व-रहस्यका पुस्तक, व्याख्यान और पत्र-व्यवहार आदि द्वारा वर्णन करते रहते हैं। ऐसा करते हुए वे भगवत्प्रेमम आनन्दमें विह्वल और मग्न हो जाते हैं। फिर भी, इन सबक वर्णन करनेसे वे कभी अघाते ही नहीं।

'नित्यं तुष्यन्ति च'

वे भक्त ऊपर बतायी हुई बातोंसे ही हर समय संतु रहते हैं। इनसे बढ़कर किसीको भी आनन्ददायक न समझते। वे भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको समझ-समझकर और संतुष्ट रहते हैं, परम शान्ति तथा परमानन्दके दि

रसमें हर समय मग्न रहते हैं। वे आमोद-प्रमोदपूर्वक हर समय इतने प्रसन्नचित्त रहते हैं कि भारी-से-भारी आपत्ति पड़नेपर भी उस आनन्दकी स्थितिसे विचलित नहीं होते, वरं अपने इष्टदेवके नाम, रूप, लीला, गुण और प्रभावको स्मरण करते हुए परम आनन्दमें ही मस्त रहते हैं। अपने परम प्यारे इष्टदेव परमात्माकी प्रेममयी लीला और चरित्रको मनसे ही देख-देखकर सदा परम संतुष्ट रहते हैं तथा भगवान्‌के परम मधुर स्वभाव, महिमा एवं रूप-माधुरीके तत्त्व-रहस्यको समझकर परम आनन्दमें मग्न रहते हैं।

'रमन्ति च'

वे परम प्रेमी भक्त भगवान्‌के साथ ही अलौकिक दिव्य आमोद-प्रमोदपूर्वक क्रीड़ा करते रहते हैं। वे निरन्तर एक भगवान्‌में ही सर्वथा रमण करते रहते हैं। अपने परम प्यारे भगवान्‌में दिव्य अलौकिक सुगन्ध आती रहती है, उसका नासिकासे स्वाद लेना नासिकाके द्वारा रमण है। भगवान्‌के प्रसादको पाकर जिह्वाके द्वारा उसका स्वाद लेना जिह्वाके द्वारा रमण है। भगवान्‌के नेत्रोंसे नेत्र मिलाकर, उनके नेत्रोंमें जो एक अलौकिक दिव्य प्रेम, रस और ज्ञानयुक्त ज्योति है, उसको देखते रहना नेत्रोंके द्वारा रमण है। भगवान्‌के चरणोंका हाथोंसे स्पर्श करना हाथोंके द्वारा रमण है। भगवान्‌के नूपुर, वंशी आदिकी ध्वनिको तथा उनकी प्रेमभरी कोमल, मधुर वाणीको सुन-सुनकर स्वाद लेना कानोंके द्वारा रमण है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, रूप, लीला आदिका चिन्तन करना मनसे भगवान्‌में रमण करना है तथा भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार-स्वरूपके तत्त्व-रहस्यको समझकर मुग्ध होते रहना बुद्धिके द्वारा उनमें रमण करना है। इस प्रकार भगवान्‌का आघ्राण, प्रसाद-भोग, दर्शन, स्पर्श, भाषण-श्रवण, चिन्तन, मनन आदि सभी परम मधुर, रसमय, प्रेममय, अमृतमय और आनन्दमय है—ऐसा समझकर वे प्रेमी भक्त अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़कर उनसे उनके दर्शन-भाषण आदि करनेमें ही अत्यन्त अनुपम रसास्वाद लेते हुए भगवान्‌में ही नित्य-निरन्तर रमण करते रहते हैं। गोपियोंका भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध दिव्य प्रेम था। उनके मन, प्राण और समस्त चेष्टाएँ एकमात्र अपने प्राणधन प्रेमास्पद भगवान्‌के ही अर्पित थीं तथा वे भगवान्‌के गुणोंका गान करती हुई उनके प्रेममें ही सदा मग्न रहती थीं। भागवतकार बतलाते हैं—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥

(श्रीमद्भा० १०।३०।४४)

'गोपियोंका मन श्रीकृष्णमय हो गया था। उनकी वाणीसे श्रीकृष्णचर्चाके अतिरिक्त और कोई बात नहीं निकलती थी। उनके शरीरसे केवल श्रीकृष्णके लिये और केवल श्रीकृष्णपरक चेष्टाएँ हो रही थीं। कहाँतक कहें, उनका आत्मा श्रीकृष्णमय हो रहा था। वे केवल श्रीकृष्णके गुणों और लीलाओंका ही गान कर रही थीं तथा उनमें इतनी तन्मय हो रही थीं कि उन्हें अपने शरीर और घरकी भी सुध-बुध नहीं रही।'

उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण और प्रभावका तत्त्व-रहस्य समझकर श्रद्धा-विश्वास तथा अनन्य प्रेमपूर्वक निरन्तर मनसे चिन्तन, दर्शन, भाषण एवं चरण-स्पर्श करना ही भगवान्‌को प्रीतिपूर्वक विशुद्ध, निष्कामभावसे भजना है। इस प्रकार भगवान्‌को भजनेवाले भक्त मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, ऐश-आराम, भोग और त्रिलोकीके ऐश्वर्यको तथा मुक्तिको भी नहीं चाहते। वे केवल विशुद्ध प्रेमके लिये ही भगवान्‌को अनन्यभावसे भजते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१४)

'जिसने अपनेको मुझे अर्पण कर दिया है, वह मेरे सिवा न तो ब्रह्माका पद चाहता है और न देवराज इन्द्रका। उसके मनमें न तो सार्वभौम सम्राट् बननेकी इच्छा होती है और न वह रसातलका ही स्वामी होना चाहता है तथा वह योगकी बड़ी-बड़ी सिद्धियों और मोक्षकी भी अभिलाषा नहीं करता।'

ऐसे अनन्य विशुद्ध प्रेम करनेवाले भक्तको भगवान् वह बुद्धियोगरूप विज्ञानसहित ज्ञान दे देते हैं, जिससे भगवान्‌के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण-स्वरूपका तत्त्व-रहस्य यथावत् समझमें आ जाता है और उसके फलस्वरूप उसे परम प्रेमास्पद भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌की प्राप्ति होनेके पश्चात् उसे केवल भगवान्‌का ही अनुभव रहता

है। वह अपने-आपको भी भूल जाता है। होश आनेके बाद उसकी सारी चेष्टाएँ भगवान्के ही मन और संकेतके अनुकूल कठपुतलीकी भाँति स्वाभाविक ही होती रहती हैं। फिर भगवान्की सारी चेष्टा भक्तके लिये और भक्तकी सारी चेष्टा भगवान्के लिये ही होती है। उनमें परस्पर नित्य-नया प्रेम सदा-सर्वदा समानभावसे जाग्रत् रहता है। परस्पर दोनोंकी चेष्टा एक-दूसरेको आह्लादित करनेके लिये ही होती है, जो कि एक-दूसरेके लिये लीलारूप है। प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमी—इनका नाम-रूप अलग-अलग है, परंतु वस्तुतः तीनों एक ही हैं। जैसे सुवर्णके आभूषणोंके नाम-रूप अलग-अलग होते हैं, किंतु वस्तुतः वे स्वर्ण ही हैं। इसी प्रकार परम दिव्य चिन्मय प्रेमस्वरूप परमात्मा ही प्रेमी, प्रेमास्पद और प्रेम नामसे व्यवहृत हुए हैं। भक्तकी दृष्टिमें तो भक्त प्रेमी, भगवान् प्रेमास्पद और उनका सम्बन्ध ही प्रेम है तथा भगवान्की दृष्टिमें भगवान् प्रेमी, भक्त प्रेमास्पद एवं उनका सम्बन्ध ही प्रेम है, अतः भगवान्की सारी चेष्टा भक्तके लिये लीला है और भक्तकी सारी चेष्टा भगवान्के लिये लीला है। एक-दूसरेकी चेष्टा एक-दूसरेकी प्रसन्नताके लिये ही होती है।

वहाँ एक-दूसरेके साथ लज्जा, मान, भय और आदर-सत्कार किंचिन्मात्र भी नहीं रहते। वस्तुतः तो एक ही हैं अतः कौन किसका किससे किसलिये लज्जा, मान, भय और आदर-सत्कार करे। दास्य और वात्सल्यभावमें तो आदर-सत्कार और भय रहते हैं, कान्ताभावमें भी आदर-सत्कार रहते हैं तथा सख्यमें भी लज्जा रहती है; किंतु यहाँ तो परस्पर लज्जा, भय, मान और आदर-सत्कारका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि भगवान्की प्राप्ति होनेके साथ ही दास्य, सख्य, कान्ताभाव, वात्सल्य, शान्त आदि सारे भावोंका उस भक्तमें समावेश हो जाता है। वह इन सारे भावोंसे अतीत केवल विशुद्ध चिन्मय परम प्रेमस्वरूप भगवान्को प्राप्त हो जानेके कारण इन भावोंसे ऊपर उठ जाता है। इस परम विशुद्ध दिव्य अलौकिक प्रेमकी प्राप्ति रहस्यमय है। इसका कोई वाणीद्वारा वर्णन नहीं कर सकता।

* * *

प्रेम-तत्त्व

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

कामनासे युक्त होकर जो ईश्वरका भजन-चिन्तन किया जाता है, वह कामनाकी पूर्ति होने या न होनेपर ईश्वरसे विमुखता उत्पन्न करता है। जैसे बच्चा माँसे पैसा माँगता है, जबतक माँ पैसा नहीं देती, तबतक तो वह माँकी ओर देखता रहता है, किंतु पैसा मिलते ही माँसे विमुख होकर भाग जाता है। यही दशा सकाम साधककी होती है।

इसी प्रकार जो भक्ति भगवान्के गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यको लेकर की जाती है, वह भी वास्तविक नहीं है। वह साधन-भक्ति है। प्रेम तो वह है, जो ईश्वरके साथ सम्बन्धसे होता है, जो उनको अपना माननेसे होता है। वे चाहे जैसे हों, मुझसे प्रेम करें या न करें, दयालु हों चाहे निष्ठुर हों, परंतु मेरे हैं—इस भावसे ही सच्चा प्रेम होता है। जैसे विवाहके पहले सगाई करते समय देखा जाता है कि लड़का कैसा है, परंतु जब सम्बन्ध हो जाता है, तब तो वह अपना हो जाता है, वह चाहे जैसा हो, सती स्त्रीका तो वही सर्वस्व है। उसने तो उसपर अपने-आपको न्योछावर कर दिया है। उसकी दृष्टि उसके गुण-दोषोंकी ओर नहीं जाती।

जो साधक भगवान्को अपना लेता है, उनसे प्रेम करना चाहता है, वह कैसा है—महान् दुराचारी है या सदाचारी, उच्च वर्णका है या नीच वर्णका—इसका भगवान् ज़रा भी विचार नहीं करते। जो उनको चाहता है, उनके साथ प्रेम करना चाहता है, वे उससे प्रेम करनेके लिये सदैव उत्सुक रहते हैं। साधक उनसे जितना प्रेम करता है, वे उससे कितना अधिक प्रेम करते हैं—इसका वाणीद्वारा कोई वर्णन नहीं कर सकता। भगवान्की इस महिमाको समझनेवाला साधक उनपर अपनेको न्योछावर कर देनेके सिवा और करेगा ही क्या!

यदि प्रेमकी इच्छा रहते हुए भी सचमुच प्रेम प्राप्त नहीं हुआ तो उसके न मिलनेकी गहरी वेदना होनी चाहिये।

वह वेदना अवश्य ही प्रेम चाहनेवालेको प्रेमकी प्राप्ति करा देगी। यदि प्रेमकी चाह है, परंतु उसके प्राप्त न होनेकी तीव्र वेदना नहीं है तो साधकको समझना चाहिये कि मेरे जीवनमें किसी-न-किसी प्रकारका अन्य रस है, जो मुझे प्रेमसे वञ्चित करनेवाला है। विचार करनेपर या तो किसी प्रकारके सद्‌गुणका अथवा किसी प्रकारके सदाचारका रस दिखलायी देगा; क्योंकि प्रेम चाहनेवालेके मनमें भोगवासना और भोगोंका रस तो पहले ही मिट जाना चाहिये। जबतक भोगोंमें रस प्रतीत होता है, तबतक तो प्रेमकी सच्ची चाह ही नहीं होती।

भगवत्प्रेमका मूल्य सद्‌गुण या सदाचार नहीं है। अतः उस प्रेममें प्रत्येक मनुष्यका अधिकार है। पतित-से-पतित भी भगवान्‌का प्रेम प्राप्त कर सकता है; क्योंकि जिस प्रकार भक्तवत्सल होनेके नाते श्रीहरि अपने भक्तसे स्नेह करते हैं, वैसे ही वे पतितपावन प्रभु अधमोद्धारक और दीनबन्धु भी तो हैं ही। अतः दीन, हीन और पतितसे भी वे प्यार करते हैं। उसे भी वे अपने प्रेमका पात्र समझते हैं। वे मनुष्यसे किसी सौन्दर्य या गुणके कारण प्रेम नहीं करते; क्योंकि अनन्त दिव्य सौन्दर्य, अनन्त दिव्य सद्‌गुणोंके वे केन्द्र हैं। किसी ऐश्वर्यके कारण प्रभु प्रेम करते हों, ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि उनके समान ऐश्वर्य किसीके पास है ही नहीं तो उनसे अधिक ऐश्वर्य हो ही कैसे सकता है। वे तो एकमात्र उसीसे प्रेम करते हैं, जो उनपर विश्वास करके यह मान लेता है कि मैं उनका हूँ, वे मेरे हैं। बस, इसके अतिरिक्त भगवान् और कुछ नहीं चाहते, इसलिये प्रत्येक मनुष्य उनके प्रेमका अधिकारी है।

प्रेम प्रदान करना या न करना प्रभुके हाथकी बात है। वे जब चाहें, जिसको चाहें, अपना प्रेम प्रदान करें अथवा न करें, इसमें साधकके वशकी बात नहीं है; किंतु उनका प्रेम न मिलनेसे व्याकुलता और बेचैनी तो होनी ही चाहिये। छोटी-से-छोटी चाह पूरी न होनेसे मनुष्य दुःखी हो जाता है, व्याकुल हो जाता है। फिर जिसको भगवान्‌के प्रेमकी चाह है और प्रेम मिलता नहीं, वह चैनसे कैसे रह सकता है? उसकी वेदनाको किसी भी भोगका, सद्‌गुणका और सदाचारका अथवा सद्‌गतिका सुख भी कैसे शान्त कर सकता है?

अतः जिस साधकको गोपीभाव प्राप्त करना हो और उनकी लीलामें प्रवेश करके गोपी-प्रेमकी बात समझनी हो, उसे चाहिये कि देहभावसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण भोगवासनाका त्याग कर दे; क्योंकि जबतक देहभाव रहता है अर्थात् मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ—ऐसा भाव होता है, तबतक गोपी-चरित्र सुनने और समझनेका अधिकार नहीं प्राप्त होता। फिर गोपी-प्रेम क्या है—यह तो कोई समझ ही कैसे सकता है।

जब भगवान् श्यामसुन्दरके प्रेमकी लालसा समस्त भोग-वासनाओंको समाप्त कर सबल हो जाती है, तब साधकका व्रजमें प्रवेश होता है। उसके पहले तो व्रजमें प्रवेश होना ही दुष्कर है। यह उस व्रजकी बात नहीं है, जहाँ लोग टिकट लेकर जाते हैं। यह तो वह व्रज है, जो प्रकृतिका कार्य नहीं, जहाँकी कोई भी वस्तु भौतिक नहीं और जिसका निर्माण दिव्य प्रेमकी धातुसे हुआ है। जहाँकी भूमि, ग्वाल-बाल, गोपियाँ, गायें और लता-पत्ता आदि सब-के-सब चिन्मय हैं। जहाँ जडता और भौतिक भावकी गन्ध भी नहीं है, उस व्रजमें प्रवेश हो जानेके बाद भी गोपीभावकी प्राप्ति बहुत दूरकी बात है। दासभाव, सख्यभाव और वात्सल्यभावके बाद कहीं गोपी-भावकी उपलब्धि होती है। फिर साधारण मनुष्य उस गोपी-प्रेमकी बात कैसे समझ और कह सकते हैं।

जबतक देहभाव रहता है, तभीतक भोगवासना और अनेक प्रकारके दोष रहते हैं और तभीतक दोषोंका नाश करके चित्तशुद्धिके लिये साधन करना रहता है। चित्तका सर्वथा शुद्ध हो जाना और सब प्रकारसे असत्‌का संग छूट जाना ही सच्चा व्रजमें प्रवेश है।

अतः जिस साधकको गोपी-प्रेम प्राप्त करना हो, उसे चाहिये कि पहले मुक्तिके आनन्दतकका लोभ छोड़कर व्रजमें प्रवेशका अधिकार प्राप्त करे। तत्पश्चात् भगवान्‌की कृपापर निर्भर होकर गोपी-भावको प्राप्त करे।

* * *

दिव्य-प्रेम

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

प्रेमकी सबसे पहली और एकमात्र मुख्य शर्त है—'स्वसुख-वाञ्छाकी कल्पनाका भी अभाव।' एक बड़ी सुन्दर निकुञ्ज-लीला है। एक सखीने नख-शिख शृङ्गार किया। ऐसा कि जो प्राणप्रियतम श्यामसुन्दरको परम सुख देनेवाला था। उसने दर्पणमें देखा और वह चली श्यामसुन्दरको दिखाकर उन्हें सुखी करनेकी मधुर लालसासे। प्रियतम श्यामसुन्दर निभृत निकुञ्जमें कोमल कुसुम और किसलयकी सुरभित शय्यापर शयन कर रहे हैं। अलसायी आँखोंमें नींद छायी है, बीच-बीचमें पलक खुलती है, पर तुरंत ही बंद हो जाती है। प्रेममयी गोपी आयी है अपनी शृङ्गारसुषमासे श्यामसुन्दरको सुखी करनेके लिये। उसके मनमें स्व-सुखकी तनिक भी वाञ्छा नहीं है; पर श्यामसुन्दर सो रहे हैं, वह चाहती है, एक बार देख लेते तो उन्हें बड़ा सुख होता। उसके हाथमें कमल था, उसके परागको वह उड़ाने लगी। सोचा, कोई परागकण प्रियतम श्यामसुन्दरके नेत्रोंमें पड़ जायगा तो कुछ क्षण नेत्र खुले रह जायँगे। इतनेमें वे मेरे शृङ्गारको देख लेंगे, उन्हें परम सुख होगा।

इसी बीचमें नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधारानी वहाँ आ पहुँचीं। उन्होंने प्यारी सखीसे पूछा—'क्या कर रही हो?' सखीने सब बताया। श्रीराधारानी स्वयं स्वभावसे ही श्यामसुन्दरका सुख चाहती हैं। पर यहाँ सखीकी यह चेष्टा उन्हें ठीक नहीं लगी। उन्होंने कहा—'सखी! तुम्हारा मनोभाव बड़ा मधुर है, पर श्यामसुन्दरको जब तुम सुखी देखोगी, तब तुम्हें अपार सुख होगा न? किंतु श्यामसुन्दरके इस सुखसे तुमको तभी सुख मिलेगा, जब उनकी सुख-निद्रामें विघ्न उपस्थित होगा। इस आत्मसुखके लिये, उनकी सुख-निद्रामें बाधा उपस्थित करना कदापि उचित नहीं है।' सखीने केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही शृङ्गार किया था, परंतु इसमें भी स्व-सुखकी छिपी वासना थी; इस बातको वह नहीं समझ पायी थी। प्रेमतत्त्वका सूक्ष्म दर्शन करनेवाली प्रेमस्वरूपा श्रीराधिकाजीने इसको समझा और सखीको रोक दिया। सखी प्रेमतत्त्वका सूक्ष्म परिचय पाकर प्रसन्न हो गयी।

गोपी चाहती है, श्रीश्यामसुन्दरके चरणकमल हमारे हृदयको स्पर्श करें, उन्हें इसमें अपार सुख भी मिलता है और वे यह भी जानती हैं, इससे प्रियतम श्यामसुन्दरको भी महान् सुख होता है, तथापि वे जितनी विरहव्यथासे व्यथित हैं उससे कहीं अधिक व्यथित इस विचारसे हो जाती हैं कि हमारे वक्षोजसे प्रियतमके कोमल चरणतलमें कहीं आघात न लग जाय। वे रासपञ्चाध्यायीके गोपीगीतमें गाती हैं—

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥

(श्रीमद्भा० १०।३१।१९)

'तुम्हारे चरण कमलसे भी अधिक कोमल हैं। उन्हें हम अपने कठोर उरोजोंपर भी बहुत ही डरते-डरते धीरेसे रखती हैं कि कहीं उनमें चोट न लग जाय। उन्हीं कोमल चरणोंसे तुम रात्रिके समय घोर अरण्यमें घूम रहे हो, यहाँके नुकीले कंकड़-पत्थरों आदिके आघातसे क्या उन चरणोंमें पीड़ा नहीं होती? हमें तो इस विचारमात्रसे ही चक्कर आ रहा है। हमारी चेतना लुप्त हुई जा रही है प्राणप्रियतम श्यामसुन्दर! हमारा जीवन तो तुम्हारे लिये है। हम तुम्हारी ही हैं।' अतः इस प्रेमराज्यमें किसी भी प्रकारसे निज सुखकी कोई भी वाञ्छा नहीं होती। इसीसे इसमें 'सर्वत्याग' है—त्यागकी पराकाष्ठा है। 'प्रेम' शब्द बड़ा मधुर है और प्रेमका यथार्थ स्वरूप भी समस्त मधुरोंमें परम मधुरतम है। परंतु त्यागमय होनेसे यह पहले है—बड़ा ही कटु, बड़ा ही तीखा। अपनेको सर्वथा खो देना है—तभी इसकी कटुता और तीक्ष्णता महा सुधामाधुरीमें परिणत होती है। गोपीमें वस्तुतः निज सुखकी कल्पना ही नहीं है, फिर अनुसंधान तो कहाँसे होता उसके शरीर, मन, वचनकी सारी चेष्टाएँ और सारे संकल

अपने प्राणाराम श्रीश्यामसुन्दरके सुखके लिये ही होते हैं, इसलिये उसमें चेष्टा नहीं करनी पड़ती। यह प्रेम न तो साधन है, न अस्वाभाविक चेष्टा है, न इसमें कोई परिश्रम है। प्रेमास्पदका सुख ही प्रेमीका स्वभाव है, स्वरूप है। 'हमारे इस कार्यसे प्रेमास्पद सुखी होंगे'—यह विचार उसे त्यागमें प्रवृत्त नहीं करता। सर्वसमर्पित जीवन होनेसे उसका त्याग सहज होता है। अभिप्राय यह कि उसमें श्रीकृष्णसुखकाम स्वाभाविक है, कर्तव्यबुद्धिसे नहीं है। उसका यह 'श्रीकृष्णसुखकाम' उसका स्वरूपभूत लक्षण है।

प्राणप्रियतम भगवान् श्यामसुन्दरका सुख ही गोपीका जीवन है। इसे चाहे 'प्रेम' कहें या 'काम'। यह 'काम' परम त्यागमय सहज प्रेष्ठसुख-रूप होनेसे परम आदरणीय है। मुनिमनोऽभिलषित है। 'काम' नामसे डरनेकी आवश्यकता नहीं है। '**धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ**'। भगवान्ने धर्मसे अविरुद्ध कामको अपना स्वरूप बतलाया है। भगवान्ने स्वयं कामना की—'मैं एकसे बहुत हो जाऊँ' '**एकोऽहं बहु स्याम्**'। इसी प्रकार 'रमण' शब्द भी भयानक नहीं है। भगवान्ने एकसे बहुत होनेकी कामना क्यों की? इसीलिये कि अकेलेमें 'रमण' नहीं होता—'**एकाकी न रमते**।' यहाँ भी 'काम' और 'रमण' शब्दका अर्थ गन्दा कदापि नहीं है, इन्द्रिय भोगपरक नहीं है। मोक्षकी कामनावालेको 'मोक्षकामी' कहते हैं। इससे वह 'कामी' थोड़े ही हो जाता है। इसी प्रकार गोपियोंका 'काम' है—एकमात्र 'श्रीकृष्णसुखकाम' और यह काम उनका सहजस्वरूप हो गया है। इसलिये यह प्रश्न ही नहीं आता कि गोपियाँ कहीं यह चाहें कि हमारे इस 'काम' का कभी किसी कालमें भी नाश हो। यह काम ही उनका गोपीस्वरूप है। इसका नाश चाहनेपर तो गोपी गोपी ही नहीं रह जाती। वह अत्यन्त नीचे स्तरपर आ जाती है, जो कभी सम्भव नहीं है।

गोपीकी बुद्धि, उसका मन, उसका चित्त, उसका अहंकार और उसकी सारी इन्द्रियाँ प्रियतम श्यामसुन्दरके सुखके सहज साधन हैं; न उसमें कर्तव्यनिष्ठा है, न अकर्तव्यका बोध; न ज्ञान है न अज्ञान; न वैराग्य है न राग; न कोई कामना है न वासना—बस, श्रीकृष्ण-सुखके साधन बने रहना ही उसका स्वभाव है। यही कारण है कि परम निष्काम, आत्मकाम, पूर्णकाम, अकाम आनन्दघन श्रीकृष्ण गोपी-प्रेमामृतका रसास्वादन कर आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं। जो आनन्दके नित्य आकर हैं, आनन्दके अगाध समुद्र हैं, आनन्दस्वरूप हैं; जिनसे सारा आनन्द निकलता है, जो आनन्दके मूल स्रोत हैं, जिनके आनन्द-सीकरको लेकर ही जगत्में सब प्रकारके आनन्दोंका उदय होता है, उन भगवान्में आनन्दकी चाह कैसी? उनमें आनन्द प्राप्त करनेकी इच्छा कैसी? यह बात दार्शनिककी कल्पनामें नहीं आ सकती। परंतु प्रेमराज्यकी बात ही कुछ विलक्षण है। यहाँ आनन्दमयमें ही आनन्दकी चाह है। इसीसे भगवान् श्यामसुन्दर प्रेमियोंके प्रेमरसका आस्वादन करनेके लिये व्याकुल हैं। यशोदा मैयाका स्तन-पान करनेके लिये भूखे गोपाल रोते हैं; गोप-सखाओं और बछड़ोंके खो जानेपर कातर हुए कन्हैया उन्हें वन-वन ढूँढ़ते-फिरते हैं, व्रजसुन्दरियोंका मन हरण करके उन्हें अपने पास बुलानेके लिये गोपीजनवल्लभ उनके नाम ले-लेकर मधुर मुरलीकी तान छेड़ते हैं। प्रेममें यही विलक्षण महामहिम मधुरिमा है।

प्रेम भगवान्का स्वरूप ही है। प्रेम न हो तो रूखे-सूखे भगवान् भाव-जगत्की वस्तु रहें ही नहीं। आनन्दस्वरूप यदि आनन्दके साथ इस प्रकार आनन्दरसका आस्वादन न करें, उनकी आनन्दमयी आह्लादिनी शक्ति उन्हें आनन्दित करनेमें प्रवृत्त न हो तो केवल स्वरूपभूत आनन्द बड़ा रूखा रह जाता है। उसमें रस नहीं रहता। इसलिये वे स्वयं अपने ही आनन्दका अनुभव करनेके लिये अपनी ही स्वरूपभूता आनन्दरूपा शक्तिको प्रकट करके उसके साथ आनन्द-रसमयी लीला करते हैं। यह आनन्द बनता नहीं। पहले नहीं था, अब बना, सो बात नहीं है। प्रेम नित्य, आनन्द नित्य—दोनों ही भगवत्स्वरूप। आनन्दकी भित्ति प्रेम और प्रेमका विलक्षण रूप आनन्द। इस प्रेमका कोई निर्माण नहीं करता। जहाँ त्याग होता है, वहीं इसका प्राकट्य—उदय हो जाता है। जहाँ त्याग, वहाँ प्रेम; और जहाँ प्रेम, वहीं आनन्द।

कहीं भी द्वेषसे, वैरसे आनन्दका उदय हुआ हो तो बताइये? असम्भव है। भगवान् प्रेमानन्दस्वरूप हैं। अतएव भगवान्‌की यह प्रेमलीला अनादिकालसे अनन्तकालतक चलती ही रहती है। न इसमें विराम होता है, न कभी कमी ही आती है। इसका स्वभाव ही वर्धनशील है।

समस्त जगत्‌के जीव-जीवनमें भी आंशिकरूपमें विभिन्न प्रकारसे प्रेमकी ही लीला चलती है। माता-पिताके हृदयका वात्सल्य-स्नेह, पत्नी-पतिका माधुर्य, मित्रका पवित्र सख्यत्व, पुत्रकी मातृ-पितृ-भक्ति, गुरुका स्नेह, शिष्यकी गुरु-भक्ति—इस प्रकार विभिन्न विचित्र धाराओंमें प्रेमका ही प्रवाह बह रहा है। यह प्रेम त्यागसे ही विकसित होता और फूलता-फलता है। जगत्‌में यदि यह प्रवाह सूख जाय, संतानको माता-पिताका वात्सल्य न मिले, पति-पत्नीका माधुर्य मिट जाय, मित्र-बन्धुओंके सखाभावका नाश हो जाय, गुरु-शिष्यकी स्नेह-भक्ति न रहे और माता-पिताको पुत्रकी विशुद्ध श्रद्धा-सेवा न मिले तो जगत् भयानक हो जाय। कदाचित् ध्वंस हो जाय या फिर जगत् क्रूर राक्षसोंकी ताण्डवस्थली बन जाय! अतएव त्यागमय प्रेमकी बड़ी आवश्यकता है। यही प्रेम जब सब जगहसे सिमटकर एक भगवान्‌में लग जाता है, तब वह परम दिव्य हो जाता है। इसी एकान्त विशुद्ध प्रेमकी निर्मल मूर्ति है—गोपी और उस प्रेमके पुञ्जीभूत रूप ही हैं—श्यामसुन्दर—'**पुञ्जीभूतं प्रेमगोपाङ्गनानाम्**'।

जहाँ स्व-सुखकी वाञ्छा है, वस्तु अपने लिये है, वहीं वह 'भोग' है। वही वस्तु भगवान्‌के समर्पित हो गयी तो 'सेवा' है। 'स्व-सुख-वाञ्छा' को लेकर हम जो कुछ भी करते हैं, सब भोग है, उसी कामको भगवत्-समर्पित करके हम सुखी होते हैं तो वह प्रेम है। घरकी कोई चीज, मनकी कोई चीज, जीवनकी कोई चीज जबतक 'स्व-सुख' के लिये है तबतक 'भोग' है और जबतक भोग हैं, जब उनका इन्द्रियोंके साथ भोग्य-सम्बन्ध है, तबतक उनसे दुःख उत्पन्न होता रहेगा। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५।२२)

'जो भी संस्पर्शज भोग हैं, वे सभी दुःखकी उत्पत्तिके क्षेत्र हैं और आदि-अन्तवाले हैं, इसलिये भैया अर्जुन! बुद्धिमान् लोग उनमें प्रीति नहीं रखते।'

पर ये ही सब भोग जब स्व-सुखकी इच्छाका परित्याग करके पर-सुखार्थ भगवदर्पित हो जाते हैं तो इन्हींको 'भगवान्‌की सेवा' कहा जाता है। यही प्रेम है। गोपीप्रेम इसीसे स्व-सुख-वाञ्छासे सर्वथा रहित परम उज्ज्वल है। यहाँ पूर्ण समर्पण हो चुकनेपर भी नित्य समर्पणकी लीला चलती रहती है। प्रतिक्षण समर्पण होता रहता है। यों समर्पण होते-होते समर्पण-क्रिया भी विस्मृत होने लगती है और फिर 'ग्रहण' भी समर्पणरूप, त्यागरूप बन जाता है; क्योंकि उसमें भी प्रियतमके सुखकी ही निर्मल वाञ्छा रहती है।

पर इस 'ग्रहण' में प्रेमकी पहचान बहुत कठिन है। हम हलवा खा रहे हैं, हमें उसके मिठासका स्वाद आ रहा है तथा हमें सुख मिल रहा है। यह हलवा खाना तथा उसमें मिठास तथा सुखकी अनुभूति—स्व-सुखके लिये हो रही है या प्रेमास्पदके सुखके लिये—इसका परीक्षण बहुत कठिन है। इसका यथार्थ स्वरूप वही जानते हैं, जो प्रेमके इस स्तरतक पहुँच गये हैं। प्रेमीको स्वाद आ रहा है पर स्वादके सुखका ग्रहण वह तभी करता है, जब कि उससे प्राणधन प्रेमास्पद श्यामसुन्दरको सुख होता हो। स्वाद प्रेमीको आता है, परंतु यदि प्रेमास्पदको उसमें सुख नहीं है तो वह स्वाद कभी प्रेमीको इष्ट नहीं है। हलवेकी मिठास लेते-लेते यह मालूम हो जाय कि प्रेमास्पद चाहते थे कि तुम मीठा हलवा न खाकर कडुवा नीम खाते तो तुरंत हलवा उसके लिये कडुवा हो जायगा, बुरी चीज बन जायगा और वह नीम खाने लगेगा। यहीं पता लगता है कि 'ग्रहण' स्व-सुखकी वाञ्छासे था या प्रेमास्पदके सुखके लिये। यही बात कपड़े पहनने, सोने, जागने, जगत्‌के सारे व्यवहार करनेमें है। प्रत्येक क्रियामें प्रेमास्पदका सुख ही एकमात्र इष्ट होना चाहिये। प्रेमीको यह पता लग जाय कि

प्रेमास्पद हमारे मरणमें प्रसन्न है तो प्रेमीके लिये एक क्षण भी जीवन-धारण करना परम दुःखरूप हो जायगा।

यों प्रेमास्पदके सुखका जीवन जिनका बन जाता है, उनको प्रेमास्पद प्रभुके मनकी बात खोजनी नहीं पड़ती। वह उसके सामने स्वयं प्रकट रहती है। प्रेमास्पदका मन उस प्रेमीके मनमें आ विराजता है। इसीलिये भगवान्‌ने अर्जुनसे श्रीगोपसुन्दरियोंके सम्बन्धमें कहा है—

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

'मेरी महिमा, मेरी सेवाका स्वरूप, मेरी श्रद्धाका स्वरूप तथा मेरे मनकी बात तत्त्वसे केवल गोपिकाएँ ही जानती हैं। हे अर्जुन! दूसरा कोई नहीं जानता।'

इसलिये गोपीको यह पता नहीं लगाना पड़ता कि भगवान् किस बातसे प्रसन्न होंगे। उनके अंदर भगवान्‌का मन ही काम करता है। भगवान्‌ने स्वयं श्रीउद्धवजीसे कहा है—

'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।'

(श्रीमद्भा० १०।४६।४)

'वे मेरे मनवाली हैं, मेरे प्राणवाली हैं, मेरे लिये अपने दैहिक वस्तुओं तथा कार्योंका सर्वथा परित्याग कर चुकी हैं।' श्रीकृष्ण ही गोपियोंके मन हैं। श्रीकृष्ण ही उनके प्राण हैं। उनके सारे संकल्प तथा सारे कार्य श्रीकृष्ण-प्रीत्यर्थ या श्रीकृष्ण-सुखार्थ ही होते हैं।

प्रेमकी बड़ी ही विचित्र गति होती है। वह महागम्भीर है और महाचञ्चल है। प्रेमीमें प्रेमका अगाध समुद्र प्रशान्तभावसे स्थिर हो जाता है, परंतु जैसे पूर्ण चन्द्रमाको देखकर महासमुद्र नाचने लगता है, उसी प्रकार प्रेमास्पद भगवान्‌के प्रसन्न श्रीमुखको देखकर उनके सुखार्थ उस प्रेम-महासागरमें लहरें—तरङ्गें उठने लगती हैं। ये तरङ्गें ही प्रेमलीला हैं।

गोपियोंके जीवनमें इन प्रेम-तरङ्गोंके अतिरिक्त अन्य कोई भी क्रिया नहीं है। प्रेमकी ही ये उच्छ्वसित ऊर्मियाँ हैं जो नाच-नाचकर प्रेमसुधाका अधिकाधिक मधुर रसास्वादन कराया करती हैं। ये तरङ्गें कभी अत्यन्त उत्ताल हो जाती हैं, कभी मृदु बन जाती हैं; कभी बहुत ऊपर उछलती हैं, कभी मन्द-मन्द उठती-बैठती हैं; कभी सीधी होती हैं, कभी दायें-बायें हो जाती हैं। प्रेममें दो तरहके भाव होते हैं—दक्षिण और वाम। दक्षिणभावसे भी और वामभावसे भी—परस्पर प्रेम-लीलाएँ चलती रहती हैं। जहाँ प्रेमानन्दमयी श्रीराधारानी या गोपाङ्गनाओंका वामभाव होता है, वहाँ प्रियतम श्यामसुन्दर उन्हें मनाया करते हैं और जहाँ प्रेमधन श्रीश्यामसुन्दरका वामभाव होता है, वहाँ श्रीराधारानी या श्रीगोपाङ्गनाएँ उन्हें मनाया करती हैं। मधुर मनोहर प्रेमसमुद्रके 'विरहतट' पर कभी 'विप्रलम्भ' रसका आस्वादन होता है तो कभी 'मिलनतट' पर 'सम्भोग' रसका आस्वादन होता है। फिर कभी मिलनमें ही विरहकी स्फूर्ति हो जाया करती है—

प्रियस्य संनिकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः।
या विश्लेषधियार्तिस्तं प्रेमवैचित्यमुच्यते॥

'प्रेमकी उत्कर्षताके कारण प्रियतमके समीप रहनेपर भी उनके न रहनेके निश्चयसे होनेवाली पीड़ाका अनुभव होना प्रेम-वैचित्य कहलाता है।' इस प्रकार प्रेमसागरमें अनन्त मधुरातिमधुर तरङ्गें उठा करती हैं। इनका वर्णन कौन करे? जो तटपर खड़ा है, वह तो तरङ्गोंके भीतरकी स्थिति जान नहीं सकता और जो तरङ्गोंमें मिल गया, वह तरङ्ग ही बन जाता है। इसीसे प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है—'**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥**' (ना०भ०सू० ५१)

कभी-कभी ऐसा होता है—प्रेमी और प्रेमास्पद अपने-आपको भूलकर एक-दूसरे बन जाते हैं। नटवर रसिकशेखर श्रीश्यामसुन्दर अपनेको राधा मानकर हा कृष्ण! हा श्यामसुन्दर! हा प्राणवल्लभ! पुकारने लगते हैं और रासेश्वरि नित्य निकुञ्जेश्वरि श्रीराधारानी श्रीकृष्णके आवेशमें हा राधे! हा प्राणेश्वरी! हा प्राणाधिके! हा मनमोहनी! पुकारा करती हैं। ये सभी प्रेमसमुद्रकी पवित्रतम मधुर-मधुर तरङ्गें हैं। यह श्रीराधा-माधवका प्रेम, प्रेमविहार, प्रेमलीला नित्य है और नित्य वर्द्धनशील है, इसीसे उनका अप्रतिम आनन्द भी नित्य और प्रतिक्षण वर्द्धनशील है। किसी-किसी युगमें कोई ऐसे प्रेमी संत होते हैं, जो इस

प्रेमलीलाका दर्शन करना चाहते हैं। तब उनकी प्रीतिसे प्रेरित होकर भगवान् अपने दिव्य धाम तथा प्रेमी परिकरों, सखाओं, सखियोंको लेकर दिव्यधामके दिव्य चिन्मय पशु-पक्षियों और वृक्ष-लताओंको लेकर इस मर्त्य भूमिपर अवतरित होते हैं। यही भगवान् श्रीराघवेन्द्रकी अवधलीला है और यही श्रीव्रजेन्द्रनन्दनकी व्रजलीला है। इस प्रेमराज्यमें उन्हींका प्रवेश है जो अपनेको खोकर स्व-सुखकी समस्त वाञ्छाओंको मिटाकर भगवान्के ही हो जाते हैं। इस प्रकार त्यागकी पराकाष्ठासे उदित दिव्य प्रेमको वैष्णवोंने 'पञ्चम पुरुषार्थ' बताया है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—चार पुरुषार्थ प्रसिद्ध हैं। प्रेम पञ्चम पुरुषार्थ है, जहाँ मोक्षकी कामनाका भी परित्याग हो जाता है। प्रेम-सेवाको छोड़कर प्रेमी भक्त देनेपर भी मुक्तिको स्वीकार नहीं करते।

'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥'

यही त्यागकी पराकाष्ठा है। इसमें 'अहं'की चिन्ता या 'अहं'की मङ्गल-कामनाका सर्वथा अभाव है। जहाँ मोक्षकी कामना है, वहाँ बन्धनकी अपेक्षा है। बन्धन न हो तो मोक्ष—छुटकारा किससे? और बन्धन किसको होता है। जो बँधा है, वही छुटकारा चाहता है। अतः बन्धनकी अनुभूति और बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा—इसीका नाम 'मुमुक्षा' है और यह जिसमें है, उसीको 'मुमुक्षु' कहते हैं। छुटकारेकी इच्छामें ही बन्धनकी अनुभूति है, जिसको इस बन्धनकी अनुभूति है वही बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा करता है—हम उसे चाहे मुमुक्षु कहें—चाहे जिज्ञासु या साधक। कुछ भी कहें, उसमें 'अहं' है और वह 'अहं'-का मङ्गल चाहता है। पर प्रेम-राज्यमें तो अहंकी चिन्ता ही नहीं है, 'स्व' की सर्वथा विस्मृति है। प्रेमास्पदका सुख ही जीवन है। इसीसे यह 'पञ्चम पुरुषार्थ' है।

गीताके अन्तिम अध्यायका नाम 'मोक्षसंन्यासयोग' है। 'मोक्षसंन्यास'का यह अर्थ किया जाय कि इसमें 'मोक्षके भी परित्याग' का विषय है। वही तो 'शरणागति' है। यह तो मानना ही चाहिये कि जिस अर्जुनको भगवान्ने रणाङ्गणमें प्रत्यक्ष समझाकर गीताका उपदेश किया, जिसको अपना अत्यन्त प्रिय, इष्ट और अधिकारी बताया, जिसके हितके लिये ही उपदेश किया—

'इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥'

—उस अर्जुनने गीताको जितना अच्छा समझा है, उतना और किसने समझा होगा? अर्जुनका जीवन गीताके अनुसार जितना बना होगा, उतना और किसका बनेगा, अर्जुन तो स्वीकार करता है कि 'मेरा मोह नष्ट हो गया और मैं आपके वचनोंका पालन करूँगा।' और यहींपर गीता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार गीताका अर्थ समझनेवालेकी जो गति हुई होगी, वही गीता-वक्ताके उपदेशका फल होना चाहिये। अब महाभारतमें देखिये—अर्जुनको 'सायुज्य मोक्ष'-की प्राप्ति हुई या और कुछ मिला। महाभारत, स्वर्गारोहणपर्वमें कथा है—

'देवताओं, ऋषियों और मरुद्गणोंके द्वारा अपनी प्रशंसा सुनते हुए महाराज युधिष्ठिर भगवान्के दिव्य धाममें जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण अपना ब्राह्मविग्रह धारण किये विराजमान हैं। उनका स्वरूप पूर्व देखे हुए विग्रहके ही सदृश है, अतः वे भलीभाँति पहचाननेमें आ रहे हैं। उनके दिव्य श्रीविग्रहसे दिव्य ज्योति फैल रही है। उनके सुदर्शनचक्रादि आयुध देवताओंके शरीर धारण किये हुए उनकी सेवामें लगे हैं। वहीं अत्यन्त तेजस्वी वीरवर अर्जुन भी भगवान्की सेवामें संलग्न है। देवपूजित भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी युधिष्ठिरको आये देख उनका यथारीति सत्कार किया।……'

इससे समझमें आ जाना चाहिये कि अर्जुनको 'सायुज्य मोक्ष' नहीं मिला। उन्हें भगवान्की 'प्रेमसेवा' प्राप्त हुई। शरणागतिसे अर्जुनका मोह नष्ट हो गया—'**नष्टो मोहः**।' अतएव संसारसे मुक्ति होनेका काम तो हो ही गया। बन्धन रह गया केवल भगवान्की प्रेमसेवाका, जो शरणागत अर्जुन और गीतावक्ता स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण दोनोंको ही इष्ट है। अर्जुनसे भगवान्ने मानो कह दिया—'तुम्हारा मोह नष्ट हो गया। तुम मेरे सेवक थे, सेवक ही रहोगे। मोहवश कह रहे थे—'मैं यह नहीं करूँगा', 'यह करूँगा' अब तुम मेरे

वचनोंका ही अनुसरण करोगे। बस, काम हो गया। तुम मेरे चिर सेवक ही रहो। तुम्हें मोक्षसे क्या मतलब।' यही मोक्ष-संन्यास है। प्रेमी मोक्षका भी संन्यास कर देता है—यह अभिप्राय है।

मोक्ष-संन्यासका यथार्थ अर्थ क्या है, मुझे पता नहीं; मुझे गीताका न अध्ययन है, न ज्ञान। यह तो मैंने 'स्वान्तः-सुखाय' अपने मनका अर्थ कह दिया है। वैसे न मैं जानता हूँ, न शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ, न विवाद, मैं तो सदा ही हारा हुआ हूँ। गीतामर्मज्ञ विज्ञ महानुभाव मेरी धृष्टताके लिये कृपया क्षमा करें!

इतना अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये कि जबतक मोक्षकी इच्छा है तबतक स्व-सुख-वाञ्छा है ही; क्योंकि इसमें अपने बन्धनकी अनुभूति है। बन्धन दुःखरूप है, उससे मुक्ति प्राप्त कर वह मोक्ष-सुखको प्राप्त करना चाहता है। यही स्व-सुखकी चाह है। अतः यहाँ भी सर्वत्याग—पूर्ण त्याग नहीं है, प्रेमीजन पूर्ण त्यागी होते हैं। अतः वे मोक्षका भी परित्याग करके केवल प्रेमसेवामें ही सहज संलग्न रहते हैं।

ऐसे प्रेमियोंकी तो बात ही दूसरी है, उनके जरासे सङ्गके साथ भी मोक्षकी तुलना नहीं होती। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(१।१८।१३; ४।३०।३४)

'भगवत्सङ्गीका अर्थ है—भगवान्में अनुरक्त—आसक्त, भगवान्‌का सङ्गी, भगवान्‌का प्रेमी, गोपीभावापन्न। ऐसे भगवत्सङ्गीका सङ्ग यदि लवमात्रके समयके लिये मिलता हो तो उसकी तुलना यहाँके भोगोंकी तो बात ही क्या है, स्वर्गसे भी नहीं होती, वरं अपुनर्भव—मोक्षसे भी नहीं होती। 'अपुनर्भव' का अर्थ है—जिससे वापस नहीं लौटा जाता, वैसी 'सायुज्य मुक्ति'। इस मुक्तिकी भी लवमात्रके भगवत्सङ्गीके सङ्गसे तुलना नहीं होती। यह भगवत्प्रेमकी महिमा है। इसीसे इस प्रेमकी—इस दिव्य भगवत्प्रेमकी—व्रजरसकी वाञ्छा शिव-नारदादि, महान् मुनि-तपस्वी आदि करते हैं। स्वयं ब्रह्मविद्या भी इस प्रेमके लिये लालायित हैं—

जाबालि नामक ब्रह्मज्ञानी मुनिने एक बार विशाल वनमें विचरते समय एक विशाल बावलीके तटपर वटवृक्षकी छायामें एक अनन्य सुन्दरी परम तेजोमयी तरुणी देवीको कठोर तप करते देखा। चन्द्रमाकी शुभ्र ज्योत्स्नाके सदृश उसकी चाँदनी चारों ओर छिटक रही थी। उसे देखकर मुनिको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने यह जानना चाहा कि 'ये देवी कौन हैं तथा क्यों तपस्या कर रही हैं।' पूछनेपर पता लगा कि जिनके शरण प्राप्त करनेपर अज्ञानान्धकार सदाके लिये नष्ट हो जाता है, दुर्लभ तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है तथा जीव मायाके बन्धनसे मुक्त होकर स्व-स्वरूप ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वे स्वयं ब्रह्मविद्या ही ये हैं। नम्रताके साथ प्रश्न करनेपर तापसी देवीने कहा—

ब्रह्मविद्याहमतुला योगीन्द्रैर्या च मृग्यते।
साहं हरिपदाम्भोजकाम्यया सुचिरं तपः॥
ब्रह्मानन्देन पूर्णाहं तेनानन्देन तृप्तधीः।
चराम्यस्मिन् वने घोरे ध्यायन्ती पुरुषोत्तमम्॥
तथापि शून्यमात्मानं मन्ये कृष्णरतिं विना।

(पद्मपुराण)

'मैं वह अतुलनीया ब्रह्मविद्या हूँ जिसे महान् योगिराज सदा ढूँढ़ा करते हैं। मैं श्रीहरिके चरणकमलोंकी प्राप्तिके लिये उनका ध्यान करती हुई दीर्घकालसे यहाँ तप कर रही हूँ। मैं ब्रह्मानन्दसे पूर्ण हूँ, मेरी बुद्धि भी उसी ब्रह्मानन्दसे परितृप्त है। परंतु श्रीकृष्णमें मुझे रति (प्रेम) अभी नहीं मिली, इसलिये मैं अपनेको सदा सूनी देखती हूँ।'

जिस अलौकिक प्रेमके लिये स्वयं ब्रह्मविद्या कल्पोंतक तप करती हैं, जिस रसकी तनिक-सी प्राप्तिके लिये अर्जुन साधना करके अर्जुनी बनते हैं, वह कितना उज्ज्वल, कितना दिव्य, कितना पवित्र और कितना मधुरतम है, इसे कौन बता सकता है। वे गोपरमणियाँ धन्य हैं, जिन्होंने इस प्रेम-रसका आस्वादन किया और प्रेमास्पद श्यामसुन्दरको

करवाकर उनकी परम प्रीति लाभ की और जिनके सामने भगवान्ने अपना पूर्ण प्रकाश किया।

हमलोगोंके सामने भगवान् अपनेको पूर्णरूपसे प्रकट नहीं करते, 'योगमाया' (अपनी आत्ममाया)-से ढके रखते हैं।

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।'

(गीता ७। २५)

भगवान्ने कहा—'मैं सबके सामने प्रकाशित क्यों नहीं होता, लोग मुझे पहचानते क्यों नहीं, इसीलिये कि मैं योगमायासे अपनेको ढके रखता हूँ।' परंतु प्रेमवती श्रीगोपाङ्गनाओंके साथ यह बात नहीं है। वहाँ भगवान् 'योगमायासमावृत' नहीं हैं, वहाँ 'योगमायामुपाश्रित' हैं अर्थात् अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाको पृथक् प्रकट करके मानो कहते हैं—'मैं इस समय अनावृत हूँ, बेपर्द हूँ, तुम इस नाटककी सारी व्यवस्था करो, लीलाके सारे साज बनाओ।' योगमाया काम करती हैं। भगवान् तथा श्रीगोपाङ्गनाओंकी दिव्य रासलीला होती है। यहाँ कुछ भी गोपन नहीं है। भगवान्की अनावृत लीला है। गोपियोंका चीरहरण क्या है? वह कोई गंदी चीज थोड़े ही है। गंदी चीज होती तो दुर्वृत्त कामियोंको प्रिय होती और होती अनन्त कालतक नरकोंमें ले जानेवाली। शुकदेवजी परीक्षित्के सामने उसे कहते ही क्यों, पर यह तो सर्वथा लोकविलक्षण दिव्य भावमयी वस्तु है। मल, विक्षेप और आवरण—तीन बड़े बाधक दोष हैं जो आत्मस्वरूपतक, भगवान्तक साधकको नहीं जाने देते। इनमें मलका नाश भजनसे या भगवत्प्राप्तिकी इच्छासे ही हो जाता है। विक्षेप-दोष नष्ट हो जाता है भगवान्में मन लगानेसे। वहाँ चञ्चल मन अचञ्चल हो जाता है। रह जाता है—आवरण-दोष। यह बड़ा व्यवधान बना रहता है। ज्ञानके साधकोंका यह दोष ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा किये हुए महान् अनुग्रहपूर्ण तत्त्वोपदेशसे दूर होता है और प्रेमी भक्तोंके इस दोषको भगवान् स्वयं दूर कर देते हैं। वे अपने हाथों 'आवरण भंग' कर देते हैं, पर्दा फाड़ डालते हैं। यही गोपियोंका चीरहरण है। जिस प्रेममें भय, लज्जा, संकोच तथा जरा भी व्यवधान नहीं है, ऐसा स्त्री-पुरुषका—पति-पत्नीका प्रेम हम जगत्में देखते हैं। वहाँ कुछ भी ऐसी वस्तु नहीं रहती जिसे गोपनीय कहा जा सकता है। यही प्रेम जब दिव्य भाव बनकर भगवान्में आ जाता है तथा पति-पत्नीके लौकिक सम्बन्धसे रहित, असम्बन्ध नित्य 'दिव्य सम्बन्धरूप' हो जाता है। तब वहाँ कुछ भी गोपनीय नहीं रहता। तमाम आवरणोंका विनाश हो जाता है। यौनभाव तो वहाँ रहता ही नहीं। यही भगवान् तथा भक्तका अनावरण मिलन है। यहाँ मायाका आवरण हट गया। पृथक्ताका पर्दा फट गया। चीरहरण तथा रासलीलाका अर्थ है—अनावृत (योगमायाके पर्देसे मुक्त) भगवान् और अनावृत (अहंता-ममता-आसक्तिरूप मायाके पर्देसे सर्वथा मुक्त) गोपाङ्गनाओंका महामिलन। जीव और परमात्माका, भक्त और भगवान्का घुल-मिल जाना—एक हो जाना।

यही दिव्य भगवत्प्रेम है। इस प्रेमराज्यमें जिनका प्रवेश है, उनकी चरणरज भी परम पावनी है। ज्ञानिशिरोमणि उद्धवजी मोक्ष न चाहकर ऐसी प्रेमवती गोपियोंकी चरणधूलि प्राप्त करनेके लिये व्रजमें लता-गुल्म-ओषधि बनना चाहते हैं। औरोंकी तो बात ही क्या—भगवान् स्वयं भी उनके चरणधूलिकणसे अपनेको पवित्र करनेके लिये उनके पीछे-पीछे सदा घूमा करते हैं—

'अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥'

'उसके पीछे-पीछे मैं सदा इस विचारसे चला करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूलि उड़कर मुझपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।'

प्रानधन सुंदर स्याम सुजान!
छटपटात तुम बिना दिवस-निसि मेरे दुखिया प्रान॥
बिदरत हियौ दरस बिनु छन-छन, दुस्सह दुखमय जीवन।
अमिलन के अति घोर दाह तैं दहत देह-इंद्रिय-मन॥
कलपत-विलपत ही दिन बीतत, निसा नींद नहिं आवै।
सुपन-दरसहू भयो असंभव, कैसैं मन सचु पावै॥
अब जनि बेर करौ मन-मोहन! दया नैक हिय धारौ।
सरस सुधामय दरसन दै निज, उर की अगिनि निवारौ॥

* * *

पूर्णयोगमें भगवत्प्रेम

[श्रीअरविन्दके विचार]

'भगवत्प्रेम एक साथ द्विविध क्रीडा करता है, उसकी पहली गति तो विश्वव्यापी है, जो असीम समुद्रकी तरह शान्त और सारे विश्वके ऊपर छायी होती है। दूसरी गति उसीके समान नृत्य करती हुई ऊपरी सतह-जैसी शक्तिशाली, तीव्र और आनन्दपूर्ण होती है, जो अपनी तरङ्गोंके बल और पराक्रमको घटाती-बढ़ाती रहती है तथा उन वस्तुओंका चुनाव करती है, जिनपर फेन और फुहारोंका चुम्बन देती हुई अपने सर्वावगाही जलसे आलिङ्गन करती हुई गिरना चाहती है।'

श्रीअरविन्द और श्रीमाँद्वारा प्रवर्तित योगमार्ग प्रेमतत्त्वकी तपस्यापर इतना अवलम्बित है कि इसे प्रेम-योग भी कहा जा सकता है। इसका उद्देश्य है—'पार्थिव सत्ताका दिव्य जीवनमें रूपान्तरण।' इसमें संसारके सभी उपादान भगवान्के प्रेमको प्राप्त करनेके साधन हो जाते हैं। इसके लिये प्रकृतिमें विकासके लिये जो अभीप्सा उपस्थित है, उसे भगवत्कृपासे जोड़ देना होगा और उसके लिये साधन है भगवत्प्रेम, जो आत्मसमर्पण अर्थात् मानव-चेतनाको प्रभुके प्रकाशमें उत्सर्ग कर देता है। इस आत्मसमर्पणकी कुञ्जी है ज्ञान, कर्म और भक्तिके द्वारोंको खोलकर सृष्टिके विकासके मार्गके अवरोधों तथा बाधाओंको समाप्त कर देना। प्रेम प्रकृतिकी डोरके द्वारा चेतनाको दिव्य तत्त्वसे संयुक्त कर देता है। यह एक साथ ही दिव्य और समस्त सत्ताओंका मुकुट एवं उनकी परिपूर्णताओंका मार्ग है। भगवत्प्रेमके बिना योगके सारे मार्ग जीवनहीन हैं।

किंतु प्रकृतिके विकासकी वर्तमान अवस्थामें मानवको चुनावकी स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है। मानवको अधिकार है कि वह भगवान्से प्रेम करे या न करे। मानवकी संकल्पशक्तिकी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है कि वह अपनी चेतनाको भगवत्प्रेमके माध्यमसे भगवान्से जोड़ सकती है। साथ ही वह भगवत्तत्त्वको इसी माध्यमसे उतारकर मानवकी पशु-जीवनकी विकसित चेतनाको दिव्य जीवनकी ओर अग्रसर कर सकती है। ज्ञान और कर्मकी प्रगतिके लिये भी प्रेम ही मार्ग-प्रदर्शक है। ज्ञान भागवतमिलनकी ज्योति है और प्रेम ज्ञानका हृदय। प्रेमके कारण ही पूर्ण चैतन्यने जड़ चेतनामें विलीन होना स्वीकार किया था ताकि तामसिक प्रकृतिमें भी चेतना जाग्रत् होकर शनैः-शनैः दिव्यत्वको अभिव्यक्त कर सके। भगवत्प्रेमके कारण ही प्रकृतिका जड़से जगदीश्वरकी ओर विकास साधित हो रहा है। मानव तो इस विकासमें मध्यवर्ती सत्तामात्र है।

श्रीमाँने सृष्टिकी कथाको इस रूपमें किञ्चित् वर्णित किया है कि जब परात्पर प्रभुने स्वयंको मूर्त्त बनाना चाहा तो प्रथम तत्त्व बना जगत्का ज्ञान और सृजन करनेकी क्षमता। इस कार्य-योजनाके मूलतत्त्व थे आनन्द और स्वाधीनता। इन्हें प्रकट करनेके लिये चार सत्ताएँ वैश्व विकासके लिये निःसृत हुई थीं। ये हैं—१-चेतना, २-प्रकाश, ३-आनन्द और ४-प्रेम। किंतु जैसे ही ये परमपुरुषसे अलग हुईं कि लीला-विधानसे चेतन अचेतनमें, प्रकाश अन्धकारमें, आनन्द शोकमें और प्रेम घृणामें परिवर्तित हो गया। अतः जिस सृजन-शक्तिने इन सत्ताओंको निःसृत किया था, उसने उपचार और प्रतिकारके लिये परमपुरुषसे गुहार लगायी। अतः साक्षात् परमपुरुषसे भगवत्प्रेमका अवतरण हुआ, जो इन सत्ताओंद्वारा मूलतत्त्वको पानेका संकल्प और प्रयास करा सके।

भगवत्प्रेमके अवतरणके पूर्व जड़ था, सत्ता नहीं थी। परमपुरुष प्रेमके माध्यमसे ही जड़में अपने प्रति सचेत होते हैं। जब चेतनाने सृजन प्रारम्भ किया तो प्रथम अभिव्यक्ति सचेतन प्रकाशका निःसरण था। जब प्रकाश अपने उत्ससे पृथक् हुआ तो निश्चेतनका जन्म हुआ था। ये क्रियाएँ विश्व-निर्माणके पूर्वकी हैं। जब विश्वका निर्माण हुआ तो उसे व्यर्थ होनेसे बचानेके लिये भगवत्प्रेमने निश्चेतनको चेतनामें रूपान्तरित करनेके लिये उसमें डुबकी लगायी थी और जड़ जगत्का वर्तमान स्वरूप तथा विकास इसीका परिणाम है।

भगवत्प्रेमके बिना अस्तित्वकी कल्पना नहीं की जा

सकती। प्रेमकी अभिव्यक्तियोंका भी जीवोंके क्रमशः विकासके साथ ऊर्ध्वारोहण हुआ है। मानव-चेतनाके स्तरपर इस विकासक्रममें पहुँचकर सृष्टि भगवत्प्रेमके विभिन्न आयामोंके प्रति सचेत हुई है। साथ ही सृष्टिकी चेतनाको यह भी आभास हो गया कि भगवत्प्रेमकी उपलब्धियोंके सोपान मानवके विकास-स्तरपर ही समाप्त नहीं हो जाते।

श्रीमाँने कहा है कि प्रेम अपने सारतत्त्वसे अभिन्न होनेका आनन्द है। भगवत्प्रेमकी पूर्णतामें प्रेम विश्वकी परिक्रमा करके उद्गमकी ओर लौट आता है। विश्वका अनुभव ही सृष्टिका प्रयोजन है। इसीके माध्यमसे भौतिक पदार्थका विकास तथा चेतनाको बहुआयामी होनेका सुयोग मिलता है। अतः भगवान्‌को प्राप्त करने तथा उन्हें जीवनमें अभिव्यक्त करनेके लिये भगवत्प्रेमसे बढ़कर कोई साधन या तपस्या नहीं हो सकती। यह श्वेत दिव्याग्नि है जो सत्ताको शुद्ध ही नहीं करता, उसे शुचिता भी प्रदान करता है।

श्रीअरविन्द भगवत्प्रेमकी स्थितिको निरानन्द नहीं नित्यानन्दकी मधुमती भूमिका मानते हैं। इसमें अधिकार-भेदका भी प्रश्न नहीं उठता। प्रेमीकी पुकारके लिये प्रभु भी व्याकुल रहते हैं। हम उन्हें जितना चाहते हैं, उससे अनन्त गुना वे प्रतीक्षा करते रहते हैं कि उनसे प्रेम किया जाय। अवसर पाते ही वे अपने प्रेमसे हमें आच्छादित कर लेते हैं।

श्रीअरविन्द यह स्पष्ट कहते हैं कि भगवत्प्रेम आन्तरात्मिक ही नहीं, बल्कि—'**यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे**'-का अनुसरण करते हुए सारी सत्ताओंको अर्थात् व्यष्टिके रूपमें सारे ब्रह्माण्डको समेटकर उसे भगवान्‌को समर्पण करनेवाला होता है। शरीर, प्राण, मन, अहंकार आदि सभी अङ्ग भगवत्प्रेमकी यज्ञाग्निमें समिधाएँ हैं। 'स्व' को समाप्त करनेके लिये यह महान् प्रगतिका एक चरण है। भगवत्प्रेममें यज्ञ वह दिव्य कर्म है जो सृष्टिके आदिके साथ ही अभिव्यक्त है। चैतन्यपुरुष इस यज्ञका पुरोहित है। भक्ति, ज्ञान और कर्म इसके साधन हैं। यह भगवान्‌को समर्पित होकर उदार और असीम बनकर आनन्दमें रूपान्तरित हो जाता है। इसीलिये भगवत्प्रेम रूपान्तर और सृजन दोनों साधनोंसे संसार और प्राणियोंके विकासका नियन्ता है। इस उद्देश्यकी परिपूर्तिहेतु चेतनाके बिलकुल बाहरी छोरोंतक प्रेमके प्रसारणके लिये पूर्णयोगका लक्ष्य-साधन किया जाता है। भगवत्प्रेम सत्य और प्रकाशके नये स्वर्ग और नये संसारकी सृष्टिका योग है। इसकी विशेषता है कि यह अविद्यासे ग्रस्त नहीं होता।

भगवत्प्रेम ही पूर्ण योगका अधिष्ठान और मूल प्रेरणा है। पूर्णयोगका मूल सूत्र है कि मानवचेतनाकी सभी या कुछ शक्तियाँ भगवान्‌की ओर मुड़ जायँ ताकि उनका सम्बन्ध और मिलन सत्ताकी इस चेष्टासे स्थापित हो जाय। इसीलिये १-नित्यता, २-तीव्रताको इसकी उड़ानके लिये पंख माना जाता है।

आनन्द अनिर्वचनीय है, भगवत्प्रेम मानवी चेतनाकी किञ्चित् पकड़में आता तो है पर बहुआयामी होनेके कारण बुद्धि और विवेकके भी परे चला जाता है। पर योगकी प्रेरणा इसीसे प्रारम्भ होती है। यदि भगवान् हमें नहीं खोजते तो प्रकृतिमें कोई भी ऐसा कारण या सूत्र नहीं दिखायी देता है कि हम उन्हें खोजनेकी अभीप्सा करें। पूर्णयोगका मूल सूत्र साधककी चेतनाको, जितना भी वह आत्माके प्रकाशको उपलब्ध हो, कम-से-कम उतनी चेतनाको भगवान्‌की ओर मोड़ दिया जाय। भगवत्प्रेमके द्वारा जितना हम इसमें सफल होंगे उतनी ही प्रगति होगी।

श्रीअरविन्द ब्रह्मकी अभिव्यक्तिके तीनों रूपोंको स्पष्ट करते हैं—१-अन्तःस्थ आत्मा, २-ऊर्ध्व कमल—सम्पूर्ण मनका दिव्य भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण हो जाना एवं ३-व्याप्ति—भगवत्प्रेमकी परिव्याप्तिसे एकत्वका साधन। अनिर्वचनीय होते हुए भी भगवत्प्रेम दिव्य और अदिव्य सभी धरातलोंको परिप्लावित कर सकता है। यह स्थूल-सूक्ष्म, पाप-पुण्य सभीसे परे है। भगवत्प्रेम ही दिव्य प्रियतमका प्रेमपात्र और प्रियतमकी आत्मा है। भगवत्प्रेम और भगवत्प्रयास पर्यायवाची हैं। अभीप्साकी सचाईके उत्तरमें यह प्रकट होता है, समता और शान्तिमें बढ़ता है तथा शुद्ध एकत्व-बोधमें पूर्णताको प्राप्त करता है। प्रभुकी लीला और विकासके मानवीय स्तरपर चरम परिणति यही है। [प्रेषक—श्रीदेवदत्तजी]

* * *

मातृप्रेम, मातृभूमिप्रेम और भगवत्प्रेम

(परमादरणीय गुरुजी श्रीमाधवराव सदाशिवराव गोळवलकरजी)

[राष्ट्रिय स्वयंसेवकसंघके सरसंघचालक श्रीमाधवराव सदाशिवराव गोळवलकर (श्रीगुरुजी) एक महान् भगवद्भक्त, राष्ट्रभक्त महापुरुष थे। उनका स्पष्ट मत था कि अपना दिव्य भारत-राष्ट्र भगवान्‌का साक्षात् विग्रह है। वे मातृभूमि, मातृशक्ति तथा भगवत्प्रेमको एक-दूसरेका पर्याय मानते थे। सन् १९६९ ई०में उन्होंने पुणेमें आयोजित 'मातृपूजन' ग्रन्थका लोकार्पण करते हुए मातृप्रेम, मातृभूमि (राष्ट्र)-प्रेमके विषयमें जो महत्त्वपूर्ण उद्‌गार व्यक्त किये थे, उनका सार अंश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। —सं०]

मेरी माँकी अनेक संतानें हुईं, परंतु उनमेंसे मैं अकेला ही जीवित रहा। इस कारण मेरी माँकी ममता मुझपर विशेष रीतिसे स्वाभाविक ही रही। उनकी समस्त ममता मुझपर ही केन्द्रित थी, किंतु मैं रहा केवल एक यायावर—सतत घूमते रहनेवाला ही।

एक बार मैं अपने घरसे चल दिया। अदृश्य हो गया। किसीको भी पता नहीं था कि मैं कहाँ गया हूँ। केवल मेरे एक मित्रको, जो नागपुरमें ही रहता था, मैं बताकर चला गया था। लगभग चार मासके बाद मैं लौट आया। जब मैं नागपुर वापस आया तो पता चला कि माँ बीमार हैं। माता-पिता उन दिनों नागपुरके समीप रामटेकमें रहते थे। मैं वहाँ गया। माँसे मैंने उनकी तबीयतके बारेमें पूछा। पता चला कि उन्हें हृदय-विकार है। डॉक्टरने 'अञ्झायना पेक्टोरीस' नामका हृदयका रोग बताया था। माँको बहुत कष्ट हो रहा था। हमारे मित्र डॉक्टर उन्हें औषधि दे रहे थे, किंतु उनकी औषधिसे लाभ नहीं हो रहा था। मुझे स्मरण होता है कि उस अवस्थामें भी अपना गायब हुआ पुत्र लौटकर आया देखकर वे मेरी सुख-सुविधाओंकी ओर स्वयं ध्यान देने लगीं। फिर एक दिन वे बोलीं, 'मुझे डॉक्टरकी औषधि नहीं चाहिये, तू ही मुझे औषधि दे।'

मैं न डॉक्टर था न वैद्य। कठवैद्य भी नहीं हूँ। किंतु माँका आग्रह था कि मैं ही उन्हें औषधि दूँ। उनके आग्रहके कारण मैंने उनका कहना मान लिया। मैं नागपुर आया। नागपुरमें रामकृष्ण मिशनका आश्रम है। उस आश्रममें रोगियोंको होमियोपैथिक औषधि मुफ्त देनेकी व्यवस्था है। वहाँ सर्वसामान्य लोगोंकी रोगमुक्तिके लिये एक वृद्ध साधु औषधि देते थे। मैं उनके पास गया। उनसे कहा—'मेरी माँको ऐसा-ऐसा कष्ट है, कौन-सी औषधि उन्हें देना ठीक होगा?' उन वृद्ध साधुने मुझसे ही पूछा, 'तुम्हारा क्या विचार है?' मैंने उत्तर दिया—'कुछ नहीं सोचा। आप ही कुछ दें। आपने यदि साधारण शक्करकी पुड़िया दी तो भी चलेगी।' तब उन्होंने एक औषधिका नाम मुझे बताया। मैंने वह औषधि माँको दी और सचमुच माँको आराम हुआ। वे स्वस्थ हो गयीं। 'उसके बाद कई वर्षोंतक वे जीवित रहीं।' जबतक उनके हाथ-पैर काम करते रहे, तबतक वे घरके सब काम अपार कष्ट झेलते हुए करती रहीं। उन्हें दिलका दौरा फिर कभी नहीं पड़ा। वास्तवमें उन्हें दिलका दौरा नहीं, पुत्र-वियोगका दौरा पड़ा था। डॉक्टरने भी यही कहा कि 'चूँकि तुम घरसे भाग गये थे इसीसे ऐसा हुआ।' इस घटनासे स्पष्ट है कि मैं माँको सुख पहुँचानेवाला नहीं, दुःख देनेवाला ही ठहरा।

फिर एक बार माँको पक्षाघात हुआ। उनका दाहिना अङ्ग निष्क्रिय हो गया। मुझे उसी समय अपने निर्धारित प्रवासपर जाना था। मैं घर गया। मेरे साथ सदैव ही एक डॉक्टर रहते हैं। उन्होंने कहा कि 'यह पेरालीसिसका स्ट्रोक है। एकदम आराम नहीं होगा।' अन्य डॉक्टर भी आये और औषधोपचार प्रारम्भ हुआ। मैं ठहरा हमेशाका प्रवासी। स्वीकृत कार्यके लिये मुझे ट्रेनसे जाना था। मैं माँसे बोला, 'जाऊँ क्या?' उन्होंने कहा—'नहीं।' तो बोला—'ठीक है।' अपने मुकामपर आ गया। विचार किया कि पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम रद्द करनेके लिये सब स्थानोंपर तारद्वारा सूचित करना होगा, किंतु फिर सोचा कि कुछ देर बाद निर्णय

करूँगा। इसके बाद ११-११॥ बजे पुनः मैंने माँसे पूछा तो उन्होंने 'जा' कहा। सोचनेकी बात है कि उन्हें उस समय कैसा लगा होगा? क्या वे यह सोचती होगीं कि अपनी कठिन बीमारीमें इकलौता पुत्र भी समीप न रहे? नहीं, ऐसा नहीं। बात यह थी कि मेरे द्वारा एक कार्य स्वीकृत है, इस कार्यमें किसी प्रकारका विघ्न पड़ने देना उन्हें मंजूर नहीं था। इसीलिये उन्होंने मुझे जानेकी अनुमति दी। उन्होंने यह भी कहा कि 'मनुष्यका जीवन-मरण किसीके पास रहने या न रहनेपर निर्भर नहीं।' यह सब बतानेका अर्थ कोई ऐसा न समझे कि मेरी माँ श्रेष्ठ योगिनी वगैरह थी। हाँ, वे भक्त जरूर थीं और इसी कारण उनके मनमें धैर्य उत्पन्न हुआ था। मेरी माँ सचमुच माँ थीं। मेरे कर्तव्य-मार्गमें उन्होंने अपनी बीमारीकी बाधा भी नहीं आने दी। मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि माँके अनन्त उपकार हैं।

एक बार एक स्वयंसेवककी माँ मेरी माँके पास शिकायत लेकर पहुँची कि उसका दूसरा लड़का विवाह करनेसे इनकार कर रहा है। मेरी माँने उसकी सब बात शान्तिपूर्वक सुनी और समझाते हुए कहा, 'तुम्हारा दूसरा लड़का विवाह नहीं कर रहा, परंतु पहलेका विवाह तो हो चुका है, मेरा तो इकलौता पुत्र है और वह विवाह नहीं कर रहा, फिर भी मुझे दुःख नहीं हो रहा। भला तुम क्यों मन खट्टा कर रही हो?' मुझे लगा कि चलो अच्छा ही हुआ, राष्ट्रकार्यके लिये एक प्रचारक मिला। इस प्रकार उसने संघ-कार्यमें मेरी सहायता ही की। इस प्रकारकी कुछ छोटी-छोटी घटनाओंका स्मरण मुझे अपनी माँकी याद दिला रही है। मेरी माँ सचमुच माता थीं। माताके कर्तव्य अथवा जिसे हम मातृत्वके गुण कह सकते हैं, वे उनमें थे। परंतु मुझे मातृभक्त नहीं कहा जा सकता। वैसी मेरी योग्यता भी नहीं है। हाँ, ऐसी श्रेष्ठ माताके पुत्रके नाते यदि मुझे यहाँ निमन्त्रित किया गया हो तो वह उचित ही हुआ है।

फिर एक अन्य घटना याद आती है। मनुष्यके जन्मग्रहण करनेके पूर्व जन्मदात्री माता उसके पार्थिव शरीरका स्वतः अपने रक्तसे ही तथा जन्मके पश्चात् अपने दूधसे तथा आगे यावज्जीवन प्रेमसे उसका पोषण करती है। किंतु निसर्ग-नियमके अनुसार कभी-न-कभी तो मातृवियोगका प्रसंग आता ही है। वैसा ही प्रसंग मुझपर भी आया। इसकी सूचना मैंने अपने स्वभावानुसार कुछ लोगोंको जिनके प्रति मेरा नितान्त आदर है और उस मनःस्थितिमें भी जिनका मुझे स्मरण हुआ, दी। उनमेंसे कामकोटिपीठके आदरणीय श्रीमच्छङ्कराचार्यजीको भी मैंने पत्र लिखा। उन्होंने हाथोंहाथ दो श्लोकोंके रूपमें मुझे सान्त्वना देनेवाला पत्र लिखा था। श्लोकोंका अर्थ इस प्रकार था—

'अस्थिचर्ममय मानवदेहधारिणी तुम्हारी माँ यद्यपि नहीं रहीं, किंतु जो तुम्हारे समान असंख्य पुत्रोंकी माता है, जो केवल आज ही नहीं, सहस्रों वर्षोंसे असंख्य पुत्रोंकी जन्मदात्री है और भविष्यमें भी सहस्रों वर्षोंतक ऐसे ही पुत्रोंकी माँ रहेगी, सबका धारण-पोषण करनेवाली, पवित्र और नित्य चैतन्यमयी भारतमाता विराजमान है। उस भारतमाताके कार्यार्थ कटिबद्ध हुए तुम्हें मातृवियोग हो ही नहीं सकता। तुम शोक न करो। तुम्हारे लिये शोकका कारण नहीं है।'

मुझे लगता है कि जिस दिन पूज्य माँका देहावसान हुआ, उस दिन मेरी आँखसे आँसूकी एक भी बूँद नहीं टपकी। जो लोग वहाँ आ-जा रहे थे उनके साथ मैं मुक्तरूपसे बातें कर रहा था। हो सकता है, अनेक वर्षोंसे जो सतत अभ्यास चला है उसीका यह परिणाम रहा हो। यह एक ऐसा प्रसंग था, जब मनका संतुलन रखना कसौटीकी ही बात है। भगवान्‌की कृपासे मैं उस अवस्थासे बाहर निकल सका। श्रीमच्छङ्कराचार्यजीने जो सान्त्वना प्रदान की, उससे हृदयमें व्याप्त वेदनाका शमन तथा मनका संतुलन बनाये रखनेका कार्य हो सका।

मातृभक्तिका ह्रास

इसलिये मातृपूजनका विचार करते समय हमें अपनी जन्मदात्री माँके समान ही अपनी मातृभूमिका भी विचार करना चाहिये। किंतु दुर्दैवकी बात है कि यह सब हमें बताना पड़ता है। जन्मदात्रीके सम्बन्धमें कितनी उत्कट प्रेमकी भावना होनी चाहिये, परंतु इस भावनाका लोप होता जा रहा है। आज ऐसे

लोग कम ही मिलेंगे जो विशुद्ध मातृभूमि-भक्त हैं। कुछ लोग हैं जो सत्ता, यश अथवा स्वार्थके लिये मातृभूमिकी भक्ति करते हैं, किंतु मातृभक्तिसे ओतप्रोत हृदयका क्या कहीं दर्शन होता है? इसका उत्तर देना कठिन है। छोटे-छोटे स्वार्थोंके लिये मातृभूमिके पुत्र आपसमें लड़ते-झगड़ते दिखायी दे रहे हैं। लोग स्वार्थके पीछे लगे हुए हैं। आपसमें संघर्ष कर रहे हैं। इस दृश्यको देखकर क्या कोई कह सकता है कि इनमें मातृभूमिकी भक्ति है?

मातृभूमि—हिन्दुराष्ट्र

वैसे यह हमारी मातृभूमि और हम इसके पुत्र हैं। यह नयी बात नहीं है। अति प्राचीन कालसे इस मातृभूमिके पुत्रके नाते हमारा यहाँ राष्ट्र-जीवन रहा है। इस बातकी घोषणा केवल हम ही करते हों सो बात नहीं। जिन लोगोंने भी निष्पक्ष होकर सत्यको देखनेका प्रयत्न किया, उन सभीका यही कहना है। मेरे पास एक पुस्तक है। उसमें पुरानी अंग्रेजी मासिक पत्रिका 'एडिन्बरा रिव्यू' के सन् १८७२ वर्षके एक अङ्कका उद्धरण दिया हुआ है जिसमें कहा गया है—

'Hindu is the most ancient Nation on the earth and has been unsurpassed in refinement and culture.'

(पृथ्वीपर 'हिन्दु' एक अति प्राचीन राष्ट्र है, जो सभ्यता और सुसंस्कृतिमें अद्वितीय है।)

पृथ्वीपर हिन्दु-जीवन अति प्राचीन राष्ट्रके नाते विद्यमान है। हम यह आज ही नहीं कह रहे हैं कि यह हिन्दु-राष्ट्र है। अंग्रेज राज्यकर्ताओंने अपने साम्राज्यवादी स्वार्थोंकी पूर्तिके लिये हिन्दुराष्ट्र-जीवनको विशृंखल कर 'खिचड़ी-राष्ट्र' निर्माण करनेका प्रयत्न किया। आज अंग्रेज-राज्य प्रत्यक्ष रीतिसे हट गया है, किंतु फिर भी उनके द्वारा प्रचारित राष्ट्र-विस्मरणके कार्यको लोग अपने क्षुद्र स्वार्थके लिये आगे बढ़ाते जा रहे हैं। तब क्या इन्हें लोग कह सकेंगे कि ये मातृभूमिके पुत्र हैं? आज यह कहना कि हम मातृभूमिके पुत्र हैं या यह कहना कि हिन्दुस्थान हिन्दुओंका है, विषाक्त माना जाता है। परंतु यह धर्मशाला है, आओ-जाओ घर तुम्हारा है, ऐसा कहना अमृतमय समझा जाता है। यह तो बहुत ही दुःखद स्थिति है। अंग्रेजीमें जिसे 'फ़ैशन' कहते हैं, वैसे ही 'यह सबका राष्ट्र' है कहनेकी एक पद्धति आजकल चल पड़ी है। इस फ़ैशनसे स्वार्थ पूरा होता है, किंतु इससे मातृभूमिका विस्मरण होता है।

आधुनिक जीवन-प्रवाहमें बहनेके कारण जन्मदात्री माँके प्रति अनादर बढ़ता जा रहा है। अपने जन्मको माता-पिताके वैषयिक सुखका 'बाइ प्रॉडक्ट' कहनेकी प्रवृत्तिका निर्माण हो रहा है। पूर्वकालमें विशिष्ट संकल्प कर, उस पवित्र संकल्पसे ही पुत्र-प्राप्तिकी जाती रही और शेष जीवन संयमसे व्यतीत किया जाता था, किंतु आजकल सब कुछ बदल गया है, सम्पूर्ण जीवन काममय हो चुका है।

जगन्माताका भी विस्मरण

जिस प्रकार हम जन्मदात्रीको भूल गये वैसे ही सम्पूर्ण राष्ट्रको जन्म देनेवाली मातृभूमिको भी भूल गये। इन दो महान् माताओंके विस्मरणके बाद यह कैसे सम्भव है कि सर्वसृष्टिको जन्म देनेवाली अखण्ड मण्डलाकार जगन्माताका स्मरण रहे? किसीको धर्म भाता नहीं। धर्मका नाम लिया कि जगन्माताका स्मरण होता ही है और उसके साथ उनकी पूजा भी आती है। शिवके साथ शक्तिकी पूजा स्वाभाविक ही जुड़ी है। संत ज्ञानेश्वरने जगन्माताके स्वरूपका विशद वर्णन करते हुए उसे 'शिवशक्तिरूप' ही बताया। हम सबको जगन्माताके इसी स्वरूपका विचार करना चाहिये।

स्वामी रामकृष्ण परमहंसके जीवनका एक प्रसंग है। स्वामीजी साधना करनेके बाद सिद्ध पुरुष हो चुके थे, फिर भी वे कालीमाताके भक्त थे। ईश्वर-कृपासे तोतापुरी नामके साधुसे उनकी भेंट हुई। तोतापुरी अद्वैत स्थितिकी प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त किये हुए श्रेष्ठ साधु थे। रामकृष्णको अद्वैत ज्ञान पानेका अधिकारी पुरुष पाकर उन्होंने कहा कि 'मैं तुम्हें अद्वैतका ज्ञान प्रदान करता हूँ।' ऐसा कहकर तोतापुरीने रामकृष्णजीके सिरपर हाथ रखा। उस समय रामकृष्णजीको समाधि लग गयी। वे तीन दिनतक समाधिमें रहे। श्वासका स्पन्दन भी बंद हो गया। इसपर तोतापुरीको आश्चर्य हुआ, किंतु इतना होते हुए भी रामकृष्णजीकी

कालीमाताकी भक्तिमें कोई कमी नहीं आयी। कालीमाताके मन्दिरमें जाकर वे तालियाँ बजाकर भक्तिमें मस्त हो जाते थे। तोतापुरी ठहरे कठोर अद्वैती। वे कहते थे कि 'यह सब पाट-पसारा व्यर्थ है। जग मिथ्या है और ब्रह्म ही केवल सत्य है। ऐसा होते हुए भी तुम कालीमाताकी भक्ति क्यों करते हो?' रामकृष्णजीने उनसे कहा, 'मैं इनकी भक्ति करता हूँ, इसका कारण है कि ये 'जगन्माता हैं।' तोतापुरीको यह बात नहीं पटती थी। तोतापुरी वहाँसे अन्यत्र जानेके लिये तैयार हुए तो रामकृष्णजीने उन्हें रोक लिया।

इसके बाद तोतापुरीजी अस्वस्थ हो गये। उन्हें दस्त लगने लगे। औषधि आदिसे भी कुछ लाभ नहीं हुआ। वे तत्त्वज्ञ थे। पद्मासन लगाकर ध्यान करते थे, किंतु शारीरिक अस्वास्थ्यकी इस स्थितिमें अब आसन लगाकर बैठना भी कठिन हो गया। तब यह सोचकर कि अब देह समाप्त करनेका समय आ चुका है, किसीको कुछ भी न बताते हुए वे गङ्गाजीमें उतर पड़े। काफी देरतक गङ्गाजीमें घूमनेके बाद भी उन्हें डूबनेलायक पानीका स्थान नहीं मिला। इसलिये वे वापस आये। उनके मनमें विचार आया कि 'ऐसा क्यों हुआ?' जब वे इस विचारमें मग्न थे, उन्हें जगन्माताका साक्षात्कार हुआ। जगन्माताने उनसे कहा—'मुझे पारकर ब्रह्मको पाया जा सकता है। इसलिये मुझे समझे बिना ब्रह्म कहाँसे प्राप्त होगा? मैं यदि पार न जाने दूँ तो वह दिखायी कैसे देगा?'

श्रीरामकृष्ण सदैव एक कथा सुनाते थे। राम, लक्ष्मण, सीता वनमें चलते थे तब राम और लक्ष्मणके बीचमें सीताजी चलती थीं। एक पंक्तिमें तीनों चलते हैं और इसलिये बीचमें सीताके आनेके कारण लक्ष्मणको राम नहीं दिखायी पड़ते। तब सीताजी बीचमें चलते हुए अपना एक पग थोड़ा बाजूमें रख लेतीं ताकि लक्ष्मणको श्रीराम दिखायी पड़ें। ठीक ही है, माया बाजू होनेपर ही परब्रह्मके दर्शन सम्भव हैं। यही साक्षात्कार तोतापुरीको भी हुआ। इसके बाद उनकी बीमारी ठीक हुई और वे कालीमाताके दर्शन करनेके बाद वहाँसे वापस हुए।

जगन्माताके कारण शक्ति

इसलिये यह स्पष्ट है कि जगन्माताके सिवाय ज्ञान नहीं। उपनिषद् या अन्य कहीं एक कथा आती है। युद्धमें दैत्योंका पराभव करनेपर देवताओंको अपने पराक्रमका भारी गर्व हो गया। ऐसा गर्व होना अच्छी बात नहीं। इसलिये जिस समय सब देवता सभामें विराजमान थे, उनके समक्ष अकस्मात् एक भव्य रूप प्रकट हुआ। ग्रन्थमें उसे यक्ष कहा गया है। दैत्योंसे भी अधिक भयंकर उस रूपको देखकर सब देवता घबरा गये। अब किसी-न-किसीको उसका सामना करना पड़ेगा। इसलिये तय हुआ कि जो सबसे बलवान् हो, वह पहले जाय। सर्वप्रथम वायुदेवता ही सामने आये। यक्षने वायुसे पूछा, 'तुम्हारी शक्ति किस बातमें है।' वायुने कहा, 'मैं अपनी शक्तिसे सारी सृष्टिको हिला सकता हूँ।' यक्षने कहा, 'ठीक है, यह घासका एक तिनका यहाँ रखा है, इसे हिला दो।' वायुने अपनी सब शक्ति लगा दी, किंतु उस घासके तिनकेको वे हिलातक न सके। आखिर लज्जित होकर वापस हो गये। तब अग्निदेवता उठे, किंतु अग्नि भी अपनी समस्त दाहक शक्तिका प्रयोग कर थक गये, उस तिनकेको जला न पाये। अन्तमें इन्द्र भी गये, किंतु यक्षने यह दर्शाकर कि मानो इन्द्रकी कोई बिसात ही नहीं है, वह इन्द्रके समक्ष स्वयं अन्तर्धान हो गया। तब इन्द्र विचार करने लगे कि देवताओंको क्या बताया जाय? सब देवताओंके इस पराभवका क्या कारण हो सकता है? इस प्रश्नपर इन्द्र सोच रहे थे कि उन्हें एक देदीप्यमान स्त्री दिखायी दी। अत्यन्त तेजस्वी, हेमवती स्वरूपा उस स्त्रीने कहा, 'तू जिसकी खोज कर रहा है, जिससे वायु गतिमान् है, जिसके कारण अग्निमें दाहकता है, वह तो समस्त सृष्टिकी शक्ति परब्रह्मकी जननी है।' यही जगन्माता मातृत्वका मूलस्वरूप है।

विश्वमें मातृत्वका इतना उदात्त विचार किसीने प्रस्तुत नहीं किया है। मातृत्वके सम्बन्धमें कोमलता और पवित्रताके विचार तो सर्वत्र प्रस्तुत किये जाते हैं। रोमन कैथोलिकोंमें मेडोना और उनके पुत्र येशुके ऐसे चित्र जो हृदयको स्पर्श करनेवाले अत्यन्त प्रेमवान् हैं, पूजे जाते हैं। अपने यहाँ ज्ञानदायी, करुणामयी, जगत्‌को धारण करनेवाली, पालन करनेवाली होनेके साथ-साथ संहार-स्वरूपिणी शक्ति—इन तीन रूपोंमें उनका वर्णन हुआ

है। जगन्माताका यह स्वरूप अन्य लोगोंके ध्यानमें नहीं आया। हमारे यहाँ माता, मातृभूमि और जगन्माता—ये त्रिविध रूप मातृत्वके बताये गये हैं।

अब हमें विचार करना चाहिये कि क्या हम इस संसारमें केवल खाने-पीनेके लिये ही जीवित हैं? इस प्रकारका जीवन तो पशु-पक्षी भी जी लेते हैं। मनुष्य तो विचार करनेवाला बुद्धिमान् प्राणी है। इसलिये अपने हृदयमें मातृत्वके सम्बन्धमें श्रेष्ठ भावना जगाकर अत्यन्त कृतज्ञताके साथ इस जन्मदात्री धरित्री और जगद्धात्रीसे अपना माता-पुत्रका नाता है, ऐसे मातृत्वके स्वरूपका ध्यान धारण कर उसकी उपासना करनेके लिये कटिबद्ध होना चाहिये। पूर्ण श्रद्धाके साथ इसका पालन करना चाहिये। मानव-जीवनमें कृतज्ञताका स्थान असामान्य है।

आजकल हम कहते हैं कि हमारी बड़ी प्रगति हो रही है, किंतु मनुष्य कृतज्ञता भी भूलता हुआ दिखायी पड़ रहा है। अपने निजी सुखमें डूबा वह माँको भूलता है। कृतज्ञताकी भावना क्षीण हुई प्रतीत होती है। यह प्रगति नहीं, मानवतासे विमुख होनेवाली बात है। स्वार्थकी दृष्टि लेकर नहीं, अपितु सब ज्ञान देनेवाली शक्तिदात्री, ऐसी उसके सम्बन्धमें वास्तविक भावना होनी चाहिये। सर्वज्ञान-प्रदायिनी शक्तिदात्री जगन्माताकी वास्तविक भावनाके अभाव और केवल स्वार्थ-सीमित दृष्टिसे ही उसकी ओर देखनेके कारण जीवन पशुतुल्य बनता जा रहा है। कामप्रधान-जीवन सुसंस्कृत मनुष्यके जीवनका लक्षण नहीं है। अन्तःकरणमें यदि कृतज्ञताका भाव नहीं रहा तो जीवन जंगली हो जाता है। इसलिये सुसंस्कृत होकर माताके प्रति अपनी भक्ति उसके इन विविध स्वरूपोंमें नित्य करना अत्यावश्यक है। इसीमें मातृप्रेमकी सफलता निहित है और यही परिपुष्ट होकर भगवत्प्रेममें परिणत हो जाती है।

[प्रस्तुति—श्रीशिवकुमारजी गोयल]

* * *

श्रीरामजीका बन्धुप्रेम

(गोलोकवासी परम भागवत संत श्रीरामचन्द्र केशव डोंगरेजी महाराज)

रामजीका बन्धुप्रेम भी अलौकिक है। ऐसा बन्धुप्रेम आपको जगत्‌में कहीं देखनेको नहीं मिलेगा। जब महाराज दशरथजीने रामजीका राज्याभिषेक करनेकी सोची, तब रामजी लक्ष्मणसे कहते हैं—'लक्ष्मण! यह राज्य तेरा है, मैं तो निमित्तरूप हूँ, तुम मेरे बाह्य प्राण हो, यह जीवन और राज्य तेरे लिये है।'

रामजी वनमें पधारे तो रामजीके पीछे-पीछे लक्ष्मण गये—इसमें क्या आश्चर्य है! कैकेयीने वनवास तो रामचन्द्रजीको दिया, लक्ष्मणको नहीं। फिर भी रामजी वनमें जाते हैं, तब लक्ष्मण माता-पिता और पत्नीको छोड़कर बड़े भाईके पीछे हो जाते हैं। रामजीका प्रेम ऐसा है कि राम-वियोगसे लक्ष्मण अयोध्यामें रह नहीं सके। लक्ष्मण पत्नी और माता-पिताको छोड़ सकते हैं, किंतु बड़े भाईको नहीं छोड़ सकते हैं। राम-वियोग लक्ष्मणसे सहन नहीं हुआ। जहाँ रामजी हैं, वहीं लक्ष्मण हैं।

रामजीने खेल खेलनेमें भी छोटे भाइयोंके दिलको नहीं दुखाया। रामजी इस तरह खेलते हैं कि उनकी हार होती है और लक्ष्मण तथा भरतकी जीत। रामजी बोलते हैं कि मेरे भाईकी जीत मेरी ही जीत है। रामजी कौसल्याजीसे कहते हैं कि भरत मुझसे छोटा होते हुए भी जीत गया और मैं हार गया। भरत कौसल्याजीसे कहते हैं—'माँ! बड़े भाईका मेरे ऊपर अगाध प्रेम है। वे जान-बूझकर हार जाते हैं।' श्रीरामजीने जगत्‌को बन्धुप्रेमका आदर्श दिखाया है। कैकेयी कहती हैं—'मैंने भरतको राज्य दिया है।' तब रामजी कहते हैं—'माँ! मेरा छोटा भाई यदि राजा बनता है तो मैं सदाके लिये वनमें रहनेके लिये तैयार हूँ।'

लोग कहते हैं कि भरतका प्रेम रामके प्रेमसे श्रेष्ठ है। राज्य भरतने नहीं किया, किंतु गद्दीपर उन्होंने रामजीकी पादुकाको प्रतिष्ठित किया। रामजी तो वनमें तप करते हैं, किंतु भरत महलमें ही तप करते हैं।

भरतका यह नियम था कि कोई साधु, ब्राह्मण, गरीब आये तो उनका प्रेमसे आतिथ्य-सत्कार करते थे। भरतने चौदह सालतक अन्न नहीं लिया। 'मेरे बड़े भाई कन्दमूल खाते हैं तो मैं भोजन कैसे करूँ?' यह भरतका कहना था। भरतका प्रेम अति दिव्य है। रामजी वनमें शयन करते हैं तो भरतलाल पृथ्वीपर। भरत श्रीरामकी पादुकाका दर्शन करते हुए सतत 'राम! राम!!' जप करते रहते हैं।

आप छोटे भाईको प्रेम करेंगे तो वह आपसे प्रेम करेगा। जगत्में रामराज्य कब होगा, भगवान् जाने। मनुष्यके वक्षःस्थलपर जबतक काम और स्वार्थ बैठे हैं, तबतक रामराज्यकी सम्भावना नहीं है, किंतु अपने घरमें आप ऐसा रामराज्य कर सकते हैं। जो व्यक्ति शुद्धभावसे अपने भाईसे प्रेम करेगा, वह भी उतने ही शुद्धभावसे आपके प्रति प्रेम करेगा। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो भाईसे तो कपट करते हैं और दूसरोंसे प्रेम करते हैं।

यह कलियुगकी महिमा है। इसे बतानेके लिये ही भाई-भाईमें वैर होता है। एक गाँवमें हमको अनुभव हुआ। एक सेठ आये। वे कहते हैं, 'महाराज! हमको ऐसा मन्त्र दीजिये जिससे हम जीत जायँ'। मैंने पूछा, 'आपकी क्या इच्छा है?' सेठ कहते हैं कि मैंने दावा किया है, उसमें जीत जानेकी इच्छा है।

मैंने पूछा कि किसके ऊपर किया है? सेठ कहते हैं, अपने भाईके ऊपर। मुझे कहना पड़ा—'आपकी बुद्धि बहुत बिगड़ी है। मेरे पास ऐसा कोई मन्त्र नहीं है, जो भाईसे कपट करता है, जिसे भाईमें भगवान् नहीं दिखता, वह भगवान्की भक्ति क्या करेगा? भगवान् तो प्रत्यक्ष दिखते नहीं हैं। मूर्तिमें भगवान्की भावना करनी पड़ती है, किंतु भाई तो प्रत्यक्ष दिखता है। उससे यदि कपट करे तो उस कपटीकी भक्तिको भगवान् कैसे स्वीकार करेंगे? जिन्हें घरमें रहकर भक्ति करनी है, उन्हें घरके प्रत्येक व्यक्तिमें ईश्वरका भाव रखना चाहिये।

सनातन धर्म तो यहाँतक कहता है कि आपके आँगनमें भिखारी आये तो उसमें भी भगवान्के दर्शन करें। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि घरमें कोई चीज यदि खराब हो जाय तो भिखारीको बुलाकर दे देते हैं। भिखारी भी भगवान्का अंश है। दान लेनेवाला हलका है, ऐसा समझकर दान करे तो दान सफल नहीं होगा।

भिखारी यह उपदेश देने आता है कि गत जन्ममें मैंने किसीको कुछ दान नहीं दिया, इसीलिये मैं दरिद्र बना हूँ। आप भी दान-पुण्य न करेंगे तो मेरे-जैसा ही बनेंगे। आज भी भगवान् हमारे पास कभी दरिद्रनारायणके रूपमें, कभी साधुके रूपमें और कभी ब्राह्मणके रूपमें आते हैं। जब जीवोंमें सामने भगवान् नहीं दीखता है तो भगवान्को बुरा लगता है।

ज्ञानी कहता है कि ईश्वरका कोई रूप नहीं। वैष्णव मानते हैं कि जगत्में जितने लोग होते हैं, सब भगवान्के स्वरूप हैं। ईश्वर अनेक रूप धारण करते हैं। किसीका तिरस्कार मत करो, किसीके प्रति बुरा भाव मत रखो, तब घरमें रहकर भक्ति कर सकोगे। उपेक्षा रखे बिना सबसे प्रेम करो, स्वार्थभावसे प्रेम मत करो। सबमें मेरे भगवान् हैं—इस भावके साथ सबसे प्रेम करो।

मनुष्य-जन्म दूसरेको सुखी करनेके लिये है। बहुत बार मनुष्य परोपकारमें शरीर घिसता है, तब उसको दुःख होता है कि लोगोंने मेरी कुछ कदर नहीं की। किंतु रामजीकी भी लोगोंने निन्दा की है। इसलिये सत्कर्मोंकी कदर भगवान्के दरबारमें ही होगी। मान-दान सबसे श्रेष्ठ है। आप सबसे प्रेमपूर्वक बर्ताव करेंगे तो सब आपसे प्रेम करेंगे।

जो कपटके खेल खेलता है, उसका मन सदा अशान्त रहता है। जिनका व्यवहार अति शुद्ध होता है, उनके पास कुछ न होनेपर भी उनको शान्ति मिलती है। पाप सदाके लिये छिपता नहीं है, एक-न-एक दिन वह जाहिर जरूर होगा। इसलिये यदि शान्ति चाहिये तो धर्मकी मर्यादाका पालन कीजिये। श्रीरामजीने जगत्में धर्मका आचरण सिखाया है। श्रीरामजी कर्मका प्रकाश देनेवाले सूर्य हैं।

* * *

आशीर्वाद

भगवत्प्रेम आत्मोद्धारके लिये है

(अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृङ्गेरी-शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीभारतीतीर्थजी महाराज)

भगवान् जिन्हें परमात्मा, परब्रह्म और परवस्तु आदि पर्यायवाची शब्दोंसे अभिहित करते हैं; वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी एवं '**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्**' समर्थ हैं। भगवान्का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

(विष्णुपुराण ६।५।७८)

'**भगाः अस्य सन्तीति भगवान्**'—इस अर्थमें वे षडैश्वर्य-सम्पन्न हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीरणा॥

जिनमें ये सभी विद्यमान हैं, वे भगवान् हैं। श्रीभगवत्पाद शङ्कराचार्यजीने गीताभाष्यमें कहा है—'**ऐश्वर्यादिषट्कं यस्मिन् वासुदेवे नित्यम् अप्रतिबद्धत्वेन सामस्त्येन च वर्तते।**' तथा '**उत्पत्त्यादिविषयं च विज्ञानं यस्य स वासुदेवो वाच्यो भगवान् इति।**' अर्थात् ऐश्वर्यादि षड्गुण जिन वासुदेवमें अप्रतिबन्ध और सम्पूर्ण रूपमें नित्य वर्तमान रहते हैं तथा जिन्हें उत्पत्ति आदिका सर्वथा ज्ञान है, वे वासुदेव भगवान् कहलाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता (४।५)-में अर्जुनकी शङ्काका समाधान करते हुए स्वयं भगवान् कहते हैं—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥

अनावरण ज्ञानशक्तिसम्पन्न भगवान् नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावके कारण सब कुछ जानते हैं। उनमें अप्रतिबद्ध ज्ञानशक्ति है, यही अवतारका रहस्य है। श्रीभगवत्पादजीने गीताभाष्यकी अवतरणिकामें इस रहस्यको यों स्पष्ट किया है कि वे भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजसे सदा सम्पन्न होकर निज त्रिगुणात्मिका वैष्णवी माया मूलप्रकृतिको वशीकृत कर यद्यपि अज-अव्यय, भूतोंके ईश्वर और नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभावके हैं तथापि अपनी मायासे मानो शरीरवान् हों और उत्पन्न हुए हों, इस प्रकार लोकानुग्रह करते हुए दीखते हैं। स्मरणीय है कि इस कथनका आधार साक्षात् भगवान्का वचन ही है, जो गीता (४।६)-में इस प्रकार है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

'जन्मरहित होनेपर भी, अक्षीणज्ञानशक्तिस्वभाववाला होनेपर भी तथैव ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्तका ईश्वर होनेपर भी अपनी त्रिगुणात्मिका मायाको स्ववशमें कर में अवतरित होता हूँ।'

श्रुति भी यह घोषित कर रही है कि उन परमेश्वरको छोड़कर, उनसे परे या ऊपर कोई वस्तु या व्यक्ति नहीं है। उन्हींसे सब कुछ व्याप्त है, परिपूर्ण है—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्। (महानारायणीयोपनिषद्)

भगवद्वचन है—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७।७)

अध्यात्मरामायणमें एक सुन्दर प्रसङ्ग है, जो अयोध्याकाण्डके प्रारम्भमें है। एक बार नीलोत्पलदलश्याम, कौस्तुभामुक्तकन्धर सर्वाभरणसम्पन्न राम रत्नसिंहासनपर विराजमान थे, उसी समय दिव्यदर्शन नारद वहाँ आये। उन्हें देखकर रामने उठकर सम्मानपूर्वक सीतासहित नमस्कार किया और कहा—'मुनीश्वर! आपके दर्शनसे कृतार्थ हूँ। आज्ञा दीजिये कि मैं क्या सेवा करूँ?'

तब नारदजीने भक्तवत्सल भगवान् श्रीरामसे कहा—'हे राम! सांसारिक व्यक्तियों-जैसे अपने वाक्योंसे मुझे क्यों मोहित कर रहे हैं? हे विभो! आपने जो यह कहा कि 'मैं संसारी हूँ' सो ठीक ही है; क्योंकि सम्पूर्ण जगत्की कारणभूता माया आपकी गृहिणी हैं। आपके संनिकर्षसे ब्रह्मादिका उनसे जन्म होता है। आपके ही आश्रयसे त्रिगुणात्मिका माया सर्वदा अजस्रूपसे शुक्लकृष्णलोहित प्रजाको भी जन्म देती हैं। इस लोकत्रयमहागेहके गृहस्थ आप ही हैं। आप विष्णु हैं और जानकी लक्ष्मी हैं; आप

शिव हैं और जानकी शिवा हैं; आप ब्रह्मा हैं और जानकी वाणी हैं; आप सूर्य हैं और जानकी प्रभा हैं; आप शशाङ्क हैं और शुभलक्षणा सीता रोहिणी हैं; आप इन्द्र हैं और सीता शची हैं; आप अग्नि हैं और सीता स्वाहा हैं; आप कालरूप यम हैं और सीता संयमिनी हैं। प्रभो! हे जगन्नाथ! आप निर्ऋति हैं और शुभा जानकी तामसी हैं। राम! आप वरुण हैं और शुभलक्षणा जानकी भार्गवी हैं। राम! आप वायु हैं और सीता सदागति कहलाती हैं। राम! आप कुबेर हैं और सीता सर्वसम्पत् हैं। आप लोकनाश करनेवाले रुद्र हैं तो जानकी रुद्राणी हैं। संसारमें स्त्रीवाचक जो कुछ भी है, वह सब शुभा जानकी हैं और हे राघव! पुरुषवाचक सब कुछ आप ही हैं। अतः देव! तीनों लोकोंमें आप दोनोंको छोड़कर कुछ भी नहीं है[1]।'

नारदजीने पुनः कहा—'हे रघूत्तम! आपसे ही यह जगत् उत्पन्न हुआ है और आपमें ही प्रतिष्ठित है। अन्तमें सब कुछ आपमें ही लीन हो जाता है, इसलिये आप ही सबके कारण हैं—

त्वत्त एव जगज्जातं त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
त्वय्येव लीयते कृत्स्नं तस्मात्त्वं सर्वकारणम्॥

(अ०रा० अयो० १।२५)

'रज्जुमें सर्पकी भाँति आत्मामें जीवको माननेसे भय बना रहता है, जबकि 'मैं परमात्मा हूँ'—इस ज्ञानसे भय-दुःखसे विमुक्ति हो जाती है। आपके ही कारण आपकी चिन्मात्र ज्योतिसे सभीमें बुद्धि प्रकाशित होती है, अतएव आप सबकी आत्मा हैं। रज्जुमें सर्पभ्रमके समान अज्ञानसे ही आपमें सम्पूर्ण जगत्की कल्पना की जाती है। आपके ज्ञानसे वह सब लीन हो जाता है, अतः ज्ञानप्राप्तिका सदा अभ्यास करना चाहिये। आपके चरणकमलोंमें जिनका अनुराग है, केवल उन्हें ही क्रमिक रूपसे ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिये आपमें जो भक्ति रखते हैं, वे ही मुक्तिभाजन बनते हैं। मैं आपके भक्तोंके भक्तोंका और उनके भी भक्तोंका किंकर हूँ। अतः हे प्रभो! मुझपर कृपा करें, मुझे मोहजालमें न फँसायें। आपके नाभिकमलसे उत्पन्न ब्रह्मा मेरे जनक हैं, अतः मैं तो आपका पौत्र हूँ। राघव! मुझ भक्तकी रक्षा करें[2]।

नारदजीका यह कथन सत्य है कि यही मोह है जो अनर्थकारी है। इसका नाम ही माया है, अविद्या है। यही तो संसार है, संसृतिका कारण है। श्रीभगवत्पादजीने कहा है—'**अव्यक्ता हि सा माया, तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्य अशक्यत्वात्**' अर्थात् वह माया तो अव्यक्त है, उसके वास्तविक स्वरूपका निरूपण सम्भव नहीं है, क्योंकि माया न सत् है, न असत् ही। वह अनिर्वचनीया है।

माया सत्यका आवरण अर्थात् सत्यको आच्छादित कर देती है; उससे सही रूपका बोध नहीं होता।

---

[1] अथ तं नारदोऽप्याह राघवं भक्तवत्सलम्। किं मोहयसि मां राम वाक्यैर्लोकानुसारिभिः॥
संसार्यहमिति प्रोक्तं सत्यमेतत्त्वया विभो। जगतामादिभूता या सा माया गृहिणी तव॥
त्वत्सन्निकर्षाज्जायन्ते तस्यां ब्रह्मादयः प्रजाः। त्वदाश्रया सदा भाति माया या त्रिगुणात्मिका॥
सूतेऽजस्रं शुक्लकृष्णलोहिताः सर्वदा प्रजाः। लोकत्रयमहागेहे गृहस्थस्त्वमुदाहृतः॥
त्वं विष्णुर्जानकी लक्ष्मीः शिवस्त्वं जानकी शिवा। ब्रह्मा त्वं जानकी वाणी सूर्यस्त्वं जानकी प्रभा॥
भवान् शशाङ्कः सीता तु रोहिणी शुभलक्षणा। शक्रस्त्वमेव पौलोमी सीता स्वाहानलो भवान्॥
यमस्त्वं कालरूपश्च सीता संयमिनी प्रभो। निर्ऋतिस्त्वं जगन्नाथ तामसी जानकी शुभा॥
राम त्वमेव वरुणो भार्गवी जानकी शुभा। वायुस्त्वं राम सीता तु सदागतिरितीरिता॥
कुबेरस्त्वं राम सीता सर्वसम्पत्प्रकीर्तिता। रुद्राणी जानकी प्रोक्ता रुद्रस्त्वं लोकनाशकृत्॥
लोके स्त्रीवाचकं यावत्तत्सर्वं जानकी शुभा। पुन्नामवाचकं यावत्तत्सर्वं त्वं हि राघव॥
तस्माल्लोकत्रये देव युवाभ्यां नास्ति किञ्चन॥ (अ०रा० अयो० १।९—१९)

[2] रज्जावहिमिवात्मानं जीवं ज्ञात्वा भयं भवेत्। परात्माहमिति ज्ञात्वा भयदुःखैर्विमुच्यते॥
चिन्मात्रज्योतिषा सर्वाः सर्वदेहेषु बुद्धयः। त्वया यस्मात्प्रकाश्यन्ते सर्वस्यात्मा ततो भवान्॥
अज्ञानान्न्यस्यते सर्वं त्वयि रज्जौ भुजङ्गवत्। त्वज्ज्ञानाल्लीयते सर्वं तस्माज्ज्ञानं सदाभ्यसेत्॥
त्वत्पादभक्तियुक्तानां विज्ञानं भवति क्रमात्। तस्मात्त्वद्भक्तियुक्ता ये मुक्तिभाजस्त एव हि॥
अहं त्वद्भक्तभक्तानां तद्भक्तानां च किङ्करः। अतो मामनुगृह्णीष्व मोहयस्व न मां प्रभो॥
त्वन्नाभिकमलोत्पन्नो ब्रह्मा मे जनकः प्रभो। अतस्तवाहं पौत्रोऽस्मि भक्तं मां पाहि राघव॥ (अ०रा० अयो० १।२६—३१)

गीताभाष्यमें बताया गया है कि '**तामसो हि प्रत्यय आवरणात्मकत्वादविद्या, विपरीतग्राहकः संशयोपस्थापको वा अग्रहणात्मको वा॥**' अविद्या तामस ज्ञान है, वह सत्यको आच्छादित करनेवाला आवरण है, वस्तुके यथार्थ ग्रहणके विपरीत या संशय उत्पन्न करनेवाला अथवा विषयको अग्राह्य करनेवाला है। रामायणके ही दो उदाहरण देखिये, जिनमें इस सत्याच्छादनका अद्भुत वर्णन किया गया है—

(१) महाराज दशरथने पहले कैकेयीको दो वर प्रदान किये थे, जो धरोहर थे। रामके राजतिलकके अवसरपर कैकेयीने वे वर माँगे। सही है कि इसे मायाका प्रभाव ही मानना चाहिये। राम जब निष्प्रभ, निस्तेज महाराजके दर्शन करते हैं तब वे रामसे कहते हैं—

स्त्रीजितं भ्रान्तहृदयमुन्मार्गपरिवर्तिनम्।
निगृह्य मां गृहाणेदं राज्यं पापं न तद्भवेत्॥
एवं चेदनृतं नैव मां स्पृशेद्रघुनन्दन।
इत्युक्त्वा दुःखसन्तप्तो विललाप नृपस्तदा॥

(अ०रा० अयो० ३।६९-७०)

'राम! स्त्रीसे पराजित, भ्रान्तहृदय और उन्मार्गसे परिवर्तित या पथभ्रष्ट मुझको कैदकर इस राज्यको ग्रहण करो, इससे तुम्हें कोई पाप न लगेगा। यदि तुम ऐसा करोगे तो असत्य मुझे स्पर्श न करेगा।' ऐसा कहकर राजा दुःखसंतप्त हो विलाप करने लगे।

दशरथका रामके प्रति यह कथन कहाँतक समीचीन है, यह विचारणीय है। वे 'स्त्रीजित्' अवश्य हैं। दूसरे शब्दोंमें वे 'मोहजित्' हैं। यह मोह है, यह माया है जो उनके मुखसे इस प्रकार कहला रही है। मायाग्रस्त कोई भी व्यक्ति हो, उनका अनुमोदन करेगा। तदनुसार सद्यः कार्यप्रवृत्त हो जायगा। परंतु राम अमायिक हैं, वे क्यों मोहवशीभूत होकर अनुचित कार्य करेंगे? उन नयकोविदने यथोचित रीतिसे अपने जनक और माता कैकेयीको भी आश्वस्त किया।

(२) लक्ष्मणको जब ज्ञात होता है कि पिताने रामको राज्याभिषेकके बदले वनवास दिया है, तब वे अत्यन्त क्रुद्ध होकर रामसे कहते हैं—

उन्मत्तं भ्रान्तमनसं कैकेयीवशवर्तिनम्।
बद्ध्वा निहन्मि भरतं तद्बन्धून्मातुलानपि॥
अद्य पश्यन्तु मे शौर्यं लोकान्प्रदहतः पुरा।
राम त्वमभिषेकाय कुरु यत्नमरिन्दम॥

(अ०रा० अयो० ४।१५-१६)

उन्मत्त, भ्रान्तचित्त और कैकेयीके वशीभूत राजाको मैं कैदकर भरत और उनके मातुल आदि सभी बान्धवोंको मार डालूँगा। आज सम्पूर्ण लोकोंको दग्ध करनेवाले कालानलके समान मेरे पौरुषको पहले वे सब लोग देख लें। हे शत्रुदमन राम! आप अभिषेककी तैयारी कीजिये।

उत्तेजित लक्ष्मणको रामने आलिङ्गित कर मधुर शब्दोंसे समझाया—'तुम शूर हो और मेरा भला करना चाहते हो। यह सब मैं जानता हूँ, परंतु उसके लिये यह समय नहीं है। आँखोंके सामने राज्य और देहादि जो कुछ दीख रहे हैं, यदि वे सब सत्य हों तो तुम्हारा परिश्रम सफल माना जायगा। परंतु ये सब सत्य नहीं हैं।' (अ० रा० अयो० ४। १८-१९)

करोति दुःखेन हि कर्मतन्त्रं
शरीरभोगार्थमहर्निशं नरः।
देहस्तु भिन्नः पुरुषात्समीक्ष्यते
को वात्र भोगः पुरुषेण भुज्यते॥
पितृमातृसुतभ्रातृदारबन्ध्वादिसङ्गमः।
प्रपायामिव जन्तूनां नद्यां काष्ठौघवच्चलः॥
छायेव लक्ष्मीश्चपला प्रतीता
तारुण्यमम्बूर्मिवदध्रुवं च।
स्वप्नोपमं स्त्रीसुखमायुरल्पं
तथापि जन्तोरभिमान एषः॥
संसृतिः स्वप्नसदृशी सदा रोगादिसङ्कुला।
गन्धर्वनगरप्रख्या मूढस्तामनुवर्तते॥

(अ०रा० अयो० ४।२२—२५)

अर्थात् मनुष्य दिन-रात शरीरभोगार्थ ही दुःखसे सभी प्रकारके कर्म करता है। परंतु पुरुषसे देह भिन्न है; ऐसी स्थितिमें पुरुषसे क्या भोग भोगा जायगा। पिता, माता, पुत्र, भाई, पत्नी, बन्धु-बान्धव—इन सबका संगम तो नदीमें एकत्रित काष्ठके समान चपल है। छायाके सदृश लक्ष्मी चञ्चल है और यौवन पानीकी लहरोंके समान अस्थिर है। स्त्री-सुख स्वप्नके सदृश है और मनुष्यकी आयु भी अल्प है, तथापि इनके प्रति आकर्षण-अनुरक्ति है। स्वप्नके समान अस्तित्ववाली यह संसृति सदा रोगादिसे परिपूर्ण है। यह न तो सत्य है, न शाश्वत ही। यह तो गन्धर्वनगरी है। फिर भी मूढ उसके पीछे दौड़ता है।

इतना ही नहीं, प्रतिक्षण रोगादि शत्रुओंकी भाँति मनुष्यपर आक्रमण करते ही रहते हैं। वृद्धावस्था बाघिन-जैसी सामने खड़ी रहती है और मृत्यु समयकी ताकमें संनद्ध उपस्थित रहती है—

विकारी परिणामी च देह आत्मा कथं वद॥
यमास्थाय भवाँल्लोकं दग्धुमिच्छति लक्ष्मण।

(अ०रा० अयो० ४।३१-३२)

लक्ष्मण! विकारी और परिणामी देहको आत्मा कैसे कहा जा सकता है, जिसके आधारपर तुम तो लोकको ही जला डालनेके इच्छुक हो! मैं देह हूँ, इस प्रकारकी जो बुद्धि है, वह अविद्या और मैं देह नहीं हूँ, चिदात्मा हूँ, इस प्रकारकी बुद्धि विद्या कहलाती है। अविद्या संसृतिका कारण है और विद्या उसको दूर करनेवाली है। इसलिये मुमुक्षुओंको सदैव प्रयत्नपूर्वक तत्त्व-चिन्तन करना चाहिये—

देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥
अविद्या संसृतेर्हेतुर्विद्या तस्या निवर्तिका।
तस्माद्यत्नः सदा कार्यो विद्याभ्यासे मुमुक्षुभिः॥

(अ०रा० अयो० ४।३३-३४)

जैसा कि श्रीभगवत्पादजीने कहा है—अविद्या नामक आत्मा-अनात्माके पारस्परिक अध्यासको पुरस्कृत कर लौकिक और वैदिक समस्त प्रमाण-प्रमेय व्यवहार प्रवृत्त होते हैं एवं मोक्षपरक विधि-निषेधात्मक सभी शास्त्र भी—

'तमेतमविद्याख्यम् आत्मानात्मनोः इतरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहाराः लौकिकवैदिकाश्च प्रवृत्ताः सर्वाणि शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि।' (ब्रह्मसूत्रभाष्य)

राग-द्वेष, भय-क्रोध—ये सब अविद्याके ही खेल हैं। जबतक यह खेल चलता रहेगा, तबतक बन्धन ही है, विमुक्ति नहीं, शान्ति नहीं। रामने लक्ष्मणको इसीलिये समझाया है—

क्रोधमूलो मनस्तापः क्रोधः संसारबन्धनम्।
धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्क्रोधं परित्यज॥
क्रोध एष महान् शत्रुस्तृष्णा वैतरणी नदी।
सन्तोषो नन्दनवनं शान्तिरेव हि कामधुक्॥

(अ० रा० अयो० ४। ३६-३७)

अर्थात् मानसिक संतापका मूल कारण क्रोध है, क्रोध संसारका बन्धन है। वह धर्मको क्षीण करनेवाला है, इसलिये तुम उसका परित्याग करो। यह क्रोध तो महान् शत्रु है और तृष्णा वैतरणी नदी है, जबकि संतोष नन्दनवन है एवं शान्ति ही कामधेनु है।

लक्ष्मणको रामने और भी समझाया—

आत्मा शुद्धः स्वयंज्योतिरविकारी निराकृतिः।
यावद्देहेन्द्रियप्राणैर्भिन्नत्वं नात्मनो विदुः॥
तावत्संसारदुःखौघैः पीड्यन्ते मृत्युसंयुताः।
तस्मात्त्वं सर्वदा भिन्नमात्मानं हृदि भावय॥

(अ०रा० अयो० ४।३९-४०)

आत्मा शुद्ध, स्वयंज्योति, अविकारी और निराकृति है। संसारका दुःख और मृत्युका भय तबतक विद्यमान रहता है, जबतक आत्माको देह, इन्द्रियों और प्राणोंसे भिन्न नहीं जाना जाता। इसलिये तुम हमेशा देहसे भिन्न आत्माका अपने हृदयमें अनुभव करो।

यह अमोघ उपदेश है। इससे बढ़कर सत्य क्या हो सकता है! जिसको यह अनुभव होता है, वह कृतकृत्य हो जाता है। वास्तवमें यह भगवत्प्रेम है। भगवत्प्रेमका दूसरा नाम आत्मप्रेम है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि विशुद्ध भक्ति या ज्ञानसे इसकी प्राप्ति होती है। कहा गया है कि **'स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।'** गीता (४।९-११)-में भगवान्ने कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

जो व्यक्ति तत्त्वतः यह जानता है कि मेरा जन्म और कर्म दिव्य है, वह देहको त्यागकर पुनरपि जन्म नहीं लेता, मुझको ही प्राप्त हो जाता है। राग, भय और क्रोधरहित, मुझसे ही ओत-प्रोत और मेरे ही आश्रित बहुत-से व्यक्ति ज्ञान-तपस्यासे पूत होकर मेरे भावको प्राप्त हो चुके हैं। जो मुझको जैसे भजते हैं, उनको मैं वैसे ही भजता हूँ। मनुष्य

सब प्रकारसे मेरे ही मार्गपर चलते हैं।

स्पष्ट है कि इसके लिये ईश्वरानुग्रह सर्वथा अपेक्षित है। ईश्वरानुग्रहके बिना ऐसी बुद्धि प्राप्त ही नहीं होती। श्रीभगवत्पादजीने सूत्रभाष्यमें इस संदर्भमें कहा है कि अविद्यावस्थामें रहनेवाला जीव कार्यकारणसंघातके विवेकसे रहित रहता है, वह अविद्याके अन्धकारसे अन्धा बना रहता है। तब वह परमेश्वर जो कर्माध्यक्ष, सर्वभूताधिवास, साक्षी और चैतन्यदायक है, उससे उसके आज्ञानुसार कर्तृत्व-भोक्तृत्वस्वरूप संसारको प्राप्त करता है। उस ईश्वरके अनुग्रहसे ही ज्ञानकी प्राप्तिद्वारा मोक्षसिद्धिके वह योग्य होता है—

'अविद्यावस्थायां कार्यकारणसङ्घाताविवेकदर्शिनो जीवस्याविद्यातिमिरान्धस्य सतः परस्मादात्मनः कर्माध्यक्षात् सर्वभूताधिवासात् साक्षिणश्चेतयितुरीश्वरात्तदनुज्ञया कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणस्य संसारस्य सिद्धिः, तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भवितुमर्हति।'

ईश्वरानुग्रहकी जितनी आवश्यकता ज्ञान-प्राप्तिके लिये स्वीकार्य है, उतनी ही गुरुके अनुग्रहकी भी। यह मानना चाहिये कि ईश्वर और गुरु दोनों उद्धारक हैं। पूर्वकृत सुकृतसे ईश्वरानुग्रह प्राप्त होता है। गुरुके अनुग्रहके लिये भी पूर्वपुण्य चाहिये। भगवान्ने गीतामें कहा है कि सब प्रकारके द्रव्यमय यज्ञोंसे ज्ञानयज्ञ श्रेयस्कर है। ज्ञानयज्ञसे बढ़कर कोई यज्ञ नहीं है। 'ब्रह्मार्पणबुद्धि' से जिसका आचरण होता है, उसे सिद्धि अवश्य मिलती है। उसका विधान जाननेके लिये गुरुकी सेवामें पहुँचना चाहिये; गुरुकी सेवा करनी चाहिये और उनकी शुश्रूषा भी करनी चाहिये। परिणामस्वरूप तत्त्वदर्शी गुरुका उपदेश प्राप्त होता है। भगवान्की उक्ति है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

जो तत्त्वदर्शी अथवा सम्यग्दर्शी हैं, उनके द्वारा उपदेश प्राप्त होनेसे वह उपदेश सफल होता है। सम्यग्दर्शी तो वे हैं, जो भगवत्प्रेममें लीन हैं। भगवत्प्रेमका नामान्तर ही आत्मप्रेम है। अतएव भगवान्ने अर्जुनको समझाया है कि 'हे अर्जुन! जिस ज्ञानको प्राप्तकर पुनः तुम इस प्रकारके मोहमें न पड़ोगे। समस्त प्राणियोंको जिससे अपने-आपमें देखोगे और फिर मुझमें भी'—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

(गीता ४। ३५)

सब परमेश्वरमें हैं अथवा क्षेत्रज्ञेश्वरैकत्व सभी उपनिषदोंमें प्रसिद्ध है ही। जो विष्णुतत्त्व किंवा भगवत्तत्त्वको जानता है वह सर्वज्ञ होता है, वह ज्ञानी होता है। भगवान्ने चार प्रकारके भक्तोंमें ज्ञानीको सर्वाधिक प्रश्रय दिया है और कहा है कि वह उनका अत्यन्त प्रिय है। भगवत्प्रेमकी यह पराकाष्ठा है, जहाँतक पहुँचनेके लिये सतत प्रयत्न और तपस्या आवश्यक है। यही कारण है कि भगवान्ने कहा है—'बहुत-से मनुष्योंमें कोई एक सिद्धिके लिये प्रयत्न करता है और प्रयत्नशील सिद्धोंमें भी कोई एक 'तत्त्व' को यथावत् समझता है। अनेक जन्मोंके अन्तमें ज्ञानवान् मुझे प्राप्त करता है। मुझ सर्वात्माको प्राप्त होनेवाला वह महात्मा सुदुर्लभ ही है'—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। ३, १९)

स्वार्थसे कौन चूकता है—**'स्वार्थे कः प्रमाद्यति?'** पुत्र-मित्र-कलत्र-बन्धु-बान्धवोंसे प्रेम किस हेतु होता है? अपने हितके लिये ही न! भगवान्से प्रेम भी अपने हितके लिये ही है। भगवत्प्रेमका तात्पर्य है—अपनेसे प्रेम। आत्मा सबसे अधिक प्रिय है। श्रेयकी प्राप्ति इसीसे है। इसलिये अत्यधिक प्रिय आत्मा किंवा परमात्माकी उपासना करनी चाहिये, किसी अन्यकी नहीं। 'शतश्लोकी' का वाक्य है—

'तस्मादात्मानमेव प्रियमधिकमुपासीत विद्वान् न चान्यत्।'

◆

भगवान् आद्यशङ्कराचार्यकी प्रेममीमांसा

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीद्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्द सरस्वतीजी महाराज)

हिन्दी भाषामें 'प्रेम' शब्द स्नेह, प्रीति, अनुग्रह, कृपा, मृदु व्यवहार, आमोद-प्रमोद, विनोद, हर्ष और उल्लास प्रभृति विविध अर्थोंका द्योतक किंवा व्यञ्जक है, जो संस्कृतव्याकरणके अनुसार पुँल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्गमें **'प्रेमन्'** शब्दसे निष्पन्न होता है। प्रसिद्ध विद्वान् वामन शिवराम आप्टेने **'प्रेमन्'** के संदर्भमें टिप्पणी करते हुए लिखा है—

प्रियस्य भावः इमनिच् प्रादेशः एकाच्कत्वात् न टिलोपः।

(संस्कृत-हिन्दीकोश, पृ० ६९६)

और इसके आगे उन्होंने स्त्रीलिङ्गमें **'प्रेमिन्'** (प्रेमन्+इनि)-की भी चर्चा की है। यों तो 'प्रेम' शब्दकी अर्थवत्तासे ही सुस्पष्ट है कि इसका प्रीति, रुचि, प्रियता और मनोनुकूलताके साथ गहरा सम्बन्ध है। जो सामान्यतया भौतिक तथा आध्यात्मिक द्विविध और सूक्ष्मतया अनेकविध होता है। जिस प्रकार एक ही जल बुद्‌बुद, तरङ्ग, सर-सरिता और कूपजल प्रभृति अनेक रूपोंमें दृष्टिगोचर होते हुए भी तात्त्विकरूपसे नीर ही होता है अथवा एक ही रस पृथक्-पृथक् विभावानुभावसंचारियोंके संयोगसे शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, बीभत्स आदि अनेक रूपोंमें प्रकट होता है। भवभूति कहते हैं—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदा-
द्भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्‌बुदतरङ्गमयान्विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत् समग्रम्॥

(उत्तररामचरितम् ३।४७)

और काव्यशास्त्रियोंके मतमें तो एक ही स्थायी भाव अनेक रसोंके स्वरूपमें उसी प्रकार अभिव्यक्त या निष्पन्न होता है, जिस प्रकार रसरूपात्मक (**'रसो वै सः'**—तैत्तिरीयोपनिषद् २।७) उपादान कारणभूत जगन्नियन्ता परब्रह्मसे कार्यरूप जगत्‌की उत्पत्ति होती है।

विचारणीय है कि प्रेमका एक पर्यायवाची शब्द 'रति' भी है। जिसकी अर्थवत्ता लोकाभिमुख लोगोंको तो बाँधती है, किंतु योगियों, ज्ञानियों, संन्यासियों एवं तपश्चर्यापूत महापुरुषोंको मुक्त करती है और लोकबन्धनकी सीमासे उन्हें बहुत दूर लेकर चली जाती है। प्रीतिका विस्तार या उसकी व्यापकता समस्त ब्रह्माण्डमें विद्यमान जड-चेतन सभीमें है। महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजीके अनुसार अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये सुर, नर और मुनि सभी स्नेह करते हैं, किंतु यहाँ 'स्वारथ' की अर्थवत्तात्मक सीमाएँ सभीकी अलग-अलग हैं और 'प्रेम' के प्रकार भी भिन्न-भिन्न हैं।

इस चिन्तनके अनुसार यदि भगवान् आद्यशङ्कराचार्यजी महाराजकी प्रीत्यात्मक मानसिकता, भावना, कार्यपद्धति, चिन्तन और कृतियोंपर विचार किया जाय तो *'हरि अनंत हरिकथा अनंता'* (रा०च०मा० १।१४०।५)-की उक्ति चरितार्थ होने लगेगी; क्योंकि भगवान् आद्यशङ्कराचार्यजी देवाधिदेव महादेवके साक्षात् अवतार हैं, जिनमें लोककल्याणहेतु जीवोंके प्रति अगाध करुणा भरी हुई है। अल्पवयमें ही चारों वेदों, सनातनधर्म तथा संस्कृतिके सिद्धान्तों और सनातनपरम्पराके प्रति उन्हें असीम प्रेम था। छः शास्त्रोंके लिये अनुराग, मानवताहेतु राग, राष्ट्रके प्रति प्रीति और ब्रह्मज्ञानके प्रति अनन्तानन्त निष्ठा थी। आपके व्यक्तित्वसागरमें एक ओर जहाँ **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** से आरम्भ होनेवाले ब्रह्मसूत्र, **'धर्मक्षेत्रे'** से लेकर **'ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम'** पर्यन्त पूर्णता प्राप्त करनेवाली गीता, उपनिषद् वाङ्मय एवं अन्य अनेकानेक आकर ग्रन्थोंका भाष्य करनेकी उन्नत ज्ञानात्मक क्षमता हिमगिरिकी भाँति दृष्टिगोचर होती है, वहीं पराम्बा, परमेश्वरी भगवती आदिशक्तिके पादपद्मोंके प्रति भक्तिकी उत्ताल तरङ्गें भी तरङ्गायित होती देखी जा सकती हैं। आपके विशाल हृदयमें विद्यमान धर्म और देशके प्रति उत्कट प्रेमका ही परिणाम था, जिसके कारण अत्यन्त विशाल भारतवर्षकी आपने पैदल परिक्रमा की तथा सनातन वैदिक धर्मपर छाये कुहरेकी परतोंको भगवान् सहस्रदीधितिके प्रचण्ड रश्मिपुञ्जोंकी भाँति अपने विद्याबलके प्रभावसे जीर्ण-शीर्ण कर दिया।

आचार्यपरम्पराके प्रति आपके मनःस्थित प्रेमने ही

सनातनधर्मके रक्षार्थ '**स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूता**' भारतभूमिकी चारों दिशाओंमें आपसे चार पीठोंकी स्थापना करायी। जो निम्नलिखित हैं'—

प्रथमः पश्चिमाम्नायः शारदामठ उच्यते।
कीटवारसम्प्रदायस्तस्य तीर्थाश्रमौ पदे॥
पूर्वाम्नायो द्वितीयः स्याद् गोवर्धनमठः स्मृतः।
भोगवारः सम्प्रदायो वनारण्ये पदे स्मृते॥
तृतीयस्तूत्तराम्नायो ज्योतिर्नाम मठो भवेत्।
श्रीमठश्चेति वा तस्य नामान्तरमुदीरितम्॥
चतुर्थो दक्षिणाम्नायः शृङ्गेरी तु मठो भवेत्।
सम्प्रदायो भूरिवारो भूर्भुवो गोत्रमुच्यते॥

(मठाम्नायमहानुशासनम् १, १०, १८, २८)

अर्थात् सर्वप्रथम द्वारकाशारदापीठकी स्थापनाके बाद आचार्यचरणने क्रमशः गोवर्धनपीठ, ज्योतिष्पीठ और शृङ्गेरीपीठकी स्थापना की, जिससे धर्मकी प्रथा अक्षुण्ण बनी रहे। इसके साथ-साथ आपने सभी पीठोंपर अलग-अलग अपने चार शिष्योंको आचार्यके रूपमें प्रतिष्ठित किया तथा 'मठाम्नायमहानुशासनम्' की रचना कर उसमें मठसम्बन्धित विधि-विधानों, आचार्योंकी योग्यता, परिचय तथा तत्सम्बद्ध मर्यादाकी सविस्तर व्यवस्था दी। आपने भावी सनातन पीढ़ीको प्रेरणा तथा धर्ममर्यादाका निर्देश देनेकी दृष्टिसे अनेक कृतियोंका प्रणयन किया, जिनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—

(१) अपरोक्षानुभूतिः, (२) आत्मबोधः, (३) तत्त्वोपदेशः, (४) प्रौढानुभूतिः, (५) ब्रह्मज्ञानावलीमाला, (६) लघुवाक्यवृत्तिः, (७) वाक्यवृत्तिः, (८) सदाचारानुसंधानम्, (९) स्वात्मनिरूपणम्, (१०) अद्वैतानुभूतिः, (११) दशश्लोकी, (१२) प्रबोधसुधाकरः, (१३) प्रश्नोत्तररत्नमालिका, (१४) ब्रह्मानुचिन्तनम्, (१५) मोहमुद्गरः, (१६) सौन्दर्यलहरी, (१७) स्वात्मप्रकाशिका, (१८) योगतारावली, (१९) शतश्लोकी, (२०) सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहः, (२१) विवेकचूडामणिः, (२२) उपदेशसाहस्री, (२३—४०) वेदान्तस्तोत्राणि, (४१—६४) भक्तिस्तोत्राणि, (६५) अनात्मश्रीविगर्हणप्रकरणम्, (६६) आत्मानात्मविचारः, (६७) जीवन्मुक्तानन्दलहरी, (६८) वाक्यसुधा, (६९) अध्यात्मपटलविवरणम्, (७०) वेदान्तब्रह्मसूत्रभाष्यम्, (७१) सनत्सुजातीयभाष्यम् और (७२) विष्णुसहस्रनामभाष्यम्।

इनके अतिरिक्त उपनिषद् वाङ्मय एवं श्रीमद्भगवद्गीतापर कृत भाष्योंकी भाँति शारीरकभाष्य भी आपकी प्रतिनिधि रचना है। आपके कर्तृत्वावलोकनसे सुस्पष्ट है कि आपको अपने जीवनमें सर्वाधिक अभीष्ट था—अद्वैतवेदान्तकी सैद्धान्तिक स्थापना और ब्रह्मकी सत्यता तथा जगत्के मिथ्यात्वका प्रतिपादन। इसीलिये आपने कहा—

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

कहना न होगा कि आचार्य शङ्करके अनुकरणके परिणामस्वरूप ही देशके अनेक सम्प्रदायों एवं धर्मानुयायियोंने अपने-अपने यहाँ आचार्यपरम्पराका श्रीगणेश किया। आपकी मेधा, तपश्चर्या, ज्ञानशक्ति और वाक्शक्तिसे ही प्रभावित होकर सम्राट् सुधन्वाने आपका शिष्यत्व ग्रहण किया था—

वेदान्तचर्चा समभूत् तदानीं राजा सुधन्वा यतिसेवकोऽभूत्।
तत्र द्विषोऽद्वैतपथस्य ये ते श्रुत्वैव तद् व्याकुलतामवापुः॥

(शङ्कराचार्यचरितम् १२।४)

भगवान् शङ्कराचार्यजी महाराज एक ओर जहाँ '**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन**' (गीता ४।३७) और '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**' के अद्वितीय चिन्तक, समर्थक किंवा उच्चतम शिखर थे, वहीं वे उत्कट श्रद्धाकी परिपक्वावस्थाजन्य भक्तिके जीवन्त रूप थे। मात्र शक्तिके अस्तित्वको स्वीकार कर संतुष्ट होनेवाले नहीं थे, प्रत्युत वे भगवतीके सदृश अन्य किसीको भी माननेको तैयार ही नहीं थे। इसीलिये सौन्दर्यलहरी (१—३)-में आप कहते हैं—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
× × ×
निमग्नानां दंष्ट्र मुररिपुवराहस्य भवति॥

अर्थात् भगवान् शिव शक्तिसे युक्त होकर ही कुछ करनेमें समर्थ हो पाते हैं। पराशक्ति भगवती त्रिपुरसुन्दरी राजराजेश्वरीसे वे यदि युक्त न हों तो उनमें स्पन्दनतक

सम्भव नहीं है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव—सभी क्रमशः सृष्टि, स्थिति, संहार या संतुलन रखनेमें शक्तिके कारण ही समर्थ हो पाते हैं। सांख्यके अनुसार प्रकृतिके बिना पुरुष कुछ भी नहीं कर सकता; क्योंकि प्रकृति ही प्रधान है, वही सृष्टिकी संचालिका तथा सभी तत्त्वोंकी मूल है। भगवान् शङ्करका कहना है कि हे मा! आप ब्रह्मादि त्रिदेवोंकी आराध्या हैं। अतः जन्म-जन्मान्तरके पुण्याभावमें भला कोई व्यक्ति आपकी स्तुति कैसे कर सकता है? अज्ञानरूपी अन्धकारको विनष्ट करनेवाली मणिद्वीप नगरीका प्रताप वस्तुतः आपके चरणोंकी धूलिका प्रभाव है। अज्ञानियोंके लिये आत्मज्ञानरूपी वाञ्छित फल प्रदान करनेवाला कल्पवृक्षोंके पुष्पोंसे निःसृत पराग और अर्थहीन दरिद्रोंके लिये सभी सम्पत्तियोंका स्वामी बनानेवाली चिन्तामणि उसी प्रकार आपके कृपाप्रसाद हैं, जैसे भवसागरमें निमग्न जीवोंके उद्धारके लिये वराहावतारी भगवान्‌के दाँत। परमपूज्य आचार्यप्रवरका मानना है कि सर्वसौभाग्यदायिनी भगवती न केवल लोकसिद्धियोंकी प्रदात्री हैं, प्रत्युत मोक्षप्रदा भी हैं। इसीलिये 'श्रीयन्त्र' की उपासना संसारमें पूज्यपादके प्रवर्तनके परिणामस्वरूप अनुदिन विकसित और व्यापक होती चली गयी। आपका कहना है कि—

मूलाधारचक्रमें पृथ्वी और जलतत्त्वोंको, स्वाधिष्ठान-चक्रान्तर्गत मणिपूरमें अग्नि, हृदयस्थ अनाहतचक्रमें वायु और विशुद्धिचक्रमें आकाश तथा भ्रूमध्यमें विद्यमान आज्ञाचक्रमें मनस्तत्त्वको, इस प्रकार सम्पूर्ण कुलपथ सुषुम्णामार्गके द्वारा सभी चक्रोंका भेदन कर सहस्रदलकमलमें अपने पति शिवसे संयुक्त होकर भगवती विहार करती रहती हैं।

ध्यातव्य है कि भेदनके समय शक्तिकी गति मूलाधारसे सहस्रारकी ओर रहती है और सहस्रारसे नीचे उतरते समय वह अपनी अन्वयभूमिकामें नाडियोंको अमृतसे सींचती हुई मूलाधारकी ओर लौटकर अपना रूप सर्पाकार बनाकर लघु कुहरमें शयन करती है। इसी प्रकार जीवके ऐहिक किंवा आमुष्मिक सर्वविध श्रेयके उपलब्ध्यर्थ पूज्यपादने 'श्रीयन्त्र'-की सृष्टिक्रमीय उपासनापर बल दिया है, जो पिण्डमें ब्रह्माण्डका प्रतीकात्मक स्वरूप है और जिसमें ४ शिवचक्र, ५ शक्तिचक्र, ९ प्रपञ्चके कारणात्मक मूलतत्त्व, ४३ कोण, ८ दल, १६ दल, ३ रेखाएँ और ३ वृत्त हैं। आपकी दृष्टिमें इस यन्त्रका उपासक भगवान् कामेश्वरका अंश बन जाता है; क्योंकि उपासक षट्चक्रोंके भेदनपूर्वक आज्ञाचक्रके ऊपर पहुँच जाता है—

मयूखास्तेषामप्युपरि तव पादाम्बुजयुगम्।

(सौन्दर्यलहरी, श्लोक १४)

और वाक्सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

मनुष्य जन्म-जन्मान्तर तपश्चर्या करता है, किंतु जीवनमें कहीं भी पथच्युत होनेपर उसके मुक्तिके मार्गमें बाधाएँ आ जाती हैं और उसे पुनः संसारमें जन्म लेना पड़ता है, किंतु भगवतीका भक्त यदि **'भवानि त्वं'''** मात्रका उच्चारण कर देता है, तो इतनेसे ही उसकी सायुज्य मुक्ति हो जाती है। यथा—

भवानि त्वं दासे मयि वितर दृष्टिं सकरुणा-
मिति स्तोतुं वाञ्छन् कथयति भवानि त्वमिति यः।
तदैव त्वं तस्मै दिशसि निजसायुज्यपदवीं
मुकुन्दब्रह्मेन्द्रस्फुटमुकुटनीराजितपदाम् ॥

(सौन्दर्यलहरी, श्लोक २२)

'श्रीयन्त्र' की उपासनामें भगवती सृष्टिकी बीज हैं, जो हादि और कादि विद्याओंकी उपादान कारण हैं। इसीलिये आज्ञाचक्रसे ऊपर पहुँचकर समयाचारका साधक जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है—

तवाज्ञाचक्रस्थं तपनशशिकोटिद्युतिधरं
परं शम्भुं वन्दे परिमिलितपार्श्वं परचिता।
यमाराध्यन् भक्त्या रविशशिशुचीनामविषये
निरालोके लोके निवसति हि भालोकभुवने॥

(सौन्दर्यलहरी, श्लोक ३६)

वात्सल्य और प्रेमका जैसा चित्र भगवान् शङ्कराचार्यजीने सौन्दर्यलहरीके ६७वें श्लोकमें खींचा है, वैसा अन्यत्र सर्वथा सुदुर्लभ है। यथा—

कराग्रेण स्पृष्टं तुहिनगिरिणा वत्सलतया
गिरीशेनोदस्तं मुहुरधरपानाकुलतया।

करग्राह्यं शम्भोर्मुखमुकुरवृन्तं गिरिसुते
कथङ्कारं ब्रूमस्तव चुबुकमौपम्यरहितम्॥

प्रकृत श्लोकमें भगवतीकी ठोड़ीका अनुपम सौन्दर्य वात्सल्यसे हिमवान् और प्रेमसे शिवजीद्वारा स्पर्शित है। इसी क्रममें सौन्दर्यलहरीके श्लोक ७२ में वात्सल्यवश माताके स्तनोंसे दुग्धस्राव होना और दुग्धपानके समय अपने शिरकुम्भको ही कहीं माताने तो नहीं ले लिया, इस भ्रममें गणेशजीका अपना सिर पकड़नेपर वात्सल्यवश माता पार्वतीका हँस पड़ना अद्भुत पवित्र प्रेमभावका द्योतक है। इसी प्रकार श्लोक ७५के '**तव स्तन्यं मन्ये धरणिधरकन्ये हृदयतः**' से लेकर '**कवीनां प्रौढानामजनि कमनीयः कवयिता**' पर्यन्त कृत वर्णनमें माताके करुणामय प्रेमका अद्वितीय चित्रण किया गया है, जिसे पाकर मैं द्रविड़ शिशु वाग्देवताकी कृपाके परिणामस्वरूप कवि बन गया, ऐसा स्वीकार करनेवाले पूज्यपादने इस ग्रन्थमें लौकिक उपादानोंके माध्यमसे आध्यात्मिक चिन्तनका जो निरूपण किया है, वह सचमुच उनकी आध्यात्मिकता तथा लोकहितके प्रति गहनतम प्रेमको प्रमाणित करता है, यथा—

हरक्रोधज्वालावलिभिरवलीढेन वपुषा।
× × ×
जनस्तां जानीते तव जननि रोमावलिरिति॥
(सौन्दर्यलहरी, श्लोक ७६)

यहाँ टीकाकार कहते हैं कि शिवजीके तृतीय नेत्रके खुलनेसे भस्मसात् कामने परमपावनी जगदम्बाके पास आकर शरण ली थी और तभीसे भगवतीके मनमें उसके प्रति पुत्रभाव उत्पन्न हुआ; क्योंकि अम्बास्तवकार कहते हैं—

दग्धं यदा मदनमेकमनेकधा ते
मुग्धः कटाक्षविधिरङ्कुरयाञ्चकार।
धत्ते तदा प्रभृति देवि ललाटनेत्रं
सत्यं ह्रियैव मुकुलीकृतमिन्दुमौलिः॥
कामोत्थितो यतो जातस्तस्याः कामेशयोषितः।
कामाक्षीति ततः ख्यातिं सा गता काञ्चिकापुरे॥

जहाँतक लौकिक भावभूमिगत प्रेमके तटस्थ एवं शास्त्रीय ज्ञानका प्रश्न है, भगवान् आद्यशङ्कराचार्यजी महाराजने भगवती भारतीके साथ सम्पद्यमान शास्त्रार्थके प्रसंगमें उनके कामशास्त्रीय पूर्वपक्षका उत्तर देनेके लिये योगबलसे राजा अमरुके मृत शरीरमें प्रवेश किया था। तभी तो पद्मपाद नामक उनके विद्वान् शिष्यने राजा अमरुके दरबारमें गीत गाते हुए उनसे कहा था—

पूर्वं भवान् ब्रह्मरसस्य भोक्ता
भुङ्क्ते रसं लौकिकमत्र निन्द्यम्।
अन्नादिकोषं च विहाय नित्यं
आनन्दरूपे नितरां रमस्व॥
(शङ्कराचार्यचरितम् ९।३२)

अर्थात् पहले आप ब्रह्मानन्दके भोक्ता थे और अब साधुजनद्वारा निन्द्य लोकरसका उपभोग कर रहे हैं। अतः आप अन्नादि कोषोंको छोड़कर नित्य आनन्दमय रूपमें रमण करें।

माताकी मरणासन्नावस्थामें बद्रीनाथसे कालाटि पहुँचकर पूज्यपादने माताजीके प्रति सम्मानपूर्ण और शास्त्रसम्मत व्यवहार किया। वयोवृद्धा मा जब पुत्रका हाथ अपने हाथमें लेकर अत्यधिक आनन्दको प्राप्त हुईं, उस समय बढ़े हुए मातृप्रेमवाले आचार्यप्रवर भी अश्रुयुक्त होकर माके शरीरसे लिपट गये। यथा—

हस्तेऽस्य हस्तं च निजे निधाय
सानन्दमानन्दमवाप माता।
श्रीशङ्करश्चापि विवृद्धरागः
साश्रुर्जनीदेहमथालिलिङ्गः॥
(शङ्कराचार्यचरितम् ७।९)

इसके अतिरिक्त भारतवर्षको प्रादेशिक भेदोंसे रहित करने और राष्ट्रैक्यके उद्देश्यसे उन महामनीषी यतीश्वरने उपासकोंके उपास्यके आधारपर अभिमत भेदोंको तोड़नेके अनेक प्रयत्न किये, जिससे उनका राष्ट्र और लोकधर्मके प्रति प्रेम सुस्पष्टतया परिलक्षित होता है। यथा—

एकं चिकीर्षुः स च भारतं वै
प्रादेशभेदै रहितं मनीषी।
सेव्याभिभेदं यतिराड् बिभेत्तु-
मुपासकानां विविधं प्रयेते॥
(शङ्कराचार्यचरितम् ६।३९)

अद्वैत वेदान्तदर्शनके अपूर्व ज्ञाता, व्याख्याता एवं प्रतिष्ठापक भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजी कहते हैं कि प्रेम और आनन्द, सभी आत्माके ही रूप हैं; क्योंकि आत्मा सच्चिदानन्दघनस्वरूप है, उसे सुख-दुःखकी अनुभूति नहीं होती, यह अनुभूति तो अहंकारको होती है; इसीलिये वे विवेकचूड़ामणि (१०५-१०६)-में कहते हैं—

विषयाणामानुकूल्ये सुखी दुःखी विपर्यये।
सुखं दुःखं च तद्धर्मः सदानन्दस्य नात्मनः॥
आत्मार्थत्वेन हि प्रेयान् विषयो न स्वतः प्रियः।
स्वत एव हि सर्वेषामात्मा प्रियतमो यतः॥

आचार्यको यहाँ यह कहना अभीष्ट है कि विषय भी आत्मार्थत्वेन प्रिय होता है, स्वयं नहीं; क्योंकि सभीका आत्मा स्वयं प्रियतम होता है। इसीलिये तो आगे वे कहते हैं कि सदानन्दात्मक आत्माको कभी दुःख नहीं होता। हाँ, सुषुप्तावस्थामें निर्विषयक आत्मानन्दका अनुभव अवश्य होता है।

इस संदर्भमें श्रुति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य और अनुमान-प्रमाण साक्षी हैं। इसीलिये तो श्रुति कहती है—'**आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्**' (तैत्तिरीयोपनिषद् ३।६) और आचार्य कहते हैं—

तत आत्मा सदानन्दो नास्य दुःखं कदाचन।
यत् सुषुप्तौ निर्विषय आत्मानन्दोऽनुभूयते।
श्रुतिप्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं च जाग्रति॥
(विवेकचूड़ामणि, श्लोक १०७)

बृहदारण्यकोपनिषद् (२।४।५)-में भी कहा गया है—

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

आगे चलकर सत्त्वधर्म एवं गुणोंके चर्चाप्रसंगमें श्रद्धा, भक्ति आदिका विवरण—**श्रद्धा च भक्तिश्च मुमुक्षुता च दैवी च सम्पत्तिरसन्निवृत्तिः** (विवेकचूड़ामणि, श्लोक ११८)-में देते हुए आप उसके आनन्द-रसकी प्राप्तिरूपी परिणामका वर्णन करते हैं, जैसे—

विशुद्धसत्त्वस्य गुणाः प्रसादः
स्वात्मानुभूतिः परमा प्रशान्तिः।
तृप्तिः प्रहर्षः परमात्मनिष्ठा
यया सदानन्दरसं समृच्छति॥
(विवेकचूड़ामणि, श्लोक ११९)

यही कारण है कि आत्माकी परिभाषा करते हुए शङ्कराचार्यजी महाराज कहते हैं—

योऽयमात्मा स्वयञ्ज्योतिः पञ्चकोशविलक्षणः।
अवस्थात्रयसाक्षीसन्निर्विकारो निरञ्जनः।
सदानन्दः स विज्ञेयः स्वात्मत्वेन विपश्चिता॥
(विवेकचूड़ामणि, श्लोक २११)

इसी ग्रन्थमें ब्रह्म और आत्माकी अभिन्नता भी बतायी गयी है। तदनुसार ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्त, विशुद्ध एवं स्वयंसिद्ध है और नित्यानन्दैकरस आत्मासे अभिन्न है—

नित्यानन्दैकरसं प्रत्यगभिन्नं निरन्तरं जयति॥
(विवेकचूड़ामणि, श्लोक २२५)

इसी प्रकार इसे कहीं स्वानन्दामृतपूरपूरित परब्रह्म, परमानन्द, प्रत्यगेकरस तथा सच्चित्-घन कहा गया है तो कहीं नित्यविशुद्धबोधानन्दात्मा स्वीकारा गया है।

इसके अतिरिक्त भगवान् विष्णु, श्रीअन्नपूर्णा, गङ्गा-यमुना, नर्मदा, भगवती त्रिपुरसुन्दरी एवं अन्य देवी-देवताओंकी आराधनामें आपद्वारा विरचित स्तोत्र एवं अन्य अनेक स्तोत्रों तथा सैद्धान्तिक ग्रन्थोंपर कृत भाष्य तथा अन्य कृतियाँ आपकी अगाध श्रद्धा, निष्ठा, भक्ति एवं सनातन वैदिक संस्कृतिके प्रति अद्भुत प्रेमके जाज्वल्यमान प्रमाण हैं।

इस प्रकार भारतीय वाङ्मयके प्रचार, उसमें निगूढ़ दार्शनिक तत्त्वोंके निरूपण, सदुपयोगी और भक्ति-मुक्तिदायी आर्षग्रन्थोंपर भाष्य-प्रणयन, अनीश्वरवादी विधर्मी चिन्तनों-ढोंगों और पाखण्डोंके निकन्दन, शास्त्रके प्रति प्रगाढ़ निष्ठा, तीर्थों, नदियों, सागर तथा पर्वतोंके प्रति आदरभाव, जन्मभूमिके प्रति अनुराग, संन्यास-दीक्षा, त्याग, धर्म और सदाचारके प्रति समर्पण, माताके लिये पूज्यभाव, मन्दिर-निर्माण, पीठस्थापन, ज्ञान, मुक्ति और गुरु-पूजा प्रभृतिके प्रति आपका प्रेम युगों-युगोंतक समस्त ब्रह्माण्डमें अमर रहेगा और उसका अनुकरण कर असंख्य पीढ़ियाँ अपने जीवनको अनन्त कालपर्यन्त धन्य बनाती रहेंगी।

भगवत्स्वरूप और भगवत्प्रेमकी तात्त्विक मीमांसा

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य पुरीपीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज)

(१) भगवत्तत्त्वकी तात्त्विक मीमांसा—ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेजोरूप षड्विध ऐश्वर्यसे सदा सम्पन्न तथा क्लेश, कर्म, विपाक और आशयरूप जीवभावसे सदा सुदूर पुरुषविशेष महेश्वर हैं।

घट, पट, स्त्री, पुत्र, ग्रह-नक्षत्रादि रूप अर्थका बोध ज्ञान है। कार्यसम्पादन-सामर्थ्य शक्ति है। सहायसम्पत्ति बल है। ईश्वरत्वरूप स्वातन्त्र्य ऐश्वर्य है। ओजस्विता वीर्य है। सदा उत्साहसम्पन्नता अर्थात् अपराभवता तेज है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेशरूप पञ्चक्लेश हैं। शुभ, अशुभ और मिश्रसंज्ञक त्रिविध कर्म हैं। सुख-दुःख और मोहसंज्ञक त्रिविध कर्मफल-विपाक हैं। अन्तःकरण और तन्निष्ठ संस्कारका नाम आशय है।

ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, सत्य, क्षमा, धृति, स्रष्टृत्व-द्रष्टृत्व-आत्मसम्बोधत्वरूप दशविध ऐश्वर्यसे सदा सम्पन्न महेश्वर हैं।

वेदान्तवेद्य अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मको परमात्मा, भगवान्, नारायण, वासुदेव, क्षेत्रज्ञ, आत्मा, उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता और महेश्वर तथा तत्त्वादि नामोंसे तत्त्वज्ञ मनीषी निरूपित करते हैं—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भा० १।२।११)

तत्त्ववेत्तालोग ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित अखण्ड अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप ज्ञानको ही तत्त्व कहते हैं। उसीको कोई ब्रह्म, कोई परमात्मा और कोई भगवान् इस नामसे निरूपित करते हैं।

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः
साक्षात्स्वयंज्योतिरजः परेशः।
नारायणो भगवान् वासुदेवः
स्वमाययाऽऽत्मन्यवधीयमानः॥

(श्रीमद्भा० ५।११।१३)

पार्थिव प्रपञ्चसे प्रकृतिपर्यन्त क्षेत्र है। उसका ज्ञाता क्षेत्रज्ञ है। वह पर प्रेमास्पद होनेसे परमात्मस्वरूप प्रत्यगात्मा एवं परिपूर्ण पुरुष है। वह निर्विकार होनेसे पुराण है। अपरोक्ष होनेसे साक्षात् है। निरपेक्ष प्रकाशस्वरूप होनेसे स्वप्रकाश है। सर्वकारण अज है। ब्रह्मादिदेवशिरोमणियोंका भी नियामक होनेसे परेश है। अपने अधीन रहनेवाली मायाके द्वारा सबके अन्तःकरणोंमें रहकर जीवोंको प्रेरित करनेवाला समस्त भूतोंका आश्रय होनेसे नारायण नामक भगवान् वासुदेव है।

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भा० २।१०।७)

नामरूपात्मक प्रपञ्चकी उत्पत्ति, स्थिति और संहति जिस भगवत्तत्त्वसे सुनिश्चित है, वह परम ब्रह्म है। शास्त्रोंमें उसीको परमात्मा कहा गया है। ऐसा निरपेक्ष तत्त्व ही आश्रय है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

(गीता १३।२२)

इस देहमें परमपुरुष ही उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मरूपसे प्रतिष्ठित है।

दृश्यजगत्का प्रतिक्षण परिवर्तन स्वभावसिद्ध है। परिवर्तनका आश्रय और अलिप्त साक्षी स्थिर सत्य है। सुवर्णकी कटक, मुकुट, कुण्डलादिरूपसे प्रतीतिके तुल्य परब्रह्म परमात्माकी प्रपञ्चरूपसे प्रतीति वेदान्तरसरसिकोंको मान्य है।

जिस प्रकार मेघमण्डलकी उत्पत्ति और प्रसिद्धि आदित्यसे सम्भव होनेपर भी मेघमण्डल आदित्यके अंशभूत आँखोंके लिये आदित्यदर्शनमें प्रतिबन्धक सिद्ध होता है; उसी प्रकार अहङ्कारकी उत्पत्ति और प्रसिद्धि परब्रह्म परमात्मासे सम्भव होनेपर भी अहङ्कार परब्रह्मके अंशतुल्य जीवात्माके लिये परब्रह्म परमात्माके साक्षात्कारमें बाधक सिद्ध होता है। मेघमण्डलका वायुयोगसे अपसारण हो जानेपर नेत्रोंको सुलभ सूर्यदर्शनके सदृश विवेक-विज्ञानसे अहङ्कारका अपसारण हो जानेपर जीवोंको परब्रह्म

परमात्माका दर्शन सुलभ हो जाता है।

एक ही भगवान् जनार्दन जगत्‌की सृष्टि, स्थिति, संहतिके लिये ब्रह्मा, विष्णु और महेश-संज्ञाओंको धारण करते हैं। वे प्रभु स्रष्टा होकर अपनी ही सृष्टि करते हैं। पालक विष्णु होकर पाल्यरूप अपना ही पालन करते हैं। संहारक महेश होकर संहतरूप स्वयंका ही संहार करते हैं—

सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥
स्रष्टा सृजति चात्मानं विष्णुः पाल्यं च पाति च।
उपसंह्रियते चान्ते संहर्ता च स्वयं प्रभुः॥

(विष्णुपुराण १।२।६६-६७)

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥

(श्रीमद्भा० ११।२८।६)

नामरूपात्मक जगत् प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। प्रपञ्चोपादान प्रधान (प्रकृति) परिणामशील अतएव विकारयुक्त है। इस प्रकार कार्यात्मक प्रपञ्च और कारणात्मक प्रधान दोनोंकी तत्त्वरूपता असिद्ध है। पारिशेष्यन्यायसे प्रकृति और प्राकृत तद्वत् भूत और भौतिक प्रपञ्चका परमाश्रय परब्रह्म परमात्मा ही परम सत्य अर्थात् वास्तविक वस्तु है। वह ज्ञानस्वरूप है। स्वप्रकाश विज्ञानातिरिक्त कभी कहीं कोई भी पदार्थ नहीं है। उसमें अविद्या, काम और कर्मयोगसे परिलक्षित विभेद वास्तविक नहीं है। वह विज्ञान विमल, विशोक और अशेष लोभादि विरहित है। वही एक सत्यस्वरूप परम परमेश्वर वासुदेव है। उससे पृथक् और कोई पदार्थ नहीं है। अणु, चूर्णरज, पिण्ड, कपाल, घटरूपसे प्रतिष्ठित मृत्तिकाके तुल्य आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीरूपसे परब्रह्म ही प्रतिष्ठित है। व्यष्टि पृथ्वीरूपा मिट्टीमें प्रतिष्ठित घटोत्पादिनी शक्तिका आश्रय मृत्तिकाके तुल्य जगत्कारण ब्रह्ममें संनिहित प्रपञ्चोत्पादिनी शक्तिका समाश्रय स्वयं परब्रह्म ही है। वह ज्ञानस्वरूप वासुदेव ही सत्य है, उसके अतिरिक्त सब कुछ असत्य है—

ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा॥

(श्रीमद्भा० ३।३२।२८)

ब्रह्म एक है। वह निर्गुण और ज्ञानस्वरूप है। बाह्य वृत्तियोंवाली इन्द्रियोंके द्वारा वह भ्रान्तिवश शब्दादिधर्मोंवाले विभिन्न पदार्थोंके रूपमें भास रहा है—

तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चि-
त्क्वचित्कदाचिद्द्विज वस्तुजातम्।
विज्ञानमेकं निजकर्मभेद-
विभिन्नचित्तैर्बहुधाभ्युपेतम्॥
ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोक-
मशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम्।
एकं सदैकं परमः परेशः
स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति॥
सद्भाव एवं भवतो मयोक्तो
ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत्।

(विष्णुपुराण २।१२।४३—४५)

भगवान् वासुदेव उत्पत्ति, स्थिति, संहति, निग्रह-तिरोधान और अनुग्रहकर्ता हैं। वे स्वयं ही जगत् बनते हैं और बनाते भी हैं। इतना ही नहीं, जिस प्रकार व्यापक आकाश ही घटगत घटाकाश कहा जाता है, उसी प्रकार चिदाकाशस्वरूप परमात्मा ही व्यष्टिगत प्रत्यगात्मा कहा जाता है। जागर, स्वप्न, सुषुप्ति और समाधिमें अलिप्त एकरस साक्षी पुरुषरूप नारायणसे सत्ता, चित्ता और प्रियता लाभकर देहेन्द्रियप्राणान्तःकरण अपना-अपना काम करनेमें समर्थ होते हैं।

अग्निकी चिनगारियाँ जिस प्रकार अग्निको उद्भासित और दग्ध करनेमें समर्थ नहीं, उसी प्रकार इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण भी प्रत्यगात्मस्वरूप अन्तरात्मा नारायणको सत्ता, चित्ता और प्रियता प्रदान करनेमें समर्थ नहीं। 'नेति-नेति' आदि निषेधमुखसे प्रवृत्त श्रुतियाँ निषेधगर्भित विधि-मुखसे और 'तत्त्वमस्यादि' विधिमुखसे प्रवृत्त श्रुतियाँ विधिगर्भित निषेधसे ही नारायण नामक परमात्मतत्त्वमें प्रवृत्त होती हैं। शब्दोंमें अर्थावबोधक सामर्थ्य भी भगवदनुग्रहसे ही सम्भव है।

इस प्रकार क्षेत्रज्ञ, वासुदेव, नारायण, अज, ब्रह्म, भगवान् आदि नामोंसे निरूपित वेदान्तवेद्य सच्चिदानन्दतत्त्व परमात्मा, अन्तरात्मा और वस्तुतः प्रत्यगात्मा है। 'सापेक्षमसमर्थं

भवति' (पा०सू० ३।१।८ भाष्य) सापेक्ष असमर्थ होता है अर्थात् निरपेक्ष समर्थ होता है। परमात्मा निरपेक्ष होनेसे समर्थ है।

जिस प्रकार जल-स्थल-नभमें विद्यमान विद्युत्की अर्थक्रियाकारिताके बिना विद्यमानता उसकी निर्गुणरूपता सिद्ध करती है तथा नीरूपता उसकी निराकारता सिद्ध करती है, उसी प्रकार सर्वव्यापक अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप निरुपाधिक परब्रह्मकी निर्गुण-निराकारता सिद्ध है। जिस प्रकार पंखा आदिके माध्यमसे उपयोगिता सिद्ध करनेवाली, किंतु आँखोंसे ओझल रहनेवाली विद्युत्की सगुण-निराकारता सिद्ध है, उसी प्रकार सर्वभूतनियामक मायोपाधिक सर्वेश्वरकी सगुण-निराकारता सिद्ध है। जिस प्रकार बल्ब, बादल आदिके योगसे अभिव्यक्त विद्युत्की सगुण-साकारता सिद्ध होती है, उसी प्रकार प्रीति-प्रगल्भतादिके योगसे अभिव्यक्त श्रीराम-कृष्णादिरूप परब्रह्मकी सगुण-साकारता सिद्ध होती है।

श्रीराम-कृष्णादि रूपोंमें अवतरित भगवद्विग्रह सकल सुन्दरताओंसे सम्पन्न होता है। सर्वसौन्दर्यसार अनुपमरूपका दर्शन कर भावुक भक्त धन्य-धन्य होते हैं। दिव्य मुखचन्द्रकी आभा और प्रेमपूर्ण मुसकानसे स्निग्ध चितवन भक्तोंके मनको हर लेती है। देवताओंके लिये भी दुर्लभ दर्शन लाभकर भक्त कृतार्थ हो जाते हैं। भगवद्दर्शनके बिना एक-एक क्षण कोटि-कोटि वर्षोंके तुल्य प्रतीत होने लगते हैं। भगवद्दर्शनके बिना भक्तोंकी दशा वैसी ही हो जाती है, जैसी सौरादि आलोकके बिना नेत्रोंकी।

जब आत्मानात्मविवेकसम्पन्न परमहंस मननशील मुनि और रागादिविरहित शमादिसम्पन्न सनकादि-सरीखे अमलात्मा संत भी स्वरूप, शक्ति और वैभवसे अनन्त, अचिन्त्य महिमामण्डित प्रभुको नहीं पहचान पाते, तब उनकी भक्ति करनेकी भावनावाले, किंतु देह-गेह, सगे-सम्बन्धियोंमें रचे-पचे प्राकृतजन उन्हें कैसे पहचान सकते हैं?

अमलात्मा आत्माराम मननशील मुनिगणों और चिज्जडग्रन्थिभेदक निर्ग्रन्थ परमहंसोंको भी निज गुणोंसे आकृष्ट कर उनसे भक्तियोग निष्पन्न करानेके लिये अवतीर्ण श्रीहरिके अनुपम स्वरूपको प्राकृतजन कैसे समझ सकते हैं?

जैसे मूढदृष्टिसम्पन्नोंके द्वारा श्रीहरि लक्षित नहीं होते; वैसे ही परमहंस मुनीन्द्र अमलात्माओंके द्वारा भी वे लक्षित नहीं होते; क्यों न हो, प्रभु कारणोपाधिक कारणात्मा और कारणातीत जो ठहरे! उन्हें कार्योपाधिक परमहंसादि न जान पायें, इसमें आश्चर्य ही क्या है?—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥

(श्रीमद्भा० १।८।२०)

(२) अवतारतत्त्वकी तात्त्विक मीमांसा—श्रीदेवकीजीने सम्भावित सर्वहेतुओंका निराकरण करते हुए भगवदनुग्रहसे श्रीभगवान्के अवतारको समीचीन स्वीकार किया है—

रूपं यत् तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं
ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं
स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः॥

(श्रीमद्भा० १०।३।२४)

वेदोंने जिस वास्तव वस्तुका निरूपण किया है, वह अव्यक्त है; क्योंकि आद्य अर्थात् कारण है। वह परमाणुरूप नहीं है, अपितु बृहद् ब्रह्मस्वरूप है।

प्रकारान्तरसे यह भी कहा जा सकता है कि भगवत्तत्त्व अव्यक्त है। वह प्रत्यक्षानुमानादि किसी भी प्रकारसे व्यक्त नहीं होता। उत्पत्तिसे उसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है; क्योंकि वह सर्वकार्योंका आद्य अर्थात् कारण है। जो सादि होता है, उसीकी अभिव्यक्ति होती है, न कि अनादिकी। व्यापक ब्रह्मस्वरूप होनेसे भी उसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। परिच्छिन्नकी देशविशेषमें अभिव्यक्ति सम्भव है, न कि व्यापककी। जो प्रकाशस्वरूप है, जिसके सांनिध्यमात्रसे सबका प्रकाशन सम्भव है, कोई परिच्छिन्न प्रकाश उसकी अभिव्यक्ति करनेमें समर्थ नहीं है। किसी गुणसे भी उसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि वह निर्गुण है। इतना ही नहीं, वह निर्विकार है, अतः उसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है।

सविकार प्रकृतिकी महदादिके द्वारसे अभिव्यक्ति

सम्भव है, न कि निर्विकारकी। वह सत्तामात्र है, सर्वाभिव्यञ्जक सद्रूपका अभिव्यञ्जक कोई भी वस्तुविशेष हो, यह सम्भव नहीं। यह लोकप्रसिद्ध तथ्य है कि **'घटः सन् पटः सन्'**—'घट है, पट है' आदि स्थलोंमें सत्तासे ही घटादि व्यक्त होते हैं, न कि घटादिसे सत्ताकी अभिव्यक्ति होती है। अभिप्राय यह है कि वन्ध्यापुत्रादि असत् स्वरूपका अभिव्यञ्जक नहीं होता, अतएव सत् ही स्वरूपका अभिव्यञ्जक हो सकता है। परम तत्त्व निर्विशेष है, अतः उसका अभिव्यञ्जन असम्भव है। सावयवरूप सविशेष घटादिका ही घटत्वादि सामान्यसे अभिव्यञ्जन देखा जाता है, न कि निर्विशेषका। सचेष्टकी क्रियासे अभिव्यक्ति देखी जाती है, न कि निश्चेष्टकी। बंद आकाशादिको खोला जा सकता है, न कि आकाशादिको खोला जाना सम्भव है।

इस प्रकार यद्यपि अव्यक्तत्व, आद्यत्व, ब्रह्मत्व, ज्योतित्व, निर्गुणत्व, निर्विकारत्व, सत्तामात्रत्व, निर्विशेषत्व, निरीहत्वरूप नवविध हेतुओंसे भगवदवतारकी सिद्धि असम्भव परिलक्षित होनेपर भी जिस प्रकार अघटनघटनापटीयसी स्वात्मवैभव, आत्मयोगरूपा अचिन्त्यलीलाशक्ति मायाके लिये सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्मको परस्पर विलक्षण जीव, जगत् और जगदीश्वररूपसे अवतरित करना सम्भव है, उसी प्रकार जगदीश्वरको युगानुरूप विविध लीलोपयुक्त मत्स्य, कूर्मादि अवतार-विग्रहोंसे सम्पन्न करना भी सम्भव है—

> **युक्तं च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा।**
> **मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम्॥**
> **नैतदेवं यथाऽऽत्थ त्वं यदहं वच्मि तत्तथा।**
> **एवं विवदतां हेतुं शक्तयो मे दुरत्ययाः॥**
>
> (श्रीमद्भा० ११।२२।४-५)

'वेदज्ञ ब्राह्मण इस विषयमें जो कुछ कहते हैं, वह सब ठीक है। मेरी माया स्वीकार करके क्या कहना असम्भव है। 'जैसा तुम कहते हो, वह ठीक नहीं है, मैं जो कहता हूँ, वही यथार्थ है'—इस प्रकार विवाद इसलिये होता है कि मेरी शक्तियोंका पार पाना असम्भव है'—

> **सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका।**
> **माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः॥**
>
> (श्रीमद्भा० ३।५।२५)

'महाभाग! यह द्रष्टा और दृश्यका अनुसन्धान करनेवाली द्रष्टाकी शक्ति ही—कार्यकारणरूपा अनिर्वचनीया माया है। इसके द्वारा ही महेश्वरने इस विश्वका निर्माण किया है'—

> **स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया।**
> **सदसद्रूपया चासौ गुणमय्यागुणो विभुः॥**
>
> (श्रीमद्भा० १।२।३०)

असम्भवको सम्भव करनेवाली शक्ति माया है। **'सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते'** (श्रीमद्भा० ३।७।९)। वही है यह श्रीभगवान्की माया जो युक्तिविरुद्ध परिलक्षित होनेवाली घटनाको भी घटित कर दे—

> **निर्गुणं निष्क्रियं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरञ्जनम्॥**
> **अनिरूप्यस्वरूपं यन्मनोवाचामगोचरम्।**
> **सत्समृद्धं स्वतःसिद्धं शुद्धं बुद्धमनोदृशम्।**
> **एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन॥**
>
> (अध्यात्मोपनिषत् ६२-६३)

आदि श्रुतियोंके अनुशीलनसे यह तथ्य सिद्ध होता है कि ब्रह्म समस्त क्रियाओं, गुणों और विकारोंसे विरहित है—**'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।'** (तैत्तिरीय० ३।१) आदि श्रुतियोंके अनुशीलनसे यह तथ्य सिद्ध होता है कि इस जगत्की सृष्टि, स्थिति, संहति ब्रह्मसे ही होती है। उक्त दोनों प्रकारकी श्रुतियोंमें वस्तुतः विगान नहीं है। स्वरूपलक्षणलक्षित सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण, निष्क्रिय, निर्विकार ही है, वही स्वशक्तिभूता त्रिगुणमयी अनिर्वचनीया मायाके योगसे तटस्थलक्षणलक्षित ईश्वररूपसे उत्पत्त्यादि कृत्योंका निर्वाहक होता है। अभिप्राय यह है कि उसीमें त्रिगुणमयी प्रकृतिकृत व्यवहार आरोपित होते हैं। दाहिकाशक्तिसे दाहकी निष्पत्ति होनेपर भी अग्निको दाहक माना जाना जिस प्रकार समीचीन है, उसी प्रकार मायाशक्तिसे सृष्ट्यादिकी निष्पत्ति सम्भव होनेपर भी ब्रह्मको स्रष्टादि माना जाना सर्वतोभावेन समीचीन है।

'सच्छब्दवाच्यमविद्याशबलं ब्रह्म। ब्रह्मणोऽव्यक्तम्। अव्यक्तान्महत्। महतोऽहङ्कारः। अहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि। पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत्॥' (त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत् १) आदि श्रुतियाँ उक्त रहस्यका प्रतिपादन स्वयं ही करती हैं—

त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो
वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात्।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते
त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः॥
(श्रीमद्भा० १०।३।१९)

स्वयं वेदोंने परमात्माको सकल विरुद्धधर्माश्रयरूपसे निरूपित किया है। **'अजायमानो बहुधा वि जायते'** (यजु० ३१।१९) यहाँ परमात्माको अजायमान और विशेषरूपसे जन्मयुक्त माना गया है। **'स एव मृत्युः सोऽमृतम्'** (अथर्व० शौ० सं० १३।४।३।२५)-में परमात्माको मृत्यु और अमृत दोनों ही कहा गया है। **'तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तदन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'** (यजु० ४०।५)-में उसे चलनक्रियाशील और चलनक्रियारहित, दूर और समीप, भीतर और बाहर बताया गया है। **'नासदासीद्, नो सदासीत्'** (ऋ०शा०सं० १०।१२९।१)-में न सत् था, न असत् था—कहकर परमात्मशक्तिको भी परस्पर विरुद्धरूपसे निरूपित किया गया है। **'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** (श्वेता० ३।२०)-में भगवत्तत्त्वको अणु-से-अणु और महान्-से-महान् कहा गया है। **'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्'** (श्वेता० ३।१७, गीता १३।१४)-में उसे इन्द्रियसहित और इन्द्रियरहित कहा गया है। **'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता'** (श्वेता० ३।१९) की उक्तिसे परमात्माको निराकार और **'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्'** (श्वेता० ३।१६)-की उक्तिसे साकार कहा गया है। **'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः'** (यजु० ३२।३)-की उक्तिसे श्रुतिने परमात्माको अनुपमेय कहा है तथा **'संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वां रात्र्युपास्महे। सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज'** (अथर्व० ३।१०।३)—'हे रात्रि! संवत्सर (प्रजापति, परमात्मा)-की प्रतिमा (मूर्ति) जिस तेरी हम उपासना करते हैं, वह तू प्रतिमा हमारी प्रजाको धन-पुष्टि आदिसे संयुक्त कर।'—की उक्तिसे परमात्माकी मूर्तिका प्रतिपादन किया गया है।

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥
(रामपूर्वतापिन्युपनिषत् १।७)

'ब्रह्म चिन्मय (चिन्मात्र), अद्वितीय, निष्कल और अशरीर है। उपासकोंकी कार्यसिद्धिके लिये उसके विविध अवतार-विग्रहकी श्रुतियोंने उद्भावना की है, जो कि भक्तोंद्वारा भाव्य (भावनायोग्य) है।'

—आदि वचनोंके अनुसार सगुणकी तात्त्विक निर्गुणरूपता और निर्गुणकी औपाधिक सगुणरूपताके कारण सगुण-निर्गुणमें ऐक्य सिद्ध होता है।

जैसे स्वतःशुद्ध स्फटिकमें हिङ्गुलके योगसे रक्तत्वकी और स्फटिकांशके प्रमोषसे पद्मरागत्वकी प्रतीति होती है, उसीमें चन्द्रिकाके योगसे इन्द्रनीलत्वकी स्फूर्ति होती है, वैसे ही स्वप्रकाश ब्रह्ममें मायायोगसे ईश्वरत्व (परमात्मत्व)-की प्राप्ति होती है। उसीमें चिदंश (ब्रह्मत्व)-के प्रमोषसे और मायाके दार्ढ्यसे भगवान् और लीलावतार श्रीराम-कृष्णादिकी स्फूर्ति होती है—

मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युतः।
रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाऽच्युतः॥
(पाञ्चरात्र)

'जिस प्रकार नाना छविधारी वैदूर्य नामक मणि नील-पीतादिसे युक्त रूपभेद (विविधता)-को प्राप्त होती है, उसी प्रकार भक्तोंकी भावनाके योगसे भगवान् अच्युत रूपविशेषको प्राप्त होते हैं।'

अवतारविग्रह सर्वशक्तियों, विशेषणों और सर्वगुणोंसे सम्पन्न है। यद्यपि चरम कार्य पृथ्वीमें भी गन्धादि सर्वविशेषताओंका संनिवेश है तथापि वह भौतिकतारूप दूषणसे दूषित है। अविद्या, काम और कर्मोंसे असंस्पृष्ट अवतार-विग्रहमें सकल सुन्दरताओंका संनिवेश और विशेषताओंका उपनिवेश तथा भौतिकताका असंनिवेश होता है। निजभक्तोंपर अनुग्रह करनेकी भावनासे ही भगवान् अवतरित होते हैं—

बिभ्रद् वपुः सकलसुन्दरसन्निवेशं
कर्माचरन् भुवि सुमङ्गलमाप्तकामः।
(श्रीमद्भा० ११।१।१०)

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥
त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज

आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।२; ३।९।११)

ध्यान रहे, गुलाबके बीज (अङ्कुरोत्पादिनी शक्तिविशिष्ट उपादान)-में पत्तियों और काँटोंको उत्पन्न करनेवाली शक्तियोंकी अपेक्षा जिस प्रकार दिव्य पराग, मकरन्दसे समन्वित पुष्पोंको समुत्पन्न करनेवाली शक्ति विलक्षण है, उसी प्रकार परमात्मामें प्रपञ्चोत्पादिनी और प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाली शक्तियोंकी अपेक्षा स्वयंको श्रीराम-कृष्ण-शिवादिरूपोंमें समुत्पन्न करनेवाली शक्ति विलक्षण है।

यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि भगवद्विग्रह कारणोपाधिक (मायोपहित) चैतन्यकी उपाधि मायानिष्ठ विशुद्ध सत्त्व निमित्तिक होनेसे तत्त्वान्तर संज्ञक विजातीय परिणाम न होनेसे निर्विकार है। लीलासौख्यकी दृष्टिसे परिच्छिन्न परिलक्षित होनेपर भी आकाश, अहं और महत्‌की अपेक्षा भी विभु है—

यद्यपि साकारोऽयं तथैकदेशी विभाति यदुनाथः।
सर्वगतः सर्वात्मा तथाप्ययं सच्चिदानन्दः॥

(प्रबोधसुधाकर २००)

(३) भगवत्प्रेमतत्त्वकी तात्त्विक मीमांसा— सर्वानुभव-सिद्ध यह तथ्य है कि आत्मा सर्वाधिक प्रीतिका विषय है। अन्योंमें आत्मापेक्षया किञ्चिन्न्यून प्रीति स्वभावसिद्ध है। **'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'** (बृहदा० २।४।५, ४।५।६) इस अनुभवसिद्ध श्रुतिके बलपर आत्माकी सुखरूपता सिद्ध है, न कि अन्योंकी। **'सुखमस्यात्मनो रूपम्'** (श्रीमद्भा० ७।१३।२६)—'यह आत्मा साक्षात्सुखरूप ही है।'

'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' (छान्दोग्य० ७।२३।१)-के अनुसार भूमासंज्ञक परमात्माकी सुखरूपता सिद्ध है, न कि किसी अन्यकी। ऐसी स्थितिमें जीवनिष्ठ असन्मान्यतासुलभ परमात्माकी परोक्षता और आत्माकी परिच्छिन्नता और सद्वितीयताका अपलाप परमात्माकी परप्रेमास्पदता और अक्षय सुखकी उपलब्धिके लिये अनिवार्य है—

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥
वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद् वस्त्विह किञ्चन॥
सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।५०, ५५—५७)

'राजन्! संसारके सभी प्राणी अपने आत्मासे ही सर्वाधिक प्रेम करते हैं। पुत्रसे, धनसे या अन्य ममतास्पदसे जो प्रेम होता है, वह इसलिये कि वे वस्तुएँ अपने आत्माको प्रिय लगती हैं।'

'श्रीकृष्णको ही तुम सब आत्माओंका आत्मा समझो। जगत्कल्याणके लिये ही वे योगमायाका आश्रय लेकर देहधारीके समान जान पड़ते हैं।'

'जो लोग भगवान् श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको जानते हैं, उनके लिये तो इस जगत्‌में जो कुछ भी चराचर पदार्थ हैं और प्रपञ्चातीत परमात्माके विविध अवतार हैं, वे सभी श्रीकृष्णस्वरूप ही हैं। श्रीकृष्णके अतिरिक्त कुछ भी प्राकृत-अप्राकृत पदार्थ है ही नहीं।'

'सभी वस्तुओंका अन्तिमरूप अपने कारणमें स्थित होता है। उस कारणके भी परम कारण हैं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र। ऐसी स्थितिमें किस वस्तुका श्रीकृष्णसे पृथक् प्रतिपादन करें।'

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं
महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं
पदं पदं यद् विपदां न तेषाम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।५८)

'जिन्होंने पुण्यकीर्ति मुकुन्द मुरारिके पदपल्लवकी नौकाका आश्रय लिया है, जो सत्पुरुषोंका सर्वस्व है, उनके लिये यह भवसागर बछड़ेके खुरके गढ़ेके समान है। उन्हें परमपदकी प्राप्ति हो जाती है और उनके लिये विपत्तियोंका निवास-स्थान—यह संसार नहीं रह जाता।'

वास्तवमें समस्त कल्याणोंकी अवधि आत्मा है और आत्मज्ञान प्रदान करनेवाले श्रीहरि ही सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रिय आत्मस्वरूप हैं। जिस प्रकार वृक्षकी जड़ सींचनेसे तना, शाखा, उपशाखादि सभीका पोषण हो जाता है तथा भोजनद्वारा प्राणोंको तृप्त करनेसे समस्त इन्द्रियाँ पुष्ट होती हैं, वैसे ही श्रीभगवान्की पूजा ही सबकी पूजा है—

श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थतः।
सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्माऽऽत्मदः प्रियः॥
यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥
(श्रीमद्भा० ४।३१।१३-१४)

भगवान् श्रीहरि सम्पूर्ण प्राणियोंके ईश्वर, आत्मा और परम प्रियतम हैं, वे अपने ही बनाये हुए स्थूल-सूक्ष्म पञ्चभूतादिविनिर्मित शरीरोंमें जीवरूपसे प्रतिष्ठित और प्रतिपादित हैं—

सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मेश्वरः प्रियः।
भूतैर्महद्भिः स्वकृतैः कृतानां जीवसंज्ञितः॥
(श्रीमद्भा० ७।७।४९)

सुखाभिव्यञ्जिका मनोवृत्ति प्रेम है। प्रेम मूकद्वारा प्राप्त रसास्वादनतुल्य है। आन्तर मधुर वेदनारूप अथवा सरस मनोवृत्तिरूपा प्रीति है। '**रसो वै सः**' (तैत्तिरीय० २।७) आदि श्रुतियोंके अनुसार रसस्वरूप, रसिकशेखर परमात्मा, उनकी बाह्याभ्यन्तर अभिव्यक्ति और उनमें सख्यादिभावसे अनुरक्ति प्रेम है। अप्राप्त, प्राप्त और विनष्ट—त्रिविध-विषयक प्रेम सम्भव है।

चित्त घनीभूतालाक्षातुल्य कठिन है। भगवद्रसिकोंके श्रीमुखसे श्रीहरिके प्रभाव, स्वभाव, स्वरूप, रूप, नाम, धाम और लीलाका श्रवण करते रहनेपर चित्त द्रवतायुक्त होता है। द्रवीभूत स्नेहिल अन्तःकरणपर प्रभुदर्शनजनित संस्कारके उत्तरोत्तर सुपुष्ट होते रहनेपर उत्तरोत्तर अभिव्यक्त प्रभु ही प्रेम हैं। स्निग्ध, तरल, निर्मल, शुद्ध, समुद्रोन्मुख, गङ्गाप्रवाहवद् भगवद्गुणगणश्रवणादिसुलभ द्रवावस्थापन्न चित्त और चित्तापहारक चैत्यवपु (अन्तर्यामी) प्रभुमें प्रगाढतादात्म्यापत्ति प्रेमाभक्ति है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
(श्रीमद्भा० ३।२९।११-१२)

'जिस प्रकार गङ्गाका प्रवाह अखण्डरूपसे समुद्रकी ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे मनोगतिका तैलधारातुल्य अविच्छिन्नरूपसे मुझ सर्वान्तर्यामीके प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तममें निष्काम और अनन्य प्रेम होना—निर्गुण (विशुद्धसत्त्वात्मिका) भक्तियोगका लक्षण कहा गया है।'

प्रेम प्रियतम और प्रेमीकी मधुर विवशताको द्योतित करता है। हृदयनिबद्ध प्रियतम प्रभु प्रेमीके प्रेमपाशसे स्वयंको मुक्त नहीं करना चाहते। प्रेमी लोककृत तथा दैवकृत विविध यातना प्राप्त करते रहनेपर भी प्रभुको छोड़ नहीं सकते। अतएव प्रियतम और प्रेमीका परस्पर मधुर वैवश्य प्रेम है—

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।५५)

'विवशतासे नामोच्चारण करनेपर भी सम्पूर्ण अघराशिको नष्ट कर देनेवाले स्वयं भगवान् श्रीहरि जिसके हृदयको क्षणभरके लिये भी नहीं छोड़ते हैं; क्योंकि उसने प्रेमकी रस्सीसे उनके चरणकमलोंको बाँध रखा है, वास्तवमें ऐसा पुरुष ही भगवान्के भक्तोंमें प्रधान है।'

क्यों न हो! विविध बन्धनोंमें प्रेमरज्जुकृत बन्धन विलक्षण है। दारुके भेदनमें निपुण भ्रमर भी पद्मकोशमें निबद्ध रहनेपर कमलदलके भेदनमें असमर्थ होता है—

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि
प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रि-
र्निष्क्रियो भवति पङ्कजकोशे॥
(श्रीधरस्वामिपाद)

जहाँ सभी रस और भाव समुद्रमें तरङ्गतुल्य उन्मज्जित और निमज्जित होते हैं, वह प्रेम नामसे प्रथित है—

सर्वे रसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधौ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसंज्ञकः॥

(चैतन्यचन्द्रोदय ३।८)

आत्मीय भावसे आकर्षण प्रेमोत्पादक है। आत्मभावमें प्रतिष्ठा प्रेमीकी पूर्णता है। ममताका पर्यवसान अहंता है। आसक्तिका पर्यवसान अभिष्वङ्ग है। ममतास्पदमें अहंताकी घनता अभिष्वङ्ग है। आसक्ति और अभिष्वङ्गके विषय पुत्र, दार और गृहादि हैं। आत्मामें परम प्रीति अंशी-सरीखे प्रभुको आत्मीय सिद्ध करती है। अंशी-सरीखे प्रभुसे निज एकताकी अनुभूति प्रभुकी आत्मरूपता सिद्ध करती है। आत्मस्वरूप श्रीहरिसे अतिरिक्तोंकी असत्ता प्रभुकी अद्वितीयता सिद्ध करती है। अतएव आत्मस्वरूप श्रीहरि सर्वोत्कृष्ट ही नहीं, अपितु एकमात्र प्रेमपात्र हैं।

लीलासौख्यकी अभिव्यक्तिके लिये प्रेमास्पद, प्रेमाश्रय और प्रेमको लेकर त्रिविधता है, परंतु तरङ्गायित त्रिपुटीका आश्रय स्वयं प्रेमतत्त्व तुरीय है। अद्वितीय प्रेमतत्त्वमें तुरीयत्व भी औपचारिक (अवास्तविक) ही है—

'तुरीयं त्रिषु सन्ततम्' (श्रीमद्भा० ११।२५।२०)
'मायासंख्या तुरीयम्' (शाङ्करभाष्य मा०का० मङ्गला०)

प्रेमास्पदके प्रकाशव्यूहरूप प्रेमास्पद, प्रेमी और प्रेममें त्रिरूपता उसी प्रकार प्रातीतिक है, जिस प्रकार योगिविरचित कायव्यूहोंमें विविधता प्रातीतिक है।

कृष्णव्रताः (कृष्णरताः) कृष्णमनुस्मरन्तो
रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये।
ते कृष्णदेहाः प्रविशन्ति कृष्ण-
माज्यं यथा मन्त्रहुतं हुताशे॥

'जिन्होंने श्रीकृष्णभजनका ही व्रत ले रखा है, जो श्रीकृष्णमें ही अनुरक्त हैं, जो श्रीकृष्णका निरन्तर स्मरण करते हुए ही रात्रिमें सोते हैं और उन्हींका स्मरण करते हुए सबेरे उठते हैं, वे श्रीकृष्णस्वरूप होकर उनमें इस तरह मिल जाते हैं, जैसे मन्त्र पढ़कर हवन किया हुआ घृत अग्निमें मिल जाता है'—

कृष्णभाव (भक्ति)-रसभाविता मतिः
क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते।
तत्र लौल्यमपि मूल्यमेकलं
जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते॥

(पद्यावली १४)

'हे सज्जनो! श्रीकृष्णभक्तिरसभावित (सुवासित) मति यदि किसी स्थलपर मिल जाय तो तुरंत खरीद लो। उसका मूल्य केवल लालसा है। श्रीकृष्णसेवासुख-लालसाके बिना श्रीकृष्णभक्तिरसभावित मति करोड़ों जन्मोंके सुकृतोंसे भी नहीं मिल सकती।'

⁂

प्रेम हू सब साधन कौ सार

प्रेम हू सब साधन कौ सार।
भगवत् प्राप्ति प्रेम साधन तें, होंय प्रगट प्रभु हार॥ १॥
ज्यों श्रम रहित वासना अविरल, बढ़त राग आधार।
त्यों अनुराग अधार प्रेम कौ, प्रभु प्रति होय अपार॥ २॥
तहँ न राग द्वेषादि द्वन्द्व जग, मुक्त सकल दुःख भार।
परमानंद नित्य माधुर्य रस, रसिकन कौ आधार॥ ३॥
प्रेम रूप-हरि, प्रेम स्वयं हरि, वह रस रूप अगार।
साधन, सिद्धि, साध्य, साधक, सब प्रभु ही प्रेमाकार॥ ४॥
मति, गति, भगति, कर्म, जप, तप, मख, सम, दम, नियम अपार।
'कृष्णगुपाल' प्रेम बिनु सूने, सब कहँ प्रेम अधार॥ ५॥

—पं० श्रीकृष्णगोपालाचार्यजी

⁂

भगवत्प्रेमके प्रचार-प्रसारसे प्राणियोंका परम कल्याण

(अनन्तश्रीविभूषित तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीजयेन्द्रसरस्वतीजी महाराज)

यह भारतभूमि ऋषि-मुनियों एवं साधु-महात्माओंकी जन्मभूमि एवं निवासस्थली रही है। अतः सृष्टि, स्थिति, संहार एवं विश्वका संचालन और पालन—इन पाँच कृत्योंको सम्पन्न करनेवाले परमात्माके अवतारोंकी भी क्रीड़ास्थली रही है। उन्हीं भगवान्के श्वास-निःश्वासभूत चारों वेद हैं और उन्हीं वेदोंके व्याख्यास्वरूप इतिहास-पुराण, धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थ हैं। इस घोर कलियुगमें नित्य सुस्थिर रहनेवाले सनातन धर्मका ह्रास होने लगता है। लोगोंकी धर्ममें रुचि कुछ कम हो जाती है। ऐसी स्थितिमें संत-महात्माओंके प्रयासके द्वारा यह सनातन धर्म भारतमें सुरक्षित रहता है।

इसी दिशामें 'कल्याण' पत्रके संचालकोंका 'भगवत्प्रेम-अङ्क' प्रकाशित करनेका प्रयत्न हो रहा है। इस पत्रके द्वारा प्रतिवर्ष कोई विशेषाङ्क प्रकाशित कर धर्म और सदाचारका विश्वमें प्रचार-प्रसार किया जाता है। 'भगवत्प्रेम-अङ्क' से देशवासियों और विश्वके सज्जनोंमें भी परस्पर भगवत्प्रेम और सद्व्यवहारका प्रचार-प्रसार होगा। इस प्रयत्नसे सम्पूर्ण विश्वके सभी प्राणियोंका परम कल्याण होगा और विशेषरूपसे मानव-समाजका तो आत्यन्तिक श्रेय होगा।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको उपदेश देते हुए सभी लोगोंको अपने-अपने धर्ममें निरत रहनेको कहा है—इससे सभी देश, सभी वर्ण और सभी आश्रमोंमें मनुष्योंका अपने-अपने कर्तव्यपालनसे सम्पूर्ण विश्व तथा पृथ्वीपर निवास करनेवाले प्राणियोंका परम कल्याण होता है और सिद्धि प्राप्त होती है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४५-४६)

भगवान्की कृपासे 'कल्याण' पत्रके इस विशेषाङ्कका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार हो—यही हमारी शुभ कामना है। आशा है सभी लोग यथाशक्ति धर्म और सद्भावनाके प्रचार-प्रसारमें अपना हाथ बटायेंगे।

* * *

भगवान्का प्रेम और शक्ति सदा मेरे साथ हैं

मैं जीवनकी किसी भी परिस्थितिसे भयभीत या परास्त नहीं होता; क्योंकि मेरे हृदयमें स्थित भगवान् मेरी सफलताके हेतु हैं। भगवान्के लिये कोई भी स्थिति ऐसी पेचीदा अथवा कठिन नहीं है, जिसको वे सुलझा न सकें अथवा जिसका सर्वानुकूल समाधान वे न कर सकें। अतएव अपने मनको क्षुब्ध करनेवाली प्रत्येक पेचीदा या कठिन परिस्थितिको सर्वसमाधानविधायक भगवान्को सौंपकर मैं निश्चिन्त होता हूँ।

जब मैं अस्वस्थ होता हूँ, तब न तो मैं अपनी अस्वस्थताके विषयमें कुछ सोचता हूँ और न दूसरोंसे उसके सम्बन्धमें कुछ कहता-सुनता हूँ; प्रत्युत अपने हृदयमें इस विश्वासको दृढ़ करता हूँ कि सर्वरोगशामक भगवान् मेरे अन्तरमें अवस्थित हैं। जब कोई भय मुझे भयभीत करता है तो मैं अपने हृदयमें बार-बार इस विश्वासको दोहराता हूँ कि भगवान् संरक्षक एवं साहसके रूपमें नित्य मेरे साथ हैं। जब मन किसी भावी काल्पनिक अथवा वास्तविक विपत्तिकी आशङ्कासे भयभीत एवं अस्थिर होने लगता है, तब मैं इस विश्वासको परिपुष्ट करता हूँ कि जो भगवान् इस समय मेरे साथ हैं, वे ही भविष्यमें भी मेरे साथ रहेंगे।

सामने उपस्थित कठिनाइयोंको—चाहे वे कितनी ही भीषण एवं पेचीदा क्यों न हों—मैं विश्वासपूर्वक भगवान्के प्रेमपूर्ण और सौहार्दभरे संरक्षणमें सौंपता जाता हूँ और एक क्षणके लिये भी इस बातमें संदेह नहीं करता कि भगवान्का प्यार सब परिस्थितियोंका सुन्दर-से-सुन्दर रूपमें समाधान कर रहा है।

मैं भगवान्के प्रेम एवं शक्तिके बलपर किसी भी परिस्थितिका स्थिरतासे सामना करनेमें समर्थ हूँ। भगवान्का प्रेम और शक्ति सदा मेरे साथ हैं।

* * *

सत्यप्रेम, गूढ़प्रेम, अगमप्रेम और तत्त्वप्रेमकी तात्त्विक मीमांसा

(अनन्तश्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशीसुमेरुपीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीचिन्मयानन्द सरस्वतीजी महाराज)

गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसमें श्रीरामभद्रके प्रति महाराज दशरथके प्रेमको '**सत्यप्रेम**' कहा है, जनकजी और भरतजीके प्रेमको '**गूढ़प्रेम**' माना है, भरत तथा श्रीरामके पारस्परिक प्रेमको '**अगमप्रेम**' स्वीकार किया है तथा भगवती सीताके प्रेमको '**तत्त्वप्रेम**' कहकर निरूपित किया है।

(१) सत्यप्रेम—कोपभवनमें महारानी कैकेयीको मनाते हुए महाराज दशरथने दृढ़तापूर्वक यह भावना व्यक्त की—'मछली चाहे बिना पानीके जीती रहे और मणिधर सर्प भी चाहे बिना मणिके दीन-दुःखी होकर जीता रहे; परंतु मैं स्वभाववश ही कहता हूँ, मनमें छल रखकर नहीं कि मेरा जीवन रामके बिना नहीं है'—

जिऐ मीन बरु बारि बिहीना। मनि बिनु फनिकु जिऐ दुख दीना॥
कहउँ सुभाउ न छलु मन माहीं। जीवनु मोर राम बिनु नाहीं॥

(रा०च०मा० २।३३।१-२)

महाराजने उक्त स्वभावको सत्य सिद्ध करते हुए निज प्रमाद और प्रबल प्रारब्धवश प्रिय पुत्र श्रीरामके वियोगका कुयोग सधनेपर प्रिय शरीरको श्रीरामविरहमें तृणवत् त्याग दिया। अतएव उनका प्रेम '**सत्यप्रेम**' सिद्ध होता है—

बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥

(रा०च०मा० १।१६)

क्यों न हो! मनुष्यलोकमें कपटरहित प्रेम होता नहीं। कदाचित् किसीमें हो भी जाय तो विरहयोग सधता नहीं और विरहका योग भी सध जाय तो जीवन सम्भव होता नहीं—

कैतवरहितं प्रेम न तिष्ठति मानुषे लोके।
यदि भवति कस्य विरहः सति विरहे को जीवति॥

(वैष्णवतोषिणी १०।३१।१)

(२) गूढ़स्नेह—दम्भी योगमें भोगको दुराकर रखते हैं, जबकि विदेहराज जनकजीने श्रीराम-प्रेमरूप योगको भोगमें दुराकर रखा था; परंतु वह प्रेम श्रीरामभद्रके दर्शनसे भोगको भगाकर प्रकट हो गया। अतएव श्रीरामभद्रके प्रति विदेहराजका वह प्रेम '**गूढ़स्नेह**' (गूढ़प्रेम) कहा गया है—

प्रनवउँ परिजन सहित बिदेहू। जाहि राम पद गूढ़ सनेहू॥
जोग भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई॥

(रा०च०मा० १।१७।१-२)

ह्लादिनीसारसर्वस्वभूता सीताजीके हृदयमें श्रीरामभद्रके प्रति तथा संवित्सारसर्वस्व श्रीरामभद्रके हृदयमें देवी सीताके प्रति संनिहित प्रेमके मूर्तरूप श्रीभरतजी हैं। उन्हें श्रीभरद्वाज आदि महर्षियोंने साकार रामस्नेह, रामप्रेमपीयूष और रामभक्तिरस कहा है—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥
तुम्ह कहँ भरतु कलंक यह हम सब कहँ उपदेसु।
राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु॥
पूरन राम सुपेम पियूषा। गुर अवमान दोष नहिं दूषा॥

(रा०च०मा० २।२०८।८, दो० २०८; २०९।५)

श्रीभरतजीका पवित्र आचरण भक्तजनोंको अनुरञ्जित करनेवाला, भवभारका भञ्जन करनेवाला तथा रामस्नेहरूपी सुधाकर (चन्द्रमा)-का सारसर्वस्व है—

जन रंजन भंजन भव भारू। राम सनेह सुधाकर सारू॥

(रा०च०मा० २।३२६।८)

यदि श्रीसीतारामजीके प्रेमपीयूषसे परिपूर्ण भरतजीका जन्म भूतलपर न हुआ होता तो मुनियोंके मनके लिये भी अगम यम-नियम-शम-दमादि कठिन व्रतोंका आचरण कौन करता? दुःख-दाह-दरिद्रता-दम्भादि दोषोंको सुयशके बहाने कौन हरण करता? कलिमल-ग्रसित मनुष्योंको हठपूर्वक श्रीरामभक्त कौन बनाता—

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

(रा०च०मा० २।३२६ छंद)

कौसल्याजीके मनमें भरतजीके प्रति अधिक चिन्ता थी। उन्होंने मिथिलेश्वरीको चित्रकूटमें भरतजीके शील-स्वभावको समझाते हुए कहा कि श्रीरामके प्रति भरतके

हृदयमें 'गूढ़स्नेह' है। भले ही उन्हें माता-पिताने राज्य दिया है, उनके राज्यश्री प्राप्त करनेसे श्रीरामभद्रको परम प्रसन्नता है, मन्त्रिमण्डलका समर्थन प्राप्त है, प्रजा भी अनुकूल है, हमारा भी पूर्ण समर्थन उन्हें सुलभ है, परंतु वे रामविमुख होकर राज्यश्री लाभ कर सुखपूर्वक अयोध्यामें निवास करते हुए राज्य करेंगे, ऐसा मुझे नहीं लगता। वे राज्याधिकार सुलभ होनेपर भी वनमें निवास करेंगे या कहीं अन्यत्र वनवासियों-सरीखे जीवन-यापन करते हुए अवधि व्यतीत करेंगे, ऐसा प्रतीत होता है—

गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं॥
(रा०च०मा० २।२८४।४)

हुआ भी ऐसा ही। श्रीभरतजीने नन्दिग्राममें निवास कर नियम, व्रत और भक्तिभावपूर्वक अवधि व्यतीत होनेकी प्रतीक्षा करते हुए राघवेन्द्र श्रीरामभद्रके प्रति अपने गूढ़प्रेमको प्रकट कर दिया।

इसी प्रकार रामभक्त भरतजीके रामस्नेहसुधारससिक्त वचनोंको सुनकर समस्त अवधवासी अति प्रसन्न हुए थे—

भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे। राम सनेह सुधाँ जनु पागे॥
(रा०च०मा० २।१८४।१)

रामवियोगविषमविषदग्ध रामभक्तोंको भरतजीके रामस्नेहसुधारसस्निग्ध वचन उसी प्रकार दाहमुक्त कर स्फूर्तिप्रद सिद्ध होते हैं, जिस प्रकार सबीज मन्त्र सुनकर मृतप्राय मूर्च्छित व्यक्ति जग जाते हैं और नवीन स्फूर्ति-लाभ करते हैं—

लोग बियोग बिषम बिष दागे। मंत्र सबीज सुनत जनु जागे॥
(रा०च०मा० २।१८४।२)

कौसल्या-सुमित्रादि माताओं, वसिष्ठादि गुरुजनों, मन्त्रिगण और प्रबुद्ध नागरिकोंकी दृष्टिमें भरतजी श्रीरामप्रेमकी साक्षात् मूर्ति ही मान्य हैं—

मातु सचिव गुर पुर नर नारी। सकल सनेहँ बिकल भए भारी॥
भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही॥
(रा०च०मा० २।१८४।३-४)

श्रीभरतजी उनकी दृष्टिमें श्रीरामजीको प्राणोंके समान प्यारे हैं—

तात भरत अस काहे न कहहू। प्रान समान राम प्रिय अहहू॥

ऐसे भरतजी सबके प्राणप्रिय हो गये। सबने उनके जीवनको धन्य समझा और उनके शील तथा स्नेहकी भूरि-भूरि सराहना की—

धन्य भरत जीवनु जग माहीं। सीलु सनेहु सराहत जाहीं॥
(रा०च०मा० २।१८५।४)

चित्रकूट प्रस्थान करनेके पूर्व भरतजीने अयोध्याको श्रीरामजीकी सम्पत्ति समझकर उसकी सुरक्षाका पूर्ण प्रबन्ध किया। प्रेमावेशमें प्राप्त दायित्वसे मुकरना या उसके निर्वाहमें प्रमाद बरतना भरतजी-जैसे आदर्श भक्तोंके लिये असम्भव है। श्रीभरतजीकी दृष्टिमें स्वामीके हितको करनेवाला ही सेवक है। स्वामीके हितको साधते समय भले ही उन्हें कोई स्वार्थी कहे, अनेक दोषारोपण भी क्यों न करे तो भी उसकी चिन्ता श्रीभरतजी-जैसे प्रबुद्ध भक्तके लिये उपयुक्त नहीं—

करइ स्वामि हित सेवकु सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई॥
(रा०च०मा० २।१८६।५)

श्रीभरतजीने गुरु वसिष्ठसे आशीर्वाद और परिचय-प्राप्त रामभक्त निषादराजको हृदयसे लगाकर निज विनय और प्रेमका परिचय देकर सबका हृदय जीत लिया। तीर्थराज प्रयागसे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष न माँगकर जन्म-जन्ममें श्रीरामभद्रके चरणोंमें वरदानस्वरूप रति चाहकर, श्रीरामप्रेमको पञ्चम पुरुषार्थ सिद्ध किया—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥
(रा०च०मा० २।२०४)

श्रीरामजी कदाचित् सर्वज्ञताको तिलाञ्जलि देकर प्राकृत पुरुषोंके तुल्य भरतजीको कुटिल समझने लग जायँ, लोग गुरुद्रोही और साहिबद्रोही कहने लग जायँ, इसकी चिन्ता छोड़कर भरतजी त्रिवेणीसे यही वर माँगते हैं कि श्रीसीतारामचरणोंमें मेरा प्रेम आपके अनुग्रहसे प्रतिदिन बढ़ता ही रहे—

जानहुँ रामु कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥
सीता राम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥
(रा०च०मा० २।२०५।१-२)

क्यों न हो! मेघ चाहे जन्मभर चातककी सुध भुला दे और जल माँगनेपर वह चाहे वज्र तथा पत्थर (ओले)

ही गिराये, पर चातककी रटन घटनेसे तो उसकी टेकरूपी विभूति ही नष्ट हो जायगी, चातककी भलाई तो प्रेम बढ़ानेमें ही सर्वतोभावेन संनिहित है।

जैसे तपानेसे सोनेपर चमक आ जाती है, वैसे ही प्रियतमके चरणोंमें प्रेमका नियम निभानेपर प्रेमी भक्तका गौरव बढ़ जाता है—

जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जलु पबि पाहन डारउ॥
चातकु रटनि घटें घटि जाई। बढ़ें प्रेमु सब भाँति भलाई॥
कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहें। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहें॥

(रा०च०मा० २।२०५।३—५)

वस्तुतः मधुर अतृप्तिसे युक्त प्रेमपक्षमें नित्य वृद्धि सम्भव होनेपर भी पूर्णिमाकी तिथिका प्रवेश नहीं है। प्रेमीका प्रेम तभी परिपुष्ट माना जाता है, जब प्रेष्ठसे भी निज प्रेमको दुराकर रखनेकी भावना उसके हृदयमें अवतरित होती है। प्रेमगोपनमें दक्ष भक्त ही तत्सुखसुखित्वकी भावनामें सर्वोत्कृष्ट गोपीभावसे भावित माना जाता है। मानसपटलपर प्रतिष्ठित प्रियतमका मानस-संयोग ही जब प्रेमीके लिये प्रियतमका संश्लेष सिद्ध होता है तथा मानस-भवनमें भावित प्रेष्ठका विश्लेष ही जब प्रेमीके लिये वियोग बन जाता है, तब बाह्य संयोग-वियोग-निरपेक्ष प्रेम परिपुष्ट माना जाता है।

शुचिता और सत्यसे सम्पन्न, स्नेह तथा शील-युक्त भरतजीको प्राप्त करके लोक और वेद—दोनों ही प्रतिष्ठित हुए।

विधिकी सीमामें लोक-वेदसम्मत राज्यश्रीका लाभ करके भी भरतजी उसके भोक्ता और उपभोक्ता नहीं बने। उन्होंने हृदयदाहको दूर करनेके लिये श्रीरामजीसे मिलनेका निर्णय लिया, जिसे लोक और वेदके मर्मज्ञोंने भी अतिश्रेष्ठ समझा। लोक-वेद-मर्मज्ञ देवगुरु बृहस्पतिजीके शब्दोंमें—

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥

(रा०च०मा० २।२१८।७)

सारा जगत् श्रीरामजीको जपता है, परंतु श्रीरामजी जिन्हें जपते हैं, उन भरतजीके समान श्रीरामजीका प्रेमी भला, अन्य कौन होगा?

श्रीरामभद्रके चरणकमलोंमें अरति अर्थात् श्रीरामप्रेमकी अनभिव्यक्ति भवरोगका हेतु है। वल्कलवसनधारी बटोही श्रीरामका दर्शन जिन स्थावर-जङ्गम प्राणियोंने किया और सौभाग्यवश जो स्वयंको श्रीरामजीकी दृष्टिका विषय बना पाये, वे सभी परमपदके योग्य हुए। परंतु जब विरही भरतका दर्शन उन्हें सुलभ हुआ तथा जब वे भरतजीकी दृष्टिका विषय बने, तब उनका भवरोग ही मिट गया, अर्थात् उनमें श्रीरामप्रेमका द्रुतगतिसे सञ्चार हो गया और वे परम पदको प्राप्त हो गये—

जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥
ते सब भए परम पद जोगू। भरत दरस मेटा भव रोगू॥

(रा०च०मा० २।२१७।१-२)

भरतजीका यह लोकोत्तर महत्त्व भी श्रीरामजीके अनुग्रहका ही फल समझना चाहिये। एक बार श्रीराम-नाम कहनेपर भी जब व्यक्ति तरन-तारन (स्वयं तरनेवाला और अन्योंको तारनेवाला) हो जाता है; तब श्रीरामजी स्वयं जिसका स्मरण करते हों अर्थात् नामसहित ध्यान करते हों, अभिप्राय यह है कि जो भगवान् श्रीरामके भी प्रीतिपात्र हों, उनके दर्शनका ऐसा अनुपम महत्त्व क्यों न हो!

मुग्धा शक्तिके वशीभूत भरतजी स्वयंको श्रीरामस्नेहविहीन समझकर मार्गके तीर्थोंमें स्नान करते, आश्रम और मन्दिरोंका दर्शन करते तथा मुनियोंको प्रणाम करते। मन-ही-मन उन सभीसे भगवती सीतासहित श्रीरामभद्रके पादपद्मोंमें प्रेम-प्राप्तिका वर माँगते।

मार्गमें भरतलालजी विचार करते हैं कि संसारमें चातक अपनी नेम (नीति)-रूपी विभूतिको नित्य नूतन बनाये रखनेमें निपुणताके कारण यशोलाभ करते हैं तथा मीन अपनी प्रेमरूपी विभूतिको नित्य नूतन बनाये रखनेमें प्रवीण होनेके कारण संसारमें सदा कीर्तिलाभ करते हैं। अतः लोक और वेदमें अनन्य रसिक ही यश प्राप्त कर पाते हैं—

जग जस भाजन चातक मीना। नेम पेम निज निपुन नबीना॥

(रा०च०मा० २।२३४।३)

जब भरतजी कैकेयीकी करतूतके कारण स्वयंको कलंकित अनुभव करते, तब श्रीरामधामकी ओर उनके कदम उठाये नहीं उठते; परंतु जब श्रीरामजीके अद्भुत

अन्तर्यामित्व और शील-स्वभावका अनुशीलन करते; तब श्रीरामनिवासकी ओर चरण द्रुतगतिसे बढ़ने लगते। जलमें रहनेवाले अलिगण जिस प्रकार प्रतिपल प्रवाहमें पीछे और आगे होते रहते हैं, वैसे ही भरतजी कभी पीछे तो कभी आगे परिलक्षित होते हैं।

श्रीरामजीके चरणचिह्नोंको धरतीमें अङ्कित देखकर भरतजी स्वयंको धन्य-धन्य मानते। संलग्न धूलिको सिरसे लगाते तथा हृदय और नेत्रोंसे स्पर्श कराते। चरणचिह्नित धूलिका स्पर्श कर वे श्रीराममिलनजनित सुख पाते। उनकी अद्भुत गति, मति और स्थिति लखकर खग, मृग तथा स्थावर प्राणी भी प्रेमनिमग्न हो जाते।

पथप्रदर्शक निषादराज भी स्नेहवश मार्ग भूल जाते। तब सुरवृन्द सुगम मार्ग बताकर पुष्प-वृष्टि करने लगते। भरतजीकी यह अद्भुत दशा देखकर साधक और सिद्धवृन्द भी अनुपम अनुरागसे सम्पन्न हो जाते। वे भरतलालके अनुपम स्नेहकी सराहना करते फूले न समाते तथा मुक्तस्वरसे कहने लगते—'यदि भूतलपर भारतवर्षमें श्रीभरतजीका आविर्भाव न हुआ होता तो श्रीराम-प्रेमकी वक्रगतिके प्रभावसे अचर प्राणियोंको सचर और सचर प्राणियोंको अचर कौन करता'—

होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥

(रा०च०मा० २।२३८।८)

क्यों न हो? रसिक महानुभावोंने प्रेमकी गतिको स्वभावसे ही कुटिल माना है—'**अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभावकुटिला भवेत्।**' (उज्ज्वलनीलमणि, विप्र० ९३)

भरतजीको हेतु बनाकर रामवनगमनका रहस्य इस प्रकार बताया गया है—

पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥

(रा०च०मा० २।२३८)

भरतजी प्रेमामृतको सँजोनेवाले अगाध समुद्र हैं। उन्हींको हेतु बनाकर उन्हींके प्राणधनको उन्हींसे वियुक्त किये जानेके कारण प्राप्त विरह मन्दराचल है। प्रेमसिन्धुका मन्थन कृपासिन्धु स्वयं श्रीरघुवीरने करके स्वर्गीय अमृतसे भी विरक्त देवर्षिवृन्द और साधुवृन्दको प्रेमामृत प्रदान कर धन्य-धन्य किया है।

ध्यान रहे, घटनाका उतना महत्त्व नहीं होता, जितना कि घटनाके मूलमें संनिहित हेतुका महत्त्व होता है। भरतजीको श्रीरामभद्रका वियोग तो तब भी सुलभ था, जब वे शत्रुघ्नसहित ननिहालमें निवास कर रहे थे; परंतु उस समयके वियोगके पीछे प्रेमसमुद्र भरतजीके हृदयको उद्वेलित कर प्रेमामृतको प्रकट कर देनेवाला सुपुष्टहेतु संनिहित नहीं था। जब श्रीरामजीने कैकेयीको प्रेरित कर भरतजीको ही हेतु बनाकर स्वयंको वनवासी बना लिया, तब भरतजीको प्राप्त श्रीरामवियोगजन्य विरह भरतजीके हृदयको उद्वेलित कर प्रेमामृत प्रकट करनेमें समर्थ सिद्ध हुआ।

ज्ञानसभासदृश मुनिमण्डलीके मध्य भक्तिस्वरूपा सीताजीसहित सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीरघुचन्द्रका चिरप्रतीक्षित दर्शन-लाभ कर सानुज दण्डवत् प्रणाम करते हुए भरतजीने कहा—'हे नाथ! रक्षा कीजिये, हे नाथ! रक्षा कीजिये।'

लक्ष्मणजीने वचन पहचानकर श्रीरामजीको कहा—'हे रघुनाथजी! भरतजी प्रणाम कर रहे हैं।'

यह सुनते ही श्रीरामभद्र प्रेमविह्वल हो गये। कहीं उत्तरीय वस्त्र गिरा, कहीं तरकश, कहीं धनुष और कहीं बाण। श्रीरामजीने बलपूर्वक उठाकर भरतजीको हृदयसे लगा लिया। भरतजी और श्रीरामजीको मिलते देखकर सभी अपान (अहमर्थ) भूल गये—

भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥

(रा०च०मा० २।२४०)

मिलन-प्रीतिका वर्णन कैसे किया जाय। वह तो कविकुलके लिये कर्म, मन और वाणीसे अगम है। मन, बुद्धि, चित्त और अहमिति बिसराकर परस्पर मिलकर भरत तथा श्रीराम परम प्रेमसे पूर्ण होकर स्थित थे।

परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥

(रा०च०मा० २।२४१।२)

अविद्यामें अन्तःकरणका विलय सुषुप्ति है। अन्तःकरणका विस्मरण समाधि है। अन्तःकरणका मिथ्यात्व निश्चयरूप बाध जीवन्मुक्ति है।

प्राकृतोंका मिलन देहभूमिकापर, इन्द्रियात्मवादियोंका मिलन इन्द्रियभूमिकापर, प्राणात्मवादियोंका मिलन

प्राणभूमिकापर होता है। मनोमयात्मवादियोंका मिलन मनोभूमिपर, विज्ञानरूप अहमर्थवादियों (विज्ञानात्मवादियों)-का मिलन विज्ञानभूमिपर होता है। देहात्मवादियों और इन्द्रियात्मवादियोंके मिलनका अन्त स्वप्नमें ही हो जाता है। मनोमयात्म और विज्ञानात्मवादियोंके मिलनका अन्त सुषुप्तिमें हो जाता है। जैसे घटाकाश घटसे अतीत होकर महाकाशसे मिले तो महाकाशरूप होकर ही अवशिष्ट रहता है, वैसे ही भरतजी अन्त:करणचतुष्टयरूप जीवत्वतादात्म्यसे ऊपर उठकर श्रीरामजीसे मिलकर श्रीरामरूप-परिपूर्ण प्रेमस्वरूप होकर स्थित हो गये।

अगमस्नेह—भरत और श्रीरामका परस्पर स्नेह अगम है। **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४।११)-के अनुसार भरतजीका श्रीरामभद्रके प्रति विशुद्ध सत्त्वात्मक अप्राकृत दिव्य स्वार्थरहित जो अगम प्रेम है, श्रीरामभद्रके हृदयमें वह प्रतिफलित होकर भरतजीके प्रति अगमस्नेहका रूप धारण करता है। रजोगुणके नियामक ब्रह्मा, तमोगुणके रुद्र और सत्त्वगुणके नियामक विष्णुके मनकी गति भी उसमें नहीं है। विशुद्ध सत्त्वात्मक अतएव निर्गुण मूकास्वादतुल्य अनिर्वचनीय उस प्रेमको श्रीरामजी जानते हुए भी निरूपित नहीं कर सकते—

अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को॥

(रा०च०मा० २।२४१।५)

मधुर अतृप्ति प्रेमकी अद्भुत रीति है। *'दरसन तृपित न आजु लगि पेम पिआसे नैन'* (रा०च०मा० २।२६०) प्रेमके प्यासे मेरे नेत्र आजतक प्रभुदर्शनसे तृप्त नहीं हुए। भरतजीकी श्रीरामभद्रके प्रति यह उक्ति इसी तथ्यको सिद्ध करती है।

श्रीभरतजीके निर्मल प्रेमको परखकर श्रीरामभद्रने अपने 'राम' नामकी महिमाको भरतजीके नाममें संनिहित करते हुए अर्थात् 'शक्तिपात' करते हुए कहा—

मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार।
लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नामु तुम्हार॥

(रा०च०मा० २।२६३)

हे भरत! तुम्हारा नाम स्मरण करते ही सब पाप मिट जायँगे। छल, कपट, दम्भादि सब प्रकारके प्रपञ्च (मायाजाल) विनष्ट हो जायँगे। समस्त अमङ्गलोंके समूह विनष्ट हो जायँगे तथा धन-वैभव-यशादिकी सुलभतासे लोक सुखद होगा और परलोकमें सुख मिलेगा।

तत्त्वप्रेम—प्रीतिमर्मज्ञ श्रीरामजीके शब्दोंमें श्रीरामभद्र और सीतामें तत्त्वप्रेम है। दोनोंके प्रेमका तत्त्व श्रीरामभद्रका मन ही जानता है। वह मन सदा सीताजीके समीप ही रहता है अर्थात् सीताजीमें ही संनिहित रहता है। बस, प्रीतिका रस-रहस्य इतनेमें ही समझ लेना चाहिये—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

(रा०च०मा० ५।१५।६-७)

वस्तुस्थिति यह है कि श्यामतेज श्रीराम और गौरतेज सीताजी दोनों ही अचिन्त्यलीलाशक्तिके योगसे सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्माकी उज्ज्वल अभिव्यक्ति हैं। अतएव दोनोंमें तात्त्विक ऐक्य न होकर दोनों एक ही तत्त्व हैं—

एकं ज्योतिरभूद् द्वेधा राधामाधवरूपकम्।

(वेदपरिशिष्ट)

तस्माज्ज्योतिरभूद् द्वेधा राधामाधवरूपकम्।

(सम्मोहनतन्त्र, गोपालसहस्रनाम १९)

लक्षणसाम्यसे वस्तुसाम्यके कारण श्रीराधामाधवतुल्य श्रीसीताराम एक ही तत्त्व हैं। श्रीराम अर्थ हैं तो सीता वाणी, सीता अर्थ हैं तो श्रीराम वाणी। दोनों ही अर्थ हैं और दोनों ही वाणी। दोनों ही पङ्कज और दोनों ही भ्रमर हैं। दोनों ही चन्द्रमा और दोनों ही चकोर हैं। प्राधान्यव्यपदेशन्यायसे श्रीराम नामी और सीता नाम हैं। ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है। श्रीराम उसकी सदानन्दप्रधान अभिव्यक्ति नामी हैं। सीता उसकी चिदानन्दप्रधान अभिव्यक्ति नाम हैं। **'सीता भगवती ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता। प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः।'** (सीतोपनिषद्) आदि श्रुतियोंके अनुसार ब्रह्माधिष्ठिता प्रकृतिरूपा सीता शब्दब्रह्मस्वरूपा हैं। यह जगत् ब्रह्माधिष्ठिता शब्दब्रह्मात्मिका प्रकृतिरूपा भगवती सीताका विलास है। भगवान् श्रीरामकी आत्मस्वरूपा अहंता, ममतास्पदा सीतामें भगवान् श्रीरामका मन सदा संनिविष्ट रहता है, यही प्रीतिरसरहस्य है।

एकतत्त्वरूप श्रीराम-सीतामें परस्पर तुल्य प्रेमका होना स्वाभाविक है। परंतु **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४।११) जो मेरा जिस प्रकार सेवन करते हैं, मैं भी उनका उसी प्रकार सेवन करता हूँ—इस न्यायसे सीताजीके हृदयमें प्रतिष्ठित श्रीरामप्रेमके कारण श्रीरामभद्रके हृदयमें सीताजीके प्रति पूर्वप्रतिष्ठित तुल्य प्रेमसे सम्बलित सीताकर्तृक

प्रतिफलित प्रेमके योगसे द्विगुण (दूना) प्रेम सिद्ध है—

जनि जननी मानहु जियँ ऊना। तुम्ह ते प्रेमु राम कें दूना॥
(रा०च०मा० ५।१४।१०)

भक्तप्रवर श्रीहनुमान्‌जीका उक्त वचन तत्त्वप्रेमकी उज्ज्वल मीमांसामें विनियुक्त है।

रामकार्य सम्पन्न करके श्रीहनुमान्‌जी जब लङ्कासे लौटे तब श्रीरामजीने कहा—

कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्व प्रान की॥
(रा०च०मा० ५।३०।८)

हे तात! कहो, सीता किस प्रकार रहती है और अपने प्राणोंकी रक्षा करती है।

श्रीहनुमान्‌जीने कहा—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥
(रा०च०मा० ५।३०)

'आपका नाम रात-दिन पहरा देनेवाला है और ध्यान ही किवाड़ है। नेत्रोंको अपने चरणोंमें लगाये रखती हैं, यही ताला लगा है, फिर प्राण जायँ तो किस मार्गसे?' चलते समय उन्होंने मुझे चूड़ामणि दी। श्रीरघुनाथजीने उसे हनुमान्‌जीसे लेकर हृदयसे लगा लिया।

श्रीहनुमान्‌जीने फिर कहा—हे नाथ! दोनों नेत्रोंमें जल भरकर जानकीजीने मुझसे कहा—

अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना। दीन बंधु प्रनतारति हरना॥
मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहिं अपराध नाथ हौं त्यागी॥
अवगुन एक मोर मैं माना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना॥
नाथ सो नयनन्हि को अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा॥
बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहिं सरीरा॥
नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी। जरैं न पाव देह बिरहागी॥
(रा०च०मा० ५।३१।३—८)

छोटे भाईसमेत प्रभुके चरण पकड़ना और कहना कि आप दीनबन्धु हैं, शरणागतके दुःखोंको हरनेवाले हैं तथा मैं मन, वचन एवं कर्मसे आपके चरणोंकी अनुरागिणी हूँ। फिर स्वामीने मुझे किस अपराधसे त्याग दिया?

हाँ, एक दोष मैं अपना अवश्य मानती हूँ कि आपका वियोग होते ही मेरे प्राण चले नहीं गये। किंतु हे नाथ! यह तो नेत्रोंका अपराध है, जो प्राणोंके निकलनेमें हठपूर्वक बाधा देते हैं।

विरह अग्नि है। शरीर रुई है। श्वास पवन है। इस प्रकार अग्नि और पवनका संयोग होनेसे यह शरीर क्षणमात्रमें जल सकता है, परंतु नेत्र प्रभुदर्शनसे प्राप्त सुखरूप हितके लिये अश्रु बरसाते हैं, जिससे विरहाग्निसे भी देह जलने नहीं पाती।

बाँसुरीका मन्त्र

गोपिकाओंका भगवत्प्रेम तो जगजाहिर रहा है, किंतु भगवान् श्रीकृष्णके बाँसुरी-प्रेमने उनकी नींद चुरा ली थी। आखिर गोपिकाओंने इसका रहस्य बाँसुरीसे पूछा—सुभगे! तुम्हें भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं हर समय ओठोंपर लगाये रहते हैं और हम सब उनकी कृपादृष्टि पानेके लिये बहुत प्रयास करती हैं, पर सफल नहीं होतीं, जबकि तुम बिना प्रयास किये ही उनके अधरोंपर सदा विराजमान रहती हो?'

'बिना प्रयास किये नहीं गोपियो', बाँसुरी बोली—'मैंने भी प्रयास किये हैं। जानती नहीं हो, मुझे बाँसुरी बननेके लिये अपना मूल अस्तित्व ही खो देना पड़ा है। मेरा जन्म कहाँसे हुआ, कैसे हुआ और किस प्रकार हुआ। धूप-गरमी और बरसातके थपेड़े खाकर मैं बड़ी हुई। फिर मुझे काटा गया, तपाया गया, तब जाकर मैं बाँससे बाँसुरी बनी हूँ। श्रीकृष्णके अधरोंतक पहुँचनेमें मेरा सारा जीवन कठिन तपस्यामय बीता है। गोपिकाओंको बाँससे बाँसुरी बननेतककी बात समझमें आ गयी। बाँसुरी अपने-आपमें खाली थी। उसमें स्वयंका कोई स्वर नहीं गूँजता था। बजानेवालेके ही स्वर गूँजते थे। बाँसुरीको देखकर कोई भी यह नहीं कह सकता था कि यह कभी बाँस रह चुकी है; क्योंकि न तो उसमें कोई गाँठ थी और न ही कोई अवरोध था।

गोपिकाओंको भगवान्‌का प्रेम पानेका अनूठा मन्त्र मिल गया और वे श्रीकृष्णप्रेममें ऐसी डूबीं कि सब सुध-बुध खो बैठीं।

(श्रीरामनिश्चयजी मिश्र)

* * *

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायमें प्रेमका दिव्य स्वरूप

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री 'श्रीजी' महाराज)

श्रीसुदर्शनचक्रावतार परमाद्याचार्य जगद्गुरु श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य एवं तत्परवर्ती पूर्वाचार्यों तथा सम्प्रदायके रसिक मूर्द्धन्य महामनीषी संत कवीश्वरों, रसिक महात्माओंने प्रेम (अनुराग—परा भक्ति)-का जो दिव्यतम स्वरूप प्रतिपादित किया है, वह अतीव अनुपम, श्रुति-स्मृति-सूत्र-तन्त्र-पुराणादि निखिल-शास्त्रसम्मत तथा उत्कृष्टतम रसानुरक्तिका द्योतक है। श्रीनिम्बार्क भगवान्ने अपने गुरुवर्य देवर्षिप्रवर श्रीनारदजीकी सरणिको विशेषरूपसे प्रस्फुटित किया है। आचार्य 'देवर्षि नारदजीने अपने '**भक्तिसूत्र**' में —**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥ मूकास्वादनवत्॥ प्रकाशते क्वापि पात्रे॥ गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥ तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति। त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी, भक्तिरेव गरीयसी॥** (सूत्र-५१—५५, ८१)—इन सूत्रोंद्वारा परम प्रेमा-भक्तिका जैसा स्वरूप-निरूपण किया, उसी प्रकार आपने भी अपने '**वेदान्तकामधेनु-दशश्लोकी**' के नवम श्लोकसे प्रेमलक्षणा-भक्तिका अद्भुत अनिर्वचनीय स्वरूप प्रतिपादित किया है—

कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते
यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः
सा चोत्तमा साधनरूपिकाऽपरा॥

(वेदान्तकामधेनु-दशश्लोकी, श्लोक ९)

परम कृपाधाम सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य कृपा दैन्यादिलक्षणपरिपूर्ण प्रपन्न भक्तोंपर होती है और जिस अनिर्वचनीय कृपासे उन कृपार्णव श्रीप्रभुके युगलचरणकमलोंमें रसमयी भक्ति प्रकट होती है, वही फलरूपा एवं प्रेमलक्षणा उत्तमा भक्ति वर्णित है तथा यह प्रेमलक्षणा परा भक्ति अनन्य रसिक-भगवज्जनोंके निर्मल सरस अन्तःकरणमें स्फुरित होती है। नानाविधजन्मार्जित पुण्य-कर्मोंके साधनोंद्वारा प्राप्त की जानेवाली साधनरूपा अपरा भक्ति भी निर्दिष्ट हुई है।

अतः जो प्रेमलक्षणा परा भक्ति रसिक साधकके अन्तर्मनमें आविर्भूत होती है, वही फलरूपा उत्तमा-भक्ति है। इसीका निर्वचन आद्याचार्यप्रवर निम्बार्क भगवान्ने उक्त '**दशश्लोकी**' में किया है। आपने अपने '**श्रीप्रातःस्तवराज**' एवं '**श्रीराधाष्टकस्तोत्र**' में भी वृन्दावननित्यनिकुञ्जविहारी युगलकिशोर श्यामाश्याम भगवान् श्रीराधाकृष्णके परस्पर प्रेम-प्राखर्यका जो परम ललित सरस वर्णन किया है, वस्तुतः वह अतीव अनुपम है—

प्रातर्नमामि वृषभानुसुतापदाब्जं
नेत्रालिभिः परिणुतं व्रजसुन्दरीणाम्।
प्रेमातुरेण हरिणा सुविशारदेन
श्रीमद्व्रजेशतनयेन सदाऽभिवन्द्यम्॥

(प्रातःस्तवराज, श्लोक ८)

भृङ्गरूपी व्रजाङ्गनाओंके नयनोंद्वारा जिनका स्तवन होता है, ऐसे चतुरशिरोमणि प्रेमसुधारसपूरित व्रजेश्वर श्रीहरि स्वयं जिन प्रेमाह्लादिनी सर्वेश्वरी श्रीराधा प्रियाकी अभिवन्दना करते हैं, एवंविध वृषभानुसुता श्रीराधाके उन दिव्य चरणारविन्दोंको मैं प्रभातमें अभिनमन करता हूँ।

इसी प्रकार श्रीराधाष्टकस्तोत्रमें कहा गया है—

दुराराध्यमाराध्य कृष्णं वशे तं महाप्रेमपूरेण राधाऽभिधाऽभूः।
स्वयं नामकीर्त्या हरौ प्रेम यच्छ प्रपन्नाय मे कृष्णरूपे समक्षम्॥
मुकुन्दस्त्वया प्रेमदोरेण बद्धः पतङ्गो यथा त्वामनुभ्राम्यमाणः।
उपक्रीडयन् हार्दमेवानुगच्छन् कृपा वर्तते कारयातो मयीष्टिम्॥

(श्लोक ३-४)

वृन्दावनाधीश्वरी श्रीराधे! उन परम दुराराध्य सर्वेश्वर रसब्रह्म श्रीकृष्णको अपने महाप्रेम-रससुधासे स्वाधीन करनेसे आप राधारूपसे अतिशय सुशोभित हैं। इसी राधा नामके मङ्गल-संकीर्तनमात्रसे प्रेमस्वरूप श्रीकृष्णदर्शनका दुर्लभ लाभ प्रदान करती हैं। एवंविध परम उदारमयी कृपामयी मुझ प्रपन्नको भी दिव्य दर्शन देकर कृतकृत्य करें।

हे श्रीराधे! आपके अनुगम प्रेमडोरमें आबद्ध जगज्जन्मादिहेतु परात्पर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण आपका पतङ्गवत् अनुगमन करते हैं, ऐसी निकुञ्जेश्वरी श्रीराधे! आपकी अहैतुकी परम कृपा है, अतः ऐसे प्रेमाबद्ध भगवान् श्रीकृष्णद्वारा दर्शनकृपासे मुझे अभिप्रेत रसानुराग प्रदान करें।

इसी प्रकार श्रीनिम्बार्क भगवान्से परवर्ती पूर्वाचार्य-चरणोंके द्वारा प्रणीत '**श्रीकृष्णस्तवराज**' के इन श्लोकोंसे भी प्रेमका उत्कृष्टतम वर्णन परम मननीय है—

ब्रह्मरुद्रसुरराजस्वर्चितं चर्चितं च रमयाङ्कमालया।
चर्चितं च नवगोपबालया प्रेमभक्तिरसशालिमालया॥
त्वय्यणुत्वसुमत्वभागिनि सर्वशक्तिबलयोगशालिनि।
भक्तिरस्तु मम निश्चला हरे कृष्ण केशव महत्तमाश्रये॥
(श्लोक ५, ७)

विधि-रुद्रेन्द्रादि सुरवृन्दोंद्वारा समर्चित, दिव्य विशालमालासे सुशोभित, श्रीलक्ष्मीजीद्वारा परिसेवित एवं प्रेमा-भक्तिरससे सुस्निग्ध श्रीकृष्णरूपी सुकण्ठाहारविभूषित नित्यनवनवायमान व्रजेश्वरी श्रीराधासे परम शोभायमान श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्णके सतत समर्चनीय श्रीयुगल-चरणाम्बुजोंकी मैं शरण ग्रहण कर रहा हूँ।

सृष्टि-रचयिता श्रीब्रह्मा, संहारकर्ता श्रीशङ्करादि देवोंके भी जो जनक अर्थात् उत्पादक हैं, शरणागतजनोंके पापपुञ्जोंका परिहार करनेवाले परमानन्दस्वरूप सर्वेश्वर श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण! आप अणुस्वरूपात्मक जीवात्मा और महत्त्व परिमाणरूप आकाशप्रभृति पदार्थोंमें अन्तर्यामी स्वरूपमें अवस्थित हैं। इसीलिये '**अणोरणीयान् महतो महीयान्**' इत्यादि—ये श्रुतिवचन आपको सूक्ष्मातिसूक्ष्म और महान्से भी परम महान् अभिव्यक्त करते हैं तथा आपमें ज्ञान, क्रिया, बल आदि सम्पूर्ण शक्ति-वैभव संनिविष्ट है। अतएव सभी उत्तमोत्तम देववृन्द आपका ही समाश्रय ग्रहण करते हैं। ऐसे सर्वाधार, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसम्पन्न आपके मङ्गल पदाम्बुजोंमें मेरी अविचल प्रगाढ़ प्रेमा-भक्ति अवस्थित रहे, यही एकमात्र स्पृहा है।

आद्याचार्य श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यके आचार्य-परम्परानुवर्ती पूर्वाचार्यप्रवरोंने अपने हिन्दी-व्रज-वाणी-साहित्यमें जो प्रेमका अनिर्वचनीय निरूपण किया है, वह परम मननीय है। श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीश्रीभट्टाचार्यजी महाराजने अपनी व्रजभाषाकी आदि वाणीमें प्रेमका परमोत्कृष्ट स्वरूप प्रतिपादित किया है, वह यथार्थतः हृदयमें सर्वदा समुपासनीय है—

सेऊँ श्रीबृन्दाबिपिन बिलास।
जहाँ जुगल मिलि मंदिर मूरति, करत निरंतर बास॥
प्रेम-प्रवाह रसिकजन प्यारे, कबहुँ न छाँड़त पास।
कहा कहौं भाग की श्रीभट, राधाकृष्ण रस चास॥
(श्रीयुगलशतक-सिद्धान्त-सुख, पद-सं० १०)

मन बच क्रम दुर्गम सदा, ताहि ब चरन छुवात।
राधा तेरे प्रेम की, कहि आवत नहिं बात॥
(श्रीयुगलशतक-सिद्धान्त-सुख, दोहा-सं० २९)

राधे तेरे प्रेम की का पै कहि आवै।
तेरी-सी गोपाल की, तो पै बनि आवै।
मन बच क्रम दुर्गम किसोर, ताहि चरन छुवावै।
श्रीभट मति बृषभानुजे, परताप जवावै॥
(श्रीयुगलशतक-सिद्धान्त-सुख, पद-सं० २९)

बसौ मेरे नैनन में दोउ चंद।
गौरबरनि बृषभानुनंदिनी, स्यामबरन नँदनंद॥
गोलकु रहे लुभाय रूप में, निरषत आनँद-कंद।
जै श्रीभट प्रेमरस-बंधन, क्यों छूटै दृढ़ फंद॥
(श्रीयुगलशतक-सहज-सुख, पद-सं० ५३)

परस्पर निरषि थकित भये नैन।
प्रेम कला भरि सुर राधे सौं, बोलत अमृत बैन॥
हार उदार निहार तिहारौ, राधे यह मन लैन।
श्रीभट लटक जानि हितकारिनि, भई स्याम सुष दैन॥
(श्रीयुगलशतक-सहज-सुख, पद-सं० ५५)

श्रीबृन्दाबिपिनेश्वरी, पद-रस सिंधु बिहारी।
रच्यौ परस्पर प्रेम छेम, बाढ़्यौ अति भारी॥
अरप्यौ पिय हिय पाय कैं, निज अधर सुधारी।
श्रीभट बड़भागी गोपाल, पीयौ रुचिकारी॥
(श्रीयुगलशतक-सुरत-सुख, पद-सं० ७७)

श्रीश्रीभट्टाचार्यजी महाराजके परम कृपापात्र पट्टशिष्य जगद्गुरु निम्बार्काचार्य रसिकराजराजेश्वर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराजने अपने महावाणी बृहद्-वाणी-ग्रन्थमें प्रेमपरक अनेक स्थलोंपर जिस अनिर्वचनीय विधासे मञ्जुल विवेचन किया है, वह द्रष्टव्य है—

जयति प्रेमा प्रेम सीमा कोकिला कल बैनिये।
परा भक्ति प्रदायिनी करि कृपा करुणानिधि प्रिये॥
(महावाणी, सेवा-सुख, पद-सं० ५२ पंक्ति-सं० ९)

जयति नवनित्य नागरि निपुन राधिके,
रसिक-सिरमौरि मनमोहनी जू।
चारुछबि चंचला चित्त आकर्षनी,
बर्षनी प्रेम-घन मोहनी जू॥
सहज सिद्धा प्रसिद्धा प्रकासिका प्रभा,
दिव्य बर कनक-तन मोहनी जू।

स्वामिनी सुखद श्रीहरिप्रिया बिसद
जस पान की परम धन मोहनी जू॥

(महावाणी, सुरत-सुख, दोहा-सं० १)

जलतरंग ज्यौं नैंन में, तारे रहे समोय।
प्रेम पयोधि परे दोउ, पल न्यारे नहिं होय॥

(महावाणी, सुरत-सुख, दोहा सं० २४)

प्रेम पयोधि परे दोउ प्यारे निकसत, नाहिंन कबहुँ रैन दिन।
जलतरंग नैंनिन तारे ज्यौं, न्यारे होत न जतन करौ किन॥
मिले हैं भाँवते भाग सुहाग भरे, अनुराग छबीले छिन-छिन।
श्रीहरिप्रिया लगे लग दोऊ निमिष, न रहें ये इन ये इन बिन॥

(महावाणी, सुरत-सुख, पद-सं० २४)

प्यारी जू प्रानन की प्रतिपाल।
जिनकी दया सुदृष्टि बृष्टि करि, पल में होत निहाल॥
तन मन परम पुष्ट पन पावै, लावै रंग रसाल।
श्रीहरिप्रिया प्रेम सर बाढ़े, काढ़े दुख ततकाल॥

(महावाणी, सहज-सुख, पद-सं० ३९)

इसी प्रकार जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर आचार्यवर्य श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराजने अपने 'श्रीपरशुराम-सागर' बृहद्ग्रन्थके 'दोहावली' भागमें प्रेमका जो प्रचुर वर्णन किया है, उसके कतिपय उद्धरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

बंध्यो प्रेम की डोर हरि, 'परशुराम' प्रभु आप।
साधु-साधु मुखि उच्चरै, करै भगत को जाप॥
जन्म मरण ये 'परशुराँ', हरि बिमुखन के होय।
हरि रस पीवे प्रेम सों, जनमे मरे न सोय॥
प्रेम रस अंतरि बस्यो, प्राण रह्यो बिरमाइ।
लागी प्रीति अपार सों, 'परसा' तजी न जाइ॥
'परसा' संगति साध की, कीयाँ दोष दुराँहिं।
पीजै अमृत प्रेम रस, रहिये हरि सुख माँहिं॥
हरि सनमुख सिर नाइये, जपिये हरि को जाप।
हरि उर तैं न बिसारिये, 'परसा' प्रेम मिलाप॥
'परसा' हरि की भगति बिन, करिये सोइ हराम।
नर औतार सुफल तबै, भजै प्रेम सों स्याम॥
सर्बस हरि कौं सौंपिये, हरि न मिलै क्यौं आय।
'परसा' तन मन प्राण दै, पीजै प्रेम अघाय॥
हरि अमृत रस प्रेम सौं, पीवै जो इकतार।
'परसा' चढ़ै न ऊतरे, लागी रहै खुमार॥

इसी आचार्य-परम्परामें जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य-पीठाधीश्वर श्रीवृन्दावनदेवाचार्यजी महाराजने अपने 'श्रीगीतामृत-गङ्गा-व्रजवाणी' में प्रेमके दिव्य स्वरूपका जो असमोर्ध्व वर्णन किया है, वह वस्तुतः अतीव विलक्षण है। उक्त ग्रन्थके कतिपय मञ्जुल पद्योंके अनुशीलनसे स्वतः प्रेम-प्राखर्यका बोध हो सकेगा—

प्रेम को रूप सु इहै कहावै।
प्रीतम के सुख सुख अपनो दुख, बाहिर होत न नेक लखावै॥
गुरुजन बरजन तरजन ज्यों-ज्यों, त्यों-त्यों रति नित-नित अधिकावै।
दुरजन घर-घर करत बिनिंदन, चंदन सम सीतल सोउ भावै॥
पलक औटहू कोटि बरस के, छिनक ओटि सुख कोटि जनावै।
बृन्दावन-प्रभु नेही की गति देही त्यागि धरै सोइ पावै॥

(घाट ४, पद ३५)

बसी तुव मूरति नैंननि मेरैं।
कैसैं चैंन परैं प्यारी अब, भली भाँति बिनु हेरैं॥
तनक किर किरी खरकति सो सतो, नख-सिख भूषन तेरैं।
बृन्दावन प्रभु नेह अजन ते, खरकति और घनेरैं॥

(घाट ४, पद ४८)

तुम बिन दृगन सुहात न और।
नींद रैन दिन बसी रहत ही, वाहू को नहीं ठौर॥
अब कैसें फीको जग भावत चाखे, रूप सलौनै कौर।
बृन्दावन प्रभु सुरझत नाहीं, परे प्रेम के झोर॥

(घाट ४, पद ५७)

इसी परम्परामें श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीगोविन्द-शरणदेवाचार्यजी महाराजने अपने परम रसमय 'गोविन्दवाणी' ग्रन्थमें प्रेमरूपा परा भक्तिरूप जिस उत्तम विधाका विवेचन किया है, वह अत्यन्त चित्ताकर्षक है—

जग में हरि के जन बड़भागी।
निस दिन भजन भावना बितवत, चरन कँवल अनुरागी॥
प्रेम मगन गावत माधौ गुन, हरि धन भये बिभागी।
धारत तिलक माल तुलसी की, बुधि सो तैं द्रुत जागी॥
दर्रसन पावन होयैं पतित जन, जिनकी मति हरि पागी।
गोबिंद सरन बिस्व उपकारी रसना हरि रट लागी॥

(पद-सं० १०४)

नेति नेति कहत निगम, एक प्रेम ही तैं सुगम।
गोबिंद सरन प्रभुता तजि, भये अति आधीनैं॥

(पद-सं० १०५ पंक्ति १०)

नीके बिहारी-बिहारिनि प्यारे।
कुंजमहल राजत रँगभीनै, सखि नैंननि के तारे॥
अद्भुत गौर-साँवरे दंपति, पलहू होत न न्यारे।
मन बसी रसी सोहनी मूरति, बिसरत क्यौब बिसारे॥
रूप सुधा रस पियै परसपर, रहत प्रेम मतवारे।
गोबिंद सरन जिय कल न परत है, जब ते नैंन निहारे॥

(पद-सं० १०६)

प्रस्तुत प्रेमोत्कर्षका लोकोत्तर रसपूर्ण भाव अभिव्यक्त कर रहे हैं निम्बार्क-सिद्धान्त-सम्पोषक भक्तप्रवर श्रीनागरीदासजी, जिन्होंने पुष्करक्षेत्रान्तर्गत किशनगढ़ राज्यके सम्पूर्ण विपुल वैभवका परित्याग कर श्रीवृन्दावनके मञ्जुल निकुञ्ज और वीथियोंमें कलिन्दजा—श्रीयमुनाके अति सुरमणीय पावन पुलिनपर अवस्थित होकर वृन्दावन-नवनिकुञ्ज-विहारी युगलकिशोर श्यामाश्याम रसपरब्रह्म सर्वेश्वर श्रीराधाकृष्णके परम-प्रेमा-भक्तिरससुधारूप अगाधसिन्धुमें प्रतिपल निमज्जित-समुच्छ्वलित हो जिस परमानन्दरससारका दिव्यतम अनुभव किया है, उसीको अपनी ललित-कलित सरस पद्यमय व्रजवाणीमें आपूरित किया है और जिसका श्रीयुगल-रसरसज्ञ रसिक भगवज्जनोंद्वारा अपने अतिशय कमनीय कलकण्ठद्वारा निकुञ्जरसका अनुपम पान किया जाता है—

बिमल जुन्हइया जगमगी, रही बैंन धुनि छाय।
प्रेम-नदी तिय रगमगी, बृंदा-कानन आय॥
रुकी न कापैं तिय गईं, छाँड़ि काज गृह चाह।
मिल्यो स्याम रस सिंधु मन, सरिता प्रेम-प्रवाह॥

(श्रीनागरीदास-वाणी, रासरसलता, दोहा ५-६)

क्यौं नहिं करै प्रेम अभिलाष।
या बिन मिलै न नंददुलारौ, परम भागवत साख॥
प्रेम स्वाद अरु आन स्वाद यौं ज्यौं अकडोडी दाख।
नागरिदास हिये मैं ऐसैं, मन, बच क्रम करि राख॥

(श्रीनागरीदास वाणी, छूटक, पद-सं० १४)

दीजे प्रेम प्रेमनिधि स्याम।
गदगद कंठ नैंन जलधारा, गाऊँ गुन अभिराम॥
या छकि सौं सब छूटि जाय ज्यौं, और सबै कलमष कैं काम।
नागरिया तुव रंग रंग्यो फिरै, इहिं बृंदावनधाम॥

(श्रीनागरीदास-वाणी, छूटक, पद-सं० १२४)

देहु प्रेम हरि परम उदार।
बिना प्रेम जे भक्ति है नौधा, भई जात ब्यौहार॥
प्रेमहि कैं बस होत स्याम तुम, प्रेमहिं के रिझवार।
प्रेम हाथ अपनै नहिं नागर, ताको कहा बिचार॥

(श्रीनागरीदास-वाणी, छूटक, पद-सं० १५२)

वस्तुतः प्रेमका स्वरूप ही अनिर्वचनीय है, उसका प्रख्यापन वाणी किंवा लेखनीका माध्यम नहीं। वह तो यथार्थमें श्रीसर्वेश्वर-कृपैकलभ्य है। इसी दिव्य भगवत्प्रेमका सुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य जगद्गुरु श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य एवं तत्परम्परावर्ती पूर्वाचार्य एवं रसिक परम भागवत महापुरुषोंने विविधरूपसे निरूपण किया है, जो सर्वदा रसिक भगवज्जनोंको अपने निर्मल अन्तःकरणमें अवधारणीय है।

* * *

'भगवत्प्रेम'

(श्रीरामलखनजी सिंह 'मयंक', एम्०ए०)

परम तत्त्व है मानव-जीवनका इस जगमें भगवत्प्रेम।
प्रभु अनन्य प्रेमीका करते नित्य निर्वहन योगक्षेम॥
है अनन्यतम एक साधना और साध्य भी भगवत्प्रेम।
हर कर्मोंका उत्तम फल है प्राप्य एक बस भगवत्प्रेम॥
सदा हमारी अभिलाषा हो पानेकी बस भगवत्प्रेम।
हरि-प्रीत्यर्थ सभी साधित हों धर्म-कर्मसाधन-व्रत-नेम॥
सत्सुख नित्य प्रदान कर रहा है भक्तोंको भगवत्प्रेम।
हरिचरणोंके आश्रित जनका दृढ़ाधार है भगवत्प्रेम॥
है विपत्तिनाशक, तापोंसे त्राणप्रदाता भगवत्प्रेम।
रे मन मूढ़! 'मयंक' करो अर्जित सन्मनसे भगवत्प्रेम॥

* * *

भगवत्प्रेम

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्विष्णुस्वामिमतानुयायि श्रीगोपाल वैष्णवपीठाधीश्वर श्री १००८ श्रीविट्ठलेशजी महाराज)

अखिल ब्रह्माण्डनायक, सकलाभीष्टदायक, वेद-गोविप्रसाधुजनसुखदायक, भक्तमनोरथपरिपूरक, लीलानट गोपालजीने लोकके कल्याणके लिये क्रीडाभाण्ड विश्वका निर्माण किया है।

उस विश्वमें भूलोक-भुवर्लोक-स्वर्लोक—इन तीन लोकोंकी मर्यादा स्थापित की है। उसमें सप्तद्वीपवती पृथ्वी धन्य है। सात द्वीपोंमें जम्बूद्वीप श्रेष्ठ है। जम्बूद्वीपके नौ खण्डोंमें भारतखण्ड (वर्ष) श्रेष्ठ है। उसमें भी माथुर-मण्डल श्रेष्ठ है; क्योंकि मथुरापुरीमें अवतारी श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्ने अवतार लेकर निरुपम प्रेममयी दिव्य लीलाएँ की हैं, जिनका श्रवण-कीर्तन और स्मरण करनेसे जीवोंका उद्धार हो जाता है। चौरासी लाख योनियोंमें मानव-योनि ही भगवत्-प्रेयसी है; क्योंकि मनुष्य-योनि ही भगवत्सेवनके लिये उपयुक्त होती है। इसीलिये देवता भी मनुष्य-जन्मके लिये लालायित रहते हैं। ऐसा श्रीमद्भागवतजीमें यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रसिद्ध है—**'मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥'** (५। १९। २१)। मानव-शरीरमें पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय तथा मन आदि अन्तःकरणोंसे भगवत्सेवन करना ही जीवका परम धर्म है। कर्मेन्द्रियाँ कर्म करती हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ उनकी सहायता करती हैं और दोनों इन्द्रियोंका नायक मन होता है। मनसे ही भगवत्प्राप्ति होती है—**'मनसैवेदमाप्तव्यम्'**। अतः स्वच्छ मनसे भगवत्सेवन करनेपर ही मनुष्य भगवत्प्रेम-पथका पथिक हो जाता है। जबतक मनमें दुर्वासना रहती है, तबतक भगवच्चरणोंमें अनुराग नहीं होता, मनकी स्वच्छताके लिये वर्णाश्रम-धर्मका पालन करना अत्यावश्यक है, अन्यथा भगवत्प्रसादकी प्राप्ति दुर्लभ है। मनु आदि स्मृतियोंमें चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) तथा चारों आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास)-के उपयुक्त धर्मका प्रतिपादन किया गया है। उसका यथाशक्ति पालन करनेसे आचार-विचार, रहन-सहन तथा आहार-विहार शुद्ध हो जाते हैं। ऐसा करनेपर ही मनकी स्वच्छता सम्भव है और तभी भक्तिमार्गमें चलनेका अधिकार प्राप्त होता है। भगवत्प्रेरणासे प्रेरित सज्जनोंका समागम पाकर सत्संगद्वारा भगवान्के प्रति प्रीतिभाव जाग्रत् होता है। यह बात श्रीमद्भागवतमें जहाँ-तहाँ सत्संग-प्रसंगमें वर्णित है—

'सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता'।

(११। ११। २५)

जबतक मानसिक वृत्तियाँ भगवान्की ओर नहीं चलतीं, तबतक भगवत्प्रेमकी प्रवृद्धि नहीं हो सकती है। भगवान्के प्रति अनुरक्त होनेके लिये साधन-भक्तिकी साधना करणीय है। रासमें साधन-सिद्धा गोपियोंका बखान है *'साधन सिद्धि राम पग नेहू।'* भक्ति जीवको भगवान्से मिलाती है। अतः भक्ति-भक्त-भगवन्त—ये तीनों समन्वित रहनेपर भगवत्साक्षात्कारका अधिकार प्राप्त हो जाता है। भगवान् प्रेमनगरमें वास करते हैं और वह प्रेमनगर अपना हृदय ही है। उसमें अष्टदल कमलकी मञ्जरीमें वासनारहित सुवासित स्थलमें मनसे ही भगवद्दर्शन होते हैं। उनके दर्शनार्थ जानेके लिये नवधा भक्तिरूपी गन्त्री (गाड़ी) प्रेम ही है। उस गन्त्रीका फाटक विश्वास है। उसका टिकट साधु-संतोंका उपदेश-पालन करना है। उन गन्त्रियोंके चालकदल निम्नलिखित प्रकारसे हैं—

श्रवण-भक्तिके राजा परीक्षित्, कीर्तनके शुकदेवजी, स्मरणके प्रह्लादजी, पादसेवनकी लक्ष्मीजी, पूजनभक्तिके पृथु महाराज, स्तुति-वन्दनके अक्रूरजी, दास्यभावके कपीश्वर हनुमान्जी, सख्यके अर्जुनजी एवं आत्मनिवेदनके राजा बलि। ये सभी प्रेमी विविध प्रेम-गन्त्रियोंके माध्यमसे श्रीकृष्णके चरणारविन्दके निकट पहुँच गये।

उपर्युक्त नवधा भक्तिरूप प्रेमगाड़ियोंमें हरिनामामृत मालाके सिवा और कुछ सामान ले जाना नहीं पड़ता और न ही किसी प्रपञ्ची सार्थीको वहाँ साथ ले जाया जा सकता है; क्योंकि प्रपञ्ची व्यक्ति सांसारिक कथा-कलापोंसे प्रेमगाड़ीको भ्रष्ट कर देता है। वैराग्य ही उस प्रेमगाड़ीका सफाई कर्मचारी होता है, जो विषयरूप कूड़ा झाड़कर साफ कर देता है तथा ज्ञानरूपी प्रकाशमय बत्तियाँ उसमें सर्वदा प्रकाश करती हुई अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट करती रहती हैं। इसी कारण वह

प्रेमगाड़ी निर्विघ्नरूपसे प्रेमनगरमें पहुँच जाती है।

उस गाड़ीको आगे बढ़नेमें इन्द्रियाँ संकेतक (सिगनल)-का कार्य करती हैं, उन सिगनलोंकी जंजीर मन है, वह प्राणसे आबद्ध है। प्राणायामादि योगमार्गसे मनरूपी जंजीरको खींचनेपर इन्द्रियरूपी सिगनल नीचा हो जाता है और तभी गाड़ी आगे बढ़ पाती है।

इन्द्रियाँ ऐसी बलवान् होती हैं कि बड़े-बड़े यतियोंके मनको भी प्रमथित कर डालती हैं। अतः भगवत्प्रीत्यर्थ निष्काम कर्म करना ही उचित है। तभी मन भगवत्प्रेममें मग्न हो सकता है। जैसे व्रजकी सुन्दरियाँ प्रेममग्न हो गयीं—

ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥

(श्रीमद्भा० ११।१२।१२)

[भगवान्ने उद्धवजीसे कहा—हे उद्धव!] जैसे बड़े-बड़े ऋषि-मुनि समाधिमें स्थित होकर तथा गङ्गा आदि बड़ी-बड़ी नदियाँ समुद्रमें मिलकर अपने नाम-रूप खो देती हैं, वैसे ही वे गोपियाँ परम प्रेमके द्वारा मुझमें इतनी तन्मय हो गयी थीं कि उन्हें लोक-परलोक, शरीर और अपने कहलानेवाले पति-पुत्रादिकी भी सुध-बुध नहीं रह गयी थी।

नारदजीने भक्तिसूत्र (६६, २१)-में स्पष्ट कर दिया है कि हरिसे ही प्रेम करे। **'प्रेमैव कार्यम्—यथा व्रजगोपिकानाम्'**।

पूर्वमें जिस प्रेमगाड़ीका वर्णन किया गया था, उसमें सूचना-पट्ट लगा रहता है। उस सूचना-पट्टमें बताये हुए नियमोंका पालन करना अनिवार्य होता है। नियम-विरुद्ध कार्य करनेपर उस गाड़ीसे निष्कासित हो जाना पड़ता है। वह नियमावली इस प्रकार है—

धर्म भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम्।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्॥

(श्रीमद्भा०, माहात्म्य ४।८०)

अर्थात् स्वधर्मका पालन करो (भगवद्भजन ही सबसे बड़ा धर्म है),अन्य सभी लौकिक धर्मोंका आश्रय छोड़ दो, साधुजनोंकी सेवा करो, कामना (भोगोंकी लालसा)-का त्याग करो, दूसरेकी बुराई-बड़ाई छोड़कर निरन्तर भगवत्सेवा और भगवान्की कथाओंमें प्रेमरसका आस्वादन करो। इनके पालनसे भगवान् शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं और प्रेमनगरकी सहज प्राप्ति भी हो जाती है।

श्रद्धा, भक्ति, दया, संतोष तथा वैराग्यके द्वारा भगवत्प्रेमके प्रवाहसे श्रीहरि संतुष्ट होते हैं। जिनके ऊपर भगवत्कृपा हो जाती है, उनके लिये ऐहलौकिक-पारलौकिक कोई भी विषय दुर्लभ नहीं रहता है। किंतु अनन्य प्रेमी भक्तजन प्रभुके दिये हुए पारितोषिक स्वीकार नहीं करते हैं, बल्कि वे प्रेमसे प्रभुचरणोंका सेवन करके अपनेको पूर्ण कृतार्थ मानते हैं—**'तथापि तत्परा राजन् नहि वाञ्छन्ति किञ्चन॥'**

(श्रीमद्भा० १०।३९।२)

भगवत्प्रेम मानसिक वृत्ति है। मनसंयुक्त सर्वेन्द्रियोंसे और अनन्य बुद्धिसे भगवद्रसका आस्वादन करना ही प्रेममें मग्न होना है। विशुद्ध प्रेमसे ही भगवद्दर्शन होते हैं। मन अति सूक्ष्म वस्तु है, वह सूक्ष्म बुद्धिद्वारा भगवान्के स्वरूपमें संलग्न होनेपर तदाकारताको प्राप्त हो जाता है। कपिलदेवजीने माता देवहूतिके प्रति निर्गुण प्रेमरूपा भगवद्भक्तिका लक्षण इस प्रकारसे कहा है—

'मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।'

(श्रीमद्भा० ३।२९।११-१२)

इस लक्षणसे स्वाभाविक ही मनकी सात्त्विकी वृत्ति निष्कारण श्रीकृष्णमें लगी हो तो वह प्रेमा-भक्ति कहलाती है। उस प्रेमरसमें सराबोर होनेपर प्रेमाश्रुकी छलकन, वाणीकी गद्गदता, चित्तका पिघल जाना, लज्जाविहीनता, ऊँचे स्वरसे भगवान्की लीलाके गुणोंका गायन, विरहावस्थापन्न होकर रोदन, संयोग होनेपर हास्य आदि चिह्न प्रकट हो जाते हैं। इस अवस्थामें देह-गेहकी सुध नहीं रहती तथा सभी कर्म-धर्म बिछुड़ जाते हैं। इसमें प्रत्यवाय नहीं बनता। अतः प्रायश्चित्तकी कोई आवश्यकता भी नहीं रहती। जो लोग भक्तिके आभासमें कार्यका परित्याग करते हैं, उनपर विधि-निषेधात्मक नियम लागू होता है; अतः निषिद्ध कर्मका परित्याग करने, विहित निष्काम कर्म करने तथा काम्य कर्मोंका परित्याग करनेसे स्वर्ग-नरकमें नहीं जाना पड़ता है। भगवत्प्रीत्यर्थ समर्पण-बुद्धिसे स्वकर्म करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और तभी भगवत्प्रेम

पानेकी योग्यता होती है। वासनावासित (प्रदूषित) मन भगवान्के प्रति नहीं लगता है।

श्रुतियोंमें इन्द्रियों तथा मनको पराङ्मुख बताया गया है, इसलिये ये अपने-अपने विषयोंके प्रति दौड़ते हैं। इन दुर्दम्य इन्द्रियादिको शम-दम आदि साधनोंसे स्वाधीन करके भगवान्की ओर मोड़ना ही अपना परम कर्तव्य है; क्योंकि वे स्वतः नहीं मुड़ सकती हैं।

मन जलके समान नीचे ही चलता है, उसे नाम-मन्त्ररूपी यन्त्रसे अभ्यासद्वारा ऊर्ध्वगामी बनानेपर ही भगवत्प्राप्ति होती है। अतएव जबतक अनन्य अव्यभिचारिणी भक्ति न प्राप्त हो, तबतक हम प्रभुको वशमें नहीं कर सकते हैं। प्रभुको तो प्रेमकी डोरीसे ही बाँधकर अपने हृदयरूपी भवनमें बंद किया जा सकता है। इस कार्यमें भावकी आवश्यकता है। भावानुसार भगवान्में प्रेम सिद्ध होनेपर वे हरिभक्तोंसे मिलते हैं तथा सकाम-निष्काम भावके अनुसार फल देते हैं। वे कल्पद्रुमके समान हैं, किंतु कुछ न माँगनेपर अपनेको प्रेमी भक्तके अधीन मानते हैं। जैसा कि राजा अम्बरीषके प्रति दुर्वासाके क्रूरकर्मसे रुष्ट होकर उनकी माँग उन्होंने ठुकरा दी थी और अपनेको भक्तके पराधीन बताया था—

अहं भक्तपराधीनः' (श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)

सभी कार्य मनकी एकाग्रतासे ही सफल होते हैं, इसलिये मनको निश्चल कर भगवत्स्वरूपमें प्रतिष्ठित करके ध्यानमें मग्न होकर प्रेमसे नाम-सुमिरन करे तो कभी-न-कभी भगवत्कृपासे अवश्य भगवत्साक्षात्कार हो सकता है।

उपासनाका यही स्वरूप भगवान्ने गीताके दसवें अध्यायके ८—१०वें श्लोकमें कहा है तथा भावनाके उत्थानके लिये साधन बताये हैं, इनमें भगवान्के निकट पहुँचनेका सरल उपाय सुझाया गया है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

अर्थात् मैं ही सभीकी सृष्टि और सबका पालन आदि करता हूँ। मैं ही प्रवर्तक हूँ। यह जानकर विवेकी लोग भगवद्भावसे युक्त मेरा भजन करते हैं तथा मुझमें ही जिनका चित्त लगा है या मैं ही जिनके चित्तमें बसा हूँ, जिनकी इन्द्रियाँ मेरे प्रति लगी हैं, भक्त-मण्डलीमें परस्पर बोधन कराते हुए, मेरे नाम-लीला-गुणोंका व्याख्यान करते हुए जो संतुष्ट होते हैं तथा मेरे स्वरूपमें रमते हैं—ऐसे निरन्तर सोत्साह प्रेमपूर्वक भजनेवालोंको मैं अन्तकालमें बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मेरे निकट हो जाते हैं।

अतः भगवान्से इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये कि हे प्रभो! अविवेकी जनोंकी जैसी अविच्छिन्न प्रीति विषय-भोगोंके सेवनमें होती है, वैसी ही मेरी प्रीति आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे कभी दूर न हो अर्थात् मेरे हृदयदेशमें आपके प्रति अखण्ड प्रीति बनी रहे—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु॥
(श्रीविष्णुपुराण १। २०। १९)

⁂

दमतक यार निबाहैंगे

चाहे कुछ हो जाय उम्र भर तुझीको प्यारे चाहैंगे।
सहैंगे सब कुछ, मुहब्बत दमतक यार निबाहैंगे॥

तेरी नजरकी तरह फिरेगी कभी न मेरी यार नजर!
अब तो यों ही निभैगी, यों ही जिंदगी होगी बसर॥
लाख उठाओ कौन उठे है, अब न छुटेगा तेरा दर।
जो गुजरैगी, सहैंगे, करैंगे यों ही यार गुजर॥
करोगे जो जो जुल्म न उनको दिलवर कभी उलाहैंगे।
सहैंगे सब कुछ, मुहब्बत दमतक यार निबाहैंगे॥

रुख फेरो, मत मिलो, देखनेको भी दूरसे तरसाओ।
इधर न देखो, रकीबोंके घरमें प्यारे जाओ॥
गाली दो, कोसो, झिड़की दो, खफा हो घरसे निकलवाओ।
कत्ल करो या नीम-बिस्मिल कर प्यारे तड़पाओ॥
जितना करोगे जुल्म हम उतना उलटा तुम्हें सराहैंगे।
सहैंगे, सब कुछ, मुहब्बत दमतक यार निबाहैंगे॥

—भारतेन्दु

⁂

भगवत्प्रेमका स्वरूप और महत्त्व

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

जीवमात्र भगवान्‌का अंश है। गीतामें भगवान् कहते हैं—**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** (१५।७)। भगवान्‌का अंश होनेके कारण जीवमें भगवान्‌के प्रति एक स्वतःसिद्ध आकर्षण है। वह आकर्षण भगवान्‌की तरफ होनेसे 'प्रेम' और नाशवान् पदार्थों तथा व्यक्तियोंके प्रति होनेसे 'राग' (काम, आसक्ति अथवा मोह) हो जाता है। राग तो जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए सम्पूर्ण जीवोंमें रहता है, पर प्रेम केवल भगवान् तथा उनके अनन्य भक्तोंमें ही रहता है*।

रागमें सुख लेनेका भाव रहता है, प्रेममें सुख देनेका भाव रहता है। रागमें लेना-ही-लेना होता है, प्रेममें देना-ही-देना होता है। रागमें जड़ताकी मुख्यता होती है, प्रेममें चिन्मयताकी मुख्यता होती है। रागमें पराधीनता होती है, प्रेममें स्वाधीनता होती है। राग परिणाममें दुःख देता है, प्रेम अनन्त आनन्द देता है। राग नरकोंकी तरफ ले जाता है, प्रेम भगवान्‌की तरफ ले जाता है। रागका भोक्ता जीव है, प्रेमके भोक्ता स्वयं भगवान् हैं।

भगवान्‌में भी प्रेमकी भूख रहती है। इसलिये उपनिषद्‌में आता है कि भगवान्‌का अकेलेमें मन नहीं लगा तो उन्होंने संकल्प किया कि 'मैं एक ही अनेक रूपोंमें हो जाऊँ।' इस संकल्पसे सृष्टिकी रचना हुई—

'एकाकी न रमते।' (बृहदारण्यक० १।४।३)

'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।' (तैत्तिरीय० २।६)

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति।' (छान्दोग्य० ६।२।३)

इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌ने मनुष्यको अपने लिये अर्थात् प्रेमके लिये ही बनाया है। भगवान्‌ने मनुष्यकी रचना न तो अपने सुखभोगके लिये की है और न उसपर शासन करनेके लिये की है, प्रत्युत इसलिये की है कि वह मेरेसे प्रेम करे और मैं उससे प्रेम करूँ। तात्पर्य है कि भगवान्‌ने मनुष्यको अपना दास (पराधीन) नहीं बनाया है, प्रत्युत अपने समान (सखा) बनाया है। उपनिषद्‌में आया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
(मुण्डक० ३।१।१; श्वेताश्वतर० ४।६)

इसलिये सम्पूर्ण योनियोंमें एक मनुष्य ही ऐसा है, जो भगवान्‌से प्रेम कर सकता है, उनको अपना मान सकता है। जैसे पुत्र मूढ़तावश अलग हो जाय तो माता-पिता चाहते हैं कि वह हमारे पास लौट आये, ऐसे ही भगवान् चाहते हैं कि संसारमें फँसा हुआ जीव मेरी तरफ आ जाय। भगवान्‌के इस प्रेमकी भूखकी पूर्ति मनुष्यके सिवाय और कोई नहीं कर सकता। देवतालोग भोगोंमें लगे हुए हैं, नारकीय जीव दुःख पा रहे हैं और चौरासी लाख योनियोंके जीव मूढ़ता (अज्ञान, मोह)-में पड़े हुए हैं। एक मनुष्य ही ऐसा है जो अपनी मूढ़ता मिटाकर यह मान सकता है कि 'मैं संसारका नहीं हूँ, संसार मेरा नहीं है' और 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं।'

मनुष्य तो संसारमें राग करके भगवान्‌से विमुख हो जाता है, पर भगवान् कभी मनुष्यसे विमुख नहीं होते। भगवान्‌का मनुष्यके प्रति प्रेम ज्यों-का-त्यों बना रहता है—***'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'*** (मानस उत्तर० ८६।४)। इस प्रेमके कारण ही भगवान् मनुष्यको निरन्तर अपनी ओर खींचते रहते हैं। इसकी पहचान यह है कि कोई भी अवस्था, परिस्थिति नित्य-निरन्तर नहीं रहती, बदलती रहती है। मनुष्य भगवान्‌के सिवाय जिस वस्तु या व्यक्तिको पकड़ता है, उसको भगवान् छुड़ा देते हैं। परंतु अन्तःकरणमें संसारका महत्त्व अधिक होनेके कारण मनुष्य भगवान्‌के इस प्रेमको पहचानता नहीं। अगर वह भगवान्‌के प्रेमको पहचान ले तो फिर उसका संसारमें आकर्षण हो ही नहीं!

मुक्ति तो उनकी भी हो सकती है, जो ईश्वरको नहीं

---

* 'प्रेम ही भगवान् है'—ऐसा कहना ठीक नहीं है, प्रत्युत 'भगवान्‌में प्रेम है'—ऐसा कहना चाहिये। कारण कि 'प्रेम ही भगवान् है'—ऐसा माननेसे भगवान् सीमित हो जाते हैं, जबकि भगवान् असीम हैं। प्रेम भगवान्‌की विभूति है। दूसरी बात, 'प्रेम ही भगवान् है'—ऐसा कहनेसे ज्ञानकी प्रधानता रहेगी और प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान नहीं होगा। अतः 'भगवान्‌में प्रेम' है और उस प्रेमको प्रकट करनेके लिये ही भगवान् एकसे दो होते हैं।

मानते। परंतु प्रेमकी प्राप्ति सबको नहीं होती। प्रेमकी प्राप्ति भगवान्‌में आत्मीयता (अपनापन) होनेसे होती है। भगवान् मुक्त अथवा ज्ञानी महापुरुषके वशमें नहीं होते, प्रत्युत प्रेमीके वशमें होते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६३)

'हे द्विज! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं। मुझे भक्तजन बहुत प्रिय हैं। उनका मेरे हृदयपर पूर्ण अधिकार है।'

ज्ञानीको प्रेम प्राप्त हो जाय—यह नियम नहीं है, पर प्रेमीको ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है—यह नियम है। यद्यपि प्रेमी भक्तको ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है, तथापि उसमें किसी प्रकारकी कमी न रहे, इसलिये भगवान् उसको अपनी तरफसे ज्ञान प्रदान करते हैं—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०।११)

'उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही उनके स्वरूप (होनेपन)-में रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

प्रेम ज्ञानसे भी विलक्षण है। ज्ञानमें उदासीनता है, प्रेममें मिठास है। जैसे, किसी वस्तुका ज्ञान होनेपर केवल अज्ञान मिटता है, मिलता कुछ नहीं। परंतु 'वस्तु मेरी है'—इस तरह वस्तुमें ममता होनेसे एक रस मिलता है। तात्पर्य यह हुआ कि वस्तुके आकर्षणमें जो आनन्द है, वह वस्तुके ज्ञानमें नहीं है। इसलिये ज्ञानमें तो 'अखण्ड आनन्द' है, पर प्रेममें 'अनन्त आनन्द' है। मोक्षकी प्राप्ति होनेपर मुमुक्षा अथवा जिज्ञासा तो नहीं रहती, पर प्रेम-पिपासा रह जाती है। भोगेच्छाका अन्त होता है, मुमुक्षा अथवा जिज्ञासाकी पूर्ति होती है, पर प्रेम-पिपासाका न अन्त होता है और न पूर्ति होती है, प्रत्युत वह प्रतिक्षण बढ़ती रहती है—**'प्रतिक्षणवर्धमानम्'** (नारदभक्ति० ५४)।

जैसे धनी आदमीको सदा धनकी कमी ही दीखती है—*'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'* ऐसे ही प्रेमी भक्तको सदा प्रेमकी कमी ही दीखती है। यदि अपनेमें प्रेमकी कमी न दीखे तो प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान कैसे होगा? अपनेमें प्रेमकी कमी मानना ही 'नित्यविरह' है। नित्यविरह और नित्यमिलन—दोनों ही नित्य हैं। इसलिये न तो प्रियतमसे मिलनकी लालसा पूरी होती है और न प्रियतमसे वियोग ही होता है—

अरबरात मिलिबे को निसिदिन,
मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिलै ना।
'भगवतरसिक' रसिक की बातें,
रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना॥

ज्ञानमें तो तृप्ति हो जाती है—**'आत्मतृप्तश्च मानवः'** (गीता ३।१७), पर प्रेममें तृप्ति होती ही नहीं—

राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥

(मानस, उत्तर० ५३।१)

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥

(मानस, अयोध्या० १२८।४-५)

इसलिये मुक्त होनेपर भी स्वयंमें अनन्तरसकी भूख रहती है। भगवान् श्रीरामको देखकर जीवन्मुक्त एवं तत्त्वज्ञानी राजा जनक कहते हैं—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

(मानस, बाल० २१६।५)

'ब्रह्मसुख' में ज्ञानका अखण्डरस है और 'अति अनुराग' में प्रेमका अनन्तरस है। प्रेमकी जागृतिके बिना स्वयंकी भूखका अत्यन्त अभाव नहीं होता।

मुक्त होनेसे पहले जीव और परमात्मामें भेद होता है, मुक्त होनेपर अभेद होता है और मुक्त होनेके बाद जब प्रेमकी जागृति होती है, तब जीव (प्रेमी) और परमात्मा (प्रेमास्पद)-में अभिन्नता होती है। मुक्त होनेसे पहलेका भेद अहम्‌के कारण बाँधनेवाला होता है, पर मुक्त होनेके बाद अहम्‌का नाश होनेपर जो प्रेमी और प्रेमास्पदका भेद होता है, वह अनन्त आनन्द देनेवाला होता है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

(बोधसार, भक्ति० ४२)

'बोधसे पहलेका द्वैत तो मोहमें डाल सकता है, पर बोध होनेके बाद भक्तिके लिये कल्पित अर्थात् स्वीकृत द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।'

भक्तियोगमें तो सीधे ही प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है, पर ज्ञानयोगमें मुक्तिके बाद प्रेमकी प्राप्ति होती है—'**मद्भक्तिं लभते पराम्**' (गीता १८।५४)। ज्ञानयोगके जिस साधकमें भक्तिके संस्कार होते हैं, जो मुक्तिको ही सर्वोपरि नहीं मानता, ऐसे साधकको मुक्ति प्राप्त होनेके बाद भी सन्तोष नहीं होता। अतः भगवान् अपनी अहैतुकी कृपासे उसके मुक्तिके अखण्डरसको फीका कर देते हैं और अपने प्रेमके अनन्तरसकी प्राप्ति करा देते हैं। परंतु जिस साधकमें भक्तिके संस्कार नहीं होते और जो मुक्तिको ही सर्वोपरि मानकर भक्तिका अनादर, तिरस्कार, खण्डन करता है, वह सदा मुक्त ही रहता है। उसको प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती।

जिस साधनमें अपने उद्योगकी मुख्यता होती है, वह 'लौकिक' होता है और जिस साधनमें भगवान्के आश्रयकी मुख्यता होती है, वह 'अलौकिक' होता है। भगवान्ने कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंको 'लौकिक निष्ठा' बताया है—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
(गीता ३।३)

परंतु भक्तियोग 'अलौकिक निष्ठा' है। कारण कि जो भगवान्के आश्रित हो जाता है, वह भगवन्निष्ठ होता है। उसका साधन और साध्य—दोनों भगवान् ही होते हैं। क्षर और अक्षर दोनों लौकिक हैं—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' (गीता १५।१६)। परंतु भगवान् अलौकिक हैं—'**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः**' (गीता १५।१७)। कर्मयोग 'क्षर' (जगत्)-को लेकर और ज्ञानयोग 'अक्षर' (जीव)-को लेकर चलता है, पर भक्तियोग भगवान्को लेकर चलता है। अतः कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों साधन हैं और भक्तियोग साध्य है। प्रेमलक्षणा भक्ति ही सर्वोपरि प्रापणीय तत्त्व है।

लौकिक साधनावाले जो साधक मोक्षको ही सर्वोपरि मानकर भक्तिका अनादर, उपेक्षा करते हैं, वे प्रेमके तत्त्वको समझ ही नहीं सकते। परंतु अलौकिक साधनावाला भक्त आरम्भसे ही भगवान्में अपनापन करके उनके आश्रित हो जाता है तो भगवान् उसको मोक्ष और प्रेम—दोनों प्रदान कर देते हैं।

शरीर तथा संसार 'पर' हैं और स्वयं तथा परमात्मा 'स्व' हैं। 'स्व' के दो अर्थ होते हैं—स्वयं और स्वकीय। परमात्माका अंश होनेसे हम परमात्माके हैं और परमात्मा हमारे हैं; अतः परमात्मा 'स्वकीय' हैं। स्वकीयकी अधीनतामें पराधीनता नहीं है, प्रत्युत असली स्वाधीनता है। जैसे, बालकके लिये माँकी अधीनता पराधीनता नहीं होती; क्योंकि माँ 'पर' नहीं है, प्रत्युत अपनी होनेसे 'स्वकीय' है। इसलिये माँकी अधीनतामें बालकका विशेष हित होता है और अपनेपर कोई जिम्मेवारी न होनेसे बालक निर्भय और निश्चिन्त रहता है।

मुक्ति प्राप्त होनेपर मुक्त महापुरुषमें अहम्की एक सूक्ष्म गन्ध रहती है। अहम्की यह गन्ध मुक्तिमें बाधक नहीं होती, प्रत्युत मुक्त महापुरुषोंमें मतभेद पैदा करनेवाली होती है। परंतु प्रेमकी प्राप्ति होनेपर अहम्का सर्वथा नाश हो जाता है, अहम्की सूक्ष्म गन्ध भी नहीं रहती—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥
(मानस उत्तर० ४९।६)

कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंका परिणाम एक ही होता है*। दोनोंके परिणाममें मनुष्य मुक्त हो जाता है अर्थात् जन्म-मरणसे, सम्पूर्ण दुःखोंसे छूट जाता है और स्वाधीन हो जाता है। मुक्त होनेपर संसारकी निवृत्ति तो हो जाती है, पर प्राप्ति कुछ नहीं होती। परंतु भक्तियोगसे संसारकी निवृत्तिके साथ-साथ परमात्माकी तथा उनके प्रेमकी प्राप्ति भी हो जाती है। मुक्तिमें तो जीव स्वयं जीवन्मुक्तिके रसका आस्वादन करनेवाला होता है, पर प्रेम (परा भक्ति)-की प्राप्ति होनेपर वह रसका दाता हो जाता है! भगवान्को भी रस देनेवाला हो जाता है! जैसे कोई मनुष्य गङ्गाजलसे गङ्गाकी पूजा करे तो इसमें गङ्गाकी ही विशेषता हुई, मनुष्यकी नहीं। ऐसे ही भक्त भगवान्के दिये हुए प्रेमसे ही उनको रस देता है तो इसमें भगवान्की ही विशेषता हुई।

प्रेमकी प्राप्ति अपने बल, योग्यता, विद्या, यज्ञ, तप आदि साधनोंसे नहीं होती, प्रत्युत भगवान्को अपना

---

* सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ (गीता ५।४-५)

माननेसे होती है। बल, योग्यता आदिके बदले जो वस्तु मिलेगी, वह बल, योग्यता आदिसे कम मूल्यकी ही होगी। अगर किसी साधनके बदले साध्य मिलेगा तो वह साधनसे तुच्छ ही होगा और ऐसा साध्य मिलकर भी हमें क्या निहाल करेगा? इसलिये भगवान्‌को अपना माने बिना प्रेम-प्राप्तिका दूसरा कोई साधन हो ही नहीं सकता; क्योंकि भगवान् वास्तवमें अपने हैं। अपना वही होता है, जो कभी हमारेसे बिछुड़ता नहीं। एक भगवान् ही ऐसे हैं, जो हमारेसे कभी बिछुड़ते नहीं, सदा हमारे साथ रहते हैं—'**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५। १५)।

भगवान् भक्तके अपनेपन (आत्मीयता)-को देखते हैं, यह नहीं देखते कि यह कैसा है, बद्ध है या मुक्त? जैसे बालक माँको पुकारता है तो वह बालकके बल, योग्यता, विद्या आदिको न देखकर उसके अपनेपनको देखती है और उसको गोदमें ले लेती है। ऐसे ही जब भक्त अपनी स्थितिसे असंतुष्ट होकर भगवान्‌को पुकारता है, तब भगवान् उसको अपना प्रेम प्रदान कर देते हैं।

जब जीव अपनेसे भी अधिक शरीर-संसारको महत्त्व देता है, तब वह बँध जाता है। जब वह शरीर-संसारसे भी अधिक अपनेको महत्त्व देता है, तब वह मुक्त हो जाता है। जब वह अपनेसे भी अधिक भगवान्‌को महत्त्व देता है, तब वह भक्त (प्रेमी) हो जाता है। प्रेमकी प्राप्ति होनेपर भक्त और भगवान् कभी दो हो जाते हैं, कभी एक हो जाते हैं। जब भक्त अपनी तरफ देखता है, तब 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं'—ऐसा अनुभव होनेसे भक्त और भगवान् दो हो जाते हैं। जब भक्त भगवान्‌की तरफ देखता है, तब 'एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है'—ऐसा अनुभव होनेसे भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं। इस प्रकार द्वैत और अद्वैत दोनों होनेसे ही प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है अर्थात् उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है, कभी पूर्णता नहीं आती।

* * *

प्रेमपन्थ

(पं० श्रीजानकीरामाचार्यजी)

मत मरम किसीसे कहना, जो आय पड़े सो सहना।
पर प्रेम-पन्थ मत तजना, प्रभु प्रेमरूप साकार हैं॥ १॥
प्रेम के कारण धरे विविध तन, सहे कष्ट प्रभु ने आकर।
विप्र-धेनु-सुर-संत-धर्म की, रक्षा की प्रभु ने आकर॥
मत मन में जरा हिचकना, विश्वास हृदय में धरना।
पर प्रेम-पन्थ मत तजना, प्रभु प्रेमरूप-साकार हैं॥ २॥
प्रेम के कारण शबरी के फल, खाये प्रभु ने बहुत बखान।
दुर्योधन-गृह त्याग सुमेवा, विदुर का केला छिलका पान॥
मत इसको कभी बिसरना, यह महिमा सदा सुमरना।
पर प्रेम-पन्थ मत तजना, प्रभु प्रेमरूप-साकार हैं॥ ३॥
प्रेम के कारण सखा विभीषण, अर्जुन औ सुग्रीव बने।
रावण-दुर्योधन-वाली को, प्रभु ने इनके हेतु हने॥
मत कभी किसीसे डरना, प्रभु-बलपर निर्भर रहना।
पर प्रेम-पन्थ मत तजना, प्रभु प्रेमरूप-साकार हैं॥ ४॥
प्रेम के कारण नामदेव-का, छप्पर प्रभु ने आ छाया।
नरसी मेहता की कन्या का, शुभ विवाह भी करवाया॥
मत यह सब झूठ समझना, 'श्रीरमण' प्रेमवश करना।
पर प्रेम-पन्थ मत तजना, प्रभु प्रेमरूप-साकार हैं॥ ५॥

* * *

भगवत्प्रेम अर्थात् भक्ति

(महामहिम आचार्य श्रीविष्णुकान्तजी शास्त्री, राज्यपाल उत्तरप्रदेश)

भक्ति अर्थात् भगवान्के प्रति परा अनुरक्ति। भगवत्प्रेमकी भावना अत्यन्त प्राचीन कालसे मानव-मनको आप्लावित करती रही है। जिस दिन मानव-मनने इस संसारकी नियामक शक्ति या शक्तियोंसे भय करनेके स्थानपर प्रेम करना सीखा, उसी दिन उसमें भक्ति-भावका बीजारोपण हुआ जो निरन्तर फलता-फूलता गया। क्रमशः उसने अनुभव किया कि अलग-अलग प्रतीत होनेवाली प्राकृतिक शक्तियाँ वस्तुतः एक ही महाशक्ति या महासत्ताके विविध रूप हैं। वैदिक ऋषिने उदार घोषणा की—'**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।**' सत्ता तो एक ही है, किंतु विद्वान् उसकी भिन्न-भिन्न क्षमंताओंके कारण उसे अग्नि, इन्द्र, यम, मातरिश्वा आदि अनेकानेक नामोंसे पुकारते हैं। एक ओर वैदिक ऋषियोंने उस सत्ताको ईश, कवि, परिभू, स्वयम्भू आदि कहकर उसके महत्त्वके प्रति श्रद्धा व्यक्त की। दूसरी ओर उसे माता, पिता, सखा पुकारकर उससे अपना प्रेममय सम्बन्ध भी जोड़ा। भक्तिके मूलमें श्रद्धा और प्रेमका युगपत् अस्तित्व ही है। उस परमतत्त्वको सत्, चित्, आनन्दस्वरूप मानकर कर्मको सत्से, ज्ञानको चित्से और भक्तिको आनन्दसे जोड़ना भी सहज ही सम्भव हुआ।

कालान्तरमें भक्ति-साधकोंने अपनी-अपनी रुचि और प्रीतिके अनुरूप अपने-अपने इष्टदेव चुने। इष्टदेवोंकी बहुलताकी ओटमें जो सत्य प्रायः अनदेखा रह जाता है, वह यह है कि नाम, रूप, लीला, धामकी विविधताके बावजूद सभी इष्टदेवोंमें तात्त्विक एकता अन्तर्निहित है। सभी सच्चिदानन्दस्वरूप और सृष्टि, स्थिति एवं संहारके हेतु माने जाते हैं। इसी सचाईके कारण कहा जाता है कि सभी देवताओंके प्रति नमस्कार केशवरूप परमात्मातक पहुँचता है। अतः भारतीय भक्ति-साधना सभी देवी-देवताओंके प्रति समादर रखते हुए अपने इष्टदेवके प्रति अनन्यताका भाव पोषित करती है, संघर्षका नहीं अपितु समन्वयका पथ प्रशस्त करती है।

भक्ति शब्दके अर्थ भजन, भाग और भंजन—ये तीनों होते हैं। प्रस्तुत संदर्भमें पहला अर्थ ही मुख्य है, किंतु आचार्योंने अन्य दोनों अर्थोंकी उससे संगति बैठाते हुए कहा कि संसारके राग-द्वेष, माया-मोहको भंगकर अपनेको प्रभुके भागका मानकर भक्त भगवान्का प्रेमपूर्वक भजन अर्थात् रसास्वादन करता रहता है। भक्तिको ईश्वरके प्रति परा अनुरक्ति कहनेका अर्थ है—पहले गुरु, संतों या शास्त्रोंके द्वारा अपनी क्षमताके अनुरूप प्रभुका बोध होनेके उपरान्त उनके प्रति प्रेम उत्पन्न होना। प्रेम परिचयसे पनपता है, अपरिचयसे नहीं। इसीलिये माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ स्नेहको भक्ति कहा जाता है। प्रेम तो प्रभुके प्रति भी हो सकता है और जगत्के किसी व्यक्ति, पदार्थ या क्षेत्रके प्रति भी। अतः (लौकिक) प्रेम भी भक्तिका बाह्य रूप ही ठहरा, किंतु उसका वास्तविक स्वरूप अमृतत्व है। जो प्रेम अमृत—शाश्वतके प्रति होता है और अमृतत्व प्रदान करता है, उसे ही भक्ति कहा जा सकता है। नश्वरके प्रति प्रेमको भक्ति नहीं माना जा सकता। इस अन्तरको दर्शानेके लिये ही भगवत्प्रेमको 'प्रेमा' पुकारा गया है और उसे ही परम पुरुषार्थ घोषित किया गया है—'**प्रेमा पुमर्थो महान्।**' भगवान्के प्रति सच्चा प्रेम अहैतुक होना चाहिये, उसका लक्ष्य प्रगाढ़तम भगवत्प्रेम ही हो सकता है, धर्म, अर्थ, कामकी तो बात ही नहीं उठती, मोक्षतक उसके समक्ष तुच्छ है। इसीलिये तुलसीदासजीने कहा है—'*साधन सिद्धि राम पग नेहू।*'

इससे भक्तिके दो रूप उभरते हैं—साधन भक्ति और साध्य भक्ति। भक्तिकी करण व्युत्पत्तिसे साधन भक्तिका अर्थ संकेतित होता है—'**भज्यते, सेव्यते भगवदाकारमन्तःकरणं क्रियतेऽनया**' अर्थात् जिसके द्वारा भजा जाता है, सेवा की जाती है, अन्तःकरणको भगवदाकार बनाया जाता है, वह साधन भक्ति है। इसीको गौणी भक्ति, वैधी भक्ति, नवधा भक्ति आदि भी कहते हैं। भक्तिकी भाव-व्युत्पत्तिसे फलरूपा भक्तिका अर्थ प्राप्त होता है। '**भजनमन्तःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति**' अर्थात् भजन—अन्तःकरणकी भगवदाकारतारूपी भक्ति ही साध्य या फलरूपा भक्ति है। इसीको परा भक्ति, सिद्धा भक्ति, रागात्मिका भक्ति आदि भी कहते हैं। साधनकालमें भक्ति मनकी एक वृत्तिमात्र है जो सदा नहीं रहती, अन्य वृत्तियोंके प्रबल होनेसे दब जाती है, किंतु साध्यरूपमें भक्ति पूरे अन्तःकरणका रूपान्तरण ही कर देती है, भक्तको भगवदीय बल्कि भगवान्से अभिन्न ही बना देती है, तभी—'*भक्ति, भक्त, भगवन्त, गुरु चतुर नाम बपु एक*' की प्रतिज्ञा सिद्ध हो सकती है। परा भक्ति

जीवकी मनोवृत्तिमात्र न होकर भगवान्‌की अन्तरङ्गाह्लादिनी शक्तिका प्रतिफलन है, जो जीवको भगवान्‌से एक कर देती है। इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि अनन्य भक्तिसे ही मुझे तत्त्वतः जान और देखकर मुझमें प्रवेश किया जा सकता है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(१८।५५)

भक्तिकी महिमा इससे भी समझी जा सकती है कि यह न केवल कर्ता-निरपेक्ष है, बल्कि क्रिया-निरपेक्ष भी है। भक्तिको इससे कुछ फ़र्क नहीं पड़ता कि उसे करनेवाला ब्राह्मण है या चाण्डाल, हिन्दू है अथवा मुसलमान या ईसाई, भारतीय है कि रूसी, जापानी, अमेरिकी। इसी तरह वह किसी क्रियाविशेषसे भी बँधी हुई नहीं है। जीवमात्र भक्ति कर सकते हैं, प्रत्येक क्रिया भक्तिका अङ्ग बन सकती है। भक्ति केवल उद्देश्य-सापेक्ष है अर्थात् भक्तिका लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति ही होना चाहिये। प्रभुसे जुड़नेका आग्रह रखनेवाला प्रत्येक व्यक्ति भक्त हो सकता है। ऐसी प्रत्येक क्रिया भक्तिका अङ्ग हो सकती है, जो प्रभुके लिये की जाय, प्रभुको समर्पित हो।

भक्तिका फल भक्तोंकी दृष्टिमें भक्ति ही है, यदि उसका कोई और फल हो भी तो भी भक्त उसे नहीं चाहते—'*तुलसी राम सनेह को जो फल सो जरि जाउ।*' किंतु इसी निष्कामताका जादू है कि भगवान् भक्तके अधीन हो जाते हैं। '**भगवान् भक्तभक्तिमान्**' और '**भक्तेः फलमीश्वरवशीकारः**' जैसी दिव्य घोषणाएँ इसी सत्यका निरूपण करती हैं। इस महामहीयसी भक्तिको समझनेकी विनम्र चेष्टा ही हम कर सकते हैं, उसे पाना तो किसीके भी अपने बलबूतेके बाहरकी बात है। वह क्रियासाध्य नहीं है, कृपासाध्य है। प्रभु या उनके भक्त ही कृपा करके हमें भक्ति प्रदान कर सकते हैं।

* * *

भगवत्प्रेम और मोक्षसाधना

(स्वामी श्रीविज्ञानानन्दसरस्वतीजी महाराज)

इस निखिल विश्वब्रह्माण्डके पीछे एक महान् शाश्वत तत्त्व विद्यमान है, जो सर्वथा निर्विशेष तत्त्व है। वह निर्विशेष तत्त्व ब्रह्म ही सविशेष बनकर अर्थात् मायाविशिष्ट होकर ईश्वरसंज्ञक बन जाता है, जो सृष्टि, स्थिति और लयका कारण बनता है। श्रुतिमें कहा है—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।'

(तै०उप० भृगुवल्ली प्रथम अनुवाक)

जिससे ये सम्पूर्ण भूत (प्राणी-समूह) उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीते हैं और अन्तमें जिसमें विलीन हो जाते हैं—लयभावको प्राप्त हो जाते हैं; उसे जानो, वही ब्रह्म है। अन्यत्र भी कहा है—'**जन्माद्यस्य यतः**' (ब्रह्मसूत्र १।१।२)। अर्थात् इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय जिससे होते हैं, वही ब्रह्म है।

श्रुति केवल ब्रह्मतत्त्वका प्रतिपादनमात्र ही नहीं करती, प्रत्युत उस ब्रह्मतत्त्वकी प्राप्तिका उपाय अर्थात् साधन भी बतलाती है। इसीलिये वेद, दर्शन, उपनिषद्, पुराण तथा स्मृति आदि समस्त आर्ष-वाङ्मयमें ब्रह्मतत्त्व-प्रतिपादनके साथ-साथ ब्रह्मप्राप्तिके उपायभूत मोक्षसाधनाओंका भी दिग्दर्शन किया गया मिलता है। कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, उपासनायोग, राजयोग तथा मन्त्रयोग आदि इसी तथ्यके पूरक साधन हैं; परंतु यह भी सत्य है कि जिन परमेश्वरकी प्राप्ति हम चाहते हैं, उनके प्रति हमारी श्रद्धा, प्रेम तथा भक्ति भी अवश्य ही होनी चाहिये अन्यथा हमारी साधना कैसे सफल होगी अर्थात् नहीं हो सकती है, यह ध्रुव सत्य है। अतः प्रेमस्वरूप भगवान्‌के प्रति हमारा प्रेमभाव तथा भक्तिभाव अवश्य होना चाहिये और तभी साधनामें सफलता मिलनेकी सम्भावना है, अन्यथा नहीं।

परंतु इस संदर्भमें हम केवल प्रणव—ओंकारकी साधनापर ही किञ्चित् चर्चा करेंगे। श्रुतिमें प्रणव-ओंकारकी खूब महिमा गायी गयी है। जैसे कहा है—'**ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं ··· सर्वमोङ्कार एव**' (माण्डूक्य० १)। ओम् यह अक्षर ब्रह्म ही सब कुछ है। ऐसा कहा गया है। '**तस्य वाचकः प्रणवः**' (योग० १।२७)। उस परमेश्वरका वाचक या बोधक नाम प्रणव है, ओंकार है। नाम और नामीमें अभेद होता है। इसलिये शास्त्रमें कहा गया है कि '**ओमिति ब्रह्म**' ओंकार ही वह ब्रह्म है। '**ओङ्कार एवेदं सर्वम्**' (छान्दोग्य २।२३।३)। 'यह सब ओंकाररूप है

है।' यह श्रुति सम्पूर्ण जगत्‌को ओंकारस्वरूप ही बतला रही है। उक्त प्रमाणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि परमेश्वरका मुख्य नाम प्रणव—ओंकार ही है।

(१) प्रणवजप-साधना—अब यहाँपर उपनिषद् कथित प्रणवजप-साधनाका वर्णन किया जा रहा है। जैसे कि श्रुतिमें कहा है—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥

(श्वेता० १।१४)

ओंकारके उपासकको चाहिये कि अपने शरीरको तो नीचेकी अरणि और प्रणवको उत्तरारणि अर्थात् ऊपरकी अरणि समझे। फिर ध्यानरूप मथानीसे दीर्घकालतक मन्थन अर्थात् जप और ध्यान करते रहनेसे काष्ठमें छिपी हुई अग्नि प्रज्वलित हो उठनेके समान साधकके अन्तर्हृदयमें छिपे हुए चैतन्य ज्योति:स्वरूप परमेश्वरका वास्तविक स्वरूप भासमानके रूपमें दृष्टिगोचर होने लगता है अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है। इससे साधक परमपद मोक्षको प्राप्त कर लेता है।

अभिप्राय यह है कि औपनिषदिक ऋषिने इस मन्त्रमें प्रणव-उपासनाको एक उपमालङ्कारके द्वारा समझानेका प्रयास किया है। जैसे बड़े-बड़े कर्मकाण्डी याज्ञिकलोग अग्निहोत्रादिक कर्म करनेवाले होते हैं, वे यज्ञकार्य-सम्पादनके लिये दो अरणि लेते हैं, जो विशेषरूपसे निर्मित दो काष्ठखण्ड होते हैं। उनमेंसे एकको नीचे और दूसरेको उसके ऊपर रखते हैं। फिर मन्थनदण्डपर रस्सी लपेटकर दधि-मन्थनके समान काष्ठखण्डका मन्थन करते हैं। मन्थन करते हुए जब उसमें उष्णता बढ़ जाती है, तब अग्नि प्रज्वलित हो जाती है और उस अग्निसे यज्ञादिक कार्य सम्पन्न करते हैं।

ठीक इसी प्रकारसे अपने शरीरको नीचेकी अरणि और प्रणव—ओंकारको उत्तरारणि समझकर ध्यानरूप मन्थन करे अर्थात् ध्यानाभ्यास ही मन्थन-कार्य है। अत: उस प्रणव-मन्त्रका मानसिक जप और ध्यानका अभ्यास दीर्घकालतक करते रहनेसे समय आनेपर जिस प्रकार काष्ठोंके रगड़से काष्ठमें छिपी हुई अग्नि प्रज्वलित हो जाती है; उसी प्रकार शरीरके भीतर छिपी हुई ईश्वरीय सत्ता—चैतन्य ज्योति चन्द्रभास्करवत् भासमान होकर प्रत्यक्षगोचर होने लगती है और जिस साधकको वह अवस्था प्राप्त हो जाती है, उसका जीवन धन्य बन जाता है। अत: मुमुक्षु साधकको चाहिये कि प्रणव—ओंकारका जप और जगन्नियन्ता परमेश्वरके दिव्य ज्योतिष्मान् स्वरूपका ध्यान करता रहे। इससे शीघ्र ही ईश्वरदर्शन तथा मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इसलिये शास्त्रमें कहा भी है—

यस्तु द्वादशसाहस्रं नित्यं प्रणवमभ्यसेत्।
तस्य द्वादशभिर्मासैः परब्रह्मप्रकाशते॥

(यतिधर्म-प्रकाश)

जो साधक एक वर्षतक नित्यप्रति बारह हजारकी संख्यामें प्रणव—ओंकार-मन्त्रका जप और ईश्वर-स्वरूपका ध्यान करता है उसे एक वर्षमें ही ब्रह्मदर्शन-लाभ हो जाता है। परंतु यह लाभ उत्तम अधिकारीके लिये है। मध्यम तथा कनिष्ठ अधिकारीके लिये विलम्बसे भी हो सकता है।

(२) ब्रह्मत्वलाभकी साधना—यह प्रसंग काठक श्रुतिका है। काठक श्रुतिमें धर्मराज (यम)-ने ऋषिकुमार नचिकेताको ब्रह्मानुभूति प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मविद्याका उपदेश करते हुए एक सुन्दर रहस्यपूर्ण मोक्ष-मार्गका दिग्दर्शन कराया है, जो वस्तुत: सभीके लिये अनुकरणीय है। ध्यान-साधनाके द्वारा किस प्रकार उस मोक्षमार्गकी साधनामें सफलता प्राप्त की जा सकती है, उसके एक विशेष क्रमबद्ध उपायभूत साधनको प्रस्तुत किया है। आगे इसी विषयपर किञ्चित् चर्चा की जाती है। कठोपनिषद्‌में कहा है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

(१।३।१०-११)

इन्द्रियाँ दस हैं। दसों इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है, उत्कृष्ट है। मनसे भी बुद्धि पर है, श्रेष्ठ है। बुद्धिसे भी महत्तत्त्व श्रेष्ठ है अर्थात् उत्कृष्ट है। महत्तत्त्वसे भी अव्यक्त मूल प्रकृति या माया पर है, श्रेष्ठ है। अव्यक्त प्रकृति या मायासे भी पुरुष (ब्रह्म) पर है। पुरुषसे पर और कुछ नहीं है। वही सूक्ष्मत्वकी पराकाष्ठा है, हद है। परा याने उत्कृष्ट गति भी यही है।

उक्त मन्त्रमें इन्द्रिय तथा मन आदिको एकको अपेक्षा सूक्ष्म और पर बताया गया है। परका अभिप्राय सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर है और श्रेष्ठ है। कारण यह है कि प्रतिलोमक्रमसे साधनाके द्वारा इन्हीं तत्त्वोंको क्रमश: लाँघते हुए अन्तमें उस ब्रह्मतत्त्वतक पहुँचना होता है। परंतु जिस ब्रह्मतक हमें पहुँचना है, वह ब्रह्म तो अव्यक्त और निराकार बताया गया

है। ऐसी स्थितिमें उसका दर्शन या साक्षात्कार कैसे सम्भव हो सकता है? इस विषयमें श्रुति कहती है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

(कठोपनिषद् १।३।१२)

सम्पूर्ण भूतोंमें छिपा हुआ यह ब्रह्मतत्त्व प्रकाशमान नहीं होता। यह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषोंद्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्म बुद्धिसे ही देखा जाता है। गीता (७।२५)-में इसी बातको इस रूपमें कहा गया है—'**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।**' अर्थात् योगमायासे आवृत हुआ मैं सबके प्रति प्रकाशित नहीं होता।

इसलिये यमराजने नचिकेताके समक्ष कई स्तरोंसे युक्त एक सुन्दर और सुगम मोक्षमार्गको दर्शाया है, जो मुमुक्षुमात्रके लिये अनुकरणीय है। वे स्तर इस प्रकार हैं—इन्द्रियमण्डल, मनस्तत्त्व, बुद्धितत्त्व, महत्तत्त्व और अव्यक्त प्रकृति या मायाका स्तर—ये पाँच स्तर हैं, परंतु साधनकालमें पाँच नहीं अपितु सात स्तर बन जाते हैं। यथा—(१) दस इन्द्रियमण्डल, (२) मनस्तत्त्वमण्डल, (३) बुद्धिमण्डल, (४) अहंमण्डल, (५) चित्तमण्डल, (६) महत्तत्त्वमण्डल और (७) अव्यक्त प्रकृति या मायाका स्तर। इन तत्त्वोंका प्रतिलोमक्रमसे या लयक्रमसे क्रमशः उपसंहार करते हुए चेतनाके स्तरतक पहुँचना होता है; क्योंकि अन्तिम लक्ष्य या ध्येय यही है। अब उपर्युक्त तत्त्वोंका किस क्रमसे उपसंहार या लय करना चाहिये, उसके क्रम-साधनको आगे बतलाते हैं। यथा—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

(कठोपनिषद् १।३।१३)

इस मन्त्रका भाव नितान्त गूढ़तम है। फिर भी इस रहस्यको सरल भाषामें व्यक्त करनेका प्रयास किया जा रहा है। प्रथम इस लय-साधनाका या ध्यान-साधनाका अभ्यास करनेके लिये बाह्याभ्यन्तर शुद्ध—पवित्र होकर शान्त एवं एकान्त स्थानमें बैठे। ध्यानमें बैठकर सर्वप्रथम अपनी बहिर्मुखी दसों इन्द्रियोंका संयमपूर्वक आन्तरिक भावनाके द्वारा मनमें लय अर्थात् उपसंहार करे। इन्द्रियोंका इस प्रकारसे उपसंहार करे कि ये ध्यानाभ्यासकालतक पुनः बहिर्मुखी न होने पायें। इन्द्रियोंको मनमें लय कर देनेके पश्चात् फिर मनमण्डलको भी बुद्धिमण्डलमें लय कर दे अर्थात् उपसंहार करे। उसके बाद बुद्धिमण्डलको भी अहंमण्डलमें लय कर दे अर्थात् उपसंहार कर दे। उस कालमें अहंके अतिरिक्त अन्य किसीका भी कार्य-व्यापार आदि न होने पाये। उसके अनन्तर अहंमण्डलको भी चित्तमण्डलमें लय कर दे*। फिर उस चित्तमण्डलको भी समष्टि महत्तत्त्वमण्डलमें लय कर दे। उस समय केवल समष्टि महत्तत्त्वका ही अनुभव करे, व्यष्टि-चित्तका नहीं। उसके बाद महत्तत्त्वको भी उस अव्यक्त प्रकृति या मायामें लयभावको प्राप्त करा दे अर्थात् उपसंहार करे। उसके अनन्तर अव्यक्त प्रकृति अर्थात् मायाको भी उस स्वयं प्रकाश ब्रह्ममें विलीन करके या लय करके उपसंहार करे और ब्रह्माकारवृत्तिमें स्थित हो जानेका प्रयास करे। श्रुतिमें कहा भी है—'**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**' (मुण्डक० ३।२।९)। ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है! अतः पूर्णरूपेण ब्रह्मत्वभावका अनुभव करे। यही इस साधनाका अन्तिम लक्ष्य या ध्येय है। क्योंकि अन्य श्रुतिमें स्पष्ट कहा है—'**पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥**' (कठ० १।३।११) अर्थात् पुरुष (ब्रह्म)-से परे और कुछ नहीं है। वही सूक्ष्मत्वकी पराकाष्ठा है। वही परा-सर्वोत्कृष्ट गति है। गीता (१५।६)-में भी कहा है कि '**यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥**' जिस परम पदको प्राप्त करके मनुष्य फिर इस संसारमें पुनः लौटकर नहीं आते, वही मेरा (परमात्माका) परम धाम है अर्थात् मोक्षपद है।

परंतु पूर्वोक्त यह मोक्ष-साधन एक बार अभ्यास करनेमात्रसे कुछ नहीं बनेगा, प्रत्युत पुनः-पुनः दीर्घकालतक इसका अभ्यास करना नितान्त आवश्यक होगा। दीर्घकालके अभ्याससे साधना दृढ़भूत बन जानेपर साधक स्वयं ही अनुभव करेंगे कि—

एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं
दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳ सर्वमिति॥

(छान्दोग्योपनिषद् ७।२५।१)

मैं ही नीचे, ऊपर, आगे, पीछे, दायीं और बायीं ओर हूँ तथा मैं ही यह सब हूँ। यह इस साधनाकी परिपूर्णता है।

---

* उक्त चित्तमण्डलको भी शान्तात्मामें लय अथवा उपसंहार करके प्रत्यगात्मस्वरूपका अनुभव करे। यह व्यष्टि लय-साधना होगी। पर इस प्रकार आत्मानुभूतिसे भी कैवल्य मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

दास्य-प्रेम

(आचार्य श्रीकृपाशंकरजी महाराज, रामायणी)

'विष्णोर्दास्यम्'—'दासस्य भावः दास्यम्।' मैं श्रीहरिका दास हूँ—इस प्रकारकी सुदृढ़ भावना और उसके अनुकूल आचरण करनेका नाम दास्य-भक्ति है। जो भी कर्म किया है, उसको श्रीहरिके श्रीचरणोंमें समर्पित कर देनेका ही नाम दास्य-भक्ति है—**'स्वस्मिन् तद् दासत्वभावनया तदनुकूलाचरणं कृतस्य कर्मणस्तस्मिन्नर्पणं च दास्यम्।'** श्रीभगवान्के साथ जुड़ना ही महान् सौभाग्य है। दास्यभावसे सम्बन्धित होना तो परम दुर्लभ है—**'हरेर्दास्यं सुदुर्लभम्।'** 'मैं श्रीविष्णु-भगवान्का दास हूँ'—इस प्रकारका मन्तव्य अर्थात् भाव रखते हुए भक्तिके अनुष्ठान करनेका नाम 'दास्य-भक्ति' है। सहस्रों जन्मोंकी साधनाके परिणामस्वरूप 'श्रीवासुदेवका दास हूँ'—इस प्रकारकी भावना समुत्थ होती है। ऐसा भगवान्का दास सम्पूर्ण लोकोंका भलीभाँति उद्धार कर देता है। श्रीनारदजी अपने भक्तिसूत्र (५०)-में कहते हैं—**'स तरति स तरति स लोकांस्तारयति॥'** अर्थात् भगवान्का दास स्वयं तो मायासे पार हो जाता है, दूसरोंको भी मायासे पार कर देता है।

इस प्रकार दास्य-भक्तिके लक्षण कहे गये हैं। भजन-साधन करनेकी बात तो दूर रही 'मैं श्रीहरिका दास हूँ'—केवल इस अभिमानसे ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है अर्थात् प्रेमभक्ति प्राप्त हो जाती है। इस अभिप्रायसे ही नवधा भक्तिके वर्णनमें श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन तथा वन्दन—इन छः अङ्गोंके उल्लेखके पश्चात् दास्य-भक्तिका निर्देश किया गया है। आगे वर्णित **'जन्मान्तर०'** श्लोकके अन्तमें यह कहा गया है कि दास्य-अभिमानसे मानव समस्त जीवोंका उद्धार करनेमें समर्थ हो जाता है और जो स्वयं भगवद्गतप्राण हैं, संयतेन्द्रिय हैं, दास्य-भक्ति उनका उद्धार कर देती है। इस विषयमें तो कहना ही क्या है? अर्थात् उनका उद्धार तो सुनिश्चित ही है।

श्रीप्रह्लादजीके द्वारा की गयी स्तुतिके **'तत् तेऽर्हत्तम'** इस पद्यमें तो नमस्कार, स्तुति, सर्वकर्मार्पण, परिचर्या-सेवापूजा, चरणकमलोंका चिन्तन और लीलाकथाका श्रवणरूप दास्य ही सदा कर्तव्य कहा गया है अर्थात् 'मैं दास हूँ' इस अभिमानमें ही समस्त अङ्गोंका अनुष्ठान करनेमें कृतकृत्यताका अनुभव होता है—**अथ दास्यम्। तच्च श्रीविष्णोर्दासं मन्यत्वम्।**

जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्यान्मतिरीदृशी।
दासोऽहं वासुदेवस्य सर्वाल्लँोकान् समुद्धरेत्॥

इत्युक्तं लक्षणम्। अस्तु, तावद् भजनप्रयासः केवलं तादृशत्वाभिमानेनापि सिद्धिर्भवतीति अभिप्रेत्यैवोत्तरत्रनिर्देशश्च तस्य। यथोक्तं जन्मान्तरेत्येतत्पद्यस्यैवान्ते, किम्पुनस्तद्गतप्राणाः पुरुषाः संयतेन्द्रिया इति। श्रीप्रह्लादस्तुतौ 'तत् तेऽर्हत्तम' इत्यादि पद्ये तु नमःस्तुतिसर्वकर्मार्पणपरिचर्याचरणस्मृति-कथाश्रवणात्मकं दास्यं टीकायां सम्मतम्। (जीवगोस्वामी)

तत् तेऽर्हत्तम नमःस्तुतिकर्मपूजाः
कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम्।
संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं
भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत॥
(श्रीमद्भा० ७।९।५०)

जीवमात्रका लक्ष्य श्रीठाकुरजीकी सेवा ही है। श्रीभगवान्के निज भक्तलोग श्रीहरिके दास्यभावकी ही अभिलाषा करते हैं। दासभक्त वृत्रासुर समराङ्गणमें युद्ध करते-करते अपने शत्रु देवराज श्रीइन्द्रसे ही अपने आराध्यकी सत्कृपाकी चर्चा करने लगे। हे इन्द्र! मेरे स्वामीकी मुझपर महती अनुकम्पा है। यदि इन्द्र यह कहें कि कृपा तो मुझपर है, यह प्रत्यक्ष है तो इसके उत्तरमें वृत्रासुर कहते हैं—हे देवेन्द्र! मेरे स्वामीकी अहैतुकी कृपाका अनुभव—भगवत्प्रसादका अनुभव सामान्य जन नहीं कर सकते, उसका अनुभव तो उनके अकिञ्चन भक्त ही कर सकते हैं। अकिञ्चनेतर लोगोंके लिये वह दुर्लभ है—

ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो
यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः॥
(श्रीमद्भा० ६।११।२३)

निष्ठाका वास्तविक परिचय तो विपत्तिकालमें किंवा विपरीत परिस्थितिमें ही मिलता है। इस परिस्थितिमें वृत्रासुरके इन वचनोंको श्रवण करके करुणामय श्रीहरि

इन्द्रजीके वज्रमें ही दर्शन देकर वृत्रको कृतार्थ करते हुए मानो कह रहे हैं—हे वृत्र! तुम्हारी जो भी अभिलाषा हो माँग लो। वृत्रासुर गद्‌गद हो गये। उन्होंने प्रसन्न होकर प्रार्थनापूर्वक याचना की—हे हरे! आपके मङ्गलमय श्रीचरणारविन्द जिनके एकमात्र आश्रय हैं, जो अनन्यभावसे आपके श्रीचरणसरसिजोंका ही एकमात्र सेवन करते हैं, आपके उन दासोंका अनुदासत्व ही मैं पुनः प्राप्त करूँ। यदि प्रभु प्रश्न करें कि समस्त दुःखोंका अत्यन्ताभाव ही जीवमात्रका लक्ष्य है, वह मोक्षके बिना सम्भव नहीं है, तब तुम दास्यभाव किंवा दासानुदासत्वकी क्यों याचना करते हो? तो इसके उत्तरमें वह **'हरे'** सम्बोधन करते हैं। भाव यह है कि दास्यभावकी उपासना करनेसे आप स्वयं ही अपने दासोंके त्रिविध एवं विविध दुःखोंका अपनोदन करते हैं।

फिर दूसरा प्रश्न है कि दास्यभावके स्थानपर तुम दासानुदास क्यों बनना चाहते हो? इसका उत्तर यह है—साक्षात् प्रभुके दास्यभावमें 'मैं सर्वोत्तम दास हूँ' इस प्रकारके अभिमान होनेकी सम्भावना हो सकती है और इस अभिमानसे अन्य भक्तोंके तिरस्कारकी—अपमानकी भी सम्भावना सम्भव है। इसके परिणामस्वरूप दासत्व भी समाप्त हो सकता है। इसका अनुभव मैंने पूर्वजन्ममें चित्रकेतुके रूपमें किया है, एतावता दैन्यसिद्धिके लिये दास-दासत्वकी याचना ही उचित है। निर्दिष्ट श्लोकमें आये हुए **'भूयः'** पदका भाव यह है कि पूर्वजन्ममें भी चित्रकेतुके रूपमें आपका ही दास था, अतः भविष्यमें भी दासत्व ही प्रदान करें। किंवा पूर्वजन्ममें चित्रकेतुके रूपमें भी मैं दासानुदास ही था। परम वैष्णव भगवान् गौरीनाथ चित्रकेतुकी श्लाघा करते हुए श्रीपार्वतीजीसे कहते हैं—हे गिरिजे! अद्भुतकर्मा श्रीहरिके निःस्पृह और महान् हृदयवाले दासानुदासोंकी महती महिमाका तुमने दर्शन किया, अनुभव किया?

दृष्टवत्यसि सुश्रोणि हरेरद्भुतकर्मणः।
माहात्म्यं भृत्यभृत्यानां निःस्पृहाणां महात्मनाम्॥

(श्रीमद्भा० ६। १७। २७)

वृत्रासुर कहते हैं—हे प्रभो! भविष्यमें भी हमें 'दासानुदासत्व' ही प्रदान करें।

इस प्रकार दासानुदासत्वकी प्रार्थना करके दास्यधर्मकी याचना करते हैं—हे स्वामिन्! मेरा मन अपने प्राणनाथका—आपका सदा चिन्तन करे। मेरी वाणी आपके गुणोंका सङ्कीर्तन करे। मेरा शरीर आपकी सेवा करे। सेवा उसे कहते हैं—जिस प्रकार स्वामीको सुख मिले, वह कर्म करे, अणुमात्र भी स्वार्थपरत्व न हो अर्थात् अपने सुखकी कामना न हो—

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥

(श्रीमद्भा० ६। ११। २४)

श्रीहरिका दास्य-कैङ्कर्य किस प्रकार करना चाहिये? इसके लिये आदर्शरूपमें राजर्षि श्रीअम्बरीषका चरित्र एवं उनकी कैङ्कर्यनिष्ठासे शिक्षा लेनी चाहिये। दास्यभावकी निष्ठाकी सुपरिपक्वताके लिये उनकी कैङ्कर्यनिष्ठाका ज्ञान आवश्यक है।

उन्होंने सबसे पहले अपने मनको श्रीकृष्णके मधुमय श्रीचरणारविन्दोंके मकरन्दरसका समास्वादन करनेवाला मधुप बनाया। भक्तको सर्वप्रथम अपने मनको ही नियन्त्रित करना चाहिये। मन यदि श्रीठाकुरजीके श्रीचरणारविन्दका दास बन गया तो और समस्त इन्द्रियाँ स्वयमेव दास्यभावसे प्रतिष्ठित हो जायँगी। श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि राजर्षि अम्बरीषका मन भगवच्चिन्तनपरायण बन गया। उन्होंने अपनी वाणीको भगवद्‌गुण-वर्णनप्रवण कर दिया। अपने हाथोंको श्रीहरिके मन्दिरके मार्जन आदि व्यापारमें लगा दिया। 'आदि' शब्दका भाव है—पूजाके पात्रोंकी सेवा उनको धोने आदिकी सेवा भी स्वयं अपने हाथोंसे करते हैं। अपने श्रोत्रोंको श्रीभगवान् अच्युतकी—संसारदुःखनिवर्तिका कथामें लगा दिया अर्थात् कानोंसे सर्वकाल मनोहर भगवच्चरित्रोंको श्रवण करते थे। अपने नेत्रोंसे मुक्तिदाता भगवान् श्रीमुकुन्दके मन्दिर और अर्चाविग्रहके दर्शन करते थे। अपने उत्तमाङ्ग—मस्तकसे भगवद्भक्तोंके पावन चरणोंका अभिवादन करते थे। किसी संसारी व्यक्तिके परिष्वङ्गके लिये शरीरका उपयोग नहीं करते थे, अपितु सेवा करनेके लिये भगवद्भक्तोंके पावन गात्रका स्पर्श करते थे। नासिकासे भगवच्चरणारविन्दसंलग्न दिव्यातिदिव्य तुलसीजीका आघ्राण करते थे। अपनी रसनासे भगवान्‌को समर्पित नैवेद्य-प्रसाद

ग्रहण करते थे—रसतृष्णासे किसी पदार्थका सेवन नहीं करते थे।

भगवान् श्रीहरिके क्षेत्र—श्रीअयोध्या, वृन्दावन आदिमें अपने चरणोंसे बार-बार जाते थे। अपने मस्तकसे इन्द्रियोंके नियन्ता भगवान् श्रीहृषीकेशके पावन श्रीचरणोंकी वन्दना करते थे। राजर्षि अम्बरीषने माला, चन्दन आदि भोगसामग्रीको श्रीभगवान्की सेवामें समर्पित कर दिया था। भोगनेकी कामनासे नहीं, अपितु इसलिये कि इससे वह भगवत्प्रेम हमें मिल जाय, जो प्रेम उत्तमश्लोक श्रीहरिके भक्तोंमें ही निवास करता है। आशय यह है कि विषयकी कामनासे पुष्पमाला धारण नहीं किया, अष्टगन्धमिश्रित चन्दनका अनुसेवन नहीं किया। इससे यह निश्चित हुआ कि वे भगवान् श्रीवासुदेवमें परम भावको प्राप्त हो गये थे। उनके समस्त अनुष्ठान श्रीहरिके लिये थे। इस प्रकार श्रीहरिके दास्यभाव—कैङ्कर्यके वे मूर्तिमान् स्वरूप थे—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥

(श्रीमद्भा० ९।४।१८—२०)

श्रीहरिके दास होनेके कारण राजर्षि अम्बरीषके गुण महान् थे। स्मरण रहे, संसारके दासत्वसे दोषका संग्रह होता है और श्रीहरिके दासत्वसे जीवनमें अनन्त गुणोंका समावेश हो जाता है। इसलिये जीवमात्रको श्रीभगवान्का दासत्व स्वीकार करना चाहिये।

महर्षि दुर्वासा जब सब ओरसे निराश होकर श्रीअम्बरीषकी शरणमें गये, तब राजाने श्रीहरिके तेजोमय चक्रसे प्रार्थना करके उनकी रक्षा की। अत्रिनन्दन दुर्वासा कृतकृत्य होकर श्रीअम्बरीषसे कहते हैं—अहो! नाम, रूप, गुणसे अनन्त भगवान् श्रीअनन्तके दासोंकी अनन्त महिमाका आज मैंने साक्षात् दर्शन किया। हे राजन्! मैंने आपको मार डालनेकी इच्छासे अपराध किया, परंतु आपने तो मेरा मङ्गल किया—श्रीहरिके सुदर्शनचक्रसे प्रार्थना करके अपनी साधनाको अर्पण करके मेरे प्राणोंकी रक्षा की। यह हरिदासोंका महत्त्व है। धन्य हैं, हरिदास!

अहो अनन्तदासानां महत्त्वं दृष्टमद्य मे।
कृतागसोऽपि यद् राजन् मङ्गलानि समीहसे॥

(श्रीमद्भा० ९।५।१४)

अनसूयानन्दन दुर्वासा पुनः कहते हैं—जिन श्रीहरिके मङ्गलमय नामोंके श्रवणमात्रसे जीव सर्वथा निर्मल हो जाता है—राग, द्वेष, लोभ, काम, क्रोध आदि विकारोंसे रहित हो जाता है। जो तीर्थपद हैं—श्रीगङ्गा आदि पुण्य तीर्थोंके परम आश्रय जिनके श्रीचरणारविन्द हैं, ऐसे ही श्रीहरिके चरणसरसिजोंके जो दास हैं—निष्ठापूर्वक जिन्होंने उनका दासत्व-कैङ्कर्य किया है, उनके लिये कौन-सा कर्तव्य अवशिष्ट रहता है अर्थात् समस्त कर्तव्य पूर्णतया सम्पन्न हो जाता है—

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः।
तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते॥

(श्रीमद्भा० ९।५।१६)

श्रीभगवान्के अनन्य दास उनकी मायाके ऊपर भी विजय प्राप्त कर लेते हैं। इसका प्रमाण हमें श्रीउद्धवजीके गम्भीर वचनोंसे प्राप्त होता है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके परम प्रिय सखा, विश्वस्त सलाहकार श्रीउद्धवजी श्रीहरिसे कहते हैं—हे स्वामिन्! आप हमारा परित्याग मत करें। हम आपके प्रेमी भक्त हैं, हम आपके बिना कैसे रहेंगे? हे प्रभो! हमें यह भय नहीं है कि आपके न रहनेपर हमें माया व्याप्त हो जायगी; क्योंकि आपकी मायाको जीतनेमें हम समर्थ हैं। इसका आशय यह है कि तुम्हें अपनी साधनाका महान् अभिमान है? नहीं, नहीं हमें अपने बलका, अपनी साधनाका, अपनी सामर्थ्यका किञ्चिन्मात्र भी गर्व नहीं है। हे अच्युत! हमें तो आपके जूठनका अभिमान है, आपके दासत्वका अभिमान है। आपकी माया आपके दासोंके ऊपर अपना

पराक्रम नहीं कर सकती है। हे मेरे परमाराध्य! हमने आपकी धारण की हुई माला पहनी, आपके लगाये हुए चन्दन लगाये, आपके उतारे हुए वस्त्र पहने और आपके धारण किये हुए गहनोंसे अपने-आपको सजाते रहे। हम आपकी जूठन खानेवाले दास हैं। इसलिये हम आपकी मायाके ऊपर अवश्य ही विजय प्राप्त कर लेंगे। एतावता हमें आपकी मायाका भय नहीं है, हमें तो एकमात्र आपके दुःसह वियोगका ही भय है। आगेके श्लोककी व्याख्यामें आये हुए 'जयेम' शब्दका भाव यह है कि यदि वह माया हमारे प्रति आक्रमण करनेके लिये आयेगी तो भी आपके दासत्वके अस्त्रसे ही हम प्रबल होकर उसके ऊपर विजय प्राप्त कर लेंगे। ज्ञान-बलसे उसे नहीं पराजित कर सकेंगे—

जयेम इति सा यद्यस्मान् प्रतिविक्राम्यन्ती आयाति तर्हि एतैरेवास्त्रैः प्रबलीभूय तां जयेम न तु ज्ञानादिभिरित्यर्थः। (श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती)

त्वयोपभुक्तस्रगन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि॥

(श्रीमद्भा० ११। ६। ४६)

जीवमात्रका स्वाभाविक परिचय यह है कि वह श्रीरामजीका दास है। श्रीरामजी अनादिकालसे जीवमात्रके स्वामी हैं, सेव्य हैं और सर्वस्व हैं। जीव भी अनन्त कालसे श्रीरामजीका दास तथा सेवक है। श्रीरामजीका दासत्व-सेवा-कैङ्कर्य ही जीवका प्रधान कर्तव्य है। दास्य-भक्तिके परम आदर्श श्रीहनुमान्जी शत्रुकी नगरी लङ्कामें जाकर शत्रुओंके कानोंको विदीर्ण करते हुए यह घोषणा करते हैं—मैं अक्लिष्टकर्मा, परम समर्थ भगवान् श्रीरामका दास हूँ। श्रीहनुमान्जी राक्षसोंको देखकर अपनी विशाल पूँछको भूमिपर पटककर लङ्काको प्रतिध्वनित करते हुए गर्जना करने लगे। उस समय श्रीहनुमान्जी उच्चस्वरसे गर्जना करते हुए घोषणा करते हैं—

जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥
दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
हनूमाञ्शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः॥
न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्।
शिलाभिश्च प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः॥
अर्दयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम्।
समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम्॥

(वा०रा० ५। ४२। ३३—३६)

इस घोषणाका एक-एक शब्द मन्त्रकी भाँति महत्त्वपूर्ण है। भक्तलोग यात्रामें मङ्गल प्राप्त करनेके लिये इन श्लोकोंका स्मरण करते हैं। अनेक लोग श्रीमद्वाल्मीकीय-रामायणका पाठ करते समय सर्गके आद्यन्तमें इन श्लोकोंका सम्पुट लगाते हैं। अनेक लोग अनेक प्रकारके मनोरथोंको सिद्ध करनेके लिये अनेक विधानोंसे जप भी करते हैं। इन श्लोकोंमें श्रीहनुमान्जीके सहज स्वरूप, दास्यभाव, सहज निष्ठा, साहस और भगवत्कृपापर विश्वासका परिचय मिलता है। मैंने मूलरूपसे इन श्लोकोंके महत्त्वकी व्याख्या की है। श्रीहनुमान्जी अत्यन्त निष्ठा, उत्साह और स्नेहपूर्वक अपने परमाराध्यका जयघोष कर रहे हैं। इन श्लोकोंका भाव है—

अत्यन्त बलवान् भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी जय हो! महाबलसम्पन्न श्रीलक्ष्मणजीकी जय हो! वालीका वध करके श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा संरक्षित वानरेन्द्र श्रीसुग्रीवजीकी जय हो। श्रीहनुमान्जी मङ्गलाचरण करके सबसे पहले अपना परिचय देते हैं। जीवका सहज परिचय क्या है? श्रीहनुमान्जी इसका उत्तर अनायासेन देते हैं—'**दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य**' अर्थात् अक्लिष्टकर्मा कोसलेन्द्र श्रीरामजीका मैं दास हूँ, मेरा नाम हनुमान् है। मैं पवनदेवका पुत्र हूँ तथा शत्रुसेनाका मस्तक विदीर्ण करनेवाला हूँ। जब मैं हजारों वृक्षों एवं सहस्रों शिलाखण्डोंसे प्रहार करने लगूँगा, तब सहस्रों रावण समवेत होकर भी मेरे बलकी समानता नहीं कर सकते। मैं लङ्कापुरीको तहस-नहस कर डालूँगा और सबके देखते-देखते—चोरीसे नहीं, श्रीमिथिलेश-नन्दिनीके श्रीचरणोंमें अभिवादन करके जिस कार्यके लिये आया हूँ, उस कार्यको पूर्ण करके—सफलमनोरथ हो करके अपने आराध्य श्रीरामजीके पास चला जाऊँगा। इस प्रकारकी श्रीहनुमान्जीकी गर्जना सुन करके समस्त राक्षस भयभीत और आतङ्कित हो गये।

संसार एवं संसारीका दास अपनेको दास कहनेमें नीचताका, लज्जाका अनुभव करता है और शीघ्र-से-शीघ्र

दासत्वसे मुक्ति भी चाहता है—किंवा स्वामित्वकी उपलब्धिकी कामना करता है, परंतु श्रीरामजीका दास अपनी दासभावनामें ही संतुष्ट रहता है। श्रीरामजीका दास परवान्—श्रीरामाधीन ही रहना चाहता है। दूसरी बात श्रीरामजीका दास पिता, माता, भ्राता सबकी सेवा स्वयं करना चाहता है अर्थात् कभी कैङ्कर्य करके पिताकी भाँति सुख देता है तो कभी पुत्रकी भाँति।

महर्षि अगस्त्यकी आज्ञासे पञ्चवटी पहुँचकर भगवान् श्रीरघुनन्दन श्रीरामचन्द्रजीने सुमित्रानन्दन श्रीलक्ष्मणसे कहा—हे लक्ष्मण! अब तुम चारों ओर देखकर जहाँ तुम्हें अच्छा लगे वहाँ आश्रम-निर्माणकी व्यवस्था करो। यह सुनकर श्रीलक्ष्मण हाथ जोड़कर श्रीरामजीसे—अपने स्वामीसे बड़ी दैन्यभरी वाणीमें बोले—हे काकुत्स्थकुलभूषण! आपके रहते मैं सदा परतन्त्र हूँ। हे स्वामिन्! मैं अनन्त वर्षपर्यन्त परतन्त्र ही रहना चाहता हूँ। इसलिये कृपा करके स्थानका चयन आप करें और हमें आज्ञा दें कि हे लक्ष्मण! अमुक स्थानपर आश्रम-निर्माण करो।

परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते।
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद॥
(वा०रा० ३।१५।७)

यह श्लोक दास्यभावका अपूर्व उदाहरण है। इसमें श्रीलक्ष्मणजीका अनोखा भाव यह है कि हम अपने पारतन्त्र्यपर अनेक स्वातन्त्र्यको निछावर करते हैं। पारतन्त्र्य ही मेरा परम धन है और भगवत्पारतन्त्र्य ही मेरा सच्चा स्वरूप है। श्रीलक्ष्मणजीकी भावपूर्ण वाणी सुनकर भगवान् श्रीराम बहुत प्रसन्न हुए तथा स्थानका निर्देश करके आश्रम-निर्माणकी आज्ञा दी—

अयं देशः समः श्रीमान् पुष्पितैस्तरुभिर्वृतः।
इहाश्रमपदं रम्यं यथावत् कर्तुमर्हसि॥
(वा०रा० ३।१५।१०)

'अयं देशः समः श्रीमान्' का भाव यह है—श्रीठाकुरजी स्वयं तो सम और श्रीमान् हैं ही, उनका स्थान भी सम और श्रीमान् है। मैंने मूलरूपमें निर्देश किया है, विद्वान् इस प्रसङ्गका आनन्द मनन करके लें।

श्रीरामजीकी आज्ञा प्राप्त करके श्रीलक्ष्मणने शीघ्रातिशीघ्र आश्रम-निर्माण करके प्रस्तुत कर दिया—

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः परवीरहा।
अचिरेणाश्रमं भ्रातुश्चकार सुमहाबलः॥
(वा०रा० ३।१५।२०)

उस पर्णकुटीको देखकर श्रीठाकुरजी बहुत प्रसन्न हुए और गद्‌गद होकर बोले—हे परम समर्थ लक्ष्मण! तुमने बहुत सुन्दर पर्णकुटी बनायी है। इस पर्णकुटीमें उच्चकोटिकी शिल्प-कलाका तुमने प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि तुम स्थापत्य-कलामें परम निष्णात हो। हे लक्ष्मण! आज मैं परम प्रसन्न हूँ। हे वत्स! तुम्हारी सेवाके बदलेमें देनेके लिये न मेरे पास वस्तु है और न शब्द हैं। अतः तुम्हें मैं अपने हृदयसे लगाकर अपना हृदय ही समर्पित कर रहा हूँ—

प्रीतोऽस्मि ते महत्कर्म त्वया कृतमिदं प्रभो।
प्रदेयो यन्निमित्तं ते परिष्वङ्गो मया कृतः॥
(वा०रा० ३।१५।२८)

हे सुमित्राकुमार! इस पर्णकुटीके निर्माणमें तुमने मेरे हृदयके भावोंको बिना कहे ही समझ लिया है। एतावता तुम भावज्ञ हो। हे सेवाव्रती! मैं तुमको अपने साथ वनमें लाया, इसका ऋण तुमने अनेक प्रकारकी सेवा करके उतार दिया; क्योंकि तुम कृतज्ञ हो, सेवक-धर्मके परम आदर्श हो। इसलिये अपने लिये सुविधापूर्ण स्थान न बनाकर मेरे लिये हर तरहसे सुन्दर स्थान बनाया है। हे लक्ष्मण! तुम्हारी तरह धर्मात्मा पुत्रके कारण मेरे धर्मात्मा पिता अभी मरे नहीं हैं, तुम्हारे रूपमें वे अब भी जीवित हैं—

भावज्ञेन कृतज्ञेन धर्मज्ञेन च लक्ष्मण।
त्वया पुत्रेण धर्मात्मा न संवृत्तः पिता मम॥
(वा०रा० ३।१५।२९)

श्रीरामजीका दास अपने दासत्वकी भावनासे परम संतुष्ट रहता है। इस प्रकारका भक्त जन्मान्तरमें भी श्रीरामजीके मङ्गलमय दास्यभावकी ही कामना करता है। उसकी तो यह कामना रहती है कि मेरा समस्त परिवार श्रीरामजीका दास बने।

अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर मागऊँ।
जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ॥

यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिऐ।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिऐ॥

(रा० च० मा० ४।१० छं० २)

'अब नाथ करि करुना बिलोकहु'—(क) वाली अतिशय स्नेहमयी वाणीमें कहते हैं—हे नाथ? मैंने मान लिया कि मुझसे भयंकर अपराध हो गया था, परंतु अब तो हमने आपके द्वारा प्रदत्त दण्ड प्राप्त कर लिया है। अभी-अभी आपने ही तो कहा था कि जो पापी राजाके द्वारा दण्ड प्राप्त कर लेता है, वह निर्मल हो जाता है और पुण्यात्मा साधुकी भाँति स्वर्गकी प्राप्ति कर लेता है—

राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥

(वा०रा० ४।१८।३१)

आपके इस वचनके अनुसार तो मैं अब निष्पाप हो गया हूँ, अतः *'अब नाथ करि करुना बिलोकहु।'*

(ख) जब प्रेमी-प्रियतम आपसमें किसी कारणसे नाराज हो जाते हैं तो एक-दूसरेसे कहते हैं—'अब बहुत हो गया, अब तो मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाओ, अब तो मेरी ओर एक बार प्रसन्न होकर—मुसकराकर देख लो।' इसी भावसे वाली कहते हैं *'अब नाथ करि करुना बिलोकहु।'*

(ग) वाली बड़ी दीन वाणीमें अपनी अभिलाषा अभिव्यक्त करते हैं—हे नाथ! मरनेवालेपर तो सबके मनमें दयाका संचार होता है। हे प्रभो! अब तो मैं कुछ ही क्षणोंका मेहमान हूँ—अब तो कुछ ही क्षणोंमें मैं मर जाऊँगा, इसलिये इस म्रियमाणकी ओर अब तो पूर्ण कृपादृष्टिसे एक बार निहार लो—*'अब नाथ करि करुना बिलोकहु।'*

'करुना बिलोकहु' का भाव—यद्यपि मेरे द्वारा अनेक जघन्य अपराध हुए हैं। मैंने आपके दास—भक्त सुग्रीवको मारना चाहा था, मैंने आपके निर्मल वचनोंका प्रत्याख्यान किया एवं अपनी क्रूर वाणीसे आपको दुर्वचन कहा, मेरे अपराधोंका कोई प्रायश्चित्त तो है ही नहीं, फिर भी हे करुणासागर! आपकी करुणापूर्ण अवलोकनिमें बहुत बड़ी सामर्थ्य है, यह मैंने आज, अभी ही अनुभव किया है, अतः उसी कृपादृष्टिसे देखकर हमें कृतार्थ करें। मैं निहाल हो जाऊँगा, मेरे नाथ! *'जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ'*—हे स्वामिन्! मैं जिस वरकी याचना करना चाहता हूँ, उसका मिलना आपकी कृपाके बिना सम्भव नहीं है। सुतराम् कृपा करके मुझे ये वर दीजिये। *'जेहिं जोनि जन्मौं'*—मैं पुनः जन्म धारण करना चाहता हूँ। मुझे मुक्तिकी अपेक्षा नहीं है। मैं जन्म लेकर आपके श्रीचरणोंकी निष्ठापूर्वक भक्ति करना चाहता हूँ। इस जन्ममें मुझसे बड़ी-बड़ी भूलें हो गयी हैं, मैं जन्म लेकर उनको सुधारना चाहता हूँ। यह जन्म मैंने अभिमानी होकर बिताया है। इस जीवनमें मैंने किसी भक्तका साथ भी नहीं किया है। इस दृष्टिसे सुग्रीव मेरी अपेक्षा अधिक भाग्यवान् है। उसकी मित्रता महान् भक्त श्रीहनुमान्से है। यही मित्रता उसके उत्कर्षका कारण बन गयी। इसके विपरीत रावणकी मित्रता मेरे अपकर्षका कारण बन गयी। हे प्रभो! भविष्यके जीवनमें मैं इन त्रुटियोंको सुधारना चाहता हूँ। झूमकर श्रीरामभक्तोंका साथ—सत्सङ्ग करना चाहता हूँ। कामनारहित होकर आपकी भक्ति करना चाहता हूँ। आपकी भक्तिकी माधुरीका आनन्दमय आस्वादन जो कुछ क्षणोंके लिये मिला है, उसका जीभर आस्वादन करना चाहता हूँ। अतः मुझे इस देशमें पुनः जन्म दें। *'जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ'* का भाव कि मेरा किसी विशेष योनिमें जन्म लेनेका दुराग्रह नहीं है। मेरा यह भी आग्रह नहीं है कि आप मुझे मनुष्य बना दें किंवां ब्राह्मणकुलमें जन्म दें। मेरे कर्मानुसार जो भी योनि मिलेगी वह मुझे स्वीकार्य है। परंतु हे नाथ! मेरी तो बस इतनी ही प्रार्थना है—इस जीवनकी सान्ध्यवेला—अवसानवेलामें आपने अपनी कृपादृष्टिसे जो भक्तिके संस्कार दिये हैं, वे नष्ट न हों। सम्प्रति आपके श्रीचरणारविन्दोंमें जो अनुराग उत्पन्न हुआ है, वह दिनोत्तर जन्म-जन्मान्तरमें वृद्धिङ्गत हो, उसमें कमी न आने पाये, ऐसे स्थानमें उत्पन्न करें—

जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ॥

(रा०च०मा० ४।१० छं० २

श्रीरामसखा सुग्रीवके अग्रज वालीकी भावनासे श्रीअवधके श्रीरामसखाओंकी भावनामें कितना साम्य है—

जेहिंजेहिं जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीं॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥

(रा०च०मा० २।२४।५-६

अर्थात् हे प्रभो! जीवके मनमें मरणकालकी वेलामें जो भावना होती है, उसीके अनुसार उसका पुनर्जन्म होता है। हे स्वामिन्! इस समय मेरे मनमें मेरी पत्नी तारा नहीं

है, सुग्रीव नहीं है, शत्रुता नहीं है, मित्रता नहीं है, राग नहीं है, द्वेष नहीं है, राज्यकामना नहीं है, मोक्षकामना नहीं है। मुझे इस समय एक ही राग व्यथित कर रहा है। इतना कहते-कहते वालीका कण्ठ आर्द्र हो गया। वह कीचड़—दलदलमें फँसे हुए हाथीकी भाँति आर्तनाद करते हुए करुण स्वरमें श्रीरामजीसे कहने लगा—

बाष्पसंरुद्धकण्ठस्तु वाली सार्तरवः शनैः।
उवाच रामं सम्प्रेक्ष्य पङ्कलग्न इव द्विपः॥

(वा०रा० ४।१८।४९)

जिस समय वाली यह चर्चा कर रहे थे, उसी समय रोते हुए अंगद आकर वालीके सामने खड़े हो गये। इसीलिये वालीने *'यह तनय'* इस शब्दका प्रयोग किया है। *'यह तनय'* मेरा यह पुत्र जो मेरे नेत्रोंके सामने खड़ा है, इसीमें मेरा राग है। हे प्रभो! मेरी इच्छा है कि यह पुत्रमोह भी मेरे मनसे निकल जाय तो मैं केवल आपके श्रीचरणारविन्दोंका ध्यान करता हुआ सर्वतोभावेन आपके स्वरूपमें अपनी चित्तवृत्ति संनिहित करके प्राण-त्याग करूँ।

'मम सम बिनय बल'—यह अंगद बल और विनयमें मेरी समानता करता है, परंतु किञ्चित् अन्तर है, मेरे बलमें उद्दण्डता थी, इसका बल अनुशासित है, विनयपूर्ण है, इसीलिये बलके पूर्व ***'बिनय'*** शब्दका प्रयोग है—***'यह तनय मम सम बिनय बल'***।

'कल्यानप्रद प्रभु लीजिऐ'—वाली कहते हैं—हे प्रभो! आप कल्याणप्रद हैं। आपकी तरह कल्याण कोई नहीं कर सकता है। हे स्वामिन्! आप अंगदको अपनी शरणमें स्वीकार करें। इसमें अंगदका तो कल्याण होगा ही, मेरा भी परम कल्याण सम्पन्न होगा। मेरा अवशिष्ट राग-ममता-मोह सब विनष्ट हो जायगा।

'गहि बाँह'—मुझे तो ऐसा ज्ञात होता है कि रोते हुए अंगदको वालीने अपने अत्यन्त निकट बुलाकर और उसकी बाँहको स्नेहसे पकड़कर यह कहा—हे पुत्र! अब रुदन समाप्त करो। तुमको ऐसे महान् पिताकी गोदमें डालकर जा रहा हूँ, जो अविनाशी हैं, मरणधर्मा नहीं हैं। हे अंगद! तुम्हारे इस प्राकृत पिताकी मृत्यु हो रही है, यह मरने जा रहा है, तुमको छोड़कर जा रहा हूँ, परंतु जाते-जाते अब जिन पिताकी गोदमें डालकर—समर्पित करके जा रहा हूँ, वे तुम्हारे जीवनभरका रुदन समाप्त कर देंगे। हे मेरे लाल! अब तुम्हारे रुदनके दिन समाप्त हो गये। यही तो जीवमात्रके अजर-अमर वास्तविक पिता हैं—

ऐसे बर को के बरूँ जो जनमे और मर जाय।
बर बरया गोपालजी म्हारो चुड़लो अमर हो जाय॥

(मीरा)

उत्तरकाण्ड (रा०च०मा० १८।२)-में श्रीअंगदने राजाधिराज महाराज श्रीरामचन्द्रजीसे यही कहा है—

मरती बेर नाथ मोहि बाली। गयउ तुम्हारेहि कोंछें घाली॥

इस प्रकार वालीने श्रीरामजीसे कहा—हे अशरणशरण! इस अंगदकी भुजा पकड़ लीजिये। हे प्रभो! जिसकी भुजा आप पकड़ लेंगे, उसका जीवन सुखी हो जायगा।

'आपन दास अंगद कीजिऐ'

(१) कुछ लोग कहते हैं—वालीने अंगदको श्रीरामजीके श्रीचरणोंमें इसलिये समर्पित किया कि सुग्रीव इसके ऊपर अन्याय न करें, किंवा यह किष्किन्धाके राज्यका उत्तराधिकारी हो जाय। सम्भव है यह भी भाव रहा हो, इस भावमें कोई दोष नहीं है, परंतु मेरे श्रीमहाराजजी कहा करते थे कि वालीने अंगदको युवराज बनानेके लिये नहीं समर्पित किया है, उन्होंने तो स्पष्ट कहा है—हे प्रभो! इस अंगदको अपना दास बना लीजिये। वैष्णव बना लीजिये। वालीका आभ्यन्तर आशय यह है कि यदि मेरा पुत्र रामदास बन गया—वैष्णव बन गया—शरणागत हो गया—रामाश्रित हो गया तो मेरी अधोगति नहीं हो सकती; क्योंकि श्रीभगवान्ने सत्ययुगमें एक विधान बना दिया है कि जिस कुलमें एक रामभक्त उत्पन्न हो जायगा, उसकी इक्कीस पीढ़ियाँ तर जायँगी—

त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ।
यत् साधोऽस्य गृहे जातो भवान्वै कुलपावनः॥

(श्रीमद्भा० ७।१०।१८)

इस प्रकार परम चतुर वालीने अपने माता-पिताका, अंगदका और अपना भी कल्याण एक ही वरसे कर लिया। इसीलिये वालीने श्रीरामचन्द्रजीको **'कल्यानप्रद'** सम्बोधनसे

सम्बोधित किया है।

(२) वालीने कहा—हे रघुनन्दन! हमें ज्ञात है कि आपके दरबारमें दासोंका महत्त्व सर्वाधिक है। बड़े-बड़े राजा-महाराजाओंकी भी उतनी महत्ता नहीं है, ***'मोरें अधिक दास पर प्रीती'*** अत: हे प्रभो! आप तो इसे राजा बनानेकी अपेक्षा अपना दास बना लीजिये।

(३) राजाको अपनी चिन्ता स्वयं करनी पड़ती है, प्रजाकी भी चिन्ता करनी पड़ती है। उसके अनेक प्रकारके शत्रु-मित्र आदि होते हैं, उनकी भी चिन्ता होती है; परंतु भगवत्-दासको किसीकी चिन्ता नहीं करनी पड़ती है। उसे तो मात्र भगवच्चिन्तन करना पड़ता है। दासकी चिन्ता उसकी सार-सँभार तो स्वयं श्रीठाकुरजी अर्थात् आप करते हैं, अत: वाली कहते हैं कि अंगदको अपना दास बना लीजिये।

(४) हे प्रभो! मैंने सुना है कि आप अपने अनन्याश्रय दासकी रक्षा उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार एक वात्सल्यमयी जननी अपने नन्हे-मुन्ने दुग्धमुख शिशुकी रक्षा करती है। जैसे नन्हा-सा बच्चा चमकीला खिलौना समझकर भयंकर सर्पसे खेलना चाहता है—मौतसे खेलना चाहता है, किंवा सुन्दर समझकर जाज्वल्यमान अग्नि-कणोंको उठाकर अपने मुखमें डालना चाहता है तो पुत्र-वत्सला माँ अपनी चिन्ता न करके उस अबोध शिशुको मृत्युके मुखसे निकाल लाती है। उसी प्रकार आप अपने अनन्याश्रय दासोंकी रक्षा करते हैं—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहिधाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥
(रा०च०मा० ३।४३।४—६)

वालीने कहा—मैं तो मर ही रहा हूँ, अब आप इस बालक अंगदको अपना दासत्व प्रदान करके हे भक्तवत्सल! स्वामी और माता दोनोंका वात्सल्य स्नेह प्रदान करें।

सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥
(रा०च०मा० ४।३।४)

(५) हमने आपके दरबारमें दासोंका महत्त्व अभी-अभी देखा है—आप अपनी परम प्रेमास्पदा, प्राणप्रिया, प्रियतमा, प्राणवल्लभा श्रीमिथिलेशनन्दिनीकी स्मृति विस्मृत करके भी अपने दास सुग्रीवका कार्य स्वयं सँवारते हैं। हे अपने दासोंके सर्वकार्यसाधक स्वामिन्! इस बालक अंगदको तो आप अपने श्रीचरणोंका मङ्गलमय दासत्व ही प्रदान करें।

(६) हे स्वामिन्! जीवनकी अवसान वेलामें समझ पाया कि सम्राट् स्वराट्की अपेक्षा श्रीराम-दासानुदासका महत्त्व अधिक है। हे अकिञ्चनधन! ***'मैं बैरी सुग्रीव पिआरा'***- का आपके द्वारा प्रदत्त उत्तर मेरे मनमें जम गया। यद्यपि उत्तरसे तो मैं पूर्ण संतुष्ट हो गया; परंतु पश्चात्तापमय असंतोष बढ़ गया। मैंने सोचा था कि आप सुग्रीवकी अपेक्षा मेरी मैत्रीको अधिक महत्त्व देंगे; क्योंकि मैं रावणको बाँधकर लानेमें सर्वथा समर्थ था, मैं सप्तद्वीप-वानराधिपति था; परंतु आपके सुग्रीव-प्रेममें तो स्वार्थकी गन्धबिन्दु भी नहीं थी। आपको तो समर्थकी अपेक्षा लौकिक दृष्ट्या असमर्थ अपना दास ही अधिक प्रिय है। जब आपने यह कहा—***'मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥'*** तब मैं निरुत्तर हो गया और लगा सोचने कि जीवनमें भयंकर भूल हो गयी। यदि मैं आपका दास होता तो बात बन जाती; परंतु ***'का बरषा सब कृषी सुखानें।'*** हे भक्तवत्सल! हे दासप्रियरघुनन्दन! अब तो मेरे ममत्वके केन्द्रबिन्दु, इस रुदन करते हुए बालक अंगदको अपने श्रीचरणोंका दासत्व प्रदान करके मुझे कृतार्थ करें। इसे श्रीरामदास—श्रीवैष्णव हो जानेपर मेरे पश्चात्तापका प्रायश्चित्त हो जायगा—***'आत्मा वै जायते पुत्रः'*** इस न्यायसे।

'अलं अलमिति' अब मुझे कुछ नहीं करना है, आप तो सर्वान्तर्यामी, सर्वान्तर्दर्शी हैं। मैं भी तो आपका दास हूँ। अब तो सप्तद्वीप-वानराधिपति और किष्किन्धाके राजा तो आपके भक्त सुग्रीव हैं। मैं तो सम्पूर्ण हृदयसे आपका अकिञ्चनदास हूँ। मुझे तो ऐसा ज्ञात होता है कि.... इतना कहते-कहते वालीका कण्ठ आर्द्र हो गया और उसके लोचनभ्रमर श्रीराममुखकमलपर मँडराने लगे।

* * *

फलरूप (सिद्धि) प्रेम

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

प्रेमरूप भगवान् हमसे प्रेमका खेल खेलनेके लिये अपनी बहिरंगा शक्ति—माया (प्रकृति)-के द्वारा ब्रह्माण्डरूप विस्तृत खेलका मैदान बना लेते हैं। इस खेलमें भाग लेनेके लिये प्रकृति हमें कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीररूप तीन आवरण अनादिकालसे देती आ रही है। इसमें स्थूल शरीर तो बहुत ही ठोस आवरण है। यह देवता, गन्धर्व आदि दिव्य योनियोंमें प्राप्त नहीं होता और प्रेमके खेलमें चार चाँद लगा देता है। चैतन्य महाप्रभुमें विरहकी सुहावनी आग इतनी उद्दीप्त हो उठी थी कि उनकी अँगुलीके स्पर्शसे वह पत्थर भी पिघल गया था, जिसके सहारे वे भगवान् जगन्नाथके दर्शनोंके लिये खड़े होते थे। इसे आज भी देखा जा सकता है।

इस सुहावनी आगने मीराजीके तीनों शरीरोंके कण-कणको बदलकर उसे सन्मय, चिन्मय और आनन्दमय बना दिया था। जैसी कि त्रिपादविभूतिमें लीलाकी आयोजिका सन्धिनी-शक्तिके द्वारा आयोजित लीलाक्षेत्रमें प्रेमका खेल खेलनेवालोंकी स्थिति होती है। यही कारण है कि मीराजी जब रणछोड़जीके श्रीविग्रहमें समरस हो गयीं, तब उनके प्रकृतिप्रदत्त शरीरका कोई अङ्ग किसीको उपलब्ध न हुआ। इस वास्तविकताको लोगोंने तब समझा, जब देखा कि मीराजीकी साड़ीका छोर रणछोड़जीके मुखमें फँसा है।

जिस समय विरहकी मधुमान लौसे मीराजीके प्रकृतिप्रदत्त तीनों आवरण जलकर चिन्मयरूपमें परिणत हो रहे थे, उस समय उनके छलकते प्रेमानन्दसे प्रकृतिका कण-कण आप्लावित हो उठा था। इस तरह प्रकृतिके द्वारा आयोजित यह लीलाक्षेत्र सचमुच सन्धिनी-शक्तिके द्वारा लीलाक्षेत्र ही बन गया था। यही कारण है कि इन प्रेमी भक्तोंको भगवान्ने अपनी आत्मा माना है—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (गीता ७। १८)। इसके पहले १६वें श्लोकमें '**ज्ञानी च**' कहा गया है। यहाँ '**च**' पद सभी निष्काम प्रेमी भक्तोंको ज्ञानी भक्तोंमें अन्तर्भाव करनेके लिये है—'**चकारो यस्य कस्यापि निष्कामप्रेमभक्तस्य ज्ञानिन्यन्तर्भावार्थः।**' (गीता, मधुसूदनी ७। १६)

प्रकृति वञ्चना भी करती है

जो लोग भगवान्का विस्मरण करते हुए विहित कर्म करना छोड़ देते हैं, उन्हें प्रकृति अपनेमें लिपटाये रहती है। भगवान्की ओर बढ़ने नहीं देती और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि विषयोंके क्षणिक सुखके भुलावेमें डालकर फँसा लेती है। प्रकृति जब देखती है कि कोई मानव पकड़में नहीं आना चाहता तो मायाके तीन गुणोंको जादुई छड़ीकी तरह प्रयोग कर उसे मोहित कर लेती है और हम वञ्चित मानव उसे ही भुला बैठते हैं, जो हमारा अपना है। इसीलिये संतोंने हमें चेताया है कि माया बहुत बड़ी ठगिनी है, इसके चक्करमें मत पड़ना। '***माया महा ठगिनि हम जानी***' (बीजक ५९)।

मायासे मोहित हो जानेपर मनुष्य विवश हो जाता है। वह उन्हीं कर्मोंको करता है, जिन्हें माया करवाती है। तब मनुष्य दुष्कर्म-पर-दुष्कर्म करता जाता है, उसका ज्ञानस्वरूप बिलकुल ढक जाता है और वह आसुरभावग्रस्त होकर इतना अधम बन जाता है कि भगवान्की शरण ग्रहण करनेकी बात भी सोच नहीं सकता (गीता ७। १५)।

फिर भी प्रेमरूप प्रभु हमें गले लगाता है

भगवान् तो प्रेमरूप हैं। वे हमारी अधमतापर कोई ध्यान नहीं देते, प्रत्युत हमारे तीनों शरीरोंके साथ प्रेमका खेल चालू रखते हैं—'**पुरत्रये क्रीडति।**' (कैवल्योपनिषद् १४)

जाग्रदवस्था और स्वप्नावस्थामें हमारा मन अन्यासक्त रहता है, अतः स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरके साथ जो खेल होता है उसका सुख हमें नहीं ज्ञात हो पाता, किंतु सुषुप्ति-अवस्थामें हमारा मन पुरीतत नामक नाड़ीमें लीन रहता है, अतः इस अवस्थामें भगवान्के मिलनका सुख हमें मिलता है। सुषुप्तिमें अज्ञानके कारण हम यह नहीं जान पाते कि भगवान्से हमारा मिलन हुआ है, किंतु इतना तो अनुभव करते ही हैं कि खूब सुख मिला है—'**सुखमहमस्वाप्सम्।**' यही कारण है कि गाढ़ी नींदसे उठनेके बाद हम नयी शक्ति, नयी स्फूर्ति और नयी उमङ्गें पाते हैं।

इसलिये वेदान्तने सुषुप्ति-अवस्थाको '**आनन्दभोगावसर**' कहा है—'**सुषुप्तिकाले**'—'**आनन्दभोगावसरे।**' (कैवल्योपनिषद् १३, स्वामी शङ्करानन्दभाष्य)

यही कारण है कि वेदान्तने सुषुप्ति और मोक्षमें समता बतायी है। सुखानुभूति सुषुप्तिमें भी होती है और मोक्षमें भी। भेद इतना ही है कि सुषुप्ति-अवस्थामें जीव अज्ञानसे

आवृत रहता है और मोक्षमें आवरणरहित अपने ज्ञानस्वरूपमें परिनिष्ठित रहता है—

एतावान् सुषुप्तौ मोक्षे च समो न्यायः। को विशेषः? एतावान् तु विशेषः (तमोऽभिभूतः) अज्ञानावृतः (सुखरूपम्) स्वप्रकाशमानमानन्दात्मस्वरूपम् (एति) गच्छति।
(कैवल्योपनिषद् १३ स्वामी शङ्करानन्दभाष्य)

यह है हमारे प्रति प्रेमी प्रभुकी प्रेमातुरता और दूसरी ओर है हमारी लज्जास्पद अधमता।

साधनरूप प्रेम

प्रेमी प्रभुने हम अधमोंको अपनानेके लिये भी पहलेसे ही उपाय कर रखा है, उस उपायका नाम है—साधन-प्रेम। इस तरह प्रेम फल है और उसको पानेका साधन भी प्रेम ही है—

'साधन सिद्धि राम पग नेहू।'

सदियों पहले बिल्वमंगल नामक ब्राह्मण-युवक था। ठगिनी माया—चिन्तामणि वेश्याने उसके मनको ऐसा आसक्त कर लिया कि उसके अतिरिक्त उसे कुछ सुहाता ही न था। पिता सख्त बीमार थे, मर भी गये। अन्धेको कुछ दीखता ही न था। बस, चिन्तामणिकी यादमें खोया रहता। पिताके श्राद्धका दिन आ पहुँचा। परंतु बिल्वमंगल चिन्तामणिकी यादमें ज्यों-का-त्यों खोया था। गाँववालोंने धर-पकड़कर उससे पिताका श्राद्ध कराया, किंतु वे उसके मनको कैसे पकड़ते? श्राद्ध पिताका हो रहा है और याद चिन्तामणिकी आ रही है। शामको श्राद्धसे उसका पिण्ड छूटा। अब वह लोगोंकी कैदसे छूटते ही चिन्तामणिके पास दौड़ा। अँधेरा हो आया था। घनघोर पानी बरसने लगा था। बिजली कौंध रही थी, पर उसे आँधीसे भरे रास्तेका डर नहीं था, काँटा-झाड़ी लाँघते-फाँदते वह भागा जा रहा था। रास्तेमें नदी मिली। उस आँधी-पानीवाली रातमें कोई नौका नहीं थी। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसे कोई उतराया हुआ मुर्दा मिल गया, उसीके सहारे उसने नदी पार की और चिन्तामणिके पास पहुँचा। आधी रातमें उसे अपने पास आया देख और आनेका ढंग सुन बेचारी चिन्तामणि उस ब्राह्मण-युवकका पतन देखकर आहत हो उठी। उसे सबसे बड़ा कष्ट यह जानकर हुआ कि वह अपने पिताके श्राद्धको जैसे-तैसे पूरा कर श्राद्धके दिन ही एक वेश्याके पास आ पहुँचा। श्राद्धके दिन वह अपने मृत पिताको रज-वीर्यके नरकमें डुबोनेके लिये उद्यत था। यह सोचकर बेचारी काँप उठी।

चिन्तामणि जिस तरह रूपकी रानी थी, उसी तरह संगीतकी भी रानी थी। संगीतने उसे भगवान्के सौन्दर्य आदि गुणों तथा लीलाओंसे परिचित करा दिया था। मन्दिरोंमें गा-गाकर वह जितना कमाती थी, उतना अपने शरीर-व्यापारमें भी उसको नहीं मिलता था। उसे ग्लानि हो आयी और उसने अपनी वेश्यावृत्ति छोड़ दी।

अब वह भगवान्के नाम-स्मरण, श्रवण और गुण-कीर्तनसे भगवान्की ओर बढ़ने लगी। आज ब्राह्मण-युवकके उस अध:पतनसे अत्यधिक व्यथित होकर वह रोने लगी और उसके पैरोंपर गिरकर बोली—तुम ब्राह्मण हो, किंतु हमसे भी ज्यादा गिर गये हो। मैं कीर्तनरूप श्रवण-गायनसे भगवान्की ओर बढ़ रही हूँ, तुम भी यही करो। भगवान्से प्रेम करके तुम मुझे और अपनेको भी बचाओ। संतके संकीर्तनने मुझे सुझाया है कि भगवान् तो सौन्दर्य-मार्दव आदिके सिन्धु हैं, उन सिन्धुके एक बिन्दुके किसी एक कतरेमें सारी दुनियाकी सुन्दरता, मृदुता और मधुरता है। मेरे बिल्वमंगल! तुम उधर बढ़ो और मेरा तथा अपना भी कल्याण करो। याद रखना, अब कभी वेश्या समझकर मेरे घरमें कदम मत रखना। तुम अभी जाओ और कभी यहाँ न आनेकी शर्त लेकर जाओ। मैं तुम्हारे पैरोंपर गिरती हूँ अपने साथ-साथ मेरा भी कल्याण करो।

इस श्रवण-साधनसे बिल्वमंगल फलरूप प्रेमको पा गया और चल दिया तथा उस अमररसमें डुबकी लगाकर उसने ऐसा सरस गीत गाया कि लाखोंको तार दिया। बिल्वमंगलके वे रस आज भी हमें रसासिक्त कर रहे हैं। उस संत बिल्वमंगलको शत-शत नमन।

प्रकृतिके रससे सराबोर क्रीडास्थली

प्रकृति भगवान्के मिलनमें सहयोग भी करती है। यह तो उन्हींको अपनेमें लिपटाये रखना चाहती है, जो भगवान्के स्मरण और उनके विहित कर्मको त्याग देते हैं। किंतु यदि वे ही लोग जप आदि साधनसे प्रेमपूर्वक भगवान्की ओर उन्मुख होते हैं तो यह उनको भगवान्से मिलनेमें सहयोग भी करती है।

माया (प्रकृति) ठगती उनको है, जो भगवान्का स्मरणतक नहीं करते। जो लोग भगवान्की ओर बढ़ते हैं, उनका तो यह सहयोग ही करती है। अधिक बढ़ जानेपर

उनके लिये अपनी क्रीडास्थलीको रससे सराबोर कर देती है। संत कबीरने कहा है कि ब्रह्माण्डमें इतना रस भरा है कि जहाँसे चाहे वहींसे निचोड़कर पीता जाय और छककर प्रेमका खेल खेलता जाय। जो महामानव प्रपञ्चसे परे हो गये हैं, उन्हें निचोड़नेकी भी आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि उनके समक्ष यह रस निरन्तर चूता ही रहता है। जब चाहे तब प्याला-पर-प्याला चढ़ाता चला जाय और खेलका अनिर्वचनीय आनन्द लेता रहे—

अरधे उरधे भाठी रोपिन्हि ले कषाय रस गारी।
मूँदे नयन काटि कर्म कल्मख संतत चुअत अगारी॥
(बीजक १२।२)

लीलामें भाग लेनेके लिये मुक्त भी शरीर धारण करते हैं

प्रेमका खेल इतना सरस होता है कि इसमें भाग लेनेके लिये मुक्तलोग भी विग्रह धारण करते हैं—**'मुमुक्षवो मुक्ताश्च विग्रहं कृत्वा भजन्ति।'** (बृ०पूर्वता०उप० २।४)

'ब्रह्मवादिनो मुक्ताश्च लीलया विग्रहं कृत्वा नमन्ति।'
(बृ० पूर्वता० उप० शाङ्करभाष्य)

लीलाके लिये ब्रह्मका विग्रह-धारण

प्रेमका खेल खेलनेके लिये जब मुक्तलोग भी विग्रह धारणकर मञ्चपर उतर आते हैं, तब प्रेमरूप ब्रह्म जो नित्यलीलानुरागी है; वह सौन्दर्य और मार्दवका सागर जिसके एक बूँदके एक कणसे तीनों लोकोंकी सुन्दरता और मृदुलता बनी है, स्वयं विग्रह धारणकर इन्हें गलेसे लगा लेता है—

'वर्ष्मणोप स्पृशामि' (ऋग्वेद १०।१२५।७)
मायात्मकेन मदीयेन देहेन उपस्पृशामि। (सायण भाष्य)

स्वयं प्रेम जब शरीर धारणकर प्रेमी बन जाता है और अपने सुकोमल अङ्कमें भरकर प्रियको गले लगाता एवं सहलाता है, तब उस ब्रह्मानन्दमें जो उल्लास उठते होंगे उसकी कोई सीमा रहती होगी क्या?

भगवान्ने प्रेमी भक्त विभीषणसे कहा है कि तुम-सरीखे संत ही मुझे प्रिय हैं। तुमलोगोंके लिये ही मैं विग्रह धारण करता हूँ, अन्य किसी कारणसे नहीं—

तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरउँ देह नहिं आन निहोरें॥
(रा०च०मा० ५।४८।८)

प्रेमी भक्त विभीषण प्रकृतिकी दी हुई अपनी इन्हीं आँखोंसे सौन्दर्य-सिन्धुको देखना चाहते थे और जब उन्होंने भगवान्को देखा तो एकटक देखते ही रह गये, पलकोंको गिरने न दिया—

बहुरि राम छबिधाम बिलोकी। रहेउ ठटुकि एकटक पल रोकी॥
(रा०च०मा० ५।४५।३)

वे झट भगवान्के चरणोंमें लोट गये। भगवान्ने हर्षित होकर उन्हें अपनी विशाल भुजाओंसे उठाकर हृदयसे लगा लिया—

अस कहि करत दंडवत देखा। तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा॥
दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा॥
(रा०च०मा० ५।४६।१-२)

इसके बाद भगवान्ने उन्हें अपने अधरसुधासिक्त वचनोंसे इतनी तृप्ति दी कि वे सुनकर अघाते ही नहीं थे।

इस तरह प्रेमी भक्त और प्रेमी बने प्रेमरूप प्रभु दोनों इस प्रकृतिकी क्रीडास्थलीको रस-सराबोर करते रहते हैं। जो ऋषि-मुनि प्रकृतिसे ऊपर उठकर निर्गुण स्वरूपमें स्थित हैं तथा विधि-निषेधकी मर्यादाको लाँघ चुके हैं, वे लोग भी भगवान्के रससिक्त गुणगणोंके वर्णनमें रमे रहते हैं—

प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधिषेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥
(श्रीमद्भा० २।१।७)

इस तरह फलरूप-प्रेम ब्रह्मानन्दमें उल्लास-पर-उल्लास उठाता रहता है। भगवान्के सौन्दर्य आदि गुण भगवद्रूप ही होते हैं। जनकजी ब्रह्मानन्दमें निरन्तर निमग्न रहते थे—**'योगिनां जनकादयः।'** वे जीवन्मुक्त थे। उन्हें अपनी देहका भी भान नहीं होता था, अतः विदेह कहे जाते थे। बस, ब्रह्मके आनन्दमें डूबे रहते थे। जब श्रीरामजीका सौन्दर्य उनके सामने आया, तब उनके ब्रह्मानन्दमें उल्लास-ही-उल्लास उठने लगा। रामके सौन्दर्यने जनकको फलरूप प्रेमसे तर-बतर कर दिया था। तब उनका ब्रह्मानन्द मानो सौ गुना बढ़ गया—

अवलोकि रामहि अनुभवत मनु ब्रह्मसुख सौगुन किएँ॥
(जानकी-मङ्गल)

प्रेमानन्दमें उनका मन इतना भीग गया कि उसने ब्रह्मसुख त्याग ही दिया—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥
(रा०च०मा० १।२१६।५)

यह है फलरूप प्रेम!

* * *

सत्सङ्ग और श्रद्धा—भगवत्प्रेमके मूल आधार

(श्रीनारायणदासजी भक्तमाली)

प्रेम हरी कौ रूप है, त्यौं हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै यौं लसैं, ज्यौं सूरज अरु धूप॥

शास्त्र एवं अनुभवी संत महानुभावोंका कथन है कि भगवान्‌में और प्रेममें कोई भी तात्त्विक अन्तर नहीं। ईश्वर प्रेममय है। ईश्वर ही प्रेम है तथा प्रेम ही ईश्वर है। यह जीवात्मा उसी ईश्वरका अंश है। अंशीका गुण अंशमें भी सहजभावसे दृष्टिगोचर होता है, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। चूँकि ईश्वर प्रेममय है अतएव उनका अंश होनेके नाते जीवात्मा भी प्रेमस्वरूप है। यथा—'**श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥**' (गीता १७।३)

बाह्य जगत्‌में इस श्रद्धाकी अभिव्यक्ति विभिन्न स्तरोंपर देखी जाती है। 'श्रीकृष्ण-उद्धव-संवाद' में प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रजी अपने प्रिय सखा उद्धवको समझाते हुए कहते हैं—

सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा॥

(श्रीमद्भा० ११।२५।२७)

अर्थात् श्रद्धा सबमें होती है किंतु गुण-भेदसे उसके चार स्तर बताये गये—

१-नहीं करने योग्य कर्मोंमें जिसका मन लगता है, उसकी श्रद्धा तमोगुणी कही गयी है।

२-करने योग्य कर्मोंमें जिसका मन लगता है, किंतु साथ-ही-साथ लौकिक फलाकाङ्क्षा भी जुड़ी हुई हो तो उस व्यक्तिकी श्रद्धा राजसीकी संज्ञा पाती है।

३-जो लौकिक फलाकाङ्क्षासे उपरत होकर आध्यात्मिक साधनाओंमें जुड़ा हुआ है, किंतु मुक्तिमात्रको अपना लक्ष्य बनाये हुए है, उसकी श्रद्धा सात्त्विकी कही गयी है।

आज हम जिस भगवत्प्रेमपर विचार करने बैठे हैं, उसका इन तीनों भूमिकाओंसे ऊपरका स्तर है। वह त्रिगुणातीत श्रद्धा (भगवत्प्रेम)-का मूल आधारस्वरूप है। यही त्रिगुणातीत श्रद्धा ही क्रम-क्रमसे परिमार्जित, परिपुष्ट एवं परिपक्व होकर भगवत्प्रेमका स्वरूप लेती है।

· यथा—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाऽभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु, पू०वि० ४।६-७)

जैसे आमके वृक्षमें जब फलका अभ्युदय होना होता है तो उसके प्राथमिक स्वरूपको मञ्जरी अथवा बौर कहते हैं। फिर वही क्रम-क्रमसे टिकोरा, अमिया, आम तथा परिपक्व होनेपर रसालकी संज्ञा प्राप्त करता है, मञ्जरीसे रसालतकके सभी नाम एक ही तत्त्वके हैं, किंतु अवस्था-भेदसे ये सभी नाम अलग-अलग कहे जाते हैं। उसी तरहसे जीवके पास परमात्मासे पैतृक धरोहरके रूपमें प्राप्त श्रद्धा नामकी यह सम्पत्ति ही क्रम-क्रमसे श्रद्धा-निष्ठा-रुचि-आसक्तिभाव एवं प्रेमकी विभिन्न भूमिकाओंको पार करती हुई '**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्**' (ना० भ० सू० ५१)-के रूपमें उभड़कर जीवको धन्यता प्रदान करती है।

प्रेमकी वृत्ति सबमें होती हैं, किंतु जब उसकी धारा भौतिकताकी ओर मुड़ी हुई हो तो उसकी संज्ञा काम हो जाती है और वही धारा जब प्रभुकी ओर मुड़ जाय तो हृदयकी उस वृत्तिको प्रेम-भक्तिकी संज्ञा प्राप्त होती है। श्रीचैतन्यचरितामृतकार कहते हैं—

आत्मेन्द्रिय प्रीति-इच्छा, तार नाम काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति-इच्छा धरे प्रेम नाम॥
कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल।
कृष्ण-सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल॥

कभीका घोर विषयी कामी भी जब प्रभुकी ओर मुड़ता है तो उत्कृष्टतम भगवत्प्रेमीके रूपमें उमड़कर जगत्‌के सम्मुख आता है, यथा—चिन्तामणि नामकी वेश्याके प्रति अतिशय आसक्त बिल्वमंगल एवं हेमाम्बा नामकी वेश्याके प्रति अतिशय आसक्त पहलवान 'धनुर्दास', जिनका जीवनवृत्त गीताप्रेसके भक्तचरिताङ्कमें प्रकाशित है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति यह दावा करता है कि मुझमें किसीके प्रति राग, अनुराग है ही नहीं, वह प्रेमका अधिकारी नहीं माना जाता है। जैसे—श्रीभक्तमाल ग्रन्थमें एक प्रसंग आता है—गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजीके चरित्रमें—

आयो कोउ शिष्य होन भेंट लायो।
लाखनकी, माखनकी चातुरी पै मेरी मति रीझिये॥

एक व्यक्ति लाखोंकी सम्पत्ति लेकर श्रीवल्लभाचार्यजीके पौत्र गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजीके पास आया और बोला कि मैं आपसे दीक्षा लेना चाहता हूँ और यह सारी सम्पत्ति

दक्षिणाके रूपमें अर्पित करूँगा। दूसरा कोई अर्थलोलुप व्यक्ति होता तो तुरंत दीक्षा देनेको उद्यत हो गया होता, किंतु गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजीने पूछा कि आप दीक्षा क्यों लेना चाहते हैं? तो उस व्यक्तिने कहा कि भगवत्प्रेमप्राप्त्यर्थ। श्रीगोस्वामिपादने पूछा कि पहलेसे कहीं प्रेम है क्या? उसने साफ इन्कार किया, बोला—कहीं प्रेम नहीं है। श्रीगोस्वामिपादने कहा कि कहीं-न-कहीं तो प्रेम होगा?

देह, गेह, पत्नी, पुत्र, पौत्र, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा, स्वर्ग, मोक्ष आदि किसी-न-किसीके प्रति तो राग अथवा ममत्वकी वृत्ति होगी ही। तथापि उसने अतिशय दृढ़तापूर्वक कहा—कहीं प्रेम नहीं है। श्रीगोस्वामिपादने कहा कि फिर तो मेरे वशकी नहीं है, जो आपके हृदयमें प्रेम उत्पन्न कर सकूँ, अतएव आप और कहीं जाकर दीक्षा ले लें। हमारे यहाँ प्रेम उत्पन्न नहीं किया जाता है, बल्कि पहलेसे विद्यमान प्रेमकी धाराको जगत्की ओरसे हटाकर जगदीशकी ओर कर दिया जाता है। जब आपमें वह अनुरागकी वृत्ति है ही नहीं तो मैं अथवा कोई और व्यक्ति प्रेम कहाँसे उत्पन्न कर सकेगा? वह व्यक्ति वापस चला गया। किसीने कहा भी है कि—

मुहब्बतके लिये कुछ खास दिल मख़सूस होते हैं।
ये वो नगमा है जो हर साज पै गाया नहीं जाता॥

हाँ, प्रभु सर्वसमर्थ हैं। वे चाहें तो '**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्**' समर्थ होनेके नाते असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं—'**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।**' (मुण्डक ३।२।३)

इस प्रेमदेवके आराधनकी दिशामें मनीषियोंके बड़े-बड़े विलक्षण उद्गार हैं—

प्रेम पन्थ ऐसो कठिन, सब कोउ निबहत नाहिं।
चढ़िके मोम तुरंग पर, चलिबो पावक माँहि॥

प्रेममें लेनेकी वृत्ति नहीं होती, इसमें तो अपने प्रेमास्पद प्रभुके श्रीचरणोंमें निजसहित अपना सर्वस्व समर्पणकी ही भावना होती है। इस मार्गमें 'मैं' के लिये तो कोई स्थान ही नहीं—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥

सच पूछा जाय तो मानव-जीवनकी वास्तविक सार्थकता इस भगवत्प्रेमोपलब्धिमें ही है, वैसे धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष भी पुरुषार्थचतुष्टय कहलाते हैं, किंतु प्रेमके सम्मुख ये चारों भी साधन होकर रह जाते हैं, साध्यकी गिनतीमें नहीं आते। साध्य तो पञ्चम पुरुषार्थ कहलाकर—'**प्रेमा पुमर्थो महान्**' ही सिद्ध होता है।

यह दो तरहका बताया जाता है—एक तो रागात्मक, जो किन्हीं-किन्हीं अवतारी महानुभावोंमें सहजरूपसे विद्यमान होता है—यथा—महाभागा व्रजगोपिकाएँ, श्रीभरतलालजी, सुतीक्ष्णजी, चैतन्यमहाप्रभुजी, मीराबाई आदिके प्रेममें सहजता परिलक्षित होती है। इसे रागात्मक कहा गया है। दूसरा है रागानुग—इसमें साधक कोटिके महानुभाव साधन करते-करते उस भूमिकातक पहुँचनेका प्रयास करते हैं तथा पहुँचते भी हैं। यथा—देवर्षि नारदजीके शब्दोंमें—'**तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः**—

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा॥
(ना०भ०सू० ३८)

श्रीरामचरितमानसके अनुसार सत्सङ्गमें जाते-आते, श्रीहरिकथा सुनते-सुनते मोहकी निवृत्ति होगी, फिर वही कथा एवं सत्सङ्ग भगवत्प्रेमके जननी-जनक हो जाते हैं। यथा—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

तथा—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥

अतः यदि भगवत्प्रेम-प्राप्तिकी आकाङ्क्षा हो तो निष्कामभावसे केवल प्रभुके प्रसन्नतार्थ सत्सङ्ग और कथा-रसका पान करते रहें, इससे मोहकी निवृत्ति तथा भगवत्पदप्रेमकी प्राप्ति सहजरूपमें हो जायगी।

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
(श्रीमद्भा० ३।२९।११)

जन्मान्तरसहस्रेषु तपो ध्यानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥

जप जोग धर्म समूह तें नर भगति अनुपम पावई।
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा॥

अथवा—

साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

इसके लिये पूर्वके आदर्श प्रेमियोंका जीवनचरित्र पठन, श्रवण, मनन एवं अनुशीलन विशेषरूपसे परम उपयोगी होता है। जैसे—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥
(रा०च०मा० २।३२६)

* * *

प्रेम-दर्शन

[प्रेम प्रभुका साक्षात् स्वरूप है। जिस प्राणीको विशुद्ध सच्चे प्रेमकी प्राप्ति हो गयी, वास्तवमें उसे भगवत्प्राप्ति हो गयी — यह मानना चाहिये। इस प्रकार प्रेम 'साधन' और साधनका फल — 'साध्य' दोनों है। भगवान् स्वयं प्रेममय हैं। भगवान् ही प्रेम करनेयोग्य हैं और भगवान्‌को प्राप्त करनेका साधन भी प्रेम ही है। अतः प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद स्वयं प्रभु ही हैं।

प्रेमी भक्तोंने प्रेमास्पद प्रभुको किस रूपमें अपना प्रेम प्रदान किया है, इसके साथ ही यहाँ प्रभुकी प्रेम-लीला तथा प्रभुके प्रगाढ़ प्रेमका निदर्शन प्रस्तुत किया जा रहा है—सं०]

प्रेम तथा प्रेम-पुजारियोंका दर्शन

प्रेम-प्रसंग

प्रेम! प्रेम!! ओहो, कितने कर्णप्रिय श्रुतमधुर शब्द हैं। इन दो अक्षरोंपर संसारकी सभी वस्तुएँ वारी जा सकती हैं। वन-वृक्ष, लता-पत्ता और कुञ्ज-निकुञ्ज सर्वत्र प्रेम-ही-प्रेम भरा है। जिस प्रकार दुग्धकी रग-रगमें घृत व्याप्त है, उसी प्रकार संसारके अणु-परमाणुमें सर्वत्र प्रेम रम रहा है। जिस प्रकार युक्तिद्वारा मथकर दुग्धमेंसे घृत निकाला जाता है, उसी प्रकार भावुकता, सहृदयता और अनुभूतिद्वारा इस प्रेमकी उपलब्धि होती है।

प्रेम एक बड़ी ही मीठी, मादक, मनोज्ञ और मधुर मदिरा है। जिसने इस आसवका एक भी प्याला चढ़ा लिया, वह निहाल हो गया, धन्य हो गया, मस्त हो गया। उस मतवालेकी भला कौन बराबरी कर सकता है? संसारके शाहंशाह उसके गुलाम हैं! त्रिलोकीका राज्य उसके लिये तृणके समान है। उसे किसीकी चिन्ता नहीं, हर्ष-शोक उसके पासतक नहीं फटकते। वह सदा मस्त रहता है। आनन्द ही उसका घर है, वह सदा उसीमें विहार करता रहता है। वह पागल है, सिड़ी है, मतवाला है, बावला है और है फाँकेमस्त। ऐसे फाँकेमस्तोंके दर्शन बड़े भाग्यसे होते हैं!

प्रेमकी समता किससे की जाय? जब उसकी बराबरीकी कोई दूसरी वस्तु हो, तभी तो तुलना की जा सकती है। वह अद्वितीय, अनिर्वचनीय और अनुपमेय है। उसके समान संसारमें आजतक कोई वस्तु न हुई, न है और न आगे होगी ही। वह अनादि, अनन्त, अजर और अमर है। आप कहेंगे कि ये सब विशेषण तो हरि भगवान्‌के ही हो सकते हैं? हम कहेंगे—हाँ, यह ठीक है, आप बिलकुल ठीक कहते हैं। किंतु प्रेमके प्रचण्ड पागल रसिक रसखानसे भी तो पूछिये। देखिये वे हरिमें और प्रेममें क्या भेद बतलाते हैं—

प्रेम हरी कौ रूप है, त्यौं हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै यौं लसैं, ज्यौं सूरज अरु धूप॥

प्रेमका अलग अस्तित्व ही नहीं। प्रेम प्रभुकी परछाईं-मात्र है। परछाईं यथार्थ वस्तुकी ही तो होती है, प्रेम और हरि दो नहीं हो सकते!

प्रेमके पागल बड़े ही निर्भीक और निडर होते हैं। उन्हें प्रेमके सिवा और कुछ अच्छा ही नहीं लगता। लोग कहते हैं, जान-बूझकर आगमें कौन कूदे? किंतु ये पागल-लोग पतंगको ही अपना गुरु मानते हैं। यह जानते हुए भी कि *'यह प्रेमको पन्थ निरालो महा, तरवारिकी धार पै धावनो है।'* उस धारकी कुछ भी परवा न करके उसके ऊपर चलने लगते हैं। जो जानकी कुछ भी परवा नहीं करेगा, वही तो प्रेमवाटिकाकी ओर अग्रसर हो सकेगा।

महाशय! टेढ़ी खीर है, दुर्गम पथ है, बिना डाँड़की नाव है, मदोन्मत्त हाथीसे बाजी लगानी है, विषधर भुजङ्गके दाँत निकालने हैं, मोमके तुरंगपर चढ़कर अनलकी सुरङ्गमें जाना है, कंकरीली पथरीली वन-वीथियोंमें होकर चलना है, पाथेय ले जानेकी मनाही है। धूप और छाँहकी परवा न करनी होगी। भूख और नींदको जलाञ्जलि देनी होगी, कलेजेकी कसक किसीसे कहनी भी न होगी, न मरना ही होगा, न भलीभाँति जीना ही होगा। जो प्रेमकी फाँसमें फँसना चाहता हो, उसे इन सब बातोंपर पहले भलीभाँति विचार कर लेना चाहिये। खाली 'प्रेम' कह देनेभरसे ही काम न चलेगा। जबतक तू अपने पुराने मित्रका साथ नहीं

छोड़ता, तबतक यह तेरा नवीन मित्र तेरी ओर दृष्टि उठाकर भी न देखेगा और बेचारा देखकर करेगा भी क्या? तेरे हृदयकी कोठरी तो इतनी छोटी-सी है कि उसमें दोकी गुंजाइश ही नहीं। उसमें तो एक ही रह सकता है। एक प्रेमीका निजी अनुभव सुन लें—

चाखा चाहे प्रेम रस, राखा चाहे मान।
एक म्यानमें दो खड़ग, देखी सुनी न कान॥

है हिम्मत? यदि हाँ, तो आजा मैदानमें। देर करनेसे काम नहीं चलेगा। यह बाजार दो ही दिनका है, अवसर चूकनेपर फिर कुछ भी हाथ नहीं आनेका। देख ये प्रेमके पागल हैं, इनकी गति निराली है, इनकी ओर खूब ध्यानपूर्वक देखना। अहा! कैसी बेकली है, शरीरकी सुध-बुधतक नहीं, नशेमें चूर हैं—

कहूँ धरत पग परत कहुँ, डिगमिगात सब देह।
दया मगन हरि रूपमें, दिन-दिन अधिक सनेह॥
हँसि, गावत, रोवत, उठत, गिरि-गिरि परत अधीर।
पै हरि रस चसको 'दया' सहै कठिन तन पीर॥

इतना ये सब क्यों सहते हैं? इन्हें उस अद्भुत रसका चस्का लग गया है। पुत्र-प्राप्तिके लिये पतिव्रताको भी पीर सहनी पड़ती है और वह उस पीरको प्रेमपूर्वक सहती है, फिर इनके आनन्दका तो पूछना ही क्या है। भगवान् जाने इसमें इन्हें क्या आनन्द मिलता है? न खाते ही हैं, न सोते ही हैं, संसारके सभी कष्टोंको प्रेमपूर्वक सहते हैं, परंतु अपने प्रणको नहीं छोड़ते। ये दुखिया सदा रोया ही करते हैं। इनसे तो संसारी लोग ही अच्छे। वे मौजसे खा-पीकर तान दुपट्टा सोते तो हैं—

सुखिया सब संसार है, खावे और सोवे।
दुखिया दास कबीर है, जागे और रोवे॥

कबीरदासजी! तुम क्या रोते हो? हम तो इस मार्गमें जिसे भी देखते हैं, रोता हुआ ही देखते हैं। सभीको झींखते ही पाया, सभी छटपटाते ही नजर आये, सभी खीजकर अपने प्रेमीसे कहते हैं—

कै विरहिनिको मीचु दे, कै आपा दिखलाय।
आठ पहरको दाझनो, मो पै सहो न जाय॥

नहीं सहा जाता है तो उसकी बलासे। तुमसे कहा ही किसने था कि तुम आठो पहर दहा करो? तुम्हें ही पागलपन सवार हुआ था, अब जब आ बनी है तब रोते क्यों हो? तुम्हें तो मीराबाईने पहले ही सचेत कर दिया था, वह भी इस चक्करमें फँस गयी थी। भेद मालूम पड़नेपर उन्होंने स्पष्ट ही कह दिया था—

जो मैं ऐसा जानती, प्रीति करैं दुख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती, प्रीति करो मति कोय॥

संसारमें सैकड़ों उदाहरण हैं। रोज ही तो देखते हैं कि प्रीति करके आजतक किसीने भी सुख नहीं पाया। सभी दुःखी ही देखे गये हैं। इसका भेद सूरदासजीसे तो पूछिये! ये भी बड़े चावमें घूमते-फिरते थे। प्रेमके ही चक्करमें फँसकर तो ये आँखोंसे हाथ धो बैठे। अन्तमें अक्ल आयी तो सही, परंतु ***'अब पछिताये होत का जब चिड़िया चुग गई खेत'*** इस चक्करमें जो फँस गये सो फँस गये, इसके पास आकर फिर कोई लौटकर थोड़े ही जाता है? ***'जो आवत एहि ढिग बहुरि जात नहीं रसखानि'*** बस, उम्रभरका झींखना ही हाथ रह जाता है। सो झींखा करो, उसे इससे कुछ भी सरोकार नहीं। अन्य प्रेमियोंकी भाँति सूरदासजी भी कुढ़कर कह रहे हैं—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतङ्ग करी दीपक सों आपै प्राण दह्यो॥
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सों सम्पति हाथ गह्यो।
सारङ्ग प्रीति करी जो नाद सों सन्मुख बाण सह्यो॥
हम जो प्रीति करी माधव सों, चलत न कछू कह्यो।
सूरदास प्रभु बिन दुख दूनो, नैनन नीर बह्यो॥

यदि नैनन नीर बह्यो है तो बहाते रहो, खूब बहाओ, तुम्हारे नयनोंमें नीर बढ़ भी बहुत गया था, जिसे भी देखते हैं, उसे ही नीर बहाते ही देखते हैं। भगवान् जाने इन प्रेमियोंके नयनोंमें इतना नीर आ कहाँसे जाता है? इनके यहाँ जाड़ा-गरमीका तो नाम ही नहीं। बारहों महीने वर्षा—निरन्तर पावसकी-सी झड़ियाँ लगी रहती हैं। एक बात और भी अचरजकी है। जहाँ पानी होता है, वहाँ अग्नि नहीं रहती। यह संसारका नियम है। किंतु इनके यहाँ विचित्र ही दशा देखी। वर्षा होनेपर भी ये लोग सदा जलते ही रहते हैं और ऐसे जलते हैं कि इनकी आँचसे आस-पासके

पेड़-पत्तेतक स्वाहा हो जाते हैं। बेचारे पेड़की छाँहतकमें भी तो नहीं बैठ सकते। इसी जलनमें जलती हुई एक विरहिनि कहती है—

बिरह जलन्दी मैं फिरूँ, मो बिरहिनिको दुक्ख।
छाँह न बैठों डरपती, मति जलि उट्ठै रुक्ख॥

रूख तो जरूर ही जल उठेगा, उस बेचारेको क्यों बरबाद करती हो? तुम तो जल ही रही हो, तिसपर भी दूसरेकी इतनी चिन्ता? अहा, तुम्हारी ऐसी दयनीय दशा! कलेजा काँप उठता है। कबीरदासजीने तुम्हें ही लक्ष्य करके सम्भवतः यह कहा है—

जो जन बिरही नामके, झीना पिंजर तासु।
नैन न आवै नींदड़ी, अंग न जामे मासु॥

अङ्गमें मांस जमे कहाँसे? पापी बिरहा साथ लगा हुआ है न? रक्त-मांसको तो यही चट कर जाता है। यह पिंजर बना हुआ है, इसे ही गनीमत समझो। हाड़ तो शेष हैं? परंतु अब हाड़ भी शेष नहीं रहेंगे। अबके इनकी भी बारी है। वैरी बिरहा इन्हें भी न छोड़ेगा—

रक्त मांस सब भखि गया, नेक न कीन्हीं कान।
अब बिरहा कूकर भया, लागा हाड़ चबान॥

इस कूकरको पहले पाला ही क्यों था? जब इसे खानेको कुछ भी न मिलेगा तो क्या यह भूखा रहेगा? बेचारे बड़ी विपत्तिमें पड़े। एक पल भी चैन नहीं। दयाबाई भी इस चक्करमें फँस गयी थी। उसे भी चैन नहीं मिलता था। उसकी भी करुण-कहानी सुनिये—

प्रेम-पीर अति ही बिकल, कल न परत दिन-रैन।
सुन्दर श्याम सरूप बिन, 'दया' लहत नहिं चैन॥

किस-किसकी सुनें। एक हो तो उसकी बातपर कुछ विचार भी किया जाय। यहाँ तो जिसे भी देखा उसे ऐसा ही देखा। जिसे पाया उसे रोता ही पाया। इससे तो हमीं अच्छे हैं कि इस झंझटसे बरी तो हैं। जब इस मार्गमें इतना दुःख है तो बैठे-ठालेकी कौन मुसीबत मोल ले? परंतु कबीरदासजी कुछ और ही अपना तानाबाना पूर रहे हैं। वे कहते हैं—'जिस घटमें प्रेम नहीं वह तो श्मशानके तुल्य है।' क्या खूब? यह भी कोई बात हुई? भला, श्मशानकी और हमारी क्या तुलना? श्मशान एक जड़ पदार्थ ठहरा और हम हैं चैतन्य। श्मशानको तो हमने कहीं साँस लेते नहीं देखा और हम तो सोते-जागते सदा साँस लेते रहते हैं। उस निर्जीवसे हमारी बराबरी कैसी? लीजिये इसका भी उत्तर सुन लीजिये—

जा घट प्रेम न संचरे, सो घट जान मसान।
जैसे खाल लुहार की, साँस लेत बिन प्रान॥

भाई, बात तो बड़े पतेकी कही। किंतु प्रेम मिलेगा कहाँ और कितनेमें मिलेगा? इसका भी उत्तर सुन लीजिये—

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥

बस एक दाम! जिस दिन तुम इसके दरवाजेपर जाओगे, उसी दिन यह पोस्टर चिपका हुआ पाओगे। मतलब समझ गये? सीधे-सादे शब्दोंमें सुनना चाहते हो तो इसका मतलब यों है—'यहाँ उधारका व्यौहार नहीं, तुरंत दान महाकल्यान' हिसाब चुकता करो और सौदा लेकर चलते बनो। क्या यहाँ भी तुमने और बाजारोंकी-सी बात समझ रखी है? इतनी बात याद रखो—

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं॥

हाँ, इतनी हिम्मत हो तभी आगे बढ़ना। आवेशमें आकर दूसरोंसे उस मादक द्रव्यकी प्रशंसा सुनकर वैसे ही मत कूद पड़ना। एक प्यालेकी कीमत क्या है, जानते हो? ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, मूर्ख-पण्डित और पाधा-पुरोहित यहाँ किसीका भी भेद-भाव नहीं। खरी मजूरी चोखा काम। अंटीमेंसे टके निकालो और छककर पीओ! जो भी दक्षिणा दे सके वही प्यालेका अधिकारी है। यह देखो सामने दक्षिणाका नोटिस चिपका है। जरा खड़े होकर इसे पढ़ तो लो, तब आगे बढ़ना—

प्रेम पियाला जो पिये, सीस दच्छिना देय।
लोभी सीस न दे सकै, नाम प्रेमका लेय॥

अहा! वे मनस्वी, तपस्वी और अलौकिक महापुरुष धन्य हैं, जिन्होंने इस प्रेमपीयूषका पान करके अपनेको कृतकृत्य बना लिया है। जिन्होंने प्रेम-सरोवरमें गोते मारकर स्नान किया है। जिन्होंने प्रेमवाटिकामें भ्रमण किया है

जिन्होंने प्रेमको ही अपना आराध्यदेव मानकर उसीकी अर्चा-पूजामें अपना समय बिताया है। जो निरन्तर प्रेम-सखाके ही साथ हास-विलास किया करते हैं, उनकी पदधूरिसे पापी-से-पापी प्राणी भी परम पावन हो सकता है। उनकी सुधामयी वाणीसे कठोर-से-कठोर हृदयमें भी कसक पैदा हो सकती है। क्यों न हो? जिन्होंने इतनी बहुमूल्य चीज देकर—अपनी सबसे प्यारी जान देकर उसके बदलेमें जो चीज प्राप्त की है, वह क्या कोई साधारण चीज हो सकती है?

हे प्रेमदेवके पुजारियो! संसारमें तुम धन्य हो। हे त्यागी महानुभावो! प्रेमके ऊपर जान लड़ा देना तुम्हारा ही काम है। हे प्रियदर्शन! संसारको त्याग और प्रेमका पाठ तुम्हीं पढ़ा सकते हो। तुम्हारी अनन्य भक्ति, अनुपम त्याग, अद्भुत लगन, सच्ची सहनशीलता और नैसर्गिक नम्रता श्लाघनीय ही नहीं, अपितु अनुकरणीय भी है।

हे त्रिविध तापोंसे तपे हुए संसारी प्राणियो! यदि तुम्हें लोभने आ घेरा है, यदि तुम जानकी बाजी नहीं लगा सकते हो, यदि तुममें शीश उतारनेकी शक्ति नहीं है, यदि तुम्हें अपनी जान अत्यन्त ही प्यारी लगती है और फिर भी तुम उस ओर जानेके इच्छुक हो तो उन प्रेमके पुनीत पुजारियोंकी दो-चार बातें ही सुनते जाओ। इन प्रेमियोंके जीवन-सम्बन्धी बातोंमें भी वह रस भरा हुआ है कि सदाके लिये नहीं तो एक क्षणके लिये तो वे तुम्हें मस्त कर ही देंगी। आओ! तुम्हें प्रेम-हाटकी सैर करा दें!

अहा! देखो न, इस हाटमें चारों ओर कैसी बहार है! धीमी-धीमी सुगन्ध मस्तिष्कको मस्त बनाये देती है। अब देर न करो, मेरे पीछे ही चले आओ।

प्रेम-हाट

प्रेमके हाटकी सैर करना चाहते हो? किस चक्करमें पड़ गये? अरे, इसे तुम कहाँतक देखोगे? इसका अन्त थोड़े ही है। चलते-चलते थक जाओगे। जिसके आदि-अन्तका ही पता नहीं, उसके पीछे व्यर्थमें मगज खपाना पागलपन नहीं तो और क्या है? ओहो! तुम यहाँतक तैयार हो? लोकलाजकी कुछ भी परवाह नहीं? हैं! इतनी निर्भीकता? बस, तब तो ठीक है। अच्छा तो चलो जितना देख सकें उतना ही सही। आदि-अन्तसे हमें क्या प्रयोजन? अच्छा तो जहाँ खड़े हो, वहींसे आरम्भ कर दो। लो, पहले पूर्वसे ही प्रारम्भ हो। पूर्व दिशाको शास्त्रकारोंने भी शुभ कहा है। अहाहा! कैसी मनोहर करतल ध्वनि है? कोमल कण्ठ तो कोकिलाकी कुहू-कुहूको भी लज्जित कर रहा है। जरा क्षणभर ठहरकर इस सुमधुर रागको सुनते तो चलो! सुनो, देखो कैसा कमनीय कण्ठ है। अहा!

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयः कैरवचन्द्रिका वितरणं विद्यावधूजीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्वपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम्॥

अहा! धन्य! धन्य!! महाशय! ये रतिपतिके अवतार कमनीय कान्तिवाले युवक संन्यासी गायक हैं कौन? ये तो बड़े ही उदार दयालु और समदर्शी मालूम पड़ते हैं। हरे राम! रे राम। इतना जबर्दस्त त्याग! इतनी उदारता!! किसीसे कुछ मूल्य ही नहीं लेते। बिना किसी भेद-भावके ये तो सबको भर-भर प्याला पिला रहे हैं। न जाने क्यों, हमारे मनको ये हठात् अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं? तुम मुझे जल्दीसे इनका परिचय दो। हैं, क्या कहा? ये ही महाप्रभु **गौराङ्गदेव** हैं। अहोभाग्य! इनकी दूकानपर तो बड़ी भीड़-भाड़ है। मालूम पड़ता है इन्होंने कोई नूतन मादक आसव तैयार किया है। तभी तो गरीब, अमीर, पण्डित, मूर्ख, ब्राह्मण, चाण्डाल, आर्य और यवन—सभी-के-सभी एक ही पंक्तिमें बैठकर पान कर रहे हैं। कोई किसीका लिहाज ही नहीं करता। अरे! इनके पास यह मतवालेकी तरह कौन नाच रहा है? कोई विद्वान् पुरुष-सा ही मालूम होता है। नहीं यार! क्या न्याय-वेदान्त-सांख्य-मीमांसाके दिग्गज विद्वान् आचार्य वासुदेव सार्वभौम इस बेहूदेपनसे नृत्य कर सकते हैं? अरे! हाँ, मालूम तो वे ही पड़ते हैं, परंतु ये बड़बड़ा क्या रहे हैं! जरा कान लगाकर सुनें भी तो—

परिवदतु जनो यथातथायं
ननु मुखरो न ततो विचारयामः।
हरिरसमदिरामदेन मत्ता
भुवि विलुठाम नटाम निर्विशामः॥

हाँ, इस हरि-रसमें इतनी मादकता है? अरे! इस

मधुर मादक मदिराके वितरण करनेवाले महापुरुष तू धन्य है। भैया, मैं इसका एक बूँद भी पान करनेका अधिकारी नहीं हूँ। जब इतने बड़े-बड़े पण्डित अपने पाण्डित्यके अभिमानको त्यागकर—अमानी होकर पागलोंकी भाँति नृत्य करने लगते हैं तो न जाने मुझ अधमकी क्या दशा होगी? भैया, मुझसे तो इस प्रकार खुलकर नहीं नाचा जायगा। तुम जल्दीसे आगे बढ़ो, हमें तो अभी बहुत कुछ देखना है। बिना वासनाओंके क्षय हुए कोई भी मनुष्य इस अद्भुत आसवके पान करनेका अधिकारी नहीं हो सकता।

अरे, यह क्या? इतनी ही देरमें कायापलट! ये हैं कौन? तुम इन्हें अब नहीं पहिचान सकते। इन्होंने च्यवनप्राशका सेवन कर लिया है। तभी तो इनकी ऐसी कायापलट हो गयी है। तुमने इन्हें बहुत बड़ा देखा होगा! पहले तुमने इन्हें हजारों आदमियोंपर हुकूमत करते पाया होगा, फिर भला, अब तुम इन्हें कैसे पहिचान सकते हो? अब तो ये **'तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना'** हो गये हैं। ये गौड़ेश्वरके भूतपूर्व मन्त्री और सहोदर भाई **रूप** तथा **सनातन** हैं। देखते हो न, कैसे हो गये हैं? इन्हें भी उस प्यालेका चस्का लगा। रूप तो महाप्रभुसे मिलते ही ***'नौ दो ग्यारह'*** हुए। सनातन कारागारसे छिपकर भागे और वनों-जंगलों तथा पर्वतोंको पार करते हुए ***'आमाय गौराचांद डाकि छे'*** पुकारते हुए पैदल ही काशी आये और जबतक एक प्याला चढ़ा नहीं लिया, तबतक इन्हें चैन नहीं मड़ा। बस, तभीसे ये वृन्दावनवासी हो गये।

ये इनकी बगलमें कौन हैं? ये इनके भतीजे **जीव गोसाईं हैं**। पण्डित होनेपर भी ये भारी भक्त हैं। हैं तो इन लोगोंके भतीजे तथा शिष्य ही। इन दोनों भाइयोंके सदृश इनमें सादगी और सीधापन नहीं है। फिर भी इनके बाँके भक्त होनेमें संदेह नहीं। इनके पास ही यह युगल जोड़ी कैसी? ये दोनों भट्ट महोदय हैं। एकका नाम है **रघुनाथ भट्ट** और दूसरेका **गोपाल भट्ट**। इनकी भागवतकी कथा बड़ी ही मनोहर होती है।

ठहरो ज़रा, ऐसी जल्दी क्यों करते हो? वह देखो ढीली धोती पहने हाथमें जपकी थैली लटकाये ये कौन महोदय आ रहे हैं? ये हैं कृष्णपुरके प्रसिद्ध ताल्लुकेदार श्रीगोवर्धनदास मजूमदारके लाड़िले लड़ेते लड़के। इनका नाम है **रघुनाथदास**। घर-द्वार, कुटुम्ब-कबीला और जमीन-जायदाद सबपर लात मारकर ये हरि-भजन करने चले आये हैं। ये जातिके कायस्थ हैं, फिर भी निरामिषभोजी हैं। यह तुमने कैसी बिना सिर-पैरकी बात कह डाली? वैष्णव तो सभी ही निरामिषभोजी होते हैं। तुम समझे नहीं, इनके लिये यह कार्य बहुत ही प्रशंसनीय है। कहावत है कि ***'गिलोय एक तो वैसे ही कड़वी थी तिसपर नीम चढ़ी।'*** एक तो बंगाली और तिसपर भी कायस्थ। खैर, छोड़ो इस नीरस प्रसङ्गको। हाँ, तो ये बड़े भागवत वैष्णव हैं। प्रेमके पीछे इन्होंने सभी संसारी सुखोंको तृणवत् समझकर उन्हें सदाके लिये त्याग दिया है। ऐसे ही हरिरस-माते भगवद्भक्तोंके सम्बन्धमें तो दयाबाईने कहा है—

हरि रस माते जे रहैं, तिनको मतो अगाध।
त्रिभुवनकी सम्पति 'दया' तृन सम जानत साध॥

अहा! देखो न, चारों ओर कैसी बहार है। चारों ओर भक्त-ही-भक्त दृष्टिगोचर हो रहे हैं। क्योंजी, ये इतने उत्कण्ठित-से क्यों हैं? भाई! ये सब सूरके दर्शनोंको लालायित हो रहे हैं। चलो जल्दीसे चलें, नहीं हमलोग पिछड़ जायँगे। वह देखो, ये जो सामने अपने सुमधुर गायनसे श्रोताओंको चित्रवत् बनाये हुए हैं, ये ही व्रज-साहित्य-गगनके सूर्य **सूरदासजी** हैं। हाथमें वीणा लिये प्रेममें पागल होकर कीर्तन कर रहे हैं। यही इनका रात-दिनका काम है। इन्होंने आँखें क्यों बंद कर ली हैं? अरे भाई! इस असार संसारकी ओरसे बिना आँखें बंद किये कोई उस अमृतानन्दका पान नहीं कर सकता। आँखें मूँदकर ये उस अनिर्वचनीय आनन्दरूप अमृतत्वकी इच्छा कर रहे हैं।

भगवती श्रुति इनके ही सम्बन्धमें तो कह रही है **'आवृत्त चतुरमृतत्त्वमिच्छन्'** इन्हें जरा ध्यानपूर्वक देखो। इनकी परख करनेके लिये हृदय चाहिये हृदय! कैसा हृदय? जलता हुआ, विरह-व्यथामें तड़पता हुआ, वात्सल्य-प्रेममें सना हुआ। अहा, इनके वाक्यबाण प्रेमी हृदयोंमें

कसक पैदा कर देते हैं। भावुक हृदयमें गुदगुदी होने लगती है। विद्वानोंका कथन है कि संस्कृत भाषाके दो-एक कवियोंको छोड़कर संसारमें आजतक किसी भी भाषाके कविने शिशु-सौन्दर्य और स्वभावका ऐसा जीता-जागता, बोलता हुआ वर्णन नहीं किया है। इस बातको तो विश्वसाहित्यके विद्यार्थी ही जानें। अपने राम तो इनकी कविता ही सुननेके इच्छुक हैं। सावधान, अब ये गानेहीवाले हैं। बालक कृष्णकी बाल्यावस्थाका कैसा सुन्दर वर्णन करते हैं—

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुअन चलत रेनु तन मंडित मुखमें लेप किये॥
चारु कपोल लोल लोचन छबि गोरोचनको तिलक दिये।
लर लटकन मानो मत्त मधुपगन माधुरि मधुर पिये॥
कँठुला कंठ वज्र केहरि नख राजत हे सखि रुचिर हिये।
धन्य सूर एकौ पल यह सुख कहा भयो सत कल्प जिये॥

(वाह रे, कन्हैयाके रूपके कथक!) तैंने तो कलेजा काढ़के रख दिया। आँखें तो थीं ही नहीं, ये सब लीला तुम कैसे देख रहे थे। बिना प्रत्यक्ष आँखोंसे देखे कोई ऐसा अद्भुत वर्णन कर सकता है? हाँ, अब समझे। ये अलौकिक भाव हैं। अलौकिक भाव क्या इन लौकिक चर्मचक्षुओंसे देखे जा सकते हैं। तुमने दिव्य चक्षुओंसे इन सब लीलाओंका प्रत्यक्ष किया है।

चलो भाई अब किधर चलना है? सामने ही तो। यह देखो। ये **हितजी** हैं। अहा, क्या ही बहार है! सिवा प्यारी-प्यारेके इन्हें और कुछ भाता ही नहीं। ये अनन्य राधावल्लभीय सम्प्रदायके प्रवर्तक हैं। ये भक्त हैं, प्रेमी हैं, रसिक हैं और कवि भी हैं। हाँ, सच्चे कवि हैं। सरस हैं, सहृदय हैं। पागल होकर गा रहे हैं—

ब्रज नव तरुणि कदम्ब मुकुट मणि श्यामा आजु बनी।
नखसिख लौं अँग अंग माधुरी मोहे श्याम धनी॥

बड़ी सुन्दर दुनियामें ले आये यार! परंतु इस दूकानमें तो कुछ भी ठाठ-बाट नहीं। यहाँ तो खाली टट्टी-ही-टट्टी गड़ रही है। परंतु फिर भी यहाँ न जाने क्यों इतने ग्राहक खड़े हुए हैं? यह बात भी नहीं कि सभी ग्राहक दरिद्री ही हों। इनमें तो राजे-महाराजेतक दिखायी पड़ते हैं! अरे, इन्हें तुम नहीं जानते! ये परम रसिक **श्रीहरिदास स्वामी** हैं, जिनकी जूतियोंपर सम्राट् अकबर एक साधारण सेवककी पोशाकमें आकर बैठा था। जगत् प्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेन इन्हींके शिष्य थे। ये टट्टियोंमें ही निवास करते हैं। करुवेका ही पानी पीते हैं और गुदड़ी ही ओढ़कर सोते हैं। *'कर करुआ गुदरी गरे'* यही इनका बाना है। आठों पहर इन्हें बिहारी-बिहारिनिके साथ विहार करना ही भाता है। दुनियाके प्रपञ्चोंसे इन्हें कोई भी सरोकार नहीं। टट्टी-सम्प्रदायके ये ही आदि आचार्य और संस्थापक हैं। ये संसारमें किसीसे भी भय नहीं मानते, सब घटमें भगवान्को जानकर ये निर्भय होकर विचरते हैं। सुनिये ये स्वयं कह रहे हैं—

अब हौं कासों बैर करौं?
कहत पुकारत प्रभु निज मुखते, घट घट हौं बिहरौं॥
आप समान सबै जग लेखौं, भक्तन अधिक डरौं॥
श्रीहरिदास कृपा ते हरिकी नित निर्भय बिचरौं॥

चलिये महाराज, यहाँ हमारी दाल नहीं गलनेकी। हम अभी इतने निर्वैरी नहीं हुए हैं। आगे बढ़ो! अच्छा तो इधर मुँह फेरो!

अरे, क्या बंगालमें आ गये! हाँ, यही तो मजा है, इसमें यह सब कुछ मालूम नहीं पड़ता कि कहाँ हैं। हमने तुमसे पहले ही कहा था न कि यह अनादि-अनन्त हाट है। न इसके ओरका ठिकाना है, न छोरका। ये भक्तप्रवर **श्रीरामप्रसादजी** हैं। कालीमाईके मानसपुत्र हैं। अहा, इनके प्रेमका क्या कहना है! मानो कालीमाईका प्रेम साक्षात् शरीर धारण करके नृत्य कर रहा है। बंगदेशमें इतने ऊँचे भक्त और कवि विरले ही हुए हैं। ये मातासे सदा यही वरदान माँगा करते हैं *'आमाय पागल करे दे मा'* ये सचमुच पागल हैं। *हाथ कंगनको आरसी क्या?* इस बातको ये स्वयं ही स्वीकार करते हैं—

सुरा पान करिने आमि, सुधा खाइ जय काली बोले।
मन माताल मेते छे आमाय, मद माताले मा! मा! बोले॥

नहीं! चलो भाई, जल्दीसे आगे बढ़ो ऐसा न हो कि इनके संसर्गमें पड़कर हम भी नृत्य करने लगें तो सम्पूर्ण प्रतिष्ठा धूलिमें मिल जायगी। ये महाभाग कौन हैं? अष्टछापवाले **नन्ददासजी** ये ही हैं। धन्यभाग महाशय! ये

तो बड़े ही अमानी मालूम पड़ते हैं! ठीक ही है भाई, बिना अमानी हुए कोई हरिकीर्तनका अधिकारी भी तो नहीं हो सकता। इन्होंने अपनी सम्पूर्ण अवस्था व्रजमें रहकर कृष्णकीर्तन करते हुए ही बितायी है। इन्हें प्रतिष्ठाकी तनिक भी इच्छा नहीं। ये प्रतिष्ठाको 'सूकरीविष्ठा' के सदृश समझते हैं। कामिनी, काञ्चन और कीर्ति कुछ भी नहीं चाहते। ये तो खाली प्रेमके भूखे हैं। इनके मतसे प्रेमके समान 'ग्यान-जोग' कुछ भी नहीं है—

जो ऐसी मरजाद मेटि मोहनको ध्यावैं।
काहि न परमानन्द प्रेम पद पीको पावैं॥
ग्यान जोग सब करमते, प्रेम परे ही मांच।
यों यहि पटतर देत हौं हीरा आगे कांच॥
विषमता बुद्धि की।

सुना आपने? अरे यार, सुना तो सब कुछ, परंतु यह क्या? यहाँ तो स्त्रियाँ भी हैं! तो फिर इसमें आश्चर्यकी ही कौन बात है? यहाँ स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े, राजा-रंक और मूर्ख-पण्डित किसीका भी भेदभाव नहीं है। यहाँ आनेको हिम्मत चाहिये। जिसमें हिम्मत हो वही आ सकता है। मालूम है कैसा बनकर इस बाज़ारमें कोई आ सकता है! अच्छा तो सुनो—

सीस उतारै भुइँ धरै, ता पर राखै पाँव।
दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव॥

है तुममें सामर्थ्य! भैया, मुझे नहीं चाहिये। तुम यहाँसे आगे चलो। 'भाई, इतने क्यों घबड़ाते हो? यदि तुम सीस नहीं दे सकते तो जिन्होंने सीस समर्पित कर दिया है, उनके दर्शन तो कर ही सकते हो। देखो, ये चित्तौड़की महारानी हैं। अपने प्यारे गिरिधरलालके पीछे पगली बन गयी हैं। इनका नाम है **मीराबाई**। इन्होंने कलियुगमें भी गोपियोंके प्रेमको प्रत्यक्ष करके दिखला दिया है। ये अपनी धुनकी बड़ी पक्की हैं। अपने प्यारेके पीछे ये परिवारवालोंकी कुछ भी परवा न करके देश-परदेशमें मारी-मारी फिरती हैं। इनके प्रेमके प्रभावसे जहर अमृततुल्य हो गया, पिटारीका साँप भी शालग्राम बन गया! तो भी ये बड़े कष्टमें हैं। इनके दुःख-दर्दको भला कौन जान सकता है! सुनो इनकी मनोव्यथा, ये अपने-आप ही अपना दुखड़ा रो रही हैं—

हे री मैं तो दरद दिवाणी, मेरा दरद न जाणै कोय॥
घायलकी गति घायल जाणे जो कोइ घायल होय।
जौहरिकी गति जौहरी जाणै, की जिन जौहर होय॥
सूली ऊपर सेज हमारी किस बिध सोवण होय।
गगन मँडल पर सेज पियाकी, किस बिध मिलणा होय॥
दरदकी मारी बन-बन डोलूँ बैद मिल्या नहिं कोय।
मीराकी प्रभु पीर मिटैगी जब बैद साँवलियाँ होय॥

भाई, बड़ा करुण-कण्ठ है। ऐसी करुण-कहानी तो मैंने आजतक नहीं सुनी। हृदयके अन्तस्तलके सजीव उद्गार हैं!

अहा, ये तो कोई गुजराती महाशय हैं! हाँ परम भागवत अनन्यवैष्णव स्वनामधन्य **श्रीनरसी मेहताजी** आप ही हैं। स्वयं श्रीहरि इनके सहायक हैं। इनके सभी काम वे अपने ही हाथोंसे करते हैं। ये परायी पीरको भी जानते हैं। इन्होंने वैष्णवकी परिभाषा ही यह की है—

वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड पराई जाणे रे।

तुम परायी पीर जानते हो? भाई, कैसा बेढंगा प्रश्न कर देते हो। चलो आगे बढ़ो। ये तो पगड़ी बाँधे हुए हैं, कोई महाराष्ट्रके महापुरुष जान पड़ते हैं। हाँ भाई, ये महाराष्ट्रके प्रसिद्ध संत हैं। महाराष्ट्रमें कीर्तनके समय जिन सात महापुरुषोंका नाम लेकर कीर्तन आरम्भ किया जाता है, उनमें इनका भी नाम है। वे सात कौन-कौन हैं, जानते हो? 'निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान, मुक्ताबाई, एकनाथ, नामदेव और तुकाराम'। ये **तुकारामजी** महाराज ही हैं। इन्होंने विधिनिषेधका झंझट त्याग दिया है। वेदान्तियोंका तो कथन है कि सभी नाम-रूप मिथ्या हैं। उनके मतमें 'नाम' कोई सत् पदार्थ ही नहीं, किंतु इनकी बात निराली ही है। ये नामके ही पीछे पागल हुए फिरते हैं। जिसे देते हैं, उसे नामका ही उपदेश देते हैं। कुछ दुष्टोंने इन्हें गिरानेके लिये एक वेश्याको सिखा-पढ़ाकर इनके पास भेजा। गयी तो थी वह इन्हें रिझाने, वहाँ जाकर वह स्वयं ही रीझ गयी! इन्हें न गिराकर स्वयं ही इनके चरणोंपर गिर पड़ी और फिर ऐसी गिरी कि उठकर फिर नगरमें नहीं आयी। नामके अनन्त सागरमें घुल-मिलकर वह तद्रूप ही

हो गयी!

देखें ये आखिर सब शास्त्रोंका निचोड़ गागरमें सागर भरनेकी तरह थोड़ेमें क्या बताते हैं?

वेद अनंत बोलिला, अर्थ तुकाचि साधिला।
विठोबाची शरण जावे, निज निष्ठे नाम गावे॥

बस, विठोबाकी शरण होकर नाम-गान करना सार है? फिर यार ये पोथे-के-पोथे रचे क्यों गये हैं? विश्वासके लिये। खाली 'राम' इन दो अक्षरोंके ऊपर बुद्धिवादियोंका सहसा विश्वास नहीं होता। इसलिये शास्त्रकार पहले बहुत-सी बातें बनाकर अन्तमें घुमा-फिराकर यही बात कह देते हैं 'विश्वास करो। भगवान्‌का नाम लो'। परंतु बिना उसका असली मर्म जाने कोई इस भेदको पा थोड़े ही सकता है? तुकारामजीने इस मर्मको जाना था। कैसे? शास्त्र-ज्ञानद्वारा! अजी नहीं, अपने अनुभव-ज्ञानसे, राम-नामके प्रतापसे, तभी तो ये निर्भय होकर कह रहे हैं—

अनुभवसे कहता हूँ, मैंने उसे कर लिया है बसमें।
जो चाहे सो पिये प्रेमसे, अमृत भरा है इस रसमें॥

भाई, इनकी बात तो कुछ-कुछ हमारी समझमें भी आती है। खाली मुखसे राम-राम ही तो कहना है, इसमें लगता ही क्या है? हाँ, यह मत समझना। ये भी किसीसे कम नहीं हैं। नामसनेही संत जानके बदलेमें मिलते हैं। *'तुका ह्मणें मिले जिवाचीये साटीं'* लगा सकते हो जीकी बाजी? चलो, चलो भाई, आगे चलो। यहाँ तो बिना जानके कोई बात ही नहीं करता। इन सबके मतसे मानो जानका कुछ मूल्य ही नहीं! कुँजड़ेका गल्ला समझ रखा है!

अच्छा इन्हें जानते हो! हाँ यार, इन्हें जानना भी कोई कठिन काम है, देखते नहीं हो! गलेमें कितनी मालाएँ पड़ी हैं, ठाट-बाटका चन्दन लगा हुआ है, सम्पूर्ण शरीरमें व्रजरज लिपटी हुई है, कोई परम भागवत वैष्णव हैं। अरे, यह तो कोई भी बता सकता है, यह बताओ, ये कौन जातिके हैं? भाई, वैष्णवोंकी भी कोई जाति होती है क्या? *'हरिको भजे सो हरिका होय, जाति पाँति पूछे ना कोय'* हरिजन ही इनकी जाति है; परंतु देखनेमें तो ये कोई उच्च कुलके पुरुष जान पड़ते हैं। तुमने अभी इन्हें पहिचाना नहीं। ये जातिके सैयद हैं। ये दिल्लीके शाही खानदानी राजवंशावतंस श्रीरसखानजी हैं। ये साहिबीको व्यर्थ समझकर छिनभरमें ही बादशाही वंशकी ठसक छोड़ व्रजवासी बन गये और प्रेम-निकेतन श्रीकृष्णचन्द्रजीका पल्ला पकड़कर अन्ततक उन्हींके साथ हास-विलास करते रहे। ये उस ललाम रूपको देखते ही मियाँसे रसखान हो गये। देखते नहीं कैसे मस्त बैठे गुनगुना रहे हैं? सुनें, तो क्या गाते हैं?

मानुष हौं तो वही रसखानि,
बसौं ब्रज गोकुल गाँवके ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो,
चरौं नित नन्दकी धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरिकौ,
जो धर्‍यौ कर छत्र पुरन्दर-धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं,
मिलि कालिंदी-कूल-कदंबकी डारन॥

यार, इनकी वाणीमें तो बड़ी माधुरी और प्रेम भरा है! कुछ पूछो मत। प्रेमका जैसा अद्भुत वर्णन इन्होंने किया है, वैसा वर्णन व्रजभाषामें बहुत ही कम कवियोंने किया है। लो तुम तो अनेक फूलोंका रस चखनेवाले भ्रमर हो न! लो थोड़ा इनके प्रेमपीयूषका भी स्वाद चखते चलो। अहा, क्या ही सुन्दर शब्द-विन्यास है! कैसा ऊँचा आदर्श है! कितनी स्वाभाविकता, सरलता तथा सरसता है—

प्रेम अगम अनुपम अमित, सागर-सरिस बखान।
जो आवत एहि ढिग बहुरि, जात नाहिं रसखान॥

भाई, मुझे यहाँसे जल्दीसे हटाओ। यदि मैं इसमें फँस गया, तब तो सभी गुड़ गोबर हो जायगा। मुझे तो अभी संसारमें बहुत-से काम करने हैं। यदि मैं इस चक्करमें फँस गया तो वे सब तो ज्यों-के-त्यों ही रह जायँगे। *'हे हरि, त्राहि मां! रक्ष मां!!'*

अच्छा तो लो आगे चलते हैं। इन्हें पहिचानते हो? खूब, लो इन्हें भी न जानूँगा? ये कृष्णगढ़ाधीश महाराजा जसवन्तसिंहजी हैं न? अरे, चुप, चुप! यहाँ भूलकर भी फिर इस नामको न लेना। लोग हँसी करेंगे। यहाँ इनका नाम है, महात्मा नागरीदास। राजा होकर भी ये प्रेमी हैं और सच्चे प्रेमी हैं। अपने प्यारेके ऊपर इन्होंने सब कुछ वार दिया है। राजपाट, धन-दौलत तथा स्त्री-बच्चे सभीको

छोड़-छाड़कर ये वृन्दावनवासी बन गये हैं। *'सर्वसुके मुख धूरि दे सर्वसु कै ब्रज धूरि'* बस, व्रजकी धूरि ही अब इनका सर्वस्व है। ये भक्त होनेके साथ कवि ही नहीं, सत् कवि भी हैं। वृन्दावन ही इनका सब कुछ है, कृष्ण ही इनका सखा है, उसके गुणगान करना ही इनका व्यापार है। *'नागरिया नन्दलाल सो निशिदिन गाइयै'* बस, यही इनकी टेक है। यह टेक अब टारी नहीं टरती। एक बारकी लगी लगन फिर छुड़ायेसे भी नहीं छूटती। इन्हें लगन लग गयी है और सच्ची लग गयी है। तभी तो ये वार-पार हो गये हैं। कबीरदासजीने इन्हींके सम्बन्धमें तो यह कहा है—

लागी लागी सब कहैं, लागी बुरी बलाय।
लागी तबही जानिये, जब वार पार ह्वै जाय॥

इधर ये दो बाई कौन हैं? इन बाइयोंकी बात क्या पूछते हो? ये दोनों बहनें हैं। ये दोनों ही महात्मा चरनदासजीकी चेली हैं। इनमेंसे एकका नाम तो है **सहजोबाई** और दूसरीका **दयाबाई**। इनकी उत्कट भक्ति और सच्ची लगनके सम्बन्धमें अब हम आपसे क्या कहें? सहजोबाई प्रेमीकी दशाका वर्णन करती हुई कहती हैं—

प्रेम दिवाने जो भये, कहैं बहकते बैन।
सहजो मुख हाँसी छुटै, कबहूँ टपकें नैन॥

दयाबाईकी दीनता और विरह-वेदना बड़ी ही मर्मस्पर्शी है! सुनिये किस करुण-कण्ठसे प्रभुसे प्रार्थना कर रही हैं—

जनम जनमके बीछुरे, हरि अब रह्यो न जाय।
क्यों मनकूँ दुख देत हौ, बिरह तपाय तपाय॥
बौरी ह्वै चितवत फिरूँ, हरि आवैं केहि ओर।
छिन ऊठूँ छिन गिरि परूँ, राम दुखी मन मोर॥

अब यहीं अटके रहोगे, कि आगे भी बढ़ोगे? अरे, यहाँ कहाँ ले आये? 'ये गङ्गाजीकी गैलमें मदारके गीत कैसे?' यहाँ तो सर्वत्र कारखाने-ही-कारखाने दीखते हैं। बाबा! यहाँ मुझे क्यों ले आये? *'आये थे हरिभजनको ओटन लगे कपास'* क्या भक्तोंकी हाट छोड़कर अब मिलोंमें पाट परखने चल रहे हो? भाई, जरा धैर्य धारण करो। जानते हो इस नगरका क्या नाम है? इसका नाम है कलकत्ता। यही पश्चिमी सभ्यताकी जीती-जागती तसवीर है। परंतु तुम इतने घबंरा क्यों गये? कभी पहाड़की यात्रा की है या नहीं? जहाँ बिच्छूका पेड़ होता है, ठीक उसके नीचे ही उसकी दवा भी होती है। नगरसे निकल चलो तब तुम्हें पता चलेगा।

न जाने क्यों, इस स्थानमें मेरा मन स्वतः ही शान्त-सा हो रहा है? वृत्तियाँ अपने-आप ही स्थिर हो रही हैं! अजी, यदि ऐसा हो रहा है तो इसमें आश्चर्यकी ही कौन-सी बात है? अभी थोड़े ही दिन हुए यहाँपर एक ऐसे महात्मा हो चुके हैं, जिनकी ख्याति भारतवर्षमें ही नहीं दूसरे-दूसरे देशोंतकमें फैल गयी है। इस स्थानका नाम है दक्षिणेश्वर। **परमहंस रामकृष्णदेव**ने यहीं रहकर सिद्धि प्राप्त की थी और यहींपर रहते हुए अपनी वाक्-सुधाद्वारा वे संसारी तापोंसे संतप्त प्राणियोंकी परम पिपासाको शान्त करते रहे। वे कुछ पढ़े-लिखे नहीं थे, किंतु तो भी अच्छे-अच्छे पण्डित उनके चरणोंमें बैठकर उनके मुख-निःसृत स्वाभाविक ज्ञानका बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ पाठ पढ़ते थे। उन्होंने व्याख्यान-मञ्चपर खड़े होकर न तो कभी व्याख्यान ही दिया और न लेखनी लेकर ग्रन्थोंका ही प्रणयन किया फिर भी उन्होंने सम्पूर्ण धर्मशास्त्रोंका मर्म कह डाला। कबीरदासजीने मानो इन्हें ही लक्ष्य करके यह बात कही थी—

मसि कागज तो छुयो नहिं, कलम गही नहिं हाथ।
चारिहु युग माहात्म्य तेहि, कहिकै जनायो नाथ॥

उन्होंने जबानी ही सब शास्त्रोंके उपदेश कह डाले। भाई, ये माताके प्रेममें सदा मग्न रहते थे, शरीरकी भी सुधि-बुधि नहीं! क्षण-क्षणमें समाधि! माताके साथ बातें करना ही इनका व्यापार था। इन्हें अपनी जननीके ऊपर दृढ़ विश्वास था। एक बार इन्होंने अपनी माताको लक्ष्य करके बड़ी ही दृढ़ताके साथ कहा था—

आमि दुर्गा दुर्गा बोले मा यदि मरि।
आखेरे से दिने ना तारे केमन जाना जाबेगो शङ्करी॥

ठीक है महाराज, मातामें भला इतनी हिम्मत कहाँ जो वह तुम्हारी चुनौती स्वीकार कर ले? उसे तो तारना ही होगा। परमहंसदेवके सदुपदेशोंसे पश्चिमीय सभ्यताका घटाटोप

बहुत कुछ छिन्न-भिन्न हो गया। लोग अज्ञानान्धकारकी ओरसे हटकर ज्ञानालोककी ओर अग्रसर हुए। पश्चिमीय सभ्यताके चकाचौंधमें सोते हुए युवकोंने 'प्रभात हुआ' समझकर अँगड़ाई लेते हुए, अलसायी आँखोंसे एक बार अपने चारों ओर देखा। उन्हें अन्धकारमें आलोकका आभास होने लगा, वे उसी ओर बढ़नेको उत्सुक हुए।

अहा! ये तो बड़े सुन्दर युवक हैं, इस अवस्थामें इतनी सौम्यता! ऐसी सरसता! इतनी तन्मयता! शरीरका कुछ भान ही नहीं। मस्त हैं, मानो कहीं संसार है ही नहीं। मुझे इनका पूरा परिचय दो। भाई, इनका नाम है जगद्बन्धु। बन्धुभक्त इन्हें साक्षात् गौराङ्गदेवका अवतार बताते हैं। इन्होंने चिरकालतक जनसंसदिसे पृथक् रहकर विकट साधना की है। ये बालब्रह्मचारी हैं, स्त्रियोंके दर्शनतक नहीं करते। इन्होंने अपनी कीर्तनकी ध्वनिसे बंगालके एक प्रान्तमें फिर चैतन्यका समय लाकर उपस्थित कर दिया। देखते हो न? सौन्दर्य इनके चेहरेसे फूट-फूटकर निकल रहा है। ये इस धराधामपर थोड़े ही दिन बिराजे, परंतु इतने ही दिनमें ये वह कार्य कर गये, जिसे सैकड़ों मनुष्य चिरकालमें भी न कर पाते। देखते हो न, इनके कण्ठमें कितनी करुणा है? लो जल्दीसे भक्तिरसमें पगा हुआ इनके संकीर्तनका एक बँगला पद भी सुनते चलो!

एस हे ओहे वंशीधारी।
आमि भजन पूजन नाहि जानि हे, हरि आमि अति पापाचारी॥
हरि अपार भव-जलधि हे, ताहे तरङ्ग उठि छे भारी॥
हरि आमार अति जीर्ण तरी हे, हरि त्वराय एसे हओ काण्डारी॥
एक बार जय राधा श्रीराधा बोल हे, हरि बाजाओ मुरली तोमारी॥
जाग जाग राधा दामोदर हे, जाग जाग हृदये आमारि॥

भाई, अब तो मैं थक गया। अब यहीं समाप्त करो। आगे नहीं चला जाता। पैरोंमें पीड़ा होती है। बहुत देखा, अब तो थकान आ गयी है। मुझे तो नींद आ रही है, अब सोऊँगा। अच्छा भाई, तुम जाकर सोओ। मैं तो अब एकान्तमें बैठकर रोऊँगा! तुम्हें भी पागलपन सवार हुआ क्या? रोनेसे क्या होता है? भाई, रोनेसे ही तो सब कुछ होता है। वह मीत बिना रोये मिलता भी तो नहीं। देखो, कबीरदासजी क्या कहते हैं—

कबीर हँसना दूर कर, रोनेसे कर प्रीति।
बिन रोये क्यों पाइये, प्रेम पियारा मीत॥

रोनेसे ही तो सब कुछ होता है। अपनी-अपनी रुचि ही तो है, उसे रोना ही भाता है। जो उसके लिये जितना ही अधिक व्याकुल होकर रोता है, वह उससे उतना ही अधिक प्रसन्न होता है। आजतक जितने भी उसे चाहनेवाले हुए हैं, सब रोते ही रहे हैं। सुनो—

हँस हँस कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय।
हाँसी खेले पिउ मिलैं, तो कौन दुहागिनि होय॥

'तुम्हारी इच्छा भाई! जब तुम जान-बूझकर ही आगमें कूदते हो तो हम क्या करें? परंतु देखना इतनी बात याद रखना। इस चक्करमें फँसे तो फिर उम्रभर रोना ही हाथमें रह जायगा! तुम भी इन लोगोंकी भाँति सदा ताकते ही रहोगे। फिर संसारके सभी सुखोंसे हाथ धोना पड़ेगा।'

'भैया, तुम्हारा मुँह घी-शक्करसे भरे। हा! वह शुभ दिन कब होगा, जब मैं भी इन्हीं प्रेमके पुजारियोंकी भाँति इनके चरणोंमें बैठकर अपने प्यारेके लिये रोता रहूँगा। मेरी तो अभिलाषा ही यह है। मैं तो अपने प्यारेसे सदा यही भिक्षा माँगा करता हूँ। बताऊँ मैं उससे कैसा जीवन चाहता हूँ?' लो, अन्तमें मेरी अभिलाषा भी सुनते जाओ—

बद्धेनाञ्जलिना नतेन शिरसा गात्रैः सरोमोद्गमैः
कण्ठेन स्वरगद्गदेन नयनेनोद्गीर्णवाष्पाम्बुना।
नित्यं त्वच्चरणारविन्दयुगलध्यानामृतास्वादिना-
मस्माकं सरसीरुहाक्षसततं सम्पद्यतां जीवितम्॥

हे कमलनयन! हे सरसीरुहाक्ष! मेरे दोनों कर बँधे हुए हों, मस्तक नत हो और सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च हो रहे हों, करुणकण्ठसे—गद्गद होकर तुम्हारी प्रार्थना करता होऊँ और आखोंसे अश्रु-वर्षा हो रही हो। नित्य ही तुम्हारे चरणारविन्दोंके ध्यानामृतका पान करता होऊँ। बस, नाथ! मेरी यही प्रार्थना है, इस प्रकारका जीवन मुझे निरन्तर प्रदान कीजिये!

* * *

लीला-दर्शन—

नित्य-मिलन

श्याम आज बहुत प्रसन्न है। यह आनन्दकन्द है। इसके समीप पहुँचते ही दूसरोंका विषाद-खिन्न मुख खिल उठता है। जहाँ जाता है, हर्ष-आह्लादकी वर्षा करता चलता है; किंतु आज तो लगता है जैसे पूर्णिमाके दिन महासमुद्रमें ज्वार उठ रहा हो।

मैयाने शृङ्गार कर दिया है। सिरपर तेल-स्निग्ध घुँघराली काली सघन मृदुल अलकोंको थोड़ा समेटकर उनमें मोतियोंकी माला लपेट दी है और तीन मयूरपिच्छ लगा दिये हैं।

भालपर गोरोचनकी खौरके मध्य कुंकुमका तिलक है। कुटिल धनुषाकार सघन भौंहोंके नीचे अञ्जन-रञ्जित विशाल लोचन प्रसन्नतासे खिले हैं। कर्णोंमें पुष्परागके पीत कुण्डल झलमला रहे हैं। अतसी-कुसुम सुकुमार नासिकाके नीचे लाल-लाल पतले अधर बार-बार हास्योज्ज्वल हो रहे हैं और चमक-चमक उठती है उनके पीछे उज्ज्वल, पतली दन्तपङ्क्ति।

कण्ठमें प्रभातकी अरुणिमाका उपहास करनेवाला कौस्तुभ मणि, मुक्तामाल, वैजयन्ती माला और पटुकेके मध्य विकच सरोजके समान खिला है।

वक्षपर तनिक वामपार्श्वमें स्वर्णिम रोमराजिका श्रीवत्स-चिह्न, लहराती वनमालाके अङ्कमें छहर-छहर उठती मुक्तामालकी शोभा और उसके नीचे उदरकी त्रिवलीके मध्य नाभिका गम्भीर नन्हा गड्ढा। पतले चिकने उदरपर क्षीण कटिके सम्मुख यह नाभि लगती है जैसे शोभाकी राशिपर इन्द्रनीलमणि धर दी गयी हो।

भुजाओंमें रत्नाङ्गद हैं। कलाइयोंमें रत्नकङ्कण हैं। खिले हुए नवीन कमलके समान अरुण करोंमें पतली लाल-लाल अँगुलियाँ और उनके सिरेपर पाटलारुण ज्योति बिखेरते नख।

कटिमें पीत कछनीके ऊपर रत्नकिङ्किणी रुनझुन करती जाती है। चरणोंमें नूपुर हैं और वीरवधूटी भी क्या इतनी सुकुमार, अरुण होगी जितने इस व्रजराजकुमारके पादतल हैं।

अभी न इसने शृङ्ग लिया है, न वेत्र-लकुट। केवल मुरली कटिकी कछनीमें दाहिनी ओर लगी है। अभी तो सखा आनेवाले हैं। सब आ जायँगे तो सबके साथ कलेऊ करेगा और तब शृङ्ग, लकुट लेकर गोचारणके लिये निकलेगा।

वनमालाके अतिरिक्त शरीरपर और कोई पुष्प या पुष्पमाला नहीं है। यह शृङ्गार तो सखा वनमें पहुँचकर करेंगे। अभी तो अमल सुचिक्कन कपोलोंपर भी कोई चन्दन अथवा वनधातुकी पत्र-रचना नहीं है।

दाऊ दादा—नील वसन, एक कुण्डलधर दाऊका मैया अभी शृङ्गार कर रही हैं। उनको सम्मुख बैठाकर उनकी अलकें समेट रही है कि उनपर मुक्तामाल लगा दे। दाऊ शान्त बैठे हैं मैयाके समीप, मैयाकी ओर मुख करके।

माता रोहिणी कलेऊ सजानेमें लगी हैं। अभी सब बालक आयेंगे और सबके साथ ही उनके राम-श्याम कलेऊ करेंगे।

भद्रको कहींसे आना तो रहता नहीं। बाबाके समीप रहता है। बाबा ही इसे अपने साथ स्नान कराते हैं। बाबाके साथ गोदोहन करके गोष्ठसे भवनमें आ जाता है। आज जैसे ही भवनमें आया, कन्हाईने लगभग झपटकर दोनों भुजाएँ कण्ठमें डाल दीं और लिपट गया।

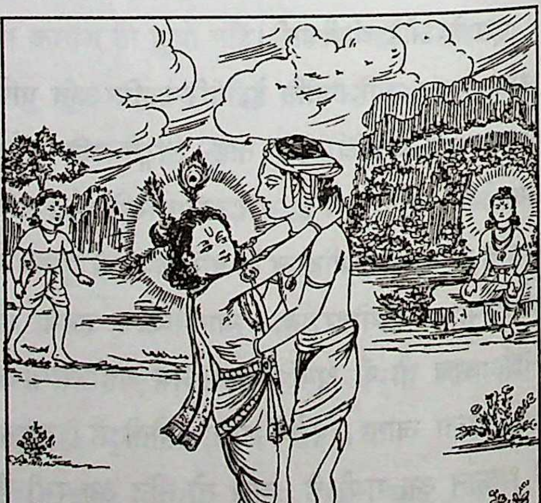

अङ्ग-अङ्ग, रोम-रोम आनन्दसे खिला जा रहा है। हर्षोत्फुल्ल लोचन, आनन्द-तरङ्गायित सम्पूर्ण देहवल्ली। भद्रने भुजाओंमें भर लिया। बड़े स्नेहसे पूछा—'आज

इतना प्रसन्न है, क्या मिल गया है तुझे?'

'तू मिल गया है!' कन्हाई और अधिक प्रफुल्लित होकर भद्रको भुजाओंमें कस लेता है।

'मैं!' भद्र खिलखिलाकर हँसता है—'मैं कब तेरा नहीं था? मैं कब तुझसे अनमिला था? मैं क्या आज तुझे मिला हूँ?'

'तू मिल गया है!' कन्हाई कुछ सुनता नहीं। आज इतना प्रफुल्लित है कि भद्रकी बात इसकी कर्णपल्लीतक पहुँचती ही नहीं।

'तू मिल गया है!' सखा आ रहे हैं और यह नन्दनन्दन एक-एकके कण्ठसे उल्लसित होकर, कण्ठमें दोनों भुजाएँ डालकर लिपट रहा है।

सुबल, विशाल, अर्जुन, ऋषभ, वरूथप, अंशु, तेजस्वी, देवप्रस्थ, तोक, मधुमङ्गल, श्रीदाम—सबसे यह आज ऐसे ही लिपट-लिपटकर मिल रहा है और यह प्रसन्न है, आनन्दमग्न है तो गोपकुमार सभी आनन्दमग्न हैं। सब हुलसकर इसे भुजाओंमें भर रहे हैं, सब हँस रहे हैं।

मैयाके आगे बैठे दाऊ तनिक सिर घुमाकर अपने अनुजका सखाओंसे मिलना देख रहे हैं। रात्रिके कुछ घण्टे पीछे सखा मिले हैं और यह कनूँ ऐसे मिल रहा है जैसे युग-युग, कल्प-कल्पपर मिले हों इसे। इनके मिलनकी ही प्रतीक्षा करता रहा हो। इसका यह नित्य मिलन!

~~~

'सबसों ऊँची प्रेम-सगाई'

प्रेमकी वेदीपर सर्वस्व समर्पण कर देना ही प्रेमीका एकमात्र ध्येय होता है। प्राण देकर भी यदि प्रेमास्पदके किसी काम आया जा सके तो इससे बढ़कर सौभाग्यकी और बात ही क्या हो सकती है? प्रेमी तो रात-दिन इसी चिन्तामें निमग्न रहता है कि उसे ऐसा कोई सुयोग मिले, जिससे वह इस सौभाग्यको उपलब्ध कर अपने जीवनको सार्थक बना सके। इसी व्यथाको लेकर वह रात-दिन छटपटाया करता है।

प्रेमास्पदके अमङ्गलकी थोड़ी-सी भी आशङ्कासे प्रेमी व्याकुल हो उठता है, तभी तो भरतको इतनी भारी सेना साथमें ले जाते देखकर वह भोला निषाद यह सोच बैठा कि अवश्य ही कैकेयी-सुवन भरत श्रीरामको मारनेके विचारसे जा रहे हैं। उसके निर्दोष अन्तस्तलमें तो निष्कपटता और सिधाईका ही एकच्छत्र साम्राज्य था, वह भला क्या जानता कि भरतका हृदय कैसा है? उस-सरीखे व्यक्तिसे तो ऐसी ही आशा की जानी चाहिये थी। पर इस विचारसे ही उसका माथा ठनकने लगा। प्रेमास्पदपर संकटकी आशङ्का देखकर ऐसा होना स्वाभाविक ही है। बस, कर्तव्यका निश्चय करनेमें उसे क्षणभरकी भी देर न लगी। 'मेरे रहते भरतकी यह हिम्मत कि वे गङ्गापार कर मेरे प्रियतमपर चढ़ाई कर दें! ऐसा नहीं हो सकता!' वह तुरंत ही अपने सारे साथियोंको एकत्र कर आज्ञा दे देता है—

होहु सँजोइल रोकहु घाटा। ठाटहु सकल मरै के ठाटा॥
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ॥
(रा० च० मा० २। १९०। १-२)

कितने सौभाग्यका विषय है—

समर मरनु पुनि सुरसरि तीरा। राम काजु छनभंगु सरीरा॥
भरत भाइ नृपु मैं जन नीचू। बड़ें भाग असि पाइअ मीचू॥
स्वामि काज करिहउँ रन रारी। जस धवलिहउँ भुवन दस चारी॥
तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरें। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें॥
(रा०च०मा० २। १९०। ३—६)

अरे, यहाँ तो 'Head I win, tail you lose.'—चित्त भी मेरी, पट्ट भी मेरी। सभी तरहसे अपने पौ बारह हैं। इस क्षणभङ्गुर शरीरद्वारा प्रियतमकी थोड़ी-सी सेवाका अवसर मिल गया है—इससे बढ़कर और क्या सौभाग्य हो सकता है!

आदेशका पालन होनेमें लेशमात्र भी विलम्ब नहीं हुआ। ऐसा था ही कौन, जिसके श्रीराम प्राण-प्रिय न थे? पलभरमें सारी सेना तैयार! पर, यहीं पर्दा पलट जाता है।

भरत लड़ने नहीं जा रहे हैं, भैयासे मिलने जा रहे हैं। उन्हें खबर लगती है कि श्रीरामका एक सखा उनसे मिलने आ रहा है। प्रियतमका एक सखा! हृदय गद्गद हो उठता है। गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें—
~~~

राम सखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥
गाउँ जाति गुहँ नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहारु माथ महि लाई॥
(रा०च०मा० २। १९३। ७-८)

पर श्रीरामका सखा और इतनी दूरसे मुझे प्रणाम करे? भरतका प्रेमी हृदय इस बातको कैसे सहन करता? बस, क्या था—

करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदयँ समाइ॥
भेंटत भरतु ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥
धन्य धन्य धुनि मंगल मूला। सुर सराहि तेहि बरिसहिं फूला॥
(रा०च०मा०२। १९३; १९४। १-२)

क्यों?—कारण स्पष्ट है—

लोक बेद सब भाँतिहिं नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा॥
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता॥
(रा०च०मा० २। १९४। ३-४)

पर—प्रेममें सब कुछ क्षम्य है!

× × ×

प्रतीक्षा, प्रतीक्षा और केवल प्रतीक्षा—साधनाका सारा सार तो इन्हीं तीन अक्षरोंके भीतर समाया हुआ है। प्रभु एक दिन आयेंगे और अवश्य आयेंगे—यह तो ध्रुव निश्चय है; पर जबतक वे नहीं आते, तबतक उनकी प्रतीक्षा अनिवार्य है। वे जबतक न आयें, तबतक उनका पथ देखते रहो, उनकी आशा लगाये रखो और रात-दिन उनकी स्मृतिकी पावन माला गूँथते रहो, यही तो है सारे शास्त्रों और धर्मोंका सार। सभी इस विषयमें एकमत हैं।

वह दुबली-पतली भूरे बालोंवाली बुढ़िया इस रहस्यको भली प्रकार जानती थी। तभी तो वह प्रतिदिन कुटियाके आस-पासके सारे मार्ग साफ कर डालती। एक भी कंकड़ मार्गमें पड़ा न रहने देती। कंकड़ यदि रह गया तो उसके परम प्रभुके पावन पदारविन्दोंमें चुभ न जायगा? प्रतिदिन वह फूलोंका हार गूँथती और इसी कल्पनामें मग्न रहती कि कब वे आयें तथा कब मैं इसे उनकी कोमल ग्रीवामें डालकर अपने जीवनको सफल करूँ। वह नित्य जंगलसे मीठे-से-मीठे बेर चुन लाती और प्रियतमके लिये रख छोड़ती। पर, उसके प्रियतम नहीं आते।

हार मलिन पड़ जाते, हवा बहकर मार्गपर कंकड़ियाँ बिछा जाती, फल सूख जाते—पर उसकी आशा नहीं मिटती! उसकी प्रतीक्षामें निराशाका चिह्नतक न दीख पड़ता! उदास होना तो मानो वह जानती ही न थी। सारी बातें जो एक दिन पहले करती रही, दूसरे दिन फिर करती। आलस्य तो उसे छू भी नहीं गया था। अहा, कितनी पावन और मनोमुग्धकारी थी उसकी वह सतत साधना!

पत्ता खटकता और वह समझने लगती कि उसके परम कृपालु प्रभु आ रहे हैं, जरा-सा भी कहीं कुछ शब्द सुन पड़ता कि द्वारपर उसकी आँखें बिछ जातीं—'सम्भवतः मेरे श्रीराम आ रहे हैं।' पर उसकी आशा पूरी न होती।

दिन, सप्ताह, मास और वर्ष—सभी एक-एक कर बीतते चले जाते हैं, पर उस वृद्धा शबरीकी साधनामें कोई व्यतिक्रम नहीं पड़ता। वह सदैवकी भाँति उसी प्रकार अपने मार्गपर चलती जाती है। उसे इस बातका अवकाश ही नहीं कि कुछ सोच-विचार करे। अन्ततोगत्वा एक दिन उसकी साधना—अनन्त जन्मोंकी साधना—पूरी हुई। होती क्यों नहीं? प्रेमका कच्चा धागा भी मामूली नहीं होता। किसीके पास हो भी तो! फिर तो कच्चे धागेमें सरकार बँधे चले आते हैं!—

सबरी देखि राम गृहँ आए। मुनि के बचन समुझि जियँ भाए॥
सरसिज लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बनमाला॥
(रा०च०मा० ३। ३४। ६-७)

अरे, यही तो है वह रूप, जो उसके गुरु महर्षि मतंग उसे बता गये थे! इसी मूर्तिकी तो वह इतने दिनोंसे अपने मानस-मन्दिरमें प्रतिष्ठा किये हुए निरन्तर पूजा करती आ रही है! आज उसकी चिरवाञ्छित अभिलाषा पूर्ण हुई—

स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥
(रा०च०मा० ३। ३४। ८)

भोली प्रेमिन प्रभुके चरणकमलोंमें लोट गयी। आज उसके आनन्दका क्या ठिकाना!—

प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा॥

सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुंदर आसन बैठारे॥

कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥
(रा०च०मा० ३।३४।९-१०; ३।३४)

प्रेमके भूखे भगवान् अपनी भोली साधिकाका यह सत्कार देखकर बड़े प्रसन्न हुए। होते क्यों न? उनका तो वचन है—

मानउँ एक भगति कर नाता॥
(रा०च०मा० ३।३५।४)

ऐसे प्रेमस्वरूप हरि और उनके प्रेमी भक्तोंके पावन पादारविन्दोंमें कोटिशः प्रणाम!

[पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट]

* * *

प्रेम ही परमात्मा है

(डॉ० श्रीअशोककुमारजी पण्ड्या, डी-लिट्०)

प्रेम परब्रह्मप्रतीक विविधरूपा सृष्टिका अमृतत्व है। यह सर्वथा नित नवीन, निर्विकल्प एवं अक्षुण्ण है। यह भक्त और भगवान् दोनोंके लिये अनुपूरक, समचेष्टी और समानुपाती है। प्रेम ईश्वरकी भूख है। प्रेम ईश्वरके लिये महापाश है। यह प्रेम ही तो है जिससे भगवान् भक्तके पीछे-पीछे घूमते हैं।

भगवान् जगन्नाथ स्वामीके शृंगारके वस्त्र रोज फट जाते थे। पीताम्बरी, अंगिया, दुपट्टा जगह-जगह फटा हुआ मिलता। पुजारीजीसहित सभी स्तब्ध! यह क्या हो रहा है? क्यों हो रहा है? कैसा वैचित्र्य है यह? लेकिन जब कारणका पता चला तो सभीको आश्चर्य! वाह प्रभु! तू और तेरी माया और तेरा प्रेम! बात यह थी कि एक अष्टवर्षीया बाला जंगलमें बकरियाँ चराने जाती थी और वहाँ वह निःस्पृह भावसे 'गीतगोविन्द' का पाठ अलापती थी। बस, भगवान् जगन्नाथ इसी आलापको सुनने उसके पीछे-पीछे घूमते थे। वह बच्ची बेरकी झाड़ियोंसे बेर चुनती, खाती और गाती जाती। भगवान् उसका अनुगमन करते, इसी वजहसे भगवान्के कपड़े उन झाड़ियोंमें उलझते जाते और फट जाते। यह है भगवत्प्रेम। न ऊँच न नीच, न छोटा न बड़ा, न मन्दिर न जंगल, न धूप न चैन। यह प्रेमकी पीड़ा है। इसे तो बस भोगनेमें ही सुख है, चाहे उसे भक्त भोगे या स्वयं भगवान्। दोनोंको समान तड़पाता है यह प्रेम।

वस्तुतः परमात्माका दूसरा नाम ही प्रेम है। भक्तकी अधीनता परमात्माका स्वभाव है। कूर्मदास नामदेवजीके समकालीन हाथ-पाँवरहित अपंग ब्राह्मण थे। पैठण नामक गाँवमें वे रहते थे। जहाँ-तहाँ पड़े रहते और जो कुछ मिल जाता, खा लेते।

एक दिन वहाँ हरिकथा हो रही थी। वे पेटके बल रेंगते हुए कथा-स्थल पहुँचे। उन्होंने पण्ढरपुरकी आषाढ़ी-कार्तिकी यात्राका माहात्म्य सुना। कार्तिकी एकादशीमें अभी चार माह बाकी थे। उन्होंने तत्क्षण ही निश्चय किया और पेटके बल रेंगते हुए चल पड़े। यह है भगवत्प्रेम। दिनभरमें वे एक कोससे अधिक नहीं रेंग पाते थे। रातको कहीं रुक जाते और जो कुछ अन्न-जल मिल जाता, ग्रहण कर लेते। इस तरह चार माह निरन्तर रेंगते हुए वे लहुल नामक स्थानपर पहुँचे। यहाँसे पण्ढरपुर सात कोस पड़ता है और दूसरे ही दिन एकादशी थी। किसी भी तरह कूर्मदासका वहाँ पहुँचना सम्भव नहीं था। झुण्ड-के-झुण्ड यात्री चले जा रहे हैं। जय विट्ठल, जय विट्ठलकी गूँज और अपार जनसमूह। लेकिन कूर्मदास लाचार। 'क्या यह अभागा भगवान्के दर्शनसे वंचित रहेगा।' अथाह दर्द! लेकिन दृढ़ता हिमालय-सी अडिग। उन्हें विचार आया—'मैं तो कलतक वहाँ नहीं पहुँच सकता, लेकिन क्या भगवान् यहाँ नहीं आ सकते? वे तो जो चाहें कर सकते हैं। वाह रे प्रेम! तू क्या नहीं कर सकता! उन्होंने एक चिट्ठी लिखी—'हे भगवन्! यह बे-हाथ-पैरका आपका दास यहाँ पड़ा है। कलतक यह आपतक नहीं पहुँच सकता। इसलिये आप ही दया करके यहाँ आकर मुझे दर्शन देकर कृतार्थ करें।' यह चिट्ठी लिख उन्होंने एक यात्रीके हाथ भगवान्के पास भेज दी। दूसरे दिन एकादशीको भगवान्के दर्शन कर उस

यात्रीने यह चिट्ठी भगवान्‌के श्रीचरणोंमें रख दी।

इधर लहुलमें कूर्मदास भगवान्‌की प्रतीक्षा कर रहे थे। जोर-जोरसे बड़े आर्तस्वरसे पुकार रहे थे—भगवान्! कब दर्शन देंगे? अभीतक क्यों नहीं आये। मैं तो आपका हूँ न! इस प्रकार अत्यन्त व्याकुल हो पुकारने लगे। 'नाथ कब आओगे' की पुकार सुन स्वभाववश प्रेमाधीन भगवान् पण्ढरीनाथ श्रीविट्ठल ज्ञानदेव, नामदेव और सावंता मालीके साथ कूर्मदासके सामने आ खड़े हुए। कूर्मदास धन्य हो गये। अपलक विठोबाको निहारते ही रह गये। चेत आनेपर भगवान्‌के चरण पकड़ लिये। तबसे भगवान् विट्ठल जबतक कूर्मदास रहे, वहीं रहे। वहाँ जो विट्ठलनाथका मन्दिर है, वह इन्हीं कूर्मदासपर भगवान्‌का मूर्त अनुग्रह है। यह है भगवान्‌का प्रेमानुबन्ध।

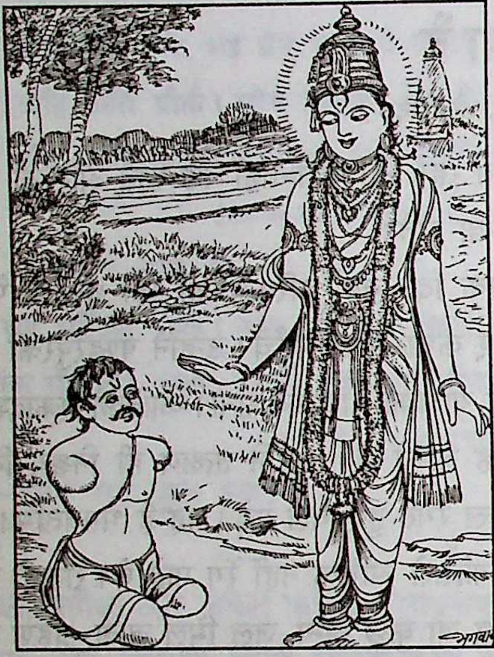

प्रेमका यही स्वाद भक्तिमती जनाबाईने भी चखा है। भगवान् विट्ठलनाथकी अनन्य भक्त जनाको जब भी कामसे फुरसत मिलती मन्दिर चली जाती। रातको सबलोग जब अपने-अपने घर चले जाते, जनाबाई मन्दिरमें पहुँचती और एकान्तमें भगवान्‌का भजन करती, ध्यान धरती, हँसती, गाती तथा भाव-विभोर हो नृत्य करने लगती। एक दिन बड़ी विपद घटी। भगवान्‌के गलेका रत्न-पदक चोरी हो गया। मन्दिरके पुजारियोंको जनापर संदेह हुआ। इसने भगवान्‌की शपथ भी ली, लेकिन लोगोंको विश्वास नहीं हुआ। लोग इसे सूलीपर चढ़ानेके लिये चन्द्रभागा नदीके तटपर ले गये। सूलीकी ओर देखते हुए जनाने एक बार अत्यन्त विकल होकर आर्त स्वरसे भगवान्‌की गुहार की। देखते-ही-देखते सूली पिघल कर पानी हो गयी। भगवत्कृपा और उसके रसास्वादनका इससे बड़ा उदाहरण और क्या होगा? तब लोगोंको पता चला कि भगवान्‌के दरबारमें जनाका क्या स्थान है। कहते हैं कि नदीसे पानी लाते समय और चक्की चलाते समय स्वयं भगवान् मूर्तिमान् होकर जनाका हाथ बँटाते थे। यह है प्रेमाधिकार, जहाँ भगवान् स्वयं मूर्तिमान् होकर सखत्व स्वीकार करते हैं।

महाभारतका प्रसंग है। पितामह भीष्मने प्रतिज्ञा ली है कि कल वे अर्जुनको मारेंगे। भीष्म पितामहकी प्रतिज्ञा व्यर्थ नहीं जा सकती। सर्वत्र हाहाकार मच गया, लेकिन अर्जुन नित्यानुसार भगवच्चिन्तन करते हुए सो गये। निश्चिन्त भगवान् कृष्णको भी चिन्ता हुई—'कल मेरे अर्जुनका क्या होगा?' वे अर्जुनको देखने उनके तम्बूमें आये। देखा, अर्जुन सोये हैं। उन्होंने उन्हें जगाया। जनार्दनने पूछा—'तुम्हें नींद कैसे आती है?' अर्जुनने सहज जवाब दिया—केशव! आप मेरे लिये जाग रहे हैं फिर मुझे क्या चिन्ता हो सकती है! वाह रे प्रेमाधिकार! जगत्‌के स्वामीको उसके मित्रको बचानेकी चिन्ताने रातभर सोने न दिया और दूसरे दिन शस्त्र धारणकर अपना वचनतक तुड़वा दिया। उन्हें अपनी अपकीर्तितकका भान न रहा। यह है ईश्वरका ईश्वरत्व-प्रेमतत्त्व। इसी तत्त्वने इसी क्रियाके माध्यम अपने भक्त भीष्म पितामहकी भी प्रतिज्ञा पूर्ण करवा दी और प्रतिज्ञा-भंगका दोष अपने माथे जड़ लिया—

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः।

(श्रीमद्भा० १।९।३७)

अर्थात् मैंने प्रतिज्ञा कर ली थी कि मैं श्रीकृष्णको शस्त्र ग्रहण कराकर छोड़ूँगा, उसे सत्य एवं ऊँची करनेके लिये उन्होंने अपनी शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा तोड़ दी। उस समय वे रथसे नीचे कूद पड़े।

ईश्वर प्रेमके विवश हैं। प्रेमवश वह कुछ भी क सकते हैं। कहीं भी सहज उपलब्ध हो सकते हैं।

प्रेम आत्मपीड़क है, परपीड़क तो वह हो ही नहीं सकता। आराध्यको कोई कष्ट हो, भक्तके लिये सहनी

नहीं है। यही पुष्टि भक्ति है।

'श्रीकृष्ण हस्तिनापुर आ रहे हैं'—यह बात महात्मा विदुरको ज्ञात होती है। आनन्दका पारावार न रहा। कल उनके आराध्य पधार रहे हैं, जी-भर दर्शन करेंगे। उनका रोम-रोम पुलकित हो रहा है, रोमांचित हो रहा है। भक्तके जीवनका सर्वोत्तम क्षण! सुलभाजीने यह महसूस कर प्रश्न किया—क्या बात है, आज इतने पुलकित हैं! विदुरजी कहते हैं—कल द्वारकानाथ पधार रहे हैं। देवि! आपकी तपश्चर्याका फल कल मिलने जा रहा है। सुलभाजी पुनः प्रश्न करती हैं—स्वामी! भगवान्‌के साथ आपका कोई परिचय है? विदुरजीका रोम-रोम पुलकित हो उठता है—जवाब देते हैं—हाँ देवि! मैं जब उन्हें वन्दन करता हूँ तो वे मुझे काका कहकर सम्बोधित करते हैं। ओह, कितना अपनत्व, कितना सुखकारक! धन्य है विदुरजीका वह रोमाञ्च। यह सुन सुलभाजी कहती हैं—तब तो देव! आप उन्हें अपने यहाँ आनेका आमन्त्रण तो देंगे न? विदुरजी कहते हैं—मैं आमंत्रण दूँ तो वे मना नहीं करेंगे, लेकिन इस झोपड़ीमें हम उन्हें बिठायेंगे कहाँ? भगवान् अपने घर पधारेंगे तो हमें तो आनन्द होगा, लेकिन उन्हें कष्ट होगा। वे छप्पन भोग आरोगते हैं। धृतराष्ट्रके यहाँ उनका स्वागत-सत्कार अच्छा होगा। अपने पास तो भाजीके सिवाय है भी क्या, जो उन्हें अर्पण कर सकें। देवि! अपने सुखके लिये उन्हें दुःख देना उचित नहीं है। यह है प्रेमका विशुद्ध, निर्विकार रूप।

सुलभाजीने कहा—मेरे घरमें और कुछ हो न हो कोई बात नहीं। मेरे हृदयमें प्रभुके प्रति अथाह प्रेम है। यही प्रेम मैं अपने परमात्माको अर्पित करूँगी। मैं गरीब हूँ तो इसमें मेरा क्या दोष? आपने कितनी ही बार कथामें कहा है कि भगवान् तो प्रेमके भूखे हैं, सुलभाजी विचार रही हैं कि पति संकोचवश आमन्त्रण नहीं दे रहे हैं, लेकिन मैं उन्हें मनसे आमन्त्रित कर रही हूँ। देखें वे कैसे नहीं आते हैं? यह है अनन्य प्रेमाधिकार।

दूसरे दिन प्रातः नित्यानुसार पति-पत्नी बालकृष्णकी सेवा कर रहे हैं। कृष्ण हँस रहे हैं। विदुर-सुलभा प्रार्थना करते हैं—

रथारूढो गच्छन् पथि मिलितभूदेवपटलैः।
स्तुतिप्रादुर्भावं प्रतिपदमुपाकर्ण्य सदयः॥
दयासिन्धुर्बन्धुः सकलजगतां सिन्धु-सदयो।
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे॥*

(जगन्नाथाष्टक, ५)

प्रार्थना फलीभूत होती है। रथारूढ़ द्वारकानाथने विदुर-सुलभाकी ओर आँख उठाकर देखा—दोनों ओर प्रेम रिसा। आकण्ठ प्रसन्न। भगवान्‌ने हमें आँख दी।

धृतराष्ट्रने आग्रह किया—छप्पन भोग तैयार हैं। श्रीकृष्णने मना किया तो श्रीद्रोणाचार्यने अपने यहाँ आमन्त्रित किया। उन्हें भी भगवान्‌ने मना किया और कहा कि आज तो गङ्गातटपर एक भक्तके यहाँ जिमेंगे। द्रोणाचार्य समझ गये कि हम वेदशास्त्रसम्पन्न ब्राह्मण ही रह गये, धन्य हैं विदुरजी—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

इधर झोंपड़ी बंदकर विदुर-सुलभा भगवन्नामकीर्तनमें तल्लीन हैं। उन्हें पता नहीं है कि वे जिनका कीर्तन कर रहे हैं, वे ही द्वारकानाथ बाहर खड़े द्वार खुलनेकी प्रतीक्षामें थक गये हैं। भगवान्‌ने व्यग्र हो द्वार खटखटाया—काका! मैं आया हूँ। विदुरजीने सुना, बोले—'देवि! लगता है श्रीद्वारकानाथ पधारे हैं। दरवाजा खोला तो हतप्रभ रह गये। चतुर्भुज नारायणके साक्षात् दर्शन हो गये। धन्य है विदुर-सुलभाजीका भगवत्प्रेम। हर्षातिरेकसे दम्पतिभाव-शून्य हो गये। निश्चेष्ट! स्तब्ध!! मूर्तिवत्!!!' वाह रे प्रेम, भगवान्‌ने अपने हाथोंसे दर्भासन लिया और विदुरजीको हाथ पकड़कर झँझोड़ा। अपने पास बिठाया। बोले—'मैं भूखा हूँ, मुझे कुछ खानेको दो।' यह है प्रेमकी शक्ति जिसने निष्कामको सकाम बना दिया। भगवान्‌को भूख लगती नहीं है, लेकिन भक्तके लिये भगवान्‌को खानेकी इच्छा हुई है। भगवान् आज माँगकर खा रहे हैं। क्या अलौकिक दृश्य होगा वह!

---

* जो रथयात्राके समय मार्गमें एकत्रित हुए भूसुरवृन्दोंके द्वारा किये हुए स्तवनको सुनकर पद-पदपर दयासे द्रवित होते रहते हैं, वे दयासागर निखिल ब्रह्माण्डोंके बन्धु एवं समुद्रपर कृपा करके उसके तटपर निवास करनेवाले श्रीजगन्नाथस्वामी मेरे नयनोंके अतिथि बनें।

वाह परमात्मा तेरा सौख्य!

पति-पत्नीको कुछ सूझता नहीं है। विदुरजीको संकोच होता है, भाजी कैसे परोसूँ? भगवान्‌ने स्वयं अपने हाथोंसे चूल्हेपरसे भाजी उतारी और अनन्य प्रेमसे आरोगी। सच है—वस्तुमें नहीं, मिठास प्रेममें है—***'सबसों ऊँची प्रेमसगाई।'***

परमात्मा प्रेमाधीन हैं। वे प्रेमके अतिरिक्त अन्य साधनोंसे न रीझते हैं न ही रह पाते हैं। श्रीकृष्ण मथुराके राजा हुए हैं। मथुरामें सर्वत्र ऐश्वर्य है। अनेक दास-दासियाँ हैं, छप्पन भोग हैं, श्रीउद्धवजीकी निजसेवा है। सब प्रकारका सुख है, तथापि श्रीकृष्ण व्रजवासियोंका प्रेम भूल नहीं पाये। रोज शामको महलकी अटारीपर बैठकर गोकुलका स्मरण करते हैं। मेरी मा आँगनमें बैठ मेरी प्रतीक्षा करती होगी। मथुरासे आनेवाले रास्तेपर टकटकी लगा मेरी राह देखती होगी। वह रोती होगी। मेरी गंगी गाय और अन्य गायोंका क्या हुआ होगा? वे मथुराकी ओर मुँह करके रँभाती होंगी। नन्दबाबा मुझे याद करते होंगे। गोप-बालक, गोपियाँ, वृक्ष और लताएँ सब कुछ याद कर कृष्णकी आँखें रिसती रहती हैं। रोज शामका यही क्रम। वाह रे व्रजका भाग्य! जिसके लिये स्वयं परब्रह्म अश्रुपात करें उसकी और क्या सानी? क्रन्दनके उस आनन्दका थाह कौन पाये!

आज उनतालीसवाँ दिवस है। जगन्नियन्ताने भोजन नहीं किया है। सायंकालका वही समय। प्रेममें सराबोर वृन्दावनकी ओर दृष्टि किये कन्हैया प्रेमाश्रु विसर्जित कर रहे हैं। उद्धवजीसे अब रहा नहीं गया। आत्मीयतासे वन्दन कर कहते हैं—नाथ! एक बात पूछनेकी मेरी इच्छा है। कृष्ण बोले—उद्धव! तुम मेरे अन्तरंग सखा हो, पूछो जो कुछ पूछना है। संकोच न करो। उद्धवजी कहते हैं—मैं अपनी बुद्धिके प्रमाणमें आपकी सेवा करता हूँ, लेकिन इससे आपको आनन्दित होते नहीं देखा। सेवक हैं, दास-दासियाँ हैं, फिर भी आप उदास रहते हैं, दुःखी दिखते हैं। आपका यह दुःख मुझसे देखा नहीं जाता।

उद्धव! मैं दुःखी हूँ, यह जानने और पूछनेवाला मथुरामें तुम्हारे सिवा और कोई नहीं मिला। उद्धव! वृन्दावनकी उस प्रेमभूमिको मैं छोड़कर आया हूँ जहाँ मेरा हृदय है। मथुरामें सभी मुझे वन्दन करते हैं, सम्मान दे

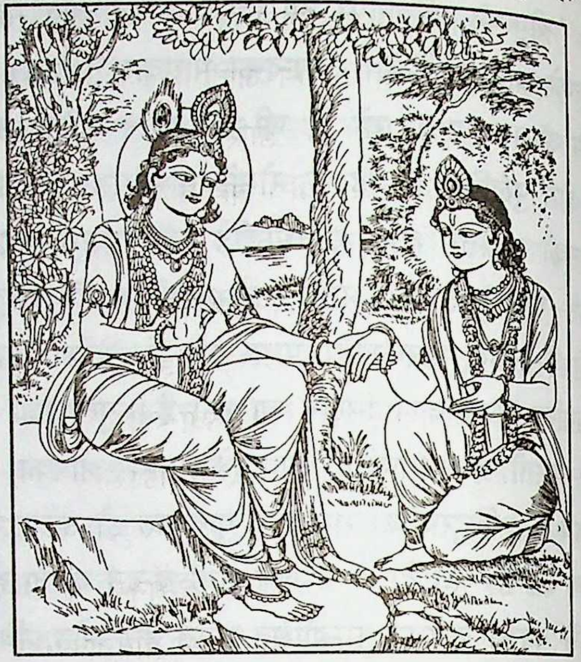

है, मथुरानाथ कहते हैं; पर कोई मेरे साथ बात नहीं करता, कोई मुझे प्रेमसे बुलाता नहीं। उद्धव! यह कृष्ण प्रेमका भूखा है उसे और किसी चीजकी जरूरत नहीं है। उद्धव! मुझे मानकी नहीं, प्रेमकी भूख है। परमात्माके ये उद्गा स्वतः ही प्रेमको परिभाषित कर रहे हैं, हम कोई और क्या विशेषण दें।

उद्धव! मा यशोदाका प्रेम मुझे मथुरामें मिलता नहीं है। मैं न खाऊँ तबतक मेरी मा खाती नहीं। उद्धव! मथुरा मेरे लिये छप्पन भोग बनाता है पर दरवाजा बन्द कर कहता है—'आरोगिये'। मैं ऐसे नहीं खाता। उद्धव! मैं तुमसे क्या कहूँ? गोकुल छोड़ मथुरा आनेपर मेरा खाना छूट गया है मुझे कोई प्रेमसे न मनाये, मनुहार न करे तबतक मैं खाता नहीं हूँ। हजार बार मनुहार करनेपर मैं एक कौर ग्रहण करता हूँ। उद्धव! व्रजमें मेरी मा मुझे हजार बार समझाती मनाती और खिलाती थी। उद्धव! मथुरामें मैं छप्पन भो निहारता हूँ बस; खाता नहीं हूँ। यह कृष्ण भोगका नहीं प्रेमका भूखा है। मुझे प्रेम चाहिये, इसलिये मैं उद्विग्न रहता हूँ। उद्धव! मुझसे व्रज भूलता नहीं—***'ऊधो मोहिं ब्र बिसरत नाहीं।'***

यह है प्रेमकी पराकाष्ठा। इस प्रेमका रसास्वादन वह कर सकता है जिसने प्रेम किया है।

श्रीकृष्ण तो प्रेमकी प्रतिमूर्ति हैं। वस्तुतः वे प्रेम ही हैं। उनकी हर लीला प्रेम-लीला है। गोपियोंकी शिकायतपर मा यशोदा श्रीकृष्णको बाँधने जाती हैं तो डोरी दो अंगुल छोटी पड़ जाती है। जितनी डोरियाँ जोड़ीं, उतनी ही कम पड़ने लगीं। लौकिक बन्धनसे वह लीलाधर बँध भी कैसे सकता था?

लेकिन श्रीकृष्णने जब देखा कि मा थक गयी हैं, उनके मुखमण्डलपर पसीनेकी बूँदें झिलमिला रही हैं तो बालकृष्णसे यह सहन नहीं हो पाता और वे प्रेमसे स्वयं बँध गये—**'दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने॥'** (श्रीमद्भा० १०।९।१८)

यह है व्रजका प्रेम, जिसके बन्धनसे भगवान् कभी छूटना नहीं चाहते। तभी तो भगवान्की प्रतिज्ञाको इस प्रकार कहा गया है—

वृंदावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

धन्य है व्रज-रज, जिसने परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णका अखण्ड सान्निध्य पाया। उस प्रेमका क्या पारावार जिसे श्रीकृष्णने स्वयं परोसा!

परमात्माको प्रेम और केवल प्रेम ही प्रिय है। अपनत्व और नैकट्य ही उन्हें भाता है। दूरत्व उन्हें असिधार-सदृश खलता है। चीरहरणके प्रसंगमें द्रौपदी श्रीकृष्णको इस सम्बोधनके द्वारा गुहार लगाती हैं—'हे द्वारकावासिन्! पर यह सम्बोधन भगवान्को बहुत बुरा लगता है। कृष्णाने मुझे द्वारकावासी क्यों कहा? मैं तो उसके अन्तःकरणमें ही था। और जैसे ही **'किं न जानासि केशव'** की फटकार (प्रेमकी) दी तो तुरंत अम्बरका अम्बार लग गया—

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।

यह है प्रेमका रंग, जो केवल रँगना ही जानता है छूटना नहीं।

रामायणके एक प्रसंगमें त्रिजटाजीने श्रीरामके प्रेमकी जो थाह ली है वह अन्यत्र दुर्लभ है। प्रसंग है—लङ्कामें रावणके साथ युद्धका। रावण मर ही नहीं रहा है, माता सीता यह समाचार सुन धीरज खो बैठती हैं, बड़ी निराश हो जाती हैं। त्रिजटाजी तब उन्हें सँभालती हैं, ढाँढ़स बँधाती हैं और समझाती हैं—

प्रभु ताते उर हतइ न तेही। एहि के हृदयँ बसति बैदेही॥
(रा०च०मा० ६।९९।१३)

हे सखि! भगवान् उस (रावण)-के हृदयको इसलिये नहीं भेद रहे हैं; क्योंकि उसमें वैदेहीका (आपका) वास है। अतः धीरज रखो, जैसे ही तुम्हारा ध्यान छूटेगा, श्रीरामका बाण रावणका हृदय सोख लेगा। धन्य है प्रेमका यह औदार्य!

प्रेम न क्षणिक होता है, न अधीर। प्रेम तो जन्म-जन्मान्तरकी साधना है। तभी तो रुक्मिणीजी पत्रमें भगवान्को लिखती हैं—केशव! मैं वरूँगी तो आपको ही। किसी कारण मेरे किसी दोषवश आप इस जन्ममें मुझे नहीं अपना सकें तो भी कोई बात नहीं, दूसरे जन्ममें, तीसरे जन्ममें अथवा जितने जन्म लेने पड़ें, मैं प्रतीक्षा करूँगी, लेकिन वरूँगी तो आपको ही—

यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
जह्यामसून् व्रतकृशाञ्छतजन्मभिः स्यात्॥
(श्रीमद्भा० १०।५२।४३)

रुक्मिणीजी कहती हैं—'हे कमलनयन! यदि मैं आपका वह प्रसाद, आपकी वह चरणधूल नहीं प्राप्त कर सकी तो व्रतद्वारा शरीरको सुखाकर प्राण छोड़ दूँगी। चाहे उसके लिये सैकड़ों जन्म क्यों न लेने पड़ें, कभी-न-कभी तो आपका वह प्रसाद अवश्य ही मिलेगा।'

यह है प्रेमका विशुद्ध रूप जहाँ अधीरता नहीं, धैर्य है, विचलन नहीं, दृढ़ता है, शर्त नहीं, समर्पण है और आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है।

प्रेम स्वयं अपनी पराकाष्ठा है। प्रेमके तापमें स्वयं जनार्दन भी तपे हैं, तप रहे हैं, तपेंगे। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम भी बड़ी मर्यादाके साथ श्रीजानकीजीको यह मर्मान्तक प्रेमपीड़ा संदेशित करते हैं—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥
(रा०च०मा० ५।१५।६-७)

* * *

प्रेमकी प्रगाढ़तामें प्रेमाश्रुओंका महत्त्व

आनन्दकन्द सच्चिदानन्दघन परात्पर पूर्णपरब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णके श्रीचरणोंमें एक बार किये गये प्रणामकी तुलना दस अश्वमेध-यज्ञोंसे की तो जा सकती है, परंतु कृष्ण-प्रणामकी विशेषता यह है कि दस अश्वमेध-यज्ञोंका कर्ता जहाँ पुनर्जन्मोंको प्राप्त करता रहता है, वहीं कृष्णके चरणारविन्दोंमें प्रणति निवेदन करनेवालेकी पुनर्जन्मसे सदाके लिये मुक्ति हो जाती है। अतः ऐसे प्रेमी प्रभुको बार-बार नमस्कार है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥

ऐसे भगवान्‌के लिये जिनकी आँखोंसे अश्रुपात होते हैं, उनके एक अश्रुबिन्दुकी भी तुलना नहीं हो सकती। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌को पानेके लिये जिसके हृदयमें भगवत्प्रेमविरहकी अग्नि धधकती रहती है, वह दिन-रात रोता रहता है। उसे खाना-पीनातक नहीं सुहाता, नींद भी नहीं आती—नींद उड़ जाती है। ऐसे भावसे भावान्वित भगवत्प्रेमीके प्रेमकी प्रगाढ़तामें प्रेमाश्रुओंका महत्त्व और भगवत्प्रेमी भगवान्‌को कितना प्यारा होता है—इसका वर्णन तो असम्भव-सा ही है। उसकी तीव्र विरह-वेदनाका किञ्चित् अनुमान उसी विरही भक्तश्रेष्ठकी दर्शनाभिलाषाकी करुण पुकारसे लगाया जा सकता है—

तूँ छलिया छिप छिप बैठ्यो अखियाँ मटकावै रे।
बाला मैं थारे बिनु दुःखी फिरूँ तूँ मौज उड़ावै रे॥
दिन नहीं चैन रात नहीं निदियाँ, जरा कह दो साँवरिये से आया करे।
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल पीताम्बर झलकाया करे॥
यमुना तट पर धेनु चरावै, जरा वंशी की लटक सुनाया करे।
ललित किसोरी गउएँ लेकर मेरी गली नित आया करे॥

भगवत्-विरह जिसके हृदयमें प्रदीप्त हो उठा, उसको यहाँका कुछ भी नहीं सुहाता। भगवान्‌को पानेके लिये उसकी आँखोंसे अश्रुपात होता ही रहता है। भगवत्-विरहमें व्याकुल महाप्रभु चैतन्यके विषयमें कहा जाता है कि वे १८ वर्षोंतक जगन्नाथपुरीमें एक छोटी-सी कुटियामें बैठे हुए इतने रोते रहे कि उनके आँसुओंके जलसे कुण्ड-के-कुण्ड भर जाते। ऐसे ही परमोत्कृष्ट भगवद्भक्तोंके सम्बन्धमें कहा गया है कि उन मिलनातुर, विरहातुर परमात्माभिलाषियोंके लिये सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्डकी किसी भी प्रकारकी दूरी और विघ्न-बाधाएँ उनके मार्गको बाधित नहीं करतीं—

मिलनेको प्रियतमसे जिसके प्राण कर रहे नित हाहाकार।
गिनता नहीं मार्गकी कुछ भी दूरीको वह किसी प्रकार॥
नहीं ताकता किंचित् भी शत शत बाधा-विघ्नोंकी ओर।
दौड़ छूटता जहाँ बजाते मधुर बाँसुरी नंद किसोर॥

अहा! वह भक्त तो प्रेममें बावला हुआ कह ही बैठता है—प्यारे, यदि मुझे रुलानेमें ही आनन्द आता है तो मत आओ, मैं उसीमें सुखी हूँ—

तेरे सुखमें सुखिया हूँ मैं तेरे लिये प्राण रोवे।
पण प्यारा तेरी राजीमें है नित राजी मेरो मन।
प्राणाधिक दोनूँ लोकाँ को तूँ ही मेरा जीवन धन॥

यह है बावलापन और विरहाग्नि भगवत्प्रेमकी—

इन दुखिया अँखियानु कौं सुखु सिरज्यौई नाँहि।
देखैं बनै न देखतै, अनदेखैं अकुलाँहि॥

इन आँखोंके लिये विधाताने सुख रचा ही नहीं। जब वे कभी आते हैं तो ये मेरी निगोड़ी आँखें इतना अश्रु बहाती हैं कि मैं उन्हें देख भी नहीं पातीं और जब वे चले जाते हैं, तब भी विरहाग्निमें जलनेवाली आँखें वैसे ही बरसती रहती हैं। यह एकनिष्ठता एवं निरन्तरता है—भगवत्प्रेमकी। यहाँ किसी भी प्रकारकी अन्य जागतिक भावनाओं तथा पदार्थोंके लिये कोई स्थान भी नहीं; क्योंकि जैसे ज्ञान अथवा अज्ञान या प्रकाश अथवा अन्धकारका एक ही स्थानपर एक समयमें होना सम्भव नहीं, वैसे ही भगवत्प्रेमी भी कहलाता हो और जगत् भी सुहाता हो—यह द्वैत सम्भव ही नहीं। संतोंने

कहा है—

प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥

इस अद्वैतकी विरहाग्निको व्यक्त करता हुआ भगवत्प्रेमी अपने प्रियतमसे कहता है—

तरसा तरसा कर जी लेव तो भी तनै नहीं छोडूँ।
आकूँ नहीं दूसर मानी तेरे ही मैं जी जोडूँ॥
यदि प्यारे मेरे वियोगमें मिलता है तुझे आराम।
कभी नहीं मिलनेका मैं व्रत लूँगा मेरे प्राणाराम॥

ऐसे व्याकुल-व्यथित-हृदय निष्कपट भक्तोंके लिये भगवान् भला निष्ठुर कैसे हो सकते हैं? वे तो भगवत्प्रेमीकी आँखोंके आँसू देखनेके लिये उसके पासमें ही छिपे-छिपे रहते हैं बिलकुल पासमें ही। परंतु उसे भान नहीं कराते कि तूँ क्यों रोता है, मैं तो तेरे सम्मुख ही खड़ा हूँ।

भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये रोना, आँसू बहाना भक्तका सर्वोपरि आनन्द है। जब भक्तकी ऐसी भावना—विरह-वेदना होगी, तब भगवत्प्रेमका मार्ग प्रशस्त होगा; क्योंकि भगवत्प्रेमरूपी नदीके दो तट हैं—एक मिलन और दूसरा विरह। इन दोनोंके मध्य ही प्रेमकी प्रगाढ़तामें प्रेमाश्रुरूपी प्रेमनदीकी धारा बहती रहती है।

गोपाङ्गनाओंके प्राणप्यारे श्यामसुन्दर जब मथुरा चले गये, तब वृन्दावनसे मथुरा अति निकट होनेपर भी प्यारेकी इच्छा बिना वे वहाँ नहीं जातीं। नन्दजी जब कन्हैयाको मथुरा पहुँचाकर वापस व्रजमें आये, तब यशोदा रानीने उनसे पूछा कि आप जीवित ही आ गये (यानी कन्हैयाको छोड़ते समय आपके प्राण नहीं निकले)? नन्दजीने कहा—यशोदे! मेरे प्राण निकलनेवाले थे कि इतनेमें ही कन्हैया मेरी गोदमें आकर बैठ गया और कहने लगा—'बाबा, बाबा, मैं फिर ब्रज आऊँगो। मेरे लिये माखन-मिस्रीके लोंदे तैयार रखियो।' तब मैंने सोचा—कन्हैया कह रहा है 'मैं फिर ब्रज आऊँगो' यदि वह कभी आया और यह सुना कि बाबा संसार छोड़कर चले गये हैं तो उसको कितना दुःख होगा। अतः उसे जरा भी दुःख न हो, मुझे चाहे जीवनभर क्यों न रोना पड़े, इसलिये मैंने अपने प्राणोंको जाने नहीं दिया।

यह है विशुद्ध भगवत्प्रेम—**'तत्सुखे सुखित्वम्'**। ऐसे भगवत्प्रेमीके लिये कहा गया है—**'मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः'** अर्थात् वसुन्धराके किसी भी भागपर उसके पदार्पणसे पितर प्रसन्न होते हैं और देवता नृत्य करने लगते हैं। यह तो है भगवत्प्रेमीका प्रेम और प्रेमकी प्रगाढ़तामें प्रेमाश्रुओंका महत्त्व। ऐसे भगवत्प्रेमी जितने दिन संसारमें रहते हैं, उनके द्वारा लाखों लोगोंका उद्धार होता रहता है। एक बार गङ्गाजीने ब्रह्माजीसे कहा—मेरेमें स्नान करके लोग अपने पाप धोकर चले जायँगे तो मैं पापसे भर जाऊँगी। ब्रह्माजी बोले—जब एक भगवत्प्रेमी तुम्हारेमें स्नान करने आयेगा, तब वह तुम्हारे सब पापोंको धो डालेगा। अहा! ऐसे प्रेमी भक्तोंको सब कुछ त्याग करनेपर क्या मिलता है? प्रेमकी प्रगाढ़तामें प्रेमाश्रुओंका प्रवाह! और इसीमें उसकी कृतकृत्यता है तथा इसीमें उसके जीवनका साफल्य।

[प्रेषक—श्री डी०एल० सैनी]

* * *

'कृष्ण-नाम रसखान'

कृष्ण-नाम अमृत जीवनका,
मधुर नाम है भक्त हृदयका।
दायक भक्ति मुक्ति निर्वान,
भज मन कृष्ण-नाम रसखान॥

भाव भरा प्याला प्रभु नामका,
आनंद भवन ऋषि मुनि संतोंका।
श्रुतियाँ गाती हैं यह गान,
भज मन कृष्ण-नाम रसखान॥

अधम अंध विष कूप पड़ेको,
पामर पशु अघ कीच पड़ेको।
है तारक मंत्र महा बलवान,
भज मन कृष्ण-नाम रसखान॥

शंकरके मनका मन रंजन,
शेष शारदा करते वंदन।
नारद करत निरंतर गान,
भज मन कृष्ण-नाम रसखान॥

—पं० शिवनारायण शर्मा

* * *

प्रेमका सागर—वृन्दावन

(स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज, आदिबदरी)

वृन्दावनका अन्तरङ्ग स्वरूप कल्पवृक्ष अथवा चिन्तामणि-जैसे गुणोंवाला है। अन्तर है तो केवल इतना ही कि कल्पवृक्ष अथवा चिन्तामणि जहाँ सिर्फ भौतिक सुख-सुविधाओंसे सम्बन्धित आशा-अभिलाषाओंकी पूर्ति करता है, वहाँ वृन्दावन साधकको समस्त कामनाओंकी उपलब्धि करानेमें समर्थ है। मुक्ति भी यह देता है, भुक्ति भी यह देता है और भक्ति भी यह प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त वृन्दावन देता है—साधकको वह अतिशय अद्भुत परमोज्ज्वल परम माधुर्यपूर्ण प्रेम, जिसकी प्यासमें पपीहेकी भाँति आकुल-व्याकुल भगवान् प्रेमी साधकके पीछे-पीछे लगे फिरते हैं। वृन्दावनके इस अन्तरङ्ग स्वरूपका साक्षात्कार व्यक्तिकी ज्ञानेन्द्रियोंसे नहीं होता, न यह मनकी कल्पनाका विषय है, यह तो केवल आत्मानुभवगम्य है। अन्तरङ्ग वृन्दावनका दर्शन चूँकि आत्माका विषय है, इसलिये मनरहित समस्त इन्द्रियों तथा बुद्धिको निर्विकार करनेवाले परम्परागत समस्त उपाय इस सन्दर्भमें अधिक उपयोगी नहीं हैं। अतः वृन्दावनके अन्तरङ्गमें प्रवेश करनेके लिये किसी विधि-निषेधकी अपेक्षा नहीं है, केवल विशुद्ध अनुरागकी आवश्यकता है। प्रेम दिन, नक्षत्र और तिथि नहीं देखता, वह तो प्रेमीको देखता है। प्रेमी और प्रेमास्पदके बीचमें केवल प्रेम रहता है। प्रेमके अतिरिक्त और जितनी भी चीजें हैं, वे लोक अथवा वेदकी दृष्टिसे शुभ अथवा अशुभ हो सकती हैं, किंतु प्रेमके क्षेत्रमें तो वे सब अन्तराय ही हैं। द्वारकामें भी भगवान् श्रीकृष्णको जब गोपियोंके प्रेमका स्मरण हो आता था, तब उनके हृदयमें एक असह्य वेदना उठती थी, जिसके कारण वे बहुत देरतक अन्यमनस्क हो जाया करते थे। पटरानियोंने श्रीकृष्णसे कई बार इसका कारण पूछा श्रीकृष्णसे, किंतु वे हर बार टालते गये। एक दिन नारदजी राजप्रासादमें आये। पटरानियोंने उनका खूब स्वागत-सत्कार किया, फिर श्रीकृष्णकी बेचैनीके बारेमें चर्चा करके उनसे प्रार्थना की कि 'उनकी बीमारीका पता लगाकर उसका कुछ उपचार कीजिये। आपकी बड़ी कृपा होगी।'

नारदजी श्रीकृष्णजीके पास गये। उनसे पूछा—भगवन्! क्या बात है कि आप प्रायः उदास रहते हैं, जिसे देखकर आपकी रानियाँ भी बहुत परेशान हो जाती हैं। आपकी इस बीमारीका कोई उपचार हो तो बताइये—

श्रीकृष्णने कहा—मुने! आपकी बात ठीक है, मेरे ठीक होनेका उपाय तो है, यदि आप वैसा कर सकें तो मेरा कष्ट दूर हो सकता है। नारदजी! आप जल्दीसे मेरे प्रेमीकी चरणरज लाकर मेरे वक्षपर मल दीजिये ताकि मैं कष्टसे बच सकूँ। आप अपने चरणोंकी रज ही मेरी छातीसे लगा दीजिये।

नारदजी बोले—नारायण, नारायण। यह दुष्कर्म मैं नहीं कर सकता। मैं तो आपके चरणोंकी रज अपने मस्तकपर धारण करता रहा हूँ, अपने पैरोंकी रज आपके वक्षपर लगानेकी बात तो मैं सोच भी नहीं सकता। जरा ठहरिये, किसी रानीके चरणोंकी धूल लाकर आपका उपचार करता हूँ।

नारदजी प्रत्येक रानीके पास गये और सारी बात कहकर उनसे उनके चरणोंकी रज माँगी, किंतु पापकी आशंका और नरक आदिके भयसे कोई भी ऐसा करनेको उद्यत न हुई। सबने एक-दूसरेपर टालनेकी नीति अपना ली।

नारदजी खिन्न मनसे श्रीकृष्णके पास लौट आये और बोले—अपना ऐसा प्रेमी भी बताइये प्रभो! जो आपके उपचारहेतु अपने चरणोंकी रज देनेको राजी हो जाय—यहाँ द्वारकामें तो कोई ऐसा करनेको तैयार ही नहीं है। श्रीकृष्णने कहा—नारदजी! कष्ट बढ़ता जा रहा है और आप अभी यहीं घूम रहे हैं। इधर कोई तैयार नहीं है तो आप तुरंत वृन्दावन चले जाइये। वहाँ मेरी प्रेमिका गोपाङ्गनाएँ यमुनातटपर मेरी लीलाओंका अनुकरण करके अपनी विरह-व्यथाका अपनोदन कर रही होंगी। वे आपको अपने चरणोंकी रज जरूर दे देंगी—आप जल्दी करें। यह सुनना ही था कि नारदजी शीघ्रतासे वृन्दावनकी ओर चल पड़े और वहाँ उन्हें श्रीकृष्ण-प्रेमोन्मादमें संतप्त गोपिकाओंकी विरह-व्यथाका नाद सुनायी पड़ा। गोपिकाएँ अपने प्रियतम श्रीकृष्णको

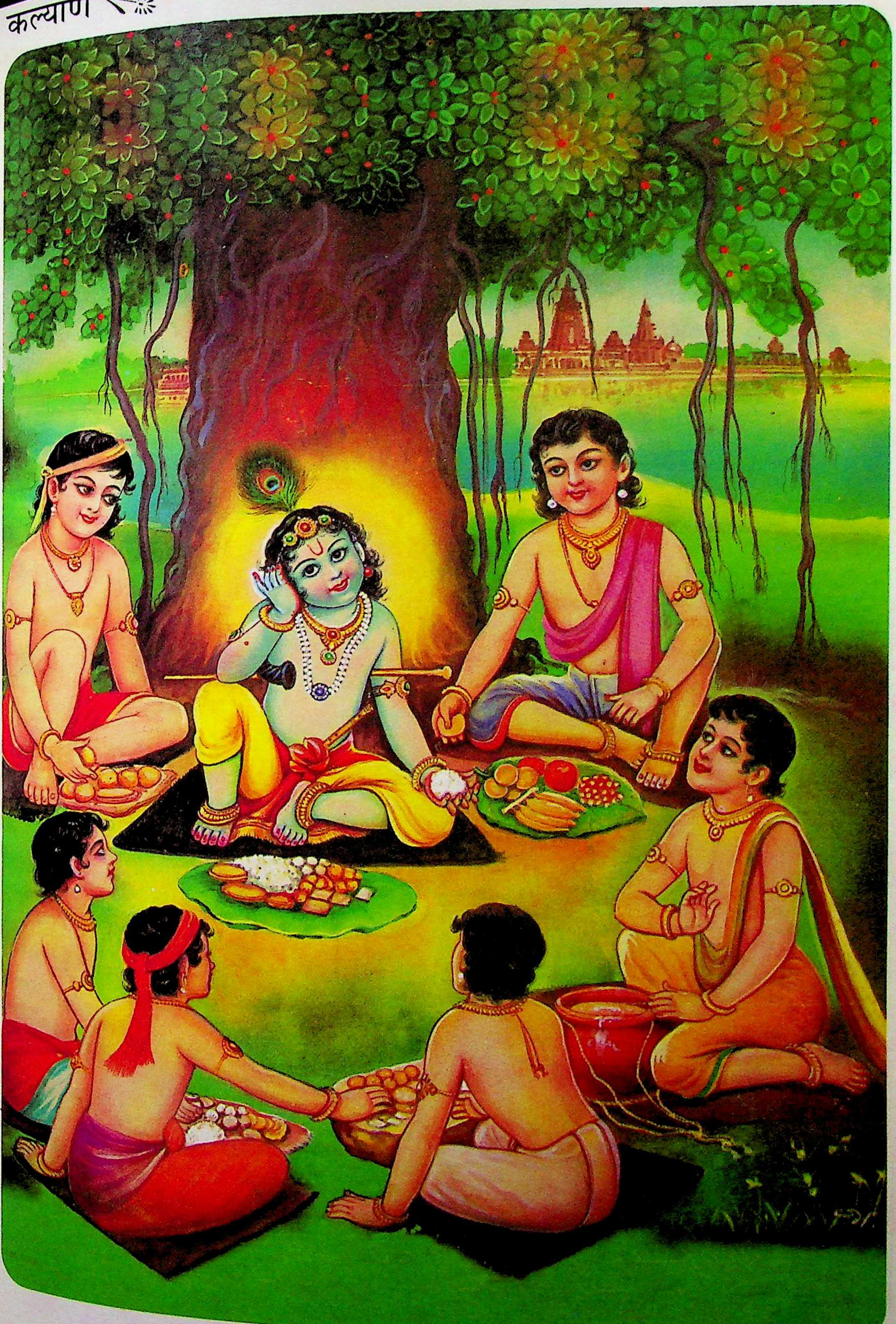

भगवान् बालकृष्णका सख्य-प्रेम

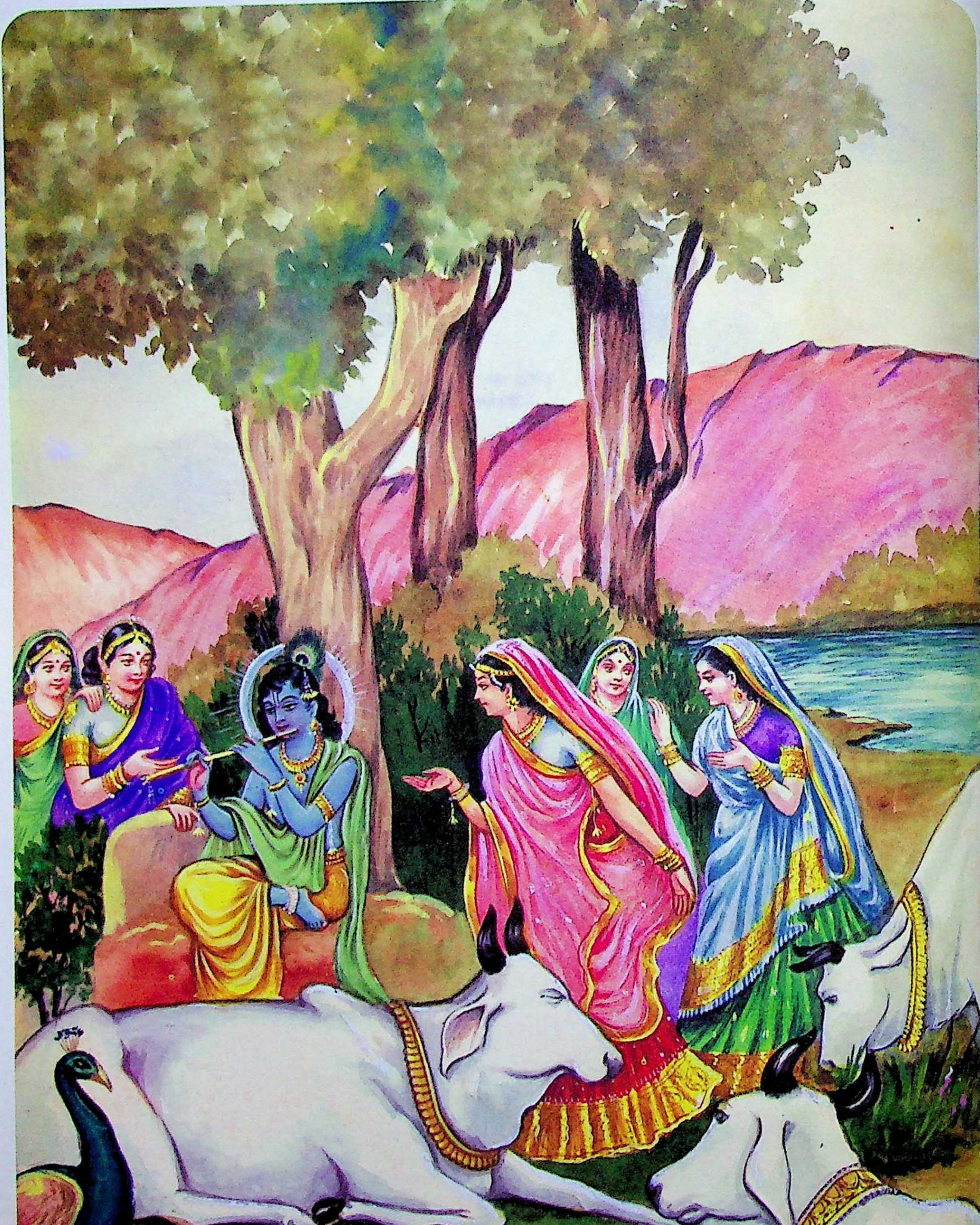

गोपाङ्गनाओंकी प्रेम-विह्वलता

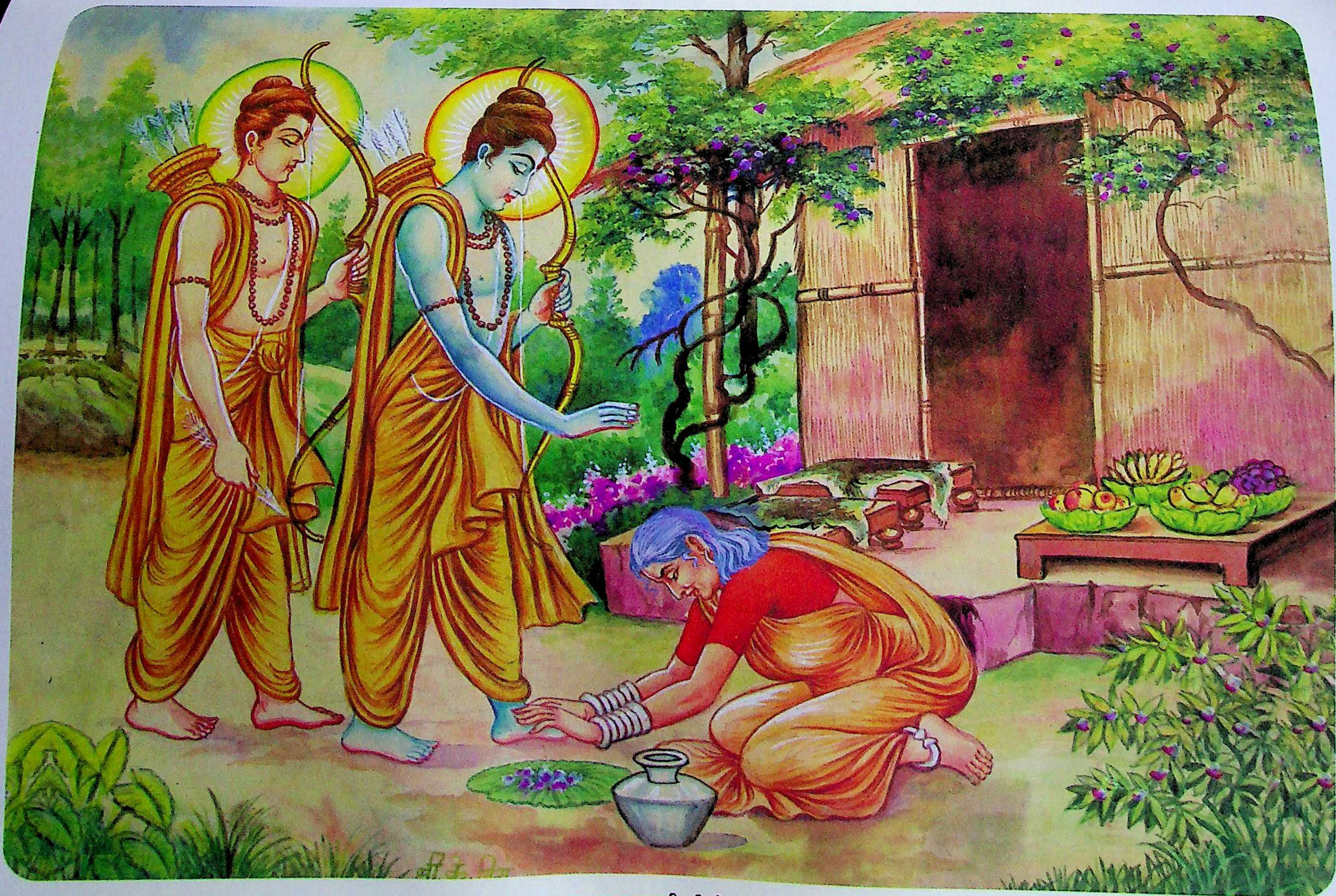

महाभागा शबरीकी प्रेमभक्ति

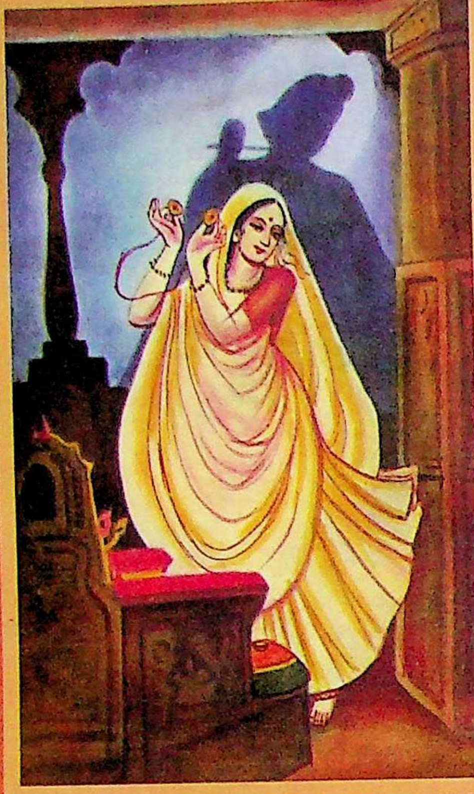

मीराँ

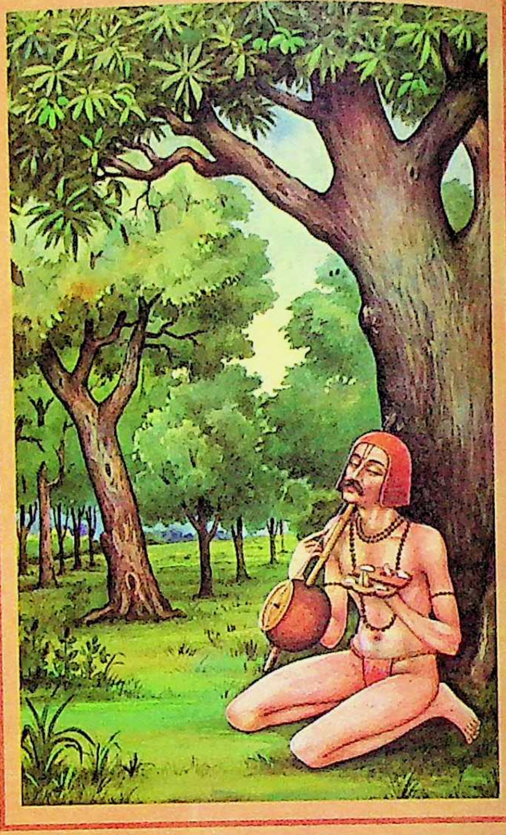

सूर

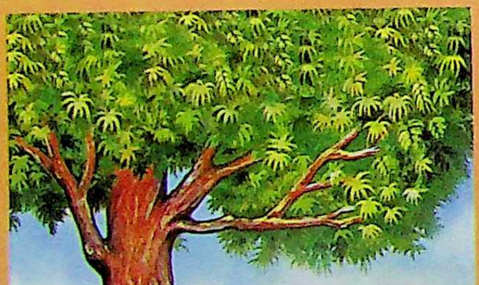

तुलसी

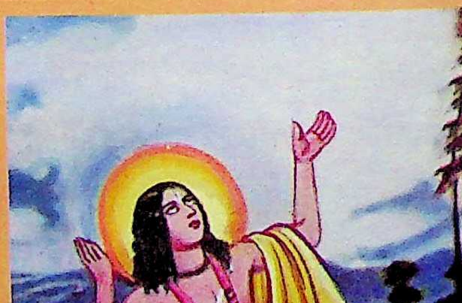

चैतन्य

महाभावमें निमग्न प्रेमीभक्त

लक्ष्य कर विरहावेशमें इस प्रकार रुदन कर रही थीं—

अटति यद् भवानह्नि काननं
त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते
जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥
(श्रीमद्भा० १०।३१।१५)

प्यारे! दिनके समय जब तुम वनमें विहार करनेके लिये चले जाते हो, तब तुम्हें देखे बिना हमारे लिये एक-एक क्षण युगके समान हो जाता है और जब तुम सन्ध्याके समय लौटते हो तथा घुँघराली अलकोंसे युक्त तुम्हारा परम सुन्दर मुखारविन्द हम देखती हैं, उस समय पलकोंका गिरना हमारे लिये भार हो जाता है तथा ऐसा जान पड़ता है कि इन नेत्रोंकी पलकोंको बनानेवाला विधाता मूर्ख ही है।

रहसि संविदं हृच्छयोदयं
प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम्।
बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते
मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः॥
(श्रीमद्भा० १०।३१।१७)

प्यारे! एकान्तमें तुम मिलनकी आकाङ्क्षा, प्रेमभावको जगानेवाली बातें किया करते थे, ठिठोली करके हमें छेड़ते थे, तुम प्रेमभरी चितवनसे हमारी ओर देखकर मुसकरा दिया करते थे और लक्ष्मी-निकेतन! हम तुम्हारा विशाल वक्षःस्थल देखती थीं। तबसे अबतक हमारी लालसा निरन्तर बढ़ती जा रही है। हमारा मन अधिकाधिक मुग्ध होता जा रहा है।

प्यारे! तुम्हारे जन्मके कारण वैकुण्ठ आदि लोकोंसे भी व्रजकी महिमा बढ़ गयी है। तभी तो सौन्दर्य और मृदुताकी देवी लक्ष्मीजी अपना निवासस्थान वैकुण्ठ छोड़कर यहाँ नित्य-निरन्तर निवास करने लगी हैं। इसकी सेवा करने लगी हैं। परंतु प्रियतम! देखो, तुम्हारी गोपियाँ, जिन्होंने तुम्हारे चरणोंमें ही अपने प्राण समर्पित कर रखे हैं, वन-वनमें भटककर तुम्हें खोज रही हैं। हमारे प्रेमपूर्ण हृदयके स्वामी! हम बिना मोलकी तुम्हारी दासी हैं। तुम शरत्कालीन जलाशयमें सुन्दर सरसिज-कर्णिकाके सौन्दर्यको चुरानेवाले नेत्रोंसे हमको घायल कर चुके हो। हमारे मनोरथ पूर्ण करनेवाले प्राणेश्वर! क्या नेत्रोंसे मारना वध नहीं है? अस्त्रोंसे हत्या करना ही वध है? कमलनयन! तुम्हारी वाणी कितनी मधुर है। उसका एक-एक शब्द, एक-एक अक्षर मधुरातीतमधुर है। तुम्हारी उस वाणीका रसास्वादन करके तुम्हारी आज्ञाकारिणी दासी गोपियाँ मोहित हो रही हैं।

प्यारे! एक दिन वह था, जब तुम्हारी प्रेमभरी हँसी और चितवन तथा तुम्हारी तरह-तरहकी क्रीडाओंका ध्यान करके हम आनन्दमें मग्न हो जाया करती थीं। उनका ध्यान भी परम मङ्गलदायक है और उसके बाद तुम मिले। तुमने एकान्तमें हृदयस्पर्शी ठिठोलियाँ कीं, प्रेमकी बातें कहीं। हमारे कपटी मित्र! अब वे सब बातें याद आकर हमारे मनको क्षुब्ध किये देती हैं।

नारदजी वृन्दावनमें यमुनातटपर श्रीकृष्णलीलानुकरणमें दत्तचित्त गोपियोंकी ऐसी दशा देखकर आश्चर्यचकित हो गये और उनके समीप जाकर बोले—देवियो! तुम्हारे प्रियतम श्रीकृष्ण कष्टमें हैं, यदि कोई प्रेमी अपने चरणोंकी रज उनकी छातीपर लगानेको दे दे तो उनका कष्ट दूर हो। इतना सुनना था कि गोपिकाओंने अपने-अपने चरणोंकी रजके ढेर लगा दिये। वे कहने लगीं—जितनी चाहिये उतनी तुरंत ले जाओ और जल्दीसे हमारे प्राणप्यारेका कष्ट दूर करो।

नारदजी उनकी ओर आश्चर्यचकित दृष्टिसे देखते हुए कहने लगे—देवियो! श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं, वे अखिल ब्रह्माण्डनायक हैं, सबके स्वामी हैं। अपने चरणोंकी धूल उनके वक्षःस्थलपर लगानेकी अनुमति देकर क्या तुम पापकी भागी नहीं बनोगी? खूब सोच-समझ लो, फिर अपने चरणोंकी रज देना। गोपियाँ आवेशमें बोलीं—हमें पाप लगेगा तो लगा करे, उसका दुष्परिणाम भोगनेको हम तैयार हैं, हम भले ही घोर नरकमें गिरें, भले ही घोर यन्त्रणा सहें, पर हमारे प्रिय श्रीकृष्ण प्रसन्न रहें, इसीमें हमारी प्रसन्नता है। हमें आपके ज्ञान-ध्यानकी बातें समझमें नहीं आतीं। हम तो प्रेमके उस मधुर आस्वादको ही जानती हैं, जिसकी एक चितवनसे कोटि-कोटि नरकोंकी यन्त्रणाएँ अद्भुत आनन्दसिन्धु बनकर थिरकने लगती हैं। नारदजीकी

आँखें तरल हो आयीं।

प्रेमकी ऐसी उज्ज्वलता जिसमें न पुण्यका भय है न पापकी आशंका, न नरककी विभीषिकाका डर है, न स्वर्गका लालच, न सुखकी कामना है, न दुःखका दर्द। नारदजीने आगे बढ़कर गोपियोंकी चरणधूलिसे पहले अपनी जटाओंको धूसरित किया और फिर पावन रजकी पोटली लेकर वे द्वारकाकी ओर चल दिये। ऐसा गोपियोंका प्रेम! नारदजी राजप्रासादमें पहुँचकर रज निकालनेके लिये पोटली खोलने लगे तो श्रीकृष्णने अधीर होकर उस पोटलीको उठा लिया और कभी उसे अपने वक्षःस्थलपर, कभी सिरपर, कभी आँखोंपर रखते हुए प्रेमावेशमें निमग्न हो गये। पंखा झलती हुई पटरानियाँ कौतूहलपूर्ण दृष्टिद्वारा नारदजीसे पूछ रही थीं कि बात क्या है? पर नारदजी मौन थे, चलते-चलते उन्होंने केवल इतना ही कहा कि हम सब प्रभुको सुख पहुँचानेकी कोशिश तो करते हैं, किंतु हमारा भाव गोपियोंके सामने अति तुच्छ है। सचमुच गोपियोंका प्रेम ही प्रेम कहलाने योग्य है। आज मैंने प्रेमका वह अद्भुत स्वरूप देखा है, जो अपने सुखके बारेमें रत्तीभर भी न सोचकर केवल प्रेमास्पदके सुखकी चिन्तामें ही सतत अचिन्तनीय आनन्दरसकी सृष्टि करता रहता है। श्यामसुन्दर उसी प्रेमामृत रसके स्वरूप हैं। वृन्दावन इस रसकी खान है और गोपिकाएँ इस रसकी महासिन्धु हैं। कृष्ण नित्य-निरन्तर वृन्दावनकी वीथियोंमें यहाँके कुञ्ज-निकुञ्जोंमें, यमुनातटपर वेणु बजाते रहते हैं और गायें चराते अपने रसिक भक्तोंको कृतार्थ करते रहते हैं।

प्रभुसे अपनत्व

[प्रेम-सम्बन्ध]

आपने यह लोकोक्ति सुनी होगी—*'अपना काना-कुरूप लड़का भी माँको सुन्दर लगता है।'*

एक विद्वान्ने अपने प्रवचनमें कहा—'चन्द्रमा सबको अच्छा लगता है। सबको सुन्दर और सुखद लगता है; किंतु कोई चन्द्रमासे प्रेम नहीं करता; क्योंकि कोई चन्द्रमाको अपना अनुभव नहीं कर पाता।'

इसका अर्थ हुआ कि प्रेमके लिये अपनत्व होना आवश्यक है। प्रेमके लिये सौन्दर्य, सद्गुण होना उतना आवश्यक नहीं है। प्रतिवर्ष ही प्रायः विश्वसुन्दरीका चुनाव होता है। आप भले ही, उनमें किसीको देखते न हों किंतु चित्र तो देखनेको मिल जाते हैं। वासनात्मक उत्तेजनाकी बात छोड़ दी जाय तो क्या कभी इनमें कोई आपको अपनी पुत्री या बहिनके समान प्रिय लगी? यही बात गुणोंके सम्बन्धमें भी है।

प्रेमकी परिभाषा करते हुए देवर्षि नारदने अपने भक्ति-दर्शनमें कहा है—

'गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानम्।'

सौन्दर्य और गुण आवश्यक भले न हों, ये प्रेमकी अभिवृद्धिमें सहायक होते हैं—ठीक बात; किंतु कब? जब उससे अपनत्व हो। आपके शत्रुमें या शत्रुके सहायकमें सौन्दर्य या गुण हों तो प्रेम बढ़ायेंगे या वितृष्णा—असूया उत्पन्न करेंगे?

यह सब न भी कहा जाय तो कुछ हानि नहीं; क्योंकि परम सौन्दर्यैकराशि, निखिल सद्गुणगणैकधाम कन्हाईसे अधिक सुन्दर, अधिक गुणवान् तो त्रिभुवनमें कभी कोई न हुआ, न होना सम्भव है। इस सौन्दर्य-सौकुमार्य महासिन्धुके सीकरका प्रसाद ही सृष्टिमें सौन्दर्य बनकर फैला है। इस गुणगणैकधामके गुणोंकी छायामात्रसे त्रिलोकीमें अनादिकालसे प्राणियोंको सद्गुण मिलते रहे हैं।

इतनेपर भी कन्हाईसे प्रेम नहीं है या अल्प है तो इसका कारण होना चाहिये। कारण केवल यह कि इस नन्द-तनयसे अपनत्व नहीं है या शिथिल है, अल्प है।

अपनत्व सहज भी होता है और स्थापित भी किया जाता है। इसमें सहज अपनत्व सुदृढ़ होता है। कदाचित् ही कभी किसीमें सहज अपनत्वके प्रति शैथिल्य दीखता है और जहाँ ऐसा है, वे हीनप्रकृतिके लोग हैं। माता-पुत्र,

पिता-पुत्र, भाई-भाई, बहिन-भाई आदिका अपनत्व सहज है, नैसर्गिक है। इसमें स्वार्थ या कोई दुर्गुण ही शिथिलता लाता है।

स्थापित अपनत्व सुदृढ़ नहीं ही होगा, ऐसी कोई बात नहीं है। यदि दोनों सत्पुरुष हैं तो स्थापित सम्बन्ध भी सुदृढ़ अपनत्व उत्पन्न करनेमें पूरा समर्थ है। पाश्चात्त्य सभ्यताका रङ्ग भारतीयोंपर चढ़ने लगा है और गाढ़ा ही होता जा रहा है, यह हमारे समाजका दुर्भाग्य है। अन्यथा भारतमें केवल सगाई होनेके पश्चात् भी पतिका शरीर न रहनेपर सती हो जानेवाली भुवनपावनी कन्याएँ कम नहीं हुई हैं। अपने देशमें विवाह-सम्बन्ध केवल इसी जीवनतक नहीं माना जाता था, अपितु यह सम्बन्ध लोकान्तर-जन्मान्तरमें भी बना रहे, यह आकाङ्क्षा की जाती थी, अब भी की जाती है और इसके बने रहनेका विश्वास किया जाता है।

अनेक नारियोंने विपत्तिमें किसीको राखी भेज दी और जिसे भेजी, उसने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया उस बहिनकी रक्षाके लिये। दत्तक पुत्र बनानेका तो शास्त्रीय विधान ही है। इस प्रकार धर्म भाई, धर्म बहिन, मित्र, पुत्र या पुत्री बनानेकी—अपनत्व स्थापित करनेकी परम्परा समाजमें खूब प्रचलित है। यद्यपि ऐसे सम्बन्धमें आजकल बहुत दोष आने लगे हैं, किंतु यह दोष कुपुरुषोंमें आते हैं। सत्पुरुष तो एक बार जिसे पुत्री कह देते हैं, उसके साथ पुत्रीका व्यवहार जीवनभर निभाते हैं।

कन्हाईको सम्बन्ध निभाना बहुत अच्छा आता है। इससे आप आशा नहीं कर सकते कि यह अपने साथ स्थापित सम्बन्धको अस्वीकार करेगा या उसके अनुसार व्यवहारमें शिथिलता लायेगा। केवल आपकी ओरसे शिथिलता नहीं आनी चाहिये। आपके भीतर सम्बन्धके प्रति उपेक्षा या उदासीनता नहीं होनी चाहिये।

कृत्रिम सम्बन्ध सम्बन्ध ही नहीं होता। अनेक लोग कहते हैं—'मैं तो आपका बालक हूँ।' ऐसा केवल मुखसे कहना कोई भी शिष्टाचार ही मानता है। तब कन्हाई ही कैसे उसे स्वीकार कर लेगा?

'कन्हाईसे क्या सम्बन्ध बनाया जाय?'

व्यर्थ प्रश्न है। ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं, जो इससे न बनाया जा सके और जिसे यह स्वीकार न करे। सम्बन्ध सच्चा बने आपके मनमें, केवल यह आवश्यक है।

सम्बन्ध सच्चा बननेके लिये आवश्यक है कि आपके मनमें, आपके जीवनमें उस सम्बन्धकी माँग हो। सुन-सुनाकर, यह जानकर कि अमुक सम्बन्ध सर्वश्रेष्ठ है, सम्बन्ध बनानेसे बनता नहीं। वह कृत्रिम होकर रह जाता है।

एक लड़कीके कोई भाई नहीं था। राखी-पूर्णिमाको उसने अपनी माताके कहनेपर गोपालको राखी बाँध दी और गोपाल उसका भाई बन गया; क्योंकि बहिनको सचमुच भाईकी आवश्यकता अनुभव हो रही थी। उसके एक भी दूसरा भाई होता तो कहा नहीं जा सकता कि कन्हाईमें उसका भ्रातृत्व सुदृढ़ होता या नहीं।

एक माताका इकलौता पुत्र मर गया। उसके दुःखकी सीमा नहीं। किसी संतने कह दिया—'यह कृष्ण तेरा पुत्र है।' उसने संतकी बात पकड़ ली। उसे तो पुत्र चाहिये ही था। उसने श्रीकृष्णको पुत्र बनाया। श्रीकृष्णमें दम है कि उसे मैया नहीं मानेगा? इस प्रकार अनेक स्त्री-पुरुष जो सन्तानहीन थे, कन्हाईके मैया-बाबा बन गये। श्यामको किसीका पुत्र बननेमें संकोच कहाँ।

अनेक विधवाओंने श्यामको पति बना लिया। अनेक कुमारियोंने कन्हाईको पति स्वीकार किया। कृष्णको 'ना' करना नहीं आता। सम्बन्ध जोड़नेवाला सच्चा है तो सम्बन्ध सुदृढ़। सम्बन्ध सुदृढ़ तो प्रेमकी प्राप्ति सुनिश्चित।

'मैं व्रजराजकुमारको जीजाजी बनाऊँगा।' ऐसे पुरुष भी मिले और कन्याएँ भी मिलीं। श्रीराधाको कोई बहिन बनाना चाहेगा तो वह भी कहाँ अस्वीकार करना जानती हैं।

'मैं इसे देवर बनाऊँगी।' एकने कहा—'इसे और कीर्तिकुमारीको भी मेरा रौब मानना पड़ेगा।'

किसके मुखमें हाथभरकी जीभ है और जो कह दे—'यह सम्बन्ध नहीं बन सकता।'

कन्हाई पिता भी बननेको प्रस्तुत और पुत्र भी। यह केवल स्वामी ही नहीं बनता, आपमें दमखम हो तो इसे सेवक बननेमें भी आपत्ति नहीं है।

तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानियै जो भावै।

यह बात है गोस्वामी तुलसीदासकी—एक विनम्र

सेवककी। 'जो आपको रुचे सो' यह बात सेवक ही कह सकता है। आवश्यक नहीं कि आप भी यही कहें। आपको जो रुचे वह बनाइये इस गोपकुमारको; किंतु पहले देखिये कि आपके हृदयमें सचमुच उस सम्बन्धकी माँग है या नहीं। आप उस सम्बन्धके प्रति सच्चे रहेंगे तो कन्हाई भी सच्चा रहेगा।

आप कन्हाईको पुत्र या छोटा भी कहें और मन्दिरमें मत्था टेकें, स्तवन करें, आशीर्वाद देनेमें हिचकें तो क्या आपका सम्बन्ध सच्चा है? कन्हाईको अपना कुछ बना भी लें और चिन्ता, भय एवं लोभ बचे रहें, सम्भव है?

आपको इससे प्रेम करना है तो इससे सम्बन्ध जोड़िये; पर वह सम्बन्ध जिसे आप जीवनमें सच्चा बना सकें।

* * *

प्रेमनगरका प्रथम दर्शन

'सखी! आज तुम पहले-पहल इस प्रेमनगरमें आयी हो, इसलिये चलो तुम्हें यहाँकी कुछ बातें बताऊँ और भगवान्‌की कुछ लीलाएँ दिखाऊँ।'

'भगवान् तो लाड़िलीजीके साथ उस कुञ्जमें चले गये न? अब लीला क्या दिखाओगी? कुछ उनके प्रेमकी बात सुनाओ। मेरी बात सुनकर तुम हँसने क्यों लगीं? क्या कोई रहस्यकी बात है? यदि है और मैं उसे जानने, देखनेकी अधिकारिणी हूँ तो अवश्य बताओ—और दिखाओ।'

'सखी! भला, तुम किस बातकी अधिकारिणी नहीं हो? तुमपर युगल सरकारकी अपार कृपा है, अनन्त प्रेम है। इस प्रेमनगरमें केवल उनकी प्रेमाधिकारिणी आत्माओंका ही प्रवेश हो सकता है। आश्चर्य मत करो, प्रेमसे सुनो और देख-देखकर आँखें सफल करो। भगवान्‌की लीला बड़ी विलक्षण है, अद्भुत है। तर्क-युक्तियोंसे उसका रहस्य नहीं जाना जा सकता। वह तो केवल कृपासाध्य है; अनुभवगम्य है। परंतु है और ऐसी ही है, जो कि अभी मैं तुम्हें दिखाऊँगी।'

'मुझे बड़ी उत्सुकता हो रही है। अब विलम्ब मत करो। जल्दी दिखाओ।'

'हाँ, हाँ, अब विलम्बकी क्या बात है? चलो, चलती चलें और बात भी करती चलें। देखो, इस प्रेमनगरकी बात ही निराली है। इसके विभिन्न भागोंमें भगवान् विभिन्न प्रकारकी लीलाएँ करते रहते हैं। ये लीलाएँ अनादिकालसे अनन्तकालतक अर्थात् सर्वदा नित्य प्रवाहरूपसे चलती ही रहती हैं, कभी बंद नहीं होतीं। किसी प्रकारका प्रलय इस नगरका स्पर्श नहीं कर सकता। प्रत्युत ज्ञानके द्वारा प्रकृति और प्राकृत जगत्‌के प्रलयके पश्चात् किसी-किसी महापुरुषको भगवान् अपनी इस लीलाभूमिमें बुला लेते हैं। चलो, देखो, अभी मैं तुम्हें विभिन्न भागोंमें ले चलकर भगवान्‌की दिव्य लीलाओंका दर्शन कराती हूँ। तुम देखोगी कि कहीं रासलीला हो रही है तो कहीं चीरहरण हो रहा है। कहीं पूर्वराग तो कहीं मानलीला और कहीं संयोग तो कहीं वियोग हो रहा है। तुम आश्चर्य क्या करती हो? यह भगवान्‌की लीला है न? जैसे अनिर्वचनीय भगवान् हैं, वैसी ही अनिर्वचनीय उनकी लीला है। यहाँ प्रकृति और प्राकृत गुणोंका प्रवेश नहीं, जडताका सञ्चार नहीं, यहाँ तो केवल चिन्मय-ही-चिन्मय है। भगवद्विग्रह चिन्मय, लीला चिन्मय और धाम चिन्मय है। यों भी कह सकती हो कि सब भगवान्-ही-भगवान् हैं। वे ही लीला, धाम, रमणीय और रमणके रूपमें हो रहे हैं।'

अच्छा तो अब चलो, तुम्हें कुछ कुमारियोंके दर्शन कराऊँ। परंतु उसके पहले एक बात और सुन लो। इस प्रेमनगरमें कालकी गति तो है ही नहीं, इसलिये एक ही समय कहीं वसन्त, कहीं वर्षा, कहीं शरद्, कहीं शिशिर और कहीं हेमन्त-ऋतु रहती है। युगल सरकारके विहारकुण्डमें तो ग्रीष्म-ही-ग्रीष्म चलती है। एक साथ ही कहीं सूर्योदय हो रहा है तो कहीं सन्ध्या। कहीं रात्रि है तो कहीं दिन। सब भगवान्‌की लीला है न?

और उनकी बात क्या सुनाऊँ? वे एक स्थानपर यशोदाकी गोदीमें बैठकर मन्द-मन्द मुसकराते हुए दूध पी रहे हैं तो दूसरे स्थानपर ग्वालबालोंके साथ खेल रहे हैं और तीसरे स्थानपर गोपियोंके साथ रास-विलास कर रहे हैं। उनकी लीला अनन्त है, उनके प्रेमरसके आस्वादनके भाव

अनन्त हैं। चलो, आज कुछ प्रेमभावोंका रसास्वादन किया जाय। हाँ, ध्यान रखना, आज पहला दिन है, किसी एक भावके दर्शनमें ही अटक मत जाना। सब कुछ देखती-सुनती मेरे पीछे-पीछे चली आना। समझी न?

'देखो, सायंकालका समय है, सूर्यकी रक्तिम रश्मियाँ हरे-भरे लताकुञ्जोंपर पड़कर दूसरा ही रंग ला रही हैं। कुञ्जोंके सामने कुछ नन्हीं-नन्हीं-सी सुकुमार कुमारियाँ बैठी हुई हैं। देख रही हो न? उनकी आँखें कितनी उत्सुकताके साथ किसीकी प्रतीक्षामें लगी हुई हैं। वे बार-बार उचक-उचककर वनकी ओर देख लेती हैं। कितनी लगन है, कितनी आतुरता है, कितनी बेकली है। बात यह हुई कि आज इन्होंने पहले-पहल बाँसुरीकी मधुर ध्वनि सुनी है। सुनते ही इनका हृदय वशमें न रहा। ये छटपटाने लगीं। क्यों न हो? जिसे सुनकर बड़े-बड़े मुनियोंसे लेकर शिवतक समाधिका परित्याग करके उसीके रसास्वादनमें लगे रहते हैं, भला उसे सुनकर ये भोली-भाली व्रजकुमारियाँ कैसे अपनेको सँभाल सकती हैं? हाँ, फिर इन्होंने जाकर अपनी बड़ी बहिनोंसे पूछा, यह किसकी ध्वनि है? जबसे उन्होंने श्यामसुन्दरकी रूपमाधुरीका वर्णन करके उनके प्रेमिल स्वभाव, बाँसुरीवादन और नाना प्रकारके विहारोंकी बातें इन्हें बतायी हैं, तबसे इन्हें और कहीं चैन ही नहीं पड़ता। बड़ी व्याकुलताके साथ गौओंको चराकर लौटनेका मार्ग देख रही हैं।'

देखो, उधर देखो, इनकी लालसा पूरी करनेके लिये नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ग्वालबालोंके साथ बाँसुरी बजाते हुए इधरसे ही निकल रहे हैं। आगे-आगे झुण्ड-की-झुण्ड गौएँ हैं। पीछे-पीछे सखाओंकी भीड़। उन्हींके स्वर-में-स्वर मिलाकर गायन करती हुई, उन्हींको देख-देखकर प्रेमकी मस्तीमें छकी हुई चली आ रही है। काले-काले लम्बे घुँघराले बालोंसे जङ्गली फूल गिरते जा रहे हैं। कपोलोंपर, वनमालापर, पीतपटपर और बालोंपर भी गोरज पड़े हुए हैं। हाँ, वह देखो, बाँसुरी बजाते-बजाते एक बार मुसकराकर प्रेमभरी दृष्टिसे उनकी ओर देख लिया। बस, अब क्या? ये सदाके लिये उनके हाथों बिक गयीं। उनके हृदयमें प्रेमका बीज बो दिया गया। इसी अवस्थाका नाम 'उप्त' है।

श्रीकृष्ण चले गये। अब नन्दरानी दूरसे ही दौड़कर उन्हें गोदीमें उठा ले गयी होंगी। न जाने क्या-क्या करके वे अपने लाड़िलेलालकी दिनभरकी थकावट मिटाती होंगी। ये कुमारियाँ भी अब उन्हें पानेका यत्न करेंगी। अब आओ, हम दूसरे प्रदेशमें चलें।

देखो, अभी यहाँ सूर्योदय नहीं हुआ है। अरुणकी अनुरागभरी रश्मियोंसे प्राचीदिशाका मुँह लाल हो उठा है। उधर देखो, हेमन्त-ऋतुकी इस सर्दीमें कुछ छोटी-छोटी लड़कियाँ श्रीकृष्णके नामोंका मधुर संकीर्तन करती हुई यमुनाकी ओर जा रही हैं। अभी तो इनके सोनेका समय है। परंतु जिसे लगन लग गयी उसे नींद कहाँ? उसे भला अपने आत्माके प्राण मनमोहनको पाये बिना कल कैसे पड़ सकती है? इन्हें ठण्डककी परवा नहीं, शरीरकी सुध नहीं और गुरुजनोंकी लाज नहीं, ये तो प्रेमकी पगली हैं। जानती हो, ये क्या करती हैं? इस कड़ाकेकी ठण्डमें घंटों यमुनाजलमें स्नान करती हैं और बालूकी मूर्ति बनाकर कात्यायनीदेवीकी पूजा करती हैं। इनका मन्त्र, उफ़ कितना सीधा मन्त्र है? कैसी सरलताके साथ ये अपना मनोरथ देवीके सामने प्रकट करती हैं। जरा भी छल-कपट नहीं। कहती हैं—'देवि! नन्दलाड़िले श्यामसुन्दर हमारे पति हो जायँ।' कितना सीधा मन्त्र है।

एक दिन हमारे मनमोहन सरकार इनपर कृपा करेंगे, इन्हें सर्वदाके लिये अपनायेंगे। उन्हें कोई चाहे और वे न मिलें, ऐसा तो हो ही नहीं सकता। वे प्रेमपरवश हैं, दयालु हैं और हैं बड़े भक्तवत्सल। इस अवस्थाका नाम है—'यत'। इसमें भगवान्‌को प्राप्त करनेकी साधना बड़ी लगनके साथ चलती है। देखो, वह देखो, कुछ गोपवधूटियाँ एकत्रित होकर आपसमें बातचीत कर रही हैं। चलो, पाससे सुनें। इस प्रेमनगरमें भगवत्प्रेमके अतिरिक्त और कोई बात होती ही नहीं। ये गोपियाँ तो श्रीकृष्णप्रेमकी मूर्ति हैं, इनकी बात सुननेमें बड़ा आनन्द है।

हाँ, सुनो, एक क्या कह रही है—

'सखी! यहाँकी हरिनियाँ कितनी भाग्यवती हैं, जो बिना किसी रोक-टोकके अपने पति कृष्णसार मृगोंके साथ—श्यामसुन्दरके पास जाती हैं और अपनी प्रेमभरी

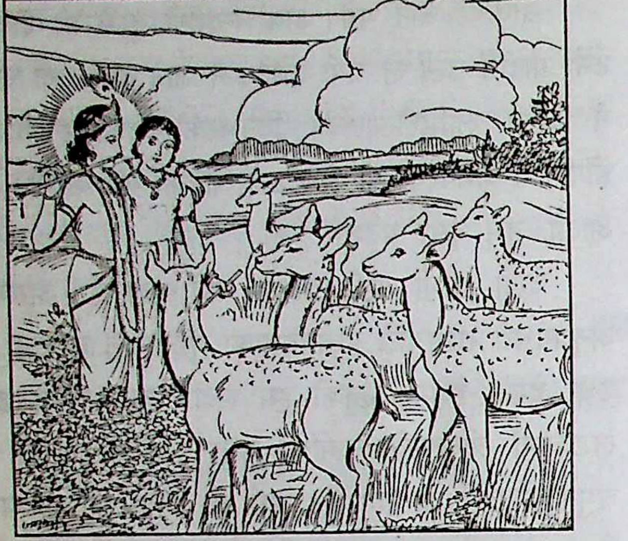

चितवनसे उन्हें निहार-निहारकर अपनी बड़ी-बड़ी आँखोंका लाभ लेती हैं और उनकी पूजा करती हैं। उनका वह जीवन कितना धन्य है! और हम, हम अपने पतियोंके साथ नहीं जा सकतीं। काश, हम भी उसी योनिमें होतीं! तब हमें कोई न रोकता। परंतु रोकनेसे क्या होता है? हम तो उन्हें निहारेंगी, अवश्य निहारेंगी। अब किसीके रोके नहीं रुकतीं।'

सभी बारी-बारीसे कुछ कह रही हैं, कितना प्रेम है। जीवनमें यदि ऐसी लालसा जग जाय तो क्या पूछना है? फिर तो सर्वदाके लिये भगवान्‌का सान्निध्य प्राप्त हो जाय। देखो, वह देखो, कई गोपियाँ अपने पतियोंके साथ विमानपर चढ़कर दर्शन करने आयी हुई देवाङ्गनाओंके सौभाग्यकी प्रशंसा करती हुईं यमुनाकी ओर बढ़ रही हैं। ये यमुनामें स्नान करने और जल भरने तथा दही-दूध बेचने आदिका बहाना बनाकर प्रायः ही इधर आया करती हैं और मोहनकी मोहिनीकी झाँकी किया करती हैं। इनका प्रेम धन्य है, इनके हृदयकी दशा अत्यन्त रमणीय है। इसका नाम है 'ललित'।

जब प्राण-प्रियतमके दर्शन होते हैं तब तो आनन्द-ही-आनन्द रहता है, परंतु यदि एक क्षणके लिये भी वियोग हो जाय तो असीम दुःख भी हो जाता है। कई बार ऐसा होता है कि श्रीकृष्ण कहीं तमालके वृक्षों, लताओं और कुञ्जोंमें छिप जाते हैं तथा गोपियाँ बिना पानीके मछलियोंकी भाँति तड़फड़ाने लगती हैं। देखो, हम तो देख ही रही हैं कि वह आड़में खड़े होकर मुसकरा रहे हैं और उधर उस गोपीकी बुरी दशा हो रही है। मुँह पीला पड़ गया है। सिर झुक गया है। आँसू बहाती हुई आँखें इधर-उधर चकपकाकर देख रही हैं। चुने हुए फूल गिर पड़े इसका तो क्या पता होगा, जब उसे अपने तनकी ही सुधि नहीं है। अब वह रोते-रोते मूर्च्छित ही होनेवाली है। पर भगवान् उसे मूर्च्छित थोड़े ही होने देंगे। आकर अभी-अभी उठा लेंगे। परंतु प्रेमकी यह दशा है बड़ी सुन्दर। इसे 'दलित' कहते हैं। जिसे यह प्राप्त हो जाय, उसीका जीवन सफल है।

जब दलित दशाका सच्चा प्रकाश होता है तभी भगवान् श्यामसुन्दर आकर मिल जाते हैं। उस दिनकी बात है—श्रीकृष्ण रासलीलासे अन्तर्धान हो गये। हम विकल होकर वन-वनमें भटककर उन्हें ढूँढ़ने लगीं। वृक्षों, लताओं और पशु-पक्षियोंतकसे पूछने लगीं। परंतु कौन बताता है, वह तो हमारा पागलपन था। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हम अपने-आपको भूल गयीं। बस, केवल रोना-ही-रोना अवशेष रहा। परंतु उसी रोनेके अंदर हमारे हृदयेश्वर प्रकट हो गये। कितना सुन्दर था वह क्षण! उन्हें देखते ही मानो मुर्देमें जान आ गयी हो, हम सब उठकर खड़ी हो गयीं। किसीने पीताम्बर पकड़ लिया, किसीने उनके हाथ कन्धेपर रख लिये और किसीने अपने हाथोंको उनके कन्धोंपर रखकर अपनी विशेष ममता प्रकट की। उस 'मिलित' दशाका वर्णन करना असम्भव है।

उस मिलनके पश्चात् तो हम सब भूल ही गयीं। विरहका दुःख भूल गया और विरह भी भूल गया। उनकी रूपमाधुरीका पान करके कोई मस्त हो गयी तो दूसरी हृदयके अन्तस्तलमें उनके शीतल स्पर्शसे समाधिस्थ हो गयी, परंतु यह समाधि योगियोंकी-सी समाधि नहीं थी। इसमें आँखें बंद तो थीं, परंतु इसलिये बंद थीं कि कहीं हृदयमें विहार करनेवाले प्राणवल्लभ इन आँखोंके मार्गसे निकल न जायँ। इस संयोगसुखकी मस्तीको ही प्रेमियोंने 'कलित' दशा बताया है।

हाँ, तो उस दिनकी बात स्मरण करके हमारा हृदय गद्गद हो रहा है। सारा-का-सारा दृश्य आँखोंके सामने नाच रहा है। कैसा सुन्दर वह दृश्य था! सुनो, सुनो, मैं कहे बिना रह नहीं सकती।

श्रीकृष्णके आनेपर सब गोपियाँ तो उनके अनुनय-विनयमें लगी हुई थीं, परंतु रासेश्वरी श्रीराधा? अरे, उनके प्रेमकी असीमता तो फूटी पड़ती थी। विशेष ममताके कारण प्रणयरोषका भाव प्रकट करती हुई वे दूर ही खड़ी

थीं। उनकी भौंहें चढ़ी हुई थीं। अधर दाँतोंतले दबे हुए थे और वे विह्वलता प्रकट कर रही थीं। फिर उनका बड़ा अनुनय-विनय किया गया। स्वयं श्रीकृष्णने अपनी रूठी हुई प्राणेश्वरीको मनाया, तब जाकर कहीं प्रसन्न हुईं। यह प्रेमसंरम्भकी (छिलित) दशा है। यह प्रेमकी बड़ी ऊँची स्थितिमें ही प्रकट होती है। हमारे जीवनमें भला भगवान्‌से रूठनेकी बात कैसे आ सकती है? हम डरती रहती हैं कि कहीं वे न हमसे रूठ जायँ। यद्यपि वे तो प्रेमस्वरूप हैं, भला कभी रूठ सकते हैं? परंतु कभी-कभी इसकी वृद्धिके लिये रूठनेका-सा अभिनय कर बैठते हैं। उस समय हमें कितनी वेदना होती है, कह नहीं सकतीं। उस दिनकी बात है। उन्होंने रात्रिमें बाँसुरी बजायी और हम सब घर-द्वार छोड़कर निकल पड़ीं। हाँ, तो उस समय वे रूठे-से बन गये। कहने लगे, घर लौट जाओ। सखी! वह बात स्मरण करके आज भी हम व्याकुल हो उठती हैं। उस समय मनमें यही एकमात्र इच्छा थी कि अब इस शरीरको रखकर क्या होगा। इसे इसीलिये हम रखती हैं न कि यह प्रियतमके काम आये, परंतु जब उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया तो इसकी क्या जरूरत? उन्हींका ध्यान करते-करते, उन्हींके विरहकी आगमें जलकर हम मर जायँगी तो अगले जन्ममें तो उन्हें पा सकेंगी। यही सब सोचते-सोचते गोपियाँ उस समय विचलित हो गयी थीं। हमारे जीवनमें उस समय प्रेमकी 'चलित' दशाका पूर्णतः उदय हो आया था और उसी समय भगवान्‌ने हमें अपनाया। कितने प्रेमी हैं वे!

यह बात तो बीचमें आ गयी थी। भगवान्‌के मिलनेपर, उनकी अनुकूलता प्राप्त करनेपर हमें जिस परमानन्दकी उपलब्धि हुई, कही नहीं जा सकती। यमुनाके कपूरके समान चमकीले विस्तृत पुलिनपर हमने अपनी-अपनी ओढ़नी बिछा दी। वे मुसकराते हुए उसपर विराजमान हुए। हम उन्हें घेरकर चारों ओर बैठ गयीं। किसीने उनके चरणोंको अपनी गोदीमें लेकर अपने हृदयसे लगा लिया। किसीने उनकी पूजा की। किसीने प्रश्न पूछे और वे बड़े प्रेमसे उत्तर देने लगे। हमारे उस सौभाग्यातिरेकको आकाशमण्डलमें ठिठके हुए चन्द्रमा निर्निमेष नयनोंसे देख रहे थे, श्याममयी कालिन्दी अपनी कल-कल ध्वनिद्वारा उसका गायन कर रही थी और हवा अधखिली कलियोंका सौरभ लेकर धीरे-धीरे पंखा झल रही थी। उस समय हम सब कुछ अतिक्रमण कर गयी थीं। वह प्रेमकी 'क्रान्त' दशा थी।

'मेरी प्यारी सखी! मैं तुम्हें इसलिये इधर लायी थी कि तुम्हें प्रेमनगरके कुछ दृश्य दिखाऊँ, परंतु मैं अपनी ही बातोंके कहनेमें इतनी तल्लीन हो गयी कि दिखाना ही भूल गयी। अब आओ, आगे चलें, तुम्हें विरहलीलाके विभागमें ले चलें। भगवान्‌की नित्यसहचरी गोपियोंका उनसे कभी वियोग नहीं होता, परंतु भगवान्‌के विरहमें किस प्रकारका दुःख होता है और होना चाहिये, यह बात बतानेके लिये तथा संयोगात्मक रसराजकी पुष्टिके लिये वियोगके दृश्य भी होते हैं। आओ, ले चलूँ तुम्हें।'

'देखो, उस गोपीका दिव्य उन्माद तो प्रत्यक्ष हो रहा है न? एक ओर सन्देश लेकर आये हुए उद्धव स्तम्भित-से, चकित-से बैठे हुए हैं, दूसरी ओर वह भ्रमरोंकी गुनगुनाहटको ही भगवान्‌का सन्देश मानकर न जाने क्या-क्या बक रही है। इसके चित्र-विचित्र जल्प सुनते ही बनते हैं। सुनो, सुनो, क्या कह रही है? भौंरेको अपने पास फटकनेतक नहीं देती और उसे बार-बार डाँटती है कि तुम जाओ मथुरा, यहाँ तुम्हारी जरूरत नहीं। देखती नहीं हो क्या? चिन्ताके मारे सूखकर काँटा हो गयी है। आँखोंकी खुमारीसे साफ जाहिर होता है कि उद्वेगके मारे इसे नींद नहीं आती। शरीर और कपड़ोंको धोनेकी याद ही नहीं। बार-बार बेसुध हो जाती है। मर-मरके जीती है और वह भी केवल इसी आशासे कि कभी-न-कभी प्राणप्यारे श्रीकृष्णके दर्शन हो जायँगे। इसके मनमें केवल यही बात है कि शायद मेरे मर जानेके बाद वे आयें और मुझे न पाकर दुःखी हों। बस, केवल उनके सुखके लिये ही जीवित है, नहीं तो न जाने कब यह इस संसारसे उठ गयी होती। इसका नाम है—'विहृत दशा'।

अरे देखो देखो, अब इसका हृदय न जाने कैसा हो गया! कभी हँसती है, कभी रोती है, कभी मौन हो जाती है, मानो कोई पत्थरका टुकड़ा पड़ा हो। सुनो, क्या कह रही है—

'प्राणेश्वर! जीवनधन! आओ, एक बार, केवल एक बार आओ। देखो, यह वही यमुना है न, जिसमें तुम जलविहार करते थे? नाथ! यह वही कदम्ब, वही लताओंका कुञ्ज, वही रात, वही वृन्दावन और वही मैं; परंतु तुम, तुम कहाँ हो, आओ आओ—

हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात्॥

क्या तुम आओगे? सचमुच आकर मुझे उठा लोगे?

हाँ, तुम अवश्य आओगे, आये बिना रह नहीं सकते।'

देखो, कहते-कहते रुक गयी, अब बोला नहीं जाता। इसे प्रेमकी 'गलित' दशा कहते हैं, चलो पाससे चलकर देखें।

अरे यह क्या? इसका मुँह तो प्रसन्नतासे खिल उठा! एक ही क्षणमें इसकी दशा ही बदल गयी। अब तो यह संयोगसुखसे संतृप्त मालूम पड़ती है। मस्तीके साथ उठकर तमालको गले लगा रही है। सच है। सच्चे विरहमें भगवान् अलग रह ही नहीं सकते। अब इसके लिये सारा जगत् प्रियमय हो गया है। अब कभी एक क्षणके लिये भी इसे वियोगका अनुभव न होगा। अब '**त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे**' की सच्ची अनुभूति इसे प्राप्त हो गयी।

'अब चलो, युगल सरकारके उस कुञ्जके पास चलें जहाँ छोड़कर हम प्रेमनगर देखने चली आयी थीं। जब युगल सरकार निकलेंगे तब हम उन्हें निहार-निहारकर निहाल होंगी। आओ, गाती हुई चलें'—

इन नयननु छबिधाम बिलोकिय।
सखि! चलि वेगि प्रिया निकुञ्ज महँ युगलरासरस पीजिय॥
इन नयननु छबिधाम बिलोकिय।

लीला-दर्शन—

सखा-सत्कार

कन्हाईकी वर्षगाँठ है। इस जन्मदिनका अधिकांश संस्कार पूर्ण हो चुका है। महर्षि शाण्डिल्य विप्रवर्गके साथ पूजन-यज्ञादि सम्पन्न कराके, सत्कृत होकर जा चुके हैं। गोप एवं गोपियोंने अपने उपहार व्रजनवयुवराजको दे दिये हैं। अब सखाओंकी बारी है।

कन्हाईके सखा भी उपहार देंगे; किंतु ये गोपकुमार तो अपने अनुरूप ही उपहार देनेवाले हैं। रत्नाभरण, मणियाँ, बहुमूल्य वस्त्र, नाना प्रकारके खिलौने तो बड़े गोप, गोपियाँ—दूरस्थ गोष्ठोंके गोप भी लाते हैं; किंतु गोपकुमारोंका उपहार इन सबसे भिन्न है।

'कनू! मैं भी तुझे टीका लगाऊँगा।' यह आया भद्र। यह श्यामके जन्मदिनपर सदा ऐसे ही आता है—'मेरे समीप तो कुछ है नहीं; तेरी ही कामदाके गोबरका टीका लगा दूँ तुझे?'

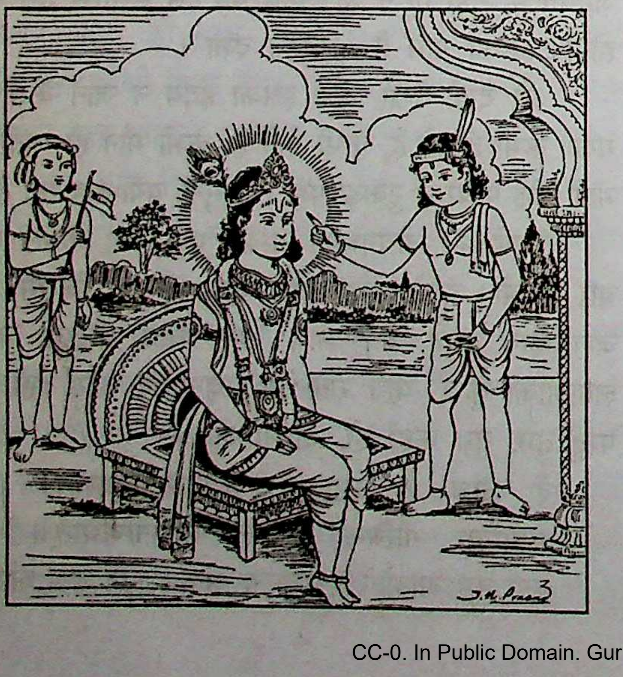

'सच! लगा!' अब यह नन्दनन्दन तो मानो हर्षसे विभोर हो उठा है। इसे लगता है कि इतनी महत्त्वपूर्ण बात महर्षि शाण्डिल्यतकको स्मरण नहीं आयी और उसका भद्र कितना बुद्धिमान् है। भला, गोपकुमारका तिलक गोमयके बिना कैसे सम्पूर्ण हो सकता है?

आज कन्हाई सिरसे चरणोंतक नवीन रत्नाभरणोंसे सज्जित है। अलकोंमें अनेक रंगोंके रत्न-मणियोंकी माला है। रत्न-खचित नन्हा-सा मुकुट है। भालपर केसरकी खौरके मध्य महर्षिके द्वारा लगाया कुंकुम-तिलक है, जिसपर अक्षत लगे हैं। भद्रने अक्षतोंके नीचे ठीक भ्रूमध्यमें अपनी अनामिकासे एक छोटा बिन्दु गोबरका लगा दिया।

'बाबा! यह सब भूल ही गये थे।' कृष्ण अब बाबा, ताऊ, चाचा और मैया—सबको दौड़ा-दौड़ा दिखला रहा है—भद्रने लगाया है—मेरे भद्रने।

अब यह क्रम तो चल पड़ा। तोक कहींसे एक तिरंगी गुंजा लाया है—श्वेत, कृष्ण और अरुण तीनों रंग समान हैं इसमें तथा कन्हाई उसे करपर रखे सबको दिखलाता घूम रहा है। इसके नेत्र, इसका उल्लासभरा स्वर कहता है—'ऐसी अद्भुत वस्तु है कहीं किसीके समीप? कोई रत्न इसकी तुलना करनेयोग्य है?'

कोई नन्हा मयूरपिच्छ लाया है और कोई तीन-चार छोटे किसलय। सुबल कहींसे पाँच रंगोंसे अङ्कित श्वेत पुण्डरीक पा गया है। सब फल, पुष्प, पत्ते या पिच्छ ही लाये हैं, किंतु कन्हाई तो एक-एक सखाका उपहार पाकर ऐसा उल्लसित होता है, ऐसा उछलता और सबको दिखाने

दौड़ता है जैसे त्रिभुवनका दुर्लभतम रत्न इसे मिल गया हो।

कृष्णचन्द्र इतना उल्लसित तो किसी भी गोप या गोपीके उपहारको पाकर नहीं हुआ। सब गोप, गोपियाँ, दूरस्थ गोष्ठोंसे आये गोपनायक महीनोंसे इसी अन्वेषणमें लगे थे नन्दनन्दनको क्या दें इस दिन, जिसे पाकर श्याम प्रसन्न हो; किंतु यह नील-सुन्दर जैसे नाचता, कूदता, उल्लासभरा दिखलाता फिर रहा है अपने सखाओंका उपहार—कोई अमूल्य मणि या वस्त्र कहाँ इसका सहस्रांश भी हर्ष इसमें ला सका।

'लाल! आज मित्रोंका सत्कार करते हैं।' मैयाने बड़े स्नेहसे कहा—'तुम अपने सखाओंको भी तो उपहार दो!'

'हाँ!' कन्हाई प्रसन्न, दौड़ आया उस राशिके समीप जो मैयाने सजा रखी है। इस बार मैयाने बाबाको बहुत सावधान किया था कि उनका नीलमणि अपने सखाओंको ऐसी-वैसी वस्तु नहीं देना चाहेगा। बाबाने कई महीने लगाये हैं इन वस्तुओंके चयनमें। बहुत प्रयत्न करके दूर-दूरसे मँगाया है।

मैया ठिठकी खड़ी रह गयी। बाबा भी स्तब्ध देखते रह गये। इस बार भी वही हुआ जो पिछली वर्षगाँठोंको होता आया है। कोई प्रयत्न सफल नहीं हुआ। कुछ भी तो कृष्णको ऐसा नहीं लगता है, जो वह अपने किसी सखाको दे सके।

कन्हाई कोई चमकता मणि, कोई रत्नाभरण, कोई वस्त्र उठाता है, देखता है और फेंक देता है। किसी सखाके दिये किसलय, गुंजा, पिच्छ, फलको देखता है और हाथकी वस्तु इसे तुच्छ लगती है। अनेक बार भालके गोमय-बिन्दुतक कर ले गया और हाथकी वस्तु उपेक्षासे फेंक दी इसने।

अबतक हर्षसे उछलता, खिलखिलाता, दौड़ता श्यामसुन्दर गम्भीर हो गया है। कुछ खिन्न हो उठा है। विशाल अञ्जन-रञ्जित कमललोचन भर आये हैं। अग्रजकी ओर देखा इसने 'दादा!'

प्रत्येक वर्षगाँठपर यही होता है। दाऊ ही अपने अनुजका समाधान करते हैं—'कनूँ! अपने सखाको देकर सन्तुष्ट हो सके, ऐसी कोई वस्तु कैसे हो सकती है?'

सचमुच कोई वस्तु त्रिभुवनमें कैसे हो सकती है, जो सखाको देनेयोग्य प्रतीत हो सके कन्हाईको। तब?

एक क्षण सिर झुकाकर सोचता है और फेंके-बिखरे रत्नाभरणों, मणियों, वस्त्रोंके मध्यसे आगे कूद आता है, 'भद्र!' दोनों भुजाएँ गलेमें डालकर कन्हाई लिपट गया है। वाणी नहीं कह पाती; किंतु इसका रोम-रोम कहता है… 'मैं तेरा! मैं तेरा!'

'तोक! सुबल! श्रीदाम! वरूथप! अब एक-एक सखाके कण्ठसे कन्हाई भुजाएँ फैलाकर लिपट रहा है। इसका अङ्ग-अङ्ग मानो पुकार रहा है—'मैं तेरा! मैं तेरा!' चल रहा है यह सखाओंका सत्कार!

* * *

व्रजाङ्गनाओंका भगवत्प्रेम

(डॉ० श्रीउमाकान्तजी 'कपिध्वज')

परब्रह्मके प्रेमरूपका दर्शन व्रजमें ही सम्भव है। सर्वव्यापक गुणातीत ब्रह्मका स्वरूप ही व्रज है। व्रजमें कृष्णकी आत्म-परमात्ममिलनकी लीला सदासे होती रही है और कबतक होगी—यह कहना सम्भव नहीं है। कृष्णकी आत्मा राधा हैं। राधा कृष्ण हैं और कृष्ण ही राधा हैं तथा इन दोनोंका प्रेम वंशी है। यहाँ प्रेमकी धारा अनवरत रूपसे प्रवाहित होती रहती है।*

आत्मामें रमण करनेवाले परमात्माकी यह प्रेमलीला कृष्ण और राधाके रूपमें दर्शित होती है। प्रेमी और रसिक ही इस रसका आस्वादन करके आनन्दित होते हैं। प्रेमका रस गूँगेके गुड़के समान अकथनीय है। उसका केवल अनुभव किया जा सकता है। पद्मपुराणमें वर्णन है कि इस प्रेमरसको प्राप्त करनेके लिये भगवान् शंकरने जब व्रजाधिपति श्रीकृष्णसे प्रार्थना की तब उन्होंने उन्हें द्वापरयुगमें व्रज आनेकी सलाह दी तदनुसार गौरीशंकर निर्दिष्ट समयपर व्रजमें राधाकृष्णका दर्शन करके प्रेममग्न हुए।

---

* इसीलिये तो कबीरदासजीने कहा है—

कबिरा धारा प्रेम की सदगुरु दई लखाय। उलटि ताहि जपिये सदा प्रियतम संग मिलाय॥

सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णका सच्चिदानन्दमयी गोपिका-नामधारिणी अपनी ही छायामूर्तियोंसे जो दिव्य अप्राकृत प्रेम था उसका वर्णन कौन कर सकता है? प्रेमरूपा गोपियाँ ही इस रसको प्राप्त करनेकी अधिकारिणी हैं; क्योंकि आत्मा और परमात्माकी एकताको न जाननेके कारण ही जगत्की उत्पत्ति-स्थिति और प्रतीति होती है। स्वरूपमें स्थित होनेपर प्रभुको जीवरूपमें देखा ही नहीं जा सकता। इन्द्रियोंके वेगको रोककर ही गोपी बना जा सकता है। सदा अधिष्ठान—चिंतन और अधिष्ठानरूपमें स्थित रहना ही गोपीभाव है।

गोपियोंके प्राण और श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्णके प्राण एवं गोपियोंमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। वे परस्पर अपने-आप ही अपनी छायाको देखकर विमुग्ध होते हैं और सबको मोहित करते हैं। गोपियोंने अपने मनको श्रीकृष्णके मनमें तथा अपने प्राणोंको श्रीकृष्णके प्राणोंमें विलीन कर दिया था।[१] गोपियाँ इसीलिये जीवन धारण करती थीं कि श्रीकृष्ण वैसा चाहते थे। उनका जीवन-मरण, लोक-परलोक सब श्रीकृष्णके अधीन था। उन्होंने अपनी सारी इच्छाओंको श्रीकृष्णकी इच्छामें मिला दिया था।

व्रजमें श्रीकृष्णका मन और लीला ही सर्वोपरि थी। इसका अनुभव तब होता है जब ब्रह्माजीके द्वारा गायों और ग्वाल-बालोंका अपहरण हो जाता है। उस समय '**वासुदेवः सर्वम्**' की उद्घोषणाको साकार करके श्रीकृष्ण गाय, बछड़े, ग्वाल-बाल आदिके रूपमें एक वर्षतक रहकर गोपियोंको आनन्दित करते हैं। प्रभुकी इस लीलाको देखकर स्वयं बलभद्रजी भी चकित हो जाते हैं।

विषयानुराग काम है तथा भगवदनुराग प्रेम है। यह प्रेम बढ़ते-बढ़ते जब प्रेमीको प्रेमास्पद भगवान्का प्रतिबिम्ब बना देता है, तभी प्रेम पूर्णताके समीप पहुँचता है; क्योंकि समर्पण ही वास्तविक प्रेमका रूप है। यही अनन्यता है। अनन्यताकी व्याख्या करते हुए भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा०च०मा० ४।३)

विशुद्ध अन्तःकरण ही गोपीप्रेम-रसका आस्वादन कर सकता है। भगवान् शंकर भगवती सतीसे कहते हैं—'विशुद्ध अन्तःकरणका नाम ही 'वसुदेव' है; क्योंकि उसीमें भगवान् वासुदेवका अपरोक्ष अनुभव होता है। उस शुद्ध चित्तमें स्थित इन्द्रियातीत भगवान् वासुदेवको ही मैं नमस्कार किया करता हूँ।'[२] परम भक्त उद्धव ज्ञानी थे। उस ज्ञानके रूपको प्रेमसागरमें निमग्न करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें गोपियोंको अपना सन्देश सुनानेके लिये व्रजमें भेजा। उद्धवने गोपियोंको सन्देश सुनाते हुए कहा—मैं सबका उपादान कारण होनेसे सबका आत्मा हूँ, सबमें अनुगत हूँ, इसलिये मुझसे कभी भी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता। जैसे संसारके सभी भौतिक पदार्थोंमें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँचों भूत व्याप्त हैं, इन्हींसे सब वस्तुएँ बनी हैं और ये ही उन वस्तुओंके रूपमें हैं; वैसे ही मैं मन, प्राण, पञ्चभूत, इन्द्रिय और उनके विषयोंका आश्रय हूँ। वे मुझमें हैं, मैं उनमें हूँ और सच पूछो तो मैं ही उनके रूपमें प्रकट हो रहा हूँ।[३]

गोपियोंने भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश अपनी बुद्धि और प्रेमके अनुरूप ग्रहण किया, पर भ्रमरगीतके रूपमें प्रेमकी अकथनीय प्रेमधारामें ज्ञानको बहाकर उद्धवजीको स्वयं अपने प्रेमके रूपमें निमग्न कर गोपीभाव समझनेको बाध्य कर दिया। परिणामस्वरूप उद्धव स्वयं गोपी बनकर श्रीकृष्णके पास पहुँचे। भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें गोपीके रूपमें देखकर उनके समर्पणके भावको समझ गद्गद होकर तथा गोपीनाथ बनकर उन्हें हृदयसे लगा लिया। जिस तरह माता जानकीके क्षणभरके सत्संगसे जटायु मैया जानकीके समान[४] भगवच्चरणोंका चिन्तन[५] करने लगे थे। उसी प्रकार उद्धवजी ज्ञान-वैराग्य भूलकर गोपियोंके समान प्रेममग्न हो

---

[१] गोपियोंने तभी तो उद्धवजीसे कहा है—

ऊधौ मन न भए दस बीस। एक हुतौ सो गयौ स्याम सँग, को अवराधै ईस॥

[२] श्रीमद्भागवत ४।३।२३

[३] श्रीमद्भागवत १०।४७।२९

[४] निज पद नयन दिएँ मन राम पद कमल लीन॥ (रा०च०मा० ५।८)

तथा—नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥ (रा०च०मा० ५।३०)

[५] आगें परा गीधपति देखा। सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा॥ (रा०च०मा० ३।३०।१८)

गये। जिस तरह काले रंगपर कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ता, उसी तरह श्रीकृष्णप्रेमका नशा जिसे एक बार चढ़ गया, उसे सर्वत्र कृष्ण-ही-कृष्ण दिखायी देते हैं। गोपियोंने तभी तो उद्धवजीसे कहा है—

स्याम तन स्याम मन स्याम है हमारो धन,
आठों जाम ऊधौ हमें स्याम ही सों काम है।
स्याम हिये स्याम जिये स्याम बिनु नाहिं तिये,
आँधेकी-सी लाकरी अधार स्याम नाम है॥
स्याम गति स्याम मति स्याम ही हैं प्रानपति,
स्याम सुखदाई सों भलाई सोभाधाम है।
ऊधो तुम भए बौरे पाती लैके आए दौरे,
जोग कहाँ राखैं यहाँ रोम-रोम स्याम है॥

अनात्म प्रेम, भौतिक प्रेम और शारीरिक प्रेम भगवत्प्रेमके आगे फीके पड़ जाते हैं। कृष्णप्रेमके रंगमें रँगी आँखें किसी दूसरेको नहीं निहारतीं। प्रेमी चाहता है कि आँखें सर्वत्र उसे ही देखती रहें, परम प्रेमास्पद परमानन्दस्वरूप सर्वात्मा भगवान् ही सदा आँखोंके सामने रहें। वे आँखें ही न रहें जो तदन्यको देखना चाहें, वह हृदय ही टूक-टूक हो जाय जिसमें तदन्यका भाव, चिन्तन हो। अनन्य प्रेमसे परिपूर्ण हृदय वह है जो भीतरसे आप-ही-आप बोल उठता है—हे आराध्य देव! मुझे केवल तेरी ही अपेक्षा है, अन्यकी नहीं। ज्ञानदृष्टिसे देखनेपर तुझसे अन्य कुछ है भी तो नहीं!

गोपियाँ भी भगवान् श्रीकृष्णके प्रेममें आकण्ठ डूबी हुई थीं। तभी तो भगवान्ने उद्धवजीसे कहा—उद्धव! और तो क्या कहूँ, मैं ही उनकी आत्मा हूँ। वे नित्य-निरन्तर मुझमें ही तन्मय रहती हैं।[1] इतना ही नहीं, भगवान् श्रीकृष्ण तो यहाँतक कहते हैं—उद्धव! मुझे तुम्हारे-जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रियतम हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मस्वरूप शंकर, सगे भाई बलरामजी, स्वयं अर्धांगिनी लक्ष्मीजी और मेरा अपना आत्मा भी नहीं है।[2]

प्रेमकल्पलता श्रीराधाजीका महाभाव

(श्रीहरनारायण सिंहजी सिसोदिया, एम०ए०)

वन्दे राधापदाम्भोजं ब्रह्मादिसुरवन्दितम्।
यत्कीर्तिकीर्तनेनैव पुनाति भुवनत्रयम्॥
(ब्र०वै०पु० श्रीकृष्ण० ९२।६३)

मैं श्रीराधाके उन चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ जो ब्रह्मा आदि देवताओंद्वारा वन्दित हैं तथा जिनकी कीर्तिके कीर्तनसे ही तीनों भुवन पवित्र हो जाते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण अपने आनन्दको प्रेमविग्रहोंके रूपमें दर्शाते हैं और स्वयं ही उनसे आनन्द प्राप्त करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके उस आनन्दकी प्रतिमूर्ति ही प्रेमविग्रहरूपा श्रीराधाजी हैं। राधाका यह प्रेमविग्रह सम्पूर्ण प्रेमोंका एकीभूत समूह है। आनन्दसारका घनीभूत विग्रह श्रीकृष्ण और प्रेमरससारकी घनीभूत मूर्ति श्रीराधाजीका कभी विछोह नहीं होता। वे एक-दूसरेके बिना अपूर्ण हैं। श्रीराधाजी श्रीकृष्णजीकी जीवनरूपा हैं और श्रीकृष्णजी श्रीराधाजीके जीवन हैं। दिव्य प्रेमरससार विग्रह होनेसे ही राधिका महाभावरूपा हैं, जो उनके प्रियतम श्रीकृष्णको सदा सुख प्रदान करती रहती हैं।

श्रीश्याम-राधिकाकी बाल्यावस्थाके प्रथम-मिलनका सूरदासजीने अपने एक पदमें कितना मार्मिक एवं स्वाभाविक वर्णन किया है—

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रजखोरी॥
काहे कौं हम ब्रज-तन आवतिँ, खेलति रहतिँ आपनी पौरी।
सुनत रहतिँ स्त्रवननि नँद-ढोटा, करत फिरत माखन-दधि-चोरी॥
तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी॥
(सूरसागर पद १२९१)

कृष्णकी ह्लादिनी शक्तिकी लाखों अनुगामिनी शक्तियाँ मूर्तिमती होकर प्रतिक्षण सखी, मंजरी, सहचरी, दूती आदि रूपोंमें श्रीराधा-कृष्णकी सेवा किया करती हैं। उन्हें सुख

---

[1] श्रीमद्भागवत १०।४६।६

[2] श्रीमद्भागवत ११।१४।१५

पहुँचाना तथा प्रसन्न रखना ही इन गोपीजनका मुख्य कार्य होता है। श्रीकृष्णने राधाके लिये कहा है—'जो तुम हो वही मैं हूँ।'

श्रीकृष्ण तथा राधा दोनों एक ही हैं—अभिन्न हैं। श्रीराधाजी नित्य ही भगवान् श्रीकृष्णके संग रहती हैं। अपने विचित्र विभिन्न भाव-तरंगरूप अनन्त सुखसमुद्रमें श्रीकृष्णको राधाजी नित्य निमग्न रखनेवाली महाशक्ति हैं। वे एकमात्र अपने प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरकी सुख-विधाता हैं। वे त्यागमयी, मधुर स्वभाववाली हैं। गुणोंकी अनन्त आकर होकर भी अपनेको गुणविहीन मानती हैं। प्रेममूर्ति होकर भी अपनेमें प्रेमका अभाव देखती हैं। सौन्दर्यनिधि होकर भी अपनेको सौन्दर्यरहित मानती हैं अर्थात् निरभिमानी हैं।

राधाजीका समस्त शृंगार अपने प्रियतम श्रीकृष्णके लिये ही होता है। उनका खाना-पीना, दिव्य गन्ध-सेवन, सुन्दरताका दर्शन, संगीत-श्रवण, सुख-स्पर्श, चलना-फिरना और सभी व्यवहार अपने लिये नहीं, वरन् अपने प्रिय श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेहेतु होता है। उनके प्रेमका लक्ष्य होता है, श्रीकृष्णके आनन्दविधानकी ओर। उनका प्रेम अचिन्त्य और अनिर्वचनीय है, परम विशुद्ध तथा उज्ज्वल है। श्रीराधाका प्रेम सहज और परमोच्च शिखरपर आरूढ़ है। इसी राधा-प्रेमका दूसरा नाम अधिरूढ़ महाभाव है, जिसमें प्रियतमका सुख ही सब कुछ है।

अपने मनकी अति गोपनीय स्थिति दर्शाती हुई श्रीराधा अपनी सखीसे कहती हैं—मेरा जो कुछ भी था सब प्रभुको समर्पित हो गया। सब ओरसे अपनी ममता सिमटकर केवल प्रभुमें ही रह गयी। सभी सम्बन्ध टूट गये, केवल प्रभुसे ही प्रगाढ़ सम्बन्ध रह गया है। सरस सुगन्धित सुमनोंसे छद्म रूपसे सदा प्रभुकी पूजा करती हूँ ताकि इसका प्रभुको पता न लगे। जहाँ भी रहूँ, कैसे भी रहूँ, इस पूजाका अन्त न हो। इस पूजामें मैं सदा आनन्दलाभ करूँ, इसीमें मेरी रुचि है। यह पूजा सदा बढ़ती रहे। इस पूजामें नित्य प्रियतम श्रीकृष्णके मनमोहन रूपको देखती रहूँ। पर मेरे प्रियतम कभी मेरी पूजा देख न पायें। अन्यथा यह एकांगी भाव न रह सकेगा। कितने निश्छल भावसे राधा-रानीने अपने ये भाव अपनी प्रिय सखीसे कहे—

रह नहीं पायेगा फिर यह एकांगी निर्मल भाव।
फिर तो नये नये उपजेंगे प्रियसे सुख पानेके चाव॥

प्रेमभक्तिका चरम स्वरूप श्रीराधाभाव है। इस भावका यथार्थ स्वरूप श्रीराधिकाजीके अतिरिक्त समस्त विश्वके दर्शनमें कहीं नहीं मिलता। वे शंका, संकोच, संशय, सम्भ्रम आदिसे सर्वथा शून्य परम आत्मनिवेदनकी पराकाष्ठा हैं। रति, प्रेम, प्रणय, मान, स्नेह, राग, अनुराग और भाव—इस प्रकार बढ़ता हुआ परम त्यागमय पवित्र प्रेम अन्तमें जिस रूपको प्राप्त होता है, वही महाभाव श्रीराधाजीमें है।

वे इस महाभावकी प्रत्यक्ष प्रतिमूर्ति हैं। श्रीश्यामसुन्दर ही श्रीराधाके प्रेम-आलम्बन हैं। श्रीराधाजी इस मधुररसकी श्रेष्ठतम आश्रय हैं। वे कभी प्रियतमके संयोगसुखका, कभी वियोगवेदनाका अनुभव करती हैं। उनका मिलनसुख और वियोगव्यथा दोनों ही अतुलनीय तथा अनुपम हैं।

जब श्रीकृष्णजी मथुरा जाते हैं तब श्रीराधा, समस्त गोपीमण्डल, सारा व्रज वियोगसे अत्यन्त पीडित हो जाता है, पर श्रीश्यामसुन्दर माधुर्यरूपमें सदा श्रीराधाके समीप रहते हैं। श्याम अपने सखा ब्रह्मज्ञानी उद्धवजीको व्रजमें जाकर नन्दबाबा, यशोदा मैयाको सान्त्वना देने तथा गोपाङ्गनाओं एवं राधारानीको उनका स्नेहसंदेश सुनाने भेजते हैं, तब राधाजी उनसे कहती हैं—

उद्धव! तुम मुझको किसका यह सुना रहे कैसा संदेश?
भुला रहे क्यों मिथ्या कहकर? प्रियतम कहाँ गये परदेश?
देखे बिना मुझे, पलभर भी कभी नहीं वे रह पाते!
क्षणभरमें व्याकुल हो जाते, कैसे छोड़ चले जाते?
मैं भी उनसे ही जीवित हूँ, वे ही हैं प्राणोंके प्राण।
छोड़ चले जाते तो कैसे, तनमें रह पाते ये प्राण?

(पद-रत्नाकर ३४३)

श्रीराधा तथा अन्य गोपाङ्गनाओंको ब्रह्मज्ञान देकर उद्धव समझानेकी चेष्टा करते हैं पर उनका समस्त ब्रह्मज्ञान उनके निश्छल कृष्णप्रेमके आगे असफल हो जाता है। उनके प्रेम-प्रभावमें उद्धवजीका चित्त आप्लावित हो जाता है। गोपियाँ उद्धवजीसे कहती हैं—

ऊधो मन न भये दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम सँग, को अवराधै ईस॥
इंद्री सिथिल भई केसो बिन ज्यों देही बिनु सीस।
आसा लगी रहत तनु खासा जीजो कोटि बरीस॥
तुम तो सखा स्यामसुंदरके सकल जोगके ईस।

सूरदास वा रसकी महिमा जो पूँछैं जगदीस॥

(भजन-संग्रह १८२)

तथा—

ऊधौ जोग जोग हम नाहीं।
अबला सार ज्ञान कह जानै, कैसैं ध्यान धराहीं॥
तेई मूँदन नैन कहत हौ, हरि मूरति जिन माहीं।
स्रवन चीरि सिर जटा बँधावहु, ये दुख कौन समाहीं?
ऐसी कथा कपट की मधुकर हम तैं सुनी न जाहीं॥
चंदन तजि अँग भस्म बतावत, बिरह अनल अति दाहीं॥
जोगी भ्रमत जाहि लगि भूले, सो तो है अप माहीं।
'सूर' स्याम तैं न्यारी न पल छिन, ज्यौं घट तैं परछाहीं॥

(सूरसागर पद ४५४१)

तत्पश्चात् राधा बोलीं—देखो नन्दकिशोर तो यहीं हैं।

देखो—वह देखो, कैसे मृदु-मृदु मुसकाते नन्द-किशोर।
खड़े कदम्ब-मूल, अपलक वे झाँक रहे हैं मेरी ओर॥
देखो, कैसे मत्त हो रहे, मेरे मुख को पंकज मान।
प्राण-प्रियतम के दृग-मधुकर मधुर कर रहे हैं रस-पान॥
भ्रुकुटि चलाकर, दृग मटकाकर मुझे कर रहे वे संकेत।
अति आतुर एकान्त कुञ्जमें बुला रहे हैं प्राण-निकेत॥
कैसे तुम भौंचक-से होकर देख रहे कदम्बकी ओर?
क्या तुम नहीं देख पाते? या देख रहे हो प्रेम-विभोर?

(पद-रत्नाकर ३४३)

राधारानी कभी वियोग, कभी संयोगका अनुभव करती हुई उद्धवको यह बताती हैं कि उनके घनश्याम तो कहीं नहीं गये। अपने चित्तकी स्थिति कहते-कहते राधाजी स्तब्ध हो जाती हैं। राधाके प्रेमसुधा-रससमुद्रकी विचित्र तरङ्गोंको उद्वेलित देख उद्धव अत्यन्त विमुग्ध हो उठते हैं। उनके सभी अङ्ग विवश हो जाते हैं। उनके हृदयमें भी श्रीकृष्णप्रेमकी बाढ़-सी आ जाती है। जिसका कहीं ओर-छोर नहीं, वे आनन्दमग्न हो भूमिमें लोटने लगते हैं। उस भूमिकी धूलमें जिसे राधाजी तथा गोपाङ्गनाओंके चरणोंका स्पर्श प्राप्त हुआ है। पवित्र प्रेमसे परिपूरित व्रजकी धूलि उद्धवके लिये अनुपम हो उठती है—

भू-लुण्ठित तन धूलि-धूसरित शुचि, उद्धव आनन्द-विभोर॥

(पद-रत्नाकर पद ३४३)

अभिन्नस्वरूपा राधाजीके अनुपम अलौकिक प्रेमका दर्शन पाकर उद्धव सारा ब्रह्मज्ञान भूल गये। राधा और गोपाङ्गनाओंके कृष्णानुरागको देख व्रजकी धूलको पवित्र समझकर उन्होंने उसे शिरोधार्य किया। इस प्रकार वे ब्रह्मज्ञानी उद्धव श्रीकृष्णमय होकर मथुरा लौटे।

राधाजीके लिये कहा गया है—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा॥

श्रीकृष्णकी सेवारूपा क्रीडाकी नित्य निवासस्थली होनेके कारण या श्रीकृष्णनेत्रोंको अनन्त आनन्द देनेवाली द्युतिसे समन्वित परमा सुन्दरी होनेके कारण श्रीराधा 'देवी' हैं।

जहाँ-कहीं भी दृष्टि जाती है या राधाका मन जाता है, वहीं राधाजीको श्रीकृष्ण दीखते हैं। इनकी इन्द्रियाँ सदा-सर्वदा श्रीकृष्णका संस्पर्श प्राप्त करती रहती हैं। अतः ये कृष्णमयी हैं।

श्रीकृष्णकी प्रत्येक इच्छापूर्ति करनेके रूपमें राधाजी तन, मन तथा वचनसे उनकी आराधनामें अपनेको व्यस्त रखती हैं, अतः ये 'राधिका' हैं।

सभी देव, ऋषि-मुनियोंकी पूजनीय, सभीका पालन-पोषण करनेवाली और अनन्त ब्रह्माण्डोंकी जननी होनेके कारण 'श्रीराधाजी' परदेवता हैं।

श्रीकृष्णकी प्राणस्वरूपा मूलरूपा होनेके कारण ये 'सर्वलक्ष्मीमयी' हैं।

सर्वशोभासौन्दर्यकी अनन्त खान, समस्त शोभाधिष्ठात्री देवियोंकी मूल उद्भवरूप एवं नन्द-नन्दन श्रीकृष्णजीकी समस्त इच्छाओंकी साक्षात् मूर्ति होनेके कारण ये 'सर्वकान्ति' हैं।

श्रीश्यामसुन्दरकी भी मनमोहिनी होनेके कारण ये 'सम्मोहिनी' हैं तथा श्रीकृष्णकी परमाराध्या, परम प्रेयसी, पराशक्ति होनेके कारण राधाजी 'परा' कही जाती हैं। इन्हीं पराशक्तिसे शक्तिमान् होकर श्रीकृष्ण सम्पूर्ण दिव्य लीलाओंको सम्पन्न करते रहते हैं—

अनन्त गुण श्रीराधिकार पंचिस प्रधान।
सेइ गुणेर वश हय कृष्ण भगवान्॥

श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति श्रीराधारानी परम प्रियतम श्रीकृष्णको आनन्द प्रदान करती हुई जब किसी भाग्यवान् जीवपर स्वयं अथवा अपनी सखी-सहचरीद्वारा कृपावर्षा करती हैं, तभी जीव विशुद्ध श्रीकृष्णप्रेमकी ओर आकृष्ट

होता है। जीवगत विकार मायाशक्तिके द्वारा जीवको सतत खींच रहा है और इसीसे विषयोंके सुखकी आशामें नित्य दुःखोंके भँवरमें पड़ा जीव गोते खाता रहता है। इस मायाशक्तिके आकर्षणसे मुक्त होनेके लिये राधा या उनकी किसी सखी-सहचरीके अनुगत होकर उनसे प्रार्थना करनी चाहिये। जिससे श्रीराधा-माधवके विशुद्ध प्रेमकी ओर वे हमें खींच सकें—

अब बिलम्ब जनि करो लाडिली, कृपा दृष्टि टुक हेरो।
जमुन पुलिन गलिन गहवर की विचरूँ साँझ सेवेरो॥
निशि दिन निरखों जुगल माधुरि रसिकन ते भट मेरो।
ललितकिसोरी तन मन व्याकुल श्रीबन चहत बसेरो॥

ललितकिशोरीजीने इस प्रकार राधाजीसे प्रार्थना की है।

श्रीकृष्ण परम देव हैं। उनके छहों ऐश्वर्योंकी मूलरूपा श्रीराधा उनकी सतत आराधना करती रहती हैं। वृन्दावनके एकमात्र स्वामी परमेश्वर श्रीकृष्ण हैं और श्रीराधा भी श्रीकृष्णके द्वारा आराधिता हैं। श्रीराधा और श्रीकृष्ण एक ही शरीर हैं। लीलाहेतु पृथक् बन गये। श्रीराधा भगवान् श्रीकृष्णकी सम्पूर्ण ईश्वरी हैं, सनातनी विद्या हैं। उनके प्राणोंकी अधिष्ठात्री हैं। एकान्तमें चारों वेद उनकी स्तुति करते हैं। उनकी महिमा श्रीब्रह्मा भी वर्णित नहीं कर सकते। श्रुतियाँ राधाजीका इन अट्ठाइस नामोंसे स्तुतिगान करती हैं—राधा, रासेश्वरी, रम्या, कृष्णमन्त्राधिदेवता, सर्वाद्या, सर्ववन्द्या, वृन्दावनविहारिणी, वृन्दाराध्या, रमा, अशेषगोपीमण्डलपूजिता, सत्या, सत्यपरा, सत्यभामा, श्रीकृष्णवल्लभा, वृषभानुसुता, गोपी, मूल प्रकृति, ईश्वरी, गन्धर्वा, राधिका, आरम्या, रुक्मिणि, परमेश्वरी, परात्परतरा, पूर्णा, पूर्णचन्द्रनिभानना, भुक्तिमुक्तिप्रदा और भवव्याधिविनाशिनी।

श्रीराधाजीको इन नामोंसे भजनेवाले मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाते हैं, व्रती हो जाते हैं, वायुसे भी पवित्र एवं वायुको पवित्र करनेवाले तथा सब ओर पवित्र एवं सबको पवित्र करनेवाले हो जाते हैं। वे राधा-कृष्णके प्रिय हो जाते हैं। जहाँ-जहाँ उनकी दृष्टि पड़ती है, वहाँतक वे सबको पवित्र कर देते हैं।

'अगुन अलेप अमान एकरस। रामु सगुन भए भगत पेम बस'

(डॉ० श्रीराधानन्द सिंह, एम०ए०, पी-एच्०डी०, एल्-एल्०बी०, बी०एड्०)

परब्रह्म परमात्माके प्राकट्यका प्रमुख अधिष्ठान है—प्रेम। श्रीरामजी परात्पर परब्रह्म सच्चिदानन्दघन परमात्मा हैं। वे ब्रह्मा, विष्णु और महेशद्वारा सेवित तथा पूजित हैं। वे निर्गुण, निराकार, अचिन्त्य, अनन्त शक्तिसम्पन्न कल्प-कल्पान्तरमें भक्तप्रेमवश सगुण साकाररूपसे मनुष्यावतार धारण करते हैं। उनके अवतारके हेतु अनेक और एक-से-एक विचित्र होते हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसमें अवतार-हेतुओंका उल्लेख करते हुए कहा है—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥
सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥
(रा०च०मा० १।१२१।६—८, दोहा १२१; १।१२२।१)

श्रीरामचरितमानसमें वर्णित अवतार-प्रयोजनके सम्यक् अनुशीलनसे ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मकी स्थापना और राक्षसोंका विनाश—अवतारके केवल बाह्य निमित्त हैं। ये सब प्रभुकी इच्छामात्रसे सहज सम्भव हैं।

अस्तु, अवतार-प्रसंगके उपसंहारकी चौपाई '*कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं*' ही श्रीरामके अवतारका मुख्य हेतु है।

यही कारण है कि श्रीरामचरितमानसमें तुलसीदासजीने आरम्भमें ही निर्गुण ब्रह्मके सगुणरूपमें अवतरणके मुख्य प्रयोजनको स्पष्ट करते हुए कहा है—

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा॥
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥
(रा०च०मा० १।१३।३—५)

अर्थात् जो परमेश्वर इच्छारहित, अरूप, अनाम, अजन्मा, सच्चिदानन्द और परमधाम है तथा जो व्यापक एवं विश्वरूप है, उसी भगवान्‌ने दिव्य शरीर धारण करके नाना प्रकारकी लीला की है। वह लीला केवल भक्तोंके हितके लिये ही है; क्योंकि भगवान् श्रीराम परम कृपालु और

शरणागतके प्रेमी हैं। यहाँ प्रयुक्त शब्द 'भगत-हित' ही अवतार-प्रयोजनको सिद्ध करता है।

मानसमें ही रामावतरणके सन्दर्भमें कहा गया है—

मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥
(१।५१ छन्द)

यहाँ भी व्यापक ब्रह्मके *'भगत हित'* अवतरणकी बात कही गयी है।

श्रीरामकथाके आदिवक्ता भगवान् शिव श्रीरामरूपका निरूपण करते हुए कहते हैं कि जो ब्रह्म निर्गुण, निराकार, अव्यक्त और अजन्मा है, वही भक्तोंके प्रेमवश होकर सगुणरूप हो जाता है—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
(रा०च०मा० १।११६।२)

अन्यत्र भी भगवान् शिवजीकी उक्ति ऐसी ही है—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥
(रा०च०मा० १।१८५।५, ७)

ऐसी ही दिव्योक्ति काकभुशुण्डिजीकी है—

जब जब राम मनुज तनु धरहीं। भक्त हेतु लीला बहु करहीं॥
तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। बालचरित बिलोकि हरषाऊँ॥
जब जब अवधपुरीं रघुबीरा। धरहिं भगत हित मनुज सरीरा॥
तब तब जाइ राम पुर रहऊँ। सिसुलीला बिलोकि सुख लहऊँ॥
(रा०च०मा० ७।७५।२-३; ११४।१२-१३)

इस प्रकार दैन्यघाटके वक्ता गोस्वामी तुलसीदासजी, कर्मकाण्डघाटके वक्ता याज्ञवल्क्यजी, ज्ञानघाटके वक्ता भगवान् शिवजी तथा उपासनाघाटके वक्ता काकभुशुण्डिजी अपने-अपने श्रोताओंकी शंकाको दूर करते हुए एकमतसे उद्घोषित करते हैं कि जो ब्रह्म अगुण, अरूप, अव्यक्त, अज और निराकार है, वह भक्तोंके प्रेमके वशीभूत हो निर्गुणसे सगुण, अरूपसे रूपवान्, अव्यक्तसे व्यक्त, अजसे देहधारी तथा निराकारसे नराकार हो जाता है।

श्रीरामकथाके आदिरचयिता श्रीवाल्मीकिजी मानसमें ऐसा ही कहते हैं—

नर तनु धरेहु संत सुर काजा।
(रा०च०मा० २।१२७।६)

तीर्थराज प्रयागमें श्रीभरद्वाजजी श्रीभरतजीके सम्मुख श्रीदशरथजीकी सराहना करते हुए कहते हैं कि उनके समान संसारमें कोई दूसरा नहीं है, जिनके प्रेमवश श्रीराम इस धराधामपर प्रकट हुए—

दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिकु कहा जेहि सम जग नाहीं॥
जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भए आइ।
(रा०च०मा० २।२०९।८, दोहा २०९)

श्रीदशरथजीके प्रति ऐसी ही उक्ति कुलगुरु वसिष्ठजीकी भी है—

सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं॥
भयउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी। रामु पुनीत प्रेम अनुगामी॥
(रा०च०मा० २।४।७-८)

परात्पर श्रीरामको वनमें भूमिशयन करते हुए देख जब निषादराज विषादसे भर गये तो श्रीलक्ष्मणजी ज्ञान, विराग और भक्तिपूर्ण वचनोंसे श्रीरामके रहस्यको प्रकट करते हुए कहते हैं—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥
भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल॥
(रा०च०मा० २।९३।७-८, दोहा ९३)

यहाँ भी मनुजतन धारण करनेमें प्रथम हेतु *'भगत'* का हित ही है। इस प्रकार न केवल मानसके चारों दिव्य वक्ता वरन् श्रीवाल्मीकिजी, श्रीभरद्वाजजी, श्रीवसिष्ठजी, श्रीलक्ष्मणजी आदि भी ब्रह्म श्रीरामके अवतरणका प्रमुख हेतु 'भक्त-प्रेम' ही मानते हैं।

मानसके इन दिव्य पुरुषोंके वचनोंकी सम्पुष्टि भगवान् श्रीराम स्वयं अपने वचनोंसे करते हैं। विभीषणजी जब प्रभु श्रीरामके शरणागत होते हैं तो भगवान् कहते हैं—

तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरउँ देह नहिं आन निहोरें॥
(रा०च०मा० ५।४८।८)

यहाँ भगवान् श्रीराम स्पष्ट घोषणा करते हैं कि विभीषण-सरीखे संत जो सगुणोपासक, परहितनिरत, नीतिनिरत और द्विजपदप्रेमी हैं, वे मेरे अतिशय प्रिय हैं और मात्र ऐसे

ही संतोंके लिये मैं देह धारण करता हूँ।

मानसके सारे भक्त भक्तवत्सल राघवेन्द्रके प्रति अपनी अभिन्न और विभिन्न प्रेमनिष्ठाका परिचय देते हैं, यथा—श्रीदशरथजीमें 'सत्यप्रेम', श्रीकौसल्याजीमें 'वात्सल्यप्रेम' श्रीअहल्याजीमें 'धीरप्रेम', श्रीजनकजीमें 'गूढ़प्रेम', श्रीसीताजीमें 'तत्त्वप्रेम', श्रीभरतजीमें 'अगमप्रेम', श्रीलक्ष्मणजीमें 'अनन्यप्रेम' श्रीकेवटजीमें 'सहजप्रेम', वनवासियोंमें 'सरलप्रेम', जटायुजीमें 'दरसप्रेम', श्रीशबरीजीमें 'परमप्रेम', श्रीविभीषणजीमें 'चरणप्रेम' और श्रीहनुमान्‌जीमें 'निर्भरप्रेम' की पूर्ण प्रतिष्ठा है। मानसमें ऐसे ही अनेक भक्तोंके उद्धारके लिये भगवान् श्रीराम प्रतिबद्ध थे, जिनके कारण वे देह धारण कर धराधामपर आये।

मानसमें ब्रह्मके सगुणरूपमें अवतरणकी भूमिका मनु-शतरूपाकी तपस्यामें मिलती है। उनकी भी अभिलाषा ऐसी ही है—

संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई॥
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥
(रा०च०मा० १।१४४।६—८)

अर्थात् यह श्रुतिवचन है कि भगवान् '*भगत हेतु*' देह धारण करते हैं। इसी भावमें उनकी अभिलाषा भी पूरी हुई। श्रीराम सगुणरूपमें आये। शाण्डिल्यसूत्र (४९)-में भी कहा गया है—

'मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्'।

करुणानिधान श्रीरामके अवतारमें उनकी करुणा ही कारणतत्त्व है।

भगवान् शिव मानसके प्रारम्भमें श्रीरामस्वरूपका निरूपण करते हुए उनके अवतरणमें प्रेमविवशता ही बताते हैं—

सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान॥
(रा०च०मा० १।११८)

यहाँ भी सर्वसमर्थ सर्वेश्वर '*भगत हित*' दशरथसुत बनकर आते हैं।

श्रीरामचरितमानसके अनेक प्रसंगोंसे यह सिद्ध होता है कि दशरथनन्दन श्रीराम अपने दिव्य चरितसे भक्त-प्रेमके कारण—'*बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना*' (रा०च०मा० १।११८।५) आदिकी निर्गुण लीला भी करते हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥
(रा०च०मा० १।१९८)

'*प्रेम भगति बस*' कौसल्याकी गोदमें विराजमान श्रीराम अद्भुत लीला करते हैं। माता कुलपूज्यकी पूजाके समय बालक श्रीरामको पलनेपर और कुलपूज्यके सामने एक साथ देखकर चकित हो गयीं—'*इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा।*' (रा०च०मा० १।२०१।७) यहाँ पलनेके श्रीराम कुलपूज्यके पास पहुँचकर '*बिनु पद चलइ*' की लीला कर रहे हैं। मानसके अन्य अनेक प्रसंगोंसे श्रीरामके '*कर बिनु करम करइ बिधि नाना*' (रा०च०मा० १।११८।५) आदिकी पुष्टि होती है। उत्तरकाण्डमें श्रीकाकभुशुण्डिजी कहते हैं—

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥
(रा०च०मा० ७।७२क)

अर्थात् भगवान् श्रीरामने '*भगत हेतु*' सामान्य नरकी तरह अनेक परम पावन चरित किये। परम पावन चरित वह होता है, जो स्वयं पवित्र होता है और दूसरेको पवित्र करता है। भगवान् श्रीरामका यही परम पावन चरित श्रीरामचरितमानसमें आद्योपान्त वर्णित है, जिसमें प्रेमकी अद्भुत छटा दिखायी पड़ती है। भक्तप्रेमवश अवतरित ब्रह्म राम वनवासियोंसे प्रेमपूर्ण सरल-सहजरूपमें मिलते हैं तथा बात करते हैं—

बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन।
बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन॥
रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
(रा०च०मा० २।१३६; २।१३७।१)

अर्थात् भक्तप्रेमके कारण अवतरित श्रीरामके प्रेमपूर्ण परम पावन चरितको प्रेमसे ही जाना जा सकता है; क्योंकि वे प्रेमस्वरूप हैं और उन्हें केवल प्रेम ही प्यारा है। अतः ऐसे प्रेममय भगवान् श्रीरामके चरणारविन्दोंमें प्रेमपूर्ण शरणागतिसे ही जीव परम विश्राम पा सकता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामके प्राकट्यके बारेमें सच ही कहा है—

अगुन अलेप अमान एकरस। रामु सगुन भए भगत पेम बस॥
(रा०च०मा० २।२१९।६)

* * *

प्रेमकी प्रतिमूर्ति सीताजीका हार्दिक अनुराग

(श्रीसुधाकरजी ठाकुर)

मैथिल-कोकिल विद्यापतिकी अनुवर्तिनी गायिका 'स्नेहलता' का एक विवाहगीत अत्यन्त लोकप्रिय है और अभी भी गाया जाता है—

मोहि लेलकै सजनी मोरा मनुआ पहुनमा राघो।
अब हो पहुनमा राघो सिया के सजनमा राघो॥ मोहि...
नैनों में काजर कारी, ओठों में पान क लाली।
मुस्कैते स्यामल बरनमा, पहुनमा राघो॥ मोहि...
डांड़े बिहौती धोती, चपकन सुन्दर लगनौती।
हाथों में आम के कगनमा पहुनमा राघो॥ मोहि...
धन धन किशोरी मोरी, लयलन्हि 'सिनेहिया' जोरी।
तरे तरे तिरछी नजरिया, पहुनमा राघो॥ मोहि...

कवयित्री 'स्नेहलता' की कल्पनामें बसी एक सखी दूल्हा श्रीरामकी मोहक छवि देखकर अपनी किशोरीजीको धन्य-धन्य कहकर भावविभोर हो जाती है। किशोरीजी भी अपनी तिरछी नजरोंसे उनको निहारकर सनाथ हो जाती हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी भी किशोरीजीकी रूपमोहिनी श्यामसुन्दर श्रीरामपर निछावर करते हैं—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदयँ गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही॥

किशोरीजीकी एक सखी श्याम-सलोनेको देखकर पुलकित गात, नयनोंमें जल भरे किशोरीजीके पास आती है। अन्य सखियोंने उससे पूछा—

तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जलु नैन।
कहु कारनु निज हरष कर पूछहिं सब मृदु बैन॥

तुम इतनी उन्मत्त क्यों? कौन-सी अलौकिक वस्तु प्राप्त हुई है? इसपर सखीने तत्क्षण कहा—

देखन बागु कुअँर दुइ आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए॥
स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

सखीके वचन सुन किशोरीजी साँवरे रूपका सुधापान करने चल पड़ीं, उनके नेत्र अकुला उठे—

तासु बचन अति सियहि सोहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने॥
चली अग्र करि प्रिय सखी सोई। प्रीति पुरातन लखइ न कोई॥

नारदजीके वचन स्मरण करके किशोरीजीके मनमें पवित्र प्रेम जाग्रत् हो गया—

सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।
चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत॥

किशोरीजीके रूप-लावण्यसे अभिभूत श्रीराम उनकी सराहना करते हैं—

सुंदरता कहुँ सुंदर करई। छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई॥
सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहिं पटतरौं बिदेहकुमारी॥

किशोरीजीके नेत्र मृगशावककी तरह चंचल ही नहीं, सभीत भी हैं—

देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥
थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें॥
अधिक सनेहँ देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥

किशोरीजी अनन्य अनुरागमें डूब जाती हैं, नेत्रमार्गसे उन्हें हृदयमें स्थित करके पलकोंको बंद कर लेती हैं—

लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी॥

गौरीपूजनको जाते हुए मुड़-मुड़कर श्याम-सलोनेको बार-बार निहारती हैं—

देखन मिस मृग बिहग तरु फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि॥

धनुष टूटनेपर किशोरीजीकी प्रसन्नताके लिये गोस्वामीजीने दुर्लभ उपमान प्रस्तुत किया—

सीय सुखहि बरनिअ केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती॥
तन सकोचु मन परम उछाहू। गूढ़ प्रेमु लखि परइ न काहू॥

विवाहमण्डपमें जानकीजी तथा साँवरे-सलोने कुँअर श्रीरामजीकी छविका अंकन गोस्वामीजी नहीं कर पाते। कविकी कल्पना और लेखनी ठहर-सी जाती है—

सिय राम अवलोकनि परसपर प्रेमु काहु न लखि परै।
मन बुद्धि बर बानी अगोचर प्रगट कबि कैसें करै॥

वनगमनके पूर्व जानकीजीकी चिन्ता स्वाभाविक है—

चलन चहत बन जीवननाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू॥
की तनु प्रान कि केवल प्राना। बिधि करतबु कछु जाइ न जाना॥

श्रीराम उन्हें वनके कष्टोंको समझाते हुए कहते हैं—*'हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू'* जिसके उत्तरमें सीताजीका

सटीक उत्तर श्रीरामको निरुत्तर कर देता है—

मैं पुनि समुझि दीखि मन माहीं। पिय बियोग सम दुखु जग नाहीं॥
प्राननाथ करुनायतन सुंदर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥

पतिकी अनुपस्थितिमें भोग—रोगके समान, गहने भारस्वरूप और संसार नरककी पीड़ाके समान है। पुरुषके बिना नारी जलविहीन सरिताके समान है—

जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधु बदनु निहारें॥

श्रीराम उन्हें अपने संग ले जानेमें हिचक रहे हैं; किन्तु वनके कठोर क्लेशों और कुटुम्बके साथ रहनेके नाना प्रलोभनोंको सुनकर भी सीता अपने निश्चयपर अडिग रहती हैं। अध्यात्मरामायण (२।४।७८-७९)-के अनुसार सीताजीने स्पष्ट कह दिया—

अतस्त्वया गमिष्यामि सर्वथा त्वत्सहायिनी॥
यदि गच्छसि मां त्यक्त्वा प्राणांस्त्यक्ष्यामि तेऽग्रतः।

यदि आप मुझे छोड़कर जाते हैं तो मैं अभी आपके सामने ही अपने प्राणोंका त्याग करूँगी—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

अन्ततः सीताजीके प्रेमकी विजय हुई। वे प्रेमकी प्रतिमूर्ति हैं। उन्हें श्रीरामसे अलग रखनेकी कल्पना ही व्यर्थ है। वनमार्गमें थककर वृक्षकी सुखद छायामें श्रीरामको ठहरनेके निवेदनका गोस्वामीजीने प्रीतिपूर्ण शब्दोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

जलको गए लक्खनु, हैं लरिका,
परिखौ, पिय! छाहँ घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं,
अरु पाय पखारिहौं भूभुरि-डाढ़े॥
(कवितावली २।१२)

अपने प्रियतमका पसीना पोंछना, विश्राम और गर्म बालुकासे तप्त पैरोंको धोनेका आग्रह सीताजीके अतिशय प्रेमका परिचायक है। ग्रामवधुएँ सीताजीसे प्रेमपूर्वक पूछ ही बैठीं—

कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥

ग्रामवधुओंको इस भोले-भाले प्रश्नका उत्तर—

सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे॥

—इस प्रकार देकर ग्रामवधुओंकी तरह अपना चन्द्रमुख आँचलसे ढककर नारीसुलभ संकेतमात्रसे उन्हें आनन्दित कर दिया—

बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
(रा०च०मा० २।११७।६)
तिरछे करि नैन, दै सैन तिन्हैं समुझाइ कछू, मुसुकाइ चली।
(कवितावली २।२२)

सीताजीका अपने साँवरे सलोनेके प्रति समर्पण उपर्युक्त कथनमें मुखर हो उठा है। गोस्वामीजीने अद्भुत चित्र प्रस्तुत किया है।

अशोकवाटिकामें सीताजी अपने श्रीरामको क्षणभरके लिये भी भूल नहीं पातीं। विरहविदग्धा श्रीसीताजी दोनों हाथ जोड़कर त्रिजटासे अनुनय करती हैं—

तजौं देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरहु अब नहिं सहि जाई॥
आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई॥

अपनी प्रीतिको सत्य करनेके लिये वे आकाशके तारों और अशोकवृक्षसे अग्निकी भिक्षा माँगती हैं—

देखिअत प्रगट गगन अंगारा। अवनि न आवत एकउ तारा॥
पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहुँ मोहि जानि हत भागी॥
सुनहि बिनय मम बिटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका॥

वे हनुमान्‌जीसे पूछती हैं—

कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता॥

श्रीहनुमान्‌जीके मुखसे प्रभु श्रीरामका यह संदेश मिलनेपर—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥

श्रीसीताजी प्रेममग्न होकर देहकी सुध-बुध भूल जाती हैं—

प्रभु संदेसु सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥

लङ्का-दहनके पश्चात् चूड़ामणि देते हुए हनुमान्‌जीको कहती हैं—

कहेहु तात अस मोर प्रनामा। सब प्रकार प्रभु पूरनकामा॥
दीन दयाल बिरिदु संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥

श्रीरामकी प्रियतमा सीताजीका वर्णन वाल्मीकीय रामायणके सुन्दरकाण्डमें अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। रावणके सम्मुख सीताजी केलेके पत्तेकी तरह काँप रही हैं। उनकी देह सूखकर काँटा बन चुकी है। आँखोंसे अनवरत अश्रुधारा प्रवाहित हो रही

है। मन्त्रमुग्धा सर्पिणीकी तरह उनका शरीर छटपटा रहा है। उपवास, शोक, चिंता और भयके कारण वे मात्र जल ग्रहण कर अपने प्राणोंको संजोये हैं। रावणके अनेक प्रलोभनोंका उत्तर वे निडर होकर देती हैं—मैं पतिव्रता हूँ, उच्च कुलकी नारी हूँ, सती हूँ। मैं सूर्यकी प्रभाकी भाँति अपने स्वामीसे अलग नहीं हो सकती। श्रीरामजी शरणागतवत्सल हैं, वे तुझे क्षमा कर देंगे—

विदितः सर्वधर्मज्ञः शरणागतवत्सलः।
तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि॥
प्रसादयस्व त्वं चैनं शरणागतवत्सलम्।
(वा०रा० ५।२१।२०-२१)

रावण-वधके पश्चात् अग्निपरीक्षाके लिये प्रस्तुत सीताजी प्रज्वलित अग्निको प्रणाम करते हुए कहती हैं—

यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥
(वा०रा० ६।११६।२५)

'यदि मेरा हृदय कभी एक क्षणके लिये भी श्रीरघुनाथजीसे दूर न हुआ हो तो सम्पूर्ण जगत्के साक्षी अग्निदेव मेरी सब ओरसे रक्षा करें।'

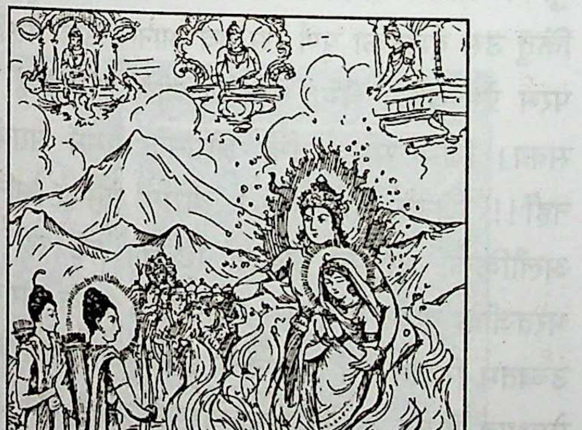

अग्निप्रवेश करनेपर अग्निदेव स्वयं प्रकट हुए। सीताजीको गोदमें लेकर श्रीरामके प्रति अर्पित करते हुए बोले—

एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते॥
नैव वाचा न मनसा नैव बुद्ध्या न चक्षुषा।
सुवृत्ता वृत्तशौटीर्य न त्वामत्यचरच्छुभा॥
विशुद्धभावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम्।
(वा०रा० ६।११८।५-६, १०)

'श्रीराम! यह आपकी धर्मपत्नी विदेहराजकुमारी सीता है। इसमें कोई पाप या दोष नहीं है। उत्तम आचारवाली इस शुभलक्षणा सतीने मन, वाणी, बुद्धि अथवा नेत्रोंद्वारा भी आपके सिवा किसी दूसरे पुरुषका आश्रय नहीं लिया। इसने सदा सदाचारपरायण आपका ही आराधन किया है। इसका भाव सर्वथा शुद्ध है। यह मिथिलेशनन्दिनी सर्वथा निष्पाप है। आप इसे सादर स्वीकार करें।'

सीताजीको निर्जन वनमें छोड़कर लक्ष्मणजी जा रहे हैं। श्रीसीताजी फूट-फूटकर रोती हुई अपना संदेश श्रीरामजीको भेजती हैं—

अहं तु नानुशोचामि स्वशरीरं नरर्षभ॥
यथापवादं पौराणां तथैव रघुनन्दन।
पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः॥
प्राणैरपि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः।
(वा०रा० ७।४८।१६—१८)

'पुरुषोत्तम! मुझे अपने शरीरके लिये कुछ भी चिन्ता नहीं है। रघुनन्दन! जिस तरह पुरवासियोंके अपवादसे बचकर रहा जा सके, उसी तरह आप रहें। स्त्रीके लिये तो पति ही देवता है, पति ही बन्धु है, पति ही गुरु है। इसलिये उसे प्राणोंकी बाजी लगाकर भी विशेषरूपसे पतिका प्रिय करना चाहिये।'

पाताल-प्रवेशके पूर्व अश्वमेधयज्ञके प्रसंगमें महर्षि वाल्मीकि जनताके समक्ष सीताकी पवित्रताका प्रमाण देते हुए कहते हैं—'मैंने हजारों वर्षोंतक तप किया है, मैं उस तपकी शपथ खाकर कहता हूँ कि यदि सीता अपवित्र है तो मेरे तपके सम्पूर्ण फल नष्ट हो जायँ। मैं अपनी दिव्यदृष्टि और ज्ञानदृष्टिसे विश्वास दिलाता हूँ कि सीता परम शुद्धा है।'

सीताजीकी स्तुति करते हुए गोस्वामीजी नतमस्तक होकर कहते हैं—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥

प्रेममूर्ति श्रीभरतजीका भ्रातृ-प्रेम

(स्वामी श्रीनर्मदानन्दजी सरस्वती 'हरिदास')

पुजारीके बिना मूर्तिकी क्या महत्ता? श्रोताके बिना वक्ताका क्या प्रयोजन? शिष्यके बिना गुरुका क्या अर्थ? भक्तके बिना भगवान्‌का क्या विशेषत्व? इसी प्रकार बिना भक्तराज श्रीभरतजीके चरित्रके मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका रामत्व भी पूर्ण तथा प्रकाशित नहीं होता। भरतजीका अबाध समर्पण, अपूर्व निष्ठा एवं अनन्य प्रेम किंवा भक्तिभाव ही भगवान् श्रीरामके अलौकिक, अद्वितीय और अभिराम रामत्वका पोषक है; उन्हींके पूर्ण समर्पणने जन-जनमें रामत्वकी दिव्य भावना जगाकर उन्हें राममय बना दिया। श्रीराम, लक्ष्मण एवं जानकीके वनगमनके पश्चात् जिस समय अयोध्याकी प्रजा किंकर्तव्यविमूढ़ अचेत-सी हो रही थी, भरतजीने आकर उसमें फिरसे एक नयी राम-चेतनाका सञ्चार कर दिया।

परम पूज्य कुलगुरु श्रीवसिष्ठजीके अत्यन्त आग्रह करनेपर भी भरतजीद्वारा सर्वोपरि ऐश्वर्यशालिनी अयोध्याके देदीप्यमान राजसिंहासनके परित्याग एवं श्रीरामके प्रति असीम अनुरागने जन-जनके मनमें राम-प्रेमका विशेष प्रसार कर दिया। सभीके हृदयमें श्रीरामसे मिलनकी तीव्र आकाङ्क्षा जाग उठी। सब-के-सब भक्तराज भरतके नेतृत्वमें चित्रकूट-स्थित श्रीरामजीसे मिलने चल देते हैं, उस समय भरतजी किस तरह जा रहे हैं, श्रीगोस्वामीजीके शब्दोंमें देखिये—

चलत पयादें खात फल पिता दीन्ह तजि राजु।
जात मनावन रघुबरहि भरत सरिस को आजु॥

(रा०च०मा० २।२२२)

—और इस महान् त्यागके पश्चात् अनुपम प्रेमका जो स्वरूप है, उसका दर्शन तीर्थराज प्रयागवासियोंको कैसे हुआ? देखिये—

भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रबेसु प्रयाग।
कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग॥

(रा०च०मा० २।२०३)

प्रेममूर्ति भरतजी *'राम सिय' 'राम सिय'* कहते हुए अनुरागकी उमङ्गमें उमगे पड़ रहे हैं। यहीं वह प्रसङ्ग आता है, जिससे ज्ञात होता है कि भगवान् श्रीरामके रामत्वकी लोक-प्रतिष्ठामें भैया भरतलालजीका कितना बड़ा हाथ है, देखिये—

श्रीभरद्वाज मुनिका आश्रम आ गया है। मुनिवर भरद्वाजजी भरतजीका दर्शन प्राप्त करते हैं, तब उनके मुखारविन्दसे सहसा निकल पड़ता है—

सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥

अनेक योग, साधन, आराधन, जप, तप, व्रत और स्वाध्यायका यह सुन्दर फल मिला कि श्रीराम-लक्ष्मण-सीताके दर्शन प्राप्त हुए। तत्पश्चात् वे कहते हैं—*'तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥'* (रा०च०मा० २।२१०।६) उसी फलका यह फल हुआ कि तुम्हारा (भरतजीका) दर्शन प्राप्त हुआ। श्रीप्रयागराजके साथ हमारा बड़ा भारी सौभाग्य है। प्रश्न यह है कि भरतलालजीके दर्शनमें श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीके दर्शनकी अपेक्षा क्या विलक्षणता है? वस्तुतः त्यागी, तपस्वी भरद्वाज मुनिने श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीका दर्शन प्राप्त तो किया, किंतु उस दर्शनका पूर्ण रस एवं आनन्द उन्हें भक्तशिरोमणि, परम प्रेमस्वरूप भैया भरतलालजीके दर्शनसे ही प्राप्त हो सका। जिस समय उन्हें श्रीरामके प्रेममें सराबोर नहीं! नहीं!! जिनके रोम-रोमसे श्रीराम प्रेमका अनिर्वचनीय, अलौकिक, अनुपम प्रकाश छिटका पड़ रहा था, ऐसे भरतजीके दर्शन हुए; उस समय उन्हें उनके श्रीराम-प्रेमकी उच्चतम स्थिति एवं आनन्दका ज्ञान हुआ। भरतजीका दिव्य प्रेमभाव उनके निर्मल अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर, वहाँ भी हलचल मचाने लगा और उस भव्य भावोत्कर्षमें उन्हें भैया भरतलालके साथ वह श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीकी मधुर मनोहर मूर्ति अद्भुत आनन्द-आभा-आलोक-आवेष्टित दीखने लगी। निःसंदेह भरतजीके भव्य भक्ति-प्रेममय स्वरूपने ही एक महान् तपस्वीसे लेकर जन-जनके मनमें राम-चेतनाका सञ्चार किया। आगे कहा गया है कि—

जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥
ते सब भए परम पद जोगू। भरत दरस मेटा भव रोगू॥

(रा०च०मा० २।२१७।१-२)

प्रेमस्वरूप भरतका दर्शन करके ही लोग भव-रोगसे छुटकारा पाकर परम पदके अधिकारी हो गये। 'मानस' में ही अन्यत्र तुलसीदासजी लिखते हैं—

राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥

(रा०च०मा० ७।२१।४)

और यह रामभक्ति मिलती कैसे है? ऐसे कि *'भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥'* (रा०च०मा० ३।१६।४) यही कारण है कि संतशिरोमणि भक्तप्रवर श्रीभरतलालके दर्शनसे जड़-चेतन—सभीमें तत्काल रामभक्तिकी प्रतिष्ठा हो गयी और उन सभीको परमपदका अधिकार प्राप्त हो गया। इस प्रकार जन-जनके मनमन्दिरमें श्रीभरतजीने श्रीरामकी प्रतिष्ठा कर भगवान् श्रीरामके रामत्वको सार्थक किया।

चौदह वर्षकी अवधि बीतनेमें जब एक दिन शेष रह गया तो प्रभु श्रीरामभद्रने अञ्जनीकिशोरको भैया भरतलालका हाल जाननेके लिये अवधमें भेजा। हनुमान्‌जीने वहाँ जाकर श्रीभरतजीको जिस रूपमें देखा, उसे देखकर उन्हें लगा कि यह तो ऋषिस्वरूपमें श्रीराम-प्रेम ही मानो मूर्तिमान् होकर विराजमान है। यथा—

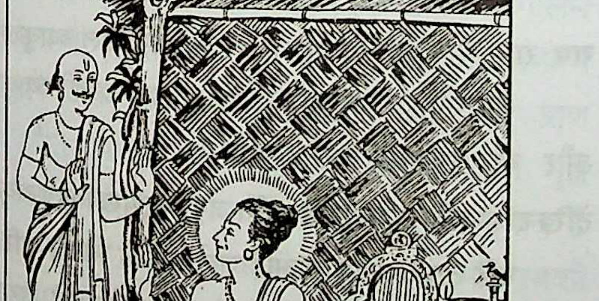

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥

(रा०च०मा० ७।१ (ख))

यह पूर्ण भक्तिका स्वरूप श्रीरामानुरागियोंको रामभक्तिके उत्कृष्ट रूपका दर्शन कराता हुआ उत्तरोत्तर अपनी भक्ति विवर्धमान करनेकी प्रेरणा प्रदान करता है। श्रीभरतजीको मूर्तिमान् प्रेमस्वरूप बतलाया गया है। भरद्वाजजीके शब्दोंमें—*'तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥'* श्रीरामचरितमानसका यह परम पावन भरत-चरित्र-दर्शन भक्त सुजनोंको यही प्रेरणा प्रदान करता है—

अष्टयाम यह लगन लगी हो, मिटे चाह अभिराम नहीं।
मधुर मिलन कब होय नाथ का, पाय हृदय विश्राम नहीं।
गद्‌गद कंठ अश्रु दृग बरसें, व्याकुल रटन पपीहा-सी,
छूट जाय सब कुछ पर छूटे, रसना से हरि नाम नहीं॥

—और जब ऐसी राम-लुभावनी लगन लगेगी तो परिणाम भी कितना सुन्दर निकलेगा, देखिये—

पूर्ण होय सुख स्वप्न मिलन का, रहें दूर श्रीराम नहीं।
पा पद-पद्म-पराग प्रसादी, मन अलि तजे सुधाम नहीं।
हो नामांकित स्वाँस सुधामय, प्रति पल कहे पुकार यही,
छूट जाय सब कुछ पर छूटे, रसना से हरिनाम नहीं॥

संसारमें रहकर भी निरासक्त, निर्लेप रहनेका आदर्श भरत-चरित्रसे प्राप्त होता है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

अवध राजु सुर राजु सिहाई। दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई॥
तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा॥

(रा०च०मा० २।३२४।६-७)

सुरेन्द्रके राज्य और कुबेरके धनको भी लज्जित करनेवाले राज्य-वैभवके मध्य भी भरतजी ऐसे रहते हैं, जैसे चम्पाके बगीचेमें रहकर भी भौंरा चम्पाके पुष्पोंसे दूर ही रहता है। अयोध्याके अतिशय रम्य राज्य-भोगोंसे विरक्त रहकर वे सर्वदा भगवान् श्रीराम राघवेन्द्रके चारु चरणारविन्दोंके चिन्तनमें ही तल्लीन रहते हुए मधुर मनभावन श्रीरामनामामृतका निरन्तर पान करते रहते हैं। इसीलिये भुवन-पावन श्रीभरत-चरित्रके अन्तमें, इसकी फलश्रुति इस प्रकार बतायी गयी है—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥

(रा०च०मा० २।३२६)

संत सचिव सुमन्त्रका श्रीरामप्रेम

(डॉ० श्रीदादूरामजी शर्मा, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

सचिव सुमन्त्रजी भगवान् श्रीरामकी नर-लीलाके मुख्य सहचर रहे हैं। ये अयोध्या-सम्राट् महाराज दशरथके बालमित्र, सखा तथा निजी सारथि थे। कोसलसाम्राज्यके महामन्त्री भी श्रीसुमन्त्रजी ही थे। ये सभी राज्य-सेवकोंके अध्यक्ष भी थे। महाराज दशरथ राज्यके सभी महत्त्वपूर्ण कार्य इनकी ही सम्मतिसे किया करते थे। श्रीराम तथा महारानियाँ भी सुमन्त्रजीका यथोचित सम्मान करती थीं तथा सुमन्त्रजीका भी श्रीरामके प्रति अत्यन्त प्रेम था। भगवान् श्रीरामके वनगमनके अवसरपर सम्पूर्ण प्रकृति—क्या स्वजन, क्या परिजन, क्या प्रजाजन, क्या चेतन-अचेतन प्राणिसमूह—सभी शोकाभिभूत होकर हाहाकार कर उठे थे!

उन्हीं श्रीरामके प्रिय चार अश्वोंको रथमें जोतकर उसपर लक्ष्मण और सीताके साथ पुरजन-प्रियजनोंकी आशा-आकाङ्क्षाओं, माताओंके अगाध स्नेह तथा महाराज दशरथके प्राणोंको ही मानो श्रीरामरूपमें आरूढ़ कर सुमन्त्र वनको लिये जा रहे थे। अयोध्याकी उस विषम परिस्थितिको सँभालनेका गुरुतर उत्तरदायित्व एकमात्र सुमन्त्रपर ही था। वे महाराजके अंतरङ्ग सखा थे और श्रीराम उन्हें पिताकी तरह सम्मान देते थे।

महाराजको आशा थी कि उनके सखा सुमन्त्रकी निरपेक्ष, स्नेहासिक्त वाणी उनके प्राणधन श्रीरामको लौटा लानेमें समर्थ हो जायगी; किंतु हाय री विडम्बना! सत्यसन्ध श्रीराम नहीं लौटे, नहीं ही लौटे। सुमन्त्रके समस्त प्रयत्न निष्फल हो गये और वे गङ्गाजीके तटपर निश्चेष्ट खड़े-खड़े सजल नेत्रोंसे श्रीराम-लक्ष्मणको बड़के दूधसे मुनियोंकी तरह जटाएँ बनाते तथा नावपर बैठकर गङ्गापार होते देखते रहे। वे सोचने लगे अब उन्हें सूना रथ लेकर लौटना है, जिसे देखकर सम्पूर्ण अयोध्यावासी हाहाकर कर उठेंगे, माताएँ मूर्च्छित होकर गिर पड़ेंगी और उनके प्राणप्रिय सखा महाराज दशरथ तो तड़प-तड़पकर अपने प्राण ही त्याग देंगे। परसंतापसे सहज ही द्रवीभूत हो उठनेवाला उनका नवनीतसे भी कोमल संतहृदय व्यग्र हो उठा! अपने प्राणप्रिय मित्रके भावी विनाशकी आशंकासे वे कम्पित हो गये। श्रीरामको लौटा सकनेकी असमर्थता, स्वयं रिक्त रथ लेकर अयोध्या लौट जानेकी विवशता और वहाँके विषादाक्त अदर्शनीय दृश्यकी कल्पनामात्रने उन्हें किंकर्तव्यविमूढ़ कर दिया!

श्रीराम गङ्गा पार कर दृष्टिसे ओझल हो गये। सुमन्त्र उसी दिशामें खोये-से, लुटे-से पाषाणप्रतिमा बने अपलक नेत्रोंसे देखते रहे। उनके हृदयोदधिमें कैसा विक्षोभ हो रहा था, बडवाग्निकी तरह कितना असह्य अन्तर्दाह था वहाँ! वे खाली हाथ लौटने लगे, उस वणिक्‌की तरह जिसने अपनी सारी पूँजी गँवा दी हो—

फिरेउ बनिक जिमि मूर गवाँई॥

रथ हाँकते हैं, किंतु घोड़े पीछे अयोध्याकी ओर खाली रथ लेकर लौटना नहीं चाहते! वे बार-बार श्रीरामकी ओर देखकर हिनहिनाते हैं—

रथु हाँकेउ हय राम तन हेरि हेरि हिहिनाहिं।

जिनके विरहमें पशु भी इतने विकल हो रहे हैं, उनके बिना प्रजाजन और माता-पिता कैसे जियेंगे—

जासु बियोग बिकल पसु ऐसें। प्रजा मातु पितु जिइहहिं कैसें॥

—इसकी कल्पनामात्रसे उनका मन सिहर उठा—

राम राम सिय लखन पुकारी। परेउ धरनितल ब्याकुल भारी॥

श्रीरामवियुक्त अश्वोंकी शोकाकुलता उनकी व्याकुलताको और भी घनीभूत करने लगी—

देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं॥
नहिं तृन चरहिं न पिअहिं जलु मोचहिं लोचन बारि।

निषादने उन्हें किसी तरह रथपर बैठा तो दिया, किंतु वे रथ हाँक नहीं पाते। उनके हृदयमें श्रीरामके विरहकी पीर रह-रहकर कसक रही है, इसलिये वे स्वयंको सँभाल नहीं पाते! घोड़े भी श्रीरामके वियोगमें तड़प रहे हैं, रथ लेकर चल नहीं पाते, मानो किसीने वनके हरिणोंको लाकर रथमें जोत दिया हो। वे आगे बढ़नेका प्रयत्न करते हैं, किंतु लड़खड़ाकर गिर पड़ते हैं और पीछे मुड़कर देखते हैं कि कहीं उनके प्राणधन आ तो नहीं रहे हैं! जो श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके नाम लेता, उसकी ओर वे हिकर-हिकर कर आशाभरी अस्फुट ध्वनिके साथ ताकने लगते—

सोक सिथिल रथ सकइ न हाँकी। रघुबर बिरह पीर उर बाँकी॥
चरफराहिं मग चलहिं न घोरे। बन मृग मनहुँ आनि रथ जोरे॥
अढ़ुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछें। राम बियोगि बिकल दुख तीछें॥
जो कह रामु लखनु बैदेही। हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही॥
(रा०च०मा० २।१४३।४—७)

जब साधारण अनुभूति रखनेवाले तिर्यक्-योनिभूत मूक पशुओंकी श्रीरामके वियोगमें यह दशा हो रही थी, तब अनुभूतिप्रवण सचेतन मानवकी मनोदशाका क्या कहना? विशेषरूपसे उन सरल हृदय संत सुमन्त्रकी मनोदशा तो और भी वर्णनातीत है, जिन्हें इस घटना-चक्रका नियामक तथा सूत्रधार बनाकर भेजा गया हो!

हर्ष-विषादकी अतिशयता हमें निश्चेष्ट और मूक बना देती है। दूसरोंके काम न आ सकने या किसी भी रूपमें उनके विषाद (यहाँ तो विनाशकी ही पूरी आशंका है)-का कारण बननेपर प्रकृति-सुकुमार संतहृदयमें कैसा अनुताप, कितना पश्चात्ताप, कैसी ग्लानि होती है, उसकी अनुभूति तो अपने हृदयकी निर्मलता, सरलता और उदारतासे उस उच्चतम भाव-भूमिपर प्रतिष्ठित कोई तुलसी-जैसा महामानव ही कर सकता है! सुमन्त्र श्रीरामसे वियुक्त होकर अपने जीवनको धिक्कारने लगे—

अरे! यह निकृष्ट शरीर तो एक दिन कालके गालमें ही जानेवाला है, फिर आज श्रीरामके बिछुड़ते ही निष्प्राण होकर इसने अमर कीर्ति क्यों न प्राप्त की? मेरे प्राण अपयश और पापके भागी बन गये; क्योंकि लोग मुझे देखकर धिक्कारभरे स्वरमें कहेंगे कि यही वह सुमन्त्र है जो हमारे प्राणप्यारे श्रीरामको वनमें छोड़ आया। महाराजकी मृत्युका पाप और कलंक तो मेरे माथेपर होगा ही। फिर ये प्राण निकल क्यों नहीं जाते? किस सुखकी आशामें अटके हैं ये? हाय! यह हृदय टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं हो जाता? अयोध्या जाकर मैं क्या देखूँगा, कौन-सा सुख लूटूँगा? यही न कि जब श्रीरामके वियोगमें व्याकुल अयोध्याके नर-नारी, माताएँ सुमित्रा और कौसल्या दौड़-दौड़कर मुझसे श्रीरामके बारेमें पूछेंगी तो मैं हृदयपर वज्र रखकर उन्हें यह मर्मघाती उत्तर दूँगा कि मैं श्रीराम, लक्ष्मण और सीताको वनमें सकुशल पहुँचा आया! और महाराज! उनका जीवन तो श्रीरामपर ही आश्रित है। इस समाचारसे संज्ञाशून्य होकर वे तिनकेके समान अपने शरीरको छोड़ देंगे। आह! मुझ अधमको बार-बार धिक्कार है, जिसका हृदय निकृष्ट-घृणित कीचड़की भी समता नहीं कर पाया; क्योंकि वह भी तो अपने प्रियतम जलके अलग होते ही फट जाता है, खण्ड-खण्ड हो जाता है। मेरा यह शरीर पापी जीवको नरकमें यातना भोगनेके लिये दिये गये यातना-शरीर-सा जान पड़ रहा है, जो असह्य प्राणघाती यातनाएँ तो भोगता है, किंतु निष्प्राण नहीं होता—

हृदउ न बिदरेउ पंक जिमि बिछुरत प्रीतमु नीरु।
जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि यहु जातना सरीरु॥
(रा०च०मा० २।१४६)

सुमन्त्रकी शोकातुरता, पश्चात्ताप और ग्लानि इतनी घनीभूत है मानो वे कोई जघन्य कृत्य करके लौट रहे हों। इसीलिये वे किसीको अपना मुँह दिखानेका भी साहस नहीं कर पाते, समाचार सुनानेकी बात तो दूर रही। एक एकान्त वृक्षके नीचे बैठकर वे दिन बिताते हैं और रातके अन्धकारमें अयोध्यामें प्रवेश करते हैं ताकि कोई उन्हें देख न पाये—

बैठि बिटप तर दिवसु गवाँवा। साँझ समय तब अवसरु पावा॥
अवध प्रबेसु कीन्ह अँधिआरें। पैठ भवन रथु राखि दुआरें॥
(रा०च०मा० २।१४७।४-५)

काश, सुमन्त्र श्रीरामको लौटा पाते! काश, वे अपने मित्रके प्राणोंकी रक्षा कर सके होते!

पर दैवकी प्रबलताको कौन रोक सकता है! महाराज दशरथजीने शरीर त्याग दिया। अयोध्या अनाथ हो गयी। ऐसेमें सुमन्त्र धैर्य धारण न करें तो उनके हृदयधन श्रीरामका साम्राज्य व्यवस्थित कैसे रहे? अत्यन्त धैर्यपूर्वक उन्होंने चौदह वर्षतक सम्पूर्ण राज्य-व्यवस्था सँभाली। अन्तमें अयोध्याके स्वामी श्रीराम जब अयोध्या लौटे तब उनका राज्याभिषेक सम्पन्न कराया।

प्रेमी सुमन्त्रजीके भाग्यकी क्या सराहना की जाय! जिन्हें श्रीरामने सदा पिताकी भाँति ही आदर दिया और उन्हींको अपने साम्राज्यके महामन्त्रीपदपर प्रतिष्ठित किया। सुमन्त्रजीका प्रेम अमर है।

* * *

लीला-दर्शन—

श्रीकृष्णका प्रथम गोचारण-महोत्सव

उस समयकी बात है जब गोपेन्द्र नन्दका व्रजपुर बृहद्वनमें बसा था। श्रीकृष्णचन्द्र वृन्दाकानन नहीं पधारे थे। कलिन्दकन्याके उस पार ही लीलारसका प्रवाह सीमित था। पुर-सुन्दरियोंके प्राङ्गणमें ही वे खेला करते थे। स्वभावमें चञ्चलता अवश्य आ चुकी थी।

अचानक एक दिन जब भुवनभास्कर वृक्षोंसे ऊपर उठ आये थे, वे खेलते हुए अपने गोष्ठमें जा पहुँचे। वहाँ अभी गोदोहन समाप्त नहीं हुआ था। पंक्तिबद्ध गायोंके थनोंसे क्षरित दुग्धका 'घर-घर' नाद उन्हें आकर्षित करने लगा। कौतूहलभरी दृष्टिसे देखते हुए वे दूर—बहुत दूरतक चले गये। एक वृद्ध गोप गाय दुह रहा था। साथ ही मन्द-मन्द स्वरमें उनके ही बालचरितके गीत उसके कण्ठ-निर्झरसे झर-से रहे थे। पर अब गाय सहसा चिहुँक उठी। नीलसुन्दरको देखकर हम्बारव करने लग गयी। वृद्ध गोपने भी पीछेकी ओर दृष्टि डाली। नन्दनन्दन उसे भी दीख गये। फिर तो गोदोहन हो सके, यह सम्भव ही कहाँ था। बस, निर्निमेष नयनोंसे वह नन्दनन्दनकी ओर देखता ही रह गया।

यह गोप व्रजराजका बालसखा है। ब्याह इसने किया नहीं। आजीवन नन्दरायके साथ ही इसके दिन बीते तथा व्रजेशने भी आदर्श प्रेम निभाया। मित्रके रूपमें तो क्या, सदा अपने ज्येष्ठ भ्राताके समान ही वे इसे सम्मानका दान करते आये हैं। पर नन्दनन्दनके जन्म-दिनसे ही यह अर्द्धविक्षिप्त-सा रहने लगा था और व्रजेन्द्रको इसकी स्नेहोचित चिन्ता-सी लग गयी थी। गोसेवाकार्य तो इसके द्वारा ज्यों-के-त्यों सम्पन्न हो जाते थे। पर इसके अतिरिक्त उसे अपने शरीरका भान नहीं-सा ही है, ऐसा ही लगता था। अस्तु, नन्दनन्दन उसीके पास आकर बैठ गये। इतना ही नहीं, अपने हस्तकमलोंसे उसके स्कन्ध एवं चिबुकका स्पर्श कर बोले—'ताऊ! मुझे भी दुहना सिखा दो।'

वृद्धके कर्णपुटोंमें पीयूषकी धारा बह चली। श्रीकृष्णचन्द्रके इस मधुभरे कण्ठस्वरका उन्मादी प्रभाव देखने ही योग्य था। दूधसे आधी भरी हुई दोहनी हाथोंसे छूटकर पृथ्वीपर जा गिरी तथा नन्दनन्दनको भुजपाशमें बाँधकर वह गोप बेसुध हो गया! और जब चेतना आयी—कहना कठिन है कि बाह्यदृष्टिमें दो ही क्षण बीतनेपर भी सचमुच वह कितने समयके पश्चात् जागा—उस समय भी उसकी प्रेमविवश आँखें झर रही थीं तथा श्रीकृष्णचन्द्र अपनी छोटी-छोटी अँगुलियोंसे उसके नेत्र पोंछते हुए कह रहे थे—'क्यों ताऊ! मुझे नहीं सिखा दोगे?'

किंतु आज तो अबतक सभी गौएँ दुही जा चुकी थीं। गोपके ध्यानमें एक भी गाय दुहनेको अवशिष्ट नहीं। गोदोहनकी शिक्षा आज सम्भव नहीं। गद्गद कण्ठसे गोपने कहा—'मैं लाल! कल सिखा दूँगा।' अब भला, श्रीकृष्णचन्द्रके उल्लासका कहना ही क्या था! आनन्दविह्वल-से हुए वे बोल उठे—'ताऊ! बाबाकी सौंह है, कल अवश्य सिखला देना, भला! मैं आनेतक कम-से-कम एक गाय बिना दुहे अवश्य रखना।' गोपने नीलसुन्दरके इस प्रेमिल आदेशका कोई उत्तर न दिया। उसकी वाणी अश्रुके आवेशमें रुद्ध थी। स्थिर पलकोंसे वह देख रहा था अपने प्राणधन नन्दनन्दनकी ओर ही। श्रीकृष्णचन्द्र पुनः बोले—'ताऊ! अब तो मैं सयाना हो गया! अपनी गायें अपने-आप दुह लूँगा!' गोप प्रस्तरमूर्तिकी भाँति निश्चल रहकर सुनता जा रहा था और श्रीकृष्णचन्द्र तनिक-सा रुककर फिर कहने लगे—'अच्छा, ताऊ! आज संध्याको सिखा दो तो कैसा रहे?' तब तो वृद्ध गोपके प्राण बरबस मचल-से उठे नीलसुन्दरके इस प्रस्तावका उत्तर दे देनेके लिये। किंतु ओह! उमड़े हुए स्नेहाश्रुको भेदकर वाणी कण्ठसे बाहर आ जो नहीं पाती थी। विचित्र-सी दशा हो गयी उसकी। इतनेमें व्रजराजनन्दनने चटपट स्वयं ही अपना समाधान कर लिया, वे बोल उठे—'नहीं ताऊ! सायंकाल तो मैया आने नहीं देगी, कल ही सिखा देना। कल तुम गोशाला गायें दुहने जब आओ, तब मुझे पुकार लेना।'—यह कहकर वे कुछ सोचने-से लग गये तथा फिर बोले—'नहीं, पुकारनेकी आवश्यकता नहीं, मैं अपने-आप ही आ जाऊँगा, पर तुम भूलना मत, ताऊ!'—इस बार अपनी सारी शक्ति बटोरकर गोपने उन्हें पुचकारमात्र दिया। पुचकारके द्वारा ही उसने सिखा देनेकी स्वीकृति दे दी और श्रीकृष्णचन्द्र

अत्यन्त उल्लसित होकर लौट आये—

धेनु दुहत देखत हरि ग्वाल।
आपुनु बैठि गए तिन के ढिंग, सिखवौ मोहि कहत गोपाल॥
कालि तुम्हैं गौ दुहन सिखावैं, आज दुहीं सब गाय।
भोर दुहौ जिन, नंद दुहाई, उन सौं कहत सुनाय॥
बड़ौ भयौ, अब दुहत रहौंगौ, अपनी धेनु निबेरि।
सूरदास प्रभु कहत सौंह दै, मोहि लीजियै टेरि॥

इसके दूसरे दिन, जितना शीघ्र सम्भव हो सका, वे उस गोपके समीप पहुँचे। आज उनके साथ बलराम भी थे। आते ही उन्होंने गोपकी दोहनी थाम ली और बड़ी उत्सुकतासे बोले—'चलो, ताऊ! गाय कहाँ है? सिखा दो।'—तथा अग्रज श्रीरोहिणीनन्दन भी अपने अनुजका अनुमोदन करने लगे—'हाँ, हाँ, ताऊ! इसे आज अवश्य सिखा दो।'

वृद्धका रोम-रोम एक अभिनव विशुद्ध स्नेहावेशसे पूरित हो उठा। नीलसुन्दरको अपने स्निग्ध हृदयसे लगा लिया उसने, मानो वात्सल्यमसृण हृदयकी प्रथम भेंट समर्पण कर दी। तदनन्तर उसने उनके हस्तकमलोंमें एक छोटी-सी दोहनी दे दी। नीलसुन्दर भी उसी गोपका अनुकरण करते हुए दुहनेकी मुद्रामें गायके थनके पास जा बैठे। गोपकी शिक्षा आरम्भ हुई। श्रीकृष्णचन्द्रकी अँगुलियोंको अपनी अँगुलियोंमें धारण कर उसने थनको दबाना सिखाया। थनसे दुग्ध तो तभी क्षरित होने लगा था, जिस क्षण श्रीकृष्णचन्द्र गायके समीप आकर बैठेमात्र थे और अब तो दूधकी धारा बड़े वेगसे निकलने लगी थी। अवश्य ही वह दोहनीमें न गिरकर गिर रही थी कभी तो नीलसुन्दरके उदर-देशपर और कभी पृथ्वीपर। बड़ी तत्परतासे वे दोहनीको कभी पृथ्वीपर रख देते, कभी घुटनोंमें दबा लेते तथा इस चञ्चल प्रयासमें एक-दो धार दोहनीमें गिरती, एक-दो नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंका अभिषेक करती तथा एक-दो धरतीपर बिखर जा रही थी। फिर भी कुछ दूध तो दोहनीमें एकत्र होकर ही रहा। श्रीकृष्णचन्द्रके हर्षका पार नहीं। दोहनी लेकर वे उठ खड़े हुए। नाच-नाचकर वे अपने दाऊ दादाको यह दिखा रहे थे—'देखो, मैं दुहना सीख गया।'

इसके पश्चात् क्रमशः दिवस-रजनीका अवसान होकर पुनः प्रभात हुआ। तीस घड़ीके अनन्तर जब श्रीकृष्णचन्द्रकी दैनन्दिनी लीलाका आरम्भ होने चला, प्रातः समीरका स्पर्श पाकर जननीने उन्हें जगाया और वे जागे, तब वे जननीका अञ्चल धारण कर मचल उठे—

दै मैया री दोहनी, दुहि लाऊँ गैया।
माखन खाऐं बल भयौ, तोहि नंद दुहैया॥
सेंदुरि काजरि धूमरी धौरी मेरी गैया।
दुहि ल्याऊँ तुरतहिं तबै, मोहि कर दै घैया॥
ग्वालन की सँग दुहत हौं, बूझौ बल भैया।
सूर निरखि जननी हँसी, तब लेति बलैया॥

व्रजरानीने समझाया, शत-शत मनुहारके द्वारा अपने नीलमणिको आप्यायित करके इस गोदोहनके प्रस्तावको भुला देनेकी चेष्टा की, 'अरे, मेरा नीलमणि तो अभी निरा अबोध शिशु है, किसी गायने दुहते समय लात मार दी तो?'—इस भावनासे भयभीत हुई जननीने बहुत कुछ कहा, किंतु हठीले मोहन बात पकड़ लेनेपर छोड़ना जानते जो नहीं। बाध्य होकर जननीने अन्तिम निर्णय यह दिया—'मेरे प्राणधन नीलमणि! पहले अच्छी तरह बाबाके पास जाकर दुहना सीख ले, तब मैं दोहनी दूँगी और तू दूध दुह लाना!' ठीक है, बाबाकी शिक्षा भी सही! श्रीकृष्णचन्द्र व्रजेन्द्रके समीप चले आये, उनसे बारम्बार हठ करने लगे—

बाबा जू! मोहि दुहन सिखाऔ।
गाय एक सूधी सी मिलवौ, हौहुँ दुहौं, बलदाउ दुहाऔ॥

महाराज नन्दने किसी शुभ मुहूर्तमें सिखा देनेका वचन दिया। पर इतना धैर्य नन्दलाडिलेमें कहाँ! वे तो गोदोहन करेंगे और इसी दिन, इसी समय करेंगे। आखिर उपनन्दके परामर्शसे यह निश्चित हुआ कि नारायणका स्मरण करके नीलमणिकी साध पूरी कर दी जाय। अस्तु, श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय उमंगमें भरकर जननीके पास दोहनी लेने आये—

तनक कनक की दोहनी मोहि दै री, मैया।
तात दुहन सिखवन कह्यौ मोहि धौरी गैया॥

मुखचन्द्रपर स्वेदकण झलमल कर रहे थे एवं

नेत्रसरोजोंमें भरी थी—दोहनी लेकर गोष्ठमें पहुँच जानेकी त्वरा। जननीने अञ्चलसे मुख पोंछा, हृदयसे लगाया, फिर छोटी सुवर्णकी दोहनी हाथमें दे दी और स्वयं साथ चल पड़ीं। उनके पीछे यूथ-की-यूथ व्रजपुरसुन्दरियाँ एकत्र हो गयीं—नीलसुन्दरकी गोदोहनलीला देखनेके लिये। जो हो, अपने इष्टदेव नारायणका स्मरण करके व्रजेन्द्रने पुत्रका सिर सूँघा और फिर गोदोहनकी शिक्षा—शिक्षाका अभिनय सम्पन्न हुआ। गोपेन्द्रतनय गौ दुहने बैठे—

हरि बिसमासन बैठि कै मृदु कर थन लीनौ।
धार अटपटी देखि कै ब्रजपति हँसि दीनौ॥
गृह गृह ते आयीं देखन सब ब्रजकी नारी।
सकुचत सब मन हरि लियौ हँसि घोषबिहारी॥

उस दिन व्रजेशके आदेशसे नन्दप्रासाद सजाया गया था। मङ्गलगान, मङ्गलवाद्यसे सम्पूर्ण व्रजपुर निनादित होने लगा था। मणिदीपोंसे उद्भाषित हुई व्रजपुरकी वह रजनी दिन-सी बन गयी थी।

इस प्रकार चार-पाँच दिनोंके लिये बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रकी क्रीड़ामन्दाकिनीका यह नवीन स्रोत प्रसरित होता रहा। पर सहसा मानो उनके अद्भुत शैशवकी चञ्चल लहरियोंने, नवनीत-हरणलीलाके प्रबल प्रवाहने इसे आत्मसात् कर लिया और वे इस गोदोहनके खेलको कुछ समयके लिये भूल-से गये, इस ओर उनका आकर्षण नहीं रहा। अचिन्त्य लीलामहाशक्तिने उद्देश्यविशेषसे—आगे पौगण्ड आ जानेपर उनकी गोचारण-लीलाकी भूमिका प्रस्तुत करनेके लिये—इसपर एक क्षणिक आवरण डाल दिया।

अस्तु, यह हुआ बृहद्वनमें विराजित रहते हुए व्रजराजकुमारकी उल्लासमयी गोदोहनक्रीड़ाका एक संक्षिप्त चित्र और अब इस समय तो वे वृन्दावनविहारी हैं। उनकी आयुका प्रवाह भी आगेकी ओर बढ़कर कौमारकी सीमाको पार कर चुका है, वे पौगण्डवयस्में अवस्थित हैं। तदनुरूप ही मेधा एवं बलका विकास हो चुका है। वक्षःस्थल पहलेकी अपेक्षा विस्तीर्ण हो चुका है। नेत्रसरोजोंमें एवं महामरकतश्याम शरीरके समस्त अवयवोंमें पौगण्डोचित चिह्न स्पष्ट परिलक्षित होने लगे हैं। स्वभावका सूक्ष्म परिवर्तन भी स्वयं व्रजमहाराज्ञी यशोदामैयासे छिपा न रह सका। उस दिनकी बात है, श्रीअभिनन्दपत्नी आकर मैयासे बोलीं—

कृष्णमातरद्य सद्यः प्रातरेव कुत्र वा भवज्जातः प्रयातः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'कृष्णजननि! आज अत्यन्त प्रातःकाल ही आपके लाल कहाँ चले गये?'

इसका उत्तर मैयाने हँस-हँसकर कह दिया—

हन्त! तदेतद् वर्तमानसमयपर्यन्तं तस्योद्वर्तन-स्नानपरिधानमयानि कर्माणि मया निर्मीयन्ते स्म। सम्प्रति मदपि लज्जामासज्जन् स्वकसवयःसेवकप्रियः पृथगेव कृततत्तत्क्रियः स मा समया समायाति। आगत्य च प्रत्यहं मां पितरं यथायथमितरं च गुरुजनं पुरुगौरवं नमस्कारेण पुरस्करोति। किंच तदवधि यदा संध्यायां मया ध्यायमानागमनः सहवत्सः समागच्छति तदा तदुपरि वारि वारत्रयं भ्रामयित्वा पिबन्ती जीवन्ती भवामि स्म। सम्प्रति तु सशपथमेधमानयत्नवता तत्प्रतिषेधता तेन मम हस्तौ विहस्तौ क्रियेते। एवमेव रौहिणेयश्चेति।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'अजी! क्या कहूँ, अबतक तो उसके उबटन, स्नान, वस्त्रपरिधान आदि कार्योंको मैं स्वयं अपने हाथों किया करती थी; पर इधर वह मुझसे भी लजाने लगा है और इस कारण अपनी आयुके सेवकोंसे बहुत ही हिल-मिल गया है तथा अलग ही इन नित्यकर्मोंका समाधान कर लेनेके अनन्तर निश्चित समयपर मेरे पास आता है। आकर प्रतिदिन ही मुझे, अपने बाबाको तथा यथायोग्य अन्य गुरुजनोंको अतिशय गम्भीरतापूर्वक प्रणाम करके सम्मानित करता है। इतना ही नहीं, और सुनो; पहले तो यह बात थी—संध्या होने लगती, मैं उसके वनसे लौटनेकी प्रतीक्षामें रहती और जब गोवत्सोंके साथ वह आ जाता, तब उसपर तीन बार जल औंछकर पी लेती तथा मुझमें नवजीवनका संचार हो जाता। किंतु अब तो वह मुझे शपथ दे डालता है, उत्तरोत्तर अनेक उपाय रचकर ऐसा करनेसे रोक देता है; उसके द्वारा मेरे दोनों हाथ इस क्रियाके लिये अक्षम कर दिये जाते हैं और मैं वह संजीवन जल पी नहीं पाती! तथा ठीक यही दशा रोहिणीनन्दन बलरामकी भी हो गयी है।'

जननीका यह उत्तर सुनकर अभिनन्दपत्नी तथा वहाँ उपस्थित अन्य पुरवनिताएँ हँसने लगीं। इधर व्रजेशकी दृष्टि

भी श्रीकृष्णचन्द्रमें आयी हुई इन अस्फुट संकोचवृत्तियोंको भाँप लेती है। एक दिन राजसभामें मन्द-मन्द हँसते हुए वे भी सन्नन्द एवं नन्दनसे बोले—

भो! आयुष्मन्तावद्यजात इव युष्मद्भ्रातृजातः स यथा सम्प्रति युवां प्रति वर्तते न तथा मामिति लक्ष्यते। यतः किंचित्संकुचितविलोचनेन मामवलोकयन्नालोच्यते। युवाभ्यां सह तु मधुरवार्त्ता वर्त्तयन्नेव दृश्यते। (श्रीगोपालचम्पूः)

'मेरे आयुष्मान् लघु भ्राताओ! तुम्हारे बड़े भाईका यह पुत्र (श्रीकृष्णचन्द्र)—सच पूछो तो—ऐसा ही लगता है कि मानो आज ही उत्पन्न हुआ हो। पर देखो सही, आजकल तुम दोनोंके प्रति जैसी उसकी निर्बाध चेष्टाएँ होती हैं, वैसी अब मेरे प्रति नहीं—ऐसा प्रतीत हो रहा है; क्योंकि जब वह मेरे समक्ष आता है, तब उसके नेत्रोंमें कुछ संकोच भरा होता है, किंचित् संकुचित नेत्रोंसे ही वह मेरी ओर देखता है। पर तुम दोनोंके साथ तो वह अभी भी उसी प्रकार मधुर वार्ता—मीठी बातें करता रहता है—मैं ऐसा ही देखता हूँ।'

व्रजेन्द्रकी यह उक्ति गोपसदस्योंको हर्षोत्फुल्ल बना देती है। नीलसुन्दरके दोनों पितृव्य (चाचा) तो उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगते हैं। सब सुन लेनेके अनन्तर व्रजराजने पुनः प्रेममसृण स्वरमें कहना आरम्भ किया—'भैया सन्नन्द एवं नन्दन! अहो! परसोंकी ही तो बात है। तुम दोनों जा रहे थे एवं तुम्हारे पीछे थे राम-श्याम। जब मेरे उन दोनों पुत्रोंने यह देख लिया कि अब एकान्त है, तब तुमसे प्रार्थना-सी करने लगे। अहा! उनकी सुन्दर आँखोंमें दीनता भरी थी और वे दोनों बार-बार—प्रातःसे आरम्भ कर न जाने कितनी बार—तुमसे कुछ निवेदन-सा कर रहे थे। मैं बहुत दूरसे चारों ओर घूम-घूमकर उन दोनोंको देख रहा था। वह क्या बात थी, हो! बताओ तो सही—

भवन्तावेकान्तमनुभवन्तावनुगम्य तौ रम्यकानराक्षिप्रान्तावसकृत् प्रातरारभ्य प्रार्थितवन्ताविति ह्यः पूर्वेऽहनि समन्ताद्भ्रातरावतिदूराददृक्षाताम्; तत्किमुच्यताम्?

(श्रीगोपालचम्पूः)

तथा लघुभ्राता श्रीनन्दनगोपने भी व्रजराजकी इस जिज्ञासाका समाधान इस प्रकार किया—

तदानीमेवेति किं वक्तव्यम्। किंतु चिरादेव तयोस्तदभिरुचितमुपचितमस्ति। संकुचितभावाभ्यामावाभ्यां तु भवत्सु न श्रावितम्।

'यह केवल उस समयकी ही बात थोड़े है, यह तो उन दोनोंकी चिरकालीन लालसा है, जो निरन्तर बढ़कर दृढ़-दृढ़तर हो चुकी है। हम दोनोंको ही संकोच घेर लेता है और इसीलिये आपको अबतक सूचित न कर सके।'

फिर तो महाराज नन्दने स्पष्टतया जान लेना चाहा तथा उपयुक्त अवसर देखकर श्रीसन्नन्दने भी मन्द-मन्द मुसकाकर बात खोल दी—

स्वयमेव गवां सेवनमिति यत्।

'और तो क्या, वे दोनों समस्त गायोंकी सेवा स्वयं ही करना चाहते हैं।'

परम गम्भीर उपनन्दजीके पूछनेपर सन्नन्दने इतना और कह दिया कि राम-श्याम कहते हैं—

आवयोः प्रथमवयोऽतीतयोस्तातचरणानां स्वयं गोचारणमनाचारतामाचरतीति।

'अब जब हम दोनोंकी प्रथम आयु—कौमारका अवसान हो चुका है, तब स्वयं पितृचरणोंके द्वारा गोचारणका कार्य सम्पादित होते रहना अनुचित है।'

अपने पुत्रोंकी यह भावना सुनकर व्रजेशका मुख विस्मयसे पूर्ण हो उठता है। वे कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं देते, मौन हो जाते हैं; किंतु उपस्थित गोपसमाज उल्लासमें भरकर कहने लग जाता है—

यद्यप्यद्यजाताविव सुजातावमू तथापि क्रमं विना बुद्धिनिष्क्रमस्य बलसंवलनस्य च सद्भावादस्माकं विस्मापकावेव भवतः। इतस्तु न विस्मापकौ भवतस्तपःप्रभाव एव खल्वेवं भावमावहतीति। न खलु तत्तत्खलानां यत्परिमलनं जातं तत्र सहायतानां सहायता काचिदपि परिचिता। तस्मान्मङ्गलमेव संगतं भविष्यतीति।

'व्रजराज! यद्यपि ये दोनों सुकुमार बालक सचमुच लगते तो ऐसे हैं कि मानो आज ही इनका जन्म हुआ है, फिर भी इनमें—क्रमशः नहीं, बिना किसी क्रमके ही—कुछ ऐसी विलक्षण बुद्धि उत्पन्न हो गयी है, इतने बलका

संचार हो गया है कि ये दोनों हम सभीको आश्चर्यमें भर दे रहे हैं। एक दृष्टिसे तो यह बात है। उधर पुनः विचारनेपर इनको लेकर कोई आश्चर्य भी नहीं होता; क्योंकि निश्चितरूपसे यह तो आपके तपका ही प्रभाव है, जो ऐसा सम्भव हो गया है। देखिये न, उन-उन दुष्ट राक्षसोंका जो संहार हुआ है, उसमें इन अगणित साथियोंकी कोई भी सहायता ली गयी हो, यह बात भी नहीं है। इसलिये आगे भी मङ्गलके ही दर्शन होंगे।'

यह कहकर गोपमण्डलने नीलसुन्दरके प्रस्तावका प्रकारान्तरसे अनुमोदन कर दिया। अवश्य ही गोपराज तो मौन ही रहे। इसके दो-तीन दिन पश्चात् महाराजने एकान्तमें व्रजरानीसे भी इस प्रस्तावपर मन्त्रणा की; पर व्रजदम्पतिका वात्सल्य-रस-यन्त्रित हृदय इसे सहजमें ही स्वीकार कर ले, यह कहाँ सम्भव है। दोनोंने मिलकर यही स्थिर किया कि अवसरविशेषकी प्रतीक्षा की जाय—

निजगृहिण्यापि सह रहसि श्रीव्रजराजस्य स एष प्रस्तावविशेष आसीत्। यत्र च तौ पुत्रप्रेमयन्त्रिततया तदेतन्मन्त्रितवन्तौ। पश्यामः समयविशेषमिति।

किंतु श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिको अब इसमें अधिक विलम्ब अपेक्षित नहीं है। अतएव उन्होंने तो उपक्रम कर ही दिया—सर्वथा स्वाभाविक ढंगसे ही। जिस असंख्य गोवत्सराशिका संचारण आरम्भ हुआ था, नन्दलाल वत्सपाल बनकर गोपशिशुओंके साथ वनमें जिसे ले जाया करते थे, वह वत्सश्रेणी अबतक अधिकांशमें नवप्रसूता गौएँ जो बन चुकी हैं। उनकी सेवा-शुश्रूषा, दोहन आदि कार्य तो राम-श्यामके द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। भला, जिसने अपने शैशवमें नीलसुन्दरके करपल्लवोंसे चयन किये हुए हरित सुकोमल तृणराजिका ग्रास पाया है, जिसके अङ्ग सदा सम्मार्जित होते आये हैं नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके हस्तकमलोंसे ही, जिसका अबतक सतत संवर्द्धन हुआ है व्रजेशतनयके रसमय संरक्षणमें ही, मूकवाणी व्यक्त न कर सके, इससे क्या—पर जिसके अन्तस्तलमें व्रजराजकुमारके द्वारा पाये हुए प्यारकी असंख्य स्मृतियाँ सुरक्षित हैं—वह वत्सराशि आज अपने प्रथम यौवनके उन्मेषमें स्वयं भी वत्स प्रसव करनेपर श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त किसी अन्य गोपकी सेवा स्वीकार कर ले, यह भी कभी सम्भव है? उन-उन नवप्रसूता गायोंने किसी गोपसेवकको अपने शरीरका स्पर्शतक करने नहीं दिया है। अपने पार्श्वमें किसी भी गोपको देखते ही वे बिझुक जातीं तथा जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र आये कि 'हम्बारव' से गोष्ठको निनादित करने लगतीं, उनके थनसे दूध बरसने लगता; दोहनी नीचे रख भर देनेकी बात थी, क्षणोंमें वह कण्ठतक पूरित हो जाती और फिर एक सुन्दर धवल प्रवाह नीचेकी ओर बह चलता। सुरभि-थनमें इतना दुग्ध कहाँसे संचित हो जाता—इसे कौन बताये और वह अभी-अभी व्रजपुरमें भूमिष्ठ हुआ वत्स भी तो भूल जाता अपनी जननीको। वह तो सरल भोली चितवनसे केवल नीलसुन्दरकी ओर देखता रहता। अपने करपल्लवमें वत्सका मुख लेकर नन्दलाल उसे थनसे सटा देते, फिर भी वह दृष्टि फेर लेता; नन्दलाड़िलेके श्यामल अङ्गोंमें ही उसकी आँखें उलझी रहतीं। यदि अघटन-घटनापटीयसी योगमायाके अञ्चलकी छाया यथासमय उनकी स्मृतिको आवृत न कर लेती तो कोई वत्सतर अपनी जननीका स्तनरस पान कर सके, यह नवीन धेनुसमूह श्रीकृष्णचन्द्रका सङ्ग त्याग सके—यह सर्वथा असम्भव है। जो हो, इस प्रकार इनकी सेवा तो एकमात्र राम-श्यामके द्वारा ही होने लगी है। इन्हें तृणदान आदिका भार रोहणीनन्दन रामपर है और दोहनकी क्रिया सम्पन्न होती है नीलसुन्दरके द्वारा। कौमारका वह गोदोहन-खेल-लीलासुरधुनीका वह सुन्दर स्रोत इतने कालतक मूलके विभिन्न प्रवाहोंमें ही विलीन रहकर अब पुनः पृथक् होकर प्रसरित होने लगा है—व्रजेशका ध्यान आकर्षित करनेके लिये, उन्हें सूचित कर देनेके लिये कि 'वजेश्वर! अब विलम्ब मत करो, नीलसुन्दरकी योग्यताका इससे अधिक प्रमाण और क्या चाहते हो? अपने संरक्षणमें अवस्थित इस अपार नवीन गोधनका तनिक-सा भी बिझुके बिना ही दोहनकर्म समाधान कर लेनेकी कलामें निज तनय नीलमणिकी निपुणता देख लो। अब क्यों नहीं इन्हें अपने राजकुलके अधिकृत समस्त गोधनके ही संरक्षणका भार सौंप देते? लीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रकी अभिलाषा पूर्ण हो जाती!' पर व्रजराजके श्रीकृष्णरसभावित प्राणोंमें तो झंकृति

है—'**पश्यामः समयविशेषम्**'—अवसरविशेषकी बाट देखें। वे गोपोंसे सुनते हैं, स्वयं देखते भी हैं, अनुभव करते हैं—'सचमुच मेरे पुत्रकी योग्यता—गोसंरक्षणकी कुशलता गोपवंशकी परम्परामें अद्वितीय ही है।' फिर भी उनका वात्सल्यपरिभावित हृदय विलम्ब करनेमें ही रस ले रहा है और इसलिये वे इस प्रश्नपर मौन ही रह जाते हैं।

आखिर सीमा आ गयी, लीलाशक्तिका निर्धारित क्रम सामने जो आ गया। अबतक श्रीकृष्णचन्द्र वन जाते थे उन अपने अधिकृत नवीन गोधनको लेकर ही। उनमें कुछ गोवत्स थे, कुछ प्रथम-प्रसवोन्मुख गौएँ थीं और अधिकांश थीं नवीन-वत्सवती। गोवत्स इसलिये कि समय-समयपर मुक्तस्तन्य वत्स श्रीकृष्णचन्द्रके संरक्षणमें सम्मिलित होते आये हैं और वत्सवती तो श्रीकृष्णचन्द्रका संरक्षण परित्याग करनेसे रहीं। गोपरक्षकोंने अथक चेष्टा की कि भले ही गोष्ठमें इनकी सेवा राम-श्याम कर लें, गोदोहन आदि भी वे ही करें; पर इनका संचारणकार्य तो हम सबोंके ही द्वारा हो, ये सब भी वयस्क गोधनकी टोलीमें ही परिगणित हो जायँ। किंतु वे सर्वथा असफल रहे। ये गायें किसी भी परिस्थितिमें श्रीकृष्णचन्द्रके बिना वन जानेको प्रस्तुत न हुईं। अतएव सदासे आया हुआ दो विभाग अबतक चलता ही रहा। गोपरक्षक अपने अधिकृत व्रजेशके अपार गोधनका संचारण करते एवं श्रीकृष्णचन्द्र उसीके अंशभूत अपने अधिकृत गो-गोवत्समिश्रित समूहका। अस्तु, आज सहसा प्रातःकाल एक विशेष घटना घटी। उपक्रम तो कल ही हुआ था, आज सबोंने प्रत्यक्ष देख लिया। वनसे लौटते हुए गोचारकवर्गके दोनों ही दल कल मिल गये। अन्यथा इससे पूर्व रक्षकोंका वर्ग तो श्रीकृष्णचन्द्रसे पूर्व ही प्रस्थान कर जाता एवं श्रीकृष्णचन्द्र लौटते थे उस वर्गके गोष्ठमें प्रविष्ट होनेके अनन्तर। विगत संध्याके समय गोपरक्षकोंने गायोंकी उस अभूतपूर्व प्रेमसम्पुटित आर्ति—श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति अद्भुत आकर्षणको देखा अवश्य, पर देखकर भी वे रहस्यभेद न कर सके। किंतु आज प्रातःकाल वह स्पष्ट हो गया—इस अपार समस्त गोधनराशिने वन जाना सर्वथा अस्वीकार कर दिया। वे वनकी ओर तभी चलीं जब श्रीकृष्णचन्द्र उन्हें आगे खड़े होकर पुकारने लगे। व्रजेशकी राजसभामें आज चर्चाका विषय बस एकमात्र यही था। गोपवर्गने विस्मयसे पूर्ण होकर यह सूचना व्रजेन्द्रको दे दी—

सर्वं गोजातं न तु भवज्जातमन्तरा पदमपि पदः प्रददाति। कथंचित्तेनैवाग्रावस्थितेनाद्य ताः प्रस्थापिताः सन्ति॥

'व्रजराज! देख लें, समस्त गायोंकी ही यह दशा हो गयी है कि आपके पुत्रके बिना वे अब एक पद भी वनकी ओर अग्रसर नहीं होतीं। आज जब वह स्वयं उनके आगे जाकर खड़ा हो गया, तब कहीं—उसकी सहायतासे ही वे किसी प्रकार वनमें भेजी जा सकी हैं।'

गोपेश सुनकर आश्चर्यमें भर गये। उन्होंने इस आकस्मिक परिवर्तनका कारण जानना चाहा। फिर तो समस्त सभासद् एक स्वरसे पुकार उठे—

भवत्पुत्रः कुत्रचिद्यत्र स्नेहं व्यञ्जयति तत्र सर्वत्र चैवं दृश्यते।

'यह तो जानी हुई बात है, व्रजेश्वर! जहाँ कहीं जिसके प्रति भी आपका पुत्र प्रेम प्रदर्शित करता है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र यही परिणाम सामने आता है।'

उस दिन अनेक युक्तियोंसे गोपमण्डलने व्रजेशको समझा-बुझाकर नीलसुन्दरपर ही समस्त गोसंरक्षणका भार सौंप देनेके लिये उन्हें बाध्य कर दिया। सबकी एक ही राय, एक ही माँग थी—

तस्माद्भवताद्भवतामनुज्ञा।

'अतएव, अब आपकी आज्ञा हो जाय।'

तथा व्रजराजने भी—वाणीसे तो नहीं—अपनी हर्षभरी दृष्टिसे ही प्रस्तावका समर्थन कर दिया। उपनन्दजी तुरंत ही ज्योतिर्विदोंका परामर्श ले आये। उन सबोंने भी संनिकट योगका ही आदेश किया—'पण्डितजनोंके कर्णपुटोंके लिये सुखप्रद, मङ्गलयशपूर्ण, बुधवार श्रवण-नक्षत्र-विशिष्ट कार्तिक शुक्लपक्षकी अष्टमी गोपालनके लिये परम सुन्दर मुहूर्त है।'—

तैरपि बुधश्रवणसुखप्रदमङ्गलश्रवणसंगतबुधश्रवणविशिष्टायामबहुलबाहुलाष्टम्यां बहुलापालनं बहुलमेतदिष्टमित्यादिष्टम्।

अस्तु, अंशुमाली जब उस दिन प्राचीको रञ्जित करने आये, क्षितिजकी ओटसे व्रजपुरके आकाशको झाँककर

देखने लगे, उस अष्टमीके दिन व्रजेन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके प्रथमगोचारण-महोत्सवके उपलक्ष्यमें वहाँ क्या-क्या हुआ, इसे कौन बताये। वाग्वादिनी स्वयं विथकित जो हो रही हैं। लीलादर्शीकी रसनाके अन्तरालमें हंसवाहिनीके प्राणोंकी इतनी-सी झंकृति कोई भले ही सुन ले—'अरे! इस महा-महोत्सवका वर्णन करना चाहते हो? नहीं, नहीं कर सकोगे। सुनो, एक नहीं, इसके लिये अनेक वक्ता चाहिये। उनमें प्रत्येक वक्ताके ही अयुत—दस सहस्र मुख हों, सभीकी आयु सर्वदा बनी रहे, कभी क्षय न हो, वे निरन्तर गाते ही रहें—तब वर्णन करनेका विचार करना, भला!'

एकस्यैकस्य चेद् वक्तुर्वक्त्राणि स्युः सदायुतम्।
तदा तद् वक्तुमिच्छन्तु यद्यायुः सर्वदायुतम्॥

इससे पूर्व नीलसुन्दरकी कौमारवयस्में—शिशिर-वसन्तकी संधिपर—होनेवाले वत्सचारण-महोत्सवकी शोभा भी निराली ही थी, प्रायः उसके कार्यक्रमका ही अनुसरण आज इस गोचारण-प्रसङ्गमें भी हुआ है। अट्टालिका, गृहतोरण, गृह-द्वार, अलिन्द, वीथी, चतुष्पथ—इन सबका साज-शृङ्गार एवं देवपूजन आदि शास्त्रीय कर्म भी उस पूर्वकी अनुक्रमणीके साँचेमें ही ढले हैं; पर आजका रागरंग, पारावारविहीन आनन्दसिन्धुका यह अभूतपूर्व उद्वेलन—ओह! किसीके श्रीकृष्णचरणनखचन्द्रसे आलोकित दृगोंमें भले ही यह क्षणभरके लिये झलमल कर उठे, पर वाणी तो इसे व्यक्त करनेसे रही। केवल दिग्दर्शनमात्र सम्भव है—'देखो, श्रीकृष्णचन्द्र 'गोपाल' बननेके योग्य नवीन वेषभूषासे सुसज्जित हैं, उनका रक्षा-विधान सम्पन्न हुआ है, ब्राह्मण एवं गुरुजनोंके आशीर्वादसे उनके श्रीअङ्ग सिक्त हो चुके हैं; पुण्याहवाचन कर्म भी साङ्गोपाङ्ग समापित हो चुका है। व्रजरानी, श्रीरोहिणी एवं असंख्य व्रजरामाओंके द्वारा इनका वनगमनोचित नीराजनका मङ्गलकृत्य भी पूरा हो गया। अरे! सुन लो—असंख्य पुरसुन्दरियोंके कण्ठसे निर्गत मङ्गलगानकी सुमधुर ध्वनि; दुन्दुभि, ढक्का, पटह, मृदङ्ग, मुरज, आनक, वंशी, संनहनी, कांस्य आदि वाद्यसमूहोंका दिग्दिगन्तव्यापी नाद; आनन्दमत्त गोपोंके, गोपबालाओंके नर्तनकी झंकार—'नन्दकुलचन्द्रकी जय! रोहिणीनन्दन बलरामकी जय!! राम! राम! श्याम! श्याम! चिरं जीव! चिरं जीव!' आदिका तुमुल घोष। और अब देखो, अहा! वे चले अपने अग्रज बलरामसे संवलित श्रीमान् गोपमहेन्द्रतनय श्रीकृष्णचन्द्र गायोंके पीछे-पीछे। ओह! कैसी अनिर्वचनीय शोभा है!

गोपालोचितनव्यवेषवलनै रक्षाविधानैर्द्विजा-
द्याशीर्भिः सुदिनादलभ्यरचनैर्व्रज्यार्हनीराजनैः।
संगानान्वितवाद्यनृत्यनिकरैः शश्वज्जयाद्यारवैः
श्रीमान् गोपमहेन्द्रसूनुरगमद्रामेण धेनूरनु॥

'ओह! बलिहारी है श्रीकृष्णचन्द्रके इस अप्रतिम सौन्दर्यकी।'

सखा साथ, बल भैया साथ। राजत रुचिर मंगली माथ।
बीच अछत सु कवन छबि गनौं। मोती जमे चंद मधि मनौं॥

'अरे! धेनुसमूहका शृङ्गार, चमक-दमक देखो—

गाइन की छबि नहिं कहि परै। रूप अनूप सब के हिय हरै॥
कंचन भूषन सब के गरै। घनन घनन घंटागन करै॥
उज्जल बरन सु को है हंस। कामधेनु सब जिन कौ अंस॥
दरपन सम तन अति दुति देत। जिन मधि हरि झाँईं झुकि लेत॥

'ओह! केवल दो अक्षिकोणोंमें, अत्यन्त लघु युग्म कर्णरन्ध्रोंमें एक साथ दिग्दर्शनमात्र विवरणको भी सम्पूर्णतया कैसे धारण कर सकोगे? इसलिये ऊपर दृष्टि डालो, अन्तरिक्षचारी अमरवृन्दके नेत्र-गोलकोंमें समाकर देखो, वे इस समय क्या देख रहे हैं। अहा, उनके दृगञ्चलमें अभी भी वह चित्र वर्तमान है—श्रीकृष्णचन्द्र उस अपार गोधनके समीप गये हैं। उन्होंने पाद्य आदि अर्पण करके प्रत्येककी ही अर्चना की है। तृण, यवस एवं मोदक आदिके मधुर ग्राससे सबको परितृप्त किया है। उनका स्तवन किया है, अपने कुञ्चित कुन्तलराशिमण्डित मस्तकसे उनके खुरोंका स्पर्श करके अभिवन्दना की है। उनका मानवर्द्धन किया है। अनन्तर ब्राह्मणों एवं पुरोहितकुलको अपरिमित दान-दक्षिणा समर्पण करके उन्हें अक्षय आनन्दमें निमग्न कर दिया है। पितृचरण एवं गुरुजनवर्गको अपने मञ्जु-अञ्जलिपुटोंके संकेतसे उन्होंने पुरोभागमें विराजित किया है और स्वयं उनकी ओर मुखारविन्द किये अपने अग्रज बलरामके सहित अवस्थित हो रहे हैं। व्रजराजने एक मणिमय लकुटी उनके हस्तकमलमें दे दी है—

'धेनूः संनिधाय ताश्च पाद्यादिभिरर्चिता विधाय

मधुरग्रासैस्तासां समग्राणां तृप्तिमाधाय तासु नतिप्रभृतिभिर्मानमुपधाय पुनश्च प्रदानदक्षिणाभिः पुरोहितादीनक्षीणानन्दान् संधाय श्रीमत्पितृचरणादीन् मञ्जुलाञ्जलिवलितमग्रतो निधाय स्थितवति साग्रजे तस्मिन्नवरजे श्रीमांस्तत्पिता व्रजराजस्तावन्मणिमयलकुटीं तत्करे घटयामास।'

'अहो! जननी यशोदाका प्रेमावेश तो देखो! वे पुकार रही हैं—बलराम! बेटा! तू नीलमणिके आगे हो जा। अरे सुबल! तू मेरे लालके पीछे हो जा। अरे ओ श्रीदाम! ओ सुदाम! पुत्रो! तुम दोनों इसके दोनों पार्श्वमें अवस्थित हो जाओ। अरे शिशुओ! सुनते हो, देखो, तुम अपने इस आत्मीय सुहृद् नीलसुन्दरको सब ओरसे आवृत करके चलो! इस भाँति स्नेहविह्वल मैया प्रत्येक शिशुका हाथ पकड़कर आदेश दे रही हैं, साथ ही प्रत्येकको यथायोग्य श्रीकृष्ण-सेवासम्बन्धी उन-उन कार्योंका निर्देश करके सौभाग्य दान कर रही हैं और यह सब करते समय भी उनकी आँखें निरन्तर झर-झर बरसती रहती हैं।'

राम! प्रागस्य पश्चाद्द्रव सुबल! युवां श्रीलदामन्! सुदामन्
दोःपार्श्वस्थौ भवेतं दिशि विदिशि परे सन्तु चात्मीयबन्धोः।
इत्थं हस्ते विधृत्य प्रतिशिशु दिशती तत्र कृष्णस्य माता
तत्तत्कर्माधिकारश्रियमपि ददती नेत्रनीरैरसिक्ता॥

बस, इससे अधिक वाणीकी सामर्थ्य नहीं जो और कह सके।

इस प्रकार पौगण्डवयस्क बलराम एवं नीलसुन्दर वृद्ध गोपोंका अनुमोदन पाकर आज वत्सपालसे गोपाल बन गये हैं और अब वे असंख्य सखाओंके साथ गोचारण करते हुए जा रहे हैं वृन्दाकाननकी ओर। काननके उस भूभाग—वनस्थलीके प्रत्येक अंशपर ही अबसे—किसी अन्य पशुपालका नहीं—एकच्छत्र इन अनोखे गोपालका ही साम्राज्य है। और इसीलिये आज वनभूमि उनके ध्वज, वज्र, अङ्कुश आदि चिह्न-समन्वित पदाङ्कोंसे पूर्वकी अपेक्षा भी अत्यधिक समलङ्कृत हो रही है—

ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे
बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदै-
र्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः॥

(श्रीमद्भा० १०।१५।१)

जब पौगण्ड अवस्था आई। पसु पालन संमत दोउ भाई॥
निज गोधन लै भ्रात समेता। सखन संग नृप कृपा-निकेता॥
बन-बन धेनु चराइ प्रबीने। बृंदाबन भू पावन कीने॥
निज पद अंकित करि जदुनंदा। महापुन्यतम छिति सुखकंदा॥

* * *

भगवत्प्रेमकी निवासभूता—वंशी

(श्रीसीतारामजी शर्मा)

भगवान् जब धरापर अवतीर्ण होते हैं, तब उनके दिव्य विग्रहमें जितनी भी वस्तुएँ होती हैं, सभी दिव्य एवं भगवत्-स्वरूप होती हैं। इसी कारण प्रभुकी वाणीमें इतनी सरसता होती है कि उसको सुनते मन नहीं अघाता। श्रीकृष्णके साथ नाद या शब्द अथवा ध्वनिका भी पूर्ण अवतरण हुआ था। श्यामकी वंशीका मधुर निनाद ही नादावतार था। इसीसे उस वंशी-ध्वनिने प्रेममय व्रजधाममें जड़को चेतन और चेतनको जड़ बना डाला।

महात्मा सूरदासजी बताते हैं कि जब श्यामसुन्दरने वंशी बजायी, तब स्थिर पदार्थ द्रवित होने लगे और चेतन स्थिर हो गये। पवनकी गति बंद हो गयी, यमुनाजलने प्रवाहित होना बंद कर दिया, पक्षी मोहित हो गये, हिरणोंके समूह दौड़ना छोड़ वंशी-ध्वनिका श्रवण करने लगे। गायें मुग्ध हो दाँतोंमें तृण पकड़े रह गयीं—

जब हरि मुरली अधर धरत।
थिर चर, चर थिर, पवन थकित रहै, जमुना जल न बहत॥
खग मोहैं, मृग जूथ भुलाहीं, निरखि मदन छबि छरत।
पसु मोहैं, सुरभी बिथकित, तृन दंतनि टेकि रहत॥

(श्रीकृष्ण-माधुरी १४५)

श्रीकृष्णने जब वृन्दावनमें वंशीकी तान छेड़ी, तब

उसकी मधुर ध्वनि सुनकर सिद्धोंकी समाधि भंग हो गयी। देवताओंके विमान स्तब्ध रह गये। देवांगनाएँ चित्रलिखित-सी हो गयीं। सभी उस ध्वनिको सुन आनन्दसे उमग उठे। वंशीकी तानसे निकले संगीत-स्वरको सुनकर सभीकी गति उलट गयी। पत्थरोंसे झरने फूट पड़े, गन्धर्व मोहित हो गये, पक्षी और पशुओंने फल तथा तृण-भक्षणकी याद बिसरा दी। बछड़ोंने मा (गायों)-का दूध पीना बंद कर दिया। वृक्ष एवं लताएँ चंचल हो उठीं, उनमें नव पल्लव फूट पड़े। वायु थिर हो गयी। विशाल नेत्रोंवाले श्यामसुन्दरने वंशी बजाकर सभीका मन मोहित कर लिया। मन मोहनेवाले मनमोहनने मोहक रूप धरकर कामदेवके अभिमानको गलित कर दिया। वे मन्मथमन्मथ कहलाने लगे।

श्रीकृष्णके ओठोंका स्पर्श करके वंशी अमृत-रसकी वर्षा करती हुई मधुर ध्वनिसे बज रही थी, उस समय मोहनका मुकुट झुक गया। भौंहें छविपूर्ण ढंगसे मटक रही थीं, गर्दन झुकाये वंशीपर ध्यान एकाग्र कर उसे बजाते हुए वे करोड़ों कामदेवोंकी शोभाको भी लजा रहे थे—

स्याम कर मुरली अतिहिं बिराजति।
परसति अधर सुधारस बरसति, मधुर-मधुर सुर बाजति॥
लटकत मुकुट, भौंह छबि मटकति, नैन सैन अति राजति।
ग्रीव नवाइ अटकि बंसी पै कोटि मदन छबि लाजति॥

(श्रीकृष्ण-माधुरी १४९)

व्रजकी वनिताएँ गिरधारीको देख रही हैं, उनके एक-एक अङ्गपर वे मुग्ध हैं और वंशीधरमें उनका चित्त उलझ गया। वे चित्रलिखित-सी खड़ी श्यामसुन्दरपर मोहित हो, लाज एवं कुलकी मर्यादा भी छोड़ चुकी हैं—

ब्रज ललना देखत गिरधर कौं।
इक इक अंग अंग पै रीझीं, उरझीं मुरलीधर कौं॥
मनौं चित्र की सी लिखि काढ़ीं, सुधि नाहीं मन घर कौं।
लोक लाज, कुल कानि भुलानी, लुबधीं स्यामसुँदर कौं॥

(श्रीकृष्ण-माधुरी १५१)

वंशी-ध्वनि सुनकर शङ्करजीका ध्यान टूट गया। ब्रह्माजी वेद-पाठ करना भूल गये। सरस्वतीजी सुध भूल उनका गुणगान करनेमें असमर्थ हो गयीं। इन्द्रकी सभा स्तब्ध रह गयी। रम्भाका गर्व नष्ट हो गया, वह नृत्य करना भूल गयी। मोहनकी मुरलीने तीनों लोकोंको मोह लिया है—

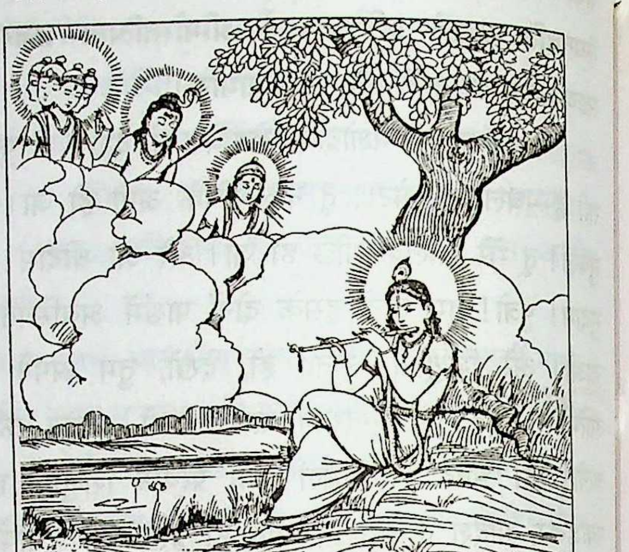

बाँसुरी बजाई आछे रंग सौं मुरारी।
सुनि कैं धुनि छूटि गई संकर की तारी॥
बेद पढ़न भूलि गए ब्रह्मा ब्रह्मचारी।
रसना गुन कहि न सकै, ऐसि सुधि बिसारी॥
इंद्र सभा चकित भई, लगी जब करारी।
रंभा कौ मान मिट्यौ, भूली नृतकारी॥

(श्रीकृष्ण-माधुरी १५३)

वंशीकी ध्वनिने वैकुण्ठमें पहुँच लक्ष्मीनारायणके हृदयमें भी रुचि उत्पन्न कर दी। नारायण बोले—लक्ष्मीजी! यह अद्भुत शब्द सुनो और वृन्दावनकी ओर निहारो। उन्होंने धन्य-धन्य कहकर व्रजवासियोंके जीवनको सराहा। उन्होंने कहा—'वृन्दावन धाम धन्य है, व्रजभूमि धन्य है—कदाचित् वहाँकी धूलि उड़कर हमें भी लग जाती तो हम भी धन्य हो जाते'—

मुरली धुनि बैकुंठ गई।
नारायन कमला सुनि दंपति अति रुचि हृदैं भई॥
सुनौ प्रिया! यह बानी अद्भुत, बृंदाबन हरि देखौ।
धन्य धन्य श्रीपति मुख कहि कहि, जीवन ब्रज कौ लेखौ॥
रास बिलास करत नँद नंदन, सो हम तैं अति दूरि।
धनि बन धाम, धन्य ब्रज धरनी, उड़ि लागै जौ धूरि॥

(श्रीकृष्ण-माधुरी १६७)

गोपीभावसे भावित होकर एक गोपीने कहा— सखी सुन! यद्यपि वंशी नन्दलालको अनेक प्रकारसे नचाती है तो भी वह गोपालको अतिप्रिय है। उन्हें वह एक पैरपर खड़ा रखती है और बहुत अधिकारपूर्वक उन सुकुमार-शरीरसे अपनी आज्ञाका पालन कराती है। इससे उनकी कमर टेढ़ी हो जाती है। इतने चतुर होते हुए भी गिरिधारी वंशीके वशमें होकर उसके आगे गर्दन झुकाकर खड़े हो जाते हैं। वह उनके अधररूपी पलंगपर लेटकर उनके पल्लव-सम कोमल हाथोंसे पैर दबवाती है। टेढ़ी भौंहें, नेत्र और फड़कते नासिका-पुटोंसे हमपर क्रोध भी कराती है। एक क्षणके लिये भी मोहनको हमपर प्रसन्न जानकर धड़परसे उनके मस्तकको मोड़ देती है। सूरदासने इस भावको कितने मार्मिकरूपसे अपने पदमें गाया है—

मुरली तऊ गुपालै भावति।
सुनि री सखी, जदपि नँदलालै नाना भाँति नचावति॥
राखति एक पाइ ठाढ़ौ करि, अति अधिकार जनावति।
कोमल तन आग्या करवावति, कटि टेढ़ी ह्वै आवति॥
अति आधीन सुजान कनौड़े गिरिधर नार नवावति।
आपुन पौढ़ि अधर सिज्जा पै कर पल्लव पलुटावति॥
भृकुटी कुटिल, नैन, नासा पुट हम पै कोप करावति।
सूर प्रसन्न जानि एकौ छिन धर तैं सीस डुलावति॥
(श्रीकृष्ण-माधुरी १५९)

किसी सखीने कहा—

मुरली हम कौं सौति भई।
नैकु न होति अधर तैं न्यारी, जैसैं तृषा डई॥
(श्रीकृष्ण-माधुरी १९७)

सखी! वंशी हमारे लिये सौत हो गयी, जैसे प्याससे पीड़ित हो उसी प्रकार मोहनके ओठोंसे यह पृथक् ही नहीं होती। अन्य गोपी उसे बाँसके साथ बाँसकी बनी बाँसुरीकी तुलना करके उसे वंशका नाम डुबानेवाली कहती रही। जब कोई गोपी उस वंशीको पूछती है कि तूने कौन-सा तप किया, जिससे मोहनकी इतनी प्रिय हुई? वह उत्तर देती है—मैंने बड़े-बड़े तप किये हैं। जीवनभर सिरपर जाड़ा और वर्षा सही, ग्रीष्मकी ज्वालामें झुलसी। काटी गयी, शरीरको सात सुरोंमें छिदवाया। हृदयको सूना कर दिया। कोई गाँठ अंदर नहीं रहने दी। इतना तप करनेपर ही श्यामने मुझे वरा है, अपनाया है—

पुस्तकालय

तप हम बहुत भाँति कर्‍यौ।
हेम बरषा सही सिर पै, घाम तन पै जर्‍यौ।
काटि बेधी सप्त सुर सौ हियो छूछो कर्‍यौ।
तुमहि बेगि बुलावे को लाल अधरन धर्‍यौ।
इतने तप मैं किये जबहि लाल गिरधर बर्‍यौ।
'सूर' श्री गोपाल सेवत सकल कारज सर्‍यौ॥

प्रभुके भक्तोंको वंशीकी इस साधनाका अनुसरण करना चाहिये। जबतक लौकिक सुख-दुःखमें समता और सहिष्णुता नहीं आती, जबतक ईश-प्राप्तिके लिये इच्छाओं और वासनाओंका त्याग नहीं किया जाता, जबतक हृदयको सभी प्रकारकी कामनाओंसे रहित बनाकर अपनेको पवित्र नहीं किया जाता, तबतक उस परम प्रभुके प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती।

श्यामकी मुरलीमें क्या बजता था? उससे संसारको क्या दिया जाता था? उत्तर यही है कि ह्लादिनी सुधाका अवर्णनीय आनन्द ही उस ध्वनिद्वारा सबको दिया जाता रहा। व्रजके सभी लोगोंको जो कामविजयी रहे, विशेषरूपसे गोप-गोपियोंको भगवान् श्रीकृष्णने तप और वैराग्ययुक्त कर अपनी ओर आकृष्ट किया। उनसे संसारका मोह छुड़ाकर उन्हें सहसा अपनी ओर आकर्षित किया। मन और इन्द्रियोंका दमन कर आत्माके पतन करनेवाले विषयोंसे उस समयके सभी जीवोंको मुक्त कर उनमें मधुर रसका आस्वादन करनेके लिये वंशीनादद्वारा उनके अंदर चिन्मय नादका संचार उन्होंने किया।

नाद अनादि है। जबसे सृष्टि है, तभीसे नाद है। नाद ही परम ज्योति है और नाद ही स्वयं परमेश्वर हरि है—

'नादरूपं परं ज्योतिर्नादरूपी परो हरिः।'

यह नादब्रह्म ही शब्दब्रह्मका बीज है। वेदोंका प्रादुर्भाव इसी नादद्वारा हुआ बताया गया है। नादका उद्भव परमेश्वरकी सच्चिदानन्दमयी भगवती-स्वरूपा शक्तिसे होता

है। इस नादसे ही बिन्दु उत्पन्न होता है। यह बिन्दु ही प्रणव—ओऽम् है और इसीको बीज कहते हैं। बिन्दुनादसे व्यक्त और अव्यक्त शब्द प्रकट हुए। व्यक्त शब्द ही श्रुति-सम्पन्न श्रेष्ठ शब्दब्रह्म बना। आदि नादरूप बीजसे पञ्चतत्त्वकी उत्पत्ति बतायी गयी। पञ्चभूतोंमें सबसे प्रथम महाभूत आकाश गुण शब्द बना। योगी लोग इसी नाद-साधनासे सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं, परम ब्रह्मको पाते हैं। अनाहत नाद योगियोंका परम ध्येय होता है। नादको शास्त्रोंमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधन माना गया है। नादसे सारे संसारकी रचना हुई। शब्द ही परमात्माकी रचनात्मक शक्ति है। शब्द ही परमात्मा है। कबीरने कहा—

कहै कबीर तें सबद को परखि ले, सबद ही आप करतार भाई।

ईश्वरकी तरह नाद या शब्द भी प्रत्येक स्थानपर मौजूद है।

सुरत नाम सुनै जब काना। हंसा पावै पद निरबाना॥

नाद या शब्द परमपिता परमात्माकी सर्वव्यापी शक्तिधारा है। इसका अनुभव अभ्यासी अपने अंदर एक सुरीली धुनके रूपमें करता है। संतोंने इसे शब्द, नाद, धुन, अनाहत नाद, अनहद नाद, वाणी, हुकुम आदि अनेक नामोंसे पुकारा है। सभी संतोंने शब्दके अभ्यासको सब करनीका सार कहा है—नाम या शब्द जिसे सन्तोंने अनहद शब्द भी कहा, अपने-आप ध्वनित हो रहा है। इसके उत्पन्न होनेका कोई स्थूल कारण नहीं। संसार, मन और मायाकी सीमाके परे चेतन-मण्डल धुरधामसे यह आ रहा बताया गया है। यह आत्माको परमात्मासे जोड़नेवाला तार है। इसके अभ्याससे मन पवित्र होता है। आत्मा सब आवरणोंसे मुक्त होकर शब्द-धुनमें लीन हो जाता है। शब्द उसे अपने मूल स्रोत परमात्मामें मिला देता है। नाम या शब्दका सम्बन्ध आत्मासे होता है। आत्माके सुननेकी शक्तिको संतोंने सुरत और देखनेकी शक्तिको निरत कहा है। मीराने कहा—

मैं गिरधर रँग राती, सैयाँ मैं॥
× × ×
मेरा पिया मेरे हीय बसत हैं ना कहुँ आती जाती॥
× × ×
सुरत निरतको दिवलो जोयो मनसाकी कर ली बाती॥

संत पलटूने भी गाया—

दीपक बारा नाम का महल भया उजियार॥
× × ×
सब्द किया परकास मानसर ऊपर छाजा॥
× × ×
पलटू अँधियारी मिटी बाती दीन्ही टार।

भगवान् श्रीकृष्णने इसी शब्दरूपी नादको , वंशी-ध्वनिद्वारा अपनेमें प्रीति रखनेवाले वृन्दावनके प्रत्येक आबाल वृद्ध गोप-गोपियोंमें, पशु-पक्षियोंमें, स्थावर-जंगममें, पत्र-पत्रमें, कण-कणमें और अणु-अणुमें भर दिया। श्रीकृष्णके साथ नाद या शब्द अथवा ध्वनिका पूर्ण अवतार उनके वेणुरूपमें हुआ था। उसी वेणु-निनाद अथवा वेणु विनिर्गत ब्रह्म-नादामृतका पान करके वृन्दावनके सभी जीव चर-अचर साक्षात् रसराजकी रसधारामें प्लावित हो गये। उस वंशी-ध्वनिने धरा लोकको ही नहीं, अपितु तीनों लोकोंको प्रभावित किया। ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी उससे अछूते नहीं रहे। तभी तो कृष्णकी वंशी भगवत्प्रेमकी निवासभूता कही गयी।

◆

'जिनको भगवान्से प्रेम हो गया है और जो अपने उस परम प्रेमीके चिन्तनमें ही सदा चित्तको लगाये रखते हैं, वे सारे त्रैलोक्यका वैभव मिलनेपर भी आधे क्षणके लिये भी चित्तको प्रियतमके चिन्तनसे नहीं हटाते।'

'जो भगवान्के प्रेमी हैं, उन्हें यदि भगवत्प्रेमके लिये नरक-यन्त्रणा भी भोगनी पड़े तो उसमें भी उन्हें भगवदिच्छा जानकर आनन्द ही होता है। उन्हें नरक-स्वर्ग या दुःख-सुखके साथ कोई सरोकार नहीं। वे तो जहाँ, जिस अवस्थामें अपने प्रियतम भगवान्की स्मृति रहती है, उसीमें परम सुखी रहते हैं।'

◆

विरहयोग

विरह एक अति विलक्षण योग है। एक विषकी घूँट है, नीमका चबाना है, कुनैनका फाँकना है। परंतु हाय रे! यह विष कितना मधुर है! कितना सरस है! कितना अमरत्व रखता है! जाकर पूछो उन गोपियोंसे, उद्धवने क्या कुछ कम प्रयत्नोंद्वारा ज्ञानामृतकी धाराओंसे उनके तप्त अन्तःकरणको शीतल करना चाहा। परंतु गोपियोंका विरहरूप विषम ज्वर तो उससे उलटा उग्र रूप ही धारण करता चला गया। विरहकी वायु बेकाबू होकर भड़क उठी। तीनों दोषोंका संनिपात हो गया। गोपियाँ आँय-बाँय बकने लगीं। परिणाम यह हुआ कि वह विरहका संक्रामकरोग उद्धवपर भी सवार हो गया। उद्धवको भी अपनी कुछ सुध-बुध न रही। उनके ज्ञान-मिक्सचरकी शीशीकी डॉट न जाने कब निकल गयी! उन विरह-सर्प-दंशित गोपियोंकी मस्तीकी झूमने उद्धव-जैसे ज्ञान-गारुड़ीको भी मतवाला बना दिया।

विरह एक जादू है, जो सिरपर सवार होकर बोलता है। विरह एक नशा है, जो नेत्रोंद्वारा दूसरेके हृदयमें प्रवेश कर जाता है। विरह परमात्माकी एक दैन है, जो किसी विशिष्ट कृपापात्रपर ही उतरती है। वह श्यामसुन्दर जिसपर विशेष प्रसन्न होता है, उसीको अपना विरह-पुरस्कार प्रदान करता है—

जिसपर तुम हो रीझते, क्या देते जदुबीर।
रोना-धोना सिसकना, आहोंकी जागीर॥

वास्तवमें विरह एक अलौकिक जागीर है, जो किसी भाग्यवान्‌के भाग्यमें बदी होती है। सच्चा विरही अपने प्रेमपात्रको पाकर उतना संतुष्ट नहीं होता, जितना उसके विरहमें व्याकुल होता हुआ रो-रोकर!

जो मज़ा इंतज़ारीमें देखा। न वह मज़ा वस्ले यारीमें देखा॥

उसे रोनेमें जो आनन्द आता है, वह न शुष्क ध्यानके लगानेमें आता है और न खाली मालाकी मणियाँ निकालनेमें! उसे जितना आनन्द वाष्पपूर्ण कण्ठसे गद्गद होकर चुप रह जानेमें मिलता है, उतना आनन्द किसी भी सुरीले कण्ठसे स्तोत्रके गानेमें नहीं मिलता। उसे जितना आनन्द परोक्षस्थ अपने प्रियतमको खरी-खोटी सुनानेमें मिलता है, उतना उसको अपनी हितकाम्य प्रार्थना करनेमें नहीं।

जिन्हें है इश्क सादिक़ वे कहाँ फ़रियाद करते हैं।
लबोंपर मुहर ख़ामोशी दिलोंमें याद करते हैं॥
मुहब्बतके जो क़ैदी हैं न छूटेंगे वे जीते जी।
तड़पते हैं, सिसकते हैं, उसीको याद करते हैं॥

विरह एक जंजीर है, जो अपने प्रियतमके कण्ठमें पड़कर अपने हृदयकी खूँटीसे बँधी रहती है। यह जंजीर ज्यों-ज्यों खिंचती है, त्यों-त्यों ही उस अलौकिक वेदनाकी हूलें उठा करती हैं। जब किसी पुण्यवान् व्यक्तिके महान् जप-तप और यम-नियमादि साधन फलीभूत होते हैं, तब भगवान् उनके फलस्वरूप साधकके हृदयमें अपने विरहकी आग भड़का देते हैं और आप दूर खड़े तमाशा देखा करते हैं। वह तो 'हाय, जला रे जला' पुकारता है और आप खड़े-खड़े हँसते हैं! उस विरहकी उग्र आगमें पाप-ताप तो कहाँ बचने थे, स्वयं जप-तप भी ईंधन बनकर जलने लगते हैं।

मीरा गिरधरलालका नाम लेनेके लिये गि······र··· ही कह पाती है कि पहले ही आँसू गिर पड़ते हैं। मुँहके आगे डॉट आ जाती है, मानो स्वयं गिरधरने मुँह बंद कर दिया हो। यह सब विरहदेवकी करतूत है। जब विरहका पारा रोम-रोममें पसर जाता है तो आँखें अपलक हो जाती हैं और जिह्वा काष्ठजिह्वा! जब यह कच्चा पारा हृदयकी नस-नसमें भर जाता है तो मनमृग भी चौकड़ी भरना भूल जाता है। यदि कहीं अधिक परिमाणमें चढ़ गया तब तो मीराकी भाँति प्राणोंका स्पन्दन ही बंद हो जाता है। तड़प-तड़पकर प्राण देना ही तो विरहीका ध्येय होता है। उसे इस तड़पमें ही मज़ा मिलता है। वह मौजी इस मज़ेकी आगमें जलकर ख़ाक हो जानेमें ही सब कुछ भर पाता है!

विरही तो विरहानलमें इतना जल जाता है कि उसे मौत भी नहीं ढूँढ़ पाती—

बिरह अगिन तन मैं तपै, अंग सबै अकुलाय।
घट सूना जिव पीव महँ, मौत ढूँढ़ फिरि जाय॥

(कबीर)

विरह किसी पोथीके पढ़नेसे नहीं प्राप्त हो सकता। विरहयोगका दाता कोई गुरु भी नहीं है। विरह कोई विश्वविद्यालयोंमें सीखने-सिखानेका विषय भी नहीं है। विरह तो अपना शिक्षक, अपना गुरु और अपना शास्त्र आप ही है। विरहका अर्थ है—अपने प्रियतमके प्रेमपर मर मिटनेकी लगन!

उरमें दाह, प्रवाह दृग, रह-रह निकलें आह।
मर मिटनेकी चाह हो, यही विरहकी राह॥

विरहयोग सुगम-से-सुगम और कठिन-से-कठिन है। सुगम तो यों है कि इसमें न तो किसी उपकरणविशेषकी आवश्यकता है और न कोई विधि-विधान ही है। एक लगन ही इसका प्रबल साधन है। कठिन यों है कि यह भगवत्कृपा बिना किसी साधनविशेषसे कदापि प्राप्त होनेयोग्य नहीं। जिस प्रकार मरनेकी क्रिया नकली नहीं हो सकती, उसी प्रकार विरह-दशा भी नकली नहीं हो सकती।

बड़े-बड़े ऋषि-मुनि उग्र तपस्याएँ कर-कर धूलिमें मिल-से गये। परंतु उन भोली-भाली गोपकन्याओंके चरणोंकी धूलिकी भी समता वे नहीं कर सके। ऋषियोंने अनेक नूतन योगोंका आविष्कार किया; परंतु गोपियोंकी विरहदशाको देखकर वे लज्जित हो गये। वास्तवमें विरहयोगके सामने कोई योग ठहर नहीं सकता। भगवान् एक फौलादका टुकड़ा है, जो साधारण अग्निसे नहीं गल सकता। उसको पानी बनानेके लिये कितने ही उपाय निकाले गये; परंतु उन सब उपायों (योगों)-में एक-से-एक बढ़कर कठिनता पेश आयी। एक विरहयोग ही सुगम-से-सुगम उपाय सूझा, जिसके तापसे भगवान् तत्क्षण पानी-पानी हो चलते हैं। अन्य जितने भी योग हैं, उन सबमें किसी-न-किसी अंशमें अहंकार लिपटा ही रहता है। एक विरह ही ऐसा योग है कि जिससे अहंकार कोसों दूर रहता है और जहाँ अहंकार नहीं है, वहीं वह प्यारा यार बसता है।

अनेक भक्त महात्माओंने विरहके नशेको भरपेट पिया है। वे उसकी मस्तीमें जो कुछ बोले हैं वह सुननेकी एक चीज है।

चरनदासजी

महात्मा चरनदासजीने विरहके जो फोटो लिये हैं, वे देखते ही बनते हैं—

मुख पियरो सूखैं अधर, आँखैं खरी उदास।
आह जो निकसै दुखभरी, गहिरे लेत उसास॥
वह बिरहिन बौरी भई, जानत ना कोइ भेद।
अगिन बरै हियरा जरै, भये कलेजै छेद॥
अपने बस वह ना रही, फँसी बिरहके जाल।
चरनदास रोवत रहै, सुमर-सुमर गुन ख्याल॥
वै नहिं बूझैं सार ही, बिरहिनि कौन हवाल।
जब सुधि आवै लालकी, चुभत कलेजै भाल॥

महात्मा चरनदासजीने विरहयोगपर जो अपना दो टूक फैसला दे दिया है, वह रिकार्डकी एक चीज है।

पी पी कहते दिन गया, रैन गई पिय ध्यान।
बिरहिनके सहजै सधै, भगति जोग तप ग्यान॥

दयाबाई

साध्वी श्रीदयाबाई रो-रोकर अपने मनमोहनसे कहती है—

बिरह ज्वाल उपजी हिये, रामसनेही आय।
मनमोहन! सोहन सरस, तुम देखणदा चाव॥
बिरह-बिथासूँ हूँ बिकल, दरसन कारण पीव।
'दया' दया की लहर कर, क्यों तलफावो जीव॥

महात्मा कबीरने विरहके बाण सहे हैं, वे इस अग्निसे खेले हैं, इस सर्पसे दंशित हुए हैं। इसका उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे वर्णन किया है। वास्तवमें विरह-वेदनासे निकली हुई जो कबीरजीकी आहें हैं, वे किस पाषाण-हृदयको नहीं पिघला देती हैं?

हौं हिरनी पिया पारधी, मारे शब्दके बान।
जाहि लगै सो जानही, और दरद नहिं जान॥
मैं प्यासी हौं पीवकी, रटत सदा पिव पीव।
पिया मिलै तो जीव है, सहजै त्यागों जीव॥
पिय कारन पियरी भई, लोग कहैं तन रोग।
छः छः लंघन मैं करे, पिया मिलनके जोग॥
बिरह बड़ो बैरी भयो, हिरदा धरै न धीर।
सुरत सनेही ना मिलै, तब लगि मिटे न पीर॥
(कबीर)

आह! विरहका काँसा हाथमें लेकर ये वैरागी नयन प्यारेकी छविकी भीख पाकर मस्त रहते हैं—

बिरह कमंडल कर लिये, बैरागी दोउ नैन।
माँगैं दास मधूकरी, छके रहैं दिन रैन॥
बिरह भुअंगम पैठि कै, किया कलेजै घाव।
बिरही अंग न मोड़िहै, ज्यों भावै त्यों खाव॥
कै बिरहिनको मीच दै, कै आपा दिखलाय।
आठ पहरका दाझना, मोपै सहा न जाय॥

विरहार्थियोंको श्रीकबीरजी उपदेश करते हैं—

बिरहा सेती मत अड़ै, रे मन! मोर सुजान।
हाड माँस सब खात है, जीवत करै मसान॥
'कबीर' हँसना दूर कर, रोनेसे कर चीत।
बिन रोये क्यों पाइये, प्रेमपियारा मीत॥
हँस हँस कंत न पाइयाँ, जिन पाया तिन रोय।
हाँसी खेलै पिव मिलै, कौन दुहागिन होय॥
रक्त माँस सब भख गया, नेक न कीन्हीं कान।
अब बिरहा कूकर भया, लागा हाड चबान॥

वाहवा! वाहवा!! क्या यह विरहका कूकर शरीरकी अस्थियोंको भी चबा डालता है? परंतु कबीरजी महाराज! यहाँ तो हमारे-जैसे विरही कहलानेवाले दिनमें तीन बार तुलते हैं कि कहीं वज़न कम न हो जाय!

विरहकी ज्वालामें जले बिना, उसमें ख़ाक हुए बिना इस हृदयकी फौलादका कुश्ता हो ही नहीं सकता—

बिरह अगिन तन जालिये, ग्यान अगिन दौं लाइ।
'दादू' नख सिख पर जलै, राम बुझावै आइ॥
बिरह जगावै दर्दको, दर्द जगावै जीव।
जीव जगावै सुरतिको, पंच पुकारैं पीव॥
जब बिरहा आया दई, कड़ुवे लागैं काम।
काया लागी काल ह्वै, मीठा लागा नाम॥
जो कबहूँ बिरहिन मरै, सुरत बिरहनी होय।
'दादू' पिव पिव जीवताँ, मुआँ भी हैरै सोय॥
(दादूदयालजी)

'सुन्दर' बिरहिनि अधजरी, दुःख कहै मुख रोइ।
जरि बरि कै भसमी भई, धुवाँ न निकसै कोइ॥
ज्यों ठग मूरी खाइ कै, मुँह नहिं बोलै बैन।
टुगर टुगर देख्यो करै, 'सुन्दर' बिरहा ऐन॥
(सुन्दरदासजी)

एक उर्दू कवि कहता है—

ज़बानी हाल यूँ कहना तू जाकर नामावर पहले।
हमारी आहें गिरियाँकी तु कर देना ख़बर पहले॥
तेरी उल्फतके कूचेमें नफ़ा पीछे ज़रर पहले।
अक़ल जाती है इस कूचेमें ए 'जामिन' गुज़र पहले॥

वास्तवमें विरहके कूचेमें अक़ल नहीं रहती। विरह-जैसी बीमारीको पाकर ही वास्तवमें नीरोग होना है। इस विरहने सब संत-भक्तोंको रुला-रुलाकर मारा है और जो इससे वञ्चित रह गया तो समझ लो अमृतके समुद्रमें मुँह बंद करके ही उसने गोते लगाये हैं, उसमें गुचकियाँ नहीं खायीं। उसे हिलकियाँ नहीं आयीं और उसने सुबकियोंका स्वाद नहीं चखा। दरिया साहब कहते हैं—

'दरिया' हरि किरपा करी, बिरहा दिया पठाय।
यह बिरहा मेरे साधको, सोता लिया जगाय॥
बिरहा ब्यापा देहमें, किया निरन्तर बास।
तालाबेली जीवमें, सिसके साँस उसास॥

अलबेला साधु बुल्लेशाह कहता है—

कद मिलसी मैं बिरहों सताई नूँ॥
आप न आवै, न लिखि भेजै, भट्ठि अजे ही लाई नूँ।
तौंजेहा कोइ होर नाँ जाणा, मैं तनि सूल सवाई नूँ॥
रात-दिनें आराम न मैंनूँ खावै बिरह कसाई नूँ।
'बुल्लेशाह' ध्रग जीवन मेरा जौंलग दरस दिखाई नूँ॥

'सौ सयानोंका एक मत' इस लोकोक्तिके अनुसार विरहका अनुभव, सब महात्माओंका समान उतरता है। वास्तविक वर्णन तो विरहीकी दशा ही कर सकती है।

* * *

लीला-दर्शन—

कन्हाईकी तन्मयता

यह कन्हाई अद्भुत है, जहाँ लगेगा, जिससे लगेगा, उसीमें तन्मय हो जायगा और उसे अपनेमें तन्मय कर लेगा।

श्रुति कहती है—**'रूपः रूपं प्रतिरूपो बभूव।'**

(बृहदा० २।५।१९)

वह परमात्मा ही जड़-चेतन, पानी-पत्थर, पेड़-पौधे, अग्नि-वायु-आकाश, पशु-पक्षी, कीड़े-पतंगे, सूर्य-चन्द्र-तारे सब बन गया है, किंतु मैं उस किसी अलक्ष्य, अगोचर, अचिन्त्य परमात्माकी बात नहीं करता हूँ। मैं करता हूँ इस अपने नटखट नन्हे नन्द-नन्दनकी बात। यह केवल स्वयं तन्मय नहीं हो जाता, दूसरेको भी अपनेमें तन्मय कर लेता है।

ऐसा नहीं है कि यह केवल श्रीकीर्तिकुमारी या दाऊ दादामें तन्मय—एकरूप हो जाता हो। यह क्या अपनी वंशी अधरोंपर रखता है तो स्वरसे कम एकाकार होता है? अथवा किसी गाय, बछड़े-बछड़ीको दुलराने-पुचकारने लगता है तो इसे अपनी कोई सुध-बुध रहती है। यह सखाओंसे ही नहीं, मयूर-मेढक-कपि, शशकसे भी खेलमें लगता है तो तन्मय। गाने, नाचने, कूदनेमें ही नहीं, चिढ़ानेमें भी लगता है तो तन्मय ही होकर। इसे आधे मनसे कोई काम जैसे करना ही नहीं आता है।

रही दूसरोंकी बात, सो मैया यशोदाका लाडला सामने हो तो क्या किसीको अपने शरीरका स्मरण रह सकता है? यह तो आते ही सबको अपनेमें खींचता है, अपनेसे एक करता है, अन्ततः कृष्ण है न!

अब आजकी ही बात है, कन्हाई यमुनातटपर अकेला बैठा गीली रेतसे कुछ बनानेमें लगा था। बार-बार नन्हे करोंसे रेत उठाता था और तनिक-तनिक बहुत सँभाल कर धरता था! पता नहीं कैसी रेत है कि टिकती ही नहीं। गिर-गिर पड़ती है रेत; किंतु कन्हाई कहीं ऐसे हारनेवाला है, वह लगा है अपने महानिर्माणमें। लगा है—तन्मय है।

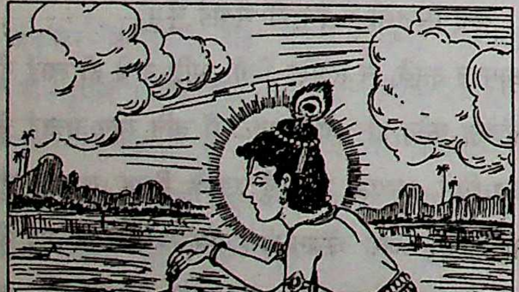

पता नहीं, सखा कब चले गये, दाऊ दादा भी चला गया। सबने पुकारा, बुलाया, कहा; किंतु जब यह सुनता ही नहीं तो सब खीझकर चले गये कि अकेला पड़ेगा तो स्वयं दौड़ा आयेगा; किंतु इसे तो यह भी पता नहीं कि आसपास कोई सखा नहीं है, यह अकेला है।

मैया पुकारती रही, पुकारती रही और अन्तमें समीप आ गयी यह देखने कि उसका लाल कर क्या रहा है। क्यों सुनता नहीं। अन्ततः अब आतपमें कुछ प्रखरता आने लगी है। इस धूपमें तो इस सुकुमारको नहीं रहने दिया जा सकता।

कटिमें केवल रत्नमेखला और कटिसूत्र है। कछनी तो इसे उत्पात लगती है। उसे आते ही खोलकर फेंक दिया था। कुछ पीछे रेतपर पड़ी है वह पीतकौशेय कछनी। बार-बार ढीली होनेवाली कछनीको यह कबतक सँभालता?

चरणोंमें मणि-नूपुर हैं। करोंमें कंकण हैं। भुजाओंमें अंगद हैं। कण्ठमें छोटे मुक्ताओंके मध्य व्याघ्रनख है। कौस्तुभ है गलेमें। भालपर बिखरी अलकोंके मध्य कज्जल-बिन्दु है। थोड़ी अलकोंको समेटकर उनमें मैयाने एक मयूरपिच्छ लगा दिया है। बड़े-बड़े लोचन अञ्जन-मण्डित हैं।

दोनों करोंमें गीली रेत लगी है। दोनों चरण आगे अर्धकुञ्चित किये बैठा है। पूरे पदोंपर, नितम्बपर गीली रेत चिपकी है। स्थान-स्थान और वक्षपर, कपोलपर भी रेतके कण लगे हैं।

पुलिनपर बहुत-से बालकोंके पदचिह्न हैं। गीली रेतपर—सूखी रेतमें भी शतशः बालकोंके खेलनेके चिह्न हैं। रेत कहीं एकत्र है, कहीं कर-पदोंसे फैलायी अथवा बिखेरी गयी है। गीली रेतपर कहीं छोटे गड्ढे हैं अथवा रेतकी ढेरियाँ हैं। मैया इनके मध्यसे ही चलती आयी है। उसने समीप आकर कन्धेपर कर रखकर पूछा है—'तू अकेला यहाँ क्या कर रहा है?'

'मैं?' चौंककर कन्हाईने मुख उठाया—नेत्र हर्षसे

चमक उठे—'अरे, यह तो मैया है!'

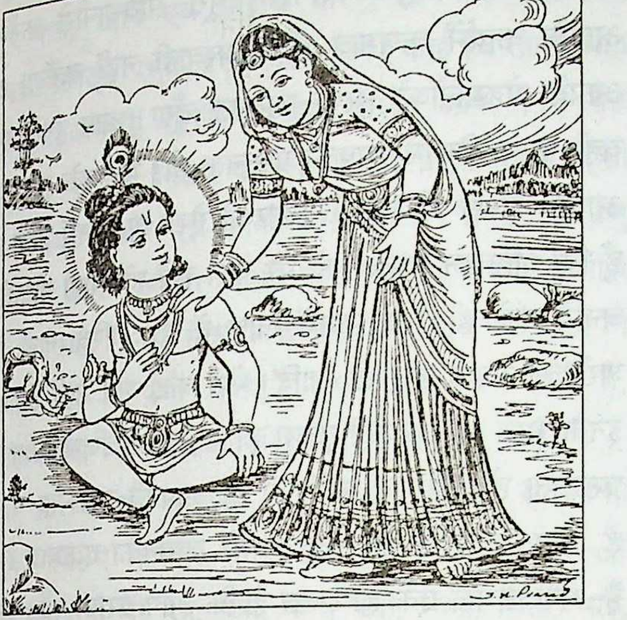

मुख धूपसे कुछ अरुणाभ हो उठा है। भालपर, कपोलोंपर नन्हें स्वेद-कण झलमला उठे हैं। मैयाको देखकर यह झटपट उठ खड़ा हुआ है।

'तू अकेला यहाँ कर क्या रहा है?' मैया किञ्चित् स्मितके साथ पूछती है।

'अकेला?' श्याम एक बार सिर घुमाकर आसपास देखता है। उसे अब पता लगता है कि वह अकेला है। ये सब सखा—दाऊ दादा भी उसे छोड़कर चले गये? अकेला वह कैसे रह सकता है; किंतु अब तो मैया समीप आ गयी है। दोनों भुजाएँ मैयाकी गोदमें जानेको उठा देता है।

'तू कर क्या रहा था?' मैया हँसती है। कन्हाईको अब कहाँ स्मरण है कि वह क्या बना रहा था। एक बार मुख झुकाकर गीली रेतकी उस नन्ही ढेरीको देखता है और फिर मैयाके मुखकी ओर देखता है दोनों भुजाएँ फैलाये।

श्यामके नेत्रोंमें उलाहना है, खीझ है—'तू कैसी मैया है कि स्वयं समझ नहीं लेती कि उसका लाल क्या बना रहा था। जब वह इतनी तन्मयतासे इस महानिर्माणमें लगा था तो दुर्ग-ग्राम, गाय-बैल, कपि-गज⋯ कुछ तो बना ही रहा था। अब उसे तो स्मरण नहीं। उसे तो मैयाकी गोदमें चढ़ना है और मैया हँसती है। हँसती है और पूछती है।'

यह भी कोई बात है कि मैया उसे गोदमें नहीं लेती और पूछती है। अब यह खीझनेवाला है। अपनी ही भावनामें तन्मय, अब तो मैयाकी गोद और सम्भवतः उसका अमृतपय ही इसे स्मरण है।

* * *

भगवान्‌को प्रेम कैसे दें ?

(डॉ० श्रीभीकमचन्दजी प्रजापति)

प्रेम देनेका आशय—प्रेम देनेका अर्थ है—अपने प्रभुको प्रसन्नता देनेकी भावना रखना। अपने शरीर, इन्द्रिय, वाणी, व्यवहार और बाह्य वस्तुओंके द्वारा उन्हें भरपूर प्रसन्नता देना। उनकी प्रसन्नताके लिये प्रसन्नतापूर्वक अपने बड़े-से-बड़े सुखको छोड़ देना, उनकी प्रसन्नताके लिये प्रसन्नतापूर्वक बड़े-से-बड़े दुःखको झेल लेना, उनको प्रसन्नता देनेके बदलेमें अपने सुखके लिये उनसे कुछ नहीं माँगना। यह सोचनातक नहीं कि मैं उन्हें प्रसन्नता दूँगा तो वे मुझे वापस प्रसन्नता देंगे, केवल यही सोचना और माँगना कि मुझे ऐसी शक्ति दीजिये कि मैं आपको प्रसन्नता देता रहूँ, देता रहूँ, देता रहूँ।

प्रेम कितनी देरतक दें—आपके पास प्रतिदिन चौबीस घंटेका समय रहता है, चौबीसों घंटे भगवान्‌को प्रेम दीजिये। आप अपना समय दो प्रकारसे व्यतीत करते हैं—

१-**निवृत्तिमें**—कुछ समय आप अकेले बैठकर अपनी साधना करते हैं, जैसे भगवान्‌की पूजा, स्तुति, उपासना, पाठ, जप, कीर्तन, भजन, स्वाध्याय तथा ध्यान आदि। इसे 'निवृत्तिकाल' कहते हैं। इसमें आप सामान्यतया आधा घंटेसे तीन-चार घंटेका समय व्यतीत करते हैं।

२-**प्रवृत्तिमें**—कुछ समयतक आप अपने शरीर, घर, परिवार, व्यापार, नौकरी, ऑफिस, समाज आदिके कार्य करते हैं। इसे 'प्रवृत्तिकाल' कहते हैं। इसमें आप

सामान्यतया चौदह-पंद्रह घंटे व्यतीत करते हैं। शेष समय नींदमें व्यतीत हो जाता है।

निवृत्तिकालमें प्रेम देनेकी विधि—इस विधिके मुख्य अङ्ग इस प्रकार हैं—

(क) भाव रखें—जब आप भगवान्‌की पूजा करें, उन्हें चन्दन लगायें, पुष्प चढ़ायें, जल चढ़ायें, फल चढ़ायें, प्रसाद अर्पित करें, आरती उतारें, चरणामृत लें, प्रणाम करें, तब अपने मनमें यह सोचें कि इन सबसे मेरे प्रभुको प्रसन्नता मिल रही है। ये सब कार्य भगवान्‌की प्रसन्नताके उद्देश्यसे ही करें।

(ख) निर्णय लीजिये—आप अपने लिये निम्नलिखित निर्णय लीजिये—

आपका है—सोचिये, आपके पास क्या है? इस विशाल संसारमें आपको जो 'मेरा' मालूम होता है, वही आपके पास है। अपना शरीर, निकट परिवारजन (पति, पत्नी, संतान, माता-पिता आदि) और निजी वस्तुएँ तथा सम्पत्ति आपको मेरी मालूम होती हैं। इसलिये निर्णय कीजिये कि हे प्रभो! मेरे पास जो कुछ है, वह आपका है, उसके मालिक आप हैं। हे प्रभो! शरीर, परिवारजन, सम्पत्ति आपकी है। इन तीनोंके मालिक आप हैं।

सँभालना—हे प्रभो! जबतक आपकी सौंपी हुई वस्तुएँ तथा सम्पत्ति मेरे पास हैं, तबतक मैं आपकी हर वस्तु एवं सम्पत्तिको सँभाल कर रखूँगा और हितकी भावनासे शरीर, परिवारजन एवं जनसमाजके लिये उनका उपयोग करूँगा।

प्रसन्नता देना—हे प्रभो! जबतक आपद्वारा सौंपा गया शरीर तथा परिवारजन मेरे पास हैं, तबतक इन्हें मैं आपका मेहमान मानकर इनका हित सोचूँगा, हित करूँगा, हितभावसे इनको सुख, सुविधा, सम्मान तथा प्रसन्नता दूँगा। इनकी प्रसन्नताके लिये प्रसन्नतापूर्वक अपना सुख छोड़ दूँगा। इनकी प्रसन्नताके लिये प्रसन्नतापूर्वक बड़े-से-बड़ा दुःख झेल लूँगा।

जो चाहे सो करें—हे प्रभो! मैं अपनी तरफसे आपकी वस्तुओंको पूरी सावधानीपूर्वक सँभाल लूँगा। आपने नौकरी, व्यापार, घर-परिवार आदिका जो श्रीदायित्व मुझे सौंपा है, उसे मैं अपना पूरा समय, शक्ति, बल, बुद्धि, योग्यता तथा अनुभव लगाकर पूरी सावधानीसे करूँगा। आपके कार्यमें कणमात्र भी लापरवाही नहीं करूँगा और आपके मेहमानोंको भरपूर प्रसन्नता दूँगा। आप इनके साथ वही करना जिसमें आपकी प्रसन्नता हो। मैं इनके सम्बन्धमें आपपर मनसे भी किसी प्रकारकी ऐसी शर्त नहीं लगा रहा हूँ कि आप इन वस्तुओंको मेरे पास रखें ही। मेरी नौकरीको बनाये रखें ही, व्यवसायमें लाभ दें ही, परिवारजनों और शरीरको बनाये ही रखें आदि। मेरी कोई शर्त नहीं है, आप इनके साथ जो आपकी इच्छा हो वही करें, जिसमें आपकी प्रसन्नता हो, वैसा ही करें। मैं तो आपकी प्रसन्नता चाहता हूँ, बस। आपकी प्रसन्नता ही मेरे जीवनका एकमात्र लक्ष्य है, मेरी केवल एक ही इच्छा है कि आप प्रसन्न रहें। इसके अलावा मेरी कोई इच्छा नहीं है।

आनन्दविभोर हो जाना—हे प्रभो! आप अपनेद्वारा सौंपे गये शरीर, परिवारजनों और सम्पत्तिको जहाँ-जैसे, जिस अवस्थामें रखेंगे, मैं उसमें पूर्ण संतुष्ट और अत्यन्त प्रसन्न रहूँगा। जब आप इनको वापस लेंगे, तब भी मैं आनन्दित रहूँगा। मैं यह सोचकर आनन्दविभोर रहूँगा कि मेरे प्रभुकी प्रसन्नता इसीमें है।

प्रवृत्तिकालमें प्रेम देनेकी विधि—इस विधिके मुख्य अङ्ग इस प्रकार हैं—

प्रवृत्तिकालमें प्रभुका स्वरूप—निवृत्तिकालमें आपके प्रभुका स्वरूप वह है, जिनकी आप पूजा करते हैं। आप उनका कोई भी स्वरूप और नाम रख सकते हैं। प्रवृत्तिकालमें आपके प्रभुका स्वरूप है—'जगत् या संसार'। ज्ञानकी दृष्टिसे संसार नाशवान् है। जो जन्मता है, बढ़ता है, बदलता है, बिगड़ता है और अन्तमें मर जाता है, उसे संसार कहते हैं। भगवत्प्रेमकी दृष्टिसे जगत् प्रभुका स्वरूप है। जो साधक जगत्‌को प्रभुका स्वरूप मानकर इसे प्रेम देता है, उसे जगत्‌के कण-कणमें परमात्माके दर्शन होते रहते हैं। श्रीरामचरितमानस (१। १८४। ५)-में भगवान् शङ्करकी वाणी है—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

अर्थात् मैं तो यह जानता हूँ कि भगवान् सब जगह

समानरूपसे व्यापक हैं, प्रेमसे वे प्रकट हो जाते हैं।

मानें, बोलें एवं निश्चय करें—साधनाके आरम्भमें आपको जगत्‌में प्रभुके दर्शन नहीं होंगे। कोई चिन्ताकी बात नहीं। भगवान्‌की वाणीमें विश्वास करके आप मनमें यह सोच लें, मान लें, निश्चय कर लें कि मेरे प्रभुने ही जगत्‌का वेष बनाया है और मुझे इनको प्रेम देना है। प्रेमसे मेरे प्रभु प्रकट हो जायँगे अर्थात् दिखने लग जायँगे। अपनी वाणीसे इस वाक्यको दिनमें सैकड़ों-हजारों बार बोलें और अपने कानोंसे सुनें—हे प्रभो! जगत्‌के रूपमें आप स्वयं पधारे हैं, इसलिये कि मैं प्रवृत्तिकालमें आपको प्रेम दे सकूँ।

आरम्भ करें—अपने परिवारके प्रत्येक सदस्यको प्रभुका स्वरूप मानकर मनमें इस प्रकार प्रणाम करें—हे प्रभो! आप ही मेरे पुत्र, पुत्री, पति, पत्नी, माता, पिता, भाई, बहन बनकर पधारे हैं, आपके इस रूपको मेरा प्रणाम। प्रातःकाल उठते ही आप वाणीसे बोलकर सबको बारी-बारीसे अपने कमरेमें बैठे-बैठे ही प्रणाम कर लें। शनैः-शनैः इस कार्यको बढ़ायें। हर घंटे-आधे घंटेके बाद प्रणाम करें।

जबतक परिवारजनोंमें प्रभुके दर्शन न हों, तबतक निम्नलिखित प्रकारसे प्रेमकी साधना करें—

दुःख न दें, क्षमा माँग लें—किसी भी प्रकारसे कभी भी उन्हें दुःख न दें, उनका अपमान न करें। उनका अपमान साक्षात् प्रभुका ही अपमान है, उन्हें दुःख देना साक्षात् अपने प्रभुको ही दुःख देना है। उनकी निन्दा, आलोचना, तिरस्कार न करें; उन्हें कटु वचन न बोलें, उनके साथ मिथ्या न बोलें, उनपर क्रोध न करें, उनकी निन्दा न सुनें, उनके दोष दीखनेपर क्रुद्ध न हों, करुणित हों, उनके साथ किसी भी प्रकारकी बुराई न करें, उनका बुरा न सोचें, अपने मनमें भी उनको बुरा न समझें। अपने व्यवहार अथवा अन्य किसी भी प्रकारसे उनका अपमान न करें।

यदि वे आपको दुःख दें, हानि पहुँचायें, अपमानित करें, आपकी निन्दा, निरादर करें तो भी आप उन्हें बदलेमें दुःख न दें। आपमें उन्हें दुःख न देनेकी शक्ति तब आयेगी, जब आप इस सत्यको स्वीकार करेंगे कि मुझे कोई दुःख नहीं दे सकता। मेरे दुःखका मूल कारण मेरे अपने ही कर्म हैं अथवा मेरी अपनी ही भूल है। वह भूल है—पराधीनता।

प्रतिज्ञा कीजिये कि प्रवृत्तिकालमें आप उन्हें दुःख नहीं देंगे। प्रतिज्ञा करनेके बाद भी यदि आप भूलसे उन्हें दुःख दे दें तो उनसे क्षमा माँग लें और पुनः दुःख न देनेकी प्रतिज्ञा कर लें।

उनके विशुद्ध हित, कल्याण और वास्तविक भलाईके लिये करुणापूर्ण हृदयसे आप उन्हें दुःख देनेका अभिनय कर सकते हैं। यहाँसे भगवत्प्रेमकी साधना आरम्भ होती है—

सुख-सुविधा, सम्मान एवं प्रसन्नता दें—कुल, परिवार, समाज और शास्त्रकी मर्यादाका पालन करते हुए आप अपनी शक्तिके अनुसार परिवारके सदस्योंको सुख-सुविधा, सम्मान एवं प्रसन्नता दीजिये, उनकी आवश्यकताएँ पूरी कीजिये, उनको सब प्रकारका सहयोग दीजिये, उनका हित कीजिये। विभिन्न प्रकारसे उनकी भरपूर सेवा कीजिये।

त्यागकी शक्ति—यदि आप प्रेमकी उपर्युक्त साधना करेंगे तो प्रभु आपको ऐसी विचित्र शक्ति देंगे कि परिवारजनोंकी प्रसन्नताके लिये आप प्रसन्नतापूर्वक अपने सुखका त्याग कर देंगे, प्रसन्नतापूर्वक बड़े-से-बड़ा दुःख झेल लेंगे। भगवत्कृपासे समाज और संसारको प्रेम देनेकी शक्ति आपमें स्वतः आ जायगी। स्मरण रहे, समाज और संसारके साथ किसी भी प्रकारकी बुराई न करना ही इनको प्रेम देना है।

कुछ न चाहें—प्रेम देनेके बदले आप कुछ न चाहें—न भोग (सांसारिक सुख)' न मोक्ष, न अभी, न कभी, न परिवारसे, न समाज एवं संसारसे और न संसारके मालिक भगवान्‌से। यदि आप अपने लिये कुछ भी चाहेंगे तो आपका प्रेम स्वार्थमें बदल जायगा।

शरीरको प्रेम दें—स्थूल शरीरको 'मैं' और 'मेरा' न मानें, इसे प्रभुका मेहमान मानकर श्रमी, संयमी, सदाचारी और स्वावलम्बी रखें, प्रभुके द्वारा वापस लेनेपर प्रसन्नतापूर्वक लौटा दें—यही 'स्थूल शरीर' को प्रेम देना है। ममता, कामना, राग-द्वेष, दीनता और अभिमानकी भावना न रखें—यही 'सूक्ष्म शरीर' को प्रेम देना है। बुराई न करें,

स्वत: होनेवाली भलाईके कर्ता न बनें, न उसका फल चाहें, 'मैंपन' को मिटा लें—यही 'कारण-शरीर' को प्रेम देना है।

सम्पत्तिको प्रेम दें—आपके पास जो भी चल-अचल सम्पत्ति है, उसे प्रभुकी दी हुई धरोहर मानकर हितभावनासे शरीर, परिवारजन, निकटवर्ती जनसमाजके लिये उसका उपयोग करें। जब भी प्रभु उन्हें वापस लें तो उन्हें उनकी धरोहर प्रसन्नतापूर्वक लौटा दें। यही सम्पत्तिको प्रेम देना है।

प्रवृत्तिको पूजा बनायें—प्रवृत्तिका अर्थ है—कार्य। आप दिनभर जो भी कार्य करें, जैसे—शौच, स्नान, व्यायाम, भोजन, विश्राम आदि शरीरके कार्य तथा घर, परिवार, ऑफिस, व्यापार, नौकरी आदि समाजके कार्य—इनको करते समय यह सदैव याद रखें कि ये मेरे प्यारे प्रभुके कार्य हैं, इनको पूरी सावधानीसे करना मेरे प्रभुकी पूजा है। इन कार्योंको करनेसे मेरे प्रभुको प्रसन्नता मिलेगी। इस भावनासे सब कार्योंको करना ही प्रभुको प्रेम देना है। इस बातका विशेष ध्यान रखें कि आप अपने सुखके उद्देश्यसे कोई भी कार्य न करें, परहितकी भावनासे प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही सब कार्य करें।

इस प्रेमसाधनासे प्राणिमात्रमें आपको अपने प्रभुके दर्शन होंगे, कण-कणमें प्रभुकी झाँकी दिखेगी। आपको अनुभव होगा कि कोई और नहीं है, कोई ग़ैर नहीं है, केवल प्रभु ही हैं, प्रभुके अलावा कुछ नहीं है, कुछ नहीं है, कुछ भी नहीं है। यही इस जीवनकी सर्वोच्च सफलता एवं पूर्णता है।

* * *

'रामहि केवल प्रेमु पिआरा'

(डॉ० श्रीजगेशनारायणजी शर्मा, मानसमराल)

पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने श्रीरामचरितमानसमें भगवान्‌की प्राप्तिके लिये एक अद्भुत विलक्षण सूत्र दिया है। गोस्वामीजीकी मान्यता है कि भगवान्‌की प्राप्तिके लिये प्रेमका होना अनिवार्य है। प्रेम ही सम्पूर्ण साधनाओंका सार तत्त्व है और यही भक्तिका प्राण भी है—

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥

(रा०च०मा० २।१३७।१)

जप, तप, शम, दम और नियम चाहे जितने भी साधन कर लिये जायँ, लेकिन यदि प्रभुपदमें प्रेम नहीं हो तो उपर्युक्त सारे प्रयास निष्फल चले जायँगे।

भगवान् आशुतोष भोले शंकरने भी दु:खी देवताओंको यही समझाया। ब्रह्माजीने बताया कि हमारी समस्याका एकमात्र समाधान प्रभु श्रीराम हैं, किंतु उनको कहाँ पाया जाय? किसीने कहा कि वैकुण्ठलोकमें जाना होगा, किसीने कहा कि क्षीरसिन्धुमें उनका निवास है। इस प्रकार देवसमूहमें अनिश्चितताकी स्थिति व्याप्त हो गयी। तब ब्रह्माजीने भगवान् शंकरसे कहा कि आप उचित समाधान दें। भगवान् शंकरने कहा कि कहीं आने-जानेकी ज़रूरत नहीं है। सभी प्रेमभावसे यहीं प्रार्थना करें तो प्रभु यहीं प्रकट हो जायँगे—

बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा॥
पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥
तेहिं समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ॥
हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(रा०च०मा० १।१८५।१-२, ४-५)

—और हुआ भी यही, सभी देवोंने जैसे ही प्रेमपरिपूर्ण होकर आर्तभावसे प्रार्थना की, वैसे ही वाणीरूपसे भगवान् प्रकट हो गये। आकाशवाणी हुई—

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा॥
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ दिनकर बंस उदारा॥

(रा०च०मा० १।१८७।१-२)

शंकरजीके कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रेममें ही परमात्माको प्रकट करनेकी असीम शक्ति है, निराकारको नराकार बनानेकी शक्ति है। प्रेमके अभावमें सारी योग्यताएँ धरी-की-धरी रह जाती हैं। भगवती श्रुति भी इसी सिद्धान्तका अनुमोदन करती हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूः स्वाम्॥

(कठोपनिषद् १।२।२३)

यहाँ आत्माका अर्थ परमात्मा लेना चाहिये अर्थात् परमात्मा न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न शास्त्र-श्रवणसे प्राप्त किया जा सकता है। बल्कि जिसको यह स्वीकार कर लेता है, उसीके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और ये स्वीकार उसीको करते हैं, जिसको उनको पानेके लिये उत्कट इच्छा होती है, जो उनके प्रेमके लिये छटपटाते रहते हैं। इसी निःस्वार्थ प्रेमपर वह परमात्मा रीझ जाता है। पुनः कृपापूर्वक वह अपने प्रेमी भक्तको अपना लेता है।

संत नानकदेवने भी यही कहा था कि जो उस परमात्मासे प्रेम करता है, वही उसे पा सकता है—

'जिन प्रेम कियो तिनहि हरि पायो।'

कबीर साहब तो ढाई अक्षरके प्रेमको ही ज्ञानकी पराकाष्ठा मानते हैं। उनकी दृष्टिमें प्रेमके बिना शास्त्रका कोरा ज्ञान बोझ ढोनेके समान है—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
ढाई अक्षर प्रेमका पढ़ै सो पंडित होइ॥

प्रेम-जैसा अमूल्य पदार्थ पाकर प्रभु भक्तोंके अधीन हो जाते हैं। शबरी, निषाद, गोप-गोपी, वनवासी, रीछ, बंदर आदिने प्रेमसे ही परमात्माको अपने अधीन कर लिया।

शबरीके प्रेमसे खिंचकर रामजी उसकी कुटियामें आये। अचानक श्रीराम-लक्ष्मणको अपनी कुटियामें देखकर शबरी घबरा गयी, अब कैसे इनकी पूजा करूँ, कैसे स्वागत करूँ? मैं तो कुछ भी नहीं जानती। अधम नारीको पूजा करनेका अधिकार भी तो नहीं है। तुलसीदासजीने उसकी भावदशाका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है—

पानि जोरि आगें भइ ठाढ़ी। प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी॥
केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़मति भारी॥

(रा०च०मा० ३।३५।१-२)

शबरीके घरमें पदार्थोंका नितान्त अभाव है, परंतु अपने रामका दर्शन करते ही वह प्रेमसे पुलकित हो जाती है। गोस्वामीजीके शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

'प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी॥'

(रा०च०मा० ३।३५।१)

प्रीतिकी पराकाष्ठा देखकर स्वयं भगवान् ही शबरीकी पूजा करने लगे। भगवान्ने भक्तिका रहस्य शबरीके समक्ष खोलकर रख दिया—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

(रा०च०मा०३।३५।४—६)

यहाँ भक्तिको प्रीतिका पर्याय मानना चाहिये। प्रेम जब परमात्माके प्रति समर्पित हो जाता है, तब उसीका नाम भक्ति हो जाता है। शबरी अत्यन्त श्रद्धासे प्रभुको कन्द-मूल-फल आदि समर्पित करती है। प्रभु बड़े प्रेमके साथ उन फलोंको ग्रहण करते हैं। केवल ग्रहण ही नहीं करते, बल्कि बारम्बार उन फलोंके स्वादका बखान भी करते हैं—

कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥

(रा०च०मा० ३।३४)

गोस्वामीजी कहते हैं कि उन कन्द-मूल-फलोंमें केवल रस ही नहीं भरा है, बल्कि वे 'सुरस' हैं। सांसारिक सभी रसोंसे जब उपरति (विरति) हो जाती है, तब जीवनमें 'सुरस' का आधान होता है। शबरीका जीवन तो केवल 'रामरस' से भरा है। यही कारण है कि शबरीद्वारा अर्पित कन्द-मूल-फल 'सुरस' हैं। उन्हें बारम्बार माँगकर खानेमें भी प्रभुको तृप्ति नहीं मिलती है—

'केहि रुचि केहि छुधा सानुज माँगि माँगि प्रभु खात॥'

(गीतावली ३।१७।६)

उन सुरस फलोंमें प्रभुको इतना अधिक आनन्द आया कि जहाँ-कहीं भी जाते हैं, वहीं शबरीके आतिथ्यकी बड़ाई करते हैं—

घर गुरुगृह प्रिय सदन सासुरे, भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरीके फलनिकी रुचि माधुरी न पाई॥

(विनय-पत्रिका १६४।४)

अपने घरमें, गुरुगृहमें, मित्रोंके घरमें तथा ससुरालमें जहाँ-कहीं भी भोजनका प्रसंग आया तो श्रीरामने शबरीके

कन्द-मूल तथा फलोंकी बड़ाई की। किसीने तुलसीदासजीसे पूछा कि भगवान्‌की ऐसी रीति क्यों है? भोजन तो किसी औरके घरमें करें और बड़ाई किसी औरकी करें तो गोस्वामीजीने बहुत सुन्दर उत्तर दिया—

जानत प्रीति-रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत, राम सनेह-सगाई॥
नेह निबाहि देह तजि दसरथ, कीरति अचल चलाई।
ऐसेहु पितु तें अधिक गीधपर ममता गुन गरुआई॥
तिय-बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रानप्रिया बिसराई।
रन पर्‍यो बंधु बिभीषन ही को, सोच हृदय अधिकाई॥

× × ×

तुलसी राम-सनेह-सील लखि, जो न भगति उर आई।
तौ तोहिं जनमि जाय जननी जड़ तनु-तरुनता गँवाई॥

(विनय-पत्रिका १६४)

वस्तुतः भगवान्‌को पुरुषार्थ, प्रभाव अथवा वैभवसे नहीं पाया जा सकता, बल्कि वे तो निःस्वार्थ प्रेमके बन्धनमें स्वयं बँध जाते हैं—

सबसों ऊँची प्रेम सगाई।
दुरजोधनके मेवा त्यागे, साग बिदुर घर खाई॥

× × ×

प्रेमके बस पारथ रथ हाँक्यो, भूलि गये ठकुराई॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि जिन परमात्माका वेदोंने 'नेति-नेति' कहकर वर्णन किया है तथा जो मुनियोंके लिये भी अगम हैं, उन्हें एकमात्र प्रेमके ही बलपर प्राप्त किया जा सकता है। वे प्रभु प्रेमसे भरे किरात बालकोंकी गँवारू बातोंको पितृवत्सल-भावसे यदि सुन रहे हैं तो इसका प्रमुख कारण है उनका निश्छल प्रेम—

बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन।
बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन॥

(रा०च०मा० २।१३६)

* * *

लीला-दर्शन—

कण्व ब्राह्मणपर अद्भुत कृपा

मधुवनके उस शान्त आश्रमकी ओर किसीका भी ध्यान आकर्षित न होता था। सघन वनश्रेणी उसे अपने अन्तर्हृदयमें छिपाये रखती थी। अभेद्य कण्टक-जाल क्षीण पगडंडियोंके द्वार रोके सर्वत्र फैले हुए थे, किसीको भी सहसा प्रवेश नहीं करने देते थे। इसीलिये आश्रमके एकमात्र अधिवासी कण्व नामक ब्राह्मणकी तपस्यामें कोई विघ्न उपस्थित न हुआ। पाँच वर्षोंसे ब्राह्मणकी नारायण-अर्चना निर्बाध चल रही थी।

कण्व जब शिशु थे, उस समय भी उनकी शैशव-क्रीडामें नारायण सने हुए थे। जब गृहस्थाभार सँभाला, तब वहाँ भी प्रत्येक चेष्टामें नारायण भरे थे और अब तो अवस्था ढल गयी थी। एकमात्र नारायणका ही अवलम्बन किये हुए ब्राह्मणदेव सर्वथा एकान्तसेवी होकर नारायणमें लीन-से हो रहे थे। समीपका अरण्य जो कुछ भी कन्द-मूल-फल उन्हें देता, उसीको लेकर वे नारायणको अर्पित कर देते, अर्पित प्रसाद पाकर स्वयं भी तृप्त हो जाते। आश्रमसे दस हाथपर ही झर-झर करता हुआ एक जलस्रोत बहता था, वह कभी सूखता न था। अतः जलके लिये भी उन्हें दूर जानेकी आवश्यकता न थी।

इससे पूर्व कण्व और तो कहीं नहीं, केवल व्रजेश्वर नन्दके घर जाया करते थे। व्रजराज एवं व्रजरानी—दोनोंकी ही कण्वके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। दोनों अपने हृदयकी बातें कण्वको बताया करते। कण्वकी गृहस्थीका निर्वाह भी व्रजेश्वरके द्वारा दिये हुए अयाचित दानपर ही अवलम्बित था, किंतु पाँच वर्ष हो गये, भजनानन्दमें जगत्‌को भूले हुए कण्व व्रजेश्वरके घर भी न गये। इसीलिये नन्दनन्दनके प्रकट होनेकी बात भी कण्वको ज्ञात नहीं। आज द्वादशीके दिन इष्टदेवपूजनके निमित्त पुष्पचयन एवं कन्द-मूल आहरण करते हुए वे अचानक कालिन्दी-तटपर—गोकुलके घाटपर आ निकले। वहाँ कुछ ग्वालिनें व्रजपुरकी ओरसे आयी हुई थीं, मधुपुरी जा रही थीं, परस्पर श्रीकृष्णचन्द्रकी मनोहर बाल्यचेष्टाओंकी चर्चा कर रही थीं। ईशप्रेरित उनके कुछ शब्द कण्वके कानोंमें प्रवेश कर गये। वर्षोंसे कण्वने ग्राम्यचर्चा सर्वथा नहीं सुनी थी। ग्रामवासियोंके दर्शनतक उन्होंने इने-गिने बार ही किये थे। पर आज ग्वालिनोंके कण्ठसे निकली हुई वह स्फुट ध्वनि कर्णरन्ध्रोंमें बरबस

चली गयी—नहीं-नहीं, प्राणोंके अन्तस्तलमें जाकर गूँजने लगी। कण्व अपनेको संवरण न कर सके। द्रुतगतिसे चलकर गोपसुन्दरियोंके समीप जा पहुँचे और जाकर पूछ ही बैठे—'माताओ! किसके पुत्रकी बात कर रही हो?' उत्तरमें अश्रुपूरित कण्ठसे गोपसुन्दरियोंने—

'पुत्र भयौ री नन्दमहर कें बड़ी बैस बड़ भाग।'

—यहाँसे आरम्भ कर आजतक श्रीकृष्णचन्द्रकी विविध सुमधुर लीलाओंको गा-गाकर सुना दिया। सुनते-सुनते ब्राह्मण समाधिस्थ-से हो गये। जब ग्वालिनें चली गयीं, तब कहीं उन्हें बाह्यज्ञान हुआ। पर वे अब और सब कुछ भूल-से गये थे। नन्दप्राङ्गणमें स्थित ग्वालिनी-वर्णित बालककी मूर्ति ही उनके नेत्रोंके सामने नाच रही थी। कन्द-मूलकी झोली तथा चयन किये हुए पुष्पसमूहको वहीं एक तमालके नीचे रखकर यन्त्रपरिचालित-से वे व्रजपुरकी ओर चल पड़े।

व्रजपुरकी सीमामें प्रवेश करते ही कण्वकी दृष्टि बदल गयी। वह आम्रपङ्क्ति, वह कदम्बश्रेणी—कण्वको प्रतीत हो रहा है, यह तो दिव्य कल्पतरुका वन है, इस पर्वतीय निर्झरसे तो अमृत झर रहा है, ये कूप-तड़ाग तो परम दिव्य सुधासे परिपूर्ण हैं; यह भूमि नहीं, यह तो चिन्तामणिका एक विशाल आस्तरण है। सामने गोपसुन्दरियाँ हैं—नहीं-नहीं, यह तो अगणित महालक्ष्मियोंका अवतरण हुआ है; यह देखो—इनकी वाणी संगीतमयी है, इनका गमन नृत्यमय है; आकाश चिन्मय, आकाशका सूर्य चिदानन्दमय, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध—ओह! व्रजपुरका तो सभी कुछ सच्चिदानन्दमय है! इस प्रकार कण्व एक अनिर्वचनीय अनुभूति करते हुए, विस्फारित नेत्रोंसे गगनचुम्बी मणिसद्मोंकी ओर निहारते हुए धीरे-धीरे चलकर राजसभाके सम्मुख खड़े हो गये। प्रहरीने कण्वको देखते ही पहचान लिया। वह चरणोंमें गिरकर बोला—'देव! व्रजेश्वर इस समय अन्तःपुरमें हैं, आप वहीं पधारें।' कण्व अन्तःपुरमें प्रवेश कर गये।

सहसा अपने चिरपरिचित प्रिय ब्राह्मणको आया देखकर नन्ददम्पतिके आनन्दकी सीमा न रही। दोनों उठ खड़े हुए, दौड़कर आँगनमें चले आये तथा कण्वके चरणोंमें लोट गये। फिर अञ्जलि बाँधे हुए आगे-आगे चलकर उन्हें भीतर ले गये। अतिशय उमङ्गसे व्रजेशने ब्राह्मणका चरणप्रक्षालन किया, रत्नसिंहासनपर उन्हें बैठाया, पश्चात् अर्घ्य एवं मधुपर्क आदि समर्पित किये। इधर व्रजरानी दौड़ी गयीं, समीपमें ही खेलते हुए श्रीकृष्णचन्द्रको खेल छुड़ाकर ले आयीं; अञ्चलसे अपने नीलमणिका मुख पोंछकर, मुखपर बिखरी हुई अलकावलीको शीघ्रतासे ठीककर ब्राह्मणके चरणोंमें नीलमणिको डाल दिया। नीलमणि भोली चितवनसे देख रहे हैं कि यह क्या हो रहा है तथा ब्राह्मणको ऐसा लग रहा है कि मैं मानो स्वप्न देख रहा हूँ, स्वप्नमें ही मेरे यावज्जीवन ध्यानकी मूर्ति आज मूर्त होकर मुझे प्रत्यक्ष इस रूपमें दीख रही है।

व्रजेश्वरने कण्वकी कुशल पूछी। स्वप्नसे जागे हुए-से कण्वने अपनी कुशल बताकर यह कहा—'नन्दराय! आज अचानक सुना कि तुम्हें पुत्र हुआ है; सुनते ही तुम्हारे पुत्रको देखने और आशीर्वाद देने आया हूँ।' ब्राह्मणकी यह बात सुनकर व्रजराजके, व्रजरानीके नेत्रोंमें आनन्दाश्रु छल-छल करने लगे। पर श्रीकृष्ण उसी समय खिलखिलाकर हँस पड़े। ठीक उसी क्षण कण्वको मानो यह प्रतीत हुआ, मेरे हृदयमें अवस्थित मेरी इष्टमूर्ति बोल रही है—'कण्व! देखते हो! अरे! देखो, श्रीहरिके अधरोंपर आयी हुई इस हँसीको प्रत्यक्ष देख लो, इसमें लीन हो जाओ; ध्यान करते-करते अपनेको विलीन कर देनेका सर्वोत्तम स्थल यही तो है; ओह! इन अरुण अधरोष्ठकी अरुणिम कान्तिसे कुन्दपङ्क्तिसदृश दन्तावलिपर भी कैसी लालिमा-सी छायी हुई है। बाहर हँसते हुए श्रीहरिको देख रहे हो तो? वे ही अन्तर्हृदयमें भी विराजित हैं! इन्हींमें तन्मय हो जाओ। सुनो, मनको प्रेमरसमें डुबा दो, डुबा-डुबाकर मसृण कर लो; फिर इस मसृण मनको इन हास्यकिरणोंके सामने कर दो। बस, किरणें इसे आत्मसात् कर लेंगी। पर यह तभी सम्भव है, जब इनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी देखनेकी वासना रहे ही नहीं'—

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ-
भासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति ।
ध्यायेत्स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो-
र्भक्त्याऽऽर्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत्॥

(श्रीमद्भा० ३।२८।३३)

कण्वका अङ्ग-प्रत्यङ्ग नाच उठा। रत्नसिंहासनसे वे हठात् उठ खड़े हुए। व्रजेश एवं व्रजरानी ब्राह्मणकी मुखमुद्रा देखकर किञ्चित् आश्चर्यमें पड़ गये हैं; किंतु श्रीकृष्णचन्द्रके मुखारविन्दपर पुनः एक मुसकान छा जाती है तथा तत्क्षण ही ब्राह्मणका भाव बदल जाता है। वे पूर्ववत् आसनपर बैठ जाते हैं। यह नन्दपुत्र अप्रतिम सुन्दर है, यह वृत्ति तो अभी भी स्पन्दित हो रही है; पर इसके अतिरिक्त कण्वकी अन्य अनुभूतियोंपर मानो किसीने यवनिका गिरा दी।

'तो व्रजेश! अब चलता हूँ, मध्याह्न उपस्थित है; ओह! आज बड़ा ही अतिकाल हो गया', पुनः आसनसे उठते-उठते कण्वने कहा। किंतु व्रजरानीने चरण पकड़ लिये और बोलीं—'देव! आज द्वादशीका पारण यहीं करनेकी कृपा करनी पड़ेगी। इतने दिनोंके पश्चात् तो आप पधारे हैं और इतना विलम्ब हो गया है; आज तो मैं पारण किये बिना कदापि जाने न दूँगी।' यह कहकर व्रजरानीने कण्वके चरणोंमें अपना सिर रख दिया। ब्राह्मणने स्वयं आहरण किये हुए वन्य कन्द-मूलोंसे उदरपूर्ति करनेका पाँच वर्षोंसे व्रत ले रखा था; पर विशुद्ध श्रद्धाकी ही जय हुई, उन्होंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

यशोदारानीने तुरंत अतिशय शीघ्रतासे पहले स्वयं स्नान किया, फिर नन्दोद्यानसे संलग्न एक गोशालामें गयीं। गोशालाके एक निर्वात अंशमें गोबरका चौका लगाया, चूल्हेका निर्माण किया, गोबरसे लीपकर चूल्हेका भी संस्कार किया; फिर स्वर्णकलशीमें यमुनाजल भर ले आयीं, नवीन पवित्र सुन्दर मृत्पात्रमें पद्मगन्धिनी गायका दूध दुहकर रख दिया; स्वर्णथालमें शालितण्डुल, रत्नजटित हेम-कटोरेमें शर्करा, मणिनिर्मित कटोरीमें कर्पूर भरकर ले आयीं; घृत, एला, लवङ्ग, केसर, शुष्क सुगन्धित काष्ठ, करछी आदि समस्त रन्धनसामग्री वहाँ एकत्र कर दीं। आधी घड़ी समाप्त होते-न-होते कण्वके सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गयीं और भोजन बनानेके लिये प्रार्थना करने लगीं।

कण्व व्रजरानीके पीछे-पीछे चलकर रन्धनशालामें चले आये। आ तो गये, पर मनकी विचित्र दशा है। जितनी देर व्रजेश्वरी रन्धनकी व्यवस्था कर रही थीं, उतनी देर वे निर्निमेष नयनोंसे श्रीकृष्णचन्द्रका सौन्दर्य, उनकी मनोहर बाल्यभङ्गिमा निहारते रहे हैं। उनकी आँखोंमें नन्दनन्दनका अतुल सौन्दर्य सब ओरसे भर गया है। कण्वको रन्धनशाला नन्दनन्दनमयी प्रतीत हो रही है। उन्हें चूल्हा नहीं दीखता, चूल्हेके स्थानमें अधरोंपर मन्द मुसकान लिये नन्दनन्दन खड़े दीखते हैं। स्वर्णकलशी, स्वर्णथाल, दुग्धपात्रमें नन्दनन्दन भरे प्रतीत हो रहे हैं; गोशालाकी भित्तिमें अगणित नन्दनन्दन नाचते दीख रहे हैं, द्वारको रुद्ध किये नन्दनन्दन खड़े हैं, गवाक्षरन्ध्र शतसहस्र नन्दनन्दनसे परिपूरित हैं। कण्वके हृदयमें एक रसमय झंझावात चल पड़ता है। वे सोचने लगते हैं—'मेरी ऐसी दशा क्यों हो गयी? मेरी आँखोंमें क्या हो गया?'

जबतक श्रीकृष्णजननी रन्धनशालामें उपस्थित थीं, तबतक रह-रहकर वे तो दीख जाती थीं। किंतु मर्यादाकी रक्षाके लिये—ऐसे पवित्र ब्राह्मणके भोजनपर मेरी छाया न पड़े, इस भावनासे जब वे कण्वको प्रणाम कर चली गयीं, तब केवल नन्दनन्दनकी छबि ही बच रही। यहाँतक कि जब कण्व अपनी तलहथी उठाकर आँखोंके सामने करते तो तलहथीमें भी नन्दनन्दनकी छबि अङ्कित दीखती; अपने उत्तरीय एवं कटिवस्त्रमें भी नन्दनन्दनका सजीव प्रतिचित्र झलमल-झलमल कर रहा था। इसीलिये कुछ देरतक तो कण्व किंकर्तव्यविमूढ़-से हुए शान्त जडवत् बैठे रहे। पर उसी समय मानो हृदयकी इष्टमूर्ति एक बार पुनः बोल उठी—'कण्व! भोग अर्पण नहीं करोगे? अतिकाल हो रहा है, मुझे क्षुधा लग रही है।' इस प्रकार किसी अचिन्त्य प्रेरणासे जगाये हुए-से कण्वका यह आवेश किंचित् शिथिल हुआ और वे रन्धनमें लगे। अग्नि प्रज्वलित कर, उन्होंने उक्त द्रव्योंसे सुन्दर स्वादु खीर प्रस्तुत करके खीरको स्वर्णथालमें ढाल दिया। तालवृन्तकी बयार देकर वे उसे शीतल करने लगे। भोजनके योग्य शीतल होते ही उसपर तुलसीमञ्जरी रख दी तथा विधिपूर्वक इष्टदेवको भोग समर्पित कर, सामने वस्त्रका आवरण डालकर अपने नेत्र मूँद लिये—

'घृत मिष्टान्न खीर मिस्रित करि परुसि कृष्ण-हित ध्यान लगायो।'

(सूरदास)

किंतु मानसिक भावना समाप्त होनेपर जब कण्वने आँखें खोलीं और देखा तो वे अवाक् रह गये—

नैन उघारि विप्र जो देखै, खात कन्हैया देखन पायौ ।।

(सूरदास)

कण्वने देखा—अपने इष्टदेवके लिये मैंने जिस आसनकी कल्पना की थी, उसपर नन्दनन्दन बैठे हैं। अपने वङ्किम नेत्रोंको इधर-उधर संचालित करते हुए हाथसे खीर उठा-उठाकर खा रहे हैं। इस झाँकीके सामने आनेपर कण्वके शरीरमें, शरीरके अणु-अणुमें एक बार तो अभिनव तडित्-लहरी-सी दौड़ गयी। उनके नेत्र छल-छल करने लगे। पर दूसरे ही क्षण श्रीकृष्णचन्द्र भीतिविजडित नयनोंसे ब्राह्मणकी ओर देखते हुए, खीर आरोगना छोड़कर, आसनपर उठ खड़े हुए। बस, उनका उठना था कि कण्वका भाव बदल गया—'आह! इस चञ्चल नन्दपुत्रने तो मेरे इष्टदेवका भोग भ्रष्ट कर दिया।' ब्राह्मणके हृदयमें एक व्यथा-सी हुई, नेत्रोंमें भी किंचित् रोषका आभास-सा छा गया। गम्भीर स्वरमें उन्होंने पुकारा—'व्रजेश्वरि! इधर आओ।'

इधर, ब्राह्मणकी व्यवस्था करके व्रजेश्वरी श्रीकृष्णचन्द्रके पास चली गयी थीं। श्रीकृष्णचन्द्र तो खेलमें उन्मत्त हो रहे थे। अतः व्रजरानी—जैसा दान व्रजेशने पुत्रके जन्मोत्सवपर प्रति ब्राह्मणको दिया था, उससे अधिक कण्वको देनेका आदेश देने, उन-उन वस्तुओंको स्वयं अपने हाथों सहेजने—चली गयीं। यह कार्य करके वे पुनः श्रीकृष्णके समीप आयीं! पर श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ न मिले। अतिशय शीघ्रतासे पूछकर गोशालाकी ओर अग्रसर हुईं; क्योंकि उसी ओर अभी-अभी कुछ क्षण पहले दासियोंने श्रीकृष्णचन्द्रको जाते देखा था। इधर वे द्वारपर आयीं और उधर कण्वने पुकारा। कण्वके रूक्ष स्वरको सुनते ही नन्दरानीका हृदय धक्-धक् करने लगा। दौड़कर भीतर प्रवेश कर गयीं। उनके आते ही कण्व ग्लानिपूर्ण स्वरमें बोल उठे—'यशोदारानी! तुम्हारे पुत्रने क्या किया है, देख लो।'

'नीलमणि! नीलमणि! मेरे लाल! तुमने यह क्या अनर्थ कर डाला'—घटनासे अत्यन्त व्यथित व्रजरानी इससे अधिक बोल न सकीं। पर श्रीकृष्णचन्द्र ऐसी सरल दृष्टिसे जननीकी ओर, ब्राह्मणकी ओर देख रहे हैं जैसे कुछ हुआ ही न हो। उस भोली चितवनसे कण्वका रोषाभास तो उड़ ही गया, बल्कि वे तो भय करने लगे कि कहीं इस सरलमति सुकुमार ब्रालकको इस छोटी-सी बातके लिये व्रजरानी कुछ दण्ड न दे दें। इसलिये ही वे नीरवता भङ्ग करते हुए बोले—'नन्दगेहिनी! बालकका कोई दोष नहीं, अन्नके कण-कणपर ईशविधानकी छाप रहती है; तुम्हारा पुत्र तो निमित्तमात्र है। नहीं-नहीं, इसने तो मेरे व्रतकी रक्षा की है; आसक्तिवश मैं नीचे गिर रहा था, इसने मुझे गिरनेसे बचा लिया; ग्राम्यजीवनका परित्याग कर चुका था, कन्दमूलाहारी होनेका व्रती था। पर तुम्हारे विशुद्ध आग्रहवश पुनः पीछे लौट रहा था, प्रभुने इस बालकके द्वारा मेरी रक्षा कर दी; मैं आशीर्वाद देता हूँ, यह बालक चिरंजीवी हो, तुम्हारी सुख-समृद्धि निरन्तर बढ़े……पर, अब मैं चलता हूँ, बहुत ही अतिकाल हो गया है।' कण्व चलनेके लिये प्रस्तुत हो गये।

व्रजेश्वरी रो पड़ीं। कण्वके समक्ष घुटने टेककर, हाथ जोड़कर रोती हुई बोलीं—'देव! इस बालकने जो अपराध किया है, उसका यत्किंचित् मार्जन तभी सम्भव है, जब आप पुनः खीर बनाकर मेरे घर पारण कर लें। अन्यथा मुझ अभागिनीके भाग्यमें न जाने क्या लिखा है…..।' व्रजरानीके इस निष्कपट क्रन्दनके आगे परम भागवत कण्व पुनः झुक गये। पुनः रन्धनव्यवस्था कर देनेकी अनुमति कण्वसे नन्दरानीने ले ही ली।

व्रजेश्वरीने पुनः स्नान किया। पार्श्ववर्ती एक अन्य गोशालाका सम्मार्जन कर पुनः नवीन स्वर्णकलशीमें वे जल भर लायीं। फिरसे शालितण्डुल, स्वर्णथाल, दुग्ध, शर्करा, केसर, घृत आदि समस्त सामग्री एकत्रित कर ब्राह्मणको वहाँ ले गयीं। कण्व भी खीर प्रस्तुत करनेकी योजनामें लगे। पर उन्हें नन्दनन्दनका खीरसे सना मुखारविन्द भूल नहीं रहा था। कितनी बार कण्वने चेष्टा की कि इस ओरसे वृत्ति समेटकर इष्टचिन्तनमें तन्मय कर दें, पर मन इस झाँकीसे बँधा प्रतीत होता था। इसीलिये रन्धनकार्यमें भी व्यतिक्रम हो रहा था। तण्डुल-निक्षेपसे पूर्व उन्होंने दुग्धमें शर्करा डाल दी, फिर उसमें घृतपात्र उड़ेल दिया। अब स्मरण आया कि 'अरे! तण्डुल छोड़ना तो भूल ही गया, खीर बनेगी कैसे। यह सोचकर आवश्यकतासे

अधिक तण्डुल डाल दिये। फिर भी जैसे-तैसे खीर बन ही गयी एवं जगन्नियन्ताकी इच्छासे परम सुन्दर—सुस्वादु ही बनी। खीरकी सुवाससे गोशाला सुवासित होने लगी। कण्वने पहलेकी ही भाँति विधिपूर्वक भोग धराया और भोग धरकर वे इष्टचिन्तनमें निमग्न हो गये।'

इधर नीलमणिसे अतिशय शङ्कित होकर जननी यशोदा उन्हें गोशालासे बाहर ले आयी थीं, तोरणद्वारके समीप अलिन्दपर आम्रकी सुशीतल छायामें नीलमणिको गोदमें लिये बैठी थीं। निश्चय कर चुकी थीं कि जबतक ब्राह्मणका पारण न हो लेगा, तबतक इसे छोड़कर मैं कहीं जाऊँगी ही नहीं। श्रीकृष्णचन्द्र भी जननीकी गोदमें शान्त होकर बैठे थे। सामने कुछ मयूर नृत्य कर रहे थे, उन्हींकी ओर वे देख रहे थे। एक-दो बार मयूरोंको पकड़नेके उद्देश्यसे उठ खड़े हुए, पर जननीने जाने न दिया। किंतु कुछ ही देर बाद शीतल वायुके स्पर्शसे वे अलसाङ्ग होने लगे। देखते-ही-देखते जननीकी गोदमें निद्रित हो गये। नीलमणिको निद्रित देखकर जननी निश्चिन्त हो गयीं। मैयाने भी रात एकादशीका जागरण किया था तथा अलिन्दपर झुर-झुर करता हुआ सुखद शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन प्रवाहित हो रहा था। अतः जननीके नेत्र भी निमीलित होने लगे। जिस क्षण कण्व गोशालामें भोग समर्पित कर इष्टचिन्तनमें निमग्न हुए, ठीक उसी क्षण जननी श्रीकृष्णचन्द्रको वक्षःस्थलपर धारण किये तन्द्रामें—नहीं, नहीं हृद्देशमें नित्य विराजित अपने नीलमणिमें—लीन हो गयीं।

विशेष नहीं, कुछ ही क्षणोंका अन्तर रहा। पर पहले जागे श्रीकृष्णचन्द्र तथा जबतक जननीकी तन्द्रा टूटी, तबतक श्रीकृष्णचन्द्र मैयाकी दृष्टिसे उस पार गोशालामें—कण्वकी रन्धनशालामें पुनः प्रविष्ट हो चुके थे। अस्त-व्यस्त हुई जननी दौड़ी अवश्य, पर अब तो विलम्ब हो चुका था।

कण्वने अष्टोत्तरशत जप-संख्या पूर्ण होनेपर, इष्टदेवको मानसिक आचमनीय अर्पण करके आँखें खोलीं। खोलते ही पूर्वानुभूत दृश्य ही सामने दीख पड़ा, अवश्य ही इस बार शतगुणित माधुर्य लिये। ओह! अरुणाभ नयनाम्बुज हैं, पद्मरागनिबद्ध-व्याघ्रनखभूषित ग्रीवा है, मणिकिङ्किणीविभूषित कटिदेश है, नूपुर-शोभित चरणारविन्द हैं, प्रफुल्ल-नीलोत्पलविनिन्दित अङ्गकान्तिसे रन्धनशालाको उद्भासित करते हुए नन्दनन्दन पहलेकी भाँति ही आसनपर विराजित होकर खीर खा रहे हैं। कण्व मौन रहकर इस शोभाराशिकी ओर एकटक देखते ही रह गये।

यशोदारानीने भी देखा। पर वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयीं। एक बार ब्राह्मण-कोपानलसे रक्षा हो गयी, बार-बार थोड़े ही होगी—जननीके नेत्रोंके सामने अन्धकार-सा छा गया। इतनेमें व्रजेश्वर वहाँ आ पहुँचे। पुत्रके प्रथम अपराधकी बात वे नन्दरानीसे सुन ही चुके थे। इसीलिये भर्त्सना करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर बढ़े। पर आगे बढ़कर कण्वने उन्हें रोक दिया, साथ ही अत्यन्त मृदुल स्वरमें वे कहने लगे—'व्रजेश! इस बालकको कुछ भी कहनेसे मुझे मार्मिक पीड़ा होगी। सुनो! विश्वनियन्ताकी रुचि पूर्ण होने दो; वे नहीं चाहते कि तुम्हारे घर मेरा पारण हो। अब मुझे जाने दो, क्योंकि दिनका चतुर्थ प्रहर आरम्भ हो गया है; दिवाकर अस्ताचलगामी हों, इससे पूर्व आश्रममें मुझे पहुँच जाना चहिये, अन्यथा आज अरण्यमें पथ पा लेना असम्भव हो जायगा। तुम जानते ही हो, मैं कभी असत्यभाषण नहीं करता; मैं किंचित् भी रुष्ट नहीं हूँ। मेरे कारण तुम्हारे पुत्रका कोई भी अमङ्गल न होगा, तुम विश्वास करो।'

कहाँ तो मेरे नीलमणिका इतना गुरु अपराध और कहाँ ब्राह्मणदेवकी इतनी उदारवृत्ति—व्रजमहिषीके हृदयमें एक साथ हर्ष एवं विषादकी दो धाराएँ फूट निकलीं, वे सिसक-सिसककर रोने लगीं। उन्हें सिसकते देखकर कण्वने फिर कहा—'नन्दगेहिनी! मैं अन्तर्हृदयसे आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारे पुत्रका मङ्गल-ही-मङ्गल होगा और यदि तुम्हारे मनमें कहीं यह ग्लानि हो रही है कि ब्राह्मण बिना पारण किये जा रहे हैं, तो लाओ, दहीके किंचित् कण मेरे हाथपर रख दो; आचमन करके, प्रभुको निवेदन कर उसीसे मैं व्रतका पारण किये लेता हूँ।'

ब्राह्मणकी बात सुनकर नन्दरानीके मनमें साहस आ गया। वे बोलीं—'देव! किस मुँहसे निवेदन करूँ, पर आप मेरे स्वभावसे परिचित हैं। मैं जीवनभर इस दुःखको भूल न सकूँगी कि आप बिना भोजन किये मेरे घरसे चले गये।' यह कहते-कहते व्रजरानीके नेत्रोंसे अनर्गल अश्रुप्रवाह बह चलता है। इसी समय कण्वकी दृष्टि मुखमें खीर लपेटे

नन्दनन्दनकी ओर चली गयी। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ—बालक जननीको रोते देखकर भयभीत हो रहा है। बस, कण्व तो व्याकुल हो उठे। आकुलकण्ठसे बोले—'नन्दरानी! शान्त होओ; देखो, तुम्हें रोते देखकर तुम्हारा पुत्र भयभीत हो रहा है। बोलो, क्या चाहती हो? संकोचरहित होकर बताओ, मैं तुम्हें दु:खी करके यहाँसे जाना नहीं चाहता।'

व्रजरानीको आशा हो गयी कि अब ब्राह्मण मेरी प्रार्थना स्वीकार कर लेंगे। वे बोलीं—'देव! बस, एक बार आप और रन्धनका परिश्रम स्वीकार करें। मैं तुरंत सभी वस्तुएँ लाती हूँ, दूसरे स्थानमें सारी व्यवस्था किये देती हूँ तथा फिर मैं इस चञ्चल बालकको लेकर अन्य व्रजगोपके घर चली जाऊँगी। इतना ही नहीं, गोशालामें जितने द्वार हैं, सबपर एक-एक गोप बैठा देती हूँ। एकपर स्वयं व्रजेश्वर रहेंगे। जबतक आपका पारण नहीं हो जायगा तबतक प्रत्येक द्वारपर प्रहरी रहेगा। देखती हूँ, यह कैसे आता है।' कण्वने एक बार नन्दनन्दनकी ओर देखा तथा फिर व्रजरानीको स्वीकृति दे दी।

तीसरी गोशालामें पुन: ज्यों-के-त्यों वे सारे उपकरण एकत्र हुए। साथ ही मुख्य द्वारपर स्वयं व्रजेश द्वारी बने। अन्य द्वारोंपर तथा प्रत्येक गवाक्षके समीप एक-एक गोप सजग होकर बैठे कि कहींसे भी श्रीकृष्णचन्द्र प्रवेश न कर सकें। यह प्रबन्ध करके व्रजरानी श्रीकृष्णचन्द्रको लेकर उपनन्दके घर चली गयीं। उपनन्दके घरके द्वार भी बंद कर लिये गये। कण्वने भी पायसका निर्माण किया। अर्पणकी विधि भी सम्पन्न हुई। पर ज्यों ही कण्वने भोजनकी भावना करना आरम्भ किया कि बस, श्रीकृष्णचन्द्र जननीसे हाथ छुड़ाकर भाग खड़े हुए। जननी सारी शक्ति बटोरकर पीछे दौड़ी, पर न जाने कैसे उपनन्द-गृहका रुद्ध द्वार खुल गया और श्रीकृष्णचन्द्र बाहर निकल आये। जननीने कातर होकर पुकारा—'नारायण! नारायण!! रक्षा करो!!! प्रभो! प्रभो!! व्रजेश्वर या कोई भी गोप मेरे नीलमणिको गोशालाके द्वारपर ही रोक ले!!!' यह पुकार लगाती हुई जब वे गोशालाके द्वारपर पहुँचीं, तब देखा—व्रजेश्वरने नीलमणिको पकड़ लिया है। फिर तो व्रजरानीके आनन्दकी सीमा नहीं रही। समीप जाकर उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रके दोनों हाथ पकड़ लिये और किंचित् रोषमें भरकर बोलीं—'नीलमणि! अरे, तू इतना दुष्ट कैसे हो गया; प्रात:कालसे एक ब्राह्मणको कष्ट दे रहा है—

'वह अपने ठाकुरहि जिंवावै, तू ऐसैं उठि धावै।'

(सूरदास)

किंतु नन्दनन्दन भी इस बार—भयभीत होना तो दूर—रोषमें भरकर अविलम्ब बोल उठे—

जननी! दोष देति कत मोकौं, बहु बिधान करि ध्यावै।
नैन मूँदि कर जोरि नाम लै बारहिं बार बुलावै॥

(सूरदास)

व्रजरानी समझ न सकीं कि नीलमणि यह क्या कह रहा है। उनकी वृत्ति इस समय केवलमात्र इतना ही ग्रहण कर रही है कि व्रजेश्वरने नीलमणिको पकड़ लिया, अन्यथा यह रन्धनशालामें प्रवेश कर गया होता। व्रजरानी यह नहीं जानतीं कि व्रजेशके द्वारा रुद्ध हो जानेपर भी उनका नीलमणि तो रन्धनशालामें कभीका पहुँच चुका है, कण्वका भोग स्वीकार कर अपने योगीन्द्रमुनीन्द्रदुर्लभ दर्शनसे उन्हें कृतार्थ कर रहा है। प्रेमरसभावितमति यशोदारानी यह जान भी नहीं सकतीं; क्योंकि उन्हें पता नहीं कि जो अजन्मा है, पुरुषोत्तम है, जो प्रत्येक कल्पमें स्वयं अपने-आपमें अपने-आपका ही सृजन करता है, पालन करता है और फिर संहार कर लेता है, जो मायालेशशून्य-विशुद्ध है, केवल ज्ञानस्वरूप है, अन्तरात्माके रूपमें एकरस अवस्थित है, जो त्रिकाल सत्य है, पूर्ण है, अनादि है, अनन्त है, निर्गुण है, नित्य है, अद्वय है—वह मेरा नीलमणि ही तो है। व्रजेन्द्रगेहिनी नहीं जानतीं कि मेरा नीलमणि ही विराट् पुरुष है, काल है, स्वभाव है, मन है, इन्द्रियाँ है, कार्य है, कारण है, पञ्चभूत है, अहंकार है, त्रिगुण है, ब्रह्माण्डशरीर है, ब्रह्माण्डशरीराभिमानी है, अनन्त स्थावर-जङ्गम जीव है, ब्रह्मा है, शंकर है, विष्णु है, दक्ष है, नारद है। व्रजरानी कल्पना ही नहीं कर सकतीं कि मेरा नन्हा-सा नीलमणि स्वर्लोकपाल है, खगलोकपाल है, नृलोकपाल है, अतल-वितल-सुतलपाल है, गन्धर्व-विद्याधर-चारण-अधिनायक है, यक्ष-राक्षस-सर्प-नागपति है। यशोदारानीके मनमें कभी यह भाव उदय नहीं होता कि महर्षि, देवर्षि, पितृपति, दैत्येन्द्र, दानवेन्द्र, सिद्धेश्वर तथा प्रेत, पिशाच, भूत, कूष्माण्ड, जल-जन्तु, मृग, विहंगम—सबके नायकके रूपमें मेरा नीलमणि ही है। व्रजेन्द्रमहिषी

यह धारणा ही नहीं कर सकतीं कि जगत्‌की जितनी वस्तुएँ ऐश्वर्य-तेज-इन्द्रियबल-मनोबल-शरीरबलसे युक्त हैं, क्षमासे सम्पन्न हैं, सौन्दर्य-लज्जा-विभूतिसे समन्वित हैं, सुन्दर-असुन्दर अद्भुत वर्णवाली हैं—वे सब-की-सब मेरे नीलमणिके ही रूप हैं।* उन्हें यह भान ही नहीं होता कि मेरी गोदमें रहते हुए ही ठीक उसी क्षण मेरा यह नीलमणि इन अनन्त रूपोंमें भी अवस्थित है, क्रीड़ा कर रहा है। उनके वात्सल्यरस-सुधासागरके अतल-तलमें डूबे हुए अपरिसीम ऐश्वर्यके रजःकण कभी ऊपर आते ही नहीं। आते होते तो भले वे जान पातीं कि व्रजेन्द्रके द्वारा यह निरोध व्यर्थ है, यहाँ निरुद्ध रहकर भी नीलमणि तो भीतर प्रकट है। वे तो सदा इस भावनासे ही भरी रहती हैं कि मेरा नीलमणि मेरा गर्भजात शिशु है, अबोध है। इसीलिये आज वे फूली नहीं समा रही हैं; क्योंकि उनकी दृष्टिमें अभी-अभी व्रजेन्द्रने चञ्चल नीलमणिको रोक लिया और एक महान् अनर्थ होनेसे रक्षा हो गयी। अस्तु,

इधर इस बार जब कण्वके नेत्र खुले, तब दृश्य तो वही था—नन्दनन्दन भोग आरोग रहे हैं। पर इस बार कण्वके नेत्र, मन, बुद्धिपर लगा हुआ अनादि आवरण सर्वथा छिन्न-भिन्न हो चुका था। वस्तुतत्त्वके सम्बन्धमें अब उन्हें संशय नहीं रहा। कण्व वहीं श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें लोट गये। उनके नेत्रोंसे अश्रुका निर्झर झरने लगा, इस निर्झरवारिसे श्रीकृष्णचन्द्रके चरणयुगल प्रक्षालित होने लगे।

मानो किसी परम दिव्य वीणाके तार झंकृत हो उठे हों, इतने मधुर कण्ठसे श्रीकृष्णचन्द्र बोले—'कण्व! तुम मुझे देखनेके लिये अनेक जन्मोंसे लालायित हो। इसीलिये इस बार जब मैं यहाँ प्रकट हुआ, तब तुम्हारा भी इसी ब्रह्माण्डमें—इस मधुपुरीमें जन्म हो गया। मेरी माता, मेरे पिता तुम्हारे दृष्टिपथमें आ गये, इसीलिये तुम मेरा यह बाल्यरूप, बाल्यलीला देख सके।' यह कहकर श्रीकृष्णचन्द्रकी वह कमनीय झाँकी अन्तर्हित हो गयी। उसके बाद भी कण्व न जाने कितनी देर स्वेद, कम्प, स्तम्भ, पुलक आदि दर्शनजन्य सात्त्विक भावोंके प्रवाहमें बहते रहे। भावावेश जब किंचित् शिथिल हुआ, तब कण्वने श्रीकृष्ण अधरामृतसिक्त उस खीर-प्रसादको पहले अपने सिरसे लगाया, फिर कुछ अंश मुखमें रखा। इसके पश्चात् सारे अङ्गोंमें उस खीरको चुपड़ लिया। फिर जो अवशिष्ट रहा, उसे अपने उत्तरीय वस्त्रमें बाँध लिया तथा द्वार खोलकर बाहर चले आये।

व्रजेशने देखा—ब्राह्मणके अणु-अणुसे आनन्द झर-सा रहा है। दिव्योन्मादके लक्षण भी उनमें प्रत्यक्ष परिलक्षित हो रहे हैं। हाथ जोड़कर व्रजेन्द्र पूछते हैं, 'देव! पारण हो गया?' कण्व गद्‌गद कण्ठसे कहते हैं—'हाँ व्रजेश! हो गया, मैं अनन्त कालके लिये परितृप्त हो गया।' यह कहकर फिर वे कुछ बड़-बड़ करने लगते हैं। नन्द-दम्पति कुछ नहीं समझ पाते कि ब्राह्मण क्या कह रहे हैं। हाँ, इतना तो वे जान गये हैं कि कण्वको प्रसाद अर्पण करते समय प्रेमावेश हो गया है; उन्होंने इसीलिये अर्पित खीर अङ्गोंमें चुपड़ ली है। जो हो, ब्राह्मणकी उन्मत्तता उत्तरोत्तर बढ़ने लगती है। वे वहीं नन्दप्राङ्गणमें बारम्बार लोट-लोटकर अस्फुट स्वरमें आवृत्ति करने लगते हैं—

सफल जन्म, प्रभु आजु भयौ।
धनि गोकुल, धनि नन्द-जसोदा, जाकैं हरि अवतार लयौ॥
प्रगट भयौ अब पुन्य-सुकृत-फल, दीनबंधु मोहिं दरस दयौ।
बारंबार नंद कें आँगन, लोटत द्विज आनंदमयौ॥
मैं अपराध कियौ बिनु जानें, को जानें किहिं भेष जयौ।
सूरदास प्रभु भक्त-हेत-बस, जसुमति-गृह आनन्द लयौ॥

---

* स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः। आत्माऽऽत्मन्यात्मनाऽऽत्मानं संयच्छति च पाति च॥
विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक्सम्यगवस्थितम्। सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम्॥
आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य कालः स्वभावः सदसन्मनश्च। द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः॥
अहं भवो यज्ञ इमे प्रजेशा दक्षादयो ये भवदादयश्च। स्वर्लोकपालाः खगलोकपाला नृलोकपालास्तललोकपालाः॥
गन्धर्वविद्याधरचारणेशा ये यक्षरक्षोरगनागनाथाः।
ये वा ऋषीणामृषभाः पितॄणां दैत्येन्द्रसिद्धेश्वरदानवेन्द्राः। अन्ये च ये प्रेतपिशाचभूतकूष्माण्डयादोमृगपक्ष्यधीशाः॥
यत्किं च लोके भगवन्महस्वदोजःसहस्वद्बलवत्क्षमावत्। श्रीह्रीविभूत्यात्मवदद्भुतार्णं तत्त्वं परं रूपवदस्वरूपम्॥
(श्रीमद्भा० २।६।३८-३९, ४१-४४)

'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना'

(आचार्य डॉ० श्रीपवनकुमारजी शास्त्री, साहित्याचार्य, विद्यावारिधि, एम०ए०, पी-एच०डी०)

श्रीरामचरितमानस (१।१८५।५)-में कथित भगवान् शिवकी निम्न वाणी अत्यन्त गूढ़ अर्थोंवाली है—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

इस चौपाईमें दो बातें कही गयी हैं। प्रथम तो यह कि ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है और द्वितीय यह कि प्रभु प्रेमसे प्रकट हो जाते हैं। इनमेंसे ईश्वरकी सर्वव्यापकताको तो संसार स्वीकार करता है, किंतु प्रेमसे प्रभुका प्राकट्य होता है, इस तथ्यको लोग जल्दी स्वीकार नहीं करते। सभी लोग अपने-अपने प्रेमकी चर्चा करते हुए प्रश्न कर बैठते हैं कि यदि प्रभु प्रेमसे प्रकट होते हैं तो हम उन्हें प्रेमसे बुलाते हैं, फिर भी वे हमारे सम्मुख क्यों नहीं आते? क्या हमारा प्रेम प्रेम नहीं है? आखिर वह प्रेम कैसा है, जिसके द्वारा प्रभु प्रकट हो जाते हैं? वे उस प्रेमकी परिभाषा पूछ बैठते हैं, जिसके द्वारा प्रभुका प्राकट्य सम्भव होता है।

विभिन्न आचार्यों और संतोंने भक्तोंकी इस जिज्ञासाका यथाशक्ति समाधान करनेका प्रयास किया है। प्रेमका शाब्दिक अर्थ जितना आसान है, उसका भावनात्मक अर्थ उतना ही कठिन है। प्रेमको परिभाषित करते हुए कहा गया है कि प्रियका भाव ही प्रेम है। अमरकोषमें—**'प्रेमा-प्रियता-हार्दम्'** और स्नेह शब्दको प्रेमका पर्यायवाची कहा गया है। मेदिनीकोशमें नर्मको प्रेमका पर्याय कहा गया है।

भावनाके स्तरपर प्रेम अनिर्वचनीय है। जिस प्रकार गूँगा फलके आस्वादका वर्णन नहीं कर सकता, उसी प्रकार प्रेमको भी परिभाषित नहीं किया जा सकता। प्रेमका आस्वाद अनुभवगम्य है। प्रेमभाव वात्सल्य, दास्य तथा सख्य आदि भावोंसे भिन्न और विलक्षण है। संतोंने तो यहाँतक कहा है कि प्रेम भगवान्का साक्षात् स्वरूप है। भगवान् स्वयं प्रेममय हैं और प्रेम करने योग्य हैं तथा भगवान्को प्राप्त करनेका साधन भी प्रेम ही है। इस प्रकार प्रेम साधन और साध्य दोनों ही है। भगवान् ही प्रेम, प्रेमी तथा प्रेमास्पद हैं।

गोस्वामीजीसे भक्त पूछते हैं कि श्रीरामके चरणोंमें प्रेम कैसे होगा? इसपर गोस्वामीजी उत्तर देते हैं कि भक्तशिरोमणि श्रीभरतजीके चरित्रका आदरपूर्वक श्रवण करनेसे श्रीराम और श्रीसीताजीके चरणकमलोंमें प्रेम हो जाता है तथा संसार-विषयक मिथ्यारसानन्दसे विरति हो जाती है—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥

(रा०च०मा० २।३२६)

यद्यपि प्रेम अनिर्वचनीय है, तथापि प्रेमका स्वरूप क्या है, इसे यत्किञ्चित् समझानेका प्रयास गोस्वामीजीने श्रीरामजीसे श्रीसुतीक्ष्णजीके मिलनके समय प्रस्तुत किया है—

मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना। नाम सुतीछन रति भगवाना॥
प्रभु आगवनु श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥
निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई॥

(रा०च०मा० ३।१०।१, ३, १०—१३)

भगवत्प्रेमके चिह्नोंको श्रीमद्भागवतमें भी दर्शाया गया है। भगवान्के परम प्रिय भक्त श्रीप्रह्लादजी अपने साथी असुर बालकोंको भगवत्प्रेमका स्वरूप समझाते हुए कहते हैं—'जब भगवान्के लीलाशरीरोंसे किये हुए अद्भुत पराक्रम, उनके अनुपम एवं अद्भुत गुण और चरित्रोंको सुन करके अत्यन्त आनन्दके उद्रेकसे मनुष्यका रोम-रोम खिल उठता है, आँसुओंके मारे कण्ठ गद्गद हो जाता है और वह संकोच छोड़कर जोर-जोरसे गाने-चिल्लाने तथा नाचने लगता है।

जिस समय वह ग्रह-ग्रस्त किसी पागलकी तरह कभी हँसता है, कभी करुण-क्रन्दन करने लगता है, कभी ध्यान करता है तो कभी भगवद्भावसे लोगोंकी वन्दना करने लगता है, जब वह भगवान्में ही तन्मय हो जाता है, बार-बार लम्बी साँस खींचता है और संकोच छोड़कर हरे! जगत्पते! नारायण! कहकर पुकारने लगता है, तब भक्तियोगके महान् प्रभावसे उसके सारे बन्धन कट जाते हैं एवं

भगवद्भावकी ही भावना करते-करते उसका हृदय भी तदाकार भगवन्मय हो जाता है। उस समय उसके जन्म-मृत्युके बीजोंका खजाना ही जल जाता है और वह पुरुष श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर लेता है। इस अशुभ संसारके दलदलमें फँसकर अशुभमय हो जानेवाले जीवके लिये भगवान्‌की यह प्राप्ति संसारके चक्करको मिटा देनेवाली है। इसी वस्तुको कोई विद्वान् ब्रह्म और कोई निर्वाण-सुखके रूपमें पहचानते हैं। इसलिये मित्रो! तुम लोग अपने-अपने हृदयमें हृदयेश्वर भगवान्‌का स्मरण करो।'*

यह प्रेम कैसे उत्पन्न होता है? इसे समझाते हुए भक्त-शिरोमणि प्रह्लादजी कहते हैं कि गुरुकी प्रेमपूर्वक सेवा, अपनेको जो कुछ मिले वह सब प्रेमसे भगवान्‌को समर्पित कर देना, भगवत्प्रेमी महात्माओंका सत्सङ्ग, भगवान्‌की आराधना, उनकी कथा-वार्तामें श्रद्धा, उनके गुण और लीलाओंका कीर्तन, उनके चरणकमलोंका ध्यान तथा उनके मन्दिर-मूर्तिका दर्शन-पूजन आदि साधनोंसे भगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम हो जाता है—

गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलब्धार्पणेन च।
सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च॥
श्रद्धया तत्कथायां च कीर्तनैर्गुणकर्मणाम्।
तत्पादाम्बुरुहध्यानात् तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः॥

(श्रीमद्भा० ७।७।३०-३१)

प्रेमसे ही भक्ति आती है। गोस्वामीजी कहते हैं कि भक्तिके लिये विश्वास आवश्यक है। बिना विश्वासके भक्ति नहीं होती और बिना भक्तिके श्रीराम द्रवित नहीं होते तथा श्रीरामकी कृपाके बिना जीवको विश्राम (मोक्ष) नहीं मिलता—

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥

(रा०च०मा० ७।९० (क))

भक्त काकभुशुण्डिजीसे श्रीरामचन्द्रजी अपने सिद्धान्त बतलाते हैं कि यद्यपि समस्त चराचर जीव मेरे द्वारा उत्पन्न किये हुए हैं, तथापि मुझे मनुष्य सर्वाधिक प्रिय हैं और मनुष्योंमें भी वे अपने दास सर्वप्रिय हैं, जिन्हें मेरे सिवाय कोई दूसरी आशा नहीं है—

सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

(रा०च०मा० ७।८६।४, ७, १०)

भक्ति और प्रेमके भाव तथा अभाव दोनोंको एक ही स्थानमें उपस्थित करनेवाला प्रसङ्ग महाभारतकालमें कौरवोंके दरबारमें उपस्थित होता है। युद्ध टालनेके लिये मध्यस्थरूपसे आये हुए भगवान् श्रीकृष्ण दुर्योधनादिके मधुर पक्वान्नोंकी उपेक्षा करते हुए भक्तराज विदुरके घरमें शाकका भोजन ग्रहण करते हैं। दुर्योधनके कारण पूछनेपर भगवान्‌ने कहा—'भोजन दो स्थितियोंमें किया जाता है या तो जहाँ प्रेम हो वहाँ या जब भूखके मारे प्राण जाते हों तब। प्रेम तो आपमें है ही नहीं और भूखा मैं हूँ नहीं'—

सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥

(महाभारत उद्यो० ९१।२५)

भगवान् पूर्णकाम होनेके कारण वस्तुके भूखे नहीं हैं, उन्हें तो केवल प्रेमकी ही आवश्यकता है। भगवान् स्वयं कहते हैं कि पत्र, पुष्प, फल अथवा जल या जो भी वस्तु साधारण मनुष्योंको बिना किसी परिश्रम, हिंसा और व्ययके अनायास ही मिल सकती है, वह वस्तु मुझे अर्पण की जा सकती है। केवल उसमें प्रेमका भाव होना चाहिये। जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र-पुष्प, फल और जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्ध बुद्धि निष्कामप्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ—

---

* निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान् वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि। यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति॥
यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धसत्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम्। मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः॥
तदा पुमान् मुक्तसमस्तबन्धनस्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः। निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम्॥
अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम्। तद् ब्रह्म निर्वाणसुखं विदुर्बुधास्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम्॥

(श्रीमद्भा० ७।७।३४—३७)

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९। २६)

जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो उसे 'प्रयतात्मा' कहते हैं। यदि अर्पण करनेवालेका भाव शुद्ध न हो तो बाहरसे चाहे जितने शिष्टाचारके साथ उत्तम-से-उत्तम वस्तु भगवान्‌को अर्पण की जाय भगवान् उसे स्वीकार नहीं करते। भगवान्‌ने दुर्योधनका निमन्त्रण अस्वीकार कर शुद्धभाववाले विदुरके घरपर जाकर भोजन ग्रहण किया। सुदामाके चिउड़ोंका बड़ी रुचिके साथ भोग लगाया और कहा कि हे सखे! आपके द्वारा लाया हुआ चिउड़ोंका यह उपहार मुझको अत्यन्त प्रसन्न करनेवाला है। ये चिउड़े मुझको और मेरे साथ ही समस्त विश्वको तृप्त कर देंगे—

नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे।
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ८१। ९)

भगवान्‌ने द्रौपदीकी बटलोईमेंसे बचे हुए सागके पत्तेको खाकर दुर्वासा एवं उनके शिष्योंसहित समस्त विश्वको तृप्त कर दिया था।

इसी प्रकार भगवान्‌ने गजेन्द्रद्वारा अर्पण किये गये पुष्पको स्वयं वहाँ पहुँचकर स्वीकार किया। रन्तिदेवके जलको ग्रहण करके उसे कृतार्थ किया। शबरीकी कुटियापर जाकर उसके दिये हुए फलोंका भोग लगाया। शबरीके फलोंकी मिठासको वर्णित करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं कि घरमें, गुरु वसिष्ठके आश्रममें, मित्रोंके घरमें और ससुरालमें भी जहाँ-जहाँ मेहमानी हुई, वहाँ-वहाँ भगवान् श्रीरामने शबरीके फलोंकी माधुरीको स्मरण करते हुए कहा कि वैसी माधुरी इन व्यञ्जनोंमें कहाँ—

घर गुरुगृह प्रिय सदन, सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरीके फलनिकी रुचि माधुरी न पाई॥

(विनय-पत्रिका पद-सं० १६४)

देवी गौरीकी आराधनाहेतु जनकपुरमें सीताजीने अनुरागका ही आश्रय लिया था और उतनेसे ही भगवती पार्वतीने प्रसन्न होकर जानकीजीको मनोभिलषित वर प्राप्त होनेका आशीर्वाद दिया था—***'पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा', 'बिनय प्रेम बस भई भवानी''''', 'मनु जाहिं राचेउ मिलिहि सो बरु सहज सुंदर साँवरो।'*** (रा० च० मा० १। २२८ से २४६ तकका प्रसंग)

भगवान्‌की सर्वव्यापकता और प्रेमसे प्राकट्यके अनेक उदाहरण पुराणोंमें भरे पड़े हैं।

इस प्रकार सर्वव्यापक भगवान्‌की प्राप्तिका प्रेम ही एकमात्र सर्वोत्तम उपाय है। प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रेम है। प्रेममें समर्पण है, उत्सर्ग है। प्रेमका रास्ता जितना सुगम जान पड़ता है, वास्तवमें उतना सुगम है नहीं। यह अत्यन्त कठिन मार्ग है। प्रेमकी साधनासे अनन्त जन्मोंके पापोंका समूल विनाश हो जाता है। गीताके अनुसार निष्काम कर्म ही भगवत्प्रेमका मूलाधार है।

* * *

लीला-दर्शन—

कन्हाईका पक्षी

आज एक पक्षीवाला आ गया नन्दग्राममें। एक ही पक्षी था इसके पास; किंतु इतना सुन्दर पक्षी तो इधर दीखता नहीं। मयूरकी कलँगीसे भी अत्यन्त सुन्दर कलँगी और सुरंग पक्षी। बालकोंके समान मधुर भाषामें छोटे-छोटे शब्द मानवभाषाके बोल लेता है। पक्षीवाला कहता था—'यह बहुत शुभ पक्षी है और अनेक बार इसकी भविष्यवाणियाँ सर्वथा सत्य होती हैं। यह आगम-ज्ञानी पक्षी है।'

पक्षीवाला ही कहता था कि यह हिमालयके बहुत ऊपरी भागमें—हिमक्षेत्रमें होता है। इसने भी यह पक्षी किसी दूसरेसे क्रय ही किया है। पक्षीके पतले छोटे पदोंमें पक्षीवालेने पतली कौशेयकी काली रज्जु बाँध रखी थी। पक्षी उसके करपर शान्त बैठा था। सम्भवतः उसे अपने बन्धनका आभास था। वह जानता था कि उड़नेका प्रयास व्यर्थ है।

शिशिरमें आज पर्वका दिन है। बालक आज गोचारणको नहीं गये हैं। सब गोप भी प्रायः एकत्र हो गये हैं व्रजराजके चौपालमें पक्षीको देखने तो फिर बालक घरोंमें कैसे रह सकते हैं।

कन्हाई अभी-अभी दौड़ा-दौड़ा आया है भवनमेंसे और बाबाके अङ्कमें बैठ गया है। दाऊ और भद्र बाबाके दाहिने-बायें सटे बैठे हैं। दूसरे भी शतशः बालक व्रजराजके ही समीप हैं।

'आप जो पूछेंगे, यह उसका उत्तर देगा।' पक्षीवालेने अपना दाहिना हाथ लम्बा किया, जिसपर पक्षी बैठा है।

'कनूँ! बेचारा पक्षी बँधा है।' देवप्रस्थने कन्हाईके कानोंके समीप मुख ले जाकर कहा—'दुःख पाता होगा।'

'बाबा! मैं पक्षी लूँगा।' कन्हाईने बाबाके मुखकी ओर मुख किया और उनकी दाढ़ीमें अपने दाहिने करकी अँगुलियाँ नचाता हुआ बड़े आग्रहसे बोला।

'तुम व्रजराजकुमारको अपना पक्षी दे दो!' बाबाके बोलनेसे पहले ही नन्दन चाचाने विचित्र अटपटे वेशवाले पक्षीवालेसे कहा—'तुम जितना चाहो, इसका मूल्य ले लो।'

'यह हिमप्रदेशका पक्षी है।' पक्षीवाला बोला—'यहाँ वसन्तमें ही मर जायगा।'

'नहीं मरूँगा!' पक्षी बोल उठा—'जिऊँगा, खूब जिऊँगा। मुझे विक्रय करो।'

'यह आगम-ज्ञानी है।' पक्षीकी ओर देखकर पक्षीवाला बोला—'यही जाना चाहता है तो कुमार इसे लें।'

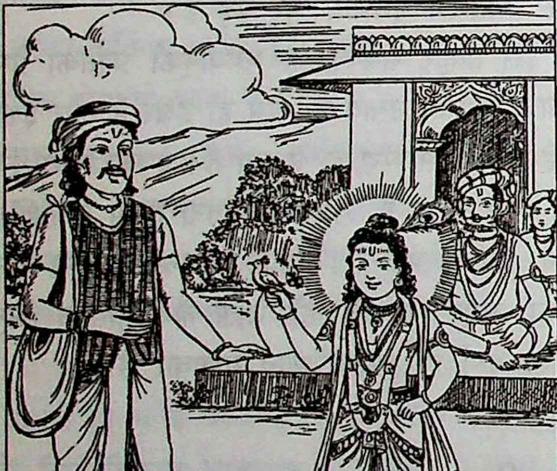

कन्हाई बाबाकी गोदसे कूदकर दौड़ गया पक्षीवालेके पास। पक्षी उड़कर श्यामके करपर आ बैठा। पक्षीवालेने रज्जु पकड़ा दी। पक्षीवाला स्वप्नमें भी न सोच सकता हो इतने रत्न नन्दन चाचा भर लाये, गायको चारा देनेको जैसे लाये हों, उसी बड़े टोकरेभर चमकते रत्न। पक्षीवाला तो आँख फाड़े देखता रह गया। उसकी तो कई पीढ़ी बैठी खायँ इतना धन—व्रजराज-पौरिपर आकर भी कोई कंगाल रहा करता है!

'आप इसे छोड़ोगे तो उड़ जायगा।' पक्षीवालेने कन्हाईकी ओर देखकर कहा। श्यामने दाऊ दादाके करपर पक्षी बैठा दिया है और स्वयं उसके पैरकी रज्जु खोलने लगा है। बालक सब कन्हाईको घेरे खड़े हैं।

'नहीं भागूँगा!' पक्षी ही बोला—'ये बाँधे रहें तो और खोल दें तो, मैं इनके पास ही रहूँगा। कइयोंके बन्धनमें पता नहीं कबसे हूँ। अब ये बाँधे रहें तो मुझे सुख ही है।'

'नहीं, बाँधूँगा नहीं तुझे।' कन्हाईने कहा। कृष्णका स्वभाव बाँधना नहीं है। यह बन्धन खोलता ही है—'तू रोटी खायगा?'

'यह केवल फल खाता है।' पक्षीवालेने बतलाया। 'खाऊँगा, तुम जो खिलाओ वही खाऊँगा।' पक्षीने पक्षीवालेको डाँट दिया—'अब तुम चुप रहो। जाओ! मैं इनका पक्षी हूँ।'

पक्षी रज्जु खुलते ही दाऊके करपरसे उड़कर श्यामके वाम स्कन्धपर बैठ गया। तोक दौड़कर रोटीका टुकड़ा लाया तो उसके हाथपर बैठकर नन्हीं चोंचसे तनिक-तनिक रोटी खाने लगा।

'मैया तेरे लिये स्वर्णपिंजरा लटका देगी। रातमें उसमें सो जाना और दिनमें मेरे साथ वनमें चलना।' कन्हाई पक्षी पाकर उसीमें तल्लीन है—'वनमें बहुत फल हैं—खूब मधुर फल। तू बच्चा देगा?'

'बच्चा!' पक्षी चौंका—'वह तो मेरी चिरैया अण्डा देती है। उसमें बच्चा निकलता है, बहुत दूर हिमालयमें कहीं होगी?'

'तू उसको बुला ला!' कन्हाईने कह दिया—'हम उसको भी रोटी देंगे, फल देंगे।'

'मैं जाऊँ?' पक्षीका स्वर उदास लगा—'मार्गमें पता नहीं कितने व्याध जाल बिछायेंगे। पता नहीं कितने लकड़ियोंमें गोंद लगाकर मुझे पकड़नेकी घात लगायेंगे। तुम मेरा ध्यान रखोगे? मैं तुम्हारा हूँ।'

'हाँ रखूँगा!' कन्हाईके नेत्र भी गम्भीर हो गये—'तू जा! अपनी चिरैयाको बुला ला।'

पक्षीने पंख फैलाये, फिर समेट लिये। फिर फैलाये, फिर समेट लिये। बारम्बार पंख फैलाता-समेटता रहा। उसका जी यहाँसे उड़कर कहीं अन्यत्र जानेका नहीं; किंतु इन व्रजराजकुमारका आदेश—इसे टाला भी तो नहीं जा सकता।

पक्षी उड़ा—बहुत देरतक वहीं फुर्र-फुर्र उड़ता रहा। दाऊ, कन्हाई, भद्र—सभी बालकोंके, बाबाके, गोपोंके सिरोंके पास उड़ता रहा। बड़ी देरमें वह ऊपर उठा और गगनमें जाकर सीधे उत्तर उड़ चला। उसे कोई फँसा पायेगा। वह कन्हाईका पक्षी है। कनूँ तो उसके अदृश्य होनेपर भी उसी दिशामें देख रहा है।

'साधन सिद्धि राम पग नेहू'

(डॉ० श्रीअवधेशकुमारजी तिवारी)

भौतिक दृष्टिसे भाग्यशाली उस व्यक्तिको कहा जाता है जिसे पद, प्रतिष्ठा, उत्तम स्वास्थ्य, प्रचुर धन-सम्पत्ति, भरा-पूरा परिवार तथा अन्य मनचाही भौतिक सुविधाएँ सुलभ हैं। किंतु विचार करनेपर ज्ञात होता है कि लौकिक सुखकी सारी सामग्री हमेशाके लिये नहीं होती और उससे प्राप्त सुख भी अल्पकालिक होता है। मानव-जीवन तो वस्तुतः स्थायी सुखकी प्राप्तिके लिये मिला है। अनेक योनियोंमें भ्रमण करनेके बाद ईश्वरकी अहैतुकी कृपासे प्राप्त ऐसे दुर्लभ मानव-शरीरका उपयोग यदि भौतिक सुखोंकी प्राप्तिके लिये किया जाय तो अन्ततः दुःख ही मिलता है—

जतन अनेक किये सुख-कारन, हरिपद-बिमुख सदा दुख पायो।

(विनय-पत्रिका २४३। ४)

नित्य रहनेवाला वास्तविक सुख तो प्रभु-चरणोंमें अनुराग रखनेसे ही मिलेगा। यही मानव-जीवनका परम लाभ है, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजीने बताया भी है—

पावन प्रेम राम-चरन-कमल जनम लाहु परम।

(विनय-पत्रिका १३१। १)

प्रभुके ऐसे कृपापात्र भक्तोंको जिनका एकमात्र लक्ष्य प्रभु-चरणोंमें प्रेमकी प्राप्ति है और इसीके लिये जिनकी साधना है तथा जिनके लिये *'साधन सिद्धि राम पग नेहू'* ही सर्वोपरि साधन है, उन्हें श्रीरामचरितमानस (४। २३। ७)-में बड़भागी कहा गया है। यथा—

सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी।

रामकथाकी फलश्रुतिके सम्बन्धमें गोस्वामीजीकी उक्ति है—

जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥
होइहहिं राम चरन अनुरागी। कलि मल रहित सुमंगल भागी॥

(रा०च०मा० १। १५। १०-११)

रघुकुलगुरु महर्षि वसिष्ठके अनुसार मानव-जीवनका परम लक्ष्य प्रभुपद-प्रीतिकी प्राप्ति है—

तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥

(रा०च०मा० ७। ४९। ४)

इसीलिये वे श्रीरामसे यही एक वर माँगते हैं—

नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥

(रा०च०मा० ७। ४९)

'प्रेम लपेटे अटपटे' वचन कहनेवाले केवटसे जब श्रीराम नाव लानेकी याचना करते हैं तो वह इसी तथ्यको उजागर करते हुए कहता है कि आपके चरणोंकी धूलि *'मानुष करनि मूरि'* है, जो मनुष्यको सही मानेमें मनुष्यता प्रदान करनेमें सक्षम है। इसीलिये जब वह अत्यन्त प्रेमसे श्रीरामके चरणोंका प्रक्षालन करता है तो देवगण भी पुष्प-वर्षा कर उसे अप्रतिम बड़भागीकी संज्ञा देते हैं—

अति आनंद उमगि अनुरागा। चरन सरोज पखारन लागा॥
बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। एहि सम पुन्यपुंज कोउ नाहीं॥

(रा०च०मा० २। १०१। ७-८)

ऐसे ही भक्तोंके सम्बन्धमें भगवान् शिव जगत्-जननी पार्वतीसे कहते हैं—

धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जा कर मन राता॥

(रा०च०मा० ७। १२७। २)

रामपदानुरागी मुनिश्रेष्ठ भरद्वाज भी इसी प्रकारकी प्रार्थना प्रभुसे करते हैं—

अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू॥

(रा०च०मा० २। १०७-८)

गोस्वामीजीकी दृष्टिमें एक ओर प्रभु-चरणोंमें स्नेह सकल सुमङ्गलोंका मूल है तो दूसरी ओर रामपद-प्रेमके अभावमें दारुण भवजन्य विपत्तिसे छुटकारा भी सम्भव नहीं—

सकल सुमंगल मूल जग रघुबर चरन सनेहु॥
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥

(रा०च०मा० २। १८२, २०७)

तुलसिदास भव-रोग रामपद-प्रेम-हीन नहिं जाई॥

(विनय-पत्रिका ८१)

पुण्यपुञ्ज महाराज दशरथको भगवान् रामके पिता होनेका गौरव प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने पूर्वजन्ममें मनुरूपमें प्रभुसे *'सुत बिषइक तव पद रति होऊ'* के साथ *'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना॥'*—का वरदान माँगा था। परिणामस्वरूप दशरथरूपमें

'सत्य प्रेम जेहि राम पद' की उपलब्धि हुई और एतदर्थ उन्हें *'सब प्रकार भूपति बड़भागी'* कहा गया। श्रीराम-चरणोंसे बिछुड़नेपर उन्होंने तृणवत् अपना प्रिय तन त्याग दिया—*'प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ'*। इस प्रकार उन्होंने *'नेह निबाहि देह तजि'* द्वारा अचल कीर्ति प्राप्त की। ऐसे धर्मपरायण प्रेमी पितासे भी अधिक ममता और पितृभावका प्रदर्शन प्रभुने अपने प्राणसहित स्वयंको प्रभु-चरणोंमें उत्सर्ग करनेवाले जटायुके लिये किया—

ऐसेहु पितु तें अधिक गीध पर ममता गुन गरुआई॥
बिहँग जोनि आमिष अहार पर, गीध कौन ब्रतधारी।
जनक-समान क्रिया ताकी निज कर सब भाँति सँवारी॥
(विनय-पत्रिका १६४, १६६)

महान् भाग्यशाली दशरथका देह-त्याग तो पुत्र-वियोगमें हुआ, पर महान् भक्त जटायुने अपने शरीरको रामकार्यके लिये निःस्वार्थभावसे त्याग दिया। इसलिये अंगदके शब्दोंमें यह बड़भागियोंमें परम श्रेष्ठ हो गया—

राम काज कारन तनु त्यागी। हरि पुर गयउ परम बड़ भागी॥
(रा०च०मा० ४।२७।८)

युवराज अंगद श्रीराम-चरणोंके अनन्य प्रेमी थे। अयोध्यामें राज्याभिषेकके बाद जब भगवान् अपने सखाओंको विदा करने लगे तो प्रभुपादपद्मोंसे बिछुड़नेकी भावी आशंकासे अंगद प्रभु-चरणोंमें ही बैठे रहे—

अंगद बैठ रहा नहिं डोला। प्रीति देखि प्रभु ताहि न बोला॥
(रा०च०मा० ७।१७।८)

सभीके प्रस्थानोपरान्त अंगदने प्रभुसे विनती की—

मोरें तुम्ह प्रभु गुर पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता॥
(रा०च०मा० ७।१८।४)

निःसंदेह वालितनय श्रीअंगद बड़भागी हैं—

बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चापत बिधि नाना॥
(रा०च०मा० ६।११।७)

प्रभु श्रीरामके चरणोंकी सेवामें सतत लीन, प्रभुके श्रेष्ठ दूत और अनन्य सेवक तथा बड़भागी हनुमान्जीका स्थान रामपदानुरागी भक्तोंमें सर्वोपरि है—

हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥
(रा०च०मा० ७।५०।८)

संतोंने और स्वयं श्रीहरिने मुक्तकण्ठसे उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है—

गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर॥
(रा०च०मा० ७।५०।९; १।१७)

किमि बरनउँ हनुमान की काय कांति कमनीय।
रोम रोम में रमि रहा, राम नाम रमनीय॥

हनुमान्जी प्रभुको अपने हृदयसे एक क्षणके लिये भी विस्मृत नहीं होने देते थे। प्रभुसे उन्होंने कहा था—*'कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥'* एतदर्थ वे सदैव सावधान और सचेष्ट रहते थे। श्रीरामके आदेशानुसार जब वे सीताजीकी खोजके लिये चले तो उन्होंने प्रभुको अपने हृदयमें बिठा लिया—*'चलेउ हरषि हियँ धरि रघुनाथा॥'* मार्गमें अनेक विघ्न-बाधाओंसे जूझते हुए अपने हृदयमें रामको सँभालकर रखा—*'बार बार रघुबीर सँभारी'*। लङ्कासे लौटनेपर प्रभुने न केवल उन्हें पुत्ररूपमें स्वीकार किया, बल्कि उनके ऋणी भी हो गये—*'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।'* हनुमान्जीकी निःस्वार्थ सेवापर रीझकर श्रीरघुनाथजी अपने श्रीमुखसे उनके यशका बखान करते हैं—

महाबीर बिनवउँ हनुमाना। राम जासु जस आप बखाना॥
(रा०च०मा० १।१७।१०)

श्रीरामचरितमानसमें गोस्वामीजीने बड़भागी भक्तोंकी जो शृंखला प्रस्तुत की है, उनमें सर्वाधिक अग्रणी श्रीभरतजी एवं श्रीलक्ष्मणजी हैं। जहाँ श्रीलक्ष्मण प्रभुके नित्यसांनिध्यमें रहकर श्रीरामपादारविन्दोंकी सेवा करते हैं—

अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥
बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥
जीवन लाहु लखन भल पावा। सबु तजि राम चरन मनु लावा॥

और एकमात्र प्रभुके आश्रयपर ही भरोसा करते हैं—

मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥
(रा०च०मा० २।७२।३-६)

वहीं श्रीभरतलालजी प्रभुसे अलग रहते हुए भी उनके चरणकमलोंको नित्य हृदयमें धारण कर उनकी सेवामें सतत संलग्न रहते हैं। भगवान्का स्वभाव तो कल्पवृक्षकी तरह है। वे भक्तकी इच्छाके अनुरूप उसके मनोरथको उसी रूपमें पूर्ण करते हैं।

श्रीभरतजीके जीवनका एकमात्र लक्ष्य राजर्षि जनकके मतानुसार रामपदमें अविच्छिन्न स्नेह है—

साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

प्रयागमें त्रिवेणीजीकी प्रार्थनामें भी वे इसी पदरतिकी याचना उत्कटरूपमें करते हैं—

सीता राम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥

और अपने हृदयकी पुकारके अनुरूप ही उन्हें साधुवाद मिलता है—

तात भरत तुम्ह सब बिधि साधू। राम चरन अनुराग अगाधू॥

गोस्वामीजी भरत-स्तुति करते हुए उन्हें बड़भागी कहते हैं—

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥
राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥
जयति भूमिजा-रमण-पदकंज-मकरंद-रस-
रसिक-मधुकर भरत भूरिभागी॥

और इसीका समर्थन महर्षि भरद्वाजके शब्दोंमें मिलता है—

सकल सुमंगल मूल जग रघुबर चरन सनेहु॥
सो तुम्हार धनु जीवनु प्राना। भूरिभाग को तुम्हहि समाना॥

ऐसे श्रेष्ठतम भाग्यशाली भक्तके दर्शनसे प्रेम-विभोर हो मुनि कह उठते हैं—

सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥

श्रीरामचरणोंमें अनुराग और तदर्थ खड्गधाराव्रतका निर्वाह भरतचरित्रमें जैसा मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। विनय-पत्रिका (पद ३९)-में आता है—

जयति विबुधेश-धनदादि-दुर्लभ-महा-
राज-संम्राज-सुख-पद-विरागी।
खड्ग-धाराव्रती-प्रथमरेखा प्रकट
शुद्धमति-युवति पति-प्रेमपागी॥

ऐसे आदर्श भगवच्चरणानुरक्त विरक्त भक्तके पावन चरित्रको नियमपूर्वक सादर सुननेवाले प्राणीको सीय-रामपद-प्रेमकी प्राप्ति अवश्य होगी और भवरससे विरक्ति भी अवश्य होगी, ऐसी उद्घोषणा गोस्वामीजी करते हैं—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥
(रा०च०मा० २।३२६)

श्रीरामचरितमानसमें जगदम्बा सीताकी वन्दनामें गोस्वामीजीने उनके लिये दो विशेषताओं—क्लेशहारिणी और सर्वश्रेयस्करीका उल्लेख कर यह संकेत दिया है कि उनके अवतारका मुख्य उद्देश्य सबको क्लेशमुक्त और सबका कल्याण करना है। श्रीहनुमान्‌जीके कथनानुसार प्रभुका स्मरण और भजन छूट जाना ही विपत्ति (क्लेश) है तथा कल्याणका मूल प्रभु-चरणोंमें प्रीति है। भगवती सीताने अपने आचरणद्वारा इन दोनों बातोंको स्वयं सिद्ध करके जगत्‌के जीवोंको क्लेशमुक्त और कल्याणयुक्त जीवन जीनेकी सीख दी है—

जासु कृपा कटाच्छु सुर चाहत चितव न सोइ।
राम पदारबिंद रति करति सुभावहि खोइ॥
जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम।
सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम॥
(रा०च०मा० ७।२४, ३।२९ (ख))

प्रभु श्रीरामके जिन चरणकमलोंकी धूलके स्पर्शसे पाषाणमूर्ति अहल्या छविमय देह धारण कर अतिशय बड़भागिनी हो गयी—

रामपद-पदुम-पराग परी।
ऋषितिय तुरत त्यागि पाहन-तनु छबिमय देह धरी॥
(गीतावली १।५७)

अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही॥
(रा०च०मा० १।२११ छं०)

—वे ही परम पावन श्रीहरिचरण हम जीवोंकी जड़ता दूर कर हमें चैतन्य प्रदान करें। इस निमित्त हम संतशिरोमणि तुलसीदासजीके स्वर-में-स्वर मिलाकर श्रीरघुनाथजीसे प्रार्थना करें—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरो जीव-जड़ताई॥
चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥
(विनय-पत्रिका १०३)

* * *

प्रेमी जादूगर

एक विचित्र जादूगर है। सुना है, वह अन्य जादूगरोंसे भिन्न विलक्षण खेल दिखाता है। बड़ा मनोरम, अतीव आकर्षक। और शुल्क क्या लेता है उसका? बस, प्रेम! रुपये-पैसे तो वह पहचानता ही नहीं। इसीलिये कोई जादू-कम्पनी भी वह नहीं चलाता। वह ढूँढ़-ढूँढ़कर केवल अपने प्रेमियोंको ही जादू दिखाता है। बड़ा प्रेमी है वह; बड़ा सुन्दर है। मोह लेता है अपने प्रेमसे, अपने सौन्दर्यसे।

जी हाँ, उसमें सौन्दर्य है और प्रेम है। यही उसका मन्त्र है। इसीसे वह जादूका खेल करता है। सौन्दर्य ऐसा कि उसकी कल्पना भी आप न कर सकेंगे। और प्रेम? प्रेम तो ऐसा कि विषसे भी दाहक, किंतु अमृत-तुल्य।

विषसे आपको डर लगता है क्या? डरिये नहीं। इससे आपके प्राणोंको भय नहीं। बहुत हुआ तो आपको उस क्रीड़ा-प्रेमीके प्रेममें उन्मत्त हो नाचना पड़ेगा या सब कुछ रहते हुए भी उसके वियोगमें तड़पना पड़ेगा। किंतु इससे क्या? यह तो आपके लाभके लिये ही करेगा वह। इससे आप उसे अधिक-से-अधिक चाहेंगे और वह भी आपको अधिकाधिक अपनायेगा।

यह सब जादूका खेल क्यों खेलता है वह? जानते हैं? आपको अपनानेके लिये और अपनोंकी सँभाल करनेके लिये। वह हर आदमीको अपनाना चाहता है। इसके लिये उसका सान्त्वनापूर्ण आमन्त्रण भी है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६६)

और उसकी शरण भी बड़ी ही सुखदायिनी है—

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा॥

(रा०च०मा० ४।१७।१)

तो क्या, आप भी उसकी शरण जाना चाहते हैं? बता दूँ? उसके नाम लिख लीजिये, कागजपर या हृदयपर। बहुत-से नाम हैं उसके। बहुत ही छोटे-छोटे। सभी-के-सभी एकशब्दी। याद करनेकी भी सुविधा। लीजिये, तो नोट कर लीजिये—दो-चार नाम—राम, कृष्ण, हरि, विष्णु, शिव। जी हाँ, यही उसके नाम और यही उसके पूरे पते हैं। चाहे जिस नाम-पतेसे आप उसके पास जा सकते हैं या उसे खुद अपने ही पास बुला सकते हैं।

और हाँ, एक बात याद रखें। जादू देखनेकी अभिलाषासे आप उसके पास न जायँ। इससे तो आपको जादूसे प्रेम होगा, उस जादूगरसे नहीं। फिर, जबतक आप उस जादूगरसे प्रेम नहीं करेंगे, तबतक वह आपसे मिलेगा ही नहीं। जादूके प्रेमियोंको वह नहीं मिलता, परंतु अपने प्रेमियोंको तो वह सदासे दर्शन देता आया है—उनसे बड़े प्रेमसे मिलता आया है, उन्हें रंग-बिरंगे खेल दिखलाता आया है। कभी धन्नाके खेतमें बिना बीज गेहूँ उगाया, तो कभी दुर्वासाके शिष्योंकी बिना भोजन किये ही उदर-पूर्ति की। कभी सुदामाकी मड़ैयाको महल बनाया, तो कभी पत्थर-शिलाको सुन्दरी अहल्या बनाया। उधर प्रह्लादके लिये अग्निको हिम बना दिया, तो इधर मीराके लिये विषको भी अमृत कर दिया।

जी, तो बड़े ही मनोरम खेल हैं उसके। किंतु देखनेको मिलेंगे ये खेल उसको ही, जो खेलसे प्रेम नहीं करता, उस खिलाड़ीसे ही प्रेम करता है। वह अपने प्रेमियोंको तो प्रेमानुरूप खेल दिखाता ही रहता है।

वह बालक-रूपमें था। माता कौसल्याने उसे पालनेमें सुला दिया और खुद कुलदेवकी पूजामें बझ गयी। किंतु यह क्या? कुलदेवके लिये बनाया गया पकवान तो बैठकर 'राम' उड़ा रहा था। माने दौड़कर देखा तो उसका राम पालनेमें ही सो रहा था। वह आश्चर्यमें पड़कर सोचने लगी—

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मतिभ्रम मोर कि आन बिसेषा॥

(रा०च०मा० १।२०१।७)

किंतु यह तो उस जादूगरका साधारण खेल था। इसी तरह माता यशोदाने भी उसे शान्त रखनेके लिये ऊखलसे बाँधना चाहा; पर वह कब शान्त रहा है? क्रीड़ाके बिना उसे चैन कहाँ? उसने ऊखलको लुढ़काकर वृक्षोंसे टकरा दिया, जिससे वृक्ष भी धराशायी हो गये और उनमेंसे दो देवता निकल आये!

अपने प्रेमीको कौन नहीं रिझाना चाहता? सभी चाहते हैं, वह भी चाहता है। एक दिन शृङ्गार-सुसज्जित राधिका

भी उसे रिझाने निकली थी; किंतु उस नटवरने सौन्दर्यका कैसा जादू किया?—भिखारीदास लिखते हैं—

जेहि मोहिबे काज सिंगार सज्यो
तेहि देखत मोह में आइ गई।
न चितौनि चलाइ सकी, उनहीं की
चितौनि के घाय अघाइ गई॥
बृषभानु-लली की दसा सुनो दास जू
देत ठगौरी ठगाइ गई।
बरसाने चली दधि बेचिबे को
तहँ आपु हि आपु बिकाइ गई॥

इसमें आश्चर्य ही क्या है? जादूगर तो जादूगर ही है। विश्वविमोहन कामदेव भी मात खाता है उसकी सुन्दरतापर। वह बहुरूपिया भी है। सुन्दरताका स्वाँग क्या वह नहीं रच सकता? अरे, वह क्या-क्या रूप नहीं बना सकता! वह सब कुछ बना सकता है, सब कुछ बन सकता है। तुलसीका चौकीदार, विद्यापतिका कमकर, नरसीके लिये सेठ और भगवानप्रसादके लिये डिप्टीसाहब बननेमें उसे जरा भी देर नहीं लगती। एक साथ अनेक रूप भी बना सकता है; उससे मिलनेके लिये प्रेमियोंकी भीड़ चाहिये।

अयोध्याकी प्रजा प्रेमोन्मत्त होकर उससे मिलनेके लिये दौड़ी तो उसने सबमें मिलनोत्कण्ठा देखकर एक खेल किया—

अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहिं कृपाला॥
कृपा दृष्टि रघुबीर बिलोकी। किए सकल नर नारि बिसोकी॥

अपने प्रेमियोंकी भीड़में हर एकसे मिलनेके लिये, हर एक प्रेमीकी प्रेम-पीड़ा शान्त करनेके लिये वह अमितरूपमें प्रकट होकर एक ही साथ सबसे मिल लिया। सबके मनमें एक ही समान प्रेम जो उमड़ रहा था। और उसकी तो प्रतिज्ञा ही ठहरी—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

वह भी सबसे मिलनेके लिये उतावला हो उठा। अतः जितने प्रेमी, उतने ही वह।

प्रेमी कब किस जगह पुकार देगा उसे—इसके लिये वह चौकन्ना रहता है, प्रकट होनेके लिये तैयार रहता है। नामदेवजीने जो कुत्तेके पीछे उसकी पुकार लगायी तो कुत्ता भी भगवान् बन गया। पर कुत्ता तो सजीव था, वह तो काठ-पत्थरके खम्भेसे भी निकल आता है। और यह भी क्या, वह तो आपके शरीरके वस्त्रसे भी प्रकट हो सकता है। द्रौपदीका चीरहरण हो रहा था। उसने अपने पतियोंको पुकारा, सम्बन्धियोंसे सहायता माँगी, परंतु उसे सबसे निराशा मिली। अन्तमें उसने करुणानिधान द्वारकाधीशको पुकारा और करुणानिधानका तो यह व्रत ही ठहरा—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

करुणासागरने शीघ्र ही जादूका खेल किया। साड़ीका ढेर लग गया और दुःशासनकी दस हजार हाथियोंकी ताकतवाली बाँहें पस्त पड़ गयीं, पर न साड़ीका अन्तिम छोर मिला, न चीरहरण हो सका!

तो देखा आपने? कैसा है वह जादूगर! वह प्रेमी है, 'प्रेम' ही है वह, प्रेम ही उसका जीवन है। चाहे जिस बहाने, जिस नाते प्रेम चाहिये उसे। आप भी उससे प्रेम करें, वह आपका बन जायगा। बस, मात्र आपका प्रेम पाकर ही वह अपनी जादुई बाँसुरी अपने होठोंपर रख लेगा। फिर तो आपका जीवन ही धन्य कर देगा वह अपने जादूसे; किंतु इसके लिये आप उससे प्रेम कीजिये, कोई नाता जोड़िये। गोस्वामीजीने कितने नाते जोड़े थे—उस प्रेमी जादूगरसे!—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथको, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरो।
तात-मात, गुरु-सखा, तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानियै जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु! चरन-सरन पावै॥

(विनय-पत्रिका ७९)

[प्रेषक—श्रीप्रशान्तकुमारजी सैनी]

रामु पुनीत प्रेम अनुगामी

(डॉ० श्रीवीरेन्द्रजी शर्मा)

भक्तप्रवर गोस्वामी तुलसीदासके दिव्य ग्रन्थ श्रीरामचरितमानसमें भगवती पार्वतीको परब्रह्म परमेश्वरके अवतार श्रीरामकी कृपा प्राप्त करनेके लिये अनन्य प्रेमकी महिमा बताते हुए भगवान् शंकर कहते हैं कि नाना प्रकारके योग, जप, दान, तप, यज्ञ, व्रत और नियम करनेपर भी श्रीरामजी वैसी कृपा नहीं करते जैसी कि वे निश्छल प्रेमसे द्रवित होकर करते हैं—

उमा जोग जप दान तप नाना मख ब्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम॥
(रा०च०मा० ६। ११७ ख)

इसी बातको प्रकारान्तरसे सम्पुष्ट करते हुए उन्होंने कहा है—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥
(रा०च०मा० ७।६२।१)

रघुकुलगुरु वसिष्ठ मुनिने अयोध्यानरेश दशरथको यही रहस्य समझाते हुए बताया है कि अखिल ब्रह्माण्डनायक श्रीराम पवित्र प्रेमके अनुगामी हैं। इसीलिये तो वे प्रेमके वशीभूत होकर दशरथनन्दनके रूपमें अवतरित हुए हैं—

सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं॥
भयउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी। रामु पुनीत प्रेम अनुगामी॥
(रा०च०मा० २।४।७-८)

महाराज जनकने श्रीरामके स्वरूपका गुणगान करते हुए कहा है—हे रघुनाथजी! सुनिये, मेरे सौभाग्य और आपके गुणोंकी कथा कितनी ही कही जाय, समाप्त नहीं हो सकती। मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह केवल अपने इस विश्वास-बलपर कि आप थोड़े प्रेमसे ही प्रसन्न हो जाते हैं—

राम करौं केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा॥
करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोहु मोहु ममता मदु त्यागी॥
ब्यापकु ब्रह्मु अलखु अबिनासी। चिदानंदु निरगुन गुनरासी॥
मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥
महिमा निगमु नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस रहई॥
नयन बिषय मो कहुँ भयउ सो समस्त सुख मूल।
सबइ लाभु जग जीव कहँ भएँ ईसु अनुकूल॥
सबहि भाँति मोहि दीन्हि बड़ाई। निज जन जानि लीन्ह अपनाई॥
होहिं सहस दस सारद सेषा। करहिं कलप कोटिक भरि लेखा॥
मोर भाग्य राउर गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥
मैं कछु कहउँ एक बल मोरें। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरें॥
(रा०च०मा० १।३४१।४ से ३४२।४ तक)

श्रीरामने स्वयं अपने श्रीमुखसे कहा है कि जिस क्षण भी प्राणीका मन मेरी ओर आकर्षित हो जाता है, उसी क्षण उसके जन्म-जन्मान्तरोंके समस्त पापोंका नाश हो जाता है। मुझे मनकी पवित्रता और निश्छल प्रेम प्रिय हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥
जौं पै दुष्टहृदय सोइ होई। मोरें सनमुख आव कि सोई॥
निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥
(रा०च०मा० ५।४४।२-५)

जब भक्तके हृदयमें सात्त्विक, पवित्र भावोंका उदय होता है, उसके मनमें इष्टदेवके प्रति निश्छल प्रेमका पारावार उमड़ता है, तब वह मनसा, वाचा, कर्मणा प्रेममय हो जाता है। उसका शरीर पुलकित और रोमाञ्चित हो उठता है, वाणी अवरुद्ध हो जाती है, नेत्र सजल हो जाते हैं तथा अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है। भक्तकी पूरी देह शिथिल हो जाती है, उसे अपनी सुधि नहीं रहती, पूर्ण आत्मविस्मृति हो जाती है।

यहाँ श्रीरामचरितमानसके कतिपय उन संदर्भोंका संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है, जिनमें अनुरागी भक्तोंकी ऐसी ही भावपूर्ण स्थितिका चित्रण है—

(१) अहल्याजीका प्रभुप्रेम—श्रीरामजीके पावन चरणकमलोंका स्पर्श पाते ही, शापवश शिला बनी हुई ऋषि गौतमकी पत्नी अहल्या तत्काल अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हो गयी। अतिशय प्रेम और आनन्दके कारण वह अधीर हो गयी। उसका शरीर पुलकित हो उठा। कण्ठ भर आया, मुखसे शब्द नहीं निकले और दोनों नेत्रोंसे जलधारा बहने लगी—

परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही।
देखत रघुनायक जन सुख दायक सनमुख होइ कर जोरि रही॥
अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवइ बचन कही।
अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही॥
(रा०च०मा० १।२११।छन्द १-२)

(२) प्रभुदर्शनसे राजा जनककी विदेहावस्था—जनकपुरीके निवासियोंने जब श्रीराम और लक्ष्मणको देखा तो वे बहुत आनन्दित हुए। उनके नेत्रोंमें प्रेमके अश्रु उमड़ पड़े। श्रीरामके मोहक स्वरूपको देखकर राजा जनक अपनी देहकी सुध-बुध भूल गये। राजा बार-बार प्रभुको देखते हैं—दृष्टि वहाँसे हटती ही नहीं। प्रेमसे उनका शरीर पुलकित हो रहा है—

भए सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता॥
मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥
पुनि पुनि प्रभुहि चितव नरनाहू। पुलक गात उर अधिक उछाहू॥
(रा०च०मा० १।२१५।७-८; २१६।५; २१७।५)

(३) जनकपुरीके बालकोंका प्रेमभरा कौतुक—जनकपुरीमें ही जब बालकोंने श्रीरामको देखा तो प्रेमानन्दमें मग्न होकर वे धनुषयज्ञशाला दिखानेके बहानेसे बार-बार प्रभुजीके अङ्गोंका स्पर्श करने लगे। उनके शरीरमें रोमाञ्च और मनमें प्रीतिभाव समा गया—

पुर बालक कहि कहि मृदु बचना। सादर प्रभुहि देखावहिं रचना॥
सब सिसु एहि मिस प्रेमबस परसि मनोहर गात।
तन पुलकहिं अति हरषु हियँ देखि देखि दोउ भ्रात॥
सिसु सब राम प्रेमबस जाने। प्रीति समेत निकेत बखाने॥
निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई॥
(रा०च०मा० १।२२४।८ से २२५।१-२ तक)

(४) ग्रामवासियोंका प्रेममें अधीर होना—वनगमनके समय सीताजी और लक्ष्मणजीसहित श्रीरघुनाथ जब किसी गाँवके निकट पहुँचते हैं तब उनके आगमनकी बात सुनकर सभी ग्रामवासी—बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष—अपने-अपने कार्योंको छोड़कर उनके दर्शनके लिये दौड़ पड़ते हैं। श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजीके स्वरूपको देखकर सभीके मनमें हर्षोल्लास भर जाता है। उनके नेत्रोंमें आँसू छलक आते हैं और शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। वे सभी प्रेममें इतने अधीर हो जाते हैं कि उनके तन, मन, वाणी—सभी शिथिल हो जाते हैं—

सीता लखन सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहिं जाई॥
सुनि सब बाल बृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृहकाजु बिसारी॥
राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयनफलु होहिं सुखारी॥
सजल बिलोचन पुलक सरीरा। सब भए मगन देखि दोउ बीरा॥
बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रंकन्ह सुरमनि ढेरी॥
एकन्ह एक बोलि सिख देहीं। लोचन लाहु लेहु छन एहीं॥
रामहि देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥
एक नयन मग छबि उर आनी। होहिं सिथिल तन मन बर बानी॥
(रा०च०मा० २।११४।१—८)

भरतजीके साथ जब पूरा समाज श्रीरामजीसे मिलनेके लिये चित्रकूटकी ओर जा रहा था, तब सभी स्नेह-सुरामें छककर शिथिल हो रहे थे, चलते हुए उनके पग डगमगा रहे थे। वे प्रेमसे अधीर हुए विह्वल वचन बोल रहे थे—

भरतहि सहित समाज उछाहू। मिलिहहिं रामु मिटिहि दुख दाहू॥
करत मनोरथ जस जियँ जाके। जाहिं सनेह सुराँ सब छाके॥
सिथिल अंग पग मग डगि डोलहिं। बिहबल बचन पेम बस बोलहिं॥
(रा०च०मा० २।२२५।२—४)

(५) भरतजीके नेत्रोंसे अश्रुधाराका प्रवाह—जब केवटने भरतजीको उस स्थानकी ओर संकेत किया जहाँ श्रीरामजीकी कुटिया थी और जहाँ सीताजी तथा लक्ष्मणजीद्वारा लगाये गये तुलसीके पौधे सुशोभित थे, तब भरतजीके नेत्रोंमें जल उमड़ आया। उनके अनिर्वचनीय प्रेमको देखकर सभी जड़ और चेतन प्रेममग्न हो गये। स्वयं केवट भी प्रेममें अधीर होकर मार्ग भूल गया। ऐसा था भरतजीके हृदयमें श्रीरघुनाथजीके प्रति निर्भर और निश्छल प्रेम—

सखा बचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी॥
करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद सकुचाई॥
हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारसु पायउ रंका॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥
देखि भरत गति अकथ अतीवा। प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवा॥
सखहि सनेह बिबस मग भूला। कहि सुपंथ सुर बरषहिं फूला॥
निरखि सिद्ध साधक अनुरागे। सहज सनेहु सराहन लागे॥

होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥

(रा०च०मा० २।२३८।१—८)

(६) सुतीक्ष्णमुनिका प्रेममय सात्त्विक भाव—ऋषि अगस्त्यके शिष्य सुतीक्ष्णमुनिको जब यह समाचार मिलता है कि उनके इष्टदेव श्रीराम वनमें आनेवाले हैं तो वे प्रेमानन्दमें ऐसे मग्न हो जाते हैं कि उनकी उस भावमय दशाका वर्णन नहीं किया जा सकता। उन्हें न तो दिशाएँ सूझ रही हैं और न ही उनको मार्गका कोई ज्ञान है—उन्हें यह भी ध्यान नहीं रहा कि मैं कौन हूँ, कहाँ जा रहा हूँ। वे कभी पीछेकी ओर चल देते हैं, फिर तुरंत लौटकर आगे बढ़ने लगते हैं, कभी प्रभुजीके गुण गा-गाकर नाचने लगते हैं, कभी शान्त हो जाते हैं—

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥

(रा०च०मा० ३।१०।१०—१२)

(७) शबरीका प्रभुप्रेम—सीताजीकी खोज करते हुए जब श्रीराम और लक्ष्मणजी तपस्विनी शबरीके आश्रममें पहुँचे, तब वह दोनों भाइयोंको देखकर उनके चरणोंमें लिपट गयी। उसके हृदयमें प्रेमका सागर उमड़ पड़ा। वह आनन्दमग्न हो गयी। उसके मुखसे वचन नहीं निकल सके—

स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥
प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा॥
सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुंदर आसन बैठारे॥
कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥
पानि जोरि आगें भइ ठाढ़ी। प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी॥

(रा०च०मा० ३।३४।८ से ३५।१ तक)

(८) हनुमान्‌जीकी प्रेमनिष्ठा—हनुमान्‌जी पहली बार विप्रवेषमें दोनों भाइयोंसे मिले थे। बादमें उनका परिचय पाकर वे अपने इष्टदेवको पहचान गये। फिर तो उनका हृदय गद्‌गद हो गया। वे प्रभुजीके चरणोंमें गिर पड़े, शरीर पुलकित हो गया, मुखसे वचन नहीं निकल पाये, फिर किसी प्रकार धैर्य धारण करके हनुमान्‌जीने प्रभुजीकी स्तुति की—

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना॥
पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना॥
पुनि धीरजु धरि अस्तुति कीन्ही। हरष हृदयँ निज नाथहि चीन्ही॥

(रा०च०मा० ४।२।५—७)

रावण-वधके पश्चात् हनुमान्‌जीने जब भरतजीको श्रीरामजीके अयोध्या लौटनेका शुभ समाचार सुनाया, तब भरतजीने तत्काल उठकर हनुमान्‌जीको आदर और प्रेमपूर्वक हृदयसे लगा लिया। भरतजीके मनमें इतना आनन्दोल्लास था कि वह हृदयमें नहीं समा सका। नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी, शरीर पुलकायमान हो गया। धैर्य धारण करके वे कहने लगे—पवनसुत! तुम्हारे दर्शनसे मेरे समस्त दुःखोंका अन्त हो गया। तुम्हारे समाचारकी संजीवनीसे मुझे ऐसा लग रहा है मानो श्रीरामजीके ही दर्शन हो गये—भरतजी बार-बार श्रीरामजी, सीताजी और लक्ष्मणजीके बारेमें पूछने लगे। वे बार-बार हनुमान्‌जीसे गले मिलकर भावविह्वल हो रहे थे—

मिलत प्रेम नहिं हृदयँ समाता। नयन स्त्रवत जल पुलकित गाता॥
कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते॥
बार बार बूझी कुसलाता। तो कहुँ देउँ काह सुनु भ्राता॥
एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥
तब हनुमंत नाइ पद माथा। कहे सकल रघुपति गुन गाथा॥

(रा०च०मा० ७।२।१०—१५)

(९) सनकादि मुनियोंद्वारा प्रभुकी प्रेममय छविका दर्शन—सनकादि मुनियोंने अयोध्यामें आकर जब श्रीरामकी अनुपम छविके दर्शन किये, तब वे निर्भर प्रेममें आत्म-विस्मृत हो गये। वे (मुनिलोग) निर्निमेष देखते ही रह गये और प्रभुजी हाथ जोड़े हुए नमन करते रहे—

मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी। भए मगन मन सके न रोकी॥
स्यामल गात सरोरुह लोचन। सुंदरता मंदिर भव मोचन॥
एकटक रहे निमेष न लावहिं। प्रभु कर जोरें सीस नवावहिं॥

(रा०च०मा० ७।३३।२—४)

प्रेमास्पद प्रभु श्रीरामका प्रेम-दान

भक्तवत्सल, करुणानिधान भगवान् श्रीराम प्रीतिकी रीतिको भलीभाँति जानते हैं। वे अन्य सम्बन्धोंको छोड़कर केवल प्रेम और भक्तिका ही सम्बन्ध मानते हैं—

जानत प्रीति-रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत, राम सनेह-सगाई॥

(विनय-पत्रिका १६४)

भला, संसारमें श्रीरघुनाथजीके समान शील और स्नेहका निर्वाह करनेवाला और कौन है—

को रघुबीर सरिस संसारा। सीलु सनेहु निबाहनिहारा॥

(रा०च०मा० २।२४।४)

श्रीरघुनाथजी सहज स्नेह और करुणाकी मूर्ति हैं। दूसरोंका दुःख देखकर वे स्वयं द्रवित हो जाते हैं—

करुनामय रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइअहिं पीर पराई॥

(रा०च०मा० २।८५।२)

हनुमान्जीके अनन्य प्रेम और उनकी भक्तिभावनाको देखकर श्रीरामजीने उन्हें तुरंत हृदयसे लगा लिया। प्रभु श्रीराम ऐसे भावविभोर हो गये कि हनुमान्जीको प्रेमाश्रुद्वारा पूरी तरह भिगो दिया—

तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥

(रा०च०मा० ४।३।६)

इसीलिये सनकादि मुनियोंकी प्रेमविह्वल दशा देखकर श्रीरघुनाथजीके नेत्रोंमें भी प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगे। उनका शरीर पुलकित हो गया। प्रभुजीने हाथ पकड़कर मुनियोंको बैठाया और अपनी हार्दिक प्रसन्नता प्रकट की—

तिन्ह कै दसा देखि रघुबीरा। स्रवत नयन जल पुलक सरीरा॥
कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे। परम मनोहर बचन उचारे॥
आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा। तुम्हरें दरस जाहिं अघ खीसा॥

(रा०च०मा० ७।३३।५—७)

इसी प्रकार सुग्रीव, जाम्बवन्त, नल, नील, अंगद, हनुमान्, विभीषण आदिके निश्छल प्रेमको देखकर श्रीरामने अयोध्या जाते हुए उन सभीको भी पुष्पकविमानमें बैठा लिया—

अतिसय प्रीति देखि रघुराई। लीन्हे सकल बिमान चढ़ाई॥

(रा०च०मा० ६।११९।१)

चित्रकूटमें वास करते हुए श्रीरघुनाथजीको जब यह संकेत मिला कि भरतजी मिलने आये हैं और प्रणाम कर रहे हैं। बस, श्रीरघुनाथजी ऐसे प्रेमनिमग्न हो गये कि तुरंत उठ खड़े हुए। उन्हें इस बातका भी ध्यान नहीं रहा कि वस्त्र कहाँ गिर गया, तरकस कहाँ गिरा, बाण कहाँ गिरे, धनुष किधर जा पड़ा—वे अधीर हो गये, उन्होंने स्नेहपूर्वक भरतजीको उठाकर हृदयसे लगा लिया। भरतजी और श्रीरामजीकी इस भेंटको देखकर सभी अपनी सुध-बुध भूल गये—

उठे रामु सुनि पेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥
बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥

(रा०च०मा० २।२।२४०।८, दोहा २४०)

स्वयं भगवान् श्रीरामने अपने श्रीमुखसे अपने सहज स्नेही, करुणानिधान स्वभावके सम्बन्धमें बताया है कि उन्हें अपने सेवक परमप्रिय हैं—

अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥
सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥
सब कें प्रिय सेवक यह नीती। मोरें अधिक दास पर प्रीती॥

(रा०च०मा० ७।१६।६—८)

परम कृपालु, भक्तवत्सल श्रीरामके प्रति निश्छल प्रेम एवं पूर्ण समर्पण समस्त कल्याणराशिका आगार है। अतः जीवनमें सच्ची सुख-शान्ति एवं परमार्थप्राप्तिके लिये अनन्य प्रेमका आश्रय लेकर उनका सतत स्मरण करते रहना चाहिये। अनन्य भाव, अनन्य गतिका निहितार्थ है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा०च०मा० ४।३)

श्रीराम हनुमान्जीसे कहते हैं—अनन्य वही है जिसकी ऐसी अटल बुद्धि है कि मैं सेवक हूँ और यह चराचर जगत् मेरे स्वामीका ही रूप है। अतः सभीके प्रति सादर, सविनय प्रणाम—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥

(रा०च०मा० १।७ ग)

* * *

श्रीचैतन्योपदिष्ट प्रेमदर्शन

(डॉ० आचार्य श्रीगौरकृष्णजी गोस्वामी शास्त्री, काव्यपुराणदर्शनतीर्थ, आयुर्वेदशिरोमणि)

जिस समय भारतीय भूभागका विस्तृत अंश विदेशी आक्रान्ताओंके निरन्तर आक्रमणोंसे ग्रस्त हो रहा था, धर्मोन्मत्तता दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही थी, निर्दोष मानवोंकी हत्याएँ सामान्य बात हो गयी थीं, वर्णाश्रम-व्यवस्था छिन्न-भिन्न होती जा रही थी, प्रतिष्ठित जन अपमानित हो रहे थे, उस समय प्रेमावताररूपमें भागीरथीके सुरम्य तटस्थ नवद्वीपमें श्रीचैतन्यदेवका आविर्भाव हुआ। उस समय हिन्दू जाति, जातिगत अनेक वर्ग-भेदोंमें विभाजित थी, उसके एकत्रीकरणके लिये श्रीचैतन्यदेवने श्रीहरिनाम-कीर्तनकी योजना प्रारम्भ की। वे घर-घर जाकर बिना किसी वर्गभेदके हरिनामका प्रचार-प्रसार करने लगे। इसके प्रभावसे ब्राह्मण और चाण्डाल एक-दूसरेको गले लगाकर हरिनाम-कीर्तन करने लगे थे। यद्यपि श्रीचैतन्यदेव चौबीस वर्षकी अल्पावस्थामें ही सांसारिक माया-बन्धनका परित्याग कर पारमार्थिक पथके पथिक बन गये तो भी उन्होंने अपने लक्ष्य—संकीर्तनके माध्यमसे जागतिक जनोंको प्रेम-संदेश दिया। जिनके मुखसे कभी श्रीकृष्णनाम नहीं निकला था, उनको भी उन्होंने कृष्णनाम-सुधारस पिलाकर उन्मत्त कर दिया। नामके प्रभावसे पर्वतोंमें स्पन्दन, लताओंमें मधु-निर्झरण और हिंसक पशु-पक्षियोंमें जातिगत वैरभाव समाप्त हो गया तथा वे हरि-हरि कहकर नाचने लगे। यह था श्रीचैतन्यका प्रेम-प्रसाद। श्रीचैतन्यदेवने साधकोंको इस साध्य-सार प्रेमकी वास्तविक उपलब्धिके अनेक साधन बतलानेका अनुग्रह किया।

साध्य तत्त्व

साध्य वह तत्त्व है जिसकी प्राप्ति होनेके बाद किसी अन्य वस्तुकी अभिलाषा नहीं रहती। साध्यात्मक ज्ञान शास्त्रोंके प्रमाणके बिना सर्वथा असम्भव है। साधारणतः जीवकी काम्य वस्तु ही साध्य है। अभिलाषाके अनुसार यह पुरुषार्थ-चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार भागोंमें विभाजित है। इनमेंसे यद्यपि मोक्षमें वास्तविक सुखका अनुभव होता है और दुःखसे निवृत्ति भी होती है, तथापि यह भी परम पुरुषार्थ नहीं है। कारण, मोक्षप्राप्त जीवोंके हृदयमें भगवद्भजनकी उत्कण्ठा दिखायी देती है। अतः भजनद्वारा उत्पन्न भगवत्प्रेम ही साध्य तत्त्व है। जिसके द्वारा नित्य सुखकी प्राप्ति तथा दुःखोंकी निवृत्ति होती है।

प्रेमका स्वरूप

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व० ४। १)

अर्थात् भाव अथवा रति जब प्रगाढ़ता प्राप्त करती है और उसके कारण चित्त भलीभाँति द्रवित होकर श्रीकृष्णके प्रति अतिशय ममतासम्पन्न होता है, तब उसे प्रेम कहते हैं।

इसीलिये श्रीमन्महाप्रभुने प्रेमको परम पुरुषार्थके रूपमें परिगणित किया है—**'प्रेमा पुमर्थो महान्'**।

प्रेमके साधन

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाऽभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व० ४। ६-७)

उपर्युक्त श्लोकोंमें प्रेमके साधन-क्रमको दर्शाया गया है जो इस प्रकार है—

श्रद्धा—शास्त्रानुमोदित वाक्योंमें श्रद्धा।

साधुसङ्ग—सर्वार्थसिद्धिप्रदायक साधुसङ्ग।

भजन—श्रवण-कीर्तनोंका अनुष्ठान।

अनर्थनिवृत्ति—भजन सम्पन्न होनेपर अनर्थोंकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है।

निष्ठा—भक्तिकी दृढ़ता होनेपर निष्ठा होती है।

रुचि—निरन्तर आराधनासे रुचि उत्पन्न होती है।

आसक्ति—भक्तिकी प्रगाढ़तासे आसक्ति उत्प होती है।

भाव—आसक्तिकी प्रगाढ़तासे भाव उत्पन्न होता है।

प्रेम—भावकी परिपक्वतासे आस्वादनीय प्रेमरस उत्प

होता है।

हृदयमें प्रेमकी उत्पत्तिके लिये साधकोंके प्रयोजनार्थ ये क्रम निर्धारित किये गये हैं।

प्रेमभावका पाँच भागोंमें विभाजन

यह प्रेम-तत्त्व दास्य, सख्य, वात्सल्य, शान्त और मधुर—इन पाँच रूपोंमें विभाजित है। श्रीचैतन्यदेवने मधुर रसके अन्तर्गत कान्ताभावको सर्वोत्तम प्रेमका उद्भवस्थान माना है।

कान्ताभाव—इसमें व्रजगोपियोंका सर्वोत्तम स्थान है। व्रजगोपियोंको अपने सुखकी कामना नहीं रहती, अपितु उनका सुख श्रीकृष्णके सुखमें निहित है—

निजेन्द्रिय सुखवांछा नहि गोपिकार।
कृष्णसुख दिने करे संगम विहार॥

यह कान्ताप्रेम सुख-साध्यकी चरम सीमा है—

सम्पूर्ण कृष्ण प्राप्ति एई प्रेम हइते।
एई प्रेमवश कृष्ण कहे भागवते॥

श्रीमद्भागवतके अनुसार इसी प्रेमके द्वारा जीव श्रीकृष्णचरणाश्रय प्राप्त करता है और भगवान् सदाके लिये भक्तके प्रेमबन्धनमें बँध जाते हैं।

श्रीराधाप्रेम

इहार मध्य राधार प्रेम सर्वसाध्य शिरोमणि।

किंतु इससे भी अधिक सर्वश्रेष्ठ प्रेम आह्लादिनी शक्तिस्वरूपा महाभावमयी श्रीराधाका है। श्रीमहाप्रभुने श्रीराधाके प्रेमकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है। यदि श्रीचैतन्यदेव अवतरित न होते तो हम पामरोंकी क्या गति होती? श्रीमती राधिकाकी माधुर्य-सीमाको संसारमें कौन बतलाता?

गौरांगना हइत के मन हइत केमन राखि ताम देहरे।
राधार महिमा प्रेम रससीमा जगते जानातो के हरे॥

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीके शब्दोंमें—प्रेमका परम पुरुषार्थ रूप क्या किसीने सुना है? नाममहिमाको क्या कभी किसीने जाना है? श्रीवृन्दावनमाधुरीमें क्या किसीका प्रवेश कभी सुना है? महाभावस्वरूपा श्रीराधाकी महिमाको क्या कोई जानता था? यह सब श्रीचैतन्यदेवकी कृपासे सांसारिक जीवोंको उपलब्ध हुआ है।

सर्वश्रेष्ठ भक्तिके पाँच अङ्ग

श्रीमन्महाप्रभुने साधन-भक्तिके चौंसठ अङ्गोंमेंसे साधु-संग, नाम-कीर्तन, भागवत-श्रवण, मथुरामण्डलमें वास और श्रीमूर्ति-सेवनको सर्वश्रेष्ठ साधन माना है—

साधुसंग, नाम कीर्तन, भागवतश्रवण,
मथुरा वास, श्रीमूर्ति श्रद्धाय सेवन।
सकल साधन श्रेष्ठ एई पाँच अंग,
कृष्ण प्रेम जन्माय, ऐई, पाँचेर अल्पसंग॥

मथुरामण्डलमें श्रीवृन्दावनको सर्वोत्तम कहा गया है। राय रामानन्दसे श्रीमन्महाप्रभुने पूछा कि सब त्यागकर जीवको कहाँ रहना चाहये—**'सर्वत्यजि जीवेर कर्तव्य कहाँ वास?'**

तब उन्होंने उत्तर दिया—**'श्रीवृन्दावन भूमि जहाँ लीलारास।'**

सारे माया-बन्धनोंको त्यागकर जीवको सच्चिदानन्द-घनस्वरूप, माया एवं कालसे अतीत, श्रीकृष्णका नित्य विहारस्थल, जहाँ नित्य रास-विहार चलता रहता है, उस श्रीवृन्दावनमें निवास करना चाहिये और वहाँ जीव सकल साधनोंमें सर्वोत्तम इन पाँच अङ्गोंकी अल्पकालीन आराधनासे सहज ही रागानुगारीतिमार्गद्वारा श्रीराधाकृष्णका श्रीचरणाश्रय प्राप्त कर लेता है।

* * *

सोइ रसना जो हरिगुन गावै।
नैननकी छबि यहै चतुरता, ज्यों मकरंद मुकुंदहि ध्यावै॥
निर्मल चित तौ सोई साँचो, कृष्ण बिना जिय और न भावै।
स्त्रवननकी जु यहै अधिकाई, सुनि हरि-कथा सुधारस प्यावै॥
कर तेई जे स्यामहि सेवै चरननि चलि बृंदाबन जावै।
सूरदास जैये बलि ताके, जो हरिजू सों प्रीति बढ़ावै॥

(भजन-संग्रह पद १९८)

* * *

लीला-दर्शन—

माखन-चोरी

उमड़-घुमड़कर काले मेघ बरस चुके हैं। इन्द्रधनुष उदित हो आया है, मानो वर्षा-सुन्दरीने व्रजपुरके क्षितिजपर रत्नोंकी बंदनवार बाँधी हो! ग्रीष्म एवं पावसकी संधिपर श्रीकृष्णचन्द्रकी मणिस्तम्भलीला—प्रथम नवनीतहरण-लीलाकी झाँकीसे उन्मादिनी हुई वर्षा-सुन्दरी व्रजमें घूम रही है; वन-उपवन, नद-नदी, ह्रद-सरोवर—जहाँ जाती है वहीं हृदय उमड़ पड़ता है, नाचने लगती है, परिधानका कृष्णवर्ण अञ्चल उड़ने लगता है। नृत्यके आवेशमें वह सुदूर आकाशमें उड़ गयी, अंशुमालीकी किरणोंने उसके गलेमें रत्नोंका हार पहना दिया; किंतु अब आभूषण धारण करनेकी उसे लालसा जो नहीं है। अब तो वह श्रीकृष्णचन्द्र-चरणाङ्कित व्रजपुरका आभूषण स्वयं बन जाना चाहती है, अपने अङ्गका अणु-अणु व्रजपुरमें विलीन कर देना चाहती है; इसीलिये उसने किरणोंके उपहार—रत्नोंके हारको तोड़ डाला तथा उन सात रंगोंके रत्नोंके द्वारा व्रजेन्द्रकी पुरीको सजानेके उद्देश्यसे क्षितिजको छूती हुई बंदनवार बाँध दी। श्रीकृष्णचन्द्र इसी बंदनवार—आकाशमें उदित इन्द्रचापकी ओर देख रहे हैं। नन्दोद्यानकी तमालवेदिकापर अपने सखा वरूथपकी गोदमें सिर रखकर, अर्धशायित हुए उस रत्न-धनुषकी शोभा निहार रहे हैं, इन्द्रचापका सौन्दर्य-वर्णन करके सखाओंको सुना रहे हैं पर स्वयं उनके श्रीअङ्गोंका सौन्दर्य कितना मोहक है, इसे वे स्वयं नहीं अनुभव करते। ओह! वह सघन कुन्तलराशि, मुखचन्द्रपर बिखरी हुई अलकावलीकी लटें, वे विशाल नेत्र, वह मृदु बोलन, वह मधुस्रावी अधरयुग्म, ललित वदनारविन्द, वे चञ्चल चेष्टाएँ—इन्हें जो निहार सके, उसे ही भान होता है कि इस सौन्दर्यमें कितनी मादकता भरी है—ऐसी मादकता जो मन-प्राण-इन्द्रियोंको विमोहित कर दे, श्रीकृष्णचन्द्रके प्रत्यक्ष वर्तमान रहनेपर भी उनकी रूपसुधामें नेत्रोंके नित्य निमग्न रहनेपर भी चित्त हाहाकार कर उठे कि हाय! श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन मुझे कब होंगे—

चिकुरं बहुलं विरलं भ्रमरं मृदुलं वचनं विपुलं नयनम्।
अधरं मधुरं ललितं वदनं चपलं चरितं च कदानुभवे॥

(श्रीकृष्णकर्णामृतम्)

अस्तु, इसी समय एक व्रजसुन्दरी वहाँ आयी। आकर बोली—'नीलमणि! व्रजेश्वरी तुम्हें बुला रही हैं, मेरे साथ घर चलो।'

किंतु श्रीकृष्णचन्द्रको अवकाश कहाँ कि जननीके आह्वानका उत्तर भी दे सकें। वे तो उस सुन्दर धनुषके अरुण, नारङ्ग, पीत, हरित, उज्ज्वल, नील और अरुणिम नीलवर्णोंका विश्लेषण करके सखाओंको दिखा रहे हैं, रंगोंकी गणना कर रहे हैं, व्रजसुन्दरी भी मुग्धभावसे श्रीकृष्णचन्द्रकी इस बाल्यमाधुरीका रस लेने लगती है। कुछ क्षण पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्र उसकी ओर देखते हैं, तब उसे यह ज्ञान होता है कि 'मैं केवल देखने नहीं, मैं तो बुलाने भी आयी हूँ।' अतः स्मरण होनेपर वह पुनः श्रीकृष्णचन्द्रसे चलनेके लिये कहती है। इस बार श्रीकृष्णचन्द्रने उत्तर दे दिया—'अभी तो मैं खेल रहा हूँ, नहीं जाऊँगा।'

यह गोपसुन्दरी नन्दभवनमें आयी थी। इसने अन्य पुर-रमणियोंके मुखसे श्रीकृष्णचन्द्रके मणिस्तम्भमें अपने प्रतिबिम्बसे भ्रमित होनेकी लीला तथा—

प्रथम करी हरि माखन चोरी।
ग्वालिनि मन इच्छा करि पूरन आपु भजे ब्रज खोरी॥

—इसका विस्तृत वर्णन सुना। सुनकर प्रेममें डूब गयी, उसी क्षण व्रजेश्वरीके पास पहुँची। गद्गदकण्ठसे पूछा—'व्रजरानी! नीलमणि किधर है?' उत्तरमें यशोदारानीने उद्यानकी ओर संकेत कर दिया तथा बोलीं—'बहिन! तू उधर जाय तो उसे कह देना कि मैया बुला रही है और अपने साथ ही लेती आना।' बस, वह मन्त्रमुग्धा-सी अविलम्ब उद्यानकी ओर दौड़ पड़ी। तमालवेदीपर गोपशिशुओंके कोलाहलने उसे श्रीकृष्णचन्द्रका पता बता दिया और वह वहाँ जा पहुँची।

जब श्रीकृष्णचन्द्रने घर लौटना अस्वीकार कर दिया, तब वह वहीं बैठ गयी। उसके नेत्र छल-छल करने लगे। इसलिये नहीं कि श्रीकृष्णचन्द्र घर क्यों नहीं चल रहे हैं, उसके हृदयकी तो वेदना ही दूसरी है। वह सोच रही है—'हाय! मैं अभागिनी नन्दभवनसे इतनी दूर क्यों बसी; जैसे श्रीकृष्णचन्द्र उस ग्वालिनके घर गये, माखन खाया, वैसे इतनी दूर मेरे घर आनेकी, मेरा माखन आरोगनेकी तो सम्भावना ही नहीं है।' ये भाव गोपसुन्दरीके प्राणोंमें टीस उत्पन्न कर रहे थे। इसीलिये उसके नेत्र भर आये। वह अपने भावोंको संवरण करना चाहती है, किंतु कर नहीं

पाती। श्रीकृष्णचन्द्रके सलोने मुखकी ओर जितना देखती है, उतनी ही यह लालसा प्रबल होती जा रही है। यहाँतक कि उसे अनुभव होने लगा कि 'यदि कुछ क्षण मैं यहाँ और रुकी रही तो इस लालसाके भारसे चेतनाशून्य हो जाऊँगी। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रकी इस स्वच्छन्द, आनन्दमयी क्रीड़ामें विघ्न हो जायगा।' इसीलिये वह अपना सारा साहस, धैर्य बटोरकर उठ खड़ी हुई और नन्दभवनकी ओर लौट पड़ी। उसे पथ नहीं दीख रहा है, नेत्रोंसे अश्रुधारा दोनों कपोलोंपर बह रही है। किसी तरह अपनेको सँभाले और नेत्रोंमें, हृदयमें श्रीकृष्णचन्द्रकी झाँकी लिये वह चली जा रही है। व्रजेश्वरीके निकट पहुँची, किंचित् धैर्य हो आया; नीलमणिने आना स्वीकार नहीं किया, यह बात व्रजरानीको बताकर वह अपने घर चली गयी।

गोपसुन्दरीके मनोगत भावोंका और किसीको तो पता नहीं, पर व्रजेन्द्रनन्दन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिको सब कुछ ज्ञात है। वे ही तो यशोदाके वात्सल्य-सुधा-सागरपर संतरण करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी चेष्टाओंका नियन्त्रण करती हैं। वात्सल्यकी कौन-सी पयस्विनी इस सागरसे मिली है, कहाँपर संगम है, कौन-सी वात्सल्यधारा मिलने आ रही है, कहाँ संगमित होगी, किस संगमपर, किस वात्सल्यतीर्थपर श्रीव्रजेशपुत्रको आज स्नान कराना है—इन सबकी पूरी सूची उन्हींके पास तो है। अपने इच्छानुसार, अपने निर्दिष्ट क्रमसे वे श्रीकृष्णचन्द्रको लहरोंपर बहाती हुई किसी संगमपर ले जाती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ स्नान करते हैं, अञ्जलिमें भरकर वात्सल्यसुधारसका पान करते हैं, एक-दो छींटे किनारेपर बिखेर देते हैं, इन्हीं बिन्दुओंसे प्रपञ्च-जगत्के वात्सल्य-स्रोतमें रसका संचार सदा होता रहता है, स्रोत कभी सूखता नहीं। अत: लीलामहाशक्तिको व्रजसुन्दरीके हृदयकी धाराका पूरा पता है। वे जानती हैं कि यह धारा भी इसी सागरसे मिलने आ रही है। इन्हें तो प्रत्येकके संगमपर श्रीकृष्णचन्द्रको अवगाहन—प्रत्येककी पवित्र सुधाका मुक्त आस्वादन कराना है। इसीलिये ये क्रमशः सबके लिये द्वार खोलती रहती हैं। अत: इसके लिये भी कपाट उन्मुक्त करने चलीं।

श्रीकृष्णचन्द्र उसी प्रकार वरूथपके अङ्कमें विराजित हैं। परस्पर पावसके अनुरूप विविध क्रीड़ाकी चर्चा चल रही है। अब सुबल क्रीड़ाकी नयी योजना रख रहा है तथा श्रीकृष्णचन्द्र एवं अन्य सखा सुन रहे हैं। सहसा श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्र निमीलित हो गये। ठीक इसी समय लीलाशक्तिका संकेत पाकर सर्वज्ञताने उनके हृदयका किंचित् स्पर्श किया और धीरेसे बोली—'बाल्यलीला-विहारिन्! नाथ! मेरे स्वामिन्! वात्सल्यवती गोपसुन्दरियोंके कुछ हृदय-चित्र लिखकर ले आयी हूँ। यह देखो, जो गोपसुन्दरी अभी तुम्हें बुलाने आयी थी उसके हृदयका यह चित्र है। इसके पश्चात् देव! इन अगणित व्रजाङ्गनाओंके हृदयोंको देख लो, सबकी उत्कण्ठा परख लो। विभो! यह देखो, सभीने कितने स्नेहसे तुम्हारे लिये नवनीत सजाया है, आकुल प्राणोंसे किस प्रकार तुम्हारी पल-पल प्रतीक्षा कर रही हैं कि श्रीकृष्णचन्द्र हमारे घर आयें, छिपकर हमारा माखन आरोगें। गोलोकविहारिन्! सर्वथा अमर्यादित स्वरूपभूत परमानन्दरस-वितरण, परमानन्दरसास्वादनके लिये ही तो तुम्हारा अवतरण हुआ है। उस रसकी उपयुक्त पात्रा ये व्रजवासिनी गोपिकाएँ भी तुम्हारा दान लेने, तुम्हें रस देनेके लिये प्रस्तुत बैठी हैं। नाथ! व्रजके अतिरिक्त अन्य सभी लीलाओंमें तुम्हारा ऐश्वर्य तुम्हारे परिकरोंको आवृत किये रहता है, सम्भ्रमरहित विशुद्ध रसका आस्वादन तुम्हें कहीं प्राप्त नहीं होता। पर यह तो तुम्हारा अपना व्रज है। व्रजवासी तुम्हारे निजजन हैं। यहाँ तुम यशोदाके लिये उनके गर्भजात नीलमणि हो, गोपसुन्दरियोंके लिये भी यशोदानन्दन श्रीकृष्णचन्द्रमात्र हो। ऐसा बानक अन्यत्र कहाँ। वाञ्छाकल्पतरो! इन सबके मनोरथ पूर्ण करो। रस देकर, रसास्वादन कर इन वात्सल्यवती गोपसुन्दरियोंको वात्सल्यपयोनिधिमें डुबा दो नाथ!····।' श्रीकृष्णचन्द्रके अरुण अधरोंपर मन्द मुसकान छा गयी। उन्होंने लीलाशक्तिकी इस प्रार्थनाका अनुमोदन ही किया—

मन में यहै बिचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाउँ।
गोकुल जनम लियौ सुख-कारन, सब कें माखन खाउँ॥
बालरूप जसुमति मोहि जानै, गोपिनि मिलि सुख भोग।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सौं, ये मेरे ब्रज-लोग॥

नन्दनन्दन उठ बैठे। हँसकर सखाओंसे बोले—'भैयाओ! माखन खानेका खेल खेलोगे?' 'माखनका खेल!!' दो-चारने एक साथ आश्चर्यमें भरकर कहा। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रने नवनीतहरणलीलाकी अपनी विस्तृत योजना सखाओंके समक्ष रख दी। किस प्रकार हमलोग छिपकर प्रत्येक गोपीके घरमें जायँ, मैं माखनकी मटकी

उठा लाऊँ और फिर हम सब मिलकर खायँ, दूसरे पशु-पक्षियोंको खिलायें, गिरायें, माखनकी कीच मचायें—ये सारे विचार श्रीकृष्णचन्द्रने गोप-सखाओंको समझाये। सुनकर गोप-शिशुओंके आनन्दका पार नहीं। ताली पीट-पीटकर वे उस तमालवेदीपर नाचने लगे। व्रजेश्वरकी सौंह खाकर सभी श्रीकृष्णचन्द्रकी बुद्धिकी प्रशंसा करने लगे—

करैं हरि ग्वाल संग बिचार।
चोरि माखन खाहु सब मिलि, करहु बाल-बिहार॥
यह सुनत सब सखा हरषे, भली कही कन्हाइ।
हँसि परस्पर देत तारी, सौंह करि नँदराइ॥
कहाँ तुम यह बुद्धि पाई, स्याम चतुर सुजान।
सूर प्रभु मिलि ग्वाल-बालक, करत हैं अनुमान॥

अब भुवनभास्कर अस्ताचलकी ओर जा रहे थे। व्रजेश्वरी अपने नीलमणिको लेने आ गयी थीं। अतः श्रीकृष्णचन्द्र नन्दभवनकी ओर चल पड़े। जाते समय अपनी मोहिनी चितवनके संकेतसे सखाओंको कार्यक्रमकी बात बताते गये। भवनमें जाकर जननीके परम ललित लाड़से सिक्त होकर शीघ्र ही वे सो गये। जब दूसरे दिन प्रभातके समय जागे तो सखामण्डली उन्हें घेरे खड़ी थी।

यशोदारानीने विधिवत् उबटन-स्नान-शृङ्गार आदिसे श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअङ्गोंको सजाया, सखाओंको साथ बैठाकर सबको समानभावसे कलेवा कराया, जल पिलाया, ताम्बूल खिलाया। फिर खेलने जानेकी अनुमति दे दी। तुमुल आनन्दनाद करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र एवं गोपशिशु बाहरकी ओर दौड़ पड़े। आगे-आगे श्रीकृष्णचन्द्र हैं, उनके पीछे गोपबालक। गोपशिशु नहीं जानते कि कहाँ जाना है, वे तो नन्दनन्दनका अनुसरण कर रहे हैं; तथा नन्दनन्दन बिना रुके, सीधे उस गोपसुन्दरीके घर जा रहे हैं, जो उन्हें कल तमालवेदीपर बुलाने गयी थी। देखते-ही-देखते उसके गृहके निकट जा भी पहुँचे।

गोपसुन्दरी उस समय दधिमन्थन कर रही थी। पर उसे अपने शरीरकी सुध-बुध नहीं है, किसी और ही भावमें वह तन्मय हो रही है—मन्थनक्रियासे यह स्पष्ट झलक रहा था। सखासहित श्यामसुन्दर उपयुक्त अवसरपर ही नवनीतहरण—माखन-चोरीके लिये पधारे हैं तथा गवाक्ष-रन्ध्रसे व्रजसुन्दरीका दधिमन्थन देख रहे हैं—

सखा सहित गए माखन-चोरी।
देख्यौ स्याम गवाच्छ-पंथ ह्वै, मथति एक दधि भोरी॥

आकाशपथसे अमर, किंनर, विद्याधर, गन्धर्व आदि इस परम मनोहारिणी मोहिनी लीलाके दर्शन कर कृतार्थ हो रहे हैं। नवनीतहरण करने—माखन चुराने कौन आया है? वे आये हैं; जिनके प्रत्येक रोमकूपमें—जैसे आकाशमें वायुसंचारित क्षुद्र रजःकण उड़ते रहते हैं, वैसे उत्तरोत्तर दसगुणित सप्तावरणसमन्वित असंख्य ब्रह्माण्ड एक साथ घूमते रहते हैं, जिनका अन्त स्वर्गादि-लोकाधिपति ब्रह्मा, इन्द्रप्रभृति नहीं जानते, नहीं जान सकते; जो इतने अनन्त हैं कि अपना अन्त स्वयं नहीं जानते; जिनके स्वरूपका साक्षात् वर्णन श्रुतियाँ भी नहीं कर सकतीं; स्वरूपसे अतिरिक्त वस्तुओंका निषेध करते-करते—

अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यम्।*

वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न सङ्ग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है; उसमें न अन्तर है, न बाहर है—इस प्रकार निरसन करते-करते श्रुतियाँ जिनमें जाकर समाप्त हो जाती हैं, अपनी सत्ता विलीन कर सफल हो जाती हैं—

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः॥

(श्रीमद्भा० १०।८७।४१)

जो इस विश्वका संकल्प करते हैं; जो विश्वके आदि, मध्य तथा अन्तमें स्थित हैं; जो प्रकृति-पुरुषके स्वामी हैं; जो विश्वका सृजन करके जीवके साथ इसमें प्रविष्ट हो गये हैं; जिन्होंने जीवभोगायतन शरीरसमूहकी रचना की है; जो इन शरीरोंका नियन्त्रण करते हैं; जिन्हें प्राप्तकर जीव—जैसे सुषुप्तिमें निमग्न पुरुष अपने शरीरका अनुसंधान छोड़ देता है, वैसे—मायापाशसे मुक्त हो जाता है; जो नित्य अच्युतस्वरूपमें अवस्थित हैं; जिन्हें माया तिलमात्र भी स्पर्श नहीं कर

---

* बृहदारण्यकोपनिषद् ३।८।८

सकती; जो सर्वथा विशुद्ध हैं; जो अभयपद हैं; जिनका निरन्तर चिन्तन ही जीवका एकमात्र कर्तव्य है—

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम्॥

(श्रीमद्भा० १०।८७।५०)

—वह नराकृति ब्रह्म, वे प्रकृति-पुरुषके स्वामी पुरुषोत्तम ही तो आप गोपसुन्दरीके घर नवनीत-हरण करने, माखन चुराने आये हैं। श्रीकृष्णचन्द्र! जय हो तुम्हारी इस विश्वचमत्कारिणी लीलाकी!

किंतु वास्तवमें श्रीकृष्णचन्द्रकी यह चेष्टा क्या चोरीमें परिगणित हो सकती है? नहीं, चोरी तो उसे कहते हैं कि परायी वस्तुको, उसकी इच्छाके बिना, उसकी अनुपस्थितिमें कोई अपने अधिकारमें कर ले—उपयोगमें ले ले। पर श्रीकृष्णचन्द्रसे अतिरिक्त कौन-सी वस्तु है, जिसे वे अपने अधिकारमें करें? उनके अतिरिक्त कौन है, जिसकी इच्छाके बिना, जिसकी अनुपस्थितिमें वे वस्तु ग्रहण करें? जब—

नान्यद् भगवतः किंचिद् भाव्यं सदसदात्मकम्॥

(श्रीमद्भा० २।६।३२)

—भाव या अभाव, कार्य या कारणरूपमें कोई वस्तु नहीं जो श्रीकृष्णसे भिन्न हो, तब वे कब, कहाँ, किसकी, किसलिये, कौन-सी वस्तु चोरी करेंगे? तो फिर यह क्या है? यह है वात्सल्य-रस-वितरणकी एक प्रकृष्ट प्रक्रिया, वात्सल्य-रसास्वादनकी एक पवित्र प्रणाली, भक्तमनोरथपूर्तिकी एक मधुर मनोहर सुन्दर योजना, बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रके बाल्यावेशकी एक अप्रतिम झाँकी। इस झाँकीकी जय हो! जय हो!! जय हो!!!

अस्तु, दधिमन्थन करनेवाली उस गोपसुन्दरीके गृहके समीप जाकर सखाओंके सहित श्रीकृष्णचन्द्र छिप रहे। उसने भी बिलोना स्थगित कर दिया। उसे अब दीख रहा था कि नवनीत ऊपर आ गया है। नवनीत कभीका ऊपर आ गया था, पहरभर रात्रि शेष थी, तभी उसने मन्थन आरम्भ किया था। तबसे बिलो रही है पर उसका चित्त यहाँ हो तब तो। वह तो मन-ही-मन नन्दभवनमें जा पहुँची थी, श्रीकृष्णचन्द्रको नवनीत आरोगनेका मूक निमन्त्रण दे रही थी। उसने भले न जाना; पर उसका यह मूक निमन्त्रण स्वीकार करके जब श्रीकृष्णचन्द्र उसके घरपर वास्तवमें पधार गये तब माखन उतारनेका भान उसे हुआ है। पर यह देखो, आज घरकी कमोरी भी कोई उठा ले गया है। गोपसुन्दरी कमोरी माँगने बाहर गयी। इधर श्यामसुन्दरको अवसर मिल गया। सखाओंके साथ वे तत्क्षण अन्तर्गृहमें प्रविष्ट हो गये। वहाँ जो कुछ भी दही-माखन था, सबका भोग लगाकर रीती मटुकी वहीं छोड़कर हँसते हुए शीघ्र ही बाहर चले आये।

हेरि मथानी धरी माट तैं, माखन हौ उतरात।
आपुन गई कमोरी माँगन, हरि पाई ह्याँ घात॥
पैठे सखनि सहित घर सूनें, दधि-माखन सब खाए।
छूछी छाँडि मटुकिया दधिकी, हँसि सब बाहिर आए॥

उधरसे गोपसुन्दरी हाथमें कमोरी लिये आ पहुँची। देखा—बहुत-से गोपशिशु मेरे घरसे बाहर निकल रहे हैं और यशोदाके नीलमणि उनके पीछे हैं। नीलमणिके अरुण अधरोंपर उज्ज्वल नवनीत लग रहा है, हस्तकमल माखनसे सन रहे हैं।

आइ गई कर लिऐं कमोरी, घर तैं निकसे ग्वाल।
माखन कर, दधि मुख लपटानौ, देखि रही नँदलाल॥

गोपसुन्दरी मनोरथपूर्तिके महान् आनन्दसे विह्वल हो गयी। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो वह स्वप्न देख रही है। किंतु सहसा उसके स्मृतिपटलपर किसीने तूलिका फेर दी, वह यह बात सर्वथा भूल गयी कि उसने कभी यह इच्छा की थी कि नीलमणि मेरे घर आकर मेरा माखन आरोगें। अतीतके उत्कण्ठामय संस्मरण सर्वथा विलुप्त हो गये। अब उसे इतना ही भान है कि सखाओंको साथ लिये नीलमणि मेरे गृहतोरणके पास खड़े हैं, उनका मनोहर मुखारविन्द माखनसे सना है। सरलतासे वह पूछ बैठी—

कहँ आए ब्रज-बालक सँग लै, माखन मुख लपटान्यौ।

उत्तरमें श्यामसुन्दर कुछ कहने लगे, पर उन्होंने क्या कहा, ग्वालिन सुनकर भी कुछ सुन न सकी। उनके सलोने माखनसने मुखकी मन्द हँसीमें उसकी चेतना सहसा विलुप्त होने लगी। इतनेमें श्यामसुन्दरने अपने सखा एक गोपशिशुकी भुजा पकड़ ली तथा वे व्रजकी गलीमें चल पड़े। ग्वालिन निर्निमेष नयनोंसे उनकी ओर देख रही है। अन्धकार होता तो दूसरी बात थी। दिनके उज्ज्वल प्रकाशमें हरि—श्रीकृष्णचन्द्र गोपसुन्दरीका मन हरणकर—चित्त चुराकर

चले गये और वह ठगी-सी खड़ी रह गयी—

भुज गहि लियौ कान्ह इक बालक, निकसे ब्रज कीं खोरि।
सूरदास ठगि रही ग्वालिनी, मन हरि लियौ अँजोरि॥

अपने द्वारपर स्वर्णपुतली-सी खड़ी वह उस ओर देखती रहती है जिधर श्रीकृष्णचन्द्र गये हैं। जब मध्याह्न होने लगता है तब कहीं वह अन्तर्गृहमें प्रवेश करती है। नवनीतकी रिक्त मटकी देखकर सोचती है कि माखनभरे पात्रको मैं सम्भवतः कहीं अन्यत्र रख आयी हूँ, इधर-उधर उसे ढूँढ़ती फिरती है। इतनेमें दीख पड़ता है—घरके जितने स्वर्ण, रौप्य, काँस्य, मृण्मयपात्र थे, वे सभी छिन्न-भिन्न, अस्त-व्यस्त हो रहे हैं। श्यामसुन्दरकी चञ्चल चेष्टाओंसे वह परिचित अवश्य है, पर अब उसके पास मन जो नहीं रहा। निर्णय कौन करे? मनके स्थानपर तो श्यामसुन्दरका रस भरा है—

देखै जाइ मटुकिया रीती, मैं राख्यौ कहुँ हेरि।
चकित भई ग्वालिनि मन अपनें, ढूँढ़ति घर फिरि फेरि॥
देखति पुनि-पुनि घर के बासन, मन हरि लियौ गोपाल।
सूरदास रस भरी ग्वालिनी जानै हरि कौ ख्याल॥

* * *

प्रेम-साधन

(पं० श्रीनरहरिशास्त्री खरशीकर)

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक त्रिभुवनसुन्दर श्रीभगवान्‌की प्राप्ति ही मनुष्य-जन्मका इतिकर्तव्य है, यही सब शास्त्र और संत बतलाते हैं। परंतु भगवान्‌की प्राप्ति कोई हँसी-खेल नहीं है। अनेक जन्मोंके अनेक साधनोंसे भी भगवान्‌का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। जप, तप, उपासना, यज्ञ-याग, नित्य-नैमित्तिक कर्म, अष्टाङ्गयोग, तीर्थयात्रा, दानधर्म आदि नानाविध साधनोंको निष्कामभावसे करते चलो, कभी-न-कभी तो भगवान् मिलेंगे ही—इसी प्रकारका आशावाद प्रायः देख पड़ता है। इन सब साधनोंको करके भी यदि अनेक जन्मोंके बाद भी भगवान् न मिलें तो अपने सञ्चितको कारण जानकर आगे प्रयत्न करते रहो—यही तो बतलाया जाता है। परंतु यह साधन-क्रम बतलानेवाले लोग यह भी तो जानते ही हैं कि ब्रह्म पूर्ण है—'**पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।**' चराचर जगत्‌में उस ब्रह्मके सिवा और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार जब सर्वत्र भगवान् ही हैं, तब साधनोंके द्वारा उन्हें प्राप्त करना भी तो एक बड़ा विकट प्रश्न है। इस प्रश्नका ही उत्तर इस छोटे-से लेखमें देनेका प्रयत्न किया जायगा।

'**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।**' (नारदभक्तिसूत्र) प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है। यह प्रेम ही भगवान् है और यह दृश्य जगत् उन्हीं अव्यक्त भगवान्‌का व्यक्त रूप है। प्रेम सब प्राणियोंमें सहजभावसे है। पशु-पक्षियोंमें ही क्यों, वृक्षादि योनियोंमें भी जो सहज प्रेम है, उसे अनुभव किया जा सकता है। फिर मनुष्यों और देवताओंकी तो बात ही क्या है!

गेहूँका एक दाना जमीनमें बोया जाता है। वर्षाके होते ही वह स्वयं गायब हो जाता है—गायब हो जाता है यानी अङ्कुरित होकर हजारों दानोंके रूपमें प्रकट होता है। ऐसे ही अव्यक्त परमात्मा अपनी आत्यन्तिक रुचिसे प्रियत्वमें आते हैं। उस आनन्दसागरमें आनन्दके ही कल्लोल उठते हैं। उन्हींको प्रेम कहते हैं। ये अनेक देख पड़नेपर भी परमात्मसिन्धुरूपसे एक ही, अखण्ड और पूर्ण हैं। ये अनेक कल्लोल ही अनेक जीव हैं। सोनेके गहने बनते हैं। गहने बननेपर भी सोनेका सोनापन नष्ट नहीं होता, बल्कि सोना, सोना रहकर ही गहने बनता है। वैसे ही परमात्मा, परमात्मा रहते हुए स्वयं ही नाम-रूपात्मक जगत् बनते हैं, पर इससे उनके परमात्मत्वमें रंचमात्र भी न्यूनता नहीं आती। परमात्मा और जगत् शब्द दो हैं, पर वस्तुतः वे एक ही हैं। यही श्रीज्ञानेश्वरादि सब संतोंने कहा है और अन्य सिद्धान्ती भी इसे स्वीकार करते हैं।

अब प्रश्न यह है कि यदि परमात्मा ही चराचर विश्व हैं तो किसकी प्राप्तिके लिये किसको साधन करना है?

देवदत्त नामक एक मनुष्यको यह भ्रम हो गया कि 'मैं खो गया हूँ।' इस खो जानेपर वह बहुत रोया, चिल्लाया और खोये हुए अपने-आपको जहाँ-तहाँ जिस-तिससे पूछता हुआ भटकता रहा। पर इस तरह इसे देवदत्त

कितने जन्मोंमें मिलता? वास्तवमें जो खोया ही नहीं, वह किसी साधनसे मिल भी कैसे सकता है? 'मैं खो गया हूँ' इस भ्रममें भी देवदत्त खोया नहीं था। वैसे ही भगवान्‌की सत्ताका भान न होनेमें भी उनकी भगवत्ता खो नहीं जाती, पूर्ण ही होती है। तब इस पूर्णकी प्राप्तिका साधन पूर्ण क्यों करे? साधन भगवान्‌से नहीं मिलाते, दूर ही ले जाते हैं—यही श्रीज्ञानेश्वर महाराजने अपने अनुभवसे कह रखा है।

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥
(श्रीमद्भा० २।४।१७)

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥
(गीता ११।४८)

अर्थात् इन तप, यज्ञ अथवा वेदाध्ययनादि साधनोंसे भगवान् नहीं मिलते, प्रत्युत भगवत्कृपासे ही मिलते हैं—**'मुख्यतस्तु भगवत्कृपयैव।'** सर्वत्र श्रीहरि ही प्रेमकल्लोल कर रहे हैं, वे ही रम रहे हैं—यह भावना जब गुरुकृपासे उदय हो जाती है, तब किसी साधनकी आवश्यकता नहीं रहती।

माता अपनी संतानके कारण ही माता कहलाती है। सन्तान अपनी माँको जब माँ कहकर पुकारती है, तब उसे अपने माता होनेकी प्रतीति होती है। संतानके कारण ही उसका मनोगत अव्यक्त वात्सल्य व्यक्त होता है और इसका सुख भी उसे ही मिलता है। संतानसे माताका मातृत्व पूर्ण है, अन्यथा वह अपूर्ण है। संतान माताका जो स्तनपान करती है, उससे माताको ही अत्यन्त सुख होता है। बच्चा जब भूखसे रोता है, तब माताका हृदय स्तनको भेदकर दूधके रूपमें बाहर निकलता है और बच्चेको तृप्त करनेके कारण माताको वह संतोष होता है, जिसकी कोई उपमा नहीं। यह सही है कि बच्चेके रोनेसे माताके दूध निकल पड़ता है, पर रोना कहाँसे आता है? माताके हृदयमें अपने बच्चेको अपना सार-सर्वस्वरूप दूध पिलाकर परम सुखी होनेकी जो लालसा रहती है, उसीका जो संस्कार बच्चेके मनपर होता है, वही रुदनरूपसे प्रकट होता है अर्थात् बच्चेकी इस क्रियाका उद्‌गमस्थान माताका हृदय ही है। माताके हृदयकी इस लालसाके कारण ही माता और संतान दोनों परम सुखी होते हैं। माता ही संतानरूप प्रेमको प्राप्त हुई और संतानके कारण ही अपने प्रेमको अनुभव कर सकी। संतान न होती तो उसे प्रेमसुखका मिलना कदापि सम्भव न था। प्रेमसुखकी अनुभूतिके लिये ही माता संतान हुई, इसके लिये माताने कितने-कितने कष्ट उठाये! संतान जनन-मरणके कष्ट भोगनेके लिये माँकी कोखमें नहीं आयी, बल्कि इसलिये आयी कि माताको वात्सल्य-सुख प्राप्त हो।

बात जब ऐसी है, तब माता अपनी संतानसे क्या कभी यह कह सकती है कि मैं अपने जीवनका सार निकालकर तुझे पिलाती हूँ, इसलिये तू भी इसकी कुछ कीमत दे, इसके लिये कुछ साधन कर, कोई माता ऐसा नहीं कह सकती। यदि कहे तो बच्चा भी उसे यह उत्तर दे सकता है कि 'तूने मुझे जन्म दिया, यही तो मेरे अनन्त साधनोंका फल है। अब यदि बिना साधन कराये तू मुझे दूध नहीं पिलाना चाहती तो रहने दे। तेरा दूध तेरे ही पास। इससे मेरा जो होना होगा, होगा। मैं मर जाऊँगा तेरे दूधके बिना, पर इससे क्या तुझे सुख होगा? तब यह दूध तू किसे देगी? तेरी देहमें यह जमकर तुझे ऐसी पीड़ा देगा जो तुझसे नहीं सही जायगी और मुझे न देखकर तेरी क्या अवस्था होगी? मेरे बिना तू कैसे जीयेगी? तेरे दूधका अधिकारी तो मैं ही हूँ।' बच्चेके ये शब्द सुनकर माँकी आँखोंसे आँसू छलक-छलक कर गिरने लगेंगे! माँ-बेटेका सम्बन्ध साधनपर नहीं निर्भर करता। माँ ही तो संतान बनकर वात्सल्यको अनुभव कर रही है।

आनन्दको आनन्दका स्वानुभव न होनेसे उसने द्विधा होनेकी इच्छा की, **'एकोऽहं बहु स्याम्'**। इस द्विधा होनेको ही प्रेमविकास कहते हैं। इस प्रेमरूपका ही नाम जीव है। यह जीव मूल आनन्दसे कभी पृथक् नहीं रहता। जीवके नेत्रेन्द्रियमें सारा विश्व समाया रहता है। उसके मस्तिष्कमें अखिल ब्रह्माण्डकी कल्पनाएँ भरी रहती हैं। ब्रह्माण्ड उसकी इन्द्रियोंमें लीन होता है। इन्द्रियाँ ज्ञानमें, ज्ञान आनन्दमें, आनन्द जीवत्वमें और जीवत्व प्रियत्वमें मिल जाता है अर्थात् प्रियत्व ही अखिल विश्वका कर्ता, स्वामी है। यह प्रिय कल्लोल परमात्मसिन्धुसे मिलनके लिये तब कौन-सा साधन करे? तरङ्ग किस साधनसे जलको पा ले?

अलङ्कार किस साधनसे सुवर्ण बने? सूर्य-किरण किस साधनाके द्वारा सूर्यको प्राप्त हो? परमात्ममय जीव भी उसी प्रकार परमात्माको पानेके लिये किस साधनका आश्रय ग्रहण करे?

कर्मदृष्टिसे देखें तो भगवान् और भक्त भिन्न हैं, गुरु और शिष्य भिन्न हैं; पर प्रभुके प्रिय प्रकाशमें दोनों अभिन्न हैं।

इस प्रकार प्रियत्वरूप प्रभुके कल्लोल-तरङ्गरूप जीवके लिये परमात्माकी प्राप्तिके अर्थ किसी साधनके करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। परंतु इस प्रकारकी धारणाका होना श्रीसद्गुरु-कृपाके बिना असम्भव है। जबतक ऐसी धारणा न हो ले, तबतक त्रिविध कर्म, तीन अवस्था, त्रिगुण—इन सबकी प्रतीति होती ही है। सूर्यके प्रकाशसे मृगजल भासता है; सूर्यास्त होनेपर मृगजलको भगानेका कोई यत्न नहीं करना पड़ता, सूर्यास्तके साथ वह अपने-आप ही हट जाता है। पर सूर्यके रहते भी जो मृगजल देख पड़ता है, वह भी सूर्यप्रकाश ही होता है, मृगजल नहीं। इसी प्रकार जीवके कर्म, अविद्या, अज्ञान आदिको मान लें तो उनसे भी पूर्णता अपगत नहीं होती और इन अवस्थाओंसे निकलनेके लिये यदि साधन किये जायँ और उसी प्रकारकी विपरीत धारणा न हो तो वे साधन भी साधन नहीं, बल्कि भगवत्प्रेमके दिव्य रूप ही प्रतीत होंगे।

जीवकी प्रत्येक सत्तामें, उसकी नस-नसमें भगवान्‌की ही सत्ता है। ऐसा होते हुए भी जीव उसे भूलकर भगवान्‌को साधनोंके द्वारा प्राप्त करनेका प्रयास करता है! परंतु परमात्मा प्रयाससाध्य नहीं हैं। परमात्मा तो सर्वत्र परिपूर्ण हैं; फिर भी वह नहीं हैं—यह जो धारणा हो जाती है, इसीको हटाना है। इसे भगवान् ही हटा सकते हैं, इसलिये हम उन्हींसे प्रार्थना करें—भगवन्! आप सर्वत्र होते हुए भी क्यों अपने-आपको विस्मृतिका परदा डालकर छिपाये हुए हैं? आप हैं तो यहाँ-वहाँ सर्वत्र, सब अवस्थाओंमें, सब प्रकारसे; तब जैसे भी आप हैं, मुझे दर्शन दीजिये। प्रार्थनासे अनुकम्पित होकर भगवान् सर्वाङ्गमें उदय होने लगते हैं। उनके उदय होनेका लक्षण यही है कि सारा तन-मन-प्राण उन्हींके प्रेममें डूब जाता है, शरीरपर अष्ट सात्त्विक भाव उदय होते हैं, नेत्रोंसे अश्रु गिरने लगते हैं और मुखसे 'राम' या 'राम, कृष्ण, हरि' अथवा 'माँ, माँ' की पुकार होने लगती है। अव्यक्त परमात्माके व्यक्त होने अथवा दर्शन-साक्षात्कार होनेके लिये ही भगवत्कृपासे ऐसी अवस्था हुआ करती है। इससे भक्त और भगवान् दोनों ही प्रसन्न होते हैं और दोनोंका द्वयभाव नष्ट होकर केवल प्रेम ही रह जाता है।

माता ही संतान बनकर यह प्रेमसुख लाभ करती है, भगवान् ही भक्त होकर अपने प्रेमका आनन्द उठाते हैं। संतानसे ही मातृत्वकी सिद्धि होती है और भक्तसे ही भगवान्‌की भगवत्ता प्रकट होती है। भगवान् भक्तकी अवस्थामें यदि न आयें तो वे अपनी भगवत्ताको नहीं अनुभव कर सकते।

बालकके लिये माँको 'माँ' पुकारनेके अतिरिक्त और किसी साधनकी जरूरत नहीं। माँ बच्चेकी पुकार सुनकर आप ही दौड़ आती है। भक्त भी भगवान्‌को माता समझकर 'माँ' कहकर पुकारे तो सही, फिर देखिये करुणामय भगवान् अपने मङ्गलमय स्वरूपसे कैसे भक्तके समीप चले आते हैं। माहुरवासी, देवी रेणुकाके परम भक्त, भगवतीके गलेके हार श्रीविष्णुदास महाराज कहते हैं—'किसी साधन-धनका काम नहीं, स्तवन-गानका कुछ दाम नहीं; सच्ची पुकार 'माँ' की है तो बेड़ा पार है।' भगवान्‌को 'माँ' कहकर सभी संतोंने पुकारा है। माताकी अपने हृदयगत स्तन्य-अमृतका पान करानेकी इच्छा ही बच्चेको रुलाती है और जब माता इस अमृतका पान कराती है, तब माता और बच्चा दोनों ही एक-दूसरेकी ओर अनिर्वचनीय प्रेमभरी दृष्टिसे देखते हुए परम सुखी होते हैं। यही भक्त और भगवान्‌की बात है।

विस्मरणका कारण

पैठणके परम भगवद्भक्त श्रीएकनाथ महाराज सब भूतोंमें भगवान्‌को देखा करते थे। परंतु इनके घर श्रीखण्डिया नामक जो ब्राह्मण पानी भरा करता था, उसमें इन्हें कभी भगवद्बुद्धि नहीं हुई। पर किसी अन्य भक्तको यह स्वप्न हुआ कि पैठणमें जाओ, वहाँ श्रीएकनाथ महाराजके यहाँ श्रीखण्डियाको देखनेसे तुम्हें भगवत्साक्षात्कार होगा। वह भक्त पैठण पहुँचा, श्रीएकनाथ महाराजके घर आया, श्रीखण्डियाके उसने भक्तिभावसे दर्शन किये और श्रीकृष्ण उसके सामने प्रकट हुए। पर उसी क्षण श्रीखण्डियाका रूप अन्तर्धान हो गया। एकनाथ महाराजको तब यह ध्यान हुआ कि श्रीखण्डिया मेरा नौकर नहीं, उसके रूपमें मेरे नाथ श्रीकृष्ण ही थे। मुझसे उन्होंने यह कपट क्यों किया? एकनाथ महाराजको इस बातका बड़ा अनुताप हुआ कि मैं

उन्हें क्यों न पहचान सका! भगवान्से उन्होंने बड़ी करुण प्रार्थना की। भगवान् प्रकट हुए और उन्होंने कहा, 'एकनाथ! मैं संत-सङ्गके अपार सुखको लूटना चाहता था; संतकी सेवाका जो आनन्द है, उसमें मैं अपने-आपको भुलाना चाहता था। इसीलिये मैंने ही तुम्हारी स्मृतिपटलपर जान-बूझकर परदा डाल रखा था। यदि ऐसा विस्मरण तुम्हें न कराया जाता तो मुझे तुम्हारे सङ्ग और सेवाका लाभ कैसे मिलता? तुम्हें विस्मरण तो हुआ, पर उस विस्मरणमें मैं ही तो था।' एकनाथ महाराजने देखा, 'स्मरण ज्ञान है और विस्मरण प्रेम।'

असीमकी सुखप्रतीतिके लिये असीमको सीमित होना पड़ता है तथा सीमित होनेपर उसके मनका सहज भाव स्मरण-विस्मरणात्मक होता है और ऐसा होता है, इसीलिये तो अपरिच्छिन्नका प्रेमानन्द परिच्छिन्न जीवके लिये प्राप्त करना सम्भव होता है।

तात्पर्य, विस्मरणमें भी भगवान् परिपूर्ण हैं—यह भावना जब दृढ़ हो जाती है, तब सब साधन समाप्त हो जाते हैं। मातृरूपसे भगवान्को सहजभावसे पुकार उठना ही इस अवस्थाकी पहचान है। 'माँ', 'माँ' कहकर भक्तका भगवान्को पुकारना भगवान्की वात्सल्य-रतिके लिये आवश्यक होता है। उससे भक्तको वात्सल्यामृत पान करानेके लिये माताके समान ही भगवान् दौड़ पड़ते हैं और भक्तके उस सुधापानसे भक्त तथा भगवान् दोनों परमानन्दमें निमग्न हो जाते हैं। यह सामर्थ्य केवल माताकी कृपामें है और किसी भी साधनमें नहीं। यह मातृकृपा माताको पुकारनेकी सहजवृत्तिसे अनुकम्पित होकर ही प्रकट होती है, यही संतोंका बोध और प्रेमभोग है। इस प्रकारका बोध सब जीवोंको प्राप्त हो, यही श्रीजगन्मातासे प्रार्थना है।

हृदयके प्रेमसे भगवान्को पूजिये

चातुर्मासका आरम्भ हो गया है। प्रत्येक घर और मन्दिरमें पूजार्चना और व्रतोपवासका पवित्र कार्य हो रहा है, परंतु यह कार्य हृदयसे होना चाहिये। प्राय: कई जगह ऐसा देखा जाता है कि सड़ी सुपारी, खराब चावल और पान तथा दुर्गन्धयुक्त घृत तो पूजार्चना और यज्ञ-हवनके काममें लाया जाता है और बहुत बढ़िया सुपारी, काश्मीरका चावल, महोबेका पान तथा ताजे स्वादिष्ठ मक्खनसे निकाला हुआ शुद्ध घी अपने खानेके लिये बरता जाता है! इस कृत्रिमता और ओछेपनसे मनुष्य भगवान्को ठगना चाहता है, पर भगवान् ठगाते नहीं। सड़ा भोग लगानेवालेको भगवान्की ओरसे आशीर्वादमें फल भी सड़ा ही मिला करता है। मनुष्य इस बातको भूल जाता है कि बुद्धिके अनुसार फल प्राप्त होता है। नीचता और असत्य जड़से ही बुरे हैं, फिर अन्तर्यामी भगवान्के साथ असत्य व्यवहार करनेकी बुराईमें तो आश्चर्य ही क्या है?

एक अधिकारीको, जँवाईको या मित्रको दावत देते समय जो मनोभाव प्रकट किया जाता है, कम-से-कम उतना प्रेमभाव तो भगवान्को दिखलाना ही चाहिये। मनुष्यके साथ व्यवहार करनेमें जो सचाई दिखायी जाती है, कम-से-कम उतनी सचाई तो भगवान्के प्रति किये जानेवाले आचरणमें दिखलाइये। भगवान् तो भावके भूखे हैं। उन्हें ऊपरका ढोंग नहीं सुहाता। जैसा भाव होता है, फल भी वैसा ही मिलता है। भाव मिथ्या तो फल भी मिथ्या। शुद्धभावसे अर्पित किया हुआ एक शाकका पत्ता भी भगवान्को बड़ा प्रिय है। समर्थ गुरु रामदासजी कहते हैं—

'जिसके पास जैसा भाव है, उसके लिये भगवान् भी वैसे ही हैं। वे अन्तर्यामी प्राणिमात्रके हृदयके भावोंको जानते हैं। उनके साथ छलका भाव होगा तो वे भी महाछली होंगे। जिसका शुद्धभाव होगा, उसके साथ वे भी प्रेम करेंगे, क्योंकि वे तो 'जैसे-को-तैसे' हैं। जो जिस प्रकार भजन करेगा, उसका वह वैसा ही समाधान करेंगे। भावमें जरा-सी भी न्यूनता होगी तो वे दूर रहेंगे। जिस भावका प्रतिबिम्ब हृदयमें है, भगवान् वैसे ही बन जाते हैं। जो उनका जैसा भजन करता है, भगवान् उसे वैसा ही फल देते हैं।' (दासबोध द० ३।१०)

'जैसा भाव वैसा भगवान्' संतोंकी यह उक्ति सत्य है। भगवान्के साथ झूठा व्यवहार करनेवाला मनुष्यके साथ सचाईका बर्ताव क्यों करेगा? अतएव सारी कृत्रिमताको त्यागकर सचाईसे—हृदयके प्रेमभावसे भगवान्को भजना चाहिये। अन्तस्तलकी भावनासे भगवान्का कर्म करना

चाहिये। श्रुति कहती है—

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

(तैत्तिरीयोपनिषद् १।११)

बाहरी उपचारसे, बहिरंग भजनसे भगवान् कभी नहीं प्रसन्न होते। श्रीज्ञानेश्वरजी कहते हैं—'हे अर्जुन! मुझमें अपनापन किये बिना सुरसता नहीं है, मैं किसी भी बाह्य आडम्बरसे नहीं ठगाता।' (ज्ञानेश्वरी अ० ९)

संत तुकारामजी भी इसीका समर्थन करते हैं—

'मनमें कुछ भाव होगा तो वहाँ भगवान् अवश्य आयेंगे। जनाबाई साधारण स्त्री थी, परंतु भगवान् उसके घर पानी भरते थे। शुद्धभाव देखकर ही भगवान् हृदयमें वास करते हैं। तुकारामजी कहते हैं—हे भगवन्! मुझे अपने चरणोंमें शरण दो।'

ढोंग, पाखण्ड, मिथ्या व्यवहार और दिखावटी प्रेमसे मनुष्य भी नहीं ठगाता, पशु-पक्षी भी नहीं फँसते, फिर वह अन्तर्यामी प्रभु कैसे फँस सकता है? अतएव भगवान्के सभी कार्य मन लगाकर सद्भावसे करने चाहिये, जिससे भगवान् प्रसन्न होकर उचित पुरस्कार देंगे।

अब भगवान्की पूजार्चनाका समय है, अत: सब कार्य ऐसे लगनसे करने चाहिये, जिसमें भगवान्को संतोष हो। बेगार चुकानेके भावसे नहीं करना चाहिये। उसमें अर्थ-स्वार्थ कुछ भी नहीं है। जो वस्तु हमें हृदयसे अच्छी लगे, वही भगवान्के अर्पण करनी चाहिये। झूठसे तो एक बच्चा भी संतुष्ट नहीं होता, फिर प्रेममूर्ति आत्माराम परमात्मा कैसे संतुष्ट होगा? उसको तो प्रेम चाहिये। एक ही फूल या एक ही तुलसीपत्र हो, परंतु सुगन्धित पत्र-पुष्प ही चढ़ाना चाहिये निर्मल हृदयसे। फूलको 'सुमन' कहते हैं, सुमन यानी मनको शुद्ध करके भगवान्को अर्पण करना चाहिये। समर्थ श्रीरामदासजीने कहा है—

'भगवान्से परम सख्य स्थापित करके उन्हें प्रेमके बन्धनसे बाँधना चाहिये, यही सख्य-भक्तिका लक्षण है।' (दासबोध ४।८)

भगवान्को जो बात प्रिय हो, हमें वही करनी चाहिये, इसीसे हमारी भगवान्के साथ सख्यता हो जायगी। उनको प्रिय क्या है? 'भक्तिभाव और भजन, उनका निरूपण तथा उनके कथा-कीर्तनका प्रेमसे भक्तिपूर्वक गान करना।'

भगवान् सत्यस्वरूप हैं, इसलिये उनको सत्य ही प्रिय है। मन, वाणी और कर्ममें पूर्ण सत्य होना ही भगवान्को प्यारा लगता है। असत्यके अन्धकारमें भगवान्के दर्शन नहीं होंगे। भगवान्के कर्म निर्मल सत्यतापूर्वक करनेका अभ्यास हो जायगा तो फिर व्यवहारमें मनुष्यसे असत्यका आचरण नहीं हो सकेगा। व्यवहारका सत्य अलग, राजनीतिका सत्य अलग और परमार्थका सत्य अलग, इस तरह सत्यके नानाविध रूप नहीं हैं। सत्य सत्य ही है। त्रिकालाबाधित सत्य, सभी काल, सभी देश और सभी अवस्थाओंमें एक ही शाश्वत सत्य है। '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' इस प्रकार परमात्माका स्वरूप सत्य है, ज्ञानमय और अनन्त है, ऐसा श्रुति कहती है। भगवान् सत्य हैं तो भक्त भी निश्चय सत्य है। सत्य नहीं होगा तो भक्त ही कहाँसे होगा? भक्त सच्चा प्रेम करता है, इसीलिये उसके निकट असत्य, कृत्रिमता और ढोंग नहीं होते, वहाँ तो एक लगन होती है।

हमें भगवान्के साथ सचाईका व्यवहार करनेकी आदत डालनी चाहिये। जब हम हृदयसे अपने भगवान्की पूजा करने लगेंगे, तब भगवान् भी हमारा ध्यान रखेंगे। वह तो हृदयकी लगन देखते हैं, इसके अतिरिक्त उन्हें कोई वस्तु प्रिय नहीं है। आजकल 'भावका अकाल' पड़ता जा रहा है। अतएव भाग्यवान् पुरुषको चाहिये कि वह अपने भावकी रक्षा करे, उसे बढ़ाये और इस लोक तथा परलोकको साधकर कृतकृत्य हो जाय।

व्यर्थ तर्क-वितर्क करनेकी आदत बहुत बुरी है। ऐसी आदत कभी न पड़ने दे। भगवान्के मार्गमें तर्कको स्थान नहीं है। गीतामें भगवान् कहते हैं—श्रद्धावान्को ज्ञानकी प्राप्ति होती है (**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्,** ४।३९)। तार्किकके भाग्यमें भक्तिभावका मधुर सुख नहीं है। तर्क, वाद-विवाद और संशय—इन तीन दैत्योंने परमार्थके मार्गको रोक रखा है, अतएव इनको तनिक-सा भी मनमें न रहने देकर जिस भक्तिभावसे मनमें सदा उल्लास बना रहे, उसीको ग्रहण करना चाहिये। भगवान्को जो अनुकूल हो उसका स्वीकार और उनके जो प्रतिकूल हो उसका त्याग कर देना चाहिये। भगवान् मधुर हैं, भगवान् दयालु हैं, भगवान् वत्सल हैं, भगवान् अपने जनोंकी सब प्रकारसे रक्षा करते हैं, ऐसी बढ़नेवाली श्रद्धा और बढ़नेवाले प्रेमको ही सर्वथा अपनाना चाहिये।

⁂

प्रेम-तत्त्व-विमर्श

['अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्'—प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है। प्रेम वाणीद्वारा पूरी तरह प्रकट नहीं किया जा सकता। यह गूँगेके स्वादकी तरह है—'मूकास्वादनवत्'।

जैसे गूँगा गुड़ खाकर प्रसन्न होता है, हँसता है, पर गुड़का स्वाद नहीं बता सकता। इसी प्रकार प्रेमी महात्मा प्रेमका अनुभव कर आनन्दमें निमग्न तो हो जाते हैं पर अपने उस अनुभवका स्वरूप दूसरोंको बताना उनके लिये कठिन है, परंतु उसके साथ ही नारदभक्तिसूत्रमें नारदजीने कहा है—'प्रकाशते क्वापि पात्रे' किसी योग्य प्रेमी भक्त—पात्रमें यह प्रकट भी होता है।

प्रेमके तत्त्व एवं स्वरूपका निरूपण करना यद्यपि सामान्य बात नहीं है, फिर भी प्रेमी भक्त प्रेमको प्राप्त कर इस प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है, प्रेमका ही वर्णन करता है और प्रेमका ही चिन्तन करता है—तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव शृणोति, तदेव भाषयति, तदेव चिन्तयति। (ना०भ०सू० ५५)।

यहाँ प्रेमी भक्तोंने प्रेमका स्वरूप, तत्त्व और इसकी मीमांसा प्रस्तुत करनेका यत्किञ्चित् प्रयास किया है, आशा है भक्तजन इससे लाभान्वित होंगे—सं०]

प्रेम और भक्तिका स्वरूप

(डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०, डी-एस्० सी०)

गोस्वामी तुलसीदासजीने जिस प्रकार ज्ञान और भक्ति—दोनोंको ही भौतिक दु:खोंसे विरत करनेवाला उपाय माना है,[1] ठीक उसी प्रकारकी स्थिति प्रेम और भक्तिकी है। शाण्डिल्य भक्तिसूत्रमें ईश्वरके प्रति परानुरक्ति (उत्कट अनुरक्ति, अनुराग या प्रेम)-को ही भक्ति कहा गया है।[2]

निष्पत्तिके अनुसार भी '**भज=सेवायाम्**' धातुमें '**क्तिन्**' (प्रेम) प्रत्ययके योगसे 'भक्ति' शब्द बनता है। सामान्य नियमके अनुसार धातु और प्रत्ययके योगसे बननेवाले शब्दके अर्थमें प्रत्ययार्थ ही प्रधान रहता है। परंतु यहाँ उसका अर्थ है—सप्रेम-सेवा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बिना प्रेमके प्रेष्ठ अथवा आराध्यकी सेवा किसी प्रकार सम्भव नहीं। बिना प्रेमके की जानेवाली भक्ति या सेवा मात्र बेगार है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्तिकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—'अध्यात्मज्ञानकी प्राप्ति वैराग्यका मोह तथा अन्यान्य स्वार्थोंको वैयक्तिक जीवनमें स्थान न देते हुए उत्कट प्रेमभावसे भगवच्चिन्तन करना ही श्रेष्ठ भक्ति है।[3] जबतक साधक भोग और मोक्षके मोहसे मुक्त नहीं होता, तबतक उसमें भक्तिभाव उत्पन्न ही नहीं हो सकता।[4] ज्ञान-कर्मकी वासनाओंको सर्वथा निर्मूल कर देनेपर ही भक्तिवल्लरी लहलहा सकती है। भक्तिका प्रभाव अमित है। यह सब दु:खोंको मिटानेवाली, सब प्रकारके कल्याणको देनेवाली, मोक्षकी कामनाको दूर भगानेवाली, घनीभूत आनन्दरूपा, दुर्लभा तथा श्रीकृष्णको आकृष्ट करनेवाली है।[5]

भक्ति स्वयं मोक्षरूपा मानी गयी है। आध्यात्मिक ज्ञान भक्तिका आनुषंगिक फल है। स्वरूपाशक्ति, तटस्थाशक्ति तथा मायाशक्तिसे उपलक्षित ईश्वरके त्रिविध स्वरूपका साक्षात्कार ही यथार्थ तत्त्वज्ञान है। ईश्वर इन शक्तियोंसे भिन्न और अभिन्न दोनों है। भक्तिद्वारा ईश्वरके इन रूपोंका साक्षात्कार सम्भव है।

भक्तिका उद्रेक महापुरुषोंके उपदेश, उपनिषद्, पुराणादि-श्रवणद्वारा होता है, परंतु प्रेम ईश्वरीय देन अथवा नैसर्गिकरूपमें स्वयं स्फूर्त होता है। इसीलिये संत कवियोंने लिखा है—

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा-परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥

देवर्षि नारदके उपदेशने प्रह्लाद तथा ध्रुव आदिके मनमें भगवद्भक्तिका बीज अङ्कुरित किया, परंतु गोपियोंके, बाबा नन्दके, मा यशोदा आदिके मनमें स्वभावत: ही प्रेम प्रस्फुटित हुआ।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अनुसार भक्ति दो प्रकारकी होती

---

[1] भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥ (रा०च०मा० ७।११५।१३)

[2] सा परानुरक्तिरीश्वरे। (शा०भ०सू० २)

[3] अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥ (भ०र०सि०पू० १।११)

[4] भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते। तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥ (भ०र०सि०पू० २।११)

[5] क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा। सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा॥ (भ०र०सि०पू० १।१३)

है—पहली वैधी और दूसरी रागानुगा। पहलीको वैधी इसलिये कहा जाता है कि उसमें प्रवृत्तिकी प्रेरणा शास्त्रसे मिलती है जिसे 'विधि' कहते हैं। शास्त्रज्ञ, दृढ़ विश्वासयुक्त, तर्कशीलबुद्धिसम्पन्न और निष्ठावान् साधक ही वैधी भक्तिका अधिकारी है। दूसरी भक्ति रागातिशयके कारण ही उत्पन्न होती है। वस्तुतः रागात्मिका भक्ति और कुछ नहीं स्वाभाविक आसक्तिका नाम है। इस आसक्तिको आदर्श मानकर जो भक्ति की जाती है, उसे 'रागानुगा' (राग—आसक्तिका अनुगमन करनेवाली) कहते हैं। रागात्मक भाव प्रगाढ़ हो जानेपर प्रेम कहलाने लगता है।

'भक्तिरसामृतसिन्धु' के रचयिता श्रीरूपगोस्वामीजीने भक्तिको तीन प्रकारका माना है—१-साधनभक्ति, २-भावभक्ति (साध्य भक्ति या नैसर्गिक भावावेशकी स्थिति) तथा ३-प्रेमाभक्ति। साधनभक्तिकी अपेक्षा भक्तिके अवान्तर दोनों भेद अधिक प्रशस्त माने जाते हैं।

भक्ति कर्म और ज्ञानसे मूलतः भिन्न है। प्रेमके शाश्वत बन्धनद्वारा भक्त आदिसे अन्ततक निज व्यक्तित्वको स्वतन्त्र बनाये रखता है अर्थात् वह एकात्माकी कल्पनासे दूर रहकर अपने प्रेमीके प्रेममें निमग्न रहनेको ही जीवनकी सार्थकता मानता है।

प्रेमाभक्ति पाँच प्रकारकी है—१-शान्त, २-दास्य, ३-सख्य, ४-माधुर्य तथा ५-वात्सल्य। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है कि प्रेमी भक्त सम्पूर्ण कामनाओं, अर्चा-विधियों तथा ज्ञान और कर्मको त्यागकर जब पूर्णतः ईश्वर अथवा श्रीकृष्णमें अनुरक्त हो जाता है तभी वास्तविक भक्तिभावना प्रकट होती है। जिसका आश्रय पूर्वोक्त दास्यादि रूप होते हैं।

प्रेमाभक्तिको मोक्षसे भी बढ़कर तथा रसरूपा कहा गया है। परमपुरुषकी रसरूपता श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है।[६] लौकिक आनन्द अथवा रसमें भी उन्हीं रसस्वरूप प्रभुकी आंशिक अभिव्यक्ति होती है।[७] रसके विषय एवं आश्रयकी मलिनतासे शुद्ध रसमें भी मालिन्यकी प्रतीति होती है। परंतु भगवद्विषयिणी रति (भगवत्परक प्रेम) पूर्णतः रसरूप होनेके कारण तुच्छ कान्तादि विषयक रतिसे उसी प्रकार बलवत्तरा है, जिस प्रकार खद्योतजनित प्रकाशसे आदित्यप्रभा।[८] विषय (भक्ति) और आश्रय (भगवान्) दोनों अथवा दोनोंमेंसे कोई एक भी रसात्मक हो तो रति (प्रेम) भी विशुद्ध रसरूपा होती है। समष्टिरूपमें कहा जा सकता है कि भक्ति उस रसमय रससिन्धुकी परिचायिका होनेके कारण न केवल रसरूपा है, अपितु रागात्मक रूप धारण कर प्रेमरूपमें प्रकट हो प्रेमकी महत्ताकी परिचायिका बन जाती है।

नारदभक्तिसूत्रमें भक्तिको ईश्वरके प्रति परम प्रेमरूपा प्रतिपादित करते हुए प्रेम और भक्तिमें अभेद दर्शनका प्रयास किया गया है।[९] दूसरे शब्दोंमें भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है। श्रीमद्भगवद्गीतामें मन और बुद्धिको भगवदर्पण कर अर्थात् चेतना और चिन्तनके स्रोतोंको भगवदभिमुखी बना देनेवालोंको भगवान्‌ने अपना प्रिय या प्रेमास्पद माना है।[१०] यह प्रेमाभक्ति अमृतस्वरूपा कही गयी है।[११] इसे पाकर मानव सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त (पूर्णकाम) हो जाता है।[१२] इसकी उपलब्धि हो जानेपर मानव न किसी वस्तुकी इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी पदार्थ-विशेषमें आसक्त होता है और न विषयादिके प्रति आसक्ति ही उसके मनमें उत्पन्न होती है।[१३] इसे पाकर व्यक्ति उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है, शान्त हो जाता है और आत्माराम बन जाता है।[१४]

वस्तुतः प्रेमाभक्तिकी महिमा अपूर्व है। यद्यपि इसके भक्त किसी वस्तुकी कामना नहीं करते, तथापि विभिन्न सिद्धियाँ तथा मुक्तियाँ इस भक्तिका दास्य स्वीकार कर इस

---

[६] रसो वै सः (तै० उ० २।७।२)

[७] किञ्चिन्न्यूनां च रसतां याति जाड्यविमिश्रणात्॥ (भक्तिरसायन १।१३)

[८] परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः। खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा॥ (भक्तिरसायन २।७६)

[९] सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा॥ (ना० भ० सू० २)

[१०] मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ (गीता १२।१४)

[११] अमृतस्वरूपा च॥ (ना० भ० सू० ३)

[१२] यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति॥ (ना० भ० सू० ४)

[१३] यत्प्राप्य न किञ्चिद् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति॥ (ना० भ० सू० ५)

[१४] यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति। (ना० भ० सू० ६)

भक्तिके आश्रयकी सेवाके लिये आतुर रहती हैं। परंतु भक्त इन सबको तुच्छ मानकर इनपर दृष्टिपाततक नहीं करता; क्योंकि वह जानता है कि हर्ष, शोक और द्वेष आदिसे रहित, शुभाशुभका त्यागी, प्रेमरूपा भक्तिमें ही सतत प्रव्रजन करनेवाला भक्त ही भगवान्‌को प्रिय होता है।

भगवत्प्रेम हृदयमें प्रकट होते ही मनुष्यको उन्मत्त बना देता है। अतः प्रेमी भक्त सदैव प्रेमकी मादकता (नशे)-में चूर होकर प्रभुके गुणगान करने-सुनने तथा उसीके चिन्तनमें निमग्न रहता है। उसे इसके अतिरिक्त अन्य बातें अच्छी ही नहीं लगतीं। वह पूर्णतः शान्त होकर आत्माराम बन जाता है और अपने प्रियसे इस प्रकार तादात्म्य स्थापित कर लेता है कि भौतिक मृगतृष्णा उसे भ्रमित ही नहीं कर पाती।[१५]

प्रेम अथवा प्रेमाभक्तिमें अनन्यता सर्वोपरि है। अनन्यता क्या है? इस सम्बन्धमें देवर्षि नारदका कथन है कि अपने प्रिय (भगवान्)-को छोड़कर दूसरे आश्रयोंके त्यागका नाम ही अनन्यता है।[१६]

प्रेमपूर्ण अथवा प्रेमाभक्तिको सर्वाधिक समादृत किया गया है। अतएव उसके लक्षणोंका परिज्ञान भी आवश्यक है। भगवान् वेदव्यास भगवान्‌के अर्चन तथा पूजन आदिमें अनुस्यूत अनुराग अथवा प्रेमको ही वास्तविक प्रेमाभक्ति मानते हैं।[१७] विष्णुरहस्यमें भी इसी कथनकी पुष्टि है।[१८] श्रीगर्गाचार्यने भगवत्कथादिमें अनुरागको ही भक्ति माना है।[१९] महर्षि शाण्डिल्यके अनुसार आत्मरतिके अविरोधी विषयमें अनुराग ही प्रेमाभक्ति है।[२०] श्रीशंकराचार्यजीने भी इसी मतकी पुष्टि की है।[२१] देवर्षि नारदके अनुसार अपने सब कर्मोंको भगवदर्पण करना और भगवान्‌का किञ्चित्-सा भी विस्मरण होनेपर परम व्याकुल हो जाना ही प्रेम अथवा प्रेमाभक्ति है।[२२]

नारदोक्त इन्हीं लक्षणोंको भक्तियोगीमें घटित कर भगवान् कृष्णने उसे सर्वोत्कृष्ट बताया है।[२३] वास्तवमें व्रजगोपिकाओंकी प्रेमातिशयता ही प्रेमाभक्तिका सर्वोत्तम रूप है। उनके प्रेममें अनन्यता, वियोगकी असहनीयता, आकुलता और प्रियविरहकातरता तथा विरहकी समस्त दशाओंका जो उन्मेष है, वह अन्यत्र नहीं उपलब्ध होता। माहात्म्यज्ञान बिना स्त्रियोंके द्वारा किसी पुरुषके प्रति किया जानेवाला प्रेम जारोंका-सा प्रेम होता है।[२४] परंतु सर्वार्पणकी भावना तथा स्वार्थहीनता केवल भगवत्प्रेममें ही होती है और वह गोपियोंके पूरे जीवनपर छायी हुई है। इसके अतिरिक्त जार-प्रेममें प्रियके सुखसे सुखी होना भी सम्भव नहीं। परंतु सच्चा प्रेमी स्वयं दुःख सहकर भी प्रियके सुखमें सुखका ही अनुभव करता है।[२५]

प्रेमरूपा भक्ति तो कर्म, ज्ञान और योगसे श्रेष्ठतर एवं फलरूपा है।[२६] प्रेमरूपा भक्ति सब साधनोंका फल है।[२७] इसकी सिद्धिके लिये अभिमानसे द्वेष और दैन्यसे प्रेम आवश्यक है; क्योंकि भगवान्‌को स्वयं अभिमानसे द्वेष और दैन्यसे प्रेम है।[२८] मोक्षकामियोंको भक्तिका आश्रय ही सर्वात्मना ग्रहण करना चाहिये।[२९] परंतु प्रेमी भक्त मुक्तिकी

---

[१५] न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति॥ (श्रीशिवमहिम्नःस्तोत्र ८)

[१६] (अ) अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता॥ (ना० भ० सू० १०)
(ब) उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥ (रा०च०मा० ३।५।१२)
(स) प्रीतम-छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि, पथिक आप फिरि जाय॥ (रहीम)

[१७] पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः॥ (ना० भ० सू० १६)

[१८] श्रीविष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि। ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम्॥ (विष्णुरहस्य)

[१९] कथादिष्विति गर्गः। (ना० भ० सू० १७)

[२०] आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः॥ (ना० भ० सू० १८)

[२१] मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी। स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयत॥ (तत्त्वबोध १८)

[२२] नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति॥ (ना० भ० सू० १९)

[२३] तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ (गीता ६।४६-४७)

[२४] तद्विहीनं जाराणामिव॥ (ना० भ० सू० २३)

[२५] नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम्। (ना० भ० सू० २४)

[२६] सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा॥ फलरूपत्वात्॥ (ना० भ० सू० २५-२६)

[२७] जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥ (रा०च०मा० ७।१२६।७)

[२८] ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च॥ (ना० भ० सू० २७)

[२९] तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः॥ (ना० भ० सू० ३३)

ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता।[३०]

यह तो हुई प्रेमाभक्तिकी बात, अब लिया जाय प्रेमको। भक्तिसे पहले जुड़कर अर्थात् प्रेमाभक्तिको सर्वश्रेष्ठ भक्तिका रूप प्रदान कराते हुए और स्वयं अपनी महत्ता भी उसके साथ ख्यापित करते हुए यद्यपि प्रेम अपने सम्बन्धमें बहुत कुछ बता जाता है, तथापि उसके स्वरूप ज्ञानकी पिपासा शमित करनेके लिये इतना ही कहा जा सकता है कि प्रेमका स्वरूप गूँगेके लिये गुड़के स्वादकी भाँति अनिर्वचनीय होता है।[३१] वह प्रेम किसी विरल पात्रमें ही प्रकट होता है।[३२]

प्रेम गुणरहित, कामनारहित, सतत वर्धमान, विच्छेदरहित, सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अनुभवरूप होता है अर्थात् प्रेमको केवल अनुभवद्वारा ही जाना जा सकता है। अन्य कोई उपाय उसे जाननेका नहीं है।[३३] इस प्रेमको पाकर प्रेमी प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है, प्रेमका ही वर्णन और चिन्तन करता है।[३४] इस प्रकार परिणाम यह होता है कि प्रेमी और प्रिय (भक्त और भगवान्) दोनों एक-दूसरेके लिये प्रत्यक्ष हो जाते हैं।[३५]

गौणी भक्ति गुणभेदसे अथवा आर्तादिके भेदसे तीन प्रकारकी मानी जाती है। प्रेमाभक्तिको परा अथवा मुख्या कहा गया है और इसे गौणीकी अपेक्षा श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। इसके साथ ही उसके सम्बन्धमें कहा गया है कि अन्य सभी भगवत्प्राप्तिपरक उपायोंकी अपेक्षा प्रेमाभक्ति अधिक सुलभ है। वह स्वयं न केवल प्रमाणस्वरूपा है, अपितु शान्ति तथा परमानन्दरूपा है।[३६]

देवर्षि नारदके अनुसार प्रेमाभक्ति एक होकर भी ग्यारह प्रकारकी होती है—१-गुणमाहात्म्यासक्ति, २-रूपासक्ति, ३-पूजासक्ति, ४-स्मरणासक्ति, ५-दास्यासक्ति, ६-सख्यासक्ति, ७-कान्तासक्ति, ८-वात्सल्यासक्ति, ९-आत्मनिवेदनासक्ति, १०-तन्मयतासक्ति तथा ११-परम विरहासक्ति।[३७] आसक्ति किसी भी प्रकारकी और किसी भी रूपमें क्यों न हो, उसमें अनन्यता और उत्कटता होगी तो परमेश्वरको रीझना ही पड़ेगा।

चैतन्यमतमें तो प्रेमिकाकी रागमयी आसक्तिको ही भक्त-हृदयमें सँजोनेका संदेश दिया गया है, जिसकी स्वल्पतम अनुगूँज वृत्रासुरके कथनमें उपलब्ध होती है।[३८]

---

३०. अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥
मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥ (रा०च०मा० ७।११९।३-४, ७)

३१. (अ) अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ॥ मूकास्वादनवत्॥ (ना० भ० सू० ५१-५२)
(ब) तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥ (रा०च०मा० ५।१५।६-७)
(स) डूबै सो बोलै नहीं, बोलै सो अनजान। गहरौ प्रेम-समुद्र कोउ डूबै चतुर सुजान॥
(द) गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन बूड़े जहाँ हजारु। वहै सदा पसु नरनु कौं प्रेम-पयोधि पगारु॥

३२. प्रकाशते क्वापि पात्रे॥ (ना० भ० सू० ५३)

३३. (अ) गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥ (ना० भ० सू० ५४)
(ब) बिनु जोबन गुन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि। सुद्ध कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखानि॥ (रसखान)

३४. (अ) तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति॥ (ना० भ० सू० ५५)
(ब) लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल। (कबीर)
(स) यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्॥ (छान्दोग्य० ७।२४।१)

३५. यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ (गीता ६।३०)

३६. (अ) गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा॥ (ब) उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति॥ (स) अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ।
(द) प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयंप्रमाणत्वात्॥ (इ) शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च॥ (ना० भ० सू० ५६—६०)

३७. गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति। (ना० भ० सू० ८२)

३८. अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्। (श्रीमद्भा० ६।११।२६)

वस्तुत: प्रेम अलौकिक महिमान्वित पदार्थ है। विश्वका सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु भी उससे विरहित नहीं है। विश्वके प्राच्य और अर्वाच्य सभी विद्वानोंने इसके महत्त्वके सामने नतमस्तक हो इसका गुणगान किया है। संस्कृतमें श्रीमद्भागवतके अतिरिक्त इस (प्रेम)-का गुणानुवाद करनेवालोंमें देवर्षि नारद, भवभूति और रूपगोस्वामी आदि सुप्रसिद्ध हैं।[३९] हिन्दीमें कबीर, उसमान, रसखान, सत्यनारायण कविरत्न तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि,[४०] उर्दूमें ग़ालिब एवं रेहाना तैयबजी आदि[४१] तथा अंग्रेजीमें टैपर, किंग्सफोर्ड और हर्बर्ट स्पेंसर आदि प्रसिद्ध हैं। इन सबने प्रेमको केन्द्रीय शक्ति तथा ईश्वरकी प्रथम सृष्टि आदि उत्कृष्ट रूपोंमें प्रतिपादित किया है, परंतु प्रेमकी उपलब्धि सहज नहीं, उसके लिये बलिदान आवश्यक है और वह भी स्वयंके प्रियतम प्राणोंका ही।[४२] इस बलिदानके पश्चात् ही प्रेम अथवा मधुरा या प्रेमाभक्तिकी सिद्धि होती है। यह सिद्धि होनेपर प्रियका सर्वाङ्गीण स्वरूप ही माधुर्यमें परिसिक्त होकर साधकके सामने आ जाता है और उसे अनिर्वचनीय ब्रह्मानन्दकी अनुभूति करा देता है।[४३]

प्रेम हृदयका विषय है। जहाँ हृदय आकर्षित हुआ, प्रेम हुआ।[४४] सूरने प्रेमके इसी रूपको प्रस्तुत कर प्रेमकी अनन्यता और असाधारणताका परिचय दिया है।[४५] महाकवि सूरने स्पष्टरूपसे प्रतिपादित किया है कि प्रेमी भक्त प्रेमोपलब्धिके पश्चात् न अन्य किसी वस्तुकी अपेक्षा रखता है न कामना।[४६] महाकवि सूरने अपने काव्यमें प्रेमके जिस रूपका प्रतिपादन किया है, वह वेदान्तियोंका शुष्क प्रेम नहीं, अपितु ऐसा प्रेम है जो माधुर्य रससे परिप्लावित है। यही कारण है कि सूरसागर रस-सागर बन गया है। इतना ही नहीं, सूरदासजीका प्रेम क्रमश: विकसित होकर विश्वप्रेममें पर्यवसित हुआ है। सूरदासजीके द्वारा वर्णित प्रेममें जो अनन्यता, अधीरता, मधुर वेदना और नि:स्वार्थता अनुस्यूत है, वह अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। समष्टिरूपमें सूरदासजीद्वारा प्रतिपादित-पोषित प्रेमके सम्बन्धमें यही कहा जा सकता है कि विश्वकी विभिन्न प्रेमानुभूतियोंका सार ही सूरदासजीमें सरस रस बनकर आ समाया है।

प्रेमाभक्तिका आधार तो प्रेम है ही, मधुर रसका

---

[३९] (अ) अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥ (ना० भ० सू० ५१)
(ब) सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः। भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥ (भ०र०सि० १।४।१)
(द) अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद् विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्न हार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत् स्नेहसारे स्थितं भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥ (उत्तररामचरितम् १।३९)

[४०] (क) जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जान मसान॥—कबीर
(ख) आदि प्रेम बिधिने उपराजा। प्रेमहि लागि जगत सब साजा॥—उसमान-चित्रावली।
(ग) प्रेम हरी कौ रूप है, त्यों हरि प्रेम-स्वरूप। एक होय द्वै यों लसैं, ज्यों सूरज अरु धूप॥ (रसखान)
(घ) उलटा-पलटी करहु निखिल जग की सब भाषा। मिलहि न पै कहुँ एक प्रेमपूरन-परिभाषा॥ (कविरत्न सत्यनारायण)
(ङ) जाको लहि कछु लहनकी चाह न हियमें होय। जयति जगत-पावन-करन प्रेम बरन यह दोय॥ (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

[४१] (अ) शायद इसीका नाम मुहब्बत है शेफ़्ता। एक आग-सी है दिलमें हमारे लगी हुई॥ (ग़ालिब)
(ब) हिन्दी-कवि घनानन्दजीने इसी भावको इस रूपमें व्यक्त किया है—
जबतें निहारे घन आनँद सुजान प्यारे, तबते अनोखी आगि लागी रही चाहकी॥

[४२] (क) यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं। सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं॥
(ख) प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय। राजा परजा जेहि रुचै सीस देइ लै जाय॥ (कबीर)

[४३] अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्। हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ (मधुराष्टकम्)

[४४] दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सितापि मधुरेव। तस्य तु तदेव मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्॥

[४५] ऊधौ! मन माने की बात।

× × ×

'सूरदास' जाकौ मन जासौं सोई ताहि सुहात॥

[४६] भक्त वृत्रासुरने भी यही बात कही है—न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जसत्वा विरहय्य काङ्क्षे॥ (श्रीमद्भा० ६।११।२५)
(भगवान्‌को प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए वृत्रासुरने प्रार्थना की—) सर्वसौभाग्यनिधे! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डलका साम्राज्य, रसातलका एकच्छत्र राज्य और योगकी सिद्धियाँ—यहाँतक कि मोक्ष भी नहीं चाहता।

आधार भी प्रेम ही है। दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं जिस प्रकार ऋग्वेदमें **'स ब्रह्मा, स विष्णुः, स रुद्रः'** कहकर त्रिदेवोंमें अभेद स्थापित करते हुए प्रकारान्तरसे एक ही ईश्वरकी सत्ता सिद्ध की गयी है। ठीक उसी प्रकार प्रेमाभक्ति, मधुर रस तथा प्रेम—तीनोंको पृथक् बताकर भी प्रेमको आधाररूप अथवा आत्मतत्त्वके रूपमें निरूपित कर **'प्रेमैव कार्यम्'** उद्घोषद्वारा उसीको महत्ता दी गयी है।

प्रेमाभक्तिके सम्बन्धमें पहले कहा जा चुका है। यहाँ मधुर रसका यत्किञ्चित् परिचय प्रस्तुत करनेका प्रयास किया जा रहा है। प्रेमी सत्पुरुषोंके हृदयमें भगवान्‌के प्रति जो मधुर रति होती है, वही विभावानुभावादिद्वारा परिपुष्ट होकर मधुर रसका रूप ग्रहण करती है। श्रीमद्भागवतमें इस रसका अगाध पयोधि उर्मिल होता परिलक्षित होता है। वहाँ इस रसके आलम्बन हैं श्रुतियोंके रसरूप प्रेमात्मा श्रीकृष्ण और उनकी वल्लभाएँ। इस रसमें सात्त्विक भावका चरमोत्कर्ष उपलब्ध होता है। वस्तुतः मधुर रति ही विकसित होकर क्रमशः प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भावरूपमें परिणत होती है। प्रेम सर्वाधिक व्यापक होनेसे इस रसका मुख्य प्रतिपाद्य है।

यद्यपि प्रेमकी सभी अवस्थाएँ अनिर्वचनीय हैं तथापि भागवतोक्त अवस्थाएँ तो इतनी अलौकिक हैं कि उनकी समता कठिनतासे ही अन्यत्र मिल सकती हैं। प्रेमको अमृतस्वरूप, श्रेष्ठरस और आनन्द-रसकी चरम सीमा बताते हुए भागवतमें इसे 'महाभाव' के रूपमें अभिहित किया गया है। इसमें प्रेमी प्रियरूप दर्शनमें बाधक पलकोंको कोसता है।[४७] प्रियको किसी भी चेष्टासे कष्ट न हो, इस विचारसे शंकाकुल रहता है[४८] तथा प्रिय-दर्शन बिना उसका एक-एक पल युग-सा बीतता है।[४९] इस अवस्थामें पहुँचा हुआ प्रेमी सांसारिक समस्त सुखों, लोकोत्तर भोगों और मुक्तिको भी सर्वथा नगण्य समझता है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें इसकी उत्कृष्टता प्रतिपादित हुई है।[५०]

यह मधुरभावरूपा परिपुष्ट मधुर रति ही मधुररस, उज्ज्वलरस अथवा दिव्य शृंगाररसके नामसे अभिहित की जाती है। शृंगारके अन्तर्गत संयोग-वियोग दोनोंका वर्णन होता है, परंतु श्रीमद्भागवतके अनुसार इस अवस्थामें प्रिया-प्रियतमका वियोग सम्भव नहीं।

भगवान्‌का संयोग-सुख अवर्णनीय है। वास्तवमें मधुर रसकी यही चरम परिणति है। प्रणय-परिणयकी यही मधुयामिनी है। रतिका नाम यहीं आकर सार्थक होता है। संयोग ही रसराजकी सरस अवस्था है। यह शृंगार श्रीमद्भागवतके रास-प्रसङ्गमें जैसा अभिव्यक्त हुआ है, वैसा अन्यत्र नहीं।

दूसरे शब्दोंमें लोकपक्षका शृंगार ही भक्तिपक्षमें मधुर रस (भाव) कहलाता है। गोस्वामी विट्ठलनाथजीने 'शृंगार-मण्डन' नामक ग्रन्थमें इस रसका प्रतिपादन किया है। उन्होंने इस ग्रन्थमें भक्त (प्रेमी)-मनको ऐन्द्रिय विषयोंसे हटानेका शृंगार या मधुर रस (भक्ति)-को अमोघ उपाय माना है एवं आत्मसमर्पण तथा अनन्यभावको मधुर रसकी अनुभूतिके लिये अनिवार्य माना है। महाकवि सूरने अपने सूरसागरमें इसे सर्वोत्कृष्टरूपमें तरङ्गायित किया है। सूरकी 'दानलीला' मधुर रतिकी परम परिणति कही गयी है।

समष्टिरूपमें भगवत्परक प्रेम अथवा प्रेमाभक्ति वह साधन है जो प्रेमीको प्रियसे न केवल मिलाता है, अपितु द्वैतको तिरोहित कर उस रस-सागरमें इस प्रकार निमज्जित कर देता है कि संत कबीरका कथन सार्थक हो उठता है—

बूँद समानी समद मैं सो कत हेरी जाइ॥

---

[४७] यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति। (भा० १०।८२।४०)

[४८] भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु। (भा० १०।३१।१९)

[४९] त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्। (भा० १०।३१।१५)

[५०] हलदि नीर सार अंशतार प्रेमनाम। आनन्द चिन्मय रस प्रेमेर आख्यान॥
प्रेमेर परभुसार महाभाव जानि। सेइ महाभाव रूपा राधा ठाकुरानी॥
प्रेमेर स्वरूप देह प्रेमे विभावित। कृष्णेर प्रेयसी श्रेष्ठा जगते विदित॥
सेइ महाभावह्य चिन्तामणि सार। कृष्ण वाँछापूर्ण अरे एइकार्य यार॥
महाभाव चिन्तामणि राधार स्वरूप। ललितादि सरवीयार कायव्यूह रूप॥ (पृ० १३२)

प्रेमाभक्तिका स्वरूप और उसके लक्षण

(श्री जय जय बाबा)

संसारमें प्रेममय भगवान्‌के जन्मकी और लीलाकी बहुत-सी मङ्गलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उनको सुनते रहना चाहिये। उन गुणों और लीलाओंका स्मरण दिलानेवाले भगवान्‌के बहुत-से नाम भी प्रसिद्ध हैं। लाज-संकोच छोड़कर उनका गान करते रहना चाहिये। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति, वस्तु और स्थानमें आसक्ति न करके विचरण करते रहना चाहिये।

जो इस प्रकार विशुद्ध व्रत—नियम ले लेता है, उसके हृदयमें अपने परम प्रियतम प्रभुके नाम-संकीर्तनमें अनुरागका—प्रेमका अङ्कुर जाग उठता है। उसका चित्त द्रवित हो जाता है। वह सामान्य लोगोंकी स्थितिसे ऊपर उठ जाता है। लोगोंकी मान्यताओं, धारणाओंसे परे हो जाता है और दम्भसे नहीं, स्वभावसे ही मतवाला-सा होकर कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है, कभी फूट-फूटकर रोने लगता है, कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्‌को पुकारने लगता है, कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता है और कभी-कभी जब वह अपने प्रियतमको अपने नेत्रोंके सामने अनुभव करता है तो उन्हें रिझानेके लिये नृत्य भी करने लगता है। यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष, वनस्पति, नदी और समुद्र सब-के-सब भगवान्‌के ही शरीर हैं, सभी रूपोंमें स्वयं भगवान् ही प्रकट हो रहे हैं—ऐसा समझकर वह जो कोई भी उसके सामने आ जाता है, चाहे वह प्राणी हो या अप्राणी, उसे अनन्यभावसे—भगवद्भावसे प्रणाम करता है।*

ऐसा प्रेमी भक्त सर्वत्र और सर्वदा अपने प्रेमास्पद प्रभुके दर्शन करता है। ऐसे ही भक्तके लिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

अर्थात् जो सम्पूर्ण भूतोंमें मुझ वासुदेवको व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं कभी ओझल नहीं होता तथा मेरे लिये वह कभी अदृश्य नहीं होता। मेरी कृपादृष्टिसे वह सर्वदा सुरक्षित रहता है।

सुप्रसिद्ध महात्मा दादूदयालजीके शिष्य भक्त-कवि सुन्दरदासजीने प्रेमाभक्तिका अत्यन्त सुन्दर और सजीव वर्णन करते हुए कहा है—

प्रेम लग्यो परमेस्वर सौं, तब भूलि गयो सब ही घरबारा।
ज्यौं उनमत्त फिरै जित ही तित, नैकु रही न सरीर सँभारा॥
साँस उसास उठैं सब रोम, चलै दृग नीर अखंडित धारा।
'सुंदर' कौन करै नवधा बिधि, छाकि पर्‌यौ रस पी मतवारा॥

न लाज काँनि लोक की, न बेद को कह्यो करे।
न संक भूत प्रेत की, न देव यक्ष तें डरे॥
सुनै न कौन और की, द्रसै न और इच्छना।
कहै न कछू और बात, भक्ति प्रेम लच्छना॥

यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विलक्षण बात है कि प्रेमी भक्तका भगवान्‌के साथ दुतरफा रिश्ता है, इकतरफा नहीं। भक्ति किस प्रकार की जाय, उसमें क्या विधि-निषेध पालन करने पड़ते हैं; इस विषयमें शास्त्रोंमें जितने विस्तारसे चर्चा की गयी है, भगवान्‌की तरफसे इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है, उसका शास्त्रोंमें उतने विस्तारसे वर्णन नहीं मिलता है।

भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीसे कहा—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १६)

जिसे किसीकी अपेक्षा नहीं, जो जगत्‌के चिन्तनसे सर्वथा उपरत होकर मेरे ही चिन्तन-मननमें तल्लीन रहता है और जो राग-द्वेष छोड़कर सबके प्रति समान दृष्टि रखता है, उस महात्माके पीछे-पीछे मैं यह सोचकर निरन्तर घूमा करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूलि उड़कर मेरे शरीरपर पड़े और मैं पवित्र हो जाऊँ।

तीनों लोकोंके स्वामी परब्रह्म परमात्माने अपने भक्तको कितना आदर दिया है, कितना प्यार और सम्मान दिया है, यह सोचा भी नहीं जा सकता। वाह रे प्रभु!

---

* एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः। हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ४०-४१)

आपके प्रेमकी लीला अचिन्तनीय है—

चेष्टा विभूम्नः खलु दुर्विभाव्या।

(श्रीमद्भा० ४। ११। १८)

कभी-कभी भक्त समझता है कि मैं ही भगवान्‌का ध्यान करता हूँ, परंतु सच बात तो यह है कि भगवान् भी भक्तका ध्यान करते हैं। एक बार राजा युधिष्ठिरने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण ध्यानमें बैठे हुए हैं। भगवान् जब ध्यानसे उठे तो युधिष्ठिरने उनसे पूछा—भगवन्! सारा संसार तो आपका ध्यान करता है, परंतु आप किसका ध्यान कर रहे थे? भगवान्‌ने उत्तर दिया—युधिष्ठिर! मैं शर-शय्यापर पड़े हुए अपने भक्त भीष्मका ध्यान कर रहा था कि वे कैसे हैं?

इसलिये यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि भगवान्‌से हमारा रिश्ता दुतरफा है। हम उनका जिस प्रकार और जैसा ध्यान-भजन करते हैं, वैसा ही वे भी हमारा ध्यान-भजन करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

(४। ११)

जो भक्त मुझे जिस प्रकारसे भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकारसे भजता हूँ (फल देता हूँ)। हे अर्जुन! किसी भी ओरसे मनुष्य अन्तमें मेरे ही मार्गमें आ मिलते हैं।

श्रीमद्भागवतके प्रारम्भमें ही कहा गया है—

सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥

(१।१।२)

पुण्यात्मा पुरुष यदि इस श्रीमद्भागवतमहापुराणकी कथा सुननेकी इच्छा करे तो उसकी इस इच्छामात्रसे भगवान् श्रीकृष्ण उसके हृदयमें बंदी बनकर बैठ जाते हैं।

महान् प्रेमी भक्त, ज्ञानी संत कबीरदासजीने अपने स्वयंके अनुभवको कितनी दृढ़तासे कहा है—

'आगे पीछे हरि फिरे कहत कबीर कबीर।'

जैसे कोई पिता अपने अत्यन्त प्रिय पुत्रके साथ आगे-पीछे चलकर उसको अत्यन्त प्यारसे पुकारता है, वैसे ही कबीर साहब कहते हैं—मेरे 'पिव' मेरे साथ आगे-पीछे चलते रहते हैं और अत्यन्त प्रेमसे पुकारते हैं—बेटा कबीर! बेटा कबीर!

वस्तुतः भगवान् तो भक्तके प्रेमके वशमें रहते हैं। बस; प्रेमसे उन्हें पुकारने, उनका नित्य स्मरण रखने और उनके वियोगमें विकल रहनेकी आवश्यकता है, उन्हें रीझते देर नहीं लगती, कोई पुकार करके तो देखे!

* * *

प्रेमतत्त्व-मीमांसा

(डॉ० श्रीकैलाशनाथजी द्विवेदी, एम्०ए०, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, पी-एच्०डी०, डी०लिट्०)

पृथ्वीके प्रत्येक प्राणीमें प्रेम प्रकृत्यैव परिलक्षित है। 'प्रेम' शब्दका अर्थ है—प्रीति, स्नेह, अनुराग एवं अनुग्रह आदि। वस्तुतः प्रेम हृदयका एक मधुर भाव है, जिसकी अभिव्यक्ति और प्रतीति जीवनमें हम प्रायः पाते रहते हैं। जब कोई प्राणी किसीके विलक्षण लक्षणों, गुणों या विशेषताओंसे आकृष्ट अथवा प्रभावित होता है तो उसके प्रति प्रीति, स्नेह अथवा आदरपूर्ण अनुरागकी स्वाभाविक उत्पत्ति हृदयमें हो जाती है।

आचार्य रूपगोस्वामीने इस प्रेम अथवा प्रीतिका लक्षण विविध रूपोंमें इस प्रकार निरूपित किया है—

(१) सम्भ्रमप्रेम—जब प्रभुताके ज्ञानके कारण चित्तमें आदरपूर्ण कम्प उत्पन्न होता है, तब इससे ऐक्यभावको प्राप्त प्रीति 'सम्भ्रम' कही जाती है—

सम्भ्रमः प्रभुताज्ञानात्कम्पश्चेतसि सादरः।
अनेनैक्यं गता प्रीतिः सम्भ्रमप्रीतिरुच्यते॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु पश्चिम २।४०)

(२) गौरवप्रेम—जब देह-सम्बन्धी मात्राओंसे गुरुबुद्धि प्रेमपात्रसे तन्मय होकर गौरवमय प्रीतिका अनुभव करती है, तब उसे 'गौरवप्रीति' कहा जाता है—

देहसम्बन्धितामात्राद् गुरुधीरत्र गौरवम्॥
तन्मयी लालके प्रीतिर्गौरवप्रीतिरुच्यते।

(भक्तिरसामृतसिन्धु पश्चिम २।७६-७७)

(३) प्रेमवैचित्त्य—जब प्रियके समीप रहते हुए प्रेमके उत्कर्षसे अपनेमें वियोगबुद्धिद्वारा भ्रमसे पीड़ा होने लगती है तो उसे 'प्रेमवैचित्त्य' कहा जाता है—

प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः।
या विश्लेषधियार्तिस्तत् प्रेमवैचित्त्यमुच्यते॥

(उज्ज्वलनीलमणि, शृङ्गारभेद, १३४)

प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव क्रमशः विकसित और परिपूर्ण होकर 'प्रेमाभक्ति'-कोटिमें पहुँच जाते हैं। प्रेमके प्रादुर्भावके लिये साधकमें क्रमशः श्रद्धा, सत्संग, भजनक्रिया, अनर्थनिवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति और भाव (श्रीकृष्णविषयक रति)-का परिपक्व होना परमावश्यक है। जैसा कि कहा गया है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाऽभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व० ४।६-७)

प्रेमकी अभिव्यक्तिमें स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभङ्ग, पुलक और प्रलय-जैसे सात्त्विक विकार स्वाभाविकरूपसे प्रायः परिलक्षित होते हैं—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः॥
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः।

(साहित्यदर्पण ३।१३५-१३६)

प्रेमसम्पुटकारने प्रेमतत्त्वको कामतत्त्वसे अभिन्न माना है; क्योंकि इसकी प्रतीति कभी-कभी बाह्य विकारोंसे ही परिलक्षित होती है। कलावान् श्रीकृष्ण इससे आनन्दित होते हैं। किसी-किसी जनमें यह प्रेम-सा ही दृष्टिगत होता है। जैसा कि कहा गया है—

प्रेमा हि काम इव भाति बहिः कदाचि-
त्तेनामितं प्रियतमः सुखमेव विन्देत्।
प्रेमैव कुत्रचिद् वेक्ष्यत एव कामः
कृष्णस्तु तत् परिचिनोति बलात् कलावान्॥

(प्रेमसम्पुट ५८)

कविकुलगुरु कालिदासने प्रेमको भावरूपमें स्थिर जन्म-जन्मान्तरका सौहार्द बताया है, जो अनजाने ही कभी रम्यरूप और मधुर शब्दों (संगीत)-को सुनकर जाग्रत् हो जाता है तथा उसकी स्मृति आ जाती है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥

(अभिज्ञानशाकुन्तलम् ५।२)

वस्तुतः चित्त ही प्राणियोंके जन्मान्तरके अर्जित प्रेमको जानता है और पहचान लेता है। जैसा कि 'कथासरित्सागर' में कहा गया है—'**चित्तं जानाति जन्तूनां प्रेम जन्मान्तरार्जितम्॥**'

इस लेखकको इस तथ्यका साक्षात् दृष्ट अनुभव है, जिसने पड़ियासहित एक नयी दुधारू भैंस जिस गाँवसे खरीदी, वहाँसे भैंसके साथ एक कुतिया भी सहेली-सी चली आयी। बंद बाड़ेमें दिनमें खुले किवाड़ पाकर कुतिया भैंसके पास नित्य आकर बैठती, सूँघती, चाटती और प्रेम प्रकट करती। प्रायः भगानेपर भी वहाँसे नहीं भागती। वह उस गाँवको भी नहीं लौटी, जहाँसे भैंसके साथ आयी थी। कुछ मासके बाद रातमें किसीने चारेमें विष डालकर भैंसको मार डाला। सद्यःप्रसूता कुतिया अपने पिल्लोंको छोड़कर भैंसके शवविच्छेदन-स्थलतक करुण चीत्कार करती गयी और उसने खाना-पीना भी बंद कर दिया। दो दिन बाद प्रेमव्याकुल वह स्वयं भी दिवंगत हो गयी। इन दो भिन्न वर्गोंके पशुओंमें परस्पर पूर्वजन्मका अनुराग भावरूपमें स्थिर अवश्य रहा होगा, जिसमें स्वार्थ, वासना, लिप्सा आदि विकार हम नहीं पाते।

श्रीसीतारामके आदर्श अद्वैत दाम्पत्यप्रेमके माध्यमसे प्रेमकी अनिर्वचनीयता, व्यापकता और विलक्षणता भवभूति इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥

(उत्तररामचरितम् १।३९)

अर्थात् सुख-दुःखमें, सभी अवस्थाओंमें जो सच्चा प्रेम अद्वैत—एक-सा रहता है, जो हृदयका विश्राम है और वृद्धावस्थामें भी जो अनुराग कम नहीं होता, जिसका रस नष्ट नहीं होता। समय बीत जानेपर संकोच आदि आवरणके हट जानेसे प्रगाढ़ और प्रबल प्रेम स्थिर रहता है। ऐसे कल्याणकारी दाम्पत्य-प्रेमकी प्राप्ति सौभाग्यसे ही किसीको होती है।

हिन्दीके मध्ययुगीन भक्त कवियोंने प्रेमतत्त्वकी स्वानुभूतिमयी सुन्दर मीमांसा अपनी सीधी-सपाट भाषामें की है, जिनमें गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, संत कबीर, दादूदयाल, रैदास, मीरा, रज्जबके अतिरिक्त प्रेममार्गी (सूफ़ी) संत कवि जायसी, कुतबन, मंझन आदि विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं। इन भक्त कवियोंने प्रेमको परमात्मस्वरूप,

अतिव्यापक, अलौकिक और अद्वैत बताया। यथा—

प्रेम हरी कौ रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै यौं लसैं ज्यौं सूरज अरु धूप॥

प्रेम सहज (स्वाभाविक), अमूल्य और सर्वव्यापी है। स्वार्थरहित होकर त्याग (स्वत्व समर्पण)-की विशुद्ध भावनासे जो इसे ग्रहण करना चाहता है, वह इसे पा लेता है। जैसा कि कबीरने कहा है—

प्रेम न खेतौं नींपजै, प्रेम न हाट बिकाइ।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ॥

जिसे पाकर प्राणीको अन्य प्राप्तव्य अथवा काम्य नहीं रहता, वह परम पावन दो अक्षरोंका प्रेम (प्रीति) संसारमें सर्वातिशायी होकर परम श्रेयस्कर है—

जाकों लहि कुछ लहन की चाह न हिय में होय।
जयति जगत पावन करन 'प्रेम' बरन यह दोय॥

वस्तुतः *'ढाई अक्षर प्रेमका, पढ़ै सुपंडित होइ'* उक्तिके माध्यमसे ज्ञानकी अपेक्षा प्रेम और भक्तिकी श्रेष्ठता सभी संत कवियोंने स्वीकार की है। इस निश्छल प्रेममार्गमें द्वैत नहीं, कुटिलता और विषमता नहीं है। द्विविधा छोड़कर अकेले चलकर वृन्दावनकी साँकरी प्रेमगलीमें काँकरी गड़नेका भी भय नहीं रहता; क्योंकि *'प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥'* हिन्दीके सुकवि घनानन्दने इस अद्वैतभावको इस प्रकार प्रभावीरूपमें प्रकट किया है—

अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपनपौ, झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं॥
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ कहौ मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥
(घनानँदकवित्त ८२)

मीन-जैसे जलचरोंमें भी प्रेम प्रेरणामय प्राणाधाररूपमें परिलक्षित है। अटपटे प्रेमकी रीति एवं चित्त-मनकी दशा सर्वथा अनिर्वचनीय है, जिसमें अप्राप्ति और अतृप्तिसे अकुलाहट एवं निपट निराशा है। घनानन्दके ही शब्दोंमें इस तथ्यको देखें—

हीन भएँ जल मीन अधीन, कहा कछु मो अकुलानि-समानै।
नीर-सनेही कौं लाय कलंक, निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै॥
प्रीति की रीति सु क्यौं समुझै जड़ मीत के पानैं परे को प्रमानै।
या मन की जु दसा घनआनँद जीव की जीवनि जान ही जानै॥

पावन प्रेममग्न प्राणीका हृदय अपने प्रियतमके वियोगके कारण चिन्ता, उद्वेग, संताप, अश्रु, अनिद्रा आदिके द्वारा सरलतासे पहचाना जा सकता है। विरहव्यथित उस प्रेमिककी जीवनदशा बड़ी विचित्र और विषादजनक हो जाती है। यथा—

अंतर उदेग-दाह, आँखिन प्रवाह-आँसू,
देखी अटपटी चाह भीजनि दहनि है।
सोइबो न जागिबो हो, हँसिबो न रोइबो हू,
खोय खोय आप ही मैं चेटक-लहनि है।
जान प्यारे प्राननि बसत पै अनंदघन,
बिरह बिषम दसा मूक लौं कहनि है।
जीवन मरन, जीव मीच बिना बन्यौ आय,
हाय कौन बिधि रची नेही की रहनि है॥

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धमें वर्णित लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंका निश्छल प्रेम अलौकिक है। सखा उद्धवके माध्यमसे अपना प्रेमसन्देश भेजनेवाले श्रीकृष्णके प्रति प्रेम प्रकट करती विरहाकुल गोपियोंकी व्याकुलतापूर्ण अव्यक्त अभिव्यक्ति कवि 'रत्नाकर'के शब्दोंमें कितनी सशक्त एवं सजीव लगती है—

बिरह बिथा की कथा अकथ अथाह महा,
कहत बनै न जो प्रबीन सुकबीन सौं।
कहै 'रत्नाकर' बुझावन लगे ज्यौं कान्ह,
ऊधौ कौं कहन-हेत ब्रज-जुवतीन सौं।
गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं,
प्रेम पर्‍यो चपल चुचाइ पुतरीन सौं।
नैंकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं,
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं॥
(उद्धवशतक)

रासेश्वरी श्रीराधाका निःस्वार्थ त्यागमय पावन प्रेम विश्वबन्धुत्वके व्यापक, विराट् क्षितिजको छू लेता है। व्रजसे चले जानेपर पुनः प्रेमिक व्रजेश्वरके न लौटनेपर राधा अपना अनन्य अनुराग प्रियतम श्रीकृष्णके प्रति 'हरिऔध'के शब्दोंमें इस प्रकार व्यक्त करती हैं—

'प्यारे जीवें जग हित करें गेह चाहे न आवें।'
(प्रियप्रवास)

आज भौतिकताकी आँधीमें हमारा अनास्थामय जीवन परस्पर अविश्वास, घृणा, स्वार्थ, असहिष्णुता आदि दुर्गुणोंसे

परिपूर्ण हो गया है। फलस्वरूप समाजमें सर्वत्र हिंसा और अशान्तिमय वातावरण व्याप्त है। सामाजिक सम्बन्धोंमें सहजता, निश्छलता और मृदुलता लुप्तप्राय-सी हो गयी है। पूज्य गुरुजनोंके प्रति श्रद्धा, सम्मान, समवयस्क एवं छोटोंके प्रति प्रेम-स्नेह शनैः-शनैः समाप्त होता जा रहा है। संयुक्त परिवार विघटित होकर बिखर रहे हैं। नित्यके कलह, लोभ और लिप्सासे मधुर दाम्पत्यजीवन कटुतापूर्ण क्रोधरूपी सर्पदंशसे विषाक्त होकर विच्छिन्न हो रहा है। ऐसी परिस्थितिमें लोकजीवनको पावन भगवद्भक्ति और प्रेमके प्रति आकर्षित करना, प्रीतिकी प्रतीति बढ़ाना तथा अलौकिक अनुरागकी आस्था जाग्रत् करना अत्यन्त आवश्यक है।

वस्तुतः व्यापक प्रेम धर्म, जाति, क्षेत्र, सम्प्रदाय आदिकी संकीर्ण सीमाओंसे परे है। परस्परकी उदारता, त्याग, सहिष्णुता और समर्पणकी उदात्त मानवीय भावनासे ही जन-जनमें प्रीति-प्रतीतिका प्रादुर्भाव होगा तथा निःस्वार्थ स्नेह-सद्भावसे परस्पर अविश्वास, अशान्ति एवं वैमनस्य समाप्त होगा।

विश्वमैत्री, विश्वबन्धुत्व **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** एवं **'विश्वमेकं भवेन्नीडम्'**—स्वरूपको पानेके लिये, आतंकवाद और उग्रवाद-जैसे हिंस्र दुर्भावोंको समाप्त करनेके लिये भगवद्भक्तिके साथ ही प्रेमतत्त्वको भी हमें हृदयङ्गम करते हुए इसका आचरण अवश्य करना चाहिये।

'प्रेम हरी कौ रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप'

(श्रीकृष्णानन्दजी जायसवाल)

भक्ति-काव्यका केन्द्रीय तत्त्व है—प्रेम।

प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रेम है। यह प्रेम अवर्णनीय है तथा अपने अद्भुत आकर्षणमें सबको बाँधे रहता है। जीवनको चमत्कृत किये रहता है। अपनी रहस्यमयतासे सबको मुग्ध करनेवाला यह प्रेमतत्त्व जिसे प्राप्त है समझो, उसे सब कुछ मिल गया है।

प्रेम अत्यन्त व्यापक वस्तु है—मनुष्यमें ही नहीं, अपितु समस्त प्राणियोंमें इसका वास है। अच्छा लगना, आकर्षण महसूस करना, निकटताकी कामना करना तथा वियोगमें और अधिक घनीभूत होना—प्रेमकी पहचान है।

मनुष्यके लिये आनन्दप्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उनमें प्रेम श्रेष्ठतम है। इस आनन्दमें चरम संतोष और तृप्ति होती है। प्रेम जीवनके उन क्षणोंकी उपलब्धि है, जहाँ सुख या आनन्द ही सब कुछ है। यह प्रेम वहाँ लीलामय स्वरूप धारण कर लेता है और तब वह लीला साधन एवं सिद्धि दोनों बन जाती है। वहाँ वियोगभाव भी उसी लीलाके अन्तर्गत होनेके कारण दुःखद नहीं होता। वैसे भी संयोग और वियोग उसी प्रेम-आनन्दके अन्तर्गत हैं—प्रेम-लीलाके अंश हैं।

कबीरदासजी बताते हैं कि मैं धूपमें जल रहा था तो छायाके लिये मैंने पेड़की तरफ देखा। पेड़से छाह माँगी, पर पेड़से निकली ज्वाला। यह ज्वाला कहाँ, कैसे बुझेगी? जंगलमें लगी आग बुझानेके लिये शीतल जलकी तलाशमें दौड़ता हूँ; किंतु जलसे भी आग ही निकले तो फिर कहाँ जाऊँ?

धूप दाझ्य तें छाँह तकाई, मति तरवर सच पाऊँ।
तरवर माहै ज्वाला निकसै, तो क्या लेइ बुझाऊँ॥
जे वन जलै तो जलकू धावै मति सीतल जल होई।
जल ही माँहि अगनि जब निकसै और न दूजा कोई॥

सच तो यह है कि प्रेम और भक्तिकी प्राप्ति सहजता-उदारता तथा सात्त्विक विचारोंके समन्वयसे ही सम्भव है। जब भगवान्‌के सहज स्वभाव और सभी प्राणियोंमें भगवान्‌के अलौकिक गुणोंकी अनुभूति तथा ***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'*** का लक्ष्य रखा जाता है, तभी प्रेमका प्रादुर्भाव हो सकता है। निःसंदेह भक्ति और प्रेमकी एकरूपता प्रेममें ही पर्यवसित है।

* * *

पञ्चम पुरुषार्थ भगवत्प्रेमकी अनिवार्यता

(महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीबजरङ्गबलीजी ब्रह्मचारी)

यह भारत-वसुन्धरा वह ऋतम्भरा एवं विश्वम्भरा है, जहाँ धनसे अधिक धर्मको, भोगसे अधिक योगको तथा साधना, आराधना और उपासनाके क्षेत्रमें भगवत्प्रेमको सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है। यह भारतभूमि वह ज्ञानभूमि है, जहाँके आप्तकाम, पूर्णकाम, परम निष्काम, अमलात्मा, शुद्धात्मा, महात्मा महामनीषियोंने अपने भगवत्प्रेम-समन्वित तत्त्वज्ञानसे सम्पूर्ण संसारका मार्गदर्शन, पथप्रदर्शन एवं दिशा-निर्देशन किया है। इतना ही नहीं, यह वह धर्मभूमि और कर्मभूमि है, जहाँ भगवत्प्रेममय धर्म तथा भगवत्प्रेममय कर्मकी रक्षाके लिये अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक, परात्पर, परब्रह्म, परमात्मा, सर्वात्मा विश्वात्मा स्वयं विविध रूप धारण कर इस भगवत्प्रेमके पथको प्रशस्त करनेके लिये उपस्थित होता है।

शास्त्रोंमें सुख-शान्ति, गति-प्रगति-उन्नति, रति और विरति (निर्वेद)—इन सबके स्फुरण और जागरणका मूल कारण भगवत्प्रेमको ही माना गया है। इसीलिये अद्वैतवादी भगवान् आद्यशङ्कराचार्यने भी भगवत्प्रेमकी सार्थकता और अनिवार्यताका पक्षपोषण करते हुए **'मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी'** कहकर भगवत्प्रेमकी गरिमा-महिमा, सत्ता-महत्ता, उपयोगिता एवं आवश्यकताको विशेषरूपसे स्वीकारा है।

उनके मतानुसार इस भगवत्प्रेमका ऐसा प्रभाव है कि मुक्तपुरुष भी भगवत्प्रेमका रसास्वादन और समास्वादन करनेके लिये लीलामात्रसे मनुष्यरूप धारण कर परमात्माका भजन करते हैं—**'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा तं भजन्ते'**।

यही निर्मल, विमल, धवल और उज्ज्वल भगवत्प्रेम सबको भक्ति, मुक्ति, शक्ति तथा शान्तिके सहित अक्षय आनन्दप्राप्तिकी राह दिखाता है। यह सत्य प्रेम ही लोगोंको अनाचार, अत्याचार, पापाचार और दुराचारसे दूर हटाकर सदाचार, सद्विचार, समता तथा मानवताका पाठ पढ़ाता है। यह दिव्य प्रेम ही हमें कर्मठता और कार्यकुशलताका मन्त्र सिखाता है। यह पावन प्रेम ही हमें देश, राष्ट्र और समाजके सर्वतोमुखी अभ्युदयके लिये सर्वस्व समर्पणकी प्रेरणा प्रदान करता है तथा यह अलौकिक प्रेम ही हमारे रहन-सहन, आचार-विचार, संयम-साधना, भाषा-भाव, सभ्यता-संस्कृतिको ऊर्ध्वमुखी एवं ऊर्जावान् बनाता है।

सच्चे भगवत्प्रेमीको बड़े-से-बड़ा प्रलोभन भी पथच्युत नहीं कर पाता। मृत्युकी भयावह विभीषिका भी उसे उसके लक्ष्यसे विचलित नहीं कर पाती। वह अपनी शास्त्रसम्मत भगवत्प्रेममयी रीति-नीति और विचार-व्यवहारमें पूर्ण आस्थावान् बनकर अचल, अटल और आरूढ़ रहता है।

यह पञ्चम पुरुषार्थ भगवत्प्रेम ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी पुरुषार्थ-चतुष्टयकी उपलब्धि और सिद्धिका हेतु है। इसलिये इसकी अनिवार्यता स्वत:सिद्ध है।

अजन्माका जन्म लेना, अव्यक्तका व्यक्तीकरण और निर्गुण-निराकार-निर्विकारका सगुण-साकार विग्रह धारण करना—ये सब इस भगवत्प्रेमके ऐसे चमत्कार हैं, जिन्हें श्रुतियों, स्मृतियों, पुराणों तथा काव्यग्रन्थोंमें अनेक प्रकारसे सविस्तार बताया गया है।

यह भगवत्प्रेम ही भोगीको योगी, स्वार्थीको परमार्थी, कृपणको उदार और नीरसको सरस बनाकर मानव-जीवनके चरम लक्ष्यका भी बोध बड़ी सरलता, सरसता और सुगमतासे करा देता है।

भगवत्प्रेमके अभावमें न तो भगवत्कथाओंका ही समुचितरूपसे रसास्वादन या समास्वादन किया जा सकता है और न इस मानव-जीवनको ही उन कोटि-कोटि कन्दर्पदर्प-दलन नवजलधर श्यामसुन्दर अनन्त सौन्दर्यमाधुर्यामृतसार-सर्वस्व भुवनविमोहन भगवान्‌की रूपमाधुरीकी सरितामें अवगाहन कराकर सफल एवं सार्थक बनाया जा सकता है।

यह भगवत्प्रेम ही द्वैती, अद्वैती, विशिष्टाद्वैती, विशुद्धाद्वैती, द्वैताद्वैती आदि सभी पन्थानुयायियोंको पुलकित, प्रफुल्लित, हर्षित और आनन्दित कर उन सभीके जीवनको रसाप्लावित, भावाप्लावित तथा करुणाप्लावित करके कृतकृत्यता, ज्ञातज्ञातव्यता एवं प्राप्तप्राप्तव्यताके शिखरपर पहुँचा देता है। इसीलिये शैव, शाक्त, वैष्णव, कबीर, दादू, नानक आदि सभी पन्थावलम्बी इस भगवत्प्रेममें अहर्निश आकण्ठ समाहित रहनेकी कामना करते हैं।

उस अनन्तका अन्त कौन जान सकता है? उस अवाङ्मनसगोचरका वर्णन कैसे किया जा सकता है? उस **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्'** सर्वसमर्थको सर्वसुलभ और सर्वग्राह्य कैसे बनाया जा सकता है?

ये सभी प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाते, यह अद्भुत पहेली अज्ञात और अनबूझी ही बनी रहती, यदि शास्त्रों और आचार्योंके द्वारा भगवत्प्रेमके रहस्यका समाधान प्रस्तुत न किया गया होता।

इस भगवत्प्रेमका सौन्दर्य-माधुर्य इतना अधिक है कि उस आनन्दका अनुभव बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्र, त्यागी-विरागी-वीतरागी सनकादि, शुकादि, नारदादिके लिये भी दुर्लभ माना जाता है।

जो सुख-सौभाग्य इन्द्रादिक, ब्रह्मादिक तथा सब प्रकारके अर्थ-अधिकारोंसे सम्पन्न देवताओंको भी सुलभ नहीं हो पाता, वह सुख, शान्ति, भक्ति, अनुरक्ति, दिव्यानन्द, और परमानन्द भगवत्प्रेमसे ओत-प्रोत प्रेमरसरसिक भगवत्प्रेम-पथके पथिकको सहजमें ही प्राप्त हो जाता है। तभी तो रसखान-जैसे भगवत्प्रेमियोंने आठों सिद्धियों और नवों निधियोंका परित्याग करके भी भगवत्प्रेममें सदा-सर्वदा निमग्न रहनेका अपना अन्तर्भाव प्रकट किया है।

तत्त्वनिष्ठा और भगवत्प्रेमके सामञ्जस्यका अद्भुत उदाहरण हमें अद्वैतसिद्धिके रचयिता श्रीमधुसूदन सरस्वतीके जीवनमें देखनेको मिलता है। भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनोंसे उनमें ऐसे अलौकिक तथा अद्वितीय भगवत्प्रेमका प्रादुर्भाव—प्राकट्य हुआ, जिसका वे स्वयं बड़ा मार्मिक चित्र प्रस्तुत करते हैं। यथा—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः
स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः ।
शठेन केनापि वयं हठेन
दासीकृता गोपवधूविटेन॥

अर्थात् अद्वैत-मार्गपर चलनेवाले पथिकोंके आराध्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्र स्वाराज्यसिंहासनारूढ हम-जैसे आत्मज्ञानी, तत्त्वज्ञानीको व्रजाङ्गनाओं एवं गोपाङ्गनाओंके प्रेमी किसी शठने बलात्-हठात् अपना दास बना लिया है अर्थात् हमें **'सोऽहम्'** से **'दासोऽहम्'** कहनेके लिये बाध्य कर दिया है।

इसके पश्चात् वे वेदान्तकेसरी भक्तिरसायनकी रचना करके श्रीकृष्णके भगवत्प्रेममें इतना ओत-प्रोत और रच-पच जाते हैं कि अब उनके मुखसे विवश होकर निम्नलिखित श्लोक बाहर आ जाता है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभा-
त्पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रा-
त्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

अर्थात् जिसके हाथोंमें वंशी सुशोभित है, जो नव-नील-नीरद सुन्दर है, पीताम्बर पहने है, जिसके ओठ बिम्बफलके समान लाल-लाल हैं। जिसका मुखमण्डल पूर्णचन्द्रके सदृश और जिसके नेत्र कमलवत् हैं, उस श्रीकृष्णसे परे कोई तत्त्व हो तो मैं उसे नहीं जानता।

प्रायः सभी प्रकारके ज्ञान-विज्ञान, साधनाएँ-उपासनाएँ तथा सभी सत्कर्म एवं धर्मानुष्ठान इसी भगवत्प्रेमकी गलीसे होकर ही अपने गन्तव्यकी ओर आगे बढ़ते हैं। इसीलिये मानव-जीवनके सर्वतोमुखी त्राण-कल्याण, अभ्युदय-उत्थान तथा विकास-प्रकाशका आधार इस भगवत्प्रेमको ही माना जाता है।

भगवत्प्रेमीका जीवन गङ्गाजलवत् पवित्र होता है। उसके रग-रगसे, रोम-रोमसे, अणु-परमाणुसे और श्वास-प्रश्वाससे दिग्दिगन्त सुवासित हो जाते हैं। उसके दिव्य जीवनसे लोकको एक नयी शिक्षा, नयी दीक्षा, नया उपदेश, नया आदेश, नया संदेश, नयी स्फुरणा, नयी प्रेरणा तथा नयी चेतना प्राप्त होती है।

जैसे अपार जलराशिवाला सिन्धु बिन्दु बनकर ही लोगोंकी पिपासा शान्त कर पाता है, जैसे सर्वव्यापी महाकाश घटाकाश या मठाकाश बनकर ही लोगोंको सुख-सुविधाएँ प्रदान करता है, उसी प्रकार वह सर्वाधिष्ठान, सर्वशक्तिमान्, स्वयं प्रकाशमान, सर्वव्यापी, सर्वाधार, अनादि और अनन्त शुद्धबुद्ध-मुक्तस्वरूप परब्रह्म भी इस प्रेमसे प्रभावित होकर ही अपनी अघटित-घटनापटीयसी मायाशक्तिके द्वारा अनेक लोक-कल्याणकारी रूप धारण कर सबका योगक्षेम वहन करता है।

धन्य है वह देश, धन्य है वह प्रदेश, धन्य है वह धरती और धन्य है वह संस्कृति, जहाँ भगवत्प्रेमको ब्रह्मानन्द-सहोदर माना जाता है तथा पञ्चम पुरुषार्थके रूपमें आदरसहित जिसके सम्बन्धमें निम्नलिखित उद्गार प्रकट किया जाता है—

अहो चित्रमहो चित्रं वन्दे तत्प्रेमबन्धनम्।
यद्बद्धं मुक्तिदं मुक्तं ब्रह्मक्रीडामृगीकृतम्॥

तात्पर्य है कि कोई निर्गुण-निराकार-निर्विकार ब्रह्मको और कोई सगुण-साकार ब्रह्मको भजते हैं; किंतु मैं तो भगवत्प्रेमबन्धनको भजता हूँ, जिससे बँधकर अनन्त प्राणियोंको मुक्ति देनेवाला नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म स्वयं भगवत्प्रेमियोंके हाथका खिलौना बन जाता है।

* * *

भगवत्प्रेमका स्वरूप

(शास्त्रार्थ-पञ्चानन पं० श्रीप्रेमाचार्यजी शास्त्री)

प्रेम भौतिक हो अथवा अभौतिक, उसे अनुभवैक-वेद्य ही माना गया है। उसे शब्दोंमें समेटकर व्यक्त कर पाना वैसा ही दुरूह कार्य है जैसा किसी गूँगेके लिये मधुर पदार्थको चख लेनेके बाद अपने अनुभूत आनन्दको वाणीद्वारा व्यक्त कर पाना। भक्ति एवं प्रेमके परमाचार्य महाभागवत देवर्षि नारदके—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।

तथा

मूकास्वादनवत्।

—इन भक्तिसूत्रोंका यही स्वारस्य है। तथापि कतिपय बाह्य लक्षणों एवं आन्तर परिवर्तनोंको, अथ च प्रेमियोंके व्यवहारोंको आधार बनाकर सुधी आचार्योंने भौतिक तथा अभौतिक प्रेम-स्वरूपका विश्लेषण किया है और दोनोंका तारतम्य भी स्पष्ट किया है। यहाँ अभौतिक प्रेमसे हमारा अभिप्राय भगवत्प्रेम है और तदतिरिक्त वस्तुओंसे प्रेम भौतिक प्रेम-शब्दवाच्य समझना चाहिये।

हम कामिनी और काञ्चन आदि जागतिक पदार्थोंके प्रति उनके बाह्य आकार-प्रकार अथवा उनके अनुपम रूप किंवा उनकी व्यावहारिक उपयोगिताके आधारपर उनके प्रति आकर्षणका अनुभव करने लगते हैं और अहर्निश उन्हींके चिन्तनमें व्यग्र रहने लगते हैं। यह आकर्षण प्रारम्भमें इतना दुर्निवार होता है कि हमारा हृदय प्रबल मोहावेशसे भर जाता है। उस मोहपाशकी जकड़नसे स्वयंको मुक्त कर पाना हमारे लिये यदि असम्भव नहीं तो अशक्य अवश्य हो जाता है।

परंतु समस्त सांसारिक पदार्थ प्रकृतिजन्य होनेसे परिवर्तनशील एवं परिणामतः विनाशशील होते हैं तो फिर उनके प्रति हमारा प्रेम भी चिरस्थायी किंवा विकाररहित कैसे हो सकता है? अतः अपने प्रेमास्पद पदार्थमें परिवर्तनका आभास मिलते ही शारीरिक किंवा मानसिक स्तरपर पहुँचा हुआ भौतिकप्रेम आवेगशून्य होकर शनैः-शनैः क्षीण होने लग जाता है। अब पारस्परिक आत्मतुष्टिकी वह पहलेवाली गम्भीर भावना भी विलीन होने लगती है। भौतिक प्रेम अन्ततः अरुचिकर होते हुए अन्यमनस्कता एवं उपालम्भोंकी धूप-छाँवमें अपना वास्तविक स्वरूप विकृत कर लेता है। कारण बहुत स्पष्ट है, इस स्तरका प्रेम प्रायः प्रतिदानकी आकाङ्क्षा रखता है और समुचित प्रतिदान न मिलनेपर उसका कपूरकी भाँति शून्यमें विलीन हो जाना स्वाभाविक ही है।

भगवत्प्रेमका वैलक्षण्य

कामनाकी गन्धके सम्मिश्रणसे भौतिक प्रेम स्थायी आत्मतुष्टिका हेतु नहीं बन पाता है। ऐसी स्थितिमें परिच्छिन्न एवं नश्वर सांसारिक पदार्थोंसे विरत होकर अथवा कहिये एक सीमातक खिन्न होकर, भावुक साधक *'अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल'* की बारम्बार गुहार लगाता हुआ अपने परम आदर्श-आराध्य श्रीभगवान्की ओर उन्मुख होता है। प्राणोंके सम्पूर्ण वेगके साथ जीवात्माका परमात्माके प्रति यह सहज आकर्षण ही जो अवर्णनीय रूपमें मधुर, सूक्ष्म, आनन्दोद्रेकसम्पन्न अथ च परम आत्मतृप्तिका मूल होता है, भगवत्प्रेमका द्योतक है। शुद्ध, निरपेक्ष आत्मदान इसकी शैली है और एकत्व उसका ध्येय है। इसमें प्रतिदानकी कामनाका लेश भी नहीं रहता है। सर्वात्मभावेन श्रीभगवान्के प्रति सम्पूर्ण समर्पण ही इसमें लक्ष्य होता है।

भगवत्प्रेममें प्रत्यक्षतया आराध्य एवं आराधकका द्वैत दृष्टिगत होता है, परंतु जब वह प्रेम पराकोटिमें पहुँच जाता है तब दोनोंका भावाद्वैतमें अवस्थित हो जाना सहज हो जाता है। द्वैताद्वैतकी इस विलक्षण स्थितिको सर्वथा अनिर्वचनीय एवं स्वानुभवैकवेद्य कहा गया है। निर्विकार भावसे एकरसता तथा शाश्वतता भगवत्प्रेमके महनीय गुण हैं, इसमें प्रायः सभी तत्त्वज्ञ एकमत हैं। इतना ही नहीं, इस अनिर्वचनीय परम प्रेमसे समुज्जृम्भित भक्तिके समक्ष ब्रह्मानन्द भी कोई मूल्य नहीं रखता, ऐसा भी अनेक भावुक आचार्योंका अभिमत है—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत्परार्धगुणीकृतः॥
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि।

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

अर्थात् यदि ब्रह्मानन्दको परार्धगुणा कर लिया जाय तब भी वह भक्ति (प्रेम)-रसके सागरके एक परमाणुके बराबर भी आनन्ददायक नहीं हो पायेगा।

भाव और प्रेम

कहा गया है कि सांसारिक विषयोंमें आसक्त चञ्चल मनका निग्रह वैसा ही दुष्कर कर्म है जैसा वायुको रोक पाना। अनुभवशील आचार्योंका इस संदर्भमें यह मत है कि मनको बलात् नहीं रोका जा सकता, प्रेमके बन्धनमें बँधकर वह स्वयं रुक जाता है। भ्रमरको देखिये, सूखे काष्ठको भी काट देनेकी सामर्थ्य रखनेवाला वह अपने-आपको कमलकी कोमल पंखुड़ियोंके भीतर कैद किये रहता है। क्यों भला? केवल प्रेमबन्धनके कारण। अन्यथा पंखुड़ियोंको काटकर वह कभी भी बाहर जा सकता है—

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्।
दारुभेदनिपुणो हि षडङ्घ्रिर्बन्धकी भवति पङ्कजकोशे॥

इसलिये परमानन्दकन्द भगवान्के प्रेमका आस्वाद यदि मनको दे दिया जाय तो वह निश्चितरूपसे रुक जायगा और रुककर वहीं लीन भी हो जायगा, ऐसा बड़े-बड़े अनुभवी आचार्योंका अभिमत है। परंतु किसीको बिना जाने उससे प्रेम हो ही नहीं सकता, इसलिये भगवान्का माहात्म्य जाने बिना उनसे भी प्रेम कैसे हो पायेगा? तो सर्वप्रथम भगवान्के माहात्म्यका ज्ञान नितान्त आवश्यक है। महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी-ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्यको इस प्रकार स्पष्ट किया है—

माहात्म्यज्ञानयुक्तस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया सार्ष्ट्यादि चान्यथा॥

अर्थात् भगवान्का माहात्म्य जानकर उनमें सबसे अधिक दृढ़ प्रेम होना ही भक्ति है और उसीसे मुक्ति होती है। मुक्तिका इसके अतिरिक्त कोई और उपाय नहीं है।

इस जन्ममें अथवा किसी पूर्व जन्ममें भगवदनुरागी भक्तोंके संगके फलस्वरूप सर्वप्रथम हृदयमें भगवन्निष्ठाका उदय होता है। निष्ठाका उदय होनेपर फिर शनैः-शनैः रुचिका आविर्भाव होता है। यह रुचि ही क्रमशः आसक्तिमें परिणत हो जाती है। गाढ़ आसक्तिका नाम ही भाव है, जिसे प्रेमकी प्रथमावस्था माना गया है। निष्कर्ष यह है कि भगवान्के दिव्य स्वरूप, अलौकिक सामर्थ्य, अप्रतिम सौन्दर्य, अनन्यसदृश ऐश्वर्य प्रभृति अनन्त गुणगणनिलयका माहात्म्य जान लेनेपर परमानन्दपरिप्लुत शुद्ध सत्वात्मिका चित्तवृत्ति ही भाव है। भगवान्को प्राप्त करनेकी तीव्र अभिलाषा, उनकी सेवाकी उत्कट लालसा एवं उनके सौहार्द-लाभकी प्रबल उत्कण्ठासे समुत्पन्न भाव चित्तको मसृण कर देते हैं। चित्तके सम्यक्रूपसे मसृण (द्रवीभावसम्पन्न) हो जानेपर आनन्दोद्रेकसे घनीभूत भाव ही परिणामतः फिर प्रेमरूपमें परिणत हो जाता है—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

यद्यपि भावुक साधकके मनके अनुसार भावोदयमें तारतम्यका होना स्वाभाविक ही है, परंतु भगवत्प्रेममें सांसारिक पदार्थोंसे विरति किंवा निःस्पृहताकी भावना भावुक साधकमें निरन्तर जाग्रत् रहती है।

◆

भगवत्प्रेमीका जीवन धन्य है

कभी पराई वस्तुपर मत ललचाओ चित्त। सोचो कभी न हरणकी बात अशुचि पर-वित्त॥
सदा पराई वस्तुको भारी विष-सम जान। बचे रहो उससे, सदा मृत्युदायिनी मान॥
नित्य तुम्हारे सुहृद जो सर्वेश्वर भगवान। स्वाभाविक सर्वज्ञ जो सर्वशक्ति-बलवान॥
उन प्रभूने कर दिया जो उचित समझ, सु-विधान। समुद करो स्वीकार सो मान सुमंगल-खान॥
संस्पर्शज सब भोग हैं नहीं सिर्फ निस्सार। दुःखयोनि बंधन-जनक नरक-कष्ट-आगार॥
रहते इनसे, इसीसे, बुधजन सदा विरक्त। मधुकर ज्यों हरि-पद-कमल रहते जो अनुरक्त॥
भगवत्पद-रति-रँग रँगे मानव नित्य अनन्य। सहज भोग-उपरति-हृदय उनके जीवन धन्य॥

◆

प्रेमकी भगवदीयता और भक्तनिष्ठता

(आचार्य श्रीरामनाथजी सुमन)

राष्ट्रकवि बाबू मैथिलीशरणजी गुप्तके शब्दोंमें—

दोनों ओर प्रेम पलता है।

सखि, पतंग तो जलता ही है दीपक भी जलता है॥

प्रेमका सम्बन्ध भगवान् और भक्त दोनोंसे है। भगवान्का भक्तसे और भक्तका भगवान्से अटूट प्रेम होता है। अन्तर केवल इतना है कि भक्तके प्रति भगवान्का प्रेम आशीर्वादात्मक अथवा वरप्रदानात्मक होता है। जबकि भगवान्के प्रति भक्तका प्रेम श्रद्धामूलक अथवा भक्तिपरक रहता है। इस सम्बन्धमें कठोपनिषद्का कहना है—परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति लच्छेदार भाषामें प्रवचन करनेवाले, तर्कशक्तिका प्रयोग करके अपनी बुद्धिमत्ता प्रदर्शित करनेवाले अथवा बहुश्रुत होनेका दम्भ भरनेवाले प्रेमविहीन प्राणीको नहीं होती, प्रत्युत उस प्रेमीका वरण करके परमात्मा उसे ही अपने दर्शनोंसे लाभान्वित करते हैं जिसका प्रेम अनन्य होता है तथा प्रभुको पानेकी जिसमें उत्कट लालसा होती है। उपनिषद्के मूल वचन इस प्रकार हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूः स्वाम्॥

(कठोपनिषद् १।२।२३)

ऐसे ही नररूप अर्जुनके प्रति नारायणस्वरूप श्रीकृष्णने अपने प्रेमका प्रदर्शन करते हुए कहा—'अर्जुन! तू मुझे बहुत अधिक प्रिय है। मैं तुझे गोपनीय-से-गोपनीय बात बता रहा हूँ। तेरे हितकी बात तुझसे मैं कहूँगा। तू मुझमें मन लगा, मेरा भक्त हो जा, मेरी पूजा कर और मुझे ही नमस्कार कर। ऐसा करके तू मुझे ही प्राप्त कर लेगा। तू मुझे बहुत प्रिय है इसलिये मैं सत्यप्रतिज्ञा कर रहा हूँ'—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(गीता १८।६४-६५)

'इष्टोऽसि मे दृढम्' तथा **'प्रियोऽसि मे'** भगवान्के ये वचन जहाँ अपने भक्तके प्रति प्रेमका परिचय दे रहे हैं, वहीं भक्त अर्जुन भी विनम्रभावसे अपनी श्रद्धा-भक्तिमयी प्रेमभावनाका परिचय देनेमें पीछे नहीं रहता। श्रीमद्भगवद्गीताके एकादश अध्यायके ३८—४४ श्लोकोंमें जहाँ उसने पुराणपुरुष परमेश्वरको आदिदेव, विश्वके परम निधान, वेत्ता, वेद्य, अनन्तरूप आदि शब्दोंमें महनीय महिमाका अद्भुत वर्णन किया है, वहीं मित्र मानकर की गयी अपनी धृष्टताकी भी क्षमा माँगनेमें कोई चूक नहीं की है। इतना ही क्यों? जैसे कोई पिता पुत्रकी, मित्र मित्रकी और प्रेमी अपने प्रियकी त्रुटियोंकी ओर ध्यान न देकर उन्हें क्षमा कर देता है, वैसे ही आप भी मुझे क्षमा कर दें। यह कहकर भक्त अर्जुन भक्तिकी पराकाष्ठापर पहुँच जाता है। यह है प्रेमकी प्रकृष्ट भक्तनिष्ठता।

भक्तवत्सल भगवान् नृसिंह और भक्तप्रवर प्रह्लादके प्रेमका दिव्य वर्णन श्रीमद्भागवतमें देखनेको मिलता है। अनेकविध विपत्तियोंको सहकर भी भगवान्में अगाध श्रद्धाभक्तिमय प्रेम रखनेवाला प्रह्लाद अपने पिता हिरण्यकशिपुसे जब यह सुनता है कि मूढ़! जिस मेरे क्रुद्ध होनेपर तीनों लोक अपने स्वामियोंसहित काँप जाते हैं, उस मेरी आज्ञाको किसके बलपर तू नहीं मान रहा? तो प्रह्लाद निःसंकोच कह देता है कि राजन्! मेरा और आपका ही वह बल नहीं, संसारभरके बलशालियोंका भी वह परमेश्वर बल है, जिसका मुझे भरोसा है। यह पूछनेपर कि वह कहाँ रहता है, प्रह्लाद कहता है—वह सर्वत्र विद्यमान है। वह तेरा परमात्मा इस स्तम्भमें क्यों नहीं दिखायी देता? अपने भक्तके कथनकी सत्यता और सर्वभूताधिवासको सिद्ध करनेके लिये सभामें ही स्तम्भमेंसे परमात्माका नृसिंहरूपमें अवतार भक्तके भगवत्प्रेमका ही परिचायक है—यह कहनेकी प्रेमी समाजके समक्ष कोई आवश्यकता नहीं—

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥

(श्रीमद्भा० ७।८।१८)

भक्त प्रह्लादकी निःस्वार्थ प्रेमप्रधान भगवद्भक्तिका उस समय विशेषरूपसे प्राकट्य होता है, जब भगवान् अपने कामपूरक रूपका परिचय देकर उससे वर माँगनेको कहते

हैं। प्रह्लाद स्पष्ट कह देता है कि भगवन्! अपनी भक्तिके बदले आपसे जो वर माँगता है वह भक्त नहीं, व्यापारी है—

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥

(श्रीमद्भा० ७।१०।४)

फिर भी हे वरप्रदान करनेवालोंमें श्रेष्ठ प्रभो! यदि आप कामनाओंकी पूर्तिके हेतु वर देना ही चाहते हैं तो कृपया ऐसा वर दीजिये, जिससे हृदयमें कामनाओंका उदय ही न हो—

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥

(श्रीमद्भा० ७।१०।७)

अपने प्रभुको किसी प्रकारका भी कष्ट न देना प्रेमी भक्तका ही लक्षण है।

निशाचरवंशमें जन्म लेकर भी भगवान् श्रीरामको अपना आराध्य माननेवाला प्रभु-प्रेमी भक्त विभीषण भगवान्के उन वरेण्य भक्तोंमें उत्तम श्रेणीमें गिना जाता है, जिन्हें प्रेमी भक्तसमाज अपना आदर्श मानता है। भक्तप्रवर गोस्वामी तुलसीदासजीने—*'नाम बिभीषन जेहि जग जाना। बिष्नुभगत बिग्यान निधाना॥'* विभीषणको विष्णुभक्त कहकर उसके जन्मका वर्णन किया है। इतना ही नहीं, बड़े भाई रावणको कल्याणका मार्ग बताते हुए वह श्रीरामकी भगवत्तासे भलीभाँति परिचित रहकर कहता है—

तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला॥
ब्रह्म अनामय अज भगवंता। ब्यापक अजित अनादि अनंता॥

(रा०च०मा० ५।३९।१-२)

यही कारण है कि वह अपने कुलकी रक्षा तथा बड़े भाईकी मङ्गलकामनाके लिये विनम्र होकर प्रार्थना करता है—

देहु नाथ प्रभु कहुँ बैदेही। भजहु राम बिनु हेतु सनेही॥

(रा०च०मा० ५।३९।६)

रावणसे अपमानित होकर विभीषण प्रभुप्रेमपराधीन होकर श्रीरामकी ही शरणमें जाकर अपनी दीनता और उनकी दयालुताका बखान करने लगता है—

नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर बंस जनम सुरत्राता॥
सहज पापप्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तम पर नेहा॥
श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

(रा०च०मा० ५।४५।७-८, ५।४५)

भक्तकी भगवान्के प्रति ऐसी प्रेमभावना अन्यत्र कहाँ मिलेगी? कहीं नहीं। भगवान् श्रीराम भी विभीषणके दीनवचन सुनकर उसे हृदयसे लगाकर लङ्केश्वर कहकर, सपरिवार-कुशलमङ्गल पूछकर अपनी प्रेमभावनाका परिचय-देनेमें संकोच नहीं करते। इतना ही नहीं, किसी कविने तो भगवान् श्रीरामकी भगवत्ता और प्रेमपरिपूर्णताका परिचय देते समय लक्ष्मण-मूर्च्छाके समय श्रीरामके मुखसे कहलाया है कि मुझे तातकी, माताकी, सीताकी तथा अयोध्याके राज्यपरित्यागकी इतनी चिन्ता नहीं जितनी विभीषणको दिये गये राजतिलककी है। लक्ष्मण! तुम्हारे बिना यह चिन्ता कैसे दूर होगी?

ह्वैहै कहा बिभीषन की गति रही सोच भरि छाती॥

भगवान् एवं भक्तके इस अनूठे प्रेमका उदाहरण भारतीय संस्कृतिके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिल पायेगा। धन्य है यह संस्कृति!

वैवस्वत मनुके पुत्र नभगके पुत्र नाभागके आत्मज प्रभुप्रेमी भक्त अम्बरीषका आख्यान भगवान् और भक्तके आत्यन्तिक प्रेमका अनूठा उदाहरण है। सप्तद्वीपा पृथ्वीका एकच्छत्र शासन, अक्षय राजलक्ष्मी, अनुपम वैभव तथा सर्वाङ्गसम्पन्न परिवारसुख पाकर भी अम्बरीष दारा-सुतबन्धुयुक्त कुटुम्ब ही नहीं, अक्षयरत्नराशिमण्डित कोषागारको भी स्वप्नकी भाँति मिथ्या मानकर प्रभुके प्रेममें ही आस्था बना लेता है। प्रेमभावसे प्रसन्न होकर भगवान् उसे अपना सुदर्शनचक्र सभी बाधाओंके शमनहेतु प्रदान करते हैं। साधु-महात्माओं तथा पुण्यशील ब्राह्मणोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेवाला प्रेमी भक्त एकादशीव्रतके उपरान्त पारणाके लिये प्रवृत्त होनेवाला ही है कि स्वभावसे नितान्त क्रोधी मुनि दुर्वासा अतिथिरूपमें वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। वे स्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त होनेके लिये यमुना चले जाते हैं। पारणाका समय बीतता जानकर अम्बरीष जल पीकर पारणा कर लेते हैं। यमुनासे लौटनेपर मुनिराजको जब अम्बरीषके जल पी लेनेका पता चलता है तो वे क्रुद्ध होकर अपनी एक जटा उखाड़कर कालाग्निसदृश कृत्याका निर्माण करते हैं। भक्तवत्सल भगवान्का सुदर्शनचक्र उस कृत्याका संहार कर देता है। अपने प्रयत्नको निष्फल देखकर दुर्वासामुनि वहाँसे भाग निकलते हैं। ब्रह्माजी एवं शंकरभगवान्के पास जानेपर

भी चक्र उनका पीछा नहीं छोड़ता। अन्तमें भगवान् विष्णुके समीप जाकर वे अपनी रक्षाकी प्रार्थना करते हैं। भगवान्के ये शब्द कितने मर्मस्पर्शी तथा प्रभावोत्पादक हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६३, ६८)

अर्थात् 'हे मुनिवर! मैं भक्तोंके अधीन होनेसे स्वतन्त्र नहीं हूँ। प्रेमी भक्तजन मुझसे इतना प्यार करते हैं कि मेरा हृदय उनके अधीन है। साधु पुरुष अपना हृदय मेरे लिये और मैं अपना हृदय उनके लिये दिये हुए हूँ। वे मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं जानते और मैं उनके अतिरिक्त तनिक भी कुछ नहीं जानता। इसलिये तुम प्रेमी भक्त अम्बरीषके पास ही जाओ, वहीं तुम्हें शान्ति मिलेगी।' सब ओरसे निराश होकर दुर्वासाजी वापस लौटकर भक्तराज अम्बरीषके चरण पकड़ लेते हैं। प्रार्थना किये जानेपर सुदर्शनचक्र शान्त होता है। दुर्वासामुनि भक्त अम्बरीषकी प्रशंसा करते हुए ब्रह्मलोकको प्रस्थान करते हैं। धन्य है भगवान् और भक्तकी परस्पर प्रेमभावना तथा प्रीतिका अनुपम निदर्शन।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका एक दोहा बहुत प्रसिद्ध है—

जेहि सरीर रति राम सों सोइ आदरहिं सुजान।
रुद्रदेह तजि नेहबस बानर भे हनुमान॥

(दोहावली १४२)

अर्थात् जिस शरीरका श्रीरामसे प्रेम होता है, सज्जन उस शरीरका बहुत आदर करते हैं। यही कारण है कि भगवान् शङ्करजीने अपना शरीर छोड़कर हनुमान्—वानरका रूप धारण कर लिया। श्रीरामसे प्रेम करनेवाले वानररूप हनुमान्का आज भी बड़ा आदर होता है। वस्तुतः भगवान् श्रीराम और उनके प्रिय भक्त हनुमान्के इस युगलमें जो परस्पर प्रीति है, उसकी संसारमें कोई तुलना नहीं। हनुमान्जीके उपकारको भगवान् नहीं भूलते और हनुमान्जी अपने सभी दिव्य भव्य क्रियाकलापका एकमात्र कारण प्रभुके प्रतापको मानते हैं। प्रेमकी भगवदीयता एवं भक्तनिष्ठाका एक उदाहरण देखिये—लङ्कादहनके उपरान्त भगवती जानकीजीकी वेदनाका वृत्त सुनकर प्रभु कह रहे हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥

(रा०च०मा० ५।३२।५—८)

आदिकवि वाल्मीकिने भी भगवान् श्रीरामके मुखसे कहलाया है—

मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥

हे हनुमन्! जो उपकार तुमने मुझपर किया है, मैं उसे अपने शरीरके साथ ले जाना चाहता हूँ; क्योंकि आपत्ति आनेपर ही प्रत्युपकारोंकी पात्रता प्राप्त होती है। मैं नहीं चाहूँगा कि तुमपर कभी कोई आपत्ति पड़े।

प्रेमकी भगवदीयताके उपरान्त प्रेमकी भक्तनिष्ठा देखें—भगवान्के यह पूछनेपर कि रावणपालित लङ्काको तुमने कैसे जलाया?

हनुमान्जी कहते हैं कि प्रभो—

नाघि सिंधु हाटकपुर जारा। निसिचर गन बधि बिपिन उजारा॥
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥

(रा०च०मा० ५।३३।८-९)

समुद्रका लाँघना, लङ्काका जलाना, राक्षसोंका मारना और अशोकवाटिका उजाड़ना आदि कर्म मैंने अपनी शक्तिके सहारे नहीं किये। यह सब आपका ही प्रताप है। यह है प्रेमकी भक्तनिष्ठाका अनुपम आदर्श।

इस प्रकार विविध दृष्टान्तोंके माध्यमसे हम निःसंकोच यह कह सकते हैं कि भगवान्का प्रेम भक्तमें अटूट रूपसे रहता है। भगवान् भक्तके अधीन रहकर *'हम भगतनके भगत हमारे'* सूक्तिको सदा चरितार्थ करते हैं और भक्त भी भगवान्को ही अपना जीवन-सर्वस्व मानकर अनन्यभावसे उनकी आराधना करनेमें अपनी इतिकर्तव्यता मानता है। भक्तकी दीनता और भगवान्की दयालुता सदा-सर्वदा बनी रहती है। प्रेमकी भगवदीयता और भक्तनिष्ठा सर्वथा अक्षुण्ण है।

भगवत्प्रेमकी महत्ता

(डॉ० श्रीराजीवजी प्रचण्डिया, बी०एस्-सी०, एल्-एल्०बी०, एम्०ए०, पी-एच्० डी०)

प्रेम मानव-जीवनका स्वभाव है। यह स्वभाव जबतक अविद्यासे आवृत है, तबतक घृणा और द्वेषसे व्याप्त रहता है। आज सम्पूर्ण विश्वमें द्वन्द्व तथा द्वेषकी जो अग्नि प्रज्वलित है उसका मूल कारण है कि मनुष्य स्वसुखवाञ्छामें निमग्न है और अपने शुद्ध प्रेमरूपको भूल गया है, किंतु सैद्धान्तिकरूपसे यह सत्य है कि मानव-जीवनमें प्रेमकी सत्ता शाश्वत है। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त मानव प्रेमपाशमें बँधा हुआ है। मनुष्य जब जन्म लेता है तो सर्वप्रथम वह माके सम्पर्कमें आता है, तदुपरान्त शनैः-शनैः अवस्थाके साथ-साथ वह संसारके अन्य लोगोंसे भी जुड़ता जाता है। उसका यह जुड़ाव (लगाव) या रागात्मक सम्बन्ध एक प्रकारसे इन लोगोंके प्रति प्रेम ही है, किंतु जब उसमें ज्ञान-विवेकके अङ्कुर फूटने लगते हैं, सत्-असत्, हित-अहित और सार-निःसारका नीर-क्षीरवत् विवेक उद्भूत होने लगता है तो अन्ततः जगत् उसे नश्वर प्रतीत होने लगता है तथा ईश्वर-प्रेमके प्रति उसकी आस्था जग उठती है। उसका लगाव जगत्के व्यामोहसे हटकर ईश्वरपर केन्द्रित हो जाता है।

इस प्रकार प्रेमके दो रूप होते हैं—१-लौकिक प्रेम और २-अलौकिक प्रेम। लौकिक प्रेम संसारी मनुष्योंका परस्पर-प्रेम है, अहंकार एवं स्वार्थसे आबद्ध आकर्षण है, जबकि अलौकिक प्रेम भक्तद्वारा ईश्वरसे किया गया परिष्कृत, निर्मल तथा विशुद्ध प्रेम है, दिव्य आकर्षण है। यानी भक्त अपने आराध्य या भगवान्‌से प्रेम करनेमें जब प्रवृत्त होता है, तब उसका प्रेम अलौकिक या दिव्य हो जाता है। अलौकिक या दिव्य प्रेम ही भगवत्प्रेम है। इस भगवत्प्रेममें भगवान्‌के प्रति जो अनुरक्ति है उसमें पूज्य भावना होती है। उसमें लौकिक प्रेमकी तरह क्षुद्र वासना नहीं, परिष्कृत साधनाकी प्रधानता रहती है। चेतनाके शुद्ध एवं अपरिवर्तित भाव विद्यमान रहते हैं। उसमें श्रद्धा, प्रेम इत्यादि कई चित्तवृत्तियोंका संयोग होता है। वास्तवमें भगवत्प्रेम परम प्रेमरूप और अमृतस्वरूप है, जिसे प्राप्तकर मनुष्य सिद्ध, अमर तथा तृप्त हो जाता है। यथा—

'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति॥' (नारदभक्तिसूत्र ४)।

भगवत्प्रेममें मनुष्य भगवान्‌के साथ तादात्म्य अर्थात् व्यक्तिगत प्रिय सम्बन्ध स्थापित करनेका परम पुरुषार्थ करता है। वह भगवान्‌के प्रेममें इतना सराबोर हो जाता है कि जगत्के सारे क्रिया-कलाप उसे सुहाते ही नहीं। उसकी चित्तवृत्तियाँ प्रभुके प्रेममें समा जाती हैं। उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि प्रभु मेरे रोम-रोममें समा गये हैं, घट-घट, कण-कणमें बसे हुए हैं। ईशावास्योपनिषद्‌का वह मन्त्र उसे अनुभूत होने लगता है, जिसमें कहा गया है कि जगत्‌में जो भी है, सब ईश्वरसे भरा हुआ है। कोई चीज ईश्वरसे रिक्त नहीं है। संसारमें केवल उसीकी सत्ता है, वही एक मालिक है। मेरा तो कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह सब ईश्वरका ही है। यथा—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

भगवत्प्रेममें लीन रहनेवालेकी स्थिति तो मीराबाईकी तरह हो जाती है। मीरा भगवान् श्रीकृष्णके प्रेममें इतनी डूब जाती है कि वह जगत्के प्रत्येक पदार्थमें, चर-अचर समस्त प्राणियोंमें भगवान्‌की ही छवि निहारती है। वह केवल एक ही राग अलापती हुई दिखायी देती है—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥

प्रभुके प्रति उसका विश्वास, श्रद्धा, समर्पण और प्रेम-भक्ति-साधना इतनी सघन तथा अटूट है कि विष भी अमृत बन जाता है। जो निश्छल, निःस्वार्थ और निष्कामभावसे सहजरूपमें अपना तन, मन, धन एवं बुद्धि अर्थात् सर्वस्व प्रभुपर न्योछावर कर देता है, प्रभु भी अपनी लीलाओंसे दर्शन देकर उसे भावविभोर कर देते हैं। भक्त प्रभुकी असीम अलौकिक शक्तियों और चमत्कारिक लीलाओंसे ज्यों-ज्यों प्रभावित होता जाता है, त्यों-त्यों भक्तका प्रभुके प्रति आकर्षण बढ़ता जाता है। उसका यह बढ़ता हुआ आकर्षण भगवत्प्रेममें प्रगाढ़ता लाता है। श्रीमद्भागवत

(३।२९।१५—१९)-में यह स्पष्ट उल्लेख है कि 'निष्काम-भावसे अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका पालन कर हिंसारहित पूजा-अर्चा आदि अनुष्ठान करनेवाले भक्त पुरुषका चित्त अत्यन्त शुद्ध होकर मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे ही मुझमें लीन हो जाता है।'

भगवत्प्रेम कोई साधारण प्रेम नहीं है। वह एक प्रकारका अलौकिक प्रेम है; क्योंकि उस प्रेममें मनुष्यके मनका मैल पूर्णतः मिट जाता है, चित्तकी शुद्धि हो जाती है। उसके सारे राग, आकर्षण तथा विकर्षण सब ओरसे खिंचकर प्रभुपर ही केन्द्रित हो जाते हैं। भक्तकी दृष्टि विराट् हो जाती है। उसे यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रभु-ही-प्रभु दृष्टिगोचर होने लगते हैं। उसमें भावात्मक शक्ति इतनी प्रबल और जटिल हो जाती है कि वह अपने आराध्यपर अपना अधिकार समझने लगता है। इसी भावावेशमें वह अपने प्रभुको अनेक उलाहने भी देने लगता है, पर उसके उलाहनोंमें भी प्रेम समाया रहता है। प्रभु-प्रेममें कोई किसी भी प्रकारका न स्वार्थ होता है और न लाग-लपेट। सारी वक्रताएँ विलीन हो जाती हैं और सरलता-सहजता विस्तार पा जाती है। मन और वाणी कर्मणा एकरूप हो जाते हैं। भक्तका अन्तरङ्ग निर्मल हो जाता है। निर्मल मनवाला ही प्रभुसे शुद्ध प्रेम कर सकता है तथा प्रभुका सांनिध्य पा सकता है। प्रभुसे किया गया प्रेम भक्तको परम शान्ति एवं विश्रान्ति तो दिलाता ही है, साथ-ही-साथ गूँगेके स्वादकी भाँति अनिर्वचनीय आनन्दकी अनुभूति भी कराता है।

भगवत्प्रेमकी साधना जितनी सरल है उतनी ही कठिन है। कठिन इसलिये कि भगवान् और भक्तके बीचमें जो दीवार है, वह दीवार मायाकी है। मनुष्य जगत्से इतना संश्लिष्ट है कि मायाको त्यागना उसके लिये सहज और सरल नहीं है तथा मायाको त्यागे बिना वह प्रभुतक कैसे पहुँचे? इसलिये भगवत्प्रेमकी साधना जीवनसे मायाको हटानेकी एक प्रक्रिया है। मायाके हटते ही सारे भेद अभेदमय हो जाते हैं। जब सारे भेद अभेदमें परिणत हो जाते हैं, तब भक्तमें श्रद्धा एवं समर्पणकी स्थिति बनती है। कुम्भके बाहर और भीतरका जल तभीतक भिन्नता लिये हुए है, जबतक कुम्भकी दीवार टूट नहीं जाती। इसके टूटते ही सारा जल एक हो जाता है, फिर कहीं कोई भिन्नता नहीं दिखायी देती।

मनुष्य-मनुष्यमें जो भिन्नता आज दिखायी दे रही है, उसका मूल कारण है मायाका जीवनसे जुड़ना। माया जीवनसे कैसे हटे? इसके लिये कहा गया है कि मनुष्य सबसे पहले अहंका त्याग करे। यही भक्तको भगवत्प्रेमसे रोकता है। यह उसके प्रेममें सबसे बड़ी बाधा उत्पन्न करता है। समस्त विकारों और अज्ञानताकी जड़ यह अहंकार ही है। इसके वशीभूत मनुष्यको 'मैं' की प्रतीति तो रहती है, किंतु भगवान्के यथार्थरूपसे वह सर्वथा वञ्चित रहता है। जिसके कारण उसे भगवान्का साक्षात्कार, सांनिध्य तथा तादात्म्यकी अनुभूति नहीं हो पाती।

अहंकारके विसर्जनसे मनुष्यमें मार्दव परिव्याप्त हो जाता है। मार्दवकी प्रकृष्टता ही भक्तको भगवत्प्रेमकी ओर आकृष्ट करती है। भगवत्प्रेमकी साधनामें मनुष्य सर्वप्रथम मोह-मायासे मुख मोड़ता है। सहज स्थितिमें आनेका उपक्रम करता है; क्योंकि जो जितना सहज-ऋजु होता है, वह उतना ही प्रभुके संनिकट होता है। भगवत्प्रेममें सहजता है, सरलता है और आर्जव-मार्दवकी चरम स्थिति है। कहीं कोई बाँकपन नहीं, कपट नहीं, छल नहीं और काम, क्रोध, घृणा, द्वेष, लोभ, मोह एवं अहंकार आदि विकार भी नहीं हैं।

भगवत्प्रेमकी साधनासे मनुष्य एक ओर जहाँ अपनी आत्माका उत्थान कर प्रभुका अभिदर्शन करते हुए सामीप्य पाता है तो दूसरी ओर उसे अनगिनत लौकिक, अलौकिक, मानसिक, शारीरिक, ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ और शक्तियाँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं जिसकी उसे किञ्चित् भी चाह नहीं होती, ये सब उसके लिये निष्प्रयोजन ही होती हैं।

वास्तवमें भगवत्प्रेमकी साधनासे बढ़कर और कोई साधना नहीं है। यह जीवनकी सबसे बड़ी साधना है, जो भक्तको संसाररूपी अरण्यमें भटकनेसे रोकती है। यह वह ज्योतिष्पुञ्ज है जो भक्तको भव्यता और दिव्यता प्रदान करता है।

* * *

भगवत्प्रेमका वास्तविक रूप

(श्रीरघुनन्दनप्रसाद सिंह)

यथार्थ प्रेमका स्वरूप, अपने प्रेमपात्रकी निर्हेतुक सेवामें प्रवृत्त हो जाना है, जैसे उसके निमित्त कष्ट सहना, परम इष्ट पदार्थका भी त्याग करना और सतत परिश्रम करना आदि। किंतु ये सब इस भावसे करना कि कष्टके बदले परम आनन्दका अनुभव हो। इस परम त्यागका उद्देश्य प्रेमपात्रकी तुष्टि अथवा प्रीति प्राप्त करना भी नहीं रहता; क्योंकि ऐसा होनेसे भी स्वार्थ आ जाता है। वस्तुतः प्रेम-यज्ञमें प्रेमिकको देनेमें ही प्रसन्नता होती है, वह प्रेमपात्रसे बदलेमें कदापि कुछ नहीं चाहता। प्रेमपात्रसे कुछ भी मिलनेकी आशा रखनेपर प्रेमका लोप हो जाता है और वह खरीद-बिक्रीका व्यापार बन जाता है। श्रीशङ्कराचार्यजीने गीताके भाष्यमें ठीक लिखा है कि भक्तको केवल ईश्वरार्थ ही कर्म करना चाहिये, स्व-प्रीत्यर्थ नहीं।

युधिष्ठिरने द्रौपदीसे वनवासमें ठीक ही कहा था कि मैं भगवान्से कोई प्रार्थना करना नहीं चाहता, क्योंकि ऐसा करना वाणिज्यपन है। 'तत्त्वचिन्तामणि'* के श्रद्धेय लेखकने ठीक लिखा है कि 'यदि श्रीभगवान् कुछ देना चाहें तो उसको भी स्वीकार नहीं करना चाहिये' और यदि यह बोध भी हो जाय कि न स्वीकार करनेसे श्रीभगवान् अप्रसन्न हो जायँगे तथापि स्वीकार करना ठीक नहीं। क्योंकि प्रेमका उद्देश्य भगवान्की प्रसन्नता प्राप्त करना नहीं, बल्कि निःस्वार्थ सेवा करना है और प्रेममें निःस्वार्थ सेवाका सम्पादन ही परम फल है, अन्य कुछ नहीं। निःस्वार्थ सेवाके निमित्त त्याग करनेसे ही भगवान्की प्रसन्नता और उसके उद्देश्यकी पूर्ति हो जाती है, उसे इस सेवाके सिवा अन्य कुछ भी गरज नहीं रहती।

सांसारिक व्यवहारमें भी देखा जाता है कि प्रायः माता अपने पुत्रके लिये, मित्र मित्रके लिये तथा पतिव्रता स्त्री अपने पतिके कारण ऐसा त्याग करती है, जिससे त्यागकर्ताको सिवा त्यागके कोई लाभ नहीं तथापि ऐसा त्याग, प्रेमके कारण सहर्ष किया जाता है। इस प्रकार सांसारिक भावोंमें भी निःस्वार्थ त्याग केवल शुद्ध तथा निर्हेतुक प्रेमके कारण देखा जाता है, तब जगदाधार जगत्पालक श्रीभगवान्के निमित्त निःस्वार्थ प्रेम करना तो प्रत्येक जीवात्माका परम कर्तव्य और धर्म है। श्रीभगवान् अपने आदि संकल्प '**एकोऽहं बहु स्याम्**' की पूर्तिके लिये अपनी अपरिच्छिन्नताको मायासे बद्ध करके परिच्छिन्न बन नामरूपात्मक जगत्में आविर्भूत होकर उसके आधार और पालक बनते हैं तथा अपनेको नाना अंशोंमें विभक्त कर जीवात्माका उद्भव करते हैं।

ऐसा करनेका मुख्य उद्देश्य यह है कि जीवात्मा उनके दिव्य गुण, ऐश्वर्य, शक्ति और सामर्थ्यको प्रकृतिका पराभव करके अपनेमें प्रकाशित करे। श्रीभगवान्को प्रकृतिके साथ युद्धमें जीवात्माको विजयी बनानेके लिये—सिवा लोक-हितके, इस संसारके उद्भवके अतिरिक्त कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं करना है। श्रीभगवान् प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें बन्दीकी भाँति वास करते हैं, जिसमें जीवात्मा उनकी अनुमतिको जानकर उनकी शक्तिके द्वारा जीवनमें युद्ध करे और मायाके बन्धनसे मुक्त होकर ईश्वरीय दिव्य गुणोंकी प्राप्ति करे। इस लोकहित संकल्पकी पूर्तिमें जब बहुत बड़ी बाधा आ पड़ती है तो श्रीभगवान् अवतार लेकर इस मर्त्यलोकमें प्रकट होनेका कष्ट और त्याग सहर्ष स्वीकार करते हैं; ऐसे परम दयालु परमात्माके निमित्त यदि निःस्वार्थ प्रेम-यज्ञ नहीं किया जाय और उलटा उनके संकल्पकी पूर्तिमें बाधा डालनेका कार्य किया जाय तो इससे अधिक निन्दनीय और जघन्य दूसरा कौन-सा कर्म हो सकता है? श्रीभगवान्के इस आदि संकल्पकी पूर्तिमें स्वार्थ-साधन, अहङ्कार, ममत्व और विषय-लिप्साका व्यवहार परम बाधक है। श्रीभगवान्के परम त्याग एवं कारुणिकताका विचार कर उनपर प्रेम रखते हुए उनके निमित्त निःस्वार्थ त्याग ही सबके लिये परम श्रेयस्कर है।

अब विचारणीय यह है कि जीवात्मा यदि मोक्षके समान उत्तम स्वार्थभाव भी नहीं रखे तो उसके जीवन और कर्मका क्या उद्देश्य होना चाहिये? उत्तर यह है कि प्रेमके नाते श्रीभगवान्की सेवा करना ही उसका एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये तथा वह सेवा भी निःस्वार्थ और निरहङ्कार होनी चाहिये; क्योंकि किसी उच्चस्वार्थका भी लेश होनेसे वह प्रेम-सेवा न होकर स्वार्थ-सेवा हो जायगी। ऐसे प्रेमिककी प्रत्येक भावना, वचन और कर्मका उद्देश्य अपने निमित्त कुछ भी पानेका न होकर केवल श्रीभगवान्के

---

* 'तत्त्वचिन्तामणि' गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्राप्य है।

निमित्त सेवा करना रहता है।

जिस कर्मका उद्देश्य अपने निमित्त कुछ पाना है, चाहे वह प्राप्ति परम शुद्ध ही क्यों न हो, वह कर्म उसका अपना हो जाता है। उस कर्मको ईश्वरकी सेवा कदापि नहीं कह सकते। इस प्रकार सिद्धिकी इच्छा, पुण्य-प्राप्तिकी इच्छा, वैकुण्ठवासकी इच्छा और भगवान्‌के दर्शनकी इच्छातकका स्वार्थ—कामनाके अन्तर्गत है तथा इनके निमित्त जो कर्म किये जाते हैं, वे बहुत ही उच्च और उत्तम होनेपर भी जीवात्माके अपने निमित्त कर्म हैं, वे भगवान्‌के निमित्त नहीं कहे जा सकते और न इस प्रकारकी सेवा ही भगवत्सेवा कहला सकती है। उपर्युक्त उद्देश्यसे जो त्याग किये जाते हैं, कष्ट सहे जाते हैं एवं अध्यवसाय किये जाते हैं वे सब परमोच्च स्वार्थ हैं, पर निर्हेतुक भगवत्सेवा नहीं। इनके फलस्वरूप सिद्धि, यश और पार्थिव ऐश्वर्य मिलेंगे, भगवद्दर्शन भी होंगे, किंतु भगवत्प्रेम या यथार्थ भक्तिका प्राप्त होना कठिन है। जब यथार्थ भक्ति ही नहीं तो यथार्थ भगवत्प्राप्ति कहाँ? भक्ति बाजारमें बिकनेवाली वस्तु नहीं है, जिसको साधनारूपी कीमत देकर खरीद लिया जाय!

अतएव साधनाका एक उद्देश्य यह है कि साधक साधना करते-करते थककर जब समझ जाय कि उसकी साधनाद्वारा—चाहे वह परम कठिन और दीर्घव्यापी ही क्यों न हो—भगवत्प्राप्ति न होगी तथा ऐसा समझकर जब एकमात्र श्रीभगवान्‌पर भरोसा कर निःस्वार्थ सेवा करना प्रारम्भ करे एवं किसी बातकी इच्छा न रखे, तभी श्रीभगवान्‌की कृपा होती है, जिससे वह कृतकृत्य हो जाता है। अतएव ऐसा सोचकर जप करना कि इतने जपसे और इस प्रकारकी साधनासे भगवद्दर्शन होंगे, यथार्थ भगवत्सेवा नहीं है तथा उसके कारण यदि कोई दर्शन भी मिले तो वह साधनाकी कीमत है, भगवत्प्रसाद नहीं। इसमें न वास्तविक भक्ति है, न प्रेम; क्योंकि जिस साधनके फलस्वरूप दर्शन मिले उसका उद्देश्य स्वार्थ था, वह भगवदर्थ नहीं किया गया था। श्रीमद्भागवतमहापुराणका वचन है—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

(३।२९।१३)

श्रीभगवान्‌का वचन है कि 'मैं सालोक्य-मुक्ति, सार्ष्टि-मुक्ति, सामीप्य-मुक्ति, सारूप्य-मुक्ति तथा एकत्व-मुक्ति भी देता हूँ, तथापि मेरे प्रियजन मेरी सेवाको छोड़कर मेरी दी हुई किसी मुक्तिको भी अङ्गीकार नहीं करते।' जब बिना माँगे एकत्व-मुक्ति मिलनेपर भी भक्त उसको स्वीकार नहीं करते तो वे अपनी सेवाका उद्देश्य भगवद्दर्शन ही क्यों रखेंगे? एक यथार्थ भक्तकी उक्ति है कि 'श्रीभगवान् यह भी नहीं जानें कि मैं उनकी सेवा-भक्ति करता हूँ।' भाव बहुत ठीक है।

अर्जुन तो प्रायः श्रीभगवान्‌के साथ ही रहते थे; किंतु एक सङ्ग रहनेपर भी गीतोपदेशके पहले उनको यथार्थ ज्ञान और भक्तिकी प्राप्ति नहीं हुई। अब प्रश्न यह है कि कौन-सी यथार्थ भगवत्सेवा है? इसका उत्तर स्पष्ट है कि जिस कार्यमें प्रभु नियुक्त हों, उसी कार्यमें सेवकको भी योग देना यथार्थ सेवा है। श्रीभगवान् संसारके हितके निमित्त धर्मके प्रचार और अधर्मके ह्रास करनेके कार्यमें नियुक्त हैं (गीता ४।७-८)। क्योंकि सर्वात्मा होनेके कारण प्राणियोंका दुःख उनका दुःख और सुख उनका सुख है, अतएव जो पराये दुःख-सुखको अपना मान (गीता ६।३२) भगवन्नाम-प्रचार आदिद्वारा धर्म-प्रचार तथा अधर्मके ह्रासमें भगवत्सेवाकी भाँति श्रीभगवान्‌की शक्तिका आश्रय करके निरहङ्कार होकर नियुक्त हैं, वे ही यथार्थ सेवक हैं। भक्तको अपने लिये तो कुछ नहीं चाहिये; किंतु उन्हें संसारके दुःसह कष्टको अपना मान उसके ह्रासके यत्नमें सदा प्रवृत्त रहना चाहिये। इस भावका परमोत्तम प्रमाण श्रीप्रह्लादजीकी उक्ति है—

'नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्या-
स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-
मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान् ॥
प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥

(श्रीमद्भा० ७।९।४३-४४)

हे भगवन्! मुझे वैतरणी आदि नरककी यातनाका भय नहीं है, क्योंकि मेरा चित्त तुम्हारे परम चरित्रके अनुशीलनमें मग्न है; किंतु मुझको उन अज्ञानी लोगोंके लिये सोच है जो तुमसे विमुख होकर इन्द्रियोंके सुखमें लिप्त रहनेके कारण पापका बोझा ढोते हैं। बड़े-बड़े देवता और मुनि लोग प्रायः अपनी मुक्तिकी चिन्तामें निमग्न रहते हैं, दूसरेकी भलाईकी परवा नहीं करते। जंगलमें चले जाते हैं और किसीसे नहीं बोलते। किंतु जो तुमसे विमुख दीन हैं, उनको त्यागकर मैं केवल अपनी मुक्ति नहीं चाहता; क्योंकि तुम्हारी शरण आये बिना संसृतिमें भ्रमण करनेवालोंके कल्याणका कोई अन्य उपाय नहीं है।

श्रीभगवान्‌की सेवाका ठीक आदर्श श्रीप्रह्लादके वचनमें है। श्रीप्रह्लादजीके कथनानुसार यथार्थ भक्त वही है, जो अपनी मुक्तिकी इच्छा अथवा अपने लिये कुछ पानेकी इच्छा कदापि न रखकर संसारके दीनजनोंके दुःखको अपना दुःख मान स्तुति, जप, स्मरण, ध्यान, योग, यज्ञ और व्रत आदि जो कुछ भी करे, उनका उद्देश्य केवल यही हो कि जनसमूह भगवद्विमुख होनेके बदले ईश्वरोन्मुख हो जाय, जिससे उनका दुःख छूटे और यथार्थ कल्याण हो। यही भक्तके जीवनका एकमात्र मुख्य उद्देश्य है और यही निःस्वार्थ प्रेम-सेवा है जो स्वयं श्रीभगवान्‌का कार्य है।

* * *

प्रेमतत्त्व-मीमांसा

(आचार्य श्रीआद्याचरणजी झा)

प्रेमैव माऽस्तु यदि चेत् पथिकेन नैव
तत्रापि चेद् गुणवता न समं कदापि।
तत्रापि चेद् भवतु माऽस्तु कदापि भङ्गः
भङ्गश्च चेद् भवतु वश्यमवश्यमायुः॥

उपर्युक्त श्लोकमें रहस्यमय 'प्रेम' की चरमोत्कर्षता व्यक्त की गयी है। कवि कहता है कि 'प्रेम' करो ही नहीं—हो ही नहीं! यदि हो ही जाय तो पथिकसे प्रेम मत करो और यदि यह भी हो जाय तो गुणी पथिकसे प्रेम मत करो तथा यदि गुणवान् पथिकसे प्रेम हो जाय तो वह कदापि टूटे नहीं, भङ्ग नहीं हो एवं यदि भङ्ग होनेकी स्थिति आ जाय तो आपकी अपनी आयु आपकी वशवर्तिनी (मुट्ठीमें) हो।

तात्पर्य यह है कि प्रेम तो केवल एकपक्षीय भगवान्‌से ही होता है, किया जाता है और किया जाना चाहिये। यही परिपूर्ण प्रेम है। लौकिक प्रेम तो लोकवत् क्षणभङ्गुर है, अशाश्वत है, अनित्य है। भगवत्प्रेम नित्य, शाश्वत, अनुदिन प्रवर्धमान है। फिर भी यदि संयोगवश किसीसे लौकिक प्रेम हो ही जाय तो पथिकसे मत करो; क्योंकि हम सभी पथिक हैं और अपनी ट्रेनकी प्रतीक्षामें संसाररूपी प्रतीक्षालयमें बैठे हुए हैं। जिसके आवागमनमें क्षणमात्र भी आगे-पीछे नहीं होता है।

यदि गुणवान्, पथिक और प्रेम—ये तीनों एकत्र हो ही जायँ तो वह भङ्ग नहीं हो, टूटे नहीं। यदि भङ्ग होने, टूटनेकी स्थिति आ ही जाय तो अपनी आयु आपके वश (मुट्ठी)-में होनी चाहिये। रहस्य यह कि प्रेम टूटनेसे पहले आप स्वतः स्वेच्छासे प्राण-त्याग कर लें।

प्रेमकी व्युत्पत्ति—'**प्रियस्य भावः प्रेम**' (पुँल्लिङ्ग, नपुंसक) उभय लिङ्गी। प्रिय शब्दसे '**पृथ्वादिभ्य इमनिच्**' (पाणिनि सूत्र ५।१।१२२)-से 'इमनिच्' प्रत्यय तथा '**प्रिय स्थिरेति**···' (पा० सूत्र ६।४।१५७)-से प्रियको '**प्र**' आदेश और आद्गुण (पा० सू०)-से गुण करके '**प्रेम**' शब्द बनता है। इसका अर्थ है सौहार्द, स्नेह, भक्ति तथा सर्वस्व समर्पण आदि। इसीका पर्यायवाची शब्द है 'प्रेमा'। यह 'इमनिच्' या 'मनिन्' प्रत्ययसे बनता है। इसका प्रयोग प्रधानतः पुँल्लिङ्गमें '**प्रेमा**' '**प्रेमाणौ**' '**प्रेमाणः**' रूप बनता है।

'प्रेम' शब्दका प्रयोग—रस-सिद्धान्तके विलक्षण ग्रन्थ 'उज्ज्वलनीलमणि' में प्रेमाभक्तिके आचार्य रूपगोस्वामी भक्तिरसको ही रसराज सिद्ध करते हुए स्थायिभाव-प्रकरणमें 'प्रेमा' को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः॥
विलम्बादिभिरज्ञातचित्तवृत्तौ प्रिये जने॥
इतरः क्लेशकारी यः स प्रेमा प्रौढ उच्यते।
(५७, ६०-६१)

तात्पर्य यह है कि प्रेमके ध्वंस होनेके कारणोंके रहते हुए भी जो ध्वंस—नष्ट नहीं हो, वही प्रेम (प्रेमा) अविनाशी है तथा प्रियजनके विलम्ब आदिसे अज्ञात चित्तमें अन्य कोई बात क्लेशदायी हो, उसे 'प्रौढ़-प्रेमा' अर्थात् प्रगाढ़ प्रेम कहा जाता है। उस तादात्म्यचित्त-वृत्तिमें विषयान्तरका प्रवेश भी सम्भव नहीं है; क्योंकि वहाँ तो प्रेम-प्रेमी-प्रेमास्पदोंमें साधारणीकरण हो चुका है।

शब्दब्रह्म—इसी प्रेमस्वरूप ब्रह्म-विद्या-क्रममें महावैयाकरण भर्तृहरिने 'वाक्यपदीयम्' में कहा है—

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः॥

अर्थात् यह शब्द ब्रह्म ॐकार ही सिद्धमार्गके सोपानकी पहली सीढ़ी है और यही वाक्-वाणी-ब्राह्मी मोक्षकामियोंका सरल राजमार्ग है।

हिन्दी-व्रजभाषा आदिमें प्रेम-प्रयोग—चन्द्र-चकोर, चाँद-कुमुदिनी, सूर्य-कमल आदि प्रेमके शतशः उदाहरण प्रत्यक्ष हैं। सूफी कवियोंसे लेकर भक्तिकालीन तथा आधुनिक हिन्दीके कवियों और अन्य मैथिली, बँगला, तमिल, तेलुगु प्रभृति भाषाओंके लेखकोंने प्रेमको अलौकिक सिद्ध किया है। प्रेमका प्रतिदान शीश—मस्तकदान है। सोना-हीरा उसका मूल्य नहीं है। यहाँ कुछ उद्धरण दिये जा रहे हैं—

(१) **यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।**
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं॥

(२) अलौकिक प्रेमके सम्बन्धमें रसखानजीकी इस एक पंक्तिकी तुलना तथा व्याख्या क्या सम्भव है?

ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछियाभरि छाछ पै नाच नचावैं॥

(३) भक्तशिरोमणि बिन्दुजी महाराजका कहना है—

परम प्रेम के पाले पड़कर प्रभु का नियम बदलते देखा।

(४) मैथिलकोकिल महाकवि विद्यापतिके गोपी-कृष्णके प्रेम-सम्बन्धी शृङ्गार कितने रहस्यपूर्ण और प्रेममय हैं, इसके उदाहरणके रूपमें केवल दो पद्यांश इस प्रकार हैं—

(१) **लोचन धाए फेधायेल हरि नहिं आयल रे।**
शिव शिव जिवओ न जाए आस अरुझाएल रे॥

[राधाजी कहतीं हैं]—अपलक नेत्रोंसे देखते-देखते आँखें चौंधिया गयीं, हरि आये नहीं, हे शिव! हे शिव!! मैं तो जिऊँगी नहीं; परंतु मेरा प्रेम कहाँ जायगा?

(२) **सुतलि छलहुँ हम घरबा रे गरबा मोतिहार।**
राति जखनि भिनुसरुवा रे पिया आएल हमार॥
कर कौसल कर कपइत रे हरवा उर टार।
कर पंकज उर थपइत रे मुख चंद निहार॥
केहिन अभागिलि बैरिन रे भागलि मोर निन्द।
भल कए नहिं देख पाओल रे गुनमय गोबिन्द॥
विद्यापति कबि गाओल रे धनि मन धरु धीर।
समय पाए तरुबर फर रे कतबो सिचु नीर॥

उक्त शृङ्गाररस-परिपूर्ण पदका अन्तिमांश मोक्षमार्गका प्रदर्शक है; क्योंकि मेरे प्रिय भोर होनेके समय स्वप्नमें आये और भोरका स्वप्न सच होता है, ऐसा शास्त्रीय विचार है। सहसा उस प्रेमिका गोपीकी अभागिनी वैरिन नींद टूट गयी और अच्छी तरह गुण परिपूरित 'गोविन्द' परमात्माको वह देख नहीं सकी। यहाँ विद्यापतिजी कहते हैं कि हे धन्ये! मनमें धैर्य रखो, कितना भी सिञ्चन करो, वृक्षमें फल समयपर ही होगा।

यहाँ रहस्य यह है कि आत्मा-परमात्माके मिलनरूपी मोक्षके अवसरमें कुछ देर है। धैर्य रखो और प्रेम-रससे सींचते रहो। समय आ रहा है, फल मिलेगा।

(५) श्रीमद्भगवद्गीताके अध्याय दसके प्रथम श्लोकमें—

'यत्तेऽहं प्रीयमाणाय' तथा इसी अध्यायके दसवें श्लोकमें **'भजतां प्रीतिपूर्वकम्' 'प्रीयमाणाय'**—**'प्रेमास्पदाय'** तथा **'प्रीतिपूर्वकम्'**,—**'प्रेमपूर्वकम्'** कहकर प्रेमाभक्तिका स्पष्ट दिग्दर्शन किया गया है।

(६) समग्र श्रीमद्भागवत प्रेमभावाभिव्यक्तिमय है। उसमें भी 'दशम स्कन्ध' विश्ववाङ्मयका अद्वितीय कथानक है, उसमें भी 'भ्रमरगीत' अद्वितीय है। उसीमेंसे केवल दो दिव्य प्रेमप्रसूनोंको उद्धृत किया जा रहा है—

अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते
स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान्।
क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु॥
क उत्सहेत सन्त्यक्तुमुत्तमश्लोकसंविदम्।
अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरङ्गान्न च्यवते क्वचित्॥*

(श्रीमद्भा० १०।४७।२१, ४८)

प्रेमके वशीभूत गोपियाँ कृष्णके समान काले रंगवाले और उनके पीत उत्तरीय वस्त्रके समान चिह्नवाले भौंरेसे पूछती हैं कि आर्यपुत्र कृष्ण क्या अभी मधुपुरमें हैं? क्या अपने पैतृक गृह गोकुल और अपने प्रिय बन्धु गोपगणोंका स्मरण करते हैं? क्या वे कभी अपनी दासियों (हमलोगों)-का स्मरण करते हैं? वे अपनी भुजाओंके अगरकी सुगन्ध हमारे मस्तकोंपर कब रखेंगे, इन सबकी याद उन्हें आती है क्या?

रोम-रोममें कृष्णसे रमी कृष्णमय गोपियाँ यह भूल गयी हैं कि वे एक कीट-पतंग—भ्रमरसे बात कर रही हैं। यहाँ एकान्त वेद्यान्तर स्पर्शशून्य ब्रह्मस्वादमय भगवत्प्रेमकी चरमोत्कृष्टता प्रदर्शित है।

अन्तमें गोपियाँ कहती हैं कि उस उत्तम श्लोक अत्युत्कृष्ट-गुणयुक्त व्यक्तिकी एकान्त-वार्ताको कौन छोड़ सकता है? जिनके हृदय—उरसे श्रीशोभा कभी च्युत नहीं होती है।

परिणामतः प्रेम-भगवत्प्रेम छूटता नहीं है। प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद—ये तीनों एकाकार हो जाते हैं। यही 'सायुज्य'-मुक्ति है।

~~~

भगवत्प्रेमका स्वरूप

(डॉ० श्रीभीष्मदत्तजी शर्मा, पूर्व रीडर)

प्रेम मनकी अत्यन्त पवित्र वृत्ति है। जहाँ जितनी ही अधिक समीपता, जितनी ही अधिक अन्तरङ्गता और जितनी ही अधिक प्रत्यक्षता होती है; इस प्रेमका वहाँ उतना ही अधिक प्राकट्य होता है। इसीलिये अत्यन्त समीप, अत्यन्त अन्तरङ्ग और अत्यन्त प्रत्यक्ष प्रत्यगात्मा (परमात्मा)-में ही सर्वाधिक प्रेम होना स्वाभाविक है; परंतु मनुष्य सांसारिक वस्तुओंमें आसक्त होकर उनसे प्रेम करने लगता है। यह सब अज्ञान और मोहके कारण होता है, अन्यथा परमात्मासे ही सर्वाधिक प्रेम होना चाहिये; क्योंकि वही सबसे अधिक समीप, अन्तरङ्ग तथा प्रत्यक्ष हैं। वास्तवमें भगवान्‌के प्रति प्रेम ही सच्चा प्रेम है। इसके लिये मनुष्यको सभी प्रकारके विकारों—अहंकार आदिका त्याग करना पड़ता है, तभी भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है। संत कबीरने इस सम्बन्धमें ठीक ही कहा है—

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं॥

प्रेमकी विलक्षणता

प्रेम बड़ी विलक्षण वस्तु है। जब यह परिपक्व हो जाता है तब प्रेमीको प्रेमास्पदके अतिरिक्त अन्य किसीका स्मरण नहीं रहता। हर क्षण उसे प्रियतमकी याद बनी रहती है। शास्त्रोंके अनुसार हमारी अन्तरात्मा अत्यन्त अभिन्न-स्वरूप होनेके कारण निरतिशय प्रेमकी पात्र है। अतः हमें सबसे अधिक अपनी अन्तरात्मासे प्रेम होता है। इस बातको समझनेके लिये हमें श्रीमद्भागवतके इस प्रकरणपर विचार करना चाहिये—जब ब्रह्माजीने भगवान् श्रीकृष्णके गाय-बछड़ों और ग्वालोंका अपहरण कर लिया, तब श्रीकृष्ण ही सब कुछ बनकर उन-उन घरोंमें चले गये। इस प्रकार सभी गोप-गोपियों और गायोंको श्रीकृष्णका संस्पर्श-सुख

---

* अच्छा, हमारे प्रियतमके प्यारे दूत मधुकर! हमें यह बतलाओ कि आर्यपुत्र भगवान् श्रीकृष्ण गुरुकुलसे लौटकर मधुपुरीमें अब सुखसे तो हैं न? क्या वे कभी नन्दबाबा, यशोदारानी, यहाँके घर, सगे-सम्बन्धी और ग्वाल-बालोंकी भी याद करते हैं? और क्या हम दासियोंकी भी कोई बात कभी चलाते हैं? प्यारे भ्रमर! हमें यह भी बतलाओ कि कभी वे अपनी अगरके समान दिव्य सुगन्धसे युक्त भुजा हमारे सिरोंपर रखेंगे? क्या हमारे जीवनमें कभी ऐसा शुभ अवसर भी आयेगा? हमारे प्यारे श्यामसुन्दरने, जिनकी कीर्तिका गान बड़े-बड़े महात्मा करते रहते हैं, हमसे एकान्तमें जो मीठी-मीठी प्रेमकी बातें की हैं, उन्हें छोड़नेका, भुलानेका उत्साह भी हम कैसे कर सकती हैं? देखो तो उनकी इच्छा न होनेपर भी स्वयं लक्ष्मीजी उनके चरणोंसे लिपटी रहती हैं, एक क्षणके लिये भी उनका अङ्ग-सङ्ग छोड़कर कहीं नहीं जातीं।
~~~

स्वतः ही मिल गया, जिससे उनका प्रेमभाव असीम हो गया। उस स्थितिमें सभी गायों और गोपियोंको श्रीकृष्ण ही पुत्रके रूपमें प्राप्त थे। फिर तो उनके प्रेममें निःसीम वृद्धि होना स्वाभाविक ही था। राजा परीक्षित्‌द्वारा इसका कारण पूछे जानेपर श्रीशुकदेवजीने कहा कि 'हे राजन्! संसारमें प्राणिमात्रको अपनी आत्मामें सर्वाधिक प्रेम होता है; स्त्री, पुत्र, क्षेत्र, धन और मित्र आदिमें इतना प्रेम नहीं होता। देहात्मवादी भी जितना प्रेम देहमें करते हैं, उतना देहानुगामी वस्तुमें नहीं करते। पुत्र, धन, स्त्री आदिमें जो प्रेम होता है, वह केवल आत्मप्रेमकी अभिव्यक्तिमात्र है।' उपनिषदोंका भी यही उद्‌घोष है—**'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'** (बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।५) अर्थात् आत्माके लिये ही सम्पूर्ण वस्तुओंमें प्राणिमात्रका प्रेम होता है। यही प्रेमकी विलक्षणता है।

आत्मप्रेम ही भगवत्प्रेम

दार्शनिकोंके अनुसार आत्माके सुखके लिये ही संसारकी सभी वस्तुएँ प्रिय होती हैं। अतः प्रत्येक व्यक्तिमें आत्मासम्बन्धी प्रेम होनेके कारण भगवत्प्रेम होना स्वाभाविक है; क्योंकि आत्मा और भगवान् भिन्न न होकर अभिन्न ही हैं। इसीलिये श्रीराम-श्रीकृष्णमें सब लोगोंको अधिक प्रेम हुआ; क्योंकि ये दोनों प्राणिमात्रके अन्तरात्मा थे। दोनों ही अपनी अचिन्त्य एवं दिव्य लीला-शक्तिसे सगुण, साकार और अनन्तकल्याणगुणयुक्त होकर मनोहररूपमें प्रकट हुए थे। रामायणमें भगवान् श्रीरामकी जो दिव्य लीलाएँ वर्णित हैं, उनसे भक्तजनोंको जो निरतिशय आनन्द प्राप्त हुआ, उन सबकी अभिव्यक्ति उनके प्रति लोगोंके सर्वाधिक प्रेममें हुई। इसी प्रकार श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व हैं, वे ही सबकी अन्तरात्मा हैं एवं वे ही सभी वस्तुओंमें ओत-प्रोत हैं। अतः उनसे सहज, स्वाभाविक एवं उत्कट प्रेम किये बिना नहीं रहा जा सकता। वस्तुतः जब मनुष्यकी भगवान्से प्रेमकी लौ लग जाती है, तब उसे अन्य कुछ नहीं सुहाता। वह हर समय उसीका चिन्तन करता रहता है। किसी कविने ठीक ही कहा है—

लव लागि तब जानिये छूटहि कबहु न जाये।
मिठो कहा अंगारमें जाहि चकोर चबाये॥

जाने-अनजाने भगवत्प्रेम

क्योंकि भगवान् ही निरतिशय, निरुपाधिक एवं सर्वोत्कृष्ट प्रेमके आस्पद होनेसे सबकी अन्तरात्मा हैं; अतः उन्हींसे सभीको सच्चा प्रेम करना चाहिये, परंतु अज्ञान, मोह और आसक्तिके कारण कभी-कभी प्रेमकी सहजता, स्वाभाविकता तथा उत्कटता प्रकट नहीं होती है। वास्तवमें सभी प्राणी जाने-अनजाने भगवत्प्रेमकी ओर अग्रसर हैं। सभी ज्ञान अथवा अज्ञानपूर्वक अपने जीवन-धन भगवान्‌के ही प्रेमी हैं। इसलिये स्वामी विवेकानन्दका कहना है कि 'हमें ज्ञानपूर्वक ही भगवान्से प्रेम करना चाहिये, जिससे शीघ्रातिशीघ्र भगवत्प्राप्ति हो सके।' प्रेमीके लिये धन, ऐश्वर्य और बल आदिका कुछ भी महत्त्व नहीं होता। भगवती जनकनन्दिनी सीताजीने लङ्कामें रहते हुए कभी रावणके ऐश्वर्यकी ओर नहीं देखा, बल्कि रावणके दुष्कर्मके लिये वे उसे बराबर फटकारती रहीं। व्रजबालाओंके सामने जब अनन्त ऐश्वर्यपूर्ण श्रीमन्नारायण प्रकट हुए तो उन्होंने प्रणाम करके उनसे यही माँगा कि हमारे प्राणेश्वर मनमोहन श्रीकृष्णचन्द्रसे हमें मिला दो। वे उन नारायणकी ओर तनिक भी आकर्षित नहीं हुईं। इसीलिये गोपियोंका श्रीकृष्ण-प्रेम आदर्श प्रेम माना जाता है। ऐसा ही अनन्य प्रेम हम सबका भगवान्‌के प्रति होना चाहिये।

प्रेमका स्वरूप

प्रेम अनन्य होना चाहिये। प्रेमास्पदका कोई विकल्प नहीं होता। प्रेम परिपक्व होकर भक्तिमें परिणत हो जाता है। धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्तिसुधा' में 'भगवान् और प्रेम' विषयपर विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि प्रेम स्वाभाविक होता है। उसका निषेध करने या उसमें रुकावट डालनेसे वह उत्कट रूप धारण कर लेता है। अतः भगवत्प्रेममें विधि-निषेधका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। यही कारण है कि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने प्रेमीकी दशाको इस रूपमें व्यक्त किया है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

(रा०च०मा० ७।१३०, ख)

अर्थात् हे रघुनाथ श्रीराम! जैसे कामुक व्यक्तिकी स्त्रीमें और लोभी व्यक्तिकी धनमें प्रीति होती है, उसी प्रकारकी मेरी प्रीति सदा आपमें बनी रहे। वस्तुतः भगवान् और प्रेम दोनों एक ही वस्तु हैं। कुछ विचारकोंके अनुसार

तो प्रेम भगवान्‌का ही नाम है। इसीलिये जगत्‌में भगवत्प्रेमके अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है, असत् है, निःसार है। यही कारण है कि अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्र भी भगवान्‌से प्रेम करते हैं। उन्हींके लिये भक्तियोगका विधान करनेहेतु अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य एवं अलक्षण भगवान् सगुण-साकार होकर अपने प्रेमी भक्तोंको उच्च कोटिका ज्ञान प्रदान करते हैं, जिससे उन्हें भगवत्प्राप्ति होती है। गीता कहती है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(१०।१०)

अर्थात् जो भक्त सतत युक्त होकर प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, मैं उनको वह ज्ञानयोग प्रदान करता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।

निष्काम प्रेम

भगवान्‌में हमारा निष्काम प्रेम होना चाहिये। प्रेमीको प्रेमास्पदको देना ही होता है, उससे कुछ भी लेना नहीं होता। प्रेमी भक्तको भगवान्‌को सम्पूर्ण समर्पण करना होता है। जैसे ही उसका सम्पूर्ण समर्पण होता है, वैसे ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। भगवत्प्राप्ति ही तो जीवनका परम लक्ष्य है और इसके लिये ही आचार्यों, संत-महात्माओं तथा भक्तोंने निष्काम प्रेमका मार्ग बताया है। हमारा मन जैसे ही प्रेम करते हुए भगवान्‌से जुड़ता है, वैसे ही हमें भगवद्भाव प्राप्त होने लगता है, परंतु इसमें बाधक है—सांसारिक भोगोंके प्रति हमारे मनका आकर्षित होना, हमारे सकाम मनका निष्काम न होना। मनके निष्काम होनेपर ही निष्काम प्रेमका प्राकट्य होता है। इसीलिये भक्तलोग लौकिक रूपसे भगवान्‌को भजते हैं और उनकी मधुर लीलाओंका दर्शन-श्रवण करते हैं। इसी बातको गीतामें इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(९।२२)

अर्थात् जो प्रेमी भक्तजन मेरा अनन्य चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मेरेमें लगे हुए उन पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं चलाता हूँ।

सारांश यह है कि संसारमें भगवान्‌से अधिक कोई भी वस्तु प्रिय नहीं है; क्योंकि सभी सांसारिक पदार्थ नश्वर, असत् और मिथ्या हैं, मात्र परमात्मा तथा उसका प्रेम ही सत्य एवं अनश्वर है। अतः हमें भगवान्‌से अनन्य, निष्काम तथा सच्चा प्रेम करना चाहिये। किसी कविने ठीक ही कहा है—

झूठा यह संसार है, झूठा इसका प्यार है।
केवल सच्चा नाम तेरा, हे मेरे करतार है॥

व्रजरसमें प्रेम-वैचित्त्य

(श्रीश्यामजी भाई)

सघन वनोंमें भटकती श्रीमीराजी, नयनोंमें प्राणसखा श्यामसुन्दरकी खोज, वर्षाके दिन और यह मदहोश, मदमस्त भटकन—निर्जन स्थानोंमें, बीहड़ वनोंमें तथा वही कण्टकाकीर्ण मार्ग—वही उन्मादिनी मीरा।

कितना कष्ट होता होगा इन्हें? क्या कृष्ण-प्रेमका यह अर्थ होना चाहिये?

एक बार प्रणय-प्रवण श्रीकृष्णने अपने किसी कोमल-हृदय स्वजनको इसका उत्तर दिया था—'मैं पीछे-पीछे रहकर मीराका पथ प्रशस्त करता हूँ, उसका अनुगमन करता हूँ, उसके यात्रा-पथपर दृष्टि डालता हूँ तो उस पथके कंकड़-काँटे सुकोमल पुष्प बन जाते हैं, किसी भी मार्गमें मीराके पाँवोंमें एक काँटा भी नहीं चुभने देता, कहीं भी कोई कष्ट नहीं होने देता—न वन-पर्वतोंमें, न पथ-प्रान्तोंमें।

उनकी वार्ता ठीक निकली। सचमुच आज वे ऐसा ही कर रहे थे। मीराजीके पीछे कभी दायेंसे, कभी बायेंसे स्नेहासिक्त नयनोंसे उन्हें निहारते चल रहे थे। अद्भुत चमत्कार है उनकी दृष्टिमें। मार्गके कठोर कण्टक कोमल पुष्पोंमें परिणत होते जाते हैं। मीराजीके यात्रामार्गमें फूल खिलते जाते हैं और मीराजीको पता नहीं, होश नहीं। ओह, व्रजके रसीले ठाकुर! तुम्हारी दृष्टिका यह प्रभाव है जड-

पदार्थोंपर! तो चेतन प्रेमियोंपर कैसा होता होगा? साँवरे-सलोने! नेक सोचो तो सही।

पर एक बात है—मीराजीकी विरह-वेदना तो वही बनी रही।

'नहीं', आश्वासनके स्वरमें वे स्वरकुशल बोले—'यह वैसी विरह-वेदना नहीं है। यह तो सर्वथा भिन्न प्रकारकी है मधुर है, मधुरातिमधुर है। इसमें मिलनकी सुखद अनुभूति बनी रहती है, हिय—प्राणोंमें दिव्यानन्द संचरित रहता है। 'मैं साथ रहता हूँ, साथ होता हूँ'—यह प्रतीति उसे बनी रहती है, यह प्रतीति ही तो उसकी जीवनदायिनी शक्ति है, तभी तो इतना पर्यटन, इतना परिभ्रमण कर पाती है मेरी मीरा।'

कहीं यह सब आश्वासनमात्र ही तो नहीं?

(उत्तरमें) दृश्य-परिवर्तन—मेघमालाओंके मध्यसे झाँकता नील नभ, प्रकृतिका परम मनोहर सुन्दर दृश्य, स्वतः निविड़ निभृत निकुञ्जोंका निर्माण, सघन वृक्षोंके मध्य झूमता एक हिंडोला—

अकस्मात् मीराजीके पीछेसे आते हैं उनके प्राण-प्रियतम—अङ्कमें, अङ्गमें, समाहित कर लेते हैं उन्हें। बरजोरी अपने साथ उस हिंडोलेमें बिठाते हैं। इस सम्मिलन-सुखमें शेष सब अशेष हो जाता है, विस्मृत हो जाता है। युगोंकी तृषाका शमन हुआ, एक बार फिर प्राण सुशीतल रससे सिंचित हुए।

तो फिर—

लाड़ली किशोरी श्रीराधाको भी विरहमें मिलन-सुख प्रतीत होता है और मिलनमें विरह-वेदनाका दुःख भी शून्य—न्यून नहीं होता।

कैसा मोहक है यह प्रेम-वैचित्त्य।

अहैतुक बन्धो! क्या कभी हमें इसकी छायाका भी स्पर्श प्राप्त होगा? [प्रेषिका—अरुणिमा]

* * *

अव्यक्त प्रेम

(श्रीवियोगी हरिजी)

हिरदै भीतर दव बलै, धुआँ न परगट होय।
जाके लागी सो लखै, की जिन लाई सोय॥
(कबीर)

लगनकी आगका धुआँ कौन देख सकता है। उसे या तो वह देखता है, जिसके अंदर वह जल रही है या फिर वह देखता है, जिसने वह आग सुलगायी है। भाई, प्रेम तो वही जो प्रकट न किया जाय। सीनेके अंदर ही एक आग-सी सुलगती रहे, उसका धुआँ बाहर न निकले। प्रीति प्रकाशमें न लायी जाय। यह दूसरी बात है कि कोई दिलवाला जौहरी उस प्रेम-रत्नके जौहरको किसी तरह जान जाय। वही तो सच्ची लगन है जो गलकर, घुलकर, हृदयके भीतर पैठ जाय; प्यारेका नाम मुँहसे न निकलने पाये, रोम-रोमसे उसका स्मरण किया जाय। कबीरदासजीकी एक साखी है—

प्रीति जो लागी घुल गई, पैठि गई मन माहिं।
रोम-रोम पिउ-पिउ करै, मुखकी सरधा नाहिं॥

प्रेम-रसके गोपनमें ही पवित्रता है। जो प्रेम प्रकट हो चुका, बाजारमें जिसका विज्ञापन कर दिया गया, उसमें पवित्रता कहाँ रही? वह तो फिर मोल-तोलकी चीज हो गयी। कोविद-वर कारलाइल कहता है—

Love unexpressed is sacred.

अर्थात् अव्यक्त प्रेम ही पवित्र होता है। जिसके जिगरमें कोई कसक है, वह दुनियामें गली-गली चिल्लाता नहीं फिरता। जहाँ-तहाँ पुकारते तो वे ही फिरा करते हैं, जिनके दिलमें प्रेमकी वह रस-भरी हूक नहीं उठा करती। ऐसे बने हुए प्रेमियोंको प्रेमदेवका दर्शन कैसे हो सकता है? महात्मा दादूदयालजी कहते हैं—

अंदर पीर न ऊभरै, बाहर करै पुकार।
'दादू' सो क्यों करि लहै, साहिबका दीदार॥

किसीको यह सुनानेसे क्या लाभ कि मैं तुम्हें चाहता हूँ, तुमपर मेरा प्रेम है? सच्चे प्रेमियोंको ऐसी विज्ञापनबाजीसे क्या मिलेगा? तुम्हारा यदि किसीपर प्रेम है तो उसे अपनी हृदय-वाटिकामें ही अंकुरित, पल्लवित, प्रफुल्लित और परिफलित होने दो। जितना ही तुम अपने प्रियको

छिपाओगे, उतना ही वह प्रगल्भ और पवित्र होता जायगा। बाहरका दरवाजा बंद करके तुम तो भीतरका द्वार खोल दो। तुम्हारा प्यारा तुम्हारे प्रेमको जानता हो तो अच्छा और उससे बेखबर हो तो भी अच्छा। तुम्हारे बाहरके शोर-गुलको वह कभी पसंद न करेगा। तुम तो दिलका दरवाजा खोलकर बेखबर हो बैठ जाओ। तुम्हारा प्यारा राम जरूर तुम्हें मिलेगा—

सुमिरन सुरत लगाइकै, मुखतें कछू न बोल।
बाहरके पट देइकै, अन्तरके पट खोल॥

(कबीर)

प्रीतिका ढिंढोरा पीटनेसे कोई लाभ?

जो तेरे घट प्रेम है, तौ कहि कहि न सुनाव।
अंतरजामी जानिहैं, अंतरगत का भाव॥

(मलूकदास)

तुम तो प्रेमको इस भाँति छिपा लो, जैसे माता अपने गर्भस्थ बालकको बड़े यत्नसे छिपाये रहती है, जरा भी उसे ठेस लगी कि वह क्षीण हुआ—

जैसे माता गर्भको राखै जतन बनाइ।
ठेस लगै तौ छीन हो, ऐसे प्रेम बुराइ॥

(गरीबदास)

प्रेमका वास्तविक रूप तुम प्रकाशित भी तो नहीं कर सकते। हाँ, उसे किस प्रकार प्रकाशमें लाओगे? प्रेम तो गूँगा होता है। इश्कको बेजुबान ही पाओगे। ऊँचे प्रेमियोंकी तो मस्तानी आँखें बोलती हैं, जुबान नहीं। कहा भी है—

Love's tongue is in the eyes.

अर्थात् प्रेमकी जिह्वा नेत्रोंमें होती है। क्या रघूत्तम रामका विदेह-नन्दिनीपर कुछ कम प्रेम था? क्या वे मारुतिके द्वारा जनकतनयाको यह प्रेमाकुल संदेश न भेज सकते थे कि 'प्राणप्रिये! तुम्हारे असह्य वियोगमें मेरे प्राण-पक्षी अब ठहरेंगे नहीं; हृदयेश्वरी! तुम्हारे विरहने मुझे आज प्राणहीन-सा कर दिया है।' क्या वे आजकलके विरह-विह्वल नवल नायककी भाँति दस-पाँच लम्बे-चौड़े प्रेम-पत्र अपनी प्रेयसीको न भेज सकते थे? सब कुछ कर सकते थे, पर उनका प्रेम दिखाऊ तो था नहीं। उन्हें क्या पड़ी थी जो प्रेमका रोना रोते फिरते! उनकी प्रीति तो एक सत्य, अनन्त और अव्यक्त प्रीति थी, हृदयमें धधकती हुई प्रीतिकी एक ज्वाला थी। इससे उनका सँदेसा तो इतनेमें ही समाप्त हो गया—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

(रा० च० मा० ५। १५। ६-७)

इस 'इतनेमें' ही उतना सब भरा हुआ है, जितनेका कि किसी प्रीति-रसके चखनेहारेको अपने अन्तस्तलमें अनुभव हो सकता है। सो, बस—

'जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥'

प्रीतिकी गीति कौन गाता है, प्रेमका बाजा कहाँ बजता है और कौन सुनता है, इन सब भेदोंको या तो अपना चाह-भरा चित्त जानता है या फिर अपना वह प्रियतम। इस रहस्यको और कौन जानेगा?

सब रग ताँत, रवाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित्त॥

(कबीर)

जायसीने भी खूब कहा है—

हाड़ भये सब किंगरी, नसें भईं सब ताँति।
रोम-रोम तें धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति॥

प्रेम-गोपनपर किसी संस्कृत कविकी एक सूक्ति है—

प्रेमा द्वयो रसिकयोरपि दीप एव
हृद्व्योम भासयति निश्चलमेव भाति।
द्वारादयं वदनतस्तु बहिर्गतश्चेत्
निर्वाति दीपमथवा लघुतामुपैति॥

दो प्रेमियोंका प्रेम तभीतक निश्चल समझो, जबतक वह उनके हृदयके भीतर है। ज्यों ही वह मुखद्वारसे बाहर हुआ अर्थात् यह कहा गया कि 'मैं तुम्हें प्यार करता हूँ', त्यों ही वह या तो नष्ट हो गया या क्षीण ही हो गया। दीपक गृहके भीतर ही निष्कम्प और निश्चल रहता है। द्वारके बाहर आनेपर या तो वह क्षीणज्योति हो जाता है या बुझ ही जाता है। वास्तवमें पवित्र प्रेम एक दीपकके समान है। इसलिये चिराग़ेइश्क़को भाई, जिगरके अंदर ही जलने दो। उस अँधेरे घरमें ही तो आज उँजेलेकी जरूरत है।

उस प्रियतमको पलकोंके भीतर क्यों नहीं छुपा लेते?

उसे भला एक बार धीरेसे यह कहकर बुलाओ तो—

आओ प्यारे मोहना! पलक झाँपि तोहि लेउँ।
ना मैं देखौं और कों, ना तोहि देखन देउँ॥

आँखोंकी तो एक सुन्दर कोठरी बनाओ और पुतलियोंका वहाँ पलंग बिछा दो । द्वारपर पलकोंकी चिक भी डाल देना। इतनेपर भी क्या वह हठीले हज़रत न रीझेंगे? क्यों न रीझेंगे—

नैनोंकी करि कोठरी, पुतली-पलँग बिछाय।
पलकोंकी चिक डारिके, छिनमें लिया रिझाय॥

(कबीर)

जब वह प्यारा दिलवर इस तरह तुम्हारे दर्दभरे दिलके अंदर अपना घर बना लेगा, तब तुम्हें न तो उसे कहीं खोजना ही होगा और न चिल्ला-चिल्लाकर अपने प्रेमका ढिंढोरा ही पीटना होगा। तब उस हृदय-विहारीके प्रति तुम्हारा प्रेम नीरव होगा। वह तुम्हारी मतवाली आँखोंकी प्यारी-प्यारी पुतलियोंमें जब छुपे-छुपे अपना डेरा जमा लेगा, तब उसका प्यारा दीदार तुम्हें ज़र्रे-ज़र्रेमें मिलेगा। घट-घटमें उसकी झलक दिखायी देगी। प्रेमोन्मत्त कवीन्द्र रवीन्द्र सुनो, क्या गा रहे हैं—

My beloved is ever in my heart
That is why I see him everywhere.
He is in the pupils of my eyes
That is why I see him everywhere.

अर्थात्—

जीवन-धन मम प्रान-पियारो सदा बसतु हिय मेरे,
जहाँ बिलोकैं, ताकैं ताकों कहा दूरि कह नेरे।
आँखिनकी पुतरिनमें सोई सदा रहै छवि घेरे,
जहाँ बिलोकैं, ताकैं ताकों कहा दूरि कह नेरे॥

(कृष्णविहारी मिश्र)

अपने चित्तको चुरानेवालेका ध्यान तुम भी एक चोरकी ही तरह दिलके भीतर किया करो। चोरकी चोरके ही साथ बना करती है। जैसेके साथ तैसा ही बनना पड़ता है। कविवर बिहारीका एक दोहा है—

करौ कुबत जगु कुटिलता तजौं न, दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय बसत, त्रिभंगी लाल॥

संसार निन्दा करता है तो किया करे, पर मैं अपनी कुटिलता तो न छोड़ूँगा। अपने हृदयको सरल न बनाऊँगा क्योंकि हे त्रिभंगी लाल! तुम सरल (सीधे) हृदयमें बसते हुए कष्ट पाओगे। टेढ़ी वस्तु सीधी वस्तुके भीतर कैसे रह सकती है? सीधे मियानमें कहीं टेढ़ी तलवार रह सकती है? मैं सीधा हो गया तो तीन टेढ़वाले तुम मुझमें कैसे बसोगे? इससे मैं अब कुटिल ही अच्छा! हाँ, तो अपनी प्रेम-साधनाका या अपने प्यारेके ध्यानका कभी किसीको पता भी न चलने दो, यहाँकी बात जाहिर कर दो, यहाँके पट खोल दो, पर वहाँका सब कुछ गुप्त ही रहने दो, वहाँके पट बंद ही किये रहो। यह दूसरी बात है कि तुम्हारी ये लाचार आँखें किसीके आगे वहाँका कभी कोई भेद खोलकर रख दें।

प्रेमको प्रकट कर देनेसे क्षुद्र अहङ्कार और भी अधिक फूलने-फलने लगता है। 'मैं प्रेमी हूँ'—बस, इतना ही तो अहङ्कार चाहता है। 'मैं तुम्हें चाहता हूँ'—बस, यही खुदी तो प्रेमका मीठा मजा नहीं लूटने देती। ब्रह्मात्मैक्यके पूर्ण अनुभवीको **'सोऽहम् सोऽहम्'** की रट लगानेसे कोई लाभ? महाकवि ग़ालिबने क्या अच्छा कहा है—

क़तरा अपना भी हक़ीक़त में है दरिया लेकिन,
हमको तक़लीदे तुनक ज़र्फ़िये मंसूर नहीं।

मैं भी बूँद नहीं हूँ, समुद्र ही हूँ—जीव नहीं, ब्रह्म ही हूँ—पर मुझे मंसूरके ऐसा हलकापन पसंद नहीं। मैं 'अनलहक़' कह-कहकर अपना और ईश्वरका अभेदत्व प्रकट नहीं करना चाहता। जो हूँ सो हूँ, कहनेसे क्या लाभ। सच बात तो यह है कि सच्चा प्रेम प्रकट किया ही नहीं जा सकता। जिसने उस प्यारेको देख लिया, वह कुछ कहता नहीं और जो उसके बारेमें कहता-फिरता है, समझ लो, उसे उसका दर्शन अभी मिला ही नहीं। कबीरकी एक साखी है—

जो देखै सो कहै नहिं कहै सो देखै नाहिं।
सुनै सो समझावै नहीं, रसना दृग श्रुति काहिं॥

इसलिये प्रेम तो प्यारे, गोपनीय ही है।

* * *

अथातः प्रेम-मीमांसा

(आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, व्याकरण-साहित्याचार्य, पूर्वकुलपति)

प्रेम, प्रेमा[1] तथा प्रियता—इन समानार्थक शब्दोंके मूलमें एक ही 'प्रिय' भाव है। **'प्रीणातीति प्रियः'**[2], इस व्युत्पत्तिके अनुसार जो प्रीति-आमोदको दे, उसे 'प्रिय' कहते हैं। **'प्रियस्य भावः प्रेम'**[3]। प्रेमा, प्रियत्व[4], प्रियता आदि शब्द प्रियके उस भाव अर्थात् अस्तित्व-निष्पादक धर्मको बतलाते हैं, जिसके विद्यमान रहनेपर ही 'प्रिय' प्रिय हो सकता है और उसे प्रिय कहा जा सकता है। प्रेमकी विद्यमानतामें ही 'प्रिय' शब्दका अर्थ चरितार्थ होता है।

निष्कर्षतः प्रेम वह तत्त्व है जो प्रिय-प्रेमाश्रयको असाधारण सुख देता है। 'प्रेमसे प्रियको असाधारण सुख मिलता है।' इस तथ्यके मुख्यतः चार रहस्य हैं—

(क) **'प्रियसुखसुखित्वम्'**—प्रेम केवल प्रियतमके सुखके लिये ही होता है।

(ख) **'प्रियानुकूलाचरणम्'**—प्रेममें केवल प्रियके ही अनुकूल आचरण होता है।

(ग) **'प्रियसुखकामातिरिक्तकामराहित्यम्'**—प्रिय-सुख-कामनाके अतिरिक्त प्रेममें स्व-काम बिलकुल नहीं होता है।

(घ) **'वाचामगोचरत्वम्'**—प्रेम वाणीके द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है, वह मूकास्वादवत् अनिर्वचनीय होता है।

'यह मेरा है, मैं उसका हूँ', इस प्रकारका पक्षपात—विशेष प्रेममें हो जाता है। उपर्युक्त चारोंके अभावमें प्रेम प्रेम न होकर 'काम' हो जाता है। उदाहरणके द्वारा इसे स्पष्ट करनेके पूर्व प्रेमकी तरह व्यवहृत 'प्रणय', 'परिचय' तथा 'राग' आदि शब्दोंके अर्थोंको स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रणय—परस्पर अवलोकन आदिसे जो प्रेम प्रकर्षको प्राप्त हो जाता है, जिसमें किसी एकके अनेक अपराध करनेपर भी प्रेममें कमी नहीं आती है, उस प्रकारके अविरल प्रेमको 'प्रणय[5]' कहते हैं।

परिचय—अधिक समयतक साथ रहनेसे जो प्रणयकी दृढ़ता होती है, उसे 'परिचय[6]' कहते हैं।

राग—प्रिय वस्तुके प्रति मनमें होनेवाला अनुकूल भाव 'राग[7]' कहलाता है।

मल्लीनाथने शिशुपालवध महाकाव्य (४।५६)-की व्याख्यामें कहा है—**'अभिमतविषयाभिलाषः रागः।'** अर्थात् मनोऽनुकूल विषयको प्राप्त करनेकी अभिलाषा राग है।

वैष्णवाचार्य रूपगोस्वामी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'उज्ज्वलनीलमणि' में लिखते हैं—

दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते॥

अर्थात् दुःख भी सुखरूपमें ही चित्तको अधिक भासता है। चूँकि प्रणयका उत्कर्ष भी रागसे होता है, इसलिये इसे राग कहते हैं। इस तरह प्रणयको सुदृढ़ करनेके कारण राग या अनुराग प्रेम प्रणय एवं परिचयसे भी एक सोपान और ऊपर चढ़ जाता है। इस भावको व्यक्त करते हुए महाकवि भवभूतिने 'मालतीमाधव' नाटकमें मालतीकी प्राप्तिके लिये श्मशान-साधना करनेवाले माधवके पूर्वरागको निम्न प्रकारसे प्रस्तुत किया है—

प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि।

---

[1] प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः। (अमरकोश १।७।२७)

[2] 'प्री' तर्पणे धातुसे 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा०सू० ३।१।१३५)-से 'क' प्रत्यय होनेपर 'प्रिय' शब्द निष्पन्न होता है।

[3] 'पृथ्वादिभ्यः इमनिज्वा' (पा०सू० ५।१।१२२) प्रिय+इमनिच् प्रत्यय, 'प्रिय स्थिर' इत्यादि सूत्र (पा०सू० ६।४।१५७)-से प्रियके स्थानमें 'प्र' आदेश होनेसे 'प्रेमन्' शब्द बनता है, जिससे प्रेम, प्रेमा आदि रूप होते हैं।

[4] तस्य भावस्त्वतलौ (पा०सू० ५।१।११९)-से 'त्व' और 'तल्' प्रत्यय होता है।

[5] प्र+णीप्रापणे धातुसे 'एरच्' (पा० सू० ३।३।५६)-से 'अच्' 'प्रत्यय' करनेसे 'प्रणय' शब्द निष्पन्न होता है।

[6] परि+चि+अप्=परिचय।

[7] रञ्जनम् रागः 'रञ्जसे भावे घञ्।' रज्यते अनेन इति रागः। करणे घञ्।

यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा-
दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः॥

अर्थात् उस सुन्दर नयनोंवाली मालतीकी प्रेमसे सनी हुई, प्रणयका स्पर्श करनेवाली तथा परिचयके कारण उद्गाढ़ अनुराग भरी हुई उस प्रकारकी वे भावपूर्ण चेष्टाएँ मेरे प्रति हों, जिनकी कल्पना करनेपर भी तत्क्षण बाह्य इन्द्रियोंको व्यापारशून्य बना देनेवाला अन्तःकरणका आनन्दमें लय-सा हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जिन चेष्टाओंकी कल्पनामात्रसे सुध-बुध भूलकर मन आनन्दसागरमें निमग्न हो जाता है, उसे राग या अनुराग कहते हैं।

इस तरह प्रेमसे प्रणयमें, प्रणयसे अधिक परिचयमें और परिचयसे अधिक अनुरागमें प्रीतिका उत्कर्ष दिखलाया गया है।

इसी प्रसंगमें यह भी जान लेना आवश्यक है कि राग या अनुरागका एक दूसरा पक्ष भी है, जिसमें फँसनेपर सुख-मरीचिकामें पश्चात्ताप होता है। जब सांसारिक विषयोंके उपभोगमें राग होता है तो उसका परिणाम 'शोक' होता है, जो जन्म-मृत्युका कारण बनता है। इसी रागसे विनिर्मुक्त तथा राग-जन्य भय, क्रोधसे रहित महात्माको 'स्थितधी' कहा गया है—

'वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥' (गीता २।५६)

जब अनुराग भगवच्चरणारविन्दमें होता है, तब उस रागका फल अमृत होता है और जब सांसारिक अनित्य विषयोंमें होता है तो उसका फल शोक होता है।

मिथिलाकी हृदय-स्थली मङ्गरौनी (मधुबनी) ग्राम निवासी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र म० म० पं० गोकुलनाथ उपाध्याय महाभागने इस विषयका विश्लेषण करते हुए अपनी पुस्तक 'शिवस्तुतिमाला' में सुन्दर वर्णन किया है—

प्रसरति विषयेषु येषु रागः
परिणमते विरतेषु तेषु शोकः।
त्वयि रुचिरुचिता नितान्तकान्ते
रुचिपरिपाकशुचामगोचरोऽसि॥

जिन सांसारिक विषयोंमें राग होता है, उन विषयोंका विनाश अवश्यम्भावी होनेसे विषयानुरागका परिणाम शोक ही होता है। अतः निरतिशय सौन्दर्यशाली सच्चिदानन्द परमात्मामें ही राग समुचित है; क्योंकि केवल भगवद्-विषयक रागका ही परिणाम शोक नहीं होता है। फलतः केवल परमेश्वर-विषयक प्रेमानुराग सुखप्रद है और जगद्विषयक राग दुःखप्रद है। इसी सांसारिक रागका योगदर्शनके—'**अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाःक्लेशाः**'—इस सूत्रमें निर्दिष्ट पाँच क्लेशोंमें भी परिगणन है।

प्रणय, परिचय और अनुराग—इन सबका मूल आधार प्रेम ही है, अतः प्रेमका अत्यन्त महत्त्व है।

प्रेम और भक्ति—प्रेम और भक्तिके तारतम्य-विवेचनमें कहीं प्रेमको भक्तिका कारण माना गया है और कहीं भक्तिको प्रेमका फल कहा गया है—

अनन्य ममता विष्णौ ममताप्रेमसम्प्लुता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्म प्रह्लादोद्धवनारदैः॥
(नारदपाञ्चरात्र)

प्रह्लाद, उद्धव और नारद भगवान्के परम भक्त हैं। इनके कथनानुसार भक्तकी आत्मीयता भगवान्के प्रति जब प्रेम-रससे ओत-प्रोत होती है तब उसे भक्ति कहते हैं। यहाँ प्रेमको भक्तिका उत्कर्षक माना गया है। इसीलिये श्रवण-कीर्तन आदि नवधा-भक्तिसे प्रेमाभक्तिका माहात्म्य अधिक है। वस्तुतः प्रेम और प्रेमाभक्ति दोनोंमें तत्त्वतः तारतम्य नहीं है। अतएव इस प्रसंगमें निश्चित मत है—

प्रेमभक्तेश्च माहात्म्यं भक्तेर्माहात्म्यतः परम्।
सिद्धमेव यतो भक्तेः फलं प्रेमैव निश्चितम्॥
(नारदपाञ्चरात्र)

वस्तुतः भक्ति और प्रेममें प्रेम भक्तिसे अधिक प्रेयस्कर और श्रेयस्कर है। भक्तिमें उपास्य-उपासक भाव होनेसे भक्त और भगवान्में दूरी बनी रहती है। किंतु प्रेममें तादात्म्य हो जानेसे दोनोंमें ऐक्य हो जाता है। प्रियका सुख-दुःख प्रेमीका अपना ही सुख-दुःख बन जाता है। इसीलिये प्रेमी जो कुछ भी करता है, वह केवल प्रियके लिये ही करता है। प्रिय और प्रेमीका भाव-बन्धन जब अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंमें अटूट रहता है, तब उस भाव-बन्धनको प्रेम कहते हैं।

उज्ज्वलनीलमणिकार लिखते हैं—

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः॥

उपर्युक्त मीमांसाके निष्कर्षसे सिद्ध होता है कि प्रेमीका वह असाधारण हार्दिक भाव प्रेम है, जिसमें प्रियतमका सुख ही प्रेमीका अपना सुख है। प्रियतमके लिये अनुकूल परिस्थिति ही प्रेमीकी अनुकूल परिस्थिति है। प्रेमीका निजी—अपना कोई 'काम' है ही नहीं।

निष्काम भावनासे प्रियतमकी सुख-कामनामात्रसे ही प्रेम 'सकाम' माना जाता है। इसी दृष्टिसे प्रेम 'निष्काम काम' है।

इसी निष्कामरूप सकाम अनिर्वचनीय प्रेमका दृष्टान्त यहाँ एक रोचक कथाके रूपमें प्रस्तुत किया जाता है—

व्रज और मथुराकी लीला प्रकट कर द्वारकाधीश आनन्दकन्द देवकीनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र द्वारावतीमें विराजमान हैं। विश्वकर्माके विशेष कौशलसे द्वारावतीमें भव्य हर्म्य बनाये गये हैं। अमरावतीसे पारिजात यहाँ आकर स्वाभीष्ट फल दे रहा है। इन्द्रादि देव अपनी-अपनी समृद्धिके द्वारा द्वारावतीको समृद्ध करनेमें अपना सौभाग्य मान रहे हैं। इच्छामात्रसे सभी पदार्थ 'आत्माराम' को आराम देनेमें अहमहमिकया प्रयास कर रहे हैं। महादेवी रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रविन्दा, नाग्नजिती (सत्या), भद्रा और लक्ष्मणा—सभी आठों पटरानियाँ अहर्निश महाप्रभुकी सेवामें आनन्दविभोर हैं। सर्वत्र आनन्दका साम्राज्य है। लीलापुरुष अनिर्वचनीय प्रेम-दर्शन-लीला करना चाहते हैं। गोपिकावल्लभ व्रजराज अकस्मात् अस्वस्थ-से दीखते हैं। मानसिक और शारीरिक पीड़ाएँ होने लगती हैं। अन्यमनस्क-से प्रियतमको देख सभी पटरानियाँ व्याकुल हो उठती हैं और जिज्ञासा करती हैं। महाप्रभु मौन हैं, पीड़ित हैं। सभी राजवैद्य आते हैं, परस्पर परामर्श भी करते हैं; परंतु कोई निदान नहीं निकल पाता। सभी उदास लौट जाते हैं। महादेवी रुक्मिणी साश्रुनयन विह्वल हो बोलती हैं—नाथ! क्या हो रहा है? कुछ तो बतलाइये। आपकी यह पीड़ा हमलोगोंके लिये असहनीय हो रही है।

आह भरते हुए महाप्रभुने कहा—इस रोगकी दवा तो मेरे पास है, परंतु इसका 'अनुपान' मेरे पास नहीं है। उस अनुपानके बिना यह दवा कारगर नहीं होती। अनुपान मिल जाय तो रोग दूर हो जाय। पटरानियोंने कुछ प्रसन्नताकी मुद्रामें उत्सुकतासे कहा—आप कृपया कहें तो, आदेश तो दें! लीलाधर बोले—कोई मेरा प्रेमी अपना थोड़ा-सा चरण-रज इस दवामें मिलाकर मुझे दे तो मैं तुरंत स्वस्थ हो जाऊँ। सभी महादेवियाँ एक-दूसरेकी ओर देखने लगीं। मैं जगन्नियन्ता द्वारकाधीश महाप्रभुको चरण-रज कैसे खिला सकती हूँ। मैं अपना नरक-मार्ग भला कैसे प्रशस्त करूँ—सभी किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयीं।

उसी समय परम भक्त देवर्षि नारद वहाँ अचानक आ पहुँचे। सभी देवियाँ अपलक उनकी ओर देख इस विकट समस्याके समाधानके लिये 'अनुपान' मिलाकर दवा खिलानेकी उनसे प्रार्थना करने लगीं। 'नारायण! नारायण!! ऐसा अपराध भला मैं कैसे कर सकता हूँ' कहकर देवर्षि खड़े हो गये। इस तरह सबोंको चिन्तित देख प्रभुने कहा—देवर्षि! आप मनोजव हैं। शीघ्र व्रज जाकर व्रजबालाओंसे चरण-रजकी याचना करें और मेरी व्यथाको स्पष्ट कर दें। देवर्षिने उसी क्षण व्रज पहुँचकर गोपिकाओंसे प्रार्थना की। सुनते ही, प्रियतमकी पीड़ासे आहत, भोली-भाली व्रजबालाओंने अपना-अपना चरण-रज देकर उनसे अतिशीघ्र द्वारका जानेका आग्रह किया। देवर्षि उस विशिष्ट अनुपानको पाकर द्वारावती पहुँचे। उन्होंने प्रभुको दवा दी। महाप्रभु स्वस्थ एवं प्रसन्न हो गये, हँसने लगे। प्रेमतत्त्वको सबोंने समझा।

देवर्षि नारदने 'भक्तिसूत्र' की रचना की। **'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥' 'यथा व्रजगोपिकानाम्॥'** आदि सूत्रोंके द्वारा प्रेम-तत्त्वको सुस्पष्ट किया। निष्कर्षतः निष्काम भावनासे केवल प्रिय-सुखकी कामना तथा तदनुकूल आचरण ही सच्चा प्रेम है।

* * *

प्रेम ही ईश्वर है

(डॉ० श्रीगणेशदत्तजी सारस्वत)

'शैतानसे घृणा करो' एक दूसरे फकीरने राबियासे कहा।

'मैं घृणा कर ही नहीं सकती; क्योंकि घृणा मेरे पास है ही नहीं। जबसे प्रभुसे प्यार हुआ है, तबसे अन्य सब वृत्तियाँ समाप्त हो गयी हैं—केवल प्यार ही बच रहा है। अब तो मैं प्यार ही कर सकती हूँ।' राबियाने उत्तर दिया।

सच तो यह है कि यदि जीवका 'साधन-धाम' प्रियतमके 'नितनव-रस' से ओत-प्रोत है तो प्रेमाद्वैतकी अवस्थामें आनेमें देर नहीं है। इस 'नितनव-रस' का स्वाद लेनेके लिये ही तो भरत *'जनम जनम रति राम पद'* (रा०च०मा० २।२०४)-की याचना करते हैं। उनका यह रूप तो प्रेमकी पराकाष्ठा ही है—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥

(रा०च०मा० २।३२६।१)

तुलसी इस प्रेमाभक्तिको 'निर्भरा भक्ति' कहते हैं तथा भगवान् श्रीरामसे इसीकी कामना भी करते हैं—

भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥

(रा०च०मा० ५ श्लोक २)

महापुरुष ईसाका कथन है कि 'प्रेम ही ईश्वर है।' संत इमर्सनकी वाणी है—'परमात्माका सारतत्त्व प्रेम है।' महात्मा कबीरका कहना है—जो इस *'ढाई आखर'* को समझ लेता है वही पण्डित है—*'ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय।'* शास्त्रकारका कथन है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४१)

अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, जीवजन्तु, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र तथा जो कुछ भूतजात है, वह सब परमात्माका ही शरीर है। अतएव सबको अनन्यभावसे प्रणाम करे। तुलसीदासजी कहते हैं—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(रा०च०मा० १।८।२)

अथवा—*'जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि। बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥'* (रा०च०मा० १।७ ग)-में भी उपर्युक्त भावका ही विस्तार है। यह अनुभव करते हुए हमें विराट् ब्रह्मकी असीम चेतना अपने चारों ओर फैली देखनी चाहिये तथा सबके साथ सहृदयतापूर्ण प्रीतिका व्यवहार करना चाहिये और सबमें प्रेमरूप भगवान्का दर्शन करना चाहिये।

महात्मा कबीर कहते हैं—

साईं के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय।
का पर दाया कीजिये, का पर निर्दय होय॥

जब सभी उसी ईश्वरके अंश हैं तब कौन अपना, कौन पराया—सभी करुणा, ममता तथा स्नेहके पात्र हैं। इस रहस्यको जो जान लेता है, वही श्रेष्ठ है। करुणा, सहृदयता तथा सद्भावनाकी त्रिवेणीमें अवगाहन करके ही व्यक्ति प्रेमी ईश्वरकी निकटताका अधिकारी होता है।

वस्तुतः लोकाराधन ईश्वरकी सच्ची आराधना है। दुखियोंपर दया करना, सबसे मैत्रीका व्यवहार करना, मीठी वाणी बोलना तथा दूसरोंका दुःख दूर करना भगवान्की परम आराधना है।

भगवान्की घोषणा है कि जो सब कालमें सब प्राणियोंपर दया करता है और अहंकारसे रहित है, उसपर मैं सदा प्रसन्न रहता हूँ—

यो दयावान् द्विजश्रेष्ठ सर्वभूतेषु सर्वदा।
अहंकारविहीनश्च तस्य तुष्टोऽस्म्यहं सदा॥

(पद्मपुराण ७।१९।८७)

सबके प्रति दयाका भाव रखा जाय, प्रेमका भाव रखा जाय, सबके साथ उदारताका व्यवहार किया जाय तथा वाणीमें कटुताका लेश भी समावेश न होने पाये तो इससे भगवत्प्रीति प्राप्त होती है। सच तो यह है कि असली सुख-शान्ति दूसरेके सुखमें ही सुखी होनेमें है—

जो तू चाहे शान्ति-सुख, पर दुख कभी न चाह।

पर सुख से नित रह सुखी, निज सुख बेपरवाह॥

अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, सब प्राणियोंपर दया, क्षमा, शम (शान्ति), दम (मनका निग्रह), ध्यान तथा सत्य—ये भगवान्‌की पूजाके पुष्प हैं।* इसलिये हमारा यह प्रयत्न होना चाहिये कि हम अपनेमें इन गुणोंको विकसित करें तथा इनके माध्यमसे अपने प्रभुको प्रसन्न करनेका प्रयत्न करें। हमारा यह प्रयत्न ही सच्ची उपासना है।

उपासना वैदिकी, गौणी तथा अनुरागात्मिका—ये तीन प्रकारकी होती हैं। 'वैदिकी'में भक्त वेद-शास्त्रकी विधिके अनुसार अपनी कुल-परम्पराका स्मरण करते हुए इष्टदेव या कुलदेवका पूजन करता है। 'गौणी'में प्रधानतया भगवान्‌के गुण और प्रभावपर दृष्टि रहती है तथा 'अनुरागात्मिका' भक्ति भगवान्‌की माधुर्य भक्ति है, जो भगवान्‌में अत्यन्त अनुराग—प्रेम होनेपर सबसे पीछे आती है। बड़ी विचित्र रीति है इस 'अनुरागात्मिका' भक्तिकी। इस मार्गके पथिक तो 'बंद' आँखोंसे प्रियके दर्शन करते हैं—

उलटी ही चलते हैं दीवानगाने इश्क,
करते हैं बन्द आँखों को दीदार के लिये।

अपने सुख-दुःखमें तो सभी लोग रोते हैं, किंतु प्रेम-भरी आँखोंसे जो आँसू निकलते हैं, अन्तमें वही मोती बनते हैं—

यूँ अश्क तो बहते हैं आँखों से सुबहो-शाम,
उस आँख में जो आए वही मोती होता है।

सच तो यह है कि उपासनाकी तभीतक आवश्यकता है जबतक हरिका नाम लेते ही आनन्दाश्रु न बहने लगें। ये आनन्दाश्रु ही भगवान्‌के विश्व-उद्यानको अधिकाधिक सुरम्य, समुन्नत तथा सुसंस्कृत बनानेकी प्रेरणा प्रदान करते हैं।

प्रेम संसारका सर्वोपरि आकर्षण है। यही संसारका स्थायी सत्य है। प्रेमका ग्रहण ही परमात्माकी प्राप्ति है। इसीलिये महात्मा ईसाने कहा है—'हमें एक-दूसरेसे प्रेम करना चाहिये; क्योंकि प्रेम ही परमात्मा है। ईश्वरको वही जानता है, जो प्रेम करता है।' प्रेम परमात्माकी उपासनाका भावनात्मक रूप है।

प्रेमका स्वस्थ स्वरूप समर्पणमें है, त्यागमें है। प्रियसे प्रतिदानकी आशा उसे दूषित कर देती है। प्रेम करनेका उद्देश्य अपनी आत्माको प्रेम-रससे सराबोर करना है। उसका और कोई प्रतिफल नहीं। इस मार्गका अनुसरण जहाँ एक ओर '***तरवारि की धार पै धावनो है***', वहीं '***अति सूधो***' भी है। यहाँ रंचमात्र भी कपटाचरणके लिये गुंजाइश नहीं है। इस मार्गपर तो वे ही चल सकते हैं, जो सर्वथा निःशंक हैं तथा जिन्होंने अपनेपन-तकका परित्याग कर दिया है। इसमें तो सर्वस्वार्पणमें ही कृतार्थता है—

अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साचे चलै तजि आपनपौ, झझकै कपटी जे निसाँक नहीं॥

(घनानन्द)

तुलसी जिस प्रेमपर बल देते हैं, उसकी परिधि सीमित नहीं है। उसका परिपाक आध्यात्मिक प्रेममें होता है। इसीसे भगवान् प्रकट होते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(रा०च०मा० १।१८५।५)

प्रेमका यह प्रभाव था कि मीराको जब यमुनामें फेंका गया तो उसकी साँवली धारा उसे श्यामकी गोद लगी, पिटारीमें उसके पास साँप भेजा गया तो वह उसे शालग्रामके रूपमें दिखायी दिया तथा हलाहल प्याला पीनेको दिया गया तो उस हलाहलके श्याम रंगमें उसे साक्षात् श्यामसलोनेके दर्शन हो गये।

ऐसे ही प्रेम-साधककी संज्ञा प्रेमयोगी है, जो विराट् जगत्‌में फैली आत्माकी एकताको हृदयङ्गम कर सकनेमें सक्षम है। गीताकी वाणी है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(६।२९)

वह योगी सभी भूत प्राणियोंमें अपनी ही आत्मा समायी हुई देखता है, इसीलिये सभीको समभावसे देखता हुआ सभीके साथ प्रेम करता है। इसी समत्वभावको आचरणका विषय बनानेपर बल देनेके उद्देश्यसे ही शास्त्रने निर्देश दिया है—'**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न**

---

* अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणग्रहः।
तृतीयकं भूतदया चतुर्थं क्षान्तिरेव च। शमस्तु पञ्चमं पुष्पं दमः षष्ठं च सप्तमम्॥
ध्यानं सत्यं चाष्टमं च ह्येतैस्तुष्यति केशवः॥

(पद्मपुराण ५।८४।५६—५८)

समाचरेत्' अर्थात् जो कार्य हमें अच्छा नहीं लगता है, वह दूसरोंको भी अच्छा नहीं लगता। इसलिये कोई ऐसा कार्य न किया जाय जो दूसरोंको अन्यथा प्रतीत हो। वास्तवमें यही विचार-सम्पदा भारतीय संस्कृतिका बीज-मन्त्र है।

प्रेम-साधनाके द्वारा मनुष्य लौकिक जीवनका पूर्ण रसास्वादन करता हुआ पारमार्थिक लक्ष्यकी सिद्धि करता है। इसलिये मनुष्य-जीवनमें प्रेमसे बड़ी और कोई उपलब्धि नहीं। प्रेमीको प्रियके दोष भी गुणसदृश प्रतीत होते हैं। चातक तथा स्वाति नक्षत्रके मेघके उदाहरणद्वारा तुलसी प्रेम-पयोधिको अमाप सिद्ध करते हुए कहते हैं—

चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख॥
उपल बरसि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥
पबि पाहन दामिनि गरज झरि झकोर खरि खीझि।
रोष न प्रीतम दोष लखि तुलसी रागहि रीझि॥

(दोहावली २८१, २८३-२८४)

प्रेमपूर्वक व्यवहारका ही दूसरा नाम प्रार्थना है, भगवत्प्रेममें ही वह घटित होती है। इसलिये भक्तका अर्थ हुआ जगत्‌को जिसने व्यक्तित्व दिया, जगत्‌को जिसने भगवान् कहा। वह अपने लिये नहीं, वरन् सबके लिये जीता है। सबके हितमें अपना हित, सबके सुखमें अपना सुख—यदि इन उदार भावनाओंके द्वारा चरित्रका गठन न हुआ तो आत्मसमर्पण अधूरा है। समर्पणका अर्थ है—पूर्णरूपेण प्रभुको हृदयमें स्वीकार करना, उनकी प्रेरणाओंके प्रति सदैव जागरूक रहना और जीवनके प्रत्येक क्षणमें उसे परिणत करते रहना। जीवनमें हर साँस, हर धड़कनमें हम प्रभुकी इच्छाको ही प्रधान समझें। भगवान्‌के निरन्तर चिन्तनमें दो बातें सहायक हैं—१-भगवान्‌के नामका जप तथा २-सत्सङ्ग। जप तथा सत्सङ्गका ही यह प्रभाव है कि भगवच्चर्चा चलनेपर मन उसमें रम जाता है, कण्ठ गद्गद हो जाता है तथा नेत्रोंसे अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं। ऐसे भक्तोंके लिये ही भगवान् कहते हैं कि ***'तात निरंतर बस मैं ताकें॥'*** उद्धवको सम्बोधित करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—**'क्रीतोऽहं तेन उद्धव'** मैं तो आत्मसमर्पण करनेवाले भक्तोंके हाथ बिक जाता हूँ, उनका क्रीतदास हो जाता हूँ। तुलसीकी इस प्रतिज्ञाके मूलमें भी यही समर्पण-भाव है—

श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं, सीस ईस ही नैहौं॥
नातो-नेह नाथसों करि सब नातो-नेह बहैहौं।

(विनय-पत्रिका १०४)

मीराकी भी यही प्रतिज्ञा है—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥
जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई।

जिन आँखोंमें भगवान्‌की छवि बस जाती है, उनमें अन्य वस्तुओंके लिये स्थान ही कहाँ? संत रहीमका विश्वास है—

जिन नैनन प्रीतम बस्यौ, तहँ किमि और समाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आपु फिरि जाय॥

इसीलिये हमें चारों ओर बिखरी हुई अपनी सांसारिक वृत्तियोंको समेटकर प्रेममय भगवान्‌में लगा देना चाहिये।

प्रेम जब जड़ जगत्‌तकको प्रभावित करता है, तब फिर चेतनजगत् उसका अपवाद कैसे हो सकता है? बस आवश्यकता है जन-जनतक उसके आलोकको विकीर्ण करने की।

* * *

जिव जबतें हरितें बिलगान्यो। तबतें देह गेह निज जान्यो॥
मायाबस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रमतें दारुन दुख पायो॥
पायो जो दारुन दुसह दुख, सुख-लेस सपनेहुँ नहिं मिल्यो।
भव-सूल, सोक अनेक जेहि, तेहि पंथ तू हठि हठि चल्यो॥
बहु जोनि जनम, जरा, बिपति, मतिमंद! हरि जान्यो नहीं।
श्रीराम बिनु बिश्राम मूढ़! बिचारु, लखि पायो कहीं॥

(विनय-पत्रिका)

* * *

प्रेमयोग और भावतत्त्व

(डॉ० श्रीभवदेवजी झा, एम्० ए० (द्वय), पी-एच०डी०)

योगकी विशेषता विशुद्ध प्रेममें ही है। यह प्रेम वर्णनातीत होता है—'**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥**' जीव स्वभावतः किसी वस्तुकी अपेक्षा न करके जब आनन्द-सागरमें मग्न होना चाहता है और जब अपने प्रेमास्पदके लिये व्याकुल हो उठता है, तभी सच्चे प्रेमका उदय होता है। इस प्रेमका उदय हो जाना प्रेमयोग कहलाता है। प्रेममें इन्द्रिय-सुखकी इच्छाओंका नितान्त अभाव रहता है। विशुद्ध प्रेम इन्द्रिय और उनके धर्मोंसे परेकी वस्तु है। प्रेमको रागके नामसे भी जाना जाता है। उसके तीन भेद माने गये हैं—१-पूर्वराग, २-मिलन और ३-विरह। रागमार्गके उपासक वैष्णवोंने इस सम्बन्धमें आठ विकारोंकी चर्चा की है। वे इस प्रकार हैं—१-स्तम्भ, २-कम्प, ३-स्वेद, ४-वैवर्ण्य, ५-अश्रु, ६-स्वरभङ्ग, ७-पुलक और ८-प्रलय। प्रेमके लिये इन भावोंको 'सात्त्विक विकार' कहा गया है। चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु—ये विरहकी दस दशाएँ हैं।

अनुरागको शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति नित्य वर्धमान कहा गया है। अनुराग जब बढ़ते-बढ़ते अपनी अन्तिम सीमातक पहुँच जाता है तो उसे 'भाव' कहते हैं। भावकी अन्तिम परिणतिको ही 'महाभाव' कहते हैं। महाभावके दो भेद बताये गये हैं—(१) रूढ़ महाभाव तथा (२) अधिरूढ़ महाभाव। अधिरूढ़ महाभावके भी दो रूप हैं—१-मोहन (मोदन) और २-मादन। मादन महाभाव ही मोहनके रूपमें परिणत होकर दिव्योन्मादको प्रकट करता है। दिव्योन्माद ही प्रेमयोगकी अन्तिम अवस्थाको प्रकट करता है। यह दिव्योन्मादका महाभाव राधिकाजीके शरीरमें सम्यग्रूपसे उत्पन्न हुआ था।

भावोंकी चार दशाएँ मानी गयी हैं—(१) भावोदय, (२) भाव-सन्धि, (३) भावशाबल्य तथा (४) भावशान्ति।

विशुद्ध प्रेमयोगकी दशा बड़ी विलक्षण होती है। जब एक बार अपने प्रियतमसे लगन लग जाती है और जब वह हृदयमें बस जाता है तो नित्य-निरन्तर उसीके भाव प्रेमीके मनको बाँधे रहते हैं। फिर तो सभी प्रकारके भाव और सात्त्विक विकार एवं विरह-दशाएँ स्वतः उदित होने लगती हैं।

प्रेमीको अपने प्रेमास्पदके विरहमें रोने-धोनेके अतिरिक्त कुछ सुहाता ही नहीं। महाप्रभु चैतन्यदेव भी अपने श्यामसुन्दरके विरहमें रोते-रोते यही कहा करते थे—

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

(शिक्षाष्टक ६)

अर्थात् 'हे प्रभो! तुम्हारा नाम लेते-लेते कब मेरे दोनों नेत्रोंसे अश्रुधारा बह चलेगी? कब हम गद्गद कण्ठसे तुम्हारा प्यारा नाम रटते हुए पुलकित हो उठेंगे?'

वस्तुतः श्रीचैतन्यमहाप्रभुने तो नाम-संकीर्तनके साथ अपनी सारी साध पूरी कर ली और प्रेमतत्त्वके सभी भावों एवं विभिन्न स्थितियोंके साथ ही अखण्ड प्रेमानन्द भी प्राप्त कर लिया।

प्रेमीके विरहमें ही उसके प्रेमकी परिपक्वता होती है। विरह प्रेमकी जाग्रत्-गति और सुषुप्ति मिलन है। विरहके बिना प्रेमका असली स्वाद कहाँ? अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके विरहमें तड़पनेवाली गोपियोंकी दशापर जरा विचार करें, जो प्रेम-बावरी बनकर कहती हैं—

बिनु गुपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भई बिषम ज्वालकी पुंजैं॥
बृथा बहत जमुना खग बोलत, बृथा कमल फूलैं अलि गुंजैं।

परमज्ञानी उद्धवजीने अपने निर्गुण ज्ञानकी गठरी प्रेमयोगिनी—गोपिकाओंके समक्ष खोल तो दी, पर उनका विरह-विषमज्वर शान्त होनेके बदले और भड़क उठा। उनके विरहका संक्रामकरोग उद्धवपर भी सवार हो गया।

विरह तो परमात्माकी एक विलक्षण देन है, जो किसी विरले भाग्यवान् कृपापात्रको ही प्राप्त हो पाता है। एक कविने तभी तो कहा है—

जिसपर तुम हो रीझते, क्या देते यदुवीर।
रोना-धोना सिसकना, आहों की जागीर॥

सचमुच विरह तो एक अनोखी जागीर है, जो किसी

भाग्यशालीको ही नसीब होती है। सच्चा प्रेमी अपने प्रेमास्पदको पाकर उतना संतुष्ट नहीं होता, जितना उसके वियोग—विछोहमें आँसू बहाकर होता है।

विशुद्ध भगवत्प्रेमकी विरहाग्निमें तो सारे जप-तप ईंधन बनकर राख हो जाते हैं। विरही उस विरहानलमें जलकर ऐसा राख बन जाता है कि उसे मौत भी नहीं ढूँढ़ पाती। इसीलिये तो कबीरजीने कहा—

बिरह अगिन तनमें तपै, अंग सबै अकुलाय।
घट सूना जिय पीव महँ, मौत ढूँढ़ फिरि जाय॥

ऋषियोंने अनेकानेक योग-साधनोंका मार्ग प्रशस्त किया, किंतु नटनागरके प्रेममें अपनी सुध-बुध खो बैठनेवाली गोपियोंके प्रेमके समक्ष उन्हें भी लज्जित होना पड़ा। चरनदासजीने तो विरहकी महिमाके सामने सारे योग, जप, तप तथा ध्यानको भी नगण्य माना है—

पी पी कहते दिन गया, रैन गयी पिय ध्यान।
विरहिन के सहजै सधै भगति जोग तप ज्ञान॥

* * *

परानुरक्ति और परम प्रेम

(आचार्य श्रीप्रतापादित्यजी)

महर्षि शाण्डिल्य भक्तिकी परिभाषा करते हुए कहते हैं—**'सा परानुरक्तिरीश्वरे'**। रक्ति शब्दका अर्थ है 'राग' या 'आकर्षण'। अनुरक्तिका अर्थ है किसी सत्ताको समझकर उसके प्रति राग रखना या आकर्षण-बोध। ईश्वर-प्रेम परानुरक्तिका विषय है। साधकोंकी अनुरक्ति जब ईश्वरमें हो जाती है तो उसे भक्ति कहते हैं।

इस संसारमें सबका अस्तित्व आकर्षणके नियमपर ही टिका हुआ है, चाहे वह जड़ सत्ता हो अथवा चेतन। फूलकी ओर भ्रमर और ग्रह-उपग्रह अपने केन्द्रीय ग्रहकी ओर उसी नियमके अनुसार आकर्षित होकर अपने अस्तित्वको सुरक्षित रखते हैं। विज्ञान आकर्षण-शक्तिके आधारपर ही जगत्की मर्यादा स्थापित करता है। मनुष्य सर्वोच्च चेतन सत्ता है। अतः उस प्रेमरूप परब्रह्मकी ओर, उस परम केन्द्रकी ओर उसका आकर्षित होना सहज स्वाभाविक है। ज्ञात अथवा अज्ञातरूपमें मनुष्य उस अनन्त सत्ताको ही पाना चाहता है। उसे सीमित धन, सीमित शक्ति या सीमित यशसे संतोष नहीं होता। वह अधिक और अधिककी खोज तथा प्राप्तिकी प्रचेष्टामें आजीवन रत रहता है। उसकी यह प्रचेष्टा ही परम केन्द्रीय सत्ता ईश्वरीय आकर्षणका प्रतीक है।

प्रश्न तब यह उठता है कि यदि उसके अंदर अनन्तकी प्यास है और उसके प्रति वह सर्वदा चेष्टावान् भी है तो आजीवन प्रयासके बावजूद उसकी यह प्यास मिटती क्यों नहीं? वास्तवमें इसी प्रश्नके उत्तरमें ईश्वरको जाननेकी इच्छा और प्रयासका जन्म होता है।

मनुष्य जन्म-जन्मान्तरसे जड़ जगत्के जड़ उपादानोंसे ही सम्पर्कित होता रहा है। उसकी इन्द्रियाँ भी बहिर्मुखी गति रखती हैं। इसलिये उसे इन्द्रियगम्य ज्ञान और अनुभवपर ही भरोसा होता है। उसे इन्द्रियातीत बोध प्रायः अविश्वसनीय ही लगता है। ईश्वर-सम्बन्धी अनुभूतियोंके लिये इन्द्रियातीत बोध ही आधार होता है। कृत्कर्मोंके सुफल—सुख और कुफल—दुःखके घात-प्रतिघातके परिणामस्वरूप चित्तकी कठोरता समाप्त होनेके उपरान्त वह मसृणताकी अवस्था प्राप्त करता है। यह मसृणता किंवा सूक्ष्मता ही 'भाव' नामसे जानी जाती है। श्रीरूपगोस्वामीने इसी तथ्यकी ओर संकेत करते हुए कहा है—

शुद्धसत्त्वविशेषाद्वा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥

अर्थात् जिसके द्वारा चित्त शुद्ध और सत्त्वगुण प्रधान होता है, प्रेमरूपी सूर्यके प्रकाशसे अंदर और बाहर सर्वत्र ज्योति फैल उठती है, ईश्वरके प्रति रुचि किंवा 'अनुरक्ति' उग्ररूपमें जनमती है, चित्तकी वह मसृणता ही भाव है। जब यह भावावस्था प्राप्त होती है तो मनुष्यके अंदर जो आकर्षिणी शक्ति काम करती है, वह उसे ईश्वरोन्मुख बना देती है। वही आकर्षण अज्ञानकी अवस्थामें मनुष्यको विषयोन्मुख बनाता है और जब जीवनके अनुभवों तथा जन्म-जन्मान्तरके घात-प्रतिघातसे ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तो उसे वैराग्यका अनुभव होता है। तब उसके मनमें उस अनन्त सत्ताको जानने और पानेकी प्यास उत्पन्न होती है।

वह समझने लगता है कि विषयके प्रति आकर्षण—'वासना' और ईश्वरके प्रति आकर्षण—'प्रेम' कहा जाता है। अध्यात्मविद् जब उसे संकेत देता है अर्थात् जब वह साधना प्रारम्भ करता है, तब उस अज्ञात या अल्पज्ञात तत्त्व ईश्वरके प्रति प्रेमका जन्म होता है। यह प्रेम ईश्वर-प्राप्तिकी साधना या प्रयासमें रूपान्तरित हो जाता है।

यह ईश्वरोन्मुखी प्रयास भी प्रथमतः बहिर्मुखी होता है। मनुष्य ईश्वरको या उस अज्ञात सत्ताको अपनेसे बाहरकी सत्ताओंमें ढूँढ़ता है, किंतु उसकी यह बहिर्मुखी गति एक बार फिर उसमें संघर्षकी स्थिति पैदा कर देती है। सत्सङ्ग, स्वाध्याय और विवेक-बलसे एक दिन उसे लगता है कि मैं जिस सत्ताको बाहर खोज रहा था वह तो मुझमें ही छिपी हुई है। जिस क्षण ऐसा अवबोध होता है वह उसके जीवनके परम सौभाग्यका क्षण है। फिर कभी अंदर, कभी बाहरके इस प्रयोग और परीक्षणमें वह उस अवस्थामें पहुँच जाता है जिसे **'वासुदेवः सर्वमिति'** या **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** कहा गया है। अनुरक्तिके अंदर निहित भाव इन्हीं प्रयासोंके प्रथम चरणकी ओर संकेत करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप प्राप्त प्रेम-प्रवाहमें अपना सब कुछ खो जाता है और वह कह उठता है—*'लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल। लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गइ लाल॥'* यह **'वासुदेवः सर्वमिति'** की अवस्था भी दो प्रकारके अभ्यास किंवा साधनासे उपलब्ध होती है। पहला अभ्यास है सबमें प्रेमरूप ईश्वरका अनुभव और दूसरा है अपनेमें ईश्वरका अनुभव। अपनेमें ईश्वरके अनुभवके प्रयासका संकेत है, **'अहं ब्रह्मास्मि'** अथवा **'सोऽहम्'** और सबमें ईश्वरके अनुभवके प्रयासका संकेत है **'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्।'** सम्पूर्ण साधनामें इन दोनों प्रयासोंका उपयोग एक साथ ही किया जाता है।

इस प्रकार अपरासे परा और परासे परात्पराकी यह गति मनुष्यके अंदर स्वतः स्फूर्त आकर्षणका ही परिणाम है। अंदर और बाहर—रूप और रूपातीतकी संतुलित अवस्था ही उस 'साम्यावस्था' के नामसे जानी जाती है जिसे योगमें समाधि या तैलधारावत् ध्यानकी सतत अवस्था कहा जाता है। इस अवस्थाको प्राप्त साधक या सिद्ध जब देखता है कि एक कुत्ता उसकी थालीमेंसे सूखी रोटी लेकर भाग रहा है तो वह कुत्तेके पीछे-पीछे यह कहता हुआ दौड़ पड़ता है कि 'हे मेरे इष्ट! मैं तो रोटीमें घी लगाकर खाता-खिलाता हूँ। ठहरो मुझे उस रोटीमें घी तो लगा लेने दो।' स्वतः स्फूर्त यह भाव ही भक्तिकी चरमावस्था है और इसी अवस्थामें भक्ति 'साधन'से 'साध्य'में बदल जाती है, 'जीव-प्रेम' 'ईश्वर-प्रेम' में बदल जाता है, 'करुणा' 'कृपा'में बदल जाती है।

भावकी यह यात्रा, आकर्षणका यह प्रवाह और प्रेमका यह पथ प्रधानरूपसे दो प्रकारकी भक्तिके रूपमें जाना जाता है, प्रेमरूपासक्ति तथा गौणीभक्ति। गौणीभक्तिमें गुण-भेद अथवा आर्तादिभेदसे तामसिक भक्ति, राजसिक भक्ति और सात्त्विकी भक्ति अन्तर्हित है। इसके अतिरिक्त भक्तिका दूसरा रूप है—ज्ञानमिश्रा अथवा केवला या प्रेमाभक्ति। यह केवला भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ भक्ति-भावका, सर्वश्रेष्ठ भगवत्प्रेमका रूप है। इसे ही देवर्षि नारदजी 'परमप्रेमरूपा' कहते हैं। तामसिक, राजसिक और सात्त्विक—यह त्रिविधा भक्ति वैधी या गौणी भक्ति कही जाती है; क्योंकि इसमें सेव्य-सेवक भाव, कुछ देने-लेनेका भाव रह ही जाता है। शुद्ध रूपमें ईश्वर-प्राप्ति या ईश्वर-प्रेम लक्ष्य नहीं रहता। जब शुद्ध रूपमें मात्र ईश्वरके लिये व्याकुलता होने लगती है तभी होता है 'परम प्रेम' अर्थात् 'भगवत्प्रेम'।

श्रीमद्भागवत (३।२९।८—१०)-के अनुसार—

हिंसा, दम्भ या मात्सर्य आदिकी प्रेरणासे जो लोग भगवदुपासना करते हैं, उनकी वह भक्ति 'तामसी' है। जो जागतिक वस्तुओं या मान-प्रतिष्ठा-जैसी मानसिक तृप्तिके लिये भक्ति करते हैं, उनकी वह भक्ति 'राजसी' कही जायगी और जो भक्ति पापनाशके उद्देश्यसे सब कर्मफलोंको भगवान्‌में समर्पण करनेके रूपमें अथवा जिसमें पूजन करना कर्तव्य यह समझकर भेद-दृष्टिसे पूजा की जाती है वह भक्ति 'सात्त्विक' भक्ति कही जाती है।* इनमें प्रत्येक प्रकारकी भक्ति साधनामें तात्कालिक कामनाकी पूर्ति

---

* अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा। संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात् स तामसः॥
विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा। अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः॥
कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्। यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः॥

होनेके बावजूद यदि साधक अपने इष्टको न भूलकर उनकी उपासना करता रहता है तो उसे क्रमशः उच्चसे उच्चतर भाव प्राप्त होते रहते हैं और वह तामसिकसे राजसिक तथा राजसिकसे सात्त्विक भावकी यात्रामें बढ़ता रहता है। अन्ततः उसमें जब केवल प्रभुस्वरूप भगवान्‌को पानेकी प्यास रह जाती है, तब उस भावावस्थाको 'मुख्याभक्ति'—'निर्गुणाभक्ति' कहते हैं; क्योंकि उसमें प्रकृतिके तीनों गुणोंका प्रभाव नहीं रह जाता, रह जाता है मात्र शुद्ध भगवत्प्रेम।

निर्गुणाभक्तिमें प्रतिष्ठित साधकसे यदि पूछा जाय कि वह ईश्वरसे प्रेम क्यों करता है, उसका उद्देश्य क्या है? तो वह कहेगा—'मैं नहीं जानता कि मैं उन्हें क्यों और किसलिये प्रेम करता हूँ। बस, यही जानता हूँ कि उनको प्रेम किये बिना रहा नहीं जाता।' इस अवस्थाकी चरम परिणति होती है, उस भाव-दशामें, जिसमें फिर उस इष्टके अतिरिक्त अन्य किसीकी चर्चा या परिचर्चामें मन लगता ही नहीं।

सात्त्विक भक्ति इष्टके प्रति अनुराग बने रहनेके परिणामस्वरूप ज्ञानमिश्राभक्तिमें परिणत हो जाती है। गौणीभक्ति तब प्रधानाभक्तिमें परिणत हो जाती है। किंतु इस ज्ञानमिश्राभक्तिमें साधकको ज्ञानका अहंकार प्रच्छन्नरूपमें रह जाता है। यद्यपि यह गौणीभक्तिकी पूर्णावस्था है, फिर भी यह केवलाभक्ति नहीं है। केवलाभक्ति निर्गुण भक्तिकी परिपक्वावस्था है। वह ज्ञानात्मिका हो सकती है, किंतु ज्ञानमिश्रा नहीं।

सामान्यरूपसे भावके विकास-क्रममें इस निर्गुणाभक्ति या केवलाभक्तिको प्राप्त करनेमें अनेक जन्म लग जाते हैं, किंतु भगवत्कृपाका लेशमात्र प्राप्त होनेसे यह अवस्था सहज ही मिल जाती है। इसीलिये कहा गया है, **'महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा॥'** (नारदभक्ति० ३८) अर्थात् वह प्रेमाभक्ति महापुरुषोंकी कृपा अथवा भगवत्कृपाके लेशमात्रसे प्राप्त हो जाती है। जिसकी कृपासे हम मनुष्य-शरीर पाते हैं, उनके कृपाकणको प्राप्त करके क्षणभरमें हम भगवत्प्रेमकी सर्वोच्च भावभूमिमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं। यह भगवत्स्वरूपकी प्रकट सत्ता दुर्लभ अवश्य हो सकती है, किंतु अलभ्य नहीं। गोस्वामीजी स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं—***'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥'*** '***मैं जाना***' शब्द विशेषतः द्रष्टव्य है; क्योंकि यह एक प्रतीति है, विश्वास है।

वैष्णवतन्त्रमें केवलाभक्तिको रागात्मिकाभक्ति किंवा राधाभाव और उसकी पूर्वावस्था अर्थात् रागानुगाभक्तिको गोपीभाव कहते हैं। वैष्णवतन्त्र इस अवस्था-क्रमको तीन भागोंमें बाँटते हैं—व्रजभाव, गोपीभाव और राधाभाव। ये तीनों स्थितियाँ उसकी अन्तर्यात्राके तीन चरण हैं। उसमें योग और शैवतन्त्रकी कुण्डलिनीको ही 'राधा' कहते हैं। यह राधा-शक्ति प्रत्येक मनुष्यकी जीव-चेतनाका प्रोज्ज्वल स्वरूप है, जो मूलाधार-चक्रसे लेकर मणिपूरचक्रतक उठने-गिरनेपर व्रजभाव, मणिपूरसे आज्ञाचक्रतककी अवस्थामें गोपीभाव और आज्ञाचक्रसे ऊपर उठनेपर राधाभाव नामसे अभिहित है। आज्ञाचक्रसे ऊपर उठनेपर प्रत्येक मनुष्यके सहस्रारमें वंशी बजाते भगवान् श्रीकृष्णसे उस जीव-चेतनाकी चरमावस्था राधाका मिलन हो जाता है—शिव और शक्ति एक हो जाते हैं—राधा और कृष्ण एक हो जाते हैं। तब अनुभव होता है—'***राधा भई कृष्ण***' और '***कृष्ण भये राधा।***' सृष्टिकी यह सम्पूर्ण यात्रा ही वृन्दावनमें चल रही रासलीलाका आभ्यन्तरिक स्वरूप है।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि कोई भी पथ हो—ज्ञान हो, कर्म हो, योग हो, तन्त्र हो या भक्ति हो, 'परम प्रेम' के बिना ईश्वर-प्राप्ति मात्र आकाश-कुसुम है। इसका कारण यह है कि भाव-साधना किंवा प्रेममार्गसे ही अहंकार विसर्जित होता है और अहंकारके पूर्ण विसर्जन अथवा समर्पणके बिना भगवत्प्राप्तिकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। साधना और सद्गुरु इस अहंकारको तोड़नेमें सहायक होते हैं। एकमात्र भगवान् ही जीवोंके प्रेमास्पद हैं, क्योंकि उन्होंने ही दुर्लभ मानव-शरीर दिया है और वे ही समय-समयपर विभिन्न नाम-रूपोंके माध्यमसे मनुष्यका परित्राण करनेके लिये आविर्भूत होते हैं तथा वे ही हममें भक्ति-भाव एवं परम प्रेमकी सरिता प्रवाहित करते हैं। उनकी कृपा-वर्षा आज भी उसी प्रकार हो रही है, जिस प्रकार पूर्वकालमें होती थी और भविष्यमें भी होती रहेगी। हमें केवल अहंकारकी छतरी अपने सिरसे उतारनेकी साधना करनी है। जिस क्षण यह छतरी उतर जायगी, उसी क्षण कृपावारिसे

भीगकर हम कृतकृत्य हो जायँगे और हमारे रोम-रोमसे प्रेम-बिन्दुओंका अजस्र प्रवाह प्रवाहित हो उठेगा।

मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है शीघ्रातिशीघ्र जगद्बन्धु कृष्णसे मिलकर एकाकार हो जाना। वंशीकी पुकार हम सुन रहे हैं, बस उनकी ओर दौड़ पड़ना है, वे बाँहें फैलाये हैं। हमें उनकी गोदमें सिमट जाना है। मेघके गर्जनमें, समुद्रके तूफानमें, आकाशके चन्द्रमामें, विद्युत्की चमकमें, पक्षियोंके कलरवमें, नदियोंकी कल-कलमें, वृक्षोंकी हरियालीमें, फूलोंके सौन्दर्यमें तथा प्रात:की सुरभिपूर्ण हवामें—कहाँ नहीं है वंशीकी पुकार! हमारा थोड़ा-सा ध्यान इनकी ओर जाय तो हम अवश्य ही अपने प्रियतमके स्वरूपको देख और उनके आवाहनको सुन सकेंगे। इसीलिये उपनिषद् कहते हैं—उठो, जागो और अपना अभीष्ट प्राप्त करो। ईश्वरकी प्राप्ति—भगवत्प्रेमकी प्राप्ति करना तुम्हारा परम प्रयोजन है। इस प्रयोजनकी सिद्धिके लिये अवसर चूको मत, कलकी प्रतीक्षा मत करो। आज, अभी और इसी क्षणसे साधनाके अनुष्ठानमें लग जाओ। अगले क्षण क्या हो जायगा पता नहीं, इसीलिये प्राप्त क्षणका सदुपयोग कर लो।

* * *

प्रेमका प्रभाव

(आचार्य श्रीगंगारामजी शास्त्री)

प्रेममें अपरिमित शक्तियाँ निहित रहती हैं। इसका प्रभाव भी विलक्षण होता है। हम जिसे चाहते हैं, जिससे प्रेम करते हैं, उसमें हमें केवल गुण-ही-गुण दिखायी देते हैं। दूसरी ओर जिसे हम नहीं चाहते, जिसके प्रति मनमें किसी प्रकारकी घृणा अथवा द्वेषका भाव रहता है, उसमें केवल दोष ही दिखायी देते हैं। इतना ही नहीं, हमारी मानसिकता उसके गुणोंको भी दोष मान बैठती है।

राग और द्वेष दोनों ही संक्रमणशील हैं। रागकी प्रतिक्रिया रागात्मक और द्वेषकी द्वेषात्मक होती है। कुत्ता एक सामान्य जीव है, किंतु वह हमारे व्यवहारके अनुसार पूँछ हिला सकता है और भूँक भी सकता है। एक अपरिचित शिशु प्यारसे लिपट सकता है और हमारी मुखमुद्रा देखकर रोते हुए भाग भी सकता है। प्रेम मनकी रागात्मिका वृत्ति है। इसके अनेक रूप हैं। भगवान्के लिये कहा गया है—**'अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे॥'** (विष्णुसहस्रनाम)। उसी प्रकार प्रेमके अनेक रूप होनेके साथ ही यह प्रभविष्णु—प्रभावी भी है। ऊपर कहा गया है कि मनकी रागात्मिका वृत्तिका ही नाम प्रेम है। तदनुसार प्रेमका जो आधार होता है, उसके अनुसार ही इसके नाम बदलते जाते हैं। अपनेसे छोटेके प्रति प्रेमको स्नेह नाम दिया गया है। बड़ोंके प्रति यही प्रेम श्रद्धा कहलाता है। पति-पत्नीके प्रेमको प्रणय कहा जाता है। मित्रोंके परस्पर प्रेमको सौहार्द तो बन्धु-बान्धवोंके प्रति उत्कण्ठाको हार्द नाम दिया गया है। 'श्रीदुर्गासप्तशती'में समाधि वैश्य और राजा सुरथ अपने विरक्त बान्धवोंके प्रति भी हार्दी ही नहीं अतिहार्दी हैं। यही रागात्मिका वृत्ति रागसे अनुराग और अनुरक्ति भी कहलाती है। ईश्वरके प्रति यही चरम और परम अनुरक्ति भक्ति कही जाती है। कहा भी गया है—**'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** (शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र २)।

रागका विलोम द्वेष है। मनमें जिसके प्रति द्वेषका भाव होता है, उससे हम वैरभाव पाल लेते हैं। उसके अनिष्टके उपाय सोचने लगते हैं। यदि किसीने हमें हानि पहुँचायी तो उससे बदला लेने और कहीं अधिक हानि पहुँचानेका विचार मनमें आने लगता है। इस क्रिया-प्रतिक्रियाके क्रमसे शत्रुका ही नहीं हमारा स्वयंका भी अहित होता है। कर्मवादका सिद्धान्त यहाँ हमारी सहायता कर सकता है, प्रतिहिंसासे जलते हुए मनको शान्ति दे सकता है। हमें सोचना चाहिये कि पूर्वजन्ममें हमने जिसका अहित किया हो, वह इस जन्ममें कर्मफलके अनुसार यदि हमारा अपकार करता है तो हिसाब बराबर हो गया। हमें उस अपकार करनेवालेका हृदयसे कृतज्ञ होना चाहिये कि उसने इस प्रकार अपने ऋणसे मुक्त होनेका अवसर दिया। कहने-सुननेमें यह बात कुछ अटपटी लग सकती है, अव्यावहारिक लग सकती है। किंतु प्रयोग

करके अपनानेपर बड़ी ही सुखद और शान्तिदायक होनेके साथ ही ऊँचा उठानेवाली है।

सृष्टिकी सुरक्षा और सुचारुरूपसे संचालनके लिये प्रेमका बन्धन मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षियोंमें भी समानरूपसे पाया जाता है। चिड़िया स्वयं भूखी रहकर भी अपने शावकके लिये दाना लाती है। कौआ भोजनकी टोह पाते ही काँव-काँव करते हुए अपने सजातियोंको बुलाने लगता है। गाय और सूकर किसी एकको विपत्तिमें पड़ा देखकर एकजुट होकर उसे उस विपत्तिसे छुटकारा दिलानेके लिये प्रयत्न करते हैं। माँ अपनी संतानकी सुरक्षाके लिये प्राणोंकी बाजी लगा देती है। यह सब प्रेमके कारण ही तो है। इसे आप ममता भी कह सकते हैं। वैसे यह प्रेमका संकुचित क्षेत्र है। हमारा अपनेपनका दायरा जितना विस्तृत होता जाता है, प्रेमका व्यापकत्व भी उतना ही बढ़ते हुए **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** तक हो जाता है। कहना न होगा कि यही विश्वप्रेम गीता(६।३२)-में भगवत्प्रेममें परिणत होते हुए इस प्रकार बताया गया है—

'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।'

जो अपनी आत्माके समान ही सब प्राणियोंमें सर्वव्यापक आत्माका ही अंश देखता और—

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते'—सभी भूतोंमें स्वयंको तथा स्वयंमें सभी भूतोंको देखता है।

साथ ही यह मानता है कि सभी प्राणियोंमें परमात्माका वही अंश विद्यमान है जो मुझमें है। इस प्रकार सर्वभूतात्मभूतात्मा होकर **'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।'** जो सभी प्राणियोंमें निवास करनेवाले भगवान्‌का ही अनन्यभावसे चिन्तन—भजन करता है; वह स्वयं ब्रह्ममय हो जाता है। यही भगवत्प्रेम और विश्वप्रेमकी पराकाष्ठा है। **'श्रीदुर्गासप्तशती'** में मेधा ऋषि संकुचित परिवार-प्रेमके दायरेसे उच्चतर स्तरपर ले जाते हुए शक्तिके—जगन्माताके आँचलतक सुरथको पहुँचाकर उसे मन्वन्तराधिप और समाधि वैश्यको मोक्षका अधिकारी बना देते हैं। डिण्डिमभाष्यकार रामकविके अनुसार मधु, कैटभ, महिषासुर, रक्तबीज, शुम्भ और निशुम्भ जो कि क्रमशः काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन अरिषड्वर्गके प्रतीक हैं, उनपर विजय प्राप्त करके ही तो मुक्तिका—भगवत्कृपाका पात्र बनना सम्भव होता है।

पातञ्जलयोगके अनुसार साधनाका प्रथम सोपान पाँच यमोंसे प्रारम्भ होता है जिसमें कहा गया है—**'अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥'** (योगसूत्र २।३०)। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं। इनमें सर्वप्रथम अहिंसाका नाम आया है। हिंसाका अर्थ किसीको मारना ही नहीं होता। उसके तीन प्रकार हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। किसीके शरीरको चोट पहुँचाना कायिक हिंसा है। कठोर वचन कहकर किसीको मर्माहत करना वाचिक हिंसा है। जैसे कि द्रौपदीके द्वारा 'अन्धोंके अन्धे ही होते हैं'—दुर्योधनसे इस प्रकार कहना महाभारत युद्धका एक कारण बन गया। मानसिक हिंसा सबसे भयंकर और हानिकारक है। मनसे किसीके प्रति बुरा सोचनेसे अपना मन दूषित होनेके साथ ही वातावरणमें मनकी दूषित तरङ्गोंका प्रभाव द्वेषका प्रचार-प्रसार करता है। जैन और बौद्ध धर्ममें अहिंसाको प्रमुखता दी गयी है। उसका लक्षण जीव-हिंसासे बचना मात्र नहीं है। हृदयमें अपने और पराये सभीके प्रति प्रेम, दया, ममता तथा दुःखियोंके प्रति करुणाका भाव रखना भी अहिंसाके अन्तर्गत आता है। जहाँतक योगसाधनाका प्रश्न है तो उसके लिये यह भी बता दिया गया है कि अहिंसाकी साधनाकी कसौटी क्या है। कहा गया है—

'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः॥'

(योगसूत्र २।३५)

अर्थात् साधक जब अहिंसाका सच्चा आचरण करने लगता है तो उसके निकट परस्पर वैरभाव रखनेवाले प्राणी भी निर्भय होकर वैरका त्याग करके रहने लगते हैं। प्राचीन कालमें ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंमें हिरण और हिंस्र-जन्तु एक साथ रहते आये हैं। कविवर बिहारीने क्या ही अच्छा कहा है—

कहलाने एकत बसत अहि मयूर, मृग बाघ।
जगतु तपोबन सौ कियौ दीरघ-दाघ निदाघ॥

विश्व त्रिगुणात्मक है। यहाँ सदासे तीनों प्रकारके—सात्त्विक प्रकृति-प्रधान, राजसी और तामसी प्रकृतिवाले रहते आये हैं और रहेंगे। प्रेमके प्रभावसे ही उनमें परस्पर सहिष्णुता और सहनशीलता एवं संवेदनाका संचार सम्भव है।

* * *

अनन्य प्रेम और शाश्वत आनन्द

(डॉ० श्रीवागीशजी शास्त्री, वाग्योगाचार्य)

सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका अंश होनेपर भी जीवात्मा माया-यवनिकाके कारण अज्ञानवश स्वयंको माया-परिच्छिन्न मानता हुआ अपने स्वरूपका विस्मरण कर बैठता है। यद्यपि जीवात्मा परब्रह्म परमात्माकी भाँति पिण्डविशिष्ट स्वयंकी चिरकालिक सत्ताको अनुभवगम्य नहीं बना पाता, तथापि '**आत्मा वै जायते पुत्रः**' इस श्रुतिवचन तथा '**पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥**' इस योगसूत्र (१।२६)-के प्रमाणानुसार परम्परया उसे अपने चिरकालिक सत्स्वरूपका भान तो हो ही जाता है। जीवात्माकी चेतनता उसे आजीवन आप्यायित करती रहती है। परमात्मा परब्रह्मके चिद्घनत्वका साक्षात्कार जीवात्माको होता रहता है। वह '**अस्ति**' एवं '**भाति**' के त्रिकालाबाधिततत्वको परम्परया अनुभूत करता रहता है। जीवात्मा जिसे अनुभूतिपथका निरन्तर, निरवच्छिन्न पथिक नहीं बना पाता है, वह है अनन्य प्रेम और शाश्वत आनन्द। कभी-कभी झलकभर मिल जाती है इनकी उसे। '**सजूः**' प्रिय या अनुरक्त नहीं बन पाता है यह चेतनाकी भाँति।

प्रकृतिमें अनवरतरूपसे जायमान षड्भाव विकारोंके चक्रपरिवर्तनकी भाँति एक व्याक्रिया रहती है। जीवात्माका जिसके प्रति सांसारिक राग, आसक्ति या प्रेम प्रकाशित होता है, रागी या प्रेमीमें उसके अपायकी आशंकासे ही द्वेष आविर्भूत हो जाता है। राग और द्वेष एक ही सिक्केके दो पटल हैं। इन्हींका नाम द्वन्द्व है। जीवात्मा राग या प्रेमसे सुख तथा द्वेषसे दुःखकी अनुभूति करता है। ये दोनों ही स्थिर नहीं हैं। दुःख सुखमें और सुख दुःखमें परिवर्तित होता रहता है। न चिरस्थायी दुःख है और न चिरस्थायी सुख। जीवात्मा जिस पक्षसे सुखप्राप्तिकी मान्यता निर्धारित करता है, उसके प्रति मित्रभाव या प्रेमभाव और जिस पक्षसे दुःखप्राप्तिकी मान्यता निर्धारित करता है, उसके प्रति इसका शत्रुभाव बन जाता है। इसी प्रकार जीवात्माको प्रकृति जय-पराजय, हानि-लाभ इत्यादि द्वन्द्वोंकी चपेटमें धर दबाती है। फलतः बेचारा जीवात्मा सुखकी अजस्र अनुभूतिसे वञ्चित रह जाता है। यद्यपि राजा-महाराजाओंके निकट सुख प्रदान करनेवाले साधनोंका प्राचुर्य रहता है, तथापि त्रिकालाबाधित सुख तो उनके लिये भी खपुष्पायित बनकर रह जाता है। इसी त्रिकालाबाधित सुखका नाम है अनन्य प्रेम और शाश्वत आनन्द। इसे प्राप्तकर जीवात्मा धन्य-धन्य हो जाय, किंतु वह तो भ्रान्तिवश द्वन्द्वात्मक सुखके अन्वेषणद्वारा आत्मतृप्ति करना चाहता है। फलतः कालान्तरमें सुखका प्रतिद्वन्द्वी भाव दुःख उसके सम्मुख उपस्थित हो जाता है। महाकवि कालिदासने दुःख एवं सुखके निरन्तर परिवर्तनकी उपमा चक्रके अरोंकी गतिके साथ दी है, जो समानभावसे ऊपर या नीचे स्थिर नहीं रह पाते—'**चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च।**' परब्रह्म परमात्मा परम प्रेममय और आनन्दमय हैं। आनन्दका कोई प्रतिद्वन्द्वी भाव नहीं बनता। यह त्रिकालाबाधित है। यह प्राकृतिक सम्पदाओंसे अप्राप्य है। यह इन्द्रियानुभव-गम्य नहीं है। कोई क्षण ऐसा आता है जब जीवात्मा इसकी अनुभूति सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मासे जुड़कर कर लेता है। दोनोंके मध्य माध्यम बनती है उसकी आह्लादिनी शक्ति परा चेतना कुण्डलिनी।

इसी अनन्य प्रेम और शाश्वत आनन्दको पानेके लिये जीवात्मामें बाल्यावस्थासे लेकर मरणपर्यन्त व्याकुलता बनी रहती है। इसकी प्राप्तिके लिये वह सुन्दर क्रीडनक, रूपवती भार्या एवं अतुल सम्पत्तिमें अनन्य प्रेम और आनन्दानुसन्धान करता फिरता है। अनेक जन्म-संसिद्ध साधकोंको ही अनन्य प्रेम और शाश्वत आनन्दप्राप्तिका सत्य मार्ग दृष्टिपथमें आता है। प्रत्येक जीवात्मा अपनेमें किसी अज्ञात न्यूनता एवं असंतोषका निरन्तर अनुभव करता रहता है। यही कारण है कि वह एक श्रेष्ठ-सी लगनेवाली वस्तुको छोड़ श्रेष्ठतर दूसरी वस्तुका अवलम्बन लेनेहेतु युग-युगोंसे प्रयत्नशील रहता आया है। शिशुपीडाकी भाँति उसे विदित नहीं हो पाता कि उसकी तड़प कहाँ और किसके लिये है। वह कौन-सा तत्त्व है जिसे वह पाना चाहता है, जिसे पाकर उसकी सभी अपूर्णताएँ समाप्त होंगी और वह पूर्णताका संस्पर्श कर आप्यायित हो सकेगा।

जीवात्मा परमात्माका ही अंश है। आनन्दाम्बुधि परमात्माका विछोह ही उसकी तड़पन या अनन्य प्रेमप्राप्तिका हेतु है। योगीजन आनन्दमय परमात्माके साक्षात्कारके लिये ध्यानावस्थित होते हैं। ऋषि-मुनिजन तपस्याद्वारा उसका दर्शन करना चाहते हैं, किंतु वह इन्द्रियातीत, निर्गुण, निराकार परमात्मा उनको दृष्टिगोचर कैसे हो सकता है? द्वन्द्वावस्थामें उस आनन्द-विग्रहका साक्षात्कार कैसे सम्भव है?

त्रेतायुगमें ऋषियोंने अनन्त सौन्दर्यधाम भगवान् श्रीरामका दर्शन किया था। ऐहिक जीवनमें प्राकृतिक इन्द्रियोंद्वारा ही सौन्दर्य-विग्रह भगवान् श्रीरामका सांनिध्य पानेकी ललक जाग उठी उनके अन्तःकरणोंमें। द्वापरयुगमें वे अवतीर्ण हुए—गोपिकाओंके रूपमें, त्रिकालाबाधित आनन्दपारावारमें निमज्जनोत्कण्ठित। मानो सोलह हजार श्रुतियाँ ही साक्षात् विग्रह धारण कर आनन्दकन्दकी सेवामें उपस्थित हो गयी हों वेणु-माधुरी रसपानके निमित्त। नाभिजन्मा परमेष्ठीका मुखभूषण भले ही वे बन गयी हों, पर अनाहत नाद-श्रवणसे नितान्त वञ्चित रह गयी थीं। भले ही वे उस आनन्दधामका स्वाभाविक निःश्वसित रह आयी हों, किंतु हिरण्यगर्भके समीप पहुँचकर चिर विरहाग्निके संतापसे संतप्त थीं। अस्तु, श्रुतिरूपी गोपियोंने हृदयेशके चरणारविन्दमें स्वकीय प्राण समर्पित कर दिये और अनन्तशक्ति-माधुर्यमें समाविष्ट हो गयीं।

परमात्माके अनुग्रहसे उनके जागतिक क्रियाकलाप निपुणतापूर्वक सम्पन्न होते थे, तन्मनस्क जो हो गयी थीं वे। जगन्मोहनके मनमें उन्होंने अपना मन मिला दिया था। प्राणवल्लभके चरितालापके अतिरिक्त उनकी वाणीका कोई व्यापार ही शेष नहीं रह गया था। उनकी चेष्टाओंकी अनुकृति किया करती थीं वे। अधिक क्या कहें, अपने प्राणाधिक प्रियतमकी आत्मामें अपनी आत्मा ही मिला दी थी उन्होंने। वे 'तदात्मिका' बन गयी थीं। बस हो गया पूर्ण भावसे समर्पण परमात्मामें जीवात्माका। तब क्यों नहीं वरण कर लेते उस शरणापन्नका वे परम करुणावरुणालय श्यामसुन्दर मदनमोहन। कठोपनिषद् (१। २। २३)-में बताया गया है कि परमात्माकी कृपाप्राप्तिके लिये प्रवचन, मेधा और वेदविद्यामें निष्णात होना आवश्यक कल्प नहीं है। परमात्माका अनन्य प्रेम तो उसे ही मिलता है जिसे वे स्वयं वरण कर लेते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम्॥

यह परमात्मा षड्रसोंसे विलक्षण सर्वोत्कृष्ट रस है। गोपियोंने इसे सर्वसंन्यासपूर्वक अनन्यप्रेमके द्वारा पाया था। भगवान् श्रीकृष्णने धर्मका पक्ष लेकर परीक्षाके लिये अपने निकट गोपियोंके आगमनका निषेध किया था; किंतु गोपियाँ तो अनन्यप्रेमके शाश्वत आनन्दकी उस द्वन्द्वातीत भावभूमिपर पहुँच चुकी थीं, जो प्राकृतिक धर्म एवं मर्यादाके नियमोंकी पकड़से सर्वथा बाह्य थी। आत्माराम नन्दनन्दनने गोपियोंका प्रस्ताव अङ्गीकृत कर सामूहिक रासकी व्यवस्था की, किंतु परमात्म-साहचर्यके कारण वे सांसारिक वनिताओंकी भाँति आत्मीय श्रेष्ठताको कूतने (मापने) लगीं। परमात्माको छोड़ **'अहम्'** और **'इदम्'** पर दृष्टिक्षेप करना अनन्यप्रेम या परानुरक्तिमें बाधक बनता है।

गोपियाँ जब परमात्माके साथ विहार करते-करते अपने **'अहम्'** का स्मरण करने लगीं, तब रास (रससमूह)-में विघ्न उपस्थित हो गया। **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** के पूर्व योगेश्वरने **'मच्चित्तः सततं भव'** तथा **'अथ चेत् त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि'** का प्रतिपादन किया है कि मच्चित्तका पूर्ण अभ्यास होनेपर अहंकारभावसे मुक्ति मिलती है। जीवोद्धारक भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंके गर्व एवं मानका परिमार्जन करनेके लिये उनके मध्यसे अन्तर्हित हो गये।

ऐसी स्थितिमें भगवद्विरहव्याकुला गोपियाँ श्रीकृष्णकी लीलाओंका अभिनय करने लगीं—**'तद्विचेष्टाः'**। तरु-गुल्मलताओंसे अपने हृदयेश्वरका पता पूछती फिरीं। किंतु श्रीराधारानीके कहनेपर उन्होंने हृदयेश्वरके अन्वेषणका प्रयत्न छोड़ दिया कि जैसे-जैसे हम उनकी ओर जायँगी, वे भागेंगे और हमारे प्रियतमको कष्ट होगा। प्रियतमको सुख प्रदान करनेके लिये आत्मीय सुखका विसर्जन अनन्य प्रीतिकी कसौटी है। वे यमुनातटपर एकत्र हो गीत गाने लगीं—**'जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः।'** उनका यह गीत 'श्रीमद्भागवतमहापुराण' का प्रसिद्ध गोपीगीत है, जो कनकमञ्जरी छन्दमें निबद्ध है। गोपियोंके विलाप करनेपर दयार्द्र भगवान् प्रकट हो गये—**'तीव्रसंवेगानामासन्नः'** (अधिमात्र उपायवाले योगियोंके लिये समाधि-लाभ निकटतम होता है)। वे तो गोपियोंके मध्य ही अवस्थित थे, अहंकी यवनिकासे आच्छन्नभर हो गये थे। अहं विगलित होते ही प्रकाशित हो गये। गोपियोंकी ओढ़नी (यवनिका)-निकरसे निष्पन्न आसनपर विराजमान कला-निकेतन नन्दनन्दनने उन्हें परमानन्दमय रससे संतृप्त कर दिया। 'श्रीमद्भागवतमहापुराण' के अन्तर्गत पाँच अध्यायोंमें वर्णित जीव-विश्वात्मा-मिलनके अनन्यप्रेममय शाश्वत आनन्दका यह अपूर्व वर्णन 'रासपञ्चाध्यायी' के रूपमें प्रसिद्ध है।

⁂

भगवान्‌की प्रेमपरवशता

(धर्मरत्न डॉ० श्रीपुरुषोत्तमदासजी कानुगो)

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(गीता ७।१७)

नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे भी अत्यन्त प्रिय है।

आचार्य श्रीरामानुजजी गीताके ७वें अध्यायपर प्रवचन कर रहे थे तो एक नवयुवक आया और उनसे दीक्षा लेकर ईश्वरप्राप्तिका मार्ग पूछने लगा। आचार्यजीने उससे सीधा-सा प्रश्न किया कि तुमने किसीसे प्रेम किया है? युवकने उत्तर दिया कि मेरा किसीसे प्रेम नहीं है, संसारसे कोई राग नहीं है, मैं किससे प्रेम करूँ? मैं तो भगवान्‌को पाना चाहता हूँ। तब मधुर वाणीसे आचार्यजीने समझाया कि भगवत्प्राप्तिकी एक ही कसौटी है, वह है प्रेम। जिसके हृदयमें प्रेमकी प्यास नहीं, कसक नहीं वह परमात्माको नहीं पा सकता।

'मैं तो प्रेम दीवानी' कहकर मीरा नाचती थीं। मीराकी सखियाँ कहतीं—अरी साँवरी! अरी बाँवरी! तू तो बेसुध होकर गा रही है। पर वह तेरा साँवरा कितना निष्ठुर है, जो कभी तेरे पास आता ही नहीं। सखियोंसे मीरा कहती, अरी सखियो! मेरे गोपाल तो मेरे साथ ही नाचते हैं। *'सखी री मेरे संग संग नाचे गोपाल'*। भला, सखियाँ मीराके अन्तःस्थ-प्रेमकी दिव्यताको कैसे समझ सकतीं! लौकिक दृष्टिसे अलौकिक परमात्माके दर्शन हो नहीं सकते। उस सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी और सर्वशक्तिमान् प्रेममय प्रभुको तो प्रेमकी भाषा ही समझमें आती है तथा वह प्रेमसे ही रीझता है। यह दिव्य प्रेम न तो किसी वैभवसे खरीदा जा सकता है और न प्रेमके बिना इसका मूल्य ही समझमें आ सकता है। यह भगवत्प्रेम मिट्टी, कण-कण और परमाणुमें छिपा हुआ स्पन्दन है, अमृतत्वकी प्रेरणा है, जड़में चेतनताकी अनुभूति करानेवाला परम तत्त्व है।

प्रेम अलौकिक एवं अनुभवगम्य है। भक्तिमय प्रेम तो शर्करावगुण्ठित होता है। इसकी मिठास अनुदिन बढ़ती जाती है। प्रेम मानव-जीवनकी सर्वोच्च प्रेरणा है, आत्मानन्दका आधार है। मानवको महामानव और पुरुषको पुरुषोत्तम बनानेकी शक्ति भगवत्प्रेममें ही है। प्रेममें आत्मसाक्षात्कारकी, हृदयमें निष्काम निष्ठा जाग्रत् करनेकी और आत्मासे परमात्माकी अनुभूति करानेकी एक महान् शक्ति होती है। सत्यरूपसे प्रकट हुआ प्रेम ईश्वरीय प्रकाश है। ऐसे पावन प्रेमका रसास्वादन जिसने नहीं किया, उसका जीवन व्यर्थ है। इसीलिये इस दिव्य प्रेमकी सर्वत्र भावना करनेका संदेश हमें गीता देती है और बताती है कि सभी प्राणियोंमें एक ही प्रेमरूप आत्मा समायी हुई है, अतः सभीको समभावसे देखते हुए सभीके साथ प्रेम करना चाहिये—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(गीता ६।२९)

जिसके हृदयमें प्रेमका प्रवाह हिलोरें लेता है, उसके कण्ठसे प्रेमके गीत फूट पड़ते हैं और उसका सहज गान प्रभुके लिये ही होता है तथा उसका प्रभाव भी विलक्षण ही होता है। एक बार सम्राट् अकबरने तानसेनसे पूछा कि तुमसे अधिक श्रेष्ठ संगीतका आनन्द स्वामी श्रीहरिदासजीके गायनमें क्यों मिलता है? तानसेनने अकबरसे कहा—जहाँपनाह! मैं आपको खुश करनेके लिये गाता हूँ और मेरे गुरुदेव उन परमात्माको रिझानेके लिये गाते हैं।

परमात्मा सुन्दर है और प्रेमरूप है—ऐसा जिसको विश्वास हो गया वह भक्ति करता है तथा संसार सुन्दर है—ऐसा जो समझता है, वह भक्तिसे विमुख रहता है; विषय-भोगोंकी अतृप्त पिपासामें डूबता-उतराता रहता है। उसे भगवत्प्रेमका आभासतक भी नहीं हो पाता। वह राग-द्वेष, छल-छद्मके आवरणोंसे आबद्ध हो जाता है। निष्कपट हृदय ही परमात्माको पा सकता है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥
(रा०च०मा० ५।४४।५)

प्रभुको केवल भक्तका प्रेम ही प्यारा है, उसका शरणागत भाव ही प्यारा है—

सबसों ऊँची प्रेम सगाई।
दुरजोधनके मेवा त्यागे, साग बिदुर घर खाई॥

× × ×

प्रेमके बस पारथ रथ हाँक्यो, भूलि गये ठकुराई॥

परमात्मा प्रेम चाहते हैं। प्रेममें पागल बने बिना वे मिल नहीं सकते। जिन भक्तोंका जीवन प्रभुमय हो, रोम-रोममें भगवान्‌का प्रेम बहता हो, वे भक्त प्रेममय प्रभुकी माधुर्यमयी, वात्सल्यमयी, करुणामयी और कृपामयी गोदमें बैठनेके अधिकारी बनते हैं।

चैतन्य महाप्रभु प्रेमसे कृष्ण-नाम लेते हुए तदाकार हो गये। रामके नामसे कई जीव भवसागर तर गये।

संकेतमें, उपहासमें, अवमाननामें या व्यर्थ प्रलापमें अर्थात् किसी भी प्रकार उस प्रभु श्रीरामका या बाँकेबिहारी श्यामका नाम मुखसे निकल जाय तो सभी प्रकारके पापोंका नाश हो जाता है। भगवान् तन नहीं मन देखते हैं। वे सचमुच दीनदयाल हैं—

तुलसी अपने राम को रीझ भजो या खीझ।
भूमि पड़े उपजेंगे ही उलटे सीधे बीज॥

भगवान्‌की प्रेमपरवशताको बताते हुए प्रेमी बिल्वमङ्गलजी कहते हैं—

हाथ छुड़ाये जात हौ, निबल जानि कै मोहि।
हिरदै तें जब जाहुगे, सबल बदौंगो तोहि॥

और कबीर भी प्रेमी भगवान्‌को अपने पीछे-पीछे दौड़ाने लगते हैं—

कबीर मन निर्मल भया जैसा गंगा नीर।
पाछै लागो हरि फिरहि कहत कबीर कबीर॥

अतः हम भी उन करुणानिधान प्रेमास्पद भगवान् श्रीरामसे उनका प्रेम प्राप्त करनेकी प्रार्थना करें—

चाहे जितनी भी पीड़ा हो मन में भी हो व्यथा अपार।
संकटपर संकट भी आवे, टूटे नहीं धैर्यका तार॥
यही प्रार्थना है, प्रभो! तुमपर ही है मेरा भार अपार।
छूटे नाते रिश्ते सारे छूटे कुल, छूटे परिवार॥
सब छूटे तो छूटे प्रभुवर! तुम ना छोड़ना प्राणाधार।
नहीं चाहिए धन या वैभव, नहीं चाहिए पद अधिकार॥
यही चाह है पाऊँ प्रभुवर! सदा तुम्हारा अनुपम प्यार॥

प्रेमतत्त्व और प्रिय

(चक्रवर्ती श्रीरामाधीनजी चतुर्वेदी)

मनके राग या अनुरागरूप भावका नाम प्रेम है, जिसका व्यापक रूप प्रेमतत्त्व है। प्राणिमात्रका स्वभाव है कि वह किसी-न-किसीसे प्रेम करता है। हिंसक सिंह आदि जन्तु भी अपने बच्चेसे प्रेम करते ही हैं। लौकिक रागकी भावना अपनी अनुकूलतापर निर्भर रहती है। अतः तन-धन-जनमें राग होना स्वाभाविक है, किंतु परमात्मामें अनुरागात्मक प्रेम होता है, जिससे नित्य आनन्दकी अनुभूति होती रहती है। यद्यपि परिवर्तनशील लौकिक विषयोंका प्रेम चिरस्थायी नहीं होता, फिर भी क्षणिक तृप्तिके लिये लोग उनसे प्रेम करते हैं।

प्रेम और प्रियका सम्बन्ध सहज है। प्रेमके लिये प्रिय और प्रियके लिये प्रेम अपेक्षित है। एकके बिना दूसरा रह नहीं सकता। बात यह है कि दोनोंकी प्रकृति एक ही है। प्रेमरूप साधनका प्रयोजन प्रियकी प्राप्ति है; क्योंकि प्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे प्रेमी तृप्त होता है। अतः तृप्ति प्रदान करनेवाला प्रिय है। किसकी अपेक्षा कौन अधिक प्रिय होता है, इसका निर्देश स्वामी श्रीविद्यारण्यजीने अपने 'पञ्चदशी' ग्रन्थमें इस प्रकार किया है—**वित्तात् पुत्रः प्रियः पुत्रात् पिण्डः पिण्डात् तथेन्द्रियम्। इन्द्रियाच्च प्रियः प्राणः प्राणादात्मा प्रियः परः॥**

(आत्मानन्द प्रक० ६०)

अर्थात् धनकी अपेक्षा पुत्र प्रिय होता है, पुत्रसे प्रिय अपना शरीर और शरीरसे प्रिय इन्द्रिय, इन्द्रियसे प्रिय प्राण तथा प्राणसे भी परमप्रिय आत्मा होता है, जिसकी प्रियताके कारण ही सभी लौकिक वस्तुएँ प्रिय होती हैं। जिसका उद्घोष बृहदारण्यकोपनिषद् (२।४।५)-में भी श्रीयाज्ञवल्क्यजीने—**'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'** के रूपमें किया है। अतः अत्यन्त प्रिय होनेके नाते आत्मा प्रेयान् है और शेष वस्तुएँ प्रिय हैं—**'आत्मा प्रेयान् प्रियः शेषः।'** (पञ्चदशी)

प्रेष्ठ, प्रेयान् तथा प्रियतम—ये पद अत्यन्त प्रियके लिये प्रयुक्त होते हैं, जैसा कि गोपियोंने भगवान् श्रीकृष्णको—**'प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा'** (श्रीमद्भा० १०।२९।३२) कहा है। अर्थात् पति, पुत्र, भाई-बन्धु आदि सभी शरीरधारियोंके सुहृद् आत्मा—परम प्रिय आप ही हैं। अतः केवल आपकी अनुरक्तिसे सबका प्रेम सार्थक हो जाता है। इसीलिये श्रीशुकदेवजीने राजा परीक्षित्‌जीसे

कहा है—

देहोऽपि ममताभाक् चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत् प्रियः।
यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिञ्जीविताशा बलीयसी॥
तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम्॥
(श्रीमद्भा० १०।१४।५३-५४)

भाव यह है कि देहके गलित होनेपर भी जीनेकी जो आशा बनी रहती है, वह आत्माकी प्रियताके कारण ही है; क्योंकि चराचर जगत्का प्रिय आत्मा ही है।

प्रेमके द्वारा प्रियतम—परमात्माकी उपलब्धि होनेपर प्रेमी भी प्रियमें मिल जाता है। उसकी स्वतः सत्ता नहीं रहती। तभी तो कहा गया है—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥

तात्पर्य यह है कि स्वार्थहीन प्रेमकी अति ऊँची अवस्थामें देह-गेह तथा मनका अलग भान नहीं होता। जैसा कि श्रीरामजीके प्रेम-संदेशको सुनाते हुए श्रीहनुमान्जीने कहा है—

जनि जननी मानहु जियँ ऊना। तुम्ह ते प्रेमु राम कें दूना॥
(रा०च०मा० ५।१४।१०)

क्योंकि उन्होंने यही कहा है—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥
(रा०च०मा० ५।१५।६-७)

निष्कर्ष यह है कि परमप्रिय परमात्माकी अनुभूतिका परम सरस साधन प्रेम ही है। अतः स्वार्थरहित प्रेमसे प्रियकी उपलब्धिके लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये।

* * *

प्रेममें आदान नहीं, प्रदान है

(श्रीजगदीशप्रसादजी, एम्०ए० (द्वय), साहित्यरत्न)

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥

अथवा

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं॥

—ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे पता चलता है कि प्रेमकी दुनियामें प्रेमीको अपने प्रेमास्पदके आगे अपने सभी मान-सम्मान, गर्व-अहंकारको तिलाञ्जलि देकर सर्वतोभावेन अपने-आपको अकिञ्चनके रूपमें प्रस्तुत करना होता है। शीश उतारने या शीश देकर सौदा करनेका मतलब अपने-आपको परम विनीत और निरीह बनाना होता है। ऐसा करनेपर ही प्रेमका प्रसाद मिल सकता है।

दूसरे शब्दोंमें प्रेम बलिदानकी भूमि है, उत्सर्गकी भूमि है तथा न्योछावरकी भूमि है। इसमें सिर्फ दान है। यहाँ ग्रहणकी कोई गुंजाइश नहीं है। प्रेम केवल निःस्वार्थ होता है। जहाँ स्वार्थकी बात आयी, वहाँ सच्चा प्रेम नहीं रहता। वह तो सौदेबाजी हो जाती है। माताका शिशुके प्रति वात्सल्य, बहनका भाईके प्रति प्रेम या एक सच्चे देशभक्तका अपनी मातृभूमिके प्रति जो प्रेम होता है, वह नितान्त निष्कपट और स्वार्थहीन होता है। यहाँ सिर्फ देनेकी बात होती है, कुछ लेनेकी नहीं।

ऐसे निःस्वार्थ प्रेमकी उत्पत्ति किसी व्यक्ति-विशेषके रूप, गुण और व्यवहारके प्रति आकृष्ट होनेपर होती है यह बात नहीं है। यह प्रेम तो अहेतुक होता है, अन्तरङ्ग होता है।

प्रेमके आविर्भावमें इन पाँच अवस्थाओंका विशेष महत्त्व है—१-आकर्षण, २-रुचि, ३-ममत्व, ४-लगाव और ५-प्रेम। आचार्योंने प्रेमकी तीन विशेष स्थितियाँ बतायी हैं—१-पूर्वराग, २-मिलन और ३-विछोह।

(१) पूर्वराग—इसमें अपने प्रेमास्पदके रूप, गुण, शौर्य, औदार्य आदि सद्गुणोंके बारेमें जानकर या सुनकर उसमें रुचि उत्पन्न होती है। इसे प्रेमकी प्रथम स्थिति अर्थात् पूर्वराग कहते हैं। पूर्वरागकी इस स्थितिमें प्रेमी अपने प्रेमास्पदके विषयमें सोचते हैं। उसका सांनिध्य प्राप्त करना चाहते हैं। अपने मनश्चक्षुओंसे उसके दर्शन करते हैं, उससे सम्भाषण करते हैं, आदि।

(२) मिलन—मिलनको आचार्योंने प्रेमकी स्थितियोंमें तीसरे स्थानपर रखा है। हालाँकि विकास-क्रममें मिलनका

दूसरा स्थान है, पर महत्त्व और तीव्रताकी दृष्टिसे यह तीसरे दर्जेका है। मिलनमें प्रेमकी तीव्रता नहीं होती है। इसमें अविच्छिन्नरूपमें निरन्तर बढ़ना नहीं होता है। यहाँ तो मानो उफनती नदियोंका समुद्रमें समा जानेपर अपना अस्तित्व गँवा देने-जैसी बात होती है।

(३) विछोह—विछोहकी स्थितिको आचार्योंने प्रेमका पहला स्थान प्रदान किया है। इस विरहमें मिलनकी जो तीव्र इच्छा होती है, वही प्रेमकी वास्तविक स्थिति होती है। यह उत्कट अभिलाषा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। यह मिलनकी इच्छाकी तीव्रता बढ़ते-बढ़ते व्याकुलताकी स्थितिमें बदल जाती है और इस विछोहके आनन्दमें प्रेमी-भक्त डूबता-उतराता रहता है।

महाकवि सूरदासने 'भ्रमरगीत' में, नन्ददासने 'भ्रमरगीत' में और जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने अपने 'उद्धवशतक' में भगवान् श्रीकृष्णके विरहमें गोपियोंकी मन:स्थितिका जैसा निरूपण किया है, वैसा शायद अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। सूरदासकी गोपियाँ तो विरह-तापसे इतनी अधिक उत्तप्त हैं कि कृष्णद्वारा भेजे पत्रको जल जानेके डरसे छूती भी नहीं—

नैन सजल कागद अति कोमल कर अंगुरी अति ताती।
परसत जरत बिलोकत भींजत दुहुन भाँति दुख छाती॥

अन्यत्र सूरदासने राधाकी विरह-दशाका वर्णन करते हुए लिखा है कि राधाने श्रीकृष्णके विरहमें अपनी सुध-बुध ही खो दी है—

अति मलीन बृषभानु कुमारी।
हरि स्त्रम जल भींज्यौ उर अंचल, तिहि लालच न धुवावति सारी॥
अध मुख रहति अनत नहिं चितवति, ज्यौं गथ हारे थकित जुवारी।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने, ज्यौं नलिनी हिमकर की मारी॥
हरि-सँदेस सुनि सहज मृतक भइ, इक बिरहिनि, दूजे अलि जारी।

जब श्रीराम सीता-हरणके बाद तरुओं, लताओं तथा वनके पशु-पक्षियोंसे सीताका पता पूछते हैं, तब उनके हृदयकी व्याकुलता सीताके प्रति उनके प्रेमको ही प्रकट करती है—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥

प्रेमका स्वरूप

प्रेमकी इदमित्थं कोई परिभाषा नहीं है। इसे किसीको समझाया-बुझाया नहीं जा सकता। इसका अनुभव तो उसीको होता है, जो इसमें पड़ा हो। इसीलिये प्रेमको अनिर्वचनीय कहा गया है—**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥ मूकास्वादनवत्॥** (ना०भ०सू० ५१-५२) जैसे गूँगा गुड़ खाकर उसके मिठासका अनुभव स्वयं करता है। उसे किसीको बता नहीं सकता, ठीक उसी तरह प्रेमकी भी कोई व्याख्या या परिभाषा नहीं हो सकती है। सच्चे, निश्छल और नि:स्वार्थ प्रेममें न तो प्रेमास्पदमें किसी विशेष गुणकी अपेक्षा होती है तथा न ही प्रेमी अपने प्रेमास्पदसे किसी वस्तुकी कामना करता है। यदि गुणकी अपेक्षा और किसी वस्तुकी कामना की गयी तो वहाँ प्रेममें स्वार्थ आ जायगा। तब तो प्रेम सापेक्ष हो जायगा कि प्रेमास्पदमें यह या वह गुण होगा तभी उससे प्रेम होगा। इसीलिये तो प्रेमको—'**गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्**' (ना०भ०सू० ५४) कहा गया है। परम रसिक कवि रसखानने इसका क्या ही काव्यमय अनुवाद किया है। वे कहते हैं—

बिनु गुन जोबन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि।
सुद्ध कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखानि॥
अति सूच्छम कोमल अतिहि, अति पतरौ, अति दूर।
प्रेम कठिन सबतें सदा, नित इकरस भरपूर॥
रसमय स्वाभाविक बिना स्वारथ अचल महान।
सदा एकरस सुद्ध सोइ, प्रेम अहै रसखान॥

प्रेमके बीजके हृदयमें अङ्कुरित होनेके बाद वह दिनों-दिन बढ़ता जाता है। यहाँतक कि विरहकी चरमावस्थाको प्राप्त करनेपर भी पिया-मिलनकी प्यास लगी रह जाती है—

कागा चुनि चुनि खाइयो, सब अंगन कौ मांस।
दो नैना मत खाइयो, पिया मिलन की आस॥

प्रेममें परितृप्ति नहीं होती। यहाँ प्रेमीका हृदय अपने प्रेमास्पदके लिये दिन-रात तड़पता रहता है। यह तड़प ही प्रेम है। यह विरह ही प्रेमको जीवित रखता है। जहाँ यह तड़प नहीं, प्रभुमिलनकी तीव्र इच्छा नहीं, वहाँ प्रेम कहाँ?

* * *

'साधो! प्रेम बिना सब झूठा'

(श्रीभगवन्नामलीन पूज्यपाद स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती)

हमलोग 'प्रेम' शब्दका अपभ्रंशमें उपयोग किया करते हैं। बोलचालकी भाषामें बोल दिया करते हैं कि मुझको अमुक व्यक्तिसे, अमुक वस्तुसे और अमुक स्थानसे बहुत प्रेम है। मिष्टान्नप्रिय व्यक्ति कहा करते हैं—मुझे तो लड्डूसे बड़ा प्रेम है, पर लड्डू खाते-खाते पेट भरनेपर स्वयं कहते हैं कि अब नहीं खायेंगे—यहाँसे हटाओ, यह प्रेम कहाँ हुआ? परिवारप्रिय कहा करते हैं कि मुझको स्त्रीसे बड़ा प्रेम है, पर यदि उसी स्त्रीने मनके प्रतिकूल कार्य कर दिया, भोजन अनुकूल नहीं बनाया तथा विपरीत बातें कह दीं तो उसपर बरस पड़ेंगे, यह प्रेम कहाँ हुआ? 'प्रेम' शब्दका उपयोग तो हमलोग खूब करते हैं, पर उसका अर्थ नहीं जानते, उसका भाव नहीं जानते। सामान्यरूपसे प्रेमका भाव है-जिस चीजका प्रारम्भ तो हो, पर उसका अन्त न हो।

प्रेम खरीद-बिक्री या लेन-देनकी चीज नहीं है, यह तो भगवत्प्रदत्त है। कारण कि हमको संसारसे कभी भी प्रेम नहीं हो सकता और न ही संसार हमसे कभी प्रेम कर सकता है।

जो संसारसे विमुख हो गये, जिनकी संसारसे सर्वथा आसक्ति हट गयी ममता हट गयी है, वही प्रेम पानेका पवित्र पात्र हो सकता है।

प्रेमका श्रीगणेश तो दोसे होता है, पर उसकी इतिश्री एकपर ही होती है। प्रारम्भमें 'मैं' और 'तू' रहता है, परंतु अन्तमें केवल तू-ही-तू रहता है।

परमात्मप्राप्तिके लिये, परम शान्तिके लिये तथा परमानन्दके लिये मुख्यत: तीन साधन या मार्ग ही हमारे धर्मग्रन्थोंमें बताये गये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। उसमें भी इस कलिकालके लिये प्रमाणित प्रस्थानत्रयी ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत और श्रीरामचरितमानस—ये तीनों कर्म, ज्ञान तथा भक्तिसे परिपूर्ण हैं। परंतु ये तीनों ग्रन्थ भक्तिकी पराकाष्ठा हैं, प्रेमके द्योतक हैं एवं हमलोगोंको भक्तिमार्गपर चलनेकी आज्ञा देते हैं। इसलिये भक्तियोग ही हमलोगोंके लिये उपयुक्त और आवश्यक है। तभी हम प्रेमलीलाकी अनुभूति कर सकते हैं, प्रेमयोगी हो सकते हैं।

कर्म, ज्ञान और भक्तिको सरलतासे समझें तो सेवा, त्याग तथा प्रेम। कर्मयोगमें सेवा प्रधान है, ज्ञानयोगमें त्याग प्रधान है और भक्तियोगमें प्रेम प्रधान है। यदि तीनोंको गहराईसे लें तो तीनोंमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। तीनों एक-दूसरेके पूरक हैं। इन तीनोंके बिना कोई रह नहीं सकता। यदि हम तीनोंमेंसे किसी एक साधनको लेकर चलें तो आगे चलकर शेष दोनों साधन अपने-आप आ जायँगे।

सेवा—बिना त्यागके सम्भव नहीं है और प्रेमके बिना सेवा क्यों करेगा?

त्याग—जबतक हममें सेवाभाव नहीं होगा, तबतक हम उसके प्रति त्याग कैसे कर सकते हैं। सेवामें त्याग करना ही पड़ता है और त्याग हम तभी कर सकते हैं, जब उसके प्रति प्रेम हो।

प्रेम—सेवा तभी हो सकती है जब उसके प्रति प्रेम हो और प्रेममें त्याग करना पड़ता हैं, अपने-आपको न्योछावर करना ही पड़ता है।

अब तीनोंमें अर्थ तो सरल लगता है, पर प्रयोगमें सेवा और त्याग अत्यन्त ही कठिन हैं। सेवाको लेंगे तो शारीरिक बल चाहिये, धन चाहिये, पुरुषार्थ चाहिये। सेवामें मेरा कुछ नहीं है सब संसारका है, यहाँतक कि मेरा शरीर भी अपना नहीं है संसारका ही है। सेवामें अपने-आपको तन, मन और धनसे पूर्णरूपेण समर्पित कर देना पड़ता है, जो कि अत्यन्त कठिन है।

ज्ञानयोगमें त्यागकी प्रधानता है, शरीरको भी ब्रह्मके लिये त्याग करना पड़ता है। यहाँतक कि कर्मका भी त्याग करना पड़ता है। मैं शरीर नहीं हूँ, यह ज्ञान परिपक्व मस्तिष्कवालोंके लिये ही सम्भव है। जब ऐसा दृढ़ ज्ञान हो जायगा, तब उस ज्ञानरूपी अग्निमें सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जायँगे।

कर्म और ज्ञानका मार्ग हम अल्पबुद्धि एवं अल्पायुवाले मनुष्योंके लिये कठिन है। तभी तो भगवान्ने श्रीगीताजीमें सबसे सरल, सरस, सुलभ, समझमें आनेवाला तथा सस्ता मार्ग भक्तियोगको ही कहा है और भक्तियोगमें प्रेमकी प्रधानता है। भक्तिकी पराकाष्ठा प्रेम है। प्रेम प्रेमास्पदको

दीवाना बना देता है—

देह गेह को सुधि नहीं छुट गयी जग प्रीत।
नारायण गावत फिरे प्रेम भरे संगीत॥
मन में लागी चटपटी कब निरखउँ घनस्याम।
नारायण भूल्यो सभी खान-पान बिश्राम॥

तुलसीदासजी, कबीरजी, रसखानजी, रहीमजी, तुकारामजी, नरसीजी एवं कर्माबाई, सुखुबाई, मीराबाई आदि सभी प्रेमदीवाने ही तो थे। भक्तियोगमें परमात्माको छोड़कर दूसरा कोई है ही नहीं। अपना मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, दसों इन्द्रियाँ और शरीरतक परमात्माका ही है। संसार और ब्रह्माण्ड भी परमात्माका ही है—*'रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥'* जब सब कुछ परमात्माका है तो इसमें करना क्या है? वह जो करायेगा वही करना है अर्थात् उसको करवाना होगा करा लेगा, जो खिलाना होगा खिला देगा, जहाँ सुलाना होगा वहाँ सुला देगा और जहाँ घुमाना होगा वहाँ-वहाँ घुमाता रहेगा। उसकी इच्छा ही अपनी इच्छा हो जायगी। हम उसकी मर्जीमें अपनी मर्जी मिला दें, बस फिर बाकी कुछ नहीं करना। पूज्यपाद स्वामी रामतीर्थजी कहा करते थे—

गर यार की मर्जी हुई सर जोड़ के बैठे,
घर-बार छुड़ाया तो वहीं छोड़ के बैठे।
मोरा जिधर मुँह वहीं मुँह मोर के बैठे,
गुदरी ओढ़ा दी तो वही ओढ़ के बैठे।
साल ओढ़ा दी तो उसी साल में खुस हैं,
पूरे हैं वे मर्द जो हर हाल में खुस हैं।

परमात्माकी प्रत्येक लीलामें हम प्रसन्न रहें, प्रत्येक विधानको हम मङ्गलमय ही मानें ऐसा विचार दृढ़ करना पड़ेगा।

परम शान्तिकी प्राप्ति न कर्म करनेसे, न ज्ञानसे और न ही भक्ति करनेसे मिलेगी। जबतक करना लगा रहेगा परमात्मा हमसे दूर रहेगा और जब करना समाप्त हो जायगा तब परमात्मा सामने खड़ा मिलेगा। परमात्मा साधन-साध्य नहीं है साधनसे परे है, वह तो स्वयंसिद्ध है।

भगवत्प्रेम पानेके लिये हमें अबोध बच्चा बनना पड़ेगा। मैं कुछ नहीं हूँ, मेरा कुछ नहीं है और मैं कुछ भी जानता नहीं हूँ अर्थात् 'मैं', 'मेरा' को सदाके लिये भूल जाना होगा। जैसे बिल्लीका बच्चा, बिल्लीको देखते ही आँखें बंद कर लेता है और बिल्ली बच्चेको मुँहसे पकड़कर सुरक्षित स्थानमें ले जाकर रख देती है। बिल्ली मुँहसे चूहेको पकड़ती है तो वह मर जाता है, परंतु बच्चेका बाल भी बाँका नहीं होता। इसी प्रकारसे हमलोगोंको परमात्माकी हाँ-में-हाँ मिला देना है। बिल्लीके बच्चेकी तरह आँखें बंद कर लें, अज्ञानी हो जायँ, गरीब हो जायँ तो पूरी तरहसे जिस प्रकार मा अपने बच्चेकी रखवाली करती है, उसी प्रकार वे हमारी रक्षा करेंगे एवं हर आवश्यकताकी पूर्ति करते रहेंगे—*'जिमि बालक राखइ महतारी॥'*

कर्मयोगी संसारको अपना मानता है, ज्ञानयोगी 'मैं ब्रह्म हूँ' यह कहता है, पर भक्तियोगी भगवान्‌को ही सब कुछ मानता है। कर्ममें—करना प्रधान है, ज्ञानमें—जानना प्रधान है, पर भक्तिमें मानना प्रधान है जो कि सबसे सुलभ है। तभी तो गोस्वामीजीने कहा है—*'सीय राममय सब जग जानी।'* इसमें तो मानना ही है कि संसार नहीं है परमात्माका विराट् रूप है, सब परमात्माके अंश हैं—*'ईस्वर अंस जीव अबिनासी।'* *'ईश्वरः सर्वभूतानाम्'* (गीता १८। ६१) सबमें वही है, सब कुछ वही है, सब वही है, सब जगह वही है एवं सबका भी वही है, सबमें भगवान्‌का दर्शन करते हैं तब कहते हैं—*'करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी'* परमात्माके नतमस्तक होते हैं, अपने-आपको समर्पित कर देते हैं, शरणागत हो जाते हैं।

परमात्मा प्रेमके भूखे हैं। जो क्षीरसागरमें सोते हैं, जिनके पादपद्मोंको लक्ष्मीमहारानी करकमलोंसे चाँपती रहती हैं उनके यहाँ क्या कमी है? हमलोग सेवा, त्याग और प्रेमका सही उपयोग करते ही नहीं हैं। हमलोग भगवान्‌की सेवा करते हैं और प्रेम संसारसे करते हैं, यह गलत है। संसारसे प्रेम न करके उसकी सेवा करनी (कर्म करना) चाहिये। संसारकी सेवा अपने शरीरकी तरह करनी चाहिये।

त्याग वस्तु एवं व्यक्तिका न करके आसक्तिका करना चाहिये, मैं और मेरेका त्याग ही त्याग है। मोह, ममतासे रहित होकर, प्रेम संसारसे न करके परमात्मासे करना चाहिये; क्योंकि—*'रामहि केवल प्रेमु पिआरा।'* परमात्माको वस्तु या अन्य सामग्री नहीं चाहिये, उन्हें प्रेम चाहिये। हे परमात्मन्! मैं आपका ही हूँ। इसमें लगना कुछ नहीं है, पर लाभ पूरे-के-पूरे हैं। जब हम कह देते हैं कि

आपका हूँ, तब यह क्या है, कैसा है, क्या करता है, कुछ नहीं देखते—*'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजौं नहिं ताहू॥'* हमारे अपराधको, अच्छाई-बुराईको वे नहीं देखते; क्योंकि प्रेममें यह सब नहीं होता है। जैसे शबरीके जूठे बेर जूठे नहीं थे, बल्कि उनमें प्रेम भरा था। कर्माबाईकी जूठी खिचड़ी जूठी नहीं थी वह प्रेमपूरित थी। मीराबाईको दिया गया जहरका प्याला उनके लिये जहर नहीं था प्रेम था। गुरु अर्जुनसिंहजीको लोहेके गर्म तवेपर बैठा दिया गया वह उनके लिये गर्म तवा नहीं था बल्कि धर्म-प्रेम था। शहीद भगतसिंहजी हँसते हुए फाँसीपर चढ़ गये उनके लिये वह देशप्रेम था। राजा हरिश्चन्द्र डोमके हाथ बिक गये यह उनका बिकना नहीं था, बल्कि उनका सत्य-प्रेम था। प्रेममें देना ही होता है लेना नहीं—

जाकों लहि कछु लहन की चाह न हिय में होय।
जयति जगत पावन करन 'प्रेम' बरन यह दोय॥

प्रेम आदान नहीं, बल्कि प्रदान है।

भगवत्प्रेम ढूँढ़ने तथा तीर्थोंमें घूमनेसे नहीं मिलता, व्रत-उपवास करनेसे भी कुछ नहीं होता, प्रत्युत वह तो भगवान्‌को सर्वस्व माननेसे मिलता है—

मक्का मदीना द्वारका बद्री और केदार।
बिना प्रेम सब झूठ है कहे मलूक बिचार॥

हममें और परमात्मामें सिर्फ दो अंगुलकी दूरी है। जैसे यशोदा मैया कन्हैयाके कमरमें ऊखलसे रस्सी बाँधतीं हैं पर कई हाथोंकी लम्बी रस्सी दो अंगुल छोटी हो जाती थी, परंतु जब बरसानेके गोपियोंके प्रेमकी दो अंगुलकी रस्सी आयी तो कन्हैया ऊखलसे बँध गये। वही दो अंगुल 'मैं' और 'मेरा' है। मैं विद्वान् हूँ, धनवान् हूँ, गुणवान् हूँ, बलवान् हूँ, मेरा मकान है, मेरी सम्पत्ति है और मेरी गाड़ी है—ये सब प्रेमके बाधक हैं। प्रेममें अपना रहता ही नहीं—

ढूँढ़ा सकल जहान में पाया पता तेरा नहीं।
जब पता तेरा मिला तो अब पता मेरा नहीं॥
तूँ तूँ करता तू भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी तेरे प्रेम पर जित देखूँ तित तूँ॥

इसलिये परमात्मप्राप्तिके लिये कोई भी साधन नहीं करना है, कहीं जाना नहीं है, केवल परमात्माका हो जाना है। तब वह अपनी अहैतुकी कृपासे प्रेम प्रदान करेगा, अपनी ओर आकर्षित कर लेगा, अपनी मधुर लीलाओंको अनुभूत कराता रहेगा—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

तभी कबीरदासजीने कहा—***'साधो! प्रेम बिना सब झूठा॥'***

[प्रेषक—वैद्यराज श्रीकुन्दनकुमारजी **'रामलला'**]

* * *

प्रेम ही परमात्मा है

(**'मानसरत्न' संत श्रीसीतारामदासजी**)

प्रेम हरी कौ रूप है त्यौं हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै यौं लसै ज्यौं सूरज अरु धूप॥

भगवान् प्रेमस्वरूप हैं, प्रेमकी निधि हैं, प्रेमियोंके साथ रहते हैं, प्रेमियोंको सुख देने तथा उनके साथ प्रेममयी लीलाएँ करनेमें ही उनको आनन्द मिलता है। भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं, कण-कणमें उनकी स्थिति है, किंतु प्रेमसे ही वे प्रकट होते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥

× × ×

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

× × ×

अगुन अलेप अमान एकरस। रामु सगुन भए भगत पेम बस॥

जो निर्गुण, अखण्ड, अनन्त और अनादि हैं तथा जिनका चिन्तन ब्रह्मज्ञानी किया करते हैं, वेद जिन्हें 'नेति-नेति' कहकर निरूपित करते हैं, जो आनन्दस्वरूप, उपाधिरहित एवं अनुपम हैं और जिनके अंशसे अनेक शिव, ब्रह्मा तथा विष्णु प्रकट होते हैं, ऐसे महान् प्रभु भी भक्तोंके प्रेमके वशीभूत होकर दिव्य लीलाविग्रह धारण करते हैं—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥

जो परमार्थस्वरूप परब्रह्म हैं, अविगत, अलख, अनादि, अनुपम आदि सब विकारोंसे रहित और भेदशून्य हैं, उन श्रीरामजीको केवल प्रेम ही प्यारा है—

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
(रा०च०मा० २।१३६।१)

तभी तो भक्तोंके प्रेमवश ही सगुणरूप धारण करनेवाले श्रीरामजीने *'लोक बेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा॥'*, इस प्रकारके निषादराज गुहको अपने हृदयसे लगाया—*'यह तौ राम लाइ उर लीन्हा।'* (रा०च०मा० २।१९४।३) और **'हीनजातिसमुद्भवा'** (अ०रा० ३।१०।१७) *'अधम ते अधम अधम अति नारी।'* इस प्रकारकी शबरीके द्वारा दिये गये कन्द-मूल-फलोंको बड़े ही प्रेमसे स्वीकार किया और उनके मधुमय आस्वादका बार-बार बखान किया—

प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥
(रा०च०मा० ३।३४)

अनेक प्रकारके योग, जप, दान, तप, यज्ञ, व्रत और नियम करनेपर भी भगवान् श्रीरामजी वैसी कृपा नहीं करते, जैसी प्रेम होनेपर करते हैं—

उमा जोग जप दान तप नाना मख ब्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम॥
(रा०च०मा० ६।११७ (ख)

मानव-जीवनकी सार्थकता और जीवनका प्राप्य शिखर है—भगवत्प्राप्ति, जो केवल प्रेमसे ही सम्भव है—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥
(रा०च०मा० ७।६२।१)

अनेक जप, तप, यज्ञ, शम (मनको रोकना), दम (इन्द्रियोंको रोकना), व्रत, दान, वैराग्य, विवेक, योग-विज्ञान आदि सबका फल भगवान्के चरणकमलोंमें प्रेम होना है, इसके बिना कोई कल्याण नहीं पा सकता—

जप तप मख सम दम ब्रत नाना। बिरति बिबेक जोग बिग्याना॥
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा॥
(रा०च०मा० ७।९५।५-६)

वेदोंने जगत्में (१) विषयी, (२) साधक और (३) सिद्ध—ये तीन प्रकारके मनुष्य बताये हैं, इन तीनोंमें जिसका चित्त भगवान्के प्रेममें सराबोर रहता है, साधु-सभामें उसीका बड़ा आदर होता है—

बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥
राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभाँ बड़ आदर तासू॥
(रा०च०मा० २।२७७।३-४)

भगवान्के प्रेमके बिना ज्ञान भी शोभायमान नहीं होता—

सोह न राम पेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥
(रा०च०मा० १।२७७।५)

जीवके लिये सच्चा स्वार्थ यही है कि वह मन, वचन और कर्मसे भगवान्के श्रीचरणोंमें प्रेम करे—

स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा॥
(रा०च०मा० ७।९६ (क)१)

सब साधनोंका भी एक सुन्दर फल यही है कि भगवान् श्रीरामके चरणकमलोंमें सदा-सर्वदा प्रेम हो।

अतः गुरुप्रवर श्रीवसिष्ठजीके स्वर-में-स्वर मिलाकर प्रभुसे इस तुच्छ दासका विनम्र निवेदन है कि 'हे नाथ! हे श्रीरामजी! आपके चरणकमलोंमें मेरा प्रेम जन्म-जन्मान्तरमें भी कभी न घटे'—

नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥
(रा०च०मा० ७।४९)

श्रीद्वारकाधीशके उद्‌गार

दिन रैन चैन मन है न सुधि पाय ऊधौ,
जसुमति मैया मेरे काज दुख पावै है।
अति सकुचाय नंद बाबा ढिग जाय बूझै,
साँवरो सलोनो स्याम मेरो कब आवै है।
गुंजै भरि अँजुरी सहेजै, चुनै मोरपंख,
मुरली को चूमै, जल लोचन चुवावै है।
धेनु धूरि बेला धाय द्वार पैं अधीर भई,
दूरि लौं निहारैं पंथ, पथिक बतावै है।
(कुमारी अम्बिका सिंह)

'है प्रेम जगतमें सार और कछु सार नहीं'

(स्वामी श्रीअच्युतानन्दजी महाराज)

ईश्वरकी भक्तिमें प्रेमकी प्रधानता है। आर्ष-ग्रन्थों एवं संतोंकी वाणीमें प्रेमको भक्तिका पूरक बताया गया है—

प्रेम बिना जो भक्ति है, सो निज डिंभ विचार।
उद्र भरन के कारने जन्म गँवायो सार॥

अर्थात् प्रेमके बिना जो भक्ति है, वह मात्र पाखण्ड है। पेट भरनेके लिये जो भक्ति होती है, उसमें मानव-जीवन निष्फल ही होता है। ईश्वर-भक्ति सभी सुखोंकी खानि है। जो कोई ईश्वरसे प्रेम करेंगे, उनको सर्वसुखदायिनी भक्ति मिलेगी। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—

भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥

भक्तिकी महिमा तो यह है कि जिनके हृदयमें यह भक्तिरूपी मणि बसती है, उन्हें सपनेमें भी लवलेशमात्र दुःख नहीं होता। यथा—

राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥

काकभुशुण्डिजी गरुडजीसे कहते हैं—

निज अनुभव अब कहउँ खगेसा। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा॥

भक्तिमें ईश्वरकृपा अत्यन्त आवश्यक है। ईश्वरकृपासे उनकी प्रभुताकी महिमा जान सकते हैं। यदि ईश्वरकी प्रभुताको नहीं जानेंगे तो उनमें विश्वास नहीं होगा और विश्वासरहित भक्तिमें प्रेम नहीं होगा तथा प्रेमके बिना उसमें दृढ़ता नहीं आ सकेगी। इसीलिये काकभुशुण्डिजी कहते हैं—

राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥
जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥

जैसे जलकी चिकनाई स्थिर नहीं होती। उसी तरह प्रेमके बिना भक्तिमें स्थिरता नहीं आती अर्थात् बिना प्रेमके अविरल भक्ति नहीं हो पाती। प्रेममें प्रभु-मिलनकी विकलता होती है।

गोस्वामी तुलसीदासजीने दोहावलीमें प्रेमका महत्त्व बहुत उत्तम ढंगसे दिखाया है। मकर, साँप, मेढक और कछुआ—ये सभी जलमें रहते हैं, जल ही इन सबोंका घर है, परंतु पानीसे सच्चा प्रेम केवल मछलीको है। मकर, साँप, मेढक और कछुए जलको छोड़कर भी रह सकते हैं, परंतु मछली जलके बिना किसी प्रकार भी नहीं रह सकती। वह पानीके लिये छटपटाकर प्राण दे देती है। मुख्यतया जलसे प्रेम केवल मछलीको ही है। इसलिये कहा—

मकर उरग दादुर कमठ जल जीवन जल गेह।
तुलसी एकै मीन को है साँचिलो सनेह॥

(दोहावली ३१८)

प्रेमका एक अन्य उदाहरण दूध और पानीसे भी ले सकते हैं। जब कोई दूधको किसी बर्तनमें डालकर आगपर रखकर औंटना चाहते हैं तो आगकी गरमीसे दूधके अंदरका पानी भाप बनकर उड़ने लगता है। दूध प्रेमवश उस पानीको पकड़नेके लिये उफानके रूपमें ऊपर उठता है। जैसे ही दूधके उफानपर पानी डालते हैं, दूध पानीको पाकर शान्त हो जाता है। इसी तरह भक्त भगवन्तके विरहमें तबतक व्याकुल रहते हैं, जबतक उन्हें प्रभु-प्राप्ति न हो जाय। प्रभु-प्राप्तिसे आवागमनका दुःख मिट जाता है। शान्तिस्वरूप सर्वेश्वरको प्राप्तकर वे संत हो जाते हैं।

इसलिये गुरुदेव ब्रह्मलीन पूज्यपाद महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज भक्तोंसे कहते हैं—

आहो प्रेमी करु प्रेम प्रभु से हो।
बिना प्रभु दुःख सहु भव में भ्रमत रहु, करु प्रेम प्रभु से हो।
आहो प्रेमी त्यागी देहु जग प्रेम हो,
जगप्रेम फाँसी, आत्मसुखनासी प्रभुप्रेम मुक्तिप्रद हो।

तात्पर्य यह है कि परम प्रभु परमात्मासे प्रेम करनेवालेको संसारके सारे बन्धनोंसे मुक्ति मिल जाती है। इसीलिये भक्तिमें प्रेमकी प्रधानता है। इस सम्बन्धमें निम्न दोहेमें बड़ी सुन्दर बात कही गयी है—

परिवा प्रथम प्रेम बिनु, राम मिलन अति दूर।
यदपि निकट हृदय निज, रहै सकल भरपूर॥

अर्थात् ईश्वर-भक्तिमें यदि प्रेम नहीं है तो रामका मिलना अत्यन्त दूर है। यद्यपि वे राम अपने हृदयमें सदा वर्तमान हैं।

भक्तवर सूरदासजीने बताया है कि भक्तिकी श्रेष्ठता

केवल प्रेमसे है। प्रेमके ही कारण दुर्योधनके राजसी भोगको त्यागकर भगवान् श्रीकृष्णने भक्त विदुरजीके यहाँ सागका भोग लगाया, शबरीके प्रेमके कारण ही श्रीरामने बहुत प्रेमसे उसके बेर खाये। प्रेमवश ही भगवान् श्रीकृष्णने नाई बनकर राजाकी सेवा की। राजा युधिष्ठिरके यज्ञमें भगवान् श्रीकृष्ण जूठे पत्तलोंको उठाकर फेंकते थे। प्रेमके वशमें ही भगवान् अर्जुनका रथ हाँकनेवाले सारथि बने तथा प्रेमके कारण ही उन्होंने वृन्दावनमें गोपियोंके साथ रासलीला की थी। सूरदासजी कहते हैं कि इस प्रेमका वर्णन करनेमें मैं एकदम असमर्थ हूँ, प्रेमकी बड़ाई मैं कहाँतक कर सकता हूँ। यथा—

सबसों ऊँची प्रेम सगाई।
दुरजोधनके मेवा त्यागे, साग बिदुर घर खाई॥
जूठे फल सबरीके खाये, बहु बिधि स्वाद बताई।
प्रेमके बस नृप सेवा कीन्हीं आप बने हरि नाई॥
राजसु-जग्य जुधिष्ठिर कीन्हों तामें जूँठ उठाई।
प्रेमके बस पारथ रथ हाँक्यो, भूलि गये ठकुराई॥
ऐसी प्रीति बढ़ी बृंदाबन, गोपिन नाच नचाई।
सूर कूर इहि लायक नाहीं, कहँ लगि करौं बड़ाई॥

इसलिये एक भक्त कविने कहा—

'है प्रेम जगतमें सार और कछु सार नहीं।'

भगवत्प्रेम—आनन्दघनकी प्राप्तिका श्रेष्ठतम उपाय

(शिवाश्रयानन्दी श्रीरामप्रसादजी प्रजापति)

इस सृष्टि और संसारमें प्रेमकी अद्भुत महिमा है, भगवत्प्रेमकी तो विलक्षण लीला है। विश्वात्मा परम पिता परमात्मा प्रत्येक जीव, जड़-चेतन और कण-कणमें प्रेमरूपसे व्याप्त हैं। जिस प्रकार *'हरि अनंत हरिकथा अनंता।'* (रा०च०मा० १।१४०।५) उसी प्रकार *'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥'* (रा०च०मा० १।१८५।५)-के अनुसार प्रभुका प्राकट्य भी भक्तके प्रेमके वशीभूत होकर ही होता है।

चैतन्य महाप्रभु अपनी भक्तमण्डलीके साथ वृन्दावन-पथपर थे, तब वे प्रेमपूर्वक हरिका कीर्तन करते हुए चलते थे। वे विश्वके ऐसे प्रेमी हरिकीर्तनकार थे, ऐसे प्रेमीभक्त थे कि जब वे जंगलसे गुजरते थे तो रास्तेमें हिंसक जीव मिलते थे, वे सभी अपना स्वाभाविक वैरभाव भुलाकर प्रेममयी अमृतधारामें उन महाप्रभुके साथ अपनी सुध-बुध भूलकर प्रेमलीलामें झूमते हुए चलते थे।

प्रेम एक ऐसा भगवद्भाव है जिसे पाकर मनुष्यका जीवन धन्य हो जाता है। प्रेम अन्तःकरणकी भाव वस्तु है, आनन्दकन्द ब्रह्माण्डनायक परमात्मप्रभुकी जब विशेष कृपा होती है, तब वह प्रेम हृदयमें प्रकट होता है। प्रेमरसके उद्घाटनके लिये, प्रेमरहस्योंकी माधुर्यताके लिये, प्रेम-लीलाओंके सम्यक् दर्शनके लिये परमात्मप्रभुने यह मानव-देह एवं मनुष्य-जीवन ही उपयुक्त चुना है। अतः हमें परमात्मप्रभुके आशयको समझकर प्रेम-भावमें निमग्न रहनेकी सतत चेष्टा करनी चाहिये।

प्रेम कोई कर्मजन्य वस्तु नहीं है, कठिन परिश्रम कर लेंगे, कर्म कर लेंगे तब हमें प्रेम नामकी वस्तु मिलेगी ऐसी बात नहीं है; क्योंकि प्रेमका सम्बन्ध अन्तरङ्गभावसे है। प्रेम न तो खेतमें उपजता है और न ही प्रेम नामकी वस्तु बाजारमें बिकती है—

'प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।'

यह तो आध्यात्मिक जगत्की अमूल्य चीज है, इसका कोई मूल्य नहीं होता, बल्कि यह तो बिना मूल्यके प्रेमी भक्तों, संत-महात्माओंके पास उपलब्ध है।

प्रेम भगवान्का सत्यस्वरूप है। इसे किसी बाहरी प्रचार-प्रसारकी तनिक-सी भी आवश्यकता नहीं है और न कोई बाह्यरूप—दिखावा ही चाहिये। प्रेम तो अन्तःकरणसे प्रकट होकर भावरथपर सवार हो निकलता है—तब श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, ज्ञान-विज्ञान, वैराग्य, प्रेरणा और सदाचारके रसमें सराबोर होकर वीणाकी मादकतामें प्रेमी गाने लगता है—

'हे री मैं तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणै कोय॥'

संसारकी अपार सम्पत्ति, उच्चाधिकार, विशाल वैभव तथा श्रेष्ठकुलोत्पन्नता—सब कुछ पीछे छूट जाता है, रह जाती है सिर्फ दीवानगी।

दीवानगीका यह अगम पन्थ संसारी और भौतिकवादी समझ नहीं सकते हैं। विशुद्ध प्रेम, निष्काम प्रेम, निःस्वार्थ प्रेम—यही तो वंशीवादनका मूल मन्त्र है। श्रीकृष्णप्रेमका माधुर्य इतना मर्मस्पर्शी, हृदयस्पर्शी है कि उसे प्रेमी भक्तका अनुभव ही समझ सकता है।

इस नश्वर संसारमें सभी कुछ मिथ्या है, सिर्फ प्रभुका स्मरण, कीर्तन और भगवत्प्रेम ही सत्य है।

श्रीभगवान्से प्रेम, प्रभुसे प्रेम जन्म-जन्मान्तरकी पावन डोरी बन जाती है। जब प्रेम-लगन लग जाती है तब फिर वह टूटती भी नहीं है और वह पवित्रपावन प्रेमका आकर्षण—बन्धन छूटता भी नहीं है।

लौकिक प्रेम—शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय, परिवार, कुटुम्ब, समाज—मोह, ममता, स्नेह और अपने सुख-आरामको लेकर बनता है। जड़ वस्तु-पदार्थमें सुख खोजना लौकिक प्रेम है।

'मैं और मेरा' प्रेम नहीं है, पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा भी प्रेम नहीं है, यह तो तथाकथित प्रेमका खेल है—

सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥

यदि व्यापक प्रभुके स्वरूपभूत प्राणिमात्रमें भगवद्भाव रखकर प्रेमपूर्वक अनासक्तभावसे सबकी सेवा कर सको तो यही लौकिक प्रेम प्रेममय प्रभुकी परम प्रीतिका साधन बन जायगा।

अलौकिक प्रेम—भगवान् श्रीकृष्णने गीता (१०।१०)-में कहा है—'जो भक्त मुझे नित्य-निरन्तर प्रेमपूर्वक भजते हैं—'**भजतां प्रीतिपूर्वकम्**' उनको मैं बुद्धियोग (समताका योग) प्रदान करता हूँ।' ऐसा योग प्राप्त होनेपर जीवन शाश्वत स्थितिको प्राप्त हो जाता है। जहाँ न कोई विषाद है, न हर्ष है, न नफा और न नुकसान है, निन्दा-स्तुति, स्वस्थ-अस्वस्थका कोई भी स्थान नहीं है, कोई संयोग-वियोग भी नहीं अर्थात् अन्तःकरणमें समताका भाव रहता है। परमात्मप्रेममें शान्ति है, अलौकिक प्रेमकी प्रेमवाटिकामें जिन प्रेमी आत्माओंने आनन्द लिया है वे युगों-युगोंसे स्मरणीय हैं—

प्रह्लाद, ध्रुव, मीरा, गोप-गोपियाँ, द्रौपदी, शबरी, सूरदास, तुलसीदास, उद्धव, अक्रूरजी आदि सब-के-सब आज भी प्रातःस्मरणीय, पूजनीय, अलौकिक प्रेमरसको आत्मसात् करनेवाली पुण्यात्माएँ हैं। ऐसेमें लोक भी सुधरता है और परलोक भी। अलौकिक प्रेमगाथा और अलौकिक प्रेम (ईश्वरप्रेम) कभी क्षीण नहीं होता, सदैव नित्य नवीन रहता है।

'प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥'

ये भगवत्प्रेमी आत्माएँ उसी गलीसे गुजरीं जहाँसे, जिसमेंसे कोई दूसरा (अन्य भाव) गुजर ही नहीं सका। यह भगवत्प्रेमकी अलौकिक महिमा आनन्दघनकी महिमा है।

जीवनमें सभी शाश्वत सुख-शान्ति और आनन्दकी अनुभूति चाहते हैं, परंतु इसकी सच्ची अनुभूति हमें तभी हो सकती है जब हम प्रेम-पथपर अग्रसर हों, हम प्रभुसे प्रार्थना करें कि 'हे प्रभो! आप हमें शीघ्र अपना भगवत्प्रेम प्रदान करें।' जो प्रेमरूपसे भगवान्‌की भक्ति करता है, उस व्यक्तिका शीघ्र उद्धार हो जाता है। भगवान्‌की शरणागति और अपने कर्तव्य-कर्मोंका करना उत्तम मार्ग है। कल्याणका एकमात्र उपाय है—गीता, रामायण आदि सद्ग्रन्थोंका अध्ययन, अलौकिक प्रेमके अनुभवसिद्ध भक्तोंका स्मरण, ध्यान और सत्संग।

प्रभु-आश्रयी बनें, संसारके बाह्याडम्बरोंसे बचें और भगवच्चरणारविन्दोंके ध्यानमें परम अनुराग रखें—इसीमें जीवनकी सार्थकता है।

* * *

रामप्रेम ही सार है

सियराम-सरूपु अगाध अनूप बिलोचन-मीननको जलु है।
श्रुति रामकथा, मुख रामको नामु, हिएँ पुनि रामहिको थलु है॥
मति रामहि सों, गति रामहि सों, रति रामसों, रामहि को बलु है।
सबकी न कहै, तुलसीके मतें इतनो जग जीवनको फलु है॥

(कवितावली)

भगवत्प्रेम

(श्रीहरिजी 'हरिबाबा')

जीवन प्रेमकी पूँजी है। जिसके जीवनमें प्रेम नहीं है उसका जीवन मरुभूमिमें नाव चलाने-जैसा ही है अर्थात् उसका जीवन व्यर्थ ही है। प्रेम ही जीवनका सार है। आनन्द प्रेमका प्रकाश है। प्रेमकी झलकमात्र आनन्दसे परिपूर्ण कर देती है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—सब तृप्त, शान्त, सुखमय हो जाते हैं तथा प्रकृति, प्रकृतिकार्य, गुण, स्वभाव—सब कुछ आनन्दमय हो जाता है। जब झलकमात्रसे आनन्दसुधामय झरना फूट पड़ता है तो यदि प्रेममें तल्लीनता हो जाय, तब फिर उसका क्या वर्णन हो सकता है? इसीलिये प्रेमाचार्य देवर्षि नारदने बताया है कि प्रेम अनिर्वचनीय है—

'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥' (ना०भ०सू० ५१)

प्रेम मूर्तिमान् ईश्वर है एवं प्रेम परमात्माका मूल स्वरूप है। प्रेमसे उत्पन्न हुई प्रत्येक किरण आनन्द-ही-आनन्द बिखेरती है। जिसके जीवनमें प्रेमानन्द नहीं, वह जीव नहीं, वरन् मरुभूमिका मृग ही है जो अतृप्त ही समाप्त हो जाता है। जब प्रेममें अवगाहन होगा तो प्रेम प्रकट होगा। प्रेमके बीच सूईके नोक-जितनी कामना, चाहना और इच्छा न हो तो प्रेम स्वतः ही प्रकट होगा। कामना, चाहना और वासना—ये प्रेममें बाधक हैं। प्रेम स्वच्छन्द है, उन्मुक्त है, इसमें स्वार्थकी झलक भी नहीं होती। जहाँ स्वार्थका सम्बन्ध है, वहाँ यथार्थरूप 'स्व'की अनुभूति नहीं होती। स्वार्थका सम्बन्ध मिटते ही स्वानुभूति स्वत:सिद्ध हो जाती है। जैसे सागर एवं सागरकी लहरें, सागरका स्वरूप, उसका रंग, गुण-स्वभाव—सब सागर ही हैं, फिर चाहे सागर शान्त हो उसमें लहरें उठ रही हों अथवा उछाल मारे, सब अपने-आप ही होता है, करता नहीं—यह सागरका स्वभाव है। ऐसे ही प्रेमका होना, शान्त, उछाल, लहर आदि क्रियाएँ भी सब प्रेमका ही प्रतिपादन करती हैं।

कदाचित् प्रेम भूलसे विपरीत दशाको प्राप्त हो जाय अर्थात् भगवान्‌की ओरसे हट जाय, सांसारिक आसक्तिका रूप धारण कर ले तो परम सुखके बजाय परम दुःखरूप हो जाता है। सच्चे प्रेममें दुःखका लेश भी नहीं और जहाँ दुःख है, वहाँ प्रेम नहीं।

प्रेम कोई व्यक्ति, वस्तु, पदार्थ, स्थान, गुण, धर्म या क्रिया नहीं, वरन् ये सभी प्रेमसे ही पोषित एवं पल्लवित होते हैं, प्रेमके अभावमें इनका अस्तित्व मिट जाता है। प्रेम ही परमात्मा है और प्रेमासक्ति ही साधककी साधना है। प्रेममें अत्यन्त विलक्षण शक्ति है, सामर्थ्य है। प्रेम सृष्टिका मूल तत्त्व है, इसलिये जगत्‌में प्रेमकी ही सत्ता है। जैसे जलमें तरंग, फेन, बुलबुले आदि जो भी विकार उठते हैं उन सबकी परिणति जलमें ही है। वैसे ही सृष्टिके जो भी क्रिया-कलाप हैं, सबकी परिणति प्रेमतत्त्वमें विलीन होना ही है। अन्य किसीका भी स्थायित्व—सत्ता नहीं है। मात्र केवल एक प्रेम ही स्थिर रहनेवाला है। जीवका मूलस्वरूप प्रेम ही है। बिना प्रेमके जीव मूर्च्छित, उदास, हताश और निराश होने लगता है। उसका जीवपना ठहरता नहीं है। उसे अपने मूलस्वरूप-प्रेममें परिणत होनेपर ही परम सुख, परम शान्ति, परम तत्त्व तथा परम धामकी प्राप्ति होती है। प्रेमतत्त्व ही परमात्मा है या परमात्मा ही प्रेमतत्त्व है। प्रेम (परमात्मा) निर्विकार तत्त्व है, इसलिये निर्विकार होनेपर ही प्रेमकी प्राप्ति है, बिना निर्विकार हुए निश्चिन्त, निर्भय और निर्द्वन्द्व नहीं हो सकते, प्रेमकी प्राप्ति केवल प्रेम है।

* * *

कृष्ण प्रेम वर दीजै

राधे कृष्ण प्रेम वर दीजै।
परम प्रेम की रसमय प्रीति, सहज भाव भर दीजै॥
निज प्रियतम माधव के संग में मनसा रमण करीजै।
हृदय कमल खिले कञ्जसा रासरति नित कीजै॥
बृजराज बिहारी बृषभानु दुलारी चरणन चित्त करीजै।
राधा गोविन्द 'स्वरूप' दरस को सुख कृपा कर दीजै॥

(पं० श्रीरामस्वरूपजी गौड़)

* * *

जपयज्ञ और प्रेमयज्ञ

(पण्डित श्रीमंगलजी उद्धवजी शास्त्री, सद्विद्यालङ्कार)

आज हम विश्वभरके बड़े विलक्षण एवं महान् दो यज्ञोंकी यहाँ चर्चा करेंगे। उनमेंसे एक यज्ञका नाम है—'प्रेमयज्ञ' और दूसरे महायज्ञका नाम है—'जपयज्ञ'। इन दोनों महायज्ञोंका एक ही संकल्प है। इष्टके प्राप्तिस्वरूप दोनोंका आराध्य भी एक ही है—'प्रेमास्पद'। दोनों महायज्ञोंका फल और कार्य एक होनेसे हम इन दोनों महायज्ञोंको एकमें भी समाविष्ट कर सकते हैं।

हाँ, प्रेम किसी सांसारिक व्यक्तिके प्रति किया जाता हो तो उसमें कुछ अन्तर अवश्य पड़ जाता है। यदि वही प्रेम आत्मा या भगवान्‌के प्रति है तो दोनों महायज्ञ एक ही हैं।

दूसरी बात यह है कि स्वार्थके लिये किसी व्यक्तिके शरीरकी उपासनाको यदि 'प्रेम' कहा जाय तो वह 'प्रेम' शब्दकी अवहेलना या अनर्थ-कल्पना ही होगी। ऐसे प्रेमको 'प्रेम' नहीं, 'वासना' ही कहना उचित है।

जपयज्ञकी प्रारम्भिक भूमिकामें भी क्वचित् दम्भका प्राधान्य बढ़ जाता है। ऐसे साधक 'भक्त' के नामसे प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। परंतु जो अनर्थ प्रेमकी विपरीततामें होता है, वह अनर्थ इस जपयज्ञमें नहीं होता; क्योंकि दम्भसे, अभिमानसे या द्वेषसे भी भगवन्नामका उच्चारण करनेवालेका भी परिणाममें मङ्गल होता है।

'नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥' यह स्वयं श्रीगोस्वामीजीकी घोषणा है।

इसलिये तो 'मरा'-'मरा' जपनेवाला डाकू श्रीरामरूप बन जाता है। द्वेषपूर्वक अनेक गालियाँ देनेवाले शिशुपालकी आत्मज्योति भगवान् श्रीकृष्णके तेजमें विलीन हो जाती है और कपटपूर्वक चतुर्भुज श्रीकृष्णका कृत्रिम रूप धारण करनेवाला पौण्ड्रक सचमुच भगवत्स्वरूप बन जाता है। यह 'जपयज्ञ' की ही महत्ता है।

उदाहरणार्थ—गुड़ या शक्करको गालियाँ देकर भी खाते जाइये, खारे समुद्रके अन्तस्तलमें या अँधेरेमें भी खाइये, मीठे ही लगेंगे। इसी प्रकार भगवन्नाम-जपकी यह अलौकिक चमत्कृति है। नाम-जप करते-करते तदाकार बन जाना—यही नाम-जपकी महत्ता है।

आजका तथाकथित नकली प्रेम तो रिकॉर्डके दो-चार गाने सुनकर भी हो जाता है, किंतु जिस त्वरासे ऐसा प्रेम बनता है, उसी त्वरासे वह मिट भी जाता है। ऐसी वासनाको—इस आसक्तिको 'प्रेम' शब्दसे पुकारना तो पवित्र 'प्रेम' का भयंकर अपमान करना है।

प्रेमके भौतिक उदाहरणमें हम लैला-मजनूको ले सकते हैं। यद्यपि उन दोनोंमें परस्पर शारीरिक वासना नहीं थी, पर दैहिक मिलनकी उत्कण्ठा तो थी ही; किंतु उस प्रेममिलनमें संसारकी अभेद्य दीवार बाधारूप बन चुकी थी। मजनूके प्रेममें पगली-सी बनी हुई लैलाको एक सुवर्णमुद्रा दिखलाकर किसी एक विनोदप्रिय व्यक्तिने पूछा—

यह सोनेकी मुहर मैं तुझे या तेरे मजनूको देना चाहता हूँ। तू ही बता, यह तुझे दी जाय या मजनूको?

'मुझे नहीं चाहिये'—लैलाने तत्काल उत्तर दिया—'मजनूको ही दे दो; मेरा सुख तो उसीके सुखमें संनिहित है।'

उसी व्यक्तिने मजनूके पास जाकर उसके सामने भी यही प्रश्न रखा—'यह स्वर्णमुद्रा तुझे दी जाय या लैलाको?'

'मुझे नहीं'—एक उष्ण निःश्वासपूर्वक मजनूने कह दिया—'लैलाको ही दे दो, उसके सुखमें ही मेरा सुख है।'

उसी व्यक्तिने अपने हाथमें एक पत्थर लेकर लैलासे पूछा—'तुझे या मजनूको यह पत्थर मारनेका मेरा निश्चय है। अब तू ही बता, तुझे मारूँ या मजनूको?'

हाथ जोड़कर रोते हुए लैलाने कहा—'कृपा करके मुझे ही मार दीजिये, ताकि मेरा मजनू बच जाय।'

वही पत्थर दिखलाकर उसने मजनूसे पूछा तो मजनूने हाथ जोड़कर कहा—'लैलाके भागका और मेरे भागका—दोनों ही पत्थर मुझे ही मारो। मेरे और लैलाके प्रेममें मैं ही अपराधी हूँ। लैलाका कोई दोष नहीं है।'

यही है—प्रेमयज्ञका इहलौकिक भव्य दृष्टान्त। बस, इसी स्थानपर प्रेमयज्ञ और जपयज्ञ दोनों एक बन जाते हैं। ऐसे प्रेमी या ऐसे जापक अपने प्रियतमके साथ तद्रूप बन जाते हैं।

यदि आपको जपयज्ञका यजमान बनना है तो आपका

मन—आपका चित्त केवल इष्टनाममें ही जुड़ा रहे, अनिष्टका चिन्तन ही न करे।

—और प्रेमयज्ञके होता बननेके लिये तो हम नीचे लिखे पवित्र शब्दोंका ही उपयोग करेंगे—

सीस उतारै भुइँ धरै, ता पर राखै पाँव।
दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव॥

प्रेमयज्ञ हो या नामयज्ञ—दोनोंमें ही अहंता और ममताकी आहुति देना आवश्यक है। इस दुर्भेद्य अन्तरायके दूर हो जानेके बाद प्रेमी-प्रेमास्पदके बीचमें अन्य कोई व्यवधान नहीं रह जाता। जपयज्ञमें भी उपास्य और उपासकके बीचका वह दुर्भेद्य अन्तराय दूर होते ही अद्वैत सुखकी प्राप्ति होती है। अतएव प्रेमयज्ञ और जपयज्ञ दोनों महायज्ञ अन्तिम परिणाममें तो एक ही हैं। मीराको आप प्रेमयोगिनी कहिये या जपयोगिनी—दोनों एक ही है। इसी तरह भगवान् चैतन्यको आप जपमूर्ति भी कह सकते हैं और प्रेममूर्ति भी। ऐसे प्रेमियोंका ध्यान, चिन्तन या स्मरण स्वयं ही जप बन जाता है।

प्रेमोन्मादिनी गोपीजनोंको आप प्रेमीकी उपमा दीजिये या विप्रयोगी जापक भक्तकी श्रेणीमें रख दीजिये—दोनों ही बराबर हैं। उनका श्वास-प्रश्वास, उनके प्राण और उनकी समस्त शारीरिक क्रियाएँ अपने लिये नहीं, बल्कि अपने प्रियतमके लिये हैं। प्रेमके सिवा अन्य वस्तुमात्र उन्हें अग्राह्य है। इसीसे वे जप, तप, यम, नियम, वैराग्य, ध्यान, समाधि आदि क्रियाओंसे पर बन जाती हैं। इस विषयमें मैं एक उदाहरण देकर लेखको समाप्त करूँगा—

बंगालके महात्मा श्रीशिशिरकुमार घोषने 'कालाचाँद (कृष्णचन्द्र)-गीता' नामक एक सुन्दर ग्रन्थ लिखा है। उसीके एक अंशका यह भाषान्तर है—

'श्रीकृष्णके प्रेमकी भिखारिणी पाँच सखियाँ निकुञ्जमें बैठी थीं। इसी समय एक महान् तपस्वी साधु उस मार्गसे निकले। उन्होंने कौपीन पहन रखी थी, सिर मुँड़ा था। अङ्गोंपर 'श्रीकृष्ण-हरि' नाम लिखे थे। साधुने देखा, अपने रूपसे आभा फैलाती हुई सब बालाएँ निकुञ्जमें बैठी हैं। उनके मुखकमल सरल और निर्मल हैं। आँखोंसे प्रेम छलक रहा है। साधुको देखते ही उन सबने उठकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया और कहा—'हम अपने कृष्ण-धनको खोकर वनमें भटक रही हैं। कोई उपाय बताओ जिससे वे मिल जायँ।' उन सखियोंके भावपूर्ण मुखोंका निरीक्षण कर साधुकी आँखें भर आयीं। साधुने दुःखी होकर कहा—'अरी बेसमझ! सुनो। (तुम्हें यों) कृष्ण कहाँ मिलेंगे! हजारों वर्ष तप करनेपर भी ध्यानमें भी जिनकी झाँकी नहीं होती, तुमलोग निकुञ्जमें बैठकर फूल गूँथती हुई उन्हें कैसे पा लोगी?'

इसपर कुलकामिनीने कहा—'साधुबाबा! हम यह भलीभाँति जानती हैं, कृष्ण-जैसा धन यों ही नहीं मिल जाता। अतः तुम जो कहोगे, हम वही सब करेंगी। कृष्णके लिये प्राण तक दे देंगी।'

साधुने कहा—'उपवास करके शरीरको सुखाओ, तब कृष्ण-कृपा प्राप्त होगी। जितना ही तुम्हारा शरीर शीर्ण होगा, क्रमशः उतनी ही श्रीकृष्णकी करुणा बढ़ेगी।'

साधुकी यह बात सुनकर वे सब नव-तरुणियाँ सन्न रह गयीं और एक-दूसरीके मुखकी ओर देखने लगीं। उन्होंने कहा—'हम दुःख पायेंगी और श्रीकृष्ण सुखी होंगे, यह तो कभी हो नहीं सकता। हमारे दुःखकी बात सुनते ही वे रो-रोकर अपनेको खो देते हैं। हम दुःख उठाकर उनको रुलावें—यह कैसा भजन है?'

साधुने हँसकर कहा—'केशोंकी ममता छोड़नी होगी और सिर मुँड़ाना होगा। फिर तुलसीके नीचे सिर रगड़ना होगा—तब कृष्ण प्रसन्न होंगे।'

इतना सुनते ही वे सब नवबालाएँ चौंककर एक-दूसरीकी ओर देखने लगीं। तदनन्तर रंगिणीने कहा—'साधुबाबा, सुनो! यह तुमने क्या बात सुनायी? केश मुँड़वा देंगी और वेणी न बाँधेंगी तो जूड़ेमें चम्पा कैसे लगायेंगी? और कैसे मालतीकी मनोहर माला गूँथकर जूड़ेपर लपेटेंगी? उस हमारी बाँकी वेणीको देखकर रसिकशेखर श्रीकृष्ण कितने प्रसन्न होते हैं, हम उनके मनकी बात जानती हैं। वे इससे कितने सुखी होते हैं, हमारे उपवास आदिसे वे सुखी नहीं होंगे।'

कङ्गालिनी बोली—'साधुबाबा! जब हम अश्रुजलसे उनके अरुण चरणयुगलको धोती हैं, तब इन केशोंसे ही उन्हें पोंछती हैं। जब केश मुँड़वा देंगी, तब प्रियतमके पैर धोकर हम किससे पोंछेंगी।'

कुलकामिनीने कहा—'हम योग-त्याग करके उनको क्यों फुसलायेंगी? वे तो हमारे पराये नहीं हैं, अपने ही हैं। वे हमारे स्वामी होते हैं, हम स्नेह-सेवा करके ही उन्हें

संतुष्ट करेंगी।'

प्रेमतरङ्गिणी बोली—'उनके विरहमें जब हम अत्यन्त दुःखी हो जाती हैं, तब इन केशोंको खोलकर देखती हैं। ये काले केश हमें श्रीकृष्णकी स्मृति कराते हैं। अतएव इन्हें, हे सखी! मैं तो नहीं मुँड़वा सकूँगी।'

सजलनयनाने कहा—'जब हम केश मुँड़वाकर कौपीन पहनकर दुःखिनीका वेश बना लेंगी, तब तो हमारे वे श्रीकृष्णचन्द्र रो-रोकर व्याकुल हो जायँगे। मैं उनको अच्छी तरह जानती हूँ।'

तब रसरङ्गिणीने साधुसे पूछा—'साधुबाबा! सुनो-सुनो, हमें संदेह हो रहा है, तुम किसे 'कृष्ण' कहते हो? वह कृष्ण है कौन और उसके साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध है?' (वह तुम्हारा क्या लगता है?)

इसके उत्तरमें साधुने कहा—'अरी बेसमझ लड़कियो! कृष्ण दो नहीं हैं। वे सबके ईश्वर हैं। वे जब संतुष्ट होते हैं तब सम्पत्ति और रुष्ट होते हैं तब विपत्ति आती है। वे सर्वोपरि दण्डधर हैं; उनको प्रसन्न करनेके लिये मैं कितने दुःख उठाता हूँ, तब भी उन्हें संतुष्ट नहीं कर पाता। कहीं उनका कोई नियम भङ्ग न हो जाय, इसी भयकी बात सोच-सोचकर मरा जाता हूँ।' साधुकी बात सुनते ही उन सबके चेहरे खिल उठे। तदनन्तर उन सबने विनयपूर्वक कहा—'साधु! तुम्हारी बातोंसे तो प्राण ही निकल गये थे। अब मालूम होता है—प्राण लौट आये हैं। तुम जिनकी बात कहते हो, वे कोई भी हों, हमारे प्राणनाथ तो नहीं हैं। हमारे जो श्रीकृष्ण हैं, वे तो हमारे पति हैं; न वे दण्डधारी हैं और न वरदाता ही। हम उनकी निजजन हैं—उनकी पत्नी हैं। उनका जो कुछ है, सभी हमलोगोंका है। उनसे हम किस कारणसे कुछ चाहेंगी, जब कि भण्डारकी चाभी ही हमारे हाथमें है? और दण्डकी बात सुनकर तो मनमें डर लगता है। हम सब उनकी ही हैं, तब वे दण्ड क्यों देंगे? जब कुपथ्य करनेपर रोग होता है, तब अपने घरवालोंको कड़वी औषधि भी खिलायी जाती है, व्रण होनेपर उसे छुरीसे कटवाया भी जाता है। कौन कहता है कि यह दण्ड है? वे हमारे प्राणनाथ तो केवल मङ्गलमय हैं; हम उनके प्रति कितना उत्पात करती हैं? यदि घरका स्वामी ही शासन न करे तो बताओ, कौन करेगा? हमारे प्राणनाथ स्नेहसे दण्ड भी देते हैं तो वह दण्ड नहीं है, वह तो उनका परम प्रसाद है।'

और सुनिये—

'तुमलोग पुरुष हो; राजसभामें जाते हो, स्वार्थके लिये राजाको कर देते हो। हमें यदि कोई कर चुकाना होगा तो निश्चय ही हमारे पति चुकायेंगे। दण्ड हो या पुरस्कार—इस बातको पति ही जानें—हमें इसमें कुछ भी अधिकार नहीं है। यदि उस राजासे कुछ काम होगा तो उसे प्राणनाथ ही जानें, हम तो रमणी हैं। हमने तो अपना सारा दायित्व प्रियतमको अर्पण कर दिया है, देह-प्राण-मन—सब उनके चरणोंमें सौंप दिये हैं; हम तुम्हारे उस 'राजा श्रीकृष्ण' की सेवा नहीं कर सकेंगी। राजसभामें तो जाते ही हम भयसे मर जायँगी। पुरस्कारके लिये हम राजसभामें जायँ? हम तो सरलहृदया रमणी हैं, कैसे स्तुति की जाती है—यह नहीं जानतीं। तुम साधु—ऋषि हो या मुनि हो; तुम्हारे चरणोंमें हम क्या कहें, यह भी नहीं जानतीं। हम तो संसारी हैं—पतिके घरमें रहती हैं; संसारसे बाहर नहीं जा सकतीं। हमें प्राणनाथ श्रीकृष्ण छोड़ गये हैं, इसीसे वनमें उन्हें खोजती-फिरती हैं। वे इस वनमें ही छिपे रहते हैं; तुमने उन्हें कहीं देखा हो तो कृपा करके बतलाओ। बस, यही बात है।'

उस समय उन निर्मल, सरल बालाओंको देखकर साधुकी आँखोंमें जल भर आया। साधुने कहा—'बालाओ! मैं एक निवेदन करता हूँ। मैं तुमलोगोंकी बातोंको भली-भाँति समझ नहीं पा रहा हूँ। तुम्हारे उन पतिका कैसा रूप है, मुझे उनका स्वरूप समझाकर कहो?' इस बातके सुनते ही सब सखियाँ आनन्दमग्न हो गयीं और उनके मुख प्रफुल्लित हो गये।

रसरङ्गिणी कहती है—

'उनके कमल-नयन हैं। सुन्दर चाँद-सा मुखड़ा है। हमारे पतिने वनमाला धारण कर रखी है—

सुनो—वही, वही, वही; उसीने तो कुलका किनारा तोड़ दिया।' सब करताली बजाने लगीं—'सुनो साधु! सुनो, उनके अगणित गुण हैं, कैसे बतायें।'

'कृतार्थ कर दिया'—कहकर कङ्गालिनीने रङ्गिणीके चरण पकड़ लिये। सजलनयना गुण बतलाने चली कि उसका कण्ठ रुक गया। प्रेमतरङ्गिणी उसे पकड़कर बार-बार उसका मुख चूमने लगी। कुलबालाने उठकर कहा—'सखियो! आओ, एक बार नाचें।'

वे सब करताली बजाकर मुखसे 'हरि-हरि'—बोलने लगीं और अङ्गोंको मटका-मटकाकर एक ही पैर

जमीनपर टिकाकर नाचने लगीं। यों अपने दुःखको भूलकर करताली बजाती हुई सब सखियाँ नाच रही थीं। उन्हींके साथ वह साधुबाबा भी नाचने लगा और उसका भवबन्धन कट गया।

× × ×

इसी अनन्य प्रेमकी जिसे भी प्राप्ति हो जाती है, वह चाहे ब्राह्मण हो या चाण्डाल, स्त्री हो या पुरुष, संसारी हो या वैरागी, पण्डित हो या मूर्ख, वही सचमुच कृतार्थजीवन है। वहाँ इन रेखाओंकी अपेक्षा ही नहीं रहती। भक्तिसूत्रकी भाषामें कहिये तो—

'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति॥'

(ना०भ०सू० ४)

'प्रेम-प्रेम'की पुकार करनेसे मनुष्य प्रेमी नहीं बन सकता। प्रेमयज्ञ कहिये या जपयज्ञ कहिये; वे वस्तुतः हमारे समस्त ममत्व और सङ्गकी आहुति माँगते हैं। अतः हमें चाहिये कि हम अपने तमाम दुर्गुणोंको सर्वथा त्यागकर इस पवित्र यज्ञमें अपने सर्वस्वको स्वाहा कर दें—

प्रेमपन्थ पावकनी ज्वाळा, भाळी पाछा भागे जोने।
माँहि पड्या ते महासुख माणे, देखनारा दाझे जोने॥

'यह प्रेमपन्थ पावककी ज्वाला है। इसे देखते ही सर्वस्व स्वाहा हो जानेके भयसे लोग भाग छूटते हैं। पर जो इस प्रेमाग्निमें प्रविष्ट हो जाते हैं, उन्हें जरा भी आँच नहीं लगती, वरं महान् सुखकी अनुभूति होती है। हाँ, इस आनन्द प्राप्त करनेवालेको देखकर दुनियाके लोग अवश्य जलते-भुनते हैं।'

यही सर्वोच्च सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है। परम कृपालु नन्दनन्दन-आनन्दकन्द हम सबको इस परमपदके अधिकारी बनायें। बोलो श्रीश्यामसुन्दरकी जय!

प्रेम-तत्त्व

१-वह प्रेम प्रेम नहीं है, जिसका आधार किसी इन्द्रियका विषय है।

२-नियमोंके सारे बन्धनोंका अनायास आप-से-आप टूट जाना ही प्रेमका एकमात्र नियम है।

३-जहाँतक नियम जान-बूझकर तोड़े जाते हैं, वहाँतक प्रेम नहीं है, कोई-न-कोई आसक्ति तुमसे वैसा करवा रही है, प्रेममें नियम तोड़ने नहीं पड़ते, परंतु उनका बन्धन आप-से-आप टूट जाता है।

४-प्रेममें एक विलक्षण मत्तता होती है, जो नियमोंकी ओर देखना नहीं जानती।

५-प्रेममें भी सुखकी खोज होती है, परंतु उसमें विशेषता यही है कि वहाँ प्रेमास्पदका सुख ही अपना सुख माना जाता है।

६-प्रेमास्पदके सुखी होनेमें यदि प्रेमीको भयानक नरक-यन्त्रणा भोगनी पड़े तो उसमें भी उसे सुख ही मिलता है; क्योंकि वह अपने अस्तित्वको प्रेमास्पदके अस्तित्वमें विलीन कर चुका है।

७-अपना सुख चाहनेवाली तो वेश्या हुआ करती है, जिसके प्रेमका कोई मूल्य नहीं! पतिव्रता तो अपना सर्वस्व देकर भी पतिके सुखमें ही सुखी रहती है; क्योंकि वह वास्तवमें एक पतिके सिवा अन्य किसी पदार्थको 'अपना' नहीं जानती।

८-प्रेमास्पद यदि प्रेमीके सामने ही उसकी सर्वथा अवज्ञा कर किसी नवीन आगन्तुकसे प्रेमालाप करे तो इससे प्रेमीको क्षोभ नहीं होता, उसे तो सुख ही होता है, क्योंकि इस समय उसके प्रेमास्पदको सुख हो रहा है।

९-जो वियोग-वेदना, अपमान-अत्याचार और भय-भर्त्सना आदि सबको सहन करनेपर भी सुखी रह सकता है, वही प्रेमके पाठका अधिकारी है।

१०-प्रेम जबानकी चीज नहीं, जहाँ लोक-परलोकके अर्पणकी तैयारी होती है, वहीं प्रेमका दर्शन हो सकता है।

११-प्रेमके दर्शन बड़े दुर्लभ हैं, सारा जीवन केवल प्रतीक्षामें बिताना पड़े, तब भी क्षोभ करनेका अधिकार नहीं।

१२-प्रेमका आकार असीम है, जहाँ संकोच या सीमा है, वहाँ प्रेमको स्थान नहीं।

१३-प्रेम, प्रेमके लिये ही किया जाता है और इसकी साधनामें बिना विरामके नित्य नया उत्साह बढ़ता है।

१४-प्रेम अनिर्वचनीय है, प्रेमका स्वरूप केवल प्रेमियोंकी हृदयगुफाओंमें ही छिपा रहता है। जो बाहर आता है सो तो उसका कृत्रिम स्वरूप होता है।

* * *

प्रेमोपासना और उसके विविध रूप

[परमात्मप्रभुको प्रसन्न करनेके लिये हमारे धर्म-शास्त्रोंमें विविध विधियोंका निरूपण हुआ है। विभिन्न मतों एवं सम्प्रदायोंमें भिन्न-भिन्न उपासना-पद्धतियाँ प्राप्त होती हैं तथा आचार्यों और संतोंने भी अपने अनुभवके आधारपर उपासनाके विभिन्न आयाम प्रस्तुत किये हैं, परंतु इन उपासना-पद्धतियोंका जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहस्य है, वह यह है कि यह उपासना अनुरागात्मिका होनी चाहिये। अर्थात् प्रेमसे समन्वित उपासना और भक्ति ही भगवान्‌को प्राप्त कराती है।

पराशरनन्दन श्रीव्यासजीके मतानुसार भगवान्‌की पूजा आदिमें अनुराग होना ही भक्ति है—'पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः॥' (ना०भ०सू० १६) इसी प्रकार श्रीगर्गाचार्यजीने कहा—भगवान्‌की कथा आदिमें अनुराग होना ही भक्ति है—'कथादिष्विति गर्गः॥' (ना०भ०सू० १७) श्रीशाण्डिल्य ऋषिके मतमें आत्मरतिके अविरोधी विषयमें अनुराग होना ही भक्ति है—'आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः॥' (ना०भ०सू० १८) परंतु देवर्षि नारदके अनुसार—अपने सब कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना और भगवान्‌का थोड़ा-सा भी विस्मरण होनेपर परम व्याकुल होना ही प्रेमाभक्तिके लक्षण हैं—'नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति॥' (ना०भ०सू० १९)

इस प्रकार अपने ऋषियोंने प्रेमपूर्ण भक्ति और उपासनाके विभिन्न रूप प्रस्तुत किये। इसके साथ ही रामायण, महाभारत तथा श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें विभिन्न प्रेमी भक्तोंने अपने आत्मीय और लौकिक सम्बन्धोंके आधारपर प्रेमास्पद प्रभुको प्रगाढ़ प्रेम प्रदान कर उनकी प्रसन्नता प्राप्त की है।

इस प्रकार इस अनुभागमें वात्सल्यप्रेम, पितृप्रेम, सख्यप्रेम, दाम्पत्यप्रेम तथा दास्यप्रेम आदि सम्बन्धपूर्ण प्रेमका निदर्शन हुआ है। भारतकी इस पवित्र भूमिमें ऋषि-महर्षियों, आचार्यों तथा प्रेमी भक्तोंका एक उज्ज्वल इतिहास रहा है, जिन्होंने अपने ढंगसे भगवान्‌की प्रेमपूर्ण उपासना कर प्रभुको प्रसन्न किया है और वे उन्हें प्राप्त भी कर सके। यहाँ इन्हीं प्रेमी भक्तोंकी प्रेमपूर्ण उपासनाके विविध स्वरूपको यत्किञ्चित् रूपमें प्रस्तुत करनेका प्रयास किया गया है—सं०]

प्रेमोपासना और प्रेमानुभूति

उधर ब्रह्मकी **'एकोऽहं बहु स्याम्'** की अमूर्त वासना स्फुरित हुई, इधर कोटि-कोटि विश्वका रंगमञ्च नाच उठा। अभिनय प्रारम्भ हुआ। पात्र आने-जाने लगे और नाटकमें ऐसे लय हो गये कि उन्हें अपनी स्वतन्त्र व्यक्तिगत सत्ताका भान भी मिट गया। इस विराट् अभिनयकी कोई 'इति' नहीं, कोई ओर-छोर नहीं। पात्रोंका एक-पर-एक ताँता बँधा हुआ है; एक जाता है, दूसरा प्रकट होता है; ऐसे ही अनन्त कालतक चलता रहेगा। सृष्टि और प्रलय पटाक्षेपमात्र हैं—दृश्य-परिवर्तनमात्र हैं। यह अभिनय तो सृष्टि और प्रलयको पार करता हुआ चलता चलेगा।

इस अभिनयमें हम सभी पात्र हैं, सभी अपने-ही-अपने अभिनयमें बेसुध हैं; दूसरेकी ओर देखनेकी सुध ही नहीं है। हाँ, प्रभुकी यह भी एक लीला ही समझिये कि इन व्यक्तिगत स्वतन्त्र अभिनेताओंके क्रिया-कलापोंमें भी एक शृंखला है, एक प्रवाह मिलता है, अन्यथा सभीके अभिनय अधूरे अथ च अर्थहीन हैं। इन अस्पष्ट क्रियाओंके भीतरसे सूत्रधार अपना लीला-कुतूहल पूरा कर रहा है।

हम सभी इस अभिनयमें इस प्रकार संलग्न हैं कि हम भूल जाते हैं कि इसका कोई सञ्चालक या सूत्रधार भी है या नहीं। यही खूबी भी है इस विश्व-रंगमञ्चकी। सभी अपनी-अपनी परिधिपर नाच रहे हैं, पागल होकर, बेखबर होकर। एकको परिधि दूसरेकी परिधिके स्पर्शमें भले ही आ जाय, परंतु व्यतिक्रम नहीं कर सकती, लाँघ नहीं सकती। इन सारी परिधियोंका एक ही केन्द्र है; वह मूल केन्द्र इन भिन्न-भिन्न परिधियोंसे समान दूरीपर है। वही हमारा सूत्रधार है और वही इस विराट् अभिनयका दर्शक भी है। हमारा सूत्रधार ही हमारा दर्शक है और फिर भी हमारे अभिनयकी एक स्वतन्त्र गति है, स्वतन्त्र संकेत

है, स्वतन्त्र पथ है। कठपुतली नचानेवाला जाने कि उस पुतलीको कबतक किस-किस रूपमें नाचना है—दूसरे समझनेकी चेष्टा भी करें तो व्यर्थ ही है न।

इस रहस्यकी तहमें प्रवेश कीजिये। यह जीवन एक जाग्रत्-स्वप्न है। स्वप्नमें ऐसा प्रतीत होता है कि जो सुख-सम्भोग, राज-पाट, धन-स्त्री, महल-अटारी, पुत्र-कलत्र आदि हम पा रहे हैं, वे सब सर्वथा सत्य हैं। स्वप्न देखनेवालेके मनमें स्वप्न देखते समय यह तनिक भी नहीं भासता कि यह सब कुछ 'पानीका बुलबुला' भी नहीं है—यह सब कुछ हवाई किलेसे भी गया-बीता है। संक्षेपमें, स्वप्न देखनेवालेको स्वप्न देखते समय स्वप्नकी असत्यता तथा भूल-भुलैयाका पता भी नहीं चलता। वह बेखबर 'सपनेकी सम्पत्ति' का सुख लूटने लगता है कि… !!! नींद टूटती है, आँखें खुलती हैं और वह देखता है—उसके सामनेके महल तथा परियाँ पता नहीं कहाँ गायब हो गयीं। वह जागता है और देखता है कि वे सुख-भोग जिन्हें वह स्वप्नावस्थामें ठोस सत्य समझकर हृदयसे चिपकाये था—हवामें काफ़ूर हो गये; बस वही टूटी खाट, वही उजड़ा हुआ छप्पर, वही फटी हुई चादर और बुझी हुई रोशनी! वह जागता है तथा सोचता है—अरे, ये चीजें कहाँ गयीं? वे सुख कहाँ विलीन हो गये?

केसव! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना बिचित्र हरि! समुझि मनहिं मन रहिये॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइय एहि तनु हेरे॥
रबिकर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै॥

(विनय-पत्रिका १११)

ठीक इसी प्रकार यह जगत् और हमारा जीवन भी है। यह संसार भी एक ठोस पदार्थ-सा प्रतीत होता है। यह जीवन भी एक अखण्ड सत्यका स्वरूप प्रतीत होता है। आज हम चक्रवर्ती हैं—कल निर्वासित अपरिचित साधारण दरिद्र व्यक्ति! आज जो रानी है, कल वही सड़कोंपर झाड़ू देते नजर आती है। करोड़पति दाने-दानेके लिये मुहताज हो जाते हैं; कङ्गालके घर सोना बरस जाता है। हम देखते हैं कि चार मिनटके भूडोलने किसकी कैसी दयनीय स्थिति ला दी। यह सब कुछ हम देखते हैं, फिर भी स्वप्न-का-स्वप्न ही बना रहता है—ख़ुमारी टूटती नहीं। कभी ऐसा नहीं हो पाता कि आँखें खोलकर एक पलके लिये भी तो इस लुभावने स्वप्नके 'उस पार' देखें। कभी ऐसा साहस नहीं होता कि स्वप्नोंके इस जालको छिन्न-भिन्न कर दें।

स्वप्नकी असत्यता तथा सपनेमें पायी हुई सुख-सम्पत्तिकी असारताको सोता हुआ व्यक्ति क्या और कैसे समझे? हम सभी इस जाग्रत्-स्वप्नके शिकार हैं। जाग जाना तो कठिन भी है न। परंतु जो जाग जायगा उसे यह बतलानेकी आवश्यकता ही न होगी कि जो कुछ तुमने देखा-सुना अथवा भोगा था, वे सब व्यर्थ थे—कहीं उनका पता नहीं है। अपनेको होशमें ला देना ही स्वप्न और स्वप्नकी मायाकी व्यर्थता तथा असारता समझ लेना है। नींद टूटती है—वह बेचारा सोचने लगता है, अरे! मैं कहाँ-का-कहाँ लुभाये फिरा, मारा-मारा फिरा। मैं तो न उस महलका राजा ही हूँ, न उस परीका प्रेमी ही। मेरी सत्ता तो सर्वथा भिन्न है। ठीक इसी प्रकार इस जीवनरूपी स्वप्नमें जगत्के वैभव व्यर्थ हैं, असार हैं—यह सब कुछ बतलानेकी आवश्यकता उस व्यक्तिके लिये नहीं है, जो जाग चुका है और जो अपनी वास्तविक सत्ताको समझता है।

इस जाग्रत्-स्वप्नको तोड़कर, आँखें खोलकर चलनेवाले संतोंने हमें बार-बार चेताया है—

रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागदकी पुड़िया, बूँद पड़े घुल जाना है॥

और बार-बार आत्माको उद्बोधित कर उस देशका संकेत किया है, जहाँ आनन्द-ही-आनन्द है—

'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥'

(गीता १५।६)

हंसा छाड़ि चलो व्रा देस जहाँके गये कोइ ना फिरै।

इसी सम्बन्धमें 'एक निर्गुन' भी द्रष्टव्य है—

चलु मन जहाँ बसे प्रीतम हो, बैरागी मोरे यार।

लगली बजरिया अगमपुर हो, हीरा रतन बिकाय,
चतुर चतुर सौदा कइले हो, मूरख पछिताय।
साँप छोड़ैलै सँपकेंचुल हो, गंगा छोड़ैली अरार।
हंसा छोड़ैलै आपन गिरिह हो, जहाँ कोई ना हमार॥

रे मन! यहाँ क्या रखा हुआ है जो चिपटे हुए हो, चलो उस देशको चलें जहाँसे फिर इस ऐन्द्रजालिक दुनियामें लौटना नहीं होता। अगमपुरमें हीरे-रत्नोंकी हाट लगी हुई है, जो चतुर हैं वे तो सोच-समझकर सौदा कर लेते हैं, परन्तु जो मूर्ख हैं वे हाथ मलते रह जाते हैं। जिस प्रकार साँप अपनी केंचुल छोड़ देता है और गङ्गाजी अपनी अरार छोड़ देती हैं, ठीक उसी प्रकार 'हंस' भी इस गृहको छोड़कर चल देता है—यहाँ अपना है ही कौन? रे हंस! उड़ो, चलें उस देशको जहाँ 'प्रीतम' है!

प्रायः सभी संतोंने पर्दा उठाकर सत्य सौन्दर्यको देखा था, इसीको श्रुति कहती है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

सत्यके घड़ेपर सोनेका ढक्कन पड़ा हुआ है। हे सूर्यदेव! इस ढक्कनको हटा दो जिससे सत्य-धर्मको हम देख लें और देखनेके बाद—

'शरवत्तन्मयो भवेत्'

जिस प्रकार बाण अपने लक्ष्यमें लय हो जाता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्ममें लय हो जायँ।

इस जाग्रत्-स्वप्नके रहस्यको वही बतला सकता है, जो स्वयं जाग चुका हो। इन्हीं जगे हुए व्यक्तियोंमें रामानन्द, कबीर, तुलसी, सूर, मीरा, रैदास, पीपा, दादू आदि अनेक संत हुए हैं। इन्होंने जीवनके 'उस पार' को देखा था और संसारकी असत्यताका तीव्र अनुभव किया था तथा अपने इस सान्त जीवनमें अनन्त आनन्दकी स्थापना की थी। हम इनको भक्त या ज्ञानी न कहकर संत कहना ठीक समझते हैं। अब देखना है कि इन संतोंने संसारकी असारता तथा जीवनकी असत्यताका प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए अपने हृदयमें प्रभुके प्रति प्रेमकी कैसी अनुभूति प्राप्त की थी। हमें यह न भूल जाना होगा कि साधनाका प्राण है 'अनुभूति'। अनुभूति संवेदन-मूलक होती है और संवेदन है हृदयका धर्म। हृदय नारी है, मस्तिष्क पुरुष। इन दोनोंके पूर्ण संयोगसे ही साधनाका पथ सरल हो सकता है। मस्तिष्कका धर्म है विचार और वह है पुरुष। हृदयका धर्म है संवेदन और वह है नारी। हमें ज्ञानकी आगमें अपने कर्मोंको पवित्र कर भक्तिके हाथ सौंप देना है। भक्ति ही अपनेको श्रीकृष्णार्पण कर सकती है। ज्ञान कर्मोंमें प्रकाश भर देगा, भक्ति उसमें ताप और जीवन देकर भगवान्के चरणोंमें चढ़ा आयेगी। ज्ञान विश्वसे वैराग्य बढ़ाता जायगा, भक्ति भगवान्के चरणोंमें सम्बन्ध दृढ़ करती जायगी। न कोई कोरा ज्ञानी होता है, न कोई कोरा भक्त। भक्तमें ज्ञानी और ज्ञानीमें भक्त छिपा रहता है।

द्वैत और अद्वैत, ज्ञान और भक्तिके बाह्य प्रतिबन्धको हटाकर यदि हम संतोंकी जीवनधारामें प्रवेश करें तो उनके हृदयमें एक अपूर्व प्रेमकी अजस्र धारा प्रवाहित होते पायेंगे। उन सभीके हृदयमें 'साजनके देश' में प्रवेश करनेकी और साईंकी सेजपर पौढ़नेकी तीव्र उत्कण्ठा रही है। सभीने इस शरीरके भीतर अनन्त छविको घूँघट उठाकर भर आँख देखनेकी चेष्टा की है—

घूँघटका पट खोल री, तोहे पीव मिलेंगे॥

× × ×

रंगमहलमें दीप बरत हैं, आसनसे मत डोल रे॥

घूँघटका पट खोल देनेपर 'पीव' तो मिल ही गये, अब तो प्रतिपल उनके मधुर दर्शनमें मन माता-माता फिरता है। वह एक पलकी झाँकी आँखोंका चिरन्तन व्यापार बन गयी—अब तो सदा सर्वत्र 'वही वह' दीखता है। इस सहज समाधिका रूप भी कैसा लुभावना है—

जहँ जहँ डोलौं सो परिकरमा, जो कछु करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दंडवत, पूजौं और न देवा॥
कहौं सो नाम, सुनौं सो सुमिरन, खाऔं पियौं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं भाव मिटावौं दूजा॥

× × ×

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥

और—

खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि सुंदर रूप निहारौं॥

'जहाँ देखता हूँ वहीं तू-ही-तू है'—अब यह संसार जो सबको भुलानेका स्वप्नजाल बुनता आ रहा है, संतके लिये प्रभुका स्वरूप हो जाता है। बीचका द्वैत मिट जाता है। रात-दिन, सोते-जागते, उठते-बैठते समाधि लगी रहती

है—वह समाधि जिसमें पत्नी अपनेको पतिमें सर्वथा लय कर देती है। यही **'रसो वै सः'** है। जिस प्रकार पत्नीका पतिमें प्रेम होता है, ठीक उसी प्रकार हमारा प्रेम प्रभुमें हो! समस्त विश्वमें हमारे प्रभुकी रूपश्री बिखरी हुई है और हम सदा उसके बटोरनेमें लगे हैं—

प्रभुजी! तुम चंदन, हम पानी।
जाकी अँग अँग बास समानी॥
प्रभुजी! तुम घन बन, हम मोरा।
जैसे चितवत चंद चकोरा॥
प्रभुजी! तुम दीपक, हम बाती।
जाकी जोति बरै दिन राती॥
प्रभुजी! तुम मोती, हम धागा।
जैसे सोनहिं मिलत सुहागा॥

कबीरने अपनेको ***'हरिकी बहुरिया'*** कहा तथा गोसाईंजीने ***'कामिहि नारि पिआरि जिमि'*** द्वारा अपनी भक्ति-भावनाको दृढ़ किया। श्रीहरिदासने ***'घट घट हौं बिहरौं'*** की तीव्र अनुभूतिमें ही साजनके मधुर मिलनका रस पिया था।

'सुरत कलारी भइ मतवारी, मदवा पी गइ बिन तोले॥'

मीराका तो इस सम्बन्धमें कुछ कहना ही नहीं है। वह तो भक्तिमें विह्वल होकर प्रेमके समुद्रमें कूद पड़ी—

हे री मैं तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणै कोय॥
सूली ऊपर सेज हमारी सोवण किस बिध होय।

फिर भी वह प्रेमसाधनामें प्रवृत्त होकर 'साईंकी सेज'-का सुख पा सकी, प्रेमका अमृत पी सकी।

प्रेमकी यह धारा समस्त विश्वके संतोंमें मिलती है। सभीने इस जीवनको प्राणवल्लभके चरणोंमें चढ़ाकर धन्य किया है। सूफ़ियोंमें तो 'इश्क़ हक़ीक़ी' की वह तीव्र धारा बही कि सारा संसार उनके साजनका प्रतिबिम्ब बन बैठा। जायसी और कुतबनने परमात्माको प्रेमीके रूपमें प्राप्त किया था। उनके लिये भी—

सब घट मेरा साइयाँ सूनी सेज न कोय।

इसी प्रेमानुभूतिको एक अंग्रेज भक्तिनके शब्दोंमें सुनिये—

It was a sweetness which my Soul was lost in; it seemed to be all that my feeble frame could sustain. There was but little difference whether I was asleep or awake, but if there was any difference, the sweetness was greatest while I was asleep.

× × ×

'इस माधुर्यमें मेरी आत्मा डूब जाती थी! प्रेमके इस आवेशमें मेरा सारा शरीर बेसँभार हो जाता था। मैं जानती न थी कि मैं जाग रही हूँ या सो रही हूँ। हाँ, जब मैं सोती रहती थी, उस समय प्रेमकी यह बहिया और भी अधिक उमड़ पड़ती थी।'

आधी रात प्रभु दरसण दीनो प्रेम नदीके तीरा।

ये वचन हैं तो मीराके, परंतु प्रेमकी इस दिव्य अनुभूतिको एक अमेरिकन भक्त महिलाके मुखसे सुनिये—

It was my practice to arise at mid-night for purposes of devotion. It seemed to me that God came to me at the precise time and woke me from sleep in order that I might enjoy Him. When I was out of health or greatly fatigued, He did not awake me; but at such times I felt, even in my sleep, a singular possession of God. He loved me so much that He seemed to pervade my being, at a time when I could be only imperfectly conscious of His presence. My sleep is some times broken—a sort of half sleep; but my soul seems to be awake enough to know God when it is hardly capable of knowing anything else.

'आधी रात जागकर प्रभुकी प्रार्थना करनेकी मेरी आदत थी। मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि प्रभुजी ठीक समयपर आकर मुझे जगा देते थे, जिसमें मैं उनके प्रेमका अमृत पी सकूँ! जब मैं अस्वस्थ रहती या थकी होती तो वे जगाते तो नहीं, परंतु सोये-सोये ऐसा प्रतीत होता कि मैं प्रभुकी गोदमें हूँ। मुझे जब उनके आनेका भान भी न होता तो वे आकर मेरी आत्मापर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेते थे। रातमें मेरी नींद उचट जाती है, कभी-कभी आधी सोई आधी जागी रहती हूँ, फिर भी उनकी उपस्थितिका भाव बराबर बना ही रहता है।'

संक्षेपमें, हमने देख लिया कि सर्वत्र संतोंने प्रभुके परम प्रेमका रसास्वादन एक अपूर्व ढंगसे ही किया है, जिसे हम भक्तिके शब्दोंमें माधुर्य-भाव कह सकते हैं।

रामभक्तिमें रसिक सम्प्रदायके प्रेमी भक्त

(श्रीसियाशरणजी शास्त्री, व्याकरणदर्शनाचार्य, साहित्यरत्न)

सौन्दर्यसारसर्वस्वं माधुर्यगुणबृंहितम्।
ब्रह्मैकमद्वितीयं तत् तत्त्वमेकं द्विधा कृतम्॥
वेदादिशास्त्रसंवेद्यं सीतारामस्वरूपकम्।
सरहस्यं सतां सेव्यमद्भुतं प्रणमाम्यहम्॥

वेद, उपनिषद् और रामायण आदि शास्त्रोंमें भगवान्‌की लीलाओंका विविध रूपोंमें वर्णन मिलता है। हमारे भक्त कवियोंने इन दिव्य लीलाओंके माधुर्य-भावको अति अनुरागसे प्रकट किया है। यह भाव भगवान्‌से सीधा सम्बन्ध स्थापित करनेमें श्रेष्ठतम साधन है। इसीलिये ***'रामहि केवल प्रेमु पिआरा'*** कहा गया है।

रामभक्तिमें रसिक भावनाके प्रवर्तक आचार्य श्रीअग्रस्वामीने सखीभावकी अनुरागात्मिका शैलीका वर्णन करते हुए इसे लौकिक शृङ्गारसे सर्वथा पृथक् 'अन्तरङ्ग-सम्बन्धपरक' बताया है—

रस शृंगार अनूप है तुलबे को कोउ नाहिं॥
तुलबे को कोउ नाहिं सोउ अधिकारी जग में।
कंचन कामिनी देख हलाहल जानत मन में॥
जावत जग के भोग रोग सम त्यागे द्वन्दा।
पिय प्यारी रस सिन्धु मगन नित रहत अनन्दा॥
नहीं 'अग्र' अस सन्त के सर लायक जग माँहिं।
रस शृंगार अनूप है तुलबे को कोउ नाहिं॥

श्रीअग्रस्वामीकी 'ध्यानमञ्जरी' नामसे रोला छन्दकी छोटी-सी रचना है। इसमें 'श्रीरामस्तवराज' में वर्णित भगवान् श्रीरामके स्वरूप और स्तवनको अपनी रसिक भावनामें मिश्रित करते हुए लिखा गया है—

अस राजत रघुवीर धीर आसन सुखकारी।
रूप सच्चिदानन्द वाम दिशि जनककुमारी॥
यह दम्पतिवर ध्यान रसिक जन नित प्रति ध्यावे।
रसिक बिना यह ध्यान और सपनेहुँ नहिं पावे॥
सुनि आगम विधि अर्थ कछुक जो मनहिं सुहायो।
यह मङ्गलवर ध्यान यथा मति वरणि सुनायो॥

'रेवासा धाम' (सीकर राजस्थान)-के श्रीअग्रदेवाचार्य जिनका स्थितिकाल विक्रम संवत् १५७० है, रामभक्तिमें मधुर उपासनाके महान् कवि हैं। ये ज्ञानी और ध्यानी तो थे ही, साथ ही 'ध्यानमञ्जरी', 'कुण्डलिया', 'अष्टयाम' और 'अग्रसागर' नामसे इनका विपुल साहित्य उपलब्ध है। ऐसी प्रसिद्धि है कि रेवासामें इस प्रकारका साहित्य सुलभ होनेकी जानकारी होनेपर उसके अध्ययनके लिये प्रसिद्ध रामायणी श्रीरामचरणदासजीने अपना तिलक बदलकर यहाँपर निवास किया और इस रसिक भावनामें दीक्षित होकर अध्ययन किया था।

भगवत्प्रेमका यह भाव बहुत उच्च कोटिका है। रेवासाके पञ्चम आचार्य श्रीबालकृष्णदेवजी (श्रीबाल अली) अपने 'नेह-प्रकाश' में लिखते हैं—

एकाकी नहिं रमण ह्वै चहियतु कोउ सहाय॥
रमत एक ही ब्रह्म ह्वै पति-पत्नी द्वय भाय॥

यह भाव उपनिषद्‌के **'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय'** तथा ब्रह्मसूत्रके **'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'** के निर्देशनपर प्रचलित है। नारदभक्तिसूत्रमें भी इन रसिक भक्त कवियोंके लिये अनुरागात्मक विचार (भावाभिव्यक्ति)-की परिकल्पना पुष्ट की गयी है। **'तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति'**[1] (भक्तिसूत्र १९) **तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति।**[2] यह आत्मा और परमात्मा अथवा जीव तथा ब्रह्मका माधुर्य-लीलाभाव है। इसमें शृङ्गारके संयोग और वियोग—दोनों भावोंका वर्णन है, परंतु यह लौकिक शृङ्गार भावसे सर्वथा भिन्न है। यह रस तो **'रसो वै सः'** है, जिसके लिये आनन्दस्वरूप प्रेमास्पदकी साकेत धामकी दिव्य लीलाएँ अपेक्षित हैं।

अयोध्याके युगलानन्यशरणजी महाराजने श्रीअग्रस्वामीकी वाणी और सखीभावकी भक्तिमें प्रवेशकी बड़ी सुन्दर व्यवस्था दी है—

रिषि मुनि सिद्ध सुरेश ईश ब्रह्मादि अलखगति।
पुरुषावेस समेत जीव गत होत न तहँ रति॥
जो लौं रंचक गंध पुरुषपन चित्त विराजे।
तौ लौ रहस सुधाम मांझ संबंध न भ्राजे॥

वर्षोंकी नाम-साधनाके अनन्तर ही शृङ्गारके इस

---

[1] अपने सब कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना और भगवान्‌का थोड़ा-सा भी विस्मरण होनेमें परम व्याकुल होना ही भक्ति है।

[2] उस प्रेमको पाकर प्रेमी उस प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है, प्रेमका ही वर्णन करता है और प्रेमका ही चिन्तन करता है।

मधुरभावमें प्रवेश सम्भव है।

हिन्दी-साहित्यमें सखीभावकी इस भगवत्प्रेम-सम्बन्धी धाराका प्रवाह श्रीअग्रअलीसे प्रारम्भ हुआ है। इसमें अवगाहनके लिये उनकी मूल वाणी प्रस्तुत है—

नरवर राम त्रियावर सीता।
या जोरी की उपमा लखि कर धाता निरखि रह्यो भयभीता॥
सोच संदेह करत चतुरानन दूजे काहू सृष्टि चलाई।
उभय लोक पर्यन्त फिर्‌यो पै यह मूरति गति कहू न पाई॥
वेद विचार कियो जब ब्रह्मा नेति नेति इनहीं को गावत।
रामजी इष्ट जगत पति नियन्ता सोई अग्रदास जिय भावत॥

उत्थापन—

उठे दोउ अलसाने परभात।
दसरथ सुत श्रीजनकनन्दिनी सोधे भीने गात।
विमलादिक सखी चँवर ढुरावत हरषि निरखि मृदु गात।
अग्र अली को श्रीरज दीजे सकल भुवन के तात॥

सरयूविहार—

जय जय रघुनन्द चन्द रसिक राज प्यारे।
अङ्ग अङ्ग छवि अनङ्ग कोटि काम वारे॥
विहरत नित सरयू तीर संग सोह सखिन भीर।
सिया अंस भुजा मेलि अवध के दुलारे॥
कोई सखि छत्र लिये व्यजन लिये कोई।
युगल सखी चँवर लिये करत प्राण वारे॥
सुन्दर सुकुमार गात पुष्पमाल सकुच जात।
परसत भयभीत होत रूप के उजारे॥
नखसिख भूषण अनूप यथायोग यथारूप।
कोटि चन्द्र कोटि भान निरखत द्युति हारे॥
मन्द मन्द मुस्करात प्यारी संग करत बात।
देखि देखि अग्र अली तन मन धन वारे॥

मिथिलाभाव (भोजनकुञ्ज)—

मिलि जेवत जानकी रामजी सखी हरषे निरखे मिथिलापुर की॥
पंच सबद बैजन्त्र बजावे गारी गावत पंचम स्वर की॥
कुँवरि कुँवरन गारी देत परस्पर नारी हँसै नृप के कुल की॥
रघुवर मंद मंद मुसकाने सिया लाड़ली घूँघट में मुलकी॥
ये उरझे सुरझे न परे अलि मोहिनी दृष्टि परी उनकी॥
चारों भैया जीमन बैठे राय जनक जोरी निरखी॥
सीस मुकुट मकराक्रत कुण्डल श्याम घटा बिजरी चमकी॥
रतन सिंहासन रघुवर बैठे मोतियन की कलङ्गी झलकी॥
गरुड़ विमान छड़े रघुनन्दन पुष्पन की बरषा बरखी॥
अग्रदास बलि जाय सुनैना बार बार सीतावर की॥

माधुर्यभाव—

चहिअतु कृपा लली सीता की।
नवधा भक्ति ज्ञान का करना नाही संक वेद गीता की॥
षट्मत बेद पुरान पुकारत करत वाद नर वपु बीता की।
झगर करत अरुझे सुरझे नहिं मिटत न एक द्वैत भय ताकी॥
जाकी ओर तनिक हँसि हेरत करत सहाय रामजी ताकी॥
अग्र अली भजु जनकनन्दिनी पाप भण्डार ताप रीता की॥

श्रीअग्रअलीकी दिव्य भावभूमिकी यह अलौकिक भावना श्रीरामोपासक उनके अनुयायियोंमें खूब फूली-फली। रसिक भावनाका यह साहित्य भगवान्‌की लीलाओंसे विशेषकर अन्तरङ्गलीलाविलाससे ओतप्रोत है।

महात्मा झाँझूदासजी (१४९६ से १५७५)-के साथ हरसोली, राजस्थानमें स्वामी गोपालदासजी (सियासखीजी) सखीभावके महान् साहित्यकार हुए हैं। श्रीरामजन्मोत्सव और विवाहोत्सवके उनके कुछ पद यहाँ दिये जा रहे हैं—

श्रीरामजन्मोत्सव—

बालक चार विराजत नीके।
दोय स्यामल दोय गौर मनोहर ललित वसन भूषण वर टीके।
उभय सजल घन सोभित अद्भुत उभय सरद-से लागत फीके॥
कर लालित चालित रघुनन्दन दमकत मणि कञ्चुक कुलही के॥
नृप सुत च्यार अनूपम अति द्युति जीवन प्राणधन सिया सखीके॥

विवाह-उत्सवकी गारियाँ और विनय—

(१)

वरण कुल क्यूँ बदल्याजी बना।
गोरे दसरथ गौरी कौसल्या रघुवर स्याम घना॥
पतिबरता है मात तुम्हारी जाके सत्यपना।
सियासखी कछु कह न सको म्हे मन सन्देह घना॥

(२)

रघुवंशी बना जाग्यो भाग तिहारो।
जा दिन मुनि संग आये मिथिला सुधर्‌यो सकल जमेजमारो॥
ऐसी दुलहन तुम कहाँ पैहो हिवड़े माहि बिचारो।
सूरजवंश उदै भयो तुमरो भाल कपाट उघारो॥
गिनते रहियो स्वास सियाजुके मन मत कीज्यो न्यारो।
सियासखी सियजू के ब्याहत धुल गयो कुल को कारो॥

(३)

सियाजी म्हान याद करन्ता रीज्यो।
बालपना हित चितकी बतियाँ, नवल बनासै मत कीज्यो।
सास ससुर गुरु सेवा कर ज्यो ज्यूँ राख त्यूँ रीज्यो।

सियासखी की ये ही बिनती टहल महल की दीज्यो॥

(४)

सियाबाई सुनियो अरज हमारी।
ओरन के तो ओर भरसो मेरे आस तिहारी॥
करणी की तुम ओर न जाज्यो रावरो बिरद बिचारी।
ऐसी न होय सदा या जग में लोग हँसै दै तारी॥
रंग महल में जनाय दीज्यो सुनु प्रिया अवध बिहारी।
सियासखी के सरबस तुम हो ओर नहीं गति नारी॥

इस प्रकार रसिक सम्प्रदायकी मधुर वाणीके कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं। सखीभावकी भक्तिका विपुल साहित्य है और इसके लिये जैसी भावभूमि चाहिये उसका वैसा वर्णन भी प्रेमी संतोंने खूब किया है।

रसिक सम्प्रदायके एक अन्य भक्त कवि श्रीरूपसरसजी अपनी 'सीतारामरहस्य-चन्द्रिका' में लिखते हैं—

चिन्मय सीताराम के दिव्य बिहार अनन्त।
यद्यपि बस माधुर्य के दिवस प्रमाण लसन्त॥
दिव्य स्वरूप बिहार यह यहाँ न संसृति लेस।
रूप सरस प्रत्यक्ष जिहि जाहि विमल आवेस॥

ये भाव श्रीमद्भगवद्गीताके **'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः'** का ही अनुसरण करते हैं।

सखीभावकी व्याख्या करते हुए अवधके प्रसिद्ध सिद्ध संत श्रीरूपलताके कृपापात्र श्रीरसिकेन्दुजी लिखते हैं—

सीतारामाष्टकुञ्जानि वेदगुह्यानि यानि वै।
रूपलताज्ञया तानि वक्तुमारभते मुदा॥
पिय को निज स्वामी कर जाने। सिय सहचरी आपन को माने॥

ये भगवत्-रसके प्रेमी कवि अपनी समस्त साधनाके प्रति अपने-आपको समर्पित करते हुए कहते हैं—

मासन में अगहन अधिक नवरस में सिणगार।
तथा सकल उत्सवन में व्याहोत्सव सुखसार॥
मेरी तो जीवन जड़ी मगसिर रहसि अपार।
रूप सरस या पै किये तन मन धन बलिहार॥

अन्यत्र श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराज रसिक भावनाके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

नेम सों अवध मिथिला धामको निवास,
धाम संग परिज्ञान रास रंग भीजिये।
लीला अनुकरण प्रेम प्रीतम को जान देखि,
आवत उत्थान करि संग लागि जी जिये।
अष्टयाम सेवा अंतरंगा बहिरंगा दोऊ,
एक सम मानिकै अभेद चित दीजिये॥

महाराज दशरथका वात्सल्य-प्रेम

(श्रीश्यामनारायणजी शास्त्री, रामायणी)

धर्मधुरन्धर, गुणनिधि, ज्ञानी महाराज श्रीदशरथजी एवं महारानी श्रीकौसल्याजी पूर्व जन्ममें जब मनु एवं शतरूपाके रूपमें सृष्टिके आदिपुरुष एवं स्त्री थे, तब उन्होंने साक्षात् विश्वविमोहन परमात्माको ही पुत्ररूपमें प्राप्त करनेके लिये एवं अपने वात्सल्यभावके द्वारा विश्वोपकारक परमादर्श मानवपथप्रदर्शकको धराधामपर उपस्थित करनेके लिये परम पवित्र तीर्थ नैमिषारण्यमें तेईस हजार वर्षोंतक परम कठोर तप किया। परिणामतः उन्हें भक्तवाञ्छाकल्पतरु साक्षात् परब्रह्म परमात्माने दर्शन दिया और तदुपरान्त वरदान भी माँगनेको कहा, तब उन्होंने वरदान माँगा—

चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ॥

(रा०च०मा० १।१४९)

यहाँ यह संदेह होना स्वाभाविक है कि जिनकी संतानसे सारी सृष्टि भरी हुई है और जो अपने दोनों सुयोग्य पुत्रों—उत्तानपाद एवं प्रियव्रतको समस्त राज्य सौंपकर तपस्या करने आये हैं, वे ही मनु अपनी तपस्यासे पूर्ण सफलता प्राप्त करके भी भगवान्से पुत्र क्यों माँग रहे हैं?

वास्तवमें प्रभुको सर्वगुणसम्पन्न देखकर उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि समस्त मानवोंके लिये मर्यादापुरुषोत्तमके रूपमें एक परम आदर्श नररत्नकी विशेष आवश्यकता है, जिसके चरित्रानुगमनसे मानवजातिका सर्वतोभावेन कल्याण होगा। परम पितासे कोई भुक्ति तो कोई मुक्ति चाहते हैं, किंतु मनुजीने निजी स्वार्थ कुछ भी नहीं चाहा। उन्होंने तो परम वात्सल्यसे प्रभुको ही अपनी गोदमें खिलाने एवं उनके लालन-पालनका शुभ अवसरमात्र चाहा। प्रभुने भी इस परमोदात्त भावनाकी पूर्तिके लिये जगत्पिता होकर भी पुत्रत्व-स्वीकृतिमें कोई संकोच नहीं किया, अपितु 'एवमस्तु' कह ही दिया; किंतु जब शतरूपाजीसे वरदान माँगनेको कहा तो उन्होंने भगवान्के भक्तोंको प्राप्त होनेवाला सुख, गति, भक्ति, विवेक, रहनेका

ढंग एवं चरणोंका स्नेह—एक ही साथ छः वरदान माँग लिये। इसपर मनु महाराजने दुबारा वरदान माँगा कि हमको सेवक-सेव्यभाववाला सम्बन्ध नहीं चाहिये, अपितु सुत-विषयक रति चाहिये—

सुत बिषइक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ॥
मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना॥
(रा०च०मा० १। १५१। ५-६)

'मनि बिनु फनि' वाला वरदान माँगनेपर उन्हें ध्यान आया कि मणिके बिना भी सर्प जीवित रह सकता है।

किंतु जैसे मछली जलके बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती, वैसे ही श्रीरामजीके बिना एक क्षण भी मेरा जीवन न रह सके। इसीलिये वरदानमें उन्होंने दूसरा दृष्टान्त दिया—*'जिमि जल बिनु मीना।'*

वास्तवमें मकर, सर्प, दादुर तथा कच्छप—ये सब जलमें रहते हैं एवं इनका जीवन-आधार भी जल ही है, तथापि ये सब कभी-कभी जलके किनारे आकर स्थलमें भी निर्वाह कर लेते हैं; किंतु मछलीका तो जल ही जीवन एवं जल ही गेह है। तभी जलके साथ मात्र इसीका प्रेम सच्चा कहा जाता है—

तुलसी एकै मीन को है साँचिलो सनेह॥

जाल डालनेपर जल मीनको छोड़कर चला जाता है, किंतु मीन तो अपने प्रियतम जलके विरहमें प्राण छोड़ देता है। इतना ही नहीं, इसके प्रेमकी और गहराई देखें—

मीन काटि जल धोइए खाए अधिक पिआस।
तुलसी मीन सराहिए मुएहुँ मीत की आस॥

जब मनु-शतरूपा अगले जन्ममें दशरथ-कौसल्या बने तो यह सिद्धान्त उनपर पूर्णरूपसे घटित हुआ।

मनुजीको न मोक्षकी कामना है, न यशकी। वे तो केवल वात्सल्यभावसे ही आनन्द लेना चाहते हैं। विवेकसे वात्सल्यभाव बिगड़ जायगा। अतः विवेक नहीं चाहा। मनु महाराजको भगवान्‌ने यह आश्वासन तो दिया ही कि दशरथ बनकर जब आप अवधपुरीके राजा बनेंगे, तब हम अपनी शक्ति एवं अंशोंसहित आपके यहाँ अवतरित होंगे, साथ ही उनकी दूसरी कामनाको भी पूर्ण करनेका आश्वासन प्रभुने प्रदान कर दिया।

यद्यपि यह बात प्रभुकी प्रतिष्ठाके अनुरूप नहीं थी। जिनके वे पुत्र बने, वे पिता उनके विरहमें प्राण दें, यह किसी भी प्रकारसे प्रभुके अनुकूल है क्या? किंतु भक्त इसी बातपर हठकर बैठा। वह अपने प्रियतमके वियोगमें ही प्राण छोड़नेकी अभिलाषा करता है और—

जिअत राम बिधु बदनु निहारा। राम बिरह करि मरनु सँवारा॥

आगे चलकर दोनों ही सम्बन्धोंका पूर्णरूपसे निर्वाह हुआ। इसको सभी निकटस्थ जनोंने स्वयं प्रमाणित किया। महारानी कौसल्याजी भरतजीसे कहती हैं—

जिऐ मरै भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना॥

महाराजने वास्तवमें समझा कि श्रीरामके लिये कैसे जीना एवं मरना चाहिये—

जीवन मरन सुनाम जैसें दसरथ राय को।
जियत खिलाए राम राम बिरहँ तनु परिहरेउ॥
(दोहावली २२१)

महारानी कैकेयीजी भरतजीसे कहती हैं—

तात राउ नहिं सोचै जोगू। बिढ़इ सुकृत जसु कीन्हेउ भोगू॥
जीवत सकल जनम फल पाए। अंत अमरपति सदन सिधाए॥

गुरु वसिष्ठजी भरतजीसे कहते हैं—

सोचनीय नहिं कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥
भयउ न अहइ न अब होनिहारा। भूप भरत जस पिता तुम्हारा॥
बिधि हरि हरु सुरपति दिसिनाथा। बरनहिं सब दसरथ गुन गाथा॥

गुरु वसिष्ठजी तो बहुत ऊँची बात कह रहे हैं। पहले भी बड़े-बड़े राजा हुए; किंतु दशरथजी-जैसा न कोई हुआ, न इस समय कोई है और न तो आगे ही कोई होगा। भले ही श्रीराम प्रशंस्य राजा होंगे, किंतु महाराज दशरथजीकी बराबरी वे नहीं कर सकेंगे; क्योंकि श्रीराम-जैसा पुत्रका पिता होना तो दशरथजीके ही भाग्यमें था। महाराज दशरथ अनुपम हुए। इसी बातको मा भी कह रही हैं। जब बालरूप प्रभुको परम प्रसन्नतासे गोदमें लेकर मा उछाल रही हैं तो अति-प्रसन्नतामें मासे प्रभुने पूछा मा! तुम इतनी प्रसन्न क्यों हो रही हो। माने कहा—तुम्हारा सुन्दर मुख देखकर। प्रभुने कहा—वह सुन्दर मुख मुझे भी दिखाओ। माने कहा—मेरे-जैसा तेरा भाग्य नहीं है।

सुन्दर मुख मोहिं देखाउ इच्छा अति मोरे।
मो समान पुण्यपुंज बालक नहिं तोरे॥

वास्तवमें—

संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥

जिन प्रभुके अंशसे त्रिदेवोंकी उत्पत्ति हुई है, वे ही राम

जब दशरथजीके पुत्र हैं, फिर उनके भाग्यका क्या कहना?

त्रिभुवन तीनि काल जग माहीं। भूरि भाग दसरथ सम नाहीं॥

चार प्रकारसे ही लोग बड़भागी माने जाते हैं—यशस्वी होनेसे, राजा होनेसे, गुणी होनेसे और योग्य संतान होनेसे। ये चारों महाराज दशरथमें पराकाष्ठाको प्राप्त हैं—

मंगलमूल रामु सुत जासू। जो कछु कहिअ थोर सबु तासू॥

जब श्रीदशरथरूपी मीनको चौदह वर्षके वनवासरूपी जालमें पड़नेपर, श्रीरामरूपी जल, अयोध्यारूपी समुद्रमें छोड़कर चला गया तो दशरथरूपी मीन व्याकुल हो गया—

'प्रान कंठगत भयउ भुआलू।'

फिर महारानी श्रीकौसल्याजीने जब श्रीरामजलरूपी मिलनकी आशा दिलायी—

जौं जियँ धरिअ बिनय पिय मोरी। रामु लखनु सिय मिलहिं बहोरी॥

—तो ऐसा सुनते ही महाराज दशरथरूपी मीनको थोड़ा जल मिला—

प्रिया बचन मृदु सुनत नृपु चितयउ आँखि उघारि।
तलफत मीन मलीन जनु सींचत सीतल बारि॥

किंतु जब सुमन्त्रजीने श्रीरामके न आनेका समाचार महाराज दशरथको सुनाया तो उन्होंने तुरंत ही जीवनकी बची-खुची आस भी छोड़ दी और विलाप करने लगे—

हा रघुनंदन प्रान पिरीते। तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते॥
राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।

जब लङ्का-समराङ्गणमें राक्षसोंका संहार कर श्रीराम-लक्ष्मण परम प्रसन्न मुद्रामें खड़े थे। सभी ब्रह्मा आदि देवगण पुष्पवर्षा, नृत्य, गायन और वादन प्रस्तुत करनेके ही साथ स्तुति करते हैं। ब्रह्मा स्तुति कर ही रहे थे कि उसी समय महाराज दशरथ भी वहाँ आये। श्रीरामको देखकर उनके नेत्रोंमें प्रेमाश्रुओंका जल छा गया—

तेहि अवसर दसरथ तहँ आए। तनय बिलोकि नयन जल छाए॥

यहाँ '*प्रभुहि बिलोकि*' न कहकर '*तनय बिलोकि*' कहा गया है। वाह रे सुतवात्सल्यकी पराकाष्ठा! दशरथजीका वात्सल्यभाव अभी भी स्थिर ही है। प्रभुने भी पूर्वकी भाँति उन्हें तात कहकर पुकारा और प्रणाम किया—

अनुज सहित प्रभु बंदन कीन्हा। आसिरबाद पिताँ तब दीन्हा॥

अन्तमें श्रीराम कहते हैं कि हे तात! यह सब आपके पुण्योंका ही प्रभाव है, जो मैंने अजेय राक्षसराजको जीत लिया। पुत्रके वचन सुनकर उनकी प्रीति अत्यन्त बढ़ गयी, नेत्रोंमें जल छा गया और शरीरमें रोमाञ्च हो आया—

तात सकल तव पुन्य प्रभाऊ। जीत्यों अजय निसाचर राऊ॥
सुनि सुत बचन प्रीति अति बाढ़ी। नयन सलिल रोमावलि ठाढ़ी॥

पिता-पुत्र दोनों अतिशय आनन्दित हो गये। धन्य है इस वात्सल्यको!

महाराज दशरथजीका पश्चात्ताप एवं निर्वाह

राउ सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयउ न हरषु हराँसू॥
सो सुत बिछुरत गए न प्राना। को पापी बड़ मोहि समाना॥

यदि श्रीराम परम पितृभक्त हैं तो महाराज श्रीदशरथजी भी अनुपम वात्सल्ययुक्त पुत्र-प्रेम-निर्वाहक हैं।

सर्वगुणसम्पन्न श्रीराम-जैसे पुत्रने यदि अपने माता-पिताकी आज्ञासे परम प्रसन्नतापूर्वक क्षणभरमें अयोध्याका सुरदुर्लभ साम्राज्य त्यागकर चौदह वर्षके लिये वनवास स्वीकार किया तो परम वात्सल्यमय महाराज श्रीदशरथजीने भी ऐसे पुत्रके विरहमें क्षणमात्रमें प्राण ही त्याग दिया। यदि राम आदर्श पिता-भक्त हैं तो महाराज श्रीदशरथजी भी परमादर्शमय पुत्रवत्सल हुए। उन्होंने सत्यकी रक्षाके लिये प्रियपुत्रको वनवास दिया एवं अपने प्रणकी रक्षा प्राण देकर की—

करत राउ मनमों अनुमान।
सोक-बिकल, मुख बचन न आवै, बिछुरै कृपानिधान॥
राज देन कहि बोलि नारि-बस मैं जो कह्यो बन जान।
आयसु सिर धरि चले हरषि हिय कानन भवन समान॥
ऐसे सुतके बिरह-अवधि लौं जौ राखौं यह प्रान।
तौ मिटि जाइ प्रीतिकी परिमिति, अजस सुनौं निज कान॥
राम गए अजहूँ हौं जीवत, समुझत हिय अकुलान।
तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियो प्रेम परवान॥

(गीतावली, अयोध्या० ५९)

श्रीरामसे वियोग तो अवधपुरवासीजन, महारानी कौसल्या, कैकेयी, सुमित्रा आदि सभीका हुआ, किंतु श्रीरामके वियोगमें प्राणका त्याग किसने किया? उसके आदर्श तो एकमात्र महाराज श्रीदशरथजी ही कसौटीपर खरे उतरे, जिनकी वन्दना गोस्वामीजीने '*सत्य प्रेम जेहि राम पद*' के रूपमें की है—

बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥

ऐसा वात्सल्य एवं विशुद्ध प्रेम विश्वमें कहाँ मिलेगा?

प्रेममूर्ति भरत एवं महर्षि भरद्वाज

(डॉ० श्रीओ३म् प्रकाशजी द्विवेदी)

भक्तशिरोमणि कालजयी कवि तुलसीदासजीने अपनी अमर कृति 'श्रीरामचरितमानस' में जिन सात्त्विक उत्कृष्ट पात्रोंका मनोहारी, लोकमङ्गलकारी चरित्र-चित्रण किया है, नि:संदेह उन सभी पात्रोंमें परम पावन, निर्मल, निष्कलंक, उज्ज्वल आदर्श सर्वोत्कृष्ट चरित्र श्रीभरतजीका है। महाकविने प्रार्थनाके रूपमें उनका वर्णन इस प्रकार किया है—

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥
राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥

(रा०च०मा० १।१७।३-४)

श्रीभरतजीके नियम, व्रत और श्रीराम-प्रेमका वर्णन अकथनीय है। श्रीनारदजीने **'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्'** (ना०भ०सू० ५१)-में कहा है। जैसे गूँगा व्यक्ति गुड़के मिठासका वर्णन नहीं कर सकता केवल अनुभव करता है, उसी प्रकार प्रेमका स्वरूप अनुभवरूप है। ऐसा प्रेम विरले लोगोंके हृदयमें प्रकाशित होता है। जिसके हृदयमें ऐसा उत्कृष्ट प्रेम प्रकट होता है, उसका हृदय प्रकाश-पुञ्जसे भर जाता है। मुखमण्डलमें हृदयका तेज झलकने लगता है। उसकी दृष्टि तथा बोलनेकी मधुर ध्वनिमें अन्तर आ जाता है। यह ठीक ही कहा जाता है—'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि', 'जैसी ध्वनि वैसी प्रतिध्वनि'। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि हमारी श्रद्धासे ही हमारे जीवन-दर्शनका निर्माण होता है। भक्तिकी इस विशेषताको हम श्रीभरतजीके जीवन-दर्शनमें पाते हैं। वे निष्काम कर्मयोगी एवं स्थितप्रज्ञ भक्तशिरोमणि हैं। वैदिक रीति-रिवाजके पूर्ण नैष्ठिक अनुयायी हैं। उपनिषद्-वाणी है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

(कठ० २।३।१४)

अर्थात् जब साधकके हृदयमें स्थित समस्त कामनाएँ स्वत: छूट जाती हैं, तब वह मरण-धर्मा मानव अमरत्वको प्राप्त कर लेता है और यहीं इस जीवनमें ब्रह्मानन्दका अनुभव करता है। यह आचरण भरतजीके जीवनमें प्राप्त होता है। उनमें कर्म, ज्ञान और भक्तिकी त्रिवेणी प्रवाहित हो रही है। उनकी भक्तिके प्रवाहमें कर्मकी उपेक्षा नहीं है। अपनी कुल-परम्पराके अनुसार संकट पड़नेपर श्रीशिवजीका पुण्य स्मरण उनके जीवनका सहारा है—

बिप्र जेवाँइ देहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना॥
मागहिं हृदयँ महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई॥

(रा०च०मा० २।१५७।७-८)

ननिहालसे लौटनेपर यहाँका सब समाचार सुनकर उनका हृदय विदीर्ण हो गया। मा कौसल्या एवं गुरु वसिष्ठजीने अयोध्याकी सभामें उन्हें बहुत प्रकारसे समझाया, परंतु उनकी हार्दिक अभिलाषा—सात्त्विक निर्णय एक ही रहा—

मोहि लगि भे सिय रामु दुखारी॥
प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥

(रा०च०मा० २।१८२।६; २।१८३।२)

श्रीभरतजीके हृदयमें **'तत्सुखसुखित्वम्'** (ना०भ०सू० २४)-की भावना बलवती है। वे रघुकुलकी परम्पराका पूर्ण निर्वाह करनेके पोषक हैं। भगवान् श्रीरामको वनसे लौटाकर राजगद्दीपर बैठानेके प्रबल समर्थक हैं। गुरु वसिष्ठजी भी राज्य करनेकी नीतिगत बात भरतजीके हृदयमें नहीं बैठा सके। भरतजी चित्रकूटकी यात्रापर सबके साथ चल पड़े। इस यात्राका जितना सुन्दर वर्णन तुलसीदासजीने किया है, वैसा मनोहारी साङ्गोपाङ्ग भरत-चरित्रका वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। इसका प्रमुख कारण है भरतजीके जीवन-दर्शनके साथ तुलसीदासजीकी तन्मयता, अनन्यता एवं एकात्मकता तथा भरतजीके साथ तादात्म्यकी अनुभूति। इसीलिये अयोध्याकाण्डकी फलश्रुति (छन्द ३२५)-में वर्णन किया गया है—

कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

इस कठिन कलिकालमें तुलसीदासजी-जैसे भक्तोंके हृदयको प्रेमभक्ति-रससे सींचनेवाला, पूर्ण तृप्ति एवं संतोष प्रदान करनेवाला, हृदयमें रामभक्ति उत्पन्न करनेवाला, भरतजीसे बढ़कर अन्य कोई नहीं है, जिसने भवरससे विरत करके भक्तोंके हृदयमें भक्ति-रसकी सुरसरिता

प्रवाहित कर दी है।

भक्तिका रूप है परम प्रेम। यह भक्ति हृदयको बल प्रदान करते हुए उसे निर्मल बनाती है। ईश्वर-प्रेमकी ओर प्रीति एवं रुचि बढ़ाती जाती है।

इस प्रेम-भक्तिके संदर्भमें श्रीभरतजी एवं श्रीभरद्वाजजीके सुसंवादका किञ्चित् आनन्द-रसास्वादन यहाँ उपस्थित है—

तीर्थराज प्रयागकी तीर्थस्थली चारों फल प्राप्त करनेकी तपस्थली एवं प्रेमस्थली है। परंतु भरतजीका त्याग महान् है। भरत-चरित्र हमें सर्वत्यागकी शिक्षा देता है। उनका हृदय निर्मल है। सांसारिक विषय-भोगोंकी उन्हें कोई इच्छा नहीं है। इसीलिये उन्होंने पिताके द्वारा प्राप्त राज्यको त्याग दिया है। तपमें उन्होंने स्वयंको जलाकर स्वर्णके समान तेजयुक्त बना लिया है। वे इन्द्रियोंके वशमें नहीं हैं। इसीलिये तेजस्वी हैं। वे केवल भगवान्‌को हृदयसे देखने एवं अपनी भावनाएँ व्यक्त करनेको लालायित हैं। वे त्रिवेणी-स्नान—प्रार्थनाके बाद भरद्वाजजीके आश्रममें पहुँचते हैं। मा त्रिवेणीसे प्रार्थना करते हैं कि मा! मेरी रति, मेरा प्रेम भगवान्‌के श्रीचरणोंमें सदा बना रहे। भरतजी जब भरद्वाजजीके आश्रममें पहुँचते हैं तो सभी प्रयागवासी, सभासद एवं भरद्वाजजी आह्लादित होकर उनका स्वागत-सम्मान करते हैं। भरद्वाजजी कहते हैं—

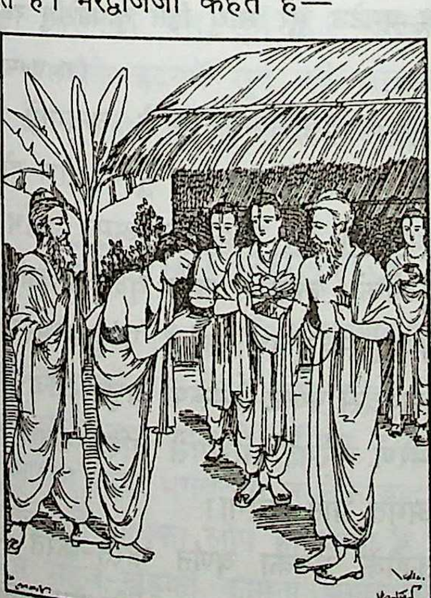

अब अति कीन्हेहु भरत भल तुम्हहि उचित मत एहु।
सकल सुमंगल मूल जग रघुबर चरन सनेहु॥
सो तुम्हार धनु जीवनु प्राना। भूरिभाग को तुम्हहि समाना॥

हे भरत! राज्यको स्वीकार करना अच्छा था। पर नहीं स्वीकार किया यह और अधिक अच्छा किया। पिताकी आज्ञाका पालन धर्म है, पर श्रीराम-प्रेमहित सर्वस्व और लौकिक धर्मोंका त्याग करना सबसे श्रेष्ठ है। यह परम परमार्थ है। यह विशेष धर्म है। यह उपनिषदोंका श्रेयस् मार्ग है। श्रीभरद्वाजजी कहते हैं—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥

हे भरत! तुम श्रीराम-प्रेमके साक्षात् अवतार हो। तुम्हें श्रीरामभक्ति-रस सिद्ध नहीं करना है। तुम स्वयं ही रामभक्ति-रस-सिद्ध हो। रामभक्ति और श्रीराम एकरूप हैं, किंतु श्रीभरतजीकी केवल एक ही चिन्ता थी—

राम लखन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं॥

अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुस पात।
बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात॥

भरतजीपर भरद्वाजजीकी सान्त्वनाके मृदु वचनका गहरा प्रभाव पड़ा—

'सब दुखु मिटिहि राम पग देखी॥'

श्रीभरतजीके अन्तःस्फूर्तिमें अंगारमें राखके समान चिन्ताकी राखकी पर्त जो पड़ रही थी वह दूर हुई और भरतजी पुनः जलते अंगारेके समान तेजपूर्ण हो गये; क्योंकि श्रीरामभक्ति अनुपम सुखमूल है—

'भगति तात अनुपम सुखमूला।'

श्रीभरतजीका पावन उपदेश हम सबके लिये है कि इस अनित्य संसारमें दुःख प्रदान करनेवाले विचारोंको समझकर उनसे पूर्णतया मुक्त होनेका प्रयत्न करें और जितनी जल्दी हो सके अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके भगवान्‌के शरणमें जायँ। हमें सांसारिक इच्छा, अहंकार आदि दुर्गुणोंसे मुक्त होना है। सांसारिक चाह हमें अशान्त करती है। वर्तमानमें रहनेपर, सब ईश्वरकी कृपा समझनेपर हम जीवनके केन्द्रसे जुड़ जाते हैं, अस्तित्व ईश्वरीय शक्तिके सम्पर्कमें आ जाते हैं, कुतर्करूपी विचारोंकी परिधिसे हटकर ईश्वरके समीप हो जाते हैं। अतः आवश्यक है कि प्रेम-पथपर चलनेका संकल्प करें। जीवको परमात्मासे मिलानेका प्रेम सेतु है। सदाचारी ही प्रेम-सेतुका पथिक होता है। अतः दैवी गुणसम्पन्न बनें।

तुलसी कहत सुनत सब समुझत कोय।
बड़े भाग अनुराग राम सन होय॥

(बरवै० ६३)

अनुराग तभी होगा जब हमारी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होंगी। बाह्य कामनाएँ जब छूट जायँगी तभी हमारे अन्तःकरणकी ऊर्जा जागेगी। इन्द्रियोंमें तेज, बलकी प्राप्ति होगी। हम ऊर्ध्वगतिको प्राप्त करेंगे।

श्रीभरद्वाजजी भरतजीसे कहते हैं—

नव बिधु बिमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥
उदित सदा अँथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥
निसि दिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसिहि न कैकइ करतबु राहू॥
पूरन राम सुपेम पियूषा। गुर अवमान दोष नहिं दूषा॥

(रा०च०मा० २।२०९।१-२, ४-५)

हे तात! तुम्हारा निर्मल यशचन्द्र निवृत्ति एवं प्रवृत्ति-मार्गके सभी भक्तोंको सुख देनेवाला है। कुमुद एवं चकोररूप भक्तोंके लिये नवीन चन्द्रमाकी भाँति सुखकर है। जैसे कुमुद तनसे एवं चकोर मनसे प्रसन्न होता है, वैसे ही श्रीरामभक्त आपका निर्मल यश गाकर तन-मनसे सुखी, स्वस्थ एवं प्रसन्न होंगे। भक्तोंके लिये आप प्राणस्वरूप होंगे। प्राकृत चन्द्र तो घटता-बढ़ता है। विष इसका भाई है। यह कलंकी है। प्राकृत चन्द्रमें बहुत-से दोष हैं, परंतु तुम्हारा यश-चन्द्र सबको सुखद होगा। सदा तुम्हारे स्मरणसे सबके हृदयमें प्रेम बढ़ता रहेगा। तुमने अनुपम कीर्तिरूपी चन्द्रमाका निर्माण किया है। तुम्हारे उज्ज्वल, निर्मल चरित्रसे प्रेमामृतकी प्राप्ति होगी। तुम्हारे पास प्रेमरूपी पारस है, जहाँ दरिद्रता पहुँच ही नहीं सकती है। तुम व्यर्थ मानसिक चिन्तनरूपी दरिद्रतासे बोझिल हो रहे हो। तुम्हारे पास जो प्रेमरूपी पारस है, वह भविष्यमें भी अनेक पीढ़ियोंतक भक्तोंको स्वर्णमय बनाता रहेगा। हम उदासीन साधु हैं, वनमें रहते हैं, हम झूठका सहारा नहीं लेते हैं। मैं सत्य-सत्य कहता हूँ कि तुम्हारा जीवन परम धन्य है। तुम्हें भगवान् श्रीराम, लक्ष्मण और सीता प्रेमसे स्मरण करते रहते थे। वे त्रिवेणीमें डुबकी लगाते समय स्मरण करके पुलकित हो जाते थे। उनकी आँखें नम हो जाती थीं। ऐसा सौभाग्य और किसका है? जिसे स्वयं भगवान् स्मरण करें। तुम्हारा यश परम यशस्वी है, जिसमें एक-से-एक बढ़कर दिव्यातिदिव्य पूर्ण आत्माओंने जन्म धारण कर संसारका परम कल्याण किया है। राजा भगीरथ अपने अथक प्रयाससे गङ्गाको पृथ्वीपर लाकर संसारका आजतक परम कल्याण करते आ रहे हैं। राजा दशरथजीकी पूर्वजन्मकी तपस्यासे द्रवित होकर स्वयं भगवान् भाइयोंसहित उनके यहाँ अवतरित हुए। वे सारे संसारका दुःख दूर करते हैं, उन्हीं दीनदयाल प्रभुके मङ्गल दर्शनसे तुम्हें परम शान्ति प्राप्त होगी। सब दुःख दूर हो जायँगे। भगवान् श्रीरामके दर्शनका परम फल तुम्हारा दर्शन है। सारे संसारके पालनहार भगवान् ही हैं। उन्हींके बनाये विधानसे यह जग संचालित हो रहा है, अतः तुम्हारा चिन्ता करना व्यर्थ है।

भगवान् श्रीरामके वनगमन-विरहने भरतजीके कोमल हृदयको उद्वेलित कर दिया और उनके हृदयमें छिपा हुआ प्रेमामृत प्रकट हो गया। भगवान्ने अपने विरहरूपी मन्दराचलसे भरतके हृदयको मथकर प्रेमामृत प्रकट किया, जो संसारके प्राणियोंके लिये, साधु-संतों तथा देवताओंके लिये परम हितकारी हुआ। आज भी हम भरतजी-श्रीरामजीके अमर प्रेमको स्मरणकर प्रेमामृत-समुद्रमें गोते लगाते हैं—

पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥

(रा०च०मा० २।२३८)

अमृत तो देवलोकमें भी है, चन्द्रमामें भी है, परंतु देवलोकका अमृत पीनेके बाद पुण्य क्षीण होनेपर प्रभाव समाप्त हो जाता है। चन्द्रमाका अमृत दुर्लभ है। रात्रिमें जीव-जन्तुओंको, लताओं तथा वृक्षोंको कठिनाईसे प्राप्त होता है अर्थात् सर्वसुलभ नहीं है, परंतु श्रीभरतजीके गम्भीर हृदयरूपी समुद्रसे प्रकट प्रेमरूपी अमृत आज भी सर्वसुलभ है। जो स्मरण करेगा, सत्संगसे चरित्र-श्रवण करेगा—वह प्रेमरूपी अमृत प्राप्त करेगा।

भरतजीके प्रेमका वर्णन करते-करते भरद्वाजजीके हृदयमें प्रेमरस उमड़ पड़ा। भरतजीके प्रेम-समुद्रमें मुनिजी डूबने लगे। वे उस प्रेमरसमें इतने लीन हो गये कि जैसे कुछ क्षणके लिये समाधि-सी लग गयी। यही भक्ति-रस भक्तोंके हृदयमें रसरूपमें व्यक्त होता रहता है। यह रस जब

प्रकट होता है तो बाहर-भीतरका ज्ञान नहीं रहता है। चित्रकूटमें भी यही रसदशा देखनेको मिलती है, जब श्रीराम और भरतजीका मिलन होता है—

परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥

इस मिलनमें भक्त और भगवान्‌के हृदयकी दूरी समाप्त हो गयी। न बाहरकी सुधि रही, न भीतरका ज्ञान रहा। कुछ क्षणोंके लिये दोनों भक्तिभाव-रसमें डूब गये। आज भी श्रीभरतमिलाप-लीलाका प्रभाव दर्शकोंपर पड़ता है। भक्तोंके हृदयमें पवित्र लीलाको देखकर भक्ति-रस उमड़ने लगता है। हृदय और मन पूर्ण तन्मय एवं रसमग्न हो जाता है।

प्रेममूर्ति भरतजी एवं महर्षि भरद्वाजजीका सुसंवाद हमारे शुष्क एवं नीरस हृदयमें निर्मल पावन प्रेमभक्तिकी त्रिवेणी बहानेका अजस्र अमृत स्रोत है, जिसकी निर्मल वेगवती धारामें हमारा कलिकलुष सब बह जाता है। इसके आस्वादसे हमारे हृदयमें पूर्ण आनन्द सदा बना रहेगा। हमारा मानसिक रोग एवं हृदयका अवसाद निर्मूल होगा। धीरे-धीरे प्रेमभक्तिके मार्गपर यदि हम अनवरत रूपसे बढ़ते रहेंगे तो एक-न-एक दिन निःसंदेह हम पूर्णताको अवश्य प्राप्त कर लेंगे। पूर्णता भगवान्‌का स्वभाव एवं स्वरूप है।

भगवान् श्रीरामका यश सूर्य है। भरतजीका यश चन्द्रमा है। भरतजीके हृदयमें सूर्य एवं चन्द्रमा दोनोंका निवास है। जो भक्तोंके हृदयमें समरस आनन्दका दान करता रहता है। यह संसारके भक्तजनोंमें अमृतस्वरूप शीतलता, तेज एवं प्रसन्नताका दान करता रहेगा। हमारे हृदयपर पड़े हुए मल-विक्षेप-आवरणको सर्वथा हटाकर अपने निर्मल यशकी सुगन्धिसे उसे सदा जीवन्त एवं प्राणवान् बनाता रहेगा और हमारे अन्तस्‌में शान्त, शुद्ध, सत्त्व, शिव-चेतनाका समरस बोध जाग्रत् करेगा—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

अतः कालका भरोसा न करके तन्मय होकर सर्वथा भजनीय भगवान्‌के शरणागत हो जाय। उनके कमलवत् चरणोंमें अपने मनको मधुकर बना दें। भगवान्‌की इच्छाको अपनी इच्छा बना दें। भगवान्‌की भक्ति स्वयं फलरूपा है। वह भक्तके हृदयमें शान्ति, तृप्ति, संतोष और आनन्दका अनुभव कराकर हृदयको ऊर्जा तथा शक्ति प्रदान करती है। अतः शास्त्रोंके मङ्गल, पावन, शिव उपदेश **'प्रेमैव कार्यम्'** (प्रेम ही करणीय है) तथा **'भक्तिरेव गरीयसी'** (भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।)-के मङ्गल उद्घोषोंका श्रवण करें। जीवनमें दृढ़ आचरण करें एवं वर्तमान जीवनको दिव्यातिदिव्य, धन्य एवं कृतार्थ बनायें।

तुलसीदासजीके इस अमृत-उपदेशको सदा स्मरण रखें—

भरत सुभाउ न सुगम निगमहूँ। लघु मति चापलता कबि छमहूँ॥
कहत सुनत सति भाउ भरत को। सीय राम पद होइ न रत को॥

(रा०च०मा० २।३०४।१-२)

* * *

मानसमें निषादराज और केवटके भगवत्प्रेमका आदर्श

(डॉ० श्रीअरुणकुमारजी राय, एम्० ए० (हिन्दी), पी-एच्० डी०)

प्रेम ईश्वरतक पहुँचनेके लिये, उसे पानेके लिये सहज साधन है। प्रेमका उद्भव हृदयकी भूमिपर होता है, जहाँ रागके साथ आरम्भ होकर भगवत्प्रेम जगनेके बाद सांसारिक वस्तुओंके प्रति जगे भावका लोप हो जाता है, द्वेष मिट जाता है और सहज-स्नेहकी कामना भगवत्प्रेमके रूपमें अनुभूत होने लगती है। वस्तुतः परमात्माका प्राकट्य प्रेमसे ही सम्भव है। प्रेम लोक-जीवनमें उत्कर्ष देता है और पारलौकिक जीवनमें अखण्ड आनन्द एवं शाश्वत शान्ति प्रदान करता है। इस आलोकमें केवट एवं निषादराजका भगवत्प्रेम विचारणीय है।

'रामचरितमानस' के लघुपात्रोंकी कोटिमें 'निषादराज' हैं और परम लघुपात्रोंकी कोटिमें 'केवट'। 'मानस' में दोनोंका प्रसंग राम-वन-गमनके क्रममें शृंगवेरपुरकी गङ्गाके किनारेसे प्रारम्भ होता है। दोनों सजातीय हैं और भगवान् श्रीरामके परम स्नेही, लेकिन दोनोंके भगवत्प्रेमका अलग-अलग स्वरूप है। निषाद राजा हैं और चक्रवर्ती महाराज दशरथके अधीनस्थ हैं। राजकुमार श्रीराम उनके राज्यसे होकर वन जा रहे हैं। अतः वे श्रीरामकी सेवामें तत्पर हैं।

वे उनके भोजनका, ठहरनेका प्रबन्ध करते हैं। श्रीरामके निकट पहुँचकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करते हुए वे भेंटकी सामग्री सामने रख देते हैं और प्रेमपूर्वक श्रीरामके मुखारविन्दकी ओर देखने लग जाते हैं। श्रीराम उन्हें अपने निकट बैठाकर उनकी कुशल पूछते हैं। तब निषादराज मात्र इतना ही उत्तर देते हैं—

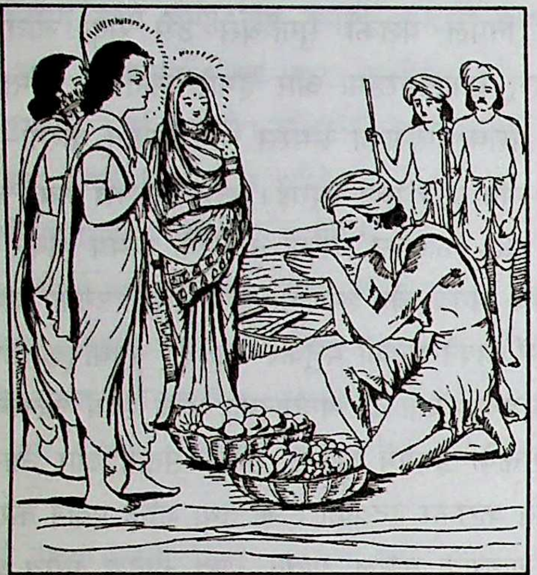

नाथ कुसल पद पंकज देखें। भयउँ भागभाजन जन लेखें॥
देव धरनि धनु धामु तुम्हारा। मैं जनु नीचु सहित परिवारा॥

निषादराज श्रीरामके साथ गङ्गा पार होते हैं। लौटनेके लिये श्रीरामके आग्रहपर वे साथ चलनेकी अनुमतिके लिये अनुरोध करते हैं और स्वीकृति पाकर चित्रकूटतक साथ जाते भी हैं। श्रीभरतके गङ्गा पार होनेके समय इनका प्रतिरोध होता है और मित्रभावकी सूचना पाकर '***भेंटत भरतु ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥***' और प्रत्यागमनके समय पुष्पक विमान शृंगवेरपुरके निकट गङ्गातटपर पहुँचता है तथा वह समाचार निषादराजको मालूम होता है। तब वे प्रेम-विह्वल होकर सीतासहित श्रीरामके चरणोंमें गिर पड़ते हैं। श्रीराम उन्हें प्रेमसे उठाकर हृदयसे लगा लेते हैं—

लियो हृदयँ लाइ कृपा निधान सुजान रायँ रमापती।
बैठारि परम समीप बूझी कुसल सो कर बीनती॥
अब कुसल पद पंकज बिलोकि बिरंचि संकर सेब्य जे।
सुख धाम पूरनकाम राम नमामि राम नमामि ते॥
(रामचरितमानस ६।१२१ छन्द १)

फिर निषादराज अयोध्या आकर राज्याभिषेकका आनन्द उठाते हैं। यह है निषादराजका भगवत्प्रेम।

भगवत्प्रेमके फलस्वरूप निषादराजको श्रीरामका प्रसाद मिला। वे परम पावन समझे जाने लगे—

लोक बेद सब भाँतिहिं नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा॥
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता॥

पुनः चित्रकूटमें—

भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई। बहुरि निषादु लीन्ह उर लाई॥

× × ×

बिदा कीन्ह सनमानि निषादू। चलेउ हृदयँ बड़ बिरह बिषादू॥

प्रत्यागमनके समय गङ्गा-तीरपर—

प्रीति परम बिलोकि रघुराई। हरषि उठाइ लियो उर लाई॥

अयोध्यासे विदाके समय—

पुनि कृपाल लियो बोलि निषादा। दीन्हे भूषन बसन प्रसादा॥

× × ×

तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥

निषादराज उच्च कोटिके भगवत्प्रेमी भक्त हैं। 'नवधा भक्ति' के कतिपय गुण उनके भगवत्प्रेममें संनिहित हैं। उस भगवत्प्रेमका यथोचित प्रसाद इन्हें मिला भी और जो राज्योचित भी था।

अब केवटका भगवत्प्रेम भी विचारणीय है। केवटको श्रीरामसे पूर्वका कोई दैहिक परिचय नहीं और न उसकी कोई भूमिका है। गङ्गा-पार होनेके लिये राम-लक्ष्मण और सीता गङ्गा-तीरपर खड़े हैं। निषादराज भी साथ हैं, परंतु उनकी कोई भूमिका नहीं है। श्रीराम गङ्गा-पार होनेके लिये केवटसे नाव माँगते हैं। वह नाव लानेसे इनकार कर देता है। उसने सुन रखा है—

चरन कमल रज कहुँ सबु कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई॥

केवट गरीब है। उसकी जीविकाका एकमात्र नाव ही सहारा है। बच्चे भी छोटे-छोटे हैं और नौका चलानेके सिवा उसे और कुछ आता भी नहीं है। गरीबी इतनी है कि कहीं नाव स्त्रीमें बदल गयी तो क्या ठिकाना होगा जीवनका—

पात भरी सहरी, सकल सुत बारे-बारे,
केवटकी जाति, कछु बेद न पढ़ाइहौं।
सबु परिवारु मेरो याहि लागि, राजा जू,
हौं दीन बित्तहीन, कैसें दूसरी गढ़ाइहौं॥
(कवितावली २।८)

उसे आशंका है—

परसें पगधूरि तरै तरनी, घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू॥
तुलसी अवलंबु न और कछू, लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू।

(कवितावली २।६)

इसलिये—

बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं॥

विचित्र है यह सेवकाई। मजदूरको मजदूरी नहीं चाहिये। उसे कोई कृपा भी नहीं चाहिये। वह मात्र नावकी रक्षाके लिये चरण धोना चाहता है और धोकर रहता है। यह है विश्वासकी दृढ़ता, प्रेमकी निष्ठा। केवटने प्रसादके रूपमें कुछ नहीं लिया। लेता भी कैसे? केवट रामकी महत्ताको समझता है। तभी तो केवट कहता है—

तुम हो तरनि कुल पालन करनहार
हमहूँ तरनि ही के पालन करैया हैं।
भीम भवसागरके सुघर खेवैया आप
हमहूँ सदैव देवसरिके खेवैया हैं।
कौतुकी कुपंथनिको पार करवैया नाथ
हौं तो जगपावनिको पार करवैया हैं।
हम तुम भैया एक कर्मके करैया राम
केवट सो केवट न लेत उतरैया हैं।

(मानसपीयूष, पाद टिप्पणी, अयो०)

इतना ही नहीं संसारमें ऐसे बहुत-से पेशे हैं, जिनमें लेन-देन नहीं चलता—

नाई से न नाई लेत, धोबी न धुलाई देत
दे के उतराई नाथ जाति न बिगारिए॥

और तब—

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥

सीताकी मुद्रिकाको लेकर उतराईके रूपमें श्रीराम उसे देने लगे थे तथा केवटके इनकार करनेपर आग्रह भी बहुत किया—*'बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ नहिं कछु केवटु लेइ।'* वह बार-बार यही कहता रहा। मैं संतुष्ट हूँ। जीवनभरकी मजूरी मुझे आज ही तो मिली है—

नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा॥
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि भूरी॥
अब कछु नाथ न चाहिअ मोरें। दीनदयाल अनुग्रह तोरें॥

(रा०च०मा० २।१०२।५—७)

भगवान्‌का प्रसाद भक्तको कभी अस्वीकार नहीं। अत:—

फिरती बार मोहि जो देबा। सो प्रसादु मैं सिर धरि लेबा॥

प्रेमीभक्तको भगवान्‌से भूषण-वसन नहीं चाहिये। उसे तो प्रेमके सहारे भगवान्‌तक पहुँचनेकी विमल दृष्टि—भगवत्प्रेम चाहिये—*'बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ नहिं कछु केवटु लेइ।'* और तब *'बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥'*

भगवान् व्यक्तिके हृदयके भाव देखते हैं और उसीपर रीझते भी हैं—*'रीझत राम जानि जन जी की'* उनको व्यक्तिकी बाह्य सुन्दरता, शारीरिक बनावटसे कोई लेना-देना नहीं है, भगवान् जब अपने भक्तके हृदयमें अलौकिक प्रेम देखते हैं, तभी बिहँसते हैं—*'मन बिहसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि॥'*

आज केवटका शरीर भले ही मैला-कुचैला है, परंतु उसके जानकी (हृदयकी) जो हालत है, उसमें जो श्रीरामके प्रति प्रेम भरा है, उसे देखकर प्रभु बिहँस पड़ते हैं; क्योंकि वह प्रेम अलौकिक है। *'चितइ जानकी'* केवटके हृदयको देखा, हृदयके भावप्रेमको देखा, *'लख न तन'* उसके शरीरको नहीं देखा, क्योंकि प्रभु तो मनके भावोंपर ही रीझते हैं।

वस्तुत: जो सांसारिक सुखोंका त्याग करता है, उसीको तो प्रेमके सहारे आत्मसमर्पणका महाप्रसाद—अपने आराध्यके सांनिध्यकी प्राप्ति होती है। उसके सामने मान-सम्मान या जागतिक धन-ऐश्वर्य सभी फीके तथा त्याज्य हैं—

'रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥'

अब निषादराज और केवटके भगवत्प्रेमका तुलनात्मक विश्लेषण किया जाय। दोनों प्रेमी भक्त हैं। एकका लक्ष्य मान, प्रतिष्ठा, राजकीय सुख और सम्मान है तो दूसरेका निष्काम भगवत्प्रेम। केवटको भगवान् श्रीरामकी सेवाका बहुत कम अवसर मिला। मात्र गङ्गाजीके इस पारसे उस पार ले जानेका और बालूकी दोनों रेतियोंपर किंचित् काल सम्भाषणका। इसके बाद फिर श्रीरामके दर्शनका अथवा प्रसाद पानेका उसे कोई अवसर मिला तो इसका कोई

संकेत नहीं मिलता। अवसरके लिये उसने कभी याचना नहीं की। विदाके समय मात्र इतना ही कहा था—*'फिरती बार मोहि जो देबा। सो प्रसादु मैं सिर धरि लेबा॥'* किंतु उसे यह अवसर भी नहीं मिला। निषादराजको ये सारे अवसर मिले। सेवाका, दर्शनका उन्हें अपेक्षाकृत अधिक अवसर मिला और आते-जाते रहनेकी आज्ञा भी—*'सदा रहेहु पुर आवत जाता'* एक आदमी सेवाका प्रतिदान भूषण-वसन, प्रसाद आदिके रूपमें लेता है। दूसरा अपनी सेवाका प्रतिदान नहीं चाहता है। एक श्रीरामको राजपुत्रके रूपमें देखता है—शक्ति, शील और सौन्दर्यके आगारके रूपमें तथा दूसरा केवल सच्चिदानन्दके रूपमें। उसकी आँख न शक्तिपर है और न सौन्दर्यपर। उसे चरणकमलरजकी महिमाका सम्पूर्ण ज्ञान है। इसीलिये एकको ऐश्वर्य मिलता है, दूसरेको भगवत्प्रेमका पूर्ण प्रसाद—भक्ति। निषादराजको भक्ति नहीं मिली। भक्ति मिली केवटको। भगवान् श्रीरामने विदाके समय दोनोंको प्रसाद दिया। निषादराजको—*'बिदा कीन्ह सनमानि निषादू', 'दीन्हे भूषन बसन प्रसादा॥'*

परंतु केवटको—*'बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥'*

अतः भगवत्प्रेम वह बिन्दु है, जहाँ भौतिक कामनाओंकी जड़ें समाप्त हो जाती हैं और प्रेमके सहारे समर्पण, दर्शनकी लालसा एवं अपने आराध्यके श्रीचरणोंके लिये शेष रह जाती है—सहज स्नेहकी कामना—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।

भगवत्प्रेमकी मूर्तिमयी उपासना—श्रीशबरी

(श्रीमती उषा एन० शर्मा)

दण्डकारण्यमें भक्ति-श्रद्धासम्पन्न एक वृद्धा भीलनी रहती थी, जिसका नाम था शबरी। एक दिन वह घूमती हुई पम्पा नामक पुष्करिणीके पश्चिम तटपर स्थित एक अति रमणीय आश्रमपर पहुँची। मेघोंकी घटाके समान श्याम और नाना प्रकारके पशु-पक्षियोंसे भरे हुए उस वनमें, जिसे मतंगवन कहा जाता था, एक अति सुन्दर आश्रम था। वह आश्रम मतंगमुनिका था। अनाथ शबरीने मुनिके चरणोंमें सिर रख दिया और उनसे शरण माँगी। दयालु मुनिने उसे शरण दी तथा भक्तिज्ञान दिया। मतंगमुनि सदा प्रभुभक्तिमें लीन रहा करते थे। अन्त समयमें उन्होंने शबरीको आदेश दिया कि 'तुम यहीं रहना; क्योंकि यहाँ श्रीराम और लक्ष्मण पधारेंगे। तुम उनका स्वागत करना। श्रीराम परब्रह्म हैं, उनका दर्शन कर तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा।' शबरीके मनमें श्रीरामभक्तिकी एक लौ उन्होंने जगा दी थी।

गुरुके आदेशानुसार शबरी श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन आश्रममें प्रभु श्रीरामके आगमनकी प्रतीक्षा करती रहती थी कि पता नहीं प्रभु श्रीराम कब पधार जायँ? अतः नित्य आश्रमके प्रवेश-द्वारतकके मार्गको बुहारती और सम्पूर्ण मार्गको नवीन पुष्पोंसे ओट देती थी। 'भगवान् श्रीराम आयेंगे'—यह गुरुका संदेश था और उसे इसका दृढ़ विश्वास था। कब आयेंगे? पता नहीं, पर आयेंगे अवश्य। वह श्रद्धा-भक्तिपूर्वक रात-दिन श्रीरामजीका स्मरण करती। उनके स्वागतहेतु प्रतिदिन वनके ताजे पके कन्द-मूल-फल संग्रह करती—उन्हें निवेदन करनेके लिये। उसे विश्वास-सा हो चला था कि प्रभु श्रीराम लक्ष्मणसहित अवश्य आयेंगे; क्योंकि गुरुने उसे यह सब बता दिया था। उसे गुरुवाणीपर पूर्ण विश्वास जो था।

अन्ततः वह शुभ दिन आ गया। प्रभु श्रीराम लक्ष्मणसहित सीताकी खोज करते हुए शबरीके आश्रमकी ओर आ ही गये। शबरीने देखा—श्रीराम और लक्ष्मण मतंगवनकी शोभा निहारते हुए बहुसंख्यक वृक्षोंसे घिरे उस सुरम्य आश्रमकी ओर आ रहे हैं। शबरी सिद्ध तपस्विनी थी। उन दोनों भाइयोंको आश्रममें आया देख, वह हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी। उसने श्रीराम और लक्ष्मणके चरणोंमें प्रणाम किया। कमलसदृश नेत्र, विशाल भुजाओंवाले, सिरपर जटाओंका मुकुट और गलेमें वनमाला धारण किये, सुन्दर, साँवले और गोरे दोनों भाइयोंके चरणोंसे शबरी लिपट गयी—

सरसिज लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बनमाला॥
स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥

(रा०च०मा० ३।३४।७-८)

श्रीरामने शबरीको दोनों हाथ बढ़ाकर उठा लिया। प्रेमपूर्वक पूछा—'हे चारुभाषिणि! तुमने जो गुरुजनकी सेवा की वह पूर्ण सफल हो गयी है न?' उनके ऐसा पूछनेपर शबरीने उत्तर दिया—'हे रघुनन्दन! आज आपका दर्शन पाकर मुझे अपनी तपस्यामें सिद्धि प्राप्त हो गयी। आज मेरा जन्म सफल हुआ। गुरुजनोंकी उत्तम पूजा भी सार्थक हो गयी।'

अद्य प्राप्ता तपःसिद्धिस्तव संदर्शनान्मया।

सुपूजिता: ॥

अद्य मे सफलं जन्म गुरवश्च सुपूजिताः ॥
अद्य मे सफलं तप्तं स्वर्गश्चैव भविष्यति।
त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ ॥

(वा०रा० अर० ७४। ११-१२)

'पुरुषप्रवर श्रीराम! आप देवेश्वरका इस आश्रममें पदार्पण हुआ इससे मेरी तपस्या सफल हो गयी और निश्चितरूपसे मुझे आपके दिव्य धामकी प्राप्ति भी होगी।' ऐसा कह शबरीने दोनों भाइयोंको पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय आदि सामग्री समर्पित की। बड़े वात्सल्यभावसे नाना प्रकारके कन्द-मूल-फल जो उसने प्रेमपूर्वक संग्रह किये थे, उन्हें जीमनेको दिये। श्रीरामने बड़े प्रेमपूर्वक उन मीठे पके कन्द-मूल-फलोंको ग्रहण किया और उनके दिव्य आस्वादका बार-बार बखान किया—

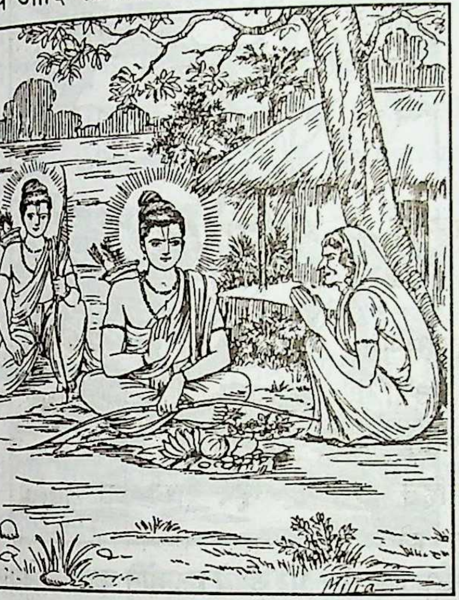

कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥

(रा०च०मा० ३। ३४)

इस प्रकार प्रभु श्रीरामका आदर-सत्कार कर शबरीने पुनः कहा—

तवाहं चक्षुषा सौम्य पूता सौम्येन मानद।
गमिष्याम्यक्षयाँल्लोकांस्त्वत्प्रसादादरिंदम ॥

(वा०रा० अर० ७४। १३)

हे सौम्य! मानद! आपकी सौम्य दृष्टि पड़नेपर मैं परम पवित्र हो गयी। शत्रुदमन! आपके प्रसादसे ही अब मैं अक्षय लोकोंमें जाऊँगी। फिर वह हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी। प्रभुको देखा—उसका प्रेम अत्यन्त बढ़ गया। वह पुनः कहने लगी—

अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥

तब श्रीरामजी बोले—हे भामिनि! मैं तो केवल भक्तिका ही सम्बन्ध मानता हूँ। जाति, पाँति, कुल, धर्म, बड़ाई, धन-बल, कुटुम्ब, गुण एवं चतुराई—इन सबके होनेपर भी भक्तिरहित मनुष्य जलहीन बादल-सा लगता है। उन्होंने शबरीको नवधा भक्तिका उपदेश किया। कहा—मेरी भक्ति नौ प्रकारकी है—(१) संतोंकी संगति अर्थात् सत्सङ्ग, (२) श्रीरामकथामें प्रेम, (३) गुरुजनोंकी सेवा, (४) निष्कपट-भावसे हरिगुणगान, (५) पूर्ण विश्वाससे श्रीरामनामजप, (६) इन्द्रियदमन तथा कर्मोंसे वैराग्य, (७) सबको श्रीराममय जानना, (८) यथालाभमें संतुष्टि तथा (९) छल-रहित सरल स्वभावसे हृदयमें प्रभुका विश्वास।

इनमेंसे किसी एक प्रकारकी भक्तिवाला मुझे प्रिय होता है, फिर तुझमें तो सभी प्रकारकी भक्ति दृढ़ है। अतएव जो गति योगियोंको भी दुर्लभ है, वह आज तेरे लिये सुलभ हो गयी है—

सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥
जोगि बृंद दुरलभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई॥

उसीके फलस्वरूप तुम्हें मेरे दर्शन हुए, जिससे तुम सहज स्वरूपको प्राप्त करोगी। इतना कहकर श्रीरामने शबरीजीसे जानकीके विषयमें पूछा—

जनकसुता कइ सुधि भामिनी। जानहि कहु करिबरगामिनी॥

शबरीने तब उन्हें पम्पासरोवरपर जानेको कहा। वहाँ सुग्रीवसे आपकी मित्रता होगी। हे रघुवीर! वे सब हाल बतायेंगे। हे धीरबुद्धि! आप अन्तर्यामी होते हुए भी यह सब मुझसे पूछ रहे हैं? फिर कहने लगी—जिनका यह आश्रम है, जिनके चरणोंकी मैं सदा दासी रही, उन्हीं पवित्रात्मा महर्षिके समीप अब मुझे जाना है। प्रेमभक्तिमें रँगी हुई शबरीने बार-बार प्रभुके चरणोंमें सिर नवाकर, प्रभु-दर्शन कर हृदयमें श्रीरामके चरणोंको धारण कर योगाग्निद्वारा शरीर त्यागा। वह प्रभुचरणोंमें लीन हो गयी।

भगवत्प्रेमका ऐसा सुन्दर स्वरूप जो शबरीने प्रस्तुत किया, वह किसीके भी हृदयमें प्रेमभक्तिका संचार करनेमें सर्वथा सक्षम है, इसमें रंचमात्र संदेह नहीं। वह श्रीराममें वात्सल्यभाव रखती थी और श्रीरामने भी उसे माता कौसल्याकी भाँति मातृभावसे ही देखा।

~~~
~~~

प्रेमी जटायुपर प्रभुकृपा

सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिणः।
शूराः शरण्याः सौमित्रे तिर्यग्योनिगतेष्वपि॥
(वा० रा० ३।६८।२४)

श्रीराम कहते हैं—'लक्ष्मण! सर्वत्र—यहाँतक कि पशु-पक्षी आदि योनियोंमें भी शूरवीर, शरणागतरक्षक, धर्मपरायण साधुजन मिलते हैं।'

प्रजापति कश्यपजीकी पत्नी विनतासे दो पुत्र हुए—अरुण और गरुड। इनमेंसे भगवान् सूर्यके सारथि अरुणजीके दो पुत्र हुए—सम्पाती और जटायु। बचपनमें सम्पाती और जटायु उड़ानकी होड़ लगाकर ऊँचे जाते हुए सूर्यमण्डलके पासतक चले गये। असह्य तेज न सह सकनेके कारण जटायु तो लौट आये; किंतु सम्पाती ऊपर ही उड़ते गये। सूर्यके अधिक निकट जानेपर सम्पातीके पंख सूर्यतापसे भस्म हो गये। वे समुद्रके पास पृथ्वीपर गिर पड़े। जटायु लौटकर पञ्चवटीमें आकर रहने लगे। महाराज दशरथसे आखेटके समय इनका परिचय हो गया और महाराजने इन्हें अपना मित्र बना लिया।

वनवासके समय जब श्रीरामजी पञ्चवटी पहुँचे, तब जटायुसे उनका परिचय हुआ। मर्यादापुरुषोत्तम अपने पिताके सखा गृध्रराजका पिताके समान ही सम्मान करते थे। जब छलसे स्वर्णमृग बने मारीचके पीछे श्रीराम वनमें चले गये और जब मारीचकी कपटपूर्ण पुकार सुनकर लक्ष्मणजी बड़े भाईको ढूँढ़ने चले गये, तब सूनी कुटियासे रावण सीताजीको उठा ले गया। बलपूर्वक रथमें बैठाकर वह उन्हें ले चला। श्रीविदेहराज-दुहिताका करुणक्रन्दन सुनकर जटायु क्रोधमें भर गये। वे ललकारते-धिक्कारते रावणपर टूट पड़े और एक बार तो राक्षसराजके केश पकड़कर उसे भूमिपर पटक ही दिया।

जटायु वृद्ध थे। वे जानते थे कि रावणसे युद्धमें वे जीत नहीं सकते। परंतु नश्वर शरीर राम-काजमें लग जाय, इससे बड़ा सौभाग्य भला और क्या होगा? रावणसे उनका भयंकर संग्राम हुआ। अन्तमें रावणने उनके पंख तलवारसे काट डाले। वे भूमिपर गिर पड़े। जानकीजीको लेकर रावण भाग गया। श्रीराम विरह-व्याकुल होकर जानकीजीको ढूँढ़ते वहाँ आये। जटायु मरणासन्न थे। उनका चित्त श्रीरामके चरणोंमें लगा था। उन्होंने कहा—'राघव! राक्षसराज रावणने मेरी यह दशा की है। वही दुष्ट सीताजीको लेकर दक्षिण दिशाकी ओर चला गया है। मैंने तो तुम्हारे दर्शनके लिये ही अबतक प्राणोंको रोक रखा था। अब ये विदा होना चाहते हैं। तुम आज्ञा दो।'

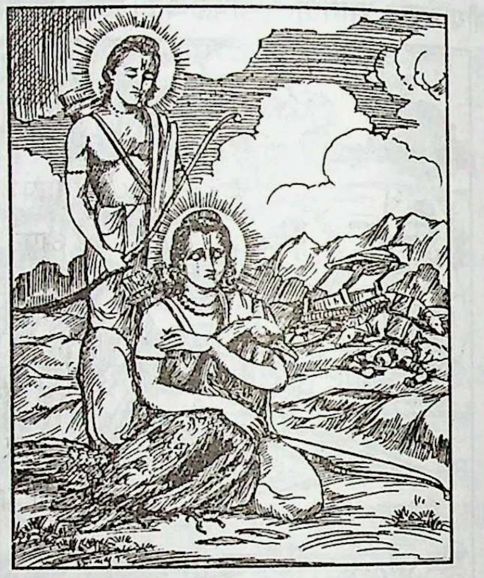

श्रीराघवके नेत्र भर आये। उन्होंने कहा—'आप प्राणोंको रोकें। मैं आपके शरीरको अजर-अमर तथा स्वस्थ बनाये देता हूँ।' जटायु परम भागवत थे। शरीरका मोह उन्हें था नहीं। उन्होंने कहा—'श्रीराम! जिनका नाम मृत्युके समय मुखसे निकल जाय तो अधम प्राणी भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है—ऐसी तुम्हारी महिमा श्रुतियोंमें वर्णित है—आज वही तुम प्रत्यक्ष मेरे सम्मुख हो; फिर मैं शरीर किस लाभके लिये रखूँ?'

दयाधाम श्रीरामभद्रके नेत्रोंमें जल भर आया। वे कहने लगे—'तात! मैं तुम्हें क्या दे सकता हूँ। तुमने तो अपने ही कर्मसे परम गति प्राप्त कर ली। जिनका चित्त परोपकारमें लगा रहता है, उन्हें संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है। अब इस शरीरको छोड़कर आप मेरे धाममें पधारें।'

श्रीरामने जटायुको गोदमें उठा लिया था। अपनी जटाओंसे वे उन पक्षिराजकी देहमें लगी धूलि झाड़ रहे थे। जटायुने श्रीरामके मुख-कमलका दर्शन करते हुए उनकी गोदमें ही शरीर छोड़ दिया—उन्हें भगवान्‌का सारूप्य प्राप्त हुआ। वे तत्काल नवजलधर-सुन्दर, पीताम्बरधारी, चतुर्भुज,

तेजोमय शरीर धारण कर वैकुण्ठ चले गये। जैसे सत्पुत्र श्रद्धापूर्वक पिताकी अन्त्येष्टि करता है, वैसे ही श्रीरामने जटायुके शरीरका सम्मानपूर्वक दाहकर्म किया और उन्हें जलाञ्जलि देकर श्राद्ध किया। पक्षिराजके सौभाग्यकी महिमाका कहाँ पार है! त्रिभुवनके स्वामी श्रीराम, जिन्होंने दशरथजीकी अन्त्येष्टि नहीं की, उन्होंने अपने हाथों जटायुकी अन्त्येष्टि विधिपूर्वक की। उस समय उन्हें श्रीजानकीजीका वियोग भी भूल गया था।

* * *

शत्रुभावान्वित भगवत्प्रेमी रावणकी अनूठी साधना

(श्रीप्रेमप्रतापजी भारद्वाज)

भगवान् श्रीरामके अवतार लेनेके कारणोंकी विवेचना करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्यजीने प्रयागस्थित महामुनि भरद्वाजसे कहा कि विश्वविदित कैकय देशमें सत्यकेतु नामक एक राजा राज्य करता था। उसके दो वीर पुत्र हुए—प्रतापभानु और अरिमर्दन। राजा बननेपर प्रतापभानु सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डलका चक्रवर्ती सम्राट् बना। वह अपने परम वीर भाई अरिमर्दन और शुक्राचार्यके समान बुद्धिमान् धर्मरुचि नामक मन्त्रीकी सहायतासे राजकार्य करता था।

एक बार राजा प्रतापभानु विन्ध्याचलके घने जंगलमें शिकार खेलने गया। वहाँ विधाताके इच्छानुसार वह एक कपटी मुनिके सुन्दर वेषको देखकर धोखा खा गया। उसने अपनी महत्त्वाकाङ्क्षा—

जरा मरन दुख रहित तनु समर जितै जनि कोउ।
एकछत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ॥

(रा०च०मा० १।१६४)

—के कारण कपटी मुनिके भुलावेमें आकर ब्राह्मणोंका भयानक शाप पाया। फलस्वरूप वही राजा अगले जन्ममें परिवारसहित 'रावण' नामक राक्षस हुआ। उसके दस सिर और बीस भुजाएँ थीं तथा वह बड़ा ही प्रचण्ड शूरवीर था। अरिमर्दन नामक राजाका छोटा भाई बलका धाम कुम्भकर्ण हुआ। उसका मन्त्री धर्मरुचि सौतेला छोटा भाई विभीषण हुआ। यद्यपि वे पुलस्त्य मुनिके पवित्र, निर्मल और अनुपम कुलमें उत्पन्न हुए तथापि ब्राह्मणोंके शापके कारण रावण और कुम्भकर्ण दुष्ट, कुटिल, भयंकर, निर्दय, हिंसक और सबको दुःख देनेवाले हुए। तीनों भाइयोंने उग्र तपस्या कर ब्रह्माजीसे वरदान प्राप्त किया और रावण सार्वभौम सम्राट् बनकर अपने इच्छानुसार राज्य करने लगा।

राक्षसोंके उत्पातोंसे भयभीत देवताओं और पृथ्वीकी प्रार्थनापर साक्षात् प्रभु श्रीअयोध्यापुरीमें महाराज दशरथ तथा महारानी कौसल्याके गृहमें अंशोंसहित श्रीरामरूपमें प्रकट हुए और उन्होंने राक्षसोंका संहार किया।

इसी श्रीरामरूपकी लीलामें प्रभु अपने भाई लक्ष्मण एवं पत्नी सीतासहित चौदह वर्षोंतक वनमें फिरते रहे। वनलीलामें महामुनि अगस्त्यजीके प्रार्थनानुसार भगवान् श्रीरामचन्द्रजी गोदावरीके तटपर पञ्चवटीमें पर्णकुटी बनाकर रहने लगे।

राक्षसराज रावणकी बहिन शूर्पणखा एक बार पञ्चवटीमें गयी और उसने सुन्दर रूप धारण कर भगवान् श्रीराम तथा लक्ष्मणसे क्रमशः विवाहकी याचना की। उनके द्वारा मना करनेपर जब उसने अपना भयंकर रूप प्रकट किया तो लक्ष्मणजीने उसे बिना नाक-कानकी करके मानो रावणको चुनौती दे डाली।

शूर्पणखासे खर-दूषण एवं त्रिशिराके वधका समाचार पाकर रावण मन-ही-मन विचार करने लगा—'देवता, मनुष्य, असुर, नाग और पक्षियोंमें कोई ऐसा नहीं, जो मेरे सेवकको भी नुकसान पहुँचा सके। खर-दूषण तो मेरे ही

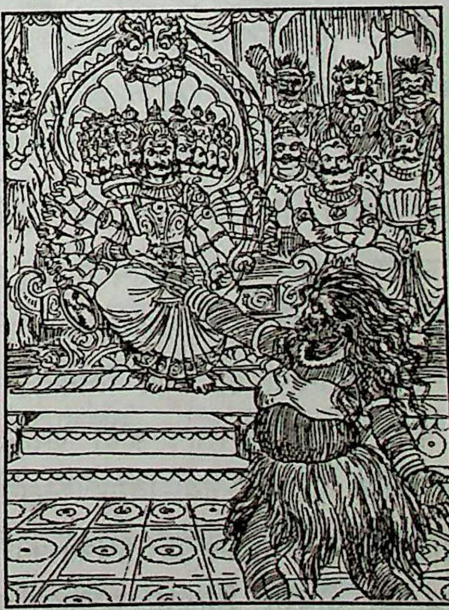

समान बलवान् थे। उन्हें भगवान्के सिवाय और कौन मार सकता है! देवताओंको आनन्द देनेवाले तथा पृथ्वीका भार हरण करनेवाले भगवान्ने ही यदि अवतार लिया है तो मैं जाकर उनसे हठपूर्वक वैर करूँगा और प्रभुके बाणके आघातसे प्राण छोड़कर इस भवसागरसे तर जाऊँगा; क्योंकि इस तामस शरीरसे भजन तो होगा नहीं, अतएव मन, वचन और कर्मसे मेरा यही दृढ़ निश्चय है।' इस प्रकार राक्षसराज रावण उन आनन्दकन्द, ब्रह्माण्डनायक, परमात्मप्रभुका 'शत्रुभावान्वित प्रेमी' बन गया।

इसके बाद उस 'शत्रुभावान्वित प्रेमी' ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। माता सीताका हरण कर वैर बढ़ाया और उन्हें ले जाकर अशोकवाटिकामें रख दिया। उसे तो प्रभु श्रीरामके हाथों मोक्ष प्राप्त करना था। अतः उसने अपनी साध्वी पत्नी मन्दोदरीका कहना भी नहीं माना। मन्दोदरीने उसे बड़े आदरसे समझाया था—'नाथ! श्रीराम साक्षात् परमात्मा हैं। आप उनसे वैर न करें। इसका परिणाम शुभ नहीं होगा। सीता साक्षात् योगमाया हैं। आप मेघनादको राज्यपदपर प्रतिष्ठित कर दें और हमलोग कहीं एकान्तमें चलकर श्रीरामका भजन करें। वे दया-विग्रह निश्चय ही हमपर दयाकी दृष्टि करेंगे।' परंतु रावणपर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जब भी अवसर मिलता, मन्दोदरी उसे अवश्य समझाती। वह रावणसे बार-बार कहती—

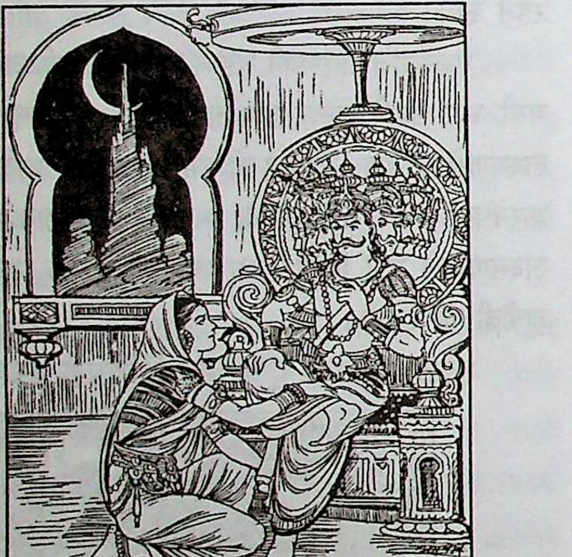

पति रघुपतिहि नृपति जनि मानहु। अग जग नाथ अतुल बल जानहु॥

(रा०च०मा० ६।३६।८)

अनेक बार समझानेपर भी जब रावणके मनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, तब मन्दोदरीने यहाँतक कह दिया—

अहह कंत कृत राम बिरोधा। काल बिबस मन उपज न बोधा॥
निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं॥

(रा०च०मा० ६।३७।६, ८)

रावण अपनी बुद्धिमती पत्नी मन्दोदरीकी बातोंको हँसकर टाल देता था; क्योंकि वह इस रहस्यको अच्छी प्रकार समझता था कि उसका कल्याण किसमें है।

रावण मारा गया। मन्दोदरी पतिके शवके समीप जाकर विलाप करने लगी। उसने रोते-रोते भगवान्की दयाका बखान करते हुए कहा—

अहह नाथ रघुनाथ सम कृपासिंधु नहिं आन।
जोगि बृंद दुर्लभ गति तोहि दीन्हि भगवान॥

(रा०च०मा० ६।१०४)

रावण प्रसन्न था; क्योंकि उसका जीव प्रभुचरणोंमें लीन हो गया था। उसका उद्देश्य पूर्ण हो गया था। उसने हठपूर्वक वैर किया और भगवान् श्रीरामके बाणके आघातसे प्राण छोड़कर इस भवसागरसे तर गया।

रावण पण्डित था, ज्ञानी था। वह समझता था कि इस राक्षस-देहसे भजन करके वह भवसागर पार नहीं कर सकेगा, इसीलिये वह अपने गुप्त निर्णयपर अटल रहा। उसे अपने निश्चयसे डिगानेके लिये उसकी पत्नी मन्दोदरीके अलावा मारीच, जटायु, हनुमान्, विभीषण, अंगद, कुम्भकर्ण तथा गुप्तचरोंने भी अपने-अपने तरीकेसे प्रयास किये, परंतु वह अडिग रहा और शत्रु बनकर प्रभुप्रेममें लीन रहा।

ताड़का नामक राक्षसीका पुत्र मारीच भगवान् श्रीरामकी प्रभुता एवं बलको भूला नहीं था। अपने राक्षसी स्वभाववश ऋषि-मुनियोंके यज्ञ आदिमें विघ्न डालनेके अपराधमें श्रीरामजीके बाणसे वह सौ योजन दूर आ पड़ा था। उसने उन्हें साक्षात् ईश्वरके रूपमें पहचान लिया था। इसलिये उसने रावणको बहुत समझाया, विनय की और सीताहरण न करनेकी प्रार्थना की, परंतु रावण अपनी गुप्त योजनाके अन्तर्गत कार्य करता ही रहा।

उसने सीताहरण कर जटायुका सामना किया। जटायुने भी कहा—

राम रोष पावक अति घोरा। होइहि सकल सलभ कुल तोरा॥

(रा०च०मा० ३।२९।१७)

यह सुनकर भी कि श्रीरामचन्द्रजीके क्रोधरूपी अत्यन्त भयानक अग्निमें तेरा सारा वंश पतिंगा होकर भस्म हो जायगा। रावण कुछ उत्तर नहीं देता। अपनी धुनका पक्का रावण गीधराज जटायुको घायल कर सीताजीको रथपर चढ़ाकर लङ्का ले जाता है। जटायुको मारता नहीं है ताकि वह श्रीरामको बता दे कि रावणने ही सीताहरण किया है। रास्तेमें वह सीताजीको वस्त्र डालनेसे भी नहीं रोकता ताकि पर्वतपर बैठे हुए वानर भी सीताहरणकी कहानी श्रीरामको सुनायें और वे लङ्का पहुँचें।

अपनी योजनामें बाधक बन रहे श्रीरघुनाथजीके दूतों—पवनपुत्र हनुमान् तथा बालिपुत्र अंगदसे यह सुनकर—

जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि॥

(रा०च०मा० ५।२१)

—रावण और दृढ़प्रतिज्ञ हो जाता है। वह दूतोंके हर व्यवहारको हँसकर सह लेता है और उनको कोई नुकसान नहीं पहुँचाता। अपने बेटेकी मृत्युका दुःख भी उसे विचलित नहीं करता। हनुमान्जीने उलट-पलटकर लङ्का जलायी, फिर भी रावण उन्हें जानकीजीसे मिलकर सकुशल लौट जाने देता है ताकि हनुमान्से पूर्ण सूचना प्राप्तकर, भगवान् श्रीराम लङ्का आकर उसका एवं समस्त राक्षससमूहका उद्धार करें।

इतनेपर भी रावणका बहुत ही बुद्धिमान् मन्त्री माल्यवान् उसकी योजनाको छिन्न-भिन्न करनेके लिये सामने आता है तो रावण उसे दरबारसे निकलवा देता है। परंतु अपने सौतेले भाई विभीषणकी बातोंको चुपचाप सुनता है—

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत॥

(रा०च०मा० ५।३८)

विभीषणजी कहते हैं—'हे दशशीश! मैं बार-बार आपके चरणोंमें लगकर विनती करता हूँ कि मान, मोह और मदको त्यागकर आप कोसलपति श्रीरामचन्द्रजीका भजन करिये। मुनि पुलस्त्यजीने अपने शिष्यके हाथ यह बात कहला भेजी है। सुन्दर अवसर पाकर मैंने तुरंत ही यह बात आपसे कह दी है। हे तात! मैं चरण पकड़कर आपसे भीख माँगता हूँ—आप मेरा दुलार रखकर श्रीरामचन्द्रजीको सीताजी दे दीजिये, जिससे आपका अहित न हो।'

मुनि पुलस्त्यजीका नाम सुनकर सहसा रावणके मनमें एक विचार कौंधता है और वह चरण-प्रहार करके कहता है—

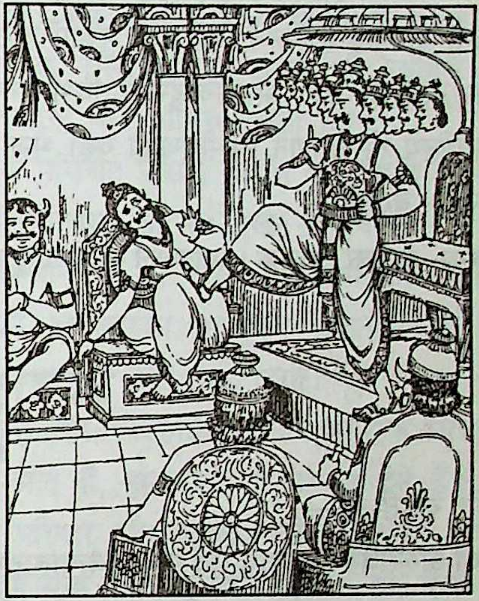

मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती॥

(रा०च०मा० ५।४१।५)

'मेरे नगरमें रहकर तपस्वियोंसे प्रेम करता है, उन्हींसे जा मिल।' वह जानता है कि बिना विभीषणके पहुँचे भगवान् श्रीरामजीको उसे मुक्ति देनेमें कठिनाई होगी। साथ ही वह राक्षसवंशको भी चलाना चाहता है।

रावण अपनी योजनाकी अन्तिम बाधाको भी शान्ति और धीरजसे दूर करता है। जब लङ्काके प्रायः सभी राक्षसनायक वानरों तथा रीछोंके हाथ मारे गये, तब रावण अपने भाई कुम्भकर्णको अनेक उपाय करके जगाता है, जो छः महीनेतक सोता था एवं एक दिनके लिये जागता था। उसका वह दिन भी भोजन करने तथा कुशल-मङ्गल पूछनेमें ही बीत जाता था। जागनेपर जब कुम्भकर्णने सब बातें सुनीं तो बड़ा दुःखी हुआ। उसने रावणसे कहा—

जगदंबा हरि आनि अब सठ चाहत कल्यान।
भल न कीन्ह तैं निसिचर नाहा। अब मोहि आइ जगाएहि काहा॥

अजहूँ तात त्यागि अभिमाना। भजहु राम होइहि कल्याना॥

(रा०च०मा ६।६२; ६३।१-२)

कुम्भकर्ण कभी भी अपने बड़े भाईका अनादर नहीं करता था। वह भावपूर्ण हृदयसे श्रीरघुनाथजीको परम ब्रह्म ही मानता था। अन्तमें वह उनके दर्शन करके उनके ही बाणोंसे देह त्यागकर परमगति पाता है।

सब बाधाओंको हँसकर पार करते हुए 'शत्रुभावान्वित प्रेमी' रावण भगवान् श्रीरामजीके सामने पहुँचकर अपनी मायासे उन्हें छकाता है। जब सिर तथा भुजाएँ कटनेपर भी वह मरता नहीं है, तब श्रीरामचन्द्रजीने विभीषणकी ओर देखा। इसीलिये तो रावणने विभीषणको वहाँ भेजा ही था। विभीषणजीने बताया—

सुनु सरबग्य चराचर नायक। प्रनतपाल सुर मुनि सुखदायक॥

नाभिकुंड पियूष बस याकें। नाथ जिअत रावनु बल ताकें॥

(रा०च०मा० ६।१०२।४-५)

उस महानायकका अन्तिम समय जानकर अनेक अपशकुन होने लगे। मूर्तियाँ रोने लगीं, आकाशसे वज्रपात होने लगे, पृथ्वी हिलने लगी, अमङ्गल होने लगे और तभी श्रीरघुनाथजीके इकतीस बाणोंसे घायल होकर रावणने इस नश्वर देहका त्याग कर दिया तथा उसका तेज प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके मुखमें समा गया—

तासु तेज समान प्रभु आनन। हरषे देखि संभु चतुरानन॥

(रा०च०मा० ६।१०३।१)

भगवत्प्राप्तिके लिये प्रेम-साधनाकी अत्यन्त आवश्यकता है। वह चाहे प्रेमी सेवकोंके द्वारा हो या मित्रभावान्वित अथवा शत्रुभावान्वित प्रेमी सहचरकी हो।

⁂

कन्हाईसे प्रेम कैसे करें?

(श्रीसुदर्शन सिंहजी 'चक्र')

श्रुति कहती है—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु
कामाय सर्वं प्रियं भवति।

(बृहदा० २।४।५)

सावधान, दूसरे सबके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने—आत्माके लिये सब प्रिय होते हैं।

श्रीमद्भागवत (१०।१४।५५)-में श्रीशुकदेवजीने समझाया—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

इन श्रीकृष्णको ही समस्त प्राणियोंकी आत्मा समझो। ये यहाँ (व्रजमें) जगत्के परम कल्याणके लिये शरीरधारीकी भाँति अपनी मायासे प्रतीत हो रहे हैं।

इसी सन्दर्भमें स्वयं श्रीकृष्णकी गीता (९।२३)-में कही गयी बात भी स्मरण कर लेने योग्य है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

अर्जुन! जो श्रद्धापूर्वक दूसरे देवताओंके भक्त उनका यजन-पूजन करते हैं, वे भी मेरा ही यजन करते हैं, किंतु अविधिपूर्वक करते हैं।

इस अविधिपूर्वक पूजनका ही फल होता है—'**देवान् देवयजो यान्ति।**' देवताओंका पूजन करनेवाले देवताओंको ही प्राप्त होते हैं।

इस प्रेमके प्रसंगमें इतनी भारी-भरकम बातके प्रारम्भका प्रयोजन है। प्रेम किया ही केवल कन्हाईसे जाता है। कन्हाईको छोड़कर अन्य किसीसे प्रेम किया ही नहीं जा सकता और कन्हाई तो है ही प्रेम करनेके लिये।

आप इस श्यामसुन्दरसे प्रेम करते हैं। चौंकिये मत, ऐसा कोई प्राणी संसारमें नहीं है, जो प्रेम न करता हो। सबका किसी-न-किसीसे प्रेम है। दूसरे किसीसे नहीं होगा तो अपने शरीरसे होगा; किंतु यह भ्रम है कि दूसरेसे प्रेम किया जा रहा है। जैसे दूसरे देवताओंके भक्त समझते हैं कि वे उन-उन देवताओंका भजन कर रहे हैं, वैसे ही लोग भी इस भ्रममें ही हैं कि वे तन, धन, स्त्री-पुत्र या पद-प्रतिष्ठासे प्रेम करते हैं। प्रेम तो वे कन्हाईसे ही करते हैं; किंतु अविधिपूर्वक करते हैं। दूसरे माध्यमोंसे करते हैं। इस अविधिपूर्वक प्रेमके कारण—प्रेमास्पदकी भ्रान्त धारणाके कारण भवाटवीमें भटक रहे हैं। अन्यथा—

प्रेम हरी कौ रूप है, त्यौं हरि प्रेम सरूप।

प्रेम तो कन्हाईका ही रूप है। कन्हाई ही प्रेम है।

प्रेममयी श्रीराधिका, प्रेम सिन्धु गोपाल।
प्रेमभूमि वृन्दाविपिन, प्रेम रूप ब्रज बाल॥

आपको कन्हाईसे प्रेम करना है, अतः यह जान लें कि प्रेम किया नहीं जाता, प्रेम होता है—हो जाता है। यह प्रेम कहीं आकाशसे टपका नहीं करता। यह आपके हृदयमें है। पहले यह देखिये कि 'आपकी प्रीति कहाँ है। संसारमें प्रीति स्थिर और अनन्य नहीं होती। वह बिखरी-बिखरी रहती है। हृदयकी रागात्मिका वृत्तिका नाम ही प्रेम है और जब संसारमें राग होता है, तब उसमें दो दोष अवश्य आ जाते हैं—१. वह बिखर जाता है। अनेक-से होता है। कुछ तनसे, कुछ धनसे, कुछ मान-प्रतिष्ठासे, कुछ एक सम्बन्धीसे और कुछ दूसरेसे, २. वह स्थायी नहीं होता। जहाँ स्वार्थ या सम्मानपर आघात लगा या आघात लगनेकी शङ्का हुई, उसे द्वेषमें परिवर्तित होते भी देर नहीं लगती।'

कुछ थोड़े अपवाद होते हैं। अतीतमें हुए हैं और कभी भी हो सकते हैं। लैलाके प्रति मजनूंका प्रेम—लेकिन ऐसा प्रेम जब स्थायी और अनन्य हो जाता है तो दिव्य हो जाता है। वह जिसमें होता है, उसकी देहासक्ति तथा समस्त क्षुद्र दुर्बलताओंको समाप्त कर देता है। उसमें केवल अविधिपूर्वक भ्रान्ति रहती है, जो किसी भी क्षण किसी संत-सत्पुरुषका अनुग्रह मिलते ही नष्ट हो जाती है। इसीलिये सूफी संत-मतमें स्थिर लौकिक प्रेमकी बहुत महत्ता है। उसे लगभग प्राथमिक आवश्यकता मान लिया गया है।

कन्हाईसे प्रेम करना है तो लोकमें कहीं, किसीसे भी प्रीति की कैसे जा सकती है। एक ही समय, एक साथ आप पूर्व और पश्चिम कैसे चल सकते हैं। स्वार्थ और परमार्थ एक साथ सधा नहीं करता।

'मुझे लोकमें उन्नति—सफलता भी चाहिये और परमार्थ भी' एकने लिखा। उनको उत्तर भला मैं क्या देता। जो एक साथ ऊपर-नीचे दोनों ओर दौड़ना चाहता है, वह गिरेगा। उसके नीचे ही लुढ़कनेकी सम्भावना अधिक है।

मैं नहीं कहता कि संसारका सुख-वैभव और कन्हाईकी प्रीति एक व्यक्तिको प्राप्त नहीं होती। सुदामाको स्वयं श्रीकृष्णने अपार वैभव दिया। महाराज जनक, चक्रवर्ती महाराज दशरथ अथवा व्रजराज नन्दबाबाके पास ऐश्वर्य कम नहीं था और इनमें प्रीति कम थी, यह तो सोचा भी नहीं जा सकता।

बाहरकी स्थिति क्या है, यह महत्त्वकी बात नहीं है। बाहर कोई चक्रवर्ती सम्राट् भी हो सकता है और नितान्त कंगाल भी। महत्त्वकी बात यह है कि उसके हृदयका राग कहाँ है। आप चाहते क्या हैं? कन्हाईका प्रेम और लौकिक वस्तु या स्थिति एक साथ चाही नहीं जा सकती। जब कोई दोनोंको चाहता है तो इसका अर्थ होता है कि वस्तुतः उसे संसार ही चाहिये। श्यामके प्रेमको चाहना मात्र औपचारिकता है।

एक परिचित प्रसिद्ध विद्वान् कहा करते हैं—'लोग तो चाहते हैं कि संसारका सब सुख-सम्मान बना रहे और एक जेबमें भगवान् भी आ जायँ। वे भगवान्को—भगवत्प्रेमको भी अपने अहंकारका आभूषण बनाना चाहते हैं और भगवान् आभूषण बना नहीं करते।'

कन्हाईका—कन्हाईके प्रेमका भी एक स्वभाव है कि जब ये आते हैं, संसारको नीरस कर देते हैं। तब भले सम्पत्ति, परिवार और प्रतिष्ठा बनी रहे, इनके रहनेमें कोई रस—कोई सुख नहीं रह जाता। ये रहें ही, ऐसा थोड़ा भी आग्रह नहीं रहता।

श्रीरघुनाथके वनमें चले जानेपर महाराज दशरथ प्राण ही नहीं रख सके। कन्हाईके मथुरा जानेपर व्रजके लोगोंकी क्या दशा हुई? किसे भगवत्प्रेम प्राप्त हुआ जिसकी तनिक भी रुचि-प्रीति संसारके वैभव या भोगोंमें थी? संसारका चाहे जितना वैभव प्राप्त हो, कन्हाईका प्रेम आयेगा तो सबको नीरस बना ही देगा।

कन्हाईसे प्रेम करना है? तब संसारसे निरपेक्ष हो जाना पड़ेगा। तब यह रहे—यह न रहे, यह मिले—यह न मिले, अमुक सुखी-सन्तुष्ट रहे—अमुक दूर बना रहे, जीवनमें ऐसी परिस्थिति रहे—ऐसी न रहे, यह सब आग्रह सर्वथा छोड़ देना होगा।

बात यह है कि कन्हाई हृषीकेश है, अन्तर्यामी है और संसार बाहर है। अन्तर्मुख और बहिर्मुख एक साथ हुआ नहीं जा सकता। अतः संसार तथा संसारकी स्थितिके सम्बन्धमें हृदयके पूरे बलसे कहना पड़ता है—

'बाक़ी न मैं रहूँ, न मेरी आरज़ू रहे।'

तब यह कहना सार्थक होता है—

'मालिक तेरी रज़ा रहे और तू ही तू रहे।'

'कन्हाईसे प्रेम करना है—करना ही है। संसारका सुख-वैभव रहना हो तो रहे और न रहना हो तो कल जानेके बदले भले आज ही चला जाय; किंतु यह प्रेम कैसे प्राप्त हो? यह कैसे जागे?'

आपके मुखमें घी-शक्कर। आप अब भी कहते हैं कि आपमें कन्हाईका प्रेम नहीं है? जो संसारमें सब ओरसे निरपेक्ष हो गया, उसका प्रेम कहाँ है? प्रेमहीन कोई प्राणी होता नहीं और संसारमें कहीं उसका प्रेम रहा नहीं, तब उसका प्रेम गया कहाँ?

'लेकिन मुझमें प्रेम तो नहीं है।'

आपकी यह अनुभूति धन्य है। प्यास ही प्रेमका स्वरूप है। प्रेममें तृप्ति तो है ही नहीं। 'मुझमें प्रेम है' यह अनुभूति किसी प्रेमीको कभी होती नहीं। यदि किसीको अनुभव होता है कि मुझमें प्रेम है तो समझना होगा कि यह पतनोन्मुख है। इसका रहा-सहा प्रेम भी अब टिकनेवाला नहीं है।

प्रेमकी पहिचान एक दूसरा ही अनुभव है। जिसमें प्रेम है, उसका क्षण-क्षणका, नित्य-नित्यका अनुभव बन जाता है—'मुझमें तो प्रेमका लेश भी नहीं है और न मैं कन्हाईका अनुग्रह पानेका अधिकारी हूँ। मुझ-जैसेकी तो उन्हें अत्यन्त उपेक्षा करनी चाहिये; किंतु ये व्रजराजकुमार इतने भोले हैं कि इन्हें नीरस व्यक्तिकी भी परख नहीं। ये मुझसे अतिशय प्रेम करते हैं। इनका मेरे प्रति बहुत अधिक पक्षपात है।'

प्रेमका पिता है विश्वास और माता है निरपेक्षता। संसारमें सब ओरसे निरपेक्ष होकर जो कन्हाईपर ही विश्वास करता है, उसे कन्हाईका प्रेम प्राप्त होता है और कन्हाईका प्रेम तो कन्हाईके मिलनेसे बहुत-बहुत अधिक महान् है।

एक सहायक साधनकी बात और। हमारे मनमें राग या द्वेष बहुत कुछ सुन-सुनकर उत्पन्न होता है। अतः कन्हाईका प्रेम पाना है तो इसके गुण, इसके चरित, इसके माहात्म्यका, इसकी कथाका बार-बार श्रवण करना चाहिये। यह श्रवण जब सुलभ न हो तो इस प्रकारके ग्रन्थोंका नियमित पाठ—अध्ययन करना चाहिये। पुस्तक पढ़ना भी श्रवणका ही विषय माना जाता है और प्रेम गुण-श्रवणकी बार-बार आवृत्तिसे जाग्रत् होता है, यह सब शास्त्र, सन्त कहते-मानते हैं।

गोपिकाओंकी प्रेमोपासना

गोपी-प्रेमका तत्त्व वही प्रेमी भक्त कुछ जान सकता है जिसे भगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति श्रीमती राधिकाजी और आनन्द तथा प्रेमके दिव्य समुद्र भगवान् सच्चिदानन्दघन परमात्मा श्रीकृष्ण ही कृपापूर्वक जना दें। जाननेवाला भी उसे कह या लिख नहीं सकता, क्योंकि 'गोपी-प्रेम' का प्रकाश करनेवाली भगवान्‌की वृन्दावनलीला सर्वथा अनिर्वचनीय है। वह कल्पनातीत, अलौकिक और अप्राकृत है। समस्त व्रजवासी भगवान्‌के मायामुक्त परिकर हैं और भगवान्‌की निज आनन्दशक्ति योगमाया श्रीराधिकाजीकी अध्यक्षतामें भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीलामें योग देनेके लिये व्रजमें प्रकट हुए हैं। व्रजमें प्रकट इन महात्माओंकी चरणरजकी चाह करते हुए सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी स्वयं कहते हैं—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥
अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥
तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।३०, ३२, ३४)

'हे प्रभो! मुझे ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो कि मैं इस जन्ममें अथवा किसी तिर्यक्-योनिमें ही जन्म लेकर आपके दासोंमेंसे एक होऊँ, जिससे आपके चरणकमलोंकी सेवा कर सकूँ। अहो! नन्दादि व्रजवासी धन्य हैं, इनके धन्य

भाग्य हैं, जिनके सुहृद् परमानन्दरूप सनातन पूर्ण ब्रह्म स्वयं आप हैं। इस धरातलपर व्रजमें और उसमें भी गोकुलमें किसी कीड़े-मकोड़ेकी योनि पाना ही परम सौभाग्य है, जिससे कभी किसी व्रजवासीकी चरणरजसे मस्तकको अभिषिक्त होनेका सौभाग्य मिले।'

जिन व्रजवासियोंकी चरण-धूलिको ब्रह्माजी चाहते हैं, उनका कितना बड़ा महत्त्व है! ये व्रजवासीगण मुक्तिके अधिकारको ठुकराकर उससे बहुत आगे बढ़ गये हैं। इस बातको स्वयं ब्रह्माजीने कहा है कि भगवन्! मुक्ति तो कुचोंमें विष लगाकर मारनेको आनेवाली पूतनाको ही आपने दे दी। इन प्रेमियोंको क्या वही देंगे—इनका तो आपको ऋणी बनकर ही रहना होगा और भगवान्ने स्वयं अपने श्रीमुखसे यह स्वीकार किया है। आप गोपियोंसे कहते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥

(श्रीमद्भा० १०। ३२। २२)

'हे प्रियाओ! तुमने घरकी बड़ी कठिन बेड़ियोंको तोड़कर मेरी सेवा की है। तुम्हारे इस साधुकार्यका मैं देवताओंके समान आयुमें भी बदला नहीं चुका सकता। तुम ही अपनी उदारतासे मुझे उऋण करना।'

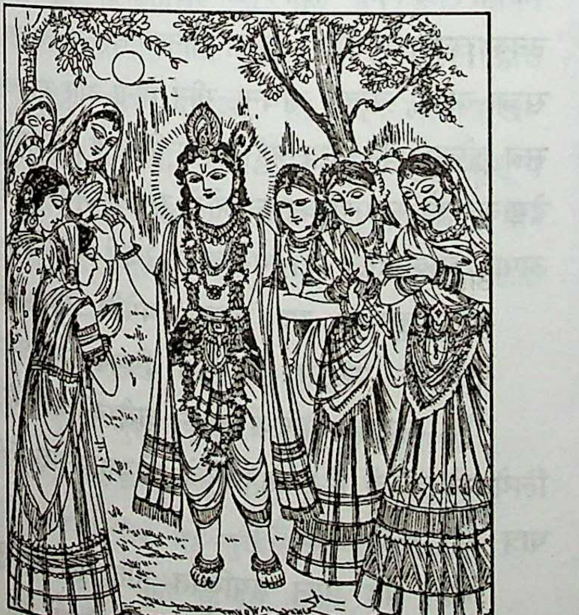

महात्मा नन्ददासजीकी रचनामें भगवान् कहते हैं—

तब बोले ब्रजराज-कुँवर हौं रिनी तुम्हारो।
अपने मनतें दूरि करौ किन दोष हमारो॥
कोटि कलप लगि तुम प्रति प्रतिउपकार करौं जौ।
हे मनहरनी तरुनी, उरिनी नाहिं तबौं तौ॥
सकल बिस्व अपबस करि मो माया सोहति है।
प्रेममयी तुम्हरी माया सो मोहि मोहति है॥
तुम जु करी सो कोउ न करै सुनि नवलकिसोरी।
लोकबेदकी सुदृढ़ संृखला तृन सम तोरी॥

सारे संसारके देव, मनुष्य, गन्धर्व, असुर आदि जीवोंको कर्मोंकी बेड़ीसे निरन्तर बाँधे रखनेवाले सच्चिदानन्द, जगन्नियन्ता प्रभु गोपी यशोदाके द्वारा ऊखलसे बँध जाते हैं। सारे जगत्को मायाके खेलमें सदा रमानेवाले मायापति हरि गोप-बालकोंसे खेलमें हारकर, स्वयं घोड़े बनकर उन्हें अपनी पीठपर चढ़ाते हैं! उन व्रजवासी नर-नारियोंको धन्य है! एक दिनकी बात है—यशोदाजी घरके आवश्यक काममें लग रही थीं, बाल-कृष्ण मचल गये और बोले, मैं गोद चढ़ूँगा। माताने कुछ ध्यान नहीं दिया। इसपर खीझकर आप रोने और आँगनमें लोटने लगे। इतनेहीमें देवर्षि नारद भगवान्की बाल-लीलाओंको देखनेकी लालसासे वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने देखा, सचराचर विश्वके स्वामी परम आनन्दमय भगवान् माताकी गोद चढ़नेके लिये जमीनपर पड़े रो रहे हैं। इस दृश्यको देखकर देवर्षि गद्गद हो गये और यशोदाको पुकारकर कहने लगे—

किं ब्रूमस्त्वां यशोदे कति कति सुकृतक्षेत्रवृन्दानि पूर्वं
गत्वा कीदृग्विधानैः कति कति सुकृतान्यर्जितानि त्वयैव।
नो शक्रो न स्वयम्भुर्न च मदनरिपुर्यस्य लेभे प्रसादं
तत्पूर्णब्रह्म भूमौ विलुठति विलपन् क्रोडमारोढुकामः॥

'यशोदे! तेरा सौभाग्य महान् है। क्या कहें, न जाने तूने पिछले जन्मोंमें तीर्थोंमें जा-जाकर कितने महान् पुण्य किये हैं? अरी! जिस विश्वपति, विश्वस्रष्टा, विश्वरूप, विश्वाधार भगवान्की कृपाको इन्द्र, ब्रह्मा और शिव भी नहीं प्राप्त कर सकते, वही परिपूर्ण ब्रह्म आज तेरी गोद चढ़नेके लिये जमीनपर पड़ा लोट रहा है!'

जो विश्वनायक भगवान् मायाके दृढ़ सूत्रमें बाँध-

बाँधकर अखिल विश्वको निरन्तर नाच नचाते हैं, वही विज्ञानानन्दघन भगवान् गोपियोंकी प्रेम-मायासे मोहित होकर सदा उनके आँगनमें नाचते हैं! उनके भाग्यकी सराहना और उनके प्रेमका महत्त्व कौन बतला सकता है? रसखान कहते हैं—

सेस, महेस, गनेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि, अनन्त, अखण्ड, अछेद, अभेद सुबेद बतावैं॥
नारद-से सुक ब्यास रटैं, पचिहारे, तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीरकी छोहरियाँ, छछियाभरि छाछपै नाच नचावैं॥

गोपियोंके भाग्यकी सराहना करते हुए परम विरागी, सदा ब्रह्मस्वरूप मुनि शुकदेवजी कहते हैं—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात्॥
(श्रीमद्भा० १०।९।२०)

'ब्रह्मा, शिव और सदा हृदयमें रहनेवाली लक्ष्मीजीने भी मुक्तिदाता भगवान्का वह दुर्लभ प्रसाद नहीं पाया जो प्रेमिकाश्रेष्ठ गोपियोंको मिला।'

इसी प्रकार ज्ञानिश्रेष्ठ उद्धवजी कहते हैं—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम्॥
(श्रीमद्भा० १०।४७।६०)

'रासोत्सवके समय भगवान्के भुजदण्डोंको गलेमें धारण कर पूर्णकामा व्रज-सुन्दरियोंको श्रीहरिका जो दुर्लभ प्रसाद प्राप्त हुआ था, वह निरन्तर भगवान्के वक्षःस्थलमें निवास करनेवाली लक्ष्मीजीको और कमलकी-सी कान्ति तथा सुगन्धसे युक्त सुरसुन्दरियोंको भी नहीं मिला, फिर दूसरेकी तो बात ही क्या है?'

गोपियोंकी चरणरज पानेके लिये व्रजमें लता-गुल्मौषधि बननेके इच्छुक और गोपियोंका शिष्यत्व ग्रहण करके गोपी-भावको प्राप्त हुए भक्त उद्धवसे स्वयं भगवान्ने कहा है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।१५)

'हे उद्धव! मुझे ब्रह्मा, संकर्षण, लक्ष्मी और अपना आत्मा शङ्कर—ये भी उतने प्रियतम नहीं हैं जितने तुझ-जैसे भक्त हैं।'

इससे गोपियोंके महत्त्वकी किञ्चित् कल्पना हुई होगी। भगवान्की ऐसी प्रियतमा गोपियोंके प्रेमका वर्णन कौन कर सकता है? परम वैराग्यकी प्राप्ति होनेपर कहीं प्रेमका अधिकार मिलता है और उस दिव्य प्रेम-राज्यमें प्रवेश कर चुकनेवाले महात्माओंके प्रसादसे ही दुर्गम प्रेमपथपर अग्रसर होकर भक्त उस प्रेमामृतका कुछ आस्वाद प्राप्त कर सकता है। यह साधनसापेक्ष है। केवल अध्ययन या ग्रन्थ-पाठसे वहाँतक पहुँच नहीं हो सकती। तथापि भगवत्कृपासे, इधर-उधरसे जो कुछ बातें मालूम हुई हैं, उन्हींका कुछ थोड़ा-सा भाव संक्षेपमें लिखनेकी चेष्टा यहाँ की जाती है।

गोपी-प्रेममें रागका अभाव नहीं है, परंतु वह राग सब जगहसे सिमटकर, भुक्ति और मुक्तिके दुर्गम प्रलोभन-पर्वतोंको लाँघकर केवल श्रीकृष्णमें अर्पण हो गया है। गोपियोंके मन-प्राण सब कुछ श्रीकृष्णके हैं। इहलोक और परलोकमें गोपियाँ श्रीकृष्णके सिवा अन्य किसीको भी नहीं जानतीं। उनका जीवन केवल श्रीकृष्णसुखके लिये है; उनका जागना-सोना, खाना-पीना, चलना-फिरना, शृङ्गार-सज्जा करना, कबरी बाँधना, गीत गाना और बातचीत करना, सब श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये है। श्रीकृष्णको सुखी देखकर ही सम्पूर्ण कामनाओंसे सर्वथा शून्य उन गोपियोंको अपार सुख होता है। भगवान्ने स्वयं कहा है—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम्॥

'हे अर्जुन! गोपियाँ अपने शरीरकी रक्षा मेरी सेवाके लिये ही करती हैं। गोपियोंको छोड़कर मेरा निगूढ प्रेम-पात्र और कोई नहीं है।'

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सुखसमुद्र, विज्ञानानन्दघन भगवान्को सुख पहुँचाना कैसा, क्या गोपियोंके द्वारा ही भगवान्को सुख मिलता है? भगवान् क्या स्वयं सुख-संदोह नहीं हैं? हैं क्यों नहीं, शक्तिमान् भगवान्की ही ह्लादिनी शक्ति तो श्रीराधिकाजी हैं; वे इस शक्तिको

अपनी वंशी-ध्वनिद्वारा सदा अपनी ओर खींचते रहते हैं। भगवान्‌की शक्ति स्वाभाविक ही अपनी सारी अनुगामिनी शक्तियोंसहित सदा-सर्वदा भगवान्‌की ओर खिंचती रहती है और भगवान् उस आह्लादको पाकर पुनः उसे उन्हीं शक्तियोंको—प्रेमी भक्तोंको बाँट देते हैं। भक्त भगवान्‌की बाँसुरीकी ध्वनि—भगवान्‌का आवाहन सुनकर, घर-द्वारकी सुधि भुलाकर, प्रमत्त होकर, अपना सर्वस्व न्योछावर कर, भगवान्‌को सुखी करनेके लिये दौड़ता है। भगवान् उसकी दी हुई सुखकी भेंटको स्वीकार करते हैं और फिर उसीको लौटा देते हैं। दर्पणमें अपनी शोभा भरकर दर्पणको शोभायुक्त बनानेवाला पुरुष उस शोभाको स्वयं ही वापस पा जाता है और वह सुख लौटकर उसीको मिल जाता है। इसी प्रकार परम सुखसागर भगवान् गोपियोंके सुखकी भेंटको स्वीकार कर, उनकी इस कामनाको कि श्रीकृष्ण हमें देखकर, हमारी सेवा स्वीकार कर और हमारे साथ खेलकर सुखी हों, पूरी कर देते हैं। भगवान् सुखी होते हैं और वह सुख अपरिमितरूपमें बढ़ा करके पुनः उन्हींको दे देते हैं। गोपियोंके प्रेमकी यही विशेषता है कि गोपियोंको निज सुखकी कामना रत्तीभर भी नहीं है। उन्हें अपने सुखके लिये कल्पना ही नहीं होती। वे तो अपने द्वारा श्रीकृष्णको सुखी हुआ देखकर ही दिन-रात सुख-समुद्रमें डूबी रहती हैं। गोपियोंका प्रेम काम-कालिमाशून्य है, निर्मल भास्कर है, सर्वथा दिव्य है, अलौकिक है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें ‘काम’ और ‘प्रेम’ का भेद बतलाते हुए कहा गया है—

कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल,
कृष्ण-सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल।
लोक-धर्म, वेद-धर्म, देह-धर्म, कर्म,
लज्जा, धैर्य, देह-सुख आत्म-सुख मर्म॥
सर्व त्याग करये, करे कृष्णेर भजन,
कृष्ण-सुख-हेतु करे प्रेमेर सेवन।
अतएव काम-प्रेमे बहुत अन्तर,
काम अन्धतम, प्रेम निर्मल भास्कर॥

काम और प्रेममें बड़ा ही अन्तर है। हम विषय-विमोहित जीव भ्रमवश कामको ही प्रेम मानकर पाप-पङ्कमें फँस जाते हैं। काम जहर मिला हुआ मधु है, प्रेम दिव्य स्वर्गीय सुधा है। काम थोड़ी ही देरमें दुःखके रूपमें बदल जाता है, प्रेमकी प्रत्येक कसकमें ही सुख-सुधाका स्वाद मिलता है। काममें इन्द्रिय-तृप्ति—इन्द्रियचरितार्थता है, प्रेममें तन्मयता, प्रियतम-सुखकी नित्य प्रबल आकाङ्क्षा है। काममें इन्द्रिय-तृप्ति सुखरूप दीखनेपर भी परिणाममें दुःखरूप है; प्रेम सदा अतृप्त होनेपर भी नित्य परम सुखरूप है। काम खण्ड है, प्रेम अखण्ड है। काम क्षयशील है, प्रेम नित्य वर्धनशील है। काममें विषय-तृष्णा है, प्रेममें विषय-विस्मरण है। कामका लक्ष्य विषय है, आत्मतृप्ति है; प्रेमका विषय पूर्ण त्याग है और चरम आत्मविस्मृति है।

यथार्थ प्रेमसे ही कामका नाश हो जाता है। यद्यपि प्रेमी अपने प्रेमास्पदको सुख पहुँचानेकी इच्छाको कामना ही मानता है और समस्त इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि एकमात्र प्रेममुखी होनेसे उसे कामना ही कहते हैं; परंतु वह शुद्ध प्रेम यथार्थमें काम नहीं है। गौतमीय तन्त्रमें कहा गया है—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।
इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः॥

‘गोपियोंके प्रेमका नाम ‘काम’ होनेपर भी वह असलमें ‘काम’ नहीं, बल्कि शुद्ध प्रेम है। महान् भगवद्भक्त उद्धव-सरीखे महात्मा इसी ‘काम’ नामक प्रेमकी अभिलाषा करते हैं।’ क्योंकि गोपियोंमें निजेन्द्रियसुखकी इच्छा है ही नहीं। वे तो श्रीभगवान्‌को भगवान् समझकर ही अपने सकल अङ्गोंको अर्पण कर उन्हें सुखी करना चाहती हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें इन विषयासक्तिशून्य श्रीकृष्णगतप्राणा गोपियोंके सम्बन्धमें कहा है—

निजेन्द्रिय-सुख-हेतु कामेर तात्पर्य,
कृष्णसुख तात्पर्य गोपीभाववर्य।
निजेन्द्रिय-सुख-वाञ्छा नहे गोपिकार,
कृष्ण-सुख-हेतु करे संगम बिहार॥
आत्म-सुख-दुःख गोपी ना करे विचार,
कृष्ण-सुख-हेतु करे सब व्यवहार।
कृष्ण बिना आर सब करि परित्याग,
कृष्ण-सुख-हेतु करे शुद्ध अनुराग॥

अपना तन, मन, धन, रूप, यौवन और लोक-परलोक—सबको श्रीकृष्णकी सुखसामग्री समझकर श्रीकृष्ण-सुखके लिये शुद्ध अनुराग करना ही पवित्र गोपीभाव है। इस गोपीभावमें मधुर रसकी प्रधानता है। रस पाँच हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। लौकिक और ईश्वरीय दिव्य भेदसे ये पाँचों रस दो प्रकारके हैं, अर्थात् लौकिक प्रेम भी उपर्युक्त पाँच प्रकारका है और दिव्य प्रेम भी पाँच प्रकारका है। परंतु इन पाँचोंमें मधुर रस—कान्ताप्रेम सबसे ऊँचा है; क्योंकि इसमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य—ये चारों ही रस विद्यमान हैं। यह अधिक गुणसम्पन्न होनेसे अधिक स्वादिष्ठ है, इसीलिये इसका नाम 'मधुर' है। इसी प्रकार दिव्य प्रेममें भी कान्ताप्रेम—मधुर रस ही सर्वप्रधान है। शान्त और दास्य रसमें भगवान् ऐश्वर्यशाली हैं, मैं दीन हूँ; भगवान् स्वामी हैं, मैं सेवक हूँ—ऐसा भाव रहता है। इसमें कुछ अलगाव-सा है, भय है और संकोच है; परंतु सख्य, वात्सल्य और माधुर्यमें क्रमशः भगवान् अधिकाधिक निज जन हैं, अपने प्यारे हैं, प्रियतम हैं; इनमें भगवान् ऐश्वर्यको भुलाकर, विभूतिको छिपाकर सखा, पुत्र या कान्तरूपसे भक्तके सामने सदा प्रकट रहते हैं, इन रसोंमें प्रार्थना-कामना है ही नहीं। अपने निज-जनसे प्रार्थना कैसी? उसका सब कुछ अपना ही तो है! इनमें भी कान्ताभाव सर्वप्रधान है। कान्ताभावमें पिछले दोनों रसोंका—सख्य और वात्सल्यका पूर्ण समावेश है। यहाँ भगवान्की सेवा खूब होती है, इतनी होती है कि सेवा करनेवाला भक्त कभी थकता ही नहीं; क्योंकि यह मालिककी सेवा नहीं है, प्रियतमकी सेवा है। प्रियतमके सुखी होनेमें ही अपार सुख है, जितना सुख पहुँचे, उतना ही थोड़ा; क्योंकि प्रियतमको जितना अधिक सुख पहुँचता है, उतना ही अपार सुखका अनुभव प्रियतमाको होता है।

यह कान्ताभाव दो प्रकारका है—स्वकीया और परकीया। लौकिक कान्ताभावमें परकीयाभाव त्याज्य है, घृणित है; क्योंकि उसमें अङ्ग-सङ्गरूप कामवासना रहती है और प्रेमास्पद 'जार-मनुष्य' होता है। परंतु दिव्य कान्ताभावमें—परमेश्वरके प्रति होनेवाले कान्ताभावमें परकीया-भाव ग्राह्य है, वह स्वकीयासे श्रेष्ठ है; क्योंकि इसमें कहीं अङ्ग-सङ्ग या इन्द्रियतृप्तिकी आकाङ्क्षा नहीं है। प्रेमास्पद पुरुष जार नहीं है, स्वयं 'विश्वात्मा भगवान्' हैं, पति-पुत्रोंके और अपने सबके आत्मा, परमात्मा हैं। इसीलिये गोपी-प्रेममें परकीयाभाव माना जाता है। यद्यपि स्वकीया पतिव्रता स्त्री अपना नाम, गोत्र, जीवन, धन और धर्म सभी पतिके अर्पण कर प्रत्येक चेष्टा पतिके लिये ही करती है, तथापि परकीयाभावमें तीन बातें विशेष होती हैं। प्रियतमका निरन्तर चिन्तन, उससे मिलनेकी अतृप्त उत्कण्ठा और प्रियतममें दोषदृष्टिका सर्वथा अभाव। स्वकीयामें सदा एक ही घरमें एक साथ निवास होनेके कारण ये तीनों ही बातें नहीं होतीं। गोपियाँ भगवान्को नित्य देखती थीं; परंतु परकीयाभावकी प्रधानतासे क्षणभरका वियोग भी उनके लिये असह्य हो जाता था, आँखोंपर पलक बनानेके लिये वे विधाताको कोसती थीं; क्योंकि पलकें न होतीं तो आँखें सदा खुली ही रहतीं। गोपियाँ कहती हैं—

अटति यद्भवानह्नि काननं
त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते
जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥

(श्रीमद्भा० १०।३१।१५)

'जब आप दिनके समय वनमें विचरते हैं तब आपको न देख सकनेके कारण हमारे लिये एक-एक पल युगके समान बीतता है। फिर सन्ध्याके समय, जब वनसे लौटते समय हम घुँघराली अलकावलियोंसे युक्त आपके श्रीमुखको देखती हैं, तब हमें आँखोंमें पलक बनानेवाले ब्रह्मा मूर्ख प्रतीत होने लगते हैं। अर्थात् एक पल भी आपको देखे बिना हमें कल नहीं पड़ती।'

भगवान्का नित्य चिन्तन करना, पलभरके अदर्शनमें भी महान् विरह-वेदनाका अनुभव करना और सर्वतोभावसे दोषदर्शनरहित होकर आत्मसमर्पण कर चुकना गोपियोंका स्वभाव था। इसीसे वे उस प्रियतम-सेवाके सामने किसी बातको कुछ भी नहीं समझती थीं। लोक एवं वेद सबकी मर्यादाको छोड़कर वे कृष्णानुरागिणी बन गयी थीं। भोग और मोक्ष दोनों ही उनके लिये सर्वथा तुच्छ और त्याज्य थे। भगवान्ने स्वयं कहा है—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।

× × ×

ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४६।४

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।१४)

'हे उद्धव! गोपियोंने अपने मन और प्राण मुझमें अर्पण कर दिये हैं। मेरे लिये अपने सारे शारीरिक सम्बन्धोंको और लोकसुखके साधनोंको त्यागकर वे मुझमें ही अनुरक्त हो रही हैं। मैं ही उनके सुख और जीवनका आधार हूँ। इस प्रकार अपने आत्माको मुझमें अर्पित करनेवाला भक्त मुझे छोड़कर ब्रह्मा, इन्द्र, चक्रवर्तीके पद तथा पाताल आदिके राज्य और योगके आठों ऐश्वर्य आदिकी तो बात ही क्या है, अपुनरावर्ती मोक्ष भी नहीं चाहता।' ऐसे भक्तोंके लिये भगवान् क्या कहते हैं, सुनिये—

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।१६)

'उनकी चरणरजसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं सदा उनके पीछे-पीछे घूमा करता हूँ।' इसी कारण गीतगोविन्दकारने **'देहि मे पदपल्लवमुदारम्'** कहकर भगवान्के द्वारा श्रीराधाजीके पदकमलकी चाह करायी है और इसी आधारपर रसिक रसखानजीने कहा है—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यो पुरानन गानन, बेद-रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कितै वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पर्‌यो, रसखानि बतायो न लोग-लुगायन।
देख्यो, दुरयो वह कुंज-कुटीरमें बैठ्यो पलोटत राधिका-पायन॥

यद्यपि भक्त कभी यह नहीं चाहता कि भगवान् प्रियतम मेरे पैर दाबें, परंतु वहाँ तो सर्वथा ऐक्य होता है। कोई छोटा-बड़ा रहता ही नहीं। महाभारतमें सखा भक्त अर्जुनके साथ भगवान् श्रीकृष्णके व्यवहारका वर्णन सञ्जयने कौरवोंकी राजसभामें किया है। अर्जुनसे ही जब वैसा व्यवहार था तब गोपियोंके समान भक्तोंकी तो बात ही निराली है। गोपियोंका परकीयाभाव दिव्य है। लौकिक विषय-विमोहित मनवाले मनुष्य इसका यथार्थ भाव नहीं समझकर अपने वृत्तिदोषसे दोषारोपण कर बैठते हैं। असलमें व्रजगोपिकाओंका प्रेम अत्यन्त उच्चतम अवस्थापर स्थित है। मधुर रस उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ प्रेम, स्नेह, मान, राग, अनुराग और भावपर्यन्त पहुँच जाता है। भावकी पराकाष्ठा ही महाभाव है। यह महाभाव केवल प्रातःस्मरणीया व्रजदेवियोंमें ही था। श्रीभगवान्ने प्रेमिक भक्तोंकी प्रेमकामना पूर्ण करनेके लिये व्रजमण्डलमें इस सच्चिदानन्दमयी दिव्य लीलाको प्रकट किया था। गोपी-प्रेमकी यह पवित्र लीला भगवान्ने रमणाभिलाषासे अथवा गोपियोंकी कामवासनातृप्तिके लिये नहीं की थी; न तो भगवान्में रमणाभिलाषा थी और न गोपियोंमें कामवासना ही। यह तो की गयी थी जगत्के जीवोंके काम-नाशके लिये! रासलीला-प्रकरणको समाप्त करते हुए मुनिवर श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥
(श्रीमद्भा० १०।३३।४०)

'जो धीर पुरुष व्रजबालाओंके साथ भगवान् विष्णुके इस रास-विहारकी कथाको श्रद्धापूर्वक सुने या पढ़ेगा, वह शीघ्र ही भगवान्की पराभक्तिको प्राप्तकर हृदयके रोगरूप काम-विकारसे छूट जायगा।'

जिस लीलाके भलीभाँति समझकर श्रद्धापूर्वक सुनने-पढ़नेसे ही हृद्रोग—कामविकार नष्ट होकर पराभक्ति प्राप्त होती है, उस लीलाके करनेवाले नायक श्रीभगवान् और उनकी प्रेयसी नायिका गोपिकाओंमें कामविकार देखना या कलुषित मानवी व्यभिचारकी कल्पना करना कामविमोहित विषयासक्त मनुष्योंके बुद्धिदोषका ही परिणाम है। व्रजलीला परम पवित्र है, इस बातको प्रेमीजन भलीभाँति जानते हैं और इसीसे नारद-सदृश देवर्षि और शिव-सदृश महान् देव उसमें सम्मिलित होनेकी वाञ्छासे गोपीभावमें दीक्षित होते हैं। मृत्युकी बाट देखनेवाले राजा परीक्षित्को महाज्ञानी शुकदेवजी इसीलिये व्रजलीला सुनाते हैं, जिससे सहज ही पराभक्तिको प्राप्तकर परीक्षित् भगवान्के असली तत्त्वको जान लें और भगवान्को प्राप्त हो जायँ। भगवान् श्रीकृष्णने ज्ञाननिष्ठाके नामसे पराभक्तिप्राप्तिका क्रम (और उसका फल) बतलाते हुए कहा है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(गीता १८।५१—५५)

अर्थात् जब मनुष्य विशुद्ध बुद्धिसे युक्त, एकान्तसेवी, मिताहारी, मन-वाणी-शरीरको जीता हुआ, सदा वैराग्यको धारण करनेवाला, निरन्तर ध्यानपरायण, दृढ़ धारणासे अन्तःकरणको वशमें करके शब्द, स्पर्शादि विषयोंको त्यागकर, राग-द्वेषको नष्ट करके, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहको छोड़कर ममतारहित, शान्त हो जाता है, तभी वह ब्रह्मप्राप्तिके योग्य होता है; फिर ब्रह्मभूत होकर सदा प्रसन्नचित्त रहनेवाला वह न किसी वस्तुके लिये शोक करता है और न किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा ही करता है तथा सब प्राणियोंमें समभावसे भगवान्‌को देखता है, तब उसे मेरी पराभक्ति प्राप्त होती है। उस पराभक्तिके द्वारा मेरे तत्त्वको भलीभाँति जानता है कि मैं किस प्रभाववाला हूँ। इसी पराभक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर भक्त तदनन्तर ही मुझमें मिल जाता है।

ध्यानपूर्वक देखा जाय तो गोपियोंमें उपर्युक्त सभी बातें पूर्णरूपसे थीं, विशुद्ध बुद्धिका इससे बढ़कर क्या सबूत हो सकता है कि वह सदा भगवान् श्रीकृष्णमें ही लगी रहे। श्रीकृष्णमिलनके लिये एकान्तसेवन शरीरसे ही नहीं, मनसे भी एकान्त रहना, खान-पान भूल जाना, मन-वाणी-शरीरको विषयोंसे खींचकर एकमात्र प्रियतम श्रीकृष्णमें लगाये रखना, घर-परिवार आदि किसी भी भोगपदार्थमें राग न रखना, निरन्तर प्रियतम श्रीकृष्णके ध्यानमें प्रमत्त रहना, मनमें श्रीकृष्णकी दृढ़ धारणासे अन्तःकरणको श्रीकृष्णमय बनाये रखना, श्रीकृष्णविषयक पदार्थोंके सिवा अन्य सभी शब्द-स्पर्शादि विषयोंको त्याग देना, जगत्‌की दृष्टिसे किसी भी पदार्थमें राग-द्वेष न रखना, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह सबका श्रीकृष्णमें उत्सर्ग कर देना; घर-द्वार ही नहीं, स्वर्ग तथा मोक्षमें भी ममत्व न रखना; चित्तको सदा श्रीकृष्णके स्वरूपमें समाहित रखकर जगत्‌के विषयोंसे शान्त रखना एवं श्रीकृष्णको ब्रह्मरूपसे पहचानकर उनसे मिलनेके लिये व्याकुल होना गोपियोंके चरित्रमें पद-पदपर प्राप्त होता है। इसके सिवा उनका नित्यानन्दमयी होकर सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हर्ष-शोकसे रहित होना और सर्वत्र श्रीकृष्णको सब प्राणियोंमें देखना भी प्रसिद्ध ही है। साधकोंको दीर्घकालके महान् साधनसे प्राप्त होनेवाली ये बातें गोपियोंमें स्वाभाविक थीं, इसीसे भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें अपना रहस्य खोलकर बतला दिया और अपने स्वरूपका साक्षात् दर्शन कराकर उनके साथ दिव्य क्रीड़ा करके उन्हें श्रीकृष्णरूप बना लिया। ज्ञानियोंसे विशेषता यह रही कि इसमें सारी बातें केवल विचारके आधारपर न रहकर प्रत्यक्ष इन्द्रियगम्य हो गयीं। साक्षात् परब्रह्म महान् सुन्दर द्विभुज मुरलीमनोहररूपधारी बनकर स्वयं भक्तोंके साथ नाचे। अपनी रूपमाधुरीसे भक्तोंके चित्तको चुराकर अपनी मुरली-ध्वनिसे प्रेमी भक्तोंको खींचकर अपने पास बुला लिया और उन्हें सब प्रकार कृतार्थ किया। एक महात्माने दिव्य दृष्टिसे देखकर सखी-भावमें प्रवेश हो कहा था—

शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥

'अरी सखि! सुन, मैंने नन्दमहरके घर-आँगनमें एक बड़ा कौतुक देखा है; वहाँ साक्षात् वेदान्त-सिद्धान्त (ब्रह्म) गोधूलिसे भरे हुए शरीरसे नाच रहा है!'

ग्यानी बोध सुरूप ह्वै होहिं ब्रह्ममें लीन।
निरखत पै लीला मधुर प्रेमी प्रेम प्रबीन॥
ग्यानी ढिग गंभीर हरि सच्चित् ब्रह्मानंद।
प्रेमी सँग खेलत सदा चंचल प्रेमानंद॥
ग्यानी ब्रह्मानंद सों रहत सदा भरपूर।
पै प्रेमी निरखत सुखद दुर्लभ हरिको नूर॥
प्रेमी भाग्य सराहि मुनि ग्यानी बिमल बिबेक।
चहैं सुदुरलभ प्रेमपद तजि निजपदकी टेक॥

(क्रमशः)

यशोदामाताका वात्सल्यप्रेम

अङ्काधिरूढं शिशुगोपगूढं
स्तनं धयन्तं कमलैककान्तम्।
सम्बोधयामास मुदा यशोदा
गोविन्द दामोदर माधवेति॥*

महाभागवती यशोदाजीके सौभाग्यका वर्णन कौन कर सकता है, जिनके स्तनोंका साक्षात् ब्रह्माण्डनायकने पान किया है। संसारमें अनेक प्रकारके भक्त हैं, उनकी इच्छाके अनुसार भगवान्‌ने अनेक रूप धारण किये। नीच-से-नीच काम किये, छोटी-से-छोटी सेवा भगवान्‌ने की। कहीं नाई बनकर पैर दबाये तो कहीं महार बने। धर्मराजके यज्ञमें सबके चरण पखारते रहे, किंतु उनको बाँधा किसीने नहीं। छड़ी लेकर ताड़ना देनेका सौभाग्य महाभाग्यवती यशोदाजीको ही हुआ। ऐसा सुख, ऐसा वात्सल्य-आनन्द संसारमें किसीको भी प्राप्त न हुआ, न होगा। इसीलिये महाराज परीक्षित्‌ने पूछा है, महाभागा यशोदाने ऐसा कौन-सा सुकृत किया था, जिसके कारण श्रीहरिने उनका स्तनपान किया?

नन्दबाबाकी रानी यशोदामैयाके कोई सन्तान न थी। वृद्धावस्थामें आकर श्यामसुन्दर उनके लाड़ले लाल बने। माताके हर्षका ठिकाना नहीं। आँखोंकी पुतलीकी तरह वे अपने श्यामसुन्दरकी देख-रेख करने लगीं। यद्यपि वे बाहरसे काम करती थीं, किंतु उनका मन सदा श्यामसुन्दरकी ओर लगा रहता था। श्यामसुन्दर उनकी आँखोंसे ओझल न हों, मनमोहन सदा उनके हृदयमन्दिरके आँगनमें क्रीडा करते रहें। चर्मचक्षु भी अनिमेषभावसे उन्हें देखते रहें। किंतु यह बालक अद्भुत था, जन्मके थोड़े ही दिन बाद पूतनाने आकर इसे मारना चाहा, वह स्वयं मारी गयी। शकटासुरने माया फैलायी, उसका भी अन्त हुआ। व्योमासुरने जाल रचा, वह भी यमलोक सिधारा। इस प्रकार रोज ही नये-नये उत्पात होने लगे। माताको बड़ी शंका हुई, बच्चा बड़ा चञ्चल है। इसकी चञ्चलता दिन-प्रति-दिन बढ़ती जाती है, पता नहीं, क्या घटना घट जाय। एक दिन माता दूध पिला रही थी, उधर दूध उफना। बच्चेको वहीं जमीनपर रखकर दूधको देखने लगी। चञ्चल भगवान् ही जो ठहरे। दहीकी मटकी फोड़ दी, माखन फेंक दिया, बन्दरोंको बुला लिया। माताने देखा, यह तो बड़ा अनर्थ हुआ, देखते ही भागेगा और पता नहीं कहाँ जाय। धीरेसे पकड़ लिया और बोली—'अब बता, तू बड़ी चञ्चलता करता है। घरमें टिकता ही नहीं, मैं तुझे बाँधूँगी।' यह कहकर ओखलीसे उन्हें बाँध दिया। जो कभी नहीं बँधे थे वे बँध तो गये, किंतु उनका बन्धन भी दूसरोंकी मुक्तिके ही लिये था। ओखलीको घसीटते हुए यमलार्जुन वृक्षोंके बीचमें पहुँचे और उन्हें अपने पावन स्पर्शसे शापमुक्त कर दिया। नन्दजीने देखा कि उत्पात बढ़ रहे हैं तो वे अपने शकटोंको जोतकर ज्ञातिबन्धुओं और गौओंके साथ श्रीवृन्दावन चले गये।

वृन्दावनमें उन वृन्दावनविहारीने अनन्त लीलाएँ कीं। उनका वर्णन कौन कर सकता है, किंतु यशोदाजीको जो महान् विकलता हुई, वह एक ही घटना थी। कालियह्रदमें एक विषधर नाग रहता था। उसने समस्त यमुनाजीके जलको विषैला बना दिया था। गेंद उस ह्रदमें गिर गयी। उसीके आधारपर मुरारी कदम्बकी डाली पकड़कर कालियह्रदमें

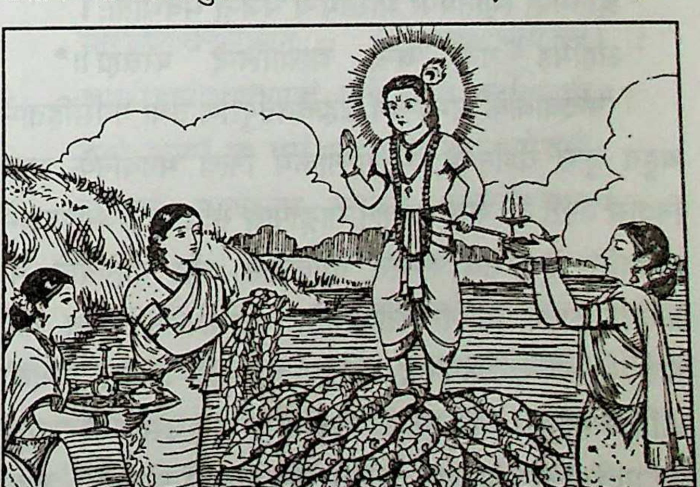

---

* अपनी गोदमें बैठकर दूध पीते हुए बालकृष्णको लक्ष्य करके प्रेमानन्दके उद्रेकमें माता यशोदा प्यारसे कहती हैं—ऐ मेरे गोविन्द! ऐ मेरे दामोदर! बच्चा माधव! बोलो तो सही! (गोविन्ददामोदरस्तोत्रम् १०)

कूद पड़े। सर्वत्र हाहाकार मच गया। व्रजवासी दौड़े आये। यशोदामैयाने भी सुना। भला, उनके दुःखका क्या पूछना है। वे अपने प्यारे बच्चेको न पाकर छटपटाने लगीं। उन्होंने बड़े आर्तस्वरमें कहा—'अरे, कोई मेरे बच्चेको बचा दो, मुझे मेरे छौनेको दिखा दो।' रोते-रोते वे उस कुण्डमें कूदने लगीं। जैसे-तैसे बलरामजीने उन्हें रोका। जब नागको नाथकर नन्दनन्दन बाहर आ गये तो माताने उन्हें छातीसे चिपटा लिया। प्रेमाश्रुओंसे नहला दिया!

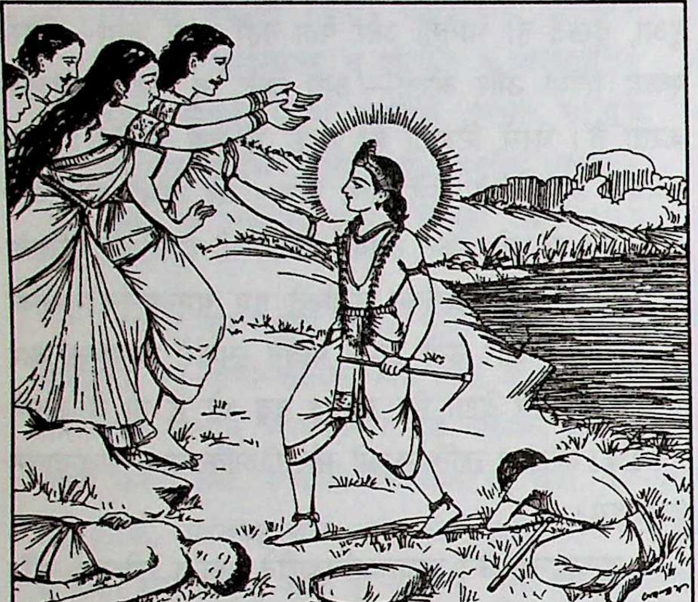

समय बदला। उन लीलाओंकी स्मृतिका अवसर आया। अक्रूरके साथ घनश्याम मथुरा चले गये। माताको आशा थी जल्दी आयेंगे, किंतु वह 'जल्दी' फिर आयी नहीं। उसके स्थानमें उद्धव सन्देश लेकर आये! उन्हें देखते ही नन्दजीने प्रश्नोंकी झड़ी लगा दी। पासमें बैठी हुई वियोगिनी माता अपने पुत्रोंकी सब बातें सुन रही थी। रह-रहकर उसके हृदयमें हूक उठ रही थी। उन स्मरणोंके आते ही माताकी विचित्र दशा हो गयी।

यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा॥

उनकी आँखोंसे प्रेमके अश्रु बह रहे थे, स्तनोंसे दूध निकल रहा था, वे स्मृतियाँ रह-रहकर उसे रुला रही थीं—

'ते हि नो दिवसा गताः'

यशोदा धन्य हैं, जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर बाल-लीलाओंका आनन्द लूटा। देवकीजी तो इस सुखसे वञ्चित ही रहीं।

* * *

नन्दबाबाका बालकृष्णमें सहज अनुराग

श्रुतिमपरे स्मृतिमपरे भारतमन्ये भजन्तु भवभीताः।
अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परब्रह्म॥*

नन्दबाबाके सम्बन्धमें ब्रह्मवैवर्तपुराण तथा गर्गसंहितामें बहुत कुछ वर्णन है, ये गोलोकमें नित्य भगवान्‌के साथ निवास करते हैं। जब भगवान् साङ्गोपाङ्ग सविग्रह व्रजमण्डलमें अवतरित हुए तब समस्त ग्वालबाल और गोपियोंने भी व्रजमण्डलको अपनी लीलाभूमि बनाया। नन्दबाबा कई भाई थे—नन्द, उपनन्द, महानन्द आदि-आदि। नन्दजी जातिके गोप थे और इनका एक समूह था, उसके ये नायक थे। प्रत्येक गोपके पास हजारों-लाखों गौएँ होती थीं, जहाँ गौएँ रहती थीं उसे गोकुल कहते थे।

इस प्रकार वह गोपसमूह व्रज चौरासी कोसमें रहता था। आज यहाँ है तो कल वहाँ, जिस वनमें अच्छी घास हुई, गौओंके चारे और पानीका जहाँ सुभीता हुआ, वहीं छकड़ा लादकर ये सब अपना डेरा डाल देते थे। उन दिनों नन्दजी मथुराके सामने यमुनाजीके उस पार महावन नामक वनमें रहते थे, महावनमें ही उन दिनों नन्दबाबाका गोकुल था। वसुदेवजीसे उनकी बड़ी मित्रता थी। जब कंसका अत्याचार बढ़ा तब वसुदेवजीने अपनी रोहिणी आदि पत्नियोंको नन्दबाबाके गोकुलमें ही भेज दिया था। बलदेवजीका जन्म गोकुलमें ही हुआ। भगवान्‌को भी वसुदेवजी जन्म होते ही गोकुलमें कर आये थे। इस प्रकार बलराम और भगवान् श्रीकृष्ण दोनों ही नन्दबाबाके पुत्र हुए और उन्होंने ही उनका लालन-पालन किया। नन्दजी राम और कृष्ण दोनोंको प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते थे, दिन-रात उन्हींकी चिन्ता किया

---

* संसारसे भयभीत होकर कोई श्रुतिका आश्रय ले, कोई दूसरा स्मृतिकी शरण ग्रहण करे और कोई तीसरा महाभारतकी शरण जाय; हम तो नन्दबाबाकी चरणवन्दना करते हैं, जिनके आँगनमें साक्षात् परब्रह्म खेलते हैं।

करते थे। उन्हें कोई कष्ट न हो, किसी प्रकारकी असुविधा न हो, इस बातको वे बार-बार यशोदामैयासे कहते रहते थे। श्रीकृष्ण उनके बाहरी प्राण थे, उनके जीवनमें श्रीकृष्णस्मृति ही प्रधान स्मृति थी। वे अपने सब काम श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ ही करते थे। इससे मेरे लालको सुख होगा, इसमें उसकी प्रसन्नता होगी, इस बातका ध्यान उन्हें सदा बना रहता था।

जब गोकुलमें भाँति-भाँतिके उत्पात होने लगे, पूतना-शकटासुरकी घटनाएँ हुईं, तब सभी गोपी-गोप क्षुभित हो गये। श्रीकृष्णकी मङ्गलकामनासे उन्होंने गोकुलको छोड़ दिया और वृन्दावनमें आकर रहने लगे। वहाँ श्रीकृष्ण भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ करके नन्दबाबाको सुख देने लगे। एक दिन नन्दबाबाजी एकादशीका व्रत करके द्वादशीके दिन अर्धरात्रिके समय स्नान करनेके लिये यमुनातटपर आ गये। उस समय वरुणके दूतोंने उन्हें पकड़ लिया और वे उन्हें वरुणलोकमें ले गये। इधर प्रातःकाल जब गोपोंने नन्दजीको नहीं देखा तो वे विलाप करने लगे। सर्वान्तर्यामी प्रभु सब बातें जानकर वरुणलोकको गये। भगवान्को देखकर वरुणने प्रभुकी विधिवत् पूजा की और दूतोंकी धृष्टताके लिये क्षमा माँगी, तब भगवान् नन्दबाबाजीको साथ लेकर व्रजमें आये और नन्दजीको विश्वास हो गया कि ये साक्षात् पुराणपुरुषोत्तम हैं।

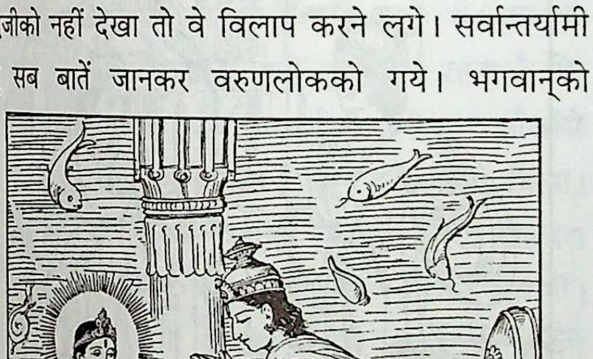

इसी प्रकार एक बार नन्दजी देवीजीकी यात्रामें सब ग्वालबालोंको लेकर गये। वहाँ नन्दजीको रात्रिमें सोते समय एक अजगरने पकड़ लिया। गोपोंने उसे जलती लकड़ीसे बहुत मारा, किंतु वह गया नहीं। तब भगवान्ने चरणके अँगूठेसे उसे छू दिया, छूते ही वह गन्धर्व बन गया और अपनी कथा सुनाकर चला गया।

जब कंसने अक्रूरके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णको मथुरा बुलाया तो नन्दजी उन्हें साथ लेकर मथुरा गये। वहाँ जाकर उन्होंने कंसको मारकर अपने नाना उग्रसेनको पुनः राजा बनाया। नन्दजी व्रजमें लौट आये। भगवान् वहीं रह गये। पीछे उद्धवजीके हाथ उन्होंने सन्देश भेजा। उद्धवजीको देखकर वृद्ध नन्दबाबा रो पड़े। उन्हें अब अपने श्यामसुन्दरका यथार्थ रूप मालूम पड़ा। अरे, जिन्हें हम अपना पुत्र समझते थे वे तो विश्वब्रह्माण्डनायक हैं, जगत्पिता हैं। उन्होंने दुःखभरे शब्दोंमें, करुणापूर्ण वाणीमें श्रीकृष्णको याद करते हुए कहा—

अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान् सकृदीक्षितुम्।
तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम्॥
दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिताः।
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना॥
स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षितम्।
हसितं भाषितं चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः॥
सरिच्छैलवनोद्देशान् मुकुन्दपदभूषितान्।
आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम्॥
मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ।
सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा॥

(श्रीमद्भा० १०।४६।१९—२३)

'अक्रूरजी! कभी श्यामसुन्दर हम सबको देखने आयेंगे? क्या कभी हम उनके सुन्दर नासिकावाले हँसते हुए मुखारविन्दको देख सकेंगे? उन्होंने हमारी दावाग्नि, वायु, वर्षा, वृषासुर, सर्प आदिसे रक्षा की; उन महात्माने हमें इन अवश्यम्भावी मृत्युओंसे बचाया। उनके पराक्रम, उनकी हँसी, उनके प्रेमयुक्त कटाक्षों तथा उनकी बोलन-चलन-बतरावनको जब हम स्मरण करते हैं और उनके चरण-कमलोंसे अङ्कित पृथ्वी, पर्वत, नदी आदि स्थानोंको जब हम देखते हैं तो अपने आपेको भूल जाते हैं, हमारी

सभी क्रियाएँ शिथिल पड़ जाती हैं, हम तन्मय हो जाते हैं। हम तो उन्हें देवताओंके कामके लिये अवतीर्ण होनेवाले साक्षात् पुरुषोत्तम ही मानते हैं।'

इस प्रकार उन्हें भगवान्के स्वरूपका ज्ञान हो गया।

एक बार कुरुक्षेत्रमें फिर वह करुणापूर्ण दृश्य उपस्थित हुआ, जब नन्दबाबाने अपनी गोदीमें बिठाकर श्यामसुन्दरका मुख चूमा। उस चुम्बनमें कितनी विरहवेदना, कितनी अनन्त स्मृतियाँ थीं, इसे कौन कह सकता है। अतः श्रीभगवान्के निज लोक पधारनेपर समस्त ग्वालबाल और गौ-बछड़ोंके साथ नन्दबाबाजी भी अपने सत्य सनातन लोकको चले गये, जहाँ न जरा है न मृत्यु है, जहाँ सदा श्रीकृष्णलीलाका दिव्य आनन्द-ही-आनन्द है।

* * *

संतहृदय वसुदेवजीका पुत्रप्रेम

यदुवंशमें शूरसेन नामक एक पराक्रमी क्षत्रिय हुए, उनकी मारिषा नामकी पत्नी थी। शूरके मारिषाके गर्भसे दस पुत्र उत्पन्न हुए। उन दसोंमें वसुदेवजी सबसे श्रेष्ठ थे। इनका विवाह देवककी सात कन्याओंसे हुआ। रोहिणी भी इनकी पत्नी थीं। देवकीजी देवककी सबसे छोटी कन्या थीं। जब वसुदेवजी देवकीके साथ विवाह करके आ रहे थे तो देवकके बड़े भाई उग्रसेनका पुत्र कंस अपनी बहिनकी प्रसन्नताके लिये स्वयं रथ हाँक रहा था, उसी समय आकाशवाणी हुई—'कंस! इसी देवकीका आठवाँ गर्भ तुझे मारेगा।' कंस मृत्युभयसे काँप गया और वहीं देवकीजीको मारनेके लिये तैयार हो गया। वसुदेवजीने उसे बहुत समझाया, किंतु वह माना ही नहीं। तब वसुदेवजीने सोचा, इस समयको टाल देना ही बुद्धिमानी है। इसलिये वसुदेवजीने कहा—'अच्छा, तुम्हें इसके पुत्रसे डर है न? तुम इसे मत मारो, इसके सब पुत्र मैं तुम्हें लाकर दे दूँगा।'

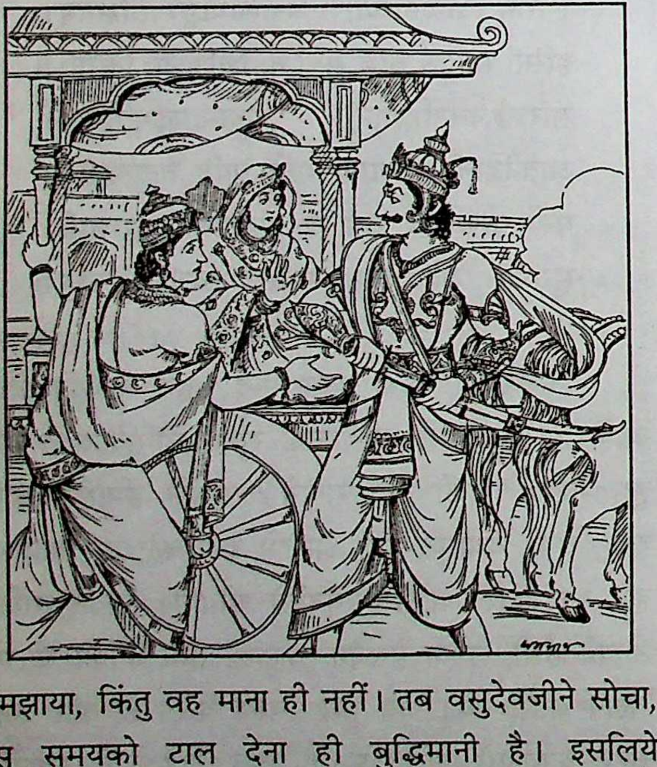

कंसको चाहे और किसीपर विश्वास न रहा हो, किंतु वह यह जानता था कि वसुदेवजी कभी झूठ नहीं बोलेंगे, ये जो कहेंगे वही करेंगे। उसने वसुदेव-देवकीको छोड़ दिया। समय पाकर उनके एक पुत्र हुआ और वसुदेवजी अपने प्रतिज्ञानुसार उसे कंसके यहाँ लेकर पहुँच गये। अपने हृदयके टुकड़ेको वे मरवानेके लिये क्यों ले गये? बाप अपने प्यारे पुत्रको अपने हाथसे मरवानेके लिये कैसे ले गया? इसपर व्यासजी कहते हैं—

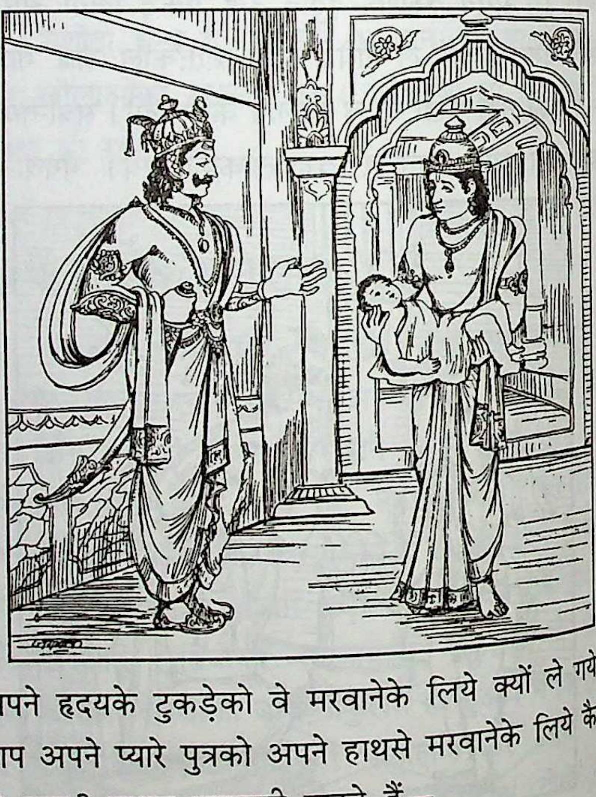

किं दुःसहं नु साधूनां विदुषां किमपेक्षितम्।
किमकार्यं कदर्याणां दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१।५८)

वे संत थे, उनके लिये सब कुछ सह्य था। वे धैर्यवान् थे, सत्यके पीछे सब कुछ छोड़ सकते थे। कंसने उनकी

सत्यतापर सन्तुष्ट होकर एक बार लड़केको लौटा दिया। दुबारा जब उसने मँगाया तब फिर लेकर पहुँचे। उसने इन्हें कारागारमें रखा, कारागारमें रहे; नाना प्रकारके कष्ट दिये, उन्हें शान्तिपूर्वक सहन किया। अन्तमें कारागारमें ही भगवान्का प्रादुर्भाव हुआ। भगवान्की आज्ञा हुई, मुझे गोकुल पहुँचा दो। कंससे बढ़कर भगवान्की आज्ञा थी। भाद्रपदकी अँधेरी रात्रिमें आधी रातके समय बढ़ती हुई यमुनाजीमें सद्योजात शिशुको लेकर वसुदेवजी उनकी आज्ञाका स्मरण करके घुस गये। यमुनाजी भी हट गयीं। सब विघ्न दूर हुए। भगवान्को सकुशल गोकुल पहुँचाकर तथा बदलेमें यशोदाकी कन्याको लेकर वे वापस आ गये। किवाड़ ज्यों-के-त्यों फिर बंद हो गये, ताले लग गये। हाथोंमें फिर ज्यों-की-त्यों हथकड़ियाँ पड़ गयीं। कंस आया और उसने लड़कीको पत्थरपर पछाड़कर मार डालनेका उद्योग किया, किंतु वह तो साक्षात् योगमाया थी, आकाशमें अपने स्वरूपसे प्रकट होकर उसने कहा—'कंस! तुम्हें मारनेवाला प्रकट हो गया है।'

भगवान् समीपमें ही वृन्दावनमें रहते थे। प्रत्येक माता-पिताका मन इस बातके लिये लालायित रहता है कि अपने हृदयके टुकड़ेको एक बार जी भरकर इन आँखोंसे देख लें, किंतु वसुदेवजीने ऐसा साहस कभी नहीं किया। छिपकर, आँख बचाकर भगवान्की इच्छाके विरुद्ध मोहवश वहाँ जायँगे तो साधुतामें बट्टा लगेगा। बात बिगड़ जायगी। जब उनकी इच्छा होगी, जब वे चाहेंगे, स्वयं आ जायँगे या बुला लेंगे। वे उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षामें चुपचाप बैठे हुए कंसपालित मथुरामें तप करते रहे—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्॥

अन्तर्यामी प्रभुसे माता-पिताकी भावनाएँ छिपी थोड़े ही थीं। किस बातसे माता-पिता प्रसन्न होंगे, इसे वे जानते थे। स्वतः ही वे आये। पहले उन्होंने अपने माता-पिताको दुःख देनेवालेको ही मारा। यदि यह जीवित रहेगा तो वे सुखसे हृदय खोलकर न मिल सकेंगे। डरते-डरते मिलना कोई मिलना थोड़े ही है, जबतक निर्भय होकर अपने प्रेमास्पदको हृदयसे न लगा लिया जाय। देवकी तो कंससे डरी हुई थीं, उन्हें उसके नामसे ही भय लगता था। यह बात उन्होंने भगवान्से प्रकट होते ही कही थी—

जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन।
समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः॥

(श्रीमद्भा० १०।३।२९)

'वह इस बातको न जानने पावे कि आपका प्रादुर्भाव मेरे ही यहाँ हुआ है। मैं आपके लिये इस कंससे बहुत ही डरी हुई हूँ।'

भगवान्ने पहले उसी काँटेको निकाला, फिर माता-पिताको अभय करके उनकी बेड़ियाँ-हथकड़ियाँ काटीं और स्वयं उनके चरणोंपर गिरे।

अहा! चिरकालके बिछुड़े अपने पुत्रको पाकर वसुदेवजी कितने प्रसन्न हुए होंगे, उनकी प्रसन्नताका वर्णन भला कौन कर सकता है! किंतु उनके मनमें भगवान्के प्रति ईश्वर-बुद्धि आ गयी, ऐश्वर्यमें प्रेमरसास्वादन कहाँ? अन्तर्यामी प्रभु समझ गये और बोले—

न लब्धो दैवहतयोर्वासो नौ भवदन्तिके।
यां बालाः पितृगेहस्था विन्दन्ते लालिता मुदम्॥
तन्नावकल्पयोः कंसान्नित्यमुद्विग्नचेतसोः।
मोघमेते व्यतिक्रान्ता दिवसा वामनर्चतोः॥
तत्क्षन्तुमर्हथस्तात मातर्नौ परतन्त्रयोः।
अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४५।४, ८-९)

'हम ही बड़े मन्दभागी हैं जो हमने बालकपनमें आपके घरमें सुख नहीं पाया। माता-पिताके समीप बालकको कितनी प्रसन्नता होती है, कितना सुख मिलता है। सो हमलोग कंससे डरे हुए दूर-ही-दूर रहे। आप हमारे लिये तड़फड़ाते रहे, हम आपके लिये छटपटाते रहे। उस दुष्टके द्वारा सताये हुए आपकी बिना सेवा किये, आपको बिना सुख पहुँचाये, हमारे ये दिन व्यर्थ ही गये। हे माता-पिता! हमारे इस विवशताजनित अपराधको क्षमा करें।'

इस प्रकार जब भगवान्ने प्रेममें सनी हुई बातें कहीं तो वसुदेवजी उनके ऐश्वर्यको भूल गये। माताने और वसुदेवजीने दोनों अपने हृदयके टुकड़ोंको छातीसे चिपटा लिया। प्रेमके आँसुओंसे उनके काले-काले घुँघराले बालोंको भिगो दिया। अपने जीवनको सफल बनाया।

वसुदेवजीके बराबर कौन भाग्यवान् हो सकता है, जिन्हें वे अखिलब्रह्माण्डनायक सदा पिता-पिता कहकर पुकारा करते थे, जिनकी शुश्रूषा साक्षात् देवासुरवन्दित लक्ष्मीपति किया करते थे।

अन्तमें भगवान्ने कुरुक्षेत्रमें ऋषियोंके द्वारा वसुदेवजीको तत्त्वबोध कराया। पीछे जब वसुदेवजीने भगवान्के सम्मुख उस ज्ञानको प्रकट किया तो भगवान्ने भी उसका अनुमोदन किया। भगवान्ने उन्हें अपने असली रूपका परिचय कराया और अन्तमें कहा—

अहं यूयमसावार्य इमे च द्वारकौकसः।
सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचरम्॥
आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिर्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः।
आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते॥

(श्रीमद्भा० १०।८५।२३-२४)

'हे पिता! हे यदुश्रेष्ठ! मैं, आप सब, बलदेवजी, समस्त द्वारकावासी, यहाँतक कि सम्पूर्ण जगत्—ये सब एक ही हैं ऐसा जानो। आत्मा एक है, स्वयंज्योति है, नित्य है, अनन्य तथा निर्गुण है, किंतु अपने ही द्वारा उत्पन्न किये हुए गुणोंके कारण उन्हीं गुणोंसे उत्पन्न हुए नाना शरीरोंमें वह नाना रूपोंसे भासता है।'

इस प्रकार वसुदेवजीने यथार्थ तत्त्वको समझ लिया। अन्तमें जब प्रभासक्षेत्रमें भगवान्ने अपनी लीला संवरण की तब वसुदेवजी भी अपनी पत्नियोंके साथ वहाँ आकर भगवान्के अनुयायी हुए। उन्हींके मार्गका अनुसरण किया।

* * *

माता देवकीकी वात्सल्य-निष्ठा

विश्वं यदेतत् स्वतनौ निशान्ते
यथावकाशं पुरुषः परो भवान्।
बिभर्ति सोऽयं मम गर्भगोऽभू-
दहो नृलोकस्य विडम्बनं हि तत्॥*

महाराज उग्रसेनके एक भाई थे, उनका नाम देवक था, महाभाग्यवती देवकीजी उन्हींकी पुत्री थीं। कंस इनका चचेरा भाई था, ये कंससे छोटी थीं, अतः वह इन्हें बहुत प्यार करता था। इनका विवाह यदुवंशी श्रीवसुदेवजीसे हुआ। देवकजीने अपनी पुत्रीका विवाह बड़े ही उल्लासके साथ किया। बहुत-सा दहेज वसुदेवजीको दिया और बड़ी धूमधामसे विवाहका समस्त कार्य सम्पन्न हुआ। कंस अपनी बहिनके प्रति स्नेह प्रदर्शित करनेके लिये बिदाईके समय उसके रथको स्वयं हाँकने लगा। रथमें नवविवाहिता देवकीजी और वसुदेवजी बैठे थे, कंस घोड़ोंको हाँक रहा था, इसी समय आकाशवाणी हुई—'अरे, ओ मूढ़ कंस! तू जिस बहिनके रथको इतनी प्रीतिसे हाँक रहा है, इसीका अष्टम गर्भ तुझे मारेगा।' बस, फिर क्या था, रंगमें भंग पड़ गयी, अमृतमें विष मिल गया। हर्षके स्थानमें उदासी छा गयी, स्नेहका स्थान द्वेषने ग्रहण कर लिया। क्रोधके आवेशमें कंस रथसे कूद पड़ा। उसने तलवार निकाल ली और देवकीजीकी चोटी पकड़कर बड़े क्रोधके साथ बोला—'बस, *न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।'* विषके वृक्षको ही क्यों बढ़ने दे कि उसके फलोंसे मृत्युकी सम्भावना हो, बढ़नेके पहले वृक्षको ही काट देना बुद्धिमानी है। मैं अभी इस देवकीका अन्त किये देता हूँ।'

पासमें बैठे हुए वसुदेवजीने बड़े धैर्यके साथ उसे समझाया, ज्ञानकी बातें बतायीं। धर्म सुझाया और अन्तमें विश्वास दिलाया कि इसके जितने भी पुत्र होंगे, हम सब तुम्हें दे जाया करेंगे। तुम इस अबलाको जो तुम्हारी बहिन है, नवविवाहिता है—क्यों मारते हो? भगवान्की प्रेरणा, उसके मनमें यह बात बैठ गयी, उसने देवकीको छोड़ दिया। परंतु पीछेसे वसुदेवजीके सहित देवकीको कारागारमें बंद कर दिया।

क्रमशः देवकीजीके गर्भसे सात संतानें हुईं। अपने प्रतिज्ञानुसार वसुदेवजीने उन्हें कंसको सौंप दिया और उस दुष्टने सभीको मार डाला। अष्टम गर्भमें साक्षात् श्रीमन्नारायण चतुर्भुजरूपमें प्रकट हुए। यह गर्भ देवकीके लिये

---

* श्रीदेवकीजी कहती हैं—प्रलयके अन्तमें जब आप इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको अपनेमें लीन कर लेते हैं तब सम्पूर्ण विश्व आपके उदरमें समा जाता है, किसीको भी अवकाशकी न्यूनता नहीं होती, वे ही आप मेरे गर्भमें आये हैं, यह लोगोंके लिये एक आश्चर्यकी बात है, इसपर भला कौन विश्वास करेगा?

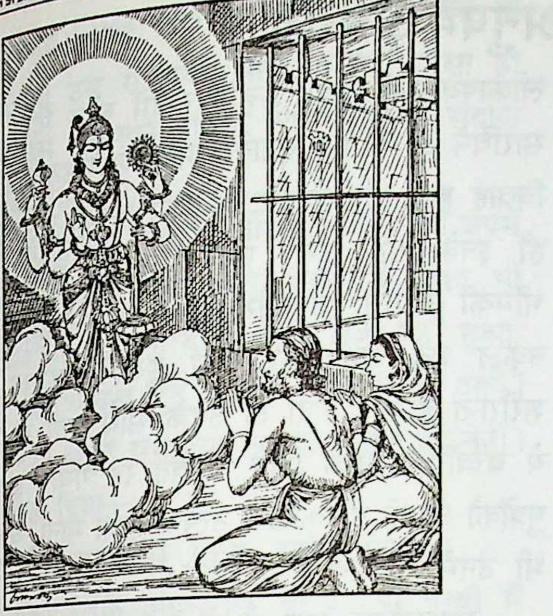

'हर्षशोकविवर्धनः' हुआ। हर्ष तो इस बातका कि साक्षात् भगवान् अवतीर्ण हुए हैं, शोक कंसके अत्याचारोंको लेकर। जब भगवान् अपनी प्रभासे दसों दिशाओंको प्रभान्वित बनाते हुए शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मके साथ चतुर्भुजरूपमें प्रकट हुए तो देवकीमाताने उनकी बड़ी स्तुति की और प्रार्थना की—'प्रभो! मैं कंससे बहुत डरी हूँ, वह तुम्हें भी मार डालेगा। अतः उससे मेरी रक्षा करो और अपना यह अलौकिक रूप छिपा लो।' लीलामय भगवान्ने कहा—'यदि ऐसा ही है तो मुझे नन्दजीके गोकुलमें भेज दो, वहाँ यशोदाजीके गर्भसे मेरी माया उत्पन्न हुई है, उसे ले आओ।' यह कहकर प्रभु साधारण शिशु हो गये। वसुदेवजी भगवान्को नन्दजीके यहाँ पहुँचा आये और वहाँसे कन्याको ले आये।

भगवान् व्रजमें ही बड़े हुए। देवकीमाता अपने हृदयके टुकड़ेको देखनेके लिये तरसती रहीं। उनका मन उस श्यामसुन्दरकी सलोनी मनमोहिनी मूर्तिके लिये तरसता रहा। कंसको मारकर जब भगवान् देवकीजी और वसुदेवजीके पास आये तो भगवान्ने अत्यन्त स्नेह प्रदर्शित करते हुए कहा—आप लोग सदा मेरे लिये उत्कण्ठित रहे, किंतु मैं आप लोगोंकी कुछ भी सेवा-शुश्रूषा नहीं कर सका। बाल्यकालमें क्रीडाएँ करके बालक माता-पिताको प्रमुदित करता है, मेरे द्वारा यह भी नहीं हो सका, अतः आप क्षमा करें—

तत् क्षन्तुमर्हथस्तात मातर्नौ परतन्त्रयोः।
अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम्॥

इस प्रकार भगवान्ने मातृ-पितृ-भक्ति प्रदर्शित की! जब श्रीमथुरापुरी छोड़कर भगवान् द्वारका पधारे तो देवकीजी द्वारकामें ही भगवान्के समीप रहती थीं। वे उन्हें अपना प्रिय पुत्र ही समझती थीं। पुत्रस्नेह भी कैसा मधुमय सम्बन्ध है, भगवत्ताका उन्हें स्मरण भी नहीं होता था, उनके लिये तो श्यामसुन्दर बालक ही थे, उन्हें अपने हाथसे खिलातीं-पिलातीं, भाँति-भाँतिकी शिक्षाएँ देतीं। मातृस्नेहको व्यक्त करनेके लिये भगवान् भी देवकीजीकी हर प्रकारसे सेवा करते। जन्मके समय भगवान्ने अपने चतुर्भुजरूपसे जो माताको दर्शन दिया था, उसे वे भूल गयीं और अब उन्हें फिर अपना पुत्र ही मानने लगीं। भगवान् तो माताको असली ज्ञान कराना चाहते थे, अतः उनके मनमें एक प्रेरणा की।

माताने जब सुना कि मेरे पुत्र राम-कृष्णने गुरुदक्षिणामें गुरुके मृत पुत्रको ला दिया तो उन्होंने भी प्रार्थना की कि मेरे भी जो पुत्र कंसके द्वारा मारे गये हैं, उन्हें ला दो। माताकी ऐसी प्रार्थना सुनकर भगवान् वासुदेव बलदेवजीके सहित पाताललोकमें गये और वहाँसे उन पुत्रोंको ले आये। माताने देखा, वे तो अभी उसी अवस्थाके हैं, माता अपने आपेको भूल गयीं। उनके स्तनोंमेंसे दूध टपकने लगा। बड़े स्नेहसे उन्हें गोदीमें बिठाकर दूध पिलाने लगीं। वे भी श्रीकृष्णोच्छिष्ट स्तनको पान करके देवलोकको चले गये। अब माताको ज्ञान हुआ कि ये मेरे साधारण पुत्र नहीं हैं, ये तो चराचरके स्वामी हैं। विश्वके एकमात्र अधीश्वर हैं। माताकी मोह-ममता दूर हो गयी, वे भगवान्के ध्यानमें मग्न हो गयीं।

अन्तमें जब प्रभासक्षेत्रकी महायात्रा हुई और उसमें सब यदुवंशियोंका नाश हो गया तथा भगवान् भी अपने लोकको चले गये, तब यह समाचार दारुकके द्वारा वसुदेव, देवकीजीने भी सुना। वे दौड़े-दौड़े प्रभासक्षेत्रमें आये। वहाँ आनन्दकन्द श्रीकृष्ण और बलरामको न देखकर माता देवकीजीने श्रीवसुदेवजीके साथ भगवान्के विरहमें इस पाञ्चभौतिक शरीरसे उसी क्षण सम्बन्ध त्याग दिया। वे उस भगवद्धामको चली गयीं जहाँ उनके प्यारे प्रभु नित्य निवास करते हैं।

माता कुन्तीका अनुपम अनुराग

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥*

शास्त्रोंमें पाँच देवियाँ नित्य कन्याएँ मानी गयी हैं। उनमें महारानी कुन्ती भी हैं। ये वसुदेवजीकी बहिन थीं और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीकी फूआ। महाराज कुन्तिभोजसे इनके पिताकी मित्रता थी, उनके कोई सन्तान न थी, अतः ये कुन्तिभोजके यहाँ गोद आयीं और उन्हींकी पुत्री होनेके कारण इनका नाम कुन्ती पड़ा। बाल्यकालमें ये साधु-महात्माओंकी बहुत सेवा किया करती थीं। घरमें जो भी कोई अतिथि साधु आता, ये हर प्रकारसे उसकी सेवा-शुश्रूषा करतीं। एक बार महर्षि दुर्वासा इनके यहाँ आये और वे बरसातके चार महीने इन्हींके यहाँ ठहर गये। कुन्तीजीने उनकी तन-मनसे खूब सेवा की। चलते समय महर्षि इन्हें एक मन्त्र दे गये और कह गये कि 'सन्तानकामनासे तू जिस किसी देवताका स्मरण करेगी, वह उसी समय अपने दिव्य तेजसे आ जायगा, इससे तेरा कन्याभाव नष्ट न होगा।' ऋषिके चले जानेपर इन्होंने बालकपनके कुतूहलवश भगवान् सूर्यदेवका आवाहन किया। सूर्यदेव आये, ये डर गयीं, उन्होंने आश्वासन दिया, उन्हींसे दानी कर्णकी उत्पत्ति हुई, जिन्हें लोकापवादके कारण इन्होंने नदीमें छोड़ दिया और एक सारथिने अपना पुत्र बनाया। महाराज पाण्डुके साथ इनका विवाह हुआ, वे राजपाट छोड़कर वनको चले गये। वनमें ही इनके धर्म, इन्द्र, पवनके अंशसे युधिष्ठिर, अर्जुन, भीमकी उत्पत्ति हुई और माद्रीसे अश्विनीकुमारोंके अंशसे नकुल एवं सहदेवका जन्म हुआ। महाराज पाण्डुका शरीरान्त होनेपर माद्री तो उनके साथ सती हो गयीं और ये बच्चोंकी रक्षाके लिये जीवित रह गयीं। इन्होंने पाँचों पुत्रोंको अपनी ही कोखसे उत्पन्न हुआ माना, कभी स्वप्नमें भी उनमें भेदभाव नहीं किया।

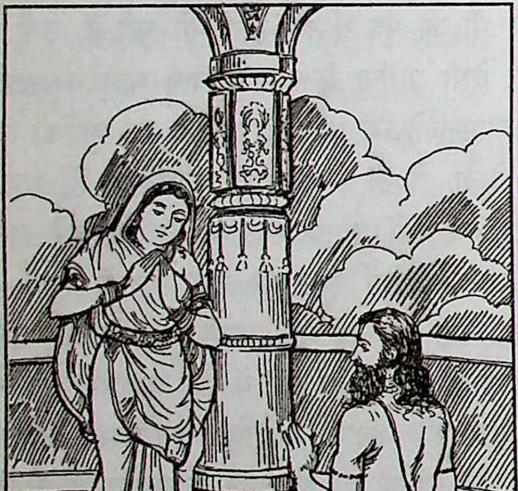

पाण्डवोंको जब देशनिकाला हुआ तो ये दुःखके साथ विदुरके घरमें रहीं, पुत्रोंकी मङ्गलकामना ईश्वरसे करती रहीं। इससे पूर्व जब दुर्योधनने लाक्षागृहमें पाँचों पाण्डवोंको जलानेका षड्यन्त्र रचा था, तब माता कुन्ती साथ ही थीं और साथ ही वहाँसे छिपकर भागीं। तब पाण्डवोंपर बड़ी विपत्ति थी। वे भीख माँगकर खाते थे, माता उनकी सब प्रकारसे रक्षा करतीं और सबको यथायोग्य भोजन देतीं। दयावती ये इतनी थीं कि जिस ब्राह्मणके यहाँ रहती थीं, उसके घरसे एक दिन उसका पुत्र राक्षसके पास उसके भोजनके लिये जा रहा था।

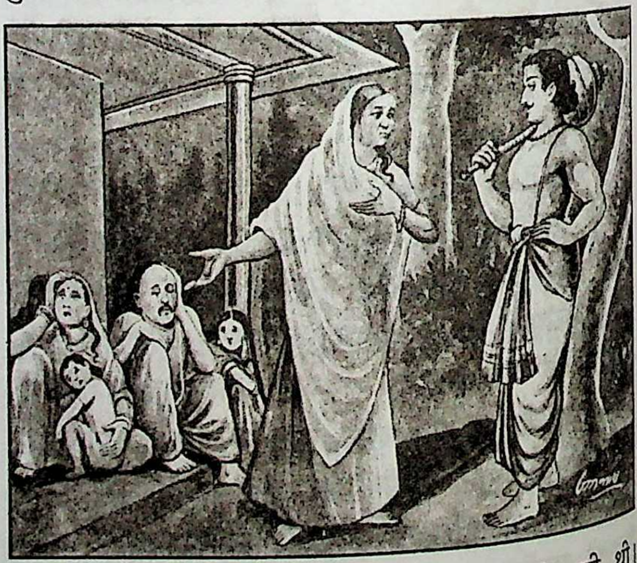

ब्राह्मणी अपने इकलौते पुत्रको जाते देख रो रही थी। माता कुन्तीको दया आयी और कहा—'मेरे पाँच पुत्र हैं,

---

* कुन्तीजी भगवान्से प्रार्थना करती हैं—'हे जगद्गुरो! हमपर सदा विपत्तियाँ ही आती रहें, क्योंकि आपके दर्शन विपत्तिमें ही होते हैं और आपके दर्शन होनेपर फिर इस संसारके दर्शन नहीं होते, अर्थात् मनुष्य आवागमनसे रहित हो जाता है।' (श्रीमद्भा० १।८।२५)

एक चला जायगा।' जब ब्राह्मणीने बहुत मना किया तो बोलीं—'मेरा पुत्र उस राक्षसको मार आयेगा।' ऐसा ही हुआ। भीमने उस राक्षसको मारकर सारी नगरीको सदाके लिये सुखी बना दिया।

ये दयावती होनेके साथ ही वीरमाता थीं। जब जूएमें युधिष्ठिर हार गये और तेरह वर्षके वनवासके बाद भी दुर्योधन पाण्डवोंको कुछ भी देनेके लिये राजी नहीं हुआ, तब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र दूत बनकर हस्तिनापुरमें आये। उन्होंने दुर्योधनको बहुत समझाया, पर वह माना ही नहीं। उसने स्पष्ट कह दिया—

सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव।

'हे माधव! सूईके अग्रभागके बराबर भी पृथ्वी मैं बिना युद्धके न दूँगा।' तब भगवान् माता कुन्तीके पास आये और बोले—'ऐसी दशामें अब तुम अपने पुत्रोंको क्या सन्देश देती हो?' तब कुन्तीजीने बड़ी ही वीरतासे कहा—

'यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः॥'

'क्षत्रियाणी जिस समयके लिये पुत्रोंको पैदा करती है, वह समय—अर्थात् युद्ध करनेका समय—अब आ गया; मेरे पुत्रोंसे कह देना, लड़कर वे अपना अधिकार प्राप्त करें।' यह है एक वीरमाताका पुत्रोंके लिये आदेश!

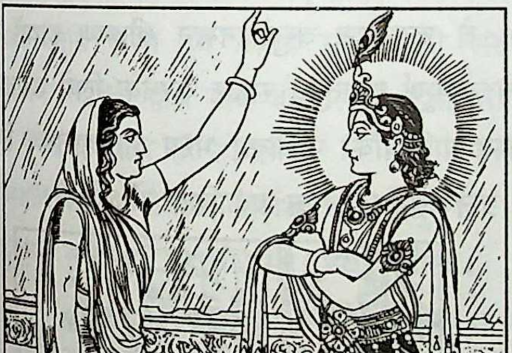

जिसकी सम्भावना थी, वही हुआ। महाभारतका युद्ध हुआ। अठारह अक्षौहिणी सेनाका संहार हुआ। धृतराष्ट्रके सौ पुत्र मारे गये। गान्धारी पुत्रहीना बन गयी, वह रोती हुई युद्धभूमिमें गयी, कुन्ती उसे पकड़कर ले गयीं और भाँति-भाँतिसे धैर्य बँधाने लगीं। माता कुन्तीने सच्चे मनसे उस पतिव्रता गान्धारीकी सब प्रकारसे सेवा की।

माता कुन्तीने कभी शारीरिक सुख नहीं भोगा, जबसे वे विवाहित होकर आयीं, उन्हें विपत्तियोंका ही सामना करना पड़ा। पति रोगी थे, उनके साथ जंगलोंमें भटकती रहीं। वहीं पुत्र पैदा हुए, उनकी देख-रेख कीं, थोड़े दिन हस्तिनापुरमें पुत्रोंके साथ रहीं, वह भी दूसरेकी आश्रिता बनकर। फिर लाक्षागृहसे किसी प्रकार अपने पुत्रोंको लेकर भागीं और भिक्षाके अन्नपर जीवन बिताती रहीं। थोड़े दिन राज्य-सुख भोगनेका समय आया कि धर्मराज युधिष्ठिर कपटके जूएमें सर्वस्व हारकर वनवासी बने, तब ये विदुरके घरमें रहकर जैसे-तैसे जीवन बिताती रहीं। युद्ध हुआ, परिवारवालोंका संहार हुआ, इससे कुन्तीको क्या सुख। उन्होंने अपने सुखके लिये युद्धकी सम्मति थोड़े ही दी थी, उसे तो उन्होंने क्षत्रियोंका धर्म बताया था। पाण्डवोंकी विजय होनेसे क्या हुआ। वह पाण्डवोंके साथ राज्यभोगमें सम्मिलित नहीं हुईं। उन्होंने तो अपना सम्पूर्ण जीवन अपने उन अन्धे जेठ धृतराष्ट्र और जिठानी गान्धारीकी सेवामें अर्पण कर दिया, जिन धृतराष्ट्र तथा गान्धारीके पुत्रोंने इन्हें एवं इनके पुत्रोंको इतने कष्ट दिये थे! गान्धारी और धृतराष्ट्र जब पुत्रवियोगसे दुःखी होकर जंगलोंमें चले तो उनकी लाठी पकड़कर पुत्रोंका मोह छोड़कर कुन्तीदेवी उनके साथ हो लीं। इस प्रकार उनका जीवन सदा विपत्तिमें ही कटा। इस विपत्तिमें भी उन्हें सुख था। वे इस विपत्तिको भगवान्‌से चाहती थीं और हृदयसे इसे विपत्ति मानती भी नहीं थीं।

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

'विपत्ति यथार्थमें विपत्ति नहीं है, सम्पत्ति भी सम्पत्ति नहीं। भगवान्‌का विस्मरण होना ही विपत्ति है और उनका स्मरण बना रहे, यही सबसे बड़ी सम्पत्ति है।' सो उन्हें भगवान्‌का विस्मरण कभी हुआ नहीं, अतः वे सदा सुखमें ही रहीं।

प्रेमका पन्थ

(आचार्य श्रीसुदर्शनजी मिश्र, एम्०ए०)

प्रभुकी प्राप्तिमें कोई भी सांसारिक साधन—नियम, ज्ञान, विज्ञान, योग, जप और तप तबतक सफल नहीं होता है, जबतक प्रभुमें अनन्य प्रेम नहीं होता तथा इस अनन्य प्रेममें सभी सांसारिक राग-अनुराग बाधक ही हैं। महात्मा भक्तशिरोमणि तुलसीदासजी कहते हैं—

साँच कहों तो जग नहीं, झूठे मिलै न राम।

प्रभुप्रेममें मतवाली महारानी मीरा दीवानी हो नाचने लगती थीं—*'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'*। लोकलाजकी उन्हें चिन्ता कहाँ, उनके पति राणाजीको यह सब अति अटपटा एवं मर्यादाविरुद्ध प्रतीत होता था, परंतु मीराजी क्या करें वे तो लोकलाज खो चुकी थीं—*'संतन ढिग बैठि बैठि लोकलाज खोई।'* और गिरिधरके हाथ बिक गयी थी—*'गिरधर हाथ बिकानी'*। अन्ततः स्थितिकी चरम सीमा आ गयी, महारानी मीराजीने गोस्वामी तुलसीदासजीसे मार्गनिर्देशन-हेतु प्रार्थना की, तब गोस्वामीजीने स्पष्ट लिख भेजा—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी॥

व्रजाङ्गनाओंने तो प्रभु श्रीकृष्णके हेतु पतियोंका भी त्याग कर दिया और प्रभुको प्राप्तकर भक्तिका अनूठा आदर्श उपस्थित किया है। तभी तो परम ज्ञानी भगवत्प्रेमी उद्धवजीको कहना पड़ा—

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।६३)

नन्दबाबाके व्रजमें रहनेवाली गोपाङ्गनाओंकी चरणधूलिको मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ—उसे सिर चढ़ाता हूँ। अहा! इन गोपियोंने भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाकथाके सम्बन्धमें जो कुछ गान किया है, वह तीनों लोकोंको पवित्र कर रहा है और सदा-सर्वदा पवित्र करता रहेगा।

इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—

नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥

(विनय-पत्रिका, पद १७४)

जब गाण्डीवधारी परमवीर अर्जुन शान्तनुनन्दन पितामह भीष्मजीसे समराङ्गणमें शिथिल हो गये और पाण्डवसेनामें भगदड़ मच गयी, तब भक्तवत्सल लीला-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने सुदर्शनचक्रका स्मरण किया तथा रथसे कूदकर चक्र लेकर वे भीष्मपितामह तथा समस्त कौरववीरोंका वध करनेके लिये उद्यत हो आगे बढ़ने लगे। भगवान् वेदव्यासजीने उस छविको इस प्रकार वाणी दी है—

स वासुदेवः प्रगृहीतचक्रः
संवर्तयिष्यन्निव सर्वलोकम्।
अभ्युत्पतल्ँलोकगुरुर्वभासे
भूतानि धक्ष्यन्निव धूमकेतुः॥

(महा०, भीष्मपर्व ५९।९४)

वे जगद्गुरु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हाथमें चक्र ले मानो सम्पूर्ण जगत्का संहार करनेके लिये उद्यत थे और समस्त प्राणियोंको जलाकर भस्म कर डालनेके लिये उठी हुई प्रलयाग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे।

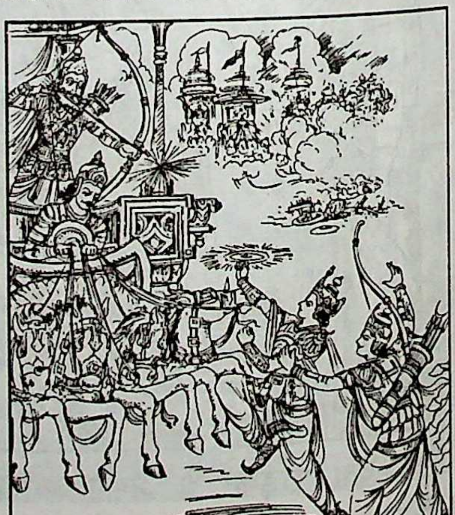

ऐसे भयंकर क्रोधावेशमें भगवान्को अपनी ओर आते देखकर प्रभुप्रेमी भीष्मपितामह निर्भय होकर धनुषको

खींचते हुए भगवान् श्रीकृष्णका आह्वान करते हुए बोले—

एह्येहि देवेश जगन्निवास
नमोऽस्तु ते माधव चक्रपाणे॥
प्रसह्य मां पातय लोकनाथ
रथोत्तमात् सर्वशरण्य संख्ये॥
(महा०, भीष्मपर्व ५९।९६-९७)

आइये, आइये, हे देवेश्वर! जगन्निवास! आपको नमस्कार है। हाथमें चक्र लिये आये हुए माधव! सबको शरण देनेवाले लोकनाथ! आज युद्धभूमिमें बलपूर्वक इस उत्तम रथसे मुझे मार गिराइये।

कैसा अनोखा भगवत्प्रेम है! भीषण बाणोंकी वर्षा भी कर रहे हैं और यह भी जान रहे हैं कि ये ही परमेश्वर हैं। ये मुझे मार भी सकते हैं और प्रणाम भी कर रहे हैं तथा मार डालनेके लिये भी कह रहे हैं। पितामह भीष्मने पुनः नौवें दिनके युद्धमें जब अद्भुत पराक्रम दिखाया, तब भी परम दयालु भक्तवत्सल भगवान् वासुदेवने पितामह भीष्मको मारनेकी लीला की और तब भी पितामह भीष्म निर्भय होकर धनुषको खींचकर भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार कर उनकी स्तुति करते हुए अपने सौभाग्यकी सराहना करने लगे कि आपके द्वारा मारे जानेपर भी संसारमें सब ओर मेरा परम कल्याण ही होगा—

सम्भावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाद्य संयुगे॥
प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चानघ।
(महा०, भीष्मपर्व १०६।६६-६७)

हे गोविन्द! आज इस युद्धमें मैं तीनों लोकोंद्वारा सम्मानित हो गया। हे अनघ! मैं आपका दास हूँ, आप अपने इच्छानुसार मुझपर प्रहार कीजिये।

संसारके इतिहासमें ऐसे अनूठे भगवत्प्रेमका उदाहरण दुर्लभ है। यह भगवान् और भक्तकी अनोखी लीला है। प्रभु भक्तका गौरव बढ़ानेहेतु क्या नहीं करते—अपनी प्रतिज्ञातकको झुठला सकते हैं—तभी तो भक्त कवि गा उठता है—

प्रबल प्रेम के पाले पड़ कर प्रभु को नियम बदलते देखा।
अपना मान टले टल जाये जन का मान न टलते देखा॥

'श्रीमद्भागवत'में पितामह भीष्मद्वारा अन्त समयमें भगवान्‌की जो स्तुति की गयी है, वह भी मननीय एवं स्मरणीय है—

युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्-
कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये।
मम निशितशरैर्विभिद्यमान-
त्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा॥
(१।९।३४)

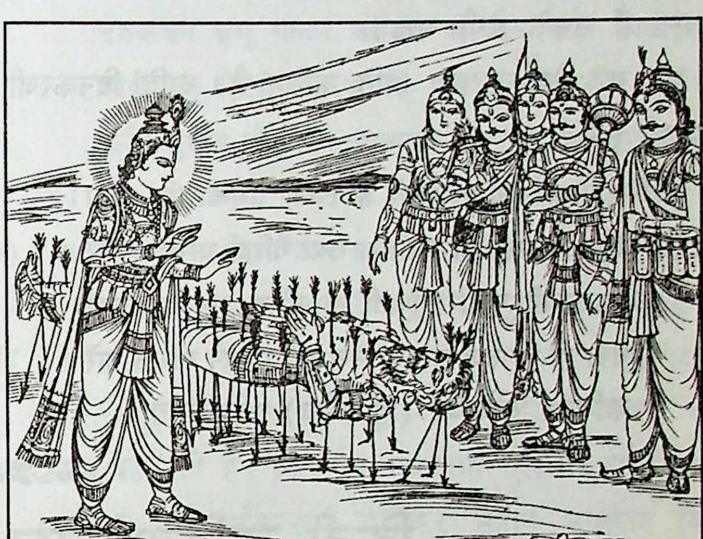

युद्धमें घोड़ोंकी टापोंसे उड़ी हुई रजसे धूसरित तथा चारों ओर छिटकी हुई अलकोंवाले, परिश्रमजन्य पसीनेकी बूँदोंसे सुशोभित मुखवाले और मेरे तीक्ष्ण बाणोंसे विदीर्ण हुई त्वचावाले, सुन्दर कवचधारी श्रीकृष्णमें मेरी आत्मा प्रवेश करे।

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञा-
मृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गु-
र्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः॥
शितविशिखहतो विशीर्णदंशः
क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे।
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं
स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः॥
(श्रीमद्भा० १।९।३७-३८)

मेरी प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिये अपनी प्रतिज्ञा छोड़कर रथसे उतर पड़े और सिंह जैसे हाथीको मारनेके लिये दौड़ता है, उसी तरह चक्रको लेकर पृथ्वी कँपाते

श्रीकृष्ण (मेरी ओर) दौड़े। उस समय शीघ्रताके कारण उनका दुपट्टा (पृथ्वीको सान्त्वना देनेके लिये) गिर पड़ा था। मुझ आततायीके तीक्ष्ण बाणोंसे विदीर्ण होकर फटे हुए कवचवाले घाव और रुधिरसे सने हुए जो भगवान् मुकुन्द मुझे हठपूर्वक मारनेको दौड़े, वे मेरी गति हों।

ऐसी अनोखी अनुपम आराधना विश्वके इतिहासपटलपर असम्भव है। धन्य हैं ऐसे भगवान् और उससे भी अधिक धन्य हैं उनके प्रेमी भक्त।

यह प्रेमका पन्थ अति कठिन है। कवि दिनकरजी कहते हैं—

सिर देकर सौदा करते हैं जिन्हें प्रेमका रंग चढ़ा।
फीका रंग रहा तो घर तज क्या गैरिक परिधान करें॥
उस पदकी मंजीर गूँजती हो नीरव सुनसान जहाँ।
सुनना हो तो तज वसन्त निज को पहिले वीरान करें॥

कविवर बोधाजी (बुद्धिसेन) भी कहते हैं—

अति छीन मृणाल के तारहु ते तेहि ऊपर पाँव दै धावनो है।
सुई वेध ते द्वार संकीर्न जहाँ परतीति को ठाढ़ों लदावनो है॥
कवि बोधा धनी अनी नेजहुँ ते चढ़ि तापै चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवार की धार पै धावनो है॥

प्रभुवाणीका संदेश है—

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।' (गीता ८।७)

परंतु यह मन अपने वशमें कहाँ। अतः नित्य-निरन्तर प्रभुसे प्रार्थना करनेका अभ्यास बना लेना चाहिये, इससे प्रभुकी अविस्मरणीय स्मृति बन सकती है—

गोविन्द मेरी यही प्रार्थना है भूलूँ न मैं नाम कभी तुम्हारा।
निष्काम होके दिन रात गाऊँ गोविन्द दामोदर माधवेति॥
गोविन्द दामोदर माधवेति हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
देहान्त काले तुम सामने हो वंशी बजाते मन को लुभाते॥
गाता यही मैं तन नाथ त्यागूँ गोविन्द दामोदर माधवेति।
गोविन्द दामोदर माधवेति हे कृष्ण हे यादव हे सखेति॥

* * *

हिन्दी-साहित्यके संत कवियोंकी प्रेमसाधना

(श्रीनरेन्द्रप्रकाशजी शर्मा)

संत कवियोंकी प्रेमसाधनारूपी काव्य-प्रभा मानव-जीवनको अविरामगतिसे भगवत्प्रेमकी ओर आकृष्ट कर रही है। संत कवियोंने भक्तिरसयुक्त पदोंकी रचनाओंद्वारा अपने इष्टको रिझाया है और उनका प्रेममय भगवत्सम्बन्ध उनके छन्दोंमें मुखर हुआ है। इससे जन-जनमें भक्तिभावका संचरण हो सका है। उन भावोंसे भावित होकर आज भी लोग प्रभुकी प्रेमाभक्तिका रसास्वादन करते हैं।

संत गोस्वामी तुलसीदासजी

गोस्वामी तुलसीदासकी श्रीराममयी कविता तो दिव्य प्रेमका ही मूर्तरूप है। रामायण तो भक्ति-प्रवाहका अलौकिक रूप बन गया। उन्होंने अनेक पदोंकी रचना कर अपनी प्रेममय रामभक्तिको उजागर किया है। रामके प्रति उनकी भक्तिका प्रवाह ऐसा है कि मन उस प्रेमसागरमें निमग्न हो जाता है। उनके कुछ पद यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—

देव—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथको, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरो।
तात-मात, गुरु-सखा, तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानियै जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु! चरन-सरन पावै॥

(विनय-पत्रिका ७९)

इस पदमें रामके साथ जीवके कई नाते बताये गये हैं। कितने भक्तिभावसे वे श्रीरामसे कहते हैं कि हे राम! आपके अतिरिक्त मैं अन्य किसीके आगे हाथ फैलानेवाला नहीं—

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित-पावन जग, केहि अति दीन पियारे॥
कौने देव बराइ बिरद-हित, हठि हठि अधम उधारे।
खग, मृग, ब्याध, पषान, बिटप जड़, जवन कवन सुर तारे॥
देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज सब, माया-बिबस बिचारे।
तिनके हाथ दासतुलसी प्रभु, कहा अपनपौ हारे॥

(विनय-पत्रिका १०१)

रामसे अधिक दयालु और कौन हो सकता है, इस भावको महात्मा तुलसीदासजीने कितने सुन्दर ढंगसे दर्शाया है—

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं॥
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी।
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी॥
जो संपति दस सीस अरप करि रावन सिव पहँ लीन्हीं।
सो संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच-सहित हरि दीन्हीं॥
तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तौ भजु राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो॥
(विनय-पत्रिका, पद १६२)

जिन्हें सीतारामसे स्नेह नहीं, वे लोग तो त्यागने योग्य ही हैं। इसी आशयका मीराबाईको एक पत्रके उत्तरमें पद लिखकर तुलसीदासजीने बताया—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी॥
नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो॥
(विनय-पत्रिका, पद १७४)

सब कुछ अपने आराध्यपर छोड़, गोस्वामी तुलसीदासजीने भक्तिदानकी याचना की है—

रघुबर तुमको मेरी लाज।
सदा सदा मैं सरन तिहारी तुमहि गरीबनिवाज॥
पतित उधारन बिरद तुम्हारो, स्त्रवनन सुनी अवाज।
हौं तो पतित पुरातन कहिये, पार उतारो जहाज॥
अघ-खंडन दुख-भंजन जनके यही तिहारो काज।
तुलसिदासपर किरपा कीजै, भगति-दान देहु आज॥
(भजन-संग्रह, पद १०)

मनको सभी प्रकारसे राम-चरणोंमें लगा देने और रामकी भक्तिमें लीन हो जानेका संदेश देते हुए वे कहते हैं—

भज मन रामचरन सुखदाई।
जिहि चरननसे निकसी सुरसरि संकर जटा समाई।
जटासंकरी नाम पर्‍यो है, त्रिभुवन तारन आई॥
जिन चरननकी चरनपादुका भरत रह्यो लव लाई।
सोइ चरन केवट धोइ लीने तब हरि नाव चलाई॥
सोइ चरन संतन जन सेवत सदा रहत सुखदाई।
सोइ चरन गौतम ऋषि-नारी परसि परमपद पाई॥
दंडकबन प्रभु पावन कीन्हो ऋषियन त्रास मिटाई।
सोई प्रभु त्रिलोकके स्वामी कनक मृगा सँग धाई॥
कपि सुग्रीव बंधु भय-ब्याकुल तिन जय छत्र फिराई।
रिपु को अनुज बिभीषन निसिचर परसत लंका पाई॥
सिव सनकादिक अरु ब्रह्मादिक सेष सहस मुख गाई।
तुलसिदास मारुत-सुतकी प्रभु निज मुख करत बड़ाई॥
(भजन-संग्रह, पद ५७)

तुलसीके इन पदोंमें प्रेम-भक्ति-रसकी अजस्त्र धारा-सी बह रही है। निःसंदेह गोस्वामी तुलसीदासजीने जन-जनको राम-भक्तिरसमें डुबोकर महान् उपकार किया। उनके और श्रीरामके अनन्य प्रेमको वे ही समझ सकते हैं।

महात्मा सूरदास

वैराग्य, संसारकी अनित्यता, विनय, प्रबोध और चेतावनीस्वरूप सुन्दर मधुर पदोंद्वारा सूरदासजीने लोक-जीवनके अंदर प्रेममयी संगीत-लहरी घोल दी है।

जीवन ऐसे ही विषय-वासनामें व्यतीत हो गया, इस भावको कितने सुन्दर ढंगसे सूरदासजीने दर्शाया है—

सबै दिन गए बिषय के हेत।
तीनौं पन ऐसैं हीं खोए, केश भए सिर सेत॥
आँखिनि अंध, स्त्रवन नहिं सुनियत, थाके चरन समेत।
गंगा-जल तजि पियत कूप-जल, हरि-तजि पूजत प्रेत॥
मन-बच-क्रम जौ भजै स्याम कौं, चारि पदारथ देत।
ऐसौ प्रभू छाँड़ि क्यौं भटकै, अजहूँ चेति अचेत॥
राम नाम बिनु क्यौं छूटौगे, चंद गहैं ज्यौं केत।
सूरदास कछु खरच न लागत, राम नाम मुख लेत॥
(सूर-विनय-पत्रिका, पद ९८)

ईश्वरपर पूर्ण विश्वासको कितने मार्मिक ढंगसे सूरदासने

दिखाया है—

प्रभु तेरौ बचन भरोसौ साँचौ।
पोषन भरन बिसंभर साहब, जो कलपै सो काँचौ॥
जब गजराज ग्राह सौं अटक्यौ, बली बहुत दुख पायौ।
नाम लेत ताही छिन हरि जू, गरुड़हिं छाँड़ि छुड़ायौ॥
दुस्सासन जब गही द्रौपदी, तब तिहि बसन बढ़ायौ।
सूरदास प्रभु भक्तबछल हैं, चरन सरन हौं आयौ॥

(सूर-विनय-पत्रिका, पद ३२)

भक्तको तो भगवान्का ही आसरा होता है। उन्हें छोड़कर वह औरोंका सहारा क्यों माँगे? इस भावको सूरदासजीने बड़े सुन्दर रूपमें गाया—

तुम तजि और कौन पै जाउँ।
काकैं द्वार जाइ सिर नाऊँ, पर हथ कहाँ बिकाउँ॥
ऐसौ को दाता है समरथ, जाके दिऐं अघाउँ।
अन्त काल तुम्हरैं सुमिरन गति, अनत कहूँ नहिं दाउँ॥
रंक सुदामा कियौ अजाची, दियौ अभय पद ठाउँ॥
कामधेनु, चिंतामनि दीन्हौं, कल्पबृच्छ-तर छाउँ॥
भव-समुद्र अति देखि भयानक, मन मैं अधिक डराउँ।
कीजै कृपा सुमिरि अपनौ प्रन, सूरदास बलि जाउँ॥

(सूर-विनय-पत्रिका, पद २३३)

सूरदासजीको भगवद्भजनमें ही सारा सुख दिखायी देता है, इस भावको उन्होंने कैसे प्रकट किया है इस पदमें देखिये—

जो सुख होत गुपालहि गाऐं।
सो सुख होत न जप-तप-कीन्हें, कोटिक तीरथ न्हाऐं॥
दिऐं लेत नहिं चारि पदारथ, चरन-कमल चित लाऐं।
तीन लोक तृन सम करि लेखत, नंद-नँदन उर आऐं॥
बंशीबट, बृंदाबन, जमुना तजि बैकुंठ न जावै।
सूरदास हरि कौ सुमिरन करि, बहुरि न भव-जल आवै॥

(सूर-विनय-पत्रिका, पद १४४)

सब कुछ त्यागकर केवल भगवान्का भजन करनेकी सम्मति कितने सरल शब्दोंमें इस पदमें सूरदासजीने बखानी—

रे मन, गोबिंद के ह्वै रहियै।
इहिं संसार अपार बिरत ह्वै, जम की त्रास न सहियै॥
दुख, सुख, कीरति, भाग आपनैं आइ परै सो गहियै।
सूरदास भगवंत-भजन करि अंत बार कछु लहियै॥

(सूर-विनय-पत्रिका, पद ७१)

जो कुछ होता है ईश्वरके करनेसे ही होता है, इसे सूरदासजीने ऐसे गाया—

करी गोपाल की सब होइ।
जो अपनौं पुरुषारथ मानत, अति झूठौ है सोइ॥
साधन, मंत्र, जंत्र, उद्यम, बल, ये सब डारौ धोइ।
जो कछु लिखि राखी नँदनंदन, मेटि सकै नहिं कोइ॥
दुख-सुख लाभ-अलाभ समुझि तुम, कतहिं मरत हौ रोइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, स्याम चरन मन पोइ॥

(सूर-विनय-पत्रिका, पद २७६)

राधाकृष्णके प्रेमको सूरदासजीने कितने सरल तथा मार्मिक रूपसे दिखाया—

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज-खोरी॥
काहे कौं हम ब्रज-तन आवतिं, खेलति रहतिं आपनी पौरी।
सुनत रहतिं स्त्रवननि नँद-ढोटा, करत फिरत माखन-दधि-चोरी॥
तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी॥

(सूरसागर, पद १२९१)

मोहनकी मुरलीकी सुन्दर तानके विषयमें वे कहते हैं—

सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई।
मोहे सुर-नर-नाग निरंतर, ब्रज-बनिता उठि धाईं॥
जमुना नीर-प्रबाह थकित भयौ, पवन रह्यौ मुरझाई।
खग-मृग-मीन अधीन भए सब, अपनी गति बिसराई॥
द्रुम-बेली अनुराग-पुलक तनु, ससि थक्यौ निसि न घटाई।
सूर स्याम बृंदाबन बिहरत, चलहु सखी सुधि पाई॥

(सूरसागर, पद १६०८)

सूरदासजीने अपने पदोंमें कृष्णकी बाल-छवि, गोपियोंका सरल प्रेमभाव, माता यशोदाका वात्सल्यभाव, कृष्णकी माखन–चोरी, राधामाधवका अमित प्रेम, कृष्णके जीवनके प्रत्येक उदात्त चरित्र तथा उनकी लीलाओंका सजीव चित्रण किया है।

प्रेमदीवानी मीरा

गिरिधरकी दीवानी मीरा तो बाल्यावस्थासे ही कृष्णकी प्रेमाभक्तिमें इतनी लवलीन हो गयी थीं कि उनको रात-दिन कृष्णके अलावा कुछ भाया ही नहीं। उनके गाये मधुर स्वरोंके पदोंमें भगवत्प्रेम प्रवाहित होता रहता है। जो सुनने या गानेवालोंको भक्ति-भावसे भर देता है। कहते हैं, मीरा नाचती-गाती द्वारकाधीशके विग्रहमें समा गयीं, केवल उनकी चुनरीका छोर ही लोगोंको दिखायी दिया जो कि एक अलौकिक घटना थी। कितनी उत्तम गति मीराने पायी, जो उच्च कोटिके ही भक्तोंको प्राप्त होती है। उनके रचे प्रत्येक पद हर किसीको प्रभु-भक्ति-रसमें सम्प्रवाहित करनेमें अति सक्षम हैं।

मीराजी अपनी उपलब्धि बताते हुए कहती हैं—

पायो जी म्हे तो राम रतन धन पायो।
बस्तु अमोलक दी म्हारे सतगुरु, किरपा को अपणायो॥
जनम जनमकी पूँजी पाई, जगमें सभी खोवायो।
खरचै नहिं कोइ चोर न लेवै, दिन-दिन बढ़त सवायो॥
सतकी नाव खेवटिया सतगुरु, भवसागर तर आयो।
मीराँके प्रभु गिरधर नागर, हरख-हरख जस गायो॥

(भजन-संग्रह, पद ५७४)

मीराने तो श्रीकृष्णको ही मनसे पति मान लिया था। उनका कृष्ण-प्रेम इस पदमें कितने अनूठे ढंगसे झलक रहा है—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥
जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई।
तात मात भ्रात बंधु आपनो न कोई॥
छाँड़ि दई कुळकि कानि कहा करिहै कोई।
संतन ढिग बैठि बैठि लोकलाज खोई॥
चुनरीके किये टूक ओढ़ लीन्हीं लोई।
मोती मूँगे उतार बनमाला पोई॥
अँसुवन जळ सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई।
अब तो बेल फैल गई आणँद फल होई॥

× × ×

भगति देखि राजी हुई जगत देखि रोई।
दासी मीरा लाल गिरधर तारो अब मोही॥

(भजन-संग्रह, पद ५२१)

इस पदमें मीरा हमें अपने मनको प्रभु-चरणोंमें लगानेका सदुपदेश करती हैं—

मन रे परसि हरिके चरण।
सुभग सीतल कँवल कोमल, त्रिविध, ज्वाला हरण।
जिण चरण प्रह्लाद परसे, इंद्र पदवी धरण॥
जिण चरण ध्रुव अटल कीन्हें, राख अपनी सरण।
जिण चरण ब्रह्मांड भेट्यो, नखसिखाँ सिरी धरण॥
जिण चरण प्रभु परसि लीने, तरी गोतम-घरण।
जिण चरण काळीनाग नाथ्यो, गोप लीला-करण॥
जिण चरण गोबरधन धार्‍यो, गर्व मघवा हरण।
दासि मीरा लाल गिरधर, अगम तारण तरण॥

(भजन-संग्रह, पद ५१६)

वृन्दावनके प्रति मीराका अनुराग देखिये—

आली! म्हाँने लागे बृंदावन नीको।
घर-घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसण गोबिंदजीको॥
निरमल नीर बहत जमनामें भोजन दूध दहीको।
रतन सिंघासण आप बिराजै मुगट धर्‍यो तुलसीको॥
कुंजन-कुंजन फिरत राधिका सबद सुणत मुरलीको।
मीराँके प्रभु गिरधर नागर भजन बिना नर फीको॥

(भजन-संग्रह, पद ५५३)

मीराके प्रभु तो उनके हृदयमें रहते हैं—कैसा सुन्दर भाव है—

मेरा पिया मेरे हीय बसत हैं ना कहुँ आती जाती॥

× × ×

सुरत निरतका दिवलो जोयो मनसा की कर ली बाती।
अगम घाणिको तेल सिंचायो बाळ रही दिन-राती॥
जाऊँनी पीहरिये जाऊँनी सासरिये हरिसूँ सैन लगाती।

(भजन-संग्रह, पद ५५५)

संत रसखान

आज तो साम्प्रदायिकताने जन-जीवनको झकझोरकर रख दिया है। पर एक समय ऐसा भी रहा जिसमें मुस्लिम कवियोंने भी राम-कृष्णके भक्ति-गीत गाये। भक्तके लिये जाति-पाँति, देश-कालका कोई नियम नहीं होता। संत रसखान भगवत्प्रेमके इतने दीवाने थे कि विश्वास करना कठिन-सा लगता है कि वे मुसलमान थे। उनके भाव-भरे पदोंमें कृष्ण-प्रेम प्राप्त करनेकी कैसी मधुर अभिलाषा है—

[१]

मानुष हौं तो वही रसखानि, बसौं ब्रज गोकुल गाँवके ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नंदकी धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरिको, जो धर्‍यौ कर छत्र पुरन्दर-धारन।

जो खग हौं तो बसेरो करौं, मिलि कालिंदी-कूल-कदम्बकी डारन॥

(भजन-संग्रह, पद ७३५)

[२]

या लकुटी अरु कामरियापर, राज तिहूँ पुरकौ तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवो निधिकौ सुख, नन्दकी गाइ चराइ बिसारौं॥
रसखानि, कबों इन आँखिनसो, ब्रजके बन-बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हों कलधौतके धाम, करीलकी कुञ्जन ऊपर बारौं॥

(भजन-संग्रह, पद ७३६)

[३]

धूरि-भरे अति सोभित स्यामजु, तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत-खात फिरैं अँगनाँ, पगपैजनी बाजतीं, पीरी कछोटी॥
वा छबिकों रसखानि बिलोकत, बारत कामकलानिधि-कोटी।
कागके भाग कहा कहिए, हरि-हाथसों लै गयो माखन-रोटी॥

(भजन-संग्रह, पद ७४२)

[४]

प्रान वही जु रहैं रिझि वा पर, रूप वही जिहिं वाहि रिझायौ।
सीस वही जिन वे परसे पद अंग वही जिन वा परसायौ॥
दूध वही जु दुहायो वही सों, दही सु सही जु वही ढुरकायौ।
और कहा लौं कहौं रसखान री भाव वही जु वही मन भायौ॥

[५]

सेस, महेस, गनेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि, अनन्त, अखण्ड, अछेद, अभेद सुबेद बतावैं॥
नारद-से सुक ब्यास रटैं, पचिहारे, तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीरकी छोहरियाँ, छछियाभरि छाछपै नाच नचावैं॥

(भजन-संग्रह, पद ७३८)

संत कबीर

कबीरको मध्यकालीन कवियोंने एक महान् भक्त और संत माना है। तेरहवीं-चौदहवीं सदीमें उनका जीवन-काल बनारस (काशी)-में बीता। वे जुलाहा-परिवारमें उत्पन्न हुए, जुलाहेका परिश्रमी सरल जीवन उन्होंने जीया। उन्होंने अपनेमें ऐसे व्यक्तित्वका निर्माण किया जो एक महान् संत, पूर्ण सद्गुरु, सरल हृदय और भक्त होनेके साथ-साथ स्पष्टवादी, निर्भीक तथा अपने आदर्शोंके प्रति हर प्रकारकी आलोचना तथा यातना सहनेको तैयार रहा। उनके रचे भक्ति-पद, नीतिके दोहे, सूक्तियाँ एवं उलटबाँसियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं। ईश-प्रेमसे सराबोर तथा आध्यात्मिकताका पुट लिये उनके कुछ पद यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—

[१]

घूँघट का पट खोल री तोहे पीव मिलेंगे।
घट घट रमता राम रमैया कटुक बचन मत बोल रे॥
रंगमहलमें दीप बरत है, आसनसे मत डोल रे॥
कहत कबीर सुनो भाई साधू, अनहद बाजत ढोल रे॥

(भजन-संग्रह, पद २२८)

[२]

कुछ लेना न देना मगन रहना।
पाँच तत्त का बना पींजरा जामें बोले मेरी मैना॥
तेरा साँई तेरे अन्दर अब देख सखी तू खोल नैना।
गहरी नदिया नाव पुरानी, खेवटिया से मिले रहना॥
कहें कबीर सुनौ भई साधौ, गुरुके चरन में लिपट रहना।

संत कबीर संसारकी असारता किस रूपमें दर्शा रहे हैं, जरा देखिये—

रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागदकी पुड़िया, बूँद पड़े घुल जाना है।
यह संसार काँटकी बाड़ी, उलझ पुलझ मरि जाना है॥
यह संसार झाड़ औ झाँखर, आग लगे बरि जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है॥

(भजन-संग्रह, पद २१७)

भगवान्के भजनको ही जीवनमें महत्ता दी जानी चाहिये, इसे कबीर कितने सुन्दर ढंगसे दर्शा रहे हैं—

भजौ रे भैया राम गोबिंद हरी।
जप तप साधन नहिं कछु लागत, खरचत नहिं गठरी॥
संतत संपत सुखके कारन जासों भूल परी॥
कहत कबीरा राम न जा मुख ता मुख धूल भरी॥

(भजन-संग्रह, पद २०९)

संत गुरु नानक

पंजाब प्रान्तमें एक महान् संत गुरु नानक हुए। उन्हें बचपनसे ही अध्यात्मवादने आकर्षित किया। सरल हृदय एवं दयालु स्वभावके नानकने अपना सम्पूर्ण जीवन लोकहितमें व्यतीत किया। उनकी भक्तिभावना-पूर्ण वाणी 'गुरुग्रन्थसाहिब' में वर्णित है, जिसे सिख-समुदाय पूजता है। एक पदमें वे कहते हैं—

तू सिमिरन कर ले मेरे मना तेरी बीती उमर हरि नाम बिना।

जैसे तरुवर फल बिन हीना तैसे प्राणी हरि नाम बिना।
काम क्रोध मद लोभ बिहाई, माया त्यागो अब संत जना।

इस संसारमें कोई किसीका संगी-साथी नहीं, कोई किसीका सगा-सम्बन्धी नहीं सब मतलबके गरजी हैं, अपना तो केवल राम ही है उसीके गीत गाओ, उसीसे प्रेम करो। इस बातको वे यों दर्शा रहे हैं—

जगतमें झूठी देखी प्रीत।
अपने ही सुखसों सब लागे, क्या दारा क्या मीत॥
मेरो मेरो सभी कहत हैं, हित सों बाध्यौ चीत।
अंतकाल संगी नहिं कोऊ, यह अचरजकी रीत॥
मन मूरख अजहूँ नहिं समुझत, सिख दै हार्‍यो नीत।
नानक भव-जल-पार परै जो गावै प्रभुके गीत॥
(भजन-संग्रह, पद ४४०)

सच्चा साथी तो एक हरि ही है, इसी बातको बताते हुए वे कहते हैं—

हरि बिनु तेरो को न सहाई।
काकी मात-पिता सुत बनिता, को काहू को भाई॥
धनु धरनी अरु संपति सगरी जो मानिओ अपनाई।
तन छूटै कुछ संग न चालै, कहा ताहि लपटाई॥
दीन दयाल सदा दुःख-भंजन, ता सिउ रुचि न बढ़ाई।
नानक कहत जगत सभ मिथिआ, ज्यों सुपना रैनाई॥

पलटू साहब

पलटू साहबकी जीवन-सम्बन्धी जानकारी कम मिलती है। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण वृत्ति बाहरसे अंदरकी ओर मोड़ ली थी। आपकी सुरति संसार तथा इन्द्रियोंकी ओरसे पलटकर अन्तरमें आध्यात्मिक मण्डलोंकी वासी हो गयी थी। इसी कारण उनके गुरुने उन्हें 'पलटू' उपनाम दिया। उनके रचित आध्यात्मिक एवं प्रेम-भक्ति-रसके कुछ पद निम्नाङ्कित हैं—

सात पुरी हम देखियाँ देखे चारों धाम।
देखे चारों धाम सबन में पत्थर पानी।
कर्मन के बस पड़े मुक्ति की राह भुलानी।
चलत-चलत पग थके, छीन भई अपनी काया।
काम-क्रोध नहि मिटा बैठ कर बहुत उन्हाया।
ऊपर डाला धोय मैल दिल बीच समाना।
पत्थर में गया भूला संत का मरम न जाना।
'पलटू' नाहक पच मुये, संतन में है नाम।
सात पुरी हम देखियाँ देखे चारों धाम॥

इसी प्रकार—

बैरागिन भूली आपमें, जल में खोजे राम।
जल में खोजे राम, जाय कर तीरथ छानी।
भर में चारों खूंट नाहिं सुधि अपनी आनी।
फूल माहि जो बास काठ में अगिनि छिपानी।
खोद बिन नाहिं मिलै आहि धरती में पानी।
दूध माहि घृत रहे छिपी मेहन्दी में लाली।
ऐसे पूरन ब्रह्म कहँ इक तिल नहीं खाली।
'पलटू' सतसंग बीच में कर ले अपना काम।
बैरागिन भूली आपमें, जल में खोजे राम॥

प्रभुको केवल प्रेमाभक्ति ही प्यारी है, इसे पलटू साहब यों बता रहे हैं—

साहब के दरबार में, केवल भक्ति पियार।
केवल भक्ति पियार साहब भक्ति में राजी।
तजा सकल पकवान, लिया दासी सुत भाजी।
जप तप नेम अचार करे बहुतेरा कोई।
खाये सिवरी के बेर, मरा सब ऋषि मुनि रोई।
राजा युधिष्ठिर यज्ञ बटोरा, जोरा सकल समाजा।
मरदा सबका मान सपुच बिन घंट न बाजा।
'पलटू' ऊँची जात का मत कोई करे अहंकार।
साहब के दरबार में, केवल भक्ति पियार॥

संत दादू

राजस्थानके दादू पहुँचे हुए संतोंमेंसे एक हैं। बाहरी आडम्बरसे रहित भक्तिकी ओर उन्होंने लोगोंका ध्यान आकृष्ट किया—

दादू दुनिया दीवानी, पूजे पाहन पानी।
गढ़ मूरत मंदिर में थापी, निव निव करत सलामी।
चन्दन फूल अछत सिव ऊपर बकरा भेट भवानी।
छप्पन भोग लगे ठाकुर को पावत चेत न प्रानी।
धाय-धाय तीरथ को ध्यावे, साध संग नहिं मानी।
ताते पड़े करम बस फन्दे भरमें चारों खानी।
बिन सतसंग सार नहिं पावै फिर-फिर भरम भुलानी।

उनके विचारसे—

दादू देखा मैं प्यारा, अगम जो पंथ निहारा।
अष्ट कँवल दल सुरत सबद में, रूप रंग से न्यारा।
पिण्ड ब्रह्माण्ड और वेद कितेवे, पाँच तत्त के पारा।
सत्त लोक जहँ पुरु बिदेही वह साहिब करतारा।
आदि जोत और काल निरंजन, इनका कहाँ न पसारा।

राम रहीम रब्ब नहीं आतम, मोहम्मद नहीं औतारा।
सब संतन के चरन सीस धर चीन्हा सार असारा।

संत श्रद्धेय भाईजी

श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार 'भाईजी' की रचना 'पद-रत्नाकर' उनके राधामाधव प्रेममय, भक्तिमय हृदयसे अनुस्यूत है, उसमें उनकी अन्तरात्माकी झलक दिखायी देती है। प्रभुपर अपने अनुपम विश्वासको उन्होंने इस पदमें कितनी सुन्दरतासे दर्शाया है—

अब हरि! एक भरोसो तेरौ।
नहिं कछु साधन ग्यान-भगति कौ, नहिं बिराग उर हेरौ॥
अघ ढोवत अघात नहिं कबहूँ, मन बिषयन कौ चेरौ।
इंद्रिय सकल भोगरत संतत, बस न चलत कछु मेरौ॥
काम-क्रोध-मद-लोभ-सरिस अति प्रबल रिपुन तें घेरौ।
परबस पर्‌यौ, न गति निकसन की जदपि कलेस घनेरौ॥
परखे सकल बंधु, नहिं कोऊ बिपद-काल कौ नेरौ।
दीनदयाल दया करि राखउ, भव-जल बूड़त बेरौ॥

(पद १२८)

भगवान्‌से वे क्या अपेक्षा करते हैं, इसकी बानगी देखते ही बनती है—

चहौं बस एक यही श्रीराम।
अबिरल अमल अचल अनपाइनि प्रेम-भगति निष्काम॥
चहौं न सुत-परिवार, बंधु-धन, धरनी, जुवति ललाम।
सुख-वैभव उपभोग जगतके चहौं न सुचि सुर-धाम॥
हरि-गुन सुनत-सुनावत कबहूँ, मन न होइ उपराम।
जीवन-सहचर साधु-संग सुभ, हो संतत अभिराम॥
नीरद-नील-नवीन-बदन अति सोभामय सुखधाम।
निरखत रहौं बिस्वमय निसि-दिन, छिन न लहौं बिस्राम॥

(पद ११००)

ऊपर कुछ संतोंकी प्रेम-भक्तिके कतिपय पदोंको दिया गया है, वास्तवमें उनके और प्रभुके अन्तरङ्ग प्रेमको प्रभु ही जान सकते हैं। हिन्दी-साहित्यमें और भी अनेक प्रभु-प्रेमी भक्त हुए हैं। प्रभु-भक्तिकी गङ्गा प्रवाहित करनेवालोंमें स्वामी हरिदास, गदाधर भट्ट, नागरीदास, नारायण स्वामी, ललितकिसोरी, रैदास, मलूकदास, दरियासाहब, सहजोबाई, मंजुकेशी, बनीठनीजी, युगलप्रियाजी, रानी रूपकुँवरिजी, रहीम, यारीसाहब, खुसरो, बुल्लेशाह आदिको भुलाया नहीं जा सकता। प्रेम-भक्ति-रसकी अजस्र धारा, जो इन कवियोंने अपने पदोंमें बहायी, वह प्रेममार्गके पथको प्रशस्त कर देती है।

~~~

सूफ़ी संतोंकी प्रेमोपासना

(पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

मुमकिन न बुबद कि यार आयद बकिनार,
खुदरा अज़ ख़याले ख़ामो अन्देशा बरार,
हर चीज़ क़ि ग़ैर अस्त दर सीनए तुस्त,
बिसयार हिजाबेस्त मियाने तो व यार!

सूफ़ी संत सरमदने सूफ़ी प्रेमोपासनाका रहस्य बता दिया है। वह कहता है इन शब्दोंमें—

'जबतक तेरे दिलमें बाहरी चिन्ताएँ भरी हैं, झूठी भावनाएँ भरी हैं, तबतक यह कैसे मुमकिन है कि तेरा यार, तेरा प्रेमास्पद—ब्रह्म तुझे मिल जाय? जबतक तेरे दिलमें ये दूसरी चीजें भरी हैं, तबतक यारसे कैसे मिल सकेगा? तेरे और उसके बीचमें यही तो पर्दा है।'

मतलब?

अपने प्रेमास्पदको छोड़कर और किसीका चिन्तन न करना, दिलमें उसके सिवा और किसीको न ठहरने देना, किसी ख्वाहिश, किसी इच्छा, किसी कामनाको न पनपने देना—बस, इतनी-सी ही तो प्रेमोपासना है इन प्रेममार्गी साधकोंकी। वे कहते हैं—

जिसे इश्क़का तीर कारी लगे, उसे ज़िंदगी जगमें भारी लगे।
न छोड़े मुहब्बत दमे मर्ग तक, जिसे यार जानीसूं यारी लगे॥
न होवे उसे जगमें हर्गिज़ क़रार, जिसे इश्क़की बेक़रारी लगे।
हर इक वक़्त मुझ आशिक़े ज़ार कूं, पियारे, तेरी बात प्यारी लगे॥
'वली' कूं कहे तू अगर एक वचन, रक़ीबोंके दिलमें कटारी लगे॥

× × ×

सूफ़ीमतकी, तसव्वुफ़की जान है—प्रेम। एक सूफ़ीने बड़े अच्छे शब्दोंमें उसका वर्णन किया है—

'अगर इश्क़ न होता, इन्तज़ाम-आलमें सूरत न पकड़ता।
~~~

इश्क़के बग़ैर ज़िंदगी बवाल है। इश्क़को दिल दे देना कमाल है। इश्क़ बनाता है। इश्क़ जलाता है। दुनियामें जो कुछ है, इश्क़का जलवा है। आग इश्क़की गरमी है। हवा इश्क़की बेचैनी है। पानी इश्क़की रफ़्तार है। खाक़ इश्क़का क़याम है। मौत इश्क़की बेहोशी है। ज़िंदगी इश्क़की होशियारी है। रात इश्क़की नींद है। दिन इश्क़का जागना है। नेकी इश्क़की कुरबत है। गुनाह इश्क़से दूरी है। बिहिश्त इश्क़का शौक़ है। दोज़ख इश्क़का जौक़ है।'

सूफ़ी-मतमें ऐसा माना जाता है कि सारी सृष्टिमें उस अल्लाहकी ही झाँकी दिखायी पड़ रही है जिधर नज़र डालते हैं, अल्लाह-ही-अल्लाह है। उसे पानेका एक ही रास्ता है और वह है—प्रेम, इश्क़, मुहब्बत!

× × ×

सूफ़ी-साधनाकी चार हालतें मानी गयी हैं—

शरीअत, तरीक़त, मारिफ़त, हक़ीक़त।

शरीअत

किसी भी उपासनापद्धतिमें आचार और विचार मुख्य होते हैं। सूफ़ीलोग विचारपर—हृदयकी शुद्धिपर सबसे ज्यादा जोर देते हैं, फिर भी वे इसलामके इन चार आचारोंको छोड़ते नहीं। ये आचार हैं—(१) सलात (प्रार्थना, नमाज़), (२) ज़कात (दान), (३) सौम (उपवास, रोज़ा) और (४) हज (तीर्थयात्रा)।

शरीयतमें ये चारों आचार निभाने पड़ते हैं।

कुरान शरीफ़का पाठ—तिलवत करना होता है। रोज पाँच दफा 'नमाज़' पढ़नी होती है। चुनी हुई कुछ आयतोंका पाठ करना पड़ता है। इसे कहते हैं—'अवराद'।

अल्लाहका 'जिक्र' उसका स्मरण करना पड़ता है। ज़िक्रके कई भेद हैं। जैसे, 'ज़िक्रेजली' में 'अल्लाह' शब्दका जोरसे उच्चारण किया जाता है। 'जिक्रे-ख़फी'में मन्द स्वरसे मुँह बंद करके नाम लिया जाता है। 'मुराक़बा'में साधक अल्लाहो हाजिरी, अल्ला हो नाजिरी, अल्लाहो सहीदी, अल्लाहो माई आदिका उच्चारण करके अल्लाहका ध्यान करता है। 'मुजाहिदा'में साधक चित्तकी वृत्तियोंको रोकता है। उसे आँख रहते हुए न देखनेका, कान रहते हुए न सुननेका, मुँह रहते हुए न बोलनेका, जीभ रहते हुए स्वाद न लेनेका अभ्यास करना पड़ता है।

अल्लाहकी फिक्र भी करनी होती है? उसके गुणोंका चिन्तन करना पड़ता है। अल्लाहका समा—उसके नामका कीर्तन भी करना होता है।

'हू अल्लाह हू'—सूफ़ियोंका परम प्यारा मन्त्र है।

तरीक़त

शरीअतके नियमोंका पालन करनेसे साधक गुरुदीक्षा पानेका अधिकारी बनता है। उसे गुरुकी आज्ञाका पालन करनेकी क़सम लेनी पड़ती है। मुर्शिद-गुरु मुरीद—साधकको रास्ता बताकर उसमें अल्लाहके इश्क़की चिनगारी सुलगा देता है।

बाहरी क्रियाओंसे ऊपर उठकर हृदयकी शुद्धताद्वारा अल्लाहका ध्यान करना तरीक़त है। तरीक़तमें साधकको अहंभाव छोड़नेका और इन्द्रियोंपर अधिकार करनेका अभ्यास करना पड़ता है। इसके लिये उसे भूख-प्यास सहनी पड़ती है। मौन रहना पड़ता है और एकान्तमें रहकर साधना करनी पड़ती है।

मारिफ़त

मारिफ़त कहते हैं परम ज्ञानको। पर वह कोरा-कोरा ज्ञान नहीं होता। उसमें अनुभूति भरी रहती है। इसीका नाम है—इश्क़, मुहब्बत, प्रेम। इसीको 'वस्ल' कहते हैं, इसीको 'वज़्द'। साधक उसमें डूबकर दुनियाको ही नहीं, अपने-आपको भी भूल जाता है।

सात मुक़ाम

परंतु मारिफ़तकी चढ़ाई आसान नहीं होती। उसके लिये इन सात मुक़ामोंसे गुजरना होता है—

तौबा (प्रायश्चित्त, अनुताप) ज़हद (अपनी इच्छासे दारिद्र्यको अपनाना), सब्र (संतोष), शुक्र (अल्लाहके प्रति कृतज्ञता), रिज़ाअ (दमन), तवक्कुल (अल्लाहकी दयापर, उसके रहमपर पूरा भरोसा) और रज़ा (अल्लाहकी मर्जीको अपनी मर्जी बना लेना)।

तौबा—कहनेको तो छोटा-सा एक शब्द है, पर है वह गुरु-गम्भीर। अबू बकर केतानी कहता है कि उसके भीतर ये छः भाव भरे पड़े हैं—

(१) पहले किये गये पापोंके लिये खेद।

(२) फिरसे पापकी तरफ झुकाव न हो, इसकी

सावधानी।

(३) अल्लाहके लिये किये जानेवाले कामोंकी कमियाँ दूर करना।

(४) दूसरोंके प्रति जो गलत व्यवहार हो गया हो, उसका बदला चुका देना।

(५) गलत भोगोंसे बढ़ा हुआ शरीरका खून-मांस सुखा देना, उसे कम कर देना।

(६) जिस मनने पापका मज़ा चखा है, उसे साधनाकी कड़ुवाहटका भी मज़ा चखाना!

तौबासे पीड़ित मानव ही भोगोंसे विरत हो सकता है। यह अनुताप यदि भयजनित हो तो भी काम करता है, पर जब वह प्रेमजनित होता है तो वह ज्यादा अच्छा ठहरता है।

ज़हद—स्वेच्छा—दारिद्र्यसे साधना शीघ्र फलवती होती है। ग़रीबी अपनाना, ग़रीबोंसे तादात्म्य स्थापित करना और अपनी जरूरतोंको कम-से-कमपर ले आना ज़हद है।

सब्र—संतोष! जो मिल जाय, जैसा मिल जाय, जब मिल जाय—चाहे जिस हालतमें रहना पड़े, प्रसन्नचित्तसे स्वीकार करना 'सब्र' है।

शुक्र—अल्लाहके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते रहना 'शुक्र' है।

पल-पलके उपकार रावरे जानि बूझि सुनि नीके।
भिद्यो न कुलिसहुँ ते कठोर चित कबहुँ प्रेम सिय-पीके॥

(विनय-पत्रिका १७१)

रिज़ाअ—इन्द्रियोंका दमन। बेलगामकी इन्द्रियाँ मनुष्यको हरदम गड्ढेमें ढकेलनेको तैयार रहती हैं। साधकको उनसे कदम-कदमपर सावधान रहनेकी तो जरूरत है ही, हर वक्त उनपर नियन्त्रण रखना भी बहुत जरूरी है।

तवक्कुल—मालिककी कृपापर पूरा भरोसा।

रज़ा—सुख-दुःख, हर्ष-शोकमें समानता रखना। मालिककी मर्ज़ीमें खुश रहना। भूलकर भी कोई शिकवा-शिकायत न करना।

कहते हैं कि एक फ़कीर कई दिनोंसे भूखा था, दिलमें इच्छा पैदा हुई कि इस समय कोई हलुवा लाता। थोड़ी ही देरमें एक आदमी हलुवासे भरा थाल लेकर ख़िदमतमें हाजिर हुआ।

फ़कीरने पूछा—'क्यों लाये?'

बोला—'आपकी मिन्नत मानी थी, इसलिये लाया हूँ।'

फ़कीरने सिर हिलाकर उसे वापस कर दिया। कहा—'वापस ले जाओ। हमारे कामका नहीं है।'

एक पहर बाद वही आदमी फिर हलुवा भरा थाल लेकर फ़कीरकी खिदमतमें हाजिर हुआ।

फ़कीरने उसे लेकर बड़े प्रेमसे खाया।

चलने लगा, तो वह शख्स पूछ ही तो बैठा—'हुज़ूर, हलुवा तो वही था। पहले आपने इसे लौटा दिया था। बादमें इसको कबूल कर लिया! आखिर ऐसा क्यों?'

फ़कीर हँसा! बोला—'बेटे! उस वक्त मेरे मनमें यह ख्वाहिश पैदा हुई थी कि कहींसे हलुवा आये तो खाऊँ। नफ़्सकी ख्वाहिशसे कोई चीज़ मिले तो उसे हर्गिज नहीं लेना चाहिये, वर्ना गुनहगार बनना पड़ता है। बादमें जब तू यह थाल दुबारा लाया तो मेरी पहलेकी ख्वाहिश मर चुकी थी। मैं समझ गया कि मालिकने इसे भेजा है। इसको लौटाना गुनाह होता; इसलिये मैंने मज़े ले-लेकर उसे खाया।

यह है तवक्कुल और यह है रज़ा।

× × ×

इन सात मुक़ामोंको पार करके मुरीद मारिफ़त पानेका अधिकारी बनता है।

इसके आगेकी मंजिल है।

हक़ीक़त

हक़ीक़त—साधन नहीं, साधककी परम अनुभूति है। यहाँ पहुँचकर साधक संसारके दुःख-सुखसे मुक्त हो जाता है। अल्लाहके सिवा उसे और कुछ नहीं सुहाता।

किसकी शादी किसका ग़म,
हू अल्लाहू दम पर दम!

× × ×

सूफ़ी साधनामें प्रेमकी ही बलिहारी है। रात-दिन प्रेमास्पदका चिन्तन करना, उसीकी लौ लगाये रहना साधकका काम रहता है। प्रेमी जब प्रेमरसमें डूब जाता है तो सारी दुनिया अलग खड़ी रहती है। सारे भेदभाव डूब जाते हैं। न किसीकी चिन्ता, न किसीकी फ़िक्र, न किसीका डर, न किसीसे कोई वास्ता। उसे तो घट-घटमें

उसी प्यारेकी, उसी प्रियतमकी झाँकी दीख पड़ती है।

आशिक़ोंको इम्तियाज़े दैरो क़ाबा कुछ नहीं।
उसका नक़्शे पा जहाँ देखा वहीं सर रख दिया!॥

× × ×

सूफ़ी उपासनामें प्रेम ही मूल मन्त्र है। उस प्रेमकी प्राप्तिके लिये हृदयको शुद्ध बनाना पड़ता है। तौबासे शुरुआत होती है—

'अँसुवन जळ सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई।'
(मीराबाई)

यह प्रायश्चित्त, यह तौबा दिलसे होती है, दिखावटी नहीं। यह शेख साहबका वह तौबा नहीं, जिसके लिये कहा है—

शबको मय खूब सी पी, सुबह को तौबा कर ली,
रिन्दके रिन्द रहे हाथसे ज़न्नत न गयी!

दिखावटी तौबा इस रास्तेमें काम नहीं करती। यहाँ तो सच्ची तौबासे प्यारेके मिलनेका दरवाज़ा खुलता है।

हृदयशुद्धिके बाद ही तो—

दिलके आईनेमें है तस्वीरे यार
जब ज़रा गर्दन झुकायी देख ली!

प्रेमका यह मार्ग भारतीय उपासनामें भी वैसा ही है जैसा सूफ़ी-प्रेमोपासनामें। इसके लिये सर्वस्व त्याग करके आगे बढ़ना होता है—

प्रेम न बाड़ी नीपजै प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै सीस देय लै जाय॥

सूफ़ी भी कहता है—

तरीक़े फ़नामें क़दम रखके पूछो,
मुहब्बतकी रस्में मुहब्बतकी राहें!

[प्रेषक—श्रीप्रबलकुमारजी सैनी]

* * *

महाराष्ट्रके वारकरी संतोंका अहैतुक भगवत्प्रेम

(डॉ० श्रीकेशवरघुनाथजी कान्हेरे, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

महाराष्ट्रमें प्रमुखरूपसे तीन देवता प्रसिद्ध हैं—'महाकाली', 'महालक्ष्मी' और देवाधिदेव महादेवके अवतार 'खण्डोबा' अर्थात् 'मल्हारी मार्तण्ड'। इन तीन देवताओंमेंसे कोई-न-कोई देवता मराठी-जनमानसके कुलदेवता हैं, परंतु महाराष्ट्रके संतोंका विशेषत: वारकरी संतोंके परम दैवत पण्ढरपुरके भगवान् 'विट्ठल' हैं। भगवान् विट्ठल तो झोंपड़ियोंसे लेकर राजप्रासादके गर्भगृहोंमें, रंकोंके हृदयसे लेकर रावोंके हृदयस्थलमें समाये हुए हैं, ये भगवान् विष्णु अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णके ही एक अलौकिक विग्रह हैं।

वारकरी-सम्प्रदायके आद्य आचार्य संतश्रेष्ठ ज्ञानेश्वर महाराजसे लेकर संतश्रेष्ठ तुकाराम और उनके शिष्य संत निळोबारायतक प्राय: सभीके परम दैवत विट्ठल हैं। इन संतोंने संसारमें रहकर केवल भगवान् विट्ठलसे ही नि:स्वार्थभावसे उत्कट प्रेम किया और उनकी प्रेमप्राप्तिके लिये अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पण कर दिया। गोरा कुम्हार, जनाबाई, सेना नाई, कान्होपात्रा, तुकाराम आदि संतोंके चरित्र आज भी विट्ठलप्रेमका साक्ष्य दे रहे हैं। इन संतोंकी भगवत्प्रेमसाधना विलक्षण थी, जो आज भी तथा अनन्त कालतक सांसारिक जनमानसके अन्त:करणमें प्रभुके प्रेम, प्रीति, प्रगाढ़ता, एकाग्रता और अनन्यताका उदय करनेमें सक्षम है। ये प्रभुप्रेमका साक्षात् अनुभव कर चुके थे।

वारकरी-सम्प्रदायके संतोंद्वारा निर्मित साहित्य, भजन, पद, गीत और अभंग आदि रचनाओंमें भगवान् विट्ठलका ही प्रेम, उनकी महत्ता और प्रत्यक्षताका प्रकटीकरण अभिव्यक्त हुआ है। साथ ही इन संतोंने सम्पूर्ण समाज तथा राष्ट्रको प्रखर राष्ट्रवाद, ध्येयवाद एवं स्वकर्तव्योंकी शिक्षा स्पष्ट शब्दोंमें दी है और स्वयं त्यागमय जीवन व्यतीत करते हुए प्रपञ्च और परमार्थकी शिक्षाको अत्यन्त सरल शब्दोंमें प्रस्तुत कर समाजका उद्‌बोधन भी किया है। इन संतोंने भक्तिमार्गकी शिक्षाके साथ-साथ राष्ट्ररक्षाहेतु सर्वप्रथम सामर्थ्यसम्पन्न 'मन' का निर्माण किया। उसीका परिणाम है कि सामान्य जनमानस सुसंस्कारित तथा आत्मविकसित हुआ और घर-घरमें सौभाग्यके मङ्गलदीप प्रज्वलित रहे। अस्तु!

(१) संत श्रीज्ञानेश्वरजी—वारकरी संतोंका विट्ठलप्रेम लक्षणीय एवं अनुकरणीय है। संतश्रेष्ठ ज्ञानेश्वर महाराजकी रचनाओंमें प्रेमकी अभिव्यक्ति परिलक्षित होती है। वे तो विट्ठलको 'सब सुखोंका आगार' कहते हैं—'*रूप पाहता लोचनी सुख जाले हो साजणी। तो हा विट्ठल बरवा तो हा माधव बरवा*'।

एक अभङ्गमें वे कहते हैं—

'*जीवाचि या जीवा प्रेमभावाचि या भावा।*' '*तुज वाचुनि केशवा अनु नावडे।*' '*मन हे धाळे मन हे धाळे। पूर्ण विट्ठलचि झाले।*' '*अंतर बाह्य रंगुनि गेले। विट्ठलचि झाले। विट्ठल जळी स्थळी भरला। ठाव कोठे नाही उरला। सर्व सुखाचे आगरू। बाप रखुमाई देई वरू।*'

संत ज्ञानेश्वर महाराजका सम्पूर्ण साहित्य भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण है। आपने अपनी आयुके सोलहवें वर्षमें ही भगवद्गीतापर 'ज्ञानेश्वरी'-जैसा महान् एवं अद्वितीय ग्रन्थका मराठीमें निर्माण कर मराठीके आद्य कवि होनेका सम्मान पाया है और आयुके इक्कीसवें वर्षमें जीवितसमाधि लेकर अपना अवतारकार्य पूर्ण किया।

इन्हींके ज्येष्ठ भ्राता एवं अध्यात्मगुरु संत निवृत्तिदास कहते हैं—

हरि विष्ण दैवत नाहीं पै अनुचित्ती। हृदयी कमळी केशीराज।

ज्ञानेश्वर महाराजके लघुभ्राता 'सोपानदेव' लिखते हैं—

हरि राम गोविंद नित्य हाचि छंद।' '*हृदयी आनंद प्रेम बोधु। नित्य विट्ठलाचे चरण हृदयी।*'

इनकी छोटी बहन मुक्ताबाई कहती हैं—

हेतु मातु आम्हा अवघाचि परमात्मा।

इन भाई-बहनके विट्ठलप्रेमसे पुलकित होकर वारकरी-सम्प्रदायकी भक्तमण्डली आज भी जयघोष करती है—

'*निवृत्ति ज्ञानदेव सोपान मुक्ताबाई—नामदेव एकनाथ तुकाराम विट्ठल विट्ठल-विट्ठल*'।

संत ज्ञानेश्वर महाराजके समयमें महाराष्ट्रमें विशेषतः पण्ढरपुरमें अनेक संत हुए। वे भगवान् विट्ठलके अनन्य भक्त थे। उन्हींके प्रेमके लिये वे जीवित रहे। उनका दर्शन भी अलौकिक है।

(२) संत श्रीनामदेवजी—संत श्रीनामदेवजीने तो बाल्यकालमें साक्षात् विट्ठलभगवान्‌को दूध पिलाया था। भगवान् स्वयं नामदेवसे वार्तालाप करते थे। इतना ही नहीं, नामदेवका प्रेम देखकर भगवान् स्वयं उनके कीर्तनमें नृत्य करते-करते इतने तल्लीन हो जाते कि अपनेको ही भूल जाते थे। उसका आँखोंदेखा वर्णन संत जनाबाईजी इस प्रकार करती हैं—

नामदेव कीर्तन करी पुढेबा नाचे पाण्डुरंग।
नाचता नाचता प्रभुचा गळला पीताम्बर॥

संत श्रीनामदेवजीने भगवत्प्रेमकी ध्वजा पंजाबतक पहुँचायी। 'गुरुग्रन्थसाहब' में इसका प्रमाण है। विट्ठल ही उनके तीर्थ, क्षेत्र, ईश्वर, माता-पिता, बन्धु, गोत्र और गुरु आदि सर्वस्व थे। संत श्रीनामदेवजी महाराजने अपना देह भी भगवान् विट्ठलके मन्दिरकी पहली सीढ़ीपर ही समर्पण कर दिया। आज भी पण्ढरपुरमें विट्ठल-मन्दिरकी सीढ़ियोंपर बना उनका पुण्य-स्मारक उनकी उत्कट भक्ति-प्रेमका साक्ष्य दे रहा है।

(३) संत जनाबाईजी—संत नामदेवकी दासी संत 'जनाबाई' परम विट्ठलभक्त थीं। उनके प्रेममें तो प्रभु पागल थे। वे उसके साथ कपड़े धोते, गेहूँ पीसते और झाड़ू लगाते। इसका साक्ष्य स्वयं जनाबाईने अपनी अभङ्ग-रचनाओंमें दिया है। उन्होंने भगवान्‌को गोमाता और स्वयंको बछड़ा माना है। वे लिखती हैं—

'*तो हा विटेवरी देव सर्व सुखाचा केशव। विट्ठल देवाचा विश्राम। सख्या पंढरीच्या राया। घडो दण्डवत पाया। ऐसे करी अखण्डित शुद्ध प्रेम शुद्ध चित्त॥*'

(४) संत एकनारा—'एकनारा' नामक विट्ठलभक्त कहते हैं—

देवा माझे मीपण ठेवी आपुले चरणी।' तो 'गोदा' नामक एक भक्तने सुन्दर उदाहरण देते हुए कहा—जैसा एक रणशूर अपने जीवनकी परवा न करते हुए युद्धके मैदानमें कूद पड़ता है, उसी प्रकार ईश्वरके प्रेमक्षेत्रमें विश्वाससे कूदना चाहिये। वे लिखते हैं—

'*रणा मध्ये कैसा भिडतो रणशूर, होवोनि उदार जीवावरी॥ तैसा पाण्डुरंगी धरा हो विश्वास॥*'

संतोंका ईश्वरप्रेम अक्षर-अक्षरमें प्रकट होता है।

(५) कान्होपात्रा—जन्मसे वेश्या-कन्या होकर भी जिसने अपने जीवनमें सर्वश्रेष्ठ उत्तम पुरुषके रूपमें भगवान् विट्ठलको ही स्वीकार कर अन्तमें अपना देह पण्ढरपुरके विट्ठल-मन्दिरमें समर्पण कर दिया, आज उसका स्मारक मन्दिर-परिसरमें ईश्वरप्रेमकी पताकाके रूपमें लहरा रहा है। वह 'कान्होपात्रा' भगवान्से कहती है—

'सकल सुखर येथेचि लाधले। देवाचे देखिले चरणांबुज। कीर्तनाचे रंगी आनंदे नाचिता कान्होपात्रा चिन्ता समाधान॥'

भाव है—'भगवन्! तुम्हारे चरणोंका दर्शन मानो सभी देवोंका दर्शन है और तुम्हारे कीर्तन-भजनमें नृत्य करते हुए मेरे चित्तको समाधान मिला है, शान्ति प्राप्त हुई है।'

(६) गोरा कुम्हार—संत ज्ञानेश्वरजी, नामदेवजी आदि संतमण्डली जिनको 'गोरोबा काका' के नामसे सम्बोधित करती थी, वे 'गोरा कुम्हार' एक अद्वितीय विट्ठलभक्त हुए हैं। वे ईश्वरके भजनमें—उनके प्रेमभावमें इतने तल्लीन हो जाते थे कि संसारको ही भूल जाते। एक दिन वे मिट्टीके बर्तन बनानेहेतु पैरोंसे मिट्टी रौंध रहे थे। वहीं पासमें उनका नन्हा-सा पुत्र खेल रहा था। खेलते-खेलते वह बालक मिट्टीमें आ गया, पर 'गोरा' भजनमें इतने मस्त हो गये कि उन्हें बच्चेकी सुधि ही नहीं रही और देखते-ही-देखते वह बालक उन्हींके पैरोंतले रुँध गया फलस्वरूप उसकी जीवनलीला समाप्त हो गयी। जब पत्नीने पतिसे पुत्रके बारेमें पूछा तबतक सारा खेल समाप्त हो चुका था। अन्तमें भगवान्ने प्रसन्न होकर उनका बालक उन्हें लौटाया। ऐसे विरले भगवत्प्रेमी गोरा कुम्हार भगवान्से कहते हैं—

'देवा तुझा मी कुंभार।'

निर्गुण, निराकार ईश्वरसे भेंट करनेहेतु सगुण शरीरसे आपके पास आया हूँ। बस, आपकी कृपा और प्रेम चाहिये। केवल यही एक इच्छा है—

'निर्गुणाचे भेटी आले सगुणा संगे।'

गोराजीके शब्दोंमें एक आत्मिक आनन्दकी प्रतीति होती है।

(७) भक्त नरहरि सुनार—भक्त 'नरहरि सुनार' ईश्वरसे कहते हैं—'हे भगवन्! मैं तो आपका ही सुनार हूँ। अब जीवनभर आपके नामका ही व्यवहार करूँगा'—

**'देवा तुझा मी सोनार। नरहरि सोनार हरिचा दास।
भजन करी रात्रं दिवस॥'**

(८) साँवता माली—साँवता मालीको मूली, लहसुन, मिरची तथा धनिया आदि सब्जियोंमें विट्ठल भगवान् ही दिखायी देते हैं। उनके अभङ्गोंमेंसे प्रसिद्ध अभङ्गमें कहा गया है—

'कांदा मुळा भाजी अवधी विठाबाई माझी।' लसूण मिरची कोथिंबिरी। अवधा झाला माझा हरि। सावता म्हणे केळ मळा। विट्ठल पायी गोविळा गळा॥'

(९) सेना नाई—भक्त सेना नाईको तो पण्ढरपुरमें आनन्द-ही-आनन्द प्राप्त होता है। वे कहते हैं—

'जाता पंढरीसी सुख वारे जीवा। आनंदे केशवा भेटताचि॥'

(१०) बोधळा माणको—'बोधळा माणको' जी ईश्वरसे उसके प्रेमकी याचना करते हुए कहते हैं—

'बोधळा म्हणे तुजवीण अनुनेणे काही। प्रीती तुझे पायी बैसो माझी॥'

(११) चोखा मेळा—भक्त चोखा मेळा महार तो अनन्य होकर भगवान्से कहता है, 'मैं हाथमें टोकरी लाया हूँ, उसमें केवल आपका जूठा ही एकत्र कर भक्षण करूँगा'—

'जोहार माय बाप जोहार, तुमच्या महाराचा मी महार। बहु भुकेळा जाहळो। तुमच्या उष्ट्या साठी आळो। पाण्डुरंगी ळागो मन। चोखा म्हणे पाटी। आणिळी तुमच्या उष्ट्या साठी॥'

(१२) अन्य संत—सोयराबाई, बंका महार, गोदा, निर्मळा-जैसे संत सदैव विट्ठलप्रेममें ही मस्त रहते। इनकी मान्यता थी—

**कीर्तनी गजरी नाचतो श्रीहरि। आनंद सोहळा हरिकथा माऊळी॥
भज नामाचि आवडी। संसार केळ देशधडी॥**

(१३) संत एकनाथ एवं संत तुकाराम—संत ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि संतोंके पश्चात् साढ़े तीन सौ वर्षोंके बाद शक-

संवत् १५०० में पैठणमें संत एकनाथ महाराजका उदय हुआ। इन्होंने एकनाथी भागवत, भावार्थरामायण, भरूड, अभङ्ग, पद, आरती आदि रचनाओंमें भगवान् श्रीकृष्ण, दाशरथि श्रीराम और विट्ठलभगवान्का ही गुणगान किया है। इनके प्रेममें साक्षात् श्रीकृष्णभगवान् इतने पागल हो गये थे कि वे द्वारकाको छोड़कर पैठणमें संत एकनाथ महाराजके यहाँ एक गरीब ब्राह्मणके वेषमें बारह वर्षोंतक रहकर उनकी सेवा करते रहे। पूजन-सामग्री लगाकर रखना, चन्दन घिसकर देना, नदीसे जल भरकर लाना आदि कार्य करते। स्वयं एकनाथ इस बातसे अनभिज्ञ थे। जब एक ब्राह्मणभक्त द्वारकासे पैठणमें साक्षात् ईश्वर श्रीकृष्णको ढूँढ़ने आया तब एकनाथने ईश्वरप्रेमका रहस्य जाना और साक्षात् दर्शन किया। इनके आध्यात्मिक सद्गुरु श्रीजनार्दन स्वामीने इन्हें दत्तात्रेय भगवान्के दर्शन करवाये थे। इन्होंने दत्तात्रेय भगवान्की आरतीद्वारा इसका प्रमाण दिया है। ये कहते हैं—

'दत्त येऊनिया उभा ठाकला। साष्टांग नमुनि प्रणिपात केला। जन्म मरणाचा फेरा चुकविला॥'

पण्ढरपुरके विट्ठलको ये श्रीकृष्णका ही रूप मानते थे। एक अभङ्गमें वे लिखते हैं—

गोकुळी जे शोभळे। ते विटेवरी देखिळे॥
पूतने हृदयी शोभळे। ते विटेवरी देखिळे॥
एका जनार्दनी भळे। ते विटेवरी देखिळे॥
ज्ञानदेवे रचिळा पाया। उभारिळे देवाळया॥
नामातयाचा किंकर। जेणे केळा हा विस्तार॥
तुका वरीळ कळस। भजनकरा सावकाश॥

भाव है—संत ज्ञानेश्वर महाराज वारकरी-सम्प्रदायके संत-मन्दिरके निर्माता थे तथा संत नामदेवने उसका विस्तार किया। संत एकनाथ इस मन्दिरके स्तम्भ बने और ईसवी सन् १६०८ में देहू नामक गाँवमें जन्मे संतशिरोमणि तुकारामजी इस भक्तिमन्दिरके शिखरके रूपमें लोकमें प्रसिद्ध हुए।

वे विट्ठलभगवान्के परम भक्त थे। उनके सर्वस्व विट्ठल थे। उनके चार हजारके लगभग अभङ्ग प्रकाशित हो चुके हैं। वे कहते हैं—

डोळे तुम्ही घ्या रे सुख। पहा विठ्ठळाचे मुख॥
तुम्ही ऐका रे कान। माझ्या विठ्ठळाचे गूण॥
तुका म्हणे जीवा। नको सोडू या केशवा॥
तुका म्हणे काही न मागो आणीक।
तुझे पायी सुख सर्व आहे॥
प्रेमे पाझरती ळोचन। देई मज प्रेम सर्वकाळ॥

संत 'तुकाराम'का ईश्वरप्रेम इतना अलौकिक एवं अद्वितीय था कि साक्षात् वैकुण्ठाधिपतिने इन्हें सदेह वैकुण्ठमें स्थान देनेके लिये अपना गरुडविमान भेजा था और *'आम्ही जातो अमुच्या गावा। अमुचा राम राम घ्यावा॥'* ऐसा कहकर वे सदेह वैकुण्ठ चले गये।

सारांशमें वारकरी संतों—प्रेमी भक्तोंने अपना सर्वस्व पण्ढरपुरके विट्ठलभगवान्को ही स्वीकार किया था। उन्होंने मन-वाणी और कर्मसे अपना जीवन भगवत्प्रेममें ही समर्पित किया। उनका भाव दूसरा नहीं था—*'भाव तो निराळा नाहीं दूजा।'*

इन संतों—भक्तोंका विट्ठलप्रेम विलक्षण एवं अद्वितीय था। इन्होंने जीवनके अन्तिम क्षणोंतक आनन्दकन्द ब्रह्माण्डनायक भगवान् श्रीकृष्ण—विट्ठलके प्रेममय स्वरूपको, उनके दिव्य गुणोंको, उनकी लीलाओंको और अलौकिक प्रेमको अपनी रचनाओंमें स्वानुभवोंके आधारपर ही अभिव्यक्त किया है। आज भी महाराष्ट्रमें तथा मराठी घरोंमें संत श्रीज्ञानेश्वरजीसे लेकर संत श्रीतुकारामजी महाराजके भजन गूँजते हैं। इन भजनोंमें अखण्ड आत्मिक आनन्द तथा शाश्वत शान्तिकी अनुभूति होती है। आज तो जनमानस इन संतोंकी समाधिका, चरणपादुकाओंका दर्शन करके ही अपने-आपको धन्य समझता है। आज भी आषाढ़ शुक्लपक्षकी (विष्णुशयनी) एकादशी और कार्तिक शुक्लपक्षकी (प्रबोधिनी) एकादशीको लाखों भक्त पण्ढरपुरमें विट्ठलभगवान्का दर्शन करनेके लिये एकत्रित होकर *'जय हरि विट्ठल, जय जय विट्ठल।'*-का जब जयघोष करते हैं तो सम्पूर्ण अन्तरिक्ष विट्ठलमय हो जाता है।

* * *

स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजीकी 'इश्क़-कान्ति' में इश्क़

(प्रो० श्रीइन्द्रदेवप्रसादजी सिंह)

अनन्तश्रीविभूषित रसिकाधिराज स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराज रसिक-सम्प्रदायके प्रवर्तकाचार्योंमें अन्यतम थे। इनकी सारस्वतसाधनासे माधुर्यभक्तिको चरम अभिव्यक्ति प्राप्त हुई। रसिकसाधनाका सर्वाङ्ग इनकी सरस रचनाओंमें *'गागरमें सागर'* की भाँति आकर सिमट गया और उसका कोई कोना अछूता नहीं रहा। रसिकाधिराज श्रीयुगलानन्यशरणजीके प्रभावशाली व्यक्तित्व, तपोमय जीवन, प्रकाण्ड पाण्डित्य, अद्भुत अभिव्यञ्जना-शैली और अपार भावसम्पदाने अनेक रसिकसाधकोंमें रसिकभक्तिके प्रति अपार आकर्षण पैदा किया।

श्रीस्वामीजी संस्कृत और हिन्दीके तो अधिकारी विद्वान् थे ही, अरबी और फ़ारसीमें भी उनकी गहरी पैठ थी। उपर्युक्त भाषाओंमें उनकी उत्तम रचनाएँ उपलब्ध हैं। यत्र-तत्र उनकी रचनाओंमें सूफ़ियोंकी भावपद्धतिकी झलक भी मिल जाती है।

उनके द्वारा विरचित ग्रन्थोंमें 'मधुरमंजुमाला' एक ललित एवं विशाल रचना है। द्वादशादित्यकी भाँति इस ग्रन्थमें नाम-कान्ति, धाम-कान्ति, रूप-कान्ति, इश्क़-कान्ति आदि बारह कान्तियाँ हैं। यद्यपि सभी कान्तियाँ अपने स्वरूपमें अलौकिक हैं, किंतु उनमें 'इश्क़-कान्ति' सबसे विलक्षण है। मंजु छन्दमें रचित यह ग्रन्थरत्न समस्त भक्ति-वाङ्मयमें अश्रुतपूर्व ग्रन्थ है। इसमें अनेक विषयोंका प्रतिपादन है, किंतु मुख्यरूपसे प्रेमतत्त्वका ही विशद वर्णन किया गया है। तत्सुखित्वकी भावनासे विभूषित निर्मल, निष्कलंक प्रेमको ही ग्रन्थकारने इश्क़के नामसे अभिहित किया है। इस प्रेमतत्त्वको प्राप्त करनेवाले महाभागको आशिक़की संज्ञा प्रदान की गयी है।

श्रीस्वामीजीद्वारा रचित श्रीप्रेमप्रकाश, श्रीप्रेम-उमंग, श्रीप्रेमपरत्व, श्रीप्रीतिपचासिका आदि ग्रन्थोंमें भी प्रेमतत्त्वका ही वर्णन है, परंतु इश्क़-कान्तिकी वैसी कान्ति उनमें समा नहीं सकी है।

श्रीस्वामीजीकी रचनाओंमें—नाम, रूप, लीला, धाम, विनय, सत्संग, वैराग्य, ज्ञान, भक्ति एवं अष्टयामीय भावनाओंके अमूल्य आदर्श उपलब्ध हैं, परंतु अपने आराध्यको आकर्षित करनेके लिये प्रेमाभक्ति जितनी सरल एवं सहज है, उतने अन्य साधन नहीं। श्रीस्वामीजीने अपने ग्रन्थोंमें सर्वत्र प्रेमयोगकी चर्चा की है। प्रेमाभक्तिको ही उन्होंने सर्वश्रेष्ठ ठहराया है। इस अनन्य भक्तिकी प्राप्ति **'रसो वै सः'** के प्रति सर्वात्मसमर्पणके अनन्तर ही सम्भव है। सर्वरसोपेत ब्रह्म एकमात्र प्रेमरसका भूखा है। जिस क्रियाके सौजन्यसे भक्त और भगवान् दोनोंकी भूख मिटती है अर्थात् रसतृप्ति होती है, श्रीस्वामीजीने उसीको 'इश्क़' कहा है। इश्क़में एक संजीवनी शक्ति होती है। स्वामीजीने इश्क़के स्वरूपाङ्कनसे लेकर उसकी साङ्गोपाङ्ग प्रभावमयता, अनुपमता, दिव्यता, सरसता आदिका वर्णन किया है।

रसिकानन्य श्रीस्वामीजीने स्वरचित 'बीसायन्त्र' नामक पुस्तिकामें इश्क़ शब्दकी सुन्दरतम परिभाषा दी है—

अति आसक्ति सनेह रस, मन महबूब मोक़ाम।
होश हिसाब न हिरस दिल, इश्क़ असल अभिराम॥

अर्थात् आराध्यमें स्नेहसिक्त अत्यन्तासक्ति हो जाय तथा आशिक़के अविचल मनमें तन-मनकी सुधि-बुधि न रहे, साथ ही प्रेमके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुकी आकाङ्क्षा न रहे, उसे ही 'अभिराम इश्क़' कहते हैं।

स्वामीजीका कहना है कि आशिक़ी तो तभी सच्ची है, जब हरदम दिलमें जगी रहे। यह 'आशिक़ी' ही आत्मसमर्पण है। इसी अमूल्य आशिक़ीको साधकोंने 'महारस', 'आनन्द' अथवा 'प्रेमरस' की प्राप्ति माना है।

इश्क़ भी ऐसा होना चाहिये—

तसबी फिरे नहीं कर डोले बदन न बोले बानी।
शबों रोज महबूब याद की माला मेहर निसानी।
चाखे रस भाखे सपने नहिं नाम अमल मनमानी।
युगलानन्य फ़क़ीरी मुसकिल कोई बिरले पहिचानी॥

श्रीस्वामीजी प्रियतमकी कृपा और स्मरणकी 'निशानी' ही इश्क़ करनेवालेमें ढूँढ़ते हैं। नामका अमल रस अहर्निश पान करता रहे, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ दोनों निश्चेष्ट हों, तो यही असल फकीरीकी स्थिति है, यह बहुत मुश्किलसे

पहचानमें आती है। यहाँपर श्रीस्वामीजीने अजपा-जप एवं भावसमाधि-दशाका दर्शन प्रस्तुत किया है। ऐसी सहजवृत्तिमें न तो जपमाला फिरती है, न हाथ ही डोलता है, न वैखरी वाणीद्वारा मुखसे नामोच्चारण ही होता है; किंतु भीतर-ही-भीतर मनहरण प्राणप्यारेकी मधुर स्मृतिकी मन्दाकिनी अजस्त्ररूपसे प्रवाहित होती रहती है। इसे ध्रुवा-स्मृति कहते हैं। ऐसी सहजावृत्ति प्रभुकृपाकी परिचायिका है। सचमुच—

इश्क़ कथा को कहे जवाँसे अकथ सुमन मति बानी है।

—इश्क़-वृत्तान्त अकथनीय है। यह आस्वादनीय है। मौन होकर इश्क़का मजा चखिये और मगन हो जाइये।

जिस आनन्दसिन्धु विश्वमोहनको प्राप्त करना बड़े-बड़े योगियों, तपस्वियों, वेदब्रह्मादिकोंके लिये भी अगम है, उसकी प्राप्तिकी अति सरल युक्ति है—इश्क़—प्रेम, केवल प्रेम।

अनुरागी साधकोंपर इश्क़की सदा-सर्वदा ममत्वपूर्ण कृपा बरसती रहती है। धन्य है इश्क़ तेरी महिमा! प्रेमयोगी भावसमाधिमें अपने आराध्यकी प्रेममयी रसीली लीलाओंका अवलोकन कर दिव्यानन्दमें छके रहते हैं।

इश्क़हक़ीक़ी अर्थात् दिव्य स्नेहासक्ति ऐसी अचूक और अमोघ साधना है—जिसके द्वारा आवागमनका चक्कर सदाके लिये छूट जाता है। वस्तुतः आशिक़में निर्भयताका निश्चलभाव होना चाहिये। परंतु यदि ऐसी स्थिति नहीं है तो उसकी सर्वत्र निन्दा होगी; किंतु दूसरी ओर आचार्यजी यह भी कहते हैं कि इश्क़-नदीमें डूबनेका भाग्य विरलेको ही प्राप्त होता है—

आशिक़ नाम धराय खाय फिर ख़ौफ़ फ़ज़ीहत तिसकी है।

× × ×

युगलानन्यसरन डूबे दरियाव-इश्क़ गति किसकी है॥

प्रेमरत्नकी प्राप्तिके लिये गहरे पानी पैठनेकी अपेक्षा है। अनन्यश्रीका परामर्श है—

कूद पड़ो दरियाव इश्क़में क्यों डरते हो प्यारे।
जो कुछ होना होय सो होवे, सिर सौंपे सुख सारे॥
सचमुच यहाँ सिर देकर होते हैं सौदे।
बिना इसके यारकी चितवन असम्भव॥
दरिया-इश्क़-बीच गोता हरसायत आशक देते हैं।
युगलानन्यसरन ऐसे हुशियार कहो जग केते हैं॥

प्रेम-प्रवीण आशिक़ इस स्वार्थसंलिप्त जगत्‌में अत्यल्प हैं, शायद नहींके बराबर। *'रीझत राम सनेह निसोतें'* की दशाको श्रीस्वामीजीने भी अद्वितीय माना है—

बेपरबाह चाह दुनिये से चाह चैन चख चारी।
युगलानन्य उदाग इश्क़ पर ख़ुश श्रीअवधबिहारी॥

इश्क़ दीवानोंको प्रेमालापमें त्रयतापका भय कैसा? इश्क़ाधिकारीके लिये कठिन शर्तकी पूर्तिकी अपेक्षा है—

जो मारे तरवार यार हुशियार शीश तब देते हैं।
जो बोले कटु बैन चैन हर तब समरुधा सहेते हैं॥
करत निरादर आदर अति मनमानि सजे हिय हेते हैं।
युगलानन्यसरन सब ही विधि द्वार गहे गुन लेते हैं॥

अपने प्रियके प्रेमोद्यानमें बुलबुल बनकर प्रेमोन्मत्त नृत्य करते रहना और दिन-रात प्रेम-रसोपलब्धिके लिये प्रेमास्पदकी धुनमें रत रहना ही सच्चे प्रेमीकी पहचान है, नहीं तो भजन-भावना सर्वथा कच्ची—नकली है। युगलानन्यशरण महाराजजीने अपने प्रेमास्पदकी बड़ी अच्छी और सरस पहचान बतलायी है—

रहस रंगीन रजा के हैं।
अनपधि अकरम अजूब खूब श्रीअवध शहर के बाँके हैं॥

उनकी दृष्टिमें प्रेमियोंकी दुनिया कुछ निराली है—

दिलदारों की दूर दरक दी दुनिये से कछु न्यारी है।

सचमुच जगत् और भगत एक साथ असम्भव, आशिक़के तो—

फाँका करे क़बूल भूल सहि हिय अनुकूल हमेशे।

प्रेमियोंकी नैसर्गिक दिनचर्या होती है। तैलधारावत् सुरतियोगमें निमग्न रहना यही सच्चे प्रेमीका सच्चा धर्म है।

श्रीस्वामीजीने आशिक़की अद्वितीयता भी अद्भुत बतलायी है—

आशिक़ की समता करने लायक तिहुँ लोक न कोई है।
योगी यती तपी ज्ञानी तिसके आगे सब छोई है॥

श्रीस्वामीजीके मतानुसार संसारमें उससे बड़ा कोई नहीं है, जिसकी मति प्रेमरसमें सराबोर है। जिसने इश्क़का आनन्द नहीं लिया, उसकी मतिको अन्तमें रुदन हाथ लगता है—

उनसे बड़ा और नाहीं जिनकी मति रंग रसभोई है।
युगलानन्य इश्क़ कीने बिनु बार-बार मति रोई है॥

आचार्यजीकी दृष्टिमें प्रेमियोंका कोई मत-मज़हब नहीं होता—

क्या मज़हब से मतलब उनको जिनको लगन ललामी है।
सबसे हुए उदास हमेशे केवल इश्क़ कलामी है॥

प्रेमीलोग जगत्से उदास परंतु जगदीशके ज़िक्र और फ़िक्रमें निरन्तर तल्लीन रहते हैं। इश्क़ तो स्वयंमें ही एक महान् मज़हब है। आशिक़ उसीमें दीक्षित होकर सतत दीवाने बने रहते हैं—

'मेरी मिल्लत है मुहब्बत, मेरा मज़हब इश्क़ है' यह उत्कट उद्गार है प्रेमियोंका।

आशिक़को यह सतत ध्यान रखना है कि वह प्रेमास्पदकी रसमयी स्मृतिमें तल्लीन और जागतिकतासे बेखबर रहे। प्रियतमके संग-लाभमें ही जागना-सोना उचित है—

आशिक़ को हर वक्त मुनासिब ख़बर बेख़बर होना।
सनम शौक़ सोहबत जाहिर में ख़ूब जागना सोना॥

परम प्रिय विभुके आश्रित होकर भी यदि कोई प्रेमी लोक-लोचनका प्यारा बनना चाहता है तो वह सच्चा संत नहीं है। रागी और विरागी एक साथ कैसे रह सकते हैं ? फ़क़ीर कहाना और जगत्को रिझाना कच्चे प्रेमीका लक्षण है—

फकर कहाना जगत रिझाना कहु किसने फरमाया है।
शाहनशाह गुलाम हुआ फिरि किसको शीश नवाया है॥
पारस मनि जब हाथ लगी तब कौड़ी कौन कमाया है।
युगलानन्यसरन हरदम बिन चाह फ़क़ीरी गाया है॥

चाह और फ़क़ीरी सर्वथा ढकोसला, हास्यास्पद है। प्रेमरूपी पारसमणिको पाकर कौड़ीकी आशा शोचनीय है।

वास्तवमें दिव्यातिदिव्य प्रेमको विश्वके सभी सहृदयोंने अमूल्य माना है। यह साक्षात् **'रसो वै सः'** का ही अक्षर प्रतीक है। इस दिव्य प्रेमदौलतको पा लेनेके बाद मानव-जीवनमें कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। इस प्रेमके वशीभूत होकर विराट् ब्रह्मका पूरा संविधान बदल जाता है—

प्रबल प्रेमके पाले पड़कर प्रभुको नियम बदलते देखा।

अचल आशिक़के समक्ष प्रेममय परमात्माका सारा मान-सम्मान काफ़ूर हो जाता है। प्रेमकी रीझि-बूझि ही निराली है। भारतीय भक्ति-साहित्यमें परमात्माकी प्रेमपरवशताका उदाहरण पदे-पदे प्रदक्षिणा करते हुए साक्षी भर रहा है। परंतु सबसे बड़ी समस्या प्रबल प्रेमी होनेकी है। निष्काम प्रेमी, अटल प्रेमी तथा अनन्य प्रेमी होना अत्यन्त दुर्लभ है। रसिकानन्य तो सच्चे आशिक़ होनेको मरनेसे भी मुश्किल मानते हैं; क्योंकि मरनेमें एक बार पीड़ा होती है, किंतु आशिक़को तो क्षण-क्षणमें मरना-जीना होता है। इस स्नेहसदनमें बुद्धिचातुरीका प्रवेश निषेध है—

अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।

प्रेमपथमें सदा आहकी आहट आतप फैलाये रहती है। अनन्त कालतक प्रेमरसके आस्वादनके अनन्तर शायद प्रेमीकी उपाधि मिल जाय। वह भी पुरुषार्थसाध्य नहीं, कृपासाध्य है। रसिकाधिराज स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराजकी 'इश्क़-कान्ति' में निम्नाङ्कित छन्द इश्क़की कान्तिसे आमूलचूल आलोकित है—

युगलानन्यसरन आशक़ रस छानत-छानत छानोगे।
आशक़ होना सरल नहीं मरनेसे मुश्किल मानोगे।
पल-पलपर मरना जीना तिसको क्योंकर पहिचानोगे॥

स्वामीजीकी इश्क़-कान्तिमें अक्षर-अक्षरसे प्रेमरसका अजस्र क्षरण हो रहा है।

* * *

'परमधन राधे नाम अधार'

परमधन राधे नाम अधार।
जाहि स्याम मुरलीमें टेरत, सुमिरत बारंबार॥
जंत्र-मंत्र औ बेद तंत्रमें सबै तारकौ तार।
श्रीसुक प्रगट कियो नहिं यातैं जानि सारको सार॥
कोटिन रूप धरे नँद-नंदन, तऊ न पायौ पार।
ब्यासदास अब प्रगट बखानत, डारि भारमें भार॥

* * *

राष्ट्रप्रेमकी उदात्त भावनासे प्रभुकी प्रसन्नता

(श्रीशिवकुमारजी गोयल)

प्रेम एक ऐसा अद्भुत तत्त्व है जो पूर्णरूपेण समर्पण करने, सर्वस्व समर्पण करनेकी अजस्र प्रेरणा देता है। किसी भी राष्ट्रके नागरिक अपने देशके प्रति जब अनन्य प्रेम रखते हैं, तभी वे देशपर आये किसी भी संकटके समय प्राणोत्सर्गतकके लिये तत्पर हो उठते है। मातृभूमिके प्रति अनन्य प्रेमकी परिणति ही देशके सपूतोंको बलिपथकी राह दिखाती है।

धर्मशास्त्रोंके **'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'** अर्थात् जन्मदात्री माता और जन्मभूमि स्वर्गसे भी बढ़कर है—इस वाक्यसे प्रेरणा लेकर असंख्य भारतीय राष्ट्रभक्तोंने मातृभूमिकी स्वाधीनताके लिये हँसते-हँसते फाँसीका फन्दा चूमा। हमारे धर्मशास्त्रोंमें भारतको अवतारों, देवी-देवताओं और ऋषि-मुनियोंकी दिव्य भूमि कहकर उसकी वन्दना की गयी है। इस पावन राष्ट्रकी रक्षा तथा समृद्धिके लिये प्राचीन कालसे ही राजा-महाराजा, महर्षि दधीचि-जैसे ऋषि तथा वीर-वीराङ्गनाएँ अपना सर्वस्व समर्पण करते रहे हैं। इस सर्वस्व-समर्पणके पीछे अनन्य प्रेमभावना ही प्रमुख प्रेरणा रही है।

राष्ट्रप्रेमने घासकी रोटियाँ खिलायीं

जब कुछ सौ वर्षोंके लिये भारतपर विदेशी-विधर्मी मुसलमान शासकोंका आधिपत्य हो गया, तब छत्रपति शिवाजी, महाराणा प्रताप, गुरु तेगबहादुर, गुरु अर्जुनदेव, भाई मतिदास, गुरु गोविन्द सिंह, बन्दा बैरागी, पृथ्वीराज चौहान आदि न जाने कितने राष्ट्रपुत्रोंने अपनी मातृभूमिके प्रति, राष्ट्रके प्रति—प्रेमभावनाके कारण संघर्ष करते-करते प्राणोत्सर्ग किया। छत्रपति शिवाजी महाराजको उनकी माता जीजाबाईने रामायण, महाभारत आदिकी गाथाएँ सुना-सुनाकर उनके हृदयमें राष्ट्रप्रेमकी ज्योति प्रज्वलित की थी। राष्ट्रप्रेमकी, जननी-जन्मभूमिको स्वर्गसे महान् माननेकी इसी भावनाने ही इन वीरों-वीराङ्गनाओंको विदेशी-विधर्मियोंके समक्ष जूझने तथा हँसते-हँसते प्राणोत्सर्ग करनेकी प्रेरणा दी थी। महारानी पद्मिनी-जैसी असंख्य पतिव्रता वीराङ्गनाओंने अपने स्वर्ण-जैसे शरीरोंको विधर्मियोंके हाथोंमें न पड़े इस संकल्पके कारण अग्निको समर्पण कर दिया।

जननी-जन्मभूमिके प्रति अनन्य निष्ठा, अनन्य प्रेमके कारण ही हिन्दूसूर्य महाराणा प्रतापने बादशाह अकबरसे सन्धिके बदले संघर्षका मार्ग चुना था। सोने-चाँदीके पात्रोंको त्यागकर, समस्त सुख-ऐश्वर्यपर लात मारकर उन्होंने पेड़के पत्तोंपर भोजन करने, घासकी रोटियाँ खाकर भूख मिटाने तथा घास-फूँसके बिछौनेपर सोनेको प्रमुखता दी थी। सन् १५७६ ई० में महाराणा प्रतापने हल्दीघाटीमें अकबरकी सेनासे जो घोर युद्ध किया था, उसके पीछे उनके राष्ट्रप्रेमकी उदात्त भावना ही तो थी।

राणा साँगा, गोरा-बादल, वीरवर हम्मीर, पन्ना धाय, हाड़ा रानी, रानी दुर्गावती, विद्युल्लता आदि असंख्य राष्ट्रभक्तोंने राष्ट्र तथा धर्मप्रेमके कारण ही बलिदान दिये। असंख्य वीर-वीराङ्गनाएँ मातृभूमिकी स्वाधीनताके लिये ही संघर्षरत रहे। उन्होंने मातृभूमिके स्वाभिमानकी रक्षाके लिये क्या-क्या संकट सहन नहीं किये?

धर्मके प्रति अनन्य प्रेम तथा निष्ठा ही वह तत्त्व है, जिसने धर्मवीर हकीकत राय, अफगानिस्तान क्षेत्रके श्रीकृष्णभक्त मुरलीमनोहर, धर्मवीर छिनकू, गुरु गोविन्द सिंहके पुत्रों—जोरावरसिंह और फतहसिंहको अपने प्राणप्रिय हिन्दूधर्मके रक्षार्थ हँसते-हँसते बलिदान दे देनेकी शक्ति प्रदान की। यह उनके उत्कट धर्मप्रेमके अनूठे उदाहरण हैं।

प्रारम्भमें अंग्रेजोंने जब छल-बलसे भारतमें व्यापारीके रूपमें प्रवेश किया तथा कालान्तरमें वे भारतपर अधिकार जमानेमें सफल हो गये, तब शुरूसे ही राष्ट्रप्रेममें पगे राष्ट्रभक्तोंने उन्हें चुनौती देनी शुरू कर दी थी। सन् १८५७ में धर्मप्रेमी मंगल पाण्डेने अंग्रेजोंकी सेनामें सैनिक होते हुए भी गोमाताके प्रति अनन्य भक्तिके कारण गायकी चर्बी लगे कारतूसोंको छूनेसे इनकार कर अंग्रेजोंके विरुद्ध विद्रोहका बिगुल बजा दिया था। इस महान् धर्मप्रेमी गोभक्त ब्राह्मणने हँसते-हँसते फाँसीका फन्दा चूमकर अपने अनूठे गोप्रेमका ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया था।

महारानी लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे, वीर कुँवर सिंह, हुकमचन्द जैन, नानासाहब पेशवा-सरीखे असंख्य राष्ट्रभक्तोंने अपने राष्ट्रप्रेमके कारण ही तो बलिदानका मार्ग अपनाया था। लोकमान्य तिलक, विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपत राय, स्वातन्त्र्यवीर विनायक दामोदर सावरकर, भाई परमानन्द, चन्द्रशेखर आज़ाद, सरदार भगत सिंह, पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाक़ुल्ला खाँ, ठाकुर रोशन सिंह, भाई बालमुकुन्द, अवधबिहारी, मास्टर अमीचन्द, मदनलाल ढींगरा, सरदार ऊधम सिंह, राजेन्द्र लाहिड़ी, यतीन्द्रनाथ

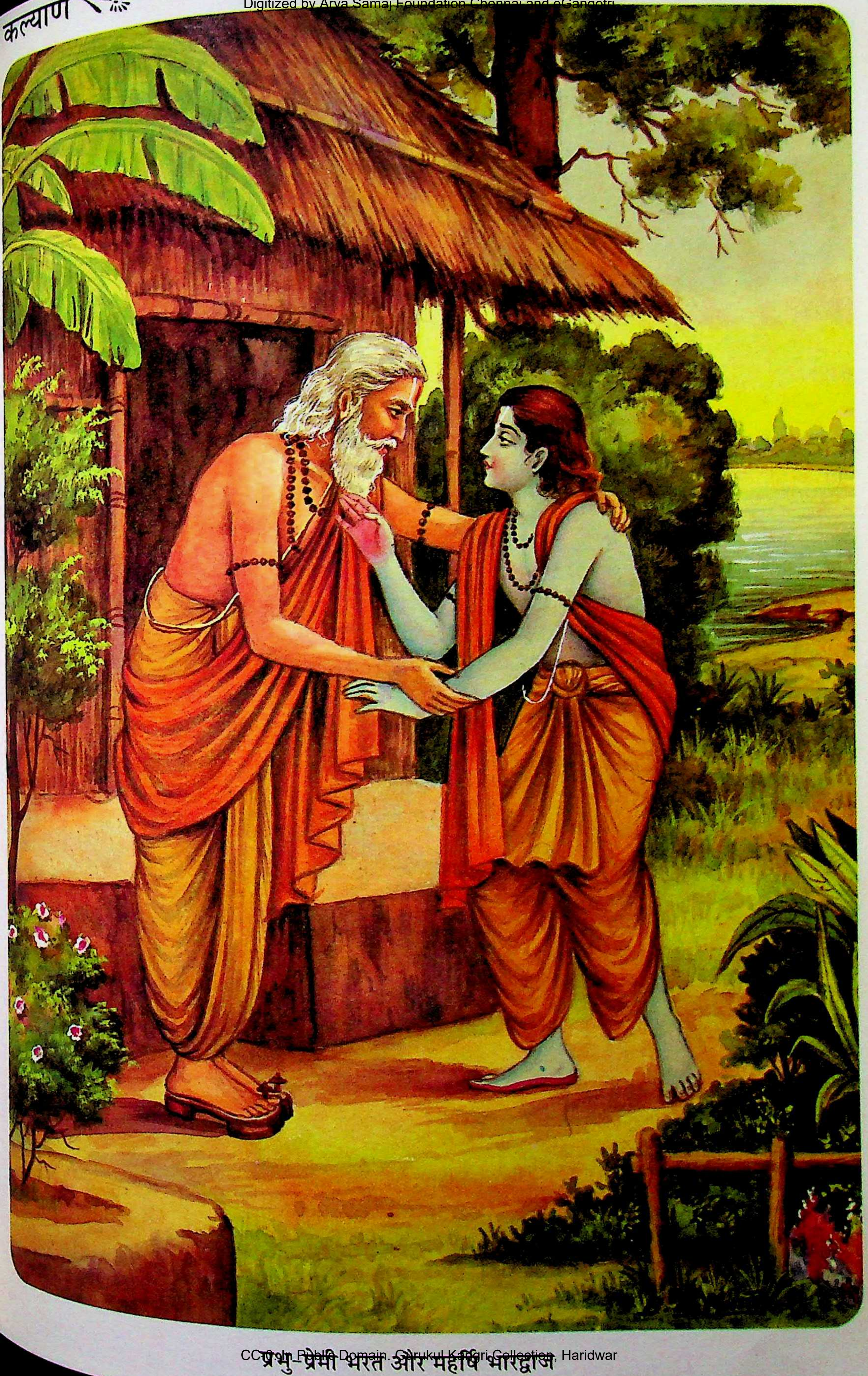

प्रभु-प्रेमी भरत और महर्षि भारद्वाज

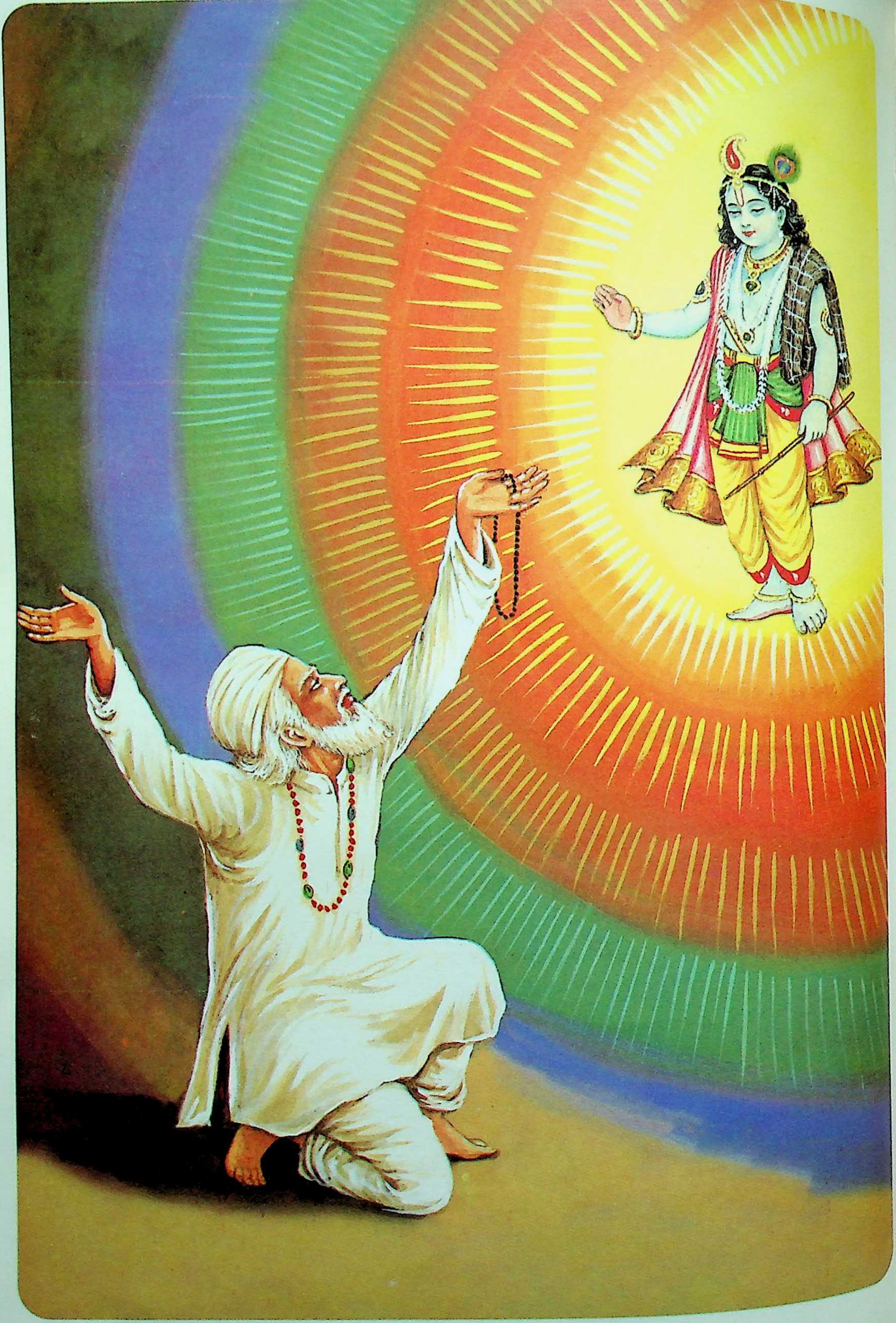

भगवत्प्रेममें विभोर भक्तप्रवर रसखान

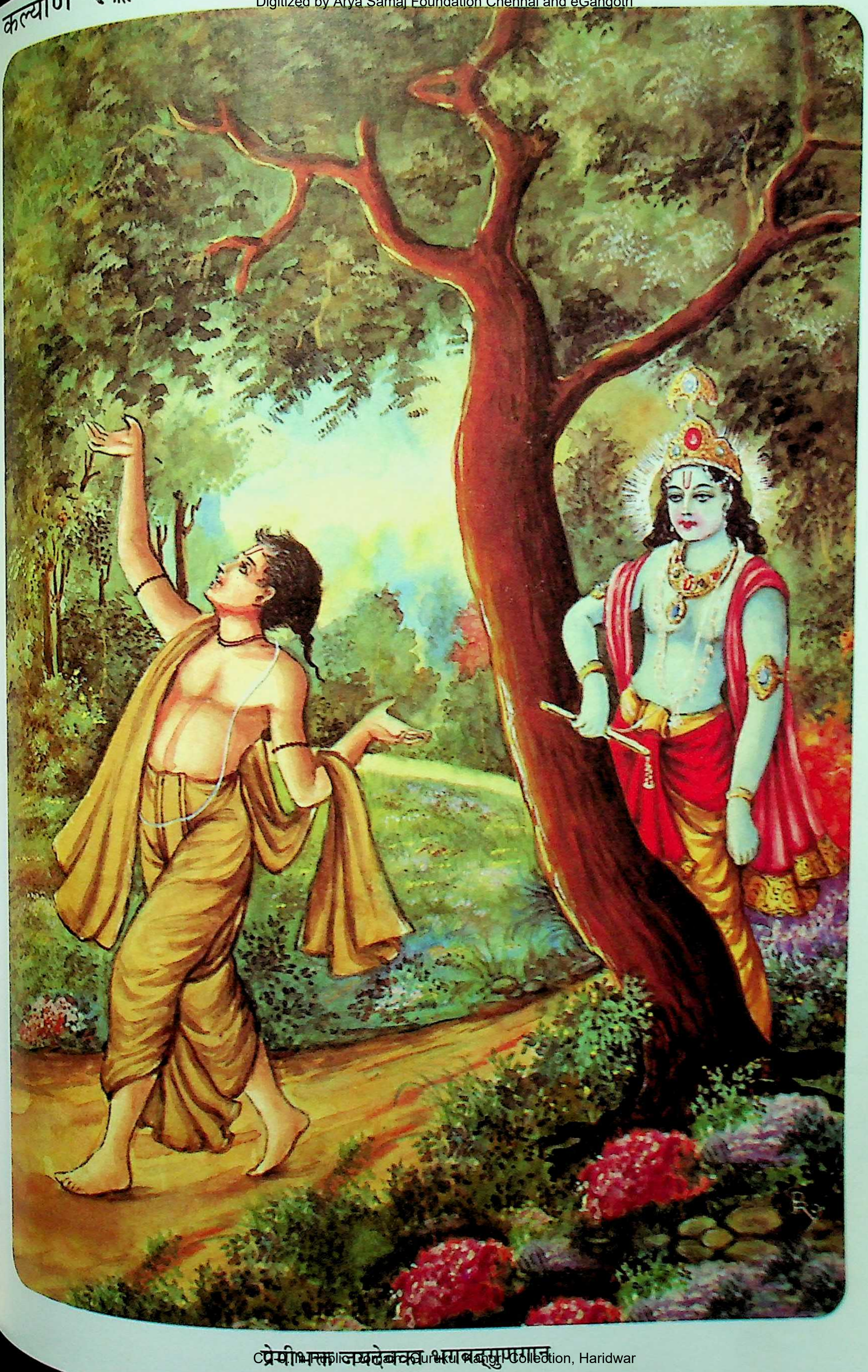

प्रेमी भक्त [illegible] भगवद्गुणगान

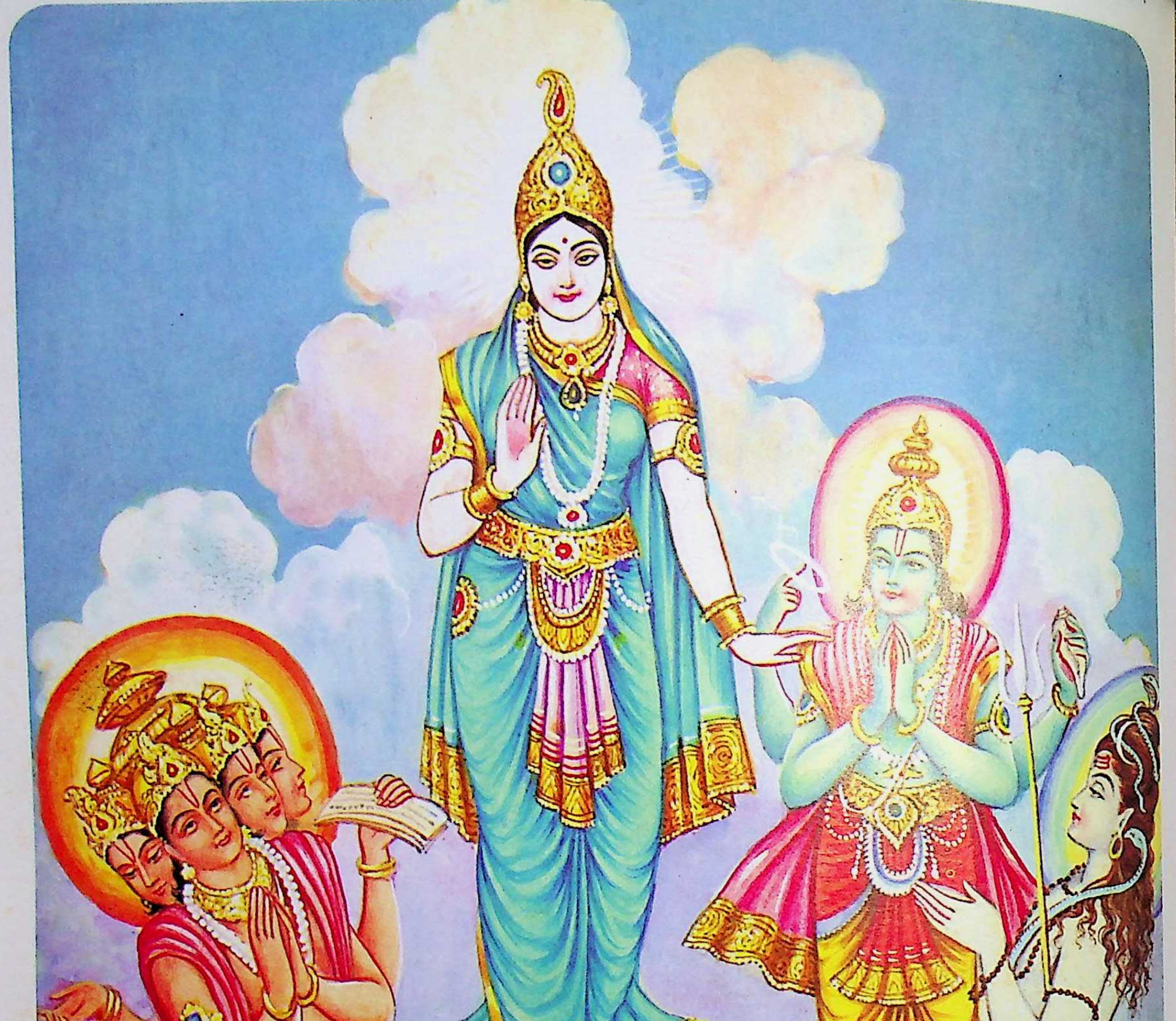

पराम्बा भगवतीका प्रेमानुग्रह

मुखर्जी, बटुकेश्वर दत्त, राजगुरु, सुखदेव, खुदीराम बोस, कन्हाईलाल दत्त-जैसे असंख्य राष्ट्रभक्तोंने राष्ट्रप्रेमकी भावनासे प्रेरित होकर ही क्रान्तिकारी आन्दोलनमें सक्रिय होकर अपना सर्वस्व समर्पण किया था। इनमेंसे अनेक वीरोंने हँसते-हँसते फाँसीके फन्दे चूमे थे तथा अनेकने अपनी जवानी अण्डमान (कालापानी)-की कालकोठरीमें गला दी थी।

राष्ट्रका अपमान ईश्वरका अपमान है

तेजस्वी युवक मदनलाल ढींगराने लन्दनमें वीर विनायक दामोदर सावरकरसे प्रेरणा लेकर जब सन् १९०९ ई० में भारतमें किये गये अत्याचारोंका प्रतिशोध लेनेके लिये सर कर्जन वायलीकी हत्या की तो उन्हें लन्दनके न्यायालयने फाँसीका दण्ड दिया। १६ अगस्त १९०९ ई० को गीता हाथमें लेकर फाँसीपर चढ़नेसे पूर्व इस भारतीय क्रान्तिकारी युवकने अपने लिखित बयानमें कहा था—'एक हिन्दूके नाते मेरा विश्वास है कि मेरे देशका अपमान करना साक्षात् ईश्वरका अपमान करना है। मेरे देशकी पूजा भगवान् श्रीरामकी पूजा है। देशकी सेवा भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा है। मेरे-जैसा निर्धन पुत्र भारतमाताकी आराधनाके लिये अपने रक्तके अतिरिक्त और क्या दे सकता है? ईश्वरसे मेरी यही प्रार्थना है कि मैं तबतक उसी मातासे जन्मता रहूँ और फिर उसी उद्देश्यके लिये मरूँ, जबतक कि भारतमाता स्वतन्त्र न हो जाय।'

युवक खुदीराम बोसने भी गीता हाथमें लेकर भारतमाताकी स्वाधीनताके लिये हँसते-हँसते फाँसीका फन्दा चूमा था। यह बलिदान उनके राष्ट्रप्रेमका ही सूचक था।

लोकमान्य तिलक, महामना पं० मदनमोहन मालवीय, महर्षि अरविन्द तथा लाला लाजपत राय आदि अनेक विभूतियोंने राष्ट्रकी आराधनाको भगवान्की आराधना मानकर ही अपना जीवन मातृभूमिकी स्वाधीनताके लिये समर्पित किया था। लाला हरदयाल, रासबिहारी बोस, योगिराज अरविन्द घोषके भ्राता श्रीवारीन्द्र कुमार घोष आदि सभी क्रान्तिकारी परम ईश्वरभक्त थे। उन्होंने राष्ट्रप्रेम तथा राष्ट्रनिष्ठाके कारण ही सर्वस्वसमर्पणका मार्ग चुना था।

स्वातन्त्र्यवीर विनायक दामोदर सावरकर, उनके दोनों भ्राता बाबाराव सावरकर तथा नारायणराव सावरकर जब राष्ट्रभक्तिके आरोपमें जेलोंमें बंद किये गये, तब वीर सावरकरने जेलसे अपनी पूजनीया भाभीको सान्त्वना देनेके लिये स्वरचित पदमें लिखा था—

तरी जे गजेन्द्रशुंडेने उपटिलें, श्रीहरिसाठे नेलें।
कमल फूल ते अमर ठेलें, मोक्षदातें पावन॥

अर्थात् अनेक पुष्प उत्पन्न होते हैं और सूख जाते हैं, कोई उनकी गिनती नहीं करता; किंतु हाथीकी सूँड़द्वारा भगवान्के श्रीचरणोंमें समर्पित कमल-पुष्प अमर हो जाता है। इसी प्रकार हम तीनों भाई कमल-पुष्पकी तरह भगवान् श्रीहरिरूपी (मातृभूमि)-के चरणोंमें समर्पित होकर अमर हो जायँगे।

वीर सावरकरजी तथा उनके अग्रज बाबाराव सावरकरने अनेक वर्षोंतक कालापानी (अण्डमान)-की काल कोठरीमें अमानवीय यातनाएँ सहनकर अपनी मातृभूमिके प्रति अनूठे प्रेमका ही परिचय दिया था।

महर्षि अरविन्दकी जेलकी अनुभूति

महर्षि अरविन्द घोषने राष्ट्रिय चेतना जाग्रत् करनेके लिये अपना जीवन समर्पण कर दिया था। एक ओर जहाँ वे भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अनन्य प्रेमभावना रखते थे, वहीं दूसरी तरफ राष्ट्रकी सेवाको भी भगवान्की ही सेवा मानते थे।

श्रीअरविन्दको राष्ट्रप्रेमके आरोपमें गिरफ्तार कर अलीपुर (बंगाल)-की जेलमें नज़रबंद कर दिया गया था। जेलके एकान्त वातावरणमें उन्होंने घोर साधना की। श्रीकृष्णप्रेममें वे इतने तन्मय हो जाते थे कि शरीरकी सुध-बुध खो बैठते थे। अपने 'उत्तरपारा आगे भाषण' में अरविन्दजीने लिखा है—

'मैंने अपने-आपको अन्य मनुष्योंसे अलग करनेवाली जेलकी ओर दृष्टि डाली तो देखा कि अब मैं उसकी ऊँची दीवारोंके भीतर बंद नहीं हूँ। मुझे तो अब घेरे हुए थे वासुदेव श्रीकृष्ण। मेरी कालकोठरीके सामने जो वृक्ष था, उसकी शाखाओंके बीच मैंने टहलते हुए अनुभूति की कि वह वृक्ष नहीं वासुदेव है। मैंने देखा कि वृक्षकी जगह वासुदेव खड़े मेरे ऊपर अपनी छाया किये हुए हैं। मुझे चारों ओर वासुदेव-ही-वासुदेव दिखायी देने लगे और ऐसा लगा कि स्वयं वासुदेव ही संतरी बनकर पहरा दे रहे हैं। मैं जब मोटे कम्बलोंपर लेटा, जो मुझे पलंगके स्थानपर मिले थे तो अनुभव किया कि मेरे सखा, मेरे प्रेमास्पद श्रीकृष्ण मुझे अपनी भुजाओंमें लिये हुए हैं।'

चन्द्रशेखर आज़ाद, पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल, ठाकुर रोशन सिंह आदि सभी देशभक्त राष्ट्रप्रेमको ही भगवत्प्रेमका पर्याय मानते थे। काकोरी ट्रेनमें खजाना-लूटकाण्डके आरोपमें जब पं० श्रीरामप्रसाद बिस्मिलको १९ दिसम्बर सन् १९२७ ई० को गोरखपुरजेलमें फाँसीपर लटकाया गया तो उस महान् राष्ट्रप्रेमी सेवकने भगवान्का पावन स्मरण करते हुए कहा—

मालिक तेरी रज़ा रहे और तू ही तू रहे।
बाक़ी न मैं रहूँ, न मेरी आरज़ू रहे॥

राष्ट्रप्रेमके साथ-साथ भगवान्‌के प्रति अटूट निष्ठाका भी उन्होंने परिचय दिया था।

क्रान्तिवीर अशफाकुल्ला खाँने भी पं० श्रीरामप्रसाद बिस्मिल आदिके साथ मातृभूमिको विदेशी दासतासे मुक्ति दिलानेमें सक्रिय भाग लिया था। फाँसीकी सजा सुनाये जानेके बाद जब उनसे क्षमा माँगनेका प्रार्थनापत्र देनेको कहा गया तो मातृभूमिके दीवाने इस क्रान्तिवीरने उत्तर दिया था—'ख़ुदावन्द करीमके सिवा और किसीसे माफ़ीकी प्रार्थना करना मैं हराम समझता हूँ।'

सभी क्रान्तिकारी राष्ट्रप्रेमके साथ-साथ ईश्वरके प्रति अनन्य निष्ठावान् थे।

यज्ञोपवीतके लिये बलिदान

पंजाबके युवा क्रान्तिकारी पण्डित रामरक्खा जब राष्ट्रप्रेमके आरोपमें कालापानी (अण्डमान जेल) भेजे गये तो उनसे उनके गलेका यज्ञोपवीत उतारनेको कहा गया। उस परम ईश्वरभक्त तेजस्वी ब्राह्मणयुवकने जेलके अंग्रेज अधिकारीसे कहा था—'यज्ञोपवीत (जनेऊ) मेरे धर्मका पावन चिह्न है। इसे उतारनेके बदलेमें मैं प्राण देना स्वीकार करूँगा।' पण्डित रामरक्खाने जनेऊकी रक्षाके लिये आमरण अनशन शुरू कर दिया। विनायक दामोदर सावरकर आदिने उनकी जनेऊ-रक्षाके इस संकल्पका समर्थन किया था। अन्तमें यह क्रान्तिवीर यज्ञोपवीतकी रक्षाके लिये प्राणोत्सर्ग करनेको बाध्य हुआ था।

अण्डमानकी कालकोठरीमें राष्ट्रप्रेमके आरोपमें सजा-प्राप्त राजबंदियोंको कोल्हूमें बैलकी जगह जोतकर तेल पेरवाया जाता था। मूँज कुटवायी जाती थी। उन्हें कोड़े लगाये जाते थे, किंतु राष्ट्रप्रेमके इन दीवानोंने अनेक अमानवीय यातनाएँ सहन करनेके बावजूद कभी भी झुककर अपनी मातृभूमिका नाम कलंकित नहीं होने दिया। क्रान्तिकारी आन्दोलनके साथ-साथ अहिंसक साधनोंसे मातृभूमिकी आराधना, उपासना करनेवाले महात्मा गाँधीके नेतृत्वमें उनके आह्वानपर लाखों-लाखोंकी संख्यामें जेल जाकर यातनाएँ सहन करनेवाले स्वाधीनता सेनानियोंने भी राष्ट्रप्रेमके कारण ही स्वेच्छासे संकटोंका रास्ता चुना था।

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, राजा महेन्द्रप्रताप, लाला हरदयाल, रासबिहारी बोस, भाई परमानन्द-सरीखे राष्ट्रभक्तोंने सभी सुख-सुविधाएँ त्यागकर देशके अतिरिक्त विदेशोंमें भी जाकर मातृभूमिकी स्वाधीनताके लिये जो अमानवीय कष्ट सहन किये, उनके पीछे उनके राष्ट्रप्रेमकी उदात्त भावनाएँ ही थीं। नेताजी सुभाषचन्द्र बोसने 'आज़ाद हिन्द' सेनाके सैनिकोंके समक्ष जापानमें कहा था—

'मैं अपनी मातृभूमिमें, राष्ट्रमें मा दुर्गाके दर्शन करता हूँ। भारत माको विदेशियोंकी गुलामीसे मुक्त कराना ही हम भारतीयोंका प्रधान उद्देश्य है।'

महर्षि अरविन्द घोषको राष्ट्रभक्तिके आरोपमें अलीपुर जेलमें बंदी बनाकर रखा गया था। जेलमें ही उन्होंने साधनाके माध्यमसे भगवान् श्रीकृष्णका साक्षात्कार किया था। भाई श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार-जैसी आध्यात्मिक विभूतिने भी राष्ट्रके प्रति अनन्य प्रेमके वशीभूत होकर कलकत्तामें क्रान्तिकारी गतिविधियोंमें भाग लिया था। उन्हें जब शिमलापालमें नज़रबंद रखा गया, तब उन्हें भगवदाराधना तथा सेवाका शुभ अवसर प्राप्त हुआ था। महान् इतिहासकार देवतास्वरूप भाई परमानन्दजीने भी कालापानी (अण्डमान)-में राष्ट्रप्रेमके कारण घोर यातनाएँ सहन की थीं। उन्होंने जेलमें ही 'मेरे अन्त समयका आश्रय—श्रीमद्भगवद्गीता' नामक ग्रन्थकी रचना की थी।

भाई परमानन्दजीने जेलमें लिखा था—'राष्ट्र एक अनन्त आध्यात्मिक शक्तिका ही रूप है, जिसके हृदयमन्दिरमें स्वतन्त्रताकी देवी विराजमान है। राष्ट्रप्रेमकी भावना इस स्वातन्त्र्य लक्ष्मीकी आराधनाके लिये सर्वस्व समर्पित करनेकी प्रेरणा देती है।'

सुविख्यात पत्रकार तथा निर्भीक चिन्तक श्रीसुरेन्द्रनाथ बनर्जीने भी लिखा था—'स्वतन्त्रतारूपी देवी बड़ी साधना, सर्वस्वसमर्पण, अटूट प्रेम-भावनासे संतुष्ट और तृप्त की जा सकती हैं। वे अपने भक्तोंकी, प्रेमियोंकी कठोर एवं दीर्घकालव्यापी तपस्या चाहती हैं और परीक्षा लेती हैं।'

सुप्रसिद्ध कवि श्रीशोभाराम 'धेनुसेवक' ने इन राष्ट्रप्रेमी बलिदानियोंके बारेमें कितना सटीक लिखा था—

देश प्रेमके मतवाले कब, झुके फाँसियोंके भयसे।
कौन शक्तियाँ हटा सकी हैं, उन वीरोंको निश्चयसे॥
हो जाता है शक्तिहीन जब, शासन अतिशय अविनयसे।
लखता है जग बलिदानोंकी, पूर्ण विजय तब विस्मयसे॥

राष्ट्रप्रेमकी उदात्त भावनासे अनुप्राणित होकर मातृभूमिकी बलिवेदीपर अपने प्राणोंको न्योछावर करनेवाले देशके अमर सपूतोंने राष्ट्ररक्षाका सम्बल लेकर ही परमात्मप्रभुकी प्रसन्नता प्राप्त करनेका प्रयास किया।

~~~
~~~

मुसलिम संत-कवि साँई दीनदरवेशकी भगवत्प्रेमोपासना

(दंडीस्वामी श्रीमद् दत्तयोगेश्वरदेवतीर्थजी महाराज)

'साँई दीनदरवेश' का जन्मवृत्तान्त प्रसिद्ध संत-कवि कबीरजीके जन्मवृत्तान्तसे प्राय: मिलता है, ऐसा कतिपय विद्वानोंका मन्तव्य है।

प्राय: २८९ वर्ष पहले उत्तर गुजरातके महेसाणा जिलेके डभोडा नामक गाँवमें लोहार-जातिमें दीनदरवेशका जन्म हुआ। जनश्रुतिके अनुसार उनके माता-पिताके बचपनमें ही दिवंगत हो जानेपर उनका लालन-पालन एक पड़ोसी मुसलमान परिवारने किया था। दीनदरवेशने स्वयंके विषयमें स्वरचित एक कुण्डलियामें स्पष्ट कहा है—

दीन को जहाँ में भेजिया कृपा किन्ही जगतात।
सत्तरह सौ अड़सठ में, देश उत्तर-गुजरात॥
देश उत्तर-गुजरात, डभोडा गाँव बखाना।
सोमाजी मम तात, तुलजा मात परमाना॥
कहत 'दीनदरवेश', आय के जाऊँ कहाँ मैं?
खोज तेरा दीदार, साँइयाँ यही जहाँ में॥

उपर्युक्त छन्दसे यह बात स्पष्ट होती है कि साँई दीनदरवेशका जन्म विक्रम संवत् १७६८ में हुआ था। उनका जन्म-नाम क्या था, उनकी कितनी संतान थी, आदिके बारेमें ठीक-ठीक पता नहीं चल सका है।

कहते हैं कि जब वे प्राय: १५ वर्षके थे, तब अपने गाँव डभोडामें आये एक दरवेश फकीरकी सेवामें कुछ महीने रहे। उस फकीरने उन्हें 'दरवेश-पन्थ' की दीक्षा दे डाली और नामकरण 'दीनदरवेश' कर दिया।

फकीरके बारेमें एक दोहा प्रसिद्ध है—

हद को जाने मौलवी बेहद जाने पीर।
हद-बेहद अतीत है वाको नाम फ़कीर॥

ऐसा भी कहा गया है कि ***'फ़िकर की फाकी करे, सो जानो फ़कीर॥'***

प्रसङ्गप्राप्त यहाँपर दरवेश-पन्थके विषयमें संक्षेपमें बताया जा रहा है—

हजरत मोहम्मद पैगम्बर (ईसवी-सन् ५७०—ईसवी सन् ६३२)-का जन्म अरबस्तानके मक्का नामक शहरमें कुरेशी जातिके हाशिम कुलमें पिता अबदुल्लाह और माता अमिनाके माध्यमसे हुआ। शिशुके जन्मसे पहले ही पिताका और उसके जन्मके बाद माताका भी निधन हो गया, अत: शिशुका कुछ वर्षतक पालन-पोषण हलिमा नामक दाईने किया था। प्राय: २५ वर्षकी अवस्थामें मोहम्मद साहबने धनवान् स्त्री खदीजाके साथ विवाह किया था।

मोहम्मद साहबको मक्का शहरके समीप हीरा पहाड़पर की गयी कुछ दिनोंकी एकान्त साधनाके फलस्वरूप गूढ़ रहस्यका लाभ हुआ, तब उन्होंने इसलाम-धर्मकी स्थापना की और प्रथम दीक्षा खदीजा बीबीको दी, बादमें अलि एवं जैदको तथा अबुबकर एवं उस्मान आदिको दी। इस प्रकार इसलाम-धर्मका प्रसार हुआ। इसलाम एकेश्वरवादको मानता है।

कालान्तरमें इसलाम-धर्ममेंसे सूफी-पन्थ निकला। 'सूफी' माने बकरीके बालोंसे बनायी गयी कन्था (गुदड़ी) पहननेवाले फकीर। प्रारम्भमें सूफी लोग निवृत्तिमार्गके थे। संसारत्याग करके फकीरी लेकर एकान्तमें वे कठोर तपस्या करते थे और ईश्वर-साक्षात्कारकी कामना करते थे। संत मंसूर अनलहक (**अहं ब्रह्मास्मि**)-के उपासक थे। संत रबिया भक्ति-मार्गकी साधिका थी। संत मंसूर कहते थे—

अगर है शौक मिलने का, तो हरदम लौ लगाता जा।
जलाकर खुदनुमाई को, भसम तन पर लगाता जा॥
कहै मंसूर मस्ताना, 'हक' मैंने दिल में पहचाना।
यही मस्तों का मयखाना, उसी के बीच आता जा॥

एक शिष्य अपने एकान्तप्रिय गुरुसे मिलने गया। गुरुकी कुटीरका द्वार अंदरसे बंद था। शिष्यने दरवाजा खटखटाया तो अंदरसे आवाज आयी—'कौन है?'

शिष्यने अहंकारसे जवाब दिया—'मैं'।

दरवाजा नहीं खोला गया।

शिष्यने दीर्घ समयतक विचार करनेके बाद अहंकाररहित होकर फिर कुटीरका दरवाजा खटखटाया। फिर अंदरसे गुरुकी आवाज आयी—'कौन है?'

शिष्यने विनम्रभावसे उत्तर दिया—'तू'।

यह सुनकर गुरुने दरवाजा खोला और शिष्यको सुनाया—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥

शिष्य गदगद हो गया और भगवत्प्रेम-साधनाका

रहस्य समझ गया।

कहते हैं कि सूफी-पन्थके कई साधकोंने भगवान्‌को माशूक़ (प्रेयसी) और स्वयंको आशिक़ (प्रेमी)-की भावना करके साधना की थी। इस विषयमें स्वामी रामतीर्थने एक प्रवचनमें कहा था कि जब मजनू मर गया, तब यमदूत उसे यमराजके दरबारमें ले गये। पागल-से मजनूको देखकर दयालु यमदेवने उससे कहा—हाड़-चामके देहवाली क्षणभङ्गुर लैला नामक स्त्रीके पीछे पागल होकर तूने अमूल्य जीवन व्यर्थ गँवा दिया है। मुझे तुझपर दया आती है।

यह सुनकर मजनूने यमराजसे कहा—'यदि आपको मेरे प्रति सचमुच ही दया (करुणा) थी तो आप खुद ही 'लैला' बनकर पृथ्वीपर क्यों नहीं आये?

कहनेका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌का माशूक़-भावसे चिन्तन करनेपर सूफी-साधना सिद्ध हो जाती है।

कहते हैं कि अबु हसन नामक सूफी साधक एक दिन सूफी संत रबियाकी कुटियामें इस आशयसे छिप गये कि इबादत (प्रार्थना)-के समय रबिया प्रभुसे क्या माँगती है—यह जान सकें।

कुछ समयके बाद रबियाकी प्रभु-प्रार्थना शुरू हुई। वह प्रार्थना करने लगी—'हे प्रभो! यदि मैं नरकके भयसे तेरी पूजा-प्रार्थना करती होऊँ तो तू मुझे नरककी आगमें जला दे। यदि स्वर्गके लोभसे मैं तेरी सेवा-प्रार्थना करती होऊँ तो स्वर्गका द्वार मेरे लिये बंद कर दे; किंतु यदि मैं तेरी प्रीति एवं प्राप्तिके लिये ही तेरी भक्ति-प्रार्थना करती होऊँ तो तू मुझे अपने अपार सुन्दर स्वरूपसे वञ्चित मत रख!'

अरबदेशकी मीराबाई संत रबियाकी प्रभु-प्रार्थना सुनकर अबु हसनकी आँखें खुल गयीं।

१२वीं सदीमें ऐसे मस्त फकीरोंका एक पन्थ शुरू हुआ जिसके संस्थापक एवं संचालक अब्दुल क़ादिर और अहमद रिफा नामक सत्पुरुष थे। उन्होंने सूफी-पन्थका तत्त्वज्ञान स्वीकार करके अपने नये पन्थमें मिलाया और भक्तिमिश्रित ज्ञान इस पन्थकी साधनाका लक्ष्य रखा। इसलिये इस नये पन्थका नाम दरवेश-पन्थ पड़ा। इसके साधक उदार मतवादी अर्थात् सर्वधर्म-समभाववाले माने गये हैं। उन साधकोंको दरवेश या दरवेशी कहते हैं। इस विषयमें कहा गया है—

दरवेश सो ही जो दर की जाने
पाँचों पवन अपुट्ठां ताने।
सदा सचेत रहे दिन-राती
सो दरवेश अलख की पांती॥

अर्थात् जो साधु 'सब जीवोंके हृदय-प्रदेशमें ईश्वर अवस्थित है' ऐसा जानता है; जिसने साधनाद्वारा प्राणोंको दुर्बल बनाकर सुषुम्णा नामक नाड़ीमें खींचकर उन्हें लक्ष्यपर पहुँचाया है; जो सदैव आत्मामें जाग्रत् रहता है; वह अलख (लक्ष्यातीत लक्ष्य या ब्रह्म)-की पंक्तिमें खड़ा ब्रह्मज्ञ पुरुष दरवेश है।

दरवेशके बारेमें साँई दीनदरवेश लिखते हैं—

रोटी चादर चाहिए, कहा दाम से काम?
सो ही दीन फकीर कूँ, भजे निरंजन नाम॥
भजे निरंजन नाम, ब्रह्म-सागर ना भूले।
नंदा वेदा बाकी, आनकमला ना फूले॥
कहत 'दीनदरवेश', खरा कहवे नहि खोटी।
कहा दाम से काम, चाहिए चादर रोटी॥

दरवेशी साधु भगवत्प्रेम-साधनामें कभी उन्मत्त-सा हँसता हुआ, कभी रोता हुआ तो कभी नाचता हुआ देखा गया है।

दरवेशी साधक अपनी साधनाके बारेमें कहता है—

फ़ना होने में जो मज़ा है, पाने में वह नहीं।
बुंद समंदर में गिरे सही, बुंद में समंदर नहीं॥

दीनदरवेश जब बीस वर्षके थे, तब वे गिरनारके दत्तोपासक संत बालगिरिसे मिले, जो परिभ्रमण करते हुए डभोडा गाँवमें आये थे। उनके सम्पर्कमें आनेके फलस्वरूप सत्संगसे विवेक जाग्रत् होनेपर वैराग्यवश उन्होंने गृहस्थ-जीवनका त्याग किया और संत बालगिरिके साथ चल पड़े। संतके साथ तीर्थाटन करते हुए वे सौराष्ट्र-प्रदेशके सिद्धक्षेत्र गिरनार पहुँचे और उनसे भगवान् श्रीदत्तात्रेयकी प्रेमोपासनाकी दीक्षा प्राप्त की। संतके आदेशसे वे गिरनार पहाड़पर स्थित कमण्डलु-कुण्ड नामक स्थानमें प्रायः सोलह वर्षपर्यन्त साधनारत रहे। वहाँपर एक शुभ रात्रिमें उन्हें आदिगुरु अवधूत श्रेष्ठ भगवान् श्रीदत्तात्रेयके दर्शन हुए एवं उनकी कृपा प्राप्त हुई। इस विषयमें वे स्वानुभव लिखते हैं—

दत्तगुरु के दरस की, दिल में जगेरी आस।
बिकल भयो मन बावरो, बुझत न प्रेम-पियास॥
बुझत न प्रेम-पियास, नैना नीर बहैया।

ऐसे दिन बीत जाय, पिय दीदार न पैया॥
कहत 'दीनदरवेश', रैन को अरूप आये।
जय गुरु दत्त-दयाल प्रेम से सिर झुकाये॥ १॥
अरूप मेरे साँइयाँ, तुम्हीं दत्त गुरुदेव।
दाता बड़े दयानिधि, आप ही अवधूत-भेव॥
आप ही अबधूत-भेव, मोहे दरसन की आसा।
भई मेरी गति मीन, जल में मरे पियासा॥
कहत 'दीनदरवेश', पियरा पट खोलैया।
अरूप मेरे साँई, ता दिन दत्तगुरु पैया॥ २॥
बड़े अचरज देखिया, ठाढ़े गढ़-गिरनार।
आँधि-रैन भयावनी, शेर करत हूँकार॥
शेर करत हूँकार, आयके ठाढ़े रहैया।
मिले नैन से नैन, नैन में नैन समैया॥
कहत 'दीनदरवेश', ता दिन जलवा पाया।
ठाढ़े गढ़-गिरनार, बड़े अचरज मोहे आया॥ ३॥
साँई दीन की बिनती, पलटा अरूप-रूप।
दिव्य तेजमय देखिया, दत्त-दिगम्बर भूप॥
दत्त-दिगम्बर भूप, देखत नैन छकैया।
ज्यों बरखाकी धार, प्रेम-वारि बरसैया॥
कहत 'दीनदरवेश', याद उर में ही समाई।
सोही दत्त-गुरुदेव, अरूप-रूप धरैं साँई॥ ४॥
मैं तो दीन फकीर हूँ, मोहे न दूजी आस।
जब चहूँ 'गुरुदत्त' को पाऊँ दीदार खास॥
पाऊँ दीदार खास, उर में अलख बसैया।
बाहिर-भीतर सोदी, साँईकी सूरत दिखैया॥
कहत 'दीनदरवेश', दाता से यों वर पाया।
ता दिन अरूप-रूप, सब जग मोहे दरसाया॥ ५॥

गिरनार पहाड़की तलहटीमें स्थित भवनाथ महादेवके मन्दिरके समीप प्रतिवर्ष शिवरात्रिको भव्य मेला लगता है, जिसमें कई साधु, संत, योगी, सिद्ध, औघड़, अघोरी और अवधूत आदि यात्रियोंको दर्शन देनेके लिये आते हैं। ऐसी जनश्रुति है कि भवनाथ और दत्तात्रेय प्रभु भी गुप्तवेशमें आते हैं। एक मेलेमें दीनदरवेशको भी दत्तदर्शन और सत्संग मिला। दत्तगुरुने प्रसन्न होकर दीनदरवेशसे कुछ माँगनेके लिये कहा तो सच्चे प्रभु-भक्त दीनदरवेशने हाथ जोड़कर बताया—*'और कछु नहीं चाह, पाऊँ नित अलख-दीदारा'* अर्थात् मुझे आपके नित्य-निरन्तर दर्शन मिलते रहें, यही चाह है।

इस विषयमें दीनदरवेश स्वानुभव लिखते हैं—

महाशिवरात्रि परव को, भवनाथ में जाय।
जोगी सिद्ध की जमात में, 'दत्तगुरु' दरसाय॥
'दत्तगुरु' दरसाय, जाय बैठे सतसंगा।
वो दिन कैसे भुलाय, सुनो री प्रेम-प्रसंगा॥
कहत 'दीनदरवेश' भवनाथ मन भाया।
पाया दत्त-दीदार, सतसंगा सुखदाया॥ ६॥
माँगन हो तो माँग ले, जो तेरे मन भाय।
बाबा मैं मगन रहूँ, मोरे करम भुगताय॥
मोरे करम भुगताय, सतसंग निस्तारा।
और कछु नहीं चाह, पाऊँ नित अलख-दीदारा॥
कहत 'दीनदरवेश', अंधे को नैन मिलैया।
दत्त-दयाल गुरुदेव ताहि का दरसन पैया॥ ७॥
भागवान सोही जीयरा, पूरव-जनम की रेख।
साधसभा में पेखिया, अबधूत दत्त अलेख॥
अवधूत दत्त अलेख, देव के चरन गहैया।
उबारिये मझधार, नाव तुम ही खेवैया॥
कहत 'दीनदरवेश', दत्तगुरु बड़े दातारा।
भारी भवसागर से, मिले उबरन का आरा॥ ८॥

साँई दीनदरवेशने गुजराती, हिन्दी, संस्कृत, अरबी और फारसी भाषाका ज्ञान प्राप्त किया था। उन्होंने श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता और कुरान आदि धर्मग्रन्थोंका हिन्दीमें (कुण्डलिया छन्दमें) सरस अनुवाद किया था। 'दत्तात्रेय-अनुराग' नामसे पचीस हजार कुण्डलियोंवाला ग्रन्थ उन्होंने लिखा था। उस ग्रन्थके प्रत्येक छन्दमें भगवत्प्रेम भरा पड़ा है।

जब साँई दीनदरवेश गिरनारमें थे, तब एक दिन इनका मिलन महाराष्ट्रीय संत हरबंस स्वामीसे हुआ। इन्होंने स्वामीजीको कुछ महीनोंतक अपने साथ रखा और उनसे (स्वामीजीसे) मराठी भाषा सीखकर 'ज्ञानेश्वरी-गीता' पढ़ी। बादमें इन्होंने ज्ञानेश्वरी-गीताका हिन्दी (कुण्डलिया)-में सुमधुर रूपान्तर किया था। वह अनुवाद 'दरवेश-गीता' नामसे अब प्रकाशित हुआ है। विद्वानोंने इसकी बड़ी प्रशंसा की है।

भगवत्प्रेमकी तरह गीताजीके प्रति साँई दीनदरवेशका बड़ा ही अनुराग था। वे स्वानुभव लिखते हैं—

धन्य भाग्य मंगल घड़ी, 'गीता' जगे अनुराग।
प्रेम कटोरा पीजिया, साँई 'दीन' बड़भाग॥
रामायण, भारत पढ़े उपनिषद् पुरान।

गीता ज्ञान नहि पाइया, 'दीन' बड़ो अज्ञान॥
सैया वे दिन को लिखे, मिले संत हरबंस।
प्रेमे 'गीता' पढाइया, किन्ह पाप विध्वंस॥
किन्ह पाप विध्वंस, उदय भये अनुरागा।
तिमिर भये सब दूर, अंतर प्रेम सजागा॥
कहत 'दीनदरवेश', बिलखत नैन बहैया।
मिले संत हरबंस, वो दिन कैसे भूलैय्या॥
गढ़ गिरनार का बैठना, मानो भये सतसंग।
गीता अमीघूँट पाइया, जगे प्रेम-प्रसंग॥
जगे प्रेम-प्रसंग, वोही सुख लिबे अखंडा।
इस मुख कह्यो न जाय, मैं तो साँई का बंदा॥
कहत 'दीनदरवेश', गीता का हो गये प्यारा।
सतसंगा सुख देन, भये री गढ़ गिरनारा॥
साँई तेरी भगवद्गीता मोसे लिखी न जाय।
मैं तो दीन फकीर हूँ, तुमी हो पाक पीराय॥
हिन्दु कहाँ इस्लाम कहाँ मत कोई भूलो यार।
गीताज्ञान में नाहिए, 'दीन' कहत पुकार॥
अबिगत 'गीता' आपकी, ज्ञान-उजागर नाम।
रहमे-समंदर जान के, 'दीन' करत परनाम॥
मनुज-हित गीता कथे, करीमा-कृष्णमुरार।
भव औगाह विदारिये, 'दीन' करत जुहार॥
गीता-अमीरस पीजिया, छक रहै आठों जाम।
साँई 'दीन' सोहि लिखे, 'दरवेश-गीता' नाम॥
'ज्ञानेश्वरी-गीता' सुने, हुआ ज्ञान उजियार।
सोही गीता-अमी से लिखे, साँई 'दीन' विचार॥
मैं तो दीन फकीर हूँ, तुमी हो गरीबनवाज।
दीनानाथ दयानिधि, रखो दीन की लाज॥

साँई दीनदरवेशने श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धका हिन्दीके 'कुण्डलिया छन्द' में सरस रूपान्तर किया है। उससे उनकी भगवत्प्रेम-उपासना कितनी उच्च कोटिकी होगी, इसका किञ्चित् अनुमान हो सकता है।

साँई दीनदरवेशके अनेक हिन्दू और मुसलमान अनुयायी थे। उन्होंने अपने जीवनकालमें क़ौमी एकता और भगवत्प्रेमसाधना सुदृढ़ करानेका प्रशंसनीय कार्य किया था। जब ८१ वर्षकी वृद्धावस्थामें धर्मप्रचार करते हुए वे मध्य प्रदेशमें पहुँचे, तब कोटाके समीप विद्यमान चम्बल नदीमें उन्होंने कार्तिक शुक्ला एकादशीको जलसमाधि ले ली ताकि उनकी स्थूल देह न तो हिन्दुओंको मन्दिर बनवानेके रूपमें मिल सके, न मुसलमानोंको दरगाह खड़ी करवानेके लिये प्राप्त हो सके। संत कबीरजीने भी कुछ ऐसा ही किया था।

साँई दीनदरवेशका अन्तिम उपदेश अपने अनुयायी हिन्दू और मुसलमानोंको इस प्रकार था—

माया माया करत है, खाया खरच्या नाँहि।
आया जैसा जायगा, ज्यूँ बादल की छाँहि॥
ज्यूँ बादल की छाँहि, जायगा आया जैसा।
जान्या नहिं जगदीस, प्रीत कर जोड़ा पैसा॥
कहत 'दीनदरवेश', नहीं है अम्मर काया।
खाया खरच्या नाँहि, करत है माया-माया॥
मर जावेगा मूरखा, क्यूँ न भजे भगवान।
झूठी माया जगत की, मत करना अभिमान॥
मत करना अभिमान, बेद शास्तर यूँ कहवे।
तज ममता, भज राम, नाम तो अम्मर रहवे॥
कहत 'दीनदरवेश', फेर अवसर कब आवे।
भज्या नहीं भगवान, अरे मूरख मर जावे॥

दीनदरवेश अपने अनुयायी हिन्दुओं और मुसलमानोंको आपसमें प्रेमभाव रखकर भगवत्प्रेमसाधना करनेका उपदेश देते हुए कहते हैं—

हिंदू कहें सो हम बड़े, मुसलमान कहें हम्म।
एक मूँग दो फाड़ है, कुण ज्यादा कुण कम्म॥
कुण ज्यादा कुण कम्म, कभी करना नहिं कजिया।
एक भजत है राम, दुजा रहिमानसे रँजिया॥
कहत 'दीनदरवेश', दोय सरिता मिल सिंधू।
सब का साहिब एक, एक ही मुसलिम हिंदू॥
तेरी जहाँ आबाद हो, अय भोले इन्सान।
दो फरजंद साहिब के, हिन्दु रु मुसलमान॥
हिन्दु रु मुसलमान, दोनों हिलमिल रहियो।
नेकी बखानो यार, काहु से बुरा न कहियो॥
कहत 'दीनदरवेश' मान लो बिनती मेरी।
अय भोले इन्सान, जहाँ आबाद हो तेरी॥

इस प्रकार साँई दीनदरवेशने प्रेममें मग्न होकर अपने अन्तिम श्वासतक लोक-कल्याणका ही स्तुत्य कार्य किया।

जापानसे भगवत्प्रेमकी एक विश्वव्यापी लहर

(श्रीलल्लनप्रसादजी व्यास)

आज सारा विश्व संकटग्रस्त दिखायी पड़ रहा है। लगता है, मनुष्यकी शान्ति कहीं खो गयी है। महाशक्तियाँ देशोंको अपना मोहरा बना रही हैं और उन्होंने मानव-संहारक बमों तथा अन्य भयानक अस्त्र-शस्त्रोंसे विश्वके मानवोंको छोटे-बड़े युद्ध या फिर शीतयुद्धकी लपटोंमें झोंक दिया है तथा आणविक विनाशका भय दिखाकर साक्षात् मृत्युके समक्ष उपस्थित कर दिया है। इसके साथ ही आर्थिक समस्याएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही हैं और चारों ओर दिशाहीनता भी दिखायी पड़ रही है। मनुष्यके जीवनमूल्य या आदर्श समाप्त-प्राय हो रहे हैं और मनुष्यका मनुष्यसे विश्वास उठता जा रहा है। भौतिकताकी आँधी मनुष्यको चारों ओरसे हिला रही है।

मानवमात्रके सामने शायद इससे ज्यादा गम्भीर संकट कभी नहीं रहा होगा। विनाश या मृत्युको सामने देखकर मानवको यह समझमें नहीं आ रहा कि बचावका उपाय क्या है? इसीलिये सम्भवतः उसने भगवान्‌को पुकारा है। वैसे भी सृष्टिका एक शाश्वत सत्य है कि जब मनुष्य हारकर अपनी शक्तिकी सीमा मान लेता है, तब उसे भगवत्सत्ताकी प्रतीति होती है। केवल भारतमें ही नहीं, अपितु संसारके विभिन्न कोनोंमें चतुर्दिक् अन्धकारमें कहीं-कहीं प्रकाशकी किरणें दिखायी पड़ने लगी हैं। ये किरणें उन समृद्ध देशोंमें भी दिखायी पड़ रही हैं, जहाँ मनुष्यने अधिकाधिक भौतिकतासे उत्पन्न अशान्ति, अकेलेपन और असुरक्षामें भगवान्‌को पुकारा है।

ऐसी ही एक प्रकाश-किरण दिखायी पड़ी है जापानकी ओरसे; जो देखते-ही-देखते कुछ वर्षोंमें सारे विश्वमें फैलती जा रही है और यह प्रकाश-किरण प्रकट हुई है जापानकी एक जाग्रत् आत्मा मीशूशामाके माध्यमसे, जिनका पूर्वनाम था—मोकिची ओकाडा। साधुजनोंकी रक्षा और दुष्टोंके संहारके साथ-साथ वायुमण्डलकी शुद्धिके लिये भगवान् स्वयं अवतार लेते हैं तथा पृथ्वीपर अपने दैवी-विधान या योजनाको पूरा करनेके लिये किसी एक या अनेक व्यक्तियोंको अपना निमित्त बनाते हैं। यह निमित्तता ही उस मनुष्यको साधारणसे महान् बनाकर मानव-इतिहासमें अमर बना देती है।

मीशूशामा भी ऐसे ही एक महान् निमित्त बने, जब उन्हें पृथ्वीको स्वर्ग बनानेकी दैवी योजनाका परमात्माद्वारा संकेत कराया गया। इस दैवी संकेतके बाद उनमें असाधारण शक्ति, योग्यता और क्षमताका उदय हुआ। उन्हें अनुभूति हुई कि यह युग-सन्धिकी वेला है; जब भगवत्-इच्छाके अनुसार विश्वमानवताका कायाकल्प होना है; उसे एक युगसे दूसरे युगमें अर्थात् रात्रिके अन्धकारसे दिनके प्रकाशमें प्रवेश करना है। उसे समस्त दुःख-दारिद्र्य, रोग-दोषसे मुक्त होकर स्वर्गिक सुख और संतोषकी अनुभूति करनी है। मनुष्यमात्र शारीरिक दुःखोंसे मुक्त होकर जब अपने हृदयमें संतोष अनुभव करेगा और अपनी आत्माको उन्नत करेगा, तभी धरापर स्वर्ग बनेगा। यह तभी सम्भव होगा जब ईश्वरीय योजनाके अन्तर्गत ऐसा कार्य हो, जिससे मनुष्यका अन्तर-बाह्य पवित्र बने। मीशूशामाको ऐसी दैवी अनुभूति भी हुई कि अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले चलनेवाले इस नवीन युगके लिये भगवान् अपनी अमिट शक्तिकी प्रकाश-किरणोंको बड़ी तेजीसे ब्रह्माण्डमें बिखेर रहे हैं, जिससे एक बड़ी उथल-पुथल सूक्ष्म जगत्‌में मची हुई है और इसका प्रभाव स्थूल जगत्‌पर भी पड़ रहा है। युग-सन्धिके इस अद्वितीय और असाधारण उथल-पुथलके दौरको झेलनेकी पात्रता उन्हींको प्राप्त होगी, जिनमें कुछ पवित्रता होगी। अतएव आवश्यकता है आज आत्म-जागृतिकी, जीवनमें पवित्रता लानेकी।

मीशूशामाने 'सेकाई क्योसे क्यो' अथवा 'चर्च ऑफ वर्ल्ड मेसायनिटी' की स्थापना करके उसी दैवी योजनाको साकार रूप देनेका प्रयास १ जनवरी, १९३५ से प्रारम्भ कर दिया, जिसने अबतक अपना विश्वव्यापी स्वरूप बना लिया है। इस संस्थाको हम 'विश्व-कल्याण-मन्दिर' कह सकते हैं। मनुष्य और उसका कार्य जब किसी दैवी योजनाका अङ्ग बन जाता है, तब उसे सफलता भी चमत्कारिक ढंगसे मिलती है। मीशूशामा और उनकी संस्थाकी भी यही कहानी है। यद्यपि संस्थापकका देहावसान जनवरी, १९५५ में हो गया, पर उनके बाद भी यह दैवी कार्य दिन-प्रतिदिन

बढ़ता जा रहा है और संसारके करोड़ों लोग इसके कल्याणकारी कार्यक्रमोंसे लाभ उठाते हुए अपने जीवनको प्रेरित और पवित्र कर रहे हैं। इस संस्थाकी शाखाएँ अनेक महत्त्वपूर्ण देशोंमें हैं। इसके साथ ही एक विशेष ईश्वरीय प्रेरणाके अन्तर्गत संस्थाने जापानमें दो तथा ब्राजील और थाईलैण्डमें एक-एक 'धरतीपर स्वर्गके मॉडल' बनवाये हैं, जिन्हें सत्य, शिव और सुन्दरका प्रतीक माना जाता है। 'क्योसे क्यो' ने भी इन तीन महत्त्वपूर्ण तत्त्वोंको विशेष महत्त्व दिया है।

जापानी संत मीशूशामाकी ये अभिव्यक्तियाँ और कार्य भारतीय अध्यात्म-चिन्तनसे पूर्ण समानता स्थापित करते हैं। लगता है कि जैसे वह पूर्णरूपसे सनातन-धर्म और उसका दर्शन ही हो। इससे सृष्टिका यह एक और सत्य या यथार्थ सामने आता है कि महान् आत्माएँ हजारों मील दूर रहनेपर भी एक ही प्रकारके चिन्तन और कर्ममें रत रहती हैं; क्योंकि उन्हें एक ही ईश्वरीय शक्ति प्रेरित और प्रभावित करती है।

श्रीओकाडा (मीशूशामा)-ने बताया कि ईश्वरने प्रेमके वशीभूत होकर पूरी सृष्टि और उसमें सभी वस्तुओंका निर्माण किया; किंतु मनुष्यने ईश्वरकी इच्छाके विरुद्ध व्यवहार करके अपने लिये अनेक विपत्तियाँ बुला लीं। यदि हम अपनी रक्षा करना चाहते हैं तो प्रायश्चित्त करके फिर उसके मार्गपर लौटें और अन्ततः उसके साथ एकाकार हो जायँ। इसका अर्थ है कि हम भगवान्से प्रेम करें और साथ ही सभी प्राणियोंसे भी प्रेम करें।

श्रीओकाडाने कहा है—'अपने विवेकको शुद्ध करो और तुम भगवान्‌को सुन सकोगे।' उन्होंने अपने अनुयायियोंसे कहा कि सदैव प्रार्थना करते रहो और यदि तुरन्त ईश्वरके संदेशोंको नहीं समझ सकते तो उस समयतक प्रतीक्षा करो जबतक ऐसा सम्भव नहीं हो जाता।

विवेकको अर्जित नहीं किया जा सकता। ईश्वर इसे उन्हें प्रदान करता है, जो उसपर विश्वास करते हैं और उसका संदेश सुनकर अपने जीवनको बेहतर बनाना चाहते हैं। जिसे विवेक या प्रज्ञा प्राप्त होती है, वह दूसरोंका मार्ग-दर्शन कर सकता है; क्योंकि उसकी पहुँच ईश्वरीय सत्यतक है। विवेकका आधार प्रेम है। जिसका विवेक जितना अधिक जाग्रत् होता है, उतना ही अधिक वह ईश्वर और मनुष्यसे प्रेम करता है। विवेकी पुरुष न केवल खुद ईश्वरकी इच्छाके अनुरूप तत्पर रहता है; बल्कि उन लोगोंके विचारोंमें भी गहराईसे झाँक सकता है, जिनकी वह सहायता करना चाहता है। विवेक या प्रज्ञा-सम्पन्न व्यक्ति ईश्वरके प्रति समर्पित होकर उसका यन्त्र बन जाता है। ऐसा व्यक्ति श्रीओकाडाके ईश्वरीय रहस्योद्घाटनों तथा उनपर आधारित उपदेशोंको भली प्रकार समझ सकता है।

श्रीओकाडाने अनुयायियोंको चेतावनी भी दी 'ज्यादा बुद्धिमान् बननेकी कोशिश न करो। बस, उस कामको अच्छे-से-अच्छे ढंगसे करते चलो, जिसे भगवान्ने तुमको सौंपा है और शेष उसपर छोड़ दो।'

मीशूशामाने भगवत्प्रेमकी अनेक कविताएँ जापानीमें लिखीं जो प्रार्थनाके रूपमें उनकी स्थापित संस्था 'सेकाई क्योसे क्यो' में दोहरायी जाती है। उनमेंसे एक कविता 'दिव्य प्रेम'-का हिन्दी पद्यानुवाद निम्नलिखित है—

प्रभो, सर्वोच्च गुणों के स्वामी, आप के प्रति हम समर्पित हैं।
हम आप के प्रेम और विवेक की अनन्तता को नहीं समझ सकते,
आप ही केवल अंतिम क्षण के स्वामी हैं,
आप ही जानते हैं कि हमारा अंतिम दिन कब होगा,
पूरा संसार और हमारी मुक्ति आपके हाथ में है।
हम ऊपर आकाश की ओर निहारते हैं,
आपकी अमोघ प्रज्ञा का चिन्तन करते हैं,
हमारे अन्तःकरण दिव्यता की ओर उन्मुख होते हैं,
आपके अनन्त प्रेम से विस्मित होकर।
हम धोखे या अज्ञान से विपथगामी हो सकते हैं,
चमक दमक से भी आप की सेवा नहीं हो सकती।
किंतु न्यायपूर्वक सौजन्य से आप हमें प्रेम देते हैं,
जैसे माता-पिता अपने पुत्र को।
आप हमेशा उस अर्जी को सुनते हैं जो उचित होती है।
हम आप के मार्गदर्शन का निवेदन करते हैं, हृदय खोल कर,
जोरे* की शक्ति को ग्रहण करें जो हमारे विश्वास को दृढ़ करे,
क्योंकि मुझे आपसे एकात्मता चाहिये।

मीशूशामाने ईश्वरको प्रेमका काव्य बताया है और

---

* स्थूल और सूक्ष्म शरीरको नीरोग एवं पवित्र करनेकी सरलतम विधि।

कहा है कि वही हमारा मुख्य उपास्य है। देवी-देवताओंसे भी सहायता मिलती है। चूँकि भगवान्‌को सामान्य मनुष्यकी सामान्य आँखोंसे देखा नहीं जा सकता, इसीलिये सभी महत्वपूर्ण धर्मोंका उद्देश्य उसकी पूजा-उपासना करके उसे अपने जीवनमें सर्वोच्च महत्त्व देना है।

इस जापानी संतने भारतीय संत कबीरकी शैलीका अनुसरण करते हुए इस सत्यका उद्घोष किया है कि ईश्वर मुख्यतः प्रेम और करुणासे परिपूर्ण है। अतएव उसे पानेके लिये मनुष्यको किसी प्रकारका शारीरिक कष्ट उठानेकी जरूरत नहीं। वह तो प्रेमसे ही पाया जा सकता है। बहुत शारीरिक कष्ट उठाकर तप और अनशन आदि करनेवालोंको तो ईश्वर-मिलनमें देरी लग सकती है, किंतु उत्कट प्रेमसे वह शीघ्र प्राप्य है। मीशूशामाने ईश्वरकृपाको ही सच्चा चमत्कार बताया है। उन्होंने भौतिक जगत्‌की सारी खराबियोंकी जड़में ईश्वरके प्रति प्रेम और आस्थाका न होना ही कहा है। उनका यह भी कहना था कि सृष्टि, पालन और संहार करनेवाला एक ही ईश्वर है, उसे चाहे जिस नामसे पुकारा जाय।

इस प्रकार प्राच्य देश जापानसे प्रेमी संत मीशूशामाद्वारा प्रवाहित आध्यात्मिक धारा मूलतः भारतकी आध्यात्मिक धारासे मिलकर एक गङ्गा-जमुनी विशाल धाराके रूपमें प्रस्फुटित होकर जगत्‌को भगवत्प्रेमका संदेश पहुँचानेके लिये तीव्ररूपसे मुखर है।

* * *

सेवा—प्रेमप्राप्तिका साधन

(डॉ० श्रीसोमनाथ मुखर्जी, एम०बी०एच्०एस०, एम०आर०एच्०सी०)

प्राणिमात्रकी सच्ची सेवा ही अपनेमें सम्पूर्ण साधना है। चिकित्सक यदि रोगीमात्रको नारायण समझकर सेवा करे तो उसे भगवत्प्रेमकी अनुभूति होती है। ऐसा होनेपर कोई संकोच, ऊँच-नीचका विचार, सुगन्ध या दुर्गन्धसे व्यवधान उसके मनमें नहीं आयेगा। इससे रोगी और चिकित्सकमें प्रेम बढ़ेगा, रोगी मनसे चिकित्सकको श्रद्धास्पद, शुभचिन्तक समझने लगेगा। इस प्रकारसे रोगीकी चिकित्सा करनेसे भगवत्कृपाकी भी प्राप्ति होती है और रोगी नीरोग भी हो जाते हैं; साथ ही रोगके ठीक न होनेपर रोगी तथा उनके परिवारके सदस्योंके मनमें चिकित्सकके प्रति श्रद्धामें कमी नहीं आती; क्योंकि वे चिकित्सकको भी अपने घरका ही सदस्य समझने लगते हैं। इसीलिये कहा गया है कि नरसेवा नारायणसेवा होती है।

चिकित्साशास्त्रमें चिकित्सकके लिये यह निर्दिष्ट है कि उसमें मुख्यरूपसे मैत्रीका भाव होना चाहिये। वह सबसे मैत्री रखे, किसीसे भी द्वेष-घृणा न करे, रोगियोंके प्रति कारुण्य रखे, निष्ठुर न बने, उनकी सेवाका भाव रखे (चरक, सू० ९।२६)। इसी प्रकार यह भी बताया गया है कि 'प्राणिमात्रपर दया करना ही सर्वोत्तम धर्म है'—ऐसा सोचकर ही चिकित्सकको चिकित्सा-कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये, इसीमें उसकी सफलता है और इसीसे उसे सच्चे सुखकी प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि सच्चा प्रेम, सच्ची सेवा ही चिकित्सकका मुख्य धर्म है—

परो भूतदया धर्म इति मत्वा चिकित्सया।
वर्तते यः स सिद्धार्थः सुखमत्यन्तमश्नुते॥

(चरक, चि० १।४।६३)

वैसे हमारे समाजमें अनेक चिकित्सा-पद्धतियाँ प्रचलित हैं, जैसे—आयुर्वेदिक, होमियोपैथिक तथा एलोपैथिक आदि। इन सभी पद्धतियोंका उद्देश्य रोगीको आराम पहुँचाना और उसे पूर्णरूपसे नीरोग करना है। यदि सब मिलकर आपसमें परामर्श तथा विचार करके रोगीकी चिकित्सा करें तो सफलता भगवत्कृपासे अवश्य मिलती है। रोगी भी रोगके उपचार करानेके साथ-साथ प्रभु-नामका स्मरण करे तो उसे कष्टसे शीघ्र छुटकारा मिलता है। कई ऐसे उदाहरण देखनेको मिलते हैं कि रोग लाइलाज है; परंतु निरन्तर प्रभुका स्मरण करनेसे उसके रोगमें भी कमी आ गयी है। यह सब चिकित्सा एवं प्रभु-स्मरणके संगमसे ही प्राप्त होता है।

अतः मेरा सभी चिकित्सक भाइयोंसे अनुरोध है कि सेवा और प्रेमभावसे रोगियोंकी चिकित्सा करनेसे ही रोगीको भगवत्कृपासे शीघ्र लाभ पहुँचेगा। अतः अपनी चिकित्सा-प्रक्रियाको साधनामय, सेवामय और प्रेममय बनाना चाहिये।

* * *

गोस्वामी तुलसीदासजीका दास्य-प्रेम

(डॉ० श्रीरामानन्दजी तोष्णीवाल, विशारद, एम्०ए०, एम्०फिल्०, पी-एच्०डी०)

भगवान्‌के साथ रागात्मक सम्बन्धोंसे अनुप्राणित भक्ति चार प्रकारकी मानी गयी है—दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। तुलसीदासजीने इनमेंसे दास्यभावकी भक्तिका अनुसरण किया है। इसमें भक्त अपने आराध्यको स्वामी और स्वयंको दास समझता है। इसमें भय, संकोच और विनयभावकी प्रमुखता रहती है। हनुमान्, अंगद, अक्रूर और विदुर आदि इसी श्रेणीके भक्त माने जाते हैं।

तुलसीदासजीने दास्यभावको अपनाकर रामके सबल आधारका आश्रय लिया है। वे अपना परिचय देते हुए स्वयंको रामका दास कहते हैं—

रामबोला नामु, हौं गुलामु रामसाहिको॥

उनकी मान्यता है कि रामने दास-भक्तोंके लिये ही मनुष्यरूप धारण किया है। उन्होंने शबरी और गीध-जैसे उत्तम दास-भक्तोंका उदाहरण दिया है, जिन्हें श्रीरघुनाथजीने सद्गति प्रदान की है। उन्होंने दास्यभावकी भक्तिमें अपनी दृढ़ आस्था प्रकट की है।

(१) दास्य-भक्तिमें व्यक्तित्वका लोप—दास्य-भक्तिमें व्यक्तिका अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रहता अर्थात् वह अपने स्वामीके स्वरूपमें स्वयंको समाहित कर लेता है। इसका आदर्श उदाहरण हनुमान्‌जीका जीवन है। अशोकवाटिका-विध्वंसके बाद जब हनुमान्‌को नागपाशमें बाँधकर रावणके सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है, तब हनुमान्‌जी अपना परिचय 'पवनपुत्र' अथवा 'केसरीनन्दन'-के रूपमें न देकर अपने आराध्यके प्रतापका ही वर्णन करते हैं। इसी प्रकार जब हनुमान् अशोकवाटिकामें सीताके सम्मुख प्रकट होते हैं तो अपना परिचय रामदूतके रूपमें ही देते हैं—

राम दूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की॥

हनुमान्‌के मुखसे *'राम-दूत'* शब्द सुनते ही सीताजीको विश्वास हो जाता है कि हनुमान् मन, वचन और कर्मसे श्रीरघुनाथजीका दास है—

कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास॥

(२) दास-भक्तकी आकाङ्क्षा—भगवत्सेवा—दास-भक्त सदा भगवान्‌के चरणोंमें बैठकर उनकी सेवा करना चाहता है। मरणासन्न वालि भगवान्‌से यही प्रार्थना करता है—'मैं कर्मवश जिस योनिमें जन्म लूँ, वहीं रामके चरणोंमें प्रेम करता रहूँ'—

'जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ॥'

अयोध्यावासियोंके साथ गोस्वामीजीकी भी यही इच्छा है कि जन्म-जन्मान्तरतक राम उनके स्वामी एवं वे उनके दास बने रहें—

जेहिं जेहिं जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीं॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥

(३) सेवक-सेव्यमें अभेदका निर्माण—दास-भक्त दैन्यभावसे भगवान्‌को महान् एवं स्वयंको सर्वथा तुच्छ मानकर उनके वैभवपूर्ण रूपका वर्णन करता है। वह अपने आराध्यके प्रति अपने हृदयके भाव-विह्वल उद्गारोंसे उन्हें प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है, किंतु इस भावमें भगवान्‌की महानता एवं स्वयंकी तुच्छताकी दूरी बनी रहती है—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

लेकिन दास्य-भक्तिकी चरमावस्थामें सेवक और सेव्यमें कोई द्वैत नहीं रहता तथा वे अभिन्न हो जाते हैं। उस स्थितिमें सेव्यकी महत्ता और सेवककी दीनताके भावका ही तिरोभाव हो जाता है। इसलिये कहा जाता है कि जो गोत्र स्वामीका होता है, वही सेवकका भी होता है—

अति ही अयाने उपखानो नहि बूझैं लोग,
साह ही को गोतु गोतु होत है गुलामको॥

(४) भगवान्‌का दास-भक्तपर प्रेम—यह सम्पूर्ण विश्व भगवान्‌के द्वारा निर्मित है और पशु, पक्षी, देव, मनुष्य तथा असुरोंसहित जितने भी जड़-चेतन जीव हैं, उन सबपर उनकी समान रूपसे कृपा रहती है। लेकिन अनन्य एवं निष्काम सेवक भगवान्‌को प्राणोंके समान प्रिय होता है। भगवान् श्रीराम काकभुशुण्डिसे कहते हैं—

'सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।'

भगवान् श्रीराम हनुमान्‌से कहते हैं—'यद्यपि मुझे सभी समदर्शी कहते हैं; परंतु मुझे सेवक प्रिय है, क्योंकि वह अनन्यगति होता है'—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥

भगवान् श्रीराम तो अपने सच्चे सेवकोंके ऋणी बन जाते हैं। सीतान्वेषणके उपरान्त लङ्कासे लौटकर आनेपर भगवान् श्रीराम हनुमान्‌से कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥

(५) दास-भक्त भगवान्‌की छत्रच्छायामें सुरक्षित— दास-भक्त जानते हैं कि उनका स्वामी उनकी रक्षा करनेमें सदैव तत्पर एवं सर्वसमर्थ है। हनुमान् श्रीरामसे कहते हैं कि सेवक स्वामीके और पुत्र माताके भरोसे निश्चिन्त रहता है। प्रभुको अपने सेवकका पालन-पोषण करना ही पड़ता है—

सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥

भगवान्‌के दास-भक्त जब मोह-मायासे ग्रस्त होकर सन्मार्गसे भटकने लगते हैं, तब भगवान् स्वयं प्रकट होकर उनकी रक्षा करते हैं। नारद काम-भावनासे ग्रस्त होकर विश्वमोहिनीको प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌से उनके सौन्दर्यकी याचना करते हैं। वे भगवान्‌को स्मरण दिलाते हैं—'मैं आपका दास हूँ, आप मेरी सहायता कीजिये'—

जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा॥

भगवान् श्रीराम समझ जाते हैं कि दास-भक्त नारद काम-ज्वरसे पीड़ित है और रोगसे पीड़ित व्यक्तिको माँगनेपर भी वैद्य कुपथ्य नहीं देता। अत: वे उन्हें वानर-रूप प्रदान कर देते हैं। अन्तमें भगवान् मायाका पर्दा हटाकर दास-भक्त नारदकी रक्षा करते हैं।

मरणासन्न वालि अंगदके भविष्य एवं सुरक्षाके प्रति चिन्तित था। इसलिये वह भगवान् श्रीरामसे अंगदको अपना दास बनानेकी प्रार्थना करता है। वह जानता है कि श्रीरामके दास सदा सुरक्षित रहते हैं—

'गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिए॥'

(६) सेवा-धर्म कठिन है—सेवा-धर्म अत्यन्त कठिन है। एक सच्चा दास-भक्त आलस्य और प्रमादको त्यागकर कठोर कर्तव्यपालनके लिये सदा संनद्ध रहता है। वह क्षणभरके लिये भी विश्राम नहीं करता। इसका आदर्श उदाहरण हनुमान्‌जीका जीवन है। सीता-सुधिके लिये जाते हुए हनुमान्‌जीको मैनाक पर्वत विश्राम करनेकी प्रार्थना करता है, लेकिन वे उसे नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर देते हैं—

हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥

दास-भक्त अपने स्वामीकी आज्ञाका सदा पालन करता है। हनुमान् यदि चाहते तो अशोकवाटिकासे सीताजीको उठाकर रामके पास ले आते, परंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया; क्योंकि उनको ऐसी आज्ञा नहीं थी। उन्हें केवल सीता-सुधि लानेका ही कार्य सौंपा गया था। हनुमान् सीताजीसे कहते हैं—

अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई। प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई॥

सेवा-धर्म निभानेके लिये सांसारिक सुखोंकी लालसाका त्याग परमावश्यक है। कारण सुख, सम्पत्ति, वैभव और परिवार—ये सभी सेवा-धर्ममें बाधक हैं। सुग्रीव श्रीरामसे कहते हैं—

सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥
ए सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥

स्वयं सुग्रीव भी भोगोंमें लिप्त होकर राम-कार्यको भूल गये थे।

(७) रामसे रामके दास श्रेष्ठ हैं—गोस्वामीजी कहते हैं कि रामसे भी रामके दास श्रेष्ठ हैं—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥

गोस्वामीजीने इसके लिये हनुमान्‌के जीवनका उदाहरण दिया है। भगवान् राम तो सेतु बाँधकर समुद्रके पार उतरे, परंतु हनुमान् तो उसे लाँघकर ही चले गये—

साहब तें सेवक बड़ो जो निज धरम सुजान।
राम बाँधि उतरे उदधि लाँघि गए हनुमान॥

हनुमान्‌जीने अपनी सेवाके कारण ही देवत्व प्राप्त किया है। वे आज भी सर्वत्र वन्दित एवं पूजित हैं।

(८) दास्य-भावका अर्थ विवशता नहीं, स्वतन्त्रता— दास्य-भाव साधककी विवशता नहीं, अपितु स्वतन्त्रता है। जो रामका दास हो जाता है, उसे अन्य किसीके दास होनेकी आवश्यकता नहीं रहती। एक बार गोस्वामीजीको अकबरके दरबारकी मनसबदारीका प्रलोभन मिलनेपर उन्होंने कहा था कि वे तो रघुनाथजीके दास हैं, उन्हें किसीकी मनसबदारीसे क्या लेना-देना है—

हम चाकर रघुबीर के पटब लिखो दरबार।
तुलसी अब का होंहिगे नर के मनसबदार॥

इस प्रकार गोस्वामीजीने अपने सत्साहित्यमें दास्य-भक्तिका प्रतिपादन किया है। वे तो यहाँतक कहते हैं कि सेवक-सेव्य-भावके बिना संसारसे तरना सम्भव नहीं है—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

* * *

संतवाणीमें भगवत्प्रेम एवं प्रेमीकी दशा

(खेड़ापा-पीठाधीश्वर श्री १००८ श्रीपुरुषोत्तमदासजी महाराज)

[श्रीरामस्नेही-सम्प्रदायके खेड़ापा-पीठके द्वितीय आचार्य पूज्यपाद अनन्तश्रीविभूषित श्रीदयालुदासजी (श्रीद्यालदासजी) महाराजकी विपुल वाणीमेंसे भगवत्प्रेम तथा प्रेमीसे सम्बन्धित कुछ बातें पाठकोंकी जानकारीके लिये प्रस्तुत की जाती हैं—]

चौपाई—

प्रेम कि वातां प्रेम हि जानै, कबहू बकै हंसे हुय कानै।
कबहू मून गहे मुरछाई, कबहू ऊठ दशूं दिश ध्याई॥
निरत करै रोवण ही रोवै, गदगद कंठा उकलत होवै।
जोवन जोवे शबद प्रकाशा, रंग लग्यो किनहू नहिं आशा॥
कद छक बकता अनुभव ज्ञाना, कबहू गावत मरदंग नाना।
एह प्रेमी का चरित जु सारा, कहाँ लूं कहूं अपार अपारा॥
यह सरवर में झूली काया, नीर नीर नीरूं दरसाया।
पीत वदन सासा सीरांनीं, प्रेम प्रगट धारां दरसानी॥
खान पान नीका नहिं लागे, लघु निद्रा अहनिशि यूं जागे।
खीणे अंग व्रेहनी मोया, पलटै नैण दिष्ट नहिं कोया॥
हिरदै नहीं उपाधित कोई, इन्दर बाहिर तरसै सोई।
नख चख विचै राम धुन ध्याना, प्रेम लक्षणा व्रेह समाना॥

दोहा—

षट सरोज शुद्धत भया, खुली प्रेम की खान।
मन पवना एके-सदन, मिटी विकलता आन॥

इन्दव छन्द—

प्रेम झुलाय झुलाय असग्गत, प्रेम सवाय पौसाक न कोई।
प्रेमहि काजर प्रेमहि इन्दर, भूषण प्रेम समो नहिं होई॥
थानक थानक प्रेमहि दीसत, आठूंई अंग विचार के जोई।
खोर सिंगार[1] भई नव जोबन, व्रेहन स्वागन स्वाग नमोई॥
वैन अटप्पट नैन झटप्पट, लागे नहीं मनुं कछू पियारो।
शिव को पुत्र तास को वाहन, तासु को भक्षण सास वियारो[2]॥
सीत सुगन्ध शाखा मृग रिप्पव[3], भूषण है किन शक्र हत्यारो[4]।
कोटि रंतीपत व्रेह कि वेदन, के दिन के दिन आन जियारो॥

छन्द वीजूभाल—

घर न बार न याद न आवै, काम न काज न आज न स्वावै।
काल न स्वाल न पाल न कोई, गर्थ न अर्थ न तित्थ न जोई॥
वेद न रीत न द्वइत न अंगा, वादक रसादक अवर न संगा।
थान न मान न आन स नांई, भूत न प्रेत न दैत्य न खांइं॥
जन्त्र न मन्त्र न तन्त्र न लागय, डाकण साकण दूर सुं भागय।
दिष्ट न मुष्ट न कष्ट न मरही, जक्ष न भक्ष न रक्ष न करही॥
मान न कान न आन न धारण, प्रेम अनेम अखण्ड अकारण।
ठाँय न नांय न मांय न बारै, लोक न दोष न जोष न हारै॥

दोहा—

चित सकता आसक्कता, गूंगे चुपकत सैन।
भया अवलिया प्रेम का, उत्तर किस कूं देन॥

सोरठा—

निशदिन ऐसे रैत, भयो वावरो प्रेम को।
अपनी आपै लैत, गुरु पद चित अवगाहना॥

दोहा—

प्राण देह हरि वारणे, देऊं अनेक सु वार।
मैं उनमन्ता प्रेम का, दूजी सुद्ध न सार॥

[श्रीद्यालदासजी महाराजकी वाणी, ग्रन्थ गुरु-प्रकरण]

* * *

जुगुलकिसोर हमारे ठाकुर।
सदा सरबदा हम जिनके हैं, जनम जनम घरजाये चाकर॥
चूक परै परिहरैं न कबहूँ, सबही भाँति दयाके आकर।
जे श्रीभट्ट प्रगट त्रिभुवनमें, प्रनतनि पोषत परम सुधाकर॥

* * *

---

[1] सोलह शृङ्गार।

[2] शिवके पुत्र—कार्तिकेयके वाहन—मयूरके भक्ष्य—सर्पके मुखकी हवा अर्थात् शीतल, मन्द और सुगन्धित हवा सर्पमुखकी जहरीली हवाके समान लगती है।

[3] वस्त्र शाखामृग—बन्दरकी शत्रु—केंवच फलीके समान अनसुहाने लगते हैं।

[4] गहने इन्द्रके हथियार—वज्रके समान लग रहे हैं।

प्रेमदीवानी मीरा—खोल मिली तन गाती

मैं गिरधर रँग राती, सैयाँ मैं॥
पचरँग चोला पहर सखी री मैं झिरमिट रमवा जाती।
झिरमिटमाँ मोहि मोहन मिलियो खोल मिली तन गाती॥

जिस परम प्रेममूर्ति सौन्दर्यसुधासागर 'रसो वै सः'-की प्राप्तिहेतु न जाने कितने योगीश्वर, मुनीश्वर, ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी और विरागी आदि अपनी साधनाकी सुदृढ़ इमारत खड़ी करते रहे, पर शायद ही *'खोल मिली तन गाती'* का अवसर प्राप्त कर पाये हों, मगर मोहनकी मोहिनीके प्रति प्रेमदीवानी मीरा निरावरण, निरावगुण्ठित होकर मिली अपने प्रेमास्पदसे सिर्फ ढाई अक्षरके अमूल्य मूल्यपर।

मरुस्थलकी मन्दाकिनी, मधुर रसकी एकनिष्ठ साधिका, गिरिधरकी दीवानी मीराका नाम भक्ति-भारतीकी मधुमय धरोहर है। कृष्णभक्तिकी विरहवह्निमें विदग्ध व्यक्तित्वका नाम है मीरा। सच तो यह है कि सम्पूर्ण भक्तिकाव्यमें आराधना और उत्सर्ग, समर्पण तथा विसर्जनकी अन्यतम मूर्ति कोई है तो वह है मीरा। उसके ऐकान्तिक प्रेमोन्मादमें राजसीपन तिनकेकी तरह उड़ गया; कुल-मर्यादा ओसकी तरह विलीन हो गयी; लोक-लज्जाकी धूल उड़ गयी और अपने आराध्यको रिझानेके लिये—*'पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे॥'* पैरोंमें पञ्चतत्त्वका घुँघरू बाँधकर जो 'प्रकृति' अनन्तकालसे अनादि पुरुषको रिझानेके लिये नृत्य करती आ रही है, मानो मीरा उसीकी साकार प्रतिमा थी। उसका वह पुरुष नामरूप धारण करके श्रीवृन्दावनधाममें श्रीलीलाबिहारी मुरलीधर बन गया था और मीरा उसके चरणोंमें आत्मसमर्पण करनेके लिये नाच रही थी—निर्भीक, निगूढ़ एवं निश्छलभावसे। आत्मसमर्पणकी जितनी प्रबल भावना मीरामें है, उतनी अन्य किसीमें नहीं। मीराकी उपासनामें तन्मयता, वेदना और हृदयकी सच्ची पुकार है, जो जन-मनको आत्मविभोर कर देती है। जब प्रियमिलनकी उसकी उत्कण्ठाका भावोद्रेक नृत्यकी चञ्चल गतिमें अँट नहीं पाता था तो संगीतकी तानोंमें फूट पड़ता था और जब प्रेम-विरहकी उसकी मर्मान्तक पीड़ा संगीतकी तानोंमें भी सँभाले नहीं सँभलती थी तो वह पुनः पुकार उठती थी—*'श्रीगिरिधर आगे नाचूँगी॥'* श्रीगिरिधर गोपालकी अनन्य उपासिका, प्रेमातिशयताकी पीयूषवर्षी साधिका मीराकी अलौकिक प्रीतिकी अनुपमता श्रीनाभादासके शब्दोंमें देखने योग्य है—

सदृस गोपिका प्रेम प्रगट कलिजुगहिं दिखायो।
निरअंकुस अति निडर रसिक जस रसना गायो॥

× × ×

भक्ति निसान बजायके काहूँते नाहिन लजी।
लोकलाज कुल शृंखला तजि मीराँ गिरिधर भजी॥

सचमुच 'यथा व्रजगोपिकानाम्।' की अर्थव्यञ्जनाके अनुरूप भक्ति-साहित्यमें एकरस प्रेमाद्वैतका अविरल प्रवाह प्रवाहित करनेवाला कोई दिखता नहीं, चाहे वह प्रेम-प्रवाह संयोगका हो या वियोगका। लेकिन भक्तिके स्वच्छ निर्मल पथपर मीरा निश्चय ही मीरा है। तभी तो श्रीकृष्णभक्ति-धारामें प्रसादस्वरूप मिली मीराकी पदावलीका वर्ण-वर्ण है सुधिका दंशन, चरन-चरन है आह।

मीराकी वाणीमें जो विलक्षण दर्दके तराने उपलब्ध हैं, उसका एकमात्र कारण है—गिरिधर गोपालके प्रति उनकी अनन्यासक्तिजन्य प्रेमातुर अन्तरात्माके उत्कट उद्गार। उद्दाम निर्झरिणीके सदृश मीराके कलकण्ठसे अनायास ही तीव्र प्रेमानुभूतिजन्य मधुर भावोन्मादनका मञ्जुगान नहीं फूट पड़ा है, बल्कि वह तो *'प्रीति पुरातन लखइ न कोई'* का सहचर है—

आली रे मेरे नैणा बाण पड़ी॥
चित्त चढ़ो मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन अड़ी।

अर्थात् मीराके हृदयमें पूर्वजीवनसे ही शाश्वत प्रेमकी ज्योति जल रही थी। वही प्रेम साधनाकी गरिमामें तपकर मीराके जीवनदाता, जीवनसर्वस्व श्रीकृष्णके साथ विविधरूपोंमें मिलन करने लगा। परंतु *'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥ जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई।'*—की अनन्यता अनवरत अक्षुण्ण रही। माताद्वारा श्यामसुन्दरकी मूर्तिका बाल्यावस्थामें पतिरूपमें बीजवपनका ही यह पुख्ता असर था कि वह मनोहर विग्रह मीराका साजन बना रहा और जगत्की सारी मूर्तियाँ मूक बन गयीं। सचमुच वह मूर्ति जिसे अपनाती है, उसके सामनेसे जगत्की सारी मूर्तियाँ हटा लेती है; सारे बन्धन काट देती है। वह मूर्ति अपने प्रेमास्पदको अपनाती है—निरावरण एवं निरवगुण्ठितरूपमें।

ऐसा हो भी क्यों न। मीराका प्रियतम कोई साधारण प्राणी है क्या? नहीं, वह तो साक्षात् रसविग्रह प्रेममूर्ति ही है। इसीलिये तो उस सरस श्रीविग्रहका अनुपम आश्वासन है स्वजनोंके लिये—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' जो भक्त मेरे पादपद्ममकरन्दके रसिक हैं, उनके लिये मैं भी परम मधुर होकर उनकी आकाङ्क्षा-पूर्ति करता हूँ। जगत्की जानलेवा ठोकरें खाकर भी मीरा जगत्की ओर नहीं मुड़ी, उसने जगन्नाथकी देहलीका ही सहारा लिया। लोक-लाज, कुल-मर्यादा सब मीराको छोड़ना पड़ा और मीरा दीवानी हो गयी। मात्र एक बूँद—***'सा परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च॥'*** पीकर इतनी बड़ी क्रान्ति कर डाली। एक प्रेमीके शब्दोंमें—

राजवंशकी रानी पी गई एक बूँद इस रस का।
आधी रात चली महलों से मनवाँ रहा न बस का॥
गिरधर की दीवानी मीराँ ध्यान छुटा अपयश का।
बन बन डोले श्यामबावरी लगा नाम रस चसका॥

वन-वन डोलनेका मात्र एक कारण है, एक ही भाव है, एक ही रस है और एक ही रंग है तथा वह यह कि मैं श्रीगिरिधर लालकी अपनी हूँ और उनके द्वारा अवश्य अपनायी जाऊँगी। इतना संकल्प करते ही भावविह्वल मीरा गा उठती है—***'अँसुवन जळ सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई। अब तो बेल फैल गई आणँद फल होई॥'*** कौन सी बात ***'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥'*** ***'अब काहेकी लाज सजनी परगट ह्वै नाची॥'*** भक्तवर श्रीध्रुवदासजीने इस नृत्यपर रीझकर श्रीमीराजीको भक्तिकी खान कहा है—

लाज छांड़ि गिरधरं भजी करी न कछु कुल कानि।
सोई मीराँ जग विदित प्रगट भक्ति की खानि॥

वस्तुतः मीराका प्रेम भावलोककी वस्तु है, सांसारिकता तो उसकी सीमा-रेखाके पास भी नहीं फटकती। उसकी वृत्ति एकान्ततः और समग्रतः प्रेममाधुरीमें ही रमी रहती है। आखिर मीरामें इतनी अद्भुत दीवानगी अथवा अनन्यता आयी कहाँसे? क्या पाषाणविग्रहमें दूलहकी स्वीकृतिसे? प्रीति पुरातनसे? संत-साहचर्यसे? या सांसारिक प्रताड़नासे? कुछ कहा नहीं जा सकता है **'इदमित्थम्'** रूपसे। अगर साक्ष्य ही खोजना है तो मतवारी मीराकी वाणी ही एकाधार है। वह प्रेमरोगकी रोगिणी थी। वह भी इस जन्मकी नहीं जन्म-जन्मकी। वह केवल इसी जन्ममें गिरिधरकी प्रिया नहीं है, वह पतिव्रता तो जन्म-जन्मान्तरसे श्रीकृष्णकी दासी है। तभी तो भगवान्‌के सच्चे भक्तोंको पग-पगपर सहारा मिलता है। कारण स्पष्ट है, वह कहती है—***'सखी म्हारो कानूड़ो कळेजेकी कोर।'*** कनौडे कन्हैयाकी सेवा, पूजा, आराधनामें सतत संलग्न रहती हुई भी मीराका प्रधान स्वर था—***'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥'*** ***'जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई।'*** का प्रधान स्वर कभी मन्द नहीं पड़ता। सच्ची सेविकाकी भाँति अतिशय मधुर भावसे वह मनमोहन मुरलीवालेकी पूजा करती थी।

भगवान् ही उसके सब कुछ थे, किसी औरकी आस न करती थी। मीरा मस्तीमें आ करके आँसू भी बहाया करती थी।

उत्तम पदार्थ बना श्रद्धासे वह भोग लगाया करती थी। इतना ही नहीं—*'इकतारा सुन्दर हाथमें ले गिरधर गुण गाया करती थी'*—

हे री मैं तो दरद दीवाणी मेरो दरद न जाणै कोय।
घायलकी गति घायल जाणै जो कोइ घायल होय।

× × ×

दरदकी मारी बन-बन डोलूँ बैद मिल्या नहिं कोय।
मीराकी प्रभु पीर मिटेगी जद बैद साँवलियाँ होय॥

नीरस संसारी स्वार्थी जीव घायल जिगरकी वेदना, कसक एवं दर्दके तलस्पर्शी तरानोंको भला कैसे समझ सकता है। सचमुच मीराके लिये तो साँवले-सलोने, कारे-कजरारे श्यामघन घनश्याम ही एकमात्र मर्मी वैद्य हैं, जो बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग दोनों पीड़ाओंको स्पर्श नहीं, दर्शन देकर शान्त कर सकता है; क्योंकि मीराका कथन है—

एक मोहन ही मेरा घर बार भी आराम भी।
मेरी दुनियाँ की सुबह और मेरे जग की शाम भी॥
राज औ सरताज मोहन के सिवा कोई नहीं।
वैद्य मेरे रोग का मोहन सिवा कोई नहीं॥

धन्य है मीराका 'परम भाव' अपने मोर-मुकुटवालेके प्रति।

इस परम प्रेमभावके परवश होकर ही तो वह नाच उठी थी—***'पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे॥'*** इस नर्तनके उपहारस्वरूप मीराको मिला क्या—कुलनाशिनी, बावरी और मदमाती आदि विशेषण। परंतु दुनियासे बेपरवाह मीराको हाँसी, कुलनाशी आदि बदनामी भी अति मीठी लगती है। बुरी-भली कथनीसे उसकी अनूठी चालमें अन्तर

नहीं पड़ता। सदा 'रामखुमारी' में मस्त डोलती रहती। बड़े ही उच्च स्वरमें ढिंढोरा पीटकर बोलती—*'परवाह नहीं चाहे दुनिया कहे नचनियाँ रे मोर गिरधर पाहुनमा।'* एक अन्य प्रेमीने भी प्रेमबावरी मीराकी दशाका अच्छा अभिव्यञ्जन किया है—

लोक लाजकी बाधाओंसे जिसकी मति नहिं डोली।
हीरे मोती वारे रज पर ब्रजरसिया की हो ली॥
पथ की विकट समस्याओंसे हँसते-हँसते बोली।
मैं गिरधर की गिरधर मेरा तू क्यों करो ठिठोली॥

ऐसे रागीपर शत-शत वैरागी न्योछावर होनेको मचल जायँगे, मगर घोर अहंकारी संसारी राणा तो मीराका परम बागी बन बैठा। हमेशा मीराका नामोनिशान मिटानेके लिये तत्पर चिन्तित एवं बेचैन—

जहाँ भी राणा बैठते, करते थे ये जिक्र।
किसी तरह मीरा मरे यही थी उनको फिक्र॥

समाजवालोंने मीराको विकट यातनाएँ दीं। मगर प्रेम-दीवानी, अपनी धुनकी पक्की सभी आपत्तियों एवं अवहेलनाओंको अङ्क लगाती रही—

यों तो राणा ने दिये मीराँ को बहुत कष्ट।
पर गिरधर की कृपा से हुए सभी ये नष्ट॥

ऐतिहासिक परिवेशमें कथा आती है कि राणाने मीराको मारनेके लिये भूतमहलमें निवास दे दिया था। वहाँ मीराने—

हरिकी सेवा-पूजा ठानी।
सुनि कीर्तन अमृतमय बानी॥
भयो उन प्रेतन को उद्धार।
प्रगट भए रूप चतुर्भुज धार॥
व्यक्त किये मीरा प्रति आभार।

चाल उलटी हो गयी मीरा तो मरी नहीं, बेचारे प्रेत अवश्य तर गये—

आशीष दे पितर गये हरि धामा।
मीरा हृदय भयो विश्रामा॥

अन्तमें हारकर राणाने कहा—

आखिर मीरा से कहा राणा ने सब हाल।
गिरधर का अब छोड़ दो अपने मनसे ख्याल॥

मीराने कहा—

ऐ राणा हमें आस है गिरिवरधारी का।
तुम भी अब मन से भजन करो मनमोहन मदन मुरारी का॥

मीराकी बात सुनकर राणा व्यथित हुए। गुस्सेसे काँपने लगे—

क्रोधित हो काढ़ि कृपाण लिये, और रक्त वर्ण दो नैन हुए।

राणाने अपने हाथों मीराको समाप्त करनेके लिये कृपारहित होकर कृपाण तो निकाल लिया, मगर बहूपर हाथ छोड़नेमें लोककी लज्जाने उन्हें लगाममें कस दिया। कालान्तरमें राणा कालकवलित हुए और उनका लघुभ्राता विक्रम सिंह मीराके लिये *'कालहु कर काला'* के रूपमें साबित हुआ। उसने मीराके सफायेके लिये क्रूरतम कृत्य किये। मीराका अपने गोविन्दका चरणामृत-पानका नित्य-नियम था—

राणाजी म्हे तो गोबिंदका गुण गास्याँ।
चरणामृतको नेम हमारे, नित उठ दरसण जास्याँ॥
हरिमंदिरमें निरत करास्याँ घूँघरिया धमकास्याँ।

इस प्रेम-निष्ठाकी आड़में राणाने—*'विष को प्याला दिये पठाई।'* और कहा गया कि यह प्रभुका चरणामृत है—*'प्रभुको चरणामृत बतलाई॥'* विष-प्रेषणकी घटनाको मीराने स्वयं कई पदोंमें स्वीकारा है—

विष का प्याला राणाजी भेज्या, पीबत मीराँ हाँसी रे।
कोई कहे मीराँ भई बावरी, कोई कहे मदमाती रे।
विष का प्याला राणा भेज्या, अमृत कर आरोगी रे॥
राणा जी थे जहर दियो म्हे जाणी।
विष को प्यालो भेजियो जी, जाओ मीरा पास।
कर चरणामृत पी गई, म्हाँरे गोबिंद रे बिस्वास॥

अर्थात् *'सुमिरि के प्यारे गिरधर राय। पी गई मीरा सहज सुभाय॥'* श्रीगिरिधरकी अनन्यानुरागिणी एकनिष्ठ पुजारिन मीरा जहरको प्रभुका चरणामृत मानकर प्रेमपूर्वक नित्यकी भाँति आरोग गयी। आज जहर भी मारकसे धारक बनकर धन्य हो गया—**'अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्'** मन्त्रका दिव्यतम प्रकाश एवं ऐतिहासिक प्रमाण बन गया। जहरपानके बाद मीराकी कान्ति और निखर गयी, क्यों नहीं, यदि किसीकी मृत्यु टल जाय तो उसके आननके आलोकका क्या कहना। *'तेज जिमि कंचन तापत पाय।'* आज सोना सांसारिक विघ्न-बाधाओंकी अग्निमें तपकर कुन्दनवत् कमनीय लग रहा था। वह स्वर्णिम पात्र थी—भक्तिमती प्रेमयोगिनी मीरा। *'तेरा कोई न रोकन हार मगन होई मीरा चली।'* कहाँ? *श्याम सुन्दर गली ओर।'*

घोर हलाहल गरल सुधा की धार बनाकर चल दी।
कालरूप मृगराज साँवरा यार बनाकर चल दी॥

अविनाशीकी गोदमें, नित्य झुरमुटमें खेलनेवाली

दिव्य दासीको जगत्-वासी मिटाना चाहते हैं, भला यह कैसे सम्भव हो सकता है—

वैरी वपुरा क्या करे जब हरि बचावनहार।
वैरी के दो हाथ हैं, हरि के हाथ हजार॥

हजार हाथोंसे जिसका अभेद रक्षा-कवच तत्पर है; निज दासीकी रक्षाके लिये; भला दो हाथवाला उसका क्या बिगाड़ सकता है—*'जाको राखे सारंगपानी उसका कौन बिगाड़ेगा।'* मगर अहंकारी सिरफिरेको प्रभुके लाख चमत्कार दिखायी पड़ जायँ, लेकिन उसका सिर फिरता नहीं। आक्रोशाभिभूत राणा मर्यादाकी सीमारेखा लाँघ जाता है और अन्तिम उपाय करता है। एक भयंकर विषधर काले नागको शालग्रामकी प्रतिमा कहकर मीराके पास भेजता है—

बन्द पिटारी सर्प पठायो बचननि शालिग्राम बतायो।

कहीं-कहीं वर्णन मिलता है कि 'माताने भूषण पहननेके लिये तुमको दिया।'

चाहे औरोंके लिये जो हो मगर मीराके लिये तो सर्वोपरि शोभादायक गहना शालग्राम ही था।

साँप था उसमें भरा सोचा कि खोली जायगी।
नाग के डँसते ही मीराँ खत्म बोली जायगी॥
दीवानी मीराने भी एकान्तमें प्यारसे खोलकर देखा।
साँवली सूरत कन्हैयाकी नजर आयी तभी॥

मीराके हर्षका पारावार नहीं—*'दिवानी बिकी आज बेमोल। मिले प्यारे गिरधर अनमोल मगन ह्वै नाचति हरि हरि बोल॥'* कैसे? सूना-सूना नहीं—*'पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे॥' विषधर काला नाग शालिग्रामको हार बनाकर नाची रे।*

प्रेमियोंके पथकी बाधाएँ उनके लिये सुखद पाथेय होती हैं। लेकिन इतनी कड़ी कसौटीपर प्रेमबावरी मीरा ही धीरा बनी रही, सामान्योंके लिये तो अधीराका ही अवलम्ब है। शायद इसी ऊबन-घुटनके चलते मीराने गोस्वामी तुलसीदासको करुणाप्लावित करनेवाला पत्र लिखा था और तुलसीने पत्रोत्तर दिया था—*'दिये पत्रोत्तर तुलसीदास। तजिय हरि बिमुखन को सहवास॥ एक प्रभु चरन कमल की आस।'*

और फिर *'या ब्रज में कछु देख्यौ री टोना।'* *'मोहि नीको लागो वृन्दावनधाम'* का पावन-संस्पर्श वह प्राप्त करने लगी। अन्तमें राणापर संकट आया। अपनी भूलपर पश्चात्ताप करता हुआ वह मीराके चरणोंपर पड़ा। वृन्दावनसे विरत कर पुनः घर लौटनेका आग्रह किया गया, परंतु प्रेमपथिका पुनः घर नहीं लौटी। पुनः *'मीराबाई बादमें बसी द्वारिका जाय।'* वहाँ भी पुरातन दिनचर्या—*'पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे॥'* मन्दिर-मूर्ति, अग-जग सब इस धुनमें, नृत्यमें इस गतिमें लय हो रहे हैं। रोम-रोममें हरिकी ध्वनि, प्राणोंमें आकुल-विरह-पीड़ा और पीड़ा-सेतुपर मधुर-मिलन, मधुमयी यात्रा—मीराका नित्य-कृत्य।

आज रणछोड़जीके मन्दिरकी मनमोहक छटा है। मीरा सज-धजकर मादकताके करुणापूर्ण स्वरमें गा उठती है—*'श्रीगिरधर आगे नाचूँगी।'* मधुर मञ्जुल स्वरमें नूपुर बज उठे फिर नूपुर, नूपुर, नूपुर। आत्यन्तिक आभा-प्रभाकी चमकमें नाचती मीराकी ज्योति चपलाकी चमककी तरह मोहनकी मुसकुराती सूरतसे जा मिली। लोग ठगे-से अवाक् रह गये और मीरा *'खोल मिली तन गाती।'* निरावरण, निरवगुण्ठित बावरी दीवानी मीरा। *'गिरधर के तन से मिल्यो, ललित चूनरी छोर। काहू को नहिं लखि पर्‍यो मीरा गई किस ओर॥'* मगर चूनरी और पीताम्बरके छोरका गँठजोर अमिट अचल-अविचल कहानी बन गया। कौन किससे मिला? कहना कठिन है। मीरा मतवारीकी चूनर लहराती रही भक्तोंके आवाहन-आश्रयके लिये। ऐसे दिव्य-मिलनको देखकर कौन नहीं कह उठेगा—*'कबहुँक हौं यह मिलनि लहौंगो।'* लेकिन ऐसी प्रीति नहीं है सबके मानकी। संतोंद्वारा यह कहा जाता है कि जिस दिनसे बावरी मीरा गिरिधरकी तड़पमें रणछोड़जी (भगवान् श्रीकृष्ण)-की दहलीज पारकर उनसे मिल गयी, उसी रोजसे चौखटकी सतहको ऊँचा कर दिया गया, ताकि कोई आशिक़ आसानीसे आलिङ्गन न पा सके। माना कि चौखट अथवा दरवाजा ऊँचा कर दिया गया—परंतु जो आशिक़ है साहब, फाँदकर दीवार आता है। अवरोध प्रेमियोंके समक्ष असम्भव—प्रेमियोंके लिये परम पाथेय जो छोड़ गयी प्रेमयोगिनी मीरा—*'बाहर ते दिखात रह्यो चूनरीको चीरा है॥'*

[प्रो० श्रीइन्द्रदेवप्रसाद सिंह]

* * *

मीराकी प्रेम-साधना

(श्रीअर्जुनलालजी बंसल)

पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे।।
मैं तो मेरे नारायणकी आपहि हो गइ दासी रे।
लोग कहै मीरा भई बावरी न्यात कहै कुळनासी रे।।
बिषका प्याला राणाजी भेज्या पीवत मीरा हाँसी रे।
मीराके प्रभु गिरधर नागर सहज मिले अबिनासी रे।।

—माधुर्य रससे ओत-प्रोत यह रचना जब सुनायी देती है, उस समय आँखोंके सामने एक दिव्य स्वरूपधारिणी राजस्थानी युवतीकी मनमोहक छवि प्रगट हो जाती है। एक हाथमें इकतारा दूसरेमें खड़ताल, पैरोंमें घुँघरू बाँधे, पलकें अधमुँदी-सी अपने साँवरे सलोनेके आगे नाचती-गाती यह प्रेम-दीवानी वैरागिन मीराबाईके नामसे आध्यात्मिक जगत्‌में अमर हो गयी। कहा जाता है कि बचपनमें कोई साधु इन्हें श्रीकृष्णकी एक अति सुन्दर मूर्ति दे गया था। मीरा इसके प्रति आकर्षित हो गयी और इसकी भक्तिमें लीन रहने लगी।

समयके साथ-साथ मीरा सयानी हो गयी। कुमार भोजराजके संग मीराका विवाह हो गया, परंतु यह सम्बन्ध केवल औपचारिक ही रह गया। मीराने तो कृष्ण कन्हैयाका वरण कर लिया था और अपने मनके भाव व्यक्त करते हुए लिखा था—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।।
जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई।
तात मात भ्रात बंधु आपनो न कोई।।
छाँड़ि दई कुळकि कानि कहा करिहै कोई।
संतन ढिग बैठि बैठि लोकलाज खोई।।
चुनरीके किये टूक ओढ़ लीन्हीं लोई।
मोती मूँगे उतार बनमाला पोई।।
अँसुवन जळ सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई।
अब तो बेल फैल गई आणँद फल होई।।
दूधकी मथनियाँ बड़े प्रेमसे बिलोई।
माखन जब काढ़ि ळियो छाछ पिये कोई।।
भगति देखि राजी हुई जगत देखि रोई।
दासी मीरा लाल गिरधर तारो अब मोही।।

मीराने इस भौतिक जगत्‌का सर्वथा त्याग कर दिया था। पारिवारिक नाते सब तोड़ दिये थे एवं केवल एकके संग नाता जोड़कर उसीके चिन्तनमें, उसीके प्रेममें मग्न रहने लगी—

मैं तो साँवरेके रंग राची।
साजि सिंगार बाँधि पग घुंघरू, लोक-लाज तजि नाची।।
गई कुमति, लई साधुकी संगति, भगत, रूप भइ साँची।
गाय गाय हरिके गुण निस दिन, कालब्यालसूँ बाँची।।
उण बिन सब जग खारो लागत, और बात सब काँची।
मीरा श्रीगिरधरन लालसूँ, भगति रसीली जाँची।।

मीराको अपने गिरधरके प्रति प्रेमकी अनुभूतिमें सदैव उन्हींके दर्शन हुआ करते थे—

बसो मोरे नैननमें नँदलाल।।
मोहनी मूरति साँवरि सूरति नैणा बने बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजत उर बैजंती-माल।।
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित नूपुर सबद रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई भगतबछल गोपाल।।

मीराकी प्रेम-साधना प्रारम्भ हुई। अपने साँवरो सलौनेसे वह प्रार्थना करती है—

स्याम! मने चाकर राखो जी।
गिरधारीलाल! चाकर राखो जी।।
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठ दरसण पासूँ।
बिंद्राबनकी कुंजगलिनमें तेरी लीला गासूँ।।
चाकरीमें दरसण पाऊँ सुमिरण पाऊँ खरची।
भाव भगति जागीरी पाऊँ, तीनूँ बाता सरसी।।
मोर मुगट पीतांबर सोहै, गल बैजंती माळा।
बिंद्राबनमें धेनु चरावे मोहन मुरलीवाळा।।
हरे हरे नित बाग लगाऊँ, बिच बिच राखूँ क्यारी।
साँवरियाके दरसण पाऊँ, पहर कुसुम्मी सारी।।
जोगी आया जोग करणकूँ, तप करणे संन्यासी।
हरी भजनकूँ साधू आया बिंद्राबनके बासी।।
मीराके प्रभु गहिर गँभीरा सदा रहो जी धीरा।
आधी रात प्रभु दरसण दीन्हें, प्रेमनदीके तीरा।।

मीरा अपने सच्चे पतिके दर्शन करना चाहती थी। उनसे मिलनेकी अभिलाषा हुई। उसने मन-ही-मन यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि अब प्रीतमके देश जाना ही

उचित होगा। वह जानती थी कि उसकी प्रेम-साधना वृन्दावनमें फूले-फलेगी। उसकी लेखनी सजीव हो उठी। वृन्दावनकी महिमाका वर्णन करते हुए उसने लिखा है—

आली! म्हाँने लागे बृंदाबन नीको।
घर-घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसण गोबिंदजीको॥
निरमल नीर बहत जमनामें भोजन दूध दहीको।
रतन सिंघासण आप बिराजै मुगट धर्‍यो तुलसीको॥
कुंजन-कुंजन फिरत राधिका सबद सुणत मुरलीको।
मीराके प्रभु गिरधर नागर भजन बिना नर फीको॥

अपने साँवरेके प्रति समर्पणभाव व्यक्त करते हुए मीरा गुनगुना उठती है—

मैं गिरधरके घर जाऊँ।
गिरधर म्हाँरो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ॥
रैण पड़ै तबही उठ जाऊँ भोर भये उठि आऊँ।
रैन दिना वाके सँग खेलूँ ज्यूँ त्यूँ ताहि रिझाऊँ॥
जो पहिरावै सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उणकी प्रीति पुराणी उण बिन पल न रहाऊँ॥
जहाँ बैठावें तितही बैठूँ बेचै तो बिक जाऊँ।
मीराके प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ॥

मीराके मनमें अपने प्रेमीको रिझानेके लिये प्रेमकी उत्ताल तरङ्गें हिलोरें लेने लगीं—

श्रीगिरधर आगे नाचूँगी॥
नाच-नाच पिव रसिक रिझाऊँ प्रेमी जनकूँ जाचूँगी।
प्रेम प्रीतिका बाँधि घूँघरू सुरतकी कछनी काछूँगी॥
लोक लाज कुळकी मरजादा यामें एक न राखूँगी।
पिवके पलँगा जा पौढूँगी मीरा हरि रँग राचूँगी॥

प्रेम-साधनके उच्चतम शिखरकी ओर अग्रसर मीराके ये भाव पाठकोंको आकर्षित करनेमें पूर्ण सक्षम हैं—

मैं गिरधर रँग राती, सैयाँ मैं॥
पचरँग चोला पहर सखी री मैं झिरमिट रमवा जाती।
झिरमिटमाँ मोहि मोहन मिलियो खोल मिली तन गाती॥
कोईके पिया परदेस बसत हैं लिख लिख भेजैं पाती।
मेरा पिया मेरे हीय बसत हैं ना कहुँ आती जाती॥
चंदा जायगा सूरज जायगा जायगी धरण अकासी।
पवन पाणी दोनूँ ही जायँगे अटल रहै अबिनासी॥
और सखी मद पी-पी माती मैं बिन पियाँ ही माती।
प्रेमभठीको मैं मद पीयो छकी फिरूँ दिन-राती॥
सुरत निरतको दिवलो जोयो मनसाकी कर ली बाती।
अगम घाणिको तेल सिंचायो बाळ रही दिन-राती॥
जाऊँनी पीहरिये जाऊँनी सासरिये हरिसूँ सैन लगाती।
मीराके प्रभु गिरधर नागर हरिचरणाँ चित लाती॥

दीर्घावधितक मीरा गिरिधरसे मिलनेकी आतुरता लिये वृन्दावनमें घूमती रही, ढूँढ़ती रही, परंतु जिसकी खोजमें वृन्दावन आयी, वह नहीं मिला। किन्तु कृष्ण-प्रेममें आकण्ठ डूबी मीराने धैर्य नहीं छोड़ा। संवत् १६०० के लगभग पैरोंमें घुंघरू बाँध, होठोंपर यह दर्दभरा भावपूर्ण पद गाती-नाचती मीरा द्वारका पहुँच गयी—

हे री मैं तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणै कोय॥
घायलकी गति घायल जाणै जो कोइ घायल होय।

मीरा रणछोड़रायजीके मन्दिरमें रात-दिन नृत्यमें लीन रहने लगी। मन्दिरके प्राङ्गणमें भगवान्‌के सामने प्रेमाराधना करने लगी—

प्यारे दरसन दीज्यो आय, तुम बिन रह्यो न जाय॥
जळ बिन कमल, चंद बिन रजनी, ऐसे तुम देख्याँ बिन सजनी।
आकुळ व्याकुळ फिरूँ रैन दिन, बिरह कलेजो खाय॥
दिवस न भूख, नींद नहिं रैना, मुख सूँ कथत न आवे बैना।
कहा कहूँ कछु कहत न आवै, मिलकर तपत बुझाय॥
क्यूँ तरसावो अंतरजामी, आय मिलो किरपाकर स्वामी।
मीरा दासी जनम-जनम की, पड़ी तुम्हारे पाय॥

एक दिन प्रेम-साधनाके समय घुँघरुओंकी तीव्र ध्वनिके साथ मीराके मुखसे यह बोल निकल पड़े—

तुम्हरे कारण सब सुख छोड्या अब मोहि क्यूँ तरसावौ हौ।
बिरह-बिथा लागी उर अंतर सो तुम आय बुझावौ हौ॥
अब छोड़त नहिं बणै प्रभूजी हँसकर तुरत बुलावौ हौ।
मीरा दासी जनम-जनमकी अंगसे अंग लगावौ हौ॥

इतिहास साक्षी है कि मीराको नृत्यावस्थामें उन्मत्त देख भगवान् श्रीकृष्णने उसे अपने हृदयमें विराजमान कर लिया। मीरा सदेह उनके श्रीविग्रहमें विलीन हो गयी।

मीराकी प्रेम-साधना अमर हो गयी। इनकी भक्तिपरक रचनाएँ भक्तिजगत्‌की अमूल्य धरोहर हैं।

* * *

कबीरका भगवत्प्रेम

(विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीरंजनसूरिदेवजी)

भगवत्प्रेमी संत कबीरदास उस निर्गुण ब्रह्मके उपासक थे, जिसका साक्षात्कार ज्ञान-सूर्यसे प्रकाशित अन्तर्हृदयमें ही सम्भव है। परमात्माका प्रत्यक्षीकरण तो मिथ्यात्वसे सर्वथा मुक्त निराडम्बर आत्मामें ही सुलभ हो सकता है। जो साधक भगवान्‌को सीमामें बाँध देता है, ईश्वरका सत्स्वरूप उसकी अनुभूतिसे परे हो जाता है। संत कबीरदासने सभी प्रकारकी सीमाओंसे परे होकर ब्रह्मको अपनी अन्तरात्मामें अनुभव किया था।

कबीरके युगमें तत्त्व-चिन्तन तथा योग-साधनाकी समृद्ध परम्परा थी। तत्कालीन वैष्णवाचार्य रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य और निम्बार्क स्वामी आदिने अतिशय गूढ चिन्तनके बाद आचार्य शंकरके ज्ञान और तर्कवादी अद्वैत सिद्धान्तको भक्तिवादसे जोड़ दिया। इन वैष्णवचिन्तकों और साधकोंने ज्ञानवाद तथा भक्तिवादका समन्वय उपस्थित करनेका प्रयत्न किया।

रामानुजाचार्यके मतसे यह स्पष्ट है कि भगवान्‌के प्रति प्रेम ज्ञानसे भिन्न नहीं है; क्योंकि भक्ति भी ज्ञानविशेष ही है। चित्तमें विशुद्ध ज्ञान या विवेकख्याति होनेपर ही जागतिक विषयसे विरक्ति तथा परमात्माके प्रति अनुरक्ति सम्भव है।

आचार्य रामानुजकी दृष्टिमें ध्यान और उपासना तथा भक्तिमें कोई भेद नहीं है। कबीरकी वाणीमें भी ज्ञानकी स्थिति भक्तिसे भिन्न नहीं है, इसीलिये उनका विश्वास था कि केवल जप-तप-योग एवं वेद-पुराण-स्मृति आदि साधनोंद्वारा भगवत्प्रेमकी प्राप्ति असम्भव है। भक्तिवादी कबीर अपने मनको सम्बोधित करके कहते हैं कि योगकी युक्ति और गुरुके शब्दके साथ हरिभक्ति भी आवश्यक है। इसके बिना ही तो मनको सांसारिक दुःखाग्निमें जलना पड़ता है।

प्रेम भक्तिका मूल भाव है। कबीरके ज्ञान और योग दोनों ही ईश्वरीय प्रेमके परिपोषक हैं। कबीर हरि-रस-पानकर सदा मदमस्त रहते हैं। यहाँतक कि उन्हें अपने शरीरकी भी सुध-बुध नहीं रहती। इसलिये कि जो मदमस्त अव्यक्तमें लीन हो जाता है, वह कालजयी हो जाता है तथा वह जीवन्मुक्त और विषयातीत हो जाता है। इस प्रेमरसको पीनेके आकाङ्क्षी तो सभी रहते हैं, पर सबके लिये यह सुलभ नहीं होता; क्योंकि इस प्रेमरसका विक्रेता कलाल मूल्यके रूपमें सिर माँगता है। जिसमें ऐसे महान् उत्सर्गकी सामर्थ्य होती है, वही इसका अधिकारी होता है। महात्मा कबीरने इस प्रेमरसको अनेक रूपोंमें व्यक्त किया है—

राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है, मांगै सीस कलाल॥
हरि रस पीया जांणिये, जे कबहूं न जाइ खुमार।
मैमंता घूँमत रहै, नांही तन की सार॥

(कबीर-ग्रन्थावली, रस कौ अंग, साखी २, ४)

कबीरने लौकिक दाम्पत्य-प्रेमके माध्यमसे अलौकिक भगवत्प्रेमकी मार्मिक अभिव्यञ्जना की है। विवेकके जागरित होनेपर आत्मारूपी विरहिणीको परमात्माके प्रति जब प्रगाढ़ तथा अनन्य सम्बन्धकी अनुभूति हो आती है, तब वह भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये शेष जीवन उसी तरह रोती रहती है, जिस तरह क्रौञ्च पक्षी अपनी संगिनीसे बिछुड़कर रोता है। कबीरने भी आदिकवि वाल्मीकिकी तरह ही आत्माके विरहकी व्यथा-कथाको प्रभावशाली और मर्मस्पर्शी बनानेके लिये क्रौञ्चको प्रतीकित किया है—

रात्यूं रूंनी बिरहनीं, ज्यूं बंचौ कूं कुंज।
कबीर अंतर प्रजल्या, प्रगट्या बिरहा पुंज॥

(कबीर-ग्रन्थावली, बिरह कौ अंग, साखी १)

कबीर अपनी आत्माको प्रेयसी मानते हैं और परमात्माको प्रियतम। आत्माका परमात्मासे प्रेम ही भगवत्प्रेम है। इस संदर्भमें उनकी यह रहस्यवादी साखी जन-जनमें सुविदित है—

लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥

इसीके समानान्तर कबीरकी एक अन्य साखी है,

जिसका भाव है—जैसे बूँद समुद्रमें समा जाती है या लवण पानीमें विलीन हो जाता है, वैसे ही भगवान्‌की खोज करनेवाला स्वयं भगवान्‌में विलीन हो जाता है, उसे सायुज्यकी प्राप्ति हो जाती है। साखीका मूल रूप है—

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूंद समानी समद मैं, सो कत हेरी जाइ॥

(कबीर-ग्रन्थावली, लाँबि कौ अंग, साखी ३)

संत कबीरकी भगवद्भक्तिपर भक्तिके आचार्यो महर्षि शाण्डिल्य एवं देवर्षि नारदजीका प्रभाव दिखलायी देता है। महर्षि शाण्डिल्यके अनुसार ईश्वरके प्रति परम अनुरक्तिकी अभिव्यक्ति ही भक्ति है—'**सा परानुरक्तिरीश्वरे।**' देवर्षि नारदजी बताते हैं, वह भक्ति ईश्वरमें परम प्रेमरूप है—'**सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।**' कबीरकी भक्तिका भी मूलाधार प्रेम है, जिसका रूप भूमण्डलीय स्तरपर व्याप्त है। कबीरके भगवत्प्रेममें उन सभी प्रेममार्गियोंकी भावनाओंका समावेश है, जो प्रेमको ईश्वर-प्राप्तिका एकमात्र साधन मानते हैं।

कबीरके मतानुसार भगवत्प्रेमके लिये महान् त्याग अपेक्षित है। सती और शूर इस त्यागपूर्ण प्रेमके आदर्श हैं, जिन्हें बराबर प्राणोंकी बाजी लगाकर आगे बढ़ना पड़ता है। जिस व्यक्तिको भगवत्प्रेमकी उपलब्धि हो जाती है, उसकी समस्त सांसारिक आकाङ्क्षाएँ मिट जाती हैं, वह निरिच्छ और अचाह हो जाता है। उसपर काम-क्रोधका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसे तृष्णा कभी नहीं जलाती। भगवत्प्रेमी कभी असत्य नहीं बोलता। वह समदर्शी होता है एवं द्वैधभावसे सर्वथा मुक्त रहता है। कबीरकी दृष्टिमें बिना भगवद्भक्तिके भवसागरसे सुखपूर्वक पार उतरना सम्भव नहीं है—

जब लगि भाव भगति नहिं करिहौं। तब लगि भवसागर क्यों तरिहौं॥

(कबीर-पदावली)

भगवत्प्रेमी कबीर परम वैष्णव थे। इसलिये उन्होंने वैष्णवोंकी भूरिशः प्रशंसा की है—

कबीर धनि ते सुंदरी, जिनि जाया बैसनौं पूत।

(साध-महिमाँ कौ अंग, साखी ७)

वैष्णव-भक्तिमें प्रपत्ति अर्थात् शरणागतिकी बड़ी महिमा है। कबीर-काव्यमें प्रपत्तिके सभी अङ्गों-उपाङ्गोंकी विस्तृत व्यञ्जना मिलती है। वैष्णव-भक्तिमें नाम-साधनाको पूर्ण स्वीकृति प्राप्त है। कलियुगमें तो नाम-जपके अतिरिक्त अन्य कोई गति या उपाय नहीं है। इस संदर्भमें यह श्लोक प्रसिद्ध है—

हरेर्नामैव नामैव हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

इसलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने भी राम-नामको रामसे बड़ा माना है—'*ब्रह्म राम तें नामु बड़*' (रा०च०मा० १।२५)।

कबीर सारी चिन्ता छोड़कर केवल 'हरिनाम' की चिन्ता करते हैं। परब्रह्म रामके प्रति उनका हृदय पूर्ण निवेदित है—'*मन रे राँम नाँमहिं जाँनि।*'

वैष्णव-भक्तिमें प्रेम एक अनिवार्य शर्त है। रागानुगा-भक्तिमें तो प्रेम ही सर्वस्व है। वैधी-भक्तिमें भी प्रेमकी अभिव्यक्ति दाम्पत्य, वात्सल्य और सख्य आदि कई रूपोंमें होती है। कबीरने तो भगवत्प्रेमके अन्तर्गत दाम्पत्य-रतिकी अतिशय मार्मिक अभिव्यञ्जना की है। कबीरद्वारा वर्णित परमात्मा-प्रियतमकी प्रतीक्षामें आत्मा-विरहिणीकी हृदयविदारक तड़पका उदाहरण द्रष्टव्य है—

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ-तलफ के भोर किया॥
तन मन मोर रहट अस डोले, सूत सेज पर जनम दिया।
नैन थकित भए पंथ न सूझै, सोई बेदरदी सुध न लिया॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरो पीर दुख जोर किया॥

(कबीर-पदावली)

कबीरकी आत्मारूपी प्रियतमा परमात्मारूपी प्रियतमसे चिरवियुक्त हो गयी है। उस प्रियतमकी याद उन्हें सदैव सताया करती है। कबीरकी ब्रह्मानुभूतिकी तरह यह विरहानुभूति भी उनकी अपनी ही है। वे लिखते हैं—

चोट सतांणों बिरह की, सब तन जर जर होइ।
मारणहारा जांणिहै, कै जिहिं लागी सोइ॥

(बिरह कौ अंग, साखी १४)

वस्तुतः कबीरकी प्रेममूला भक्ति मूलतः जनता-जनार्दनकी भक्तिमें समाहित है और उनका भगवत्प्रेम विश्वमानव-प्रेमका ही प्रतिरूप है।

* * *

श्रीकृष्णप्रेमी रसखान

(श्रीचन्द्रदेवजी मिश्र, एम्०ए०, बी०एड्०)

रसखान सगुण काव्यधाराकी कृष्णाश्रयी शाखाके प्रमुख भक्त कवि थे। इनका पूर्वका नाम सैयद इब्राहीम था। इनका जन्म सन् १५५८ ई० में हुआ था। ये दिल्लीके पठान सरदार थे। एक अन्त:प्रेरणासे प्रेरित हो ये दिल्ली छोड़कर व्रजभूमि चले गये। व्रजमें लीलाविहारी श्रीकृष्णके लोकरञ्जक चरित्रने इन्हें अपनी ओर खींच लिया और इनका लौकिक प्रेम श्रीकृष्णप्रेममें परिवर्तित हो गया। ये व्रजके ही एक श्रीकृष्णभक्त गुसाईं विट्ठलनाथजीके शिष्य हो गये। इनका शेष जीवन वहीं बीता तथा भगवान्‌की ललित लीलाके गानमें रत रहते हुए इन्होंने सन् १६१८ ई० में शरीर छोड़ा।

भगवत्प्रेमी कवि रसखानका मन भगवान् श्रीकृष्णके सौन्दर्य एवं उनकी लीलास्थली व्रजभूमिमें ही अधिक रमा है। श्रीकृष्णके रूप-लावण्य, व्रजके लता-गुल्म, करील-कुञ्ज, यमुनातट, वंशी-वट, गोचारण, वंशीवादन और दही-माखनके प्रसंगोंका रसखानने जो प्रेमरसमय चित्रण किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी कृतियाँ हैं—'सुजान रसखान' और 'प्रेमवाटिका'। पहलीमें कवित्त एवं सवैये हैं और दूसरीमें दोहे।

रसखानकी भाषा व्रजभाषा है, जो अत्यन्त मधुर, सरस तथा सुबोधगम्य है। उसमें प्रवाहमयता तथा भावानुकूलता है। इनकी रचनाओंमें यमक एवं अनुप्रासकी छटा भी है। इस प्रकार इनकी रचनाओंमें भाव-सौन्दर्य और भाषा-सौन्दर्य दोनोंका मणिकाञ्चन-संयोग दर्शनीय है।

प्रेमतत्त्वके विषयमें रसखानका अभिमत है कि प्रेम अगम्य, अनुपमेय एवं अपार सागरके समान है। इसके पास जो पहुँच जाता है, वह फिर लौटकर संसारकी ओर नहीं आता—

प्रेम अगम अनुपम अमित, सागर-सरिस बखान।
जो आवत एहि ढिग बहुरि, जात नाहिं रसखान॥

रसखानके अनुसार उस प्रेममें प्रेमी एवं प्रेमास्पदके मन तो एक होते ही हैं, तन भी मिलकर जब एक हो जायँ तब वह प्रेम कहलाता है। अपना तन-मन अपना न रह जाय, श्रीकृष्णका हो जाय और श्रीकृष्णका तन-मन अपना हो जाय—

दो मन इक होते सुन्यो, पै वह प्रेम न आहि।
होइ जबहिं द्वै तनहुँ इक, सोई प्रेम कहाहि॥

रसखानका सौन्दर्यवर्णन अनुपम और अनोखा है। बालकरूपमें श्रीकृष्णके सौन्दर्यका वर्णन एक सवैयेमें दर्शनीय है, जिसमें धूल-धूसरित, सिरपर अतीव सुन्दर चोटीसे सुशोभित श्रीकृष्ण अपने आँगनमें मक्खन-रोटी खा रहे हैं। इतनेमें एक कौवा उनके हाथसे मक्खन-रोटी छीनकर उड़ भागता है। इस घटनाको देखकर एक गोपी अपनी सखीसे इस प्रकार कह रही है—

धूरि-भरे अति सोभित स्याम जू तैसी बनी सिर सुंदर चोटी।
खेलत-खात फिरैं अँगनाँ, पग पैजनी बाजतीं पीरी कछोटी॥
वा छबि को रसखानि बिलोकत, बारत काम-कलानिधि-कोटी।
काग के भाग कहा कहिए, हरि-हाथ सों लै गयो माखन-रोटी॥

एक दिन प्रात: कोई गोपी नन्दजीके घर आती है। यशोदाजी अपने लाड़ले कृष्णको उबटन-तेल लगा, आँखोंमें काजल कर, भौंहें बना, भालपर डिठौना लगा और गलेमें सुन्दर हार पहनाकर निहारतीं तथा लाड़-प्यार कर रही हैं। उक्त गोपी भगवान् श्रीकृष्णके सौन्दर्यका अवलोकन कर लौटती है और अपनी सखीसे यशोदाके भाग्यकी सराहना करती हुई कहती है—

आजु गई हुती भोर ही हौं, रसखानि रई हित नंद के भौनहिं।
वाको जियौ जुग लाख करोर, जसोमति को सुख जात कह्यो नहिं॥
तेल लगाइ लगाइ कै अंजन, भौंह बनाइ बनाइ डिठौनहिं।
डारि हमेल निहारति आनन वारितज्यौं चुचुकारति छौनहिं॥

कन्हैयाके कानोंमें कुण्डल, सिरपर मोर-पंख, हृदयपर विराजती हुई वनमाला, हाथमें बाँसुरी और अधरपर मुसकानकी तरङ्गें आदि एक साथ मिलकर महाछविकी छटा छहरा रही है। उनके तनपर फहराता हुआ पीताम्बर सैकड़ों सौदामिनियोंकी प्रभाको फीकी कर दे रहा है और बाँसुरीकी मधुर ध्वनि कानोंमें पड़ते ही 'कुल' की मर्यादाकी सुध भी नहीं रह पाती है—

कल काननि कुंडल मोर पखा उर पै बनमाल बिराजति है।
मुरली कर में अधरा मुसकानि-तरंग महा छबि छाजति है॥
रसखानि लसै तन पीत पटा सत दामिनि की दुति लाजति है।
वह बाँसुरी की धुनि कान परे, कुल कानि हियौ तजि भाजति है॥

किशोरावस्थाको प्राप्त श्यामसुन्दर अब गोप-बालकोंके साथ गोचारणहेतु वृन्दावन, यमुनातट जाने लगे हैं। उनके दिव्य सौन्दर्यका अवलोकन करके गोपिकाएँ उनके प्रति अपना तन-मन और प्राण निछावर कर बलैया लेती हैं। मनमोहन अपनी मुरलीकी तान छेड़कर सबको रिझा लेते हैं। उनके वशीभूत सारी गोपियाँ अपनी मर्यादाको बिसार देती हैं।

जिस दिनसे वह नन्दलाल इस व्रजमें गायें चरा गया है और मोहक स्वरोंमें बाँसुरी बजाकर सुना गया है, उसी दिनसे कुछ रोग-सा देकर सबके हृदयमें प्रवेश कर गया है, जिससे मर्यादाका ध्यान नहीं रहा तथा व्रजके सभी लोग उसके हाथ बिक गये हैं—

जा दिन तें वह नंद कौ छोहरा या ब्रज धेनु चराय गयौ है।
मोहिनी ताननि गोधन गाय लै बेनु बजाय रिझाय गयौ है॥
वा दिन सों कछु टौना सो कै रसखान हिये मे समाय गयौ है।
कोउ न काहू की कानि करै सिगरो ब्रज बीर बिकाय गयौ है॥

कन्हैयाकी प्रेमलीलाका विलास दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहा था। उनका चोरी-चोरी किसीका मक्खन खा जाना, दही-दूध ढरका देना और किसी गोपीका चीर लेकर वृक्षकी डालपर बैठ जाना आदि गोपियोंके लिये असह्य-सा होता जा रहा था। फिर तो यशोदाजीके पास पहुँचकर वे कन्हैयाकी शिकायत करनेसे चूकती नहीं—

काहू को माखन चाखि गयौ अरु काहू को दूध दही ढरकायौ।
काहू को चीर लै रूख चढ़्यौ अरु काहू को गुंज छरा छहरायौ॥
मानै नहीं बरज्यौ रसखान सो जाने है राज इन्हीं घर आयौ।
आवरी बूझें जसोमति कों इहि छोहरा जायौ कि मेव मगायौ॥

यह सब होनेपर भी उस छलियाको छोड़ना भी गोपियोंसे बनता नहीं था, बल्कि वे तो उसीके रूप-स्वरूपका स्वाँग बनाकर ग्वाल-बालोंकी मण्डलीमें घूमते हुए गो चरानेकी चाह लेकर उल्लसित होती हैं। वे यह भी कहती हैं कि हम चाहे सब कुछ वैसा ही कर लेंगी, पर श्रीकृष्णके अधरामृतका सदा पान करनेवाली मुरली (जो गोपियोंकी सौतके रूपमें है)-को अपने अधरपर नहीं रखेंगी—

मोरपखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पितंबर लै लकुटी बन गोधन ग्वालन संग फिरौंगी॥
भावतो सोई मेरो रसखान सो तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी॥

एक व्रजाङ्गना जो मुरलीधरकी बाँसुरीकी सुरीली तान सुनकर मोहित और अत्यन्त मुग्ध हो चुकी है, सारे व्रजवासियोंसे जोरदार शब्दोंमें ऐलान करके कहती है कि कल जब वे बाँसुरी बजायेंगे तब मैं अपने कानोंको अंगुलियोंसे बंद कर लूँगी; क्योंकि उनकी मधुर मुसकानको देख लेनेके बाद अपनेको सँभाल रखना सम्भव नहीं है। इस आशयके एक सवैयेमें कविवर रसखानजी कहते हैं—

कानन दै अँगुरी रहिबो जबहीं मुरली धुनि मंद बजैहै।
मोहनी तानन सौं रसखानि अटा चढ़ि गोधन गैहै तौ गैहै॥
टेरि कहौं सिगरे ब्रज लोगनि काल्हि कोऊ कितनो समुझैहै।
माई री, वा मुख की मुसकानि सम्हारी न जैहै न जैहै न जैहै॥

भगवान्‌की ललित लीलाकी विभिन्न झाँकियाँ प्रस्तुत करनेमें रसखानजीका मन कभी थकता नहीं। वे कहते हैं—जिस निर्गुण-निराकार ब्रह्मका विवेचन गुणीजन, गणिका, गन्धर्व, शारदा, शेष, महेश एवं ब्रह्मा आदि करके पार नहीं पाते तथा योगी, यति, तपस्वी एवं सिद्ध समाधि लगाकर भी अन्त नहीं पाते, उसीको सगुण-साकार रूपमें अहीर-कन्याएँ ढकनीभर मट्ठेपर नचाया करती हैं—

गावैं गुनी गनिका गंधर्ब औ सारद सेस सबै गुन गावत।
नाम अनंत गनंत गनेस ज्यौं ब्रह्मा त्रिलोचन पार न पावत॥
जोगी जती तपसी अरु सिद्ध निरंतर जाहि समाधि लगावत।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावत॥

जिस निर्गुण ब्रह्मका निर्वचन करते-करते वेद-पुराण भी थक जाते हैं और उसके स्वरूप—स्वभावको 'इदमित्थम्' कहकर बता नहीं पाते तथा न ही कोई मनुष्य बता पाता है, उसे ही प्रेमके कायल व्रजके कुञ्ज-कुटीरमें बैठकर रूठी हुई राधाके पाँवोंको पलोटते देखा गया है। इस छटाको रसखानकी कवितामें देखा जा सकता है—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यौ पुरानन गानन बेद-रिचा सुनि चौगुने चायन।

देख्यौ सुन्यौ कबहूँ न कितूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन।।
टेरत हेरत हारि पर्यो रसखानि बतायौ न लोग-लुगायन।
देखौ दुरौ वह कुंज कुटीर में बैठो पलोटत राधिका पायन।।

भगवान्‌का नाम, रूप, लीला एवं धाम चारों ही उनके श्रीविग्रह माने गये हैं। रसखान अगले जन्ममें भी लीलाविहारी श्रीकृष्णकी लीलास्थली व्रज एवं गोकुल गाँवमें ही रहनेकी कामना करते हैं। चाहे वह मनुष्य, पशु, पत्थर और पक्षी आदि जो भी हों, भगवान्‌का सांनिध्य सुलभ हो, रसखानके प्रसिद्ध सवैयेमें इस आशयको देखें—

मानुष हौं तौ वही रसखानि, बसौ ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तौ कहा बसु मेरौ, चरौं नित नंद की धेनु मँझारन।।
पाहन हौं तौ वही गिरि को, जो धर्यौ कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं, तौ बसेरौ करौं, मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन।।

रसखानके अनुसार सुख-सम्पत्ति, योगाभ्यास, विस्तृत साम्राज्य, जप-संयम, प्राणायाम तथा तीर्थ-व्रत आदि करनेसे क्या होता है, जबतक नन्दलाल भगवान् श्रीकृष्णके प्रति प्रेम नहीं किया गया—

कहा रसखानि सुख संपति सुमार महँ,
कहा महाजोगी ह्वै लगाये अंग छार को।
कहा साधैं पंचानल, कहा सोये बीचि जल,
कहा जीति लाये राज सिंधु वारपार को।।
जप बार-बार तप संजम बयार ब्रत,
तीरथ हजार अरे बूझत लबार को।
सोई है गँवार जिहि कीन्हौं नहिं प्यार,
नहीं सेयौ दरबार यार नंद के कुमार को।।

प्रेमी भक्तके लिये अपना सर्वस्व समर्पण ही प्रेमकी पराकाष्ठा है। प्राण वे ही हैं जो प्रियतमके लिये सदा बेचैन रहें, रूप वही सार्थक है जो प्रियतमको रिझा ले, सिर वही है जिसे वे स्पर्श कर लें, पैर एवं शरीर वे ही हैं जो प्यारेका स्पर्श करें। दूध वही है जिसे उन्होंने दुहवाया हो और दही वही है जिसे उन्होंने ढरका दिया हो, स्वभाव भी वही सुन्दर एवं सार्थक है जिसे वे साँवले-सलोने सुहावने लगें—

प्रान वही जु रहैं रिझि वापर रूप वही जिहिं वाहि रिझायौ।
सीस वही जिन वे परसे पद, अंग वही जिन वा परसायौ।।
दूध वही जु दुहायौ वही सोई, दही सु सही जु वही ढुरकायौ।
और कहा लौं कहौं रसखान री भाव वही जु वही मन भायौ।।

इस प्रकार यहाँ रसखानके काव्यमें श्रीकृष्ण-प्रेमतत्त्वका संक्षेपमें अवलोकन किया गया है। रसखान कविकी रसिकता, रसज्ञता और श्रीकृष्णकी प्रेमाभक्तिने उन्हें भक्तजनोंमें सदाके लिये अमर कर दिया है। हमें भी उनके प्रति ऋणी होना चाहिये। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रने रसखानके सन्दर्भमें कितना सटीक कहा है—

इन मुसलमान हरिजन पै कोटिन हिन्दुन वारिये।

* * *

रहीमका भगवत्प्रेम

(श्रीसुरेशचन्द्रजी श्रीवास्तव, एम्०कॉम०, एल्-एल्० बी०)

अब्दुर्रहीम खानखाना भगवान् रामके बहुत बड़े प्रेमी उपासक थे। उन्होंने अपने सारगर्भित दोहारूपी गागरमें भगवान् रामकी महिमाका सागर भरनेका सफल प्रयास किया है। कवि रहीमके पिता बैरमखाँ तातार थे। भारतके प्रथम मुगलशासक बाबर एवं उसके पुत्र हुमायूँके विश्वासपात्र सिपहसालार ही नहीं, बल्कि मुगलसम्राट् अकबरके ये संरक्षक भी थे। अब्दुर्रहीम खानखाना स्वयं एक सुयोग्य सेनानायक एवं सम्राट् अकबरके सलाहकार तथा नवरत्नोंमेंसे एक अनन्य रत्न भी थे।

कवि रहीम फारसीके उच्च कोटिके विद्वान् थे, किंतु उनके दोहोंसे परिलक्षित होता है कि वे हिन्दी-साहित्यके भी मर्मज्ञ थे, इसीसे हिन्दी-साहित्यमें उनका एक विशिष्ट स्थान है। उनके दोहे अत्यन्त सारगर्भित हैं। कवि रहीमके दोहे सामान्य उपयोगिताके कारण बहुत लोकप्रिय हैं। जहाँ उनके दोहोंमें अन्य विषय-वस्तुएँ हैं, वहीं भगवान् रामकी भक्ति भी एक प्रमुख विषय-वस्तु है। उनके अनेक दोहोंमें भगवान् रामकी महिमाका प्रभावी वर्णन द्रष्टव्य है।

निराकार, निर्गुण, निरीह, निर्विकल्प, अनादि, अनन्त, परब्रह्म परमेश्वर, अनन्त जगदीश्वरकी महिमा अनिर्वचनीय

बताते हुए कवि रहीमने लिखा—

रहिमन बात अगम्य की, कहन सुनन की नाहिं।
जे जानत ते कहत नहिं, कहत ते जानत नाहिं॥

स्पष्ट है कि कविवर रहीमकी अध्यात्ममें गहरी पैठ थी। उनके अगम्य अर्थात् अनन्त जगदीश्वरकी बात कहने-सुननेकी नहीं, बल्कि मनन और स्वाध्यायकी है। जो अगमकी गतिको किञ्चिन्मात्र भी समझ पाता है, वह उसीमें रम जाता है और लीन हो जाता है। इतना आत्मविभोर हो जाता है कि वह उसका वर्णन कर ही नहीं सकता।

कविवर रहीमको इस बातका अनुभव हुआ कि झूठे मोह, माया, ममता, तृष्णा एवं सांसारिक प्रपञ्चमें उलझे रहनेवालेको भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो सकती। उन्होंने कहा है—

अब रहीम मुसकिल पड़ी, गाढ़े दोऊ काम।
साँचे से तो जग नहीं, झूठे मिलैं न राम॥

जैसे दो नावपर पैर रखकर निर्वाह करना असम्भव होता है, वैसे ही रहीमको मुश्किल आ पड़ी कि सच्चे मार्गके अनुसरणसे इस संसारमें निर्वाह कठिन है। सांसारिकता निभानेके लिये सत्यसे परे जो मार्ग है उसपर चलकर मनुष्य लोभ, मोह, यश, वैभव, घर तथा परिवारके प्रपञ्चमें उलझकर रह जाता है। उस असत्य-मार्गपर भटकनेवालेको भौतिक और क्षणिक सुख तो कदाचित् मिल भी जाय, किंतु भगवान् रामकी प्राप्ति नहीं हो सकती। सत्य-मार्गपर चलकर दुनियादारी निभाना और असत्य-मार्गपर चलकर रामकी प्राप्ति दोनों ही असम्भव हैं।

कवि रहीमको सांसारिकतामें उलझे रहने अर्थात् सत्य-मार्गसे च्युत रहनेका कदाचित् बड़ा क्षोभ हुआ, उन्होंने कहा—

राम-नाम जान्यो नहीं, जान्यो सदा उपाधि।
कहि रहीम तिहिं आपुनो, जनम गँवायो बादि॥

कवि रहीमको पछतावा इस बातका था कि सदैव सांसारिक विषय-वासनाओंमें लिप्त रहनेके कारण वे राम-नामका महत्त्व नहीं समझ पाये, जिससे रामकी प्राप्ति नहीं हो सकी। जो कुछ जाना-समझा वह सब सांसारिक उपाधि (मोह, माया, विषय, वासना आदि)-मात्र थी, जिससे सारा जन्म व्यर्थ हो गया। इसी पछतावेको वे इस प्रकार बताते हैं—

राम-नाम जान्यो नहीं, भइ पूजा में हानि।
कहि रहीम क्यों मानिहैं, जम के किंकर कानि॥

राम-नामका महत्त्व जाने बिना थोथी पूजा करनेसे बात बिगड़ गयी। राम-नामका जाननेवाला तो राममें लीन हो जाता है। स्वयं राममय हो जाता है। उसके लिये बाह्याडम्बरका कोई महत्त्व नहीं होता। पछतावा और भय इस बातका है कि थोथी पूजासे सद्गति नहीं होगी तथा यमदूतोंको भी इस थोथी पूजासे भरमाया नहीं जा सकता।

दिनभरका भूला यदि शामको घर वापस आ जाय तो उसे भूला नहीं कहते। रहीम कविने राम-कथाका स्वाध्याय किया। रामको जाननेका यह प्रथम चरण था। कदाचित् अहल्या-उद्धार-प्रसङ्गतक पहुँचे तो उन्हें अनुभव हुआ कि सारी दुनिया रामको पानेको आतुर है। उन्होंने कहा—

धूर धरत नित सीस पै, कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज मुनि पत्नी तरी, सो ढूँढ़त गजराज॥

राम-कथा-स्वाध्याय-क्रममें कवि रहीमको प्रेमी भरतके चरितने बहुत प्रभावित किया। तुलसीबाबाके कथन—'*जगु जप राम रामु जप जेही*' अथवा '*जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥*' या '*सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना*'—ने भरतकी महानताकी अमिट छाप रहीमके हृदयपर डाली और वे विचारक तो थे ही, कह उठे—

अनुचित बचन न मानिए, जदपि गुरायसु गाढ़ि।
है रहीम रघुनाथ ते, सुजस भरत को बाढ़ि॥

रामने माता-पिताकी आज्ञा मानी और राज-पाट त्यागकर वन-गमन किया। वनमें कितनी विपदाएँ सहीं। भरतने मा कैकेयीके वचनको नहीं माना और अयोध्याका राज्य त्यागकर रामकी चरण-पादुकाको राज्य कराया, किंतु फिर भी रामसे भी अधिक भरतके त्यागको महान् बताया गया तथा स्वयं भगवान्‌ने भरतकी प्रशंसा की है। इसीलिये रहीम कविने व्यवस्था दी कि अनुचित आदेशका पालन नहीं करना चाहिये।

रहीम कदाचित् सीता-हरण-प्रसङ्गसे दुःखी हुए और लौकिक दृष्टिसे भवितव्यताको प्रधान बताते हुए कहा—

राम न जाते हरिन सँग, सीय न रावन साथ।
जो रहीम भावी कतहुँ, होत आपुने हाथ॥

यह भावी ही थी कि राम मृगया करने गये और

सीताका हरण हुआ; यदि भावी अपने वशकी चीज होती तो राम क्यों हरिणके पीछे जाते, क्यों सीताका हरण होता, किंतु भावीपर किसीका वश नहीं होता।

भगवान् रामकी दानशीलतासे कवि रहीम इस प्रकार प्रभावित हुए कि वे कह उठे—

माँगे मुकरि न को गयो केहि न त्यागियो साथ।
माँगत आगे सुख लह्यो ते रहीम रघुनाथ॥

लोकरीति यह है कि माँगनेवालोंसे सभी बचते हैं। यदि कोई यह समझ ले कि उसका साथी कुछ माँगेगा तो उसका साथतक छोड़ देता है, किंतु भगवान् राम तो ऐसे दानी हैं कि वे माँगनेके पहले ही दे देते हैं। रावणने भगवान् शंकरको अपने सिर काटकर चढ़ाये जिससे प्रसन्न होकर भगवान् शंकरने रावणको लङ्काका राज्य दिया, किंतु उसी लङ्काके राज्यको भगवान् रामने विभीषणको बिना माँगे ही दे दिया और वह भी इस संकोचके साथ कि 'यह बहुत कम है।'

राम-कथाके स्वाध्याय एवं चिन्तनसे ही कदाचित् कविवर रहीमको इस बातका विश्वास हो गया कि इस भवसागरसे पार उतरनेके लिये भगवान् रामका ही एकमात्र सहारा है, अतः प्रेमसे उन्हींके शरणागत होना चाहिये। उन्होंने कहा—

गहि सरनागति राम की, भवसागर की नाव।
रहिमन जगत-उधार कर, और न कछू उपाव॥

इस संसाररूपी सागरको पार करनेके लिये मात्र एक ही साधन है—भगवान् रामकी शरणागतिरूपी नाव; इसके अतिरिक्त संसारसे उद्धारका और कोई उपाय नहीं।

अन्तमें रहीमने प्रभु श्रीरामजीके सम्मुख आत्मसमर्पण किया और कहा—

मुनि नारी पाषान ही, कपि पसु, गुह मातंग।
तीनों तारे रामजू, तीनों मेरे अंग॥

आशय यह कि भगवान् रामने गौतम-नारी अहल्या, जो पाषाण बन गयी थी उसे तार दिया। वानर-जैसे पशुओंको तार दिया और निषाद-जैसे नीचको तारा तो रहीम कहते हैं कि मुझे भी तारो, क्योंकि पाषाणवृत्ति, पशुवृत्ति और नीचवृत्ति मुझमें तो तीनों है। मेरा हृदय पाषाण है, मेरी वृत्ति पाशविक है और मेरी प्रवृत्ति गुहकी भाँति नीच है। समर्पणके पश्चात् शरणागत-वत्सल भगवान् राम शरण देते ही हैं। उन्हींने तो कहा है—

जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥
जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥
(रा०च०मा० ५।४८।२—७)

यही नहीं भगवान् रामने यह भी तो कहा है—***'मम पन सरनागत भयहारी'***। कविवर रहीमको भगवान् रामका उक्त प्रण याद हो आया और वे भगवान् रामके शरणागत होकर अपनी सद्गतिके लिये तो सुनिश्चित ही हो गये, साथ ही भवसागर पार होनेका मार्ग—भगवान्‌की प्रेमा-भक्तिका आश्रय भी बता गये। धन्य है कविवर रहीमका भगवत्प्रेम!

~~~~

महाकवि घनानन्दका प्रेम-निवेदन

(डॉ० श्रीलखनलालजी खरे, एम०ए०, पी-एच०डी०)

हिन्दी-साहित्यके इतिहासके भक्तिकालमें भगवत्प्रेमकी जो निर्मल धारा प्रवाहित हुई थी, रीतिकालकी वासनाजन्य कविताने उसे प्रदूषित करनेका प्रयत्न किया, परंतु घनानन्द-जैसे अनन्य साधकोंकी सजगतासे उसकी पावनता कलुषित न हो सकी। रीतिकालमें घनानन्दने प्रेमके जिस उदात्त स्वरूपको अक्षुण्ण रखा, वह अन्यत्र दुर्लभ है। मानसमें राघवेन्द्र सरकार स्पष्ट कहते हैं कि वे निर्मल हृदयवालोंको ही प्राप्य हैं, उन्हें छल-छिद्र नहीं सुहाते। निर्मल हृदय ही प्रेमका स्रोत है। कविवर घनानन्द भी यही कहते हैं—

अति सूधो सनेह को मारग है जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलैं तजि आपनपौ, झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं॥
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ कहौ, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।

घनानन्दकी प्रेमयात्रा स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर हुई है। इनका लौकिक तथा मांसल प्रेम कालान्तरमें कृष्णप्रेममें परिणत हो गया; वह लौकिकसे अलौकिक हो गया।
~~~~

दिल्लीसम्राट् मुहम्मदशाह रंगीलेके मीरमुंशी घनानन्द मधुर कण्ठके धनी गायक थे और दरबारकी ही एक गणिका—सुजानपर आसक्त थे। ईर्ष्यालु दरबारियोंके षड्यन्त्रके कारण बादशाहने इन्हें राज्यसे निकाल दिया। घनानन्दने सुजानसे अपने साथ चलनेकी मनुहार की, पर उसने निर्ममतापूर्वक अस्वीकार कर दिया। घनानन्दकी आँखोंपर पड़ा मोहावरण छिन्न हो गया। व्यथित होकर वे मथुरा आ गये और श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंमें समर्पित हो गये। अपने आराध्यपर अपनी प्रेमिकाके नामको भी न्योछावर कर दिया, श्रीकृष्णको ही उन्होंने सुजान बना दिया।

घनानन्दकी भक्तिमें समर्पणका भाव सर्वाधिक है और यही तत्त्व प्रेमका प्रथम तथा अनिवार्यस्वरूप है। राधामाधवके प्रति प्रेम-निवेदनमें भक्त अनुभूतिपूर्वक मङ्गलमयी आरती उतारता है—

नेह सों भोंय संजोय धरी हिय दीप दसा जु भरी अति आरति,
रूप उज्यारे अजू ब्रजमोहन, सौंहनि आवनि ओर निहारति।
रावरी आरति बावरी लौं घनआनँद भूलि वियोग निवारति,
भावना धार हुलास के हाथनि मोहित मूरति हेरि उतारति॥

घनानन्दकी दृष्टिमें प्रेम संसार और जीवनका महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। प्रेमपन्थ ज्ञानपन्थसे भी श्रेष्ठ है। इसमें प्रिय और प्रियतमके मध्य द्वैतभाव सर्वथा तिरोहित हो जाता है। प्रेमकी वृत्ति सर्वथा निर्मल है, जिसे धारण करनेसे समस्त वासनाएँ विलुप्त हो जाती हैं और अन्तःकरण विशुद्धानन्द-रस-वर्षणसे आप्लावित हो जाता है—

चंदहि चकोर करे सोऊ ससि देह धरै,
मनसा हू रैरै एक देखिबे को रहै द्वै।
ज्ञान हू ते आगे जाकी पदवी परम ऊँची,
रस उपजाबे ता में भोगी भोग जात ग्वै॥

सं० १७९६ में मथुरापर नादिरशाहने आक्रमण किया। 'यह बादशाहका मीर मुंशी था। अतः इसके पास धन बहुत होगा'—यह सोचकर सिपाही 'जर-जर' कहकर उनसे धनकी माँग करने लगे। विरक्त संन्यासी घनानन्दने 'जर' का उलटा 'रज-रज' कहकर मथुराकी पावन धूल उनकी ओर उछाल दी। क्रोधान्ध सिपाहियोंने इनका वध कर दिया। मृत्युके समय हृदयकी समस्त पीड़ा उनके निम्नलिखित पदमें ध्वनित हो उठी—

बहुत दिनान को अवधि आसपास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान को।
कहि कहि आवन छबीले मनभावन को,
गहि गहि राखति ही दै दै सनमान को।
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै,
अब ना घिरत घन आनँद निदान को।
अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को॥

⁂

निजानन्दाचार्य श्रीदेवचन्द्रजीकी प्रेमोपासना

(स्वामी श्रीब्रह्मवेदान्ताचार्यजी)

निजानन्दाचार्य देवचन्द्रजी साधकको समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रदान करते हैं। वे उसे चेतनाके उस शिखरपर ले जाते हैं जहाँ भेदभाव मिट जाता है और भिन्नताओंके बीच एकता एवं सामञ्जस्यका दर्शन होने लगता है। निजानन्दाचार्य देवचन्द्रजीके दर्शनमें ज्ञान, कर्म और भक्तिका समन्वय है, परंतु उनका प्रेमी हृदय अधिक प्रबल है तथा इसी कारण योग एवं बोधसे अधिक महत्त्व वे प्रेमको देते हैं। साधनाकी त्रिपुटीमें यदि योग और बोध आधारबिन्दुओंपर है तो प्रेम शीर्षबिन्दुपर। प्रेम सर्वोपरि है, उसके समान कुछ दूसरा नहीं है—

इसक बड़ा रे सबन में, ना कोई इसक समान।
एक तेरे इसक बिना, उड़ गई सब जहान॥

देवचन्द्रजीके लिये प्रेम ही परमात्मा है—परमात्मा निर्गुण-निराकार ब्रह्म नहीं, बल्कि रसमय है। प्रेम ही उसका स्वरूप है। भक्त न तो भुक्ति चाहता है, न मुक्ति, वह तो मात्र प्रभुका प्रेम और अनुग्रह चाहता है। प्रेम ही उसका सर्वस्व होता है। यही कारण है कि वह सारूप्य न चाहकर प्रभुका सांनिध्य चाहता है। ब्रह्मके साथ तादात्म्य स्थापित कर ब्रह्म बन जानेमें कोई आनन्द नहीं है, आनन्द तो उसका सांनिध्य-लाभ करने—उसका रस लेनेमें है—

न चाहों मैं बुजरकी, न चाहों खिताब खुदाय।
इसक दीजे मोहे अपना मेरा याही सो मुद्दाय॥

प्रेम ही मुक्ति है। प्रेमसे बढ़कर न कोई आनन्द है, न कोई मुक्ति ही। प्रेममें मुक्ति सहज ही उपलब्ध हो जाती है। प्रेमीके लिये भवसागर गोपदपरिमाण हो जाता है। यही कारण है कि देवचन्द्रजी गोपी-प्रेमकी सराहना करते हैं और उसे रसमय मानते हैं—

यामें प्रेमलक्षण एक पारब्रह्म सो एक गोपियों ए रस पाया।
तब भवसागर भया गोपद बछ, बिहंगम पैड़ा बताया॥

देवचन्द्रजीने अपनी अभिलाषा निम्नलिखित शब्दोंमें व्यक्त की है—

रे पिरीअम मैगा सो लाड़ करे।
एहड़ी किज कां मुदसे खिलंदडी लगां गरे॥

अर्थात् हे प्रियतम! लाड़ करके माँगती हूँ। मुझसे कुछ ऐसा स्नेह दिखा कि हँसती हुई तेरे गले लग जाऊँ। भक्त अपनी भावनाके अनुरूप प्रभुकी मूर्ति देखता है, उससे सम्बन्ध जोड़ता है। वह परमात्माको स्वामी, पिता, माता, सखा, पुत्र, प्रेमी आदि विभिन्न रूपोंमें देखता है। इस कारण दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि भावोंसे भक्त परमात्माकी उपासना करता है। परंतु ये जितने प्रकारके सम्बन्ध हैं, उनमें सबसे सरस और मधुर सम्बन्ध प्रेमी-प्रियतमका सम्बन्ध है। इसी कारण निजानन्दाचार्यने मधुरभावकी साधनाको सर्वोपरि महत्त्व दिया है। उन्होंने परमात्माको प्रियतम माना है और आत्माको प्रेमिका। इनके बीच प्रेमका सम्बन्ध है, आत्मा और परमात्माका वर्णन वे दर्शनकी वैचारिक पदावलीमें नहीं करते, बल्कि इसके लिये रागात्मक पदोंका व्यवहार करते हैं। वे परमात्माको प्रियतम, साजन, पिया, साईं, दूल्हा, खसम, आशिक़, महबूब आदि शब्दोंसे अभिहित करते हैं—

तू धणी, तू कांध, तू मूजो, तू खसम।
ही मंगाथी लाडमें, जानी मूर रसम॥

अर्थात् आप मेरे स्वामी हैं, मालिक हैं और पति हैं। अपने घरकी मूलरीति—कुलधर्म जानकर मैं यह लाड़ माँगती हूँ। परमात्मा परम पुरुष हैं, वे ही एकमात्र पुरुष हैं और बाकी सारी आत्माएँ उनकी प्रियतमाएँ हैं—

पुरुष दूजा कोई काहूं न कहावे।
सबों भजिया कर भरतार॥

परमात्मा पति है और आत्मा उसकी दुलहन! प्राणनाथ ऐसे दूल्हेपर वारी-वारी जाते हैं—

मूं दुलहिन के जाहरे ते केई, मूं दूल्हा जाहेर तूं थेओ।
महामत कहे इन दुल्हेपर, मैं वारी-वारी दुलहिन॥

निजानन्दाचार्यकी प्रेमभावना विरहमूलक है। वे मानते हैं कि आत्मा परमात्मासे विलग हो गयी है और इसी कारण वह दुःख भोग रही है। मात्र परमात्मा ही सच्चिदानन्द है, उससे अलग होनेपर दुःख-ही-दुःख है। विरहका दुःख दारुण है। जैसे मछली पानीके बिना दुःख झेलती है, तड़पती है; वैसे ही परमात्माके विरहमें आत्मा तरस रही है। पानीके बिना सूखे पाटपर गोता लगाते, चोट खाते उसकी उम्र बीत रही है—

गोता खदे बेईं उमर, पट सूकेरे पाणी।

परमात्माके बिना एक-एक पल एक-एक युगकी भाँति प्रतीत होता है, काटे नहीं कटता—

तम बिना जे घड़ी गयी, अमें जाण्या जुग अनेक।
ए दुख मारो साथ जाणे, के जाणे जीव बसेक॥

भूलवश परमात्मासे अलग हो जानेके कारण आत्मा कटी हुई लताकी भाँति मुरझा गयी है। अब परमात्माके बिना रहा नहीं जाता। बार-बार हृदय भर आता है और संसार अग्नितुल्य लगता है—

अब हम रह्यो न जाव ही, मूल मिलावे बिन।
हिरदे चढ़-चढ़ आवही, संसार लगत अगिन॥

परमात्मा ही जीवनकी सरसता है। उसके बिना जीवन मरुभूमिकी भाँति विरहज्वालामें जल रहा है। परम धाममें परमात्माके मिलनका जो आनन्द आत्माको हुआ था, उसकी तो अब स्मृतितक शेष नहीं है। संसार-विरहके दुःखने तो अब मिलन-सुखकी स्मृतितक भुला दी है। हृदय वीरान हो गया है। अब तो उस सुखका स्मरणतक नहीं आता—

हिन सुखे सदियुं गालियुं आईन अलेखे।
हियडो मूंसुं जो थियो, हिये न अच्चेते॥

परमात्मासे आत्मा अपनी ही दुर्बलताके कारण अलग हो गयी है। तत्त्वतः आत्मा परमात्मासे अभिन्न है; परंतु माया, अज्ञान या अविद्याके कारण वह परमात्माको—अपने परमाश्रय और स्वामीको भुला बैठी है तथा इसी कारण वह दुःख भोग रही है—

घणी मूहजी रुहजा, गिनी बेईं बिसराई।
पेईस ते पेचनमें, बड़ी जार बड़ाई॥

नींदकी अवस्थामें जैसे व्यक्ति स्वप्नमें खो जाता है—अपने स्वरूपको भूल जाता है और असत्य—मायामें भटकने लगता है, उसी प्रकार आत्माएँ भवनिशामें खो गयी हैं, वे मायाका शिकार हो गयी हैं और अज्ञान तथा स्वप्नमें अपनी भूलसे ही परमात्मासे जुदा हो गयी हैं। अलग होकर वे परमात्माके लिये तड़प रही हैं—

ज्यों नींद में देखिये सुपन, यो उपजे हम ब्रज वधु जन।
उपजत ही मन आसा घनी, हम कब मिलसी अपने धनी॥

जगत् माया या मिथ्या होनेके कारण कभी उसकी पकड़में आ ही नहीं सकता। परमात्मा ही उसका एकमात्र अवलम्ब है।

निजानन्दाचार्य देवचन्द्रजी मानते हैं कि प्रियतमके बिना उनकी पुकार सुननेवाला कोई अन्य नहीं है। वास्तवमें प्रत्येक खोज परमात्माकी ही खोज है—प्रत्येक प्रेम श्रीकृष्ण-प्रेम है। बाह्य वस्तुओंके प्रति हमारा आकर्षण इसीलिये है कि बाहर हम उनका प्रतिबिम्ब पाते हैं, परंतु बाहर उनकी तलाश करना मात्र छायाके पीछे भागना है। परमात्मा तो हमारे भीतर समाया है।

निजानन्दाचार्य देवचन्द्रजी परमात्माका वास आत्मामें ही मानते हैं। यह हमारी भूल है कि हम संसारमें सुखकी तलाश करते हैं। मिथ्या जगत्में ही परम धामका सुख चाहते हैं, किंतु वह सुख मात्र परमात्मासे मिलनेपर ही सम्भव है। निजानन्दाचार्यजी कहते हैं—मैं यहीं बैठी अर्शका सुख माँगती हूँ और मेरे प्रियतम मुझे अपने घर बुलाते हैं—

हित वेही मंगू सुख अरसजा, धणी मिडन कोठे घर।

निजानन्दाचार्य देवचन्द्रजी स्वलीला 'द्वैत' में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार परमात्मासे आत्माका अलगाव भी उसीकी लीला है। जगत् परमात्माकी लीला है। परमात्मामें माधुर्यभाव या आनन्दतत्त्वकी प्रधानता होनेके कारण वे लीला करते हैं। जो स्वरूपसे एक हैं वे ही लीलामें दो हो जाते हैं और इस प्रकार आत्मा एवं परमात्माका अलग स्वरूप दिखायी देता है—

स्वरूप एक है लीला दोय॥

परमात्मा और आत्माके बीच आँखमिचौनीका खेल चल रहा है। परमात्मा छिप गया है और आत्माएँ उसे ढूँढ़ रही हैं। उनके बीच मायाका परदा है और उसी परदेके पीछेसे परमात्मा प्रकट होते हैं—

रुहें विहारे रांदमें, पाण बैठ परदेह।
सुध न्हाए के रूहके, रांद न अच्चे छेह॥

परमात्मा आत्माके प्रति अपने प्रेमकी अभिव्यक्ति और आनन्दके विस्तारके लिये इस लीलाका आयोजन करते हैं।

रांद डिखारिये उमेदके, जगाइये लाड धारण॥

निजानन्दाचार्यजी प्रेमके इस विधानसे परिचित हैं—

दोनों ओर प्रेम पलता है।

सखि पतंग भी जलता है, हा! दीपक भी जलता है।

प्रेम कभी एकाङ्गी हो नहीं सकता। आत्मा यदि परमात्मासे प्रेम करती है—उसके विरहमें जलती है तो परमात्मा भी उससे कहीं अधिक प्रेम करता है, उसे तलाशता रहता है। परमात्मा तो प्रेमस्वरूप है—प्रेमका स्रोत है; अतएव वही सच्चा प्रेमी है। उसकी तुलनामें हमारा प्रेम नगण्य है।

निजानन्दाचार्यको अपने हृदयके साक्ष्यपर अटल विश्वास है कि प्रभु भी हमारे लिये तड़प रहे हैं और वे हमारे बिना एक पल भी नहीं रह सकते—

हे मूं दिल डिंनी साहेदी, तूं मूंदे रहे न दम॥

वास्तवमें परमात्माको वही जान सकता है, जिसे परमात्मा जना देते हैं। सब कुछ उसीकी करुणा और दयापर निर्भर है।

मनुष्यका पुरुषार्थ मात्र इतनेमें है कि वह सब आस-भरोस छोड़कर परमात्माके चरणोंमें अपने-आपको न्योछावर कर दे। जबतक आत्मा और परमात्माके बीचसे मायाका परदा नहीं उठ जाता, तबतक उसका दर्शन होना असम्भव है। वही आत्मा अपने स्वामीको सिर-आँखों ले सकती है, जिसकी राहमें कोई परदा या रुकावट नहीं है—

सामर गिंने पाणसे, जे आडो पर न कोए॥

निजानन्दाचार्यकी आत्मारूपी नायिका लाडवाली है, मानिनी है—वह स्वयं अपना घूँघट उठा नहीं सकती। वह तो मात्र समर्पण कर सकती है और जब वह ऐसा कर देती है तो प्रभु ही कृपापूर्वक उसका हाथ थामकर गले लगा लेते हैं।

* * *

जायसीकी प्रेम-व्यञ्जना

'प्रेमपीर' के अमर गायक कविवर जायसी हिन्दी-साहित्यकी प्रेमाश्रयी शाखाके विलक्षण व्यक्ति थे। वे शरीरसे कुरूप और एकाक्ष, किंतु मनसे सुन्दर तथा समदर्शी थे। जीवनके प्रभातमें अतिसामान्य जीवन-यापन करनेवाले जायसी आगे चलकर अपने युगके पहुँचे हुए सूफी फकीर बन गये। दो विरोधी संस्कृतियोंके एकत्वके सफल प्रयोक्ताके रूपमें कविवर जायसीका स्थान अनुपम है। प्रेमपीरकी धड़कनके दिव्य आलोक जायसीने हिन्दुओंमें प्रचलित पद्मावती और रत्नसेनकी प्रेमगाथाका आश्रय लेकर गहरे सद्भाव तथा असीम भावुकताका परिचय दिया। प्रेम-गाथाओंकी अपनी सरस परम्परा रही है और जायसी सम्भवतः उसके दिव्य अलङ्कार थे। इनकी प्रेमोपेत रचना 'पदमावत' अद्वैत रहस्यवादका उत्कृष्ट उदाहरण है।

'पदमावत' महाकाव्यके 'प्रेमखण्ड'में प्रेमतत्त्वका निरूपण सूफी-प्रेमादर्शके आधारपर हुआ है। महाकवि जायसीका लक्ष्य प्रेमसाधनाके द्वारा प्रेमस्वरूप परमात्माकी अनुभूति और उपलब्धि कराना रहा है। यही कारण है कि 'पदमावत'में पदे-पदे प्रेमकी प्रदक्षिणा प्रथित है। कहीं वह अनुभूतिजन्य है, कहीं लौकिक और कहीं लोक-बन्धनसे परे आध्यात्मिक है; किंतु इन सबके मूलमें प्रेमका वह दिव्य रूप है, जो सरस सौन्दर्यकी अलौकिक आभासे व्यक्तिको अनुरक्त करता है। सूफी साधकोंकी दृष्टिमें ईश्वर (ख़ुदा) परम सौन्दर्यमय है एवं प्रेमालम्बनका एकमात्र वही अन्तिम अवस्थान है। मानवकी मूल प्रवृत्ति रागमयी है। मनुष्यकी आत्मा पूर्णतत्त्वकी प्राप्तिहेतु हमेशा प्रयत्नशील रहती है। सौन्दर्य, समत्व एवं पूर्णत्वकी ही अपर अभिधा है। मानवकी सम्पूर्ण साधनाका अन्तिम लक्ष्य इसी परम रूपकी उपलब्धि है। असीम सौन्दर्य-सागर ईश्वर-प्राप्तिका एकान्त आग्रह प्रेमका ही प्रतिरूप है। संसारके कण-कणमें परम प्रिय विभुका सौन्दर्य विद्यमान है। सौन्दर्यकी सत्ता ही संसारका आधार और सार है। उस अखण्ड सौन्दर्य-सत्ताकी उपलब्धि एवं अनुभूतिका एकमात्र माध्यम प्रेम है। जायसीने इसी प्रेमकी चिरन्तन भावनाका निरूपण कर सम्पूर्ण 'पदमावत'में प्रेमातिशयताका प्रकाश भर दिया है।

जायसीके मतानुसार प्रेमकी एक चिनगारीमात्र हृदयमें अमित ज्वाला प्रज्वलित करनेमें सक्षम होती है, जिसमें सम्पूर्ण लोक विचलित हो उठता है—

मुहमद चिनगी अनँग की सुनि महि गँगन डेराइ।
धनि बिरही औ धनि हिया जेहि सब आगि समाइ॥

इतना ही नहीं, जब हृदयमें प्रेम जाग्रत् होता है तो प्रेमीकी दशा मृत्युसे भी अधिक भयानक हो जाती है। प्रेमका पन्थ कण्टकाकीर्ण है अर्थात् प्रेमोपलब्धि अत्यन्त दुर्लभ है।

वास्तवमें प्रेमीको प्रेमास्पदसे मिलनेकी अदम्य इच्छा प्रेम-पथिक बननेके लिये विवश कर देती है। प्रेमी प्रेम-पथपर चलनेके लिये समयकी परवाह नहीं करता। उसके शरीरकी स्थिति अद्भुत हो जाती है। उसकी आँखोंमें प्रेमाश्रुमात्रका ही सम्बल होता है—*'पेम पंथ दिन घरी न देखा। तब देखै जब होइ सरेखा॥ जेहि तन पेम कहाँ तेहि माँसू। कया न रकत न नयनन्हि आँसू॥'* प्रेमीका लक्ष्य प्रेमोपलब्धि ही होता है। उसे पाकर वह पुनः इस नश्वर संसारमें नहीं आना चाहता—*'पेम पंथ जौं पहुँचै पाराँ। बहुरि न आइ मिलै एहि छाराँ॥ भलेहिं पेम है कठिन दुहेला। दुइ जग तरा पेम जेइँ खेला॥'* दिव्य प्रेमोपलब्धिके उपरान्त प्रेमी कामनारहित हो जाता है अर्थात् निष्काम हो जाता है। ऐसे ही निष्काम प्रेमका अनुभव कराते हुए जायसीने कहा है—

न हौं सरग क चाहौं राजू। ना मोहि नरक सेंति किछु काजू॥
चाहौं ओहि कर दरसन पावा। जेइ मोहि आनि पेम पथ लावा॥

ऐसी स्थितिमें प्रेमीको तीनों लोक चौदहों भुवनमें प्रेमके अतिरिक्त कुछ भी लावण्यमय नहीं दिखता—

तीन लोक चौदह खण्ड सबै परै मोंहि सूझि।
पेम छाड़ि किछु और न लोना जौं देखौं मन बूझि॥

इस प्रकार यह प्रेमतत्त्व आकाशमें अवस्थित ध्रुवतारेसे भी उत्तुङ्ग है। जिसने प्रेम-मार्गपर चलकर अपना सिर उतारकर जमीनपर नहीं रखा, उसका पृथ्वीपर आना ही व्यर्थ हो गया। प्रेमके बलपर ही मनुष्य वैकुण्ठका जीव बन पाता है, अन्यथा उसकी स्थिति एक मुट्ठी धूलके सदृश है—

मानुस पेम भएउ बैकुंठी। नाहिं त काह छार एक मूँठी॥

प्रेम और समुद्र समान हैं। दोनों ही अनन्त एवं अगाध हैं। जिस व्यक्तिने प्रेमसमुद्रका दर्शन कर लिया, उसे साधारण समुद्र बूँदके समान प्रतीत होता है—

औ जेइँ समुँद पेम कर देखा। तेइँ यह समुँद बुंद बरु लेखा॥

प्रेमतत्त्वका महिमाङ्कन करते हुए कवि कहता है कि जिसके हृदयमें प्रेमका निवास है, उसे अग्नि भी चन्दनके समान शीतल प्रतीत होती है। लेकिन प्रेमरहित हृदयके लिये अग्नि अत्यन्त भयावह है। प्रेमाग्निमें जलनेवालेका जलना कभी निष्फल नहीं होता—

जेहिं जिय पेम चँदन तेहि आगी। पेम बिहून फिरहिं डरि भागी॥
पेम की आगि जरै जो कोई। ताकर दुख अविरथा होई॥

जायसी आपादमस्तक प्रेमसे सराबोर थे। उन्होंने परम सौन्दर्यमय परमात्माकी अतुलनीय छविके प्रति अनुराग उत्पन्न करनेकी दृष्टिसे 'पदमावत'की लौकिक कथाको प्रतीकात्मक आधार बनाया। साथ ही अपनी अन्तर्मुखी प्रेमसाधनाका विलक्षण परिचय भी दिया। लौकिक आख्यानके रूपमें रत्नसेन-पद्मावतीका प्रेम-वर्णन भी बहिरङ्गमें परिलक्षित होता है, मगर अन्तरङ्गकी आभा आध्यात्मिक प्रेमसे ओत-प्रोत है। रत्नसेनकी परिस्थितियोंकी प्रस्तुतिमें कविने प्रेमकी प्रभावमयताका अति संवेदनशील वर्णन किया है—

पेम घाव दुख जान न कोई। जेहि लागे जानै पै सोई॥
परा सो पेम समुँद अपारा। लहरहिं लहर होइ बिसँभारा॥

जायसीकी लेखनीसे ऐसे प्रेमका चित्रण हुआ है जो इश्क़ मजाज़ी (लौकिक प्रेम)-के द्वारा इश्क़ हक़ीक़ी (आध्यात्मिक प्रेम)-तक साधकको पहुँचाता है। 'पदमावत'में जिस प्रेमतत्त्वकी अभिव्यञ्जना हुई है, वह नायक-नायिकाके मध्य पल्लवित होनेवाला लौकिक प्रेम नहीं है, वरन् आत्मा और परमात्माके मध्य विकसित होनेवाला आध्यात्मिक प्रेम है; जिसकी अभिव्यञ्जना कवि कथा-प्रसङ्गों एवं घटनाओंके मध्य करता चलता है।

'पदमावत' महाकाव्यमें रत्नसेन 'आत्मा' और पद्मावती 'परमात्मा' का प्रतीक है। इन्हीं दोनों पात्रोंके प्रेमाख्यानोंके माध्यमसे कविने आध्यात्मिक प्रेमका संकेत दिया है। कवि तो सम्पूर्ण सृष्टिको ही उसी परमतत्त्वके प्रेमका प्रतिफल मानता हुआ कहता है—

सँवरौं आदि एक करतारू। जेइँ जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू॥

'पदमावत'की कथाके मध्य लौकिक प्रेमका वर्णन करते हुए जायसीने अलौकिक प्रेम-व्यञ्जनाकी ओर ही संकेत दिया है। हीरामन तोता सूफी पन्थानुसार गुरु है। कविने तोतेके माध्यमसे ही सूफी प्रेमतत्त्वका निरूपण किया है। पद्मावतीके नख-शिखका वर्णन करता हुआ हीरामन तोता बीच-बीचमें उस परमसत्ताके अलौकिक सौन्दर्यकी झलक तथा आध्यात्मिक संकेत भी देता चलता है। जायसीके आध्यात्मिक प्रेमतत्त्वकी एक विशेषता है—विरहकी व्यापकता। मूर्च्छित होनेपर भी नायक रत्नसेन (जीव)-को ध्यानमें पद्मावतीरूपी 'परम ज्योति'के सामीप्यकी आनन्दमयी अनुभूति होती रहती है। वह संसारसे विरत होकर प्रेमसमुद्रमें डूब जाता है—

अठहु हाथ तन सरवर हिया कँवल तेहि माँह।
नैनन्ह जानहु निअरें कर पहुँचत अवगाह॥

इस प्रकार जायसीने जगत्के नाना व्यापारोंको प्रेमकी आध्यात्मिक छायासे प्रतिभासित माना है। इसी आध्यात्मिक विरहसे अभिभूत हो 'रत्नसेन' (साधक, जीव) अति व्याकुल हो 'पद्मावती' (परमात्मा)-की ओर आकृष्ट होता है। 'गुरु' (हीरामन तोता) 'ब्रह्म' (पद्मावती)-की प्राप्तिमें सम्पूर्ण मार्ग-दर्शन करता है।

इस प्रकार कविने कथा-प्रसङ्गोंके माध्यमसे लौकिक प्रेम और सौन्दर्यके मध्य आध्यात्मिक प्रेमका अनुपम संकेत दिया है।

अन्तमें प्रेमपीरके गायक जायसीने अपनी प्रेमानुभूतिके द्वारा अपने आध्यात्मिक प्रेमके मधुमय रहस्यको खोलकर रख दिया है—

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेई पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोई न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥
(इं० प्र० सिं०)

संत सुन्दरदासजीकी प्रेमोपासना

(डॉ० श्रीनरेशजी झा, शास्त्रचूडामणि)

हिन्दी-साहित्यके भक्तिकालमें महाकवि गोस्वामी संत तुलसीदासजीके समकालीन (वि० सं० १६५३—१७४६) कविवर संत सुन्दरदासजीका महिमामण्डित स्थान है। ये विख्यात संत दादूजीके पट्टशिष्योंमें अग्रणी विद्वान् शिष्य थे। इन्होंने काशीमें ही (वि० सं० १६६४—१६८२) रहकर विविध शास्त्रोंका गहन अध्ययन किया था। ये मूलतः द्यौसा (जयपुर-राजस्थान)-के निवासी थे। संस्कृत शास्त्रोंके विद्वान् होते हुए भी इन्होंने सामयिक परम्पराके अनुसार अपनी समस्त रचनाएँ लोकभाषा (हिन्दी, राजस्थानी, व्रज आदि)-में ही की हैं। संत-साहित्यकी अभिवृद्धिमें इनका प्रमुख योगदान है। इनकी रचनाओंमें ज्ञानसमुद्र, सर्वाङ्ग-योगप्रदीपिका, पञ्चेन्द्रिय-चरित्र आदि सुप्रसिद्ध हैं।

इन ग्रन्थोंमें मानवके आध्यात्मिक उत्थानके लिये नवधा भक्तिसहित अनेक आवश्यक अङ्गोंकी भी विस्तृत विवेचना की गयी है। इनमें परा-भक्तिका वर्णन तो सर्वातिशायी है। विद्वानोंका मत है कि भाषा-साहित्यमें ऐसा प्रतिपादन विरला ही प्राप्त होता है। *'मिलि परमातम सों आतमा परा भक्ति सुन्दर कहै'* यह भक्ति-विज्ञानकी पराकाष्ठा है। इसी नवधा भक्तिके अन्तर्गत 'प्रेमलक्षणा' भक्ति कही गयी है। यह प्रेमलक्षणा-भक्ति भगवत्प्रेमके अन्तर्गत आती है।

अतः प्रसङ्गोपात्त इसका स्वरूप 'ज्ञानसमुद्र' से पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। वस्तुतः संत कवि सुन्दरदासजीका यह ग्रन्थ विविध छन्दोंमें ग्रथित संत-साहित्यका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। संत सुन्दरदासजीके ग्रन्थोंमें सब कुछ सुन्दर-ही-सुन्दर है। देखिये प्रेमलक्षणा-भक्तिके स्वरूपमें ज्ञानसमुद्रका एक उदाहरण—

श्रीगुरुरुवाच

सिष्य सुनाऊँ तोहि, प्रेमलच्छना भक्ति कौं।
सावधान अब होइ, जो तेरैं सिर भाग्य हैं॥
प्रेम लाग्यो परमेस्वर सौं, तब भूलि गयो सब ही घरबारा।
ज्यौं उनमत्त फिरै जित ही तित, नैकु रही न सरीर सँभारा॥
साँस उसास उठैं सब रोम, चलै दृग नीर अखंडित धारा।
सुन्दर कौन करै नवधा विधि, छाकि पर्‍यौ रस पी मतवारा॥

न लाज काँनि लोक की, न बेद कौ कह्यौ करे।
न संक भूत प्रेत की, न देव यक्ष तें डरे॥
सुनै न कौन और की, द्रसै न और इच्छना।
कहै न कछू और बात, भक्ति प्रेम लच्छना॥

निस दिन हरि सौं चित्तासक्ती, सदा ठग्यौ सो रहिये।
कोउ न जानि सकै यह भक्ती, प्रेमलच्छना कहिये॥
प्रेमाधीना छाक्या डोलै। क्यौं का क्यौं ही वाँनी बोलै॥
जैसे गोपी भूली देहा। ताकौं चाहै जासों नेहा॥

कबहूँकै हँसि उठै नृत्य करि, रोवन लागै।
कबहुँक गदगद कंठ, सब्द निकसै नहिं आगै।
कबहुँक हृदय उमंगि, बहुत ऊँचे स्वर गावै।
कबहुँक कै मुख मौनि, मगन ऐसैं रहि जावै॥
चित्त वृत्त हरिसों लगी, सावधान कैसैं रहै।
यह प्रेम लच्छना भक्ति है, शिष्य सुनहि सुंदर कहै॥

नीर बिनु मीन दुखी, क्षीर बिनु सिसु जैसे,
पीर जाकैं ओषधि बिनु, कैसैं रह्यौ जात है।
चातक ज्यौं स्वातिबूँद, चंद को चकोर जैसें,
चंदन की चाह करि, सर्प अकुलात है॥
निर्धन कौं धन चाहैं, कामिनी कौं कन्त चाहै,
ऐसी जाकै चाह ता कौं, कछु न सुहात है।
प्रेम कौ भाव ऐसौ, प्रेम तहाँ नेम कैसौ,
'सुन्दर' कहत यह, प्रेम ही की बात है॥

यह प्रेम भक्ति जाकैं घट होई, ताहि कछू न सुहावै।
पुनि भूख तृषा नहिं लागै वाकौं, निस दिन नींद न आवै॥
मुख ऊपर पीरी स्वासा सीरी, नैंन हु नीझर लायौ।
ये प्रगट चिन्ह दीसत हैं, ताकै प्रेम न दुरै दुरायौ॥
प्रेम भक्ति यह मैं कही, जानैं विरला कोइ।
हृदय कलुषता क्यौं रहै, जा घट ऐसी होइ॥

आर्षग्रन्थों तथा सन्तसाहित्यमें प्रेम-निरूपण

वैदिक संहिताओंमें भगवत्प्रेम

(डॉ० श्रीभवानीलालजी भारतीय)

यदि हम भारतीय आर्यशास्त्रोंका सम्यक् अवगाहन करें तो हमें ज्ञात होगा कि भगवत्प्रेमकी पावन गङ्गा इन शास्त्रोंमें आद्यन्त प्रवाहित होती रही है। वेदादि सभी शास्त्रोंमें भगवत्प्रेमको मनुष्यके जीवनका अन्तिम प्राप्य तथा लक्ष्य स्वीकार किया गया है।

मन्त्रसंहिताओंमें भगवत्प्रेम नाना रूपोंमें वर्णित है। वस्तुतः किसीसे प्रेमसम्बन्ध स्थापित करनेसे पूर्व हमें यह निर्धारित करना होगा कि जिससे हम प्रेम करने जा रहे हैं, उससे हमारा सम्बन्ध क्या है और कैसा है? सेव्य-सेवकभाव, सखाभाव, पिता-पुत्रभाव और दाम्पत्यभाव आदि तत्त्वोंको देखकर प्रेमके स्वरूपका निरूपण किया गया है। वेदोंमें उपर्युक्त सभी सम्बन्धोंके सूचक मन्त्र मिलते हैं, जिनके आधारपर वेदोक्त भगवत्प्रेमका विशदीकरण किया जा सकता है। वेदोंमें परमात्माको भक्तके माता और पिताके रूपमें उल्लिखित किया गया है। माताका वात्सल्य और पिताका संरक्षण-भाव—ये दो ऐसी मनोभूमियाँ हैं, जिनकी समानता कदाचित् ही कहीं मिलती हो। ऋग्वेदका निम्नलिखित मन्त्र परमात्माको पिता और माता—दोनों कहकर सम्बोधित करता है—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥

(८।९८।११)

हे समस्त ब्रह्माण्डको स्वयंमें समाहित करनेवाले परमात्मदेव! आप ही हमारे पिता एवं माता हैं। हम आपसे भद्र और कल्याण चाहते हैं।

ऋग्वेदके निम्नलिखित मन्त्रमें बहुतोंसे स्तुत एवं प्रशंसित इन्द्रको पिता कहा गया है और उनसे याचना की गयी है कि वे हमें उसी प्रकार शिक्षित करें, जैसे एक प्रेममय पिता अपनी संतानको सुशिक्षित करता है तथा उसे कर्तव्य-पालनका उपदेश देता है—

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥

(७।३२।२६)

भगवत्प्रेम अलौकिकता लिये होनेपर भी सांसारिक सम्बन्धोंकी उपमाओंको लेकर चलता है। यों तो मानवीय सम्बन्धोंमें पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी और भाई-भाई आदिके सम्बन्ध पवित्र तथा महत्त्वपूर्ण माने गये हैं; किंतु बन्धुभाव या मैत्री अथवा प्रेम-सम्बन्धकी कुछ अपनी अलग ही विशेषता होती है। लोकमें हम देखते हैं कि कभी मनुष्य ऐसी विषम स्थितिमें जा पहुँचता है, जिसे अपने निकटस्थ आत्मीयको बतानेमें भी वह संकोच करता है। कई ऐसे रहस्य होते हैं, जिन्हें हम प्रत्येक स्थितिमें गोपनीय रखते हैं। पिता, माता और भाईकी बात तो दूर रही, अपनी सहधर्मिणीको भी नहीं बताते, किंतु अपनी इस गोपनीय वार्ताको अपने प्रेमी सखा या बन्धुसे कहनेमें हमें कोई संकोच नहीं होता। हमें यह विश्वास है कि इस विपत्तिसे बचानेका कोई कारगर उपाय हमारा यह बन्धु या सखा तो अवश्य बता ही देगा। वेदोंमें अनेकत्र परमात्माको बन्धु कहकर सम्बोधित किया गया है। यजुर्वेदका निम्नलिखित मन्त्र परमात्माको बन्धु, जनिता और विधाता कहकर सम्बोधित करता है—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।

(३२।१०)

निखिल भुवनोंको जाननेवाला सर्वज्ञ एवं सर्वान्तर्यामी परमात्मा हमारा बन्धु, जन्मदाता तथा हमारे भाग्यका विधान करनेवाला है। परमात्माके इस दिव्य प्रेम तथा उसके साथ भक्तके विविध सम्बन्धोंकी काव्यात्मक व्यञ्जना वेदमन्त्रोंमें अनेकत्र मिलती है।

पिता-पुत्रके प्रेमसम्बन्धको भगवान् तथा भक्तके प्रेममें अवतरित करनेवाली ऋग्वेदकी निम्नलिखित ऋचा कितनी भावनापूर्ण है—

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये॥

(१।१।९)

अर्थात् 'हे परमेश्वर! जैसे पिता अत्यन्त प्रेमसे अपनी संतानोंको सुख देता है, वैसे ही आप हमको पुरुषार्थसे आनन्दयुक्त करके नित्य हमारा पालन करें; क्योंकि आप ही हमलोगोंके पिता हैं। हमको सुख देनेवाले एक आप ही हैं।'

ऋग्वेदमें आये वरुणसूक्तोंमें चराचर जगत्के शासक, सत्य और ऋतकी स्थापना करनेवाले वरुणसंज्ञक परमात्माके प्रति प्रेमा-भक्तिका सागर उमड़ आया है। भगवान्के भक्तको इस बातका निश्चय है कि यदि वह अपनी वृत्तियोंको ईश्वरकी ओर उन्मुख कर ले तो करुणावरुणालय परमात्मा निश्चय ही अपने प्रेमकी वर्षा करके विपत्तियोंसे उसे बचा लेंगे। इसी भावको ऋग्वेदकी इस ऋचामें देखें—

परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्यइष्टये।
वयो न वसतीरुप॥

(१।२५।४)

हे वरुणभगवान्! हमारी चित्तवृत्तियाँ शाश्वत शान्ति एवं मुक्तिके लिये उसी प्रकार आपके चरणोंमें आ रही हैं, जैसे पक्षी संध्याके समय अपने नीड़की ओर उन्मुख होते हैं।

भक्त अपने प्रेमके बलपर भगवान्का साक्षात्कार करना चाहता है। वह स्वयंसे पूछता है—वह शुभ घड़ी कब आयेगी, वह धन्य पल कब आयेगा जब सर्वद्रष्टा वरुणदेवको सुख-प्राप्तिके लिये हम प्रत्यक्ष करेंगे? भगवत्साक्षात्कारसे ही हमें वह अलौकिक और दिव्य सुख प्राप्त होगा, जिसे पानेके बाद अन्य कुछ प्राप्तव्य नहीं रहेगा।

भक्तके लिये भगवान् निकटतम होते हैं। वह उनके प्रेमका सदा आकाङ्क्षी रहता है। इसके लिये उसे प्रतिपल आत्मनिरीक्षण करना पड़ता है और देखना होता है कि भगवान्का प्रेमपात्र बननेकी अर्हता भी उसमें है या नहीं? निम्नलिखित मन्त्रमें यही भाव दीख पड़ता है—

उत स्वया तन्वा३ सं वदे तत् कदा न्व१न्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम्॥

(ऋग्वेद ७।८६।२)

मैं अपने शरीरसे ही संवाद करता हूँ, अपने-आपसे पूछता हूँ। वरणीय प्रभुसे मेरा आत्मिक मिलन कब होगा? उनके प्रेमसिन्धुमें मैं कब डुबकियाँ लगाऊँगा? क्या मेरे प्रिय वरुणदेव, मेरी पुकारको सुनेगें और मैं उन आनन्ददाताका साक्षात्कार कब करूँगा?

इसी आत्मचिन्तनके प्रसङ्गमें भक्तको शङ्का होती है कि क्या मुझसे कोई अपराध हो गया है, क्या कोई ऐसा पाप हो गया है जिसके कारण मेरे प्रियतम देव मुझसे दूर हो गये हैं। यदि मुझे उसकी जानकारी मिल जाय तो मैं स्वयं उस अपराधको दूर करके स्वयंको भगवान्के दिव्य प्रेमका अधिकारी बनाऊँ। इसी भावका द्योतक निम्नलिखित मन्त्र है—

किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत् स्तोतारं जिघांससि सखायम्।
प्र तन्मे वोचो दूळभ स्वधावो ऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम्॥

(ऋग्वेद ७।८६।४)

वेदोंमें भगवत्प्रेम तथा भगवान् एवं भक्तके प्रेम-सम्बन्धोंका जैसा काव्यात्मक विवेचन हुआ, वही कालान्तरमें अन्य शास्त्रोंमें बहुधा विशद एवं स्फुटरूपसे वर्णित एवं विवेचित है। श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुन भगवान् कृष्णसे अपनी निकटता तथा सखाभावको अनुभव कर उनकी दिव्य आध्यात्मिक अनुभूतियों तथा योगज उपलब्धियोंको भुलाकर अत्यधिक निकटता तथा प्रमादके कारण उनमें अस्मदादि पुरुषोंके-से लक्षण देखने लगे; किंतु जब भगवद्वचनोंकी दिव्यता तथा पावनताका उन्हें आभास हुआ तो वे कहने लगे—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि॥

(११।४१)

निश्चय ही हम भगवान्को अपना सखा कहकर पुकारें; किंतु उनकी दिव्य महिमाको न भूलें, यही उक्त श्लोकका आशय है। वेदोंमें भी सखाभावको अनेक मन्त्रोंमें व्यक्त किया गया है।

संहिताओंके उसी भगवत्प्रेमके बीजकी अभिव्यक्ति संकीर्तन, गायन और भजन आदि माध्यमोंसे व्यक्त होने लगी। वेदका भी यही आदेश है कि सांसारिक कार्योंमें संलिप्त मनुष्यका कर्तव्य है कि थोड़ा समय वह भगवन्नाम-जप तथा प्रेममय प्रभुके यशका गायन करनेमें लगाये। ऋग्वेदका निम्नाङ्कित मन्त्र इसी भावको अभिव्यक्त करता है—

आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत।
सखायः स्तोमवाहसः॥ (१।५।१)

इस मन्त्रके द्रष्टा ऋषि मधुच्छन्दा हैं। वे भक्तजनोंका आह्वान करते हैं, परमात्मामें अनुरक्त लोगोंको बुलाते हैं, आमन्त्रित करते हैं तथा उन्हें परमैश्वर्यशाली परमात्मदेव इन्द्रके गुणों तथा यशका गायन करनेके लिये प्रेरित करते हैं। वेदोंमें आये हिरण्यगर्भसूक्त, पुरुषसूक्त, अस्यवामीय सूक्त, नासदीय सूक्त तथा ईशावास्योपनिषद् आदि प्रकरण भगवद्भक्ति तथा भगवत्प्रेमका ही मुख्य अथवा गौणरूपसे माहात्म्य वर्णित करते हैं।

वैदिक-ऋचाओंमें समर्पण एवं प्रेम-भाव

(प्रो० श्रीराजेन्द्रजी 'जिज्ञासु')

ईश्वरकी सत्तापर पश्चिममें जो एक पुस्तक लोकप्रिय हुई थी—फलिण्ट महोदयकी 'Theism' [थीइज़्म] और आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदीके अनुसार अपने देशमें ईश्वरकी सत्तापर जो सर्वश्रेष्ठ पुस्तक प्रकाशित हुई वह है पं० गंगाप्रसादजी उपाध्यायद्वारा लिखित 'आस्तिकवाद'। 'आस्तिकवाद' के लेखकने इसी विषयपर उर्दूमें भी 'बारी ताला' नामसे एक बेजोड़ पुस्तक लिखी। ईश्वरविषयक इन दो अद्वितीय ग्रन्थोंके लेखकने अपने एक दार्शनिक ग्रन्थमें भक्त एवं भगवान्‌के भक्तिभाव या प्रेमको दर्शानेके लिये ऋग्वेदकी एक अनूठी सूक्ति दी है। भक्त तथा भगवान्‌के प्रेमभावके सम्बन्धमें संसारमें कहीं भी किसीने ऐसी मार्मिक सूक्ति नहीं लिखी। ऋग्वेद कहता है—'**त्वमस्माकं तव स्मसि**'। (८।९२।३२)

अर्थात् प्रभो! आप हमारे हैं और हम आपके हैं। इस सूक्तिपर ग्रन्थ-लेखकने ठीक ही लिखा है—'यही सम्बन्धकी पराकाष्ठा है। यहाँ सब उपमाएँ समाप्त हो जाती हैं। इससे अधिक क्या कहना चाहिये, समझमें नहीं आता।' चारों वेदोंमें और भी कई ग्रन्थोंमें इस प्रेमभावको बहुत सुन्दर एवं हृदयस्पर्शी शैलीमें दर्शाया गया है। संसारके सब मतों, पन्थों एवं ग्रन्थोंपर इस वैदिक विचारधाराकी छाया स्पष्ट दिखती है।

कहते हैं कि एक बार लार्ड हार्डिंग हिन्दुओंके एक विराट् समारोहको देखने एक हिन्दू-तीर्थपर आये। वहाँ महामना पं० मदनमोहन मालवीयजीसे उनकी कुछ धर्म-चर्चा चल पड़ी। लार्ड हार्डिंगने कहा—देखिये, हमारे ईसाई-मतकी यह विशेषता है कि हम प्रभुको प्यारसे 'Heavenly Father' (आकाशस्थ पिता) कहकर सम्बोधित करते हैं। झटसे भारतभूषण मालवीयजी बोले—आप तो परमात्माको पिता कहकर पुकारते हैं हमारे धर्ममें—वेदशास्त्रमें इससे भी कहीं ऊँची व सूक्ष्म विचारधारा आपको मिलेगी। वेदमें आता है—

'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे॥' (ऋग्वेद ८।९८।११)

इस ऋचामें प्रभुको पिता और माता भी कहा गया है। पितासे कहीं अधिक माता बच्चेसे प्यार करती है।

अजमेरमें एक पादरी 'ग्रे' रहते थे। उन्नीसवीं शताब्दीके ईसाई पादरियोंमें उनका विशिष्ट स्थान था। उन्होंने भी एक बार हुतात्मा पं० लेखरामजीसे कहा था कि वेदमें ईश्वरविषयक कोई अच्छी शिक्षा नहीं है। हमारे धर्मग्रन्थ 'बाइबिल'में तो परमात्माको पिता कहा गया है। पं० लेखरामजीने कहा कि वेदमें तो इससे भी आगे परमेश्वरको माता, पिता, बन्धु तथा सखा कहा गया है। हाँ! तुम्हारा पिता आकाशस्थ है, वेद प्रभुको सर्वव्यापक मानता है। आपने वेदकी कई सूक्तियाँ जब 'ग्रे' महोदयको सुना दीं तो वे चुप हो गये। यथा—

'स नो बन्धुर्जनिता स विधाता' (यजुर्वेद ३२।१०)

इस सूक्तिमें प्रभुको पिता, सखा एवं उत्पन्न करनेवाला कहा गया है।

'स नः पिता जनिता स उत बन्धुः' (अथर्ववेद २।१।३)

यहाँ भी परमात्माको पिता, उत्पन्न करनेवाला एवं मित्र कहा गया है। ईश्वरसे सखा-भावका सम्बन्ध तो वेदकी एक अलौकिक देन है।

फ़ारसी-साहित्यमें सूफ़ी कवियोंमेंसे किसीकी ये पंक्तियाँ बहुत लोकप्रिय हैं—

मन तू शुदम, तू मन शुदी। मन जाँ शुदम, तू तन शुदी॥
ता कस न गोयद बाद अज़ाँ। मन दीगरम, तू दीगरी॥

हिन्दीके महान् मनीषी चमूपतिजी 'चातक' ने इन पंक्तियोंको ऐसे अनूदित किया है—

तन दो रहें, मन एक हो, यह साधना है प्रेम की।
संगीत का स्वर साध लो, लय एक है बाजे कई॥

यहाँ फ़ारसी-पंक्तियोंका शब्दशः अनुवाद तो नहीं है, परंतु ईश्वरके प्रति भक्तिभाव तथा प्रेमभावको फ़ारसी कविसे भी कहीं अच्छे ढंगसे व्यक्त किया गया है। ऋग्वेदकी एक सूक्ति है—

'तमित् सखित्व ईमहे' (१।१०।६)

अर्थात् हम ईश्वरसे सखापनके लिये प्रार्थी हैं।

'स नः पितेव सूनवे।' (१।१।९)

जैसे पिता पुत्रपर दयालु है, वैसे ही प्रभु हम भक्तोंपर दया रखता है। अथर्ववेदमें एक स्थानपर परमेश्वर जीवोंको

सखा शब्दसे सम्बोधित करते हैं। उस मन्त्रपर मुग्ध होकर एक कविहृदय भक्तका मन-मयूर भाव-विभोर होकर हर्षसे पुकार उठा—

'मैं मीत पै वारी, दिलजीत पै वारी,
इस प्रीत पै वारी—मैं रीत (रीति) पै वारी।'

ऋग्वेद (१।१०१।१—७)-की ऋचाओंमें यह विनय है—**'मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे।'** अर्थात् आओ मित्रो! हम सब प्रीतिपूर्वक परमात्माको सखा होनेके लिये गद्गद होकर पुकारें। इन्हीं वैदिक भावनाओंसे अभिभूत होकर संत श्रीतुकारामजीने प्यारे प्रभुसे प्रीतिपूर्वक अत्यन्त भक्तिभावसे जो कुछ कहा, उसे हम आजकी देशी भाषामें नोक-झोंक कह दें तो कोई अत्युक्ति न होगी। श्रीतुकारामजी लिखते हैं—

नाहीं तरी तुज कोण ही पुसले। निराकारी लथें एकाकी॥

अर्थात् यदि मैं (तेरा उपासक—तुझसे प्रेम करनेवाला) न होता तो तुझ निराकार और अकेलेको कौन पूछता?

इसी भजनमें संत तुकारामजी अपने प्यारे प्रभुसे कहते हैं कि रोगने ही तो धन्वन्तरिको चमकाया। स्वस्थ मनुष्य वैद्यको क्यों पूछेगा? इसको आप नोक-झोंक तो कह सकते हैं, परंतु है यह प्रीतिपूर्वक। इसका रसास्वादन करनेके लिये हृदयकी सरलता एवं तरलता चाहिये। इस मृदुलताका रसपान वही कर सकता है, जिसने कभी माताकी गोदमें बैठे बालकको कल्लोल करते देखा हो। भक्तप्रवर तुकारामके इस प्रेमालापसे श्रद्धा छलकती है और इसमें अभिमानकी गन्ध लेशमात्र भी नहीं है।

जो व्यक्ति आजके तनावयुक्त विश्वमें अपने जीवनको सरस बनाना चाहते हैं, उन्हें अपने हृदयमें इस आस्तिक्य-भावनाका सञ्चार करना ही होगा। भाव-प्रदूषण तो जल-प्रदूषण, वायु-प्रदूषण तथा ध्वनि-प्रदूषणसे भी कहीं अधिक घातक है। विश्वमें व्याप्त भाव-प्रदूषण जटिल मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक रोगोंका एक मुख्य कारण है। इस भाव-प्रदूषणरूपी महारोगकी एक ही औषधि है और वह है—करुणासागर, सुधासिन्धु, दयालु, कृपालु, न्यायकारी और परमानन्दरूप अपने प्रेमास्पद परमेश्वरके प्यारमें डूब जाना। संत तुकारामने प्रभु-प्रेममें डुबकी लगाकर ही इस अभङ्ग (भजन)-की रचना की थी।

आध्यात्मिक तथा मानसिक दुःखोंसे छुटकारा पाने या बचनेका प्रथम उपाय यही है कि मनुष्य भक्तिभावसे, प्रेमभावसे सायं-प्रातः प्रभुके अपार प्यार तथा उपकारोंका चिन्तन करे। मेरे प्रभुने सब कुछ—सारा जगत् मेरे लिये ही तो रचा है। अपने लिये उसने कुछ भी नहीं बनाया। मेरा शरीर मेरे लिये है। अपने आँखों, कानों, हाथों और पैरोंका मैं ही तो उपयोग-प्रयोग करता हूँ। सूर्य, चन्द्र, जल, वायु, अग्नि, फल, फूल एवं वनस्पतियाँ किसके लिये हैं? वह दाता-विधाता कभी स्वयं तो इनका प्रयोग करता नहीं। इन सबका लाभ मैं ही उठाता हूँ। जगत्का केन्द्र-बिन्दु हम ही हैं, हम ही। मित्रो! स्मरण रखो कि समस्त आस्तिक जगत् सृष्टिका रचयिता तो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् परमात्माको ही मानता है। प्रश्न यह है कि यह जगत् रचा क्यों गया? किसके लिये परमात्माने यह सृष्टि रची? वेद बड़े सरल, परंतु सारगर्भित शब्दोंमें इस पहेलीका उत्तर देता है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
(यजु० ४०।१)

कण-कणमें व्यापक प्रभुने यह जगत् जीवोंके लिये रचा है। प्रभु इस मन्त्रमें जगत्के भोगोंको त्यागभावसे भोगनेका उपदेश एवं आदेश देते हैं। आज सम्पत्ति ही विपत्तिका कारण बन रही है। किसी पश्चिमी विचारकने **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** का मर्म जानकर ही तो यह लिखा था, 'Hoarding is the cause of all the miseries.' अर्थात् सञ्चय करते जाना ही सर्वदुःखोंका मूल है।

यह कथन तो प्रसंगवश आ गया। हम तो यहाँ यह दर्शा रहे थे कि जगत्के भीतर-बाहर व्याप्त प्रभुने जगत् रचा तो मेरे और आपके लिये, उसने भिन्न-भिन्न प्रकारकी योनियाँ बनायीं तो हमारे शुभ-अशुभ कर्मोंका फल प्रदान करनेके लिये, उस प्रभुने आँखसे पूर्व सूर्यको रच दिया, प्राणियोंको बनानेसे पूर्व पृथ्वी बना दी, जल बना दिया और वायु बना दी। आवश्यकतासे पूर्व वह प्रभु आविष्कार कर देता है। यह है उसके अपार प्यारका एक निराला चमत्कार। हम उस प्यारका चिन्तन-मनन करते रहेंगे तो आध्यात्मिक रोगोंसे बचे रहेंगे और प्रभुके प्रेमको प्राप्त करनेमें सफल हो जायँगे। यह हमारा कर्तव्य है—ऐसी वेदकी आज्ञा है।

* * *

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेममयी लीलाका स्वरूप

(डॉ० श्रीजगदीश्वरप्रसादजी, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

परम शक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्वसमर्थ परमात्माकी कल्याणकारी और रहस्यमयी लौकिक क्रियाओंका नाम लीला है। गुणातीत होते हुए भी वे गुणोंका बन्धन स्वीकार कर सामान्य मनुष्यके समान चेष्टाएँ करते हैं। स्वयं अकर्ता होकर भी वे कर्ता बन जाते हैं। सृजन, पालन और संहार उनकी लीलाएँ ही हैं।

इन लीलाओंका उद्देश्य होता है—भक्तोंपर कृपा, सज्जनोंकी रक्षा और दुर्जनोंका संहार। ये लीलाएँ भक्त-हृदयके भक्तिभावको उद्दीप्त करती हैं। भक्त उनकी लीलाओंका स्मरण कर भक्तिमें विभोर हो जाता है और अन्य लोगोंमें भी भक्ति जाग उठती है। इन लीलाओंके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥
(१०।३३।३७)

श्रीमद्भागवतकी ये लीलाएँ भक्तोंपर अनुग्रहके लिये ही हैं।

भगवान्‌के लीलावतारोंको दो वर्गोंमें रखा जा सकता है—रसावतार और मर्यादावतार। श्रीकृष्ण मुख्यतः रसावतार हैं और श्रीमद्भागवत श्रीकृष्णके इसी रसावतारकी विशद व्याख्या है। श्रीकृष्ण स्वयं रसरूप हैं। गोपियाँ जीवात्माओंकी प्रतीक हैं जो उनके सांनिध्यके लिये व्याकुल रहती हैं। श्रीकृष्ण अपनी रसमयी लीलाओंसे सभीको अपनी ओर खींचते हैं। उनकी मुरली नादब्रह्मकी प्रतीक है, जिसके नादका आकर्षण गोपियोंके लिये दुर्निवार है। इन सबके माध्यमसे श्रीकृष्णकी लीलाओंसे माधुर्यकी ऐसी सृष्टि होती है कि भक्तहृदय आत्मविस्मृत, आत्मविभोर हो जाता है।

श्रीमद्भागवतकी लीलाओंमें जहाँ नन्द, यशोदा और गोपियोंके माध्यमसे प्रेमकी रसधारा बहती है, वहीं दूसरी ओर उनके अद्भुत और अलौकिक कर्म हैं, जो उनके रक्षणभावके साथ-साथ उनके ईश्वरत्वका भी परिचय देते चलते हैं। श्रीकृष्णके सभी कर्म अद्भुत हैं। छोटी अवस्थामें ही वे पूतनाका वध कर डालते हैं। फिर शकटासुर, वत्सासुर, बकासुर-जैसे राक्षसोंकी बारी आती है और अन्तमें आततायी कंसका वध होता है। इतना ही नहीं, वे कालिय नागसे व्रजको मुक्त करते हैं तथा गोवर्धन धारण कर इन्द्रका गर्व-दलन करते हैं।

अपनी लीलाओंमें श्रीकृष्ण अपने विराट्‌रूपका दर्शन भी कराते चलते हैं। वसुदेव और देवकीके पुत्ररूपमें जन्म लेनेसे पहले वे उनके समक्ष दिव्य रूपमें प्रकट होते हैं। माता यशोदाको भी वे अपना रूप दिखलाते हैं। इन्द्रका मानमर्दन हो जानेके पश्चात् सुरभि इन्द्ररूपमें उनका अभिषेक करती है। केवल इन्द्रका ही नहीं, वे ब्रह्माका भी अभिमान मिटा देते हैं। ब्रह्माद्वारा गौओं और गोपालोंको गुफामें छिपा देनेके बाद वे वैसी ही गौओं तथा गोपालोंकी रचना कर ब्रह्माको चकित कर देते हैं। प्रणत होकर ब्रह्मा उनकी स्तुति करने लगते हैं। इन लीलाओंमें श्रीकृष्ण अपनी विराट्‌रूपताका प्रदर्शन व्रजवासियोंके बीच अपने ईश्वरत्वका बोध बनाये रखनेके उद्देश्यसे करते हैं।

श्रीकृष्णकी रसलीलाके केन्द्रमें माता यशोदा और गोपियाँ हैं। प्रथममें वात्सल्यरसकी पुष्टि होती है और दूसरेमें दिव्य शृङ्गारकी। शुद्ध-सात्त्विक प्रेमकी धारा इनके बीचसे प्रवाहित होती है। भगवान् ऐसे ही प्रेमके वशीभूत रहते हैं। समस्त श्रीकृष्णलीलामें इसीका प्रतिपादन किया गया है।

श्रीकृष्णके बालरूपका सौन्दर्य अद्भुत है। उनकी बालसुलभ क्रीडाएँ देखकर यशोदा मुग्ध हैं। इसी मुग्धताके कारण वे श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको पहचान नहीं पातीं। वे उन्हें मिट्टी खानेके लिये डाँटती हैं और अपना वास्तविक रूप दिखा देनेपर भी श्रीकृष्णकी मायाके वशीभूत होकर पुत्रभावसे ही उन्हें देखती हैं। उन्हें ओखलसे बाँधती हैं और यमलार्जुनवृक्षोंके गिर जानेपर व्याकुल भी होती हैं।

श्रीकृष्णलीलाका विलक्षण दिव्य प्रेम गोपियोंके साथ

महारासकी लीलामें व्यक्त हुआ है। इसके माध्यमसे उन्हें पानेके लिये प्रेममार्गका निरूपण हुआ है। वहाँतक पहुँचनेके लिये परम आसक्ति और समर्पणभाव आवश्यक है। जप, तप, ध्यान और योग आदिकी आवश्यकता नहीं। केवल भक्ति और समर्पणभाव आवश्यक है। गोपियाँ इसीकी प्रतिरूप हैं। वे उनके अनन्य सौन्दर्यपर मुग्ध हैं। अपने घरोंमें उनको माखनचोरी करते और मटके फोड़ते देख वे प्रसन्न होती हैं। उनके रूपका आकर्षण बढ़ता ही जाता है और विवाहिता होते हुए भी गोपियाँ उन्हें पतिरूपमें पानेकी कामना करने लगती हैं। उनकी वंशीकी ध्वनि इतनी मादक है कि जड़-चेतन सभी उससे प्रभावित हो उठते हैं। वेणुगीत, गोपिकागीत आदि प्रसंगोंमें गोपियोंके दिव्य प्रेमकी विरह-व्यथाकी मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।

श्रीकृष्णको पतिरूपमें पानेके लिये वे कात्यायनी-देवीका व्रत करती हैं। बिना परीक्षा लिये श्रीकृष्ण उनकी इच्छा पूरी नहीं कर सकते। चीरहरण-प्रसंग गोपियोंकी ऐसी ही परीक्षा है। भक्ति सम्पूर्ण समर्पणकी माँग करती है। इसमें किसी प्रकारके द्वैत अथवा दुरावके लिये अवकाश नहीं।

भगवान् शरद्-ऋतुकी रात्रियोंमें मिलनका—गोपियोंकी इच्छा पूर्ण करनेका आश्वासन देते हैं; किंतु मिलनके लिये और परीक्षाएँ शेष हैं। अन्तिम परीक्षा रासलीला-प्रसंगमें पूर्ण होती है। शरत्‌की पूर्णिमामें जब श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाते हैं, तब मन्त्रमुग्ध गोपियाँ घर-परिवार सब कुछ छोड़कर उनके पास दौड़ी चली आती हैं। सांसारिक बन्धन तोड़कर वे श्रीकृष्णकी शरण आयी हैं। श्रीकृष्ण उनकी परीक्षा लेते हुए कुलकी मर्यादाका उल्लंघन न करनेका उपदेश देते हैं; किंतु गोपियोंका समर्पणभाव दृढ़ हो चुका है। प्रेमका वेग इतना तीव्र है कि कुलकी मर्यादा और प्रतिष्ठा उसमें बह जाती है। अतः उनकी व्याकुलतासे द्रवित हो श्रीकृष्ण उनके साथ उन्मुक्त विहार करते और उनके मिलनकी इच्छा पूर्ण करते हैं।

किंतु गोपियोंकी परीक्षा अभी पूर्ण नहीं हुई। उनका अहंकार अभी समाप्त नहीं हुआ। परमात्मासे मिलनके लिये इसका परित्याग आवश्यक है। मिलनकी स्थितिमें किसी प्रकारके द्वैतका बोध नहीं रहना चाहिये। इसीलिये विहार करते हुए जब गोपियोंके मनमें यह अहंकार आ जाता है कि श्रीकृष्णको उन्होंने वशमें कर लिया, तभी वे अन्तर्धान हो जाते हैं।

श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेका उद्देश्य है—गोपियोंका विरहभाव दृढ़ करना, जिससे उनके चित्तके सभी विकार धुल जायँ। उनके आँसुओंमें उनका अहंकार बह जाता है। अब उनका चित्त सभी प्रकारके विकारोंसे रहित हो गया है। संसारकी मायाका उन्होंने त्याग कर दिया है। उनकी शरणागति पूर्ण हो गयी है। उनकी व्याकुलतासे द्रवित होकर श्रीकृष्ण पुनः प्रकट होते हैं और गोपियोंके साथ महारास आरम्भ होता है। वे अपनी लीलाशक्तिका सहारा लेकर जितनी गोपियाँ थीं उतने रूप धारणकर उनके साथ लीला-विहार करते हैं।

रास वस्तुतः जीव और ब्रह्मके मिलनकी आनन्दमयी स्थितिकी अभिव्यक्ति है। ब्रह्मरूप श्रीकृष्णका आकर्षण इतना प्रबल था, उनका रास इतना मोहक था कि स्वर्गकी देवाङ्गनाएँ भी काममोहित हो गयीं तथा इस लीलाके दर्शक चाँद और तारे भी मोहित हो गये—

कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचरस्त्रियः।
कामार्दिताः शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत्॥

(श्रीमद्भा० १०।३३।१९)

श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णकी लीलाएँ उनके रसरूपकी अभिव्यक्ति हैं। व्रजभूमिमें वे केवल रसकी धारा नहीं बहाते, बल्कि प्रेममार्गका निरूपण भी करते हैं। वे गोपियोंको इसी मार्गपर ले चलते हैं। उनमें प्रेमकी व्याकुलता जगाते, उन्हें मायाके बन्धनोंसे मुक्त करते और अन्तमें उनका अहंकार दूर करनेके लिये विरहकी पीड़ा भी देते हैं।

भक्तिमें भक्त भगवान्‌को पानेके लिये जितना व्याकुल होता है, भगवान् भी उन्हें अपनी शरणमें लेनेके लिये उससे कम व्याकुल नहीं होते। उन्हें पानेके लिये गोपियोंने जो अपना घर-परिवार त्याग दिया, प्रेममें इतने कष्ट सहे, इसके लिये वे इतने ऋणी हैं कि अनन्त कालतक उससे उऋण नहीं हो सकते। वे कहते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

(श्रीमद्भा० १०।३२।२२)

भक्तोंके प्रति दयालु होते हुए भी कभी-कभी उनका मार्गनिर्देशन करनेके लिये वे उनके प्रति निष्ठुर हो जाते हैं। ऐसा वे इसीलिये करते हैं जिससे भक्तोंकी चित्तवृत्ति उन्हींमें लगी रहे। जैसे किसी निर्धन पुरुषको बहुत-सा धन मिल जाय और फिर खो जाय तो उसका चित्त धनकी चिन्तासे भर जाता है, वैसे ही प्रकट होकर छिप जानेसे गोपियोंकी भक्ति और दृढ़ हो गयी—

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥

(श्रीमद्भा० १०।३२।२०)

गीता और प्रेम-तत्त्व

श्रीमद्भगवद्गीताका प्रारम्भ और पर्यवसान भगवान्‌की शरणागतिमें ही है। यही गीताका प्रेमतत्त्व है। गीताकी भगवच्छरणागतिका ही दूसरा नाम ‘प्रेम’ है। प्रेममय भगवान् अपने प्रियतम सखा अर्जुनको प्रेमके वश होकर वह मार्ग बतलाते हैं, जिसमें उसके लिये एक प्रेमके सिवा और कुछ करना बाकी रह ही नहीं जाता।

कुछ लोगोंका कथन है कि श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रेमका विषय नहीं है। परंतु विचारकर देखनेपर मालूम होता है कि ‘प्रेम’ शब्दकी बाहरी पोशाक न रहनेपर भी गीताके अन्दर प्रेम ओत-प्रोत है। गीता भगवत्-प्रेम-रसका अगाध समुद्र है। प्रेम वास्तवमें बाहरकी चीज होती भी नहीं, वह तो हृदयका गुप्त धन है जो हृदयके लिये हृदयसे हृदयको ही मिलता है और हृदयसे ही किया जाता है। जो बाहर आता है, वह तो प्रेमका बाहरी ढाँचा होता है, हनुमान्‌जी महाराज भगवान् श्रीरामका संदेश श्रीसीताजीको इस प्रकार सुनाते हैं—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

प्रेम हृदयकी वस्तु है, इसीलिये वह गोपनीय है। गीतामें भी प्रेम गुप्त है। वीरवर अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णका सख्य-प्रेम विश्व-विख्यात है। आहार-विहार, शय्या-क्रीड़ा, अन्तःपुर-दरबार तथा वन-प्रान्त-रणभूमि—सभीमें दोनोंको हम एक साथ पाते हैं। जिस समय अग्निदेव अर्जुनके समीप खाण्डवदाहके लिये अनुरोध करने आते हैं, उस समय उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन जलविहार करनेके बाद प्रमुदित मनसे एक ही आसनपर बैठे हुए मिलते हैं। जब संजय भगवान् श्रीकृष्णके पास आते हैं, तब उन्हें अर्जुनके साथ एक ही आसनपर अन्तःपुरमें द्रौपदी और सत्यभामासहित विराजित पाते हैं। अर्जुन—‘**विहारशय्यासन-भोजनेषु**’ कहकर स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं।

अधिक क्या, खाण्डव-वनका दाह कर चुकनेपर जब इन्द्र प्रसन्न होकर अर्जुनको दिव्यास्त्र प्रदान करनेका वचन देते हैं, तब भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं कि ‘देवराज! मुझे भी एक चीज दो और वह यह कि अर्जुनके साथ मेरा प्रेम सदा बना रहे’—

‘वासुदेवोऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम्।’

(महा० १।२३३।१३)

अर्जुनके लिये भगवान् प्रेमकी भीख माँगते हैं! यही कारण था कि भगवान् अर्जुनका रथ हाँकनेतकको तैयार हो गये। अर्जुनके प्रेमसे ही गीताशास्त्रकी अमृतधारा भगवान्‌के मुखसे बह निकली। अर्जुनरूपी चन्द्रको पाकर ही चन्द्रकान्तमणिरूप श्रीकृष्ण द्रवित होकर बह निकले, जो गीताके रूपमें आज त्रिभुवनको पावन कर रहे हैं। प्रेमका स्वरूप है—प्रेमीके साथ अभिन्नता हो जाना, जो भगवान्‌में पूर्णरूपसे थी। इसीसे अर्जुनका प्रत्येक काम करनेके लिये भगवान् सदा तैयार रहते थे। प्रेमका दूसरा स्वरूप है—‘प्रेमीके सामने बिना संकोच अपना हृदय खोलकर रख देना।’ वीरवर अर्जुन प्रेमके कारण ही निःसंकोच होकर भगवान्‌के सामने रो पड़े और स्पष्ट शब्दोंमें उन्होंने अपने हृदयकी बातें कह दीं। भगवान्‌की जगह यदि कोई दूसरा होता तो ऐसे शब्दोंमें, जिनमें वीरतापर धब्बा लग सकता था, अर्जुन अपने मनके भाव

कभी नहीं प्रकट करते। प्रेममें लल्लो-चप्पो नहीं होता, इसीसे भगवान्ने अर्जुनके पाण्डित्यपूर्ण, परंतु मोहजनित विवेचनके लिये उन्हें फटकार दिया और युद्धस्थलमें, दोनों ओरकी सेनाओंके युद्धारम्भकी तैयारीके समय वह अमर ज्ञान कह डाला जो लाखों-करोड़ों वर्ष तपस्या करनेपर भी सुननेको नहीं मिलता। प्रेमके कारण ही भगवान् श्रीकृष्णने अपने महत्त्वकी बातें निःसंकोचरूपसे अर्जुनके सामने कह डालीं। प्रेमके कारण ही उन्हें विभूतियोग बतलाकर अपना विश्वरूप दिखला दिया। नवम अध्यायके 'राजविद्या-राजगुह्ययोग' की प्रस्तावनाके अनुसार अन्तके श्लोकमें अपना महत्त्व बतला देने, दशम और एकादशमें विभूति तथा विश्वरूपका प्रत्यक्ष ज्ञान करा देने एवं पन्द्रहवें अध्यायमें 'मैं पुरुषोत्तम हूँ' ऐसा स्पष्ट कह देनेपर भी जब अर्जुन भगवान्की मायावश भलीभाँति नहीं समझे, तब प्रेमके कारण ही अपना परम गुह्य रहस्य जो नवम अध्यायके अन्तमें इशारेसे कहा था, भगवान् स्पष्ट शब्दोंमें सुना देते हैं। भगवान् कहते हैं 'मेरे प्यारे! तू मेरा बड़ा प्यारा है, इसीसे भाई! मैं अपना हृदय खोलकर तेरे सामने रखता हूँ, बड़े संकोचकी बात है, हर एकके सामने नहीं कही जा सकती, सब प्रकारके गोपनीयोंमें भी परम गोपनीय (**सर्वगुह्यतमम्**) विषय है, ये मेरे अत्यन्त गुप्त रहस्यमय शब्द (**मे परमं वचः**) हैं। एक बार पहले कुछ संकेत कर चुका हूँ, अब फिर सुन (**भूयः शृणु**) बस, तेरे हितके लिये ही कहता हूँ, (**ते हितं वक्ष्यामि**) क्योंकि इसीमें मेरा भी हित है, क्या कहूँ? अपने मुँह ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, इससे आदर्श बिगड़ता है, लोकसंग्रह बिगड़ता है, परंतु भाई! तू मेरा अत्यन्त प्रिय है (**मे प्रियः असि**)। तुझे क्या आवश्यकता है इतने झगड़े-बखेड़ेकी? तू तो केवल प्रेम कर। प्रेमके अन्तर्गत मन लगाना, भक्ति करना, पूजा और नमस्कार करना आप-से-आप आ जाता है, मैं भी यही कर रहा हूँ। अतएव भाई! तू भी मुझे अपना प्रेममय जीवनसखा मानकर मेरे ही मनवाला बन जा, मेरी ही भक्ति कर, मेरी ही पूजा कर और मुझे ही नमस्कार कर, मैं सत्य कहता हूँ। अरे भाई! शपथ खाता हूँ, ऐसा करनेसे तू और मैं एक ही हो जायँगे (गीता १८।६५)। क्योंकि एकता ही प्रेमका फल है। प्रेमी अपने प्रेमास्पदके सिवा और कुछ भी नहीं जानता, किसीको नहीं पहचानता, उसका जीवन, प्राण, धर्म, कर्म तथा ईश्वर जो कुछ भी है सो सब प्रेमास्पद ही है। वह तो अपने-आपको उसीपर न्योछावर कर देता है। तू सारी चिन्ता छोड़ दे (**मा शुचः**)। धर्म-कर्मकी परवा न कर (**सर्वधर्मान् परित्यज्य**)। केवल एक मुझ प्रेमस्वरूपके प्रेमका ही आश्रय ले ले। (**मामेकं शरणं व्रज**) प्रेमकी ज्वालामें तेरे सारे पाप-ताप भस्म हो जायँगे। तू मस्त हो जायगा। यह प्रेमकी तन-मन-लोक-परलोक-भुलावनी मस्ती ही तो प्रेमका स्वरूप है—

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति। यत्प्राप्य न किञ्चिद् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति। यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति। (नारद-भक्तिसूत्र ४—६)

'जिसे पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमृतत्वको पा जाता है, सब तरहसे तृप्त हो जाता है, जिसे पाकर फिर वह न अप्राप्त वस्तुको चाहता है, न '**गतासून् अगतासून्**' के लिये चिन्ता करता है, न मनके विपरीत घटना या सिद्धान्तसे द्वेष करता है, न मनोनुकूल विषयोंमें आसक्त होता है और न प्यारेकी सुख-सेवाके सिवा अन्य कार्यमें उसका उत्साह होता है। वह तो बस, प्रेममें सदा मतवाला बना रहता है, वह स्तब्ध और आत्माराम हो जाता है।' इस सुखके सामने उसको ब्रह्मानन्द भी गोष्पदके समान तुच्छ प्रतीत होता है (**सुखानि गोष्पदायन्ते ब्रह्मण्यपि**)।

इस स्थितिमें उसका जीवन केवल प्रेमास्पदको सुख पहुँचानेके निमित्त उसकी रुचिके अनुसार कार्य करनेके लिये ही होता है। हजार मनके प्रतिकूल काम हो, प्रेमास्पदकी उसमें रुचि है, ऐसा जानते ही सारी प्रतिकूलता तत्काल सुखमय अनुकूलताके रूपमें परिणत हो जाती है, प्रेमास्पदकी रुचि ही उसके जीवनका स्वरूप बन जाता है। उसका जीवन व्रत ही होता है—केवल 'प्रेमास्पदके सुखसे सुखी रहना' (**तत्सुखसुखित्वम्**) वह इसीलिये जीवन धारण करता है। मेरा अवतार-धारण भी अपने इन प्रेमास्पदोंके लिये ही है, इसीलिये तो—

भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः।

प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलकः स एवायम्॥

—'मैं सर्वभूतोंका अन्तर्यामी प्रकृतिसे परे ज्ञानमय सच्चिदानन्दघन ब्रह्म प्रेममय दिव्य देह धारण कर यदुकुलमें अवतीर्ण हुआ हूँ।' भगवान्‌ने गीताके १८ वें अध्यायके ६४ वें-से ६६ वेंतक तीन श्लोकोंमें जो कुछ कहा, उसीका उपर्युक्त तात्पर्यार्थ है। प्रेमका यह मूर्तिमान् स्वरूप प्रकट तो कर दिया, परंतु फिर भगवान् अर्जुनको सावधान करते हैं कि 'यह गुह्य रहस्य तपरहित, भक्तिरहित, सुननेकी इच्छा न रखनेवाले और मुझमें दोष देखनेवालेके सामने कभी न कहना।' (गीता १८।६७) इस कथनमें भी प्रेम भरा है, तभी तो अपना गुह्य रहस्य कहकर फिर उसकी गुह्यताका महत्त्व अपने ही मुखसे बढ़ाते हुए भगवान् अर्जुनके सामने संकोच छोड़कर ऐसा कह देते हैं। इस अधिकारी-निरूपणका एक अभिप्राय यह है कि इस परम तत्त्वको ग्रहण करनेवाले लोग संसारमें सदासे ही बहुत थोड़े होते हैं। (**मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित्**) जिनका मन तपश्चर्यासे शुद्ध हो गया हो, जिनका अन्तःकरण भक्तिरूपी सूर्यकिरणोंसे नित्य प्रकाशित हो, जिसको इस प्रेमतत्त्वके जाननेकी सच्चे मनसे तीव्र उत्कण्ठा हो एवं जो भगवान्‌की महिमामें भूलकर भी संदेह नहीं करता हो, वही इसका अधिकारी है। भगवान्‌की मधुर-बाललीलामें भाग्यवती प्रातःस्मरणीया गोपियाँ इसकी अधिकारिणी थीं। इस रणलीलामें अर्जुन अधिकारी हैं। अनधिकारियोंके कारण ही आज गोपी-माधवकी पवित्र आध्यात्मिक प्रेमलीलाका आदर्श दूषित हो गया और उसका अनधिकार अनुकरण कर मनुष्य कठिन पाप-पंकमें फँस गये! गोपियोंका जीवन भी '**तत्सुखसुखित्वम्**' के भावमें रँगा हुआ था और इस प्रेमरहस्यका उद्घाटन होते ही अर्जुन भी इसी रंगमें रँगकर अपनी सारी प्रतिकूलताओंको भूल गये, भूल ही नहीं गये, बल्कि सारी प्रतिकूलताएँ तुरन्त अनुकूलताके रूपमें परिवर्तित हो गयीं और वे आनन्दसे कह उठे—

'करिष्ये वचनं तव'

—'तुम जो कुछ चाहोगे, जो कुछ कहोगे, बस, मैं वही करूँगा, वही मेरे जीवनका व्रत होगा।' इसीको अर्जुनने जीवनभर निबाहा। यही प्रेमतत्त्व है, यही शरणागति है। भगवान्‌की इच्छामें अपनी सारी इच्छाओंको मिला देना, भगवान्‌के भावोंमें अपने सारे भावोंको भुला देना, भगवान्‌के अस्तित्वमें अपने अस्तित्वको सर्वथा मिटा देना, यही **'मामेकं शरणम्'** है, यही प्रेमतत्त्व है, यही गीताका रहस्य है। इसीसे गीताका पर्यवसान साकार भगवान्‌की शरणागतिमें समझा जाता है। इसी परम पावन परमानन्दमय लक्ष्यको सामने रखकर प्रेमपथपर अग्रसर होना गीताके साधककी साधना है। इसीसे कविके शब्दोंमें साधक पुकार कर कहता है—

एकै अभिलाख लाख लाख भाँति लेखियत,
देखियत दूसरो न देव चराचरमें।
जासों मनु राँचै, तासों तनु मनु राँचै,
रुचि भरिकै उघरि जाँचै, साँचै करि करमें॥
पाँचनके आगे आँच लगे ते न लौटि जाय,
साँच देइ प्यारेकी सती लौं बैठे सरमें।
प्रेम सों कहत कोऊ, ठाकुर, न ऐंठो सुनि,
बैठो गड़ि गहरे, तो पैठो प्रेम घरमें॥ १॥

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसे नरलोक परलोक बरलोकनिमें,
लीन्ही मैं अलीक, लोक-लोकनि ते न्यारी हौं॥
तन जाउ, मन जाउ, देव गुरु-जन जाउ,
प्रान किन जाउ, टेक टरत न टारी हौं।
वृन्दावन-वारी बनवारीकी मुकुट वारी,
पीत पट वारी वहि मूरति पै वारी हौं॥ २॥

तौक पहिरावौ, पाँव बेड़ी लै भरावौ,
गाढ़े बन्धन बँधावौ औ खिंचावौ काची खाल सों।
बिष लै पिलावौ, तापै मूठ भी चलावौ,
माँझधारमें डुबावौ बाँधि पत्थर 'कमाल' सों॥
बिच्छू लै बिछावौ, तापै मोहि लै सुलावौ, फेरि,
आग भी लगावौ बाँधि कापड़ दुसालसों।
गिरिते गिरावौ, काले नाग ते डसावौ,
हा! हा! प्रीति ना छुड़ावौ गिरिधारी नंदलाल सों॥ ३॥

* * *

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवत्प्रेमका गीत

(श्रीरामकृष्ण रामानुजदास 'श्रीसन्तजी महाराज')

श्रीमद्भगवद्गीतामें सर्वत्र भगवत्प्रेमका ही गीत दिखायी देता है। वास्तवमें भगवत्प्रेमका स्वरूप ठीक-ठीक बताना बहुत कठिन है, क्योंकि यह अनुभवरूप है। प्रेमी बनकर ही कोई इस दिव्य भगवत्प्रेमको समझ सकता है और भगवत्प्रेमको समझनेके लिये भगवान्के दिव्य रूपका भी अनुभव होना आवश्यक है।

भगवत्कृपा सबपर सदा-सर्वदा है ही, लेकिन अभागा मनुष्य संसारमें व्यक्तरूप भगवान्पर शीघ्र विश्वास नहीं करता है, यही भगवत्प्रेमकी अनुभूतिमें बाधक है। भगवान्के तत्त्वका अनुभव प्राप्त करनेके लिये सर्वप्रथम उनके किसी नामका आश्रय लेना आवश्यक है। अधिकांश जीव अनेक जन्मोंतक शरीर तथा इन्द्रियोंके विषयोंमें भटकते रहते हैं। मानव-तन प्राप्त होनेपर भी जीवोंकी पुरानी आदत नहीं छूटती है। उन्हें भगवत्प्रेमकी साधनाका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है। यद्यपि भगवत्प्रेमकी प्राप्ति सहज और सुलभ है, लेकिन इसके लिये नामका आश्रय लेना आवश्यक है। नाम-जप तथा नाम-कीर्तन वाणीका सर्वश्रेष्ठ तप है। इसे भगवत्प्रेमका बीज कहा जा सकता है। इस घोर कलियुगमें मनुष्योंके बड़े-बड़े पापोंको मिटानेकी शक्ति केवल प्रभुके नाममें ही है। जिस प्रकार श्रीरामचरितमानस तथा श्रीमद्भागवतमें प्रभुके नामकी साधना प्रधान है, उसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतामें भी नाम-संकीर्तनकी साधनाका संदेश सर्वत्र दिखायी पड़ता है। इसमें 'भजन' शब्दका प्रयोग वास्तवमें नाम-संकीर्तन करते रहनेका ही संदेश देता है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०।१०)

श्रीधर स्वामीजीने इस श्लोककी व्याख्यामें स्पष्ट कहा है कि यहाँ 'भजन'का तात्पर्य नाम-संकीर्तन समझना चाहिये। नाम-संकीर्तनके द्वारा भक्तका मन भगवान्के साथ सतत जुड़ा रहता है। **'सततयुक्तानां भजताम्'** का यही भाव बताया गया है। नाम-संकीर्तनकी साधनाद्वारा ज्ञान तथा वैराग्यके गुण स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं। यह नाम-साधना साधन तथा साध्य दोनों है। ज्ञानकी ऊँचाई प्राप्त करनेपर भी ज्ञानियोंको नामकी साधना करते रहना चाहिये। आद्य शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य तथा मधुसूदन सरस्वती आदि ज्ञानियोंने जीवनके अन्तिम क्षणतक प्रभुके नामका विस्मरण नहीं किया। इसलिये गीताके सभी भाष्यकारोंने भगवान्के नामका आश्रय लेनेके लिये संदेश दिया है।

गीताके सोलहवें अध्यायमें देव तथा असुर दोनोंके स्वभाव बताये गये हैं। जो भगवान्से प्रेम करता है वह देवमानव है और जो भगवान्से विमुख रहता है, वह असुर-मानव है। देवमानव ही भगवत्प्रेमकी महिमा समझते हैं। उनमें भगवत्प्रेमका सागर लहराता रहता है; क्योंकि उन्हें भगवत्-तत्त्वका भलीभाँति ज्ञान रहता है। देवमानवका गुण बताते हुए भगवान् कहते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥[1]

(गीता ९।१३)

असुर-मानवको भगवत्-तत्त्वका ज्ञान नहीं रहता है, इसीलिये उन्हें मूढ़, दुराचारी और नराधम कहा जाता है। वे भगवान्का भजन कभी नहीं करते हैं, भगवान्से कभी प्रेम नहीं करते। भगवान्ने ऐसे असुर-मानवका स्वभाव बताते हुए कहा है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥[2]

(गीता ७।१५)

भगवत्प्रेममें सबके प्रति प्रभुदृष्टि होना आवश्यक है। समस्त प्राणियोंमें प्रभुका रूप देखते हुए सबसे निःस्वार्थ प्रेम करना तथा फलेच्छासे रहित होकर उनकी सेवा करना ही प्रभु-प्रेम है। भगवान्ने स्पष्ट ही कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।

---

[1] हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं।

[2] मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, ऐसे आसुर-स्वभावको धारण किये हुए, मनुष्योंमें नीच और दूषित कर्म करनेवाले मूढ़लोग मुझको नहीं भजते।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६। ३०-३१)

अर्थात् जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता। जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है।

भगवान्‌का ज्ञान प्राप्त होते ही जीवनके सारे कर्म भजन बन जाते हैं। भक्त जगत्‌की सेवा भगवान्‌की भावनामें रहकर करते हैं। उनकी देहासक्ति तथा कर्म-फलासक्ति मिट जाती है। इस प्रकार भगवत्प्रेममें भगवान्‌का ज्ञान होते ही दिव्य भावसे कर्म होते हैं। भक्त अपने हृदयमें तथा दूसरोंके हृदयमें भगवान्‌का दर्शन करते हैं। जबतक हृदयमें भगवान्‌की अनुभूति नहीं होती, तबतक मनुष्यमें दृढ़ भक्ति नहीं होती और वह अज्ञानके अन्धकारमें भटकता रहता है।

जबतक सांसारिक विषय-वासना आदि अपवित्र कामना मनुष्यमें रहती है, तबतक प्रभु-प्रेमकी स्थापना उसके हृदयमें नहीं होती, इसलिये कामना-त्यागका संदेश देते हुए भगवान्‌ने कहा है—

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

(गीता ३। ४३)

भगवान् स्वयं प्रेमस्वरूप हैं। वे प्रेमद्वारा ही हृदयमें प्रकट होते हैं। उनके चरित्र प्रेमरूप हैं। उनकी वाणी प्रेममयी है। उनका प्रेममय हृदय ही गीताके रूपमें प्रकट हुआ है, अतः गीता उनके प्रेमका सच्चा गीत है।

जो भगवत्प्रेम करता है, उसमें न कोई कामना होती है और न उसके जीवनमें कोई दोष शेष रह जाता है। पवित्र हृदयवाला भक्त ही शान्ति पाता है। सिद्ध भक्तकी स्थिति बताते हुए भगवान् कहते हैं—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २। ७१)

गीतामें भगवत्प्रेमके अन्तर्गत शिष्टाचार तथा सदाचारका भी चित्रण दिखायी देता है; क्योंकि भक्तके जीवनमें पवित्र आचरणकी विशेष महत्ता होती है। भगवान्‌का भजन करनेके कारण भक्तके मन, बुद्धि आदि सब दिव्य बन जाते हैं। अर्जुनके चरित्रमें शिष्टाचार तथा सदाचारके गुण दर्शाकर सभी भक्तोंको उनका अनुसरण करनेकी शिक्षा दी गयी है। शिष्टाचारयुक्त अर्जुनकी विनम्र वाणी देखिये—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

(गीता २। ७)

विनम्रता एवं प्रपन्नता भगवत्प्रेमकी मुख्य विशेषता है।

भगवत्प्रेम भगवत्-धर्म है, जिसमें भगवान् स्वयं निवास करते हैं। भगवत्-धर्मका स्वरूप बताते हुए भगवान् स्वयं कहते हैं—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

अर्थात् जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।

जो व्यक्ति भगवान्‌की ओर जितना ही बढ़ता है, भगवान् भी उसे उतना ही प्रेम प्रदान करते हैं। भगवान्‌के प्रति अनुराग ही भगवत्प्रेम है। इस भगवत्प्रेमकी साधनामें संसारकी अन्य वस्तुओंका राग स्वतः ही समाप्त हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

अर्थात् हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।

गीतामें ज्ञानयुक्त भगवत्प्रेमका वर्णन है। ज्ञानी भक्त सतत ईश्वरका स्मरण करता है। वह ईश्वरसे कभी पृथक् नहीं होता है। वास्तवमें स्वरूपतः हम न ईश्वरसे पृथक् हो सकते हैं और न ईश्वर हमसे पृथक् हो सकता है।

ईश्वर-तत्त्वका ज्ञान नहीं होनेके कारण ही जीव ईश्वरको भूल जाता है। इसीलिये भगवान्‌ने अर्जुनके माध्यमसे मानवमात्रको प्रेमपूर्वक सदैव भगवत्स्मरण करते रहनेका संदेश दिया है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

(गीता ८। ७)

जो ज्ञानपूर्वक निरन्तर ईश्वरका स्मरण करनेका अभ्यास करता है, वह निश्चय ही उसे प्राप्त कर लेता है। भगवान् कहते हैं—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
(गीता ८।८)

परम कृपालु परमेश्वर यह देव-दुर्लभ मानव-तन प्रभुका भजन करनेके लक्ष्यसे ही देता है। भगवान् कहते हैं—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
(गीता ९।३३)

प्रभुका नाम लेना ही भजन है। यह साधन तथा साध्य दोनों है। भगवान्के भजनकी तुलनामें सारे साधन छोटे हैं। भगवान्का नाम, रूप, लीला तथा धाम—ये चारों ही सच्चिदानन्दस्वरूप कहे जाते हैं। इनमें भगवान्का नाम प्रथम स्थानमें आता है। इससे धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षके साथ-साथ भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है। इसे समस्त श्रुतियोंका सार कहते हैं।

भगवन्नामकी साधनाद्वारा जीवनमें अवश्य ही सद्विचार आते हैं। सद्विचारद्वारा सदाचारका निर्माण होता है, जिसे चरित्र-निर्माण कहते हैं। वर्तमान समयमें समाजकी दशा देखते हुए कहना पड़ता है कि भगवद्भक्तिके अभावमें मानवताके स्थानपर दिनानुदिन दानवता बढ़ती जा रही है। गीता आदर्श सदाचारी, चरित्रवान् तथा भगवत्प्रेमी बननेका सन्देश देती है; क्योंकि ऐसे ही श्रेष्ठजन अनुकरणके आदर्श बनते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(गीता ३।२१)

* * *

भगवत्प्रेमका सिद्ध सरोवर—मानस

(डॉ० श्रीसत्येन्दुजी शर्मा, एम्०ए०, पी-एच्० डी०)

भगवान्की प्रसन्नताके लिये हमलोग नाना प्रकारके उपाय करते हैं। कोई ज्ञानयोगका आश्रय लेता है, कोई कर्मयोग तो कोई भक्तियोगका अवलम्ब ग्रहण करता है। कोई यथारुचि जप-तप और ध्यान आदिमें प्रवृत्त होता है तो कोई व्रत-अनुष्ठानका पथ चुनता है। इन सब प्रकारके साधन-भजनका अन्तिम फल यही है कि प्रभुके चरण-कमलोंमें हमारी निष्काम प्रीति उत्पन्न हो जाय—

जप तप मख सम दम ब्रत दाना। बिरति बिबेक जोग बिग्याना॥
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा॥

सच तो यही है कि बिना भगवत्कृपाके हमें उनसे प्रेम नहीं हो सकता और बिना भगवत्प्रेमके हमारे सारे प्रयास निस्सार तथा निरर्थक हैं। परंतु इस भगवत्-प्रेमका आविर्भाव कैसे हो, कौन-सा साधन अपनाया जाय? विशेषकर आजके इस विषाक्त वातावरणमें, जबकि हम दिन-रात माया-मोहके परिवेशमें साँसें ले रहे हैं, स्वार्थ एवं भोगपूर्ण जीवनमें आकण्ठ मग्न हैं। सच्चे गुरुओंका प्रायः अभाव हो गया है, वास्तविक संत-महात्माओंके प्रायः दर्शन दुर्लभ हैं और सत्संग मिलना भी उतना ही कठिन। अर्थात् प्रतिकूलता हमारे चारों तरफ विराजमान है और अनुकूलताकी किरण दिखलायी नहीं पड़ती। ऐसी विषम परिस्थितिमें भगवत्प्रेमका साधन क्या हो?

यहाँ मैं एक ऐसे साधनका उल्लेख करना चाहता हूँ, जो इस घोर-कठोर कलिकालमें ब्रह्मास्त्रकी तरह अमोघ है, वह है—'श्रीरामचरितमानस।' इस भगवद्ग्रन्थके पारायणसे हम-जैसे तुच्छातितुच्छ जन भी निश्चितरूपसे भगवत्प्रेमका विलक्षण उपहार प्राप्त कर सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने दृढ़तापूर्वक कहा है कि जो कोई इस राम-कथाका प्रेमपूर्वक कथन, श्रवण और मनन करेगा, वह श्रीरामचरणके प्रेमका पात्र अवश्यमेव बनेगा—

जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥
होइहहिं राम चरन अनुरागी। कलि मल रहित सुमंगल भागी॥

दूसरी तरफ श्रीरामचरितमानस वह कल्पवृक्ष है, जो अपने आश्रय लेनेवालोंके हृदयमें भगवान् श्रीरामके चरणकमलोंके प्रति प्रेम उत्पन्न कर देता है—

प्रनत कल्पतरु करुना पुंजा। उपजइ प्रीति राम पद कंजा॥

श्रीरामचरितमानसके श्रवणमात्रसे काम और मद आदि सारे विकार अपने-आप ही विनष्ट हो जाते हैं तथा मन पूर्ण विश्रामका अनुभव करने लगता है—

रामचरितमानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा॥

श्रीरामचरितमानस वह अचूक राम-रसायन है कि विश्वासपूर्वक इस कथाको निरन्तर सुननेवाला अनायास ही

हरिभक्ति-पदका अधिकारी बन जाता है—

मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास॥

प्रभुपद-प्रीतिकी प्राप्ति करनी हो अथवा मुक्ति ही अभीष्ट क्यों न हो, मानसका भावपूर्ण श्रवण मनुष्यको मनोवाञ्छित फल अवश्य प्रदान करता है—

राम चरन रति जो चह अथवा पद निर्बान।
भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान॥

भगवत्प्रेम-प्राप्तिकी ऐसी गारंटी देनेवाला साधन अन्यत्र कहाँ सुलभ है? लौकिक या पारलौकिक—सभी प्रकारकी कामनाओंको परिपूर्ण करनेवाला चारु चिन्तामणि है—यह 'श्रीरामचरितमानस।' जो कोई भी निष्कपट होकर इस कथाको कहता, सुनता और अनुमोदन करता है, वह सारी मनोकामनाओंकी सिद्धिके साथ-साथ इस भवसागरको भी अत्यन्त सरलतापूर्वक पार कर लेता है—

मन कामना सिद्धि नर पावा। जे यह कथा कपट तजि गावा॥
कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं॥

मानस वह पारस है कि इसके सम्पर्कमें आनेवाला मनुष्य निश्चितरूपसे भगवत्प्रेमी बन जाता है। यह मानस वह सरोवर है जो पुण्यमय है, पाप हरण करनेवाला है, सदा कल्याणप्रद है, विज्ञान और भक्ति प्रदान करनेवाला है तथा माया-मोहरूप मलको दूर करनेवाले शुभ, स्वच्छ प्रेम-जलसे परिपूर्ण है—

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम्।

मानसकी महिमाका क्या कहना! स्वयं गोस्वामीजी कहते हैं कि इस रामचरितको कहने-सुननेवाले लोग बिना श्रमके ही निर्मल होकर श्रीराम-धामके अधिकारी बन जाते हैं। यहाँतक कि जो मनुष्य पाँच या सात चौपाइयाँ भी हृदयङ्गम कर लेता है, उसके अविद्याजनित विकारोंको मर्यादापुरुषोत्तम प्रभु श्रीराम स्वयं हर लेते हैं—

रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
कलि मल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं॥
सत पंच चौपाईं मनोहर जानि जो नर उर धरै।
दारुन अबिद्या पंच जनित बिकार श्रीरघुबर हरै॥

इस प्रकार श्रीरामचरितमानस वह सिद्ध सरोवर है, जिसमें श्रद्धाका सम्बल लेकर अवगाहन करनेवाला मनुष्य अनायास ही भगवान्का अविचल प्रेम-रत्न प्राप्त कर लेता है। जो भी इस सरोवरमें चाहे-अनचाहे प्रविष्ट हुआ, उसके विषयरूपी दावानलमें जलता हुआ मनरूपी हाथी शाश्वत सुखका अनुभव करने लगता है—

मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं एहिं सर परई॥

अतः भगवत्प्रेम प्राप्त करनेके लिये हम-सदृश सामान्य जनके लिये मानस-जैसे सिद्ध सरोवरमें अवगाहन करने-जैसा सहज, सरल एवं सरस अन्य कोई अचूक साधन नहीं है। धन्य है श्रीरामचरितमानसकी महिमा।

* * *

अभिन्नतानुभूति—भगवत्प्रेमका श्रेष्ठ साधन

(श्रीनाथूरामजी गुप्त)

यदि मे सख्यमावर इमस्य पाह्यन्धसः। येन विश्वा अति द्विषो अतारिम॥ (ऋक्० ८।१३।२१)

वेदमें प्रभु कहते हैं—'हे मानव! यदि तू मेरी मैत्री चाहता है तो इसके सूचनास्वरूप इस चकाचौंधवाले जगत्की प्रत्येक वस्तुकी रक्षा कर। इस सृष्टिके समस्त प्राणियोंका पालन कर, प्राणधारक अन्नका उपयोग कर अहिंसाका पालन कर, जिससे तू समस्त काम-क्रोध-द्वेषादि शत्रुओंको जीते, वे तुझसे दूर रहें।'

उपर्युक्त मन्त्रमें परम प्रभु जीवको मार्ग दिखलाते हैं अपनी मित्रताहेतु, अपने प्रेमहेतु। यह मार्ग हम सभी माया-मोहमें लिप्त, किंतु प्रेमास्पदके मिलनेकी अङ्कुरित कामनावालोंके लिये सर्वाधिक सुगम है।

रागमें लिप्त मनको विरागी बनाना अति कठिन है, किंतु रागको अनुरागमें परिवर्तित करना इसकी अपेक्षा अति सरल। प्रेम-साधनामें हमें अपने प्रेम-क्षेत्रका विस्तार करना होता है, परिवार आदि छोटे क्षेत्रका प्रेम राग तथा स्वार्थपर आधारित होता है। उसे अनुरागमें परिवर्तित कर उसके क्षेत्रको निरन्तर विस्तृत करते हुए जगत्के प्रत्येक जड़-चेतनको परम प्रभुका रूप समझ अधिक तन्मयतासे उसकी सेवा-सहायताहेतु तत्पर रहना ही परम प्रभुके प्रति प्रेमकी वास्तविक परिणति है और यही है अभिन्नताकी अनुभूति।

* * *

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें भगवत्प्रेम-साधना

(डॉ० श्रीसुभाषचन्द्रजी सचदेवा 'हर्ष', एम्०ए०, एम्०फिल्०, पी-एच्०डी०)

सिक्ख गुरुओंकी वाणीके साथ-साथ कबीर, रविदास, नामदेव, धन्ना, पीपा एवं शेख फरीद आदि भक्तोंकी रचनाओंसे समलङ्कृत 'श्रीगुरुग्रन्थसाहिब' में भगवत्प्रेम, नाम-स्मरण एवं शरणागतिका अनूठा संगम दृष्टिगोचर होता है। '*प्रेम भगति जिसकै मनि लागी। गुण गावै अनदिनु निति जागी*'।[1] '*प्रेम प्रीति सदा धिआईए भै भाय भगति द्रिड़ावणिआ*'[2] '*प्रेम भगति भजु गुणी निधान*'[3], '*भगति प्रेम आराधितं सचु पिआस परम हितं*'[4], '*मैं प्रभ मिलण प्रेम मनि आसा*'[5], '*प्रीति लगी तिसु सच सिऊ मरै न आवै जाइ*'[6]— आदि अमृतमय वचन गुरुग्रन्थसाहिबमें साकार हुए भगवत्प्रेमको मुखरित करते हैं।

'श्रीगुरुग्रन्थसाहिब' का यह निश्चित सिद्धान्त है कि साधकमें भगवत्प्रेमका प्रकटीकरण एकमात्र प्रभु-कृपासे ही सम्भव है[7]। परमेश्वर अपने प्रेमके मधुर प्यालेको किसी योग्य अधिकारीको ही प्रदान करते हैं[8]। प्रभु-कृपासे जीव प्रेमा-भक्तिसे मालामाल हो जाता है[9]। परमेश्वरकी अनुकम्पाके सौजन्यसे ही प्राणी प्रभुके चरणारविन्दकी शरण ग्रहण करता है[10] और जन्म-जन्मार्जित पुण्योंके बलसे भगवद्भक्तिभावको क्रमशः दृढ़तर बनाता चलता है[11]।

यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि भगवत्प्रेमको उत्पन्न करनेमें कारणभूत प्रभु-कृपाको कैसे प्राप्त किया जा सकता है? उक्त जिज्ञासाका समाधान करनेके संदर्भमें श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें ऐसे अनेक उपायोंका विवेचन किया गया है जो भगवत्कृपाको जाग्रत् करनेमें प्रधान कारण हैं। श्रीगुरुग्रन्थसाहिबकी निश्चित मान्यता है कि परमेश्वर अपनी प्रेममयी भक्तिसे उन्हीं साधकोंको अनुगृहीत करते हैं, जिनके हृदय निष्कपट हैं। सांसारिक विकारों एवं दोषोंसे मुक्त प्राणी ही प्रभुके अलौकिक नामकी सम्पदाको प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं। जिनके जीवनमें सदाचार है और जो आध्यात्मिक गुणोंसे समलंकृत हैं, केवल वे ही साधक अपने प्रियतम प्रभुका दिव्य सम्पर्क प्राप्त कर सकते हैं। मिथ्या-प्रदर्शन (पाखण्ड) एवं हठवादिता प्रभु-प्रेमकी प्राप्तिमें महान् बाधक हैं। जो केवल सांसारिक प्रदर्शनके लिये भक्ति करते हैं, वे प्रभु-कृपासे वञ्चित रहते हैं और अन्ततः बहुत दुःख प्राप्त करते है[12]। परमेश्वर सत्यस्वरूप हैं और उनका प्रत्येक कार्य सत्यपर अधिष्ठित एवं न्यायानुकूल है, अतः सभी विकारों (मिथ्या-प्रदर्शन, हठवादिता आदि)-से सर्वथा मुक्त होकर सत्यमार्गका अवलम्बन लेनेवाले भक्तजन जब प्रभुके चरणारविन्दोंमें नतमस्तक होते हैं तो परमेश्वरकी कृपाके पात्र बनकर भवसागरसे पार हो जाते हैं।[13] स्पष्ट है कि परमेश्वरकी कृपा एवं भगवत्प्रेमकी प्राप्तिहेतु निष्कपट व्यवहार और सत्यमय जीवन परम आवश्यक है।[14] परनिन्दा, पाखण्ड, अहंकारादिका त्याग करके ही साधक प्रभु-प्रेमका अधिकारी बनता है।[15]

---

[1] मांझ महला-५ पृ० १०९; [2] मांझ महला-३ पृ० ११२; [3] गउड़ी महला-५ पृ० १९६;
[4] गूजरी महला-१ घरु ४ पृ० ५०५; [5] वडहंसु महला-४ घरु १ पृ० ५६०-५६१; [6] सिरीरागु महला-५ पृ० ४६

[7] (क) 'करि किरपा अपनी भगती लाय। जन नानक प्रभु सदा धिआया॥' (सूही महला-५ पृ० ७३७)
(ख) 'सदा हरि रसु पाए जा हरि भाए रसना सबदि सुहाए।' (गउड़ी महला-३ पृ० २४६)
(ग) 'जुग जुग भगत पिआरे हरि आपि सवारे। आपे भगती लाए।' (गउड़ी महला-३ पृ० २४६)

[8] 'आपणा लाइ आ पिरमु न लगई जे लोचै सभु कोइ। ऐहु पिरमु पिआला खसम का जै भावै तै देइ॥' (सलोक शेख फरीदके पृ० १३७८)

[9] 'सदा सदा साचे गुण गावहि साचै नाइ पिआर। किरपा करिकै आपणी दितोनु भगति भंडार॥' (सिरीरागु महला-३ पृ० ३६)

[10] 'आपे सरणि पवाइदा मेरे गोविंदा हरि भगत जना राखु लाजै जीओ।' (गउड़ी मांझ महला-४ पृ० १७४-१७५)

[11] 'अपनी भगति आप ही द्रिड़ाई। पूरब लिखतु मिलिआ मेरे भाई॥' (रागु गउड़ी गुआरेरी असटपदी कबीरजीकी पृ० ३३१)

[12] 'भगति करहि मूरख आपु जणावहि। नचि नचि टपहि बहुतु दुख पावहि॥' (गउड़ी गुआरेरी महला-३ पृ० १५९)

[13] 'सचा साहिबु सचु निआओ पापी नर हारदा। सालाहिहु भगतहु कर जोड़ हरि भगत जन तारदा॥' (सलोक महला-३ पृ० ९०)

[14] 'सचीकार कमावणी सचे नालि पिआरु। सचा साहु वरतदा कोइ न मेटणहार॥' (सिरीरागु महला-३ पृ० ३४)

[15] 'मेरे मन तजि निंदा हऊमै अहंकारु। हरिजीओ सदा धिआइ तू गुरमुखि ऐकंकारु॥' (सिरीरागु महला-३ पृ० २९-३०)

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें प्रेमा-भक्तिको उद्भावित करनेवाली प्रभु-कृपाको जाग्रत् करनेका दूसरा प्रधान साधन 'विनम्रता' बतलाया गया है। साधकको जाति, कुल एवं वैभव आदिका अभिमान त्यागकर स्वयंको सर्वथा नगण्य मानना चाहिये[१] तथा अनुभवी संत पुरुषों एवं प्रभु-भक्तोंकी दासता स्वीकार करके उन्हींकी संगति (मार्गदर्शन)-में आध्यात्मिक साधना करनी चाहिये।[२] भगवद्भक्तोंको समर्पित की गयी विनम्रतासे भ्रमों (शंकाओं)-का निवारण होता है[३], परिणामतः परमेश्वरका वरदहस्त साधकोंको अपने अनन्य प्रेमसे ओत-प्रोत कर देता है।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबके अनुसार परमेश्वरकी अनन्य भक्तिको प्रकट करनेवाली प्रभुकी अतिशय करुणाको प्राप्त करनेका तीसरा मुख्य सोपान है—'समर्पणभाव' या 'शरणागति'। प्रेमा-भक्तिके अभिलाषी साधकका यह परम कर्तव्य है कि वह परमेश्वरके प्रत्येक विधान (भले ही वह विधान सांसारिक दृष्टिसे प्रतिकूल प्रतीत हो)-में अनुकूलता ही धारण करे[४]। इस चिरन्तन जीवनमूल्यको शिरोधार्य करनेवाले भगवद्भक्तोंको परमेश्वरकी असीम अनुकम्पा प्राप्त होती है, जो प्रेमा-भक्तिको अवतरित करके उनके (भक्तोंके) जीवनका उद्धार कर देती है[५]। निष्काम भक्तोंका योगक्षेम वहन करनेवाले परमेश्वरकी ही शरण, विश्वास (आशा), मित्रता एवं उसपर ही अपने जीवनकी सुरक्षाको केन्द्रित करके[६] भक्तजन अपने जीवन और मृत्युकी चिन्तासे भी मुक्त हो जाते हैं[७]। ऐसे भक्तजनोंका जीवन पूर्णतः प्रभुकी आज्ञापर अवलम्बित होता है। उनकी प्रत्येक चेष्टा परमेश्वरके विधानमें संतुष्टि प्रतिबिम्बित करती है। भक्तिके इस अद्भुत आदर्शसे अभिभूत हुए परमेश्वर अपनी कृपादृष्टिसे भक्तोंके जीवनमें प्रेम-मन्दाकिनी प्रवाहित कर देते हैं[८] एवं प्रभुके चरणारविन्दोंमें सर्वस्व समर्पण करनेवाले भक्तोंकी साधना कभी निष्फल नहीं होती, अपितु करुणावरुणालयकी कृपाजलराशिसे सिंचित होकर प्रेमा-भक्तिसे पल्लवित एवं पुष्पित हो जाती है[९]।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें प्रतिपादित शरणागति (समर्पणभाव)-का यह स्वरूप वैष्णव-दर्शनमें व्याख्यायित 'षड्विधा शरणागति' (प्रपत्ति)-से पर्याप्त साम्य रखता है, जिसके अनुसार शरणापन्न भगवद्भक्तमें ये छः स्थितियाँ नित्य दृष्टिगोचर होती हैं—१-भगवान्के अनुकूल रहनेका संकल्प, २-भगवान्से प्रतिकूलताका त्याग, ३-'भगवान् रक्षा करेंगे' इसमें अडिग विश्वास, ४-भगवान्को अपना रक्षक मानना, ५-आत्मसमर्पण (आत्मनिक्षेप) तथा ६-भगवान्के प्रति नितान्त दीनताका भाव[१०]।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें प्रेमा-भक्तिमूला प्रभु-कृपाको उद्बोधित करनेवाला चतुर्थ साधन 'तीव्र वेदना' स्वीकार किया गया है। भावुक भक्तोंके हृदयमें जब विरह-ज्वाला उद्दीप्त हो उठती है, नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है, परमेश्वरसे मिलनेके लिये एक अद्भुत छटपटाहट-सी होने

---

१. 'किआ हम किरम नान निक कीरे तुम वड पुरख वडागी। ····हरि प्रभ सुआमी किरपा धारहु हम हरि हरि सेवा लागी ॥'
(धनासरी महला-४ पृ० ६६७)

२. 'नानक दास निदासु करहु प्रभ हम हरि कथा कथागी।' (धनासरी महला-४ पृ० ६६७)

३. 'जो जो भगतु होइ सो पूजहु भरमन भरमु चुकावैगो।' (कानड़ा महला-४ पृ० १३०९)

४. 'आठ पहर निकट करि जानै। प्रभ का कीआ मीठा मानै ॥' (आसा महला-५ पृ० ३९२)

५. 'एकु कुसलु मोकऊ सतिगुरु बताइआ। हरि जो कुछु करे सु हरि किआ भगता भाइआ ॥'··· इनि बिधि कुसल होत मेरे भाई। इओ पाईऐ हरि राम सहाई ॥ (महला-५ रागु गउड़ी गुआरेरी चऊपदे पृ० १७६)

६. 'तुमरी सरणि तुमारी आसा तुम ही सजन सुहेले। राखहु राखनहार ददूआला नानक घर के गोले ॥' (धनासरी महला-५ पृ० ६७४)

७. 'अब हम चली ठाकुर पहिहारि। जब हम सरणि प्रभू की आई राखु प्रभू भावै मारि ॥' (रागु देवगंधारी महला-४ पृ० ५२७-२८)

८. 'साजन मेरे प्रीतमहु तुम सह की भगति करेहो। गुरु सेवहु सदा आपणा नामु पदारथु लेहो ॥ भगति करहु तुम सहै केरी जो सह पिआरे भावए। आपणा भाणा तुम करहु ता फिरि सह खुसी न आवए ॥ भगति भाव एहु मारगु बिखड़ा गुरदुआरै को पावए। कहै नानक जिसु करे किरपा सो हरि भगति चितुलावए ॥' (आसा महला-३ पृ० ४४०)

९. 'जो सरणी आवै सरब सुख पावै तिलु नही भंनै घालिआ। हरि गुणनिधि गाए सहज सुभाए प्रेम महारस माता। नानक दास तेरी सरणाई तू पूरन पुरखु बिधाता ॥' (केदारा छंत महला-५ पृ० ११२२)

१०. 'आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ॥ आत्मनिक्षेपः कार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः ॥'

लगती है, तब प्रभु-कृपाका उन्मेष होता है[१]। प्रियतम प्रभुके विरहमें नींद और चैन सब गायब हो जाते हैं[२]। जीवन सूना-सूना-सा लगता है और जीनेकी भी अभिलाषा नहीं रहती। एकमात्र यही आकुलता निरन्तर बनी रहती है कि 'न जाने मेरा प्रियतम स्वामी अपने दर्शनोंसे मुझे कब कृतार्थ करेगा'। दर्शनके ऐसे प्यासे विरही भक्तोंको अपने अमृतमय दर्शनका पान कराकर प्रभु अपनी दिव्य अनुकम्पाका अनन्त वैभव लुटा देते हैं[३]। दर्शनके प्यासे नयनोंको यदि प्रियतमका दिव्य साक्षात्कार हो जाय तो प्रेमी भक्त बदलेमें अपने सिरको भी समर्पित करनेहेतु लालायित रहता है[४]। जैसे कमल सूर्यका अवलोकन करके ही अपनी सत्ताको धारण करता है[५] और मछली जलमें निवास करती हुई ही जीवित रहती है[६], ठीक उसी प्रकार अपने प्रियतम प्रभुका दर्शन करके ही प्रेमी भक्त आध्यात्मिक जीवन (आनन्द)-को धारण करता है। इस अनुपम स्थितिको प्राप्त करनेहेतु सांसारिक जीवनका सर्वस्व न्योछावर करनेमें भक्तको तिलभर भी संकोच नहीं है[७]। करुणावरुणालय प्रभु अपने ऐसे निःस्पृह भक्तोंको सहर्ष अङ्गीकार करके अपनी प्रेममयी सुधासे आप्लावित कर देते हैं[८]।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें श्रीहरिकी अनुरागमूला कृपाको जाग्रत् करनेमें 'प्रार्थना' की भी एक उत्कृष्टभूमिका स्वीकार की गयी है। इस दृष्टिसे 'प्रार्थना' को पञ्चम साधन कहा जा सकता है। साधनाकी उत्कृष्टतम स्थितिमें अवस्थित श्रीगुरु अर्जुनदेवजी (पाँचवें सिक्ख गुरु) परमेश्वरसे प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि 'हे प्रभो! आपसे मेरी विनम्र प्रार्थना है, मुझ दासपर ऐसी कृपा कीजिये कि आपके चरण-कमलोंमें मेरा उत्कट अनुराग (स्नेह) उत्पन्न हो जाय'[९]। सच्चे अनुरागी साधकके तो एकमात्र प्रियतम एवं प्राणोंके आधार परमेश्वर ही हैं और उसे पूर्ण विश्वास है कि प्रार्थनासे द्रवीभूत होकर अपार अनुग्रह करते हुए वे अवश्य ही अपनी प्रेमा-भक्तिकी अतुलनीय सम्पदासे उसे (साधकको) कृतकृत्य कर देंगे[१०]। जैसे चातक निरन्तर स्वाति नक्षत्रकी वर्षाके जलहेतु लालायित रहता है, ठीक उसी प्रकार परमेश्वरकी कृपाकी आकाङ्क्षा करता हुआ साधक अपने प्रियतम प्रभुसे प्रेममयी भक्तिकी याचना करता है[११]।

परमेश्वरके चरणारविन्दोंमें की गयी प्रार्थनाके प्रभावसे सर्वत्र प्रभुकी व्यापकता एवं निकटताका बोध होता है,

---

[१] 'हउ रहि न सका बिनु देखे प्रीतमा मै नीरु वहे वहि चलै जीओ।……हरि जीओ कृपा करहु गुरु मेलहु जन नानक हरि धनु पलै जीओ॥' (रागु मांझ महला-४ पृ० ९४)

[२] 'नह नीद आवै प्रेम भावै सुणि बेनंती मेरी आ। बाझहु पिआरे कोइ न सारे एकलड़ी कुरलाए। नानक साधन मिलै मिलाई बिनु प्रीतम दुखु पाए॥' (गंऊड़ी छंत महला-१ पृ० २४३)

[३] 'अंतरि पिरी पिआरु किऊ पिर बिनु जीवीऐ राम। जब लगु दरसु न होइ किऊ अंम्रितु पीवीऐ राम॥ किऊ अंम्रितु पीवीऐ हरि बिनु जीवीऐ तिसु बिनु रहनु न जाए। अनदिनु प्रिऊ प्रिऊ करे दिनु राती पिर बिनु पिआस न जाऐ॥ अपणी क्रिपा करहु हरि पिआरे हरि हरि नामु सद सारिआ। गुर कै सबदि मिलिआ मैं प्रीतमु हऊ सतिगुर विटहु वारिआ॥' (तुखारी छंत महला-४ पृ० १११३)

[४] 'तू चऊ सजण मैडिआ डेई सिसु उतारि। नैण महिंजे तरसदे कदि पसी दीदारु॥'

(मारू वार महला-५; डखणे महला-५ पृ० १०९४)

[५] 'प्रीतम प्रीति लगी प्रभ केरी जिव सूरजु कमलु निहारे।' (नट महला-४ पृ० ९८३)

[६] 'घोल घुमाई लालना गुरि मनु दीना। सुण सबदु तुमारा मेरा मनु भीना। ऐहु मनु भीना जिऊ जल मीना लागा रंगु मुरारा॥'

(तुआरी छंत महला-५ पृ० १११७)

[७] (क) 'सकल गुणा के दाते सुआमी बिनऊ सुनहु इक दीना।
देहु दरसु नानक बलिहारी जीअड़ा बलि बलि कीना॥' (तुखारी छंत महला-५ पृ० १११७)
(ख) 'तेरे दरसन विटहु खंनीऐ वंजा तेरे नाम विटहु कुरबाणो।' (रागु वडहंसु महला-१ घर १ पृ० ५५७)

[८] 'एहु तनु मनु तेरा सभि गुण तेरे। खंनीए वंजा दरसन तेरे॥ दरसन तेरे सुण प्रभ मेरे निमख द्रिसटि पेखि जीवा। अंम्रित नाम सुनीजै तेरा किरपा करहि त पीवा॥' (तुखारी छंत महला-५ पृ० १११७)

[९] 'चरनकमल सिऊ लागऊ नेहु। नानक की बेनंती ऐह॥' (धनासरी महला-५ पृ० ६८४)

[१०] 'प्रभ मेरे प्रीतम प्रान पिआरे। प्रेम भगति अपनो नामु दीजै दइ आल अनुग्रहु धारे॥' (मलार महला-५ पृ० १२६८)

[११] 'चात्रिक चितवत बरसत मेह। क्रिपासिंधु करुणा प्रभ धारहु हरि प्रेम भगति को नेंह॥' (जैतसरी महला-५ पृ० ७०२)

अनुभवी संतोंसे समागम होता है[1]। इन गुरु-स्थानीय आध्यात्मिक संतोंद्वारा की गयी ज्ञान-चर्चा (तत्त्व-विचार)-से प्रेमा-भक्तिका उदय होता है[2]। जितेन्द्रिय, सत्य एवं संयमनिष्ठ साधक जब अध्यात्मपरायण (गुरु) संतके मार्गदर्शनमें नाम-साधना करता है तो ऐसी साधनामयी भक्ति प्रभुको आकृष्ट करती है[3], फलतः प्रभु-कृपाका अविरल स्रोत प्रवाहित होने लगता है, श्रीहरिका अमृतमय (मानसिक एवं वाचिक) नाम-जप सहज ही साधकके अन्तःकरणमें अविचल स्थिति बना लेता है, जन्म-मरणके दुःखोंसे सदा-सदाके लिये छुटकारा मिल जाता है[4]।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें परमेश्वरके अनुरागको उन्मेषित करनेवाली प्रभु-कृपाको प्राप्त करनेका छठा साधन 'ज्ञान या विवेक' स्वीकार किया गया है। जबतक मनुष्यको संसारकी वास्तविकताका ज्ञान या बोध नहीं होता, तबतक परमेश्वरमें सच्चा अनुराग (प्रेम) उत्पन्न नहीं हो सकता[5]। सम्यक् दृष्टिसे सम्पन्न आध्यात्मिक जिज्ञासु पुनः-पुनः सूक्ष्म विचार करनेके उपरान्त इस निष्कर्षपर पहुँचता है कि परमेश्वरके अतिरिक्त संसारके अन्य पदार्थ एवं शरीरादि—सभी मिथ्या हैं[6]; फलतः उसके हृदयमें प्रभु-कृपाका अवतरण होता है और परमेश्वरके प्रेमको प्राप्त करनेका चाव उमड़ता है। उसे सदैव यही प्रतीति होने लगती है कि इस क्षणभङ्गुर जीवनमें एकमात्र परमेश्वर एवं उसके प्रति किया गया प्रेम ही शाश्वत है, अन्य सब कुछ अस्थिर है, विनाशी है[7]। संसारके सभी सम्बन्ध पूर्णतः स्वार्थपर अवलम्बित हैं, परंतु मनुष्यके साथ यह विडम्बना है कि वह अन्ततक साथ निभानेवाले परमेश्वरको भुलाकर अज्ञानवश सांसारिक प्राणियोंसे ही स्नेह (प्रेम) करता है[8]। जो सौभाग्यशाली प्राणी आध्यात्मिक ज्ञानकी दिव्य सम्पदासे समन्वित है, वह विश्वके समग्र पदार्थोंको हेय और अस्थायी जानता हुआ ईश्वरीय प्रेमको प्रकट करनेवाली प्रभु-कृपाकी ही याचना करता है[9]। उसे सतत इस तथ्यका भान होता रहता है कि प्रभुसे किया गया प्रेम ही जन्म-जन्मान्तरतक प्राणीके साथ चलता है[10]। सांसारिक दुःखोंसे छूटनेके अन्य जितने भी उपाय हैं, उनका सामर्थ्य प्रतीतिमात्र है। स्मृति, शास्त्र और वेदादिके साक्ष्यके आधारपर भी यही परिपुष्ट होता है कि प्रभुकी प्रेमा-भक्ति ही सांसारिक दुःखोंसे मुक्ति दिला सकती है[11]। आध्यात्मिक जिज्ञासुके हृदयमें अङ्कुरित हुआ यह सहज ज्ञान उसे प्रभु-कृपाका सत्पात्र बनाता है और प्रभु-कृपाका यह दिव्य उपहार परमेश्वरके अलौकिक प्रेमको जाग्रत् करता है।

निष्कर्षतः श्रीगुरुग्रन्थसाहिबने भगवत्प्रेमोदयमें प्रभु-कृपाकी उत्कृष्टभूमिकाको स्वीकार किया है।

* * *

---

[1] 'सदही निकटि जानऊ प्रभ सुवामी सगल रेण होइ रहीऐ। साधूसंगति होइ परापति ता प्रभु अपना लहीऐ॥' (टोडी महला-५ पृ० ७१३)

[2] 'प्रेमपदारथु पाईऐ गुरमुखि ततु वीचारु॥' (सिरीरागु महला-१ पृ० ६१)

[3] 'जिसु अंतरि प्रीति लगै सो मुकता। इंद्रीवसि सच संजमि जुगता॥ गुर कै सबदि सदा हरि धिआऐ ऐहा भगति हरि भावणि आ॥' (माझ महला-३ पृ० १२२)

[4] 'पूरा सतिगुरु जे मिलै पाईऐ सबदु निधानु। करि किरपा प्रभ आपणी जपीऐ अंम्रित नामु॥ जनम मरण दुखु काटीए लागै सहज धिआनु॥' (सिरीरागु महला-५ पृ० ४६)

[5] 'गिआन विहूणी पिरमु तीआ पिरमु न पाइआ जाइ। अगिआनमती अंधेरु है बिनु पिर देखे भुख न जाइ॥' (सिरीरागु महला-३ पृ० ३८)

[6] 'साधो ऐह तनु मिथिआ जानऊ। या भीतरि जो रामु बसतु है साचो ताहि पछानो॥' (रागु बसंतु हिंडोल महला-९ पृ० ११८६)

[7] 'मै कि आ मागऊ किछु थिरु न रहाई हरि दीजै नामु पिआरी जीओ।' (सोरठिमहला-१ पृ० ५९७)

[8] 'संगि सहाई सु आवै न चीति। जो बैराई ता सिऊ प्रीति॥' (गऊड़ी सुखमनी महला-५ पृ० २६७)

[9] 'मागऊ दानु ठाकुर नाम। अवरु कछू मैरै संगि न चालै मिलै क्रिपा गुण गाम॥' (टोडी महला-५ घरु २ दुपदे पृ० ७१३)

[10] 'आदि मधि जो अंति निबाहै। सो साजनु मेरा मनु चाहै॥ हरि की प्रीति सदा संगि चालै। दइआल पुरख पूरन प्रतिपालै॥' (गऊड़ी महला-५ पृ० २४०)

[11] 'ततु बीचारु कहै जनु साचा। जनमि मरै सो काचो काचा॥ ···अनिक उपाव न छूटनहारे। सिंम्रिति सासत बेद बीचारे॥ हरि की भगति करहु मनु लाइ। मनिबंछत नानक फल पाइ॥' (गऊड़ी सुखमनी महला-५ पृ० २८८)

मसीही धर्म (बाइबिल)-में भगवत्प्रेम

(डॉ० श्री ए०बी० शिवाजी, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

विश्वके प्राय: सभी धर्मोंमें प्रेमको ही ईश्वरको जाननेका प्रमाणित स्रोत माना गया है, अत: जीवनमें प्रेमका अत्यन्त उच्च स्थान स्वत:सिद्ध है। मसीही धर्मकी भी समस्त शिक्षा ईश्वरीय प्रेमसे ओत-प्रोत है। प्रश्न यह है कि ईश्वरको जाननेका एकमात्र साधन 'प्रेम' कैसे हो सकता है? प्रेमका महानतम गुण उसमें बलिदान करनेकी क्षमताका होना है, अत: प्रेम करना जानना चाहिये। 'बाइबिल' यह सिखाती है कि अपने पड़ोसीसे अपनी आत्माके समान प्रेम करो। जो मनुष्य अपनी आत्मासे और इस प्रकार अपने पड़ोसीसे प्रेम करता है, वह ईश्वरसे प्रेम करता है। 'मैरी कार्मन रोज' अपनी पुस्तक 'ऐसे इन क्रिश्चियन फिलॉसॉफी' में प्रेमको ईश्वरको जाननेके साधनरूपमें ग्रहण करती हैं, वे लिखती हैं—

"Christian love has an epistomological function since it is only through our giving of love to our fellow men that we come to know God and His love" उनका यह कथन पवित्र बाइबिलपर आधारित है। नये नियमकी पुस्तक (१ यूहन्ना ४:७-८)-में कहा गया है, 'हे प्रियो! हम आपसमें प्रेम करें, क्योंकि प्रेम ही परमेश्वर है और जो कोई प्रेम करता है, वह परमेश्वरको जानता है। जो प्रेम नहीं करता, वह परमेश्वरको नहीं जानता।'

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्तिम सर्वोच्च सत्ताको जाननेका प्राथमिक स्रोत अपने पड़ोसीसे प्रेम करना है। यदि कोई मनुष्य यह कहता है कि वह अपने इष्ट अथवा ईश्वरसे प्रेम करता है और भाईसे वैर तो वह झूठा है। वह केवल दूसरोंको ही नहीं स्वयंको भी धोखा दे रहा है। प्रभु यीशु कहते हैं—'यदि कोई कहे कि मैं परमेश्वरसे प्रेम रखता हूँ और अपने भाईसे वैर तो वह झूठा है, क्योंकि जो अपने भाईसे जिसे उसने देखा है, प्रेम नहीं रखता; वह परमेश्वरसे भी जिसे उसने नहीं देखा, प्रेम नहीं रख सकता' (१ यूहन्ना ४:२०)। अत: ईश्वरको जाननेके लिये आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य दूसरोंसे प्रेम रखे, चाहे वह किसी भी जाति, वर्ण एवं रंगका हो।

मसीही धर्ममें ईश्वरीय समझ प्रेमपर ही आधारित मानी गयी है। पौलुस १ कुरिन्थियोंकी पत्री ८:३ में कहता है—'परंतु यदि कोई परमेश्वरसे प्रेम रखता है तो उसे परमेश्वर पहचानता है।' मनुष्य सांसारिक ज्ञानसे कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि लिखा है—'ज्ञान घमण्ड उत्पन्न करता है, परंतु प्रेमसे उन्नति होती है, यदि कोई समझे कि मैं कुछ जानता हूँ तो जैसा जानना चाहिये, वैसा अबतक नहीं जानता।'

मसीही दर्शन अथवा धर्ममें 'प्रेम' ईश्वर-पुत्र कहलानेका एक अधिकार प्रदान करता है। १ यूहन्ना ३:१ में कहा गया है—'देखो, पिताने हमसे कैसा प्रेम किया है कि हम परमेश्वरकी संतान कहलाये और हम हैं भी।' वास्तवमें प्रेम वही है जो मानव और ईश्वरके बीचके अलगाव एवं पृथक्ताको दूर करता है। गाँधीजी कहा करते थे—'सत्य ईश्वर है और ईश्वर सत्य', किंतु बहुत-से मतावलम्बी ईश्वरको नहीं मानते, क्योंकि वर्तमानके निरपेक्ष युगमें प्रतिदिन सत्यकी परिभाषाएँ बदल रही हैं। आज जो सत्य है, वह कल असत्य हो जायगा। इस विवादसे छुटकारा पानेका केवल एक ही विकल्प है कि हम कहें—'ईश्वर-प्रेम है'। बाइबिलमें यह कथन १ यूहन्ना ४:१६ में पाया जाता है—'और जो प्रेम परमेश्वर हमसे रखता है, उसको हम जान गये तथा हमें उसकी प्रतीति है। परमेश्वर प्रेम है, जो प्रेममें बना रहता है वह परमेश्वरमें बना रहता है और परमेश्वर उसमें बना रहता है।'

यथार्थमें प्रेम एक पुल है जो दो अजनबियोंको मिलाता और एक शाश्वत एकताको निर्मित करता है। यही प्रेम विश्वासमें बदल जाता है और एक प्रेमी अपने प्रेमास्पदके साथ एक जीव एवं एक तत्त्व हो जाता है। यह इसलिये होता है कि प्रेममें गतिशीलता होती है, उसमें क्षमता होती है; क्योंकि इसके साथ नैतिक मूल्य हैं।

मसीही धर्ममें प्रेम धार्मिक सिद्धान्तके रूपमें अनुपम स्थान लिये हुए है। हम कह सकते हैं कि प्रेम मसीही सिद्धान्त एवं प्रथाकी रीढ़की हड्डी है। यह इतना शक्तिशाली प्रत्यय है, जिसके द्वारा विश्वको बिना लहूका एक कतरा बहाये भी जीता जा सकता है। प्रेम धार्मिक सिद्धान्तके

रूपमें जीवनमें महत्त्व रखता है। वर्तमानमें प्रेम और घृणा दो तत्त्व हैं जो एक स्थानपर साथ-साथ नहीं रह सकते। मनुष्यको इनमेंसे एकका चुनाव करना है। प्रेमसे परिपूर्ण प्राणी शाश्वत जीवनकी ओर जाता है जबकि घृणासे परिपूर्ण प्राणी शरीर और आत्मा दोनोंको विनाशकी ओर ले जाता है। अतः यह कहनेके स्थानपर कि 'मसीही धर्म प्रभु यीशुका धर्म है', यह कहा जाय कि 'मसीही धर्म प्रेमका धर्म है' तो उपयुक्त होगा। मसीही धर्ममें प्रेमको दो भागोंमें विभाजित किया गया है, जिसे 'अगापे' और 'ईरॉस' कहा जाता है। 'अगापे' और 'ईरॉस' ग्रीक भाषाके शब्द हैं जो दो भिन्न अर्थोंको बताते हैं।

'अगापे' परमेश्वर-प्रेमके लिये स्वयंके बलिदानका अप्रतिबन्धके रूपमें वर्णन करता है। प्रभु यीशुका क्रूसपर अन्यके लिये बलिदान मानव-जातिके इतिहासमें सर्वोच्च बलिदान है। हजारों अवतार आये और उन्होंने मार्ग बताये, परंतु किसीने भी क्रूसके उस दुःखको न सहा जो प्रभु यीशुने सहा। 'अगापे' प्रेममें किसी प्रकारका भेदभाव नहीं है, वह राजा एवं रंक, उच्च एवं नीच दोनोंके लिये समान है।

ईश्वर मानव-जातिसे इसलिये प्रेम करता है; क्योंकि वह स्वयं प्रेम है। कोई शर्त इस प्रकारके प्रेममें नहीं रखी गयी है। परमेश्वरका प्रेम धार्मिक अथवा परिवर्तनीय (Transitional) नहीं है, किंतु शाश्वत है। यर्मियाह नबीकी पुस्तक ३१:३ में कहा गया है—'मैं तुझसे सदा प्रेम रखता आया हूँ, इस कारण मैंने तुझपर अपनी करुणा बनाये रखी है।'

जब परमेश्वर इतना प्रेमी और दयालु है तो मनुष्य-जातिको भी अपना कर्तव्य समझना चाहिये। मनुष्यको परमेश्वरके प्रेमके बदले क्या करना चाहिये? बाइबिलमें कई आदेश हैं जिनका पालन मनुष्यको करना चाहिये। मनुष्यका परमेश्वरके प्रति क्या कर्तव्य है? समय-समयपर भविष्यवक्ता मनुष्यको चेतावनी देते आये हैं कि वे सम्पूर्ण हृदय, आत्मा और शक्तिसे परमेश्वरसे प्रेम करें, जैसा कि हम व्यवस्थाविवरणकी पुस्तक ६:५ में पढ़ते हैं, 'तू अपने परमेश्वर यहोवासे अपने सारे मन और सारे जीव एवं सारी शक्तिके साथ प्रेम रखना।'

ईश्वरने अपने पुत्र 'यीशु मसीह' को संसारमें भेजकर प्रेमका सर्वोच्च उदाहरण दिया है और तब कहा है कि एक-दूसरेसे प्रेम करो। उसी उच्च प्रेमके प्रत्ययको प्रभु यीशुने अपने कार्योंद्वारा चरितार्थ किया है। प्रभु यीशु वह शब्द है जो देहधारी हुआ। अतः उसका प्रेम इन्द्रियग्राह्य नहीं है जिसका आनन्द इन्द्रियोंद्वारा लिया जा सके। अपितु उसका प्रेम लोकोत्तर प्रेम है, उसका प्रेम व्यावहारिक प्रेम है जो मनुष्यको प्रेरणा देता है कि भक्तिके रूपमें उसका उत्तर दे। पौलुसद्वारा लिखित १ कुरिन्थियोंकी पत्रीके तेरहवें अध्यायमें प्रेमकी विशेषताएँ दर्शायी गयी हैं। प्रेमकी जो प्रकृति वहाँ दर्शायी गयी है, इतनी उच्च है कि मनुष्य उससे अधिक अनुभव नहीं कर सकता। उस अध्यायकी तेरहवीं आयतमें कहा गया है, 'विश्वास, आशा तथा प्रेम—ये तीनों स्थायी हैं, पर इनमें सबसे बड़ा प्रेम है।'

प्रभु यीशुने प्रेमके विषयमें प्रथम आदेश निम्न पंक्तियोंके रूपमें दिया है जो मत्ती-रचित सुसमाचार ५:४४-में पाया जाता है—'परंतु मैं तुमसे यह कहता हूँ कि अपने वैरियोंसे प्रेम रखो और अपने सतानेवालोंके लिये प्रार्थना करो।' दूसरा आदेश यह है कि 'अपने पड़ोसीसे अपने समान प्रेम करो। वर्तमानमें समाजको इस आदेशका पालन करनेकी बहुत आवश्यकता है। मरकुस-रचित सुसमाचार १२:३१ में कहा गया है—'तू अपने पड़ोसीसे अपने समान प्रेम रखना, इससे बड़ी और कोई आज्ञा नहीं।' पौलुस रोमियोंकी पत्री १३:८:१ में लिखता है 'आपसके प्रेमको छोड़ और किसी बातमें किसीके कर्जदार न हो, क्योंकि जो दूसरेसे प्रेम रखता है, उसीने व्यवस्था पूरी की है। व्यभिचार, हत्या, चोरी एवं लालच न करना तथा इनको छोड़ और कोई आज्ञा हो तो सबका सारांश इस बातमें पाया जाता है कि अपने पड़ोसीसे अपने समान प्रेम रख'। इसके द्वारा पौलुस यह बताता है कि ईश्वरीय प्रेम और प्रभु यीशुके प्रेममें कोई अन्तर नहीं है। यूहन्ना १४:११ में पढ़ते हैं, 'मेरी ही प्रतीति करो कि मैं पितामें हूँ और पिता मुझमें है।'

प्रेमके दो विशेष कार्य हैं। प्रथम कार्य यह है कि 'प्रेम पड़ोसीकी कुछ बुराई नहीं करता, इसलिये प्रेम रखना व्यवस्थाको पूरा करना है' और द्वितीय कार्य यह है कि 'प्रेममें भय नहीं होता वरं सिद्ध प्रेम भयको दूर कर देता है;

क्योंकि भयसे कष्ट होता है और जो भय करता है, वह प्रेममें सिद्ध नहीं हुआ' (१ यूहन्ना ४:१८)। पौलुस २ तिमुथियुसको पत्री १:७ में कहता है—'क्योंकि परमेश्वरने हमें भयकी नहीं, पर सामर्थ्य और प्रेम तथा संयमकी आत्मा दी है।'

'ईरॉस' शब्द यह बताता है कि प्रेम अन्तिम उद्देश्य है। मनुष्यका यह प्रेम परमेश्वरकी दिव्यताकी ओर संकेत करता है। यह मनुष्यकी वह प्राकृतिक इच्छा है जिसमें सत्य, सौन्दर्य और शुभत्वके दर्शन होते हैं। हम कह सकते हैं कि प्रभुका प्रेम ताजमहलकी तरह नहीं है जो मुमताजकी यादमें बनाया गया; किंतु वह प्रेम है, जिसने परमेश्वरको अवतार लेनेके लिये विवश किया ताकि बहुमूल्य कीमत देकर भी मानवताको बचाया जा सके।

परमेश्वर एवं उसके पुत्र यीशु मसीहके इसी प्रेमके कारण उनके अनुयायियोंपर दया और अनुग्रह होता है, इसीलिये यूहन्ना ३:१६ में कहा गया है—'परमेश्वरने जगत्से ऐसा प्रेम रखा कि उसने अपना इकलौता पुत्र दे दिया ताकि जो कोई उसपर विश्वास करे, वह नष्ट न हो, अपितु अनन्त जीवन पाये।' लूकारचित सुसमाचार इसी तथ्यकी पुष्टिमें अध्याय नौ, आयत छप्पनमें लिखता है—'क्योंकि मनुष्यका पुत्र लोगोंके प्राणोंका नाश करने नहीं वरं बचाने आया है।' 'यीशुका यही प्रेम उसे क्रूसतक ले गया और वहाँ उसने अपना लहू बहाकर पापियोंके जीवनके उद्धारका वह कार्य किया, जो अबतक किसी अवतारद्वारा इतिहासमें नहीं किया गया है और आज भी वह जीवित ईश्वर है। वह अपने अनुयायियोंकी प्रार्थना सुनता है। उसकी एक ही शर्त है—जो विश्वास करता है और अपने पापोंसे पश्चात्ताप करता है, उसीपर उसका अनुग्रह होता है।'

* * *

ज्योतिषमें प्रेम और भक्ति-योग

(वैद्य पं० श्रीपरमानन्दजी शर्मा 'नन्द', एम्०ए०, ज्योतिर्विद, वास्तुशास्त्री, आयुर्वेदरत्न)

ज्योतिष एक प्राचीन और उपयोगी विज्ञान है। ज्योतिषके शास्त्रीय ग्रन्थोंमें जीवनके अन्य पक्षोंके साथ-साथ भगवत्प्रेम, साधना तथा मोक्ष आदिका विवरण भी प्राप्त होता है।

भगवत्प्रेम, भक्ति, साधना और प्रव्रज्या (संन्यास)-के लिये विशेषरूपसे पञ्चम तथा नवम भावका विचार करना चाहिये। इन भावोंका कारक बृहस्पति है। दशम भाव भी कर्म स्थान होनेके कारण विचारणीय है।

किसी भी कुण्डलीमें यदि पञ्चम भाव और नवम भाव बलवान् है तथा साथ ही बृहस्पति भी शुभ है तो जातक निश्चय ही आस्तिक होता है और भगवत्प्रेममें निमग्न रहता है।

किसी भी जातककी कुण्डलीमें यदि बलवान् बृहस्पति पहले, तीसरे, पाँचवें और नवें भावमें बैठा हो तो उसका मन अवश्य ही भगवद्भक्तिकी ओर प्रेरित होता है। मनका कारक चन्द्रमा है और भक्तिका कारक बृहस्पति। विद्वान् कहते हैं कि चन्द्र-बृहस्पतियोग भी मनुष्यमें ईश्वर-प्रेम पैदा करता है। यदि दशम भावका स्वामी छठे और बारहवें भावमें हो तो जातक प्रायः ईश्वर-प्रेमसे शून्य होता है।

यदि पञ्चम भावमें पुरुष ग्रह बैठा हो या उस भावपर पुरुष ग्रहकी दृष्टि पड़ती हो तो जातक पुरुष देवताकी उपासना करता है। यदि पञ्चम भावमें सम राशि हो और उसमें चन्द्रमा या शुक्र बैठा हो अथवा इन दोनोंमेंसे किसी एककी पूर्ण दृष्टि पञ्चम भावपर पड़ती हो तो जातक स्त्री देवताकी उपासना करनेवाला समझना चाहिये। यदि पञ्चम भावपर शनि या राहु अथवा केतु हो या इनकी दृष्टि हो तो जातक प्रायः कामना-विशेषसे सामान्य देवशक्तियोंकी उपासना करनेवाला होता है।

कई ज्योतिर्विद् केवल जन्मराशिके आधारपर जातकको यह परामर्श देते हैं कि उसे किस देवी-देवताकी भक्ति-उपासना करनी चाहिये। पाठकोंकी जिज्ञासाके लिये इसका सामान्य विवरण दिया जा रहा है—

(१) मेष—मंगल, सुदर्शन (भगवान् विष्णुका एक अस्त्र)।

(२) वृष—शुक्र, श्रीवेणुगोपाल, सरस्वती।

(३) मिथुन—बुध, श्रीगणेश, श्रीहयग्रीव, श्रीदक्षिणामूर्ति।
(४) कर्क—चन्द्रमा, भगवान् राम, मा पार्वती, लक्ष्मी।
(५) सिंह—सूर्य, भगवान् नृसिंह, भगवान् कृष्ण।
(६) कन्या—बुध, भगवान् धन्वन्तरि, श्रीमहाविष्णु।
(७) तुला—शुक्र, श्रीमहालक्ष्मी, राजराजेश्वरी।
(८) वृश्चिक—मंगल, भगवान् शिव, हनुमान्, मा काली।
(९) धनु—बृहस्पति, हयग्रीव।
(१०) मकर—शनि।
(११) कुम्भ—शनि, भगवान् वाराह।
(१२) मीन—बृहस्पति और क्षीरशायी भगवान् विष्णु।

बृहत्-पाराशर होराशास्त्रमें कारकांश कुण्डलीके आधारपर भगवत्प्रेमकी चर्चा मिलती है। इसमें कारकांश-कुण्डलीके बारहवें घरमें स्थित ग्रहका अध्ययन किया जाता है।

उत्तररामचरितमें राम-सीताका आदर्श दाम्पत्य-प्रेम

(डॉ० श्रीविनोदकुमारजी शर्मा, एम्० ए० (संस्कृत-हिन्दी), प्रभाकर (संगीत), पी-एच्०डी० (संस्कृत))

महाकवि भवभूति संस्कृत-नाटककारोंकी प्रथम पंक्तिमें परिगणित हैं। यही नहीं, विद्वानोंकी दृष्टिमें कविकुलगुरु कालिदासके समकक्ष यदि कोई नाटककार है तो वे भवभूति ही हैं। कतिपय काव्यज्ञ तो उन्हें कालिदाससे भी महत्तर प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं—'**कवयः कालिदासाद्या भवभूतिर्महाकविः**'। भवभूतिकी उज्ज्वल कीर्तिके आधार-स्तम्भके रूपमें केवल उनकी तीन नाट्यकृतियाँ प्राप्त होती हैं—'मालतीमाधव', 'महावीरचरित' तथा 'उत्तररामचरित'। इनमें 'मालतीमाधव' नाट्य शास्त्रीय भाषामें 'प्रकरण' है। दस अङ्कोंके इस प्रकरणमें मालती तथा माधवका प्रेम अत्यन्त सुन्दर रूपमें चित्रित किया गया है। महावीरचरित सात अङ्कोंका नाटक है। इसकी कथावस्तुका आधार महर्षि वाल्मीकि-प्रणीत रामायण है। इस नाटकमें मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके विवाहसे लेकर राज्याभिषेकतककी कथा वर्णित है। उत्तररामचरित भी सात अङ्कोंका नाटक है। इसमें श्रीरामचन्द्रजीके उत्तरकालिक जीवनचरितका सुरम्य चित्रण है।

भवभूतिके नाटकोंमें एक प्रमुख विषय दाम्पत्य-प्रेम है। विवाहके पूर्वके प्रेमका चित्रण संस्कृत-नाट्यपरम्परामें बहुत अधिक हुआ है। भवभूति ही हैं, जिन्होंने वैवाहिक सम्बन्धोंको नाटकका विषय बनाया तथा सामाजिक संदर्भोंके बीच इन सम्बन्धोंमें आनेवाले उतार-चढ़ावोंका रेखाङ्कन किया। भवभूतिने अपनी रचनाओंमें प्रेमकी उत्पत्ति युगपत् और पूर्वापर दोनों प्रकारकी बतायी है। महावीरचरितमें राम-सीता तथा लक्ष्मण-उर्मिलाका प्रेम युगपत् प्रेमका उदाहरण है। पूर्वापर प्रेमका उदाहरण मालतीमाधवमें प्राप्त होता है, जहाँ मालतीके हृदयमें माधवके दर्शनसे और मदयन्तिकाके हृदयमें मकरन्दके गुणश्रवणसे प्रेम उत्पन्न होता है।

भवभूतिने अपने नाटकोंमें प्रेमकी उत्कृष्ट अभिव्यञ्जना की है। पात्रोंका प्रेम अत्यन्त उन्नत कोटिका है। न तो कहीं स्वार्थ है और न द्वेष। अलौकिक स्नेहकी धारा सर्वत्र प्रवाहित है। पति-पत्नीका प्रेम भवभूतिने जिस पराकाष्ठापर पहुँचाया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। राम-सीताका प्रेम आदर्श पति-पत्नीका प्रेम है। मालती-माधवका प्रेम आदर्श प्रेमिका-प्रेमीका प्रेम है। मकरन्दका प्रेम आदर्श मित्रका प्रेम है। चन्द्रकेतु और लवका प्रेम दोनोंकी सदाशयताका द्योतक है। श्रीरामका लव-कुशके प्रति प्रेम, जनकका जानकीके प्रति प्रेम, पृथ्वीका सीताके प्रति स्नेह—ये सभी आदर्श कोटिके प्रेम हैं।

भवभूतिकी शृङ्गारभावना विशुद्ध प्रेमपर आधृत है। उनका प्रेम आदर्श है। प्रेमसे उनका आशय उस सम्बन्धसे है जो दो हृदयोंको स्नेहसूत्रमें बाँध देता है। उनका प्रेम विश्वजनीन है, जिसमें कोई कालुष्य नहीं, कोई दुराव नहीं। प्रेम उनकी दृष्टिमें अनिर्वचनीय तथा अविनाशी है। वे एक पत्नीव्रतमें विश्वास रखते हैं। उनकी कृतियोंमें सपत्नियोंके ईर्ष्या-द्वेषके लिये कोई स्थान नहीं है। उनके प्रणयी अपने प्रेममें दृढ़ हैं तथा उनका प्रेम शुद्ध, नैसर्गिक एवं निर्मल है। उसमें मदान्धता या कामलिप्सा नहीं है। भवभूति जिस

एकनिष्ठ प्रेमका चित्राङ्कन करते हैं वह मर्यादा, कर्तव्यनिष्ठा एवं दायित्वबोधकी अपेक्षा रखता है।

महाकवि भवभूतिके तीनों रूपकोंमें 'उत्तररामचरित' उनकी सर्वोत्कृष्ट नाट्यकृति है, इसीलिये कहा गया है—'उत्तरे रामचरिते **भवभूतिर्विशिष्यते**'। इस नाटकरत्नमें मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम एवं प्रेमकी प्रतिमूर्ति देवी सीताके आदर्श दाम्पत्य-प्रेमका विशद चित्रण किया गया है।

उत्तररामचरितका प्रथम अङ्क सीताकी गहरी उदासी और रामद्वारा उनके मनको बहलानेके प्रयाससे आरम्भ होता है। सीता अपने पिता जनकके अयोध्यासे वापस मिथिला चले जानेपर विषादग्रस्त हैं[1]। स्पष्ट ही भवभूतिके प्रेम-संसारमें नायक और नायिका अकेले नहीं हैं। न यह वह प्रेम है जिसमें वे शेष समस्त जगत्को भुलाकर अपनेमें डूब सकें। वह वैवाहिक सम्बन्धोंकी दुनिया है जिसमें माता-पिता, गुरुजन एवं दैनिक जीवनके नानाविध कर्तव्य हैं। इसके बावजूद प्रेम अपनी भूमिपर है और भवभूतिके द्वारा वह अपनी समग्र उदात्तता तथा अनन्यतामें परिभाषित किया गया है।

प्रथम अङ्कमें विवाहित जीवनकी सरसताका मनोरम वर्णन है[2]।

सीताके हाथका स्पर्श पाकर रामको अनिर्वचनीय आनन्दका अनुभव होता है[3]। इसी प्रकार सीताके अमृतरूप मधुर वचनोंसे प्राप्त अमित आनन्दकी अभिव्यक्ति वे इन शब्दोंमें करते हैं—'हे कमलके समान नेत्रोंवाली! तुम्हारे ये मधुर वचन मेरे मुरझाये हुए जीवनपुष्पको विकसित करनेवाले, सम्पूर्ण तृप्ति देनेवाले, समस्त इन्द्रियोंको विह्वल करनेवाले, कानोंमें अमृतरूप और मनके लिये पुष्टिकारक भेषज हैं'—

म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकाशनानि
संतर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि।
एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि
कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि॥

(१।३६)

मांसल-प्रेमका वर्णन संस्कृतके अनेक कवियोंने किया है, इससे कविकुलशिरोमणि कालिदास भी मुक्त नहीं, पर भवभूतिके काव्यमें मांसल-प्रेम भी सूक्ष्म स्नेहरसमें परिणत हो जाता है। राम-सीताके दाम्पत्य-प्रेमका चित्रण महाकविने जिस परिष्कार तथा अभिनिवेशके साथ किया है, वह उनकी कलाका उत्कृष्ट निदर्शन है। प्रसुप्ता सीताको उद्दिष्ट कर श्रीरामके श्रीमुखसे उन्होंने जिस भावको अभिव्यक्ति प्रदान की है, वह पत्नीके सर्वाङ्गीण एवं सर्वविध सुखदायित्वकी सिद्धि करनेके लिये पर्याप्त है—'यह सीता घरमें लक्ष्मी है, नेत्रोंमें अमृतकी अञ्जनशलाका है, इसका यह स्पर्श शरीरमें गाढ़ा चन्दनका रस है, यह भुजा कण्ठमें शीतल तथा चिकना मुक्ताहार है, इसका क्या नहीं प्रिय है, यदि कोई वस्तु अत्यन्त असहनीय है तो वह है मात्र इसका विरह'—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं कण्ठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः॥

(१।३८)

भवभूतिके द्वारा वर्णित दाम्पत्य-प्रेममें दुग्ध-जैसी धवलता, चन्द्रिका-जैसी उज्ज्वलता, मधु-जैसी मधुरता तथा गङ्गा-जैसी निर्मलता है। यह प्रेम बाह्य आधारोंपर आश्रित नहीं है, अन्तरकी किसी प्रेरणाका परिणाम है। जिस प्रकार सूर्योदय होते ही कमल विकसित हो जाता है तथा चन्द्रमाके निकलते ही चन्द्रकान्त मणि द्रवित होने लगती है, उसी प्रकार दो हृदयोंका सम्मिलन प्रेमको स्वतः ही जन्म दे देता है—

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः॥

(६।१२)

संसारके प्रचलित कार्य-कारणभाव या तर्कसे इस प्रेमकी नाप-तौल नहीं की जा सकती। प्रमाणशास्त्रके

---

[1] स्नेहात् सभाजयितुमेत्य दिनान्यमूनि नीत्वोत्सवेन जनकोऽद्य गतो विदेहान्।
देव्यास्ततो विमनसः परिसान्त्वनाय धर्मासनाद् विशति वासगृहं नरेन्द्रः॥ (१।७)

[2] १।२४, २७।

[3] तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च संमीलयति च॥ (१।३५)

निष्णात पण्डित होते हुए भी भवभूति कहते हैं कि प्रेम अपना प्रमाण स्वयं है, अन्य किसी स्रोतसे वह विज्ञेय नहीं है। वह एक अदृश्य तन्तु है जो प्राणियोंके अन्तर्मर्म एक-दूसरेसे जोड़ता है—

अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्मर्माणि सीव्यति॥

(५।१७)

भवभूति सृष्टिके केन्द्रमें इस प्रेमको प्रतिष्ठित करते हैं और यह प्रेम क्योंकि व्यक्तिके व्यक्तित्वका अङ्ग है, इसलिये वे उसके साथ मनुष्यको प्रतिष्ठित करते हैं। एक शब्द जो उन्होंने प्रेम और मानवीय सम्बन्धोंको परिभाषित करते हुए दिया है, वह है—'सुमानुष'। इसका अर्थ दाम्पत्य किया गया है, किंतु 'उत्तररामचरित'में श्रीरामके मुखसे प्रेमकी अनुभूतिका निर्वचन कराते हुए जब भवभूति इस शब्दका प्रयोग करते हैं तो वे यह भी द्योतित करना चाहते हैं कि प्रेम करता हुआ मनुष्य ही 'सुमानुष' बनता है और सुमानुषकी रचना करता है।

इस प्रेममें मनुष्य अपने 'होने' को पहचानता है, इसलिये यह संसारके समस्त स्वार्थ-सम्बन्धोंसे उसे ऊपर उठा देता है। श्रीरामके श्रीमुखसे कल्याणी जानकीका स्मरण कराते हुए नाटककार कहते हैं कि प्रेमीजन एक-दूसरेके लिये कुछ करें, यह आवश्यक नहीं है, उनका होना और उपस्थित रहना ही बड़ी बात है। कुछ न करते हुए भी प्रियजन अपने सुखसे ही अपने प्रियके समस्त दुःखोंको हर लेता है। वे दोनों एक-दूसरेके लिये बहुमूल्य हुआ करते हैं—

अकिञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः॥

(२।१९)

यह प्रेम अनिर्वचनीय होता है। प्रेमके गूढ रहस्यकी वर्णना असम्भव है। केवल प्रेमी हृदय ही उसे जान सकते हैं—'**हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम्**[1]।' यही प्रेम दाम्पत्य-जीवनका सार है। इसमें आजीवन समरसता रहती है और सुख-दुःख दोनों दशाओंमें यह समान रहता है। कवि इसी दाम्पत्य-प्रेमका गायक है। उसने इसकी प्रतिष्ठा नाटकके नायक श्रीरामचन्द्रके द्वारा करायी है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत् स्नेहसारे स्थितं
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥

(१।३९)

अर्थात् 'जो सुख-दुःखमें एकरूप रहता है, सभी दशाओंमें अनुसरण करनेवाला है, जिसमें हृदयको विश्रान्ति मिलती है, वृद्धावस्थाके द्वारा भी जिसके रसका हरण नहीं किया जा सकता, जो विवाहसे लेकर मृत्युपर्यन्त परिपक्व प्रेमके सारके रूपमें स्थित रहता है, उस दाम्पत्य-प्रेमका सौभाग्य किसी प्रकारसे ही प्राप्त किया जा सकता है।'

उत्तररामचरितमें राम और सीता एक-दूसरेके गुणोंपर मुग्ध हैं। बाह्यरूपपर उनका ध्यान प्रायः नहीं जाता। प्रथम अङ्कमें रामके चित्रको देखकर उनके शारीरिक सौन्दर्यकी ओर सीताने केवल एक बार संकेतमात्र किया है[2]। सीताके बाह्यरूप—केवल मुखका वर्णन तीन स्थलोंपर प्राप्त होता है। प्रथम अङ्कमें राम सीताके शिशुमुखका स्मरण करते हैं[3]। तृतीय अङ्कमें तमसाद्वारा उनके मुखका वर्णन विरहव्यथाकी तीव्रताका अङ्कन करनेके लिये किया गया है[4] और षष्ठ अङ्कमें सीताके मुखके स्मरणसे रामकी विरहव्यथा उद्दीप्त होती है[5]।

महाकवि भवभूति अपने नाटकोंमें प्रत्येक नारीपात्रके भीतर माकी झलक देखते हैं और प्रत्येक पात्रको माकी दृष्टिसे भी देखते हैं। उन्होंने अपने भीतरकी मातृत्वग्रन्थिको बृहद्रचनात्मक आयाम दिया है। यहाँतक कि वे इस नाटकमें सीता और रामके अन्तरङ्ग सम्बन्धोंमें एक-दूसरेको मातृत्वकी दृष्टिसे शिशुके रूपमें देखनेकी प्रवृत्ति भी अभिव्यक्त करते हैं। विवाहके तुरंत बाद मिथिलासे सीताको अयोध्या लेकर आनेके समयकी स्मृतियोंमें रामको सीता बच्ची-जैसी भासित होती हैं, जिसे देखकर उनको

---

[1] ६।३२

[2] अहो! दलन्नवनीलोत्पलश्यामलस्निग्धमसृणशोभमानमांसलदेहसौभाग्येन विस्मयस्तिमिततातदृश्यमानसौम्यसुन्दरश्रीरनादरखण्डितशङ्करशरासनः शिखण्डमुग्धमुखमण्डल आर्यपुत्र आलिखितः। (१।१५)

[3] प्रतनुविरलैः प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुन्तलैर्दशनमुकुलैर्मुग्धालोकं शिशुर्दधती मुखम्। (१।२०)

[4] परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं दधती विलोलकवरीकमाननम्। करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी॥ (३।४)

[5] ६।३७

माताएँ कौतुकसे भर उठती थीं[१]।

इस नाट्यकृतिमें भवभूतिके दाम्पत्य-प्रणय-चित्रणमें वात्सल्यका गहरा संस्कार है। नाटकका तृतीय अङ्क तो वात्सल्यकी महागाथा ही है। रामको अपने समक्ष देखकर सीता अपने दोनों पुत्रोंका स्मरण करती हैं। वे खिन्न होकर कहती हैं—'घुँघराले केशोंवाला, सुकुमार तथा श्वेत दाँतोंसे चमकते हुए कपोलोंवाला, निरन्तर सम्बद्ध मनोहर अस्फुट ध्वनि और मधुर हास्यवाला तथा बँधे हुए काकपक्षोंवाला (मेरे पुत्रोंके) मुखकमलोंका जोड़ा आर्यपुत्रके द्वारा नहीं चूमा गया'—मेरा मा बनना ही अकारथ गया।[२] अपने द्वारा पाले गये करिशावकको तरुण देखकर[३] उन्हें विचित्र-सा अनुभव होता है, उनके पुत्र भी बड़े हो गये होंगे, जो वाल्मीकिजीके आश्रममें हैं। वे तमसासे कहती हैं—'बच्चोंके पिता समीप हैं, बच्चोंकी स्मृतिसे मेरे वक्षमें उच्छ्वास-सा होने लगा है, उससे दूधकी धार बहने लगती है। अतः थोड़ी देरके लिये मैं संसारिणी हो गयी हूँ'—यह गृहस्थी होनेका सीताके लिये क्षणिक एवं दुर्लभ अनुभव है—

'भगवति तमसे एतेनापत्यसंस्मरणेनोच्छ्वसितप्रस्नुतस्तनी तयोश्च पितुः संनिधानेन क्षणमात्रं संसारिण्यस्मि संवृत्ता।'
(३।१६)

भवभूतिकी दृष्टिमें प्रेम मनुष्यका सबसे उज्ज्वलरूप है। इसीमें वह अपने-आपको पहचानता है, निखारता है और विस्तारित करता है। प्रेमके उत्कृष्टतम उदाहरण तथा निकषके लिये वे दाम्पत्य और वह भी प्रौढ़ दाम्पत्यको चुनते हैं। उन्होंने इस प्रेमकी प्रत्येक स्थितिमें अद्वैत एवं अनुगुण रहनेकी बात कही है, अतएव रामके द्वारा सीता अकारण निर्वासित कर दिये जानेपर अपनी ओरसे कोई उपालम्भ नहीं देतीं। वे स्वयंको रामसे इस प्रकार अलग करके देख नहीं सकतीं कि शिकायत और क्षमादान कर सकें। उलटे रामके दुःखसे द्रवित होकर वे उनके लिये करुणामय होकर रह जाती हैं।

भवभूतिका दाम्पत्य-प्रणय-चित्रण अत्यन्त गम्भीर है। वह केवल ऊहात्मक नहीं है, अपितु उसका आधार अन्तस्तलकी अनुभूति है। इस विशुद्ध, पवित्र एवं सुख-दुःखमें समान रहनेवाले दाम्पत्य-प्रेमके प्रकर्षकी पराकाष्ठा संतति है जो पति-पत्नीके हृदयोंको एक-दूसरेसे बाँध देती है। इसीको परिभाषित करते हुए महाकवि भवभूति कहते हैं—'दम्पतिके अन्तःकरणमें स्नेहके एकाश्रयसे जन्मी (इन दोनोंको बाँधे रखनेवाली) आनन्दकी ग्रन्थि संतति है[४]।'

वस्तुतः उत्तररामचरितके सम्पूर्ण कथानकका सारतत्त्व 'लोकाराधनके लिये प्रेमका बलिदान' है। दण्डकारण्यमें परिचित स्थानोंके दर्शनसे राम जब पूर्वानुस्मृतियोंके कारण अत्यन्त विह्वल होते हैं और फूट-फूटकर रोने लगते हैं, उस समय भी वे अपने प्रजाजनोंसे इस अपराधके लिये क्षमा-याचना करना नहीं भूलते[५]।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि उत्तररामचरितमें महाकवि भवभूतिने राम-सीताके दाम्पत्य-प्रेमका उच्चतम आदर्श स्थापित किया है और प्रेमके विषयमें अपनी प्रशस्त धारणा भी प्रस्तुत की है। वस्तुतः भारतीय चिन्तन एवं दर्शनके गहन संस्कार उनके अन्तःकरणमें थे। वेदान्तके ब्रह्म, सांख्यके प्रकृति-पुरुष तथा मीमांसकोंके अदृष्टको उन्होंने इस नाट्यकृतिमें दाम्पत्य-प्रेमके चित्रणके द्वारा विस्थापित कर दिया है। प्रेमकी सर्वव्यापी सत्ताके रूपमें वे जो निर्वचन देते हैं वह परम सत्ताका ही निर्वचन हो सकता है।

* * *

---

[१] १।२०

[२] किं वा मया प्रसूतया, येन तादृशमपि मम पुत्रकयोरीषद्विरलकोमलधवलदशनोज्ज्वलकपोलमनुबद्धमुग्धकाकलीविहसितं निबद्धकाकशिखण्डकममलमुखपुण्डरीकयुगलं न परिचुम्बितमार्यपुत्रेण। (३।१६)

[३] ३।६, १५-१६

[४] अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्। आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति बध्यते॥ (३।१७)

[५] न किल भवतां स्थानं देव्या गृहेऽभिमतं ततस्तृणमिव वने शून्ये त्यक्ता न चाप्यनुशोचिता।
चिरपरिचितास्ते ते भावाः परिभ्रमयन्ति मामिदमशरणैरद्याप्येवं प्रसीदत रुद्यते॥ (३।३२)

प्रेमाभक्तिके परम उपासक [प्रेमी भक्तोंके चरित]

राम-पद-पद्म-प्रेमी केवटका चरणानुराग

'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥'

(ना० भ० सू० ५१)

श्रीरामचरणानुरागी केवटकी प्रीति रामचरितमें अपना विशिष्ट स्थान रखती है। प्रभु-पद-कमलोंमें उनकी श्रद्धा-भक्ति और प्रीतिकी सीमा नहीं है। भगवान् राघवेन्द्र भगवती सीता और लक्ष्मणसहित गङ्गातीरपर आये। उन्होंने पार उतरनेके लिये केवटसे नाव माँगी; पर *'मागी नाव न केवटु आना।'* (रा०च०मा० २।१००।३) केवट स्पष्ट कह देते हैं, 'मैंने सुना है और सभी लोग कहते हैं कि आपकी चरणरजकी ऐसी महिमा है, जिसके स्पर्शसे कठोर पाषाण भी स्त्री बन जाता है। यदि मेरी नौकाकी भी यही दशा हुई तो मैं अपने परिवारका भरण-पोषण कैसे करूँगा? और कोई धंधा तो मैं जानता नहीं।' अतएव—

एहि घाटतें थोरिक दूरि अहै कटि लौं जलु थाह देखाइहौं जू।

—'यहाँसे थोड़ी दूरपर गङ्गामें कमरतक ही जल है और मैं स्वयं साथ चलकर आपको मार्ग बता दूँगा। आप पार हो जायँगे।' यह सब कहनेमें केवटका एकमात्र उद्देश्य था, सर्वेश्वरके दुर्लभ चरणकमलोंकी स्पर्श-प्राप्ति—उनका प्रक्षालन करके सम्पूर्ण परिवारको कृतार्थ कर लेना।

कितनी सुकृतियोंसे महाराज जनकको यह सौभाग्य प्राप्त हुआ था—

बहुरि राम पद पंकज धोए। जे हर हृदय कमल महुँ गोए॥

और—

'जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ।'

—उन्हीं चरणोंपर केवटकी दृष्टि थी। निश्छल केवटने उनसे कह भी दिया—

जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

प्रभो! आपको नौकासे पार जाना हो तो मुझे चरण धो लेने दीजिये; अन्यथा मैंने कह ही दिया है, यहाँसे थोड़ी ही दूरपर कमरतक जल है, वहाँसे पार हो जाइये। मैं चलकर मार्ग बता दूँगा। आगे-आगे मैं ही रहूँगा। नावपर चढ़ानेके लिये तो मेरी शर्त यही है—

पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साची कहौं॥
बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं॥

(रा०च०मा० २। १०० (छन्द))

केवटकी भक्ति एवं उनकी प्रेममयी अटपटी वाणीको सुनकर राघवेन्द्र जानकी और लक्ष्मणकी ओर देखकर मुसकराने लगे। यही सरलता, निश्छलता, हृदयकी पवित्रता एवं यही प्रीति तो प्रभुको प्रिय है। इसी भक्तिपर तो प्रेमसिन्धु प्रभु बिक जाते हैं—भक्तके वश हो जाते हैं। उन्होंने हँसकर केवटसे कह दिया। भैया!

'सोइ करु जेहिं तव नाव न जाई॥'
बेगि आनु जल पाय पखारू। होत बिलंबु उतारहि पारू॥

अमित भाग्यशाली राम-पद-पद्म-प्रेमी केवटकी महिमा क्या कही जाय? जिन करुणा-वरुणालय प्रभुके नामका स्मरण कर असंख्य मनुष्य संसार-सागरके पार उतरते हैं, वे ही निखिल सृष्टिपति भगवान् श्रीराम केवटका निहोरा करते हैं! केवटने प्रभुकी आज्ञा प्राप्त की और दौड़ पड़े- *'पानि कठवता भरि लेइ आवा॥'* प्रेमकी उमङ्गमें—आनन्दमें निमग्न होकर वे प्रभुके दुर्लभ पद-पद्मोंको अत्यन्त श्रद्धा-

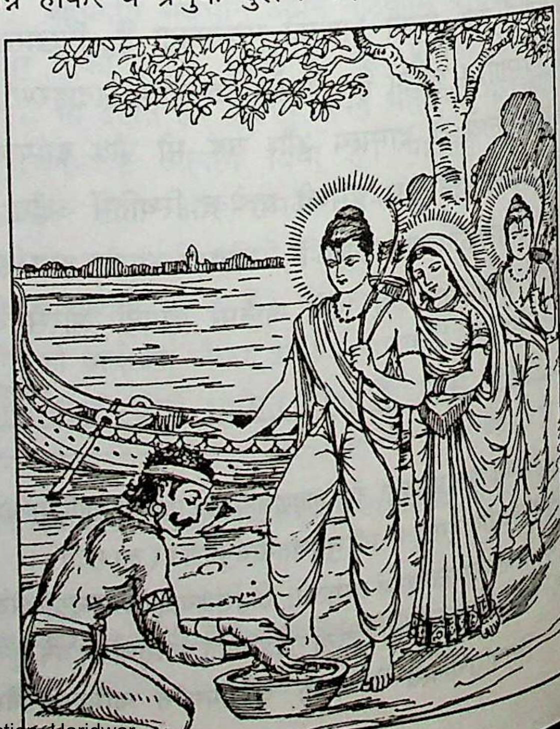

भक्तिपूर्वक धोने लगे। वे प्रभुके चरणकमलोंको खूब अच्छी तरह रगड़-रगड़कर, दबा-दबाकर धो रहे थे। केवटके इस सौभाग्यका क्या कहना?

बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। एहि सम पुन्यपुंज कोउ नाहीं॥

(रा०च०मा० २।१०१।८)

महात्मा केवटका—नहीं, नहीं, उनके पूर्वजों एवं उनके सम्पूर्ण परिवारका जीवन धन्य हो गया। वे कृतार्थ हो गये। अनन्तकालीन जन्म-जरा-मरणके कठोर पाशसे वे सहज ही मुक्त हो गये—

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥

(रा०च०मा० २।१०१)

केवट नौका खेते हुए प्रभुको पार उतार रहे थे। उनकी दृष्टि अब भी प्रभुके पद-पद्मोंमें ही गड़ी थी। उनके आनन्द एवं प्रेमकी सीमा नहीं थी। प्रभु पार उतरे और गङ्गाकी रेतमें खड़े हो गये। प्रभुको संकोच हुआ कि 'इसे कुछ पारिश्रमिक नहीं दिया।' तब—

पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥

(रा०च०मा० २।१०२।३)

प्रभुने कहा—'यह उतराई लो।'

भगवान्‌की इस वाणीसे केवट व्याकुल हो गये और उन्होंने प्रभुके चरण पकड़ लिये। अपने सौभाग्य, कृतज्ञता एवं प्रेमके सूचक अश्रु उनके नेत्रोंसे झर रहे थे। उन्होंने प्रभुके सम्मुख स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त कर दिया—'नाथ! आज मैंने क्या नहीं पाया? मेरे दोष, दुःख और दरिद्रताकी आग आज सदाके लिये बुझ गयी। मैंने बहुत समयतक मजदूरी की। विधाताने आज भरपूर मजदूरी मुझे दे दी'—

नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा॥
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि भूरी॥

(रा०च०मा० २।१०२।५-६)

भक्त केवटने पुनः कहा—'प्रभो! आपके अनुग्रहसे मुझे अब कुछ नहीं चाहिये। आपने तो मुझे सब कुछ दे दिया।' पर वे चतुराईके साथ यह भी कह देते हैं—

फिरती बार मोहि जो देबा। सो प्रसादु मैं सिर धरि लेबा॥

(रा०च०मा० २।१०२।८)

दीनदयालु श्रीरामने अनेक बार कहा, श्रीसीता और लक्ष्मणने भी पारिश्रमिक लेनेके लिये जोर दिया; पर परम कृतार्थ केवटने कुछ भी स्वीकार नहीं किया। कोई मार्ग न देखकर—

'बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥'

ऐसे श्रीराम-चरणानुरागी केवटके प्रेम और उनकी भक्तिका स्मरण भी मनुष्यको पवित्र करता रहेगा।*

⁂

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद् विपदां न तेषाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ५८)

जिन्होंने पुण्यकीर्ति मुकुन्द मुरारीके पदपल्लवकी नौकाका आश्रय लिया है, जो कि सत्पुरुषोंका सर्वस्व है, उनके लिये यह भव-सागर बछड़ेके खुरके गढ़ेके समान है। उन्हें परमपदकी प्राप्ति हो जाती है और उनके लिये विपत्तियोंका निवासस्थान—यह संसार नहीं रहता।

⁂

---

* अध्यात्मरामायणमें यह प्रसङ्ग अहल्योद्धारके बाद ही प्रभुके मिथिलापुरी जाते समय आता है। अहल्योद्धारसे सर्वत्र समाचार प्रचरित हो गया था कि श्रीरामकी चरणधूलिसे शिला भी स्त्री बन जाती है। वहाँ केवटके वचन इस प्रकार हैं—

क्षालयामि तव पादपङ्कजं नाथ दारुदृषदोः किमन्तरम्।
मानुषीकरणचूर्णमस्ति ते पादयोरिति कथा प्रथीयसी॥
पादाम्बुजं ते विमलं हि कृत्वा पश्चात् परं तीरमहं नयामि।
नोचेत्तरी सद्युवती मलेन स्याच्चेद्विभो विद्धि कुटुम्बहानिः॥ (१।६।३-४)

'हे नाथ! यह बात प्रसिद्ध है कि आपके चरणोंमें कोई मनुष्य बना देनेवाला चूर्ण है। (आपने अभी शिलाको स्त्री बना दिया, फिर) शिला और काष्ठमें भेद ही क्या है? अतः नौकापर चढ़ानेसे पूर्व मैं आपके चरणकमलोंको धोऊँगा। इस प्रकार आपके चरणोंको मलरहित करके मैं आपको श्रीगङ्गाजीके उस पार ले चलूँगा। नहीं तो हे विभो! आपकी चरणरजके स्पर्शसे यदि मेरी नौका सुन्दर युवती हो गयी तो मेरे कुटुम्बकी आजीविका ही मारी जायगी।'

दास्य-प्रेमके आदर्श हनुमान्‌जी

(मानसमणि पं० श्रीरामनारायणजी शुक्ल, शास्त्री 'व्यास')

भगवान् करुणानिधान श्रीरामचन्द्रजीके परम प्रिय हनुमान्‌जी दास्य-प्रेमके परम आदर्श महापुरुष हैं। आशुतोष भगवान् शिवजीके प्रभु श्रीरामसे तीन-तीन सम्बन्ध हैं—

सेवक स्वामि सखा सिय पी के। हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के॥

(रा०च०मा० १।१५।४)

परंतु स्वतन्त्र दास्य-प्रेमका आदर्श स्थापित करनेके लिये, प्रभुको सुख देनेके लिये भगवान् सदाशिवने वानर-शरीर धारण किया—

जेहि सरीर रति राम सों सोइ आदरहिं सुजान।
रुद्रदेह तजि नेहबस बानर भे हनुमान॥

(दोहावली १४२)

प्रभुकी दासता चाहनेवाले सेवकको अपने सुखसे उदासीन रहते हुए प्रभुके सुखमें ही सुख मानना चाहिये और उसकी सारी चेष्टाएँ प्रभु-प्रीतिके लिये ही होनी चाहिये। साथ ही दासको वैराग्यवान् होकर श्रीप्रभुका अनुरागी बनना चाहिये। श्रीहरिके दासका एक प्रधान लक्षण है, जिसे गोस्वामीजीने 'वैराग्य-सन्दीपनी'में इस प्रकार बताया है—

अति अनन्य जो हरि को दासा। रटै नाम निसि दिन प्रति स्वासा॥
तुलसी तेहि समान नहिं कोई। हम नीकें देखा सब कोई॥

इसीलिये हनुमान्‌जी प्रतिक्षण प्रति रोमसे नाम-जप करते रहते हैं। ऐसा दास भक्त श्रीभगवान्‌को बहुत प्यारा होता है। श्रीरामजी अपने सखाओंसे कहते हैं—

सब कें प्रिय सेवक यह नीती। मोरें अधिक दास पर प्रीती॥

(रा०च०मा० ७।१६।८)

इसी प्रकार श्रीरामजी विभीषणशरणागतिके संदर्भमें कहते हैं—

सत्य कहौं मेरो सहज सुभाउ।
सुनहु सखा कपिपति लंकापति, तुम्ह सन कौन दुराउ॥

× × ×

पुनि पुनि भुजा उठाइ कहत हौं, सकल सभा पतिआउ।
नहि कोऊ प्रिय मोहि दास सम, कपट-प्रीति बहि जाउ॥

(गीतावली, सुन्दरकाण्ड ४५)

श्रीरामजी हनुमान्‌जीके प्रेम तथा सेवाका गान बारम्बार करते रहते हैं। शिवजी बताते हैं—

हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥

(रा०च०मा० ७।५०।८-९)

मारुतिमिलन-प्रसङ्गमें जब हनुमान्‌जी विप्ररूप धारणकर प्रभु श्रीरामसे मिलने गये, परस्पर वार्तालाप हो जानेपर जब मारुतिने प्रभुको पहचाना तो तुरंत श्रीचरणोंमें पड़ गये, बार-बार रोने लगे, हृदयमें टीस हुई कि प्रभु मुझे गलेसे क्यों नहीं लगा रहे हैं?

प्रेम व्यवधान नहीं सहन कर सकता, तब प्रभु श्रीरामने उन्हें उठाकर गलेसे लगा लिया—

तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥

करुणासागर श्रीरामने वत्स मारुतिको उठाकर हृदयसे लगा लिया। अपना सर्वस्व दे दिया और अपने प्रेमाश्रुओंसे अभिषिक्त कर दिया—

एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गो हनूमतः।
मया कालमिमं प्राप्य दत्तस्तस्य महात्मनः॥

(वा०रा०युद्ध० १।१३)

श्रीप्रभुने कहा—इस समय इन महात्मा हनुमान्‌को मैं केवल अपना प्रगाढ़ आलिङ्गन प्रदान करता हूँ; क्योंकि यही मेरा सर्वस्व है।

हनुमान्‌जीको अपने हृदयसे लगाकर भगवान्‌ने मानो अपने सिद्धान्तको सफल कर लिया—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

(रा०च०मा० ५।४८।४-७)

हनुमान्‌जीकी सारी ममता श्रीराममें ही है—ऐसी ही बात श्रीरामरक्षास्तोत्र (३०)-में भी कही गयी है—

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः
स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालु-
र्नान्यं जाने नैव जाने न जाने॥

अर्थात् श्रीराम ही मेरे माता, पिता, स्वामी तथा सखा हैं, दयालु श्रीरामचन्द्र ही मेरे सर्वस्व हैं। उनके अतिरिक्त मैं किसी औरको जानता ही नहीं।

* * *

रागानुरागिणी त्रिजटा

(डॉ० श्रीशुकदेवरायजी, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, साहित्यरत्न)

'मानस' के छोटे-से-छोटे पात्र भी विशेषता-सम्पन्न हैं। इसके स्त्रीपात्रोंमें 'त्रिजटा' एक लघु स्त्रीपात्र है। यह पात्र आकारमें जितना ही छोटा है, महिमामें उतना ही गौरवमण्डित है। सम्पूर्ण 'मानस' में केवल सुन्दरकाण्ड और लङ्काकाण्डमें 'सीता-त्रिजटा-संवाद' के रूपमें त्रिजटाका वर्णन आया है, परंतु इन लघु संवादोंमें ही त्रिजटाके चरित्रकी सारी विशेषताएँ निखर उठी हैं। छोटेसे वार्ता-प्रसङ्गमें भी सम्पूर्ण चरित्रको समासरूपसे उद्भासित करनेकी क्षमता गोस्वामी तुलसीदासजीकी विशेषता है।

मानसके सुन्दरकाण्डकी एक चौपाईकी अर्द्धालीमें त्रिजटाका स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है—

त्रिजटा नाम राच्छसी एका। राम चरन रति निपुन बिबेका॥
(रा०च०मा० ५।११।१)

प्रस्तुत पंक्ति त्रिजटाके चार गुणोंको स्पष्ट करती है—१-वह राक्षसी है, २-श्रीरामचरणमें उसकी रति है, ३- वह व्यवहार-निपुण और ४-विवेकशीला है। राक्षसी होते हुए भी श्रीरामचरणानुराग, व्यवहारकुशलता एवं विवेकशीलता-जैसे दिव्य देवोपम गुणोंकी अवतारणा चरित्रमें अलौकिकताको समाविष्ट करती है। सम्भवतः इन्हीं तीन गुणोंके समाहारके कारण उसका नाम त्रिजटा रखा गया हो। त्रिजटा रामभक्त विभीषणजीकी पुत्री है। वह रावणकी भ्रातृजा है। राक्षसी उसका वंशगुण है और रामभक्ति उसका पैतृक गुण। लङ्काकी अशोकवाटिकामें सीताके पहरेपर अथवा सहचरीके रूपमें रावणद्वारा जिस स्त्री-दलकी नियुक्ति होती है, त्रिजटा उसमेंसे एक है। अपने सम्पूर्ण चरित्रमें सीताके लिये इसने परामर्शदात्री एवं प्राणरक्षिकाका काम किया है। यही कारण है कि विरहाकुला और त्रासिता सीताने त्रिजटाके सम्बोधनमें माता शब्दका प्रयोग किया है—

त्रिजटा सन बोलीं कर जोरी। मातु बिपति संगिनि तैं मोरी॥
पुनः— (रा०च०मा० ५।१२।१)
आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई॥
(रा०च०मा० ५।१२।३)

ऐसी शुभेच्छुकाके लिये 'मा' शब्द कितना समीचीन है।

त्रिजटाकी रति राम-चरणमें है। रामभक्त पिताकी पुत्री होनेके कारण इसका यह अनुराग पैतृक-सम्पत्ति है और स्वाभाविक है। त्रिजटाके घरमें निरन्तर रामकथा होती है। अभी सीतासे मिलनेके थोड़ी देर पहले वह घरसे आयी है, जहाँ हनुमान्‌जी श्रीविभीषणजीसे रामकथा कह रहे थे—

तब हनुमंत कही सब राम कथा निज नाम।
सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुन ग्राम॥
(रा०च०मा० ५।६)

राक्षसी होते हुए भी त्रिजटाको मानव-मनोविज्ञानका सूक्ष्म ज्ञान है। वह सीताजीके स्वभाव और मनोभावको अच्छी तरह समझती है। वह यह भलीभाँति जानती है कि सीताजीकी सान्त्वनाके लिये और उनके दुःखोंको दूर करनेके लिये रामकथासे बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं है। मरणातुरा सीताजी आत्मत्यागके लिये जब उससे अग्निकी याचना करती हैं तो इस अनुरोधको वह यह कहकर टाल देती है—

'निसि न अनल मिल सुनु सुकुमारी।'
(रा०च०मा० ५।१२।६)

और सीताजीके प्रबोधके लिये वह राम-यश-गानका सहारा लेती है—

सुनत बचन पद गहि समुझाएसि। प्रभु प्रताप बल सुजसु सुनाएसि॥
(रा०च०मा० ५।१२।५)

ज्ञान-गुणसागर हनुमान्‌जीने भी जब अशोकवाटिकामें सीताकी विपत्ति देखी तो उनके प्रबोधके लिये उन्हें कोई उपाय सूझा ही नहीं। वे सीताजीके रूप और स्वभाव दोनोंहीसे अपरिचित थे। उन्होंने त्रिजटा-प्रयुक्त विधिका ही अनुसरण किया। रावण-त्रासिता सीताजीको राम-सुयश सुननेसे ही सान्त्वना मिली थी, यह हनुमान्‌जी ऊपर पल्लवोंमें छिपे बैठे देख रहे थे। त्रिजटाके चले जानेके बाद सीताजी और भी व्याकुल हो उठीं। तब उनकी परिशान्तिके लिये हनुमान्‌जीने भी—

रामचंद्र गुन बरनैं लागा। सुनतहिं सीता कर दुख भागा॥
(रा०च०मा० ५।१३।५)

दानवी होनेके कारण त्रिजटाको दानव-मनोविज्ञानका

ज्ञान तो था ही। दानवोंका अधिक विश्वास दैहिक शक्तिमें है और इसीलिये उन्हें कार्यविरत करनेमें भय अधिक कारगर होता है। सीताजीको वशीभूत करनेके लिये रावणने भय और त्रासका सहारा लिया था और तदनुसार राक्षसियोंको ऐसा ही अनुदेश करके वह चला गया था। सीताजीका दुःख दूना हो गया; क्योंकि राक्षसियाँ नाना भाँति भयङ्कर रूप बना-बनाकर उन्हें डराने-धमकाने लगीं। व्यवहार-विशारद त्रिजटाके लिये यह असह्य हो गया। वर्जनके लिये उस पण्डिताने विवेकपूर्ण एक युक्ति निकाली। उसने राक्षस-मनोविज्ञानका सहारा लिया और एक भयानक स्वप्नकथाकी सृष्टि की। महाविनाशकारी स्वप्नदर्शनकी चर्चा सुनकर निशाचरियाँ भयभीत हो उठीं और तब अनुकूल परिस्थितिमें त्रिजटाने उन्हें सलाह दी—*'सीतहि सेइ करहु हित अपना॥'* कितनी विलक्षण सूझ है! इस स्वप्न-वार्तासे एक ओर जहाँ त्रिजटाका भविष्यदर्शिनी होना सिद्ध होता है, वहीं दूसरी ओर उसका व्यवहार-निपुणा और विवेकिनी होना भी उद्घाटित होता है। भय दिखाकर दूसरेको वशीभूत करनेवाली मण्डलीको उसने भावी भयकी सूचना देकर मनोनुकूल बना लिया। प्रत्यक्ष वर्जनमें तो राजकोपका डर था, अनिष्टकी सम्भावना थी।

लङ्काकाण्डके युद्ध-प्रसङ्गमें त्रिजटाकी चातुरीका एक और विलक्षण उदाहरण मिलता है। राम-रावण-युद्ध चरम सीमापर है। रावण घोर युद्ध कर रहा है। उसके सिर कट-कट करके भी पुनः जुट जाते हैं। भुजाओंको खोकर भी वह नवीन भुजावाला बन जाता है और श्रीरामके मारे भी नहीं मरता। अशोकवाटिकामें त्रिजटाके मुँहसे यह प्रसङ्ग सुनकर सीताजी व्याकुल हो जाती हैं। श्रीरामचन्द्रके बाणसे भी नहीं मरनेवाले रावणके बन्धनसे वह अब मुक्त होनेकी आशा त्याग देनेको हो जाती हैं। त्रिजटाको परिस्थितिका अनुभव होता है। वह सीताजीकी मनोदशाको देखकर फिर प्रभु श्रीरामके बलका वर्णन करती है और सीताको श्रीरामकी विजयका विश्वास दिलाती है। सीताजीके इस विह्वल वचनपर—

होइहि कहा कहसि किन माता। केहि बिधि मरिहि बिस्व दुखदाता॥
रघुपति सर सिर कटेहुँ न मरई। बिधि बिपरीत चरित सब करई॥

(रा०च०मा० ६।९९।४-५)

—त्रिजटा सीताजीसे एक तर्कपूर्ण बात कहती है कि रावणके हृदयमें तुम हो। इसीसे श्रीराम उसके हृदयमें बाण नहीं मारते। वे सोचते हैं—नाभिमें शर लगते ही उसका मन विचलित होगा, जिससे तुम्हारा ध्यान छूट जायगा, तब वह हृदयमें तीर लगते ही मर जायगा—

एहि के हृदयँ बस जानकी जानकी उर मम बास है।
मम उदर भुअन अनेक लागत बान सब कर नास है॥
सुनि बचन हरष बिषाद मन अति देखि पुनि त्रिजटाँ कहा।
अब मरिहि रिपु एहि बिधि सुनहि सुंदरि तजहि संसय महा॥

(रा०च०मा० ६।९९ छं०)

इस प्रकार त्रिजटाचरित्र भक्ति, विवेक और व्यवहार-कुशलताका एक मणिकाञ्चनयोग है।

⁂

भक्तिसागरका एक अमूल्य रत्न—प्रभुप्रेमी प्रह्लाद

(श्रीमती सरलाजी श्रीवास्तव)

जैसे सागरकी उत्ताल तरङ्गें अपने गर्भमें अनेक बहुमूल्य रत्नोंको सँजोये रहती हैं, किंतु चतुर गोताखोर उनको खोजकर देवप्रतिमाओंकी शोभा बढ़ानेहेतु ऊपर ले ही आते हैं, उसी प्रकार भक्तिरूपी सरितामें अवगाहन करनेवाले देवर्षि नारद भवसागरमें भटकते निर्मल हृदयके प्राणियोंको परमात्माकी ओर उन्मुख करनेमें अत्यन्त प्रवीण हैं।

श्रीमद्भागवतमें प्रसङ्ग आता है कि नारदजीने भक्तिदेवीको वचन दिया कि कलियुगमें भी वे भक्तिका प्रचार एवं प्रसार करेंगे। उन्हींके प्रयाससे भक्तिदेवी पुनः स्वस्थ हो गयीं। आदिकालसे ही देवर्षिकी वीणा करुणासागर प्रभुके गुणगानमें व्यस्त रही। श्रीहरिकी कृपासे उन्होंने अल्पवयस्क बालकोंको भी परम भागवत बनानेमें सफलता प्राप्त की। उनके ही उपदेशके प्रभावसे दैत्योंके कण्टकाकीर्ण काननमें एक सुगन्धित पुष्प विकसित हुआ—भक्त प्रह्लाद, जिसके दैवीगुण प्रत्येक विषम परिस्थितिमें उसे विजयी बनानेमें सफल हुए।

भगवान्के द्वारा हिरण्याक्षका वध किये जानेपर हिरण्यकशिपुने उनसे शत्रुता ठान ली। घोर तपस्या करके ब्रह्माजीसे वरदान भी प्राप्त कर लिया; किंतु उसकी पत्नी कयाधुके गर्भस्थ शिशुने नारदजीद्वारा दिये गये भागवतधर्म एवं ज्ञानके उपदेशको ग्रहणकर श्रीहरिकी अपूर्व छबिको आत्मसात् कर लिया। संसारमें आनेके पश्चात् भी उस बालकने हरिकथासे सुरभित अपनी बुद्धिको कभी दूषित नहीं होने दिया। यद्यपि वह दैत्यकुलमें उत्पन्न हुआ और अपने चारों ओर उसने अत्याचार एवं क्रूरताका ही साम्राज्य देखा; किंतु उसका भगवत्प्रेमानुरागी चित्त सदैव भक्तवत्सल भगवान्के श्रीचरणोंमें ही लीन रहा।

भक्त प्रह्लाद बचपनमें ही खेल-कूद छोड़कर भगवान्के ध्यानमें तन्मय हो जाया करते थे। हिरण्यकशिपुने गुरु शुक्राचार्यके पुत्र शण्ड एवं अमर्कको उनकी शिक्षा-दीक्षाहेतु नियुक्त किया। अन्य दैत्यबालकोंके साथ पढ़ते समय भी उनका आध्यात्मिक चिन्तन चलता रहता, अतः भौतिक राजनीति एवं अर्थनीतिका पाठ उनको रुचिकर प्रतीत नहीं होता था।

जब कभी उनके पिता प्रेमपूर्वक अपनी गोदमें बैठाकर उनसे अध्ययनके विषयमें ज्ञात करनेकी चेष्टा करते तो प्रह्लादजी सदैव वास्तविक सत्यकी ही व्याख्या करने लगते। वे कहते कि 'मैं' और 'मेरे' का त्याग करके प्रत्येक प्राणीको श्रीहरिकी शरणमें ही जाना चाहिये। अपने आत्मजके मुखसे अपने शत्रुकी प्रशंसा सुनकर हिरण्यकशिपु बौखला जाता था। फिर भी प्रह्लादका निश्चय अडिग था। एक बार तो उन्होंने अपने पिताके सम्मुख नवधा-भक्तिकी विवेचना कर डाली। उन्होंने कहा—पिताजी! भगवान्के नाम-गुण-लीला-धाम आदिका श्रवण, उन्हींका कीर्तन, उनके रूप, नाम आदिका स्मरण, उनके चरणोंकी सेवा, पूजा-अर्चा, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन आदि समर्पणके भावसे यह नौ प्रकारकी भक्ति ही वास्तविक अध्ययन है।

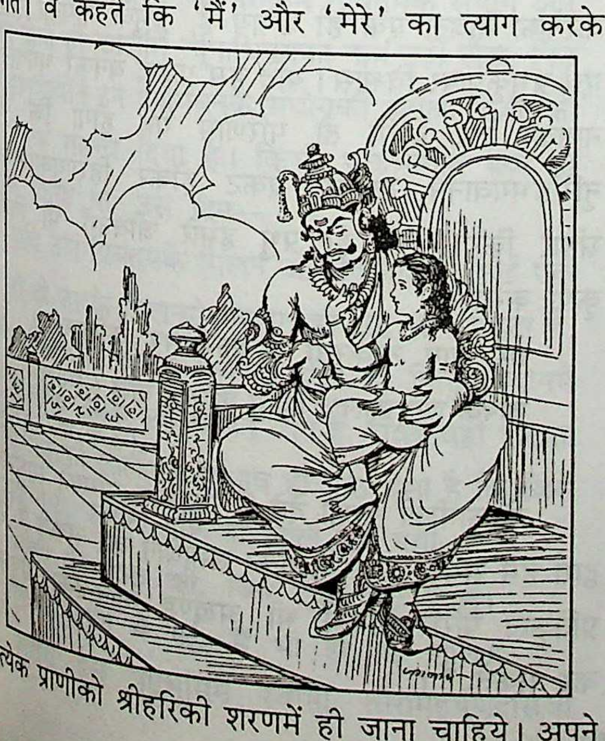

यह सुनकर हिरण्यकशिपु आगबबूला हो गया और उसने उन्हें अपनी गोदसे उठाकर नीचे पटक दिया। उसने सोचा बालक बहक गया है, अतः गुरुपुत्रोंको पुनः उसे उचित शिक्षा देनेका निर्देश दिया; किंतु परिणाम विपरीत ही हुआ। जब भी समय मिलता प्रह्लादजी अपने साथी दैत्यबालकोंको भी भगवत्प्रेमका महत्त्व बताकर भगवान्की शरणमें जानेकी ही सलाह देते। वे कहते कि भगवान्को प्रसन्न करनेके लिये अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता; क्योंकि वे समस्त प्राणियोंकी आत्मा हैं। वे ही केवल आनन्दस्वरूप परमेश्वर हैं। यह जीव मायाके द्वारा भ्रमित किया जा रहा है, अतः उनका दर्शन नहीं कर पाता। मायाका आवरण हटते ही उनके दर्शन सम्भव हो जाते हैं। अतः तुम लोग अपनी आसुरी प्रवृत्तिको त्यागकर समस्त प्राणियोंपर दया करो, उनसे प्रेम करो, भगवान्को प्रसन्न करनेका यही एकमात्र

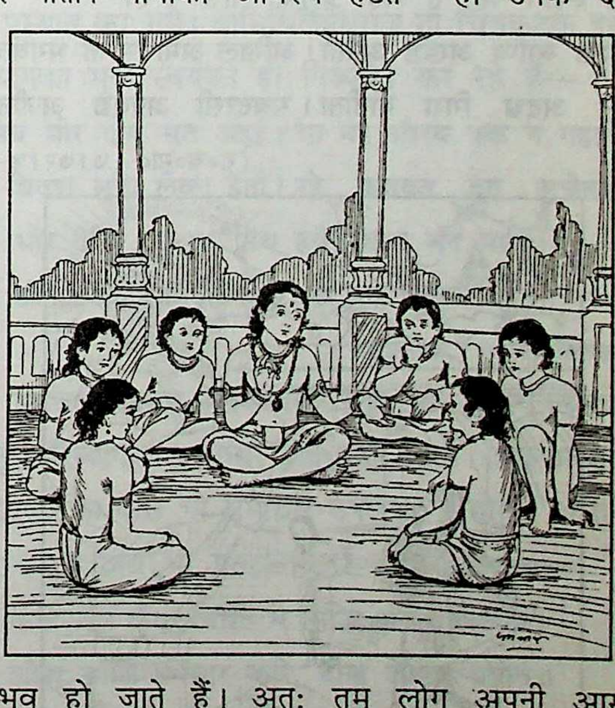

उपाय है। प्रेम ही परमात्मा है।

किससे बाँधू बैर, जगतमें कोई नहीं पराया।
हर प्राणीमें प्रतिबिम्बित है, उसी ब्रह्मकी छाया॥

किसी भी प्राणीको कष्ट पहुँचाना अधर्म है। सदैव परोपकारकी भावना ही हृदयमें धारण करनी चाहिये। भगवान् केवल निष्काम प्रेम-भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं।

धीरे-धीरे सत्संगके प्रभावसे दैत्यबालकोंमें भी श्रीहरिके प्रति निष्ठा जाग्रत् होने लगी। जब यह समाचार हिरण्यकशिपुके पास पहुँचा तो उस पापीने भक्त बालकके वधका निश्चय कर लिया। उन्हें मारनेके लिये अनेक उपाय किये गये, किंतु न उनको अग्नि जला सकी, न सर्प डँस सका। जल, वायु और आकाश—सभीने उनकी रक्षा की।

जाको राखै साइयाँ, मार सके नहिं कोय।
बाल न बाँका कर सके, जो जग बैरी होय॥

जो जगदीश्वरकी गोदमें सुरक्षित है, उसे मृत्युका भय कैसा? प्रह्लादका भगवत्प्रेम ही उनका सुरक्षा-कवच था। अन्ततः मदान्ध हिरण्यकशिपुने क्रुद्ध होकर प्रश्न किया—बता, तेरा जगदीश्वर कहाँ है? उन्होंने अत्यन्त शान्त एवं सरलभावसे कहा कि वह तो कण-कणमें व्याप्त है। कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ प्रभुका वास न हो—

ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघसक्ति भगवंता॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥

(रा०च०मा० ७।७२।४-५)

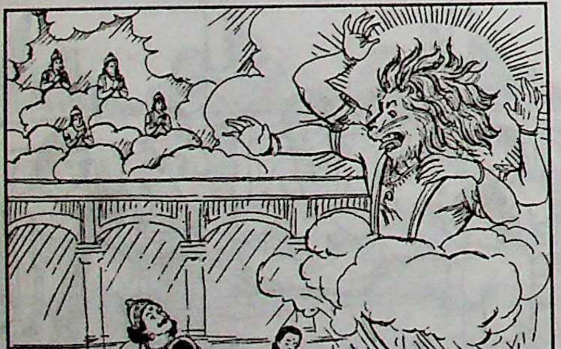

जब प्रह्लादने खम्भमें भी भगवान्के होनेकी पुष्टि की तो स्वयंपर नियन्त्रण न रख पानेके कारण उस दम्भी दैत्यने अपनी तलवारसे खम्भपर प्रहार कर दिया। उसके विखण्डित होते ही गम्भीर गर्जना हुई और नृसिंहरूप धारणकर श्रीहरि अपने भक्तके वचनकी सत्यता प्रमाणित करनेहेतु उससे प्रकट हो गये। उन्होंने हिरण्यकशिपुके शरीरको अपने तीक्ष्ण नखोंसे विदीर्ण कर डाला तथा स्वयं सिंहासनपर विराजमान हो गये। चारों ओर जय-जयकार एवं पुष्पवर्षा होने लगी, किंतु प्रभुका रौद्ररूप सबको भयभीत कर रहा था।

केवल भक्त ही भगवान्के क्रोधको शान्त कर सकता है। बालक प्रह्लादने अत्यन्त प्रेम एवं श्रद्धासे नृसिंहभगवान्की स्तुति की। श्रीहरिने प्रसन्न होकर उनसे वरदान माँगनेको कहा तो उन्होंने यही वर माँगा कि मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज अङ्कुरित न हो। धन्य है प्रह्लादजीका निष्काम भगवत्प्रेम! इतनी अल्पायुमें ही उन्होंने ऐसी उच्चकोटिकी प्रेमाभक्ति प्राप्त कर ली, जो तपस्यारत बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंके लिये भी दुर्लभ है।

आधुनिक कलिकालमें भी यह प्रेरणाप्रद चरित्र अति प्रासङ्गिक है। हिरण्यकशिपु बुराई एवं दुर्गुणोंका प्रतीक है। आजके युगमें स्वार्थ, अहंकार, ईर्ष्या आदि दुर्गुणोंका ही बोलबाला है। उनको नियन्त्रित एवं कम करनेका केवल एक ही उपाय है, प्रभुके नामका स्मरण एवं प्रभुकृपापर विश्वास। यदि हम प्रह्लाद बनकर भगवान्के नामका जप करेंगे तो परिणाम यह होगा कि जैसे नृसिंहभगवान्ने खम्भसे प्रकट होकर हिरण्यकशिपुका संहार किया, वैसे ही प्रभु हमारे जीवनमें भी विशेष कृपा करेंगे—

राम नाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल॥

(रा०च०मा० १।२७)

गोस्वामीजी प्रेरणा देते हैं कि राम-नामकी साधनाके द्वारा हम समस्त समस्याओंका समाधान कर सकते हैं एवं प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी अखण्ड आनन्दका अनुभव कर सकते हैं।

* * *

जनकनन्दन मिथिलेशकुमारका श्रीसीता-रामके प्रति प्रगाढ़ प्रेम

(मानसकेसरी पं० श्रीबाल्मीकिप्रसादजी मिश्र 'रामायणी')

[स्वामी श्रीरामहर्षणदासजीके द्वारा एक महाकाव्य 'श्रीप्रेमरामायण' की रचना हुई है। मिथिलेशकुमार श्रीलक्ष्मीनिधि मिथिलाके युवराज हैं तथा देवी सिद्धिकुँवरि इनकी पत्नी हैं। जनकनन्दिनी भगवती सीता तथा मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके वनगमन करनेपर उनके विरहमें इस युवराज-दम्पतिकी प्रेमविह्वल मनोदशाका वर्णन कविने यहाँ प्रस्तुत किया है। इस क्रममें विरहकी दस दशाओंका वर्णन भी किया गया है—सं०]

'अपने हृदयकी व्यथाका कुछ तो वर्णन करो। कैसा लग रहा है तुम्हें?' व्रज-गोपी अपनी सखीकी मर्मान्तक व्यथासे स्वयं आहत हो पूछ बैठी; पर क्या कहती वह वराका भुक्तभोगिनी? छातीपर हाथ रखा और अन्ततः व्यक्त किया उसने—

पीडाभिर्नवकालकूटकटुतागर्वस्य निर्वासनो
निष्यन्देन मुदां सुधामधुरिमाहङ्कारसंकोचनः।
प्रेमा सुन्दरि नन्दनन्दनपरो जागर्ति यस्यान्तरे
ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः॥

(रूप गोस्वामी)

सखी नन्दनन्दनका प्रेम जिसके हृदयमें जाग्रत् होता है, वही इस प्रेमके वक्र और मधुर पराक्रमको जानता है। आह! पीड़ा तो इतनी कि कालकूट विषका भी गर्व चूर हो जाय, पर बलिहारी माधुर्य भी इतना कि सुधाकी मधुरिमा उसके सम्मुख तुच्छ प्रतीत होती है।

इस प्रेम-देवताका यह पराक्रम प्रियतमके संयोग और वियोग दोनों ही कालोंमें न्यूनाधिक्यका नाम नहीं लेता, फिर भी महानुभावोंने इन श्यामघनके संयोगकी अपेक्षा वियोगको ही अधिक महत्त्व दिया है। किसी भुक्तभोगीने क्या ही उद्घोष किया था, उस दिन—

यदि उस प्रियतमके मिलन और वियोगमेंसे कोई एक लेना हो तो उसके मिलनसे वियोग ही श्रेष्ठ जान पड़ता है; क्योंकि मिलनमें तो वह अकेला होता है, किंतु वियोगमें तो तीनों लोक उसके स्वरूप बन जाते हैं, सर्वत्र वही दीखता है। इस लालकी लालीका स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि जिसे लौ लग गयी, उसकी दृष्टि ही लाल बन गयी—

लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गइ लाल॥

आइये इस पृष्ठभूमिमें स्वामी श्रीरामहर्षणदासजी महाराजद्वारा प्रणीत महाकाव्य श्रीप्रेमरामायणान्तर्गत मिथिलेशकुमार युवराज लक्ष्मीनिधिजीकी विरहभूमिकाके कुछ चित्रोंका हम दर्शन करें—

मिथिला एवं अवधके लोग चित्रकूटसे वापस आ गये हैं। दोनों ही समाज श्रीरामदर्शनकी आकाङ्क्षासे चौदह वर्षोंके लिये विशेष व्रतोंका अवलम्ब लेकर कालक्षेप करने लगे। पूज्य गोस्वामिपादके शब्दोंमें—

राम दरस लगि लोग सब करत नेम उपबास।
तजि तजि भूषन भोग सुख जिअत अवधि कीं आस॥

विरहके इन दुःसह दिवसोंमें मिथिला एवं अवधसे चित्रकूटतक चरोंका आवागमन बराबर बना रहता और दोनों ही समाज उस समाचारसे ही आश्वस्त होते रहते; किंतु वाह री विधिकी बलीयसी इच्छाशक्ति! श्यामसुन्दर रघुनन्दन श्रीराम चित्रकूट धामका भी परित्याग कर दक्षिणारण्यकी ओर प्रस्थान कर गये। श्रीमिथिलाधिराज तो चित्रकूटके इस परित्यागका मूल स्वयंको ही निरूपित कर रहे हैं—

सो सब मोर दोष सत अहई। या मह संशय नेक न गहई॥
प्रीति विवश सुधि लेवन हेता। रहे पठावत दूत अचेता॥
भीर देखि रघुनाथ प्रिय ह्वै उदास मन माहिं।
छोड़ि दियो कामद गिरिहिं दुख सुख परे सो आहि॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

मिथिलेशकुमार लक्ष्मीनिधिको भी श्रीरघुनन्दनके चित्रकूटपरित्यागका समाचार ज्ञात हुआ। हाय! अब आजसे प्राणवल्लभका कुछ भी समाचार उपलब्ध न होगा। अभागे प्राणो! तुम अब भी प्रस्थान नहीं कर रहे—

कहि अस कुँवर अचेत भे सिद्धि अंक निजलीन।
शीश परसि उपचार करि, दीन्ह जगाय प्रवीन॥

देवी सिद्धिकुँवरि उन्हें धैर्य बँधाती हैं, किंतु प्रियके विरहमें हृदयकी क्या स्थिति है, इसे युवराजके ही शब्दोंमें

श्रवण करें—

प्रेम कथा की पीर अतीवा। जानत प्रेमी के तेहि सीवा॥
कहनी मह कैसेहुँ नहिं आवै। सूक्ष्म सूक्ष्म अनुभव रस छावै॥
अहंकार ममकार नसाना। श्याम श्याम बसे मन आना॥
जरत बरत निसदिन रहै, बिरह वह्नि के बीच।
हमरो यहै स्वरूप सत, जग दुख सुख सब नीच॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

कमला सरोवरके मङ्गलमय तटपर देवी सिद्धिकुँवरि और युवराज लक्ष्मीनिधिके रूपमें मानो साक्षात् प्रेमाभक्ति ही पर्णकुटीरमें दम्पति-स्वरूपमें निवास करने लगी। समस्त मैथिल राजकुमार भी तपस्वीवेशमें लक्ष्मीनिधिकी ही भाँति तपोनिरत हैं। सहृदय जन इन मैथिल युवराजकी दशाका अवलोकन करें। अहा—

पुर बाहर शुचि सरिता तीरा। वन इकान्त नहिं जन की भीरा॥
रची कुँवर सुन्दर तृणशाला। सोह निकट वट वृक्ष विशाला॥
गुफा मनोहर युग खनवाई। भजन ध्यान हित विमल सुहाई॥
वलकल वसन जटिल सिर सोहा। जनु मुनि वेष काम छवि जोहा॥
लीन्ह तुमरिका पात्र शुभ, दीन्ह अन्न कहँ त्याग।
कन्द मूल फल खाइ कछु, सिद्धि सहित तजि राग॥

(प्रेमरामायण, चित्रकूटकाण्ड)

रात्रिके तीन पहर व्यतीत होते ही युवराज उठ बैठते, नित्यकृत्योंका अश्रुपूरित नेत्रोंके साथ निर्वहन करते और फिर कोहबर-कक्षसे प्राप्त पावरियों (पादुकाओं)-की भावभरी अर्चा करते—

पूजि सविधि शिर धरि पद त्राणा। प्रेम विभोर नचै रस खाना॥
श्रीरामः शरणं मम गाई। दम्पति रहैं प्रेम रस छाई॥
पावरि पूजि षडाक्षर मंत्रा। जपहि प्रेम पगि प्रभु परतंत्रा॥
अश्रु बहत अविरल नयन, नियम मध्य चित हान।
प्रेम पगे प्रभु सुरति करि, विकल विलख गत ज्ञान॥

(प्रेमरामायण)

इस दिनचर्याके अनुसार कालक्षेप करते हुए कुमार लक्ष्मीनिधि महाभावकी स्थितितक पहुँच जाते हैं।

रसिकाचार्योंने इस विरहासक्तिके दस स्वरूपोंका चित्रण किया है। उज्ज्वलनीलमणिकारके शब्दोंमें विरहकी वे दस दशाएँ इस प्रकार कही गयी हैं—

चिन्तात्र जागरोद्वेगौ तानवं मलिनाङ्गता।
प्रलापो व्याधिरुन्मादो मोहमृत्युर्दशा दश॥

(विप्रलम्भ १५३)

चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, अङ्गोंकी मलिनता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु—ये विरहकी दस दशाएँ हैं। श्रीरामविरहसे व्यथित युवराजके जीवनमें इन दसों दशाओंका कितना स्पष्ट दर्शन है। महिमामयी तिरहुत-वसुन्धरामें कमला सरोवरतटके इस तरुण तापसकी अद्भुत दशा दर्शनीय है—

(१) चिन्ता

हाय! मैं रघुनन्दनका श्याल (साला) कहा जाता हूँ, लोग मुझे वैदेहीका अग्रज कहकर पुकारते हैं, किंतु इस कुसमयमें मैं उनके किसी काम न आया—

राम सिया बन-बन फिरहिं, सुख सोवै घर माहि।
राम प्राण को प्राण बनि, महा कृतघ्न लखाहि॥
अस कहि निजकर छातिहि घाती। पीटत शिरहिं दुखहि दुखराती॥
तलफत निकसत मुख महँ फेना। कहरत कुँवर परे विरहैना॥
चित महँ चिन्ता रही समाई। चिन्तहिं चिन्तामणि रघुराई॥
चिन्तन करत चित्त लय लयऊ। तदाकार वृत्ती जिय जयऊ॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

(२) जागरण

प्रियवियोग और निद्रा? कहाँ है ऐसा सौभाग्य उस अभागेका!

वे तो निरन्तर अपने प्राणप्रियतमके चिन्तनमें ही निमग्न हैं, कब रात बीती, कब सबेरा हुआ, कोई भान ही नहीं—

यहि विधि बीतत दिन लग भारी। नींद न आवति निशा मँझारी॥
हा हा सिय हा रघुवर रामा। टेरत कुँवर विदेह ललामा॥
विरह व्यथा हिय महँ बसी, रह रह जिय अकुलाय।
कुँवर प्रिया लखि लखि तहाँ, सेवहिं पतिहिं बनाय॥
नींद न आवति जानि कुमारी। पियहिं पियावति चरित सुधारी॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

देवी सिद्धिकुँवरि अनिद्राकी इस स्थितिमें श्रीवैदेहीके अनेक मङ्गलमय चरित्रोंको सुनाती हैं।

(३) उद्वेग

युवराजके जीवनमें कभी-कभी एक ऐसी विकलता-

सी आ जाती थी, जिसमें कभी भी उन्हें शान्ति नहीं प्राप्त होती थी—

कबहुँ कबहुँ उद्वेग महाना। होत कुँवर तन तलफत प्राना॥
परत चैन नहि नेक मन, अधिक अधिक अकुलात।
सोवत जागत रैन दिन, बैठत उठत जम्हात॥
भीतर बाहर नहिं रहि जाई। अति उद्वेग रहेउ उर छाई॥
निकसि कुटीर कुँवर चल दीन्हे। कमला सन्मुख अति दुख कीन्हें॥
लागत देवहुँ छोड़ि शरीरा। सही जात विरह विष पीरा॥
भ्रात सखा बहु विधि समझाये। कुँवरहि कुटी प्रवेश कराये॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

(४) कृशता

राजकुमार लक्ष्मीनिधिके तनकी क्षीणता किस सीमातक पहुँच चुकी है? इसका एक चित्र प्रस्तुत करनेमें ये पक्तियाँ सहायक हैं—

कृशित भये अति जनक कुमारा। अस्थि चर्म अवशेष अकारा॥
चीन्ह न जाय खीन तन नामा। निकसत अहनिशि मुख सियरामा॥
अविरल बहे आँसु अति धारा। चित्त मगन सियराम मँझारा॥
चर्म चढ़े कंकाल सम, लागत जनक कुमार।
देखि दशा सुर जय वदत, वरषत सुमन अपार॥
कुँवर प्रेम दिवि देव सराहैं। होत मगन मन भरै उछाहैं॥
आँख धसी का कहिय शरीरा। उठत झमत उर अन्तर पीरा॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

माता सुनयना युवराजकी इस दशाको देखकर कहती हैं कि बेटा! अब तो अवधिके दो ही वर्ष शेष बचे हैं। कुछ तो अन्न ग्रहण किया करो, ताकि व्रतका अवधिपर्यन्त निर्वाह हो सके और श्रीसीतारामसे मिल सको। युवराज उनसे अपनी विवशता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि मा! मैं कितना भी उपाय करता हूँ कौर भीतर जाता ही नहीं है—

विरह अग्नि फोड़ा परेउ, बढ़ेउ हृदयके बीच।
नयन गली पानी बहत, छिन छिन मन तन सींच॥

(५) अङ्गोंकी मलिनता

देहाध्यास विस्मृत हो चुका है, शरीरके वस्त्र तो मलिन हो ही गये हैं और अङ्गकी कान्ति भी मलिन दिखायी पड़ रही है—

मलिन वसन अरु मलिन शरीरा। भयो कुँवर मन लहत न धीरा॥
प्रेम चिन्ह तन छूट पसीना। मलिन कुमार लगैं रस भीना॥
रोवत रोवत विवरण भयऊ। मलिन काय मन उज्ज्वल ठयऊ॥
राख छिपी पावक यथा, बादल ओटहिं भान।
मलिन बदन तिमि कुँवर लस, करत राम सिय ध्यान॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

(६) प्रलाप

विरहके आवेगमें वाणीका संयम शून्य हो जाता है और तब अनेक परस्पर असम्बद्ध बातें निकलने लगती हैं। अर्थहीन वाणीका असंयमित भाषण ही प्रलाप है।

युवराजको जब श्रीरामके वनवासकी स्मृति होती है, तब कहने लगते हैं—हाय! मेरी लाडली बहन एवं श्रीरामके वनमें निवास करनेकी बात मुझे प्रथम ही यदि ज्ञात हो गयी होती तो—

हा रघुनन्दन वनहि सिधाये। मो कहँ पहले नाहिं बताये॥
जनत्यों प्रथमहिं तव वनवासा। जाइ अवध है राम हुलासा॥
मैं बनि रूप तुम्हार पियारे। जातो बनहिं सप्रेम सुखारे॥
तुम्हहिं बनाय आपनो रूपा। मिथिला भेजतो रघुकुल भूपा॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

अब भी तो कुछ बिगड़ा नहीं है, मैं अभी वन जा रहा हूँ और वहाँसे श्रीरामको लौटाकर उन्हें अपने रूपवाला बनाऊँगा तथा स्वयं उनका रूप धारण करूँगा—

मैं बनि राम बसौ मन माहीं। रघुवर फिरे बिना सुख नाहीं॥
अस कहि कुँवर निकसि चलि दयऊ। करत प्रलाप देह सुधि गयऊ॥
कुँवर पकरि सब कोय, लाये कुटिया बीच महँ।
समुझावत सब लोग, कुँवर हृदय समुझत नहीं॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

देवी सिद्धिकुँवरि समझाती हैं कि अब अरण्यवासका काल अत्यन्त अल्प बचा है। श्रीरघुनन्दन स्वयं ही आयेंगे। आप उनके पास जाना भी चाहेंगे तो उन्हें पा नहीं सकेंगे; क्योंकि भयंकर दक्षिणारण्यमें वे कहाँ हैं इसका कुछ पता तो है नहीं। यह भी सम्भव है कि आप उनके अन्वेषणमें उधर जायँ और वे यहाँ लौट आयें। अतः यहीं निवास करना उचित है।

(७) व्याधि

प्रेमदेवताके पदार्पण होनेपर जब देह उनके महातेजको सँभाल नहीं पाती तो उसमें अनेक प्रकारकी व्याधियोंका उदय हो जाता है।

कुमार लक्ष्मीनिधिजीकी देहमें व्याधियोंका उभार होने लगा—

सकल शरीर जलन सम लागा। नस नस पीरा भइ जिय जागा॥

नाना व्याधिहि ग्रह रहे, श्रीमिथिलेश कुमार।
तदपि बहिर्मुख कबहुँ नहि, बहे बिरह सरि धार॥

प्रेम-पन्थके पथिक तो दुःखको भी सुख ही समझते हैं। युवराज कभी इन वेदनाओंकी चर्चातक नहीं करते, किंतु परम प्रज्ञामयी देवी सिद्धि सबका अनुभव कर लेतीं। सास श्रीसुनयनासे चर्चा कर देतीं और श्रीविदेहराज उपचारकी व्यवस्थाएँ करते रहते।

(८) उन्माद

कुमार लक्ष्मीनिधिकी उन्मादावस्थाका स्वरूप निम्नलिखित पंक्तियोंमें साकार हुआ है—

बाढ़ेव हृदय महा उन्मादा। कहि न जाय सो दशा विषादा॥
कबहुँ विरह बहुतहिं जिय जागे। रोवत विलपत अति दुख दागे॥
प्रभु स्वभाव सुनि कहुँ हरषाई। हँसन लगे हँसतो रह जाई॥
प्रभु गुन लागै कबहुँक गावन। उच्च स्वरहिं मनमोद बढ़ावन॥
हिय उन्माद अलौकिक जागा। महा भाव रस रँगे सुभागा॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

वस्त्र-परिधानकी भी स्मृति नहीं। स्नानादि नित्यकृत्य भी भूल चुके हैं, अमृतरसमें सने ये एक पागलकी जिन्दगी जी रहे हैं। कहीं शान्त तो कहीं स्तब्ध बैठे रहते हैं। उनकी अद्भुत प्रेमदशा देखकर देवतागण मङ्गलानुशासन करते हैं।

(९) मोह

अत्यन्त तीव्र वियोगके प्रभावसे सर्वाङ्ग जब शिथिल होकर एक विचित्र मूर्च्छाको प्राप्त हो जाते हैं, तब उस दशाकी मोह संज्ञा होती है। यह स्थिति मृत्युके बहुत निकटकी होती है। स्वामी श्रीरामहर्षणदेवाचार्य जू महाराज प्रेमरामायणमें कहते हैं—

विरह मोहवश निमिकुल बारा। सब बिधि भूलत ज्ञान अपारा॥
प्रेमी प्रेमास्पद अरु प्रेमा। त्रिपुटी विनशि रहेउ रस नेमा॥
भयो कुँवर हिय रस कर रूपा। अकथ अगाध अगम्य अनूपा॥
बुद्धि क्रिया सब गई बिलाई। रहेउ राम रस चित्तई छाई॥

(वनविरहकाण्ड)

(१०) मृत्यु

रसिकाचार्यगण मृत्युका अर्थ मृत्युतुल्य दशा करते हैं। यदि मृत्यु ही वरण कर ले तो इस दारुण वेदनासे मुक्ति तो प्राप्त हो जाय, पर कहाँ होते हैं ऐसे भाग्य उन अनुरागियोंके। युवराजके जीवनकी इस झाँकीको भी निरुपाय लेखनी इस प्रकार चित्रित करती है—

दिन दिन छिन छिन विरह विहारा। बढ़त कुँवर हिय अनुप अपारा॥
सीय कहत मुरछा तन आवै। राम शब्द भीतर रहि जावै॥
रूप ध्यान तनि जो हिय आई। ठाढ़े गिरे न सुधिहिं रिहाई॥
चिंतन करतहिं रघुवर लीला। भूमि जाय सब कुँवर रसीला॥
मरण तुल्य सब शिथिल शरीरा। दश दश दिवस परे भुईं बीरा॥
दिव्य कान्ति नहिं छोड़ति साथा। अतिहिं विचित्र कुँवर रस गाथा॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

अन्ततः शरीर संज्ञाशून्य-सा हो गया। सारे मैथिलजन प्रायः उनकी देहको घेरे हुए बैठे रहते। सभी लोग उनके श्रीअङ्गोंसे भगवन्नामकी ध्वनि उच्चरित होते सुनते। वातावरणका कुछ ऐसा प्रभाव था कि वहाँ पहुँचकर सभीके मुखसे स्वतः भगवन्नामका उच्चारण होने लग जाता था।

चौदह वर्षोंकी अवधिके अन्तिम दो वर्षोंमें तो युवराज मृततुल्य जीवनका ही वरण किये रहे। ऐसी ही दशामें उन्हें श्रीअवध ले जाया गया। महात्मा भरत उनकी इस दशाको देख घोर अनुतापमें डूब गये। पवननन्दनके अवध आनेपर श्रीभरतजीने उन्हें प्रभुका प्रत्यागमन संदेश सुनाने युवराजके समीप भेज दिया। हनुमान् उनकी ऐसी दशा देखकर विषादके महासमुद्रमें डूब गये। पुनः एक दिव्य संकीर्तन होता है। संकीर्तनसुधाका पानकर उन्हें चेतना प्राप्त होती है, नेत्र खुलते हैं और वे प्रभुके प्रत्यागमनका संदेश सुन सकनेकी स्थितिमें आ जाते हैं। फिर तो उनके प्रेमानन्दका क्या ठिकाना!

* * *

भक्त नरसी मेहता

नरसी मेहता गुजरातके एक बहुत बड़े श्रीकृष्णभक्त हो गये हैं। उनके भजन आज भी न केवल गुजरातमें, बल्कि सारे भारतमें बड़ी श्रद्धा और आदरके साथ गाये जाते हैं। उनका जन्म काठियावाड़के जूनागढ़ शहरमें बड़नगरा जातिके नागर-ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। बचपनमें ही उन्हें कुछ साधुओंका सत्संग प्राप्त हुआ, जिसके फलस्वरूप उनके हृदयमें श्रीकृष्णभक्तिका उदय हुआ। वे निरन्तर भक्त-साधुओंके साथ रहकर श्रीकृष्ण और गोपियोंकी लीलाके गीत गाने लगे। धीरे-धीरे भजन-कीर्तनमें ही उनका अधिकांश समय बीतने लगा। यह बात उनके परिवारवालोंको पसंद नहीं थी। उन्होंने इन्हें बहुत समझाया, पर कोई लाभ न हुआ। एक दिन इनकी भौजाईने ताना मारकर कहा—'ऐसी भक्ति उमड़ी है तो भगवान्‌से मिलकर क्यों नहीं आते?' इस तानेने नरसीपर जादूका काम किया। वे घरसे उसी क्षण निकल पड़े और जूनागढ़से कुछ दूर श्रीमहादेवजीके पुराने मन्दिरमें जाकर वहाँ श्रीशङ्करजीकी उपासना करने लगे। कहते हैं, उनकी पूजासे प्रसन्न होकर भगवान् शङ्कर उनके सामने प्रकट हुए और उन्हें भगवान् श्रीकृष्णके गोलोकमें ले जाकर गोपियोंकी रासलीलाका अद्भुत दृश्य दिखलाया। वे गोलोककी लीलाको देखकर मुग्ध हो गये।

तपस्या पूरी कर वे घर आये और अपने बाल-बच्चोंके साथ अलग रहने लगे। परंतु केवल भजन-कीर्तनमें लगे रहनेके कारण बड़े कष्टके साथ उनकी गृहस्थीका काम चलता। स्त्रीने कोई काम करनेके लिये उन्हें बहुत कहा, परंतु नरसीजीने कोई दूसरा काम करना पसंद नहीं किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि श्रीकृष्ण मेरे सारे दुःखों और अभावोंको अपने-आप दूर करेंगे। हुआ भी ऐसा ही। कहते हैं, उनकी पुत्रीके विवाहमें जितने रुपये और अन्य सामग्रियोंकी जरूरत पड़ी, सब भगवान्‌ने उनके यहाँ पहुँचायी तथा स्वयं मण्डपमें उपस्थित होकर सारे कार्य सम्पन्न किये। इसी तरह पुत्रका विवाह भी भगवत्कृपासे सम्पन्न हो गया।

कहते हैं नरसी मेहताकी जातिके लोग उन्हें बहुत तंग किया करते थे। एक बार उन लोगोंने कहा कि अपने पिताका श्राद्ध करके सारी जातिको भोजन कराओ। नरसीजीने अपने भगवान्‌को स्मरण किया और श्राद्धके लिये सारा सामान जुट गया। श्राद्धके दिन अन्तमें नरसीजीको मालूम हुआ कि कुछ घी घट गया है। वे एक बर्तन लेकर बाजार घी लानेके लिये गये। रास्तेमें उन्होंने एक संतमण्डलीको बड़े प्रेमसे हरिकीर्तन करते देखा। बस, नरसीजी उसमें शामिल हो गये और अपना काम भूल गये। घरमें ब्राह्मण-भोजन हो रहा था, उनकी पत्नी बड़ी उत्सुकतासे उनकी बाट देख रही थीं। भक्तवत्सल भगवान् नरसीका रूप धारण कर घी लेकर घर पहुँचे। ब्राह्मण-भोजनका कार्य सुचारुरूपसे पूरा हुआ। बहुत देर बाद कीर्तन बंद होनेपर नरसीजी घी लेकर वापस आये और अपनी पत्नीसे देरके लिये क्षमा माँगने लगे। स्त्री आश्चर्यसागरमें डूब गयी।

पुत्र-पुत्रीका विवाह हो जानेपर नरसीजी बहुत कुछ निश्चिन्त हो गये और अधिक उत्साहसे भजन-कीर्तन करने लगे। कुछ वर्षों बाद एक-एक करके इनकी स्त्री और पुत्रका देहान्त हो गया।

तबसे वे एकदम विरक्त-से हो गये और लोगोंको भगवद्भक्तिका उपदेश देने लगे। वे कहा करते—'भक्ति तथा प्राणिमात्रके साथ विशुद्ध प्रेम करनेसे सबको मुक्ति मिल सकती है।'

कहते हैं कि एक बार जूनागढ़के राव-माण्डळीकने उन्हें बुलाकर कहा—'यदि तुम सच्चे भक्त हो तो मन्दिरमें जाकर मूर्तिके गलेमें फूलोंका हार पहनाओ और फिर भगवान्‌की मूर्तिसे प्रार्थना करो कि वे स्वयं तुम्हारे पास आकर वह माला तुम्हारे गलेमें डाल दें; अन्यथा तुम्हें प्राणदण्ड मिलेगा।' नरसीजीने रातभर मन्दिरमें बैठकर भगवान्‌का गुणगान किया। दूसरे दिन सबेरे सबके सामने मूर्तिने अपने स्थानसे उठकर नरसीजीको माला पहना दी। नरसीकी भक्तिका प्रकाश सर्वत्र फैल गया।

सदा भगवत्प्रेममें निमग्न रहनेवाले भक्त नरसी मेहता अपने भक्तिपदोंके द्वारा भगवान्‌को सदा रिझाते रहे। उनके पद भक्तोंके लिये कण्ठहाररूपमें प्रसिद्ध ही हैं। उनका निम्नलिखित पद तो बहुत ही प्रसिद्ध है। प्रेमी भक्त बड़ा विभोर होकर इसका गान करते हैं—

वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड पराई जाणे रे।
परदुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे॥

सकळ लोक माँ सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे।
वाच काछ मन निश्चळ राखे, धन-धन जननी तेनी रे॥
समदृष्टिने तृष्णा-त्यागी, परस्त्री जेने मात रे।
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे॥
मोह माया व्यापे नहिं जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमाँ रे।
रामनाम सुं ताळी लागी, सकळ तीरथ तेना तनमाँ रे॥
वणलोभी ने कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्या रे।
भणे नरसैंयो तेनुं दरसन करताँ, कुळ एकोतेर तार्या रे॥

एक दूसरे पदमें भक्त और भक्तिकी महिमामें वे कहते हैं—

इस पृथ्वीलोकमें भक्तिरूपी एक महान् पदार्थ है वह ब्रह्मलोकमें नहीं है। जिन्होंने पुण्योंके द्वारा स्वर्ग प्राप्त किया, वे अन्तमें चौरासीके चक्करमें गिर पड़े। हरिके भक्त तो मुक्ति न माँगकर बार-बार जन्म माँगते हैं, जिससे वे नित्य सेवा, नित्य कीर्तन, नित्य उत्सवमें नन्दकुमारको निरखते रहें। इस पृथ्वीमें जिन्होंने भारतखण्डमें जन्म लेकर गोविन्दके गुणोंका गान किया, उनके माता-पिताको धन्य है और उन्होंने अपना जीवन सफल कर लिया। वृन्दावन धन्य है, वे लीलाएँ धन्य हैं, वे व्रजवासी धन्य हैं, जिनके आँगनमें अष्ट महासिद्धियाँ खड़ी हैं और मुक्ति जिनकी दासी है। उस रसका स्वाद भगवान् श्रीशङ्कर जानते हैं अथवा योगी श्रीशुकदेव जानते हैं। कुछ व्रजकी गोपियाँ जानती हैं, नरसी उस रसको स्वयं भोगकर कह रहा है—

भूतल भक्ति पदारथ मोटुं, ब्रह्मलोक मां नांही रे।
पुण्य करी अमरातुरी पाम्या, अन्ते चौरासी मांही रे॥ टेक॥
हरिना जन तो मुक्ति न मागे, मागे जन्मोजन्म अवतार रे।
नित्य सेवा नित्य कीर्तन ओच्छव, निरखवा नन्दकुमार रे॥ १ ॥ भूतल०॥
भरतखंड भूतलमां जनमी जेणे गोविन्दना गुण गाया रे।
धन धन रे एनां मात पिताने, सफल करी ऐने काया रे॥ २ ॥ भूतल०॥
धन वृन्दावन धन ए लीला, धन ए ब्रजना वासी रे।
अष्ट महासिद्धि आँगणिये रे ऊमी, मुक्ति छे एमनी दासी रे॥ ३ ॥ भूतल०॥
ए रसनो स्वाद शंकर जाणे, के जाणे शुक जोगी रे।
कोई एक जाण व्रजनी गोपी, भणे 'नरसैंयो' भोगी रे॥ ४ ॥ भूतल०॥

गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्रजी

रसिकभक्तशिरोमणि गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभुजीका जन्म मथुराके निकट बादग्राममें वि० संवत् १५५९ वैशाख शुक्ला एकादशीको हुआ था। इनके पिताका नाम श्रीव्यासजी मिश्र और माताका श्रीतारादेवी था। श्रीव्यासजी मिश्र नौ भाई थे, जिनमें सबसे बड़े श्रीकेशवदासजी तो संन्यास ग्रहण कर चुके थे। उनके संन्यासाश्रमका नाम श्रीनृसिंहाश्रमजी था। शेष आठ भाइयोंके केवल यही एक व्यास-कुलदीपक थे, इसलिये ये सभीको प्राणोंसे बढ़कर प्रिय थे और इसीसे इनका लालन-पालन भी बड़े लाड़-चावसे हुआ था। ये बड़े ही सुन्दर थे और शिशुकालमें ही 'राधा' नामके बड़े प्रेमी थे। 'राधा' सुनते ही ये बड़े जोरसे किलकारी मारकर हँसने लगते थे। कहते हैं कि छः महीनेकी अवस्थामें ही इन्होंने पलनेपर पौढ़े हुए 'श्रीराधासुधानिधि' स्तवका गान किया था, जिसे आपके ताऊ स्वामी श्रीनृसिंहाश्रमजीने लिपिबद्ध कर लिया था।

वस्तुतः 'राधासुधानिधि' भक्तिपूर्ण शृङ्गाररसका एक अतुलनीय ग्रन्थ है। बड़ी ही मनोहर भावपूर्ण कविता है। इसमें आचार्यने अपनी परमाराध्या वृषभानुकुमारी श्रीराधाजीके विशुद्ध प्रेमका बड़ी ही ललित भाषामें चित्रण किया है। इसमें आरम्भसे अन्ततक केवल विशुद्ध प्रेमकी ही झाँकी है।

इनके बालपनकी कुछ बातें बड़ी ही विलक्षण हैं, जिनसे इनकी महत्ताका कुछ अनुमान होता है। एक दिन ये अपने कुछ साथी बालसखाओंके साथ बगीचेमें खेल रहे थे। वहाँ इन्होंने दो गौर-श्याम बालकोंको श्रीराधामोहनके रूपमें सुसज्जित किया। फिर कुछ देर बाद दोनोंके शृङ्गार बदलकर श्रीराधाको श्रीमोहन तथा श्रीमोहनको श्रीराधाके रूपमें परिणत कर दिया और इस प्रकार वेश-भूषा बदलनेका खेल खेलने लगे।

प्रातःकालका समय था। इनके पिता श्रीव्यासजी अपने सेव्य श्रीराधाकान्तजीका शृङ्गार करके मुग्ध होकर युगल-छविके दर्शन कर रहे थे। उसी समय आकस्मिक परिवर्तन देखकर वे चौंक पड़े। उन्होंने श्रीविग्रहोंमें श्रीराधाके

रूपमें श्रीकृष्णको और श्रीकृष्णके रूपमें श्रीराधाको देखा। सोचा, वृद्धावस्थाके कारण स्मृति नष्ट हो जानेसे शृङ्गार धरानेमें भूल हो गयी है। क्षमा-याचना करके उन्होंने शृङ्गारको सुधारा, परंतु अपने-आप वह शृङ्गार भी तुरंत ही बदलने लगा। तब घबराकर व्यासजी बाहर निकले। सहसा उनकी दृष्टि बागकी ओर गयी, देखा—हरिवंश अपने सखाओंके साथ खेल-खेलमें वही स्वरूप-परिवर्तन कर रहा है। उन्होंने सोचा इसकी सच्ची भावनाका ही यह फल है। निश्चय ही यह कोई असाधारण महापुरुष है।

एक बार श्रीव्यासजीने अपने सेव्य श्रीठाकुरजीके सामने लड्डूका भोग रखा; इतनेमें ही देखते हैं कि लड्डुओंके साथ फल-दलोंसे भरे बहुत-से दोने थालमें रखे हैं। इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और उस दिनकी बात याद आ गयी। पूजनके बाद इन्होंने बाहर जाकर देखा तो पता लगा कि हरिवंशजीने बगीचेमें दो वृक्षोंको नीले-पीले पुष्पोंकी मालाओंसे सजाकर युगल-किशोरकी भावनासे उनके सामने फल-दलका भोग रखा है। इस घटनाका भी व्यासजीपर बड़ा प्रभाव पड़ा।

एक बार श्रीहरिवंशजी खेल-ही-खेलमें बगीचेके पुराने सूखे कुएँमें सहसा कूद पड़े। इससे श्रीव्यासजी, माता तारादेवी और कुटुम्बके लोगोंको तो अपार दुःख हुआ ही, सारे नगरनिवासी भी व्याकुल हो उठे। व्यासजी तो शोकाकुल होकर कुएँमें कूदनेको तैयार हो गये। लोगोंने जबरदस्ती उन्हें पकड़कर रखा।

कुछ ही क्षणोंके पश्चात् लोगोंने देखा, कुएँमें एक दिव्य प्रकाश फैल गया है और श्रीहरिवंशजी श्रीश्यामसुन्दरके मञ्जुल श्रीविग्रहको अपने नन्हे-नन्हे कोमल कर-कमलोंसे सँभाले हुए अपने-आप कुएँसे ऊपर उठते चले आ रहे हैं। इस प्रकार आप ऊपर पहुँच गये और पहुँचनेके साथ ही कुआँ निर्मल जलसे भर गया। माता-पिता तथा अन्य सब लोग आनन्द-सागरमें डुबकियाँ लगाने लगे। श्रीहरिवंशजी जिस भगवान् श्यामसुन्दरके मधुर मनोहर श्रीविग्रहको लेकर ऊपर आये थे, उस श्रीविग्रहकी शोभाश्री अतुलनीय थी। उसके एक-एक अङ्गसे मानो सौन्दर्य-माधुर्यका निर्झर बह रहा था। सब लोग उसका दर्शन करके निहाल हो गये। तदनन्तर श्रीठाकुरजीको राजमहलमें लाया गया और बड़े समारोहसे उनकी प्रतिष्ठा की गयी। श्रीहरिवंशजीने उनका परम रसमय नामकरण किया—श्रीनवरङ्गीलालजी। अब श्रीहरिवंशजी निरन्तर अपने श्रीनवरङ्गीलालजीकी पूजा-सेवामें निमग्न रहने लगे। इस समय इनकी अवस्था पाँच वर्षकी थी।

इसके कुछ ही दिनों बाद इनकी अतुलनीय प्रेममयी सेवासे मुग्ध होकर साक्षात् रासेश्वरी नित्य-निकुञ्जेश्वरी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिकाजीने इन्हें दर्शन दिये, अपनी रस-भावनापूर्ण सेवा-पद्धतिका उपदेश किया और मन्त्रदान करके इन्हें शिष्यरूपमें स्वीकार किया। इसका वर्णन करते हुए गो० श्रीजतनलालजी लिखते हैं—

करत भजन इक दिवस लाड़िली छबि मन अटक्यौ।
रूपसिंधु के माँझ पर्‍यौ कहुँ जात न भटक्यौ॥
बिबस होइ तब गए भए तनु प्यारी हरिकैं।
झुके अवनि पर सिथिल होइ अति सुख में भरिकैं॥
कृपा करी श्रीराधिका प्रगट होइ दरसन दियौ।
अपने हित कौं जानिकैं हित सौं मन्त्र सु कहि दियौ॥

आठ वर्षकी अवस्थामें उपनयनसंस्कार और सोलह वर्षकी अवस्थामें श्रीरुक्मिणीदेवीसे आपका विवाह हो गया। पिता-माताके गोलोकवासी हो जानेके बाद आप सब कुछ त्यागकर श्रीवृन्दावनके लिये विदा हो गये। श्रीनवरङ्गीलालजीकी सेवा भी अपने पुत्रोंको सौंप दी।

देववनसे आप चिड़यावल आये। यहाँ आत्मदेव नामक एक भक्त ब्राह्मणके घर ठाकुरजी श्रीराधावल्लभजी विराजमान थे। आत्मदेवजीको स्वप्नादेश हुआ और उसीके अनुसार श्रीराधावल्लभजी महाराजको श्रीहरिवंशजी वृन्दावन ले आये। वृन्दावनमें मदन-टेर नामक स्थानमें श्रीराधावल्लभजीने प्रथम निवास किया। इसके पश्चात् इन्होंने भ्रमण करके श्रीवृन्दावनके दर्शन किये और प्राचीन एवं गुप्त सेवाकुञ्ज, रासमण्डल, वंशीवट एवं मानसरोवर नामक चार पुण्यस्थलोंको प्रकट किया। तदनन्तर आप सेवाकुञ्जके समीप ही कुटियोंमें रहने लगे तथा श्रीराधावल्लभजीका प्रथम प्रतिष्ठा-उत्सव इसी स्थानपर हुआ।

स्वामी श्रीहरिदासजीसे आपका अभिन्न प्रेम-सम्बन्ध था। ओरछेके राजपुरोहित और गुरु प्रसिद्ध भक्त श्रीहरिरामजी व्यासने भी आकर श्रीहिताचार्य प्रभुजीसे ही दीक्षा ग्रहण की थी। 'श्रीवृन्दावनमहिमामृतम्' के निर्माता महाप्रभु श्रीचैतन्यके भक्त प्रसिद्ध स्वामी श्रीप्रबोधानन्दजीकी भी आपके प्रति बड़ी निष्ठा और प्रीति थी।

श्रीभगवान्‌की सेवामें किस प्रकार अपनेको लगाये

रखना चाहिये और कैसे अपने हाथों सारी सेवा करनी चाहिये, इसकी बहुत सुन्दर शिक्षा श्रीहितहरिवंशप्रभुजीके जीवनकी एक घटनासे मिलती है। श्रीहितहरिवंशजी एक दिन मानसरोवरपर अपने कोमल करकमलोंसे सूखी लकड़ियाँ तोड़ रहे थे। इसी समय आपके प्रिय शिष्य दीवान श्रीनाहरमलजी दर्शनार्थ वहाँ आ पहुँचे। नाहरमलजीने प्रभुको लकड़ियाँ तोड़ते देख दु:खी होकर कहा—'प्रभो! आप स्वयं लकड़ी तोड़नेका इतना बड़ा कष्ट क्यों उठा रहे हैं, यह काम तो किसी कहारसे भी कराया जा सकता है। ····यदि ऐसा ही है तो फिर हम सेवकोंका तो जीवन ही व्यर्थ है।'

नाहरमलके आन्तरिक प्रेमसे तो प्रभुका मन प्रसन्न था, परंतु सेवाकी महत्ता बतलानेके लिये उन्होंने कठोर स्वरमें कहा—'नाहरमल! तुम-जैसे राजसी पुरुषोंको धनका बड़ा मद रहता है, तभी तो तुम श्रीठाकुरजीकी सेवा कहारोंके द्वारा करवानेकी बात कहते हो। तुम्हारी इस भेद-बुद्धिसे मुझे बड़ा कष्ट हुआ है।' कहते हैं कि श्रीहितहरिवंश-प्रभुजीने उनको अपने पास आनेतकसे रोक दिया। आखिर जब नाहरमलजीने दु:खी होकर अनशन किया—पूरे तीन दिन बीत गये, तब वे कृपा करके नाहरमलजीके पास गये और प्रेमपूर्ण शब्दोंमें बोले—'भैया! प्रभुसेवाका स्वरूप बड़ा विलक्षण है। प्रभुसेवामें हेयोपादेय बुद्धि करनेसे जीवका अकल्याण हो जाता है। प्रभुसेवा ही जीवका एकमात्र धर्म है। ऐसे विरोधी भाव मनमें नहीं लाने चाहिये। मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम अन्न-जल ग्रहण करो।' यों कहकर उन्होंने स्वयं अपने हाथोंसे प्रसाद दिया और भरपेट भोजन कराया।

श्रीहितहरिवंशजीकी रसभजनपद्धतिके सम्बन्धमें श्रीनाभाजी महाराजने कहा है—

श्रीराधा चरन प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दंपती, तहाँ की करत खवासी॥
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी।
बिधि-निषेध नहिं दासि अनन्य उत्कट ब्रतधारी॥
श्रीब्यास-सुवन पथ अनुसरै सोइ भलैं पहिचानिहैं।
हरिबंस गुसाँई भजन की रीति सकृत कोउ जानिहैं॥

स्वकीया-परकीया, विरह-मिलन एवं स्व-पर-भेदरहित नित्यविहार-रस ही श्रीहितहरिवंशजीका इष्ट तत्त्व है। इन्होंने 'श्रीराधासुधानिधि' नामक अनुपम ग्रन्थका निर्माण तो किया ही, इनकी व्रजभाषामें भी बहुत-सी रचनाएँ मिलती हैं, जो 'हितचौरासी' और 'स्फुट वाणी' के नामसे प्रसिद्ध हैं। इन्होंने कहा है—

सब सौं हित निषकाम मत बृंदाबन बिश्राम।
(श्री) राधावल्लभलालको हृदय ध्यान, मुख नाम॥
तनहि राखु सतसंग में मनहि प्रेम रस भेव।
सुख चाहत हरिबंस हित कृष्ण कलपतरु सेव॥

श्रीहितहरिवंश प्रभुजीका वैराग्य बड़ा विलक्षण था। अर्थ तथा कामकी तो बात ही दूर, यहाँ तो धर्म और मोक्षमें भी राग नहीं था। इनकी निष्ठाके कुछ नमूने देखिये—

'कदा नु वृन्दावनकुञ्जवीथी-
ष्वहं नु राधे ह्यतिथिर्भवेयम्।'

'श्रीराधे! क्या मैं कभी वृन्दावनकी कुञ्जवीथियोंमें अतिथि होऊँगी।'

'कदा रसाम्बुधिसमुन्नतं वदनचन्द्रमीक्षे तव।'

'मैं कब तुम्हारे समुन्नत रससमुद्ररूप मुखचन्द्रको देखूँगी?'

'कर्हि स्यां श्रुतिशेखरोपरि चरन्नाश्चर्यचर्यां चरन्।'

'श्रीराधे! मैं कब तुम्हारी श्रुतिशेखर—उपनिषदुपरि परिचर्या—आश्चर्यमयी परिचर्याका आचरण करूँगी?'

इस परिचर्याके सामने आपके मतसे—

'वृथा श्रुतिकथाश्रमो बत बिभेमि कैवल्यतः।'

'श्रुति-कथा व्यर्थ है और कैवल्य तो भयप्रद है।' वे कहते हैं—

'धर्माद्यर्थचतुष्टयं विजयतां किं तद् वृथा वार्तया।'

'ये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष किसीके लिये आदरणीय होंगे। मेरे लिये इनकी व्यर्थ चर्चासे क्या लाभ है?'

मैं तो बस—

यत्र यत्र मम जन्मकर्मभिर्नारकेऽथ परमे पदेऽथ वा।
राधिकारतिनिकुञ्जमण्डली तत्र तत्र हृदि मे विराजताम्॥

'मैं अपने जन्मकर्मानुसार नरक अथवा परम पद कहीं भी जाऊँ, सर्वत्र मेरे हृदयमें श्रीराधिकारतिनिकुञ्जमण्डली ही सर्वदा विराजित रहे।'

अड़तालीस वर्षोंतक इस धराधामको पावन करनेके पश्चात् सं० १६०७ वि० की शारदीय पूर्णिमाके दिन आपने निकुञ्जलीलामें प्रवेश किया।

* * *

जीव गोस्वामी

लगभग चार सौ वर्ष पहलेकी बात है, बंगालके शासक हुसैनशाहके प्रधान अधिकारी दबीर और साकर (सनातन और रूप)-की श्रद्धा तथा भक्तिसे प्रसन्न होकर श्रीचैतन्य महाप्रभुने रामकेलि नामक ग्रामकी यात्रा की। गङ्गातटपर तारोंभरी रातमें मलयानिलसम्पन्न नीरव उपवनमें कदम्बके झुरमुटमें जिस समय रूप और सनातनको महाप्रभु चैतन्य हरिनाम-ध्वनिसे कृतार्थ कर रहे थे, उसी समय उनके छोटे भाई अनुपम अथवा वल्लभके पुत्र जीव गोस्वामीने उनके दर्शन किये और उनके चरणारविन्दमकरन्दकी अमृत-वारुणीसे प्रमत्त होकर अपने-आपको पूर्णरूपसे समर्पण कर दिया। उनकी अवस्था अल्प थी; पर भक्ति-माधुरीने उनके जीवनको बदल दिया।

वृन्दावनसे अनुपम (वल्लभ) नीलाचल आये, वहीं उनकी मृत्यु हो गयी। पिताकी मृत्युने जीव गोस्वामीके हृदयको बड़ा आघात पहुँचाया। वे आनन्दकन्द नन्दनन्दनकी राजधानी—वृन्दावनमें आनेके लिये विकल हो उठे। एक रात उन्होंने स्वप्नमें श्रीचैतन्य और नित्यानन्द महाप्रभुके दर्शन किये, वे नवद्वीप चले आये। नित्यानन्दने उन्हें काशी तपनमिश्रके आश्रममें शास्त्र-अध्ययनके लिये भेजा। जीव गोस्वामीने मधुसूदन वाचस्पतिसे वेदान्त और न्याय आदिकी शिक्षा पायी। वे शास्त्रमें पूर्णरूपसे निष्णात होकर परम विरक्त सनातन और रूपके पास वृन्दावन चले आये। जीवनके शेष पैंसठ वर्ष उन्होंने वृन्दावनमें ही बिताये। श्रीभगवान्‌के स्वरूप तथा तत्त्वविचारमें उन्होंने अपने पाण्डित्यका सदुपयोग किया। रूपने उनको मन्त्र दिया और समस्त शास्त्र पढ़ाये। ····जीव गोस्वामी पूर्ण विरक्त हो गये तथा भगवती कालिन्दीके परम पवित्र तटपर निवास करने लगे। वे भगवान्‌की उपासना माधुर्य-भावसे करते थे। उनके चरित्र और लीलाको परम तत्त्वका सार समझते थे। रूप गोस्वामीकी महती कृपासे वे धीरे-धीरे न्याय, दर्शन और व्याकरणमें पूर्ण पारङ्गत हो गये। उन्होंने जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया और वृन्दावन-निवासकालमें श्रीरूपगोस्वामिकृत उज्ज्वलनीलमणिकी टीका, क्रमसन्दर्भ नामक भागवतकी टीका, भक्तिसिद्धान्त, उपदेशामृत, षट् सन्दर्भ, गोपालचम्पू, गोविन्दविरुदावली, हरिनामामृत-व्याकरण आदि महान् ग्रन्थोंकी रचना की। ये 'षट् सन्दर्भ' ही गौड़ीयमतानुसार श्रीमद्भागवतकी प्रामाणिक व्याख्या हैं। श्रीजीव गोस्वामीके ये सभी ग्रन्थ 'अचिन्त्यभेदाभेद' मतके अनुसार लिखे गये हैं।

एक बार वल्लभभट्ट नामक एक दिग्विजयी पण्डितने रूपकी किसी कृतिमें दोष निकाला और घोषणा कर दी कि रूपने जयपत्र लिख दिया। जीवके लिये यह बात असह्य हो गयी, उन्होंने शास्त्रार्थमें वल्लभको पराजित किया। रूपको जब यह बात विदित हुई तब उन्होंने जीवको अपने पाससे अलग कर दिया। वे सात-आठ दिनतक एक निर्जन स्थानमें पड़े रहे। सनातनने रूपसे पूछा कि जीवके प्रति वैष्णवका कैसा व्यवहार होना चाहिये। रूपने कहा—'दयापूर्ण!' सनातनने कहा—'तुम जीव गोस्वामीके प्रति इतना कठोर व्यवहार क्यों करते हो?' रूपके हृदयपर बड़े भाईके कथनका बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने जीवको बुलाकर गले लगाया और अपने पास रख लिया। रूप और सनातनके बाद जीव ही वृन्दावनके वैष्णवोंके सिरमौर घोषित किये गये।

जीव गोस्वामीने भक्तिको रस माना है। वे रसोपासक और विरक्त महात्मा थे। भक्तिसे ही भगवत्स्वरूपका साक्षात्कार होता है। जीव गोस्वामीकी मान्यता थी कि भजनानन्द स्वरूपानन्दसे विशिष्ट है। भजनानन्दसे भगवान्‌की भक्ति मिलती है, स्वरूपानन्द ब्रह्मत्वका परिचायक है। उन्होंने भक्तिको ज्ञानसे श्रेष्ठ स्वीकार किया है। भक्ति भगवान्‌की ओर ले जाती है, ज्ञान ब्रह्मानुभूति प्रदान करता है। श्रीमद्भागवतको उन्होंने सर्वश्रेष्ठ भक्तिशास्त्र माना है।

आश्विन शुक्ल तृतीयाको शाके १५४० में पचासी सालकी अवस्थामें उन्होंने देहत्याग किया। वे महान् दार्शनिक, पण्डित और भक्तियोगके पूर्ण मर्मज्ञ थे। महात्मा, योगी, विरक्त और प्रेमी भक्त—सबके सहज समन्वय थे।

* * *

प्रेमी भक्तोंके भगवत्प्रेमकी विचित्र झाँकी

[पुण्डलिककी कथा]

(श्रीगोविन्दराजारामजी जोशी)

दक्षिण भारतमें लोहदण्ड नामक नगरमें जानुदेव नामका एक शिवपूजक विद्वान् ब्राह्मण रहता था। वह सदाचारसम्पन्न तथा शील एवं विनयसे युक्त था। उसकी पत्नी भी धार्मिक और सात्त्विक गुणोंसे युक्त थी। उसके पुण्डलिक नामक एक पुत्र हुआ। उपनयनके बाद पिताने पुण्डलिकके विद्याध्ययनकी समुचित व्यवस्था कर दी, किंतु उसका मन विद्याग्रहणमें नहीं लग रहा था।

पिताने सोचा कि हो सकता है विवाहके बाद यह सुधर जाय। अतः उसने पुण्डलिकका विवाह कर दिया। पर विवाहके बाद तो उसकी प्रवृत्तिमें इतना बदलाव हुआ कि वह पत्नीको ही सर्वस्व समझने लगा और माता-पिताका अनादर करने लगा। उसकी पत्नी भी पतिकी आज्ञाके अनुसार व्यवहार करने लगी।

माता-पिता वृद्ध हो चुके थे, उस समय उन्हें पुत्र और पुत्रवधूके सेवा-सहयोगकी नितान्त आवश्यकता थी, पर ऐसा न हो सका। अतः माता-पिता दुःखी रहते थे। ऐसे ही कुछ समय व्यतीत हुआ।

एक दिन कुछ यात्री काशी जा रहे थे। वे लोहदण्ड नगरमें आये। तीर्थयात्रियोंमें युवा पुरुष, स्त्रियाँ, वृद्ध आदि सभी समाविष्ट थे। पुण्डलिकके माता-पिताने भी उससे कहा कि वह भी उन्हें इनके साथ काशी-यात्रा करा दे तो उनका जीवन कृतकृत्य हो जायगा। पुण्डलिक स्वयं पत्नीके साथ काशी-यात्रा करनेकी सोच ही रहा था। अतः उसने माता-पिताको भी यात्राकी अनुमति दे दी।

यात्रियोंका समूह काशी-यात्राका मार्ग तय करने लगा। पुण्डलिक भी अपनी पत्नी तथा माता-पिताके साथ उनके साथ हो गया। वृद्ध होनेके कारण पुण्डलिकके माता-पिताको चलनेमें कठिनाई हो रही थी और वे दिंडीर वनतक ही साथ आ सके। उसके बाद पुण्डलिकने उनको छोड़कर पत्नीके साथ आगेकी यात्रा आरम्भ की।

यात्रियोंके साथ चलनेमें जब पत्नीको भी कठिनाई होने लगी, तब पुण्डलिकने मोहवश उसे कन्धेपर बिठा लिया और सबके साथ चलने लगा, किंतु असावधानीसे उसका रास्ता बदल गया और वह काशीके दक्षिण भागमें स्थित कुक्कुट द्विजके आश्रममें आ गया। आश्रमका वातावरण सुरम्य था। बगीचे फूलोंसे भरे हुए थे। निर्मल निर्झर बह रहे थे। वृक्षोंपर कोयलें कूक रही थीं। मयूर नाच रहे थे। यह सब देखकर स्वर्गिक सुखका आभास हो रहा था। आश्रमकी शान्ति और पवित्रता वहाँके दिव्यत्वका साक्ष्य दे रही थी। थक जानेके कारण पुण्डलिककी पत्नी सो गयी; किंतु पुण्डलिकको नींद नहीं आ रही थी। अचानक उसने देखा कि आश्रममें कुछ कृष्णवर्णा स्त्रियाँ प्रविष्ट होकर सब प्रकारके कार्य करने लगीं। कुछ स्त्रियाँ सम्मार्जनकार्यमें लगीं, कुछ कपड़े धोनेमें और कोई पात्र साफ करने लगीं। इस प्रकार जब आश्रमका सारा कार्य पूर्ण हो गया तो उन सभी कृष्णवर्णवाली स्त्रियोंका रंग बदल गया और वे श्वेतवर्णवाली हो गयीं। जब वे स्त्रियाँ आश्रमको वन्दन करके जाने लगीं तब पुण्डलिकने उन्हें प्रणाम किया और उनसे पूछा—आपलोग कौन हैं तथा आपमें यह अन्तर किस प्रकारकी साधनासे हुआ है? उन देवियोंने बताया कि हम भारतकी पवित्र गङ्गा, सिन्धु, सरस्वती और यमुना आदि नदियाँ हैं। तुम्हारे-जैसे स्त्रीलम्पट, विषयी तथा पापी लोगोंको हमारे ही जलमें स्नान करनेसे पवित्रता प्राप्त होती है, किंतु हम यहाँ पुण्यवान् कुक्कुट द्विजके आश्रममें सेवा करके अपने-आपको धन्य समझती हैं; क्योंकि ये द्विज अपने माता-पिताकी सेवाके कारण महान् हो गये हैं। यह उनकी मातृ-पितृभक्तिका ही प्रभाव है*। ऐसा कहकर वे देवियाँ अदृश्य हो गयीं।

इस घटनाका पुण्डलिकके मनपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और उसके अन्तःकरणमें मातृ-पितृप्रेम जाग्रत् हो गया। उसके नेत्र सजल हो उठे और कण्ठ रोमाञ्चसे रुँध गया। वह ग्लानिसे भर गया और अपने माता-पिताको

---

* कुक्कुट ब्राह्मणकी महिमाका एक श्लोक प्रसिद्ध है—

वाराणस्यां दक्षिणे भागे कुक्कुटो नाम ब्राह्मणः। तस्य स्मरणमात्रेण दुःस्वप्नः सुस्वप्नो भवेत्॥

इसका भाव यह है कि वाराणसीके दक्षिण भागमें कुक्कुट नामके एक ब्राह्मण रहते हैं, जिनके स्मरणमात्रसे दुःस्वप्न सुस्वप्नमें बदल जाता है।

खोजने निकला। दिंडीर वनमें भीमा नदीके तटपर उसे उनके दर्शन हुए और उन्हें देखते ही वह उनके चरणोंमें गिर पड़ा तथा क्षमा-याचना करने लगा—मैं अपराधी हूँ, शिव-पार्वतीके समान पूज्य माता-पिताको छोड़कर पत्नीके साथ काशी-यात्राको निकला, यह मेरा अपराध है, आप दोनों मुझे क्षमा करें, क्षमा करें। माता-पिताने पुण्डलिकके सिरपर हाथ रखा, उसका आलिङ्गन किया और उसके सब अपराधोंको क्षमा कर दिया।

अब पुण्डलिक वहीं रहकर अपने माता-पिताकी सेवामें रत हो गया। वर्षोंतक उसने उनकी अखण्डित सेवा की। उसके लिये अब माता-पिता ही भगवत्स्वरूप हो गये थे।

उसकी मातृ-पितृ-भक्ति देखकर एक दिन स्वयं भगवान् विष्णु वैकुण्ठ छोड़कर पुण्डलिकके घर आये और उन्होंने देखा कि उनका प्रिय भक्त माता-पिताकी अत्यन्त प्रेमपूर्वक सेवा कर रहा है और वे सो रहे हैं। शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और पीताम्बरधारी भगवान् प्रकट होकर भक्त पुण्डलिकसे कहने लगे—वत्स! मैं तुम्हारी भक्तिसे संतुष्ट हूँ। बताओ, तुम्हारी इच्छा क्या है? पुण्डलिकने कहा—भगवन्! मेरे माता-पिता सो रहे हैं, उनकी निद्रा पूरी होनेतक आप यहाँ खड़े हो जाइये। ऐसा कहकर उसने उनकी ओर खड़े होनेके लिये एक ईंट सरका दी और स्वयं माता-पिताकी सेवामें लग गया। भगवान् वहीं ईंटपर खड़े हो गये और अपने भक्तका सेवा-कार्य देखने लगे; क्योंकि उनको भक्तके साथ ही रहना पसंद है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

पुण्डलिक जानता था कि साध्य प्राप्त होनेपर भी साधन छोड़ना उचित नहीं है और इसी कारण वह माता-पिताकी सेवा पूर्ण हो जानेके बाद ही भगवान्की ओर उन्मुख हुआ। अभीतक पुण्डलिककी सेवाके कारण ही प्रेममय भगवान् ईंटपर खड़े हैं और पुण्डलिकका नाम भी भगवत्प्रेमके कारण ही भगवान्के साथ जुड़ गया है।

अपने माता-पिताको ही भगवद्रूप समझकर उनकी प्रेमपूर्वक सेवा करनेके कारण परब्रह्म परमात्माको भक्तके सामने प्रकट होना पड़ा और उसकी आज्ञाका पालन करना पड़ा। भगवान् ईंटपर खड़े होकर आनेवाले भक्तोंपर कृपा करनेके लिये आज भी उद्यत हैं। यह प्रेमका प्रभाव तथा भगवान्की अपार करुणा और कृपाका प्रभाव है। इसीको भगवत्प्रेम कहते हैं—

आविर्बभूव यः कृष्णः देवक्यां ब्रह्मणार्थितः।
स एवास्ते पौण्डरिके भक्तानुग्रहकाम्यया॥

प्रेम परम आधार

(प्राचार्य श्रीसाकेतबिहारीजी शर्मा 'मन्त्रमुदित')

प्रेम परम आधार, प्रेमियो! प्रेम परम आधार॥
इसे 'हृदय की ज्योति' समझिये, 'मंगल का आगमन' मानिये।
यह स्वभाव का है वसन्त प्रिय और द्वार उस प्रभु का कहिये।
इससे ही हम सज पाते हैं अपना यह संसार, प्रेमियो! अपना यह संसार॥
प्रेम परम आधार, प्रेमियो! प्रेम परम आधार॥ १॥
जहाँ-जहाँ यह खिल पाता है, मधुवन वहाँ उतर आता है।
महामोह की निशा बीतकर शान्ति-प्रभात पधर जाता है।
इससे ही हम कर पाते हैं जीवन का शृंगार, प्रेमियो! जीवन का शृंगार॥
प्रेम परम आधार, प्रेमियो! प्रेम परम आधार॥ २॥
शबरी, अर्जुन या गज जैसा, या ब्रज की बालाओं जैसा।
चाहें तो सब बन सकते हैं, कारण प्रभु है प्रेम-पियासा।
इस नौका से कर सकते हैं यह भव-सागर पार, प्रेमियो! यह भव-सागर पार॥
प्रेम परम आधार, प्रेमियो! प्रेम परम आधार॥ ३॥

'भक्त संग नाच्यौ बहुत गोपाल'

[ओरछानरेश भक्त मधुकरशाहकी भगवन्निष्ठा]

(पं० श्रीहरिविष्णुजी अवस्थी)

हुकुम दियो है पातशाह ने महीपन कौ,
मानों राव राजन प्रमान लेखियतु है।
चन्दन चढ़ायो कहूँ देव पद वन्दन को,
देहों सिर दाग जहाँ रेखा रेखियतु है॥

मुगल सम्राट् अकबरके उक्त आदेशकी अवहेलना करते हुए ओरछाधिपति मधुकरशाह जू देव बुन्देला चन्दन-केसरयुक्त तिलकसे मण्डित उन्नत ललाट और कण्ठमें तुलसीकी माला धारण किये जब शाही दरबारमें उपस्थित हुए तो उन्हें देखकर सभी दरबारी नरेश सशंकित हो उठे। तिलकशून्य ललाटोंके मध्य मधुकरशाहके तिलकपूर्ण आलोकित ललाटको मणिधरकी उपमा देते हुए कविने आगे लिखा—

सूनों कर गये भाल छोड़-छोड़ कण्ठमाल,
दूसरौ दिनेश तहाँ कौन पेखियतु है।
सोहत टिकैत मधुशाह अनियारौ जिमि,
नागन के बीच मनियारो देखियतु है॥

कुटिल और कुशल राजनीतिज्ञ अकबरको हिन्दू नरेशोंके सम्भावित विद्रोहकी आशङ्कासे भयभीत हो मधुकरशाहकी धर्मनिष्ठाकी सराहनाहेतु बाध्य हो जाना पड़ा। उसी दिनसे ओरछेशद्वारा लगाये गये तिलककी प्रसिद्धि मधुकरशाही तिलकके रूपमें तथा मधुकरशाहकी प्रसिद्धि 'टिकैत राय' के रूपमें हो गयी।

राधा-माधवके युगलस्वरूपके माधुर्यभावोपासक भक्तशिरोमणि मधुकरशाह नियमितरूपसे प्रातःकाल युगल-किशोरजीके मन्दिरमें दर्शन करने जाते थे और रात्रिमें अपने गुरु हरीरामजी व्यास एवं अन्य भक्तोंके साथ पाँवमें घुँघरू बाँधकर गायन करते हुए नृत्यलीन हो जाते थे। नृत्य करते-करते बेसुध हो जाना तो उनके लिये एक सामान्य बात हो गयी थी।

एक दिन किन्हीं विषम परिस्थितियोंके कारण ओरछामें होते हुए भी वे नित्यकी भाँति रात्रिमें निश्चित समयपर युगलकिशोर सरकारके मन्दिरमें उपस्थित न हो सके। यथासमय सरकारकी शयन-आरतीके पश्चात् मन्दिरके कपाट बन्द हो गये। अधिकांश भक्तजन अपने-अपने घरोंको वापस लौट गये। हरीरामजी व्यास कुछ अन्य भक्तोंके साथ मन्दिरके बाहर बैठकर ओरछेशके आनेकी प्रतीक्षा करने लगे।

लगभग अर्धरात्रिके समय मधुकरशाह अपने नियमकी पूर्तिहेतु मन्दिर पहुँचे। अपने गुरुजीको प्रतीक्षारत पाकर उन्होंने विलम्बसे उपस्थित होनेका स्पष्टीकरण देते हुए क्षमा-याचना की और निवेदन किया कि क्यों न मन्दिरके पिछवाड़े चलकर थोड़े ही समय कीर्तन कर लिया जाय, जिससे सरकारके शयनमें बाधा भी उत्पन्न न हो और नित्य-नियमकी आंशिक पूर्ति भी हो जाय।

उस निस्तब्ध निशामें ऐसा कीर्तन जमा कि सभीके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी अविरल धारा प्रवाहित होने लगी। 'राधे-राधे' का उद्घोष आनन्दमें कई गुना वृद्धि कर रहा था। मधुकरशाह अपनी विलक्षण प्रीतिधारामें प्रवाहित हो सुध-बुध ही खो बैठे थे। प्रेमी अपने प्रेमास्पदके प्रेममें तल्लीन हो और प्रेमास्पद भक्तवत्सल युगलकिशोर सरकार शयन करते रहें, भला यह कैसे सम्भव था?

सहसा मन्दिर पूर्वाभिमुखीके स्थानपर घूमकर पश्चिमाभिमुखी हो गया। मन्दिरके कपाट स्वतः ही अनावृत हो गये और युगलकिशोर साक्षात् प्रकट होकर भक्तोंके साथ नृत्य करने लगे। इस अलौकिक दृश्यको देखकर देवताओंने आकाशसे पुष्प-वृष्टि की, जो पृथ्वीका स्पर्श पाते ही स्वर्णके हो गये। मधुकरशाह अपने-आपको सरकारके अत्यन्त निकट पाकर प्रेमाश्रु बहाते हुए उनके श्रीचरणोंमें लोट गये। अपने अनन्य भक्तके साथ नृत्य करते हुए उसे दर्शन देकर युगलकिशोर अन्तर्धान हो गये।

इस अलौकिक घटनाका साक्षी युगलकिशोर सरकारका वह देवालय महाराज छत्रसालद्वारा युगलकिशोरके श्रीविग्रहको ओरछासे पन्ना ले जाये जानेके कारण रिक्त हो गया। अपने अतीतकी वैभवपूर्ण मधुर स्मृतियोंको सँजोये यह ऐतिहासिक देवालय उपेक्षाका शिकार होकर भग्नावस्थामें अब भी ओरछामें विद्यमान है।

युगलकिशोर सरकारकी प्रेमोपासनामें निरन्तर लीन रहते हुए एक दिन मधुकरशाह स्वयं प्रभुमें लीन हो गये। भगवत-रसिकरचित 'भक्त-नामावली', राजा नागरीदासरचित 'पद-प्रसंगमाला' एवं नाभादासजीरचित 'श्रीभक्तमाल'-जैसे ग्रन्थोंमें मधुकरशाहको अपनी प्रेमा-भक्तिके कारण ही विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ।

* * *

प्रेमसाधनाके पथिक—महात्मा बू अलीशाह कलन्दर

[तुम महबूबमें गुम हो जाओ]

(डॉ० श्रीराजेन्द्ररंजनजी चतुर्वेदी, पी-एच्०डी०, डी०लिट्०)

भारतवर्षके सूफी-संतोंमें बू अलीशाह कलन्दरकी गिनती पहली पंक्तिमें की जाती है। बू अलीशाहको 'कलन्दरिया-सम्प्रदाय' का प्रवर्तक माना जाता है। 'कलन्दर' शब्द साधनाकी उच्च अवस्थाकी संज्ञा है। फारसीसे आगत इस शब्दका अर्थ है—मुक्त पुरुष।

बू अलीशाह कलन्दर गयासुद्दीन तुगलकके समकालीन थे। इनका जन्म सन् ११९० ई०में पानीपतमें हुआ था। जनश्रुतिके अनुसार बू अलीशाह कलन्दरके समयमें यमुना पानीपत शहरके बीचसे प्रवाहित होती थी और महात्मा कलन्दरने सात वर्षतक यमुनामें खड़े होकर तप किया था। शरफुद्दीन बू अलीशाह कलन्दरकी मृत्यु सन् १३१२ ई०में हुई। उनकी रचनाओंके विषय हैं—मारुफ, हकीकत (सत्यका अनुसन्धान), तौहीद (अनन्यता), तर्के-दुनियाँ (सांसारिकताका त्याग), तल्दे आखरत (मृत्युके बाद खुदा तालासे मिलना) और मुहब्बते मौला (ईश्वर-प्रेम)। उनके काव्यमें हमें अद्वैत और प्रेमकी महिमाका बखान मिलता है। पानीपतके सिविल अस्पतालके पीछे सैयद रोशन अलीशाहका मजार है और उसके प्रधान हैं—श्रीअताउल्ला कुरैशी। श्रीकुरैशी उर्दू-फारसीके अच्छे जानकार हैं तथा उदार-पन्थी सूफी हैं। उनकी संगतिमें बैठकर मुझे कलन्दर साहबकी शायरीका परिचय प्राप्त करनेका अवसर मिला और जब मैं उनकी शायरीकी तुलना कबीरसे करता हूँ तो मुझे कबीरके दर्शनका एक नया ही स्रोत दिखायी देता है।

कलन्दर साहबका मुख्य सिद्धान्त इश्क है। उन्होंने अपने शिष्य बख्तियारुद्दीनको एक पत्रमें लिखा था—'ऐ भाई! आशिक बनो। दोनों जहानोंको माशूकका हुस्न समझो और खुदको भी माशूकका ही हुस्न मानो। माशूकने इश्कसे ही तुम्हारा भौतिक अस्तित्व बनाया है ताकि तुम्हारे आईनेमें अपने सौन्दर्यको निहार सके तथा तुम्हें अपने रहस्योंका ज्ञाता बनाये रखे। आशिक बनकर जब माशूकको बगलमें देखोगे तो हुस्नका दीदार अपने ही दिलके आईनेमें कर सकोगे। ये दुनियावी आशिक जो दुनियाके हुस्नपर लट्टू हो गये हैं, इश्ककी भूलभुलैयामें बिलकुल खो गये हैं; उनको बिलकुल नहीं सूझता कि इस पूरी दुनियामें हकीकी महबूबका कब्जा है, जो जिस तरह चाहता है करता है और जिस तरह चाहेगा वैसा करेगा। किसीको भी उसकी मंशामें दखल देनेका कोई हक नहीं है।'

प्रेमकी महिमाको बखानते हुए कलन्दर साहब फरमाते हैं—

सरमद गिला इख्तसार मी बायद कर्द,
यक कार अर्जी दोकार बायद कर्द।
या सरबज़ा ए दोस्त मी बायद दाद,
या कता नज़र अज़ यार बायद कर्द॥

अर्थात् इश्कमें अपनी तमन्ना ही कुरबान नहीं की जाती, सिर्फ यही माँग नहीं होती कि आशिक (प्रेमी, भक्त) मर्जी-ए-महबूबको अपनी रज़ा बना ले, बल्कि मुतालबा यह है कि आशिक अपनी अनानीयत (अहंकार)-को खत्म कर दे, अपने अस्तित्वको समाप्त (समर्पण) कर दे।

वे कहते हैं कि तुम अपनी हस्ती और अपनी शख्सियतको खत्म कर दो, बस यही है कमाल।

कलन्दर साहबने मुख्यरूपसे फारसीमें काव्य-रचना की है, यूसुफ मुहम्मद शाहने 'कलाम-ए-कलन्दरी' में उनके काव्यका संकलन किया है। उनके काव्यका संदेश है—'तुम महबूबमें गुम हो जाओ यही है विसाल और बस।' उनका एक शेर है—

तू तुई के यार गरदद यारे तू,
चूँ न बाशीं यार गरदद यारे तू।
तू मबाश असला कमाल ई सत्तो बस,
तू दर्दे गम तू विसाल ई सत्तो बस॥

अर्थात् तू जबतक अपनी तुई (अपनी खुदी—अहंता-ममता)-को बाकी रखे हुए है, यार तबतक यार कैसे हो सकता है! जब तू तू न रहेगा, तब यार यार हो सकता है।

कलन्दर साहबके विचारसे 'अगर आशिकके दिलोदिमागमें 'मैं' का तसव्वुर बाकी है तो वह सच्चा

आशिक नहीं है, छल है। इश्क और मैं—ये विरोधी बातें हैं। जबतक मैं बाकी है, गरूर मौजूद है, तबतक परमात्माका ख़याल नहीं आ सकता। जब दिलमें इश्क पैदा होगा तभी ज़ज्बा-ए-हुस्न (सौन्दर्य)-का साक्षात्कार होगा और जब नज़रोंके सामने सौन्दर्य बिखर जायगा, तभी माशूकको पहचाना जा सकेगा और तभी सही आशिक बना जा सकेगा। इस प्रकार कलन्दर साहब प्रेम-मार्गसे अद्वैत-जैसी स्थितिमें पहुँचते हुए कहते हैं—

यार रा बी दर आईना तू दर हर आईना,
सोज़ो साज़ ऊ अस्त दर बर तन तना।
हर चे बीनी दर हकीकत ज़ुमला ओस्त,
शम्मो गुल परवाना बुलबुल हम अज़ोस्त॥

अर्थात् दोस्तको देखना चाहता है तो देख, हर शीशेमें उसीका अक्स है, आवाज भी उसीकी है, दर्द भी उसीका है और सितारका स्वर भी उसीका है। समाँ, फूल, बुलबुल तथा परवाना—तू जो देख रहा है वास्तवमें सब कुछ वही तो है, सब वही है।

कलन्दर साहब कहते हैं—'जहाँ कातिलको बद्दुआओंके बजाय दुआएँ दी जाती हों, ऐसे मुकामपर कोई कलम-दवात लाकर क्या करेगा? कोई वह कागज़ लायेगा कहाँसे कि इश्ककी तफ़सीर लिख सके?'

कलन्दरकी कविताओंकी तुलना कबीरसे की जा सकती है। कलन्दर साहब कहते हैं—

हर के शुद दर बहरे इरफां आईना।
ज़र्रा ज़र्रा कतरा दानद अज़ खुदा॥

अर्थात् भक्तिके मार्गमें जिसका दर्पणके समान स्वच्छ हृदय है, उसे कण-कणमें खुदाका दीदार होने लगता है।

नफ्स आब चूँ हुबाब सत जिस्मे तो।
आब चूँ गरदी न मानद जिस्मे तो॥

पानीकी लहर जैसे पानीसे अलग नहीं है, दर हकीकत वैसे ही हम महबूबसे अलग नहीं हैं। आत्मा पानी है और शरीर बुलबुला है। शरीर न रहेगा तो तू पानी-ही-पानी है।

गश्त वासिल चूँ ब दरिया आबे जू।
आबे जूरा बाज़ अज़ दरिया मजू॥

अर्थात् नदीका पानी जब समुद्रमें मिल गया, तब फिर तू वहाँ नदीका पानी न ढूँढ़।

अमीर खुसरो जब अलाउद्दीन खिलजीके भेजे उपहार लेकर शाह-ए-कलन्दर बू अलीकी सेवामें पानीपत आया था, उस समय कलन्दर साहब गा रहे थे—

वहीम खुसरवाँ वरआँ केले अस्त रस्त।
खुसरो कसे के खलअत एतजरीद दर बरस्त।

अर्थात् जिसने अकिञ्चनताका राज्य पा लिया है, उसके लिये बादशाहोंके ताज जूतियोंके तले-बराबर हैं।

बू अलीशाह कलन्दरके कुछ दोहे फारसी लिपिमें संकलित किये गये थे, उसका एक नमूना है—

सजन सकारे जायँगे नयन मरेंगे रोय।
बिधना ऐसी रैन कर भोर कदी ना होय॥

देशप्रेमके दो अनूठे बलिदानी

(श्रीमदनमोहनजी शर्मा, एम्०ए०, एल्०टी०, साहित्यरत्न)

'प्रेमका विषय इतना गहन और कल्पनातीत है कि उसकी तहतक विद्वान् और ज्ञानी भी नहीं पहुँच सकते। अन्त:करणमें जब प्रेम-रसकी बाढ़ आती है तो मनुष्यके सम्पूर्ण अङ्ग पुलकित हो उठते हैं और हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। सच्चे प्रेममें स्वार्थकी गन्ध नहीं होती। जो भाग्यवान् पुरुष भगवान्‌के प्रेममें विह्वल होकर देहसे परे हो जाते हैं, उन्हें देहका कोई मोह नहीं रहता। भगवत्प्रेमीके सम्बन्धमें कही गयी यह बात देशप्रेमीपर भी बिलकुल खरी उतरती है। देशप्रेमसे ओत-प्रोत व्यक्तिका अपने देशसे अटूट सम्बन्ध होता है।

आइये! इस सन्दर्भमें अंग्रेजीशासनसे लोहा लेनेवाले उन अनगिनत देशप्रेमियोंमेंसे एक-दोकी चर्चा करें, जिससे हमें ज्ञात होगा कि आजादीके दीवानोंके लिये अपने वतनसे बढ़कर और कुछ हो ही नहीं सकता।

(१) अमरशहीद राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी

१७ दिसम्बर सन् १९२७ ई० का वह दिन जब जिला-जेल गोण्डामें राजेन्द्रनाथ लाहिड़ीको फाँसी दी गयी थी। फाँसीपर चढ़नेसे एक घंटे पहले लाहिड़ीजीने शान्तभावसे

स्नान किया, गीताका पाठ और नित्यकी भाँति व्यायाम भी किया। उसके पश्चात् कपड़े पहनकर मजिस्ट्रेटसे कहा—'मैं समझता हूँ कि मुझे देर नहीं हुई है'— और ऐसा कहते हुए वे कोठरीसे बाहर आकर मजिस्ट्रेटके सङ्ग हो लिये। मजिस्ट्रेटने फाँसीघरकी ओर चलते-चलते राजेन्द्रनाथ लाहिड़ीसे पूछा—'मिस्टर लाहिड़ी! आपको यदि एतराज न हो तो मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ।' राजेन्द्र लाहिड़ीद्वारा सहमति जतानेपर मजिस्ट्रेटने कहा—'मैं लगभग ४५ मिनटसे आप जो कुछ भी कर रहे थे, उसे देख रहा था। आपने स्नान किया, बिलकुल स्वाभाविक था, आपने गीताका पाठ किया, वह भी स्वाभाविक था; क्योंकि मानसिक तौरसे आप अपने-आपको आनेवाली घटनाके लिये तैयार कर रहे थे, किंतु मैं यह नहीं समझ सका कि आपने व्यायाम क्यों किया? इसकी क्या उपयोगिता थी?' इसपर लाहिड़ीजीने अत्यन्त शान्तभावसे उत्तर दिया—'आपके प्रश्नोंका उत्तर देना कोई कठिन नहीं। आप जानते हैं कि मैं हिन्दू हूँ और हिन्दू होनेके नाते मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि मैं मरने नहीं जा रहा हूँ; बल्कि अपनी मातृभूमिको स्वतन्त्र करानेका जो-जो कार्य अधूरा रह गया है, उसे पूर्ण करनेके लिये पुनर्जन्म लेने जा रहा हूँ। मेरा अन्तिम सन्देश मेरे देशवासियोंके लिये यही है।'

(२) अमरशहीद वैकुण्ठनाथ शुक्ल

१४ मई सन् १९३३ ई०को गया-जेलमें हँसते-हँसते फाँसीके फन्देको चूमनेवाले अमरशहीद वैकुण्ठनाथ शुक्लका फाँसीसे चन्द मिनटपूर्वका जो चित्र क्रान्तिकारी लेखक श्रीरामदुलारे त्रिवेदीने अपनी लेखनीद्वारा अङ्कित किया है, वह अत्यन्त ही रोमाञ्चकारी है—**'वन्दे मातरम्'** 'भारतमाताकी जय' का उद्घोष करते, मन्द-मन्द मुसकराते, जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाते हुए वैकुण्ठनाथ शुक्ल फाँसीके मञ्चपर चढ़ गये। फाँसीका फन्दा गलेमें डाले जानेसे पहले जल्लाद प्राणदण्ड पानेवालेके मुखपर काला टोपा पहना देता है—यही प्रक्रिया अपने साथ होते देखकर वैकुण्ठनाथ शुक्लने कहा—'इसकी कोई जरूरत नहीं है, मैं स्वयं अपने गलेमें फाँसीका फन्दा डाल लूँगा।' —यह कहते हुए वे मुसकरा रहे थे कि न जाने किस प्रेरणाके वशीभूत होकर ऐंग्लो-इण्डियन जेल सुपरिण्टेण्डेन्ट 'पेरेराने' रुमाल हिलाकर धीमी आवाजमें जल्लादसे कहा—'मत डालो, रहने दो।' किंतु आश्चर्यकी बात, पत्थरहृदय माना जानेवाला जल्लाद भी उस समय दंग होकर चकित दृष्टिसे वैकुण्ठनाथ शुक्लको फाँसीका फन्दा पहने फूल-सी हँसी हँसता देख खड़े-का-खड़ा रह गया। तब वैकुण्ठनाथ शुक्लने उसे पुकारा—'देर क्यों करते हो, अपना काम करो।' जल्लादने लीवर खींचा और मृत्युञ्जयी वीर वैकुण्ठनाथ शुक्ल फाँसीके झूलेपर सदाके लिये झूल गये।

ऐसी अनेक क्रान्तिकारी गाथाओंसे इतिहासके पन्ने भरे पड़े हैं, जिन्हें पढ़कर आश्चर्ययुक्त रोमाञ्च हो जाता है।

इन क्रान्तिकारियोंके मनमें अपने देशके प्रति अगाध प्रेमकी भावना भरनेका काम जिन्होंने अपनी लेखनीसे किया, उनका देशप्रेम भी उच्च कोटिका रहा है। अरविन्द घोष-सरीखे महामनीषीने अपने लेखोंके माध्यमसे देशकी आजादीके लिये मतवाले नवयुवकोंको समझाया कि मानवको पथभ्रष्ट करनेवाली पाश्चात्त्य भौतिकवादी संस्कृतिके अतिरिक्त भारतकी अध्यात्ममुखी संस्कृतिको अपनाना ही श्रेयस्कर है। उन्होंने नवयुवकोंमें गीता पढ़नेकी प्रेरणा जाग्रत् की, जिसके फलस्वरूप वे आत्माकी अमरताके सिद्धान्तको हृदयङ्गम करके हँसते-हँसते फाँसीके तख्तेपर चढ़ गये। सच है कि देशप्रेमकी उदात्त भावनासे जो ओतप्रोत हैं उनके लिये बड़े-से-बड़ा सुख भी तुच्छ ही है—

जो भरा नहीं है भावोंसे बहती जिसमें रसधार नहीं।
वह हृदय नहीं है पत्थर है जिसमें स्वदेशका प्यार नहीं॥

* * *

त्वन्नामकीर्तनसुधारसपानपीनो दीनोऽपि दैन्यमपहाय दिवं प्रयाति।
पश्चादुपैति परमं पदमीश ते चैतद्भाग्ययोग्यकरणं कुरु मामपीश॥

(आदित्यपुराण)

'दीन—दुःखी मनुष्य भी तुम्हारे नाम-कीर्तनरूप सुधारसके पानसे पुष्ट होकर दीनता त्याग दिव्य-लोकोंमें चला जाता है और वहाँके भोगोंको चिरकालतक भोगकर फिर हे स्वामिन्! वह आपके परमपदको पा लेता है। हे प्रभो! मुझे भी ऐसा बना दीजिये, जिससे मेरी वाणी आदि इन्द्रियाँ इस प्रकारका सौभाग्य प्राप्तकर धन्य हो सकें।'

* * *

भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य प्रेमी कुछ गैर हिन्दू भक्तजन

(गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी 'पिलखुवा')

[भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीमद्भागवत तथा श्रीमद्भगवद्गीताके दिव्य प्रेमतत्त्वने हिन्दुओंको ही नहीं, अनेक अंग्रेजों तथा मुसलमानोंको भी प्रभावित कर उन्हें श्रीकृष्ण-प्रेममें आबद्ध कर लिया था। सनातन-धर्मके अनन्य सेवक तथा संत-साहित्यके सुविख्यात लेखक गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजीने ऐसे ही अनेक विदेशी भगवत्प्रेमी भक्तजनोंके पावन चरित्रोंका संकलन किया था। उनमेंसे कुछको यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—सं०]

[१]

श्रीरोनाल्ड निक्सन बने श्रीकृष्णप्रेम-भिखारी*

ब्रिटेनमें जन्मे श्रीरोनाल्ड निक्सन अपने देशकी सेनामें भर्ती हुए थे। उन्होंने युद्धमें भाग लेते समय अनुभव किया कि मानव-जीवनका लक्ष्य आध्यात्मिक उन्नतिमें ही निहित है। उसे भौतिकवादी वस्तुओंकी उपलब्धिमें लगाना कोरी मूर्खता ही है। युद्ध तथा हिंसासे ऊबकर वे भगवान् बुद्धके दर्शनकी ओर उन्मुख हुए। बादमें श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन कर उन्होंने अपना समस्त जीवन श्रीराधा-कृष्णकी भक्ति तथा वैष्णवधर्मके प्रचार-प्रसारके लिये समर्पण कर दिया। सुविख्यात शिक्षाविद् डॉ० ज्ञानेन्द्रनाथ चक्रवर्ती इंग्लैण्ड गये हुए थे। वहीं रोनाल्ड निक्सनकी उनसे भेंट हुई। श्रीचक्रवर्तीके परामर्शपर वे अपना देश छोड़कर भारत आ गये। कुछ दिन लखनऊमें श्रीचक्रवर्तीके साथ रहे। बादमें महामना पं० मदनमोहन मालवीयजी महाराजने उन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें मनोनीत कर दिया।

श्रीज्ञानेन्द्रनाथ चक्रवर्तीकी धर्मपत्नी यशोदा परम भागवत विदुषी महिला थीं। श्रीरोनाल्ड निक्सनने उनके पावन सांनिध्यमें रहकर भगवान् श्रीकृष्ण-राधाजीके दिव्यातिदिव्य प्रेमकी अनुभूति प्राप्त की। यशोदामाईको अपना गुरु बनाया तथा उनसे दीक्षा ली। यशोदामाईने रोनाल्ड निक्सनको 'श्रीकृष्णप्रेम-वैरागी' नाम दिया।

वे जिन दिनों काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें अध्यापन-कार्य करते थे (संवत् १९८५ में) उन दिनों 'कल्याण' के 'भक्ताङ्क' विशेषाङ्कके लिये सामग्री-संकलन करते समय पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारसे उनकी काशीमें भेंट हुई। उन्होंने भाईजीको 'ज्ञान और भक्ति' शीर्षकसे एक सुन्दर लेख विशेषाङ्कके लिये लिखकर दिया। भाईजीने उस समय यह स्वीकारा था कि श्रीकृष्णप्रेमजीको श्रीमद्भगवद्गीताका गहन अध्ययन है।

श्रीकृष्णप्रेमजीने गीताका अंग्रेजीमें अनुवाद किया। श्रीमद्भागवतमें वर्णित भगवान्की बाल-लीलाओंका अलगसे अनुवाद किया। वे सिरपर लम्बी चोटी रखते थे और माथेपर वैष्णव तिलक लगाते थे। गलेमें सोनेकी एक डिबियामें गीताजीकी छोटी-सी प्रति श्रद्धा-भावसे धारण किये रहते थे।

श्रीकृष्णप्रेमजीने अपने गुरु यशोदामाईके साथ श्रीवृन्दावनधाममें रहकर अधिक समयतक उपासना-साधना की तथा श्रीमन्माध्वगोडेश्वराचार्य गोस्वामी बालकृष्णजी महाराजके श्रीचरणोंमें बैठकर धर्मशास्त्रोंका अध्ययन किया।

बादमें उन्होंने अल्मोड़ा जिलेके मीरतोला नामक सुन्दर गाँवमें एक आश्रमकी स्थापना की। उसे 'उत्तर वृन्दावन' नाम दिया। इस आश्रममें श्रीराधा-कृष्णका सुन्दर मन्दिर बनवाया तथा एक गोशालाकी स्थापना की। श्रीकृष्णप्रेमके अनेक अंग्रेज भक्त भी वहाँ वैष्णव-धर्मकी दीक्षा लेकर विरक्त जीवन बिताने आ गये थे। वे अपने हाथोंसे भगवान् श्रीबालकृष्ण और गायोंकी सेवा करते थे। शेष समय शास्त्राध्ययन तथा लेखन-कार्यमें बिताते थे। जब वे हाथोंमें मंजीरे लेकर भगवान्के प्रेममें निमग्न होकर संकीर्तन और नृत्य करते तो अल्मोड़ा-क्षेत्रका यह स्थल साक्षात् वृन्दावनका रूप धारण कर लेता था।

समय-समयपर हमें श्रीकृष्णप्रेमजीके दर्शनका, उनके संस्मरण सुननेका परम सौभाग्य प्राप्त होता रहता था। वे महान् संत श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज और श्रीहरिबाबाजी महाराज-जैसे संतोंके प्रति अगाध श्रद्धा-भावना रखते थे।

---

* श्रीकृष्णप्रेमजी जाने-माने अंग्रेज श्रीकृष्ण-भक्त थे। वे रोनाल्ड निक्सनसे 'श्रीकृष्णप्रेम' बने। अपना देश तथा वेश-भूषा त्यागकर परम वैष्णव बन अल्मोड़ाके निकट 'उत्तर वृन्दावन' बसाकर जीवनपर्यन्त श्रीकृष्णके प्रेममें निमग्न रहे। उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता आदिका अंग्रेजीमें अनुवाद किया।

महामना पं० मदनमोहन मालवीयजी महाराज श्रीकृष्णप्रेमकी निश्छल भक्ति-भावना तथा विद्वत्तासे बहुत प्रभावित थे।

[२]

श्रीकृष्ण-भक्त अंग्रेज डॉ० डेविडसन

लगभग सन् १९१८ ई० की बात है, बाबूगढ़ (जिला मेरठ)-में एक अंग्रेज डॉ० डेविडसन, मेडिकल अफसर होकर आये थे। डॉ० डेविडसन साहब बड़े ही मिलनसार, सज्जन और सात्त्विक विचारोंके श्रीकृष्ण-भक्त पुरुष थे। उनके सम्बन्धमें यह बात बड़ी प्रसिद्ध थी कि उन्होंने अपनी श्रीकृष्ण-भक्ति, श्रीकृष्णनाम-जप और श्रीकृष्ण-प्रार्थनाके बलपर अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हैं। डॉ० डेविडसनके कमरेमें मनुष्यके बराबर आकारवाली भगवान् श्रीकृष्णकी एक बहुत ही सुन्दर प्रतिमा थी और वे उस प्रतिमाके सामने खड़े होकर प्रेममें विभोर हो नृत्य करते हुए श्रीकृष्ण-कीर्तन किया करते थे। श्रीकृष्ण-कीर्तनमें उनकी इतनी तन्मयता हो जाती थी कि वे अपने शरीरतककी भी सुध-बुध खो बैठते थे।

हापुड़-निवासी वैद्यराज पण्डित श्रीमुकुन्दलालजी शर्माका श्रीकृष्ण-भक्त डॉ० डेविडसनसे बड़ा प्रेम था। एक दिन श्रीमुकुन्दलालजी अपने कुछ मित्रोंको साथ लेकर डॉ० डेविडसन साहबसे मिलनेके लिये बाबूगढ़ गये। सबने जाकर क्या देखा कि साहबका कमरा अंदरसे बिलकुल बंद है और कुछ-कुछ गानेकी-सी वाणी सुनायी पड़ रही है। वे कमरेके पीछेकी ओर गये और जँगलेसे झाँककर देखा तो उन्हें उस कमरेमें एक मनुष्यके बराबर आकारवाली भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी सुन्दर प्रतिमा स्थापित दिखायी दी। डॉ० डेविडसन साहब भगवान् श्रीकृष्णका कीर्तन कर रहे थे। इन्होंने समझा कि ‘अंग्रेजलोग शराब पीते ही हैं, आज डॉ० डेविडसनने शायद ज्यादा शराब पी ली है और उसीके नशेमें नाच-कूद रहे हैं। इसलिये अब इनसे मिलना और बातें करना उचित नहीं है।’ ऐसा अपने मनमें विचारकर वे लोग वहाँसे चुपचाप चल दिये।

साहबको श्रीकृष्णनाम-जप, श्रीकृष्ण-नाम-कीर्तन और श्रीकृष्ण-प्रार्थनाके द्वारा दूसरोंके मनकी बात जान लेनेकी अद्भुत शक्ति प्राप्त हो चुकी थी। इसलिये वे इनके मनकी बात भलीभाँति जान गये। ये लोग अभी कुछ ही दूर गये होंगे कि साहबने झटसे अपना कमरा खोलकर चपरासीको संकेत करके कहा—‘सामने जानेवाले उन व्यक्तियोंको हमारे पास बुला लाओ।’ चपरासीके बुलानेपर पण्डित श्रीमुकुन्दलाल शर्माजी अपने साथियोंके साथ वापस लौट आये। डॉ० डेविडसन साहबने उनसे पूछा कि ‘बताइये, आपने क्या देखा है और क्या समझा है?’

इसपर मुकुन्दलालजीने कहा कि ‘साहब! हमने कुछ नहीं समझा है।’

डेविडसन साहबने कहा—‘शायद आपलोगोंको यह भ्रम हुआ है कि आज साहब शराब अधिक पी गये हैं और शराबके नशेमें ही झूम रहे हैं, पर ऐसी बात नहीं है, यह आपका भ्रम ही है।’

डॉ० साहबद्वारा अपने मनकी बात सुनकर सभी दंग रह गये और उन्होंने कहा कि ‘जी हाँ, साहब! वास्तवमें हमारे मनमें यही बात आयी थी जो आप कह रहे हैं, पर आपको हमारे मनकी बात मालूम कैसे हो गयी?’

डॉ० साहबने कहा—‘अच्छा, अब आप सब मेरे इस कमरेमें आइये।’ वे सबको अपने साथ कमरेमें ले गये और अंदर ले जाकर दिखाया कि संगमरमरकी बड़ी सुन्दर भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य प्रतिमा वहाँ विराजमान है, वह बहुत ही सुन्दर वस्त्राभूषणों और पुष्पहारोंसे सुसज्जित है। फिर साहबने कहा कि ‘शर्माजी!’ मैं इन्हीं अपने परम इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णके सामने खड़ा होकर नृत्य-कीर्तन कर अपने प्रभु भगवान् श्रीकृष्णको रिझा रहा था और इस श्रीकृष्ण-प्रेमकी मादकतामें झूम रहा था, अन्य कोई बात नहीं थी।’

एक विदेशी और विधर्मी अंग्रेजके कमरेमें भगवान् श्रीकृष्णकी सुन्दर प्रतिमाको देखकर तथा उनके मुखसे श्रीकृष्ण-भक्तिकी सुन्दर मीठी रसीली बातें सुनकर सभी आश्चर्यचकित रह गये एवं सभीका हृदय गद्‌गद हो गया और वे अपनेको कृतकृत्य मानने लगे।

श्रीकृष्ण-भक्त अंग्रेज डॉ० डेविडसन साहब मांस-मदिराका खाना-पीना तो दूर रहा, स्पर्श करना भी बड़ा घोर पाप मानते थे। आप एक परम वैष्णव बन गये थे। वेदोंमें तथा हिन्दू-धर्मके अन्य ग्रन्थोंमें आपकी बड़ी आस्था थी। आप हिन्दू सनातनधर्मको ही सर्वश्रेष्ठ और एकमात्र पूर्ण धर्म मानते थे। आपको श्रीकृष्ण-भक्तिका यह अद्भुत चस्का सर्वप्रथम अफ्रीकामें लगा था और कुछ दिनोंके पश्चात् परम पवित्र श्रीमथुरापुरीमें आनेपर तो आपपर श्रीकृष्णभक्तिका

पूरा-पूरा रंग चढ़ गया। जबतक आप जीवित रहे, श्रीकृष्ण-भक्तिमें तल्लीन रहे और नित्यप्रति अपने परम इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिके सामने खड़े होकर नृत्य-कीर्तन करते रहे।

[३]

श्रीकृष्ण-भक्त बहन रेहाना तैय्यबजी

मैंने गाँधीजीकी सुप्रसिद्ध शिष्या एवं विख्यात देशभक्त अब्बास तैय्यबजीकी सुपुत्री स्व० बहन कुमारी श्रीरेहाना तैय्यबजीकी श्रीकृष्ण-भक्तिके विषयमें बड़ी चर्चा सुनी थी। हमारा मन बरबस उनके दर्शनोंके लिये लालायित हो उठा। मैंने उन्हें एक पत्र लिखा कि हम आपसे भेंट करना चाहते हैं। इसपर बहन रेहानाजीने मुझे १२ जून सन् १९६२ ई० को दिनके ११-३० बजेसे १२-३० बजे मध्याह्नतकका समय दे दिया।

मैं अपने पुत्रको लेकर पिलखुवासे दिल्ली स्थित काका साहब कालेलकरके निवासस्थानपर जा पहुँचा और ११ बजेसे लगभग आधा घंटेतक हम काका साहबसे विभिन्न विषयोंपर चर्चा करते रहे।

श्रीकृष्ण-भक्तिका अद्भुत दृश्य—निश्चित समय ठीक ११-३० बजे हम श्रीरेहाना बहनके कमरेमें प्रविष्ट हुए। सामने लकड़ीकी एक चौकीपर बहन रेहानाजी बैठी हुई थीं और उनके समक्ष थी भगवान् श्रीकृष्णकी एक बड़ी ही मनमोहिनी प्रतिमा, जिसके ऊपर उन्होंने सुगन्धित पुष्प भी चढ़ा रखे थे। पासमें पूजाकी घंटी रखी हुई थी। भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिके समीप ही वे बैठी थीं। पासमें ही श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद् आदि ग्रन्थ रखे हुए थे। एक अहिन्दू-परिवारमें जन्म लेकर भी भगवान् श्रीकृष्णकी उपासना और हिन्दू-धर्मग्रन्थोंका स्वाध्याय एवं भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिकी पूजा करते देखकर श्रद्धासे हमारा सिर उनके चरणोंमें झुक गया।

हम अपने साथ कुछ फल भी ले गये थे। हमने उन्हें उनके सामने रख दिया। वे झट उठीं और उन्होंने उन फलोंको अपने परम इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णके सामने अर्पण करके उनमें तुलसीपत्र छोड़ा और फिर अपनी आँखें बंदकर भगवान्‌को भोग लगानेका मन्त्र पढ़ा, घंटी बजायी और बैठ गयीं। उन्होंने फल-प्रसाद सभी उपस्थित लोगोंको बाँट दिया।

योगी और भोगीका अन्तर—वार्ताके मध्य हमने प्रश्न किया—आपकी दृष्टिमें देशमें दिनोंदिन बढ़ रही नास्तिकता एवं अशान्तिका मूल कारण क्या है?

इसपर वे बड़ी गम्भीर होकर बोलीं, 'भाईसाहब! जब योगी भोगीको अपना मार्गदर्शक मानकर उससे कुछ सीखनेका प्रयत्न करने लगेगा तो समझ लीजिये कि उस समय घोर कलियुग आ जायगा एवं अनाचार, पापाचार, अत्याचार और व्यभिचार आदि बढ़ जायँगे। भारत धर्मप्राण योगियोंका परम पवित्र महान् देश है। अन्य पश्चिमी देश भोगियोंके देश हैं और भौतिकवादियोंके केन्द्र हैं। भारतभूमिपर भगवान्‌के मङ्गलमय श्रीचरण पड़े हैं और इसकी पवित्र धरतीपर स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अवतार लेकर लीलाएँ की हैं। त्याग एवं वैराग्यका यह केन्द्र रहा है। अतः यदि भोगी (पश्चिमी देश) हमसे (भारतसे) कुछ शिक्षा ग्रहण करें तो ठीक है, पर यदि उलटे हम (योगी) ही उन महान् भौतिकवादी भोगियोंके पीछे दौड़ेंगे तो उसका परिणाम क्या होगा, इसका अनुमान लगा लीजिये। आजकल ठीक वही हो रहा है। आज उलटी गङ्गा बह रही है। जहाँ कभी पश्चिमी देश भारतको धर्मभूमि और योगियोंका परम पवित्र देश मानकर उससे शिक्षा ग्रहण किया करते थे, वहाँ आज हम भारतीय उलटे भोगी देशोंको अपना पथप्रदर्शक (गुरु) मानकर उनका अन्धानुकरण करनेमें ही महान् गौरवका अनुभव कर रहे हैं। देशके घोर अधःपतनका यही मूल कारण है।

श्रीकृष्णकी उपासिका—मैंने पुनः प्रश्न किया, 'कुछ लोग भगवान् श्रीकृष्णको ऐतिहासिक पुरुष नहीं मानते। उधर कुछ लोग उन्हें ऐतिहासिक पुरुष तो मानते हैं, पर उन्हें वे भगवान्‌का साक्षात् अवतार नहीं मानते? इन विषयोंपर आपका मत क्या है?'

इस प्रश्नपर रेहानाजी कुछ भड़क उठीं और बोलीं—'जो लोग भगवान् श्रीकृष्णके अस्तित्वमें विश्वास नहीं रखते, वे कोरे अज्ञानी हैं। कोई उनके अस्तित्वमें विश्वास करे या न करे, परंतु सत्य तो सत्य ही है। भगवान् श्रीकृष्ण भक्तोंको समय-समयपर आज भी साक्षात् प्रकट होकर प्रत्यक्ष अपना दर्शन दिया करते हैं। श्रीमीराबाईको उन्होंने प्रत्यक्ष दर्शन दिये थे। सूरदासजीके भी समक्ष प्रकट होकर उन्हें अपनी संनिधि प्रदान की थी। नरसी भगतकी उन्होंने स्वयं

प्रकट होकर सहायता की थी और उनका भात भरा था। धर्मपर विपत्ति आनेपर वे अवतार लेकर धर्मद्रोहियोंका सदा संहार किया करते हैं। उनके अस्तित्वमें विश्वास न करनेवाले अज्ञानी हैं।' यह कहते हुए रेहानाजी श्रीकृष्ण-प्रेममें अत्यन्त विह्वल हो उठीं। बहन रेहानाजी बोलीं—'भगवत्तत्त्व बड़ा गूढ़ और विलक्षण है। इस जाननेयोग्य परम तत्त्व श्रीकृष्णको जिसने जान लिया है, वही उस अनिर्वचनीय रसानुभूतिका अनुभव कर सकता है। श्रीकृष्ण-प्रेम ऐसा ही अनूठा है। इसकी टीसको जिसने अनुभव किया है, वही उस दिव्यानन्दको जान सकता है—

नहीं इश्क का दर्द लज्जत से खाली
जिसे 'जौक' है वह मजा जानता है।

उन्होंने कहा, 'भगवान् श्रीकृष्ण अथवा श्रीकृष्णको काल्पनिक बतानेवाले स्वयं बिन्दुके समान हैं और भगवान् श्रीकृष्ण अथवा राम अनन्त सिन्धु हैं। भला बिन्दु सिन्धुका क्या मुकाबला कर सकता है? कहाँ एक बूँद और कहाँ अगाध समुद्र! क्या कभी बिन्दुको सिन्धुकी गम्भीरताका पूरा ज्ञान हो सकता है? असम्भव! अत: लोगोंकी ऐसी उक्तियोंका कोई मूल्य नहीं है।'

'आप मुसलिम-परिवारकी होकर भी भगवान् श्रीकृष्णकी उपासना कबसे और कैसे करती हैं?' इस प्रश्नपर स्व० रेहाना बहनने कहा—'यह सच है कि मैंने एक मुसलिम-घरमें जन्म लिया, पर मेरे संस्कार अस्सी प्रतिशत हिन्दू हैं। यह भी सच है कि असलमें हम हिन्दू ही थे, हिन्दुस्तानमें ही पैदा हुए, कहीं बाहरसे नहीं आये। मैं बचपनसे ही पूर्व-जन्म मानती थी, श्रीकृष्णको अपने दिलमें बैठाये फिरती थी। बचपनमें वेदान्त पढ़ती और उसे समझती थी। घरसे अलग रहकर कुछ अजब मानसिक और आध्यात्मिक सूनापन-सा महसूस किया करती थी। जब मेरी उम्र आठ वर्षकी थी तभी मैंने किसीसे सुना था कि 'हिन्दू लोग बुतपरस्त हैं।' इसपर मैंने झुँझलाकर कहा था कि हिन्दू मूर्तिपूजक नहीं हैं, वे मात्र मूर्ति नहीं पूजते, बल्कि उसके पीछे जो कुछ तत्त्व है, उसे ही पूजते हैं। वास्तविकता यह है कि श्रीकृष्ण-भक्ति मुझे पिछले जन्मके संस्कारोंके कारण ही मिली है, मैं ऐसा ही मानती हूँ। मेरे परिवारवाले मुझे गीता पढ़ते देखकर, श्रीकृष्णकी भक्ति करते देखकर और श्रीकृष्ण-भक्तिके भजन गाते हुए सुनकर अपनी धर्मान्धताके कारण मुझसे काफी नाराज रहते थे। मेरे पूर्वजन्मके संस्कारोंने ही मेरी काफी मदद की। ये संस्कार ही मुझे यह सब करनेपर मजबूर करते रहे हैं।'

पुनर्जन्ममें विश्वास—स्व० बहन रेहानाजी हिन्दू-धर्मके पुनर्जन्मके सिद्धान्तमें दृढ़ विश्वास रखती थीं। पुनर्जन्मके सम्बन्धमें हमारे प्रश्न करनेपर उन्होंने कहा—'साधारणत: कोई प्रश्न कर सकता है कि 'तुम्हारे पास क्या सबूत है कि जीव मृत्युके बाद दुबारा जन्म लेता है?' इसके उत्तरमें कुछ लोग कह सकते हैं कि 'कोई नहीं।' परंतु मैं पूछती हूँ कि 'क्या उनके पास कोई सबूत है कि पुनर्जन्म नहीं होता?' इसका सामान्य-सा उत्तर यही होता है कि नहीं, कोई सबूत तो नहीं है पुनर्जन्मकी बात भ्रममात्र मालूम होती है। ऐसा उत्तर देनेवालोंसे मुझे कहना होगा कि आपको न कुछ अभ्यास है, न अनुभव। आपने तुरंत भ्रम मान लिया। यदि भ्रम है तो मैं बड़े भव्य भ्रमितोंकी पंगतमें हूँ; क्योंकि मैंने तो स्वयं ही अपने जीवनमें पुनर्जन्मकी सत्यताका अनुभव किया है।'

गीतासे प्रेरणा—रेहाना बहनको श्रीमद्भगवद्गीताके प्रति अटूट श्रद्धा थी। गीताको वे महान् एवं अद्वितीय धर्मग्रन्थ मानती थीं। वे अपनी आत्मकथा 'सुनिये काका साहब' में लिखती हैं कि 'सन् १९२३ ई० में मेरे जीवनमें गीताजी प्रकट हुईं। मैंने 'यंग इण्डिया' में बापूद्वारा की गयी गीताकी प्रशंसा पढ़ी। मैं गीता ले आयी। उसे पढ़ा और पढ़ते-पढ़ते मेरे दिल-दिमागपर मानो बिजलियाँ गिरती चली गयीं। मैं पागल हो गयी, विह्वल हो गयी और व्याकुल हो गयी। मैंने लगातार उसे बीस बार पढ़ लिया, फिर भी उसे हाथसे अलग न रख सकी। रातको तकिये-तले रखकर सोती। मेरी आँखोंके सामने एक अद्भुत सुन्दर, तेजोमय और आनन्दमय दुनिया मानो खुल गयी। गीताके सात सौ श्लोकोंमें मुझे चौदह ब्रह्माण्डोंके रहस्य नजर आने लगे। मेरे सभी सवालोंके एकदमसे जवाब मिल गये। हर उलझनका सुलझाव मिल गया। हर अँधेरेका दीपक मिल गया। हर गुमराहीको रहनुमा (मार्गदर्शक) मिल गया। गीतामें मैंने सब कुछ पा लिया।'

रेहाना बहन नियमित गीताका पाठ किया करती थीं। गीताके सभी श्लोक उन्हें कण्ठस्थ थे। वे श्रीमद्भगवद्गीताको सम्मानपूर्वक 'गीता शरीफ' कहकर पुकारा करती थीं।

अंग्रेजी शिक्षाको रेहाना बहन मानसिक गुलामीका प्रतीक मानती थीं। एक बार उन्होंने बड़े दुःखभरे शब्दोंमें कहा था—'अंग्रेजी शिक्षाने हमारे मस्तिष्कको विकृत कर डाला है और अंग्रेजी दवाओंने शरीरको।'

देशभक्त परिवार—रेहाना बहनने सन् १९०१ ई० में एक गुजराती मुसलिम परिवारमें जन्म लिया था। तैय्यबजीका परिवार देशभक्तिके लिये विख्यात रहा है। पूरा परिवार गाँधी-भक्त रहा है। रेहानाजीके नाना न्यायमूर्ति बदरुद्दीन तैय्यबजी, उनके पिता अब्बास तैय्यबजी तथा परिवारके अन्य सभी सदस्योंने जहाँ ऊँचे-ऊँचे पदोंपर कार्य किये हैं, वहीं देशभक्तिके कार्योंमें भी वे किसीसे पीछे नहीं रहे हैं। उनके पिता अब्बास तैय्यबजी प्रसिद्ध और प्रमुख देशभक्त रहे हैं। रेहाना बहनने गाँधीजीकी प्रेरणासे नमक-सत्याग्रहमें भी डटकर भाग लिया था।

रेहानाजीने अपनी पुस्तक 'गोपी-हृदय' में श्रीकृष्ण-भक्तिकी अनोखी आध्यात्मिक आत्मलक्षी कहानी लिखी है। 'कृपाकिरण' श्रीकृष्ण-भक्तिसे ओत-प्रोत भजनोंका संग्रह है। हिन्दू-धर्म, हिन्दू-दर्शन एवं हिन्दू-आचार-विचारोंके प्रति उनकी श्रद्धा-भक्ति एवं दृढ़ विश्वास वस्तुतः प्रशंसनीय है। थोड़ेमें, रेहानाजीको हमने जैसा सुना, वैसा ही पाया।

[४]

श्रीराम-कृष्णके प्रेमी भक्त—मेजर लीद

फरवरी सन् १९६५ ई० की बात है। भारतके सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी संन्यासी स्वामी श्रीसत्यानन्दतीर्थजी पिलखुवा हमारे स्थानपर पधारे थे। माननीय स्वामीजी महाराज गीता-रामायणकी कथा किया करते थे। हमें यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि आप एक आर्यसमाजी संन्यासी होकर भी गीता-रामायणका बड़े प्रेमसे पाठ करते हैं और दूसरे लोगोंको भी गीता-रामायणका पाठ करनेका उपदेश करते हैं।

हमने स्वामीजीसे प्रश्न किया—'स्वामीजी महाराज! एक आर्यसमाजी संन्यासी होते हुए भी आपकी गीता-रामायणमें ऐसी दृढ़ निष्ठा और भगवान् श्रीराम-कृष्णमें ऐसा अद्भुत प्रेम होनेका कारण क्या है?'

उन्होंने बताया—मेरे जीवनमें एक ऐसी सत्य घटना घटी है कि जिसके कारण मुझे बरबस भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्णको परब्रह्म परमात्मा माननेके लिये बाध्य होना पड़ा है तथा मुझे रामायण और गीतामें इतनी निष्ठा हो गयी है। एक बार मुझे एक बड़े धनी-मानी सेठके साथ विदेशयात्राके लिये जाना पड़ा। मैं उस समय फ्रांस आदि यूरोपके कई देशोंके अतिरिक्त इंग्लैण्ड भी गया और वहाँ बहुत दिनोंतक रहा। मुझे स्वप्नमें भी यह कल्पनातक न थी कि इस फैशनपरस्त, विलासप्रधान देशमें, जहाँ लोग अंडे, मांस, मछली खाते हैं, शराब पीते हैं और स्त्री-पुरुष उन्मत्त होकर नृत्य करते हैं, वहाँ लङ्कामें भक्त विभीषणकी भाँति कोई सज्जन एकान्तमें बैठकर भगवान् श्रीराम-कृष्णकी भक्ति भी कर सकता है!

सहसा एक दिन मुझे एक अंग्रेज सज्जन मिले, जिनका शुभ नाम था—मेजर लीद। मेजर लीद पहले बहुत समयतक भारतीय फौजमें मेजरके पदपर रह चुके थे। वे भारतीय हिन्दू-सभ्यता-संस्कृतिसे बड़े प्रभावित थे तथा बहुत प्रेम रखते थे। वे भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भक्त थे।

उन्होंने मुझे भारतीय हिन्दू समझकर मुझसे बड़ा प्रेम किया और वे मुझे तुरंत अपने घर ले गये। वहाँ भारतीय अतिथिके नाते मेरा बड़ा आदर-सत्कार किया। जिस प्रकार और बहुत-से अंग्रेज हम भारतीय हिन्दुओंको गुलाम देशका एवं काला आदमी समझकर घृणा करते हैं, वहाँ मेजर लीदने मुझे भारतीय ऋषियोंके देशका हिन्दू समझकर बड़े प्रेमसे और पूज्यभावसे देखा। उन्होंने बड़े आदरसे मुझे अपने घरमें ठहराया।

वे मुझे एक बार अपने घरके अंदर ले गये। बड़े प्रेमसे एक सुन्दर आलमारी दिखायी, जो संस्कृत और हिन्दीके बहुत-से ग्रन्थोंसे भरी थी। तुलसीकृत श्रीरामचरितमानस, श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता, सम्पूर्ण महाभारत आदि सब ग्रन्थ उस आलमारीमें सुशोभित थे। उन सब ग्रन्थोंकी बहुत सुन्दर सुनहरी जिल्दें बँधी हुई थीं। उन्होंने हमारे उन पूज्य धर्मग्रन्थोंको ऐसे सुन्दर ढंगसे आदरपूर्वक सजाकर रखा था कि उस प्रकार हमारे भारतीय हिन्दू-घरोंमें भी उन्हें नहीं रखा जाता है। वे उन ग्रन्थोंको बड़ी पूज्य दृष्टिसे देखते थे तथा बड़े ही प्रेमसे, बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ पढ़ते और उनका नित्यप्रति स्वाध्याय करते थे, जिसे देखकर बड़ा आश्चर्य होता था।

श्रीमद्भगवद्गीता और तुलसीदासकृत श्रीरामचरितमानसके तो वे ऐसे अनन्य भक्त और प्रेमी थे कि नित्य उनका पाठ करते-करते श्रीमद्भगवद्गीताके श्लोक एवं

श्रीरामचरितमानसकी बहुत-सी चौपाइयाँ उन्हें कण्ठस्थ हो गयी थीं, जिन्हें वे बड़े प्रेमसे गा-गाकर सुनाया करते थे। जिस समय वे गा-गा करके सुनाते, उस समय वे भगवान् श्रीराम-कृष्णके प्रेममें विभोर—गद्गद हो जाते थे।

मेरे द्वारा मेजर लीदसे यह प्रश्न किया जानेपर कि 'साहब! आपने एक अंग्रेज होनेपर भी इस प्रकार हिन्दी और संस्कृत-भाषाका इतना ज्ञान प्राप्त कैसे किया कि जो इस प्रकार आप रामायणकी चौपाइयाँ और श्रीमद्भगवद्गीताके श्लोक धड़ाधड़ बोल रहे हैं? आपको भगवान् श्रीराम-कृष्णकी भक्तिका यह चस्का भी कहाँसे लगा कि जो भगवान् श्रीराम-कृष्णका नाम लेते ही आप एकदमसे गद्गद हो जाते हैं?'

मेजर लीदने कहा, 'मैं जब आपके परम पवित्र देश भारतमें मेजर-पदपर था, तब मैंने वहाँ लगातार सात वर्षोंतक एक संस्कृतके विद्वान् ब्राह्मणसे संस्कृत भाषा पढ़ी थी। उन विद्वान् ब्राह्मणको मैं प्रतिमास पंद्रह रुपये दिया करता था। इसीसे मुझे हिन्दू-फिलॉसफीका ज्ञान तथा उसमें अनुराग प्राप्त हो गया। अब मैं हिन्दू-फिलॉसफीसे बढ़कर और किसीको भी नहीं मानता हूँ। मैंने संस्कृत पढ़कर हिन्दूधर्मका जो ज्ञान प्राप्त किया, उसके आधारपर मेरे मनने निष्पक्ष होकर पूर्णरूपसे यह निश्चय और निर्णय कर लिया कि समस्त विश्वमें एकमात्र आपका हिन्दूधर्म, सनातनधर्म ही पूर्ण है और इसी हिन्दूधर्मकी शरणमें आनेसे तथा हिन्दूधर्मके ग्रन्थोंके अनुसार चलनेसे ही जीवका परम कल्याण हो सकता है। मेरा यह भी पूर्ण निश्चय और विश्वास है कि भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्य नहीं थे। वे साक्षात् परमात्माके ही पूर्ण अवतार थे। जितने भी अवतार और बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, संत-महात्मा एवं सिद्ध योगी हुए हैं, वे एकमात्र आपके परम पवित्र दिव्य देश भारतमें ही और आपकी परम पवित्र हिन्दू-जातिमें ही हुए हैं। आपका यह देश भारतवर्ष धर्मप्राण, परम पवित्र और जगद्गुरु देश है। यह आपका परम सौभाग्य है कि जो आपने ऐसे परम पवित्र देश भारतमें और परम पवित्र हिन्दू-जातिमें जन्म लिया।'

[५]

महान् कृष्णभक्त—मोहम्मद याकूब खाँ 'सनम'

रहीम, रसखान और ताज बेगमकी परम्परामें इस शताब्दीमें हुए हैं मोहम्मद याकूब खाँ उर्फ 'सनम साहब'। अजमेरवासी सनम साहबने सन् १९२० ई० से लेकर सन् १९४४ ई० तक देशभरमें कृष्ण-भक्तिका प्रचार-प्रसार किया तथा अन्तमें सन् १९४५ ई० में एक दिन अपने इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाभूमि व्रजकी पावन मिट्टीमें अपना शरीर समर्पण कर दिया।

सनम साहबने संस्कृत, हिन्दी और उर्दूमें प्रकाशित कृष्णभक्ति-साहित्यका गहन अध्ययन किया। इन भाषाओंके अतिरिक्त वे फारसीके भी प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने कृष्णभक्ति-सम्बन्धी लगभग १२०० पुस्तकें संग्रहीत कीं तथा अजमेरमें 'श्रीकृष्ण-लाइब्रेरी' की स्थापना की। सनम साहबने बहुत समयतक व्रजभूमिमें रहकर श्रीकृष्णकी उपासना की। अपनी मुक्तिके उद्देश्यसे वे कृष्णभक्त बने और तपस्वी गुरुके अन्वेषणमें लग गये। अन्तमें व्रजभूमिके संत श्रीसरसमाधुरीशरणजीको उन्होंने अपना गुरु बना लिया। गुरुदेव सरसमाधुरीशरणजीकी प्रेरणासे उन्होंने देशभरमें कृष्णभक्तिकी धारा प्रवाहित करनेका संकल्प लिया। वे प्रभावशाली वक्ता तथा भावुक भक्त थे, अतः कुछ ही समयमें देशभरमें उनके प्रवचनोंकी धूम मच गयी। सनम साहबने अपने एक प्रवचनमें कहा था—'श्रीकृष्णके दो रूप हैं निराकार और साकार। निराकार जो गोलोकधाममें विराजमान है, उसका तीन रूपसे अनुभव होता है—प्रेम, जीवन तथा आनन्द। प्रेम ही जीवनविधान है, जीवन ही सत्यताका आधार है और जीवनका मुख्य उद्देश्य आनन्द है। इस कारण ये तीनों ही श्रीकृष्णकी निराकार विभूतियाँ हैं, सृष्टिमात्रमें व्याप्त हैं।'

'यह तो केवल हिन्दुओंका कथनमात्र है कि श्रीकृष्ण मात्र हमारे हैं और उनके पुजारी हम ही हो सकते हैं। श्रीकृष्णप्रेमका अधिकारी जीवमात्र है। स्वामी प्रेमानन्दजीने अमेरिका जाकर श्रीकृष्णपर व्याख्यान दिये, जिनका यह प्रभाव पड़ा कि चौदह हजार अमरीकी श्रीकृष्णके अनुयायी हो गये और कैलिफोर्नियामें कृष्ण-समाज तथा कृष्णालय स्थापित हो गये। वहाँ भारतके समान ही श्रीकृष्णका पूजन, नाम-कीर्तन और गुणानुवाद होने लगा।'

सनम साहबको अपने गुरुदेव श्रीसरसमाधुरीशरणका एक पद बहुत पसन्द था—*'लागै मोहे मीठो राधेश्याम'* यह पद उन्होंने मेरे पिताजी (भक्त रामशरणदास)-को लिखकर भेजा था। प्रवचनके आरम्भमें वे यह पद गाकर सुनाते थे।

एक सुशिक्षित मुसलमानको श्रीकृष्ण-भक्तिमें तल्लीन देखकर अनेक धर्मान्ध लोगोंमें तहलका-सा मच गया था। कुछने अजमेर पहुँचकर उन्हें समझा-बुझाकर कृष्णभक्तिके पथसे हटानेका भारी प्रयास किया, किंतु उनके तर्कोंके आगे वे वापस लौट जाते थे। इसके पश्चात् उन्हें जानसे मार डालनेकी भी धमकी दी गयी, काफिरतक कहा गया, किंतु सनम साहबने स्पष्ट कह दिया कि मैं अपने इष्टदेव श्रीकृष्णकी भक्तिके लिये पैदा हुआ हूँ, जिस दिन उन्हें मुझे अपने लोकमें बुलाना होगा, मैं पहुँचा दिया जाऊँगा। अजमेरमें उनपर आक्रमणका प्रयास भी किया गया। उन्होंने लिखा—'अभी मुझसे भगवान् कृष्णको और काम लेना है, इसलिये उन्होंने रक्षा की है।'

सनम साहब मेरे पिता भक्त श्रीरामशरणदासजीके अनन्य मित्र थे। सन् १९३५ ई० में वे पिलखुवा पधारे थे तथा उन्होंने हमारे निवासस्थानपर श्रीकृष्ण-भक्तिपर सुन्दर प्रवचन किया था।

महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय तथा श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार (आदिसम्पादक 'कल्याण') उनकी श्रीकृष्णभक्तिसे बहुत प्रभावित थे।

सनम साहब संत उड़ियाबाबाके प्रति भी भारी श्रद्धा रखते थे। वृन्दावनमें बाबाके आश्रममें वे प्रतिदिन श्रीकृष्ण-कीर्तन एवं रासलीलाका रसास्वादन करते थे। रासलीलाके महत्त्वपर उन्होंने एक पुस्तक भी लिखी थी। सनम साहबका कहना था कि रासलीलामें तन्मय होकर कृष्ण एवं राधामय होनेका अवसर अत्यन्त भाग्यशाली व्यक्तिको ही प्राप्त होता है। वृन्दावनमें रासलीलाका रसास्वादन करते समय श्रीकृष्ण-प्रेममें लीन हो वे अश्रुधारा प्रवाहित करने लगते थे। संकीर्तनमें वे भक्तजनोंके साथ मिलकर नृत्य करने लगते थे। सुविख्यात अंग्रेज श्रीकृष्ण-भक्त रोनाल्ड निक्सन उर्फ श्रीकृष्णप्रेम- भिखारीसे भी उनका निकटका सम्पर्क हो गया था। इन दोनों गैर-हिन्दू श्रीकृष्ण-भक्तोंने देशभरमें भक्तिकी भागीरथी प्रवाहित करनेमें भारी योगदान किया था। महामना मदनमोहन मालवीयने सन् १९३९ ई० में सनम साहबको काशी बुलाकर उनसे श्रीकृष्ण-भक्तिके विषयमें विचार-विनिमय किया था।

अन्तमें सनम साहबने अपने इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाभूमि 'व्रज'-सेवनका संकल्प लिया। वे हर समय यमुना-स्नान एवं श्रीकृष्णके ध्यानमें लीन रहने लगे। रूखा-सूखा सात्त्विक भोजन प्रसादरूपमें ग्रहण कर लेना तथा बाकी समय संत-महात्माओंकी सेवा एवं संकीर्तनमें व्यतीत करना यही उनकी दिनचर्या थी। वे अपनेको 'ब्रजराजकिशोरदास' नामसे सम्बोधित करने लगे थे। एक दिन उन्होंने वृन्दावनमें ही रासलीलाका रसास्वादन करते समय अपने प्राण त्याग दिये। [प्रे० श्रीशिवकुमारजी गोयल]

भगवत्प्रेमी युगलकिशोर

(वैद्य श्रीगोपीनाथजी पारीक 'गोपेश', भिषगाचार्य, साहित्यायुर्वेदरत्न)

युगलकिशोर ढूंढाड़ प्रदेशकी लोकभाषा एवं हिन्दीके श्रीकृष्णोपासक प्रेमी भक्त कवि थे। इनके द्वारा रचित भक्तिके पद जयपुर एवं इसके समीपवर्ती गाँवोंके घर-घरमें गाये जाते हैं। भक्ति-संगीतके माध्यमसे जन-जनको भगवत्प्रेमी बनानेके उद्देश्यको लेकर इन्होंने 'श्रीश्यामसंकीर्तन-मण्डल' की स्थापना भी की।

इन्होंने अपने इष्टको 'प्रेमभाया'-के नामसे और स्वयंको 'प्रेमबावरा' नामसे सम्बोधित किया। ये अपनी प्रेम-कहानी प्रेमभायाको सुनानेको आतुर रहे और अपना युगल-कुटीर राधेकृष्ण नामसे गुंजायमान करनेको लालायित रहे—

मनमौजी काना कौन बंधाये मोहे धीर॥
किसको सुनाउँ कृष्णा प्रेम कहानी
अपनी मस्तीमें बहती दुनिया दिवानी
आखिर है कौन किसी का
सपना है जीते जी का
कैसे मिलेगा भवतीर॥
मनमौजी काना कौन बंधाये मोहे धीर॥
मानसका वासी बोले जय हो बिहारी
पगले पंछी को निरखे राधा बिहारी
जै जै श्रीराधे कृष्णा
जै जै श्रीराधे कृष्णा
गूंजे यों युगलकुटीर॥

मनमौजी काना कौन बंधाये मोहे धीर॥

जिस प्रकार भगवत्प्रेमी नन्ददासने रसमंजरीमें लिखा है—

रूप प्रेम आनन्द रस जो कछु जग में आहि।
सो सब गिरधर देव सौं निधरक बरनौ ताहि॥

—उसी प्रकार युगलजीने विषयतृष्णाको मिटाकर तन्मयभावसे प्रभुमें दत्तचित्त होनेकी प्रेरणा दी है—

बोलो प्रेम से हरे, हरि के नामसे तरे॥

× × ×

बिषय मिटे तृष्णा मिटे मिटे कपट व्यवहार।
ज्योति जगे जीवन मिले बसे नया संसार॥
बोलो प्रेम से हरे हरि के नामसे तरे॥
मानस उमडे प्रेम से नयन बहावे नीर।
रूप माधुरी में लखें श्यामल गौर शरीर॥
बोलो प्रेम से हरे हरि के नामसे तरे॥
चलो 'युगल' मधुवन चलें जहाँ बसे घनश्याम।
वहीं प्रेम दरबार में मिले तुम्हें बिश्राम॥
बोलो प्रेम से हरे हरि के नामसे तरे॥

भक्त कवि कितनी विनम्रतासे घनश्यामको अपने हृदयमें बस जानेहेतु निवेदन करता है, इसी भावभरे निम्न पदको गानेवाला और सुननेवाला भावविभोर हुए बिना नहीं रहता—

घनश्याम म्हारा हिवड़ा में रमजावो जी घनश्याम,
मैं दास छू चरणकमल रो दास छूँ
ओ जी प्यारा श्याम॥ स्थाई॥

× × ×

जय मुरलीधर मोहना जय ब्रज माखन चोर
जय जय नटवर प्राण धन जय जय नन्द किशोर
घनश्याम दास 'युगल' रा नाथ कहावो जी घनश्याम॥

प्रेमलक्षणा भक्तिके भावसे ओत-प्रोत यह पद्य सुनने-समझने योग्य है—

म्हारा अल्बेल्या मनमोहन क्यों बिछड़ावो छो॥ स्थाई॥
थाँकी निशदिन ओल्यूं (याद) आवै, आंख्या आंसू खूब बहावै।
प्यारा माया का पड़दा में क्यों लुख (छुप) जावो छो…॥
बाँकी सूरत लागे प्यारी ई मैं आंख्या अटकी म्हारी।
छूं दर्शन को दीन भिखारी क्यों तरसावो छो…॥

× × ×

'युगल' शरणमें रहबो चाहूं प्यारी छविमें निरख्यां जाऊं।
म्हारा समरथ स्वामी भव मैं क्यों भटकाओ छो…॥

विरहमें अधिक तन्मयता एवं प्रेमका उत्कर्ष होता है। इनके विरहपदोंमें मीराकी-सी आतुरता नजर आती है तो सूरकी-सी भावप्रवणता—

कांई जादू कर दीनो थांकी याद आवै छै॥ स्थाई॥

× × ×

आवो आवो श्रीगोविन्द थां बिन हिवडो तरसै छै
झांको प्यारा आंख्यां सूं निशदिन आंसू बरसै छै
कांई थानैं 'युगल' की भी याद आवै छै॥

और—

नटनागर श्याम हठीला म्हाने थांकी औल्युड़ी आवै जी॥
चैन दिन रैन नहीं छ म्हानै म्हाकी दया न आवै थानै।
प्रेम नजर सूं निरखो रसीला॥ म्हानै थांकी…

तथा—

सोण मनाउंली गाउंली मुख सै राम।
काग उडाउंली कद आवोला घनश्याम॥

रति या प्रीति जब लौकिक आलम्बनके प्रति होती है तब वह श्रृङ्गार है; किंतु जब आलम्बन अलौकिक होता है तो माधुर्यभाव कहलाता है। राधाकृष्णके युगलस्वरूपमें यही माधुर्यभाव प्रकट हुआ है—

कृष्ण कन्हैया राधा रानी दिव्यरूप दरसावे।
प्रेम बावरे दास युगल के मन मन्दिर में आवे॥

युगलजीद्वारा रचित सभी पद गेयात्मक हैं जो परम आनन्द देनेवाले हैं। (१) *'ओ रे नन्द बाबा न खीज्यो रै, बैठ कदम्ब की डार म्हांका चीर चुरावै कान्हो।'* (२) *'म्हारी लैरा लाग्यो आवै छै यो मुरली हालो श्याम।'* (३) *'कद आवोला कन्हैया म्हारे द्वार मैं ठाडी न्हालू वाटड़ली'* (४) *'काली दह में आज तो यो कूद गयो गोपाल रै।'* (५) *'माई यशोदा थारो लाड़लो माटी खावै छै।'* (६) *'नन्दबाबाका लाड़ला होली का रसिया साँवरा थारो गोपीरूप बणास्यां, आव रै'* आदि भगवान्‌की लीलाके सरस पद ढूंढाड़के घर-घरमें भावविभोर होकर गाये जाते हैं जो युगलजीके भगवत्प्रेमकी याद दिलाते रहते हैं। इन पदोंसे प्रेमबावरे युगलजी अमर हो गये।

* * *

नम्र निवेदन एवं क्षमा-प्रार्थना

भगवत्-कृपासे इस वर्ष कल्याणका विशेषाङ्क **'भगवत्प्रेम-अङ्क'** पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत किया जा रहा है। कल्याणकी परम्परामें प्रतिवर्ष प्रकाशित विशेषाङ्कों तथा साधारण अङ्कोंमें यद्यपि भगवत्प्रेमसे सम्बन्धित चर्चा किसी-न-किसी रूपमें अवश्य होती रही है, परंतु सर्वाङ्गीण रूपमें भगवत्प्रेमका दिग्दर्शन और उसके स्वरूपका निदर्शन तथा महापुरुषोंद्वारा प्रेमसे सम्बन्धित भावाभिव्यक्तिका एकत्र संकलन अबतक होनेका अवसर प्राप्त नहीं हो सका। चूँकि मानव-जीवनके परम उद्देश्य 'भगवत्प्राप्ति' के लिये प्रेमसाधन ही सर्वोपरि साधन है। अत: इस वर्ष यह विचार आया कि **'भगवत्प्रेम-अङ्क'** विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित किया जाय।

वास्तवमें प्रेम भगवान्का साक्षात् स्वरूप ही है। जिसको विशुद्ध सच्चे प्रेमकी प्राप्ति हो गयी, उसने भगवान्को प्राप्त कर लिया। भगवान् प्रेममय हैं और भगवान् ही प्रेम करने योग्य हैं। अत: सन्तोंने कहा कि प्रेम और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं है। जिस प्रकार वाणीसे ब्रह्मका वर्णन असम्भव है, वेद नेति-नेति कहकर चुप हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रेमका वर्णन भी वाणीद्वारा नहीं हो सकता। इसीलिये परम भागवत देवर्षि नारदने अपने 'भक्तिसूत्र' में प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय बताया है—**'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्'**। साथ ही यह भी कहा कि **'मूकास्वादनवत्'**। जैसे गूँगा गुड़ खाकर प्रसन्न होता है, हँसता है, परंतु गुड़का स्वाद नहीं बता सकता, उसी प्रकार प्रेमी महात्मा प्रेमका अनुभव कर आनन्दमें निमग्न हो जाते हैं, परंतु अपने उस अनुभवका स्वरूप दूसरे किसीको बतला नहीं सकते। इस प्रेममें तन्मयता होती है। इसके साथ ही देवर्षि नारद प्रेमके कुछ विशिष्ट लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि प्रेमका रूप गुणोंसे रहित है, कामनाओंसे रहित है, प्रतिक्षण बढ़नेवाला है, एकरस है, अत्यन्त सूक्ष्म है और केवल अनुभवगम्य है—**'गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्'**।

भगवान्का सच्चा प्रेमी भगवान्के अतिरिक्त और किसी भी वस्तुका चिन्तन नहीं करता। भगवान्का चिन्तन भी वह भगवान्के प्रेमके लिये ही करता है। प्रेमके सिवा न तो वह भगवान्से ही कुछ चाहता है और न भगवान्के किसी प्रेमी भक्तसे ही।

सच्चा प्रेम वही है जिससे प्रियतम प्रभुका मिलन हो जाय। प्रियतम प्रभु मिलते हैं—प्रेमभरी विरहकी व्याकुलतासे, करुणापूर्ण हृदयकी उत्कट इच्छासे। ये सब प्रेमके ही पर्याय हैं—

प्रेम प्रेम सब कोइ कहे, प्रेम न चीन्हे कोय।
जेहि प्रेमहिं साहिब मिले, प्रेम कहावे सोय॥

मिलनकी उत्कट इच्छा होनेपर भगवान्के विरहमें व्याकुल प्रेमीकी अपने प्रेमास्पद भगवान्के मिलनेका संदेश मिलनेपर बड़ी ही मधुर अवस्था होती है। प्रेमी जब अपने प्रेमास्पदके विरहमें व्याकुल रहता है और मिलनकी उत्कण्ठासे उसके आनेकी प्रतीक्षा करता है, उस समय उसे पल-पलमें अपने प्रेमास्पदके आनेकी आहट ही सुनायी देती है। कोई भी आता है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो मेरा प्रेमास्पद ही आ रहा है। गोपियोंके पास जब उद्धव आये तो उन्होंने यही समझा कि प्यारे श्रीकृष्ण ही पधारे हैं। बहुत समीप आनेपर ही वे जान सकीं कि ये श्रीकृष्ण नहीं उद्धव हैं।

श्रीकृष्णकी प्रियतमा रुक्मिणीजी भगवान्के विरहमें जैसी व्याकुल हुई थीं, भगवान्के पहुँचनेमें विलम्ब होनेपर श्रीरुक्मिणीजीकी जो करुणाजनक अवस्था हुई थी, वह अत्यन्त ही रोमाञ्चकारिणी है।

भरतके विरहकी अवस्था भी रामायणके पाठकोंसे छिपी नहीं है। जब हनुमान्जी प्रभु श्रीरामजीका संदेश लेकर आते हैं तब भरतकी आश्चर्यमयी अवस्थाको देखकर वे भी प्रेममें निमग्न हो जाते हैं—

को तुम्ह तात कहाँ ते आए। मोहि परम प्रिय बचन सुनाए॥
दीनबंधु रघुपति कर किंकर। सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर॥
मिलत प्रेम नहिं हृदयँ समाता। नयन स्त्रवत जल पुलकित गाता॥

(रा०च०मा० ७।२।७, ९-१०)

अपने प्रेमास्पदद्वारा प्रेरित संदेश पानेपर या उसका कुछ भी संदेश मिलनेपर जब रुक्मिणी, भरत अथवा गोपियोंकी-सी अवस्था होने लगे तो समझना चाहिये कि असली विरहकी उत्पत्ति हुई है—तो यह समझना चाहिये कि विशुद्ध प्रेमकी अवस्था है। यही विशुद्ध प्रेम श्रीपरमात्माका मूल्य है तथा यही परमात्माका स्वरूप है। ऐसे विशुद्ध प्रेमकी जितनी वृद्धि होती है, उतना ही मनुष्य परमात्माके निकट

पहुँचता है। जैसे सूर्य प्रकाशका पुञ्ज है, वैसे ही परमेश्वर प्रेमके पुञ्ज हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों सूर्यके समीप होता है, त्यों-त्यों प्रकाशकी वृद्धि स्वाभाविक रूपसे होती जाती है। इसी प्रकार जब वह प्रेममय भगवान्‌के जितना निकट होता है, उतनी उसमें प्रेमकी वृद्धि होती है या यह कहा जाय कि ज्यों-ज्यों प्रेमकी वृद्धि होती है त्यों-त्यों वह परमात्माके समीप पहुँचता है। जैसे सूर्य और प्रकाश दो वस्तु नहीं हैं, प्रकाश सूर्यका स्वरूप ही है। वैसे ही प्रेम और भगवान् दो वस्तु नहीं हैं अपितु प्रेम भी भगवान्‌का स्वरूप ही है—

प्रेम हरी कौ रूप है, त्यौं हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै यौं लसैं, ज्यौं सूरज अरु धूप॥

जब मनुष्य भगवत्प्रेमके रंगमें रँग जाता है तब वह प्रेममय हो जाता है, उस समय प्रेम (भक्ति), प्रेमी (भक्त) और प्रेमास्पद (भगवान्) तीनों एक ही रूपमें परिणत हो एक ही वस्तु बन जाते हैं। प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद कहनेके लिये ही तीन हैं। वास्तवमें तो वही एक वस्तु तीन रूपोंमें प्रकट है।

प्रेमीके जीवनमें प्रत्येक चेष्टा सहज ही भगवत्प्रीत्यर्थ होती है। जो भगवान्‌के प्रतिकूल हो वही अविधि है और जो भगवान्‌के अनुकूल हो वही विधि है। यही प्रेमजगत्‌का विधि-निषेध है। वस्तुतः वहाँ सब कुछ भगवान्‌के मनका ही होता है। प्रेमीके मनमें वही बात आती है जो प्रेमास्पदके मनमें है। जहाँ अन्तरङ्गता होती है, वहाँ प्रेमास्पदकी बात प्रेमीके मनमें आनी स्वाभाविक ही है।

विशुद्ध प्रेमके नामपर मोहवश कभी भी अपनी वासनाको पूरी करनेका प्रयास नहीं करना चाहिये। असलमें साधकको तो विषयीसे विपरीत चलना है। श्रीचैतन्य महाप्रभु बड़े ही सुन्दर और सुकोमल बदन थे, पर जब उन्होंने संन्यास ले लिया तो बड़े ही कठोर नियमोंका पालन किया और करवाया। श्रीचैतन्य महाप्रभु बड़े रसिक भी थे—जयदेवजीका 'गीतगोविन्द' सुना करते थे, पर साथ ही बड़े संयमी थे। श्रीरूप-सनातन आदि रसशास्त्रके महान् ज्ञाता थे। उन्होंने इसपर अनोखे ग्रन्थ लिखे हैं, पर साथ ही वे विलक्षण त्यागी और विरक्त थे। अतएव इनसे हमें संयमकी शिक्षा लेनी चाहिये तथा संयमकी बात अपनानी चाहिये। वस्तुतः प्रेमके पवित्र क्षेत्रमें इन्द्रियभोगको स्थान नहीं है। भगवान्‌के चरणानुरागमें सभी आसक्तियोंका अभाव होना ही चाहिये। साधकके लिये विशेष सावधानीकी आवश्यकता है।

चूँकि प्रेमका मार्ग बड़ा ही गहन, दुर्गम और तीक्ष्ण तलवारकी धारके समान है, केवल बातें करनेसे उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। बाहरी वेश या चिह्नका नाम भी प्रेम नहीं है। प्रेमका तत्त्व तो परम रहस्यमय है। जिसने इस तत्त्वको पहचान लिया, वह प्रेमास्पद प्रभुका प्रेमी बन गया। प्रेमके यथार्थ रहस्यको तो पूर्णरूपसे केवल पूर्ण पुरुषोत्तम प्रेमास्पद प्रभु ही जानते हैं अथवा किंचित् ज्ञान उनके प्रेमी भक्तोंको है।

इसीलिये इस वर्ष यह विचार आया कि प्रभुप्रेमी भक्तोंके भावोंका संकलन **'भगवत्प्रेम-अङ्क'**-के रूपमें प्रकाशित किया जाय, जिससे भारतीय जनमानसको परब्रह्म परमात्मा प्रभुके प्रेमका तथा प्रेमपूर्ण लीलाओंका सम्यक् दर्शन, चिन्तन एवं मनन हो सके तथा संसारके प्रेमी भक्तजनोंमें प्रभुप्रेमके प्रति प्रगाढ़ता, एकाग्रता और अनन्यताका उदय हो। इस विशेषाङ्कमें आनन्दकन्द ब्रह्माण्डनायक परमात्मप्रभुके प्रेममय स्वरूपका, उनके दिव्य गुणोंका, उनके अलौकिक प्रेमरहस्योंका, प्रेममयी लीलाओंका तथा ऐकान्तिक प्रेमी भक्तों, प्रेमी सेवकों, प्रेमी उपासकों एवं मित्रभावान्वित तथा शत्रुभावान्वित प्रेमी सहचरोंके विभिन्न चरित्रोंका यथास्थान चित्रण करते हुए भगवत्प्रेमका दर्शन और साथ ही प्रेम-रहस्योंका उद्‌घाटन तथा प्रेमकथाके प्रत्येक पक्षपर पठनीय, विचारप्रेरक एवं अनुष्ठेय सामग्रीका संकलन करनेका प्रयास किया गया है, जिससे प्रेमी भक्तजन अपने सनातन कल्याणकारी प्रेमपथसे परिचित हो सकें और प्रेममार्गका अवलम्बन ग्रहण कर अपने प्रेमास्पद प्रभुको प्राप्त कर सकें।

इस वर्ष **'भगवत्प्रेम-विशेषाङ्क'**-के लिये लेखक महानुभावोंने उत्साहपूर्वक जो सहयोग प्रदान किया है, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। भगवत्कृपासे इतने लेख और सामग्रियाँ प्राप्त हुईं कि उन सबको इस अङ्कमें समाहित करना सम्भव नहीं था, फिर भी विषयकी सर्वाङ्गीणताको ध्यानमें रखते हुए अधिकतम सामग्रियोंका संयोजन करनेका विशेष प्रयत्न किया गया है। पिछले वर्ष फरवरी मासका परिशिष्टाङ्क भी विशेषाङ्कके साथ संलग्न किया गया था, परंतु इस वर्ष कुछ कठिनाइयोंके कारण फरवरी तथा मार्च मासके साधारण अङ्क विशेषाङ्कके साथ अलगसे भेजे जा रहे हैं। सामग्रीकी अधिकताके कारण इन दोनों साधारण अङ्कोंमें भी भगवत्प्रेम-सम्बन्धी सामग्रियाँ ही प्रायः समाहित की गयी हैं।

उन लेखक महानुभावोंके हम अत्यधिक कृतज्ञ हैं, जिन्होंने कृपापूर्वक अपना अमूल्य समय लगाकर भगवत्प्रेम-सम्बन्धी सामग्री यहाँ प्रेषित करनेका कष्ट किया। हम उन सबकी सम्पूर्ण सामग्रीको इस 'विशेषाङ्क' में स्थान न दे सके, इसका हमें खेद है, इसमें हमारी विवशता ही कारण है। इनमेंसे कुछ तो एक ही विषयपर अनेक लेख आनेके कारण न छप सके तथा कुछ अच्छे लेख विलम्बसे आये। इनमें कुछ लेखोंको स्थानाभावके कारण पर्याप्त संक्षिप्त करना पड़ा और कुछ नहीं दिये जा सके। यद्यपि इनमेंसे कुछ सामग्रीको आगेके साधारण अङ्कोंमें देनेका प्रयास अवश्य करेंगे, परंतु विशेष कारणोंसे कुछ लेख प्रकाशित न हो सकेंगे तो विद्वान् लेखक हमारी विवशताको ध्यानमें रखकर हमें अवश्य क्षमा करनेकी कृपा करेंगे।

हम अपने उन सभी पूज्य आचार्यों, परम सम्मान्य पवित्रहृदय संत-महात्माओंके श्रीचरणोंमें प्रणाम करते हैं, जिन्होंने विशेषाङ्ककी पूर्णतामें किञ्चित् भी योगदान किया है। भगवत्प्रेमके प्रचार-प्रसारमें वे ही निमित्त हैं; क्योंकि उन्हींके सद्भावपूर्ण तथा उच्च विचारयुक्त भावनाओंसे कल्याणको सदा शक्ति-स्रोत प्राप्त होता रहता है। हम अपने विभागके तथा प्रेसके अपने उन सभी सम्मान्य साथी-सहयोगियोंको भी प्रणाम करते हैं, जिनके स्नेहपूर्ण सहयोगसे यह पवित्र कार्य सम्पन्न हो सका है। त्रुटियों एवं व्यवहार-दोषके लिये हम उन सबसे क्षमाप्रार्थी हैं।

'भगवत्प्रेम-अङ्क' के सम्पादनमें जिन संतों और विद्वान् लेखकोंसे सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ है, उन्हें हम अपने मानसपटलसे विस्मृत नहीं कर सकते। सर्वप्रथम मैं वाराणसीके समादरणीय पं० श्रीलालबिहारीजी शास्त्रीके प्रति हृदयसे आभार व्यक्त करता हूँ, जो निरन्तर प्रेरणाप्रद लेख एवं परामर्श प्रदान कर निष्कामभावसे अपनी सेवाएँ परमात्मप्रभुके श्रीचरणोंमें समर्पित करते रहते हैं। इस सन्दर्भमें हमें सर्वाधिक सहयोग 'गोधन' के सम्पादक श्रीशिवकुमारजी गोयलसे प्राप्त हुआ, जिन्होंने भगवत्प्रेमसे सम्बन्धित विभिन्न कथाएँ, घटनाएँ, प्रेमी भक्तोंके चरित्र, लेख तथा अपने पूज्य पिता श्रीरामशरणदासजीके संग्रहालयसे प्राप्त दुर्लभ सामग्रियोंको उपलब्ध कराया। उनके प्रति हम अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

इस अङ्कके सम्पादनमें अपने सम्पादकीय विभागके वयोवृद्ध विद्वान् पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा एवं अन्य महानुभावोंने अत्यधिक हार्दिक सहयोग एवं आशीर्वाद प्रदान किया है। इसके सम्पादन, संशोधन एवं चित्र-निर्माण आदिमें जिन-जिन लोगोंसे हमें सहयोग मिला है, वे सभी हमारे अपने हैं, उन्हें धन्यवाद देकर हम उनके महत्त्वको घटाना नहीं चाहते।

वास्तवमें कल्याणका कार्य भगवान्का कार्य है। अपना कार्य भगवान् स्वयं करते हैं, हम तो केवल निमित्त-मात्र हैं। इस बार **'भगवत्प्रेम-अङ्क'** के सम्पादन-कार्यके अन्तर्गत प्रेमास्पद प्रभुके सतत प्रेमका चिन्तन-मनन और सत्सङ्गका सौभाग्य निरन्तर प्राप्त होता रहा, यह हमारे लिये विशेष महत्त्वकी बात थी। हमें आशा है कि इस 'विशेषाङ्क' के पठन-पाठनसे हमारे सहृदय प्रेमी पाठकोंको भी यह सौभाग्य-लाभ अवश्य प्राप्त होगा।

वास्तवमें प्रेमकी सतत वृद्धिके लिये मन, वाणी और व्यवहारमें निष्कामभाव तथा अहिंसा एवं निरहंकारताका होना बहुत ही आवश्यक है। जहाँ स्वार्थ और अहंकार होता है, वहाँ प्रेम नहीं ठहर सकता। वस्तुतः भगवान्का वही अनन्य भक्त है जो चराचर-समुदायको साक्षात् ईश्वरका स्वरूप समझकर सबके साथ समताका व्यवहार करता है। ज्ञानकी दृष्टिसे यह भाव रहता है कि सम्पूर्ण ब्रह्म मेरा ही आत्मा है और भक्तिकी दृष्टिसे यह भाव रहता है कि यह सब मेरे प्रियतम प्रभुका ही रूप है। प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद (प्रियतम)—ये देखनेमें तीन होनेपर भी वास्तवमें एक ही हैं। मैं इन तीनोंको जो वस्तुतः एक हैं, प्रणाम करता हूँ—

त्रिध्याप्येकं सदागम्यं गम्यमेकप्रभेदने।
प्रेम प्रेमी प्रेमपात्रं त्रितयं प्रणतोऽस्म्यहम्॥

अन्तमें हम अपनी त्रुटियोंके लिये पुनः क्षमा-प्रार्थना करते हुए दीनवत्सल अकारणकरुणावरुणालय प्रियतम प्रभुसे यह प्रार्थना करते हैं कि वे हमें तथा जगत्के सम्पूर्ण जीवोंको सद्बुद्धि प्रदान करें, जिससे सभी प्रेमास्पद प्रभुके प्रेमको प्राप्त करनेके अधिकारी बनकर जीवनके वास्तविक लक्ष्यको प्राप्त कर सकें।

—राधेश्याम खेमका
सम्पादक

* * *

॥ श्रीहरिः ॥

गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तकोंका सूचीपत्र

(दिसम्बर २००२)

श्रीमद्भगवद्गीता

कोड		मूल्य
	गीता-तत्त्व-विवेचनी—(टीकाकार-श्रीजयदयालजी गोयन्दका) २५१५ प्रश्न और उत्तर- रूपमें विवेचनात्मक हिन्दी टीका, सचित्र, सजिल्द आकर्षक	
■ 1	बृहदाकार	१००
■ 2 ,,	,, ग्रन्थाकार	६०
■ 3 ,,	,, साधारण संस्करण [बँगला, तमिल, ओडिआ, कन्नड़, अंग्रेजी, तेलुगु, गुजराती, मराठी भी]	४०
	गीता-साधक-संजीवनी—(टीकाकार—स्वामी श्रीरामसुखदासजी) गीताके मर्मको समझनेहेतु व्याख्यात्मक शैली एवं सरल, सुबोध भाषामें हिन्दी टीका, सचित्र, सजिल्द	
■ 5	बृहदाकार परिशिष्टसहित	१६०
■ 6 ,,	ग्रन्थाकार परिशिष्टसहित [मराठी, गुजराती, बँगला, ओड़िआ (एक ही खण्डमें सम्पूर्ण) कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी (दो खण्डोंमें)]	८५
■ 1317	गीता पॉकेट साइज (साधक-संजीवनीके आधारपर अन्वय और पदच्छेदसहित)	१२
	गीता-दर्पण—(स्वामी रामसुखदासजीद्वारा) गीताके तत्त्वोंपर प्रकाश, गीता-व्याकरण और छन्द-सम्बन्धी गूढ़ विवेचन	
■ 8	सचित्र, सजिल्द [मराठी, बँगला, गुजराती, ओड़िआ भी]	३५
■ 784	ज्ञानेश्वरी गूढ़ार्थ-दीपिका (मराठी)	१३०
■ 748	,, मूल गुटका (मराठी)	२५
■ 859	ज्ञानेश्वरी मूल मझला (मराठी)	३५
■ 10	गीता-शांकर-भाष्य—	६०
■ 581	गीता-रामानुज-भाष्य—	३५
■ 11	गीता-चिन्तन—(श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके गीताविषयक लेखों, विचारों, पत्रों आदिका संग्रह)	३५
■ 17	गीता—मूल, पदच्छेद, अन्वय, भाषा-टीका, टिप्पणी-प्रधान लेखसहित, सचित्र, सजिल्द [गुजराती, बँगला, मराठी, कन्नड़, तेलुगु, तमिल भी]	२०
■ 16	गीता—प्रत्येक अध्यायके माहात्म्य, सजिल्द, मोटे अक्षरोंमें (मराठीमें भी)	२५
■ 18	गीता—भाषा-टीका, टिप्पणी-प्रधान विषय, मोटा टाइप [ओडिआ, गुजराती, मराठी भी]	१२
■ 502	गीता- ,, ,, (सजि०) [तेलुगु, ओडिआ, कन्नड़, तमिल भी]	१८
■ 19	गीता—केवल भाषा (तेलुगु, तमिलमें भी)	७
■ 750	गीता—भाषा पॉकेट साइज (हिन्दी)	४
■ 20	गीता—भाषा-टीका पॉकेट साइज (हिन्दी) [अंग्रेजी, मराठी, बँगला, असमिया, ओडिआ, गुजराती, कन्नड़, तेलुगु भी]	५
■ 633	गीता—भाषा-टीका पॉकेट साइज सजिल्द [तेलुगु, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी भी]	८
■ 21	श्रीपञ्चरत्नगीता—गीता, विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, अनुस्मृति, गजेन्द्रमोक्ष (मोटे अक्षरोंमें) [ओडिआ भी]	१५
■ 22	गीता—मूल, मोटे अक्षरोंवाली	६
■ 23	गीता—मूल, विष्णुसहस्रनामसहित [कन्नड़, तेलुगु, तमिल, मलयालम, ओडिआ भी]	३
■ 488	नित्यस्तुतिः— गीता मूल, विष्णुसहस्रनामसहित	५
■ 700	गीता—छोटी साइज मूल (ओडिआ भी)	१.५०
■ 1392	गीता ताबीजी (सजिल्द)	४
■ 24	गीता ताबीजी—मूल (बँगलामें भी)	३
■ 566	गीता—ताबीजी एक पन्नेमें सम्पूर्ण गीता (१०० प्रति एक साथ)	.२५
▲ 289	गीता-निबन्धावली	
▲ 297	गीतोक्त संन्यास या सांख्ययोगका स्वरूप	१.००
▲ 388	गीता माधुर्य-सरल प्रश्नोत्तर-शैलीमें (हिन्दी) [तमिल, मराठी, गुजराती, उर्दू, तेलुगु, बँगला, असमिया, कन्नड़, ओडिआ, अंग्रेजी, संस्कृत भी]	७
■ 1223	गीता रोमन मूल श्लोक एवं अंग्रेजी अनुवाद	१०
■ 1242	पाण्डव गीता एवं हंसगीता	३
■ 1431	गीता-दैनन्दिनी (२००३) पुस्तकाकार विशिष्ट संस्करण	४५
■ 874	गीता-दैनन्दिनी (२००३)—पुस्तकाकार डीलक्स	४०
■ 503	गीता-दैनन्दिनी (२००३) रोमन पुस्तकाकार प्लास्टिक जिल्द	३०
■ 506	गीता-दैनन्दिनी (२००३)— पाकेट साइज डीलक्स	२०
■ 615	गीता-दैनन्दिनी (२००३)— पाकेट साइज प्लास्टिक कवर	१६
■ 464	गीता-ज्ञान-प्रवेशिका-स्वामी रामसुखदास	१२
■ 508	गीता सुधा तरंगिनी-गीताका पद्यानुवाद	४

रामायण

कोड		मूल्य
■ 1389	श्रीरामचरितमानस-बृहदाकार (राजसंस्करण)	३२०
■ 80	,, ,, बृहदाकार	२२०
■ 1095	,, ,, ग्रन्थाकार (राजसंस्करण)	१७०
■ 81	,, ,, सचित्र, सटीक मोटा टाइप, [बँगला, तेलुगु, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी भी]	१२०
■ 1402	,, ,, सटीक, ग्रंथाकार (सामान्य)	९५
■ 82	,, ,, मझला साइज, सटीक सजिल्द [गुजराती, अंग्रेजी भी]	६०
■ 1318	श्रीरामचरितमानस रोमन एवं अंग्रेजी अनुवादसहित	२००
■ 456	,, ,, अंग्रेजी अनुवादसहित	१००
■ 786	,, ,, मझला ,, ,,	५०
■ 1436	,, ,, मूल पाठ वृहदाकार	१४०
■ 83	,, ,, मूलपाठ, मोटे अक्षरोंमें, ग्रंथाकार [गुजराती, ओडिआ भी]	६५
■ 84	,, ,, मूल, मझला साइज [गुजराती भी]	३५
■ 85	,, ,, मूल, गुटका [गुजराती भी]	२५
■ 1282	श्रीरामचरितमानस -मूल मझला डीलक्स (अब सचित्र, आरती-संग्रह उपहार-स्वरूप साथमें)	६०
■ 790	श्रीरामचरितमानस -केवल भाषा	६०
	[श्रीरामचरितमानस-अलग-अलग काण्ड (सटीक)]	
■ 94	,, ,, बालकाण्ड	१६
■ 95	,, ,, अयोध्याकाण्ड	१५
■ 1349	श्रीरामचरितमानस-सुन्दरकाण्ड सटीक मोटा टाइप (लाल अक्षरोंमें) (श्रीहनुमानचालीसासहित)	१५
■ 98	,, ,, सुन्दरकाण्ड [कन्नड़, तेलुगु, बँगला भी]	५
■ 101	,, ,, लंकाकाण्ड	८
■ 102	,, ,, उत्तरकाण्ड	८
■ 141	,, ,, अरण्य, किष्किन्धा एवं सुन्दरकाण्ड	८
■ 830	,, ,, सुन्दरकाण्ड मूल ग्रन्थाकार, मोटा (रंगीन)	१२
■ 99	,, ,, सुन्दरकाण्ड-मूल, गुटका [गुजराती भी]	३
■ 100	श्रीरामचरितमानस- सुन्दरकाण्ड-मूल, मोटा टाइप [गुजराती, ओडिआ भी]	५
■ 1378	,, सुन्दरकाण्ड मूल मोटा टाइप (लाल रंगमें)	५
■ 858	श्रीरामचरितमानस- सुन्दरकाण्ड-मूल, लघु आकार [गुजराती भी]	२
■ 1376	मानस-गूढ़ार्थ-चन्द्रिका (श्रीरामचरितमानसपर सुप्रसिद्ध तिलक, टीकाकार-प० प० प्रज्ञानानन्द सरस्वती (सातों खण्ड)	७६०
■ 1192	,, बालकाण्ड (खण्ड-१) दोहा ४३ (क) तक	९०
■ 1193	,, बालकाण्ड (खण्ड-२) दोहा ४३ (ख) से १८८।६ तक	१००
■ 1194	,, बालकाण्ड (खण्ड-३) दोहा १८८।७ से काण्ड समाप्तितक	११०

☞ भारतमें डाकखर्च, पैकिंग तथा फारवर्डिंगकी देय राशिः—

—२ रुपया-प्रत्येक १० रु० या उसके अंशके मूल्यकी पुस्तकोंपर।

—रजिस्ट्री / वी० पी० पी० के लिये २० रु० प्रति पैकेट अतिरिक्त।

[पैकेटका अधिकतम वजन ५ किलो (अनुमानित पुस्तक मूल्य रु० २५०)]

☞ रु० ५००/-से अधिकको पुस्तकोंपर ५% पैकिंग, हैण्डलिंग तथा वास्तविक डाकव्यय देय होगा।

☞ पुस्तकोंके मूल्य एवं डाकदरमें परिवर्तन होनेपर परिवर्तित मूल्य / डाकदर देय होगा।

☞ पुस्तक-विक्रेताओं एवं विदेशोंमें निर्यातके अलग नियम हैं।

सम्पर्क करें—

व्यवस्थापक— गीताप्रेस, गोरखपुर।

कोड		मूल्य
■ 1195	मानस-गूढ़ार्थ-चन्द्रिका—अयोध्याकाण्ड (खण्ड-४) दोहा ३२६ तक	१५०
■ 1196 ,,	अरण्यकाण्डसे सुन्दरकाण्ड (खण्ड-५) (दोहा ६०) काण्ड समाप्तितक	९०
■ 1197 ,,	लंकाकाण्डसे उत्तरकाण्ड (खण्ड-६) (दोहा १३०) समाप्तितक	१२०
■ 1188 ,,	(प्रस्तावना खण्ड)	१००
■ 86	मानसपीयूष-(श्रीरामचरितमानसपर सुप्रसिद्ध तिलक, टीकाकार— श्रीअञ्जनीनन्दनशरण (सातों खण्ड) (अलग-अलग खण्डोंमें भी उपलब्ध)	१०५०
■ 1291	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण कथा-सुधा-सागर	८५
■ 75, 76	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण—सटीक, दो खण्डोंमें सेट	२००
■ 1337, 1338	,, ,, भाषा (मोटा टाइप) दो खण्डोंमें सेट	२४०
■ 77	,, ,, केवल भाषा	१२०
■ 583	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण—(मूलमात्रम्)	९०
■ 78	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण- सुन्दरकाण्ड, मूलमात्रम् [तेलुगु भी]	१५
■ 452, 453	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (अंग्रेजी अनुवादसहित दो खण्डोंमें सेट)	२५०
■ 1002	सं० वाल्मीकीय रामायणाङ्क	६५
■ 74	अध्यात्मरामायण— सटीक [तमिल, तेलुगु भी]	५०
■ 223	मूल रामायण	१.५०
■ 460	रामाश्वमेध	१०
▲ 401	मानसमें नाम-वन्दना	७
■ 103	मानस-रहस्य	३०
■ 104	मानस-शंका-समाधान	१०

अन्य तुलसीकृत साहित्य

कोड		मूल्य
■ 105	विनयपत्रिका—सरल भावार्थसहित	२४
■ 106	गीतावली— ,, ,, ,,	२४
■ 107	दोहावली— ,, ,, ,,	१०
■ 108	कवितावली— ,, ,, ,,	१०
■ 109	रामाज्ञाप्रश्न— ,, ,, ,,	६
■ 110	श्रीकृष्णगीतावली—,, ,, ,,	४
■ 111	जानकीमंगल— ,, ,, ,,	३
■ 112	हनुमानबाहुक— ,, ,, ,,	३
■ 113	पार्वतीमंगल— ,, ,, ,,	३
■ 114	वैराग्य-संदीपनी एवं बरवै रामायण	३
■ 115	बरवै रामायण—	१

सूर-साहित्य

कोड		मूल्य
■ 555	श्रीकृष्णमाधुरी	१२
■ 61	सूर-विनय-पत्रिका	१६
■ 62	श्रीकृष्ण-बाल-माधुरी	१३
■ 735	सूर-रामचरितावली	११
■ 547	विरह-पदावली	१०
■ 864	अनुराग-पदावली—	१२

पुराण, उपनिषद् आदि

कोड		मूल्य
■ 28	श्रीमद्भागवत-सुधासागर—सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका भाषानुवाद, सचित्र, सजिल्द	१२०
■ 25	श्रीशुकसुधासागर—बृहदाकार, बड़े टाइपोंमें	२५०
■ 1190, 1191	श्रीशुकसुधासागर—सचित्र मोटा टाइप दो खण्डोंमें सेट	२५०
■ 26, 27	श्रीमद्भागवतमहापुराण—सटीक दो खण्डोंमें सेट	२००
■ 564,565	श्रीमद्भागवतमहापुराण—अंग्रेजी सेट	२००
■ 29	,, ,, ,, मूल मोटा टाइप	८०
■ 124	श्रीमद्भागवतमहापुराण— मूल मझला	५०
■ 1092	भागवतस्तुति-संग्रह	५५

कोड		मूल्य
■ 571	श्रीकृष्णलीला चिन्तन—(राजसंस्करण)	१००
■ 30	श्रीप्रेम-सुधासागर—श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्धका भाषानुवाद, सचित्र, सजिल्द	५०
■ 31	भागवत एकादश स्कन्ध—सचित्र, सजिल्द	२०
■ 728	महाभारत—हिन्दी टीका-सहित, सजिल्द, सचित्र [छः खण्डोंमें] सेट (अलग-अलग खण्डोंमें भी उपलब्ध)	१०५०
■ 38	महाभारत-खिलभाग हरिवंशपुराण— हिन्दी टीका	१४०
■ 637	जैमिनीय अश्वमेध पर्व	५०
■ 39, 511	संक्षिप्त महाभारत—केवल भाषा, सचित्र, सजिल्द सेट (दो खण्डोंमें)	२००
■ 44	संक्षिप्त पद्मपुराण—सचित्र, सजिल्द	१२०
■ 789	सं० शिवपुराण—मोटा टाइप [गुजराती भी]	१००
■ 1133	सं० देवीभागवत—मोटा टाइप [गुजराती भी]	१२०
■ 48	श्रीविष्णुपुराण—सानुवाद, सचित्र, सजिल्द	७०
■ 1364	श्रीविष्णुपुराण—(केवल हिन्दी)	५५
■ 1183	संक्षिप्त नारदपुराण	१००
■ 279	सं० स्कन्दपुराणाङ्क—सचित्र, सजिल्द	१४०
■ 539	सं० मार्कण्डेयपुराण	५५
■ 1111	सं० ब्रह्मपुराण	७०
■ 1113	नरसिंहपुराणम्-सानुवाद	५५
■ 1189	सं० गरुडपुराणाङ्क	८०
■ 1362	सं० अग्निपुराण	११०
■ 1361	सं० श्रीवराहपुराण	६०
■ 1432	सं० वामनपुराण (मुद्रणकी प्रक्रियामें)	
■ 584	सं० भविष्यपुराणाङ्क	७५
■ 631	सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण	११०
■ 517	गर्गसंहिता—भगवान् कृष्णकी दिव्य लीलाओंका वर्णन, सचित्र, सजिल्द	७०
■ 47	पातञ्जलयोग-प्रदीप—पातञ्जलयोग-सूत्रोंका वर्णन	८०
■ 135	पातञ्जलयोगदर्शन—	९
■ 582	छान्दोग्योपनिषद्—सानुवाद शांकरभाष्य	७०
■ 577	बृहदारण्यकोपनिषद्— ,, ,,	१००
■ 1421	ईशादि नौ उपनिषद्- ,, ,, (एक ही जिल्दमें)	१००
■ 66	ईशादि नौ उपनिषद्-अन्वय-हिन्दी व्याख्या	४०
■ 67	ईशावास्योपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्य [तेलुगु भी]	४
■ 68	केनोपनिषद्— सानुवाद, शांकरभाष्य	९
■ 578	कठोपनिषद्— ,, ,,	१०
■ 69	माण्डूक्योपनिषद्— ,, ,,	
■ 513	मुण्डकोपनिषद्— ,, ,,	६
■ 70	प्रश्नोपनिषद्— ,, ,,	७
■ 71	तैत्तिरीयोपनिषद्- ,, ,,	१५
■ 72	ऐतरेयोपनिषद्— ,, ,,	५
■ 73	श्वेताश्वतरोपनिषद्— ,, ,,	१६
■ 65	वेदान्त-दर्शन-हिन्दी व्याख्या-सहित, सजिल्द	३५
■ 639	श्रीनारायणीयम्—सानुवाद [तेलुगु भी]	२५

भक्त-चरित्र

कोड		मूल्य
■ 40	भक्तचरिताङ्क—सचित्र, सजिल्द	१२०
■ 51	श्रीतुकाराम-चरित-जीवनी और उपदेश	३०
■ 121	एकनाथ-चरित्र	१२
■ 53	भागवतरत्न प्रह्लाद	१५
■ 123	चैतन्य-चरितावली-सम्पूर्ण एक साथ	९०
■ 751	देवर्षि नारद	१०
■ 167	भक्त भारती	
■ 168	भक्त नरसिंह मेहता [मराठी, गुजराती भी]	८
■ 169	भक्त बालक-गोविन्द-मोहन आदिकी गाथा [तेलुगु, कन्नड़ भी]	४
■ 170	भक्त नारी—मीरा, शबरी आदिकी गाथा	४
■ 171	भक्त पञ्चरत्न—रघुनाथ-दामोदर आदिकी [तेलुगु भी]	६

कोड		मूल्य
■ 172	आदर्श भक्त—शिबि, रन्तिदेव आदिकी गाथा [तेलुगु, कन्नड़, गुजराती भी]	६
■ 173	भक्त सप्तरत्न-दामा, रघु आदिकी भक्तगाथा [गुजराती, कन्नड़ भी]	५
■ 174	भक्त चन्द्रिका-सखू, विट्ठल आदि छः भक्तगाथा [गुजराती, कन्नड़, तेलुगु, मराठी, ओडिआ भी]	५
■ 175	भक्त कुसुम-जगन्नाथ आदि छः भक्तगाथा	५
■ 176	प्रेमी भक्त-बिल्वमंगल, जयदेव आदि [गुजराती भी]	५
■ 177	प्राचीन भक्त—मार्कण्डेय, उत्तङ्क आदि	८
■ 178	भक्त सरोज—गङ्गाधरदास, श्रीधर आदि [गुजराती भी]	६
■ 179	भक्त सुमन—नामदेव, राँका-बाँका आदिकी भक्तगाथा [गुजराती भी]	६
■ 180	भक्त सौरभ—व्यासदास, प्रयागदास आदि	६
■ 181	भक्त सुधाकर—रामचन्द्र, लाखा आदिकी भक्तगाथा [गुजराती भी]	६
■ 182	भक्त महिलारत्न-रानी रत्नावती, हरदेवी आदि [गुजराती भी]	६
■ 183	भक्त दिवाकर—सुव्रत, वैश्वानर आदि भक्तगाथा	६
■ 184	भक्त रत्नाकर—माधवदास, विमलतीर्थ आदि चौदह भक्तगाथा	६
■ 185	भक्तराज हनुमान्-हनुमान्जीका जीवनचरित्र [मराठी, ओडिआ, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, गुजराती भी]	४
■ 186	सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र [ओडिआ भी]	३
■ 187	प्रेमी भक्त उद्धव [तमिल, तेलुगु, गुजराती, ओडिआ भी]	३
■ 188	महात्मा विदुर [गुजराती, तमिल, ओडिआ भी]	३
■ 136	विदुरनीति	८
■ 138	भीष्मपितामह [तेलुगु भी]	८
■ 189	भक्तराज ध्रुव [तेलुगु भी]	३

परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके शीघ्र कल्याणकारी प्रकाशन

कोड		मूल्य
■ 683	तत्त्वचिन्तामणि—(सभी खण्ड एक साथ)	७०
■ 814	साधन-कल्पतरु	७०
■ 527	प्रेमयोगका तत्त्व—[अंग्रेजी भी]	९
■ 242	महत्त्वपूर्ण शिक्षा—[तेलुगु भी]	१२
■ 528	ज्ञानयोगका तत्त्व [अंग्रेजी भी]	१०
▲ 266	कर्मयोगका तत्त्व—(भाग-१)	८
▲ 267	,, ,, (भाग-२)	७
▲ 303	प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय	८
▲ 298	भगवान्के स्वभावका रहस्य	६
▲ 243	परम साधन—भाग-१	६
▲ 244	,, ,, —भाग-२	५
▲ 245	आत्मोद्धारके साधन—भाग-१	७
▲ 335	अनन्यभक्तिसे भगवत्प्राप्ति—(आत्मोद्धारके साधन भाग-२) [गुजराती भी]	६
▲ 579	अमूल्य समयका सदुपयोग [तेलुगु, गुजराती, मराठी, कन्नड़ भी]	६
▲ 246	मनुष्यका परम कर्तव्य—भाग-१	८
▲ 247	मनुष्यका परम कर्तव्य— भाग-२	७
▲ 611	इसी जन्ममें परमात्मप्राप्ति [गुजराती भी]	७
▲ 588	अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति [गुजराती भी]	८
▲ 1296	कर्णवासका सत्संग [तमिल भी]	६
▲ 1015	भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें भावकी प्रधानता	७
■ 248	कल्याणप्राप्तिके उपाय- (त०चि०म०भा०१) [बँगला भी]	९
▲ 249	शीघ्र कल्याणके सोपान-भाग-२, खण्ड-१ [गुजराती भी]	८
▲ 250	ईश्वर और संसार-भाग-२, (खण्ड-२)	८
▲ 519	अमूल्य शिक्षा-भाग-३, (खण्ड-१)	७
▲ 253	धर्मसे लाभ अधर्मसे हानि-भाग-३, (खण्ड-२)	८

कोड		मूल्य
▲ 251	अमूल्य वचन-तत्त्वचिन्तामणि भाग-४, (खण्ड-१)	८
▲ 252	भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठा-,, (खण्ड-२)	७
▲ 254	व्यवहारमें परमार्थकी कला-त०चि०भाग-५, (खण्ड-१) [गुजराती भी]	८
▲ 255	श्रद्धा-विश्वास और प्रेम-,, भाग-५, (खण्ड-२) [गुजराती भी]	८
▲ 258	तत्त्वचिन्तामणि-,, भाग-६, (खण्ड-१)	८
▲ 257	परमानन्दकी खेती-,,भाग-६, (खण्ड-२)	७
▲ 260	समता अमृत और विषमता विष-भाग-७, (खण्ड-१)	८
▲ 259	भक्ति-भक्त-भगवान्-भाग-७, (खण्ड-२)	८
▲ 256	आत्मोद्धारके सरल उपाय	८
▲ 261	भगवान्के रहनेके पाँच स्थान [मराठी, कन्नड़, तेलुगु, तमिल, गुजराती, ओडिआ भी]	३
▲ 262	रामायणके कुछ आदर्श पात्र [तेलुगु, कन्नड़, गुजराती, ओडिआ, तमिल, मराठी भी]	६
▲ 263	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र [तेलुगु, कन्नड़, गुजराती, तमिल, मराठी भी]	५
▲ 264	मनुष्य-जीवनकी सफलता—भाग-१	७
▲ 265	मनुष्य-जीवनकी सफलता— भाग-२	६
▲ 268	परमशान्तिका मार्ग— भाग-१	६
▲ 269	,, ,, भाग-२	८
▲ 543	परमार्थ-सूत्र-संग्रह [ओड़िआ भी]	६
▲ 769	साधन नवनीत [गुजराती, ओड़िआ, कन्नड़ भी]	५
▲ 599	हमारा आश्चर्य	७
▲ 681	रहस्यमय प्रवचन	७
▲ 1021	अध्यात्मिक प्रवचन [गुजराती भी]	७
▲ 1324	अमृत वचन	७
▲ 1409	भगवत्प्रेम-प्राप्तिके उपाय	७
▲ 1433	साधना पथ	६
▲ 1022	निष्काम श्रद्धा और प्रेम	७
▲ 292	नवधा भक्ति [तेलुगु भी]	४
▲ 273	नल-दमयन्ती [मराठी, तमिल, कन्नड़, गुजराती, ओडिआ, तेलुगु भी]	३
▲ 274	महत्त्वपूर्ण चेतावनी	५
▲ 277	उद्धार कैसे हो?—५१ पत्रोंका संग्रह [गुजराती, मराठी भी]	५
▲ 278	सच्ची सलाह—८० पत्रोंका संग्रह	६
▲ 280	साधनोपयोगी पत्र—७२ पत्रोंका संग्रह	६
▲ 281	शिक्षाप्रद पत्र—७० पत्रोंका संग्रह	७
▲ 282	पारमार्थिक पत्र—९१ पत्रोंका संग्रह	६
▲ 284	अध्यात्मविषयक पत्र—५४ पत्रोंका संग्रह	४
▲ 283	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ [अंग्रेजी, कन्नड़, गुजराती, मराठी भी]	५
▲ 680	उपदेशप्रद कहानियाँ [गुजराती, कन्नड़, तेलुगु भी]	७
▲ 891	प्रेममें विलक्षण एकता [मराठी भी]	६
▲ 958	मेरा अनुभव [गुजराती, मराठी भी]	६
▲ 1120	सिद्धान्त एवं रहस्यकी बातें	६
▲ 1283	सत्संगकी मार्मिक बातें	६
▲ 1150	साधनकी आवश्यकता	७
▲ 320	वास्तविक त्याग	५
▲ 285	आदर्श भ्रातृप्रेम [ओडिआ भी]	४
▲ 286	बालशिक्षा [तेलुगु, कन्नड़, ओडिआ, गुजराती भी]	३
▲ 287	बालकोंके कर्तव्य [ओडिआ भी]	३
▲ 272	स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा [कन्नड़, गुजराती भी]	७
▲ 290	आदर्श नारी सुशीला [बँगला, तेलुगु, तमिल, ओडिआ, गुजराती, मराठी भी]	३
▲ 291	आदर्श देवियाँ [ओडिआ भी]	३
▲ 300	नारीधर्म	३

कोड		मूल्य
▲ 293	सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय [गुजराती भी]	१.५०
▲ 294	संत-महिमा [गुजराती, ओडिआ भी]	१.५०
▲ 295	सत्संगकी कुछ सार बातें—(हिन्दी) [बँगला, तमिल, तेलुगु, गुजराती, ओडिआ, मराठी भी]	१.५०
▲ 301	भारतीय संस्कृति तथा शास्त्रोंमें नारीधर्म	१.५०
▲ 310	सावित्री और सत्यवान्—(हिन्दी) [गुजराती, तमिल, तेलुगु, ओडिआ, कन्नड, मराठी भी]	२
▲ 299	श्रीप्रेमभक्ति-प्रकाश—ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप [तेलुगु भी]	३
▲ 304	गीता पढ़नेके लाभ और त्यागसे भगवत्प्राप्ति—गजलगीतासहित [गुजराती, असमिया, तमिल भी]	१.५०
▲ 305	गीताका तात्त्विक विवेचन एवं प्रभाव	
▲ 309	भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय—(कल्याणप्राप्तिकी कई युक्तियाँ) [ओडिआ भी]	३
▲ 311	परलोक और पुनर्जन्म एवं वैराग्य [ओड़िआ भी]	१.५०
▲ 306	धर्म क्या है? भगवान् क्या हैं? [गुजराती, ओडिआ भी]	१.५०
▲ 307	भगवान्की दया (भगवत्कृपा एवं कुछ अमृत-कण) [ओडिआ, कन्नड़ भी]	१.५०
▲ 316	ईश्वर साक्षात्कारके लिये नाम-जप सर्वोपरि साधन है और सत्यकी शरणसे मुक्ति	१.५०
▲ 314	व्यापार-सुधारकी आवश्यकता और हमारा कर्तव्य [गुजराती, मराठी भी]	१.५०
▲ 623	धर्मके नामपर पाप	१.५०
▲ 315	चेतावनी और सामयिक चेतावनी [गुजराती भी]	१.५०
▲ 318	ईश्वर दयालु और न्यायकारी है और अवतारका सिद्धान्त [गुजराती, तेलुगु भी]	१.५०
▲ 270	भगवान्का हेतुरहित सौहार्द एवं महात्मा किसे कहते हैं? [तेलुगु भी]	१.५०
▲ 271	भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कैसे हो?—	१.५०
▲ 302	ध्यान और मानसिक पूजा [गुजराती भी]	१.५०
▲ 326	प्रेमका सच्चा स्वरूप और शोकनाशके उपाय [गुजराती भी]	१.५०
▲ 328	संध्या-गायत्रीका महत्त्व, चतुःश्लोकी भागवत एवं गजलगीतासहित	१.५०

परम श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार (भाईजी)-के अनमोल प्रकाशन

कोड		मूल्य
■ 820	भगवच्चर्चा (ग्रन्थाकार)	७०
■ 050	पदरत्नाकर	५०
■ 049	श्रीराधा-माधव-चिन्तन	५०
■ 058	अमृत-कण	१६
■ 332	ईश्वरकी सत्ता और महत्ता	१५
■ 333	सुख-शान्तिका मार्ग	१५
■ 343	मधुर	११
■ 056	मानव-जीवनका लक्ष्य	१२
■ 331	सुखी बननेके उपाय	१०
■ 334	व्यवहार और परमार्थ	१०
■ 514	दुःखमें भगवत्कृपा	१०
■ 386	सत्संग-सुधा	१०
■ 342	संतवाणी—ढाई हजार अनमोल बोल तमिल (तीन भागोंमें)	१५
■ 347	तुलसीदल	१०
■ 339	सत्संगके बिखरे मोती—	१०
■ 349	भगवत्प्राप्ति एवं हिन्दू-संस्कृति—	१२
■ 350	साधकोंका सहारा—	१५
■ 351	भगवच्चर्चा—(भाग-५)	१५
■ 352	पूर्ण समर्पण	१५
▲ 353	लोक-परलोक-सुधार—(भाग-१)	८
■ 354	आनन्दका स्वरूप	८.५०

कोड		मूल्य
■ 355	महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर—	१२
■ 356	शान्ति कैसे मिले ? (भाग-४)	१३
■ 357	दुःख क्यों होते हैं ?	१२
■ 348	नैवेद्य	१०
▲ 337	दाम्पत्य-जीवनका आदर्श [गुजराती, तेलुगु भी]	७
▲ 336	नारीशिक्षा [गुजराती भी]	८
■ 340	श्रीरामचिन्तन	९
■ 338	श्रीभगवन्नाम-चिन्तन	१०
▲ 345	भवरोगकी रामबाण दवा [ओड़िआ भी]	८
▲ 346	सुखी बनो	७
■ 341	प्रेमदर्शन [तेलुगु भी]	९
▲ 358	कल्याण-कुंज— (क० कुं० भाग-१)	६
▲ 359	भगवान्की पूजाके पुष्प-(,, भाग-२)	७
▲ 360	भगवान् सदा तुम्हारे साथ हैं (,, भाग-३)	८
■ 361	मानव-कल्याणके साधन—(,, भाग-४)	१०
▲ 362	दिव्य सुखकी सरिता— (,, भाग-५) [गुजराती भी]	६
▲ 363	सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ-(,, भाग-६)	६
▲ 364	परमार्थकी मन्दाकिनी—(,, भाग-७)	५
▲ 366	मानव-धर्म—	६
▲ 526	महाभाव-कल्लोलिनी	६
▲ 367	दैनिक कल्याण-सूत्र—	४
▲ 368	प्रार्थना—प्रार्थना-पीयूष [ओडिआ भी]	५
▲ 369	गोपीप्रेम	३
▲ 370	श्रीभगवन्नाम [ओडिआ भी]	३
▲ 373	कल्याणकारी आचरण	१
▲ 374	साधन-पथ—सचित्र [गुजराती, तमिल भी]	४
▲ 375	वर्तमान शिक्षा	३
▲ 376	स्त्री-धर्म-प्रश्नोत्तरी	३
▲ 377	मनको वश करनेके कुछ उपाय [गुजराती भी]	१
▲ 378	आनन्दकी लहरें [बँगला, ओडिआ, गुजराती भी]	१.५०
▲ 379	गोवध भारतका कलंक एवं गायका माहात्म्य	३
▲ 380	ब्रह्मचर्य [ओडिआ भी]	२
▲ 381	दीनदुखियोंके प्रति कर्तव्य—	१
▲ 382	सिनेमा मनोरंजन या विनाशका साधन	२
▲ 344	उपनिषदोंके चौदह रत्न—	५
▲ 371	राधा-माधव-रससुधा (षोडशगीत) सटीक	३
▲ 384	विवाहमें दहेज—	१
▲ 809	दिव्य संदेश एवं मनुष्य सर्वप्रिय और जीवन कैसे बनें?	१

परम श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजीके कल्याणकारी साहित्य

कोड		मूल्य
■ 465	साधन-सुधा-सिन्धु	७०
▲ 400	कल्याण-पथ	६
▲ 401	मानसमें नाम-वन्दना	७
▲ 605	जित देखूँ तित तू [गुजराती, मराठी भी]	६
▲ 406	भगवत्प्राप्ति सहज है	६
▲ 535	सुन्दर समाजका निर्माण	७
▲ 1175	प्रश्नोत्तर मणिमाला [बँगला, ओडिआ भी]	७
▲ 1247	मेरे तो गिरधर गोपाल	६
▲ 403	जीवनका कर्तव्य [गुजराती भी]	७
▲ 436	कल्याणकारी प्रवचन [गुजराती, बँगला, ओडिआ भी]	५
▲ 405	नित्ययोगकी प्राप्ति	६
▲ 1093	आदर्श कहानियाँ [ओडिआ भी]	६
▲ 407	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता [कन्नड़, मराठी भी]	६
▲ 408	भगवान्से अपनापन [गुजराती, ओडिआ भी]	४
▲ 861	सत्संग-मुक्ताहार [गुजराती, ओडिआ भी]	४
▲ 860	मुक्तिमें सबका अधिकार [गुजराती भी]	१
▲ 409	वास्तविक सुख [तमिल भी]	५

कोड		मूल्य
▲ 1308	प्रेरक कहानियाँ	५
▲ 1408	सब साधनोंका सार	४
▲ 411	साधन और साध्य [मराठी, बँगला भी]	४
▲ 412	तात्त्विक प्रवचन [मराठी, ओडिआ, बँगला, गुजराती भी]	४
▲ 414	तत्त्वज्ञान कैसे हो? एवं मुक्तिमें सबका समान अधिकार [बँगला भी]	६
▲ 410	जीवनोपयोगी प्रवचन	६
▲ 822	अमृत-बिन्दु [बंगला, तमिल, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी भी]	५
▲ 821	किसान और गाय	१.५०
▲ 416	जीवनका सत्य [गुजराती भी]	४
▲ 417	भगवन्नाम [मराठी भी]	३
▲ 418	साधकोंके प्रति [बँगला, मराठी भी]	४
▲ 419	सत्संगकी विलक्षणता [गुजराती भी]	३
▲ 545	जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग [गुजराती भी]	३
▲ 420	मातृशक्तिका घोर अपमान [तमिल, बँगला, मराठी, गुजराती, ओडिआ भी]	३
▲ 421	जिन खोजा तिन पाइयाँ [बँगला भी]	४
▲ 422	कर्मरहस्य [बँगला, तमिल, कन्नड, ओडिआ भी]	३
▲ 424	वासुदेवः सर्वम् [मराठी भी]	३
▲ 425	अच्छे बनो	४
▲ 426	सत्संगका प्रसाद [गुजराती भी]	४
▲ 1019	सत्यकी खोज [गुजराती भी]	४
▲ 1035	सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण	१
▲ 1360	तू-ही-तू	१.५०
▲ 1434	एक नयी बात	१.५०
▲ 1440	परम पितासे प्रार्थना	१
▲ 1441	संसारका असर कैसे छुटे?	१.५०
▲ 1176	शिखा (चोटी) धारणकी आवश्यकता और हम कहाँ जा रहे हैं विचार करें [बँगला भी]	१.५०
▲ 1255	कल्याणके तीन सुगम मार्ग [बँगला, मराठी भी]	१.५०
▲ 431	स्वाधीन कैसे बनें?	१.५०
▲ 702	यह विकास है या विनाश जरा सोचिये	१.५०
▲ 589	भगवान् और उनकी भक्ति [ओडिआ भी]	५
▲ 617	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम [तमिल, बँगला, तेलुगु, ओडिआ, कन्नड, गुजराती, मराठी भी]	३
▲ 427	गृहस्थमें कैसे रहें? [बँगला, मराठी, कन्नड़, ओडिआ, अंग्रेजी, तमिल, तेलुगु, गुजराती भी]	५
▲ 432	एकै साधे सब सधै [गुजराती, तमिल, तेलुगु भी]	४
▲ 433	सहज साधना [गुजराती, बँगला, ओडिआ, मराठी भी]	३
▲ 434	शरणागति [तमिल, ओडिआ, तेलुगु, कन्नड भी]	३
▲ 435	आवश्यक शिक्षा (सन्तानका कर्तव्य एवं आहारशुद्धि) [गुजराती, ओडिआ भी]	४
■ 1012	पञ्चामृत—(१०० पत्रोंका पैकेटमें) [गुजराती भी]	१
■ 1037	हे मेरे नाथ मैं आपको भूलूँ नहीं (१०० पत्रोंका पैकेटमें)	१
▲ 1072	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं? [गुजराती, ओडिआ भी]	३
▲ 730	संकल्पपत्र	२
▲ 515	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिका साधन [गुजराती, तमिल, तेलुगु भी]	१
▲ 770	अमरताकी ओर [गुजराती भी]	५
▲ 438	दुर्गतिसे बचो [गुजराती, बँगला (गुरुतत्त्व-सहित), मराठी भी]	१.५०
▲ 439	महापापसे बचो [बँगला, तेलुगु, उर्दू, कन्नड, गुजराती तमिल भी]	१.५०

कोड		मूल्य
▲ 440	सच्चा गुरु कौन?	१.५०
▲ 781	अलौकिक प्रेम [गुजराती भी]	१.५०
▲ 444	नित्य-स्तुति और प्रार्थना [कन्नड़, तेलुगु भी]	१.५०
▲ 729	सार-संग्रह एवं सत्संगके अमृत-कण [गुजराती भी]	१.५०
▲ 445	हम ईश्वरको क्यों मानें? [बँगला, नेपाली भी]	१.५०
▲ 745	भगवत्तत्त्व [गुजराती भी]	१.५०
▲ 632	सब जग ईश्वररूप है [ओडिआ भी]	४
▲ 447	मूर्तिपूजा-नाम-जपकी महिमा [ओडिआ, बँगला, तमिल, तेलुगु, मराठी, गुजराती भी]	१.५०

नित्यपाठ साधन-भजन-हेतु

कोड		मूल्य
■ 592	नित्यकर्म-पूजा-प्रकाश [गुजराती भी]	३०
■ 1417	शिवस्तोत्ररत्नाकर	१६
■ 610	व्रतपरिचय	२५
■ 1162	एकादशी-व्रतका माहात्म्य—मोटा टाइप	१०
■ 1136	वैशाख-कार्तिक-माघमास-माहात्म्य	१८
■ 1367	श्रीसत्यनारायण-व्रतकथा	६
■ 052	स्तोत्ररत्नावली—सानुवाद [तेलुगु भी]	१८
■ 117	दुर्गासप्तशती—मूल, मोटा टाइप [तेलुगु, कन्नड़ भी]	१२
■ 876	,, ,, मूल गुटका	६
■ 1346	,, ,, सानुवाद मोटा टाइप	२०
■ 118	,, ,, सानुवाद [गुजराती, बँगला भी]	१५
■ 489	,, ,, सजिल्द	२०
■ 866	,, ,, केवल हिन्दी	१०
■ 1161	,, ,, केवल भाषा मोटा टाइप	३०
■ 1281	,, ,, सटीक राजसंस्करण	३०
■ 819	श्रीविष्णुसहस्रनाम-शांकरभाष्य	१५
■ 206	,, ,, सटीक,	३
■ 226	,, ,, मूल, [मलयालम, तेलुगु, कन्नड़, तमिल, गुजराती भी]	१.५०
■ 509	सूक्ति-सुधाकर—सूक्ति-संग्रह	१०
■ 207	रामस्तवराज—(सटीक)	३
■ 211	आदित्यहृदयस्तोत्रम्—हिन्दी-अंग्रेजी-अनुवाद-सहित [ओडिआ भी]	१.५०
■ 224	श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र-भक्त बिल्वमंगलरचित [तेलुगु, ओडिआ भी]	३
■ 231	रामरक्षास्तोत्रम्— [तेलुगु भी]	१.५०
■ 715	महामन्त्रराजस्तोत्रम्	३
■ 704	श्रीशिवसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 705	श्रीहनुमत्सहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 706	श्रीगायत्रीसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 707	श्रीरामसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 708	श्रीसीतासहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 709	श्रीसूर्यसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 710	श्रीगङ्गासहस्रनामस्तोत्रम्	२
■ 711	श्रीलक्ष्मीसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 712	श्रीगणेशसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 713	श्रीराधिकासहस्रनामस्तोत्रम्	
■ 810	श्रीगोपालसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 495	दत्तात्रेय-वज्रकवच—सानुवाद [तेलुगु, मराठी भी]	३
■ 229	श्रीनारायणकवच एवं अमोघ शिवकवच [ओडिआ भी]	३
■ 563	शिवमहिम्नस्तोत्र—[तेलुगु भी]	३
■ 054	भजन-संग्रह—पाँचों भाग एक साथ	२४
■ 140	श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली	१४
■ 142	चेतावनी-पद-संग्रह—(दोनों भाग)	१४
■ 144	भजनामृत—६७ भजनोंका संग्रह	६
■ 1355	सचित्र-स्तुति-संग्रह	५
■ 1344	सचित्र-आरती-संग्रह	१०

कोड		मूल्य
■ 153	आरती-संग्रह—१०२ आरतियोंका संग्रह	५
■ 807	सचित्र आरतियाँ [गुजराती भी]	१०
▲ 385	नारद-भक्ति-सूत्र एवं शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र सानुवाद [बँगला, तमिल भी]	२
■ 208	सीतारामभजन	३
■ 221	हरेरामभजन—दो माला (गुटका)	३
■ 222	हरेरामभजन—१४ माला	१०
■ 576	विनय-पत्रिकाके पैंतीस पद	२
■ 225	गजेन्द्रमोक्ष-सानुवाद, हिन्दी पद्य, भाषानुवाद [तेलुगु, ओडिआ भी]	१.५०
■ 699	गङ्गालहरी	१.५०
■ 232	श्रीरामगीता	२
■ 383	भगवान् कृष्णकी कृपा तथा दिव्य प्रेमकी प्राप्तिके लिये	१.५०
■ 1094	हनुमानचालीसा-हिन्दी भावार्थसहित	४
■ 1181	हनुमानचालीसा मूल (रंगीन)	२
■ 227	हनुमानचालीसा—(पॉकिट साइज) [गुजराती, असमिया, तमिल, बँगला, तेलुगु, कन्नड, ओडिआ भी]	१.५०
■ 695	हनुमानचालीसा—(छोटी साइज) [गुजराती भी]	१
■ 228	शिवचालीसा	१.५०
■ 1185	शिवचालीसा— लघु आकार	१
■ 851	दुर्गाचालीसा, विन्ध्येश्वरीचालीसा	१.५०
■ 1033	दुर्गाचालीसा—लघु	१
■ 203	अपरोक्षानुभूति	३
■ 139	नित्यकर्म-प्रयोग	८
■ 524	ब्रह्मचर्य और संध्या-गायत्री	३
■ 210	सन्ध्योपासनविधि एवं तर्पण बलिवैश्वदेवविधि—मन्त्रानुवादसहित	३
■ 236	साधकदैनन्दिनी	२
■ 614	सन्ध्या	१.५०

बालोपयोगी पाठ्यपुस्तकें

कोड		मूल्य
■ 573	बालक-अङ्क—(कल्याण-वर्ष २७)	८०
■ 1316	बालपोथी (शिशु), रंगीन	१०
■ 461	,, ,, भाग-१	३
■ 212	,, ,, भाग-२	३
■ 684	,, ,, भाग-३	३
■ 764	,, ,, भाग-४	६
■ 765	,, ,, भाग-५	६
■ 125	,, ,, रंगीन, भाग-१	४
■ 216	बालककी दिनचर्या	३
■ 214	बालकके गुण	३
■ 217	बालकोंके सीख	३
■ 219	बालकके आचरण	३
■ 218	बाल-अमृत-वचन	३
■ 696	बाल-प्रश्नोत्तरी [गुजराती भी]	३
■ 215	आओ बच्चो तुम्हें बतायें	३
■ 213	बालकोंकी बोल-चाल	३
■ 145	बालकोंकी बातें	६
■ 146	बड़ोंके जीवनसे शिक्षा [ओडिआ भी]	६
■ 150	पिताकी सीख [गुजराती भी]	८
■ 402	आदर्श सुधारक	४
■ 897	लघुसिद्धान्तकौमुदी	१५
■ 148	वीर बालक	५
■ 1437	वीर बालक (रंगीन)	७
■ 149	गुरु और माता-पिताके भक्त बालक	५
■ 152	सच्चे-ईमानदार बालक	३
■ 155	दयालु और परोपकारी बालक-बालिकाएँ	३
■ 156	वीर बालिकाएँ	३
■ 727	स्वास्थ्य, सम्मान और सुख	

कोड	मूल्य
सर्वोपयोगी प्रकाशन	
■ 698 मार्क्सवाद और रामराज्य-स्वामी करपात्रीजी	
■ 202 मनोबोध—	५
■ 746 श्रमण नारद	
■ 747 सप्तमहाव्रत	२
■ 1300 महाकुम्भ पर्व	
■ 542 ईश्वर	२
■ 196 मननमाला	
■ 57 मानसिक दक्षता	१६
■ 59 जीवनमें नया प्रकाश	१३
■ 60 आशाकी नयी किरणें	१४
■ 132 स्वर्णपथ	११
■ 55 महकते जीवनफूल-	२०
■ 1381 क्या करें? क्या न करें?	१६
■ 1416 गरुडपुराण-सारोद्धार (सानुवाद)	१८
■ 64 प्रेमयोग	१८
■ 774 गीताप्रेस-परिचय	४
■ 387 प्रेम-सत्संग-सुधामाला	१२
■ 668 प्रश्नोत्तरी	१.५०
■ 501 उद्धव-सन्देश	१३
■ 191 भगवान् कृष्ण [तमिल, तेलुगु, मराठी, गुजराती भी]	३.५०
■ 193 भगवान् राम [गुजराती भी]	४
■ 195 भगवान्पर विश्वास	४
■ 120 आनन्दमय जीवन	११
■ 130 तत्त्वविचार	९
■ 133 विवेक-चूड़ामणि [तेलुगु भी]	१०
■ 701 गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका [ओडिआ, बँगला, तमिल, तेलुगु, मराठी, अंग्रेजी, गुजराती, कन्नड़ भी]	३
■ 131 सुखी जीवन	९
■ 122 एक लोटा पानी	१०
■ 888 परलोक और पुनर्जन्मकी सत्य घटनाएँ	१०
■ 1217 भवनभास्कर	१०
■ 134 सती द्रौपदी	८
■ 137 उपयोगी कहानियाँ [तेलुगु, तमिल, कन्नड़, गुजराती भी]	७
■ 157 सती सुकला	३
■ 147 चोखी कहानियाँ [तेलुगु, तमिल, गुजराती, मराठी भी]	४
■ 159 आदर्श उपकार- (पढ़ो, समझो और करो)	८
■ 160 कलेजेके अक्षर— ,, ,, ,,	८
■ 161 हृदयकी आदर्श विशालता— ,, ,,	८
■ 162 उपकारका बदला ,, ,,	८
■ 163 आदर्श मानव-हृदय ,, ,,	८
■ 164 भगवान्के सामने सच्चा सो सच्चा ,,	८
■ 165 मानवताका पुजारी— ,, ,,	८
■ 166 परोपकार और सच्चाईका फल- ,,	८
■ 510 असीम नीचता और असीम साधुता-	८
■ 129 एक महात्माका प्रसाद—	१५
■ 827 तेईस चुलबुली कहानियाँ—	८
■ 151 सत्संगमाला एवं ज्ञानमणिमाला	८
■ 1363 शरणागति रहस्य	१५
चित्रकथा	
■ 190 बाल-चित्रमय श्रीकृष्णलीला	८
■ 1114 श्रीकृष्णलीला (राजस्थानी शैली १८ वीं शताब्दी)	१००
■ 867 भगवान् सूर्य (बृहदाकार)	४०
■ 868 भगवान् सूर्य (ग्रंथाकार)	१५
■ 1156 एकादश रुद्र (शिव)	५०
■ 1032 बालचित्र-रामायण—पुस्तकाकार	

कोड	मूल्य
■ 869 कन्हैया [बँगला, तमिल, गुजराती, ओडिआ भी]	१०
■ 870 गोपाल [बँगला, तमिल भी]	१०
■ 871 मोहन [बँगला, तमिल, गुजराती, ओडिआ भी]	१०
■ 872 श्रीकृष्ण [बँगला, तमिल भी]	१०
■ 1018 नवग्रह—चित्र एवं परिचय	१०
■ 1016 रामलला	१५
■ 1116 राजाराम	१५
■ 862 मुझे बचाओ, मेरा क्या कसूर?	१५
■ 1017 श्रीराम—नवीन संस्करण	१५
■ 1394 भगवान् श्रीराम (पुस्तकाकार)	१०
■ 1418 श्रीकृष्णलीला-दर्शन (,,)	१०
■ 1278 दशमहाविद्या [बँगला भी]	१०
■ 829 अष्टविनायक [ओडिआ, मराठी, गुजराती भी]	१०
■ 1214 मानस-स्तुति-संग्रह	१०
■ 1343 हर-हर महादेव	१५
■ 204 ॐ नमः शिवाय (द्वादश ज्योतिर्लिंगोंकी कथा) [बँगला, ओडिआ, कन्नड़ भी]	१५
■ 787 जय हनुमान [तेलुगु, ओडिआ भी]	१५
■ 779 दशावतार [बँगला भी]	१०
■ 1215 प्रमुख देवता	१०
■ 1216 प्रमुख देवियाँ	१०
■ 1420 पौराणिक देवियाँ	१०
■ 1443 रामायणके प्रमुख पात्र	१५
■ 1442 प्रमुख-ऋषि-मुनि	१५
■ 205 नवदुर्गा [तेलुगु, गुजराती, असमिया, कन्नड़, अंग्रेजी, ओडिआ, बँगला भी]	१०
■ 1307 नवदुर्गा—पॉकिट साइज	४
■ 537 बाल-चित्रमय बुद्धलीला	५
■ 194 बाल-चित्रमय चैतन्यलीला	
■ 693 श्रीकृष्णरेखा-चित्रावली	
■ 656 गीता-माहात्म्यकी कहानियाँ [तमिल, तेलुगु भी]	६
■ 651 गोसेवाके चमत्कार— [तमिल भी]	८
रंगीन चित्र-प्रकाशन	
▲ 237 जयश्रीराम—भगवान् रामकी सम्पूर्ण लीलाओंका चित्रण	१५
▲ 546 जय श्रीकृष्ण—भगवान् कृष्णकी सम्पूर्ण लीलाओंका चित्रण	१५
▲ 1001 जगज्जननी श्रीराधा—	८
▲ 1020 श्रीराधा-कृष्ण—युगल छवि	८
▲ 491 हनुमान्जी—(भक्तराज हनुमान्)	८
▲ 492 भगवान् विष्णु	८
▲ 560 लड्डू गोपाल (भगवान् श्रीकृष्णका बालस्वरूप)	८
▲ 1351 सुमधुर गोपाल	८
▲ 548 मुरलीमनोहर—(भगवान् मुरलीमनोहर)	८
▲ 776 सीताराम— युगल छवि	८
▲ 1290 नटराज शिव	८
▲ 630 सर्वदेवमयी गौ	८
▲ 531 श्रीबाँकेबिहारी	८
▲ 812 नवदुर्गा (माँ दुर्गाके नौ स्वरूपोंका चित्रण)	८
▲ 437 कल्याण-चित्रावली— I	८
▲ 1320 कल्याण-चित्रावली— II	८
'कल्याण' के पुनर्मुद्रित विशेषाङ्क	
■ 1184 कृष्णाङ्क	१००
■ 749 ईश्वराङ्क	९०
■ 635 शिवाङ्क	१००
■ 41 शक्ति-अङ्क	१००
■ 616 योगाङ्क	९०
■ 627 संत-अङ्क	१००
■ 604 साधनाङ्क	१००
■ 1104 भागवताङ्क	१३०

कोड	मूल्य
■ 1002 सं० वाल्मीकीय रामायणाङ्क	६५
■ 44 संक्षिप्त पद्मपुराण	१२०
■ 539 संक्षिप्त मार्कण्डेयपुराण	५५
■ 1111 संक्षिप्त ब्रह्मपुराण	७०
■ 43 नारी-अङ्क	१००
■ 659 उपनिषद्-अङ्क—	१००
■ 518 हिन्दू-संस्कृति-अङ्क	१२०
■ 279 सं० स्कन्दपुराण	१४०
■ 40 भक्त-चरिताङ्क	१२०
■ 573 बालक-अङ्क	८०
■ 1183 सं० नारदपुराण	१००
■ 667 संतवाणी-अङ्क	
■ 587 सत्कथा-अङ्क	१००
■ 636 तीर्थाङ्क	१००
■ 660 भक्ति-अङ्क	
■ 1133 सं० देवीभागवत-मोटा टाइप	१२०
■ 574 सं० योगवासिष्ठ अङ्क	९०
■ 789 सं० शिवपुराण-(बड़ा टाइप)	१००
■ 631 सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण	११०
■ 1362 सं० अग्निपुराण	११०
■ 1135 भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क	८५
■ 572 परलोक-पुनर्जन्माङ्क	१००
■ 517 गर्ग-संहिता-[भगवान् श्रीराधाकृष्णकी दिव्य लीलाओंका वर्णन]	७०
■ 1113 नरसिंहपुराणम्-सानुवाद	५५
■ 657 श्रीगणेश-अङ्क	७५
■ 42 हनुमान-अङ्क—	७०
■ 791 सूर्याङ्क	६०
■ 584 सं० भविष्यपुराणाङ्क	७५
■ 586 शिवोपासनाङ्क	७५
■ 628 रामभक्ति-अङ्क	६५
■ 653 गोसेवा-अङ्क	७५
■ 1432 सं० वामनपुराण (मुद्रणकी प्रक्रियामें)	
■ 1131 कूर्मपुराणाङ्क	
■ 448 भगवल्लीला-अङ्क	६५
■ 1044 वेद-कथाङ्क	
■ 1189 सं० गरुडपुराणाङ्क	८०
■ 1377 आरोग्य-अङ्क	८०
■ 1379 नीतिसार-अङ्क (मासिक अंकोंके साथ)	१२०
■ कल्याण-मासिक-अङ्क	६
Annual Issues of Kalyan-Kalpataru at Reduced Rates	
■ 1395 Woman No.	40
■ 1396 Rama No.	40
■ 1397 Manusmriti No.	40
■ 1398 Hindu Sanskriti No.	40
अन्य भारतीय भाषाओंके प्रकाशन	
संस्कृत	
▲ 679 गीतामाधुर्य	६
बँगला	
■ 954 श्रीरामचरितमानस-ग्रन्थाकार	१२०
■ 763 गीता-साधक-संजीवनी—	८५
■ 1118 गीतातत्त्व-विवेचनी—	६५
■ 556 गीता-दर्पण—	३०
■ 013 गीता-पदच्छेद—	२०
■ 957 गीता-ताबीजी—	३
■ 1322 दुर्गासप्तशती सटीक	१५
■ 1075 ॐ नमः शिवाय	१५
■ 1043 नवदुर्गा	१०
■ 1439 दशमहाविद्या	१०
■ 1292 दशावतार	१०

कोड	मूल्य
■ 1096 कन्हैया	१०
■ 1097 गोपाल	१०
■ 1098 मोहन	१०
■ 1123 श्रीकृष्ण	१०
■ 1393 गीता भाषा टीका (पॉकेट साइज) सजि.	१०
■ 496 गीता भाषा टीका (पॉकेट साइज)	६
■ 275 कल्याण-प्राप्तिके उपाय	१०
▲ 1305 प्रश्नोत्तर मणिमाला	७
▲ 395 गीतामाधुर्य	५
▲ 1102 अमृत-बिन्दु	५
■ 1356 सुन्दरकाण्ड—सटीक	४
▲ 816 कल्याणकारी प्रवचन	४
▲ 276 परमार्थ-पत्रावली— भाग-१	४
▲ 1306 कर्तव्य साधनासे भगवत्प्राप्ति	४
▲ 1359 जिन खोजा तिन पाइया	४
▲ 1115 तत्त्वज्ञान कैसे हो?	४
▲ 1303 साधकोंके प्रति	४
▲ 1358 कर्म रहस्य	४
▲ 1119 ईश्वर और धर्म क्यों?	७
▲ 1122 क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?	३
▲ 625 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	३
▲ 428 गृहस्थमें कैसे रहें ?	३
▲ 903 सहज साधना	३
▲ 1368 साधना	३
▲ 312 आदर्श नारी सुशीला	३
▲ 955 तात्त्विक प्रवचन	३
■ 1103 मूल रामायण एवं रामरक्षास्तोत्र	२
▲ 449 दुर्गतिसे बचो गुरुतत्त्व	२
▲ 956 साधन और साध्य	२
▲ 330 नारद एवं शांडिल्य-भक्ति-सूत्र	२
▲ 762 गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
▲ 848 आनन्दकी लहरें	१.५०
■ 626 हनुमानचालीसा	१.५०
▲ 1319 कल्याणके तीन सुगम मार्ग	१.५०
▲ 1293 शिखा धारणकी आवश्यकता और हम कहाँ जा रहे हैं?	१.५०
▲ 450 हम ईश्वरको क्यों मानें?	१.५०
▲ 849 मातृशक्तिका घोर अपमान	१
▲ 451 महापापसे बचो	१
▲ 469 मूर्तिपूजा	१
▲ 1140 भगवान्‌के दर्शन प्रत्यक्ष हो सकते हैं	१.५०
▲ 296 सत्संगकी सार बातें	१
▲ 443 संतानका कर्तव्य	१

मराठी

कोड	मूल्य
■ 1314 श्रीरामचरितमानस सटीक, मोटा टाइप	१२०
■ 784 ज्ञानेश्वरी गूढ़ार्थ-दीपिका	१३०
■ 853 एकनाथी भागवत—मूल	९०
■ 7 गीता-साधक-संजीवनी टीका	८५
■ 1304 गीता-तत्त्व-विवेचनी	७०
■ 1071 श्रीनामदेवांची गाथा	५०
■ 859 ज्ञानेश्वरी—मूल मझला	३५
■ 15 गीता माहात्म्यसहित	३०
■ 504 गीता-दर्पण	३०
■ 748 ज्ञानेश्वरी—मूल गुटका	२५
■ 14 गीता-पदच्छेद	२५
■ 1388 गीता श्लोकार्थसहित (मोटा टाइप)	१०
■ 1257 गीताश्लोकार्थसहित (पॉकेट साइज)	६
■ 1168 भक्त नरसिंह मेहता	८
▲ 429 गृहस्थमें कैसे रहें ?	७
▲ 1387 प्रेममें विलक्षण एकता	७
■ 857 अष्टविनायक	६
▲ 391 गीतामाधुर्य	६
▲ 1099 अमूल्य समयका सदुपयोग	६

कोड	मूल्य
▲ 1335 रामायणके कुछ आदर्श पात्र	६
▲ 1155 उद्धार कैसे हो?	४
▲ 1386 महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	५
▲ 1340 अमृत बिन्दु	५
▲ 1382 शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	६
▲ 1210 जित देखूँ तित-तू	६
▲ 1330 मेरा अनुभव	६
■ 1073 भक्त चन्द्रिका	४
■ 1383 भक्तराज हनुमान्	४
▲ 886 साधकोंके प्रति	४
▲ 885 तात्त्विक प्रवचन	४
■ 1333 भगवान् श्रीकृष्ण	४
■ 1332 दत्तात्रेय-वज्रकवच	३
■ 855 हरीपाठ	३
■ 1169 चोखी कहानियाँ	३
▲ 1385 नल-दमयंती	३
▲ 1384 सती-सावित्री-कथा	२
▲ 880 साधन और साध्य	४
▲ 1006 वासुदेवः सर्वम्	३
▲ 1276 आदर्श नारी सुशीला	३
▲ 1334 भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान	३
▲ 899 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	३
▲ 1339 कल्याणके तीन सुगम मार्ग और सत्यकी शरणसे मुक्ति	३
▲ 1341 सहज साधना	३
▲ 802 गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
▲ 882 मातृशक्तिका घोर अपमान	२
▲ 883 मूर्तिपूजा	१.५०
▲ 884 सन्तानका कर्तव्य	१.५०
▲ 1279 सत्संगकी कुछ सार बातें	१.५०
▲ 901 नाम-जपकी महिमा	१.५०
▲ 900 दुर्गतिसे बचो	१.५०
▲ 902 आहार-शुद्धि	
▲ 1170 हमारा कर्तव्य	१.५०
▲ 881 भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	५
▲ 898 भगवन्नाम	४

गुजराती

कोड	मूल्य
■ 799 श्रीरामचरितमानस—ग्रन्थाकार	१२०
■ 1430 श्रीरामचरितमानस मूल, मोटा	६०
■ 1326 सं० देवीभागवत	१२०
■ 1286 संक्षिप्त शिवपुराण	११०
■ 467 गीता-साधक-संजीवनी	९०
■ 1313 गीता-तत्त्व-विवेचनी	७०
■ 785 श्रीरामचरितमानस—मझला सटीक	
■ 468 गीता-दर्पण	४०
■ 878 श्रीरामचरितमानस—मूल मझला	३५
■ 879 श्रीरामचरितमानस—मूल गुटका	२५
■ 1365 नित्यकर्म पूजाप्रकाश	३०
■ 12 गीता-पदच्छेद	२५
■ 1315 गीता—सटीक, मोटा टाइप	१५
■ 1366 दुर्गासप्तशती—सटीक	१५
■ 1227 सचित्र आरतियाँ	१०
■ 1034 गीता छोटी—सजिल्द	१०
■ 1225 मोहन— (धारावाहिक चित्रकथा)	१०
■ 1224 कन्हैया— ,,	१०
■ 1228 नवदुर्गा	१०
■ 936 गीता छोटी—सटीक	६
■ 948 सुन्दरकाण्ड—मूल मोटा	५
■ 1085 भगवान् राम—	४
■ 950 सुन्दरकाण्ड—मूल गुटका	३
■ 1199 सुन्दरकाण्ड—मूल लघु आकार	२
■ 1226 अष्ट विनायक	१०

कोड	मूल्य
■ 613 भक्त नरसिंह मेहता	
▲ 1164 शीघ्र कल्याणके सोपान	९
▲ 1146 श्रद्धा, विश्वास और प्रेम	८
▲ 1144 व्यवहारमें परमार्थकी कला	८
▲ 1062 नारीशिक्षा	८
▲ 1129 अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति	८
■ 1400 पिताकी सीख	८
▲ 1128 दाम्पत्य-जीवनका आदर्श	८
▲ 1061 साधननवनीत	७
▲ 1264 मेरा अनुभव	७
▲ 1046 स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा	७
■ 1143 भक्त सुमन	७
■ 1142 भक्त सरोज	७
▲ 1211 जीवनका कर्तव्य	७
▲ 404 कल्याणकारी प्रवचन	७
▲ 877 अनन्य भक्तिसे भगवत्प्राप्ति	७
▲ 818 उपदेशप्रद कहानियाँ	७
▲ 1265 अध्यात्मिक प्रवचन	७
▲ 1052 इसी जन्ममें भगवत्प्राप्ति	६
■ 934 उपयोगी कहानियाँ	६
■ 1076 आदर्श भक्त	६
■ 1084 भक्त महिलारत्न	६
■ 875 भक्त सुधाकर	६
▲ 1067 दिव्य सुखकी सरिता	६
▲ 933 रामायणके आदर्श पात्र	६
▲ 1295 जित देखूँ तित तूँ	६
▲ 943 गृहस्थमें कैसे रहें?	६
▲ 932 अमूल्य समयका सदुपयोग	६
▲ 392 गीतामाधुर्य-	६
■ 1082 भक्त सप्तरत्न	५
■ 1087 प्रेमी भक्त	५
▲ 1077 शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	५
▲ 940 अमृत-बिन्दु	५
▲ 931 उद्धार कैसे हो?	५
▲ 894 महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	५
▲ 413 तात्त्विक प्रवचन	४
■ 892 भक्त चन्द्रिका	४
■ 895 भगवान् श्रीकृष्ण	४
▲ 1126 साधन -पथ	४
▲ 946 सत्संगका प्रसाद	४
▲ 942 जीवनका सत्य	४
▲ 1145 अमरताकी ओर	४
▲ 1066 भगवान्‌से अपनापन	४
■ 806 रामभक्त हनुमान्	४
▲ 1086 कल्याणकारी प्रवचन	४
▲ 1287 सत्यकी खोज	४
▲ 1088 एकै साधे सब सधै	४
■ 1399 चोखी कहानियाँ	३
▲ 889 भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान	३
▲ 1141 क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?	३
▲ 939 मातृ-शक्तिका घोर अपमान	३
■ 890 प्रेमी भक्त उद्धव	३
▲ 1047 आदर्श नारी सुशीला	३
▲ 1059 नल-दमयन्ती	३
▲ 1045 बालशिक्षा	३
▲ 1063 सत्संगकी विलक्षणता	३
▲ 1064 जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग	३
▲ 1165 सहज साधना	३
▲ 1151 सत्संगमुक्ताहार	३
■ 1401 बालप्रश्नोत्तरी	३
■ 935 संक्षिप्त रामायण (वाल्मीकीय रामायण-अन्तर्गत)	३
▲ 893 सती सावित्री	३
▲ 941 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	२
▲ 1177 आवश्यक शिक्षा	२

कोड		मूल्य
▲ 804	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
▲ 1049	आनन्दकी लहरें	१.५०
■ 947	महात्मा विदुर	
■ 937	विष्णुसहस्रनाम	१.५०
▲ 1058	मनको वश करनेके उपाय एवं कल्याणकारी आचरण	१.५०
▲ 1050	सच्चा सुख	१.५०
▲ 1060	त्यागसे भगवत्प्राप्ति और गीता पढ़नेके लाभ	१.५०
■ 828	हनुमानचालीसा	१.५०
▲ 844	सत्संगकी कुछ सार बातें	१.५०
▲ 1055	हमारा कर्तव्य एवं व्यापार सुधारकी आवश्यकता	१.५०
▲ 1048	संत-महिमा	१.५०
▲ 1179	दुर्गतिसे बचो	१.५०
▲ 1178	सार-संग्रह, सत्संगके अमृत कण	१.५०
▲ 1152	मुक्तिमें सबका अधिकार	१.५०
▲ 1207	मूर्तिपूजा-नाम जपकी महिमा	१.५०
▲ 1167	भगवतत्त्व	१.५०
▲ 1206	धर्म क्या है? भगवान् क्या है?	१.५०
▲ 1051	भगवान्की दया	१.५०
■ 1198	हनुमानचालीसा—लघु आकार	१
■ 1229	पंचामृत	१
▲ 1054	प्रेमका सच्चा स्वरूप और सत्यकी शरणसे मुक्ति	१.५०
▲ 938	सर्वोच्चपदप्राप्तिके साधन	१
▲ 1056	चेतावनी एवं सामयिक चेतावनी	१
▲ 1053	अवतारका सिद्धान्त और ईश्वर दयालु एवं न्यायकारी	१.५०
▲ 1127	ध्यान और मानसिक पूजा	१.५०
▲ 1148	महापापसे बचो	१
▲ 1153	अलौकिक प्रेम	१.५०

तमिल

कोड		मूल्य
■ 1426	गीता-साधक-संजीवनी—भाग-१	७५
■ 800	गीता-तत्त्व-विवेचनी	७५
■ 1256	अध्यात्मरामायण	५०
■ 823	गीता-पदच्छेद	२०
■ 743	गीता मूलम्	१५
▲ 389	गीतामाधुर्य	८
■ 365	गोसेवाके चमत्कार	८
■ 1134	गीता-माहात्म्यकी कहानियाँ	८
▲ 1007	अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति	८
▲ 553	गृहस्थमें कैसे रहें ?	८
▲ 850	संतवाणी—(भाग १)	७
▲ 952	„ („ २)	७
▲ 953	„ („ ३)	७
▲ 1353	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	७
▲ 1354	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	७
■ 795	गीता भाषा	६
■ 646	चोखी कहानियाँ	६
■ 608	भक्तराज हनुमान्	६
■ 1246	भक्तचरित्रम्	६
▲ 643	भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	५
▲ 550	नाम-जपकी महिमा	
▲ 1289	साधन पथ	५
■ 793	गीता मूल-विष्णुसहस्रनाम	५
▲ 1117	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	५
▲ 1110	अमृत बिन्दु	५
▲ 655	एकै साधे सब सधै	५
▲ 1243	वास्तविक सुख	५
■ 741	महात्मा विदुर	४
▲ 536	गीता पढ़नेके लाभ, सत्यकी शरणसे मुक्ति	३
▲ 591	महापापसे बचो, संतानका कर्तव्य	३
▲ 609	सावित्री और सत्यवान्	३
▲ 644	आदर्श नारी सुशीला	३

कोड		मूल्य
▲ 568	शरणागति	३
▲ 805	मातृशक्तिका घोर अपमान	२
▲ 607	सबका कल्याण कैसे हो?	२
■ 794	विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्	२
■ 127	उपयोगी कहानियाँ	
■ 600	हनुमानचालीसा	२
▲ 466	सत्संगकी सार बातें	१
▲ 499	नारद-भक्ति-सूत्र	१.५०
■ 601	भगवान् श्रीकृष्ण	
■ 642	प्रेमी भक्त उद्धव	
■ 647	कन्हैया(धारावाहिक चित्रकथा)	
■ 648	श्रीकृष्ण—(„ „)	
■ 649	गोपाल—(„ „)	
■ 650	मोहन—(„ „)	
■ 1042	पञ्चामृत	
▲ 742	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	
▲ 423	कर्मरहस्य	४
▲ 569	मूर्तिपूजा	१.५०
▲ 551	आहारशुद्धि	
▲ 645	नल-दमयन्ती	
▲ 606	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिके साधन	
▲ 792	आवश्यक चेतावनी	

कन्नड़

कोड		मूल्य
■ 1112	गीता-तत्त्व-विवेचनी	७०
■ 1369 1370	गीता-साधक-संजीवनी (दो खण्डोंमें सेट)	१२०
■ 726	गीता-पदच्छेद	२५
■ 718	गीता तात्पर्यके साथ	१५
■ 1375	ॐ नम: शिवाय	१५
■ 1357	नवदुर्गा	१०
▲ 1109	उपदेशप्रद कहानियाँ	८
▲ 945	साधन नवनीत	८
■ 724	उपयोगी कहानियाँ	७
▲ 833	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	७
▲ 834	स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा	७
■ 1288	गीता श्लोकार्थ	६
▲ 716	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	६
■ 832	सुन्दरकाण्ड (सटीक)	६
■ 840	आदर्श भक्त	६
■ 841	भक्त सप्तरत्न	६
■ 843	दुर्गासप्तशती—मूल	६
▲ 390	गीतामाधुर्य	६
▲ 720	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	६
▲ 1374	अमूल्य समयका सदुपयोग	६
▲ 128	गृहस्थमें कैसे रहें ?	५
■ 661	गीता मूल (विष्णुसहस्रनामसहित)	५
■ 721	भक्त बालक	५
■ 951	भक्त चन्द्रिका	५
■ 835	श्रीरामभक्त हनुमान्	४
■ 837	विष्णुसहस्रनाम—सटीक	४
■ 842	ललितासहस्रनामस्तोत्र	४
▲ 717	सावित्री-सत्यवान् और आदर्श नारी सुशीला	४
▲ 723	नाम-जपकी महिमा और आहार शुद्धि	३
▲ 725	भगवान्की दया एवं भगवान्का हेतु रहित सौहार्द	३
▲ 722	सत्यकी शरणसे मुक्ति, गीता पढ़नेके लाभ	३
▲ 325	कर्मरहस्य	३
▲ 597	महापापसे बचो	१.५०
▲ 719	बालशिक्षा	३
▲ 839	भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	३
▲ 1371	शरणागति	३
■ 737	विष्णुसहस्रनाम एवं सहस्रनामावली	३
▲ 836	नल-दमयन्ती	२

कोड		मूल्य
▲ 838	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
■ 736	नित्यस्तुतिः, आदित्यहृदयस्तोत्रम्	१.५०
■ 1105	श्रीवाल्मीकि रामायणम् संक्षिप्त	१.५०
■ 738	हनुमत्-स्तोत्रावली	१.५०
▲ 593	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	
▲ 598	वास्तविक सुख	
▲ 831	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	३

असमिया

कोड		मूल्य
■ 714	गीता-भाषा-टीका—पॉकिट साइज	६
■ 1222	श्रीमद्भागवत-माहात्म्य	
■ 825	नवदुर्गा—	५
▲ 624	गीतामाधुर्य—	५
■ 1323	श्रीहनुमान चालीसा	१.५०
▲ 703	गीता पढ़नेके लाभ	१

ओडिआ

कोड		मूल्य
■ 1121	गीता-साधक-संजीवनी	१००
■ 1100	गीता-तत्त्व-विवेचनी—ग्रन्थाकार	७०
■ 1218	रामचरितमानस—मूल मोटा टाइप	७०
■ 1298	गीता दर्पण	३५
■ 815	गीता श्लोकार्थसहित—(सजिल्द)	१८
■ 1219	गीता पञ्चरत्न	१५
■ 1009	जय हनुमान्	१५
■ 1250	ॐ नम: शिवाय	१५
■ 1157	गीता-सटीक मोटे अक्षर (अजिल्द)	१०
■ 1010	अष्टविनायक	१०
■ 1248	मोहन	१०
■ 1249	कन्हैया—	१०
■ 863	नवदुर्गा	१०
▲ 1251	भवरोगकी रामबाण दवा	८
▲ 1209	प्रश्नोत्तर मणिमाला	७
▲ 1274	परमार्थ सूत्र संग्रह	७
▲ 1254	साधन नवनीत	७
■ 1008	गीता—पॉकिट साइज	६
▲ 754	गीतामाधुर्य	६
▲ 1208	आदर्श कहानियाँ	६
▲ 1139	कल्याणकारी प्रवचन	६
■ 1342	बड़ोंके जीवनसे शिक्षा	६
▲ 1205	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	६
■ 1204	सुन्दरकाण्ड—मूल मोटा	५
▲ 1299	भगवान् और उनकी भक्ति	५
■ 854	भक्तराज हनुमान्	४
▲ 1004	तात्त्विक प्रवचन	४
▲ 1138	भगवान्से अपनापन	४
▲ 1187	आदर्श भ्रातृप्रेम	४
▲ 430	गृहस्थमें कैसे रहें ?	४
▲ 1321	सब जग ईश्वररूप है	४
▲ 1269	आवश्यक शिक्षा	४
▲ 865	प्रार्थना	३
▲ 796	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	३
▲ 1130	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?	३
■ 1154	गोविन्ददामोदरस्तोत्र	३
■ 1200	सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र	३
▲ 1174	आदर्श नारी सुशीला	३
■ 541	गीता मूल विष्णुसहस्रनाम-सहित	३
▲ 1003	सत्संगमुक्ताहार	३
▲ 817	कर्मरहस्य	३
▲ 1078	भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय	३
▲ 1079	बालशिक्षा	३
▲ 1163	बालकोंके कर्तव्य	३
▲ 1252	भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	३
▲ 757	शरणागति	३
▲ 1186	श्रीभगवन्नाम	३
▲ 1267	सहज साधना	३

कोड	मूल्य
▲ 1005 मातृशक्तिका घोर अपमान	३
▲ 1203 नल-दमयन्ती	३
▲ 1186 श्रीभगवन्नाम	३
▲ 1253 परलोक और पुनर्जन्म एवं वैराग्य	३
▲ 1220 सावित्री और सत्यवान्	२
▲ 826 गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
■ 856 हनुमानचालीसा	१.५०
▲ 798 गुरुतत्त्व	१.५०
▲ 797 सन्तानका कर्तव्य-	१.५०
■ 1036 गीता—मूल लघु आकार	१.५०
■ 1070 आदित्यहृदयस्तोत्र	१.५०
■ 1068 गजेन्द्रमोक्ष	१.५०
■ 1069 नारायणकवच	१.५०
▲ 1089 धर्म क्या है? भगवान् क्या है?	१.५०
▲ 1039 भगवान्‌की दया एवं भगवत्कृपा	१.५०
▲ 1090 प्रेमका सच्चा स्वरूप (पाकेट साइज)	१.५०
▲ 1091 हमारा कर्तव्य	१.५०
▲ 1040 सत्संगकी कुछ सार बातें	१.५०
▲ 1011 आनन्दकी लहरें	१.५०
▲ 852 मूर्तिपूजा-नामजपकी महिमा	१.५०
▲ 1038 संत-महिमा	१
▲ 1041 ब्रह्मचर्य एवं मनको वश करनेके कुछ उपाय	१.५०
▲ 1221 आदर्श देवियाँ	
■ 1201 महात्मा विदुर	
■ 1202 प्रेमी भक्त उद्धव	
■ 1173 भक्त चन्द्रिका	

नेपाली

कोड	मूल्य
▲ 394 गीतामाधुर्य	
▲ 554 हम ईश्वरको क्यों मानें?	

उर्दू

कोड	मूल्य
▲ 393 गीतामाधुर्य	८
▲ 549 महापापसे बचो	१.५०
▲ 590 मनकी खटपट कैसे मिटे	०.८०

तेलुगु

कोड	मूल्य
■ 1352 रामचरितमानस सटीक—ग्रन्थाकार	१२०
■ 1429 श्रीमद्वाल्मीकि रामायण सुन्दरकांड (तात्पर्यसहित)	७५
■ 1172 गीता-तत्त्व-विवेचनी	७०
■ 845 अध्यात्मरामायण	६०

कोड	मूल्य
■ 772 गीता-पदच्छेद-अन्वयसहित	२०
■ 924 वाल्मीकि रामायणम् सुन्दरकाण्डम् मूलम्	१७
■ 914 स्तोत्ररत्नावली	१७
■ 887 जय हनुमान् पत्रिका	१५
■ 771 गीता तात्पर्यसहित	१५
■ 910 विवेकचूडामणि	१३
■ 904 नारद भक्तिसूत्र मुलु (प्रेमदर्शन-)	१२
■ 909 दुर्गासप्तशती—मूलम्	१०
■ 1029 भजन-संकीर्तनावली	१०
■ 1301 नवदुर्गा पत्रिका	१०
■ 1309 गीता-माहात्म्यकी कहानियाँ	१०
■ 1390 गीता-तात्पर्य (पॉकेट साइज) (मोटा टाइप)	१०
■ 691 श्रीभीष्मपितामह	९
▲ 1028 गीता माधुर्य	८
▲ 915 उपदेशप्रद कहानियाँ	८
▲ 905 आदर्श दाम्पत्य-जीवनमु	८
■ 1031 गीता—छोटी पॉकेट साइज	६
■ 929 महाभक्तुलु	६
■ 919 मंचि कथलु (उपयोगी कहानियाँ)	६
▲ 766 महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	६
▲ 768 रामायणके कुछ आदर्श पात्र	६
▲ 733 गृहस्थमें कैसे रहें?	५
■ 908 नारायणीयम्—मूलम्	
■ 682 भक्तपञ्चरत्न	५
■ 687 आदर्श भक्त	५
■ 767 भक्तराज हनुमान्	५
■ 917 भक्त चन्द्रिका	५
■ 918 भक्त सप्तरत्न	५
■ 641 भगवान् श्रीकृष्ण	५
■ 663 गीता भाषा	५
■ 662 गीता मूल (विष्णुसहस्रनामसहित)	४
■ 753 सुन्दरकाण्ड— सटीक	४
■ 685 भक्त बालक	४
■ 692 चोखी कहानियाँ	४
▲ 920 परमार्थ-पत्रावली	४
■ 930 दत्तात्रेय वज्रकवच	३
■ 846 ईशावास्योपनिषद्	३
■ 686 प्रेमीभक्त उद्धव	३
■ 1023 श्रीशिवमहिम्नःस्तोत्रम्-सटीक	३

कोड	मूल्य
■ 1025 स्तोत्रकदम्बम्	३
■ 1026 पंचसूक्तमुलु-रूद्रमु	५
■ 674 गोविन्ददामोदरस्तोत्र	३
■ 675 सं० रामायणम्, रामरक्षास्तोत्रम्	३
▲ 906 भगन्तुडे आत्मेयुणु	३
■ 801 ललितासहस्रनाम	३
■ 688 भक्तराज ध्रुव	२
■ 670 विष्णुसहस्रनाम, मूल	१.५०
■ 732 नित्यस्तुतिः, आदित्यहृदयस्तोत्रम्	१.५०
■ 912 रामरक्षास्तोत्र, सटीक	१.५०
■ 676 हनुमानचालीसा	१.५०
■ 677 गजेन्द्रमोक्षम्	१.५०
▲ 913 भगवत्प्राप्ति सर्वोत्कृष्ट साधनमु-नाम स्मरणमें	१.५०
▲ 923 भगवन्तु दयालु न्यायमूर्ति	१.५०
▲ 760 महत्त्वपूर्ण शिक्षा	४
▲ 761 एकै साधे सब सधै	४
▲ 922 सर्वोत्तम साधन	४
▲ 759 शरणागति एवं मुकुन्दमाला	३
▲ 752 गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
▲ 734 आहारशुद्धि, मूर्तिपूजा	२
▲ 664 सावित्री-सत्यवान्	२
▲ 665 आदर्श नारी सुशीला	३
▲ 921 नवधा भक्ति	३
▲ 666 अमूल्य समयका सदुपयोग	६
▲ 672 सत्यकी शरणसे मुक्ति	१.५०
▲ 671 नामजपकी महिमा	१
▲ 678 सत्संगकी कुछ सार बातें	१
▲ 731 महापापसे बचो	१.५०
▲ 925 सर्वोच्चपदकी प्राप्तिके साधन	१.५०
▲ 758 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	३
▲ 916 नल-दमयन्ती	५
▲ 689 भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान	३
▲ 690 बालशिक्षा	४
▲ 907 प्रेमभक्ति-प्रकाशिका	१.५०
▲ 673 भगवान्‌का हेतुरहित सौहार्द	१.५०
▲ 926 सन्तानका कर्तव्य	१.५०

मलयालम

कोड	मूल्य
■ 739 गीता विष्णुसहस्रनाम, मूल	४
■ 740 विष्णुसहस्रनाम—मूल	१

■ 1318 Śrī Rāmacaritamānasa (With Hindi Text Transliteration & English Translation)	200
■ 452, 453 Śrīmad Vālmīki Rāmāyaṇa (With Sanskrit Text and English Translation) Set of 2 volumes	250
■ 564, 565 Śrīmad Bhāgavata (With Sanskrit Text and English Translation) Set	200
■ 1080, 1081 Śrīmad Bhāgavadgītā Sādhaka-Sañjīvanī (By Swami Ramsukhdas) (English Commentary) Set of 2 Volumes	70
■ 457 Śrīmad Bhagavadgītā Tattva-Vivecanī (By Jayadayal Goyandka) Detailed Commentary	50
■ 455 Bhagavadgītā (With Sanskrit Text and English Translation) Pocket size	5
■ 534 ,, ,, (Bound)	8
■ 1223 Bhagavadgītā (Roman Gītā) (With Sanskrit Text Transletration and English Translation)	10
■ 456 Śrī Rāmacaritamānasa (With Hindi Text and English Translation)	100
■ 786 ,, ,, ,, Medium	50
▲ 783 Abortion Right or Wrong You Decide	2
■ 824 Songs From Bhartrhari	
■ 494 The Immanence of God (By Madan Mohan Malaviya)	

Our English Publications

By Jayadayal Goyandka

▲ 477 Gems of Truth [Vol. I]	5
▲ 478 ,, [Vol. II]	6
▲ 479 Sure Steps to God-Realization	8
▲ 481 Way to Divine & Bliss	5
▲ 482 What is Dharma? What is God?	1.50
▲ 480 Instructive Eleven Stories	4
▲ 694 Dialogue with the Lord During Meditation	2
▲ 1125 Five Divine Abodes	3
▲ 520 Secret of Jñānayoga	8
▲ 521 ,, ,, Premayoga	6
■ 522 ,, ,, Karmayoga	9
▲ 523 ,, ,, Bhaktiyoga	8
▲ 658 ,, ,, Gītā	4
▲ 1013 Gems of Satsaṅga	1

By Hanuman Prasad Poddar

▲ 484 Look Beyond the Veil	8
▲ 622 How to Attain Eternal Happiness?	8
▲ 483 Turn to God	8
▲ 485 Path to Divinity	7
▲ 847 Gopis' Love for Śrī Kṛṣṇa	4
▲ 620 The Divine Name and Its Practice	3
▲ 486 Wavelets of Bliss & the Divine Message	

By Swami Ramsukhdas

▲ 498 In Search of Supreme Abode	4
▲ 619 Ease in God-Realization	6
▲ 471 Benedictory Discourses	4
▲ 473 Art of Living	6
▲ 487 Gītā Mādhurya (English)	4
▲ 1101 The Drops of Nectar (Amṛta Bindu)	3
▲ 472 How to Lead A Household Life	3
▲ 570 Let us Know the Truth	2
▲ 638 Sahaja Sādhanā	3
▲ 634 God is Everything	2
▲ 621 Invaluable Advice	
▲ 474 Be Good	2
▲ 497 Truthfulness of Life	2
▲ 669 The Divine Name	
▲ 476 How to be Self-Reliant	1
▲ 552 Way to Attain the Supreme Bliss	
▲ 562 Ancient Idealism for Modernday Living	

SPECIAL EDITIONS

■ 1391 The Bhagavadgītā (Sanskrit Text and English Translation) Pocket Size	10
■ 1411 Gītā Roman (Sanskrit text, Transliteration & English Translation) Book Size	15
■ 1407 The Drops of Nectar (By Swami Ramsukhdas)	10

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्धस्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

वर्ष ७७
गोरखपुर, सौर फाल्गुन, वि० सं० २०५९, श्रीकृष्ण-सं० ५२२८, फरवरी २००३ ई०
संख्या २
पूर्ण संख्या ९१५

रसराज श्रीराधा-माधव

कलित कल्पतरु-कुंज सुगंधित सुमनावलि-मंडित कमनीय।
अवतारावलि-अंबुज-दल मनि-रत्न-रचित आसन रमनीय॥
सुख पहुँचावन हेतु परस्पर सजे सकल अँग सुंदर साज।
मधुर मनोहर राधा-माधव एकहि दो बन रहे बिराज॥
सील-सँकोच-भरी मुख-छबि पर छलकि रह्यौ हिय-रस कौ भाव।
बोल न निकसत मुख दोउन कैं, उमगि उठ्यो बोलन कौ चाव॥
अति सुंदर माधुर्य-सुधानिधि, अखिल-रस-अमृत-सिंधु अपार।
जय रसमयि राधा, जय माधव रसिक-सिरोमनि परम उदार॥

(पदरत्नाकर)

* * *

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,५०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन, वि० सं० २०५९, श्रीकृष्ण-सं० ५२२८, फरवरी २००३ ई०

विषय	पृष्ठ-संख्या
१- रसराज श्रीराधा-माधव	४९३
२- 'श्रीरामप्रेमाष्टकम्'	४९५
३- प्रेमलक्षणा भक्तिके वेदोक्त उपदेश (प्रो० श्रीश्रीकिशोरजी मिश्र)	४९६
४- प्रेमतत्त्व-मीमांसा (आचार्य डॉ० श्रीशुकरत्नजी उपाध्याय, साहित्याचार्य, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)	४९९
५- प्रेम-साधन (म० श्रीप्रेमप्रकाशजी)	५०४
६- भगवत्प्रेमका स्वरूप (श्रीशशिनाथजी झा, वेदाचार्य)	५०७
७- फल-विक्रयिणीपर कृपा [लीला-दर्शन]	५०८
८- गोपिकाओंकी प्रेमोपासना	५१३
९- प्रेम—संयोग और वियोग (श्रीश्रीधरसिंहजी 'दयालपुरी')	५१९
१०- 'अगुन अलेप अमान एकरस। रामु सगुन भए भगत पेम बस' (स्वामी श्रीराजेश्वरानन्दजी सरस्वती 'श्रीराजेश रामायणी')	५२१
११- श्रीमद्भागवतमें प्रेम-साधनाका निरूपण (डॉ० श्रीअजीतजी कुलकर्णी, एम्०ए०, पी-एच्० डी०)	५२३
१२- हिन्दी-साहित्यमें संत कवियोंकी प्रेम-साधना (ठाकुर श्रीनवलसिंहजी सिसौदिया)	५२५
१३- *प्रेमी भक्तोंके पावन चरित—*	
[१] महामति प्राणनाथकी प्रेमोपासना (स्वामी श्रीब्रह्मवेदान्ताचार्यजी)	५२८
[२] भगवत्प्रेमपरायणा महारानी अहल्याबाईजी होल्कर (कुमारी अमिता हरीचरण अवस्थी)	५२९
[३] परम प्रेमी भक्त कारे खाँ (प्रो० श्रीइन्द्रदेवप्रसादसिंहजी)	५३१
[४] भगवत्प्रेमी संत स्वामी रामतीर्थ (डॉ० श्रीविद्यानन्दजी ब्रह्मचारी, एम्०ए०, बी०एड्०, पी-एच्०डी०, डी०लिट्०)	५३४
[५] संत पीपाचार्य एवं साध्वी सीता सोलंकीका भगवत्प्रेम (श्रीरघुनाथसिंहजी खीची)	५३८
[६] महात्मा चरणदासजी और उनके प्रेमोद्गार (श्रीप्रभुदयालजी गोयल)	५३९
१४- नटराज [लीला-दर्शन]	५३९

* * *

चित्र-सूची

	(रंगीन)	
१- भगवान् गणेश		आवरण-पृष्ठ
२- प्रेमकल्पता भगवती श्रीराधा और प्रेमकल्पतरु भगवान् मदनमोहन	(")	मुख-पृष्ठ
	(रेखा-चित्र)	
१- फल-विक्रयिणीका सौभाग्य		५११
२- महारासके लिये भगवान् मदनमोहनका वेणुवादन	(")	५१३
३- भगवान् श्रीकृष्णका गोपिकाओंको गृहस्थ-धर्मका उपदेश	(")	५१५
४- महाराज मनु-शतरूपाको भगवान् सीतारामके दर्शन	(")	५२२
५- नटराजकी भावमयी नृत्य लीला	(")	५४०

* * *

[परिशिष्टाङ्क १]

वार्षिक शुल्क
भारतमें १२० रु०
सजिल्द १३५ रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$25 (Air Mail)
US$13 (Sea Mail)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

पञ्चवर्षीय शुल्क
भारतमें ६०० रु०
सजिल्द ६७५ रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$125 (Air Mail)
US$65 (Sea Mail)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित
visit us at: www.gitapress.org | e-mail: gitapres@ndf.vsnl.net.in

श्रीरामप्रेमाष्टकम्

श्यामाम्बुदाभमरविन्दविशालनेत्रं बन्धूकपुष्पसदृशाधरपाणिपादम्।
सीतासहायमुदितं धृतचापबाणं रामं नमामि शिरसा रमणीयवेषम्॥ १॥
पटुजलधरधीरध्वानमादाय चापं पवनदमनमेकं बाणमाकृष्य तूणात्।
अभयवचनदायी सानुजः सर्वतो मे रणहतदनुजेन्द्रो रामचन्द्रः सहायः॥ २॥
दशरथकुलदीपोऽमेयबाहुप्रतापो दशवदनसकोपः क्षालिताशेषपापः।
कृतसुररिपुतापो नन्दितानेकभूपो विगततिमिरपङ्को रामचन्द्रः सहायः॥ ३॥
कुवलयदलनीलः कामितार्थप्रदो मे कृतमुनिजनरक्षो रक्षसामेकहन्ता।
अपहृतदुरितोऽसौ नाममात्रेण पुंसामखिलसुरनृपेन्द्रो रामचन्द्रः सहायः॥ ४॥
असुरकुलकृशानुर्मानसाम्भोजभानुः सुरनरनिकराणामग्रणीर्मे रघूणाम्।
अगणितगुणसीमा नीलमेघौघधामा शमदमितमुनीन्द्रो रामचन्द्रः सहायः॥ ५॥
कुशिकतनययागं रक्षिता लक्ष्मणाढ्यः पवनशरनिकायक्षिप्तमारीचमायः।
विदलितहरचापो मेदिनीनन्दनाया नयनकुमुदचन्द्रो रामचन्द्रः सहायः॥ ६॥
पवनतनयहस्तन्यस्तपादाम्बुजात्मा कलशभववचोभिः प्राप्तमाहेन्द्रधन्वा।
अपरिमितशरौघैः पूर्णतूणीरधीरो लघुनिहतकपीन्द्रो रामचन्द्रः सहायः॥ ७॥
कनकविमलकान्त्या सीतयालिङ्गिताङ्गो मुनिमनुजवरेण्यः सर्ववागीशवन्द्यः।
स्वजननिकरबन्धुर्लीलया बद्धसेतुः सुरमनुजकपीन्द्रो रामचन्द्रः सहायः॥ ८॥
यामुनाचार्यकृतं दिव्यं रामाष्टकमिदं शुभम्। यः पठेत् प्रयतो भूत्वा स श्रीरामान्तिकं व्रजेत्॥ ९॥

जो नील मेघके समान श्यामवर्ण हैं, जिनके कमलके समान विशाल नेत्र हैं, जो बन्धूक (दुपहरियाके) पुष्पके समान लाल-लाल ओठ, हथेली और तलवोंसे सुशोभित हैं; जो सीताजीके साथ विराजमान एवं अभ्युदयशील हैं, जो धनुष-बाणको धारण किये रहते हैं, जिनका वेष बड़ा ही सुन्दर है, उन श्रीरामको मैं सिरसे नमस्कार करता हूँ। जो प्रौढ़ मेघके समान धीर-गम्भीर टंकार-ध्वनि करनेवाले धनुषको धारणकर और अपने वेगसे वायुका भी मान-मर्दन करनेवाले एक बाणको तरकशसे खींचकर 'मत डरो' यों कहते हुए अपने आश्रितोंको आश्वासन देनेवाले हैं तथा जिन्होंने रणमें दानवराज (रावण)-का वध किया, लक्ष्मणके सहित वे श्रीरामचन्द्रजी ही मेरे सब प्रकार सहायक हैं। जो राजा दशरथके वंशके दीपक (प्रकाशक) हैं, जिनके बाहुबलका प्रताप मापा नहीं जा सकता, जो रावणपर कोप करनेवाले, समस्त पापोंका प्रक्षालन करनेवाले, देवताओंके वैरियोंको ताप देनेवाले और अनेक राजाओंको आनन्द प्रदान करनेवाले हैं, अज्ञान और पापसे रहित वे श्रीरामचन्द्रजी ही मेरे सहायक हैं। जो नील कमल-पत्रके समान वर्णवाले, मेरी अभीष्ट वस्तुओंके दाता, मुनिजनोंकी रक्षा करनेवाले और राक्षसोंके एकमात्र नाशक हैं; जो (अपने) नामके उच्चारणमात्रसे ही पुरुषोंके पापका हरण करनेवाले हैं, समस्त देवताओंके राजराजेश्वर वे श्रीरामचन्द्रजी ही मेरे सहायक हैं। जो असुरकुल (-को भस्म करने)-के लिये अग्नि हैं, देवता और मनुष्यके समूहोंके हृदय-कमलको विकसित करनेवाले सूर्य हैं, असंख्य गुणोंकी सीमा हैं, नील मेघ-मण्डलीके समान जिनका श्याम शरीर है और जो शम (मनोनिग्रह)-में मुनीश्वरोंको भी जीतनेवाले तथा रघुकुलके अग्रणी वे श्रीरामचन्द्रजी ही मेरे सहायक हैं। जिन्होंने लक्ष्मणको साथ लेकर विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा की और वायुवेगवाले बाणोंके समूहसे मारीच निशाचरकी मायाका नाश किया, जो शिवजीके धनुषका भञ्जन करनेवाले तथा पृथ्वीकी पुत्री (सीता)-के नयन-कुमुदको विकसित करनेके लिये चन्द्रमाके समान हैं, वे श्रीरामचन्द्रजी ही मेरे सहायक हैं। जो हनुमान्‌जीके हाथोंपर अपने चरणकमलोंको रखे हुए हैं, जिन्होंने अगस्त्य ऋषिके कहनेसे इन्द्रद्वारा प्रदत्त धनुषको स्वीकार किया, जिनका तूणीर (तरकश) असंख्य बाणोंसे परिपूर्ण है, जो रणधीर हैं और जिन्होंने अति शीघ्रतासे वानरराज वालीको मार गिराया, वे श्रीरामचन्द्रजी ही मेरे सहायक हैं। जो सुवर्णके समान निर्मल गौर कान्तिवाली सीताके साथ जुड़े रहते हैं, ऋषियों और मनुष्योंने भी जिन्हें श्रेष्ठ एवं आदरणीय माना है, जो सम्पूर्ण वागीश्वरोंके वन्दनीय तथा अपने भक्त-समुदायकी बन्धुके समान रक्षा करनेवाले हैं, जिन्होंने लीलासे ही समुद्रपर पुल बाँध दिया था, देवता, मनुष्य तथा वानरोंके स्वामी वे श्रीरामचन्द्रजी ही मेरे सहायक हैं। जो पुरुष यामुनाचार्यद्वारा रचित इस दिव्य तथा कल्याणदायक 'श्रीरामप्रेमाष्टक' [स्तोत्र] का शुद्धभावसे पाठ करता है, वह श्रीरामचन्द्रजीका सामीप्य प्राप्त करता है।

प्रेमलक्षणा भक्तिके वेदोक्त उपदेश

(प्रो० श्रीश्रीकिशोरजी मिश्र)

वेदके आद्य द्रष्टा तथा उपदेष्टा स्वयं भगवान् हैं। वैदिक उपदेशोंके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहारके अलौकिक उपाय स्वयं भगवान्ने अपनी वाङ्मयमूर्तिमें प्रतिष्ठित किये हैं। अतः भारतीय शास्त्रोंमें **'वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम'** तथा **'वेदः शिवः शिवो वेदः'** आदि उल्लेखोंके द्वारा वेदको वैष्णवोंके लिये साक्षात् नारायण अथवा शैव उपासकोंके लिये साक्षात् शिवस्वरूप बताया गया है। **'सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति'** इस सिद्धान्तके अनुसार भगवत्प्रेमके आद्य उपदेश भी वेदोंमें प्रभूततया उपलब्ध हैं। भगवत्प्रेमकी साधनाका मार्ग भक्तियोग है।

भक्तियोगका स्वरूप—आचार्य मधुसूदनजीद्वारा विरचित भक्तिसिद्धान्तके प्रख्यात ग्रन्थ 'भक्तिरसायन' (प्रथम उल्लास)-में भक्तियोगकी एकादश भूमिकाएँ इस प्रकार निरूपित हैं—

प्रथमं महतां सेवा तद्दयापात्रता ततः।
श्रद्धाथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः॥
ततो रत्यंकुरोत्पत्तिः स्वरूपाधिगतिस्ततः।
प्रेमवृद्धिः परानन्दे तस्याथ स्फुरणं ततः॥
भगवद्धर्मनिष्ठातः स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता।
प्रेम्णोऽथ परमा काष्ठेत्युदिता भक्तिभूमिकाः॥

अर्थात् (१) महत्सेवा, (२) महद्दयापात्रता, (३) महापुरुषोंके धर्ममें श्रद्धा, (४) हरिगुण-श्रवण, (५) रत्यंकुरकी उत्पत्ति, (६) स्वरूपाधिगति, (७) परमानन्दमें प्रेमवृद्धि, (८) परमानन्दका स्फुरण, (९) भगवद्धर्मनिष्ठा, (१०) अपनेमें तद्गुणशालिता एवं (११) प्रेमकी चरम काष्ठा—ये भक्तियोगकी एकादश भूमिकाएँ हैं। इनमें अन्तिम चार साध्य हैं, शेष साधनरूप हैं। इनका विस्तृत विवरण श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंसे ज्ञातव्य है।

भक्तियोगकी इन भूमिकाओंका आद्य प्रतिपादन इस वैदिक ऋचामें उपलब्ध है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ२ आ विवेश॥
(ऋक्० ४।५८।३, यजु० १७।९१)

भक्तियोगके प्रतिपादक उपर्युक्त वैदिक मन्त्रमें चार शृंग भक्तिकी इन एकादश भूमिकाओंमेंसे साध्यरूप अन्तिम चार भूमिकाएँ हैं, तीन पाद हैं—(१) दृष्टार्थ, (२) अदृष्टार्थ, (३) दृष्टादृष्टार्थ अथवा १--प्रणय २-३—वैधनैसर्गिक-स्वात्मप्रेम। दो सिर हैं—तादात्म्याध्यासरूपी और संसर्गाध्यासरूपी (१) अहंता एवं (२) ममताका त्याग। भक्तिकी शेष सात भूमिकाएँ हस्त-स्थानीय हैं। चित्तकी कठोर, शिथिल और द्रवीभूत—इन तीन अवस्थाओंसे सम्बद्ध (त्रिधाबद्ध) समस्त कामनाओंका प्रेमरससिक्त अभिवर्षण करनेवाला (वृषभ) प्रेमभक्तियोगरूपी महान् देव संसार-सागरमें निमग्न जीवमात्रके कल्याणार्थ प्रादुर्भूत हुआ है।

गौतमीय तन्त्रमें प्रेमास्पद प्रभुके लिये भक्तिकी अष्टविधता इस प्रकार वर्णित है—(१) भगवान्के भक्तजनोंमें वात्सल्यभाव, (२) भगवत्पूजाका अनुमोदन, (३) नित्य पुष्पार्चन, (४) दम्भ-पाखण्डका सर्वथा परित्याग, (५) भगवत्कथा-श्रवणमें अनुराग, (६) भगवान्के उद्देश्यको लेकर ही सब कर्मोंको करना, (७) नित्य भगवत्स्मृति तथा (८) भगवान्के नामका आश्रय लेकर ही जीवन धारण करना।*

श्रीमद्भागवत-महापुराण (७।५।२३)-में नवधा भक्तिका सूत्ररूपमें इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

अर्थात् भगवान् विष्णुके नाम, रूप, लीला तथा धामकी कथाओंका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनका पादसेवन, पूजन, वन्दन, दासत्व, सख्यभाव तथा अनन्य शरणागति-ये नवधाभक्ति हैं।

---

* देवतायाश्च मन्त्रे च तथा मन्त्रप्रदे गुरौ। भक्तिरष्टविधा यस्य तस्य कृष्णः प्रसीदति॥
तद्भक्तजनवात्सल्यं पूजायां चानुमोदनम्। सुमना अर्चयेन्नित्यं तदर्थे दम्भवर्जनम्॥
तत्कथाश्रवणे रागस्तदर्थे चाङ्गविक्रिया। तदनुस्मरणं नित्यं यस्तन्नाम्नोपजीवति॥

प्रेमलक्षणा भक्तिके समस्त प्रकार देवस्तुति तथा देवप्रार्थनाके वैदिक मन्त्रोंमें दृष्टिगोचर होते हैं। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदात्मक वेदराशिमें विशेषतः आरण्यक तथा उपनिषद्ग्रन्थोंमें प्रेमभक्तियोग विशदरूपसे प्रतिपादित है, परंतु यज्ञकाण्डात्मक स्वरूपवाले संहिता तथा ब्राह्मणग्रन्थोंमें भी प्रेमभक्तिके तत्त्व उपदिष्ट हैं—

प्रेमलक्षणा भक्तिकी प्राप्तिकामना—

इस संदर्भमें कतिपय मन्त्र उदाहृत हैं—

पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वे अभि गृणन्तु देवाः।
स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणाऽऽयजस्व०॥
(यजु० १४।४)

हे प्रेमलक्षणे भक्ति! तुम **पृथिव्याः पुरीषमसि**—पृथिवीकी पूरक हो अर्थात् तुम्हारे श्रवण-कीर्तनादि स्वरूपोंसे पृथिवी प्रेमरससे भर जाती है, **अप्सो नाम**—आनन्दरसकी वर्षक हो, **तां त्वां**—ऐसी तुमको, **विश्वेदेवाः**—सम्पूर्ण देवता मिलकर, **अभिगृणन्तु**—गुण कीर्तित करें, **स्तोमपृष्ठा**—गानात्मक, त्रिवृदादि स्तोम, रथन्तरादि पृष्ठवाली, **घृतवती**—प्रेमामृतयुक्ता, **इह**—यहाँ पृथिवीमें, **सीद**—प्रतिष्ठित होओ और **प्रजावत् द्रविणं**—पुत्रपौत्रादिसे युक्त भगवदनुग्रहात्मक धनको, **अस्मे**—हमलोगोंके लिये, **आयजस्व**—प्रदान करो।

कुलायिनी घृतवती पुरुन्धिः स्योने सीद सदने पृथिव्याः।
अभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्विमा ब्रह्म पीपिहि सौभगाय०॥
(यजु० १४।२)

इसका तात्पर्य है—हे भक्ति! तुम, **कुलायिनी**—भक्तजनोंके मन्दिरोंमें रहती हुई, **घृतवती**—अमृतवाली अर्थात् भक्तोंको प्रेमामृतपान कराती हुई, **पुरुन्धिः**—भगवान्के पुर (वैकुण्ठादि)-को धारण करनेवाली, **स्योने**—सुखरूप, **पृथिव्याः सदने**—पृथिवीके विशिष्ट स्थानोंमें, **सीद**—प्रतिष्ठित रहो, **त्वा**—तुम्हारा, **रुद्रा वसवः**—रुद्र एवं वसु आदि सब देवतागण मिलकर, **अभिगृणन्तु**—गुण कीर्तन करें और तुम प्राणियोंके, **सौभगाय**—सौभाग्य—ऐश्वर्य (सुखप्राप्ति)-के लिये, **इमा ब्रह्म**—इन वेदोंको, **पीपिहि**—बढ़ाओ अर्थात् तुम वेदोक्त कर्मोंके द्वारा सुखप्राप्तिके लिये उपदेश करो अथवा पुराण, स्तोत्रादिके रूपसे उपबृंहित करो।

प्रेमास्पद प्रभुके दर्शनकी कामना—भक्तिप्रवण स्तुतियोंमें प्रेमास्पद प्रभुके दर्शनकी सर्वोत्कृष्ट अभिलाषा सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। यथा श्रीमद्भागवत-महापुराण (८। ५। ४५)-में शरणागतिके फलस्वरूप दर्शनमात्रकी कामना की गयी है—

स त्वं नो दर्शयात्मानमस्मत्करणगोचरम्।
प्रपन्नानां दिदृक्षूणां सस्मितं ते मुखाम्बुजम्॥

इसका अर्थ है कि हे प्रभो! हम आपके शरणागत हैं और चाहते हैं कि मन्द-मन्द मुसकानसे युक्त आपका मुखकमल अपने इन्हीं नेत्रोंसे देखें। आप कृपा करके हमें उसका दर्शन कराइये।

ऋग्वेदीय मन्त्रोंमें भगवद्दर्शनकी कामना इस प्रकार है—

अच्छा वदा तना गिरा जरायै ब्रह्मणस्पतिम्।
अग्निं मित्रं न दर्शतम्॥ (ऋक्० १।३८।१३)

अर्थात् हे जनता! **तना**—देवमाहात्म्यको प्रकाशित करनेवाली, **गिरा**—वाणीसे, **अग्निं न**—पाप-कर्ममें अग्निकी तरह (तथा पुण्य-कर्ममें) **मित्रं न**—मित्रकी भाँति रक्षक, **दर्शतम्**—देखने योग्य उस, **ब्रह्मणस्पतिम्**—वेदकी रक्षा करनेवाले भगवान्की **जरायै**—स्तुतिके लिये, **अच्छा वद**—सम्मुख गुण-कथा (स्पष्ट) बोलो अर्थात् उस भगवान्का श्रवण-कीर्तन करो।

मिमीहि श्लोकमास्ये पर्जन्य इव ततनः।
गाय गायत्रमुक्थ्यम्॥ (ऋक्० १।३८।१४)

हे मनुष्यो! **आस्ये**—अपने मुखमें, **श्लोकम्**—भगवान्की स्तुतिको, **मिमीहि**—बनाओ अर्थात् मुखसे भगवान्की स्तुति करते रहो, **पर्जन्य इव**—जैसे मेघ वृष्टिको फैला देता है, उसी तरह तुम उस भगवान्की स्तुतिको, **ततनः**—बढ़ाओ अर्थात् दिन-प्रतिदिन स्मरण-स्तवन करनेका अभ्यास बढ़ाओ। **गायत्रम्**—गानेवालेकी रक्षा करनेवाली, **उक्थ्यम्**—शस्त्रस्वरूप भगवत्स्तुतिका, **गाय**—गायन करो।

भगवान्की स्तुतिका उपदेश—अथर्ववेद (६।१।१)-के इस मन्त्रमें भगवत्स्तुति करनेका निर्देश है—

दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद् धेहि।
आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम्॥

इसका भाव है—**दोषो**—रात-दिन, **गाय**—स्तुति-गायन करो, **बृहत्**—बहुत, **गाय**—गायन-कीर्तन करो, **द्युमद्**—प्रकाशमान भगवच्चरण-सरोरुहको हृदयमें, **धेहि**—धारण करो, **आथर्वण**—हानिसे बचानेवाले, **देवं**—दानादि गुणोंसे युक्त, **सवितारं**—भगवान् सूर्यमण्डलाधिष्ठित नारायणकी, **स्तुहि**—स्तुति करो।

तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः।
सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम्॥
(अथर्व० ६।१।२)

अर्थात् **तमु**—उन भगवान्‌का, **स्टुहि [स्तुहि]**—स्तवन करो, **यः**—जो भगवान्, **अन्तः**—अन्तःकरणके, **सिन्धौ**—स्यन्दनशील (दयायुक्त) होनेपर, [**दृश्यते**—दिखायी पड़ता है] तथा जो, **सत्यस्य**—सत्यके अर्थात् सर्वदा सत्य बोलनेवालेके, **सूनुः**—पुत्रकी भाँति वशीभूत है, जैसे पुत्र नरकसे रक्षा करता है, पिताकी आज्ञाका पालन करता है, पिताकी सदा अभिवृद्धि चाहता है, उसी प्रकार सत्य बोलनेवालेकी भगवान् नरकसे रक्षा करते हैं, अभिलषित कामनाको सिद्ध करते हैं और सदा अभिवृद्धि करते हैं, **युवानम्**—नित्य तरुण, **अद्रोघवाचम्**—दुःख पहुँचानेवाली वाणीको नहीं बोलनेवाले, **सुशेवम्**—सुखस्वरूप भगवान्‌की स्तुति करो।

सामूहिक कीर्तन-गायन—सामवेदकी ऋचाओंमें सामूहिक कीर्तन-गायनका भी संकेत है—

तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने।
शं यद् गवे न शाकिने॥
(सामवेद ११६६)

अर्थात् **वः**—तुमलोग, **पुरुहूताय**—बहुतोंसे बुलाये गये, **सत्वने**—शत्रुओंका नाश करनेवाले भगवान्‌के लिये, **सचा**—इकट्ठे होकर, **तत् गाय**—वह कीर्तन करो, **यत्**—जो कीर्तन, **शाकिने**—शक्तिसम्पन्न भगवान्‌के लिये, **गवे न**—गौको खाद्यकी भाँति, **शम्**—सुखदायक है।

प्र मꣳहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे।
उपस्तुतासो अग्नये॥ (सामवेद ८७८)

इसका भाव है कि **उपस्तुतासः**—हे उपस्तोताओ! तुम, **मंहिष्ठाय**—परम दाता, **ऋताव्ने**—सत्यवाले, **बृहते**—बड़े, **शुक्रशोचिषे**—दीप्ततेजवाले, **अग्नये**—तेजःस्वरूप भगवान्‌के लिये, **प्रगायत**—अच्छी तरह कीर्तन करो।

यजुर्वेद (३३। ६२)-में भी गायनका उपदेश इस प्रकार है—

उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे।
अभि देवाँ२ इयक्षते॥

अर्थात् **नरः**—हे मनुष्यो!, **पवमानाय**—पवित्र करनेवाले, **इन्दवे**—चन्द्रमाकी तरह कमनीय मूर्ति तथा **अभिदेवान्**—देवताओंके प्रति, **इयक्षते**—शक्ति प्रदान करनेवाले, **अस्मै**—भगवान्‌के लिये, **उपगायत**—कीर्तन करो।

भगवत्सेवनका निर्देश—अथर्ववेद (२०।६२।८)-का मन्त्र है—

तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम्।
इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत॥

अर्थात् **तमु**—उस परमपुरुष भगवान्‌को, **गीर्भिः**—स्तुति-वाणियोंसे, **अभिप्रगायत**—कीर्तन करो, जो **पुरुहूतं**—बहुतोंसे बुलाये गये तथा **पुरुष्टुतम्**—बहुतोंसे स्तुति किये गये, **तविषम्**—बलवाले, **इन्द्रम्**—ऐश्वर्यवाले भगवान् हैं उनका, **आ विवासत**—अच्छी तरह पादादिसेवाद्वारा सेवन करो।

भगवत्स्तुतिके शब्दोंकी विशिष्टता तथा सर्वफलसिद्धि—मीमांसकशिरोमणि माधवाचार्यने देवविषयक शब्दोंकी विशेषताके सम्बन्धमें यह श्रुतिवाक्य उद्‌धृत किया है—

‘उत्ताना वै देवगवा वहन्ति मनुष्यगवास्त्ववाचो वहन्ति॥’
(जै०न्या०मा०वि० १।३।१०)

इसका तात्पर्य है कि देवविषयिणी वाणीके शब्द ऊर्ध्वगामी प्रवाहित होते हैं, परंतु मानुषी वाणीके शब्दोंका प्रवाह तिर्यग्‌गामी होता है। अतः भगवत्स्तुतिके शब्द उन्नतिकारक होते हैं, यह उनकी महत्ता है।

यजुर्वेद (२।१८)-के मन्त्रोंमें भगवद्‌गुणानुकीर्तनसे मानसिक आनन्द तथा धनादिकी कामनासिद्धिका उल्लेख इस प्रकार है—

‘इमां वाचमभि विश्वे गृणन्त आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम्॥’

इमां—इस कीर्तन-स्तुतिरूपी, **वाचम्**—वाणीको, **अस्मिन्**—इस, **बर्हिषि**—नाम-जप यज्ञमें, **आसद्य**—बैठकर, **विश्वे**—सब लोग, **अभिगृणन्तः**—कहते हुए, **मादयध्वम्**—आनन्दको प्राप्त होइये।

देवं-देवं वोऽवसे देवं-देवमभिष्टये।
देवं-देवꣳ हुवेम वाजसातये गृणन्तो देव्या धिया॥
(यजु० ३३।९१)

देव्या—देवस्वरूप चिन्तनमें तत्पर, **धिया**—बुद्धिसे, **गृणन्तः**—कीर्तन करते हुए हमलोग, **वः**—आपलोगोंको, [**हुवेम**-**अवसे**—पालनके लिये, **देवं देवं**—देवताओंको, [हुवेम- बुलाते हैं।] **अभिष्टये**—अभीष्ट फलसिद्धिके लिये, **देवं हुवेम**—देवताओंको बुलाते हैं और **वाजसातये**—अन्नप्राप्तिके लिये बुलाते हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि भगवद्गुणकीर्तनसे देवताओंका आगमन, अपनी रक्षा, अभीष्ट सिद्धि तथा अन्नप्राप्ति होती है।

अथर्ववेद (२०।१७।१२)-में भी अभीष्ट सिद्धिका निरूपण इस प्रकार है—

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

अर्थात् हे **बृहस्पते**—आप और **युवमिन्द्रश्च**—इन्द्रदेव दोनों, **दिव्यस्य**—द्युलोकके, **उत पार्थिवस्य**—पृथ्वीके, **वस्वः**—धनके, **ईशाथे**—मालिक हैं, अत: **स्तुवते कीरये**—कीर्तन करनेवालेको, **रयिं**—धन, **धत्तं**—दे और **यूयं**—आपलोग, **नः**—हमलोगोंकी, **स्वस्तिभिः**—रक्षकशक्तियोंसे सदा, **पात**—रक्षा कीजिये।

भक्तोंकी पूजनीयता—भगवद्भक्तगण भी श्रेष्ठ तथा हमारे पूजनीय हैं, यह उपदेश ऋग्वेद (१।३८।१५)-में प्राप्त होता है—

वन्दस्व मारुतं गणं त्वेषं पनस्युमर्किणम्।
अस्मे वृद्धा असन्निह॥

अर्थात् **त्वेषं**—दीप्तियुक्तम्, **पनस्युम्**—स्तुति करने योग्य, **अर्किणम्**—पूज्योंसे पूजित, **मारुतगणं**—भगवत्सम्बन्धी भक्तसमूहको, **वन्दस्व**—नमस्कार करो, क्योंकि ये, **इह**—पृथ्वीपर, **अस्मे**—हमारे, **वृद्धाः**—पूजनीय, **असन्**—हैं।

प्रेमलक्षणा भक्तिकी फलश्रुति—प्रेमलक्षणा भक्तिके द्वारा निरतिशय भगवल्लोक, भगवत्सांनिध्य तथा भगवत्सारूप्य प्राप्त होता है। इसका निर्देश सर्वेश्वर भगवान्के 'पुरुषसूक्त' के अन्तिम मन्त्रमें फलश्रुति-संकेतमें इस प्रकार निहित है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥
(यजु० ३१।१६)

मन्त्रार्थ है—**देवाः यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त**—देवताओंने कीर्तनादि यज्ञसे यज्ञस्वरूप भगवान् श्रीविष्णुका (**'यज्ञो वै विष्णुः'**) उपासन, पूजन किया, **तानि प्रथमानि धर्माणि आसन्**—अतएव वे प्रेमपूर्ण भगवत्कीर्तनादि मनुष्यके मुख्य धर्म, कर्तव्य हैं, **ते महिमानः ह नाकं सचन्त**—वे कीर्तनादि भक्तिनिष्ठ महात्मागण निश्चित ही दु:खरहित स्थान अर्थात् निरतिशय सुखस्वरूप भगवत्संनिधिके उन्नत लोकको प्राप्त करते हैं, **यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः**—जहाँ पूर्ववर्ती साधक, उपासक गण देवत्व प्राप्त करके वर्तमान हैं।

इस प्रकार भगवत्प्रेमके उपदेश तथा प्रेमलक्षणा भक्तिके सम्पूर्ण अङ्गोंका निरूपण वेदोंमें उपलब्ध है। वैदिक ग्रन्थोंके अध्ययन-मननसे भगवत्प्रेम एवं भक्तिकी सुदृढ़ता प्राप्त होती है।

⁂

प्रेमतत्त्व-मीमांसा

(आचार्य डॉ० श्रीशुकरत्नजी उपाध्याय, साहित्याचार्य, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

प्रेमके ढाई अक्षरोंमें भक्तिका सारा शास्त्र समा जाता है। अद्भुत है यह प्रेम! जब हो जाता है तब रोका नहीं जा सकता और जब नहीं होता तब किया नहीं जा सकता। 'प्रेम' एक ऐसा अनूठा शब्द है, यह एक ऐसा द्वार है, जिसके एक ओर संसार है तो दूसरी ओर प्रेमास्पद प्राणेश्वर प्रभु, चिर आनन्द और जीवनकी चरम सार्थकता।

प्रेम पानेका अर्थ है कि प्रेमास्पदकी स्मृति रोम-रोममें गूँजने लगे, उसीका स्वाद प्राणोंके कोने-कोनेतक फैल जाय। प्रेमके विराट् आकाशमें हम उड़ने लग जायँ। उस शाश्वत और सनातनका स्पर्श पाते ही क्षणभंगुर संसार अपने-आप छूट जाता है। जिसने उस प्रभुको पा लिया, उसने सब कुछ पा लिया, उसपर आनन्दके मेघ बरस उठेंगे। उसकी याद भी मिल जाय तो समझो सब कुछ मिल गया। जो उस प्रभुतक नहीं पहुँच सका, वह कुछ भी पा जाय उसका कोई अर्थ नहीं है।

प्रेम जीवन, जगत् और धर्मका सार है। जहाँ भी प्रेमका अभाव होने लगता है, वहीं सब कुछ निष्प्राण बनता चला जाता है। हम जीवनके हर कदमपर इस सत्यको परख सकते हैं। मनुष्यके जीवनमें प्रेमकी माँग तो बहुत है, किंतु दुर्लभ ही प्रतीत होता है यह प्रेम। वस्तुत: जब अहंकारकी कठोरता टुकड़े-टुकड़े होकर अपनेको बिखरा देती है, तभी भीतरसे एक महान् जीवनका पक्षी प्रेमके पंख फैलाकर उड़ पाता है। जितना अहंकार होगा, उतना ही प्रेम कम होगा। जब अहंकार नहीं रह जाता तो चारों ओरसे

प्रेमका सागर उमड़ने लगता है। कहते हैं यह अहंकार भी उसी सागरमें पूरी तरह डूब जाता है। प्रेमका सार है—प्रेमास्पदकी प्रसन्नतामें ही हमारी प्रसन्नता समा जाय और उसके आनन्दमें ही हमारा कण-कण पुलकित हो उठे।

संसारमें हम दूसरेकी प्रसन्नतासे दुःखी हो उठते हैं, पीड़ाका एक उबाल हमारे प्राणोंमें भर जाता है और हम हँसी, व्यंग्य या निन्दा करके उस उफानको कुछ कम करनेका प्रयत्न करते हैं। दूसरेका दुःख, उसकी असफलता, पराजय और पीड़ा हमें भीतरसे प्रसन्न कर देती है, चाहे बाहरसे हम सामाजिकताकी दृष्टिसे भले ही दुःखी होनेका अभिनय करें। इसीसे क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, हिंसा और शत्रुताका जन्म होता है। प्रेमकी मधुरता और गहनतासे ही हम ऐसे भावोंपर विजय पा सकते हैं।

प्रेमका एक हाथ संसारसे जुड़ा है तो दूसरा परमात्मासे । वह दोनोंको जोड़नेवाला सुकुमार सेतु है। सांसारिक प्रेम भी एक आकर्षक और प्रीतिकर सौन्दर्यके आवरणसे अपनेको ढके रहता है। जब प्रेम बीजके रूपमें है तब कामना और जगत्‌के अनन्त बन्धन हैं। वही जब पूर्ण विकसित होकर फूल बनकर खिलने लगता है तो भक्तिकी सुगन्ध चारों ओर जीवनकी कृतार्थताकी घोषणा करने लगती है। प्रेमके केवल सांसारिक अनुभवसे पीड़ा मिटती नहीं, बल्कि वह और भी गहन होती चली जाती है।

जब दो शरीर मिलते हैं तो उससे जो रस पैदा होता है, उसका नाम 'काम' है। जब दो मन मिलकर रस-स्रोत बहाने लगते हैं, तब उसका नाम है 'सांसारिक प्रेम' और जब दो आत्माएँ मिलती हैं तथा अमृत और आनन्दका अक्षय सागर उमड़ने लगता है, तब उसका नाम 'भक्ति' है। काम-वासनामें मिलनके सुखकी अपेक्षा आसन्न दूरीकी पीड़ा अति गहन है, इसलिये उसमें सदैव विषाद है, अतृप्ति है, पश्चात्ताप है। यह काम बाँधता है जबकि प्रेम मुक्त करता है। यदि प्रेमसे तुम्हें बन्धन महसूस हो तो समझना चाहिये कि वह काम है, प्रेम नहीं। काम अपने और केवल अपने ही सुखकी तलाश करता है। वह 'मैं' को पकड़े होता है और 'मैं' ही सारे दुःखोंका मूल है, वही काँटोंकी तरह चुभता है तथा पीड़ाके हजारों जाल फैलाता है। जबतक हमें पता है कि 'मैं' हूँ, तबतक भक्तिके मन्दिरमें प्रवेश नहीं हो सकता। भक्तिकी तो पहली शर्त है—'तू है, मैं नहीं हूँ।' जिस समय हम प्रेमास्पदके सुखकी खोज करने लगें, जब परमात्माका सुख ही हमारा सुख बन जाय और वह जिसमें सुखी हो वही अपना सुख बन जाय, उसी क्षण भक्तिके आनन्दकी वर्षा होने लगती है। भक्तिका बस एक ही मुख्य सूत्र है, अपनेको समर्पित कर दो। प्रेमास्पदके चरणोंमें अपनेको पूरी तरह न्योछावर कर दो। प्रेम ही यहाँ मार्ग है और प्रेम ही यहाँ मंजिल है।

अन्य साधनाओंमें तो मनुष्यको अपने ही सिर बोझ रखके चलना पड़ता है, किंतु भक्तिमें समर्पण है। यहाँ अपना बोझ परमात्माको दे देना है। जिसने जन्म और जीवन दिया, वही क्यों न जीवनकी चिन्ता करे। ज्ञान, कर्म और योग तो मनुष्यकी चेष्टापर निर्भर हैं, किंतु भक्ति परमात्माके प्रसादपर। स्वभावतः भक्ति अतुलनीय है। भक्तिमें साधन और साध्यकी दूरी भी मिट जाती है, यह उसकी अनुपमता और भव्यता है।

साधन, भाव और प्रेम—ये तीन भक्ति-शास्त्रकी मणियाँ हैं; जिनसे भक्तिके परम आनन्दकी, महाजीवनकी ज्योति अपना प्रकाश फैलाती है। भाव ही सघन होकर प्रेम और प्रकट होनेपर भजन बन जाता है। यही भाव-भक्ति जब चित्तको अतिशय स्निग्ध-आर्द्र या कोमल करती हुई अतिशय ममत्व-बुद्धि उत्पन्न करती है तथा प्रथमावस्थाकी अपेक्षा परमानन्दोत्कर्षको प्राप्त करती है, तब उसे भक्तितत्त्वज्ञजन 'प्रेमाभक्ति' कहते हैं—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व० ४।१)

भाव-भक्तिकी परिपाकदशा 'प्रेमाभक्ति' है। अनर्थ-निवृत्ति होनेपर विशुद्ध निर्मल चित्तमें निष्ठा, रुचि तथा आसक्तिके अनन्तर 'भाव' का उदय होता है। प्रगाढ़ता होनेपर वही 'प्रेम' कहलाता है। उस समय हृदय अत्यन्त कोमल नवनीतके समान हो जाता है तथा अत्यन्त ममता—'वे मेरे, मेरे, मेरे ही हैं' उत्पन्न हो जाती हैं। ध्वंसके लाख

कारण उपस्थित होनेपर भी प्रीति अखण्डित रहती है। प्रेम-भक्ति कहीं भी, किसीके हृदयमें भी क्यों न उदय हो, श्रीकृष्ण उसके सौरभसे आकृष्ट होकर वहाँ पहुँच जाते हैं।

साधक जीव अनेक जन्मोंमें कदाचित् भावको प्राप्त हो जाय तो हो जाय, पर यह प्रेम तो भगवान्के नित्य दास तथा पार्षदोंमें ही सहजरूपसे अवस्थित रहता है। दिव्य धाममें यह विभिन्न रूपोंमें विराजमान है—सखाओंमें प्रेमका रूपान्तर प्रणय है, बिना गुठलीका आम है। नन्द-यशोदामें प्रेमका रूपान्तर स्नेह है, गुठली तथा छिलकायुक्त आम है। द्वारकाकी पटरानियोंमें अनुरागपर्यन्त अर्थात् आम्ररस है तथा व्रजगोपियोंमें प्रेमका जो महाभाव है, वह मिश्रीयुक्त आम्ररस है। अपने-अपने स्थानपर सभी एक-से-एक बढ़कर गहनतम रूपसे सुस्वादु हैं, तथापि रसगत माधुर्यमें तो तारतम्य है ही।

प्रेममें केवल श्रीकृष्णको ही सुखी करनेकी तीव्र कामना जाग उठती है। प्रेमी भक्त 'मैं श्रीकृष्णको कैसे सुखी करूँ'—इसी भावमें आनन्दाकुल बना रहता है।

सांख्य-सम्मत परिणामवादकी दृष्टिसे उपादान कारण अपनी पूर्वावस्थाको त्यागकर कार्यरूपमें बदलता है। जैसे दूध, दहीमें परिणत होता है तो अपनी पूर्वावस्थाको त्यागकर ही। दहीमें फिर दूध नहीं रहता, किंतु भक्ति-सिद्धान्तमें रतिकी पूर्वावस्था लुप्त या नष्ट नहीं होती। रति श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्तिकी वृत्तिविशेष है। वह श्रीकृष्णकी अचिन्त्य शक्तिसे पूर्वावस्थाका त्याग किये बिना ही उत्तरोत्तर अवस्थाको प्राप्त करती है। श्रवण-कीर्तनादि अङ्ग जैसे साधन-भक्तिमें रहते हैं, वैसे ही भाव-भक्तिमें भी रहते हैं।

जीवोंको भक्तिका दान कर उनके प्रेमरसका आस्वादन करना भगवान्की रसमयी कृपाशक्तिका सहज स्वभाव है। भक्तके हृदयमें निक्षिप्त ह्लादिनीके आनन्दकी चमत्कारिता भगवान्के स्वरूपमें स्थित ह्लादिनीके आनन्दकी अपेक्षा कहीं अधिक है। जिस प्रकार वंशीवादककी वंशीध्वनि उसकी अपनी ही फूत्कारके सिवा और कुछ नहीं है, पर वंशीरन्ध्रोंमें प्रवेश करते ही वह इतनी मधुर हो उठती है कि वंशीवादक स्वयं भी विमुग्ध हो जाता है अथवा जैसे चित्रकार अपने ही हाथसे फैलाये रंगोंद्वारा विनिर्मित चित्रको देखकर स्वयं ही चकित हो उठता है या जैसे कोई कुशल शिल्पी अपने ही हाथोंसे गढ़ी हुई पाषाण-प्रतिमाको मन्दिरमें प्रतिष्ठित होते देखकर हर्षविभोर हो जाता है, उसी प्रकार भगवान्की ह्लादिनी शक्ति भक्तके हृदयमें निक्षिप्त होनेपर 'प्रेमाभक्ति' के रूपमें एक अपूर्व आनन्द—चमत्कारिता धारण कर लेती है, जो भगवान्को भी विमुग्ध कर देती है।

भगवान्में निरन्तर स्थित रहनेका ही नाम भक्ति है। भक्त वह जो भगवान्का भाग बन गया—भगवान्के हिस्सेमें आ गया। वह अपना सब कुछ भगवान्को ही समर्पण कर देता है—

यत् कृतं यत् करिष्यामि तत्सर्वं न मया कृतम्।
त्वया कृतं तु फलभुक् त्वमेव मधुसूदन॥

'जो कुछ मैंने किया है और जो आगे करूँगा, वह वस्तुतः न मैंने किया, न करूँगा। वह तो तुम्हींने किया है। अतः हे मधुसूदन! उसका फल भी तुम्हीं प्राप्त करो।'

तेरी गलीमें आके खोये गये हैं दोनों।
दिल तुमको ढूँढ़ता है मैं दिलको ढूँढ़ता हूँ॥

मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव।
नियतस्वमिति प्रबुद्धधीरथवा किं नु समर्पयामि ते॥

(आलवन्दारस्तोत्र ५६)

मैं तो स्वप्न देखता था कि यह 'मैं' और यह 'मेरा' है, परंतु अब जागा तो देखता हूँ कि जिसे मैं 'मेरा' मानता था और जो 'मैं' था, वह तो निश्चितरूपसे तुम्हारा ही है। अब समर्पण क्या करूँ?

भक्ति बिना कोई हृदय नहीं है, इसलिये मनुष्य अपने हृदयकी भक्ति कहीं-न-कहीं जोड़ता अवश्य है। भगवान्का हिस्सा बननेके स्थानपर वह अकसर दुनियाकी किन्हीं अन्य वस्तुओंका हिस्सा (भाग) बन जाता है; किंतु यह निश्चित है कि संसारमें प्रीति स्थिर नहीं होती। यहाँ न प्रीति स्थिर होती है और न प्रियतम। दोनों ही बदलते रहते हैं। यह बात यदि ठीकसे समझमें आ जाय कि हृदयकी भक्ति संसारमें कहीं जोड़नेके लिये नहीं है, यह तो प्रभुसे ही जोड़नेके लिये है तो प्रभु कहीं दूर नहीं हैं। वे तो तुम्हारे हृदयमें ही दोनों हाथ फैलाये, नेत्रोंके संकेतसे तुम्हें अपनी ओर बुला रहे हैं।

प्रेमके दो भेद हैं—(१) भावसे उत्पन्न और (२) श्रीकृष्णकी अत्यन्त लोकोत्तर कृपासे उत्पन्न। भावोत्पन्न प्रेम भी (१) वैधभावोत्थ और (२) रागानुगाभावोत्थ भेदसे दो प्रकारका है। भगवान्‌की अतिकृपाद्वारा जो प्रेम उत्पन्न होता है, वह हरेरतिप्रसादोत्थ प्रेम है। वह भी दो प्रकारका है—(१) माहात्म्य-ज्ञानयुक्त और (२) माहात्म्य-ज्ञानसे रहित। आचार्य वल्लभने भक्तिके लक्षणमें ही माहात्म्य-ज्ञानयुक्तताको जोड़ा है। भक्तिके तीनों भेद (साधनभक्ति, भावभक्ति और प्रेमभक्ति) उत्तरोत्तर एक-दूसरेसे श्रेष्ठ हैं तथा एक स्थितिसे दूसरी स्थितिमें पहुँचना होता है। यद्यपि यह अनिवार्य क्रम नहीं है, प्रभु-कृपासे कोई भी स्थिति कभी भी उत्पन्न हो सकती है। जैसे एक ही मिठास आम, कटहल, गन्ना और अंगूर आदिमें प्रविष्ट होकर भिन्न-भिन्न प्रकारके रसास्वादनका हेतु बनती है, वैसे ही ये भाव हृदयभेदसे नाना रूप धारण करते हैं। भक्ति भगवान्‌की स्वरूपभूता है, इसलिये उन्हींके समान परम शक्तिशाली, सर्वव्यापक, सर्ववशीकारिणी, सर्वसञ्जीवनी, सर्वोत्कृष्ट, सर्वस्वतन्त्र तथा स्वयंप्रकाश है।

प्रेमके आविर्भावका क्रम—श्रीरूपगोस्वामीने प्रेमके आविर्भावका क्रम इस प्रकार बताया है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाऽभ्युदञ्चति।
(भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व० ४।६-७)

अर्थात् सबसे पहले (१) श्रद्धाकी उत्पत्ति होती है, उसके बाद (२) साधु-सङ्ग, तदनन्तर (३) भजन-क्रिया, तब (४) अनर्थ-निवृत्ति, उसके बाद (५) निष्ठा, फिर (६) रुचि, तदनन्तर (७) आसक्ति, तब (८) भाव और उसके बाद प्रेमका उदय होता है।

इस प्रकार श्रद्धा ही श्रीकृष्ण-रतिका अमरबीज है। अक्षुण्ण और अविचल श्रद्धासे ही प्रत्येक साधनाकी सिद्धि, सत्यकी अनुभूति तथा प्रत्येक श्रेष्ठ वस्तुकी प्राप्ति होती है। श्रद्धाके बिना साधना पंगु हो जाती है और यह एक पग भी आगे नहीं चल सकती। परमात्माको देखे बिना और उससे मिलन हुए बिना भी भक्त तर्क एवं बौद्धिक उलझनोंको पीछे छोड़कर श्रद्धाके सहारे प्रेमके अनन्त आकाशके महा अभियानपर निकल पड़ता है। सच्ची श्रद्धा वही है, जिससे भीतर-बाहर क्या, जीवनका हर स्पन्दन ही सुगन्धसे भर जाय।

श्रीरूपगोस्वामीने श्रद्धाको ही प्रेम-प्राप्तिमें बीज-रूपसे स्वीकार कर मनुष्य-मनकी एक अति महत्त्वपूर्ण वृत्तिको पकड़ा है। जो लोग बुद्धिसे भक्तिको समझना चाहते हैं, उनका प्रयत्न पत्थरपर घास उगानेकी कल्पनाके समान ही व्यर्थ है। भक्ति तो श्रद्धापूर्ण, भावुक, कोमल और तर्करहित हृदयक्षेत्रमें ही उदित होती है। कर्कश तर्क एवं अश्रद्धापूर्ण पथरीली नीरस भूमिमें उसका उदय होना सर्वथा असम्भव है।

प्रत्येक वस्तु सक्रिय रहनेसे सतेज रहती है और निष्क्रिय रहनेसे अपनी क्षमता खो बैठती है। श्रद्धाको सतेज रखने और उसके विकासके लिये 'साधु-सङ्ग' आवश्यक है। साधु-सङ्ग सद्यः फलप्रद है—

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः।
कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधुसमागमः॥

जिस क्षण सत्सङ्ग प्राप्त होता है, उसी क्षण संतोंके आश्रय, कार्य-कारणरूप जगत्‌के एकमात्र स्वामी भगवान्‌में जीवकी बुद्धि दृढ़तासे लग जाती है—

सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥
(श्रीमद्भा० १०।५१।५४)

संतोंने अपने शरीरको दीपक बना और उसमें रक्तका तेल डाल एवं प्राणोंकी बत्ती लगा, उसके द्वारा अपने 'प्रिय'-का मुख देखा है, अतः न तो संसारका कोई आकर्षण उन्हें आकृष्ट कर सकता है और न कोई भय या आतंक ही उनको डरा सकता है—

भगतकौ कहा सीकरी काम।
आवत जात पन्हैया टूटी बिसरि गयो हरिनाम॥
जाको मुख देखे दुख लागै ताकों करन परी परनाम।
कुंभनदास लाल गिरधर बिन यह सब झूठौ धाम॥

भगवत्प्राण ऐसे संतोंकी स्वल्पसङ्गति भी भाग्यवानोंको ही मिलती है।

नित्य परोपकार ही उन संतोंके जीवनका व्रत है—'**दृष्ट्वा परव्यथां सन्त उपकुर्वन्ति लीलया**' वे किसी भी स्थितिमें परोपकारका त्याग नहीं करते—'**सन्तः प्रभुत्वमापन्ना नोपकारं त्यजन्ति हि**' उनके बीचमें रहकर किसीको भी दुःख नहीं उठाना पड़ता—'**सन्तो गतिर्भूतभव्यस्य राजन् सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः ॥**' (महा०, वन० २९७।४८)

भक्तवश्य भगवान्ने अपने भक्तोंको ऐसी श्रेष्ठता प्रदान कर दी है और वे उनके इतने वशमें रहते हैं कि सम होनेके कारण जो वस्तु किसी-किसीको भगवान् नहीं दे सकते, वही वस्तु भक्त उन्हींकी कृपाशक्तिको आत्मसात् करके भक्तिके रूपमें किसी औरको भी दे सकता है। ऐसे साधु और भक्तजनोंकी संगतिसे 'भजन-क्रिया' अपने अखण्ड रूपमें प्रकाशित होने लगती है। भक्ति-कल्पवल्लीका प्राण है—भगवान्के प्रति अनन्य अनुकूलता, जिससे सभी प्रकारके अनर्थ निवृत्त हो जाते हैं। अनर्थ-निवृत्तिके बाद प्रयत्न एवं साधनाकी अतिशय प्रबलता एवं निरन्तरतासे भक्तिमें निष्ठाका पता चलता है और जब भक्तके हृदयमें भक्ति-स्वर्णमुद्रा, अभ्यासाग्निकी प्रबलतासे निर्मल एवं उद्दीप्त होकर जगमग-जगमग झलकने लगती है तब भक्तके हृदयमें भक्तिके प्रति अतिशय रुचि उत्पन्न हो जाती है। जब भगवद्विषयक श्रवण-कीर्तन संसारके अन्य समस्त पदार्थोंसे विलक्षण, रोचक मालूम पड़ने लगता है, तब उसको 'रुचि' कहते हैं। इस रुचिके उत्पन्न होनेपर बार-बार श्रवण-कीर्तनादि करनेपर भी श्रमकी गन्धतक प्रतीत नहीं होती। यही भजन-विषयक रुचि प्रौढ़तम होकर जब भजनीय भगवान्को अपना विषय बनाती है, तब आसक्ति कही जाती है।

'आसक्ति' भक्ति-कल्पलताका मुकुल है, इसीसे भाव-प्रेमरूप पुण्य तथा फलका शीघ्र ही आविर्भाव होता है। आसक्ति ही अन्तःकरणके दर्पणको इतना परिमार्जित-परिष्कृत कर देती है कि एकाएक उसमें भगवान् प्रतिबिम्बित होने लगते और प्रत्यक्ष-से दीखने लगते हैं। आसक्तिका उदय होनेपर किसी प्रकारका प्रयत्न या संकल्प करनेके पूर्व ही अपने-आप मन भगवान्में लग जाता है। जैसे प्रारम्भिक भक्तको इस बातका पता नहीं चलता कि उसका मन भगवद्भजनसे निकलकर संसारमें कब चला गया, वैसे ही आसक्ति होनेपर भक्तको इस बातका पता नहीं चलता कि उसका मन सांसारिक बातोंसे निकलकर भगवान्के रूप, गुण, लीलादिमें कब चला गया। वह भक्त अपने भावको लोगोंसे वैसे ही गुप्त रखता है, जैसे कोई कृपण मिले हुए महारत्नको। फिर भी उसके जीवनमें शान्ति, वैराग्य आदि सद्गुण आकर जम जाते हैं। इसलिये साधु और सज्जनोंकी गोष्ठीमें उसकी पहचान हो जाती है।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने 'माधुर्य-कादम्बिनी' में भक्तिकी रसमयताके लोकोत्तर प्रभावकी विवेचना की है। उनके अनुसार सर्वोत्कृष्ट परिणामको प्राप्त आसक्तिकी संज्ञा ही भाव है। भाव भगवान्की स्वरूपभूत सच्चिदानन्दमयी शक्तियोंका कन्दलीभाव अर्थात् मुकुलित रूप है। इसीको भक्ति-कल्पलताका उत्फुल्ल प्रसून कहते हैं। इसका बहिरङ्ग सौन्दर्य भी देवदुर्लभ है, अन्तरङ्ग सौन्दर्य तो मोक्षको भी तृण बना देता है। इसका एक परमाणु भी समस्त तमका उन्मूलन कर देता है और इसका फैलता हुआ सौरभ मधुसूदन श्रीकृष्णरूपी भ्रमरको भी प्रणय-निमन्त्रण देकर ले आता है और उनको प्रकट करनेमें समर्थ है। इस भावके प्रकाशनमात्रसे ही भक्तके दोनों नेत्र केवल व्रजेन्द्रनन्दनके अनङ्ग तिरस्कारी अङ्गोंकी ही श्यामलता, उनके अधर-नेत्रकोण आदिकी ही लालिमा, उनके मुख-मुसकान-चाँदनीकी ही श्वेतिमा, उनके वस्त्राभूषणकी ही पीतिमाका आस्वादन करनेके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित एवं रसीले हो जाते हैं तथा अजस्र अश्रु-बिन्दुओंसे अपना अभिषेक करने लगते हैं। इस भावोदयके अनन्तर प्रेमा-भक्तिके महासूर्यका उदय होता है। सौभाग्यशालीके चित्तमें यह अपूर्व प्रेम उत्पन्न हो गया है, शास्त्रज्ञोंद्वारा भी उसकी प्रेम-पद्धतिको समझना अत्यन्त कठिन है—

धन्यस्यायं नवः प्रेमा यस्योन्मीलति चेतसि।
अन्तर्वाणिभिरप्यस्य मुद्रा सुष्ठु सुदुर्गमा॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु ४।८)

प्रेम-साधन

(म० श्रीप्रेमप्रकाशजी)

भगवत्प्राप्तिके अनेक साधनोंमें प्रेम-साधन एक मुख्य साधन समझा जाता है। ईश्वरके प्रति परमानुराग ही प्रेम है। कितने ही संतों और ऋषियोंने प्रेमको ही साधन और साध्य माना है। देवर्षि नारदने **'स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः॥'** (ना० भ० सू० ३०) कहकर सनत्कुमारादिके मतानुसार प्रेमको स्वयं फलरूप बताया है। वह प्रेम कर्म, ज्ञान और योगसे भी श्रेष्ठतर है—

'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा॥'
(ना० भ० सू० २५)

प्रेमकी प्राप्ति विशेषकर महापुरुषोंकी कृपा अथवा भगवत्कृपाके लेशमात्रसे होती है—**'मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा॥'** (ना०भ०सू० ३८) प्रेमका रूप वास्तवमें तो अनिर्वचनीय है, परंतु उसके लक्षणोंका अनुभव शान्ति और आनन्दसे हो सकता है। प्रायः अनन्य प्रेमी भक्तोंको भगवान्‌के नामोंको सुनते ही कण्ठावरोध, रोमाञ्च और अश्रुपात होने लगता है। कीर्तनसे भी वह प्रेम शीघ्र प्रकट होता है—**'स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान्॥'** (ना०भ०सू० ८०) परमहंस रामकृष्ण कहा करते थे—'कलियुगमें नारदीय भक्ति सार है। ईश्वरका नाम-गुण-गान करने और व्याकुल चित्तसे प्रार्थना करनेपर परमात्माकी प्राप्ति होती है।'

'गोपी या राधा-प्रेमकी एक भी बूँद किसीमें हो तो उसका क्या कहना है! उसका अनुराग केवल सोलह आने नहीं, बल्कि बीस आने है। इसीका नाम प्रेमोन्माद है। यदि पागल होना है तो संसारकी वस्तुके लिये क्यों पागल हो? यदि पागल होना है तो ईश्वरके लिये हो।' (श्रीश्रीरामकृष्ण-कथामृत १।१०।४)

समस्त प्रेमोंमें गोपी-प्रेम अथवा श्रीराधा-प्रेम सर्वोत्तम समझा जाता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—इन पाँच प्रकारके प्रेमोंमें माधुर्य-रस ही सर्वोत्तम है और यह माधुर्य-प्रेम श्रीवृषभानुसुता श्रीराधाजीमें ही पूर्णरूपसे मिलता है। श्रीराधाजी ही माधुर्यरसाधिष्ठात्री महादेवी हैं। इन्हींकी कृपासे माधुर्य-प्रेम प्राप्त हो सकता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षसे भी बढ़कर प्रेम है। प्रेम पञ्चम पुरुषार्थ है। भगवान्‌को वशमें करनेका एकमात्र उपाय प्रेम ही है। भगवान् श्रीकृष्ण प्रेमी भक्तोंके अधीन हैं। **'अहं भक्तपराधीनः'** कहकर भगवान्‌ने दुर्वासा ऋषिको प्रेमी भक्त अम्बरीषके पास लौटा दिया था। जिस प्रेममें किसी प्रकारकी वासना नहीं रहती, साधक केवल अपने प्रियतमके सुखमें ही सुखी रहता है तथा अपना कुछ भी अहङ्कार नहीं रखता, वही प्रेम माधुर्य-रसका है और उसे ही पूर्ण प्रेम कहा जाता है। उस स्थितिमें साधक और साध्य—दोनों एकरूप हो जाते हैं। प्रेमी, प्रेम अथवा प्रियतममें कुछ भेद नहीं रह जाता (**तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्॥** (ना०भ०सू० ४१)) गोस्वामी तुलसीदासजी श्रीरामचरितमानसमें उसी सहज प्रेमका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥
(रा०च०मा० २।१३१)

श्रीसीतारामका निरन्तर वास उसी प्रेमी भक्तके हृदयमें रहता है, जिसे कोई आशा नहीं रहती तथा जो प्रेमके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। वही प्रेमी भक्त सहज स्नेहका पात्र हो सकता है।

अगर कोई नाता भगवान् राम मानते हैं तो वह एक प्रेमभक्तिका ही सम्बन्ध है। भगवान् रामने भक्तिमती शबरीसे कहा है—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
(रा०च०मा० ३।३५।४)

श्रीरामको केवल प्रेम ही अच्छा लगता है—

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
(रा०च०मा० २।१३७।१)

वह प्रेम बिना अनुरागके प्राप्त नहीं होता अथवा श्रीरघुनाथजी बिना अनुरागके कभी नहीं मिलते—साधक चाहे जितना ही योग, जप, ज्ञान और विरागका अभ्यास करे—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥
(रा०च०मा० ७।६२।१)

मात्र प्रेमके कारण ही एक परमात्मा नानारूपमें स्वयं व्यक्त हो गया है। अकेले रमण नहीं किया जा सकता, इसलिये परमात्मा या भगवान् अथवा ब्रह्म स्वयं अपने भक्तोंमें ही मिल जाता है—

एकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्।

(श्रुति)

रस अथवा प्रेम ही आनन्द है। यह सिद्धान्त अनुभव करके प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। भगवती श्रुति भी यही कहती है—

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

परमात्मा सर्वव्यापक है, फिर भी उसका अनुभव प्रेमसे ही किया जा सकता है। भगवान् शङ्कर कहते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(रा०च०मा० १।१८५।५)

जगद्विख्यात संत कबीर साहब अपना विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर 'प्रेम' का पढ़ै, सो पंडित होय॥

पूर्ण प्रेममें विधि-निषेध नहीं रहता, वह परम स्वतन्त्र है। प्रेमी लोक-संग्रहके लिये नियम और प्रेम दोनोंका पालन कर सकता है, परंतु उसके लिये निजी कोई कर्तव्य नहीं रहता।

नेमु प्रेमु संकर कर देखा। अबिचल हृदयँ भगति कै रेखा॥

(रा०च०मा० १।७६।४)

प्रेमी भक्तके अधीन ज्ञान और विज्ञान हैं। श्रीरामचरितमानस (३।१६।३)-में स्पष्ट कहा गया है—

सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥

एक अमेरिकन देवी मिसेज एलेन जी० ह्वाइट (Mrs. Ellen G. White)-ने लिखा है कि ईश्वर ही प्रेम है और प्रेम ही जीवनी शक्ति है—(God is Love and Love is Life).

सबसे सीधा मार्ग भगवत्प्राप्तिका यदि कोई है तो वह प्रेममार्ग ही है। श्रीउद्धवजीको गोपिकाओंने इस प्रकार कहा था—

'कौन ब्रह्म को जोति ग्यान कासों कहौ ऊधौ।
हमरे सुंदर स्याम प्रेमको मारग सूधौ॥'

तथा—

ऊधौ जोग जोग हम नाहीं।
जेहि लगि जोगी भरमत भूले, सो तो है अपु माहीं॥

—इत्यादि।

ऐसे विचारोंको सुनकर उद्धवके ज्ञानका अहंकार नष्ट हो गया और उन्होंने यह समझा कि ज्ञानके परे एक पूर्ण प्रेमकी अनिर्वचनीय दशा भी है।

प्रेमी भक्तको किसी साधनाकी आवश्यकता नहीं रहती। वह तो स्वयं सिद्धोंका सिद्ध रहता है और वर देनेवालोंको वर देनेवाला होता है।

महाराज जनक श्रीभरतजीके प्रेमभावसे मुग्ध होकर कहते हैं—

साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

(रा०च०मा० २।२८९।८)

'श्रीरामजीके पदोंका नेह ही साधन और सिद्धि है'—यही श्रीभरतजीका सिद्धान्त है।

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥

(रा०च०मा० २।२१८।७)

श्रीकबीर साहबने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि रामस्नेही सदा अमर है—

सून्य मरै, अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय।
राम सनेही ना मरै, कह कबीर समुझाय॥

(बीजक)

भगवान्ने प्रेमी भक्त देवर्षि नारदसे कहा है कि मैं सदा प्रेमी भक्तोंके मध्यमें ही मिलता हूँ—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

'वैकुण्ठमें चाहे मैं न रहूँ अथवा योगियोंके हृदयमें भी मेरा पता न लगे; पर जहाँ मेरे प्रेमी भक्त मेरे गुणोंका गान करते हैं, वहाँ तो मैं अवश्य रहता ही हूँ।'

श्रीकृष्णभक्ति—प्रेमाभक्ति, पूर्ण भक्ति अथवा श्रीराधा-कृष्ण-प्रेम या पराभक्ति तो हजारों जन्मोंतक तपस्या, ध्यान और समाधिके निरन्तर अभ्यासके बाद प्राप्त होती है—

जन्मान्तरसहस्रेण तपोध्यानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णभक्तिः प्रजायते॥
अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥

(रा०च०मा० ७।८४ क)

प्रेमाभक्तिका मिलना भगवान् श्रीकृष्ण या भगवान् श्रीराम अथवा भगवान् श्रीशिवकी कृपापर ही निर्भर है।

'भक्तिनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा कृष्णः प्रसीदति।'

श्रीउत्पलाचार्यजी भक्ति-प्रेमके सम्बन्धमें इस प्रकार लिखते हैं—

भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।
एतया वा दरिद्राणां किमन्यदपयाचितम्॥

(नारद)

अर्थात् 'परमात्माकी प्रेमाभक्तिरूपी लक्ष्मीसे समृद्ध

लोगोंको क्या चाहिये? कुछ नहीं। परमेश्वरकी दासता सम्पत्तिकी पराकाष्ठा है तथा इस सम्पत्तिसे रहित हतभाग्य पुरुषोंको और छोड़ना क्या है? इस सम्पत्तिके न होनेरूप दारिद्र्यसे पिण्ड छुड़ाना ही सबसे बड़ा कर्तव्य एवं पुरुषार्थ है।'

प्रेमी संत और सत्यभगवान्‌में कुछ भी अन्तर नहीं है। प्रेमी संत भगवान् ही हैं—

संत-भगवंत अंतर निरंतर नहीं, किमपि मति मलिन कह दासतुलसी॥

(विनय-पत्रिका ५७)

'क्रन्दनयोग' से भी भगवान्‌का अनन्य प्रेम प्राप्त हो सकता है। परम विरहासक्तिका भाव इस छन्दसे प्रकट होता है—

चित्त रत होत प्रानप्यारेमें निरत ह्वै कै,
होत मल सोधक विधात सारे छनमें।
रोमहर्ष खीझ झुँझलाहट हदय धौति,
मेरु दंड स्पंदन प्रकंप होत तनमें॥
लीन ह्वै समाधिमें बिसरि अपनापौ जात,
या सों बड़ो और कौन जोग सोचौ मनमें।
राज हठ भक्ति तीनों जोग सधि जात ऊधौ,
एक मनमोहन वियोगके रुदनमें॥

भगवान् प्रेमी भक्तके अधीन हैं और ज्ञानसे अगम्य हैं—

'ज्ञानेर अगम्य तुमि, प्रेम ते भिखारी,
द्वारे द्वारे माग प्रेम नयने ते वारी।'

(जयदेवके साधन-तीर्थ केन्द्रबिल्वमें बाउल-गान)

अर्थात् 'तुम ज्ञानके अगम्य हो पर प्रेमके भिखारी हो। तुम सजल-नयन होके प्रेमभीख माँगते फिरते हो।'

'राग-मार्ग क्यों मधुर है' यह समझानेके लिये कृष्णदासने कहा है—

'राग-मार्गे भजे येन छाड़ि धर्म-कर्म,
अतएव मधुर रस कहि तार नाम।'

अर्थात् 'भक्त धर्म-कर्म छोड़कर राग-मार्गसे भजन करता है। अतएव इस रसका नाम मधुर है।'

जिसके लिये प्रेम स्वाभाविक हो जाता है, वह छिपाये भी नहीं छिपता—

प्रेम छिपाये ना छिपै, जा घट परगट होय।
जद्यपि मुख बोलै नहीं, नैन देत हैं रोय॥

(कबीर)

यह प्रेम स्वयं ही स्वामी है—

सब घट मेरा साइयाँ, सूना घट नहिं कोय।
बलिहारी वा घट की, जा घट परगट होय॥

(कबीर)

'प्रकाशते क्वापि पात्रे॥' (ना०भ०सू० ५३)—परंतु वह प्रेम किसी विरले पात्रमें ही प्रकट होता है। भगवन्नामके प्रेमको ही भगवान् कहते हैं और हरि-स्मरण ही हरि-मिलन है।

प्रेमका रसास्वादन गूँगेके गुड़की तरह है—**'मूकास्वादनवत्॥'** देवर्षि नारद कहते हैं— यह अनिर्वचनीय है—**'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥'**

प्रेमी भक्त तथा प्रेमपूर्ण भगवान् दोनों अनन्त और अभेद हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रेमी भक्तके योगक्षेमका भार स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९।२२)

प्रेमी भक्तको नित्य शान्ति रहती है और उसका कभी नाश नहीं होता—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९।३१)

प्रेमी भक्तमें भगवान् श्रीकृष्ण रहते हैं और भक्त भगवान् श्रीकृष्णमें रहता है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९।२९)

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

(रा०च०मा० ४।७।२१)

इस प्रकारके भावकी प्रेमभिक्षा भगवान् और उनके प्रेमी भक्त देनेकी कृपा करें तो तुरंत अचल शान्ति एवं आनन्द प्राप्त हो जाय।

⁂

भगवत्प्रेमका स्वरूप

(श्रीशशिनाथजी झा, वेदाचार्य)

भगवान्‌का ऐसा भक्त जो भगवान्‌की सेवाको ही जीवनका स्वरूप बना लेता है, वह निरन्तर भगवत्प्रेममें निमग्न रहता है। ऐसे सेवापरायण सेवकका सेव्यके प्रति कैसा भाव होता है, भक्तराज प्रह्लादकी पवित्र वाणीमें इसका वर्णन मिलता है। जब भगवान् श्रीनृसिंहदेवने प्रह्लादसे वर माँगनेको कहा, तब प्रह्लादजी अत्यन्त विनम्र शब्दोंमें भगवान्‌से कहते हैं—'भगवन्! मैं तो जन्मसे ही भोगासक्त हूँ, मुझे आप वरोंका प्रलोभन मत दीजिये, क्योंकि जो सेवक स्वामीसे अपनी कामनाएँ पूर्ण कराना चाहता है वह सेवक नहीं, वह तो लेन-देन करनेवाला बनिया है। जो स्वामीसे कामनापूर्ति चाहता है वह सेवक नहीं और जो सेवकसे सेवा करानेके लिये उसका स्वामी बननेके लिये उसकी इच्छापूर्ति करता है, वह स्वामी नहीं। मैं कोई भी कामना न रखनेवाला आपका सेवक हूँ और आप मुझसे कुछ भी अपेक्षा न रखनेवाले स्वामी हैं। हमलोगोंका यह सम्बन्ध राजा और उसके सेवकोंका प्रयोजनवश रहनेवाला स्वामी-सेवकका सम्बन्ध नहीं है।'

ऐसा प्रेमासक्त प्रभुप्रेमी कैसा त्यागी होता है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।१३-१४)

अर्थात् मेरे वे ऐसे निष्काम प्रेमी सेवक मेरी सेवाको छोड़कर, दिये जानेपर भी सालोक्य (भगवान्‌के परमधाममें निवास), सार्ष्टि (भगवान्‌के समान ऐश्वर्यप्राप्ति), सामीप्य (भगवान्‌की नित्य समीपता), सारूप्य (भगवान्‌के समान दिव्य रूपकी प्राप्ति) और एकत्व (भगवान्‌के साथ मिल जाना)—इन पाँचों तत्त्वोंको ग्रहण नहीं करते। यह भक्तियोग ही साध्य है। इसके द्वारा भक्त तीनों गुणोंको पार कर मेरे भावको—दिव्य विशुद्ध भगवत्प्रेमको प्राप्त हो जाता है।

भक्त अपने भगवान्‌की दिव्य मूर्तिकी पूजा अवश्य करे, पर इतना ही पर्याप्त नहीं है; क्योंकि भगवान् कहते हैं—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।२१-२२)

अर्थात् मैं आत्मारूपसे सदा सभी जीवोंमें स्थित हूँ; इसलिये जो लोग मुझ सर्वभूतस्थित भूतेश्वरकी उपेक्षा कर केवल प्रतिमामें ही मेरा पूजन करते हैं, उनका वह पूजन विडम्बनामात्र है। ऐसे पूजक जो मोहवश मेरी उपेक्षा कर केवल विग्रहको ही पूजते हैं वे मानो भस्ममें ही आहुति डालते हैं। और भी—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४१)

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, चराचर जीव, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदियाँ और समुद्र—ये सभी भगवान्‌के शरीर हैं। सभी रूपोंमें स्वयं भगवान् प्रकट हैं। ऐसा समझकर सभीको अनन्य भावसे प्रणाम करे। चराचर सभी जीव प्रणम्य एवं सेव्य हैं।

यह भगवत्सेवा ही वास्तविक भगवत्प्रेम है। यह सबसे ऊँची प्रेमदासता है। भगवान् इस प्रेमसेवाके दिव्य मधुर रसका आस्वादन करनेके लिये नित्य, निष्काम तथा नित्यतृप्त होते हुए भी सकाम और अतृप्त हो जाते हैं। इस दिव्य भगवत्प्रेमका उपदेश संत-महात्माओंके पुण्य जीवनसे प्राप्त होता है। रुचि, गुण और मनके अनुसार प्रेम अथवा सेवाके बहुविध रूप देखे जाते हैं। यथा—

(क) अपनी प्राप्त वस्तुओंके द्वारा किसी अभावग्रस्तकी गुप्तरूपसे सेवा करना, जिससे उसको यह पता भी न चले कि यह सेवा कौन कर रहा है। शबरीजी इसी भाँति छिपकर चोरीसे ऋषियोंके आश्रमोंमें प्रतिदिन झाड़ू लगाकर कुशकण्टक दूर किया करती थीं। गुप्त सेवामें ख्यातिसे भय रहता है और सेवक कहलानेमें लज्जानुभूति होती है। यह श्रेष्ठ सेवा है।

(ख) जो सेवा सेवाके लिये ही होती है उसमें सेवा किये बिना चैन नहीं पड़ता, रहा नहीं जाता है। चराचर जीवमात्रमें एक आत्मा मानकर स्वयंकी सेवाकी भाँति प्राणियोंके सुख-दुःखकी अपनेमें अनुभूति होती है। यह

श्रेष्ठतर सेवा है।

(ग) जिस सेवामें सेवकके अपने सुख-कल्याणकी, स्वर्ग-मोक्षकी और दुःख-नरककी स्मृतिका सर्वथा अभाव रहता है, अपने प्रत्येक विचार एवं कर्म आदिके द्वारा प्रियतम भगवान्को सुख पहुँचाना ही जिसका एकमात्र लक्ष्य होता है, वह प्रेमरूप सेवा श्रेष्ठतम सेवा है, जो अतुलनीय है।

मनुष्यको सेवाका यही लक्ष्य रखकर भगवत्प्रेमके पवित्र और पुण्य-पन्थका पथिक बनना चाहिये। ऐसे प्रेमीको भगवत्प्रेमकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है। यही मानव-जीवनके लिये साधन तथा साध्य दोनों है। निष्काम-कर्मरूप सेवा, भक्ति-साधनरूप सेवा तथा आत्मज्ञानरूप सेवाके साथ ही इस परम प्रेमरूप सेवाका आदर्श ग्रहण कर जीवनको सफल एवं समुन्नत बनाना चाहिये।

* * *

लीला-दर्शन—

फल-विक्रयिणीपर कृपा

कदली-बदरी-पीलू-नारङ्ग आदि विविध फलोंसे परिपूरित टोकरीको फल-विक्रयिणीने अपने सिरसे उतारा, उतारकर भूमिपर रख दिया तथा वहीं अश्वत्थकी शीतल छायामें वह विश्राम करने लगी। एक तो वृद्ध शरीर, दूसरे बोझल टोकरीका भार—वृद्धा अत्यन्त श्रान्त हो गयी है। हेमन्तकी शीतमें भी उसके ललाटपर प्रस्वेदकण झलक रहे हैं। वह अपने बिखरे हुए रजत-धवल केशोंको समेटकर, उनमें एक गाँठ लगा देती है तथा फटे आँचलकी छोरसे स्वेदमार्जन करती है। वह जहाँ बैठी है, उसके ठीक सामने प्रासादसे संलग्न व्रजेशकी क्षेत्रवाटिका (खलिहान) है। नवधान्यके अम्बार लगे हैं। फल-विक्रयिणी इन्हीं अगणित विशाल धान्यस्तूपोंकी ओर देखने लग जाती है।

अब तो मध्याह्न हो चुका है। जिस समय अरुणोदय ही हुआ था, ओसबिन्दु सर्वत्र बिखरे पड़े थे, उस समय फल-विक्रयिणी अपने घरसे चली थी। तबसे वह 'फल ले लो जी, फल' यह पुकार लगाती हुई व्रजपुरकी वीथियोंमें घूमती रही है। राजपथके दोनों पार्श्वोंमें अवस्थित श्रेणीबद्ध उत्तुङ्ग मणिमय भवनोंके द्वारपर जा-जाकर उसने अनेक बार गोपशिशुओंका ध्यान आकर्षित करनेकी चेष्टा की। पर दैवकी लीला! आज किसी ग्राहकका दर्शन नहीं हुआ, किसी गोपशिशुने उसके आह्वानका उत्तरतक न दिया; कोई भी व्रजपुरन्ध्री फलका सौदा करने नहीं आयी, किसी भी चञ्चल गोपबालकने मोलतोल करनेका खेलतक नहीं किया। अभीतक बोहनी ही नहीं हुई है। फल-विक्रयिणीके मुखपर निराशा छा जाती है। वह सोचने लगती है—क्या आजका दिन ऐसे ही समाप्त होगा? पता नहीं, किसका मुख देखकर उठी थी! इसी समय अश्वत्थपत्र चञ्चल हो उठते हैं, मानो संकेत कर रहे हों—'नहीं, नहीं, फल-विक्रयिणी! निराश मत हो। अरे! आज तो तेरे जीवन-सौभाग्यका परम पुनीत सर्वोत्तम समुज्ज्वल प्रभात है। ओह! जिनके सामने अनन्त विश्वब्रह्माण्डके प्राणी फलदानके लिये हाथ पसारते हैं, जो मुक्तहस्त होकर अनादिकालसे सबको फलदान कर रहे हैं, वे तुम्हारे सामने फल लेनेके लिये हाथ पसारेंगे, अखिल भुवन-फलदाताको तू आज फलका दान करेगी। ओह! अनादिकालसे कर्मफलका भार सिरपर उठाये तू घूम रही है, निरन्तर घूम रही है, आजतक किसीने भी तेरा फल लेकर तुझे इस भारसे निर्मुक्त नहीं किया; किंतु आज तुझे एक अनोखा ग्राहक मिलेगा, अप्रत्याशित अपरिसीम मूल्य चुकाकर तेरा सारा फल ले लेगा; इस अनादि फलभार-वहनसे तू आज सदाके लिये त्राण पा जायगी, परम कृतार्थ हो जायगी!' अस्तु।

क्षेत्रवाटिकाकी अपार धान्यराशिकी ओर देखकर वृद्धाने फिर सोचा—तो क्या इसका एक कण भी मेरे भाग्यमें आज नहीं है? बस, इसी क्षण मानो इसीके उत्तरमें, 'अरी! एक कण नहीं, आज तो इस समस्त धान्य-लक्ष्मीका स्वामी स्वयं तेरे भाग्यमें आ रहा है।' यह इङ्गित करते हुए-से, धान्यस्तूपोंके समीप प्राङ्गणमें बैठे हुए श्रीकृष्णचन्द्रने अभी-अभी अपने हाथों बनाये हुए धान्य-घरौंदोंको मिटा दिया तथा इधर-उधर अञ्जलि भर-भरकर धान बिखेरने लग गये। वृद्धा जब अश्वत्थकी छायामें आयी न थी, उसके पूर्व ही श्रीकृष्णचन्द्र नन्दभवनके उत्तरद्वारसे निकलकर धान्यस्तूपोंके समीप आ गये हैं और धान्यक्रीड़ा कर रहे हैं। इस समय वे एकाकी आये हैं; अवश्य ही दूरपर व्रजरानीके द्वारा नियुक्त परिचारिकाएँ छिपकर उनकी यह परम मनोहर

LIBRARY
Gurukul Kangri Vishwavidyalaya
HARDWAR

बाल्यचेष्टा देख रही हैं।

फल-विक्रयिणी अपने चिर-अभ्यस्त, आकर्षणभरे स्वरविशेषके साथ पुनः पुकार उठी—'फल ले लो जी, फल।' श्रीकृष्णचन्द्रने भी यह पुकार सुन ही ली। धान बिखेरना छोड़कर चञ्चल नेत्रोंसे, जिधरसे यह पुकार आयी है, उसी ओर वे देखने लगते हैं। इतनेमें फिर वही पुकार सुनायी पड़ती है—'कोई फल ले लो जी, फल।' इस बार वे अतिशय शीघ्रतासे धान्यके स्तूपसे कूदकर उसी दिशामें दौड़ पड़ते हैं। वे सोचते जा रहे हैं—'फल क्या होता है? चलें, लेकर देखें तो सही?'

प्रत्युत्तर पानेकी प्रतीक्षामें फलवाली नन्दभवनकी ओर ही देख रही है। सहसा उसने देखा—वाटिका-प्राचीरके क्षुद्र द्वारपर एक बालक खड़ा है; बालक नव नीरदवर्ण है, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसे शोभाका निर्झर झर रहा है—

बिथुरि अलकैं रहीं मुख पर बिनहिं बयन सुभाइ।
देखि कंजनि चंद के बस मधुप करत सहाइ॥
सजल लोचन चारु नासा परम रुचिर बनाइ।
जुगल खंजन करत अबिनति बिच कियौ बनराइ॥
अरुन अधरनि दसन झाईं कहौं उपमा थोरि।
नील पुट बिच मनौ मोती धरे बंदन बोरि॥
सुभग बाल-मुकुंद की छबि बरनि कापै जाइ।
भृकुटि पर मसि-बिंदु सोहै, सकै सूर न गाइ॥

छबि देखकर फलवालीके नेत्र निमेषशून्य हो गये। कुछ क्षणके लिये वह सब कुछ भूल गयी। जब बाह्यज्ञान हुआ तो देखा—हृदय अत्यन्त वेगसे स्पन्दित हो रहा है; पर अन्य अवयव चैतन्यविहीन-से हो गये हैं, सर्वथा जड बन गये हैं। और वह बालक··· वह तो अभी भी ज्यों-का-त्यों वहीं द्वारपर खड़ा है तथा अपनी दक्षिण भुजा उठाकर, अङ्गुलियोंको हिला-हिलाकर मुझे ठहरनेके लिये संकेत कर रहा है।

वृद्धाने पुलिन्दनिवासस्थलीमें—अपने ग्राममें व्रजेशपुत्रके अतुल सौन्दर्यकी चर्चा सुनी है, पर अबतक देख न सकी थी। दर्शनका यह प्रथम अवसर है; किंतु देखते ही वह अविलम्ब जान गयी कि ये ही नन्दपुत्र हैं। अतृप्त नयनोंसे वह उनकी ओर देखती रहती है। उसके प्राणोंमें कम्पन हो रहा है, नेत्रोंमें जल भरता जा रहा है; वह चाहती है कि एक बार पुकारकर कहूँ—'नन्दलाड़िले! इधर आओ।' पर कण्ठ सर्वथा रुद्ध-सा हो गया है, वाक्-शक्ति लुप्त हो गयी है। निरुपाय, विवश, व्याकुल हुई वह वहीं चित्रलिखी-सी रह जाती है।

श्रीकृष्णचन्द्र द्वार लाँघकर उसकी ओर चल पड़ते हैं। पगके नूपुर 'रुनझुन-रुनझुन' करने लगते हैं। कदाचित् यह 'रुनझुन' कोई सुन तो नहीं रहा है, मेरा बाहर जाना जननीके द्वारा नियुक्त दासियोंने जान तो नहीं लिया है—इस आशङ्कासे श्रीकृष्णचन्द्र अपने चञ्चल नेत्रोंको चारों ओर घुमा-घुमाकर देखते जा रहे हैं। शीघ्र ही अलिन्दको पार करके वे फलवालीके समीप जा पहुँचते हैं। उनको अपने निकट आया देखकर फलवालीके रोम पुलकित हो उठते हैं। उसका आनन्द-विगलित हृदय आँसू बनकर नेत्रोंके पथसे बह चलता है। श्रीकृष्णचन्द्र आश्चर्यमें भरकर सोचने लगते हैं—यह रोने क्यों लगी?

भावतरङ्गिणीके बढ़ते हुए वेगको किसी अचिन्त्यशक्तिने उद्देश्यविशेषसे कुछ क्षणके लिये मानो सहसा रोक-सा दिया हो, इस प्रकार फल-विक्रयिणीको कुछ धैर्य हो आता है। वाणीकी शक्ति भी जाग उठती है। फिर भी भीतर-ही-भीतर आँसू तो उमड़े ही आ रहे हैं। अश्रुपूरित कण्ठसे ही वह बोली—'फल लोगे?' तथा उत्तरमें श्रीकृष्णचन्द्रने अपने घनकृष्ण-कुञ्चित-कुन्तलराशि-मण्डित सिरको स्वीकृतिकी मुद्रामें हिलामात्र दिया। इस मस्तकसंचालनने तो मानो पुनः फल-विक्रयिणीके हृदयको मथ डाला। वह इस अप्रतिम बाल्यभङ्गिमाको देखकर पुनः अधीर हो उठी। भाव-संवरण न कर सकनेके कारण उन्मत्त-सी हो उठी। फलकी टोकरीको सिरपर उठा लिया। अबतक बैठी थी, पर अब उठ खड़ी हो जाती है। क्या करने जा रही है, यह स्वयं नहीं जानती। फलकी टोकरी सिरपर लिये वह खड़ी है, नेत्रोंसे अश्रुके प्रवाह बह रहे हैं, कुछ भी बोल नहीं रही है—एक विचित्र-सी मुद्रा धारण किये, श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर दृष्टि लगाये कभी-कभी कुछ संकेत-सा कर देती है। क्या कहना चाहती है, यह कौन जाने?

किंतु फल-विक्रयिणीकी इस मुद्रासे बाल्यलीला-रस-मत्त श्रीकृष्णचन्द्रको संदेह होने लगता है कि कहीं यह फल लेकर जा तो नहीं रही है। पीले केले, पीले बेर, सरस पीलू, अरुण नारङ्गको टोकरीमें सजा देखकर फल क्या वस्तु है, यह तो वे जान ही गये हैं; साथ ही इन्हें लेनेके लिये उनका मन पहलेसे भी अधिक लोलुप हो गया है। पर यह यदि चली गयी तो फिर फल कैसे मिलेंगे? इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय अधीर कण्ठसे तुरंत पुकार उठते हैं—'री! मैं फल लूँगा, फल!'

जैसे किसीने कर्णपुटोंमें अमृत उँड़ेल दिया हो, प्राणोंमें दिव्यातिदिव्य मधुकी धारा बहा दी हो—इस प्रकार अनुभव करती हुई फल-विक्रयिणीने श्रीकृष्णचन्द्रकी यह

सुमधुर वीणाविनिन्दत ध्वनि सुनी, उसके अन्तस्तलमें प्रवाहित भाव-स्रोतस्विनीका इस मधुधारासे संगम हो गया। यह मधुधारा सामान्य नहीं, अत्यन्त गम्भीर है। इसने भाव-स्रोतस्विनीको, स्रोतस्विनीकी चञ्चल तरङ्गोंको आत्मसात् कर लिया। अभी-अभी जो कल्लोलिनी हिलोरें ले रही थी, उसमें आवर्त उठ रहे थे—वे सब-के-सब श्रीकृष्णचन्द्रके मुखारविन्दसे निस्सृत इस मधु-सुधा-धारामें विलीन हो गये, तद्रूप हो गये। फल-विक्रयिणी प्रकृतिस्थ हो गयी। समाधिसे जागी हुई-सी उसने सिरसे फलकी टोकरी उतारकर श्रीकृष्णचन्द्रके समीप रख दी। अभी भी उसके कानोंमें गूँज रहा है—'री, मैं फल लूँगा।'

श्रीकृष्णचन्द्र पुनः उसी वीणाविनिन्दित स्वरमें बोल उठे—'री! सुनती नहीं? फल दे, मैं फल लूँगा।' इस बार फलवालीनें भी उत्तर देनेकी शक्ति लीलाशक्तिने ही भर दी। वह बोली—'नन्दपुत्र! तुम फल लोगे? अच्छी बात है। फल लो, मैं तुम्हें फल अवश्य दूँगी। पर यह बताओ, फलके मूल्यमें मुझे क्या दोगे?' यह कहते-कहते ही फलवालीका कण्ठ पुनः भर आता है। श्रीकृष्णचन्द्र भी चकित-से होकर उसकी ओर देखने लगते हैं; क्योंकि 'मूल्य' क्या वस्तु है, यह वे समझ नहीं पाते। ओह! '**यः सर्वज्ञः सर्ववित्**'—श्रुतिसे निर्दिष्ट किये जानेवाले परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रका यह बाल्यावेश, यह बाल्यलीला-रसमत्तता कितनी मोहक है!

श्रीकृष्णचन्द्रने इस बार अत्यन्त उतावलीभरे स्वरमें कहा—'मूल्य! मूल्य क्या होता है? यह तो मैं जानता ही नहीं। तू फल तो मुझे दे।' उत्तरमें फलवाली भी उतनी ही शीघ्रतासे बोल गयी—'नन्दलाड़िले! कोई वस्तु लेनेपर उसके बदलेमें कुछ देना होता है; ली हुई वस्तुके बदलेमें जो दी जाती है, उसीको मूल्य कहते हैं।' फलवालीने यह कहा ही था कि श्रीकृष्णचन्द्र तुरंत बोल उठे—'री, तू कैसी बावली है! मेरी मैया मुझे प्रतिदिन विविध मिष्टान्न, नवनीत एवं अनेक क्रीड़ा-सामग्री देती है; गोपियाँ भी मुझे अनेक वस्तुएँ देती हैं, पर मैं तो उसके बदले कभी भी कुछ भी उन्हें नहीं देता, वे माँगती भी नहीं।' इतना कहकर श्रीकृष्णचन्द्र आशाभरी मुद्रामें फलवालीकी ओर देखने लगते हैं। फलवालीके नेत्रोंमें आँसू छल-छल करने लगते हैं। एक बार अपना सारा धैर्य बटोरकर वह श्रीकृष्णचन्द्रसे पुनः कुछ कहना चाहती है, पर अब सामर्थ्य नहीं रही; हृदयका बाँध टूट गया है, अनर्गल अश्रु-प्रवाह फल-विक्रयिणीके कपोल एवं वक्षःस्थलको आर्द्र बनाने लगता है।

बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्र एक बार पुनः विचारमें पड़ गये। फलवालीकी इस अनर्गल अश्रुवारिका मर्म वे ढूँढ़ने लगे। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उन्होंने तो यही मर्म निकाला कि सम्भवतः यह 'मूल्य' के लिये ही रो रही है। बस, फिर क्या था; यह विचार उदय होते ही वे क्षेत्रवाटिकाकी ओर दौड़े, संनिकटवर्ती धान्यस्तूपके पास जा पहुँचे। अङ्गुलियोंको जोड़कर उन्होंने अञ्जलि बनायी, उस अञ्जलिको धानसे भरा तथा पुनः उसी वेगसे फलवालीके समीप चल पड़े। उनकी दृष्टि फल-विक्रयिणीपर ही केन्द्रित है और वे मानो अपने सारे शरीरका बल लगाकर दौड़ रहे हैं। इसी बीचमें द्वारकी सीमा पार करनेसे पूर्व ही, बाल्य-चपलतावश अञ्जलि शिथिल पड़ जाती है, छोटी-छोटी सटी हुई अङ्गुलियाँ ढीली पड़ने लगती हैं, उनमें दो-चार छिद्र बन जाते हैं तथा क्रमशः धान गिरने लग जाता है। अलिन्दको पार करके जिस समय वे फलवालीके पास पहुँच पाते हैं, उस समय उनकी अञ्जलिमें केवल चार-पाँच धान ही बच रहते हैं। जब वे उसकी टोकरीमें अपनी अञ्जलि खोलते हैं, तब केवल एक ही धान टोकरीमें गिरता है; क्योंकि अब एक दाना ही अवशिष्ट रहा है। किंतु नन्दनन्दनको यह पता नहीं, वे तो अपनी जानमें अञ्जलि भरकर धान ले आये हैं। इसीलिये उत्कण्ठापूरित स्वरमें बोल उठते हैं—'री! ले, मैं तेरे फलका मूल्य ले आया। यह धान लेकर मुझे अब फल दे दे, सारा फल दे दे; मैं सब ले लूँगा।'

इधर फलवालीकी विचित्र दशा है। जिस समय श्रीकृष्णचन्द्र धान लाने भीतर गये, दृष्टिसे ओझल हुए, उस समय उसके प्राण निकलने-से लगे। आह! नन्दपुत्र चले गये, फल लिये बिना ही चले गये। मैं हतभागिनी उन्हें फल न दे सकी—इस वेदनासे उसका शरीर, मन, प्राण—सब कुछ एक साथ जल उठा। यदि क्षणभरका विलम्ब और होता तो उसके आकुल प्राण उत्तापदग्ध जर्जर कलेवरको छोड़कर उड़ गये होते; किंतु तुरंत ही श्रीकृष्ण पुनः दीख गये तथा उन्हें देखते ही बाहर निकलते हुए प्राण शरीरमें ही लौट आये। सचमुच फलवालीने नवजीवन पाया। अवश्य ही इस बार वह सहसा अत्यन्त गम्भीर हो गयी है। आकुल प्राण सर्वथा अन्तिम दशाको छूकर, शेष सीमाको स्पर्श कर लौटे हैं। अतः भावोंका आवेग भी शान्तप्राय हो चुका है। और तो क्या, अभी-अभी हुई वेदनाकी स्मृति भी वह खो बैठी है। श्रीकृष्णचन्द्रकी रिक्त अञ्जलिसे गिरे हुए उस एक धान्यकणको वह चटपट अपने हाथमें उठा लेती है तथा उसे उनके सामने रखकर किञ्चित् अस्फुट स्वरमें कहती है—'नन्दलाड़िले!

मेरे इतने फलका मूल्य क्या धानका एक ही दाना है?'

श्रीकृष्णने अब समझा कि धान तो उनकी अञ्जलिसे कहीं पथमें ही गिर गये। बङ्किम नयनोंको घुमाकर पीछेकी ओर उन्होंने देखा—धान्यकी एक रेखा-सी बन गयी है। एक साथ ही आशा, निराशा, उत्कण्ठा-अवसादकी छाया श्रीकृष्णचन्द्रके मुख-कमलको छू-सी लेती है। पर वे साहस बटोरते हुए-से अविलम्ब बोल उठते हैं—'देख फलवाली! मैं धान ले अवश्य आया था, पूरी अञ्जलि भरकर ले आया था; पर दौड़ते समय वह गिर गया। अब मैं फिर लाने जाऊँ तो सम्भवत: मैया देख लेगी, वह अब आती ही होगी। इसलिये तू मुझे आज फल दे दे। फल देकर घर चली जा। फिर किसी दिन आ जाना, मैं अवश्य इसका मूल्य तुझे दे दूँगा।' यह कहकर आशाभरी मुद्रामें वे फलवालीकी ओर देखने लगते हैं। वह भी श्रीकृष्णचन्द्रकी अत्यन्त मधुर, सरलतासे ओतप्रोत इस उक्तिको सुनकर बोली—'नन्दनन्दन! मेरे जीवनमें दूसरा दिन होगा तब तो आऊँगी…।' कहते-कहते फलवालीके नेत्र पुन: भर आये, कण्ठ गद्‌गद हो गया और रुद्धकण्ठसे वह बोलती गयी—'नन्दलाडिले! कर्मोंके फलस्वरूप विधाताने मुझे चाण्डालिनी बनाया; गोपियोंकी भाँति मेरा यह अधिकार नहीं कि तुम मेरी गोदमें आ सको, मुझे 'मा' कह सको; इस मलिनदेहसे यह अधिकार मिलनेकी आशा भी नहीं, कदाचित् इस जीवनके उस पार…।' फलवाली बीचमें ही सुबुक-सुबुककर पुन: रोने लग गयी।

श्रीकृष्णचन्द्र फल-विक्रयिणीकी बातोंको अच्छी तरह समझ नहीं सके। चाण्डालिनी क्या होती है, अधिकार क्या वस्तु है—वे भला क्या जानें! पर इतना तो उन्होंने समझ ही लिया कि इसकी गोदमें चले जानेसे और 'मा' कहनेसे यह प्रसन्न अवश्य हो जायगी—इसी तरहकी कुछ बात इसने कही है। इसलिये कुछ सोचकर वे तत्काल बोल उठे—'अच्छा री! सुनती है? यह बता, यदि मैं तेरी गोदमें चढ़ जाऊँ और तुम्हें 'मा' कह दूँ तो क्या तू मुझे बिना मूल्य लिये ही फल दे देगी?'

उत्तरमें बरबस फल-विक्रयिणीका सिर स्वीकृतिकी सूचना देता हुआ हिल गया, उसने जानकर हिलाया नहीं। अस्तु,

श्रीकृष्णचन्द्रने एक बार चारों ओर दृष्टि डालकर देखा और फिर भुजा उठाकर, लपककर फलवालीकी गोदमें जा चढ़े तथा उसकी ठोड़ीका स्पर्श करते हुए बोले—'मा!… अब फल दे दे!' ओह! अगणित योगीन्द्र-मुनीन्द्र जन्म-जन्मान्तरव्यापी अथक प्रयास करके ध्यानमें भी जिनका स्पर्श नहीं पाते, श्रुतियाँ जिन्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक जाती हैं, पर अन्त नहीं पातीं, वे ही स्वयं भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र सर्वथा साधनहीना चाण्डालिनीकी गोदमें उठकर उसे 'मा' कहकर फल माँग रहे हैं! अनन्तकरुणार्णव! तेरे इस कृपावैभवकी जय हो!! जय हो!!!

फल-विक्रयिणी तो अखण्ड अनन्तकालीन परमानन्दसमाधिमें विलीन हो गयी। इसके पश्चात् बाह्य दृष्टिमें उसके हाथ, पैर एवं मुखसे इतनी-सी और क्रिया सम्पन्न होते हुए आकाशपथमें अवस्थित देववृन्दोंने अवश्य देखा—'तुरंत ही श्रीकृष्णचन्द्र उसकी गोदसे उतरते हैं, उसके आगे अञ्जलि फैलाकर खड़े हैं—ठीक वैसी ही अञ्जलि है, जिससे सारे धान गिर गये थे। उसी अञ्जलिमें फल-विक्रयिणी दोनों हाथोंसे फल भरने लगती है, उस छोटी-सी अञ्जलिमें ही फल-विक्रयिणीकी टोकरीके सारे फल समा गये हैं। अबतक श्रीकृष्णचन्द्रकी रिक्त अञ्जलिसे गिरा हुआ वह धान्यकण फल-विक्रयिणीकी अङ्गुलियोंमें दबा था; अब वह टोकरीमें गिर जाता है, पर गिरते ही एक अमूल्य रत्नके रूपमें परिणत हो जाता है; दूसरे ही क्षण समस्त टोकरी नानाविध अनमोल रत्नोंसे परिपूर्ण हो जाती है—

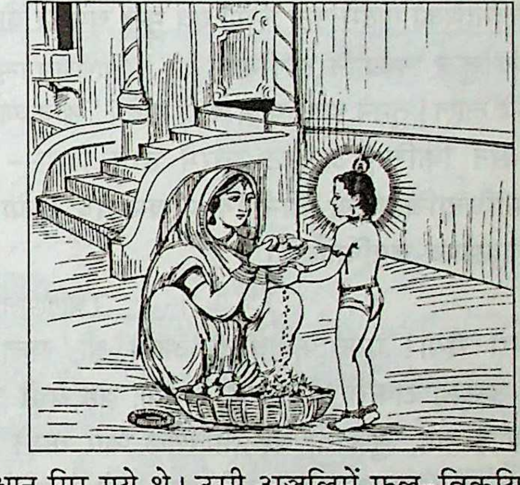

फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं करद्वयम्।
फलैरपूरयद् रत्नैः फलभाण्डमपूरि च॥

(श्रीमद्भा० १०।११।११)

फल-विक्रयिणी उठी, रत्नपरिपूरित टोकरीको सिरपर रखा, हाथोंसे उसने श्रीकृष्णचन्द्रको संकेत किया। उत्तरमें श्रीकृष्णचन्द्र बोले—'नहीं-नहीं, तू चिन्तित मत हो; क्या मेरी अञ्जलिसे धान गिर गये, इसलिये फल भी गिर जायँगे? इन फलोंको तो मैं खाऊँगा।' वृद्धा उन्मत्त-सी हुई चल पड़ती है, एक सरोवरके तटपर टोकरी उतारकर रखती है, निमीलितनेत्र रहकर ही हाथोंसे रत्नोंको टटोलती-सी है,

फिर रत्नसहित टोकरीको सरोवरके अगाध जलमें फेंक देती है, निकटवर्ती एक गहन वनमें प्रवेश कर जाती है;—बस, इससे आगे व्रजपुरमें, पुलिन्दावासमें कहीं भी, कभी भी किसीने उस फल-विक्रयिणीको नहीं देखा।

श्रीकृष्णचन्द्र फल लेकर क्षेत्रवाटिकाकी ओर अग्रसर हुए। व्रजमहिषीके द्वारा नियुक्त परिचारिकाएँ सारी लीला देख रही थीं। रुनझुन-रुनझुन नूपुरकी ध्वनि करते हुए जिस समय श्रीकृष्णचन्द्र उत्तरद्वारसे व्रजेश-प्रासादमें प्रवेश करने लगे, उस समय दासियाँ हँसी न रोक सकीं, खिलखिलाकर हँस पड़ीं। चकित होकर नन्दनन्दन उनकी ओर देखने लगे। इसी समय यशोदारानी भी वहाँ आ पहुँचीं। पुत्रको अञ्जलिभरे फल लाते देखकर वे खड़ी हो गयीं। पास आनेपर जननीने अपने नीलमणिको गोदमें उठा लिया एवं मुख चूमकर बोलीं—

'पुत्र कुत्र लब्धानि तानीमानि?' (श्रीगोपालचम्पूः)

'मेरे लाल! तुमने इतने फल कहाँ पाये?' श्रीकृष्णचन्द्रने सरलता-सने किंचित् अस्फुट स्वरमें उत्तर दिया—

'काचिदाचितफला धान्यानि मूल्यमादाय धन्या मयि चानुकूल्यमाधाय समर्पितवती।'

(श्रीगोपालचम्पूः)

'मेरी मैया! एक फलवाली आयी थी, फलभारसे लदी हुई उसकी टोकरी थी; सचमुच मैया, वह बड़ी अच्छी थी। धन्य है वह, मुझे तो वह अतिशय प्यार करने लगी; उसीने मूल्यमें धान्य लेकर ये सारे फल मुझे दे डाले हैं।'

दासियोंने हँसकर व्रजेश्वरीसे कहा—'नन्दरानी! श्रीकृष्णचन्द्रको छूना मत, भला! इसने चाण्डालिनीकी गोदमें जाकर उसे 'मा' कहा है!' मैया बोली—'विधाता करे, मेरा नीलमणि जगत्की सारी स्त्रियोंको 'मा' कहे और उनका अमोघ आशीर्वाद पाकर चिरंजीवी हो!' कहते-कहते मैयाके नेत्रकोयोंसे दो बिन्दु अश्रु ढलककर श्रीकृष्णचन्द्रके मस्तकपर जा गिरे।

इसी समय कोलाहल करते हुए सखावृन्द वहाँ आ पहुँचे। जननीको श्रीकृष्णचन्द्रने फल बाँटनेके लिये कहा। आनन्दमें निमग्न हुई जननीने भी स्वयं ही अपने सुकोमल सुन्दर हाथोंसे फलोंका संस्कार किया। आनन्दावेशसे उनके हाथोंमें प्रकम्पन होने लगता है। काँपते हुए हाथोंसे ही वे फल वितरण कर रही हैं। साथ ही उन्हें अत्यन्त आश्चर्य है कि इतनी देरसे वे बाँट रही है, किंतु इतने-से अल्प फल समाप्त जो नहीं हो रहे हैं—

'माता चामन्देनानन्देन कृतस्पन्देन करद्वन्द्वेन तानि विभजन्ती तदन्तीकृतिं नाससाद॥' (श्रीगोपालचम्पूः)

इसके कई दिन बादतक भी जननी इन फलोंका अन्त न पाकर अतिशय विस्मय करती रहीं, आश्चर्यमें डूबी रहीं; तथा जिन-जिनने इन फलोंके स्वादका अनुभव किया था, वे तो चमत्कृत रह गये। वह अत्यन्त सुमधुर, विचित्र, अद्भुत स्वाद उन्हें भूलता न था—

दिनकतिपयं विस्मयवशा स्मयमाना वसति स्म तदास्वादकाराश्च लब्धचमत्कारा न विस्मरन्ति स्म॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

उस दिन जब नन्दरानी अपने नीलमणिको बीचमें बैठाकर ग्वालबन्धुओंमें फल वितरण कर रही थीं, उसी समय एक नववधू अपनी सासकी आज्ञासे मथानी माँगने नन्दभवन आयी। श्रीकृष्णचन्द्र तो गोपबन्धुओंके साथ फलवालीके फलोंका रस लेनेमें निमग्न थे, उन्होंने उस व्रजसुन्दरीकी ओर ताकातक नहीं; पर उसने उन्हें देखा और देखते ही वह अपने-आपको खो बैठी। मथानी लेकर वह यन्त्रकी भाँति घर तो लौट आयी, पर इतनी देरमें ही उसके सारे शरीरका रंग ही बदल गया। गृहके स्वजन-परिजन सभी वधूके इस आकस्मिक परिवर्तनसे चिन्तित हो गये हैं; पर किसीको असली कारणका ज्ञान नहीं हो रहा है। वह बोलती नहीं है—मौन हो गयी है, जैसे गूँगी हो। एक सप्ताहतक उसकी यही दशा रहती है। आज इतने दिन बाद वह यमुनातटपर स्नान करते समय एक समवयस्का सखीको अपने इस विचित्र परिवर्तनका रहस्य बता रही है—

अदभुत इक चितयौ हौं सजनी, नंद महर कैं आँगन री।
सो मैं निरखि अपुनपौ खोयौ, गई मथानी माँगन री॥
बाल-दसा मुख-कमल बिलोकत, कछु जननी सौं बोलै री।
प्रगटति हँसत दँतुलि, मनु सीपज दमकि दुरे दल ओलै री॥
सुंदर भाल-तिलक गोरोचन, मिलि मसि-बिंदुका लाग्यौ री।
मनु मकरंद अचै रुचि कै, अलि-सावक सोइ न जाग्यौ री॥
कुंडल लोल कपोलनि झलकत, मनु दरपन मैं झाईं री।
रही बिलोकि बिचारि चारु छबि, परिमिति कहूँ न पाई री॥
मंजुल तारनि की चपलाई, चित चतुराई करषै री।
मनौ सरासन धरे कर स्मर, भौंह चढ़ै सर बरषै री॥
जलधि थकित जनु काग पोत कौ कूल न कबहूँ आयौ री।
ना जानौं किहिं अंग मगन मन, चाहि रही नहिं पायौ री॥
कहँ लगि कहौं बनाइ बरनि छबि, निरखत मति-गति हारी री।
सूर स्याम के एक रोम पर देउँ प्रान बलिहारी री॥

गोपिकाओंकी प्रेमोपासना

[विशेषाङ्क पृ०-सं० ३६४ से आगे]

मुरली और रास

मुरली जब बजती है तब औरोंकी तो बात ही क्या है, निर्बीज समाधिमें स्थित योगियोंकी समाधि भी टूट जाती है।

वह वंशीध्वनि निकलते ही जड़को चेतन और चेतनको जड़ बना देती है। इसीसे एक बार एक गोपीने व्यंग्यसे मुरलीकी महिमा गाते हुए कहा था—

मुरहर! रन्धनसमये मा कुरु मुरलीरवं मधुरम्।
नीरसमेधो रसतां कृशानुरप्येति कृशतरताम्॥

'हे मुरारे! अरे, मेरे रसोई बनाते समय तो तुम कृपाकर अपनी मुरलीकी मधुर तान न छेड़ा करो, क्योंकि उस ध्वनिके आते ही मेरी सूखी लकड़ियाँ हरी हो चूने लगती हैं और आग बुझ जाती है, जिससे रसोई भी नहीं हो पाती।' दूरसे मुरलीकी टेर सुनकर एक सखी दूसरीसे कहती है—

सुनती हौ कहा भजि जाहु घरै बिंध जाओगी नैनके बाननमें।
यह बंसी 'निवाज' भरी बिषसों बगरावति है बिष प्राननमें॥
अब ही सुधि भूलिहौ भोरी भटू भँवरो जब मीठी-सी ताननमें।
कुलकानि जो आपनि राखि चहौ दे रहौ अँगुरी दोउ काननमें॥

इस वंशीकी और रासकी कुछ आलोचना किये बिना गोपी-प्रेमकी चर्चा अधूरी रह जाती है। इसलिये कुछ इन विषयोंपर भी विचार करना है।

श्रीकृष्णमिलनके लिये कात्यायनीकी पूजा करनेवाली गोपियोंको वर देनेके दिन भगवान्ने उनके वस्त्र हरणकर उनके निर्मल और अनन्य प्रेमकी परीक्षा की। उनका सारा भेदज्ञान हरण करके उन्हें निर्मल प्रेमपथकी अधिकारिणी समझकर मिलनका वरदान दिया। वस्त्रहरणलीलामें पाप देखना पापबुद्धिका परिणाम है। जीवात्माका परमात्माके सामने कोई पर्दा नहीं रह सकता। पर्दा मायामें ही है। सबके अन्तरात्मा भगवान्से कौन जीवात्मा अपने अङ्गोंको छिपानेका भाव रख सकता है? वह जबतक छिपाता है तबतक परमात्माको परमात्मा न समझकर अपने पृथक्त्वका अभिमान बनाये रखता है। चीरहरणसे गोपियोंका यह मोह भङ्ग हुआ। उन्होंने श्रीकृष्णको परमात्मा समझा और जीवभावसे वे अभिमानके पर्देको तोड़कर प्रभुके सामने हो गयीं।

इसके कुछ दिनों बाद शरत्पूर्णिमा आयी। भगवान्के मिलनका दिन आया। शारदीया रजनी, प्रफुल्ल मल्लिका, पूर्ण सुधांशुकी सुधामयी मधुर किरणों आदि उद्दीपन भावोंसे गोपियोंके हृदयमें एक अलक्ष्य आकाङ्क्षा जाग उठी, मानो उनका हृदय किसी वस्तुको चाहने लगा! यह थी श्रीकृष्णमिलनकी कामना।

बस, इसी समय श्रीकृष्णकी मोहन मुरली बज उठी। शारद सुधाकरकी ज्योत्स्नामें, नील यमुनाके निर्मल सैकतमें, मन्दानिलसे आन्दोलित माधवी कुञ्जमें आत्माराम, पूर्णकाम, योगेश्वरेश्वर, नित्य नवनटवर मोहनकी मधुर मुरलीसे विश्व-विमोहन प्रेमके आवाहनका अनङ्गवर्धक, आनन्ददायक सङ्गीत प्रारम्भ हो गया। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

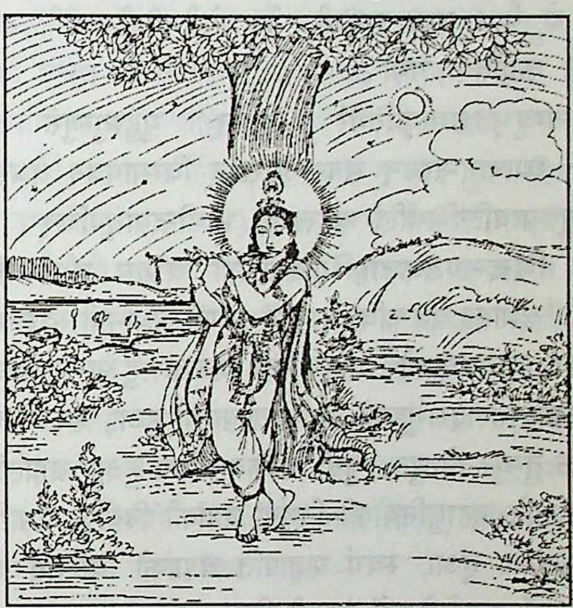

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।४)

'उस अनङ्गवर्धन (श्रीकृष्णमिलन-कामनाको बढ़ाने-वाले)-गानके कानोंमें पड़ते ही समस्त व्रज-वनिताओंका मन श्रीकृष्णमय हो गया। वे उसी समय तुरंत सब कुछ छोड़कर अपने प्रियतम श्रीकृष्णके पास चली गयीं।

उतावलीके कारण किसीने किसीको साथ लेनेका भी कोई प्रयत्न नहीं किया। (सब अलग-अलग ही, जो जिस अवस्थामें थी, उसी अवस्थामें सब कुछ भूलकर दौड़ पड़ी।) उस समय वे इतने वेगसे चलीं कि सारे रास्ते उनके कानोंके कमनीय कुण्डल हिलते रहे।'

अनङ्गके बढ़ जानेपर वे अपने-अपने पतियोंके पास न जाकर श्रीकृष्णके पास क्यों गयीं? इसमें कारण है। उनका अनङ्ग लौकिक काम नहीं था। श्रीकृष्णमिलनकी योगिजनदुर्लभ प्रबल कामना थी, जो किसी अङ्गवाली न होनेपर भी बड़ी प्रबल थी और जिसने उनको बरबस श्रीकृष्णकी ओर दौड़नेको बाध्य कर दिया था। वंशी-ध्वनि अखण्डानन्द प्रदान करनेके लिये भगवान्‌का निमन्त्रण था, उसे वे कैसे टाल सकती थीं। वंशी कैसे बजी, उसकी ध्वनि कहाँतक गयी?

रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन् मुहुस्तुम्बुरुं
ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान् विस्मापयन् वेधसम्।
औत्सुक्यावलिभिर्बलिं चटुलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन्
भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः॥

'वंशीका वह पवित्र सङ्गीत अपनी सुधामयी स्वरलहरीसे समस्त वृन्दावनको आप्लावित करता हुआ, आकाशमें पहुँचकर जलदसमूहको स्तम्भित करता हुआ, स्वर्गमें देव-गायक तुम्बुरुको पुनः-पुनः चकित करता हुआ, ब्रह्मलोकमें सनन्दनादि महामुनियोंकी निर्गुण ब्रह्मकी निर्बीज समाधिको भङ्ग करता हुआ, स्वयं प्रजापति ब्रह्माको विस्मित करता हुआ, यों ऊर्ध्वलोकमें अपनी विजयपताका फहराकर नीचे पातालकी ओर चला और वहाँ राजा बलिको चौंकाकर नागराज अनन्त शेषनागके सहस्र फणोंको कँपाकर, अखिल ब्रह्माण्डकटाहको भेदकर श्रीकृष्णका वह वंशीसङ्गीत सब ओर फैल गया।'

परंतु इतनेपर भी इस आवाहन-सङ्गीतको सुना भक्तोंने ही और वे उसी समय दौड़ चले। अब भी श्यामकी यह वंशी वैसे ही बजती है और प्रेमी भक्त अब भी उसे सुनते हैं। अस्तु। भक्त-प्रवर श्रीनन्ददासजी कहते हैं—

सुनत चलीं ब्रज-बधू गीत-धुनिको मारग गहि।
भवन भीत द्रुम कुंज पुंज कितहूँ अटकी नहिं॥
नाद अमृतको पंथ रँगीलो सुच्छम भारी।
तेहि मग ब्रजतिय चलैं, आन कोउ नहिं अधिकारी॥

वे मुरलीकी ध्वनिको लक्ष्य करके उन्मत्तकी भाँति चलीं और भगवान् श्रीकृष्णके चरण-प्रान्तोंमें जा पहुँचीं। यहाँ फिर प्रेम-परीक्षा होती है। खास करके दो बातें देखनी हैं— (१) गोपियोंका किसी सांसारिक विषयमें मन आसक्त है या नहीं और (२) वे श्रीकृष्णको साक्षात् भगवान् समझती हैं या नहीं। इसीलिये पहले-पहल भगवान्‌ने उनसे कहा—

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। १८)

'हे महाभागाओ! तुम्हारा स्वागत है। कहो, मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूँ? व्रजमें सब कुशल तो है, इस समय यहाँ आनेका कारण तो बताओ?'

गोपियाँ भगवान्‌की ऐसी वाणी सुनकर मुसकरा दीं, कुछ बोलीं नहीं। भगवान् फिर बोले—

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। १९)

'हे सुन्दरियो! देखो, रात्रि बड़ी घोर है। इस समय बहुत-से भयानक जीव इधर-उधर फिर रहे हैं। इसलिये तुमलोग तुरंत व्रजको लौट जाओ। यहाँ स्त्रियोंका अधिक देर ठहरना ठीक नहीं है।'

गोपियोंने कुछ उत्तर नहीं दिया। भगवान् फिर बोले—

मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। २०)

'तुम्हें घरमें न देखकर तुम्हारे माता-पिता, पुत्र, भाई और पति आदि ढूँढ़ते होंगे। तुम यहाँ ठहरकर अपने घरवालोंको व्यर्थ घबराहटमें न डालो।'

यहाँ भगवान्‌ने सांसारिक अति निकटके सम्बन्धियोंकी बात याद दिलाकर यह जानना चाहा कि देखें गोपियोंके मनमें उनके प्रति मोह या उनसे भय है या नहीं। ये मायिक जगत्‌में हैं या ईश्वराभिमुखी हैं? परंतु गोपियाँ इस परीक्षामें पास हो गयीं। ऋषिपत्नियाँ यहीं, इसी प्रसङ्गपर घर लौट गयी थीं। गोपियाँ कुछ नहीं बोलीं। उनके चित्तमें संसारकी आत्मीयताका कुछ भी मोह नहीं जाग्रत् हुआ। वे भगवान् परमात्मा श्रीकृष्णके प्रेममें डूब रही थीं।

चाँदनी रातकी सुन्दर शोभा देखकर गोपियोंके मनमें श्रीकृष्णप्रेम जागा था, यह जागृति लौकिक थी या दिव्य?

इसीको जाँचनेके लिये भगवान्ने फिर कहा—

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम्।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम् ॥
तद्यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत॥
(श्रीमद्भा० १०।२९।२१-२२)

'तुम रजनीशकी रश्मियोंसे रञ्जित और यमुनाजलके स्पर्शसे शीतल मन्द-मन्द पवनकी गतिसे हिलते हुए नवपल्लवोंसे सुशोभित एवं कुमुद-कुसुम-मण्डित, मनोहर इस वृन्दावनकी शोभा देख चुकीं। अब हे सतियो! देर न करो, तुरंत ही व्रज लौट जाओ और अपने-अपने पतियोंकी सेवा करो। देखो, बालक और तुम्हारी गायोंके बछड़े रो रहे होंगे, जाकर उन्हें दूध पिलाओ और गायें दुहो!'

सती स्त्रीके लिये पति-सेवासे बढ़कर और कौन-सा महत्त्वका कार्य हो सकता है? भगवान्ने 'सती' सम्बोधन करके पतियोंकी याद दिलायी। माताको पुत्र और ग्वालिनोंको गौ-बछड़े बड़े प्रिय होते हैं, उनका भी करुण शब्दोंमें स्मरण कराया। इनका मन पति-पुत्रोंमें है या सबसे विरक्त होकर केवल मुझ भगवान्में है—यह जाननेके लिये भगवान्ने इतनी बातें कहीं। गोपियाँ अब भी कुछ नहीं बोलीं। अबकी बार भगवान्ने अपने बाह्य सौन्दर्यकी महिमा दिखलाकर—यह जाननेके लिये कि ये केवल सौन्दर्यपर ही मोहित हैं या मुझे ईश्वर समझकर आयी हैं, भगवान् बोले—

अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः॥
(श्रीमद्भा० १०।२९।२३)

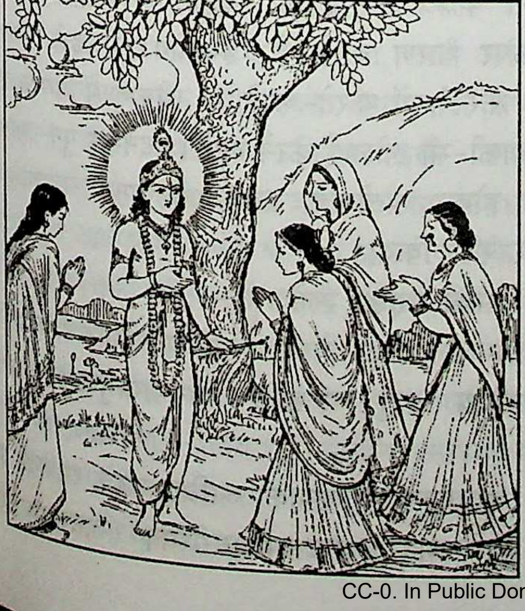

'अथवा यदि तुम मेरे स्नेहके कारण आसक्तचित्त होकर मुझे देखने आयी हो तो कोई दोषकी बात नहीं, क्योंकि मुझको देखकर सभी प्राणी प्रसन्न होते हैं। परंतु—

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद् बन्धूनाञ्च कल्याण्यः प्रजानाञ्चानुपोषणम्॥
दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥
अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः॥
(श्रीमद्भा० १०।२९।२४—२६)

'हे कल्याणियो! पति और उसके बन्धुओंकी निष्कपटभावसे सेवा करना तथा संतानका पालन-पोषण करना ही स्त्रियोंका परम धर्म है। जिन स्त्रियोंको शुभ गति पानेकी इच्छा हो वे अपने अपातकी पतिका किसी प्रकार भी त्याग न करें, चाहे वह बुरे स्वभाववाला, हतभाग्य, वृद्ध, मूर्ख, रोगी या निर्धन ही क्यों न हो। कुल-स्त्रियोंके लिये उपपतिकी (जारकी) सेवा करना सर्वथा निन्दनीय है, इससे स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती, संसारमें अपकीर्ति होती है। यह अत्यन्त ही निन्दनीय और भयदायक कार्य है।'

भगवान्ने सब बातें खोलकर कह दीं। यदि मुझको मनुष्य मानकर कामाभिलाषासे आयी हो तो नरकगामिनी होओगी, संसारमें अयश होगा; क्योंकि यही वेदधर्म है।

इस उपदेशसे भी गोपियाँ नहीं हिलीं, तब भगवान्ने उन्हें जाँचनेके लिये फिर कहा—

श्रवणाद्दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात्।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्॥
(श्रीमद्भा० १०।२९।२७)

(अच्छा, मुझमें कुछ महत्त्व समझकर आयी हो तो भी) 'मेरे गुण-श्रवण, दर्शन, ध्यान और कीर्तनसे मुझमें जैसा प्रेम होता है वैसा पास रहनेसे नहीं होता, इसलिये तुम अपने घरोंको लौट जाओ।' ऋषिपत्नियाँ इसी प्रकारकी बात सुनकर लौट गयी थीं। परंतु गोपियाँ नहीं लौटीं। ऋषिपत्नियोंने भगवान् श्रीकृष्णको भगवान् तो जान लिया था, परंतु उनकी ममता घरोंमें थी। गोपियाँ संसारसे सर्वथा वैराग्यवती और भगवान्की महिमासे पूर्ण परिचित थीं। गोपियाँ इस बातको जानती थीं कि भगवान् समस्त जगत्के आत्मा हैं। हमारे, हमारे पतियोंके, हमारे पुत्रोंके—सबके एकमात्र आत्मा हैं। जगदात्मा भगवान्में औपपत्यकी (जारपनेकी) कभी कल्पना

ही नहीं हो सकती; बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, तपस्वी और योगी संसारके सारे बन्धनोंको तोड़कर सबसे उपराम होकर जिन सच्चिदानन्दघन प्रभुकी प्राप्ति चाहते हैं, वही साक्षात् परमात्मा सुन्दर प्रियतमके रूपमें हमारे सामने खड़े हैं, उन्हींके चरणोंमें हम उपस्थित हैं। अब इन्हें छोड़कर जाना मूर्खता नहीं तो क्या है? अतः प्रेममयी गोपियाँ आँखोंमें आँसू भरकर प्रणयकोपके कारण गद्गद हुई वाणीसे बोलीं—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥
यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥
न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥
(श्रीमद्भा० १०। २९। ३१-३२; १०। ३१। ४)

'हे सर्वव्यापक! आपको ऐसे कठोर शब्द नहीं कहने चाहिये। हम अन्य समस्त विषयोंको छोड़कर एकमात्र आपके चरण-कमलोंमें ही अनुरक्त हैं। अतः जिस प्रकार आदिपुरुष श्रीनारायण मुमुक्षुओंको अपनाते हैं, आप भी हमलोगोंको उसी प्रकार ग्रहण कीजिये, कभी त्यागिये नहीं। हे कृष्ण! आप स्वयं धर्मको जाननेवाले हैं, (सबसे बढ़कर धर्म तो आपके चरणोंका आश्रय है, फिर आप धर्मविद् होकर कैसे हमें लौट जानेको कहते हैं?) आपने जो कहा कि पति, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंकी सेवा करना ही स्त्रियोंका धर्म है, सो यह उपदेश आप ईश्वरमें ही रहे; क्योंकि इस उपदेशके आश्रय आप ही हैं। आप ही धर्मकी अन्तिम गति हैं। पति, पुत्र आदि समस्त देहधारियोंके आप ही प्रिय बन्धु और आत्मा हैं। निश्चय ही आप केवल यशोदाके पुत्र नहीं हैं, बल्कि आप समस्त देहधारियोंके अन्तःकरणके साक्षी हैं। हे सखे! ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे आपने सम्पूर्ण जगत्की रक्षाके लिये यदुकुलमें अवतार लिया है।' हमें छलिये नहीं। आप साक्षात् परमेश्वर हैं, आपके बिना पति, पुत्रादि किसीकी भी सम्भावना नहीं है। सबके आश्रय, सबकी गति, समस्त धर्मोंके अधिष्ठान, ईश्वरोंके ईश्वर आपको छोड़कर हम कहाँ जायँ और क्यों जायँ?

गोपियाँ इस बातको जानती थीं कि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम विज्ञानानन्दघन विश्वात्मा परमेश्वर हैं। परमेश्वर ही सबके आत्मा और चरम गति हैं, अब उन परमात्माको पाकर गोपियाँ वहाँसे क्यों हटने लगीं? उन्होंने कहा—'शास्त्रज्ञ पुरुष अपने नित्य प्रिय आत्मारूप आपहीमें प्रेम करते हैं। इस लोकमें संसार-दुःख देनेवाले पति-पुत्रादिसे उन्हें क्या प्रयोजन है? अतः हे परमेश्वर! आप हमपर प्रसन्न होइये। हमारी चिरकालकी आशालताको काटिये नहीं, अब हम किसी प्रकार घर नहीं जा सकतीं। हमारा जो चित्त सुखपूर्वक घरमें आसक्त था, उसको आपने चुरा लिया, हमारे हाथ घरके कामोंमें लगे थे, वे भी चेष्टाहीन हो गये और हमारे पैर भी आपके चरणकमलोंसे एक पग भी नहीं हटना चाहते। हम किस प्रकार घर जायँ और वहाँ जाकर अब करें भी क्या?' (श्रीमद्भा० १०। २९। ३३-३४)

भगवान्ने भक्तकी परीक्षा की, परीक्षामें भक्त उत्तीर्ण हो गया, तब उसे मनोवाञ्छित फल दिया। योगेश्वरेश्वर भगवान्ने आत्माराम होकर गोपियोंके साथ रमण किया। 'रमण' शब्द क्रीडावाचक भी है। इससे वैसे भी कोई दोषकी बात नहीं होती। इसके बाद भगवान् एक बार अन्तर्धान हो गये। पीछेसे गोपियाँ भगवान्के अदर्शनसे व्याकुल होकर भगवान्को ढूँढ़ती और विविध विलाप करती रहीं। वे बोलीं—'भगवान् श्रीगोविन्दकी चरणरज अत्यन्त पवित्र है। ब्रह्मा, शिव, रमा आदि भी इसको मस्तकपर धारण करते हैं, हमलोग भी इसे मस्तकपर धारण करें।' यों करते-करते वे श्रीकृष्णमें तन्मय होकर श्रीकृष्णकी-सी लीलाएँ करने लगीं। तदनन्तर पुनः भगवान्ने प्रकट होकर प्रत्येकके साथ एक-एक अलग-अलग बनकर रास किया!

रासका पहला श्लोक है—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥
(श्रीमद्भा० १०। २९। १)

'भगवान्ने योगमायाको आश्रित करके रमणकी इच्छा की', इसके बाद '**आत्मारामोऽप्यरीरमत्**' (आत्माराम होकर

रमण किया), **'साक्षान्मन्मथमन्मथः'** (कामदेवको भी मोहनेवाले), **'आत्मन्यवरुद्धसौरतः'** (अस्खलितवीर्य) 'आत्मकाम, सत्यकाम, पूर्णकाम, योगेश्वरेश्वर' आदि शब्द आते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि भगवान्की यह लीला परम दिव्य थी! इसमें लौकिक काम-गन्धको जरा-सा भी स्थान नहीं है। 'भगवान्' शब्दसे ही सिद्ध होता है कि भगवान्में औपपत्य नहीं हो सकता, क्योंकि वे सबके अन्तरात्मा हैं। जिसमें अणिमादि आठों ऐश्वर्य विद्यमान हों, जो धर्म, यश, श्री, वैराग्य और ज्ञानका अपार तथा अटूट भण्डार हो उसीको भगवान् कहते हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
(विष्णु० ६।५।७४)

इस प्रकार षडैश्वर्यपूर्ण भगवान्में कामवासना या औपपत्य घट ही नहीं सकता। भगवान्ने यह सारी लीला योगमायाके द्वारा की। जिसकी जैसी इच्छा थी, भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान्की योगमायासे उसे वैसा ही होता प्रतीत हुआ। योगमाया (भगवान्की अपनी दिव्य नित्य शक्ति)-के प्रभावसे ही निःसङ्ग भगवान् सृष्टि, स्थिति और प्रलयकी लीला किया करते हैं। ऐन्द्रजालिक जिस प्रकार अपने इच्छानुसार दर्शकोंको मोहित करके मनमानी घटनाएँ उन्हें दिखाता है, इसी प्रकार भगवान्ने योगमायासे लीलाएँ कीं। राधिकाजी योगमायाका स्वरूप थीं। योगमायाके दूसरे एक स्वरूपको पहले भेजकर कंसको संदेश दिलाया था और उसी योगमायाके द्वारा व्रजमें भगवान्ने दिव्य लीलाविलास किया। ब्रह्माके द्वारा गोप-बालकोंके और गो-वत्सोंके हरण किये जानेपर पाँच वर्षके शिशु श्रीकृष्ण अपनी योगमायाके प्रभावसे स्वयं गोप-बालक, बछड़े और उनके सारे सामान कपड़े, सींग, लाठी आदि बन गये। छः वर्षके बालक श्रीकृष्णने योगमायाके प्रभावसे कालियदमन और दावाग्निपान किया। इसी अवस्थामें भगवान्ने पतिरूपसे चाहनेवाली व्रजबालाओंका मायाभ्रम दूर करके सम्पूर्ण आत्मसमर्पणकी योग्यता प्रदान करनेके लिये उनके वस्त्र-हरणकी लीला की। इसी योगमायाके प्रभावसे सात वर्षके बालक श्रीकृष्णको व्रजयुवतियोंने नवयौवनसम्पन्न देखा। इसी अपनी योगमायाके प्रभावसे रासमण्डलमें भगवान् क्रीडा (रमण) करते हुए प्रतीत हुए। इसी योगमायाके बलसे प्रत्येक गोपीने गोपीनाथको अपने साथ देखा। बालक जैसे दर्पणमें अपने प्रतिबिम्बके साथ स्वच्छन्द खेलता है, इसी प्रकार योगमायाके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णने अपनी छायास्वरूपा गोपियोंसे विलास किया—

'रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः॥'
(श्रीमद्भा० १०।३३।१७)

और योगमायाके प्रभावसे ही व्रजवासियोंने रासमें गयी हुई अपनी-अपनी पत्नियोंको अपने पास ही सोयी हुई देखा—

'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥'
(श्रीमद्भा० १०।३३।३८)

योगमायाके प्रभावसे ही कंसके दरबारमें प्रवेश करते समय एकादशवर्षीय बालक श्रीकृष्णको मल्लोंने वज्रके समान, नागरिकोंने विलक्षण नरश्रेष्ठरूपमें, स्त्रियोंने मूर्तिमान् कामदेवके तुल्य, गोपोंने निज जनके सदृश, दुष्ट राजाओंने शासकके समान, वसुदेव और देवकीने पुत्ररूपमें, कंसने साक्षात् मृत्युरूपमें, विद्वानोंने विराट् पुरुषके रूपमें, योगियोंने परम तत्त्वके रूपमें और यादवोंने परम देवताके रूपमें देखा।

यह पूर्णकाम, सत्यकाम, योगेश्वरेश्वर, षडैश्वर्यपूर्ण, अघटनघटनापटीयसी योगमायाके सञ्चालक, ह्लादिनी शक्तिके शक्तिमान्, भक्तवाञ्छाकल्पतरु साक्षात् भगवान् और उन्हींके प्रतिबिम्बरूप भक्तोंकी दिव्य प्रेमलीला थी। इस लीलामें दोष देखना महापाप है।

अधिकार और कर्तव्य

परंतु एक बात ध्यानमें रखनेकी है कि ऐसी लीलाका नायक सिवा भगवान्के और कोई भी नहीं हो सकता। गोपीभावसे भगवान्की उपासना करनेका अधिकार सभी वैराग्य और प्रेमसम्पन्न जीवोंको है। गोपीभाव न तो केवल स्त्रियोंके ही लिये है, न स्त्री-जैसी पोशाक पहनकर स्त्री सजनेकी ही जरूरत है। जरूरत है गोपियोंको आदर्श मानकर उनके-जैसा प्रेमभाव हृदयमें उत्पन्न करने की। जिसमें ऐसा अपार्थिव निष्काम अनन्यप्रेम होगा, वही गोपीभावसे उपासना कर सकेगा, परंतु उपास्य केवल परमात्मा ही होंगे। यदि कोई मनुष्य श्रीकृष्ण बनकर गोपीभावसे उपासना करानेका दावा करे तो उससे सदा दूर रहना चाहिये। खास करके स्त्रियोंके द्वारा गोपीभावसे अपनी उपासनाकी बात कहनेवाले मनुष्यको तो दुराचारी ही मानना चाहिये। साधक पुरुषके लिये तो स्त्रीकी बात तो दूर रही, स्त्रियोंके सङ्ग करनेवालेका सङ्ग भी त्याज्य है—

'स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।'

(श्रीमद्भा० ११। १४। २९)

यह प्रेम अत्यन्त ही दुर्लभ है। इसमें देवताओंका भी अधिकार नहीं है। जो भगवान्के व्रजरसके रसिक हैं, व्रजभावके भावुक हैं, व्रजप्रेमके प्रेमी हैं, वे भक्त ही इस अत्यन्त उच्च प्रेमरसका पान किया करते हैं। गोपी-पदाश्रय करके गोपीभावका अवलम्बन करनेसे ही इस दुर्लभ, कामगन्धहीन, विषयाभिलाषाशून्य, दिव्य प्रेम और प्रेमस्वरूप, प्रेमाधार श्यामसुन्दरकी प्राप्ति हो सकती है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा है—

सेइ गोपीभावामृते जाँर लोभ हय,
देदधर्म सर्व त्यजि सेइ कृष्णेरे भजय॥
रागानुरागमार्गे भजे जेइ जन,
सेइ जन पाय व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन॥

परंतु प्रेमी वेद-धर्म छोड़ना नहीं चाहता, प्रेमके प्रकट होनेपर वह आप ही छूट जाता है। जो जान-बूझकर छोड़ता है उसका तो पतन ही होता है—

एक नेम यह प्रेमको नेम सबै छुटि जाहिं।
पै जो छाँड़े जानिकै तहाँ प्रेम कछु नाहिं॥

यह पन्थ विषयकामियोंका नहीं है, यह मार्ग बाह्य वेषधारियोंका नहीं है। यह तो उन सच्चे त्यागियोंका पावन पथ है जो सबका मोह और सारी कामनाएँ त्यागकर एकमात्र भगवान्को ही भजना चाहते हैं। जिनके हृदयमें भोग-लालसा है उनका इस मार्गपर पैर रखना धधकती हुई अग्निमें कूदना या कालसर्पके मुँहमें हाथ देना है—

प्रेम-अमिय पीयौ चहै, करै विषयसों नेह।
बिष ब्यापै जारे हियौ, करै जरजरित देह॥

इसीलिये शुकदेवजी सबको सावधान करते हुए कहते हैं—'शिवजी हलाहल पी गये, हरेक आदमी नहीं पी सकता; इसी प्रकार भगवान्ने यह लीला की, मनुष्य नहीं कर सकता। अतः असमर्थ मनुष्योंको भगवान्की इस लीलाका अनुकरण कभी मनसे भी नहीं करना चाहिये। यदि कोई मूर्खतावश करेगा तो वह नष्ट हो जायगा। भगवान् तो गोपियोंके, उनके पतियोंके और सम्पूर्ण देहधारियोंके आत्मा हैं, साक्षीरूपसे सबके हृदयमें विराजमान हैं, उन्होंने लीलासे ही शरीर धारणकर अवतार लिया था और जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही उस दिव्य देहसे ऐसी अलौकिक लीलाएँ की थीं जिन्हें सुनकर ही लोग भगवत्परायण हो जायँ।' (श्रीमद्भा० १०। ३३। ३१, ३६-३७)

अतएव भगवान्की अलौकिक लीलाओंका अनुकरण न कर, पवित्र गोपीभावको आदर्श मानकर, अपना सब कुछ भगवान्के अर्पण करके बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके द्वारा सब प्रकारसे भगवान्की सेवा करनी चाहिये और उनका नित्य-निरन्तर प्रेमपूर्वक चिन्तन करना चाहिये; भक्त बनना चाहिये, भगवान् नहीं!

गोपी-प्रेम दिव्य रसपूर्ण है, परंतु उस रसको साधारण मनुष्य कहाँसे प्राप्त करे और वाणी या लेखनी कैसे उसका वर्णन करे? उचित यही है कि परम प्रेममयी गोपिकाओंके चरणवन्दन कर उनसे प्रेमकी भिक्षा माँगें और उनके प्यारे श्यामसुन्दरके नाम-गुणोंका गान कर जन्म-जीवनको सफल करें। श्रीललितकिशोरीजी कहते हैं—

रुचिकर सँवारे नाहिं अंग-अंग स्यामा-स्याम
ऐरी धिक्कार और नाना कर्म कीबेपै।
पायनको धोइ निज करन ना पान कियो,
आली अंगार परैं सीतल जल पीबेपै॥
बिचरे ना बृन्दाबन कुंज-लतान तरे,
गाज गिरै अन्य फुलवारी-सुख लीबेपै।
ललितकिसोरी बीते बरष अनेक दृग,
देखे ना प्रानप्यारे, छार ऐसे जीबेपै॥

श्यामसुन्दर आज भी हैं, उनकी लीला भी नित्य है। परंतु हमें वे श्यामसुन्दर कैसे दीखें और हमें उनके चरण धोनेका सौभाग्य कैसे प्राप्त हो? नित्य-निरन्तर निष्कामप्रेमभावसे उनका नाम जपना, उनके गुणोंका कीर्तन करना, उनके प्रेमी भक्तोंका सङ्ग करना, उनके अनुकूल कार्य करना, उनके आज्ञानुसार चलना, उनके प्रत्येक विधानमें संतुष्ट रहना, जगत्का मोह छोड़कर उनकी रूपमाधुरीपर न्योछावर होनेकी साधना करना, उनकी लीलाओंका मनन करना और प्राण खोलकर, हृदयके अन्तस्तलसे उनको पानेके लिये रोना—ये ही सब उपाय हैं। यदि चाहते हैं तो विषयासक्ति छोड़कर इन उपायोंका अवलम्बन कीजिये। करते-करते आप ही भावोंका विकास होगा और श्रीकृष्ण हमें सर्वस्वरूपमें मिल जायँगे! बोलो गोपी और गोपीनाथके पदपद्मपरागकी जय!

* * *

प्रेम—संयोग और वियोग

(श्रीश्रीधरसिंहजी 'दयालपुरी')

भगवान् प्रेमके वशमें हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

'जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको अपने वशमें कर लेती है, वैसे ही मेरे साथ अपने हृदयको प्रेम-बन्धनसे बाँध रखनेवाले समदर्शी साधु भक्तिके द्वारा मुझे अपने वशमें कर लेते हैं'—

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६६)

आराध्यके प्रति पूर्ण समर्पणका भाव ही सच्चा प्रेम है। सद्गुरु महर्षि मेँहीं परमहंसजी महाराजने प्रेम-भक्तिके सम्बन्धमें कहा है—

प्रेम-भक्ति गुरु दीजिये विनवौं कर जोड़ी।
पल-पल छोह न छोड़िये सुनिये गुरु मोरी॥

(मेँहीं पदावली)

संत कबीरने प्रेमकी महिमाके विषयमें बताया है कि जिसके शरीरमें प्रेमरस और मुखमें राम-नाम नहीं, उस व्यक्तिका जन्म लेना व्यर्थ है। यथा—

जिहि घट प्रीत न प्रेम रस पुनि रसना नहिं राम।
ते नर इस संसारमें उपजि भये बेकाम॥

हृदयमें जब प्रेमरसकी बाढ़ आती है तब मनुष्यके अङ्ग-अङ्ग पुलकित हो उठते हैं, अन्तःकरण प्रफुल्लित हो जाता है, वाणी गद्गद हो जाती है और आँखोंसे आँसुओंकी धारा प्रवाहित होने लगती है। प्रेमकी यही तल्लीनता भगवान् श्रीकृष्णकी आराधिका राधामें देखनेको मिलती है—

ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीव दुरापम्।
विलपति हसति विषीदति रोदति चञ्चति मुञ्चति तापम्॥

(गीतगोविन्द)

अर्थात् हे माधव! वह विरहिणी राधा, चित्तमें आपका ध्यान कर आपकी मूर्तिकी कल्पना अपने सम्मुख करके कभी हँसती है, कभी रोती है, कभी दुःखका अनुभव करती है, कभी बिलखती है और कभी संताप करना छोड़ देती है।

ईश्वरके प्रति प्रेमभाव होनेसे ही सांसारिक विषयोंसे विरक्ति होती है। मनमें संसारको छोड़नेका भाव उठता है। प्रेम-भक्तिसे उत्पन्न ज्ञानरूप प्रकाशसे अज्ञानरूप अन्धकार मिट जाता है। प्रभुकी कृपासे ही इस दुर्लभ प्रेमकी प्राप्ति होती है। परमात्मा प्रेमके वशमें हैं। संत चरणदासजी महाराजने इस प्रेमतत्त्वपर प्रकाश डाला है—

प्रेमहिं सूं उपजै बैराग। प्रेमहिं सूं उपजै मन त्याग॥
प्रेम भक्ति सूं उपजै ज्ञाना। होय चांदना मिट अज्ञाना॥
दुरलभ प्रेम जु हाथ न आवै। हरि किरपा कर दें तौ पावै॥
प्रेम प्रीत के बस भगवाना। सकल सास्तर कियो बखाना॥

(चरणदासकी वाणी प्रथम भाग)

संत मलूकदासजी महाराजने कहा है कि हे दयालु प्रभो! मैं तुम्हें क्षण-क्षण देखना चाहता हूँ। तुम्हारे दर्शनके लिये मैं पागल हूँ। तुम्हारे प्रेमका प्याला पान कर मैं पागल हो गया हूँ, मुझे अपने शरीरकी सुधि नहीं है। तुम्हारे प्रेम-रंगमें इस भाँति रँग गया हूँ कि खड़ा होता हूँ तो गिर पड़ता हूँ—

तेरा मैं दीदार-दीवाना।
घड़ी घड़ी तुझे देखा चाहूँ, सुन साहेब रहमाना॥
हुआ अलमस्त खबर नहिं तनकी, पीया प्रेम-पियाला।
ठाढ़ होऊँ तो गिर गिर परता, नैरे रंग मतवाला॥

प्रेमकी ऐसी ही विकलता धरमदासजीकी वाणीमें भी है—

पिया बिन मोहि नींद न आवै।
खन गरजै खन बिजुली चमकै ऊपर से मोहिं झाँकी दिखावै॥
सासु ननद घर दारुनि आहैं नित मोहिं बिरह सतावै॥
जोगिन ह्वै के वन वन ढूँढूँ कोऊ न सुधि बतलावै॥
धरमदास विनवै कर जोरी, कोई मेरे कोई दूर बतावै॥

प्रभु-प्रेमकी पिपासा भक्तको सदैव बनी ही रहती है। गुरु नानकका भ्रमररूपी मन हरिचरण-मकरन्दका सदैव लोभी बना ही रहता है। उसे प्रतिदिन प्रेमरूपी मकरन्दकी प्यास बनी ही रहती है। वे प्रभुसे प्रार्थना करते हैं कि हे

प्रभो! मुझ पपीहेको अपनी कृपाका जल दो, जिससे सदैव तुम्हारे नाममें ही लगा रहूँ। यथा—

हरिचरण कमल मकरन्द लोभित मनो अनदिनो मोहि आही पिआसा।
कृपा जलु देहि नानक सारिंग कउ होइ जाते तेरे नामि दासा॥

जिस प्रकार विरहिणी नायिका अपने प्रियतमके वियोगमें बड़े दुःखसे निद्रा त्यागकर सूनी शय्यापर रात्रि व्यतीत करती है, उसी प्रकार परमात्माके प्रेमकी प्यासी आत्मा प्रियतमके प्रेममें मिलनके लिये बेचैन रहती है। हाथरसवाले संत तुलसी साहबने प्रेमकी इस स्थितिका चित्रण बड़े ही मार्मिक ढंगसे किया है—

सखी मोहिँ नींद न आवै री। एरी बैरन बिरह जगावै॥
सूनी सेज पिया बिन ब्याकुल। पीर सतावै री॥
रैन न चैन दिवस दुख ब्यापै। जग नहिँ भावै री॥
तड़फत बदन बिना सुख सइयाँ। सब जरि जावै री॥
बिषधर लहर डसै नागिन सी। ज्यौं जस खावै री॥
देवै मौत दई बिरहन को। होते मरि जावै री॥
कैफ बिना तुलसी तन सूखै। जिय तरसावै री॥

प्रेमीके प्रेमकी दशाके वर्णनमें संत कवियोंने स्वाति-चातक, नीर-मीन, पीर-औषधि, क्षीर-शिशु, चन्द्र-चकोर, निर्धन-धन, चन्दन-सर्प, कामिनी-कन्त आदि दृष्टान्तोंको बड़े सुन्दर ढंगसे शब्द-सोपानपर सजाया है। यथा—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥
(तुलसी)

नीर बिनु मीन दुखी, क्षीर बिनु सिसु जैसे,
पीर जाकैं औषधि बिनु, कैसे रह्यो जात है।
चातक ज्यों स्वातिबूँद, चंद कौ चकोर जैसें,
चन्दनकी चाह करि, सर्प अकुलात है॥
निर्धन कौं धन चाहैं, कामिनी को कंत चाहै,
ऐसी जाकै चाह ताकौं कछु न सुहात है।
प्रेम कौ भाव ऐसो, प्रेम तहाँ नेम कैसो,
सुंदर कहत यह, प्रेम ही की बात है॥
(सुन्दरदास)

ज्यूँ अमली के चित अमल है सूरेके संग्राम।
निरधन के चित धन बसै, यौं दादूके राम॥
ज्यूँ चातक के चित जल बसे, ज्यूँ पानी बिन मीन।
जैसे चन्द चकोर है ऐसे हरि सों कीन्ह॥
(दादूदयाल)

महर्षि मैंहीं परमहंसजी महाराजने अलौकिक प्रेम करनेका संदेश दिया है—

हे प्रेम रूपी सत्‌गुरु प्रेमी मुझे बना दो।
नर-नारी रूप सारे, मन मोहैं जो हमारे,
आकर्षि प्रेम लेवें, इनसे लगन छोड़ा दो॥
ये स्थूल दृश्य जेते, मोको जो खैंचि लेते,
मम प्रेमधार खोते, इनसे मुझे हटा दो॥

× × ×

तुम्हारा यह रूप जानूँ, अपना भी यही मानूँ,
तुम हम दुई मिटाकर, इक एक ही बना दो॥
(महर्षि मैंहीं पदावली)

प्रियतमका सांनिध्य पानेके लिये भक्तिन दयाबाई व्याकुल रहती है—

प्रेम-पीर अति ही विकल कल न परत दिन-रैन।
सुंदर स्याम सरूप बिन 'दया' लहत नहिं चैन॥
(दयाबाईकी बानी पृ० ६)

जगजीवन साहबकी बानीमें लिखा है—

मनुआँ ऐसी प्रीति लगाव।
ससि रूप जैसे चकोर निरखत ऐसे चित्त मिलाव॥

सच्चा प्रेम वही है जिससे परमात्माकी प्राप्ति हो जाय—

प्रेम प्रेम सब कोई कहे प्रेम न चीन्हे कोय।
जेहि प्रेम ही साहिब मिले प्रेम कहावे सोय॥

प्रेमके अभावमें इबादतके बाह्य आडम्बर व्यर्थ हैं। बाह्य आडम्बरसे हुस्नपरस्ती श्रेष्ठ है। महात्मा मंसूरकी उक्ति है—

क्या होता है वजू कियेसे, क्या मस्जिदमें जानेसे।
क्या होता है नेवाज पढ़कर सरको वहाँ झुकानेसे॥
किया न जिसने इश्क जहाँमें, उठा न हाथ जबानेसे।
जीते-जी नहीं मिला खुदा तो मिलेगा क्या मर जानेसे॥
इसी सबबसे मेरे दिलमें आठों पहर यह मस्ती है।
लाख इबादतसे बढ़कर दुनियामें हुस्नपरस्ती है॥
जिसमें देखा उसीमें पाया है यह तीर निशानेसे।
अजब मजा पाया है मैंने, आँखमें आँख मिलानेसे॥

प्रेम ही आत्माको परमात्मासे जोड़ता है। संत पलटू साहबने बड़े ही सुन्दर ढंगसे प्रेमकी स्थितिका वर्णन किया है। वे कहते हैं कि मेरे तन-मनमें प्रियतमकी मधुर वाणी समा गयी है। उस मधुर वाणीको सुनकर आत्मा दीवानी हो गयी है। यह मधुर वाणी वही सत् शब्द है जिसे पकड़कर साधक सारे आवरणोंसे पार जाकर परमात्मासे मिलते हैं। भँवर गुफाके मध्यमें **'सोऽहम्'** वाणी उठती है। **'सोऽहम्'** वह ध्वनि है, जिसके मिलनेसे यह बोध होता है कि परमात्मा और मैं एक ही हूँ। इस **'सोऽहम्'** से भी परे परमात्माका रूप दृश्यमान होनेपर हमारा स्वरूप तद्रूप हो जाता है। फिर प्रियतमसे मिलन होनेपर अलगाव नहीं होता। आत्मा-परमात्माका यह प्रेम पुराना है। संसारके संगमें रहकर वह आत्मा परमात्मासे अलग हो गयी है, किंतु हमने पुनः अपने पुराने प्रेमको पहचान लिया है—

मेरे तन तन लग गई पिय की मीठी बोल।
पिय की मीठी बोल सुनत मैं भई दीवानी॥
भँवर-गुफा के बीच उठत है सोहं बानी।
देखा पिय का रूप रूप में जाय समानी॥
जबसे भया मिलाप मिले पर ना अलगानी।
प्रीत पुरानी रही लिया हमने पहिचानी॥

(पलटू साहबकी वाणी)

'अगुन अलेप अमान एकरस। रामु सगुन भए भगत पेम बस'

(स्वामी श्रीराजेश्वरानन्दजी सरस्वती 'श्रीराजेश रामायणी')

प्रेमका ऐसा अद्भुत चमत्कार है कि जो निर्गुण, निराकार, निर्लिप्त, एकरस ब्रह्मको भी सगुण, साकाररूपमें प्रकट कर देता है। इस तथ्यकी पुष्टि श्रीरामचरितमानसमें सर्वत्र की गयी है। उसमेंसे प्रस्तुत प्रसंगमें हम इसी सत्यका दर्शन करते हैं।

जब मनु महाराज और माता शतरूपा नैमिषारण्यमें तप कर रहे थे, तब उनके मनमें एक ही अभिलाषा थी—

उर अभिलाष निरंतर **होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥**
(रा०च०मा० १।१४४।३)

अर्थात् वे सच्चिदानन्द प्रभु हमारे नेत्रोंके विषय बनें। किसीने मनु महाराजसे पूछा कि आप जिन प्रभुके दर्शन करना चाहते हैं उनका गुण क्या है? तो मनुजीने उत्तर दिया कि उनका सबसे बड़ा गुण यही है कि उनमें गुण नहीं है; क्योंकि वे गुणातीत हैं। किसीने फिर प्रश्न किया कि वे प्रभु ब्रह्माण्डके किस खण्डमें निवास करते हैं? तो मनुजीने उत्तर दिया कि खण्डविशेषमें निवास करनेका प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि वे अखण्ड हैं। पुनः प्रश्न हुआ—ऐसे प्रभुके स्वरूपका अन्त कहाँ है? तब मनुजीने कहा—अन्त तो उसका होता है जिसका आरम्भ हो, वे तो अनादि और इसीलिये अनन्त हैं। फिर प्रश्न हुआ कि ऐसे प्रभुका चिन्तन कौन करते हैं? तो उत्तर मिला—परमार्थ-तत्त्ववेत्ता ही ऐसे प्रभुके स्वरूपका चिन्तन करते हैं। फिर पूछा गया कि उनके बारेमें किसीने कुछ कहा है? उत्तर मिला—हाँ, वेदोंने। क्या कहा? ***'नेति नेति जेहि बेद निरूपा'***—अर्थात् ऐसा भी नहीं, ऐसा भी नहीं। तो फिर कैसा है? वेदोंने कहा—न ऐसा है न वैसा है, वह तो जैसे-का-तैसा है। फिर प्रश्न हुआ—ऐसे प्रभुको आनन्द कहाँसे प्राप्त होता है? उत्तर मिला—प्रभु तो स्वयं निजानन्द-स्वरूप हैं। उपाधिरहित और अनुपम हैं। फिर किसीने मनु महाराजसे कहा कि फिर तो ऐसे प्रभुका दर्शन असम्भव है, क्योंकि दर्शन तो साकारका होता है और निराकारकी मात्र अनुभूति होती है। तब मनुजीका उत्तर था, भले ही प्रभुका स्वरूप निर्गुण-निराकार हो तथापि हमें उनका दर्शन अवश्य होगा; क्योंकि—

ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई।

और यह मेरी कल्पित मान्यता नहीं है, वरं श्रुतिसम्मत सिद्धान्त है—

जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥

इसी विश्वासपर महाराज मनु और शतरूपाजी तितिक्षापूर्वक तप करते हुए प्रभु-दर्शनकी प्रतीक्षा करते

रहे। एक दिन वह शुभ समय आया, जब—

मागु मागु बरु भै नभ बानी। परम गभीर कृपामृत सानी॥

वर माँगो, वर माँगो—प्रभुका गम्भीर घोष आकाशवाणीके माध्यमसे सुनायी पड़ा। प्रभुकी यह श्रुति-सुखद वाणी सुनकर महाराज मनु मन-ही-मन भगवान्‌से कह उठे—प्रभो! आपकी दिव्य वाणी सुनकर मैं धन्य हुआ, किंतु आप तो अन्तर्यामी हैं। मेरी मनोभिलाषासे भी परिचित होंगे! मैं तो आपका दर्शन करना चाहता हूँ और आप प्रकट-रूपसे दर्शन तो नहीं दे रहे हैं, वरन् आपकी मात्र वरदायिनी वाणी ही श्रवणगोचर हो रही है। प्रभुने कहा—मनु! मैं दर्शन न देनेके लिये विवश हूँ, क्योंकि तुमने ही तो मुझे निर्गुण-निराकार मान रखा है। भला, निराकारका भी कहीं दर्शन होता है? तब मनुने कहा—प्रभो! मैंने आपको निर्गुण, निराकार यदि माना है तो क्या आप वैसे नहीं हैं? प्रभु बोले—वैसा ही हूँ, इसी कारण तो दर्शन देनेमें असमर्थ हूँ। मनुने अनुनयपूर्वक कहा—प्रभो! आपने अनेक भक्तोंको दर्शन दिया है—क्या वे कथाएँ कल्पित हैं? प्रभु बोले—नहीं, कथाएँ कल्पित नहीं हैं, वे सब सत्य हैं। मनुने कहा—एक ओर आप निराकार भी हैं और दूसरी ओर भक्तोंको दर्शन भी देते हैं। यदि यह सत्य है तो मेरे लिये ही क्या कठिनाई है? प्रभुने कहा—सचाई यह है कि मेरा कोई आकार नहीं है। मैं अरूप हूँ, रूपातीत हूँ; किंतु रूपकी भावभरी चाहकी प्रस्तुति भक्तके द्वारा ही होती है और मैं उस भक्तके भावके अनुरूप ही रूप स्वीकार करके प्रकट होता हूँ, आपने दर्शनकी लालसा तो मनमें रखी पर मुझे कोई रूप तो बताया नहीं—किस रूपमें मैं दर्शन दूँ? तब मनुजी बोले—मैं जिस रूपमें आपका दर्शन करना चाहता हूँ, उसकी भावाभिव्यक्ति करूँ तो क्या, आपका दर्शन मुझे सहज सुलभ होगा? प्रभुने आश्वस्त किया—अवश्य। मनु बोले—

जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥
जो भुसुंडि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥

जब महाराज मनुने इस भावभरे रूपकी प्रस्तुति की, तो तुलसीदासजी महाराज लिखते हैं—

दंपति बचन परम प्रिय लागे। मृदुल बिनीत प्रेम रस पागे॥
भगत बछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥

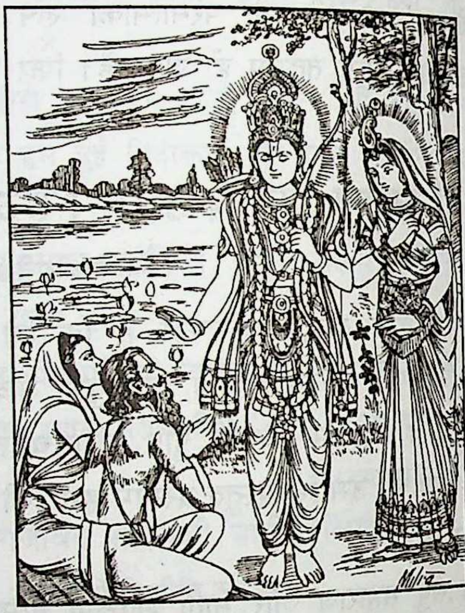

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम॥

इस पूरे प्रसंगके माध्यमसे गोस्वामी तुलसीदास महाराजद्वारा इसी तथ्यकी पुष्टि होती है—

अगुन अलेप अमान एकरस। रामु सगुन भए भगत पेम बस॥

⁂

अहो हरि वह दिन बेगि दिखाओ।
दै अनुराग चरन-पंकज को सुत-पितु-मोह मिटाओ॥
और छोड़ाइ सबै जग-बैभव नित ब्रज-बास बसाओ।
जुगल-रूप-रस-अमृत-माधुरी निस दिन नैन पिआओ॥
प्रेम-मत्त ह्वै डोलत चहुँ दिसि तन की सुधि बिसराओ।
निस दिन मेरे जुगल नैन सों प्रेम-प्रवाह बहाओ॥
श्री बल्लभ-पद-कमल अमल मैं मेरी भक्ति दृढ़ाओ।
'हरीचंद' को राधा-माधव अपनो करि अपनाओ॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

⁂

श्रीमद्भागवतमें प्रेम-साधनाका निरूपण

(डॉ० श्रीअजीतजी कुलकर्णी, एम्०ए०, पी-एच्० डी०)

श्रीमद्भागवत-महापुराण साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णका वाङ्मय-रूप है। इस ग्रन्थमें लीलाविहारी परमप्रेमी प्रभु भगवान् श्रीकृष्णका सविस्तर चरित्र और लीला तो वर्णित है ही, साथ ही प्रेमी भक्तोंके पावन चरितसे भी यह भरा हुआ है।

भगवान् श्रीकृष्णने रासक्रीडाके समय गोपियोंके लिये प्रेम-साधनाका अत्यन्त मार्मिक निरूपण किया है। इस प्रेम-निरूपणमें भगवान्ने यह बताया है कि जीवनमें प्रेमका स्थान क्या होना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्णके साथ जब गोपियोंकी रासक्रीडा हो रही थी, उसी समय लीलावपु श्रीकृष्ण सहसा अदृश्य हो गये। इससे गोपियोंको बहुत दुःख हुआ। वे बहुत प्रलाप करने लगीं। अपने प्यारे श्रीकृष्णके दर्शनकी लालसासे वे अपनेको रोक न सकीं, रो पड़ीं। भगवान्को करुणा आयी और वे फिर प्रकट हो गये। उस समय भगवान् श्रीकृष्णका सर्वाङ्गसुन्दर रूप देखकर गोपियोंने उसे अपने हृदयमें बसा लिया, परंतु गोपियोंके मनमें कुछ जिज्ञासा हुई और उन्होंने भगवान्से पूछा—

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्।
नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः॥

(श्रीमद्भा० १०।३२।१६)

हे भगवन्! कुछ लोग तो ऐसे होते हैं, जो प्रेम करनेवालोंसे ही प्रेम करते हैं और कुछ लोग प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं। परंतु कोई-कोई दोनोंसे ही प्रेम नहीं करते। प्यारे! इन तीनोंमें आपको कौन-सा अच्छा लगता है—यह बताइये।

इसपर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा॥

(श्रीमद्भा० १०।३२।१७)

मेरी प्रिय सखियो! जो प्रेम करनेपर प्रेम करते हैं, उनका तो सारा उद्योग स्वार्थको लेकर है। लेन-देनमात्र है। न तो उनमें सौहार्द है और न तो धर्म। उनका प्रेम केवल स्वार्थके लिये ही है; इसके अतिरिक्त उनका और कोई प्रयोजन नहीं है।

सुन्दरियो! जो लोग प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं वे स्वभावसे ही सज्जन एवं करुणाशील होते हैं। जैसे संतजन और माता-पिता आदि। इनके अन्तःकरण सदैव सत्य एवं धर्मसे पूर्ण होते हैं। यह प्रामाणिक प्रेम है। साधु-संतोंकी बुद्धि निरपेक्ष होनेके कारण यहाँ सद्धर्म प्रतीत होता है। माता-पिताको इस प्रेममें सुख-प्राप्ति केवल अपत्यके कारण होती है। उनका प्रेम निरपेक्ष होता है—

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः॥

(श्रीमद्भा० १०।३२।१८)

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेम नहीं करते, प्रेम न करनेवालोंसे तो प्रश्न ही नहीं है। उनके चार प्रकार हैं—आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ और गुरुद्रोही—

भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः॥

(श्रीमद्भा० १०।३२।१९)

आत्माराम—जो लोग आत्मसंतुष्ट होते हैं, उन्हें आत्माराम कहते हैं। वे सदैव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्का चिन्तन करनेमें मग्न रहते हैं। कोई उनसे प्रेम करता है या नहीं, इसकी वे चिन्ता नहीं करते। वे सदा समाधिमें लगे रहते हैं। वे व्यवहार-भेद तो करते हैं, लेकिन उन्हें सबमें परमात्मा दिखायी देता है। वे लोग समदर्शी होते हैं।

आप्तकाम—आप्तकाम वे हैं, जो निरिच्छ होनेके कारण इस (प्रेम)-की इच्छातक नहीं करते। वस्तुतः वह ज्ञानी लोगोंका वर्ग है। ज्ञानप्राप्तिके कारण वे संतुष्ट और शान्त होते हैं। वे सदैव ज्ञानके आनन्दमें डूबे रहते हैं। उनका काम ही नष्ट हो जाता है।

अकृतज्ञ—जो लोग हृदयसे कठोर होते हैं, उन्हें अकृतज्ञ कहते हैं। वे किसीसे प्रेम नहीं करते और यदि किसीने उनसे प्रेम किया हो तो भी उनको पता नहीं रहता।

किसीने उनपर उपकार किया हो तो वे उसका अपकार करते हैं।

गुरुद्रोही—कुछ लोग ऐसे होते हैं जो माता-पिता, गुरु तथा अन्य गुरुतुल्य व्यक्तियोंका सम्मान नहीं करते। गुरुका उपदेश नहीं मानते। गुरु और संतजनोंके कार्यमें बाधा डालते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने गोपियोंसे आगे कहा—

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥

(श्रीमद्भा० १०।३२।२०)

प्रिय सखियो! मेरे आचारसे तुम सब बहुत दुःखी हो, परंतु मैं वैसा नहीं हूँ, जैसा तुम मुझे समझती हो। मैं प्रेम करनेवालेसे भी प्रेम इसलिये नहीं करता कि उनका प्रेम केवल बाहर-ही-बाहर न रहे, अपितु उनके हृदयमें—रोम-रोममें व्याप्त हो जाय। उनकी चित्तवृत्ति मुझमें निरन्तर लगी ही रहे। अगर मैं सबको सुलभ हो जाऊँ, तो लोग मेरा महत्त्व समझेंगे ही नहीं।

इस बातको समझनेके लिये प्रभुने एक उदाहरण देते हुए बताया कि यदि किसी निर्धन मनुष्यको बहुत-सा धन मिले और वह धन एक दिन नष्ट हो जाय तो उसके हृदयमें धनकी चिन्ता भर जाती है। उसके लिये वह रोता है, व्याकुल होता है। इसी प्रकार भक्तोंका प्रेम बढ़ानेके लिये मैं कभी-कभी उनके सामने प्रकट और फिर अन्तर्धान भी हो जाता हूँ। इसमें यही उद्देश्य है कि मेरा स्मरण निरन्तर होता रहे, मेरे विषयमें जो प्रेमभाव है, वह और तीव्र हो जाय—

एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः॥

(श्रीमद्भा० १०।३२।२१)

भगवान्‌ने फिर कहा—प्रिय सखियो! मैं सामान्य भक्तोंके साथ जैसा आचरण करता हूँ, वैसा ही तुम्हारे साथ भी करता हूँ—यह मत समझना। मैं तुम्हारा हृदय जानता हूँ, तुम लोगोंने मुझे पानेके लिये सब प्रकारकी लोकमर्यादा, सामाजिक मर्यादा, वेदमार्ग (धार्मिक मर्यादा) तथा अपने सगे-सम्बन्धियोंतकको छोड़ दिया है और मुझसे प्रेम किया है। मैं तो तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम्हारे प्रेमसे मैं कभी भी उऋण नहीं हो सकता। मैंने तुम्हारा परित्याग किया है, ऐसा मत समझना। मैं तो सदैव तुम्हारे सांनिध्यमें हूँ। अब तुम्हारा प्रेम पक्का हो जाना चाहिये, इसीलिये मैंने तुमको वियोग दिया है; क्योंकि बिना वियोगके संयोगकी पुष्टि नहीं हो सकती।

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

(श्रीमद्भा० १०।३२।२२)

मेरी प्यारी गोपियो! तुम लोगोंने मेरे लिये अपना लोक-परलोक छोड़ दिया है, अपनी घर-गृहस्थीकी सब प्रकारकी बेड़ियोंको तोड़ दिया है। बड़े-बड़े योगियोंको भी यह सुख प्राप्त नहीं होता जो तुमलोगोंको प्राप्त हुआ है। मेरा तुम्हारे साथ आत्मिक संयोग हुआ है, जो सर्वदा निर्मल और सर्वथा निर्दोष है। यदि मैं तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्यागका बदला चुकाना चाहूँ तो भी न चुका सकूँगा। मैं जन्म-जन्मके लिये तुम्हारा ऋणी हूँ। तुमलोग अपने सौम्य स्वभावसे मुझे उऋण कर सकती हो; किंतु मैं तो सदैव तुम्हारा ऋणी रहना ही पसंद करूँगा।

भगवान् श्रीकृष्णने वृन्दावनमें आदर्श प्रेम-भक्तिका सुन्दर भाव प्रकट किया है। यही परम शुद्ध प्रेमस्वरूपा भक्ति है। यह भक्ति और प्रेमभाव 'अहैतुक' एवं 'अप्रतिहत' होना चाहिये। श्रीकृष्णका प्रेमभाव उन्हींका दिव्य स्वरूप है। इससे एक संदेश प्राप्त होता है कि 'प्रेम ऐसा होना चाहिये जिसमें प्रेमी भक्तकी तन्मयता और परम व्याकुलतासे भगवान् उसके ऋणी हो जायँ।'

* * *

हिन्दी-साहित्यमें संत कवियोंकी प्रेम-साधना

(ठाकुर श्रीनवलसिंहजी सिसौदिया)

यह संसार प्रेममय है। एक-दूसरेके आपसी प्रेम, विश्वास और आकर्षणसे ही सृष्टि चलती है। प्रेमविहीन जीवन मरुस्थलके तुल्य है, किंतु विडम्बना है कि वर्तमानमें प्रेमके स्वरूपको संकुचित-सा कर दिया गया है, वस्तुत: प्रेम तो अनन्त और अखण्ड है। उसकी गहराईकी थाह पाना आसान नहीं है अस्तु, मनुष्यको चाहिये कि वह नि:स्वार्थ प्रेम बाँटता ही चले।

हमारी पावन भारतभूमिमें अवतरित संत कवियोंने प्रेम एवं भगवत्प्रेम-भावनाको सारगर्भित शब्दोंमें परिभाषित किया है। कुछ कवियोंके प्रेमभावका निदर्शन यहाँ किया जा रहा है, सच्ची रीतिसे इसका अनुपालन करना चाहिये—

(१) महाकवि सूरदास

संत सूरदासजी कृष्णभक्ति-काव्यधाराके प्रमुख कवि हैं। वे वात्सल्यभावके तो अनूठे कवि हैं ही, प्रेमके उभय पक्ष—संयोग और वियोगके भी सिद्धहस्त कवि हैं। सूरके पदोंमें एक ओर प्रेम-भक्ति तथा विनयके भाव हैं तो दूसरी ओर भगवान्‌की बाल-लीलाओंका वर्णन भी प्रमुखतासे किया गया है। भगवत्प्रेममें सराबोर उनका निम्नलिखित पद अवलोकनीय है—

सबसों ऊँची प्रेम सगाई।
दुरजोधनके मेवा त्यागे, साग बिदुर घर खाई॥
जूठे फल सबरीके खाये, बहु बिधि स्वाद बताई।
प्रेमके बस नृप सेवा कीन्हीं आप बने हरि नाई॥
राजसु-जग्य जुधिष्ठिर कीन्हों तामें जूँठ उठाई।
प्रेमके बस पारथ रथ हाँक्यो, भूलि गये ठकुराई॥
ऐसी प्रीति बढ़ी बृंदाबन, गोपिन नाच नचाई।
सूर कूर इहि लायक नाहीं, कहँ लगि करौं बड़ाई॥

(२) संत कबीरदास

निर्गुणोपासक संत कबीरदासने भी प्रेमप्रसंगमें बहुत कुछ वर्णन किया है। यहाँ संक्षेपमें उनकी प्रेमवाणी प्रस्तुत है—

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं॥
प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥
प्रेम-प्रेम सब कोइ कहै, प्रेम न चीन्हे कोय।
आठ पहर भीना रहै, प्रेम कहावै सोय॥

(३) संत कवि गुरु नानक

गुरु नानकने भगवत्प्रेमके प्रति अपनी आस्थाका इस प्रकार उद्‌बोधन किया है—

योगी भावै योग सौं, ज्ञानी लहै बिचार।
'नानक' पावे भक्ति सों, जाको प्रेम अधार॥
हे हरि हे जगदीश हे नंदनंदन व्रजचंद।
कोऊ दिन तो निज दरस दें, हरो दीन दुख दुंद॥
कोटि कोटि बीते जनम, तुम वियोग बिललात।
अब तौ मुख दिखरायके, हरौ पीर मम तात॥

(४) संत कवि नारायण

कवि नारायणने अपनी वाणीमें भगवत्प्रेमकी बात दिल खोलकर कही है—

तनक मान मन में नहीं, सब सों राखत प्यार।
'नारायण' ता संत पै, बार बार बलिहार॥
'नारायण' होवे भले, जो कछु होवन हार।
हरि सों प्रीति लगायके, अब कहा सोच बिचार॥
प्रेम सहित अँसुवन ढरै, धरै जुगल को ध्यान।
'नारायण' ता भक्त को जग में दुर्लभ जान॥
'नारायण' जप जोग तप, सब सों प्रेम प्रवीन।
प्रेम हरि को करत है, प्रेमी के आधीन॥
प्रेम खेल सब सों कठिन, खेलत कोउ सुजान।
'नारायण' बिन प्रेम के, कहा प्रेम पहचान॥
प्रेम पिआला जिन पिआ, झूमत तिनके नैन।
'नारायण' वा रूप में, छकैं रहे दिन रैन॥
'नारायण' जाके हृदय, लगी प्रेम की रौर।
वाही को जीवन सफल, दिन काटैं सब और॥
है न्यारो सब पंथ से, प्रेमपंथ अभिराम।
'नारायण' यामें चलत बेग मिलै पिय धाम॥
देह गेह की सुधि नहीं, टूट गई जग प्रीत।
'नारायण' गावत फिरै, प्रेम भरे रस गीत॥

'नारायण' हरि प्रीत में, जाकौ तन मन चूर।
ताहि न ममता और सों, निकट रहो वा दूर॥

(५) भजनानन्दी कवि ब्रह्मानन्द

कविवर ब्रह्मानन्दने भगवत्प्रेममें रमकर जनसाधारणको इस प्रकार चेताया है—

हरि नाम सुमर सुख धाम जगत में जीवन दो दिन का।
सुन्दर काया देख लुभाया, गर्व करे तन का।
जरि गई देह बिखर गई काया, ज्यूँ माला मनका॥
काम क्रोध में उलझ के प्राणी, मौज करके मन का।
काल बली का लगा तमाचा, भूल गया फन का॥
झूंठ कपट से माया जोड़ी, गर्व करे धन का।
सभी छोड़ कर चला मुसाफिर, वास हुआ वन का॥
ये संसार स्वप्न की माया, मेला पल छिन का।
'ब्रह्मानन्द' भजन कर बंदे, नाम निरंजन का॥

(६) भक्तिमती मीराबाई

मीराबाईके भजनोंमें अनन्य भगवत्प्रेम एवं माधुर्य-भावोंकी यथार्थता है। ज्ञानकी गहराई है। गीत-संगीत और नृत्यका अनुपम सामञ्जस्य है। उनके पद गागरमें सागरके समान हैं। इन पदोंमें देखें मीराजीका भगवत्प्रेम—

[१]

माई री मैं तो लियो गोबिंदो मोल।
कोई कहै मुँहघो, कोई कहै सुहँघो, लियो री तराजू तोल।

x x x

कोई कहै घरमें, कोई कहै बनमें, राधाके संग किलोल।
मीराके प्रभु गिरधर नागर, आवत प्रेमके मोल॥

[२]

हे री मैं तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणै कोय॥
घायलकी गति घायल जाणै जो कोइ घायल होय।
जौहरिकी गति जौहरी जाणै की जिन जौहर होय॥
सूली ऊपर सेज हमारी सोवण किस बिध होय।
गगन मँडलपर सेज पियाकी किस बिध मिलणा होय॥
दरदकी मारी बन-बन डोलूँ बैद मिल्या नहिं कोय।
मीराकी प्रभु पीर मिटेगी जद बैद साँवलियाँ होय॥

(७) कवि पद्माकर

इनका भगवत्प्रेम कुछ इस प्रकारका है—

भाये 'पद्माकर' न तैसे भाग जग्यन के,
जैसे भगवान ने भीलनी के बेर खाये हैं।
भोजन की सामा सत्यभामा की भुलाई भले,
दुखी वा सुदामा के सुचाउर चबाये हैं॥
छप्पन सुभोग दुरजोधन के त्याग करि,
आसा गहि वेग के बिदुर घर आये हैं।
धारत धावें फिरत वृथा पैं नेम नीरधि में,
पाये जिन राम तिन प्रेम ही सों पाये हैं॥

(८) भक्तप्रवर नरसीजी

भक्तराज नरसीजीका भगवत्प्रेम निरन्तर गतिशील है—

संसारनो भय निकट न आवे, श्रीकृष्ण गोविंद गोपाळ गाताँ।
उगर्यो परीक्षित श्रवणे सुणताँ, ताल वेणा विष्णुना गुण गाताँ॥
बालक ध्रुव दृढ़ भक्त जाणी, अविचळ पदवी आपी।
असुर प्रह्लादने उगारी लीधो, जनम जनमनी जडता कापी॥
देवना देव तुं कृष्ण आदि देवा, तारुँ नाम लेताँ अभेपद दाता।
ते तारा नामने नरसैंयो नित्य जपे, सारकर सारकर विश्वख्याता॥

(९) कवि दरिया साहब (मारवाड़वाले)

दरिया साहबकी भगवत्प्रेमी परिकल्पना इन पदोंमें द्रष्टव्य है—

[१]

आदि अंत मेरा है राम। उन बिन और सकल बेकाम॥
कहा करूँ तेरा बेद पुराना। जिन है सकल सकत बरमाना॥
कहा करूँ तेरी अनुभौ बानी। जिनतैं मेरी बुद्धि भुलानी॥
कहा करूँ ये मान-बड़ाई। राम बिना सब ही दुखदाई॥
कहा करूँ तेरा सांख औ जोग। राम बिना सब बंधन रोग॥
कहा करूँ इन्द्रिन का सुख। राम बिना देवा सब दुख॥
'दरिया' कहै राम गुरु मुखिया। हरि बिन दुखी राम संग सुखिया॥

[२]

राम-नाम नहिं हिरदे धरा। जैसा पसुवा तैसा नरा॥
पसुवा-नर उद्यम कर खावै। पसुवा तौ जंगल चर आवै॥
पसुवा आवै, पसुवा जाय। पसुवा चरै औ पसुवा खाय॥
रामनाम ध्याया नहिं माईं। जनम गया पसुवाकी नाईं॥
राम-नामसे नाहीं प्रीत। यह सब ही पसुओं की रीत॥
जीवत सुख-दुख में दिन भरै। मुवा पछे चौरासी परै॥
जन 'दरिया' जिन राम न ध्याया। पसुवा ही ज्यों जनम गँवाया॥

मुसलिमसमुदायमें भी अनेक भगवत्प्रेमी कवियोंका प्रादुर्भाव हुआ है। उनमेंसे कुछ प्रमुख कवियोंकी भगवत्प्रेम-

भावना मननहेतु प्रस्तुत की जा रही है—

(१) कविवर रहीम

रहीम कविके दोहोंमें सामान्यतः नीति और उपदेश प्राप्त होता है। कुसंगति, भिक्षावृत्ति, परोपकार, उदारता, प्रेम आदिका भी उन्होंने सरल बोलचालकी भाषामें सोदाहरण निरूपण किया है। यहाँपर उनके प्रेमरसके कुछ भावात्मक दोहे प्रस्तुत हैं—

रहिमन मैन-तुरंग चढ़ि, चलिबो पावक माँहि।
प्रेम-पंथ ऐसो कठिन, सब कोउ निबहत नाँहि॥
जे सुलगे ते बुझि गए, बुझे ते सुलगे नाहि।
रहिमन दाहे प्रेम के, बुझि बुझि कै सुलगाहिं॥
रहिमन प्रीति न कीजिए, जस खीरा ने कीन।
ऊपर से तो दिल मिला, भीतर फाँकें तीन॥
रहिमन प्रीति सराहिए, मिले होत रँग दून।
ज्यों हरदी जरदी तजै, तजै सफेदी चून॥
रीति प्रीति सबसों भली, बैर न हित मित गोत।
रहिमन याही जनम की, बहुरि न संगत होत॥

(२) श्रीकृष्णप्रेमी कवि रसखान

रसखान कवि भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भक्त हुए हैं। अपने इस पदमें पुनर्जन्म होनेपर वे श्रीकृष्णलीला-स्थली व्रजभूमिको ही प्राथमिकता देते हैं—

मानुष हौं तो वही रसखानि, बसौं ब्रज गोकुल गाँवके ग्वारन।
जो पसु हौं तौ कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्दकी धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरिकौ जो धरयौ कर छत्र पुरन्दर-धारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं, मिलि कालिंदी-कूल-कदम्बकी डारन॥

(३) कवि बाजिन्द

कवि बाजिन्दका भगवत्प्रेमके प्रति रुझान कुछ इस प्रकार है—

दो दो दीपक बाल महल में सोवते,
नारी से कर नेह जगत तहिं जोवते।
सूँधा तेल लगाय पान मुख खायँगे,
बिना भजन भगवान के मिथ्या जायँगे॥
राम-नाम की लूट फबै है जीव को,
निसि बासर कर ध्यान सुमर तूँ पीव को।
यहै बात परसिद्ध कहत सब गाम रे!
अधम-अजामिल तरे नरायण नाम रे॥

(४) कविवर दीनदरवेश

भगवत्प्रेमके प्रति इनकी आस्था इस प्रकार है—

हिंदू कहैं सो हम बड़े, मुसल्मान कहैं हम्म।
एक मूँग दो फाड़ हैं, कुण जादा कुण कम्म॥
कुण जादा कुण कम्म, कभी करना नहिं कजिया।
एक भजत है राम, दुजा रहिमान से रजिया॥
कहत 'दीन दरवेश' दोय सरिता मिल सिंधू।
सबका साहब एक, एक ही मुसलिम हिंदू॥

(५) कविवर यकरंग

इनके भगवत्प्रेमको भी देखें—

निसिदिन जो हरि का गुन गाय रे।
बिगड़ी बात वाकी सब बन जाय रे॥
लाख कहूँ, मानै नहि एकहु,
अब कहो, कबलग हम समझायँ रे॥
सोच-विचार करो कुछ 'यकरंग'।
आखिर बनत-बनत बन जाय रे॥

(६) कवयित्री ताज

भगवत्प्रेमके प्रति इनकी आस्था विलक्षण है—

सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम,
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देवपूजा ठानीं मैं निवाजहू भुलानी, तजे,
कलमा-कुरान साड़े गुननि गहूँगी मैं॥
साँवला सलोना सिरताज सिर कुल्ले दिये,
तेरे नेह दाग में निदाघ ह्वै दहूँगी मैं।
नंद के कुमार, कुरबान तेरी सूरत पै,
हौं तौ मुगलानी हिंदुवानी ह्वै रहूँगी मैं॥

मूलतः इस नश्वर संसारमें भगवन्नामके प्रति निष्ठा और भगवत्प्रेम ही सार है—

सार वस्तु है जगत में, पावन हरि का नाम।
नाम हरी को सुमिर ले, पूरन हों सब काम॥
एक तरफ भगवान हैं, दूजे माया जान।
संसारी माया चहे, भक्त चहैं भगवान॥
कबिरा सब जग दुख भरा, सुखिया नहिं संसार।
सुखिया केवल भक्त जन, जाके नाम अधार॥

प्रेमी भक्तोंके पावन चरित

(१)

महामति प्राणनाथकी प्रेमोपासना

(स्वामी श्रीब्रह्मवेदान्ताचार्यजी)

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेमका पढ़ै, सो पंडित होय॥

परमात्मा कोई बौद्धिक सिद्धान्त नहीं, बल्कि प्राणवान् अनुभव है, जो अपरोक्षानुभूतिसे ही जाना जा सकता है। अतएव सत्यकी उपलब्धि केवल शास्त्रोंको पढ़ लेने, बौद्धिक अटकलों या तार्किक वाद-विवादोंके द्वारा सम्भव नहीं है। हृदयकी रागात्मिका वृत्ति और मनके संकल्प-विकल्पके प्रवाहको परात्परोन्मुख करनेमें साधनरूपा होनेके कारण भक्ति एक सुलभ 'मार्ग' है। साथ ही परात्परके प्रति परमप्रेमस्वरूपा होनेसे परम दुर्लभ प्राप्य 'तत्त्व' भी। एक ओर वह भवसंतरणका सर्वथा निरापद उपाय है तो दूसरी ओर जीवनका चरम पुरुषार्थ भी।

परम प्रेमस्वरूपा भक्तिकी चरम उदात्त एषणा भक्तकी नित्य दुर्लभ निधि है।

वस्तुतः निष्कामभावसे प्रभुमें जो प्रेम हो उसे ही भक्तिकी संज्ञा दी जा सकती है। 'नारदभक्तिसूत्र'में भक्तिकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—भक्ति परमात्माके प्रति परम प्रेमरूपा और अमृतस्वरूपा है, जिसे पाकर मनुष्य तृप्त हो जाता है, सिद्ध हो जाता है और अमर भी। इस भक्तितत्त्वको पाकर मनुष्य न किसी वस्तुकी इच्छा करता है, न शोक करता है और न ही किसी वस्तुमें आसक्त होता है। इस प्रकार जीव आत्मानन्दके साक्षात्कारसे संसारके विषयोंसे निरपेक्ष होकर मस्त हो जाता है।

तैलधारावत् ध्यानावस्था जब अपने प्रेमास्पदके सम्बन्धमें प्राप्त हो जाती है तो सारे बन्धन टूट जाते हैं, भक्तिकी परिणति प्रेममें हो जाती है और तब आत्मा परमात्मामें तथा परमात्मा आत्मामें लीन हो जाते हैं। प्रेमलक्षणा और प्रेमा-भक्तिकी यही उपलब्धि है। इसी निरन्तर ध्यान या स्मरणको बनाये रखनेके लिये महामति श्रीप्राणनाथजीने सचेत किया है—

बैठते उठते चलते सुपन सोवत जाग्रत।
खाते पीते खेलते सुख लीजे सब बिध इत॥

स्पष्ट है कि अखण्ड स्मरण ही प्रेमास्पदसे प्रेमीको जोड़े रहता है। जब दोनोंमें एकत्वकी अनुभूति होने लगे तब इसे ही भक्ति मानना चाहिये।

गोपियाँ श्रीकृष्णके साथ जब समरस हो गयीं, तब श्रीकृष्णके विरहमें वे उन्मादकी अवस्थामें पहुँचकर स्वयंको श्रीकृष्ण और अपनी सखीको राधा मान बैठीं।

मनुष्यके लिये सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि वही है, जिसके द्वारा सच्चिदानन्दमें भक्ति हो जाय। भक्ति ऐसी जिसमें किसी भी प्रकारकी कामना न हो और जो नित्य-निरन्तर बनी रहे। तभी हृदय सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ब्रह्मके आनन्द-सागरमें निमग्न होकर कृतकृत्य हो जाता है। ऐसी ही अवस्थामें भक्त आतुर हो उठता है, चारों तरफ मतवाला-सा प्रभुको ढूँढ़ता है।

महामति श्रीप्राणनाथजी कहते हैं—

ज्यों-ज्यों होवे अरस नजीक, खेल त्यों-त्यों होवे दूर।
यों करते खेल छूट या नजरों, तो रुहें कदम तले हजूर॥
नजर खेलसे उतरती देखिए, त्यों अरस नजीक नजर।
यों करते लैल मिटी रुहों, दिन हुआ अरस फजर॥

परमात्माके प्रति भक्ति ही संसारसे विरक्त करके उनसे एकाकार कराती है। वस्तुतः भक्तिमें प्रमुख तीन तत्त्व हैं—१-अनुराग, २-श्रद्धा और ३-विश्वास। चित्तवृत्तिका निरन्तर अविच्छिन्नरूपसे अपने इष्टस्वरूप श्रीकृष्णमें लगे रहना या परात्परमें परम अनुराग अथवा निष्काम अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है अर्थात् यदि हमारी कामना भक्ति है तो पहले हमें अनुराग, श्रद्धा एवं विश्वासको अपनाना होगा, इसका ही परिवर्तित या अनुभवात्मक रूप प्रेमाभक्तिमें परिणत होकर हमारे हृदयको प्रकाशित करेगा। आनन्दस्वरूप चिद्घन श्रीकृष्णको प्राप्त करनेके लिये महामति श्रीप्राणनाथजीने भी प्रेमलक्षणा-भक्तिका उपदेश किया है।

यह प्रेमाभक्ति सर्वोत्तम एवं स्वयं फलरूप है। नारद-भक्तिसूत्र (२५)-के अनुसार '**सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्यो-ऽप्यधिकतरा**' अर्थात् प्रेमलक्षणा-भक्तिका आशय है—प्रेम ही लक्षण है जिसका, ऐसी भक्ति। सब कुछ प्रेममय हो जाना ही प्रेमाभक्ति है। महामति श्रीप्राणनाथजी घोषणा करते हैं—

तुम प्रेम सेवाएँ पाओगे पार, ये वचन धनी करें निरधार॥

यह तो निर्विवाद है कि भक्तके लिये प्रेम निधि है। इसको वह किसी भी मूल्यपर विस्मृत करना नहीं चाहता; क्योंकि वह जान गया है—

प्रेमें गम अगम की करी, प्रेमें करी अलख की लख।
कहे महामत प्रेम समान, तुम दूजा जिन कोई जान॥
इश्क नेहेचे मिलावे पीऊ।

एक तरफ प्रेम प्रियतमसे मिलनेका पथ है, तो प्रेम ही पाथेय भी। प्रेम हो जानेपर भक्तका मन यही करता है—

प्रेमे में भीगे रहिए पीऊ सों आनन्द घन॥

गोपियाँ शनैः-शनैः प्रेमविह्वल होती गयीं और अन्तमें प्रेमसागरकी तरङ्गोंने उन्हें श्रीकृष्णमें विलीन कर दिया। श्रीकृष्णने भी उनकी इस अनन्यतापर स्वयंको न्योछावर कर दिया, वे भी गोपियोंके प्रेमकी वन्दना करते हैं। महामति श्रीप्राणनाथजीके शब्दोंमें—

नवधासे न्यारा कहा, चौदे भुवन में नाहिं।
सो प्रेम कहाँसे पाइये जो रहत गोपिका माहिं॥

भगवान् श्रीकृष्ण तो मानो गोपिकाओंके प्रेमके माध्यमसे यह बता रहे हैं कि परमात्माको प्राप्त करनेके लिये घर-बार त्यागने या योगादि सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है। वरन् गोपियोंके समान पति, संतान, कुटुम्ब आदिका सेवन करते हुए भी अपने प्रियतममें बुद्धिको स्थिर करके उसे पाया जा सकता है। 'गो' का अर्थ है इन्द्रिय और 'पी' का अर्थ है पीना। जिसने इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली वही गोपी है। गोपी तभी बना जा सकता है जब प्रेम करना आये। फिर तो—

पंथ होवे कोटि कलप, प्रेम पहुँचावे मिने पलक।
जब आतम प्रेम सो लागी, द्रस्ट अन्तर तब ही जागी॥
जब आया प्रेम सोहागी, तब मोह जल लेहरा भागी।
जब उठे प्रेम के तरंग, ले करी श्याम के संग॥

भक्तिसुरसरिमें प्रेमकी तरङ्गोंसे जब मनका मैल शुद्ध हो जाता है, तब अन्तःकरण निर्मल हो जाता है फिर हृदय-मन्दिरमें श्यामसुन्दरकी मोहिनी छटाके दर्शन हो जाते हैं, ये नेत्र बाहरके आवरणको देखनेकी इच्छा भी नहीं करते। महामतिजी तो कहते हैं कि बाह्याभ्यन्तरकी पवित्रता और निर्मलता हो तो फिर हमारा प्रियतम हमसे दूर नहीं है—

जैसा बाहर होत है, जो होये ऐसा दिल।
सो अधछिन पिऊ न्यारा नहीं, मांहे रहे हिल मिल॥

प्रारम्भमें तो भक्त पराधीन और प्रियतम स्वतन्त्र होता है, परंतु भक्तिकी चरम सीमापर पहुँचकर जब हृदय-व्रजमें बाँकेबिहारीकी चितवन पड़ती है तो भक्त स्वतन्त्र और भगवान् परतन्त्र हो जाते हैं। वे तो प्रेमपाशमें बँध जाते हैं। इस बन्धनको स्वयं श्रीकृष्ण भी तोड़ नहीं पाते तो अन्यकी क्या बात?

प्रेमलक्षणा-भक्तिकी इसी परम रहस्यमयी और आनन्दमयी अनुभूतिका दिग्दर्शन महामति श्रीप्राणनाथजीने कराया है।

* * *

(२)

भगवत्प्रेमपरायणा महारानी अहल्याबाईजी होल्कर

(कुमारी अमिता हरीचरण अवस्थी)

महारानी अहल्याबाईजीके पावन जीवनकालमें भगवत्प्रेमकी प्रबल धारा बचपनसे लेकर जीवनके अन्तिम क्षणोंतक प्रवाहित होती दिखायी देती है। उनका बचपन अहमदनगर जिलेके चौंडी नामक गाँवमें बीता। गाँवके प्राचीन शिवालयमें शिवजीका कई बार लाखोली (लक्षकी संख्यामें विभिन्न पुष्प और बिल्वपत्रसे किया जानेवाला अनुष्ठान) चढ़ाकर उन्होंने अर्चन किया। 'नमः शिवाय' महामन्त्रके मानस-जपने शिवप्रेमकी साधनाको तीव्र कर दिया। श्रीमद्भागवत, रामायण, संतचरित्र आदिके सत्सङ्गने उनके अन्तःकरणमें बस रहे भगवत्प्रेमको परिपुष्ट किया; फलस्वरूप उनके मनसे दुःख-सुख, हर्ष-विषाद, शोक, चिन्ता और देहबुद्धित्व आदि अध्यात्म-मार्गके प्रबल शत्रु दूर भाग खड़े हुए। परिणामतः निर्मल मनमें भगवत्प्रेमका प्रकाश और भी प्रखर हो गया। भगवत्प्रेममें मनको डुबोये रखनेवाली महारानीजीकी भावधारा बड़ी विलक्षण थी। उनके द्वारा सम्पादित होनेवाले सभी कर्म भगवान्की

प्रसन्नताके लिये भगवदर्थ होते। वे प्राणिमात्रमें भगवद्दर्शन करती थीं।

एक बार उनका भावभक्तिसे आलोकित तेजोमय मुखमण्डल देखकर इन्दौर राज्यके महाराज श्रीमल्हाररावजी होल्करने छोटी-सी उम्रमें पुत्रवधूके रूपमें उन्हें स्वीकार कर लिया। बादमें वे इन्दौरकी महारानी बनीं। उनके पतिकी सात पत्नियाँ और थीं, पर अहल्या मा तो भगवत्प्रेमकी मूर्ति ठहरीं। सभीमें भगवद्दर्शन कर अपने प्रेमपूर्ण व्यवहारसे वे सास मा गौतमाबाई, ससुर मल्हार-बाबा, पतिदेव, सपत्नियों, परिजन और प्रजाजन—सभीकी प्राणप्यारी बन गयीं। प्रजाजनोंने आई माके गरिमामय पदपर उन्हें आसीन किया। प्रजाजन बड़े प्रेमसे उन्हें आई माके स्नेहपूर्ण सम्बोधनसे पुकारने लगे। उन्होंने स्वयं सैनिक-शिक्षा ग्रहण की तथा राज्यकी बालिकाओंके लिये सैनिक-शिक्षाकी सुव्यवस्था की। शास्त्र और शस्त्र दोनों विधाओंमें महारानीजीने नैपुंण्य प्राप्त किया। अबला समझी जानेवाली मातृशक्तिको शस्त्र और शास्त्र दोनोंका समुचित ज्ञान देकर उन्होंने अपने भगवत्प्रेमकी धारामें देशप्रेमके सर्वसुलभ प्रवाहको कुशलतासे जोड़ दिया।

कुंभेटीके युद्धमें उनके पतिदेव खेत रहे। प्रजाजन, परिजन, आत्मीयजन, राज्यकर्मचारी और सभी सरदारगण मृत पतिके साथ उनके सहगमनकी तैयारी देख दुःखी हो रहे थे। सबको प्रेम बाँटनेवाली इस प्रेममूर्तिका विछोह उन्हें स्वयंके प्राणत्यागके समान प्रतीत हो रहा था। पर अहल्या माको रोके कौन? सातों सपत्नियाँ और गुलबदन नामकी कुतिया भी उनके मृत पतिके साथ चितापर सहगमनहेतु बैठ गयी थीं। पर ठीक समयपर ससुर मल्हारबाबा और सासू मा गौतमाबाईने दीन-दुःखियोंकी आश्रयदात्री एवं भगवत्प्रेमकी सजीव प्रतिमा अहल्या माको अनुनय-विनय कर महत्प्रयाससे चितारोहण करनेसे विमुख किया।

अहल्या माके जीवनकालमें भगवत्प्रेमकी कठोर परीक्षा लेनेहेतु अत्यन्त असहनीय समझे जानेवाले दुःखके पहाड़ मार्गमें खड़े हो गये। भगवत्प्रेमके पथसे भटकानेवाली भीषण आपदाओंकी बाढ़-सी आ गयी। थोड़े-थोड़े कालके अन्तरालके बाद पति, ससुर, सास मा, पुत्र, दौहित्र और जामाता स्वर्ग सिधार गये तथा उनकी प्राणप्यारी इकलौती पुत्री भी जामाताके साथ सहगमन कर गयी। पर महारानीजीका भगवत्प्रेम कालके द्वारा निर्मित विपदाओंकी कसौटीपर शत-प्रतिशत कञ्चन-जैसा खरा उतरा। उसपर रंचमात्र भी आँच न आयी। वह तो उत्तरोत्तर शुक्लेन्दुवत् बढ़ता ही गया और अपनी दिव्य आभासे जनमानसको आलोकित करता रहा।

अहल्या माने जीवनभर निराकार प्रभुको अपनी शिल्पकलासे साकार बनानेवाले शिल्पकर्मी, जटा-घन-पाठ आदिके माध्यमसे अथक परिश्रम कर श्रुतियोंको सुरक्षित रखनेवाले ब्रह्मवृन्द, प्रजाजन और किसी भी प्रयोजनसे सम्पर्कमें आनेवाले सभी जनोंको अपने वात्सल्य स्नेहसे तथा प्रभुप्रेमकी सुधाधारासे सींच दिया। उन्होंने केदारनाथसे लेकर कन्याकुमारीतक यानी आसेतुहिमाचलके अन्तर्गत आनेवाले यावनी प्रभुसत्ताके हाथों नष्ट-भ्रष्ट हुए प्रायः सभी तीर्थस्थलोंका पुनर्निर्माण कर उनकी पुनः प्राण-प्रतिष्ठा की। सनातनधर्मकी अभूतपूर्व सेवा कर भगवत्प्रेम-प्रतिष्ठाके इतिहासमें गौरवशाली दिव्य स्थान प्राप्त किया। भगवत्प्रेमकी पुष्टि तीर्थाटन और तीर्थोंके सेवनसे सहज हो सकती है—यह देखकर अहल्या माने देशके जाग्रत् और गरिमामय परम्पराके पावन प्रहरी इन श्रद्धा तथा विश्वासके स्थलोंको भरपूर अर्थसहायता दी। उनमें पुनः प्राणसंचारण कर भगवत्प्रेमका सीधे-सादे सरल ग्रामीण भारतीय जनमानसमें बहुत बड़ी मात्रामें प्रचार-प्रसारका महनीय कार्य किया। जो उनके एकाकी और विरक्त जीवनके विविध क्रिया-कलापोंके अन्तर्गत एकमेवाद्वितीय उपलब्धि है।

गोशाला, अतिथिशाला, धर्मशाला, अन्नसत्र (भोजन एवं रहनेका सुविधायुक्त स्थान) और तीर्थस्थलोंकी स्थापना तथा सुचारुरूपसे उनका संचालन कर गरीब, पीड़ित, असहाय, निर्बल, अनाथ और भगवत्स्वरूप जनता-जनार्दनकी उन्होंने भगवत्प्रेमप्राप्त्यर्थ प्रेमपूर्वक सेवा की। उसकी सफलताका यह प्रबल प्रमाण था कि खुले हाथों सनातन-धर्मके उत्थानके कार्यमें और दुःखियोंके सहायतार्थ प्रचुरमात्रामें द्रव्यव्यय तथा दानधर्म नित्यप्रति करनेपर भी राज्यकोषमें भोले भण्डारीकी अमोघ कृपासे कभी कमी नहीं आयी। उनके भगवत्प्रेमके प्रभावसे ही मानो अन्नसत्रमें मा अन्नपूर्णा, कोषागारमें मा लक्ष्मी और शस्त्र-शास्त्रोंके अध्ययन-अध्यापन स्थलमें मा भारतीने अपने-अपने लिये

स्थायी आवासोंका निर्माण किया था।

उन्होंने देवालयों, शिवालयोंको भगवच्चिन्तन, मनन, श्रवण, प्रवचन, कीर्तन और सत्संग आदिके माध्यमसे भगवत्प्रेम-वितरणका केन्द्र बना दिया। अहल्या माने अपने शासन-कालमें स्वयंके अभूतपूर्व कुशल संचालन, संगठनकौशल तथा अलौकिक आध्यात्मिक सामर्थ्यसे भगवत्प्रेमकी धारा बहा दी। जो इस धारामें अवगाहन करता, वह प्रभुप्रेमका प्रसाद पाकर निहाल हो जाता। इस प्रकार प्रभुप्रेमकी लगभग सूखी हुई भावधारा भारतवर्षमें जोर-शोरसे पुनः प्रवाहित करनेका महाराज भगीरथ-जैसा कार्य अहल्या माने अपने जीवनकालमें किया।

भगवत्प्रेमी किसीसे कुछ लेता नहीं, परंतु अपना सर्वस्व अर्पित कर प्रभुका कार्य करता है। इतिहास साक्षी है, अहल्या माके भगवत्प्रेममय गानसे लोगोंके हृदयमें भगवत्प्रेमकी वह ज्योति जागी कि सब कुछ छूट गया, तन-मन निर्मल हो गया। भगवत्प्रेमकी यह भावधारा महाराष्ट्रमें जोर-शोरसे बह चली। फलस्वरूप प्रभुप्रेमका गुणगान करनेवाली अनेक कीर्तनमण्डलियाँ बन गयीं।

धोंगड़ी (कम्बल) बुननेवाले धनगर (गड़रिया)-समाजमें अहल्या माका प्रादुर्भाव हुआ, परंतु भगवत्प्रेमका ऐसा विलक्षण कम्बल बुनकर माने समाजको प्रेमपूर्वक ओढ़ा दिया कि जिसकी भगवत्प्रेमरूपी गरमाहटसे पाप-ताप-संतापरूपी कँपकँपा देनेवाली ठंड सदा-सदाके लिये जाती रही।

श्रीमन्त राघोबा दादा पेशवा और दस्युगणोंको अपनी कार्यकुशलता, देशप्रेम और भगवत्प्रेमके आगे झुकनेको बाध्य करनेवाली भगवत्प्रेमपरायणा महारानी अहल्यादेवीके सनातनधर्मावलम्बी सभी जन तबतक ऋणी रहेंगे जबतक चाँद-सितारे आसमानमें चमकते रहेंगे।

सबको सब कुछ देकर भगवत्प्रेमका सदावर्त चलानेवाली त्यागमूर्ति अहल्या मा जब शिवलोक पधार गयीं, तब सब प्रजाजन सिसक-सिसककर रो उठे। उनके अपने राज्य इन्दौरमें तो उन्हें मा भगवतीका साक्षात् रूप मानकर घर-घर आराधना होने लगी। नर-नारी और आबाल वृद्ध साश्रुनयन आवाजमें कहने लगे—मा! तुम शीघ्र लौटकर एक बार फिर आ जाओ।

* * *

(३)

परम प्रेमी भक्त कारे खाँ

(प्रो० श्रीइन्द्रदेवप्रसादसिंहजी)

अपने इष्टके समक्ष आत्मनिवेदनको जहाँ भक्तोंने भक्तिकी एक विधा मान ली है, वहीं आत्मश्लाघा तथा आत्मपरिचय अथवा अपने भौतिक परिचयको भक्तिशास्त्रने आराधनापराध माना है। इसीसे हमारे यहाँ बहुत-से भक्तोंके बाह्य जीवनके विवरण असंदिग्धरूपमें अप्राप्त हैं। भारतके निष्काम संतों एवं भक्तोंने भौतिकताके वर्णनको भक्तिभावनामें सर्वथा बाधक माना है और फिर अपने आराध्यके चरणोंमें स्वयंको समर्पित कर देनेके बाद तो सिर्फ इष्ट-ध्यान तथा गुणगान ही शेष रहता है, 'स्व' नामकी कोई वस्तु शेष रहती ही नहीं।

भक्त कारे खाँ भी भक्तिसाहित्य-गगनके वैसे ही दिव्य नक्षत्र हैं जो कतिपय कारणोंसे साहित्येतिहासमें प्रकाशमान नहीं दिखायी पड़ते हैं। हाँ, भक्तों, गायकों आदिने उनकी सरस भक्त्यात्मक उक्तियोंके सहारे उन्हें यत्किंचित् मात्रामें उद्भासित करनेका काम किया है।

प्रेमदीवाने कारे खाँ एक दिव्य नक्षत्र हैं, जिनसे भक्त्याकाश जगमगा रहा है। रसिक रसखान एवं भक्तिमती रजियाकी कृष्णभक्तिका श्रवण कर ये भी श्यामपर निछावर हो गये। श्रीकृष्णजीके प्रति इनकी इतनी प्रगाढ़ अनुरक्ति हुई कि इन्होंने अपने मत-मज़हबका परित्याग कर दिया और सर्वरूपेण कृष्णके हो गये। सचमुच श्रीकृष्ण-कथामें कुछ ऐसा अमृतका सरस प्रवाह है जो कर्णकुहरोंमें प्रवेश पाते ही भक्तको स्पन्दनशील बना देता है। तुलसीदासने कहा भी तो है—***'दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।'*** परंतु यह रति तभी सम्भव है जब ***'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा'*** सत्संग होगा। भक्त कारे खाँने भगवन्तकी कथा तो बादमें सुनी,

प्रथमतः उन्होंने रसिक-सिरमौर भक्तोंकी सुनी थी। भगवान् श्रीश्यामसुन्दरजीके एकसे बढ़कर एक सुन्दरतम रूपोंमेंसे उन्होंने नीलमणि मेघश्याम कलिपावनावतार श्रीजगन्नाथकी प्रतिमाको अपने हृदयासनपर पधराया। उनके विरहमें भक्त कारे खाँकी आँख गोपियोंकी तरह कपोल तो कारे नहीं करती थी, परंतु विरह-परिणामसे पावस हमेशा विराजमान रहता था, पर यह विडम्बना ही थी कि कारेके कुटुम्ब-कबीला-भाई-बन्धु—सब दबाव डालकर श्रीकृष्ण-दीवानेको पथविमुख करना चाहते थे—

श्रीजगन्नाथकी प्रतिमाको बिठाया दिलमें।
रोके निज विरह कहानी को सुनाया दिलमें॥
सहा न जाता था मुस्लिम का बुतपरस्त होना।
भाई सब रोकते क्यूँ चाहते काफिर होना॥

इन कथनों और प्रताड़नाओंका प्रेमी कारे खाँपर कोई असर नहीं पड़ा। उन्होंने तो काफिरकी परिभाषा ही बदल दी—काफिर तो वह है जो भक्तिपथमें बाधक बनता है—

क्या मानिन्द जुल्फें हैं मेरे घनश्याम के।
काफिर वो है जो बन्दे न हैं इसलाम के॥

मुल्लाओंने उन्हें बेघर, बेसिर कर देनेकी धमकी दी और बदमाशोंने चैनसे रहने भी नहीं दिया, तभी तो अधीर होकर उन्होंने अपने आराध्यके यहाँ गुहार लगायी—

माफ़ किया मुलक़, मताह दी विभीषनको,
कही थी जुबान कुरबान ये करारकी।
बैठनेको ताइफ़ तखत दै तखत दिया,
दौलत बढ़ाई थी जुनारदार यारकी॥
तब क्या कहा था, अब सरफराज आप हुए,
जब कि अरज सुनी चिड़ीमार खारकी।
'कारे' के करारमाहिं क्यों न दिलदार हुए,
एरे नंदलाल? क्यों हमारी बार, बार की॥

एक ओर भक्तिविमुख विमूढ़ोंका बराबर सताना और दूसरी ओर अपने दिलवर श्यामसुन्दरका चुप्पी साधकर भक्त-तड़पन देखना कारेके करेजेमें कसक पैदा करता है। अतः खीझकर तानेभरे उलाहनेका सौगात वह अपने आराध्यको अर्पण करता है। विभीषणको सम्राट् बनाने और चिड़ीमार अर्थात् वाल्मीकिकी अर्जीपर दयार्द्र होनेका इतिहास यहाँ मिसालके रूपमें उपस्थित किया गया है। वायदाके अनुसार विलम्बका कोई कारण नहीं पता चलता है। कारे खाँ भगवान्की भक्तवत्सलतासे पूर्ण अवगत हैं। भक्तको जब जगत् तबाह करता है तो वह जगदीशको छोड़कर और जा भी कहाँ सकता है, परंतु आज तो नन्दके लाल भी कठोर बने बैठे हैं। इधर कहर ढानेवालेसे कारे खाँ केवल एक ही निवेदन करता है। एक प्रेमीका उद्गार कारेके शब्दोंमें—

धधकती आगकी ज्वालामें जला दो मुझको।
तुम्हारी मर्जी हो सागरमें डुबा दो मुझको॥
चाहे कोई जहरीला साँप कटा दो मुझको।
चाहे पहाड़की चोटीसे गिरा दो मुझको॥
जमींमें गाड़के कुत्तोंसे चिरा दो मुझको।
आरजू इतना है मेरा कृष्ण मिला दो मुझको॥

कठोर विपरीततामें अनन्यताकी अमर आकाङ्क्षा किसी भी डगमगाते साधकके लिये प्राणद पाथेय है। कारे खाँकी कमनीय कामना बस यही है कि परमाराध्यसे सम्बन्ध-विच्छेद न हो। नजरोंसे *'नयनानंद दान के दाता'* का नजारा नजर आता रहे।

यत्न मौलानाके जब सारे ही बेकार हुए।
भोग संसारके कारेके लिये खार हुए।

संसारी जनोंके प्रयास बेअसर, निर्जीव और निरर्थक साबित हुए। संसारसे कारे खाँको घोर विरक्ति हो गयी। भगवद्दर्शनकी बेचैनी उसे बेसब्र करने लगी। भक्तवर कारेने सोचा कि बिना प्रेमास्पद-दर्शनके जीवन व्यर्थ है। पता नहीं उसने गजराजकी पुकार कैसे इतनी त्वरासे सुन ली थी कि गरुड़को छोड़कर नंगे पाँव ही दौड़े आये थे। सबसे विलक्षण बात तो यह थी कि गजेन्द्रके हृदयमें सिर्फ हरिका 'ह' अभी आधा नाम ही स्मरण हुआ था, वह भी जिह्वाके द्वारा बाहर नहीं आ सका था, गलेतक नहीं पहुँच पाया था कि गरुडेश उपस्थित थे, परंतु मेरी बार-बारकी पुकारपर भी वह चुप्पी साधे बैठा है। लगता है मुझमें ही कमी है। अब उसके चौखटपर जाकर सिर पटककर जान दे दूँगा, परंतु उसके दर्शनके बिना जीना धिक्कार है।

कारे सोचता है—

अब तो दुनियाँके झमेलोंसे निकालो दिलको।
प्यारे मोहनके चलो दरश दिखा लो दिलको॥

ऐसी मधुर कल्पनाका अभी आविर्भाव ही हुआ था कारेके मनमें कि उसके बेटेको काले नागने डँस लिया। विरोधियोंने अपना मज़हब छोड़नेका इसे कुफल बताया।

अब भी उसे इसलामकी शरहमें वापस आनेको कहा गया, परंतु कारे तो अपना दिल कबका दिलदार मोहनको दे चुका था। कइयोंने मीठी चुटकी लेनी शुरू की कि अब अपने प्यारे मोहनसे कहो कि तुम्हारे प्यारेको जिन्दा कर दे। कारे अपने प्रभुपर आँच आने देना नहीं चाहता था। श्रीमलूकदासजीके शब्दोंमें बोल उठा—*'एहो मुरारी पुकारि सुनौ यह मेरी हँसी नहीं तेरी हँसी है।'* कारेको काटो तो खून नहीं, उसपर वज्रपात हो चुका था, परंतु उसकी अनन्य निष्ठा उसे दिलासा दिला रही थी—*'कबहुँ बिगरत ना सुन्यो रामचन्द्र के दास।'* गजराजकी करुण टेरकी तरह इन्होंने भी याद दिलायी—

छलबलकै थाक्यो अनेक गजराज भारी,
भयो बलहीन जब नेक न छुड़ा गयो।
कहिबेको भयो करुनाकी, कबि 'कारे' कहैं,
रही नेक नाक और सब ही डुबा गयो॥
पंकज-से पायन पयादे पलंग छाँडि,
पावरी बिसारि प्रभु ऐसी परि पा गयो।
हाथीके हृदयमाहिं आधो 'हरि' नाम सोय,
गरे जौ न आयो गरुड़ेस तौलों आ गयो॥

आज कारेकी स्थिति गजराजसे भी अधिक दयनीय है। कारेके परिवारपर तो वज्रपात हुआ ही है। कारेके नाथकी भी नाक कटनेवाली है। भक्तका विश्वास अटल है। उसे पूर्ण विश्वास है कि उसका लाड़ला श्रीकृष्णकृपासे जी उठेगा। पाखण्डियोंके मुख काले होंगे और भक्त एवं भगवान्के मध्य उजाले होंगे। सहसा कारेके कारेने काले नागसे डँसे हुए भक्तके बालकको अपनी कवितासे झाड़नेके लिये कहा—

कारेके बेटाको जब कारेने खायो।
कारेकी कविता सुन बेटा जिवायो॥

सचमुच भगवान्के लाड़लेपर अनर्थकारी विपत्ति कभी नहीं आ सकती। हाँ, भक्तकी महिमा-गरिमा बढ़ानेके लिये कुछ कठोर जाँच करनी पड़ती है, परंतु भगवान्के सच्चे भक्तोंको पग-पगपर सहारा मिलता है।

अब तो कारेके पूरे परिवारमें उल्लास और आनन्दका माहौल छा गया, परंतु कारेका मन अपने आराध्यके दर्शनके लिये पुनः तड़प उठा।

संयोगसे रथयात्राका समय आ गया। दर्शनार्थियोंकी मण्डलीको कारेने आते देखा और साथ हो लिया। रास्तेमें—

भक्त भगवान्के कीर्तन सुनाये जाते थे।
जय हो जगन्नाथकी नारे लगाये जाते थे॥

अन्ततोगत्वा संतोंकी मण्डली जगन्नाथधाम पहुँच गयी। कारेके लिये श्याम-दर्शनके बिना एक क्षण एक परम कल्पके समान व्यतीत हो रहा था और भक्त कारे खाँ—

जाने भीतर जो लगे टोका इक पुजारीने।
आपको आज्ञा नहीं है जानेकी मंदिर दुआरीमें॥
सुनके आदेश, रोता है और चिल्लाता है।
ताने कुछ दर्द भरे श्यामको सुनाता है॥

भक्त कारे खाँ बिलखकर कहता है जिसे पुजारी और पूज्य दोनों सुनते हैं—

मैं समझता था कि भक्तोंकी कोई जात नहीं।
तेरे दरबारमें इस तरहके उत्पात नहीं॥

इस चुनौतीभरे शब्दको सुनकर पुजारी कुछ खिन्न होता है। द्वारके सामनेसे भी हटनेको कहता है, परंतु हठीला भक्त कारे भी अपने हठपर अड़ ही तो गया और पुनः अर्जी लगायी—

वृंदावन कीरति विनोद कुंज-कुंजनमें,
आनँदके कंद लाल मूरति गुपालकी।
कालीदह 'कारे' पताल पैठि नाग नाथ्यौ,
केतकीके फूल तोरि लाये माला हारकी॥
परसतहीं पूतना परमगति पाय गई,
पलकहीं पार पार्‍यो अजामील नारकी।
गीध गुन-गानहार, छाँछके उगानहार,
आई ना अहीर! क्या हमारी बार, बार की॥

मधुर उलाहनेसे सम्पृक्त स्वरने, भक्तकी प्रार्थनाके असरने जगन्नाथमन्दिरके अहातेको प्रभावित कर दिया, परंतु पुजारीके कठोर रुखमें कोई बदलाव नहीं। प्रेमी कारेको दर्शन-लालसा व्यथित कर रही है। दर्शनार्थियोंकी भीड़ आ रही है और जा रही है बेधड़क-निःसंकोच। इधर एक भक्तके हृदयकी पीड़ा और उपेक्षा पराकाष्ठाकी ओर जा चुकी है। भक्त पुनः कहता है—

सुना है सदना से कसाईको है तारा तूने।
एक गणिकाको भी सुनता हूँ उबारा तूने॥

क्या मैं इनकी श्रेणीसे भी अधिक अधम हूँ, मेरी छाया भी तुझे गँवारा नहीं है क्या? तभी अपने पुजारीसे

ठोकर लगवा रहे हो नाथ! परंतु अब *'मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।'* हमारी दुनिया तो अब तुम्हारी देहरीपर सिमट चुकी है। अब मैं सफरमें काफी दूर निकल आया हूँ। पीछे लौट भी नहीं सकता। *'राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है।'* तेरी गुणावलियोंको सुनकर ही मैं तुझपर फिदा हुआ था। सुना था मैंने—

भक्त रसखान रहीम तेरे ही दीवाने थे।
तुम उनपै मस्त थे और वो तुम पै मस्ताने थे॥
अब अगर बदली है आदत तो कोई शोर नहीं।
गर तुम हो हिन्दूके खुदा तब मेरा जोर नहीं॥

कितने सुमधुर उपालम्भ हैं। एक प्रेमी भक्तका अपने प्रेमास्पदसे ऐसे उपालम्भ ही तो भगवान्‌के अवलम्ब हैं। **'एकोऽहं बहु स्याम्'** इसी आनन्दपूरित आवाजको सुननेके लिये तो हुआ है वह। **'रसो वै सः'** का रस अब छलकनेको मचल रहा है। भक्तोंके दर्दभरे तानेको, प्रेमालाप-माधुरीको तथा अनन्य अभिलाषाकी अभिव्यञ्जनाको प्रभु बड़े दत्तचित्त होकर सुनते हैं। भक्तपरवशता तो उनका वैशिष्ट्य है। इसी भावनाको कारेने स्वरचित एक कवित्तमें अभिव्यक्त किया है जो अति मनोहर भावोंका गुलदस्ता है—

मुशफक शफीक रफीक दिलदोस्त मेरे,
मेरे नजदीकी हकीकी ख्याल कीजिए।
महरबान कदरदान आला तू जहान बीच,
मुझ-से गरीबोंका गुनाह माफ कीजिए॥
'कारे' बेकरार खड़ा तेरे दरबार बीच,
नन्दके कुमार जरा गौर अब कीजिए।
हिन्दुओंके नाथ हो तो हमारा कुछ दावा नहीं,
जगतके नाथ हो तो हमारी सुधि लीजिए॥
इतना कहकर था दलीजोंपर टिकाया सिर को।
प्रेममें रोते हुए फिर जो उठाया सिर को॥

हृत्तन्त्रीको झंकृत कर देनेवाले सुधामय सिसकते स्वरको सुनकर श्रीश्यामसुन्दरका सिंहासन डोल गया। भक्तकी विरहाग्निसे झुलसे अङ्गोंको शीतल करनेके लिये—

साँवला रूप धरे कृष्ण नजर आते हैं।
बाँसुरी लवों पै मधुर मधुर बजाते और मुसकुराते हैं॥

इतना ही नहीं,

रेशमी पीताम्बरसे भक्तके कपोलको सहलाते हैं॥

भक्त और भगवान्‌की यह आँखमिचौनी प्रेम-लक्षणाकी पराकाष्ठा है।

~~~

(४)

भगवत्प्रेमी संत स्वामी रामतीर्थ

(डॉ० श्रीविद्यानन्दजी ब्रह्मचारी, एम्०ए०, बी०एड्०, पी-एच्०डी०, डी०लिट्०)

प्रभु-प्रेमके दीवानोंके दिव्य दर्शन दुर्लभ ही हैं। दिव्य प्रेमियोंकी जिसपर कृपादृष्टि पड़ी वही प्रेममें पागल हो गया। उनके चरणोंको चूमकर पृथ्वी भी अपना भाग्य सराहती है। वायु उनके स्पर्शमें आकर प्रभुप्रेमकी सुरभिसे आप्लावित हो उठता है।

भगवत्प्रेमियोंकी श्रृंखलामें बीसवीं शताब्दीमें पञ्चनदकी विमल भूमि विशेष रूपसे सौभाग्यशालिनी रही है, जिसकी उर्वर कुक्षिसे दीपमालिकाके दूसरे दिन बुधवार, दिनाङ्क २२ अक्टूबर १८७३ ई० को पञ्चनद-गौरव स्वामी रामतीर्थका अवतरण हुआ था। ये अपने माता-पिताकी तीसरी संतान थे। बचपनमें इनका नाम तीर्थराम रखा गया।

इन्होंने अपना शैशव धूलिके हीरक कणोंमें लोट-लोटकर कीचड़में कमलसदृश हँस-खेलकर काटते हुए एक विलक्षण प्रतिभाशाली और प्रत्युत्पन्नमति युवकके रूपमें बिहँसते यौवनमें ससम्मान विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालयकी विभिन्न परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं एवं अन्ततः गणितशास्त्रमें विशेष योग्यताके साथ उपाधि प्राप्त की।

कुछ दिनोंतक कई उच्च संस्थानोंमें अध्यापन-कार्यके व्याजसे लोकसेवाका महान् कार्य करते-करते सर्वस्वत्यागी-संन्यासी होकर इन्होंने संत और विश्वप्रेमीके रूपमें प्रेमकी वर्षा बरसानेके लिये हिमालयके शान्त, एकान्त, निर्जन अरण्यसे निकलकर विदेशोंमें व्यावहारिक वेदान्तकी शिक्षाका प्रसार किया।
~~~

इनकी विलक्षण प्रतिभा एक जन्मजात भगवत्प्रेमी बालकके रूपमें झलकने लगी थी। इन्हें शैशवकालसे ही शङ्खध्वनि बहुत प्रिय थी। उसके आगे रोना-धोना एवं खीझनातक सब कुछ भूल जाते थे।

शैशवावस्थासे ही भगवच्चरणोंमें विशेष अनुराग होनेके कारण श्रीमद्भागवत और महाभारतकी कथाएँ बड़ी तन्मयताके साथ ये सुना करते थे। देवालयगमन और एकान्तवास इन्हें अधिक प्रिय था। ये अपनी फूआ (बुआ) धर्मकौरके साथ भगवच्चर्चा और कथा-वार्तामें जाया करते तथा उन कथाओंको बड़े ध्यानपूर्वक सुनते।

तीर्थरामजी स्वभावसे बड़े ही परिश्रमी, शान्त, सुशील, नि:स्पृह, निरहंकारी, निर्भीक, निष्कपट, गुरुभक्त, सदाचारी, सच्चरित्र, दयालु और कुशाग्रबुद्धि थे। इनका अन्त:करण स्फटिकमणिकी भाँति निर्मल और स्वच्छ था। इनके चित्तमें स्थिरता एवं प्रसन्नता बनी रहती थी।

ये अपने शिक्षागुरु मौलवी साहबके समक्ष प्रार्थना किया करते—'चाहे मुझे दोपहरके खानेकी छुट्टी मत दीजिये, पर कथा सुननेकी अनुमति अवश्य देनेकी कृपा कीजिये।' सच तो यह है कि कोरा पुस्तकीय ज्ञान तो हर कोई स्कूल-कॉलेजोंमें पा लेता है, पर विद्या और अध्यात्मविद्या पूर्वजन्मके उत्तम संस्कारों, इस जन्मके अध्यवसाय एवं गुरुजनोंकी शुभाशंसासे ही मिल पाती है। तीर्थरामजीने भी इसी बलपर अपने अल्प जीवनकालमें ही वेदान्तरूपी तत्त्वदर्शनको साकार किया।

स्वामीजीने यदि कुछ चाहा तो सिर्फ श्रीकृष्णप्रेम। कदाचित् ऐसे ही भगवत्प्रेमीको ध्यानमें रखकर रीतिकालीन शृंगारिक कवि बिहारीलालजीने लिखा है—

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिँ कोइ।
ज्यौं-ज्यौं बूड़ै स्याम रँग, त्यौं-त्यौं उज्जलु होइ॥

अर्थात् श्रीकृष्णभक्तके मनकी गति विचित्र होती है। वह ज्यों-ज्यों श्रीकृष्णके रंगमें डूबता जाता है (उनके साँवले-सलोने रूपका ध्यान करता है), त्यों-त्यों और निर्मल होता जाता है।

प्रभु-प्रेमके दीवाने, बादशाहोंके बादशाह स्वामी रामतीर्थजीकी प्रेम और भक्तिकी कहानी भी बड़ी अजीब है। विद्यार्थी-जीवनसे ये कृष्णप्रेममें ओत-प्रोत हो गये थे। वस्तुत: ये कृष्णप्रेममें पागल थे। कृष्णविरहमें रोते-रोते इनका तकिया गीला हो जाया करता था।

स्वामीजी कहा करते थे—'मैं संसारपर प्रेमकी वर्षा बरसाऊँगा और सबको आनन्दमें नहलाऊँगा।'

रावी जिसका प्राचीन नाम इरावती है, पंजाबकी पाँच नदियों—सतलज, व्यास, रावी, चिनाव और झेलममेंसे एक है। स्वामीजीको रावीसे बेहद प्यार था। रावी नदीके पावन तटपर और जंगलोंमें श्रीकृष्णकी रट लगाते रहते थे। काले बादलोंको देखकर इनका कृष्ण-प्रेम सहज ही उमड़ पड़ता था। हफ्तों, महीनों ये कृष्ण-प्रेममें विभोर रहते थे; तन-मनकी सुध नहीं रखते थे।

तीर्थराम श्रीकृष्णको 'गोलचन्द' कहकर पुकारते थे। उनके साथ अठखेलियाँ खेलते थे। काले नागोंको दूध पिलाकर ये उनमें श्रीकृष्णका ही अनुभव करते थे और उनके साथ अपनी कोठरीमें रहते भी थे। भगवान् श्रीकृष्णमें इनकी परम भक्ति थी। उनके विषयमें जब ये बताने लगते थे तब इनका हृदय गद्गद और नेत्र अश्रुपूर्ण हो जाते थे। इनके पवित्रतम हृदयोद्गारों तथा ईश्वरप्रेममें सने हुए उपदेशोंको सुनकर सभी श्रोता ऐसे मुग्ध और प्रभावित होते थे कि वे खाना-पीनातक भूल जाते थे।

कोई भी व्यक्ति स्वामीजीके सम्पर्कमें आकर इनका सहज स्नेह प्राप्त करता था। सरलता और सदाचार इनमें कूट-कूटकर भरा था।

स्वामी रामतीर्थजीके अन्त:करणमें श्रीकृष्णभक्तिका स्रोत बड़े वेगसे उमड़ा करता था। इन्होंने गीताका विधिवत् अनुशीलन किया। इनके ऊपर श्रीकृष्णप्रेमका नशा छाने लगा। रावी नदीके किनारे सायंकाल घण्टों बैठकर ये श्रीकृष्णप्रेममें तन्मय हो जाते थे। होशमें आते ही 'हा कृष्ण! हा कृष्ण!' कहकर रोने-तड़पने लगते। बीच-बीचमें मथुरा, वृन्दावन पहुँचकर श्रीकृष्णभक्तिका अमृत पीते। इन्हें उपनिषद्-वेदान्त आदि ग्रन्थोंके अनुशीलनके साथ-साथ उत्तराखण्डमें जाकर एकान्त-सेवनका चस्का लग गया। इसके बाद इन्होंने सूफीमतका भी गहन अध्ययन किया। अजमेर, शिमला, लाहौर, अमृतसर, पेशावर, स्यालकोट आदि स्थानोंकी सनातन धर्मसभाओंमें इनके जो व्याख्यान हुए, उनमें इन्होंने प्रेम और ईश्वरभक्तिकी स्रोतस्विनी प्रवाहित कर श्रोताओंको निमग्न कर दिया था। इनके अनुरागपूर्ण नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होती थी।

लाहौरमें 'इश्के इलाही' (भगवत्प्रेम)-पर इनका जो प्रवचन हुआ, उसमें प्रेमके आवेशमें ये इतना रोये कि हिचकियाँ आने लगीं। पेशावरमें जो इनका 'तृप्ति' पर प्रवचन हुआ, उसमें तो ये इतना विह्वल हुए कि बहुत देरतक इनके मुँहसे शब्द ही न निकल सके। ऐसे ही हृदयग्राही प्रवचनको सुनकर श्रीनारायण स्वामी (स्वामीजीके प्रथम पट्ट-शिष्य)-का मन-मधुकर भी उनके पादपद्मोंमें लुब्ध हो गया।

भक्तशिरोमणि संत स्वामी रामतीर्थके भगवत्प्रेमका आँखोंदेखा हाल उनके सहपाठी मित्रने 'कुलभास्कर' नामक पत्रमें इस प्रकार छपवाया था—

एक बार संध्याको रावी नदीके पार वनमें गोसाईंजी टहल रहे थे। आकाशपर घनघोर घटा छा रही थी। काले-काले बादलोंको देखकर कुछ देर तो आप समाधिस्थ-से रहे.... फिर बादलोंको गायब होते देखकर कहने लगे—अरे भाई बादल! जाते हो तो जाओ। परंतु मेरा संदेश श्रीकृष्णके पास लेते जाओ। तुम देखते हो कि मेरी आँखोंसे आँसू बह रहे हैं। उस बेवफाको मेरी ओरसे कहना—

मजा बरसातका चाहो मेरी आँखोंमें आ बैठो।
सियाही है, सफेदी है, शफक है, अब्रेबारां है॥

होशियारपुरके एक वकील लाला अयोध्याप्रसादजीने लिखा है—'गोसाईंजी एक बार लाहौरमें रामायणकी कथा सुन रहे थे। थोड़ी देर बाद बालकोंकी भाँति रोने लगे। लोगोंने बहुत दिलासा दिया, पर कोई फल न हुआ। कथा समाप्त होनेपर ये कहते सुनायी देते थे, कृष्ण! मुझपर दया कीजिये। क्या मैं किष्किन्धाके बंदरोंसे भी गया-गुजरा हूँ? क्या मैं भीलनीसे भी नीच हूँ? यदि आपके दर्शन न हुए तो चूल्हेमें जाय यह विद्या, खाकमें जाय यह इज्जत और भाड़में जाय यह शरीर।'

पं० माधवाचार्यने लिखा है—'इनके गर्भगृहमें एक भयंकर काला नाग रहा करता था। जब इनके भोजनका समय होता, तब वह बिलमेंसे थोड़ा-सा मुँह चमकाता था। ये अपने इस परम प्रिय काले नागके लिये एक बेला (कटोरी) भरकर दूध ठंडा करते। वह बिलसे निकलकर दूध पीता। फिर मस्तीमें उसके फणपर अपना हाथ फेरते हुए ये कहते—जैसा तू काला है, वैसा ही मेरा परम प्रिय कृष्ण भी है। तुझे देखकर मुझे मेरे कृष्णकी स्मृति ताजी हो जाती है।'

नाग जब उनका प्यार लेता हुआ बिलमें प्रविष्ट हो जाता तब ये भोजन करते। यह इनका नित्यका नियम था।

एक बार न जाने क्यों तीन दिनोंतक वह काला नाग बिलसे मुँह तो थोड़ा-सा चमकाता, किंतु न तो बाहर ही आया और न उसने दूध ही पिया। पर दूध नित्य नियमके अनुसार बेले (कटोरे)-में ठंडा कर रखा जाता। भोजनके नियत समयपर उस नागके स्वामी रामतीर्थ प्रतीक्षा करते और वह जब नहीं निकलता तो स्वयं भी बिना भोजन किये ही उठ जाते।

इनके चाहनेवालोंमें इस बातका हल्ला हो गया कि स्वामीजी तीन दिनसे प्रतिदिन अपने प्रिय सर्पके दूध पीनेकी प्रतीक्षा करते हैं। न वह दूध पीता है और न ये भोजन करते हैं।

चौथे दिन भोजनके समय सभी एकत्रित होकर इनसे कहने लगे कि 'महाराज! यह तामसी प्राणी जो मुखमें जहर लिये फिरता है, प्रेमको क्या जाने? जिसके लिये आप तीन दिनसे भोजन नहीं कर रहे हैं, घरमें घूमकर आहार कर लेता होगा। इस कारण आपके भोजनके समय दूध नहीं पीता। जब इनके प्यारे सर्पके लिये ऐसे अनेक वचन कहे गये तो भगवत्प्रेमी स्वामी रामतीर्थ बड़े दुःखी हो गये और दर्दभरे स्वरमें कहने लगे—

अरे लोगो! तुम्हें क्या है, या वो जाने या मैं जानूँ।
वो मेरे खूनका प्यासा, मैं उसके दर्दका मारा,
दोनोंका पंथ है न्यारा, या वो जाने या मैं जानूँ॥

गाते-गाते इन्होंने अपना सिर सर्पके बिलके सामने उसके मुखपर रख दिया—'यदि तू नाराज है तो ले अभी भले ही मेरा अन्त कर दे—पर तू प्रसन्न हो जा।' यह तो स्वामी रामतीर्थ ही जानें कि वह सर्प उनका क्या था? परंतु लगता यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्परूप धरकर इन्हें अपनी अखण्ड स्मृतिकी मस्ती दिया करते थे।

स्वामी रामतीर्थके इस प्रेमभरे त्यागको नाग बर्दाश्त न कर सका। झट बिलसे निकलकर उसने इनके गलेसे लिपटकर इनके सिरपर अपने फणको छत्रकी भाँति कर लिया। यह एक प्रकारसे बादशाहीकी सूचना थी। इस घटनाके पश्चात् उनका यह प्रेमपात्र फिर कभी नहीं रूठा, सदा समयपर दूध पिया करता। उनसे रोज फणपर हाथ फिरवाया करता और समयपर बिलमें चला जाता, किंतु

जब ये संन्यास लेनेवाले थे तो उसके चार दिन पहले वह बिलसे निकलकर चला गया। इससे प्रतीत होता है कि यह कोई देवता था, जो स्वामी रामतीर्थकी रक्षाके लिये सर्परूप धारणकर उनके पास रहता था।

कहा जाता है कि भक्त तो भगवान्‌को खोजते ही हैं, कभी-कभी भगवान् भी भक्तको खोजते हैं। भारतका इतिहास इसका जीवन्त साक्षी है। ईश्वरकी महिमाको भला कौन समझ सकता है? कब किसपर उनकी कृपा-करुणा बरसेगी, कौन बता सकता है? स्वामीजीके जीवनमें अनेक चमत्कार हुए। जब ये 'ओरिएन्टल कॉलेज' लाहौरमें रीडर थे तो एक दिन कॉलेज देरसे पहुँचे। जबकि ये समयके बड़े पाबंद थे। बात कुछ ऐसी हुई कि ईश्वरचिन्तन करते-करते इन्हें समाधि लग गयी, ध्यानमग्न हो गये और समयका ज्ञान नहीं रहा। प्रथम घंटीमें इनका क्लास था। एकाएक ध्यान टूटनेके बाद कॉलेज पहुँचे। विलम्ब हो जानेके कारण बहुत दुःखी हुए और प्रिंसिपल महोदयके सामने खड़े होकर क्षमा-याचना करने लगे। प्रिंसिपल महोदयने कहा कि गोसाईंजी आज तो आपने कमालका पढ़ाया। सभी छात्र बहुत खुश नजर आ रहे हैं। प्रो० तीर्थरामने कहा, साहब! मैं तो अभी आ रहा हूँ। तपाकसे प्रिंसिपलने कहा कि उपस्थितिपंजिकामें आपके हस्ताक्षर हैं और आपने क्लास भी लिया है। यह बात सुनकर ये अवाक् रह गये। इन्हें विश्वास हो गया कि भगवान् श्रीकृष्णने ही रूप बदलकर मेरी ड्यूटी कर दी और मेरी लाज बचायी। उसी समय इन्होंने प्रिंसिपलको अपना त्यागपत्र दे दिया। उस त्यागपत्रमें इन्होंने लिखा—'रामबादशाह अब किसीका नौकर नहीं रह सकता, केवल उस परमात्माके सिवा।'

ऐसे संत महापुरुषकी सांसारिक स्थिति वास्तवमें कारणरहित रहती है। वह सम्पूर्ण रूपसे ईश्वराधीन होता है और ईश्वराधीनता ही मुक्ति है।

सच्चा शरणागत प्रेमी सब झगड़ोंसे बेफिक्र होकर पूर्णतया भक्तिमय हो जाता है। संत कबीरके अग्रलिखित पदसे कैसी अपूर्व संतुष्टि झलकती है—

हमन है इश्क मस्ताना, हमनको होसियारी क्या।
रहैं आजाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या॥
जो बिछुड़े हैं पियारे से, भटकते दर-बदर फिरते।
हमारा यार है हम में, हमनको इन्तिजारी क्या॥
खलक सब नाम अपने को, बहुत कर सिर पटकता है।
हमन गुरु-नाम साँचा है, हमन दुनिया से यारी क्या॥
न पल बिछुड़ै पिया हमसे, न हम बिछुड़ैं पियारे से।
उन्हींसे नेह लागी है, हमनको बेकरारी क्या॥
कबीरा इश्क का माता, दुई को दूर कर दिल से।
जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या॥

प्रेमी संत स्वामी रामतीर्थजीका कहना था—प्रेम ही सच्चा धर्म है, प्रेम ही ईश्वरप्राप्तिका द्वार है। जिसका हृदय प्रेमसे शून्य है, वह उस मन्दिरके समान भयानक है, जिसमें सब सामान सजा हुआ हो, पर प्रकाश न हो। हमारी मनन-शक्ति, आलोचना-शक्ति और प्रवचन-शक्ति—ये सब निष्फल और निरुद्देश्य हैं, यदि प्रेमका स्रोत हमारे हृदयमें नहीं बहता। हमारा प्रियतम हमारी धनवत्ता, बुद्धिमत्ता और प्रभुतापर नहीं रीझता। वह केवल प्रेमका भूखा है।

एक बार एक अमेरिकन सज्जनने इनसे पूछा कि बिना रुपये-पैसेके आपका काम कैसे चलता है? इन्होंने उत्तर दिया कि रामको किसी चीजकी जरूरत ही नहीं पड़ती और जब पड़ती है, तब वह चीज आप-ही-आप उसे मिल जाती है; क्योंकि राम सारी दुनियासे प्रेम करता है। इसलिये सारी दुनिया भी रामको प्यार करती है, फिर चाहे वह अमेरिकामें हो, चाहे भारतवर्षमें। सारा संसार रामका घर है।

उत्तराञ्चलके टिहरी स्थित रानीबाग यानी गोलकोठीमें दीपमालिकाके दिन १६ अक्टूबर १९०६ को पूर्वाह्णमें स्वामी रामतीर्थने अन्तिम वाणी 'मृत्युका आह्वान' लिखकर भागीरथीकी सहायक भिलंगनाकी छलकती जलधारामें स्नान करते-करते नाटकीय ढंगसे जलसमाधि ले ली।

हा! उस दिन भारतमाताका एक असाधारण भगवत्प्रेमी संत संसारसे चल बसा। उनके पावन चरणोंमें शत-शत नमन है।

* * *

(५)

संत पीपाचार्य एवं साध्वी सीता सोलंकीका भगवत्प्रेम

(श्रीरघुनाथसिंहजी खीची)

भगवत्प्रेमोपासनाकी आचार्यपरम्परामें श्रीरामानन्दाचार्यजीका विशिष्ट स्थान रहा है। उनके प्रमुख बारह शिष्योंमेंसे एक राजा पीपाजी खीची (चौहान) गागरौनगढ़ (राजस्थान)-के निवासी थे। उनकी छोटी रानी सीता भी रामानन्दजीकी शिष्या थीं। आचार्यश्रीने इस क्षत्रिय-दम्पतिको राममन्त्रकी दीक्षा देकर स्वधर्म-पालनका उपदेश दिया था। पीपाजीके गुरुभाई संत कबीर, रैदास आदि थे। संत रैदासजीने संत कबीर एवं संत पीपाजीको अपनेसे श्रेष्ठ बतलाया है—

ना कबीरके लच्छगी, ना कोई मरे ठाट।
धन पीपा जिन तज दियो रबिया राज अरु पाट॥

तुगलक-कालीन भारतमें जब अत्यधिक अत्याचार और अन्याय हुआ तथा आततायियोंद्वारा आतंक फैला, तब देश, धर्म एवं लोकहितार्थ श्रीरामानन्दाचार्यने प्रमुख शिष्योंको देशके विभिन्न स्थानोंमें प्रतिष्ठित किया, जिनमें संत पीपाको भारतका पश्चिमी भाग—गुर्जर प्रदेश (गुजरात, सौराष्ट्र, मध्यभारत एवं राजस्थान) सौंपा गया—

पूरब भयो रैदास कबीरा। सब काहू कूं दीनी धीरा॥
दक्खिन भक्ति नामदे राखी। जाकी निसि दिन दीजे साखी॥
पच्छिम पीपा परगट कीनी। भक्ति बताई सबन कूं दीनी॥

मध्ययुगीन भक्ति (धार्मिक) आन्दोलनका नेतृत्व संत पीपाने सर्वप्रथम राजस्थानमें किया था। उनके बाद धन्त संतने किया। पीपाजीने हिंसक शेरको श्रीराममन्त्रका उपदेश देकर अहिंसक बना दिया था। उनके साथ रानी सीता भी साध्वी बनीं और इस दम्पतिने राष्ट्रमें भगवत्प्रेमकी धारा प्रवाहित कर दी। डॉ० श्रीकृष्णजगनूके शब्दोंमें—

पीपा न होतो धरणी पै, हिन्दवाँणै अन्धेरो छा जातो।
ई काल कोठरी दा मुखमें औ सारो देश समा जातो॥

संत सुखसारणजीद्वारा प्रणीत नामप्रतीत-भक्तमालनमें पीपाजीके भगवत्प्रेम तथा श्रद्धा-विश्वासके विषयमें और सिंह (नाहर)-के सम्बन्धमें निम्न उल्लेख है—

नागकी प्रतीत पीपो पर्यो है समंद मांय,
द्वारिका कूं देख आयो कैता वेद पुराण रे।
नामकी प्रतीत सिंह-सिंहणी निवायो सीस,
माणस छोड़ाय गयो गह्यो गुरु ज्ञान रे॥

संत पीपादम्पतिने भगवत्प्रेममें मग्न होकर श्रीकृष्ण भगवान्‌के साक्षात् दर्शनार्थ द्वारकामन्दिरके पुजारीके वचनोंपर पूर्ण विश्वास कर द्वारकासमुद्रमें छलाँग मारी थी। उन्होंने श्रीकृष्ण-रुक्मिणीके दर्शन कर उनसे दिव्य छाप (शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म)-की प्राप्ति की तथा पुनः बाहर निकलकर वह छाप लोककल्याणार्थ पुजारीको सौंप दी और कहा—जिसके शरीरपर यह लगायी जायगी उसे भगवान् प्राप्त होंगे तथा वह आवागमनके बन्धनसे मुक्त हो जायगा। तभीसे द्वारकायात्रीकी भुजापर छाप लगानेकी परम्परा चल पड़ी।

सभी भक्त माताओं, नाभाजीके भक्तमाल, समकालीन संतों, बादके संतों और साहित्य-इतिहासकारोंने संत पीपाजीका गुणगान किया है। संत पीपाजीके अनुयायी शिष्य-परम्पराके पीपाक्षत्रियसमाज (दर्जी) उनकी स्मृतिमें जयन्ती मनाते हैं। उनके नामपर मन्दिर, छात्रावास आदि बनाते हैं। पीपासाहित्यका सृजन भी करते हैं।

संत पीपाजीने अपने जीवनमें सहस्रों नास्तिकोंको भगवत्प्रेमका पाठ पढ़ाकर आस्तिक बनाया और भगवत्प्रेमकी लीलाका आदर्श लोगोंके सम्मुख रखा। श्रीनाभाजी महाराजने भक्तमालमें इनके योगैश्वर्यका वर्णन किया है। उससे मालूम होता है कि इनके भगवन्नामोच्चारणमात्रसे बड़े-बड़े विघ्न टल जाया करते थे। इनको जीवनमें दो बार भगवान् श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शन हुए, एक बार द्वारकामें और एक बार वृन्दावनमें। इस प्रकार संत पीपा और साध्वी सीतादेवी भगवान्‌के अनन्य प्रेमी बन गये। एक पदमें संत पीपाजी द्वारकाधीश रणछोड़ भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहते हैं—

पौढ़ो स्वामी द्वारका रनछोर॥
द्वारका मैं झालर बाजै, संखन की घनघोर।
रुकमनी के रंगमहल में, दीपक लाख करोर॥
थे पौढ्याँ थारा सेवक पौढ़ै, पौढ़ै पुरी का सारा लोग।
दास पीपौ सरन थारी, गावै छै दोनूँ कर जोर॥

* * *

(६)

महात्मा चरणदासजी और उनके प्रेमोद्गार

(श्रीप्रभुदयालजी गोयल)

भगवत्प्रेमी महात्मा चरणदासजी शुकसम्प्रदायके प्रवर्तक थे। इनका जन्म वि० संवत् १७६० में हुआ था। इनके माता-पिता (कुंजोदेवी और मुरलीधर) अलवरराज्यान्तर्गत मेवात-प्रान्तके डेहरा ग्रामके निवासी थे।

बचपनसे ही चरणदासजी भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमी थे। श्रीशुकदेवजीने दर्शन देकर इन्हें अपना शिष्य बनाया था। भगवान् श्रीकृष्णके विरहमें व्याकुल होकर ये श्रीवृन्दावनधाम चल दिये। भक्तवत्सल भगवान्ने चरणदासजीको अनन्य प्रेमी तथा निष्काम भक्त समझकर उनकी निष्ठानुसार इन्हें युगलरूपमें दर्शन दिये और इन्हें हृदयसे लगाकर सहज साधन प्रेमाभक्तिके प्रचारकी आज्ञा दी। चरणदासजीने भगवान्के आज्ञानुसार आजीवन प्रेमाभक्तिका प्रचार-प्रसार किया। प्रसिद्ध भक्ता सहजोबाई तथा दयाबाई इनकी शिष्या थीं। वि० संवत् १८३९ में चरणदासजीने इस पाञ्चभौतिक शरीरका परित्याग करके परम धामको प्राप्त किया।

इनके द्वारा विरचित 'भक्तिसागर'में योग, ज्ञान, भक्ति एवं प्रेमका बड़ा ही भावपूर्ण वर्णन है। यहाँ नवधा-भक्ति तथा प्रेमाभक्तिसे सम्बद्ध उसका कुछ अंश दिया जा रहा है—

नवधा भक्ति

साधो नवधा भक्ति करौ रे।
कलिजुग में यह बड़ो पदारथ गहि गहि ताहि तरौ रे॥
जे जे या सूं भये सिरोमन तिन के नाम सुनाऊं।
बढ़ै कथा बिस्तार कहूं तो याते सूच्छम गाऊं॥
जन प्रहलाद तरो सुमिरन ते बन्दन सूं अक्रूर।
चरन कमल की सेवा सेती लछमी रहत हजूर॥
चन्दन चर्चत हूं पृथु राजा उतरो भौ जल पार।
बलि राजा तन अर्पन कीन्हीं सदा रहै हरि द्वार॥
परम दास हनुमंत हुं उबरो उत्तम पदवी पाई।
सखा सुभाव तरौ है अर्जुन ताकी महिमा गाई॥
मुक्त भयो है परीछित राजा सुन भागवत पुराना।
श्रीसुकदेव मुनी से बक्ता हुए रूप भगवाना॥
ज्ञान जोग बैराग्य सबन सूं प्रेम प्रीति है न्यारी।
चरनदास ने गुरु किरपा सूं सांची बात बिचारी॥
नवो अंग के साध ते, उपजै प्रेम अनूप।
रनजीता यों जानिये, सब धर्मन का भूप॥

प्रेमाभक्ति

सब मत अधिकी प्रेम बतावैं। जोग जुगत सूं बड़ा दिखावैं॥
प्रेमहिं सूं उपजै बैराग। प्रेमहिं सूं उपजै मन त्याग॥
प्रेम भक्ति सूं उपजै ज्ञाना। होय चांदना मिटै अज्ञाना॥
दुरलभ प्रेम जु हाथ न आवै। हरि किरपा करि दें तौ पावै॥

× × ×

सकल सिरोमनि प्रेमहिं जानो। चरनदास निस्चै मन आनो॥
प्रेम बराबर जोग ना, प्रेम बराबर ज्ञान।
प्रेम भक्ति बिन साधिबो, सबही थोथा ध्यान।
प्रेम छुटावै जक्त सूं, प्रेम मिलावै राम।
प्रेम करै गति और हीं, ले पहुंचै हरि धाम॥

× × ×

हाय हाय हरि कब मिलैं, छाती फाटी जाय।
ऐसा दिन कब होयगा, दरसन करौं अघाय॥
बिन दरसन कल ना पड़ै, मनुआँ धरै न धीर।
चरनदास की राम बिन, कौन मिटावै पीर॥

लीला-दर्शन—

नटराज

कन्हाईसे पूछो कि 'तू अमुक काम कर सकता है?' तो इसका एक ही उत्तर है—'कर दूँ?' इसको 'ना' करना नहीं आता। आज वनमें आकर जब भद्रकी दृष्टि बंदरोंके यूथपतिपर पड़ी तो वह पूछ बैठा—'कनूँ! तू उस मोटे बंदरको वैसे नचा सकता है, जैसे कल मदारी अपने बंदरको नचाता था?'

'उससे अच्छा नचाऊँगा। नचाऊँ?' कन्हाई ताली बजाकर प्रसन्न हो गया।

'कैसे नचावेगा? तेरे पास डमरू कहाँ है?' मधुमङ्गलने छेड़ा।

'डमरू? उसे तू ला।' कृष्णने समाधान निकाला—'नहीं तो मैं तेरी तोंद बजाऊँगा।'

'अरे, नहीं!' मधुमङ्गल चौंककर दो पद पीछे हटा और अपने उदरकी ओर देखने लगा। इस नटखटका क्या ठीक? यह उसके पेटपर ताल पीटने लगेगा।

'डमरू मैं लाऊँ?' तोक कूदा और उत्तरकी अपेक्षा किये बिना दौड़ गया। इसे पता है कि आज अंशु एक छोटा डमरू लाया है।

कल सायंकाल बालक गोचारणसे लौटे तो नन्दद्वारपर एक मदारी अपना बंदर लिये उन्हींकी प्रतीक्षा कर रहा था। वह मध्याह्नके पश्चात् आया होगा। बाबाने उसे रोक लिया होगा कि उसके बंदरकी कुलाचें देखकर बालक प्रसन्न होंगे।

मदारीका डमरू बजा। बालक एकत्र हो गये। उसका बंदर नाचता रहा। घर जाकर अंशु मचल गया कि वह डमरू लेगा। उसके पिताने एक छोटा डमरू उसके लिये कहींसे रातमें ही ढूँढ़ा; क्योंकि अंशुकी हठ पूरी न करो तो वह व्रजराजके पास उसी समय जाकर अपनी हठ पूरी कर ही लेता और बाबाको तो प्रत्येक बालक अपना लगता है। तब अंशुके पिताको उलाहना सुनना पड़े।

'कनूँ मोटे बंदरको नचावेगा। तू उसे अपना डमरू दे दे।' तोकने दौड़कर अंशुसे कहा। अंशु तो सबेरेसे चाहता है कि कनूँ ही पहले उसका डमरू बजावे; किंतु बालकमें क्या धैर्य होता है? अब वह डमरू बजाते-बजाते दौड़ा आया, किंतु डमरू बजाना आता नहीं नन्हे अंशुको। वह अटपटे शब्द मात्र कर पाता है।

'ले, तू मदारी-जैसा बजा पायेगा?' अंशुका पूछना व्यर्थ था। कन्हाईने हाथमें लिया तो ऐसे बजाने लगा जैसे मदारीने भी डमरू बजाना इसीसे सीखा होगा।

श्यामसुन्दर हाथकी अंगुलियाँ हिलाकर बुलाये तो आकाशका उड़ता पंछी भी उतर आता है, वृक्षपर बैठे समीप आनेको उत्सुक बंदरको आनेमें क्या देर लगती।

'इसे बाँध', मण्डलीभद्रने अपने कन्धेसे रज्जुको उतारकर फेंका।

'तुझे बाँधूँ?' नन्दनन्दनने रज्जु ले ली। उसे खोला। एक सिरा भी पकड़ा और बंदरकी ओर देखकर बोला, किंतु फिर रज्जु फेंक दी। इसे किसीको बाँधना नहीं रुचता। यह तो बँधेको खोलकर प्रसन्न होता है।

'मदारीने तो अपने बंदरको सिखलाया था।' श्रीदाम बोला—'तू कैसे नचायेगा?'

'मैं इसे सिखाऊँगा।' कृष्णको हारना कहाँ आता है। कपिसे बोला—'तू मैं जैसे नचाता हूँ, नाच! नहीं तो तेरे कान दादा पकड़ेगा।'

सचमुच संकेत पाते ही वह भूरा लाल मुखका मोटा बंदर अपने दोनों पैरोंपर खड़ा हो गया। श्यामने संकेत किया और उसने भद्रके हाथका लकुट झपट लिया। मधुमङ्गलको दाँत दिखाकर डरा आया। लकुटको दोनों कर टिका कन्धेपर धर लिया।

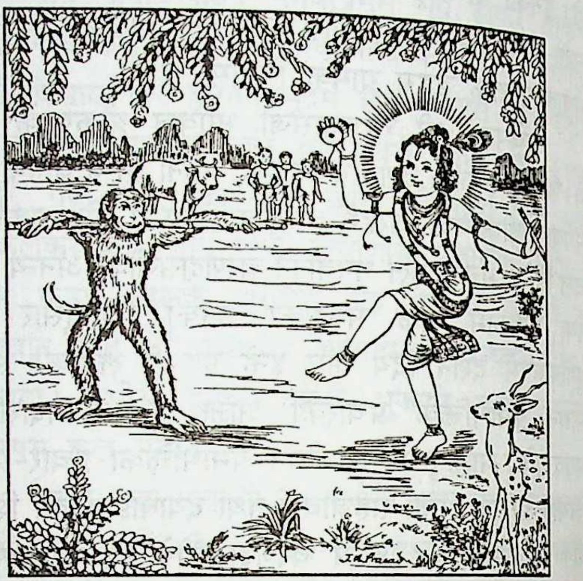

अब कृष्णके करोंमें डिम-डिम डमरू बजने लगा और व्रजराजकुमारके सुकुमार चरण हरित दूर्वापर ताण्डवकी गतिसे फुदकने लगे। बंदर कूदने लगा, नाचने लगा कन्हाईके अनुकरणपर और जहाँ अनुकरणमें असमर्थ होता है वहाँ छलाँग ले लेता है अथवा सिर पृथ्वीपर टिकाकर उलटे-सीधे कलाबाजी दिखाने लगता है।

सब गोपकुमारोंने मण्डली बना ली है। उनके मण्डलके बाहर गायों-वृषभों, बछड़े-बछड़ियोंमें मिले मृग, नीलगाय, केहरी आदि वन-पशुओंका ठट्ट लगा है। समीप वृक्षोंपर सम्पूर्ण वनके पक्षी लदे पड़े हैं। हंस, सारस-जैसे जल-पक्षी भी वृक्षोंपर बैठे हैं। सब निष्कम्प, नीरव, एकटक देख रहे हैं।

डिम-डिम, डिम-डिम डमरू बोलता जा रहा है। मोटा लाल मुखका बंदर नाच रहा है, कूद रहा है, कुलाचें ले रहा है। कन्हाईको देख-देखकर नाच रहा है।

मयूरपिच्छ हिल रहा है। अलकें उछल रही हैं। कुण्डल, वनमाला उछल रही है। पटुका फहरा रहा है। व्रजका नटवर नटराज बन गया है। ललित ताण्डवकी गतिसे इसके चरण उछल रहे हैं। कभी पहला, कभी दूसरा चरण ऊपर उठता है और दोनों कर ऊपर-नीचे हो रहे हैं। यह प्रेममें निमग्न होकर डमरू बजाता ताण्डव नृत्य करता नाच रहा है।

* * *

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

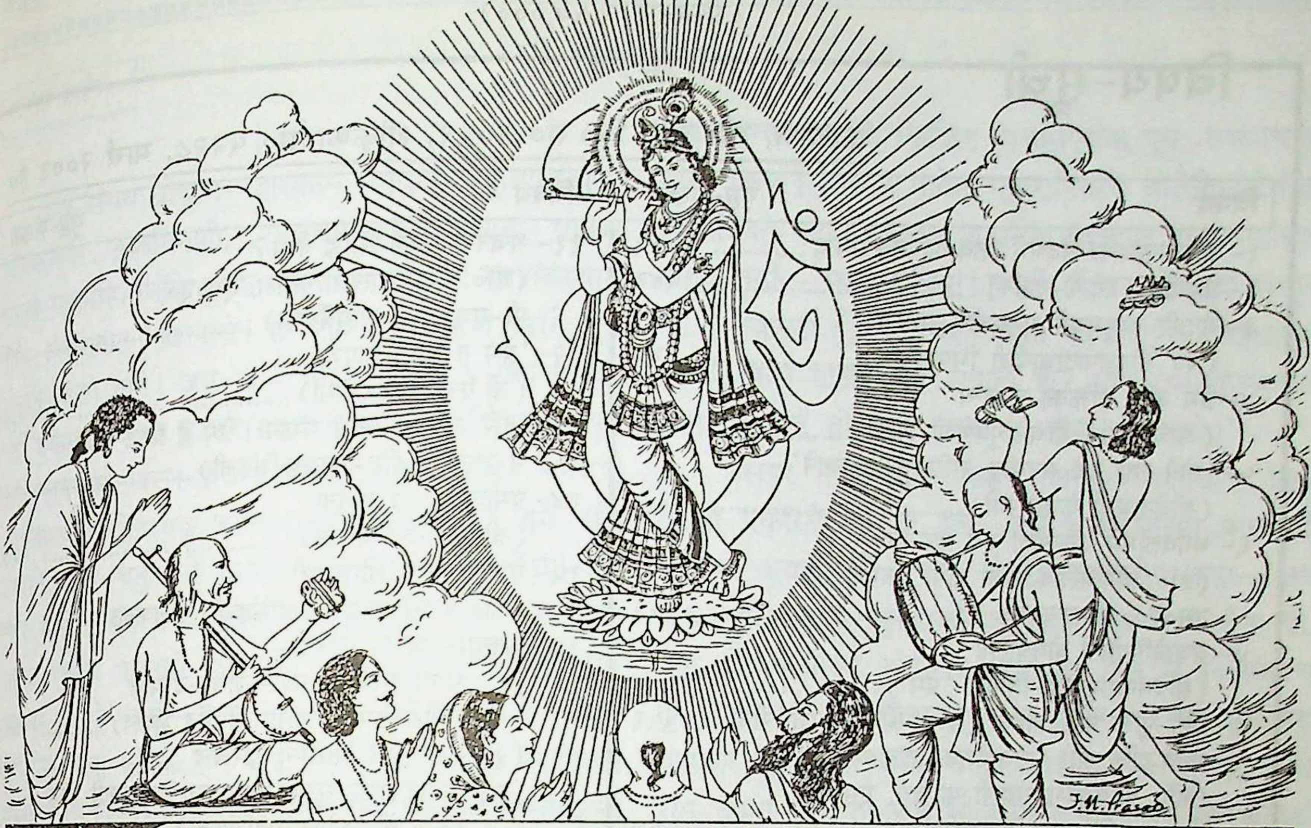

कल्याण

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्धस्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

वर्ष ७७
गोरखपुर, सौर चैत्र, वि० सं० २०५९, श्रीकृष्ण-सं० ५२२८, मार्च २००३ ई०
संख्या ३
पूर्ण संख्या ९१६

श्रीरामकथाके संदर्भमें शिव-पार्वती-संवाद

बंदउँ पद धरि धरनि सिरु बिनय करउँ कर जोरि।
बरनहु रघुबर बिसद जसु श्रुति सिद्धांत निचोरि॥

× × ×
अति आरति पूछउँ सुरराया। रघुपति कथा कहहु करि दाया॥
प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी॥

× × ×
प्रस्न उमा कै सहज सुहाई। छल बिहीन सुनि सिव मन भाई॥
हर हियँ रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए॥
श्रीरघुनाथ रूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा॥

मगन ध्यानरस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह।
रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह॥

(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड)

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,५०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र, वि० सं० २०५९, श्रीकृष्ण-सं० ५२२८, मार्च २००३ ई०

विषय — पृष्ठ-संख्या

१- श्रीरामकथाके संदर्भमें शिव-पार्वती-संवाद ५४१
२- प्रेमयोग [लीला-दर्शन] ५४३
३- वेदादि वाङ्मयमें भगवत्प्रेम-साधना
(पं० श्रीदत्तपादाचार्यजी भिषगाचार्य) ५४६
४- प्रेम और भक्तिका सम्बन्ध
(आचार्य पं० श्रीचन्द्रभूषणजी ओझा) ५४८
५- 'मोपे रीझ गये मनमीत, सखि तू का जाने'
(श्रीबेताबजी केवलारवी) ५५२
६- भगवत्प्रेममें अनन्यता एवं प्रपन्नता
(डॉ० श्रीकमलाकान्तजी शर्मा 'कमल',
एम्०ए०, पी-एच्०डी०) ५५३
७- व्रजगोपियोंकी योगधारणा
(श्रीप्रेमनारायणजी त्रिपाठी 'प्रेम') ५५८
८- प्रेमी मुक्ति नहीं चाहता [प्रे०—श्रीबलरामजी सैनी] ५५९
९- भगवद्भक्ति और भगवत्प्रेमका तादात्म्य
(डॉ० श्रीविश्वम्भरनाथजी पाण्डेय, एम्०ए०,
पी-एच्०डी०, एल्-एल्०बी०) ५६२
१०- भगवत्प्रेमका तात्त्विक विवेचन
(डॉ० श्रीनरेशजी झा, शास्त्रचूडामणि) ५६४

विषय — पृष्ठ-संख्या

११- भजन-भावकी सिद्धि कैसे?
(डॉ० श्रीसत्यपालजी गोयल, एम्०ए०,
पी-एच्०डी०, आयुर्वेदरत्न) ५६७
१२- 'प्रेम न बाड़ी ऊपजै'
(श्री एन० आर० शर्मा) ५६९
१३- 'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं
मैं जाना' (श्रीरामपदारथ सिंहजी) ५७२
१४- प्रेमीकी प्रभुसे प्रार्थना
(श्रीसुशीलजी चौमाल) ५७५
१५- प्रेमकल्पलता श्रीराधाजी
(डॉ० श्रीसुरेशनन्दनप्रसादसिंहजी 'नीलकण्ठ') ५७७
१६- *भक्तोंके पावन चरित—*
[१] भगवत्प्रेमके आदर्श—शबर-दम्पति
(श्रीघनशाम सीतारामजी पंत शुक्ल) ५८०
[२] रसिकभक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ५८२
[३] नन्दलालकी सूरतपर क़ुरबान शाहज़ादी ताज
(प्रो० श्रीइन्द्रदेवप्रसादसिंहजी) ५८३
[४] श्रीराम-प्रेम—एक रामबाण ओषधि
(एक साधक) ५८६

* * *

चित्र-सूची

१- प्रेमसिन्धुसार विश्वमोहन भगवान् श्रीकृष्ण (रंगीन) .... आवरण-पृष्ठ
२- श्रीरामकथाके संदर्भमें शिव-पार्वती-संवाद ('') .... मुख-पृष्ठ
१- देवी कुन्तीका भगवान् श्रीकृष्णसे प्रेमाभक्तिका वरदान माँगना (रेखा-चित्र) ५६०
२- गोलोकमें भगवती राधाका दिव्य प्राकट्य ('') ५७१
३- आगमें जली हुई शबरीको पुनर्जीवनकी प्राप्ति ('') ५८१

* * *

वार्षिक शुल्क
भारतमें १२० रु०
सजिल्द १३५ रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$25 (Air Mail)
US$13 (Sea Mail)

[परिशिष्टाङ्क २]

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

पञ्चवर्षीय शुल्क
भारतमें ६०० रु०
सजिल्द ६७५ रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$125 (Air Mail)
US$65 (Sea Mail)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित
visit us at: **www.gitapress.org** | e-mail: **gitapres@ndf.vsnl.net.in**

प्रेमयोग

लीला-दर्शन—

[१]

एक समय श्रीधाम—द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी रात्रिकालमें श्रीरुक्मिणी, सत्यभामाप्रभृति-प्रधाना षोडश सहस्र राजमहिषियोंके मध्य शयन कर रहे थे। स्वप्नावस्थामें आप अकस्मात् 'हा राधे! हा राधे!' उच्चारण करते हुए क्रन्दन करने लगे। जब अन्य किसी प्रकार प्रभुका क्रन्दन नहीं रुका तो बाध्य होकर महारानी श्रीरुक्मिणीदेवीने अपने प्राणवल्लभको चरण-संवाहनपूर्वक जाग्रत् किया। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र निद्राभङ्ग होनेपर किञ्चित् लज्जित हुए और उन्होंने अति चतुराईसे अपना भाव गोपन कर लिया एवं पुनः निद्रित हो गये। परंतु इसका रहस्य जाननेके लिये महारानियोंके हृदयमें अत्यन्त व्यग्रता उत्पन्न हुई। सब परस्पर कहने लगीं—देखो, हम सब सोलह सहस्र महिषी हैं और कुल, शील, रूप एवं गुणमें कोई भी अन्य किसी रमणीसे न्यून नहीं है, तथापि हमारे प्राणवल्लभ किसी अन्य रमणीके लिये इतने व्याकुल हैं, यह तो बड़े ही विस्मयकी बात है। रात्रिमें स्वप्नावस्थामें भी जिस रमणीके लिये प्रभु इतने व्याकुल होते हैं वह रमणी भी, न मालूम कितनी रूप-गुणवती होगी?

इसपर श्रीरुक्मिणीदेवी कहने लगीं—'हमने सुना है कि वृन्दावनमें राधा नामकी कोई एक गोपकुमारी है, हमारे प्राणेश्वर उसके प्रति अत्यन्त आकृष्ट हैं, इसीलिये रूपलावण्यवैदग्ध्यपुञ्ज नयनाभिराम श्रीप्राणनाथ हम सबके द्वारा परिसेवित होकर भी उस सर्वचित्ताकर्षक चित्ताकर्षिणीके अलौकिक गुणग्राम भूल नहीं सके हैं।' श्रीसत्यभामादेवी कहने लगीं—'सब ठीक ही है तो भी वह एक गोपकन्याके सिवा तो कुछ नहीं, फिर उसके प्रति हमारे प्राणकान्त इतने आसक्त क्यों हैं? अस्तु, जो कुछ भी क्यों न हो, हमारी सम्मतिमें तो इस सम्बन्धमें रोहिणीमातासे पूछनेपर ही इसका ठीक-ठीक पता लग सकेगा; क्योंकि उन्होंने स्वयं वृन्दावनमें वास किया है और उस समयकी सम्पूर्ण घटनाओंको वे ही भलीभाँति जानती हैं।'

यह प्रस्ताव सबको रुचा। रात्रि बीती, प्रातःकाल हुआ। श्रीकृष्णचन्द्र प्रातःकृत्य समापन करके राजसभाको पधारे और यथासमय पुनः अन्तःपुर पधारकर स्नानादि समाधानपूर्वक भोजन करने बैठे। राजभोग सम्मुख आकर उपस्थित हुए, उद्धवादि सखावृन्दसहित प्रभुने भोजन किया और आचमन करके किञ्चित् विश्रामपूर्वक पुनः राजसभाको गमन किया। अवसर पाकर महारानियोंने श्रीरोहिणीदेवीको पूर्वरात्रिकी घटना सुनाकर उनसे व्रजवृत्तान्त पूछा। माताजी कहने लगीं—'प्यारी पुत्रियो! यद्यपि मैं व्रजलीलाकी सम्पूर्ण घटनाएँ जानती हूँ, किंतु माता होकर पुत्रकी गुप्त लीलाओंका रहस्य किस प्रकार कह सकती हूँ? यदि राम-कृष्ण यह कथा सुन लें तो फिर लज्जाकी सीमा न रहेगी।'

इसपर महिषीगण कहने लगीं—'माताजी! जिस किसी प्रकारसे भी हो सके, हमें व्रजलीलाकी कथा तो आपको अवश्य ही सुनानी होगी।' माताजीने कहा—'तब एक उपाय करो, सुभद्राको द्वारपर पहरेके लिये बैठा दो, कह दो किसीको अंदर न आने दे, फिर मैं निःसंकोच तुम्हारे निकट व्रजलीलाका वर्णन करूँगी।' माताजीने यह कहकर सुभद्राकी ओर देखा और कहा—'सुभद्रे! यदि राम-कृष्ण आयें तो उन्हें भी कदापि भीतर मत आने देना।' माताजीका आदेश पालन किया गया। सुभद्रा 'जो आज्ञा' कहकर द्वार-रक्षा करने लगीं। महिषीवृन्द माताजीको चारों ओरसे घेरकर बैठ गयीं और माताजीने सुमधुर व्रजलीलाका वर्णन करना आरम्भ किया।

इधर राजसभामें राम-कृष्ण दोनों भाई चञ्चल हो उठे। जब किसी प्रकार भी राजसभामें नहीं ठहर सके तो उत्कण्ठित-चित्त होकर अन्तःपुरकी ओर चल पड़े। आकर देखते हैं कि सुभद्रादेवी द्वारपर खड़ी हैं। उन्होंने सुभद्रादेवीसे पूछा—'तुम आज यहाँ क्यों खड़ी हो? द्वार छोड़ दो, हमलोग भीतर जायँ।' सुभद्रादेवीने कहा—'रोहिणी माने इस समय तुम्हारा अन्तःपुरमें प्रवेश निषेध कर रखा है, अतः तुमलोग अभी भीतर नहीं जा सकोगे।' यह सुनकर जब दोनों भाई आश्चर्यान्वित होकर इस निषेधका कारण ढूँढ़ने लगे तो माताजीकी वह रहस्यपूर्ण व्रजलीलात्मक वार्ता उन्हें सुनायी दी। वह वार्ता श्रीवृन्दावनचन्द्रकी परमकल्याणमय, परमपावन, अद्भुत मङ्गलरासविहारात्मक थी। सुनते-सुनते दोनों भाइयोंके मङ्गल श्रीअङ्गोंमें अद्भुत प्रेम-विकारके लक्षण दिखायी देने लगे। क्रमशः दोनों ही प्रेमानन्दमें विह्वल हो गये। अविश्रान्त प्रेमाश्रुकी मन्दाकिनीधारा प्रवाहित होकर दोनोंके गण्डस्थल एवं वक्षःस्थलको प्लावित करने लगी। यह देखकर सुभद्रादेवी भी एक अनिर्वचनीय महाभावावस्थाको प्राप्त हो गयीं।

जिस समय माताजी स्वामिनी श्रीवृन्दावनेश्वरीजीकी अद्भुत प्रेमवैचित्त्यावस्थाका वर्णन करने लगीं, उस समय श्रीबलरामजी किसी प्रकार भी धैर्य धारण न कर सके। उनके धैर्यका बाँध टूट गया, श्रीअङ्गमें इस प्रकार महाभावका प्रकाश हुआ कि उनके श्रीहस्त-पद संकुचित होने लगे और जब माताजी निभृत निगूढ़-विलास वर्णन करने लगीं, तब तो श्रीकृष्णचन्द्रजीकी भी यही अवस्था हुई। दोनों भाइयोंकी यह अद्भुत अवस्था देखकर सुभद्रादेवीकी भी यही अवस्था हो गयी। तीनों मङ्गलस्वरूप ही महाभावस्वरूपिणी स्वामिनी श्रीवृन्दावनेश्वरीजीके अपार महाभावसिन्धुमें निमज्जित होकर ऐसी स्वसंवेद्यावस्थाको प्राप्त हो गये कि वे लोगोंके देखनेमें निश्चल स्थावर प्रतिमूर्तिस्वरूप परिलक्षित होने लगे। निश्चल निर्वाक् स्पन्दरहित महाभावावस्था! अतिशय मनोऽभिनिवेशपूर्वक दर्शन करनेपर भी श्रीहस्त-पादावयव किञ्चित् भी परिलक्षित नहीं हो सकते थे। आयुधराज श्रीसुदर्शनजीने भी विगलित होकर लम्बिताकार धारण कर लिया।

इसी समय स्वच्छन्दगति देवर्षि नारदजी भगवद्दर्शनके अभिप्रायसे श्रीधाम—द्वारकामें आ उपस्थित हुए। उन्होंने राजसभामें जाकर सुना कि राम-कृष्ण दोनों भाई अन्त:पुर पधारे हैं। देवर्षिजीकी सर्वत्र अबाधगति तो है ही, अन्त:पुरके द्वारपर जाकर उन्हें जो अद्भुत दर्शन हुए, उससे देवर्षिजी स्तम्भित हो गये। इस प्रकारका दर्शन उन्होंने पूर्वमें कभी नहीं किया था। निज प्राणनाथकी ऐसी अद्भुत अवस्थाके कारणका विचार करते हुए प्रेमविवश स्तम्भभावको प्राप्त होकर देवर्षिजी भी वहीं चुपचाप खड़े रह गये। कुछ ही क्षण पश्चात् जब माताजीने पुन: किसी एक रसान्तरका प्रसंग उठाया, तब उन सबको पूर्ववत् स्वास्थ्य-लाभ हुआ।

सिद्धान्तत: रसान्तरद्वारा रसापत्तिका विदूरित होना सङ्गत ही है। इसी अवसरपर महाभावविस्मित देवर्षि नारदजीने बहुविध स्तव—स्तुति करना आरम्भ कर दिया। करुणावरुणालय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने देवर्षिद्वारा स्तुत होकर प्रसन्नतापूर्वक कहा—'देवर्षे! आज बड़े ही आनन्दका अवसर है। कहिये, मैं आपका क्या प्रीति सम्पादन करूँ?' देवर्षिने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'प्रभो! वर्तमानमें यहाँपर उपस्थित होकर आप सबका जो एक अदृष्टाश्रुतपूर्व महाभावावेश परिलक्षित हुआ है, स्वरूपत: वह क्या पदार्थ है और किस प्रकार उस महाभावावस्थाका प्राकट्य हुआ? कृपया सविशेष उल्लेख करके दासको कृतार्थ कीजिये। सर्वप्रथम तो सेवामें यही एकान्त निवेदन है।' भक्तवत्सल श्रीभगवान् अमन्दहास्यचन्द्रिकापरिशोभित सुन्दर श्रीवदनचन्द्रमासे देवर्षि नारदजीके सर्वात्माको आप्यायित करते हुए इस प्रकार वचनामृत-वर्षण करने लगे—'देवर्षे! प्रात: तथा मध्याह्न-कृत्यसमापनपूर्वक जिस समय हम दोनों भाइ राजसभामें समासीन थे, उसी समय महिषीगणके द्वारा पूछे जानेपर माता रोहिणीने महाचित्ताकर्षिणी अपार माधुर्यमयी व्रजलीला-कथाकी अवतारणा की। महामाधुर्यशिखरिणी व्रजलीलावार्ताका ऐसा प्रभाव है कि हम जहाँ और जिस अवस्थामें भी हों, हमें वहींसे और उसी अवस्थामें ही आकर्षण करके वह कथास्थलपर खींच लाता है। हम दोनों भाई ऐसे ही आकर्षित होकर यहाँ उपस्थित हुए और देखा कि सुभद्राजी द्वारपालिकारूपमें द्वारपर खड़ी हैं। उत्कण्ठावश अन्त:प्रवेशकाम हम दोनों श्रीसुभद्राद्वारा रोके जानेपर प्रवेशनिषेधका कारण ढूँढ़ते रहे, उसी समय श्रीमाताजीके मुखारविन्दविगलित अत्यद्भुत व्रजलीलामाधुरीने कर्णगत होकर हमारे हृदय विगलित कर दिये। तत्पश्चात् जो अवस्था हुई उसका तो आपने प्रत्यक्ष दर्शन किया ही है। मेरी प्राणेश्वरी महाभावरूपिणी श्रीस्वामिनीजीके महाभावकर्तृक सम्पूर्ण भावसे ग्रसित होनेके कारण हम आपका पधारना भी नहीं जान सके।' इतना कहकर भगवान्ने जब देवर्षिजीसे पुन: वर ग्रहणका अनुरोध किया तो देवर्षिजी प्रार्थना करने लगे—'भगवन्! मैं और किसी वरका प्रार्थी नहीं हूँ। निजजनोंके सर्वाभीष्टप्रदाता चरणयुगलमें केवल यही प्रार्थना है कि आप चारोंकी जो एक अत्यद्भुत महाभावावेशमूर्ति मैंने प्रत्यक्ष दर्शन की है, वही भुवनमङ्गल स्वरूप जनसाधारणके नयनगोचरीभूत होकर सर्वदा इस पृथिवीतलपर विराजमान रहे।'

'माया-संनिपातमें ग्रस्त जीवसमूह एवं तद्दर्शनविरहकातर भक्तजनके लिये वह महासंजीवनी रसायन स्वरूपचतुष्टय सर्वोत्कर्षतासहित जययुक्त होवे।' करुणायतन भक्तवाञ्छा-पूर्णकारी श्रीभगवान्ने कहा—'देवर्षे! इस विषयमें मैं पूर्वसे ही अपने दो और परमभक्तोंके प्रति भी आपके प्रार्थनानुरूप ही वचनबद्ध हूँ—प्रथम भक्तचूडामणि महाराज इन्द्रद्युम्न और द्वितीय परमभक्तिस्वरूपिणी श्रीविमलादेवी। निखिलप्राणि-कल्याणहित भक्तचूडामणि महाराज इन्द्रद्युम्नकी घोरतर तपस्यासे प्रसन्न होकर मैं नीलाचलक्षेत्रमें दारुब्रह्मस्वरूपमें अवतीर्ण होकर जनसाधारणको दर्शन देनेका वर प्रदान कर चुका हूँ तथा महाविद्यास्वरूपिणी श्रीविमलादेवीद्वारा अनुष्ठित

महातपस्यासे प्रसन्न होकर उनकी प्राणिमात्रको बिना विचार किये महाप्रसाद वितरण करनेकी प्रतिज्ञाको उक्त स्वरूपसे ही पूर्ण करनेकी स्वीकृति दे चुका हूँ। अतएव इन तीनों उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये हम चारों इसी स्वरूपमें आगामी कलियुगमें लवणसमुद्रतटवर्ती नीलाचलक्षेत्रमें अवतीर्ण होकर प्रकाशमान रहेंगे।'

सर्वजीवकल्याणव्रत देवर्षि श्रीनारदजीने मनोवाञ्छित वर प्राप्त करके प्रभु-चरणारविन्दमें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और मधुर वीणासे करुणावारिधि श्रीप्रभुके अमृतमय नामगुणमाधुरीका गान करते-करते यदृच्छागमन किया। श्रीराम-कृष्णने भी माताजीके कथञ्चित् संकोचकी आशंका करके उस स्थानसे प्रस्थान किया। ये ही मूर्तिचतुष्टय श्रीकृष्ण, बलराम, सुभद्रा एवं सुदर्शनरूपसे श्रीनीलाचल-क्षेत्रको विभूषित करके अद्यापि विराजमान हैं।

[२]

एक बार श्रीराधाजी अपनी सखियोंसहित सिद्धाश्रम नामक तीर्थमें स्नान करने गयीं। उसी तीर्थमें भगवान् श्रीकृष्ण भी अपनी सोलह हजार रानियों और रुक्मिणी, सत्यभामा आदि आठों पटरानियोंसहित पधारे। भगवान्की रानियाँ और पटरानियाँ भगवान्के श्रीमुखसे सदा ही श्रीराधाजी एवं श्रीगोपियोंके प्रेमकी प्रशंसा सुनती थीं। आज वह शुभ अवसर जानकर भगवान्की महिषियोंने श्रीराधाजीसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की और भगवान्की आज्ञा लेकर उनके साथ सब श्रीराधाजीसे मिलने गयीं। श्रीराधाजीको समस्त सखियोंसमेत भगवान्के दर्शनसे बड़ा ही सुख मिला। पश्चात् श्रीराधाजीने भगवान्की समस्त पटरानियोंका बड़ा ही सत्कार किया। बातचीतमें उन्होंने कहा—'बहिनो! चन्द्रमा एक होता है, परंतु चकोर अनेक होते हैं। सूर्य एक होता है, परंतु नेत्र अनेक होते हैं। इसी प्रकार हमारे प्रियतम भगवान् श्रीकृष्ण एक हैं और हम उनकी भक्ता अनेक हैं'—

चन्द्रो यथैको बहवश्चकोराः
सूर्यो यथैको बहवो दृशः स्युः।
श्रीकृष्णचन्द्रो भगवांस्तथैको
भक्ता भगिन्यो बहवो वयं च॥

श्रीराधाजीके शील, स्वरूप, सौन्दर्य, गुण और व्यवहारका महिषियोंपर बड़ा ही प्रभाव पड़ा। वे आग्रह करके श्रीराधाजीको अपने स्थानपर लायीं और उनका यथासाध्य सबने बड़ा ही सत्कार किया। भोजनादिके उपरान्त रातको श्रीराधाजीको भगवान्की आज्ञासे श्रीरुक्मिणीजीने स्वयं दूध पिलाया। अनेक प्रकार प्रेमसंलाप होनेके अनन्तर श्रीराधाजी अपने स्थानपर पधार गयीं। भगवान् अपने शयनागारमें लेटे हुए थे। श्रीरुक्मिणीजी नित्यनियमानुसार वहाँ जाकर भगवान्के चरण दबाने बैठीं। चरणोंके दर्शन करते ही वे आश्चर्यमें डूब गयीं। उन्होंने देखा—भगवान्की तमाम चरणस्थलीपर फफोले पड़ रहे हैं। श्रीरुक्मिणीजीने अपनी संगिनी सब रानियोंको बुलाकर भगवान्के चरण दिखाये। सभी चकित और स्तम्भित हो गयीं। भगवान्से पूछनेकी हिम्मत किसीको नहीं। तब श्रीभगवान्ने आँखें खोलकर सब रानियोंके वहाँ जमा होने और यों चकित रह जानेका कारण पूछा—श्रीरुक्मिणीजीने बड़ी ही विनम्रताके साथ पैरके तलुओंमें फफोलोंकी बात कहकर भगवान्से ऐसा होनेका कारण पूछा। भगवान्ने पहले तो बातको टाल दिया, परंतु बहुत आग्रह करनेपर उन्होंने कहा—'देखो, तुमलोगोंने श्रीराधाजीको जो दूध पिलाया था, वह गरम अधिक था। इसीलिये मेरे पैरमें फफोले पड़ गये।' रानियोंकी समझमें यह बात नहीं आयी। उन्होंने पूछा—'दूध यदि गरम था तो उससे श्रीमतीजीका मुँह जलता, आपके पैरके फफोलोंसे उसका क्या सम्बन्ध?' भगवान्ने मुसकराते हुए कहा—श्रीराधाजीके हृदयकी बात ही निराली है—

श्रीराधिकाया हृदयारविन्दे
पादारविन्दं हि विराजते मे।
अहर्निशं प्रश्रयपाशबद्धं
लवं लवार्धं न चलत्यतीव॥
अद्योष्णदुग्धप्रतिपानतोऽङ्घ्रा-
वुच्छालकास्ते मम प्रोच्छलन्ति।
मन्दोष्णमेवं हि न दत्तमस्यै
युष्माभिरुष्णं तु पयः प्रदत्तम्॥

'श्रीराधिकाजीके हृदयकमलमें मेरे चरणकमल दिन-रात प्रेमपाशमें बँधे विराजते हैं। एक क्षण या अर्ध क्षणको भी उस बन्धनसे छूटकर वे वहाँसे नहीं हट सकते। तुमने दूध जरा ठंडा करके नहीं दिया, बहुत गरम दे दिया और श्रीराधाजी उसे तुम्हारा दिया हुआ जानकर पी गयीं। दूध हृदयमें गया और मेरे चरण उससे जल गये, इसीसे फफोले पड़ गये।'

भगवान्के वचन सुनकर श्रीरुक्मिणीजी, सत्यभामाजी आदि सभी महारानियोंको बड़ा ही आश्चर्य हुआ और वे श्रीराधाजीके प्रेमके सामने अपने प्रेमको बहुत ही तुच्छ मानने लगीं।

* * *

वेदादि वाङ्मयमें भगवत्प्रेम-साधना

(पं० श्रीदत्तपादाचार्यजी भिषगाचार्य)

भारतीय धर्म एवं संस्कृतिका मूलाधार ग्रन्थ वेद है। वेद विश्वका प्राचीनतम ग्रन्थ है। परमेश्वरने मानवसृष्टिके पूर्व मानवके कल्याणार्थ वेदका प्रादुर्भाव किया, अतः वेदको अनादि माना गया है। वेद शब्दका अर्थ—ज्ञान, ज्ञानका विषय और ज्ञानके साधन इत्यादि हैं। महातपा एवं ऋतम्भरा प्रज्ञासम्पन्न ऋषियोंने अपने पवित्रतम चित्तमें वेद-मन्त्रोंका दर्शन किया, अतः उसका नाम वेद प्राप्त हुआ। 'वेद' लौकिक एवं अलौकिक ज्ञानके साधन हैं। जिसमें शब्दोच्चार शुद्ध और सच्चे होनेपर फल उत्पन्न करनेवाली गूढ शक्ति निहित होती है, वह वेद है। जिस शब्दसमूहके द्वारा अव्यक्त विचार व्यक्त होता है वह शब्दसमूह वेद है। श्रीसायणाचार्यजी लिखते हैं—'**इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः**'। अर्थात् ईप्सित फलकी प्राप्ति और अनिष्ट वस्तु दूर करनेका मानवबुद्धिसे अगम्य उपाय जो ग्रन्थ दिखाता है, उसको वेद कहा गया है। प्राचीनकालमें जिनको वेद-मन्त्रोंका दर्शन हुआ, वे मन्त्रद्रष्टा महात्मा ऋषि कहे गये '**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः**'।

शब्दकी चार अवस्थाएँ होती हैं—(१) परा, (२) पश्यन्ती, (३) मध्यमा और (४) वैखरी। परावाक्‌का तात्पर्य है—सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान। इसको ही वेद कहते हैं (ऋग्वेद १।१६४।४५)। वेद अनादि एवं नित्य वाणी कही गयी है। वेद धर्मके मूल हैं, यह निश्चित होनेसे वेदके प्रामाण्य त्रिकालाबाधित सत्य हैं।

भारतदेश भक्तिरसस्निग्ध देश है। भक्तिकी मधुर एवं पवित्र धारासे इसका प्रत्येक भूभाग भीगा हुआ है।

इस भगवत्प्रेमरूपी भक्तिका उद्‌गम वेदमें ही स्पष्टतः दिखायी पड़ता है। वेदवाङ्मय जिस प्रकार ज्ञान एवं कर्मके उद्‌गमस्थान हैं, वैसे ही ये भक्ति एवं प्रेमके भी उद्‌गमस्थान हैं।

ऋग्वेद प्रमुखतः स्तुतिप्रधान उपासनापरक ग्रन्थ है। उसमेंसे बहुत-से सूक्त किसी-न-किसी देवताविषयकके स्तुतिरूपमें हैं, जिनमें भक्त ऋषियोंके कोमल प्रेमभाव, भावुक हृदय एवं श्रद्धा और आस्थाके दर्शन होते हैं। स्तुति करते समय वे ऋषि उन देवताओंसे माता-पिता, बन्धु, सखा इत्यादि सम्बन्ध जोड़ते हुए ही दिखायी पड़ते हैं। हृदयमें प्रेम किंवा अनुरागका अस्तित्व देवताओंके साथ माता-पिता इत्यादि सम्बन्ध जोड़े बिना शक्य नहीं है। ऋषियोंद्वारा की हुई देव-स्तुतियाँ भगवत्प्रेमकी द्योतक हैं। वैदिक भक्तिमें स्तुति, प्रार्थना एवं उपासना—ये तीनों अङ्ग प्रविष्ट हैं।

प्रभुमें दीनोंके प्रति, अनाथोंके प्रति दया-भावना सदैव होती है, ऐसा वैदिक ऋषियोंका विश्वास है। देवता यदि भक्तोंके माता किंवा पिता होंगे तो उनकी करुणा भक्तोंके प्रति विशेष फलदायक होगी। इसलिये वैदिक ऋषियोंने उपास्य-उपासकका, पिता-पुत्रका, किंवा माता-पुत्रका सम्बन्ध प्रतिष्ठित कर भगवान्‌के प्रति अपनी प्रीतिका निवेदन किया है। प्रिय मित्र प्रत्येक बातमें अपने मित्रकी सहायता कर सकता है। सुख-दुःखादिमें सहभागी भी हो सकता है। ऐसे प्रिय मित्रके ऊपर अपना एक प्रकारका अधिकार-सा होता है। इस अधिकारके बलपर हम मित्रको अपनी सहायताके लिये खींच ला सकते हैं। वैदिक ऋषियोंने अपने इष्टदेवको इस प्रकारकी मित्र-भावनासे भी देखा है। उपर्युक्त भावनाओंसे सम्बन्धित कुछ मन्त्र इस प्रकार हैं—

अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ अस्ति देवता विदानः।
न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध॥

(ऋक्० १।१६५।९)

हे परम ऐश्वर्यसम्पन्न प्रभो! हे सर्वप्राचीन, सनातन और शाश्वत परमेश्वर! आपके अस्तित्वसे बड़ा अस्तित्व इस जगत्‌में किसीका भी नहीं है। आपकी सत्ता ही सर्वोपरि सत्ता है। आपके जैसा कोई भी ज्ञानी देव ही नहीं है। आप जो कुछ करनेवाले हैं, वह इस जगत्‌में जन्मे हुए और बादमें जन्म लेनेवाले प्राणियोंमें कोई भी समझ सकनेवाला नहीं है। आपका व्यक्तित्व और आपका ज्ञान

अद्वितीय है।

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे॥ (ऋक्० ८।९८।११)

हे शतक्रतो इन्द्र! आप हमारे पिता हैं। आप ही हमारी माता हैं। आपके पाससे ही आनन्द-प्राप्तिकी आकाङ्क्षा करता हूँ।

सखा पिता पितृतमः पितॄणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः॥

(ऋक्० ४।१७।१७)

अर्थात् इन्द्र अपने उपासकोंके केवल सखा और केवल पिता ही नहीं हैं, बल्कि वे तो पिताओंमें भी सर्वश्रेष्ठ हैं।

इस समस्त विश्वके कारणभूत विष्णुकी हम अपनी मतिके अनुसार स्तुति करें। वे ऋतके गर्भ अर्थात् वेदान्तवाक्यके प्रतिपाद्य हैं। उनकी स्तुति करनेपर जन्म-मरण नहीं होता। यदि स्तुति करना शक्य नहीं है तो उनका जप (उनके नामका बार-बार उच्चारण) करें। हमलोग उन (विष्णु)-के तेजकी और उनके गुणातीत रूपकी प्रेमलक्षणात्मक सेवा (भक्ति) करते हैं—

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
आस्य जानन्तो नाम चिद् विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे॥

(ऋक्० १।१५६।३)

वेदके ऐसे ही अनेक मन्त्रोंमें भगवत्प्रेमोपासनाके बीज परिलक्षित होते हैं। यजुर्वेद (२५।१८, ३६।९, २३।३, ३२।१०, ३६।२) तथा अथर्ववेद (१०।८।४४, १९।५२।३) इत्यादिमें भी ऋषियोंके प्रेमतत्त्वके दर्शनकी बातें वर्णित हैं।

संहिताओं (मन्त्रभाग)-के साथ ही वेदका दूसरा भाग है ब्राह्मणभाग, जो ब्राह्मणग्रन्थ कहलाता है। दोनोंका समवेतत्व ही वेदनामधेय है—**'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** ब्राह्मणग्रन्थोंमें भगवत्प्रेम-उपासनाके क्षेत्रमें भक्तिके विशेष संकेत मिलते हैं। शतपथब्राह्मणमें ज्ञान और उपासनाकी सामग्री उपलब्ध है। गोपथब्राह्मणमें अनुरागात्मिका भक्तिको ज्ञानका रस माना गया है। आरण्यकोंसे पता चलता है कि भक्तिमार्गमें क्रियात्मक पक्ष—योगके कुछ तत्त्व भी प्रविष्ट हुए हैं। यद्यपि उपनिषद् ज्ञानको प्राधान्य देनेवाले हैं तथापि उनमें प्रेमभक्तिकी महत्ता कभी प्रच्छन्नरूपमें तो कभी अप्रच्छन्नरूपमें दिखायी पड़ती है।

वैष्णवभक्ति-सम्प्रदायमें 'प्रसाद' शब्दका एवं नैवेद्यपदार्थका महत्त्व वर्णित है। इस प्रसादतत्त्वका कठोपनिषद्‌मेंसे ही भक्तिमार्गमें प्रविष्ट हुआ है। श्रीमद्भागवत (२।१०।४)-में भगवत्प्रसादको पोषण कहा गया है। इस पोषणको वल्लभाचार्यजीने अपने भक्तिमार्गका प्रधान सिद्धान्त बनाया और अपने सिद्धान्तका नाम 'पुष्टिमार्ग' रखा। वह प्रेमलक्षणा-भक्ति ही है। 'भक्ति' शब्दका प्रयोग करते हुए श्वेताश्वतर-उपनिषद् (६।२३)-में कहा गया है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

अर्थात् जिसकी श्रेष्ठ भक्ति देवमें है, वैसी ही भक्ति गुरुमें भी है, उस महात्मा पुरुषके हृदयमें ही रहस्यमय अर्थ प्रकाशित होते हैं। अतः जिज्ञासु (शिष्य)-को पूर्ण श्रद्धालु और भक्त बनना चाहिये। इस पराभक्तिको ही वैष्णवमतमें प्रपत्ति (शरणागति) कहा गया है। वास्तविक शरणागति भगवत्प्रेमके बिना बनती दीखती नहीं। इस प्रपत्तिमें भगवान् उपाय भी हैं और उपेय भी। इस प्रकार पूर्ण शरणागत होनेपर वे भगवान् अपनी निर्मल दयासे भक्तका उद्धार कर देते हैं। यह प्रपत्तिसिद्धान्त श्वेताश्वतर-उपनिषद् (६।१८)-में स्पष्टतः वर्णित है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

श्रीमद्भगवद्गीता (१८।६५-६६)-में भी भगवत्प्रेमका एवं प्रपत्तिका भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे अर्जुनको उपदेश दिया है। इस प्रकार वेद मन्त्रोंमें मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंका जो भगवत्प्रेम निर्दिष्ट है, वही आगे चलकर प्रेमभक्ति एवं उपासनाका प्रशस्त पथ बन गया।

~~~
~~~

प्रेम और भक्तिका सम्बन्ध

(आचार्य पं० श्रीचन्द्रभूषणजी ओझा)

परमात्मा आनन्दकी चरम अनुभूति है। परमात्माको पहचानना और उसके साथ एकाकार होकर परमानन्दकी मस्तीमें मस्त हो जाना ही मानव-जीवनके उद्देश्यकी पूर्णता है। पूर्ण ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये भक्तको पहले शून्य अर्थात् अहंकाररहित होना पड़ता है। जिनकी आँखें निर्मल हैं, स्वच्छ हैं, जिनके चित्त निर्विकार हैं तथा शान्त भी, उन्हें कण-कणमें परमात्माका साक्षात्कार होता रहता है। भगवान् श्रीरामने अपनी प्राप्तिके लिये इस शर्तकी घोषणा की है—

'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥'

(रा०च०मा० ५।४४।५)

प्रेमके क्षणमें ही मन विचारोंसे शून्य होता है। भक्त शून्यकी स्थितिमें ही परमात्मासे एकाकार होता है और यही स्थिति योगीकी भी होती है। वह एकाकार होकर परमात्माका साक्षात्कार करके शून्य हो जाता है। इन दोनों दशाओंमें ही पूर्णब्रह्मका अवतरण होता है। संसारमें योगी और भक्त दोनोंके लिये प्रत्येक क्षण घटनेवाली घटना आनन्दका आधार बनती जाती है, फिर पूर्णताकी स्थितिमें परमात्मा ही जीवनमें छाया रहता है। इस स्थितिमें भक्त और भगवान्‌की दूरी समाप्त हो जाती है। यहाँतक कि भक्त प्रेमकी आनन्दमयी स्थितिमें भगवान् हो जाता है। महाकवि देवके भावोंमें राधिकाजीकी स्थिति द्रष्टव्य है—

राधिका कान्ह को ध्यान धरै, तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै।
त्यों अँसुवा बरसैं बरसाने को पाती लिखै, लिखि राधिकै ध्यावै।
राधे ह्वै जाय घरीक मैं, 'देव' सु प्रेम की पाती लै छाती लगावै।
आपुने आपुही मैं उरझै, सुरझै बिरुझै समुझै समुझावै॥

भक्तकी शून्यताकी स्थितिमें ही प्रेमका अवतरण होता है। इस स्थितिमें दो प्रेमी हृदय अर्थात् शून्य हृदय परस्पर सम्पृक्त हो जाते हैं, तब अन्तस्‌में एक दिव्य ऊर्जा, एक अनुपम संगीत, एक अविचल आनन्दका प्रवाह प्रवाहित होने लगता है। यह अनिर्वचनीयताकी अवस्था होती है। यही स्थिति स्वात्मानुभवकी होती है। स्वात्मानुभव ही परमात्मानुभव है।

यदि जीवनमें प्रेमके पुष्प एक बार खिल जायँ तो कभी पतझड़ नहीं होता। प्रेमकी इस आनन्दमयी स्थितिमें परमात्माको अपना बना लेना तथा स्वयं उनका बन जाना ही भक्तकी परम उपलब्धि है। प्रेम क्या है तथा कैसे प्राप्त हो सकता है, पहले यह विचारणीय है। 'प्रेम' ढाई अक्षरका लघुकाय शब्द है, इसमें क्या-क्या छिपा है, इसे पूरी तरह जाननेका दावा कोई नहीं कर सकता।

'प्रेम'का अर्थ है आत्मसंयम और दूसरोंकी सेवा-सहायता। प्रेम जीवमात्रमें उसी प्रकार छिपा है, जिस प्रकार पत्थरके भीतर मूर्ति। मूर्ति न तो बनायी जाती है और न प्रेम पैदा किया जाता है। ये दोनों मात्र अनावृत किये जाते हैं। एक मूर्तिकार शिल्पी मात्र बाहरके व्यर्थ आवरणोंको काटकर अलग कर देता है, परिणामतः पत्थरमें मूर्ति स्वयं प्रकट हो जाती है। ठीक इसी प्रकार प्रेम जीवमात्रमें है, प्रेम मानवमात्रका स्वभाव है। यदि परिस्थितिवश मानवके ऊपर गलत संस्कृति और अनुचित संस्कारोंका प्रभाव न हो तो प्रत्येक व्यक्तिको प्रेमकी झलक लग ही जायगी। आजके परिवेशमें 'प्रेम' शब्द इतना गर्हित, निन्दित बना दिया गया है कि समाज सार्वजनिकरूपसे प्रेमको प्रकट करनेमें हिचकिचाता है।

एक वीतराग महात्माके पास जाकर किसी जिज्ञासुने परमात्माको पानेकी अभिलाषा की। महात्माजीके यह पूछनेपर कि क्या तुमने किसीसे प्रेम किया है? जिज्ञासुने झुँझलाकर उत्तर दिया—'स्वामीजी! मैं आजतक इस झंझटमें नहीं पड़ा, मैंने तो प्रेमके विषयमें कभी सोचा ही नहीं, मुझे तो मात्र परमात्माको खोजना है।' आश्चर्यचकित होकर महात्माजी बोले—'भैया! मुझे क्षमा कर दो। प्रेमके अभावमें परमात्माकी प्राप्तिका कोई भी उपाय मैं नहीं जानता। अगर तुमने कभी किसीसे बीजरूपमें भी प्रेम किया होता तो उस प्रेमरूप बीजको वृक्षरूपमें इतना बड़ा अवश्य किया जा सकता था कि परमात्मारूप फलकी प्राप्ति सम्भव हो जाती। प्रेमके अभावमें न तो परमात्माका अस्तित्व है और न उसकी प्राप्ति ही सम्भव है।' इसी तथ्यको पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदासजीने उजागर किया है—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥

(रा०च०मा ७।६२।१)

जब भगवान्‌की खोजमें सभी देवता वैकुण्ठधाम जानेको उद्यत हुए, तब भूतभावन भगवान् शंकरजीने यह रहस्य प्रकट किया था—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
(रा०च०मा १।१८५।५)

इतना ही नहीं, प्रेममें वह दिव्य शक्ति है कि परब्रह्म परमात्मा पुत्र बन जाता है—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥
(रा०च०मा १।१९८)

लौकिक प्रेम व्यक्ति-प्रधान होता है। इसमें प्रायः दोकी सत्ता रहती है और स्वसुखवाञ्छाका ही प्राधान्य होता है। जहाँ दो मनकी सत्ता होगी, वहाँ परस्पर स्वसुखके लिये संघर्ष होना अवश्यम्भावी है। जहाँ वासना है, वहाँ यही आकाङ्क्षा होती है कि सतत कामनाकी पूर्ति होती रहे। इसीलिये रागके पश्चात् द्वेष उत्पन्न होता है। जबतक प्रेमी और प्रिय एक-दूसरेकी इच्छा पूर्ण करते रहते हैं तबतक राग बना रहता है। इसके विपरीत आचरण होनेपर राग ही द्वेषके रूपमें परिणत हो जाता है। ऐसी ही स्थितिमें लौकिक प्रेमके प्रेमीजनोंको सावधान करते हुए भक्त कवि रहीमने कहा था—

रहिमन धागा प्रेम का, मत तोड़ो चटकाय।
टूटे से फिर ना मिले, मिले गाँठ पड़ जाय॥

आध्यात्मिक प्रेम मन, हृदय तथा आत्माके तलपर होता है। प्रेमकी समग्रता भी तभी स्वीकार की जा सकती है जब केवल शरीर दो हों, किंतु मन तथा हृदय एक-दूसरेमें मिलकर एकाकार हो गये हों। इस स्थितिमें प्रेमी प्रियतमके ही सुखमें सुखी होता है—**'तत्सुखे सुखित्वम्॥'** यह स्थिति मनके तथा हृदयके समग्र समर्पणके बिना सम्भव नहीं है। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम और भगवती सीताजीका मन सर्वथा एक है। माताजीने अपना मन पूरी तरहसे प्रभु श्रीराममें विलीन कर दिया है। श्रीरामचन्द्रजी स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि प्रेमतत्त्वको जाननेवाला एक मेरा मन मेरे पास नहीं है, वह तो सर्वथा सीते! तुम्हारे पास ही रहता है। इस प्रकार जहाँ जानकीजीने अपना मन प्रियतम श्रीरामजीके मनमें मिलाकर एकाकार कर दिया, वहाँ प्रभु श्रीरामने भी इस स्वीकृत मनको प्रियतमा जानकीजीके समीप भेज दिया है। यही प्रेमकी अनिर्वचनीयता है। प्रभु श्रीरामजीका माता जानकीके लिये प्रेषित संदेश इस प्रकार है—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा।
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥
(रा०च०मा ५।१५।६-७)

ऐसा दिव्य संदेश सुनकर सीताजी निहाल हो जाती हैं—

प्रभु संदेसु सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥
(रा०च०मा ५।१५।८)

इस स्थितिमें ही व्यक्ति प्रेम-पथका पथिक हो सकता है। काम कारागार है तथा प्रेम मुक्ति। इसीको कबीरदासजीने कहा है—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेमका पढ़ै, सो पंडित होय॥

जो प्रेम स्वार्थ तथा कामनाकी पूर्तिके लिये नहीं होता, वही सच्चा प्रेम है। ऐसा प्रेम कभी टूटता ही नहीं; क्योंकि यहाँ तो अन्तस्‌में सतत आनन्द प्रवाहित होता रहता है। प्रेम टूटकर भी आनन्दित होता है। प्रेम सतत प्रतीक्षा है। प्रेम एक ही बार उदास होता है जब बँट नहीं पाता, स्वयंको दे नहीं पाता और एक ही बार आनन्दित होता है जब वह अपनेको बाँट देता है, लुटा देता है। प्रेमका कोई प्रयोजन नहीं होता है। वह सब कुछ न्योछावर कर देता है। इसी प्रेमके विषयमें रहीमजीने कहा है—

टूटे सुजन मनाइए, जौ टूटे सौ बार।
रहिमन फिरि फिरि पोइए, टूटे मुक्ताहार॥

प्रेमके विविध आयाम हैं, यथा—बड़ोंके प्रति श्रद्धा, शिशुके लिये स्नेह, दाम्पत्यके लिये प्रणय, मित्रके लिये सख्यभाव आदि। यही प्रेम परमात्माके लिये भक्तिके रूपमें प्रस्तुत होता है—

'जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जान मसान।'

परमात्मातक पहुँचे बिना कोई तृप्ति सम्भव ही नहीं है और परमात्माकी प्राप्ति मात्र प्रेमसे ही सम्भव है। दो हृदयोंके मिलनेसे जो रस उत्पन्न होता है, उसीका नाम 'प्रेम' है। परमात्माके अनुभवकी घड़ी आनन्दकी घड़ी

होती है। इस अनुभवके बाद ही मानवके अन्तस्‌में आनन्द-संगीत प्रारम्भ होता है और दुःख, पीड़ा, चिन्ता तथा विषादकी समाप्ति हो जाती है। यही स्थिति स्वर्ग, मोक्ष और निर्वाणकी होती है। परिणामतः भीतर सच्चिदानन्दका अनुभव सतत अठखेलियाँ करने लगता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति अपने भीतर आनन्दसे भरा हुआ नहीं होता, वह दूसरोंको दुःख देनेमें आनन्द लेने लगता है। दूसरोंको दुःखी देखकर उसे अपने सुखी होनेका थोड़ा-सा भ्रम पैदा हो जाता है। ऐसे कठोरहृदय व्यक्ति ही सतत घृणा और द्वेषसे भरे रहते हैं तथा रोते-बिलखते हुए दुःखपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। साधारण व्यक्ति सुख पानेके लिये दौड़ता है, परंतु आनन्दसे भरा व्यक्ति जो परमात्माको उपलब्ध हो गया है, वह दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये दौड़ने लगता है; इसी आनन्दकी सुगन्धिका नाम 'प्रेम' है। प्रेम एकात्मका अनुभव है। जबतक व्यक्ति भिन्नताका अनुभव करता है, तबतक प्रेमका अनुभव हो ही नहीं सकता। कबीरदासजीने कहा है—

यह तत वह तत एक है एक प्रान दुइ गात।
अपने जिय से जानिए तुम्हरे जिय की बात॥

जब यह अनुभव दो व्यक्तियोंके बीच होता है तो उसे 'प्रेम' कहा जाता है। परंतु जब यही अनुभव एक व्यक्ति और एक समूहके बीच घटित होता है तब उसे 'परमात्मा' कहते हैं—'*निज प्रभुमय देखहिं जगत*' की स्थिति हो जाती है।

प्रेम-मार्गकी सबसे बड़ी बाधा है अहंकार। 'मैं' अथवा 'अहं' की दीवार व्यक्तित्व और अस्तित्व दोनोंको बाँटती है। शरीरके पास रहनेपर भी व्यक्ति दूर बना रहता है। परिवारसे लेकर राष्ट्रतक इसी प्रवृत्तिसे टूट रहे हैं। अहंकार कभी भी झुकनेको राजी नहीं होता है। वह केवल लेना जानता है, किसीको आनन्द देनेवाली छायाको छीनकर अहंकार आनन्दित होता है। अहंकार एक प्रयोजन है, वह पाकर भी दुःखी रहता है। इसी तथ्यको आद्य शंकराचार्यजीने कहा—'**को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः।**' वास्तवमें जो अति महत्त्वाकाङ्क्षी हैं, उन्हें संसारके सभी दुःख घेरे रहते हैं—

संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥
(रा०च०मा ७।७४।६)

अहंकार प्रेम, श्रद्धा, भक्ति, हृदयकी तड़प, आँखके आँसू आदिको बकवास कहता है। अहंकार एक माँग है, यह अनन्त भिक्षुक है। प्रेम-परमात्मासे नहीं, बल्कि पद-प्रतिष्ठा और मान-बड़ाईसे इसका गहरा सम्बन्ध है। इसी तथ्यको कबीरदासजीने ललकारकर कहा है—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥

प्रेमकी दशा माकी तरह होती है। उस माकी तरह जिसके स्तनोंमें दूध भरा हो, जिसका बेटा खो गया हो और जिसके प्राण तड़प रहे हों; इस प्रकार अपने पुत्रके लिये जैसे माका हृदय तड़पता है, ऐसी ही कुछ विलक्षण तड़पन जब प्रभुको पानेके लिये हृदयमें होने लगती है तो समझना चाहिये कि प्रभु-प्रेमका अनुभव हो रहा है। इस तड़पनमें जो दिव्य आनन्द है, वह तो प्रेमी भक्त ही समझ सकता है। गाय जो नवप्रसूता है—अपने वत्स—बछड़ेके शरीरकी गंदगीको जिह्वासे चाटकर साफ ही नहीं करती, बल्कि उसे अपना भोज्य-पदार्थ भी बना लेती है। इस प्रकार 'वत्स' का लालन-पालन करनेके कारण 'वत्सल' भावका प्रादुर्भाव हुआ है। भगवान् इसी कारण 'भक्त-वत्सल' कहे जाते हैं; क्योंकि भक्तोंके जो कार्य इस संसारमें किसी नियम, क्रिया तथा अपनी इच्छासे सम्भव न हो सकें, वे भी परम पिता परमेश्वरके अनुग्रहसे सिद्ध हो जाते हैं। अनुग्रह प्रेमका ही रूपान्तर है। वस्तुतः यह सच्चिदानन्द भगवान्‌का ही धर्म है। भगवान्‌के अनुग्रहसे काल, कर्म, स्वभाव—सभीका बाध हो जाता है। अनुग्रहका अर्थ होता है—कृपा, प्रसाद, उपकार, आभार आदि। संसारमें प्रायः देखा जाता है कि सामान्य अनुग्रहसे भी मर्यादाओं, नियमोंका उल्लंघन हो जाता है तो भगवदनुग्रहका कहना ही क्या? यही 'मर्यादाभक्ति' सामान्य अनुग्रहसे विशेष अनुग्रहमें परिणत हो जाती है। 'अनुग्रह' भगवद्धर्म होनेसे नित्य है। भगवान्‌की दस लीलाओंमें पोषण-लीला चौथी लीला है। 'श्रीमद्भागवत-महापुराण'में 'पुष्टि' का अर्थ आश्रय भी किया गया है—'**स्थितानामभिवृद्धिः पुष्टिः।**' (सुबोधिनी)

'**पुष्टिपोषणं तदनुग्रहः**' अर्थात् अनुग्रह, कृपा, अभिवृद्धि, स्थिति और आश्रय ही पुष्टि है।

अहल्याजीको उनके पति महर्षि गौतमजीने पत्थर

होनेका शाप दिया था। भगवान् श्रीरामकी चरणरजके स्पर्शसे पुनः चैतन्य होकर तथा नारी बनकर प्रभुसे प्रार्थना करती हुई वे बोलीं—

मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना।
देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहइ लाभ संकर जाना॥
(रा०च०मा १।२११ छं० ३)

मुनिने शाप देकर भी अहल्याजीपर अनुग्रह ही किया; क्योंकि साक्षात् परब्रह्म परमात्माके दर्शनका लाभ उन्हें प्राप्त हुआ।

प्रेमके लिये ही ज्ञान है। जब प्रेम प्राप्त हो गया, तब ज्ञानकी अपेक्षा नहीं रहती। प्रेमके आगे ज्ञानका कुछ भी मूल्य नहीं है। ज्ञान भगवान्तक बहुत कठिनतासे पहुँचता है और पहुँचता है या नहीं इसमें भी संदेह है। केनोपनिषद् (२-३)-में कहा गया है—

'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥'

जो कहते हैं कि मैंने ब्रह्मको जान लिया, वस्तुतः उन्होंने ब्रह्मको जाना नहीं। किंतु जो कहते हैं हमने अभी उसे जाना नहीं, वे वस्तुतः जान गये हैं। भक्तिका लक्षण भी प्रेम है, ज्ञान नहीं।

'स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा।'
(पञ्चरात्र)

'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (शाण्डिल्यभक्तिसूत्र)

प्रेमास्पदमें परम प्रेम होना ही भक्ति है।

प्रेमी संत देवर्षि श्रीनारदजी प्रेमाभक्तिके विषयमें कहते हैं—

'अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः॥' 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा॥' 'अमृतस्वरूपा च॥' (भक्तिसूत्र १—३)

अब हम भक्तिकी व्याख्या करेंगे। वह भक्ति ईश्वरके प्रति परम प्रेमरूपा है और अमृतरूपा भी। भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये भक्ति ही सर्वप्रधान साधन है और साध्य रूपमें वही भगवत्प्रेम भी है। भगवत्कृपाके बिना मानवकी उत्तम कार्यमें प्रवृत्ति नहीं होती है। भगवान्के पवित्र नाम, गुणोंके स्मरण और कीर्तनसे मानवका कलुषित हृदय भी क्रमशः पवित्र होकर शिशुकी भाँति सरल और सहज हो जाता है। भक्तिरूप परमप्रेम बीजरूपसे प्राणिमात्रमें विद्यमान है। भगवदनुग्रहरूप यह प्रेम समस्त विश्वमें व्याप्त है। किसी भी सम्बन्धद्वारा यदि मानवका मन, हृदय भगवान्में पहुँचता है तो उसे भगवत्प्राप्ति होगी ही। तथापि ये सब सम्बन्ध जीवके उद्धारके हेतु नहीं हैं, उद्धारका कारण तो केवल भगवदनुग्रह ही है। इस भगवदनुग्रहकी सतत सर्वत्र अनुभूति ही पुष्टिभक्ति है।

भक्तिकी मधुरता अमृतत्वसे भरी रहती है। भक्ति हृदयकी उस भावनाका नाम है जिसमें साधक परम प्रेमसे प्रभुके नाम, रूप, लीला तथा धामकी मस्तीमें मस्त हो जाय तथा समस्त विश्वको भगवद्रूप समझकर प्रेमपूर्वक सबकी सेवाका व्रत ले ले।

भक्तिके लिये विज्ञान नहीं विश्वासकी आवश्यकता है—

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥
(रा०च०मा ७।९० क)

बड़ा होकर व्यक्ति जिसे पुरुषार्थ या ज्ञानके माध्यमसे पाता है, नन्हा शिशु असमर्थ होते हुए भी विश्वासके बलपर वही सब कुछ प्राप्त कर लेता है। उसे अपनी योग्यतापर कोई भरोसा नहीं होता, किंतु माके वात्सल्यका विश्वास ही उसे निश्चिन्त बना देता है। विश्वासपर आधारित यह भक्ति गङ्गाके समान जन-जनका कल्याण करती है, प्रधानतया संत-समाज इसी भक्तिका प्रचारक है। गङ्गा जो पतित-पावनी हैं, मृत्युके पश्चात् मृत शरीरको स्पर्श करके विष्णु अथवा शिवलोक अवश्य ही प्रदान करेंगी। इस विश्वासने महाभक्त कवि रहीमजीको इस प्रकार अनुप्राणित किया कि वे कह उठे—'मा! मैं जानता हूँ कि मृत्युके पश्चात् तुम्हारी कृपासे शिव अथवा विष्णु ही बनूँगा, परंतु मेरी यही प्रार्थना है कि तुम मुझे शिव बनाना विष्णु नहीं। विष्णुरूपमें तुम मेरे चरणोंमें रहो, यह मुझे असह्य है। मैं तो यही चाहता हूँ कि शिव बनकर सर्वदा तुम्हें अपने मस्तकपर धारण किये रहूँ—

अच्युत चरण तरंगिनी, सिव सिर मालति माल।
मोहि न बनायऊ सुरसरि, कीजिए ऐन्दव भाल॥

वात्सल्यमयी भक्ति-गङ्गाके प्रति भी यही श्रद्धा जन-जनको अनुप्राणित करती है। परमार्थ ही नहीं स्वार्थ भी भगवत्कृपासे सिद्ध हो सकता है।

प्रारम्भमें व्यक्तिको कर्म करते हुए विधि और निषेधका ध्यान रखना पड़ता है। स्वभावतः उस समय साधकको

मनकी वासनाओंपर नियन्त्रण करनेके लिये विवेकका आश्रय लेना पड़ता है। अधर्मकी वृत्तियाँ अन्त:करणसे पूरी तरह समाप्त नहीं हो जातीं; परंतु साधक ज्यों ही स्वयंको भक्तिके प्रति समर्पण कर देता है, त्यों ही उसके कर्म विवेकके स्थानपर ईश्वरके द्वारा सञ्चालित होने लगते हैं। समर्पित भक्तके लिये भक्त-वत्सल भगवान्‌का उद्घोष द्रष्टव्य है—

तुम समर्पण करो शान्ति सरसाऊँगा
पुण्य का रूपधर पाप खा जाऊँगा।
मत डरो इस उफनते महासिन्धु से
मैं बचाने सही वक्त आ जाऊँगा॥

पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदासजीने भक्तिको सरल-सहजरूपमें इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥

× × ×

राम भगति चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर॥

× × ×

राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥

प्रेम और भक्तिका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध ही नहीं है, बल्कि प्रेम ही भक्ति है और प्रेम ही शुद्ध समर्पण है। परमात्माका प्रेम ही साध्य और साधन दोनों है। मानवके लिये भजनहीन काल ही भयंकर विपत्तिका काल है—

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥

प्रेम सीढ़ी है और परमात्मा इस यात्राकी अन्तिम मंजिल। आत्मा आनन्दमय परमात्मा हैं। इनकी प्राप्ति प्रेम, अनुराग, विश्वास, श्रद्धा और भक्तिसे ही सम्भव है—*'श्रुति रामकथा, मुख रामको नामु, हिएँ पुनि रामहिको थलु है'* की स्थितिमें **'सततं कीर्तयन्तः'** की आनन्दमयी प्रेमाभक्तिमें जीवन-यापन करनेवाले भक्तोंके लिये ही **'न मे भक्तः प्रणश्यति'** की प्रतिज्ञा भगवान् पूरी करते हैं और प्रेमी भक्त ही भगवान्‌के अवतारका कारण भी बनते हैं।

* * *

मोपे रीझ गये मनमीत, सखि तू का जाने

(श्रीबेताबजी केवलारवी)

मोसे दुनिया भई री विपरीत, सखि तू का जाने।
मोपे रीझ गये मनमीत, सखि तू का जाने॥
लोक-लाज मैंने सकल बिसारी सब कहे मोरी मति गई मारी।
कहन लगे मोहे सब बावरिया मैं तो बनी पर प्रीतम प्यारी॥
मोहे हो गई उनसे प्रीत, सखि तू का जाने।
मोपे रीझ गये मनमीत, सखि तू का जाने॥
मैं मन अपनो हार गई री अपनो सरबस वार गई री।
मोरे नाथ दया के सागर हार के मैं तो जीत गई री॥
है उल्टी प्रीत की रीत, सखि तू का जाने ।
मोपे रीझ गये मनमीत, सखि तू का जाने॥
बिछुरत-मिलत पिया मोरे पासा सपनेहुँ मन नहीं दूजी आसा।
मोरे पिया मन बसिया मोरे अपना लियो री मोहे जगनाथा॥
मैंने प्रीत से जीती प्रीत, सखि तू का जाने।
मोपे रीझ गये मनमीत, सखि तू का जाने॥
प्रेम भगति हरि के मन भावे विवश आप प्रभु रोक न पावें।
सुमरन करे 'बेताब', जो राधे सहजहि परमधाम वो जावे॥
मैंने कर लई उनसे प्रीत, सखि तू का जाने।
मोपे रीझ गये मनमीत, सखि तू का जाने॥

भगवत्प्रेममें अनन्यता एवं प्रपन्नता

(डॉ० श्रीकमलाकान्तजी शर्मा 'कमल', एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

संसारमें जन्म लेनेवाला जीव भ्रान्तिवश अनित्य जगत्की स्थितियोंको नित्य मानकर उनसे प्रेम करने लगता है और अन्ततः कष्ट पाता है। क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तनीय इस संसारमें स्थायित्व किसीका भी नहीं है। व्यक्ति जिस वस्तु, परिवेश, व्यक्ति अथवा कालखण्डके प्रति अपना प्रेम मान बैठता है, वस्तुतः वह भी स्थायी नहीं होता। परिवर्तन उसमें भी आता है, परिणामतः आज जिसमें लौकिक प्रेमकी मनःस्थिति बनती है, कल उसीके प्रति विरक्ति और वितृष्णाके भाव उत्पन्न होने लगते हैं तो क्या इसे वास्तविक प्रेम कहा जायगा? संसारको बनानेवाला परमात्मा भी प्राणियोंके पारस्परिक स्नेह-प्रेमको देखकर परम प्रसन्न होता है, किंतु प्रश्न यह उठता है कि उस प्रेममें कपटभाव तो नहीं है? यदि वह प्रेम भी स्वार्थवश है तो उस प्रेमका न महत्त्व है और न औचित्य। जगदाधार श्रीहरि भी इस बातको स्वीकार करते हैं—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥
(रा०च०मा० ५।४४।५)

फिर प्रेममें कोई शर्त नहीं होती, कोई आग्रह-पूर्वाग्रहकी स्थिति नहीं होती। जहाँ कुछ शर्त-जैसी बात होगी तो वहाँ प्रेम नहीं होगा, वह तो एक सौदा है, व्यापार है। 'मैं यह दे रहा हूँ, बदलेमें तुम मुझे वह दे दो' तो यह प्रेम कहाँ हुआ, यह तो व्यापार है, इसलिये प्रेममें शर्त नहीं होती और जो शर्त रखता है वह वास्तविक प्रेमको समझता ही नहीं। स्वार्थरहित प्रेम ही शुद्ध, अलौकिक और उज्ज्वल प्रेम कहलाता है, इसमें न मलिनता होती है न एक-दूसरेके प्रति प्रवञ्चना। यथार्थ प्रेम देदीप्यमान प्रकाशकी भाँति निर्मल, निष्कलुष और अमृतसे भी अधिक अमरता प्रदान करनेवाला होता है। इसी सच्चे आनन्द और प्रेमके लिये जीवमात्रको प्रयत्न करना चाहिये। प्रेम विशुद्ध समर्पणका भाव है, इसलिये जहाँ प्रेम होगा वहाँ समर्पण होगा और याद रखिये समर्पण भी प्रेमकी शर्त नहीं है, वह तो प्रेमका स्वभाव है। यदि प्रेम करना चाहते हो तो समर्पण होना ही है, उसके लिये पृथक्से प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं होगी—यह प्रेमका स्वरूप है, स्वभाव है। दीपक जल रहा हो तो प्रकाश अवश्यमेव होगा ही, यह तो हो नहीं सकता कि दीपक जलाओ और प्रकाश न हो। जहाँ प्रेमकी ज्योति जलती है, वहाँ समर्पण और प्रपन्नताका प्रकाश तो होगा ही। हाँ, प्रेममें अनन्यताका होना आवश्यक है। अन्याश्रयका यहाँ लवलेश भी नहीं होता, इसलिये कि प्रेममें जहाँ अनन्यता होगी, समर्पण होगा वहाँ किसी दूसरेकी इच्छा अथवा आकाङ्क्षा होगी ही नहीं—

'प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥'

—यह बात ध्यान देने योग्य है कि अखिल ब्रह्माण्डनायक श्रीहरि स्वयं निःस्वार्थभावसे अपने द्वारा बनाये गये संसार और संसारके प्राणियोंसे प्रेम करते हैं। वे प्रतिपल, प्रत्येक कणमें और प्रत्येक क्षणमें हमारे साथ हैं—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'
(गीता १८।६१)

जो निष्कपटभावसे यदि तुम्हें चाहे, उस चाहतमें चाहनेवालेका कोई स्वार्थ भी न हो तो क्या कोई उस चाहनेवालेके प्रति आकृष्ट नहीं होगा? आज नहीं तो कल उसे उसके प्रति आकर्षित होना ही पड़ेगा और उस परब्रह्मके अतिरिक्त जीवात्माका स्वाभाविक, सहृदय, सहज और सुहृद्-हितैषी अन्य कोई है ही नहीं—

'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥'
(गीता ५।२९)

संसारका सम्पूर्ण सौहार्द कृत्रिम हो सकता है, किंतु समस्त भूतों (जीवों)-के अहैतुक हितैषी ईश्वरका सौहार्द कृत्रिम नहीं है। वस्तुतः अंश और अंशीका, सिन्धु और बिन्दुका यह अन्योन्याश्रित प्रेम ही वास्तविक प्रेम है। तात्पर्य यह है कि ऐसे परम प्रिय, परमाराध्य, परम हितैषी और परम प्रेमास्पदको छोड़कर मूढ पुरुष अन्य किसमें अपना अभिनिवेश करता है? जगदीश्वरमें श्रद्धा और प्रेम साक्षात् भगवान्की प्राप्ति करानेवाला है, इसलिये त्रिभुवनमें प्रेमयोग्य तो एकमेव श्रीहरि हैं, अनित्य जगत् नहीं। इसपर

भी भ्रमात्मिका बुद्धिसे जगत्में यदि अभिनिवेश बनता है तो परिणाम क्या होता है। देखिये—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

(कठोपनिषद् १।२।६)

यमराज नचिकेताके प्रति ब्रह्मविद्याके उपदेशका प्रारम्भ करते हुए स्पष्ट कहते हैं कि धन (एवं अन्य सांसारिक अनित्य पदार्थोंके)-मदमें अन्धा बनकर निरन्तर प्रमादमें रहनेवाला मूढ मनुष्य परलोकको भूल जाता है। वह समझता है कि यह जो कुछ प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है—इस लोक (जगत्)-के सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। इस प्रकारकी मान्यतावाला अभिमानी व्यक्ति बारम्बार मेरे (यमके) वशमें आता रहता है। सत्य (ईश्वर)-को मिथ्या मान लेना और मिथ्या (जगत्)-को सत्य मानकर उसी ओर दौड़नेमें ही जो लोग अपना जीवन व्यतीत कर देते हैं, निःसंदेह ऐसे हतभागी व्यक्ति (जीव) दारुण दुःखके पात्र बनते हैं, वस्तुतः जगत् तो अनित्य ही है—'**अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।**' याद रखिये—घर, पुत्र, परिवार, धन-सम्पत्ति, महल या संसारके अन्यान्य पदार्थ व्यक्तिको नहीं बाँधते, व्यक्तिको बाँधनेवाली है उसकी आसक्ति। आसक्ति जीवके विनाशका सबसे बड़ा हेतु है।

अनुरक्ति यदि प्रभुमें रहेगी तो संसारकी आसक्ति समाप्त हो जायगी। हम संसारमें इस प्रकार रहें कि संसार हमारे मनमें न बसे। नौका समुद्रमें रहे यहाँतक तो ठीक है, किंतु समुद्र नौकामें सिमट जायगा तो विनाश निश्चित है। अतः प्रेम हो तो केवल रामसे—हरिसे तथा वह भी निःस्वार्थ, अनन्यता और प्रपन्नताके साथ तथा भाव यह होना चाहिये—'प्रभो! मैं आपसे प्रेम करता हूँ और वह इसलिये कि अखिल ब्रह्माण्डमें प्रेम करनेयोग्य कोई है तो केवल आप ही हैं, आप ही चाहनेयोग्य हैं। प्रेम करने योग्य इस संसारमें एकमेव प्रेमास्पद परमात्मा ही हैं अन्यकोई नहीं। भगवान् नित्य हैं अतः वे ही प्रेमयोग्य हैं। प्रभुप्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले प्रत्येक साधकको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे भगवान्में उसकी श्रद्धा और प्रेम अटूट हो जाय, यही अनन्यता है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०।१०)

योगेश्वर श्रीकृष्ण आज्ञा करते हैं कि मैं उन लोगोंको स्मरणका आनन्द देता हूँ, स्मरणका आनन्द अर्थात् बुद्धि और विवेक। बुद्धि और विवेकद्वारा यह निर्णय हो जाय कि नित्य तो केवल श्रीहरि ही हैं और वे ही सच्चे एवं विराट् प्रेम-सिन्धु हैं तो बारम्बार, निरन्तरताके साथ उनसे स्वयंको जोड़नेकी सत्क्रिया भक्ति है। नित्य सत्सङ्ग, भगवत्कथा और भगवत्-वार्तासे भक्तिकी वृद्धि होती है, परमात्माकी ओर भाव तथा चिन्तन बढ़ता है।

अनन्य प्रेमवश स्वयं श्रीहरि भी भक्तके समक्ष प्रकट होनेमें देर नहीं करते। व्यक्ति अपने जीवनमें अन्याश्रयका परित्याग करके '**श्रीकृष्णः शरणं मम**' को स्वयंपर चरितार्थ करके तो देखे, प्रभु दूर कहा हैं? गजेन्द्रने प्रपन्नता एवं अनन्यताके साथ याद किया तो गरुड (वाहन)-की प्रतीक्षा भी भगवान्को उचित नहीं लगी। गजका ग्राहसे परित्राण करने तत्काल उपस्थित हो गये। अनन्यताका ही परिणाम रहा कि प्रह्लादको उबारने अकल्पित स्वरूपमें जगदीश्वर प्रकट हो गये। ध्रुवको दर्शन देने, वैकुण्ठ छोड़कर वृक्षके नीचे आ खड़े हुए, पाञ्चालीके रक्षार्थ वस्त्ररूप हो गये। सुदामा द्वारकाके महलपर प्रवेशार्थ खड़े हैं, यह सुनते ही अन्तःपुरसे दौड़कर सुदामाको अपने वक्षसे लगा लेते हैं। गृध्रराज जटायुको चरण-शरण प्रदान करनेमें क्षणका भी विलम्ब नहीं करते।

प्रेम और भक्ति एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। विशुद्ध प्रेमका नाम ही परम अनुराग है। परमात्मामें परम अनुरागको भक्ति कहा गया है। अन्याश्रयका त्याग है अनन्यता। जैसे अग्नि सर्वव्याप्त होते हुए भी अनुकूल अधिष्ठान प्राप्त करके ही व्यक्त होती है, वैसे ही भगवान् भी भक्तियुक्त अन्तःकरणरूप उपयुक्त अधिष्ठान प्राप्त करके अभिव्यक्त होते हैं।

नित्य अव्यक्त भगवत्-स्वरूप भक्तियुक्त भावसे ही

दृष्टि-गोचर है। भक्ति हो और प्रेमपूर्ण हो तो उस प्रीतिमेंसे एक बहुत बड़ी शक्ति—प्रेमकी शक्ति जाग्रत् होती है और जहाँ प्रीति है, प्रेम है, वहाँ प्राप्त होनेवाली सामर्थ्य अलौकिक होती है। इसी अलौकिक क्षमतासे ही तो व्रजकी गोपाङ्गनाएँ उद्धव-जैसे परमहंस ज्ञानीको प्रेमका त्रिभुवन-विश्रुत प्याला पिला देती हैं। देवर्षि नारदजीके अनुसार यह भक्ति परम प्रेमरूपा और अमृतस्वरूपा है, जिसे प्राप्तकर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा॥
अमृतस्वरूपा च॥
यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति॥
(नारदभक्तिसूत्र २—४)

पराशर-पुत्र व्यासजी पूजादिमें अनुराग तथा गर्गादि ऋषियोंने भगवान्‌की कथाओंमें अनुरक्तिको भक्ति कहा है। सांसारिक पदार्थोंमें होनेवाला प्रेम आसक्तिमें परिगणित होता है, जबकि प्रभुके प्रति ऐकान्तिक प्रेम अनुरक्ति माना जाता है। संसारके प्रति किया गया प्रेम वासनापूर्ण होगा, जबकि प्रभुके प्रति किया गया प्रेम उपासनापूर्ण होगा। भगवान्‌को प्राप्त करनेके साधनोंमें कर्म, ज्ञान, योग और भक्तिमार्गकी गणना होती है। सहजसाध्य होनेके कारण आचार्योंने भक्ति-मार्गको प्रमुखता दी है—'**अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ।**' (नारदभक्तिसूत्र ५८)

जगत्‌का उत्पादक, पालक और निवारक एकमेव परमेश्वर है। इसके नारायण, वासुदेव आदि अनन्त नाम हैं। यही अनन्त प्रेमराशिस्वरूप अविनाशी अच्युत है। इसकी प्राप्तिके लिये शरणागतिकी आवश्यकता है और यह शरणागति प्रभुके प्रति ऐकान्तिक प्रेम, अनुरक्ति, अनुराग एवं भक्तिसे ही सम्भव है। इसीलिये आचार्योंने प्रेमके साथ-साथ ज्ञानका होना भी आवश्यक माना है। '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**'—के अनुसार ज्ञानके बिना मुक्ति कैसी? और ज्ञान भी कैसा? उस परम तत्त्वका ज्ञान, संसारकी निःसारताका ज्ञान और जगदीश्वर श्रीहरिके प्रति अटूट प्रेमका ज्ञान ही तो यथार्थ ज्ञान है। भगवान् भी यही आज्ञा करते हैं कि मुझे ज्ञानी भक्त अतिप्रिय है। ठाकुरजीके प्रति प्रेम तो हो ही, किंतु प्रेम ऐसा हो जो 'तत्सुखसुखित्वम्' को चरितार्थ करनेवाला हो। भाव यह हो कि मैं कैसे अपने ठाकुरजीको सुख पहुँचाऊँ, इसलिये कि उनके सुखमें ही मेरा सुख है। इस प्रकारका भाव-ज्ञान ही तो भक्तके प्रेमकी अनन्यता सिद्ध करता है।

ध्यान दीजिये, वासना और उपासनामें रात-दिनका अन्तर है। एकमें व्यक्ति सुख पाना चाहता है जबकि दूसरेमें सुख पहुँचाना चाहता है। एकमें प्रेमीसे चाहा जाता है तो दूसरेमें प्रेमीको चाहा जाता है। इसीलिये स्वयंसे यह प्रश्न भी करना चाहिये कि मैं भगवान्‌से कुछ चाहता हूँ या भगवान्‌को चाहता हूँ। यदि पहला उत्तर मिलता है तो समझना चाहिये भगवान्‌से प्रेम नहीं है, बल्कि स्वार्थपूर्तिके लिये वासनात्मक झूठा सम्बन्ध बना रखा है। वासना, आसक्ति और राग भक्तिको मिटाते हैं; जबकि उपासना, अनुरक्ति और अनुरागमें स्वयं प्रेमी मिटनेको तैयार रहता है। वासना भटकाती है, उपासना तारती है। वासना अनेकके प्रति हो सकती है जबकि उपासना केवल एकके प्रति होती है।

शबरीका भगवान् रामके प्रति प्रेम अनुरागरूप है तो शूर्पणखाका प्रेम वासनामय है, रागमय है। रामायणके इन दो विशिष्ट नारी पात्रोंके केन्द्रमें श्रीराम हैं, किंतु शूर्पणखा राग है तो शबरी अनुराग। शबरी अनुरक्त है तो शूर्पणखा आसक्त। एकके प्रेममें जगदीश्वर हैं तो दूसरेके प्रेममें जगत्। शबरीका प्रेम अलौकिक है तो शूर्पणखाका लौकिक। रागको दूसरेके पास जाना पड़ता है, इसीलिये शूर्पणखा श्रीरामके पास पहुँचती है, किंतु अनुरागके पास स्वयं श्रीरामको आना पड़ता है। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम शबरीकी कुटियापर पधारते हैं। रागमें दम्भ होता है, दम्भमें अभिमान, आडम्बर और अहंकारके सिवा और कुछ नहीं होता। शूर्पणखा बनावटी सुन्दर स्त्रीका रूप धारण करती है और शबरीका अनुराग बिलकुल निष्कपट है, कोई आडम्बर, कृत्रिमता तथा दिखावा नहीं। जो है, जैसा है, अपने आराध्यके चरणोंमें समर्पित और अर्पित। शबरी जैसी है वैसी ही अपने प्रभुके समक्ष समुपस्थित है—

अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥
(रा०च०मा० ३।३५।३)

रागमें अभिमान है और अभिमान नष्ट हुए बिना सहजता आ नहीं सकती। जहाँ वासना है, वहाँ अभिमान है। शूर्पणखाके

रागात्मक प्रेममें यही अभिमान दिखायी देता है—

तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह सँजोग बिधि रचा बिचारी॥

(रा०च०मा० ३।१७।८)

प्रेममें अनुरागपूर्ण समर्पण स्वाभाविक रूपसे होगा। वहाँ दासत्व भाव भी आ जाता है। प्रेममें दीनता, लघुता निहित है, यहाँ अकिञ्चनता व्याप्त रहती है। किंतु रागमें बड़ाई है, अहंमन्यता है। रागमें भटकना और भटकाना दोनों है, शूर्पणखा कभी श्रीरामके पास तो कभी लक्ष्मणजीके पास अपनी रागात्मिका प्रवृत्ति एवं प्रकृतिसे भटकती रहती है और प्राप्त कुछ नहीं हो पाता। जबकि ऐकान्तिक प्रेमपथकी अनुगामिनी शबरी केवल श्रीराम-प्रेममें आश्वस्त है, विश्वस्त है, समर्पित है। बस, यही प्रेमकी अनन्यता है और अन्याश्रयका त्याग है। भगवान् श्रीकृष्ण भी इसी ओर संकेत करते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

(गीता ११।५४)

अर्थात् अनन्य अनुराग एवं निष्ठाकी भित्तिपर ही प्राणी मेरे स्वरूपका दर्शन कर पाता है, इतना ही नहीं अपितु वह मुझमें संनिविष्ट भी हो जाता है। प्रेमी अपने परमाराध्य प्रेमास्पद (उपास्य)-को प्राप्त करनेपर आकाङ्क्षारहित हो जाता है। जिसका ध्येय एकमात्र अपने प्रेमास्पदको प्राप्त करना ही हो और वही उसे मिल जाय तो फिर माँगना भला क्या शेष रह जायगा! जो भगवान्‌को नाथ कहता है वह अपना हाथ संसारके समक्ष क्यों फैलायेगा और यदि वह अन्यसे आशा कर रहा है तो उसके प्रेममें अनन्यता कहाँ रही? उसका नाथ नाथ कहाँ रहा? भक्तकी महिमा यहीं आकर रेखाङ्कित होती है कि वह किसी अन्यसे नहीं अपने स्वामीसे ही चाहेगा। गोस्वामी तुलसीदासजी भी तो अपने स्वामीसे यही चाहते हैं—

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥

(रा०च०मा० ५ श्लो० २)

गोस्वामीजी अन्यत्र भी अपने भावोंको स्पष्ट करते हुए निवेदन करते हैं कि 'धन्य हो मेरे स्वामिन्! जबतक मैं संसारमें आसक्त रहा, दो मुट्ठी चने भी मुझे समयपर उपलब्ध नहीं हुए और जिस क्षणसे मैंने आप (श्रीराम)-का आश्रय लिया, तबसे स्थिति यह है कि मैं अकिञ्चन जगत्‌में आदरका पात्र बन गया और बड़े-बड़े भूप मुझ श्रीरामके दासको मानने लगे।' यह है अन्याश्रयसे हटकर ऐकान्तिक और अनन्य प्रेमका प्रतिफल। भगवान् आशुतोष भी अपने समर्थ स्वामीसे, जगत्पति, जगन्नाथसे यही आशा-आकाङ्क्षा करते हैं—

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥

(रा०च०मा० ७।१४ क)

यहाँ प्रसंगवश यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि भक्तिकी सुरक्षाके लिये सदा सत्सङ्ग करते रहना भी आवश्यक है। भक्ति बहुत बड़ी सम्पत्ति है और सम्पत्तिकी सुरक्षा बड़े यत्नसे की जानी चाहिये। लौकिक धन-सम्पत्ति, रुपया-पैसा, सोना-चाँदी, मणि-मुक्ता और बहुमूल्य रत्नाभूषणोंकी सुरक्षाके लिये न जाने कितने-कितने यत्न किये जाते हैं कि कहीं कोई चोर, डाकू, लुटेरे या उचक्के इन्हें पार न कर जायँ और सोचिये यदि किसीकी सम्पत्तिको कोई इस प्रकार चुरा ले तो जिसकी सम्पत्तिका हरण हुआ है उसका बादमें क्या मोल रहता है? ठीक इसी तरह व्यक्तिकी भक्तिरूपी सम्पत्तिको भी इस दुर्गम संसारयात्रामें काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, अहंकार-जैसे दुर्दान्त और दुर्दमनीय लुटेरे लूटनेको तैयार खड़े हैं, थोड़ी-सी भी असावधानी हमें एक क्षणमें कंगाल बना सकती है और तब संसारमें जैसे धनहीन व्यक्तिको कोई नहीं पूछता, उसी प्रकार भक्तिरूपी सम्पत्तिके लुटते ही एक साधक भक्तकी तो जन्म-जन्मान्तरकी साधनारूपी पूँजी चली जाती है। इसलिये भक्तिरूपी सम्पत्तिको सुरक्षित रखनेके लिये सत्सङ्गरूपी मजबूत तिजोरीकी सदैव नित्य-प्रति आवश्यकता होती है। विश्वास कीजिये, भक्तिरूपी सम्पत्ति सत्सङ्गरूपी तिजोरीमें ही सुरक्षित रह सकती है। गोस्वामीजीने तो ऐसे सावधान, किंतु ऐकान्तिक भक्तोंको **'धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति** सततं

श्रीरामनामामृतम्' कहकर प्रणाम किया है। गोस्वामीजी तो अपने स्वामी 'रघुवीर' से यही प्रार्थना करते हैं—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरो जीव-जड़ताई॥
चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥
कुटिल करम लै जाहिं मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़ियो, कमठ-अंडकी नाईं॥
या जगमें जहँ लगि या तनुकी प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि इक ठाईं॥
(विनय-पत्रिका १०३)

जब मनुष्य भगवत्प्रेमके अमिट रंगमें रँग जाता है तो वह स्वयं प्रेममय हो जाता है। यह लाली (रंग) बड़ी ही अद्भुत और विचित्र होती है—

लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गइ लाल॥

इसीलिये श्रीहरिके प्रति उपजनेवाले प्रेम और उस प्रेममें निहित अनन्यता और प्रपन्नता भगवान् एवं भक्तको पृथक् नहीं रहने देती। प्रेम (भक्ति), प्रेमी (भक्त) और प्रेमास्पद (प्रभु) सब एकाकार हो जायँगे तो स्पष्ट है कि वह स्थिति सचमुच सत्-चित् और आनन्दकी स्थिति होगी। परमात्माको प्राप्त करनेके लिये प्रेम ही सर्वोत्तम उपाय है। साधन भी प्रेम है, साधना भी प्रेम है और साध्य भी प्रेम है। ऐसेमें वे आनन्दसिन्धु-सुखराशि प्रेमसे ही जाने जा सकते हैं।

प्रेम भगवान्का साक्षात् स्वरूप है। जिसे परमात्मा अपने प्रेमका, अपने उस अलौकिक स्वरूपका दर्शन करा देते हैं, उसकी गति तथा स्थिति—*'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई'*वाली हो जाती है। अश्रु (ऐकान्तिक प्रेम) एवं आश्रय (शरणागति)—ये दो स्थितियाँ प्रेमकी अनन्यता और प्रपन्नताको सिद्ध करती हैं और यह स्थिति बिना अश्रु तथा दृढ़ आश्रयके बन नहीं पाती—

'जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।'

प्रेमास्पद प्रभुसे मिलनेका अर्थ है—उनमें ही मिल जाना। द्वैतका कहीं कोई प्रश्न नहीं। आर्तभाव और जगदाधारसे मिलनेकी उत्कट इच्छा—दोनों ही स्थितियाँ प्रपन्नताकी ओर ले जाती हैं और शरणमें आनेवालेको तो वह परमात्मा आगे बढ़कर स्वीकार करता है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वा०रा० ६।१८।३३)

मनुष्य स्वभावतः दुःखोंके प्रति विरक्ति और सुख एवं आनन्दके प्रति प्रेमभाव रखता है। उस सम्पूर्ण सुखके उद्गम-स्थल तो एकमात्र अखिलेश्वर, जगदाधार, सकल जगत्के प्रतिपालक, विश्वम्भर, अचिन्त्य, अनन्त, परमानन्दघन, प्रेम-सिन्धु प्रभु ही हैं। अतः जीवात्माके लिये एकमेव परमात्मा शरणदाता हैं। जिस प्रकार यवनिका हटते ही मञ्चपर उपस्थित दृश्य प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार अनन्य प्रेम तथा प्रपन्नात्मिका निष्ठा, श्रद्धा एवं भावनासे प्रेमास्पद श्रीहरिका साक्षात्कार सहज सम्भव है। अपनी चित्तवृत्ति मुरारिको अर्पित कीजिये। फिर देखिये उस परम प्रेमस्वरूप श्रीहरिकी प्रतिज्ञाका परिणाम—

'कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥'

आइये उस जगदीश्वरके प्रति अपने मनरूपी कल्मष तमसावृत, अन्धकार-विकारसे परिपूर्ण भवनमें प्रेमरूपी दीपकको प्रज्वलित करें। अनन्यतारूपी घृत एवं प्रपन्नतारूपी बातीयुक्त इस भाव-मनोरथके साथ—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥
(रा०च०मा० २।२०४)

ताकि जन्म-जन्मान्तरसे इस भवार्णवमें भटक रहे हम जीवोंपर श्रीहरिकी कृपादृष्टि हो सके। श्रीमद्यामुनाचार्य स्वामीके अनुसार—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी
न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्यं
त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥

श्रीहरिके चरणकमलरूपी आश्रय-स्थलके सिवा हमारा अन्य कोई और ठिकाना है ही नहीं।

* * *

व्रजगोपियोंकी योगधारणा

(श्रीप्रेमनारायणजी त्रिपाठी 'प्रेम')

भगवान् श्रीकृष्णके वियोगमें गोपियोंको अधीर जानकर भक्तप्रवर उद्धव भगवान्‌की आज्ञासे उन्हें समझा-बुझाकर आश्वासन देनेके लिये व्रज जाते हैं और वहाँ गोपियोंको ज्ञान-वैराग्यका उपदेश देते हैं। उधर गोपियोंपर इसका विपरीत ही प्रभाव पड़ता है। वे अपने प्यारे मनमोहनको जीवन्मुक्त पुरुषके ब्रह्मदर्शनकी भाँति सर्वत्र देख रही हैं। उन्हें जड-चेतन-पृथ्वीकी समग्र वस्तुओंमें प्यारे श्रीकृष्णके दर्शन हो रहे हैं। अपने शरीरमें ही सब कुछ देखनेवाली तथा प्यारे मदनमोहनके साथ सदा क्रीडा करनेवाली एक गोपी कहती है—

हौं ही व्रज वृंदावन, मोही मैं बसत सदा,
जमुना-तरंग स्यामरंग अवलीन की।
चहूँ ओर सुंदर सघन बन देखियत,
कुंजनि में सुनियत गुंजनि अलीन की।
बंसी-वट तट नटनागर नटत मो मैं,
रास के विलास की मधुर धुनि बीन की।
भरि रही भनक-बनक तालताननि की,
तनक तनक तामें खनक चूरीन की॥

(महाकवि 'देव')

उस गोपीको यकायक प्यारे प्रभुकी रासक्रीडाकी सुधि हो आती है। वह मानो उसीमें प्रभुके साथ नृत्य करके *'तनक तनक तामें खनक चूरीन की'* सुन-सुनकर पागल हो उठती है। उसे रोमाञ्च हो आता है। गद्‌गदकण्ठसे लीलामयकी लीलाका वर्णन करती-करती वह आप-ही-आप आनन्दाम्बुनिधिमें गोते खाने लगती है। इसी बीच दूसरी गोपी उद्धव महाराजसे कहती है—

निसि दिन स्त्रौननि पीयूष सो पियत रहै,
छाय रह्यो नाद बाँसुरी के सुरग्राम को॥
तरनि-तनूजा-तीर वन कुंज बीथिन में,
जहाँ-तहाँ देखति हैं रूप छवि धाम को॥
कवि 'मतिराम 'होत हाँतो ना हिये तैं नैक,
सुख प्रेम गात को परस अभिराम को।
ऊधौ तुम कहत बियोग तजि योग करौ,
योग तब करैं जो बियोग होय स्याम को॥

(महाकवि 'मतिराम')

अबकी बार यह गोपी श्याममय होकर उछल पड़ती है। उद्धवजीको डाँट बता-बताकर कहती है—'महाराज! यहाँ तो हमें जहाँ-तहाँ सर्वत्र ही प्यारे श्रीकृष्णके दर्शन मिल रहे हैं। उनके अमृतमय वंशीनादसे हमारे कान भरे जा रहे हैं। यमुनाके तीर कुञ्जमें—वनमें, प्रत्येक स्थलमें वह मनोहर छबि दिखायी दे रही है। अतएव हे उद्धवजी! आप जो हमें श्रीकृष्णप्राप्तिके लिये योगसमाधि सिखाने आये हैं, वह तो व्यर्थ ही है। कारण, हमारे प्यारे कन्हैयाका तो हमसे पलभरको कभी वियोग ही नहीं है। वे तो हमारे साथ हमें यहीं दीख रहे हैं। इतना सुनकर तीसरी गोपी आगे बढ़कर कहने लगी—उद्धवजी!—

प्रानन के प्यारे तन-ताप के हरनहारे,
नंद के दुलारे ब्रजवारे उमहत हैं।
कहैं 'पदमाकर' त्यौं रीझे उर-अंतर यों,
अंतर चहें हूँ जे न अंतर चहत हैं।
नैननि बसे हैं अंग-अंग हुलसे हैं रोम-
रोमनि रसे हैं निकसे हैं को कहत हैं।
ऊधौ वै गुबिंद कोऊ और मथुरा में यहाँ,
मेरे तो गुबिंद मोंहि-मो ही में रहत हैं॥

(महाकवि 'पद्माकर')

यह तो इतनी मगन है कि उद्धवजीको भी चक्करमें डाल देती है। कहती है—'उद्धव महाराज! मेरी आँखोंमें वे बसे हैं। मेरे हृदयमें वे समा गये हैं। दूरी चाहनेपर भी दूर नहीं हो सकते, ऐसे लीन हैं। कौन कहता है कि वे कहीं अन्यत्र जाकर बस गये हैं? हे उद्धवजी! तुम्हारे मथुराजीमें वास करनेवाले श्रीकृष्ण कोई और ही होंगे! मेरे प्यारे कृष्ण-गोविन्द तो मेरे रोम-रोममें समाकर यहीं रम रहे हैं।'

धन्य है प्रेम! विमुग्धकारी लीलाधारीकी छबि जब इस प्रकार किसी योगीके हृदयकमलमें वास करने लग जाती है, तब क्यों न वह *'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई'* (रा०च०मा० २।१२७।३) बन जाय। धन्य है अलखनिरञ्जन, संतनसुखदाता, लीलानागर प्रभु श्रीकृष्णको और उनकी प्रेममयी गोपरमणियोंको!

* * *

प्रेमी मुक्ति नहीं चाहता

'सा परानुरक्तिरीश्वरे।' (शाण्डिल्यभक्तिसूत्र)
'ईश्वरके प्रति अनन्य प्रेम ही भक्ति है।'
'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥' 'मूकास्वादनवत्॥'
(नारदभक्तिसूत्र ५१-५२)

'जैसे गूँगा स्वादका वर्णन नहीं कर सकता, वैसे ही प्रेमका स्वरूप अवर्णनीय है।'

भगवत्-पादारविन्द-रसास्वादनपरायण प्रेमी भक्तगण मुक्तिपदको पददलित कर भक्तिपुष्पके भ्रमर बने रहते हैं। सगुणोपासक मोक्ष नहीं ग्रहण करते। उनको तो श्रीरामजी अपनी प्रेमाभक्ति ही देते हैं।

वस्तुतः प्रेमी भक्तोंकी मुक्ति तो अपने आराध्य देवके लीलाव्यूहमें प्रवेश करके भगवच्चरित-चिन्तनमय हो जाना या नित्य सेवामें संलग्न रहना है। भक्त कभी भी विलयरूप मुक्तिकी चाह नहीं करते।

भक्तिके दो प्रकार हैं—१-भेदभक्ति और २-अभेदभक्ति। भेदभक्तिमें सेवक-सेव्य भाव है, जिसमें एक सेवाग्राही भगवान् हैं और दूसरा सेवापरायण भक्त। दूसरी ओर अभेदभक्तिमें भोक्ता और भोग्यकी भिन्नता नहीं होती। परम प्रेमतत्त्व ब्रह्ममें लीन हो जाना और सभी सुखोंको लय कर देना ही यहाँ इष्ट है। ठीक वैसे ही जैसे समुद्रमें नमककी पोटली डाल देनेपर वह अपने अस्तित्वको ही खो बैठती है। भेदभक्तिमें प्रेमी भक्त भगवान्के साथ मुख्यतः पाँच सम्बन्धों—शान्त, दास, सख्य, वात्सल्य और मधुरमेंसे अपनी रुचिके अनुकूल किसी सम्बन्धको जोड़कर तद्वत्-भावनामें जन्म-जन्म परमानन्दमें मग्न रहता है। भगवत्प्रेमीका ध्येय पुनर्जन्म पाकर भगवत्कैङ्कर्यपरायण होना, भगवत्सेवा, पूजा-अर्चानिष्ठ होना, जप-ध्यान करना, कथा-कीर्तन-सत्सङ्ग करना, साधुसहवासमें निरत रहना और भगवद्गुणगान ही है। यही नवधा-भक्ति है। प्रेमलक्षणा भक्ति—पराभक्तिका आश्रय लेकर परमानन्दकी प्राप्ति ही भगवत्प्रेमीका जीवनसर्वस्व है। भगवान् राघवेन्द्र सरकारकी साकेतयात्राके समय श्रीहनुमन्तलालजीसे प्रश्न किये जानेपर उत्तर मिला कि 'इस धरातलपर ही रहकर मैं आपका नाम-जापक और कथा-श्रोता होकर रहना चाहता हूँ'—

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्॥

किम्पुरुषवर्षमें आज भी हनुमान्जी अपने प्रेमास्पद प्रभु श्रीरामका अहर्निश गुणगान करते रहते हैं (श्रीमद्भा० ५।१९।१—८)।

'प्रेमी मुक्ति नहीं चाहता'—यह नियम सदैव सभी युगोंमें अक्षरशः सत्य पाया जाता है। इन भगवत्प्रेमियोंमें चाहे वे किसी योनिमें हों—देव, दानव, दैत्य, ऋषि, मुनि, मनुष्य आदि जो हों—सबमें जन्म-जन्मान्तरमें भगवत्कैङ्कर्य करनेकी एक अमिट चाह बनी रहती है। उदाहरणार्थ नीचे कुछ प्रेमी भक्तोंकी चर्चा प्रमाणरूपमें की जा रही है—

सत्ययुग

प्रह्लादजी—दैत्यकुलभूषण परम भागवत प्रह्लादजी श्रीनृसिंहभगवान्से वरदान माँगते हैं—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वच्युताभक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
(विष्णु० १।२०।१८)

'नाथ! अच्युत! जिन-जिन हजारों योनियोंमें मैं जन्म लूँ, उन-उन योनियोंमें आपकी अचल प्रेमाभक्ति मुझे प्राप्त हो।'

वृत्रासुर—भगवान्से माँगता है—

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥
ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं
संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः।
त्वन्माययाऽऽत्मात्मजदारगेहे-
ष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्॥
(श्रीमद्भा० ६।११।२४—२७)

'प्रभो! आप मुझपर ऐसी कृपा करें कि जिससे मुझे

अगले जन्ममें भी आपके चरणकमलोंके आश्रित सेवकोंकी अनन्यभावसे सेवा करनेका अवसर प्राप्त हो। प्रियतम! मेरा मन आपके मङ्गलमय गुणोंका स्मरण करता रहे, मेरी वाणी उन्हींका गान करे और मेरा शरीर आपकी सेवा एवं प्रेमाभक्तिमें लगा रहे। सर्वसौभाग्यनिधे! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डलका साम्राज्य, रसातलका एकाधिपत्य, योगकी सिद्धियाँ—यहाँतक कि पुनर्जन्मनाशक मोक्ष भी नहीं चाहता। जैसे पक्षियोंके पंख-विहीन बच्चे 'मा' की बाट देखते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े गोमाताका स्तन्यपान करनेके लिये आतुर रहते हैं और जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतम पतिसे मिलनेके लिये व्याकुल रहती है; वैसे ही हे कमलनयन! मैं आपके चरणदर्शनके लिये छटपटाता रहूँ। प्रभो! मैं मुक्ति नहीं चाहता। मेरे कर्मोंके फलस्वरूप मुझे बार-बार जन्म-मृत्युके चक्रमें भले ही भटकना पड़े, परंतु मैं जहाँ-जहाँ जाऊँ, जिस-जिस योनिमें जन्म लूँ, वहाँ-वहाँ आपके प्यारे भक्तोंसे मेरी प्रेम-मैत्री बनी रहे। स्वामिन्! जो लोग आपकी मायासे घर, शरीर और स्त्री-पुत्रादिमें आसक्त हो रहे हैं, उनके साथ मेरा किसी प्रकारका कभी सम्बन्ध न हो।'

त्रेतायुग

भरतजी—प्रयागमें वर माँगते हैं—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥

यहाँ भी मुक्तिको ठुकराकर जन्म-जन्मान्तर श्रीरामकी प्रेमाभक्तिकी ही आङ्क्षा की गयी है।

वालि—श्रीरामजीसे माँगता है—

'जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ॥'

शरभंगजी—

ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ॥

वसिष्ठजी—

नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥

काकभुशुण्डिजी—

भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपा सिंधु सुख धाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥

दशरथजी—विजयोपरान्त लङ्कामें उपस्थित हैं। सगुणोपासक होनेसे उन्हें भक्ति ही मिली—

ताते उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ भेद भगति मन लायो॥

द्वापरयुग

कुन्तीदेवी—श्रीकृष्णभगवान्‌से माँगती हैं—

स्वकर्मफलनिर्दिष्टां यां यां योनिं व्रजाम्यहम्।
तस्यां तस्यां हृषीकेश त्वयि भक्तिर्दृढास्तु मे॥

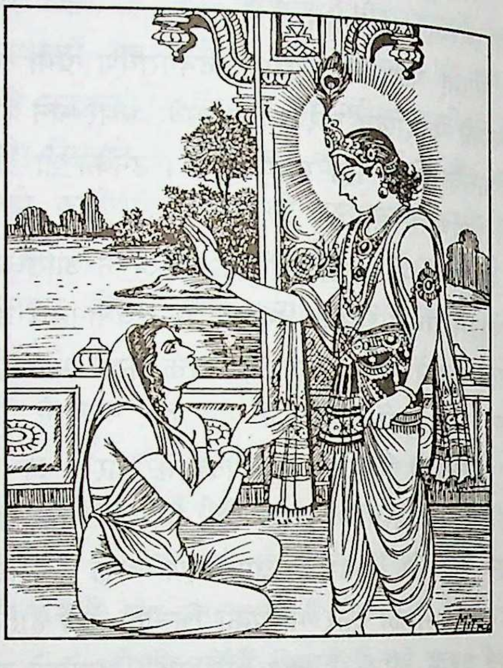

'हे हृषीकेश! अपने कर्मोंके फलस्वरूप मैं जिन-जिन योनियोंमें जाऊँ, उन-उन योनियोंमें आपमें मेरी दृढ़ प्रेमाभक्ति हो।'

महाभाग्यवती गोपाङ्गनाएँ—वे तो प्रेमस्वरूप ही हैं। उनकी लीलाभूमिमें तो वहाँकी रज प्राप्त करके मुक्ति ही मुक्त हो जाती है—

'ब्रजरज उड़ि मस्तक चढ़ै, मुक्ति मुक्त ह्वै जाय।'

प्रेमोदय केवल शुद्ध सत्त्वमें ही होता है। व्रजाङ्गनाओंके शुद्ध सत्त्वहृदयगगनमें प्रेमभास्करका उदय हुआ था। उनकी दिव्य रुचियोंमें मधुर स्निग्धता आयी थी। प्रेम तो दिव्य सुधा है। इसमें किसी स्वार्थकी कोई गन्ध नहीं होती।

'तत्सुखसुखित्वम्॥' 'तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति॥'

महाभाग्यवती गोपियाँ ब्रह्ममें कभी लीन होना नहीं चाहतीं। उनका तो बस एक ही ध्येय है—अपने प्रेमास्पदके सुखमें ही सुखका अनुभव करना तथा उनके विस्मरण हो जानेपर परम व्याकुल होना।

राजा द्रुपद—गरुडध्वजके प्रति—

त्वयि भक्तिर्दृढा मेऽस्तु जन्मजन्मान्तरेष्वपि।
कीटेषु पक्षिषु मृगेषु सरीसृपेषु
रक्षः पिशाचमनुजेष्वपि यत्र यत्र।
जातस्य मे भवतु केशव ते प्रसादा-
त्त्वय्येव भक्तिरचलाव्यभिचारिणी च॥

हे केशव! जन्म-जन्ममें आपमें मेरी प्रेमाभक्ति दृढ़ हो। कीट, पक्षी, पतङ्ग, राक्षस, पिशाच अथवा मनुष्य—जिस भी योनिमें जन्म लूँ, आपमें मेरी अचल और अनन्य प्रेमाभक्ति हो।

कलियुग

श्रीचैतन्यमहाप्रभु—

न धनं न जनं न सुन्दरीं
कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥
(शिक्षाष्टक ४)

'अर्थात् 'हे जगदीश! मुझे धन, बन्धु-बान्धव, कामिनी, कविता आदि कुछ भी नहीं चाहिये, बस जन्म-जन्ममें मेरी आप परमेश्वरमें अहैतुकी भक्ति हो।'

गोस्वामी तुलसीदास—

(क)

यत्र कुत्रापि मम जन्म निजकर्मवश भ्रमत जगजोनि संकट अनेकं।
तत्र त्वद्भक्ति, सज्जन-समागम, सदा भवतु मे राम विश्राममेकं॥
(विनय-पत्रिका ५७।८)

अपने कर्मवश जहाँ भी मेरा जन्म हो, जिस योनिमें भ्रमण करूँ, वहाँ हे भगवन्! आपकी प्रेमाभक्ति और सत्सङ्ग बराबर मिले। हे राम! मेरा यही एक आश्रय हो।

(ख)

कुटिल करम लै जाहिं मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़ियो, कमठ-अंडकी नाईं॥

'मेरा दुष्कर्म मुझे जिस भी योनिमें ले जाकर डाले, वहाँ हे भगवन्! आप मुझपर कृपा न छोड़ें, जैसे कछुआ अपने अण्डेपर स्नेह नहीं छोड़ता।' (विनय-पत्रिका १०३।३)

(ग)

राम भरोस नाम बल नाम सनेहु।
जनम जनम रघुनंदन तुलसी देहु॥
(बरवैरामायण ६८)

'हे रघुनन्दन! तुलसीको जन्म-जन्ममें भरोसा, बल और स्नेह प्रदान करो।'

कबीरदास—

राम बुलावा देखि के दिया कबीरा रोय।
जो सुख लह सतसंग में सो सुख वहाँ न होय॥

कबीरदासजीने भी यहाँके सत्सङ्ग-सुखको मुक्तिसे बढ़कर बताया है।

देवता

श्रीब्रह्माजी—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥
तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥
(श्रीमद्भा० १०।१४।३०, ३४)

'भगवन्! मुझे इस जन्ममें, दूसरे जन्ममें अथवा किसी पशु-पक्षी आदिके जन्ममें भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो कि मैं आपके दासोंमेंसे कोई एक दास हो जाऊँ और फिर आपके चरणकमलोंकी सेवा करूँ। प्रभो! इस व्रजभूमिके किसी वनमें और विशेष करके गोकुलमें किसी भी योनिमें जन्म हो जाय, यही मेरे लिये बड़े सौभाग्यकी बात होगी; क्योंकि यहाँ जन्म हो जानेपर आपके किसी-न-किसी प्रेमीके चरणोंकी धूलि अपने ऊपर पड़ ही जायगी। प्रभो! आपके प्रेमी व्रजवासियोंका सम्पूर्ण जीवन आपका ही जीवन है। आप ही उनके जीवनके एकमात्र सर्वस्व हैं। इसलिये उनके चरणोंकी धूलि मिलना आपके ही चरणोंकी धूलिकी प्राप्ति है और आपके चरणोंकी धूलि तो श्रुतियाँ भी अनादिकालसे अबतक ढूँढ़ ही रही हैं।'

भगवान् शङ्कर—

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥
(रा० च० मा० ७। १४ क)

इस प्रकार भगवत्प्रेमियोंने मुक्ति न चाहकर नित्य प्रेमाभक्तिकी ही इच्छा की है, चाहे कितने ही जन्म हों।

[प्रेषक—श्रीबलरामजी सैनी]

* * *

भगवद्भक्ति और भगवत्प्रेमका तादात्म्य

(डॉ० श्रीविश्वम्भरनाथजी पाण्डेय, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, एल्-एल्०बी०)

'श्रीमद्भागवत' भक्तों—भागवतोंका महान् ग्रन्थ है। इसमें भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा साधककी अर्हताके भेदसे मानवमात्रके कल्याणके लिये तीन प्रकारके योगोंको बताया गया है—१-ज्ञान २-कर्म और ३-भक्ति। इनके अतिरिक्त मानवजातिके महत् कल्याणका कोई दूसरा साधन कहीं नहीं है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।६)

'भक्ति' शब्द '**भज सेवायाम्**' धातुसे बना है। अपने श्रद्धेय इष्टके गुणोंपर अनुरक्त होकर उनसे अनुप्राणित होना और तदनुरूप आचरण करनेका संकल्प ही सेवाका निहितार्थ है। भक्त भगवान्का जब नाम लेता है तो उसे उसके अर्थका अनुभव होना अनिवार्य है।

महर्षि पतञ्जलिका सूत्र है—'**तज्जपस्तदर्थभावनम्॥**' (पात०योग० सूत्र १।२८) यह सूत्र बताता है कि नाम जपते समय नामके द्वारा व्यक्त होनेवाले अर्थका अनुभव करना साधकके लिये आवश्यक है। 'भजन' शब्दका अर्थ है—भगवान्का स्मरण, जप तथा उनके गुणोंका कीर्तन। इसी तरह 'भक्ति' शब्दका अर्थ है भक्तके अन्तःकरणका भगवदाकार हो जाना—'**अन्तःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिः।**' इसीलिये श्रवण, कीर्तन आदिको भक्तके चित्तको भगवन्मय करनेका साधन कहा गया है और सिद्धि है भक्तिका उद्रेक।

भक्तके चित्त एवं अन्तःकरणका भगवान्के रूपसे तदाकार हो जानेपर भक्तको केवल भगवान्का स्मरण होता है, अन्य किसी वस्तुका नहीं। माता, पिता, बन्धु, सखा तथा द्रव्य आदि किसी अन्य लौकिक एषणाके साथ उसका ममत्व नहीं रह जाता और भगवान् ही भक्तके सर्वस्व हो जाते हैं। फिर तो वह 'भुक्ति' (लौकिक विषय-भोग) तो क्या भगवान्की अहैतुकी भक्तिको छोड़कर 'मुक्ति' की कामना भी नहीं करता। ऐसी ही भावदशामें भक्तशिरोमणि चैतन्यदेव अपनी एक प्रार्थनामें कामना करते हैं—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

(शिक्षाष्टक ४)

अर्थात् 'हे जगदीश! मुझे धन, बन्धु-बान्धव, कामिनी कविता आदि कुछ भी नहीं चाहिये, बस जन्म-जन्ममें मेरी आप परमेश्वरमें अहैतुकी भक्ति हो।' स्पष्टतः चैतन्यमहाप्रभु मुक्तिके प्रति केवल अपनी अनिच्छा, अनास्था एवं अनासक्ति ही नहीं व्यक्त करते हैं, अपितु 'मुक्ति' के विपरीत जन्म-प्रतिजन्म ग्रहण करते हुए भगवान्की नैष्ठिक एवं निःस्वार्थ भक्ति-निधिको ही पानेका प्रसाद माँगते हैं। श्रीरामके परम-स्नेही तथा भक्तशिरोमणि श्रीभरतजीने भी अपने लिये ऐसा ही वर माँगा है—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥

(रा०च०मा० २।२०४)

जगत्की उत्पत्ति, पालन और विलयके कारणभूत आत्मप्रकाशवान् परमेश्वरमें एकमात्र निष्ठाके कारण भक्तको एकमेव शरण एवं अवलम्ब भगवान्का पद-कमल ही प्रतीत होता है। '**त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यम्**' की आस्थाके अनुरूप भक्त भगवान्को ही अपना अनुत्तम आश्रयदाता और प्राप्तव्य परम धन मानता है। इसीलिये पुण्यकर्म करनेवाले चार प्रकारके भगवद्भक्तोंमें आर्त भक्तको प्रथम स्थान दिया गया है। (गीता ७।१६)

भक्तका अन्तःकरण भगवदाकाररूप हो जानेके कारण वह न केवल सर्वव्यापी भगवान्को सर्वत्र देखता है, अपितु संसारके सभी प्राणियोंमें अपना ही भगवत्स्वरूप और स्वयंके भगवत्स्वरूपमें संसारके सभी प्राणियोंको देखने लगता है। यही भक्तिकी उत्तमावस्था भी है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४५)

अर्थात् जो जगत्के सभी प्राणियोंमें अपना भगवत्स्वरूप और अपने भगवत्स्वरूपमें सभी प्राणियोंको देखता है, वही

उत्तम भक्त है। भक्तिकी इस उत्तम अवस्थामें साधक भगवान्के गुणोंका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, पूजन, वन्दन तथा दास्य, सख्य और आत्मसमर्पणकी रीतिसे पहुँचता है, जिसे गौणी नवधा (वैधी) भक्ति कहते हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७।५।२३)

भक्तिकी साधनाके लिये श्रद्धा और विश्वासकी जरूरत होती है, जिनके बिना भगवत्प्रेम और तज्जनित भगवद्भक्ति एवं अपने अन्तःकरणमें भगवान्के रूपका साक्षात्कार सम्भव नहीं होता। श्रीमद्भागवत (११।२०।८)-में भगवान् श्रीकृष्णने उसी पुरुषको सिद्धिदायी भक्तियोगका अधिकारी बताया है, जिसे अपने पूर्वजन्मके पुण्यकर्मोंसे सौभाग्यवश भगवान्की लीला-कथा आदिमें श्रद्धा हो गयी है—

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥

भगवान् यह भी कहते हैं कि मनुष्यको संसारमें विधि-निषेधमय कर्मपुञ्जोंमें तभीतक लगा रहना चाहिये, जबतक कि उसे संसारके कर्मोंसे वैराग्य (निर्वेद) नहीं हो जाता और उसे मेरी लीला-कथाके श्रवण-कीर्तन आदिमें श्रद्धा नहीं हो जाती अर्थात् भगवान्के कथा-कीर्तनमें श्रद्धा उत्पन्न होनेके साथ ही मनुष्यको भगवान्की भक्तिमें लग जाना चाहिये। इस तरह श्रद्धा भगवद्भक्तिका आरम्भ-बिन्दु है—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।९)

श्रद्धा होनेसे ही विश्वास उत्पन्न होता है अन्यथा चित्त संशयग्रस्त रहता है। अतः गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है कि विश्वासके बिना भक्ति नहीं हो सकती और भक्तिरहितके प्रति भगवान् विशेष कृपालु नहीं होते। ज्ञातव्य है कि अर्थतः श्रद्धा आस्था, निष्ठा और विश्वासका पर्याय है—

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥

(रा०च०मा० ७।९० क)

साधकोंके लिये श्रद्धा और विश्वास दोनों जरूरी हैं तथा इनके बिना सिद्धजन अपने अन्तरमें विराजमान ईश्वरको नहीं देख पाते हैं, इसे गोस्वामीजीने श्रीरामचरितमानसके बालकाण्डमें आदिवन्दना द्वितीय श्लोकमें भी सुस्पष्ट कर दिया है—

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥

इस प्रकार भगवान्की भक्तिका प्रादुर्भाव पुण्य-कर्म-फलसे साधकके मनमें उत्पन्न श्रद्धासे होता है। श्रद्धासे सङ्ग, सङ्गसे भजन, उससे अनर्थ-निवृत्ति, फिर निष्ठा, उससे रुचि, रुचिसे आसक्ति (लगन अथवा लगाव), तदुपरान्त भाव और तदनन्तर भगवान्के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है, जिसे रागात्मिका भक्ति कहते हैं। श्रीरूपगोस्वामीजी बताते हैं—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाऽभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व ४।६-७)

साधकोंके मनमें श्रद्धाके बाद भगवत्प्रेमके उदय होनेका यही क्रम है। भगवत्प्रेम उत्पन्न होनेपर साधक भक्तका हृदय भक्तिसे द्रवीभूत होने (पिघलने) लगता है। भक्तिकी इसी चरमावस्थाको प्राप्त करनेके लिये चैतन्य महाप्रभु बेचैन दिखते हैं—

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

(शिक्षाष्टक ६)

अर्थात् 'हे गोविन्द! वह दिन कब आयेगा, जब आपका नामोच्चारण करनेपर मेरी आँखोंसे अविरल आँसुओंकी धारा बहने लगेगी, मेरी वाणी प्रेमके आवेगसे गद्गद हो जायगी और मेरा सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो उठेगा?'

भगवद्भक्ति और भगवत्प्रेम—भगवान्के प्रति प्रीति, अनुरक्ति, आसक्ति, प्रेम, रुचि आदि रागात्मक वृत्तिको भगवत्प्रेम कहते हैं। यह ऐसा मधुर रस है, जिसके स्वादका वर्णन नहीं किया जा सकता। अलौकिक होनेके कारण इसका स्वरूप परमात्माके स्वरूपकी भाँति गूँगेके लिये

गुड़के स्वादकी तरह अनिर्वचनीय है—'**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।**' '**मूकास्वादनवत्॥**' (भक्तिसूत्र ५१-५२) भगवत्प्रेमी अनेक-अनेक जन्मोंतक भगवान्‌के इस अमिय-मधुरभाव-सांनिध्यमें रहना चाहते हैं, फिर भी तृप्त नहीं होते। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥
जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥
(रा०च०मा० ७।५३।१-२)

विवेचनकी दृष्टिसे प्रियका दर्शन, स्पर्श, श्रवण तथा नामोच्चारण करते समय हृदयका पिघल जाना ही प्रेम है—

दर्शने स्पर्शने वापि श्रवणे भाषणेऽपि वा।
हृदयस्य द्रवत्वं यत्तत्प्रेम इति कथ्यते॥

भगवत्प्रेमकी ऐसी दशाका चित्रण करते हुए श्रीमद्भागवतमें व्यासजीने स्वयं भगवान्‌के श्रीमुखसे कहलाया है कि 'जबतक सारा शरीर पुलकित नहीं हो जाता, चित्त पिघलकर गद्गद नहीं हो जाता, आनन्दके आँसू आँखोंसे छलकने नहीं लगते तथा अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग भक्तिकी बाढ़में चित्त डूबने-उतराने नहीं लगता, तबतक चित्तकी शुद्धि नहीं हो सकती (श्रीमद्भा० ११।१४।२३)। सात्त्विक भक्तिकी यही स्थिति भगवत्प्रेम है। प्रकृतितः भगवत्प्रेमकी दशा भक्ति ही है। भक्तिकी परिणति भगवत्प्रेममें होनेके कारण भगवद्भक्ति और भगवत्प्रेमको साधन-सिद्धिके रूपमें निरूपित किया जा सकता है। पर चूँकि भक्ति श्रद्धा (विश्वास)-से होती है और श्रद्धाका बीज प्रभुके प्रति प्रेम, आसक्ति एवं अनुरागादि मनोभावोंमें अपिहित है, अतः प्रेम स्वयं श्रद्धा तथा तज्जनित भगवद्भक्तिका कारण एवं साधन भी है। अस्तु, भगवद्भक्ति एवं भगवत्प्रेममें तात्त्विक तादात्म्य है और दोनों सांख्य और योगकी भाँति एक अथवा भरतजीके *'साधन सिद्धि राम पग नेहू'* (रा०च०मा०२।२८९।८)-की तरह साधन और सिद्धि दोनों हैं।

* * *

भगवत्प्रेमका तात्त्विक विवेचन

(डॉ० श्रीनरेशजी झा, शास्त्रचूडामणि)

भक्ति-साहित्यके इतिहासमें प्रेम-तत्त्वका सर्वोत्कृष्ट स्थान है। वैसे तो 'भक्तिरसामृतसिन्धु', 'शाण्डिल्य-सूत्र' आदि विख्यात ग्रन्थ हैं, जिनमें भक्तितत्त्वका साङ्गोपाङ्ग विवेचन है, फिर 'प्रेम' शब्द एक तो वैसे ही लोक तथा परलोकमें एक अपूर्व आनन्दमिश्रित स्नेहको उत्पन्न करता है, तत्रापि यदि 'भगवत्प्रेम' हो जाय तो कहना ही क्या है। वह तो अपने इष्टदेवके प्रति परा भक्तिको उत्पन्न करता है, जिससे भक्त उन्हें प्राप्त करनेमें सर्वथा समर्थ हो जाता है।

प्रस्तुत आलोच्य 'भगवत्प्रेम' शब्दमें 'भगवत्' तथा 'प्रेम'—इन दो शब्दोंका योग है। भर्ग[1] ऐश्वर्ये धातुसे 'मतुप्' प्रत्यय करनेपर भगवत् शब्दकी निष्पत्ति होती है तथा अमरकोष[2]के अनुसार 'प्रेम' शब्दके पाँच पर्याय दिये गये हैं, जिनमें एक 'स्नेह' भी है।

व्याकरणके विभिन्न गणों—'**पृ' प्रीतौ, 'प्रीङ्' प्रीतौ, 'स्निह्' प्रीतौ, 'प्रीञ्' तर्पणे कान्तौ च**—ये प्रेम और स्नेहके मूल धातु हैं। जिनमें '**पृ**' धातुसे 'इमनिच्' प्रत्यय करनेपर प्रेम शब्दकी व्युत्पत्ति सम्भावित है। इस प्रकार '**भगवति प्रेम, भगवतः प्रेम**' अर्थात् भगवान्‌में प्रेम, भगवान्‌का प्रेम आदि विग्रह (समास) हो सकते हैं। निष्कर्ष यह है कि भगवान्‌के साथ तादात्म्य स्थापित करना ही—एकनिष्ठ होना ही भगवत्प्रेम है। भक्ति-साहित्यके आकर ग्रन्थ 'श्रीमद्भागवत-महापुराण'-में प्रेम, भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य-विषयक मार्ग कूट-कूट कर भरे हैं, तभी तो इसके विषयमें '**विद्यावतां भागवते परीक्षा**' लोकोक्ति विद्वानोंमें प्रचलित है। उसमें भी अनेकत्र कहा गया है कि भगवत्प्रेमकी उद्भावनामें प्रगाढ़ भक्ति ही साधिका है और भगवत्प्रेमसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। भगवत्प्रेममें निमग्न गोपियोंसे भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

---

[1] ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥ (विष्णु० ६।५।७४)

[2] प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहोऽथ दोहदम्। (अमर० १।७।२७)

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः॥

अर्थात् सखियो (गोपियो)! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम सब लोगोंको मेरा वह प्रेम प्राप्त हो चुका है, जो मुझे ही प्राप्त करानेवाला है; क्योंकि मेरे प्रति की हुई प्रेम-भक्ति प्राणियोंको अमृतत्व प्रदान करनेमें समर्थ है। यही कारण है कि हमारे प्रातःस्मरणीय संत, महात्मा और भक्त भगवत्प्रेम-साधनाके कारण अमर हैं।

इस अलौकिक प्रेमानुरागसे गोपियाँ इतनी प्रभावित हुईं कि विरहावस्थामें भी वे अपने प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्रका ही अनुकरण करती हैं, जैसा कि श्रीमद्भागवत (१०।३०।२)-में कहा गया है—

गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालापविहारविभ्रमैः ।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः॥

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णकी मदोन्मत्त गजराजकी-सी चाल, प्रेमभरी मुसकान, विलासभरी चितवन, मनोरम प्रेमालाप, भिन्न-भिन्न प्रकारकी लीलाओं तथा श्रृङ्गाररसकी भाव-भङ्गियोंने उनके चित्तको चुरा लिया था। वे प्रेममें मतवाली गोपियाँ तन्मय हो श्रीकृष्णमय हो गयीं और फिर श्रीकृष्णकी विभिन्न चेष्टाओंका अनुकरण करने लगीं।

यह भगवत्प्रेम बिना एकनिष्ठ साधना तथा अनन्य भक्तिके प्राप्त नहीं हो सकता है। अतः भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌में अविचल भक्तिकी अत्यन्त आवश्यकता है। उस भाव-भक्तिके माहात्म्यके विषयमें जिज्ञासु उद्धवके प्रति भगवान् श्रीकृष्णने स्पष्ट उपदेश दिया है—

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥
यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥
न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥

(श्रीमद्भागवत ११।१४।१८—२१)

अर्थात् अनन्य निष्ठ मेरा भक्त सांसारिक विषयोंसे बाध्यमान होनेपर भी मेरी उत्कृष्ट भक्तिके प्रभावसे विषयोंसे कभी पराभूत नहीं होता और जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि काष्ठको शीघ्र ही भस्म कर देती है, उसी प्रकार मेरी अनन्य भक्ति, भक्तके समस्त पापोंको हटा देती है। हे उद्धव! मैं विशेष क्या कहूँ, मुझे योग तथा सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग उतना आकृष्ट नहीं करते हैं, जितनी कि एकमात्र श्रद्धामयी भक्ति मुझे प्रिय है। इतना ही नहीं मेरेमें निष्ठा रखनेवाली भक्ति चाण्डालोंको भी पवित्र कर देती है। तभी तो श्रीमद्भागवतके वेदस्तुति-प्रकरणमें श्रुतियोंके माध्यमसे दृढ़भक्तिकी प्राप्तिहेतु श्रीधर स्वामीजी महाराज कहते हैं—

चरणस्मरणं प्रेम्णा तव देव सुदुर्लभम्।
यथा कथंचिन्नृहरे मम भूयादहर्निशम्॥

अर्थात् हे भगवन्! यद्यपि आपके चरणोंका प्रेमपूर्वक स्मरण अत्यन्त दुर्लभ है। अतः चाहे जैसे-कैसे भी हो, हे नृसिंह! मुझे तो आपके चरणोंका स्मरण दिन-रात अविचल रूपसे बना रहे। यही विनम्र निवेदन है।

अब जरा देखिये श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रेमाभक्तिके विषयमें भगवान् श्रीकृष्णकी उक्ति—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(७।१६-१७)

अर्थात् हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको प्रायः भजते हैं, किंतु उनमें नित्य मुझमें एकाग्रभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त ही अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीका मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी भी मुझे अत्यन्त प्रिय है।

इसी प्रकार नाना पुराण-निगमागमसम्मत श्रीरामचरितमानसमें संत गोस्वामी तुलसीदासजीने प्रेमतत्त्वका विशेषतः भगवत्प्रेम और भ्रातृप्रेमका लोकोत्तर वर्णन किया है। मानसका अयोध्याकाण्ड तो प्रेमभाण्ड ही है। गोस्वामीजीके प्रत्यक्ष शिष्य श्रीरामू द्विवेदने तो मानसकी समसामयिक

संस्कृत टीका 'प्रेमरामायण*' नामसे प्रेमतत्त्वपर एक ग्रन्थकी रचना ही कर डाली। स्वयं संत गोस्वामीजी यथार्थ भगवत्प्रेमी हैं। श्रीद्विवेदने जो अपने गुरुदेवकी वन्दना की है, उसमें गोस्वामीजी एकनिष्ठ भगवत्प्रेमके साधकके रूपमें चर्चित हैं। देखिये भगवत्प्रेमके एकनिष्ठ साधक गोस्वामीजीके स्वरूपका वर्णन—

गौरं रा पदमात्रसंश्रवणतोऽप्युद्धूतरोमाङ्कुरं
वक्षः श्रीतुलसीप्ररूढगुटिकामालं पटीशालिनम्।
वारं वारमिदं पदं 'भरतु भे ठाढ़ेति' गाढं स्वरं
गायन्तं नररूपिणं कमपि तं वन्देऽनवद्ये हितम्॥

इस वन्दना-प्रकरणमें गोस्वामीजी भगवत्प्रेममें इतने भाव-विभोर हैं कि 'राम' शब्दके केवल 'रा' पद (अक्षर)-के उच्चरित होते ही—सुनते ही उनका रोम-रोम रोमाञ्चित हो उठता है; क्योंकि श्रीराममें स्वभावतः उनका भक्तिनिष्ठ प्रेम है, इतना ही नहीं, वे बार-बार *'भरत भए ठाढ़े कर जोरि'* इस पदको प्रगाढ़ स्वरसे भावमय उच्चरित कर रहे हैं, गान कर रहे हैं अर्थात् भरतजीके भ्रातृप्रेमसे आह्लादित हैं। यह है भक्त संतकी भगवत्प्रेमसाधना।

भगवत्प्रेम-साधनामें पूज्य संत उड़िया बाबाका अभिमत—

'श्रीसद्गुरु संत और इष्टमें प्रगाढ़ आत्मीयता ही या पथ (भगवत्प्रेम)-की कुञ्जी है। या सौं या पथ अति सुगम सरस और मधुर बनि जाय है तथा शीघ्र प्रेमप्राप्तिमें सहायक होय है। अन्तमें ये ही प्रेम बनि जाय है। ये तो मेरे हैं ही और मैं आयो हूँ केवल इनके तांई ही'। अपरञ्च—

परमभक्त श्रीहनुमान्‌जीका असीम भगवत्प्रेम—यह सुप्रसिद्ध पौराणिक वचन है—**'ज्ञानमिच्छेत् महेश्वरात्'** अर्थात् ज्ञानके अधिष्ठाता शंकरजीसे ज्ञानकी कामना करे, किंतु भगवान् शंकर ज्ञान आदिकी तरह प्रेमस्वरूप भी तो हैं और हनुमान्‌जी *'संकर सुवन'* हैं। श्रुतिने स्पष्टरूपसे कहा है—**'रसो वै सः'** अर्थात् वह अदृश्य तत्त्व ब्रह्म ईश्वर रसरूप है। साथ ही वह प्रेमरूप और आनन्दरूप भी है, **'तस्मात् प्रेमानन्दात्'** (रामरहस्योपनिषद्)। प्रेमके आस्वादनके लिये द्वैताभास अपेक्षित हो जाता है। प्रेमी अपना प्रेम किसपर उड़ेले। कोई उस प्रेमका सुपात्र तो होना ही चाहिये। अतः वह अदृश्य तत्त्व परमाराध्य राम भी हो सकते हैं। अब वे अपने-अपने प्रेमको एक-दूसरेपर उल्लसित कर सकते हैं। (वैदिकी)

'शिवपुराण'से ज्ञात होता है कि एक बार भगवान् शंकरजी सतीके साथ कौतुकवश विश्वभ्रमण कर रहे थे। घूमते-घूमते अकस्मात् गहन दण्डकारण्यमें जा पहुँचे। उस समय भगवान् श्रीराम सीताके वियोगमें होनेवाली विह्वलतासे व्याकुल थे। इतनी अधिक सुध-बुध खो चुके थे कि विह्वल हो पेड़ और पत्तोंसे भी सीताकी जिज्ञासा कर रहे थे। इसी अप्रत्याशित अवसरपर आशुतोष भगवान् शंकरकी दृष्टि श्रीरामपर पड़ गयी। अपने प्रेमास्पद रामको देखते ही भगवान् शंकरका प्रेमानन्द फूट पड़ा, आँखों एवं रोम-कूपोंसे प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगे। श्रीरामके प्रति भगवान् शंकरके इस अलौकिक एवं अपरिहार्य प्रेमने सतीको भी सहसा विस्मयमें डाल दिया।

इस प्रेमरसकी प्रत्यक्ष अनुभूतिके लिये आशुतोष भगवान् शंकरने पहलेसे ही एक उपाय कर लिया था। वे वानरका शरीर धारणकर हनुमान् बन गये थे। यथा—

जेहि सरीर रति राम सों सोइ आदरहिं सुजान।
रुद्रदेह तजि नेहबस बानर भे हनुमान॥

(दोहावली १४२)

इसी प्रकार भक्तराज प्रह्लादका अडिग भगवत्प्रेम, शबरीकी प्रेमभक्ति और भगवान् श्रीकृष्णका अपने बाल-सखा सुदामाजीपर अहैतुकी प्रेम, अनुराग तो विलक्षण ही है। जैसा कि श्रीमद्भागवत (१०।८०।१९)-में कहा गया है—

सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून् नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः॥

अर्थात् परमानन्दस्वरूप भगवान् अपने प्यारे सखा भूदेवता सुदामाजीके अङ्ग-स्पर्शसे अत्यन्त आनन्दित हुए। उनके कमलके समान नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बरसने लगे—यह है भक्तके प्रति भगवान्‌का अटूट श्रद्धायुक्त प्रेम।

तभी तो इस रहस्यमय विलक्षण प्रेमतत्त्वका अनुभव कर संत कबीरदासजीने स्वानुभूत प्रेम-सूत्र बताया—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय॥

* * *

---

* 'प्रेमरामायण' अभी अप्रकाशित है और इसकी ३-४ प्रतियाँ केवल अयोध्या, अरण्य और किष्किन्धाकाण्ड ही उपलब्ध हैं।

भजन-भावकी सिद्धि कैसे ?

[व्रजरसोपासना]

(डॉ० श्रीसत्यपालजी गोयल, एम०ए०, पी-एच०डी०, आयुर्वेदरत्न)

जहाँतक सिद्धिका प्रश्न है वह किसी भी क्षेत्रमें बिना भावके प्राप्त नहीं होती। प्रगाढ़ लगाव ही भाव है। भाव (लगाव या दृढ़ आसक्ति)-के बिना भजन सिद्ध नहीं होता और बिना भजनके भाव सिद्ध नहीं होता। भजनकी निरन्तर प्रक्रिया विषय-तत्त्व श्रीकृष्णके प्रति भाव-निष्ठाको बलवती करती है। यह कोई नवीन कर्म या क्रिया नहीं है, अपितु भूल-सुधार है; क्योंकि जीव भगवान्‌का अंश है। अंश और अंशीमें समान गुण एवं प्रक्रिया रहती है। भगवान् नित्य हैं तो उनका अंश भी नित्य है।

जीव जिस-जिस भावको लेकर अपने इष्ट श्रीकृष्णका भजन करता है, भगवान् श्रीकृष्ण भी उस जीवको उसी भावसे स्मरण करते हैं—इसमें कुछ भी संशय नहीं है, आप अपने भावको पुष्ट तो करके देखिये। हम जो-जो भाव ग्रहणकर संकल्प-विकल्प करते हैं, हमारा वह संकल्प उसी रूपमें प्रकट होता है। जो संसारकी नाशवान् वस्तुओं, सम्बन्धों तथा क्रियाओंको चाहते हैं, वे देर-सबेर उनको अवश्य प्राप्त होती हैं और जो भगवान् कृष्णको भजते हैं, वे भी साधकके भावके अनुसार उसे अवश्य प्राप्त होते हैं। यदि कमी है तो हमारे भावकी कमीके कारण ही है, वे तो सदैव साधककी ओर हाथ पसारे खड़े हैं। संसारकी नश्वर आसक्तियाँ ही हमें उनसे दूर किये हुए हैं—

कृष्ण कृष्ण सब कोई कहे ठग ठाकुर और चोर।
बिना भाव रीझे नहीं नटवर नंद किसोर॥

भजनमें भावकी ही प्रबलता है। हमारा भाव जितना उन्नत होगा, भावसिद्धि या भजनसिद्धि भी उतनी ही उन्नत होगी। जीव मायाके वशीभूत होकर अपना स्वाभाविक धर्म (सेवा-भाव) भूल गये हैं, उस भूलका सुधार ही भजन है क्योंकि—

जीवेर स्वरूप हय नित्य कृष्णदास।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश॥

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

भगवान्‌की मायापर भगवान्‌की कृपासे ही विजय पायी जा सकती है।

अतएव सर्वप्रथम तो मायासे पार पानेके लिये भगवान् कृष्णकी शरण लेना साथ ही उत्तम भाव-सम्बन्ध रखकर उनका भजन करना आवश्यक है, तभी उनका प्रेम पाया जा सकता है। भजन तो करोड़ों लोग करते हैं, परंतु बिना दृढ़भावके भजन सिद्ध नहीं होता।

भक्ति-राज्यमें पाँच प्रकारके भावोंको प्रधानता प्राप्त है, जिनमेंसे किसी एक भावके माध्यमसे भावसिद्धि प्राप्त की जा सकती है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। इनमें माधुर्यभाव परम उज्ज्वल भाव है, इसमें इन पाँचों रसोंका परिपूर्ण रूपमें समावेश है। व्रजरसभावमें माधुर्यरस-उपासनाका ही मुख्य स्थान है। व्रजका तिनका भी कृष्णप्रेममें आकण्ठ डूबा हुआ है, उसको व्रजभावसे अलग करके नहीं देखा जा सकता। व्रजका हर पार्षद कृष्ण-सुखके लिये ही जीवन धारण करता है, उसका अपना सुख रंचमात्र भी नहीं है। इसीलिये व्रजवासियोंका कृष्णके प्रति सेवाका भाव प्रेमकी उच्च कोटिकी श्रेणीमें आता है।

अपनी इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये जो प्रेम किया जाता है उसे काम कहते हैं, परंतु जो श्रीकृष्णकी प्रीति या उन्हें सुख पहुँचानेके लिये किया जाता है उसे शुद्ध प्रेम कहते हैं। काम अन्धतम तथा संसारमें फँसानेवाला है और शुद्ध प्रेम निर्मल भास्करकी तरह है। व्रजगोपियोंका प्रेम शुद्ध एवं परम निर्मल है, उसमें रंचमात्र भी कामकी गन्ध नहीं है। वे एड़ीसे चोटीतक केवल श्रीकृष्णकी हैं, उनकी प्रत्येक सोच, क्रिया एवं विधान श्रीकृष्णके सुखके लिये है। इसीलिये उनका प्रेम अनन्त है तथा टूटनेका कारण उपस्थित होनेपर भी टूटता नहीं, अपितु द्विगुणित शक्तिसे बढ़ता है।

'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥'

(भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व १।११)

व्रजरसोपासना मञ्जरीभावसे पोषित होती है। कृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं तथा सभी जीव स्त्रीभावसे सम्पृक्त हैं।

शरीर-रचनाके भेदसे हममें पुरुष या स्त्री होनेका 'अहं' भाव है। परंतु साधनाकी प्रथम अवस्थामें केवल नाम-जप करना चाहिये—रसका आश्रय ग्रहण नहीं करना चाहिये। नाम-जप करते-करते जब अनर्थ-निवृत्ति होकर चित्त शुद्ध हो जायगा, तब स्वतः ही जीवके नित्य रस (भाव)-का उदय हो जायगा। बिना भावके उदयके दिव्य लीलाओं तथा आत्म (गोपी)-स्वरूपकी स्फूर्ति होना असम्भव है। बिना गोपीभावके युगलस्वरूपके प्रेमकी प्राप्ति असम्भव है; क्योंकि—

गोपीभावेन देवेश स मामेति न चेतरः॥'

(पद्मपुराण, पातालखण्ड ८२। ८२)

भगवान् कृष्ण कहते हैं—जो गोपीभावसे हमारी (युगलरूप परिकरोंसहित) साधना करते हैं, उन्हींको हमारी प्राप्ति होती है, अन्यको नहीं।

इसलिये साधकोंको इसी भावसे कृष्ण-प्रेमकी ओर बढ़ना चाहिये। मञ्जरीभाव ही उत्तम है; क्योंकि उन्हें भगवान्‌की अष्टकालीन सेवाओंमें सर्वत्र प्रवेशाधिकार प्राप्त है। उनका अल्प वय होता है। उनका गोपीभाव बहुत शीघ्र जाग्रत् (सिद्ध) हो जाता है। व्रजरसकी उपासनामें किसी नित्यसिद्ध परिकर (लीला-पात्र)-के आनुगत्यमें ही साधना करनी चाहिये न कि स्वयं यशोदा, ललिता, विशाखा, राधा या श्रीदामा, मनसुखा, नन्दबाबा आदि बन जाय। कोई साधक इनका भाव ग्रहणकर कृष्ण-प्रेम तो कर सकता है, परंतु स्वयं यशोदा या राधा बन जानेसे नित्य लीला-पार्षदके श्रीचरणोंमें अपराध घटित हो जायगा। इसीलिये इसे रागानुगा-भक्ति कहा जाता है—

रागानुगा मार्गे तारे भजे जेई जन।
सेई जन पाय ब्रजे ब्रजेन्द्रनंदन॥
ब्रज लोकेर कौन भाव लया जेई भजे।
भाव योग्य देह पाइया कृष्णे पाये ब्रजे॥
ताहाते दृष्टांत उपनिषत् श्रुतिगण।
रागमार्गे भजि पाइल ब्रजेन्द्रनंदन॥
अतएव गोपीभाव करि अंगीकार।
रात्रि दिने चिंते राधाकृष्णेर विहार॥
सिद्ध देहे चिंति करे ताहाइ सेवन।
सखी भावे पाइ राधाकृष्णेर चरण॥
गोपी अनुगति बिना ऐश्वर्य ज्ञाने।
भजिलहे नाहि पाय ब्रजेन्द्रनंदने॥

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

यद्यपि भजनके अनेक अङ्ग भक्ति-ग्रन्थोंमें मिलते हैं, परंतु भजनकी सिद्धिके लिये—जप, कीर्तन, चिन्तन, स्मरण, सत्सङ्ग, व्रजवास, एकादशी-उपवास, तुलसी-सेवा, किसी व्रजगोपीका आनुगत्य तथा श्रीमद्भागवत आदिका पठन आवश्यक है।

कृष्णनामका जप और कीर्तन करना चाहिये। युगलस्वरूपकी लीलाओंका स्मरण तथा अन्तश्चिन्तित देहसे अपने गोपीस्वरूप तथा राधागोविन्दकी दिव्य लीलाओंका स्मरण करना चाहिये। जबतक संसारके भोगोंमें मन आसक्त है, इस शरीरको ही आत्मा समझे हुए हैं, देहाध्यास बना हुआ है; तबतक भजन सिद्ध नहीं हो सकता। स्वस्वरूपकी अनुभूतिके अभावमें व्रजकी दिव्य लीलाओंमें भी मानवीकरण रहेगा तथा अपराधकी घोर सम्भावनाएँ बनी रहेंगी। अनेक रसिक भक्तोंका पतन होते देखा गया है; क्योंकि वे गोपियोंके विशुद्ध प्रेमकी तुलना जागतिक स्त्री-पुरुष-भावसे करने लगते हैं।

साधनाकी प्रथम अवस्थामें कृष्णनाम (**'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥'**)-का जप और कीर्तन करना चाहिये। श्रीकृष्ण-लीलाओंका श्रवणकर मुग्धा नायिकाकी भाँति चित्तमें श्यामसुन्दरके युगलस्वरूपको स्थिर करना चाहिये। यद्यपि गोपीभाव ही प्रधानरूपसे सभी जीवोंका भाव है, परंतु उनमें भी कुछ सखा तथा पितृ-मातृ भावके भक्त हो सकते हैं। अतएव साधनाके प्रारम्भमें रस (भाव)-का निश्चय नहीं करना चाहिये। नाम-जप करते-करते जब अनर्थ-निवृत्ति हो जायगी तथा चित्त, मन और हृदय शुद्ध हो जायगा, तब उसमें जीवका जो नित्य स्वाभाविक रस (भाव) है उसका उदय हो जायगा। उसे अपने नित्य भावके अनुरूप दिव्य लीलाओंकी स्फूर्ति होने लगेगी, चित्तमें दिव्य प्रेमका विकास होने लगेगा। प्रतिपल कृष्णका दिव्य भाव बना रहेगा—यही साधककी सिद्धावस्था होती है। संसारका कोई भाव या आसक्ति उसके चित्तमें नहीं आती। इस अवस्थामें गोपीस्वरूपका भाव रखकर भावानुरूप दिव्य लीलाका चिन्तन करनेसे देहाध्यास समाप्त होकर भावसमाधि लग जाती है। यह समाधि स्वल्प अथवा दीर्घकालिक हो सकती है। ऐसी स्थितिमें साधक सहज रूपसे कभी प्रलाप करता है, कभी अश्रु बहाता है, कभी भूमिपर लोट-पोट होता है। कभी स्तम्भित हो उठता है और कभी उसे रोमाञ्च

हो आता है।

साधकको भावना करनी चाहिये कि वह एक व्रजगोपी है। उसका जन्म व्रजमें ही किसी गोपके घरमें हुआ है। राधाजी उसकी स्वामिनी तथा प्रिय सखी हैं। मैं उनकी चिर दासी हूँ। उनकी मुझपर विशेष कृपा है। व्रजेन्द्रनन्दन श्रीश्यामसुन्दर मेरे प्राण-प्रियतम सखा हैं। मेरे रूप-शृङ्गारपर वे बहुत मुग्ध हैं। मेरी सेवासे उनको सुख मिलता है। उनका आनन्द-विधान ही मेरा परम सुख है। राधाजीने मुझे प्रसादरूपमें अपने वस्त्र, आभूषण, पुष्पोंकी माला तथा अन्य शृङ्गार-सामग्री दी है। मैं किसी कुञ्जमें जो यमुनाके किनारे स्थित है, उसमें बैठकर प्रिया-प्रियतमकी दिव्य प्रेम-लीलाओंका अपनी सिद्ध देहसे चिन्तन कर रही हूँ।

प्रिया-प्रियतमके प्रणय-विहारके लिये मैंने एक सुन्दर कुञ्जका निर्माण किया है, जो चारों ओरसे लताओंसे आवेष्टित है। उसमें गुलाबके पुष्पोंसे निर्मित एक कोमल शय्या है। प्रिया-प्रियतम दोनों इस कुञ्जमें विहारके लिये आ रहे हैं। मैं एक थालीमें दो मालाएँ रखे हुए हूँ जो कि अत्यन्त सुन्दर पुष्पोंसे निर्मित हैं। उसी थालीमें दो सुगन्धित ताम्बूल हैं तथा कुछ मधुर मिष्टान्न भी हैं। बगलमें चँवर दबा हुआ है तथा पानीकी झारी भी एक हाथमें लिये हुए हूँ।

प्रिया-प्रियतम दोनों रास-नृत्य करके थके हुए हैं। दोनों उस पुष्प-शय्यापर बैठ गये, उनके श्रीचरण दो पृथक्-पृथक् चौकियोंपर रखे हुए हैं। उनके श्रीचरणोंको अपनी ओढ़नीसे पोंछकर अपने माथेसे लगा रही हूँ। तदुपरान्त जलसे उनके चरणोंको प्रक्षालित कर चरणामृत-पान कर रही हूँ। प्रिया-प्रियतम दोनों एक-दूसरेसे कानोंमें कुछ कह रहे हैं। सम्भवतः मुझपर कृपा करनेके लिये ही कुछ परस्पर निर्णय ले रहे हैं। दोनोंके कण्ठमें मैं माला अर्पण कर रही हूँ। दोनोंको तश्तरियोंमें कुछ मिष्टान्न दे रही हूँ। प्रिया-प्रियतम एक-दूसरेके मुखमें मिष्टान्न दे रहे हैं। उसके पश्चात् दोनोंको मैं जल अर्पण कर रही हूँ। उनके अधरोंपर कुछ जल-कण लगे हुए हैं, जिन्हें अपने आँचलसे मैं स्वयं पोंछ रही हूँ। तदनन्तर दोनोंको एक-एक पान अर्पण कर रही हूँ। प्रियाजी पान श्यामसुन्दरके मुखमें डाल रही हैं कि प्रियाजीकी एक अंगुली हलकेसे प्राणप्यारेने अपने दाँतोंमें दाब ली है, वे छुड़ानेका प्रयास कर रही हैं और मैं प्रियाजीका सहयोग कर रही हूँ। फिर दोनोंने गुलाबकी शय्यापर विश्राम किया। मैं चँवरसे उनको हवा कर रही हूँ। कुछ देर पश्चात् प्रियाजी मुझे कुञ्जसे बाहर जानेका संकेत कर रही हैं। मैं बाहर आ गयी हूँ। भाव-तन्द्रा खुल गयी।

इस प्रकार नित्य चिन्तन करनेसे देहका भाव सिद्ध हो जाता है। यहाँ साधकको एक बात समझ लेनी चाहिये कि श्यामसुन्दर तथा राधाजीकी कृपासे ही संसारकी आसक्ति छूटती है, भजनमें मन लगता है, उन्हींकी कृपासे भजन सिद्ध होता है तथा उनकी दिव्य लीलाओंकी स्फूर्ति होती है। साधककी साधनाका कोई बल नहीं है और न ही साधकको अपने भजनका घमण्ड करना चाहिये। सब कुछ तो राधा-माधवके अनुग्रहका ही फल है।

* * *

'प्रेम न बाड़ी ऊपजै'

(श्री एन० आर० शर्मा)

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥

प्रभु-प्रेम एक अमूल्य थाती है, जिसे सरलतासे प्राप्त नहीं किया जा सकता। न तो यह संसारमें मान-प्रतिष्ठाद्वारा मिल सकता है, न धनसे खरीदा जा सकता है और न व्रत-उपवास, दान-पुण्य आदिसे ही पाया जा सकता है। एक सच्चा प्रेमी प्रेमरस-पान करनेके लिये अपना बलिदान करनेको उद्यत रहता है। वह अपने तन-मन-धन—सर्वस्वको प्रेमपर न्योछावर कर देता है और अपने 'अहं'को पूर्णरूपसे नष्ट कर देता है। प्रेममें केवल प्रियतम ही रहता है—प्रेमी अपना अस्तित्व खो देता है। अपने-आपको खोकर ही प्रेमी प्रियतमरूप बन पाता है। जबतक मनुष्यमें 'अहं' रहता है, तबतक सच्चे प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती। प्रेम-मार्गमें दो नहीं रह सकते। यदि प्रेमी अपना अस्तित्व बनाये रखता है तो प्रियतमको नहीं पा सकता। कबीर कहते हैं—

'प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥'

आध्यात्मिक साधनाका ध्येय परमात्माके लिये सच्चा

प्रेम जगाना है; क्योंकि संतोंके अनुसार परमात्मा प्रेम है और प्रेम ही परमात्मा है। आत्मा और परमात्माके मिलनका वर्णन करते हुए संत कबीर कहते हैं कि परमात्मा प्रेमका ही स्वरूप है—

सत्त लोक सब लोकपति सदा समीप प्रमान।
परम जोति से ज्योति मिलि प्रेम सरूप समान॥

अर्थात् सत्यलोकमें परमात्मासे मिलनेपर वह सदा आत्माके साथ रहता है। आत्मा स्वयं ज्योतिस्वरूप होकर उस परम ज्योतिमें मिल जाती है, उस प्रेमस्वरूप प्रभुमें समा जाती है।

आत्मा परमात्माका अंश है। यह उस प्रेमसागरकी एक बूँद है और उससे बिछुड़नेपर संसारमें दुःख झेलती है। वह अपने मूल स्रोत परमात्मामें समाकर ही सुखी हो सकती है। प्रत्येक पूजा और भक्तिका ध्येय प्रभुसे मिलना है। उससे मिलनेकी चाह रखनेवालेको चाहिये कि अपने अन्तरमें ही उस अकूत भण्डारको प्राप्त करे। कबीरका मत है कि वह प्रियतम हर एकके घरमें है। वह प्रेमका ऐसा प्याला है जो सदा भरा रहता है। पर कोई सच्चे गुरुका शिष्य ही उसकी परख जानता है और वही उसे पीकर मतवाला होता है—

हिरदें में महबूब है हरदमका प्याला।
पीवेगा कोई जोहरि गुरुमुख मतवाला॥

(कबीर)

भक्तिकी प्रगाढ़ता और प्रभुसे मिलनेकी लगन ही प्रेम है। प्रेम वह शक्ति है जो मनुष्यको प्रेमस्वरूप बनाकर अपनेमें समा लेती है। जब प्रेमी प्रेममें अपना अस्तित्व भूल जाता है, तब वह प्रियतमका ही रूप बन जाता है। कबीर कहते हैं—

नना निस दिन निरखत जाई, निरखत नैन रहे रतवाई॥
निरखत निरखत जब जाइ पावा, तब ले निरखै निरख मिलावा॥

अर्थात् दिन-रात मैं उसकी खोजमें लगा रहा और खोजते-खोजते थक गया। मेरी आँखें लाल हो गयीं। इस प्रकार खोजनेपर जब उसे पा लिया तो उसने मुझे अपनेमें लीन कर लिया।

यह ऐसा मिलाप है जिसमें कभी वियोग नहीं होता। जब बूँद समुद्रमें समाकर समुद्रमें विलीन हो जाती है, तब वह उससे अलग नहीं मानी जाती। कबीर पुनः कहते हैं—

बबा बंदहि बंद मिलावा, बंदहि बिंद न बिछुरन पावा॥

कबीरका मत है कि भक्तको इस प्रकार प्रभुमें लौ लगानी चाहिये कि उसका ध्यान और कहीं न जाय, तभी वह उस सत्यको प्राप्त कर सकेगा। जो भक्त प्रेमकी लौ लगा लेता है वह परमात्माको पाकर उसके चरणोंमें समा जाता है—

ससा उन मन से मन लावै, अनत न जाइ परम सुख पावै॥
अरु जे तहाँ प्रेम ल्यौ लावै, तो डालह लहै लैहि चरन समावै॥

आत्मा और परमात्माको कबीर पति-पत्नीके एक उदाहरणद्वारा समझानेका प्रयत्न करते हैं। वे आत्मा और परमात्माके मिलनको एक बिछुड़ी हुई पत्नीका पतिसे मिलाप कहते हैं। सब आत्माएँ स्त्रियाँ हैं जो अहंकार और भ्रमके परदेके कारण परमात्मारूपी पतिसे मिल नहीं पातीं। वह आत्मा भाग्यशाली है जो इस परदेको हटाकर परमात्मासे मिलाप कर लेती है। कबीरके कथनानुसार—

सब घट मेरा साइयाँ, सूनी सेज न कोय।
बलिहारी वा घट्ट की, जा घट परगट होय॥

उस दिव्य प्रेमकी एकाग्रता और गहराईका उदाहरण अन्य कहीं नहीं मिल सकता। यदि प्रेमीका ध्यान प्रियतमके अलावा तनिक भी इधर-उधर होता है तो प्रभु-प्रेमकी प्राप्ति असाध्य है। वह स्वामी तभी प्रसन्न होता है जब पत्नीरूपी आत्माका मन उसीके ध्यानमें डूबा रहता है। कबीरने कहा है—

इक चित होय न पिय मिलें, पतिव्रत ना आवै।
चंचल मन चहु दिस फिरै, पिय कैसे पावै॥

यह आध्यात्मिक प्रेम एक आन्तरिक अनुभव है। इसमें सांसारिक प्रेमकी तरह वासना, स्वार्थ और कामनाको स्थान नहीं। परमात्माका प्यार काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि मनके विकारोंको भस्म कर देता है—

चढ़ी अखाड़ें सुन्दरी मांडा पिउ से खेल।
दीपक जोया ज्ञानका काम जरें ज्यों तेल॥

(कबीर)

वह प्रियतम शारीरिक रूप, वस्त्र और आभूषणोंद्वारा रिझाया नहीं जा सकता। आत्मारूपी पत्नी अपने परमात्मा-

पतिको तभी रिझा पाती है जब वह विश्वास, पवित्रता और लगनरूपी अलंकारोंसे अपनेको सजा दे। बाह्य रूपका उस प्रियतमकी दृष्टिमें कोई महत्त्व नहीं है। वास्तवमें गहरा प्रेम और पातिव्रत्य ही स्त्रीका सबसे बड़ा सौन्दर्य है—

पतिबरता मैली भली, काली कुचिल कुरूप।
पतिबरता के रूप पर, वारौं कोटि सरूप॥
पतिबरता मैली भली, गलै काँच की पोत।
सब सखियन में यो दिपै, ज्यों रवि ससि की जोत॥

(कबीर)

पति और पत्नी—आत्मा और परमात्मा दोनों शरीररूपी घरमें साथ-साथ रहते हैं। दोनों एक ही सेजपर हैं, परंतु 'अहं'की बाधाके कारण मिलाप नहीं होता। कबीरने कहा है—

धनि फिर एकै संगि बसेर। सेज एक पै मिलनु दुहेरा॥
धनि सुहागिन जो पिव भावें। कहि कबीर फिरि जनमि न आवै॥

प्रेमकी इस अनुपम अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये प्रेमीको चाहिये कि अपने 'स्वार्थ', 'अहं' और 'मन'को बिलकुल मिटा दे, तभी उसे सच्चा सुख प्राप्त होगा।

इस मन कौं मैदा करौं, नान्हाँ करि करि पीस।
तब सुख पावै सुंदरी, ब्रह्म झलकै सीस॥

संत कहते हैं कि प्रभुके प्रेमियोंसे प्रेम करो जो अपने पूर्ण प्रेमद्वारा प्रभुमें समाकर प्रभुस्वरूप हो गये हैं। कबीरने कहा है—तू परमात्मासे प्रेम करनेहेतु परमात्माके प्रेमीसे प्रेम कर।

'हरि से तू मत हेत कर, करि हरि-जनसे हेत॥'

क्योंकि ऐसे हरिजनके दर्शनसे ही परमात्माके दर्शन होते हैं।

हरिजन मिले तो हरि मिले, मन पाया बिस्वास।
हरिजन हरि का रूप है, ज्यों फूलन में बास॥
प्रेमी ढूँढत मैं फिरौं, प्रेमी मिले न कोय।
प्रेमी से प्रेमी मिलें, विषसे अमृत होय॥

निःसंदेह प्रभु-प्रेम पाना बहुत कठिन है। उसकी प्राप्तिहेतु सांसारिक वस्तुओं और माया, मोह, लोभ, मद तथा अहंकारका त्याग करना पड़ता है। तभी तो संत कबीरने अपनी इस साखीमें लिखा है—

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥

* * *

'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना'

(श्रीरामपदारथसिंहजी)

सब देवता विचार करने बैठे थे कि भगवान् कहाँ मिलेंगे, कहाँ जाकर पुकारा जाय—

बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा॥

(रा०च०मा० १।१८५।१)

देवताओंकी उस सभामें किसीने वैकुण्ठपुरी जानेका विचार व्यक्त किया तो किसीने कहा कि वे प्रभु तो क्षीरसागरमें रहते हैं, वहीं चलना चाहिये—

पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥

(रा०च०मा० १।१८५।२)

सभामें अनिश्चयकी स्थिति थी। देवताओंके उस समाजमें श्रीशिवजी भी विराजमान थे। उन्होंने अवसर पाकर कहा कि मैं तो यह जानता हूँ कि भगवान् सब जगह समान रूपसे व्यापक हैं और वे प्रेमसे प्रकट हो जाते हैं। कहिये तो देश, काल, दिशा और विदिशामें ऐसी जगह कहाँ है, जहाँ प्रभु न हों? प्रभु चराचरमें व्याप्त होते हुए भी चराचरके विकारोंसे अलग और अलिप्त हैं तथा प्रेमसे वैसे ही प्रकट हो जाते हैं जैसे काष्ठसे अग्नि प्रकट हो जाती है—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥

(रा०च०मा० १।१८५।५—७)

शिवजीके वचनानुसार व्यापक उसे कहते हैं जो सभी देशों, कालों, दिशाओं और विदिशाओंमें विद्यमान हो। वेदादि शास्त्रोंका मत है कि जगत्का कोई भी भाग भगवान्से खाली नहीं है। नारायणोपनिषद् (४।१-२)-का वचन है—

'यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा॥'

अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।

अर्थात् जगत्‌में जो कुछ देखने या सुननेमें आता है, उस सबको बाहर और भीतरसे व्याप्त करके नारायण स्थित हैं।

सर्वोपनिषत्सार श्रीमद्भगवद्गीता (१३। १३)-में भी कहा गया है कि परमात्मा सबको व्याप्त करके स्थित हैं—**'सर्वमावृत्य तिष्ठति॥'**

यह कहना ठीक नहीं होगा कि देवगण श्रीभगवान्‌की सर्वव्यापकता-विषयक वेदशास्त्रोंमें वर्णित सिद्धान्तसे अनभिज्ञ थे, किंतु उन्होंने भगवान्‌की प्राप्ति अति दूर वैकुण्ठ या क्षीरसागरमें होनेकी जो बात कही, इससे प्रतीत होता है कि उन्हें सर्वत्र सदा प्राप्त परमात्माके अप्राप्त और अति दूर होनेकी प्रतीति हो रही थी। ऐसी ही प्रतीति हम सबको भी होती है। भगवान्‌के अप्राप्त होनेकी जो प्रतीति होती है, वही आसुरभाववाले मूढ़ मनुष्योंको भगवद्विमुख बनाती है और दैवी सम्पदासम्पन्न जनके मनमें भगवत्प्राप्तिकी तीव्र लालसा पैदा करती है। लालसा होनेपर भगवान्‌के स्वरूपको यथार्थरूपसे जाननेवाले अनुभवी भगवत्प्रेमीके वचनोंपर विश्वास करके तदनुसार साधन प्रारम्भ होता है। यह साधनक्रम देव-समाजमें दिखायी पड़ता है। उनपर शिवजीके आत्मविश्वासयुक्त वचनोंका प्रभाव पड़ा। उन्होंने मनसे मान लिया कि भगवान् चराचरमें व्याप्त हैं, परंतु समस्या शेष थी कि चराचरमें व्याप्त परमात्माके प्रकट होनेका उपाय क्या है।

शिवजीने सर्वव्यापक श्रीहरिके प्रकट होनेके उपायके रूपमें अग्निका बड़ा ही बोधगम्य और व्यावहारिक उदाहरण देकर उन्हें सुझाया कि अग्नि सर्वत्र व्याप्त है, इसीलिये उसे सर्वत्र लकड़ियोंको परस्पर रगड़कर या अन्य विधियोंसे एक ही समयमें प्रकट किया जा सकता है। इसी प्रकार सर्वव्यापक भगवान्‌को भी प्रेमकी रगड़से जहाँ चाहें वहाँ प्रकट कर सकते हैं। शिवजी अपने अनुभवके आधारपर समझा रहे थे। श्रीरामचरितमानसमें उल्लिखित है कि सतीजीके शरीरत्यागके बादसे शिवजीके मनमें वैराग्य तीव्र हो गया। उन्होंने कैलासपर रहना प्रायः छोड़ दिया। वे सदा रघुनाथजीका नाम जपते रहते थे और जहाँ-कहीं भी श्रीरामकथा होती थी, वहाँ जाकर सुना करते थे। वे कहीं मुनियोंको ज्ञानोपदेश करते तो कहीं श्रीरामगुणोंका गान। इस प्रकार समय बीत रहा था और श्रीरामके चरणोंमें उनकी नित्य नयी प्रीति हो रही थी। शिवजीके नियम, प्रेम और उनके हृदयमें भक्तिकी अटल टेकको देखकर कृतज्ञ, कृपालु, रूप और शीलके भण्डार महान् तेजवाले भगवान् श्रीराम प्रकट हो गये—

नेमु प्रेमु संकर कर देखा। अबिचल हृदयँ भगति कै रेखा॥
प्रगटे रामु कृतग्य कृपाला। रूप सील निधि तेज बिसाला॥

(रा०च०मा० १।७६।४-५)

शिवजीके प्रेमके प्रभावसे भगवान् श्रीराम उनके सामने प्रकट हुए थे। इसलिये उन्होंने बड़ी दृढ़तासे सभामें कहा कि श्रीहरि प्रेमसे प्रकट होते हैं।

शिवजीके अनुभवसिद्ध वचन सुननेपर देवताओंको भगवत्कृपा-प्राप्तिके लिये प्रेमका मार्ग पकड़ना पसंद आ गया और ब्रह्माजीने प्रेमपूर्वक श्रीभगवान्‌की स्तुति प्रारम्भ कर दी। स्तुति करते समय उनके मनमें हर्ष था, शरीर पुलकित था और नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बह रहे थे—

सुनि बिरंचि मन हरष तन पुलकि नयन बह नीर।
अस्तुति करत जोरि कर सावधान मतिधीर॥

(रा०च०मा० १।१८५)

ब्रह्माजीके तन, मन और वचनमें प्रेमसूचक अनुभाव प्रकट हो रहे थे। उनके द्वारा की गयी स्नेहयुक्त स्तुतिको सुनकर श्रीभगवान्‌ने आकाशवाणीद्वारा आश्वासन देते हुए कहा कि डरें नहीं, मैं आपके लिये नरवेष धारण करूँगा—

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा॥

(रा०च०मा० १।१८७।१)

यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि शिवजीका कहना था कि भगवान् प्रेमसे प्रकट होते हैं, किंतु केवल आकाशवाणी हुई, भगवान् प्रकट नहीं हुए। इसका कारण है कि जिसके हृदयमें जैसी भक्ति और प्रीति होती है, प्रभु वहाँ उसके लिये उसी रीतिसे प्रकट होते हैं—

जाके हृदयँ भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती॥

(रा०च०मा० १।१८५।३)

देवताओंके हृदयमें भगवत्प्रेमका जो मुख्य स्वरूप

निष्काम प्रेम है, वह नहीं था। किसी कामनासे अन्याश्रयको छोड़कर भगवान्का ही आश्रय लेनेवाले गौणी भक्तियुक्त भक्त आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी कहलाते हैं। आर्त उन्हें कहते हैं जो प्रतिष्ठाहीन और ऐश्वर्यभ्रष्ट हो जाते हैं, इसलिये पुनः उसको पाना चाहते हैं—**'आर्त्तः प्रतिष्ठाहीनो भ्रष्टैश्वर्यः पुनस्तत्प्राप्तिकामः'** (गीता श्रीरामानुजभाष्य ७।१६)। देवता आर्त थे। वे रावणद्वारा प्रतिष्ठाहीन और ऐश्वर्यभ्रष्ट कर दिये गये थे और मेरु गिरिकी गुफाओंमें छिपे रहते थे—***'देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥'*** (रा०च०मा०१।१८२।६) वे भगवान्से अपनी आर्तिका निवारण करवाना और पुनः प्रतिष्ठा तथा ऐश्वर्य पाना चाहते थे। इसलिये भगवान्ने आकाशवाणीद्वारा यह आश्वासन दिया कि मैं पृथ्वीका सब भार हरण कर लूँगा। देववृन्द! आप निर्भय हो जायँ। यह सुनकर देवताओंका हृदय शीतल हो गया और वे तुरंत लौट गये—

हरिहउँ सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई॥
गगन ब्रह्मबानी सुनि काना। तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना॥
(रा०च०मा० १।१८७।७-८)

देवता आकाशवाणीसे ही संतुष्ट थे। भगवान्के दर्शनके लिये उनका आग्रह नहीं हुआ था। अतः भगवान् प्रकट नहीं हुए। भक्तका जैसा भाव भगवान्का वैसा ही बर्ताव।

जो आर्त धैर्य धारण किये हुए आर्तिहर श्रीहरिका ही आश्रय ग्रहण कर उन्हींका ध्यान एवं उन्हींकी स्तुति करते हैं, वे भगवान्द्वारा भक्त ही माने जाते हैं; क्योंकि उनमें कुछ-न-कुछ भगवत्प्रेम होता ही है। प्रेममें अपार पराक्रम है। उसके स्वल्पांशसे भी भगवान् रीझ जाते हैं। भगवान्के प्रति जनकजीका ऐसा कथन भी है—***'तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरें॥'*** (रा०च०मा० १।३४२।४) भगवत्प्रेमके तत्त्व, महत्त्व आदिकी व्याख्या करनेवाले शास्त्र नारदभक्तिसूत्र (८०)-में भी कहा गया है कि स्तुति करनेसे वे भगवान् शीघ्र प्रकट होते हैं और भक्तोंको अपना अनुभव कराते हैं—**'स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान्॥'** भगवान्को छोड़कर कुछ भी नहीं चाहनेवाले, दर्शनके लिये बेचैन रहनेवाले प्रेमी भक्तोंके समक्ष सौन्दर्यनिधान भगवान् साकाररूपमें प्रकट हो जाते हैं और किसी कामनावाले भक्तोंकी कामना पूरी कर उन्हें अपनी सत्ता, महत्ता, कृपा आदिका अनुभव कराकर उनकी भक्तिको ऊँचे स्तरकी भक्तिकी ओर बढ़ाते हैं। ब्रह्माजीकी स्तुति सुनकर भगवान्ने आर्त देवताओंको आर्तिहरणका आश्वासन आकाशवाणीरूपसे देकर उन्हें चराचरमें स्वरूपसे और धर्मभूतज्ञानसे अपनी व्याप्तिका अनुभव करा दिया। आगे जब भगवान् नर बने तब देवता ही उनकी सेवाके लिये वानर बने, उनकी भक्ति विकसित हुई।

भगवत्प्रेमके अनेक स्तर हैं। प्रेमकी सर्वोच्च स्थितिको प्राप्त प्रेमीभक्तोंको प्रेमके अतिरिक्त मोक्षकी भी कामना नहीं होती। वे प्रेमको ही देखते हैं, प्रेमको ही सुनते हैं, प्रेमका ही वर्णन करते हैं और प्रेमका ही चिन्तन करते हैं (नारदभक्तिसूत्र ५५)। प्रेमी सर्वत्र अपने प्रेममय प्रियतमको ही पाते हैं। प्रह्लादजी ऐसे ही प्रेमी थे। श्रीभगवान् तो आर्त पुकारपर आर्तरक्षणके लिये भी प्रस्तुत हो जाते हैं, परंतु प्रह्लादजीने अपने लिये पुकार नहीं की। उनके प्रेमने अपनी प्रभुतासे परमेश्वरको पत्थरसे भी निकाल लिया। गोस्वामी तुलसीदासजीने उनके अनुपम प्रेमका प्रभावकारी वर्णन तुलनात्मकरूपमें किया है—

आरतपाल कृपाल जो रामु जेहीं सुमिरे तेहिको तहँ ठाढ़े।
नाम-प्रताप-महामहिमा अँकरे किये खोटेउ छोटेउ बाढ़े॥
सेवक एकतें एक अनेक भए तुलसी तिहुँ ताप न डाढ़े।
प्रेम बदौं प्रहलादहिको, जिन पाहनतें परमेस्वरु काढ़े॥
(कवितावली ७।१२७)

अर्थात् भगवान् श्रीराम आर्तोंके रक्षक और दयामय हैं। उनका जिसने जहाँ स्मरण किया उसके लिये वहीं खड़े हो जाते हैं। उनके नामके प्रतापकी बड़ी महिमा है, जिसने खोटोंको बहुमूल्य और छोटोंको बड़ा कर दिया। उनके एकसे बढ़कर एक अनेक भक्त हुए जो त्रितापसे दग्ध नहीं हुए। परंतु प्रेम तो प्रह्लादका ही श्लाघ्य मानता हूँ, जिसने पत्थरसे भगवान्को प्रकट कर दिया। भगवान्के प्राकट्यमें अनुपेक्षणीय हेतु प्रह्लादजी-जैसे भक्तका प्रेम ही माना गया है—

सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि किए प्रगट प्रहलादा॥
(रा०च०मा० २।२६५।५)

प्रह्लादजीका प्रेम निष्काम था। गोस्वामी तुलसीदासजी

निष्काम प्रेमको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों फलोंका फल कहते हैं—

स्वारथ परमारथ रहित सीता राम सनेहँ।
तुलसी सो फल चारि को फल हमार मत एहँ॥
(दोहावली ६०)

ऐसा प्रेम सभी साधनोंका साध्य है। यह प्रेम किसी विरले प्रेमी भक्तरूपी पवित्र पात्रमें ही प्रकट होता है—'**प्रकाशते क्वापि पात्रे॥**' (नारदभक्तिसूत्र ५३)

भक्तिशास्त्रकी मान्यता है कि भावरूपा साध्यभक्ति नित्य सिद्ध है—'**नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता।**' (भक्तिरसामृतसिन्धु पू० वि० २।२) अर्थात् हृदयमें नित्यसिद्धभावका प्राकट्य ही साध्यता है। इसका तात्पर्य है कि जिन सौभाग्यशाली प्रेमीजनोंके मनमें प्रेमभावका प्राकट्य होता है, उनके हृदयमें उसका बीज सूक्ष्मरूपमें पहलेसे विद्यमान रहता है। साधनभक्तिके प्रयोगसे पूर्वसिद्ध प्रेमभावकी अभिव्यक्तिमात्र होती है, उत्पत्ति नहीं। इस दृष्टिसे परमात्मा और प्रेममें अन्तर नहीं है। परमात्मा नित्य और व्यापक है तो प्रेम भी नित्य और व्यापक है। साधनभक्तिसे पात्रता आती है, तब प्रेम प्रकट होता है और प्रेमसे परमात्मा प्रकट होते हैं। अतः सबके लिये भगवत्प्राप्तिकी सम्भावना है। पहले सत्सङ्गादि साधनोंसे प्रेम प्रकट करना पड़ेगा। उसके लिये किसी शुभ देश, काल, परिस्थिति या परिवेशकी प्रतीक्षामें समय नहीं खोकर तुरंत साधन प्रारम्भ कर देना चाहिये। भक्तिशास्त्रकी शिक्षा है कि आधा क्षण भी भजनके बिना व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये—'**क्षणार्द्धमपि व्यर्थं न नेयम्॥**' (नारदभक्तिसूत्र ७७) साधनोंसे ही सिद्धि होती है।

भगवान् श्रीरामने भी अपने सुग्रीवादि सखाओंको भजन और प्रेमकी जो रीति सिखायी है, वह मनन करने योग्य है। लङ्काकी लड़ाई जीतकर भगवान् श्रीराम सहयोगी सखाओंके साथ अयोध्याजी आ गये थे। वहाँ सभी वानर ब्रह्मानन्दमें मग्न रहने लगे। प्रभु श्रीरामके चरणोंमें सबका प्रेम था—'***ब्रह्मानंद मगन कपि सब कें प्रभु पद प्रीति।***' (रा०च०मा० ७।१५) उन्हें अपने घरकी यादतक नहीं आती थी—'***बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं।***' (रा०च०मा० ७।१६।१) छः मास बीत गये, तब एक दिन भगवान् श्रीरामने सबको बुलाया और बड़े प्रेमसे समीपमें बैठाकर कहा कि मेरे हितके लिये तुम लोगोंने अपने घरों और सब प्रकारके सुखोंको त्याग दिया। इससे तुम सब मुझे अत्यन्त प्रिय लग रहे हो—

ताते मोहि तुम्ह अति प्रिय लागे। मम हित लागि भवन सुख त्यागे॥
(रा०च०मा० ७।१६।५)

फिर भी भगवान् श्रीरामको उन अतिप्रिय सखाओंका अयोध्याजीमें रहना उचित नहीं लगा। इसलिये उन्होंने उन लोगोंसे कहा—'मित्रो! अब सब लोग घर जाओ, घरमें दृढ़ नियमसे मुझे भजते रहना। मुझे सर्वव्यापक और सबका हित करनेवाला जानकर अत्यन्त प्रेम करना एवं अत्यन्त प्रेमसे सबका हित करना'—

अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम।
सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम॥
(रा०च०मा० ७।१६)

भगवदनुसंधानपरायण सभी साधकोंके लिये यह संदेश उपयोगी है। श्रीभगवान्‌का कहना है कि मुझे अयोध्याजीके सिंहासनपर विराजमान देखकर एकदेशी न समझना। मैं सबमें हूँ, सब कालमें हूँ— यह ध्यानमें रखकर अति प्रेम करना और यह विश्वास रखना कि मैं सर्वव्यापी और सर्वहितकारी होनेसे तुम्हारे हितके लिये तुम सब प्रेमियोंके घरमें बिना बुलाये भी अवश्य प्रकट होऊँगा। 'श्रीरामचरितमानस' (२।२०९)-में महाराज श्रीदशरथजीके द्वारा भगवान्‌के प्रकट होनेके लिये तपस्या या प्रार्थनाकी कोई चर्चा नहीं है, पर भगवान् उनके प्रेम और संकोचवश स्वयं आकर प्रकट हो गये थे—'***जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भए आइ।***' प्रेमसे ही भगवान् मिलते हैं। बिना प्रेमके केवल योग, तप, ज्ञान-वैराग्य आदिसे भगवान् नहीं मिलते हैं—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥
(रा०च०मा० ७।६२।१)

प्रेमीकी प्रभुसे प्रार्थना

(श्रीसुशीलजी चौमाल)

हे मेरे नाथ! हे स्वामी! हे प्रभो! हे रघुनन्दन! हे राघव! हे प्राणप्रियतम! अब समय आ गया है, चौरासी लाख योनियोंमें कई जन्म लेकर थक चुका हूँ। अत: आपको हमारे ऊपर कृपावृष्टि करनी ही पड़ेगी। हम भले-बुरे जैसे भी हैं, हैं आपके बालक ही। हमारा दूसरा कौन-सा सहारा है, जिसकी तरफ हम चल सकें? किसे अपना दु:ख सुनायें? आपके सिवाय हमारी कौन सुननेवाला है। हम तो मूर्खोंके सरताज हैं, पापियोंके सिरमौर हैं, फिर आपके सिवाय हमें कौन अपना सकता है? ऐसी शक्ति भी किसके पास है जो हमें अपना सके। हमारेमें ऐसा कोई गुण नहीं है, जिसके कारण हमें कोई रोटी, कपड़ा एवं मकान या खर्चा दे। दया तो आपका स्वभाव है, तभी काम चल जाता है, नहीं तो हमारी सुध लेनेवाला कोई है ही नहीं।

हे श्रीरघुवीर! न तो मेरे समान कोई दीन है और न ही आपके समान कोई दीनोंका हित करनेवाला। ऐसा विचार कर, हे रघुवंशमणि! आप मेरे कठिन भव-संकट (जन्म-मरण)-का हरण कर लीजिये।

मो सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंस मनि हरहु बिषम भव भीर॥

हे नाथ! मुझसे सेवा आदि कुछ भी नहीं बन पड़ती। भवसागरसे पार जानेके लिये केवल आपकी दयाका ही भरोसा है। हे मेरे राम! आपका स्वभाव अति कोमल है। करुणाके तो आप सागर ही हैं, बिना किसी कारणके ही आप उपकार करनेवाले हैं, फिर मैं आपका होकर भी इस भवसागरमें क्यों फँसा हुआ हूँ। हे नाथ! अब आप कब कृपा करेंगे?

हे प्रभो! हमारा तो स्वभाव ही कुछ ऐसा हो गया है कि थोड़ी-सी भी योग्यता आनेपर (वह भी आपकी कृपासे ही आती है) हमें अभिमान हो जाता है। योग्यता थोड़ी ही होती है पर मान लेते हैं कि हम तो बहुत बड़े हो गये, ज्ञानी हो गये, बड़े भक्त बन गये, बड़े वक्ता बन गये, बड़े विद्वान्, त्यागी और विरक्त बन गये। हे नाथ! हमारेमें तो अभिमान कूट-कूटकर भरा है। परंतु हमने सुना है कि प्रभो! आप तो अभिमान करनेवालोंसे द्वेष और दीनोंसे प्रेम करते हैं। अत: हे प्रभु! अगर आपको अभिमान अच्छा नहीं लगता तो फिर हमारा अभिमान मिटा क्यों नहीं देते? बालक कीचड़में भरा है और 'मा'की गोदमें जानेके लिये मचल रहा है तो 'मा' ही उसको साफ करेगी। क्या बालक खुद स्नान करके आयेगा तभी 'मा' उसको गोदमें लेगी? हे नाथ! यदि आपको हमारी अशुद्धि नहीं अच्छी लगती तो फिर आप ही हमें शुद्ध करके क्यों नहीं गोदमें ले लेते।

हे प्रभो! हमारे सब कुछ आप ही हैं। आपके सिवाय और कौन है, जो हमारे-जैसेको गलेसे लगायेगा।

हे नाथ! यदि आपका हमारे कार्योंकी तरफ ध्यान चला जायगा तो फिर करोड़ों कल्पतक भी हमारा उद्धार नहीं हो सकता। प्रभो! आपका तो स्वभाव ही ऐसा है कि आप अपनोंके अवगुण नहीं देखते हैं, आप तो दीनोंके बन्धु हैं और आपका स्वभाव अति मृदुल है। अत: हे प्रभो! हमें अपने चरणकी शरण प्रदान करो। जिन भरतजीकी रामजीसे भी ज्यादा महिमा कही गयी है, वे भी कहते हैं—

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

आपके ऐसे दयामय मृदुल स्वभावको जानकर ही आपके सामने आनेकी हिम्मत होती है। अगर हम अपनी तरफ देखने लग जायँ तो आपके सामने आनेकी हिम्मत ही नहीं होगी। आपने वृत्रासुर, प्रह्लाद, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार वैश्य, व्याध, कुब्जा, शबरी, व्रजकी गोपियों आदि करोड़ों भक्तोंको तो तारा ही, पापियोंका भी उद्धार किया है तो फिर प्रभो! मुझ दीनकी कब बारी आयेगी?

अत्यन्त लोभी आदमी कूड़े-कचरेमें पड़े पैसेको भी उठा लेता है, वैसे ही आप भी काम, क्रोध, मद, लोभ आदि कूड़े-कचरेमें पड़े हम-जैसोंको उठा लेते हैं। थोड़ी बातमें आप प्रसन्न हो जाते हैं। *'तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरें'* (रा०च०मा० १।३४२।४) कारण कि आपका स्वभाव है—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

हे नाथ! अगर आपका स्वभाव ऐसा न हो तो हम आपके समीप भी न आ सकें। आप हमारे अवगुणोंकी तरफ देखते ही नहीं, थोड़ा भी गुण हो तो आप उस तरफ ही देखते हैं। हे प्रभु! हमारेमें तो राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, अभिमान आदि कितने ही अगणित दोष भरे पड़े

हैं। हमारे इन दोषोंको हमसे अधिक आप जानते हुए भी आप उनको मानते नहीं *'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ'*, (रा० च० मा० ७। १। ६) इसी तरहसे हे प्रभु! हमारा काम चलता है।

हनुमान्‌जी द्वारा आपकी महिमा सुनकर ही विभीषण आपकी शरणमें आये और बोले—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

जो आपकी शरणमें जाता है उसकी आप रक्षा करते, उसे सुख देते हैं, यही आपका स्वभाव है—

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं॥

(विनय-पत्रिका १६२)

दरबारमें दीनका आदर नहीं होता। जबतक हमारे पास कुछ धन-दौलत है, कुछ गुण है, कुछ योग्यता है, तभीतक दुनिया हमारा आदर करती है। दुनिया तो हमारे गुणोंका आदर करती है। हमारा खुद (स्वयं)-का नहीं। परंतु आप हमारा खुदका आदर करते हैं। हमें अपना अंश मानते हैं, गीता (१५-७)-के अनुसार—**'ममैवांशो जीवलोके'** श्रीरामचरितमानस (७। ८६। ४)-के अनुसार—*'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'* हमें अपना अंश मानकर, अपना जानकर कृपा करते हैं, हमारे अवगुणोंकी तरफ देखना तो आपका स्वभाव ही नहीं है। बच्चा कैसा भी हो, कुछ भी करे, पर अपना है—यह जानकर 'मा' कृपा करती है। वैसे ही आप अपना ही अंश समझकर कृपा करते हैं।

हे प्रभु राम! आपने तो घोषणा कर रखी है—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

हे नाथ! हमारे अवगुणोंपर ध्यान न देकर अपने स्वभावानुसार अपने चरणोंकी शरण देकर आप अपना प्रेम प्रदान करें। हमारेमें कोई शक्ति, बल, ज्ञान आदि नहीं है। केवल एक भरोसा आपकी कृपाका है। हमने सुना है कि *'निर्बल के बल राम।'* जिसका इस संसारमें कोई नहीं उसके केवल आप हैं। इसी बातको जानकर आपकी शरणमें आये हैं। प्रभो! हमारा तो कुछ नहीं बिगड़ेगा, परंतु आपकी ही प्रतिज्ञा भङ्ग होगी कि शरणमें आये हुएका त्याग कर दिया।

सूरदासजीने कहा है—*'प्रभु मेरे अवगुन चित न धरो'* प्रभो! यदि आपने हमारे अवगुणोंपर ध्यान दे दिया तो फिर हमारा किसी भी हालतमें निस्तार नहीं है। प्रभो! आप तो पारस हैं, वह लोहेको चाहे पूजा-स्थलमें हो या कसाईके घरमें, छूते ही सोना बना देता है। उसी तरह प्रभो! दया करके इस कुटिल, खल, कामी, दुर्गुणोंकी खानको भी इस भवसागरसे उबार लो।

सूरदासजीने लिखा है—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।

x x x

जो तन दियौ, ताहि बिसरायौ, ऐसौ नोन-हरामी।

ऐसे ही प्रभो! संसारमें जितने अवगुण हो सकते हैं, वे सब-के-सब मेरेमें विद्यमान हैं, पर मेरी मूढ़ता तो देखो फिर भी आपकी कृपाकी आशा कर रहा हूँ।

हे प्रभो! आपके गुणोंका बखान तो वेद भी नहीं कर पाते हैं, फिर भला मैं पामर जीव आपकी स्तुति कैसे कर सकता हूँ। हे नाथ! हम आपसे क्या कहें? हमारे पास कहने योग्य कोई शब्द भी नहीं है, न ही कोई योग्यता है। आप तो जंगलमें रहनेवाले किरातोंके वचन भी ऐसे सुनते हैं, जैसे पिता अपने बालककी तोतली वाणी सुनता है—

बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन।
बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन॥

हे नाथ! हमें आपके चरित्र, लीला, रूप, धाम, गुण, महिमा आदि अच्छे लगे तो यह आपकी ही कृपा है हमारा कोई बल नहीं है। आज हम जो आपका नाम ले रहे हैं, आपकी चर्चा सुन रहे हैं, आपमें लगे हुए हैं, यह केवल आपकी ही कृपा है। यह न तो हमारा उद्योग है और न हमारे कर्मोंका फल है। किसीकी ऐसी योग्यता, सामर्थ्य नहीं है कि आपकी कृपाके बिना आपकी तरफ आ सके। आप ही प्रेरणा देनेवाले हैं। संतोंका सङ्ग-सत्सङ्ग भी आपकी कृपासे ही मिलता है। संसारका चिन्तन तो अपने-आप होता है; क्योंकि ऐसा स्वभाव पड़ा हुआ है, पर आपकी चर्चा, आपका चिन्तन, आपकी कृपासे होता है।

हे नाथ! भक्ति भी आपकी कृपासे होती है। अपनी जबर्दस्तीसे भक्ति लेनेकी ताकत किसीमें नहीं है। जब नाशवान् संसारकी वस्तुओंके भोगोंमें भी हमारा वश नहीं चलता तो फिर आपकी अविनाशी भक्ति, अविनाशी गुण, हमारे बलसे कैसे मिल सकते हैं? यह बस आप ही करते हैं और आपको ही करना पड़ेगा, क्योंकि हम आपके हैं। अच्छे हैं तो आपके हैं,

बुरे हैं तो भी आपके हैं—'*जो हम भले-बुरे तौ तेरे।*' हम आपके पाले पड़ गये। आपमें खींचनेकी ताकत तो है, पर दूर करनेकी ताकत है ही नहीं। आपका स्वभाव ही ऐसा है।

हे प्रभु! हम तो गंदी नालीके कीड़े हैं, जो नालीमें ही जीना पसंद करते हैं। नालीकी गंदगीसे अलग कर देनेपर जैसे कीड़ा मर जाता है, उसी तरह संसारके भोग-विलासमें ही फँसे रहना हमारी नियति बन गयी है।

हे प्रभो! जैसे सूर्यके होनेपर अँधेरा हो ही नहीं सकता, वैसे ही आप जीवका अमङ्गल कर ही नहीं सकते। अमङ्गल करनेकी आपकी भी ताकत नहीं है। आप जब कृपा करते हैं तो वह भी विचित्र ढंगसे करते हैं। हम-जैसे पामर जीव समझ नहीं सकते।

हे प्रभो! हम सांसारिक माया-मोहमें फँसे हुए हैं। उसमें बने रहना चाहते हैं, उसको ही सुख मानते हैं। जो हमारे अहितका प्रधान कारण है, उसीमें अपना हित मानते हैं। हम जान-बूझकर, छिप-छिपकर पाप करते हैं। पाप, अन्यायजनित सुख मिलनेमें अपना सौभाग्य, लाभ, बुद्धिमानी, चतुराई मानते हैं। पापजन्य रुपये-पैसेसे सुख-आराम मिलनेपर खुशी मनाते हैं। इसके दोषोंकी तरफ हमारी दृष्टि जाती ही नहीं, जिससे हम फँस जाते हैं, चौरासी लाख योनियोंमें जाते हैं, नरकोंमें जाते हैं, दुःख भोगते हैं। फिर भी उधर ही जानेका मन करता है। क्या करें नाथ! हम अपनी आदतोंसे मजबूर हैं, आप ही हमें अपनी ओर खींच लें।

काम, क्रोध, मद, लोभ आदि सभी अवगुण हमारेमें भरे पड़े हैं। हम इन दोषोंको दूर करनेके लिये आपसे प्रार्थना नहीं कर रहे हैं। प्रार्थना केवल यह है कि हमारी प्रीति—काम, क्रोध, मद, लोभ आदि सब संसार या सांसारिक वस्तुओंमें न होकर केवल आपमें हो। कामना केवल आपकी हो। आपका चिन्तन न होनेपर अपने-आपपर क्रोध आये, लोभ भी आपके नाम-जपका ही रहे।

हे नाथ! पतितोंका उद्धार करना आपका सहज स्वभाव है। आपके इस स्वभावको देखकर हमारे मनमें विशेष उत्साह होता है कि हम पतित हैं और आप पतितपावन हैं, फिर हमारा उद्धार होनेमें क्या संदेह है?

मैं हरि पतित-पावन सुने।
मैं पतित तुम पतित-पावन दोउ बानक बने॥

हे प्रभो! आपकी ही ताकत है, जो आप मच्छरको ब्रह्मा और ब्रह्माको मच्छरसे भी छोटा बना सकते हैं। ऐसा विचारकर चतुर लोग संशयको छोड़कर आपको ही भजते हैं—

मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन।
अस बिचारि तजि संसय रामहि भजहिं प्रबीन॥

आपसे हमारी विनती है—

प्रभो! मैं भव-संकटमें पड़ा हूँ, भयभीत होकर शरणमें आया हूँ; क्योंकि आपका विरद है—

जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥

इसलिये हे प्रभो! जैसे कामीको स्त्री प्यारी लगती है और लोभीको दाम (रुपये-पैसे) प्रिय लगते हैं, वैसे ही हे राम! हे रघुकुलके स्वामी! आप मुझे निरन्तर प्रिय लगिये। यथा—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

* * *

प्रेमकल्पलता श्रीराधाजी

(डॉ० सुरेशनन्दनप्रसाद सिंहजी 'नीलकण्ठ')

कृष्णेर अनन्तशक्ति ताते तिन प्रधान।
चिच्छक्ति मायाशक्ति जीवशक्ति नाम॥
अन्तरंगा बहिरंगा तटस्था कहि जारे।
अन्तरंगा स्वरूपशक्ति सबार ऊपरे॥

विष्णुपुराण (६।७।६१)-में श्रीविष्णुकी अनन्तशक्तिको परिभाषित करते हुए कहा गया है—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥

विष्णुशक्ति परा है, क्षेत्रज्ञ नामक शक्ति अपरा है और कर्म नामकी तीसरी शक्ति अविद्या कहलाती है।

श्रीराधा-प्रेमभक्तिके अनन्य उपासक महाप्रभु चैतन्यने श्रीकृष्णकी अनन्त शक्तियोंमें 'आह्लादिनी' शक्ति को सर्वश्रेष्ठ परिभाषित किया है; क्योंकि उसी शक्तिसे वे स्वयंको और भक्तजनोंको परमानन्द प्रदान करते हैं—

सत् चित् आनँदमय कृष्णेर स्वरूप।
अतएव स्वरूपशक्ति होय तीन रूप॥
आनंदांशे ह्लादिनी सदंशे सन्धिनी।
चिदंशे संवित् जारे ज्ञान करि मानी॥

कृष्ण के आह्लादे ताते नाम आह्लादिनी।
सेइ शक्ति द्वारे सुख आस्वादे आपनी॥
सुखरूप कृष्ण करे सुख आस्वादन।
भक्तगणे सुख दिते ह्लादिन-कारन॥

भगवान्‌की ऐसी शक्ति जो भक्त और भगवान् दोनोंको सुख एवं आनन्दका आस्वादन कराये, उसे प्रेमकल्पलता संज्ञासे ही विभूषित किया जा सकता है।

'देवीभागवत' नवम स्कन्धके द्वितीय अध्यायमें श्रीराधिकाजीको भगवान्‌की प्रकृति बतलाया गया है। श्रीविष्णु वैकुण्ठमें लक्ष्मीजीके साथ निवास करते हैं तथा 'गोलोक' में श्रीराधिकाजीके साथ। श्रीमहाविष्णु सत्ता, चित्ता और आनन्दकी पूर्ण पराकाष्ठा हैं, जो निराकाररूपसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें ओत-प्रोत हैं और साकाररूपसे श्रीगोलोकधाममें साक्षात् रसराज होकर विराजमान हैं। ये रसराज एकरस, आनन्दमय, विग्रहवान् होते हुए भी श्रीराधा और श्रीकृष्ण दो रूपसे विराजमान हैं।

एक बार ऊर्ध्वरेता सनकादि महर्षियोंने भगवान् श्रीब्रह्माजीकी स्तुति की और विनयपूर्वक पूछा—'देव! सर्वप्रधान देवता कौन हैं और उनकी कौन-कौन शक्तियाँ हैं तथा उन शक्तियोंमें सर्वश्रेष्ठ कौन है?'

श्रीब्रह्माजीने उत्तर दिया—'वत्स! यह गूढ़ रहस्य है। इस गोपनीय रहस्यको अपनेतक ही सीमित रखो। भगवान् हरि श्रीकृष्ण ही परमदेव हैं। इन्हीं श्रीहरिके एक रूप नारायण हैं जो अखिल ब्रह्माण्डोंके अधीश्वर हैं। ये श्रीकृष्ण प्रकृतिसे भी पुरातन और नित्य हैं। इनकी आह्लादिनी, सन्धिनी, ज्ञान, इच्छा और क्रिया आदि बहुत-सी शक्तियाँ हैं, उनमें आह्लादिनी सर्वप्रधान हैं। ये ही आह्लादिनी शक्ति परम अन्तरङ्गभूता श्रीराधा हैं। श्रीकृष्ण सर्वदा इनकी आराधना करते हैं और ये सर्वदा श्रीकृष्णकी आराधना करती हैं। आराधना करनेके कारण ही इनका नाम 'श्रीराधा' है। श्रीराधा और श्रीकृष्ण रससागर श्रीमहाविष्णुके एक शरीरसे ही क्रीडाके लिये दो हो गये हैं। वेद एकान्तमें इनकी स्तुति किया करते हैं। श्रीराधा भगवान् श्रीहरिकी सर्वेश्वरी, सम्पूर्ण सनातनी विद्या और प्राणोंकी अधिष्ठात्री देवी हैं। प्रेमकल्पलता श्रीराधिकाजीके शरीरसे ही गोपियाँ, श्रीकृष्णकी महिषियाँ और लक्ष्मीजी आविर्भूत हुई हैं।'

(ऋग्वेदीय राधोपनिषद्)

श्रीराधा आनन्दस्वरूपा और प्रेमस्वरूपा हैं। वेदोंमें वर्णित अनादि पुरुष तो एक ही है। वह अनादि, अनन्त, अगोचर, अलख आदि रूपोंमें परिभाषित हुआ है। वही अनादि अपनेको दो रूपोंमें आविर्भूत करके स्वयं अपनी आराधनाके लिये तत्पर हुआ करता है। प्रेमकल्पलता श्रीराधा उन्हीं दो रूपोंमें आविर्भूत ब्रह्मका एक स्वरूप हैं। उन्हें ही वेद 'रसिकानन्दरूपा' और 'रसराज आनन्दमूर्ति'की संज्ञा देते है।

श्रीगोलोकधाममें प्रेमकल्पलता श्रीराधाजीके आविर्भावकी भी एक कथा है—कल्पके आरम्भमें श्रीगोलोकधामके रासमञ्चपर रसराज श्रीहरि श्रीकृष्णने 'वेणु-संगीत'का अनहद-नाद ध्वनित किया। वेणु-संगीतने शरद्की शुभ्र खण्डित मेघमालाकी गतिको रोक दिया। अमरावतीमें सुरराजके देवगायकोंके राजा तुम्बुरुकी वीणाका झंकार बंद हो गया। लोकपितामह चतुराननकी सभामें सनक, सनातनप्रभृति निर्गुण ब्रह्मकी महासमाधिमें तल्लीन श्रेष्ठ भक्तजनोंकी समाधि भंग हो गयी। वेणु-संगीतकी ध्वनि ऊर्ध्वलोकको बीधती हुई सप्त पाताल भेदकर लोकसमूहोंको धारण करनेवाले अनन्तदेवके कानोंमें प्रविष्ट हुई, जिससे उनका स्थैर्य भंग हो गया। सहस्रफण एक ही साथ प्रकम्पित हो उठे। पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण समस्त दिशाओंमें वेणु-संगीत गूँज उठा। अखिल ब्रह्माण्ड काँप उठा। देवाधिदेव महादेवके डमरूकी ध्वनि थम गयी। शिव-ताण्डवकी गति रुक गयी। सबोंकी टकटकी रासमण्डलमें विराजित रसराज श्रीहरि श्रीकृष्णके वेणु-संगीतमें निमग्न और नृत्य-मुद्रामें स्थित स्वरूपपर केन्द्रित हो गयी। सब-के-सब रसराजके एकल रासकी प्रतीक्षा उत्कण्ठित दृष्टिसे करने लगे। तभी रसराज श्रीहरि श्रीकृष्णके वाम-पार्श्वसे कोटि-कोटि विभाओंसे विभासित सोलहवर्षीय एक कन्याका आविर्भाव हुआ। कन्याके रूप-सौन्दर्यसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विभासित हो उठा। उसके करोंमें पारिजात-पुष्पोंका पुष्पहार था। पुष्पमाला रसराज श्रीकृष्णको अर्पित कर कन्याने जिज्ञासाभरे नेत्रोंसे मोहिनी मूरतकी ओर देखा। रसराज श्रीकृष्ण बोल पड़े—

सर्वबीजस्वरूपोऽहं सदा योगेन सुन्दरि॥
त्वं च शक्तिस्वरूपा च सर्वस्त्रीरूपधारिणी।

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड १५। ६५-६६)

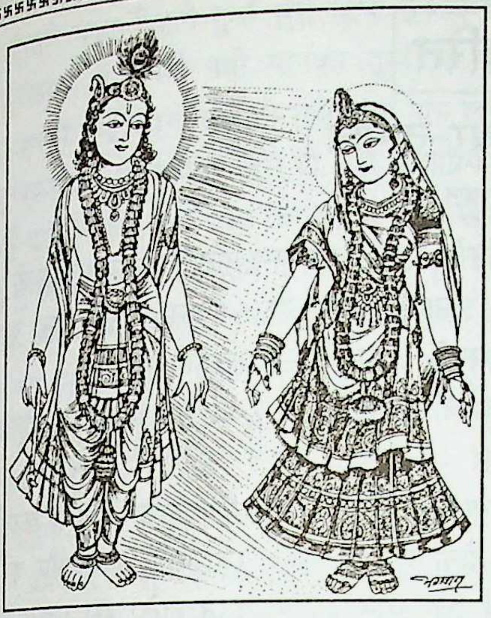

इस प्रकार रसराज श्रीकृष्णने कन्याकी जिज्ञासा शान्त करते हुए कहा—'सौन्दर्यमयि! जिस समय मैं सर्वबीज-स्वरूप हूँ, उस समय तुम भी शक्तिरूपधारिणी स्त्रीस्वरूपा हो। हम, तुम दो हैं ही नहीं—जो तुम हो, वही मैं हूँ, जो मैं हूँ, वही तुम हो।'

इस प्रकार स्वयं रसराज श्रीकृष्णने श्रीराधाके प्रेमकल्पलतास्वरूपको परिभाषित किया। सृष्टिके उस प्रथम रासमें प्रेमस्वरूपा श्रीराधाके शरीरसे अनन्त गोपियोंका आविर्भाव हुआ तथा स्वयं रसराज श्रीकृष्णने अनन्त स्वरूपमें प्रकट हो प्रत्येक गोपीके साथ रास किया।

श्रीराधाका आविर्भाव ही श्रीकृष्णके प्राणोंसे हुआ है और स्वयं शक्तिस्वरूपाने ही अपने प्राणोंकी उपासना की है, इसी कारण वे श्रीकृष्णको प्राणोंसे प्रिय हुईं और प्रेम-जगत्में प्राणाधिष्ठातृदेवीके रूपमें प्रतिष्ठित हुईं—

प्राणाधिष्ठात्री देवी सा कृष्णस्य परमात्मनः।
आविर्बभूव प्राणेभ्यः प्राणेभ्योऽपि गरीयसी॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्रह्मखण्ड ५।२७)

सम्भवतः 'श्रीराधा-भाव-प्रेम-भक्ति' का उद्गम श्रीराधासे समन्वित होनेके कारण श्रीराधाजीको प्रेमकल्पलता कहनेका एक कारण यह भी है। एक और श्लोक भी इस तथ्यको परिपुष्ट करनेके लिये प्रेम-भक्ति-साहित्यमें वर्णित है—

राधेत्येवं च संसिद्धौ राकारो दानवाचकः।
स्वयं निर्वाणदात्री या सा राधा परिकीर्तिता॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड १७। २२३)

'श्रीराधा' नामको परिभाषित करते हुए कहा गया है कि 'रा' शब्द दानवाचक है और 'धा' शब्द निर्वाणवाचक है अर्थात् वह जो निरन्तर निर्वाणका दान करती है वे ही श्रीराधा हैं। इसी कारण वे 'श्रीराधा' नामसे कीर्तित हैं।

भक्तिमें पूर्ण समर्पण ही भक्तको भगवान्‌से, जड़को चेतनसे, आत्माको परमात्मासे तथा प्रेमको भक्तिसे जोड़कर चरम परिणतिकी अवस्थामें पहुँचा देता है, जिसे अध्यात्ममें 'महाभाव' कहा जाता है।

ऐसी मुग्धता प्राकृतिक जीवोंमें नहीं होती है। ऐसी मुग्धता अनन्त, अखण्ड, अनादि, ज्ञानस्वरूप ब्रह्म और ज्ञानस्वरूपा भगवती (श्रीराधा)-में ही हो सकती है। प्रेम और कल्पलताका यही मौलिक स्वरूप है। राधा और कल्पलता एकस्वरूपा हैं, इसी कारण वे प्रेमकल्पलता हैं।

तत्त्वतः ब्रह्मकी आह्लादिनीशक्ति ही भक्तिकी वह कल्पलता है, जो भक्त और भगवान्‌को जोड़ती है। भगवान्‌का अनुग्रह पाकर ही यह आह्लादिनी शक्ति भक्तोंके हृदयमें चैतन्य उदित करती है। प्रेमकल्पलता श्रीराधाकी कृपाके बिना ऐसा सम्भव नहीं। 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में इसका विस्तृत विवरण उपलब्ध है—

श्रीकृष्ण-प्रिय ज्ञान-भक्तिशिरोमणि श्रीउद्धवजीको भगवान् श्रीकृष्णने ज्ञान-संदेशके साथ गोकुल भेजा। वृन्दावनमें प्रवेश करते ही और गोपियोंके सम्पर्कमें आते ही श्रीउद्धवजीकी ज्ञान-गठरी गोपियोंकी प्रेम-गङ्गामें तिरोहित हो गयी। वे सुध-बुध खो बैठे। नयनोंसे निर्झरके समान प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगे। प्रेमकल्पलता श्रीराधाने उन्हें समझाते हुए कहा—'वत्स! जो कर्म समस्त कामनाओंको तजकर कृष्णार्पण कर दिया जाता है, वही सर्वोत्तम कर्म है। समस्त शुभ-कर्म श्रीकृष्णचन्द्रकी दास्यरतिकी सोलहवीं कलाके समान भी नहीं हैं—

गुरुशुश्रूषणं चैव पित्रोर्भक्तिश्च पोषणम्।
सर्वं श्रीकृष्णदासस्य कलां नार्हति षोडशीम्॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड ९७।२०)

जाओ, परमानन्दस्वरूप श्रीनन्दनन्दनका आनन्दपूर्वक भजन करो—'**भज तं परमानन्दं सानन्दं नन्दनन्दनम्।**'

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड ९७।२५)

वर्तमान युगमें महाप्रभु चैतन्यको भी प्रेमकल्पलता श्रीराधाका प्रेम-प्रसाद प्राप्त हुआ था और वे प्रेमकल्पलता श्रीराधामुद्रामें अहर्निश निमग्न होकर कहा करते थे—

प्रेमेर परम सार महाभाव जानी।
सेइ महाभावरूपा राधा ठाकुरानी॥

(चैतन्यचरितामृत)

भक्तोंके पावन चरित

भगवत्प्रेमके आदर्श—शबर-दम्पति

(श्रीघनशाम सीतारामजी पंत शुक्ल)

प्राचीन कालमें पाञ्चाल नगरमें सिंहकेतु नामक एक राजा राज्य करता था। उसका एक पुत्र था, जिसका नाम था—धनंजय। एक दिन राजकुमार धनंजय आखेटहेतु एक घने निर्जन जंगलमें गया। उस वनमें जलका अभाव था। राजपुत्रको बड़ी प्यास लगी और वह जलके लिये वनमें इधर-उधर भटकने लगा। उसके साथमें शबर नामका एक दूत था। वह जातिसे भील था। राजपुत्रके साथ वनमें वह भी घूम रहा था। वनमें विचरण करते हुए दूत शबर बहुत थक गया और विश्रामके लिये एक स्थानपर ठहर गया। अचानक उसकी दृष्टि एक पुरातन जीर्ण शिवालयपर गयी। घने जंगलमें उस शिवमन्दिरमें एक शिवलिङ्ग टूटी-फूटी अवस्थामें पड़ा था। शबरने उसे अपने हाथमें उठा लिया और बड़े आनन्दसे कहने लगा—शिवलिङ्ग बहुत अच्छा है।

तदनन्तर हाथमें शिवलिङ्ग लेकर वह राजपुत्रके पास आया। राजकुमारने उससे कहा—यह तो पृथ्वीपर पड़ा हुआ खण्डित शिवलिङ्ग है, ऐसे तो बहुत-से लिङ्ग यहाँ पड़े हुए हैं। इसे तुम क्यों उठा लाये। इसपर शबर बोला—'स्वामिन्! मेरे मनमें शिवलिङ्गकी पूजा करनेकी बड़ी इच्छा है, इसलिये मैं इसे लाया हूँ।' उसका ऐसा वचन सुनकर राजपुत्र हँसने लगा और बोला—अच्छी बात है। एकाग्रचित्तसे तुम शिवलिङ्गकी पूजा करो। ऐसा सुनते ही शबरने राजकुमारको प्रणाम किया और कहने लगा—मुझे तो पूजा आती नहीं है। आप बताइये कि शिवलिङ्गकी पूजा मैं कैसे करूँ? आप ही मेरे स्वामी हैं, गुरु भी बन जाइये। मैं भिल्ल जातिका हूँ, न मैं पूजा-विधि जानता हूँ और न ही मन्त्र आदिको जानता हूँ। इसलिये आप मुझे पूजा-विधि बता दीजिये।

राजकुमारने कहा—तुम इस पाषाणलिङ्गको अपने घर ले जाओ और पवित्र होकर पति-पत्नी दोनों श्रद्धासे बेलपत्र, फूल आदि इसपर चढ़ाओ एवं मनमें यह निश्चय करो कि ये साक्षात् भगवान् शंकर और माता पार्वती हैं। इन्हें अनेक प्रकारके फूल चढ़ाओ और घरमें जो भोजन बनता हो उसीका भोग लगाओ तथा भस्म चढ़ाओ। भस्म श्मशानका होना चाहिये। ऐसा चिताभस्म प्रतिदिन लाकर चढ़ाओ। भोग लगाकर प्रसाद पाओ, इस प्रकार पूजाविधान जानकर शबरके मनमें श्रद्धा-प्रेम उत्पन्न हो गया।

शबरको बहुत संतोष हुआ और शिवलिङ्ग लेकर वह अपने घर आ गया। अपनी पत्नीसे शिवलिङ्गकी प्रशंसा करने लगा तथा बोला—हमें शिवलिङ्गकी पूजा करनी है। फिर वे दोनों एकाग्र मनसे पूजा करने लगे और हर दिन भोग एवं चिताभस्म अर्पण करने लगे। इस प्रकार शबर-शबरी बहुत दिनतक पूजा करते रहे।

एक दिन पूजाके समय चिताभस्म नहीं मिला। इसलिये शबर आस-पासके आठ-दस गाँवोंमें चिताभस्मके लिये घूम आया, पर चिताभस्म नहीं मिला। इस कारण वह चिन्तामें डूब गया। वह अपनी पत्नीसे कहने लगा—'मुझे पूजाके लिये चिताभस्म नहीं मिला है। आज चिताभस्मके बिना शिवलिङ्गकी पूजाका व्रत खण्डित हो रहा है। इसलिये मैं अपना प्राण-त्याग करूँगा। जो मनुष्य गुरुके उपदेशका पालन नहीं करेगा, वह जीवनभर पापी कहलायेगा, सदा दरिद्र रहेगा और नरकवास भोगता रहेगा। ऐसा वेद-शास्त्र कहते हैं। इसलिये हे शबरी! मैं अपना प्राण त्यागना चाहता हूँ।'

पतिके ऐसे वचन सुनते ही शबरी हँसकर बोली—'आप क्यों चिन्ता करते हैं, मैं आपको चिताभस्म दूँगी। अपने घरमें बहुत लकड़ी है। उसकी चिता बनाकर मुझे आप दहन कीजिये और वही भस्म ईश्वरको अर्पण कर दीजिये। ऐसा करनेसे आपका व्रत भंग नहीं होगा।' शबरी पुनः कहने लगी—'स्वामिन्! इस शरीरका कभी-न-कभी नाश होना ही है। इसलिये प्रभु-कार्यके लिये मैं अपना शरीर समर्पण करना चाहती हूँ।'

अपनी पत्नीके इन वचनोंको सुनकर शबर बड़ा खिन्न हुआ और अपनी प्राणेश्वरीसे कहने लगा—हे प्रिये! मैं तुम्हें किस तरह दहन करूँ? अभी तो तुम नवयौवना हो। न तो तुम्हें अभी संतान हुई है और न ही इस संसारका तुमने सुख देखा। न तुम्हारा मन तृप्त हुआ। तुम्हारी प्राणरक्षाके

लिये तुम्हारे माता-पिताने तुम्हें मुझे सौंपा है। चन्द्र-सूर्यको साक्षी रखकर मैं अपनी पत्नी मानकर तुम्हें घर लाया हूँ। अगर अब मैं तुम्हें दहन करूँ तो मुझे बड़ा पाप लगेगा और स्त्रीहत्याका दोष भी लगेगा। तुम तो मेरी प्राणप्रिया हो और तुम्हें मैं दहन करूँ! क्या ऐसा करनेसे भगवान् शंकर संतुष्ट होंगे? तुम्हारे माता-पिता कितने दुःखी होंगे। मुझे स्त्रीघातकी कहेंगे। अभी तुम सशक्त हो। अनेक प्रकारके व्रत और भक्ति कर सकती हो। ऐसा होते हुए भी मैं तुम्हें दहन करूँ—कितना घोर पाप होगा मुझसे! नहीं-नहीं मैं ऐसा नहीं कर सकता।'

पतिके ऐसे वचन सुनकर शबरपत्नी उन्हें समझाने लगी—'आपका किस प्रकारका ज्ञान है। आप माया-मोहके वशीभूत होकर मिथ्या बोलते हैं। यह शरीर एक स्वप्न है। जैसे गङ्गाजलपर फेन आता है और चला जाता है, वह कभी स्थिर नहीं रहता। इसी प्रकार यह शरीर भी आने-जानेवाला है, इस विषयमें शोक नहीं करना चाहिये। प्रभु-कार्यमें शरीरका उपयोग हो जाय तो जीवन सफल हो जाय। मृत्यु सत्य है। मेरे माता-पिताने आपको मेरा दान किया। इसलिये मैं आपकी अर्धाङ्गिनी हूँ। अपनेमें भेद कहाँ है? मैं ही आपकी देह हूँ। आप मनमें विचार कीजिये। मेरा आधा शरीर दहन करनेसे क्या दोष! जो इस पृथ्वीपर जन्म लेता है। उसका तो नाश अवश्य होता है। इसलिये आप मेरे इस देहको सफल कीजिये।

आप मनमें कोई संदेह न रखकर मुझे शीघ्र दहन कीजिये और उसी चिताभस्मसे प्रभुका शृंगार कीजिये। मैं संतुष्ट मनसे तैयार हूँ। मेरे लिये इससे अच्छा अवसर और दूसरा कौन हो सकता है, ऐसे अनेक प्रकारसे शबरी शबरसे कहती रही। यह सब सुनकर शबरने घरमें लकड़ीकी चिता बनायी और दरवाजा बंदकर घरमें आग लगा दी। बहुत बड़ी अग्निकी ज्वाला भड़की और शबरीका शरीर भस्म हो गया। उसी भस्मसे शबर शिवपूजन करने लगा तो उसे इतना आनन्द हुआ कि पत्नीका दाह किया—ऐसा उसे स्मरण रहा ही नहीं।

इस तरह भक्तिभावसे शिवजीका पूजन हुआ और हाथमें प्रसाद लेकर शबरने जब नित्यकी भाँति अपनी पत्नीको बुलाया तो भगवान् शिवकी कृपा-प्रसन्नतासे शबरी हँसती हुई सामने आयी और शबरके हाथसे भोगकी थाली अपने हाथमें लेकर घरमें चली गयी। घरको जैसे-का-तैसा देखकर शबर विस्मय करने लगा और कहने लगा कि मैंने तो पत्नीका दहन कर दिया था, वह कहाँसे आ गयी। फिर घर भी जैसे-का-तैसा कैसे हो गया, अवश्य ही मुझे सपना हो रहा है।

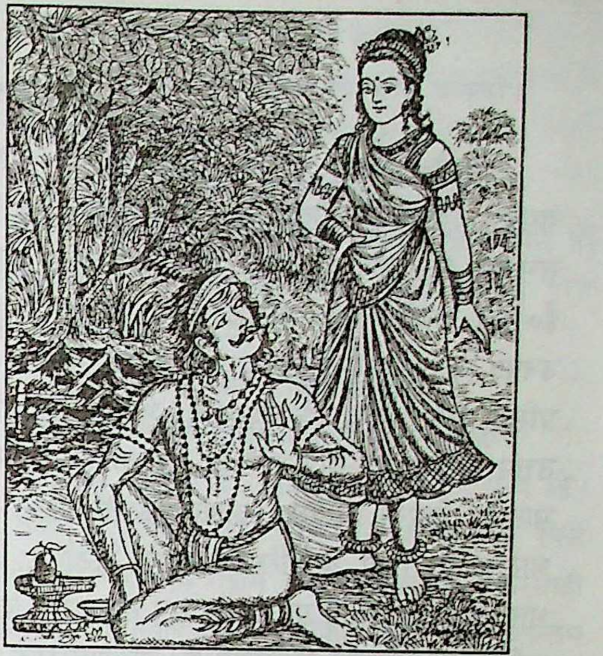

विश्वस्त होनेके लिये उसने अपनी पत्नीको जोरसे पुकारा तो वह सामने आ गयी। तब वह कहने लगा कि मैंने तो तुम्हें दहन कर दिया था फिर तू आयी कैसे? यह सुनकर शबरी बोली—'आपके द्वारा घरको अग्नि लगाते ही मैं निद्रामें चली गयी और मुझे बहुत ठंडी-सी लगी। आपके सब वचन मैं सुनती रही और आपके पुकारते ही मैं चली आयी।' यह सुनते ही शबर बोला कि यह तो ईश्वरकी कृपा है। उसके ऐसा कहते ही भगवान् शंकर और माता पार्वती शबर-दम्पतिके प्रेममें विभोर हो साक्षात् प्रकट हो गये और उन्हें दर्शन दिया। शबर-शबरीने उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उनके चरणोंमें गिर पड़े।

भगवान् शंकर और माता पार्वतीने कहा—'मैं प्रसन्न हूँ वर माँगो।' पर शबर-शबरीका तो कण्ठ ही अवरुद्ध हो गया था, आँखोंसे झर-झर प्रेमाश्रु छलक रहे थे, शरीर पुलकित हो उठा था, उनकी साध तो पूरी हो चुकी थी, उनके प्रेमने भगवान्‌को वहाँ बुला लिया। प्रेमी भगवान्‌ने शबर-दम्पतिको उठाया और अपने प्रेमसागरमें उन्हें निमग्न कर लिया। बोलिये प्रेमी भक्त और प्रेमरूप भगवान्‌की जय! (श्रीगुरुचरित्र)

(२)

रसिकभक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र परम वैष्णव महाभागवत जयदेव, विरही चण्डीदास और प्रेमी विद्यापतिके नवीनतम समन्वय-संस्करण थे। इनका जन्म ९ सितम्बर सन् १८५० ई० को काशीके एक प्रसिद्ध वैष्णव-परिवारमें हुआ था। उनका कुल अत्यन्त समृद्ध और सुखी था। वे इतिहास प्रसिद्ध सेठ अमीचन्दके वंशज थे। भारतेन्दुकी शिक्षा-दीक्षा उत्तम रीतिसे हुई थी। पाँच ही सालकी अवस्थामें उनकी माताका देहान्त हो गया, अतएव उनके पालन-पोषणका भार उनके पिता श्रीगिरिधरदासजीके कन्धोंपर आ पड़ा। भारतेन्दु बचपनसे ही पूर्वजन्मके शुभ संस्कारोंके फलस्वरूप कविसुलभ प्रतिभासे समलंकृत थे। बाल्यावस्थासे ही उनके हृदयमें ईश्वर-भक्तिकी निर्झरिणी प्रवाहित थी। उनके पिता स्वयं एक उच्च कोटिके कवि थे। उनके घरपर कवियोंका समागम होता रहता था। हरिश्चन्द्रजीके चरित्र-विकास, साहित्यिक अभिरुचि और भगवद्भक्तिपर इस वातावरणका बड़ा प्रभाव था। वे बाल्यकालसे ही कविता करने लग गये थे। एक बार कुछ कवि गिरिधरदासजीके पास बैठकर उनके 'कच्छप-कथामृत' के पहले पद ***'करन चहत जस चारु, कछु कछुवा भगवान्को'*** की व्याख्या कर रहे थे कि बीचमें ही हरिश्चन्द्रने कहा कि 'पिताजी! आप उन भगवान्का यश गाना चाहते हैं, जिनका आपने कुछ-कुछ स्पर्श किया है।' लोग उनकी इस व्याख्यासे आश्चर्यचकित हो उठे।

हरिश्चन्द्रजी जब दस ही वर्षके थे कि उनके पिता गोलोक सिधार गये। तेरह सालकी अवस्थामें उनका विवाह कर दिया गया। वे तो जन्मजात भागवत-रसिक थे। उनके गृहस्थाश्रमका आनन्द भी अद्वितीय ही था। वे बड़े उदार और विनम्र प्रकृतिके थे। लंबा कद, छरहरा शरीर, सुडौल नासिका, जादू भरे नैन, कानोंतक लटकती घुँघराली लटें, ऊँचा ललाट और साँवले रंगका माधुर्य लोगोंको उनकी ओर अपने-आप आकृष्ट कर लेता था। उनके मित्र उनको कलियुगके कन्हैया कहा करते थे।

वे उन्नीसवीं सदीकी हिन्दीके साहित्य-आत्मा थे। बीस-बाईस भाषाओंके पण्डित थे। उन्होंने राष्ट्रके साहित्यिक, सामाजिक और राजनैतिक उत्थानमें महान् योग देकर अपनी देशभक्तिका प्रकृष्ट परिचय दिया। हिन्दीकी राष्ट्रियताके आदिकलाकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे। अनेक ग्रन्थों, नाटकों और काव्योंकी रचना करके उन्होंने हिन्दी-साहित्यकी श्रीवृद्धि की। हिन्दी-जगत्ने उनकी सेवाओंके सम्मानार्थ उनको 'भारतेन्दु' की उपाधिसे विभूषित कर अपने-आपको गौरवान्वित किया था। उनकी उदारता, दानशीलता तथा मधुर स्वभावकी गाथा विश्व-इतिहासकी एक रसमयी देन है। उन्होंने अनेक कवियों और विद्वानोंको पुरस्कृत कर अपनी दानशीलताका समय-समयपर परिचय दिया। गरीब, दुःखी और अभावग्रस्त प्राणियोंका दुःख उनके अपने दुःखसे बढ़कर था। वे उनके दुःख दूर करनेके उद्देश्यसे जाकर अपने लिये नये-नये दुःख मोल ले लेते थे और इसीमें सुखका अनुभव करते थे। ***'सखा प्यारे कृष्णके, गुलाम राधा रानीके'*** उक्तिको चरितार्थ कर उन्होंने घोषणा की थी कि जिस लक्ष्मीने मेरे परिवारको खाया, उसे मैं खा डालूँगा। उन्होंने अपव्यय नहीं किया, साहित्य और काव्यके प्रोत्साहनदाताके रूपमें एवं परदुःखकातर-उदारहृदय-महामनाके रूपमें उसका सदुपयोग किया। वे महान् गुणग्राही थे, उनकी सभामें कवियों और रसिकोंकी सदा भीड़ लगी रहती थी।

आर्थिक संकट उपस्थित होनेपर भी उनकी दानशीलताका भाव नीचे नहीं गिरा। उन्होंने भक्तसर्वस्व, प्रेममालिका, प्रेमसरोवर, प्रेमाश्रुवर्षण, प्रेमतरङ्ग, उत्तरार्ध भक्तमाल, चन्द्रावली नाटिका, सत्यहरिश्चन्द्र, भारतदुर्दशा तथा अन्यान्य काव्य और नाटकोंकी रचना करके अपने साहित्यका विजयस्तम्भ स्थापित किया था।

भारतेन्दु बाबू श्रीवल्लभ-सम्प्रदायके दीक्षित वैष्णव थे। श्रीमद्वल्लभाचार्य और उनके पवित्र कुलके प्रति उनकी अडिग आस्था थी। रँगीले हरिश्चन्द्रने भगवान् श्रीकृष्णको ही आजीवन अपना उपास्य माना। राधारानीकी चरण-शरणमें अपनी भक्ति-कल्पना हरी-भरी की। उन्होंने रास-रसिकेश्वर घनश्यामकी वन्दनामें कहा—

भरत नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥

भारतेन्दुकी कविता श्रीराधाकृष्णके चरणकमल-सुधा-रस-सागरकी कालिन्दी थी। वे क्रान्तद्रष्टा कवि थे; साहित्यके काव्यरूपको उन्होंने भक्तिके रस-मञ्चपर प्रतिष्ठित किया।

यही उनकी भक्ति थी। उनकी विनम्रताने आत्मनिवेदनकी कसौटीपर अपने दोषकी परीक्षा की।

जगत जाल में नित बँध्यौ, पर्‌यो नारि के फंद।
मिथ्या अभिमानी पतित, झूठो कबि हरिचंद॥

उनकी भगवान् श्रीकृष्णके प्रति स्थायी अनन्यता और आस्था थी। आजीवन उनके लीला-गानसे अपनी मधुर रसवती वाणीको कृतार्थ कर उन्होंने अपने-आपको धन्य कर लिया। उनके नयनोंने सदा श्रीराधाकृष्णके प्रेम-मिलन-चित्रका दर्शन किया, कानोंने नूपुर-ध्वनि सुनी, रसनाने कहा—

मंगल महा जुगल रसकेलि।
जिन तृन करि जग सकल अमंगल पायन दीने पेलि॥
सुख समूह आनंद अखंडित भरि भरि धर्‌यो सकेलि।
'हरीचंद' जन रीझि भिंजायो रस समुद्र उर मेलि॥

कभी वे दाम्पत्यभावसे ओत-प्रोत होकर नन्दनन्दनका आवाहन करते थे और कभी उनकी निर्ममता और निष्ठुरतासे खीझकर उनको उलाहना देते थे; उनका भावुक मन श्रीराधाकृष्ण-प्रेमार्णवमें सदा डूबता-उतराता रहता था। उनका भजनानन्द प्रेममूलक था, वे केवल रसिक भक्त ही नहीं—ज्ञानी भी थे। पर उनके ज्ञानने सदा '**श्रीकृष्णः शरणं मम**' का ही जाप किया। उन्होंने समस्त जगत्‌में श्रीराधा-कृष्णकी सरस परिव्याप्ति पायी। उनकी वाणीने आत्मचेतनाके पक्षमें कहा—

'हरीचंद' एतेहू पै दरस दिखावै क्यों न
तरसत रैन दिना प्यासे प्रान पातकी।
ऐरे बृजचंद तेरे मुख की चकोरी हूँ मैं
ऐरे घनस्याम तेरे रूप की हौं चातकी॥

उनकी रीझ-खीझ—सब कुछ भगवान् श्रीकृष्णसे ही थी। श्रीराधारानीसे वे एक सीधे-सादे सच्चे भक्तकी तरह दिन-रात कहा करते थे—

श्रीराधे मोहि अपनो कब करिहौ।
जुगल रूप रस अमित माधुरी कब इन नयननि भरिहौ॥

भारतेन्दुके अन्तिम दिन लौकिक दृष्टिसे सङ्कटमय रहे। यद्यपि उनका बड़े-बड़े राजाओं और धनियोंसे मेल था, फिर भी अपने स्वाभिमानकी रक्षामें सदा तत्पर रहकर किसीकी भी आर्थिक सहायता उन्होंने स्वीकार नहीं की। अन्तिम दिनोंमें क्षयसे पीड़ित होनेपर उनकी शृंगारमूलक भक्तिने शान्तरसका वरण किया। अन्त समयमें राजा शिवप्रसादजी 'सितारे हिन्द' से, जो उनकी शय्याके पास ही थे, कहा—'बड़ी प्यास लगी है।' राजा साहबने चाँदीके कटोरेमें जल भरकर दिया। बाबू साहबकी आन्तरिक वेदनाने तड़पकर कहा—'पानी नहीं, घनानन्दका सवैया चाहिये।' राजा साहबने *'तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ कहो मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं'* की सुधावाणीसे उनके अधरोंकी प्यास बुझायी। उन्होंने मृत्युशय्यापर भी अपनी श्रीकृष्णभक्ति और रसिकताका निर्वाह किया। ६ जनवरी सन् १८८५ ई०में उन्होंने लीलाधामकी यात्रा की।

(३)

नन्दलालकी सूरतपर क़ुरबान शाहज़ादी ताज

(प्रो० श्रीइन्द्रदेवप्रसाद सिंहजी)

श्रीकृष्णभक्तिमें जो स्थान प्रेमकी प्रतिमूर्ति मीराका है, वही स्थान कोमलकान्त कमनीय भावापन्न सरस कवयित्री 'ताज' का भी है। भक्तिमती मीराका नाम-ग्राम तो इतिहासके पन्नोंमें असंदिग्ध है, परंतु सुकुमारी बेगम ताजके नाम-ग्रामका पूरा अता-पता संदिग्ध है। स्वभाव और प्रभाव तथा समर्पण और सद्भावमें दोनों सम हैं, न कोई किसीसे अधिक न कोई किसीसे कम। हाँ, अगर मजहबकी दृष्टिसे देखा जाय तो कवयित्री ताज दो कदम आगे प्रतीत होती हैं; क्योंकि उनकी वाणीमें सम्प्रदायकी प्रताड़नाओंका तीव्र दंश वर्ण-वर्णमें साक्षी भर रहा है। जहाँ प्रेमदीवानी मीराजी अपनी हार्दिक उद्घोषणा करती हुई कहती हैं—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥
जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई।

वहीं ताजबेगम 'साँवले-सलोने' श्यामसुन्दरजीको अपना 'साहब' कहती हैं।

यों तो अनेक मुसलमान साधकोंने हिन्दू देवी-देवताओंको अपना आराध्य बनाया, किंतु जिस विषम परिस्थितिमें ताज बीबीने इसलामका त्याग किया, वह सर्वथा अद्वितीय है। सुकुमारी ताज श्रीकृष्णकी परमभक्ताके रूपमें परिगणित हैं। इनकी महिमा तो इसीसे स्पष्ट है कि इनपर करोड़ों हिन्दुओंको न्योछावर करनेकी राय भारतेन्दुजी

दे रहे हैं। वस्तुतः बात यह है कि श्रीकृष्णकी उपासनामें इतना माधुर्य था कि मुसलमान भी अपनी कट्टरता छोड़कर हिन्दू भक्त कवियोंके स्वर-में-स्वर मिलाने लगे। दरअसलमें कृष्णभक्ति-काव्य आनन्द और उल्लासमय है ही, भाव एवं कलाकी दृष्टिसे यह अनुपमेय भी है। यह काव्य मनुष्यकी रसिकताको उद्‌बुद्ध करता है, उसकी अन्तर्निहित लालसाको ऊर्ध्वमुखी करता है और उसे निरन्तर रससिक्त बनाता रहता है। यह प्रेमसाधना सर्वथा ऐकान्तिक है। श्रीकृष्णके प्रति रसमयी साधना प्रेमी साधकको जातिगत द्वन्द्व और संघर्षसे विरत कर भगवान्‌के प्रति अनन्य प्रेमाश्रयी बनाती है।

प्रेम-पुजारिन कवयित्री ताज श्रीकृष्णजीकी माधुरीपर दीवानी हो गयी थीं। प्रेमावेश और रूपासक्तिमें तन्मय होकर उन्होंने जो प्रेमोद्गार अपने आराध्यके प्रति प्रकट किया है, उससे भक्ति-साहित्यका वैभव बढ़ा है। प्रेमी साधकोंको प्रशस्त पाथेय मिला है। ताजकी रचनाएँ छप्पय, कवित्त और कुण्डलिया शैलीमें उपलब्ध हैं। इनकी एकाध रचना बारहमासाके रूपमें भी उपलब्ध है।

साँवले-सलोने-छैल-छबीले श्रीकृष्ण ही ताजके प्रेमास्पद हैं। इनकी उक्तियाँ उन्हींके लिये प्रस्फुटित हुई हैं।

श्रीकृष्णकी अनन्यानुरागिन मुसलिम ललना ताजबेगमके बारेमें अनेक किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि वे एक बार अपने लाव-लश्करके साथ मुसलमानोंके प्रधान तीर्थ मक्का शरीफ (मङ्केश्वरनाथ महादेव)-के दर्शनार्थ जा रही थीं। रास्तेमें वृन्दावनकी ललित-कलित छटाका अवलोकन कर वे मुग्ध हो गयीं। प्रेम-रससिक्त व्रजरजके स्पर्शने ताज बीबीके शरीरमें एक मादक ऊर्जाका संचरण पैदा कर दिया। इसी बीच बाँकेबिहारीजीके मन्दिरमें घंटा और घड़ियालकी धुनि और प्रेमियोंकी सुरीली तानने ताजके कर्ण-कुहरोंमें पीयूष प्रवाहित कर दिया। वे माधुर्य-मूर्ति श्रीकृष्णजीके श्रीविग्रहको देखनेके लिये मचल उठीं। सहयात्रियोंके लाख समझानेके बाद भी उन्होंने हिन्दुओंके खुदासे मिलनेके लिये सारे पूर्वाग्रहोंको छोड़ दिया और फिर तो वे सदा-सदाके लिये श्रीकृष्णजीकी प्रेयसियोंमें सिरताज बन गयीं। उन्होंने काजी-मौलवियोंको अपने व्रजवासका दृढ़ संकल्प सुना दिया और दुनियाको पूरी तरह छोड़ दिया—

खाक इस दुनिया पै डाली जायगी।
जब लगन हरिसे लगा ली जायगी॥

उनके उस्तादने ताज बीबीको रोकनेकी चेष्टा की, परंतु अब तो वे अपने नारायणकी दासी हो चुकी थीं। अब ताजकी कहानी उनकी ही जुबानी सुनिये और रसमें सराबोर होइये। कितना मोहक और रंगीन संकल्प है—

छैल जो छबीला, सब रंगमें रँगीला, बड़ा
चित्तका अड़ीला, कहूँ देवतोंसे न्यारा है।
माल गले सोहै, नाक-मोती सेत जो है, कान
कुंडल मन मोहै, लाल मुकुट सिर धारा है॥
दुष्ट जन मारे, सब संत जो उबारे, 'ताज'
चित्तमें निहारै प्रन प्रीति करनवारा है।
नंदजूका प्यारा, जिन कंसको पछारा, वह
वृन्दावनवारा, कृष्ण साहब हमारा है॥

कृष्णको अपना 'साहब' कहकर ताजने अपनी प्रेमलक्षणाभक्तिका मर्म खोल दिया है। 'साहब' शब्दसे कहीं निर्गुणका भ्रम न हो जाय, इसलिये कवयित्रीने स्पष्ट शब्दोंमें नन्दजूका लाल कहकर लीलाबिहारी सगुणरूप श्रीकृष्णजीके प्रति अपनी अनन्यासक्तिको जगजाहिर किया है। रूपकी दीवानी थी वह, इसीसे तो प्रथम पंक्तिमें ही उसने सौन्दर्य-सिन्धु सर्वरससे युक्त प्रेमास्पद श्रीकृष्णजीके चित्तका चित्ताकर्षक परिचय दिया है। वह साहब प्रीतिके पनका निर्वाह करनेवाला और दुष्टोंसे रक्षा करनेवाला भी है। ताजने अपने आराध्यका इन शब्दोंमें प्रथम परिचय दिया है।

दूसरी कवितामें ताजने अपने आराध्यको जगत्‌का जीवन कहा है। श्रीराम-कृष्णजीमें तत्त्वतः अभेद मानते हुए उन्होंने दोनों अवतारोंके बहुत सारे भक्तोंकी नामावली दी है और उन्हें प्रभुके प्यारेके रूपमें स्मरण किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि ताज बीबी हिन्दू भक्तोंकी भावपरक गाथाओंसे पूर्ण अवगत एवं प्रभावित थीं। अन्तिम कड़ीमें भक्तिमती मीराकी भाँति प्रेमाराधिका ताजने भी श्रीकृष्णजीको अपना परमप्रिय पति कहा है—

ध्रुवसे, प्रहलाद, गज ग्राहसे अहिल्या देखि,
सौरी और गीध यौं विभीषन जिन तारे हैं।
पापी अजामील, सूर, तुलसी, रैदास कहूँ,
नानक, मलूक, 'ताज' हरिही के प्यारे हैं॥
धनी नामदेव, दादू, सदना कसाई जानि,
गनिका, कबीर, मीरा, सेन उर धारे हैं।
जगतकौ जीवन जहान बीच नाम सुन्यौ,
राधाके बल्लभ कृष्ण बल्लभ हमारे हैं॥

इनकी तीसरी कविता जो कवित्त छन्दमें कथित है,

बड़ी ही अद्भुत है। अद्भुत इस अर्थमें कि अनन्य भक्तके लक्षणका इसमें परिचय दिया गया है—

कोऊ जन सेवै शाह राजा राव ठाकुरकों,
कोऊ जन सेवैं भैरों भूप काजसार हैं।
कोऊ जन सेवैं देवी चंडिका प्रचंडहीकों,
कोऊ जन सेवै 'ताज' गनपति सिरभार हैं॥
कोऊ जन सेवैं प्रेत-भूत भवसागरकों,
कोऊ जन सेवैं जग कहूँ बार-बार हैं।
काहूके ईस बिधि संकरको नेम बड़ो,
मेरे तौ अधार एक नन्दके कुमार हैं॥

सभी स्वार्थी सेवकोंकी खबर लेती हुई बेपरवाह लोगोंकी आँख खोलनेके लिये परमभक्ता श्रीकृष्णप्रेममें दीवानी सुकुमारी ताज अपनी भी खास खबर देती हैं—

'मेरे तौ अधार एक नन्दके कुमार हैं॥'

ताजकी अपने हृदयराजके प्रति खुली उद्घोषणासे कट्टरपन्थियोंने उन्हें घोर यातनाएँ दी हैं, इसका साक्ष्य उनके एक-एक शब्द दे रहे हैं—

कह दो मुल्ला मौलवी और पीरको।
पूजूँगी मैं कृष्णकी तस्वीरको॥
झोंपड़ी ब्रजमें बना ली जायगी।
जब लगन हरिसे लगा ली जायगी॥

हरिसे लगन लगनेकी अद्भुत कहानी है—ताजकी जिन्दगानी। निश्चित रूपसे हृदयहीनोंके प्रपीड़नसे जब ताज आहत हुई हैं, तब अपने आराध्यसे प्रार्थनात्मक स्वरमें आत्मनिवेदन करती हैं और *'जब लाग गई तब लाज कहाँ'* का सिद्धान्त खुले स्वरमें प्रकट करती हुई कहती हैं—

सुनो दिलजानी मेरे दिलकी कहानी तुम,
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देवपूजा ठानी मैं निवाजहू भुलानी तजे,
कलमा-कुरान साड़े गुननि गहूँगी मैं॥
साँवला सलोना सिरताज सिर कुल्ले दिये,
तेरे नेह दागमें निदाघ ह्वै दहूँगी मैं।
नंदके कुमार, कुरबान तेरी सूरत पै,
हौं तौ मुगलानी हिंदुवानी ह्वै रहूँगी मैं॥

ताज बीबीका मात्र यह छन्द एक ललित निबन्धका विषय है। इसकी चाहे जितनी व्याख्या की जाय वह अधूरी होगी। सचमुच प्रेमका जादू इसी प्रकार सिर चढ़कर बोलता है। ताज सौन्दर्यके नाज नन्दके कुमारके हाथकी कठपुतली बन गयीं। वे बदनामीकी मीठी चषक सहर्ष पीनेको तैयार हैं। पुरानी ग्रन्थियोंकी धज्जी उड़ाती हुई कहती हैं कि मेरे दिलकी यही कहानी है कि मुगलानीसे हिन्दुवानी बन गयी हूँ। सबसे बड़ी बात है कि तेरे प्रेमकी अग्नि अर्थात् विरहमें सदा जलती-घुलती रहूँ। परंतु अब तेरे दरसे एक क्षणके लिये भी विलग नहीं होऊँगी।

मुल्लाओंने शरअकी दुहाई दी और कहा कि यह इसलामके खिलाफ है—श्रीकृष्णप्रिय ताजने उत्तर दिया—

अब शरअ मेरे नहीं कुछ कामकी।
श्याम मेरे हैं मैं प्यारे श्यामकी॥
ब्रजमें अब धूनी रमा ली जायगी।
जब लगन हरिसे लगा ली जायगी॥

श्रीकृष्णके प्रेममें ताज बीबी कितनी सराबोर हैं, यह उनके अभिव्यञ्जित उद्गारोंसे साफ जाहिर होता है। कभी-कभी लक्ष्यसे हटानेके लिये मुल्लाओं, पीरों आदिसे जो पीड़ा उन्हें सहनी पड़ी है, उसकी प्रतिक्रियामें उनकी खीझ झाँकती नजर आती है। परंतु वे अपनी एकनिष्ठता तथा तन्मयतामें कमी नहीं आने देतीं। प्रेमास्पद श्रीश्यामसुन्दरजीपर दिलोजानसे फिदा हैं—प्रेमयोगिनी सुकुमारी ताज। नीचेका छन्द इन बातोंका साक्ष्य भर रहा है—

अल्ला बिस्मिल्ला रहमान वो रहीम छोड़,
पीर वो शहीदोंकी न चर्चा चलाऊँगी॥
सूथना उतार पहन घाघरा घुमावदार,
फरियाको फार शीश चूनरी चढ़ाऊँगी।
कहत है 'ताज' कृष्ण सों पैजकर,
वृन्दावन छोड़ अब कितहूँ न जाऊँगी।
बाँदी बनूँगी महाराधारानीजूकी,
तुर्कनी बहाय नाम गोपिका कहाऊँगी॥

यह अलमस्ती और बेफिक्री बिना प्रेमाद्वैतके असम्भव है। सिर्फ श्रीकृष्णजीके दीदारकी दीवानी चाहे बाँदी बनकर अथवा रानी बनकर या हिन्दुवानी बनकर, चाहे बाहरी परिधानका परित्याग कर। रसखानकी तरह व्रजवास और प्रियतमकी दरसकी आस। प्रेमदेवके मन्दिरमें शाहजादी ताजने अपने समूचे अहंकारको साँवरे-सलोने सजन श्रीश्यामसुन्दरजीके चरणोंमें चढ़ा दिया। सारे पुरुषार्थोंका सारसर्वस्व प्रेमावतार प्रेममूर्ति आनन्दघन नन्दके फरजन्दकी प्राप्तिमें मानती हैं ताज बीबी। इसके अतिरिक्त सारे मत-मज़हब भ्रमजाल हैं, निरर्थक हैं। वे

बार-बार अपने विरोधियोंसे कहती हैं—

क्यों सताते हो मुझे पछताओगे।
दिलजलोंकी आहसे जल जाओगे॥

नन्दके लालाकी सूरतपर नेह-दीवानी एवं प्रेमकी लौमें कलंकरहित होकर जलनेका संकल्प तो प्रेमदेवकी अनन्य प्रिया ताजने ही ले रखा है। शाहजादी ताजके सरस प्रेम और उसके प्रेमास्पद प्रेमी सिरताजका राज अनुपम है।

~~~

श्रीराम-प्रेम—एक रामबाण ओषधि

(एक साधक)

प्रेमकी महिमाकी कोई सीमा नहीं है। अनन्त सामर्थ्यवान् परमात्मा प्रेमकी डोरीमें बँध जाते हैं, वे प्रेममें बिक जाते हैं। प्रभुका महाप्रसाद है प्रेमीके हाथका भोजन और उनका वासस्थान है प्रेमीका हृदय। प्रेमीके साथ रहने, उठने, खाने-पीने, सोने, घूमने-फिरने, आहार और विहार करनेमें उन आनन्दस्वरूप प्रभुको भी दिव्य, चिन्मय, अलौकिक आनन्दकी अनुभूति होती है। प्रभु प्रेमीकी पूजा करते हैं, प्रेमीकी वन्दना करते हैं, वे प्रेमीकी अर्चना-उपासना और स्तुति करते हैं। प्रभु प्रेमीके दर्शन करते हैं। प्रेमीका ध्यान करते हैं, प्रेमीका नाम जपते हैं—

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥
यह बड़ि बात भरत कइ नाहीं। सुमिरत जिनहि रामु मन माहीं॥
(रा०च०मा० २। २१८। ७; २। २१७। ३)

परमात्मा कण-कणमें व्याप्त हैं, परंतु वे केवल प्रेमसे ही प्रकट होते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
(रा०च०मा० १। १८५। ५)

भगवान् श्रीरामको केवल भक्त-हृदयका प्रेम ही प्यारा है—

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
(रा०च०मा० २। १३७। १)

इसलिये इसमें लेशमात्र भी अत्युक्ति एवं आश्चर्य नहीं है। यदि आप रामके प्रेमी बन जायँ तो आपके असाध्य शारीरिक रोगोंका सर्वांश जड़-मूलसे नाश हो जाय। आप दुःख, चिन्ता, भय, निराशा, अभाव, तनाव आदि घातक मानसिक रोगोंसे सर्वथा मुक्त हो जायँ। आपके परिवारमें अखण्ड शान्ति और अविरल प्रेमकी पावन गङ्गा प्रवाहित हो उठे; इस देव-दुर्लभ अनमोल मानव-जीवनके मूलभूत लक्ष्य—चिरशान्ति, जीवन्मुक्ति तथा भगवद्भक्तिको पाकर धन्य-धन्य हो जायँ।

इसलिये आप प्रभुके प्रेमी बनिये और उन्हें प्रेम दीजिये।

मानवमात्रको प्रभुने अपनी अहैतुकी कृपासे प्रेमी बननेकी स्वाधीनता, सामर्थ्य और सामग्री प्रदान की है। हर भाई-बहन प्रभुका प्रेमी बन सकता है। प्रेमी बननेमें लेशमात्र भी पराधीनता, परिश्रम, प्रयास, अभ्यास तथा समय अपेक्षित नहीं है। आप इसी क्षण प्रभुके प्रेमी बन सकते हैं। भगवान् श्रीराम कहते हैं—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥
(रा०च०मा० ७। ४६। १)

प्रेमी बननेके लिये कहाँ जाना होगा? कहीं भी नहीं। प्रेमी बननेके लिये क्या करना होगा? कुछ भी नहीं। प्रेमी बननेमें कितना समय लगेगा? एक पल भी नहीं।

प्रेमी कौन है?

प्रेमी वह है—

(क) जो अपने पास अपना व्यक्तिगत मानकर कुछ भी नहीं रखता—न सम्पत्ति, न परिवार, न शरीर, न इन्द्रियाँ, न बुद्धि, न मन, न योग्यता, न स्वयं; परंतु यह सब अपने प्रेमास्पदका मानकर वह अपने पास सब कुछ रखता है।

(ख) जो अपने सुख-सम्पादनके उद्देश्यसे कुछ नहीं करता, परंतु अपने प्रेमास्पदकी प्रसन्नताके लिये सब कुछ करता है।

(ग) जिसकी अपनी किसी भी प्रकारकी कोई इच्छा नहीं होती, परंतु जिसकी एकमात्र 'सद्भावना' यह होती है कि मेरे प्रेमास्पदकी इच्छा पूरी हो और वे प्रसन्न रहें। प्रभुके परम प्रेमी भाईजीने ऐसा ही भाव प्रकट करते हुए कहा है—

मेरी चाही करन की जो है तुम्हरी चाह।
तो अपनी चाही करो यह है मेरी चाह॥

जो अकिंचन, अचाह एवं अप्रयत्न होता है और प्रेमास्पदकी प्रसन्नता ही जिसके जीवनका एकमात्र ध्येय
~~~

होता है, वह है प्रेमी।

प्रेमास्पद, प्रेम तथा प्रेमी

जिसे प्रेम दिया जाता है वह है प्रेमास्पद। जो प्रेम देता है वह है प्रेमी। जो कुछ प्रेमीके द्वारा अपने प्रेमास्पदको दिया जाता है, वह है प्रेम अथवा प्रेमास्पदकी अगाध प्रियता ही प्रेम है।

मानवमात्रको उसके रचयिता प्रभुने प्रेमका तत्त्व प्रदान किया है। प्रभुका दिया हुआ प्रेम वापस प्रभुको ही देना है। प्रभु ही हमारे प्रेमास्पद हैं।

प्रेमास्पद प्रभुके दो रूप

(क) प्रथम तो आपको प्रेम देना है उन अव्यक्त, अप्रकट परमात्माको जिन्हें आपने इन नेत्रोंसे कभी देखा नहीं, जिनसे आपका साक्षात् मिलन हुआ नहीं, जिनसे आपने कभी बात की नहीं। परंतु जिनके बारेमें आपने संतवाणी, ग्रन्थवाणी और भक्तवाणीमें सुना है। यदि आप उन सुने हुए प्रभुको प्रेम देना चाहते हैं तो आपको पाँच बातोंको स्वीकार करना होगा, पाँच प्रतिज्ञाएँ करनी होंगी—

(१) मेरे पास जो कुछ है वह मेरे प्रेमास्पद प्रभुका है। 'हे प्रभो! मैं इसे आपका मानकर ही अपने पास रखूँगा।'—यह है प्रेमीकी पहली प्रतिज्ञा। इस प्रतिज्ञाका परिणाम यह होता है कि प्रेमी तत्काल निर्विकार, निर्मल, निश्चिन्त, निर्भय, निडर और निष्काम हो जाता है।

(२) 'हे प्रभो! मैं आपके द्वारा दी गयी धन-सम्पत्ति तथा समस्त पदार्थोंको सँभाल कर रखूँगा और मुझे सौंपे गये इस शरीर और परिवारके सभी सदस्योंकी यथाशक्ति सेवा करूँगा।'—यह है प्रेमीकी दूसरी प्रतिज्ञा। इस प्रतिज्ञासे प्रेमीके जीवनमें प्रभुकी अखण्ड स्मृति जाग्रत् हो जाती है और उसका हृदय अगाध प्रेमसे भर जाता है। अपने प्रेमास्पदकी प्रत्येक वस्तुपर दृष्टि पड़ते ही उसे प्रभुकी स्मृति होती है। वह सोचता है कि यह वस्तु तो मेरे प्यारे प्रेमास्पद प्रभुकी ही है। प्यारेकी हर चीज प्रेमीको अत्यन्त प्यारी लगती है।

प्रेमीका जीवन बन जाता है केवल सेवा। वह 'स्थूल शरीर' को श्रमी, संयमी, सदाचारी, स्वावलम्बी तथा 'सूक्ष्म शरीर' को ममता, कामना, राग-द्वेष, दीनता, अभिमान आदि विकारोंसे मुक्त करके निर्मल एवं पवित्र बनाये रखता है। 'कारण शरीर' को कर्तापनके अभिमानसे मुक्त करके सर्वथा अहंकारशून्य बनाकर इसके अस्तित्वको मिटा देता है। यही है प्रेमास्पदके तीनों शरीरोंकी सेवा।

(३) 'हे प्रभो! जब भी आप अपनी कोई वस्तु अथवा व्यक्ति (शरीर तथा परिवारके सदस्य) मुझसे वापस लेंगे तो मैं बड़ी प्रसन्नता एवं प्रेमसे आपको आपकी वस्तु अथवा व्यक्ति सौंप दूँगा, उसमें लेशमात्र भी दुःख तथा चिन्ता नहीं करूँगा'—यह है प्रेमीकी तीसरी प्रतिज्ञा। प्रेमी अपने प्रेमास्पदकी धरोहरको उन्हें सौंपकर उन्हींकी अखण्ड स्मृति एवं अगाध प्रियतामें लीन हो जाता है।

(४) 'हे प्रभो! आप मेरे साथ जो कुछ करेंगे, जब-जहाँ जैसे करेंगे, वह बाह्य दृष्टिसे चाहे कितना ही प्रतिकूल, दुःखदायी, हानिकारक, चिन्ताजनक, अपमानजनक, अमङ्गलकारी और अत्यन्त खतरनाक क्यों न दिखायी दे, मैं उसमें आपकी कृपा तथा अपनी मङ्गलकारिताका दर्शन करके परम प्रसन्न रहूँगा, आपकी स्मृति एवं प्रियतामें डूबा रहूँगा।'—यह है प्रेमीकी चौथी प्रतिज्ञा। प्रेमीकी दृष्टिमें प्रेमास्पदका प्रत्येक विधान परम मङ्गलकारी होता है। इसीलिये प्रेमी प्रतिकूलतामें प्रभु-कृपाके दर्शन कर आनन्दित रहता है।

(५) 'हे प्रभो! आप समर्थ हैं, सदैव हैं, सर्वत्र हैं, सर्वज्ञ हैं, परम सुहृद् हैं और मेरे हैं। आपकी इस महिमामें अविचल विश्वास करके मैं मीरा, प्रह्लाद, ध्रुवकी भाँति निश्चिन्त तथा निर्भय रहूँगा'—यह है प्रेमीकी पाँचवीं प्रतिज्ञा। प्रेमी अपने प्रभुका आश्रय लेकर सदैव निश्चिन्त रहता है। 'सब कुछ उनका है, वे ही मेरे हैं'—यह भाव ही प्रेमीको निश्चिन्तता और निर्भयता प्रदान करता है।

उपर्युक्त पाँच व्रतोंको जो मानव स्वीकार कर लेता है, वह प्रभुका प्रेमी बन जाता है।

(ख) दूसरे, आपको प्रेम देना है, उन परमात्माको जो आपके सामने प्रकट हैं। जो आपके साथ रहते-उठते-बैठते, खाते-पीते और बातचीत करते हैं। विश्वास कीजिये जब आपके अव्यक्त प्रभु प्रकट होते हैं तो वे संसार-परिवारका रूप धारण कर लेते हैं। माता-पिता, पत्नी-पति, पुत्र-पुत्रियाँ, सास-बहू, भाई-बहन आदि परिवारजनोंके रूपमें आपके प्रेमास्पद प्रभु ही पधारे हैं—आपके रागकी निवृत्तिके लिये, आपको क्रियात्मक प्रेमका सुअवसर देकर अपना प्रेमी बनानेके लिये। आपके परिवारके सदस्य

साक्षात् परमात्मा ही हैं; परंतु आपके हृदयमें प्रेमतत्त्वकी कमीके कारण ये परिवारजन दिखायी दे रहे हैं। यदि आप इन परिवारजनोंको प्रेम दे दें तो इन्हीं परिवारजनोंमें आपको प्रभुके साक्षात् दर्शन होंगे। इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं। **'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७।९)-की भावनासे आप सर्वत्र सदा सबमें परमात्मबुद्धि रखते हुए प्रेमसे सबकी सेवा करें, यह निष्काम सेवा ही स्वतः भगवत्सेवामें परिवर्तित हो जायगी।

प्रेमास्पदकी प्रसन्नता ही प्रेमीका जीवन

प्रेमास्पद अपने प्रेमीके साथ जो करते हैं, जब करते हैं, जहाँ करते हैं, जैसा करते हैं, प्रेमी उसीमें प्रसन्नचित्त रहता है, आनन्दित रहता है। प्रेमीके हृदयमें यह बात कभी नहीं आती कि मेरे प्रेमास्पदने मेरे साथ ऐसा क्यों किया। प्रेमी उन्हें कभी उलाहना नहीं देता। प्रेमास्पद श्रीराम वनको चले गये। श्रीकृष्ण मथुरा चले गये। प्रेमीजन उनके वियोग एवं विरहकी अग्निमें जलते रहे, पर उन्होंने प्रेमास्पदको कभी उलाहना नहीं दिया, प्रत्युत आशीर्वाद ही दिया। अम्बा कौसल्याने कहा—हे राम! देव एवं पितर तुम्हें उसी प्रकार सुरक्षित रखें जैसे पलकें आँखोंको रखती हैं—

देव पितर सब तुम्हहि गोसाईं। राखहुँ पलक नयन की नाईं॥

(रा०च०मा० २।५७।१)

महाराज दशरथने तो श्रीरामके वियोगमें प्राणका परित्याग कर दिया; किंतु श्रीरामको किसी भी प्रकारका उलाहना नहीं दिया। प्रत्युत अन्तिम समयमें 'आनन्द देनेवाले मेरे प्राणप्यारे राम' कहकर राम-विरहको लेकर रामकी स्मृतिमें प्राणका परित्याग कर दिया—

हा रघुनंदन प्रान पिरीते। तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते॥
हा जानकी लखन हा रघुबर। हा पितु हित चित चातक जलधर॥
राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरहँ राउ गयउ सुरधाम॥

(रा०च०मा० २।१५५।७-८; २।१५५)

यदि प्रेमीको ऐसा आभास हो जाय कि अमुक कार्य करनेसे मेरे प्रेमास्पदको दुःख होगा तो प्रेमी वह कार्य कभी नहीं करता। चाहे उसके लिये उसे बड़े-से-बड़ा त्याग क्यों न करना पड़े। भगवान् श्रीकृष्ण मथुरा चले गये। उनके वियोगमें गोपियाँ अत्यन्त व्याकुल थीं। गोपियोंको विरहाग्निमें जलती हुई देखकर किसीने उनसे कहा—'अरी गोपियो! तुम दिन-रात श्रीकृष्णके वियोगमें तड़प रही हो, मथुरा कितनी दूर है, वहाँ चली क्यों नहीं जातीं! गोपियोंने उत्तर दिया—'मथुरा दूर तो नहीं है, पर जब उनके मनमें अलग रहनेकी है तो हम कैसे जायँ!' गोपियोंके हृदयमें यह भाव था कि हमारे वहाँ जानेसे हमारे प्रेमास्पदको दुःख होगा।

यदि स्वतः ही प्रेमास्पदपर कोई दुःख आ जाता है तो प्रेमी उसे सहन नहीं कर पाता और दुःखके निवारण-हेतु बड़े-से-बड़ा त्याग करनेके लिये सहर्ष तैयार हो जाता है।

वनमें विचरण करते अपने प्रेमास्पद श्रीरामका दुःख श्रीभरतजीके लिये असह्य था। उन्होंने श्रीरामसे कहा—'मैं आजन्म वनमें वास करूँगा, आप अयोध्या पधारें। मेरे लिये इससे बढ़कर और कोई सुख नहीं है।'—

कानन करउँ जनम भरि बासू। एहिं तें अधिक न मोर सुपासू॥

(रा०च०मा० २।२५६।८)

यदि प्रेमीको यह पता चल जाय कि मेरे प्रेमास्पदकी अमुक इच्छा है तो उस इच्छाको पूरी करने हेतु वह अपना सर्वस्व न्योछावर करनेके लिये सहर्ष तैयार हो जाता है।

श्रीभरत श्रीरामके वियोगमें पलभर भी प्राणोंको नहीं रख सकते थे; परंतु अपने प्रेमास्पद श्रीरामकी प्रसन्नताके लिये चौदह वर्षोंतक प्राणोंको रखा। अयोध्या लौट आये। एक तपस्वीकी भाँति रहकर श्रीरामका काम किया। श्रीरामजीसे कहा—जिस प्रकारसे प्रभुका मन प्रसन्न हो, वही कीजिये—

जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुना सागर कीजिअ सोई॥

(रा०च०मा० २।२६९।२)

प्रेमीके जीवनका एकमात्र ध्येय होता है प्रेमास्पदकी प्रसन्नता। प्रेमीकी प्रत्येक क्रिया प्रेमास्पदकी प्रसन्नताके लिये होती है। उसके चिन्तनमें प्रेमास्पदकी प्रसन्नताके अतिरिक्त कुछ नहीं रहता।

प्रेमीका केवल एक ही भाव होता है—मेरे पास जो कुछ है आपका है, आपके लिये है। आप चाहे जैसे हैं, चाहे जहाँ रहें, चाहे जो करें—मेरे हैं। आपकी प्रसन्नता ही मेरा जीवन है। इस प्रकार प्रेमी बनकर सर्वात्मप्रभुके अनन्य प्रेमको प्राप्त करनेके लिये दृढ़ चेष्टा करते रहनी चाहिये।

* * *

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

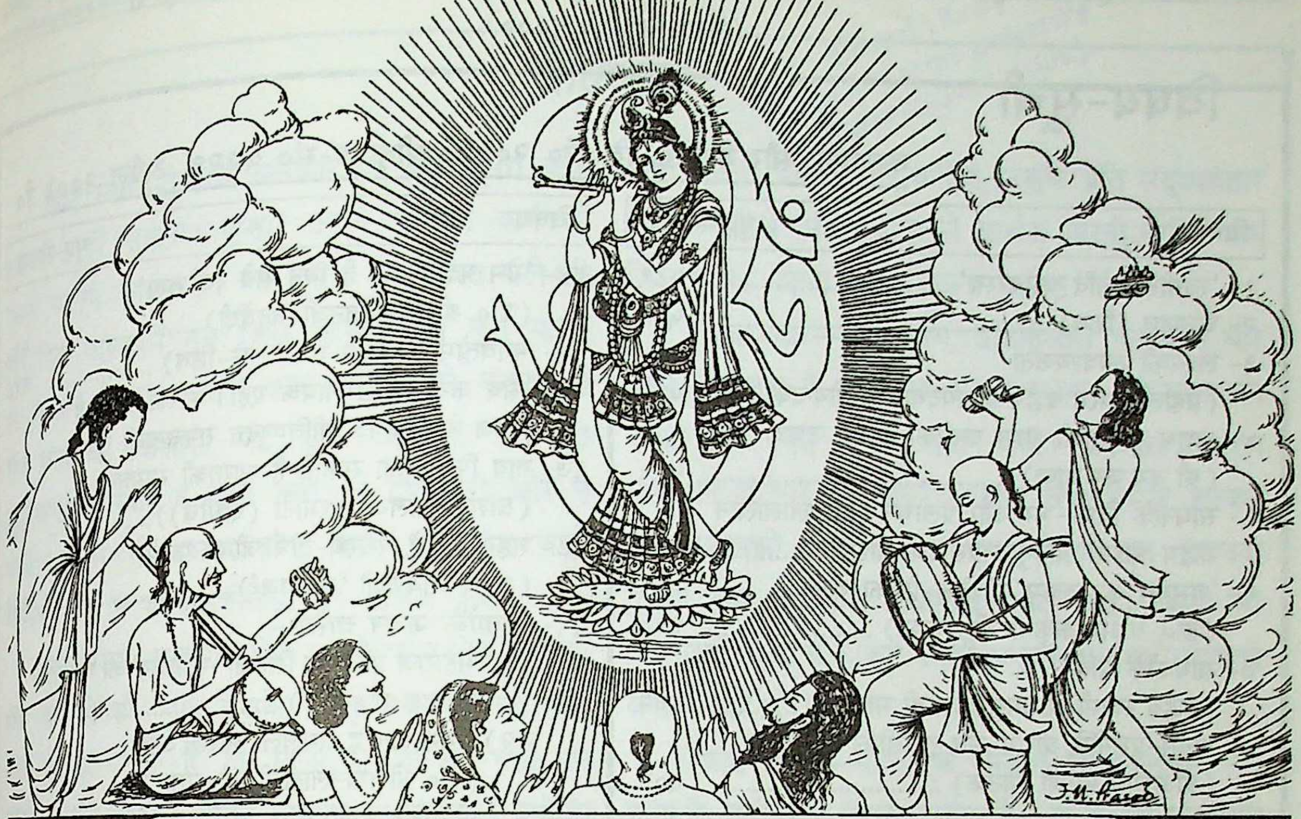

कल्याण

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्धस्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

वर्ष ७७
गोरखपुर, सौर वैशाख, वि० सं० २०६०, श्रीकृष्ण-सं० ५२२९, अप्रैल २००३ ई०
संख्या ४
पूर्ण संख्या ९१७

'त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य'

देवि प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य।
प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य॥
आधारभूता जगतस्त्वमेका महीस्वरूपेण यतः स्थितासि।
अपां स्वरूपस्थितया त्वयैतदाप्यायते कृत्स्नमलङ्घ्यवीर्ये॥
त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या विश्वस्य बीजं परमासि माया।
सम्मोहितं देवि समस्तमेतत् त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः॥

(श्रीदुर्गासप्तशती ११। ३—५)

[देवता बोले—] 'शरणागतकी पीड़ा दूर करनेवाली देवि! हमपर प्रसन्न होओ। सम्पूर्ण जगत्की माता! प्रसन्न होओ। विश्वेश्वरि! विश्वकी रक्षा करो। देवि! तुम्हीं चराचर जगत्की अधीश्वरी हो। तुम इस जगत्का एकमात्र आधार हो; क्योंकि पृथ्वीरूपमें तुम्हारी ही स्थिति है। देवि! तुम्हारा पराक्रम अलङ्घनीय है। तुम्हीं जलरूपमें स्थित होकर सम्पूर्ण जगत्को तृप्त करती हो। तुम अनन्तबलसम्पन्न वैष्णवीशक्ति हो। इस विश्वकी कारणभूता परा माया हो। देवि! तुमने इस समस्त जगत्को मोहित कर रखा है। तुम्हीं प्रसन्न होनेपर इस पृथ्वीपर मोक्षकी प्राप्ति कराती हो।'

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,५०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख, वि०सं० २०६०, श्रीकृष्ण-सं० ५२२९, अप्रैल २००३ ई०

विषय	पृष्ठ-संख्या
१- 'त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य'	५८९
२- कल्याण (शिव)	५९१
३- लक्ष्यकी आवश्यकता (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	५९२
४- अशुभ वासनाको भस्म करनेका अमोघ उपाय (श्री जय जय बाबा)	५९५
५- साधनाके विघ्न—भय और प्रलोभन (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	५९६
६- 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में विश्व-प्रेमका दर्शन (डॉ० श्रीअशोककुमारजी पण्ड्या)	६००
७- साधकोंके प्रति— (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	६०२
८- मानस-प्रसंगोंमें श्रीराम और तुलसीका गङ्गा-प्रेम (श्रीअरुणकुमारजी पाठक)	६०४
९- उद्बोधन (स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज, आदिबदरी)	६०६
१०- साधक-प्राण-संजीवनी (गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज)	६०७
११- मुझे ढूँढ़ो [लीलादर्शन—]	६०९
१२- श्रीरामचरितमानसके पाँच उपदेश (श्रीउदयनारायणजी सिन्हा	६१०
१३- संतवाणी (श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)	६१३

विषय	पृष्ठ-संख्या
१४- 'प्रेम पदारथ दूर है बिनु सेये रज रूख' (डॉ० श्रीराजेन्द्ररंजनजी चतुर्वेदी)	६१५
१५- भगवत्प्रेमी भक्तोंका शील (हर-शिव)	६१८
१६- 'सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम पद पंकज नेहा' (पं० श्रीविष्णुदत्त रामचन्द्रजी दूबे)	६२०
१७- गाय फिर लौटा सकती है भारतकी सम्पन्नता (श्रीशंकरलालजी बरमोटा (दाधीच))	६२२
१८- शहद खाइये, स्वस्थ-दीर्घ जीवन पाइये (श्रीहरनारायणजी 'महाराज')	६२३
१९- *भक्तोंके पावन चरित—*	
(१) महाराज श्रीराजेन्द्र सिंहजी 'सुधाकर' का भगवत्प्रेम (श्रीगदाधरजी भट्ट)	६२५
(२) प्रेममें आबद्ध रामलला ओरछा आये (डॉ० श्रीलखनलालजी खरे, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	६२६
२०- साधनोपयोगी पत्र	६२७
२१- 'सीख भजनकी रीति' [कविता] (श्रीरामशंकरजी ठाकुर)	६३०
२२- व्रतोत्सव-पर्व [चैत्रमासके व्रत-पर्व]	६३१
२३- व्रतोत्सव-पर्व [वैशाखमासके व्रत-पर्व]	६३२
२४- पढ़ो, समझो और करो	६३३
२५- मनन करने योग्य—स्वर्गमें रखा हुआ पैर (प्रभातकुमार राय)	६३५

* * *

चित्र-सूची

१- आँगनबिहारी श्रीराम	(रंगीन)	आवरण-पृष्ठ
२- कुण्डलिनी शक्ति-स्वरूपा भगवती ललिता	(")	मुख-पृष्ठ
३- मुझे ढूँढ़ो	(रेखा-चित्र)	६१०

* * *

वार्षिक शुल्क
भारतमें १२० रु०
सजिल्द १३५ रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$25 (Air Mail)
US$13 (Sea Mail)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

पञ्चवर्षीय शुल्क
भारतमें ६०० रु०
सजिल्द ६७५ रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$125 (Air Mail)
US$ 65 (Sea Mail)

संस्थापक— ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक— नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक— राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित
website : www.gitapress.org | e-mail : booksales@gitapress.org

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

कल्याण

याद रखो—तुम्हारा अपकार या बुरा दूसरा कोई कर ही नहीं सकता। तुम्हारे अपने पूर्वकृत कर्म ही किसी फलमें कारण हैं। वह दूसरा तो निमित्त भले ही हो। फिर वास्तवमें तुम जिसे अपकार या बुरा मानते हो; सम्भव है वह बुरा न होकर परिणाममें मङ्गल ही हो, इसलिये किसीसे भी, उसे अपकार या बुरा करनेवाला मानकर न घृणा करो, न द्वेष करो और न कभी भूलकर भी उसपर क्रोध करो, न अनिष्ट चाहो न करो और न बदला लेनेकी ही भावना करो।

याद रखो—तुम्हारे अनिष्ट चाहने या अनिष्ट करनेकी चेष्टा करनेसे ही, यदि उसके पूर्वकृत कर्म वैसा फल देनेमें प्रस्तुत नहीं हैं तो किसीका अनिष्ट नहीं हो सकता। परंतु तुम्हारा अनिष्ट अवश्य हो जायगा। क्योंकि तुम उसका अनिष्ट चाहकर या अनिष्टकी चेष्टा कर एक नया पाप करोगे।

याद रखो—यदि तुम्हारे अनिष्ट चाहनेसे किसीका अनिष्ट हो भी गया तो उसमें तुमको क्या लाभ होगा? किसीके दुःखी होनेसे क्या तुम्हें यथार्थमें कोई सुख मिल जायगा? नहीं, सुख तो कभी मिलेगा ही नहीं, नये-नये दुःखोंका निर्माण अवश्य हो जायगा।

याद रखो—कोई कड़े शब्द कहता है, गाली देता है या निन्दा करता है तो उसकी जबान तो अवश्य गन्दी होती है, पर तुम्हारा वास्तवमें कुछ नहीं बिगड़ता। मन अशरीरी है, उसपर तो कोई चोट लगती नहीं। नाम कल्पित है, तुम नाम हो नहीं। तुम शरीर तथा नाममें अहंबुद्धि करके आसक्तिवश दुःखी हो जाते हो। तुम यदि गाली-निन्दाको न स्वीकार करो तो उसकी चीज उसीके पास रह जायगी।

याद रखो—जो आदमी दूसरेको गाली देता है, निन्दा करता है, अनिष्ट चाहता है या करता है, वह वास्तवमें अपना ही अनिष्ट करता है और अपने द्वारा अपना ही अनिष्ट करनेवाला पागल है या मूर्ख है, अतः उसपर दया करनी चाहिये, उसके प्रति सद्व्यवहार करना चाहिये और भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि जिससे वह अपने-आप अपना अनिष्ट न करे।

याद रखो—द्वेष, क्रोध, प्रतिहिंसासे मनुष्यका घोर पतन हो जाता है और वह राक्षस बनकर हिंसामय बन जाता है। इनसे स्वयं सदा बचो। क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर भी अक्रोध, क्षमा तथा प्रेमके शस्त्रसे उस कारणको काट दो एवं दूसरोंको भी इन भयानक दुर्गुणों तथा दुर्भावोंसे बचानेका प्रयत्न करो। किसी भी अवस्थामें क्षुब्ध न होकर मनकी प्रफुल्लता तथा मुदिताको बनाये रखो।

याद रखो—भगवान्के मङ्गल-विधानानुसार जो होना है, वही होगा। तुम्हारा काम है—यथासाध्य, यथामति सार्वत्रिक मङ्गलके लिये प्रयास करना। तुम अपने मङ्गलप्रयासमें लगे रहो। फलकी चिन्ता न करो। भगवान्का प्रत्येक विधान मङ्गलमय है। यह समझकर मनमें सदा संतुष्ट रहो तथा हर अवस्थामें उनकी मङ्गलमयी कृपाके दर्शन करते हुए मनका मोद बढ़ाते रहो।

याद रखो—तुम्हारा जितना अपने ऊपर अधिकार है, उतना दूसरेपर नहीं हो सकता। अतएव दूसरेके सुधारकी आशा न रखकर अपने-आपको सदा पवित्र, प्रफुल्ल तथा मङ्गलमय रखो। सारे मानापमानको, लाभ-हानिको सहकर क्षमाशील और मङ्गलकारी बने रहो। पृथ्वीपर शुद्ध या अशुद्ध कैसी भी वस्तु डालनेपर भी वह कभी दया या क्रोध प्रकट नहीं करती, सदा क्षोभरहित शान्त बनी रहती है। और गङ्गाजी तो उनमें मलमूत्र कर देनेवालेका मलमूत्र भी अपनी पवित्र धारामें बहाकर उसे पवित्र कर देती हैं तथा अपनी सहज चालसे सदा सबको पवित्र करती हुई बहती रहती हैं। इसी प्रकार पृथ्वीकी भाँति अक्षुब्ध और गङ्गाजीकी भाँति सदा सबको पवित्र करनेवाले ही बने रहो।

—**'शिव'**

लक्ष्यकी आवश्यकता*

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

जिससे अपना परमहित हो, वह बात सोचकर अपना लक्ष्य बना ले और कटिबद्ध होकर ईश्वरका आश्रय लेकर चले। लोग लक्ष्य बनाये बिना ही चलते हैं। परमात्माकी प्राप्ति करनी है, यह लक्ष्य बना ले, उसके लिये मार्ग निश्चित करके जोरसे चले। भाईलोग सत्सङ्ग, भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान—यह करनेका निश्चय करके फिर धीमे चलें तो बहुत समयमें पहुँचेंगे। चाल भी तेज होनी चाहिये। मात्रा भी अधिक हो और चाल भी तेज हो तो बहुत जल्दी काम बन जाय। भगवान्‌के नामका जप जल्दी-जल्दी करे, यह तेज चलना है और अधिक संख्यामें नाम-जप करे, यह मात्राकी अधिकता है। भगवान्‌का खजाना मिल गया, उसमेंसे कीमती चीज उठानी चाहिये। कीमती चीज भी जल्दी-जल्दी ढोये।

भगवान्‌का नाम-जप निष्कामभावसे करे। भगवान्‌के ध्यानसहित नामका जप करे तो यह अधिक मात्रा है। सत्कारपूर्वक नित्य निरन्तर भगवान्‌का ध्यान करे। जैसे-जैसे अभ्यास हो, वैसे-वैसे जोरका वैराग्य हो, उत्तम भावको लेकर हो। एकने हठसे किसीका त्याग किया, त्याग करना तो ठीक है, किंतु उद्देश्य भी ऊँचा हो, विवेकपूर्वक हो तो ज्यादा कीमती होता है। संसार क्षणभंगुर और नाशवान् है, यह समझकर त्यागना ज्यादा कीमती है, बिना समझे कम कीमती है। ऐसा होकर भी तीव्र वैराग्य हो तो बहुत जल्दी काम सिद्ध हो जाता है। अभ्यास, वैराग्य दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। संसार, विषयभोग और शरीरमें विवेकपूर्वक वैराग्य है। भजन-ध्यानकी विशेषताके लिये एकान्त बहुत मददकारक है, परंतु आत्मामें कमजोरी हो तो वह भयदायक हो जाता है। मन धोखेबाज हो तो एकान्त पाकर सो जाता है।

संसारके ऐश-आराम खतरेकी चीज है, पर सोना अधिक खतरेकी चीज है। रुपया कमानेवाला काम आलस्यमें समय बितानेसे अच्छा ही है। रुपया कमाना राजसी है और सोना तामसी है। रुपया कमानेकी अपेक्षा लोकोपकार—सेवाका काम सात्त्विक है। जिसका निरन्तर भजन, ध्यान नहीं हो, जिसको एकान्तमें, सत्सङ्गमें आलस्य आये, विक्षेप हो, उसको परोपकारमें समय देना अच्छा है।

भजन, ध्यानमें स्फुरणा हो और सेवामें भी स्फुरणा हो तो उसके लिये सेवा सब प्रकारसे ठीक है। आतुर आदमियोंकी सेवा, आश्वासन दे तो बहुत अच्छा है, आतुर, संकटापन्न, भयभीत आदमीको अभयदान दे। वहाँ भी दानभाव न होकर सेवाभाव हो। सेवाभावमें भी निरभिमान हो। पैसा दे, शरीरसे काम कर्तव्य समझकर करे। अहसानकी दृष्टिसे करे तो वह संकुचित हो जाता है, भारसे दबे ऐसा नहीं करे। वह यदि भार समझे तो समझाये, भार नहीं मालूम दे ऐसी चेष्टा करे। अभिमान, अहंकार नहीं आने चाहिये। ये अपना महत्त्व घटानेवाले हैं। फिर प्रशंसा हो उसमें न फँसे, सावधान रहना चाहिये।

हमें सकामताके कारण देर हो रही है अतएव हर एक माता, बहन, भाईको निष्कामभावके विषयमें विशेष ध्यान देना चाहिये। कामना बहुत बुरी चीज है। श्रद्धा-प्रेम दामी चीज है। श्रद्धा-प्रेम हो और निष्कामभावसे हो तो बहुत जल्दी काम बन जाता है। किसी भी प्रकारसे संकट आ जाय तो संकट-निवारणकी याचना नहीं करनी चाहिये, फिर भी मनमें माँगनेकी आये, वह भी कामना नहीं करे, माँगना नीचा दर्जा है। निष्कामभावकी बात सीखनी चाहिये। मनमें निश्चय करे कि चाहे प्राण चले जायँ हमें कोई कामना ही नहीं करनी है। भगवान्‌ने चार प्रकारके भक्त बतलाये हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
(गीता ७। १६)

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं।

---

* प्रवचन—दिनाङ्क २९-४-१९४७, प्रातःकाल ७.३० बजे, वटवृक्ष, स्वर्गाश्रम।

भगवान्की भक्ति किसी प्रकारसे करे वह सुकृती है। चौथा ज्ञानी भक्त है बाकी तीन अज्ञानी हैं। तीनोंमें भी जिज्ञासुमें थोड़ा अज्ञान है। मुक्तिकी भी इच्छा न रखकर परमात्माके तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करे। आर्तसे अर्थार्थी ज्यादा अज्ञानी है। आगे जाकर भगवान्ने ज्ञानीकी प्रशंसा की है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(गीता ७। १७)

उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।

एकनिष्ठावाला ज्ञानी भगवान्को बहुत प्यारा है। प्रह्लादजीकी तरह निष्कामी हो, देनेपर भी न ले—ऐसा भाव हो और साधन भी तेज होना चाहिये। नहीं करनेवालेकी अपेक्षा सकामी अच्छा है और करनेवालोंमें निष्कामी अच्छा है। भगवान्को याद रखते हुए लोकोपकार करे, वह सबसे अच्छा है। हमलोग निष्कामभावको अच्छा समझते हैं और करना भी चाहते हैं, फिर भी सकामता आती है, समझकी कमी है और श्रद्धाकी कमी है। श्रद्धा प्रेमपूर्वक होनेसे आदरपूर्वक होती है, संसारसे वैराग्य और भगवान्में प्रेम बड़ा अच्छा काम है। श्रद्धा भगवान्में हो और प्रयत्न इन्द्रिय, मन, बुद्धिद्वारा हो। निष्कामी तो कामना करता नहीं, यदि वह कामना करे तो भगवान् आ ही जायँगे।

प्रह्लादजीका निष्काम प्रेम था। भगवान्में वैसा ही प्रेम होना चाहिये। यदि कामना हो तो भगवान्के मिलनेकी ही हो। यह भी उच्चकोटिकी कामना है। भगवान्में प्रेम होगा तो वे जरूर मिलेंगे। भगवान् प्रेमियोंके आधीन हैं। भागवत-रामायणमें इसकी बड़ी प्रशंसा की गयी है।

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥

केवल प्रेम अर्थात् विशुद्ध प्रेम हो। उसके साथ और कुछ नहीं होना चाहिये। अनन्यप्रेम अर्थात् केवल प्रेम। प्रेमके सिवाय भगवान्को और कोई चीज प्यारी नहीं है। भगवान्ने शबरीसे कहा— '*मानउँ एक भगति कर नाता॥*' अम्बरीषके यहाँ दुर्वासा गये और क्रोध किया तो भगवान्ने कहा— '**अहं भक्तपराधीनः**' (श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)। रामायणमें कहा गया है—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
(१। १८५। ५)

हमें ऐसा ही बनना चाहिये। भगवान्के साथ यदि अपनी ऐसी मित्रता हो गयी तो हमने सब कुछ कर लिया। भजन-सत्सङ्गसे प्रेम होता है। भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(गीता ९। २९)

मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।

जो मुझे प्रेमसे भजता है उसके हृदयमें मैं नित्य निवास करता हूँ। इतना ही नहीं, मैं भजनवालेको भजता हूँ।

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥
(रा० च० मा० ७। ६१)

सत्सङ्गके बिना भगवान्की कथा नहीं मिलती। भगवान्के प्रेम, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी बातें बिना सत्सङ्गके नहीं मिलतीं। बिना कथाके अज्ञताका नाश नहीं होता। अज्ञताका नाश हुए बिना भगवान्में प्रेम नहीं होता। अतएव सत्सङ्ग करना चाहिये। सत्सङ्गसे यही आशा करे कि भगवान्में प्रेम हो। प्रेमके लायक एक भगवान् हैं और कोई नहीं। प्रेमकी कीमत जितनी भगवान् दे सकते हैं, उतनी और कोई नहीं दे सकता। जो भगवान्में प्रेम करनेवाला है, भगवान् अपने-आपको उसके अर्पण कर देते हैं।

नरसीजीके प्रति भगवान्ने कहा था कि नरसी मुझे बेचे तो बिक जाऊँ और उसकी चाकरी करूँ। भगवान् भक्तका योगक्षेम वहन करते हैं। कुली बनकर उसके पीछे-पीछे फिरते हैं। अर्जुनका प्रेम था तो बिना हथियारोंवाले भगवान्को माँग लिया। अर्जुनकी परीक्षा करनी थी, इसलिये उसको माँगनेका पहला मौका दिया। दुर्योधन तो भगवान्को माँगना चाहता ही नहीं था। दुर्योधन चला गया तो भगवान् अर्जुनको डाँटने लगे कि मुझ हथियाररहितको

लेकर तू क्या करेगा? अर्जुन बोला—मैं आपसे घोड़ा हँकवाऊँगा। यह सुनकर भगवान् प्रसन्न हो गये। सारथिका काम भगवान्से लिया।

भगवान् कहते हैं मैं तो केवल एक प्रेम चाहता हूँ, फिर मुझसे कुछ भी काम कराओ, मैं प्रसन्नतासे करूँगा। नरसीजीके लिये गठरी उठाकर चले थे। भगवान् प्रेमके रहस्यको जानते हैं। दुनियामें भगवान्के समान प्रेमका तत्त्व और कोई नहीं जानता। अतएव भगवान्में प्रेम करना चाहिये, भगवान्का स्वरूप दिव्य है, उनमें प्रेम दिव्य होता है। प्रेमके लायक एक नम्बरपर भगवान् हैं और दो नम्बरपर महापुरुष हैं। सत्पुरुषके लक्षण हैं—

बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

इनसे मित्रता करे। श्रीरामने सुग्रीवको सत्पुरुष जानकर मित्रता की। भगवान्से निष्काम प्रेभ करना चाहिये। भगवान्में केवल प्रेम होनेसे तुरंत दर्शन देते हैं। एक मिनट भी नहीं ठहर सकते। भगवान् यह नहीं देखते कि यह तो छोटा है और मैं बड़ा हूँ, कैसे मिलूँ? कोई कामना नहीं हो, यदि कामना हो तो भगवान्के मिलनेकी उत्कट इच्छा हो। उत्कट इच्छा वह है जैसे किसी आदमीको गङ्गामें डुबोकर फिर ऊपर बैठ जाय। उस समय यह भाव होता है कि कब बाहर निकलूँ। ऐसा भाव जब भगवान्से मिलनेका हो तो भगवान् आकर झट मिल जाते हैं।

भगवान् संसार-सागरमें उसको अधिक देरतक नहीं रख सकते। हमारा भाव ऐसा कहाँ, इसीलिये भगवान्के मिलनेमें देर हो रही है। मीराबाईको भगवान्में प्रेम था तो खाना-पीना और रातकी नींद सब चली गयी। युवा स्त्री पतिके परदेश चले जानेपर भीतर-भीतर रोती है। लज्जा है, वह उसके लिये गौरव है, आदर है, उसी प्रकार वह भगवान्के विरहमें व्याकुल होकर भीतर-भीतर रोता है। उससे भगवान् ज्यादा प्रसन्न होते हैं। भक्तिके मार्गमें विरह बहुत अच्छा है।

दूसरा प्रकार यह है कि जब भगवान्की इच्छा हो तब मिलें। मिलनेका उद्देश्य है पर मिलनेकी इच्छा नहीं। भगवान्का मिलना भगवान्की इच्छापर छोड़ दिया। भगवान्की लीला देख-देखकर प्रसन्न होना—यह भी एक मार्ग है। भरतजी भगवान्के विरहमें रो रहे हैं। प्रह्लादजी भगवान्के ऊपर निर्भर हैं, जो कुछ कार्यवाही हो रही है, वह भगवान्की नजरमें हो रही है। दोनों बातें ऊँची हैं, निष्काम हैं। भरतमें कामना है तो भगवान्के दर्शनकी, यह कामना भले ही रहे। भगवान्की प्राप्तिके लिये भगवान्पर निर्भर रहना, भगवान्के विधानको देख-देखकर प्रसन्न होना मङ्गलमय है, यह भाव होना अच्छा है। भगवान्के दर्शनोंके लिये व्याकुल होना भी अच्छा है। विरहिनी स्त्रीको पतिके विरहका दुःख है, उससे अधिक भगवान्के लिये प्रेम हो। भगवान् तो नित्य हैं, उनका संयोग नित्य है, उनका प्रेम निःस्वार्थ है, इसलिये हमें भगवान्से ही प्रेम करना चाहिये। स्त्रीके लिये पतिसे प्रेम दूसरे नम्बरपर है। पतिसे प्रेम भगवान्के लिये हो, विलासिताके लिये नहीं। भगवान्के लिये ही प्रेम हो या पतिको ही ईश्वर मान ले तो यह भी एक नम्बर है। काम-भोग उसे प्रिय नहीं लगें। पति जिससे प्रसन्न हों वही उपाय करे।

पुरुष भी भगवान्के साथ प्रेम करता है। पुरुषका एक नम्बरपर भगवान्के साथ प्रेम हो, दूसरे नम्बरपर महापुरुषोंसे। भगवान्की प्राप्तिका उद्देश्य रखकर महापुरुषोंसे जो प्रेम है, वह भी भगवान्से ही है। एक नम्बरपर तो सबके लिये भगवान् हैं, उनसे बढ़कर संसारमें कोई चीज नहीं है। भगवान् प्रेमका तत्त्व जानते हैं। भगवान् प्रेमीको सर्वस्व देकर भी अपनेको उसका ऋणी ही मानते हैं। ऐसी मान्यता भगवान्के सिवाय दूसरेकी नहीं होती। प्रेमकी सीमा नहीं, प्रेम नित्य नया होता रहता है।

इस घोर कलिकालमें ईश्वरकी भक्ति सबसे बढ़कर है। गीता, रामायण, महाभारतमें भक्तिकी महिमा गायी गयी है। भगवान्का ध्यान, नाम-जपसे कल्याण हो सकता है। हमलोगोंको भक्तिमें रुचि लेनी चाहिये। नवधा भक्तिका एक भी अंग धारण कर लें तो कल्याण हो सकता है। शबरी, प्रह्लादजी, भरतजीमें नवों अंग मौजूद थे। भरतजीका चरित्र पढ़नेसे कठोर हृदयवालेका भी हृदय गद्गद हो जाता है। भरतजीके समान भक्त होना गौरवकी बात है।

~~~
~~~

अशुभ वासनाको भस्म करनेका अमोघ उपाय

(श्री जय जय बाबा)

भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलांमें समस्त अशुभ वासनाओंको भस्म करनेकी अमोघ सामर्थ्य है। देवताओंने भगवान्‌की प्रार्थना करते हुए कहा—

'त्यानस्त्वाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः'(श्रीमद्भा० ११। ६। १०)

अर्थात् हे प्रभो! आपके चरणकमल हमारी समस्त अशुभ वासनाओं—विषय-वासनाओंको भस्म करनेके लिये धूमकेतुरूपी प्रचण्ड प्रज्वलित अग्नि हों। वह धूमकेतु हमारे सभी पाप-तापोंको भस्म कर दे।

देवताओंने पुनः कहा—**'भूयात् सदाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः॥'**(श्रीमद्भा० ११। ६। १२) भक्तवत्सल प्रभुके चरणकमल सर्वदा हमारी विषय-वासनाओंको भस्म कर देनेवाली धूमकेतुरूपी प्रज्वलित अग्नि हों!

श्रीमद्भगवद्गीता (४। ३७)-में भी कहा गया है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

जन्म-जन्मान्तरोंके भोगे हुए विषयोंके संस्कार इतने प्रबल होते हैं कि वे श्रीभगवान्‌का सहारा लिये बिना सहसा मिटते नहीं।

भक्तप्रवर प्रह्लादजी अपने पिता हिरण्यकशिपुसे कहते हैं—

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा
मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।
अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं
पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। ३०)

प्रह्लादजीने कहा—पिताजी! संसारके लोग तो पिसे हुएको पीस रहे हैं, चबाये हुएको चबा रहे हैं। उनकी इन्द्रियाँ वशमें न होनेके कारण वे भोगे हुए विषयोंको ही फिर-फिर भोगनेके लिये संसाररूपी घोर नरककी ओर जा रहे हैं। ऐसे गृहासक्त पुरुषोंकी बुद्धि अपने-आप किसीके सिखानेसे अथवा अपनेही-जैसे लोगोंके संगसे भगवान् श्रीकृष्णमें नहीं लगती।

न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं
दुराशया ये बहिरर्थमानिनः।
अन्धा यथान्धैरुपनीयमाना
वाचीशतन्त्यामुरुदाम्नि बद्धाः॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। ३१)

जो इन्द्रियोंसे दीखनेवाले बाह्य विषयोंको परम इष्ट समझकर मूर्खतावश अन्धोंके पीछे अन्धोंकी तरह गड्ढेमें गिरनेके लिये चले जा रहे हैं और वेदवाणीरूप रस्सीके काम्यकर्मोंके दीर्घ बन्धनमें बँधे हुए हैं, उन्हें यह बात मालूम नहीं कि हमारे स्वार्थ और परमार्थ भगवान् विष्णु ही हैं—उन्हींकी प्राप्तिसे हमें सब पुरुषार्थोंकी प्राप्ति हो सकती है।

संसारी लोग तो उन्हीं इन्द्रियोंको और वे ही भोग जन्म-जन्मान्तरोंसे भोगते चले आ रहे हैं, उनसे कोई उपराम ही नहीं, इसलिये भगवच्चरणारविन्दरूपी धूमकेतुके सिवाय इन अशुभ वासनाओंको भस्म करनेका कोई उपाय ही नहीं। विवेकचूडामणि (श्लोक २६७)-में कहा गया है—

ज्ञाते वस्तुन्यपि बलवती वासनानादिरेषा
कर्ता भोक्ताप्यहमिति दृढा यास्य संसारहेतुः।
प्रत्यग्दृष्ट्यात्मनि निवसता सापनेया प्रयत्ना-
न्मुक्तिं प्राहुस्तदिह मुनयो वासनातानवं यत्॥

आत्मवस्तुका ज्ञान हो जानेपर भी जो 'मैं कर्ता और भोक्ता हूँ' इस रूपसे दृढ़ होकर (जन्म-मरणरूप) संसारका कारण होती है, उस प्रबल अनादि वासनाको प्रत्यक्—आन्तरिक दृष्टिसे आत्मस्वरूपमें स्थित होकर प्रयत्नपूर्वक दूर करना चाहिये; क्योंकि इस संसारमें वासनाकी क्षीणताको ही मुनियोंने मुक्ति कहा है।

इसी ग्रन्थ (श्लोक २७१)-में कहा गया है—

लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयापि च।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते॥

लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासना—इन तीनोंके कारण जीवको ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता। इस श्लोकमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया गया है। उपर्युक्त तीनों वासनाओंसे मुक्त होना जरूरी है।

लोकवासना—संसारमें अपने महत्त्वकी प्रसिद्धिसे अहंकार बढ़ता है जो पतनका हेतु बनता है।

शास्त्रवासना—शास्त्रोंको निरन्तर पढ़ते रहनेकी एक वासना पैदा हो जाती है, जो छूटती नहीं और बन्धनका कारण बन जाती है। बृहदारण्यकोपनिषद् ४। ४। २१ में कहा गया है—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनः हि तदिति॥

बुद्धिमान् ब्राह्मणको उसे ही जानकर उसीमें प्रज्ञा करनी चाहिये। बहुत शब्दोंका अनुध्यान (निरन्तर चिन्तन) न करे। यह तो वाणीका श्रम ही है।

देहवासना—निरन्तर अपने देहकी ही चिन्ता करते रहना भी मुक्तिमें बाधक है। ये तीनों अनात्म वासनाएँ हैं अतः भगवच्चरणारविन्दोंमें प्रगाढ़ भक्तिके द्वारा इन्हें भस्म कर देना चाहिये। भगवत्पादारविन्दोंकी यह प्रेमा-भक्ति जीवकी सभी अशुभ वासनाओंको विनष्टकर जीवके लिये भगवत्प्राप्तिका मार्ग प्रशस्त कर देती है।

साधनाके विघ्न—भय और प्रलोभन

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

समस्त चराचर विश्वमें अनन्त प्राणियोंके रूपमें अभिव्यक्त भगवान्‌के पावन चरणोंमें सभक्ति नमस्कार।

जिसको साध्यका पता नहीं है, साध्यकी ओर जिसकी दृष्टि नहीं है, वह साधक नहीं बन सकता। अपनेसे जो एकान्तरूपसे प्राप्त करना है उसका नाम साध्य है और उसकी प्राप्तिके मार्गका नाम है साधना। अपने कार्यमें, अपनी साधनामें जो निरन्तर बिना किसी दूसरी ओर ताके-झाँके चलता रहता है वह साधक है। साधकको ये दो बातें हमेशा ध्यानमें रखनी चाहिये—पहली-लक्ष्यको भूलना नहीं है और दूसरी-अत्यन्त आतुरता होनेपर भी, आर्तभाव होनेपर भी कभी ऊबना नहीं है। देर सहन नहीं होती है, परंतु देर होनेके डरसे साध्यको छोड़ देना बहुत बड़ी भूल होती है।

हरिबाबाने एक दृष्टान्त लिखा था कि मुहम्मद साहब एक बार घूमते-फिरते जंगलमें एक फकीरकी झोंपड़ीपर जा पहुँचे। उस समय फकीर वहाँ नहीं थे, उनका एक शिष्य था। वहाँ एक चट्टान थी। उस चट्टानमें तीन गहरे गड्ढे पड़े हुए थे। मुहम्मद साहबने उस शिष्यसे पूछा कि यहाँ चट्टानमें तीन गड्ढे कैसे पड़े हुए हैं? तो उसने बताया कि यहाँ फकीर रोज बन्दगी करते हैं—नमाज पढ़ते हैं तो उनके सिरके और घुटनोंके टिकानेसे चट्टानमें तीन गहरे गड्ढे बन गये हैं।

इतनेमें आकाशवाणी हुई कि खुदा इसकी बन्दगीसे खुश नहीं है। यह सुनकर मुहम्मद साहब रोने लगे, उन्हें बड़ा दु:ख हुआ। इतनेमें वे फकीर (महात्मा) आ गये। महात्मा महात्मा थे और ये थे आचार्य। आचार्यके नाते महात्माने इनको प्रणाम किया और पूछा कि आप रो क्यों रहे हैं? मुहम्मद साहबने कहा कि यदि आपकी इस तरहकी बन्दगी खुदाको मंजूर नहीं है, इससे अगर खुदा खुश नहीं है तो मेरी क्या हालत होगी? मैं तो कुछ करता ही नहीं हूँ। उनकी इस बातको सुनकर महात्माको बड़ी खुशी हुई और उन्होंने पूछा कि क्या आपने खुदाकी वाणी सुनी है?

क्या सचमुच उन्होंने कह दिया कि हम खुश नहीं हैं? मुहम्मद साहब बोले कि हाँ कह तो दिया तभी तो मुझे रंज हो गयी। महात्मा बोले बहुत अच्छा खुदाको पता तो लग गया कि वह बन्दगी करता है। खुदा खुश हों या न हों। मुझे तो यह रगड़ लगानी है। खुदा चाहे न खुश हों उन्हें पता तो लग गया कि यह रगड़ लगा रहा है। बस, मेरा काम हो गया। इतनेमें ही दूसरी आकाशवाणी हुई कि हे फकीर! हम तेरी बन्दगीपर खुश हैं। इतनी ही देरमें क्यों खुश हो गये? इसलिये कि उन्होंने देखा कि इसमें इतना धैर्य है, इसके मनमें इतना विश्वास है कि खुदा या भगवान् भले ही बहुत दिनोंके बाद मिलें या न मिलें उनकी इच्छा है। परंतु मैं भगवान्‌की सेवा करनेसे, भक्ति करनेसे कत्तई नहीं चूकूँ। इतनेसे ही काम हो गया।

भगवान्‌ने गीता (६। २५)-में कहा है—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

अर्थात् धीरे-धीरे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको आत्मामें लगाओ। दूसरे किसी भी चीजका चिन्तन मत करो। यदि बीचमें ही ऊब गये, यदि रास्तेमें ही विचलित होकर हट गये तो ठीक नहीं होगा। इसलिये साधकको धैर्यवान् और विश्वासी होना चाहिये। साधक केवल चलना जानता है। वह पल-पलमें पूछता नहीं कि अभी कितनी दूर है। वह दूरीसे घबड़ाता नहीं है।

प्रियतमसे मिलनेको जिसके प्राण कर उठे हाहाकार।
गिना नहीं उसने पथकी दूरीको, भयको किसी प्रकार॥

(पद--रत्नाकर, पद-सं० ४१७)

जबतक हमारे प्राणोंमें एक हाहाकार नहीं हो जाता, जबतक भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये साधकके हृदयमें एक संताप नहीं उठता, आग नहीं लग जाती तभीतक वह चारों ओर देखता है। तभीतक आज कितनी माला फेर ली, आज कितना जप हो गया, दूसरे काम भी करने है, ये सब बातें रहती हैं। जब प्राण उसके लिये आकुल हो उठें, प्राणोंमें आर्तभाव छा गया तब चलनेपर वह नहीं देखता कि कितना चलना है। बस! चलना है। प्यारेके पथपर चलना है, प्रियतमके मार्गपर चलना है। वह यह नहीं देखता है कि मार्गमें कोमल पुष्प बिछे हैं या बरछियाँ बिछी हैं, मार्गमें हर तरहके सुख-आराम हैं या केवल कष्ट-ही-कष्ट हैं। यह सुविधावाद साधनमें नहीं चलता है। यदि किसीको बदरिकाश्रम जाना है तो पहलेसे ही तैयारी कर ले। जहाँतक

सवारीका साधन है वहाँतक सवारी अवश्य रहे और आगेके पड़ावोंपर भी आराम रहे। इसकी पहलेसे ही व्यवस्थाके चक्करमें रहे यह सुविधावाद है। सुविधावाद साधन नहीं है। सुविधा करके जाना भी एक विधा है, परंतु जहाँ सुविधा सामने है वहाँ साधन सामने नहीं रहता है। साधनमें तो कुछ भी मूल्य देना पड़े, उसका कोई मूल्य है ही नहीं। साधक यह बात जानता है कि भगवान्‌को प्राप्त करनेकी कीमत हमारे पास है ही क्या? वह तो स्वयं कृपा करके कभी दर्शन दे देते हैं। उन्हें प्राप्त करनेकी कीमत देकर हम उन्हें खरीद लें, ऐसी कोई कीमत हमारे पास नहीं है। हमारे पास है गंदा मन, गंदा शरीर, अनेक प्रकारकी बाधाओंसे भरा हुआ यह अपवित्र जीवन। हमारे पास अविचलित रहनेवाली बुद्धि नहीं है और न ही विशुद्ध मन। हम क्या देकर भगवान्‌को खरीदेंगे।

हाँ, हम भगवान्‌को देंगे अपना दैन्य, भगवान्‌को देंगे अपनी मजबूरी, भगवान्‌को देंगे अपनी गरीबी, भगवान्‌को देंगे अपनी अयोग्यता। परंतु भगवान् एक बात अवश्य चाहेंगे कि तुम्हारी चाह है कि नहीं। तुम्हारे चाहकी आग वास्तवमें तुम्हारे हृदयमें लग गयी है कि नहीं। तुम घबड़ा तो नहीं रहे हो। तब भले ही अयोग्य हों भगवान् हाथ पकड़कर ले जायँगे।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(गीता १२।७)

अर्थात् जो मेरेमें आवेशितचित्त हैं उन लोगोंको संसारसागरसे पार करनेवाला मैं होता हूँ तथा पार करनेमें देर नहीं होती **'नचिरात्पार्थ'** और हे अर्जुन! मैं अविलम्ब उन्हें संसारसागरसे स्वयं पार कर देता हूँ, इस प्रकार भगवान् स्वयं पार करते हैं, परंतु जो अपनेको साधक मानता है उसके अंदर कम-से-कम इतनी बात होनी चाहिये कि वह उनकी चाह सच्ची हो, विशुद्ध हो, निष्कलंक हो और केवल उन्हींको चाहता हो।

अरबमें एक देवी हुई है रबिया। भगवान्‌का तय नहीं है कि अमुक जाति या अमुक देशवालेको ही मिलेंगे। भगवान् सबके हैं। यह अलग बात है कि कहीं ज्यादा आदमी वैसे पैदा होते हैं और कहीं कम पैदा होते हैं। रबिया अरबमें पैदा हुई। रबियाने अपने प्रियतम प्रभुसे प्रार्थना की—'हे नाथ! यदि मैं स्वर्गकी इच्छासे आपको भजती हूँ तो स्वर्गका द्वार सदाके लिये मेरे लिये बंद कर दिया जाय और यदि मैं नरकके भयसे आपको भजती हूँ तो मुझे नरकमें भेज दिया जाय तथा यदि केवल आपके प्रेमके लिये आपको भजती हूँ तो आपका प्रेम मुझे मिल जाय।' इस प्रकारसे एक चाह, एक निष्ठा साधकमें होनी चाहिये। साधकके लिये यह सबसे पहली शर्त है। साध्य सामने रहे और उसतक पहुँचनेकी एकमात्र चाह रहे उसके सिवाय कोई चाह नहीं रहनी चाहिये।

इस सम्बन्धमें भक्त ध्रुवकी कथा बहुत सुन्दर है। ध्रुव जब पाँच वर्षके बालक थे तब विमाताके सामने पिताकी गोदमें जा बैठे। छोटा बच्चा उसके मनमें भेदभाव था नहीं। उसने सोचा मेरे पिता हैं, छोटा भाई उत्तम बैठा था वह भी वहीं बैठ गया। विमाताके मनमें बड़ा क्षोभ हुआ। उसने कहा बच्चा! तू बड़ा अबोध है। नीचे उतर जा। राजाकी गोदमें बैठनेका तेरा हक नहीं है। अगर इनकी गोदमें तुझे बैठना हो तो तुम मेरी कोखसे पैदा हो। भगवान्‌को याद कर जिससे तुम मेरी कोखसे पैदा हो तब तुम राजाकी गोदमें बैठ सकता है। उतर जा। अपमानभरे शब्दोंमें तिरस्कारपूर्वक कहा 'उतर जा'। ध्रुवके मनमें बड़ा क्षोभ हुआ। वह राजाकी गोदसे उतरकर रोने लगा। पिताजी विवश थे इसलिये बोले नहीं। रोता हुआ बालक ध्रुव माँके पास पहुँचा। माँने कहा रोता क्यों है बेटा! तो ध्रुवने कहा पिताजीकी गोदमें बैठा तो छोटी माँने रोषपूर्वक उतार दिया और कहा कि भगवान्‌को याद कर अगर तू मेरी कोखसे पैदा हुआ होता तो तब इस गोदमें बैठनेलायक होता। माँके आँसू आ गये, कुछ बोल न सकी परंतु अन्ततः सच्ची बात मुँहसे निकल ही गयी। उन्होंने कहा—बेटा! माँने ठीक ही कहा है कि भगवान्‌को याद किये बिना तुम राजाकी गोदमें कैसे बैठ सकते हो। भगवान्‌को याद कर। माताने सहज भावसे ही यह सच्ची बात कह दी।

ध्रुवने कहा अच्छी बात माँ, मैं भगवान्‌को भजूँगा, परंतु माँ भगवान् कैसे हैं? पाँच वर्षका बच्चा जानता नहीं था कि भगवान् कैसे हैं, क्या हैं, उनका तत्त्व क्या है। माँ बोली—बेटा! याद रखना भगवान्‌की आँखें कमलके पत्ते-जैसी विशाल हैं। श्रीमद्भागवतमें **'पद्मपलाशलोचन'** (४।८।२३) शब्द आता है। इतना सुनकर ध्रुवजी भगवान्‌के अनुसंधानमें चल दिये, माता गुरु हो गयी।

भगवान्‌के अनुसंधानमें चलनेवालोंसे दो बातें

स्वाभाविकरूपसे छूट जाती हैं—१-भय और २-प्रलोभन। ये अगर बने रहते हैं तो वे चल नहीं पाते हैं, रुक जाते हैं। भगवान्‌के मार्गमें चलनेवालोंके सामने ये दो विघ्न आते हैं। ध्रुव निश्चयसे चले। माँ नहीं जानती थी कि मेरे इस प्रकार ही कहनेसे यह बच्चा चल देगा, परंतु उसके अंदर सच्ची लगन थी। क्षत्रिय बालक था, मनमें एक जोश आ गया कि भगवान्‌को प्राप्त करना है। मार्गमें नारदजीने देखा और विचार किया कि अगर अधिकारी हो तो मन्त्र देना चाहिये। नारदजीका यही काम है। नारदजीने पूछा बेटा ध्रुव! कहाँ जा रहे हो? उसने कहा भगवान्‌से मिलने। नारदजीने फिर कहा—भगवान्‌से मिलने! जानते हो भगवान् कहाँ हैं? कैसे हैं? वह बोला कि माँने बताया है कि कमलके पत्ते-जैसे भगवान्‌के विशाल नेत्र हैं और वे मधुवनमें रहते हैं। मैं वहीं जा रहा हूँ। नारदजीने कहा कि क्यों जा रहे हो? तब ध्रुवने सारा वृत्तान्त बता दिया।

नारदजीने उसे समझाया कि बेटा! वापस चलो, मैं तुम्हारे पिताजीके पास चलता हूँ उनसे कहकर तुम्हें राज्य दिलवा देता हूँ। उसने कहा कि मुझे भगवान्‌से लेना है, आपसे नहीं लेना है। मुझे भगवान्‌से मिलना है। वह तनिक भी प्रलोभनमें नहीं आया। तब नारदजीने उसे भय दिखाया और कहा—बेटा! जंगलमें माँ नहीं होगी, अजगर होंगे, बाघ हैं, सुअर हैं, न जाने कितने जानवर हैं। भूत-प्रेत हैं। बड़ा बीहड़ वन है। खाने-पीनेको नहीं है। दुःख पाओगे, घबड़ाओगे, रोओगे, तब आओगे। उसने कहा यह सब कुछ नहीं, भगवान् तो हैं वहाँपर, मैं जाऊँगा। नारदजीने कहा कि एक बार फिर सोच लो। ध्रुवने कहा कि मैंने सोच लिया है। मैं अवश्य जाऊँगा। नारदजीने सोचा कि यह न भयमें आनेवाला है न प्रलोभनमें। यह सच्चा साधक है। उन्होंने कहा कि तुम जाकर द्वादशाक्षरमन्त्र **'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'** का जप करो। ध्रुवने ऐसा ही किया और उस छोटेसे बच्चेने छः माहमें ही भगवान्‌को पा लिया।

जो किसी प्रलोभनमें फँस जाय या किसी भयसे भीत हो जाय वह गिर जाता है। पार्वतीजी जब जप कर रही थीं और भगवान् शिवके ध्यानमें मग्न थीं तो भगवान् शिवने सोचा कि पार्वतीके गौरवको प्रकट करना है। पार्वतीजीकी क्या परीक्षा? वे तो भगवान् शंकरकी नित्य अर्धाङ्गिनी हैं। यह कथा विविध पुराणोंमें विविध भाँतिसे आती है और सभी कथाएँ बड़ी सुन्दर हैं, सुरम्य हैं। यहाँपर श्रीरामचरितमानसकी कथाका थोड़ा-सा अंश बतलाया जा रहा है—

जब पार्वतीजी तप कर रही थीं तो भगवान् शिवने सप्तर्षियोंको भेजा कि जाकर पार्वतीकी परीक्षा करो। वे पार्वतीके पास गये और उनके नेत्र खोलनेपर उन्होंने पूछा कि यह क्या कर रही हो? पार्वतीजीने उत्तर दिया कि महाराज! तप कर रही हूँ। उनके कारण पूछनेपर बोलीं—'महाराज! भगवान् शंकरको प्राप्त करनेके लिये।' इतना सुनते ही सप्तर्षि एक साथ हँस पड़े। बुद्धिमान् किसीको देखकर हँसे तो इससे उसकी मूर्खता परिलक्षित होती है। सप्तर्षियोंने हँसते हुए कहा—पगली! तुम उससे विवाह करना चाहती हो जिसके घरमें कोई नहीं है। वह श्मशानमें रहे, वहाँकी भभूत शरीरमें लगाये, साँपोंके गहने पहने, अजगरोंकी गलेमें माला पहने, मुण्डमाला पहने, बैलकी सवारी करे, नंगा रहे, पहननेको वस्त्र नहीं, इस प्रकारके एकाकी, धतूरा खानेवाले, भाँग पीनेवाले, कभी कालकूट पी लेनेवाले पुरुषको पति बनाकर क्या तुम सुखी होगी? तुम भी जड़ प्रतीत होती हो, पहाड़की बेटी हो न!

इस प्रकार उलाहना दिया और भय दिखाया। पार्वतीजी मुस्कराने लगीं और बोलीं—आपने भगवान् शंकरका बड़ा अच्छा रूप दिखाया। जो संसारके परित्यागी होते हैं, विरक्त होते हैं, जो वास्तवमें शिवस्वरूप होते हैं, जगत्‌से विरहित हो, जो स्वरूपमें स्थित होते हैं, वही तो ऐसे होते हैं। बड़ा सुन्दर है। वे मुस्कराकर रह गयीं। सप्तर्षियोंने देखा कि यह दाँव तो नहीं लगा, दूसरा अस्त्र फेंका। वे बोले—सुनो पार्वती! हमने तुम्हारे लिये एक वर खोजा है जो बहुत ही ऐश्वर्यवान्, महान् सुन्दर है। वे सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्य-निधि, सर्वसद्‌गुणसम्पन्न, अनन्त गुण-ऐश्वर्यके समुद्र, वैकुण्ठनाथ भगवान् विष्णु हैं। तब पार्वतीजीने कहा कि महाराज! विवाह करानेका आपलोगोंको शौक हो तो संसारमें वर-कन्या बहुत पड़े हैं। आप जाकर शादी कराओ, यही काम करो। महाराज! मैं क्या कहूँ आपसे, मेरे लिये तो—

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥
(रा० च० मा० १।८०)

माना कि महादेवजी अवगुणोंके भवन हैं और विष्णु समस्त सद्‌गुणोंके धाम हैं, परंतु महाराज! जिसका मन जिसमें रम गया उसको तो उसीसे काम है।

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु नत रहउँ कुआरी॥

(रा०च०मा० ८१।५)

मेरा तो करोड़ों जन्मोंतक यही हठ रहेगा कि या तो शिवजीको वरूँगी, नहीं तो कुमारी ही रहूँगी। सप्तर्षियोंने उनका अविचल विश्वास देख लिया तब बोले—बेटी! घबड़ाना नहीं, शिवजी आयेंगे। तुम तो शिवजीकी नित्य अर्धाङ्गिनी हो।

इस प्रकार साधकोंके सामने बहुत-से विघ्न आयेंगे प्रलोभनके रूपमें, मानके रूपमें। आप थोड़ा-सा भजन करने लगिये तो आस-पासवाले लोग कहेंगे कि बड़ा महात्मा है। बहुत-से भक्तलोग मिल जायँगे, चाहे वे जिस भावमें आयें—पूजन या पुजवानेके लिये। बहुत-से भक्त साधुओंके पास आते हैं, पुजवानेके लिये कि अपनी पूजाका कोई अच्छा-सा साधन बन जाय। अनगिनत रूपोंमें आयेंगे और आकर लगेंगे बड़ाई करने, मान देने, पूजा करने, फूल चढ़ाने, अगर कहीं इस प्रलोभनमें फँस गये तो च्युत हो गये। लोग धन लेकर आते हैं और आगे बढ़नेपर बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ आती हैं। देवता आते हैं वरण करनेके लिये, ऊपर चढ़ानेके लिये, इन्द्रपदका लालच देते हैं। भय भी बड़े-बड़े आते हैं। इसलिये साधक भय और प्रलोभन इन दोसे हमेशा बचे। अगर इनसे बचा रहेगा तो सफल हो जायगा। साधक भय और प्रलोभनसे बचते हुए एकनिष्ठ होकर, एक आदर्श साध्यका लक्ष्य रखकर चुपचाप बिना किसीपर आक्षेप किये अपने मार्गपर चलता रहे। सभी अपने-अपने मार्गपर जा रहे हैं। सभी भगवान्‌को चाहते हैं।

हमारा मार्ग अच्छा और दूसरेका बुरा कहनेवाला साधक नहीं होता है। वह तो या तो साम्प्रदायिक आग्रहवाला होगा या तो आचार्य होगा। आचार्य सिद्ध होते हैं इसलिये वे कुछ भी कहनेके अधिकारी होते हैं। साधक बेचारा तो मार्गपर चलनेवाला होता है, इसलिये वह कुछ कैसे कह दे। वह अभी पहुँचा नहीं है, सिद्ध तो पहुँच गये हैं। इसलिये वह कहता है कि तुम्हारे लिये वह ठीक, हमारे लिये यही भला। तुलसीदासजी कहते हैं—

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोहिं तो सावनके अंधहि ज्यों, सूझत हरो-हरो॥

जिसको जिसपर भरोसा है वह करे। यदि आप पल-पलमें अपने इष्टके स्वरूपको—साधनको बदलते रहे तो आगे बढ़ेंगे ही नहीं और यदि आप अपने सच्चे गुरु या आचार्यकी बातको मानकर आगे चलते चलिये तो आगे-से-आगे आपको मार्ग बतानेवाले मिलते जायँगे तथा आप भगवान्‌के धाममें पहुँच जायँगे। सफलता आकर आपके पैर चूमेगी परंतु यदि आप विचलित हो गये, भटक गये और नाना प्रकारके रसोंमें फँस गये तो गिर जायँगे। साधनाके मार्गमें बड़े-बड़े रस आते हैं। साधना करके देखिये। विघ्न केवल भयके रूपमें नहीं आते हैं बल्कि सुन्दर रूपोंमें भी आते हैं। कुछ अनुभवी पुरुषोंके ऐसे अनुभव हैं कि विभिन्न देवता या कुछ अन्तरिक्षचारी निम्न श्रेणीके देवता इष्टके वेशमें विघ्न करने आते हैं। प्रलोभन भी देते हैं। ध्रुवके सामने भी मायारूपी सुनीति माँ बनकर आयी और पुकारने लगी—बेटा! देख, मैं बहुत दुःखी हूँ। उन्हें विचलित करनेका प्रयास किया। यह कथा विष्णुपुराणमें आयी है।

अतः साधक कहीं भी बीचमें प्रलोभनमें न आये। वह इस भ्रममें न पड़े कि यह तो साधनाकी सिद्धि मिल रही है आगे अभी और मिलेगी। एक साधक अपने अनुभवकी बातें, जरा बड़ाईमें आकर दूसरेसे कह दी कि आज हमें यह अनुभव हुआ। इससे उसका अनुभव होना बंद हो गया। उसने लगातार नौ महीनेतक चेष्टा की तब कहीं उसे फिरसे अनुभूति होने लगी। इतना अन्तराल हो गया। इसलिये अपने साधनकी बातें गुप्त रखे, उसे बड़ाईके लिये दूसरेके सामने प्रकट न करे। यह विघ्न आता है। बड़ाईकी चाह पैदा हो जाती है, मान देनेवाले, प्रलोभन देनेवाले मिल जाते हैं।

इसी प्रकार भय भी आते हैं। उग्र देवताकी उपासनामें अधिक आते हैं। सौम्य देवताकी उपासनामें भी भय आते हैं। केवल सकाम साधनामें ही नहीं निष्काममें भी आते हैं, भले ही साधकको हिला-हिलाकर पक्का करनेके लिये आते हों या अपनी ओर खींचनेके लिये आते हों। परंतु उसके जीवनमें जिस प्रकारकी बातें आती हैं, उसको सुदृढ़ बनानेवाली होती हैं। उसके सामने सिद्धियाँ आती हैं कि तुम मुझे ग्रहण करो। परंतु भगवान्‌ने तो प्रेमी साधकोंके लिये कहा है—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।१३)

अर्थात् मेरी सेवाको छोड़कर मेरे जो जन हैं वे सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य—ये पाँच

प्रकारकी मुक्तियाँ दिये जानेपर भी नहीं लेते हैं। '**दीयमानं न गृह्णन्ति**' देनेपर भी नहीं लेते हैं, माँगते तो हैं ही नहीं। भक्त समझते हैं कि अगर हमने इन मुक्तियोंको ले लिया तो हमारी सेवामें बाधा आ जायगी। इसलिये अपने सेवाधिकारका परित्याग न करके इस प्रलोभनसे अपनेको बचाये रखते हैं।

यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि जो भगवान्के अनन्य प्रेमी हैं, जो भगवान्में अत्यन्त प्रीतमान हैं उन लोगोंकी जगत्में कहीं आसक्ति तो है ही नहीं। उनके जगत्के बन्धन तो कट चुके हैं। उनका बन्धन तो केवल है भगवच्चरणोंमें आसक्तिका और यह बन्धन यदि वह काटना चाहता है तो वह प्रेमी नहीं है, भक्त ही नहीं है। इसलिये इस बन्धनको वह बन्धन मानता ही नहीं है। यह बन्धन तो उसका जीवन है। यह बन्धन उसका स्वरूप है। यह बन्धन उसका स्वभाव है। इस बन्धनमें रहनेके लिये बड़ी-से-बड़ी प्रलोभनकी चीजें उसके सामने आती हैं। बड़े-बड़े भय उसके सामने आते हैं परंतु वह कहीं भी विचलित नहीं होता।

(क्रमशः)

* * *

'वसुधैव कुटुम्बकम्' में विश्व-प्रेमका दर्शन

(डॉ० श्रीअशोककुमारजी पण्ड्या)

प्रेमका इतर नाम अपनत्व है और जहाँ अपनत्व है, वहाँ अधिकार तथा लालसाएँ उदार हो जाती हैं। आज विश्वको इसी अपनत्व और प्रेमकी आवश्यकता है। सम्पूर्ण मानवजाति इसकी भूखी है, प्रकृति इसकी प्यासी है, ब्रह्माण्डका अणु-अणु इसके लिये तरस रहा है। इसके अभावमें सर्वत्र अशान्ति है; क्योंकि शान्ति लेनेमें नहीं, देनेमें है— '**त्यागाच्छान्तिः**' (गीता १२।१२)। इस देनेके सुखसे हमें समृद्ध होना चाहिये, तभी सृष्टिका यह आद्यतरु 'प्रेम' पुनः पल्लवित होगा और परम पिता ब्रह्माको सृष्टि रचनेके अपने उपक्रमसे संतोष होगा। '**वसुधैव कुटुम्बकम्**'का यही बीज है।

मूलतः सृष्टि एक रचना ही है और किसी तत्त्वका जब आविर्भाव होता है तो उसके मूलमें कल्याणका भाव होता है। अन्यथा वह आविर्भाव नहीं, सहोत्पादमात्र है। तभी तो देवताओंके द्वारा सृष्टि बचानेके निवेदनपर महर्षि दधीचिने अपना प्राणोत्सर्ग कर अस्थिदान करना स्वीकार किया। यह है विश्व-प्रेमका परम आदर्श जहाँ जीवन, शरीर और प्राणोंतकका स्थान नहीं है। धन्य है यह प्रेमसुख।

'**वसुधैव कुटुम्बकम्**'में जो तत्त्वानुतत्त्व है, वह है व्यापकता। मैं और मेरा, घर और परिवार, कुटुम्ब और सम्बन्ध, सम्बन्धी और समाज, समाज और गाँव, गाँव और राष्ट्र, राष्ट्र और धरती, धरती और खगोलके बीच कहीं भी रिक्तता नहीं है। कुछ भी अन्यतर नहीं है। यही महाव्यापकता सृष्टिका नाभिकमल है, जहाँसे प्रेमरस अनादिकालसे रिसता हुआ अनन्तकालतक प्रवाहित होता रहता है। सृष्टिके अणु-अणुमें यही प्रेम नाभिरूपसे विद्यमान है। जड़-चेतन, वायु, जल, वनस्पति और प्राणिमात्रमें यह समान भावसे विद्यमान है। यह परमतत्त्व है।

यह परमतत्त्व है तभी तो चमत्कारी (तान्त्रिक) चांगदेव जब साँपकी लगाम बनाकर सिंहारूढ़ होकर संत ज्ञानेश्वरकी महिमाभङ्गके उद्देश्यसे आ रहे थे तो प्रेमविभोर ज्ञानेश्वरके एक शब्द 'चल'की ध्वनिसे वह ओटला (चबूतरा जिसपर वे बैठे थे) चल पड़ा और इस जड़-प्रमाणको देख जनमानस ही नहीं, स्वयं चांगदेव भी अवाक् रह गये। यही नहीं, उन्होंने अपनी हार मानते हुए प्रेमभक्तिकी दीक्षा ली। यह है प्रेमका अद्भुत स्वरूप, जिसकी सीमा और मर्यादाएँ कहीं भी नहीं हैं। मिट्टी और पत्थरसे बने उस चबूतरेमें भी गति उत्पन्न करना इस प्रेमकी ही शक्ति है, जिसे जड़ और चेतनमें भी अन्तर नजर नहीं आता। '**वसुधैव कुटुम्बकम्**'की इस व्यापकताको हमें आत्मसात् करना चाहिये। यह भारतीय संस्कृतिका उत्कर्ष है, जिसे व्यापक बनाना हमारा दायित्व है।

यह सही है कि मनुष्यको प्रकृतिने पशुओं, वृक्ष-लताओं, नदियों आदिसे अधिक बुद्धि-विवेक प्रदान किया है तथापि प्रेमकी आवश्यकताको परमात्माने सभीमें समानरूपसे वितरित किया है; क्योंकि प्रेम बुद्धिसे भी अधिक आवश्यक है। परस्पर पूरकको दृष्टिसे प्रेम इस सृष्टिका परम तत्त्व है। मनुष्य-मनुष्यमें, मनुष्य-वृक्षमें, मनुष्य-पशुमें, मनुष्य-जड़में ही नहीं, वृक्ष-वृक्ष, वृक्ष-पशु, पशु-

पशु, पशु-पक्षी, जलचर-नभचर, सभीमें समानान्तर बहनेवाली यह प्रेमधार इस पृथ्वीको एक परिवार होनेका गौरव प्रदान करती है और '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' का यह ब्रह्मास्त्र सभी अस्त्रोंसे शक्तिमान् ही नहीं, श्रेष्ठ भी है, तभी तो गौराङ्ग महाप्रभुके संग हाथी, सूअर, चिड़िया, कौआ, हिरण, शेर, मोर, गिलहरी, साँप सभी कीर्तन और नृत्य करते हुए प्रेमोन्मत्त हो वृन्दावन जा रहे थे—

गच्छन् वृन्दावनं गौरो व्याघ्रे भेषखगान् वने।
प्रेमोन्मत्तान् सहोर्नृत्यान् विदधे कृष्णजल्पिनः॥

(चैतन्यचरिता० मध्यलीला, खण्ड १७।१)

क्या अद्भुत दृश्य होगा वह! सृष्टिका अप्रतिम प्रेमदर्शन, जहाँ जंगलकी जड़ता समाप्त हो गयी। सिंहका हिंसत्व, हाथीका स्थूलत्व, गिलहरीका क्षुद्रत्व, मृगका चाञ्चल्य, पक्षियोंकी चहक, कण्टकोंका शूलत्व और पुष्पोंकी महक—सभी एक-दूसरेके पूरक बनकर अपना-अपना स्वभाव बदल गौराङ्ग महाप्रभुके साथ एकाकार होकर प्रेमको मूर्तिवत् कर रहे थे। अहा! उस सुखकी कल्पनातक हम नहीं कर सकते। यह है विश्वपरिवारकी प्रसन्नताका ज्वलन्त उदाहरण। परम सुखकी अनुभूतिके उन परम क्षणोंको हमारा शत-शत नमन।

स्वभाव बदलनेकी परम शक्ति इस प्रेमतत्त्वको यदि हम अङ्गीकार कर लें तो विश्वभरके परमाणु नाभिकीय परीक्षण निरर्थक हो जायँगे। सभी शस्त्र अपने ही शत्रु बन जायँगे। सभी अस्त्र निःशक्त हो जायँगे और प्रेमास्त्रमें अपना अस्तित्व ढूँढ़ने लगेंगे।

श्रीकृष्णविरहमें गायें घास खाना छोड़ देती हैं, वनिताएँ कुम्हला जाती हैं, गोपियाँ निस्तेज हो जाती हैं, पक्षी मूक हो जाते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं व्रजके इस वियोगमें विह्वल हो भूख और प्यासको प्रेमकी बलि बना देते हैं। यह है प्रेमका विराट् दर्शन। श्रीकृष्ण गोवर्धनपूजा करते हैं। जड़को चेतनतमका यह अर्घ्य बताता है कि सृष्टि परस्पर पूरक है, प्रेमाधीन है।

भगवान् श्रीकृष्ण गायोंकी सेवा करते हैं। उन्हें चराते हैं, जल पिलाते हैं, नहलाते हैं और उनसे बात करते हैं। ईश्वरका यह वर्तन निर्दिष्ट करता है कि पशु भाषासे मूक हो सकता है, भावनासे नहीं। समुद्र भगवान् श्रीरामसे विनयकी इच्छा रखता है तो कदम्ब श्रीकृष्णको अपने ऊपर विराजमान करनेकी। बाँस अपना शरीर बेधकर श्रीकृष्णके प्रेमका सुर अलापता मुरली बन जाता है तो वाटिकाके पुष्प श्रीरामका स्पर्श पाकर कृतकृत्य। कैसा अद्भुत साम्य है यह सृष्टि और सृष्टिकर्ताका! यह विचित्र तारतम्य ही विश्व-प्रेमकी परम पताका है जिसे अबाध, निरन्तर हमें फहराते रहना है; क्योंकि यह वेदादेश भी है—

सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

(अथर्व० ३।३०।३)

सभी एक मत और दृढ़व्रती होकर मीठी वाणीका प्रयोग कर आनन्दित रहें। यही आदर्श परिवारका द्योतक है और इस तरह यह एक आदर्श परिवार अनन्त परिवारोंके परिवार-सृष्टिको मधुरतम बनानेमें सहायक हो, यही विश्वप्रेम-दर्शन है।

दानकी परिकल्पना भी इसी विश्वपरिवारकी अवधारणा है—

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर।

(अथर्व० ३।२४।५)

सौ हाथोंसे संग्रह और हजार हाथोंसे दान दो। कितना आत्मोत्तोलक निर्देश है। लेनेसे अधिक देनेकी भावना हो। इस क्रियासे समग्र सृष्टि तृप्त, फूलवती, फलवती और रसवती हो जायगी। अतः विश्वबन्धुत्वके इस परम मार्गपर हम अनवरत बढ़ते चलें, यही हितावह है।

वैश्वीकरण आजका ध्रुव सत्य है तथापि विश्वबन्धुत्व अभी गर्भस्थ ही है। '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' या तो भूत है या भविष्य। वर्तमानमें तो यह सर्वथा दृष्टिगत नहीं है। यही वर्तमानकी पीड़ा है। इस पीड़ाको समझकर समग्र शान्तिहेतु आइये इस मन्त्रका सहारा लें—

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥ (यजु० ३६।१७)

अर्थात् आदित्य लोक-शान्ति प्रदान करें। अन्तरिक्ष शान्तिकी वृष्टि करे। पृथिवी शान्ति दान करे। नदी-नाले, तालाब आदिके जल शान्तिदायक हों। सभी औषधियाँ शान्ति प्रदान करें। समस्त वनस्पतियाँ शान्ति निःसृत करें। सभी दैहिक इन्द्रियाँ, समस्त मनीषा तथा सभी पदार्थ शान्ति प्रदान करें।

साधकोंके प्रति—

भगवान् हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

हमारे और भगवान्के बीचमें जो परदा दीखता है, दूरी दीखती है, अलगाव दीखता है, वह वास्तवमें हमारा ही बनाया हुआ है, भगवान्का नहीं। कारण कि भगवान् सब जगह और सब समय विद्यमान हैं। वे हमारे भीतर भी विद्यमान हैं। इतना ही नहीं, वे हमारे माने हुए मैं-पनसे भी नजदीक विद्यमान हैं। पतित-से-पतित प्राणीके भीतर भी वे ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। इसलिये साधकको चाहिये कि अपने ही भीतर अपने प्रेमास्पदको स्वीकार करके निश्चिन्त हो जाय। जब एक भगवान्के सिवाय अन्य किसी भी सत्ताकी मान्यता नहीं रहेगी, तब साधक अपनेमें ही अपने प्रेमास्पदको पा लेगा। परंतु जबतक उसके भीतर 'मैं शरीर हूँ'—ऐसी मान्यता रहेगी, तबतक वह संसारके सिवाय कुछ नहीं पायेगा।

जो अपने प्रेमास्पदको अन्य व्यक्तियों, संत-महात्माओं, ग्रन्थों आदिमें देखते हैं, उनको अपने प्रेमास्पदसे वियोगका अनुभव करना ही पड़ता है। परंतु जो अपनेमें ही अपने प्रेमास्पदको देखते हैं, उनको अपने प्रेमास्पदसे वियोगका दु:ख नहीं पाना पड़ता। अपनेसे अलग प्रेमास्पदको कितना ही अपने नजदीक दीखें, उससे वियोग अवश्य ही होगा। परंतु अपनेसे अभिन्न (अपनेमें ही) अपने प्रेमास्पदको देखनेसे प्रेमास्पदसे नित्य-सम्बन्ध हो जाता है। जबतक साधकके अन्त:करणमें अन्यकी सत्ता रहती है, तबतक वह अपने प्रेमास्पदसे नित्य-सम्बन्धका अनुभव नहीं करता, प्रत्युत अपने प्रेमास्पदको पानेके लिये संसारमें भटकता रहता है।

साधकको कभी वास्तविक तत्त्वसे निराश नहीं होना चाहिये। कारण कि साधकमें तत्त्वप्राप्तिकी पूर्ण योग्यता, अधिकार एवं सामर्थ्य है। यह नियम है कि जो सांसारिक सुख भोग सकता है, वह संसारसे विमुख होकर आनन्दका भी अनुभव कर सकता है। जो संसारमें राग-द्वेष कर सकता है, वह राग-द्वेषका त्याग करके प्रेम भी कर सकता है। जो भोगोंमें लग सकता है, वह भोगोंका त्याग करके योग भी कर सकता है। जिसको ग्रहण करना आता है, वह त्याग भी कर सकता है।

कामनायुक्त प्राणी किसीसे प्रेम नहीं कर सकता। इसलिये कामनावाला व्यक्ति सच्चा आस्तिक नहीं बन सकता। मनुष्य सच्चा आस्तिक तभी बनता है, जब उसकी दृष्टिमें एक प्रेमास्पद (भगवान्)-के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं रहता। ऐसे सच्चे आस्तिकको भगवान्की कृपासे प्रेमकी प्राप्ति होती है। यद्यपि भगवान्की कृपा सभी प्राणियोंपर समानरूपसे है, तथापि उस कृपाका अनुभव तभी होता है, जब मनुष्य सर्वथा भगवान्का ही हो जाता है। भगवान्के सिवाय किसी अन्यकी सत्ता स्वीकार न करना ही भगवान्का हो जाना है।

एक भगवान्के सिवाय अन्य कोई भी हमारा प्रेमास्पद नहीं है। जब हम परमात्माके सिवाय अन्य किसीसे प्यार करते हैं, तब वह प्यार अपना तथा दूसरेका भी संहार करने लगता है। यह प्रेम नहीं, प्रेमोन्माद (मोह) है। अपने देशका प्रेमोन्माद ही अन्य देशका संहार कराता है। अपने सम्प्रदायका प्रेमोन्माद ही अन्य सम्प्रदायका संहार कराता है। अपनी जातिका प्रेमोन्माद ही अन्य जातिका संहार कराता है।

अगर एक भगवान्के सिवाय अन्य सभी इच्छाएँ मिट जायँ तो भगवान् बिना बुलाये आ जायँगे और संसार बिना मिटाये मिट जायगा। उनकी प्राप्तिके लिये भविष्यकी आशा रखना भूल है। अगर साधककी दृष्टिमें संसार सत्य प्रतीत होता है तो उसको दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये। अगर उसका भगवान्में पूर्ण अपनापन नहीं है तो उसको भगवान्का भजन (नामजप, स्मरण, कीर्तन) करना चाहिये। अपने शरीर तथा संसारसे लेशमात्र भी सम्बन्ध न रहे—यही 'त्याग' है और भगवान्के सिवाय लेशमात्र भी किसी सत्ताको स्वीकार न करे—यही 'प्रेम' है।

जिसके भीतर कामनाएँ हैं, वह प्राणी प्रेम नहीं कर

सकता। कारण कि कामनाएँ संसारकी और प्रेम परमात्माका होता है। कामनायुक्त व्यक्ति सांसारिक विषयोंका उपासक होता है और प्रेमयुक्त व्यक्ति भगवान्‌का उपासक होता है। संसारका उपासक परतन्त्र हो जाता है और भगवान्‌का उपासक स्वतन्त्र हो जाता है।

सत्-तत्त्वकी प्राप्ति किसी क्रियासे नहीं होती। कारण कि प्रत्येक क्रिया असत्‌में ही होती है, जबकि सत्-तत्त्वकी प्राप्ति असत्‌के त्यागसे होती है। कामनाओंका अन्त होनेपर असत्‌का भी त्याग हो जाता है और सत्-तत्त्वकी अभिलाषा जाग्रत् हो जाती है। सत्-तत्त्वकी अभिलाषा जाग्रत् होनेपर भूतकालकी स्मृति नहीं होती, वर्तमानमें सत्-तत्त्वको पानेकी व्याकुलता जाग्रत् होती है और भविष्यकी आशा मिट जाती है। सत्-तत्त्वकी अभिलाषा सम्पूर्ण कामनाओंको मिटाकर सत्-तत्त्वकी अनुभूति करा देती है।

जिनको हम सांसारिक सुख कहते हैं, वे सब वास्तवमें मनकी थकावट हैं। मनकी थकावटसे होनेवाला सुख तो मिट जाता है, पर पारमार्थिक आनन्द मिटता नहीं। वह आनन्द ही हमारा स्वरूप है। मनकी थकावट हमारा स्वरूप नहीं है।

जब संसारके सभी सुख (सुखासक्ति) मिट जाते हैं, तब उस परमसुखका अनुभव होता है, जिसका वर्णन नहीं हो सकता— '**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।**' (गीता ६।२२)। उस परमसुखका अनुभव होनेपर सभी कामनाओंका नाश हो जाता है तथा किसी प्रकारकी कोई कमी शेष नहीं रहती—

'**रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥**' (गीता २।५९)

यदि मनुष्य दुःखसे बचना चाहे तो वह सुखकी इच्छाको मिटा दे। यदि रोगसे बचना चाहे तो भोगकी इच्छाको मिटा दे। यदि अपमानसे बचना चाहे तो सम्मानकी इच्छाको मिटा दे। यदि शोकसे बचना चाहे तो हर्षकी इच्छाको मिटा दे। तात्पर्य है कि दुःखका निर्माण स्वयं हमने किया है। हमारी इच्छाके बिना कोई हमें दुःखी, पराधीन नहीं कर सकता।

एक मार्मिक बात है कि मनुष्यको जिस वस्तुकी आवश्यकता है, उसको प्राप्त करनेकी सामर्थ्य उसमें विद्यमान है। तात्पर्य है कि मनुष्य जो कुछ कर सकता है, उसीसे उसकी आवश्यकताकी पूर्ति हो सकती है। संसार भी मनुष्यसे वही आशा करता है, जो वह कर सकता है। भगवान् भी वही आज्ञा देते हैं, जो वह कर सकता है। जो मनुष्य कर सकता है, उसको न करना ही अकर्तव्य है। जबतक मनुष्यकी वास्तविक आवश्यकताकी पूर्ति नहीं होती, तबतक उसका करना समाप्त नहीं होगा, वह कुछ-न-कुछ करता ही रहेगा। कारण कि करना साधन है, साध्य नहीं। साध्यकी प्राप्ति होनेपर साधन शेष नहीं रहता अर्थात् आवश्यकता शेष न रहनेपर करना भी शेष नहीं रहता, मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।

परमात्माकी अनन्त शक्ति प्राणिमात्रको निरन्तर अपनी ओर खींचती रहती है। इसीलिये कोई भी परिस्थिति निरन्तर नहीं रहती। मनुष्यकी ममता कहीं भी स्थायी नहीं रहती। उसका प्रत्येक वस्तु तथा व्यक्तिसे निरन्तर सम्बन्ध-विच्छेद होता रहता है। परमात्माकी वह अनन्त शक्ति न तो मनुष्योंपर शासन करती है, न उनकी स्वतन्त्रता छीनकर उनको पराधीन बनाती है। यह नियम है कि जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, अन्तमें उसीमें विलीन होती है, तभी पूर्णता होती है। जीव परमात्मासे अलग हुआ है; अतः जबतक वह परमात्मामें विलीन नहीं होगा, तबतक पूर्णता नहीं होगी, वह भटकता ही रहेगा। इसलिये परमात्माको छोड़कर अन्य वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अवस्था, परिस्थिति आदिकी ममता-कामनामें फँसना व्यर्थ है। उनकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ चेष्टा है। जीवकी स्वाभाविक गति परमात्मामें विलीन होनेकी ही है। जब हम अपनी स्वाभाविक गतिसे विमुख होकर अन्य वस्तु, व्यक्ति आदिके सम्मुख हो जाते हैं, तब भगवान्‌की कृपा उस वस्तु, व्यक्ति आदिसे वियोग करा देती है। जबतक हमारा परमात्मासे योग नहीं होगा, तबतक प्रत्येक संयोगका वियोग होता रहेगा—यह नियम है। संसारमें होनेवाला परिवर्तन निरन्तर यह शिक्षा दे रहा है कि तुम मेरेमें मत फँसो! मैं तुम्हारा लक्ष्य नहीं हूँ। तुम्हारा लक्ष्य परमात्मा है, जो निरन्तर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है!

* * *

मानस-प्रसंगोंमें श्रीराम और तुलसीका गङ्गा-प्रेम

(श्रीअरुणकुमारजी पाठक)

वेदों और पुराणोंमें श्रीगङ्गाजीको अनेक उपाधियोंसे विभूषित किया गया है, यथा—सुरसरि, देवनदी, मकरवाहिनी, उत्तरवाहिनी, त्रिपथगा, विष्णुपदी, मन्दाकिनी और जाह्नवी आदि। आदिकालसे आजतक गङ्गाजीकी अविरल धारा राष्ट्रकी जीवन-रेखा तो है ही, साथ ही देवों और असुरोंने भी त्रैलोक्यपावनी गङ्गाजीसे कम प्रेम नहीं किया है। गोस्वामी तुलसीदासजीकी अनूठी कृति श्रीरामचरितमानसमें प्रभु श्रीरामजी देवनदीके प्रति जिस अगाध प्रेम और श्रद्धाका भाव रखते हैं, उसे देखकर तो हृदय द्रवित हुए बिना नहीं रहता। श्रीरामजीका प्रेम गङ्गाजीके लिये यूँ ही नहीं है, आखिर तो श्रीरामकथा एवं श्रीगङ्गाजी समानभावसे अवगाहन करनेपर समानरूपसे तारक सिद्ध होती हैं। वास्तवमें तो गङ्गा एवं श्रीरामचरितमानस मनुष्यको समानरूपसे पुण्यलाभका अवसर प्रदान करके आत्मतृप्ति, आत्मोत्थान और आत्मशुद्धिका अवसर देते हैं तथा दोनोंका ही आचमन करनेको राजा एवं प्रजा पूर्णरूपसे स्वतन्त्र हैं। तभी गोसाईंजी घोषित करते हैं—

राम भक्ति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा॥

(१।२।८)

यह श्रीरामजीके गङ्गा-प्रेमका ही परिणाम है जो श्रीरामकथाकी गतिको श्रीगङ्गाजीके समान महिमामण्डित करता है; क्योंकि दोनोंके अवगाहनकी गति भी तो एक ही है—

मंगल करनि कलि मल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।
गति कूर कबिता सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की॥

(१।१० छंद)

गङ्गा-वन्दन करते हुए गोस्वामीजीने इनकी समता श्रीसरस्वतीजीसे की है, क्योंकि दोनों पवित्र और मनोहर चरित्रवाली हैं। एक (गङ्गा) स्नान करने और जल पीनेसे पापोंको हरती हैं तो दूसरी (सरस्वती) गुण और यश कहने तथा सुननेसे अज्ञानका नाश करती हैं। तुलसीदासजीके अनुसार रामकथा मन्दाकिनी नदी है, सुन्दर निर्मल चित्त चित्रकूट है और सुन्दर स्नेह ही वह वन है, जिसमें श्रीराम-सीताजी विहार करते हैं। आगे चलकर तो उन्होंने श्रीरामजीके चरित्रको ही पवित्र करनेमें गङ्गाजीकी तरंगमालाओंके समान पाया है—

सेवक मन मानस मराल से। पावन गंग तरंग माल से॥

(१।३२।१४)

सीय-स्वयंवरके बाद विदेहनगरीमें जब राजा जनक श्रीरामजीके चरणोंका प्रक्षालन कर रहे थे, तुलसी बाबा फिर गङ्गाजीको याद कर कह उठे कि जिन चरणोंसे निकला मकरन्दरस (गङ्गाजी) शिवजीके मस्तकपर विराजमान है, उन्हें जनकजी धो रहे हैं। इसके उपरान्त अयोध्याकाण्डके मङ्गलाचरणका श्लोक भी शिवजीके मस्तकपर विराजमान गङ्गाजीका दर्शन कराता है—

यस्याङ्के च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके…।

श्रीरामकी गङ्गाजीके प्रति श्रद्धा, निष्ठा एवं प्रेमकी पराकाष्ठा शृंगवेरपुरमें है, जहाँ गङ्गाजीको देखते ही वे रथसे नीचे उतर पड़े और बड़े हर्षके साथ उन्हें दण्डवत् किया। साथ ही लक्ष्मणजी, सुमन्त्र और श्रीसीताजीने भी श्रीगङ्गाजीको प्रणाम किया। सबके साथ श्रीरामचन्द्रजीने सुख पाया। गङ्गाजी समस्त आनन्दोंकी मूल हैं, वे सब सुखोंको करनेवाली और सब पीड़ाओंको हरनेवाली हैं। अनेक कथा-प्रसंग कहते हुए श्रीरामजीने गङ्गाजीकी तरंगोंका दर्शन किया। उन्होंने यहाँ सुमन्त्रजी, लक्ष्मणजी एवं सीताजीको देवनदी गङ्गाजीकी महिमा सुनायी। इसके बाद सबने स्नान किया, जिससे यात्राकी सारी थकावट दूर हो गयी और पावन जल पीते ही मन प्रसन्न हो गया।

केवट-प्रसंग *'बरबस राम सुमंत्रु पठाए। सुरसरि तीर आपु तब आए॥'* (२।१००।२)-से प्रारम्भ होता है, जो गङ्गाजीको ही समर्पित है। इस प्रसंगके समापनमें श्रीरामजी गणेशजी तथा शंकरजीका स्मरण करके और गङ्गाजीको मस्तक नवाकर वनको प्रस्थान करते हैं। मात्र श्रीरामजीको ही गङ्गाजीके प्रति प्रेम था, ऐसा नहीं है। केवटको पार उतारनेके लिये चरण पखारनेकी प्रभुश्रीसे मिली अनुमतिको सुनकर स्वयं श्रीगङ्गाजी उनके चरणोंको देखकर प्रसन्न हो गयीं, आखिर वे ही चरणनख तो उनका जन्म-स्थान थे। अस्तु, गङ्गाजीकी बुद्धि मोहसे खिंच गयी थी—

पद नख निरखि देवसरि हरषी। सुनि प्रभु बचन मोहँ मति करषी॥

(२।१०२।५)

पार उतरकर श्रीरामचन्द्रजीने स्नान करके पूजा की और शिवजीको सिर नवाया। जनकतनया सीताजीने हाथ जोड़कर गङ्गाजीसे प्रार्थना की--हे माता! आप मेरा मनोरथ पूर्ण करें। जिससे मैं पति और देवरके साथ कुशलपूर्वक लौटकर आपकी पूजा करूँ। सीताजीकी प्रेमरसमें डूबी विनतीको सुनकर गङ्गाजीके निर्मल जलमेंसे श्रेष्ठ वाणी हुई—हे रघुवीरकी प्रियतमा जानकी! सुनो, तुम्हारा प्रभाव जगत्में किसे मालूम नहीं है। तुम्हारे देखते ही लोग लोकपाल हो गये। सब सिद्धियाँ तुम्हारी सेवा करती हैं। तुमने जो मुझे बड़ी विनती सुनायी, वह तो मुझपर कृपा की, मुझे बड़ाई दी। हे देवि! मैं अपनी वाणी सफल होनेके लिये आशीर्वाद दूँगी। तुम अपने प्राणनाथ और देवरसहित कुशलपूर्वक अयोध्या लौटोगी। इसके बाद श्रीराम तीर्थराज प्रयाग होते हुए चित्रकूट पहुँचे तो वहाँ भी भगवान्को गङ्गाजीके दर्शन होते हैं और बाबाजी भगवान्के श्रीमुखसे उनकी यशोगाथा कहलवाते हैं—

नदी पुनीत पुरान बखानी। अत्रिप्रिया निज तप बल आनी॥
सुरसरि धार नाउँ मंदाकिनि। जो सब पातक पोतक डाकिनि॥
सुरसरि सरसइ दिनकर कन्या। मेकलसुता गोदावरि धन्या॥
सब सर सिंधु नदीं नद नाना। मंदाकिनि कर करहिं बखाना॥
(२।१३२।५-६; २।१३८।४-५)

यूँ तो प्रयागमें भी तुलसीदासजी गङ्गा-यमुनाकी तरंगोंको तीर्थराजका चँवर बता चुके हैं, जिन्हें देखते ही दुःख और दरिद्रता नष्ट हो जाती है। श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी ही क्यों, श्रीभरतलालने भी रामजीको मनाने चित्रकूट जानेके मार्गमें सबके साथ गङ्गाजीसे यह वरदान माँगा था कि श्रीरामजीके चरणोंमें उनका प्रेम कभी कम न हो—

एहि बिधि भरत सेनु सबु संगा। दीखि जाइ जग पावनि गंगा॥
रामघाट कहँ कीन्ह प्रनामू। भा मनु मगनु मिले जनु रामू॥
करहिं प्रनाम नगर नर नारी। मुदित ब्रह्ममय बारि निहारी॥
करि मज्जनु मागहिं कर जोरी। रामचंद्र पद प्रीति न थोरी॥
(२।१९७।३—६)

प्रयागराज पहुँचकर फिर भरतजी गङ्गाजीसे वरदान माँगते हैं कि मुझे न अर्थकी इच्छा है न धर्मकी, न काम और न मोक्ष ही चाहता हूँ। जन्म-जन्ममें मेरा श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम हो, यही वरदान चाहता हूँ, कुछ और नहीं। चित्रकूटमें मिलने आयी सभी ब्राह्मण-स्त्रियों एवं गुरुपत्नीको श्रीराम-लक्ष्मणद्वारा किये गये सम्मानकी समता भी तुलसीदासजीने गङ्गा और गौरीसे की है— *'गंग गौरि सम सब सनमानीं। देहिं असीस मुदित मृदु बानीं॥'*(२।२४५।२)

सूर्यके साथ-साथ गङ्गाजीको अग्निकी तरह सदा-सर्वदा किन्हीं भी परिस्थितियोंमें दोष-मुक्त करते हुए बाबाजी वर्णन करते हैं—

सुभ अरु असुभ सलिल सब बहई। सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई॥
समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं॥
(१।६९।७-८)

पवित्रताकी चरम सीमा तो तब आती है जब गोस्वामीजी बताते हैं कि मदिराको गङ्गा-जलसे बनाया हुआ जानकर भी संतजन उसका पान नहीं करते, जबकि गङ्गाजीमें मिल जानेपर स्वयं मदिरा भी वैसे ही पावन हो जाती है। यही कारण है कि स्वयं आदिदेव शंकर भी सबका शिव—मङ्गल करते हुए दूल्हा बने। श्रीगङ्गाजीको अपने सर्वोच्च सिर शिखरपर स्थान देते हैं— *'ससि ललाट सुंदर सिर गंगा। नयन तीनि उपबीत भुजंगा॥'*(१।९२।३)

इतना ही नहीं, रामकथाकी गङ्गाजीसे समानतापर भगवान् शिव भी अपनी मुहर लगाते हैं— *'पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥'*(१।११२।७)

गौतम-नारी अहल्याजी भी गङ्गाजीको श्रीरामचरणोंके माध्यमसे याद करके कहती हैं—'जिन चरणोंसे परम पवित्र देवनदी गङ्गाजी प्रकट हुईं, जिन्हें शिवजीने अपने सिरपर धारण किया और जिन चरणकमलोंको ब्रह्माजी पूजते हैं, उन्हींको कृपालु श्रीहरिने मेरे मस्तकपर रखा—

'जेहिं पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी।'
(१।२११ छंद)

चित्रकूटकी सभामें श्रीरामकी शुद्धिकी समता गङ्गाजीकी शुद्धतासे की गयी है। कहते हैं (नित्य, शुद्ध-बुद्ध) भगवान् श्रीरामजीका शुद्ध होना वैसा ही है, जैसे तीर्थोंके अवगाहनसे गङ्गाजी शुद्ध होती हैं। गङ्गाजी तो स्वभावसे ही शुद्ध हैं। उनमें जिन तीर्थोंका आवाहन किया जाता है, उलटे वे गङ्गाजीके सम्पर्कमें आनेसे शुद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार सच्चिदानन्दरूप श्रीराम तो नित्य शुद्ध हैं, उनके संसर्गसे कर्म ही शुद्ध हो गये।

दूसरी ओर श्रीसीताजीकी उपमा तुलसीदास गङ्गाजीसे तब करते हैं, जब जनकराज अपनी पुत्री जानकीसे

मिलते हुए कहते हैं—

जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी। गवनु कीन्ह बिधि अंड करोरी॥
गंग अवनि थल तीनि बड़ेरे। एहिं किए साधु समाज घनेरे॥
(२।२८७।३-४)

सीताजीकी ही क्यों, स्वयं भरतजीकी पवित्रताको भी तो तुलसीदास गङ्गाके ही समकक्ष मानते हैं— ***'समुझत सुनत सुखद सब काहू। सुचि सुरसरि रुचि निदर सुधाहू॥'*** (२।२८८।८)

अरण्यकाण्डके आरम्भमें श्रीकाकभुशुण्डिजी गरुडजीको रामद्रोहका दुष्परिणाम बताते हुए कहते हैं—'मित्र भी यदि रामजीका द्रोही हो जाय तो वह शत्रुओंकी-सी बातें करने लग जाता है, देवनदी गङ्गाजी उसके लिये वैतरणी बन जाती हैं—

मित्र करइ सत रिपु कै करनी। ता कहँ बिबुधनदी बैतरनी॥
(३।२।७)

लङ्का-विजयके बाद श्रीगङ्गाजीको धन्यवाद देना प्रभु श्रीराम नहीं भूले। विमानमें चढ़कर वापसीमें श्रीराम सीताजीसे गङ्गाजीको प्रणाम करनेको कहते हैं। फिर विमान गङ्गाजीको लाँघकर और प्रभुकी आज्ञा पाकर किनारेपर उतरा। तब सीताजी बहुत प्रकारसे गङ्गाजीकी पूजा करके उनके चरणोंपर गिरीं। गङ्गाजीने भी मनमें हर्षित होकर आशीर्वाद दिया—

दीन्हि असीस हरषि मन गंगा। सुंदरि तव अहिवात अभंगा॥
(६।१२१।१)

आगे चलकर पक्षिराज गरुडजी भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहते हैं कि जिन चरणोंके नखसे मुनियोंद्वारा वन्दित त्रैलोक्यको पावन करनेवाली गङ्गाजी निकलीं, हम उन्हीं दोनों चरणकमलोंको नित्य भजते हैं।

भगवान् रामने रामेश्वरम्‌में शिवलिङ्गकी स्थापना करनेके बाद गङ्गाजलको लाकर रामेश्वरम्‌में शिवलिङ्गपर चढ़ानेका फल मनुष्यको सायुज्यमुक्तिकी प्राप्ति बताकर अपनी गङ्गा एवं शिवभक्तिका अनोखा दृश्य दिखाया है—

जो गंगाजलु आनि चढ़ाइहि। सो साजुज्य मुक्ति नर पाइहि॥
(६।३।२)

और पुनः एक बार गङ्गाजीके द्वारा शिवशृंगारका दर्शन काकभुशुण्डिके गुरुजीद्वारा की गयी स्तुतिके माध्यमसे कराते हैं—

स्फुरन्मौलि कल्लोलिनी चारु गंगा। लसद्भालबालेन्दु कंठे भुजंगा॥
(७।१०८।६ छंद)

ऐसा अद्भुत है श्रीरामचरितमानसमें तुलसी और रामका गङ्गाप्रेम।

◆

उद्‌बोधन

(१) मातृदेवो भव

हम सबपर माताके अनन्त उपकार हैं। माता स्नेह, वात्सल्य, क्षमा और प्रेमकी साक्षात् प्रतिमा हैं। भला माताके ऋणसे भी कोई उऋण हो पाया है?

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥ (मनुस्मृति २।१४५)

दस उपाध्यायोंसे आचार्य, सौ आचार्योंसे पिता और हजार पिताओंसे माताका पद अधिक गौरवशाली है।

(२) नारीसे लक्ष्मीकी दूरी-समीपता

बहिनो! यह संदर्भ तो प्रद्युम्न-जननी देवी रुक्मिणीने भगवती लक्ष्मीसे पूछा था—

'कानीह भूतान्यपसेवसे त्वं?' (महा०, अनु० ११।४)

'देवि!' तुम इस जगत्‌में किन प्राणियोंपर कृपा कर उनके यहाँ निवास करती हो?' इसपर भगवती लक्ष्मीने कहा—

(वसामि स्त्रीषु कान्तासु देवद्विजपरासु च। विशुद्धगृहभाण्डासु गोधान्याभिरतासु च॥)
प्रकीर्णभाण्डामनवेक्ष्यकारिणीं सदा च भर्तुः प्रतिकूलवादिनीम्। परस्य वेश्माभिरतामलज्जामेवंविधां तां परिवर्जयामि॥
(महा० अनु० ११।११-१२)

जो स्त्रियाँ कमनीय गुणोंसे युक्त, देवताओं और द्विजोंकी सेवामें तत्पर, घरके बर्तन-भाँड़ोंको शुद्ध तथा स्वच्छ रखनेवाली एवं गौ-सेवा तथा धान्यके संग्रहमें तत्पर होती हैं, उनमें मैं निवास करती हूँ। इसके विपरीत जो घरके बर्तनोंको सुव्यवस्थित रूपसे न रखकर इधर-उधर बिखेरे रहती हैं, सोच-समझकर काम नहीं करती हैं, सदा अपने पतिके प्रतिकूल ही बोलती हैं, दूसरोंके घरोंमें घूमने-फिरनेमें आसक्त रहती हैं और लज्जाको सर्वथा छोड़ बैठती हैं, उसको मैं त्याग देती हूँ।

(स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज, आदिबदरी)

◆

साधक-प्राण-संजीवनी

[दीवानोंका यह अगम पंथ संसारी समझ नहीं पाते]

साधुमें साधुता—

(गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज)

[गताङ्क पृ०-सं० ९६५ से आगे]

साधनमें प्रमाद न हो, उपेक्षा न हो, आलस्य न हो, पूरी सत्यता एवं पूरी तत्परता सौं होय, इनके ताँईं होय, कामना कछु होय न और काहू संतके द्वारा दियौ होय। तब तौ चाहे कहूँ रहौ, आगेकौ, अबकौ, लोक, परलोक, सब स्वतः सँभरि जायगौ। यह अपनौं अनुभव है।

खूब खायले, सोयले, पर ध्यान रहै—जब भजनमें बैठै, तब नींद नहीं आनी चहिए। वा समय पूर्णसत्त्वकी बाढ़ और प्राणनाथकौ सांनिध्य होनौं चहिए। विशेष सावधानीकी आवश्यकता है कि भजनके समय जो कामना होयगी, वह पूरी होय है। यासौं कोई संसारी कामना न रहै। उपासना-पद्धति यह है कि सब कछु इनके ताँईं या पथमें आदर्श है पतिव्रता। सब कछु इनके ताँईं, यह है प्रेम। अपने ताँईं कछु नहीं, ये है त्याग। अपने ताँईं कोई कामना नहीं, यह है वैराग्य। अपने ताँईं केवल एक ये भगवान्। बड़ी सावधानी सौं यह देखतौ रहै कि अपनौं सब कछु इनके ताँईं है हू या नहीं।

जा काहूने कछु पायौ है, वह अपने कूँ सर्वथा खोयकैं ही पायौ है। एकके पीछैं लगि जाय, बस। मनकूँ सँभारै। जैसैं एक स्यानी कन्या कूँ माँ काहू सौं बात करती देखिले, तौ फटकारै है कि तू कैसैं वासौं बोली? तू कैसैं वहाँ गयी? वैसैं ही जब मन अन्य चिन्तन करै तौ याकूँ फटकारै और वहाँ सौं हटायकैं एक जीवन-सर्वस्वके पीछैं ही लगायदे। यही है साधक, जो सतत इनमें ही लग्यौ रहै। यदि सत्यता सौं प्रपञ्चरहित भजन बनि जाय तौ सब स्वतः ही सँभरि जायगौ।

हमारे श्रीसद्गुरु भगवान्ने एक दिन हाथरसमें हमसौं कही कि पण्डितजी!—'राग-द्वेषसे बचते रहना'। या वाक्यकौ ही परिणाम है, आज जो कछु मिलनौं हो, मिलि गयौ। चिन्तन कौ मूल है, राग-द्वेष। मनकूँ त्याग-वैराग्य सौं इनमें लगायवेकौ पूरौ प्रयास करै। फिर तौ सब अपने-आप ही छूट जायगौ। चिन्तन करै कि जैसौं प्रारम्भमें अपनौं उत्साह और वैराग्य हो, वैसौं आज है अथवा नहीं। यदि पूर्वकी अपेक्षा कमी आय रही होय तौ सतत बढ़ातौ ही रहै।

'या पथमें मूल है चिन्तन' जीव यदि अपने काममें पूरी सत्यता बरते, जो काम हो पूरी सत्यता, पूरी लगन सौं पूर्ण हो तौ कुछ ही दिननमें इनके पायवे कौ अधिकारी बनि जाय है। किंतु जीवके काम सब अधूरे ही हौयँ हैं। अभ्यास करै, जो काम उठावै बाकूँ सत्यताके साथ पूर्ण करै। यह सब तब बनैगौ, जब प्रेम-प्राप्तिकी उत्कट लालसा होयगी। उत्कट लालसा तब बनैगी, जब काहू प्रेमी संतकौ संग और सेवा निष्काम बनैगी।

प्रश्न—नाम-जपकी कौन-सी विधि है, जौ शीघ्र श्रीजीवनधन सौं मिलाय दे।

उत्तर—प्रथम नाम-जप हो, ध्वनिके साथ। श्रवण सुनैं, साथ ही इनकौ चिन्तन हो, संसारकौ चिन्तन न हो, कामना कछु न हो, यदि कामना होय तौ केवल एक कि—श्रीजीवनधन! कब ऐसौ दिन आवैगौ, जब मैं आपके प्रेममें डूबि जाऊँगौ। प्रथम अभ्यास करै या प्रकार। निरन्तर यह क्रम चलै तौ फिर प्राप्त होय है, वह स्थिति जो अन्तिम है।

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू ॥

(रा० च० मा० २। ३२६। १)

दया—काहू कूँ दुःखी देखिकैं हृदय सहन नहीं करि सकै अर्थात् हृदयकौ पिघल जानौं।

कृपा—बाकूँ सेवाके ताँईं अपने पास उठाय लानौं।

अनुग्रह—अपनी भाँति बाकी सार-सँभार करनौं।

आत्मीयता—बाकूँ अपनेमें मिलाय लैनौं।

जो बात कही जाय, वह स्वभाव बनि जाय।

—स्वभाव सौम्य बनै।

—सहनशील बनै।

—अहंकार न हौन पावै। अहंकार होय है, अपने त्याग-वैराग्यसौं। भड़कि न उठै, नहीं तौ कियौ-करायौ सब साफ है जायगौ। शान्त! सौम्य!! सहनशील!!!

यदि संसार कूँ रिझायवेकी कामना बनी तौ कोई बन्धन फट् सौं आयकैं लगि जायगौ।

यहाँके और वहाँके दोऊ न्यायालयन सौं बचै। बचैगौ तब ही जब प्रत्येक काम इनके सम्मुख हौयँगे।

लखपति बननौ चाहै और दूकान खोलै परचूनियाँ की। ऐसैं ही रहनी दुर्बल और ओच्छे बिचारनमें ही अटके रहे तौ वस्तु हाथ नहीं परैगी। आज एकादशी है, सदैव ऊँचे विचार, ऊँची क्रिया, ऊँची रहनी, ऊँची, ऊँची, ऊँची····।

श्रद्धामें वह शक्ति है कि प्रेम देवतक कूँ खैंचिकैं लै आवै है। यासौं श्रद्धाकौ दृढ़ आश्रय ही बन्यौ रहै मरण-पर्यन्ततक। तब ही वस्तु हाथ परैगी, जब कहूँ गहरी श्रद्धा होयगी।

एक बात बड़े ही कामकी है, चाहौ तौ आजकी मितीमें लिख लीजौ।

अहंकार न उपजन पावै। यदि ये आयौ तौ असूया, ईर्ष्या, घृणा तथा राग-द्वेष आदिक समस्त विकार आय जायँगे। दोऊ लोक स्वाहा है जायँगे। यासौं सावधान रहैं। जीवनभर ध्यान रहै। जीवनमें दम्भ छू न जाय।

जब-जब एकान्तमें बैठैं, तब-ही-तब यह देखैं कि हम का चिन्तन करैं? हमारौ मन का चाहै। यह तत्त्व है, मर्म है अध्यात्मकौ।

—वह वासना कैसी, जो पाप न करावै? और

—वह उपासना कैसी, जो श्रीभगवान् सौं न मिलावै?

—विषय-चिन्तन सौं हटाय कैं संत और श्रीभगवान्के चिन्तनमें लगायवे सौं, मन शुद्ध होय है।

—हित, मित, सत्य और मधुर भाषण सौं तथा हरि गुणगान करिवे सौं, वाणी शुद्ध होय है।

—प्रतिग्रह (दान) न लैवे सौं तथा शुभ कर्म करिवे सौं, हाथ शुद्ध हौय है।

—सरल और निष्कपट व्यवहार करिवे सौं, चित्त शुद्ध होय है।

वैर और वासना—ये दोऊ उपासना सौं विमुख करैं हैं।

अपनी बुद्धि कूँ तोरि-मरोरिकैं कुआँमें डारि देय।

यदि आसक्ति किये बिना न रह्यौ जाय तौ आसक्ति करै केवल श्रीभगवान् और श्रीसंतमें।

उपासनामें प्रधान है श्रद्धा और ज्ञानमें प्रधान है वैराग्य।

अपने संकल्प कूँ शिथिल मत बनाऔ। दृढ़ संकल्प सौं सब कछु है सकै है।

प्रश्न—भक्तिमें विघ्न का है?

उत्तर—विघ्न तौ अनेकन हैं, तथापि श्रीभगवत्-चिन्तन छोड़िकैं दूसरी वार्ता करनौ, यह प्रधान विघ्न है। अन्य क्रियान कौ तौ कहनौ ही का है?

उत्तम भजनकी प्रणाली तौ यही है कि काहूकी निन्दा-स्तुति न करै।

परमार्थपथमें परम सहायक है, श्रीभगवन्नाम। बड़ौ बाधक है यह शरीर अर्थात् (शरीरके सुखकी इच्छा)।

संयमरहित जीवन व्यर्थ है।

विषय-चिन्तन करनौं, मनकूँ आहार दैनौं है।

यदि संस्कार बस शरीरमें रोगादिक है जायँ, तौ याकूँ श्रीभगवत्कृपा ही मानै।

जहाँ ताँई है सकैं सहन करै, तितिक्षा करै, कोई कितनौं हू कष्ट देय, आनन्दपूर्वक सह लेय।

कितनौं हूँ चमत्कार होय, किंतु अपने लक्ष्य सौं नहीं हटै।

जब श्रीभगवान्में पूर्ण प्रेम है जायगौ, तब संसार तुम्हारे अधीन है जायगौ।

अपने कूँ सबसौं छोटौ समझनौं चहिए।

काहूके विषयमें विचार करनौं बाकौ संग करनौं है।

सगरौ अभ्यास मनसौं सम्बन्ध राखै है। केवल शारीरिक श्रम सौं लाभ नहीं।

जाकी वाणीमें कटुता और मनमें चंचलता तथा उद्वेग है, वह अभ्यासी नहीं मान्यौ जायगौ।

संसारी कोई कामना मनमें न राखै। माया तौ या ताकमें बैठी ही रहै है कि ये साधक कछु चाह करै और मैं वाकूँ पूरी करूँ। चाह पूरी हैवे सौं साधन खर्च है जाय है। **कामना होय तो केवल श्रीभगवत्प्रेमकी**। अपनी ओर सौं कोई कमी न बनै। जहाँतक है, हम चूकैं हैं। श्रीभगवान् तौ चूकनौं जानैं ही नहीं हैं। हमारी चूक हमें रोकि देये है। लगन बढ़ै तौ कोई रोकि नहीं सकै। इनमें विश्वास न घटै। पूर्ण विश्वास रहै कि श्रीभगवान् मोकूँ अवश्य ही मिलिंगे।

[क्रमशः]

* * *

लीलादर्शन—

मुझे ढूँढ़ो

लुका-छिपीका खेल जब खेला जाय, कन्हाई समझ ही नहीं पाता कि उसे छिपे रहना चाहिये और ढूँढ़नेवालेसे बोलना नहीं चाहिये। यह तो छिपनेके स्थानसे निकलकर पुकारेगा—'मुझे ढूँढ़!'

श्रुतियाँ और योगीन्द्र-मुनीन्द्र युग-युगसे ढूँढ़ते होंगे इसे और समस्त साधकोंका यही अन्वेष्य होगा, यह भिन्न बात है—उन्हें न मिलता होगा; किंतु गोपकुमारोंके लिये—प्रेमैकप्राणजनोंके लिये तो यह कभी छिपा नहीं रहा कि इसे ढूँढ़ा जाय। उनसे इसे छिपना आता ही नहीं है।

कन्हाई छुपा ही हो तो कौन ढूँढ़कर पायेगा? सीधी बात है कि इसके किसी जनको-मित्रको ढूँढ़ो। दाऊ दादा मिल जाय तब तो पूछना ही क्या, कोई भी सखा मिल जाय तो उसके आस-पास यह नाचता-कूदता स्वयं आ धमकेगा।

'मुझे ढूँढ़!' कन्हाईका हठ है कि सखा उसीको ढूँढ़ें। लेकिन जो छिपा ही नहीं है, उसे ढूँढ़ना क्या? कोई सखा इसे ढूँढ़ना नहीं चाहता। सब दूसरोंको ही ढूँढ़नेमें लगे हैं—लगते हैं। इसकी पुकार भी नहीं सुनते। सुनकर भी हँसकर टाल जाते हैं।

आमलकी मुष्टि हो या तृण-कर्षण, कन्हाई मुट्ठीमें छिपे आमलक, गुञ्जा आदिमेंसे किसीकी संख्या ठीक नहीं बता पाता। एक साथ कई संख्या बोलेगा—'पाँच, सात, बारह, बीस!'

'तू एक संख्या बोल!' सखा झगड़ेंगे और यह हठ करेगा कि अनेक संख्या बोलना ठीक है।

'अच्छा, इसकी सब संख्याएँ मान लो।' जब बोली संख्यामेंसे एक भी ठीक नहीं है तो एक मानो, या कई मानो, क्या अन्तर पड़ता है। भद्र, दाऊमेंसे किसीको विवाद निपटानेको यह मध्य-मार्ग सुझाना ही पड़ता है।

सचमुच कोई अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि कन्हाईकी बतलायी संख्याओंमेंसे कोई भी ठीक नहीं निकलती। कठिनाई यह है कि यह संख्या बतलानेमें भी पहले कूदता है। दूसरेको पहले बतलाने ही नहीं देता।

आज तृण-कर्षण करना था। सुबलने एक तृण दाहिनी मुट्ठीमें दबा रखा था। तनिक-सा तृणाग्र मुट्ठीसे बाहर था। अब आज कहनेपर भी श्याम तृण खींचने पहिले नहीं आया। बालक तनिक-सा तृण खींचते हैं; क्योंकि जिसके हाथसे तृण मुट्ठीसे निकल जायगा, उसे नेत्र बन्द करने होंगे।

कन्हाई सुबल-भद्रके कहनेपर, दाऊ दादाके आग्रहसे तृण-कर्षण करने आया। सुबलने तृणको मुट्ठीमें यथासम्भव कस लिया था; किंतु कोई खींचनेपर ही उतर आये तो क्या उपाय? श्यामने झटकेसे तृण मुट्ठीसे निकाल दिया।

'तू तनिक-सा धीरेसे खींचना।' यह दाऊ दादाकी शिक्षा काम नहीं आयी।

'यह इतना-सा तो है।' श्याम कहता है कि खूब बड़ा तृण होना चाहिये। अब बड़ा तृण मुट्ठीमें सीधे कैसे दबेगा कि बाहर निकला न दीखे, यह बात इसकी समझमें नहीं आती।

प्रायः इस खेलमें प्रतिदिन नन्दनन्दनको ही पहले नेत्र बन्द करने पड़ते हैं और यह कभी ठीक नेत्र बन्द नहीं करता। इसके नेत्र—विशाल नेत्र गोपबालकोंकी हथेलीसे कम ही ढक पाते हैं और यह अँगुलियोंकी सन्धिसे देखना छोड़नेवाला नहीं है।

सबसे अधिक आपत्ति श्रीदामको है। यह सबको नहीं छुयेगा, केवल श्रीदामके पीछे पड़ेगा और अंगुलि-सन्धिसे श्रीदामके छिपनेका स्थान अवश्य देख लेगा।

तोक, भद्र, दाऊ, सुबल—कोई भी इसे स्वयं छू लेगा और इसको छिपनेकी छुट्टी हो जायगी।

आज सुबलने इसे स्वयं छू लिया—'अब तू छिप! मैं नेत्र बन्द करूँगा।'

'मैंने तो तुझे छुआ नहीं।' कन्हाईका तर्क सुबल नहीं मानेगा, यह श्याम जानता है। सखा सब सुबलके पक्षमें हैं; क्योंकि श्याम नेत्र बन्द करे, यह कोई नहीं चाहता। यह तो झगड़ता है, किसीको ढूँढ़ता नहीं—केवल श्रीदामके पीछे पड़ता है।

'तू मुझे ढूँढ़ेगा?' नन्दनन्दन सुबलसे पूछता है। सुबल उसे ढूँढ़े तो यह छिपनेको प्रस्तुत हो।

'तू छिप तो सही।' सुबलने समझाया—'मैं तो सबको ढूँढ़ूँगा।'

'नहीं, मुझे ढूँढ़ना!' अब इस भोलेपनका भी ठिकाना है कि कन्हाई छिपनेसे पहिले अँगुलीसे दिखला रहा है कि वह उस मालती-कुञ्जमें छिपेगा।

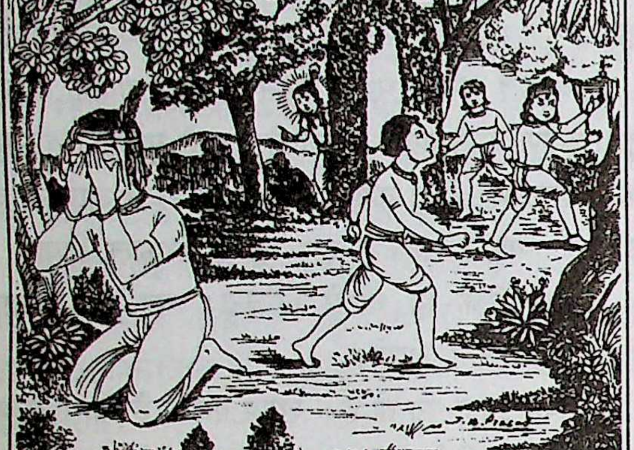

सभी गोपकुमार छिपे स्थानोंसे बाहर आ गये थे। सुबलने दोनों हाथोंसे नेत्र बन्द किये अपने और कदम्ब-मूलसे सिर टिकाया। बालक इधर-उधर छिपनेके लिये भागे। जब सब छिप गये, कहींसे एकका स्वर आया—ढूँढ़ो!

सुबलने नेत्र खोले। खड़े होकर वह इधर-उधर देखने लगा। कन्हाईमें इतना धैर्य कहाँ है। यह सुबल मालती-कुञ्जकी ओर क्यों नहीं आता? श्यामने झाँककर देखा और दाहिने हाथकी पतली लाल अँगुलियाँ हिलाकर बुलानेका संकेत करने लगा।

'तू छिप तो सही!' सुबल हँस पड़ा। सुबलके तर्कसे आप सहमत होंगे। वह कहता है कि 'छिपेको ढूँढ़ा जाता है। जो सामने दीखता है, उसे क्या ढूँढ़ना।' लेकिन कन्हाईका हठ है—'मुझे ही ढूँढ़ो—मुझे ही ढूँढ़ो!'

~~~

श्रीरामचरितमानसके पाँच उपदेश

(श्रीउदयनारायणजी सिन्हा)

गोस्वामी तुलसीदासरचित श्रीरामचरितमानस यूँ तो समस्त कल्याणकारी बातों और उपदेशोंका आकर-ग्रन्थ है, समस्त शास्त्रोंका निचोड़ है तथापि इसमें भगवान् श्रीरामके नाम, रूप, लीला एवं धामकी महिमाका जैसा गान हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है, इसीलिये इसकी विशेष महिमा है। भक्तिका तो यह सागर ही है। यहाँ इसी ग्रन्थकी कुछ उपदेशप्रद कल्याणकारी बातोंको संक्षेपमें दिया जा रहा है—

(१) ***'बिनु हरि भजन न भव तरिअ'***—श्रीरामचरितमानसके निम्नलिखित दोहों और चौपाइयोंका श्रद्धासहित बार-बार पाठ करनेसे भक्तिभावना स्वत: जाग्रत् हो जाती है—

बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥
हरि अनंत हरिकथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहुबिधि सब संता॥
जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहिभवन समाना॥
भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥

उपर्युक्त पंक्तियोंसे यह तात्पर्य निकलता है कि जलको मथनेसे भले ही घी उत्पन्न हो जाय और बालूके पेरनेसे भले ही तेल निकल आये, पर हरि-भजनके बिना संसाररूपी समुद्रसे नहीं तरा जा सकता—यह सिद्धान्त अटल है। भगवान् श्रीहरि अनन्त हैं और उनकी कथा भी अनन्त है, सब संतलोग बहुत प्रकारसे उसे कहते-सुनते हैं। जिन्होंने अपने कानोंसे भगवान्‌की कथा नहीं सुनी, उनके कानोंके छिद्र साँपके बिलके समान हैं। भक्तिरहित सब गुण और सब सुख वैसे ही फीके हैं, जैसे नमकके बिना बहुत प्रकारके भोज्यपदार्थ।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जब भक्तिमती शबरीके आश्रममें पधारे तो वह प्रेमा-भक्तिसे ओत-प्रोत होकर दोनों भाइयोंके चरणोंमें लिपट पड़ी। जब वह अपनेको अधम तथा मन्दबुद्धि बताती है तो श्रीरामजी उससे कहते हैं कि वे केवल भक्तिका ही सम्बन्ध मानते हैं—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥
(रा० च० मा० ३।३५।४–६)

एक दूसरे प्रसंगमें श्रीरामचरितमानसमें आया है कि भगवान् केवटकी भक्तिसे बहुत प्रभावित हुए। ऐसे ही भरतजीकी भक्ति सर्वोपरि है। वनवासके समय श्रीराम वाल्मीकिजी, अत्रिजी तथा अगस्त्यमुनि— इन सभीके आश्रमोंमें गये और उनकी भक्ति-निष्ठासे अत्यन्त प्रसन्न हो गये। ऐसा ही प्रसंग महर्षि वाल्मीकिजीने प्रकट किया है। जब लक्ष्मण तथा सीताजीसहित
~~~

श्रीरामजी उनसे ठहरनेकी जगह पूछते हैं तो वे बहुत सकुचा जाते हैं। मुनि उनसे पूछते हैं—'प्रभो! आप कहाँ नहीं हैं, पहले वह स्थान बता दें तब मैं आपके रहनेका स्थान दिखाऊँ।'

पूँछेहु मोहि कि रहौं कहँ मैं पूँछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ॥
(रा० च० मा० २।१२७)

श्रीरामजी मुनिके प्रेमभरे वचन सुनकर सकुचाते हुए कि वाल्मीकिजीको मेरे रहस्यका ज्ञान है मन-ही-मन मुस्कुराये। फिर मुनिने हँसकर अमृतरसमें डूबी हुई मीठी वाणीमें कहा—नाथ! जो आपके दर्शनरूपी मेघके लिये सदा चातककी भाँति लालायित रहते हैं, उनके हृदयमें निवास कीजिये। जो पृथ्वी, स्वर्ग और ब्रह्मलोकतकके सौन्दर्यका तिरस्कार करते हैं, हे रघुनाथजी! आप उनके हृदयमें निवास करें। आपके यशरूपी निर्मल मानसरोवरमें जिसकी जीभ हंसिनी बनी आपके गुणसमूहरूपी मोतियोंको चुगती रहती है, हे श्रीरामजी! आप उसके हृदयमें बसिये—

लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी॥
तिन्ह कें हृदय सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक॥
जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हियँ तासु॥
(रा०च०मा० २।१२८।६—८, २।१२८)

जिनके मस्तक देवता, गुरु और ब्राह्मणोंको देखकर प्रेमसहित बहुत नम्रताके साथ झुक जाते हैं, जिनके हाथ नित्य आपके चरणोंकी पूजा करते हैं, जिनके हृदयको केवल आपका ही भरोसा है, दूसरा नहीं, हे श्रीरामजी! उनके हृदयमें बसिये—

सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी॥
कर नित करहिं राम पद पूजा। राम भरोस हृदयँ नहिं दूजा॥
(रा० च० मा० २।१२९।३-४)

जो सब प्रकारके कर्म कर केवल यही फल माँगते हैं कि उन्हें श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें प्रीति हो, हे प्रभो! आप उनके हृदयमें बसिये। जिन्हें न काम, क्रोध, लोभ, मद, अभिमान है, न राग है, न द्वेष है; हे श्रीरामजी! आप उनके हृदयमें निवास करें—

सबु करि मागहिं एक फलु राम चरन रति होउ।
तिन्ह कें मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥
काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
जिन्ह कें कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह कें हृदय बसहु रघुराया॥
(२।१२९; २।१३०।१-२)

जो दूसरेकी सम्पत्ति देखकर हर्षित होते हैं और जो दूसरेकी विपत्ति देखकर विशेषरूपसे दुःखी होते हैं तथा जिन्हें आप प्राणोंके समान प्यारे हैं; हे श्रीरामजी! उनके मन आपके रहने योग्य शुभ भवन हैं। जिनके स्वामी, सखा, पिता, माता और गुरु सब कुछ आप ही हैं, उनके मनरूपी मन्दिरमें सीतासहित आप दोनों भाई निवास कीजिये—

जे हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी॥
जिन्हहि राम तुम्ह प्रानपिआरे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे॥
स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मन मंदिर तिन्ह कें बसहु सीय सहित दोउ भ्रात॥
(रा०च०मा० २।१३०।७-८; २।१३०)

जो निष्कामभावसे आपका स्मरण करता है तथा मन, वचन, कर्मसे आपका दास है, जिसका आपसे स्वाभाविक प्रेम है; हे श्रीरामजी! आप उसके मनमें निरन्तर निवास कीजिये। वह आपका अपना घर है—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥
(रा० च० मा० २।१३१)

(२) *बड़ोंकी बातपर संशय करना ठीक नहीं*— उपदेशकी दृष्टिसे रामायणका बहुत महत्त्व है। इसके अनुसार बड़ोंकी बात माननी चाहिये। न माननेपर बहुत पश्चात्ताप करना पड़ता है, कुपरिणाम भी होता है। प्रसंग है—रामको सीताके विरहमें व्याकुल देखकर सतीजीके मनमें शंका हुई कि असुरोंके शत्रु भगवान् श्रीहरि शिवजीकी ही भाँति सर्वज्ञ हैं, क्या वे अज्ञानीकी तरह स्त्रीको खोजेंगे? इसपर शिवजीने उन्हें बहुत बार समझाया, फिर भी सतीजीके मनमें उनका उपदेश नहीं बैठा। शिवजीका आदेश पानेपर सतीजी परीक्षा लेने निकल पड़ीं तथा सीताजीका रूप धारण कर उसी मार्गकी ओर चल पड़ीं, जिस मार्गपर श्रीरामचन्द्रजी आ रहे थे। श्रीरामचन्द्रजी सतीको पहचान गये थे। उन्होंने पहले देवी सतीको प्रणाम किया। पितासहित अपना नाम बताया और पूछा—शिवजी

कहाँ हैं? आप वनमें अकेली किसलिये फिर रही हैं? सतीजी डरती हुई चुपचाप शिवजीके पास चली गयीं। उनके हृदयमें बहुत चिन्ता हुई। फिर पीछे देखा तो लक्ष्मण और सीताजीके साथ श्रीराम विराजमान हैं। जिधर देखती हैं उधर ही श्रीराम विराजमान हैं। फिर वे सिर नवाकर शिवजीके पास चली गयीं। शिवजीद्वारा यह पूछनेपर कि किस प्रकार परीक्षा ली। सतीने कहा कि मैंने कोई परीक्षा नहीं ली, आपने जो कहा वह सत्य ही है। परंतु जब शिवजीने ध्यान करके देखा तो सतीजीने जो चरित्र किया था, सब जान लिया। सतीजीने सीताका वेष धारण किया— यह सोचकर शिवजीके मनमें बड़ा विषाद हुआ। शिवजीने श्रीरामके चरणकमलोंमें सिर नवाया और मनमें यह संकल्प किया कि सतीजीके इस शरीरसे उनकी पत्नीके रूपमें भेंट नहीं हो सकती है। रघुनाथजीका स्मरण करते हुए शिवजी कैलास चले गये। सतीजीद्वारा पूछनेपर भी शिवजीने कुछ उत्तर नहीं दिया। शिवजीका रुख देखकर वे जान गयीं कि शिवजीने उनको त्याग दिया है। शिवजी वट-वृक्षके नीचे अखण्ड समाधिमें लीन हो गये। सतीजी भी कैलासपर ही रहीं। सत्तासी हजार वर्ष बीत जानेपर अविनाशी शिवजीने समाधिका त्याग किया। शिवजी भगवान् श्रीहरिकी रसमयी कथाएँ कहने लगे। कुछ समय बाद सतीजीके पिता प्रजापति दक्षके यहाँ यज्ञका आयोजन हुआ। शिवजी निमन्त्रित नहीं थे, फिर भी वे यज्ञमें भाग लेने गयीं। वहाँपर पतिका अपमान देखकर यज्ञाग्निमें कूदकर उन्होंने अपना शरीर भस्म कर डाला। बादमें सतीजीका जन्म हिमाचलके घर हुआ, जहाँ उनका नाम पार्वती रखा गया। पार्वतीजीकी घोर तपस्यासे प्रसन्न होकर शिवजीने उन्हें अपनी अर्द्धाङ्गिनी बनाया। इस तरह अपनेसे बड़ोंकी बात न मानने और उनकी हितकारी बातकी अवहेलनाका परिणाम देवी सतीको जब भुगतना पड़ा तो सामान्य मनुष्यकी क्या बात?

(३) *अभिमान करना ठीक नहीं*—अभिमान करना कितना दुःखदायी होता है, इस संदर्भमें नारदजीका एक प्रसंग द्रष्टव्य है—एक बार नारदजीके मनमें इस बातका अहंकार हो गया कि हमने कामदेवको जीत लिया है। उन्होंने अभिमानवश भगवान् शंकरको कामदेवपर अपनी विजयका प्रसंग सुनाया। शिवजीने नारदजीको बहुत आदरके साथ समझाते हुए कहा कि जिस प्रकार आपने मुझे यह कथा सुनायी, वैसे भगवान् श्रीहरिको नहीं सुनाना। नारदजीने इसका उल्लंघन कर दिया। एक बार वे श्रीहरिसे मिलने क्षीरसागर गये, वहाँ उन्होंने कामदेवका सारा चरित्र कह सुनाया। भगवान् श्रीहरिके मनमें विचार आया कि नारदजीके मनमें गर्वके भारी वृक्षका अङ्कुर पैदा हो गया है। इसे समाप्त करना उन्होंने अपना कर्तव्य समझा।

उन्होंने मायासे चार सौ कोसका एक नगर रचा। उस नगरमें शीलनिधि नामक एक राजा रहता था। उसकी एक रूपवती कन्या थी, जिसका नाम था विश्वमोहिनी। उसके विवाहके लिये एक स्वयंवरका आयोजन किया गया था। इस स्वयंवरमें विश्वमोहिनी जिसके गलेमें जयमाला डालती उसीसे उसका विवाह होता। नारदजीने पहले ही उस कन्याको देख लिया था और उन्हें उससे विवाह करनेका मोह हो गया। इसलिये उन्होंने श्रीहरिका ध्यान किया, वे प्रकट हुए तो नारदजीने उनसे अपने-जैसा ही सुन्दर स्वरूप देनेकी विनती की। श्रीहरिने देखा कि नारदजी पथभ्रष्ट हो रहे हैं, इसलिये उनका स्वरूप बहुत कुरूप (बंदर-जैसा) कर दिया। इस तरह नारदजीका बहुत उपहास हुआ और उन्हें अभिमानका परिणाम भुगतना पड़ा।

(४) *भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास और आस्था रखना*—रामायणसे हमें दृढ़ विश्वास और आस्थाका उपदेश मिलता है। पार्वतीजीने शिवजीसे विवाह करनेकी कठोर प्रतिज्ञा कर ली थी— '***बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी।***' (रा० च० मा० १। ८१। ५) इसके लिये उन्होंने राजमहलके सुखको छोड़कर पत्तोंका आहार किया। पुनः सूखे पत्ते भी त्याग दिये। यहाँतक कि सप्तर्षियोंके कहनेपर भी शिवजीके स्थानपर भगवान् श्रीहरिसे विवाह करना स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार कठोर तपस्याके बाद उनका प्रण सत्य हुआ। उसी प्रकार अंगदका प्रसंग है—'श्रीरामजीके दूत बनकर अंगद रावणकी सभामें गये, उन्होंने उसे बहुत प्रकारसे समझाया कि वह सीताजीको लौटा दे, अंगदको भगवान् और उनकी शक्तिपर दृढ़ विश्वास था। उन्होंने प्रण करके अपना पैर जमीनपर रोप दिया कि यदि उसके पैरको

रावण हटा सके तो मैं सीताजीको हार जाऊँगा और श्रीरामचन्द्रजी लौट जायँगे'—

जौं मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं रामु सीता मैं हारी॥

रावणने सभी योद्धाओंसे कहा, मेघनाद आदि प्रयासकर सिर नीचा करके बैठ गये। रावण जब स्वयं उठा तो अंगदने अपना पैरा हटाकर कहा कि पैर पकड़ना है तो श्रीरामजीके पकड़ो। इस तरहका दृढ़ विश्वास, श्रीरामजीकी कृपासे अंगदमें था।

(५) *'राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम'*— (रा० च० मा० ५। १) हनुमान्‌जीकी कार्यकुशलता बहुत सराहनीय है। राम-कार्यकी सम्पूर्णता ही उनके जीवनका ध्येय है। उससे पूर्व विश्राम या गतिरोध उन्हें स्वीकार नहीं। जब वे लङ्काकी ओर प्रस्थान कर रहे थे, तब देवोंने उनकी परीक्षा लेने सुरसाको भेजा। सुरसा जितना बड़ा मुँह करती हनुमान्‌जी अपना रूप उससे दुगुना कर लेते थे। सुरसाने सौ योजनका अत्यन्त विशाल रूप बनाया तो हनुमान्‌जीने बहुत छोटा रूप धारण किया और उसके शरीरमें प्रवेश किया तथा बाहर निकल आये। सुरसा उनकी कार्यकुशलतासे बहुत प्रसन्न हुई और आशीर्वाद दिया कि तुम जिस कार्यसे जा रहे हो, उसमें सफलता मिलेगी और हुआ भी यही। हनुमान्‌जी सफलमनोरथ हो वापस लौटे।

इस प्रकार श्रीरामचरितमानसकी इन शिक्षाओंको हम अपने जीवनमें उतार लें तो फिर सच्चे कल्याणकी प्राप्तिमें विलम्ब नहीं।

* * *

संतवाणी

(श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

[वर्ष ७६ सं० १२ पृ०-सं० १००९ से आगे]

जगत्‌में भगवत्-दर्शन करनेका जो ज्ञान है, वह तो जगत्‌को परमात्मा जान लेता है यानी जगत्‌में परमात्माको ज्ञान लेना है। भाई! जगत् परमात्मा कैसे हो सकता है? जगत्‌में परमात्मा तो सभी मान लेते हैं, बहुत आसान बात है। परंतु पूर्ण आस्तिकता तो यह है कि जगत् और परमात्माका विभाजन कभी हुआ ही नहीं। जिसका विभाजन हो जाय, उसका अस्तित्व ही नहीं है।

तो चाहे तो जगत्‌के अभावसे जगत् और परमात्माके भेदका नाश कर लो। देखिये, जगद्रूपमें ही अगर परमात्माका दर्शन हो तो यह बहुत ऊँचा ज्ञान है। सही ज्ञान तो यही है। तो भाई! जगत्‌में अपने प्यारे प्रभुका दर्शन करो यानी जगत्‌में प्रभुको जानो और फिर प्रभुकी दी हुई योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तु आदिसे जगत्‌की सेवा करो।

प्रीतिका क्रियात्मक रूप सेवा है। सेवासे क्या होगा? सेवाके अन्तमें प्रीतिका जो भावात्मक रूप है प्रियकी स्मृति, प्रियकी प्रियता, प्रियकी आत्मीयता वह उदित होती है। इतनी गहरी आत्मीयता कि कोई और है ही नहीं, किसी औरपर आजतक दृष्टि गयी ही नहीं। अनन्त काल हो गया, कभी अपने प्यारेको पूरा देख ही नहीं पाये। यह प्रियताकी विशेषता है!

प्रियता जब उदित होती है तो फिर कभी उसका अन्त नहीं होता। उस प्रियतामें कितनी सुन्दरता है, उस प्रियतामें कितना आकर्षण है, उस प्रियतामें कितना ऐश्वर्य है, कितना रस है, इसके लिये कोई शब्दावली नहीं हो सकती। अनन्त, अनन्त, अनन्त कह दो। अनन्त सौन्दर्य, अनन्त रस, अनन्त प्रियता!

भाई! जब कोई और है ही नहीं तो समस्त प्रियता किसी एकमें विलीन होगी कि नहीं? जब समस्त प्रियता एकमें होगी, तब मन कहाँ जायगा और कैसे जायगा? आज हम मनको पकड़-पकड़कर दबाकर रखते हैं। आप जानते ही हैं कि श्रमसाध्य साधन अखण्ड नहीं हो सकता और किसी अन्यकी सत्ता स्वीकार करनेपर चित्तका निरोध ईमानदारीसे हो ही नहीं सकता।

भाई! देखो, गहरी नींदमें सबका निरोध होता है। किसी अन्यकी सत्ता स्वीकार करते हुए वास्तविक निरोध नहीं होगा और श्रमसाध्य साधन अखण्ड होगा नहीं। इस कारण विश्वासमार्गकी दृष्टिसे जगत्‌हीमें प्रभुका दर्शन करो। जगत् अपने प्यारेकी ही अभिव्यक्ति है और कुछ नहीं। जब

अपने प्यारेसे भिन्न और कुछ है ही नहीं तो प्रीति और प्रियतमसे भिन्न न कभी कुछ है, न कभी हुआ और न आगे होगा। वर्तमानमें और कुछ है ही नहीं, आगे कुछ होगा नहीं और पहले कुछ हुआ नहीं।

प्रीतिने प्रियतमको रस दिया और प्रियतमने प्रीतिको प्रकट किया। प्रियतम ही प्रीतिके रूपमें अभिव्यक्त होता है और प्रीति ही प्रियतमको रस देती है। इसका वर्णन चाहे सीतारामके चरित्रमें हो, चाहे राधेश्यामके चरित्रमें हो और चाहे गौरीशंकरके चरित्रमें हो। आप जहाँ-कहीं देखेंगे और जो कुछ मिलेगा, उसमें एक पक्ष प्रीतिका होगा और दूसरा पक्ष प्रियतमका होगा। उसका नाम कुछ भी रख लीजिये। उस चरित्रके भेद कितने ही कर लीजिये और उसका वर्णन किसी प्रकारसे कीजिये। यह जितना भी वर्णन होगा, वह प्रीतिकी वास्तविकताका नहीं होगा, उसका संकेतमात्र होगा।

तात्पर्य यह निकला कि यदि आपको सचमुच साधन करना है तो भाई! जगत्में प्रभुका दर्शन करो। जगत्में प्रभुका दर्शन करनेका फल यह होगा कि कोई और है, कोई गैर है, यह चीज बिलकुल मिट जायगी। कल्पना करो, यदि किसीको विश्वास न हो और जगत्में प्रभुका दर्शन न कर सके तो कम-से-कम वह जगत्का भी दर्शन न करे। जगत्को जगत्-बुद्धिसे देखनेवाला व्यक्ति साधक नहीं हो सकता।

तो या तो जगत्में प्रभुका दर्शन करो और अगर आपको जगत् जगत् मालूम होता है तो आप जगत्से विमुख हो जायँ। क्या आपको मालूम है, जगत् कहाँसे शुरू होता है? 'मैं' से। जहाँ 'मैं' का आपको भास होता है कि 'मैं' हूँ, वहींसे किसी-न-किसी प्रकारकी कामना पैदा होती है और किसी-न-किसी प्रकारकी जिज्ञासा होती है तो कामना और जिज्ञासाका पुञ्जरूप 'मैं' है। 'मैं' के इस पार जगत् और उस पार जो कोई हो, सो।

तो भाई! 'मैं' से विमुख हो जाओ। 'मैं' से विमुख होते ही निर्वासना आयगी। निर्वासना आते ही जगत्का दर्शन नहीं होगा। यह क्या है? यह बुद्धिपूर्वक आगे बढ़नेका तरीका है कि भाई! जगत्में भगवत्-बुद्धिकी स्थापना नहीं हो पाती, सुन लेते हैं, मान लेते हैं, लेकिन सचमुच अपने प्यारेका दर्शन नहीं कर पाते तो भाई! वस्तुको देखकर क्या करेंगे, व्यक्तिको देखकर क्या करेंगे, परिस्थितियोंसे सम्बन्ध जोड़कर क्या करेंगे?

अरे! साधनका मतलब क्या? जो आपका साध्य नहीं है, उसका त्याग कर दो। जो आपका साध्य नहीं है, उसका त्याग साधन है। जो आपका साध्य है उसका प्रेम साधन है, उससे योग साधन है, उसका बोध साधन है तो या तो साध्यसे योग हो या जो साध्य नहीं है, उसका त्याग हो तो त्यागसे भी साधन आरम्भ होता है और प्रेमसे भी साधन आरम्भ होता है।

प्रेमसे किनका साधन आरम्भ होता है? जो जगत्हीमें अपने प्रभुका दर्शन कर सकते हैं। आप यह सोचते होंगे कि वह तो बहुत घटिया भगवान् होगा। जगत्में यदि हम भगवान्को देखेंगे तो वह भगवान् घटिया होगा तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि जगत्से अलग करके जिस भगवान्को आप देखेंगे, वह इससे भी घटिया भगवान् होगा। क्यों? जगत्में जब आप भगवान्को देखेंगे तो जगत् नहीं रहेगा भाई! और जगत्से अलग करके जब प्रभुको देखेंगे तो जगत् हमेशा रहेगा। तब चकाचौंध रहेगा। उसमें कभी तो कहेंगे कि बड़ा आनन्द आया है, बड़ा सुख है और कभी नीरसता।

जगत्से अलग करके जो भगवान् देखा जाता है, वह बहुत बढ़िया नहीं होता। वह बुद्धिमानोंका भगवान् होता है और बुद्धिमान् हमेशा सीमित होता है, सीमित तो भई जगत्से अलग भगवान्को मानकर देखनेका उपाय और जगत्में भगवान्को देखनेका उपाय और जगत्को भगवान् देखनेका उपाय। यानी जगत्में भगवान्, जगत् भगवान् और जगत्से अतीत भगवान् तीनों तरीकोंसे देख सकते हैं और तीनों ही साधन-दृष्टिसे मान्य हैं। तीनोंका ही महान् फल है।

भाई! एक ऐसा साधन होता है कि जिससे आगे दूसरा साधन उदित होता है तो जगत् भगवान् ही है और कुछ नहीं है—यह विश्वास जिसको हो जाय, उसका भगवान् सबसे बढ़िया रहता है। यह कृपासाध्य बात है, इससे सभी विकार समूल नष्ट हो जाते हैं।

* * *

वृन्दावनकी प्रेम-साधना—

'प्रेम पदारथ दूर है बिनु सेये रज रूख'

(डॉ० श्रीराजेन्द्ररंजनजी चतुर्वेदी)

वृन्दावनमें निवास करते हुए यहाँकी रज और लता-द्रुम-कुञ्जोंका सेवन करना रस-साधनाका मार्ग है। वृन्दावन और यहाँके रज-रूख (वृक्ष-लतादिक) रसिक भक्तोंके लिये साधन हैं और साधनसे बढ़कर साध्य हैं।

रसिक भक्तोंकी दृष्टिमें वृन्दावन रस-रूप है और प्रिया-प्रियतमकी राजधानी है। श्रीवृन्दावन सुख और सौभाग्यका साक्षात् स्वरूप है और निधिवन हृदयका साकार अनुराग भाव है। रसिकोंका दृढ़ भाव है— *'हममें कुंज कुंजमें हम हैं, कुंजविहारी सोऊ मम हैं।'* हमारा हृदय भी नित्यविहारिणीका निकुञ्ज है और देहसे भी हम निकुञ्जमहल ही हैं, क्योंकि निकुञ्जमहलके विलासी विहारी-विहारिन हमारे प्राणनाथ हैं। रसिक भक्तोंकी चिरंतन साध है कि उन्हें वृन्दावनका निवास मिले। वृन्दावनके बिना निकुञ्ज कहाँ और निकुञ्जके बिना विहार कहाँ?

नागरीदासने वृन्दावनको अनन्य रसिकोंका गढ़ कहा है और बताया है कि गुरुदेव श्रीविहारिनदेवजूको नित्य-विहारतत्त्व वृन्दावन-वीथियोंमें यमुना-पुलिनके बीच प्राप्त हुआ—

वृंदावन बीथिनमें जमना पुलिन बीच
नित्य कौ विहार श्रीविहारिनदास पायौ है।

उनका कथन है कि जब संसारके प्रति वैराग्यभाव दृढ़ करके कृपाबलका आश्रय लेकर वृन्दावनवास करते हुए यहाँकी निकुञ्जोंमें श्रीयुगलके रस-विलासकी अनुभूति करोगे, तभी श्रीविहारी-विहारिनकी निज दासियोंकी खवासी प्राप्त हो सकेगी। श्रीविहारिनदेवजूकी वाणी है—

मेरौ मन श्रीवृंदावन अटक्यौ॥
राख्यौ श्रीहरिदास विपुल बल भूल न इत उत अटक्यौ।
बिसरे बिस्व विलास त्रास उपहासन नेकु न भटक्यौ॥
उपज्यौ अति आनन्द हिये सुख सुफल प्रेम लै लटक्यौ।
श्रीबिहारिदास दंपति सुख चैनन नैन मधुर रस गटक्यौ॥

जिनकी दृष्टिके मूलमें जड़भाव है, उन्हें वृन्दावनके वृक्ष-लतादिक जड़ प्रतीत हों तो यह अस्वाभाविक नहीं है, किंतु जिन रसिकोंने यहाँके रज-रूखका सेवन किया है, उनके लिये यहाँकी रज और वृक्ष-लतादिक चिन्मय हैं।

जो रससिन्धु श्रीललिताके हृदयमें उच्छलित है, वही रससिन्धु श्यामा-श्यामकी रहःकेलिमें तरङ्गायित है। जो प्रेम सखीजनके भावभरे लाड़में अभिव्यक्ति पा रहा है, वही प्रेमरस निकुञ्जमहल और उसके लता-पता-वृक्षोंमें अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित, प्रफुल्लित, फलित और पुलकित हो रहा है। केतकी, केवड़ा, कदम्ब, माधवी, कुन्द, चमेली और चम्पामें जो सुगन्धि है, उसका स्रोत वही रसतत्त्व है, जिसके फूलसे फुलवारी फूली है। वृन्दावनकी रजमें कपूर-जैसी कान्ति उसी रसकी है, जो इन्द्रधनुष और दामिनीमें उद्दीप्त है। उसी रससे विह्वल होकर मेघ मृदङ्ग बजा रहे हैं, मोर नृत्य कर रहे हैं, कोकिल अलाप रही हैं तथा पंछी सुर दे रहे हैं और उसी रसमें झूमकर श्रीबीठलविपुल गा रहे हैं—

सजनी नव निकुंज द्रुम फूले।
अलिकुल संकुल करत कुलाहल सौरभ मनमथ भूले॥

गुरुदेवजूकी वाणी है कि वृन्दावनके वृक्षोंकी श्रीविहारी-विहारिनकी सेवाके प्रति ऐसी मति है कि भिन्नजातीय होते हुए भी वे सजातीय बने हैं। नीमके वृक्षसे माधवी लता लिपटी है, इमलीके वृक्षसे अररु अड़ा है, पीठ-से-पीठ मिलाकर रेवज खड़ा है और पापरीका वृक्ष प्रेमको पोषित कर रहा है। छोंकरकी छाँह कितनी सुन्दर है और करीलकी कुञ्ज तो काँटोंके होते हुए भी हमें कोमल प्रतीत होती है। अपनी छाया और सुगन्धिसे सुख देनेवाली अरनी मेरी इष्ट है।

रसिक भक्त वृक्षोंको निहारते हैं, कुञ्जोंमें भ्रमण करते हैं और भाव-साधनाके द्वारा विहारको प्रकटरूपमें देखते हैं। वे वृन्दावनके प्रेममें सिक्त होकर एक-एक वृक्षके नीचे आनन्दमत्त हो जाते हैं; क्योंकि यहाँका प्रत्येक वृक्ष विहारी-विहारिनकी रस-राजधानी है—

वन वन बिहारी बिहारिनके संग डोलत वृक्ष वृक्ष रजधानी।
श्रीबिहारिनदास हरिदास कृपातें तन मन प्रान हितानी॥

श्रीविहारिनदेवजू कहते हैं कि जिन्हें वृक्षों और कुञ्ज-लताओंका रस मिल जाता है, वे किसीके घर-द्वारपर जाकर याचना नहीं करते—

'काहू कौ घर द्वार न उझकत जिन्हें व्यसन निज कुंज लता में'

जिस प्रेमरससे परिपूर्ण होकर वृन्दावनके वृक्ष-लता पुष्पित और प्रफुल्लित होते हैं, जिस प्रेमरससे परिपूर्ण होकर सखीजन विहारके लिये फूल-पत्तोंकी शय्या रचती हैं, उसी प्रेमरसमें बेसुध होकर रसिक भक्त गुंजाके फूलोंसे माला बनाते हैं और प्रिया-प्रियतमका फूलोंसे शृङ्गार होता है। फूलोंकी अँगिया, फूलोंकी साड़ी, फूलोंके आभूषण और फूलोंका महल है—

फूलनके अलरन फूल गूँथे केस घन
फूलनकी सारी चोली नव बाला।
फूलनकी सेज बनी फूल बैठे धन धनी
फूलनके महल विचित्र बिसाला॥

सच बात तो यह है कि वृन्दावनके समस्त वृक्ष-लता, फूल-पत्ते, डाल-शाखा और इनपर बैठनेवाले पक्षी प्रियालालकी रह:केलिके साथी हैं। कहीं प्रियतम कदम्बके नीचे खड़े होकर प्रियाजूको बुला रहे हैं—

'तोकों पिय बोलत हैं री लाल ठाड़े कदम तर।'

तो कहीं ललित लताओंके नीचे युगल पौढ़े हुए हैं—

पौढ़े ललित लतान तरे।
सुमन सेज सुख रासि सनेही अधरन अधर धरे।

रसिकोंकी भावनामें वृन्दावनके वृक्ष-लतादिक सखीजनके ही रूप हैं। कहीं वे अपनी शाखारूप भुजाओंसे एक-दूसरेको गलबाहीं देकर श्यामा-श्यामके हृदयमें प्रीतिरसको जगा रहे हैं तो कहीं नित्य-विहारकी साज-सज्जा और परिवेशकी रचना कर रहे हैं—

अपने अपने भाइ भजत सब सावधान चित दीने री॥
ललित लवंग लता जु इलाइचि दार्यौं दाख छुहारे री।
ह्वै ह्वै रूप किये सेवत सखि नाना रति सुख साजे री॥

रसिक भक्तोंको श्यामतमाल और कनकलताके बिम्बमें श्यामा-श्याम प्रत्यक्ष हुए हैं, यही कारण है कि यह बिम्ब रसिकोंको इतना प्रिय है कि वाणी-साहित्यमें स्थल-स्थलपर उसका उल्लेख है—

श्रीहरिदास तमाल स्याम सों लता लिपटि कंचनकी छोरी।

× × ×

सहज रसीली नागरी सहज रसीलौ लाल।
सहज प्रेम की बेलि मानो लिपटी प्रेम तमाल।

× × ×

सरस लता द्रुम लिपटि सरस रस वल्ली फूली।

श्रीभगवत्-रसिकने इस बिम्बको और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा कि शाखा प्रिया-लालकी भुजाएँ हैं, किसलय-दल अँगुलियाँ हैं, हँसनेसे दाँतोंकी जो कान्ति फैली है, वही पुष्प हैं और अङ्गरागका सौरभ ही परागकण है। रससे परिपूर्ण फल उरोज हैं तथा तोता, कोयल और भौंरोंका स्वर रतिरसकी व्यञ्जक ध्वनि है। सखीजन अपने प्रेमजलसे इन्हें सींच रही हैं—

स्याम तमाल कनक की वेली रही मनों लपटाय॥
साखा भुजवर सोहई हो कोटर स्रवन सुहाय।
किसलय दल अंगुरी बनी जाके फूल दसन मुसकाय॥
मंदहास मधु बरस रही हो अंगराग मँहकाय।
फल उरोज रससों भरे पिय परसत पानि सिहाय॥
सुक पिक केकी बोलहीं हो मधुप गुंज मँडराय।
प्रेम सलिल सखि सींचतीं हो कोक कला गुन गाय॥

'अद्भुत-वृक्ष'के पदमें भगवत्-रसिकने प्रियाजूके रूपकी झाँकी इस प्रकार पायी है—

अलौकिक वृक्ष बिलोकौ आज।
फूलौ फरौ हरौ नव नव रंग मंजुल मृदुल समाज॥
थर पर कमल कमल पर कदली कदली ऊपर सुरुं।
सुरुं ऊपर सुमन मनोहर नारकेलि रस पुरुं॥
नारिकेल पर फूल ससिमुखी पाँच फूल ता माहीं।
जपा कुंद तिल महुआ अंबुज उपमाकों कछ नाहीं॥

वृन्दावनका यह रस और यह चिन्मय दृष्टि रज और रूखके सेवनके बिना नहीं मिल सकती। श्रीगुरुदेवजूका स्पष्ट मत है कि वृन्दावनका यह रस तभी प्राप्त हो सकेगा, जब वृन्दावनकी रजसे नेह हो जायगा। जबतक मनमें रजपूतीका रजोगुण है, तबतक उस वृन्दावनकी रजसे नेह नहीं हो सकेगा, जिसमें श्यामा-श्यामके चार चरण नृत्य करते हैं और जहाँ आनन्दका अनन्त समुद्र है। वृन्दावनकी रजके प्रति अनुराग बढ़नेके साथ रजोगुण वैसे ही दूर हो जायगा, जैसे आग दहकनेपर कोयलेका रंग कालेसे लाल और लालसे सफेद हो जाता है—

रज छाँड़ें रज पाइयै, रज राखें रज जाय।
रज सों रजहिं पिछान लै रजसों रसिक कहाय॥
जा रज सों जग रज कहै सो रज कज है जाय।
श्रीवृंदावन सेये रज रहै सो रज मोहिं समाय॥
नस्वर रज लगि सेवई नस्वर रजपूत कहाय।

साँची रजहिं न सेवई श्रीवृंदावन आय॥
चार चरन निरतत जहाँ जहाँ न आनंद अंत।
सबै कामना पूरिहैं मेरे कामिनि कंत॥
समझें अनसमझें भये साधन बिना सुहेत।
श्रीबिहारिदास करनी करै तौ कोयला राते सेत॥

रसिक भक्तोंके जीवनके साथ वृन्दावनकी रजके सजीव सम्बन्धको वाणी साहित्यमें बड़ी सूक्ष्म दृष्टिसे रेखाङ्कित किया गया है। श्रीव्यासजीने स्वामीजीके सम्बन्धमें कहा है—

'श्रीवृन्दावन रेनु तन मन भजि तजि लोकवेदकी त्रास।'

इसी प्रकार सहचरिशरणजीने श्रीविहारिनदेवजूके सम्बन्धमें कहा है—

छमित छबीलौ छैल डोलत निकुंजन में
प्राण के समान मानी रज वनराज की।

मनुष्यके मनमें नाना प्रकारके विषय-विकार, माया, ममता, अहंकार और मिथ्या दृष्टि है। मन जैसे ही किसी विषयपर विचारकी उड़ान भरनेको पंख खोलता है, वैसे ही अहंता-ममताकी डोर उसे अपनी ओर खींचने लग जाती है। सांसारिकताका मूल ही 'मैं-मेरा' है। हमलोग प्रतिदिन ही कहते और सुनते हैं कि अहंता-ममताकी दृष्टि मिथ्या दृष्टि है, भ्रान्ति है, परंतु यह भ्रान्ति इतनी प्रबल है कि जिंदगीभर पीछा नहीं छोड़ती। मिथ्या दृष्टिका चश्मा जबतक आँखोंपर लगा है, तबतक सत्यको नहीं देखा जा सकता। जबतक मन भय, घृणा, शंका, जुगुप्सा तथा कुल, जाति और शीलके अभिमानकी सीमासे बँधा है, तबतक असीम और विराट्की अनुभूति भी असम्भव है। इसीलिये तो रसिक भक्त कहते हैं—

'आपा की सिर पोट है ताकों दीजै डार।'

विषय-वासनाओंसे आसक्त मनसे निर्मल और शुद्ध प्रेमका आस्वादन सम्भव नहीं। इसके लिये तो मनकी धुन बदलनी होगी और गति बदलनी होगी। रसिकदेवजूके शब्दोंमें—

'सखी भाव तब जानियै निरविकार मन होय।'

साधारणपात्रमें सिंहनीका दूध नहीं समाता, उसके लिये मनको सोनेका पात्र बनाना ही होगा। विषमय मनको अमृतमय बनानेके लिये रासायनिक प्रक्रिया करनी होगी और मनकी रासायनिक परिवर्तन-प्रक्रियाके रहस्यको प्रकट करते हुए गुरुदेवने सूत्र दिया—वृन्दावनके रज और रूखका सेवन। इस रजके सेवनसे ही वासनाओंका विकार मिट सकता है—

मन के अनेक भ्रम तम ज्यों नसाने बंद
जयति अनन्य धन आज रज राखी है।

श्रीगुरुदेवजू कहते हैं कि यह रज ब्रह्मादिक देवता और उद्धव आदि ज्ञानियोंको भी दुर्लभ है और-तो-और स्वयं श्यामा-श्याम अपने श्रीमुखसे इस रजके सर्वोपरि रसका बार-बार वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि हमने तो इसी रजरानीके भरोसेपर सारी मर्यादाओंको तिलाञ्जलि दे दी, मनके यावत् तम-भ्रम-श्रम-क्रम और रीति-भाँति छोड़ दी। इस रजरानीने हमारी समस्त कामनाओंको पूर्ण कर दिया—

उद्धव आदि ब्रह्मादिक दुर्लभ परी प्रमान जु ही सुक भाखी।
जाकौ सुजस बखानत श्रीमुख स्यामास्याम सहसमुख साखी॥
श्रीबिहारीदास विश्वास तिहीं बल उमड़ि मेंड़ मरजादा नाखी।
रह्यौ न मन भै भ्रम श्रम क्रम कछ व्रज रज कियौ रज राखी॥

श्रीरसिकबिहारीजीकी वाणी है कि जिस रजकी प्राप्तिके लिये समस्त देव, ऋषि, मुनि सतत वाञ्छा किया करते हैं, स्वयं ब्रह्मा और शिव जिसे सदा प्रणाम करते हैं, उस रजकी प्राप्तिके बिना अनन्त जन्म डहकते हुए ही बीत गये। परंतु अपनी कृपाके वशीभूत होकर श्रीविहारिणीजूने वह रज प्रदान की है। इस रजके अद्भुत प्रतापसे ही आज हम अपने समस्त परिवारस्वरूप श्रीस्वामीजी, विट्ठलविपुल श्रीविहारिनदेवजी आदि समस्त सहचरी परिकरसे मिल सके हैं—

जा रज कों सुर नर मुनि वंछित विधि संकर सिर नायौ॥
बहुतक जुग या रज बिनु बीते जनम जनम डहकायौ।
सो रज अब कृपा कर दीनी अभै निसान बजायौ॥
आय मिल्यौ परिवार आपने हरि हँसि कंठ लगायौ।
स्यामास्याम जु विहरत दोऊ सखी समाज मिलायौ॥

अनेक सम्प्रदायोंमें गोरोचन, रोली, चन्दन और केसरका तिलक लगानेकी परम्परा है, परंतु रसिक भक्तोंके सम्प्रदायमें रजका तिलक लगाया जाता है। स्वयं श्रीश्यामसुन्दर राधाकी चरण-रजका तिलक लगाते हैं—

तुव पद पंकज तल रज वंदन तिलक लगावत भालै।
(बीठलविपुल)

स्वामीजीके स्वरूपका वर्णन करते हुए भगवत्-रसिकने कहा है— *'माथे रज तिलक भाल बांकी भृकुटी बिसाल।'* अनुगत भक्तोंने इस परम्पराको आगे बढ़ानेकी कामना की— *'माथे श्रीहरिदास चरन रज सोई लै तिलक करों।'*

रसिकोंके मार्गमें व्रज-रजसे बने करुवेका इतना महत्त्व है कि उस एकमात्र पात्रसे शरीरकी यावत् क्रियाओंका सम्पादन किया जाता है। किसीने गुरुदेवसे कहा कि यह मिट्टीका बासन है, इसे फेंक दो। इसपर गुरुदेवने कहा कि यह हमारे प्राणजीवन राधा-कृष्णके श्रीचरणकमलोंकी रजसे बना है और इससे जिस किसी वस्तुका संस्पर्श हो गया, वह सदाके लिये परम पवित्र बन गया। परंतु यह बात रसिकोंके बिना समझेगा कौन—

ब्रज रज कौ करवौ गढ्यौ संतत सुखद प्रसाद।
श्रीबिहारिदास रस परस बिनु को जानें सुख स्वाद॥

इस रजके सेवनसे ही प्रेमपदार्थकी प्राप्ति सम्भव है और इस बातका प्रमाण है—रसिक भक्तोंका जीवन। वृन्दावनकी रज और रूखके सेवनके अभावमें रसका संस्पर्श भी अलभ्य है। इसीलिये बिहारिनदेव (गुरुदेव)-की वाणी है—

'प्रेम पदारथ दूर है बिनु सेये रज रूख।'

भगवत्प्रेमी भक्तोंका शील

(हर-शिव)

जब किसी मनुष्यकी वृत्तियोंका प्रवाह संसारसे हटकर श्रीभगवान्‌में हो जाता है और प्रभुके साथ उसका विशुद्ध प्रेमका सम्बन्ध जुड़ जाता है तो यह भगवद्विषयक प्रीति-सम्बन्ध भक्ति है।

जब भक्त ईश्वरके किसी भी रूपमें अपने मनको एकाग्र करके परम श्रद्धासे नित्य-निरन्तर उनके भजन एवं चिन्तनमें लीन रहता है और सदैव अपने विशुद्ध प्रेमके द्वारा एकमात्र परमेश्वरकी प्राप्तिकी ही चाह रखता है, अन्य किसी भी बातकी कदाचित् भी चाह नहीं रखता, उनकी प्राप्तिके लिये बिना पानीकी मछलीकी भाँति तड़पता एवं छटपटाता रहता है, ऐसे भक्तको अनन्य भक्तकी संज्ञा दी जाती है। इस स्थितिमें तो हेतुरहित अति दयालु भगवान्‌को एक क्षणका विलम्ब भी असह्य हो जाता है और ऐसे अनन्य भक्तके सम्मुख वे साक्षात् प्रकट हो जाते हैं।

मानव-जीवन अति दुर्लभ है। इसी दृष्टिसे भगवत्प्रेम-प्राप्ति ही भक्तोंके सम्पूर्ण जीवन एवं जन्मका एकमात्र उद्देश्य होता है। इसलिये ये अपने जीवनका प्रत्येक पल ईश्वरकी यादमें बिताना पसंद करते हैं।

ये भक्त जगत्‌की सम्पूर्ण रचनाको नाटक, स्वप्न, बालूकी दीवार या पानीके बुदबुदेकी तरह ही मानते हैं। इनके अनुसार इस संसारमें ईश्वरको छोड़कर अन्य कुछ भी सत्य नहीं है।

इसीलिये ये हरिभजनके बिना जन्मको व्यर्थ मानते हैं। इनकी दशा दूधपर निर्भर रहनेवाले उस शिशुकी भाँति होती है, जो अपनी मातारूपी ईश्वरकी साक्षात् उपस्थितिके लिये रोता है—बिलखता है।

जिन्हें एक बार हरिरसका तनिक भी स्वाद लग जाता है तो उन्हें संसारके सभी सुखोंका रस अति फीका लगने लगता है। अतः भगवत्प्रीति होनेके कारण इनका संसारके किसी भी नाशवान् पदार्थों, सम्बन्धों एवं शरीर आदिमें कुछ भी आकर्षण नहीं रहता। इनके आकर्षणके केन्द्र एकमात्र परमात्मा ही रहते हैं।

इनको सर्वत्र ईश्वरके सिवा कुछ भी नहीं दीखता और ईश्वरके सिवा कुछ भाता भी नहीं है। भक्तोंका खाना-पीना, उठना-बैठना, हँसना-खेलना, सोना-जागना सभी कुछ भगवत्प्राप्तिके लिये ही होता है। इनको बाहर जाते समय ऐसा लगता है, जैसे अपने प्रभुकी परिक्रमा करने जा रहे हों। ये तो परमेश्वरकी गोदमें ही जैसे बैठते हों, खाते हों, सोते हों, जागते हों आदि। इस तरह इनका सम्पूर्ण जीवन, इनके समस्त कर्म हरिमय होते हैं।

भगवान्‌में अनन्त प्रेम होनेके कारण इन भक्तोंको ईश्वरीय मङ्गलविधानपर अटल विश्वास होता है। इसलिये सभी परिस्थितियों एवं स्थितियोंमें ये सदैव शान्त, तृप्त एवं आनन्दित रहते हैं।

इन भक्तोंका भगवत्स्मरण अखण्ड चलता ही रहता है। इनको प्रभुका ध्यान करना नहीं पड़ता, अपितु ठीक उसी तरह होता रहता है। जैसे भूखेको अन्नकी स्वतः ही याद आती है। वह हमेशा भगवान्‌के गुण गाता है, उनकी चर्चा करता है और भगवान्‌का यश सुनना पसंद करता है।

इन भक्तोंका यह दृढ़ विश्वास होता है कि भगवान् जो कुछ भी करते हैं अच्छा ही करते हैं और अच्छेके सिवा कुछ नहीं करते। इनके हृदयमें सचमुच परम श्रद्धा, अटल विश्वास, विशुद्ध प्रेमरूपी गङ्गा, यमुना, सरस्वतीकी तीनों ही धाराओंका अति अद्भुत एवं अति ही पावन संगम रहता है। यही साधककी असली पूँजी होती है और यही प्रेम-प्राप्तिके लिये कुंजीका काम करती है।

इन भक्तोंकी अनन्य विशेषता—अनुकूल एवं प्रतिकूल सभी अवस्थाओंमें सदैव ही समभावनाका होना होता है; क्योंकि इन्हें हमेशा शत्रु-मित्र, मान-अपमान, हर्ष-शोक, लाभ-हानि, स्तुति-निन्दा, सुख-दुःख, कञ्चन-लोहा, अपना-पराया आदि सब कुछ समान लगते हैं। वास्तवमें यह विशेषता सच्चे भक्तोंकी कसौटी मानी जाती है।

इनको अपना कोई गुण या विशेषता दीखती ही नहीं और न ही भक्तलोग किसी गुणको अपना ही मानते हैं। वे तो सभी गुणोंको केवल परमात्माका ही मानते हैं और स्वयंको अयोग्य मानकर अबोध बालककी भाँति भगवान्का आश्रय ग्रहण किये रहते हैं। ऐसे सरल, सहज, नम्र, दीन, कोमल हृदयके भक्तोंके लिये श्रीरामचरितमानसमें ठीक ही कहा गया है—

'सरल सुभाव न मन कुटिलाई।' (७। ४६। २)

ऐसे भक्त प्रारम्भसे ही 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं', ऐसा ही मानकर भगवान्के सम्मुख जाते हैं और जरा-मरण दोनोंसे ही मुक्त हो जाते हैं।

इनमें भगवत्परायणता, भगवद्विश्वास, भगवद्भक्ति और शुभ भगवदीय कर्मके मधुर भाव स्वतः ही जाग्रत् होते रहते हैं। स्थिरता, आत्मसंयम, भीतर-बाहरकी शुद्धि, विनम्रता, मन-वाणीकी सरलता एवं मधुरता ही इनकी विशेष पहिचान है।

ये सबके निःस्वार्थ कृपामय मित्र होते हैं, इनके द्वारा किसी भी प्राणीका अहित हो ही नहीं सकता और न ही ये किसीसे द्वेष करते हैं। ये तो अपने वैरीका भी मङ्गल-ही-मङ्गल चाहते हैं।

इन भक्तोंका यह दृढ़ विश्वास होता है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वरूप, सर्वत्र समान, बिना कारण अति दयालु एवं सम्पूर्ण शक्तियोंके स्रोत हैं। भगवान् श्रीकृष्णने गीताके ११वें अध्यायके अन्तमें अर्जुनसे स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि अनन्य भक्तियोगद्वारा मनुष्य ईश्वरमें प्रवेश कर जाता है और इसी भक्तिके सहारे परमात्माको जाना, समझा एवं प्रत्यक्षरूपमें देखा भी जा सकता है। ऐसे भक्तोंको श्रीकृष्णभगवान्ने परमसिद्ध योगीकी संज्ञासे सुशोभित किया है, जो अपने मनको एकाग्र करके नित्य-निरन्तर ईश्वरके भजनमें परायण रहते हैं (गीता १२। २)। भगवान् इस तरहके भक्तोंका संसारसे अति शीघ्र ही उद्धार कर देते हैं।

श्रीरामचरितमानसमें भक्तिकी तुलना स्वयंप्रकाशित मणिसे की गयी है। जिसे प्रकाशके लिये दीपककी भाँति घी, बत्ती आदिकी यानी शास्त्रोंके ज्ञान आदिकी कुछ भी आवश्यकता नहीं होती और न ही वह मणिरूपी भक्ति दीपककी तरह हवामें बुझ ही सकती है। अतः ऐसी भक्तिसे सम्पन्न भक्तोंपर कामिनी-काञ्चन एवं प्रबल मायाका भी कुछ असर नहीं होता; क्योंकि भगवान् ऐसे भक्तोंकी रक्षा स्वयं करते रहते हैं।

प्रारम्भिक अवस्थामें सच्चा भक्त उस नन्हीं सुईकी तरह होता है, जो अपने भगवान् रूपी विशाल चुम्बककी तरफ खिंचता ही चला जाता है। बादमें यह भी स्थिति आ जाती है कि जब तीनों लोकोंका स्वामी अपने बिलखते हुए भोले भक्तके दर्शनके लिये तड़पता हुआ स्वयं सुईकी भाँति अपने भक्तरूपी विशाल चुम्बककी ओर बिना विलम्बके खिंचकर उनके सम्मुख साक्षात् प्रकट हो जाता है।

भक्तका विशुद्ध प्रेम भगवान्को सचमुच अति भोला बना देता है। जिन भगवान्के भयसे भय भी भयभीत हो जाता है, वे ही ईश्वर श्रीकृष्णावतारमें प्रेमके वशीभूत होकर माँ यशोदासे भयभीत होते हैं, यहाँतक कि उनकी रस्सीसे बँध जाते हैं। चारों वेद जिनकी कीर्ति बखानते हैं, योगियोंके ध्यानमें जो एक क्षणभरके लिये भी नहीं आते, वे परमेश्वर ग्वालिनोंके हाथ बिक जाते हैं और वे ही प्रभु माँकी भाँति सूरदासकी सेवा करते हैं, अर्जुनका रथ हाँकते हैं, जूठी पत्तलें साफ करते हैं, भक्त प्रह्लाद और द्रौपदीकी रक्षा करते हैं। सच तो यह है कि ईश्वरका प्रेम माँसे भी बढ़कर है, क्योंकि माँमें फिर भी ममता एवं स्वार्थ रहता है, परंतु अति दयालु ईश्वरमें न ममता होती है और न ही किसी भी प्रकारका स्वार्थ, सिर्फ प्रेम-ही-प्रेम होता है। विशुद्ध प्रेमकी एक ही बूँदसे वे परम पिता परमात्मा भक्तोंके दासतक बन जाते हैं। ऐसे अति दयालु भगवान् और उनके भक्तोंको कोटि-कोटि प्रणाम।

* * *

‘सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम पद पंकज नेहा’

(पं० श्रीविष्णुदत्त रामचन्द्रजी दूबे)

भवाटवीमें भटकते हुए जीवको अकारणकरुण भगवान् कृपा करके मनुष्य-शरीर प्रदान करते हैं।

कबहुँक करि करुना नर देही । देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(रा०च०मा० ७।४४।६)

यह देवदुर्लभ शरीर मिलता ही है केवल भगवत्-प्राप्तिका सफल साधन बननेके लिये। इसके लिये इस जीवनमें विशेषरूपसे विवेक— बुद्धि प्राप्त होती है, पर विवेकहीन मनुष्य परमात्माकी दुर्लभ देन उस विवेक—बुद्धिको पापार्जनमें लगाकर पापोंके कारण दुर्गतिको प्राप्त होता है।

कल्याणस्वरूप आनन्दमय परमेश्वर श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे पकड़े जाते हैं। जो मनुष्य उन परमेश्वरको जान लेता है, उनका साक्षात्कार कर लेता है वह इस संसारचक्रसे सदाके लिये छूट जाता है अर्थात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

इस रहस्यको समझकर मनुष्यको जितना शीघ्र हो, उन परम सुहृद्, परम दयालु, परम प्रेमी, भक्तवत्सल, सर्वेश्वर, सर्वाधार परमात्माको जानने और पानेके लिये व्याकुल हो श्रद्धा और भक्तिभावसे उनकी आराधनामें लग जाना चाहिये।

जीवसमुदाय मायाके द्वारा बँधा हुआ है। जबतक वह अपने स्वामी परमेश्वरका साक्षात् नहीं कर लेता, तबतक उसका इस प्रकृतिसे छुटकारा नहीं हो सकता। अत: मनुष्यको उन परमात्माकी प्राप्तिके लिये उत्कट अभिलाषा रखनी चाहिये।

मानव-जीवनकी सफलता इसीमें है कि मनुष्य अथक प्रयत्न करके भगवान्‌को या भगवत्प्रेमको प्राप्त कर ले। कम-से-कम उस मार्गपर आरूढ तो हो ही जाय। परमात्मा जीवके लिये सबसे बड़े आश्रय हैं। मनुष्यको सर्वतोभावसे उन्हींकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। परमात्माका जो निरन्तर भजन करता है, भक्तिपूर्वक पूजा, ध्यान, स्तवन, नमस्कार, नित्य स्तुति करता है, वह पराभवको नहीं प्राप्त होता तथा सम्पूर्ण दु:खोंसे पार हो जाता है। भगवान् श्रीरामकी घोषणा है—

मन्मन्त्रोपासका लोके मामेव शरणं गता:॥
निरपेक्षा नान्यगतास्तेषां दृश्योऽहमन्वहम्।

(अ० रा० २। ३६-३७)

भगवान्‌ने सुतीक्ष्णमुनिसे कहा—हे मुने! संसारमें जो लोग मेरे मन्त्रकी उपासना करते हैं और मेरी ही शरणमें रहते हैं तथा नित्य निरपेक्ष और अनन्यगति रहते हैं, उन्हें मैं नित्यप्रति दर्शन देता हूँ।

संसारसे तरनेके लिये सेवक-सेव्यभावका होना आवश्यक है—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

(रा०च०मा० ७।११९ क)

हे गरुडजी! मैं सेवक हूँ और भगवान् मेरे सेव्य (स्वामी) हैं, इस भावके बिना संसाररूपी समुद्रसे तरना नहीं हो सकता। ऐसा सिद्धान्त विचारकर श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंका भजन कीजिये।

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥

(रा०च०मा० ७।६२।१)

बिना प्रेमके केवल योग, तप, ज्ञान और वैराग्यादिसे श्रीरघुनाथजी नहीं मिलते।

वेद, पुराण और संतोंका मत यही है कि समस्त पुण्योंका फल श्रीरामजीमें या रामनाममें प्रेम होना है। यथा—

बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू॥

(रा० च० मा० १।२७।२)

शिवजी, ब्रह्माजी, शुकदेवजी, सनकादि और नारदमुनि आदिका मत है कि श्रीरामजीके चरणकमलोंमें प्रेम करना चाहिये; क्योंकि रघुनाथजीकी भक्ति किये बिना सच्चा सुख मिल नहीं सकता—

सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद॥
सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम पद पंकज नेहा॥
श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥

(रा० च० मा० ७।१२२क।१२—१४)

शिवजी, ब्रह्माजी, वेद, नारद, सनकादि मुनि तथा कतिपय अन्य रामपदारविन्द शरणागत भक्तोंने भगवान् श्रीरामकी प्रेमा-भक्ति— चरणकमलोंमें दृढ़ प्रीति आदिका जो अभीष्ट वर प्राप्त

किया उसकी तथा कतिपय कल्याणप्रद बातोंकी अभिव्यक्ति रामचरितमानसके निम्नलिखित दोहे-चौपाइयोंमें है—

शिवजीका मत—

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥
(७।१४क)

ब्रह्माजीका मत—

खल खंडन मंडन रम्य छमा। पद पंकज सेवित संभु उमा॥
नृप नायक दे बरदानमिदं। चरनांबुज प्रेम सदा सुभदं॥
(६।१११ छंद)

सनकादि मुनियोंका मत—

परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम॥
(७।३४)

मुनि नारदजीका मत—

कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीती॥
जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी। ग्यान रंक नर मंद अभागी॥
(३।४५।२-३)

जनकजीका मत—

बार बार मागउँ कर जोरें। मनु परिहरै चरन जनि भोरें॥
सुनि बर बचन प्रेम जनु पोषे। पूरनकाम रामु परितोषे॥
(१।३४२।५-६)

मुनि वसिष्ठजीका मत—

आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥
तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥
(७।४९।३-४)

मुनि शरभंगजीका मत—

सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम।
मम हियँ बसहु निरंतर सगुनरूप श्रीराम॥
(३।८)

मुनि सुतीक्ष्णजीका मत—

जो कोसल पति राजिव नयना। करउ सो राम हृदय मम अयना॥
अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥
(३।११।२०-२१)

मुनि अत्रिजीका मत—

बिनती करि मुनि नाइ सिरु कह कर जोरि बहोरि।
चरन सरोरुह नाथ जनि कबहुँ तजै मति मोरि॥
(३।४)

मुनि वाल्मीकिजीका मत—

सबु करि मागहिं एक फलु राम चरन रति होउ।
तिन्ह कें मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥
(२।१२९)

वेदोंका मत—

करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह बर मागहीं।
मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥
(७।१३ छंद)

सुग्रीवजीका मत—

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥
(४।७।२१)

विभीषणजीका मत—

अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी॥
(५।४९।७)

निष्काम भजनका प्रभाव—

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥
(३।१६)

जिनको कर्म, वचन और मनसे मेरी ही गति है और जो निष्कामभावसे मेरा भजन करते हैं, उनके हृदयकमलमें मैं सदा विश्राम किया करता हूँ।

हमें चाहिये कि हम इन बातोंको अपनेमें प्रतिष्ठित करके और तदनुसार आचरण करके अपने मानव-जीवनको सफल बनानेकी चेष्टा करें। यदि ऐसा नहीं हो सका तो समझना चाहिये कि हमारे जीवनकी बहुत बड़ी हानि हुई है और हमारा जन्म निष्फल गया। अतः **'कोटिं त्यक्त्वा हरिं भजेत्'** अर्थात् करोड़ों काम (सब काम) छोड़कर प्रभुके चरणारविन्दोंका स्मरण, ध्यान एवं भजन करना चाहिये।

◆

गाय फिर लौटा सकती है भारतकी सम्पन्नता

(श्रीशंकरलालजी बरमोटा (दाधीच))

गायको विश्वकी अर्थात् जीवमात्रकी माता कहा गया है—

'मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदा'

सब प्रकारके सुखोंको देनेवाली गायके साथ आज भारतमें कैसा व्यवहार किया जा रहा है, इसपर ध्यान तो देना ही होगा, आज तो विदेशी मुद्राके लालचमें इनका वध करवाया जा रहा है। यदि इनका वध रोका नहीं गया तो गाय केवल चित्रोंमें ही दिखायी देगी।

भारतको सारा विश्व सोनेकी चिड़िया मानता था, यह प्रसिद्धि है कि यहाँके साधारण लोग भी चाँदी तथा सोनेके बर्तनोंमें भोजन किया करते थे, पुराने सोने-चाँदीके बर्तन, कबाड़ीलोग आवाज देकर खरीदा करते थे। पचास-साठ वर्ष पहलेतक *'जरी पल्ले-जरी पल्ले'* की हाँक लगाकर लोग चाँदी-सोना गलियोंमें खरीदा-बेंचा करते थे, फिर आज ऐसा क्या हो गया कि हम अभावमें जी रहे हैं। कारण एक ही प्रतीत होता है कि अर्थव्यवस्थाके मूल आधार गायकी हमने उपेक्षा कर दी। जिस देशमें, हर घर-परिवारमें गाय अनिवार्यरूपसे रहा करती थी, वह देश आधुनिकताके अन्धानुकरणमें अपनी समृद्ध संस्कृतिको ही भूल गया।

जगद्गुरु रहे भारतवर्षकी खेतीका तरीका केवल गाय-बैलोंपर आधारित था, किंतु आजकी तथाकथित विकसित वैज्ञानिक कृषि-पद्धतिने इस प्रकारकी व्यवस्था बना दी कि विश्वके अधिकांश देश आर्थिक विपन्नताके शिकार हो गये। हमारे वैज्ञानिक अपना विज्ञान भूल गये। भारतकी भूमि स्वयमेवमें इतनी उर्वरा थी कि सड़कोंके किनारे खड़े हुए आम, जामुन तथा इमलीके पेड़ इतने फल देते थे कि सारा देश सम्पन्न था, किंतु आज यूकेलिप्टस ही सबको भा गये और हमारे आम तथा जामुन, इमली जो मेघोंके निर्माणमें भी कारगर थे, गायब ही हो गये। यूकेलिप्टसपर कोई चिड़ियातक नहीं बैठती, घोंसला बनाना तो दूर रहा। हमारी चिड़िया यानी गौरियाका भी गौरवमय कल्याणकारी इतिहास है—जब नानकजी खेतोंकी रखवाली करते थे, उन्होंने देखा कि चिड़ियाँ ज्वारके खेतमें बैठी हैं और चहचहाकर अपना उदर-पोषण भी कर रही हैं, संत प्रसन्न होकर खुद भी गाने-नाचने लगे— *'रामकी चिड़िया रामका खेत। खाव रे चिड़िया भर-भर पेट॥'* जब पिताजीको पता लगा कि बेटेराम इस तरहसे खेतकी रखवाली कर रहे हैं—वे बहुत बिगड़े; पर नानक तो नानक थे, माने नहीं, चिड़ियोंको खानेसे नहीं रोका। जब फसल काटी गयी तो वह गत वर्षसे अधिक ही निकली। पिताजी अवाक् रह गये। जब जाँचकी तो पता चला कि वे तो फसलपर लगनेवाली ईलड खाती थीं, दाना छूतीतक नहीं थीं—भारतकी चिड़िया भारतका अहित कैसे करती?

हमारी ग्रामीण सभ्यतामें तो आज भी गायको बेचा जाना पाप माना जाता है, यहाँतक कि हमारे पुरखे तो दूधतक बेचना उचित नहीं मानते थे। आईन-ए-अकबरी तथा जहाँगीरनामेसे हमें जानकारी मिलती है कि गायोंको ससम्मान सर्वत्र चरनेकी इजाजत थी। दूध एक रुपयेका एक मन मिला करता था। तभी यह कहावत भी चरितार्थ थी कि भारतमें तो घी-दूधकी नदियाँ बहा करती हैं तो फिर आज क्या हम अपनी सम्पन्नता नहीं बढ़ा सकते हैं? जरूरत है हमारी भारतीयताकी पुनः वापसी की। हम पहला प्रयोग गायपर ही करके देख लें। जहाँ भी सम्भव हो गायें पालना शुरू कर दें। फार्म हाउस हैं पर वहाँ गायें नहीं हैं। कौन देखेगा, कौन मेहनत करेगा?

जिस देशमें बगैर गो-दर्शनके भोजन ही अमान्य था, वहाँ गायोंको आवारा कहकर हाँका जाने लगा। इस स्थितिको बदलना होगा। आज भी गोशालाओंकी कमी नहीं है, पर उनमें गायें रखनी होंगी। साँड़ोंको वही सम्मान देना होगा, जो पहले दिया जाता था। उसे भगवान् शंकरका नन्दी कहकर पूजा जाता था। वह जिस खेतमें घुस जाता था, उसे खानेसे कोई रोकता नहीं था; क्योंकि उसीके कारण हमारे देशमें एक-से-एक अच्छी जातिके बछड़े तथा अधिक-से-अधिक दूध देनेवाली गायें उपलब्ध होती थीं।

जिस गायसे बछड़ा पैदा होता था, उसका पूरा दूध उसके बछड़ेको ही पिलाया जाता था, जिससे वह सशक्त बैल बन सके, क्योंकि सारी खेती बैलोंकी शक्तिपर ही

निर्भर होती थी, उसी परिस्थितिको पुनः लाना होगा। भारतके लिये तो गाय और गोवंश ही कृषि एवं अर्थव्यवस्थाका मूल आधार है और गोसेवाका जो आध्यात्मिक लाभ है, सो अलग। इसलिये हमें अपनी दैनन्दिन चर्यामें गायको भी शामिल करना होगा। सनातन भारतीय संस्कृतिको गायसे अलग कर देखना, समझना महान् भूल होगी।

* * *

शहद खाइये, स्वस्थ-दीर्घ जीवन पाइये

(श्रीहरनारायणजी 'महाराज')

गोवधनिषेध-आन्दोलनके समय हिन्दूमहासभाके प्रमुख श्रीवीरजीने दिल्लीमें पचहत्तर दिनोंका अनशन किया था। अनशनके अवसानके समय मैंने देखा कि पचहत्तर दिनतक निराहार रहनेके बाद भी श्रीवीरजी अधिक निर्बल नहीं हुए, जबकि इसी दौरान एक साधु अनशनके पन्द्रहवें दिन अपनी जीवनलीला समाप्त कर चुके थे।

इस सम्बन्धमें पूछनेपर श्रीवीरजीने बताया—आयुर्वेदिक ग्रन्थोंमें जिस मधुको अमृतकी संज्ञा दी गयी है, उसी मधुकी कृपासे मैं इतना लम्बा अनशन कर सका हूँ। मैं अनशनकालमें औषधिके रूपमें प्रतिदिन एक छटाँक (लगभग ६० ग्राम) शहदका सेवन करता रहा।

वीरजीके इस शहद-प्रयोगसे मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ और शहदमें कौन-सी शक्ति छिपी है, इसका अन्वेषण करने लगा तथा जो ज्ञात हो सका वह यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

आहार-विशेषज्ञोंने चीनीको स्वास्थ्यके लिये अनुपयोगी तथा हानिकारक बताया है और चीनीके स्थानपर गुड़ या शहद खानेकी सलाह दी है। अतः जहाँतक सम्भव हो चीनीके स्थानपर शहदका ही सेवन करना चाहिये।

शहदमें पोषक तत्त्व तथा गुण—शहद शक्तिवर्द्धक, स्वास्थ्यप्रद और औषधीय गुणोंसे युक्त प्रकृतिप्रदत्त खाद्यपदार्थ तथा टॉनिक है। इसके सेवनसे जहाँ हमें शक्ति प्राप्त होती है, वहीं हमारा रोगोंसे बचाव भी होता है। शरीरको शक्तिशाली तथा नीरोग बनाये रखनेके लिये जिन तत्त्वोंका होना परमावश्यक है, वे सभी प्रायः शहदमें विद्यमान हैं। इसमें लगभग ४० प्रतिशत ग्लूकोज, ३८ प्रतिशत फ्रक्टोज, २ से ५ प्रतिशत सुक्रोज, माल्टोज, डेक्सट्रिन्स, गोंद, मोम तथा क्लोरोफिल होता है। इसके अतिरिक्त इसमें प्रोटीन, एसिड्स, एन्जाइम्स, लौह, कैलशियम, मैंग्नीशियम, मैंगनीज, सल्फर, कॉपर, क्लोरीन और फास्फोरस आदि चौदह प्रकारके खनिज लवण पाये जाते हैं। विटामिनोंमें ए, सी तथा बी१, बी२, बी६ एवं बी१२ भी शहदमें पाये जाते हैं। १०० ग्राम शहदसे ३६० कैलोरी शक्ति प्राप्त होती है, जबकि १०० ग्राम देशी घीसे ३०० कैलोरी शक्ति प्राप्त होती है; मूल्यमें भी देशी घीकी अपेक्षा शहद सस्ता बिकता है।

शहद पाचनक्रियाको स्वस्थ बनाता है। शारीरिक तथा मानसिक शक्ति बढ़ाता है, हृदयको शक्ति प्रदान करता है, थकावट दूर करता है और मनुष्यको स्वस्थ एवं दीर्घजीवी बनाता है। शहदका मुख्य गुण यह है कि पेटमें पहुँचते ही पचकर तत्काल शक्ति प्रदान करता है।

सेवनविधि—शहद भोजनसे पहले, भोजनके साथ तथा भोजनके बाद कभी भी लिया जा सकता है। इसका सेवन सभी ऋतुओंमें लाभकारी है। यह खाद्यपदार्थों तथा औषधियोंके साथ भी खाया जाता है और अकेले भी। योगवाही-वृत्ति होनेके कारण यह जिस पदार्थ तथा औषधिके साथ लिया जाता है, उसके गुणोंको कई गुना प्रभावकारी बना देता है। इसी कारण आयुर्वेदिक औषधियाँ शहदके साथ खायी जाती हैं। शहदको जल, दूध, दही, मलाई, फलोंके रस, रोटी तथा नीबू आदि किसी भी खाद्यपदार्थके साथ खाया जा सकता है।

शहद न उष्ण है, न शीतल। गरम चीजके साथ लेनेपर यह गरम तथा ठण्डी चीजके साथ लेनेपर यह ठण्डा प्रभाव दिखलाता है। अतः गरमियोंमें ठण्डे पेयके साथ, सर्दियोंमें गरम पेयके साथ एवं वर्षा-ऋतुमें प्राकृतिक रूपमें ही इसका सेवन करना चाहिये। अधिक गरम करने तथा अधिक गरम चीजमें मिलानेसे इसके गुण नष्ट हो जाते हैं। अतः इसे हल्के गरम पेय पदार्थमें ही मिलाना चाहिये।

घी, तेल आदि चिकने पदार्थोंमें समान मात्रामें शहद मिलानेसे वे विषतुल्य बन जाते हैं। अतः चिकने पदार्थोंमें समान मात्रामें शहद मिलाकर उनका सेवन नहीं करना चाहिये।

विभिन्न अवस्थाओंमें शहदका उपयोग

थकावटमें—शहदका मुख्य गुण थकावटको दूर करना है। चीनीसे पाचन-अङ्ग खराब होते हैं, पेटमें वायु पैदा होती है, किंतु शहद वायु बनना रोकता है, शारीरिक तथा मानसिक शक्तिको बढ़ाता है। अतः रात्रिमें अथवा जब भी थकावट महसूस हो, दो चम्मच शहद आधे गिलास पानीमें नीबूका रस निचोड़कर पीनेसे सारी थकावट दूर हो जाती है।

हृदयकी कमजोरीमें—शहद रोगग्रस्त हृदयको शक्ति देता है तथा स्वस्थ हृदयको पुष्ट एवं शक्तिशाली बनाता है। जब खूनमें ग्लाईकोर्जनकी कमीसे रोगीको बेहोश होनेका डर हो तो शहद खिलाकर रोगीको बेहोश होनेसे बचाया जा सकता है। निर्बलता अथवा सर्दीके कारण जब हृदयकी धड़कन अधिक हो जाय, दम घुटने लगे तो दो चम्मच शहद सेवन करनेसे नयी शक्ति मिल जाती है। एक चम्मच शहद प्रतिदिन सेवन करनेसे हृदय सबल बनता है।

अपच तथा कब्जमें—शहद पाचन-अंगोंमें वायु बनना रोकता है, उदर-सम्बन्धी रोगोंको दूरकर भूख बढ़ाता है एवं भोजनको पचाकर शरीरको शक्ति प्रदान करता है। यह प्राकृतिकरूपसे हल्का दस्तावर है, अतः कब्जके रोगीके लिये विशेष उपयोगी है। प्रातः तथा रात्रिमें सोनेसे पहले ५० ग्राम शहद पानी या दूधके साथ पीनेसे अथवा त्रिफलाके साथ सेवन करनेसे मन्दाग्नि और कब्जकी शिकायत दूर हो जाती है।

दमा तथा फेफड़ेके रोगोंमें—दमा तथा फेफड़ेके रोग जैसे ब्रोन्काइटिस, निमोनियाँ, क्षय आदि रोग शहदके सेवनसे दूर हो जाते हैं। शहद फेफड़ोंको बल देता है। खाँसी, गलेकी खुश्की, स्नायुकष्ट तथा छातीमें घरर-घररकी आवाज दूर करता है।

गर्भावस्थामें—शहदमें प्रोटीन तथा हारमोन होते हैं। गर्भावस्थामें रक्तकी कमी आ जाती है। दो चम्मच शहद प्रतिदिन सेवन करनेसे यह कमी नहीं आती तथा पर्याप्त प्रोटीन और हारमोन भी मिल जाते हैं। यदि गर्भवती महिला प्रतिदिन दूधके साथ शहदका सेवन करे तो एक ओर जहाँ वह स्वस्थ रहेगी, वहीं दूसरी ओर उसका बच्चा स्वस्थ, सुडौल तथा आकर्षक होगा।

नेत्ररोगोंमें—उन सभी खाद्यपदार्थोंका सेवन जिनमें विटामिन ए होता है, नेत्रोंकी सुरक्षा एवं नेत्ररोगोंको दूर करनेमें लाभकारी होता है। नेत्र-विशेषज्ञोंके अनुसार प्रतिदिन एक बूँद शहद नेत्रोंमें डालनेसे मोतियाबिन्दसे बचा जा सकता है। जिन लोगोंको मोतियाबिन्द हो गया हो, यदि वे प्रारम्भिक अवस्थामें तीन-चार सप्ताहतक शहदका उपयोग करें तो उन्हें निश्चितरूपसे लाभ होगा।

शिशु-अवस्थामें—शिशुओंको प्रतिदिन दिनमें तीन बार आधा-आधा चम्मच शहद चटानेसे वे स्वस्थ तथा हृष्ट-पुष्ट रहते हैं। दाँत निकलनेवाले बच्चोंके मसूढ़ोंपर शहद मलनेसे दाँत निकलते समय उन्हें कष्ट नहीं होता। नींदमें रोनेवाले बच्चोंको नियमित शहद चटानेसे उनका नींदमें रोना बन्द हो जाता है।

शुद्धताकी पहचान

—शुद्ध शहद पानीमें नहीं घुलता।

—रूईकी बत्ती शुद्ध शहदमें भिगोकर जलानेपर जलती रहती है, बुझती नहीं।

—शुद्ध शहद कपड़े तथा कागजपर डालनेसे उनपर निशान तथा धब्बा नहीं बनाता।

—शुद्ध शहदमें जीवित मक्खी डालनेपर वह उड़ जाती है। शहद उसके पंखोंपर नहीं चिपकता।

—शुद्ध शहदको कुत्ता नहीं खाता।

—शुद्ध शहद सर्दीमें जम जाता है तथा गरमी पाकर पिघल जाता है।

शुद्ध शहदके सेवनसे मनुष्य स्वस्थ, बलिष्ठ, नीरोग तथा दीर्घजीवी बनता है। इसका सेवन वृद्धावस्थाके कष्टोंसे बचाता है। यदि मनुष्य आजीवन नियमितरूपसे शहदका सेवन करे तथा स्वास्थ्यको हानि पहुँचानेवाले दुर्व्यसनोंसे बचा रहे तो वह दीर्घ आयु प्राप्त कर सकता है और दूषित मनोवृत्तियोंके विकारोंसे भी बच सकता है।

* * *

भक्तोंके पावन चरित—

(१)

महाराज श्रीराजेन्द्र सिंहजी 'सुधाकर' का भगवत्प्रेम

(श्रीगदाधरजी भट्ट)

झालावाड़की पवित्र माटी साहित्य, संगीत और भक्तिकी त्रिवेणीसे निरन्तर सिंचित रही है। यहाँके साहित्यकार, संगीतकार तथा भक्तोंने राजस्थानके साहित्य और संस्कृतिके इतिहासमें अपनी अनूठी पहचान बनायी है। अंग्रेजी दासताके कालमें यहाँ सबसे छोटी तथा नयी रियासत झालावाड़की स्थापना अपने-आपमें चमत्कार था तथा सन् १९२९ ई० से सन् १९४३ ई० तक इस रियासतके राजा रहे महाराज श्रीराजेन्द्र सिंहजी सुधाकर। उनके जीवनको देखें तो वे स्वतन्त्रताके क्रान्तिकारी प्रेमी, देशभक्त तथा प्रजावत्सल शासकसे बढ़कर भगवत्प्रेमी संत थे। इतिहासमें ऐसा उदाहरण बिरला है। वे भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भक्त थे, उनकी कृष्ण-भक्तिका जीता-जागता रूप उनके राज-प्रासादमें कृष्ण-मन्दिर है, जहाँ आज भी भगवान् श्रीकृष्णकी भक्तिपूर्वक सेवा, अर्चना होती है। कृष्ण-भक्तिपर उनकी अनेक रचनाएँ हैं, श्रीकृष्णकी बाँसुरीकी रसीली धुन गोपियोंकी भाँति सुधाकरजीकी प्रेम-पीड़ा तथा दर्शनोंकी प्यासको जगा देती है—

कान्हा! तेरी वेणु बजे रस की।
तेरी वेणु को नाद श्रवण कर, जागी प्यास दरस की॥
रैन-दिना चित चैन गहत नहिं, लागी लगन परस की।
तू मेरो मैं तेरी 'सुधाकर', बतियाँ अरस-परस की॥

सुधाकरजीने अनेक सार्थक सम्बोधनोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी गौरवपूर्ण लीलाओंको उद्घाटित करते हुए गोप-गोपी सभीकी पुनः सुध लेनेके लिये पुकारा है। यहाँ भक्त-हृदयमें राष्ट्र-भक्तिकी अन्तर्धाराका स्रोत निरन्तर बहता रहा है। वे भारतकी उन्नतिके लिये गीताके उपदेशक श्रीकृष्णसे गीताका रहस्य सुनवानेका आग्रह करते हैं—

कान्हा मोहन श्याम मनोहर, गो-ग्वालन सुध लाओ॥
भारत के उन्नत होने हित, गीता-मर्म सुनाओ॥

भक्तिकी पराकाष्ठा सायुज्य भक्तिमें है, जहाँ भक्त स्वयं अपने-आपको भगवान्‌में मिला देता है। **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** के भावसे वह कण-कणमें भगवान्‌के दर्शन करता है। सुधाकरजीकी अन्तर्दृष्टि इस प्रकार श्यामका दर्शन करती है—

सुधाकर करके बिचार नीके देखि लेहु
कान्ह तैं न न्यारी कोई वस्तु दृष्टि आई है।

(भावकला १६)

सुधाकरजी भगवान् श्रीकृष्णको तन-मन-धन सब कुछ अर्पित करते हैं, यह समर्पणभाव भगवत्प्रेमकी पराकाष्ठा है—

आओजी मेरे मनमोहन,
तन-मन तुमपर दूँ वार, जीवन करूँ निसार।

(भक्तिपद १)

शरणागति भक्तको विश्वासका अभयदान देती है। अपने शरणागत-गीतमें वे पुष्टिमार्गीय अष्टाक्षर-मन्त्रको सांसारिक दुःखकी रामबाण दवा मानते हैं। वे इस प्रकार स्वर देते हैं— ***'बस एक उपाय सुधाकर है, श्रीकृष्ण शरण, श्रीकृष्ण शरण'*** (पद ४) बाँसुरी श्रीकृष्ण-प्रेमकी सशक्त माध्यम है। श्रीकृष्णकी बाँसुरीकी तानसे गगन, पवन, यमुना-जल सब ठहर गये हैं, देव, गन्धर्व, स्त्री-पुरुष सब मोहित हैं। यहाँतक कि लोक-लाज, सुध-बुध भी भूल गये हैं। बाँसुरीकी टेरने भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंकी स्मृतिको ताजा बना दिया है। वे निरन्तर बाँसुरी सुनना चाहते हैं। ***'कृष्ण हरदम तू आवे याद, हो श्रुति बंसी नाद'*** (पद १२) सुधाकरजीका भगवत्प्रेम अनेक रूपोंमें प्रकट होता है। उस प्रेममें एक ओर सूरका सखाभाव है— ***'सखे! उद्धार भारत का करेगी बाँसुरी तेरी'*** (गजल ९) तो दूसरी ओर मीराकी भाँति उनकी मधुरा भक्ति गोपियोंके स्वरमें इस प्रकार प्रकट होती है—

साँवरिया प्यारे मोको नाहिं सताओ।
तुम बिना मोहे कल न परत है, शीघ्र ही दरस दिखाओ॥

(विरह-पद १५)

भगवान् श्रीकृष्णकी मनोमोहन मूर्ति, उनकी लीलाएँ, बाँसुरीका जादू, श्रीकृष्ण-राधाप्रेम, रसरास, गोप-गोपी सभी मोहक चित्रोंको शब्द-तूलिकासे चित्रित करनेमें सुधाकरजी

कुशल चितेरे हैं। पूतना-वध, बकासुर, केशी, यमलार्जुन, कालियदमन, गोवर्धनधारण-सम्बन्धी सभी लीलाओंको वे मूर्ति-शिल्पीकी तरह कुशलतासे उकेरते हैं। अन्तमें लीलापर मोहित होकर कहते हैं— *'ब्रजेश्वर प्यारे! काम अद्भुत तिहारे हैं'* (भाव-कला २५)।

तत्त्वज्ञानियोंके परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण तो लीला-पुरुषोत्तम हैं। उनकी निम्न पंक्तियाँ रसखानकी *'छछियाभरि छाछपै नाच नचावैं'* की स्मृतिको ताजा बनाती हैं—

वही परब्रह्म मेरे कान्ह हैं,
जो प्रेमवश छाछ को भी दौड़-दौड़ आते हैं॥

(भाव १८)

कभी वे अपनी प्रेम-पीड़ाको, भगवान्‌के प्रति आतुरताको सूरकी गोपियोंकी भाषामें स्वर देते हैं, वियोगकी अग्निमें भगवत्प्रेम स्वर्णकी भाँति तपकर कुन्दन-जैसा निर्मल बन जाता है—

तरपत बीते दिन रैन।
कीजे जतन अब वेगि सुधाकर, ज्यों मन पावे चैन॥

(शृङ्गार-पद २)

भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अपने प्रेमकी अनन्यताको वे इस प्रकार स्वर देते हैं—

प्रेमके पुजारी हम अनोखे 'सुधाकर' हैं,
बूड़े प्रेम सिन्धुमें हैं, जिसकी है थाह ना।

(शृङ्गार-पद ३१)

श्रीकृष्णके अनन्य भक्त होनेके साथ सुधाकरजीने उदार मनसे भगवत्प्रेमके रूपमें राम, शिव, गणेश, सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा आदि सभी देवी-देवताओंकी स्तुति की है। सुधाकरजीके भगवत्प्रेम-प्रधान गीतकाव्य पद-शैलीमें मिलते हैं। उनके पदोंमें भगवत्प्रेमकी पराकाष्ठा, तन्मयता, गेयता और संगीतात्मकता है, जो भक्तजनोंके हृदय-तन्त्रीके तारोंको झंकृत कर देती है। सुधाकरजी हिन्दीके संरक्षक, देशभक्त तथा महान् कृष्णभक्त कविके रूपमें अपने भगवत्प्रेमसे सदैव याद रहेंगे।

(२)

प्रेममें आबद्ध रामलला ओरछा आये

(डॉ० श्रीलखनलालजी खरे, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

ओरछा (वर्तमानमें मध्यप्रदेशके टीकमगढ़ जनपदमें)-के कृष्णभक्त नरेश मधुकरशाह (वि०सं० १६११ से १६४९) और उनकी श्रीरामभक्त महारानी गणेशकुँअरिमें भक्तिचर्चा चल रही थी, भक्तिभावनामें विनोद हो रहा था। परस्पर अपने-अपने आराध्यदेवको श्रेष्ठ बताया जा रहा था। महाराज वृन्दावनयात्रामें साथ चलनेका महारानीसे आग्रह कर रहे थे, किंतु वे अयोध्या जानेपर अडिग थीं। आवेशित नरेशने व्यंग्य किया—'रामसे इतना प्रेम है तो अबकी बार अवधसे अपने इष्टको लेकर ही ओरछा आना अन्यथा मुँह न दिखाना।' बात चुभ गयी, फिर भी उन्होंने महाराजकी चुनौती स्वीकार कर ली—'यदि मैंने मन-क्रम-वचनसे श्रीरामके चरणोंमें प्रेम किया है तो मेरे प्रभु अवश्य ही मेरे साथ ओरछा आयेंगे।' राजगुरुने श्रीराम-कृष्णके अभेद स्वरूपसे राजा-रानीको अवगत कराया, समझाया, परंतु राम-प्रेमकी दीवानी महारानी गणेशकुँअरिने अपना हठ नहीं छोड़ा। रथ और पालकी आदि वाहनोंका त्यागकर अङ्गरक्षकोंके संरक्षणमें रानीने राम-राम जपते हुए ओरछासे अयोध्याकी पदयात्रा प्रारम्भ कर दी।

मार्गके असहनीय कष्टोंको हँसकर गले लगाती हुई महारानी अयोध्या पहुँचीं और लक्ष्मणकिलेके पास सरयू नदीके किनारे कठोर तपमें लीन हो गयीं। एक माह व्यतीत हो गया। सुकुमार अङ्गोंवाली महारानी कृशकाय हो गयीं, किंतु प्रभुके दर्शन तो दूर, उनकी कृपाका आभास भी न हुआ। निराश रानीने जलसमाधि लेनेका निर्णय कर लिया और अर्द्धरात्रिकी नीरवतामें पावन सरयूकी अतल जलराशिमें छलाँग लगा दी। किंतु आश्चर्य! उछलकर तटपर आ लगीं। पुनः जलमें कूदनेका उपक्रम और पुनः तटकी प्राप्ति। तीन बारके इस क्रममें महारानी अचेत हो गयीं। निमीलित नेत्रोंमें

स्वप्न सज उठे—आनन्दकन्द कौसल्यानन्दन स्वयं प्रकट होकर स्मितवदन कह रहे हैं—'मैं चलूँगा तुम्हारे साथ ओरछा, पर तीन वचन देने होंगे—१-पुष्य नक्षत्रमें ही मात्र यात्रा करूँगा, २-जहाँ एक बार स्थापित हो जाऊँगा, वहीं रहूँगा और ३-ओरछा राज्य मेरा होगा। तुम्हारा राजवंश मेरे प्रतिनिधिके रूपमें राज्य करेगा।' महारानीने सहर्ष स्वीकार कर लिया। प्रेमाश्रु झरने लगे। तन्द्रा भंग हुई, निःशब्द रजनी और सरयूकी मन्द-मन्द प्रवाहित लहरोंके सिवा कुछ नहीं। विफलताकी स्मृतिने उन्हें पुनः सरयूमें कूदनेको बाध्य कर दिया। पर अबकी बार रामलला उनकी गोदमें थे। महारानीकी प्रसन्नताका पारावार न रहा।

श्रावण शुक्ल ५, वि०सं० १६३०को शुभ मुहूर्तमें साधुओंकी संगतके साथ रामललाको गोदमें लिये महारानीने ओरछाके लिये प्रस्थान किया। महाराज मधुकरशाहने सूचना प्राप्त होते ही भव्य मन्दिरका निर्माण प्रारम्भ करवा दिया। ८ माह २७ दिनकी यात्रा पूर्ण कर चैत्र शुक्ल ९, भौमवार, सं० १६३१ को राघवेन्द्र सरकार ओरछा पधारे। रानीको दूसरा वचन विस्मृत हो गया और प्रेमातिशयके कारण उन्होंने अपने प्रभुको अपने महलमें विराजमान कर दिया। तबसे रामलला सरकारका शुभ निवास रानी-महलमें ही है। तत्पश्चात् रामललाके लिये निर्मित मन्दिरमें चतुर्भुज भगवान्‌की प्रतिष्ठा की गयी। इतिहासविदोंकी मान्यता है कि अयोध्यामें रामजन्मभूमिमें प्रतिष्ठित प्राचीन प्रतिमा यही है, जो ओरछामें है और जिसे मूर्तिभंजकोंके भयसे सरयूमें विसर्जित कर दिया गया था।

भक्तके प्रेमपाशमें आबद्ध भक्तवत्सल प्रभुको अपने धामसे भक्तकी नगरीमें आकर बसना पड़ा! ओरछा साकेत-धाम बन गया। ज्येष्ठ शुक्ल ११, गुरुवार, सं० १६४२ में महारानीने अपनी पार्थिव देहका त्याग किया और अपने इष्टदेवमें लीन हो गयीं। धन्य है प्रभुकी महिमा और धन्य है भक्तका प्रेम!

* * *

साधनोपयोगी पत्र

(१)

संन्यासी और स्त्री

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र पढ़कर आश्चर्य हुआ, साथ ही खेद भी। दूसरोंको धर्मका उपदेश देनेवाले लोग भी यदि स्वयं ही स्वधर्मका पालन न करें तो वे अपना और दूसरेका क्या उद्धार कर सकते हैं? यदि कोई मनुष्य वीतराग संन्यासीका बाना धारण करके भी स्त्रियोंसे शरीरका स्पर्श कराता है तो वह न केवल स्वधर्मसे भ्रष्ट होता है, अपने संसर्गमें आनेवाले अन्य स्त्री-पुरुषोंको भी पापका भागी बनाता है। वे स्त्रियाँ भी अपनेको नरकमें ले जा रही हैं, जो संन्यासीके अङ्गका स्पर्श करके उसे तो धर्मभ्रष्ट करती ही हैं, स्वयं भी परम पवित्र सतीधर्मसे गिरकर दूसरोंके लिये बुरा आदर्श उपस्थित करती हैं। शास्त्रोंने संन्यासीको सदा अकेला रहनेकी सलाह दी है—'**एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः।**' (श्रीमद्भा० ११।१८।२०) अर्थात् 'संन्यासी अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखकर सङ्गरहित हो अकेला ही इस पृथ्वीपर विचरे।' '**एकारामः**' (याज्ञ० स्मृति ३।५८) 'अकेलेमें ही सुखका अनुभव करनेवाला हो।' दक्षस्मृतिमें लिखा है—

एको भिक्षुर्यथोक्तश्च द्वावेव मिथुनं स्मृतम्।
त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते॥

'संन्यासी यदि अकेला रहे तो वास्तवमें संन्यासी है। दो होनेपर वह मिथुनयुक्त समझा जाता है। तीन संन्यासी एकत्र हो जायँ तब तो पूरा गाँव ही बस गया और इससे अधिक इकट्ठे हों तो वह उनके लिये एक बड़ा-सा नगर समझना चाहिये।'

संन्यासीके लिये यह स्पष्ट आदेश है कि वह स्त्रीसे दूर रहे। जीती-जागती स्त्रीकी तो बात ही क्या है, काठकी बनी हुई युवती स्त्रीकी प्रतिमाका भी पैरसे भी स्पर्श न करे। जैसे हाथी काठकी हथिनीके अङ्गका स्पर्श करके बँध जाता है, वैसे ही वह संन्यासी बन्धनमें पड़ सकता है।

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि।
स्पृशन् करीव बद्ध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः॥

(श्रीमद्भा० ११।८।१३)

नारद-पारिव्राजकोपनिषद्में संन्यास-धर्मकी बड़े विस्तारसे व्याख्या की गयी है। उसमें लिखा है—

माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति।
तस्माद् दृष्टिविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत्॥
सम्भाषणं सह स्त्रीभिरालापं प्रेक्षणं तथा।
नृत्यं गानं सहासं च परिवादांश्च वर्जयेत्॥

(६।३१-३२)

'मनुष्य मदिराको तो पीनेपर मतवाला होता है, परंतु तरुणी स्त्रीको देखकर ही उन्मत्त हो उठता है। इसलिये दर्शनमात्रसे विषका-सा प्रभाव डालनेवाली नारीको संन्यासी दूरसे ही त्याग दे। स्त्रियोंके साथ बातचीत करना, उनके पास संदेश भेजना, उनकी ओर देखना, नाचना, गाना, हास-परिहास करना तथा परायी निन्दा करना—संन्यासी इन सबका त्याग कर दे।'

नारदजीने यहाँतक कहा है कि—

न सम्भाषेत् स्त्रियं काश्चित् पूर्वदृष्टां च न स्मरेत्।
कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येल्लिखितामपि॥
एतच्चतुष्टयं मोहात् स्त्रीणामाचरतो यतेः।
चित्तं विक्रियतेऽवश्यं तद्विकारात् प्रणश्यति॥

(४।३-४)

'संन्यासी किसी भी स्त्रीसे बातचीत न करे। पहलेकी देखी हुई किसी भी स्त्रीका स्मरणतक न करे। उनकी चर्चासे भी दूर रहे तथा स्त्रियोंका चित्र भी न देखे। सम्भाषण, स्मरण, चर्चा तथा चित्र-दर्शन—स्त्री-सम्बन्धी इन चार बातोंका जो मोहवश आचरण करता है, उसके चित्तमें अवश्य विकार उत्पन्न होता है और उस विकारसे वह धर्मभ्रष्ट होनेके कारण नष्ट हो जाता है।'

इसी प्रकार स्त्रीकी शारीरिक और मानसिक स्थितिपर विचार करते हुए धर्मशास्त्रोंने उसे सदा अपने गुरुजनोंके अधीन रहनेकी सलाह दी है, वह कभी स्वतन्त्रतापूर्वक कोई काम न करे—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित् कार्यं गृहेष्वपि॥

(मनु० ५।१४७)

स्त्री बचपनमें पिताके, युवावस्थामें पतिके और वृद्धावस्थामें यदि पति न रहे तो पुत्रोंके अधीन रहे; स्वतन्त्र न रहे—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम्॥

(मनु० ५।१४८)

पति ही उसे इहलोक और परलोकमें सुख देनेवाला है—

सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः।

(मनु० ५।१५३)

स्त्रीको अपने पतिकी देवबुद्धिसे सेवा करनी चाहिये—

उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः।

(मनु० ५।१५४)

स्त्रियोंके लिये पतिसे अलग स्वतन्त्ररूपसे कोई यज्ञ, व्रत और उपवास करनेकी विधि नहीं है; वह पतिकी जो सेवा करती है, उसीसे स्वर्गलोकमें सम्मानित होती है—

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥

(मनु० ५।१५५)

पति ही स्त्रियोंका गुरु है, इस विषयमें शास्त्रोंमें बहुत-से प्रमाण मिलते हैं; वे सभी यथार्थ एवं मान्य हैं। प्रातःस्मरणीया भगवती सीताजीने भी पतिको गुरु कहा है—**'यो मे भर्ता स मे गुरुः।'** **'विदितं तु ममाप्येतद् यथा नार्याः पतिर्गुरुः।'** पतिकुलमें रहना ही स्त्रियोंके लिये गुरुकुलमें वास है—**'पतिसेवा गुरौ वासः।'** मनुजीने तो यहाँतक कह दिया है कि पति, पिता, भाई अथवा पुत्रसे पृथक् अकेली विचरनेवाली स्त्री अपने दोनों कुलोंको कलङ्कित कर देती है—**'गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले।'**

आजकल स्त्रियोंको आत्मकल्याण करनेके नामपर उन्हें उनके धर्मसे गिराकर भ्रष्ट किया जाता है। शास्त्र कहता है—पुरुष अत्यन्त कष्ट सहन करके बड़े-बड़े धर्म और यज्ञके द्वारा जिस पुण्यलोकको प्राप्त करता है, उसे ही स्त्री केवल पतिसेवासे पा लेती है, इसलिये स्त्रियाँ धन्य हैं—

योषिच्छुश्रूषणाद् भर्तुः कर्मणा मनसा गिरा।
तद्धिता शुभमाप्नोति तत्सालोक्यं यतो द्विजाः॥
नातिक्लेशेन महता तानेव पुरुषो यथा।
तृतीयं व्याहृतं तेन मया साध्विति योषितः॥
(विष्णुपु० ६।२।२८-२९)

कहीं भी शास्त्रमें ऐसा विधान नहीं है कि स्त्री पातिव्रत्य धर्म छोड़कर किसी संन्यासीकी चरणसेवा करके आत्मज्ञानका उपदेश ले।

तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥

पार्वतीजीके इस कथनका यह अर्थ नहीं कि पतिकी आज्ञाकी अवहेलना करके स्वयं बनाये हुए किसी दम्भी गुरुकी आज्ञासे नारी स्वधर्म छोड़ दे और संन्यासीके साथ विचरती रहे। उपर्युक्त चौपाईमें सतीशिरोमणि सतीके अविचल पति-प्रेमका उदाहरण है। नारदने यही तो कहा था कि 'भगवान् महेश्वरको पतिरूपमें पानेके लिये पार्वती तपस्या करे।' इससे 'पति' की उच्चता और दुर्लभता सिद्ध होती है। जैसे कोई भक्त कहे कि हम भगवान्के कहनेसे भी उनकी भक्ति नहीं छोड़ेंगे तो इस कथनसे उसकी अतिशय भक्ति ही सूचित होती है, न कि भगवद्द्रोह। इसी प्रकार सतीने कहा—मैं महेश्वरके कहनेसे भी उनके प्रति प्रेम तथा उनकी प्राप्तिके लिये साधन नहीं छोड़ूँगी। सप्तर्षिलोग भी तो गुरु बनकर ही आये थे और महेश्वरमें जो प्रेम है, उसे छोड़नेका सदुपदेश दे रहे थे; परंतु पार्वतीने उनको दूरसे ही नमस्कार किया; पतिप्रेमके विरुद्ध कोई उपदेश मान्य नहीं। ***'बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥'***का अडिग निश्चय सुनकर वे महर्षिगण चलते बने। फिर सतीको उपदेश देनेका साहस नहीं किया; उलटे उस पतिव्रताकी स्तुति करके गये। भगवद्भक्तिमें स्त्री-पुरुष सभीका अधिकार है, पर उसमें पतिसेवा छोड़नी नहीं पड़ती। पतिमें ही भगवद्भाव करके सेवा की जाती है।

शास्त्रोंमें गुरुकी बड़ी महिमा है। पुरुषको भी गुरुकी शरण लेकर उनसे आत्मज्ञानका उपदेश लेना चाहिये। पत्नीको पतिसेवासे ही सब कुछ मिल जाता है। पतिव्रताने सूर्यदेवको स्तम्भित कर दिया था। अनावृष्टिके समय पतिव्रता अनसूयाने अपने सतीत्वसे जल प्रकट करके प्रजाकी रक्षा की थी। ब्रह्मा, विष्णु, शिव सभी उसके पुत्र बन गये थे। पतिव्रता सावित्रीने पतिको मृत्युके मुखसे बचा लिया था। पातिव्रत्यकी शक्तिके सामने सारी शक्तियाँ नतमस्तक होती हैं।

किसे उपदेश न देना और किसे देना चाहिये? इस विषयमें जो कुछ लिखा है तथा जो वचन उद्धृत किये गये हैं, उनसे यह नहीं सिद्ध होता कि स्त्रीको भी इस प्रकार उपदेश लेनेका अधिकार है; क्योंकि **'नास्तिकाय कृतघ्नाय दुर्वृत्ताय दुरात्मने'** इत्यादि वचनोंमें जितने विशेषण आये हैं, सब पुरुषके हैं। उनमें स्त्रीलिङ्गका प्रयोग नहीं है, अतः वे वचन पुरुषोंपर ही लागू होते हैं।

वे लिखते हैं—**'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'** इत्यादिके साथ **'पतिदेवो भव'** का उपदेश नहीं है। इसलिये उनकी रायमें 'पतिभक्ति' का उपदेश शास्त्रीय नहीं है। स्त्रीके लिये गुरुभक्तिका उपदेश शास्त्रीय है। बलिहारी है इस सूझकी।

वहाँ स्पष्ट लिखा है—**'वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति'**—अर्थात् 'वेदोंको पढ़ाकर अन्तमें आचार्य अपने शिष्यको उपदेश देते हैं।' यह स्पष्ट है कि वेद पढ़नेकी आज्ञा पुरुषोंको ही है। अतः उपनिषद्का वह आदेश ब्रह्मचारी बालकोंके लिये है, बालिकाओंके लिये नहीं। अतः **'पतिदेवो भव'** उपदेश वहाँ क्यों होता? **'आचार्यदेवो भव'** उपदेश यदि स्त्रीके लिये होता तो **'आचार्यदेवा भव'** लिखा जाता; **'आचार्यदेवो भव'** यह पुँल्लिङ्ग प्रयोग नहीं होता।

जहाँ स्त्री-धर्मका वर्णन है, वहीं स्पष्ट लिखा है कि स्त्री अपने पतिकी देवताकी भाँति पूजा करे।

उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः।
(मनु०)

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' बिना ज्ञानके मोक्ष नहीं होता, यह सत्य है; परंतु पतिव्रता स्त्रीको वह ज्ञान पातिव्रत्यसे ही प्राप्त हो जाता है। इस जन्ममें नहीं तो दूसरे जन्ममें। महाभारतमें पतिव्रता और धर्म-व्याध आदिके उपाख्यान प्रसिद्ध हैं। जो स्वधर्मके विपरीत स्त्रियोंसे अपनी सेवा कराते हैं, उनकी

सेवासे मोक्षदायक ज्ञान प्राप्त होगा, ऐसी आशा तो किसीको नहीं रखनी चाहिये। सच्ची पतिव्रता थोड़े ही समयमें सिद्धि-लाभ करके त्रिकालज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान भी प्राप्त कर लेती है। स्वयं भगवान् उसकी पतिभक्तिसे संतुष्ट होकर उसे तत्त्वज्ञान करा देते हैं और वह मोक्ष प्राप्त कर लेती है।

अतएव मेरी समझसे आपके बतलाये हुए उक्त संन्यासी महोदय भोली-भाली स्त्रियोंको बरगलाकर उनसे अनुचित लाभ उठा रहे हैं। इसका प्रतिवाद होना चाहिये। मेरी उन देवियोंसे प्रार्थना है कि वे उनके पास जाकर अपने धर्मपथसे च्युत न हों। शेष भगवत्कृपा।

(२)

सहनशील बनिये

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। उत्तरमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें। आपने अपनी स्थिति लिखी और संसारको छोड़कर अपने-आपको श्रीभगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर देनेकी इच्छा प्रकट की, सो भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर देना तो बहुत ही उत्तम है। मनुष्य यदि अपनेको सचमुच भगवान्‌के चरणोमें अर्पण कर दे तब तो फिर उसके लिये कुछ करना ही न रह जाय, पर भगवान्‌के अर्पण करनेका अर्थ घर छोड़कर कहीं चले जाना नहीं है। संसारमें जो आसक्ति है, जिसके कारण प्रतिकूलका सामना करना पड़ता है और प्रतिकूलतासे बचनेके लिये ही घर छोड़नेकी इच्छा होती है; उस आसक्तिका त्याग करना है। संसारके पदार्थोंसे आसक्ति निकल जानेपर पिताजीके द्वारा किये हुए तिरस्कारसे आपको दुःख नहीं होगा। सम्मान अच्छा लगता है, इसीलिये अपमानमें दुःख होता है। दुनियामें आपको किसी भी चीजसे मोह नहीं है, सो तो बहुत ही अच्छी बात है, पर जब मोह नहीं है, तब घरमें सब सौतेला-सा नजर क्यों आता है? या तो सब वस्तुओंसे वैराग्य होना चाहिये था या सभी पदार्थोंमें सदा-सर्वदा भगवान्‌को देखकर प्रेम और आनन्द होना चाहिये था। चित्तमें जो ऊबनेकी भावना आती है, वह मोहका ही एक परिणाममात्र है। जो कुछ भी हो, मेरी सम्मतिमें आप घरका परित्याग मत कीजियेगा। छोटी लड़की और उसकी माताके देख-रेखकी जिम्मेवारी आपके ऊपर है, उसे शान्ति तथा धीरजके साथ पूरी करते रहिये। श्रीभगवान्‌के नामका जप तथा विश्वासपूर्वक श्रीभगवान्‌से प्रार्थना कीजिये। प्रार्थनासे आपको बल मिलेगा तथा भगवान्‌की कृपासे आपके मार्गकी अड़चनें दूर होंगी।

दूसरी माताका आपके प्रति प्रेम कम है, सो स्वाभाविक ही है। इसे बुरा नहीं मानकर अपनी सेवा तथा सद्‌व्यवहारसे उनका हृदय बदलनेकी चेष्टा करनी चाहिये। आप निरन्तर सद्भावनापूर्वक सम्मानके साथ उनसे नम्र व्यवहार करेंगे और कुछ सहनशील बन जायँगे तो सम्भव है, आज जो उनकी प्रतिकूलता है बहुत अंशोंमें दूर हो जाय। शेष भगवत्कृपा।

~~~

‘सीख भजनकी रीति’

नारायन संसार मैं भूपति भये अनेक। मैं मेरी करते रहे ले न गये तृन एक॥
नारायन सतसंग कर सीख भजनकी रीति। काम क्रोध मद लोभ मैं गई आयु सब बीति॥
धन जोबन यौं जायगा जा बिधि उड़त कपूर। नारायन गोपाल भज क्या चाटे जग धूर॥
मर्यादा और त्याग का एक नाम है राम। उसमें जो मन रम गया रहा सदा निष्काम॥
तन तो ये साकेत है और हृदय है राम। श्वास श्वास में गूँजता रहे उन्हीं का नाम॥

(प्रेषक—श्रीरामशंकरजी ठाकुर)

~~~

व्रतोत्सव-पर्व

चैत्र कृष्णपक्ष (१९-३-२००३ से १-४-२००३ तक) सूर्य उत्तरायण, वसन्त-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	बुध	हस्त	१९ मार्च	काशीसे अन्यत्र होली, वसन्तोत्सव, होलिकाविभूति धारण, आम्रमञ्जरीप्राशन, सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि २-०१ बजेतक
द्वितीया	गुरु	चित्रा	२० ,,	तुलाके चन्द्रमा दिन १-१२ बजे, यायिजययोग रात्रि १२-२४ बजेसे, भद्रा रात्रि १०-५३ बजेसे
तृतीया	शुक्र	स्वाती	२१ ,,	भद्रा दिन ९-३९ बजेतक, श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय रात्रि ९-२८ बजे, सायन मेषके सूर्य दिन ८-०२ बजे, स्थायिजययोग रात्रि १०-४३ बजेसे
चतुर्थी	शनि	विशाखा	२२ ,,	वृश्चिकके चन्द्रमा दिन ३-२९ बजे, अनुदयारङ्गपञ्चमी, राष्ट्रीय चैत्रमासारम्भ, राष्ट्रीय शक १९२५ वर्षारम्भ, भारतीय नववर्ष दिन, यायिजययोग रात्रि ९-०६ बजेसे रात्रि शेष ५-०५ बजेतक
पञ्चमी	पञ्चमी	तिथिका क्षय		चतुर्थी तिथि प्रातः ७-१५ बजेतक तदुपरि पञ्चमी तिथि रात्रि शेष ४-५५ बजेतक, सूर्योदय प्रातः ६ बजे, सूर्यास्त सायं ६ बजे
षष्ठी	रवि	अनुराधा	२३ ,,	स्कन्दषष्ठी (बंगाल), रवियोग रात्रि ७-३४ बजेसे, भद्रा रात्रि २-४४ बजेसे
सप्तमी	सोम	ज्येष्ठा	२४ ,,	भद्रा दिन १-४३ बजेतक, धनुके चन्द्रमा सायं ६-१४ बजे, रवियोग सायं ६-१४ बजेतक
अष्टमी	भौम	मूल	२५ ,,	वृद्ध अङ्गारकपर्व (बुढ़वामंगल उत्सव), अष्टकाश्राद्ध, श्रीशीतलाष्टमीव्रत, स्थायिजययोग सायं ५-११ बजेसे रात्रि ११-०४ बजेतक
नवमी	बुध	पू० षा०	२६ ,,	मकरके चन्द्रमा रात्रि १०-२४ बजे, नवमी तिथि रात्रि ९-४५ बजेतक
दशमी	गुरु	उ० षा०	२७ ,,	दशमी तिथि रात्रि ८-५१ बजेतक, उत्तराषाढ़ नक्षत्र सायं ४-१० बजेतक, भद्रा दिन ९-२० बजेसे रात्रि ८-५१ बजेतक
एकादशी	शुक्र	श्रवण	२८ ,,	कुम्भके चन्द्रमा रात्रि शेष ४-३९ बजे, पापमोचनी एकादशीव्रत (सबका), सर्वार्थसिद्धियोग सायं ४-१९ बजेतक, श्रवण नक्षत्र सायं ४-१९ बजेतक, पञ्चक आरम्भ रात्रि शेष ४-४० बजेसे
द्वादशी	शनि	धनिष्ठा	२९ ,,	धनिष्ठा नक्षत्र सायं ४-५९ बजेतक, द्वादशी तिथि रात्रि ८-३३ बजेतक, द्विपुष्करयोग सायं ४-५९ बजेतक
त्रयोदशी	रवि	शतभिषा	३० ,,	प्रदोषव्रत, मासशिवरात्रिव्रत, वारुणीपर्वयोग सायं ६-०९ बजेतक, भद्रा रात्रि ९-१३ बजेसे
चतुर्दशी	सोम	पू० भा०	३१ ,,	भद्रा दिन ९-४४ बजेतक, मीनके चन्द्रमा दिन १-१६ बजे, रेवती नक्षत्रके सूर्य रात्रि ११-३० बजे
अमावास्या	भौम	उ० भा०	१ अप्रैल	स्नान-दान-श्राद्धकी अमावास्या, भौमवती अमावास्या, अमावास्या तिथि रात्रि ११-५० बजेतक

चैत्र शुक्लपक्ष (२-४-२००३ से १६-४-२००३ तक) सूर्य उत्तरायण, वसन्त-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	बुध	रेवती	२ अप्रैल	मेषके चन्द्रमा रात्रि १२-१३ बजे, वासन्तनवरात्र आरम्भ, कलशस्थापन, ध्वजारोपण, वर्षपतिपूजा, पञ्चाङ्गफल-श्रवण (संवत् २०६० प्रारम्भ) 'दुर्मुख' नाम संवत्सर, नववर्ष आरम्भ, धर्मघटदान, गुडीपड़वा (दक्षिण भारत), वायुपरीक्षण, सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि १२-१३ बजेतक, पञ्चक समाप्त रात्रि १२-१३ बजे
द्वितीया	गुरु	अश्विनी	३ ,,	चन्द्रदर्शन, अश्विनी नक्षत्र रात्रि २-४८ बजेतक
तृतीया	शुक्र	भरणी	४ ,,	मत्स्यावतार (दोपहर), सौभाग्यसुन्दरीव्रत, गणगौरीव्रत (राजस्थान), गौरी दोलोत्सव, सरहुल (बिहार), झूलेलाल-जयन्ती, रवियोग रात्रि शेष ५-२६ बजेसे, तृतीया तिथि रात्रि शेष ५-५० बजेतक, भरणी नक्षत्र रात्रि शेष ५-२५ बजेतक
चतुर्थी	शनि	कृत्तिका	५ ,,	वृषके चन्द्रमा दिन १२-०१ बजे, वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, श्रीगणेशदमनकोत्सव, रवियोग सायं ६-११ बजेतक, भद्रा सायं ६-४८ बजेसे
चतुर्थी	रवि	कृत्तिका	६ ,,	भद्रा प्रातः ७-४४ बजेतक, चतुर्थी तिथि प्रातः ७-४४ बजेतक, कृत्तिका नक्षत्र प्रातः ७-५२ बजेतक, श्रीरामराज्यमहोत्सव (कर्कलग्न), रवियोग प्रातः ७-५२ बजेतक तदुपरि यायिजययोग
पञ्चमी	सोम	रोहिणी	७ ,,	मिथुनके चन्द्रमा रात्रि ११ बजे, कल्पादि पञ्चमी, श्रीपञ्चमी, लक्ष्मीपूजन, श्रीस्कन्ददमनकोत्सव, यायिजययोग दिन १०-०५ बजेतक
षष्ठी	भौम	मृगशिरा	८ ,,	श्रीसूर्यषष्ठीव्रत (बिहार), रवियोग दिन ११-५३ बजेतक
सप्तमी	बुध	आर्द्रा	९ ,,	श्रीभास्करका दमनकपूजा, श्रीभवान्युत्पत्ति, श्रीअन्नपूर्णापरिक्रमा दिन ११-२७ बजेसे, भद्रा दिन ११-२७ बजेसे रात्रि ११-३३ बजेनक
अष्टमी	गुरु	पुनर्वसु	१० ,,	कर्कके चन्द्रमा प्रातः ७-५२ बजे, व्रतकी अष्टमी, तारा अष्टमी, ब्रह्मपुत्र नदीमें स्नान, अशोककलिका प्राशन, श्रीदुर्गानवमी, श्रीअन्नपूर्णापरिक्रमा दिन ११-४७ बजेतक, सर्वार्थसिद्धियोग दिन २-०५ बजेतक तदुपरि रवियोग, अष्टमी तिथि दिन ११-४० बजेतक
नवमी	शुक्र	पुष्य	११ ,,	श्रीरामनवमीव्रत, कर्कलग्न (दोपहर)-में श्रीरामजन्ममहोत्सव, अयोध्यामें श्रीरामजन्मभूमिदर्शन, रामावतार, नवरात्रव्रतकी पारणा, नवमी तिथि दिन ११-२४ बजेतक
दशमी	शनि	अश्लेषा	१२ ,,	सिंहके चन्द्रमा दिन २-१८ बजे, रवियोग तथा यायिजययोग दिन १०-३९ बजेसे दिन २-१८ बजेतक, भद्रा रात्रि १०-०४ बजेसे
एकादशी	रवि	मघा	१३ ,,	भद्रा दिन ९-२९ बजेतक, कामदा एकादशीव्रत (सबका), श्रीविष्णुदोलोत्सव, यमघंटयोग दिन २-०७ बजेतक
द्वादशी	सोम	पू० फा०	१४ ,,	एकादशीव्रतकी पारणा प्रातः ७-५४ बजेतक, द्वादशी तिथि प्रातः ७-५४ बजेतक, कन्याके चन्द्रमा सायं ६-३१ बजे, सोमप्रदोषव्रत, श्रीअनङ्गव्रत, अश्विनी नक्षत्र तथा मेषराशिके सूर्य दिन १२-५० बजे, हरिद्वारमें अथवा काशीमें असीसंगम-स्नान, सक्तु-व्यजन-जलकुम्भ आदिका दान, खरमास समाप्त
त्रयोदशी	भौम	उ० फा०	१५ ,,	सौर वैशाखमासारम्भ, वङ्ग सन् १४१० साल प्रारम्भ, श्रीमहाबीर-जयन्ती (जैन), भद्रा रात्रि ३-५० बजेसे
चतुर्दशी	चतुर्दशी	तिथिका क्षय		त्रयोदशी तिथि प्रातः ५-५८ बजेतक तदुपरि चतुर्दशी तिथि रात्रि ३-४९ बजेतक
पूर्णिमा	बुध	हस्त	१६ ,,	भद्रा दिन २-३९ बजेतक, तुलाके चन्द्रमा रात्रि ९-२१ बजे, स्नान-दान-व्रतकी पूर्णिमा, श्रीहनुमज्जयन्ती, सर्वदेवदमनकोत्सव, वैशाख स्नान-व्रत-यम-नियम प्रारम्भ, ओली समापन (जैन), सर्वार्थसिद्धियोग दिन १०-०९ बजेतक

व्रतोत्सव-पर्व

वैशाख कृष्णपक्ष (१७-४-२००३ से १-५-२००३ तक) सूर्य उत्तरायण, वसन्त-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	गुरु	चित्रा	१७ अप्रैल	वैशाखमासमें पौसरा चलवाना, जलघट-दान, तुलसीपत्रसे विष्णुपूजन, पीपलकी जड़को सींचना, यायिजययोग दिन ८-३३ बजेसे रात्रि ११-०४ बजेतक
द्वितीया	शुक्र	स्वाती	१८ ''	वृश्चिकके चन्द्रमा रात्रि ११-३७ बजे, स्वाती नक्षत्र प्रातः ६-५१ बजेतक तदुपरि विशाखा नक्षत्र रात्रि शेष ५-१३ बजेतक
तृतीया	शनि	अनुराधा	१९ ''	अनुराधा नक्षत्र रात्रि ३-४० बजेतक, श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय रात्रि ९-२८ बजे, यायिजययोग सायं ६-१६ बजेतक, भद्रा प्रातः ७-२७ बजेसे सायं ६-१६ बजेतक
चतुर्थी	रवि	ज्येष्ठा	२० ''	धनुके चन्द्रमा रात्रि २-१७ बजे, सायन वृषके सूर्य रात्रि ७-०३ बजे, सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि २-१९ बजेसे
पञ्चमी	सोम	मूल	२१ ''	राष्ट्रीय वैशाख मासारम्भ, सर्वदोषोपघातक रवियोग रात्रि १-११ बजेसे
षष्ठी	भौम	पू० षा०	२२ ''	वसुन्धरा दिवस, रवियोग रात्रि १२-२० बजेतक, भद्रा दिन १२-२२ बजेसे रात्रि ११-४१ बजेतक
सप्तमी	बुध	उ० षा०	२३ ''	मकरके चन्द्रमा प्रातः ६-१८ बजे, बाबू कुँवरसिंह-जयन्ती (बिहार राज्य)
अष्टमी	गुरु	श्रवण	२४ ''	श्रीशीतलाष्टमीव्रत, मृत्युबाण सायं ६-४८ बजेसे, यायिजययोग रात्रि १२-०४ बजेसे
नवमी	शुक्र	धनिष्ठा	२५ ''	कुम्भके चन्द्रमा दिन १२-१९ बजे, मृत्युबाण रात्रि ७-२८ बजेतक, पञ्चक आरम्भ दिन १२-२० बजेसे, भद्रा रात्रि ९-४३ बजेसे
दशमी	शनि	शतभिषा	२६ ''	भद्रा दिन ९-४४ बजेतक, दशमी तिथि दिन ९-४४ बजेतक
एकादशी	रवि	पू० भा०	२७ ''	मीनके चन्द्रमा रात्रि ९-४९ बजे, भरणी नक्षत्रके सूर्य रात्रि शेष ५-०९ बजे, वरूथिनी एकादशीव्रत (सबका), श्रीवल्लभाचार्य-जयन्ती, त्रिपुष्करयोग दिन १०-२२ बजेसे रात्रि ३-१२ बजेतक तदुपरि सर्वार्थसिद्धियोग
द्वादशी	सोम	उ० भा०	२८ ''	द्वादशी तिथि दिन ११-२३ बजेतक, सोमप्रदोषव्रत, पुत्रकी कामनाके लिये श्रेष्ठव्रत, यायिजययोग दिन ११-२४ बजेसे, उत्तराभाद्रपद नक्षत्र रात्रि शेष ५-११ बजेतक
त्रयोदशी	भौम	रेवती	२९ ''	मासशिवरात्रिव्रत, भद्रा दिन १२-५५ बजेसे रात्रि १-४८ बजेतक
चतुर्दशी	बुध	रेवती	३० ''	पञ्चक समाप्त प्रातः ७-३० बजे, मेषके चन्द्रमा प्रातः ७-३० बजे, रेवती नक्षत्र प्रातः ७-३० बजेतक
अमावास्या	गुरु	अश्विनी	१ मई	स्नान-दान-श्राद्धकी अमावास्या, सर्वार्थसिद्धियोग दिन ९-३९ बजेतक

वैशाख शुक्लपक्ष (२-५-२००३ से १६-५-२००३ तक) सूर्य उत्तरायण, वसन्त-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	शुक्र	भरणी	२ मई	वृषके चन्द्रमा रात्रि ७-२० बजे, श्रीदामोदरदेवतिथि (असम)
द्वितीया	शनि	कृत्तिका	३ ''	चन्द्रदर्शन, शिवाजी-जयन्ती, त्रिपुष्करयोग दिन ३-१३ बजेतक, सर्वार्थसिद्धियोग दिन ३-१४ बजेसे
तृतीया	रवि	रोहिणी	४ ''	कल्पादि तृतीया, श्रीपरशुराम-जयन्ती, अक्षयतृतीया, तृतीया तिथि रात्रि १०-१३ बजेतक, जलकुम्भ-छत्र-व्यजन आदिका दान, श्रीबदरी-केदारयात्रा, काशीमें त्रिलोचन यात्रा, वर्षीतपासमापन (जैन)
चतुर्थी	सोम	मृगशिरा	५ ''	मिथुनके चन्द्रमा प्रातः ६-२५ बजे, वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, रवियोग तथा सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि ७-२३ बजे, भद्रा दिन १०-५३ बजेसे रात्रि ११-३१ बजेतक
पञ्चमी	भौम	आर्द्रा	६ ''	आद्यजगद्गुरुशङ्कराचार्य-जयन्ती, षट्पञ्चमीव्रत, रवियोग रात्रि ८-५१ बजेसे
षष्ठी	बुध	पुनर्वसु	७ ''	कर्कके चन्द्रमा सायं ३-३४ बजे, श्रीरामानुजाचार्य-जयन्ती, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर-जयन्ती, रवियोग रात्रि ९-४९ बजेतक, पुनर्वसु नक्षत्र रात्रि ९-४९ बजेतक
सप्तमी	गुरु	पुष्य	८ ''	श्रीगङ्गासप्तमी, सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि १०-१४ बजेतक, पुष्य नक्षत्र रात्रि १०-१४ बजेतक, भद्रा रात्रि १२-१४ बजेसे
अष्टमी	शुक्र	अश्लेषा	९ ''	भद्रा दिन ११-५९ बजेतक, सिंहके चन्द्रमा रात्रि १०-१२ बजे, रवियोग तथा स्थायिजययोग रात्रि १०-१३ बजेसे रात्रि ११-४७ बजेतक
नवमी	शनि	मघा	१० ''	श्रीसीतानवमी, श्रीजानकी जन्मोत्सव, रवियोग प्रातः ५-२६ बजेसे सायं ६-३४ बजेतक
दशमी	रवि	पू० फा०	११ ''	कन्याके चन्द्रमा रात्रि २-३६ बजे, कृत्तिका नक्षत्रके सूर्य रात्रि १२-०६ बजे, सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि ८-५५ बजेसे
एकादशी	सोम	उ० फा०	१२ ''	श्रीमोहिनी एकादशीव्रत (सबका), भद्रा प्रातः ७-४० बजेसे सायं ६-४३ बजेतक
द्वादशी	भौम	हस्त	१३ ''	भौमप्रदोषव्रत, ऋणसे छुटकारा प्राप्त करने-हेतु श्रेष्ठव्रत, पिपीतकीद्वादशीव्रत, रुक्मिणीद्वादशीव्रत, द्वादशी तिथि सायं ४-३० बजेतक
त्रयोदशी	बुध	चित्रा	१४ ''	तुलाके चन्द्रमा प्रातः ५-३२ बजे, श्रीनृसिंहचतुर्दशीव्रत
चतुर्दशी	गुरु	स्वाती	१५ ''	व्रतकी पूर्णिमा, कूर्म-जयन्ती, सायन वृषराशिके सूर्यकी संक्रान्ति दिन ११-१४ बजे, पुण्यकाल दोपहरतक, गोदावरीमें स्नान तथा तिल-गौ-अन्नका दान, चतुर्दशी तिथि दिन ११-४२ बजेतक **'ग्रीष्म-ऋतु'**
पूर्णिमा	शुक्र	विशाखा	१६ ''	वृश्चिकके चन्द्रमा प्रातः ७-४८ बजे, सौर ज्येष्ठमास, स्नान-दानकी पूर्णिमा, वैशाख व्रत-यम-नियम समाप्त, बुद्ध-जयन्ती, बुद्धपूर्णिमा, पुष्करादेवीजन्म, पूर्णिमा तिथि दिन ९-१५ बजेतक

पढ़ो, समझो और करो

(१)

'राम नाम मुद मंगलकारी'

राम-नामके अवलम्बन तथा सच्चे संतके दर्शन, सत्संग और सांनिध्यसे सहज ही मानव-जीवनमें बड़े-बड़े चमत्कार हो जाते हैं। परमेश्वर भगवद्भक्तको जीवनमें अनेक महत्त्वपूर्ण अवसरोंपर अपनी अनन्य कृपाकी छटा भी दिखाते रहते हैं। सत्संग-सेवन, सद्ग्रन्थोंके पारायण तथा 'कल्याण'के प्रेरक स्तम्भ 'पढ़ो, समझो और करो' में परमेश्वरकी अहैतुकी कृपाकी अनेक प्रेरणास्पद घटनाएँ जब पढ़नेमें आती हैं, तब सहज ही मोहमायासे ग्रस्त, गृहस्थ-जीवनके जंजालमें उलझे हुए सामान्य मनुष्यका मस्तक सच्चिदानन्द परमेश्वर एवं सच्चे संतोंके चरणोंमें झुक जाता है। ऐसी ही एक चमत्कारपूर्ण घटनाकी जानकारी मुझे मेरे घनिष्ठ मित्रके पुत्रने दी तो मैं रोमाञ्चित हुए बिना नहीं रह सका। उनके पुत्रके शब्दोंमें साररूपमें घटनाक्रम कुछ इस प्रकार है—

वर्ष १९९६ में मेरी आयु १८ वर्षकी थी। मैं बिगड़ैल स्वभावका नवयुवक था। अपराधियोंकी संगतके कारण मुझमें कई ऐब आ गये थे और मैं धीरे-धीरे और अधिक बुरी संगतमें फँसता जा रहा था। मेरे घरके सभी सदस्य, कॉलेजके प्राध्यापकगण, सहयोगी छात्र भी मेरी इस दुरवस्थापर व्यथित होते थे, किंतु मेरे अत्यधिक गुस्सैल, दुष्ट प्रवृत्तिका होनेके कारण मुझसे कुछ कहे बिना मन-ही-मन दुःखी होते रहते थे। घरवालोंसे भी अनबन होती रहती थी। इसीके कारण एक दिन मैं किसीको कुछ बताये बिना घरमें झगड़ा होनेपर घर छोड़कर दूर चला गया और वहाँ भी अपराधियों, गुण्डोंके साथ रहकर उन-जैसा ही जीवन व्यतीत करने लगा। मुझे इस दौरान घरकी अथवा घरवालोंकी भी कोई याद नहीं आती थी। मेरे संगी-साथी धीरे-धीरे मुझे अपराध घटित करनेमें भी शामिल करने लगे। मैं निःसंकोच इसे ही अपने जीवनकी उपलब्धि मानते हुए क्षणिक भौतिक सुखकी तलाशमें यूँ ही भटकता रहा।

उधर मेरे घरमें मेरी दादी, मेरे पूज्य स्नेही पिताजी और ममतामयी माँ जो सभी राम-नामके उपासक थे, मेरे इस प्रकार अनायास चले जानेसे निरन्तर दुःखी और चिन्तित रहने लगे। उनका किसी भी काममें मन नहीं लगता था। मैं अपने पिताका ज्येष्ठ पुत्र हूँ। मुझसे उन सभीको बहुत आशाएँ और उम्मीदें थीं, लेकिन मैं उन सबकी परवाह किये बिना इस प्रकारसे दुःसंगतिमें पड़कर घरसे गायब हो गया। मेरे परिवारवाले इस घटनाके कारण किसीसे सिर उठाकर बात करनेमें संकोच करते थे। उन्हें यह दुःख सालता था कि पता नहीं परमेश्वर क्या करेंगे? लेकिन इतने भारी दुःख और मानसिक क्लेशके बाद भी उनके मनमें यह विश्वास पूर्ण दृढ़तासे सजीव था कि अन्ततः परमेश्वरकी कृपासे सब कुछ अच्छा ही होगा। वे संतोंकी इस अमृत वाणीपर भी विश्वास करते और बार-बार मनन करते थे कि 'जिसके सिरपर सदैव परमेश्वरका वरदहस्त हो, वह किसी प्रकारका दुःख नहीं पा सकता।'

वर्ष १९९७ में मेरे माता-पिता तीर्थ-सेवन एवं संतोंकी कृपा-प्राप्तिके उद्देश्यसे हरिद्वार गये और उनका दुःख सुनकर महात्माजनोंने निरन्तर राम-नामका जप करते रहनेका आग्रह किया तथा यह भरोसा दिलाया कि पुत्र कुशलसे है। कुसंगतमें पड़ गया है, शीघ्र ही सब कुछ ठीक हो जायगा। संतजनोंके ये उद्गार सुनकर माता-पिताको ऐसा लगा मानो किसीने उनके हृदयमें जल रही चिन्ता, दुःख और क्लेशकी अग्निको शीतल जलकी आनन्दमयी फुहारोंसे शान्त कर हृदयकमलको एकदम प्रफुल्लित कर दिया है। वे घर आकर प्रफुल्लित हृदयसे और अधिक गहनतासे राम-नामका आश्रय धारण कर मेरे वापस लौटनेकी प्रतीक्षा करने लगे।

उधर पहले जहाँ मुझे घरकी और घरवालोंकी कतई कोई स्मृति नहीं रह गयी थी, वहाँ अब बार-बार घरकी याद सताने लगी। जिन लोगोंके बीच मैं रहता, उठता, बैठता था, उनके वे ही काम मुझे अब घृणास्पद लगने लगे, जिन्हें मैं भी खुशी-खुशी बिना किसी संकोचके किया करता था। शनैः-शनैः मुझे अपने घर, माता-पिता एवं परिवारके अन्य सदस्योंकी याद और तीव्रतासे सताने लगी तथा मेरे स्वभावमेंसे गुस्सा भी धीरे-धीरे कम होने लगा। अपने उन साथियोंसे पीछा छुड़ाकर जल्दी-से-जल्दी वापस घर लौट जाऊँ, यह विचार भी मेरे मनमें प्रगाढ़ होने लगा। एक दिन मौका पाकर मैं अपने उन अपराधी, आवारा साथियोंको बिना बताये, चुपचाप अपने शहर जानेवाली बसमें बैठकर अगले दिन अपने घरपर पहुँच गया और अपनी माँ तथा पिताजीके चरणोंमें गिर पड़ा। मेरे परिवारवाले भी मुझे देखकर मेरे पिछले सारे बुरे कर्म एवं बुरी आदतोंको भूलकर भावविभोर हो मुझसे लिपट गये और मेरी वापसीको श्रीराम-नाम आराधनाकी प्रत्यक्ष कृपा एवं सच्चे संतके सांनिध्यका प्रताप मानने लगे। मुझमें बहुत परिवर्तन हो गया।

परमेश्वरकी कृपासे जहाँ श्रीराम-नामकी आराधना और सत्संग मेरी दिनचर्याका अभिन्न अंग बन गया, वहीं मैंने धीरे-धीरे अपने पिताजीका कारोबार भी पूरी दक्षताके साथ सँभाल लिया। अब मुझे लगने लगा है कि सच्चे संतके सत्संग एवं प्रभु-नामस्मरणके बिना मनुष्य-जीवन पूरी तरह नीरस एवं अपूर्ण है। — नवलकिशोर गर्ग

(२)

जितनी जल्दी बन पड़े....?

जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रय सूल।
सो कृपाल मोहि तो पर सदा रहउ अनुकूल॥

भगवत्कृपासे हमारे घरमें सभी लोग श्रद्धावान् और भगवत्प्रेमी हैं। प्रारम्भसे ही घरमें पूजा-पाठ, श्रीराम-श्रीकृष्णजन्मोत्सव आदि पर्व बड़े ही उत्साह और उमंगसे होते आये हैं। घरपर ही श्रीराममन्दिर, श्रीहनुमान्‌जी और श्रीशिवजीका भी मन्दिर है। सात्त्विक वातावरण और मन्दिरके चारों ओर अन्य श्रद्धालुओंके रहनेसे मनको शान्ति और बड़ा ही सुकून मिलता है।

घरके सामने हर मंगलवारको सुन्दरकाण्डका पाठ होता है। हम सब छोटे भाइयोंसहित वहाँ जाते और दोहे-चौपाइयोंको सुनकर आनन्दमें डूब जाते। उस समय हम भाई-बहन छोटे ही थे। धीरे-धीरे सुन्दरकाण्ड कण्ठस्थ होने लगा और घरपर मन्दिरमें ही हर शनिवारको घरके सभी बच्चे-बूढ़े तथा आस-पासके श्रद्धालु भक्त एकत्रित हो पाठ करने लगे।

इतना ही नहीं, प्रभुप्रेरणासे हम चार-पाँच छोटे भाई दूसरे मित्रोंके साथ घर-घर जाकर श्रीरामचरितमानसका पाठ करने लगे। जो चढ़ावा आता उससे श्रीरामचरितमानस ग्रन्थ खरीद लाते और शेष रुपये जमा कर लेते। जमा रुपयोंसे हम सब भाई हरिद्वार, ऋषिकेश, प्रयाग, चित्रकूट, अयोध्या, काशीजी जाकर भजन और सुन्दरकाण्डका पाठ करते तथा अलौकिक आनन्द प्राप्त करते।

ऐसे ही यात्राके क्रममें एक दिन चित्रकूट जाते समय हमने एक टाटा सूमो किरायेपर लेकर यात्रा की। रात्रिका समय था कि अचानक ड्राइवरने गाड़ी रोकी। उस समय हम सब कुछ नींदमें तो थे, पर भजन, श्रीहनुमानचालीसाका अस्फुट पाठ चल ही रहा था। हमने देखा कि गाड़ी एक बड़े नालेके बीचमें खड़ी है, जहाँ चारों ओर पानी-ही-पानी है और वह पानी हमारी गाड़ीके ऊपरतक आनेवाला है। गाड़ी बंद हो गयी और हम सभी जोरसे भगवन्नाम लेने लगे। थोड़ी देरतक यह क्रम चलता रहा, इधर ड्राइवर गाड़ी निकालनेके प्रयासमें था ही। कुछ ही देरमें रामजीकी ऐसी कृपा हुई कि गाड़ी स्टार्ट हो गयी, अब तो हम सभी बड़े आनन्द और जोर-शोरसे भगवद्भजन करने लगे।

ऐसी ही एक घटना हालहीमें दीपावलीके दूसरे दिन घटी। हम सभी रामायणपाठी भाई अपने काका-काकीके परिवारसहित सुन्दरकाण्डका पाठ करनेके लिये भोपालके पास अरोलिया गाँव जानेके लिये सुबह पाँच बजे वैनमें बैठकर निकले। सुबहके समय हम सभी श्रीहनुमानचालीसाका पाठ करते हुए जा रहे थे। मंगलवारका दिन था। सुबह साढ़े छः बजेके करीब आगे जा रहे ट्रककी गलतीके कारण हमारी वैन एक नालेके पुलसे करीब पाँच-दस कदम पहले फुटबालकी गेंदकी तरह लुढ़कती हुई सूखे नालेमें जा गिरी। भगवत्कृपासे हमें खरोंचतक नहीं आयी, परंतु आगे बैठे काका-काकीकी हालत देखकर हम सभी हतप्रभ और परेशान हो गये। भगवान्‌ने उस समय हमें अद्भुत शक्ति और सूझ-बूझ प्रदान की। हम दोनोंको पासके गाँवमें ले गये और उनका प्राथमिक उपचार कराया, तदनन्तर उन्हें इन्दौरके अस्पतालमें भर्ती कराया। काकाको अंदरूनी चोटें सीनेपर लगी थीं और काकीके सिरपर गम्भीर चोट थी। भगवत्कृपासे सभी सकुशल रहे। हमें श्रीरामचरितमानस-पाठ तथा रघुनाथजीकी कृपाका प्रत्यक्ष फल देखनेको मिला।

यह सब देखते-सुनते हुए हम इस निष्कर्षपर पहुँचे कि यह जरूरी नहीं है कि कोई घटना घटे तभी हम भगवान्‌का नाम लेंगे, भजन करेंगे। बल्कि भजनको तो जीवनका लक्ष्य बना लेना चाहिये, यह जब सहज रूपसे स्वतः ही होने लगे तो समझना चाहिये कि साधनाका पथ प्रशस्त हो रहा है। समयकी कीमत ज़ानकर, विवेक-ज्ञानसे शरीरकी नश्वरताको समझकर भगवान्‌के चरणोंमें प्रीति लगाना ही जीवनका फल है। इसलिये जितनी जल्दी बन पड़े, जैसे भी बन पड़े अपना रुख भगवान्‌की ओर कर लेना चाहिये।

—अजय नरेन्द्र व्यास

(३)

गरीब चपरासीकी ईमानदारी

घटना आजसे लगभग पाँच वर्ष पूर्वकी है, तब मैं जिला उपभोक्ता फोरम, गयामें स्टेनोके पदपर नियुक्त था। अक्सर ही मेरी आदत थी जब वेतन मिलता तो कार्यालयमें एक गोदरेज आलमारी, जिसका चाभी मेरे पास ही रहती थी, उसीके डबल लॉकमें रख देता था। मेरा घर देहातमें है इसलिये जब मैं घर जाने लगता तो आवश्यकतानुसार

उसमेंसे पैसा ले लिया करता।

कार्तिक पूर्णिमाके अवसरपर गयामें पशुमेला लगता है। उक्त मेलेसे मेरे बड़े भाई साहेब एवं मामाजीको एक बैल खरीदना था। उन्होंने मुझे कह दिया था कि बैल खरीदनेमें कुछ रुपये लगेंगे। मैंने भी सोच लिया था कि कार्यालयकी आलमारीमें मेरे पाँच हजार रुपये तो रखे ही हैं। अतः उसे मिलाकर बैल खरीद लिया जायगा। जब मैं कार्यालय आया और आलमारी खोली तो डबल लॉकमें रखे हुए बैगको निकालकर उसमें रखे रुपयोंको जब मैं निकालना चाहा तो रुपये मिले नहीं। मेरे माथेमें सन्नाटा छा गया। मैंने किसीसे कुछ भी नहीं कहा और बैगमें रखे सभी कागजातोंको उलट-पलटकर देखकर उसे पुनः आलमारीमें बंद कर दिया। कचहरीके बगलमें ही मेरे एक मित्रका मकान है, यदा-कदा मैं वहाँ ठहरता था। वहाँ एक छोटा-सा मेरा बक्सा भी रखा था। उसमें भी कुछ कागजात रखता था। उसे भी खोलकर देखा, सारे कागजातोंको उलट-पलटकर देखा, पर वहाँ भी रुपये नहीं थे। डेरेपर भी इस सम्बन्धमें मैंने किसीको कुछ नहीं बताया। मैं पुनः कार्यालय आया और आलमारी खोलकर उस बैगको निकालकर उसमें रखे कागजातको उलट-पलटकर देख रहा था। उसी समय मुझे बहुत परेशान देख कार्यालयके एक चपरासी रमाकान्तने मुझसे धीरेसे पूछा—स्टेनो बाबू! आप बहुत परेशान मालूम पड़ रहे हैं। क्या कुछ भुला गया है? मैंने कहा— हाँ, भाई! कुछ कागज भुला गया है। उसने पुनः पूछा कि क्या बात है, कौन कागज आपका भुलाया है? बतायें। मैंने कहा—मैंने पाँच हजार रुपये आलमारीमें बैगमें रखे थे, वे नहीं हैं। मेरी परेशानीको देखकर उसने कहा यहाँ रातके पहरेदारोंने रातमें जब टॉर्च जलाया तो देखा कि आपकी आलमारीके पास कुछ रुपये गिरे हुए हैं। उसने आकर मुझसे बात बतायी तो मैंने उससे कहा— इन रुपयोंको रख दो, हो सकता है ये स्टेनो बाबूके हों, क्योंकि उन्हींकी आलमारीके पास गिरे हुए हैं। मुझे यह पता नहीं है कि वे रुपये कितने हैं, परंतु उसे उसके बक्सेमें रखवा दिया है। चूँकि वह तो छुट्टीपर है सम्भवतः उसके बक्सेकी चाभी मेरे पास ही है। हम दोनों साथ-साथ कार्यालयमें ही रहते हैं। तब उसने अपने मित्रका बक्सा खोलकर रुपये निकालकर मेरे हाथमें दिये, मैंने गिनती की तो पूरे पाँच हजार रुपये थे। मैं बहुत प्रसन्न हुआ तथा उन दोनोंकी ईमानदारी देखकर दंग रह गया। मैंने महसूस किया कि आज भी इस धरतीपर ईमानदार एवं कर्तव्यनिष्ठ लोग हैं। जब भी मैं उन दोनोंको देखता हूँ और जब भी इस घटनाकी याद मुझे आती है तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है और मैं उन लोगोंकी ईमानदारीसे अभिभूत हो उनके मङ्गलकी कामना करता हूँ।

* * *

मनन करने योग्य

स्वर्गमें रखा हुआ पैर

रेलयात्राके दौरान भिन्न-भिन्न प्रकारके यात्रियोंसे थोड़े समयके लिये सम्पर्क होता है। कभी-कभी दिव्य व्यक्तित्ववाले सहयात्रीसे रेलयात्राके दौरान परिचय होता है और अल्प समयका यह सम्पर्क एक अमिट छाप छोड़ जाता है। एक ऐसी ही प्रेरक रेलयात्राके अनुभवका वर्णन प्रस्तुत है—

दिनाङ्क ३०-३-२००२ को मैं हावड़ासे दानापुरकी यात्रा पंजाबमेलसे कर रहा था। हावड़ा स्टेशनपर एक अमेरिकी-दम्पति ट्रेनमें सवार हुआ। उनके पास सामान अधिक था तथा मदद करनेके लिये कई लोग आये थे। उनके चेहरेपर एक अद्भुत मुस्कान थी तथा सबको वे प्रचुर धन्यवाद दे रहे थे। गाड़ी छूटनेके तुरंत बाद वे धार्मिक एवं लोकोपकारी किताबें मनोयोगपूर्वक पढ़ने लगे। बातचीतके दौरान पता चला कि वे वाराणसी जायँगे। पिछले एक माहसे वे भारतके विभिन्न शहरोंमें भ्रमण कर रहे थे।

वे भारतीय रेलवेकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे तथा उन्होंने यह भी बताया कि रेलवेकी लम्बी यात्राके दौरान उन्हें कहीं कोई दिक्कत नहीं हुई एवं सहयात्रियोंसे अपेक्षित सहयोग मिलता रहा। जब इस अमेरिकी-दम्पतिने वातानुकूलित प्रथम श्रेणीमें आरक्षित अपनी शायिकाओंके बारेमें ब्यौरा लिया तो पता चला कि एक नीचेवाली तथा एक ऊपरवाली बर्थ इनके लिये आरक्षित है। यह जानकर श्रीबिल शेडने धीमे स्वरमें अपनी सहधर्मिणी श्रीमती रूबीसे कहा कि वे ऊपरवाली शायिकापर चली जायँ। मैंने यह भाँप लिया कि बुजुर्ग सहयात्रीको ऊपरवाली शायिकापर चढ़ने-उतरनेमें असुविधा होगी। मैंने स्वेच्छासे श्रीबिल शेडको यह बताया कि ऊपरवाली शायिकापर मैं विश्राम कर लूँगा तथा नीचेवाली शायिका श्रीमती रूबीके लिये उपलब्ध रहेगी। यह सुनकर वे काफी प्रसन्न हुए और दोनों धन्यवाद देने लगे। मैंने उन्हें बताया कि भारतीय संस्कृतिमें बुजुर्गोंके लिये आदरपूर्ण व्यवहार संनिहित है तथा हमेशा यह खयाल

रखा जाता है कि बुजुर्गोंको कोई असुविधा या तकलीफ न हो। बातचीतके क्रममें मैंने उन्हें बताया कि मैं भारतीय रेलमें कार्यरत हूँ, इसलिये मेरा यह परम कर्तव्य है कि सहयात्रियोंको कोई कष्ट न पहुँचे। श्रीमती रूबी एवं श्रीबिल शेड मुझसे काफी प्रभावित हुए एवं भारतीय रेलके सुखद अनुभव बताने लगे। मैं ऊपरवाली शायिकापर विश्राम करने चला गया। देर रात जब मैं नीचे उतरा तो देखा कि एक पैर जिसमें जूता लगा था तथा पैंटसे ढका था बीचवाले टेबुलपर टिका हुआ है, जैसे किसी बैठे हुए यात्रीका पैर हो। श्रीबिल शेड गहरी निद्रामें सो रहे थे। यह देखकर मुझे भयमिश्रित आश्चर्य हुआ तथा कुछ देरतक अचम्भित रहनेके बाद मैं यह समझ पाया कि श्रीशेडका एक पैर अलग रखा था। इसके बावजूद उन्हें खड़े होने या चलनेमें कोई दिक्कत नहीं हो रही थी और न ही हाव-भाव या चालसे ही किसी तरहका संकेत मिल रहा था। उनके धीमे स्वर जिसमें उन्होंने अपनी धर्मपत्नीको ऊपरवाली शायिकापर चढ़नेके लिये क्यों कहा था, इसका रहस्य मुझे अब समझमें आया।

श्रीमती रूबी एवं श्रीबिलने बातचीतके क्रममें कभी भी पैरके बारेमें नहीं बतलाया और न ही इस विकलाङ्गताके लिये उन्हें तनिक भी दुःख था। गाड़ी जब पटना साहेब पहुँच रही थी तब शेडदम्पति जग चुके थे। मैंने सहमे ढंगसे श्रीशेडसे उनके कृत्रिम पैर, जो उनके सामने रखा था-के बारेमें जिज्ञासा की। श्रीशेडने मुसकराते हुए बताना शुरू किया, ····गरमीका मौसम था और उनकी शादीकी १४वीं वर्षगाँठ थी। लाल रंगकी मोटरसाइकिलपर सवार अपने १२ वर्षीय पुत्र फिलके साथ एक गलीके पास जानेके लिये बायीं ओर मोड़ लेनेके लिये रुके थे ताकि ट्रैफिक पास हो जाय। सहसा ब्रेककी कर्कश आवाज हुई और पवनभेदी शोरके साथ मोटरसाइकिल दुर्घटनाग्रस्त होकर चकनाचूर हो गयी। वहाँ सिर्फ अँधेरा-ही-अँधेरा था। ····योर्क अस्पतालमें उन्हें पता चला कि वे अपना बायाँ पैर सदाके लिये खोने जा रहे हैं; क्योंकि डॉक्टरने इसे काटकर हटा देनेका निर्णय लिया था। इस भीषण आघातके बाद भी उनके चेहरेपर तनिक भी घबराहट नहीं हुई। उन्होंने बिलकुल शान्तभावसे इस विषम एवं दुःखदायी स्थितिका सामना किया।

उनके पुत्र फिलको भी फ्रैक्चर हुआ था, लेकिन डॉक्टरने बताया कि उसके पैर काटनेकी जरूरत नहीं होगी लेकिन एक पैर थोड़ा छोटा हो जायगा। जिस समय श्रीबिल अपनी दुर्घटनाके सम्बन्धमें बता रहे थे उनके चेहरेपर हर्ष व्याप्त था। वे अपने भाग्य या ईश्वरको दोष नहीं दे रहे थे। उन्होंने बताया कि उनके धैर्य एवं सहनशीलताको देखकर डॉक्टर भी हैरान थे। इस तरहकी शान्ति एवं सहनशीलता प्रतिकूल परिस्थितिमें बरतना उनके स्वभावमें था। उन्होंने बताया कि जो ईश्वरको अपना पूरा जीवन एवं शरीर समर्पित कर देता है, उसे ईश्वरकी कृपा और उनकी इच्छाका अनुभव हर क्षण होता है।

उस दिन उन्होंने रूबीके साथ यह तय किया कि वे ईश्वरकी इच्छाको सहर्ष स्वीकार करेंगे और हर स्थितिमें महत्तम आनन्द उठायेंगे।

श्रीबिलने बताया कि वे इस दुर्घटनाको ईश्वरकी देन मानते हैं; क्योंकि दुर्घटनाके तुरंत बाद एक सज्जनने आनेवाले ट्रकको रोक दिया नहीं तो वे वाहनसे दबकर मर सकते थे। यह महज संयोग था कि एक नर्स अपने पतिके साथ उसी जगहसे जा रही थी, उन्होंने टुर्निकेटसे खूनके बहावको तत्काल रोका, जिससे इनकी स्थिति ज्यादा खराब नहीं हुई। यह सारा ईश्वरकी कृपासे ही सम्भव था।

श्रीबिल शेडने बताया कि अगर आप स्वेच्छासे ईश्वरको अपने जीवनमें समाविष्ट नहीं करते हैं तो आपका एक पैर हमेशा नरकमें रहेगा। श्रीबिलने यह बतलाया कि उनका एक पैर ईश्वरकी कृपासे स्वर्गमें रखा है और वे इस सौभाग्यपूर्ण स्थितिसे अद्भुत आनन्द उठा रहे हैं। वे ऐसा महसूस कर रहे हैं कि वे ईश्वरके साथ स्वर्गरूपी वाटिकामें विचरण कर रहे हैं।

श्रीबिलका जीवनके प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण एवं विपत्तिको हर्षमें परिवर्तित करनेकी कला उन तमाम व्यक्तियोंके लिये, जो शारीरिक रूपसे लाचार हैं अथवा विकलाङ्गताके शिकार हैं, एक प्रकाशकिरणके रूपमें तिमिराच्छन्न मानसिकताको आलोकित कर सकता है।

श्रीबिलके जीवनकी यह घटना विषम परिस्थितियोंमें भी अदम्य साहसका परिचय देती है। अनुकूल तथा प्रतिकूल प्रतीत होनेवाली प्रत्येक परिस्थितियोंमें प्रसन्न रहना तथा उसे प्रभुका कृपाप्रसाद मानकर जीनेका अभ्यास बन जाय तो सच्चा सुख दूर नहीं रहता। वस्तुतः ये परिस्थितियाँ तो आने-जानेवाली हैं। इनसे प्रभावित न होकर समभावमें रहनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

—प्रभातकुमार राय

* * *

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्धस्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

वर्ष ७७
गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ, वि० सं० २०६०, श्रीकृष्ण-सं० ५२२९, मई २००३ ई०
संख्या ५
पूर्ण संख्या ९१८

भगवान् साम्बसदाशिवकी मार्कण्डेयपर कृपा

आत्मन्यपि शिवं प्राप्तं तडित्पिङ्गजटाधरम्। त्र्यक्षं दशभुजं प्रांशुमुद्यन्तमिव भास्करम्॥
व्याघ्रचर्माम्बरधरं शूलखट्वाङ्गचर्मभिः। अक्षमालाडमरुककपालासिधनुः सह॥
नेत्रे उन्मील्य ददृशे सगणं सोमयाऽऽगतम्। रुद्रं त्रिलोकैकगुरुं ननाम शिरसा मुनिः॥
आह चात्मानुभावेन पूर्णकामस्य ते विभो। करवाम किमीशान येनेदं निर्वृतं जगत्॥
नमः शिवाय शान्ताय सत्त्वाय प्रमृडाय च। रजोजुषेऽप्यघोराय नमस्तुभ्यं तमोजुषे॥

(श्रीमद्भागवत १२। १०। ११-१२, १४, १६-१७)

मार्कण्डेयमुनिने देखा कि उनके हृदयमें तो भगवान् शङ्करके दर्शन हो रहे हैं। शङ्करजीके सिरपर बिजलीके समान चमकीली पीली-पीली जटाएँ शोभायमान हो रही हैं। तीन नेत्र हैं और दस भुजाएँ, लम्बा-तगड़ा शरीर उदयकालीन सूर्यके समान तेजस्वी है। शरीरपर बाघम्बर धारण किये हुए हैं और हाथोंमें शूल, खट्वाङ्ग, ढाल, रुद्राक्ष-माला, डमरू, खप्पर, तलवार एवं धनुष लिये हैं। जब उन्होंने आँखें खोलीं, तब देखा कि तीनों लोकोंके एकमात्र गुरु भगवान् शङ्कर श्रीपार्वतीजी तथा अपने गणोंके साथ पधारे हुए हैं। उन्होंने उनके चरणोंमें माथा टेककर प्रणाम किया और उनसे कहने लगे—'सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् प्रभो! आप अपनी आत्मानुभूति और महिमासे ही पूर्णकाम हैं। आपकी शान्ति और सुखसे ही सारे जगत्में सुख-शान्तिका विस्तार हो रहा है, ऐसी अवस्थामें मैं आपकी क्या सेवा करूँ? मैं आपके त्रिगुणातीत सदाशिव स्वरूपको और सत्त्वगुणसे युक्त शान्तस्वरूपको नमस्कार करता हूँ। मैं आपके रजोगुणयुक्त सर्वप्रवर्तक स्वरूप एवं तमोगुणयुक्त अघोर स्वरूपको नमस्कार करता हूँ।'

* * *

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,५०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ, वि०सं० २०६०, श्रीकृष्ण-सं० ५२२९, मई २००३ ई०

विषय	पृष्ठ-संख्या
१- भगवान् साम्बसदाशिवकी मार्कण्डेयपर कृपा	६३७
२- कल्याण (शिव)	६३९
३- भगवान्‌के निराकार-तत्त्वका रहस्य (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	६४०
४- भगवान् और प्रेम (ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज) [प्रेषक—प्रो० श्रीबिहारीलालजी टांटिया]	६४३
५- साधनाके विघ्न—भय और प्रलोभन (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	६४६
६- भक्ति एवं ज्ञानोत्तरा भक्ति (डॉ० श्रीश्यामाकान्तजी द्विवेदी एम्० ए०, एम्०एड्० पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)	६५०
७- साधकोंके प्रति— (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	६५३
८- द्वेष, परनिन्दा तथा घृणासे कैसे बचें? (श्रीगिरीशचन्द्रजी उप्रेती)	६५६
९- साधक-प्राण-संजीवनी (गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज)	६५७
१०- मनोभिराम भगवान् श्रीराम (श्रीगोपीकृष्णजी शर्मा, एम्० ए०, बी० एड्०, साहित्यालंकार)	६५९

विषय	पृष्ठ-संख्या
११- भूख लगी है [लीला-चिन्तन]	६६२
१२- 'हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी' (डॉ० श्रीसत्यपालजी गोयल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, आयुर्वेदरत्न)	६६३
१३- अमृतसे भी बहुमूल्य है श्रीमद्भागवतामृत (आचार्य डॉ० श्रीपवनकुमारजी शास्त्री, एम्० ए०,पी-एच्० डी०)	६६६
१४- मांसाहारद्वारा रोगोंको बुलावा (डॉ० श्रीपीरबख्शजी उस्ता) [प्रेषक—श्रीकालूरामजी मल्ल]	६६८
१५- *भक्तोंके पावन चरित*— प्रेमका पन्थ निराला—भक्त सालबेग (पं० श्रीरामकिशोरजी त्रिपाठी, एम्० ए०, श्रीमद्भागवताचार्य)	६७०
१६- साधनोपयोगी पत्र	६७२
१७- व्रतोत्सव-पर्व [ज्येष्ठमासके व्रत-पर्व]	६७४
१८- पढ़ो, समझो और करो	६७५
१९- मनन करने योग्य	६७८
२०- पतनमें उत्थानका भ्रम (सम्पादक)	६८०
२१- आगामी ७८वें वर्ष (सन् २००४ई०)-का विशेषाङ्क—'व्रतपर्वोत्सव-अङ्क'	६८१

* * *

चित्र-सूची

१- भक्तोंके परम आदर्श श्रीमारुति .... (रंगीन) .... आवरण-पृष्ठ

२- भगवान् साम्बसदाशिवकी मार्कण्डेयपर कृपा .... ('') .... मुख-पृष्ठ

* * *

वार्षिक शुल्क
भारतमें १२० रु०
सजिल्द १३५ रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$25 (Air Mail)
US$13 (Sea Mail)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

पञ्चवर्षीय शुल्क
भारतमें ६०० रु०
सजिल्द ६७५ रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$125 (Air Mail)
US$ 65 (Sea Mail)

संस्थापक— ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक— नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक— राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित
website : www.gitapress.org | e-mail : booksales@gitapress.org

Central Library
Kangri University
Hardwar-249401 (U.A.)

कल्याण

याद रखो—सच्ची शान्ति, सच्चे सुख और सच्ची सफलताका पूर्ण रहस्य ईश्वर-विश्वास या आत्मविश्वास है। जब तुम्हें यह विश्वास हो जायगा कि सुख, शान्ति और सफलता बाहरी परिस्थितियोंपर निर्भर नहीं करतीं, वे तुम्हारे आभ्यन्तरिक विश्वासपर ही निर्भर हैं, तब तुममें उस विलक्षण शक्तिका उदय हो जायगा, जो बाहरी परिस्थितियोंको बदल देगी और सुख, शान्ति तथा सफलता सहज ही तुम्हें प्राप्त हो जायगी।

याद रखो—जब तुम्हें भगवत्कृपापर विश्वास होगा और भगवान्के अनुकूल चलने लगोगे, तब समस्त ईश्वरीय शक्तियाँ तुम्हारी सहायता करने लगेंगी तथा सफलता तुम्हारे सामने घुटने टेककर अपनेको स्वीकार करनेके लिये प्रार्थना करने लगेगी।

याद रखो—जब तुम्हारा ईश्वरपर विश्वास हो जायगा, तब तुम्हें यह अनुभव होगा कि तुम्हारे सारे योगक्षेमका भार ईश्वर वहन कर रहे हैं, वे प्रत्येक पतनसे तुम्हारी रक्षा करते हैं, तब तुम्हारे अंदर सहज ही निर्भयता और निश्चिन्तता आ जायगी।

याद रखो—ऐसा कोई दोष नहीं है, जिसे तुम दूर न कर सको; ऐसी कोई कठिनाई नहीं है, जिसे तुम पार न कर सको; ऐसी कोई स्थिति नहीं है, जिसपर तुम विजय प्राप्त न कर सको। बस, ईश्वरपर, ईश्वर-कृपापर और ईश्वरीय शक्तिपर तुम्हारा विश्वास होना चाहिये।

याद रखो—ऐसी कोई उत्तम स्थिति नहीं है, जो तुम्हें न प्राप्त हो सके; ऐसी कोई उत्तम स्थिति नहीं है, जो सत्य न हो और ऐसा कोई उच्च स्तर नहीं है, जिसपर तुम न पहुँच सको। भविष्यकी सारी विजय तुम्हारे हाथमें है; बस, तुम्हें सर्वशक्तिमान् नित्य परम सुहृद् भगवान्की अमोघ कृपापर विश्वास होना चाहिये, भगवान्के शरण हो जाना चाहिये और उनके बलसे अपनेको परम बलवान् मान लेना चाहिये।

याद रखो—संसारमें सर्वोत्तम, सबसे अधिक संतोषजनक और निश्चित सफलतापूर्ण सिद्धान्त यह है कि तुम अनन्त-शक्ति भगवान्की कृपापर विश्वास करो और उस कृपाके बलसे अपनी आत्मशक्तिको जाग्रत् करो। फिर बाहरी प्रतिकूल परिस्थितियाँ तुम्हारा कुछ बिगाड़ तो कर ही नहीं सकेंगी, प्रत्युत उनका रूप बदल जायगा और वे तुम्हारे अनुकूल होकर तुम्हारी सफलतामें सहायक हो जायँगी।

याद रखो—अपनेको हीन समझना और परिस्थितियोंके सामने झुक जाना आत्महननके समान है। तुम्हारे अंदर ईश्वरीय शक्ति है, उस शक्तिके द्वारा तुम सब कुछ करनेमें समर्थ हो। परिस्थितियोंको बदलना भगवत्कृपाके बलपर तुम्हारे हाथमें है। तुम हीन नहीं हो, तुम सर्वलोकपूज्य भगवान्के सनातन अंश हो। तुम दीन नहीं हो, तुम सर्वलोकमहेश्वर भगवान्की संतान हो। तुम निर्बल नहीं हो, सर्वशक्तिमान् महान् भगवान्का अनन्त बल तुम्हारी सहायताके लिये सदा प्रस्तुत है। तुम विश्वास करो और हीनताके मिथ्या संस्कारोंको मिटाकर महान् बन जाओ।

याद रखो—सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वज्ञ भगवान् तुम्हारे परम सुहृद् हैं। वे अपनी पूर्ण महानतासे नित्य तुम्हें महान् बनानेको तैयार हैं। तुम उनकी कृपापर विश्वास करो; उनकी शक्ति, सर्वज्ञता तथा सौहार्दपर विश्वास करो और पापों, विरोधी परिस्थितियों तथा कष्टोंपर विजय प्राप्तकर सच्ची सुख-शान्ति एवं सफलताको प्राप्त करो। **'शिव'**

भगवान्‌के निराकार-तत्त्वका रहस्य

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीभगवान् गीताके नवम अध्यायके प्रथम श्लोकमें कहते हैं—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

'अर्जुन! तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसे जानकर तू दुःखस्वरूप संसारसे मुक्त हो जायगा।'

इस प्रकार इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको कहनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान् उसके आठ विशेषण देकर उसकी महिमा प्रकट करते हैं—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

(गीता ९।२)

'जो विज्ञानसहित ज्ञान मैं तुझे बतलाऊँगा, वह सब विद्याओंका राजा, सम्पूर्ण गोपनीयोंका राजा, पापीसे भी पापीको पवित्र करनेवाला, सर्वोत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, परम धर्ममय, साधन करनेमें अत्यन्त सुगम और अविनाशी है।'

इसपर प्रश्न होता है कि इतना लाभदायक और बहुत ही सुगम साधन होनेपर भी सब लोग इसमें क्यों नहीं लग जाते तो इसका उत्तर यह है कि लोगोंमें श्रद्धाकी कमी है। भगवान्‌ने कहा है—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

(गीता ९।३)

'हे परंतप! इस उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसार-चक्रमें भ्रमण करते रहते हैं।'

गीतामें भगवान्‌ने साकार, निराकार, सगुण, निर्गुण—सभी स्वरूपोंकी उपासना बतलायी है।

भगवान्‌ने अपने निराकार स्वरूपका तत्त्व और रहस्य बतलाते हुए कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

(गीता ९।४-५)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत सङ्कल्पके आधार स्थित हैं, किंतु वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं; किंतु मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है।'

अभिप्राय यह है कि भगवान् इस संसारमें व्यापक, इस संसारके परम आधार और अभिन्ननिमित्तोपादान कारण* हैं। यहाँ—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है'—इस कथनसे भगवान्‌ने अपनी व्यापकता बतलायी है। भगवान्‌के कथनका भाव यह है कि यह संसार तो व्याप्य है और मैं इसमें व्यापक हूँ। तथा '**मत्स्थानि सर्वभूतानि**'—'सब भूत मुझमें स्थित हैं' और '**भूतभृत्**'—मैं सब भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला हूँ'—यह कहकर भगवान्‌ने संसारका अपनेको परम आधार बतलाया है। एवं '**पश्य मे योगमैश्वरम्**'—'मेरी इस अलौकिक रचनारूप ईश्वरीय योगशक्तिको देख'—यों कहकर अपनेको संसारका निमित्त कारण बताया है और '**ममात्मा भूतभावनः**'—'मेरा आत्मा (स्वरूप) भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला है'—यह कहकर अपनेको संसारका उपादान कारण बतलाया है।

---

* जिस वस्तुसे जो चीज बनती है, वह उसका उपादान कारण है और बनानेवाला निमित्त कारण; जैसे घड़ेका उपादान कारण मिट्टी है और निमित्त कारण कुम्हार है। किंतु संसारके उपादान और निमित्त कारण परमात्मा ही हैं। जैसे मकड़ी जो जाला तानती है, उस जालेका उपादान कारण भी मकड़ी है और निर्मित्त कारण भी मकड़ी ही है, उसी प्रकार परमात्मा जगत्‌के उपादान और निमित्त कारण दोनों हैं और वे उससे अभिन्न हैं।

परमात्मा किस प्रकार संसारमें व्यापक, उसके आधार और उपादान कारण हैं, इसको आगे लिखे उदाहरणसे समझना चाहिये। जैसे बादलोंके समूहमें महाकाश व्यापक भी है और उनका परम आधार एवं उपादान कारण भी है, उसी प्रकार परमात्मा संसारमें व्यापक, उसके परम आधार और परम कारण हैं। बादलका कोई भी ऐसा हिस्सा नहीं, जिसमें आकाश न हो, इसी प्रकार जड-चेतन और चराचर जगत्‌का कोई भी ऐसा अंश नहीं है, जहाँ परमात्मा न हों। परमात्मा सब देश, सब काल और सब वस्तुओंमें परिपूर्ण हैं। श्रुति कहती है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(ईशा० उप० १)

'इस संसारमें जो कुछ जड-चेतन पदार्थसमुदाय है, वह सब ईश्वरसे व्याप्त है।'

जैसे बादलोंका परम आधार आकाश है, बिना आकाशके बादल नहीं रह सकते, उसी प्रकार परमात्मा संसारके परम आधार हैं, बिना परमात्माके संसार नहीं रह सकता। एवं जैसे बादलोंकी उत्पत्ति आकाशसे ही हुई है—**'आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः।'** (तैत्तिरीय० उप० २।१) 'आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि और अग्निसे जल उत्पन्न होता है।' बादल, बूँद, ओला, बर्फ—सब जल ही है। अतः आकाशसे ही बादलरूप जलकी उत्पत्ति हुई है; सुतरां आकाश ही बादलका उपादान कारण है। इसी प्रकार परमात्माके सङ्कल्पसे ही संसारकी उत्पत्ति हुई है। श्रुति कहती है—

'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।'

(तैत्तिरीय० उप० २।६)

—'उस परमात्माने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ।'

स्वप्नावस्थामें मनुष्यका सङ्कल्प ही स्वप्नके संसारका रूप धारण करता है। अतः वह स्वप्नका संसार उस मनुष्यसे अभिन्न है। जिसको स्वप्न आता है, वह मनुष्य ही इसका उपादान और निमित्त कारण है; क्योंकि उस मनुष्यके अतिरिक्त वहाँ अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है, सब कुछ वह मनुष्य ही है। इसी प्रकार इस संसारके परमात्मा ही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं। अन्तर इतना ही है कि जीव परतन्त्र और अज्ञानके वशमें हैं, किंतु परमात्मा स्वतन्त्र और ज्ञानस्वरूप हैं।

यहाँ कोई कह सकता है कि इन श्लोकोंमें भगवान्‌का यह कथन कि 'मैं संसारमें व्यापक हूँ और संसार मुझमें है'—तो ठीक समझमें आ जाता है, किंतु 'मैं संसारमें नहीं हूँ और संसार मुझमें नहीं है' यह बात समझमें नहीं आती; क्योंकि इनमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है। भगवान् पहले तो कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

—'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है अर्थात् मैं सब संसारमें व्यापक हूँ।' और फिर कहते हैं—**'न चाहं तेष्ववस्थितः; न च भूतस्थः'**—'मैं उन सब भूतोंमें स्थित नहीं हूँ।' तथा पहले (९।५) में कहते हैं—**'न च मत्स्थानि भूतानि'**—'सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं।' इन वचनोंमें विरोध प्रतीत होता है, अतः इनमें कौन-सा वचन ठीक माना जाय? इसका उत्तर यह है कि इनमें विरोध नहीं है; अतः दोनों ही बातें ठीक हैं। इनका तत्त्व समझना चाहिये।

उदाहरणके लिये आकाश बादलोंमें है और नहीं भी है। जब बादल नहीं थे, तब भी वहाँ आकाश था और बादमें जब बादल नहीं रहते, तब भी आकाश रहता है तथा बीचकी अवस्थामें भी बादलोंमें आकाश है। अर्थात् बादलके आदि, मध्य और अन्तमें—सभी समय आकाश सदा ही अपने-आपमें विद्यमान है। बादल उत्पन्न होते हैं और फिर उनका विनाश हो जाता है; किंतु आकाश सदा ही एकरूप, एकरस रहता है। वास्तवमें तो जिस समय बादल है, उस समय भी आकाश अपने-आपमें ही स्थित है; पर समझानेके लिये यह कहा जाता है कि बादलोंमें आकाश व्यापक है। अतः बादलोंमें आकाश व्यापक है और बादलोंमें आकाश नहीं है—ये दोनों ही कथन युक्तिसङ्गत हैं, इसलिये इनमें कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा संसारमें हैं और नहीं भी हैं। जब संसार नहीं था, तब भी वहाँ परमात्मा थे और बादमें जब संसार नहीं रहता, तब भी परमात्मा रहते हैं और बीचकी

अवस्थामें भी संसारमें परमात्मा हैं। अर्थात् सृष्टिके आदि, मध्य और अन्तमें—सभी समय परमात्मा सदा ही अपने-आपमें विद्यमान हैं। संसार उत्पन्न होता है और फिर उसका विनाश हो जाता है। इसलिये जिस समय संसार प्रतीत होता है, उस समय परमात्मा संसारमें हैं—यह कहना युक्तियुक्त ही है। वास्तवमें तो जिस समय संसार है, उस समय भी परमात्मा अपने-आपमें ही स्थित हैं; किंतु समझानेके लिये कहा जाता है कि संसारमें परमात्मा व्यापक हैं।

यदि बादलोंमें आकाश होता तो बादलोंके नाश होनेपर आकाशके भी उतने हिस्सेका नाश हो जाता, किंतु बादलोंके नाश होनेपर भी आकाशके किसी भी हिस्सेका नाश नहीं होता। इसलिये बादलोंमें आकाश नहीं है, आकाश अपने-आपमें ही स्थित है—यह कहना उचित ही है।

इसी प्रकार परमात्मा यदि संसारमें वास्तवमें होते तो संसारके नाश होनेपर परमात्माके उतने हिस्सेका भी नाश हो जाता; किंतु संसारके नाश होनेपर भी परमात्माका नाश नहीं होता, इसलिये संसारमें परमात्मा नहीं हैं, परमात्मा अपने-आपमें ही नित्य स्थित हैं—यह कहना उचित ही है; क्योंकि आकाशमें बादलोंकी भाँति संसार उत्पन्न होता है और फिर उसका विनाश हो जाता है, परंतु परमात्मा सदा ही नित्य अचल, एकरूप-एकरस रहते हैं।

एवं जिस समय बादल आकाशमें विद्यमान है, उस समय यह कहना कि आकाशके किसी एक अंशमें बादल है उचित ही है; इसी प्रकार जिस कालमें बादल नहीं है, उस कालमें यह कथन भी कि आकाशमें बादल नहीं है, उचित ही है। किंतु जिस कालमें आकाशमें बादल हैं, उस कालमें भी वास्तवमें बादल आकाशमें नहीं हैं; क्योंकि बादल आकाशमें उत्पन्न होते हैं और फिर उनका विनाश हो जाता है। यदि वास्तवमें बादल होते तो सदा रहते। जो वस्तु सदा नहीं रहती, वह अनित्य है; अतः उसके लिये यह कहना अनुचित नहीं कि वह नहीं है।

इसी प्रकार जिस समय संसार प्रतीत होता है, उस समय समझानेके लिये यह कथन उचित है कि परमात्माके किसी एक अंशमें संसार है और जिस कालमें (महाप्रलयके समय) संसार नहीं है, उस कालमें यह कहना कि परमात्मामें संसार नहीं है, उतना ही उचित है। किंतु जिस कालमें परमात्मामें संसार है, उस कालमें भी वास्तवमें संसार परमात्मामें नहीं है; क्योंकि संसार परमात्मामें उत्पन्न होता है और उसका विनाश होता रहता है। यदि वास्तवमें संसार होता तो सदा रहता। जो वस्तु सदा नहीं रहती, वह अनित्य है। अतः जो किसी कालमें तो रहती है और किसी कालमें नहीं रहती, उस अनित्य वस्तुके लिये यह कहना कि वह नहीं है, उचित ही है। भगवान्‌ने गीता (२। १६) में बतलाया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

सार यह कि सच्चिदानन्दघन परमात्मा इस संसारमें व्यापक (परिपूर्ण) हैं और वे ही इसके परम आधार एवं उपादान और निमित्त कारण हैं। यह संसार परमात्माका सङ्कल्प होनेके कारण परमात्माका स्वरूप ही है। अतएव इस संसारको परमात्माका स्वरूप समझते रहना ही परमात्माकी उपासना है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(७।१९)

''बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।''

* * *

कानन, भूधर, बारि, बयारि, महाबिषु, ब्याधि, दवा-अरि घेरे।
संकट कोटि जहाँ 'तुलसी', सुत, मातु, पिता, हित, बंधु न नेरे॥
राखिहैं रामु कृपालु तहाँ, हनुमानु-से सेवक हैं जेहि केरे।
नाक, रसातल, भूतलमें रघुनायकु एकु सहायकु मेरे॥

* * *

भगवान् और प्रेम

(ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

प्रेमतत्त्वका प्राकट्य अधिकाधिक रूपमें वहाँ ही होता है, जहाँ जितना ही संनिधान, जितनी ही अन्तरङ्गता, जितनी ही प्रत्यक्षता अधिक होती है। जहाँ संनिधान आदिकी जितनी ही कमी होती है, वहाँ प्रेममें भी उतनी ही कमी होती है। इसीलिये अत्यन्त संनिहित, अत्यन्त अन्तरङ्ग, अति प्रत्यक्ष प्रत्यगात्मामें ही प्रेम देखा जाता है। अन्तरात्मा—अत्यन्त अभिन्न स्वात्मामें ही निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम होता है। जब ब्रह्माने श्रीकृष्णके वत्स-वत्सपोंका अपहरण कर लिया, तब श्रीकृष्ण कौतुकवशात् स्वयं ही सब कुछ हो गये। गौओं और गोपालिकाओंको यद्यपि श्रीकृष्णदर्शन, स्पर्शनादि प्राप्त होता था तथापि नन्दरानीका सौभाग्य देखकर उन्हें लालसा होती थी कि व्रजेन्द्रगेहिनी जैसे अपने लालनको हृदयमें छिपाकर रखती हैं, बार-बार मस्तक सूँघकर मुखचन्द्र-चुम्बन करती हैं, वैसे ही हम भी करें। उनकी अभिलाषाओंकी पूर्तिके लिये ही श्रीकृष्ण स्वयं बछड़ों और ग्वालबालोंके रूपमें हो गये। अब तो सभी गायों और वात्सल्यभाववती गोपियोंको कृष्ण ही पुत्रके रूपमें मिल गये। फिर तो उनके प्रेममें निःसीम वृद्धि हो गयी। अपराध हो जानेपर भी उन बालकोंपर पिता-माताको क्रोध नहीं होता था। उनको देखते ही क्रोध न जाने कहाँ भाग जाता था! दूसरे नवीन सन्तानोंके उत्पन्न होनेपर भी गौओंको उनमें निःसीम प्रेम था। वे नये बछड़ोंकी परवाह न करके भी उन्हें ही दूध पिलाना चाहती थीं, प्रेममें विभोर होकर उन्हें सूँघती और चाटती थीं, मानो नेत्रों, घ्राणों और जिह्वासे सर्वदा पानकर हृदयमें रखना चाहती हों। जो लोकोत्तर, निःसीम प्रीति उन गोपालिकाओंको कभी अपने बालकोंमें नहीं थी, वह अद्भुत प्रीति उन कृष्णात्मक वत्स-वत्सपोंमें हुई।

इस विचित्र आश्चर्यमय चरित्रको श्रवणकर जब परीक्षित्ने उसका कारण पूछा, तब श्रीशुकदेवजीने यही कहा कि राजन्! संसारमें प्राणिमात्रको अपने आत्मामें सर्वातिशायी प्रेम होता है; कलत्र, पुत्र, क्षेत्र, वित्त, मित्र आदिमें इतना प्रेम नहीं होता। देहात्मवादी भी जितना प्रेम देहमें करते हैं, उतना देहानुगामी वस्तुमें नहीं करते। अपत्य, वित्त, कलत्र आदिमें जो प्रेम होता है, वह केवल आत्मप्रेमका शेष ही है। वेद भी यही कहते हैं कि—

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

आत्माके लिये ही सम्पूर्ण वस्तुओंमें प्राणिमात्रका प्रेम होता है। देवताके कामके लिये प्राणीको देवतामें प्रेम नहीं होता, किंतु आत्माके लिये ही देवतामें भी प्रेम होता है। भगवान् भास्कर ब्राह्मणोंके इष्टदेव अत्यन्त प्रिय विश्वप्राण हैं, परंतु जब वे ही ग्रीष्ममें प्रतिकूल प्रतीत होते हैं, तब प्राणी उनकी आँखोंसे ओझल रहना चाहता है। जिस देवतासे अपने मनोरथोंकी सिद्धि होती है, उसमें बड़ा ही स्नेह होता है। जिसकी उपासना आरम्भ करनेसे कुछ अनिष्ट होता है, उस देवतासे उपरति हो जाती है। इसीलिये मन्त्रोंमें भी अप, अरि, मित्रादिकी कल्पना तान्त्रिकोंके यहाँ होती है। अतः आत्माके लिये ही संसारकी सारी वस्तु प्रिय है—यह लोक एवं वेदमें सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। इस तरह आत्मा-सम्बन्धी प्रेम प्राणिमात्रमें प्रसिद्ध होनेसे ही श्रीकृष्णमें सब लोगोंका अधिक प्रेम हुआ; क्योंकि कृष्णचन्द्र प्राणिमात्रके अन्तरात्मा थे। वही अपनी दिव्य लीलाशक्तिसे सगुण, साकार, अचिन्त्य, अनन्तकल्याणगुणगण-समलङ्कृत मनोहररूपमें प्रकट हुए थे—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ५५)

वस्तुतः स्थावर-जङ्गमात्मक सम्पूर्ण वस्तु श्रीकृष्ण-मात्र है, श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व हैं, वे ही सर्वान्तरात्मा हैं, वे ही सम्पूर्ण वस्तुओंके अन्तिम स्वरूप हैं। वस्तुओंका अन्तिम रूप अपना कारण अव्याकृत तत्त्व है। उस अव्याकृतकी भी अन्तिम पर्यवसान भूमि श्रीकृष्ण हैं; क्योंकि कारणसे भिन्न कार्य और अधिष्ठानसे भिन्न कल्पित नामकी कोई वस्तु ठहरती ही नहीं है—

सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ५७)

वे ही निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमके आस्पद हैं, वे ही अन्तरात्मा हैं, अतः सच्चा प्रेम उन्हींमें होना चाहिये। हाँ, सहज-स्वाभाविक प्रेम भी बिना जाने असत्-सा हो जाता है। जैसे छात्राध्ययनके शब्दोंके बीच मिले हुए अपने पुत्रके अध्ययनके शब्दका विविक्त स्पष्टरूपसे प्राकट्य नहीं होता, वैसे ही आत्मप्रेम प्राणिमात्रमें होनेसे आत्माकी परमानन्दरूपता प्रतीत होनेपर भी अविद्याके कारण उसका स्पष्ट प्राकट्य नहीं होता है। परंतु इस तरह प्राणी अज्ञातरूपसे तो आत्मप्रेमी है ही। अतएव प्राणिमात्र ज्ञानसे, अज्ञानसे, किसी-न-किसी तरह अपने जीवनधन भगवान्का अवश्य ही प्रेमी है। जिसे जितना बोध है, उसे उतना ही प्राकट्य है। जहाँ वह प्रेम सम्यक्-रूपसे प्रकट है, वहाँ परिपूर्ण ऐश्वर्य भी नतमस्तक हो जाता है। इसीलिये कहा जाता है कि महत्परिमाण परिमिति प्रेमवती व्रजाङ्गनाओंके सामने ऐश्वर्य अपना प्रभाव नहीं डाल सका। कभी श्रीकृष्णको ढूँढ़ती हुई व्रजाङ्गनाओंको जब अकस्मात् कृष्ण किसी निकुञ्जमें मिल गये, तब वे अपनेको छिपानेके लिये अनन्त ऐश्वर्यपूर्ण श्रीमन्नारायणके रूपमें प्रकट हो गये। गोपाङ्गनाओंने उन्हें प्रणाम किया, परंतु उनसे माँगा यही कि आप कृपा करके हमारे मनमोहन श्रीकृष्णचन्द्रको मिला दो। वे उस नारायणरूपपर मोहित नहीं हुईं और श्रीवृषभानुनन्दिनीके पधारते ही वह ऐश्वर्यपूर्ण रूप टिक भी नहीं सका, सहसा कृष्णरूप प्रकट हो गया। निरुपाधिक प्रेम सर्वातिशायी प्रेम है तथापि प्रेम-प्राकट्यमें लौकिकताकी अपेक्षा अधिक होती है। इसीलिये देखते ही हैं कि प्राणियोंको जितना स्वारसिक प्रेम अपने पुत्र, कलत्र, धन-धन्यादिमें होता है, उतना स्वारसिक प्रेम देवता या भगवान्में नहीं होता। इसीलिये परिपूर्ण परमात्मा प्राणिकल्याणार्थ अपनी अलौकिकताको छिपाकर लौकिक रूप ग्रहण करते हैं।

भक्तोंने भी भक्तिके दो रूप माने हैं, एक वैधी, दूसरी रागानुगा। विधिसे प्राप्त भक्ति वैधी है। **'विधिरत्यन्त्यमप्राप्तौ'** के अनुसार अप्राप्तिमें ही विधि होती है। समझा जाता है कि जहाँ स्वारसिक, रागानुगामी नहीं हैं, वहीं विधिकी अपेक्षा होती है। किं बहुना माता-पिता, गुरुजनों एवं लौकिक विषयोंमें भी विधिका संस्पर्श है, अतः वहाँ भी स्वारसिक प्रीतिमें कुछ कमी हो जाती है। उन सबकी अपेक्षा पत्नीमें प्रीति स्वाभाविक है। पत्नीप्रीतिमें भी **'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'** के समान ही **'स्वदारनिरतो भव'** इस विधिका संस्पर्श है, अतः वहाँपर भी स्वारसिक प्रेम नहीं है। जहाँ स्वारसिक प्रेम है, वहाँ निषेध होता है। जैसे बहते जलमें बाँध बाँधनेसे वेग उत्कट हो जाता है, वैसे ही स्वाभाविक प्रेममें निषेध या रुकावट डालनेसे वह भी उत्कट रूप धारण करता है। इसीलिये प्रेमियोंने कहा है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

(रा०च०मा० ७।१३० ख)

अर्थात् हे नाथ! जैसे लोभीको धन और कामुकको कामिनीमें प्रीति होती है, आपके श्रीचरणोंमें मेरी वैसी ही प्रीति होनी चाहिये।

लोकमें उपाधिको लेकर होनेवाले प्रेमकी यह दशा है। सर्वोपाधिविनिर्मुक्त होनेपर स्वाभाविक स्वान्तरात्मा चैतन्यभिन्न परमात्मा भगवान्में तो स्वाभाविक प्रेम ही अनन्त है; क्योंकि वहाँ तो भगवान् और प्रेम दोनों एक ही वस्तु हैं। परंतु देहादि उपाधियोंकी विद्यमानतामें इतना प्रेम उधर व्यक्त नहीं होता, इसीलिये अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्र भी लौकिक रूपसे भगवान्में प्रेम करते हैं— ***'अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥'*** यहाँतक कहा जाता है कि अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रोंको भक्तियोगका विधान करनेके लिये ही अदृश्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य भगवान् सगुण होते हैं। परमहंसोंको श्रीपरमहंस बनाना भगवान्का उद्देश्य है; क्योंकि उच्चकोटिका ज्ञान भी प्रेमके बिना सुशोभित नहीं होता—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥

(श्रीमद्भा० १।५।१२)

अच्युत प्रेमके बिना नैष्कर्म्य-विज्ञान भी सुशोभित नहीं होता, फिर भगवच्चरणोंमें समर्पण किये बिना निष्काम

कर्म भी कैसे शोभित होगा?

सोह न राम पेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥
जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम पेम परधानू॥
(रा०च०मा० २।२७७।५; २९१।२)

इन दृष्टियोंसे ही ज्ञानी भी भगवान्में प्रेम चाहते हैं। कहीं-कहीं तो न चाहनेपर भी भगवत्स्वरूप सौन्दर्य आदिसे भगवान्में ज्ञानियोंका मन मोहित हो जाता है। यही तो रागानुगा प्रीति है, जिसके सम्पादनके लिये प्रयत्न अपेक्षित नहीं है वह हठात् उत्पन्न होती है। 'सर्वथापि व्यावृत्त बाह्यौत्सुक्य', वीतराग ज्ञानी श्रीभगवान्की ओर आकर्षित होकर आश्चर्यमें कहते हैं—

क्लेशे क्रमात् पञ्चविधे क्षयं गते
यद् ब्रह्मसौख्यं स्वयमस्फुरत् परम्।
तद् व्यर्थयन् कः पुरतो नराकृतिः
श्यामोऽयमामोदभरः प्रकाशते॥

अर्थात् अभ्याससे क्रमेण पञ्चक्लेशोंके क्षीण होनेपर प्रत्यक्चैतन्याभिन्न विशुद्ध ब्रह्मसुखकी स्फूर्ति हुई थी, परंतु मेरे उस अद्भुत सुखको व्यर्थ-सा बनाता हुआ यह आमोदभर नराकार श्यामलतत्त्व कौन है?

इसी रागानुगा प्रीतिका सम्पादन करनेके लिये भगवान् अलौकिक होते हुए भी लौकिकवत्, अप्राकृत होते हुए भी प्राकृतवत्, अग्राह्य होते हुए भी ग्राह्यवत्, अदृश्य होते हुए भी दृश्यवत्, विश्वके जननी-जनक होकर भी पुत्रवत् होकर प्रकट होते हैं। किं बहुना पति, उपपतितक बनकर भी भगवान् भिन्न-भिन्न प्रीतिको, विषयकी ओर उन्मुख मनको विषयोंसे प्रत्यावर्तित करके अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। यद्यपि वे पतियोंके भी पति, सबके परमपति हैं, तथापि निरतिशय परप्रेमके आस्पद बननेके लिये ब्रह्म व्रजाङ्गनाओंके उपपति होकर भी प्रकट होते हैं। इसीलिये प्राणियोंका चित्त अलौकिक एवं वैध वस्तुमें उतना नहीं खिंचता, जितना लौकिक एवं अवैधमें। पर वे अवैध होते हुए भी परम वैध हैं, उपपति होते हुए भी परमपति हैं। लौकिक जार लोक-परलोक, धर्म-कर्मको जलानेवाला होता है, पर भगवान् औपपत्य बुद्धिसे भी—जाररूपसे भी, भावुकके चित्तपर अभिव्यक्त होकर उसके पञ्चकोश, स्थूल, सूक्ष्म, कारण, तीनों शरीरोंको, कर्म-बन्धनोंको, किं बहुना अविद्या, तत्कार्यात्मक जगत्को जलाकर भस्मसात् कर देते हैं, इसीलिये वे जार हैं। **'अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी। जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥'** अर्थात् निष्काम रागानुगा भक्ति एवं ज्ञान कोशों और कर्मोंको जला देता है, जीवात्मा संसारसे छूटकर भगवद्भावको प्राप्त हो जाता है। किसीने भगवान्से परिहास किया था कि हे व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र! जो प्राणी आपका नवनीतचौर्य और व्रजयुवतियोंमें औपपत्यका प्रख्यापन करते हैं, आप उन्हें शीघ्रातिशीघ्र ही अपना रूप इसलिये प्रदान करते हैं कि वे हमारे रूप हो जायँगे, तब हमारे इन कर्तव्योंका वर्णन न कर सकेंगे। अतः अपने कर्तव्योंको छिपानेके लिये ही नवनीतचौरता और व्रजयुवतीजनजारताको गानेवालोंको आप निजरूप प्रदान करते हैं—

प्रथयति नवनीतचौरतां ते
व्रजयुवतीजनजारतां जनो यः।
वितरसि निजरूपमीश तस्मै
स्वकृतधिया परिगोपनाय नूनम्॥

वस्तुतस्तु येन-केनापि प्रकारेण भगवान्में मन जोड़ते ही प्राणीको भगवद्भावकी प्राप्ति हो जाती है। जैसे चिन्तामणिको दीपक समझकर दीपबुद्ध्या भी प्रवृत्त होनेपर चिन्तामणिकी प्राप्ति होती है, वैसे ही प्रत्यक्चैतन्याभिन्न भगवान् ब्रह्ममें औपपत्यबुद्ध्या प्रवृत्त होनेपर भी प्राप्ति भगवान्की ही होती है। केवल रागानुगामिनी उत्कट प्रीतिके लिये ही भावुक लोग लौकिक रूपमें भगवान्को भजते हैं। ज्ञानीका भी प्रारब्धवशात् प्रत्युपस्थित लौकिक पदार्थोंमें जैसा चित्त स्वाभाविक रूपसे प्रवृत्त होता है, वैसा प्रत्यगात्मामें नहीं। इसीलिये भगवान्की मधुर लीलाओंका प्राकट्य होता है। चापल्यपूर्ण बाल्य, पौगण्डादि अवस्थाओंकी लीलाओंमें हठात् चित्त खिंचता है। इस दृष्टिसे अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रोंको भक्तियोगका विधान करनेके लिये ही भगवान् अचिन्त्य, सगुण, साकार, दिव्य श्रीराम-कृष्णादि रूपमें प्रकट होते हैं। [प्रे०—प्रो० श्रीबिहारीलालजी टांटिया]

* * *

साधनाके विघ्न—भय और प्रलोभन

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[गताङ्क पृ०सं० ६०० से आगे]

एक बात जो आजकलके युगमें ज्यादा आती है वह यह कि अगर कोई महात्मा है तो उसका प्रयास यह होता है कि उसके सम्बन्धमें जगत्‌को जानकारी हो। स्वाभाविक एक बहुत अच्छी बात उठती है कि आप घरमें महात्मा हैं तो उससे जगत्‌को क्या लाभ होगा? जगत्‌को लाभ पहुँचे इसके लिये आप जरा सामने आयें। आप अपना प्रचार कीजिये। यह साधककी बात कह रहा हूँ, सिद्धोंकी बात नहीं कर रहा हूँ। सिद्ध क्या करते हैं, वे जानें। साधक और सिद्धोंके भी कुछ आदर्श समाजके सामने होने चाहिये। सिद्ध यदि गिर जाय तो साधक तो गिरे हुए हैं ही। भगवान्‌ने कहा है—**'नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि'** (गीता ३।२२) अर्थात् मुझे कुछ पाना नहीं है फिर भी मैं कर्म करता हूँ। क्यों करता हूँ? **'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्'** (गीता ३।२४) यदि न करूँ तो मेरी देखा-देखी लोग अच्छे कर्मोंको करना छोड़ दें और स्वच्छन्द हो जायँ यह बहुत बुरी चीज है। साधकके सामने आता है कि जगत्‌के हितके लिये आप सामने आओ अर्थात् अपना प्रचार करो। तब वह भूलसे छिपी वासनाको लेकर या अच्छी नीयतसे इसे स्वीकार कर लेता है। जब वह इस भावनासे कि जगत्‌का लाभ होना चाहिये इसको स्वीकार करता है वहीं, उसके हृदयमें चुपकेसे एक अहंकार आ जाता है कि हम जगत्‌का लाभ करनेवाले हैं। एक अभिमानकी रेखा मनमें आ गयी। उसके बाद लोग कहते हैं कि आपके जीवनकी बातोंसे लोगोंको परिचित होना चाहिये। जिससे जीवनी आती है। तदुपरान्त यह होता है कि आपकी मूर्ति स्थापित होनी चाहिये, जिससे लोग उसे देख-देखकर पवित्र हों। फिर मूर्ति भी स्थापित हो गयी। प्रचार नाम और रूपका होता है जिसमें भाव रहता है कि हमारा नाम इतिहासमें रहेगा एवं लोग इस मूर्तिको देख-देखकर लाभान्वित होंगे। अब प्रश्न उठता है कि क्या वह नाम और रूप हम हैं? यह तो बिलकुल सीधे-सीधे अपने अज्ञानकी घोषणा है। माँके पेटमें जब हम थे तब हमारा नाम नहीं था। नाम जन्म होनेके बाद रखा गया। एक नाम अच्छा नहीं लगा तो दूसरा रख लिया। वह भी अच्छा नहीं लगा तो तीसरा रख लिया। हम सभी जानते हैं कि यह शरीर माँके पेटमें रज और वीर्यके मिलनेसे निर्मित हुआ है तथा शरीर राख बन जायगा या कीड़े बन जायँगे अथवा कोई खा जायगा तब यह मलमें बदल जायगा। हम शरीरके पहले थे। हम नामसे पहले थे। हम शरीरके बाद भी रहेंगे और नामके बाद भी रहेंगे। इस प्रकार नाम और शरीर हम नहीं हैं, परंतु हम चाहते हैं कि हमारे नामका नाम हो। हमारा नाम इतिहासमें रहे और हमारी मूर्तिकी पूजा लोग करते रहें। इस तस्वीरको लोग देखते रहें। यह अज्ञान है। जो शरीरको और नामको आत्मा मानता है वह अज्ञानी है। बहुतसे लोगोंको हमने देखा है जो प्रचारकी दूकान खोलकर बैठे हैं। इसमें कौन जानता है कि उनके अन्दर मान और प्रशंसाकी इच्छा नहीं है। एक अन्तर्यामी ही जानते हैं, दूसरा नहीं। इस प्रचारमें मान और प्रशंसाकी कामना न होना आश्चर्य है, होना कोई आश्चर्य नहीं। साधक जहाँ इनके प्रलोभनमें आया, जहाँ उसके मनमें मान-बड़ाईकी इच्छा पैदा हुई, वहाँ वह साधनसे गिर जाता है। उसे तो चुपचाप आगे बढ़ना चाहिये। कोई न जाने तो बहुत अच्छा है। उलटा जाने तो और अच्छा, हालाँकि ऐसा करना नहीं चाहिये। परंतु इसपर एक दृष्टान्त है। रवीन्द्रनाथ ठाकुरने बंगलामें एक सुन्दर खण्डकाव्य लिखा है कबीरपर। उसके अनुसार कबीरदासजी मगहरमें रहते थे और वहाँके बाजारमें कपड़ा बेचने आते थे। उनका बड़ा नाम हो गया कि बहुत बड़े महात्मा हैं, इसलिये उनकी कुटियापर भीड़ होने लगी। उनकी साधनामें विघ्न पड़ने लगा। उन्हें अपने भगवान्‌से एकान्तमें बात करनेका समय ही नहीं मिलता। एक दिन उन्होंने मन-ही-मन अपने भगवान्‌से प्रार्थना की कि महाराज! मुझे आप बचाइये। मैं तो दिन-रात भीड़में फँसा रहता हूँ, कब मैं आपसे मिलूँ, कब आपसे एकान्तमें बात करूँ। भगवान्‌ने उनकी प्रार्थना सुन ली। कुछ लोगोंने

षड्यन्त्र रचा और उसमें यह तय हुआ कि एक वेश्याको राजी किया जाय और वह वेश्या बीच बाजारमें कबीरको ज़लील करे। यह व्यवस्था हो जानेपर जब कबीर कपड़ा बेचने बाजारमें आये तो उसने सामने आकर कबीरका पल्ला पकड़ लिया। जिन लोगोंने साजिश रची थी वे पहलेसे ही खड़े थे। वेश्याने कहा कि नालायक! तुमने इतने दिनोंतक मुझे रखा और इस हालतमें मुझे छोड़ दिया। सिखायी हुई दो-चार बातें और कहीं। कबीर हँस पड़े और मन-ही-मन सोचने लगे कि भगवान्ने मेरी प्रार्थना सुन ली। वहाँ एकत्रित सभी लोग हँस पड़े और बोले—देखो महात्माको। इनका यह रूप है। अब इनकी पोल खुल गयी। सभी ताली पीटने लगे और उपहास करने लगे। जो वहाँ कबीरके भक्त थे, उन्हें भी शरम आयी। कोई उसमें शामिल हो गये और कोई भाग गये। कबीरका कोई साथी नहीं रहा। बाजारमें कबीरको नमस्कार करनेवाले सभी हट गये। वे अकेले रह गये, बाकी सब हँसनेवाले। कबीरने वेश्यासे कहा—हाँ, ठीक तो है। मुझसे बड़ी भूल हुई, तू मेरे साथ चल। इसपर सब लोगोंको विश्वास हो गया और बोले कि देखा सच्ची बात न होती तो ये विरोध करते, इनकार करते, साथ न ले जाते। वे उसे अपने साथ कुटियापर ले गये और एक माला देकर बोले बेटी! माला फेर बैठी-बैठी। दूसरे दिन महात्माके संगसे उसके मनमें चैतन्य आया कि राम-राम इतना बड़ा पाप किया। ये इतने बड़े विशुद्ध फकीर, जिनके मनमें कोई वासना नहीं आयी और मैंने उनपर कलंक लगा दिया। उसने कबीरको प्रणाम किया और कहा--महाराज! मुझे क्षमा करो। मैं बहुत बड़ी अपराधिनी हूँ, पापिनी हूँ। मुझे आज्ञा दो, मैं जाऊँ। कबीरने कहा कि तुम तो भगवान्की भेजी हुई मेरी रक्षाकवच हो। मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगा। तुम यहीं रहो और नाम जपो। वह नाम जपने लगी। उसका हृदय विशुद्ध हो गया। उस समय तार आदि थे नहीं, इसलिये यह खबर दूरतक नहीं फैली। मगहरमें फैल गयी, परंतु बनारसतक नहीं पहुँची। इसी समय काशीनरेशने कबीरको बुलानेके लिये अपने मन्त्रियोंको भेजा। वे जब आये तो कबीरने कहा हम नहीं जायँगे। देख लो, हमारी तो यह हालत है। मन्त्रियोंने कहा कि आप नहीं जायँगे तो महाराज नाराज होंगे। इसपर कबीर मान गये लेकिन कहा कि जायँगे तो इसे साथ ले जायँगे। इसपर वे तैयार हो गये। तब उस वेश्याको साथ लेकर संत कबीर काशी पहुँचे। रास्तेमें लोग कबीरको देखने आते तो साथमें वेश्याको देखकर हट जाते। इससे कबीरने सोचा कि देखो पिण्ड छूट रहा है नहीं तो यह भी रास्तेमें साथ लग जाते। कबीर काशीनरेशके दरबारमें पहुँचे। दरबार लगा हुआ था। कबीरको आते देख नरेशसे, लोगोंने पहले ही कह दिया था कि उनके साथ एक स्त्री आयेगी। महाराज चौकन्ने थे ही। उनके साथ एक नवयुवती सुन्दर तरुणीको देखकर राजाने कहा—इन्हें दरबारसे निकाल दो। कबीर बाहर निकलकर राजमार्गपर आ गये। वेश्याके मनमें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने सोचा कि राजमान्य कबीर जिनके चरणोंमें राजाओंके मुकुट पड़ते, उन कबीरको इस प्रकार अपमानित कराकर मैंने निकलवाया है। मेरे जीवनको धिक्कार है। वह उनके चरणोंमें पड़ गयी और कहा—महाराज! मुझे क्षमा करो। मैं नहीं रहूँगी। उन्होंने कहा कि तू अगर नहीं रहती तो मेरी रक्षा क्या यहाँ होती? तूने मुझे बचाया, माँ! तू मेरी माँ है। तू मेरी रक्षा करनेवाली देवी है। तू मेरे लिये भगवान्का भेजा हुआ उपहार है। ऐसा आदर्श हो। इस प्रकारसे साधकको करना नहीं है। ऐसा करनेपर शरीरके कमजोर लोग गिर सकते हैं। यह कबीरके स्तरकी बात है। इसकी नकल हम नहीं कर सकते हैं।

इसलिये साधनामें अगर कहीं बड़ाई मिलती हो, मान मिलता हो तो मनुष्यको चौकन्ना हो जाना चाहिये अन्यथा यह बड़ाई खा जायगी, यह मान खा जायगा। यह मेरी साधनाको और मुझे गिरा देगा। यह मुझे अपने मार्गपर रहने नहीं देगा। इसलिये मान और बड़ाई इन दोसे बिलकुल बचा रहे। ये जहाँ-जहाँ आयें वहाँ-वहाँसे हट जाय, भाग जाय, वैसे तो ऐसी कार्यवाही करनेकी बात नहीं है। हम कर नहीं सकते, परंतु यदि निर्दोषरूपसे वहाँसे हट सकें तो बड़ी कार्यवाही करनेमें भी आपत्ति नहीं है। काशीमें एक ब्रह्मानन्द नामक महात्मा थे। वे बड़े विनम्र थे। उनके पास बहुत लोग जायँ और यदि वे बेचारे साधना करने बैठे हों तो लोग उन्हें छेड़ें। कोई कुछ करे, कोई कुछ करे। वे बोले नहीं। बोलें तो लोगोंकी उद्दण्डता और बढ़े। एक दिन उनके एक गुरुभाई आये, सब देखा। वे उनसे बोले तू मूर्ख है।

इनपर गुस्सा खूब जोरसे करो। उन्होंने कहा कि मुझे गुस्सा होना आता ही नहीं है। तब गुरुभाईने कहा कि ठीक है, मैं बैठता हूँ और वे पासमें बैठ गये। गुरुभाईने जहाँ दो-चारको डाँटा तो लोगोंने कहा कि वहाँ न जाओ। वहाँ तो एक बड़ा क्रोधी साधु आ गया है। लोगोंका वहाँपर आना बंद हो गया। यद्यपि क्रोध नहीं करना चाहिये। मैं क्रोधका समर्थन नहीं करता हूँ, परंतु यदि क्रोध बाड़के रूपमें हो तो अनुचित नहीं है। बगीचेकी रक्षा करनेके लिये यदि काँटोंकी बाड़ लगायी जाय तो उसमें आपत्ति नहीं है। काँटे बिछाये जायँ तब तो सारी आपत्ति है, परंतु बगीचेके सुन्दर फलों और पुष्पोंकी रक्षाके लिये अगर काँटेकी बाड़ लगाना आवश्यक है तो यह बाड़ अधर्म नहीं है, बुरी चीज नहीं है। इसलिये कहा है कि जितने दुर्गुण हैं इन सबको भी यदि अपनी रक्षाके रूपमें रख ले तो आपत्ति नहीं है, बच जायँगे। साधक उसे अपनी साधनाके साधनकी रक्षाहेतु प्रयोग करे। किसी भी प्रकारसे हजार-हजार कष्ट सह करके साधनाकी रक्षा करे। कहा गया है कि—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥
(नीतिशतक)

अर्थात् जो धीर पुरुष हैं वे अपने न्यायके मार्गसे एक पग भी विचलित नहीं होते हैं भले ही नीतिनिपुणलोग निन्दा करें या स्तुति करें। लक्ष्मीदेवी आज आ जायँ या सदाके लिये चली जायँ। मृत्यु आज आ जाय या युगोंके बाद आये। धीर पुरुष न्यायका मार्ग नहीं छोड़ते हैं, वे अपने मार्गपर निरन्तर अविचलित भावसे कायम रहते हैं। वे अपने मार्गको छोड़ना जानते ही नहीं हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुरने एक गीत लिखा— ***'एकला चलो! एकला चलो!! एकला चलो रे!!!'*** उन्होंने कहा कोई साथी नहीं है। सबने साथ छोड़ दिया। अकेले ही चलो। भगवान् साथ हैं। उनके मार्गपर जा रहे हैं। वे साथ हैं। हे भगवान्! जिसका कोई नहीं होता है, उसके तुम होते हो। जहाँ दूसरेकी सहायता मिलती रहती है वहाँ भगवान्की सहायताकी अपेक्षा नहीं होती है पर जिसके कोई नहीं होता है, उसके तुम होते हो।

सुने री मैंने निरबल के बल राम।
जब लगि गज बल अपनो बरत्यो, नेक सत्यो नहिं काम।
निरबल ह्वै बल राम पुकाऱ्यो आये आधे नाम॥

गजराज मत्त गजराज, यूथपति गजराज हजारों हाथी और हथिनियाँ उसके दलमें, मतवाला, सरोवरमें आकर नहाने लगा। ग्राहने पैर पकड़ा और अंदर खींचने लगा। गजराजने सोचा यह क्या है? मेरे दलके सामने इस ग्राहका कौन-सा बल? अभी झटका देकर बाहर निकाल दूँगा। बाहर खींचा, परंतु खींच न सका। हाथियोंसे कहा लगाओ जोर। हाथियोंने पूँछ और सूँड़का गठबन्धन करके, जैसे इंजनमें गाड़ीके डिब्बे लग जाते हैं, इसी प्रकार सूँड़से पूँछ और पूँछसे सूँड़ पकड़कर हजारों हाथियोंकी कतार लगायी। सब लगे बाहर खींचने, परंतु भगवान्की लीला? वे सब नहीं खींच पाये बल्कि अंदर खिंचने लगे। तब सबने बुद्धिमानीसे कहा या संसारके स्वरूप—'स्वार्थ'को प्रकट किया कि इसे तो मरना है, सब साथ क्यों मरें? यह मनुष्यकी बुद्धिमानी या मनुष्यका स्वार्थ। भगवान् जाने क्या बात है। सबने छोड़ दिया। ***'जब लगि गज बल अपनो बरत्यो'*** जबतक अपने साथियोंका बल देखा तो प्रयास किया और जब देखा हाथियोंने छोड़ दिया, हथिनियोंने छोड़ दिया, कोई साथी नहीं, कोई अवलम्ब नहीं—अब तो डूबना ही है। तब ***'निरबल ह्वै बल राम पुकाऱ्यो'*** कहा—'हे नारायण! नारायण शब्द पूरा नहीं निकला। ***'आये आधे नाम'***। यह आता है श्रीमद्भागवतमें कि भगवान् गरुड़पर आते हुए दीखे। गजराजने उन्हें अर्पित करनेके लिये सूँड़में कमल उठाया। वे वहीं आविर्भूत हो गये, गरुड़से नहीं उतरे। अर्थात् जिस गतिसे गरुड़ आ रहा था वह गति भी भगवान्को रुचिकर नहीं। देर कर रहा है। अपने-आप भगवान् प्रकट हो गये, आविर्भूत हो गये। कब? जब एक भगवान्को पुकारा और दूसरे सबकी आशा छोड़ दिया। इसी प्रकार द्रौपदीका दृष्टान्त है कि ***'द्रुपदसुता निरबल भइ ता दिन, तजि आये निज धाम'*** दुष्ट दुःशासन जब राजरानी द्रौपदीके केशोंको पकड़े हुए राजदरबारमें ले आया। पाण्डवोंने सिर नीचा कर लिया और चुप होकर बैठ गये। भीष्मकी मति मारी गयी थी। उन्होंने कह दिया बेटी! मुझे पता नहीं कि तुम हारी गयी या नहीं। युधिष्ठिरसे पूछो।

धृतराष्ट्र अंधा था, बड़ी धर्मकी बातें कहता था। चुप हो गया। बेटोंकी बुरी बातें सुनता रहा। दुर्योधनका एक भाई था, उसने कहा अन्याय हो रहा है। कर्णने उसका कान पकड़कर बैठा दिया। कोई बोलनेवाला नहीं। अंदर एक सिपाहीको द्रौपदीको लानेके लिये भेजा गया। गान्धारीने कहा—खबरदार! हाथ लगाओगे तो····। वह लौट आया। दुर्योधनने कहा—दु:शासन! तुम जाओ। उस वेश्याको नंगी करके ले आओ। वह पाँच पतिवाली है। पाण्डवोंके वदनमें आग लग गयी, परंतु बन्धनमें थे इसलिये बोले नहीं। उस समय द्रौपदी एकवस्त्रा थी, रजस्वला थी, उसके केश खुले थे। दु:शासनने माँकी बात नहीं सुनी और उसके केश पकड़कर खींच लाया। जरा सोचिये, क्या दुर्दशा उस समय द्रौपदीकी हुई होगी? जरा उसके मनपर जाइये। द्रौपदीकी मन:स्थितिका ध्यान कीजिये। वह राजरानी 'असूर्यपश्या' जिसको कोई देख नहीं सकता था, जो पैरोंसे चलती नहीं थी, उस एकवस्त्रा द्रौपदीको पकड़कर दस हजार हाथियोंके बलवाला दुष्ट दु:शासन सभामें ले आया है और दुर्योधनने कहा है इसे नंगी कर दो, मेरी जाँघपर बैठा दो। क्या दशा? कोई बोलनेवाला नहीं है। द्रौपदीने चारों ओर देखा। कोई नहीं बोला। वह हार गयी। तब कहा—हे नारायण! हे श्रीकृष्ण!! हे श्यामसुन्दर!!!

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।
(महा०सभा० ६८।४१-४२)

प्रभो! मैं कौरवोंके समुद्रमें डूब गयी। मुझे तुम उबारो। तुम्हारे सिवाय कोई उबारनेवाला नहीं है। एकवस्त्रा द्रौपदी निराश होकर इस प्रकारसे भगवान्को पुकार उठी। भगवान् आ गये। किस रूपमें आये? बिलकुल नये रूपमें। भगवान्का कहीं ऐसा अवतार नहीं हुआ। भगवान् रजस्वला द्रौपदीकी साड़ी बन गये। ***'बसन रूप भये स्याम'***, ***'दु:शासन की भुजा थकित भइ बसन रूप भए स्याम, सुनी री मैंने निरबलके बल राम।'*** दस हजार हाथियोंका बल लगा दु:शासन साड़ी खींचने। साड़ीका तो कुछ पता ही नहीं कि कितनी लम्बी है। राजदरबारमें साड़ीका ढेर लग गया। दु:शासन पसीने-पसीने हो गया। उसकी भुजाएँ थक गयीं। ***'दु:शासनकी भुजा थकित भइ'*** ***'दस हजार गज-बल घट्यो, घट्यो न दस गज चीर।'*** दु:शासन हार गया। उसका दम फूलने लगा और द्रौपदीकी साड़ी छोड़ श्वास लेने, दम मारने बैठ गया। क्यों? वह कपड़ा अनन्त हो गया। उसमें अनन्त आ विराजे न! यह तब हुआ जब मात्र एक भगवान्का सहारा रहा।

इसलिये साधक एकको देखे। देर नहीं होगी। एक भगवान्की ओर देखे। एक साधनामें लगा रहे। एक लक्ष्यपर स्थिर रहे। एक मन्त्र जपता रहे तथा विश्वास रखे कि भगवान् मेरे हैं और हैं। संदेह न करे। किसी प्रकारकी मनमें दुविधा न रखे। तब भगवान् कह देंगे—मैं तेरा, मैं तेरा। यह करके देख लीजिये आप। भगवान्ने द्रौपदीसे कहा कि तुम मेरी सखी हो। तुम देखोगी कि इन कौरवोंकी स्त्रियोंकी क्या गति होती है। भगवान्ने अर्जुनसे कहा तुम मेरे हो। भगवान् आज भी वही हैं। भगवान्की मति आज भी वही है। भगवान्की प्रीति आज भी वही है। भगवान्के भाव आज भी वही हैं। भगवान्में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। अगर हम आज द्रौपदी, ध्रुव, विभीषण या प्रह्लाद बन जायँ तो हमारे साथ वही चीज होगी जो उनके साथ हो चुकी है। इस युगमें भी हुई है और आज भी हो सकती है। बस! हमें बनना है।

अत: साधकको विश्वासपूर्वक, अपने लक्ष्यपर ध्यान रखते हुए, अपने मार्गपर बिना किसी ओर ताके, बिना किसीका खण्डन-मण्डन किये, बिना किसीकी आलोचना किये, बिना और कुछ सुने और कहे, बस, जैसे पतिव्रता स्त्री केवल अपने पतिको जानती है उसके लिये जगत्में और कोई है ही नहीं, उसी प्रकारसे अपने भगवान्को जानकर, मानकर साधक निरन्तर भगवान्की ओर चलता रहे। चूकेगा तो भगवान् सँभालेंगे, गिरेगा तो भगवान् उठायेंगे। यद्यपि वह गिरेगा नहीं, परंतु कहीं गिरने लगे तो भगवान् उठा लेंगे। मार्ग भूलेगा तो रास्ता बतानेवाले बन जायँगे। वे हाथ पकड़कर अपने धाममें ले जायँगे। इसलिये विश्वास कीजिये और भगवान्के मार्गमें लगिये। (कैसेट संख्या २४)

* * *

भक्ति एवं ज्ञानोत्तरा भक्ति

(डॉ० श्रीश्यामाकान्तजी द्विवेदी, एम्०ए०, एम्०एड्०, पी-एच्०डी०, डी०लिट्०)

'*भज सेवायाम्*' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय लगानेपर 'भक्ति' शब्द निष्पन्न होता है। धात्वर्थ-दृष्टिसे तो 'भक्ति' का तात्पर्य सेवासे है, किंतु आचार्योंने इसपर अनेक दृष्टियोंसे विचार किया है—

(१) श्रीव्यासजीका मत—'पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः॥' (नारदभक्तिसूत्र १६) अर्थात् भगवान्‌की पूजा आदिमें अनुराग होना ही भक्ति है।

(२) श्रीगर्गाचार्यजीका मत—'कथादिष्विति गर्गः॥' (नारदभक्तिसूत्र १७) अर्थात् भगवान्‌की कथा आदिमें प्रेम होना ही भक्ति है।

(३) ऋषि शाण्डिल्यका मत—'आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः॥' (नारदभक्तिसूत्र १८) अर्थात् ऋषि शाण्डिल्यके मतानुसार आत्मरतिके अविरोधी विषयमें अनुराग होना ही भक्ति है।

(४) ऋषि नारदका मत—'नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति॥' (नारदभक्तिसूत्र १९)

अर्थात् नारदके मतानुसार अपने निःशेष व्यापारों (कार्यों)-को भगवान्‌को समर्पित करना एवं भगवान्‌का रञ्चमात्र भी विस्मरण होनेपर अत्यधिक व्याकुल हो जानेकी स्थिति ही भक्ति है।

(५) मधुसूदन सरस्वतीका मत—

(क) द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥

अर्थात् भगवद्गुणश्रवणादिसे द्रवीभूत चित्तकी सर्वेश्वर भगवान्‌के विषयमें धारावाहिकताप्राप्त (तैलधारावत् अविच्छिन्न-रूपसे भगवदाकार) वृत्ति ही 'भक्ति' कही जाती है।

(ख) 'द्रवीभावपूर्विका हि मनसो भगवदाकारता सविकल्पकवृत्तिरूपा भक्तिः', 'द्रवीभावानुपेताऽद्वितीयात्ममात्र-गोचरा निर्विकल्पकमनोवृत्तिर्ब्रह्मविद्या॥' 'भक्ति एवं ब्रह्मविद्या' (ज्ञानमार्ग)-में यही भेद है कि चित्तका द्रवीभाव हुए बिना ही अद्वितीय आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होकर निर्विकल्पक मनोवृत्ति ब्रह्मविद्या है, किंतु द्रवीभावपूर्विका भगवदाकारा चित्तवृत्ति 'भक्ति' है।

(६) ऋषि अंगिराका मत—'सानुरागरूपा' (१।६) अर्थात् भक्ति अनुरागस्वरूपा है।

(७) रूपगोस्वामीका मत—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु १।११)

अन्य कामनाओंसे रहित, ज्ञान एवं कर्मों आदिसे अनाच्छादित और अनुकूल भावनासे कृष्णका अनुशीलन ही उत्तम भक्ति है।

(८) नारदपाञ्चरात्रका मत—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥

अर्थात् समस्त उपाधियोंसे रहित, विशुद्ध एवं तन्मयतापूर्वक समस्त इन्द्रियोंके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णका सेवन ही भक्ति है।

(९) श्रीमद्भागवतका मत—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।११—१३)

जिस प्रकार गङ्गाका प्रवाह अखण्डरूपसे समुद्रकी ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे मनकी गतिका तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे मुझ सर्वान्तर्यामीके प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तममें निष्काम और अनन्य प्रेम होना—यह निर्गुण भक्तियोगका लक्षण कहा गया है। ऐसे निष्काम भक्त दिये जानेपर भी, मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्षतक नहीं लेते।

(१०) **भक्तिके स्वरूपकी तात्त्विक दृष्टि—तान्त्रिक दृष्टि**—अनुभवसूत्रके अनुसार—**'शक्तिरेव स्मृता भक्तिर्भक्तिरेव हि सा सदा'** भगवान्‌की आह्लादिनी शक्ति ही भक्ति है। वही माहेश्वरी शक्ति 'भक्ति' के रूपमें परिणत हो जाती है—**'तथा माहेश्वरी शक्तिर्विभक्ता भक्तिरूपिणी।'** शक्ति एवं भक्तिमें कोई भेद नहीं है—

'शक्तिभक्त्योर्न भेदोऽस्ति परमार्थनिरूपणे।'

दोनोंमें अन्तर यह है कि शक्ति अधोमुखी है और भक्ति ऊर्ध्वमुखी—**'अधोमुखी भवेच्छक्तिर्भक्तिरूर्ध्वमुखी भवेत्॥'**

भक्तिके भेद एवं ज्ञानोत्तरा भक्ति—भक्तिके अनेक भेद हैं। यथा—

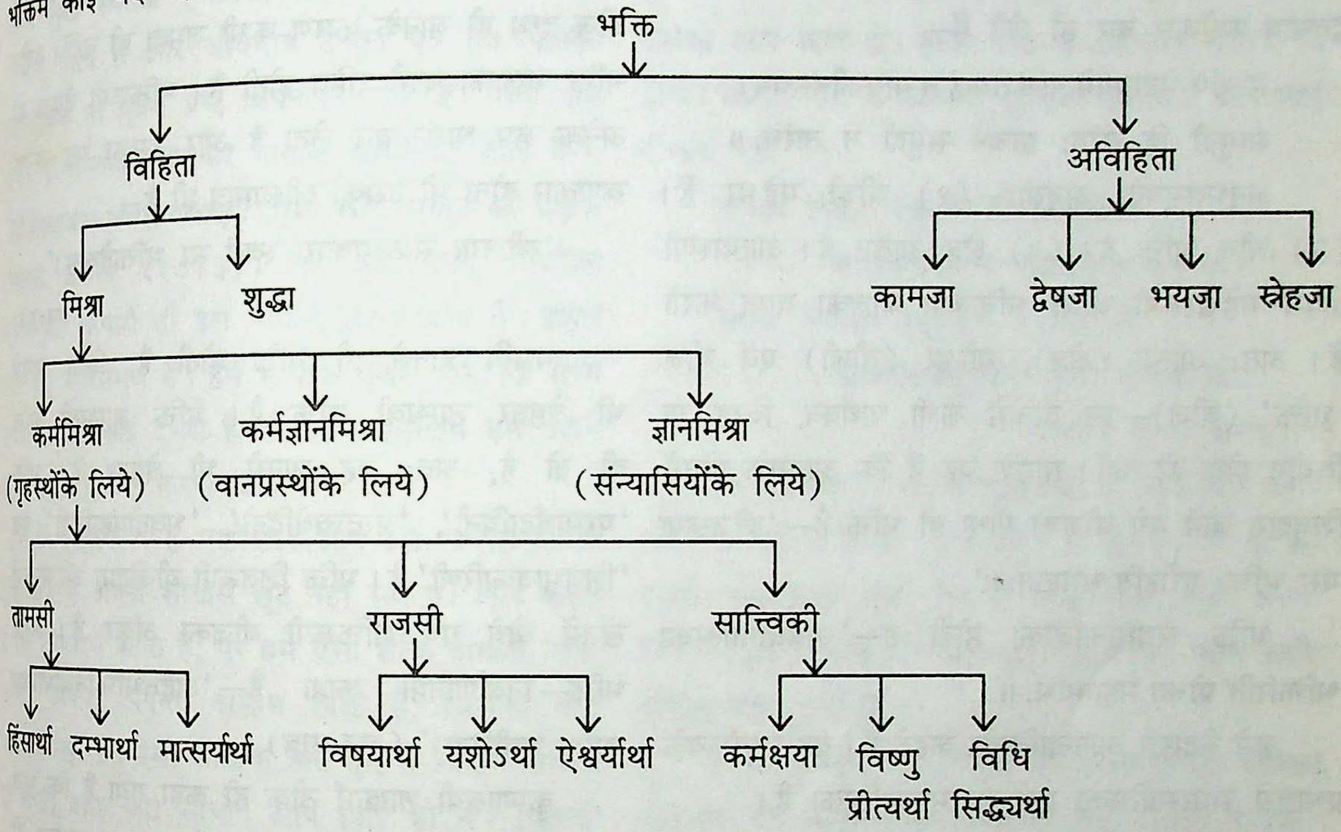
भक्ति
विहिता
अविहिता
मिश्रा
शुद्धा
कामजा
द्वेषजा
भयजा
स्नेहजा
कर्ममिश्रा
(गृहस्थोंके लिये)
कर्मज्ञानमिश्रा
(वानप्रस्थोंके लिये)
ज्ञानमिश्रा
(संन्यासियोंके लिये)
तामसी
राजसी
सात्त्विकी
हिंसार्था
दम्भार्था
मात्सर्यार्था
विषयार्था
यशोऽर्था
ऐश्वर्यार्था
कर्मक्षया
विष्णु प्रीत्यर्था
विधि सिद्ध्यर्था

ज्ञानोत्तरा भक्ति—यह अद्वैत भक्ति है। इसे ज्ञानोत्तरा इसलिये कहा जाता है कि ज्ञानका 'तुर्यगा' स्तर अतिक्रान्त कर लेनेपर जो ज्ञानप्रवण मुक्ति प्राप्त होती है, उसके बाद भी भक्तिकी साधना निष्पादित की जाती है। यहाँ जो भक्तिजन्य द्वैत होता है वह मात्र कल्पित होता है—मोह एवं अज्ञानसम्भूत नहीं होता—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

(बोधसार)

यह द्वैत तो अद्वैतसे भी अधिक श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट होता है; क्योंकि यह मुक्त व्यक्तिकी कल्पनाका परिणाम होता है न कि अज्ञान या मोहका कारण।

द्वैतके दो रूप हैं—

(१) ज्ञानोदयके पूर्व उपस्थित द्वैत—नरक, संसरण।

(२) ज्ञानोदयोपरान्त उत्पन्न (कल्पित) द्वैत—मुक्तिको भी मुक्ति प्रदान करनेवाला।

यह भक्तिका अद्वैतस्वरूप है। इसमें मुक्तिकी भी कामना नहीं रहती। श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है कि यह मुक्तिसे भी उत्कृष्टतर है—

'न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥'

अर्थात् जिसने अपनेको मुझे अर्पित कर दिया है, वह मुझको छोड़कर न ब्रह्माका पद चाहता है न इन्द्रासन, न चक्रवर्तीका पद न पातालका राज्य, न योगकी सिद्धियाँ और न जन्म-मरणचक्रसे विमुक्तिस्वरूप मोक्ष—कुछ भी नहीं चाहता। वह तो जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति—इन तीनों

अवस्थाओंमें अपने इष्टदेवके चरणकमलोंके सौन्दर्यका ही आकाङ्क्षी होता है—'**जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति स्फुरतु मे राधाब्जचरणच्छटा।**'

ज्ञानोत्तरा भक्तिमें द्वैत भी सुन्दर होता है और वह अद्वैतसे भी ज्यादा मनोज्ञ होता है—'**भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्।**' ब्रह्मज्ञानी शंकराचार्यजी भी यह द्वैतभाव स्वीकार कर ही लेते हैं—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥

अनुभवसूत्रके अनुसार—(१) बीजी महेश्वर हैं। (२) बीज भक्ति है। (३) क्षेत्र आत्मा है। आत्मारूपी क्षेत्रमें महेश्वररूपी बीजी भक्तिरूपी बीजका वपन करते हैं। अतः आत्मा (क्षेत्र), महेश्वर (बीजी) एवं बीज '**भक्ति**' (बीज)—इन तीनोंमें कभी पार्थक्य, विरह या वियोग होता ही नहीं। सारांश यह है कि आत्माके खेतमें शिवद्वारा बोये गये बीजका पौधा ही भक्ति है—'**बीजरूपा परा भक्तिः प्ररोहति समन्ततः॥**'

भक्ति अवधानात्मिका होती है—'**अवधानात्मिका भक्तिरिति प्रोक्ता महात्मभिः॥**'

इसे वेदान्ती आनन्दात्मिका कहते हैं। यह सामरस्यके प्रभावसे समरसात्मिका एवं स्वात्मगुणात्मिका है।

भक्ति कर्म, ज्ञान एवं योग—इन तीनोंसे श्रेष्ठतर है—'**सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा॥**' (नारदभक्तिसूत्र २५) भक्तिसे बढ़कर तो योग, तप एवं अर्चा भी नहीं है—

न योगो न तपो नार्चा क्रमः कोऽपि हि विद्यते।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते॥
(अनु०सूत्र)

अनुभवसूत्रमें अद्वैतगा भक्तिको ही वरेण्य माना गया है। इसमें कहा गया है कि जो अद्वैतपदरूढा भक्ति स्वरूपतः अद्वैत लक्षणा एवं अद्वैतात्मा है, वही यथार्थ भक्ति है और अन्य भक्तिके रूप तो मात्र मनःकल्पित हैं। द्वैतात्मिका भक्ति तो आवागमन-चक्रको पुष्ट करती है। केवल अद्वैत भक्ति ही संसरण-चक्रका ध्वंस कर पाती है। इसीलिये अद्वैतगा भक्तिका ही आश्रय लेना चाहिये न कि क्लेशदा द्वैत भक्तिका—

तस्मादद्वैतगां भक्तिमाश्रयेत् सर्वसिद्धिदाम्।
न च द्वैतात्मिकां भक्तिं क्लेशहेतुप्रदायिनीम्॥

अद्वैत भक्ति अविचला, निर्विकल्पा एवं निरञ्जना है। अद्वैत भक्ति ही वह उत्कृष्टतम साधन है जो कि द्वैत भक्तिका निवारण कर पानेमें सक्षम है और यह गरीयसी भक्ति निजनिर्वाणनिरूपिणी है। इस भक्तिके बद्धमूल होनेपर कर्मका बीज दग्ध हो जानेके कारण कभी जमता ही नहीं। अद्वैत भक्ति कलाकाङ्क्षासे रहित होती है। भक्तिरूपी देवता ही अनेक रूप धारण कर लेता है और उसका यह अनेक रूपाकार होना भी उसकी लीलामात्र ही है—

'**लीलया सकलाकारा स्वयं सा भक्तिदेवता।**'
(अनु०सूत्र)

यद्यपि ज्ञानसे ही मुक्ति होती है, किंतु ज्ञानसे भी श्रेष्ठतर शाम्भवी शक्ति है। भक्ति शाम्भवी शक्ति ही तो है, अतः वह ज्ञानसे भी श्रेष्ठतर है। भक्ति 'परमार्थदायिनी', 'परतत्त्ववेदिनी', 'भवदोषहारिणी' एवं 'शिवभावकारिणी' है। भक्ति शिवरूपी बीजीद्वारा आत्मारूपी खेतमें बोये गये शक्तिरूपी बीजका अंकुर है। अद्वैत भक्ति—निर्वाणनिष्ठा काष्ठा है—'**अद्वैतभक्तिर्निर्वाणनिष्ठा काष्ठा समीरिता।**' (अनु०सूत्र)

कृष्णाश्रयी शाखामें ठीक ही कहा गया है कि भाव ही महाभावमें परिणत हो जाता है। यह महाभाव ही ह्लादिनीस्वरूपा राधा या आत्मशक्ति है और यह शक्ति ही भक्ति है। भक्ति आत्माकी निजा शक्ति है। भक्तिकी साधना शक्तिकी साधना है।

भक्ति अन्तःकरणकी वृत्ति नहीं है। रागात्मिका वृत्ति (भक्ति) चिन्मय शक्तिकी प्रतिच्छायामात्र है। प्रतिच्छाया तो साधन है और साध्य है बिम्बस्थानीय मूलशक्तिस्वरूपा भक्ति। यदि हम भक्तिको आत्मतत्त्वसे पृथक् मान लेंगे तो—'**भक्त्या मामभिजानाति**' (गीता १८। ५५) वाक्यद्वारा तो आत्मा परप्रकाश्य सिद्ध होगी न कि स्वप्रकाश। अतः भक्ति आत्मशक्ति ही है। इसी आत्मशक्ति या शाम्भवी शक्ति अथवा आनन्दशक्तिकी साधना ही भक्तिकी साधना है और अद्वैत भक्ति ही यथार्थ भक्ति है।

साधकोंके प्रति—

परमपितासे प्रार्थना

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

जीवमात्र भगवान्‌का ही अंश है— **'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७), *'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥'* (मानस, उत्तर० ११७।२)। अतः भगवान् पिता हैं और जीवमात्र उनका पुत्र है। पिताका स्वाभाविक ही पुत्रमें प्रेम, अपनापन होता है। परंतु जीव अपने परमपिताको भूलकर मायाके वशमें हो जाता है— *'सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥'* (मानस, उत्तर० ११७।३)। अब वह अपने परमपिता भगवान्‌की कृपासे ही इस मायासे छूट सकता है। हमारे परमपिता सर्वसमर्थ हैं। हमें मायाके वशसे छुड़ानेके लिये उनके समान कोई दूसरा है ही नहीं। इसलिये हमें अपने परमपितासे प्रार्थना करनी चाहिये—

हे परमपिता! हे परमेश्वर! आप इस मायासे मेरेको छुड़ाओ। मैं अपनी शक्तिसे छूट नहीं सकता। आप कहते हैं कि तुम्हारेमें शक्ति है, पर हमें ऐसी शक्ति दीखती नहीं। आपमें अपार, अनन्त, असीम शक्ति है, जिसका कोई पारावार नहीं है। ऐसी शक्तिके होते हुए मैं मायाके परवश हो गया! आप जरा सोचो। आप पिता हो न? पिताको सोचना चाहिये न? पुत्रकी सहायता पिता ही करेगा और कौन करेगा? दूसरेको दया क्यों आयेगी? परमपिताको ही तो दया आयेगी। इसलिये दया करके मेरेको बचाओ प्रभो! आपके होकर और किसको कहें? आपसे अधिक समर्थ कौन है? आपकी दृष्टिमें कोई हो तो बता दो। हमारेको तो कोई दीखता नहीं। गीतामें भी लिखा है कि आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो हो ही कैसे सकता है— **'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः'** (११।४३)। इसलिये यह काम तो आपको ही करना पड़ेगा। ***'काम हमारो जमत है, रमत तिहारी राम'!*** आपका तो खेल होगा, हमारा काम हो जायगा!

महाराज! हमारे एक मुश्किल हो गयी है। आप कहते हो कि तुम्हारेमें शक्ति है, पर शक्ति हमें याद नहीं है। फँसना तो हमें दीखता है, पर छूटनेकी शक्ति हमें नहीं दीखती। हमारेमें शक्ति हो तो आपको क्यों कहें? हम ही अपना काम कर लें। हमारेमें शक्ति नहीं है, अगर है तो उसको आप जगा दो। होना होगा तो आपकी कृपासे ही होगा। विचार करें तो आपकी कृपाको छोड़कर और कोई दीखता नहीं है।

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥

(मानस, सुन्दर० श्लोक २)

'हे रघुनाथजी! मैं सत्य कहता हूँ और फिर आप सबके अन्तरात्मा ही हैं (सब जानते ही हैं) कि मेरे हृदयमें दूसरी कोई इच्छा नहीं है। हे रघुकुलश्रेष्ठ! मुझे अपनी निर्भरा (पूर्ण) भक्ति दीजिये और मेरे मनको काम आदि दोषोंसे रहित कीजिये।'

हे प्रभो! यह काम आपको ही करना होगा। आपको छोड़कर हम कहाँ जायँ? किसको कहें? कौन सुनेगा? क्यों मानेगा? हम आपके हैं। आपने कहा है— **'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७)। आपका अंश होकर हम दुःख पायें? आपकी सामर्थ्य अपार है, अनन्त है, असीम है— इसमें कोई संदेह नहीं है। परंतु ऐसी सामर्थ्यके होते हुए भी हम दुःख पा रहे हैं? आपके सिवाय हमारा कौन है?

संसार साथी सब स्वार्थ के हैं, पक्के विरोधी परमार्थ के हैं।
देगा न कोई दुःख में सहारा, सुन तू किसी की मत बात प्यारा।

इसलिये हे मेरे नाथ! हे मेरे स्वामी! हे मेरे प्रभो! आपके सामने तो मामूली चीज है। आप थोड़ी-सी कृपा कर दो तो इतनेमें हमारा काम हो जायगा! आपका अंश होकर, दास होकर हम दूसरे किसीको कहें तो यह बड़े शर्मकी बात है। आपके लिये यह कोई बड़ा भारी काम नहीं है। बहुत छोटा, तुच्छ काम है। आपके सामने तो

मामूली बात है, पर हमारी सब आफत छूट जायगी। हम जैसे होने चाहिये, वैसे नहीं हैं, यह बात ठीक है, हम स्वीकार करते हैं; परंतु हम कैसे ही हों, हैं तो आपके ही। हम किसी दूसरेके तो हो नहीं सकते। अब ऐसी कृपा करो कि आपकी निर्भरा भक्ति मिल जाय। हम आपपर ही निर्भर हो जायँ। आपके ही चरणोंके शरण हो जायँ। आपके तो कोई घाटा पड़ेगा नहीं, पर हमारा बड़ा भारी काम हो जायगा। यह हम अपनी शक्तिसे नहीं कर सकते। आप देखते हैं कि हम पात्र नहीं हैं तो पात्र भी आपकी शक्तिसे ही बनेंगे। आपकी शक्तिसे ही मनुष्य योग्य बनता है। आपकी जो अपार, अनन्त शक्ति है, उसीसे सब काम होता है। नहीं तो फिर आप जानो, आपका काम जाने! हमने तो अपनी बात कह दी, अब जैसी आपकी मरजी, वैसा करो। जिसमें आपकी प्रसन्नता हो, वह करो। हमारा कोई आग्रह नहीं है। हम तो समझते नहीं महाराज! हमारी अक्लमें बात नहीं आती। हमारे अधिकारकी बात नहीं दीखती। आपको दीखती हो तो वैसे कर लीजिये।

आप कृपा को आसरो, आप कृपा को जोर।
आप बिना दीषै नहीं, तीन लोक में और॥

हम अयोग्य हैं। जो अयोग्य होते हैं, वे ही आपकी कृपाके अधिकारी होते हैं। जो योग्य हैं, वे कृपाकी चाहना क्यों करेंगे? वे अपना काम खुद कर लेंगे। परंतु हमारेसे ऐसा नहीं होगा। आप ही कृपा करके अपनी निर्भरा भक्ति दीजिये। निर्भरा भक्ति पाकर हम कृतार्थ हो जायँगे! आपके चरणोंकी निर्भरा भक्ति मिल जाय तो फिर 'कामादि दोषोंसे रहित कीजिये'—ऐसा कहनेकी जरूरत ही नहीं। हमारे मनमें तो आती है कि आपको कुछ नहीं कहें। आप सब जानते हो। आपसे अपरिचित कुछ नहीं है। हम आपकी जानकारीमें हैं। आप जानते हो कि हम कैसे हैं। हम जैसे भी हैं, आपके ही हैं।

गायका बच्चा मलसे भरा होता है तो गाय मुखसे चाटकर उसको साफ कर देती है। आप नहीं करो तो आपकी मरजी। आपकी जैसी प्रसन्नता हो, वैसा करो। हम उसमें ही राजी हैं। हमारी इस अवस्थामें ही आप राजी हों तो कोई बात नहीं। फिर परवाह ही नहीं। फिर हमारे चित्तमें बहुत आनन्द है। क्यों आनन्द है? कि आपकी ऐसी ही मरजी है। हमने तो अपनी बात कह दी, अब आप जानो, आपका काम जाने। आपको छोड़कर और किसको अपनी बात कहें? और कौन सुनेगा? सुनकर भी वह क्या करेगा बेचारा! दूसरेमें वह शक्ति नहीं है। संतोंने कहा है—

घर घर लागो लायणो, घर घर धाह पुकार।
जनहरिया घर आपणो, राखै सो हुसियार॥

अपना घर रखनेकी शक्ति भी हमारेमें नहीं है! हमें तो केवल आपकी कृपाका ही भरोसा है और हमें क्या करना है महाराज! आप ही बताओ। हम तो जैसे हैं, आपके सामने हैं। अब आपकी जैसी मरजी हो, वैसे करो। परंतु आपकी मरजीमें हम संतोष करें, वह संतोष भी आप दे दीजिये। फिर हमारे आनन्दका ठिकाना नहीं है!

हे प्रभो! हे दीनानाथ! हे पतितपावन! हे अशरणशरण! आप पापियोंका भी उद्धार कर देते हो, अयोग्यको भी योग्य बना देते हो। सब आपकी मरजी है। आप ही जानो महाराज! हे नाथ! अगर हम घोर पापी हैं तो आपके हैं, कम पापी हैं तो आपके हैं और पापरहित हैं तो आपके हैं। हमारा उद्धार आपको ही करना है। आपके ऊपर ही हमारा भार है। हम जैसे हैं, वैसे ही आपके हैं। अगर हम भक्त हैं तो आप भक्तवत्सल हो, हम पतित हैं तो आप पतितपावन हो। भक्तोंका उद्धार करनेवाले भी आप ही हो और पापियोंका उद्धार करनेवाले भी आप ही हो। आपके सिवाय और कौन है हमारा? हम शुद्ध हो जायँ तो कई हमारे हो जायँगे। परंतु अशुद्धको कोई अपनाता नहीं। आप तो सबके हो। हम शुद्ध हैं तो आपके हैं, अशुद्ध हैं तो आपके हैं। अच्छे हैं तो आपके हैं, मन्दे हैं तो आपके हैं। आपके सिवाय और किसके शरण जायँ? सिवाय आपके अपना कोई नहीं है। हमारा उद्धार तो आपको ही करना है। महान् अशुद्धको शुद्ध बनानेवाले आप ही हो। घोर पापीका उद्धार करनेवाले भी आप ही हो। हम आपके ही अंश हैं, आपसे ही पैदा हुए हैं; अतः हम जैसे हैं, वैसे-के-वैसे आपके हैं। शबरीने कहा—

अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥
(मानस, अरण्य० ३५।३)

ऐसोंका उद्धार भी आप ही करते हो। आपके सिवाय अधमोंका उद्धार करनेवाला और कोई नहीं है। अधमोंकी उपेक्षा करनेवाले बहुत मिल जायँगे। अधमोंसे, पापियोंसे सब घृणा करते हैं, पर आप उनको शुद्ध करनेवाले हो। उनको शुद्ध करनेकी जिम्मेवारी आपपर है; क्योंकि वे पापी आपके ही हैं। आप पतितपावन हैं। इसलिये हम ज्यादा पापी हैं या कम पापी हैं, इसका विचार हम क्यों करें?

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥
(दोहावली २७७)

बड़े-बड़े पापियोंका भी आपने उद्धार किया है, कसाइयोंका भी उद्धार किया है, महान् चोर-डाकुओंका भी उद्धार किया है। यह तो आपका स्वभाव है। इसलिये हे नाथ! हमारा उद्धार आपको ही करना है। हम कैसे ही हैं, हैं तो आपके ही। हम आपकी दयाके भरोसे आपकी शरणमें आये हैं, जैसा कि विभीषणने कहा है—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥
(मानस, सुन्दर० ४५)

आपके सिवाय और कोई भी सुननेवाला नहीं है। ऐसी दयालुता किसीमें नहीं है। आपके समान दयालु हमने दूसरा कोई सुना नहीं है। सुनें कैसे? है ही नहीं। इसलिये हम आपके चरणोंमें आकर पड़ गये हैं, बस। अब और विचार ही क्यों करें? विचार करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। कहीं जानेकी जरूरत ही नहीं है। किसीसे पूछनेकी जरूरत ही नहीं है। हमारे तो जो कुछ हो, सब आप ही हो। एक आपपर ही विश्वास है। एक आपकी ही आशा है।

सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥
हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
(मानस, किष्किन्धा० १२। २; उत्तर० ४७। ५)

बिना हेतु उद्धार करनेवाले दो ही हैं—एक आप और एक आपके प्यारे भक्त। इनके हृदयमें स्वाभाविक ही दूसरोंका उद्धार करनेकी बात रहती है। आपके भक्तोंमें तो आपसे भी अधिक उत्साह रहता है। आपके भक्तोंमें यह स्वभाव आपसे ही आया है। परंतु आपमें यह स्वभाव पहलेसे ही स्वतः-स्वाभाविक है। अधमोंका उद्धार करना आपका स्वभाव है, आपकी आदत है। अधमोंका उद्धार करते-करते आपकी कृपामें कमी नहीं आती— *'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती'* (मानस, बाल० २८। ३)। आपकी कृपा आपके स्वभावको लेकर ही है— *'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥'* (मानस, उत्तर० १२४। ४)। ऐसा स्वभाव कहीं सुना नहीं, कहीं देखा नहीं। आपके समान कौन है? आपने पहलेसे ही बिना हेतु कृपा करनेका स्वभाव स्वतः बना रखा है। इसलिये आपको कहनेकी हिम्मत होती है। आपके सिवाय और किसीको कहनेकी हिम्मत ही नहीं होती! अब मारो चाहे तारो, कुछ भी करो, हम तो आपके हैं। अगर हम अनन्य शरण नहीं हैं तो आप अनन्य कर लो महाराज! आप जैसा चाहते हो, वैसा बना लो। हम तो वैसा बन नहीं सके, अपनेको शुद्ध कर नहीं सके! बालक कैसा ही हो, उसको स्नान तो माँ ही कराती है। परंतु बालक रोता है कि माँ स्नान क्यों कराती है? हम तो ऐसे हैं महाराज!

हे नाथ! हे पतितपावन! हे अधम-उद्धारक! हे कृपासिन्धो! हे दयासिन्धो! आपके चरणोंका ही आश्रय है और किसीको हम जानते ही नहीं हैं। जानें क्या, आपके सिवाय और कोई है ही नहीं, कोई हुआ ही नहीं, कोई होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। जो दीन हैं, नीच हैं, वे आपको प्यारे लगते हैं। आपका ऐसा स्वभाव सुनकर ही हम आपकी शरणमें आये हैं— *'श्रवन सुजसु सुनि आयउँ।'* हमारेमें कमी हो तो आप दूर कर दो। हम तो कमीसे ही भरे हुए हैं। हम अच्छे-मन्दे जैसे हैं, आपके ही हैं। आपके चरणोंको छोड़कर हम कहाँ जायँ?

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित-पावन जग, केहि अति दीन पियारे॥
(विनय-पत्रिका १०१)

~~~
~~~

द्वेष, परनिन्दा तथा घृणासे कैसे बचें?

(श्रीगिरीशचन्द्रजी उप्रेती)

भारतीय ऋषियोंने सदाचार, सद्‌वृत्त एवं सदाचरणपर बहुत बल दिया है। विभिन्न परिस्थितियोंमें आचरणकी पवित्रता कैसे बनी रहे? इसपर भी विचारकर उन्होंने मानवमनकी विभिन्न प्रवृत्तियोंका अध्ययन किया है। एक प्रकरणमें बताया गया है कि राग-द्वेषसे मुक्त जीवन ही परम शान्तिकी प्राप्ति अर्थात् मोक्ष है। इस दृष्टिसे राग तथा द्वेषपर दृष्टि डालना आवश्यक है। मनुष्यमें काम, क्रोध, मद, मोह तथा लोभ आदि प्रवृत्तियाँ रहती हैं और इनके सम्बन्धमें संतोंने कहा है कि इनसे सदा बचे रहना चाहिये।

द्वेषकी भावनाके कारण ही मनुष्य दूसरोंकी निन्दा कर मिथ्या आत्मसंतोष प्राप्त करता है। परनिन्दाको संतोंने पाप कहा है तथा यह कार्य धर्मविरुद्ध कहा गया है। परनिन्दा करते-करते अन्तमें ऐसा मनुष्य दूसरोंसे घृणा करने लगता है और यह पाप है। संतोंने इस सम्बन्धमें हमें चेतावनी देते हुए कहा है—'पापसे घृणा करो, पापीसे घृणा मत करो।' घृणा करना विकृत मनोवृत्तिकी चरम सीमा है। द्वेषसे जन्म होता है परनिन्दाका और परनिन्दाकी प्रवृत्तिका अन्त होता है घृणामें। द्वेषको सामान्य दोष समझना एक भूल होगी। द्वेषका विस्तार बहुत अधिक है। द्वेषका विष बहुत ही भयंकर होता है और परनिन्दा तथा घृणामें परिवर्तित हो ही जाता है।

परनिन्दाका रोग लोगोंमें प्रायः बचपनसे तभी प्रारम्भ होता है, जब वह अपने माता-पिताको परनिन्दा करते सुनते हैं। यदि ऐसे बच्चोंका साथ भी ऐसे साथियोंसे होता है जो अपने दूसरे साथियोंकी निन्दा करते हैं तो वे बालक भी परनिन्दा करने लगते हैं। बच्चोंमें यह दोष बड़ोंके अनुकरणद्वारा उत्पन्न होता है। अतः माता-पिताका यह आवश्यक कर्तव्य है कि वे यदि अपना तथा अपने बच्चोंका जीवन सँवारना चाहते हैं तो परनिन्दा से बचें। नैतिकताकी पुस्तक पढ़ने-पढ़ानेसे नैतिकता नहीं आ सकती; बल्कि यह आती है नैतिक बातोंके अनुकरणसे। नैतिकता सामाजिक अनुकरणसे पनपती है। अतः माता-पिताका नैतिक आचरण ही बच्चेके लिये अनुकरणका विषय बनता है।

द्वेषसे अधिकतर परनिन्दा पनपती है, जिसका रूप अन्तमें घृणामें परिवर्तित होता है। द्वेषका मुख्य कारण हीन भावना है और प्राप्त परिस्थितिसे असंतोष है। इस सम्बन्धमें महात्माओंने समझाया है कि मनुष्य केवल यह न देखे कि कितने लोग उनसे अधिक साधनसम्पन्न हैं, वरन् यह भी देखे कि कितने अनगिनत लोगोंके पास इतने साधन नहीं हैं जितने उसे उपलब्ध हैं। इस सोचसे द्वेषभाव जाता रहेगा। द्वेष न रहनेपर परनिन्दा और घृणाका प्रश्न ही न होगा। सबका भला (मङ्गल) हो इस भावनासे द्वेषभावना नहीं पनपेगी। लौकिक जीवनकी इनसे हानि तो है ही, आध्यात्मिक साधनाके भी ये परम अन्तराय हैं और पतनकी ओर ले जानेवाले हैं।

आधुनिक विज्ञान भी हमें सचेत करता है कि द्वेष तथा परनिन्दाकी प्रवृत्तिसे तनावके कारण हमारी कुछ नलिकाविहीन ग्रन्थियोंके स्रावसे हमारे शरीरको गम्भीर क्षति भी पहुँचती है।

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि उसका जीवन सुखी हो पर वास्तवमें जिस उपायसे सच्चा सुख प्राप्त होता है, उसे प्राप्त करनेकी चेष्टा न कर वह उन उपायोंको अपनाता है जो सुखके नहीं अपितु दुःखके हेतु हैं। यही अज्ञानता है। इसी अज्ञानताके आनन्दमें निमग्न वह द्वेष एवं परनिन्दाको अपनाये रहता है, इसमें उसे बहुत रस मिलता है। इसके विपरीत हमें चाहिये कि हम सदा भला करनेकी कोशिश करें और मनसे बुराइयोंको दूर करनेका सतत प्रयत्न करें। यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि इन बुरी प्रवृत्तियोंसे तभी हम पूर्णतः मुक्त हो सकते हैं, जब हम केवल लोकपर ही दृष्टि न रखकर परलोकपर भी दृष्टि रखें, भगवान्‌की ओर देखें, उनकी कृपाका खयाल करें, प्रभुप्रदत्त प्राप्त परिस्थितिमें संतोष करें, सच्ची अनुकूलता और सच्ची प्रतिकूलताको ठीकसे समझनेका प्रयत्न करें। प्रभुकृपासे कदाचित् ऐसा हो जाय तो फिर सर्वत्र सबमें अपने प्रियतमके ही दर्शन होने लगेंगे, ऐसेमें द्वेष, घृणा, निन्दा फिर कहाँ टिक सकते हैं।

* * *

साधक-प्राण-संजीवनी

[दीवानोंका यह अगम पंथ संसारी समझ नहीं पाते]

साधुमें साधुता—

(गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज)

[गताङ्क पृ०-सं० ६०८ से आगे]

प्रश्न—श्रीभगवत्कृपा का वस्तु है? यह कैसें प्राप्त होय है?

उत्तर—कृपामें तुम्हें अबहूँ कमी दीखे है का? पशु न बनाये, मनुष्य बनाये, यह कृपा है। दूसरे देशमें जन्म न दियौ, भारतमें ही जन्म दियौ। श्रीरामायणजी, श्रीभागवतजी, श्रीगीताजी, वेद, पुराण, उपनिषद्, अवध, व्रजादिक धाम प्रदान करि दिये। संत-महापुरुषन कौ निःशुल्क निर्विवाद सत्संग प्रदान करि दियौ। कृपामें कमी कहाँ है? कमी है तौ हमारी ही। इतनी कृपा भई है, जाकूँ सँभारि लेंगे तौ और हू कृपा होयगी। नहीं सँभारिंगे तौ लौटि जायगी। उदाहरणके ताँईं— जैसें हम नित्य नये घरमें प्रसाद पायवे जावैं हैं। वे लोग विचारे कितने परिश्रम सौं भोजन बनावैं, पत्तल पै परोसिकैं, बड़ी विनम्रता सौं अपने हाथ जोरिकैं, हमसौं प्रार्थना करैं हैं कि पाऔ जी और हम न पावैं तौ का होयगौ? दुबारा नहीं बुलायिंगे। यही बात कृपा की है। जितनी कृपा आज है, याकौ सदुपयोग करि लिंगे तौ और कृपा हौयगी। यदि सदुपयोग न करैं तौ और कृपा नहीं हौयगी। एक अपराध बन्यौ— कृपा आयी और हमने ठुकराय दई, यह अपराध है गयौ अब बनौ पशु, घूमौ लख चौरासीनमें। यासौं सावधानी सौं कृपाकी पूरी सँभार करै और धन्यवाद दे ईश्वर कूँ कि इतनी कृपा दै दई, बलिहारी प्यारे!

भरी भई पत्तल हमारे सम्मुख धरी है, खायवेकी बात न करिकैं हम कहैं कि और लाऔ जी तौ वे काहे कूँ दिंगे। कहिंगे कि पहलें जाय तौ खायलेउ। यदि हम खाय लिंगे तौ ये अपने-आप ही परोसिवे कूँ लामिंगे, इतनौं परोसिंगे कि नाकतक भरि दिंगे। साचौ! कृपा कूँ कैसें सँभारैं। एक करोड़पति काहू निर्धन कूँ सहसा एक लाख रुपया दै दे तौ वह यही सोचैगौ कि मैं या राशि कूँ कहाँ धरूँ? यदि जहाँ-तहाँ पटकि दे तौ बाकी सँभार कब होयगी? जैसैं संसार प्रधान है, वैसैं ही भजन हूँ प्रधान बनि जाय, तब काम बनै। भूल यह बनैं कि हम भजन हू संसारके ताँईं ही करैं हैं। याही कौ परिणाम है कि न शान्ति है, न संतोष है और न श्रद्धा है, न भाव है।

प्रश्न—प्रभुकी ओर जायवेकौ उपाय का है?

उत्तर—संसार कूँ कछु ढीलौ करनौं परैगौ। यदि संसार ही मुख्य रह्यौ तौ फिर भजन कूँ चाट जायगौ। जैसे जुखाम-खाँसीमें पौष्टिक आहार दूध, दही, मेवा सब कफ़ ही बढ़ावैं हैं, ऐसैं ही यदि मनमें संसारकी प्रधानता है तौ सबरी साधना संसार ही बढ़ायवेमें खर्च हौंती रहैगी। जितने श्रीभगवान्‌की ओर झुकते जायँगे, उतनी ही शान्ति, संतोष, प्रसन्नता तथा आनन्द आवैंगे ही। भारके पास बैठिकैं देखिलेउ और श्रीगङ्गातट पै बैठिकैं देखि लेउ कि शीतलता कहाँ है? संसार भारके समान है और श्रीभगवान्‌में डूबनौं श्रीगङ्गातटके समान है। प्रभुकी ओर जायवेकौ उपाय यही है कि अपने समय, वाणी और विचारन कूँ अधिक-सौं-अधिक श्रीजीवनधनमें लगायवेकौ ही प्रयास करतौ रहै।

प्रश्न—दासभावमें वृद्धि कैसें होय?

उत्तर—नौकरी करैं तौ यह ध्यान राखनौं परैगौ कि स्वामी जो काम बतावै वाकूँ ज्यौं-की-त्यौं मान लैनौं। जाके करिवे सौं स्वामी प्रसन्न होय, वही करनौ। याही भाव कूँ इसमें लगायदे। जाके करिवे सौं अपने श्रीप्राणनाथ प्रसन्न होते हौयँ, वही करनौं, वही कहनौं, वही विचारनौं। येन-केन-प्रकारेण अपने श्रीप्रभु कूँ प्रसन्न करिवेकौ प्रयास करते रहवे सौं ही दासभावकी वृद्धि होय है।

ये कलियुगके स्वरूप हैं। मैंने या युगकौ नाम अपराधयुग धरि दियौ है। या समय बड़े-सौं-बड़े साधक ईर्ष्या, असूया, घृणा, द्वेष, आसक्ति, उपेक्षा, निन्दा तथा स्वार्थ— इन अपराधन सौं नहीं बचि पावैं हैं।

अहंकार आदि-आदि अपराधके कारण हैं। प्रत्येक काम करिवे सौं पूर्व यह देखि लेय कि यामें कछु श्रीभगवत्सम्बन्ध है या नहीं। यदि प्रत्येक काम श्रीभगवत्सम्बन्ध सौं होयवे लगैं, तौ प्रपञ्च छूटि जाय है।

शान्त रहवेकी युक्ति—

१-संसारी कामना कूँ प्रारब्ध पै छोड़ि देय।

२-अपने कर्तव्यकौ पूरी सत्यता सौं पालन करतौ रहै।

३-सुख-दु:खादि आवैं उनकूँ भोगतौ चलै।

४-अपनौं भजन-साधन नित्य-नियम सौं करतौ रहै।

५-कबहूँ काहू कौ तिरस्कार न करै।

६-आवश्यकतानुसार बोलिवेके अतिरिक्त निरन्तर नाम-जपकौ अभ्यास करतौ रहै। नाम-जपमें मन न लगै तौ कछु काल विनय और प्रेमके पद-गायन करि लेय।

७-प्राण जायवे पै हू असत्य न बोलै। यदि सत्य बोलिवे पै काहूकी हानि हौंती दीखै तौ चुप है जाय।

८-कबहूँ क्रोध न करै। यदि काहूके प्रति क्रोध आय जाय तौ शान्त हैवे पै विनम्र हैकैं क्षमा माँगि लेय। भले ही नीच-सौं-नीच ही क्यौं न होय?

सबरे भक्ति-शास्त्रनकौ सार तीन बातनमें बाबा श्रीप्रियाशरणजीने बतायौ—

१-निरन्तर श्रीभगवन्नाम-जप (नाम-निष्ठा)।

२-श्रीभगवज्जननमें ममता (संत और श्रीसद्‌गुरुमें)।

३-श्रीभगवद्धाममें निष्ठा।

यदि जीवनमें बड़ेनकी निष्कामभाव सौं सेवा बनि जाय तौ श्रीभगवच्चिन्तन तौ स्वत: होयगौ ही।

श्रीभगवज्जन, श्रीभगवन्नाम एवं श्रीभगवद्धाममें हम सर्वप्रथम श्रीभगवज्जनमें श्रद्धा कूँ ही मानैं हैं। यदि श्रीभगवज्जनमें पूरी श्रद्धा होयगी तौ उनकी कृपा सौं श्रीभगवन्नाम और धाममें निष्ठा तौ है ही जायगी। श्रद्धाके द्वारा सब कछु स्वत: ही सुलभ बनि जाय है।

एक सिद्धान्त है—जब दु:ख आवै, तब चुपके सौं अपने प्रारब्धकौ भोग जानिकैं सहलें, काहू कूँ सुनावै नहीं और जब सुख आवै, तब प्रभुकी दई भई वस्तु जानिकैं सबकूँ बाँटि दे, अकेलौ नहीं भोगै।

जब साधक श्रीभगवत्-मार्गकी ओर बढ़ैगौ, भजन-साधन करैगौ तौ भोग्य तौ आवैगौ ही। भोग्य कूँ भोगि लेय, परंतु रुकै नहीं अर्थात् कबहूँ-कबहूँ बढ़िया भोजन अनायास ही प्राप्त है जाय है।

प्रशंसा बढ़ि जाय है। लोग दर्शन करिवे आवैं हैं। भरपेट मान-प्रतिष्ठा मिलै है।

भाँति-भाँति सौं सेवाके बहाने द्रव्य-संचयकी स्थिति हू उपस्थित है जाय है। इनके मिलिवे पै इनमें अटकै नहीं। इनकी प्राप्तिकी तनक हू चाह न करै। जहाँ प्रकाश होय हैं, वहाँ पतंगा तौ आवैं ही हैं। जब पुष्प सुगन्ध सौं महकिवे लगै है, तब भौंरा आय ही जाय हैं। श्रीभागवतजीकौ सिद्धान्त है—

‘भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।’ (श्रीमद्भा० १०।१४।८)

अर्थात् किये भये सुकृत-दुष्कृतनकौ फल भोगते भये आगे बढ़े चलौ। श्रुति है—**‘चरैवेति, चरैवेति, चरैवेति।’** आगे बढ़ौ, आगे बढ़ौ, आगे बढ़ौ।

‘उदयानं पुरुष ते नावयानम्।’

माडव पन्या—नीचे मत गिरौ, रुकौ मत।

आज हमें खयाल भयौ है कि भाग्य का वस्तु है? भाग्य है करणीकौ फल और करणी है अपने हाथमें। जो सुकृत-दुष्कृत करिंगे सबकौ फल तैयार है। बड़ी सावधानी सौं चलै। अनुचित कर्म न बनन पावै। आज जो है, ये हू काहू कर्म कौ फल है और आगे जो होयगौ, वो हू काहू कर्मकौ ही फल होयगौ। भोगनौं अवश्य ही परैगौ। या सिद्धान्त सौं तौ कर्म ही प्रधान है। जीवकी तौ बात ही छोड़ौ, स्वयं श्रीसीताजीने हूँ जब अपने पतिदेव भगवान् श्रीराम कूँ आज्ञा दई कि—

‘एहि मृग कर अति सुंदर छाला॥’
‘आनहु चर्म कहति बैदेही॥’

(रा० च० मा० ३।२७।४-५)

तौ परिणामका भयौ? दस मास बीस दिन रावणके यहाँ रहनौं पर्‌यौ। अर्थात् पतिदेव कूँ और आज्ञा। जबकि पातिव्रत-धर्मके अनुसार पत्नी कूँ पतिकी छायाके अनुसार ही चलिबे कौ अधिकार है। न अपनौं स्वतन्त्र कोई विचार, न क्रिया और ये जगज्जननी का करि बैठीं। ताकौ फल सबके सामने है। दूसरौ उदाहरण है—जब स्वायम्भुव मनु और श्रीशतरूपाजीने आराधना करी तौ मनुजीने इनसौं इनके ही समान पुत्र पायवेकौ वरदान माँग्यौ। इननें फिर श्रीशतरूपाजी सौं हूँ वरदान माँगिवेकी बात कही, श्रीशतरूपाजीने हूँ वरदान माँग्यौ। माँग्यौ तौ बहुत ही उत्तम, परंतु माँग्यौ पतिदेव सौं भिन्न—

जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु॥

मनुजी बने महाराज श्रीदशरथजी और श्रीशतरूपाजी बनी महारानी श्रीकौसल्याजी। साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम नारायणकी माँ और फिर विधवा? हमेशा बड़ौ ही विचारि कैं काम करै। **[क्रमशः]**

मनोऽभिराम भगवान् श्रीराम

(श्रीगोपीकृष्णजी शर्मा, एम्०ए०, बी०एड्०, साहित्यालंकार)

मनोऽभिराम भगवान् श्रीरामके चरित्रको रामायणमें मर्यादाके रूपमें प्रतिपादित एवं प्रस्फुटित किया गया है। श्रीरामकी महिमा सभी दृष्टियोंसे अनुपमेय है। तत्त्वतः वे ही सर्वत्र व्याप्त हैं। जो श्रीरामको नहीं देखता और जिसे श्रीराम नहीं देखते, वह समस्त लोकोंमें निन्दित समझा जाता है तथा स्वयं उसकी अन्तरात्मा भी उसे धिक्कारती है—

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते॥
(वा०रा० २।१७।१४)

हे श्रीरामचन्द्रजी! आपके पवित्र और अलौकिक चरित्रको, लीलाओंको जो लोग प्रतिदिन स्मरण करते हैं, वे विश्वम्भरकी भक्ति करते हुए संसार-सागरसे तर जाते हैं एवं जीवनके अन्तमें वे यमराजका मुख नहीं देखते—

पवित्रं चरित्रं विचित्रं त्वदीयं
नरा ये स्मरन्त्यन्वहं रामचन्द्रम्।
भवन्तं भवान्तं भरन्तं भजन्तो
लभन्ते कृतान्तं न तु पश्यन्त्योऽन्ते॥

श्रीरामावतार—भगवान् श्रीरामके अवतार-प्रसंगमें श्रीमद्भागवतमें उल्लेख है—

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं
रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।
कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः
सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य॥
(५।१९।५)

प्रभो! आपका मनुष्यावतार केवल राक्षसोंके वधके लिये ही नहीं है। इसका मुख्य उद्देश्य तो मनुष्योंको शिक्षा देना है, अन्यथा अपने स्वरूपमें ही रमण करनेवाले साक्षात् जगदात्माजगदीश्वरको सीताजीके वियोगमें इतना दुःख कैसे हो सकता था?

'रामपूर्वतापिन्युपनिषद्' में बताया गया है कि सच्चिदानन्दमय महाविष्णु श्रीहरि जब रघुकुलमें दशरथजीके यहाँ अवतीर्ण हुए, उस समय उनका नाम 'राम' हुआ। इस नामकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'जो महीतलपर स्थित होकर भक्तजनोंका सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण करते हैं और राजाके रूपमें सुशोभित होते हैं वे 'राम' हैं'—ऐसा विद्वानोंने लोकमें 'राम' शब्दका अर्थ व्यक्त किया है। परमात्मा विष्णु जब आनन्दकन्दरूपमें विराजने लगे तो 'राम' नामसे प्रसिद्ध हुए। उनके द्वारा दुष्ट राक्षसोंका मरण हुआ, इसलिये भी 'राम' नामकी सार्थकता हुई। उन नित्यानन्द चित्स्वरूपमें योगी और ज्ञानीजन नित्य-निरन्तर रमण करते हैं—इसलिये उनका नाम 'राम' है—

रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥
(१।६)

रामधाम अयोध्या—अयोध्या साकेतधाम है, अयोध्या रामधाम है। अयोध्यापुरी मोक्षदायिका है, उसका सेवन एवं दर्शन करना, उसमें निवास करना तथा अवगाहन करना हमारे लिये सौभाग्यका विषय है। विराट् पुरुष भगवान् विष्णुके चरणोंमें उज्जैन, मध्य भागमें काञ्चीपुरी, नाभिमें द्वारकाधाम है, हृदयमें हरिद्वार है तथा ग्रीवामूलमें मथुरा है। नासिकाग्रमें काशीपुरी और मस्तकमें अयोध्यापुरी है—जो अवधधाम कहलाता है। भगवान् स्वयं कहते हैं —

पुनि देखु अवधपुरी अति पावनि । त्रिबिध ताप भव रोग नसावनि॥
(रा०च०मा०६।१२०।९)

श्रीरामने अयोध्याके प्रति समर्पणका भाव दर्शाते हुए कहा है—

जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि॥
अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुख रासी॥
(रा० च० मा० ७।४।५, ७)

रामकी दिनचर्या—गुरुके प्रति श्रीरामके सदाचरणका उदाहरण हमारे लिये अनुकरणीय है—

सकल सौच करि जाइ नहाए। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए॥
(रा० च० मा० १।२२७।१)

आदर्श पुत्र एवं शिष्यके रूपमें उनमें कितनी विनम्रता, शालीनता है, यह विचारणीय एवं मननीय है—

प्रात काल उठि कै रघुनाथा । मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
आयसु मागि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥
(रा०च०मा० १।२०५।७-८)

मातृ-पितृ-भक्त—पुत्रका कर्तव्य माता-पिताके प्रति क्या होना चाहिये, वे स्वयं बताते हैं और कैकेयी माताद्वारा

वनवासकी बात कहनेपर प्रसन्नचित्तसे पिताकी आज्ञा अंगीकार करते हैं—

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥
(रा०च०मा० २।४१।७-८)

पुनः राजाके व्यथित होनेपर वे प्रेमसे कहते हैं—

धन्य जनमु जगतीतल तासू। पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू॥
चारि पदारथ करतल ताकें। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें॥
आयसु पालि जनम फलु पाई। ऐहउँ बेगिहिं होउ रजाई॥
(रा०च०मा० २।४६।१—३)

अपरिग्रही श्रीराम—भगवान् रामको न तो धन-सम्पत्तिका लोभ ही था और न राज्यकी लिप्सा। वे अपरिग्रही थे तथा आवश्यकतासे अधिक धनको आसक्तिवश स्वार्थके लिये संचय करना अनुचित मानते थे। पिताके द्वारा वनवास दिये जानेपर उन्होंने निर्लिप्त होकर तत्क्षण सब कुछ त्याग दिया और वनका मार्ग वरण कर लिया।

गोस्वामीजीने कितना सुन्दर भाव व्यक्त किया है—

कीरके कागर ज्यों नृपचीर, बिभूषन उप्पम अंगनि पाई।
औध तजी मगवासके रूख ज्यों, पंथके साथ ज्यों लोग लोगाई॥
संग सुबंधु, पुनीत प्रिया, मनो धर्मु क्रिया धरि देह सुहाई।
राजिवलोचन रामु चले तजि बापको राजु बटाऊ कीं नाईं॥
(कवितावली २।१)

रावण-वधके पश्चात् विभीषणको लङ्काधिपति बनाया गया और रामजीकी आज्ञासे लक्ष्मणने उनका राजतिलक किया; क्योंकि प्रतिज्ञाबद्ध होनेके कारण प्रभु नगरमें नहीं गये तथा उन्होंने राजसिंहासनपर बैठनेके लिये इन्कार कर दिया। लङ्कामें विभीषणद्वारा भेंट किये गये अमूल्य रत्न मणि-माणिक्य आदि उन्होंने स्वीकार नहीं किये।

भ्रातृ-प्रेमके आदर्श मूर्ति—श्रीराम अनुज लक्ष्मणको भरत-जैसे भाईके प्रेम तथा आदर्श व्यवहारके सम्बन्धमें बताते हैं—

भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥
(रा०च०मा० २।२३१)

मेघनादकी शक्तिसे आहत एवं मूर्च्छित लक्ष्मणकी दशापर भगवान् व्यथित होकर भाईके प्रेममें कहते हैं—

मम हित लागि तजेहु पितु माता। सहेहु बिपिन हिम आतप बाता॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई। उठहु न सुनि मम बच बिकलाई॥
जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥

× × ×

जैहउँ अवध कवन मुहु लाई। नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई॥
(रा० च० मा० ६।६१।४—६, ११)

श्रीरामने सुग्रीवको निश्छलरूपसे कितनी मार्मिक बात कही। यह विचारणीय है, देखिये—'भैया! सब भाई भरतके समान आदर्श नहीं हो सकते, सब पुत्र हमारी तरह पितृभक्त नहीं हो सकते और सब सुहृद् तुम्हारी तरह दुःखके साथी नहीं हो सकते'—

न सर्वे भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः।
मद्विधा वा पितुः पुत्राः सुहृदो वा भवद्विधाः॥
(वा० रा० ६।१८।१५)

आज्ञाकारी श्रीराम—श्रीराम अपने द्वारा किया गया उपकार तुरंत भुला देते थे, परंतु दूसरेके द्वारा अपने प्रति किये गये उपकार या प्रेमको कभी नहीं विस्मृत करते थे। वे जटायुके बलिदान तथा शबरीके बेरोंको कभी नहीं भुला सके। हनुमान्‌जीको तो उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया था कि उनके उपकारोंसे वे कभी उऋण नहीं होंगे—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥
(रा० च० मा० ५।३२।५—८)

विभीषणको लङ्कायुद्धमें सहायताके पूर्व ही लङ्काका राज्य देकर भी इसी संकोचमें रहे कि उन्होंने कुछ नहीं दिया।

सरल प्रकृति, सदाचारी तथा मानवतावादी—श्रीराम सौन्दर्य, शक्ति तथा शीलकी प्रतिमूर्ति थे। वे ऐसे पराक्रमी थे कि विश्वकी प्रबलतम शक्ति भी उनसे पराजित थी। उनका शौर्य अनुपम था, परंतु इसका उन्हें किञ्चिन्मात्र भी गर्व नहीं था। उन्होंने कभी भी उसका बखान नहीं किया। जब दूसरे लोग उनकी प्रशंसा करते तो उन्हें बहुत संकोच होता था। अत्यन्त सरल प्रकृति तथा संस्कारित भाव-प्रवणता उनमें विद्यमान थी। वे परिवार, समाज तथा लोकमें मर्यादा चाहते थे। उन्होंने मन, वचन और कर्मसे एकपत्नी-व्रत रखा। वे राष्ट्रके चरित्र-निर्माणपर बल देते थे। उन्होंने एक बार कहा था—'दूसरेकी धन-सम्पत्ति, स्त्रीमें आसक्ति

रखना अथवा दूसरेके प्रति द्रोह या द्वेष रखना पाप है।'

श्रीराम चराचरकी सेवाको मानवका सर्वोत्तम धर्म मानते थे तथा परोपकारको ऊँचा स्थान देते थे। वे मर्यादापुरुषोत्तम थे तथा भारतीय जीवनदर्शन एवं भारतकी प्राचीन सभ्यता और संस्कृतिके पोषक थे।

शरणागतवत्सल एवं सत्यप्रतिज्ञ राम—शरणमें आये दुःखी प्राणियोंकी रक्षामें श्रीरामजी अपने प्राणोंकी बाजी लगा देते थे। रावणके भाई विभीषणकी शरणागति इसका ज्वलन्त उदाहरण है। रामायणमें अन्य कई स्थलोंपर उनकी धर्मज्ञता एवं प्रेमवत्सलताके अनुपम रूप देखे जा सकते हैं। श्रीराम अभयदाता, सत्यवक्ता, शरणागतवत्सल एवं शत्रुदमन हैं, उन्होंने स्वयं गम्भीर वाणीमें प्रतिज्ञा की है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा०रा० ६।१८।३३)

अर्थात् मेरा तो यह व्रत ही रहा है कि जो एक बार भी शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ'—ऐसा कहकर मुझसे अभय चाहता है तो मैं उसे सभी प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ।

श्रीराम अपनी प्रतिज्ञाकी दृढ़ताके विषयमें सीताजीसे कहते हैं—'सीते! मैं अपना प्राण छोड़ सकता हूँ, तुम्हारा और लक्ष्मणका भी परित्याग कर सकता हूँ, किंतु अपनी प्रतिज्ञाको मैं कदापि नहीं तोड़ सकता'—

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्॥
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः।

(वा०रा० ३।१०।१८-१९)

श्रीराम धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप हैं। वे साधु और सत्य-पराक्रमी हैं। जैसे इन्द्र समस्त देवताओंके अधिपति हैं, उसी प्रकार श्रीराम भी सम्पूर्ण जगत्के राजा हैं—

रामो विग्रहवान् धर्मः साधुः सत्यपराक्रमः।
राजा सर्वस्य लोकस्य देवानामिव वासवः॥

(वा०रा० ३।३७।१३)

राम ही परमेश्वर हैं—श्रीराम साक्षात् परमेश्वर हैं और उनका नाम अमोघ है। कलियुगमें तो नाममात्रसे ही मुक्ति हो जाती है। नामपर प्रबल विश्वास करना चाहिये—

राम रामेति ये नित्यं जपन्ति मनुजा भुवि।
तेषां मृत्युभयादीनि न भवन्ति कदाचन॥

अर्थात् जो मनुष्य इस संसारमें 'राम-राम' जप करते हैं, उन्हें मृत्यु आदिका भय कदापि नहीं होता।

श्रीराम वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म हैं—जगत्-जननी सीता-देवी हनुमान्जीको उपदेश करती हैं। 'श्रीरामको सच्चिदानन्दविग्रह, सारी उपाधियोंसे रहित, सत्तामात्र, इन्द्रियातीत, अगोचर, आनन्दमूर्ति, शुद्ध, शान्त, विकारशून्य, निरञ्जन अर्थात् निर्लेप, सर्वव्यापि, स्वतःप्रकाश, कल्मषरहित दुःखरहित, आत्मस्वरूप, अद्वितीय, परब्रह्म ही समझो।'

श्रीराम ही सब जीवोंकी आत्मा हैं। '**सर्वेषु प्राणिजातेषु अहमात्मा व्यवस्थितः।**' भगवान् स्वयं कहते हैं—समस्त भूत प्राणियोंके अंदर मैं आत्मारूपमें स्थित हूँ। इसलिये मुझ शुद्ध चैतन्यको जीवरूपसे स्थित देखकर कोई भी जीव और ईश्वरमें भेददृष्टि न करे—

ज्ञात्वा मां चेतनं शुद्धं जीवरूपेण संस्थितम्।
तस्मात् कदाचिन्नेक्षेत भेदमीश्वरजीवयोः॥

ऐसे करुणासागर मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामजीकी शरणमें जाना परम श्रेयस्कर है। वे ही भवसागरसे पार उतारनेके लिये जहाज हैं, उन्हें छोड़कर इस असार-संसारसे उद्धार होनेका कोई उपाय नहीं है। हमें अपना जीवन भगवान् रामके भजन-ध्यानमें अर्पित कर देना चाहिये। यदि उनके चरणकमलोंकी भक्ति प्राप्त हो सके तो धन्य समझे तथा अपनेको कृतार्थ माने। गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं—

रामु हैं मातु, पिता, गुरु, बंधु, औ संगी, सखा, सुतु, स्वामि, सनेही।
रामकी सौंह, भरोसो है रामको, राम रँग्यो, रुचि राच्यो न केही॥
जीअत रामु, मुएँ पुनि रामु, सदा रघुनाथहि की गति जेही।
सोई जिऐ जगमें, 'तुलसी' नतु डोलत और मुए धरि देही॥

(कवितावली ७।३६)

वे सर्वेश्वर, परमात्मपुरुष हमपर कृपा करें और अपने चरणोंकी अविचल भक्ति प्रदान करें।

मनोऽभिरामं नयनाभिरामं
वचोऽभिरामं श्रवणाभिरामम्।
सदाभिरामं सतताभिरामं
वन्दे सदा दाशरथिं च रामम्॥

(आनन्दरामायण)

मनके लिये मनोरम, नयनोंके लिये रमणीय, वचनकी दृष्टिसे सुन्दर, श्रवणके लिये मनोरम, सर्वदा अभिराम, निरन्तर सुन्दर दाशरथि रामकी मैं वन्दना करता हूँ।

~~~
~~~

लीला-चिन्तन—

भूख लगी है

'दादा, मुझे भूख लगी है।' कन्हाई आकर दाऊके वामपार्श्वमें सटकर बैठ गया है। दोनों भुजाएँ अग्रजके गलेमें डालकर कन्धेपर सिर रख दिया है इसने।

'तब तू आम खा ले।' दाऊने छोटे भाईकी अलकोंपर स्नेहपूर्वक अपना दाहिना हाथ घुमाया।

'नहीं, आमकी भूख नहीं लगी है।' कृष्णका उदर अद्भुत है। नन्दनन्दनकी क्षुधा ऐसी नहीं है कि वह चाहे जिस पदार्थसे बुझ जाय। इसे भूख भी कभी फलकी लगती है, कभी दही या नवनीतकी लगती है और कभी माखन-रोटीकी लगा करती है।

'तब किसकी भूख लगी है?' दाऊ तनिक हँसे।

'मोदककी?' श्यामने कन्धेपरसे मस्तक उठाया।

'मोदककी' दाऊने अब छोटे भाईके मुखकी ओर देखा—'मोदक तो अपने छीकेमें आज मैयाने रखा नहीं लगता। तू छीका उठा ला, देखूँ।'

'मैं नहीं उठता।' ऐसा मुख बनाया श्यामने मानो भूखके कारण इससे उठा ही नहीं जायगा।

'अच्छा, मैं लाता हूँ।' दाऊ उठने लगे; किंतु उन्हें यह उनका नटखट अनुज जब उठने दे। इसने तो कण्ठमें भुजाएँ लपेट रखी हैं और फिर अपना सिर उनके कन्धेपर धर दिया है।

'तू भूखा है न?' दाऊने बड़े प्यारसे इसका मस्तक उठाया। उन्हें अब लगने लगा है कि सचमुच उनका यह सुकुमार अनुज क्षुधातुर है। इसके पतले मृदुल लाल अधर सूखने लगे हैं। श्रीमुख कुछ उदास लगने लगा है। लेकिन दाऊ जानते हैं कि यह हठी इतना है कि मोदक माँगता है तो दूसरा कुछ मुखमें नहीं लेगा।

'मोदक किसीके छीकेमें देखा है तूने?' दाऊको लगा कि कहीं यह श्रीदामके छीकेकी बात तो नहीं कर रहा है। श्रीदामके छीकेमें जो हाथ भोजन सजाते हैं, उनके प्रेमका यह बुभुक्षु हो तो आश्चर्य नहीं; क्योंकि दाऊको अपने छोटे भाईकी भूखका पता है। उन्हें पता है कि यह भले विश्वम्भर हो, प्रेमका सदा बुभुक्षु रहता है।

लेकिन श्रीदामका छीका तो यह स्वयं उठा लिया करता है। श्रीदामको खिझानेमें इसे रस आता है। उस छीकेपर यह अपना स्वत्व मानता है। उसमेंसे मोदक लेना हो तो यह पूछा-पाछी क्यों? तब क्या और कोई छीका, कोई और छीका सजानेवाला हृदय इसे आज बुभुक्षु बनाये है?

'हूँ!' कन्हाईने सिर हिलाया—'अर्जुनके छीकेमें बड़े मधुर मोदक हैं।'

'बड़े मधुर मोदक?' दाऊ हँसे। बिना खाये, बिना चखे ही कन्हाईको पता है कि उस छीकेके मोदक बड़े मधुर हैं।

'तब तू उन्हें खाता क्यों नहीं?' अब दाऊने कुछ आश्चर्यसे देखा—'अर्जुन तो तुझसे कभी लड़ता नहीं है।'

गोपकुमारोंमें—श्यामके चाचा-ताऊके लड़कोंमें कहो या बड़े सखाओंमें कहो, अर्जुन सबसे सीधा, सबसे अधिक संकोची है। वह किसीसे भी झगड़ता नहीं, श्यामसे तो क्या झगड़ेगा। उसे झगड़ा करना आता कहाँ है?

कल सायंकालसे अर्जुन अपनी मातासे हठ करता रहा था कि प्रायः उसके छीकेमें विशेष मोदक भरे जायँ। सबेरे उसने हठ करके इतने मोदक भरवाये छीकेमें कि उसकी माता हँसती जाती थी उन्हें भरते हुए और कहती थी—'तू इतने मोदक खा लेगा? इन्हें ढो भी पायेगा?'

'मैं खाऊँगा, दाऊ दादा खायेगा, कनूँ खायगा!' अर्जुन मग्न था। सचमुच उसका छीका आज बहुत भारी था, किंतु वह भार उसे बड़ा आनन्ददायी लगा था।

संकोची अर्जुन किसीसे कह नहीं पाता कि अब सबको भोजन करना चाहिये। उसका हृदय तो वनमें आनेके समयसे मचल रहा है कि कन्हाई पहले उसके मोदक खा ले, तब क्रीड़ामें लगे; किंतु सब खेलनेमें लग गये हैं।

सब खेलकर थकेंगे तब पुलिनपर अथवा कदम्बके नीचे या भाण्डीर-वटकी छायामें भोजन करने बैठेंगे; लेकिन सबके पास भोजनके पदार्थोंसे भरे छीके हैं। सबके हृदयमें दाऊ और श्यामको अपने हाथसे खिलानेकी हाँस है। सब सखाओंके मध्य उनकी प्रतिस्पर्धामें क्या सीधा, सरल प्रायः चुप-शान्त रहनेवाला अर्जुन अपना एक भी मोदक—मोदकका एक भी टुकड़ा दाऊ या कन्हाईके अधरोंतक पहुँचा पायेगा?

'यह तो खेलमें लग गया।' इसे पता ही नहीं कि इसे भूख लगी है। इसका मुख—इसके अधर सूख रहे हैं और…। अर्जुन बार-बार कृष्णकी ओर ही आज देखता था। बार-बार समीप आता था कुछ कहनेको; किंतु संकोचके कारण कह नहीं पाता था। सखाओंसे घिरा, उनके साथ खेलमें लगा नन्दनन्दन—एक क्षणको भी तो यह स्थिर नहीं हुआ कि अर्जुन कुछ कहे इससे।

सहसा कन्हाईने क्रीड़ा त्याग दी और अपने अग्रजके समीप दौड़ आया। दाऊ दादाके लिये तो यह साधारण बात है कि वे चाहे जब खेलसे पृथक् होकर कहीं भी बैठ जाते हैं।

'मैं अकेले नहीं खाऊँगा। तू भी खा—तुझे भी भूख लगी है।' छोटे भाईसे अधिक स्वयं बड़ा भाई भी कैसे जान सकता है कि उसे भूख लगी है या नहीं और अब अस्वीकारका अर्थ भी क्या है, जब श्यामसुन्दर अर्जुनका भारी छीका उठाये चला आ रहा है। इसी छीकेके मोदकोंकी भूख लगी है कन्हाईको तो दाऊको भी लगनी ही चाहिये। दोनों प्रारम्भ करो और देखो कि यह भूख कितनोंको लगती है अभी।

* * *

'हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी'

(डॉ० श्रीसत्यपालजी गोयल, एम०ए०, पी-एच०डी०, आयुर्वेदरत्न)

इस संसारमें तीन उपलब्धियाँ अत्यन्त दुर्लभ हैं—प्रथम तो मनुष्य-जन्म मिलना; क्योंकि यह देव-दुर्लभ है। देवयोनि भोग-योनि है जबतक पुण्य-कर्मोंका फल शेष है, देवयोनि समाप्त नहीं हो सकती। इधर जबतक पाप-कर्मोंका फल शेष है, तबतक मनुष्य-जन्म नहीं मिल सकता है। यह भगवान्‌की कृपासे ही सुलभ हो पाता है। इसीलिये गोस्वामीजीने इसे *'बड़ें भाग मानुष तनु पावा'* कहा है। विडम्बना है कि इसे मनुष्य अनेक प्रकारके विषय-सुखोंमें नष्ट कर रहा है।

दूसरे किसी सच्चे संतका सत्संग मिलना कठिन है; क्योंकि यह संसार कर्मक्षेत्र है। इसमें मनुष्य प्रत्यक्ष, किंतु अन्ततः दुःख देनेवाले कर्मोंमें लिप्त मिलता है। प्रथम तो संतोंका मिलना ही कठिन है, मिल भी जायँ तो उनको पहचानना कठिन है, तभी तो गोस्वामीजीने कहा है— *'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥'* अतएव संसारमें दूसरी उपलब्धि संतोंका मिलना भी बड़ा कठिन है।

तीसरा भगवद्भजनमें रुचि होना कठिन है। संसारके विषयोंमें आसक्ति जितनी सहज है, भजनमें आसक्ति उतनी ही कठिन है। इसीलिये भगवान् शंकर माता पार्वतीजीसे कहते हैं—

सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥
(रा०च०मा० ३।३३।३)

निश्चित ही वे लोग अभागे हैं जो मनुष्य-शरीर प्राप्तकर भगवद्भजन नहीं करते तथा हरिका परित्याग कर विषयोंके प्रति अनुरक्त होते हैं। अमूल्य मनुष्य-जन्मको विषय-भोगोंमें नष्ट कर देना ही जीवका सर्वाधिक दुर्भाग्य है। विषय-भोगोंका सुख शाश्वत तथा वास्तविक आनन्द प्रदान करनेवाला नहीं है। भोगोंको मनुष्य नहीं भोगते हैं अपितु भोग ही मनुष्योंको भोगकर उनकी आयु तथा शरीरको रोगग्रस्तकर क्षीण कर देते हैं। यदि उनमें आनन्द होता तो शरीर जीर्ण-शीर्ण नहीं हो जाता।

भगवान् शंकरजीका यह कथन शत-प्रतिशत उचित ही है कि निश्चित तौरपर ऐसे लोग अभागे हैं, जो भगवद्भजन छोड़कर विषयोंमें अपने चित्तको लपेटते हैं। संसारमें धनहीन, रोगी, पुत्रहीन, आवासहीन, माता-पिताहीन, पतिविहीन होना उतना भाग्यहीन होना नहीं है, जितना कि भजन छोड़कर विषयानुरागी होना। अनुराग शब्दका शाश्वत सम्बन्ध केवल भगवान्‌से ही है। परंतु गोस्वामीजीने विषयके साथ अनुराग शब्दको इसलिये जोड़ा है कि जितनी तल्लीनता विषयोंके प्रति है, वैसी कृष्णके प्रति हो तो जीवका मानव-जन्म धारण करना सार्थक हो जाय। जीव भगवान्‌का अभिन्न अंश है। परस्पर अदम्य प्रीति ही उनका स्वरूप है, परंतु जीवका मायाके प्रति आकर्षण हो जानेसे जीव अनेक प्रकारके विषयोंमें फँस जाता है। निरन्तर

विषय-सेवन तथा विषयी लोगोंका संग उसे भगवान्‌से दूर करता जाता है। विषयी लोगोंका संग और उनका अन्न दोनों ही जीवको मायामें फँसाते हैं। कुअन्न भी मनमें कुसंस्कार जगानेवाला है।' कहावत है— *'जैसा खाये अन्न, वैसा बने मन'* और *'जैसा करे संग, वैसा चढ़े रंग।'* तभी श्रीचैतन्यचरितामृतकार श्रीपादकृष्णदास कविराज गोस्वामीने साधकोंको सावधान किया है—

प्रतिग्रह ना करिये कभु राजधन।
विषयीर अन्न खाइले दुष्ट हय मन॥
मन दुष्ट हइले नहे कृष्णेर स्मरण।
कृष्ण स्मृति बिनु हय निष्फल जीवन॥

(श्रीचैतन्यचरितामृत १।१२।४८-४९)

अर्थात् राजाके धनका कभी प्रतिग्रह नहीं करना चाहिये; क्योंकि विषयी लोगोंका अन्न ग्रहण करनेसे मनकी वृत्तियाँ दुष्ट हो जाती हैं। यदि मन दुष्ट हो जाता है तो कृष्णका स्मरण नहीं होता है; क्योंकि विषयी लोगोंके अन्नमें उनकी दूषित वृत्तियोंके संस्कार संनिहित रहते हैं। वे उस अन्नको ग्रहण करनेवाले साधकके चित्तको अशुद्ध कर देते हैं, जिससे भगवत्स्मरण नहीं हो पाता है और मनुष्य-जीवन निष्फल हो जाता है। कृष्ण-भजन बिना इस जीवनकी कोई सार्थकता नहीं है।

महाप्रभु चैतन्यदेवने साधकोंको शिक्षा देनेके निमित्त छोटे हरिदासको त्याग दिया था; क्योंकि वैरागी व्यक्तिको धन तथा स्त्रीसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये— ये दोनों ही विषसे भी अधिक विष हैं—

प्रभु कहे वैरागी करे प्रकृति संभाषण।
देखते ना पारी आमि तहार बदन॥

(श्रीचैतन्यचरितामृत ३।२।११६)

अर्थात् वैरागी होकर जो स्त्रियोंसे वार्तालाप करता है (यहाँ कुचेष्टारूप वार्तालापसे ही तात्पर्य है) वह पतित है, मैं उसका मुँह भी देखना नहीं चाहता हूँ। महाप्रभुजी इस कथनसे शिक्षा दे रहे हैं कि ऐसे कुसंस्कारी साधु-संन्यासी या गृहस्थसे भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये, बातचीत करना, संग करना, सम्पर्क करना— यहाँतक कि ऐसे विषयी लोगोंका स्पर्श तथा दर्शन भी त्याज्य है अन्यथा साधकका पतन अवश्यम्भावी है। असत्संगका कुप्रभाव मीठा जहर होता है, जो धीरे-धीरे सम्पूर्णरूपसे मनको विकृत कर देता है। अतएव कुसंग (विषय)-से सावधान रहना चाहिये।

जीव तभी संत कहा जा सकता है जब उसका चित्त विषयोंसे निकलकर वास्तविक वैराग्यमें प्रतिष्ठित हो जाता है। विषयोंका स्वरूपसे त्याग होना चाहिये न कि वस्तुगत त्याग। वस्तुगत त्याग तो दिखावेके लिये होता है। मनमें किञ्चित् भी सुप्त काम-वासनाएँ हों तो वे जरासे सम्पर्कसे बलवती होकर सर्वनाश कर देती हैं। अतएव त्यागी या गृहस्थ साधक दोनोंको ही स्वरूपसे विषयोंका त्याग अपेक्षित है—

जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥

(रा०च०मा० २।९३।४)

मनुष्यके अंदर हित-अहितका निर्णय लेनेकी प्रचुर क्षमता होनेपर भी यदि वह नाशवान् विषयोंमें अपना अमूल्य जीवन नष्ट करता है तो वह पशुसे भी गया बीता है। विषय-भोगोंमें रत किसी भी साधकको भजनमें सिद्धि प्राप्त नहीं हुई है। जबतक स्वरूपसे विषयोंका त्याग नहीं होगा उनके प्रति भोगाकर्षण बढ़ता ही जायगा—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

(रा०च०मा० ७।४४।१-२)

अर्थात् बड़े भाग्यसे यह मनुष्य-शरीर (जन्म) प्राप्त हुआ है। इस शरीर प्राप्त करनेका फल विषयोंमें रमण करना नहीं है; क्योंकि विषय-सुख तो सभी योनियोंमें समानरूपमें प्राप्त होता है। केवल मनुष्य-शरीर ही ऐसा है, जिससे भगवद्भजनकर बार-बार संसारमें जन्म लेनेकी यातनासे बचा जा सकता है। भजन और पुण्य-कर्मका अन्तर भी उक्त पंक्तियोंमें स्पष्ट किया गया है। पुण्य-कर्म करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। इस सम्बन्धमें गोस्वामीजीका कथन है कि स्वर्ग भी थोड़े समयके लिये प्राप्त होता है, वह भी अन्तमें दुःखदायी होता है; क्योंकि पुण्य-कर्मोंका फल-भोग करते समय भजन नहीं होता है। अन्तमें पुण्य क्षीण होनेपर नरकवास होता है। जो लोग मनुष्य-शरीर प्राप्त करके भी विषय-भोगमें लिप्त रहते हैं, वे निश्चित ही अमृतको छोड़कर (अपने मनुष्यतनरूपी) कटोरेमें विष भर रहे हैं। विष और विषयमें कोई अन्तर नहीं है— दोनोंके समरूप होनेसे ही भौतिक भोगोंको विषयकी संज्ञा दी गयी है। जहाँ पुण्योंका फल स्वर्ग प्रदान करता है, वहाँ कृष्ण-

भजनका फल कृष्ण-प्रेम प्रदान करता है। भजनके बदलेमें कृष्ण स्वयंको ही भक्तके हृदयमें, भावोंमें, क्रियाओंमें तथा झोलीमें डाल देते हैं—

सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं बिषय रत मंद मंद तर॥
(रा०च०मा० ७।१२१।११)

भगवान्‌का इतना औदार्य होनेपर भी जो लोग मनुष्य-जन्म पाकर भजन नहीं करते हैं, उनकी बुद्धि विषयोंमें डूबती चली जाती है। उन्हें अपने मनुष्य होनेका अहसास नहीं होता है और वे नीचसे नीचतम कर्मोंमें लिप्त होते चले जाते हैं। उनका व्यक्तित्व पशुओंसे भी निम्न हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें चित्तमें विषयोंके प्रति उत्पन्न होनेवाले राग (आसक्ति)-का क्रम इस प्रकार उल्लिखित है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
(२।६२)

शब्दादि (रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श)-का निरन्तर चिन्तन करनेसे उन-उन विषयोंमें चिन्तनकर्ताकी आसक्तिसे काम तथा कामसे क्रोधकी उत्पत्ति होती है अर्थात् जीव जिसका चिन्तन करता है, उसीमें उसकी आसक्ति हो जाती है। इसलिये चिन्तन ही करना है तो विषयविग्रह कृष्णका ही चिन्तन करें; ताकि उनके श्रीचरणोंमें आसक्ति हो। एकमात्र चिन्तनीय एवं भजनीय तो श्रीकृष्ण ही हैं, परंतु भ्रमवश जीव संसारके विषयोंमें प्रत्यक्ष सुख खोज रहा है जो मृग-मरीचिकाके अतिरिक्त कुछ नहीं है। समस्त शाश्वत आनन्दके स्रोत तो कृष्ण ही हैं, परंतु हठपूर्वक मनको विषयोंसे वस्तुगत रूपमें अलग रखना तथा उनका स्वरूपसे त्याग करना दो पृथक् स्थितियाँ हैं। यथा—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
(गीता ३।६)

जो मूढ़ व्यक्ति अपनी कर्मेन्द्रियोंको हठपूर्वक संयमितकर मन-ही-मन विषयोंका स्मरण एवं चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी है। यहाँ गुप्तरूपसे विषयोंका मानसिक चिन्तनसे ही तात्पर्य है। शरीरकी अपेक्षा मनसे विषयोंका भोग साधकका सर्वनाश कर देता है। अतएव गृहस्थ एवं त्यागी दोनों ही साधकोंको मानसिक विषय-चिन्तनको छोड़कर अपने स्वरूप तथा राधाकृष्णके युगलस्वरूपका ही चिन्तन करना चाहिये तभी मानव-देह धारणकी सार्थकता है। जिस प्रकार पीलियाके रोगीको मिश्री कड़वी लगती है, परंतु इसके निरन्तर सेवनसे पीलिया रोग ठीक हो जाता है तथा मिश्री मीठी लगने लगती है। उसी प्रकार निरन्तर भगवत्-चिन्तन करनेसे संसारके विषय कड़वे लगने लगते हैं तथा भगवत्-चिन्तन प्रगाढ़ होकर स्वरूप और भगवत्स्वरूपकी अनुभूति होने लगती है।

प्रत्येक इन्द्रियका अपने-अपने विषयके प्रति राग-द्वेष अवश्यम्भावी है (गीता ३।३४), परंतु उन विषयोंके अधीन नहीं हो जाना चाहिये; क्योंकि राग-द्वेष साधकोंके कल्याण-विरोधी हैं। हठपूर्वक विषयोंका त्याग एक दिन पतनका कारण बन सकता है। परंतु विचारके द्वारा विषयोंकी नश्वरताका शोधन कर विषय-चिन्तनका त्याग अमृतमय तथा कृष्ण-चिन्तनमें सिद्धिप्रदायक होता है; क्योंकि विचारसे मनकी तथा जलसे तनकी शुद्धि होती है। इसीलिये सत्संगसे मनकी शुद्धि होती है। अकेले सत्संगसे ही मन मार्जित नहीं होता है, अपितु उसपर अमल करनेसे होगा—

समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरम्।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात्॥
(मैत्रेय्युपनिषद् १।७)

अर्थात् मनुष्यका चित्त विषयोंमें जितना गहरा आसक्त रहता है, उतना ही अगर ब्रह्म (परमब्रह्म कृष्ण)-में आसक्त (तल्लीन) हो जाय तो बन्धनोंसे मुक्त होना सहज है। जिधर आसक्ति होती है, उधर ही बन्धन अधिक होता है। अब कृष्ण और संसार-चिन्तनमेंसे किसी एकको आपको चुनना है।

न तथाऽस्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥
(श्रीमद्भा० ३।३१।३५)

अर्थात् स्त्रीसंग तथा स्त्रीसंगीके संगसे पुरुषको जैसा मोह और संसार-बन्धन होता है, उस प्रकारका बन्धन किसी औरके संगसे नहीं होता है। इसीलिये साधकोंको स्त्री-संग तथा उसके संगीके संगसे सावधान होना (बचना) चाहिये और श्रीहरिको छोड़कर विषयोंमें तनिक भी अनुराग नहीं रखना चाहिये।

* * *

अमृतसे भी बहुमूल्य है श्रीमद्भागवतामृत

(आचार्य डॉ० श्रीपवनकुमारजी शास्त्री, एम्०ए०, पी-एच्० डी०)

सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्त्यादिहेतवे।
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः॥

(श्रीमद्भा० माहात्म्य १।१)

धर्मराज युधिष्ठिरके पौत्र महाराज परीक्षित् जब ऋषि शृङ्गीके शापको शिरोधार्य करके भगवती गङ्गाजीके पावन तटपर पहुँचकर भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन करते हुए आमरण अनशन-व्रतमें प्रवृत्त हुए, तब उन्हें श्रीमद्भागवत-रूपी कथामृतका पान करानेके लिये व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजी कृपापूर्वक पधारे। अभी श्रीशुकदेवजीने परीक्षित्‌को कथा सुनाना आरम्भ ही किया था कि देवतालोग अमृतभरा कलश लेकर उस सभामें आये और भगवान् शुकदेवको नमस्कार करके उनसे बोले—मुनिश्रेष्ठ! आप यह अमृत लेकर बदलेमें हमें कथामृतका दान दीजिये। हे प्रभो! इस प्रकार अदला-बदली हो जानेपर ये महानुभाव राजा परीक्षित् अमृतका पान करें और हम देवगण श्रीमद्भागवतरूप अमृतका पान करेंगे—

कथासुधां प्रयच्छस्व गृहीत्वैव सुधामिमाम्॥
एवं विनिमये जाते सुधा राज्ञा प्रपीयताम्।
प्रपास्यामो वयं सर्वे श्रीमद्भागवतामृतम्॥

(श्रीमद्भा० माहात्म्य १।१४-१५)

किंतु शुकदेवजी भगवान्‌के अनन्य भक्त थे। भगवत्कथाका रसास्वाद वे समझते थे, उन्होंने देवताओंसे कहा—इस संसारमें कहाँ काँच और कहाँ महामूल्यवान् मणि तथा कहाँ सुधा और कहाँ कथा? श्रीशुकदेवजीने उन देवताओंको कथामृतका दान नहीं किया। इस प्रकार श्रीमद्भागवतामृत देवताओंको अमर बनानेवाले अमृतसे भी अधिक मूल्यवान् है और श्रीमद्भागवतकी कथा देवताओंको भी दुर्लभ है।

श्रीमद्भागवतकी कथा सुननेमात्रसे महाराज परीक्षित्‌को मुक्त हुआ देखकर पितामह ब्रह्माजीको भी बड़ा आश्चर्य हुआ था। उन्होंने उसी समय सत्यलोकमें एक तराजू लटकाया और उसपर सभी साधनोंको तौला, किंतु अन्य सभी साधन तौलमें हलके पड़ गये और अपने महत्त्वके कारण श्रीमद्भागवत ही उन सबसे भारी रहा।

श्रीमद्भागवत जन्म और मृत्युके भयका नाश कर देता है और भक्तिके प्रवाहको बढ़ाता है। यह भगवान् श्रीकृष्णकी प्रसन्नताका प्रधान साधन है। श्रीशुकदेवजीने कलियुगमें जीवोंके कालरूपी भयंकर सर्पके मुखका ग्रास होनेके त्रासका आत्यन्तिक नाश करनेके लिये श्रीमद्भागवत शास्त्रका प्रवचन किया है। जिस दिनसे भगवान् श्रीकृष्ण इस भूलोकको छोड़कर अपने परमधामको पधारे, उसी दिनसे यहाँ सम्पूर्ण साधनोंमें बाधा डालनेवाला कलियुग आ धमका। दिग्विजय करते समय राजा परीक्षित्‌की कड़ी दृष्टि जब कलियुगपर पड़ी तो वह अत्यन्त दीनके समान उनकी शरणमें आया। राजा परीक्षित् कलिका वध करनेको उद्यत थे, किंतु भ्रमरके समान सारग्राही राजाने यह निश्चय किया कि मुझे इसका वध नहीं करना चाहिये; क्योंकि इसमें भले ही लाख बुराइयाँ हों किंतु एक बड़ी ही सुन्दर अच्छाई भी है कि 'जो फल तपस्या, योग एवं समाधिसे भी नहीं मिलता, वही फल इस कलियुगमें मात्र श्रीहरिकीर्तनसे ही मिल जाता है।' इस प्रकार हरिभक्त परीक्षित्‌ने अत्यन्त सारहीन होनेपर भी कलियुगको केवल इसी एक कारणसे छोड़ दिया—

यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना।
तत्फलं लभते सम्यक्कलौ केशवकीर्तनात्॥

(श्रीमद्भा० माहात्म्य १।६८)

गोस्वामीजी भी कहते हैं—

सुनु ब्यालारि काल कलि मल अवगुन आगार।
गुनउँ बहुत कलिजुग कर बिनु प्रयास निस्तार॥
कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥
कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥

(रा० च० मा० ७।१०२ क-ख, १०३।४)

भक्त शिरोमणि श्रीउद्धवजी भगवान् श्रीकृष्णको अत्यन्त

प्रिय थे। उन्हें भगवान्ने स्वयं ज्ञानोपदेश किया था। भगवान् श्रीकृष्ण जब इस धराधामको छोड़कर अपने नित्यधामको जाने लगे, तब उनके मुखारविन्दसे ज्ञानोपदेश सुनकर श्रीउद्धवजी भाव-विह्वल हो उठे और भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा कि हे गोविन्द! अब आप तो अपने भक्तोंका कार्य करके परमधामको पधारना चाहते हैं, किंतु मेरे मनमें एक बड़ी चिन्ता है, उसे सुनकर आप मुझे शान्त कीजिये। हे प्रभो! अब घोर कलिकालको आया हुआ ही समझिये, इसलिये संसारमें फिर अनेकों दुष्ट प्रकट हो जायँगे। उनके संसर्गसे जब अनेकों सत्पुरुष भी उग्र प्रकृतिके हो जायँगे, तब उनके भारसे दबकर यह गोरूपिणी पृथ्वी किसकी शरणमें जायगी? हे कमलनयन! केशव! मुझे तो आपको छोड़कर इसकी रक्षा करनेवाला कोई दूसरा नहीं दिखायी देता। इसलिये हे भक्तवत्सल! आप साधुओंपर कृपा करके यहाँसे मत जाइये। भगवन्! आपने निराकार और चिन्मात्र होकर भी भक्तोंके लिये ही यह सगुण रूप धारण किया है, फिर भला आपका वियोग हो जानेपर हम भक्तजन इस पृथ्वीपर कैसे रह पायेंगे? निर्गुण-उपासनामें तो बड़ा कष्ट है। इसलिये कुछ और विचार कीजिये।

उद्धवजीने प्रभास क्षेत्रमें ये वचन कहे थे, जिसे सुनकर करुणानिधान भगवान् श्रीकृष्ण सोचने लगे कि भक्तोंके अवलम्बके लिये मुझे क्या व्यवस्था करनी चाहिये? काफी देरतक विचार करनेके बाद भगवान् श्रीकृष्णने अपनी सारी शक्ति भागवतमें रख दी और वे अन्तर्धान होकर श्रीमद्भागवतरूपी समुद्रमें प्रवेश कर गये।* इसलिये यह भगवान्की साक्षात् शब्दमयी मूर्ति है। इसके सेवन, श्रवण, पठन अथवा दर्शनसे ही मनुष्यके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। संसारमें श्रीमद्भागवतकी कथाकी उपलब्धि अत्यन्त ही कठिन है, जब करोड़ों जन्मोंका पुण्य उदय होता है तभी इसकी प्राप्ति होती है।

श्रीमद्भागवतकी कथा वेद और उपनिषदोंके सारसे बनी है, इसलिये यह उनसे अलग है और उनकी फलरूपा होनेके कारण अत्यधिक सुस्वादु तथा लाभकारिणी है। श्रीनारदजीद्वारा वेद-वेदान्तकी ध्वनि और गीतापाठ करनेपर भी जब भक्ति माँके पुत्रद्वय—ज्ञान और वैराग्य सचेत न हो पाये तो सनकादिने श्रीनारदजीको उन्हें श्रीमद्भागवत सुनानेका परामर्श दिया था। इसी प्रकार जब गोकर्णद्वारा गया आदि तीर्थोंमें श्राद्ध करनेपर भी धुन्धुकारीको प्रेतयोनिसे मुक्ति नहीं मिली तो भगवान् भास्करने गोकर्णको श्रीमद्भागवतके पारायणको श्रवण करानेकी आज्ञा दी थी।

कलियुगमें बहुत दिनोंतक चित्तवृत्तियोंको वशमें रखना, नियमोंमें बँधे रहना और किसी पुण्यकार्यके लिये दीक्षित रहना कठिन है। इसीलिये श्रीमद्भागवत-सप्ताहके श्रवणकी विधि कही गयी है। भगवद्भक्तों, विरक्तों, वैष्णवजनों और हरिकीर्तनमें अनुरागी सज्जनोंको विधिवत् निमन्त्रणपत्र भेजकर इस कथा-महोत्सवमें अनुरोधपूर्वक बुलाना चाहिये। निमन्त्रणपत्रद्वारा उन्हें सूचना देनी चाहिये कि हे महानुभाव! यहाँ सात दिनोंतक सत्पुरुषोंका बड़ा दुर्लभ समागम रहेगा और श्रीमद्भागवतकी अपूर्व रसमयी कथा होगी। आप लोग भगवद्रसके रसिक श्रोतागण अवश्य पधारें—

सतां समाजो भविता सप्तरात्रं सुदुर्लभः।
अपूर्वरसरूपैव कथा चात्र भविष्यति॥
श्रीभागवतपीयूषपानाय रसलम्पटाः।
भवन्तश्च तथा शीघ्रमायात प्रेमतत्पराः॥

(श्रीमद्भा० माहात्म्य ६। ८-९)

शुद्ध चित्त और एकाग्र मनसे भगवान् श्रीकृष्णका सतत चिन्तन करते हुए श्रद्धापूर्वक कथा-श्रवण करना चाहिये तथा निरन्तर उसका अनुशीलन भी करते रहना चाहिये, तभी इस श्रीमद्भागवतकथाका सर्वोत्तम फल 'मुक्ति' प्राप्त होती है अन्यथा धुन्धुकारीके साथ कथा सुननेवाले अन्य लोगोंकी ही भाँति विफल होना पड़ता है। गोकर्णजीने भागवत-सप्ताहके समापनपर केवल एक ही दिव्य विमान आनेपर भगवत्पार्षदोंसे पूछा था कि मात्र धुन्धुकारीकी ही मुक्ति क्यों हो रही है जबकि अन्य भी श्रोता यहाँ हैं? तब भगवान्के पार्षदोंने उन्हें यही समझाया था कि श्रवणमें तल्लीनता न होनेके कारण ऐसा हुआ है।

---

* स्वकीयं यद्भवेत्तेजस्तच्च भागवतेऽदधात्। तिरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम्॥ (श्रीमद्भा० माहात्म्य ३। ६१)

इसपर गोकर्णजीने शेष श्रोताओंको जब दूसरी बार श्रीमद्भागवत-सप्ताह श्रवण कराया तो असंख्य विमान आये और सभी श्रोताओंकी मुक्ति हो गयी।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि श्रीमद्भागवत पुराणोंका तिलक है और वैष्णवोंका परम धन है। हे रसिकजनो! यह श्रीमद्भागवत वेदरूप कल्पवृक्षका अमृतोपम परिपक्व फल है। यह शुकदेवरूपी शुकके मुखका संयोग होनेसे अमृतरससे पूर्ण हो गया है। यह रस-ही-रस है। इसमें न छिलका है और न गुठली। यह इसी लोकमें सुलभ है। जबतक शरीरमें चेतना रहे; तबतक आपलोग बारम्बार इसका पान करें। यह अमृतसे भी बहुमूल्य है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥

(श्रीमद्भा० माहात्म्य ६।८०)

* * *

मांसाहारद्वारा रोगोंको बुलावा

(डॉ० श्रीपीरबख्शजी उस्ता)

आधुनिक कहलानेकी होड़में अपनी संस्कृति, आचार, आहार-विहारको दकियानूसी कहनेवाले अनेक लोग इस धारणाके शिकार हैं कि शाकाहारी भोजनसे उचित मात्रामें प्रोटीन या शक्तिवर्धक तत्त्व प्राप्त नहीं होते हैं जबकि यह धारणा गलत है। आधुनिक वैज्ञानिक खोजोंसे साफ पता चलता है कि मांसाहार आहार नहीं, बल्कि रोगोंका बुलावा है।

शुद्ध भोजन स्वास्थ्य-रक्षाका प्रमुख स्तम्भ है, जिसके चुनावमें अत्यन्त सावधानी और संवेदनशीलता बरतनेकी जरूरत है। भोजनसे शरीरको ऊर्जा, प्राणशक्ति, मननशक्ति और कार्यक्षमता प्राप्त होती है तथा रस, रक्त, मांसपेशी, स्नायु-तन्त्र, मस्तिष्ककोष और शरीरकोषका विकास होता है। कोई भी खाद्य पदार्थ यदि शरीरको शक्ति प्रदान करनेके साथ-साथ मन-मस्तिष्कको अस्थिर, चञ्चल, विक्षिप्त तथा कुपथगामी कर दे तो वह अत्यन्त ही हानिकारक है। वही खाद्य पदार्थ मनुष्यको स्वस्थ स्थिरचित्त और बल-बुद्धिसम्पन्न कर सकता है जो सात्त्विक, पुष्टिकर तथा मन-मस्तिष्कको स्थिर रखनेके साथ-साथ जीवनीय शक्तिको पोषण प्रदान करे, किंतु आजकल विज्ञानके मापदण्डोंका सहारा लेकर मानव भूल-भुलैयामें फँसकर न जाने कैसे-कैसे खाद्य पदार्थोंको उचित और स्वास्थ्यप्रद मानकर अनेक शारीरिक रोगों तथा चारित्रिक पतन-जैसे मानसिक रोगोंको स्वयं निमन्त्रण दे रहा है। चिकित्सा-विज्ञानने आश्चर्यजनक उन्नति की है, कितने ही रोगोंकी उत्पत्ति घटी है, पर साथ ही बहुतसे नये रोगोंका जन्म चिकित्सा-वैज्ञानिकोंके लिये चुनौती और चिन्ताका विषय बन गया है। इसलिये यदि शरीरको स्वस्थ और दीर्घायु, चुस्त, सुन्दर एवं कर्मठ बनाये रखना हो तो सर्वप्रथम आहार-विहारको संतुलित बनाना होगा। यहाँपर हम कुछ तथ्य दे रहे हैं जिनके आधारपर स्वयं निश्चित करें कि मांसाहार कितना उचित है?

हृदय-रोग—वैज्ञानिक अनुसन्धानोंसे सिद्ध हो चुका है कि शाकाहारीकी तुलनामें मांसाहारी हृदय-रोगसे अधिक पीड़ित होते हैं। खाद्य पदार्थोंमें अधिक मात्रामें चर्बी एवं कोलेस्ट्रॉल पाया जाना ही मृत्युका कारण है। रक्तमें १८० मिलीग्राम कोलेस्ट्रॉल बढ़ जानेसे हृदय-रोगकी सम्भावना चार गुना अधिक होती है। ऐसा मास्को स्टेट्स युनिवर्सिटीके वैज्ञानिकोंको परीक्षणद्वारा प्रमाण मिला है। देखा गया है कि जिस देशके लोग जितने अधिक मांसाहारी हैं, उन देशवासियोंमें हृदय-रोग भी उसी अनुपातमें होता है।

अमेरिकामें खाद्य पदार्थोंमें मांस और अण्डोंका ८० प्रतिशत सेवन होनेसे वहाँकी सरकारने मांसाहारपर प्रतिबन्ध लगानेका निर्देश दे दिया है।

कैंसर-रोगकी सम्भावना—आधुनिक चिकित्साशास्त्रियोंने कैंसर-रोगका एक मुख्य कारण मांसाहारको माना है। एक

सर्वेक्षणके अनुसार सन् १९७९ में जितने अमेरिकी लोग कैंसरसे प्राण गँवा चुके हैं, उससे बहुत कम लोग १९७५ में कैंसरसे मृत्युको प्राप्त हुए। प्रत्येक वर्ष इसमें बढ़ोत्तरी होती गयी है।

मुर्गा-मांसका सेवन—१९८८ में मुर्गा-मांस (चिकन-मांस)-द्वारा फैले कैंसररोग-सम्बन्धी रिसर्चमें श्रीफ्रैंसीज रोबेसको नोबेल पुरस्कार दिया गया था। उन्होंने १८ जून १९८७ को यह रिपोर्ट प्रकाशित की थी कि मांसाहारियोंको शाकाहारियोंकी तुलनामें रक्त-कैंसर अधिक होता है। पुनः डॉ० जे० जे० बिटनेर तथा डॉ० जी० टी० ग्रेस एवं नोबेल पुरस्कार-विजेता तथा विश्वविख्यात अनुसन्धानकर्ता डॉ० वेण्डेल स्टेनलेने सृष्टिमें कैंसर-रोगकी उत्पत्तिका कारण मांसाहारको दर्शाया है। मांसाहार मनुष्यकी इन्द्रियोंको क्षीणकर आयु एवं रोग-प्रतिरोधक शक्तिको कम कर देता है। फलतः मांसाहारियोंको कोई भी रोग सहजतासे अपने जालमें फँसा लेता है, सामान्यतया शाकाहारी मांसाहारियोंसे अधिक शक्तिसम्पन्न एवं दीर्घजीवी होते हैं। इसके लिये आप हाथी और शेरका उदाहरण ले सकते हैं। हाथी एक विशुद्ध शाकाहारी प्राणी होता है जो शेरसे अधिक शक्तिशाली, दीर्घायु एवं गम्भीर होता है जबकि शेर अल्पायु, क्रोधी और खूंखार होता है।

कोलम्बिया युनिवर्सिटीके डॉ० एच० सी० शेरमनका मत है कि शारीरिक और मानसिक परिश्रम करनेवालोंके लिये मांसाहार अनावश्यक है। भारतीय डॉक्टरोंकी एक टीमने प्रयोग करके देखा कि शाकाहारियोंकी अपेक्षा मांसाहारियोंका रक्तचाप बढ़ा रहता है। खेल-जगत्में एक अध्ययनसे पता चला है कि दस वर्षोंमें खेले गये खेलोंमें शाकाहारी ही अधिक संख्यामें विजेता रहे हैं। इस प्रकार शारीरिक शक्ति केवल मांसाहारपर ही निर्भर करती है—यह एक भ्रममात्र है। दुनियाके वैज्ञानिक अनुसन्धानोंसे भी यह सिद्ध हो चुका है कि मांसाहारियोंकी तुलनामें शाकाहारी अधिक स्वस्थ एवं दीर्घायु होते हैं। मांसाहारके फलस्वरूप अधिक जैविक प्रोटीनयुक्त खाद्य पदार्थ शरीरसे कोषोंका विसर्जन कम करते हैं। अतः शरीरके आकारकी वृद्धि होनेसे ही आयु घट जाती है। लोमा युनिवर्सिटीके डॉ० वी०डी० ऐस पृष्करने बहुतसे चूहोंको निरामिष और मांसाहारका अलग-अलग सेवन कराकर परीक्षण किया है, जिसमें मांसाहारी चूहोंकी अपेक्षा निरामिष आहारवाले चूहोंमें आयुवृद्धि पायी गयी है। कैलीफोर्नियामें हुए प्राथमिक परीक्षणोंसे ज्ञात किया गया है कि मांसाहारीकी अपेक्षा शाकाहारीकी आयुमें सात-आठ वर्षकी बढ़ोत्तरी होती है। इस सम्बन्धमें और भी अनुसन्धान जारी हैं, जिनसे अनेक तथ्योंकी जानकारियाँ निकट-भविष्यमें होंगी। यह सब आधुनिक वैज्ञानिकोंके अनुसन्धानमात्र हैं। आज भी इस सम्बन्धमें अनेक लाभकारी तथ्य अंधेरेमें हैं। भारतीय शास्त्रोंमें इस विषयपर गम्भीर एवं सूक्ष्म विचार हुआ है जो हमेशा अनुकरण करनेयोग्य तथा याद रखनेयोग्य भी है।

मांसाहारसे हानियाँ—मांसाहार एकाग्रताको अस्त-व्यस्त करता है। फलस्वरूप किसी भी कार्यमें तन्मयता, एकाग्रता और निष्ठामें ह्रास होता है। विद्यार्थियों एवं बुद्धिजीवियोंके लिये तो मांसाहार विषवत् है।

मांसाहारके फलस्वरूप मस्तिष्क एवं स्नायुमें स्थूलता पैदा होती है, कुशाग्रताकी हानि होती है।

मांसाहारियोंमें हिंसक प्रवृत्ति प्रायः अधिक पायी जाती है। उनमें शालीनता, सुशीलता, कृपालुता तथा विनम्रताका अभाव रहता है।

मांसाहार जिस प्रकार शरीरको कृत्रिम उत्तेजना प्रदान करता है, उसी प्रकार अवसादको भी जन्म देता है।

मांसाहार स्त्रियोंके गर्भाशयमें अस्वाभाविक रूपसे वृद्धि कर उसे सुस्त और निष्क्रिय कर देता है।

मांसाहारके दुष्प्रभावसे गर्भस्थ शिशुओंपर बुरा असर पड़ता है।

मांसाहार—आध्यात्मिक दृष्टिमें—आध्यात्मिक जगत्में मांसाहारको अत्यन्त निन्द्य, त्याज्य और साधनापथका प्रबल अन्तराय बताया गया है। इसे तामसिक कहा गया है। इसके सेवनसे काम, क्रोध, लोभ एवं अहंकारको बढ़ावा मिलता है तथा आध्यात्मिक रास्तोंमें रुकावट आती है। मालिकके नामपर जानवरोंको जिबह करके यह कहना कि इससे मालिक राजी होगा, यह बहुत बड़ी भूल है। मालिकके नामपर हिंसा करनेवाले यह नहीं जानते कि मालिक कहाँ है, कैसा है और अपने बन्दोंसे क्या चाहता है?

कुरआने हकीमकी सूरत अलहज ३२:२२ में स्पष्ट

किया गया है कि ना तो पशुओंका मांस और ना ही उनका खून मालिकतक पहुँचता है। मालिकतक पहुँचता है तो सिर्फ मनुष्यका त्याग और रहम, जो भी मालिककी पैदा की हुई चीजों—जानवरोंपर रहम करता है, वह अपनेपर रहम करता है। मालिकसे डरो, कुदरतको बरबाद मत करो। मालिक हर गुनाहको देखता है तथा उसकी सजा नर्क है। मालिकने जमीनपर सभी जीवोंको पैदा किया है और हमने जमीनपर फैलाव किया ताकि प्रकृतिका नाप और तोल बना रहे। पेड़-पौधे, हरियाली, पहाड़, पानी, दिन-रात—सब आदमी और जानवरोंके फायदेके लिये बनाये हैं। जानवरको जीनेका एवं दुनियामें रहनेका बराबर एवं पूरा हक है। जो इंसान नन्हीं-सी जानपर रहम करता है, उसकी जान बचाता है, मालिक उसपर दिल खोलकर मेहरबानियाँ करता है।

शाकाहारके फायदे—मांसाहारका स्वास्थ्यपर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इस बारेमें समय-समयपर किये गये विभिन्न अध्ययनोंमें मांसाहारके दुष्परिणामकी जानकारी दी गयी है, लेकिन शाकाहार हर दृष्टिसे फायदेमन्द होता है। पौधोंपर आधारित वसा, जो शाकाहारी भोजनमें प्रचुर मात्रामें पायी जाती है-के बारेमें बताया गया है कि इससे न केवल प्रोस्टेट और कोलोन ग्रन्थिमें कैंसर-रोगका खतरा कम होता है, अपितु महिलाओंमें वक्ष-कैंसरका खतरा भी घट जाता है। यह वसा कैंसरके सेल नहीं बढ़ने देती। फैडरेशन ऑफ अमेरिका तथा अमेरिकन सोसायटीज आफ एक्सपेरिमेण्टल बायोलोजीद्वारा इस सम्बन्धमें किये गये नवीनतम अध्ययनमें बताया गया है कि पौधोंपर आधारित वसामें पाया जानेवाला कम्पाउण्ड फोटो स्टेरोल बी सिटोस्टेरालसे वक्ष-कैंसरके सेल ६६ प्रतिशततक घट जाते हैं।

उपर्युक्त दृष्टियोंको ध्यानमें रखते हुए हमें चाहिये कि हम शाकाहारको ही अपनायें; क्योंकि भोजनका उद्देश्य है शरीर-रक्षण और इस शरीर-रक्षणकी सार्थकता भी आत्मकल्याणमें ही है। इस शरीरको स्वस्थ इसलिये रखना है कि इससे सत्कार्य बन सके और सबकी सेवा हो सके, केवल स्वाद, तृप्ति और पुष्टिके लिये आहारका कोई प्रयोजन नहीं है। ऐसा भारतीय शास्त्रोंका आहारके सम्बन्धमें तात्पर्य है। अतः विवेक-बुद्धिका आश्रय लेकर हम अपने जीवनमें सात्त्विक पदार्थोंके सम्पर्कमें रहें और सत्-तत्त्वका ही चिन्तन करें। [प्रेषक—श्रीकालूरामजी मल्ल]

भक्तोंके पावन चरित—

प्रेमका पन्थ निराला

[भक्त सालबेग]

(पं० श्रीरामकिशोरजी त्रिपाठी, एम्०ए०, श्रीमद्भागवताचार्य)

भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें धर्म और जातिका बन्धन नहीं है। समस्त प्राणियोंमें भगवान् श्रीहरिका ही वास है। उनकी प्राप्तिके लिये आवश्यक है तो सिर्फ प्रेम। भक्त सालबेगकी कथा यही बोध कराती है।

मुगलकालकी बात है, कटकमें लालबेग नामका शक्तिशाली मुगलसरदार रहता था। उसने उड़ीसाके राजाका वध कर वहाँकी गद्दी हथिया ली थी। हिन्दुओंपर वह बहुत ही अत्याचार करता था। यहाँतक कि वह हिन्दूकन्याओंका अपहरण भी कर लेता था। उन्हींमेंसे एक ब्राह्मण-कन्यासे उत्पन्न पुत्र था—सालबेग।

सालबेग अस्त्र-शस्त्र चलाने और युद्धकलामें अत्यन्त कुशल था, पिता लालबेग इसलिये उसे बहुत चाहता था। एक बार एक युद्धमें सालबेगकी वीरतासे वह विजयी हुआ, परंतु दुर्भाग्यवश सालबेगके सिरमें तलवारका गहरा घाव हो गया, जो निरन्तर बढ़ता ही गया।

बादशाह लालबेगने बेटेका बहुत उपचार कराया, किंतु जब जान गया कि घाव असाध्य है, ठीक नहीं होगा तो उसने पुत्र सालबेगका उसकी माताके साथ त्याग कर दिया। धीरे-धीरे सबने सालबेगकी उपेक्षा कर दी। एक माता ही थी जो भूख-प्यास भूलकर पुत्रकी शय्याके पास रात-दिन बैठी रहती और उसकी सेवा करती। एक दिन असह्य पीड़ासे व्याकुल सालबेग अपने जीवनसे निराश हो अपनी माँसे बोला—

ऐरी माँ अब न मैं बच सकूँगा।
तेरी सेवा मैं न कर सकूँगा॥

माफ करना खता जो हुई हो।

पुत्रके ऐसे हृदयविदारक वचनोंको सुनकर माँका हृदय दहल गया, बोली—बेटा! ऐसा न कहो, तुम जल्दी ही ठीक हो जाओगे। पुत्रने कहा—माँ! कैसे? माँ बोली—बेटा, मेरे प्रियतम, इष्टदेव शरणागतवत्सल भगवान् श्रीकृष्णकी शरण हो जाओ, सभीका सहारा त्यागकर केवल उन्हींका आश्रय ग्रहणकर निरन्तर उन्हींके प्रेममें मग्न होकर *'जय मनमोहन जय श्रीकृष्ण'* मन्त्रका जप करो।

सालबेगने कहा—माँ! हम मुसलमान हैं, तुम हमें यह क्या सिखा रही हो! श्रीकृष्णके प्रति ऐसी श्रद्धा, विश्वास तथा अनन्य प्रेमका रहस्य क्या है? माँने कहा—बेटा! ठीक कहते हो, हमारे अन्तस्तलमें भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अनन्य प्रेम, श्रद्धा तथा विश्वासका रहस्य जो हमारी हृदयमञ्जूषामें अनमोल हीरेकी भाँति स्थापित है, उसका विवरण आज प्रथम तथा अन्तिम बार तुम्हारे सामने प्रकट कर रही हूँ। सुनो—

'बेटा! मैं एक ब्राह्मणपुत्री हूँ, मेरा परिवार भगवान् श्रीकृष्णका अनन्य भक्त था। उसका प्रभाव मेरे ऊपर भी पड़ा। मैं भी श्रीकृष्णकी अनन्य उपासिका बन गयी, किंतु भगवान्की लीला कि तुम्हारे पिताने हमारे गाँवपर आक्रमण कर मेरा अपहरण कर लिया। मैं विवश थी, क्या करती? समय बीता··· तुम्हारी माँ बनी, किंतु मेरी प्रेमडोर जो मनमोहन श्रीकृष्णसे बँधी थी, न टूट सकी। उनका चिन्तन करती रही। विधिकी विडम्बना ही है कि आज हमारी यह दशा है, तुम्हारे पिताने मुझे और तुम्हें हमेशा-हमेशाके लिये त्याग दिया है। अब एक ही आश्रय है—जगदीश्वर श्रीकृष्णका। उनका ध्यान तथा नाम-कीर्तन करो, सारा संकट दूर हो जायगा। वे बड़े दयालु हैं, तुम विश्वासपूर्वक गोविन्दका भजन करो, तुम्हारा रोग समूल नष्ट हो जायगा।'

ऐसा कह माताने विभोर हो उसे कृष्णकथा कह सुनायी। भगवान्के लीलाचरित्र सुनकर सालबेगका मन पुलकित हो उठा और धीरे-धीरे वह कृष्ण-नाम जपनेका अभ्यास करने लगा, इसमें उसे रस भी मिलने लगा—

माताके उपदेशसे जागा सोता प्रेम।
कृष्ण कृष्ण मुख सो रटत भरे अमिय रस नैन॥
हरे कृष्णका कीर्तन करन लग्यो दिन रैन।
सब पीड़ा जाती रही, मिला भगतका चैन॥

एक रात्रिको अनोखा चमत्कार हुआ—

मनमोहन मुरलीवाले ने अपने जनका मन जान लिया।
न देर करी आ दुख मेटा दर्शन दे उसे कृतार्थ किया॥
अपने हाथों से प्रभुजी ने मलहम माथेमें लगा दिया।
पीताम्बर फाड़ साँवरिया ने ऊपरसे झटपट बाँध दिया॥
मीठी मीठी मुसकान बीच वंशीको हरिने बजा दिया।
हो अन्तर्ध्यान सँवरियाने सोती आत्माको जगा दिया॥
आँख खुली देखा नहीं हरिका प्यारा रूप।
बिलख बिलख रोने लगा दुखिया माँका पूत॥
माँ बोली जा पास में क्यों रोते हो लाल।
जय बोलो श्रीकृष्णकी वही करें प्रतिपाल॥

भक्त सालबेग बोला—माँ! तुम मेरी प्यारी माँ हो, देखो—क्या मेरे मस्तकमें अब भी घाव है। माँने देखा, माथेपर चमचमाती आँखोंको चकाचौंध कर देनेवाली सुनहली पट्टी, उसे खोला और देखा तो घावका नामोनिशान नहीं है। दिव्य लेपकी सुगन्धसे सारा घर गमक रहा है। लिपट गयी माँ अपने इकलौते बेटेसे, आँखोंसे झर-झर आँसुओंकी धारा बह चली, वाणी अवरुद्ध हो गयी, भगवान्की इस अहैतुकी प्रेमकृपारसका पान कर।

सालबेगने कहा—माँ!—

जिनकर नाम मात मैं गावा। सोइ हरि दर्शन मोहि दिखावा॥
निज कर लेप घाव मा साँधा। फार पीताम्बर माथेहि बाँधा॥
आँख खुली पाया नहीं उनका देख सुरूप।
डाल गये मृदु मोहिनी वह भूपों के भूप॥
घाव गयो पीड़ा मिटी हिय में उठी उमंग।
अब मैं रह सकता नहीं बिन मनमोहन संग॥

माँ तथा पुत्र दोनों भगवत्प्रेममें दीवाने हो गये। देह-गेहकी सुध न रही, अपना सारा सामान गरीबोंको बाँटकर चल पड़े प्रेमके निराले पन्थपर। ***'जय मनमोहन जय श्रीकृष्ण'*** कीर्तन करते हुए सारे तीर्थोंमें घूमते कब भगवद्धाम सिधार गये, किसीको नहीं मालूम।

* * *

साधनोपयोगी पत्र

(१)

आपने जो लिखा कि जल्दीसे काम बन जाना चाहिये, सो ठीक है। निरन्तर भजन-ध्यान होनेपर जल्दीसे काम बन सकता है। यदि काम देरसे भी बने तो कोई हर्ज नहीं, किंतु निष्काम प्रेमभावसे निरन्तर भजन-ध्यानका साधन तो होते ही रहना चाहिये। संसारमें श्रीभगवान्‌के निष्काम भजन-ध्यानके समान और कुछ है ही नहीं। ऐसा भजन-ध्यान सत्संगसे हो सकता है। उस सत्संगकी कद्र जाननी चाहिये। यह जानना चाहिये कि सत्संग कहते किसे हैं? सत्संगकी कद्र जान लेनेके बाद मनुष्य उसको कभी नहीं छोड़ सकता। क्योंकि सत्संगके सामने संसारमें और कोई चीज उसे अच्छी लगती ही नहीं। सत्संगी पुरुषोंके दर्शनसे भी बहुत कुछ लाभ होता है। फिर सत्संगकी तो बात ही क्या है? सत्संगद्वारा जो किसी-किसीको विशेष लाभ नहीं दिखायी देता, इसका कारण यही है कि वे सत्संगको जैसा चाहिये वैसा उत्तम नहीं समझते हैं। यदि सत्संगको सबसे उत्तम समझकर श्रद्धा और प्रेमके साथ सत्संग किया जाय तो सत्संग छोड़कर जाना नहीं बनता। शरीर भले ही नाश हो जाय पर जबतक शरीरमें प्राण है, तबतक सत्संगके अतिरिक्त दूसरा काम उससे किस तरह हो सकता है? क्योंकि जिन पुरुषोंको श्रीनारायणदेवके दर्शन हो चुके हैं, उन्हींके दर्शनका नाम सत्संग है। अब विचार करनेकी बात है कि ऐसे पुरुषोंका यदि किसीको संग प्राप्त हो जाय तो फिर वह उनका संग जान-बूझकर कैसे छोड़ सकता है? भगवान्‌के साधारण भक्तोंका मिलना भी साधारण सत्संग है और उसके अनुसार ही लाभ भी होता है। शेष प्रभुकृपा।

(२)

आपने जो हरदम ध्यान बने रहनेका उपाय पूछा सो श्रीभगवान्‌में पूर्ण प्रेम होनेसे ही हरदम उनका ध्यान बना रह सकता है। क्योंकि जिस वस्तुमें प्रेम होता है उसका अपने-आप ही बारम्बार चिन्तन होता है। श्रीनारायणदेवका भजन करनेसे पापोंका नाश हो जाता है, भगवान्‌में प्रीति उत्पन्न होती है और जहाँ भगवान्‌में सच्चा प्रेम हुआ कि अपने-आप ही निरन्तर उनका ध्यान बना रहने लग जाता है। पूर्वजन्म तथा इस जन्मका किया हुआ पाप ही कष्टसाध्य बीमारी है। उसके नाशके लिये श्रीभगवान्‌के नामका जप ही असली ओषधि यानी बूटी है और श्रीभगवान्‌का भक्त ही वैद्य है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और संसारके विषयभोगोंका त्याग इत्यादि और भी जो बहुत-से उत्तम आचरण हैं, वे पथ्य हैं। उपर्युक्त ओषधिका सेवन करनेसे जो रुचि पैदा होती है वह श्रद्धा है और जो प्राणोंका आधार श्रीभगवान्‌का ध्यान है, वही जीवनकी रक्षा करनेवाला अन्न है। आरोग्यतारूपी सुख है, वही अमृत है, वही श्रीनारायणदेवकी प्राप्ति है। उपर्युक्त ओषधि बहुत ही तेज है, यदि पथ्य-परहेज न भी हो तो भी कोई हर्जकी बात नहीं, इस ओषधिका सेवन बराबर होते रहना चाहिये। यदि किसी समय कोई कुपथ्य हो जाय तो समय-समयपर वैद्यसे सलाह भी लेते रहना चाहिये। फिर तो कोई भी चिन्ता नहीं है। शेष प्रभुकृपा।

(३)

मनकी स्थिरताके सम्बन्धमें लिखा ही था, फिर भी लिखता हूँ। अभ्यास और वैराग्यसे मनकी वृत्तियाँ स्थिर होती हैं—

१-हर समय श्वासके द्वारा यत्न, विश्वास और प्रेमसहित ॐकारके जप करनेका नाम अभ्यास है।

२-जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ परमेश्वरके स्वरूपमें ही लगाया जाय।

३-मन जहाँ जाय वहीं भगवान्‌के स्वरूपका ही दर्शन किया जाय।

४-एकान्त स्थानमें बैठकर नासिकाके द्वारा ॐकारका जप करता हुआ धीरे-धीरे प्राणवायुको बाहर निकालकर सामर्थ्यके अनुसार रोक दे, फिर ॐकारका जप करता हुआ अपान-वायुको पूर्ण करके छोड़ दे।

इस तरह कई प्रकारके अभ्यास हैं। इस प्रकारका

अभ्यास करनेसे मन स्थिर होता है। सुनी और देखी हुई वस्तुओंकी स्मृतिसे चित्तको रहित करके परमेश्वरमें लगानेका नाम वैराग्य है। ऊपर लिखे हुए साधनोंमेंसे जिसमें मन प्रसन्न रहता हो, उसीका अभ्यास करना चाहिये। शेष प्रभुकृपा।

(४)

आपने लिखा कि 'मैं संसारके जालमें बहुत फँस रहा हूँ सो ठीक है। संसारके मोहजालको जान लेनेके बाद फिर जानबूझकर कोई भी उसमें फँसना नहीं चाहता है। अज्ञानके कारण मनुष्य संसारके नाशवान् भोगोंमें आनन्द तथा सच्चा सुख समझता है, किंतु जब उसे संसारके मोहजालका ज्ञान हो जाता है तब उसे संसारके सभी पदार्थ प्रत्यक्ष क्षणभंगुर दीखने लग जाते हैं और उस समय भूलसे संसारके पदार्थोंमें जो आनन्द भासता था, वह सब दुःखरूप भासने लग जाता है। इसकी पहचान यह है कि जब एकमात्र सच्चे प्रेमी नारायणदेवके भजन-ध्यान तथा सत्संगके समान कुछ भी अच्छा न लगे, तब समझना चाहिये कि संसारका मोहजाल अब प्रत्यक्ष भासने लग गया है। विचार करनेकी बात है कि मोहजालको जानकर फिर कौन उसकी फाँसीमें फँसेगा? किंतु मनुष्यमें अज्ञान भरा हुआ है इसलिये उसको मोहजाल भी सुखरूप भासता है। अतः भजन-ध्यान एवं सत्संगका साधन खूब जोरके साथ निष्कामभावसे करना चाहिये। ऐसा होगा तो मोहजालसे छूटना कोई भी बड़ी बात नहीं है। शेष प्रभुकृपा।

(५)

मानापमानको समान समझकर तथा सबको भगवान्का स्वरूप जानकर निष्कामभावसे सबकी सेवा करनी चाहिये। फिर भगवत्कृपासे अपने-आप ही भगवान्में प्रेम हो सकता है। भगवद्भाव होनेपर किसीपर भी क्रोध नहीं आ सकता; क्योंकि भगवान्पर किसीको क्रोध नहीं आना चाहिये। यदि क्रोध आये तो ऐसा समझना चाहिये कि वहाँ भगवद्भाव नहीं है। अपने चित्तमें कभी उद्वेग नहीं होना चाहिये। कोई भी परिस्थिति हो, उसीमें आनन्द मानना चाहिये, क्योंकि जो कुछ भी होता है मालिककी आज्ञासे ही और मालिकके अनुकूल ही होता है। फिर यदि सब कुछ मालिकके अनुकूल ही होता है तो अपनेको भी मालिकके अनुकूल ही रहना चाहिये। यह निश्चय रखना चाहिये कि भगवान्के प्रतिकूल कुछ भी नहीं हो सकता। उनकी आज्ञाके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। जो ऐसा समझता है वह मालिककी राजीमें राजी रहनेवाला सब समय आनन्दमें मग्न रहता है। शेष प्रभुकृपा।

(६)

आपने लिखा कि 'मेरा चित्त खराब रहता है, कुछ उपदेशकी बात लिखिये' सो उपदेशकी बात लिखनेवाला मैं कौन हूँ? कुछ शास्त्रोंकी बातें लिखी जाती हैं, यदि आपको इनसे लाभ मालूम हो तो इन्हें काममें लाना चाहिये।

आप अपने मनको प्रसन्न रखनेके लिये कोई उपाय तो करते नहीं हैं, फिर आपका मन खराब नहीं रहेगा तो कैसा रहेगा? संसारके अन्य पदार्थ या रुपये प्रथम तो प्रारब्धसे मिलते हैं और यदि मिल भी जायँ तो वे सर्वथा क्षणभंगुर एवं नाशवान् हैं तथा जब संसारके सारे पदार्थ नाशवान् हैं तब उनसे आनन्द कैसे मिल सकता है? यदि एक क्षणके लिये आप उनके मिथ्या आनन्दको 'सच्चा आनन्द' मान भी लें तो भी आपको यह विचार तो करना ही चाहिये कि जिन पदार्थोंके संयोगमें जितना आनन्द है, उनके वियोगमें उससे भी बहुत अधिक दुःख होगा। संसारके पदार्थोंके साथ तो अवश्य वियोग होता ही है। उनमें आनन्द तो बिलकुल है ही नहीं, बल्कि विचार करनेसे उनमें दुःख-ही-दुःख है। लोगोंने भूलसे—मूर्खतावश उनमें आनन्द मान रखा है। यही कारण है कि लोग इन पदार्थोंके मोहमें पड़कर अपना अनमोल समय बिता रहे हैं। सच्चा और एकमात्र आनन्द तो आदिपुरुष श्रीनारायणदेवके दर्शनसे ही प्राप्त होता है। श्रीपरमात्मदेवसे मिले बिना मनुष्यको सच्ची शान्ति नहीं मिल सकती। प्रेमके बिना श्रीभगवान् नहीं मिलते और भजन-ध्यानके साधन तथा सत्संगके बिना भगवान्में प्रेम नहीं होता है। इसलिये यदि आपको सच्चे आनन्दकी इच्छा है तो भगवान्के भक्तोंका सत्संग और भजन-ध्यान करते हुए भगवान्का दर्शन करानेवाले उपायमें लगना चाहिये। शेष प्रभुकृपा।

* * *

व्रतोत्सव-पर्व

ज्येष्ठ कृष्णपक्ष (१७-५-२००३ से ३१-५-२००३ तक) सूर्य उत्तरायण, ग्रीष्म-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	शनि	अनुराधा	१७ मई	ज्येष्ठमासमें आटेसे ब्रह्माकी मूर्ति बनाकर वस्त्र आदिके द्वारा पूजन करनेसे सूर्यलोककी प्राप्ति, अनुराधा नक्षत्र दिन ११-५० बजेतक, मृत्युबाण दिन १-१२ बजेतक
द्वितीया	द्वितीया	तिथिका क्षय		प्रतिपदा तिथि प्रात: ६-५० बजेतक तदुपरि द्वितीया तिथि रात्रि शेष ४-३६ बजेतक
तृतीया	रवि	ज्येष्ठा	१८ ,,	धनुके चन्द्रमा दिन १०-२६ बजे, सर्वार्थसिद्धियोग दिन १०-२७ बजेसे, भद्रा दिन ३-३५ बजेसे रात्रि २-३४ बजेतक
चतुर्थी	सोम	मूल	१९ ,,	श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय रात्रि १०-२८ बजे
पञ्चमी	भौम	पू० षा०	२० ,,	मकरके चन्द्रमा दिन २-१८ बजे, पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र दिन ८-२५ बजेतक
षष्ठी	बुध	उ० षा०	२१ ,,	सायन मिथुनके सूर्य रात्रि ८-०४ बजे, रवियोग प्रात: ७-५६ बजेसे, भद्रा रात्रि १०-३० बजेसे
सप्तमी	गुरु	श्रवण	२२ ,,	भद्रा दिन १०-१६ बजेतक, कुम्भके चन्द्रमा रात्रि ८-०५ बजे, पौराणिकागस्त्यास्त रात्रि ६-१८ बजे, राष्ट्रीय ज्येष्ठमासारम्भ, रवियोग प्रात: ७-५२ बजेतक, यायिजययोग प्रात: ७-५३ बजेसे रात्रि १०-०२ बजेतक, पञ्चक आरम्भ रात्रि ८-०५ बजेसे
अष्टमी	शुक्र	धनिष्ठा	२३ ,,	श्रीशीतलाष्टमीव्रत, श्रीशीतलाजीका पूजन एवं बासी भोजन, त्रिलोचनाष्टमी, काम्य त्रिलोचनपूजा
नवमी	शनि	शतभिषा	२४ ,,	मीनके चन्द्रमा रात्रि शेष ४-२१ बजे, शतभिषा नक्षत्र दिन ९-१५ बजेतक
दशमी	रवि	पू० भा०	२५ ,,	रोहिणी नक्षत्रके सूर्य रात्रि ९-२८ बजे, मृत्युबाण रात्रि ९-२९ बजेसे, सर्वार्थसिद्धियोग दिन १०-४३ बजेसे, यायिजययोग रात्रि ११-३९ बजेसे, भद्रा दिन ११-०७ बजेसे रात्रि ११-३८ बजेतक
एकादशी	सोम	उ० भा०	२६ ,,	अचला एकादशीव्रत (सबका), मृत्युबाण रात्रि १०-३२ बजेतक, सर्वार्थसिद्धियोग एवं यायिजययोग रात्रि १-०८ बजेतक
द्वादशी	भौम	रेवती	२७ ,,	मेषके चन्द्रमा दिन २-५१ बजे, सर्वार्थसिद्धियोग दिन २-५२ बजेसे, पञ्चक समाप्त दिन २-५१ बजे, द्वादशी तिथि रात्रि २-५३ बजेतक
त्रयोदशी	बुध	अश्विनी	२८ ,,	प्रदोषव्रत, वटसावित्रीव्रतका आरम्भ (तीन दिनतक), त्रयोदशी तिथि रात्रि शेष ४-५३ बजेतक, भद्रा रात्रि शेष ४-५४ बजेसे
चतुर्दशी	गुरु	भरणी	२९ ,,	भद्रा सायं ५-५४ बजेतक, वृषके चन्द्रमा रात्रि २-३९ बजे, मासाशिवरात्रिव्रत, वटसावित्रीव्रत (दूसरा दिन), यमघंटयोग रात्रि ८-०२ बजेसे
चतुर्दशी	शुक्र	कृत्तिका	३० ,,	चतुर्दशी तिथि प्रात: ६-५४ बजेतक, श्राद्धकी अमावास्या, वटसावित्रीव्रत (प्रदोषमें सावित्री, सत्यवान् तथा धर्मराजकी पूजा), रात्रिमें श्रीश्रीफलहारिणी कालिका पूजा, स्थायिजययोग प्रात: ६-५४ बजेतक
अमावास्या	शनि	रोहिणी	३१ ,,	स्नान-दानकी अमावास्या, अमावास्या तिथि दिन ८-४८ बजेतक, पश्चिमोत्तर भारतमें सूर्यग्रहण, **स्पर्श** प्रात: ७-३७ बजे, **मध्य** दिन ८-०३ बजे, **मोक्ष** दिन ८-३० बजे

ज्येष्ठ शुक्लपक्ष (१-६-२००३ से १४-६-२००३ तक) सूर्य उत्तरायण, ग्रीष्म-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	रवि	मृगशिरा	१ जून	मिथुनके चन्द्रमा दिन १-५५ बजे, चन्द्रदर्शन, दशाश्वमेध स्नानारम्भ, करवीरव्रत, द्विपुष्करयोग दिन १०-२५ बजेसे रात्रि २-५५ बजेतक
द्वितीया	सोम	आर्द्रा	२ ,,	सोपपदा द्वितीया, वेदारम्भानध्याय, रवियोग रात्रि शेष ४-२९ बजेसे, रम्भा तृतीयाव्रत (पूर्वविद्धा ग्राह्य), द्वितीया तिथि दिन ११-३६ बजेतक, आर्द्रा नक्षत्र रात्रि शेष ४-२८ बजेतक
तृतीया	भौम	पुनर्वसु	३ ,,	कर्कके चन्द्रमा रात्रि ११-१७ बजे, रवियोग सायं ६-४४ बजेतक, भद्रा रात्रि १२-३० बजेसे
चतुर्थी	बुध	पुनर्वसु	४ ,,	भद्रा दिन १२-३५ बजेतक, पुनर्वसु नक्षत्र प्रात: ५-३२ बजेतक, वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, उमावतारचतुर्थी, मृत्युबाण दिन ७-३९ बजेसे, रवियोग प्रात: ५-३२ बजेतक
पञ्चमी	गुरु	पुष्य	५ ,,	विश्व पर्यावरणदिवस, मृत्युबाण दिन ८-४९ बजेतक, सर्वार्थसिद्धियोग प्रात: ६-०७ बजेतक तदुपरि रवियोग
षष्ठी	शुक्र	आश्लेषा	६ ,,	सिंहके चन्द्रमा प्रात: ६-१० बजे, अरण्यषष्ठीव्रत, रवियोग प्रात: ६-१० बजेतक
सप्तमी	शनि	मघा	७ ,,	मघा नक्षत्र प्रात: ५-४७ बजेतक तदुपरि पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र रात्रि शेष ५-०२ बजेतक, भद्रा दिन १०-१७ बजेसे रात्रि ९-२८ बजेतक
अष्टमी	रवि	उ० फा०	८ ,,	कन्याके चन्द्रमा दिन १०-४६ बजेतक, मृगशिरा नक्षत्रके सूर्य रात्रि ८-४८ बजे, शुक्लादेवीका पूजन (उदयव्यापिनी ग्राह्य), रवियोग सायं ६-४६ बजेतक, यायिजययोग दिन ८-४१ बजेसे, सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि ३-५६ बजेतक, अष्टमी तिथि दिन ८-४० बजेतक
नवमी	सोम	हस्त	९ ,,	नवमीमें उपवास रहकर देवीकी पूजा, नवमी तिथि प्रात: ६-४४ बजेतक, श्रीगङ्गादशहरा, आज (काशी) दशाश्वमेध तीर्थमें स्नान करके गङ्गापूजन, श्रीगङ्गाजन्म रात्रि ३-३९ बजेसे प्रात: ५-३४ बजेतक (वृषलग्नमें) मंगलवारको
दशमी	दशमी	तिथिका क्षय		नवमी तिथि प्रात: ६-४४ बजेतक तदुपरि दशमी तिथि रात्रि शेष ४-३३ बजेतक
एकादशी	भौम	चित्रा	१० ,,	तुलाके चन्द्रमा दिन १-४८ बजे, निर्जला एकादशीव्रत (स्मार्त्त), [भीमसेनी], रवियोग रात्रि १-०१ बजेतक, भद्रा दिन ३-२४ बजेसे रात्रि २-१२ बजेतक
द्वादशी	बुध	स्वाती	११ ,,	निर्जला एकादशीव्रत (वैष्णव), [भीमसेनी], गोत्तमेश्वरदर्शन, द्वादशी तिथि रात्रि ११-४५ बजेतक
त्रयोदशी	गुरु	विशाखा	१२ ,,	वृश्चिकके चन्द्रमा सायं ४-०६ बजे, प्रदोषव्रत, दाक्षिणात्य वटसावित्री व्रतारम्भ (तीन दिनतक), रवियोग तथा सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि ९-४२ बजेसे
चतुर्दशी	शुक्र	अनुराधा	१३ ,,	वटसावित्रीव्रत (दूसरा दिन), मृत्युबाण सायं ६-३३ बजेसे, सर्वार्थसिद्धियोग तथा रवियोग रात्रि ८-०५ बजेतक, भद्रा सायं ६-५१ बजेसे
पूर्णिमा	शनि	ज्येष्ठा	१४ ,,	भद्रा प्रात: ५-४१ बजेतक, धनुके चन्द्रमा सायं ६-३८ बजे, स्नान-दान-व्रतकी पूर्णिमा, दाक्षिणात्य वटसावित्रीव्रत, मन्वादि पूर्णिमा, जलयात्रा, विल्वत्रिरात्रव्रत, मृत्युबाण रात्रि ७-४७ बजेतक

पढ़ो, समझो और करो

(१)

प्रभुको पहचान नहीं सका

यह सच्ची घटना सन् १९८३ की है। मैं उस समय भारतीय राजदूतावास, काठमाण्डूमें तैनात था। अक्टूबरके अन्तके दिन थे। मुझे निजी कामसे बम्बई जाना पड़ा। लौटते समय मैंने अपनी बूढ़ी माताजीको काठमाण्डूमें भगवान् पशुपतिनाथजीके दर्शन करानेके लिये साथ ले लिया। बम्बईसे मुजफ्फरपुरतक हम दोनों ट्रेनसे आये। वहाँसे रक्सौल बसमें आये, रक्सौल पहुँचनेतक रात हो चुकी थी। मैंने माँसे पूछा—माँ! तुम थक गयी होगी। इसलिये आज रातको रक्सौलमें दूतावासके बँगलेमें रुक जाते हैं। माँ बोली—बेटा! रातकी बस मिलती है तो यात्रा कर ही लो, सुबहतक अपने डेरेपर पहुँच जायँगे। बससे उतरकर हम ये बातें कर ही रहे थे कि तभी सामनेसे बँगलेके प्रबन्धक श्रीकपिलजी वहाँ पहुँच गये।

उन्होंने बड़े प्रेमसे बँगलेमें चलनेका आग्रह किया, परंतु मैंने माताजीकी इच्छा उन्हें बतायी। तब उन्होंने कहा—ठीक है, आपलोग रिक्शेसे बसस्टैण्डतक आइये। मैं बसकी व्यवस्था करता हूँ। ऐसा कहकर वे स्कूटरसे आगे चले गये।

कुछ देरमें हम बसस्टैण्डपर पहुँचे तो कपिलजीने कहा—इस समय दशहरेका अवसर है, अतः शिड्यूलकी बसें तो सब भरी हैं लेकिन पता चला है कि एक बस वहाँसे न चलकर रक्सौलके बॉर्डरके पास बड़ा होटल है वहाँ खड़ी है, वहींसे चलेगी। टिकटकी व्यवस्थाकर उन्होंने टिकट भी हमें थमा दिये। हम उसी रिक्शेसे बताये गये स्थानपर पहुँच गये। टिकटपर लिखे नम्बरकी एकमात्र बस वहाँ खड़ी थी, हमलोग खुशी-खुशी उसमें बैठ गये। अन्य लोग भी बसमें बैठे थे। मैंने कण्डक्टरसे पूछा—बस कब चलेगी? उसने उत्तर दिया कि १५-२० मिनटमें चलनेवाली ही है। मैंने पूछा—यहाँ कहीं पानी हो तो हम बोतलमें पानी ले लें। उसने कहा—हाँ, हाँ सामने ढाबा है, वहीं पम्प है, वहींसे ले आओ।

मैं बोतल लेकर पानी लेने उतरा, तभीसे मतिभ्रमका क्रम चालू हुआ। मैं ५-१० मिनटतक चलता रहा। कुछ दिखायी नहीं दिया, फिर तेज-तेज चला तो देखा कि एक दूकानमें दीया जल रहा है पास ही एक पम्प भी है। चारों ओर सन्नाटा था, सुनसान था, ठण्ड शुरू हो गयी थी, दूरतक न कोई बिजली न कोई सवारी और न कोई आदमी ही दिखायी दे रहा था। मेरे मनमें डर व्याप्त होने लगा अंदरसे आवाज आयी—जल्दी करो, पानी लेकर चलो बहुत देर हो गयी है कहीं बस चल न पड़े, फिर ज्योंही पानी लेकर मैं उस हैण्डपम्पसे हटा तभी एक बस ठीक उसी तरहके रंग-आकारकी सामनेसे काठमाण्डूकी ओर तेजीसे जाती दिखायी दी, इतना ही नहीं उसी क्षण एक साइकिलपर युवक भी मेरे पाससे गुजरा। मैंने उससे पूछा—होटलके पास जो बस खड़ी थी, क्या वह यही है जो अभी गयी है? उसने पूरे विश्वाससे कहा—यह बस तो वही थी। वह वहींका रहनेवाला था, मैंने टिकट दिखाये तब तो उसने पक्का कर दिया कि ये टिकट इसी बसके हैं।

अब तो मैं घबरा गया। माँका ख्याल आया तो घबराहट भी और बढ़ गयी। वह स्थान ऐसा सुनसान था कि वहाँ हम दोके सिवाय कोई नहीं, चारों ओर अँधेरा और सन्नाटा। मैंने उसी युवकसे पूछा अब क्या करूँ? तो उसने सुझाया कि कुछ दूरीपर बॉर्डर चेक प्वाइण्ट है। वहाँ वह बस रुकेगी आप वहाँ पकड़ सकते हैं। तभी एक रिक्शा वहाँ आ गया। मैं तपाकसे उस रिक्शेपर चढ़ गया और शीघ्र आगे चलनेको कहा। रिक्शेवालेने पूछा, कहाँ जाना है? मैंने बताया—'आगे बॉर्डर प्वाइण्टपर जहाँ बसें रुकती हैं।' वह घबरा गया बोला वह जगह तो यहाँसे दो कि०मी० दूर है, मैं वहाँ आपको नहीं पहुँचा सकूँगा। यह कहकर उसने रिक्शा रोक दिया। अब तो मेरी घबराहट और परेशानीकी पराकाष्ठा थी। स्वयंको सब प्रकारसे असहाय पाकर मैं सम्पूर्ण निष्ठासे प्रभुका स्मरण करने लगा। कुछ क्षणोंके लिये संसारकी विस्मृति हो गयी। अपनी आँखें बंद कर मैं प्रभुसे प्रार्थना करने लगा—हे प्रभो! दयासिन्धो! करुणानिधान! अब तो आप ही एकमात्र आश्रय हैं। इस प्रकार मैं प्रभुमें तन्मय हो ही रहा था तभी क्या देखता हूँ कि उस अँधेरे और सन्नाटेमें एक मोटर साइकिल धड़-धड़ आवाज करते हुए वहाँ आकर खड़ी हो गयी। मोटर

साइकिलवालेने आदेशके स्वरमें कहा—फौरन मेरे पीछे बैठो। मैं रिक्शेसे उतरा और जेबमें जितने पैसे थे सब उस रिक्शावालेको दे दिये और फिर मोटरसाइकिलपर बैठ गया। कुछ सोचूँ, कुछ पूछूँ इसका भी अवसर न था, कुछ ही मिनटों बाद देखता हूँ कि सड़कके किनारे एक खोखेमें जहाँ गैसबत्ती जल रही है, मोटरसाइकिल वहाँ पहुँचकर रुक गयी है। जल्दी ही मोटरसाइकिलसे मैं उतरा, उस दिव्य आत्माके दर्शन करता, कृतज्ञता ज्ञापित करता इससे पहले ही वह मोटरसाइकिल उलटी घूमी और तेजीसे गायब हो गयी।

इस घटनाक्रमसे मैं बड़ा असमंजसमें पड़ गया। चेकपोस्टमें बैठे एकमात्र व्यक्तिके पास पहुँचा उसे बसके टिकट दिखाये और पूछा क्या इस नम्बरकी बस निकल गयी है? वह बोला—निकली नहीं है, बैठो, आने ही वाली है। मेरी बौखलाहट देखकर वह भी परेशान हो उत्सुकतावश पूछने लगा—इतनी रात आप यहाँ क्यों और कैसे आये? मैं बता ही रहा था तभी बस घरघराती हुई आयी और जोरसे ब्रेक लगाकर खड़ी हो गयी। ड्राइवरने मुझे दूरसे देख लिया था। वह कूदकर बाहर आया और मुझपर बरस पड़ा—'कैसे आदमी हो, दो मिनटके लिये पानी लेने गये और आधे घंटेतक नहीं आये। हमारा आदमी आपको इधर-उधर ढूँढ़कर आया। आपकी माताजी बहुत परेशान हैं। हम लोगोंने उन्हें ढाँढ़स बँधाया है। जाओ, उनसे मिल लो।'

मैं कुछ भी कहनेकी स्थितिमें नहीं था। मुझे रह-रहकर मोटरसाइकिलसे यहाँतक पहुँचानेवाली दिव्य विभूतिका स्मरण हो रहा था। मैं उसकी मुखाकृतिको चित्रित करना चाहता था परंतु आजतक भी नहीं कर पाया। वे प्रभु ही थे जो मेरी सहायताके लिये पधारे, परंतु मैं अभागा ठीकसे उनके दर्शन भी नहीं कर सका। मुझे लगा कि वे साक्षात् श्रीपशुपतिनाथ ही थे। —नन्दनन्दन सनाढ्य

(२)

कलियुगमें भी भगवान् हैं

आजके इस कलियुगी, मशीनी तथा वैज्ञानिक युगमें भी भगवान् अपने भक्तोंकी प्रार्थना सुनते हैं तथा उनपर अपनी कृपा करते हैं—ऐसा मेरा मानना है और इस बातका विश्वास दिलानेके लिये मैं अपने द्वारा अनुभूत घटनाओंमेंसे एकका वर्णन कर रहा हूँ जो अक्षरशः सत्य है। मेरा मानना है कि यदि सच्चे मनसे एवं श्रद्धाके साथ भगवान्‌का स्मरण किया जाय तो वे तत्काल भक्तोंकी रक्षाके लिये दौड़ आते हैं। मेरे घरपर शुरूसे ही पूजा-पाठ, भगवद्भजन होता रहा है, जिसके कारण स्वतः मेरा झुकाव ईश्वरके प्रति हुआ किंतु हालके चार वर्षोंसे मैं अपने ऊपर ईश्वरकी विशेष कृपाका अनुभव कर रहा हूँ।

घटना अभी हालकी १२ सितम्बर २००२ की है। मेरे छोटे भाईका इलाहाबादमें इंजीनियरिंगमें प्रवेश हो गया था। किताबें, फीस आदि सभीका इंतजाम हो गया था, किंतु प्रवेशके पहले दिन सूचना मिली की इसका स्थानान्तरण इलाहाबादके इलेक्ट्रॉनिक्स ब्राँचसे सुल्तानपुरके इलेक्ट्रिकल ब्राँचमें हो गया। अब मेरे घरके सभी लोग परेशान हो गये। मेरे पिताजीका स्वास्थ्य भी खराब था। अतः उनकी भी इच्छा थी कि वह इलाहाबादमें ही रहे, जिससे उनकी देखभाल हो सके। हमारे बड़े भैया सेनामें हैं। अतः वे भी बाहर ही रहते थे। छोटे भाईको इलाहाबादमें रखनेके अतिरिक्त और कोई दूसरा विकल्प हमारे सामने नहीं था। इसके लिये मेरे पास और कोई साधन तो था नहीं, मैंने अपने इष्टदेव प्रभु श्रीरामका स्मरण किया और प्रयास करनेकी दृष्टिसे लखनऊ गया जहाँसे सारी कार्यवाही होनी थी। वहाँ जाकर मैं और मेरे छोटे भाई दोनोंने बहुत भागदौड़ की—कभी सचिव, कभी चेयरमैन, कभी डायरेक्टर, लेकिन सभीने कह दिया—अब ऐसा हो पाना नामुमकिन है। लेकिन चेयरमैनने एक बात कही थी 'एक दिन रुक जाओ, अगले दिन सभी कॉलेजोंकी मीटिंग होनी है, हो सकता है कुछ कार्यवाही हो जाय।' बस, मैंने वहींसे प्रभु श्रीरामका स्मरण करना शुरू कर दिया। मैं अपने अन्तर्मनसे उनका स्मरण कर रहा था। उन्हें बार-बार याद कर अपनी परेशानियों, कठिनाइयोंको बतला रहा था। अगले दिन पुनः हम इन्स्टीट्यूट पहुँचे। पता चला आज कोई मीटिंग नहीं होनी है। अब तो हम और अधिक निराश हो गये कि अब क्या होगा। फिर हमने सचिवके पास अपनी एप्लीकेशन लगा दी कि शायद कोई कार्यवाही हो। लेकिन दो बजेतक कुछ न हुआ और सचिव भी बाहर चले गये। अब तो हम अत्यन्त निराश हो गये। परमात्मप्रभु श्रीरामकी प्रार्थनाके अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा नहीं था। हम एप्लीकेशनके

इंतजारमें बैठे ही थे कि धुआँधार बरसात शुरू हो गयी। जो रुक-रुककर चार बजेतक होती रही। हम अन्तिम रूपसे प्रभुसे प्रार्थना करने लगे। जब प्रभुका स्मरण किया हो और वे न आयें, ऐसा कैसे हो सकता था। ठीक साढ़े तीन बजे घनघोर बारिशमें ही प्रभु श्रीरामजीकी प्रेरणासे इलाहाबाद इन्स्टीट्यूटके प्रबन्धक तथा मैनेजर लखनऊ पहुँचकर सीधे मेरे भाईसे पूछते हैं कि तुम्ही वह लड़के हो न जिसने मुझे फोन किया था। अब तो मैं आश्चर्यचकित रह गया कि कहाँ अब हमलोग जानेवाले थे और कहाँसे वे महानुभाव आ गये। मेरे भाईसे उन्होंने काफी देर बात की और बताया कि मैं तुम्हारी फाइल लेकर आया हूँ और इसे मैं दुरुस्त कराऊँगा। उन्होंने स्वत: कहा कि यह मेरी जिम्मेदारी है कि तुम इलाहाबादमें ही पढ़ोगे। अब तुम घर जाओ और कलसे कक्षामें जाना शुरू कर दो। यह सुनकर मेरा रोम-रोम पुलकित हो गया। मैंने प्रभु श्रीरामको कोटि-कोटि धन्यवाद दिया। मेरे पास कहनेको शब्द नहीं था। मुझे समझमें नहीं आ रहा था कि मैं क्या कहूँ, क्या करूँ। खैर, उनके चरणस्पर्श कर हम शामकी गाड़ीसे इलाहाबाद आ गये और सारा वृत्तान्त घरपर बताया। घरके सभी लोगोंने प्रभु श्रीरामजीकी कृपा अनुभूत की।—त्रिवेणीशंकर

(३)

सत्संगसे जगी सब्जीविक्रेताकी ईमानदारी

हमारे शहर सरावदमें सड़कपर वर्षोंसे छोटी-सी दूकान लगाकर सब्जी बेचनेवाले भाई रामनारायणने मेरे पिताजीसे करीब पन्द्रह वर्षपूर्व लेन-देनके तहत कुछ रुपये उधार लिये थे। अन्तिम लेन-देनके समय उसकी आर्थिक हालत कमजोर होनेपर हिसाबके तोड़-मोड़ समझौतेके बाद पिताजीने रामनारायणसे कहा कि जब तेरे पास रुपयोंकी व्यवस्था हो, सौ रुपये दे जाना। बहुत समय बीत गया हम पिता-पुत्र वह बात भूल-सी गये। कभी याद पड़नेपर न उससे पैसे माँगे ही और न उसने दिये ही, जबकि प्रतिदिन पिताजी सब्जी उसकी दूकानसे ही लेते थे।

पन्द्रह वर्ष बाद गत वर्ष सन् २००२ में अचानक रामनारायण एक दिन घर आया और बोला— भैया! ये सौ रुपये ले लो। मुझे तो बिलकुल याद नहीं था। अत: मैंने कहा किस बातके पैसे? उसने पुरानी बातका जिक्रकर अपने ऊपर सौ रुपयेका कर्जा होना बताया। मैंने कहा— भैया! मुझे तो रुपयोंवाली बात बिलकुल याद नहीं है, मैं नहीं लूँगा। इसपर वह बोला— भैया! काकाजीने कहा था अत: आप रख लें। मैंने उसके न माननेपर रुपये रख लिये एवं उसे जाते हुए मैं अपलक देखता ही रहा।

मैं उस बातको लेकर बहुत परेशान-सा था, बहुत दिनोंतक सोचता भी रहा कि इतने दिनोंतक उसने कर्जकी बात कैसे याद रखी? उसकी ईमानदारी देखकर उसके प्रति मेरा श्रद्धाका भाव उमड़-उमड़ आया। मैं यह भी सोचता था कि इसमें ऐसी भावना कैसी आयी? एक दिन जब मैंने अपनी दूकानकी ओरसे रामनारायणको साईकिलपर जाते देखा तो उसे अपने पास बुलाया, बिठाया और पूछा— भैया! सत्य-सत्य बताना कि इस बेईमानीके युगमें पन्द्रह वर्ष बाद तुम्हें सौ रुपये देनेकी प्रेरणा कहाँसे मिली? वह बोला— भैया! ऐसोसियेशन चौकमें मैं अपनी दूकान लगाता हूँ। आप भी जानते हैं वहाँ आये दिन सत्संग तथा भगवच्चर्चा होती रहती है। मैंने प्रवचनमें सुना था कि इस जन्ममें किसीसे लिया कर्ज न चुकानेपर उसे अगले जन्ममें जानवर बनकर उसकी सेवाके रूपमें चुकाना पड़ता है। यह बात मुझे कई दिनोंसे कर्ज लौटानेके लिये कोस रही थी, किंतु मैं रुपये जुटा नहीं पा रहा था। दैवयोगसे रुपये पूरे हो गये तो मैंने अपने दिये वचनानुसार अपने कर्जसे मुक्त होनेकी सोची। आज प्रभुकी मेरे ऊपर कृपा है—दो लड़के नौकरी करते हैं, एक दूकानपर साथ बैठता है। मैं प्रात: शहरसे दूर घूमने जाता हूँ, एकान्तमें बैठकर थोड़ा नाम-जप तथा थोड़ा ध्यान करता हूँ। सुखकी नींद सोता हूँ। रामनारायणकी ये बातें सुनकर मैं दंग रह गया एवं मेरी उसके प्रति श्रद्धा और भी बढ़ गयी। यह तो सत्संगके फलका एक तुच्छ दृष्टान्त है। सत्संगकी तो शास्त्रोंमें कितनी ही महिमा गायी है, साथ ही इसे बड़ा दुर्लभ भी बताया गया है। वास्तवमें सच्चे अर्थोंमें जिसे सत्संग मिल जाय और वह उसका किंचित् भी सेवन कर ले तो उसका कल्याण होनेमें कोई संदेह नहीं। —श्रीसत्यनारायण माहेश्वरी

* * *

मनन करने योग्य

[एक पौराणिक कथाके आधारपर]

गुलिक व्याध अपनी दुर्दान्त दस्युताके लिये अपने प्रान्तमें कुख्यात था। लूट-पाट और हत्या उसकी दैनिक कृति थी। उसकी जीविकाके जैसे ये ही जघन्य कर्म प्रधान अंग बन चुके थे। 'लूट लाओ, कूट खाओ' एकमात्र इसीपर उसके परिवारका जीवन आधारित था। जिस वन्य प्रान्तमें उसका निवास था, उसके पार्श्ववर्ती जनपद उसके आतंकसे संत्रस्त थे। दैवात् एक दिन उसे कुछ प्राप्त न हो सका—कोई उसके हाथका आखेट न हो पाया। वह भूखा था, आज उसे अपनी ही नहीं, अपने भूखे परिवारकी सर्वाधिक चिन्ता थी। निराशा उसे मर्मान्तक पीड़ा पहुँचा रही थी। उसके पासके ही वन्य भागमें एक महाभाग भगवत्पूजापरायण ब्राह्मण संत रहा करते थे। दीन-दुःखियों, अतिथि-अभ्यागतोंकी सेवा साक्षात् भगवत्सेवा समझकर किया करते थे। लोग उन्हें 'पुजारी बाबा' कहते। आस-पासके ग्रामीण उनसे प्रभावित हो अन्नादिदानसे उनके सदाव्रतमें सहायक होते। गाँव-गिराँवसे दूर उनके एकान्त विविक्त मन्दिरमें अन्न-वस्त्रादिकी कमी न थी, भण्डार भरा-पूरा रहता। निराशहृदय दस्यु गुलिकने आज इसी मन्दिरपर धावा बोलनेका निश्चय किया। साधु-संत, ब्राह्मणोंको कभी कहीं उसने सताया हो, ऐसा दिन कोई उसे याद नहीं; किंतु **'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्?'** (भूखा कौन-सा पाप नहीं करता?) विवश हो अन्नादि लूटनेके पहले वह पुजारी बाबाकी हत्याको उतारू हो गया। सोचा—बाबा मुझे पहचानता है, राजे-महाराजाओंतक इसकी पहुँच है, प्रभाव है। सम्भव है, मैं पकड़ लिया जाऊँ और मुझे घोर प्राणान्तक दण्ड मिले। अतः इन्हें प्राणविहीन करके ही लूटूँगा। फिर तो वह उनकी छातीपर सवार था। अँधेरी रातमें उसके हाथका तेज छूरा चमक रहा था। बाबा हँस रहे थे, उनके मुखमण्डलपर तनिक भी भयकी कालिमा दृग्गोचर नहीं हो रही थी। उनकी उस अप्रतिम सौम्य-शान्त प्रसन्न मुखमुद्रा देख हत्यारेका हृदय सहसा सहम उठा, उसके लिये यह अत्यन्त आश्चर्यकर अभूतपूर्व घटना थी। क्षणभर वह रुका, बोला, 'बाबा! हम तो तुम्हारी हत्याको उद्यत हैं और एक तुम हो जो इस अवस्थामें भी निर्भय हँस रहे हो। तुम्हारे इस हास्यका कारण ज्ञात कर लेनेके बाद ही तुम्हारे प्राण-हरणकी चेष्टा करूँगा।' बाबा सहज भावमें बोले—'वत्स! मेरी हत्याके लिये तेरा यह कठोर आयास क्यों?'

गुलिक—मैं भूखा हूँ, आज मेरा समस्त परिवार क्षुधाकुल है, आज दिनभर कोई शिकार कहीं प्राप्त न हो सका, तुम्हारे मन्दिरमें अन्नोंका भरा भण्डार है, मैं तुम्हें मारकर उसे लूट ले जाना चाहता हूँ।

बाबा—(*स्नेहभरे स्वरमें*)—'इसमें हत्याकी कौन-सी बात है? इच्छानुसार तू अन्नराशि ले जानेमें स्वतन्त्र और समर्थ है। नरकी सेवा भी तो नारायणकी ही सेवा है।' व्याध अविश्वस्त था, उसे भय था कि बाबाके जीवित रहते मैं अवश्य पकड़ लिया जाऊँगा, उसका वही हठ कि 'पहले हँसनेका हेतु बताओ, बादमें मैं और कुछ सोचूँगा।' बाबाका सुस्मित प्रश्न हुआ, 'बेटा! तूने कभी किसीको मरते देखा है?' 'मरते? मेरे हाथों तो न जाने कितने हर रोज ही मौतके घाट उतरते हैं और मैं ही नहीं देखूँ?' यह व्याधका उत्तर था।

बाबा—तेरे माता-पिता और बूढ़े सगे-सम्बन्धी जीवित हैं?

गुलिक—नहीं, वे तो कब-के-कब मर चुके।

बाबा—उनके मर जानेपर तूने या तेरे परिवारके लोगोंने क्या किया?

गुलिक—उन्हें श्मशान ले जाया गया, उनकी मुखबत्ती की गयी—एक जलती लुकारी (लुआठी)-से उनका मुख जलाया गया, श्राद्ध हुआ, फिर यथासमय उनका भोजभण्डारा किया गया। पूरी-कचौरी, मिठाइयाँ बँटीं।

बाबा—ठीक है, जैसे तेरे माता-पिता घरके अन्यान्य सगे-सरदार सभी एक दिन मौतके शिकार हो संसारसे कूच कर गये, वैसे तू भी यहाँ न रहेगा, कभी सोचा है? मरे पीछे तुझे सिर्फ लुआठी ही तो मिलेगी और लोग तेरे नामपर पूरी-पक्वान्न भोग लगायेंगे।

गुलिक—(चिन्तित मुद्रामें अपने-आप) लगता है जैसे एक-एक करके सब विदा हुए, मैं भी न रह सकूँगा, मैं भी मरूँगा, ऐसा मैंने कभी नहीं सोचा। सचमुच अन्तमें मुझे लुआठी ही तो हाथ लगेगी। बोला—'बाबा! तुमने मेरी आँखें खोल दीं। मैं महादानव हूँ, तुम तो महामानव हो, घोर पापपङ्कसे तुम मेरा परित्राण करो।' गुलिक व्याधकी आँखें सजल थीं, उसका सिर बाबाके चरणोंपर अवनत था, छूरा उसके हाथसे दूर जा गिरा था। पश्चात्तापके विषम-वह्नितापमें वह बेतरह दग्ध हो रहा था या सुवर्णकी तरह वह निखर रहा था। बाबाने **'अभयं ते'** (अब तू अभय है) कहकर सस्नेह उसे अङ्कमें भर लिया। बोले—'सच्चा पश्चात्ताप ही मनुष्यका सच्चा प्रायश्चित्त है, तू अब सर्वथा शुद्ध है, निष्पाप है, पुत्र! तेरा शाश्वतिक कल्याण हो।' गुलिकको गुरु मिला, वह अन्धकारसे प्रकाशमें आ गया था। अब वह **'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्'** का सदाके लिये सत्य-साधक बन गया। सच है, **'सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्'** (—साधु-समागम, कहो पुरुषोंको क्या नहीं कर देता?

—उपेन्द्रनाथजी मिश्र 'मञ्जुल'

* * *

पतनमें उत्थानका भ्रम

जब बुद्धि तम (अज्ञानके अन्धकार)-से छा जाती है, तब वह अधर्मको धर्म बतलाती है और उसका उलटा निर्णय होता है। हानिमें लाभ, अवनतिमें उन्नति, पश्चाद्गतिमें अग्रगति, पतनमें उत्थान, कलह-युद्धमें जागृति, असंतोषमें सुख और विनाशमें विकास— इस प्रकार सभी बातोंमें उसका विपरीत निर्णय होता है। इस प्रकारकी बुद्धिवाले व्यक्तिके अथवा देश, समुदाय, संगठन या विश्वके कर्म भी तामसी ही होते हैं—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥
(गीता १८। ३२)

तामसी व्यक्ति परिणाम, हानि, हिंसा और अपनी क्षमताका विचार न करके अज्ञानमूलक मनमाने कर्म करके अधोगतिको चला जाता है—

'अधो गच्छन्ति तामसाः॥' (गीता १४। १८)

जब मनुष्य-समाजका लक्ष्य भगवान् न होकर केवल अधिकारलिप्सा और भोग हो जाता है, तब उसकी बुद्धि तमसाच्छन्न हो जाती है और तब वह 'कर्तव्य' के स्थानपर 'अधिकार' तथा 'त्याग' के स्थानपर 'भोग' की प्रतिष्ठा करके केवल अर्थकामपरायण हो जाता है। फिर उसके सभी कार्य अनर्गल, अवैध तथा आसुरीभावनासे सम्पन्न होते हैं। वह भगवान्, धर्म तथा परलोकको नहीं मानकर उच्छृङ्खल हो जाता है तथा धर्मको वीभत्सरूपमें समाजके समक्ष प्रदर्शित करनेका प्रयास करता है और अज्ञानयुक्त बुद्धिके द्वारा मनमाना सिद्धान्त निर्णीत करके उसीपर अपनेको तथा दुनियाको चलाना चाहता है। वह शास्त्रको नहीं मानता, देवता तथा ऋषियोंको नहीं मानता और भगवान्को मनुष्यके मस्तिष्ककी उपज बतलाकर धर्म तथा सदाचारका खण्डन करता और उसके विपरीत यथेच्छ आचरण करता है। इसके साथ ही दूसरोंको भी इसी प्रकारके आचरण करनेका उपदेश करता है। इस प्रकारके भौतिक जीवनमें चारित्रिक पतन अवश्यम्भावी है। ऐसा भोगपरायण व्यक्ति भी नाम और दिखावेके लिये सत्कर्म करता है— अज्ञानसे विमोहित होकर कहता है—मैं देश या जनताकी सेवा (यज्ञ) करूँगा, दान दूँगा, आनन्द प्राप्त करूँगा— **'यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः'** (गीता १६। १५) और अपनेको सर्वश्रेष्ठ उन्नत प्रगतिपरायण माननेवाले धन-मान-अधिकारके मदसे मत्त ऐसे लोग भी मनमाने अवैध जन-सेवादि कार्य करते दिखलायी देते हैं; पर वह सब उनका दम्भ ही होता है। चरित्रका विकास बाहरी दिखावे, परोपदेश, व्याख्यान या पथभ्रष्ट मार्गदर्शनसे नहीं होता और न कानूनसे ही होता है। उपदेश, भाषण, योजना तथा कानूनके लिये भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है, पर वह है तभी जब इनको सही दिशामें मानने और मनवानेवाले लोग हों। मिथ्याचारसे कोई लाभ नहीं होता। अच्छी बातें पहले जिम्मेदार पदपर आसीन लोगोंके जीवनमें उतरनी चाहिये, फिर आदर्श जीवनका अपने-आप ही दूसरोंपर प्रभाव पड़ेगा।

मनुष्यके जीवनमें जब धर्म तथा ईश्वरका यथार्थरूपमें स्थान रहता है, तब उसकी सारी क्रियाओंमें अपने-आप ही शुद्धि तथा सचाई आ जाती है। आज देशमें ईश्वर एवं धर्मका विरोध तथा सदाचारके नामपर दम्भ बढ़ रहा है। धार्मिक श्रद्धा एवं आस्थापर आक्षेपपूर्ण टिप्पणी जिम्मेदार व्यक्तियोंद्वारा निःसंकोच हो रही है। यह सब इस कलिकालका प्रभाव नहीं तो और क्या है? संत गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसमें तथा वेदव्यासजीने श्रीमद्भागवतमें कलियुगमें क्या-क्या होंगे इसका संकेत पहलेसे ही लिख दिया है और वे सब आज दिखायी दे रहे हैं।

समस्त जगत्के प्राणियोंको विशुद्ध अध्यात्मका उज्ज्वलतम प्रकाश प्रदान करनेवाला जगद्गुरु भारत भी आज विमोहित और पदच्युत है। वह तो आज पश्चिमके कुछ देशोंकी नैतिक विशुद्धिसे भी नीचे गिर गया है। उसका अध्यात्म तथा उसका परमार्थ उसके साहित्यमें है, उसके मङ्गलमय इतिहासमें है, पर वह उसके जीवनमें नहीं रहा— यही सबसे बड़े दुःखकी बात है। परंतु इसका मूल कारण है— देश और राष्ट्रके कर्णधारोंमें भोगवादजनित मोहग्रस्त विपरीत बुद्धिका होना तथा इसीका परिणाम है— सेक्यूलर (धर्मनिरपेक्ष— दूसरे शब्दोंमें धर्महीन राज्य)— केवल अर्थ-साधनी धर्मरहित शिक्षा, भगवान्, देवता, परलोक तथा शास्त्रोंपर अविश्वासकी प्रवृत्ति और तात्कालिक दीखनेवाले केवल भौतिक लाभ तथा वोटबैंक बनानेकी योजना अर्थात् सिद्धान्त और संस्कृतिको ताकपर रखकर

येन-केन प्रकारेण सत्ता प्राप्त करनेकी राजनीति एवं स्वार्थ साधनेकी लालसा इत्यादि।

अंग्रेजोंकी भी यह नीति थी कि वे देशमें वर्गविद्वेष और साम्प्रदायिक झगड़े जीवित रखना चाहते थे तथा इसी बलपर उन्होंने इस देशपर शासन किया और अन्तमें देशको खण्डित कर ही वे यहाँसे चले गये।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीने स्वराज्य मिलनेपर देशमें रामराज्यकी कल्पना की थी। रामके राज्यमें सम्पूर्ण प्रजा सुखी थी, वर्णाश्रमके अनुसार सबको अपने-अपने धर्मपालनकी स्वतन्त्रता थी, न्याययुक्त निर्णय होते थे। राजनीति स्वार्थपूर्ण नहीं थी।

रावणके राज्यमें रामका नाम लेना भी एक महान् अपराध माना जाता था। भगवदाराधन, भजन-पूजनका निषेध था। ऋषि-मुनियोंको दण्ड देनेकी परम्परा थी। ये बातें अबतक हम इतिहास-पुराणोंमें पढ़ते आये हैं। कुछ बुद्धिजीवी इसपर विश्वास नहीं करते और इन कथाओंको काल्पनिक भी मानते हैं, पर आज अपने देशमें यह सब देखकर आश्चर्य होता है। विश्व-कल्याणार्थ साधन, भजन करनेवाले संत-महात्माओं और धर्माचार्योंको जेलकी सींखचोंमें बंद करने तथा उनपर लाठी-गोली बरसानेमें कोई संकोच नहीं होता, बल्कि शासन-तन्त्र गर्वका अनुभव करता है कि उसने यह सब करके बड़ी सफलता प्राप्त कर ली। पता नहीं इन सबके क्या परिणाम होंगे?

काम, क्रोध तथा लोभ— जिनको भगवान्ने गीतामें नरकका त्रिविध द्वार बतलाया है—आज हमारे जीवनके नित्यसंगी बन गये हैं। मानो हमारी सारी जीवन-प्रवृत्तियाँ इन्हींके द्वारा परिचालित हैं; तभी तो जीवनमें सर्वत्र घोर अशान्ति छायी है। कहीं कभी किसी भी वर्गमें विशुद्ध शान्तिके शुभ दर्शन नहीं होते और तुर्रा यह कि इसीको आज हम प्रगति या उत्थान मान रहे हैं। इसीसे केवल देशमें ही नहीं, अपितु विश्वमें भी उच्छृङ्खलता, हिंसा एवं तामसी प्रवृत्तियोंका साम्राज्य हो रहा है।

उन्नति तथा उत्थानका वास्तविक अर्थ है— चरित्रका उत्थान। मानस-उच्चता और तदनुरूप व्यवहार-बर्तावमें विशुद्धि— यही वास्तविक जीवन-संस्कार या संस्कृति है, जिससे हमारे अंदरके दुर्विचारों, दुर्गुणों तथा दोषोंका नाश होकर अन्तरके भावोंका सात्त्विक सुधार हो जाय, वासना, कामना आदि विशुद्ध हो जायँ, उनमेंसे भोगासक्ति, हिंसा, असत्य, उच्छृङ्खलता आदि दोष निकल जायँ, जीवन विशुद्ध संयमपूर्ण तथा पर-सुख-हितस्वरूप बन जाय और विचारोंके अनुसार आचार भी सत्य, शिव, सुन्दर हो जाय—तभी उसकी संस्कृतिका उदय समझना चाहिये। आज तो हमारी सारी संस्कृति समाजके हिताहितकी दृष्टिसे शून्य केवल कलाप्रदर्शक संगीत-वाद्य, अभिनय तथा नृत्य और उसके सहयोगी सहभोज पानेमें ही सीमित हो गयी है। देशमें अनाचार इसलिये बढ़ रहे हैं कि हमारी बुद्धि भोगवाद, अधिकारलिप्सा और भौतिकताको ही परम आदर्श मानकर सर्वथा तमसाच्छन्न हो रही है। इस अवस्थामें सच्चे भगवद्भाव, भगवद्विश्वास तथा हमारे ऋषि-मुनिसेवित जीवनके त्यागमय लक्ष्यकी ओर समाजका और सत्तामें लिप्त नेतृत्व-वर्गका ध्यान खींचनेकी आवश्यकता है तथा यह काम कोरे अनर्गल व्याख्यानोंसे और निरीह जनताके दमनसे नहीं होगा, यह होगा जीवनके पवित्र यथार्थ आचरणसे।

प्रायः जनसामान्य तो नेतृत्वके अनुगामी होते हैं। समाज और राष्ट्रके अग्रणी लोग जैसी बातें कहते हैं तथा जैसा आचरण करते हैं, उसीका प्रभाव सर्वसाधारणपर पड़ता है। आज इस बातकी नितान्त आवश्यकता है कि समाजके अग्रणीजन विवेकपूर्वक विचार करें कि जनसामान्यको किस प्रकारकी दिशा-दृष्टि मिल रही है। यदि अनादि कालसे चले आ रहे सनातन सिद्धान्तोंको जीवनमें उतारकर सही अर्थोंमें मानव बननेकी प्रेरणा नयी पीढ़ीको नहीं मिल सकी और प्रतिष्ठित मूल्योंका विध्वंस होकर रह गया तो हम कहींके नहीं रहेंगे।

अतः आचारवान् व्यक्तियोंका समाजमें निर्माण होना चाहिये जो स्वयं ऐसा आचरण करके आदर्श उपस्थित करें। ऐसे थोड़ेसे लोग भी महान् परिवर्तन कर देंगे और इस प्रकारका थोड़ा-सा सच्चा साधन भी महान् भयसे त्राण करानेवाला भी होगा—

‘स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥’

—सम्पादक

आगामी ७८वें वर्ष (सन् २००४ ई०)-का विशेषाङ्क

'व्रतपर्वोत्सव-अङ्क'

भारतीय सनातन संस्कृतिमें पर्व, उत्सव एवं व्रतोंकी विशेष प्रतिष्ठा है। भारत सदासे धर्मप्राण देश रहा है और यहाँका अध्यात्मदर्शन संयम, नियम, व्रतपालन एवं धर्माचरणपर ही आश्रित है। प्राचीन कालसे ही भारतीय जनमानसकी दैनन्दिन-चर्यामें इन व्रतपर्वोत्सवोंका मुख्य विधान रहा है। भारतका आर्ष वाङ्मय यही संदेश प्रसारित करता है कि जैसे भी और जितनी जल्दी बन पड़े भगवान्‌की ओर हमें उन्मुख हो जाना चाहिये तथा उनसे अपना सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिये। अतः दैनन्दिन-चर्याके नित्य-नैमित्तिक एवं काम्य कर्मोंमें प्रभुका सतत सांनिध्य प्राप्त करनेके लिये जीवन व्रतपर्वोत्सवोंसे सम्पन्न होना आवश्यक है।

यद्यपि विश्वके अन्य धर्मोंमें भी व्रतपर्वोत्सवोंको मनानेकी प्रवृत्ति दीखती है। किंतु यह भारतीय संस्कृतिकी ही विशेषता है कि यहाँ कोई दिन ऐसा नहीं है जो पर्व न हो, कोई तिथि ऐसी नहीं है जिसमें व्रतोपवास न होता हो। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, संयम, नियम, अस्तेय एवं अपरिग्रह आदि कल्याणकारी सात्त्विकभाव भी व्रतोंके ही अन्तर्गत हैं, इन्हें मानसव्रतोंकी संज्ञा दी गयी है। व्रतोपवासोंके नियमोंके पालनसे न केवल देहशुद्धि एवं भावशुद्धि होती है, अपितु अन्तःकरण भी निर्मल बनता है। व्रतकर्ताको केवल उत्तम स्वास्थ्य एवं दीर्घजीवनकी ही प्राप्ति नहीं होती, बल्कि सद्बुद्धि एवं सद्‌विचारोंकी भी प्राप्ति होती है; साथ ही उसमें भगवत्प्राप्तिकी योग्यता भी आ जाती है।

मानवसे जाने-अनजाने अनेक पापरूप निन्दित कर्म भी बन ही जाते हैं, जिनकी शुद्धिके लिये शास्त्रोंने प्रायश्चित्तरूप व्रतोंका विधान बताया है। अतः व्रत जहाँ पापोंके विनाशमें हेतु हैं, वहीं पुण्यजनकतामें भी निमित्त बनते हैं।

व्रतोंके साथ ही उत्सव एवं त्यौहारोंकी भी सुदीर्घ परम्परा है। भगवान्‌के प्राकट्य महोत्सवोंके साथ ही विशेष व्रतपर्वोंपर भी अनेक उत्सव आयोजित होते रहते हैं। देवमन्दिरोंमें तो भगवद्विग्रहोंकी लीलामय झाँकीके रूपमें नित्यप्रति कोई-न-कोई उत्सव होता ही रहता है। ये उत्सव जहाँ उल्लास, आनन्द एवं भगवत्प्रीतिके विधायक हैं, वहीं जीवनको सुखमय, शान्तिमय तथा सौहार्दमय बनानेकी प्रेरणा प्रदान करते हैं। इनसे मानवका अधिक-से-अधिक समय भगवान्‌के कार्योंको सम्पन्न करनेमें ही बीतता है, इसीलिये भगवत्सम्बन्धी उत्सवोंके सम्पादनको श्रेष्ठ सौभाग्य कहा जाता है।

व्रतपर्वोत्सवोंके मुख्य कृत्य हैं—स्नान, पूजन, जप, तप, दान, हवन तथा भगवद्भजन आदि। इनमेंसे प्रत्येक कर्म बाह्यवृत्तिको अन्तर्मुख करनेकी प्रेरणा देता है, उसमें सात्त्विकभावकी प्रतिष्ठा करता है और उसे त्याग एवं अनासक्तिका पाठ पढ़ाता है—**'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्'** (गीता १८। ५)। अतः आत्मकल्याणकी दृष्टिसे व्रतपर्वोत्सवोंका बहुत अधिक महत्त्व है और इनके विषयमें जानकारी रखने तथा इनके सम्यक् परिपालनकी विशेष आवश्यकता है। आजके इस विषम वातावरणमें तो इनका यथाविधि अनुपालन और भी आवश्यक हो गया है।

इन्हीं सब दृष्टियोंसे 'कल्याण'ने यह निर्णय लिया है कि आगामी वर्ष सन् २००४ ई० में विशेषाङ्कके रूपमें **'व्रतपर्वोत्सव-अङ्क'**का प्रकाशन किया जाय। जिसमें पर्व, त्यौहार, उत्सव तथा व्रततत्त्व-मीमांसा, व्रतोंका वास्तविक अर्थ, विविध पर्वों एवं उत्सवोंका स्वरूप, भारतके विभिन्न प्रदेशों और तीर्थोंमें पर्व, त्यौहारकी परम्परा तथा विविध स्थानोंमें मनाये जानेवाले धार्मिक मेलोंका स्वरूप, भगवदवतारोंकी प्राकट्य तिथियाँ (जयन्तियाँ), उनमें पड़नेवाले व्रतोत्सव एवं उनके आख्यान, पुरुषोत्तममासमें स्नान, दान, व्रतकथा-महोत्सवोंकी महिमा और उनकी कथाएँ, चैत्र, वैशाख आदि द्वादश मासोंमें पड़नेवाले मुख्य-मुख्य त्यौहार, पर्व, उत्सव एवं व्रत—इन व्रतों एवं उत्सवोंका शास्त्रीय विधान, उद्यापन आदिकी विधियाँ, व्रतोंके कायिक एवं वाचिक भेद तथा सत्य, अहिंसा, संयम, नियम आदि मानसव्रतोंकी पालनीय विधि तथा इनसे सम्बद्ध पौराणिक आख्यान, प्रायश्चित्तादिसे सम्बद्ध व्रत-विधान, व्रत-उपवाससे स्वास्थ्यलाभकी प्रक्रिया, नारियोंद्वारा पालनीय पातिव्रत आदि व्रतोंका निरूपण, तिथि, वार तथा संक्रान्तियोंमें पड़नेवाले व्रतोत्सव, उनके आख्यान, व्रतकर्ताके पालनीय नियम तथा व्रतपर्वोत्सवोंसे प्राप्त होनेवाले आध्यात्मिक लाभका विवेचन आदि विषयोंसे सम्बद्ध तात्त्विक सामग्री तथा इनसे सम्बन्धित

कथाओंको संकलितकर सरल एवं समग्ररूपसे प्रस्तुत किया जाय, जिससे सर्वसाधारण अपनी भारतीय सनातन संस्कृतिकी प्राणभूत कल्याणकारी बातोंसे परिचित होकर उन्हें अपने जीवनमें आत्मसात् कर सके।

हम भारतके गण्यमान्य आचार्यों, आदरणीय संत-महात्माओं, विद्वानों तथा संयम, नियम एवं व्रतनिष्ठ महात्माओं और अधिकारी मनीषी लेखकोंसे सादर सहयोगकी प्रार्थना करते हैं। इस दृष्टिसे विशेषाङ्ककी एक संक्षिप्त वाञ्छनीय सूची दिशा-निर्देशके रूपमें यहाँ दी जा रही है। हमारी आपसे विनम्र प्रार्थना है कि प्रस्तुत सूचीमें उल्लिखित विषयों अथवा सम्बद्ध अतिरिक्त विषयोंपर अपनी उपयोगी सामग्री ३१ जुलाई २००३ ई० (श्रावण शुक्ल द्वितीया, सं० २०६०)-से पूर्व अवश्य भेजनेकी कृपा करें।

(सरल एवं रोचक भाषामें विषयसे सम्बद्ध संक्षिप्त विशिष्ट सामग्रीको प्रकाशनमें प्राथमिकता दी जा सकेगी।)

विनीत—

राधेश्याम खेमका

(सम्पादक)

विषय-सूची

१- पर्व, उत्सव एवं व्रत-पदोंकी व्याख्या एवं परिभाषा।

२- व्रतोपवासका तत्त्वरहस्य और उसका आध्यात्मिक स्वरूप।

३- सनातन संस्कृतिके संरक्षणमें पर्व, त्यौहार एवं उत्सवोंका महत्त्व।

४- भारतके विविध तीर्थों, नदियों तथा क्षेत्रोंमें प्रसिद्ध पर्वों, मेलों एवं उत्सवोंका स्वरूप, परिचय और उनकी कथाएँ।

५- ग्रहण आदि पर्वोंपर व्रतोपवासका स्वरूप।

६- तीर्थोंमें व्रतोपवासका विशेष महत्त्व।

७- व्रतोपवासमें चित्तशुद्धि एवं मनोनिग्रहकी प्रधानता।

८- सनातन धर्ममें व्रतोंका विस्तार।

९- व्रतकर्ताके पालनीय नियम।

१०- व्रतपर्वोत्सवमें शास्त्रोक्त विधि-निषेध और वर्ज्यादि विषय।

११- व्रतोपवासमें बाह्याभ्यन्तर शौच तथा शुचिताकी महत्ता।

१२- नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य कर्मोंके सम्पादनमें व्रतोपवासकी आवश्यकता।

१३- **व्रतोंके मुख्य भेद—(क)** आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक, **(ख)** कायिक, वाचिक तथा मानसिक, **(ग)** नित्य, नैमित्तिक और काम्य तथा **(घ)** एकभुक्त, नक्तव्रत एवं अयाचित आदि।

१४- अपरिग्रहव्रत तथा उसके सत्परिणामोंका निरूपण।

१५- सत्य-व्रत तथा उसके आदर्श।

१६- सत्यनारायण-व्रत और कथाका रहस्य।

१७- ब्रह्मचर्य-व्रतकी परिभाषा, स्वरूप और उसके भेदोंका निरूपण तथा ब्रह्मचर्य-निष्ठाके उदाहरण।

१८- भीष्म पितामहका अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत तथा उससे प्राप्त होनेवाली शिक्षाएँ।

१९- मौन-व्रत तथा वाक्-संयम-व्रतका परिचय और उसकी कथाएँ।

२०- अस्तेय-व्रत तथा अस्तेय-व्रती शङ्ख-लिखितका आख्यान।

२१- विद्या-व्रत तथा विद्यासेवी महापुरुषोंका उत्तम चरित्र।

२२- क्षमा-व्रतकी अपार महिमा और क्षमाशीलोंकी कथाएँ।

२३- धर्म-व्रतकी परिभाषा, उसकी विशेषता और इतिहास-पुराणोंमें प्राप्त होनेवाले आख्यानोंका दिग्दर्शन।

२४- स्वाध्याय-व्रतका स्वरूप— **'स्वाध्यायान्मा प्रमदः।'**

२५- पातिव्रत्यकी महिमा तथा पतिव्रता नारियोंके आख्यान।

२६- अहिंसा-व्रत तथा इसके उपासकोंका परिचय।

२७- सेवाव्रत तथा सेवाव्रती महापुरुषोंका पुण्यचरित।

२८- अक्रोध एवं अलोभ-व्रतका परिचय तथा कुछ प्रसिद्ध आख्यान।

२९- भगवन्निष्ठा-व्रतका स्वरूप।

३०- दयाव्रत एवं दयाव्रती महापुरुषोंका चरित्र।

३१- दानव्रत एवं दानव्रती रन्तिदेव आदिकी कथा।

३२- गायत्री एवं सावित्री-व्रतकी दीक्षा और इसकी महिमा।

३३- गो-सेवाव्रतके विविध रूप।

३४- गोवत्सद्वादशी, गोपाष्टमी तथा गोत्रिरात्र आदि गोसम्बन्धीव्रत।

३५- गोसेवा-व्रतसे ब्रह्मज्ञान और इसका आख्यान।

३६- शौचाचार तथा सदाचार-व्रत।

३७- विभिन्न देवी-देवताओंसे सम्बद्ध पर्व एवं महोत्सव तथा उनकी कथाओंका निरूपण।

३८- भगवदवतारोंकी प्राकट्य तिथियाँ (जयन्तियाँ) तथा उनमें पड़नेवाले व्रतोत्सव और उनके आख्यान।

३९- भगवान् श्रीरामका प्राकट्य महोत्सव— श्रीरामनवमीव्रत।

४०- वनवासव्रती श्रीरामकी वन-यात्रा।

४१- भगवान् श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव-महोत्सव— श्रीकृष्णजन्माष्टमी।

४२- राधाष्टमी-महोत्सव एवं इसकी महिमा।

४३- श्रीजानकीनवमी-महोत्सव।

४४- भूतभावन भगवान् सदाशिवकी प्रीतिके लिये प्रदोषव्रत-विधान, प्रदोषकालकी महिमा तथा प्रदोषव्रतमें भगवान् शिवकी आराधनाका माहात्म्य।

४५- महाशिवरात्रि-महोत्सव तथा उसका आख्यान।

४६- आदिशक्ति भगवती पराम्बाके व्रतपर्वोत्सव तथा उनकी कथाएँ।

४७- भगवान् विष्णुके व्रतोत्सव तथा उनकी कथाएँ।

४८- नृसिंहचतुर्दशी तथा वामनद्वादशी आदि व्रतोत्सवोंका वर्णन।

४९- भगवान् गणेशकी व्रत-कथाएँ (गणेशचतुर्थी-व्रतोत्सव)।

५०- भगवान् सूर्यके व्रतोत्सव तथा व्रत-कथाओंका परिचय।

५१- सूर्योपासनामें व्रतकी महिमा तथा रविवारव्रत-विधान।

५२- हनुमान्‌जीका जयन्ती-महोत्सव, व्रत एवं अनुष्ठानकी विधि।

५३- भगवान् कार्तिकेयके जन्म-महोत्सवकी कथा।

५४- ऋषि-महर्षियोंसे सम्बद्ध पर्वोत्सव, व्रत तथा उनकी अनुष्ठानपद्धति और कथाओंका परिचय। (श्रावणी उपाकर्म, ऋषिपञ्चमी, सप्तर्षिव्रत आदि)।

५५- चिरजीवी महात्माओंके जीवनमें व्रतोपवासकी प्रतिष्ठा—

'अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥
सप्तैतान् संस्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टमम्।'

५६- तपोव्रती भगवान् वेदव्यासजीके व्रतोत्सवोंका आख्यान।

५७- जगद्गुरु शंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य, चैतन्यमहाप्रभु, रामानन्दाचार्य आदि आचार्योंके जयन्ती-महोत्सवकी परम्परा।

५८- एकादशीव्रतकी महिमा तथा वर्षभरके छब्बीस एकादशी-व्रतोंके माहात्म्यकी कथाएँ।

५९- आर्षग्रन्थों तथा भारतीय साहित्यमें वर्णित पर्वों, उत्सवों, त्यौहारों एवं व्रतोंका परिचय।

६०- श्रीमद्भागवतमें वर्णित पुंसवनव्रतका स्वरूप तथा आख्यान।

६१- वाल्मीकीय रामायण तथा श्रीरामचरितमानसमें वर्णित व्रतोत्सव।

६२- महाभारतमें वर्णित विभिन्न ऋषि-महर्षियों तथा राजर्षियोंद्वारा अनुष्ठित व्रतोत्सव और उनकी कथाओंका निरूपण।

६३- पुराणों तथा उपपुराणोंमें वर्णित उत्सव, पर्व और व्रतोंकी कथाएँ एवं उनसे प्राप्त होनेवाली शिक्षाओंका दिग्दर्शन।

६४- मनुष्यके जीवनमें तीन महोत्सव— जन्म, विवाह और मृत्यु।

६५- व्रतोत्सवोंके अधिष्ठातृदेवोंका स्वरूप और उनकी महिमा।

६६- उत्तम स्वास्थ्यप्राप्तिके लिये व्रतोपवासोंका महत्त्व।

६७- आशौचकालमें व्रत-उपवासकी विधि।

६८- ग्रहोंकी शान्तिके लिये व्रतोपवास और यज्ञानुष्ठानविधि।

६९- संतानप्राप्तिके लिये हरिवंशपुराणमें वर्णित संतान-गोपालमन्त्रका अनुष्ठान।

७०- ज्ञान, विद्या एवं बुद्धिकी अधिष्ठात्री भगवती सरस्वतीका पूजन-महोत्सव (वसन्तपञ्चमी)।

७१- ऐश्वर्यकी अधिष्ठात्री भगवती महालक्ष्मीका पूजन-महोत्सव तथा आख्यान— दीपावली-समारोह।

७२- आनन्द एवं उल्लासके पर्व होलिकोत्सवपर चौंसठ योगिनियोंके दर्शनकी महिमा।

७३- पर्व, उत्सव, त्यौहार तथा व्रतोंसे प्राप्त होनेवाली शिक्षाएँ।

७४- बौद्ध, जैन, सिक्ख, इस्लाम, क्रिश्चियन तथा यहूदी आदि धर्मोंमें व्रतपर्वोत्सवका स्वरूप और उसके सम्पादनकी विधि।

७५- परिक्रमा-महोत्सव— विभिन्न तीर्थोंमें होनेवाली परिक्रमाओंका निरूपण (अयोध्या, प्रयाग, नैमिषारण्य, काशीकी पञ्चक्रोशी तथा व्रजकी चौरासीकोसीयात्रा, गिरिराज तथा कामदगिरि [चित्रकूट] आदिकी परिक्रमा)।

७६- भारतमें कुम्भपर्वका महत्त्व तथा कुम्भपर्वमें स्नान, दान एवं व्रतकी महिमा (प्रयाग, हरिद्वार, उज्जैन तथा नासिक-कुम्भोंके आख्यान)।

७७- मकरसंक्रान्तिपर्वपर गङ्गासागरयात्रा-महोत्सव।

७८- राजस्थानका गणगौर-महोत्सव।

७९- विभिन्न प्रदेशोंमें पर्व, त्यौहारकी परम्परा— उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, उत्तराञ्चल, बिहार, आसाम, बंगाल, राजस्थान, महाराष्ट्र तथा दक्षिणी प्रदेशोंके पर्वोत्सव एवं व्रतोंका परिचय।

८०- शैवमन्दिरोंमें उत्सवोंका स्वरूप।

८१- वैष्णवमन्दिरोंकी उत्सवपरम्परा तथा मुख्य उत्सव।

८२- व्रजके महोत्सव।

८३- काशीके उत्सवोंका इतिहास तथा उसकी गरिमा।

८४- अयोध्याके प्रमुख उत्सव एवं मेले।

८५- तीर्थगुरु पुष्करराजके प्रसिद्ध पर्व।

८६- तिरुपति बालाजीके महोत्सव।

८७- भारतके विविध प्रान्तों तथा स्थानोंमें मनाये जानेवाले धार्मिक उत्सवों एवं मेलोंका स्वरूप।

८८- धर्मशास्त्रोंमें वर्णित व्रतोपवासके विविध अनुष्ठानोंका निरूपण।

८९- शास्त्रोक्त विविध व्रतोंका विवरण और उनकी कथाएँ— [कात्यायनीव्रत, सप्तर्षिव्रत, वैधव्ययोगनाशक सावित्रीव्रत, चातुर्मास्यव्रतके पालनीय नियम, पयोव्रतकी महिमा तथा उसकी कथा, अश्वत्थव्रत और देवोपासना, भगवत्प्रीतिकर लक्षवर्तिकाव्रत, संवत्सरव्रत, अयनव्रत, सौभाग्यवर्धकव्रत, पुत्रप्रदव्रत, विविधरोगहरव्रत, मेधावर्धकव्रत, पाक्षिकव्रत, अश्विनी, भरणी आदि विविध नक्षत्रों तथा योगोंमें पड़नेवाले व्रत एवं उनके आख्यान, सम्पत्तिप्रद श्रीव्रत आदि।]

९०- पर्व, त्यौहार तथा व्रतोत्सवसे सम्बन्धित मुख्य ग्रन्थोंका परिचय— हेमाद्रिका व्रतखण्ड, वीरमित्रोदयका व्रतप्रकाश, भगवन्त-भास्करका समयमयूख, व्रतकौस्तुभ, व्रतार्क, जयसिंह-कल्पद्रुम, मदनरत्न, व्रतराज, पद्म, स्कन्द, नारद, मत्स्य तथा भविष्य आदि पुराणोंके व्रतप्रकरण, विविध स्मृतियाँ, धर्मसूत्र, निर्णयसिन्धु एवं धर्मसिन्धु आदि।

९१- व्रतलोप तथा व्रतभङ्गमें प्रायश्चित्तविधान।

९२- पाणिग्रहण (कन्यादान) तथा महादानोंमें व्रतका स्वरूप।

९३- **(क)** मास एवं उपमासव्रत तथा उनकी कथाएँ।

(ख) पुरुषोत्तममासकी महिमा तथा उसके पर्वोत्सव।

९४- सात वारोंके व्रतोत्सव (रवि, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र तथा शनिवार-व्रतोंका अनुष्ठान, पूजाविधि, पालनीय नियम तथा इनकी कथाएँ)।

९५- मेष, कर्क, तुला तथा मकर आदि बारह संक्रान्तियोंके व्रत, उनके पुण्यकाल एवं उनमें स्नान-दानकी महिमा।

९६- शुद्धि एवं अभ्युदयकारक प्रायश्चित्तव्रत— (कृच्छ्र, चान्द्रायण, प्राजापत्य, सान्तपन, व्रात्यशुद्धिकारकव्रत, पराकव्रत, गायत्री-पुरश्चरण एवं विविध मन्त्रोंके जपानुष्ठान-सम्बन्धी-व्रत।)

९७- प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, अमावास्या तथा पूर्णिमा आदि सभी तिथियोंमें पड़नेवाले विविध पर्वोत्सव एवं व्रतोपवास और उनकी कथाएँ।

९८- वर्षभरके बारह महीनोंमें होनेवाले पर्व, त्यौहार, उत्सव तथा व्रतोपवासोंका स्वरूप और उनकी कथाएँ—

(क) चैत्रमासके व्रतपर्वोत्सव—संकष्टी चतुर्थीव्रत, शीतलाष्टमी, संवत्सर प्रतिपदा, वासन्तिक नवरात्र, रामनवमी तथा गणगौर आदि व्रत और उनकी कथाएँ।

(ख) वैशाखमासके व्रतपर्वोत्सव—अक्षयतृतीया, जानकीनवमी, नृसिंहचतुर्दशी आदि।

(ग) ज्येष्ठमासके व्रतपर्वोत्सव—वटसावित्री-व्रत, गङ्गा-दशहरा, निर्जला एकादशी तथा अगस्त्य-व्रत।

(घ) आषाढ़मासके व्रतपर्वोत्सव—रथयात्रा, स्कन्दषष्ठी, शीतलाष्टमी, गुरुपूर्णिमा आदि।

(ङ) श्रावणमासके व्रतपर्वोत्सव—शीतलासप्तमी, नाग-पञ्चमी, श्रावणी पूर्णिमा (रक्षा-बन्धन), मङ्गलागौरी-व्रत आदि।

(च) भाद्रपदमासके व्रतपर्वोत्सव—विशालाक्षीव्रत, श्रीकृष्णजन्माष्टमी, बुधाष्टमी, कुशोत्पाटिनी अमावास्या, हरितालिका, ऋषिपञ्चमी, लोलार्कषष्ठी, मुक्ताभरणसप्तमी, राधाष्टमी, दूर्वाष्टमी, दशावतारव्रत, अनन्तचतुर्दशी आदि।

(छ) आश्विनमासके व्रतपर्वोत्सव—पितृप्रीतिकरव्रत, जीवत्पुत्रिकाव्रत, शारदीय नवरात्र, विजयादशमी, शरत्पूर्णिमा।

(ज) कार्तिकमासके व्रतपर्वोत्सव—गोवत्सद्वादशी, धनत्रयोदशी, हनुमज्जयन्ती, नरकचतुर्दशी, दीपावली, गोवर्धन प्रतिपदा, अन्नकूट-महोत्सव, यमद्वितीया, गोपाष्टमी, तुलसी-विवाह, अक्षयनवमी, वैकुण्ठचतुर्दशी तथा कार्तिकी पूर्णिमा।

(झ) मार्गशीर्ष (अगहन) - मासके व्रतपर्वोत्सव—भैरवाष्टमी, मोक्षदा एकादशीव्रत, गीताजयन्ती-महोत्सव, विवाहपञ्चमी।

(ञ) पौषमासके व्रतपर्वोत्सव—पौषमासमें सूर्यके आराधना-सम्बन्धी आदित्यव्रतोंकी महिमा, रविवारव्रत।

(ट) माघमासके व्रतपर्वोत्सव—माघमासकी महिमा, प्रयाग-कल्पवास-व्रत, मकरसंक्रान्ति-व्रत, मौनी अमावास्या, संकष्टी चतुर्थीव्रत, षट्तिला एकादशीव्रत, श्रीपञ्चमी, वसन्तपञ्चमी-महोत्सव, अचला सप्तमी, माघी पूर्णिमा-व्रत।

(ठ) फाल्गुनमासके व्रतपर्वोत्सव—महाशिवरात्रिव्रतकी महिमा, शिवार्चन, अभिषेक तथा रात्रि-जागरणका माहात्म्य, होलिकोत्सव आदि।

९९- व्रतोपवासके अनुष्ठानके लिये कालज्ञानकी आवश्यकता—

(क) संवत्सर, अयन, ऋतु, मास, अधिकमास, संक्रान्ति, पक्ष, दिन, तिथि, मुहूर्त, घड़ी, लग्न आदिका सामान्य परिचय।

(ख) अहोरात्रके विभाग— ब्राह्ममुहूर्त, उषःकाल, अरुणोदय, प्रातःकाल, संगव, मध्याह्न, सायाह्न, प्रदोषकाल आदिका निरूपण।

१००- व्रतोत्सवों तथा पर्व-त्यौहारका आध्यात्मिक महत्त्व और उनसे प्राप्त होनेवाली कल्याणकारी शिक्षाएँ।

१०१- व्रतमें शुचिता, सत्यता, स्नान, दान, देवपूजन, अपरिग्रह, सत्यभाषण, मौन, आहार-त्याग, हरिनाम-संकीर्तन तथा रात्रि-जागरण आदिकी महत्ता।

१०२- व्रतोपवासमें द्रव्यशुद्धि, क्रियाशुद्धि तथा भावशुद्धिकी महिमा एवं उसके आख्यान।

१०३- व्रतोपवाससे सद्विचारोंका उद्भव एवं सद्बुद्धिकी प्राप्ति।

१०४- व्रत-नियम-संयमके पालनसे सत्त्वशुद्धि और अन्तःकरणकी निर्मलता तथा ज्ञानका उद्भव।

१०५- व्रतोपवाससे अनन्त सौख्य एवं पुण्यकी प्राप्ति।

१०६- व्रतोपवास तथा सात्त्विक उत्सवोंके अनुष्ठानसे भक्तिका प्रादुर्भाव और भगवत्प्राप्तिकी सुगमता।

१०७- निष्काम व्रतोपासनासे परम श्रेयकी प्राप्ति।

१०८- व्रतोत्सवोंका मुख्य तात्पर्य— भगवत्प्रीति तथा प्रभुसंनिधि।

* * *

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

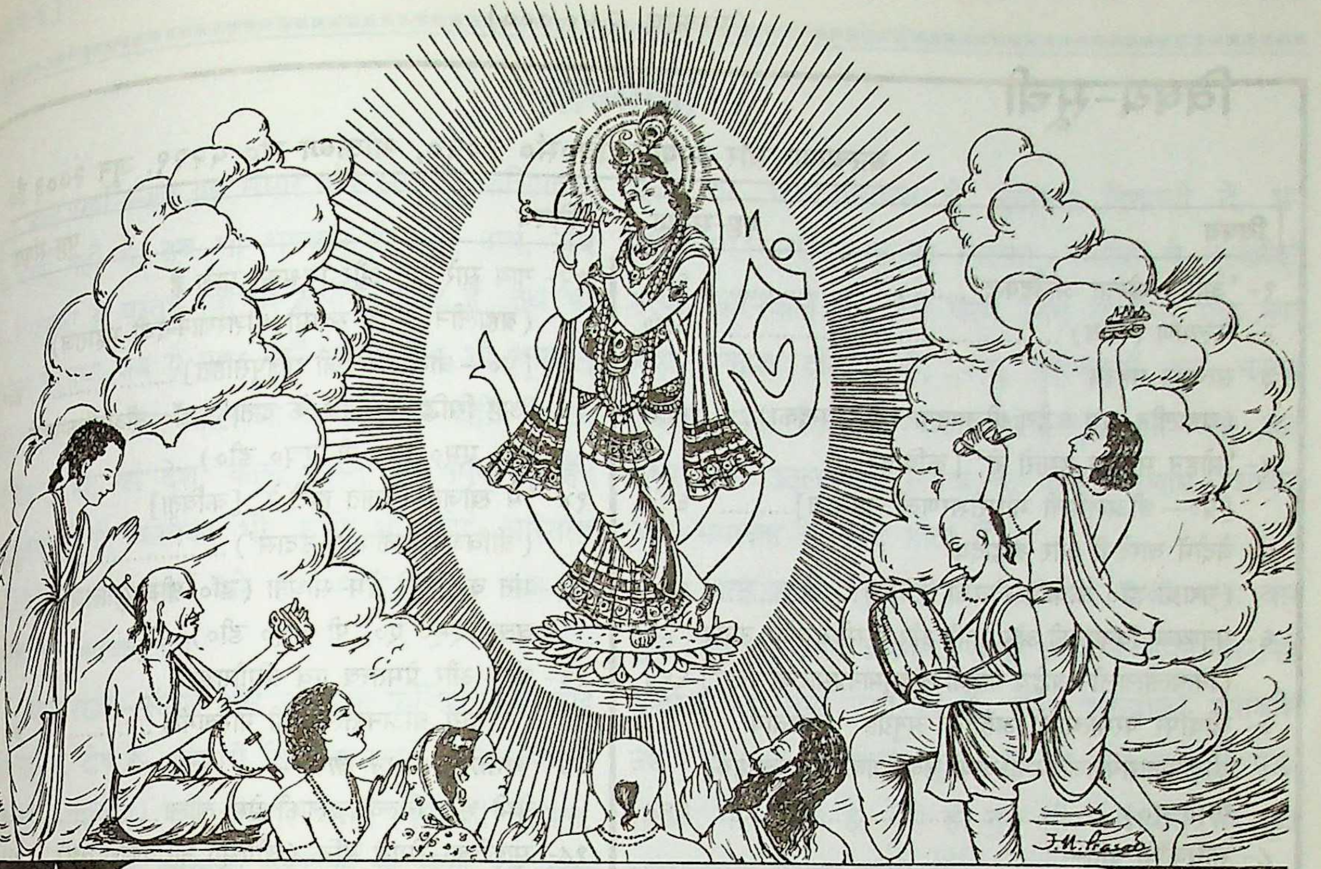

कल्याण

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्धस्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

वर्ष ७७
गोरखपुर, सौर आषाढ़, वि० सं० २०६०, श्रीकृष्ण-सं० ५२२९, जून २००३ ई०
संख्या ६
पूर्ण संख्या ९१९

'आँगन खेलत आनँदकंद'

आँगन खेलत आनँदकंद। रघुकुल-कुमुद-सुखद चारु चंद॥
सानुज भरत लषन सँग सोहैं। सिसु-भूषन भूषित मन मोहैं।
तन दुति मोरचंद जिमि झलकैं। मनहुँ उमगि अँग-अँग छबि छलकैं॥
कटि किंकिनि पग पैजनि बाजैं। पंकज पानि पहुँचिआँ राजैं।
कठुला कंठ बघनहा नीके। नयन सरोज मयन सरसीके॥
लटकन लसत ललाट लटूरीं। दमकति द्वै द्वै दँतुरियाँ रूरीं।
मुनि मन हरत मंजु मसि बुंदा। ललित बदन बलि बाल मुकुंदा॥
कुलही चित्र बिचित्र झँगूलीं। निरखत मातु मुदित मन फूलीं।
गहि मनिखंभ डिंभ डगि डोलत। कल बल बचन तोतरे बोलत॥
किलकत झुकि झाँकत प्रतिबिंबनि। देत परम सुख पितु अरु अंबनि।
सुमिरत सुषमा हिय हुलसी है। गावत प्रेम पुलकि तुलसी है॥

(गीतावली १। ३१)

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,५०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़, वि०सं० २०६०, श्रीकृष्ण-सं० ५२२९, जून २००३ ई०

विषय — पृष्ठ-संख्या

१- 'आँगन खेलत आनँदकंद' ६८५
२- कल्याण (शिव) ६८७
३- सत्यका महत्त्व (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ६८८
४- 'मोहन महबूब हमारो री' [कविता] [प्रे०— श्रीअलबेली माधुरीशरणजी महाराज] ६९०
५- वेदोंमें वाग्देवी और श्रद्धादेवी (पद्मश्री डॉ० श्रीकपिलदेवजी द्विवेदी) ६९१
६- मनुष्यकी विनाशकी ओर प्रगति और उससे बचनेके उपाय (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ६९४
७- जीवोंपर परमात्माका अहैतुक अनुग्रह (आचार्य श्रीकृपानारायणजी उपाध्याय, नव्यव्याकरणशास्त्राचार्य, एम्० ए०) ६९८
८- साधकोंके प्रति— (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ७००
९- साधक-प्राण-संजीवनी (गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज) ७०३
१०- तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त करानेवाला साधन (श्रीमनोजकुमारजी मिश्र) ७०५
११- 'रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही' (श्रीरूपनारायणजी काबरा) ७०६
१२- गाय सारे राष्ट्र और विश्वकी माता है (ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज) [प्रे०— श्रीलादूसिंहजी राजपुरोहित] ७०९
१३- 'अष्ट सिद्धि नौ निधि के दाता' (डॉ० श्रीअरुणकुमारजी राय, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ७१०
१४- 'मैं खोजत-खोजत हारी रे' [कविता] (श्रीविजय प्रजापति 'उदास') ७१२
१५- संत कबीरकी प्रेम-साधना (डॉ० श्रीबाबूलालजी वत्स, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ७१३
१६- गीता और प्रेमतत्त्व एवं श्रीगौराङ्ग (आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी) ७१५
१७- *भक्तोंके पावन चरित*— प्रेमी भक्त बिल्वमङ्गलकी प्रेम-लीला ७१६
१८- साइटिका-रोगसे मुक्ति (श्रीएस्० नारायणजी वैद्य) .. ७२१
१९- साधनोपयोगी पत्र ७२२
२०- व्रतोत्सव-पर्व [आषाढ़ मासके व्रत-पर्व] ७२६
२१- पढ़ो, समझो और करो ७२७
२२- मनन करने योग्य— बालाजी वेंकटेश्वर बने भक्तके नौकर (ए० कमलनाथ पंकज) ७३०
२३- महात्याग ७३१

* * *

चित्र-सूची

१- पञ्चमुख भगवान् शिव .... (रंगीन) .... आवरण-पृष्ठ
२- (१) श्रीदशरथ नन्दन (२) क्रीड़ावेशमें आनन्दकन्द .... ('') .... मुख-पृष्ठ

* * *

वार्षिक शुल्क
भारतमें १२० रु०
सजिल्द १३५ रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$25 (Air Mail)
US$13 (Sea Mail)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

पञ्चवर्षीय शुल्क
भारतमें ६०० रु०
सजिल्द ६७५ रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$125 (Air Mail)
US$ 65 (Sea Mail)

संस्थापक— **ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका**
आदिसम्पादक— **नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार**
सम्पादक— **राधेश्याम खेमका**
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित
website : www.gitapress.org | e-mail : booksales@gitapress.org

कल्याण

याद रखो—जब यह संसार और संसारके प्राणिपदार्थ इस रूपमें नहीं थे, तब भी भगवान् थे और अब, जब कि संसारकी ये वस्तुएँ विभिन्न रूपोंमें प्रकट हैं, तब भी भगवान् हैं तथा जब ये पुनः नहीं रहेंगी, तब भी भगवान् रहेंगे। ऐसा कोई देश, काल या वस्तु है ही नहीं, जिसमें भगवान् न हों, वरं देश, काल, वस्तु ही भगवान्में हैं। भगवान्के बिना किसीका भी कभी भी कोई अस्तित्व नहीं है। भगवान् सबमें भरे हैं, भगवान्में ही सब हैं, भगवान् ही भगवान् हैं।

याद रखो—संसार और संसारके प्राणिपदार्थमें कोई दोष नहीं है, दोष है—तुम्हारी विषयवासनामें, भोगकामनामें और इन्द्रियासक्तिमें। यदि तुम्हारे मनमें भोगोंकी वासना, कामना और उनमें आसक्ति नहीं है तो कोई भी भोग तुम्हें न तो बाँध सकता है, न तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट ही कर सकता है।

याद रखो—भोगसेवनमें आसक्ति न हो, भोगसुखकी कामना न हो तो प्रत्येक भोग भगवान्की पूजनसामग्री बन जाता है और फिर वह अपनी नगण्य सत्ताको भगवान्की महान् तथा अनन्त सत्तामें खो देता है। सुख-शान्ति तो फिर स्वरूपगत हो जाती है।

याद रक्खो—तुम सुख-शान्ति चाहते हो। सभी चाहते हैं। पर सुख-शान्ति जहाँ है, वहाँ कोई नहीं जाना चाहता। वरं उल्टे उसके विपरीत मार्गपर चलता है। समस्त सुखोंके, शान्तिके मूल केन्द्र हैं श्रीभगवान्। जो उनको अपना सुहृद् मान लेता है, उसे तुरंत सुख-शान्ति मिल जाते हैं। जो सारी कामना-स्पृहा तथा ममता-अहंकारको भगवान्में समर्पितकर भगवान्का हो जाता है, उसे तुरंत सुख-शान्ति मिलते हैं। पर यदि तुम भगवान्को भूलकर केवल भोगोंसे ही सुख-शान्ति चाहोगे तो तुम्हें निराश ही होना पड़ेगा।

याद रखो—भगवान्से रहित जितने भी भोग हैं, एक बार चाहे भ्रमवश वे सुखरूप दिखायी दें, पर परिणाममें उनसे दुःख ही मिलेगा; क्योंकि वे दुःखोंको उत्पन्न करनेवाले हैं। जैसे घरमें आग लगनेपर एक बार बड़ा प्रकाश दीखता है, परंतु परिणाममें वह घरका नाशक होता है; इसी प्रकार भोग-सुख भी एक बार मधुर तथा उल्लासप्रद लगता है, परंतु परिणाम विषवत् और भयानक दुःखप्रद होता है।

याद रखो—तुम जो भोगपदार्थोंको पाकर एक बार भूल जाते हो और अपनेको सुखी अनुभव करते हो, सो तुम्हारा वह सुख ऐसा ही है, जैसा शराबीको शराबके नशेमें अनुभव होनेवाला सुख। शराबी गंदी नालीमें पड़ा सुखके गीत गाता है, वैसे ही तुम भी भोगमदमें चूर हुए भोगसुखका बखान करते हो।

याद रखो—वस्तुकी प्राप्ति वहीं होती है, जहाँ वह होती है। बालूसे तेल नहीं निकलता, जलसे भी नहीं निकलता। सूर्यसे अन्धकार नहीं निकलता। चन्द्रमासे अग्नि नहीं निकलती। वैसे ही सुख-शान्ति भगवान्के बिना और कहींसे नहीं मिल सकती; क्योंकि और कहीं भी वह है नहीं।

याद रखो—भगवान्में जो स्वरूपभूत सुख-शान्ति है, वही असली सुख-शान्ति है। संसारके सुख-शान्ति तो ऊपरसे मधुर प्रतीत होते हुए जहरभरे लड्डू ही हैं, जो अंदर जाकर एक भीषण जलन उत्पन्न कर देते हैं तथा सर्वस्वका विनाश करते हैं।

याद रखो—जो लोग भगवान्में ही लगे हैं, केवल भगवान्से ही सुख-शान्ति चाहते हैं, जिनका ऐसा दृढ़ विश्वास है कि सुख-शान्ति भगवान्के सिवा और कहीं है ही नहीं, उनका भगवान्को छोड़कर न तो और कहीं मन जाता है, न श्रद्धा ही होती है। उनके सम्पर्कमें आनेवाले सारे विषय—विषयासक्तिके पदार्थ न रहकर भगवान्की दिव्य अनुभूति करानेवाले बन जाते हैं। **'शिव'**

सत्यका महत्त्व *

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

कीर्तन एक स्वरसे, एक तारसे हो तो भगवान् प्रेमरूपसे आते हैं। मन एकाग्र होकर आनन्दमें डूब जाता है, वहाँ आनन्दरूपमें, प्रेमरूपमें आते हैं। भगवान् चाहे किसी रूपमें मिलें। यह कहना ही नहीं बनता कि हम तो प्रेमरूपमें, शब्दरूपमें या प्रकाशरूपमें नहीं चाहते। हम तो प्रभुसे यही प्रार्थना करते हैं कि चाहे जैसे रूपमें आयें, किंतु हमें यह विश्वास होना चाहिये कि भगवान् आये हैं।

भगवान्‌को मैं बुला सकता तो फिर क्या मेरी यह हालत रहती? केवल एक लाट साहबको बुलानेवालेकी कितनी प्रतिष्ठा होती है? फिर भगवान्‌को बुलानेवालेकी क्या बात है। भगवान् तो प्रेमसे ही दर्शन देते हैं। क्या बिना साधन भी दर्शन दिला सकते हैं? सुना तो है कि प्रह्लादजीने सब दैत्योंको दर्शन करवा दिये।

भगवान् जिसके अधीन हों, ऐसा पुरुष यदि मिल जाय तो फिर उसे छोड़कर भगवद्दर्शनकी इच्छा रखना मूर्खता है।

कोई भगवान्‌का दर्शन करा दे, ऐसे पुरुषके दर्शन होनेपर भगवद्दर्शनकी कोई आवश्यकता नहीं। वह तो भगवान्‌का भी भगवान् है। फिर तो भगवान् स्वयं ही आयेंगे। बुलानेकी क्या आवश्यकता है। भगवान्‌से कोई मिला सकता है यह तो बहुत दूरकी बात है। उसकी तो बात ही क्या है। ऐसे पुरुषसे ही काम चल सकता है, जो भगवान्‌के अधीन है। बहुतसे लोग कहते हैं कि इनको भगवान्‌के दर्शन हुए हैं। कसौटीपर कसते हैं तो यह निश्चय होता है कि यह महात्मा नहीं, कथनमात्र है।

कोई पुरुष जीवन्मुक्त है, एक कहता है कि ये तो कृतकृत्य हैं। मैं तो सबसे यही प्रार्थना करता हूँ कि कोई मुझमें ऐसी शक्तिकी कल्पना करे, यह भ्रम है। मुझमें ऐसी योग्यता नहीं और मुझे ऐसा पुरुष संसारमें नहीं दीखता। यदि यह कहो कि हमें तो विश्वास है और मैं कहता हूँ मेरी शक्ति नहीं। फिर मैं झूठा हुआ और आपका झूठपर विश्वास हुआ, फिर असत्य बोलनेवाला ठहरा। इस विषयमें मैं कोई असत्य वचन नहीं बोलता, यदि कोई भाई ऐसा कहे, विश्वास करे तो मैं तो उसे मजाक समझता हूँ कि वह हँसी करता है। यदि कहो कि हमलोग पात्र नहीं इसलिये छिपाते हैं और छिपाना चाहते हैं तो यह बात तो असत्य हुई कि हमको तो सत्यका ही पाठ पढ़ना चाहिये। सत्यकी बराबरीकी कोई चीज नहीं। परमात्माका स्वरूप भी सत्य है। जो सत्यवादी है, वहाँ परमेश्वर विराजमान हैं। जिसको सत्यकी प्राप्ति हो गयी, उसे सब मिल गया। कबीरदासजीने कहा है—

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदै साँच है, ताके हिरदै आप॥

यदि भगवान्‌से मिलना चाहते हो तो प्राणसे बढ़कर सत्यका पालन करो। यदि भगवान् फिर न मिलें तो सत्यवादी पुरुषोंसे, महात्माओंसे पूछे कि हमने सत्यकी उपासना की, पर सत्य वस्तु नहीं मिली। महर्षि पतञ्जलिने कहा है— **'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'** उसका फिर नाश नहीं हो सकता— **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। सत्यका कभी नाश नहीं होता। आप कहते हैं कि दर्शन करायें। मैं कहता हूँ मेरी प्रार्थनापर ध्यान दो। शास्त्रोंपर, महात्माओंपर विश्वास करो कि जहाँ सत्य है, वहाँ परमात्मा हैं। सत्य ही परमात्माका स्वरूप है। सत्यका पालन करनेके लिये शास्त्रोंमें कितना जोर है, जितनी बड़ाई की गयी उतनी ही नहीं, वेदोंमें भी सत्यकी बड़ाई है। बृहदारण्यकमें कथा है—राजा जनकने यह घोषणा की थी। मैंने जो यह गौएँ खड़ी की हैं, वे सब ब्रह्मवेत्ताओंके लिये हैं। याज्ञवल्क्यजीने सब गौओंको ले जानेकी शिष्योंको आज्ञा दी तो लोग बिगड़ गये। क्या आप ब्रह्मवेत्ता हैं? याज्ञवल्क्यजीने कहा नहीं, मैं तो ब्रह्मवेत्ताओंको नमस्कार करता हूँ, मुझे गौओंकी आवश्यकता है।

शाकल्यने उनसे प्रश्न किया—यह सब किसमें। उत्तर—ब्रह्ममें, प्रश्न—ब्रह्म किसमें। याज्ञवल्क्य—अतिप्रश्न मत करो, अन्यथा सिर कट जायगा, किंतु शाकल्य नहीं

---

* प्रवचन-तिथि प्रथम वैशाख कृष्ण ३०, संवत् १९९१, रात्रि, वटवृक्ष स्वर्गाश्रम।

माना और उसका सिर कटकर गिर गया, यह सत्यका प्रताप है। उनमें सत्यता थी, उनको ब्रह्मकी प्राप्ति थी, पर वे नहीं कहते कि मुझे ब्रह्मकी प्राप्ति हुई और न यह कहा कि मुझे नहीं हुई।

सत्यका ही ध्यान, सत्यका ही आचरण, सत्यका ही धारण, सत्यका ही वर्णन हो तो किसी सात, पाँचकी आवश्यकता नहीं। बस एक ही बात हो, सत्य आपके रोम-रोममें रम जाय। सत्यकी उपासना करनी चाहिये। सद्गुण, सदाचार, सद्भाषण, हमारी वाणीमें सत्य, आचरणमें सत्य, सब सत्य ही होना चाहिये, एक सत्यपर ही विशेषरूपसे जोर दिया गया है। भगवान् कैसे, कब, क्यों मिलते हैं, सब सवाल छोड़ दो। केवल एक ही बात कि भगवान् हैं, उनके अस्तित्वका निश्चय कर ले तो फिर उसे भगवान्‌की प्राप्तिमें कोई शंका नहीं। भगवान् सबका मालिक है। वही सबसे बड़ा, ऊँचा है, यह बात परमेश्वर नामसे स्पष्ट है। इस सारे ब्रह्माण्डका वह मालिक है। वह चाहे जैसा कर सकता है, वह सर्वव्यापी, सर्वज्ञ है। यह पता नहीं कि वह काला है या गोरा है। इसको पता करनेकी आवश्यकता भी नहीं। संसारके मनुष्य भगवान्‌को हजारों प्रकारसे मानते हैं। प्रकार तो एक ही होना चाहिये, बात तो यही है, परंतु जबतक परमेश्वरके दर्शन नहीं होते, तबतक तो अपने ही मनके अनुसार मानेंगे। वास्तवमें सबका कहना गलत है कि परमेश्वरका स्वरूप ऐसा है। कोई कहे कि यह तो नास्तिक है। बात यह है कि सबका बताना ठीक है और सबका बतलाना गलत है, दोनों बातें ठीक हैं। जो स्वरूप दुनियाको मान्य है, उन्हें प्राप्तिके पहले मानें ही कैसे, जानते ही नहीं। इसलिये सबका मानना ठीक है, क्योंकि वे नहीं जानते। हम चित्र देखते हैं, अनेक रूप मिलते हैं। सच्चा चित्र एक भी नहीं है। कौन देखकर बता सकता है कि यही कृष्णजी हैं। क्या तुमने देखा है? यही बात शिवजी, देवी आदि सबके विषयमें है। कोई कहता है यह तो साकारकी बात है, निराकार ठीक है तो कैसा है? सच्चिदानन्द है। आनन्द जैसे हमको होता है, उसी प्रकार आपको होता है। फिर वह तो भोग्य हो गया। वह बुद्धिगम्य भी नहीं है, बुद्धि जड़ है। आप चाहे कैसा ही रूप मानें, पर आप इयत्ता लगायेंगे कि ऐसा है। जैसा तुमने समझा है प्रभु उससे और विलक्षण हैं। तुम्हारे-जैसे समझनेवालोंको इकट्ठा करें तो सब अलग-अलग वर्णन करेंगे। सबको मिला लिया, उससे भी प्रभु विलक्षण हैं। जैसा वेदोंमें वर्णन है, उससे भी प्रभु विलक्षण हैं। यह सवाल छोड़ दो, वह तो मिलेगा तभी पता लगेगा। आप त्रिशूलका चित्र बना लो और उसे सर्वोपरि ईश्वर समझो और सर्वव्यापी, सर्वज्ञ मान लो, यह बात मान लो कि वह मनुष्योंसे भी श्रेष्ठ है। उसका नाम पुरुषोत्तम है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

(गीता १५। १८)

मैं नाशवान् जडवर्ग-क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ।

क्षर तो नाशवान् पदार्थ है उससे वह अतीत है। पाँचों क्लेश अविद्या, अस्मिता आदि ईश्वरमें नहीं हैं। न शुक्ल और कृष्ण कर्म हैं। ईश्वर पाप-पुण्यसे रहित, उसके फलसे भी रहित, अतिशय ज्ञानस्वरूप है। बस इतना ही मान लो कि है और न्यायकारी है। ईश्वर है, न्यायकर्ता है, वह सबसे बढ़कर है, उससे बढ़कर कोई नहीं। ऐसे मान ले तो फिर उसे परमेश्वरकी प्राप्ति हो जायगी। पापका फल दुःख मिलेगा, यह जानते हो, फिर भी पाप करते हो। ईश्वरकी सत्ता सब जगह है। ईश्वर सर्वव्यापी है, जो पाप करते हो उसे ईश्वर देखता है कि नहीं। देखता है तो दण्ड देगा ही।

यहाँ सरकारका राज्य है। यहाँ गङ्गाकिनारे न कोई हाकिम है न कोई और है, परंतु सरकारके विरुद्ध कार्य करे तो दण्ड मिलेगा। सरकारकी सत्ता है, यद्यपि यहाँ कोई सरकारी अधिकारी उपस्थित नहीं है, तब भी उसके विपरीत कार्य नहीं करते। कर भी सकते हैं और न पकड़े जानेपर बच भी सकते हैं, परंतु भगवान्‌के राज्यमें किसी प्रकारकी भी गुंजाइश नहीं है, धोखा नहीं दे सकते। हम रास्तेमें जा रहे हैं,. पेशाब करने बैठे। पुलिसवालेने पूछा—क्या करता है? पैसे गिर गये, वही देख रहा हूँ। पेशाब किसने किया।

झूठ भी कहा और घूस देकर पिण्ड छुड़ाया। एक झूठके लिये महाराज युधिष्ठिरको भी कल्पित नरक दिखाया गया था तो फिर हमेशा झूठ बोलनेवालेका क्या होगा। ईश्वरपर दो, चार गुणोंका विश्वास हो जाना चाहिये कि वह सर्वव्यापी है, सर्वज्ञ है, सच्चा है, उसका कभी नाश नहीं होता। जो इस प्रकार जान गया उसकी पहचान यह है कि उसके सब काम सत्य होंगे, संकल्प, क्रिया, कर्म सब सत्यस्वरूप हो जायँगे। यह बात समझ लेनी चाहिये। इस प्रकार समझ लेनेपर उसमें कोई अवगुण नहीं रह सकते। उसकी सब क्रिया सत्य हो जायगी, वाणी सत्य हो जायगी।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(गीता १७।१५)

जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है—वही वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

युधिष्ठिरका रथ सत्यके प्रभावसे पृथ्वीसे ऊँचा चलता था, वह अब पृथ्वीपर चलने लगा। उसका फल कल्पित नरक हुआ, अर्द्धसत्य कहा, जिसमें कपट हो, हिंसा हो, वह सत्य सत्य नहीं। जिस सत्यके लिये अपना गला कट जाय तो भी परवाह नहीं, वह सत्य सत्य है। प्राणसे बढ़कर सत्यको मान ले तो फिर मरनेकी भी नौबत नहीं आयेगी। वर्तमानमें देखो तो सही, भाई लोग बिना कारण ही हँसी-मजाकमें ही झूठ बोलते हैं। पैसोंके लिये, क्रोधवश तो करते ही हैं, पर बिना ही कारण झूठ बोलते हैं। एक सत्यके ही पालनसे सब काम हो जाते हैं। मेरेमें दर्शन करानेकी शक्ति नहीं है। पर मैं यह कहता हूँ कि सत्यका महत्त्व शास्त्रोंने बहुत उच्च बतलाया है, जो भाई सत्यका सेवन करेगा, उसे अवश्य परमेश्वरकी प्राप्ति हो जायगी। भगवान्के राज्यमें इतना तो आपको मान ही लेना चाहिये कि यह जो कहता है वह सत्य है। मैं यह नहीं कहता कि मेरी बात मान लो, पर शास्त्र और संत-महात्मा यही कह रहे हैं। मैं धोखा नहीं देता, प्रामाणिक बात कहता हूँ, महात्माओंकी, शास्त्रोंकी, भगवान्की बात कहता हूँ, शास्त्रोंका निचोड़ कहता हूँ। भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २।१६)

असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।

आपने ऋषि, मुनि, शास्त्रोंका विश्वास किया। एक ही बात सत्य ही परमेश्वरका नाम है, सत्यका जप करना चाहिये, सत्य ही उसका स्वरूप है, उसीका ध्यान करना चाहिये, उसीका भाषण करना चाहिये। वास्तवमें मैं उसे ही अपना प्रेमी समझूँगा जो आजसे झूठ नहीं बोलेगा।

* * *

‘मोहन महबूब हमारो री’

मोहन महबूब हमारो री।
चन्द्र बदन ब्रजराज रसिकवर, मोर मुकुट सिर धारो री॥
कानन कुण्डल जगमग ज्योती, नासा मोती वारो री।
नयन विशाल, बंक चितवनियाँ, हँस कर जादू डारो री॥
पल नहिं लगत पलक बिन देखे, प्रीतम प्राणन-प्यारो री।
ब्रज-वनिता लखि रूप मगन भईं, नटवर छैल निहारो री॥
शोभा-धाम, काम-मद-मोचन, चित तैं टरै न टारो री।
‘सरस माधुरी’ श्री राधा-पति, बिसरत नाहिं बिसारो री॥

[प्रेषक—श्रीअलबेली माधुरीशरणजी महाराज]

* * *

वेदोंमें वाग्देवी और श्रद्धादेवी

(पद्मश्री डॉ० श्रीकपिलदेवजी द्विवेदी)

ऋग्वेदके अति महत्त्वपूर्ण सूक्तोंमें वाग्देवी और श्रद्धादेवीसे सम्बद्ध दो सूक्त (१०।१२५।१—८ और १०।१५१।१—५) हैं। इनमें वाग्देवी और श्रद्धादेवीके स्वरूप, कार्य और महत्त्वका वर्णन है।

वाग्देवी

ऋग्वेदके १०।१२५ सूक्तके आठ मन्त्रोंके ऋषि 'वागाम्भृणी' हैं। इसके देवता अथवा वर्ण्यविषय आत्मा या वाकृतत्त्व है। इन आठ मन्त्रोंमें वाग्देवी उत्तम पुरुषमें आत्मविवेचनके रूपमें अपना स्वरूप प्रकट करती हैं।

इस सूक्तका महत्त्व इस बातसे प्रकट होता है कि ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालयके भाषाविज्ञानके प्रोफेसर सईसने अपने ग्रन्थ 'साइंस आफ़ लैंग्वेज' भाग एकके प्रथम पृष्ठपर भाषाशास्त्रियोंका ध्यान इस सूक्तकी ओर आकृष्ट किया है। प्रो० सईसका कथन है कि इन आठ मन्त्रोंमें वैदिक ऋषिका वाकृतत्त्वके विषयमें जो वक्तव्य है, वह बहुत ही गम्भीर, विचारपूर्ण, भाषाविज्ञानकी दृष्टिसे सत्य तथा अत्यधिक दूरदर्शितापूर्ण है। इन आठ मन्त्रोंमें वाग्देवीका महत्त्व इस रूपमें वर्णित किया गया है—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥

मैं (वाग्देवी) रुद्रों (प्राणतत्त्व, एकादश रुद्र), वसुओं (पृथ्वी आदि आठ वसुओं), आदित्यों (बारह आदित्य सूर्य) तथा विश्वेदेवों (सभी देवों, सभी दिव्य विभूतियों)-के रूपोंमें विचरण करती हूँ। मैं मित्र और वरुण (सौरतत्त्व और जलीय तत्त्व) तथा इन्द्र और अग्नि (सौरतत्त्व और अग्नितत्त्व) एवं दोनों अश्विनीकुमारों (प्राण और अपान-तत्त्व)-का भरण-पोषण करती हूँ।

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये३ यजमानाय सुन्वते॥

मैं (वाग्देवी) सोमतत्त्वकी पालक और रक्षक हूँ। मैं त्वष्टा (विश्लेषक तत्त्व), पूषन् (पोषकतत्त्व) और भग (ऐश्वर्य)-की पालक हूँ। मैं यज्ञकर्ताओंको ऐश्वर्यसे समृद्ध करती हूँ।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥

मैं राष्ट्र-निर्मात्री शक्ति हूँ। मैं वसुओं (पृथ्वी आदि आठ वसुओं)-को सम्बद्ध करनेवाली हूँ। मैं विज्ञानमय हूँ। मैं पूजनीयोंमें अग्रगण्य हूँ। देवों (विद्वानों, भाषाशास्त्रियों)-ने मुझे नाना (भाषाओंका) रूप लेकर नाना प्रकारसे प्रतिष्ठित किया है।

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृगोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥

जो मेरा (वाग्देवी या प्रतिभाका) साक्षात्कार करता है, जो मुझको हृदयमें धारण करता है और मेरे कथनको सुनता है, वह भौतिक जगत्का उपभोग करता है। जो मुझपर विश्वास नहीं करते हैं, वे स्वयं नष्ट हो जाते हैं। मैं श्रद्धाके योग्य इस वचनको स्वयं कहती हूँ।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

मैं स्वयं यह कहती हूँ कि देवता और मनुष्य सभी मेरी उपासना करते हैं, मेरा आश्रय लेते हैं। जिसपर मेरी दयादृष्टि होती है, उसको मैं उग्र (तेजस्वी) बना देती हूँ। उसको ब्रह्म (ब्रह्मवेत्ता, आत्मतत्त्वज्ञ) बना देती हूँ। उसको ऋषि और मेधावी बना देती हूँ।

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥

मैं ब्रह्मद्वेषीके विनाशके लिये रुद्रको धनुषसे सुसज्जित करती हूँ। मैं जन-कल्याणके लिये युद्ध करती हूँ। मैं द्युलोक और पृथिवीमें सर्वत्र व्याप्त हूँ।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि॥

मैं (वाग्देवी) इस संसारके शिरोभागमें द्युलोकको उत्पन्न करती हूँ। बुद्धिरूपी समुद्रके अन्तस्तल (ईश्वरीय ज्ञान)-में मेरा निवास-स्थान है। उसी स्थानसे मैं सारे विश्वमें व्याप्त हूँ। मैं अपने शरीरसे द्युलोकको स्पर्श करती हूँ।

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव॥
(१०।१२५।१—८)

मैं ही वायुके तुल्य सर्वत्र बह रही (व्याप्त) हूँ। मैं सारे संसारका निर्माण करती हूँ। मैं द्युलोक और पृथिवीसे परे हूँ अर्थात् इनमें अलिप्त होकर रहती हूँ। मैं अपनी सामर्थ्यसे ही प्रकट होती हूँ।

उपर्युक्त आठों मन्त्रोंमें वाग्देवीके इन गुणोंका विशेषरूपसे उल्लेख है—

१-वाग्देवी रुद्र, आदित्य, वसु आदि सभी देवोंकी रक्षक और पालक हैं।

२-वाग्देवी सौम्य गुणोंकी दात्री हैं।

३-वे भक्तोंको सभी ऐश्वर्य प्रदान करती हैं।

४-वाग्देवी राष्ट्रीय भावना प्रदान करती हैं। इनमें संगठनकी शक्ति है। वाग्देवी (भाषा)-को ही विविध रूप देकर विद्वानोंने विश्वकी समस्त भाषाओंको जन्म दिया है।

५-जो वाग्देवीको प्रसन्न कर लेता है, वह संसारके सारे सुख भोगता है। जो वाग्देवीका निरादर करता है, उसका सर्वनाश हो जाता है।

६-वाग्देवीके अनुग्रहसे ही मनुष्य ब्रह्मर्षि, महर्षि, ज्ञानी, विज्ञानी और मेधावी होता है।

७-वाग्देवी निरादर करनेवालेको समाप्त कर देती हैं। वे लोकहितके लिये संघर्ष करती हैं और सारे संसारमें व्याप्त हैं।

८-वाग्देवी सारे संसारकी निर्मात्री हैं।

९-सृष्टि-निर्माण वाग्देवीका कार्य है। वे सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी निर्लेप, निरञ्जन और निष्काम हैं।

ब्राह्मणग्रन्थ

ब्राह्मणग्रन्थोंमें वाग्देवी (विद्या, सरस्वती)-के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक स्वरूपपर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। यथा—

१-वाग्देवी ब्रह्मस्वरूप हैं। वे ब्रह्मका विराट्-रूप हैं। वे समुद्रकी तरह अनन्त और अक्षय हैं। वे कभी नष्ट नहीं होतीं। (क) **'वाग् ब्रह्म।'** (गोपथ ब्रा० १।२।१०) (ख) **'वाग् वै ब्रह्म।'** (ऐत० ब्रा० ६।३, शत०ब्रा० २।१।४।१०) (ग) **'वाग् वै विराट्।'** (शत० ब्रा० ३।५।१।३४) (घ) **'वाग् वै समुद्रो न वै वाक् क्षीयते न समुद्रः।'** (ऐत० ब्रा० ५।१६)

२-वाग्देवी ही विद्या, बुद्धि और सरस्वती हैं। (क) **'वाग् वै धिषणा।'** (शत० ब्रा० ६।५।४।५) (ख) **'वाग् वै मतिः।'** (शत० ब्रा० ८।१।२।७) (ग) **'वागेव सरस्वती।'** (ऐत० ब्रा० २।२४)

३-वाग्देवी कामधेनु हैं। वे सभी कामनाएँ पूर्ण करती हैं।

(क) **'वाग् वै धेनुः (कामधेनुः)।'** (गोपथ० ब्रा० १।२।२१) (ख) **'वाचं धेनुम् उपासीत।'** (शत० ब्रा० १४।८।९।१)

४-वाग्देवी राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रप्रेम देती हैं— **'वाग् वै राष्ट्री।'** (ऐत० ब्रा० १।१९)

५-वाग्देवी विश्वकर्मा हैं। वे सब कुछ बना और बिगाड़ सकती हैं। **'वाग् वै विश्वकर्मात्रृषिः। वाचा हीदं सर्वं कृतम्।'** (शत० ब्रा० ९।१।२।९)

६-वाग्देवी सारे देवोंकी प्रतिनिधि हैं। (क) **'वागिति सर्वे देवाः।'** (जैमि० उप० ब्रा० १।९।२), (ख) **'वागेव देवाः।'** (शत० १४।४।३।१३)

७-वाक् और मन दोनों सम्बद्ध हैं। मनके भावोंकी अभिव्यक्तिका साधन वाणी है। (क) **'वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम्।'** (ऐत० ब्रा० ५।२३) (ख) **'तस्य (मनसः) एषा कुल्या यद् वाक्।'** (जैमि० उप० ब्रा० १।५८।३)

८-मन, वाक् (वाणी) और प्राण अमर हैं। ये प्रजापतिके अमररूप हैं। **'अथैता अमृता मनो वाक् प्राणः।'** (शत० ब्रा० १०।१।३।४)

९-वाक् आग्नेय तत्त्व है। इसमें आग्नेय गुण दाहकता, शोधकता आदि हैं। **'वागेवाग्निः।'** (शत० ब्रा० ३।२।२।१३)

१०. वाक् ओषधि है। यह सब रोगोंकी चिकित्सा है। मधुर और सान्त्वनापूर्ण वाणी रोगीका कष्ट दूर करती है। मन्त्र-चिकित्साका आधार वाक्तत्त्व ही है। **'वागु सर्वं भेषजम्।'** (शत० ब्रा० ७।२।४।२८)

श्रद्धा

श्रद्धा एक सात्त्विक भावना है। उत्कृष्ट गुणोंके आधारपर श्रद्धाकी भावना जाग्रत् होती है और उन गुणोंको अपनानेकी कामना जाग्रत् करती है। यह उत्कृष्ट गुणोंकी आकर्षणशक्तिका प्रभाव है।

श्रद्धाका सामान्यतया अर्थ होता है— **'श्रत् सत्यं धीयते यत्र सा श्रद्धा'** हृदयमें सत्यकी स्थापना करना श्रद्धा है। असत्यको हटाकर सत्यको प्रतिष्ठित करना श्रद्धा है। यजुर्वेदमें श्रद्धाका महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि व्रत धारण करनेसे मनुष्य दीक्षित होता है, दीक्षासे उसे दाक्षिण्य (दक्षता, निपुणता) प्राप्त होता है। दक्षताकी प्राप्तिसे श्रद्धाका भाव जाग्रत् होता है और श्रद्धासे सत्यस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति होती है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥
(यजु० १९।३०)

भाषाविज्ञानकी दृष्टिसे श्रद्धाका मौलिक अर्थ ज्ञात होता है। संस्कृतका 'श्रत्' शब्द और लैटिनका हृदयवाचक 'कॉर्ड' शब्द मूलरूपमें एक ही शब्द है। लैटिनका हृदयवाचक 'कॉर्ड' शब्दसे अँग्रेजीके कॉर्डियल—हार्दिक,

कॉर्डट—हृदयाकार आदि शब्द बने हैं। अतः श्रद्धाका मौलिक अर्थ है—**'श्रत् हृदयं धीयते यत्र सा श्रद्धा'** जिसमें अपने हृदयको लगाते हैं या जिसके प्रति अपने हृदयको समर्पित करते हैं, वह श्रद्धा है। श्रद्धास्पद व्यक्तिको हम अपना हृदय समर्पित करते हैं। यह समर्पण गुणोंके आधारपर सात्त्विक भावसे किया जाता है।

ऋग्वेदमें एक महत्त्वपूर्ण सूक्त श्रद्धासूक्त (१०।१५१।१—५) है। इस सूक्तकी द्रष्टा 'श्रद्धा कामायनी' हैं। कामायनीका अर्थ है—काम अर्थात् कामनाओं या सात्त्विक विचारोंका आश्रयस्थान। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें कामायनीका अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि श्रद्धा कामनाओंकी माता या सद्विचारोंकी जन्मदात्री हैं। **श्रद्धां कामस्य मातरं हविषा वर्धयामसि**।(तैत्ति०ब्रा० २।८।८।८)

हिन्दी-साहित्यके मूर्धन्य कवि श्रीजयशंकरप्रसादजीने ऋग्वेदके इस सूक्तको आधार बनाकर अपनी अमर काव्यकृति कामायनीकी रचना की है।

ऋग्वेद (१०।१५१।१—५)-में श्रद्धाका गुणगान करते हुए कहा गया है—

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥

श्रद्धासे ही यज्ञमें अग्नि प्रज्वलित की जाती है। श्रद्धासे अग्निमें हव्य पदार्थ डालते हैं। श्रद्धा सर्वोत्तम विभूति है। उसे हम प्रणाम करते हैं।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि॥

हे श्रद्धे! तू दान देनेवालेको अभीष्ट फल दे। तू दान देनेकी इच्छा करनेवालेका भी प्रिय कर। तू दानदाताओं और यज्ञकर्ताओंका प्रिय कर।

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि॥

जिस प्रकार देवोंने उग्र असुरोंपर विजय-प्राप्तिके लिये अपनी शक्ति बढ़ानेमें श्रद्धा की, उसी प्रकार हे श्रद्धे! तुम दाताओं और यज्ञकर्ताओंका प्रिय करो।

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्य१याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥

देवगण और यज्ञकर्ता मनुष्य प्राणविद्यासे सुरक्षित होकर श्रद्धाकी उपासना करते हैं। वे हार्दिक संकल्पसे श्रद्धाकी उपासना करते हैं। श्रद्धासे ही ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥

हम प्रातः, मध्याह्न और सायं श्रद्धाका आवाहन करते हैं। हे श्रद्धे! तुम हमें श्रद्धावान् करो।

उपर्युक्त पाँचों मन्त्रोंमें श्रद्धादेवीके इन गुणोंका विशेषरूपसे उल्लेख है—

१-सभी धार्मिक कृत्योंके लिये श्रद्धाकी आवश्यकता होती है।

२-श्रद्धा सबसे उत्कृष्ट ऐश्वर्य है।

३-दान और यज्ञ श्रद्धापूर्वक करनेपर ही पूर्ण सफल होते हैं।

४-गुणोंमें उच्चता और उत्कृष्टता ही व्यक्तिको श्रद्धास्पद बनाती है।

५-श्रद्धादेवीको प्रसन्न करनेके लिये हृदयके विचारोंकी पवित्रता अनिवार्य है। श्रद्धा वैभवकी दात्री है।

६-हृदयकी पवित्रतासे ही श्रद्धा हृदयमें प्रतिष्ठित होती है।

ब्राह्मणग्रन्थ

ब्राह्मणग्रन्थोंमें श्रद्धादेवीके विषयमें मुख्यरूपसे ये विचार प्राप्त होते हैं—

१-श्रद्धाके साथ सत्यका समन्वय होना चाहिये। अतः सत्यको यजमान (पति) और श्रद्धाको पत्नी कहा गया है—**'श्रद्धा पत्नी सत्यं यजमानः'**। (ऐत० ब्रा० ७।१०)

२-श्रद्धा सद्विचारोंकी जननी है। उसे निरन्तर बढ़ायें—**'श्रद्धां कामस्य मातरं हविषा वर्धयामसि**।(तैत्ति० २।८।८।८)

३-सत्कर्मोंमें प्रवृत्तिके लिये श्रद्धाकी भावना आवश्यक है। अतः किसी प्रकारकी दीक्षाके लिये श्रद्धाका होना अनिवार्य है—**'एतद् दीक्षायै (रूपं) यत्-श्रद्धा।'** (शत० १२।८।२।४)

४-श्रद्धासे तेजस्विता आती है—**'तेज एव श्रद्धा'** (शत० ११।३।१।१)।

५-श्रद्धासे मनोरथकी पूर्ति अवश्य होती है। जितनी अधिक श्रद्धा होगी, उतनी ही सफलता शीघ्र प्राप्त होगी—**'श्रद्धैव सकृद् इष्टस्याक्षितिः। स यः श्रद्दधानो यजते, तस्येष्टं न क्षीयते'** (कौषीतकि० ७।४)

श्रद्धा तेजोरूप है। वह सूर्यकी पुत्री है। उसमें सूर्यके गुण हैं—**'श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता।'**(शत० ब्रा० १२।७।३।११)

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि वाग्देवी और श्रद्धादेवीकी उपासना सर्वदा सफल होती है तथा यह उपासना भगवत्प्रेमकी अभिवृद्धिमें पूर्ण सहायक बनती है।

मनुष्यकी विनाशकी ओर प्रगति और उससे बचनेके उपाय

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

जैसे सारे शरीरके सभी अङ्गोंमें एक ही आत्मा व्याप्त है। किसी भी अङ्गपर आघात होता है तो हम उसे अपने ऊपर आघात हुआ अनुभव करते हैं और स्वाभाविक ही सभी अङ्ग एक-दूसरे अङ्गकी रक्षा तथा कल्याण-साधनामें लगे रहते हैं, वैसे ही समस्त समष्टि जगत्में भी एक ही आत्मा व्याप्त है—इस सत्यका अनुभव हो जानेपर ही मानवकी मानवता पूर्णताको प्राप्त होती है। यही मानव-जीवनकी सफलता है। ऐसा हो जानेपर फिर कोई भी मानव किसी भी प्राणीका कभी बुरा नहीं चाहेगा, कभी किसीका अकल्याण नहीं करना चाहेगा, सबकी रक्षा करेगा और सबके कल्याण-साधनमें लगा रहेगा। भूल या प्रमादवश कभी कुछ अनिष्ट कार्य हो जायगा तो उसे वैसे ही दुःख होगा, जैसे भूलसे अपने ही द्वारा अपने किसी अङ्गपर चोट लग जानेसे हमें होता है। यह दूसरी बात है कि कभी किसी अङ्गमें अंदर सड़न पैदा होनेपर शरीरमें हम जैसे ऑपरेशन कराते हैं और उस अङ्गको कटवाकर सारे शरीरको विषके प्रभावसे बचा लेते हैं—ऐसे ही शुद्ध नीयत तथा कल्याणकी भावनासे कभी समष्टि जगत्में भी ऐसा कार्य करना पड़ता है जो देखनेमें कठोर होता है, पर वास्तवमें वहाँ उद्देश्य विशुद्ध कल्याण-साधन ही होता है।

मनुष्यको अपने जीवनमें इसी लक्ष्यको सामने रखकर चलना चाहिये। यह निश्चय रखना चाहिये कि जिससे परिणाममें दूसरोंका अहित या अकल्याण होगा, उससे हमारा हित या कल्याण कभी नहीं होगा एवं जिससे परिणाममें दूसरोंका हित या कल्याण होगा, उससे हमारा अहित या अकल्याण कभी नहीं होगा। यही धर्मका स्वरूप है। यही पाप और पुण्यकी परिभाषा है। दूसरोंका अकल्याण ही पाप है और दूसरोंका कल्याण ही पुण्य है; क्योंकि वास्तवमें समष्टि दृष्टिसे हम सब एक ही हैं। शरीरके किसी एक अङ्गके अहितसे हमारा ही अहित होता है और हितसे हमारा ही हित होता है—यही सत्य सिद्धान्त है।

मनुष्यका 'स्व' जब समष्टिसे निकलकर केवल व्यष्टिमें ही आ जाता है, तब उसका स्वार्थ (स्व-अर्थ) भी अपने व्यक्तित्वकी सीमामें ही संकुचित हो जाता है, फिर वह केवल अपनेके लिये ही सुख चाहता है, उसीके लिये सचेष्ट होता है, उसीके प्रयत्नमें लगा रहता है और जितना ही वह इस कुमार्गमें आगे बढ़ता है, उतनी ही उसकी विषयासक्ति तथा तज्जनित भोग-कामना बढ़ती रहती है। कामनापर जहाँ चोट लगती है, वहाँ क्रोधका उदय होता है और कामना जहाँ सफल होती है, वहाँ लोभ जाग उठता है। क्रोध और लोभ—दोनों ही मनुष्यकी बुद्धिका नाश कर देते हैं; फिर उसकी बुद्धिमें जो कुछ निश्चय होता है, सब जगत्के हितके विपरीत होता है और फलतः उससे उसका अपना अहित—विनाश तो निश्चित ही है—

'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥'

इसी बुद्धिनाशकी स्थितिमें मनुष्य अनुचित तथा अकल्याणकारी साधनोंद्वारा सुखसामग्रीका संग्रह करना चाहता है—हिंसा, अधर्म, युद्ध, डकैती, चोरी, छल, व्यभिचार, भ्रष्टाचार, अनाचार, प्रतिहिंसा, द्रोह, वैर, मद आदि दुर्गुण-दुराचार उसके जीवनके स्वभाव या स्वरूप बन जाते हैं। वह मनुष्यके रूपमें ही हिंसक पशु, असुर, पिशाच, राक्षस बन जाता है और अपने कुकृत्योंद्वारा अपना तथा जगत्के प्राणियोंका अहित करता हुआ—अपने भविष्यको घोर पतन, दीर्घकालीन संकट, यातना, पीड़ा और विविध भयानक ताप-संतापोंका क्रीड़ा-क्षेत्र बना लेता है।

आजका मानव दुर्भाग्यवश इसी पतनकी ओर अग्रसर है। वह विश्वप्राणीकी सेवा, संयम, नियम, धैर्य, मन-इन्द्रियके निग्रह, अपरिग्रह, त्याग, प्रेम, उदारता, मर्यादा, शील, परदुःखकातरता, पर-हित-साधन, शान्ति, भगवद्विश्वास, विनय, विचारशीलता, शास्त्र-मर्यादा, परलोककी गतिका विचार आदिको भूलकर अत्यन्त संकुचित स्वार्थग्रस्त, असंयमी, उच्छृङ्खल, अधीर, मन-इन्द्रियोंका गुलाम, संग्रहपरायण, भोग-जीवन, घृणापरायण, निज सुखाकाङ्क्षी, कृपण, मर्यादाशून्य, शीलरहित, पर-सुख-कातर, पर-अहितपरायण, नित्य घोर अशान्त, उत्तेजित, आवेशमय, भगवद्विश्वासरहित, अभिमानी, अविवेकी, शास्त्रमर्यादानाशक और केवल इहलोककी

मान्यतावाला होकर जीवनकालमें भीषण चिन्ताओंकी अग्निसे जलता हुआ असफल जीवन ही मर जाता है। मरनेके बाद तो दुर्गति— घोर नरकोंकी प्राप्ति होती ही है। मानव-जीवनका वह परिणाम अत्यन्त ही शोचनीय है!

आज समष्टि और व्यष्टि-जगत्‌में जो कुछ हो रहा है, जो कुछ किया-करवाया जा रहा है, वह इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। उदाहरणार्थ विज्ञान विश्वप्राणियोंके ध्वंसकी सामग्रीके आविष्कारमें लगा है, एक देश दूसरे देशको हड़प जाना चाहता है, एक वाद दूसरे वादको मिटा देना चाहता है, एक ही वाद या मतके लोग परस्पर एक-दूसरेके पतन और विनाशके प्रयत्नमें लगे हैं, धर्मके नामपर अन्य धर्मको छल-बल-कौशलसे मिटानेकी चेष्टा हो रही है, भगवान् तथा धर्मका तिरस्कार करके मनमाने आचरण तथा उच्छृङ्खल व्यवहारको बेतरह बढ़ाया जा रहा है। शिक्षामेंसे नीति-धर्म, सदाचारका बहिष्कार करके बालकों, युवकों, बालिकाओं और तरुणियोंको सदाचारविरोधी, चरित्रहीन, धर्मविमुख और यथेच्छाचारी बनाया जा रहा है। मर्यादित और संयमी जीवनके स्थानपर फैशन, शौकीनी, बाहरी बनावट, चरित्रभ्रष्टता, अनियन्त्रितता, उच्छृङ्खलता आदिको जीवनका स्वरूप बनाया जा रहा है—सो भी उच्चजीवनस्तरके नामपर; मनुष्यके भोग तथा अर्थलाभके लिये विश्वके इतर प्राणियोंकी भाँति-भाँतिसे निर्दय हिंसाके आयोजन हो रहे हैं—बड़े-बड़े कसाईखाने इसके प्रमाण हैं। खान-पानमें सात्त्विकता तथा विशुद्धिके स्थानपर तामस वस्तुओंका, मद्य-मांस-अण्डोंका, अपवित्र अखाद्य पदार्थोंका प्रसार-प्रचार बढ़ाया जा रहा है, धनलोलुपता तो मनुष्यमें यहाँतक बढ़ी है और उसने मनुष्यको इतना गिरा दिया है कि वह छल-कपट, चोरीकी बात तो अलग रही, खान-पानकी वस्तुओंमें और दवाइयोंमें भी मनुष्यके लिये प्राणघातक वस्तुओंका मिश्रण करनेमें अपनेको द्रव्योपार्जनमें चतुर और बुद्धिमान् मानकर गौरवका अनुभव करता है। पवित्र विवाह-संस्था उठने लगी है और उसके स्थानपर पशुओंसे भी निकृष्ट अमर्यादित पशुताका हमारे युवक-युवतियोंमें उदय होने लगा है। गुरु-शिष्यका पवित्र तथा आदर्श सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो रहा है। गुरुओंमें स्नेह नहीं है और शिष्य इतने अनुशासनहीन तथा यथेच्छाचारी हो गये हैं कि गुरुओंपर घातक आक्रमण करते हैं। बड़े-बड़े विद्वानोंकी सभाओंमें, नेताओंके दरबारमें, बुद्धिमान् और जनतामेंसे चुने हुए राज्य-मन्त्रियों तथा नर-नायकोंकी संसदों और धारा-सभाओंमें भी डंकेकी चोट अनुशासन-हीनता, शोर-गुल, हंगामा, गाली-गलौज तथा जूता-पैजार चल रहा है।

पैसोंके प्रलोभन, रिश्वत, दबाव, भय, छल, मिथ्या आश्वासन आदिके द्वारा जनतन्त्रोंका जीवन भयानक और घृणास्पद बनाया जा रहा है। इस प्रकार मानव आज अपने अविवेकके कारण मस्तिष्कका संतुलन खोकर मानवताके पतनके अनन्त विविध आविष्कार, विचार, योजना तथा कार्योंको नित्य नये-नये रूपोंमें अपनानेमें लगा है—आत्यन्तिक अज्ञानकी महामोहमयी मदिराको पीकर! इससे पता लगता है—मनुष्य किधर जा रहा है।

घोर दुःखकी बात तो यह है कि अध्यात्मप्रधान भारतमें—जहाँसे स्मृति अतीतकालसे सारे विश्वको उसके उज्वल चरित्रके द्वारा महान् प्रकाश मिलता था, आज मोहान्धकारके बादल मँडरा रहे हैं। प्रकाश तिरोहित हो रहा है। यों ही होता रहा तो पता नहीं, क्या होगा, पतन किस सीमातक जायगा। **भारतके ईश्वर-विश्वासी लोगोंको इस घोर पतनोन्मुख परिस्थितिमें बड़े विश्वासके साथ ईश्वरकी आराधना करनी चाहिये—सभी स्थानोंमें सभी प्रकारसे उसे जीवनका प्रथम तथा परम कर्तव्य मानकर!** भगवत्कृपासे ही इस भयानक अन्धकारका नाश हो सकता है।

वस्तुतः तमसाच्छन्न बुद्धि या बुद्धि भ्रष्टताके कारण विश्वमानव इसी प्रकार कुपथपर आगे बढ़ता रहा तो इसका परिणाम बहुत ही भयानक हो सकता है। सम्भव है, इसके परिणामस्वरूप विश्वमें मानवोंकी संख्याकी भयानक रूपसे कम कर देनेवाली महामारियाँ, लगातार चलनेवाले भयंकर अकाल, प्रकृतिके घोर तथा विशाल ध्वंसकार्य, दैवीप्रकोप, भीषणतम विश्वयुद्ध और तज्जनित महान् संताप, दुःख, पतन, घोर पीड़ा और भीषण नरकयन्त्रणा आदि सुख-शान्ति-स्थितिके विधानके प्रलय-प्रसङ्गोंका प्रादुर्भाव हो और शायद ऐसा आगामी वर्षोंमें ही हो जाय।

यद्यपि इसमें कोई नयी बात नहीं होगी। पापका परिणाम विनाश, दुःख, पीड़ा, नरकयन्त्रणा होता ही है। प्रकृति किसीके साथ रियायत नहीं करती, भगवान्के मङ्गलनियमोंसे आबद्ध वह अपनी नीतिका पालन करेगी ही। यह भगवान्की लीला है। इस विनाश-लीलामें साधुचरित्रों, सात्त्विक मानवोंके भी भौतिक पदार्थों तथा भौतिक देहोंका भी प्रारब्धवश भगवान्के नियमानुसार वियोग होगा ही, पर वे दुःख, पीड़ा, नरकयन्त्रणाके भागी नहीं होंगे। परिवर्तनशील प्रकृतिके प्रत्येक परिवर्तनमें ईश्वर-विश्वासी संत भगवान्की लीलाका चमत्कार देखते हुए नित्य प्रसन्न रहते और लीलावैचित्र्यके दर्शनसे प्रमुदित होते रहते हैं; भले ही वह लीला सुन्दर मधुर-रसकी हो या भयानक बीभत्स-रसकी। प्रत्येक लीलामें वे लीलामयके दर्शन करते हुए मुग्ध और आनन्दमग्न रहते हैं। आत्माकी एकता तथा अमरता, उसके सच्चिदानन्दस्वरूप तथा विश्वके रूपमें भगवान् ही प्रकट होकर सृजन-संहारकी अनवरत लीला करते हैं—ऐसा विश्वास रखने तथा अनुभव करनेवाले पुरुषोंपर इन परिवर्तनोंमें कोई दुःखमय प्रभाव नहीं पड़ सकता। वे सदा ही नित्य सत्य सनातन भगवान्के मङ्गलमय विधानमें मङ्गलमयता ही देखते हैं। वे देखते हैं— विश्वमें दो ही चीज। एक लीलामय भगवान्, दूसरी भगवान्की लीला। एवं लीलाके रूपमें भी लीलामय ही प्रकट रहते हैं। अतएव एक भगवान्-ही-भगवान्!

तथापि जगत्में रहनेवाले, विधि-विधानके अनुसार कर्मोंके अवश्यम्भावी फलमें विश्वास करनेवाले हम मानव अपने कर्तव्यसे कभी च्युत न हों। सत्कर्मपरायण अवश्य रहें, फल तो भगवान्के हाथमें है। शास्त्रमें कहा गया है और यह सत्य है कि जब-जब मनुष्य धर्मकी अवहेलना कर पापपरायण हो जाता है, तब-तब दैवी विपत्तियाँ बड़े विशालरूपमें आया करती हैं। उनको रोकने या उनका नाश करनेके लिये सबको अपने-अपने मत तथा विश्वासके अनुसार देवाराधना-भगवदाराधना करनी-करानी चाहिये—

देवाराधन करें-करायें निज-निज मत-श्रद्धा-अनुसार।
वेदाध्ययन, यज्ञ, गायत्री-पुरश्चरण कल्याणाधार॥
सप्तशती, रुद्राभिषेक, जप-मृत्युञ्जय, नारायण-वर्म।
पाठ गजेन्द्रमोक्ष, पावन सप्ताह भागवत पाठ सुकर्म॥
वाल्मीकि, मानस-रामायण-पारायण श्रद्धासे युक्त।
भगवन्नाम-अखण्ड-कीर्तन-जप विश्वास-भाव-संयुक्त॥
ग्वाँर-बिनौला, भूसा-चारा भूखी गायोंको दें दान।
श्रद्धायुक्त हृदयसे शुचितम योग्य ब्राह्मणोंको गोदान॥
अन्न-कष्ट-पीड़ित मानवको अन्न-दान शुचि सह-सत्कार।
दुःख दूर हो दुखीजनोंके करें नित्य ऐसा व्यवहार॥
असहाया विधवा बहनोंको, छात्रोंको दें गुप्त सहाय।
कूएँ बनवायें, जल-कष्ट-निवारणके सब करें उपाय॥
जैन, बौद्ध, सिख, करें सभी निज-निज धर्मानुकूल आचार।
ईसा-भक्त अन्यधर्मी सब करें करुण प्रार्थना-पुकार॥
करें-करायें पुण्य कार्य ये जगह-जगह सब बारंबार।
सन्मति-शान्ति-सुखोदयके हैं ये मङ्गल-साधन अविकार॥

'अपने-अपने मत तथा विश्वासके अनुसार सभी लोग देवाराधन करें तथा करायें। कल्याणके आधार वेदोंका स्वाध्याय, विविध प्रकारके वैदिक यज्ञ, गायत्री-पुरश्चरण, दुर्गासप्तशतीके विविध अनुष्ठान, रुद्राभिषेक, महामृत्युञ्जयके जप, श्रीभागवतोक्त नारायणकवच तथा गजेन्द्रमोक्षके पाठ, श्रीमद्भागवतका पावन सप्ताहपाठरूपी सत्कर्म, श्रद्धायुक्त हृदयसे वाल्मीकिरामायण तथा रामचरितमानसके पारायण और विश्वास तथा प्रेमके साथ भगवन्नामका अखण्ड संकीर्तन एवं जप करें। भूखी गौओंको ग्वाँर, बिनौला, भूसा, घास-चारा दें। सुयोग्य पवित्रतम ब्राह्मणोंको श्रद्धायुक्त हृदयसे गोदान करें। अन्नकष्टसे पीड़ित मनुष्योंको पवित्र सत्कारके साथ अन्नदान करें। नित्य ऐसा ही व्यवहार करें, जिससे दुःखी प्राणियोंके दुःख दूर हों। असहाय विधवा बहिनों तथा गरीब छात्रोंकी गुप्तरूपसे सहायता करें, कूएँ बनवायें तथा जलकष्ट निवारणके लिये अन्यान्य सब उपाय भी करें। जैन, बौद्ध तथा सिख महानुभाव सभी अपने-अपने धर्मके अनुकूल आचरण करें और ईसाके भक्त ईसाई एवं अन्य धर्मावलम्बी भी सब भगवान्से करुण प्रार्थना तथा पुकार करें। ये सब पुण्य कार्य सभी लोग जगह-जगह बार-बार करें, करवायें। ये सभी सुबुद्धि, शान्ति तथा सुखकी उत्पत्तिके विकाररहित मङ्गल-साधन हैं।'

विश्वमें सच्ची शान्ति तथा यथार्थ सुख तो होगा नीचे लिखे अनुसार हमारे जीवन बनेंगे तब—

विश्व-चराचरमें है व्यापक नित्य सत्य-चित आत्मा एक।
देखें उसे सभी कालोंमें, सबमें रखकर दृष्टि विवेक॥
सबके सुख-हितको ही समझें नित्य 'स्वार्थ' निज सुख-हित-रूप।
'स्व' को रखें न सीमित, उसका करें सदा विस्तार अनूप॥
तन-मन-धनसे कभी न चाहें-करें किसीका तनिक अनिष्ट।
त्याग सर्वविध हिंसा, सबका करें सदा ही मङ्गल इष्ट॥
अति हितकर शुचि 'त्याग' तथा 'कर्तव्य' करें हम अङ्गीकार।
मोह-ममत्व छोड़कर, कर दें त्याग सहज 'धन', 'पद, अधिकार'॥
करें न संग्रह कभी वस्तुएँ, बनें न असत्-अभाव-दरिद्र।
फैशन-व्यसन त्याग, रखें जीवनको सादा, शान्त, पवित्र॥
दें अभावग्रस्तोंको प्रमुदित सविनय अर्थ-भूमि-सम्मान।
विद्या-बुद्धि-सुसम्मति-आश्रय, जो कुछ हम दे सकें अमान॥
मानव-दानव-पशु-पक्षी-कृमि—सबमें नित देखें भगवान॥
बरतें निज वेषानुसार, पर करें न कभी अहित-अपमान॥
सभी वस्तुएँ हैं स्वामीकी, हमें किया अधिकार प्रदान।
रखें, सँभालें, करते रहें नियमतः प्रभु-सेवामें दान॥
जहाँ अभाव वस्तु जिसका, हैं माँग रहे उसको भगवान।
प्रभुको प्रभुकी वस्तु नम्र हो, दे दें, करें नहीं अभिमान॥
सेवा करें सदा ही सबकी, शुद्ध ईश-सेवाके अर्थ।
सेवाका शुचि भाव बढ़े, प्रभु रखें सदा सेवार्थ समर्थ॥
करें न किसी पवित्र 'धर्म' पर, 'मत' पर तनिक कभी आक्षेप।
कहें-करें कुछ भी न कभी, जिससे हो पर-मनमें विक्षेप॥
कर सकते हैं न्याय्य अर्थ-अधिकार-सुरक्षा-हेतु प्रयास।
पर वह वैध, शास्त्रसम्मत हो, रखकर ईश्वरपर विश्वास॥
कभी न लें आश्रय अधर्मका, कभी न करें सत्यका त्याग।
तन-धन जायें, न जाय धर्म, सत्य, प्रभुपर श्रद्धा-अनुराग॥
जीवनका उद्देश्य एक हो पावन प्रभु-पद-प्रीति अनन्य।
प्रभु-पूजाकी सामग्री बन, कार्य, विचार, वस्तु हों धन्य॥

'सारे जड-चेतन विश्वमें एक चेतन आत्मा नित्य सत्यरूपमें विराजित है। हम सभी समय तथा सभीमें विवेक दृष्टि रखकर उसे देखें। सभीके सुख तथा हितको ही हम अपना सुख-हितरूप 'स्वार्थ' समझें, अपने 'स्व' को सीमित (छोटेसे दायरेमें) न रखें। उसका सदा ही अनुपम विस्तार करते रहें। प्राणिमात्रका 'स्व' ही हमारा 'स्व' हो। तन, मन तथा धनसे कभी किसीका भी तनिक-सा भी अनिष्ट न चाहें—न करें, सब प्रकारकी हिंसाका त्याग करके सभीका मङ्गल तथा इष्ट-साधन करें। अत्यन्त हितकारी 'त्याग' और 'कर्तव्य' को ही जीवनमें अपनायें, मोह-ममता छोड़कर 'धन' और 'पद-अधिकार' की कामनाका सहज ही त्याग कर दें। कभी भी वस्तुओंका संग्रह न करें और झूठमूठ ही अपने अभावोंको बढ़ाकर दरिद्र न बनें, सारे फैशनों तथा व्यसनोंका त्याग करके जीवनको सादा, शान्त और पवित्र बनायें। जो अभावसे पीड़ित हैं, उनको हर्षित मनसे विनयपूर्वक मानकी इच्छा त्यागकर धन, जमीन, सम्मान, विद्या, बुद्धि, अच्छी सम्मति तथा आश्रय—जो कुछ हम दे सकें, उनको दें। मानव, दानव, पशु, पक्षी एवं कीट सभीमें सदा भगवान्‌को देखें। अपने-अपने वेश (धर्म)-के अनुसार बरतें, पर कभी किसीका भी न अपमान करें, न अहित करें। हमारे पास जो कुछ हैं, वे सभी चीजें हमारे प्रभु भगवान्‌की हैं, हमें तो उन्होंने सँभाल तथा उपयोगका अधिकार दिया है। अतएव उन्हें अपनी न समझकर सुरक्षित रखें, सँभालें और विनयपूर्वक प्रभुकी सेवामें लगाते रहें। जहाँ जिस वस्तुका अभाव है, भगवान् ही वहाँ वह वस्तु हमसे माँग रहे हैं—ऐसा समझकर विनय-विनम्र होकर प्रभुकी वस्तु प्रभुके अर्पण कर दें। हमने दान किया है—ऐसा समझकर विनय-विनम्र होकर प्रभुकी वस्तु प्रभुके अर्पण कर दें। हमने दान किया है—ऐसा कोई अधिमान कभी न करें। प्रभुकी विशुद्ध (निष्काम) सेवाके लिये ही सभीकी सदा सेवा करें। सेवाका फल यही मिले कि सेवाका पवित्र भाव बढ़ता रहे और सेवाके लिये प्रभु हमें सदा समर्थ बनाये रखें। किसी भी पवित्र 'धर्म' और 'मत'-पर आक्षेप न करें, ऐसा कुछ भी कभी न कहें, न करें, जिससे दूसरोंके मनमें विक्षेप होता हो। अपने न्याय्य, अर्थ तथा अधिकारकी भलीभाँति रक्षाके लिये प्रयास कर सकते हैं, पर वह प्रयास विधिसङ्गत हो—शास्त्रसम्मत हो और प्रभुपर ही विश्वास रखकर किया जाय। हम कभी भी 'अधर्मका आश्रय न लें और कभी भी 'सत्य' का त्याग न करें। शरीर तथा धन भले ही नष्ट हो जायँ, पर धर्म, सत्य और प्रभुमें जो हमारी श्रद्धा एवं प्रीति है, वह कभी न हटे। पावन प्रभुके चरणकमलोंका प्रेम ही जीवनका एकमात्र उद्देश्य हो। हमारे तनसे होनेवाले सारे कार्य, मनसे होनेवाले सारे विचार तथा उपयोगमें आनेवाली धन आदि सारी वस्तुएँ प्रभुके पूजनकी सामग्री बनकर धन्य हो जायँ।'

* * *

जीवोंपर परमात्माका अहैतुक अनुग्रह

(आचार्य श्रीकृपानारायणजी उपाध्याय, नव्यव्याकरणशास्त्राचार्य, एम्० ए०)

जीव और परमात्माका परस्परमें सर्वथा अनुग्रहात्मक सम्बन्ध है। जीवोंको परमात्माके अंशीभूत होनेके कारण उनके अलौकिक अनुग्रहात्मक चेष्टानुसार और पूर्वजन्मार्जित सञ्चित संस्कारोंके अनुरूप संसारसागरमें सुख और दुःखकी अनुभूति करनी पड़ती है। कर्मपाशके बन्धनसे युक्त जीव अनेक चेष्टाओंकी पूर्तिमें भ्रान्त-सा प्रतीत होता है, किंतु उसे मोक्ष या श्रेयकी मार्गप्रशस्तिपर ही ध्यान देना चाहिये।

जलतरङ्गन्यायसे जीव ईश्वरीय अंश है, किंतु कर्मपाशसे मोक्षकी चेष्टा न करके वह सांसारिक दुःखमयी मायासे युक्त होकर कर्मगतिके अनुरूप प्रारब्धको भोगता है।

श्रीमद्भागवतके आरम्भमें अन्वय और इतर—इन दो सम्बन्धोंसे जीव और ब्रह्मका साक्षात् सम्बन्ध निर्दिष्ट है, आत्मा स्थूल शरीरसे सम्बद्ध होकर भगवच्चेष्टानुसार सद्यः जीवन्मुक्त परमात्माके अनुग्रहसे मुक्त होता है। जीव अनन्यचित्त होकर ईश्वरके ऊपर आश्रित होकर अपना सर्वस्व समर्पण करके भगवद्भक्तिमें लीन होकर निरन्तर स्मरण करके शीघ्र ही अलौकिक अनुग्रहका पात्र हो जाता है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

महाभागवत श्रीध्रुवजी, भक्तराज प्रह्लाद, गजेन्द्र, भीष्म और द्रौपदी इत्यादि भगवद्भक्तवृन्दोंने भगवान् नारायणके चरणोंके प्रति अनन्यस्मृतिमें परम अलौकिक श्रीविष्णुपदकी प्राप्ति की है, जो समस्त प्राणियोंके लिये श्रेयका एकमात्र साधन है। परमात्माका अनुग्रह जीवके परम साधनकी सिद्धिमें अनन्य हेतु है। गजेन्द्रको अपने तथा द्रुपदनन्दिनीको पतियोंके बल और पौरुषकी प्रत्याशा रहनेतक भगवद्दर्शन नहीं हो सका था। जीवको अपने बलकी निराशाकी स्थितिमें प्रभुकी विशेष कृपा होती है। गजराजने कमल-पुष्प लेकर सूँड़को ऊपर करके एवं द्रौपदीने दोनों हाथोंको ऊपर करके जब आर्त स्वरमें पुकार की तब भगवान् उनके रक्षार्थ सद्यः उपस्थित हो गये थे—

तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य
सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार।
ग्राहाद् विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं
सम्पश्यतां हरिरमूमुचदुस्त्रियाणाम्॥

जब भगवान्ने देखा कि गजेन्द्र अत्यन्त पीड़ित हो रहा है, तब वे एक बारगी गरुडको छोड़कर कूद पड़े और कृपा करके गजेन्द्रके साथ ही ग्राहको भी बड़ी शीघ्रतासे सरोवरसे बाहर निकाल लाये। फिर सब देवताओंके सामने ही भगवान् श्रीहरिने चक्रसे ग्राहका मुँह फाड़ डाला और गजेन्द्रको छुड़ा डाला।

भो कृष्णाच्युत भो कृपालय हरे भो पाण्डवानां सखे
क्वासि क्वासि सुयोधनादपहतां भो रक्ष मामातुराम्।
इत्युक्तोऽक्षयवस्त्रसंभृततनुं योऽपालयद्द्रौपदी-
मार्तत्राणपरायणः स भगवान्नारायणो मे गतिः॥
(नारायणाष्टक ५)

'हे कृष्ण! हे अच्युत! हे कृपालो! हे हरे! हे पाण्डवसखे! तुम कहाँ हो? कहाँ हो? दुर्योधनद्वारा लूटी गयी मुझ आतुराकी रक्षा करो! रक्षा करो!!'—इस प्रकार प्रार्थना करनेपर जिन्होंने अक्षयवस्त्रसे द्रौपदीका शरीर ढककर उसकी रक्षा की, वे दुःखियोंका उद्धार करनेमें तत्पर भगवान् नारायण मेरी गति हैं।

श्रीकृष्णचन्द्रके असीम अनुग्रहके कारण पापाचारमें अवलिप्त पूतनाका उद्धार शीघ्र हो गया और उसे वैकुण्ठलोक तथा श्रेष्ठ मातृस्थानकी प्राप्ति हो गयी। भगवन्नारायणके स्मरणसे सात्त्विकप्रवृत्तिसे युक्त होकर भगवान्के गुणलीला-श्रवण तथा संकीर्तनद्वारा इस घोर कलिकालमें जीवमात्रपर अनुग्रहरूप अलौकिक कृपा शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है।

देवर्षि श्रीनारदकी जगन्मङ्गलकारी भक्ति, संकीर्तनमें संलग्नता तथा हरिस्मरण भगवदनुग्रहके पुनीतमार्गको प्रशस्त करता है। जीवमात्रके पारलौकिक और ऐहलौकिक विघ्नका नाशक तथा उद्धारणात्मक शक्तिसे युक्त धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंको प्रदान करनेवाला 'नारायण' शब्द सर्वसमर्थ है। नारायण शब्दोच्चारणमात्रसे पापराशियोंका शीघ्र विनाश और जीवका मोक्ष एवं समस्त कष्टोंसे निवृत्ति तत्क्षण ही सम्भव है—

नामसङ्कीर्तनं विष्णोः जगन्मङ्गलकारकम्।
महतामपि कौरव्यं नाशयत्येव न संशयः॥

प्रभो! आप अपनी अखण्ड चिन्मयी दृष्टिसे बुद्धिकी सभी अवस्थाओंके साक्षी हैं तथा नित्यमुक्त शुद्धसत्त्वमय, सर्वज्ञ,

परमात्मस्वरूप, निर्विकार, आदिपुरुष, षडैश्वर्यसम्पन्न एवं तीनों गुणोंके अधीश्वर हैं। आप जीवसे सर्वथा भिन्न हैं तथा संसारकी स्थितिके लिये यज्ञाधिष्ठाता विष्णुरूपसे विराजमान हैं—

त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्ध आत्मा
कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः।
यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या
द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से॥
(श्रीमद्भा० ४।९।१५)

श्रीमद्भागवतमें जगन्मङ्गलदायक अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक लीलाविग्रह सगुण ब्रह्म परमात्माके नामोच्चारणकी महिमाके विषयमें बताया गया है कि अत्यन्त पतितकार्यमें संलग्न होकर भी अजामिलने वात्सल्यभाववश (पुत्रस्नेहवश) 'नारायण' इस शब्दका उच्चारण करके उत्तम गतिकी प्राप्ति कर इस 'नारायण' नामको जीवोद्धारकमन्त्रके रूपमें संकेतित किया है—

स एवं वर्तमानोऽज्ञो मृत्युकाल उपस्थिते।
मतिं चकार तनये बाले नारायणाह्वये॥
(६।१।२७)

परमात्मा अपने संकीर्तनकर्ता या स्मरणकर्ता जीवोंके ऊपर सदा ही अनुग्रहकी वर्षा करके पुरुषार्थचतुष्टय, भक्ति, ज्ञान और वैराग्य, संस्मृतिजन्य ज्ञान तथा सद्गतिको निष्कारण ही प्रदान करनेवाले हैं। नारायणाष्टकमें आर्त, दुःखी, स्तब्ध तथा अनन्त-दुःखमें संलिप्त जीवोंकी परम शान्ति, उनकी पारलौकिक मुक्ति और भुक्तिकी प्राप्तिमें परमात्माका अनुग्रह विशेष साधन बताया गया है—

आर्ता विषण्णाः शिथिलाश्च भीता
घोरेषु च व्याधिषु वर्तमानाः।
सङ्कीर्त्य नारायणशब्दमात्रं
विमुक्तदुःखाः सुखिनो भवन्ति॥

जो पीड़ित हैं, विषादयुक्त हैं, शिथिल (निराश) हैं, भयभीत हैं अथवा किसी भी घोर आपत्तिमें पड़े हुए हैं, वे 'नारायण' शब्दके सङ्कीर्तनमात्रसे दुःखसे मुक्त होकर सुखी हो जाते हैं।

श्रीप्रह्लादजीकी पवित्र भक्तिके अन्तर्गत आत्मनिवेदनरूप शरणागतिकी महत्ता प्रकट है। श्रीपरमहरिका स्मरण यमपाशोंसे मुक्ति तथा श्रेयका साधन और घोर कलिकालके प्रभावको निस्तेज करनेमें पूर्ण समर्थ है। अतः भगवद्भक्तिरूप यह भगवत्स्मरण, कीर्तन, आत्म-निवेदन आदि करणीय हैं। गीतामें भी श्रीकृष्णने अर्जुनके व्यामोहसे विशेष निवृत्तिके मार्गके रूपमें **'मामनुस्मर युध्य च'** को दर्शाया है और अन्तमें कहा है—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(१८।६४, ६६)

सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा। सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

श्रीरामचरितमानसमें बताया गया है कि ईश्वरीय अनुग्रहसे (भक्तिमार्गसे) विषम कलिदोषकी निवृत्ति और परम शान्ति प्राप्त हो जाती है। वह भक्ति प्राणिमात्रको शीघ्र पवित्र कर देती है। भगवन्नाम एवं उनके लीला-चरित्रश्रवण आदिकी भी वहाँ विशेष महिमा बतायी गयी है—

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥
रामकथा कलि बिटप कुठारी। सादर सुनु गिरिराजकुमारी॥
(१।२४।३; ११४।२)

श्रीमद्भागवतमें नाम-सङ्कीर्तनके विशेष महत्त्वको बताते हुए कहा गया है—

नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥
(१२।१३।२३)

अर्थात् जिनके नामोंका कीर्तन सब प्रकारके पापोंका विनाश करनेवाला है तथा जिन्हें किया गया प्रणाम सभी प्रकारके दुःखोंका शमन करनेवाला है, उन परम हरिको मैं नमस्कार करता हूँ।

वेदशास्त्रोंके प्रतिपाद्य, प्राणियोंपर कृपादृष्टि करनेवाले श्रीहरि जीवमात्रके एकमात्र उद्धारक, मोक्षदायक, दयालु एवं परम आराध्य हैं।

* * *

साधकोंके प्रति—

एक नयी बात

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

जिससे क्रियाकी सिद्धि होती है, जो क्रियाको उत्पन्न करनेवाला है, उसको 'कारक' कहते हैं। कारकोंमें कर्ता मुख्य होता है; क्योंकि सब क्रियाएँ कर्ताके ही अधीन होती हैं। अन्य कारक तो क्रियाकी सिद्धिमें सहायकमात्र होते हैं, पर कर्ता स्वतन्त्र होता है। कर्तामें चेतनका आभास होता है; परंतु वास्तवमें चेतन कर्ता नहीं होता। इसलिये गीतामें जहाँ भगवान्ने कर्ममात्रकी सिद्धिमें अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव—ये पाँच हेतु बताये हैं, वहाँ शुद्ध आत्मा (चेतन)-को कर्ता माननेवालेकी निन्दा की है—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥
(गीता १८।१६)

'ऐसे पाँच हेतुओंके होनेपर भी जो कर्मोंके विषयमें केवल (शुद्ध) आत्माको कर्ता देखता है, वह दुष्ट बुद्धिवाला ठीक नहीं देखता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है अर्थात् उसने विवेकको महत्त्व नहीं दिया है।'

गीतामें भगवान्ने कहीं प्रकृतिको, कहीं गुणोंको और कहीं इन्द्रियोंको कर्ता बताया है। प्रकृतिका कार्य गुण हैं और गुणोंका कार्य इन्द्रियाँ हैं। अतः वास्तवमें कर्तृत्व प्रकृतिमें ही है। हमारे चेतन स्वरूपमें कर्तृत्व नहीं है। भगवान्ने कहा है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥
(३।२७-२८)

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥
(१४।१९)

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥
(५।९)

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥
(१३।२९)

भगवान्ने अपनेमें भी कर्तृत्व-भोक्तृत्वका निषेध किया है; जैसे—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥
(गीता ४।१३-१४)

'मेरे द्वारा गुणों और कर्मोंके विभागपूर्वक चारों वर्णोंकी रचना की गयी है। उस (सृष्टि-रचना आदि)-का कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू अकर्ता जान। कारण कि कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते। इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।'

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥
(गीता ९।९)

'हे धनञ्जय! उन (सृष्टि-रचना आदि) कर्मोंमें अनासक्त और उदासीनकी तरह रहते हुए मुझे वे कर्म नहीं बाँधते।'

तात्पर्य है कि सृष्टिकी रचना, पालन, संहार आदि सम्पूर्ण कर्मोंको करते हुए भी भगवान् उन कर्मोंसे लिप्त नहीं होते अर्थात् उनमें कर्तापन और भोक्तापन नहीं आता। भगवान्का ही अंश होनेसे जीवमें भी कर्तापन और भोक्तापन नहीं आता—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥
(गीता १३।३१)

'हे कुन्तीनन्दन! यह पुरुष स्वयं अनादि होनेसे और गुणोंसे रहित होनेसे अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है। यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

दो विभाग हैं—जड़ और चेतन। जड़-विभाग नाशवान् है और चेतन-विभाग अविनाशी है। गीतामें भगवान्ने जड़-विभागको प्रकृति, क्षेत्र, क्षर आदि नामोंसे कहा है और चेतन-विभागको पुरुष, क्षेत्रज्ञ, अक्षर आदि नामोंसे कहा है। ये दोनों विभाग अन्धकार और प्रकाशकी तरह परस्पर सर्वथा असम्बद्ध हैं। जड़-विभाग असत् है, जिसकी सत्ता ही

विद्यमान नहीं है और चेतन-विभाग सत् है, जिसकी सत्ता विद्यमान है— **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'।** (गीता २।१६)। सम्पूर्ण क्रियाएँ जड़-विभागमें ही होती हैं। चेतन-विभागमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं होती। स्थूलशरीर तथा उससे होनेवाली क्रियाएँ, सूक्ष्मशरीर तथा उससे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीर तथा उससे होनेवाली स्थिरता और समाधि— ये सभी जड़-विभागमें ही हैं। कामना, ममता, अहंता आदि सम्पूर्ण विकार जड़-विभागमें ही हैं। सम्पूर्ण पाप-ताप भी जड़-विभागमें ही हैं। पराश्रय तथा परिश्रम— ये दोनों जड़-विभागमें हैं और भगवदाश्रय तथा विश्राम— ये दोनों चेतन-विभागमें हैं। जड़ और चेतनके विभागको अलग-अलग जानना ही ज्ञान है— **'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा'** (गीता १३।३४)। इस ज्ञानरूपी अग्निसे सम्पूर्ण पाप सर्वथा नष्ट हो जाते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥
(गीता ४।३६-३७)

'अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा। हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको सर्वथा भस्म कर देती है, ऐसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण (संचित, प्रारब्ध* तथा क्रियमाण) कर्मोंको सर्वथा भस्म कर देती है।'

तात्पर्य है कि चेतन-विभागमें अपनी स्वतः-स्वाभाविक स्थितिका अनुभव करते ही साधक सम्पूर्ण विकारों तथा पापोंसे छूट जाता है और जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है। कारण कि जड़-विभागके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही जन्म-मरणका मूल कारण है— **'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥'** (गीता १३।२१)

यहाँ एक शंका हो सकती है कि चेतनके बिना केवल जड़में पाप-पुण्य आदि होना कैसे सम्भव है? इसका समाधान है कि जैसे एक गाड़ीकी टक्करसे कोई मनुष्य मर जाय तो उसका दण्ड गाड़ीको न होकर उसके चालकको होता है। दुर्घटनारूप क्रिया तो गाड़ीके द्वारा ही हुई, पर उसका दण्ड उसको भोगना पड़ता है, जिसने उस गाड़ीसे अपना सम्बन्ध जोड़ा अर्थात् जो उस गाड़ीका चालक (कर्ता) बना। जो कर्ता होता है, वही भोक्ता होता है। ऐसे ही पाप-पुण्यरूप क्रिया तो जड़ (शरीर)-के द्वारा ही होती है, पर उसका फल जड़के साथ अपना सम्बन्ध माननेवाले कर्ता (चेतन)-को ही भोगना पड़ता है। तात्पर्य है कि सभी विकार जड़-विभागमें ही होते हैं, पर जड़से तादात्म्य माननेके कारण उसका परिणाम चेतनपर होता है। जैसे ज्वर शरीरमें आता है, पर शरीरसे तादात्म्य करनेके कारण मनुष्य मान लेता है कि मेरेमें ज्वर आ गया। स्वयं (चेतन)-में ज्वर नहीं आता, यदि आता तो कभी मिटता नहीं। जड़-विभागके साथ अर्थात् अपरा प्रकृतिके अंश अहम्‌के साथ अपना सम्बन्ध (तादात्म्य) मान लेनेके कारण ही अज्ञानी मनुष्य अपनेको कर्ता तथा भोक्ता मान लेता है— **'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'॥** (गीता ३।२७), **'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्'।** (गीता १३।२१)। तात्पर्य है कि स्वयं (चेतनस्वरूप)-में कर्तापन तथा भोक्तापन बनता नहीं है, प्रत्युत वह अविवेकपूर्वक अपनेको कर्ता-भोक्ता मान लेता है। सुखलोलुपता अथवा फलेच्छाके कारण वह अपनेको कर्ता मानता है और अपनेको कर्ता माननेके कारण उसको कर्मफलका भोक्ता बनना पड़ता है। कारण कि अपनेको कर्ता मान लेनेसे वह प्रकृतिकी जिस क्रियाके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है, वह क्रिया उसके लिये फलजनक 'कर्म' बन जाती है।

स्वयंमें लेशमात्र भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है— **'नैव किञ्चित्करोति सः'** (गीता ४।२०), **'नैव किञ्चित्करोमीति'** (गीता ५।८)। आजतक चौरासी लाख योनियोंमें जो भी कर्म किये गये हैं, उनमेंसे कोई भी कर्म स्वयंतक नहीं पहुँचा; क्योंकि स्वयंका विभाग ही अलग है और क्रियाका विभाग ही अलग है। जबतक 'करना' है, तबतक कर्तापन (अहंकार) है; क्योंकि कर्तापनके बिना 'करना' सिद्ध नहीं होता। इसलिये जो साधन किया जाता है, उससे अहंकार ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रहता है। अहंकारपूर्वक किया गया कोई भी कर्म कल्याणकारक नहीं होता; क्योंकि अहंकार ही जन्म-मरणका मूल है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह क्रियाको महत्त्व न देकर स्वयंको महत्त्व दे।

शरीरका सम्बन्ध संसारके साथ है और स्वयंका सम्बन्ध परमात्माके साथ है। शरीर प्रकृतिका अंश है और स्वयं परमात्माका अंश है। अतः स्वयं कभी शरीरस्थ

---

* ज्ञान होनेपर प्रारब्ध अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति तो पैदा कर सकता है, पर सुखी-दुःखी नहीं कर सकता।

(शरीरमें स्थित) हो सकता ही नहीं। परंतु अज्ञानके कारण मनुष्य अपनेको शरीरस्थ मान लेता है। इसमें एक मार्मिक बात है कि अपनेको शरीरस्थ मान लेनेपर भी वास्तवमें स्वयं कर्ता-भोक्ता नहीं बनता—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**'॥ (गीता १३।३१)। इससे सिद्ध होता है कि स्वयंका कर्ता-भोक्ता न होना साधनजन्य नहीं है, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक है। अतः साधकको कर्तृत्व-भोक्तृत्व मिटाना नहीं है, प्रत्युत इनको अपनेमें स्वीकार नहीं करना है; क्योंकि वास्तवमें ये अपनेमें हैं ही नहीं। गीतामें भगवान्ने आत्मामें भोक्तृत्वके अभावको आकाशका दृष्टान्त देकर और कर्तृत्वके अभावको सूर्यका दृष्टान्त देकर समझाया है—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥
(गीता १३।३२)

'जैसे सब जगह व्याप्त आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे कहीं भी लिप्त नहीं होता, ऐसे ही सब जगह परिपूर्ण आत्मा किसी भी देहमें लिप्त नहीं होता।'

चिन्मय सत्ता शरीरस्थ अथवा प्रकृतिस्थ नहीं है, प्रत्युत आकाशकी तरह सर्वत्र स्थित (सर्वगत) है—'**नित्यः सर्वगतः**' (गीता २।२४)। वह सम्पूर्ण शरीरोंके बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है। वह सर्वव्यापी सत्ता ही हमारा स्वरूप है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥
(गीता १३।३३)

'हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! जैसे एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण संसारको प्रकाशित करता है, ऐसे ही क्षेत्रज्ञ (आत्मा) सम्पूर्ण क्षेत्रोंको प्रकाशित करता है।'

सूर्यके प्रकाशमें सम्पूर्ण शुभ-अशुभ क्रियाएँ होती हैं। सूर्यके प्रकाशमें कोई वेदका पाठ करता है, कोई शिकार करता है। परंतु सूर्यको उन क्रियाओंका न तो पुण्य लगता है, न पाप। कारण कि सूर्य उन क्रियाओंका न तो कर्ता बनता है, न भोक्ता ही बनता है। इसी तरह आत्मा (सर्वव्यापी सत्ता) सम्पूर्ण शरीरोंको सत्ता-स्फूर्ति देता है, पर वास्तवमें वह न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥
(गीता १८।१७)

'जिसका अहंकृतभाव (मैं कर्ता हूँ—ऐसा भाव) नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह युद्धमें इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।'

जैसे गङ्गाजीमें कोई डूबकर मर जाता है तो गङ्गाजीको पाप नहीं लगता और कोई स्नान आदि करता है तो गङ्गाजीको पुण्य नहीं लगता। कारण कि गङ्गाजीमें अहंकृतभाव (कर्तृत्व) और बुद्धिकी लिप्तता (भोक्तृत्व) नहीं है।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व प्रकृतिमें ही है, स्वरूपमें नहीं। इसलिये अपने स्वरूपमें स्थित तत्त्वज्ञ महापुरुष 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ'—ऐसा अनुभव करता है—'**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।**' (गीता ५।८)। खाने-पीने, सोने-जागने, नौकरी-धन्धा करने आदि सम्पूर्ण लौकिक क्रियाएँ और श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि सम्पूर्ण पारमार्थिक क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं। स्वरूपमें कोई भी क्रिया सम्भव नहीं है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह शास्त्रविहित लौकिक तथा पारमार्थिक क्रियाओंका बाहरसे त्याग तो न करे, पर उनमें अपना कर्तृत्व न माने अर्थात् उनको अपने द्वारा होनेवाली और अपने लिये न माने। क्रियाका महत्त्व वास्तवमें जड़ताका ही महत्त्व है। क्रियाकी मुख्यता होनेपर वर्षोंतक साधन करनेपर भी प्रत्यक्ष लाभ नहीं दीखता। इसलिये साधकके अन्तःकरणमें क्रियाका अर्थात् जड़-विभागका महत्त्व न होकर चेतन-विभागका ही महत्त्व होना चाहिये। साधक शरीर नहीं होता, जबकि क्रिया शरीरके द्वारा ही होती है। साधकका स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है और सत्तामात्रमें कोई क्रिया नहीं होती। क्रिया और पदार्थ संसारका स्वरूप है।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व अपनेमें नहीं हैं, प्रत्युत अज्ञानके कारण अपनेमें माने हुए हैं। अपनेमें माननेपर भी वास्तवमें हम कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित ही हैं—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**'। तात्पर्य है कि शरीरमें अपनी स्थिति माननेपर भी वास्तवमें हम शरीरसे असंग हैं। अपनेमें बन्धनकी मान्यता करनेपर भी वास्तवमें हम मुक्त हैं। इस सत्यको स्वीकार करना साधकके लिये बहुत आवश्यक है।

* * *

साधक-प्राण-संजीवनी

[दीवानोंका यह अगम पंथ संसारी समझ नहीं पाते]

साधुमें साधुता—

(गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज)

[गताङ्क पृ०-सं० ६५८ से आगे]

सतत जागरूकता ही जीवन है। कर्म करनौं अपने हाथमें है और फल दैनौं इनके हाथमें है। जैसें पत्नी शास्त्रानुसार एक क्षणहू स्वतन्त्र नहीं रह सकै है, ठीक वैसें ही साधकहू अपने परम श्रद्धेय श्रीसद्‌गुरु भगवान्‌की आज्ञा सौं एक क्षण हूँ विमुख नहीं रह सकै है। शिष्यकौ अनायास ही परम कल्याण श्रीसद्‌गुरुकी छाया बनिकैं चलिवेमें है अपनौ स्वभाव सुधारै। याकौ सुधारनौं ही कठिन परै है। याकौ स्वभाव यदि यहाँ हू वन्यौ रह्यौ तौ धामवास सौंका लाभ? काहूकौ अपमान, अनादर, उपहास, उपेक्षा, निन्दा, ईर्ष्या और द्वेष न करै। हमेशा सावधान ही रहै। जाति, कुल, धन, बल, रूप, स्वस्थता, चतुरता और भजन-साधनके अहंकारमें अपराध न बनि जाय। सबसौं प्रेम, आत्मीयता, सौहार्द्र, उदारता, करुणा, हितैषिता, सद्भावना, सेवा, विनम्रता, दया, कोमलताकी वर्षा होती ही रहै। हृदयमें संवेदनशीलता, परदुःखकातरताकी मीठी-मीठी टीस मारती ही रहै। मुखपै सतत शान्ति, सौम्यता, प्रसन्नताके चिह्न अपनी अनोखी छटा वर्षाते ही रहैं।

'सबहि मानप्रद आपु अमानी।'
'सब के प्रिय सब के हितकारी।'
(रा० च० मा० ७।३८।४; २।१३०।३)

आजकल साधक साधन-भजन तौ करि लेय है, परंतु उत्तम-जीवन नहीं बनाय पावै है। उत्तम-जीवनकी पहचान है, सतत उत्तम विचार ही उठते रहैं। यदि संसारमें मानव-शरीर पायकैं उत्तम जीवन न बन्यौ तौ विषयाभिमुख बुद्धि पाप ही करावती रहैगी। परिणाममें नरक ही भोगनौ परैगौ। कामनापूर्वक कियौ भयौ भजन वा कामनामें ही खर्च है जाय है। कामना बनै है स्त्री, धन, पुत्र, वैभव, मान-प्रतिष्ठा, शारीरिक सुख आदिकी। बस इनमें ही अटक जाय है। कामना हू न बनै तौ अपने भजन-साधन और सद्‌गुणनकौ नशा (अहंकार) है जाय है, यासौं वह अपने कूँ कछु मानि बैठे है और दूसरेनकूँ उपेक्षा, घृणा, हेयता, न्यूनताकी दृष्टिसौं देखिवे लगि जाय है। दूसरेनके दोष देखिवेमें ही अपनौं अधिकाधिक समय खर्च करि डारै है। परदोष देखिवेकी दृष्टिसौं फिर अपने दोष दीखैं ही नहीं हैं और या प्रकार साधन पतनकी गहरी खाईमें जाय गिरै है।

आजके दिन लाखन रुप्यानकौ दान है जायगौ भारतमें। ऐसैं ही हमारे यहाँ हूँ अपने समस्त विकारनकौ दान दै दियौ जाय संसारकूँ। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, ईर्ष्या, राग, द्वेष, हिंसा, अहंकार, छल तथा कपट जितने हू विकार हैं, आजके पश्चात् अपने तन-मन वचनकूँ हूँ छू न जायँ। ये तो संसारमें रहैंगे ही, परंतु अपने ताँईं नहीं। जब-जब ये अपने तन-मन-वचनमें प्रवेशकी चेष्टा करैं, तब-ही-तब इनसौं सावधान रहै और अपने मन सौं कह दे कि हम तौ इन सबनकौ संक्रान्तिमें दान करि चुके हैं। दान करी भई वस्तु कबहूँ वापस नहीं लई जाय है या प्रकार अपने मनकूँ समझायकैं अपने आपकूँ बचायले।

अवसर मिलिवे पै यदि सँभार न भई तो याद राखौ—कोई-न-कोई बन्धन आयकैं लगि जायगौ। यासौं चूकै नहीं। जो अवसर आज मिल्यौ है, बाकी पूरी सँभार करै। बुलायकैं स्वयं श्रीमुखसौं आज्ञा करी कि कहुँ लिखि लीजौं।

आज एक बात स्मरण है आयी···· ये गृहस्थ हैं न? ये तौ अपनौं सीमितमें ही काम चलाय लेयँ हैं। यदि वस्तु न होय तौ वैसें ही रह जायँ हैं। परंतु साधु तौ काहू सौं आज्ञा करि दई कि चाहैं जितनी वस्तु तुरंत आय जाय है। कलियुगने हू प्रतिज्ञा करि लई है कि साधु भले ही कितने हू है जायँ, परि साधुता नहीं रहन दूँगौ। सर्वत्र साधुता जाय रही है। रहनी जाय रही है। याद राखियौं—'तुम जुरौ संत सौं। संत जोरिंगे तुम्हें श्रीभगवान्‌सौं।' चाह है और प्रयत्न नहीं करौगे तौ यह ईमानदारीकी बात नहीं है।

सुख देवैकी वस्तु है और दुःख सहवेकी। मान दैवेकी वस्तु है और अपमान सहवेकी। ये है परमपदकौ सूधौ मार्ग। लालसा ही न भई तौ वह भजन कैसौं।

घर में बन में पंथ में, कहूँ रहै यह देह।
तुलसी सीताराम सौं, लाग्यौ रहै सनेह॥

एकहू क्षण व्यर्थ न जाय। सदैव इनके पास ही रहै।

याकौ तात्पर्य यह है कि—नाम-जप, पाठ, चिन्तन, इनकूँ ही बोलनौं, सुननौं आदि।

याद राखो—जो हम करैं, विचारैं, सोचैं, कहैं, देखैं, सुनैं, प्रभु सब देखि रहे हैं। सब कछु इनके सामने ही होय। यासौं पाप तौ है ही नहीं सकैं। साधककौ साधनके विमुख एकहू क्षण व्यर्थ जानौं पाप है।

भूल सौं हूँ कोई ऐसौ काम न बनन पावै कि लोग ये कहैं कि देखौ! ये उनके शिशु हैं अर्थात् अपने श्रीसद्गुरु भगवान्कूँ कलंकित मत करियौं।

दो बात बड़े ही मर्मकी हैं—

(१) अपनी निन्दा सुनिकैं मनमें क्षोभ न होय।

(२) जहाँतक बनै सहनशील बनै।

अपनेकूँ सतत देखतौ रहै कि श्रद्धा, सेवा, साधन, त्याग, वैराग्य, प्रेम आदि श्रीभगवत्कार्यनके बहानेसौं हूँ हम काहू प्रपञ्चकी शिकार तौ नायँ बनि रहे।

जब चतुर्थी शनिवारकी होय तौ सिद्धयोग बनि जाय है। आजसौं प्रतिज्ञा बनि जाय कि वही देखिंगे, वही सुनिंगे, वही बोलिंगे, वही खामिंगे, वही विचारिंगे, वही करिंगे, वही छूमिंगे।

जौ इनके ताँईं होय और इनसौं मिलावै। छल-कपट दम्भ छू न जाय। जौ होय पूरी सत्यतासौं होय। बाहर कछु और भीतर कछु, यह न होय। तब तौ जौ कोटिन कल्पनमें हैवे वारे काम हैं, वे सब एक क्षणमें ही है जायँगे।

जितने सद्गुण हैं, भक्तमें हौने चहिऐ।

जितने दोष, दुर्गुण, विकार, कामना हैं, समूल नष्ट हौने चहिए।

जीवन केवल जीवनधनके ताँईं, अपने ताँईं कछु न बचाय राखै। यामें पूरी सत्यता और तत्परता हौनी चहिऐ। साधक जितने अंशमें अपनेकूँ बचाय राखै है, उतने ही अंश मायाकूँ मिलि जायँ हैं।

अपनेकूँ बचनौं का है? बचनौं यही है कि हमारी यौं ख्याति है जाय, प्रतिष्ठा है जाय अर्थात् इनकी जगह संसारकौ चिन्तन करनौं ही अपनेकूँ बचानौं हैं।

पूर्ण श्रद्धा, पूर्ण तत्परता, पूर्ण कामनानाश, पूर्ण पवित्रतम जीवन, पूर्ण वैराग्य, पूर्ण त्याग, अपने सब काम पूर्ण हौयँ। ऐसैं ही एक दिन पूर्ण करते-करते पूर्णमें मिलि जायँगे।

इनकौ ही चिन्तन, इनकौ ही ग्रन्थपाठ, इनकूँ ही कहनौं, इनकूँ ही देखनौं, इनकूँ ही सुननौं, अपनौं सब कछु इनकूँ ही रहै। अपने ताँईं कछु न रहै। यही है जीवन केवल श्रीजीवनधनके ताँईं।

आजसौं यह नियम बनि जाय कि जो कछु करिंगे केवल इनके ताँईं ही बस।

बड़े मर्मकी बात है एक—ईश्वर यह देखै है कि तुम मोसौं मिलवेके ताँईं कितने प्रयत्नशील हौ? कितने आतुर हौ? यह सबसौं ऊँची बात है। अब हमें चहिऐ कि हम निरन्तर इनके ताँईं ही जुटे रहैं। लगे रहैं। भजन, साधन, विचार, चिन्तन, सब इनके ताँईं ही हौयँ। अपनेकूँ बचाय न राखै।

प्रत्येक वाक्यकूँ प्रतिज्ञा करि-करिकैं पालन करै। क्योंकि प्रतिज्ञा एक बार करिवेके पीछैं अन्तिम स्वाँसतक तोड़ी नहीं जाय सकै।

अब दिन-प्रतिदिन बुद्धिकौ सुझाव यही है कि मरिवेसौं पहले कृपाकी पूरी सँभार करिलैं। सब सद्गुण अपनेमें भरिकैं अपनी रहनी बनायलैं। श्रीमद्भागवत (१०। ७। १३)-में गुणोंमें दोष निकालना, झूठ बोलना, दम्भ, ईर्ष्या तथा हिंसा करना और अभिमान—इनकौ निषेध कियौ है—‘**येऽसूयानृतदम्भेर्ष्याहिंसामानविवर्जिताः।**’

जैसैं रहीसनके घर संसारकी ऊँची-सौं-ऊँची सब वस्तु विद्यमान रहैं हैं, वे ही रहीस माने जाय हैं। ऐसैं ही हम प्रेमपथके रहीस हैं तौ या पथके समस्त श्रीसद्गुण हमारेमें हौने ही चहिऐ, तब ही हम प्रेमपथके रहीस माने जायँगे। विकार हमारे ताँईं हैं ही नहीं। जैसे प्याज-शराब आदि संसारमें तौ रहेंगे ही परंतु हमारे ताँईं नहीं। यौं पाठ सुनि लियौ, सत्संग सुनि लियौ, यासौं ही काम नहीं बनि जायगौ, वैसौं ही अपनेकूँ बनानौं परैगौ। संत मैकेलियसने अपने शिष्यकूँ शिक्षा दई कि जैसैं कब्रपै कोई माला-फूल चढ़ावे, पत्थर फैंकै, गारी देय, प्रशंसा करै, अपवित्र करै या इत्र सुगन्धित पदार्थ डारै। यह प्रत्युत्तरमें कछु नहीं बोलैगी। ठीक वैसौं ही हमैं अपने-आपकूँ बनानौं ही परैगौ। तब ही या पथकौ सच्चौ स्वाद मिलैगौ अन्यथा नहीं।

* * *

तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त करानेवाला साधन

(श्रीमनोजकुमारजी मिश्र)

महाभारतके शान्तिपर्वमें एक कथा है—राजर्षि भीष्म शरशय्यापर पड़े हुए थे, उस समय महाराज युधिष्ठिर अपने भाइयों और भगवान् श्रीकृष्णके साथ उनके दर्शनके लिये पहुँचे। आज्ञा पाकर युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी! धर्मका मार्ग बड़ा ही विस्तीर्ण है और फिर उसकी अगणित शाखाएँ भी हैं, उनमें किसको आप श्रेष्ठ, सुगम और प्रधान मानते हैं उसीका मुझे उपदेश दें ताकि उसपर चलकर मेरा यह लोक और परलोक दोनों सुधर जाय।

इसपर भीष्मजी बोले—राजन्! समस्त धर्मोंसे उत्तम फल देनेवाली माता-पिता और गुरुकी भक्ति है। मैं सब प्रकारकी पूजासे इनकी सेवाको बड़ा मानता हूँ। इस व्रतका पालन करनेवाला मनुष्य संसारमें यशका भागी बनता है और पुण्यलोकोंपर भी विजय प्राप्त करता है। माता-पिता और गुरु जिस बातकी आज्ञा दें, उसे बिना सोचे-विचारे पालन करना चाहिये; क्योंकि वे अहितकी बात कह ही नहीं सकते। जिस कामको करनेकी उनकी आज्ञा हो, वह धर्म ही है।

युधिष्ठिर! माता-पिता और गुरु—ये ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनों आश्रम हैं, ये ही तीनों वेद हैं, ये ही यज्ञकी तीन अग्नियाँ हैं। जो इनकी सेवामें भूल नहीं करता, वह तीनों लोकोंको जीत लेता है। पिताकी सेवासे इस लोकको, माताकी सेवासे परलोकको और गुरुकी सेवासे मनुष्य ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है—

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकांश्च विजेष्यसि।
पितृवृत्त्या त्विमं लोकं मातृवृत्त्या तथा परम्॥
ब्रह्मलोकं गुरोर्वृत्त्या नियमेन तरिष्यसि।

(महा० शान्ति० १०८।८-९)

ऐसा करनेसे यश, परम कल्याण और महान् फल देनेवाले धर्मका पालन होता है। इन तीनोंकी आज्ञाका कभी उल्लंघन न करे। इनको भोजन कराकर स्वयं भोजन करे। इनको कभी भी दोषदृष्टिसे न देखे। सदा इनकी सेवाके लिये तैयार रहे। जिसने इनका आदर कर लिया, उसने मानो सारे संसारका आदर कर लिया। जिसके द्वारा इनका अनादर हुआ, उसके सम्पूर्ण शुभ कर्मोंपर पानी फिर गया। इनका सम्मान न करनेवाले मनुष्यके इहलोक और परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं। बेटा युधिष्ठिर! मेरा तो जीवनभर यही नियम रहा कि सन्ध्या, पूजन, भजन, उपासना और दूसरे जो भी शुभ कर्म मैं करता था, उनका फल उसी क्षण इनको अर्पण कर देता था। इसीके प्रतापसे मेरे उन कर्मोंका पुण्य सौ गुना और हजार गुना बढ़ गया है तथा इसीको मैंने सबसे बड़ा तप माना है। इसीके द्वारा मुझे दिव्य दृष्टि मिली है, जिससे मैं तीनों लोकोंको प्रत्यक्ष देख सकता हूँ। पुत्रका धर्म है कि वह अपने शुभ कर्मोंका फल माता-पिताको अर्पण करे और शिष्यका धर्म है कि भजन एवं उपासनाके पश्चात् फल गुरुको भेंट चढ़ा दे।

बेटा! गुरु भी कई प्रकारके होते हैं—एक दीक्षागुरु या कुलगुरु होता है जो उपनयन-संस्कार कराकर मन्त्रदीक्षा देता है, दूसरा विद्यागुरु होता है जो शास्त्र पढ़ाकर विद्वान् बनाता है। इन दोनोंसे माता-पिताका स्थान बहुत ऊँचा होता है। माताका महत्त्व पितासे भी बढ़कर माना गया है। माताके समान किसीका गौरव नहीं है। पुत्रके लिये माता सारे संसारसे श्रेष्ठ है, जो पुत्र उनका आशीर्वाद नहीं लेता वह चाहे जितना तप करे, चाहे जितना दान करे और चाहे सहस्रों अश्वमेध यज्ञ कर डाले, उसका कल्याण नहीं होता। भगवान् सदा उससे अप्रसन्न रहते हैं।

परंतु युधिष्ठिर! मेरा विश्वास है कि गुरुका दर्जा माता-पितासे भी बढ़कर है। माता-पिता तो इस भौतिक शरीरको जन्म देते हैं, बचपनमें इसकी रक्षा करते हैं पर गुरु तो उस दिव्य आत्मतत्त्वका ज्ञान देता है कि जिससे जन्म-मरणसे छुटकारा ही मिल जाता है, कोई दुःख, कोई विपदा वहाँ रहती ही नहीं। माता-पितासे यदि कोई अपराध भी हो जाय तो भी उनको दुतकारना नहीं चाहिये, उन्हें त्यागना नहीं चाहिये। सेवा और प्रतिष्ठासे मुँह नहीं मोड़ना चाहिये।

जो लोग गुरुसे ज्ञान लेकर उनका आदर नहीं करते, मन, वाणी और क्रियासे उनकी सेवा नहीं करते, उन्हें गर्भके बालककी हत्याका पाप मिलता है। संसारमें उनसे

बढ़कर कृतघ्न और पापी दूसरा नहीं है—

तेषां पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं
नान्यस्तेभ्यः पापकृदस्ति लोके।
(महा०, शान्ति० १०८।२३)

जैसे गुरुजनोंका कर्तव्य है—शिष्योंको आत्मोन्नतिके पथपर पहुँचाना, उसी तरह शिष्योंका धर्म है—उनकी सेवा करना। पिताकी प्रसन्नतासे प्रजापति ब्रह्मा प्रसन्न होते हैं, माताकी सेवा और पूजासे सम्पूर्ण पृथ्वीकी पूजा हो जाती है, परंतु जिस व्यवहारसे शिष्य अपने गुरुको प्रसन्न कर लेता है, उसके द्वारा परब्रह्म परमात्माकी पूजा—प्रसन्नता होती है। गुरुओंकी पूजासे ही पितर, ऋषि और देवता प्रसन्न होते हैं। इसलिये गुरु परम पूजनीय हैं (**'तस्मात्पूज्यतमो गुरुः'**)।

माता-पिता और गुरुका कभी अपमान न करे, उनकी निन्दा न करे, न सुने। मन या कर्मसे माता-पिता और गुरुसे द्रोह करनेवाले महान् पापी नरक भोगते हैं। उनका उद्धार कभी किसी कालमें नहीं होता। कृतघ्न मनुष्यके लिये हमने कोई प्रायश्चित्त ही नहीं सुना। माता-पिताके द्वारा पालित-पोषित होकर बड़े हो जानेपर जो उनकी सेवा-शुश्रूषा नहीं करते, किसी कारणसे उन्हें दुःखी रखते हैं, वे कभी फूलते-फलते नहीं और आगे उनकी संतानसे भी उन्हें ऐसा ही प्रतिफल मिल सकता है, इसलिये इन तीनोंकी सेवा ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है, इससे बढ़कर और कोई साधन नहीं है—

'एतच्छ्रेयो नान्यदस्माद् विशिष्टम्।'
(महा०, शान्ति० १०८।३३)

यह ऐसा साधन है, जो तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त करा देता है, साथ ही आत्मकल्याणके पथको भी सुगम बना देता है।

'रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही'

(श्रीरूपनारायणजी काबरा)

श्रीरामचरितमानस एक सुन्दर सरोवर है, जिसमें वक्ता-श्रोतारूपी चार घाट हैं। इसकी कथाके चार वक्ता हैं—शिव, काकभुशुण्डि, याज्ञवल्क्य और स्वयं तुलसीदास तथा चार ही श्रोता हैं, क्रमशः पार्वती, गरुड, भरद्वाज और सुजन।

सुठि सुंदर संबाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि।
तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि॥

रामचरितमानसके बालकाण्डमें संत तुलसीदासने रामकी एवं राम-नामकी महिमाको उजागर करनेहेतु दो अतिश्रेष्ठ परम तपस्वी, मनस्वी, विद्वान्, करुणाशील मुनियों—भरद्वाज एवं याज्ञवल्क्यके संवादकी रचना की है। अपनी स्वयंकी भावना एवं रामकी महिमाको उन्होंने अपनेसे श्रेष्ठ वक्तासे कहलवाया है।

मकर-संक्रान्तिके पुनीत पर्वपर याज्ञवल्क्य एवं अन्य मुनिगण तीर्थराज प्रयागमें त्रिवेणी-संगमपर स्नान करनेहेतु आये। कुछ दिनोंके प्रवासके पश्चात् अन्य मुनिगण तो अपने-अपने आश्रमोंको लौट गये, पर भरद्वाजमुनिने परम ज्ञानी याज्ञवल्क्यजीको आग्रहपूर्वक, अनुनय-विनयके साथ रोक लिया। याज्ञवल्क्यजीके सुयश, तेज, तप एवं ज्ञानका गुणगान करते हुए बालसुलभ निश्छल उत्सुकता तथा जिज्ञासाके साथ भरद्वाजजीने उनसे पूछा—'प्रभो! आप तो ज्ञानके सागर हैं और वेद, उपनिषद्, पुराणोंके ज्ञाता हैं, मैं आपसे अपनी एक शंकाका समाधान चाहता हूँ।' भरद्वाज-मुनि स्वयं परम रामभक्त थे। रामकी महिमासे सुपरिचित थे, पर याज्ञवल्क्यमुनिके मुखसे राम-नामका गुणगान सुननेकी चाहसे उनसे पूछते हैं—

'मुनिराज! सभी संतों एवं पवित्र ग्रन्थोंने राम-नामके असीम प्रभावका गुणगान किया है और इसी रामके नामका आशुतोष भोलेनाथ शिवजी भी निरन्तर जप करते रहते हैं एवं राम-नामका उपदेश करके सभी जीवोंको परमपदकी प्राप्ति कराते हैं। ऐसे वे राम कौन हैं? आप मुझे समझाकर कहें—

रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही। कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोही॥

क्या वे राम जो दशरथजीके पुत्र हैं, जिन्होंने पत्नीविरहमें अत्यन्त दुःख उठाकर दुष्ट रावणको मारा है, वे यही राम हैं या कोई दूसरे, आप मुझे बतलानेकी कृपा करें।'

याज्ञवल्क्यजीने कहा—मुने! आप तन, मन, वचन

और कर्मसे श्रीरामके अनन्य भक्त हैं। रामकथा-श्रवणकी आपकी चतुराईको मैं समझ रहा हूँ। हे तात! आदरपूर्वक मन लगाकर सुनिये; मैं श्रीरामजीकी सुन्दर कथा कहता हूँ। पुनीत रामकथा विशाल अज्ञानरूपी महिषासुरका नाश करनेवाली देवी कालिका है। रामकथा चन्द्रमाकी शीतल किरणें हैं, जिनका संतरूपी चकोर रसपान करते हैं—

महामोहु महिषेसु बिसाला। रामकथा कालिका कराला॥
रामकथा ससि किरन समाना। संत चकोर करहिं जेहि पाना॥

वे आगे कहते हैं—मुनिश्रेष्ठ! आपकी ही तरह एक बार माता सतीने भी संदेह कर लिया था कि ये राम कौन हैं, ऐसा क्या है इनमें कि शिवजी दिन-रात इनका जप करते रहते हैं।

हुआ यह कि जब श्रीराम पिताके वचन-पालनहेतु चौदह वर्षके वनवासपर गये, तब कपटी मारीचकी युक्तिसे रावण सीताका अपहरण करके लङ्का ले गया। उस समय सीताके विरहमें रामकी दशा देखकर शिवजीने ***'जय सच्चिदानंद जग पावन'*** तो कहा, परंतु अवसर ठीक नहीं है सोचकर परिचय नहीं किया। कृपानिधान शिवजीका शरीर भगवान् श्रीरामके दर्शनसे बार-बार पुलकित हो रहा था। सतीजी यह दशा देखकर आश्चर्यमें पड़ गयीं और सोचने लगीं कि शिवजीने स्त्रीके विरहमें वनमें भटकनेवाले वनवासी राजपुत्रको प्रणाम क्यों किया? सती शिवजीसे कुछ नहीं बोलीं, पर अन्तर्यामी भगवान् भोलेनाथ सतीके संदेहको भाँप गये और बोले—'सती! सर्वव्यापी, समस्त ब्रह्माण्डके स्वामी, मायापति परम स्वतन्त्र ब्रह्मरूप भगवान् श्रीरामजीने ही रघुकुलमें राजकुमारके रूपमें अवतार लिया है, तुम उनकी शक्ति और महिमापर संदेह मत करो। पर सतीका संदेह नहीं मिटा और रामकी परीक्षाके हेतु सीताका रूप धारणकर रामचन्द्रजीके मार्गमें गयीं। लक्ष्मण तो सीताको देखकर हर्षित-चकित हो गये, पर अन्तर्यामी राम सतीके छद्मरूपको जान गये और बोले—

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता समेत लीन्ह निज नामू॥
कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू॥

रामचन्द्रजीके इन विनम्र और रहस्यमय वचनोंसे सतीजीको संकोच एवं क्षोभ हुआ। वे भयभीत-सी शिवजीके पास लौट पड़ीं। रामने राहमें ही उनको लक्ष्मण एवं सीतासहित अपने सच्चिदानन्दरूपको प्रकट कर दिखाया। सतीने जिधर देखा उधर ही राम-लक्ष्मण-सीता दिखायी दिये। उन्होंने देखा कि अनेक शिव, विष्णु, ब्रह्मा उनकी वन्दना कर रहे हैं। प्रभुका विराट्, ब्रह्माण्डमय रूप देखकर वे अपनी संदेह-भावनापर दुःखी हो उठीं और नेत्र मूँदकर बैठ गयीं। आँखें खोलनेपर कुछ भी नहीं था। मन-ही-मन रामजीको प्रणामकर उन्होंने क्षमा-याचना की, पर शिवजीके पास यह बात छिपा ली। शिवने ध्यानकर वस्तुस्थिति जान ली, उनके अन्तर्मनमें दिशाबोध हुआ कि उन्हें सतीके इस शरीरसे अब पत्नी-सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये और वे अपने आराध्यका ध्यान करते हुए समाधिस्थ हो गये। पश्चात्ताप और दुःखसे भरी सतीने प्रभु रामसे प्रार्थना की—

तौ मैं बिनय करउँ कर जोरी। छूटउ बेगि देह यह मोरी॥

आगेकी कथा है कि पिता दक्षप्रजापतिके यज्ञमें शिवको आमन्त्रित नहीं करनेका अपमान सतीजी सहन नहीं कर सकीं और योगाग्निमें उन्होंने अपना शरीर भस्म कर डाला। पुनः सतीने हिमालयकी पुत्री पार्वतीके रूपमें जन्म लिया। रामजी शिव-पार्वतीका मिलन चाहते थे, अतः उन्होंने मिलनका संयोग बनाया—

बहुबिधि राम सिवहि समुझावा। पारबती कर जन्मु सुनावा॥
अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥

रामकी विनम्रता तो देखिये, वे शिवजीसे कहते हैं—

अब बिनती मम सुनहु सिव जौं मो पर निज नेहु।
जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि मागें देहु॥

पार्वतीसे जब शिव प्रसन्न हो गये तो तुलसीदासजीने मानसमें पार्वतीसे भी शिवजीद्वारा रामकथा कहनेका अनुरोध करा दिया। पार्वतीने कहा—

जौं मो पर प्रसन्न सुखरासी। जानिअ सत्य मोहि निज दासी॥
तौ प्रभु हरहु मोर अग्याना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना॥

पार्वतीने भी भरद्वाजमुनिकी तरह ही शिवजीसे पूछा—आप दिन-रात राम-राम जपा करते हैं, ये राम अयोध्याके राजाके पुत्र ही हैं या अजन्मा, निर्गुण, अगोचर कोई और राम हैं? यदि राजपुत्र हैं तो ब्रह्म कैसे? और ब्रह्म हैं तो स्त्रीके विरहमें विकल क्यों हो गये? मैंने पिछले जन्ममें संदेह किया और उसकी सजा पा ली है, अब मुझे पहले-जैसा मोह नहीं

है, बल्कि रामकथा सुननेमें मेरी रुचि है।

आर्तभावसे पूछनेपर करुणा करके भगवान् शिवने कहा—पार्वती! तुम धन्य हो, तुमने जगत्‌को पवित्र करनेवाली गङ्गाके समान रामकथा सुनना चाहा है, जो समस्त संसारके लिये हितकर है—

धन्य धन्य गिरिराजकुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी॥
पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥
तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रस्न जगत हित लागी॥

शिवजीने कहा—'पार्वती! संदेह त्याग दो, राम सब रूपोंमें वही राम हैं। जो निर्गुण है वही सगुण है जैसे कि जल और ओलेमें भेद नहीं है—

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें॥

जो प्रकाशरूप हैं, सब रूपोंमें प्रकट हैं, जीव, माया और जगत् सबके स्वामी हैं, वे 'रघुकुलमणि श्रीरामचन्द्रजी ही मेरे स्वामी हैं।'

पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नायउ माथ॥

भगवान् भोलेनाथने अत्यन्त भक्तिभाव एवं आनन्दके साथ पार्वतीको रामकथाके सभी प्रसंग सुनाये और यह भी कहा —'तुम्हारी ही तरह पक्षिराज गरुडको भी उस समय भ्रम एवं संदेह हो गया था, जब वे श्रीरामको नागपाशसे मुक्त करने गये थे। यह सोचकर कि जिनके नाम-जपसे लोग भवसागरके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं, वे ही राम एक तुच्छ राक्षसके नागपाशमें कैसे बँध गये?'—

भव बंधन ते छूटहिं नर जपि जा कर नाम।
खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम॥

इसी संदेहको लेकर गरुड नारद एवं ब्रह्माके निर्देशपर मेरे पास आये और मैंने उन्हें काकभुशुण्डिके पास रामकथा सुनने भेज दिया। रामकथाके पावन प्रसंग और राममहिमाको विस्तारसे सुनकर वे संदेह, मोह, विषाद एवं भ्रमसे मुक्त हो गये तथा गद्‌गद होकर बोले—

मैं कृतकृत्य भयउँ तव बानी। सुनि रघुबीर भगति रस सानी॥
राम चरन नूतन रति भई। माया जनित बिपति सब गई॥

और रामभक्तिसे अभिभूत होकर यह भी कहा—

जीवन जन्म सुफल मम भयऊ। तव प्रसाद संसय सब गयऊ॥

इसलिये हे भवानी! रामकथा तो अनुपम है, यह मैंने प्रेमपूर्वक तुमको सुनायी है। पार्वतीजीने कहा—नाथ! मेरा विषाद दूर हुआ, फिर वे बोलीं—

सुनि सब कथा हृदय अति भाई। गिरिजा बोली गिरा सुहाई॥
नाथ कृपाँ मम गत संदेहा। राम चरन उपजेउ नव नेहा॥
मैं कृतकृत्य भइउँ अब तव प्रसाद बिस्वेस।
उपजी राम भगति दृढ़ बीते सकल कलेस॥

याज्ञवल्क्यजीके द्वारा '*रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही*' के उत्तरमें रामचरित्रकी कथा-शृङ्खलाओंके पावन प्रसंगोंको सुनकर भरद्वाजमुनिकी जिज्ञासा शान्त हुई, जो कि वस्तुत: रामकी महिमा सुननेका बहानामात्र था। संत तुलसीदासने इन विभिन्न प्रसंगोंको सूत्रबद्ध कर जन-जनको रामभक्तिका पावन संदेश दिया।

आइये थोड़ा-सा यह भी देख लें कि तुलसीके मतानुसार राम कैसे हैं, वे तो कहते हैं—

तुलसी अपने राम को, रीझ भजो के खीझ।
उल्टे सीधे सब उगें खेते पड़े ते बीज॥

इतने सरल, करुणाकर भक्तवत्सल हैं श्रीराम। श्रीराम भी तुलसीमय हो जाते हैं तभी तो '*तुलसिदास चंदन घिसे तिलक देत रघुबीर।*' वे कहते हैं कि राम-सा उदार संसारभरमें कोई नहीं है; क्योंकि वे तो बिना सेवाके भी द्रवित हो जाते हैं—

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं॥

तुलसीने तो रामभक्तिमें लीन होकर समग्र संसारको ही सियाराम मानकर कहा है—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

तुलसीके राम भक्तवत्सल और करुणानिधान हैं तथा ऐसे प्रकाशमणि हैं, जो जिह्वारूपी द्वारपर रखनेसे भीतर और बाहर प्रकाश-ही-प्रकाश कर देते हैं। वे कहते हैं—

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

रामका नाम, रामकी महिमा अनुपम है, पावन है, आनन्ददायी है तथा '**असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय**' और '**मृत्योर्माऽमृतं गमय**'का दिशाबोध करानेवाली है।

गाय सारे राष्ट्र और विश्वकी माता है

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

हम गायकी सेवा करेंगे तो गायसे हमारी सेवा होगी। शुद्ध संकल्पमें ही संकल्पसिद्धि रहती है। शुद्ध संकल्पका अर्थ क्या है? जिसकी पूर्तिमें लोगोंका हित और प्रभुकी प्रसन्नता हो, उसे शुद्ध संकल्प कहते हैं। जब संकल्प शुद्ध होता है तो सिद्ध होता है—ऐसा प्रभुका मङ्गलमय विधान है।

सेवक कैसा होना चाहिये, इसपर विचार करनेसे लगता है कि सेवकके हृदयमें एक मधुर-मधुर पीड़ा रहनी चाहिये और उत्साह रहना चाहिये तथा निर्भयता रहनी चाहिये एवं असफलता देखकर कभी भी निराश नहीं होना चाहिये। सेवकसे सेवा होती है, सेवासे कोई सेवक नहीं बना करता।

इस देशमें ही नहीं, समस्त विश्वमें मानव और गायका ऐसा सम्बन्ध है कि जैसे मानव-शरीरमें प्राणका। अन्य देशोंमें गायका सम्बन्ध आत्मीय नहीं रहा, कहीं आर्थिक बना दिया गया, कहीं कुछ बना दिया गया। मेरे ख्यालसे गायका सम्बन्ध आत्मीय सम्बन्ध है। गाय मनुष्यमात्रकी माता है।

लोग गायकी आर्थिक बात सामने रखकर सोचते हैं। गायकी सेवा तनसे और धनसे होनी चाहिये। आज हमलोगोंकी ऐसी स्थूल दृष्टि हो गयी है कि धनकी सेवाको बहुत बड़ी सेवा समझते हैं। बहुत बड़ी सेवा है मनकी सेवा, जिसे हर भाई-बहन कर सकता है।

हमारा मन और गाय यह एक होना चाहिये। हमारे मनमें गाय बस जाय, किसलिये? इसलिये नहीं कि हमको कोई लाभ होगा, पर इसलिये कि अगर विश्वमें गाय है तो सात्त्विक प्राण, सात्त्विक बुद्धि और दीर्घ आयुवाली बात पूरी हो सकती है।

केवल इसी बातको लेकर कि हमारी संस्कृतिमें गाय है, हमारे मज़हबमें गाय है, यह सब तो है ही, लेकिन मेरा विश्वास है गायका और मनुष्यके प्राणोंका बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। गाय मानवीय प्रकृतिसे जितनी मिल-जुल जाती है, उतना और कोई पशु नहीं मिल पायगा।

बच्चेके मरनेका जितना शोक होता है और उसके पैदा होनेपर जितना हर्ष तथा उत्सव होता है, वैसे ही गायके मरने और पैदा होनेपर शोक एवं हर्ष होता था, यह हमने बचपनमें देखा था।

जिस गायका बच्चा मर जाय, उसका दूध नहीं पीते थे। आज तो बच्चा मारकर ही दूध निकालते हैं।

गाय जितनी प्रसन्न होती है, उतने ही उसके दूधमें विटामिन्स उत्पन्न होते हैं और गाय जितनी ही दुःखी होती है, उतना ही दूध कमजोर होता है।

मेरे दिलमें एक दर्द है कि कोई घर ऐसा न हो जिसमें गाय न हो, गायका दूध न हो। हर घरमें गाय हो और गायका दूध पीनेको मिलना चाहिये। गायने मानवबुद्धिकी रक्षा की है।

बेईमानीका समर्थन करना और उससे एक-दूसरेपर अधिकार जमाना—यह प्रवृत्ति आज बढ़ती जा रही है। इसका कारण है कि बुद्धि सात्त्विक नहीं है, बुद्धि सात्त्विक क्यों नहीं? कारण, मन सात्त्विक नहीं है। मन सात्त्विक क्यों नहीं? कारण, शरीर सात्त्विक नहीं है। शरीर सात्त्विक नहीं है तो इसका कारण? आहार सात्त्विक नहीं है।

मैं आपसे निवेदन करना चाहता था कि सचमुच जितना आपलोग गायके सम्बन्धमें जानते हैं, उसका हजारवाँ भाग भी मैं नहीं जानता हूँ। लेकिन क्या सचमुच आपलोग गायके साथ मातृ-सम्बन्ध जोड़नेके लिये राजी हैं? अगर हैं तो हमारा बेड़ा पार हो जायगा।

जो लोग सेवा करना चाहते हैं वे कैसे हैं। इस बातपर जोर डालिये। समाज क्या करता है, राज्य क्या करता है, लोग कुछ देते हैं कि नहीं, यह गौण है। मुख्य बात यह है कि अपने दिलमें गायके प्रति पीड़ा होती है कि नहीं?

गाय हमारी ही नहीं, मानवसमाजकी माँ है। सारे राष्ट्र और सारे विश्वकी माँ है। गायकी रक्षा होती है तभी प्रकृति भी अनुकूल होती है, भूमि भी अनुकूल होती है। गायकी सेवा होनेसे भूमिकी सेवा होती है और भूमि स्वयं रत्न देने लगती है।

जैसे-जैसे आप गोसेवा करते जायँगे, वैसे-वैसे आपको यह मालूम होता जायगा कि गाय आपकी सेवा कर रही है। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे, बौद्धिक दृष्टिसे और हर दृष्टिसे आपको यह लगेगा कि आप गायकी सेवा कर रहे हैं तो गाय आपकी हर तरहसे सेवा कर रही है।

हम सच्चे सेवक होंगे तो हमारी सेवा होगी, हमारी सेवाका मतलब मानवजातिकी सेवा होगी। मानवमात्रकी सेवासे ही सब कुछ हो सकता है। मानव जब सुधरता है तो सब कुछ सुधरता है और मानव जब बिगड़ता है तो सब कुछ बिगड़ जाता है। [प्रेषक—श्रीलादूसिंहजी राजपुरोहित]

'अष्ट सिद्धि नौ निधि के दाता'

(डॉ० श्रीअरुणकुमारजी राय, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

स्वर्न-सैल-संकास कोटि-रबि-तरुन-तेज-घन।
उर बिसाल, भुजदंड चंड नख बज्र बज्रतन॥
पिंग नयन, भृकुटी कराल रसना दसनानन।
कपिस केस, करकस लँगूर, खल-दल-बल-भानन॥

(हनुमानबाहुक २)

अर्थात् श्रीहनुमान्‌जी सुवर्णपर्वत (सुमेरु)-के समान शरीरवाले, करोड़ों मध्याह्नके सूर्यके सदृश अनन्त तेजोराशि, विशालहृदय, अत्यन्त बलवान् भुजाओंवाले तथा वज्रके तुल्य नख और शरीरवाले हैं। उनके नेत्र पीले हैं, भौंह, जीभ, दाँत और मुख विकराल हैं। बाल भूरे रंगके तथा पूँछ कठोर और दुष्टोंके दलके बलका नाश करनेवाली है।

ये हैं तुलसीदासजीके संकटमोचन, मारुतनन्दन श्रीहनुमान्। ये विकटमूर्ति हैं और हैं समर्थ शूर। ये ज्ञान-गुणवान्, बलवान् और सेवासावधान हैं। मानससे लेकर कवितावली, गीतावली, विनय-पत्रिका, हनुमानबाहुक, हनुमानचालीसा, बरवै रामायण, रामाज्ञा-प्रश्न प्रभृति काव्योंमें गोस्वामीजीने इन्हीं हनुमान्‌जीकी चर्चा की है, जो अनेक प्रसंगोंमें अनेकों प्रकारसे निरूपित हैं। कहीं इनके वीररूपका चित्र है तो कहीं मङ्गलमूर्तिका, कहीं सेवानिरत हनुमान् हैं तो कहीं भक्तिभावमें झूमते हुए हनुमान्। तुलसीकाव्यमें कहीं एक ओर इनके विशद रूपका वर्णन है तो कहीं इनकी वीरता और विनयके अनेक पद हैं। तुलसीकी रचनाओंमें वर्णित हनुमान्‌के विभिन्न स्वरूप और कार्योंका संक्षिप्त दिग्दर्शन करानेकी चेष्टा यहाँ प्रस्तुत है—

महावीर हनुमान्—तुलसीदासजीने हनुमान्‌के चरित्रमें बल और बुद्धि दोनोंका मणि-काञ्चनयोग दिखाया है। परीक्षाके आधारपर सुरसाने लङ्कागामी हनुमान्‌को कहा था— ***'तुम्ह बल बुद्धि निधान।'*** सचमुच श्रीहनुमान्‌जी महाबली हैं। इसीलिये महावीरकी संज्ञासे विभूषित हैं। इनके अङ्ग वज्रके समान हैं। अतएव इन्हें बजरंगी (वज्र अङ्गी) कहते हैं। इनकी वीरता आत्मनिष्ठ है। सामान्य अवस्थामें ये अति सामान्य हैं, पर जब कोई इन्हें इनके बलकी याद दिला देता है तो ये अपने सहज वीररूपमें आ जाते हैं। समुद्रके किनारे सीताकी खोजके अवसरपर जाम्बवन्तके इस कथनपर—

पवन तनय बल पवन समाना।बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥
कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं॥

हनुमान्‌जी अपने सहजरूपमें आ गये और उन्होंने अमिततेजस्वी पर्वतराज सुमेरुके समान रूप धारण कर लिया—

कनक बरन तन तेज बिराजा। मानहुँ अपर गिरिन्ह कर राजा॥

महारानी सीताको भी अशोकवाटिकामें इन्हें देखकर ऐसा ही संदेह हुआ था और उसे प्रकट करते हुए उन्होंने कहा—

हैं सुत कपि सब तुम्हहि समाना। जातुधान अति भट बलवाना॥

इतना सुनते ही सिय-सोच-हरण हनुमान् अपने सहजरूपमें आ गये हैं—

कनक भूधराकार सरीरा। समर भयंकर अतिबल बीरा॥

अपनी सभामें बंदी हनुमान्‌को देखकर रावणने भी उन्हें सामान्य ही समझा था, मारा और अपमान किया था। हनुमान्‌जी सहते गये, पर पूँछमें आग लगते ही उन्होंने रौद्र-रूप धारण कर लिया—

अट्टहास करि गर्जा कपि बढ़ि लाग अकास।
देह बिसाल परम हरुआई। मंदिर तें मंदिर चढ़ धाई॥

वीररसके उद्दीपनके रूपमें हनुमान्‌जीकी जहाँ भी और जो भी प्रशंसा की गयी है, वह सर्वथा यथार्थ और औचित्यपूर्ण है। इनकी वीरताकी प्रशंसा शत्रु और मित्र दोनोंने की है। रावण-जैसे विकट प्रतिभटने भी इनकी वीरताको मुक्तकण्ठसे स्वीकारा है— ***'है कपि एक महा बलसीला॥'*** हनुमान्‌जीकी वीरता स्वयं प्रदीप्त है। जन्मकालमें ही बालसूर्यको निगल जाना, समुद्र लाँघने-जैसा दुःसाहसका काम करना, रावणकी सभामें निर्भय व्यवहार, लङ्कादहन, लङ्कायुद्ध आदि एक-से-एक वीरताके प्रमाण हैं। महाभारतकी लड़ाईमें इन्होंने अर्जुनके रथकी ध्वजापर आसन जमाकर सहायता की थी, जिससे अर्जुन कपिध्वज कहलाये—

भारतमें पारथके रथकेतु कपिराज,
गाज्यो सुनि कुरुराज दल हलबल भो।

(हनुमानबाहुक ५)

सबसे अद्भुत है इनका रणकौशल, जिसे देखकर स्वयं श्रीराम आश्चर्यचकित हो गये—

चंचल चपेट, चोट चरन चकोट चाहें,
हहरानी फौजें भहरानी जातुधानकी॥

बार-बार सेवक-सराहना करत रामु,
'तुलसी' सराहै रीति साहेब सुजानकी।
लाँबी लूम लसत, लपेटि पटकत भट,
देखौ देखौ, लखन! लरनि हनुमानकी॥

(कवितावली ६। ४०)

तथा—

दुर्गम दुर्ग, पहारतें भारे, प्रचंड महा भुजदंड बने हैं।
लक्खमें पक्खर, तिक्खन तेज, जे सूरसमाजमें गाज गने हैं॥
ते बिरुदैत बली रनबाँकुरे हाँकि हठी हनुमान हने हैं:

(कवितावली ६। ३९)

उन महावीरके उत्साह और साहसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। हिम्मत ऐसी कि समूल पहाड़ उठा ले और गति ऐसी कि मनको भी मात कर दे—

लीन्हो उखारि पहारु बिसाल,
चल्यो तेहि काल, बिलंबु न लायो।
मारुतनंदन मारुतको, मनको,
खगराजको बेगु लजायो॥

(कवितावली ६। ५४)

महाबली हनुमान्‌का गर्जन शत्रुपत्नीका गर्भस्रावक है और मित्रके लिये आह्लादकारी है। इनके द्वारा किये गये लङ्कादहनके स्मरणमात्रसे लङ्काके निवासी चूल्हेकी आगसे भी भय खाते थे—

बसत गढ़ बंक, लंकेस नायक अछत,
लंक नहिं खात कोउ भात राँध्यो।

(कवितावली ६। ४)

इनकी वीरताका संक्षिप्त चित्र तुलसीदासजीने यों आँका है—

बल कैधों बीररस, धीरज कै साहस कै,
तुलसी सरीर धरे सबनिको सार सो॥

(हनुमानबाहुक ४)

हनुमान्‌जी शत्रुके लिये कराल और मित्रके लिये हितकारी हैं—

दुर्जनको कालसो कराल पाल सज्जनको,
सुमिरे हरनहार तुलसीकी पीरको॥

(हनुमानबाहुक १०)

बुद्धिनिधान हनुमान्—बलनिधान हनुमान्‌जीका दूसरा पक्ष बुद्धिनिधानका है। तुलसीदासजीने स्वयं स्थान-स्थानपर बलके साथ-साथ इनकी बुद्धिकी भी सराहना की है। हनुमानचालीसामें इन्हें ज्ञान और गुणका समुद्र कहा है—

'जय हनुमान ज्ञान गुन सागर।'

रामचरितमानसके सुन्दरकाण्डके मङ्गलाचरणमें हनुमान्‌जीकी वन्दनाके प्रसंगमें उन्होंने '**अतुलितबलधामम्**', '**ज्ञानिनामग्रगण्यम्**' तथा '**सकलगुणनिधानम्**' कहा है। विनय-पत्रिका (२६। ८, २८। ५, २९। ३)-में विद्यावारिधि और बुद्धिविधाता तो कहा ही है, साथ-साथ कहा है—

जयति वेदान्तविद विविध-विद्या-विशद, वेद-वेदांगविद ब्रह्मवादी।
ज्ञान-विज्ञान-वैराग्य-भाजन विभो, विमल गुण गनति शुकनारदादी॥
जयति निगमागम व्याकरण करणलिपि, काव्यकौतुक-कला-कोटि-सिंधो।
महानाटक-निपुन, कोटि-कविकुल-तिलक, गानगुण-गर्व-गंधर्व-जेता॥

समयानुकूल सूझके लिये हनुमान्‌जी प्रसिद्ध हैं। सीता-खोजके प्रसंगमें ये पेड़पर छिप जाते हैं। रावणके सारे व्यवहारको और सीताके प्रत्युत्तरको देखते-सुनते हैं। त्रिजटाके रहते कभी अपनेको प्रकट नहीं करते। विरहाधिक्यकी अवस्थामें मुद्रिका गिरा देते हैं। इन्हें बुद्धि और बलमें निपुण देखकर ही श्रीसीताजीने कहा—

'देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहेउ जानकीं जाहु।'

और बादमें आशीर्वाद देते हुए कहा—

'अजर अमर गुननिधि सुत होहू।'

इनके नैपुण्यको देखकर ही श्रीरामने इन्हें जानकीजीके लिये संदेशवाहक बनाया। दूतका काम बड़ा ही बुद्धि और विवेकपूर्ण होता है। इस कसौटीपर भी हनुमान्‌जी खरे उतरते हैं। हित और मनोहारितामें पगी हनुमान्‌जीकी सम्मतिसे मित्र और शत्रु दोनोंका लाभ होता रहा, सुग्रीव और विभीषण दोनों उपकृत हुए। हनुमान्‌जीकी दृष्टि गुणग्राहिणी है। प्रथम दर्शनमें ही इन्होंने श्रीरामको पहचानकर स्वामी बना लिया—

'प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना।'

इनकी प्रत्युत्पन्नमति अनोखी है। समयकी परख, तदनुकूल रूपपरिवर्तन—लघु और विशाल बना लेना इनकी विपुल बुद्धिका परिचायक है। इसीलिये सुरसाने कहा था—

'राम काजु सबु करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान।'

रावणको उचित और नीतियुक्त बात कहनेमें, विभीषणसे मैत्रीमें तथा लक्ष्मणके प्राण-रक्षार्थ बूटी लानेके समय उपस्थित द्विधाके समय हनुमान्‌जीने आशुनिर्णय लिया है, जो उनकी विपुलमतिका परिचायक है।

सेवक हनुमान्—*'दूत रामरायको'* (हनु० बाहु० ८)

कहकर तुलसीदासजीने हनुमान्‌जीके सेवकरूपको प्रशस्ति दी है। ये सेवकोंके आदर्श हैं। अपने स्वामीके हित-साधनके लिये ये सदा सावधान हैं। इनके लिये न कहीं दुर्गम है और न कुछ कठिन ही। रावणसे तो इन्होंने स्पष्ट ही कहा था—

मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा॥

इन्होंने श्रीरामकी किसी भी आज्ञाका न उल्लंघन ही किया और न उनकी आनपर आँच ही आने दी। सच्चा सेवक वही है जिसकी सेवा साहेबको मूक कर दे—

'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।'

अपनी समस्त सेवाओंके लिये श्रीहनुमान्‌जीने एक ही वरदान माँगा—

नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी॥

श्रीरामके इस गुलामकी सेवावृत्ति अतुलनीय और अनुपम है।

संयोजक हनुमान्—हनुमान्‌जीके चरित्रके आध्यात्मिक पक्षपर तुलसीदासजीने विशेषरूपसे दृष्टिपात किया है। इन्होंने सदा ही जीवको ब्रह्मसे मिलानेका काम किया है। जीवरूप भक्तको भगवान्‌से मिलानेका काम किया है। सुग्रीवको इन्होंने ब्रह्म श्रीरामसे मिलाकर सनाथ कर दिया। जिससे सम्पर्कमें आते ही सुग्रीव बोल उठे—

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

मोहग्रस्त सुग्रीवको भ्रम होता रहा तथा हनुमान्‌जी सावधान रहे और समझाते रहे। सुग्रीवने इसे स्वीकारते हुए कहा है—*'बिषयँ मोर हरि लीन्हेउ ग्याना।'*

जीवरूप विभीषणको हनुमान्‌जीने श्रीरामसे मिलाया। जीवने ब्रह्मके सम्पर्कमें आकर भी मुक्ति नहीं माँगी, भक्ति ही माँगी। प्रथम साक्षात्कारमें ही भक्तरूपी जीव प्रबुद्ध हो जाता है और समझ लेता है—

तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहुँ सोक धाम तजि काम॥

ऐसा वह इसलिये समझता है कि उसके प्रभुका यही संकल्प है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

श्रीहनुमान्‌जीके इस योजक गुणको तुलसीदासजी भूल कैसे सकते थे? इनकी जीवनीके अन्त:साक्ष्य और बहि:साक्ष्यके आधारपर यह तो सर्वमान्य है कि तुलसीदासजीको श्रीहनुमान्‌जीकी कृपासे ही श्रीरामका दर्शन हुआ। यों वे सांसारिक सुख-सुविधाओंको तो देते ही रहते हैं। साथ ही वे अष्टसिद्धि और नवनिधिके दाता भी हैं—*'अष्ट सिद्धि नौ निधि के दाता।'* किंतु हनुमान्‌जीका सबसे महत्त्वपूर्ण रूप जीव और ब्रह्मके संयोजकका ही है।

⁂

'मैं खोजत-खोजत हारी रे'

कित ओर गयो बनवारी रे।
मैं खोजत-खोजत हारी रे॥

निकसत नाहीं मुखसे बतियाँ,
तोरे दरस की प्यासी अखियाँ।
चले भी आओ प्रीतम प्यारे,
कारन कौन बिसारी रे॥
मैं खोजत-खोजत हारी रे॥

अति पापी अति नीच मैं जग में,
मोसे पाप भये पग पग में।
तेरे सिवा नहीं और सहारो,
अब मोहे आस तिहारी रे॥
मैं खोजत-खोजत हारी रे॥

ऐसो 'उदास' भयो मोरो मनवा,
सुध मोरी कैसे बिसर गयो सजना।
अरज़ करत हूँ सुन मोरे रसिया,
मैं तो सरन तिहारी रे॥
मैं खोजत खोजत हारी रे॥

— श्रीविजय प्रजापति 'उदास'

संत कबीरकी प्रेम-साधना

(डॉ० श्रीबाबूलालजी वत्स, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

संत कबीर हिन्दी काव्यकी ज्ञानमार्गी शाखाके प्रवर्तक हैं। गुरुनानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास, रविदास तथा स्वामी शिवदयाल आदि कवियोंने इसी मार्गको अपनाया। अपनी सारग्राही प्रवृत्तिके कारण कबीरने प्रत्येक धर्मके सारभूत तत्त्वोंको स्वीकार किया और संतमत अर्थात् मानव-धर्मकी स्थापना की। वेदान्तका अद्वैत, सूफियोंकी प्रेम-तन्मयता, नाथपन्थियोंकी हठयोग-साधना एवं वैष्णवोंकी अहिंसाको इन्होंने स्वीकार किया।

प्रेमके सम्बन्धमें उनकी धारणा है कि जो प्रेम-व्यवहार नहीं कर सकता, उसे मनुष्य-तन ढोनेवाला बैल कहना चाहिये—

प्रेम बनिज नहिं करि सकै, चढ़ै न नाम की गैल।
मानुष केरी खालरी, ओढ़ि फिरै ज्यों बैल॥

वे कहते हैं कि जिसके हृदयमें प्रेमका सञ्चार नहीं होता, वह मृतकतुल्य है। जिस प्रकार लुहारकी चमड़ेकी धौंकनी बिना प्राणोंके भी साँस लेती है, उसी प्रकार प्रेम-शून्य व्यक्तिका जीवन भी भारस्वरूप है। संत कबीरके अनुसार प्रेमकी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं—

(१) प्रेम पूर्ण समर्पण चाहता है।

(२) प्रेमीको प्रेमपात्रके लिये प्राणोंकी बाजी लगानी पड़ती है।

(३) क्षण-क्षणमें घटने-बढ़नेवाला प्रेम प्रेम नहीं, प्रेम तो सदैव एकरस रहता है।

(४) प्रेम चिर-स्थायी होता है।

(५) प्रेमी दिन-रात प्रेममें ही लीन रहता है।

(६) प्रेम-गली बड़ी सँकरी है, इसमें दो नहीं समा सकते।

(७) यदि प्रेम बिकता हुआ सुना जाय और उसके बदलेमें सिर भी देना पड़े तो प्रेमी तत्क्षण सिर अर्पण कर देता है, तनिक भी विलम्ब नहीं करता।

(८) प्रेमपात्र चाहे हजारों मील दूर हो, वह प्रेमीके हृदयमें ही रहता है।

(९) प्रेमी और प्रेमपात्र दो शरीर एक प्राण होते हैं।

(१०) प्रेमपात्र और प्रेमीसे दोष दूर ही रहते हैं। प्रेम दोष नहीं देखता।

(११) प्रेम प्रदर्शन नहीं चाहता।

(१२) सौ बार टूटनेपर भी जो जुड़ा रहे, वही सच्चा प्रेम है।

(१३) प्रेम छिपानेसे नहीं छिपता।

(१४) बिना प्रेमके भगवान्‌के दर्शन सम्भव नहीं।

(१५) जिस प्रकार एक म्यानमें दो तलवारें नहीं रह सकतीं, उसी प्रकार अभिमान और प्रेम दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते।

(१६) प्रेम एक ऐसा नशा है, जिसे पाकर दूसरे किसी नशेकी अपेक्षा नहीं रह जाती।

(१७) प्रेम सर्वश्रेष्ठ रसायन है। एक रत्ती प्रेम सारे शरीरको सोना बना देता है।

(१८) प्रेमकी एक बूँद समुद्रसे बढ़कर है।

(१९) गुणी और धनीसे सभी प्रेम करते हैं, सच्ची प्रीति वह है जो इनसे अलग हो।

प्रेमका सौदा सीस देनेपर ही सम्भव है। ऐसे दुर्लभ प्रेमकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हुए संत कबीर कहते हैं—

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥

अर्थात् न तो प्रेम किसी बाड़ीमें पैदा होता है, न किसी बाजारमें बिकता है। राजा हो या प्रजा जिसे प्रेम रुचता हो, उसे आत्मसमर्पणकी शर्तपर ही प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है।

संत कबीरने लौकिक प्रतीकों और बिम्बोंके द्वारा पारलौकिक ईश्वरीय प्रेमकी जो गङ्गा बहायी है, वह उन-जैसे संतोंद्वारा ही सम्भव हो सकता था। कुछ शब्दचित्र देखिये—

(१) अपने प्रियके अनुराग-वर्णसे रञ्जित सम्पूर्ण विश्वको देखकर कबीर कहते हैं—

लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥

(२) उनके प्रेमकी पीर अलौकिक है, अद्भुत है।

उनके भावात्मक रहस्यवादकी एक छटा देखिये—

नैहरवा हमकाँ न भावै॥
साईंकी नगरी परम अति सुंदर, जहँ कोई जाय न आवै।
चाँद, सूरज जहँ पवन न पानी, को सँदेस पहुँचावै॥
दरद यह साईं को सुनावै॥
आगै चलौं पंथ नहिं सूझै, पीछे दोष लगावै।
केहि बिधि ससुरे जाउँ मोरी सजनी, बिरहा जोर जनावै॥
बिषैरस नाच नचावै॥
बिन सतगुरु अपनो नहिं कोई, जो यह राह बतावै।
कहत कबीर सुनो भाई साधो! सुपने न पीतम पावै॥
तपन यह जियकी बुझावै॥

यहाँ लौकिक प्रेमके माध्यमसे पारलौकिक ईश्वरीय प्रेमकी सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। विरहिणी आत्मा परमात्माके मिलनहेतु तड़प रही है और मार्गदर्शक सद्गुरुकी गुहार कर रही है। वे यदि स्वप्नमें भी प्रियसे मिला दें तो विरहकी पीर कुछ शान्त हो जाय।

(३) प्रेमकी ऐसी ही पीर निम्नाङ्कित शब्दमें भी दिखायी देती है—

कौन मिलावै मोहि जोगिया हो, जोगिया बिन रह्यो न जाय॥
हौं हिरनी पिय पारधी हो, मारे सबदके बान।
जाहि लगी सरे जान ही हो, और दरद नहिं जान॥
मैं प्यासी हौं पीवकी हो, रटत सदा पिय पीव।
पिया मिले तो जीव है, नातो सहजै त्यागो जीव॥
पिय कारन पियरी भई हो, लोग कहैं तन रोग।
चह-छह लाँघन मैं किया रे, पिया मिलनके जोग॥
कह कबीर, सुनु जोगिनी हो तनमें मनहिं मिलाय।
तुम्हरी प्रीतिके कारने हो बहुरि मिलहिंगे आय॥

यहाँ कथ्य अलौकिक है, भाषा उस अलौकिकताकी पुष्टि कर रही है। कवि पूछता है कि मुझे मेरे प्रियतम ईश्वरसे कौन मिलायेगा? उसके बिना रहा नहीं जाता। मैं हिरनी हूँ और वह शिकारी है। उसने मुझे प्रेमके बाणोंसे—शब्दके बाणोंसे घायल कर दिया है। इस दर्दको और कौन जान सकता है? मैं प्रेमकी प्यासी हूँ और पीव-पीव ही रट रही हूँ। यदि प्रियतम मिल गये तभी जीवित रह सकती हूँ, अन्यथा प्राण त्याग दूँगी। प्रियतमके कारण ही मेरी देह पीली पड़ गयी है, जबकि लोग कहते हैं कि मुझे कोई रोग लग गया है। मैंने छः-छः लङ्घन किये हैं अर्थात् पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और मनको उनमें लीन कर दिया है। कवि कहता है कि हे जीवात्मन्! तुम तनमें मनको मिलाओ, तुम्हारे प्रेमके वशीभूत होकर प्रियतम निश्चितरूपसे तुमसे मिलेंगे।

(४) प्रियतमसे मिलनेके लिये प्रेमी अपनी आँखें बिछा दी हैं। प्रियको पुकारते-पुकारते जीभमें छाले पड़ गये हैं, किंतु उनके दर्शन नहीं हुए। प्रेमकी पीर कितनी गहरी है, कहते नहीं बनती—

अंखड़ियाँ झाईं पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, पीव पुकारि पुकारि॥

(५) संत कबीर अपना तन जलाकर कोयला कर देना चाहते हैं, इस मसिसे रामका नाम लिखना चाहते हैं। अस्थियोंकी लेखनीसे उनका नाम लिख-लिखकर उनके पास भेजना चाहते हैं ताकि उन्हें विरहिणी प्रेमिकाके दर्दकी जानकारी हो जाय। वे कहते हैं—

या तन जारौं मसि करौं, लिखूँ राम को नाँव।
लेखनि करौं करंक की, लिखि लिखि नाम पठाँव॥

(६) उनके प्राण कब निकल जायँगे, इसका उन्हें ज्ञान नहीं; क्योंकि यह शरीर तो दस दरवाजोंका पिंजरा है, जिसमें प्राणवायुरूपी पक्षी कैद है। वह इसमें रह कैसे रहा है यही अचम्भा है; चले जानेमें कौन-सा विस्मय है?

दस द्वारे का पींजरा, ता में पंछी पौन।
रहिबे कौ आचरज है, गए अचंभा कौन॥

(७) और एक समय ऐसा भी आता है कि विरहिणी जीवात्मा मृत्युको गले लगा लेनेके लिये न केवल तत्पर ही होती है, अपितु उसमें परमानन्दकी अनुभूति करती है—

जा मरने से जग डरे, मेरे मन आनंद।
कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरन परमानंद॥

अपनी इसी उत्कट प्रेम-साधनाके बलपर संत कबीर कह सके—

कबीर मन निर्मल भया जैसा गंगा नीर।
पाछै लागो हरि फिरहिं, कहत कबीर कबीर॥

गीता और प्रेमतत्त्व एवं श्रीगौराङ्ग

(आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
(१८।६५)

इसमें प्रेमतत्त्वकी व्याख्या है—

(प्रे) मुझमें अपना मन लगाओ।
(म) मेरे भक्त बनो।
(त) मेरा यजन करो।
(त्व) मुझे नमस्कार करो।

तुम मेरे प्रिय हो, सत्य कहता हूँ, तुम मुझे ही प्राप्त होओगे।

गीताके अठारहवें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णका यह अन्तिम उपदेश है। गीता सब शास्त्रोंका सार है। उसमें भी ६५-६६ के दो श्लोक परम सार हैं, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे पार्थने गुप्त-से-गुप्त अनेक तत्त्वोंके उपदेश अच्छी तरह सुने, समझे, शंकाएँ कीं, प्रश्न किये, किंतु कहीं भी ऐसा प्रेममय मधुर उपदेश—हृदयमें छिपा हुआ प्रेम-धन प्यारे सखाको नहीं मिला! यहाँ तो प्राणोंके प्राण प्रियतमश्रेष्ठ कहते हैं—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
(१८।६४)

फिर मेरा सब गुह्योंसे भी गुह्यतम परम वचन सुन, तू मेरा अत्यन्त प्यारा है इसलिये तेरे हितकी कहूँगा।

भगवान् श्रीकृष्णके यह तो वचन ही हैं कि **'गीता मे हृदयं पार्थ'** और यह भी नियमकी बात है कि बाहरका सब धन व्यय हो जानेपर ही खजानेमें छिपा हुआ धन निकलता है। इसीसे गीतारूपी हृदयमें जो गुप्त प्रेम-धन (तत्त्व) था, वह अन्तमें धनञ्जयको ही मिला। तभी तो अर्जुनकी अन्तिम उक्ति तृप्तिपूर्ण है, वे कहते हैं—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥
(१८।७३)

हे अच्युत! तुम्हारी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया, मैंने स्मृति पा ली, संदेह दूर हुआ, (अब) स्थित हूँ, आपके कथनानुसार करूँगा।

यहींपर श्रीकृष्णार्जुन-संवादकी समाप्ति है। अच्युत शब्दके सम्बोधनसे यह भाव प्रकट होता है कि भगवान् श्रीकृष्णने व्रजमें सञ्चित प्रेम-धनको मथुरा, द्वारका, इन्द्रप्रस्थमें खूब वितरण किया, पर वह घटा नहीं। उस प्रेम-धनके खजानेमें जो अमूल्य रत्न प्रेमतत्त्व था, वह कुरुक्षेत्रमें प्यारे कौन्तेयको दिया गया। व्रजमें सञ्चित प्रेमका तत्त्व तो इसी एक उदाहरणसे ज्ञात होता है कि जिस समय श्रीकृष्णने प्रिय सहचर उद्धवको वृन्दावन भेजा, उस समय उसे प्रेम-प्रतिमा व्रजबालाने सहज स्वभावसे यही तो कहा—

कौन ब्रह्मकी ज्योति, ज्ञान कासों कह ऊधो।
मोरे सुन्दर श्याम, प्रेमको मारग सूधो सखा सुन श्यामके॥

श्रीकृष्णने ६५वें श्लोकके पूर्वार्द्धमें जो चार बातें कहीं हैं, वे ठीक प्रेमको पुष्ट करती हुई उसके तत्त्वतक पहुँचानेवाली हैं। इतना हो जानेपर प्रेमी और प्रेमपात्रमें भेद नहीं रहता। गीता-शास्त्रका उपसंहार भी इसी गुह्यतम तत्त्वपर हुआ है। जो तत्त्व आग्रह और प्रेमपूर्वक प्रिय सम्बोधनके साथ दोको एक करता है, वही प्रेमतत्त्व है।

लेखके शीर्षकके अनुसार गीता और गौराङ्गका क्या सम्बन्ध है? शिक्षित समाजको यह बात भलीभाँति विदित है कि द्वापरयुगके शेषमें श्रीकृष्णभगवान् अवतीर्ण हुए थे। भगवान्‌ने अधर्मका नाश कर धर्मका प्रकाश किया। महापुरुषोंका तो यह अनुभव है कि अनन्य भक्तोंकी चिर कालसे बढ़ी हुई प्रेम-पिपासाका शमन करनेके लिये ही भगवान् परिपूर्णरूपसे अवतीर्ण हुए थे। परंतु इसमें भी संदेह नहीं कि श्रीकृष्णने ही श्रीकृष्ण-चैतन्यरूपसे अवतार लेकर श्रीकृष्णावतारके शेष कार्यको श्रीचैतन्यावतारमें पूर्ण किया था। शास्त्र-शृङ्खलासे भी यही ज्ञात होता है, क्योंकि सत्ययुगमें ध्यान, त्रेतामें यज्ञ, द्वापरमें परिचर्या और कलिमें नाम-संकीर्तन—ये ही चारों युगोंके चार साधन हैं। जीवोंकी सांसारिक स्थिति युग-युगमें पृथक्-पृथक् होती है। अन्य युगोंमें मनुष्य धीशक्ति-सम्पन्न होते हैं, सदुपदेशोंको धारण कर धर्मका आचरण करते हैं। किंतु कलियुगके जीवोंमें

अन्तर है, श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

'मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः॥'

(कलिके मनुष्य) मन्द-मति और मन्द-भाग्य होते हैं। इन धारणशक्तिविहीन दुर्बल बुद्धिवालोंके लिये उपदेशसे काम नहीं चलता, आवश्यकता होती है स्वयं आचरण करके शिक्षा देनेकी। जिस समय यह आवश्यकता हुई उस समय गीता (३। २४)-की इस उक्तिके अनुसार—

'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।'

—परम दयालु श्रीकृष्णने कलिके साधनकी स्वयं आचारद्वारा शिक्षा देनेके लिये श्रीकृष्णचैतन्यरूपसे अवतार ग्रहण किया।

श्रीगौराङ्गके प्रेमतत्त्व-प्रचारके विषयमें विस्तारभयसे अधिक न लिखकर इतना कथन पर्याप्त होगा कि आपको प्रेमावतार-नामसे ही ग्रन्थोंमें सम्बोधित किया गया है—

प्रेमभक्ति-शिक्षार्थ, आपनि अवतार,
राधाभाव कान्ति दुई करी अङ्गीकार।
(चै०च०)

श्रीकृष्णने गीतामें प्रेमतत्त्वका प्रकाश किया और श्रीचैतन्यने स्वयं आचरणद्वारा उस तत्त्वका प्रचार किया—'सब तत्त्वोंका समावेश प्रेमतत्त्वमें है।'

* * *

भक्तोंके पावन चरित—

प्रेमी भक्त बिल्वमङ्गलकी प्रेम-लीला

[श्रीलीलाशुक]

दक्षिण प्रदेशमें कृष्णवीणानदीके तटपर एक ग्राममें रामदास नामक भगवद्भक्त ब्राह्मण निवास करते थे। उन्हींके पुत्रका नाम बिल्वमङ्गल था। पिताने यथासाध्य पुत्रको धर्मशास्त्रोंकी शिक्षा दी थी। बिल्वमङ्गल पिताकी शिक्षा तथा उनके भक्तिभावके प्रभावसे बाल्यकालमें ही अति शान्त, शिष्ट और श्रद्धावान् हो गया था। परंतु दैवयोगसे पिता-माताके देहावसान होनेपर जबसे घरकी सम्पत्तिपर उसका अधिकार हुआ, तभीसे उसके कुसङ्गी मित्र वहाँ जुटने लगे।

सङ्गदोषसे बिल्वमङ्गलके अन्तःकरणमें अनेक दोषोंने अपना घर कर लिया। एक दिन गाँवमें कहीं चिन्तामणि नामकी वेश्याका नाच था, शौकीनोंके दल-के-दल नाचमें जा रहे थे। बिल्वमङ्गल भी अपने मित्रोंके साथ वहाँ जा पहुँचा। वेश्याको देखते ही बिल्वमङ्गलका मन चञ्चल हो उठा, विवेकशून्य बुद्धिने सहारा दिया, बिल्वमङ्गल डूबा और उसने हाड़-मांसभरे चामके कल्पित रूपपर अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया—तन, मन, धन, कुल, मान, मर्यादा और धर्म सबको उत्सर्ग कर दिया! ब्राह्मणकुमारका पूरा पतन हुआ। सोते-जागते, उठते-बैठते और खाते-पीते सब समय बिल्वमङ्गलके चिन्तनकी वस्तु केवल एक 'चिन्ता' ही रह गयी।

बिल्वमङ्गलके पिताका श्राद्ध है, इसलिये आज वह नदीके उस पार चिन्तामणिके घर नहीं जा सकता। श्राद्धकी तैयारी हो रही है। विद्वान् कुलपुरोहित बिल्वमङ्गलसे श्राद्धके मन्त्रोंकी आवृत्ति करवा रहे हैं, परंतु उसका मन 'चिन्तामणि' की चिन्तामें निमग्न है। उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। किसी प्रकार श्राद्ध समाप्तकर जैसे-तैसे ब्राह्मणोंको झटपट भोजन करवाकर बिल्वमङ्गल चिन्तामणिके घर जानेको तैयार हुआ। सन्ध्या हो चुकी थी, लोगोंने समझाया कि 'भाई! आज तुम्हारे पिताका श्राद्ध है, वेश्याके घर नहीं जाना चाहिये।' परंतु कौन सुनता था। उसका हृदय तो कभीका धर्म-कर्मसे शून्य हो चुका था।

बिल्वमङ्गल दौड़कर नदीके किनारे पहुँचा। भगवान्की माया अपार है, अकस्मात् प्रबल वेगसे तूफान आया और उसीके साथ मूसलाधार वर्षा होने लगी। आकाशमें अन्धकार छा गया, बादलोंकी भयानक गर्जना और बिजलीकी कड़कड़ाहटसे जीवमात्र भयभीत हो गये। रात-दिन नदीमें रहनेवाले केवटोंने भी नावोंको किनारे बाँधकर वृक्षोंका आश्रय लिया, परंतु बिल्वमङ्गलपर इन सबका कोई असर नहीं पड़ा। उसने केवटोंसे उस पार ले चलनेको

कहा, बारम्बार विनती की, उतराईका भी गहरा लालच दिया; परंतु मृत्युका सामना करनेको कौन तैयार होता। सबने इन्कार कर दिया। ज्यों-ज्यों विलम्ब होता था, त्यों-ही-त्यों बिल्वमङ्गलकी व्याकुलता बढ़ती जाती थी। अन्तमें वह अधीर हो उठा और कुछ भी आगा-पीछा न सोचकर तैरकर पार जानेके लिये सहसा नदीमें कूद पड़ा। भयानक दुःसाहस कर्म था, परंतु **'कामातुराणां न भयं न लज्जा।'** संयोगवश नदीमें एक मुर्दा बहा जा रहा था। बिल्वमङ्गल तो बेहोश था, उसने उसे काठ समझा और उसीके सहारे नदीके उस पार चला गया। उसे कपड़ोंकी सुध नहीं है, बिलकुल दिगम्बर हो गया है, चारों ओर अन्धकार छाया हुआ है, बनैले पशु भयानक शब्द कर रहे हैं, कहीं मनुष्यकी गन्ध भी नहीं आती, परंतु बिल्वमङ्गल उन्मत्तकी भाँति अपनी धुनमें चला जा रहा है। कुछ ही दूरपर चिन्तामणिका घर था। श्राद्धके कारण आज बिल्वमङ्गलके आनेकी बात नहीं थी, अतएव चिन्ता घरके सब दरवाजोंको बंद करके निश्चिन्त होकर सो चुकी थी। बिल्वमङ्गलने बाहरसे बहुत पुकारा; परंतु तूफानके कारण अंदर कुछ भी नहीं सुनायी पड़ा। बिल्वमङ्गलने इधर-उधर ताकते हुए बिजलीके प्रकाशमें दीवालपर एक रस्सा-सा लटकता देखा, तुरंत उसने उसे पकड़ा और उसीके सहारे दीवाल फाँदकर अंदर चला गया। चिन्ताको जगाया। वह तो इसे देखते ही स्तम्भित-सी रह गयी! नंगा बदन, सारा शरीर पानीसे भीगा हुआ, भयानक दुर्गन्ध आ रही है। उसने कहा—'तुम इस भयावनी रातमें नदी पार करके बंद घरमें कैसे आये?' बिल्वमङ्गलने काठपर चढ़कर नदी पार होने और रस्सेकी सहायतासे दीवालपर चढ़नेकी कथा सुनायी! वृष्टि थम चुकी थी। चिन्ता दीपक हाथमें लेकर बाहर आयी, देखती है तो दीवालपर भयानक काला नाग लटक रहा है और नदीके तीर सड़ा मुर्दा पड़ा है। बिल्वमङ्गलने भी देखा और देखते ही काँप उठा। चिन्ताने भर्त्सना करके कहा—'तू ब्राह्मण है? अरे! आज तेरे पिताका श्राद्ध था, परंतु एक हाड़-मांसकी पुतलीपर तू इतना आसक्त हो गया कि अपने सारे धर्म-कर्मको तिलाञ्जलि देकर इस डरावनी रातमें मुर्दे और साँपकी सहायतासे यहाँ दौड़ा आया! तू आज जिसे परम सुन्दर समझकर इस तरह पागल हो रहा है, उसका भी एक दिन तो वही परिणाम होनेवाला है, जो तेरी आँखोंके सामने इस सड़े मुर्देका है! धिक्कार है तेरी इस नीच वृत्तिको! अरे! यदि तू इसी प्रकार उन मनमोहन श्यामसुन्दरपर आसक्त होता—यदि उनसे मिलनेके लिये यों छटपटाकर दौड़ता तो अबतक उन्हें पाकर तू अवश्य ही कृतार्थ हो चुका होता!'

वेश्याकी वाणीने बड़ा काम किया! बिल्वमङ्गल चुप होकर सोचने लगा। बाल्यकालकी स्मृति उसके मनमें जाग उठी। पिताजीकी भक्ति और उनकी धर्मप्राणताके दृश्य उसकी आँखोंके सामने मूर्तिमान् होकर नाचने लगे। बिल्वमङ्गलकी हृदयतन्त्री नवीन सुरोंसे बज उठी, विवेककी अग्निका प्रादुर्भाव हुआ, भगवत्प्रेमका समुद्र उमड़ा और उसकी आँखोंसे अश्रुओंकी अजस्र धारा बहने लगी। बिल्वमङ्गलने चिन्तामणिके चरण पकड़ लिये और कहा—'माता! तूने आज मुझको दिव्य दृष्टि देकर कृतार्थ कर दिया।' मन-ही-मन चिन्तामणिको गुरु मानकर प्रणाम किया और उसी क्षण जगच्चिन्तामणिकी चारु चिन्तामें निमग्न होकर उन्मत्तकी भाँति चिन्ताके घरसे निकल पड़ा। बिल्वमङ्गलके जीवन-नाटककी यवनिकाका परिवर्तन हो गया।

श्यामसुन्दरकी प्रेममयी मनोहर मूर्तिका दर्शन करनेके लिये बिल्वमङ्गल पागलकी तरह जगह-जगह भटकने लगा। कई दिनोंके बाद एक दिन अकस्मात् उस रास्तेमें एक परम रूपवती युवती दीख पड़ी, पूर्व-संस्कार अभी सर्वथा नहीं मिटे थे। युवतीका सुन्दर रूप देखते ही नेत्र चञ्चल हो उठे और नेत्रोंके साथ ही मन भी खिंचा।

बिल्वमङ्गलको फिर मोह हुआ। भगवान्‌को भूलकर वह पुनः पतङ्ग बनकर विषयाग्निकी ओर दौड़ा। बिल्वमङ्गल युवतीके पीछे-पीछे उसके मकानतक गया। युवती अपने घरके अंदर चली गयी, बिल्वमङ्गल उदास होकर घरके दरवाजेपर बैठ गया। घरके मालिकने बाहर आकर देखा कि एक मलिनमुख अतिथि ब्राह्मण बाहर बैठा है। उसने

कारण पूछा। बिल्वमङ्गलने कपट छोड़कर सारी घटना सुना दी और कहा कि 'मैं एक बार फिर उस युवतीको प्राण भरकर देख लेना चाहता हूँ, तुम उसे यहाँ बुलवा दो।' युवती उसी गृहस्थकी धर्मपत्नी थी, गृहस्थने सोचा कि इसमें हानि ही क्या है; यदि उसके देखनेसे ही इसकी तृप्ति होती हो तो अच्छी बात है। अतिथिवत्सल गृहस्थ अपनी पत्नीको बुलानेके लिये अंदर गया। इधर बिल्वमङ्गलके मन-समुद्रमें तरह-तरहकी तरङ्गोंका तूफान उठने लगा।

जो एक बार अनन्यचित्तसे उन अशरणशरणकी शरणमें चला जाता है, उसके योगक्षेम* का सारा भार वे अपने ऊपर उठा लेते हैं। आज बिल्वमङ्गलको सँभालनेकी भी चिन्ता उन्हींको पड़ी। दीनवत्सल भगवान्‌ने अज्ञानान्ध बिल्वमङ्गलको दिव्य चक्षु प्रदान किये; उसको अपनी अवस्थाका यथार्थ ज्ञान हुआ, हृदय शोकसे भर गया और न मालूम क्या सोचकर उसने पासके बेलके पेड़से दो काँटे तोड़ लिये। इतनेमें ही गृहस्थकी धर्मपत्नी वहाँ आ पहुँची, बिल्वमङ्गलने उसे फिर देखा और मन-ही-मन अपनेको धिक्कार देकर कहने लगा कि 'अभागी आँखें! यदि तुम न होतीं तो आज मेरा इतना पतन क्यों होता?' इतना कहकर बिल्वमङ्गलने—चाहे यह उसकी कमजोरी हो या और कुछ—उस समय उन चञ्चल नेत्रोंको दण्ड देना ही उचित समझा और तत्काल उन दोनों काँटोंको दोनों आँखोंमें भोंक लिया! आँखोंसे रुधिरकी अजस्र धारा बहने लगी! बिल्वमङ्गल हँसता और नाचता हुआ तुमुल हरि-ध्वनिसे आकाशको गुँजाने लगा। गृहस्थको और उसकी पत्नीको बड़ा दुःख हुआ, परंतु वे बेचारे निरुपाय थे। बिल्वमङ्गलका बचा-खुचा चित्त-मल भी आज सारा नष्ट हो गया और अब तो वह उन अनाथके नाथको अति शीघ्र पानेके लिये बड़ा ही व्याकुल हो उठा। उसके जीवननाटकका यह तीसरा पट-परिवर्तन हुआ!

परम प्रियतम श्रीकृष्णके वियोगकी दारुण व्यथासे उसकी फूटी आँखोंने चौबीसों घंटे आँसुओंकी झड़ी लगा दी। न भूखका पता है न प्यासका, न सोनेका ज्ञान है और न जगनेका। 'कृष्ण-कृष्ण' की पुकारसे दिशाओंको गुँजाता हुआ बिल्वमङ्गल जंगल-जंगल और गाँव-गाँवमें घूम रहा है! जिस दीनबन्धुके लिये जान-बूझकर आँखें फोड़ीं, जिस प्रियतमको पानेके लिये ऐश-आरामपर लात मारी, वह मिलनेमें इतना विलम्ब करे—यह भला, किसीसे कैसे सहन हो? पर '**जो सच्चे प्रेमी होते हैं, वे प्रेमास्पदके विरहमें जीवनभर रोया करते हैं, सहस्त्रों आपत्तियोंको सहन करते हैं, परंतु उसपर दोषारोपण कदापि नहीं करते, उनको अपने प्रेमास्पदमें कभी कोई दोष दीखता ही नहीं**'—ऐसे प्रेमीके लिये प्रेमास्पदको भी कभी चैन नहीं पड़ता। उसे दौड़कर आना ही पड़ता है।

आज अन्धा बिल्वमङ्गल श्रीकृष्णप्रेममें मतवाला होकर जहाँ-तहाँ भटक रहा है। कहीं गिर पड़ता है, कहीं टकरा जाता है, अन्न-जलका तो कोई ठिकाना ही नहीं। ऐसी दशामें प्रेममय श्रीकृष्ण कैसे निश्चिन्त रह सकते हैं। एक छोटेसे गोप-बालकके वेषमें भगवान् बिल्वमङ्गलके पास आकर अपनी मुनिमनमोहिनी मधुर वाणीसे बोले—सूरदासजी! आपको बड़ी भूख लगी होगी, मैं कुछ मिठाई लाया हूँ, जल भी लाया हूँ; आप इसे ग्रहण कीजिये।' बिल्वमङ्गलके प्राण तो बालकके उस मधुर स्वरसे ही मोहे जा चुके थे, उसके हाथका दुर्लभ प्रसाद पाकर तो उसका हृदय हर्षके हिलोरोंसे उछल उठा! बिल्वमङ्गलने बालकसे पूछा—'भैया! तुम्हारा घर कहाँ है, तुम्हारा नाम क्या है? तुम क्या किया करते हो?'

बालकने कहा—'मेरा घर पास ही है, मेरा कोई खास नाम नहीं; जो मुझे जिस नामसे पुकारता है, मैं उसीसे बोलता हूँ, गौएँ चराया करता हूँ। मुझसे जो प्रेम करते हैं, मैं भी उनसे प्रेम करता हूँ।' बिल्वमङ्गल बालककी वीणा-विनिन्दित वाणी सुनकर विमुग्ध हो गया! बालक जाते-जाते कह गया कि 'मैं रोज आकर आपको भोजन करवा जाया करूँगा।' बिल्वमङ्गलने कहा—'बड़ी अच्छी बात है; तुम रोज आया करो।' बालक चला गया और बिल्वमङ्गलका मन भी साथ लेता गया। 'मनचोर'

---

* भगवत्प्राप्तिका नाम 'योग' और उसके निमित्त किये हुए साधनोंकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है।

तो उसका नाम ही ठहरा! अनेक प्रकारकी सामग्रियोंसे भोग लगाकर भी लोग जिनकी कृपाके लिये तरसा करते हैं, वही कृपासिन्धु रोज बिल्वमङ्गलको अपने करकमलोंसे भोजन करवाने आते हैं? धन्य है! भक्तके लिये भगवान् क्या-क्या नहीं करते।

बिल्वमङ्गल अबतक यह तो नहीं समझा कि मैंने जिसके लिये फ़क़ीरीका बाना लिया और आँखोंमें काँटे चुभाये, वह बालक यही है; परंतु उस गोप-बालकने उसके हृदयपर इतना अधिकार अवश्य जमा लिया कि उसको दूसरी बातका सुनना भी असह्य हो उठा। एक दिन बिल्वमङ्गल मन-ही-मन विचार करने लगा कि 'सारी आफतें छोड़कर यहाँतक आया, यहाँ यह नयी आफत आ गयी। स्त्रीके मोहसे छूटा तो इस बालकके मोहने घेर लिया।' यों सोच ही रहा था कि वह रसिक बालक उसके पास आ बैठा और अपनी दीवाना बना देनेवाली वाणीसे बोला—'बाबाजी! चुपचाप क्या सोचते हो? वृन्दावन चलोगे?' वृन्दावनका नाम सुनते ही बिल्वमङ्गलका हृदय हरा हो गया, परंतु अपनी असमर्थता प्रकट करता हुआ बोला—'भैया! मैं अन्धा वृन्दावन कैसे जाऊँ?' बालकने कहा—'यह लो मेरी लाठी, मैं इसे पकड़े-पकड़े तुम्हारे साथ चलता हूँ!' बिल्वमङ्गलका मुख खिल उठा, लाठी पकड़कर भगवान् भक्तके आगे-आगे चलने लगे। धन्य दयालुता! भक्तकी लाठी पकड़कर मार्ग दिखलाते हैं। थोड़ी-सी दूर जाकर बालकने कहा—'लो! वृन्दावन आ गया, अब मैं जाता हूँ।' बिल्वमङ्गलने बालकका हाथ पकड़ लिया, हाथका स्पर्श होते ही सारे शरीरमें बिजली-सी दौड़ गयी, सात्त्विक प्रकाशसे सारे द्वार प्रकाशित हो उठे, बिल्वमङ्गलने दिव्य दृष्टि पायी और उसने देखा कि बालकके रूपमें साक्षात् मेरे श्यामसुन्दर ही हैं। बिल्वमङ्गलका शरीर रोमाञ्चित हो गया, आँखोंसे प्रेमाश्रुओंकी अनवरत धारा बहने लगी, भगवान्का हाथ उसने और भी जोरसे पकड़ लिया और कहा—'अब पहचान लिया है, बहुत दिनोंके बाद पकड़ सका हूँ। प्रभु! अब नहीं छोड़नेका!' भगवान्ने कहा—'छोड़ते हो कि नहीं?' बिल्वमङ्गलने कहा—'नहीं, कभी नहीं, त्रिकालमें भी नहीं।'

भगवान्ने जोरसे झटका देकर हाथ छुड़ा लिया। भला, जिनके बलसे बलान्वित होकर मायाने सारे जगत्को पददलित कर रखा है, उनके बलके सामने बेचारा अन्धा क्या कर सकता था। परंतु उसने एक ऐसी रज्जुसे उनको बाँध लिया था कि जिससे छूटकर जाना उनके लिये बड़ी टेढ़ी खीर थी! हाथ छुड़ाते ही बिल्वमङ्गलने कहा—जाते हो? पर स्मरण रखो—

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

हाथ छुड़ाये जात हौ, निबल जानि कै मोहि।
हिरदै तें जब जाहुगे, सबल बदौंगो तोहि॥

भगवान् नहीं जा सके! जाते भी कैसे। प्रतिज्ञा कर चुके हैं—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'
(गीता ४। ११)

'जो मुझको जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।'

भगवान्ने बिल्वमङ्गलकी आँखोंपर अपना कोमल करकमल फिराया, उसकी आँखें खुल गयीं। नेत्रोंसे प्रत्यक्ष भगवान्को देखकर—उनकी भुवनमोहिनी अनूप रूपराशिके दर्शन पाकर बिल्वमङ्गल अपने-आपको सँभाल नहीं सका। वह चरणोंमें गिर पड़ा और प्रेमाश्रुओंसे प्रभुके पावन चरणकमलोंका प्रक्षालन करने लगा!

भगवान्ने उठाकर उसे अपनी छातीसे लगा लिया। भक्त और भगवान्के मधुर मिलनसे समस्त जगत्में मधुरता छा गयी। देवता पुष्पवृष्टि करने लगे। संतों—भक्तोंके दल नाचने लगे। हरिनामकी पवित्र ध्वनिसे आकाश परिपूर्ण हो गया। भक्त और भगवान् दोनों धन्य हुए। वेश्या चिन्तामणि, गृहस्थ और उनकी पत्नी भी वहाँ आ गयीं, भक्तके प्रभावसे भगवान्ने उन सबको अपना दिव्य दर्शन देकर कृतार्थ किया।

बिल्वमङ्गल जीवनभर भक्तिका प्रचार करके भगवान्की महिमा बढ़ाते रहे और अन्तमें गोलोकधाम पधारे।

लीलाशुककी प्रेमपूरित वाणी—

यावन्न मे नरदशा दशमी दृशोऽपि
रन्ध्रादुदेति तिमिरीकृतसर्वभावा।
लावण्यकेलिभवनं तव तावदेतु
लक्ष्म्या समुत्क्वणितवेणु मुखेन्दुबिम्बम्॥
आलोललोचनविलोकितकेलिधारा-
नीराजिताग्रसरणेः करुणाम्बुराशेः।
आर्द्राणि वेणुनिनदैः प्रतिनादपूरै-
राकर्णयामि मणिनूपुरशिञ्जितानि॥

(श्रीकृष्णकर्णामृत १।३८-३९)

प्रभो! इसके पूर्व ही कि मेरी अन्यान्य इन्द्रियोंके साथ नयन-रन्ध्रोंसे भी मनुष्य-शरीरकी अन्तिम दशा (मरणावस्था) प्रकट हो जाय—जिस अवस्थामें सारी वस्तुएँ अन्धकारमय, अदृश्य हो जाती हैं—ऐसी कृपा होनी चाहिये कि आपका गोल-गोल चाँद-सा मुखड़ा, जो लावण्यका क्रीडास्थल है और जिसके अधरोंसे लगी हुई बाँसुरी ऊँचे स्वरसे बजती रहती है, अपनी समग्र शोभाके साथ उन नेत्र-रन्ध्रोंके सामने उपस्थित हो जाय! प्रभो! वह दिन कब होगा जब करुणा-वरुणालय आपके आगेके मार्गका श्रीगोपीजनोंके नेत्रोंसे निकलती हुई विलासपूर्ण दृष्टिकी परम्परासे नीराजन होता चलेगा और मैं गूँजते हुए आपके वंशी-नादके साथ-साथ आपके मणिजटित नूपुरोंकी रसमयी ध्वनिको सुनकर निहाल होता रहूँगा?

हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो
हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो।
हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम
हा हा कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे॥

(१।४०)

हे देव! हे प्रियतम! हे एकमात्र जगद्बन्धो! हे श्रीकृष्ण! हे चपल! हे करुणाके अनुपम सागर! हे नाथ! हे प्राणाराम! हे नयनाभिराम श्याम! आप हमारे नेत्रगोचर कब होंगे?

प्रेमदं च मे कामदं च मे वेदनं च मे वैभवं च मे।
जीवनं च मे जीवितं च मे दैवतं च मे देव नापरम्॥

(१।९९)

हे देव! आपके सिवा मुझे प्रेम-दान करनेवाला, मेरा मनोरथ पूर्ण करनेवाला, मेरा अनुभव, ऐश्वर्य, जीवन, प्राणाधार और देवता अन्य कोई नहीं है।

परमिममुपदेशमाद्रियध्वं
निगमवनेषु नितान्तचारखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु बल्लवीना-
मुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्॥

(२।२८)

उपनिषदोंके बीहड़ जंगलोंमें घूमते-घूमते नितान्त श्रान्त हुए लोगो! मेरे इस सर्वश्रेष्ठ उपदेशको आदरपूर्वक सुनो! तुम्हें उपनिषदोंके सार-तत्त्व—वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्मकी यदि खोज हो तो उसे व्रजाङ्गनाओंके घरोंमें ऊखलसे बँधा हुआ देख लो।

गोपालाजिरकर्दमे विहरसे विप्राध्वरे लज्जसे
ब्रूषे गोधनहुंकृतैः स्तुतिशतैर्मौनं विधत्से विदाम्।
दास्यं गोकुलपुंश्चलीषु कुरुषे स्वाम्यं न दान्तात्मसु
ज्ञातं कृष्ण तवाङ्घ्रिपङ्कजयुगं प्रेमाचलं मञ्जुलम्॥

(२।८३)

श्रीकृष्ण! तुम ग्वालोंके आँगनकी कीचड़में बड़े चावसे खेलते हो—किंतु वेदपाठी ब्राह्मणोंकी यज्ञशालामें पैर रखनेमें भी लजाते हो; गौओं एवं बछड़ोंका शब्द सुनते ही उन्हें 'हीयो-हीयो' करके बड़े प्रेमसे पुकारने लगते हो, किंतु बड़े-बड़े ज्ञानियोंके सैकड़ों बार स्तुति करनेपर भी तुम्हारे मुखसे एक शब्द भी नहीं निकलता, तुम मौनी बाबा बन जाते हो। गोकुलकी पुंश्चलियोंकी गुलामी करनेमें—उनके घरके मामूली-से-मामूली काम करनेमें भी अपना अहोभाग्य समझते हो और जिन्होंने योगाभ्यासके द्वारा अपने मनको वशमें कर लिया है—ऐसे योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंके स्वामी बननेमें भी सकुचाते हो, उन्हें अपनी सेवाका सौभाग्य नहीं प्रदान करते! मैंने जान लिया कि तुम्हारे मनोहर चरणारविन्द प्रेमसे ही वशीभूत होते हैं, अन्य किसी साधनसे उन्हें वशमें करना शक्य नहीं है।

साइटिका-रोगसे मुक्ति

(श्रीएस० नारायणजी वैद्य, एम्०ए०)

साइटिका क्या है? संक्षेपमें कहा जा सकता है कि नस-नाड़ियोंकी रक्त-सञ्चार-प्रणालीमें बाधा होना साइटिका है। मानवका शरीर एक यन्त्रके समान है। एक उदाहरणसे इसकी गम्भीरता और इसके महत्त्वको समझा जा सकता है—

साइकिल, मोटरसाइकिल, मोटर-कार अथवा वायुयानको लें। इन सबोंमें टायर लगे रहते हैं। टायरके अंदर ट्यूब रहता है। ट्यूबमें बोल्ट लगा रहता है। यदि बोल्ट नहीं हो या खराब हो तो ट्यूबमें हवा नहीं आयेगी। ट्यूबकी हवाकी पूर्णतासे ही टायर कड़ा, भरा और भारवाहक बनता है। विचारनेकी बात है कि बोल्टका अस्तित्व और मूल्य अल्पतम है। किंतु इसका महत्त्व सर्वोपरि है। उसी प्रकार इस शरीररूपी यन्त्रमें प्रत्येक अङ्ग-उपाङ्गमें अनेकों मोटे एवं पतले सूक्ष्म तन्तुओंका जाल फैला हुआ है। जिस प्रकार एक छोटा-सा ब्रेक वाहनके संचालनको बाधित कर देता है, रोक देता है, निष्क्रिय बना देता है; उसी प्रकार साइटिकासे शरीरका संचालन बाधित होता है। साइटिकासे कभी-कभी लकवा—पक्षाघात-जैसी बीमारी भी हो जाती है।

साइटिका होनेके कुछ कारण इस प्रकार हैं— (१) अनियमित आहार-विहार, (२) असन्तुलित रात्रि-जागरण (असन्तुलित रात्रि-जागरण ताप है, दु:ख है, क्लेश है और प्रात:काल उठना तप कहा गया है।), (३) असन्तुलित सहवास, (४) नशीली, कामोन्मादक वस्तुओंका सेवन, (५) क्षमतासे अधिक परिश्रम और परिश्रमके अनुपातमें आहारका अभाव। प्राय: यह रोग ३५ वर्षसे ५५ वर्षकी उम्रमें होता है, यह स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंको अधिक होता है।

साइटिकाके लक्षण—पैरोंमें झुनझुनाहट, घुटना-जाँघमें असहनीय वेदना, खड़े होने एवं चलनेपर नसमें एक ही स्थानपर दर्द, जैसे कोई जोर लगाकर नस खींच रहा हो।

उपचार—सुविज्ञजनोंको यह ज्ञात होना चाहिये कि व्यायाम-कसरत करनेवालोंको आलस नहीं होता है। आसन करनेवालोंको रोग तथा सम्यक् प्राणायाम करनेवालोंको पाप (दुष्कर्म करनेका मनोभाव) नहीं होता है।

(१) ताँबेके बर्तनमें तुलसीकी पाँच पत्तियाँ डालकर जल भरकर रात्रिमें रख दें। (दिनमें ही दो-चार दिनोंके लिये तुलसीकी पत्तियाँ तोड़ लें। रात्रिमें तुलसीकी पत्तीको तोड़नेका निषेध है। इसका यह भी रहस्य है कि दिनमें सूर्य-रश्मियोंके प्रभावसे, फल, फूल, पत्तियोंमें रोगनिरोधक क्षमता पर्याप्त रहती है।) प्रात:काल उसी जलसे, आँख धोकर, कुल्ला कर, नौ घूँट या अठारह घूँट जल पी लें। दो-चार मिनट टहलनेसे शौच जानेकी इच्छा हो सकती है।

शौचसे निबटकर नीचे लिखा आसन करें—

(२) **शयन-आसन**—यह सरल आसन है। चौकी, जमीन या फर्शपर मात्र चादर या दरी बिछाकर चित लेटें। तलवोंमें सरसोंका तेल लगा रहना चाहिये। प्रसन्नचित्त लेटकर धीरे-धीरे साँस लें और छोड़ें। साँस नाकसे ही लेनी और छोड़नी चाहिये।

(३) जैसे दोनों हाथसे ताली बजायी जाती है, उसी प्रकार पैरके दोनों तलवोंसे एकसे दो मिनटतक ताली बजायें, साइटिकाके कारण असुविधा, कठिनाई हो सकती है, फिर भी अभ्यास करें। यह कठिन है, किंतु असाध्य नहीं है। मन-ही-मन भगवन्नामका जप करें। इससे मन स्थिर होगा। प्रसन्नता होगी।

(४) रोटी खायें। कभी-कभी दो-चार दिन बाद दो-चार चम्मच चावल खा सकते हैं।

(५) भोजनके अन्तमें जल न लें। एक-दो घूँट जल पी सकते हैं। पन्द्रह-बीस मिनट बाद आवश्यकता और इच्छानुसार जल अवश्य पीयें। रात्रिमें भोजनके दस मिनट बाद एक पाव हल्का गर्म गायका दूध पी लें।

(६) क़ब्ज़कारक, मांसाहार, बासी भोजन मना है।

(७) सम्भव और सुलभ हो तो प्रतिदिन नारियल-डाभका जल पीना चाहिये।

(८) भोजनके बाद प्रतिदिन एक-दो सेव छिलका उतारकर या वैसे ही अवश्य खायें। रात्रिमें जलमें डाली गयी तुलसीकी पत्तियोंको भोजनके बाद चबाकर खा लें।

(९) डाभका जल और सेवको औषधि समझकर अवश्य लें। साइटिकामें आराम हो जायगा।

साधनोपयोगी पत्र

(१)

आध्यात्मिक शक्ति ही जगत्को विनाशसे बचा सकती है

सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। जहाँ जीवनका लक्ष्य केवल कामोपभोग होता है, वहाँ मनुष्यमें धीरे-धीरे समस्त आसुरी सम्पत्तियाँ आ जाती हैं। गीताके सोलहवें अध्यायमें आसुरी सम्पत्तिका वर्णन देखना चाहिये। आजका मनुष्य कामोपभोगपरायण है। उसका लक्ष्य भौतिक उन्नति—प्रचुर परिमाणमें जागतिक पदार्थोंकी प्राप्ति है। व्यक्ति और राष्ट्र सभी इसी होड़में लगे हैं। इसीका परिणाम संघर्ष, संहार, अशान्ति तथा दुःख है और भौतिक उन्नतिकी दौड़में लगे हुए जगत्के लिये यह अनिवार्य है। परमाणु बम—जिसने कुछ क्षणोंमें लाखों हिरोशिमा-निवासियोंका विनाश कर डाला और जिसकी दानवीय शक्तिपर आज भी अमेरिका जगत्को आतङ्कित कर रहा है एवं आजके वैज्ञानिक जिसके आश्चर्यजनक विकासकी साधनामें संलग्न हैं, यह इस आसुरी 'कामोपभोगपरायणता' की देन है। इसके साथ ही द्वेष, हिंसा तथा आतंकवादी प्रवृत्तियाँ मनुष्यको आकर्षित करती हैं। भगवान्की दिव्यतासे रहित भौतिक उन्नति मानवको रसातलमें ले जाती है; वह उन्नति, प्रगति और विकासके मोहक नामोंपर पतनकी अत्यन्त गहरी गर्तमें गिर जाता है, जिससे उठनेका उसे जन्म-जन्मान्तरतक भी अवकाश नहीं मिलता, वरं उत्तरोत्तर उसे नीची-से-नीची गतिमें जाना पड़ता है। श्रीभगवान्ने ऐसे ही मनुष्योंके लिये कहा है—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६। १९-२०)

'उन द्वेष करनेवाले, अशुभ कर्मोंमें लगे हुए, क्रूरहृदय नीच नरोंको मैं (भगवान्) संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूँ। अर्जुन! वे मूढ़लोग (आसुरी सम्पत्तिका अर्जन कर काम-क्रोधादिकी परायणतासे केवल सांसारिक भोगोंकी प्राप्ति और भोगमें लगे रहकर अपने ही हाथों अपना पतन करनेवाले मूर्ख) एक जन्मके बाद दूसरे जन्ममें—बार-बार आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं। मुझ (भगवान्)-को न पाकर (मनुष्य-शरीरकी सच्ची सफलता—भगवत्-प्राप्तिसे वञ्चित रहकर) आसुरी योनिसे भी अति नीच गतिको प्राप्त करते हैं।'

ऐसे लोगोंका मानव-जीवन निष्फल होकर परलोक तो बिगड़ता ही है, यहाँ भी उन्हें क्षणभरके लिये सुख-शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती। वरं जो लोग उनके सम्पर्कमें आते हैं, उनकी भी सुख-शान्ति नष्ट होने लगती है। आजका मानव-जगत् इसी आसुरभावको प्राप्त है। जबतक वह इससे नहीं छूट जाता, जबतक भोगोंकी जगह भगवान्को जीवनका लक्ष्य नहीं बना लेता, जबतक भौतिक पदार्थोंसे मन हटाकर आध्यात्मिकताकी ओर प्रवृत्त नहीं हो जाता, तबतक सुख-शान्तिकी आशा करना आकाश-कुसुमके समान व्यर्थ ही है।

मानवका मन जिस कालमें भगवान्से हट जाता है और भौतिक शक्ति-सामर्थ्य-ऐश्वर्य-वैभव-प्रभाव-प्रख्याति, विज्ञान-ज्ञान आदिकी वृद्धि हो जाती है; तब उसकी दिव्य आध्यात्मिक शक्तियाँ सुप्त-सी हो जाती हैं—उनका विकास और प्रकाश रुक जाता है। वह काल मनुष्यके लिये घोर पतनका समझा जाता है। अवश्य ही उसकी विपरीत बुद्धि इस पतनको उत्थान, इस अवनतिको उन्नति और इस विनाशको विकास बतलाती है तथा मूढ़ मानव इसपर गर्व भी करता है।

आज यही प्रत्यक्ष हो रहा है। आजका विकासवादी मानव भौतिक उन्नतिको देखकर फूला नहीं समाता और वह अपनी उन्नतिपर गर्वोन्मत्त होकर शीघ्र ही प्रचण्डरूपसे भड़क उठनेवाले सर्वसंहारक विस्फोटकी ढेरीपर खड़ा हर्षसे नाच रहा है! वह उन्नतिका माप भौतिक पदार्थोंकी प्रचुरता और कर्मकी महान् विस्तृतिसे करता है। उसके हृदयमें जो काम-क्रोध, लोभ-मोह, द्वेष-दम्भ, मद-अहङ्कार, ईर्ष्या-असूया, हिंसा-प्रतिहिंसा और इनके फलस्वरूप

चिन्ता-शोक, दुःख-विषाद, अस्थिरता-अशान्तिकी भीषण आग जल रही है उसकी ओर वह नहीं देखता। यही विपरीत बुद्धिका मोह है—यही तामसी बुद्धिका स्वरूप है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥
(गीता १८।३२)

भगवान् कहते हैं—'अर्जुन! तमोगुणसे ढकी हुई जो बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है तथा अन्य भी सब अर्थोंको विपरीत (अवनतिको उन्नति, विनाशको विकास, हानिको लाभ, अकर्तव्यको कर्तव्य, अशुभको शुभ आदि) ही मानती है, वह बुद्धि तामसी है' और तामस मनुष्य अधोगतिको प्राप्त होते हैं—'**अधो गच्छन्ति तामसाः॥**' (गीता १४।१८)

यह सब देखकर यही कहना पड़ता है कि आजका मानव-जगत् इस समय अवनतिके कालमें है और क्रमशः अवनतिकी ओर ही जा रहा है; क्योंकि बुराई पहले मनमें आती है, पीछे वह क्रियारूपमें प्रकट होती है। आजकी मानव-मनकी यह काम-क्रोधादिपरायणता ही कल विनाशका भीषण स्वरूप धारण करके क्रियारूपमें प्रकट होनेवाली है। यदि इस स्थितिमें परिवर्तन नहीं हुआ, मानव कामोपभोगके लक्ष्यको छोड़कर आध्यात्मिकताकी ओर—भगवान्‌की ओर न मुड़ा तो तीसरे राक्षसी महायुद्धके रूपमें या अन्य किसी रूपमें उसका पतन अथवा विनाश अवश्यम्भावी है। विनाशके मुखपर बैठे हुए जगत्‌को यदि कोई शक्ति बचा सकती है तो वह केवल आध्यात्मिक शक्ति ही है। मानव-जातिके शुभचिन्तकोंको चाहिये कि वे स्वयं सावधान हो जायँ और जहाँतक उनकी आवाज पहुँचती हो, नम्रता, विनय परंतु दृढ़ताके साथ इस आवाजको पहुँचानेका प्रयत्न करें।

(२)

निन्दासे डर नहीं, निन्दनीय आचरणसे डर है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने जो कुछ लिखा है, उससे पता लगता है आप सर्वथा निर्दोष हैं और वे लोग अकारण ही आपपर कलङ्क लगाकर आपका जी दुःखा रहे हैं। संसारमें ऐसा प्रायः हुआ करता है। झूठा कलङ्क तो लोगोंने श्रीकृष्णपर भी लगा दिया था। जिनको परचर्चा और परनिन्दामें मजा आता है, वे लोग स्वभावतः ही ऐसा किया करते हैं। कुछ लोग बहुत बुरी नीयतसे जान-बूझकर ऐसा करते हैं। पर जिसकी निन्दा की जाती है, वह यदि निर्दोष है, भगवान्‌के सामने सच्चा है तो परिणाममें उसका कदापि अहित नहीं हो सकता। आपको यह समझना चाहिये कि भगवान् आपको कलङ्क-तापसे तपाकर और भी उज्ज्वल बनाना चाहते हैं। आपके जीवनको सर्वथा निर्मल बनानेके लिये ही ऐसा हो रहा है। आपको इससे डरना नहीं चाहिये, न उद्विग्न ही होना चाहिये। श्रीभगवान् सर्वान्तर्यामी, सर्वतश्चक्षु और सदा सर्वत्र वर्तमान हैं, उनसे हमारे मनके भीतरकी भी कोई बात छिपी नहीं है, यदि हम उन भगवान्‌के सामने सच्चे हैं तो फिर हमें किस बातका भय है। साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि कर्मका फल देनेवाले भी भगवान् ही हैं; हमारे कर्मके अनुरूप ही हमें फल मिलेगा। दूसरोंके बकनेसे कुछ भी नहीं हो सकता।

असलमें इस प्रकारकी झूठी निन्दामें जो भगवान्‌की कृपाका अनुभव करते हुए निर्विकार और प्रसन्न रहते हैं, वे ही विश्वासी साधु या भक्त हैं। जो लोग आपकी झूठी निन्दा करते हैं, वे बेचारे तो दयाके पात्र हैं; क्योंकि आपपर मिथ्या कलङ्क लगाकर अपने ही हाथों अपनी ही हानि कर रहे हैं। इस कुकर्मका फल उन्हें भोगना पड़ेगा, पर आपको तो उनका उपकार मानना चाहिये। आपके लिये तो वे आपका चरित्र निर्मल बनानेमें सहायता कर रहे हैं। उनके प्रति जरा भी द्वेष नहीं करना चाहिये।

निंदक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय।
बिनु पानी बिन साबुना निर्मल करै सुभाय॥

संतोंकी यह वाणी याद रखने योग्य है। आपका ऐसा भाव होगा तो भगवान् आपपर विशेष प्रसन्न होकर आपकी सहायता करेंगे।

हाँ, आप अपने चरित्रको सदा सावधानीसे देखते रहिये। उसमें कहीं जरा-सा भी दोष दिखायी दे तो उसे दूर करनेकी चेष्टा कीजिये। किसीके द्वारा की जानेवाली मिथ्या निन्दासे आपका कुछ भी नहीं बिगड़ेगा, परंतु यदि आपके अंदर सचमुच दोष होगा, निन्दाके योग्य आचरण या भाव होगा तो जगत्‌के द्वारा प्रशंसा प्राप्त करके भी आप उसके बुरे परिणाम—अनिष्टसे बच नहीं पायेंगे। अपने मनकी कालिमा

ही सच्चा कलङ्क है, दूसरोंके द्वारा अकारण लगाया जानेवाला कलङ्क नहीं। विशेष भगवत्कृपा।

(३)

भगवान्‌के नामोंमें कोई छोटा-बड़ा नहीं

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला था। उत्तरमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें।

भगवान्‌के नामोंमें छोटा-बड़ा कोई नहीं है। जिसको जिस नाममें रुचि हो, जो प्रिय लगे वह उसीका जप-कीर्तन करे, परंतु दूसरे किसीको भी छोटा न समझे, न किसीकी निन्दा करे। जैसे एक ही भगवान्‌के अनेक स्वरूप हैं, वैसे ही अनेक नाम भी हैं। भगवान् दो नहीं हैं। जो भगवान्‌के जिस नाम-रूपका उपासक हो, वह उसी नाम-रूपकी उपासना करे, पर यह समझे कि दूसरे जितने नाम-रूप हैं, सब मेरे ही भगवान्‌के हैं। जो दूसरे नाम-रूपोंको किसी दूसरे भगवान्‌के मानकर उनकी निन्दा करता है, वह अपने ही भगवान्‌को सीमित और अल्प बनाता है। श्रीकृष्णका उपासक यह माने कि श्रीराम, श्रीविष्णु, शिव, गणेश, दुर्गा, सूर्य, मुसल्मानोंके अल्लाह, खुदा, ईसाइयोंके परमपिता सब मेरे ही श्रीकृष्णके स्वरूप हैं और उन्हींके नाम हैं। इसी प्रकार दूसरे नाम-रूपोंके उपासक भी मानें। ऐसा माननेपर न तो अनन्यतामें बाधा आती है, न सम्प्रदायके नामपर राग-द्वेष बढ़ता है और न भगवान्‌के नामपर भगवान्‌की अवज्ञा ही होती है। अतएव हमलोगोंको चाहिये कि हम अपने इष्टका नाम-जप करें और दूसरोंके इष्टको भी अपने ही इष्टका स्वरूप समझें। क्योंकि भगवान् एक ही हैं। विशेष भगवत्कृपा।

(४)

परम वस्तुकी प्राप्तिके लिये अनिवार्य इच्छाकी आवश्यकता

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। धन्यवाद! आपने कृतज्ञता प्रकट की, इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। मनुष्यका कर्तव्य ही है कि वह परस्पर सत्परामर्शका आदान-प्रदान करे, इसमें बड़ाईकी कौन-सी बात है। सच पूछिये तो आपके प्रति कृतज्ञ तो मुझको होना चाहिये, जो आपने सत्-चर्चा चलाकर मेरे मनको कुछ समयके लिये सच्चिन्तनमें लगाया।

आपने लिखा कि 'मैं इस विषयको बहुत दिनोंसे जानता हूँ, पर ऐसा कर नहीं पाता' सो इसमें मेरी समझसे आपकी इच्छाकी तीव्रताका तथा तदनुकूल क्रियाका अभाव ही प्रधान कारण है। किसी भी कार्यकी सिद्धि केवल जाननेसे नहीं होती, उसके साथ उसे सिद्ध करनेकी इच्छा एवं तदनुकूल कार्य करनेकी आवश्यकता है। भोजनसे भूख मिटती है यह जान लिया, परंतु इस जाननेसे पेट नहीं भरता। भोजनकी इच्छा होनी चाहिये तथा भोजनके पदार्थ बनाकर उनको खाना चाहिये। ज्ञानके साथ इच्छा होनी चाहिये और वह इच्छा भी ऐसी होनी चाहिये, जो अनिवार्य आवश्यकताके रूपमें परिणत हो गयी हो—जैसे अत्यन्त प्यासेको जलकी इच्छा होती है। ऐसी इच्छा होनेपर क्रिया स्वयमेव होती है और फिर उसका फल प्रकट होता है। मैं समझता हूँ, आप केवल जानते ही हैं पर आपने न तो उसे प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा ही की है और न प्रयास ही।

एक बात यह भी है कि प्रयास भी मन्द नहीं होना चाहिये। उसके लिये अटूट धैर्य चाहिये और चाहिये परम श्रद्धा एवं आत्मविश्वास। योगदर्शनमें आया है कि अभ्यास वही दृढ़ होता है जो निरन्तर चलता हो, दीर्घकालतक चलता रहे और जिसके करनेमें सत्कार-बुद्धि हो। हम जिस वस्तुको पाना चाहते हों, उसकी सत्ता और श्रेष्ठतामें हमारी श्रद्धा होनी चाहिये, उसके प्राप्त होनेमें श्रद्धा होनी चाहिये और हम उसे अवश्य प्राप्त कर लेंगे, इस निश्चयमें दृढ़ विश्वास होना चाहिये। जहाँ श्रद्धाका अभाव है, आत्मविश्वासकी कमी है, वहाँ सिद्धि तो दूर रही, साधन ही सुचारुरूपसे नहीं हो पाता। अतएव मैं तो आपको सलाह दूँगा कि आप अपने जाने हुए तत्त्वको पानेके लिये आतुर हो जाइये। फिर उसके लिये प्रयत्न आप ही होगा और फिर आपको प्रशस्त पथ बतलानेवाले भी अवश्य मिल जायँगे। तीव्र इच्छा होनेपर विश्वासी साधककी सहायता स्वयं भगवान् करते हैं। विशेष भगवत्कृपा।

(५)

त्यागसे शान्ति मिलती ही है

सादर हरिस्मरण! आपका कृपापत्र मिला। आपने जो

कुछ पूछा उसका एकमात्र उत्तर यही है कि वास्तविक त्याग होनेपर तो शान्ति मिलती ही है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२।१२)। यदि शान्ति नहीं है तो त्यागमें ही त्रुटि है। सच्चा त्याग मनसे होता है, पर जबतक त्यागकी स्मृति है और त्यागका अहङ्कार है, तबतक भी यथार्थ त्याग नहीं समझना चाहिये। इसलिये त्यागका भी त्याग होना चाहिये। त्यागकी वास्तविकतामें त्याग किये हुए पदार्थोंमें आसक्ति या ममता नहीं रह जाती। उसमें एक आनन्दकी अनुभूति होती है, पर वह आनन्द भी अहङ्कारजनित नहीं होता। सहज तृप्तिजनित सुख होता है। वस्तुतः त्यागके बिना सच्ची सेवा भी नहीं हो पाती। जो सेवा करके बदला चाहता है, उसका कोई पुरस्कार चाहता है, उसमें त्यागका अभाव होनेसे उसकी सेवा मलिन और अशुद्ध हो जाती है। उससे शान्तिरूपी सच्चा सुख नहीं मिल सकता।

हम ऊपरसे वस्तुओंका त्याग करते हैं; परंतु मनमें उनके प्रति आसक्ति, मोह और महत्त्व बना रहता है। इसलिये उनकी बार-बार स्मृति होती है, मन उनके संगसे मुक्त नहीं होता। अतएव कभी तो उनका अभाव खटकता है और कभी यदि कोई वस्तु हमने किसीको दी है तो उसके प्रति यह भावना होती है कि मैंने उसका बड़ा उपकार किया है, उसे मेरा कृतज्ञ होना चाहिये। वह नहीं होता, उपकार नहीं मानता तो मनमें दुःख होता है। दोनों ही स्थितियोंमें यथार्थ त्यागका अभाव है। नहीं तो त्यागमें न तो कोई अभाव दीखता और न दुःख ही होता। त्याग करनेवाला मनुष्य न तो त्याग की हुई वस्तुका स्मरण करके अभावका अनुभव करता है और न दूसरेके लिये उत्सर्ग की हुई वस्तुके लिये अहङ्कार करके उसपर अहसान ही करता है।

त्यागकी कसौटी ही है शान्ति। जिस त्यागके अनन्तर शान्ति मिलती है और शान्तिजनित शुद्ध आनन्दकी अनुभूति होती है, वही यथार्थ त्याग है। आपको जो दोनों ही प्रकारसे शान्ति नहीं मिली, न तो वस्तुओंके छोड़नेपर और न उन्हें सुयोग्य पात्रोंको प्रदान करनेपर ही; इससे तो यही सिद्ध होता है कि वस्तुओंका परित्याग और दान दोनों ही किसी-न-किसी अंशमें त्रुटियुक्त हैं—त्यागकी सच्ची भावनासे रहित हैं। आप अपने मनको गहराईसे देखिये, आपको त्रुटियोंका पता लग ही जायगा।

परंतु इससे आपको हताश नहीं होना चाहिये और न त्याग एवं दानको बुरा ही मानना चाहिये। जितने अंशमें त्याग और दान सम्पन्न हुआ है, उतने अंशमें वह उत्तम ही है। उससे शान्ति नहीं मिली, यह ठीक है; परंतु उसका परिणाम शान्तिकी प्राप्तिमें सहायक अवश्य होगा। सत्कर्मका फल किसी-न-किसी अंशमें कल्याणकारक ही होगा, उससे हानि तो होगी ही नहीं—

'न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥'

(गीता ६। ४०)

'शुभ कर्म करनेवाला कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता।' अतएव आपको ऐसे शुभ संकल्पों और कार्योंसे कभी विरत नहीं होना चाहिये, वरं त्यागकी मानसिक भावनाको यथासाध्य विशुद्ध बनाना चाहिये। उसमें जितनी ही विशुद्धि आयेगी, उतना ही वह त्याग सच्ची शान्तिकी प्राप्ति करानेवाला होगा। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

इसके लिये एक बहुत अच्छा भाव यह है कि हम जो कुछ भी शुभ कार्य करें, उसे भगवान्‌के लिये करें और यह समझें कि भगवान्‌की ही प्रेरणासे भगवत्प्रीत्यर्थ यह कार्य किया जा रहा है। त्यागका कार्य हो तो यह समझें कि भगवान्‌की ही वस्तु है और भगवत्प्रेरणासे भगवान्‌के लिये ही उसका त्याग हो रहा है। दानमें यह भावना करें कि भगवान्‌की ही वस्तु, भगवान्‌की ही प्रेरणासे, भगवान्‌के ही प्रति अर्पण की जा रही है।

भगवान् जो इस काममें मुझको निमित्त बना रहे हैं और स्वयं ही ग्रहीताके रूपमें आकर उसे ग्रहण कर रहे हैं, यह उनकी परम कृपा है। इन भावोंके रहनेपर मनमें अहङ्कार, आसक्ति या ममता नहीं रहेगी और परिणाममें शान्ति अवश्य मिलेगी। विशेष भगवत्कृपा।

~~~

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)
~~~

व्रतोत्सव-पर्व

आषाढ़ कृष्णपक्ष (१५-६-२००३ से २९-६-२००३ तक) सूर्य उत्तरायण, ग्रीष्म-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	रवि	मूल	१५ जून	मूल नक्षत्र सायं ५-२३ बजेतक, सायन मिथुनके सूर्य रात्रि ९-०३ बजे **परदिने** पुण्यकाल सायं ६-४७ बजेतक, सर्वार्थसिद्धियोग सायं ५-२३ बजेतक
द्वितीया	सोम	पू० षा०	१६ "	मकरके चन्द्रमा रात्रि १०-२५ बजे, **सौर आषाढ़मासारम्भ,** मृत्युबाण रात्रि १०-१९ बजेसे, यायिजययोग सायं ४-३० बजेसे, भद्रा रात्रि १२-०२ बजेसे
तृतीया	भौम	उ० षा०	१७ "	भद्रा दिन ११-१९ बजेतक, श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय रात्रि ९-५६ बजे, मृत्युबाण रात्रि ११-३५ बजेतक, स्थायिजययोग सायं ४-१५ बजेसे
चतुर्थी	बुध	श्रवण	१८ "	कुम्भके चन्द्रमा रात्रि ३-५४ बजे, रवियोग दिन ३-४५ बजेसे, पञ्चक आरम्भ रात्रि ३-५५ बजेसे
पञ्चमी	गुरु	धनिष्ठा	१९ "	धनिष्ठा नक्षत्र सायं ४-०४ बजेतक, रवियोग सायं ४-०४ बजेतक, यायिजययोग दिन ९-४१ बजेतक
षष्ठी	शुक्र	शतभिषा	२० "	शतभिषा नक्षत्र सायं ४-५३ बजेतक, भद्रा दिन ९-४८ बजेसे रात्रि १०-०२ बजेतक
सप्तमी	शनि	पू० भा०	२१ "	मीनके चन्द्रमा दिन ११-५४ बजे, त्रिपुष्करयोग दिन १०-१७ बजेतक
अष्टमी	रवि	उ० भा०	२२ "	**राष्ट्रीय आषाढ़मासारम्भ,** श्रीशीतलाष्टमीव्रत, आर्द्रा नक्षत्रके सूर्य रात्रि ९-३५ बजे (सामान्य वृष्टियोग), सायन कर्कराशिके सूर्य प्रातः ७-३३ बजे, यायिजययोग दिन ११-१७ बजेसे, सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि ८-०२ बजेतक
नवमी	सोम	रेवती	२३ "	मेषके चन्द्रमा रात्रि १०-१४ बजे, यायिजययोग दिन १२-४३ बजेतक, पञ्चक समाप्त रात्रि १०-१४ बजे, भद्रा रात्रि १-३६ बजेसे
दशमी	भौम	अश्विनी	२४ "	भद्रा दिन २-२८ बजेतक, सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि १२-४१ बजेतक
एकादशी	बुध	भरणी	२५ "	योगिनी एकादशीव्रत (सबका), सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि ३-२० बजेसे, भरणी नक्षत्र रात्रि ३-१९ बजेतक
द्वादशी	गुरु	कृत्तिका	२६ "	वृषके चन्द्रमा दिन ९-५७ बजे, मृत्युबाण दिन ९-५६ बजेसे, द्वादशी तिथि सायं ६-२८ बजेतक
त्रयोदशी	शुक्र	कृत्तिका	२७ "	कृत्तिका नक्षत्र प्रातः ५-५४ बजेतक, प्रदोषव्रत, मासशिवरात्रिव्रत, मृत्युबाण दिन ११-१३ बजेतक, भद्रा रात्रि ८-२२ बजेसे
चतुर्दशी	शनि	रोहिणी	२८ "	भद्रा दिन ९-०९ बजेतक, मिथुनके चन्द्रमा रात्रि ९-२० बजे, सर्वार्थसिद्धियोग दिन ८-१७ बजेतक, रोहिणी नक्षत्र दिन ८-१७ बजेतक
अमावास्या	रवि	मृगशिरा	२९ "	स्नान-दान-श्राद्धकी अमावास्या, अमावास्या तिथि रात्रि ११-११ बजेतक, मृगशिरा नक्षत्र दिन १०-२३ बजेतक

आषाढ़ शुक्लपक्ष (३०-६-२००३ से १३-७-२००३ तक) सूर्य उत्तरायण, ग्रीष्म-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	सोम	आर्द्रा	३० जून	आर्द्रा नक्षत्र दिन १२-०१ बजेतक, यायिजययोग दिन १२-०१ बजेसे रात्रि ११-५८ बजेतक
द्वितीया	भौम	पुनर्वसु	१ जुलाई	कर्कके चन्द्रमा प्रातः ६-५५ बजे, रथयात्रा, श्रीराम-बलराम रथोत्सव, त्रिपुष्करयोग दिन १-१३ बजेतक, चन्द्रदर्शन, पुनर्वसु नक्षत्र दिन १-१३ बजेतक
तृतीया	बुध	पुष्य	२ "	पुष्य नक्षत्र दिन १-५३ बजेतक, रवियोग दिन १-५४ बजेसे
चतुर्थी	गुरु	आश्लेषा	३ "	सिंहके चन्द्रमा दिन २-०५ बजे, वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, रवियोग दिन २-०५ बजेतक, भद्रा दिन ११-३४ बजेसे रात्रि ११-१० बजेतक
पञ्चमी	शुक्र	मघा	४ "	मघा नक्षत्र दिन १-४८ बजेतक, रवियोग दिन १-४९ बजेसे
षष्ठी	शनि	पू० फा०	५ "	कन्याके चन्द्रमा सायं ६-५१ बजे, श्रीस्कन्दषष्ठीव्रत, कुमारषष्ठीव्रत, रवियोग दिन १-०६ बजेतक, यायिजययोग रात्रि ८-२४ बजेसे, मृत्युबाण रात्रि ९-५१ बजेसे
सप्तमी	रवि	उ० फा०	६ "	भानुसप्तमीपर्व, पुनर्वसु नक्षत्रके सूर्य रात्रि ११-१० बजे (सुवृष्टियोग), विवस्वत सप्तमी, मृत्युबाण रात्रि ११-१० बजेतक, त्रिपुष्करयोग तथा सर्वार्थसिद्धियोग दिन १२-०४ बजेतक, यायिजययोग सायं ६-२८ बजेतक, भद्रा सायं ६-२८ बजेसे
अष्टमी	सोम	हस्त	७ "	भद्रा प्रातः ५-२३ बजेतक, तुलाके चन्द्रमा रात्रि १०-०१ बजे, परशुरामाष्टमी (उड़ीसा), खर्ची पूजा (त्रिपुरा)
नवमी	भौम	चित्रा	८ "	चित्रा नक्षत्र दिन ९-१६ बजेतक, रवियोग दिन ९-१७ बजेसे
दशमी	बुध	स्वाती	९ "	वृश्चिकके चन्द्रमा रात्रि १२-२१ बजे, मन्वादि दशमी, सोपपदा दशमी, वेदारम्भानध्याय, गिरिजापूजा, रवियोग सायं ६-४५ बजेतक, भद्रा रात्रि १०-१४ बजेसे
एकादशी	गुरु	विशाखा	१० "	भद्रा दिन ८-५९ बजेतक, श्रीविष्णुशयनी एकादशीव्रत (सबका), सर्वार्थसिद्धियोग प्रातः ५-५६ बजेसे रात्रि शेष ४-१८ बजेतक, विशाखा नक्षत्र प्रातः ५-५५ बजेतक तदुपरि अनुराधा नक्षत्र रात्रि शेष ४-१८ बजेतक
द्वादशी	शुक्र	ज्येष्ठा	११ "	धनुके चन्द्रमा रात्रि २-५० बजे, एकादशीव्रतकी पारणा प्रातः ६-३४ बजेतक, द्वादशी तिथि प्रातः ६-३४ बजेतक, प्रदोषव्रत, वामन-पूजन
त्रयोदशी	त्रयोदशी	तिथिका क्षय	१२ "	द्वादशी तिथि प्रातः ६-३४ बजेतक तदुपरि त्रयोदशी तिथि रात्रि शेष ४-१६ बजेतक
चतुर्दशी	शनि	मूल	१३ "	चौमासी चौदस (जैन), भद्रा रात्रि २-११ बजेसे
पूर्णिमा	रवि	पू० षा०		भद्रा दिन १-१७ बजेतक, स्नान-दान-व्रतकी पूर्णिमा, गुरुपूर्णिमा, कर्णघण्टा और कनखलमें स्नान, श्रीकोकिलाव्रत, पूर्णिमा तिथि रात्रि १२-२३ बजेतक

पढ़ो, समझो और करो

(१)

पत्नीने पतिका ऋण चुकाया

श्रीरामप्रतापजी मेरे पतिके सहपाठी और मित्र थे। कभी-कभी हमारे घरपर आया करते थे। मेरे स्वामीका भी उनके प्रति काफी स्नेह था। वे एक पाठशालामें शिक्षकका काम करते थे। गरीब थे। कुछ ही दिनों पहले उनका देहान्त हो गया। मैं उनकी विधवा पत्नी गुलाबबाईके पास जानेवाली थी, पर कार्यवश नहीं जा सकी। एक दिन रात्रिको गुलाबबाई स्वयं ही मेरे पास आयीं। उन्हें देखकर मैं सकुचा गयी। सोचा, गुलाबबाईने समझा होगा 'यह धनी घरकी स्त्री मेरे पास क्यों आने लगी।' मैंने उठकर आदरसे उनको बैठाया और श्रीरामप्रतापजीकी मृत्युपर दुःख तथा सहानुभूति प्रकट करते हुए क्षमा माँगी। मैंने कहा—'मैं आ ही रही थी, पर अमुक कामसे नहीं आ सकी। क्षमा करना—पर आप आज कैसे आयी हैं—बताइये।'

गुलाबबाईने आँसू पोंछकर कहा—'बहिनजी! आपकी तो मेरे प्रति सदा ही प्रीति है। आप काम-काजमें नहीं आ सकीं, इससे क्या प्रीति कम थोड़े ही हो गयी? वह तो मेरे भाग्यमें जो बदा था सो हो गया। आपका किशोर इंजिनियरिंगमें है। आपलोगोंके आशीर्वादसे वह साल-दो-सालमें कमाने लगेगा। फिर कोई चिन्ताकी बात नहीं रहेगी।' इतना कहकर उन्होंने बारह सौके नोट मेरे सामने रखकर कहा—'बहिनजी! आज तो मैं एक कामसे आयी हूँ। आप जानती हैं—आपके स्वामी श्रीगोपालबाबूकी उनपर बड़ी प्रीति थी। गोपालबाबूका हार्टफेल होकर देहान्त हो गया, तभीसे वे बीमार थे। इसीसे यह काम अबतक हो नहीं पाया। जिस दिन उनका शरीर छूटनेको था, उस दिन उन्होंने मुझसे कहा—'भाई गोपालजीके मुझको बारह सौ रुपये देने हैं, उनका देहान्त हो गया है। उनकी पत्नीको इन रुपयोंका पता नहीं है। रुपये मैंने समय-समयपर किशोरकी पढ़ाईके कामसे लिये थे। पर मैं उन्हें अभी वापस दे नहीं सका। ये रुपये अवश्य चुकाने हैं। तुम्हारे पास कुछ गहना है, उससे अपना काम चलाना। किशोर कमाने लगेगा, तबतक तुम्हारा काम गहनेसे चल जायगा। मेरे प्रोविडेंट फण्डके शायद चौदह सौ रुपये आयेंगे। मैंने लिख दिया है, वे तुमको मिल जायँगे। मिलते ही उसी दिन तुम भाई गोपालजीकी पत्नीको रुपये दे आना। वे न लेना चाहें तो उन्हें मेरी शपथ दिलाकर कहना कि उनकी आत्माकी शान्तिके लिये ही आप ले लें। तदनुसार मैं ये रुपये लेकर आयी हूँ। रुपये आज ही मिले हैं। आप दया करके रुपये लेकर हमें ऋणमुक्त करें।' मैं तो दंग रह गयी उनकी बात सुनकर। हाथमें तंगी होनेपर भी ऋण चुकानेमें इतनी त्वरा! मैंने बहुत समझाया। रुपये लेनेसे इनकार किया, मुझे पता भी नहीं था। पर वे मानीं नहीं। इस प्रकार आर्त होकर रोने लगीं कि मुझे उनकी बात स्वीकार करनी पड़ी। धन्य!'

इस घटनाको बहुत साल हो गये हैं, पर मेरे हृदयपर इसकी जो छाप पड़ी, वह सदा अमिट रहेगी।

—रामप्यारी देवी

(२)

दादा-दादीके मददगार

बात लगभग चार साल पहलेकी है। मेरी पत्नी एवं मैं दोनों अपने पुत्र जो नेरुल— नवी मुम्बईमें रहता है, उसके पास जा रहे थे। हमने सीधा मुम्बई न जाकर मनमाड स्टेशनतक आरक्षण कराया एवं शिरडी जाकर समाधिमन्दिरमें दर्शन करके रातकी बससे मुम्बई जानेका कार्यक्रम बनाया।

गाड़ी प्रातः लगभग ९ बजे मनमाड पहुँची। स्टेशनपर प्रतीक्षालयमें स्नानकर एवं कपड़े बदलकर बससे शिरडी जानेको निकले तथा १२ बजेके आसपास शिरडी बसस्टेशनपर पहुँचे। वहाँ सामानको अमानत घरमें रखकर समाधिमन्दिर चले गये। वहाँ हमें ३ बज गये।

वहाँसे हम मुम्बई जानेवाली एक बसपर बैठे जो ६ बजेके करीब नासिक पहुँची। कुछ सवारियाँ उतरीं, कुछ चढ़ीं। ड्राइवर-कण्डक्टर भी उतरे एवं सामने ट्रेवल एजेंसी कार्यालयमें गये। बीच-बीचमें निकलते एवं बसके पास आकर मुम्बई-मुम्बईकी आवाज लगाते। एक-दो सवारियाँ चढ़तीं तो वे फिर वापस कार्यालयमें जाकर बैठ जाते। यह तमाशा १० बजेतक चलता रहा।

चूँकि हमें नेरुल— नवी मुम्बई जाना था और मुम्बईमें लोकल गाड़ियाँ तथा बससेवा रात १२ बजेसे सुबह ४ बजेतक बंद रहती हैं, इस कारण हम पति-पत्नी काफी चिन्तित थे तथा आपसमें बातचीत कर रहे थे कि लगता

है अब रात दादरकी सड़कपर ही काटनी पड़ेगी तथा सुबह ४ बजेवाली लोकलसे ही घर जाना पड़ेगा।

मेरे पासकी सीटपर बैठे सज्जन हमारी परेशानी तथा मजबूरी सुन रहे थे। वे बोले—आप ठाणे क्यों नहीं उतर जाते? स्टॉपसे आगे चौराहेपर आपको नेरुलके लिये आटो-रिक्शा मिल जायगा।

तभी ठाणेका स्टॉप आया। एक-दो सवारी उतरी। सड़क सुनसान थी। ऑटोका कोई नामोनिशान नहीं था। अनजान शहरमें इस प्रकार रिस्क लेना मुझे ठीक नहीं लगा। अतः हम नहीं उतरे। मैंने उन सज्जनसे कहा—आप चिन्ता न करें, अब तो हम दादर स्टेशनपर ही रात बितायेंगे। स्टेशन सुरक्षित स्थान है, हम सुबहकी पहली लोकल गाड़ीसे घर पहुँच जायँगे।

दादर बसस्टेशनसे पहले एक चौराहेपर बस रोकनेको उन सज्जनने ड्राइवरसे कहा। बस रुकी। आप भी यहाँ उतर जाइये, मैं आपकी कुछ व्यवस्था करता हूँ। यह कहते-कहते वे सज्जन उतरे और हमें भी अपने साथ उतारा।

सामने ही टैक्सीस्टैण्ड था। कई टैक्सीवाले हमें घेरकर खड़े हो गये। सब पीछे हटो—गरजकर उन्होंने कहा। सब टैक्सीवाले पीछे हट गये। फिर कहा—क्या पनवेलकी एस० टी० गयी। जी हुजूर, बीस मिनिट पहले ही गयी है—एकने कहा और पुणे अखबार ले जानेवाली वेन? अभी-अभी गयी है—दूसरेने कहा।

वे सज्जन फिर सड़कके किनारे खड़े हो गये। तभी एक चमचमाती नयी टाटा सूमो गाड़ी सड़कपर जा रही थी। उन्होंने उसे रुकनेका इशारा किया। गाड़ी रुकी उसमेंसे २२—२४ सालका एक नवयुवक जो गाड़ी चला रहा था, उतरा।

कहाँ जा रहे हो पूछनेपर युवकने कहा—'हुजूर! पुणे जा रहा हूँ। बड़े साहबकी नयी गाड़ी है, छोड़ने जा रहा हूँ।'

एक काम करो। इनको रास्तेमें नेरुल छोड़कर पुणे चले जाना—सज्जनने कहा। 'जी साहब', कहकर उस युवकने हमारा सामान गाड़ीमें रखा एवं चल दिया। वे सज्जन भी टैक्सीमें बैठकर चल दिये। यह सब इतनी जल्दीमें हुआ कि मैं उनका परिचय भी न पा सका, न उनको धन्यवाद ही दे सका। शायद पुलिस-विभाग या यातायात-विभागके उच्च अधिकारी रहे होंगे, क्योंकि हर टैक्सीवाला तथा गाड़ीवाला उन्हें जानता था।

टाटा सूमो थोड़ी देर चलनेके बाद सायनके पुलके नीचे एक अंधेरे स्थानपर सड़कके किनारे रुकी। मैं पूछनेपर उस युवकने बताया कि उसके दो साथी अभी आनेवाले हैं अतः उनका इन्तजार करते हैं।

मुम्बई-जैसे अनजान महानगरमें, रातके अंधेरे और सुनसान सड़कपर अनजान युवकोंके साथ इस प्रकार बैठकर यात्रा करना मुझे खतरेसे खाली नहीं लग रहा था तथा मुझे भय था कि शायद आज हमारा सब सामान लुट जायगा और जानको भी खतरा हो सकता है। इस भयके साथ हमने भगवान्‌का मन-ही-मनमें स्मरण किया तथा प्रार्थना की—हे भगवन्! हमें सकुशल घर पहुँचा दें।

थोड़ी देर बाद दो युवक आये और सामनेकी सीटोंपर ड्राइवरके पास बैठ गये, फिर गाड़ी चल दी। रातका समय था, सड़क खाली थी, गाड़ी नयी थी एवं चालक नौजवान। स्वाभाविक है कि गाड़ीकी गति असामान्य होगी। नये युवक आपसमें हँसी-मजाक कर रहे थे तथा कभी-कभी अभद्र भाषाका प्रयोग भी। गाड़ी चला रहे युवकने कहा—जरा जुबानपर लगाम दो, देखते नहीं, पीछे दादाजी एवं दादीजी बैठे हैं। यह सुनकर युवकोंने पीछे मुड़कर देखा और क्षमा माँगी।

हाईवे-पर फिर गाड़ी रुकी। ड्राइवरने कहा—'नेरुल आ गया। वैसे तो हम आपको घरतक छोड़ आते, पर हमें पुणे जल्दी पहुँचना है इस कारण आपको यहीं उतार रहे हैं।' मैंने कहा—भाई, इस तरह सुनसान एवं अंधेरे स्थानपर उतरनेके बजाय दादर ही क्या बुरा था? वहाँ कम-से-कम सड़कपर उजाला तो था। यहाँ तो कोई रिक्शा भी नहीं है।

यह सुनकर ड्राइवरने हमारे घरका पता पूछा और रास्तेमें दो-एक जगह पूछते-पूछते हमारे घरके सामने गाड़ी खड़ी की।

तीनों युवक उतरे। सामान गाड़ीसे उतारा। हम दोनोंके चरणस्पर्श किये एवं गाड़ीमें चढ़कर चले गये। इस प्रकार हम रातको २ बजे सकुशल अपने घर पहुँचे।

यह यात्रावर्णन लिखनेका मेरा यही प्रयोजन है कि आज भी ऐसे सज्जन व्यक्ति हैं जो अनजान, अपरिचितोंकी मदद करते हैं और ऐसे भी शालीन तथा सुसंस्कारी युवक हैं जो वयोवृद्ध व्यक्तिको दादा-दादीका दर्जा देकर सम्मान करते और मदद करते हैं। —पाण्डुरंग नारायण मुंडले

(३)

गीताके विश्वासकी कालपर विजय

भगवान्‌में एवं सद्‌ग्रन्थोंमें पूर्ण श्रद्धा, आस्था और विश्वाससे सारे संशयोंका छेदन हो जाता है। इतना ही नहीं, जब काल भी मौतका रूप धारणकर उपस्थित हो जाता है तो यह अटूट विश्वास ही रक्षाका कवच बन जाता है। ऐसी ही एक घटना मध्य प्रदेशके देवास जिला निवासी श्रीलक्ष्मीकान्तजीके जीवनमें घटी। श्रीमद्भगवद्गीताका विश्वास ही उनके लिये अमृत बन गया। वे बचपनसे गीतापर अटूट विश्वास रखते आये हैं तथा गीता हमेशा अपने साथ रखते हैं। सम्पूर्ण गीता उन्हें कण्ठस्थ है तथा वे नित्य इसका पाठ भी करते हैं। उनके जीवनमें सन् १९५०-५१ में एक आश्चर्यजनक तथा अद्भुत घटना घटी— किसी सामाजिक कार्यहेतु वे इन्दौर जिलेके साँवेर गाँवमें गये हुए थे। रात्रिको शयनहेतु वहाँ एकान्त-स्थानको खोजते-खोजते वे अपने मित्रके कृषिफार्मपर चले गये। जब वे रात्रिको ११ बजे लघुशंकाके लिये कमरेसे बाहर गये तो अचानक एक कोबरा साँप उनके पैरमें लिपट गया तथा उसके नुकीले दाँत उनके पैरमें धँस गये। बड़ी मुश्किलसे साँपको अपने शरीरसे अलग करके वे अपने कमरेमें आये और कुर्तेकी जेबसे गीता निकाली और पढ़ने लग गये। उनका दृढ़ विश्वास था कि 'गीतामृत' पीनेसे काल जीवका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता। प्रात: छ: बजेतक वे गीताजीका पाठ करते रहे। सुबह सात बजे जब कृषिफार्मके मालिक श्रीमोघे एवं अन्य लोग वहाँ आये, तब उन्हें लँगड़ाते हुए देखा। पाँवमें सूजन देखकर उनलोगोंने पूछा तो उन्होंने रातमें घटी घटना बतला दी। सभी लोग सुनकर दंग रह गये। उनकी हिम्मत, गीता तथा भगवान्‌पर श्रद्धा और अटूट विश्वास देखकर उन्हें नमस्कार करने लगे कि शर्माजी! आप धन्य हैं। हमें भी आपके इस विश्वास तथा श्रद्धासे बड़ी प्रेरणा मिली है। अब हमलोग भी नित्य गीताजीको अपने पास रखेंगे और उसका पाठ करेंगे। भगवती गीता माताकी उनपर इतनी भारी कृपा हुई कि विषधर सर्पके डँसनेपर भी वे जीते रहे, मानो मौतके मुखसे वापस चले आये। —इन्द्रसिंह नागर

(४)

ईमानदारीका ढिंढोरा

पिछली गरमीकी बात है। मेरा लड़का अपने एकाउण्टेण्टके साथ उसकी मोटर साइकिलपर बैठकर कार्ड खरीदने दिल्लीके चावड़ी बाजार गया था। वहाँसे कार्ड खरीदकर वे दोनों वापस आ रहे थे। गरमीके कारण लड़केको पसीना बहुत आता है। वह मोटर साइकिलपर पीछे बैठकर अपनी जेबसे रुमाल निकालकर मुँह पोछने लगा। रुमाल जेबसे निकालने तथा रखनेमें उसकी अँगुलीसे हीरेकी अँगूठी निकलकर सड़कपर गिर गयी। मगर उसे पता नहीं चला और फिर वे मोटर साइकिलसे आगे चल पड़े।

यह सब दृश्य एक सज्जन देख रहे थे। उन्होंने इनको आवाज भी दी, मगर भीड़ तथा जल्दीमें होनेके कारण इन्होंने आवाज नहीं सुनी। उस सज्जनने वह अँगूठी उठा ली तथा इनके वाहनका नम्बर नोट कर लिया।

दूसरे दिन वे सज्जन वाहन रजिस्ट्रेशनके दफ्तरमें गये तथा मालूम किया कि यह मोटर साइकिल किसकी है। नाम मालूम होनेपर वे सज्जन ढूँढते हुए हमारे आसफ अली मार्गपर स्थित दफ्तरमें पहुँचे तथा झाँककर मेरे लड़केको देखा एवं पहचाना, फिर अंदर जाकर उनसे पूछा—तुम्हारा कोई सामान खोया है? उसने कहा—मेरी हीरेकी अँगूठी कल कहीं गिर गयी है और अभीतक नहीं मिली है, साथ ही अँगूठीकी पहचान भी बतायी।

उन सज्जनने अँगूठी निकालकर उसको दी और सभी बातें बतायीं, उन सज्जनसे अपना परिचय बतानेको कहा तथा जलपानके लिये आग्रह किया गया तो उन्होंने कहा मेरा स्कूटर नीचे रास्तेमें खड़ा है। यह कहकर वे चले गये तथा फिर नहीं लौटे। सच ही है कि सच्चे ईमानदार लोग अपनी ईमानदारीका न ही ढिंढोरा पीटते हैं और न ही उसका प्रकाशन करते हैं, बल्कि कर्तव्यबुद्धिसे अपनी ईमानदारीको निभाते रहते हैं। —रामनाथ तोशनीवाल

* * *

मनन करने योग्य

बालाजी वेंकटेश्वर बने भक्तके नौकर

यह उस समयकी बात है जब तिरुमल गिरि (तिरुपति, आन्ध्र प्रदेश)-पर घना जंगल था और जनसंचार बहुत कम हुआ करता था। उस वन प्रदेशमें क्रूर जन्तुओं और चोर-डाकुओंका भय होनेके कारण भगवान् वेंकटेश्वरके अर्चक और भक्त प्रातःकालके बाद ही पर्वतपर चढ़ते और मन्दिरमें पूजादि कार्यक्रमोंके बाद सूर्यास्तसे पहले ही नीचे उतर आते।

ऐसी परिस्थितियोंमें श्रीरामानुजाचार्यके आदेशपर उनके शिष्य अनन्त आलवार अपनी पत्नीके साथ तिरुमल गिरिपर निवास करने गये। अनन्त आलवार वेंकटेश्वर स्वामीके अनन्य भक्त थे। अपने जीवनकी सुरक्षाका सम्पूर्ण भार भगवान्‌को सौंपकर वे अपनी पत्नीके साथ पर्वतपर एक कुटिया बनाकर रहने लगे। अपनी कुटियाके आस-पास उपवन बनानेके लिये वे अपनी पत्नीके साथ फूलोंके पौधे लगाने लगे।

एक दिन आलवारजी भगवान्‌का नाम-संकीर्तन करते हुए मिट्टी खोद-खोदकर भूमिको समतल कर रहे थे। उनकी पत्नी नारायणका नाम-स्मरण करती हुई पौधे लगा रही थी। कुछ आहट पाकर आलवारजीने मुड़कर देखा कि उनके पास एक लड़का खड़ा था। उसने आलवारजीसे पूछा—'क्या मुझे आपके पास कुछ काम मिलेगा?'

आलवारजीने ध्यानसे लड़केको देखा। साँवला रंग, कोमल शरीर, मुखपर मोहक वर्चस। यह लड़का यहाँ भूमि खोदने और मिट्टी ढोनेका काम भला क्या कर पायेगा। यह सोचकर उन्होंने कहा—'यहाँपर तुम्हारे लिये कोई काम नहीं है।'

उस लड़केने दो-तीन बार काम देनेका अनुरोध किया, पर आलवारजीने उसे डाँटते हुए वहाँसे निकल जानेको कहा। वह लड़का आलवारजीके पास ही काम करना चाहता था, इसलिये दूसरे दिन पुनः वह वहाँपर आया जहाँ आलवारजीकी पत्नी काम कर रही थी। उस लड़केने विनम्रतासे कहा—'माँजी! मुझे यहाँपर कुछ काम दें। आप जो भी काम करनेको कहेंगी, मैं करूँगा। आप जो भी देंगी, लूँगा। कल स्वामीजीने मुझे डाँटा था, आप उनसे मेरे बारेमें कुछ न बतायें।'

लड़केके मोहक रूप और अनुरोधपूर्ण बातोंसे मातृहृदय द्रवित हुआ। उन्होंने उस लड़केको अपने साथ पौधे लगानेमें सहायता करनेको कहा।

कुछ दिन बीत गये। एक दिन अचानक आलवारजीकी दृष्टि उस लड़केपर गयी जो पौधोंको पानी दे रहा था। उस लड़केको देखते ही उनको क्रोध आया। मुझसे बिना पूछे यह फिर यहाँ क्यों आया? यह सोचकर उस लड़केको बुलानेके लिये उन्होंने एक कंकड़ उठाकर उसकी ओर फेंका। वह कंकड़ उस लड़केके माथेपर जा लगा और रक्त बहने लगा। आलवारजीको देखकर वह लड़का भागकर उनकी आँखोंसे ओझल हो गया।

इधर यह घटना घटी, उधर मन्दिरमें श्रीवेंकटेश्वरके विग्रहके माथेसे रक्त टपकने लगा। मन्दिरमें उपस्थित पुजारी तथा दर्शनके लिये आये भक्तगण इस दृश्यको देखकर घबड़ा उठे। मन्दिरमें खलबली मच गयी। उसी समय भक्तोंकी पंक्तिमें खड़े एक बालकपर भगवान्‌का आवेश हुआ। वह बालक ऊँचे स्वरमें बोल उठा—'अनन्त आलवारके घरसे कर्पूर लाकर लगाओ। उनको साथमें ले आओ।'

मन्दिरके पुजारी दौड़ते हुए आलवारजीके पास गये। इस अनहोनी घटनाके बारेमें बताते हुए उन्हें तुरंत मन्दिर चलनेको कहा। वे कर्पूर लेकर तुरंत मन्दिरके भीतर गये। श्रीविग्रहपर जब कर्पूर लगाया गया तो रक्तका टपकना रुक गया।

आलवारकी आँखोंके सामने माथेपर रक्त लिये दौड़ते लड़केका रूप आया। उन्हें समझनेमें देर न लगी कि श्रीवेंकटेश्वर ही उनके पास बालक बनकर नौकरी करने आये थे, पर उन्होंने दुत्कार दिया था। उनकी आँखोंसे अश्रुप्रवाह निकल पड़ा। उन्होंने बिलखते हुए सारी बातें भक्तोंको बतायीं और भगवान्‌के चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करते हुए कहा—'प्रभो! मेरा अपराध क्षमा कीजिये। मुझपर कृपा कीजिये।'

भक्तके निष्काम प्रेमके कारण भगवान् वेंकटेश्वर भक्तके नौकर बने थे। भगवान्‌की इस विचित्र लीलाको जानकर सभी लोग रोमाञ्चित हो गये। —ए० कमलनाथ 'पंकज'

महात्याग

यह तो सभी मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति रंकसे लेकर राजातक, मूर्खसे महान् विद्वान्तक तथा विषय-वासनामें फँसे हुए पुरुषोंसे लेकर महान्-से-महान् योगी-संन्यासीतक सभी आनन्दकी प्राप्ति चाहते हैं एवं मरना कोई नहीं चाहते, सदा जीते रहनेकी ही इच्छा करते हैं। इस प्रकार मनुष्यमात्रका उद्देश्य एक ही दीख पड़ता है। हाँ, उसकी प्राप्तिके लिये साधनमें भेद अवश्य पाया जाता है। अधिकांश मनुष्य इस आनन्दको बाह्य विषयोंमें खोजते हैं और जब उसमें उन्हें शान्ति नहीं मिलती तब समझते हैं कि और अधिक मिलनेसे शान्तिकी प्राप्ति होगी। इसी प्रकार आनन्दके लिये वह अधिक-से-अधिक विषयोंकी चाहनामें यत्न करते रहते हैं।

यद्यपि उनका यह सुखका अन्वेषण निरन्तर जारी रहता है तथापि विषयोंमें सुखका अस्तित्व न रहनेके कारण किसीको भी अधिकाधिक विषयोंके प्राप्त होनेपर भी शान्ति नहीं मिलती। यथार्थ आनन्द तो आत्माका स्वरूप है, परंतु किसी इच्छित विषयकी प्राप्तिसे जब चित्त किञ्चित् कालके लिये एकाग्र हो जाता है और उस एकाग्रतासे जब वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है तो अभ्यन्तरस्थ आत्माके आनन्दकी एक किरणका प्रतिबिम्ब उसको प्राप्त होता है। उसे पुरुष यह नहीं समझता कि वह आत्मासे ही प्राप्त होता है; बल्कि उसे विषयोंकी प्राप्तिके द्वारा प्राप्त हुआ समझ वह बारम्बार उन्हींकी ओर दौड़ता है। इस प्रकार विषयोंमें आनन्दकी खोज जारी रहती है। इस आनन्दके तारतम्यका वर्णन श्रुतिमें भी आता है—

तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः''''।

(तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली)

अर्थात् सब धन-धान्यसे पूर्ण पृथ्वीका राज्य एक मनुष्यका आनन्द है, इस प्रकारके आनन्दसे सौगुणा आनन्द मनुष्य-गन्धर्वका आनन्द है, उससे सौगुणा आनन्द देव-गन्धर्वका आनन्द है, उससे सौगुना आनन्द पितरोंका है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर आजानजदेव, कर्मदेव, देव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति तथा प्रजापतिके आनन्दसे सौगुना आनन्द ब्रह्मानन्द है जो पूर्ण आनन्द है।

यहाँ विचारणीय विषय यह है कि क्या ब्रह्मानन्द ही आनन्दकी चरम सीमा है अथवा उससे भी बढ़कर कोई आनन्दकी और अवस्था है? ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिका दृष्टान्त देते समय कहा जाता है कि जिस प्रकार नमककी डली समुद्रमें संलग्न होनेसे गलकर समुद्रके जलमें लीन हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मानन्दमें लीन होनेपर जीवात्माकी दशा होती है। उसका पृथक् अस्तित्व नहीं रहता, वह ब्रह्ममय हो जाता है।

परंतु हम देखते हैं कि ब्रह्मर्षिगण इस ब्रह्मानन्दमें लीन होनेकी योग्यता पाकर भी इस आनन्दका त्याग करते हैं और ब्रह्ममें लीन नहीं होते। क्योंकि यदि वे लीन हो जाते तो उनके अस्तित्वका अभाव हो जाता। परंतु ब्रह्मर्षिगण तीनों कालमें विद्यमान रहते हैं, इससे ज्ञात होता है कि वे ब्रह्मानन्दको प्राप्त होकर भी उसमें लीन नहीं होते; बल्कि उसका त्याग कर देते हैं। इससे जान पड़ता है कि ब्रह्मानन्दसे भी बढ़कर वह आनन्द है जो उसके त्यागसे प्राप्त होता है। यही त्याग महात्याग है। यह महात्याग ब्रह्मानन्दसे भी श्रेष्ठ इसलिये कहा जाता है कि ब्रह्मानन्दका आनन्द तो उसी पुरुषको प्राप्त होता है जो उसमें लीन होता है, परंतु उसका त्याग करनेवाला त्यागी महापुरुष संसारके कल्याणके कार्यमें लगता है। इस प्रकार वह अकेले आनन्दके उपभोग करनेके बदले अनेकोंका कल्याण-साधन कर उन्हें आनन्दित करता है। ऋषियोंका यही मुख्य कर्म भी है, अतः दूसरोंके कष्ट दूर करना और उनके आनन्दकी प्राप्तिमें सहायक होना ब्रह्मानन्दके आनन्दसे भी अधिक आनन्ददायक है। स्वयं आनन्द भोगनेकी अपेक्षा दूसरोंको आनन्दित करनेसे जो आनन्द मिलता है वह श्रेष्ठ है। संसारके लिये ऋषियोंके ब्रह्मानन्दके त्यागका परिणाम यह हुआ कि ऋषियोंकी दिव्य दृष्टिके द्वारा वेदमन्त्र प्रकट हुए। उनका विभाग किया गया। स्मृति, दर्शन, पुराण, तन्त्र आदि पराविद्याकी सामग्री तथा व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद, कलाशास्त्र आदि अपरा-विद्याकी सामग्रीकी रचना हुई और उनका प्रचार किया गया। इसीलिये प्रत्येक द्विज ऋषियोंका ऋणी है और वह ऋण ब्रह्मयज्ञद्वारा चुकाना नित्यकर्मोंमें आ गया है। यह ज्ञान-प्रचारका काम इसीलिये परमोत्तम समझा जाता है, क्योंकि यह श्रीभगवान्की साक्षात् परम

प्रिय सेवा है—यह श्रीभगवान्का अपना कार्य है जिसमें वे सदा-सर्वदा लगे रहते हैं। (देखिये गीता ३। २३-२४ और ४। ७-८) इसी अवस्थाको पराभक्तिकी प्राप्ति कहते हैं और इसी कारण गीता कहती है—

'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥' (गीता १२। १२)

अर्थात् त्यागसे शान्ति मिलती है, यहाँ त्यागका अभिप्राय ब्रह्मानन्द अथवा मोक्षके त्यागसे ही है, जो संसारके हितकी दृष्टिसे श्रीभगवान्की सेवाके निमित्त किया जाता है। जब स्वयं श्रीभगवान् विश्वहितके कार्यमें नियुक्त हैं, तब ब्रह्मानन्दके उपभोगमें पड़े रहना भक्तिभावके विरुद्ध है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
(३। २९। १३)

अर्थात् 'मेरे भक्त सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य तथा सारूप्य-मुक्तिको देनेपर भी मेरी सेवा छोड़कर उन्हें नहीं ग्रहण करते।'

इसी अवस्थाको यथार्थ शरणागतभाव कहते हैं और इसी कारण गीताके अन्तिम अठारहवें अध्यायका नाम मोक्षसंन्यासयोग है।

आत्मानन्दके अनुभवसे भी चित्त ऊब सकता है और इसी कारण समाधिसे भी उठना होता है। परंतु यह महात्याग ऐसा है कि चाहे जितना अधिक और जितने समयतक इसकी साधना की जाय, शान्तिकी मात्रा बढ़ती ही जाती है और कभी चित्त ऊबता नहीं। क्योंकि इसमें भगवान्की नित्य सेवाका अनुराग बढ़ता ही जाता है।

इस महात्यागका साधन भी त्याग है और परिणाम भी त्याग ही है। इस मार्गके पथिक निरन्तर निःस्वार्थभावसे परहित-साधनमें उसे भगवत्सेवा समझ लगे रहते हैं। वे इस विश्वको भगवद्रूप समझ विश्व-हित-कार्यको भगवत्सेवा मानकर परम निरहंकार और निर्ममभावसे करते रहते हैं और सेवा करनेकी अपनी शक्तिको भी भगवान्की ही शक्ति समझते हैं। परिणाम यह होता है कि ऐसे भक्त और श्रीभगवान्में ऐसी घनिष्ठ एकता स्थापित हो जाती है कि सिद्धावस्थामें भक्त केवल निमित्तमात्र बन जाता है और तब श्रीभगवान् स्वयं उसके द्वारा जगत्के हितका कार्य सम्पादन करते हैं। इसी अवस्थाको लक्ष्यकर श्रीभगवान्ने अर्जुनसे कहा था—

'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥' (गीता ११। ३३)

अर्थात् 'हे अर्जुन! तू केवल निमित्तमात्र बन जा।'

इसी कारण श्रीभगवान्का कहना है कि मैं अपने भक्तका दास हूँ और भक्तद्वारा बद्ध हो जाता हूँ। ऐसे त्यागी भक्त जो अपनी भक्तिके बल संसारका धारण और रक्षण करते हैं, उनका जीवन धन्य है!

यही महात्याग श्रीराधाभाव है जिसको श्रीराम रायके संवादमें श्रीमहाप्रभुने सर्वोच्च भाव बतलाया है। ब्रह्मने अपने ब्रह्मानन्दको त्यागकर अपनेको मायाबद्ध-सा कर जो त्याग किया वही संसारका कारण है, अतः यह त्याग ही संसारका मुख्य धर्म है जिससे यह चलता है। पुरुषसूक्तमें इसी त्यागकी संज्ञा यज्ञ है। इसी कारण गीता (४। ३१) कहती है—

'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥'

अर्थात् 'हे अर्जुन! जो यज्ञ (त्याग) नहीं करता वह इस लोकमें ही सुखी नहीं होता, परलोककी क्या बात कही जाय!'

यथार्थ वैदिक यज्ञ भी संसारके कल्याणके निमित्त यज्ञपुरुष परमात्माकी सेवाकी भाँति उनके निमित्त स्वार्थका त्यागकर परार्थ-सेवा करना ही है, जिसका दिग्दर्शन गीताके तीसरे और चौथे अध्यायमें है।

इस महात्यागके द्वारा ही अमरत्वपदकी प्राप्ति भी होती है। ऐसा महात्यागी भक्त जो विश्व-हित भगवत्सेवाके निमित्त वर्तमान रहता है, श्रीभगवान्से अभिन्न और एकत्व प्राप्त करके तथा उनके दिव्य गुण, ऐश्वर्य और सामर्थ्यका अपने द्वारा प्रकाश करते हुए भी अपने अस्तित्वका लोप नहीं करता। वह श्रीचैतन्यमहाप्रभुके सिद्धान्तानुसार नित्य श्रीकृष्ण-दास बना रहता है। श्रीभगवान्के साथ परम एकत्व प्राप्त होनेपर भी इस सेव्य-सेवक-भावका कदापि लोप नहीं होता।

इस मार्गकी साधनामें प्रारम्भसे ही विश्व-हित-निमित्त निःस्वार्थ भगवत्सेवाकी प्रधानता रहती है और यह सेवा किसी स्वार्थ-कामनासे नहीं; बल्कि निःस्वार्थ भगवत्प्रेमकी प्रेरणासे ही होती है। इस मार्गके पथ-प्रदर्शक सद्गुरु वे जीवन्मुक्त महर्षि हैं, जो इस परम पावन श्रीभगवत्प्रेमके कारण मोक्षको त्यागकर विश्व-हित-सेवामें प्रवृत्त रहते हैं। ऐसे सद्गुरु उन्हीं साधकोंको प्राप्त होते हैं, जो इस महात्याग-पथके सच्चे पथिक हैं और इस त्यागके प्रेम-व्रतके व्रती हैं।

* * *

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

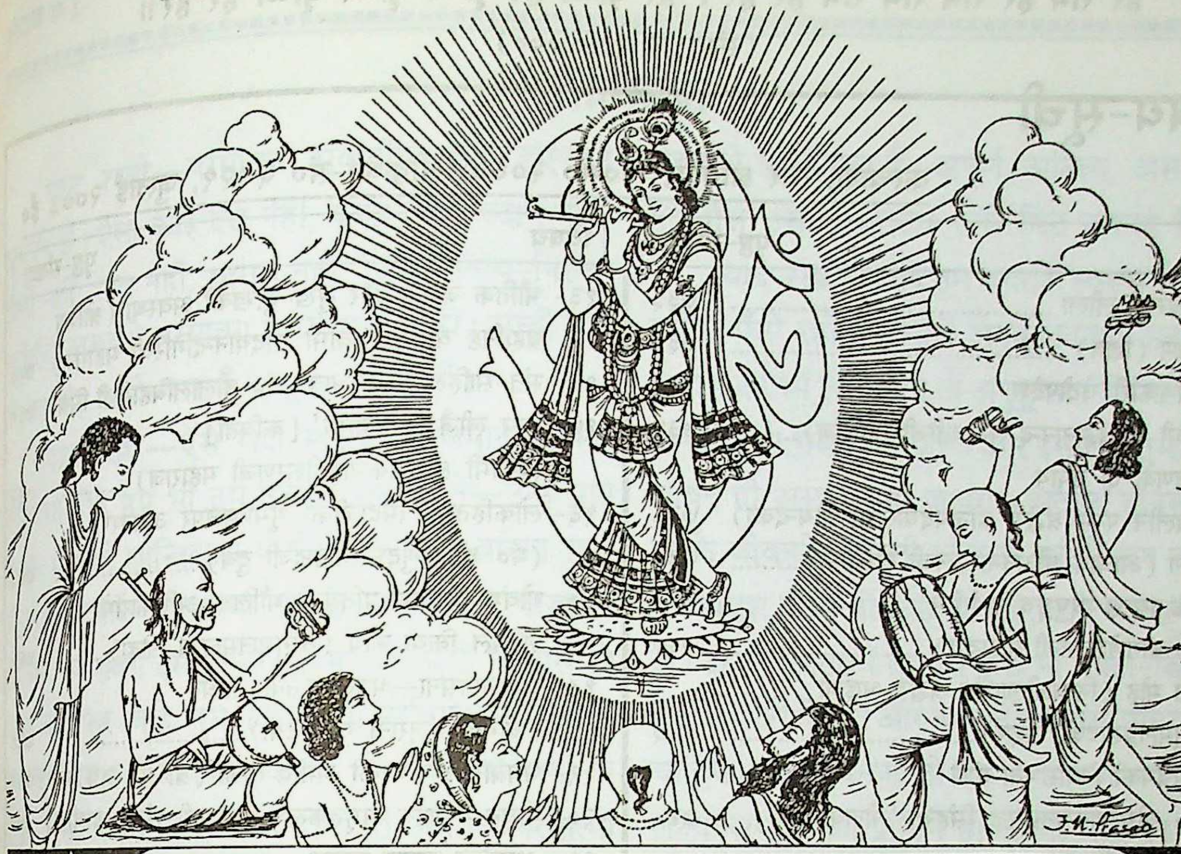

कल्याण

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्धस्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

वर्ष ७७

गोरखपुर, सौर श्रावण, वि० सं० २०६०, श्रीकृष्ण-सं० ५२२९, जुलाई २००३ ई०

संख्या ७

पूर्ण संख्या ९२०

लीलाधरकी लीला

हँसत गोपाल नंद के आगैं, नंद सरूप न जान्यौ।
निर्गुन ब्रह्म सगुन लीलाधर, सोई सुत करि मान्यौ॥
एक समय पूजा के अवसर, नंद समाधि लगाई।
सालिग्राम मेलि मुख भीतर, बैठि रहे अलगाई॥
ध्यान बिसर्जन कियो नंद जब, मूरति आगें नाहीं।
कह्यौ गोपाल देवता कह भयौ, यह बिसमय मन माहीं॥
मुख तैं काढ़ि तबै जदुनंदन, दियौ नंद कें हाथ।
सूरदास स्वामी सुख-सागर खेल रच्यौ व्रज-नाथ॥

(सूरसागर ८८१)

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,५०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण, वि०सं० २०६०, श्रीकृष्ण-सं० ५२२९, जुलाई २००३ ई०

विषय — पृष्ठ-संख्या

१- लीलाधरकी लीला ७३३
२- कल्याण (शिव) ७३५
३- कल्याणकारी वेदोपदेश (स्वामी श्रीविज्ञानानन्द सरस्वतीजी महाराज) ७३६
४- कल्याणके दो उपाय (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ७३८
५- वियोग (आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी) ७३९
६- 'भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे' (डॉ० श्रीगणेशदत्तजी सारस्वत) ७४०
७- हमारा मोह (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ७४३
८- भगवत्प्रेमकी निवासभूता वंशी (डॉ० श्रीसुरेशनन्दनप्रसाद सिंहजी 'नीलकण्ठ') ७४५
९- साधकोंके प्रति— (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ७४७
१०- व्रजलीला-विमर्श (पं० श्रीउमाशंकरजी दीक्षित, विद्यावारिधि, पी-एच०डी०) ७४९
११- हनुमदुपासनाकी व्यापकता (श्रीजोखूप्रसादजी तिवारी) ७५४
१२- साधक-प्राण-संजीवनी (गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज) ७५५

विषय — पृष्ठ-संख्या

१३- भौतिक जीवन और सुख-दुःखकी अवस्था (श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग स्वामी श्रीदयानन्दगिरिजी महाराज) ७५७
१४- संत-साहित्यमें मधुरभाव (पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र) ७६०
१५- 'कर लीजै निज दासा' [कविता] (स्वामी श्रीरसिकमाधुरीशरणजी महाराज) ७६२
१६- लोकहितार्थ नर्मदाजीका भूमण्डलपर अवतरण (पं० श्रीविष्णुदत्तरामचन्द्रजी दुबे) ७६३
१७- गोवंश-हत्यापर प्रतिबन्ध मौलिक अधिकारोंमें शामिल किया जाय (श्रीगुमानमलजी लोढ़ा) ७६५
१८- सगुणोपासना—भगवत्प्राप्तिका साधन (श्रीमती मंजुरानी गुटगुटिया) ७६८
१९- भगवान् श्रीकृष्णकी अमोघ वाणी (श्री जय जय बाबा) ७६९
२०- गोघृत—अक्षय अमृतकलश (श्रीमती संतोष दाधीच) ७७०
२१- *भक्तोंके पावन चरित*— वात्सल्यकी मूर्ति माँ यशोदा (डॉ० श्रीशरद पगारे, एम्०ए०, पी-एच्०डी०) ७७१
२२- साधनोपयोगी पत्र ७७२
२३- व्रतोत्सव-पर्व [श्रावणमासके व्रत-पर्व] ७७५
२४- पढ़ो, समझो और करो ७७६
२५- मनन करने योग्य ७८०

* * *

चित्र-सूची

१- भगीरथको भगवान् विष्णुके दर्शन .... (रंगीन) .... आवरण-पृष्ठ
२- शालग्राम मुखमें .... (") .... मुख-पृष्ठ

* * *

वार्षिक शुल्क
भारतमें १२० रु०
सजिल्द १३५ रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$25 (Air Mail)
US$13 (Sea Mail)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

पञ्चवर्षीय शुल्क
भारतमें ६०० रु०
सजिल्द ६७५ रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$125 (Air Mail)
US$ 65 (Sea Mail)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित
website : www.gitapress.org | e-mail : booksales@gitapress.org

कल्याण

याद रखो—परमात्मा सर्वातीत होते हुए भी सर्वमय हैं। ऐसा कोई देश नहीं, काल नहीं, पदार्थ नहीं, प्राणी नहीं, भाव नहीं, धारणा नहीं, जिसमें नित्य-निरन्तर अविच्छिन्नरूपसे परमात्मा विराजमान न हों। सच्ची बात तो यह है, सभी वस्तुएँ वस्तुतः वे ही हैं।

याद रखो—ऐसे सदा सर्वत्र विराजमान सर्वमय परमात्मा होते हुए भी तुम उनको प्राप्त करने—उन्हें प्राप्त करके शाश्वती शान्तिलाभ करनेसे इसीलिये वञ्चित रहते हो, तुम्हारा लक्ष्य परमात्मा नहीं है। लक्ष्य यदि परमात्मा हो और परमात्मा इस प्रकार सर्वमय हैं, ऐसा विश्वास हो जाय तो फिर चाहे तुम किसी भी सविशेष-निर्विशेष, साकार-निराकार रूपको किसी भी भावनासे क्यों न देखो, तुम्हें परमात्माकी प्राप्ति होगी ही; क्योंकि परमात्मा ही एकमात्र सर्वत्र व्याप्त सर्वरूप सत्य हैं।

याद रखो—तुम्हारा मानव-जीवन केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही है और उनकी प्राप्ति तुम्हारी एकान्त इच्छाके अधीन है। परमात्माकी प्राप्तिमें ही जीवनकी सार्थकता और सफलता है। इसके बिना सभी कुछ व्यर्थ और अनर्थरूप है।

याद रखो—बनना-बिगड़ना, होना-मिटना, संयोग-वियोग—संसारका स्वरूप ही है। इसके पदार्थोंको यदि तुम नित्य बननेवाले, नित्य होनेवाले और नित्य संयोगरूप बनाना चाहोगे तो यह असम्भव है, ऐसा हो ही नहीं सकता—जन्मके साथ मृत्यु यहाँ है ही और यदि कहीं अपेक्षासे कोई वस्तु अधिक काल स्थायी हो भी गयी तो वह सुखरूप ही होगी, ऐसा नहीं मानना चाहिये। जबतक मनमें अभावकी अनुभूति और अभावपूर्तिकी कामना रहेगी, तबतक किसी भी पदार्थसे कभी सुख होगा ही नहीं। सच्ची बात तो यह है पूर्ण, नित्य, सत्य और चेतन परमात्माकी प्राप्तिके बिना जीवके अभावका नाश कभी होता ही नहीं; क्योंकि जीव परमात्माका ही सनातन अंश है, इसलिये स्वाभाविक ही वह पूर्ण, नित्य, सत्य और चेतनको ही चाहता है। अपूर्ण, अनित्य, असत् और जड पदार्थोंसे उसका अभाव कैसे मिट सकता है।

याद रखो—यदि तुम जगत्के स्वरूपको न समझकर उसीमें फँसे रहोगे, उसीमें अनुकूलताका अनुसंधान तथा निर्माण करनेमें लगे रहोगे तो अनुकूलता तो मिलेगी ही नहीं, परमात्माका भजन नहीं होगा और इसलिये तुम्हारा मानव-जीवन ही असफल हो जायगा। अतएव तनिक भी देर न करके जीवनके असली ध्येयकी प्राप्तिमें लग जाओ। यहाँ प्रारब्धवश जैसा जो कुछ होना है, उसे स्वच्छन्दतासे होने दो। उससे वास्तवमें तुम्हारा कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं है। फिर उसे मिटाने और बदलनेके प्रयत्नमें समय क्यों खोना चाहिये। इस जीवनका तो एक-एक क्षण—जीवनके परम लक्ष्य परमात्माकी प्राप्तिमें ही लगना चाहिये।

याद रखो—जीवनका जो क्षण परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें लगता है, वही सार्थक है, वही मूल्यवान् है। तुम अपना सौभाग्य तभी समझो, जब तुम्हारे जीवनके समस्त क्षण परमात्मामें लगते हों। उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, देखते-सुनते—सभी समय परमात्मामें ही मनको लगाये रखनेका प्रयत्न करो। परमात्माकी विस्मृति कभी न हो, उनकी याद करते हुए ही जीवनके सारे कार्य करो और यह निश्चय करो कि परमात्माका स्मरण ही परमात्माकी प्राप्तिका उपाय होनेसे— जीवनका सर्वप्रथम और सर्वोपरि कार्य है।

याद रखो—यदि तुम प्रमादवश जीवनको जगत्के व्यर्थ और अनर्थरूप दुःखयोनि भोगोंमें ही लगाये रखोगे तो तुम महामूर्ख हो और तुमको पीछे बहुत अधिक पश्चात्ताप करना पड़ेगा; पर उस समय कोई उपाय तुम्हारे हाथमें नहीं रह जायगा। इसलिये भगवत्कृपासे प्राप्त मानव-जीवनरूप इस सुअवसरको मत खोओ—इसका एक-एक क्षण परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें ही लगाओ, तुम धन्य हो जाओगे और सदाके लिये पूर्ण सुखको प्राप्तकर कृतार्थ हो जाओगे। **'शिव'**

* * *

कल्याणकारी वेदोपदेश

(स्वामी श्रीविज्ञानानन्द सरस्वतीजी महाराज)

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इस न्यायसे हमारे समस्त धर्म-कर्मोंका मूल वेद ही है। वेद अनन्त और अपौरुषेय है, जो अगाध ज्ञानराशिका एक अखण्ड भण्डार है। वेदमें सभी कुछ है, चाहनेवालेको सब कुछ मिल सकता है। इस संदर्भमें हम धर्मके विषयमें वेदोंका जो दिव्य संदेश है उनमेंसे कतिपय वाक्य यहाँपर प्रस्तुत कर रहे हैं। यथा—

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति॥

(ऋक्० १। १६४। ४६)

सत् वस्तु 'ब्रह्म' एक ही है, उसी एक ब्रह्मतत्त्वका विद्वान् लोग अनेक नाम-रूपोंमें कथन करते हैं।

एको विश्वस्य भुवनस्य राजा।

(ऋक्० ६। ३६। ४)

वह ब्रह्म परमात्मा ही समस्त विश्व-ब्रह्माण्डका राजा है अर्थात् स्वामी है। उसीके अनुशासनमें रहकर सभी देवता अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त हैं।

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति।

(ऋक्० १। १६४। ३९)

जो उस ब्रह्मतत्त्वको नहीं जानता, वह वेदोंको लेकर क्या करेगा? अतः उस वेद-पुरुषको जानो, ध्यान-समाधिके द्वारा बोध प्राप्त करो। उसको सम्यक् प्रकारेण जान लेनेपर ही मुक्ति—मोक्षका मार्ग प्रशस्त होता है अन्यथा नहीं।

सं गच्छध्वं सं वदध्वम्।

(ऋक्० १०। १९१। २)

सब एक साथ मिलकर चलो और एक साथ मिल कर बोलो; क्योंकि समाज या राष्ट्रमें एकतामें ही बल होता है, बिखरावमें नहीं।

न स सखा यो न ददाति सख्ये।

(ऋक्० १०। ११७। ४)

वह मित्र ही क्या, जो अपने मित्रकी सहायता नहीं करता है। अतः अपने मित्रकी हर प्रकारसे सहायता करनी चाहिये, एक-दूसरेका पूरक बनना चाहिये।

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।

(ऋक्० ४। ३३। ११)

बिना स्वयं परिश्रम किये देवताओंकी मित्रता नहीं मिला करती है। अतः भरसक पुरुषार्थ करना चाहिये; क्योंकि पुरुषार्थीको ही देवताओंकी मित्रता मिलती है अर्थात् सहायता मिलती है, सब कार्योंमें सफलता मिलती है, परंतु पुरुषार्थहीनको नहीं।

उप सर्प मातरं भूमिम्।

(ऋक्० १०। १८। १०)

अपनी मातृभूमिकी सेवा करनी चाहिये, उसकी रक्षा करनी चाहिये। जो अपनी मातृभूमिकी सेवा करता है अर्थात् उसकी रक्षा करता है, वही वास्तवमें मातृभूमिका वीर पुत्र कहलाने योग्य है।

यतेमहि स्वराज्ये॥

(ऋक्० ५। ६६। ६)

हम स्वराज्य (मोक्ष)-प्राप्तिके लिये सदा प्रयत्न करते रहें; क्योंकि हमारा स्वराज्य वह मोक्ष ही है—यह परिदृश्यमान जगत् नहीं।

अहमिन्द्रो न परा।

(ऋक्० १०। ४८। ५)

मैं सचमुच ब्रह्म ही हूँ भिन्न नहीं। उपनिषदोंमें कथित चार महावाक्योंसे तुलना करें—**'तत्त्वमसि'** (छान्दोग्य० ६। ८। ७), **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** (ऐतरेय० ३। ३), **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृह० १। ४। १०), **'अयमात्मा ब्रह्म'** (माण्डूक्य० २)।

स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु।

(यजु० ३२। ८)

वह चैतन्यस्वरूप ब्रह्म विभु अर्थात् व्यापक होनेसे समस्त प्रजाओंमें ओत-प्रोत होकर विद्यमान है। अभिप्राय यह है कि जब ब्रह्ममें ही सम्पूर्ण जगत् विद्यमान है, तब ब्रह्मका अभाव कब और कहाँपर हो सकता है अर्थात् तीन कालमें भी नहीं हो सकता है। इसलिये उसे शाश्वत कहा गया है।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति॥

(यजु० ३१। १८)

उस परब्रह्म परमात्माको सम्यक् प्रकारेण जान करके ही मनुष्य मृत्युको लाँघकर मोक्षरूप अमृतपदको प्राप्त कर लेता है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

(यजु० ४०। २)

मनुष्य इस संसारमें सत्कर्म करते हुए ही सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करे; क्योंकि यदि संसारके भोगोंको भोगनेके

लिये ही जीना हो तो पशु-पक्षी भी जीते हैं, फिर पशु और मनुष्योंमें क्या अन्तर रहा?

पश्येम शरदः शतम्॥

(यजु० ३६। २४)

हम सौ वर्षोंतक दृष्टिशक्तिसे सम्पन्न होकर देखते रहें। सौ वर्षसे पूर्व हमें अक्षमता प्राप्त न हो।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम।

(यजु० २५। २१)

हम कानोंसे सदा-सर्वदा भद्र अर्थात् मङ्गलकारी वचन ही सुनें, अमङ्गलकारी नहीं; क्योंकि हम संसारमें यत्र-तत्र सर्वत्र मङ्गल ही चाहते हैं अमङ्गल कदापि नहीं।

मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥

(यजु० ४०। १)

किसीके भी धनका लालच मत करो। धन किसका है? अर्थात् किसीका भी नहीं, सब परमात्माका वैभव है और अन्तमें उसीके पास धरा रह जायगा।

स एष एक एकवृदेक एव।

(अथर्व० १३। ४[१]। १२)

वह ब्रह्म एक था अनेक हुआ और अन्तमें एक ही होगा; क्योंकि एकके मायाजालका ही यह सब कुछ विस्तारमात्र है।

तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः॥

(अथर्व० १०। ८। ४४)

उस ब्रह्म परमात्माको सम्यक् जान लेनेपर फिर मनुष्य मृत्युसे नहीं डरता; क्योंकि वह मोक्षको प्राप्त करके सब ओरसे अभय हो जाता है।

यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः॥

(अथर्व० ९। १०। १४)

यज्ञ ही सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्डको बाँधनेवाला नाभि-स्थान है।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।

(अथर्व० १२। १। १२)

भूमि मेरी माता है और मैं उस मातृभूमिका पुत्र हूँ। अतः मेरा धर्म है या कर्तव्य है कि मैं मातृभूमिकी रक्षा करूँ। मातृभूमिकी रक्षा करना सबके लिये अवश्य कर्तव्य है।

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।

(अथर्व० ३। २४। ५)

सैकड़ों हाथोंसे संग्रह करो और हजारों हाथोंसे बाँटो अर्थात् दान करो। ऐसा उदार धर्म अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।

(अथर्व० ११। ५। १७)

ब्रह्मचर्यरूप तपके बलसे ही राजा राष्ट्रकी रक्षा करता है अर्थात् ब्रह्मचर्यके बलसे ही राजा शत्रुओंपर विजय प्राप्त करता है और निर्विघ्नतापूर्वक राज्यका शासन करता है।

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥

(ऋक्० १०। ५। ६)

अर्थात् प्राणिहिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्यपान, जुआ, मिथ्याभाषण तथा बार-बार पापकर्मोंमें लिप्त हो जाना—ये सातों ही महापातक हैं। बुद्धिमान् मनुष्योंको चाहिये कि इन दोषोंका अर्थात् महान् पातकरूप कर्मोंका सर्वथा परित्याग कर दें; क्योंकि इनमेंसे प्रत्येक ही मानव-जीवनके लिये महान् घातक हैं। यदि कोई एकमें लिप्त हो जाय तो उसका जीवन नष्टभ्रष्ट हो जाता है। परंतु जो इन दोषोंसे निकल जाता है, वह निःसंदेह आदर्श मानव बन जाता है। इसमें किंचिन्मात्र संदेह नहीं है।

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥

(ऋक्० ७। १०४। २२)

अर्थात् परमात्मन्! उलूककी भाँति जिन लोगोंको अज्ञानताके कारण दिनके दोपहरमें भी न दीखता हो तथा जो भेड़ियोंकी तरह हर समय निर्बलोंको दबोचकर खा जानेकी घात लगाये रहता हो, जो चकवा पक्षीके समान सदा ही स्त्रैण बना रहता हो एवं जो गरुडके समान अभिमानमें चूर रहता हो और गीधके समान सर्वभक्षी हो तथा श्वान (कुत्ते)-की तरह परस्पर गृहयुद्धमें लगा रहता हो—ऐसे आसुरी वृत्तिवाले मनुष्योंसे हमारी रक्षा करें। उन दुष्टोंको पत्थरोंसे मार डालो। यही वेदका आदेश और उपदेश है।

प्रत्येक मनुष्यको वेदके इन उपदेशोंका अवश्य पालन करना चाहिये; क्योंकि इन उपदेशोंमें ही मानवकी मानवता संनिहित है।

* * *

कल्याणके दो उपाय*

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

अपने कल्याणके दो उपाय हैं। दोनोंमेंसे एकका अवलम्बन अवश्य रखे। हम दूसरेसे बात भी करें तो परमात्माको याद रखें। कोई भी काम करें, किंतु हर समय उनको पकड़कर रखें। दूसरा उपाय है कि शरीरको खाली कर दें, काल तो देहको ही मार सकता है, आत्माको नहीं। पहले ही कोठरी खाली कर दें तो फिर खतरा नहीं है। नित्यमें अपना डेरा कर ऐसे डेरेमें रहें, जहाँसे फिर लौटना ही न पड़े। यह शरीर तो कच्ची कोठरी है, परमात्मा ही सच्ची कोठरी है। अन्य सब शरीरोंमें इयत्ता है ही, अपने शरीरको भी इयत्ता बुद्धिसे देखे।

द्रष्टा होकर इदं बुद्धिसे अपनेको द्रष्टा माने। फिर इस शरीरमें आत्मबुद्धि करे ही नहीं, अन्यथा कभी मारा जायगा। शरीरमें रहते हुए परमात्माका सहारा रखे। कल्याणके दो ही उपाय हैं या तो शरीरको खाली कर दे या परमात्माकी शरण हो जाय। विशेष बात याद आयी जब कही और एक बात है ऐश, आराम, प्रतिष्ठाकी जितनी भी सामग्री है, इनके फंदेमें आना ही नहीं। ध्यान रखे—कहीं आराममें नहीं फँस जाय। विचारना चाहिये कि कहीं तुम्हारा समय एक मिनट भी व्यर्थ तो नहीं गया। समयको याद रखे और मौतको याद रखे, सावधान रहे, अन्यथा खतरा है। थोड़ी-सी भी जोखिममें क्यों जाय, मनुष्य-शरीर पाकर उद्धार नहीं किया तो फिर न मालूम कब यह शरीर मिले। यही मेरा विशेष कहना है। इसके विपरीत किसीका भी कहना न माने। एक मिनटकी भी जोखिम नहीं उठाये। असंख्य जन्मोंतक जन्मना, मरना यह कितनी बड़ी जोखिम है। वृक्षों आदिको कितना कष्ट है, क्या दशा हो रही है। हमें इस दशामें नहीं पड़ना चाहिये। हर वक्त परमात्माका ध्यान रखे। परमात्माकी प्राप्ति इस जीवनमें ही हो जाय अन्यथा अन्तकालमें हो जाय, भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! अनन्य चित्तसे निरन्तर मेरा स्मरण करनेवालेके लिये मैं सहज ही प्राप्त हूँ (गीता ८।१४)।

इस प्रकारकी सरलता रहते हुए भी हमें फिर जन्म लेना पड़े तो धिक्कार है। गीता-जैसा ज्ञान प्राप्त हो रहा है। पहले ऐसी सुविधा ही नहीं थी, अर्थ मूलका कुछ पता ही नहीं था। अब तो पढ़ने-सुननेको सब जगह ही मिल रहा है। मनुष्य-शरीर मिला, उत्तम कुलमें जन्म हुआ, फिर भी यदि जन्मना, मरना पड़े तो हमारे समान बुद्धिहीन कौन होगा। जैसे कोई सत्यका नियम लेता है, उसी प्रकार यह नियम ले लो कि एक मिनट भी प्रभुको भूलेंगे नहीं। फिर चाहे तोपका गोला ही लगे। उसका भय नहीं। उसने तो अपनी जोखिम (बीमा) बेच दी, परमात्माकी शरण होना जोखिम बेचना है। अपने शरीरको और कोठरी खाली कर देना निराकार प्रभुकी शरण होना है। जोखिम बेचनी यही है कि परमात्माको याद रखे। यह कोठरी तो डूबनेवाली है, जो काम ठीक मालूम दे वही करो। जीवनबीमा बेचनेपर मरनेपर दूसरेको मिलता है, परंतु इसमें ऐसी बात नहीं है। यह बेचनेवालेको ही मिलता है। वह तो फिर परमात्माके परमधाममें आनन्द करता है।

यह प्रतिज्ञा कर ले कि किसी प्रकार भी, एक क्षण भी परमात्माको नहीं भूलेंगे, यदि परमात्माका चिन्तन छूटता है तो यह मानना चाहिये कि अभी नहीं मरेंगे, ऐसा भ्रम है। निरन्तर जो स्मरणका अभ्यास कर लेगा उसको खतरा नहीं, उसीको अन्तमें याद रहेगा। इसीपर जोर लगाना चाहिये। परमात्माको याद रखे। यही मेरा विशेष कहना है। इनमेंसे किसी भी श्लोकके अनुसार साधन करे—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८।१४)

हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

(गीता १४।१९)

---

* प्रवचन-तिथि प्रथम वैशाख शुक्ल १, संवत् १९९१, सायंकाल, टीबड़ी, स्वर्गाश्रम।

जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मर्य्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(गीता ८।७)

इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥
(गीता १८।५७)

सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो।

सबका अभिप्राय यही है कि भगवान्को याद रखो, चाहे सब छूट जाय, पर प्रभुको मत छोड़ो। कोई भी प्रकारका साधन चाहे मत हो, पर प्रभुको पकड़े रखो। भगवान्के बाँह छुड़ाकर जानेपर सूरदासजीने कहा था—

बाँह छुड़ाये जात हो निबल जानकर मोहि।
हिरदेसे जब जाहुगे पुरुष बदौंगो तोहि॥

बिल्वमंगलजीकी भी इसी प्रकारकी कथा है। उन्होंने भगवान्से कहा—

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

कृष्ण! तुम बलपूर्वक हाथ छुड़ाकर जा रहे हो, इसमें क्या बड़ी बात है; यदि तुम हृदयसे निकलकर जाओ तो मैं तुम्हारा पौरुष मानूँगा।

* * *

वियोग

सङ्गमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः।

प्रेम और ममत्वका ऐसा जोड़ा है कि ये कभी अलग नहीं किये जा सकते। जहाँ प्रेम है वहाँ ममत्व है। जो जिससे प्रेम करता है उसे अपना ही बनाकर रखना चाहता है। यदि वह उसे अपना नहीं बना पाता तो कलपता है, रोता है। उसका कलपना, रोना, ममताकी मात्रा बढ़नेसे होता है। वह आये और गये, उनके आनेमें संयोग, जानेमें वियोग है। दोके मिलनको संयोग अथवा योग कहते हैं।

संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।

किंतु उक्त योगकी विशेषता विशुद्ध प्रेममें ही है और वह अनिर्वचनीय है।

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।

वियोगीके हृदयकी कसक, मधुर स्मृतिकी रूपरेखा और तन्मयताकी झलक 'गोपिकागीत' में है—

त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते।

प्रेमयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, लययोग, हठयोग आदि सभी योगोंके सम्पुटसे 'वियोग' रस परिपक्व होकर सिद्ध होता है।

ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।

जहाँ संयोगमें मनकी प्रफुल्लता और आनन्द है, वहाँ वियोगमें प्राणोंकी विकलता, तन्मयता, उत्सुकता एवं दुःखदायिनी मधुर स्मृतिमें अकथनीय आह्लाद है। प्रेमके शुद्ध स्वरूपका प्रतिबिम्ब विरहीके विकल हृदयपटलपर रहता है।

परिपुष्टे परिपुष्टं क्षीणे क्षीणं समे समं चैव।
माधव तस्या अङ्गं तवैव स्नेहेन घटितमिव॥

प्रेमी अपने प्यारे प्रभुको कभी भी भुला नहीं सकता।

प्रेमकी अटूट धाराकी लहर वियोगीके निर्मल हृदयसरोवरमें सदा लहराती रहती है।

क्वचित् क्वचिदयं यातु स्थातुं प्रेमवशंवदः।
न विस्मरति तत्रापि राजीवं भ्रमरो हृदि॥

—आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी

* * *

'भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे'

(डॉ० श्रीगणेशदत्तजी सारस्वत)

ध्यानावस्थित संतने आगन्तुककी आहटसे नेत्र खोले। उन्होंने देखा कि एक सम्भ्रान्त भद्रपुरुष उन्हें प्रणाम कर रहे हैं। प्रणामके उपरान्त उन्होंने प्रभूत धनराशि संतके चरणोंमें रखकर विनत होकर कहा—'यह तुच्छ भेंट स्वीकार करें महाराज!'

'आप यह भेंट किस उद्देश्यसे दे रहे हैं' संतने उपेक्षासे पूछा।

महाराज! आगन्तुक कुछ मुस्कराकर बोले—'खेतमें बीज इसलिये बोया जाता है कि समयपर सहस्रों गुना मिलेगा। आपको समर्पित करनेसे मुझे भी परलोकमें लाखों गुना मिलेगा।

'तो मैं निर्धनका दान स्वीकार नहीं करता, उठा लो इसे' संतने वहाँसे उठते हुए कहा।

सेठजीके साथ आनेवाला मुनीम सोच रहा था—'न जाने किसने इस पागलको सिद्ध महात्मा बताकर हमारे मालिकको इसके पास भेज दिया।' उसने कुछ तेज स्वरमें कहा—'महाराज! हमारे सेठजी निर्धन नहीं हैं, इनकी कई मिलें, हजारों नौकर, कई मोटर, कई कोठियाँ…'

'लेकिन' बात काटकर संत बोले—'अभी तो इन्हें लाखों गुना चाहिये, इसीसे इनके पास धनका अभाव सिद्ध हो गया। मुझे कुछ नहीं चाहिये, मेरे पास ऐसा धन है, जिसके समक्ष त्रैलोक्यकी समस्त सम्पदा नगण्य है।'

महात्माजी वहाँसे उठकर चल दिये, नोटोंकी गड्डियाँ पड़ी रह गयीं। आश्चर्यसे अवाक् सेठ और मुनीम ताकते खड़े रहे। मुनीमने नोट उठाकर रख लिये और सेठजी उन संतके अद्भुत साधनके सम्बन्धमें सोचते-विचारते वापस लौट गये—'ऐसा कौन साधन है उनके पास कि सामने आया हुआ धन ठुकरा दिया।'

—वह साधन है वैराग्य। इस लोक और परलोकके समस्त दृष्ट, श्रुत या अदृष्ट, अश्रुत पदार्थोंसे सर्वथा वितृष्ण हो जाना वैराग्य कहलाता है। जबतक विषयोंमें अनुराग रहता है, तबतक परमात्मप्राप्तिके चरम ध्येयपर दृढ़तासे स्थिर रहना सम्भव नहीं। विषयोंमें अनुरागके चार मुख्य कारण हैं—विषयोंका अस्तित्वबोध, विषयोंमें रमणीयताका बोध, विषयोंमें सुखबोध तथा विषयोंमें प्रेमबोध। विषयोंका अस्तित्वबोध तबतक बना रहेगा, जबतक कि यह धारणा दृढ़ नहीं होगी कि—

भरम परा तिहुँ लोकमें परम बसा सब ठाँव।
कहै कबीर पुकारिकै बसे भरम के गाँव॥

अथवा—

पुत्ता मत्थि धनम्मत्थि इति बालो निहञ्ञति।
अत्ताहि अत्तनो नत्थि कुतो पुत्तो कुतो धनं॥

(धम्मपद)

मेरा पुत्र है, मेरा धन है—इस प्रकार मूर्ख परेशान होता है। जब मनुष्य स्वयं अपना नहीं है तो पुत्र और धन उसके कहाँतक होंगे और जब संसारकी नश्वरता, क्षणभङ्गुरता तथा अनित्यताका भाव पुष्ट हो जायगा, विषयोंका अस्तित्वबोध बाधित हो जायगा तब न उनमें रमणीयता रह जायगी, न ही सुख-बोध रह जायगा, क्योंकि रमणीयता किसी विषयमें नहीं है, वह हमारे मनकी कल्पना है, इसी प्रकार सुखबोधका सम्बन्ध भी हमारी कल्पनासे ही है। यदि ऐसा न होता तो एक ही विषय किसीको सुखकर और किसीको दुःखकर प्रतीत न होता। प्रेमकी अनुभूति भी कल्पना ही है; क्योंकि लौकिक स्वार्थ ही प्रेमके रूपमें प्रकाशित हो रहा है—*जगतमें स्वारथके सब मीत। जब लगि जासौं रहत स्वार्थ कछु, तब लगि तासौं प्रीत॥*

गुरुनानकके शब्दोंमें—

जगतमें झूठी देखी प्रीत।
अपने ही सुखसों सब लागे, क्या दारा क्या मीत॥
मेरो मेरो सभी कहत हैं, हित सों बाध्यो चीत।
अंतकाल संगी नहिं कोऊ, यह अचरजकी रीत॥
मन मूरख अजहूँ नहिं समुझत, सिख दै हार्‌यो नीत।
नानक भव-जल-पार परै जो गावै प्रभुके गीत॥

यदि हम चाहते हैं कि 'सुखं मे भूयात्, दुःखं मा भूत्' सदा-सर्वदा हमको सुख ही मिले, दुःखका दर्शन स्वप्नमें भी नहीं हो तो—

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधिनिषेधाद्या एतयोरेव किंकराः॥

भगवान्‌का स्मरण सदैव करना चाहिये, भगवद्विस्मरण कभी नहीं हो, सभी विधि-निषेध इन्हींके दास हैं।

इसीकी व्याख्या तुलसीदासजीने 'विनय-पत्रिका' (६७। २)-में इस रूपमें की है—'*राम सुमिरत सब बिधि ही को राज रे। राम को बिसारिबो निषेध-सिरताज रे*'॥

सच तो यह है कि अपवित्र या पवित्र किसी भी अवस्थामें हो, मनुष्य कमलनयन भगवान्‌के स्मरणमात्रसे ही भीतर-बाहरसे पवित्र हो जाता है—

'ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥'

स्मृतिकारका कथन है—

'यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिः सा व्यतिक्रिया॥'

जो क्षण-मुहूर्त भगवान्‌के चिन्तनके बिना व्यतीत हो वह बड़ी हानि है, भ्रान्ति है, विपत्ति है। वास्तवमें नारायणकी विस्मृति ही दुःखरूप महान् विपत्ति है और नारायणकी सतत स्मृति ही आनन्दरूप परम सम्पत्ति है—

'विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः'।

हनुमान्‌जीका भगवान् श्रीरामसे यह कथन भी इसी संदर्भको व्याख्यायित करता है—'*कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥*'

यह भजन ही समस्त सुखोंका हेतु है, इसीलिये वैदिक ऋचा (ऋक्० ८।१।१) कहती है कि हम भगवान्‌का ही एकमात्र आश्रय लेकर उनमें ही तन्मय बनें—

मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत॥

अर्थात् हितकारी उपासको! सब एकाग्र होकर प्रसन्न होनेपर अभीष्टको पूर्ण करनेवाले परमेश्वरकी ही स्तुति करो एवं उनके ही गुणों तथा महिमाका बारम्बार चिन्तन करो—कीर्तन करो। परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी उपासना न करो, आत्मश्रेयका नाश न करो।

एक अन्य मन्त्र (ऋक्० ८।८०।१)-में भगवान्‌की कृपाको साध्य एवं साधन मानकर प्रार्थना की गयी है—

'नह्यन्यं बळाकरं मर्डितारं शतक्रतो। त्वं न इन्द्र मृळय॥'

विश्वरूप प्रभो! आपसे भिन्न अन्य कोई सुखदाता नहीं है, फिर हम अन्यत्र क्यों भटकें? हे सुखस्वरूप! सत्यतः आप ही समस्त सुखोंके मूल स्रोत हैं। हमें वही सुख चाहिये जो साक्षात् आपसे प्राप्त हुआ हो। उसी सुखसे हमारा चित्त तुष्ट हो।

इस प्रकारकी प्रार्थना करनेवालोंपर एवं भगवान्‌का निरन्तर भजन करनेवालोंपर ही प्रभु विशेष कृपा करते हैं। तुलसीके शब्दोंमें—

'मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥'

स्वयं भगवान्‌की यह घोषणा है कि

'जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥'

यह भक्ति प्रेमस्वरूपा है। प्रेमकी उत्कटता प्रेमास्पदके प्रति निष्ठावान् होनेमें सिद्ध होती है। प्रभुको प्रेमास्पद बनाकर भक्ति करना चाहते हैं तो उनके प्रति निष्ठायुक्त प्रेम दर्शाना होगा। प्रेमास्पद दो नहीं हो सकते। भक्ति करनेके साथ-साथ हम अन्य किसी सांसारिक सम्बन्धके प्रति निष्ठावान् नहीं हो सकते। जबतक प्रभुके प्रति इतनी ऐकान्तिक निष्ठा नहीं है और अन्य किसीके प्रति लगाव बाकी है तबतक न तो भक्ति सफल हो सकती है और न ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही हो सकती है। भगवान् श्रीकृष्णने ऐसी भक्तिको व्यभिचारी कहा है। गोस्वामी तुलसीदास ऐसी आने-जानेवाली भक्तिकी बात नहीं करते। उनकी भक्तिका स्वरूप तो '*जनम जनम रति राम पद*' में निहित है। अन्यत्र वे भगवान्‌से याचना करते हैं—'**भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे**'। यह निर्भरा भक्ति ही श्रेयस्कर है। इसमें प्रभुका स्मरण करते समय नाम लेनेवाला जो 'मैं' है, उसका भी अन्त हो जाता है। यही सच्चा एकान्त है। नाम लेते समय हम उसमें इतने रम जायँ कि उसका पर्यवसान एकान्तमें हो जाय, भक्तिका यही चरमोत्कर्ष है। प्रभुदर्शनकी योग्यता तभी आती है। जैसे भूखा अन्नके लिये और प्यासा जलके लिये जलता रहता है, उससे भी अधिक ताप हमारे हृदयमें भगवान्‌के लिये होना चाहिये। विरह-तापसे जबतक हृदय नहीं जलने लगता, तबतक भगवान्‌की मुख-माधुरीके दर्शन नहीं होते और यह तभी सम्भव है जब हम ममताके बिखरे हुए तागोंसे तैयार की गयी डोरीको दृढ़तासे मङ्गलमय प्रभुके चरणोंमें बाँध दें। ममताके रहते निर्विकारताकी अभिव्यक्ति और कामनाके रहते चिरशान्ति सम्भव नहीं है।

तुलसीदासने ऐसे दस स्थान गिनाये हैं, जो हमारी आसक्तिके केन्द्रबिन्दु हैं। वे हैं—

'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥'

भक्तिको सम्पूर्णरूपसे जीवनमें उतारनेके लिये आवश्यक है कि हम इन दसों सम्बन्धोंको, इनके साथकी आसक्तिसहित प्रभुके चरणोंमें अर्पण कर दें।

मौलाना रूमीके इस कथनमें भी यही संदर्भ मुखर है—'***अपनी आँखों, होठों और कानोंको—सबको बंद***

कर लो। फिर अगर अल्लाहका रहस्य दिखायी न दे तो हमपर हँसना।'

हमारा यह भाव ही हमें मोक्षका अधिकारी बनाया है—**'सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं, यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥'** नदी, पहाड़ सभी कुछ भूतमात्र हरिका शरीर है। अतः अनन्यभावसे सभीको प्रणाम करना चाहिये। तुलसीके—**'सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥'**

अथवा—

'जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥'

—में भी इसी कथनका विस्तार है।

महर्षि वसिष्ठ कहते हैं कि मोक्षद्वारके चार द्वारपाल हैं—शम, विचार, संतोष तथा सत्संग। इन चारोंका प्रयत्नपूर्वक सेवन करना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिये।

हज़रत लुक़मानकी इस वाणीमें भी श्रेष्ठत्वके बीज विद्यमान हैं—'चार हजार वचनोंमेंसे मैंने चार गुर चुने हैं, जिनमेंसे दोको याद रखना चाहिये'—यानी मालिक और मौतको और दोको हमेशा भूल जाना चाहिये, यानी भलाईको, जो तू किसीके साथ करे और बुराईको, जो कोई तेरे साथ करे।

महावीर स्वामीके उपदेशोंका यह सार-संक्षेप भक्तिमार्गको प्रशस्त करनेमें नितान्त सहायक है—

(क) हम संसारमें पैदा हुए हैं प्रेम और निर्माणके लिये, न कि घृणा और विनाशके लिये।

(ख) हमें क्रोधको प्रेमसे, लोभको उदारतासे, बुराईको अच्छाईसे और झूठको सचाईसे जीतनेका सदैव प्रयास करना चाहिये।

(ग) हम कोई भी कार्य करें, किसीके लिये करें, यह सोचकर करें कि वह सर्वव्यापक परमेश्वर हमारे साथ है।

महावीर स्वामीने सात कुव्यसन बतलाये हैं—शराब, मांस, जुआ, वेश्या, शिकार, चोरी तथा परस्त्रीका सेवन। इनसे मुक्तिके लिये उन्होंने पाँच व्रतों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह-सेवनका आग्रह किया है।

इन पाँचों व्रतोंके निष्ठापूर्वक अनुपालनसे हृदयमें निर्मलताका समावेश होता है। मनुष्यका अन्तःकरण दर्पणकी भाँति है। सुबहसे साँझतक इसपर धूल जमती रहती है। लगातार इस धूलके जमते रहनेसे अन्तःकरणका दर्पण अपने स्वाभाविक गुणोंको गँवा देता है। परिणामस्वरूप सत्य ओझल हो जाता है। अन्तःकरणके निर्मल दर्पणमें परमात्मा स्वतः प्रतिबिम्बित हों, इसके लिये आवश्यक है कि अन्तःकरणकी नित्य सफाई की जाय। साधनाका रहस्य भी यही है। पलटू साहब मनकी चादरको धो लेनेका आग्रह करते हुए कहते हैं—

धुबिया फिर मर जायगा चादर लीजै धोय॥
चादर लीजै धोय मैल है बहुत समानी।
चल सतगुरु के घाट भरा जहँ निर्मल पानी॥
चादर भई पुरानि दिनों दिन बार न कीजै।
सतसंगत में सौंद ज्ञान का साबुन दीजै॥
छूटै कल-मल दाग नाम का कलप लगावै।
चलिये चादर ओढ़ि बहुर नहिं भव जल आवै॥
पलटू ऐसा कीजिये मन नहिं मैला होय।
धुबिया फिर मर जायगा चादर लीजै धोय॥

मनकी चादर निर्मल हो गयी तो भगवान्‌की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहेगी।

श्रुति कहती है—

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पि-
रापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥

(श्वेता० १।१५)

अर्थात् जिस प्रकार तिलोंमें तेल, दहीमें घी, स्रोतोंमें जल और अरणियोंमें अग्नि छिपी रहती है, उसी प्रकार परमात्मा हृदयरूपी गुफामें छिपा हुआ है। जो कोई साधक उसको सत्यके द्वारा और संयमरूप तपसे देखता रहता है, चिन्तन करता रहता है, उसके द्वारा वह परब्रह्म परमात्मा प्राप्त किया जा सकता है।

अन्तमें इस मङ्गलकामनाके साथ हम अपनी वाणीको विराम दे रहे हैं और रघुपुङ्गवसे भक्तिका ऐसा वरदान माँग रहे हैं कि उन अवधेशके बालककी किलकारी हमारे हृदयमें निशि-वासर वास करती रहे। उनकी इस रूपमाधुरीका दर्शन जन्म-जन्मान्तरके अनन्त पुण्योंका फल है—

कजरा अँखियान लसै बिलसै, तन पै छबि चन्द छटानकी न्यारी।
अधराधर बिद्रुम मान हरैं, दँतियान पै दामिनि की दुति वारी॥
लट कंज कपोल किलोल करैं, मधुमत्त मिलिन्दिन की अनुहारी।
निसि-वासर वास करै उर मैं, अवधेस के बालककी किलकारी।

हमारा मोह

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

पुराने इतिहासों, पुराणों और अन्य ग्रन्थोंसे पता लगता है कि किसी जमानेमें मनुष्य प्राप्त भोग-सुखोंको छोड़कर परमात्मसुखके लिये लालायित रहता था। उसने अपने जीवनका उद्देश्य ही मान रखा था—आत्माको जानना, परमात्माको प्राप्त करना। गर्भाधानकालसे इसीके लिये तैयारी होती थी और जीवनभर इसीकी शिक्षा दी जाती थी। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—ये चार वर्ण मनुष्यके इस अन्तिम ध्येयकी प्राप्तिके लिये ही बनाये गये थे और इनकी सुव्यवस्थापूर्ण-पद्धति मनुष्यको क्रमशः परमात्माकी ओर ले जाती थी। शिक्षाका उद्देश्य ही था—मनुष्यको पूर्ण सुखकी प्राप्तिके साधन बतला देना।

× × × ×

समयने पलटा खाया, मनुष्यकी दृष्टि नीचे उतरी, ध्येय पदार्थ नीची श्रेणीका हो गया, अब तो यहाँतक हुआ कि भोग-सुख ही जीवनका लक्ष्य समझा जाने लगा। अपना सुख हो या देशका सुख—जो छोटे दायरेमें है, वह अपने सुखके लिये यत्नवान् है, जो बड़े दायरेमें है, वह देश-सुखके लिये चेष्टा कर रहा है—इसके अंदर भी निज सुखकी इच्छा तो छिपी ही है। फिर उस सुखका स्वरूप क्या है—खूब धन हो, सम्मान हो, सत्ता हो, अधिकार हो, प्रभुत्व हो। इनकी प्राप्तिके लिये चाहे जिस साधनका प्रयोग करना पड़े, चाहे जिस उपायसे काम लिया जाय, झूठ, कपट, छल, द्रोह, हिंसा किसीके लिये रुकावट नहीं; काम होना चाहिये, सफलता मिलनी चाहिये। आश्चर्य तो इसी बातका है कि मरणधर्मा मनुष्य दूसरेको लूटकर, मारकर स्वयं सुख-शान्तिसे जीना चाहता है।

× × × ×

परंतु क्या किया जाय। विद्यालय, विश्वविद्यालय, आश्रम, मठ, मन्दिर—सभी जगह यही शिक्षा मिल रही है—बस, धनवान् बनो, अधिकार प्राप्त करो, सत्ता-लाभ करो, इस लोकका सुख ही सुख है, यहाँका अधिकार ही जीवनका लक्ष्य है। यह न हुआ तो जीवन वृथा गया। परिणाम प्रत्यक्ष है। आज चारों ओर अधिकारकी लड़ाई प्रारम्भ हो गयी है। लोगोंके जीवन दुःखमय बन गये हैं। कोई अधिकार-प्राप्तिके लिये व्याकुल है तो कोई अधिकार-रक्षाके लिये। क्या कहा जाय? हमारा पूरा जीवन ही भौतिकवादी हो गया है—बाह्य वस्तुओंके लिये, इन्द्रिय-भोगोंके लिये वह बिक गया है। मांसके टुकड़ोंके लिये चील-कौओंकी-सी लड़ाई होने लग गयी है।

× × × ×

किसी जमानेमें परमात्मप्राप्तिके लिये तप होते थे, आज भोगोंकी प्राप्तिके लिये होते हैं। कभी भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण होता था, आज भोगोंकी प्रतिमा पूजी जाती है। कभी देहात्मबोध छोड़कर ब्रह्मात्मबोध किया जाता था, अब ब्रह्मात्मबोधकी अनावश्यकता समझी जाकर उस मार्गके पथिकोंको भी देहात्मबोधकी शिक्षा दी जाती है। बड़े-बड़े मनीषी, तपस्वी, संयमी पुरुष भी आज भोगोंकी प्राप्ति करने-करानेके लिये जीवनकी और धर्मकी बाजी लगाये बैठे हैं एवं इसीको धर्म समझा जा रहा है। इस भोगपरायणता—इन्द्रियसुखपरताका परिणाम क्या होता है? मनुष्योंमें राक्षसी भावोंका उदय, द्वेष-हिंसा-प्रतिहिंसाका प्राबल्य, घोर अशान्ति और सुखके नामपर दुःखपूर्ण जीवन-यापन।

× × × ×

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भोग-सुख और भौतिक सत्तासामर्थ्यसे सम्पन्न समुन्नत कहानेवाले देशोंकी भीतरी दशा है। परंतु इस दशाको भी देखना होगा ईश्वराभिमुखी ज्ञानसम्पन्न ऋषि-नेत्रोंसे; हमने ये नेत्र खो दिये, कम-से-कम हमारे इन नेत्रोंपर जाले तो छा ही गये हैं। इसीसे हम विपरीतदर्शी हो रहे हैं। वहाँकी सभी बातें हमें अच्छी लगती हैं, चाहे वह बुरी-से-बुरी हों, ऐसा जादू छाया है कि उसने हृदयको ही 'पराया' बना दिया। इसीके परिणाम-स्वरूप आज हम वहाँके अनाचारमें सदाचार, पापमें पुण्य, स्वार्थान्धतामें देशभक्ति, अवनतिमें उन्नति, अधर्ममें धर्म और पतनमें उत्थानका विपरीत दृश्य देख रहे हैं और सब ओर उसीके प्रवर्तनकी अन्धचेष्टामें तत्पर हैं।

× × × ×

जहाँ सुख है ही नहीं, वहाँ सुखको खोजना वैसा ही है—जैसा तप्त मरुभूमिमें मरीचिकाको जल समझकर भटकना। भगवान् श्रीकृष्णने तो इस जगत्‌को 'अनित्य' और 'असुख' अथवा 'दुःखालय' और 'अशाश्वत' बतलाया है तथा इसके प्रत्येक पदार्थमें जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिरूप

दु:ख-दोष देखकर इससे वैराग्य करनेकी आज्ञा दी है और वैसा बनकर ही जगन्नाटकके सूत्रधार भगवान्के आज्ञानुसार अपने-अपने स्वाँगके अनुकूल अभिनय करनेको निष्काम कर्म बतलाया है। आज हम भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञा मानकर लड़ने-मरनेको तो प्रस्तुत हैं, परंतु भोगेच्छा छोड़कर वैराग्य ग्रहण करनेके लिये जरा भी तैयार नहीं। फलस्वरूप निष्काम-कर्मयोगके स्थानपर विकर्म—पापकर्म हो रहे हैं; भोगसुखेच्छासे प्रेरित होकर राग-द्वेषवश किये जानेवाले असत्य, कपट और हिंसायुक्त कर्म पाप न होंगे तो और क्या होंगे? पापका फल दु:ख होता ही है, उसीका भोग भी हम खूब भोग रहे हैं। आश्चर्य और चिन्त्य तो यह है कि गीताकी दुहाई देकर आज मनमाने आचरण किये जा रहे हैं।

आज जो कुछ हो रहा है, इसके अधिकांशमें न ज्ञान है, न निष्काम कर्म है और न भक्ति है। ज्ञानमें प्रधान बाधा है देहाभिमानकी, सो उसको खूब बढ़ाया जा रहा है। निष्काम-कर्मयोगमें प्रधान बाधक है स्वार्थ-बुद्धि, जिसकी वृद्धिके लिये प्रत्येक सम्प्रदाय और दल जोरोंके साथ संगठित हो रहे हैं और भक्तिमें प्रधान प्रतिबन्धक है—शरणागतिमें कमी—भगवान्पर पूर्ण निर्भर न होना। सो यह भी प्रत्यक्ष ही है। सच्चा ज्ञानी, सच्चा निष्कामकर्मी और सच्चा भक्त कभी छल, कपट, दम्भ, असत्य, अन्याय और हिंसा आदिका अवलम्बन नहीं कर सकता; क्योंकि ज्ञानके साधनमें देहात्मबुद्धिका—शरीरमें 'मैं' बुद्धिका त्याग करना पड़ता है, उसके लिये आत्मा शरीरसे उसी प्रकार अलग है, जिस प्रकार दूसरे शरीरोंसे हमारा शरीर। यह स्थिति प्राप्त होनेपर अर्थात् देहात्मबुद्धिके छूट जानेपर पापकर्म नहीं हो सकते। इसी प्रकार स्वार्थबुद्धिके परित्याग हो जानेपर, ईश्वरार्थ किये जानेवाले निष्काम कर्म भी पापयुक्त नहीं हो सकते और भगवद्भक्तिमें तो मनुष्य भगवान्के शरण ही हो जाता है, उस अवस्थामें उसके दूषित भावोंका त्याग स्वाभाविक ही होता है। जहाँ दुष्कर्म होते हैं—सफलताके लिये शास्त्रविरुद्ध कर्मोंका, पापोंका आश्रय लिया जाता है, वहाँ ज्ञान, निष्कामकर्म और भक्तिका स्वप्न देखना मोहमात्र है।

× × × ×

इस मोहका भंग होना आवश्यक है, परंतु हो कैसे? अज्ञानजनित भोगलोलुपताके अन्धकारने हमारे ज्ञानको ढक लिया है और चारों ओरसे इस अन्धकारको और भी घन करनेका अथक प्रयत्न हो रहा है। इस अन्धकारकी घनताको ही ज्ञानका प्रकाश कहा जाता है। मनुष्यकी बुद्धि आज उल्लू और चमगादड़की दृष्टि-जैसी हो गयी है। जैसे इन पक्षियोंको दिनमें अँधेरा और रातको प्रकाश दीखता है, वैसे ही हमें भी आज अन्धकारमें ही प्रकाशका भ्रम हो रहा है। इसीसे हम 'कामोपभोगपरायण' होकर सैकड़ों आशाकी फाँसियोंमें बँधे हुए काम-क्रोधादि साधनोंसे 'कामभोगार्थ', 'अन्यायपूर्वक अर्थप्राप्ति' के उपायोंमें लग रहे हैं। मोहने हमें घेर लिया है, अभिमानने हमें अन्धा कर दिया है। लोभने हमारी वृत्तिको बिगाड़ दिया है। मदने हमें उन्मत्त बना दिया है। इसीसे हम आज अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोधका आश्रय लेकर सर्वभूतस्थित भगवान्के साथ द्वेष करने लगे हैं। इन आसुरी भावोंका परिणाम नरककी यन्त्रणाएँ और अधम गतिके सिवा और क्या हो सकता है?

× × × ×

उपाय क्या है? उपाय है—भगवदाराधन! जिन लोगोंको भगवान्में कुछ भी विश्वास है, वे सबकी ऐसी बुद्धि होनेके लिये भगवान्से सरल श्रद्धायुक्त अकृत्रिम प्रार्थना करें, उठते हुए भगवद्विश्वासको अपने शुभ आचरण और सच्ची भक्तिके द्वारा फिर जमायें। भगवत्-श्रद्धाके सूखते हुए वृक्षकी जड़को सच्ची निर्भरताकी अश्रुजल-धारासे सींचे। आप्तवचनोंपर श्रद्धा करें। ऋषि-मुनियोंको भ्रान्त मानना छोड़ दें। जीवनको तप-संयमसे पूर्ण बनाकर भगवत्कृपाका आश्रय ग्रहण करें, अटल विश्वास तथा परम श्रद्धाके साथ भगवान्के श्रीचरणोंकी सेवा करें और उनके पवित्र नामका जप करें।

× × × ×

मनुष्यको सावधान होकर यह सोचना चाहिये कि यहाँ सभी भोग-सुख अनित्य हैं, बिजलीकी भाँति चञ्चल हैं। शरीर कच्चे घड़ेके समान अचानक जरा-सी ठेस लगते ही नष्ट हो जानेवाला है। इसलिये भोगोंसे मन हटाकर भगवान्में प्रेम करें। भगवान्के लिये ही जगत्के सारे कार्य करें। जगत्के लिये भगवान्को कभी न भुलाया जाय। भगवान्के लिये जगत्को छोड़ना पड़े तो आपत्ति नहीं, परंतु जगत्के लिये भगवान् कभी न छूटें। यदि मनुष्य इस प्रकार निश्चय कर ले तो फिर जगत्को छोड़नेकी भी जरूरत नहीं पड़ती, सारा जगत् भगवन्मय ही तो है!

'हरिरेव जगत्, जगदेव हरिः।'

* * *

भगवत्प्रेमकी निवासभूता वंशी

(डॉ० श्रीसुरेशनन्दनप्रसाद सिंहजी 'नीलकण्ठ')

वेणुर्मधुरो रेणुर्मधुरः पाणिर्मधुरः पादौ मधुरौ।
नृत्यं मधुरं सख्यं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥

(मधुराष्टक ३)

मधुराधिपति भगवान् श्रीकृष्णका सभी कुछ मधुर है। उनका वेणु मधुर है, चरणरज मधुर है, करकमल मधुर हैं, चरणयुगल मधुर हैं, नृत्य मधुर है और सख्य भी अति मधुर है।

आचार्य वल्लभने 'वंशी' के पर्यायवाची शब्दके रूपमें 'वेणु' शब्दका प्रयोग किया है। संतोंने 'वंशी' के लिये 'मुरली' शब्दका भी प्रयोग किया है। आचार्य वल्लभकी दृष्टिमें श्रीकृष्णका सब कुछ मधुर है। सब कुछमें 'वेणु' का स्थान 'प्रेममार्ग' में सर्वोपरि है। आचार्य वल्लभने श्रीमद्भागवतको सामान्यजनोंको समझानेके लिये उसके दशमस्कन्धको पाँच प्रकरणोंमें विभाजित किया है—जन्मप्रकरण, तामसप्रकरण, राजसप्रकरण, सात्त्विकप्रकरण और गुणप्रकरण। 'तामस'-प्रकरणमें भी कई अन्तर्विभाग किये हैं—प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल। 'श्रीवेणुगीत' का विषय 'प्रमेय'-प्रकरण (अध्याय १२ से १८)-के अन्तिम अध्यायमें है।

'वेणु' शब्दका अर्थ परिभाषित करते हुए कहा गया है-'वेदमें भगवान्‌के दो स्वरूप बतलाये गये हैं—नाम और रूप। वेणुगीत भगवान्‌के नामात्मक स्वरूपका बोध कराता है। 'वेणु' शब्दमें 'व', 'इ' और 'अणु'—ये तीन शब्द हैं। 'व' का अर्थ है ब्रह्मका सुख, 'इ' का अर्थ है कामका सुख और 'अणु' यानी तुच्छ अर्थात् जिस सुखके सामने सांसारिक तथा आध्यात्मिक सुख अणु यानी तुच्छ हो जाते हैं, उसे ही वेणु कहते हैं। यह सुख—यह भगवत्प्रेम जीवोंको अपने-अपने साधनसे नहीं मिलता, भगवान्‌के अनुग्रहसे ही मिलता है। भगवान् स्वयं वेणु बजाकर स्नेहरूप सुधाकी वर्षा करते हैं।'

वेणुमें सात छिद्र होते हैं, उनमेंसे छः छिद्र तो भगवान्‌के ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्यके वाचक हैं एवं सातवाँ छिद्र उपर्युक्त छः धर्मोंसे युक्त अप्राकृतिक देहधारी स्वयं भगवान्‌का बोध कराता है। तात्पर्य यह कि प्रभुके प्रति होनेवाला स्नेह केवल भगवान्‌के गुणोंमें चित्तको आसक्त नहीं करता, वह धर्मीस्वरूप भगवान्‌में ही आसक्त करता है। यही वेणुगीत एवं वंशीध्वनिका रहस्य है। इसीलिये इस वंशीको भगवत्प्रेमकी निवासभूता वंशी कहा जाता है।

ज्ञानमार्गके साधकोंका चरम लक्ष्य अद्वैत ब्रह्मानुभूति है, कर्मी साधकोंका चरम लक्ष्य अमरत्वकी प्राप्तिपूर्वक अमृत-रसास्वादन है। परंतु जिसके कानोंमें यह वंशीध्वनि प्रवेश कर जाती है, वह फिर न अद्वैत ब्रह्मानुभूति चाहता है और न स्वर्गके अनुपम सुधास्वादकी ही कामना करता है। उसका काम निवृत्त हो जाता है और उसकी जगह उसके हृदयमें प्रेमका एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित हो जाता है।

वंशीध्वनि श्रीभगवान्‌की रासलीलाकी प्राथमिक अभिव्यक्ति है। सम्पूर्ण रासलीलाका यह मूल सूत्र है। उपनिषद् इस वंशीके संगीतकी व्याख्या करते हुए कहता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूः स्वाम्॥

(कठोपनिषद् १।२।२३)

सच्चिदानन्दघन रसस्वरूप आत्माको शास्त्र-व्याख्या या वक्तृताके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, तीक्ष्ण बुद्धिकी सहायतासे वह नहीं पाया जा सकता, अगाध शास्त्रवेत्ता होनेसे भी कोई उसे पा नहीं सकता, वह आत्मा जिसे पुकारकर अपना जन बना लेता है, वही आत्माको प्राप्त करता है, आत्मा उसीके सम्मुख अपनी सच्चिदानन्दघनमूर्ति प्रकट करता है। संसारके भँवरमें पड़कर व्याकुल, असहाय, शोक-तापपीड़ित जीवोंमें जिसको वह अपने आत्मतनुके प्रकाशद्वारा चरितार्थ करना चाहता है, उसको अपनी ओर खींच लानेके लिये उसका यह मर्मस्पर्शी सादर प्रेमाह्वान होता है, वही आह्वान रासलीलाके पूर्वका वंशी-संगीत या ह्लादिनीरूप स्वरूपशक्तिकी

प्राथमिक व्यञ्जना है। 'श्रीमद्भागवत' की रासपञ्चाध्यायीका मूल सूत्र यही है। यही भगवत्प्रेमकी निवासभूता वंशीध्वनिका रहस्य है।

विश्वमें गति ही प्रधान है। यह गति नियमबद्ध होती है। इसी नियमबद्धगतिसे विश्वका प्रादुर्भाव और इसीमें इसका विलय है। इसी नियमबद्धगतिको हम भगवान्का रास कहते हैं। भगवत्प्रेमकी निवासभूता वंशी अहर्निश बजती रहती है, किंतु यह उसे ही सुनायी पड़ती है, जिसपर भगवान्का अनुग्रह होता है। जो इस रहस्यको समझता हुआ इसमें प्रवृत्त होता है, वही इसके सच्चे आनन्दका अनुभव कर सकता है, उसे ही भगवत्प्रेमका सुलाभ मिलता है।

रासके रहस्यको और भगवान् श्रीकृष्णकी वंशीध्वनिको योगकी दृष्टिसे भी समझा जा सकता है। अनाहतनाद ही भगवान् श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि है। अनेक नाड़ियाँ ही गोपिकाएँ हैं। कुलकुण्डलिनी ही श्रीराधा हैं। मस्तिष्कका सहस्रदल-कमल ही सुरम्य वृन्दावन है, जहाँ आत्मा और परमात्माका सुखमय सम्मिलन होता है, जहाँ पहुँचकर ईश्वरीय विभूतिके साथ जीवात्माकी सम्पूर्ण शक्तियाँ सुरम्य रास रचती हुई नृत्य किया करती हैं।

ऐसी वंशीध्वनिके केवल एक बार कर्णछिद्रोंके द्वारा हृदयके मर्मस्थलमें प्रवेश करते ही मनुष्य स्वजन, प्रियजन, संसार और आत्मातकको भूल जाता है, उसी वंशीका संगीतस्वर सुननेके लिये, उसीका गान सुननेके लिये सदा उन्मना रहने लगता है। रासके वर्णनके प्रसंगमें श्रीमद्भागवत (१०।२९।४)-में उल्लेख मिलता है—

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥

भाव यह है कि वंशीकी ध्वनिको सुनकर व्रजवनिताओंका मन कृष्णमय हो गया। वे उसी समय घर छोड़कर प्रियतमके पास जा पहुँचीं। जानेके समय उनमेंसे किसीने किसीकी ओर नहीं देखा, वे इतने वेगसे चलीं कि सारे रास्ते उनके कानोंके कुण्डल अत्यन्त वेगसे हिलते रहे। गोपियोंके इस अभूतपूर्व अभिसारमें न लज्जा है, न भय है, न किसी प्रकारके संकोचका लेश है और न लौकिक आत्मतृप्तिकी कामना ही है। भोगस्पृहाकी संकीर्णता और मलिनता रत्तीभर भी नहीं है। जिस वंशीकी ध्वनिने ऐसे अश्रुतपूर्व और अननुभूतपूर्व अलौकिक अभिसारकी सृष्टि की थी, उसकी महिमा केवल गोपियोंके भगवत्प्रेमके द्वारा ही समझी जा सकती है। गोपियोंका कथन है— 'हे भगवन्! विषय-वासनाओंको छोड़कर हम आपकी शरणमें आयी हैं; क्योंकि आप ही तो हमलोगोंके पति, पिता, पुत्र आदिके अन्तरात्मा हैं, तब फिर हमें उन विकारशील दुनियावी झंझटोंकी ओर प्रेरित न कीजिये और अपने चरणोंमें स्थान दीजिये।'

'रासपञ्चाध्यायी'के पाँच अध्यायोंमें भगवान् श्रीकृष्णके लिये **'योगेश्वरेश्वर'** तथा **'आत्मन्यवरुद्धसौरतः'** जैसे महत्त्वपूर्ण विशेषणोंका प्रयोग किया गया है। अन्तमें यह भी कहा गया है कि जो कोई इस चरित्रको सुनेगा, वह पराभक्तिको प्राप्त करके अपने हृदयके विकार और हृदयकी कामवासनासे मुक्त हो जायगा—

'हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥'

(श्रीमद्भा० १०।३३।४०)

भगवत्प्रेममें कृष्णार्पित भक्तोंने वंशीध्वनिकी महिमाका गुणगान करते हुए कहा है—

'कंस-निषूदन श्रीहरिकी वंशीकी जय हो।' यह ध्वनि सनक, सनातन, सनन्दन, सनत्कुमार-प्रभृति परमहंसकुलके निर्गुण निरुपाधि अद्वैत ब्रह्मविषयक ध्यानको भंग कर डालती है। सुधाके अलौकिक माधुर्यको चूर-चूर कर देती है। आजसे इस संसारका शासनभार वंशीध्वनिने अपने सिर ले लिया है—

ध्यानं बलात्परमहंसकुलस्य भिन्दन्
निन्दन्सुधामधुरिमाणमधीरधर्मा।
कन्दर्पशासनधुरां मुहुरेव शंसन्
वंशीध्वनिर्जयति कंसनिषूदनस्य॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु दक्षिणविभाग १।४१६)

* * *

साधकोंके प्रति—

साधनके दो प्रधान सूत्र

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

चौरासी लाख योनियोंमें भटकते हुए जीवको परम-पिता परमात्मा अपनी अहैतुकी कृपासे बीचमें ही मानव-शरीर प्रदान करते हैं। इस मानव-शरीरको प्राप्त करके जीव सुगमतासे अपना कल्याण कर सकता है। इसलिये गोस्वामीजी महाराजने कहा है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
(रा० च० मा० ७।४३।४)

भगवान्‌ने तो इसलिये मानव-शरीर प्रदान किया कि जीव संसार-बन्धनसे छूटकर सदाके लिये कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाय। परंतु दुःखकी बात है कि मनुष्य अपने उद्देश्यसे विमुख होकर भोग तथा संग्रहमें लग गया! कभी कोई मनुष्य संतकृपा अथवा भगवत्कृपासे साधनमें लग भी जाता है तो उसमें दृढ़ निश्चयकी कमी रहती है। दृढ़ निश्चयके बिना उसका जीवन साधनमय नहीं बन पाता। जीवन साधनमय न बननेके कारण वह कोरी बातें सीखकर वक्ता अथवा लेखक तो बन सकता है, पर परमशान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। जीवनको साधनमय बनानेके लिये यह आवश्यक है कि साधक इन दो बातोंको दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर ले—

१. मेरा कुछ भी नहीं है, मेरेको कुछ भी नहीं चाहिये और मेरा किसीसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

२. केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं।

पहली बात संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करानेवाली है और दूसरी बात भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाली है। पहली बातको दृढ़तासे स्वीकार करनेसे ‘मुक्ति’ और दूसरी बातको दृढ़तासे स्वीकार करनेसे ‘भक्ति’ की सिद्धि हो जाती है। अतः विवेकप्रधान साधक पहली बातको स्वीकार करे और भावप्रधान साधक दूसरी बातको स्वीकार करे। परिणाममें दोनों ही प्रकारके साधक कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जायँगे। उनका मनुष्य-जन्म सफल हो जायगा। इन बातोंको सीखना नहीं है, प्रत्युत स्वयंसे स्वीकार करना है। सीखी हुई बातकी विस्मृति हो सकती है; परंतु स्वीकार की गयी बातकी विस्मृति नहीं होती।

अब यह शंका पैदा होती है कि जब मेरा कुछ भी नहीं है तो फिर माता-पिताकी सेवा क्यों करें? वस्तुओंकी रक्षा क्यों करें? जब मेरेको कुछ भी नहीं चाहिये तो फिर अन्न-जलकी क्या जरूरत है? जब मेरा किसीसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है तो फिर दूसरेकी सहायता क्यों करें? सेवा क्यों करें? जब केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं तो फिर पतिकी सेवा क्यों करें? इन सब शंकाओंका मूल कारण यह है कि साधक उपर्युक्त दोनों बातोंको शरीरके साथ एक होकर स्वीकार करता है। शरीरके साथ मैं-मेरेका सम्बन्ध (तादात्म्य) ही बन्धनका मूल कारण है। इसलिये हमारे स्वरूपके विषयमें गोस्वामीजीने कहा है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥
(रा०च०मा० ७।११७।१)

अब इसपर विचार करते हैं—

‘ईस्वर अंस जीव’—जीव स्वयं अंश है और परमात्मा अंशी हैं। भगवान्‌ने भी कहा है—**‘ममैवांशो जीवलोके’** (गीता १५।७)। जैसे भगवान् सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हैं, ऐसे ही जीव भी सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है। जैसे सभी बेटोंका माँपर समान अधिकार होता है, ऐसे ही परमात्मापर मानवमात्रका समान अधिकार है। जैसे कोई राजकुमार ‘मैं राजाका बेटा हूँ’—इस बातको भूलकर भीख माँगता है तो राजाको आश्चर्यके साथ-साथ बड़ा दुःख होता है, ऐसे ही सांसारिक भोग और संग्रहमें लगे हुए मनुष्यको देखकर भगवान्‌को बड़ा दुःख होता है कि यह मेरेको प्राप्त न करके अपना पतन कर रहा है—

‘मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥’
(गीता १६।२०)

साधकमें इस बातका गर्व (स्वाभिमान) होना चाहिये कि भगवान् मेरे अपने हैं, मैं भगवान्‌का हूँ—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥
(रा०च०मा० ३।११।११)

हम त्रिलोकीके स्वामी परमपिता परमात्माकी संतान हैं, फिर हम तुच्छ नाशवान् संसारकी ओर हाथ क्यों फैलायें ? जो संसारके सम्मुख होता है, उसको संसार अपना दास बना लेता है। परंतु जो भगवान्‌के सम्मुख होता है, स्वयं भगवान् उसके दास बन जाते हैं—**'अहं भक्तपराधीनः'** (श्रीमद्भा० ९।४।६३); ***'मैं तो हूँ भगतनका दास, भगत मेरे मुकुटमणि'***ऐसे परमसुहृद् प्रभुको छोड़कर संसारको चाहना कितनी मूर्खताकी बात है!

'अबिनासी'—परमात्मा अविनाशी हैं; अतः उनका अंश जीव भी अविनाशी है—**'अविनाशि तु तद्विद्धि'** (गीता २।१७)। परंतु स्वयं अविनाशी होकर भी नाशवान् शरीर-संसारके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(गीता १५।७)

'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा स्वयं मेरा ही सनातन अंश है; परंतु वह प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षित करता है अर्थात् अपना मान लेता है।

प्रकृतिका अंश इतना ईमानदार है कि सदा प्रकृतिमें ही स्थित रहता है—**'प्रकृतिस्थानि'**। परंतु जीव परमात्माका अंश होते हुए भी प्रकृतिके अंश (शरीर)-के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है! इस माने हुए सम्बन्धके कारण वह जन्म-मरणके चक्रमें पड़ा रहता है।

'चेतन'—परमात्माका अंश होनेके कारण जीव चित्स्वरूप है। मात्र जड़ वस्तु मिलने और बिछुड़नेवाली है। जैसे अमावास्याकी रातका सूर्यके साथ मिलन असम्भव है। ऐसे ही जड़ वस्तुका चेतनके साथ सम्बन्ध असम्भव है। अतः चेतनका जड़से सम्बन्ध कृत्रिम और माना हुआ है, वास्तविक नहीं है।

'अमल'—परमात्माका अंश होनेसे स्वयं निर्मल, निर्दोष है। इसलिये गीतामें भगवान् कहते हैं—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(१३।३१)

'हे कुन्तीनन्दन! यह पुरुष स्वयं अनादि होनेसे और गुणोंसे रहित होनेसे अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है। यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता (कर्ता बनता) है और न लिप्त होता (भोक्ता बनता) है।'

काम-क्रोधादि जितने भी दोष हैं, वे सब-के-सब आगन्तुक हैं, परंतु शरीरसे तादात्म्य होनेके कारण अज्ञानी मनुष्य मान लेता है कि मैं कामी हूँ, मैं क्रोधी हूँ आदि। कोई भी दोष नित्य-निरन्तर नहीं रहता, आता-जाता है—**'आगमापायिनोऽनित्याः'** (गीता २।१४) परंतु स्वरूप सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। समस्त दोष जड़-विभागमें ही हैं, चेतन-विभागमें नहीं। इसलिये स्वयंतक कोई दोष पहुँच सकता ही नहीं। स्वयं नित्य-निरन्तर निर्दोष रहता है।

'सहज सुख रासी'—संसार दुःखरूप है—**'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'** (गीता ५।२२), **'दुःखालयमशाश्वतम्'** (गीता ८।१५)। इस दुःखरूप संसारके साथ मैं-मेरेका सम्बन्ध मानकर ही जीव दुःखी होता है। वास्तवमें जीव परमात्माका अंश होनेसे सुखकी खान है। इसलिये शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही साधकको अपने सहज, अक्षय, आत्यन्तिक सुखका अनुभव हो जाता है—**'स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते'** (गीता ५।२१), **'सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्'** (गीता ६।२१)। जैसे घरमें पारस होते हुए भी अज्ञानी मनुष्य द्वार-द्वार जाकर भीख माँगता है, ऐसे ही स्वयं सुखकी खान होते हुए भी मनुष्य सुख पानेकी लालसामें सांसारिक भोग तथा संग्रहमें लगा रहता है और परिणाममें महान् दुःख पाता है—**'परिणामे विषमिव'** (गीता १८।३८)।

सम्पूर्ण दुःखोंका मूल कारण है—नाशवान् सुखकी कामना। कामनाको छोड़े बिना कोई भी सुख नहीं पा सकता—**'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी'** (गीता २।७०)। सांसारिक सुखकी कामना अभ्याससे नहीं मिटती, प्रत्युत पारमार्थिक सुख मिलनेसे मिटती है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह नाम-जप, भजन-कीर्तन, भक्त-चरित्रके पठन आदिमें लग जाय। जब उसको नाम-जप आदिमें रस आने लगेगा, तब संसारका रस स्वतः छूटने लगेगा। जैसे, बचपनमें कंकड़-पत्थरोंमें रस मिलता था, पर जब रुपयोंमें रस आने लगता है, तब कंकड़-पत्थरोंका रस स्वतः छूट जाता है।

दूसरोंकी सेवा करना और भगवान्‌को अपना मानना—

इन दो कार्योंके लिये ही यह मानव-शरीर मिला है। मनुष्यके सिवाय अन्य किसी भी योनिमें इन दो कार्योंको करनेकी योग्यता और सामर्थ्य नहीं है। भगवान् भी मनुष्यसे यह आशा रखते हैं कि यह दूसरोंकी सेवा करे और मेरेको अपना माने, मेरेसे प्रेम करे! जैसे, माँ अपने बेटेसे पूछती है कि बता, तू किसका बेटा है? तो बालक कहता है कि 'मैं तेरा बेटा हूँ'। यह सुनते ही माँ राजी हो जाती है। इसी तरह भगवान् भी अपने बनाये हुए मनुष्यके द्वारा यह सुनना चाहते हैं कि वह मेरेको अपना कहे, मेरेसे प्रेम करे।

भगवान्‌में अपनेपनके सिवाय प्रेम-प्राप्तिका अन्य कोई उपाय नहीं है। 'भगवान् ही मेरे अपने हैं और मैं भगवान्‌का ही हूँ'—ऐसा स्वीकार करनेसे भगवान् कृपा करके अपना साध्यप्रेम प्रदान करते हैं, जो प्रतिक्षण वर्धमान है। इस साध्यप्रेमकी जागृतिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता है।

साधक दो प्रकारके होते हैं—मस्तिष्क (विवेक)-प्रधान और हृदय (भाव)-प्रधान। विवेकप्रधान साधक विवेकपूर्वक संसारका त्याग करता है और भावप्रधान साधक संसारको भगवत्स्वरूप देखता है। कारण कि सब कुछ भगवान् ही हैं—यह विवेकका विषय न होकर भावका विषय है। जबतक विवेक रहता है, तबतक सत् और असत् दोनोंकी सत्ता रहती है। इसलिये विवेकमार्गी साधक सत्-तत्त्व (परमात्मा)-को असत् (संसार)-से अलग करके देखता है। जबतक साधककी दृष्टिमें भगवान् और संसार—दोनों अलग-अलग रहते हैं, तबतक उसके जीवनमें अखण्ड आनन्द नहीं आता, प्रत्युत कभी तो आनन्द आता है, कभी नीरसता आती है। कभी तो अपने साधनमें बड़ी उन्नति दीखती है, कभी साधनमें कोई लाभ नहीं दीखता। कारण यह है कि विवेकमार्गमें त्याज्य वस्तु (असत्)-की सूक्ष्म सत्ता बहुत दूरतक साथ रहती है। परंतु भावप्रधान साधक संसारमें भगवान्‌को ही देखता है तो संसार नहीं रहता, केवल भगवान् ही रहते हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७।१९)। ऐसे साधकको अखण्ड आनन्दके साथ-साथ भगवत्कृपासे अनन्त आनन्द (साध्य-प्रेम)-का अनुभव हो जाता है।

व्रजलीला-विमर्श

(पं० श्रीउमाशंकरजी दीक्षित, विद्यावारिधि, पी-एच०डी०)

श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दघन परब्रह्म हैं। यह सारा जगत् उन्हींकी आनन्दमयी लीलाओंका विलास है। वे अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त और सगुणरूपमें मनोरम लीलाओंद्वारा अपने प्रेमी भक्तोंको सुख देते हैं। लीलाबिहारी होकर भी वे इन लीलाओंसे सम्पृक्त नहीं होते, वरन् निर्विकार, अखण्ड एवं एकरस रूपमें अवस्थित रहते हैं।

सर्वव्यापी, सर्वेश्वर, रससिन्धु परब्रह्मका लीलाधाम भी उन्हींके समान विलक्षण एवं आनन्दमय है। यह लोक उन लीलाओंसे भिन्न नहीं होता। यह भी ब्रह्मका अपना स्वरूप ही है। ब्रह्मकी ही भाँति यह सत्-चित् और आनन्दमय है। ब्रह्मकी यह भी एक लीला है जो स्वयं लोक बनकर स्वयं ही उसमें रहने लगता है। इसीलिये छान्दोग्य श्रुतिमें कहा गया है—

स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति।
(७।२४।१)

भगवन्! वह ब्रह्म किस देशमें स्थित है?

ऐसा प्रश्न करनेपर उत्तरमें कहा गया है—'**स्वे महिम्नि**' अर्थात् वह अपनी महिमामें ही स्थित है। इससे स्पष्ट है कि भगवान्‌का लोक भी भगवन्मय है।

इसी प्रकार व्रज भी—जो उनकी लीलाओंका केन्द्र स्थान है—नित्य, आनन्दमय और श्रीकृष्णस्वरूप है। व्रजकी महिमाका वर्णन वाणीद्वारा करनेमें शेष-शारदादि भी असमर्थ हैं। यह वह दिव्य भूमि है जिसकी गोदमें अव्यक्त गुणातीत ब्रह्म सगुण-साकार रूपमें व्यक्त हुआ। ब्रह्म सर्वत्र समानरूपसे व्यापक होनेपर भी इस व्रजभूमिमें दिव्य विग्रह धारणकर अधिक उत्कर्ष और ऐश्वर्यके साथ प्रकट हुआ है। इस व्रजमें भगवान् अनेकों रूपोंमें प्रकट हुए—यहाँ उनकी वे लीलाएँ व्यक्ताव्यक्त रूपमें अद्यावधि निरन्तर होती रहती हैं। अधिकारी भक्त एवं प्रेमीजन इन लीलाओंके सदा दर्शन करते रहते हैं।

इन व्रज-लीलाओंको दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—

(१) ऐश्वर्यलीला और (२) माधुर्यलीला।

(१) ऐश्वर्यलीला—भगवान् कृष्णकी ऐश्वर्यलीलाओंसे तात्पर्य उन लीलाओंसे है जिनमें उनके ईश्वरत्वकी झाँकी मिलती है। श्रीकृष्णकी व्रजलीलाओंमें अनेक ऐसी लीलाएँ हैं जिनमें उनके ईश्वरत्वके पूर्ण दर्शन होते हैं। यथा—

(अ) ब्रह्मा और इन्द्रके ऐश्वर्य एवं गर्वको चूर्ण करना। ब्रह्माद्वारा भगवान्के ग्वाल-बाल एवं वत्सोंका हरण, इन्द्रके द्वारा वर्षा करके ब्रजको बहानेका प्रयास, उनको भगवान् श्रीकृष्णके ईश्वरत्वका बोध और भगवान्के द्वारा उनका गर्व दूर करना—इनका वर्णन श्रीमद्भागवतमें विस्तारसे है।

(ब) असुरोंका बालरूपमें ही संहार करना—अघासुर, बकासुर, तृणावर्त, प्रलम्ब आदि असुरोंका वध।

(स) दावानलका पान—ये प्राकृत मानवीय गुणसे परेकी बात है। अत: यहाँ ईश्वरत्वके साक्षात् दर्शन हो जाते हैं।

(द) अक्रूरको जलके भीतर दर्शन देना।

(ह) माता यशोदाको मुखारविन्दमें ब्रह्माण्डका दर्शन कराना।

(क्ष) कालियमर्दनलीला।

इसी प्रकारकी अन्य भी लीलाएँ हैं, जिनके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णने अपने ऐश्वर्यके दर्शन कराये हैं। इन लीलाओंमें व्रजराज श्रीकृष्ण स्वाधीन हैं, किसीके सहयोग और बलके आकाङ्क्षी नहीं रहे हैं। ब्रह्मा, इन्द्र आदि भी उनके अधीन बनकर ही रहे हैं। इसलिये यहाँ उनके ऐश्वर्यकी पूर्ण प्रतिष्ठा होती है।

(२) माधुर्यलीला—यह सत्य है कि श्रीकृष्णकी लीलाओंमें यत्र-तत्र उनके पूर्ण ब्रह्मत्वके दर्शन एवं ऐश्वर्यकी प्रतिष्ठा देखनेको मिलती है, परंतु यह भी निर्विवाद सत्य है कि श्रीकृष्णके प्रेम-राज्यमें ऐश्वर्य-शक्तिकी प्रधानता नहीं है। वे बल एवं ऐश्वर्यके वशीभूत कदापि नहीं होते। वे तो केवल प्रेम और माधुर्यभावके ही अधीन हैं। उनकी व्रजलीलाओंका मुख्य रहस्य भी यही है।

इस माधुर्योपासनामें भगवान्का ईश्वरत्व या ऐश्वर्य-भाव अन्तर्गूढ़ रहता है, प्रधानता माधुर्यभावकी रहती है माधुर्यपक्षको हम निम्न पाँच भागोंमें विभक्तकर भगवान्की व्रजलीलाओंका आस्वादन कर सकते हैं—(१) दास्य, (२) सख्य, (३) वात्सल्य, (४) कान्त तथा (५) सखीभाव।

(१) दास्यभाव—व्रजलीलाओंमें दास्यभाव स्पष्ट नहीं मिलता है, परंतु दास्यभाव आगेके सख्य, वात्सल्य, कान्त आदि भावोंमें सर्वत्र छिपा अवश्य रहता है। ब्रह्मा, इन्द्र, यमलार्जुन आदिने अपनी स्तुतियोंमें अपनेको दास कहा है। यहाँ एक बात और द्रष्टव्य है कि ये स्तुति करनेवाले सभी महानुभाव व्रजवासी नहीं हैं। केवल प्रयोजनवश अपनेको दास कहकर ये अपने-अपने लोकको चले जाते हैं। इसलिये व्रजलीलाका यह पक्ष महत्त्वपूर्ण नहीं बन सका। व्रजवासियोंने श्रीकृष्णको सदैव अपनेसे छोटा (लाला या बेटा) अथवा समान भाववाला सखा माना। ईश्वर या बड़ा मानकर उन्हें स्वामीरूपमें नहीं देखा।

(२) सख्यभाव—व्रजवासियोंने श्रीकृष्णको समान भावसे खूब बरता है। उनकी श्रीकृष्णसे गहरी मित्रता थी। वे सख्यभावसे अपने कन्हैयाका लालन-पालन भी करते हैं। व्रजके सखाओं और मित्रोंको उनके ऐश्वर्यका भान भी नहीं है। यदि कभी उन्हें ऐश्वर्यका भान होता भी है तो वे स्वयं ही उसे भूल जाते हैं या श्रीकृष्ण उन्हें भुला देते हैं।

आँखमिचौनी, गुल्ली-डण्डा, चकई-भौंरा, माखनचोरी, गोचारण, वनमें सखाओंके साथ छाकका भोजन करना, गेंद खेलना, नटवर-लीला, गोवर्द्धन-पूजन, वरुणलोक-दर्शन, झूला, हास्य-विनोद आदि लीलाएँ सख्यभावमयी लीलाएँ हैं, जिनमें व्रजवासी लोग, उनके साथ अपना मित्रतुल्य व्यवहार करके प्रेमराज्यमें सदा विचरण करते रहते हैं। ये लीलाएँ सखाओंको परम आनन्द देनेवाली हैं। श्रीदामा, मधुमंगल, सुबल, विशाल, तोक आदि अनेक सखा श्रीकृष्णके सुखके लिये परम हास्यमयी वाणीद्वारा उनको आनन्दित करते हैं। इस सख्यभावमें अलौकिक आनन्द है। भगवान्का मित्र होना भी अत्यन्त दुर्लभ है। श्रीदामा आदि सखा खेल-खेलमें भगवान्को घोड़ा बनाकर उनकी पीठपर चढ़कर अपना दाँव लेनेसे नहीं चूकते। बताइये इससे और

गहरी मित्रता भला कहाँ देखनेको मिलेगी। इस अलौकिक आनन्दका अनुभव करके स्वयं श्रीकृष्ण भी चकित हो जाते हैं। ब्रह्माजीने व्रजवासियोंकी श्रीकृष्णसे मित्रताके कारण उनके भाग्यकी सराहना करते हुए कहा है—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥
(श्रीमद्भा० १०।१४।३२)

अहो! नन्दगोपके इस व्रजमें रहनेवाले व्रजवासियोंके धन्य भाग्य हैं; क्योंकि पूर्णब्रह्म, सनातन तथा परम आनन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण इनके मित्र हैं।

भगवान्के साथ खेलना, भगवान्से रूठना, फिर हृदयसे लगाना, भगवान्की बराबरी करना—यह तभी सम्भव है जब अपनेको मिटाकर उनके सुखमें सुखी रहनेकी लगन लगी रहे। उनके ईश्वरत्वको भूल जायँ, उन्हें अपना हितैषी और मित्र समझें। वहाँ स्वार्थकी तो गन्धमात्र भी नहीं फटक पाती। इस भावका पूर्ण रसास्वादन करनेहेतु श्रीमद्भागवत, भक्तिरसामृत-सिन्धु, सूरसागर आदि ग्रन्थोंको देखना चाहिये।

(३) **वात्सल्यभाव**—समान भाववाले भगवान्का सख्यभावसे लालन-पालन करते हैं और छोटा माननेवाले वात्सल्यभावसे उन्हें लाड़-प्यार करते हैं। भगवान् कृष्णकी सभी बाललीलाएँ वात्सल्यभावसे परिपूर्ण हैं। इन लीलाओंमें श्रीकृष्ण-जन्मोत्सव, षष्ठी-महोत्सव, पूतनावध, शकटासुरवध, तृणावर्तवध, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ, कर्णवेध, आँगनमें घुटुरुओंके बल चलना, चन्द्रमा माँगना, पाण्डेका भोग जूठा करना, मिट्टी खानेकी लीला, माखन-चोरी, ऊखल-बन्धन, धेनु-दोहन, स्याम-सगाई, बाल-शृंगार आदि अनेक लीलाएँ हैं, जो नन्द-यशोदाको ही नहीं समस्त व्रजवासियोंको महान् आनन्द देनेवाली हैं। माता प्रातःकाल जगाती हैं। पालना झुलाती हैं, गोदमें खिलाती हैं, नित्य नये पकवानोंका भोग लगाती हैं। नवीन-नवीन शृंगार करती हैं। संध्याको सुलाती हैं, लोरी गाती हैं, कहानियाँ सुनाती हैं। इस प्रकार नाना प्रकारसे प्रेममें विह्वल होकर माता यशोदा श्रीकृष्णसे लाड़ लड़ाती हैं। श्रीकृष्णकी बाललीलाओंके विस्तृत दर्शन करनेके लिये श्रीमद्भागवत एवं सूरसागर बहुत ही श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। इनमें भगवान् कृष्णकी नाना बाल-लीलाओंके साथ-साथ बालोचित भाव-भङ्गिमाओंके सजीव चित्र खींचे गये हैं। यथा—

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोइ सोई कछु गावै॥
मेरे लालको आउ निदरिया काहे न आनि सुआवै।
तू काहे न बेगि-सी आवै तोको कान्ह बुलावै॥
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै ह्वै रही, कर कर सैन बतावै॥
इहि अंतर अकुलाइ उठे हरि जसुमति मधुरे गावै।
जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नँद भामिनि पावै॥

इस पदमें छोटे शिशुओंकी कितनी स्वभावोचित चेष्टाओंका सजीव चित्रण हुआ है। इसी प्रकार *'मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी'*, *'मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो'*, *'मैया मोरी मैं नहिं माखन खायो'*, *'सोभित कर नवनीत लिए'*, *'किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत'* इत्यादि अनेकानेक पदोंमें श्रीकृष्णकी बाललीलाओंका बड़ा ही मार्मिक वर्णन हुआ है। श्रीकृष्णकी ये बाललीलाएँ भावुक भक्तजनोंके मनको बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं। श्रीमद्वल्लभाचार्यका पूरा-का-पूरा उपासना-सिद्धान्त ही श्रीबालकृष्णकी लीला-माधुरीपर आधारित है। वात्सल्यभावकी लीलाएँ कृष्णलीलामें इतनी मधुर और चित्ताकर्षक हैं कि उन्हें अनुभव करके भावुक भक्तजन अपनी सुध-बुध खो बैठते हैं।

(४) **कान्तभाव**—इस भावके अन्तर्गत गोपियोंके अन्तरङ्ग श्रीकृष्णके कान्त एवं प्रियतमरूपमें दर्शन होते हैं। श्रीकृष्णको पतिरूपमें पानेकी अभिलाषा उनके विशुद्ध प्रेमस्वरूपकी सफलता ही है। उनका दर्शन, मिलन आदि उनको अलौकिक सुख देता है। अपनी भावनाके अनुसार गोपियाँ श्रीकृष्णके प्रेमरसका आस्वादन करती हैं। अलौकिक अनिर्वचनीय प्रेम-सम्बन्ध है। यह भाव माधुर्यभावका हृदय है।

मधुर रसकी अनुभूतिके लिये प्रथम कान्तभावमें भक्त भगवान्के साथ प्रत्यक्ष रमण करता है। दूसरे गोपीभावमें प्रत्यक्ष रमण तो नहीं करता, परंतु रमणेच्छाकी कामना अवश्य करता है।

(५) सखीभाव—इस भावमें भक्त भगवान्‌के साथ न तो कान्तभावके समान प्रत्यक्ष रमण करता है और न गोपीभावके समान रमणेच्छा ही रखता है, वरन् यह दोनोंसे ही भिन्न भाव है। ऐसा भक्त श्रीराधाकृष्णके सुखमें ही अपना सुख मानता है। उसकी साधनाका मूलमन्त्र **'तत्सुखे सुखित्वम्'** होता है अर्थात् जैसे उन्हें सुख मिले इसीकी चेष्टा रहती है और इस चेष्टामें उसे आनन्द मिलता है। इसीलिये व्रज-मण्डलके कृष्ण-भक्तोंमें सखीभावपरक माधुर्यभक्तिको विशेष प्रधानता प्राप्त हुई है।

व्रजमें सखीभावपरक श्रीकृष्णभक्ति-सम्प्रदायोंमें श्रीनिम्बार्क, राधावल्लभ, हरिदासी आदि सम्प्रदायोंका विशेष स्थान है। इनमें सखीभावसे राधा-कृष्णकी उपासना, चिन्तन, भजन आदिको विशेष स्थान दिया गया है। इसके लिये श्रीनिम्बार्काचार्यके सिद्धान्तों और विचारोंको समझनेपर सखीभावकी प्रत्यक्ष अनुभूति हो सकती है। इसका स्पष्ट स्वरूप समझनेके लिये हमें इस सम्प्रदायके आचार्य-प्रवर एवं वाणीकारोंकी शरणमें जाना होगा। सखीभावको स्पष्टता प्रदान करनेमें श्रीहरिव्यासदेवाचार्यरचित 'महावाणी' नामक ग्रन्थरत्न सर्वप्रकारेण सक्षम कुंजी है। साथ ही इनके गुरुदेव श्रीभट्टदेवाचार्यकृत 'युगलशतक' के माध्यमसे भी इस माधुर्यभक्तियुक्त रहस्यमय सखीभावको समझनेमें पर्याप्त सहायता मिलती है। यद्यपि ये दोनों ग्रन्थ सिद्धान्तप्रतिपादक ग्रन्थ नहीं हैं, तथापि इनमें श्रीराधाकृष्णकी विविध लीलाओंका वर्णन मुख्यरूपसे किया गया है और इन लीलाओंके वर्णनमें जगह-जगहपर उपास्य, उपासना एवं उपासकके स्वरूपकी भी चर्चा आयी है। उन्हींके आधारपर हम माधुर्यभक्तिके इस सखीभावके स्वरूपका रहस्य समझ सकते हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्यके द्वारा प्रतिपादित ***'सखीसहस्त्रैः परिसेवितां सदा'*** के अनुसार इस सम्प्रदायमें श्रीराधाकृष्णकी सहस्त्रों सखियाँ मानी गयी हैं। जिनमें ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, रङ्गदेवी, सुदेवी, तुङ्गविद्या, इन्दुलेखा आदि प्रमुख हैं। इन सहस्त्रों सखियोंके यूथमें ये प्रधान सखियाँ ताम्बूल, अलङ्कार, माला, व्यञ्जन, चमर आदि उपकरणोंसे श्रीराधाकृष्णकी सेवा करनेमें लगी रहती हैं। उनकी यह सेवा 'उपासना-कर्म' माना गया है। सखी, भृत्या, दूती, मञ्जरी और हितू आदि इनके छः भेद हैं। परंतु सखीका स्थान सर्वोपरि है। अतः सभी उपासक अपनेको श्रीराधाकी सखी मानकर सेवाधर्ममें प्रवृत्त होते हैं। ये सखियाँ प्रिया-प्रियतमकी रुचिके अनुसार उन्हें सुख पहुँचानेमें अपनी सफलता मानती हैं। सखीभावकी प्रधानताके कारण सखियाँ अपने उपास्य युगलसरकारके प्रति विधानमें सदा तत्पर रहती हैं। यथा—

निरखि हिताई दुहून, हाव-भाव हिय धारि।
सजि आरति बारत सवै, प्रात मुदित सहचारि॥
उझकति सहचरि निरखि सुख, हिय में भरी हुलास।
नव निकुंज रस पुंज छवि, स्यामा-स्याम निवास॥

(श्री श्रीभट्टजी)

इस प्रकार मधुरभावकी कान्ता, गोपी एवं सखी-रूपसे उपासना करनेवाले भक्तों या उपासकोंको भगवान्‌की इन्हीं भावपरक लीलाओंका नित्य-निरन्तर दर्शन होता रहता है। ये लीलाएँ श्रीधाम-वृन्दावनमें सदा-सर्वदा, अनवरत चलती रहती हैं। इसलिये इन लीलाओंका रहस्य जितना गूढ़ है, उतना ही वाणीसे इनका वर्णन भी परे है। भगवान्‌की लीला, विग्रह, धाम और नाम उन्हींके साक्षात् स्वरूप ही होते हैं—उनसे भिन्न नहीं। तब उनका वर्णन कैसे किया जा सकता है? अनिर्वचनीयको वचनमें कौन बाँध सकता है?

ललितसम्प्रदायमें निकुञ्ज-लीला-रहस्य

सखीभावकी प्रधानता ललितसम्प्रदायमें अन्यतम है। वहाँ व्रजलीलाओंका स्वरूप ही अन्य सम्प्रदायोंसे भिन्न है। ललितसम्प्रदायमें व्यावहारिकी (सृष्टिलीला) और वास्तवी (नित्य लीला)-का मूल कारण श्रीराधाको माना गया है। वे आदि, स्वतन्त्र तथा पराशक्ति कही गयी हैं—

चितिशक्तिः स्वतन्त्रा स्यादेका भिन्ना प्रकारतः।

(श्रीराधासिद्धान्त)

वे ही माया, ब्रह्म और स्वयं भगवान्‌की कर्त्री तथा अधिष्ठात्री हैं। श्रीवंशीअलिजीके मतमें श्रुतियोंद्वारा प्रतिपादित सच्चिदानन्द परब्रह्मस्वरूपिणी श्रीराधा ही हैं, जिनके अभावमें जड़ सत्य निरानन्दरूपमें शेष रह जाता है

(श्रीराधासिद्धान्त २)। इस प्रकार सबकी कारणभूत होते हुए भी सृष्टिव्यापारसे कोई प्रयोजन न रखनेवाली श्रीराधा ही ललितसम्प्रदायकी उपास्य देवी हैं। अत: इस सम्प्रदायमें उन्हींकी व्रज तथा निभृत-निकुञ्जलीलाओंपर सम्प्रदायके आचार्यों और भक्त कवियोंकी दृष्टि केन्द्रित रही है। श्रीराधाकी प्रकट और अप्रकट व्रजलीलाओंको क्रमश: 'व्रजवन' और 'निकुञ्ज' लीलाओंके रूपमें उन्हें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ मानकर उपासना की गयी है। श्रीराधा परम करुणामयी हैं। वे नित्य भक्तोंके आधीन हैं। इसीलिये लीला करनेके लिये तत्पर होती हैं और अपने परमभक्त श्रीकृष्णके साथ समताभावसे रमण करती हैं—

नित्यं भक्तपराधीना तेन राधा विहारिणी।
साम्यं भजति भक्तेन रसे कृष्णेन लीलया॥

(श्रीराधासिद्धान्त २१)

'निकुञ्ज-विहार' के उपासक नित्यविहारके लीला-विधायक तत्त्वोंको चार रूपोंमें विभाजित करके देखते हैं—नित्य क्रीडामग्न युगल-श्रीराधाकृष्ण, सखी-सहचरी तथा लीलाधाम वृन्दावन। व्रजलीलाओंको लेकर चलनेवाले आचार्य वंशीअलिजीको इनमेंसे श्रीराधाके स्वरूपको अन्यतम बनाये रखते हुए उन्हींके स्वरूपसे प्रकट सखी-सहचरी श्रीललितादिक, अनन्य केलिसखा (सखी) श्रीकृष्ण तथा लीलाधाम—व्रजको व्यापक रूप देकर प्रतिष्ठित करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई।

श्रीराधाकी आठ अन्तरङ्ग सखियाँ हैं—ललिता, तुङ्गविद्या, विशाखा, चम्पकलता, इन्दुलेखा, सुदेवी, चित्रा तथा रंगदेवी। इनमें ललिताका प्रमुख स्थान है। ललितसम्प्रदायमें गुरुके स्थानपर श्रीललिता ही प्रतिष्ठित हैं। तत्त्वत: ये श्रीराधाका ही दूसरा रूप हैं। प्रकट लीलामें इनका जन्म श्रीराधासे पहले होता है, किंतु अप्रकट लीलामें श्रीराधाने श्रीकृष्ण और ललिताको अपनी सेवाके लिये, रस-विस्तारके लिये संकल्पमात्रसे प्रकट किया। निकुञ्ज सहचरीके रूपमें ललिताका स्थान अन्यतम है। वे प्रेमक्रीडाकी प्रेरक, युगल रूपकी तोषक, पोषक, भोक्ता, साक्षी तथा नित्यविहारकी संयोजिका—सब कुछ हैं। वंशीअलिजीके मतानुसार सभी सहचरियाँ ललितामयी हैं।

पुराणोंमें श्रीकृष्णके तीन रूप देखनेको मिलते हैं, जो द्वारका, मथुरा और व्रज-वृन्दावन—तीन स्थानोंकी लीलाओंसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं। इनमेंसे माधुर्य आदि भावोंके उपासकोंद्वारा व्रज-वृन्दावनमें विहार करनेवाले श्रीकृष्ण ही आराध्यके रूपमें ग्रहण किये जाते हैं। 'नित्यविहार' के उपासकोंको कृष्णकी व्रजलीलाओंसे विशेष प्रयोजन नहीं, वे तो 'निकुञ्जविहारी' रूपके प्रति ही आसक्त रहते हैं।

ललितसम्प्रदायमें श्रीकृष्णको स्वयं भगवान् मानते हुए भी श्रीराधाके द्वारा निर्मित बताया गया है। साथ ही श्रीराधाको परमाराध्या माननेवालोंकी उपासनाका समर्थन करते हुए आचार्यका कथन है कि भगवान्से बढ़कर भक्तकी महिमा होती है। अत: श्रीराधाजीके अनन्य भक्त श्रीकृष्णके प्रति आसक्ति (भक्ति) कदापि अनुचित नहीं है।

लीलाका विस्तार श्रीराधाके लिये कोई महत्त्व नहीं रखता है। केवल भक्तोंको सुख देनेके लिये ही कृष्ण आदिको वे समान भावसे भजती हैं। यहाँ यह स्पष्टरूपसे समझ लेना होगा कि श्रीकृष्णके विषयमें कामोद्भूत विहारेच्छा कदापि नहीं मानी जा सकती; क्योंकि वे तो केवल भक्तिप्रेरित विहारेच्छासे ही लीलारत हैं; श्रीराधा तो अपने ही आनन्दरसमें मग्न रहती हैं और भक्त (श्रीकृष्ण) उनके रूपमहोदधिमें। उस प्रेमसम्पदामें स्पृहाका लेश भी नहीं है—

सा स्वानन्दरसे मग्ना भक्तस्तद्रूपवारिधौ।
नोभयत्र स्पृहालेशो युज्यते प्रेमसम्पदि॥

(श्रीराधासिद्धान्त २५)

इस प्रकार ललितसम्प्रदायमें व्रजलीला, वनलीला और निकुञ्जलीलाको उत्तरोत्तर श्रेष्ठता प्रदान की गयी है। व्रज, वन और निकुञ्जकी लीलाओंमें क्रमश: शान्त, प्रीति, प्रेम, वत्सल और मधुरभावोंकी प्रधानता तथा प्रगाढ़ता है। वैसे तो समस्त लीलाधाम व्रज ही दिव्य है, परंतु वृन्दावन एक गुह्य रसरीतिको प्राप्त करानेवाला है। सखीभाव-प्राप्तिके पश्चात् ही भक्त वृन्दावन-लीला (निकुञ्जलीला)-के आनन्दको प्राप्त करनेका अधिकारी माना जाता है।

◆

हनुमदुपासनाकी व्यापकता

(श्रीजोखूप्रसादजी तिवारी)

भारतमें हनुमान्‌जी जहाँ एक देवताके रूपमें पूज्य हैं, वहीं चीन, जापान, रूस, इण्डोनेशिया, कम्बोडिया, थाईलैण्ड, म्यांमार, सिंगापुरमें उन्हें एक महान् बंदर, रामभक्त, सब कुछ कर सकनेकी क्षमतावाले, संकटमोचन, कुशल राजनीतिज्ञ आदि रूपोंमें श्रद्धाके साथ जाना जाता है।

इण्डोनेशियामें राजा बलितुंगने दसवीं शतीमें प्राम्बानन ग्राममें एक बहुत बड़ा शिवालय बनवाया। इसका शिखर १४० फुट ऊँचा है और इसके चारों तरफ २२४ मन्दिर हैं। शिवालयके प्रदक्षिणा-पथमें सम्पूर्ण रामायण चित्ररूपमें उत्कीर्ण है। इनमेंसे एक चित्रमें हनुमान्‌जी सीताजीके पास श्रीरामकी अँगूठी लेकर पहुँचते हैं। यहाँ रामलीला पुतलियोंके माध्यमसे खेली जाती है। छाया पुतलीका अभिनय कलिंग (उड़ीसा)-से चलकर इण्डोनेशिया पहुँचा। इण्डोनेशियाके काष्ठ-शिल्पोंमें हनुमान्‌जी बजरंगबलीके रूपमें विख्यात हैं। चित्रमें हनुमान्‌जी नागका दमन करते हुए प्रदर्शित हैं।

कम्बोडिया (कंबुज)-में रामकीर्तिके नामसे रामकथा सौ खण्डोंमें प्रकाशित हुई है। यहाँ हनुमान्‌जी हर घरमें सुशोभित हैं। थाईलैण्डमें १३वीं शतीमें महाराजाने थाई-भाषामें काव्य लिखकर रामायणको थाई-साहित्यका अभिन्न अंग बना दिया। लाओसमें 'फलकफालाभ' नामक रामायणमें हनुमान्‌जीको श्रीरामका पुत्र बताया गया है। लङ्का, बर्मा, मलेशिया, नेपालके अलावा चीनमें भी रामायण और श्रीहनुमान्‌का प्रचार है। वहाँ रामायण 'दशरथ जातक' के नामसे प्रचलित है। मारिशसमें तो रामायण और हनुमान् तथा शिव भारतकी तरह ही पूजे जाते हैं। रामलीलाएँ भी होती हैं। इसी प्रकार फिजी, गायना, ट्रिनीडाड, सूरीनाममें भी भारतीय मूलके अधिकांश लोगोंके होनेके कारण तुलसीदासकृत श्रीरामचरितमानस और श्रीहनुमानचालीसा घर-घरमें पूजनीय है।

चीनमें हनुमान्‌को लोग बंदरके रूपमें भगवान् और पवनपुत्र कहते हैं। हनुमान् शब्दका अर्थ ब्रोकेन जॉ (टूटा हुआ जबड़ा) है। चीनमें हनुमान्‌को 'शुन वू काँग' कहते हैं। वहाँके लोग अच्छी तरह जानते हैं कि हनुमान् रामके भक्त हैं। वह अपनेको सदैव भूले रहते हैं। उनमें इतनी शक्ति है कि वह सब कुछ कर सकते हैं। वह सभीके संकटको दूर करनेवाले संकटमोचन हैं।

जापानमें तो हनुमान्‌के नामपर कई शहरोंके नाम हैं। जापानी भी कहते हैं कि उनके यहाँ एक बंदर है, जिसका नाम हनुमान् बंदर है। वह भारतमें पाये जानेवाले बंदरोंके ही समान है। उनके पिता हवाके देवता वायु हैं और माता पुञ्जिकस्थला हैं, जो पृथ्वीपर वानर समुदायकी एक देवीके रूपमें अवतरित हुईं। वानर जो दौड़नेमें बहुत तेज होते हैं इनका निवास रामकी अयोध्याके पास जंगलमें है।

लेखक जोहान्नाके अनुसार हनुमान् भगवान् रामके परमभक्त हैं और उनकी भक्तिके गुण गाया करते हैं। वह परमशक्तिशाली, महाज्ञानी हैं। लोग उन्हें मारुति (वायु), पवनसुत (वायुपुत्र), महावीर (महायोद्धा), रामदास (भगवान् रामका सेवक) कहते हैं। वह आगे लिखते हैं कि हनुमान् सूक्ष्म और विकराल रूप धारण कर सकते हैं। वे महानायक हैं, जब जो चाहें बन सकते हैं।

* * *

पता लगाकर सीताका खुद मिलकर हैं आये हनुमान।
मेरे, लक्ष्मणके, रघुकुलके रक्षक परम महाबलवान॥
वस्तु न मेरे पास योग्य दूँ जिसको इन्हें आज उपहार।
ऋणसे मुक्त हो नहीं सकता मैं कदापि, कर चुका विचार॥
आज इस समय मैं देता हूँ इनको बस, आलिङ्गन-दान।
मेरा यह सर्वस्व, महात्मा इससे हों प्रसन्न हनुमान॥
(यों कह—) पुलकित हुए अङ्ग सब, उमड़ा राघवके मन प्रेम अनन्य।
किया कृतात्मा सेवकको दे गाढ़ालिङ्गन प्रभुने धन्य॥

(पद-रत्नाकर ८४५)

साधक-प्राण-संजीवनी

[दीवानोंका यह अगम पंथ संसारी समझ नहीं पाते]

साधुमें साधुता—

(गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज)

[गताङ्क पृ०-सं० ७०४ से आगे]

पोखरमें नहीं, तालाबमें नहीं। स्नान करै—त्रिवैणीमें अर्थात् दया, क्षमा तथा उदारताकी त्रिवैणीमें। तन-मन सौं इनसौं सराबोर है कै, फिरि बैठि जाय भजन पै। वोहू भजन होय केवल श्रीजीवनधनके ताँई। तौ फिर का कहनौं?

जैसैं मन्दिरके पट खुलते ही पवित्र होयके द्विजातिमात्र निःसंकोच चले जायँ, दर्शन करिवे कूँ, मनमें किञ्चित् हू झिझक नहीं होय है और जो अपवित्रावस्थामें रहे हैं, वे नहीं जाय सकैं। ऐसैं ही अपने मन कूँ पवित्रतम बनावै, क्यौंकि पवित्र मन प्रभुकी ओर चलिवेमें रुकै नहीं है, झिझकै नहीं है और पापी, दुराचारी, नीच मन प्रभुकी ओर चलिवेमें संकोच करै है, झिझकै है। यासौं समस्त सद्गुण अपनेमें धारण करै। श्रीरामचरितमानसमें जब ये श्रीवाल्मीकजीके यहाँ पहुँचे हैं, तौ उनने चौदह स्थान इनके रहिवेके गिनाये हैं। सदैव अपने कूँ देखतौ रहै कि हम इन चौदहूनमें चलि रहे हैं या नहीं। क्यौंकि ये चौदहहू जहाँ हैं, वहीं प्रियतम कौ निरन्तर निवास रहै है।

दया—याके दुःख कूँ मोहि दै देउ और मेरे पुण्य याकूँ। ये बड़ौ ही दुःखी है। जैसैं दल-दलमें फँसे भये एक सूअर कूँ लिंकनने निकार्यौ। जायवे पैं लोगनने लिंकन सौं पूछी तौ बोले कि मैंने दया नायँ करी, मैंने तौ अपने मन कूँ शान्ती दयी है। ये है **दया**।

हम वैसे ही काम करैं, जासौं मन कूँ शान्ति मिलै। सब सद्गुणन कूँ अपनेमें देखैं। दुर्गुण एक न रहन पावै, जैसैं हमारे यहाँ लहसुन, प्याज, शराब है ही नहीं। वैसैं ही दोष-दुर्गुण विकार रहन ही न पावै। वास्तवमें यही है कृपाकी सँभार।

उदारता—भक्तराज श्रीअम्बरीषजीकी श्रीदुर्वासाजी सौं भेंटके पश्चात् भक्तप्रवर श्रीअम्बरीषजीने क्रोधित श्रीचक्रसुदर्शनजी सौं प्रार्थना करी कि—

यदि मेरे कछु सुकृत जमा हौंयँ तौ आप शान्त है जायँ। शान्त नहीं भये।

यदि मोपै मेरे श्रीप्राणनाथ प्रसन्न हौयँ तौ आप शान्त है जायँ। तब शान्त भये। ये है उदारता। अब हमारे पै और कोई काम तौ है ही नहीं। बस, अपने कूँ तत्त्वज्ञ बनानौं है। वस्तु है एक? काहूके इष्टमें हेय भाव नहीं। याही कूँ निरन्तर पीसनौं है।

हमसौं ये का चाहते। काहे सौं प्रसन्न और काहे सौं अप्रसन्न रहते। हमसौं जो ये चाहते जीवनपर्यन्त वही करते रहनौं, यही वास्तवमें गुरु-पूर्णिमा है। यही है हमारौ समर्पण और यही है हमारी गुरुदक्षिणा। जितने उदाहरण वेद-शास्त्रनमें दिये गये हैं, उनमें है का? बस, अपने व्यवहार कूँ सुधारनौं। स्वभाव कूँ सुधारनौं ही तो है। जैसैं श्रीप्रह्लादजी और श्रीअम्बरीषजी रहते, वैसैं ही हम कूँ रहनौं चाहिये। परमार्थकौ का सुधारनौं, ये तौ सुधर्यौ भयौ है ही। सुधारनौं है अपनौं स्वभाव और व्यवहार।

इनके दर्शनके ताँई नेत्रन कूँ पवित्र बनानौं है तौ नेत्रन सौं परदोष-दर्शन, स्त्री-दर्शन और क्रोधभरी दृष्टि सौं संसारके समस्त पदार्थन कूँ न देखै। इन सब बातन सौं नेत्र अशुद्ध है जायँ हैं। यासौं बहुत ही सावधान रहै। पराये दोषन पै दृष्टि ही न जाय। नेत्रन सौं संतनके और श्रीभगवान्‌के दर्शन ही करै। उत्तम-उत्तम सदाचार, भक्ति-परख ग्रन्थनकौ स्वाध्याय करै। दूसरेनकी ओर देखै ही नहीं कि कौन का करि रह्यौ है? का नहीं करि रह्यौ है। सदैव अपने कूँ ही देखै।

करहु जाइ जा कहुँ जोइ भावा।

(रा० च० मा० १। २४६। ६)

अपने शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण सबकूँ वहाँके योग्य बनानौं है, जहाँ हमकूँ जानौं हैं। अपनौं लक्ष्य है श्रीभगवत्प्रेम। प्रेमकौ हू फल है सेवामें पहुँचनौं। अतः सेवाके योग्य पवित्र बनानौं है सबकूँ।

उत्तम काम वह है, जामें काहूकौ नैंकहू अहित न होय। ये नहीं कि अपने स्वार्थ सौं दूसरेकौ काम बिगारि दे। अध्यात्मपथमें संसार सौं उल्टे चलनौं हैं। अपनौं स्वार्थ न छू जाय इतनौं सुन्दर पथ है यह।

संसारमें दो बड़े अनर्थ हैं—

(१) स्वार्थ एवं (२) अहंकार।

या पथमें दोनौं हैं ही नहीं। यहाँ तौ सतत सुख, शान्ति और आनन्द ही रहै है। सत्पुरुष वह है, जो पराये कामके ताँईं अपने स्वार्थकौ बलिदान करि देय। या पथमें सच्चरित्रताकी बहुत ही आवश्यकता है। आज लाभ नहीं, याकौ कारण है कि जीवन पवित्रतम नहीं है।

श्रीभगवत्प्राप्ति अति सरल, अति ही सरल, यदि चलते बनै तब। एक बड़े ही मर्मकी बात है—वस्तु जितनी ऊँची हो गयी, प्रयास उतनौं ही अधिक ऊँचौ करनौं हौयगौ, और प्रयास सौं जीव कतराय है।

नित्य सेव्य श्रीठाकुरजीकी सेवा करिवेके समय पै बुलायकैं बड़ी गम्भीरता सौं अपने दोऊ कर-कमल जोरि कैं बोले कि कलंकित मत करियौं। आजके साधु-समाजकी जैसें रहनी है, वैसी अपनी न बनन पावै। अपनी रहनीमें सादा-आहार, सादा-वस्त्र, हर काऊ सौं न हँसी-मजाक, न बोलनौं, न बात करनौं। कलियुगको सबसौं बड़ौ आघात है—अध्यात्मपथ पै। सबसौं शिक्षा लेते भये अपनी रहनी कूँ ही सुधारनौं। प्राचीन मर्यादा रही कि साधुके यहाँ कञ्चन, कामिनी, कीर्तिकौ सर्वथा त्याग रहतौ। आज ये सब साधुनके यहाँ प्रवेश करि गये हैं, हमें सर्वथा बचनौं हैं इनसौं। बड़ौ वीर है वह, जो या घोर कलिकालमें रहते भये हू अपने-आप कूँ सतत सतयुगमें ही राखै। अपनी वृत्ति न गिरन पावै। यही हमारी श्रीगुरु-पूर्णिमा है।

कृषी निरावहिं चतुर किसाना।

यदि किसान अपने खेतकी निराई न करैं तौ फसलकी सबरी खुराक कूँ घास ही खाय जाय है। ऐसें ही सतत सावधान रहनौं है। मन अपने काममें ही लग्यौ रहै। प्रेम-पथ बड़ौ ही कठिन है। श्रीनाम-जप अधिक रहै। अपनौं लक्ष्य है इनमें प्रेम। प्रेमके ताँईं ही अपनौ समस्त जीवन। याकी प्राप्तिके ताँईं पूरौ प्रयत्न। नयौ युग, नयौ काम। हम सावधान रहैं, जितनौं ऊँचौ है यह पथ, उतनी ही ऊँची विघ्न-बाधा आवैं हैं या पथमें। काहू कूँ धोखौ दै कैं जानौं ठीक नहीं। यासौं या पथकी एक-एक बात सबके सामने खोलिकैं कह जाऊँ हूँ। सुनिकैं, मनन करिकैं, जीवनमें आचरण करियौं।

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

अपने कूँ देखै—का सीख्यौ? का इनकी आज्ञा-पालन करि रहै हौ? का शास्त्राज्ञा-पालन करि रहै हौ? ईश्वर कहै है कि··· ***प्रियतम मम सोई।***

आहार शरीरके ताँईं हो जिह्वाके ताँईं नहीं। जो रजोगुणी (सुस्वाद) तमोगुणी (चटपटे, नशीले, तले-भये) पदार्थ अधिक सेवन करैं हैं, वे उपस्थ कौ संयम कदापि नहीं करि सकैं हैं। संयमी जीवन हो। प्रत्येक इन्द्रिय कौ संयम। कोई हू इन्द्रिय कुमार्गमें न जान पावै। संसारी पदार्थनके स्वादमें न फँसै। स्वयं हमारौ तौ यही मत है और उद्देश्य हू यही है कि जाके खायवे सौं शरीरकौ पोषण होयगौ। वाही कूँ खामैं हैं।

—साधन हो, वामें सत्यता होय, काहू सन्तके द्वारा बतायौ गयौ होय और इनके ताँईं हो, अपने ताँईं नहीं। ये चारौं बातें होयँ तौ, एक ही जन्ममें बेड़ा पार।

दूसरेकी वस्तु काममें नहीं लैनौं।

हम जा दरबारके हैं, वहाँ तौ सतत ऊँची बात ही हैं। सतत ऊँचे बिचार ही हैं। लक्ष्य केवल श्रीभगवत्प्रेम-प्राप्ति। स्त्री, द्रव्य, प्रतिष्ठा, माता हैं, पिता हैं, भाई हैं—जो कुछ हैं, सो ये ही हैं। बस, ये ही हैं। एक बात दृढ़ बनि जाय तौ सब ठीक है जायगौ, वह है लक्ष्य केवल श्रीभगवत्प्रेम। जीवन केवल इनके ताँईं। दूसरी बात कामना कोई होय न, बस।

यह बात जीवन भर याद रहै। हममें जो सद्गुण हैं, उनकूँ ही अपनेमें पूरी तरह धारण करैं। हमारे दोष-दुर्गुण नहीं। एक-एक बात कूँ अपने जीवनमें उतारते जायँ। निरन्तर यही प्रयास रहै कि अपनौं जीवन इनकी आज्ञानके अनुरूप ही बनानौं है। सबकूँ झुकि कैं प्रणाम। कोई कछु कहै, प्रारब्ध कौ भोग मानिकैं सहर्ष सह लैं। मर्यादा न टूटन पावै। लोगन कूँ अखरन न पावै। जीवनभर मर्यादाकौ पूर्ण पालन करैं। **[क्रमशः]**

* * *

भौतिक जीवन और सुख-दुःखकी अवस्था

(श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग स्वामी श्रीदयानन्दगिरिजी महाराज)

जन्मसे बच्चेको भौतिक जीवन मिलता है। ये बाहरके जो पाँच भूत हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—सब प्राणी उनमें रहते हैं। उन सबके सहारे, जो कोई भी जीवन चलता है, वह भौतिक जीवन है। इस भौतिक जीवनमें मन फैलता-फैलता इतनातक फैल जाता है अर्थात् बाहर संसारमें मन इतना अधिक भटक जाता है कि अन्तमें इसको कोई बाहरका सुख भी नहीं रहता, उसके स्थानपर दुःख-ही-दुःख हो जाता है। उसकी शक्ति भी इतनी ज्यादा बाहर भटक जाती है कि वह भटकी हुई शक्ति अन्तमें मनके अंदर शोक एवं दुःख और शरीरमें रोग तथा व्याधियाँ ही उत्पन्न करती है। इस बाहरके जीवन या भौतिक जीवनमें पहले तो सुख मिलता हुआ दिखायी देता है, परंतु अन्तमें सब दुःखमें ही समाप्त होता है।

किसी भी प्राणीका संग होनेपर या किसी वस्तुके मिलनेपर मनके अंदर दो प्रकारकी तरंगें उठती हैं। एक तो अच्छी लगनेवाली सुखकी तरंग है, जिसे शास्त्रकार सुखकी वेदना कहते हैं अर्थात् वह सुख-संवेदन (सुखका महसूस होना) है। दूसरी बुरी लगनेवाली दुःखकी तरंग है अर्थात् जिसके संगसे मनके अंदर दुःख होता है, जिसे दुःखकी वेदना या दुःख-संवेदन (दुःखका महसूस होना) कहते हैं। दुःखका मतलब है, दुः और ख अर्थात् दुःका अर्थ है कि दुःस्थिति और खका मतलब हैं इन्द्रियाँ। इस प्रकार दुःखका सादा मतलब यह हुआ कि इन्द्रियाँ खोटी स्थितिको प्राप्त हो जाती हैं। इसी तरह सुखका मतलब है कि सु और ख जिसमें सुका अर्थ हुआ सुन्दर और खका मतलब इन्द्रियाँ अर्थात् जिसमें इन्द्रियाँ सुन्दर स्थितिको प्राप्त होती हैं, उसीका नाम सुख है।

ये ऊपर कहे दो प्रकारके सुख और दुःख-संवेदन मनुष्यको अथवा सब जीव प्राणियोंको बाँधनेवाले हैं। जो वस्तु मनको अच्छी लगती है, उससे प्रीति हो जाती है। इस प्रीतिका नाम राग है और यही मनुष्यको बाँधनेवाला राग-बन्धन है। जो वस्तु मनको बुरी लगती है, महसूस करनेमें खोटी लगती है तो उसके सम्बन्धसे दुःख-संवेदन होता है। जो वस्तु बुरी लगती है अर्थात् दुःख देती है तो उससे मनमें द्वेष होता है, जिसका नाम द्वेष-बन्धन कहा गया है। अब जिस वस्तुसे राग होता है अर्थात् सुख प्राप्त होनेकी आशा रहती है, उसको पानेकी बार-बार इच्छा रहती है। बुरी लगनेवाली वस्तुसे द्वेष होनेसे क्रोध होता है और मन उससे चिढ़ता है। जिससे मनमें क्रोध अथवा चिढ़ होती है, उसको यह मन अपनेसे दूर करना भी चाहता है। यह सब संसारमें अनर्थका फैलाव है।

क्रोध आनेपर मनुष्यकी बुद्धि नष्ट होती है। उसको स्मृति ही नहीं रहती कि इस क्रोधकी अवस्थामें क्या करना उचित है अथवा क्या करना चाहिये। क्रोधमें स्मृतिहीन होकर जो कुछ भी कर जाता है, वह उसके लिये अन्तमें दुःखके लिये ही होता है। इस तरह बाहरसे दुःखी हुआ मनुष्य अपने व्यवहारसे दूसरोंको भी दुःखी करता है। मनुष्य अपने-आपमें इतना शक्तिशाली तो नहीं है कि बाहरके सब प्रभावोंको अपने मनके अनुकूल बना ले। मान लो सर्दी पड़ रही है या गरमी पड़ती है तो इससे मन व्याकुल भी होता ही है, कारण कि सर्दी एवं गरमीको कोई रोक नहीं सकता। इन्हें सहन करना पड़ता है।

सुख और दुःख-संवेदन अंदरके धर्म हैं। इन्हीं दोनोंके छुपे हुए संस्कार मनुष्यको प्रेरित करते रहते हैं। यही अंदरका छुपा हुआ खेल है। यही छुपे रहना अविद्याका ढक्कन है। इसीके कारण मनुष्यको सही ज्ञानतक भी नहीं उपजता है। जीवके साथ अविद्याका बन्धन एवं इसका क्लेश जन्मसे ही चिपका हुआ है। जबतक यह अविद्या समाप्त नहीं होती, तबतक विद्या भी अपने-आपमें अंदर प्राप्त नहीं हो सकती और मनुष्य अविद्याके बन्धनसे मुक्त भी नहीं हो सकता। किसी वस्तुको समझनेका नाम विद्या है। हमें वस्तु (अंदरके सत्य)-का पता इसी अविद्याके कारण नहीं लग रहा है। इस अविद्याका क्लेश, बन्धन एवं कलंक सबके साथ है और यह अनादिकालसे, जबसे जीवके इस संसारमें चलनेकी कहानी शुरू हुई है, हमारे साथ आ रहा है।

भगवान्‌ने मनुष्यको ही विवेक या सही ज्ञान उपजानेकी बुद्धि प्रदान की है, इसीसे ही अविद्या टल सकती है और किसी दूसरे जीवको यह बुद्धि नहीं दी गयी है। मनुष्य ही अपने भलेके बारेमें सोच या समझ सकता है। प्रकृतिकी तरंगोंसे और छोटे-मोटे सुखके लोभसे चलायमान होकर

कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, जिससे भविष्यमें उसके कल्याण (भले)-की हानि हो। अन्तमें मनुष्यको अपने विवेक (सही ज्ञान)-द्वारा ही ये सारे सत्य अपने अंदर समझने पड़ेंगे। इन्हीं सत्योंपर जो पर्दा पड़ा हुआ है, वही अविद्याका रूप है। विवेकद्वारा, इन्हीं सत्योंके ज्ञानद्वारा स्थित अपनी बुद्धिमें अविद्याका ढक्कन या पर्दा नष्ट होगा।

मनुष्यके अंदर अच्छे-बुरे प्रभाव करवानेवाली शक्तियाँ, उस समय करवा जाती हैं और उसके परिणाम (नतीजों)-का पता बादमें लगता है। यदि किसी मनुष्यको यह पता लग जाय कि बीमारीकी अवस्थामें यह भोजन नुकसान करता है तो चाहे वह भोजन कितना ही अच्छा, स्वादिष्ट एवं उसकी रुचिका हो, फिर भी बीमारीसे बचनेके लिये वह उस मनपसंद भोजनको त्याग ही देगा। यदि पता लगनेके बाद भी वह छोड़नेकी हिम्मत करेगा, तभी उस स्वादिष्ट भोजनको त्याग सकेगा। जैसे किसीने आपको बता दिया कि आपको मधुमेहका रोग है और इसमें मीठा खाना हानिकारक है अर्थात् ठीक नहीं है। ऐसा बीमारीका पता लगनेके बाद भी यदि आपसे हिम्मत नहीं बन पायी कि मीठा छोड़ दूँ या मीठा मेरे स्वास्थ्यके लिये ठीक नहीं है तथा उस मीठा खानेका लोभ आदतवश बना ही रहा और आपने मीठेका प्रयोग कर ही लिया। ऐसी अवस्थामें वह मीठा खानेकी सुखकी आदत आपको विवश करके मीठा खिला ही गयी तो खानेके बाद आपको दुःखी भी होना ही पड़ेगा। इसी प्रकार मनुष्य अपने मान-अहंकारमें आकर जैसा नहीं बोलना चाहिये, वैसा दूसरोंसे बोल जाता है। ऐसा बोलनेसे दूसरे वैरी बनते हैं और उस वैरीसे उसको अपने अंदर शंका तथा भय बना रहता है कि कहीं वह अब मेरा ज्यादा नुकसान तो नहीं कर देगा इत्यादि। ऐसा होनेपर उसको रात्रिके समय नींद भी सुखपूर्वक नहीं आयेगी और उसी वैरीकी सोचमें पड़ा-पड़ा दुःखी होता रहेगा। ऐसी बन्धनकी अवस्थामें उसको आत्मा या परमात्माकी कोई समझ ही नहीं पड़ती कि आत्मा तथा परमात्मा क्या है?

सबके अंदर बैठा हुआ परमात्मा तो है ही, चाहे कोई समझे या न समझे। कारण कि श्वास सबके अंदर वही ज्ञानरूप चेतन परमात्मा चला रहा है। शरीरके कार्य भी वही कर रहा है अर्थात् पशु, पक्षी, पेड़, पौधे और जितने भी मनुष्य हैं, सबके अंदर देहके कार्य वही कर रहा है। नींदमें भी वही श्वासको खींचता तथा छोड़ता है और हमारे अंदर अन्नको हजम करता है।

यह व्यापक चेतन शक्ति सबमें समानरूपसे है। परंतु समानरूपसे होती हुई ऐसी छिपी हुई बैठी है कि किसीको इसका अनुभव नहीं होता। इसका अपना अनुभव आनन्दरूप है। इस चेतन शक्तिका पता नहीं लगनेका नाम ही अविद्या है। इस अविद्याका ही उसके ऊपर पर्दा पड़ा हुआ है, जो उस ज्ञानरूप चेतन शक्तिका बोध नहीं होने देता। बाहर संसारमें तो मनुष्य सब कुछ पहचानता है कि ये मेरे पिता, भाई-बन्धु, मित्र-शत्रु, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदि हैं। परंतु उसको यह ज्ञान (विद्या) नहीं है कि इन सबके अंदर बैठा हुआ कौन श्वासको चला रहा है? इसका अपने-आपमें स्वयं अनुभव करे, जो कि नींदमें तो सुखरूपसे यह अपनी दृष्टिमें आता है। परंतु जाग्रत्-अवस्थामें यह अपनी नजरमें नहीं आता है, कारण कि उस समय तो हम संसारमें एक-दूसरेको कुछ सम्बन्धसे पहचानते रहते हैं। उस चेतन शक्तिके बारेमें मनुष्य खोज ही नहीं करता है और बाहर संसारमें ही उलझ रहा है। अपने अंदर पर्दा पड़ा हुआ है और सब तत्त्व तथा अंदरके सत्य छिपे हुए उस अविद्याके पर्दोंके अंदर पड़े हुए हैं। ऐसे मनुष्यको यह समझ ही नहीं है कि कैसे अंदरकी कथा हो रही है एवं कैसे-कैसे अंदरके वृत्तान्त चल रहे हैं और कौन इस देहके सारे कार्य चला रहा है, आदि-आदि।

इस नासमझीका कारण यह है कि मनुष्य बचपनसे बाहरके ही प्राणी एवं पदार्थोंमें रँगा हुआ है और केवल यही समझता है कि अमुक व्यक्ति सफेद या काला है या अमुक वस्तु मेरे सुख या दुःखके लिये है। इसी संसारके प्राणी और पदार्थोंको जाननेमें वह पण्डित हो जाता है। परंतु इस मनुष्यकी यह पण्डिताई अविद्याको ही ज्यादा बढ़ाती है।

इस अविद्याको नष्ट करनेके लिये समय निकालकर यदि मनुष्य थोड़ा-सा विचार करेगा तो उसको पता चलेगा कि जिधर यह मन भटका हुआ संसारमें बाहरकी तरफ जा रहा है, वहाँपर इसको अन्तमें शोक-दुःख, रोग एवं व्याधियाँ ही मिलनी हैं। फिर इनके साथ रहते हुए उसको मरनेकी इच्छा होगी, कारण कि अन्तमें इनका दुःख उससे सहन नहीं हो सकेगा। इन सभी दुःखोंसे

बचनेके लिये एक ही उपचार है कि जो शक्ति बाहर भटकी हुई है, वह अपने-आपमें एकत्रित हो जाय अर्थात् उधर संसारसे वह शक्ति बिछुड़कर अपने अंदर आ जाय। यह शक्ति अंदर इकट्ठी होनेपर ही अपना अनुभव दिखायेगी एवं कहेगी कि अब मेरेको पहचान कि 'मैं कौन हूँ?' अब आपको पता चलेगा कि इस देहका कार्य कौन चला रहा है और श्वासको कौन खींचता एवं छोड़ता था अर्थात् वह व्यापक ज्ञानकी शक्ति ही ऐसा कर रही है, जिसके बारेमें पता ही नहीं लगता था। ज्ञानदेव ही ज्ञानरूपसे जैसे क्षण-क्षण नयी-नयी अपनी झाँकी दिखाता जाता है, वैसे-वैसे ही उसकी मायाशक्ति भी नयी-नयी तरंगें उत्पन्न करती रहती है। यही उसकी नित्य क्रीड़ा चलती रहती है। इस प्रकारसे यही जीवोंके अंदरकी ही विद्युत्-शक्ति उस ज्ञानदेवकी माया है। यह जो जानना (समझ)-रूप है, यह ज्ञानदेव परमेश्वर है, इसका तो आनन्दरूप ही स्पर्श एवं अनुभव है। इस ज्ञानदेवकी कभी मृत्यु नहीं है अर्थात् इसकी कभी भी समाप्ति नहीं है, यही खोजनेवालेको अपने अनुभवमें आयेगा।

इस ज्ञानदेवको पानेके लिये ध्यानमें बाहर फैले हुए मनको सबसे मोड़ना है। जैसे नींदमें चलते हुए श्वासका पता नहीं लगता है, ऐसे ही यदि ध्यानमें अपने चलते हुए श्वासका भी पता नहीं चले और सारी इन्द्रियाँ मन तथा बुद्धिके साथ जहाँ जाकर चुपचाप अपने-आपमें बैठ जायँ तो वहाँ उस परमेश्वरका आनन्द है एवं वह अनुभवमें भी आयेगा। इस अवस्थामें कुछ देखना, सुनना एवं सोचना भी नहीं है। यह अवस्था ही आनन्दरूप मुक्तिका स्वरूप होती है। इन सब प्रकारके रोगोंसे छुट्टी पानेका एक ही रास्ता है कि अपने मनको शान्त करके इस बाहरके संसारमें अपनी उतनी ही लगन रखे, जितनी देहकी जरूरतें हैं। यदि बाल-बच्चे हैं तो समयके अनुसार उनका पालन-पोषण करना ही है। इस पालन-पोषणके कार्यको बच्चोंके ही सुख-साधन जुटानेतक सीमित रखे और उससे अपने लिये सुख तथा स्वार्थकी आशा नहीं रखे अर्थात् इस कार्यको निःस्वार्थभावसे करे। जितना आप ज्यादा बाहरी सुखका रास्ता पकड़ोगे, उतना ही ज्यादा दुःख प्राप्त होता है। भर्तृहरिजी कहते हैं—**'भोगे रोगभयम्'** इत्यादि अर्थात् जितना आप विषयोंके भोगोंकी तरफ बढ़ोगे उतना ही रोगोंका भय होगा। सुखोंके भोगकी तरफ भागना ही रोगोंको बुलाना है। यदि आपने यह जान लिया कि इन सुखके भोगोंका अन्तिम फल रोग एवं शोक ही है तो फिर इनमें मनको उलझानेकी आवश्यकता (जरूरत) ही नहीं है। जो शक्ति बाहरके संसारमें उलझ रही थी, यदि वह वहाँसे बिछुड़कर अंदर आ जाय तो इसको ही मनुष्यकी मुक्ति कहा जायगा। यदि यह शक्ति बाहरसे छुट्टी पाये तो अपने-आपमें इकट्ठी होगी, जहाँ अंदर भगवान् बैठा है। वहाँपर आनन्द-ही-आनन्द है और कुछ भी नहीं है अर्थात् वहाँ संसारका कोई भी दुःख नहीं है।

इस सारे कहनेका तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी बाहरका भौतिक जीवन है, वह अन्तमें जाकर अनर्थमें समाप्त होता है। यह अनर्थ तृष्णासे शुरू होता है। तृष्णा एक अंदरकी ऐसी आग है, जो हर समय मनुष्यको जलाती रहती है। जैसे एक बार किसी वस्तुसे थोड़ा सुख प्राप्त हो गया तो बिजलीका धक्का मारनेकी तरह, मनमें उस वस्तुकी याद आते ही तृष्णारूपी विद्युत् उसको बाहरकी ओर उसी वस्तुको पानेके लिये जोरसे धक्का लगायेगी और मन उसीको बार-बार प्राप्त करना चाहेगा। अब जहाँ उसके सुखकी वस्तु पड़ी हुई है, मनमें यही लगन रहती है कि वही वस्तु चाहिये, चाहे उसमें सुख लेशमात्र ही हो। कारण कि तृष्णा मनको उधर ही धकेल रही है तो उसका ध्यान वहीं उसी वस्तुपर है। उस तृष्णारूपी वस्तुके पानेके ध्यानमें उसका श्वास भी घुटता है और श्वास देहके अंदर पूरा नहीं चलता है। दुःखसे श्वास अंदरकी ओर आता है और श्वास अंदरकी ओर जानेके लिये खींचता तो जरूर है, परंतु आरामके साथ पूरा श्वास नहीं चल पाता, कारण कि मनको तो सुखकी तृष्णाने बाहर ही उलझा रखा है। इसी तरह जिस वस्तुसे दुःख होता है, उसको मिटानेकी भी लगन है, उससे ही क्रोध, दुःख, चिन्ता आदिकी आग अंदर जलने लगती है। उसी दुःखकी आगके बीचमें पड़े हुए मनुष्यका श्वास भी ठीक नहीं चलता है। इस प्रकार मनुष्य तृष्णाके कारण राग एवं द्वेषकी अग्निमें ही जलता रहता है।

* * *

संत-साहित्यमें मधुरभाव

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

(१) श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें कान्ताभाव

सद्गुरु नानकदेवने पग-पगपर इस कान्ताभावकी अभिव्यक्ति की है—

मैं कामणि मेरा कंतु करतारू। जेहा कराए तेहा करी सींगारू॥
तूँ मेरा पति तूँ है मेरा गहणा। तुम बिनु बिमुखु न जाई रहणा॥

सद्गुरु अन्यत्र कहते हैं कि परमात्मा मेरा पति है और मैं उसकी पत्नी हूँ। जैसा उसे रुचता है, वैसा मैं शृंगार करती हूँ। उसे जैसा भाता है, वैसे मेरा उपभोग करता है। मेरा तो तन, मन सब उसी सच्चे स्वामीके लिये है—

मैं कामणि मेरा कंतु करतारू। जेहा कराए तेहा करी सींगारू॥
जाँ जिसु भाव ता करै भोगू। तनु मनु साचे साहिब जोगू॥

मेरा स्वामी बहुत ही रसिक है और मैं उसकी प्रिय-से-प्रिय हूँ—*'मेरे लाल रंगीले, हम लालनके लाले'* (वही पृ० ४६) उसकी प्रीति बहुत ही प्यारी है, मैं मनमें मगन रहती हूँ। निरन्तर उसकी आशा लगाये रहती हूँ। मेरी आँखोंमें वही समाया रहता है—

पिअकी प्रीति पिआरी।
मगन मनै महि चितवउ आसा नैनहु तार तुहारी॥

हे मा! मैं तो प्रेमकी मस्तीमें लीन हूँ। मनमें सुन्दर प्रियतमके मिलनकी प्यास है, लगन है, कोई उसे तोड़ नहीं सकता—

माई री अरि ओ प्रेम की खोरि।
दरसन रुचित पिआस मनि सुंदर सकत कोई तोरि॥

इस तरह श्रीगुरुवाणीमें संयोगके हृदयावर्जकभाव अभिव्यक्त हुए हैं। विप्रलम्भकी टीसकी भी यहाँ भरपूर अभिव्यञ्जना हुई है।

प्रियतमा पुकारती है—ओ प्रियतम! घर आकर कब मुझसे मिलोगे? तुम्हें देखनेकी उत्कट अभिलाषा है, तुम्हें देखूँगी तभी दुःख दूर होगा—

मैं मनि तनि विरहु अति अगला किउ प्रीतमु मिलै घर आइ।

ओ मेरे जीवन! तुमसे बिछुड़कर तुम्हारे प्यारे कैसे जीवित रह सकते हैं—

बिछुरत किउ जीवे ओइ जीवन।

तुम्हारे विछोहमें बस मृत्यु-ही-मृत्यु दीखती है। जीवन तो तुम्हारे मिलनमें ही है। जल्दी दर्शन दो—

बिछुरत मरनु जीवनु हरि मिलतो जन कोउ दरसन दीजै॥

इस तरह श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें मधुरभाव भरा पड़ा है। उन्होंने कहा है कि सब-की-सब जीवात्माएँ परमात्मपतिकी पत्नियाँ हैं और सब उसे प्रसन्न करनेके लिये ही यहाँ इकट्ठी हुई हैं।

सभे कंत सहेलीआ सगलीया हरहि सींगारू।

इसलिये सद्गुरु नानकदेवने जीवात्माको प्रेरणा दी है। कहा है—जबतक जीववधू, अपने प्रभु—पतिसे नहीं मिल लेती, तबतक उसे निराशा-ही-निराशा हाथ लगती है। प्यारे प्रभु—पतिको हृदयसे लगा लेनेके बाद ही तो इसे सुख प्राप्त हो सकता है। प्रभु—पतिसे मिले बिना इसे 'संतलोक'का पास भी तो नहीं मिल सकेगा—

सुंध विमाकडीआ कोउ बिनु धनी पिआरे।
किउ सुख पावैगी बिनु उर धारे॥
नाह बिनु घर बासु............................

सद्गुरुदेवकी सीख पाकर जो जीववधू, प्रभु-पतिके प्रेममें विभोर हो जाती है, वह आनन्द-ही-आनन्दमें डूबती-उतराती रहती है। वह आनन्द उसके हृदयमें नहीं समाता, कण्ठसे फूटने लगता है—महिलाओ! मेरी इच्छा पूरी हो गयी है, हमारे घर साजन आ गये हैं। मेरे लिये अब तुम्हें चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। आओ, हिलमिलकर मङ्गलगान गायें—

मेरी इछ पुनी जीउ हर घरि साजनु आइआ।
मिली वर नारी मङ्गलु गाइआ॥

(२) सद्गुरु कबीरका कान्ताभाव

संत कबीरने भी मधुरभावका मार्मिक चित्रण किया है। उन्होंने आत्माको पत्नी और परमात्माको पति मानकर संयोग और वियोगका मर्मस्पर्शी वर्णन इस प्रकार किया है—

रामदेव मेरे पाहुन आये मैं जोवन मदमाती।

कहै कबीर मोहि ब्याह चले हैं पुरुष एक अबिनासी॥

ब्याह हो जानेके बाद भी पति-पत्नीका सदा एक साथ रहना तो सम्भव है नहीं। किसी-न-किसी दिन नैहर तो लौटना ही है। इस तरह विरहकी सुहानी पीडा तो सहनी ही पड़ती है। प्रेमातिरेकमें यह पीडा असह्य हो उठती है। फिर रोना-धोना, छटपटाना प्रारम्भ हो जाता है। प्रियतमके दर्शनोंके लिये प्रियतमा तरसती रहती है। न दिनमें चैन पड़ता है न रातमें। सिसक-सिसककर उसके प्राण छीजने लगते हैं—

पिय बिनु जिय तरसत रहे पल पल विरह सताय।
रैन दिवस मोहि कल नहीं सिसकि सिसकि दम जाय॥

बेचारी पुकारती है—'प्यारे! तुम्हारे बिना मेरे नयनोंसे इतने आँसू बहने लगे हैं कि इसके आगे रहट भी झूठा पड़ता जा रहा है। जैसे पपीहा स्वाती नक्षत्रके जलके लिये 'पी-पी' रटता रहता है। वैसे मैं भी तुम्हारे मिलनकी आशामें तुम्हारा नाम निरन्तर रटती रहती हूँ'—

नैनन तो झड़ि लाइया रहट बसे निसुवास।
पपिहा ज्यों पिय-पिय रटे पिया मिलन की आस॥

देरसे ही सही, स्वाती नक्षत्रने अपने प्रेमीकी चाह पूरी कर दी। किंतु प्रियतम तुम्हारी राह देखते-देखते एक तो मेरी आँखोंमें झाँईं पड़ गयी, दूसरे तुम्हारा नाम पुकारते-पुकारते मेरी जीभमें छाले भी पड़ गये। फिर भी तुम नहीं आये। निष्ठुर तो कभी नहीं रहे। फिर न आनेका क्या कारण है—

अंषड़ियाँ झाईं पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि॥

बेचारीका विश्वास पुकारसे भी डिगने लगा। या तो पुकारनेमें कोई कमी रह गयी है अथवा सुननेमें ही कोई कमी आ गयी है। किसी-न-किसी तरफ कोई कमी अवश्य रह गयी है। अब अगला उपाय है संदेश भेजना।

संदेशमें कह रही है—मेरे प्रियतम! एक प्रश्न पूछती हूँ, ध्यानसे सुनो। पानीमें रहनेवाला जीव जो मछली है, वह पानीके बिना भी जी सकती है क्या? यह भी बताओ कि क्या तुम्हारे बिना मैं जी सकती हूँ? याद रखो, पानीके बिना मछली भले जीवित रह जाय, किंतु मैं तो तुम्हारे बिना कभी जीवित नहीं रह सकती। इसलिये तुम शीघ्र दर्शन दो। पानी मिलनेमें देर होनेसे भी मछली मर जाती है। देर मत लगाना, प्राण निकलना ही चाहते हैं—

बिरहिनी दे संदेशरा सुनो हमारे पीव।
जल बिनु मछली क्यों जिअे पानीमें का जीव॥
बिरहिनी दे संदेशरा सुनहु राम सुजान।
बेगि मिलो तुम आयके नाहि तो तजिहौं प्रान॥

संदेश तो भेज दिया गया, किंतु प्रतीक्षा कौन करे। इतनी धीरता कहाँ है? 'प्रियतमा दौड़कर प्रेमके पथपर जा खड़ी हुई। जो राही मिलता है उससे दौड़-दौड़कर पूछती है—ओ महान् राही! तुमसे केवल एक बात पूछती हूँ, तुम मेरे प्रियतमका एक शब्द कह दो कि वे कब आ रहे हैं?'—

बिरहिनी खड़ी पंथ सिर पंथी पूछे धाय।
एक शब्द कहु पीव का कब रे मिलेंगे आय॥

पथिकोंसे कोई अनुकूल उत्तर नहीं मिल रहा है। विह्वलता अब सीमा लाँघने लगती है। धड़कनें बढ़ जाती हैं। वह अपने-आपको सँभाल रही है, परंतु सँभाल नहीं पाती। पछाड़ खाकर गिर पड़ती है। फिर उठती है, शायद प्रियतम आ गया हो। निराशा मिलनेपर फिर गिर पड़ती है। वह अपनेको मौतसे दूर रखना चाहती है। सोचती है प्रियतम तो आयेगा ही। फिर मर जाऊँगी तो इन आँखोंसे कैसे देख पाऊँगी? इस शरीरसे तब मिल भी कैसे पाऊँगी? मरनेके बाद यदि प्रियतम आ भी जायँगे तो भी वह किस कामका होगा? लोहा मिट्टीमें मिलकर जब मिट्टी बन जाता है तब पारस वहाँ आ भी जाय तो उसका आना किस कामका होता है?

बिरहिनि उठि उठि भुइँ परे, दरसन कारन राम।
मूये पीछे देहुगे सो दरसन किहि काम।
लोहा माटी मिल गया तब पारस किहि काम॥

प्रेमी देहात्मवादी नहीं होते। फिर भी देहसे उनकी जो ममता होती है, वह इसलिये कि इसी देहने प्रियतमका स्पर्श पाया है, इसे प्रियतमने अपनाया है, यह प्रियतमका

है। यही कारण है कि काकभुशुण्डिजीने इस 'काक' शरीरको अन्य शरीरमें विनिमय न होने दिया।

प्रियतमाका विश्वास है कि जैसे मैं उसके लिये तड़प रही हूँ, वैसे वह भी तो मेरे लिये तड़प रहा होगा। मेरे मरनेपर जब वह आयेगा और मेरे मृत शरीरको देखेगा तो उसे कितना अनुताप होगा। इसलिये प्रियतमा अपने देहको प्रियतमके आनेतक सँभालना चाहती है। किंतु विरहकी टीस इस देहसे प्राणोंको निकालनेमें तुली है। एक ऐसा धक्का लगता है कि दिल मुँहको आ जाता है! बेचारीका बस न चला। अधीर होकर जीव इस शरीरको छोड़कर प्रियतमके पास चला ही गया। नैहरवाले दवा दे-देकर हार गये, उन्होंने समझा कि बेचारीने तड़प-तड़पकर प्राण छोड़ दिये। उधर यमदेवने सोचा कि बेचारीने प्राण तो छोड़ ही दिये, इसे ठिकानेपर पहुँचा दूँ। उन्होंने शरीरके कण-कणको ढूँढ़ डाला, किंतु जीव कहीं अटका हुआ न मिला। यमराज खाली हाथ लौट गये। जीव तो वहाँ पहुँच गया था, जहाँ यमराज़की पैठ ही नहीं।

विरह तेज तनमें तपे, अंग सबै अकुलाय।
घर सूना जीव पीव में, मौत ढूँढि फिर जाय॥

प्रियतमसे मिलकर वह सब कुछ पा गयी। किंतु प्रियतमने उसे फिर लौटाया। विरहका यह खेल अभी पूरा कहाँ हुआ था? प्रियतमा जब लौटी तब उसके देहमें चेतनाका संचार हो गया, किंतु यह तन तो अभी भूखा ही था। ये आँखें अभी प्यासी ही थीं। उठते ही प्रियतमको बाँहोंमें भर लेनेके लिये लपकीं। पर प्रियतम वहाँ कहाँ था? फिर सिसकना जारी हो जाता है। फिर कराह उठती है। इस तरह फिरसे मरना और फिरसे जीना प्रारम्भ हो गया—

फिर वही मरना फिर वही जीना।
सुसुकि-सुसुकि मरि-मरि जिये उठे कराहि-कराहि॥

जो स्वयं मर-मरकर जी रही है, उसकी हालत कितनी नाजुक है? संत कबीरने जगत्‌को सावधान किया है कि इस पुण्य आत्मासे कोई तनिक भी छेड़-छाड़ न करे। बेचारी छूते ही मर जायगी—

राम वियोगी विकल तन इन दुखवो मति कोय।
छूवत ही मर जायेंगे तालाबेली होय॥

यह है संत कबीरके शब्दोंमें चिर-विरहका मार्मिक चित्रण।

⁂

'कर लीजै निज दासा'

हरि मोहि ऐसा कर वैरागी।
बाहर ग्रेही सा दरसाऊँ, अन्तर में रहूँ त्यागी॥
राग द्वेष दोनों छुट जावैं, समझूँ आतम रूपा।
हर्ष शोक हिरदय से भागैं, व्यापे छाँह न छूपा॥
साँच हरी सूँ सहज जगत सूँ, कोऊ लेप न लागे।
तिरगुण माया की मरजादा, पहुँचावो तिहि आगे॥
कर्म न बाँधे भर्म न उपजै, कोई रहे न आसा।
चार पदारथ में नहिं अटकूँ, कर लीजै निज दासा॥
कण्ठी प्रीति गले पहिरावो, किरपा तिलक लगावो।
चरणदास गुरु हाथ धरो अब, 'रामरूप' अपनावो॥

—स्वामी श्रीरसिकमाधुरीशरणजी महाराज

⁂

लोकहितार्थ नर्मदाजीका भूमण्डलपर अवतरण

(पं० श्रीविष्णुदत्तरामचन्द्रजी दुबे)

नर्मदाका उत्पत्तिस्थान अमरकण्टक पर्वत है। ये पश्चिमगामिनी होकर खम्भातकी खाड़ीमें पश्चिमी समुद्रमें मिली हैं। देवाधिदेव महादेवजीके शरीरसे उत्पन्न होनेके कारण युगावसानमें भी इनका क्षय नहीं होता—'**प्रलयेषु न मृता सा नर्मदा**'।

नर्मदाजीकी उत्पत्तिके विषयमें वसिष्ठसंहितामें लिखा है—भगवान् श्रीरामने अपने गुरु वसिष्ठजीसे पूछा—गुरुदेव! हिरण्याक्षके पुत्र अन्धकासुरका वध भगवान् शिवके द्वारा किया गया। तत्पश्चात् क्या हुआ? इसपर वसिष्ठजीने कहा—राघवेन्द्र! अन्धकासुरका वधकर भगवान् शिव मेकल पर्वतपर भगवती पार्वतीजीके साथ प्रसन्नमुद्रामें बैठे हुए परम शान्तिका अनुभव कर रहे थे, उसी समय इन्द्र, चन्द्र आदि देवताओंको साथ ले भगवान् विष्णु वहाँ आये और पापोंसे मुक्त होनेका उपाय पूछकर स्तुति करने लगे।

देवताओंकी स्तुति सुनकर भगवान् शिव द्रवीभूत हो गये और उनके मस्तकपर स्थित चन्द्रकलासे अमृतबिन्दु पृथ्वीपर टपक गया और उस बिन्दुका पृथ्वीसे स्पर्श होते ही एक अत्यन्त सुन्दर कन्या प्रकट हो गयी। उसकी तेजोमय प्रभासे देवताओंका तेज मन्द पड़ गया। वे सब उसकी स्तुति करने लगे—हे शरणापन्नोंका रक्षण करनेवाली तथा संकटोंको दूर करनेवाली देवि! आप पापोंसे हमारी रक्षा करें। हे देवि! आपके दर्शनमात्रसे हमारे नयन आनन्दित हो रहे हैं। अतः आप नर्मदा नामसे प्रसिद्ध होंगी। तदनन्तर वह कन्या भगवान् शिवकी नम्रतापूर्वक स्तुति करने लगी—हे देव! आप हमारे जनक हैं, साथ ही सम्पूर्ण चराचरके स्वामी हैं। दुष्कर काल भी आपसे ही शक्ति ग्रहण करता है। प्रभो! इस समय मुझे क्या आज्ञा है जिसका मैं शीघ्रातिशीघ्र पालन करूँ। शिवजीने कहा—तुम शीघ्र ही जलरूप धारणकर पृथ्वीपर प्रकट होओ और संसारके पाप-तापसे पीड़ित जीवोंका (उद्धार) करनेवाली हो जाओ। जो तुममें स्नान आदि सत्कर्म करेंगे वे तीनों लोकोंमें धन्य होंगे।

वह बालिका ऐसा सुनकर भगवान् शंकरकी आज्ञा शिरोधार्यकर और उनके चरणोंमें प्रणामकर नदीके रूपमें परिणत हो गयी। तब भगवान् शिवने उसपर प्रसन्न हो यह वरदान दिया—

तव वारिगतं चास्थि शिलारूपं भविष्यति।
तस्याप्यर्चनमात्रेण नरः कामानवाप्नुयात्॥

अर्थात् हे नर्मदे! तुम्हारे जलमें पड़ी अस्थियाँ पाषाण हो जायँगी। उस पाषाणका जो मनुष्य पूजन करेंगे, उनके सभी मनोरथ पूर्ण होंगे। हे रेवा! भगवान् विष्णुको नमस्कार कर पृथ्वीपर जाओ, उनकी कृपा प्राप्तकर तुम गङ्गाके समान प्रसिद्ध हो जाओगी।

शिवजीका आदेश पाकर भगवान् विष्णुको उसने प्रणाम किया, उस समय विष्णुने भी उसे वरदान दिया—

नर्मदे त्वं महाभागा सर्वपापहरा भव।
त्वदप्सु याः शिलाः सर्वाः शिवकल्पा भवन्तु ते॥

अर्थात् नर्मदे! तुम बड़ी भाग्यशालिनी हो। तुम्हारे जलमें स्थित सब पाषाण शिवतुल्य होंगे। तुम सब पापोंको हरनेवाली होओ।

नर्मदावतरणके सम्बन्धमें एक दूसरी कथा इस प्रकार है—महाराज युधिष्ठिरने नर्मदाजीका माहात्म्य जाननेकी इच्छासे महर्षि मार्कण्डेयसे प्रश्न किया। तब वे बोले—पूर्वकालमें पुरूरवा नामसे प्रसिद्ध एक चक्रवर्ती राजा हुए थे। उन्होंने पापमोहित मनुष्योंको पापसे मुक्त होकर स्वर्गादि लोककी प्राप्ति हो सके, ऐसी कल्याणकी कामनासे श्रीमहादेवजीकी हजार वर्षतक आराधना की और वरदानमें भगवान् शंकरसे 'रेवा' को लोकहितके लिये भूमण्डलपर उतारनेकी प्रार्थना की। चन्द्रमौलि शंकरने जगदम्बा नर्मदाजीको आज्ञा दी—'पृथ्वीपर उतरो और पुरूरवाकी तपस्याके फलस्वरूप मृत्युलोकके हितका साधन करो।' नर्मदादेवी भगवान् शंकरकी आज्ञा शिरोधार्य कर पयङ्कगिरि (अमरकण्टक)-के शिखरपर स्थित होकर जलरूपसे बहने लगीं। राजा पुरूरवाने तिल और रेवाके जलसे तर्पण किया। उस जलसे तर्पण करनेपर उसी समय राजाके समस्त पितर विमानारूढ हो परमपदको प्राप्त हो गये। समस्त जगत् पवित्र हो गया।

माघ शुक्लपक्ष सप्तमी, अश्विनी नक्षत्रमें रविवारके दिन ठीक मध्याह्नके समय श्रीनर्मदाजीका इस भूमण्डलपर अवतरण हुआ। उस समय आकाशमें दुन्दुभियाँ बजने

लगीं। देवतागण पुष्पवृष्टि करने लगे। ऋषियोंने स्तवन एवं पूजन किया। तबसे लोग बड़े उत्साहसे प्रतिवर्ष नर्मदाके तटपर नर्मदा-जयन्ती मनाते हैं। इसी प्रकारकी नर्मदावतरणकी कथा राजर्षि हिरण्यतेजाकी तपस्याके फलस्वरूप भी पुराणमें प्राप्त होती है। स्कन्दपुराणके रेवाखण्डमें विस्तारसे नर्मदा-महात्म्य प्राप्त होता है।*

नर्मदाकी उत्पत्तिका स्थान अमरकण्टक पर्वत है। इसे ऋष्य एवं मेकल पर्वत भी कहते हैं। इसीलिये नर्मदाजी मेकलसुता भी कहलाती हैं। उमासहित भगवान् शंकर इस पर्वतपर नित्य निवास करते हैं। शिव तथा शक्तिका साक्षात् करनेकी साधना यहाँ शीघ्र सफलीभूत होती है। जिस प्रकार गङ्गा-यमुनादि नदियाँ मोक्षदायिनी हैं, उसी प्रकार नर्मदा भी मोक्षप्रदा हैं। जिन्हें पुन: घोर संसार-सागरके दर्शनकी अभिलाषा न हो, वे सर्वदा नर्मदाके जलका सेवन करें। नर्मदाके तटपर जो कुछ जप किया जाता है तथा दान दिया जाता है, वह सब अक्षय हो जाता है।

उत्तम व्रतका संकल्प लेकर जो नर्मदाका आश्रय लेते हैं, वे मरकर अविनाशी वैष्णव और शैवपद पाते हैं। मनुष्यके सात जन्मोंके किये हुए तथा वर्तमान जन्मके पाप नर्मदाजीमें स्नान करनेसे इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे रूईके ढेरको अग्नि भस्म कर देती है। नर्मदाके तटपर किसी भी स्थानमें मनुष्यके देह त्यागनेपर उत्तम गति प्राप्त होती है। सरस्वतीका जल तीन दिनमें तथा यमुनाका जल सात दिनमें और गङ्गाजल मनुष्यको तत्काल पवित्र कर देता है। जबकि नर्मदाके तो दर्शनमात्रसे ही मनुष्य पवित्र हो जाता है—

त्रिभिः सारस्वतं पुण्यं सप्ताहेन तु यामुनम्।
सद्यः पुनाति गाङ्गेयं दर्शनादेव नार्मदम्॥

(पद्मपु० स्वर्ग० १३।७, मत्स्यपु० १८६।११)

साक्षात् महेश्वरदेव नर्मदा नदीका नित्य सेवन करते हैं, इसीलिये इस पवित्र नदीको ब्रह्महत्यारूपी पापका निवारण करनेवाली जानना चाहिये—

नर्मदा सेवते नित्यं स्वयं देवो महेश्वरः।
तेन पुण्या नदी ज्ञेया ब्रह्महत्यापहारिणी॥

(मत्स्यपु० १९०।२५)

देवता, असुर, गन्धर्व और तपोधन ऋषि—ये नर्मदाके तटपर तपस्या करके परम सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं। देवताओंसे वन्दित, ऋषिगणोंसे पूजित तथा भगवान् शंकरके श्रीविग्रहसे प्रकट हुई नर्मदाको बारम्बार नमस्कार है।

निम्न मन्त्रोंसे देवी नर्मदाकी प्रार्थना करनी चाहिये—

ॐ नमः पुण्यजले ह्याद्ये नमः सागरगामिनि।
नमस्ते पापनिर्दाहे नमो देवि वरानने॥
नमोऽस्तु ते ऋषिगणसिद्धसेविते
नमोऽस्तु ते शङ्करदेहनिःसृते॥
नमोऽस्तु ते धर्मभृतां वरप्रदे
नमोऽस्तु ते सर्वपवित्रपावने॥

(मत्स्यपु० १९०।२१-२२)

आदि गङ्गे! तुम्हें नमस्कार है। पुण्यसलिले! तुम्हें प्रणाम है। सागरकी ओर गमनशीले! तुम्हे अभिवादन है। पापोंको नष्ट करनेवाली और सुन्दर मुखवाली देवि! तुम्हें नमस्कार है। तुम ऋषिसमूह और सिद्धोंसे सेवित हो, तुम्हें प्रणाम है। शंकरके देहसे निकली हुई तुम्हें नमस्कार है। तुम धर्मात्मा प्राणियोंको वर देनेवाली हो, तुम्हें नमस्कार है। सभीको पवित्र करनेवाली तुम्हें प्रणाम है।

'रेवातटे जपं कुर्यान्मरणं जाह्नवीतटे' अर्थात् नर्मदाके तटपर जप करना चाहिये और गङ्गाके तटपर शरीर त्यागना चाहिये। नर्मदातटपर की जानेवाली तपस्याका विशेष फल कहा गया है। इसके दोनों ही तटोंपर समस्त ऋषि-मुनियों तथा देवताओंका निवास है। आत्मकामी व्यक्तिको भगवती नर्मदाका सेवन अवश्य करना चाहिये।

* * *

---

* भगवान् व्यासजीने बताया है कि जब भगवती नर्मदाका अवतरण हुआ तो उन्होंने राजा मान्धाताके पुत्र धर्मात्मा राजर्षि पुरुकुत्सका पतिरूपमें वरण किया। जब मौनेय नामक गन्धर्वोंने रसातलमें नागलोकपर आधिपत्य कर लिया तो राजर्षि पुरुकुत्सने नर्मदाके सहयोगसे नागोंकी रक्षा की। उस समय नागोंने देवी नर्मदाको यह वर दिया कि जो कोई आपको स्मरण करते हुए आपका नाम लेगा, उसको सर्प-विषसे कोई भय नहीं होगा—'यस्तेऽनुस्मरणसमवेतं नामग्रहणं करिष्यति न तस्य सर्पविषभयं भविष्यतीति।' (विष्णुपु० ४।३।११)

इस विषयमें एक श्लोक है जो इस प्रकार है—

नर्मदायै नमः प्रातर्नर्मदायै नमो निशि। नमोऽस्तु नर्मदे तुभ्यं त्राहि मां विषसर्पतः॥ (विष्णुपु० ४।३।१३)

नर्मदाको प्रातःकाल नमस्कार है और रात्रिकालमें भी नर्मदाको नमस्कार है। हे नर्मदे! तुमको बारम्बार नमस्कार है। तुम मेरी विष और सर्पसे रक्षा करो।

गोवंश-हत्यापर प्रतिबन्ध मौलिक अधिकारोंमें शामिल किया जाय

[राष्ट्रीय गोवंश-आयोगके कार्याध्यक्ष जस्टिस श्रीगुमानमलजी लोढ़ाद्वारा तैयार की गयी रिपोर्ट माननीय प्रधानमन्त्रीजीके सामने रखी गयी, जिसमें गोवंशकी रक्षाके निमित्त विभिन्न सुझाव प्रस्तुत किये गये, जो यहाँ दिये जा रहे हैं—]

राष्ट्रीय गोवंश आयोगकी सिफारिशें

१-गाय एवं गोवंश जिसमें बैल, साँड़ आदि निहित हैं-के वधपर प्रतिबन्धको मौलिक अधिकार या संवैधानिक निर्देशकी तरह संविधानमें अनुच्छेदके रूपमें सम्मिलित किया जाय। इसे केवल नीति-निर्देशक सिद्धान्तों या मौलिक कर्तव्योंमें नहीं रखा जाना चाहिये; क्योंकि दोनोंहीको लागू नहीं किया जा सकता।

२-गाय एवं गोवंशके वध तथा इनके एक राज्यसे दूसरे राज्यमें आवागमनपर प्रतिबन्ध लगानेके लिये केन्द्रीय कानून बनानेहेतु संसद्‌को शक्ति प्रदान करनेके लिये संविधानमें संशोधन किया जाना चाहिये।

३-संसद्‌को तब सभी राज्योंके लिये एक केन्द्रीय कानून बनाना चाहिये, जिससे गाय एवं गोवंश-वधको प्रतिबन्धित किया जाय एवं इसे गैर-जमानती तथा संज्ञेय अपराध बनाया जाय और सेशन-ट्रायलद्वारा न्यूनतम तीन साल सश्रम कारावास तथा अधिकतम दस वर्ष सश्रम कारावास जुर्मानासहित दण्डका प्रावधान किया जाय। स्वयंको बेगुनाह सिद्ध करनेका दायित्व आरोपीपर होना चाहिये।

४-केन्द्रीय सरकारको पूरे भारतके लिये एक स्थायी राष्ट्रीय-गोसेवा-आयोगकी स्थापना करनी चाहिये तथा पशुधनके संरक्षण एवं विकासके लिये इसे न्यूनतम उपयुक्त राशि रु० १०० करोड़ वार्षिक प्रदान करनी चाहिये।

५-पशुधन-संरक्षण एवं विकासके लिये एक अलग मन्त्रालय होना चाहिये। यह पशुपालन विभागके अधीन नहीं होना चाहिये, जिसका मूल आशय पशुधन-संरक्षण न होकर पशुधन-विकास एवं मांस उत्पादसहित जीव उत्पादोंका उत्पादन करना है।

६-पशुपालन-विभागको पुनर्गठित किया जाना चाहिये और इसका विषय तथा आशय पशुओंका संरक्षण एवं विकास आदि होना चाहिये न कि मांसके रूपमें जीव खाद्य।

७-पशुपालन या कृषि-विभागद्वारा बूचड़खानोंकी स्थापना या पुनर्निर्माण अथवा रख-रखावके लिये कोई आर्थिक सहायता न दी जाय।

८-गोमांस, बछड़ेके मांसके निर्यातपर पूर्ण प्रतिबन्ध होना चाहिये। इसी प्रकार भैंसके मांसके आवरणमें गोमांस निर्यातकी छूट नहीं होनी चाहिये।

९-केन्द्रीय सरकारको प्रत्येक राज्यमें एक गोसेवा-आयोगके गठन एवं इसके कार्यशील होने तथा उन्हें राशि-मुहैय्या करनेके बारेमें आश्वस्त करना चाहिये।

१०-पशुधन-संरक्षण कानूनोंका क्रियान्वयन निम्नरूपसे सुनिश्चित किया जाना चाहिये—

(क) केन्द्रीय पशुधन-संरक्षण—रैपिड टास्क पुलिस बलकी स्थापना, जिसके क्षेत्रीय कार्यालय एवं शाखाएँ हर राज्यमें हों। इसका विशेष बल बांग्लादेश सीमा पशुधन निर्गमनपर तथा केरल सीमापर तैनात किया जाना चाहिये।

(ख) अनुच्छेद ४८ एवं ५१ (जी)-के परिप्रेक्ष्यमें संविधानके अनुच्छेद ३५५ अथवा अन्य सदृश्य प्रावधानोंके अन्तर्गत केरल, नागालैण्ड, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश, त्रिपुरा, मणिपुर तथा अन्य पूर्वोत्तर राज्योंको गाय एवं गोवंश-वध-निषेधहेतु सम्यक् निर्देश दिये जायँ। केरलको विशेष निर्देश दिये जायँ कि वह पड़ोसी राज्योंसे वधके लिये पशुधनको स्वीकार न करे।

(ग) रेल, ट्रक, सड़क अथवा किसी अन्य प्रकारसे पशुधनको एक स्थानसे दूसरे स्थान ले जानेके दौरान उसपर क्रूरता करना तथा ऑक्सीटोसिन अथवा इस प्रकारके किसी अन्य इंजेक्शनको लगाकर दुग्ध-दोहन प्रतिबन्धित होना चाहिये।

(घ) सरकारको पशुओंका वधकर चमड़ा उत्पादनके निषेधहेतु विज्ञप्ति जारी करनी चाहिये। ऐसे चमड़ेसे बने मालके निर्यातपर प्रतिबन्ध लगना चाहिये।

(च) पोटा आदि सरीखे निरोधक दण्ड-विधानोंमें संशोधन होना चाहिये ताकि तस्करों और बांग्लादेश, केरल या अवैध बूचड़खानोंको बड़े स्तरपर गोवंशके निर्गमनमें लिप्त माफियाको पकड़ा जा सके।

११-जर्सी-जैसे आयातित पशुओंद्वारा संकर-प्रजनन एवं इन पशुओंके आयातपर प्रतिबन्ध होना चाहिये। देशी नस्लोंको बढ़ावा देना चाहिये तथा सरकारको देशी नस्लोंके विकास एवं संरक्षणके लिये भारतभरमें आर्थिक सहायता प्रदान करनी चाहिये।

१२-ट्रैक्टर और खेतीमें काम आनेवाले मशीनी उपकरणोंपर अनुदान रोक देना चाहिये। बैलोंद्वारा जुताई, बैलोंद्वारा खींचे जानेवाले ट्रैक्टरों, देशी संसाधनोंद्वारा बिजलीके उत्पादन तथा ठेलोंको प्रोत्साहन एवं अनुदान प्रदान करना चाहिये।

१३-गोबर खाद टास्क फोर्स समिति—२००१ की रिपोर्ट एवं इसकी समूची अनुशंसाएँ कार्यान्वित की जानी चाहिये।

१४-रासायनिक खाद तथा रासायनिक कीटनाशकोंके उपयोग एवं उत्पादनको हतोत्साहित किया जाना चाहिये और इनपर अनुदान कम करना चाहिये। वहीं गोबर खादको बढ़ावा तथा अनुदान देना चाहिये।

१५-योजना-आयोगद्वारा १०वें योजना मसौदेके लिये गठित ११वें उप-गुट (मीट सेक्टरहेतु)-की अनुशंसाएँ एकदम खारिज कर देनी चाहिये।

१६-केन्द्रीय एवं राज्य सरकारोंद्वारा स्वयंसेवी संगठनोंके माध्यमसे गोशाला, गोसदन एवं पिंजरापोल स्थापित करने चाहिये। सरकारको इन गोशालाओंको दैनन्दिन व्ययके अनुपातमें आर्थिक सहायता प्रदान करनी चाहिये तथा ७० प्रतिशत लागत खर्च भी देना चाहिये। इन्हें भवन एवं चारागाहके लिये निःशुल्क अथवा रियायती दरपर भूमि मुहैय्या करानी चाहिये।

१७-चारागाहें विकसित, संरक्षित होनी चाहिये तथा ग्रामस्तरके किसानोंके पशुओंको चरनेके लिये उपलब्ध होनी चाहिये। वन-कानूनोंमें भूमिको पशुधनके चारागाहकी सुविधा प्रदान करनेके लिये संशोधन किया जाना चाहिये।

१८-देशी नस्लोंके पशुओंके गोबर एवं गोमूत्रके खेतीमें खाद, कीटनाशक, कम्पोस्ट आदिके रूपमें उपयोगको अत्यधिक बढ़ावा दिया जाना चाहिये।

१९-गोमूत्र-चिकित्सा-पद्धतिमें अधिकाधिक खोजोंके लिये प्रोत्साहन देना चाहिये।

२०-सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालयद्वारा गोदुग्ध उत्पाद, गोमूत्र और गोबरके गुण एवं उपादेयताका जन-जागरण अभियान चलाना चाहिये। आयुर्वेदद्वारा स्वीकृत पञ्चगव्य औषधि-गुणोंका सम्यक् प्रचार करना चाहिये।

२१-शिक्षण एवं जागरण-अभियानमें मुगल बादशाहों—हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, औरंगजेब, बहादुरशाह जफरद्वारा अपने शासनकालमें पारित गोहत्या-निषेध-हेतु फरमानोंको सूचना माध्यमोंद्वारा विस्तृतरूपसे विज्ञापित करना चाहिये।

२२-शैक्षिक पाठ्यक्रमोंमें पञ्चगव्य-पद्धति, गोदुग्ध, गोमूत्र तथा अन्य गो-उत्पादोंसे सम्बन्धित विषयको सम्मिलित किया जाना चाहिये।

२३-इसके लिये एक अखिल भारतीय विश्वविद्यालय तथा इन विषयोंको सभी विश्वविद्यालयोंमें विशेषकर कृषि विश्वविद्यालय और पशु-विज्ञान एवं पशु-चिकित्सा महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालयों एवं अस्पतालोंके पाठ्यक्रममें सम्मिलित किया जाना चाहिये।

२४-चारे एवं पशुखाद्यके उत्पादनको प्रोत्साहन देना चाहिये। राज्य सरकारोंसे पशुधनके अनुपातमें चारा एवं पशु-खाद्यके उत्पादनके लिये कहा जाना चाहिये।

२५-कई राज्यों यथा पंजाब, हरियाणा आदिमें फसलोंके अवशिष्ट—जो पशुओंके चारेके रूपमें इस्तेमाल किया जा सकता है, को जला दिया जाता है। इसे अपराध घोषित किया जाना चाहिये।

२६-भारतीय खाद्य-निगमकी तरह भारतीय चारा निगमकी स्थापना की जानी चाहिये, जिसकी शाखाएँ प्रत्येक राज्यमें स्थापित की जायँ, जिनमें संग्रहण सुविधाएँ भी हों।

२७-कृषि विश्वविद्यालय तथा वन-मन्त्रालयके सहयोगके साथ कृषि-मन्त्रालयको विशेष चारा-अभियानका वादा करना चाहिये। केन्द्र सरकार और राज्य सरकारोंको गरीबी रेखासे नीचेवाले लोगोंको दी जानेवाली रियायतकी तरह ही चारा-विक्रयपर अनुदान दिया जाना चाहिये।

२८-केन्द्र सरकारको इस निर्देशके साथ विज्ञप्ति जारी करनी चाहिये कि राज्योंके कानूनों और नगरपालिका कानूनोंमें नगरोंमें पशुपालन-सम्बन्धी सम्यक् संशोधन किये जायँ ताकि नगर-कस्बोंके मकान-मालिकको अपने घरोंमें दो-चार गायें आदि पालनेकी अनुमति हो।

२९-राज्य सरकारों, पञ्चायतों एवं नगरपालिकाओंको सड़कों-गलियोंमें लावारिस घूमनेवाले पशुओंके नियमन, नियन्त्रण, रोकने और पालनसे सम्बन्धित एक विज्ञप्ति भेजनी चाहिये। इन पशुओंको नगरपालिकाओं, पञ्चायतों आदिद्वारा संचालित पशुघरोंमें रखना चाहिये।

३०-अतः आयोग सिफारिश करता है कि अभी प्रभावी विभिन्न विधानोंको निष्प्रभ करनेके लिये सम्पूर्ण देशमें लागू होनेवाले संसदीय कानूनहेतु शीघ्र कदम उठाये जायँ तथा अनुच्छेद २४९ (आई)-में विचारणीय प्रस्ताव राज्यसभाद्वारा पारित किया जाय अथवा अनुच्छेद २५२ के अन्तर्गत कार्यवाही भी की जा सकती है और वाञ्छित

उद्देश्योंकी प्राप्तिके लिये एक केन्द्रीय कानून भी लाया जा सकता है और विभिन्न राज्योंमें समान समस्याओंका ऐसे समान कानूनद्वारा निवारण किया जा सकता है।

३१-मौलिक अधिकारमें संशोधन करते हुए अनुच्छेद १९ में उपखण्ड ५ के बाद एक परंतुक जोड़ा जाय, 'परंतु कोई भी व्यापार अथवा व्यवसाय किसी भी रूपमें गाय तथा गोवंशका वध करना नहीं होगा तथा गोमांसका व्यवसाय/व्यापार करना नहीं होगा।'

३२-इसी प्रकारका परंतुक अनुच्छेद ३०१ में भी जोड़ा जाय।

३३-संवर्तित सूचीमें निम्नलिखितको जोड़ा जाय—

(क) गाय तथा गोवंश-वधपर प्रतिबन्ध।

(ख) एक राज्यसे दूसरे राज्यमें गाय और गोवंशके आवागमनसे सम्बन्धित कानून।

३४-भारतीय नस्लोंको भारतकी राष्ट्रीय सम्पत्ति घोषित की जाय तथा यह भी कि किसी भी देशी नस्लके वधकी इज़ाजत किसी मूल्यपर भी नहीं दी जायगी।

३५-यह सिफारिश की जाती है कि एक केन्द्रीय पशुधन-आयोग स्थायीरूपसे बनाया जाय, जिसमें चारा एवं पशु-खाद्य, पशु-आवागमन, चारागाह-भूमि, नस्ल प्रभारी, अन्वेषण एवं विश्लेषण प्रभारी, जैव-कृषि प्रभारी तथा पशु-चिकित्सा-सेवा प्रभारी आदि एक-एक प्रतिनिधि निर्देशकके रूपमें होंगे। ऐसे पशुधन-आयोग प्रत्येक राज्यमें भी होने चाहिये।

३६-सरकारद्वारा आवंटित हो अथवा मन्दिरकी भूमि हो, अनिवार्यतः चारागाह भूमि अलग रखी जानी चाहिये। इन चारागाहोंका उपयोग पूर्णतः केवल पशुओंके चरनेके लिये ही होना चाहिये और किसी अन्य कार्यके लिये इनके उपयोगकी आज्ञा नहीं देनी चाहिये।

३७-यदि कहीं किसी भूमिपर अवैध कब्जे हैं तो उन कब्जोंको तुरंत हटाया जाना चाहिये।

३८-प्रत्येक राज्यमें एक प्रजनन-केन्द्र होना चाहिये, जिसे देशी नस्लोंके विकासपर ध्यान देना चाहिये न कि विदेशी नस्लोंपर। इन केन्द्रोंपर नस्लोंको उन्नत करनेका भी भार होना चाहिये।

३९-पशुगणनाका कार्य भी किया जाय तथा प्रत्येक भारतीय देशी नस्लको पंजीकृत किया जाना चाहिये।

४०-पशुधन-कानूनोंको लागू करनेके लिये निदेशालयकी स्थापना की जाय। जिसका कार्य गाय, बैल, साँड़, बछड़ेके एक स्थानसे दूसरे स्थान तथा एक राज्यसे दूसरे राज्यमें आवागमनपर नजर रखना होगा और यह भी कि जो गाय बाहर गयी है, उसका उसी कार्यके लिये उपयोग किया जा रहा है जिस कार्यके लिये वह एक स्थानसे दूसरे स्थानको गयी है।

४१-पञ्चगव्य औषधि, गोबर, गोमूत्र आदिके उपयोगको बढ़ावा देनेके लिये केन्द्रोंकी स्थापना की जाय तथा गोबर-गैस आदिसे वैकल्पिक ऊर्जा-स्रोत एवं खेतीके तरीकोंके लिये अन्वेषण-केन्द्र भी स्थापित किये जायँ।

४२-गो-मांसके आयात और निर्यातपर पूर्णतः प्रतिबन्ध लगाया जाय।

४३-'भारतीय नस्लें बचाओ' अभियान सारे देशमें चलाया जाय।

४४-गायका राष्ट्रीय प्राणीके रूपमें संवैधानिक पद होना चाहिये तथा गाय और गोवंश-वध, संवैधानिक अपराध बनाया जाना चाहिये।

४५-हर प्रकारके पालिथिनके थैलोंके उत्पादन, बिक्री, उपयोग तथा आयातपर रोक एवं प्रतिबन्ध होना चाहिये।

४६-खाद्य पदार्थ, जूठन, छिलके आदि पालिथिनकी थैलियोंमें भरकर गलियों, सड़कों या कूड़ेदानोंमें फेंकना, जहाँ पशु उन्हें खा सके, दण्डनीय अपराध बनाया जाना चाहिये।

४७-सरकारको ऐसी संवर्धननीतिको प्रोत्साहित एवं कार्यान्वित करना चाहिये जिससे प्राप्य संकर नस्लके पशुओंको फिर अच्छी देशी नस्लोंसे संकृत कर उनकी नस्लोंकी उन्नत और विकसित किया जाय।

४८-नगरपालिकाओं, पञ्चायतों तथा अन्य स्थानोंमें कार्यरत बैलोंकी नीलामीपर रोक लगनी चाहिये। उन्हें अवकाश देकर उनकी देखभाल करनी चाहिये।

४९-मन्दिरों और अन्य धार्मिक स्थलों, जहाँ भक्तगण पशुओंकी भेंट देते हैं, द्वारा पशुओंको बेचनेपर प्रतिबन्ध होना चाहिये। उन्हें इन पशुओंको अपनी गोशालाओंमें रखना चाहिये अथवा रख-रखावके लिये पासकी गोशालाओंको दे देना चाहिये।

५०-अध्याय ३, अध्याय ४, अध्याय ५, अध्याय ६ एवं अध्याय ७ के अन्तर्गत उपसमितियोंकी विभिन्न सिफारिशें भारत सरकार एवं सम्बद्ध विभागोंद्वारा लागू की जानी चाहिये।

* * *

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

सगुणोपासना—भगवत्प्राप्तिका साधन

(श्रीमती मंजुरानी गुटगुटिया)

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५।२२)

भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीतामें कहते हैं—इन्द्रियों तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग निःसंदेह दुःखके हेतु हैं तथा वे आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।

ऐसे विवेकी पुरुष अपने मनको जीतकर भगवदनुरक्त हो ज्ञानके द्वारा ईश्वरप्राप्तिका उपाय करते हैं और संसारसे विरक्त होकर प्रयत्नोंद्वारा अपनेको शुद्धकर भगवत्कृपाप्राप्तिके अधिकारी होते हैं। ऐसे योगी परमात्माको अपने अन्तरमें ही देखते हैं—

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥

(गीता १५।११)

हृदयमें परमात्माका अनुभव हो जानेपर कण-कणमें वही दीखता है—**'वासुदेवः सर्वमिति'** यही वास्तविक अनुभव है। परमात्मा सम्पूर्ण दिव्य गुणोंसे युक्त होते हुए भी सम्पूर्ण गुणोंसे परे हैं, निर्लिप्त हैं, इसलिये उन्हें निर्गुण कहा गया है—बुद्धिप्रधान व्यक्ति ज्ञानमार्गका आश्रय लेकर परमात्माको निर्गुण मानता है, परंतु हृदयप्रधान भावुक भक्त परमात्माको सगुण मानता है। निराधार नाम, रूप, गुणके अभावमें प्रभु-तादात्म्य कैसे हो सकता है?

रूप-रेख-गुन-जाति-जुगुति-बिनु निरालंब कित धावै।

प्रेमाभक्तिके द्वारा जीव भगवान्से जुड़ जाता है। भक्तिका अर्थ भगवान्से योग बताया गया है। सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त परमात्माकी सत्ताका ज्ञान तथा आनन्द हमारे सम्बन्धको जगत्से विभक्त करके भगवान्के साथ सम्बन्ध कराते हैं, यही भक्ति है। **'भजनं भक्तिः'** प्रेमपूर्वक भजन करना भक्ति है—ऐसी स्थितिमें भगवान्के अतिरिक्त समस्त सांसारिक बन्धन उसके लिये गौण हो जाते हैं। संसारमें यदि भक्तका किसी औरसे कहीं भी सम्बन्ध है तो वह केवल भगवान्के नाते ही है। भगवान्के साथ सेवा, प्रेम एवं विश्वासका सम्बन्ध जोड़ लेना ही भक्ति-योग है। योग अर्थात् ज़ुड़े रहना, अनवरत प्रयत्नशील रहना। चेतना अथवा अचेतनावस्था, प्रत्येक समय स्थायीरूपसे भक्तिभावनाका बने रहना शुद्ध भक्ति है। जैसे परिवारके सदस्योंके प्रति सोते, जागते, उठते, बैठते एक स्थायी प्रेम सदा बना रहता है। पुत्र पास हो या दूर, उसका प्रेम तो उतना ही रहता है—वह प्रेम विस्मृतिसे नष्ट नहीं होता। यह रागात्मक संसार है। भक्ति भी ऐसी ही होनी चाहिये। ऐसी भक्ति रखनेवाले भक्तके पीछे स्वयं भगवान् चक्कर लगाते हैं और स्वयं ऐसा कहते हैं—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१६)

सच्चे हृदयसे शरणागत होकर प्रभुका स्मरण करनेवाले भक्तके भाग्यकी गोस्वामीजीने भी सराहना की है—

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा॥

(रा०च०मा० ४।१७।१)

निर्बल साधकके लिये शरणागत होकर प्रभुका स्मरण करना ही एकमात्र अवलम्बन रहता है। जिस प्रकार मछली जलके लिये तड़पती है, जैसे पुत्रशोकसे विह्वल होकर माता-पिता आकुल-व्याकुल होते हैं, उसी प्रकार सच्चा साधक प्रभुके लिये मन-ही-मन तड़पता रहता है, उसके लिये सुख-दुःख समान हो जाते हैं। वह सब कुछ कृष्णार्पण कर केवल भक्ति माँगता है। उसे विश्वास रहता है कि प्रभु सर्वान्तर्यामी हैं, वे जो कुछ करेंगे उसके हितमें ही करेंगे। वह तो सुख-सुविधाओंके अभावमें ही रहना चाहता है; क्योंकि सुखमें वह प्रेमको भूल भी सकता है, इसीलिये प्रभुका विरह-वियोग ही उसे चाहिये। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने परदेश गये प्रीतमके लिये हृदयमें प्रीति सँजोये रखती है, जैसे भूखा बछड़ा गायके लिये रम्भाता है, जैसे पक्षियोंके बच्चे अपनी माँके लिये आतुर, आकुल रहते हैं, जैसे जलमें डूबता व्यक्ति उबरनेकी कोशिश करता है उसी प्रकार भक्त प्रभुके लिये तड़पता रहता है।

भक्तोंको सदैव कष्टमें ही प्रभुके दर्शन हुए हैं, अतः सच्चा भक्त भगवान्से दुःख-ही-दुःख माँगता है। कुन्तीने भगवान् श्रीकृष्णसे वरदानमें दुःख ही माँगा था। संकटका समय भक्तका परीक्षाकाल होता है। नृसिंहभगवान्के दर्शन

प्रह्लादको दुःखमें ही हुए थे। ध्रुव यदि अपनी सौतेली माँसे अपमानित न होते तो उन्हें प्रभु-प्राप्ति कैसे होती? अहल्या पाषाण-मूर्ति होकर ही प्रभु-स्पर्शकी अधिकारिणी बनकर प्रभुको प्राप्त कर सकी। प्रभु अपने प्रिय भक्तोंके संकट देख नहीं सकते, उन्हें भक्तकी आर्त पुकार सुन नंगे पैर दौड़कर आना ही पड़ता है।

भगवान् स्वयं कहते हैं—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा । भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी । जिमि बालक राखइ महतारी॥

(रा० च० मा० ३। ४३। ४-५)

यही बात श्रीकृष्णभगवान्ने श्रीगीताजी (१८। ६२)-में कही है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

इस तरहके सगुणोपासक भक्तोंकी भगवान् नन्हें शिशुकी भाँति रक्षा करते रहते हैं। अतः ज्ञान पाकर भी पण्डित भक्ति नहीं छोड़ते—

यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं । पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं॥

(रा० च० मा० ३। ४३। १०)

भक्तिमार्गमें सबसे सरल, सुगम, साधन प्रभुका नाम-स्मरण बताया गया है। पूर्णरूपेण प्रभुके अधीन हो उनके नाम-स्मरणसे जीवको शाश्वत सुखकी प्राप्त होती है। कलियुगमें भवसागर पार करनेका एकमात्र सुगम साधन यही है। गोस्वामीजीने श्रीरामचरितमानसमें प्रभुके नाम-स्मरणकी महिमाका स्थान-स्थानपर वर्णन किया है—

कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥
कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥

भगवन्नाम-साधना एवं भगवन्नाम-स्मरणसे प्राणीमें अलौकिक दिव्य प्रकाशका उदय होता है। जिसकी जिह्वाके अग्रभागमें 'हरि' ये दो अक्षर विराजमान रहते हैं, वह विष्णुलोकको प्राप्त करता है। ऐसे मनुष्यका पुनर्जन्म नहीं होता।

जिह्वाग्रे वर्तते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम्।
विष्णुलोकमवाप्नोति पुनरावृत्तिदुर्लभम्॥

(बृहन्नारदीयपुराण)

साधक जो फल तपस्या, योगाभ्यास और समाधिद्वारा भी प्राप्त नहीं कर पाता वह फल केवल हरिनाम-कीर्तनके अत्यन्त सरल उपायसे तत्काल प्राप्त कर लेता है। कलियुगमें तो हरिनाम-कीर्तनकी ही विशेष महिमा है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

* * *

भगवान् श्रीकृष्णकी अमोघ वाणी

ईश्वर सत्य-संकल्प हैं। उनकी वाणी कभी भी असत्य नहीं हो सकती। इस बातके प्रमाणस्वरूप उनके स्वयं श्रीमुखसे कहे गये हैं—'**न मे मोघं वचो भवेत्॥**'

महाभारतका युद्ध सिरपर आ गया था। युद्धमें तो दोनों ही पक्षोंकी भयंकर हानि होती है। इसी चिन्तासे द्रौपदी भगवान् श्रीकृष्णके सामने रो पड़ी और कहने लगी—'वासुदेव! हमारी रक्षा कीजिये और इस भयंकर युद्धमें हमको विजय दिलाइये।'

भगवान्का एक नाम है—'अच्युत'। अच्युतका अर्थ है—'किसी भी अवस्थामें अपने पदसे विचलित न होना।' उनका एक नाम 'करुणानिधि' भी पड़ा है। इसीलिये वे अपने अनन्य भक्तोंकी आँखोंमें दुःखके आँसू भी नहीं देख सकते। संसारमें भगवान्को विचलित करनेवाली एक ही वस्तु है और वह है अपने अनन्य भक्तोंकी आँखोंमें दुःखके आँसू। द्रौपदी भगवान् श्रीकृष्णकी अनन्य भक्त थी। अतः वे उसकी आँखोंमें दुःखके आँसू कैसे सहन कर सकते थे? युद्धकी चिन्तासे घबरायी हुई द्रौपदीको भगवान् श्रीकृष्णने इतिहासप्रसिद्ध और भक्तोंको सम्बल एवं सहारा देनेवाली यह अमर वाणी (महाभारत, उद्योगपर्व ८२। ४८-४९) कही—

चलेद्धि हिमवाञ्छैलो मेदिनी शतधा फलेत्। द्यौः पतेच्च सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत्॥
सत्यं ते प्रतिजानामि कृष्णे बाष्पो निगृह्यताम्। हतामित्राञ्श्रिया युक्तानचिराद् द्रक्ष्यसे पतीन्॥

'हिमालय पर्वत अपनी जगहसे टल जाय, पृथ्वीके सैकड़ों टुकड़े हो जायँ तथा नक्षत्रोंसहित आकाश टूट पड़ें, परंतु मेरी यह बात झूठी (असत्य) नहीं हो सकती। कृष्णे! अपने आँसुओंको रोको। मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, तुम शीघ्र ही देखोगी कि सारे शत्रु मार डाले गये और तुम्हारे पति राज्यलक्ष्मीसे सम्पन्न हैं और अन्तमें हुआ भी वही जो भगवान्ने कहा था।

सर्वेश्वर और सर्वसमर्थ परमेश्वरके अतिरिक्त अन्य किसीकी सामर्थ्य है, जो इतनी दृढ़ और अमोघ वाणी बोले।

(श्री जय जय बाबा)

* * *

गोघृत—अक्षय अमृतकलश

(श्रीमती संतोष दाधीच)

गौ परम स्तुत्य और पूजनीय माता है। वैदिक साहित्यमें वक्षन्, उक्षिका, अघ्न्या तथा कर्की आदि नामोंसे इसे पुकारा गया है। रामायण, महाभारत तथा पुराणोंमें गायके महत्त्वको विस्तारसे प्रतिपादित किया गया है।

गायसे हमें विविध अमृतमय पदार्थोंकी प्राप्ति होती है। गोदुग्धकी महिमा सर्वविदित ही है। गायका दूध बहुत ही पौष्टिक, मधुर, स्निग्ध और तात्त्विक पदार्थ है, जिसका सेवन व्यक्तिको पूर्ण स्वस्थ बनाता है और चित्तशुद्धि प्रदान करता है। दूधसे ही घीका निर्माण होता है।

प्राचीन कालमें गो-सेवा करनेवालोंमें भगवान् गोपाल कृष्णका नाम सर्वोपरि रहा है। विविध राजा-महाराजाओंने समय-समयपर गायकी सेवा कर परम कल्याण प्राप्त किया। गोघृतका उपयोग पूजा, यज्ञादि देवकार्यों, औषध तथा शक्तिवर्धनके लिये होता है। यज्ञ करनेसे देवता प्रसन्न होते हैं। महाकवि कालिदासने रघुवंशमें कहा है कि गाय नन्दिनीको केवल दूध एवं दुग्धनिर्मित पदार्थोंको देनेवाली ही नहीं माना जाना चाहिये, अपितु प्रसन्न होनेपर वह सम्पूर्ण कामनाओंकी पूरक अर्थात् कामधेनु है—

'न केवलानां पयसा प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम्॥' (२।६३)

प्राचीन समयमें लाखों गायोंका पालन-पोषण और सेवा की जाती थी। फलतः घी, दूधकी नदियाँ बहा करती थीं। दूध, दही एवं घी आदिका वितरण तथा दान किया जाता था। मुगलकालमें गोघृतका भाव १६ सेर प्रति रुपया था। ब्रिटिशकालमें भी गोघृत ५ सेर प्रति रुपया था। आज इसके भाव दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं, भावकी बात छोड़ भी दें तो शुद्ध रूपमें गोघृत मिल पाना सम्भव नहीं हो रहा है। इसके लिये स्वयं हम जिम्मेदार हैं और जिम्मेदार है हमारे द्वारा अपनायी जानेवाली आजकी तथाकथित आचार-पद्धति। आजके सभ्य और सुसंस्कृत कहे जानेवाले व्यक्ति गो-पालनकी अपेक्षा श्वान-पालनको अपनी विशेष प्रतिष्ठा एवं गौरवका विषय बनाये हुए हैं। यह मात्र विडम्बना ही है।

हमारी भोजनतालिकामें गायके घीका बड़ा महत्त्व है। शरीरकी रक्षा करने एवं रुग्णता-निवारणके लिये गायके घीका सेवन आवश्यक है। गायके १०० ग्राम दूधमें ४.४ प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट तथा ६७ कैलोरी शक्ति होती है। सन्तुलित आहारतालिकामें वसाका महत्त्वपूर्ण स्थान है। गायके दूधमें प्रत्येक १०० ग्राममें ३.२ से ४.३ ग्रामतक प्रोटीनकी मात्रा होती है। वसा हमारे शरीरमें जाकर विभिन्न प्रकारके तन्तुओंको जन्म देती है, जिससे मांसपेशियोंको बल मिलता है। घीके सेवनसे केवल शक्ति ही नहीं मिलती, अपितु यह रोगोंसे भी हमारी रक्षा करता है। अतः वसाकी आवश्यकतापूर्तिके लिये हमें गोघृतका अधिक-से-अधिक उपयोग करना चाहिये।

गायका घी विविध पाक, व्यञ्जन तथा दवा बनानेमें काम आता है। गायके घीसे गोंदपाक, सुपारीपाक, नारियलपाक, ब्रह्मरसायन, च्यवनप्राश आदि बनते हैं।

गाय एवं उसके घीकी महिमाका गान हमें वैदिक-साहित्यमें प्रचुरतासे मिलता है। ऋग्वेदमें गायको घृतरूपी अमृतका खजाना (**'अमृतस्य नाभिः'** ८।१०।१५) तथा महाभारत (अनुशासनपर्व ८१।२)-में दूध एवं घीसे प्रजाका पालन करनेवाली कहा गया है। पैगम्बर मोहम्मद साहबने 'नाशियात हादी' नामक पुस्तकमें लिखा है कि 'गायका दूध और घी सबकी तन्दुरुस्तीके लिये परम आवश्यक है।' किताब 'मस्तरक' में लिखा है कि 'गायका दूध और घी लाजिम है। घी दवा है।' इस प्रकार गोघृतकी उत्तमता तथा पवित्रताको सबने स्वीकार किया है। किंतु आज गायके उचित संरक्षणके अभावमें ये सब बातें प्रायः हास्यास्पद-सी लगती हैं। हमें भारतको तथा अपनेको बचाना है तो गायको अपने परिवारमें शामिल करना होगा।

* * *

भक्तोंके पावन चरित—

वात्सल्यकी मूर्ति माँ यशोदा

(डा० श्रीशरद पगारे, एम०ए०, पी-एच०डी०)

नन्दरानी माँ यशोदाका दिव्य चरित्र न केवल वन्दनीय और अभिनन्दनीय है, वरन् प्रत्येक नारीके लिये अनुकरणीय भी है। अपनी संतानको तो सभी प्यार, लाड़-दुलार करते हैं, उसके कल्याणके लिये भला-बुरा, पाप-पुण्य सब कुछ करनेको तत्पर रहते हैं। किंतु दूसरेकी संतानको पुत्रसे भी अधिक स्नेह-ममता और वात्सल्य प्रदानकर पालना अकल्पनीय और देव-दुर्लभ है। यशोदा माँका चरित्र निःस्वार्थ सेवाका अद्वितीय और अनुपम उदाहरण है। यह सर्वविदित है कि वसुदेव-पत्नी देवी देवकी कृष्ण-जननी थीं। जन्मके तत्काल बाद सद्योजात शिशुको वसुदेव महाराज नन्दरायजीके यहाँ गोकुल छोड़ आये थे। अतः प्रथम दिनसे मथुरागमनतक श्रीकृष्णके सम्पूर्ण लालन-पालनका भार यशोदा माँने उठाया था। कृष्णकी बाललीलाओंकी नटखटताका भार उन्हें ही सहन करना पड़ा। श्रीकृष्णके साथ लम्बा समय व्यतीत करनेके कारण वे स्वयं कृष्णमय हो गयी थीं। भगवान् वेदव्यास श्रीमद्भागवत (१०।९।३-४)-में यशोदा माँके वात्सल्यका वर्णन करते हुए लिखते हैं—

पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पं च सुभ्रूः।
रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणौ कुण्डले च
स्विन्नं वक्त्रं कबरविगलन्मालती निर्ममन्थ॥
तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्नन्तीं जननीं हरिः।
गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत् प्रीतिमावहन्॥

—दधिमन्थनके कार्यमें व्यस्त यशोदा माँ कृष्णकी लीलाओंके स्मरण और गायनमें इतनी मग्न हो गयीं कि वात्सल्यातिरेकमें उनके स्तनोंसे दुग्धरूपी अमृत बहने लगा। श्रीकृष्णकी बाल-लीलाकी स्मृतिमें पुलकित देह काँपने लगी। मथानीकी रस्सी खींचते-खींचते भुजाएँ थकने लगीं। हाथोंके कंगन और कानोंके कर्णफूल हौले-हौले डोल रहे थे। ममतासे भरे मुखपर स्वेद कण उभर आये। वेणीमें गुँथे पुष्प गिरने लगे। पुत्र-प्रेमकी आभासे मुख दमक रहा था।

इसमें कोई संदेह नहीं कि लीलापुरुषोत्तम, सोलह कलासम्पूर्ण श्रीकृष्ण अपने जन्मकालसे किशोरावस्थातक ही यशोदा माँके पास गोकुल और वृन्दावनमें रहे थे। बादमें मथुरा चले आये थे। अपने पिता वसुदेव और जननी देवी देवकीको बन्दीगृहसे मुक्त कराया तथा धर्मपरायण महाराज उग्रसेनको भी कंसके कारागारसे मुक्ति दिलायी। उसके बाद वृन्दावन नहीं लौटे। कृष्णके मथुरा-गमनके बाद भी यशोदा मैयाकी आत्मा पुत्र कृष्णके स्नेहसे ओत-प्रोत थी।

यशोदा माँको पता चल गया था कि वे नहीं, वरन् देवी देवकी उनके कृष्णकी जन्मदात्री हैं। इस सचाईसे उन्होंने समझौता भी कर लिया। परंतु मातृत्वका वात्सल्य इसे स्वीकारनेको तैयार नहीं था। महाकवि सूरदासने यशोदा माँके पुत्र-वियोगकी व्याकुलताका बड़ा मार्मिक वर्णन किया है—

संदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाइ तुम्हारे सुतकी मैया करत नित रहियो॥
जदपि टेव तुम जानत उनकी तऊ मोहि कहि आवै।
प्रातहिं उठत तुम्हारे कान्हको माखन रोटी भावै॥
तेल उबटनो अरु तातो जल ताहि देखि भगि जावै।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम क्रम करि करि न्हावै॥
सूर पथिक सुनि मोहिं रैन दिन बढ्यो रहत उर सोच।
मेरो अलक लडैतो मोहन ह्वै है करत सकोच॥

—यशोदा माँके मर्मकी व्यथा प्रस्तुत हुई है। वे तो देवकी-पुत्रकी धायका पद स्वीकारनेको भी तत्पर हैं। परंतु देवकी माँकी अपेक्षा बालकृष्णकी आदतों, व्यवहार और नटखट लीलाओंकी जानकारी मात्र अकेले उन्हें ही थी। उनसे देवकीको अवगत करानेके बाद भी उनका माँका मन नहीं माना। उन्हें संदेह हुआ कि लाड़-प्यारमें पला उनका मोहन देवकी माँसे कुछ कहने-माँगनेमें संकोच करता होगा। यह कल्पना उन्हें दिन-रात व्यथित—चिन्तित किये रहती थी।

जिस समर्पणभाव, निःस्वार्थ वात्सल्य और ममताके साथ माँ यशोदाने बालकृष्णकी सेवा की वह मातृत्वका सर्वोच्च सोपान है। यद्यपि नन्दराय और वसुदेवके मध्य प्रगाढ़ पारिवारिक सम्बन्ध थे। फिर भी कृष्ण थे तो देवकीके पुत्र। माखन-चोरीके प्रकरणमें स्वयं कृष्णके द्वारा *'जिय तेरे कछु भेद उपजिहैं जानि परायो जायो'* सुन कर यशोदा मैयाने इसे बालसुलभ लीला समझकर अपने लाडलेको खींचकर गलेसे लगा लिया।

यशोदा माँके कृष्ण-प्रेममें कहीं भी दुराव नहीं था। गङ्गाजलके समान वह निर्मल, निर्व्याज और स्वार्थरहित था। माँ यशोदाका दिव्य मातृत्व प्रेम अनुकरणीय और प्रणम्य है।

साधनोपयोगी पत्र

(१)

भगवच्चिन्तनमें ही सुख है

सप्रेम हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। आपने जो कुछ लिखा सो आपकी दृष्टिसे ठीक है; परंतु यथार्थ बात तो यह है कि जबतक आपका यह विश्वास है कि जागतिक पदार्थोंमें—भोगोंमें सुख है और जबतक उनके संग्रहको ही आप सुखका साधन मानते रहेंगे, तबतक आपको सच्चे सुखके दर्शन कदापि नहीं होंगे। अमुक-अमुक विषयोंकी प्राप्तिसे, अमुक प्रकारकी परिस्थितिसे मुझको सुख हो जायगा—यह बहुत बड़ा भ्रम है। इसी भ्रमके कारण मनुष्य दिन-रात विषय-चिन्तनमें लगा रहता है। आपको यह सत्य सदा याद रखना चाहिये कि समस्त पापोंका मूल विषय-चिन्तन है। श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनने भगवान्‌से पूछा था कि 'इच्छा न रहनेपर भी ऐसा कौन है जिसकी प्रेरणासे मनुष्य मानो बलपूर्वक लगाया हुआ-सा पाप करता है!' (३। ३६) श्रीभगवान्‌ने इसके उत्तरमें स्पष्ट बतलाया कि 'काम (कामना) ही वह वैरी है जो महाशन है—जिसको कभी तृप्ति होती ही नहीं और जो महान् पापी है; यह काम ही क्रोध बनता है और इस कामकी उत्पत्ति होती है रजोगुणसे।' रजोगुण रागात्मक है अर्थात् आसक्ति ही रजोगुणका स्वरूप है। इस आसक्तिसे ही कामकी उत्पत्ति होती है और आसक्ति होती है विषयोंके चिन्तनसे, विषय-चिन्तनमें मनुष्यका मन जहाँ रम जाता है, वहाँ एकके बाद दूसरा क्रमशः सारे दोष उत्पन्न हो जाते हैं और अन्तमें उसका सर्वनाश होकर रहता है। भगवान्‌ने कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २। ६२-६३)

'मनुष्य मनसे विषयोंका चिन्तन करता है, विषय-चिन्तनसे उसकी विषयोंमें आसक्ति होती है, आसक्तिसे उनको प्राप्त करनेकी कामना उत्पन्न होती है, कामनामें विघ्न पड़नेपर क्रोध [कामनाके सफल होनेपर लोभ] उत्पन्न होता है, क्रोध [या लोभ]-से मूढ़ता आती है, मूढ़भावसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृतिके भ्रंश होनेपर बुद्धि मारी जाती है और बुद्धिके नाश हो जानेसे मनुष्यका पतन या सर्वनाश हो जाता है।'

इससे सिद्ध है कि समस्त पापोंका और सर्वनाशका मूल विषय-चिन्तन है। यह विषय-चिन्तन तबतक नहीं छूटता, जबतक विषयोंमें सुखकी प्राप्तिका भ्रम है। भगवान् तो कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न जितने भी भोग हैं, वे सब निश्चय ही दुःखयोनि हैं—दुःखोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं और आदि-अन्तवाले—अनित्य हैं, अतएव हे अर्जुन! बुद्धिमान् पुरुष इनमें नहीं रमता—सुख नहीं मानता।' सच्चे अक्षय सुखका उपभोग तो उस भगवद्रूप योगमें युक्त पुरुषको प्राप्त होता है, जिसका अन्तःकरण बाह्य जागतिक विषय-भोगोंमें आसक्त नहीं है और जो अन्तःकरणके ध्यानजनित सुखको प्राप्त है (गीता ५। २१)।

अतएव हमें यदि सुखकी—सच्चे सुखकी चाह है तो चित्तके द्वारा निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन—ध्यान करनेका प्रयत्न करना पड़ेगा। भगवान्‌ने श्रीमद्भागवतमें कहा है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

(११। १४। २७)

'जो मनुष्य निरन्तर विषय-चिन्तन करता है, उसका चित्त विषयोंमें आसक्त हो जाता है और जो मेरा (भगवान्‌का) स्मरण करता है, उसका चित्त मुझमें (श्रीभगवान्‌में) तल्लीन हो जाता है।'

इस प्रकार भगवान्‌के चित्तमें आते ही भगवत्कृपासे चित्तगत समस्त अशुभों, दोषों और पापोंका नाश हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

पुंसां कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्मसम्भवान्।
सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान् पुरुषोत्तमः॥
यथा हेम्नि स्थितो वह्निर्दुर्वर्णं हन्ति धातुजम्।
एवमात्मगतो विष्णुर्योगिनामशुभाशयम्॥

(१२। ३। ४५, ४७)

'कलियुगके कारण मनुष्यके वस्तु, स्थान, अन्तःकरण सभीमें दोष उत्पन्न हो जाते हैं, परंतु जब पुरुषोत्तम श्रीहरि चित्तमें आ जाते हैं, तब वे सारे दोष नष्ट हो जाते हैं। जैसे स्वर्णके

साथ संयुक्त होकर अग्नि उसकी धातुसम्बन्धी मलिनता आदि दोषोंको नष्ट कर डालती है, वैसे ही हृदयमें आये हुए भगवान् विष्णु उसके समस्त अशुभ संस्कारोंको नष्ट कर देते हैं।'

परंतु भगवान्का चिन्तन तभी होगा, जब 'विषयोंमें सुख है'—यह भ्रम हमारे मनसे सर्वथा निकल जायगा और जब यह निश्चय हो जायगा कि सुख तो एकमात्र श्रीभगवान्में ही है। किसी वस्तुका यथार्थ त्याग मनुष्य तभी करता है जब वह समझ लेता है कि यह वस्तु सुख नहीं वरं नित्य नये-नये दुःख ही देनेवाली है और यह दोष वैसे ही प्रत्यक्ष निश्चयके रूपमें आ जाना चाहिये, जैसे हमारा यह निश्चय है कि संखिया या अफीम खानेसे हमारी मृत्यु हो जायगी। बहुत बड़े धनका लालच देनेपर भी मनुष्य अफीम या संखिया नहीं खाता; क्योंकि वह समझता है इसके खाते ही मैं मर जाऊँगा। ऐसी ही विषबुद्धि विषयोंमें होनी चाहिये। अष्टावक्रजीने कहा है—'विषयोंका विषके समान त्याग कर दो'—**'विषयान् विषवत् त्यज।'**

जबतक विषयोंमें निश्चित दुःखबुद्धि नहीं होती और भगवान्में निश्चित सुखबुद्धि नहीं होती, तबतक न तो विषयोंसे मन हटेगा तथा न भगवान्में लगेगा और इसीलिये तबतक न तो दुःखका नाश होगा तथा न सुखकी प्राप्ति होगी; क्योंकि भगवान्से अलग विषयोंमें सुख है ही नहीं। इसलिये मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप इस विषयपर गम्भीरतासे विचार करें, विषयोंके स्वरूपको समझें और उनमें दुःख-दोष देखकर उनसे चित्तको हटायें तथा परम सुखरूप भगवान्में लगायें। फिर देखें, आपको उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक सुख मिलता है या नहीं।

(२)

कुसंगका अवश्यम्भावी फल

सप्रेम हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि 'बीचमें मेरे विचार और आचरण बहुत अच्छे हो गये थे। भगवान्का भजन भी होता था तथा दैवी सम्पत्तिके गुण—सत्य, अहिंसा, दया, प्रेम आदि भी पर्याप्त मात्रामें थे। मैंने समझ लिया था कि मेरे काम-क्रोधादि दुर्गुण नष्ट हो गये हैं और भजनमें मन लग गया है। परंतु इधर व्यापारमें विशेषरूपसे लगनेपर विचार और आचरण बिगड़ गये, भजन भी छूट गया तथा सत्य, अहिंसा, दया आदि गुण भी नहीं रहे। धन कमाया था, वह भी प्रायः चला गया; इस समय चित्तमें बड़ी अशान्ति है। शोक तथा चिन्तामें ही दिन बीतते हैं और आसुरी दुर्गुण बढ़ते जा रहे हैं। आपका यह लिखना बहुत ठीक है। बीचमें आप अच्छे संगमें थे, भजन भी होता था, उसका असर था। संगका असर होता ही है। जैसा संग होता है, मनुष्य वैसा ही बन जाता है। अच्छे संगके कारण—जैसे अच्छे राजाके राज्यमें चोर-डाकू छिप जाया करते हैं, वैसे ही आपके दुर्गुण छिप गये थे। वे मरे नहीं थे। मर गये होते तो कलुषित और असत्यपूर्ण व्यापारमें धनके लोभसे आपकी प्रवृत्ति ही क्यों होती। कुछ भी हो, धन कमानेके लिये आपने व्यापारक्षेत्रमें विशेष रूपसे प्रवेश किया। आजकल वह क्षेत्र प्रायः अत्यन्त दूषित है। आप रात-दिन उसी वातावरणमें रहे, वैसे ही विषयी मनुष्योंका संग हुआ। परिणाममें आपके वे दुर्गुण सुअवसर पाकर पुनः प्रबुद्ध हो गये और आज प्रबलरूपसे सामने आ रहे हैं। विषयासक्तिका परिणाम शोक-चिन्ता होता ही है। उसीसे आप ग्रस्त हो रहे हैं। यह जो कुछ हुआ है, ठीक ही हुआ है। ऐसा ही हुआ करता है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः।
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत्॥
सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम्॥

(३।३१।३२-३३)

'अच्छे मार्गपर चलता हुआ मनुष्य यदि किन्हीं शिश्नोदरपरायण विषयी पुरुषोंके संगमें आ जाता है और उनमें विश्वास करके उन्हींके पीछे-पीछे चलने लगता है तो वह पहलेके समान ही पुनः पतनावस्थामें जा पड़ता है। उन विषयी पुरुषोंके संगसे इसके सत्य (सत्य-भाषण, सत्य-व्यवहार, सत्य-आचरण), शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), दया (दुःखियों-दीनोंके प्रति सक्रिय करुणभाव), वाणीका संयम, बुद्धि (विचारशक्ति), धन-सम्पत्ति, लज्जा (बुरे कामोंमें होनेवाला संकोच), यश, क्षमा, मन तथा इन्द्रियोंका संयम एवं ऐश्वर्य आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं।'

यह कुसंगका अनिवार्य परिणाम है। इसीसे श्रीरामचरितमानस (५।४६।७)-में कहा गया है—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥

'नरकमें निवास करना कहीं अच्छा। नरककी यातनाएँ भोगनी अच्छी। पर विधाता दुष्ट-संग न दें।'

मनुष्यको पता नहीं लगता और दुष्ट-संगसे उसके

विचार और कर्म सर्वथा बदल जाते हैं, फलतः वह असत् विचारों एवं दुर्गुणों तथा दुःखोंकी खानि बन जाता है। आप यदि शान्ति चाहते हैं, सुख चाहते हैं तो विषयोंकी ओरसे मनको हटाकर तुरंत भगवान्की ओर जीवनको मोड़िये। पुनः अच्छे संगकी प्राप्तिका प्रयास कीजिये। साथ ही भगवान्का भजन—उनके पावन नामका जप कीजिये। आपकी इच्छा सच्ची होगी तो भगवान् अवश्य आपकी सहायता करेंगे। सत्संग और भजन—दो ही ऐसे साधन हैं जिनसे सारे दोषोंका नाश होकर सारे सद्गुणोंकी प्राप्ति एवं फलतः समस्त दुःखोंका नाश होकर आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति हो सकती है—

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एतस्यच्छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः॥
निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २६। २६, ३२)

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि दुःसंगका त्याग करके सत्पुरुषोंका संग करे। सत्पुरुष अपने सदुपदेशोंसे उसके मनकी विषय-वासनाके बन्धनको अनायास ही काट डालते हैं। जैसे जलमें डूब रहे लोगोंके लिये सुदृढ़ नौका ही एकमात्र सहारा है, वैसे ही इस भयानक संसार-सागरमें डूबने-उतरानेवाले लोगोंके लिये ब्रह्मको जाननेवाले शान्त संत ही दृढ़ नौका हैं।' संतोंका संग करनेपर अनायास ही भवसागरसे पार हुआ जा सकता है।

इसी प्रकार भजनके लिये भी कहा गया है—

जिह्वां लब्ध्वापि यो विष्णुं कीर्तनीयं न कीर्तयेत्।
लब्ध्वापि मोक्षनिःश्रेणीं स नारोहति दुर्मतिः॥

'जीभ पाकर भी जो मनुष्य कीर्तन करनेयोग्य श्रीभगवान्का नाम-गुण-कीर्तन नहीं करते, वे दुर्मति, मूर्ख मोक्षकी सीढ़ी पाकर भी उसपर नहीं चढ़ते।'

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम्।
स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे॥

'राजन्! मनुष्योंमें वे बड़े भाग्यवान् और निश्चय ही कृतार्थ हैं, जो इस कलियुगमें स्वयं भगवान्का नाम-स्मरण करते हैं तथा दूसरोंसे कराते हैं।

सत्संग और भजनके महत्त्वसे शास्त्र भरे हैं। महात्मा संत पुरुषोंके तथा संसारी पुरुषोंके भी असंख्य अनुभव हैं। सत्संग-भजनकी महिमा कहना तो उनकी महिमाको घटाना है। अतएव आप सत्संग-भजनमें लगनेका प्रयत्न कीजिये। सब प्रकारके सद्गुण, सुख, समृद्धि और शान्तिका यही सर्वोत्तम साधन है। भगवान् शंकरजीने यही वरदान भगवान् श्रीराघवेन्द्रसे चाहा था और यही हम सबके लिये आदर्श है।

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥

(३)

पञ्चदेव पूर्ण ब्रह्मस्वरूप हैं

प्रिय महोदय,

सादर सप्रेम हरिस्मरण!

आपका पत्र मिला। आपने पत्रमें लिखा कि भगवान् सदाशिव आशुतोष आपके इष्ट हैं और उनके नाममें आपकी पूरी आस्था है, पर इसके साथ-साथ भगवती दुर्गाजीकी साधनाके रूपमें श्रीदुर्गासप्तशतीका भी पाठ आप करना चाहते हैं। एक इष्ट होनेपर अन्य देवताकी साधना उचित है क्या? यह शंका आपने लिखी है।

इस सम्बन्धमें आपको किसी भी प्रकारकी शंका नहीं रखनी चाहिये। हम सब लोग पञ्चदेवके उपासक हैं। अपने शास्त्रोंमें गणेश, विष्णु, शिव, दुर्गा और सूर्यनारायण—ये पाँच देवता पूर्ण ब्रह्मके रूपमें पूजित हैं। स्मार्त गृहस्थोंके लिये इन पञ्चदेवोंकी पूजा नित्य करनेका विधान है। इन पञ्चदेवोंमेंसे किन्हीं एकको अपना इष्ट बना लेना चाहिये। जैसे एक पतिव्रता नारीका इष्ट तो उसका पति ही होता है, किंतु परिवारके अन्य जनों (सास, ससुर, ज्येष्ठ, देवर आदि)-की सेवा करना भी उसका कर्तव्य है। इसी प्रकार अपने इष्टमें पूर्ण ब्रह्मकी भावना रखते हुए अन्य देवोंको भी अपने इष्टका स्वरूप मानकर अर्चा, पूजा, जप, पाठ आदि साधन करने चाहिये।

परमात्मप्रभुसे अपना प्रिय सम्बन्ध स्थापित कर लेनेसे अपनेपनकी अनुभूति विशेषरूपसे होने लगती है, अतः भूतभावन भगवान् सदाशिवमें यदि पिताका भाव बनता है तो पराम्बा भगवती दुर्गाजीमें मातृसम्बन्ध स्थापितकर श्रीदुर्गासप्तशतीकी साधना अत्यन्त प्रेमपूर्वक करनी चाहिये। भगवत्प्राप्तिकी साधनामें ये सब सहायक हैं।

नित्यकर्म-पूजाप्रकाशमें भी यह सारी बातें पञ्चदेव-पूजन शीर्षकमें लिखी हैं। शेष प्रभुकृपा।

~~~
~~~

व्रतोत्सव-पर्व

श्रावण कृष्णपक्ष (१४-७-२००३ से २९-७-२००३ तक) सूर्य उत्तरायण, ग्रीष्म-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	सोम	उ० षा०	१४ जुलाई	मकरके चन्द्रमा प्रातः ६-२३ बजे, श्रावणमें शाकका त्याग, श्रावण सोमवारव्रत (प्रदोषव्रतकी तरह), उत्तराषाढ़ नक्षत्र रात्रि ११-५३ बजेतक
द्वितीया	भौम	श्रवण	१५ "	अशून्यशयनव्रत, चन्द्रोदय रात्रि ८-२६ बजे, श्रवण नक्षत्र रात्रि ११-३७ बजेतक
तृतीया	बुध	धनिष्ठा	१६ "	कुम्भके चन्द्रमा दिन ११-४३ बजे, श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय रात्रि ९-०६ बजे, तृतीया तिथि रात्रि ९-२१ बजेतक, पञ्चक आरम्भ दिन ११-४४ बजेसे, भद्रा दिन ९-३८ बजेसे रात्रि ९-२१ बजेतक
चतुर्थी	गुरु	शतभिषा	१७ "	सायन कर्कराशिके सूर्य दिन १२-२० बजे (आज ही पुण्यकाल सूर्यास्ततक), मनसापूजा आरम्भ (बंगाल), **याम्यायन,** दैत्योंका दिन और देवताओंकी रात्रि, **वर्षा-ऋतु,** चतुर्थी तिथि रात्रि ९-१८ बजेतक
पञ्चमी	शुक्र	पू० भा०	१८ "	मीनके चन्द्रमा रात्रि ७-२९ बजे, **सौर श्रावणमासारम्भ,** रवियोग रात्रि १-४८ बजेसे
षष्ठी	शनि	उ० भा०	१९ "	रवियोग रात्रि ३-२८ बजेतक, यायिजययोग रात्रि १०-४२ बजेसे, उत्तराभाद्रपद नक्षत्र रात्रि ३-२८ बजेतक, भद्रा रात्रि १०-४२ बजेसे
सप्तमी	रवि	रेवती	२० "	भद्रा दिन ११-२४ बजेतक, पुष्य नक्षत्रके सूर्य रात्रि १२-३७ बजे, (सामान्य वृष्टियोग), भानुसप्तमीपर्व, यायिजययोग रात्रि १२-०६ बजेतक, रवियोग रात्रि १२-५० बजेसे
अष्टमी	सोम	रेवती	२१ "	मेषके चन्द्रमा प्रातः ५-३५ बजे, श्रावण सोमवारव्रत (प्रदोषव्रतकी तरह), पञ्चक समाप्त प्रातः ५-३५ बजे, रेवती नक्षत्र प्रातः ५-३५ बजेतक
नवमी	भौम	अश्विनी	२२ "	भौमव्रत (गौरीपूजा, दुर्गायात्रा तथा हनुमान्‌जीका दर्शन), सर्वार्थसिद्धियोग प्रातः ८ बजेतक, नवमी तिथि रात्रि ३-५१ बजेतक
दशमी	बुध	भरणी	२३ "	वृषके चन्द्रमा सायं ५-१५ बजे, **राष्ट्रीय श्रावणमास,** सायन सिंहराशिके सूर्य रात्रि १०-४६ बजे, सर्वार्थसिद्धियोग दिन १०-३७ बजेसे, भद्रा सायं ४-५१ बजेसे
दशमी	गुरु	कृत्तिका	२४ "	भद्रा प्रातः ५-५० बजेतक, यायिजययोग दिन १-१३ बजेसे, दशमी तिथि प्रातः ५-५० बजेतक
एकादशी	शुक्र	रोहिणी	२५ "	मिथुनके चन्द्रमा रात्रि शेष ४-४५ बजे, कामदा एकादशीव्रत (सबका), शुक्रवार्द्धक्यारम्भ प्रातः ७-५३ बजे, स्थायिजययोग दिन ३-४१ बजेसे, एकादशी तिथि प्रातः ७-४५ बजेतक
द्वादशी	शनि	मृगशिरा	२६ "	शनिप्रदोषव्रत, द्वादशी तिथि दिन ९-२४ बजेतक, द्विपुष्करयोग दिन ९-२४ बजेतक, मृगशिरा नक्षत्र सायं ५-५० बजेतक
त्रयोदशी	रवि	आर्द्रा	२७ "	मासशिवरात्रिव्रत, आर्द्रा नक्षत्र रात्रि ७-३६ बजेतक, भद्रा दिन १०-४२ बजेसे रात्रि ११-०९ बजेतक
चतुर्दशी	सोम	पुनर्वसु	२८ "	कर्कके चन्द्रमा दिन २-३४ बजे, श्रावण सोमवारव्रत (प्रदोषव्रतकी तरह), सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि ८-५५ बजेसे, **शुक्रास्त पूर्व दिशामें** प्रातः ७-५३ बजे, चतुर्दशी तिथि दिन ११-३० बजेतक, श्राद्धकी अमावास्या, पुनर्वसु नक्षत्र रात्रि ८-५४ बजेतक
अमावास्या	भौम	पुष्य	२९ "	स्नान-दानकी अमावास्या, अमावास्या तिथि दिन ११-४८ बजेतक, पुष्य नक्षत्र रात्रि ९-४२ बजेतक, सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि ९-४३ बजेसे

श्रावण शुक्लपक्ष (३०-७-२००३ से १२-८-२००३ तक) सूर्य दक्षिणायन, वर्षा-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	बुध	आश्लेषा	३० जुलाई	सिंहके चन्द्रमा रात्रि ९-५९ बजे, श्रीविष्णु-शिवात्मिकाभिषेकारम्भ, चन्द्रदर्शन, प्रतिपदा तिथि दिन ११-३४ बजेतक
द्वितीया	गुरु	मघा	३१ "	धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री-जयन्ती, रवियोग रात्रि ९-४९ बजेसे, मघा नक्षत्र रात्रि ९-४८ बजेतक
तृतीया	शुक्र	पू० फा०	१ अगस्त	कन्याके चन्द्रमा रात्रि २-५७ बजे, तृतीया तिथि दिन ९-४२ बजेतक, श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, मधुश्रवा तृतीया (मिथिला तथा गुजरात) स्वर्णगौरीव्रत, सुकृतव्रत, स्थायिजययोग दिन ९-४३ बजेसे रात्रि ९-११ बजेतक, भद्रा रात्रि ८-५६ बजेसे
चतुर्थी	शनि	उ० फा०	२ "	भद्रा दिन ८-०९ बजेतक, चतुर्थी तिथि दिन ८-०९ बजेतक, श्रीनागपञ्चमी, तक्षकपूजा, काशीमें नागकूप-यात्रा, रवियोग रात्रि ८-१७ बजेसे
पञ्चमी षष्ठी	रवि षष्ठी	हस्त तिथिका क्षय	३ "	आश्लेषा नक्षत्रके सूर्य रात्रि १२-५३ बजे (सामान्य वृष्टियोग), कल्कयावतार (शाम), रवियोग रात्रि ७ बजेतक पञ्चमी तिथि प्रातः ६-१५ बजेतक तदुपरि षष्ठी तिथि रात्रि शेष ४-०६ बजेतक, सूर्योदय प्रातः ५-२५ बजे, सूर्यास्त सायं ६-३५ बजे
सप्तमी	सोम	चित्रा	४ "	तुलाके चन्द्रमा प्रातः ६-१६ बजे, श्रावण सोमवारव्रत (प्रदोषव्रतकी तरह), गुरुवार्द्धक्यारम्भ सायं ५-५१ बजे, गोस्वामी तुलसीदास-जयन्ती, भद्रा रात्रि १-४७ बजेसे
अष्टमी	भौम	स्वाती	५ "	भद्रा दिन १२-३३ बजेतक, भौमव्रत, (गौरीपूजा, दुर्गायात्रा तथा हनुमान्‌जीका दर्शन), स्थायिजययोग दिन ३-५५ बजेसे रात्रि ११-१९ बजेतक
नवमी	बुध	विशाखा	६ "	वृश्चिकके चन्द्रमा दिन ८-३९ बजेतक, रवियोग तथा सर्वार्थामृतसिद्धियोग दिन २-१५ बजेसे, विशाखा नक्षत्र दिन २-१४ बजेतक
दशमी	गुरु	अनुराधा	७ "	गुर्वस्त पश्चिम सायं ५-५१ बजे, रवियोग सायं ६-३२ बजेतक, अनुराधा नक्षत्र दिन १२-३६ बजेतक, भद्रा रात्रि शेष ५-१७ बजेसे
एकादशी	शुक्र	ज्येष्ठा	८ "	भद्रा सायं ४-०७ बजे, धनुके चन्द्रमा दिन ११-०४ बजे, पुत्रदा एकादशीव्रत (सबका), झूलनयात्रारम्भ, रवियोग दिन ११-०४ बजेतक
द्वादशी	शनि	मूल	९ "	शनिप्रदोषव्रत, द्वादशी तिथि दिन २-०३ बजेतक, श्रीविष्णुपवित्रारोपण, शाकदान, दधित्यागव्रतारम्भ (तक्रका त्याग नहीं), मूल नक्षत्र दिन ९-४३ बजेतक
त्रयोदशी	रवि	पू० षा०	१० "	मकरके चन्द्रमा दिन २-३६ बजे, आखेटक त्रयोदशी (उड़ीसा), रवियोग, सर्वार्थसिद्धियोग तथा यायिजययोग दिन ८-३८ बजेसे दिन १२-१४ बजेतक
चतुर्दशी	सोम	उ० षा०	११ "	चतुर्दशी तिथि दिन १०-४८ बजेतक, व्रताय पूर्णिमा, हयग्रीवोत्पत्ति (शाम), काशीमें भदैनी-स्थित मन्दिरमें दर्शन तथा पूजन, श्रावण सोमवारव्रत (प्रदोषव्रतकी तरह), भद्रा दिन १०-४९ बजेसे रात्रि १०-१६ बजेतक
पूर्णिमा	भौम	श्रवण	१२ "	कुम्भके चन्द्रमा रात्रि ७-३५ बजे, स्नान-दानकी पूर्णिमा, रक्षाबन्धन, संस्कृत दिवस, श्रावणीकर्म, अमरनाथयात्रा, भौमव्रत, गौरीपूजा, दुर्गायात्रा तथा हनुमान्‌जीका दर्शन, पूर्णिमा तिथि दिन ९-४५ बजेतक

पढ़ो, समझो और करो

(१)

विधवाका सर्वस्व दान

घटना पुरानी है, श्रीमती चोहारियाबाई नामक एक वृद्ध विधवाने बिलासपुर जिलेमें अपने गाँव सिमनीमें लड़कियोंका एक स्कूल बनानेके लिये राज्यसरकारको अपनी सारी जायदाद दानमें दे दी। विधवाने यह भेंट मध्य प्रदेशके एक मन्त्रीको उस समय दी जब वे गाँवमें एक सार्वजनिक सभामें भाषण कर रहे थे। जब स्थानीय नेता मन्त्री महोदयका स्वागत कर रहे थे, विधवा मञ्चपर चढ़ गयी और पंद्रह सौ रुपये नकद तथा सात सौ रुपयेकी कीमतके अपनी भूमिके कागजात उन्हें दान दे दिये। उसने जल्दी ही पाँच सौ रुपये और देनेका वचन भी दिया। उस विधवाने मन्त्री महोदयसे अनुरोध किया कि स्कूलका निर्माण जल्दी होना चाहिये, जिससे वह उसे अपने जीवनकालमें फूलता-फलता देख सके। मन्त्री महोदयने स्कूलके लिये तीन हजार रुपयेका अनुदान तत्काल ही स्वीकृत कर दिया।

उस विधवाका संयम और एक उच्च कार्यके लिये दान आज भी त्याग और बलिदानकी परम्पराको अक्षुण्ण बनाये हुए है। उसने जीवनमें व्यर्थकी विलासिता, अहंकार, स्वार्थ और दिखावेमें अपने पैसे खर्च नहीं किये। केवल उतना ही लिया, जितना उसके शरीरके निर्वाहके लिये आवश्यक था। शेष वह समाजके उपयोगी कामोंके लिये बचाती रही। जिस समाजमें हम पैदा हुए हैं, वही हमारा परिवार है। हमारा देश गरीब है। देशके ज्यादातर लोग तो गरीबीमें जियें और हम मौजसे गुलछर्रे उड़ायें, यह अन्यायपूर्ण है। नब्बे प्रतिशत भारतीय जनता जिस स्तरका जीवन व्यतीत करती है, उसी स्तरका रहन-सहन, खर्च और उपयोग हमें भी रखना चाहिये। साधु और ब्राह्मणकी—वानप्रस्थ और संन्यासकी—दान और पुण्यकी प्रचलित धर्मपरम्पराएँ इसीलिये बनायी गयी हैं कि हम उच्च सामाजिक कार्योंके लिये कुछ एकत्रित करें और फिर दान कर दें।

(२)

चपरासीकी कर्तव्यपरायणता

बात तबकी है जब बुलन्दशहरके दुर्गाप्रसाद नामक स्कूलके एक चपरासीसे डकैतोंने उसका सब कुछ छीन लिया। अँगुलीमें फँसी सोनेकी अँगूठी जब उनसे न निकली, तब वह उसने स्वयं निकालकर दे दी—परंतु स्कूलकी साइकिल उस समयतक न दी, जबतक डकैतोंने उसे मार-पीटकर बुरी तरह घायल न कर दिया। यह चपरासी बुलन्दशहरके 'शर्मा हायर सैकण्डरी स्कूल' में नौकर था। वह साइकिलपर बैठकर स्कूलके किसी कामसे जा रहा था। उसके पास कुछ नकदी भी थी। अकेला देख डकैतोंने उसे घेर लिया। चपरासीकी सब नकदी छीन ली गयी, किंतु जब वे स्कूलकी साइकिल छीनने लगे, तब उसने बड़े साहस और वीरतासे उनका मुकाबला किया। उसने उन्हें ललकारते हुए कहा, 'तुम मेरी सब निजी चीजें छीन सकते हो, परंतु स्कूलकी चीज मैं जिंदा रहते तुम्हें न दूँगा।' काफी छीना-झपटीकर भी वे उस साइकिलको न ले जा सके, कारण उसने एक पहियेकी हवा निकाल दी और कुछ तीलियाँ तोड़ डालीं। कर्तव्यपालनसे ही मनुष्य बड़ा बनता है।

इस प्रकारकी अच्छी प्रवृत्तियोंके विकासकी जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी ही कम है; जितनी चर्चा की जाय, उतनी ही थोड़ी है। दैवी प्रवृत्तियोंकी अभिवृद्धि ही भविष्यमें भारतको पुण्यभूमि बनायेगी।

(३)

बालकका साहस

रायपुर म्युनिसिपल हायर सैकण्डरी स्कूलके एक तेरह वर्षीय छात्र पवनकुमारने अपनी जान गम्भीर खतरेमें डालकर एक पञ्चवर्षीय बालकको डूबनेसे बचा लिया।

बात यों हुई कि पवनकुमार पढ़कर छुट्टीके बाद थका-माँदा पैदल अपने घर लौट रहा था। वह धीरे-धीरे तालाबके किनारेसे चला जा रहा था। वहाँ प्रायः धोबी लोग कपड़े धोते हैं। उनके गधे बँधे रहते हैं और वे अपने बच्चोंको भी तालाबके एक किनारे खेलने छोड़ देते हैं। वह पाँच वर्षका बालक पानीमें

कागजकी नाव चलानेका बड़ा शौकीन था। उसका पिता समीप ही कुछ सामान खरीदने गया और माँ बाहर किसी अन्य कामसे चली गयी। किसीका नियन्त्रण न देखकर बालक अपनी नाव चलाने तालाबके किनारे भाग गया। माँ-बाप न आ जायँ, इस हड़बड़ीमें वह जल्दी-जल्दी नाव तैरा रहा था कि पाँव फिसल गया। बालक पानीमें गिर पड़ा और हाथ-पाँव हिलाने लगा। पहले खूब चिल्लाया, पर पासमें कोई सहायताके लिये नहीं था। फिर क्या था, वह पानीमें डूबने-उतराने लगा। ऐसे संकटकालमें पवनकुमारकी दृष्टि डूबते हुए बालकपर पड़ी। वह स्थितिकी भयंकरताको समझ गया। यों मनुष्य अपनी प्रसिद्धि करनेके लिये कुछ तो साहस करता ही है, किंतु सराहनीय वह है, जिसने परोपकार और जन-कल्याणकी दृष्टिसे कष्ट सहने, त्याग करने और दूसरोंके प्राण बचानेमें कदम बढ़ाये हों। पवनकुमार कपड़े पहिने ही तत्काल पानीमें कूद पड़ा और अपने-आपको भयानक खतरेमें डालकर बालकको किनारे ले आया। बालक बेहोश हो गया था और उसके पेटमें कुछ जल भी भर गया था। इतनेमें बालकके माँ-बाप तथा और बहुत-से लोग एकत्रित हो गये। उसे फ़ौरन अस्पताल पहुँचाया गया और बालकके प्राण बच गये। स्कूलके छात्रों और अध्यापकोंने पवनकुमारको उसकी वीरताके लिये एक शील्ड प्रदान की। किसी देशकी शक्ति, सम्पदा उसकी धन-दौलत नहीं, वरं मनुष्योंकी भावनात्मक उत्कृष्टता ही होती है।

जिस समाजमें जितने त्यागी, उदार, परमार्थी, सेवाभावी, सदाचारी और विवेकशील लोग हैं, उसे उतना ही सम्पन्न एवं समुन्नत कहना चाहिये।

(४)

सबसे बड़ा दानवीर कौन?

मेरे पू० स्व० पिताजी गोटेगाँव (नरसिंहपुर)-में गल्ले एवं सर्राफेका व्यवसाय करते थे। एक बार दूकानमें मैं उनके साथ बैठा हुआ था, तभी एक भिखारी प्रतिदिनकी तरह दूकानमें आया। हमेशाकी तरह पिताजीने उसे कुछ पैसे दिये। पैसा लेनेके बाद वह भिखारी वहाँसे चला गया। पिताजी उसे जाते हुए निरन्तर देख रहे थे। मेरी भी दृष्टि उधर गयी तो मैंने देखा कि उस भिखारीने दिनभरमें अपने द्वारा एकत्रित धनराशि भीख माँग रहे एक दूसरे भिखारीको दे दी। यह देखते ही मेरे पिताजीने मुझसे कहा—'देखो शरद! उस भिखारीको देखो। उसने आज फिर एकत्रित किये पूरे पैसे दूसरे भिखारीको दे दिये और यह भी बताया कि इस भिखारीको मैं अक्सर देखता हूँ कि यह अपने सारे पैसे दूसरे भीख माँगनेवाले भिखारीको दे देता है, मुझे तो लगता है कि इससे बड़ा दुनियामें कोई दानवीर नहीं हो सकता; क्योंकि हम-तुम और अन्य लोग तो अपनी कमाईका कुछ ही अंश देते हैं, परंतु इसने तो अपनी सारी कमाई दूसरे भिखारीको दे दी। स्वयं अकिंचन बन गया। मुझे तो यही प्रतीत होता है कि इसमें दयालुता और परोपकारताका भाव कूट-कूटकर भरा हुआ है। माँग-माँगकर प्राप्त सम्पूर्ण धनको दूसरे माँगनेवालेको नित्य नियमसे दे देना कोई सामान्य बात नहीं है। यह भिखारी नहीं सचमुच कोई सच्चा संत है। ऐसे ही अकिंचन—दीन भगवान्‌को अति प्रिय हैं। इसीलिये तो वे *'दीन पिआरे'* कहलाते हैं। भगवान्‌का प्रिय पात्र बन जानेपर फिर सम्पूर्ण अभावोंका सर्वथाके लिये समूल विनाश हो जाता है, यह आस्थाकी बात है।' मैं पिताजीकी बातोंको बड़े ही ध्यानसे सुन रहा था और फिर उन्हीं भावोंमें खो गया।

—शरद अग्रवाल

(५)

गङ्गा माँकी अद्भुत कृपा

२७ अप्रैल, २००२ को मैं सपरिवार ऋषिकेश गयी थी, प्रतिवर्ष मेरी सासुजी और उनके मायके तथा ससुरालका परिवार भी वहाँ आता है और सत्संग एवं गङ्गास्नानका आनन्द लेता है। माँ गङ्गामें ऐसी चुम्बकीय शक्ति है कि वे मुझे भी आकर्षित करती रहती हैं और गीताभवनके घाटपर नहानेमात्रसे ही उनके प्रति असीम श्रद्धा उमड़ पड़ती है।

इस वर्ष इन्दौरमें पानीकी अत्यधिक कमी रही और इसी वजहसे हमारे घरका दस वर्ष पुराना बोरिंग बिलकुल सूख गया था। हमने ३८७ फीट गहरा नया बोरिंग करवाया, किंतु उसमें भी दिनभरमें सिर्फ दो ड्रम पानी ही आता था।

मैंने ऋषिकेशमें गङ्गा माँकी भक्तिभावसे आराधना की और प्रार्थना की—'माँ! मेरे घर आ जाओ और सभीको तृप्त करो।' हमारे घरके बाहर गायोंको पीनेके पानीके लिये सीमेण्टकी हौद भी रखी हुई है और प्याऊ भी लगा रखा था, किंतु जब हमको ही पानीकी समस्या थी तो स्वभावत: उसमें पानी भरना भी बंद हो गया था। प्यास बुझाये बगैर केवल हौदमें झाँककर निराश लौटते जानवरों और नल खोलनेपर पानी नहीं आनेके बाद प्याऊसे निराश होकर लौटते लोगोंको देखकर हमलोगोंका हृदय द्रवित हो जाता था, पर हमलोग मजबूर थे क्या करते?

२ मई, २००२ को गङ्गा माँकी प्रेरणासे मैंने मनमें संकल्प किया कि गङ्गाजल भरकर घट (मिट्टीके मटके) दान करूँ। इस हेतु खाली मटके मँगवाकर शामको घाटके किनारे मन्दिरमें रख दिये और सोचा कि सुबह पूजा वगैरह करवाकर यह कार्य कर लूँगी। इसी बीच मैंने शामको अपने घर परिवारके अन्य सदस्योंको टेलीफोन लगाया तो ज्ञात हुआ कि आज नये बोरिंगमें इतना ज्यादा पानी आया कि छतके ऊपरकी टंकी पूरी भर गयी (लगभग ३००० लीटरकी) और बगीचेमें भी खूब सिंचाई हुई। पानी लगातार आ रहा है।

भगवती गङ्गाकी असीम अनुकम्पा जानकर मेरा हृदय गद्गद हो गया। जब हमारे सत्-संकल्पमात्रसे माँ इतनी अनुकम्पा कर देती हैं तो कदाचित् हम सत्कार्यमें प्रवृत्त हो जायँ, संलग्न हो जायँ तो फिर माँकी विशेष कृपा होनेमें क्या संदेह?—मधुबाला मोहता

(६)

'गई बहोर गरीब नेवाजू'

बात १९९५ ई० की है, मेरा सबसे छोटा भाई उमेश घरवालोंसे थोड़ी बहुत कहा-सुनीके बाद घरसे अकस्मात् गायब हो गया। लगभग एक मासतक हम लोग उसे आगरा, अलीगढ़, मथुरा, धौलपुर और समस्त रिश्तेदारोंके यहाँ तथा अन्य सम्भावित स्थानोंपर तलाशते रहे। लेकिन कहीं कोई सुराग नहीं लग सका। कहीं कोई सफलता हाथ नहीं लगी, सारा घर परेशान था। मेरी माताजीकी स्थिति तो बहुत ही चिन्ताजनक थी, उनका खाना-पीना छूट गया, मारे चिन्ताके उनका स्वास्थ्य दिन-पर-दिन बिगड़ता जा रहा था।

मैंने अपने पीहर जाकर माताजीको बहुत समझाया, लेकिन माँकी ममता निस्सीम होती है। निराश हो मैं भी अपने ससुराल लौट आयी। मेरे पतिकी श्रीरामचरितमानसपर बहुत निष्ठा थी। मुझे तथा मेरे घरवालोंकी स्थितिपर विचारकर तथा उन्होंने अपने भाईकी चिन्तासे मुझे दु:खी जानकर इस असीम दु:ख-निवारणके लिये श्रीरामचरितमानसका मासपारायण-पाठ ***'गई बहोर गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू॥'**** के सम्पुटके साथ करनेको कहा। मुझे इस घोर संकटके समय उनकी बातोंसे बड़ा ही ढाढ़स मिला।

मेरे पतिने मुझे यह भी सलाह दी कि पाठ तुम्हें ही करना चाहिये, क्योंकि खोनेवाला तुम्हारा भाई है, अत: जितने लगावसे तुम पाठ कर सकती हो, उतने लगावसे मैं नहीं कर पाऊँगा।

जैसा कि मेरे पीहरवाले तथा मैं स्वयं अनिष्टकारी आशंकाओंसे घिरे रहते थे, अत: विवश एवं असहाय होकर प्रभु श्रीरामचन्द्रजीकी शरण जाना उचित समझा और विधि-विधानसे घीका दीपक जलाकर सम्पुट लगाकर पाठ आरम्भ कर दिया। माघ कृष्ण प्रतिपदासे पौर्णमासीतक पाठका आयोजन था। लगभग २७ दिनतक मैं अपनी ससुरालमें ही पूर्ण तन्मयतासे पाठ करती रही। सत्ताईसवें दिन मैं अपने पीहर चली गयी, पाठ मेरा जारी था। सभी पीहरवाले निराश हो गये थे; क्योंकि तीन माससे उसकी खोज करते हुए सब परेशान एवं निराश-से हो गये थे।

पौर्णमासी आ ही गयी, मेरा पाठ पूरा हो गया था, प्रसाद-वितरण कर दिया गया था। पहले तो घरके लोग पाठ पूरा होनेका इन्तजार कर रहे थे, किंतु पाठ हो जानेके कुछ समय बाद भी जब सफलता नहीं दिखी तो सभी ओर उदासी व्याप्त हो गयी, रही-सही आशा भी टूट-सी चुकी थी, किंतु प्रभुकी कृपा कब और कैसे हो जाय यह कोई जानता नहीं था। ठीक बारह बजे मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा जब मेरा भाई उमेश वापस घर आ गया। सारा परिवार

---

* वे प्रभु श्रीरघुनाथजी गयी हुई वस्तुको फिर प्राप्त करानेवाले, गरीबनिवाज (दीनबन्धु), सरलस्वभाव, सर्वशक्तिमान् और सबके स्वामी हैं।

एवं ग्राम आनन्दित था, सारे लोग इकट्ठे हो गये। उससे पूछने लगे तो मेरे भाईने बताया कि मैं रूठकर कानपुर चला गया था और वहीं नौकरी करने लगा था। काफी समयतक घर नहीं आना चाहता था। लेकिन तीन दिनसे एकाएक मुझे घरकी बहुत याद आने लगी और मुझे लगने लगा कि जितनी जल्दी हो सके मैं घर पहुँच जाऊँ, अतः विवश होकर मैं कल बिना मालिकको बताये लौट पड़ा।

मैं आनन्दसे अभिभूत हो गयी थी। प्रभु श्रीरामके प्रति कृतज्ञतासे बार-बार उनकी मूर्तिके सामने नतमस्तक हो रही थी और बार-बार श्रीरामचरितमानसको माथेसे लगा रही थी। सत्य ही कहा है कि सत्यनिष्ठा तथा अटूट विश्वाससे यदि प्रभु श्रीरामसे कोई याचना करता है तो वे सब कुछ दे देते हैं, संकटसे उबार लेते हैं। इतना ही नहीं, सच्ची लगन हो तो प्रभुका सामीप्य भी प्राप्त हो जाता है।—लता शर्मा

(७)

आस्थाका सुफल

मैं दसवीं कक्षाका छात्र हूँ। हनुमान्‌जीकी मैं नित्य आराधना करता हूँ। मेरा उनपर बड़ा विश्वास है। घटना कुछ दिनों पूर्वकी है। मैं नित्यकी भाँति प्रातः पूजा-अर्चनाके उपरान्त विद्यालयके लिये साइकिल लेकर घरसे निकला। रास्तेमें हनुमान्‌जीके मन्दिरपर माथा टेका और मन-ही-मन प्रभु श्रीराम तथा हनुमान्‌जीका स्मरण करते हुए आगे बढ़ा। कुछ दूर ही चला था कि एक स्कूटरचालक मदमस्त होकर स्कूटर चलाता हुआ आ रहा था। मैं धीरे-धीरे अपने रास्तेसे चला जा रहा था। तभी उन महाशयने मेरी साइकिलको जबरदस्त टक्कर मार दी। मैं बचते-बचाते खुद ही घायल हो गया और मेरी साइकिलका भी बुरा हाल हो गया। मैंने मन-ही-मन सोचा कि प्रभु कोई नया खेल खेल रहे हैं। संयोगसे उस दिन मैं जल्दी-जल्दीमें पैसे लेना भूल गया था और मेरे पास एक रुपया भी नहीं था। मैं मन-ही-मन अपने-आपको कोस रहा था तथा प्रभुसे प्रार्थना कर रहा था कि मेरी सहायता करें। मैं हमेशा उधार लेनेसे घबराता था और किसीसे खास तौरपर रुपये-पैसे भी नहीं माँगना चाहता था। अपितु जरूरतमन्द, मित्रगणों अथवा अन्य लोगोंकी यथासम्भव सहायता करनेकी कोशिश करता था। मैं किसी तरह अपनी टूटी-फूटी साइकिल लेकर विद्यालयके प्राङ्गणमें आया। उसे स्टैण्डमें रखकर कक्षाकी ओर चल दिया। साथ ही मन-ही-मन घबरा रहा था कि इतनी दूर अपने घर पैदल साइकिलको लेकर कैसे वापस जाऊँगा। मेरे कम बोलने तथा संकोची स्वभावके कारण मेरे मित्र भी गिने-चुने थे और कक्षामें पहुँचनेपर ज्ञात हुआ कि आज वे भी अनुपस्थित हैं। धीरे-धीरे मेरा धैर्य टूटता जा रहा था। पैरोमें चोट लगनेके कारण पैदल चलनेमें तकलीफ हो रही थी। मैंने मन-ही-मन सोचा कि जरूर किसीका दिल दुखाया है, इसीलिये यह कष्ट भोगना पड़ रहा है। मैंने प्रभुसे प्रार्थना की—प्रभो! इस संकटके समय तुम्हारा ही सहारा है, कृपा करो और फिर मैं हनुमान्‌जीका स्मरण करने लगा। शायद प्रभुको मेरी इस दशापर दया आ गयी। कुछ समय बाद एक लड़का आया और मुझे बीस रु० का नोट थमा गया। मैंने उस अपरिचितसे इसका कारण पूछा तब उसने कहा—एक बार किसी कारणसे मैं घायल हो गया था और मेरी साइकिल भी कुछ खराब हो गयी थी तब तुमने मेरा प्राथमिक उपचार कराया तथा मेरी साइकिल भी ठीक करायी थी। उस समय मैं कुछ देनेमें असमर्थ था, परंतु जब मुझे जेबखर्च मिला तब मैंने चाहा कि तुम्हारा कर्ज चुका दूँ। मैंने कहा कि मैंने तुम्हें कोई कर्ज तो नहीं दिया था। तब उसने कहा मेरे खातिर यह पैसे तुम स्वीकार कर लो। मुझे तो पैसेकी आवश्यकता थी ही, इसलिये उसके आग्रह करनेपर मैंने वे रुपये स्वीकार कर लिये और प्रभुको धन्यवाद दिया कि अप्रत्यक्ष रूपमें उन्होंने मेरी सहायता की। उनकी इस कृपासे मेरा उनके लिये विश्वास और दृढ़ हो गया। तबसे मैं यथाशक्ति दूसरोंकी सहायता करता रहता हूँ और यह संदेश सभीतक पहुँचाना चाहता हूँ कि जितना हो सके दूसरोंकी सहायता करनी चाहिये। इस परहितके कार्यमें स्वहितसम्पादन भी स्वतः ही हो जाता है। —ब्रह्मदूत सिंह

* * *

मनन करने योग्य

[१]

शिवाजी और मुस्लिम सुन्दरी

'हिंदूपदपादशाही' की स्थापनाकी अपनी दिग्विजयी यात्रामें छत्रपति शिवाजीने कल्याणके दुर्गपर विजय प्राप्त की थी। सायंकालका समय था। छत्रपति दुश्मनोंद्वारा छोड़े गये मालका निरीक्षण कर रहे थे। असंख्य हाथी, घोड़े और अपार धनराशिके सामनेसे वह निकल चुके थे। अब वह एक डोलीके सामने थे।

'इस डोलीमें कौन है आबाजी सोनदेव?' छत्रपतिने अपने पीछे-पीछे चले आ रहे अपने सेनापतिसे प्रश्न किया।

'मुल्लाना अहमदकी पुत्री है छत्रपति!....'

आबाजीका वाक्य अभी पूरा भी न होने पाया था कि डोलीका पर्दा उठा। सचमुच ही ढलते दिनके उस झुरमुटेसे अन्धकारमें बिजली-सी कौंध गयी एक बार तो।

मुल्लानाकी पुत्री डोलीसे बाहर निकली।

'यह भूतलका सौंदर्य है या देवलोकका?' छत्रपतिके आस-पास खड़े सरदारोंके मुखसे अनायास ही निकल पड़ा, किंतु बालिकाको आगे बढ़ते हुए देखा तो छत्रपति दो कदम पीछे हट गये।

'यह यहाँ क्यों आयी है आबाजी?' छत्रपतिने पूछा—'मुझसे यह क्या चाहती है?'

'आयी नहीं है छत्रपति! लायी गयी है यह' आबाजीने उत्तर दिया।

'किसलिये?'

'छत्रपतिके अन्तःपुरको सजानेके लिये।'

'नहीं, नहीं सोनदेव! ऐसा नहीं होगा, ऐसा नहीं होगा।' छत्रपतिने कहा—'हिंदू कभी अपनी नैतिकता नहीं भूलेगा। **'मातृवत् परदारेषु'** यही बताया है उसे उसकी संस्कृतिने और वह उसका पालन करेगा। बालिकाको ससम्मान उसके डेरेपर लौटा आओ सेनापति!' कहते-कहते शिवाजी आगे बढ़ गये। मुस्लिम बालिका अवाक् खड़ी रह गयी।

यह घटना उन दिनोंकी है जब देशमें चारों ओर हिंदुओंके नेत्रोंके सामने ही उनकी बहिन-बेटियोंका सतीत्व यवनोंके पैरोंतले रौंदा जा रहा था। किंतु फिर भी छत्रपति शिवाजीने एक मुसलमान शासककी कन्याके प्रति अपनी उक्त भावना प्रकट करके हिंदुओंकी जिस महानताका परिचय दिया है उसे भारतीय ही नहीं, अपितु विश्वका इतिहास भी अनन्त कालतक भुला नहीं सकेगा।

—श्रीमदनगोपालजी सिंहल

[२]

संतकी सीख

ऋषिकेशके जंगलोंमें चन्द्रभागाके तटपर एक झोंपड़ीमें अत्यन्त विरक्त संत रहते थे। सूर्योदयसे पूर्व उठकर स्नान करते तथा भगवान्‌के ध्यानमें मग्न हो जाते। धर्मशास्त्रोंका स्वाध्याय करते तथा आगन्तुक भक्तोंको प्रभु-भक्ति एवं सेवा-परोपकारकी प्रेरणा देते। सारा समय साधनामें ही व्यतीत करते थे।

एक दिन वे ध्यानमें बैठे हुए थे। आँखें खुलीं कि सामने कुछ रुपये रखे दिखायी दिये। कोई दर्शनार्थी उनके चरणोंमें रुपये न्यौछावर कर गया था। उन्होंने रुपये देखे तो उनके मनमें रुपयोंके उपयोगके बारेमें तरह-तरहके प्रश्न उठने लगे। इन रुपयोंको किसी जरूरतमन्दको दे दें। फिर मनमें आया रुपयोंसे भण्डारा कर दें। फिर सोचा गरीबोंको कपड़े खरीदवा दें।

उन्होंने जीवनमें कभी रुपयोंका स्पर्श भी नहीं किया था। इन रुपयोंने उन्हें धनके उपयोगके बारेमें सोचनेको विवश कर दिया।

संत उठे तथा समीपवर्ती अन्य झोंपड़ीमें निवास कर साधना करनेवाले वयोवृद्ध संतके पास पहुँचे। उन्होंने उनसे पूछा—'महाराज! कोई भक्त रुपये रख गया है। उनका उपयोग किस कार्यमें किया जाय।'

संतजीने कहा—'स्वामीजी! रुपयोंको आपने छुआ भी नहीं तब भी छोटे-से धनने आपके स्वच्छ हृदयमें हलचल मचा डाली। आप जिस हृदयमें भगवान्‌की उपस्थितिका अहसास करते थे दो घंटेसे उसमें धनके उपयोगके तरीकेके विचारोंने हलचल मचायी हुई है। सचमुच ये रुपये ही आपकी अशान्तिके कारण हैं। संतकी यह बात उनकी समझमें आ गयी। उन्होंने उन रुपयोंको जरूरतमन्दको देकर उनसे अपना मुँह मोड़ लिया। उनका हृदय पूर्ववत् हो गया और वे भगवच्चिन्तनमें संलग्न हो गये।—शिवकुमार गोयल

* * *

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

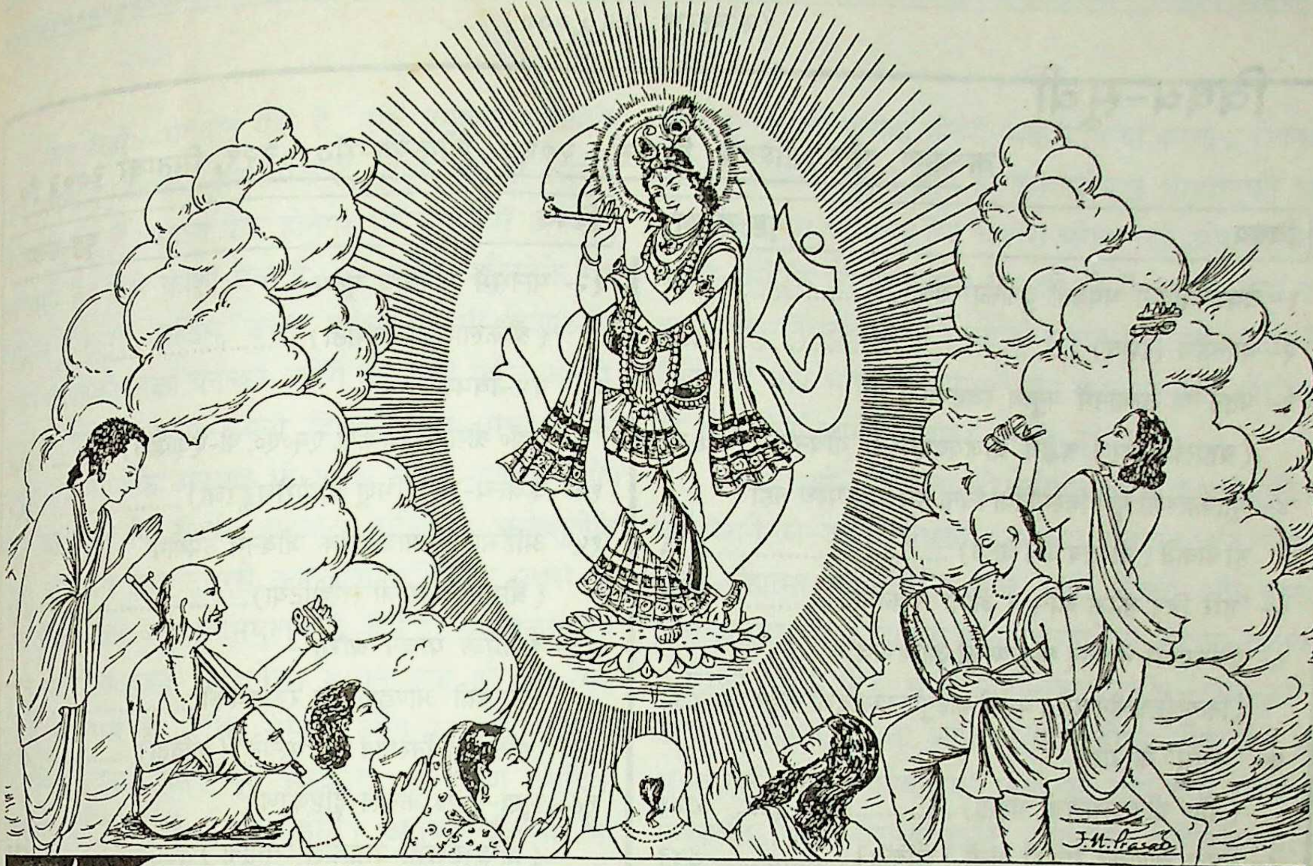

कल्याण

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्धस्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

वर्ष ७७
गोरखपुर, सौर आश्विन, वि० सं० २०६०, श्रीकृष्ण-सं० ५२२९, सितम्बर २००३ ई०
संख्या ९
पूर्ण संख्या ९२२

देवताओंद्वारा भगवती दुर्गाका स्तवन

देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या निश्शेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या।
तामम्बिकामखिलदेवमहर्षिपूज्यां भक्त्या नताः स्म विदधातु शुभानि सा नः॥
या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः।
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम्॥

(श्रीदुर्गासप्तशती ४। ३,५)

[देवता बोले—] 'सम्पूर्ण देवताओंकी शक्तिका समुदाय ही जिनका स्वरूप है तथा जिन देवीने अपनी शक्तिसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रखा है, समस्त देवताओं और महर्षियोंकी पूजनीया उन जगदम्बाको हम भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं। वे हमलोगोंका कल्याण करें। जो पुण्यात्माओंके घरोंमें स्वयं ही लक्ष्मीरूपसे, पापियोंके यहाँ दरिद्रतारूपसे, शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषोंके हृदयमें बुद्धिरूपसे, सत्पुरुषोंमें श्रद्धारूपसे तथा कुलीन मनुष्यमें लज्जारूपसे निवास करती हैं, उन आप भगवती दुर्गाको हम नमस्कार करते हैं। देवि! आप सम्पूर्ण विश्वका पालन कीजिये।'

* * *

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,५०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन, वि० सं० २०६०, श्रीकृष्ण-सं० ५२२९, सितम्बर २००३ ई०

विषय पृष्ठ-संख्या

१- देवताओंद्वारा भगवती दुर्गाका स्तवन ८२९
२- कल्याण (शिव) ८३१
३- पतन या उत्थानमें मनुष्य स्वतन्त्र है
(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ८३२
४- भूतकालकी पूर्ण विस्मृतिके बिना हम स्वरूपस्थ नहीं हो सकते (श्री जय जय बाबा) ८३६
५- 'हरि बिनु कोऊ काम न आयौ' [कविता] ८३७
६- पूर्णपरात्पर भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव
(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ८३८
७- 'मानस' के राम
(डॉ० श्रीनन्दलालजी मेहता) ८४१
८- ममता त्यागकर रामको भजो [कविता] ८४३
९- साधकोंके प्रति—
(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ८४४
१०- धर्मका प्रायोगिक पक्ष (श्रीप्रदीपकुमारजी पाण्डेय) ८४६
११- साधक-प्राण-संजीवनी
(गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज) ८५०

विषय पृष्ठ-संख्या

१२- मानसमें मानवीय मूल्य
(श्रीकैलाशजी त्रिपाठी) ८५३
१३- प्रेम-विमर्श
(डॉ० श्रीसत्येन्दुजी शर्मा, एम्०ए०, पी-एच्०डी०) ८५८
१४- कैवल्य-रत्न (भिक्षु श्रीगौरीशङ्करजी) ८५९
१५- अहिंसाका व्यावहारिक जीवनमें उपयोग
(श्रीरामनिवासजी लखोटिया) ८६१
१६- *भक्तोंके पावन चरित—*
भक्तिमती आण्डाल या रङ्गनायकी ८६३
१७- 'हरि मुख निरखत नैन भुलाने' [कविता] ८६५
१८- सुख-दुःख केवल दृष्टिकोण
(श्रीकैलाशजी अग्रवाल 'बेगाना') ८६६
१९- साधनोपयोगी पत्र ८६७
२०- व्रतोत्सव-पर्व [आश्विनमासके व्रत-पर्व] ८७०
२१- व्रतोत्सव-पर्व [कार्तिकमासके व्रत-पर्व] ८७१
२२- पढ़ो, समझो और करो ८७२
२३- मनन करने योग्य ८७४

* * *

चित्र-सूची

१- योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण .... (रंगीन) .... आवरण-पृष्ठ
२- देवताओंद्वारा भगवती दुर्गाका स्तवन .... (") .... मुख-पृष्ठ

* * *

वार्षिक शुल्क—भारतमें
१३० रु०(सजिल्द १५० रु०)
चालूवर्षका शुल्क—
१२० रु०(सजिल्द १३५ रु०)
विदेशमें—
US$25 (Air Mail)
US$13 (Sea Mail)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

पञ्चवर्षीय शुल्क
भारतमें ६५० रु०
सजिल्द ७५० रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$125 (Air Mail)
US$ 65 (Sea Mail)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित
website : www.gitapress.org | e-mail : booksales@gitapress.org

कल्याण

याद रखो—भगवान् एक हैं, परंतु उनतक पहुँचनेके मार्ग अनेक हैं। साध्य—लक्ष्य एक है, परंतु उसे प्राप्त करनेके साधन अनन्त हैं। साध्य एक होनेपर भी साधनोंमें अनेकता अनिवार्य है। जैसे काशी एक है, पर काशी पहुँचनेके पथ विभिन्न हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—सभी दिशाओंके मनुष्य काशीको लक्ष्य बनाकर चलेंगे तो काशी पहुँच जायँगे, परंतु वे चलेंगे अपनी-अपनी दिशासे तथा अपने-अपने मार्गसे ही। मार्गोंके अनुभव भी उनके पृथक्-पृथक् होंगे। कोई यह चाहे कि पूर्वसे आनेवाला पश्चिमसे आनेवालेके पथसे ही आये तथा उत्तरसे आनेवाला दक्षिणके पथसे ही आये तो जैसे यह चाहना भ्रममूलक है, वैसे ही भगवान्तक—अपने परम लक्ष्यतक पहुँचनेका साधन एक ही हो—यह मानना भी भ्रम है। रुचि, समझ, अन्तःकरणके स्वरूप, त्रिगुणोंकी न्यूनाधिकता, पूर्व-संस्कार, वातावरण आदिके अनुसार ही विभिन्न साधन होंगे। अतएव किसी भी भगवत्प्राप्तिके साधनकी न निन्दा करो, न किसीको देखकर लुभाओ। लक्ष्यपर नित्य दृष्टि रखकर अपने पथसे चलते रहो। भगवान् ही जीवनके परम साध्य हैं, इसको क्षणभरके लिये भी न भूलकर नित्य-निरन्तर अपने साधनमें लगे रहो। दूसरे क्या करते हैं, क्या कहते हैं, इसकी ओर न देखकर निरन्तर अपने मार्गपर सावधानीसे आगे बढ़ते रहो।

याद रखो—यदि तुम्हारे जीवनमें दैवी सम्पत्ति बढ़ रही है, मन विषयोंसे हट रहा है, भगवान्के प्रति आकर्षण अधिक हो रहा है, मनमें शान्ति तथा आनन्दकी वृद्धि हो रही है और ये धीमी या तेज जिस चालसे बढ़ रहे हैं तो समझ लो कि तुम उसी मात्रामें उत्तरोत्तर आगे बढ़ रहे हो; और यदि तुम्हारे जीवनमें आसुरी सम्पत्ति बढ़ रही है, मन विषयोंकी ओर खिंच रहा है, भगवान्के स्मरणसे हट रहा है, मनमें अशान्ति तथा चिन्ताकी वृद्धि हो रही है और ये मन्द या तीव्र जिस गतिसे बढ़ रहे हैं तो उसी गतिसे तुम पीछे हट रहे हो, तुम्हारा पतन हो रहा है। अतएव सावधानीके साथ अपने जीवनकी भीतरी स्थितिको देखते रहो। तुम्हारा असलमें वही स्वरूप है, जैसी तुम्हारी भीतरी स्थिति है।

याद रखो—सबसे आवश्यक और सबसे प्रथम करने योग्य कार्य है—लक्ष्यका निश्चय। 'भगवान् ही जीवनके परम लक्ष्य हैं'—यह निश्चय करना। और फिर इसी लक्ष्यको सामने रखकर जीवनमें प्रत्येक भीतरी-बाहरी क्रिया करना। जीवनका निश्चित लक्ष्य भगवान् होंगे तो तुम्हारा मुख भगवान्की ओर होगा और तुम धीमी या तेज चालसे भगवान्की ओर ही बढ़ते रहोगे; क्योंकि जीवमात्र सब चल ही रहे हैं, कालचक्रमें पड़े हुए नित्य-निरन्तर चलते रहना ही संसारमें जीवका कार्य है। फिर वह चाहे भगवान्के सामने मुख करके उनकी ओर चले या विषयोंको सामने रखकर उनकी ओर!

याद रखो—हिमालयकी तपोभूमिकी ओर जानेवालेको जैसे आगे-से-आगे शीतलता (ठंडक), एकान्त भूमि, त्यागी साधु-महात्मा तथा शान्ति-सुख आदि मिलेंगे और इसके विपरीत गरम देशमें भोगमय बड़े-बड़े नगरोंकी ओर जानेवालेको उत्तरोत्तर गरमी, भीड़-भाड़, भोगी-विषयी लोग—चोर-ठग-डाकू, अशान्ति, चिन्ता आदिकी प्राप्ति होगी, ठीक वैसे ही भगवान्की ओर जानेवालेको आगे-से-आगे दैवी सम्पत्ति, सत्संगति, विषय-वैराग्य, शान्ति, आत्मानन्द, पवित्र आचार-विचार आदि मिलते रहेंगे और भोगोंकी ओर जानेवालेको आसुरी सम्पदा, कुसंगति, विषयासक्ति, अशान्ति, भोगोंमें आनन्दका भ्रम, अपवित्र पाप-कर्मादि, दिन-रातकी जलन आदि प्राप्त होंगे। अतएव अपने-आपको इन लक्षणोंके अनुसार देख-जाँचकर निर्णय कर लो कि तुम किस ओर जा रहे हो और यदि दुःखमय अनित्य भोगोंकी ओर जा रहे हो तो तुम्हारे लिये दुःख और पतन निश्चित है, फिर भले ही तुम बुद्धिमान्, ज्ञानवान्, साधु, भक्त, महात्मा, नेता, अधिकारी, ऐश्वर्यवान् सुखी क्यों न समझे-कहे जाते हो या मानते हो। अतः तुरंत विषयोंकी ओर पीठ करके भगवान्के सामने मुख कर लो।

याद रखो—तुम मनुष्यके रूपमें इस संसारमें इसलिये नहीं भेजे गये हो कि दिन-रात भोगलिप्सामें लगे रहकर पाप-जीवन बिताओ और पापकर्मोंका संचय बढ़ाकर रोते-कलपते मर जाओ। तुम्हें तो मानवरूप दिया गया है भगवान्की प्राप्तिके साधनमें लगकर पुण्य-जीवन बिताते हुए भगवान्को प्राप्त करनेके लिये, मृत्युको मारकर दिव्य नित्य भागवत-जीवनकी प्राप्तिके लिये। इस बातको याद रखो और अपनी योग्यता तथा रुचिके अनुसार निर्दोष परमार्थ-साधनको अपनाकर इधर-उधर न ताकते हुए चलते रहो और जीवनके नित्य परम साध्य भगवान्को प्राप्त करके सफलजीवन बन जाओ। —**'शिव'**

* * *

पतन या उत्थानमें मनुष्य स्वतन्त्र है

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्य सम्पूर्ण सांसारिक दुःखों और दोषोंसे सदाके लिये सर्वथा सम्बन्धरहित होकर परमानन्द और परमशान्तिस्वरूप नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाय—इसके लिये गीतादि शास्त्रोंमें बहुत-से साधन बताये गये हैं और यह भी कहा गया है कि उस परम पदस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति सुगम होनेके कारण शीघ्र हो सकती है। यह बात विवेक-विचारसे समझमें आती है। किंतु फिर भी कार्यरूपमें न आनेके कारण कठिनता प्रतीत होती है, जिससे निराशा-सी हो जाती है और साधनकी गति तीव्र, संतोषजनक तथा निरन्तर एक-सी नहीं रहती। इसका कारण क्या है? और उपाय क्या है?—इस प्रकार बहुत-से साधक प्रश्न किया करते हैं। इसका उत्तर यह है कि शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंके तत्त्व-रहस्यको वास्तवमें यथार्थ न समझनेके कारण साध्य और साधनपर श्रद्धा-विश्वास पूर्णतया नहीं होता। इस श्रद्धा-विश्वासकी कमीके कारण ही साधनपर रुचि कम हो जाती है। इसीसे निराशा-सी उत्पन्न होकर साधनके लिये निरन्तर तत्परता नहीं होती।

इसके लिये साधकको प्रथम तो साध्य वस्तुके तत्त्व-रहस्यको सत्सङ्ग और सत्-शास्त्रोंके द्वारा विवेकपूर्वक अच्छी तरह समझकर धारण करना चाहिये तथा दूसरे यह समझना चाहिये कि उस परमात्मासे बढ़कर अन्य कुछ भी साध्य वस्तु नहीं है। उसकी प्राप्ति हुए बिना इस दुःख-सागर संसारसे जीवका छुटकारा नहीं हो सकता और संसारसे छुटकारा हुए बिना जीवको नित्य परमशान्ति मिल ही नहीं सकती। इसलिये उस साध्यस्वरूप परमात्माको लक्ष्य बनाकर शास्त्रनिर्दिष्ट मार्गोंमेंसे किसी एक मार्गके अनुसार सावधानी और तत्परतापूर्वक चलना चाहिये। तभी मनुष्य उस प्रापणीय महान् तत्त्वरूप परमात्माको प्राप्त कर सकता है।

मान लीजिये एक व्यक्ति कलकत्तेसे काशी जाना चाहता है और वहाँतककी सड़क साफ है तथा साधन भी मोटरगाड़ीका उसके पास है। मोटरके अगले भागमें दो बिजलीकी लाइट भी लगी हुई है, जो दो फर्लांगतक बराबर आगे-से-आगे रास्ता दिखाती रहती है। किंतु घोर अन्धकारमयी रात्रिका समय है और सड़कके अगल-बगल दोनों ओर गढ़े एवं जंगल हैं तथा वह स्वयं ही मोटरचालक है। अतः वह सावधानीके साथ तत्परतासे मोटरको चलाये तो शीघ्र ही गन्तव्यस्थानपर पहुँच सकता है; किंतु वह मदिरा पीकर प्रमत्त हो असावधानीसे चलाये तो मार्गके अगल-बगलके गढ़ों और जंगलमें गिरकर महान् खतरेमें पड़ जाता है।

यह एक दृष्टान्त है। इसका अभिप्राय यह समझना चाहिये कि यहाँ साधनविषयमें परमात्माका परमधाम ही काशी है। इस संसारसे निकलकर परमात्माको प्राप्त करनेका इच्छुक मनुष्य ही काशी जानेकी इच्छावाला व्यक्ति है। कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग ही निष्कण्टक, स्वच्छ और सुगम सड़क (मार्ग) है। मनुष्य-शरीर ही मोटरगाड़ी है। उसमें आगे-से-आगे बराबर रास्ता दिखलानेवाले विवेक और विचार ही मोटरमें लगी हुई दो लाइट हैं। अज्ञानमयी मोहमाया ही घोर अन्धकारमयी रात्रि है। दुर्गुण और दुराचार ही मार्गके दोनों ओरके गढ़े और जंगल हैं। स्वयं साधक ही मोटरचालक है। सावधानीपूर्वक तेजीके साथ निरन्तर साधन करनेसे शीघ्र परमात्माकी प्राप्तिका होना ही सावधानीके साथ तत्परतासे सड़कपर मोटर चलानेसे शीघ्र गन्तव्यस्थानपर पहुँच जाना है। प्रमादपूर्वक मोहमें पड़ना ही मदिरा पीकर प्रमत्त होना है और तज्जनित असावधानीके कारण दुर्गुण-दुराचारमें पड़ना ही गढ़े और जंगलमें गिरकर महान् खतरेमें पड़ जाना है।

इसलिये साधक सदा सावधान, जागरूक और अपने साधनमें तत्पर रहे; साधनमें शिथिलता कभी भी न आने दे। सर्वप्रथम तो साधकको अपने लिये यह निर्णय करना चाहिये कि गीतादि शास्त्रोंमें निर्दिष्ट कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—इन तीनोंमेंसे मेरे लिये कौन-सा साधन (मार्ग) ठीक है। उस निर्णय करनेका तरीका यह है कि उन तीनों

मार्गोंमेंसे जो मार्ग अपनी शक्ति, बुद्धि और समझके अनुकूल हो, जिसमें अपनी श्रद्धा, विश्वास और रुचि हो, उसीको अपने लिये निश्चयपूर्वक चुन लेना चाहिये; क्योंकि वही उसके लिये सबसे बढ़कर सुगम, उत्तम और लाभदायक मार्ग है। जबतक मनुष्य गन्तव्यस्थानका और मार्गका निर्णय नहीं कर लेता, तबतक वह वहाँ जा ही नहीं सकता। मार्गका निर्णय कर लेनेके पश्चात् वह उस मार्गपर चलना शुरू कर दे और मार्गपर चलते समय ऐसी सावधानी रखे कि कहीं मार्गको छोड़कर विपरीत मार्ग यानी कुमार्गरूप गढ़ेमें न चला जाय। असावधानीमें हेतु हैं—संशय, भ्रम, अज्ञान, आसक्ति, प्रमाद और आलस्य। ये ही मनुष्यको सुखका प्रलोभन देकर मोहित करते हुए पतनके गर्तमें डाल देते हैं। इसलिये इन सबका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि इनके त्यागमें मनुष्य स्वतन्त्र है।

मनुष्य जिस कर्मको बुद्धिद्वारा बुरा समझता है, उसे करना भी नहीं चाहता, फिर भी छोड़ नहीं पाता और जिस कार्यको अच्छा समझता है, उसे करना चाहता है फिर भी उसे कर नहीं पाता। इस प्रकार त्यागनेयोग्यको न त्यागना और करनेयोग्यको न करना—यही प्रमाद है। इस प्रमादमें मनुष्यका अज्ञान ही हेतु है। किंतु मूर्खतावश मनुष्य इसमें अपने प्रारब्धको, दूसरे व्यक्तियोंको, परिस्थिति (घटना)-को, अपने पूर्वके कर्मोंको, संयमको अथवा कोई-कोई तो ईश्वरको भी कारण मान लेता है; किंतु इन सबमें कोई भी कारण नहीं है। यह सब उसकी बेसमझी है। वस्तुतः वह स्वयं ही अपना कारण है; क्योंकि न करनेयोग्य काम, क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष आदि दुर्गुण; झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि दुराचार; खेल-तमाशा, नशा आदि दुर्व्यसन और व्यर्थ कर्मके त्यागमें तथा करनेयोग्य भक्ति, ज्ञान, योग, वैराग्य, सद्गुण-सदाचार आदिके सम्पादनमें भी यह सर्वथा स्वतन्त्र है। किंतु अज्ञानसे दूसरोंके मत्थे दोष मँढ़कर अपनी सफाई देता है, यही इसकी बुरी आदत है। कोई-कोई साधक कहता है कि परमात्माके प्राप्तिविषयक योग, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सद्गुण-सदाचार आदि जितने साधन हैं, वे मेरी समझमें भी आते हैं, उनको मैं हितकर भी मानता हूँ, श्रद्धा-विश्वास भी है, रुचि भी है, पर कर नहीं पाता। किंतु भलीभाँति विचार किया जाय तो वास्तवमें उसने साधनको परम हितकर समझा ही नहीं। हितकर न समझनेमें कारण श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही है। उस कमीके कारण ही साधनमें तत्परता और उत्साह नहीं होता। इसलिये गहराईसे विचार करना चाहिये।

जब हम यह समझ लेते हैं कि इस मिठाईमें विष मिला हुआ है, तब भूखों मरनेपर भी उस मिठाईको खाना नहीं चाहते। इसी प्रकार जब हम उस प्रमादको अनर्थकारक मान लेंगे तो फिर नहीं करनेयोग्य कर्मको कभी नहीं करेंगे और करनेयोग्य कर्मको अवश्य करेंगे। भगवान्‌की प्राप्तिको परम हितकर मान लेनेपर और उसके बिना हमारी बड़ी भारी हानि है—यह समझ लेनेपर यदि उसके साधनमें किसी प्रकारकी त्रुटि या बाधा पड़ती है तो उसको हम कैसे सहन कर सकेंगे। उसके लिये हमें घोर पश्चात्ताप और दुःख होगा। प्रापणीय वस्तुके लिये विरहव्याकुलता और छटपटाहट होगी। उसको प्राप्त किये बिना हम रह नहीं सकेंगे। यदि ऐसा नहीं होता है तो इसमें श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही हेतु है। उसीके कारण रुचिकी कमी है और रुचिकी कमीसे साधनमें उत्साह और तत्परता नहीं होती। अतएव साधनकी शिथिलतामें मनुष्य स्वयं ही हेतु है। दूसरा कोई व्यक्ति, प्रारब्ध, परिस्थिति (घटना), देश, काल, कर्म या ईश्वर आदि कोई भी नहीं।

ईश्वर, महापुरुष और शास्त्र आदि तो साधककी मदद करनेवाले हैं। उनसे तो मनुष्य चाहे जितनी मदद ले सकता है। उनसे मदद लेनेमें भी मनुष्य स्वतन्त्र है। परंतु मनुष्य अज्ञानसे ईश्वरको पाप करानेवाला मान लेता है और प्रमाणमें यह श्लोक भी कहता है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
र्जानामि पापं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

(पाण्डवगीता ५८)

'मैं धर्मको जानता हूँ, पर मेरी उसमें प्रवृत्ति नहीं होती और पापको भी जानता हूँ, पर उससे मेरी निवृत्ति नहीं होती; क्योंकि अपने हृदयमें स्थित कोई देव जिस प्रकार मुझे प्रेरित और नियुक्त करता है, वैसे ही मैं करता हूँ।'

किंतु यह सिद्धान्त दुर्योधनका है, जो सर्वथा त्याज्य है। पर सबसे उच्चकोटिका सिद्धान्त गीताका है, जिसमें साक्षात् भगवान्‌के वचन हैं। पाप होनेके विषयमें अर्जुनने भगवान्‌से पूछा था—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(३।३६)

'श्रीकृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?'

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने यह कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३।३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी नहीं अघानेवाला और बड़ा पापी है; इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान।'

भगवान्‌ने कामकी उत्पत्ति रजोगुणसे बतलायी और रजोगुण रागस्वरूप ही है। भगवान् अर्जुनसे पहले भी कह चुके हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥

(गीता २।६२)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है।'

यहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया कि आसक्तिसे कामकी और कामसे क्रोधकी उत्पत्ति होती है। सारे अनर्थोंका मूल आसक्ति ही है। इसलिये मनुष्यको स्त्री, पुत्र, धन, मकान, कुटुम्ब, शिष्य, मठ-आश्रम, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा, पद, शरीर आदि किसी भी प्राणी, पदार्थ और क्रिया आदिमें भूलकर भी किंचिन्मात्र भी कभी आसक्ति नहीं करनी चाहिये। इस आसक्तिका कारण है अहंता, ममता और अहंता, ममताका कारण है अज्ञान (अविद्या)। योगदर्शनमें बतलाया गया है—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः॥
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां०। (२।३-४)

'अविद्या (अज्ञान), अस्मिता (अहंता), राग (आसक्ति), द्वेष और अभिनिवेश (मरण-भय)—ये पाँच क्लेश हैं। इन पाँचों क्लेशोंमें बादवाले चारोंका कारण अविद्या है अर्थात् अविद्यासे ही अहंता और आसक्ति आदिकी उत्पत्ति होती है।'

अतः सारे क्लेशोंकी जड़ आसक्ति है और आसक्तिकी जड़ है अविद्या (अज्ञान)। इस अज्ञानसे ही संशय, भ्रम और प्रमादकी उत्पत्ति होती है, अज्ञानका नाश होता है यथार्थ ज्ञानसे और उस यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें बहुत-से उपाय बतलाये गये हैं। ईश्वरकी भक्ति करनेसे, ईश्वरकी कृपासे ज्ञान होता है। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(गीता १०।९)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए निरन्तर संतुष्ट होते हैं एवं मुझ वासुदेवमें ही रमण करते हैं।'

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०।१०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०।११)

उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही 'उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अज्ञानजनित अन्धकारको देदीप्यमान तत्त्वज्ञानरूपी दीपके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

तथा निष्कामभावपूर्वक कर्तव्यपालनरूप कर्मयोगसे

भी शुद्ध हुए अन्तःकरणमें अपने-आप ही यथार्थ ज्ञान प्रकट हो जाता है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(गीता ४। ३८)

'इस संसारमें यथार्थ ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निस्संदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

एवं महापुरुषोंके बतलाये हुए साधनके अनुसार चलनेसे भी इस यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति उनकी कृपासे हो जाती है—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

'अर्जुन! उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्माको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

(गीता ४। ३५)

'पाण्डुपुत्र! जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।'

तथा गीतादि शास्त्रोंके अर्थ और भावको समझकर उनका अध्ययन करनेसे भी यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने बतलाया है—

'स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥'

(गीता ४। २८)

'कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करते हैं।'

और गीताका स्वाध्याय करनेवालेके लिये भगवान् कहते हैं कि जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा (गीता १८। ७०)। इससे उसे यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। इस यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिमें प्रधान हेतु है श्रद्धा-विश्वास। भगवान्‌ने कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

किंतु बिना श्रद्धाके किया हुआ सभी कुछ व्यर्थ है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

(गीता १७। २८)

'अर्जुन! बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है, वह सब असत् है—इस प्रकार कहा जाता है। इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके बाद ही।' अतः सभी शुभकर्म श्रद्धापूर्वक ही करने चाहिये।

श्रद्धाकी प्राप्ति होती है अन्तःकरणकी शुद्धिसे।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(गीता १७। ३)

'भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है; वह स्वयं भी वही है।'

अन्तःकरणकी शुद्धि होती है विवेक-वैराग्यपूर्वक भक्ति, ज्ञान और योगके साधनसे। इसलिये मनुष्यको उचित है कि भक्ति, ज्ञान और योगमेंसे जिसमें उसकी रुचि तथा विश्वास हो, उसीको लक्ष्य बनाकर उसे विवेक-वैराग्यपूर्वक परम उत्साह और तत्परतासे करे।

* * *

भूतकालकी पूर्ण विस्मृतिके बिना हम स्वरूपस्थ नहीं हो सकते

(श्री जय जय बाबा)

आचक्ष्व शृणु वा तात नानाशास्त्राण्यनेकशः।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते॥

(अष्टावक्रगीता १६।१)

हे तात! चाहे तू नाना प्रकारके शास्त्रोंका श्रवण कर अथवा उनपर प्रवचन कर। जबतक तुझे भूतकालकी पूर्ण विस्मृति न होगी, तबतक तू स्वस्थ अर्थात् स्वरूपस्थ नहीं हो सकता। यह बात महर्षि अष्टावक्रने राजा जनकको उपदेश देते हुए कही।

हमने कालका विभाजन भूत, भविष्य और वर्तमान—इन तीन प्रकारसे किया है। इनमेंसे भविष्यका हमको पता ही नहीं कि अगले क्षणमें क्या होगा। वर्तमान इतनी तेजीसे भूतकालमें परिवर्तित हो रहा है कि हमको पता ही नहीं रहता कि प्रत्येक सेकेण्ड कब भूतकालमें चला गया। बोलते-बोलते वर्तमान भूतकालमें चला जाता है। इसीलिये कभी यह शंका होती है कि वर्तमान नामकी कोई वस्तु है भी या नहीं। ऐसी हालतमें हमारे पास विचार करनेके लिये केवल भूतकाल ही रह जाता है।

अपने मनको हम थोड़ा ध्यानसे देखें तो मालूम होगा कि हम निरन्तर भूतकालका ही चिन्तन करते हैं या फिर भविष्यकी चिन्ताओंकी कल्पना करते हैं। इसीलिये कहा है कि मनरूपी पक्षीके दो पाँख हैं—भूत और भविष्य, जिससे वह उड़ता है। मनके ये दोनों पाँख काट दो तो उसका उड़ना अर्थात् स्पन्दन बंद हो जायगा और आप अकाल यानी कालातीत स्थितिमें पहुँच जायँगे। यह कालातीत स्थिति ही स्वरूपस्थिति है।

सिक्खोंका नारा है—**'सत श्री अकाल'** यह कहकर वे तलवारें निकाल लेते हैं, परंतु यह युद्धका नारा नहीं है। इसका अर्थ है अकाल अर्थात् कालातीत अवस्था ही सत्य है।

अब थोड़ा विचार करें भूतकालकी अनन्त जन्मोंकी स्मृतियोंसे कैसे मुक्त होवें, उनको कैसे भूलें? हम भूतकालकी प्रिय और सुखद स्मृतियोंको भूलना नहीं चाहते और जो दुःखद स्मृतियाँ हैं उन्हें भूल जाना चाहते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिये। महर्षि अष्टावक्र कहते हैं—**'सर्वविस्मरणादृते'** सबको भूलना होगा।*

स्मृति हमेशा भूतकालकी ही होती है अर्थात् जो बातें बीत चुकीं, समाप्त हो चुकीं, जा चुकीं, मर चुकीं, उन्हींकी होती है। भूतकालके क्षणोंमें अर्थात् मरे हुए क्षणोंमें ही अपना समय बिताना बुद्धिमानी नहीं है। हमारे प्रत्येक कार्यमें हमको ऊर्जा खर्च करनी पड़ती है। भूतकालके चिन्तनमें हमारी ऊर्जा व्यर्थ जाती है। यदि उसी ऊर्जाका हम ध्यानमें प्रयोग करें तो हमको बहुत लाभ हो सकता है। हमको मनको रोकनेमें, ध्यान करनेमें बहुत ऊर्जाकी आवश्यकता है, जो भूतकालके चिन्तनमें व्यर्थ चली जाती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि हम इन भूतकालकी स्मृतियोंसे मुक्त कैसे होवें? इसका उपाय यह है कि जैसे-जैसे मनमें ये भूतकालकी स्मृतियाँ आयें आप उनको पूर्ण जागरूक रहकर देखते रहें। केवल देखते रहें न तो उनको अच्छा कहें, न बुरा कहें। नित्य यह ध्यान रखकर देखें कि ये तो बीती हुई हैं अर्थात् मरी हुई हैं, इनकी कोई भी सत्ता नहीं है। ऐसा देखना तभी हो सकता है जब आपका चित्त शान्त हो। ऐसा करनेपर ही आपको यह कालातीत अवस्था प्राप्त होगी। उपाय अनुभूत है करके देखें।

श्रीमद्भागवतमें इस कालातीत अवस्थाका बहुत ही सुन्दर और हृदयस्पर्शी शब्दोंमें इस प्रकार वर्णन किया गया है—

न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः
कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे।
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च
न वै विकारो न महान् प्रधानम्॥
परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्
यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः।

---

* तब कहीं कालातीत स्वरूपस्थिति प्राप्त हो सकेगी।

विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा
हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे॥

(श्रीमद्भा० २।२।१७-१८)

योगी लोग जब मनुष्यलोकको छोड़ते हैं उस अवस्थामें सत्त्वगुण भी नहीं रहता, रजोगुण और तमोगुणकी तो बात ही क्या है। अहंकार, महत्तत्त्व और प्रकृतिका भी वहाँ अस्तित्व नहीं है। उस स्थितिमें जब देवताओंके नियामक कालकी भी दाल नहीं गलती अर्थात् काल भी नहीं रहता तो फिर देवता और उनके अधीन रहनेवाले प्राणी तो रह ही कैसे सकते हैं। योगी लोग 'यह नहीं', यह भी नहीं' इस प्रकार परमात्मासे भिन्न पदार्थोंका त्याग करना चाहते हैं और शरीर तथा उसके सम्बन्धी पदार्थोंमें आत्मबुद्धिका त्याग करके हृदयके द्वारा पद-पदपर भगवान्‌के जिस परम पूज्य स्वरूपका आलिङ्गन करते हुए अनन्य प्रेमसे परिपूर्ण रहते हैं वही भगवान् विष्णुका परम पद है।

इस कालातीत अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये मनुष्यमें तीव्र व्याकुलता होनी चाहिये।

भगवान्‌के परम भक्त वृत्रासुरने अपनी भगवद्दर्शनकी व्याकुलता इस प्रकार बतायी है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

(श्रीमद्भा० ६।११।२६)

जैसे पक्षियोंके पंखहीन बच्चे अपनी माँकी बाट जोहते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माँका दूध पीनेके लिये आतुर रहते हैं और जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतमसे मिलनेके लिये उत्कण्ठित रहती है—वैसे ही हे कमलनयन! मेरा मन आपका दर्शन करनेके लिये छटपटा रहा है।

सब कुछ भूल जाना भी एक प्रकारकी मृत्यु है। भागवतकार (११।२२।३८ में) कहते हैं—'मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः' सब कुछ भूल जाना भी एक प्रकारकी मृत्यु है। अमर होनेके लिये एक बार मरना पड़ेगा। यह मृत्यु किसकी होती है? आत्मा तो नित्य अमर है इसकी कभी भी मृत्यु होती नहीं। **'देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत'** (गीता २।३०)। यह मृत्यु होती है अहंकारकी।

भागवतकार (११।२८।१५ में) कहते है—

शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः।
अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नात्मनः॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी! अहंकार ही शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, स्पृहा और जन्म-मृत्युका शिकार बनता है। आत्माका तो इन सबसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

LIBRARY
Gurukul Kangri Vishwavidyalaya
HARDWAR

* * *

'हरि बिनु कोऊ काम न आयौ'

हरि बिनु कोऊ काम न आयौ।
इहि माया झूठी प्रपंच लगि, रतन-सौ जनम गँवायौ॥
कंचन कलस, बिचित्र चित्र करि, रचि-पचि भवन बनायौ।
तामैं तैं ततछन ही काढ़्यौ, पल भर रहन न पायौ॥
हौं तब संग जरौंगी, यौं कहि, तिया धूति धन खायौ।
चलत रही चित चोरि, मोरि मुख, एक न पग पहुँचायौ॥
बोलि-बोलि सुत-स्वजन-मित्रजन, लीन्यौ सुजस सुहायौ।
पर्‍यौ जु काज अंतकी बिरियाँ, तिनहुँ न आनि छुड़ायौ॥
आसा करि-करि जननी जायौ, कोटिक लाड़ लड़ायौ।
तोरि लयौ कटिहू कौ डोरा, तापर बदन जरायौ॥
पतित-उधारन, गनिका-तारन, सो मैं सठ बिसरायौ।
लियौ न नाम कबहुँ धोखैं हूँ, सूरदास पछितायौ॥

(सूर-विनय-पत्रिका २७३)

* * *

पूर्णपरात्पर भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[गताङ्क पृ०-सं० ७९० से आगे]

भगवान्‌के अवतारका प्रयोजन बतलाते हुए कुन्तीदेवीने कहा है—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥

(श्रीमद्भागवत १।८।२०)

'आप निर्मल हृदयवाले विचारशील परमहंस मुनियोंके हृदयमें अपनी प्रेममयी भक्तिका उदय करनेके लिये अवतीर्ण हुए हैं। हम अल्पबुद्धि अबलाएँ आपको कैसे पहचान सकती हैं?'

अतएव भगवान् श्रीकृष्णके लीला, गुण, कर्म ही ऐसे प्रेम-मुग्ध कर देनेवाले होते हैं कि उन्हें देख-देखकर, सुन-सुनकर जिनके अज्ञानकी ग्रन्थि टूट गयी है और जो नित्य आत्मामें ही रमण करते हैं, वे मुनि भी भगवान्‌की अहैतुकी भक्ति—भगवान्‌में विशुद्ध प्रेम करने लगते हैं।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भागवत १।७।१०)

भगवान्‌की लीलाएँ आत्माराम मुनियोंको भी प्रेम प्रदान करके उनको सर्वाङ्ग सम्पूर्णतया कृतार्थ कर देती हैं। यह स्वयं भगवान्‌के अवतारका प्रयोजन है, ऐसा कुछ प्रेमी महापुरुष महात्माओंका कथन है। विरक्तशिरोमणि श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्‌को भगवान्‌के अवतारका प्रयोजन बहुत थोड़ेमें बतलाते हैं—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥

(श्रीमद्भागवत १०।२९।१४)

राजा परीक्षित्! जन्म-मृत्यु आदि विकारोंसे रहित, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके अविषय, प्राकृत गुणोंसे रहित और स्वरूपगत दिव्य कल्याणगुणस्वरूप षड्गुणैश्वर्यपूर्ण प्रभुकी अभिव्यक्ति—उनका प्राकट्य मनुष्योंके परम कल्याणके लिये ही होता है और वह परम कल्याण पूर्णरूपसे विशुद्ध भक्ति-प्रेममें ही निहित है।

कुछ महानुभावोंका अनुभव है कि जो प्रेमी साधुजन प्रियतम भगवान्‌के सिवा अन्य किसीको जानते ही नहीं और जो लीला-पुरुषोत्तम भगवान्‌के विषम वियोगानलमें दग्ध होते रहते हैं, उन्हें अपने मधुर मिलनके द्वारा प्रेम-सुधारस प्रदान करके उनके उस अतुलनीय अनुपमेय भयानक दुःख-दावानलको सदाके लिये बुझा देने और अपने ही द्वारा उनके जीवनमें उँडेले हुए उस प्रेमसुधारसका पान करनेके लिये ही भगवान् अवतीर्ण होते हैं।

यों भगवान् अपनी अवतारलीलामें अधिकारी भक्तोंको परम कल्याणरूप पञ्चमपुरुषार्थ 'प्रेम' प्रदान करके उन्हें तो अपनाते ही हैं। साथ ही भौतिक जगत्‌में अत्याचारपरायण पापानल-विदग्ध असुरों और आसुर-भावापन्न राजाओंका वध करके अपने कृपापूर्ण 'हतारिगतिदायक' स्वभावसे उनका परम कल्याण करते हैं और उनके अत्याचारसे उत्पीड़ित भजनवञ्चित साधुओंको अत्याचारसे विमुक्त करके उनका परित्राण करते हैं। इस प्रकार अधर्मके अभ्युत्थानमें प्रधान हेतुरूप असुरोंका वधके व्याजसे उद्धार करके वर्णाश्रमधर्म तथा गो-ब्राह्मण-साधुके संरक्षणरूप निर्मल धर्मका संस्थापन करते हैं, जिससे मर्त्यजगत्‌के साथ ही देवजगत्‌का भी कल्याण होता है।

भगवान् श्रीकृष्णकी लीला अनन्तमुखी है। जैसे श्रीभगवान्‌में सब प्रकारके ज्ञान, क्रिया, शक्ति, भाव आदि निहित हैं; क्योंकि वे ही सबके मूल उद्गम हैं, वे ही आधार हैं और वे ही सबको गति देनेवाले हैं, वैसे ही भगवान्‌की लीलाएँ भी अनन्त प्रकारकी होती हैं—विभिन्न प्राणियोंको उन-उनके क्षेत्रमें सन्मार्गपर लाकर उनका परम कल्याण करनेवाली। इसीलिये भगवान्‌की लीलाओंमें सभी रसोंका समावेश है, उनमें सभीके लिये सदुपदेश है, सत्-शिक्षा है एवं सत्-आदर्श है। ऐसा कोई क्षेत्र नहीं, जिसमें वे सर्वोपरि गुरु न हों। तभी तो वे जगद्गुरु हैं और जो जिस भावसे उनके सामने आता है, उसको उसी भावके अनुसार अपने लीलाचरित्रके द्वारा शिक्षा देकर वे उसका परम कल्याण करते हैं। जो जैसा सम्बन्ध जोड़कर उनके सम्पर्कमें आना चाहता है, उसके उसी सम्बन्धको वे स्वीकार कर लेते हैं; क्योंकि सहज ही वे 'सर्वभूतसुहृद्' हैं—'सुहृदं सर्वभूतानाम्।' इसीलिये वे वसुदेव-देवकी और नन्द-यशोदाके परम सुखस्वरूप सुपुत्र हैं; व्रजबालकों, सुदामा-जैसे दरिद्रों तथा अर्जुन-उद्धवादि-जैसे वीरों विद्वानोंके सखा—मित्र हैं; श्रीगोपाङ्गनाओंके मधुरतम प्राणवल्लभ हैं एवं द्वारकाकी

ऐश्वर्यमयी महिषियोंके पूज्य पति हैं; गौओंके अनन्य सेवक हैं, पशु-पक्षियोंके बन्धु हैं; असुर-राक्षसोंके शत्रु हैं; ज्ञानियोंके ब्रह्म हैं, योगियोंके परमात्मा हैं, भक्तोंके भगवान् हैं, प्रेमियोंके परम प्रेमास्पद हैं; राजनीतिज्ञोंमें निपुण राजनीतिविशारद हैं; शूरवीरोंमें अंतुल पराक्रमी महान् वीर हैं; शरणागतोंके परम रक्षक हैं, शिष्योंके परम ज्ञानदाता गुरु और सन्मार्गदर्शक हैं।

सभी कार्योंमें वे परम कुशल हैं, कर्मकौशल उनकी लीलामें सहज है। जहाँ जो काम करते हैं पूर्णतम अनुभवी पुरुषके रूपमें करते हैं। कोई भी कला उनसे बची नहीं, पर सभी कलाओंकी लीलाओंमें सहज लोककल्याण निहित है। कला केवल कलाके लिये नहीं, कल्याणके लिये है।

वे संगीतशास्त्रके महान् आचार्य हैं। बड़े-बड़े संगीतज्ञ उनके शिष्य हैं। उनकी वाद्यकला अनिर्वचनीय है। मुरलीकी सुरीली ध्वनि ब्रह्मलोकतक पहुँचकर सबको सम्मोहित कर लेती है। जडको चेतन और चेतनको जड बना देती है। कोटि-कोटि व्रजसुन्दरियाँ मुरलीकी ध्वनि सुनकर उन्मत्त-सी हो जाती हैं और सारे संसारके सम्पूर्ण सम्बन्धोंको भूलकर प्रियतम श्रीकृष्णके पास पहुँच जाती हैं एवं उन्हें सर्वात्म-समर्पण करके परमहंस ज्ञानी-मुनियों और सर्वपूज्य देवताओंके लिये भी परम पूजनीया बन जाती हैं।

उनकी नृत्यकला तो सर्वथा विलक्षण है। शिवनृत्य 'ताण्डव' और पार्वतीनृत्य 'लास्य' कहलाता है, परंतु भयानक विष उगलनेवाले विषधर भुजंगमके सहस्रों फणोंपर थिरक-थिरककर नृत्य करना नृत्यकलाकी पराकाष्ठाके भी परेकी वस्तु है और उसका उद्देश्य है—कालियके समस्त पापोंका विनाश करके उसे प्रेमभक्ति प्रदान करना। उनका महारासनृत्य तो बड़े-बड़े तत्त्वज्ञोंके लिये रहस्यकी वस्तु है।

मल्लविद्याके तो आप परमाचार्य ही बन गये। देखनेमें नन्हे-से होकर ऐसी पैंतरेबाजी की कि मल्लविद्याभिमानी मुष्टिक-चाणूरका कचूमर ही निकल गया। वहाँ कुवलयापीडका विनाश, धनुषभंग और कंसका वध करके आपने अपने बल-पौरुषकी धाक जमा दी।

उन्होंने भला घोड़े हाँकना कब किससे सीखा था? पर इस कलामें वे सबके गुरुस्थानीय हैं। शल्य-सरीखे अश्वसंचालन-कुशल भी उनके सामने अपनेको नगण्य मानते हैं। पर उनका यह सारथ्य कर्म है—केवल मित्रधर्मका आदर्श रखनेके लिये और धर्मयुद्धमें अर्जुनको विजय दिलानेके लिये।

उनकी वाग्मिता प्रसिद्ध है। कौरवोंकी सभामें उनका भाषण सुननेके लिये दूर-दूरसे बड़े-बड़े बूढ़े, ज्ञानी, श्रोत्रिय, पण्डित, विद्वान् ऋषि पधारे थे।

उनका दिव्य तेज तथा ऐश्वर्य इतना विलक्षण है कि उसके सामने सभी सहज नतमस्तक हो जाते हैं। उनके समकालीन महान्-से-महान् ज्ञानी-विज्ञानी, ज्ञानवृद्ध-वयोवृद्ध, धर्मशील-तपस्यारत, ऋषि-महर्षि, वीर-पराक्रमी, शान्तिप्रिय और विकट योद्धा—सभी उनमें श्रद्धा करते और उनके लोकातीत ऐश्वर्यको देखकर चकित होते थे। साक्षात् भगवान् वेदव्यास, देवर्षि नारद, पितामह भीष्म, नाना उग्रसेन, विदुर, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, धृतराष्ट्र, कर्ण, गान्धारी, कुन्ती आदि विभिन्न भावों तथा विचित्र स्वभावोंसे युक्त पुरुष और नारियाँ उन्हें ईश्वरबुद्धिसे देख-देखकर अपनेको कृतार्थ मानते थे।

उनकी 'भगवद्गीता' जगत्के अध्यात्म-साहित्यका ही नहीं, नैतिक जगदाकाशका भी नित्य निरन्तर वर्द्धनशील परमशान्तिदायक तथा प्रकाशदायक परमोज्वल दिव्य सूर्य है, जो समस्त जगत्को अपनी ओर आकृष्ट किये है और जिसको सभी अपने-अपने क्षेत्रमें सर्वथा सफल पथप्रदर्शक मानकर अपनाये हुए हैं—एकान्त अरण्यवासी विरक्त महात्मा भी, लोकमान्य तिलक-सरीखे कर्मयोगी भी, गाँधीजी-सरीखे राजनीतिक नेता भी, कुशल व्यापारी भी और महान् क्रान्तिकारी भी। ध्वंसके ज्वालामुखीके मुखपर बैठा हुआ आजका आत्मविस्मृत, तमोऽभिभूत भौतिक-विज्ञान-मदमत्त मानव यदि भगवान् श्रीकृष्णकी सर्वकल्याणमयी श्रीमद्भगवद्गीताका आश्रय लेकर उससे प्रकाश प्राप्त करे तो उसे सच्चे विज्ञानकी दिव्य ज्योति प्राप्त हो सकती है। विकास तथा कल्याणका सच्चा मार्ग मिल सकता है और जगत् प्रलयाग्निके भीषण भयसे मुक्त हो सकता है।

निष्कामताका परम आदर्श उनके लीलाचरित्रमें प्रत्यक्ष है। वे सर्वथा निष्काम आप्तकाम होकर भी लोकसंग्रहार्थ यथायोग्य कर्म करते हैं। अत्याचारी राजाओंका वध करते हैं, पर स्वयं किसीके भी राज्यपर कभी अधिकार नहीं करते।

किसी भी अच्छे कार्यको वे सहज ही स्वीकार करते हैं। न उन्हें कभी हर्ष होता है, न विषाद; न मानका बोध होता है, न अपमानका एवं न गौरवका भान होता है, न लज्जाका। पाण्डवोंके राजसूययज्ञमें बड़े-बूढ़े ज्ञानी ऋषि-मुनियों तथा भीष्मादि गुरुजनोंके सामने वे अपनी सर्वाग्रपूजा स्वीकार करते हैं और उसी यज्ञमें समागत अतिथि-

अभ्यागतोंके चरण धोनेका कार्य भी करते हैं। महाभारत-रणमें जहाँ वे एक प्रकारसे पाण्डवोंकी समरनीति-समितिके अध्यक्ष हैं, वहीं वे अर्जुनके रथपर लगाम-चाबुक हाथमें लिये घोड़े हाँकते हैं—**'तोत्रवेत्रैकपाणयः'**।

वे जहाँ पूर्णतम भगवान् हैं, वहाँ पूर्ण मानवके रूपमें भी आदर्श व्यवहार करते हैं। पाण्डव-कौरव युद्ध न हो, इसके लिये वे स्वयं संधिदूत बनकर कौरव-सभामें जाते हैं और सभी भाँतिसे समझाकर, युद्ध न हो, इसका प्रयत्न करते हैं। पर दुर्योधनके न माननेपर वे पाण्डवोंको युद्धके लिये स्पष्ट आदेश भी देते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णका एक छोटे-से-छोटा चरित्र भी आदर्श, स्मरणीय, मननीय और जीवनमें उतारने लायक है। अवश्य ही उनकी अप्राकृत अलौकिक भगवत्ताकी नकल तो हो नहीं सकती, उसकी नकल करने जाना भी तो पतनके गर्तमें गिरना है। पर उनके लोकसंग्रहार्थ किये हुए सभी लीला-चरित्र अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार सर्वथा अनुकरणीय हैं।

वे निश्चित ही स्वयं भगवान् हैं। पर कोई उन्हें महापुरुष माने, योगेश्वर माने, परम पुरुष माने, महामानव माने, पूर्ण मानव माने, अपूर्ण मानव माने, निपुण राजनीतिज्ञ माने, कुटिल राजनीतिज्ञ माने, कला-निपुण माने या कुछ भी माने—कोई कैसे भी वस्तुतः उनके सम्पर्कमें आ जायगा तो उसका कल्याण निश्चित है। अवश्य ही उसके साधन विभिन्न होंगे।

भगवान् श्रीकृष्ण सत्य हैं, नित्य हैं, उनमें उत्पत्ति-विनाश नहीं है। उनका शरीर सच्चित्-भगवदानन्दस्वरूप है। तथापि लीलाकी दृष्टिसे आज उनके प्राकट्यके महामहोत्सवका पुण्य पर्व-दिवस है। हम सभीको भक्ति-प्रणत-चित्तसे उनके पावन चरणरज-कणमें अनन्त नमस्कार करना, उनकी परम पावन लीलाओंका स्मरण-कीर्तन करना और उनके परम पावन नामोंका कीर्तन-गान करना, उनके आदर्श उपदेशोंको तथा लीलाचरित्रोंको यथासाध्य यथायोग्य जीवनमें उतारकर अपने जीवनको सफल बनाना चाहिये।

जन्म अजन्मा, अविनाशीका हुआ आज अति मङ्गल-धाम।
कंस क्रूरके कारागृहमें, नँद-घरमें प्रकटे अभिराम॥
परम स्वतन्त्र, अखिल लोकोंके एकमात्र जो ईश महान्।
भक्तोंके हो पराधीन, वे प्रकटे भक्तिवश्य भगवान्॥
ग्वाल-बालकोंके सँग खेले विविध प्रकार गाँवके खेल।
वन-वनमें गो-वत्स चराये, किया वन्य जीवोंसे मेल॥
दधि लूटा, माखन-चोरी की, खूब मचाया शुचि हुड़दंग।
खूब छकाया, नयी-नयी रच लीला, सबको लेकर संग॥
दैत्य-दानवोंका वध करके, किया सहज उनका उद्धार।
लघु अँगुलीपर गोवर्धन धर, इन्द्र-दर्पका किया सँहार॥
मुरली मधुर बजा, सबको कर मोहित, हरी चित्त-सम्पत्ति।
दावानल पी, कालिय वशकर, व्रजकी दारुण हरी विपत्ति॥
मिट्टी खा, फिर दिखलाया मुँहमें माताको विश्व अगाध।
हो आश्चर्य-चकित सुख पाया, उपजी नयी-नयी सुख-साध॥
गोपीजनके वसन-हरण कर किया आवरण-भङ्ग पवित्र।
महारास कर प्रेम-रसमयी भगवत्ताकी सिद्ध विचित्र॥
मथुरा पहुँच, किया धोबीका, कुब्जाका मङ्गल उद्धार।
मार कुवलयाको, मुष्टिक-चाणूर मल्लका कर संहार॥
पापी कंस क्रूरका वध कर, देकर उग्रसेनको राज।
करने लगे विविध लीला फिर ज्ञान-शक्ति-लीला-रसराज॥
कालयवनका सहज दमन कर, जरासंधका हर अभिमान।
बसे द्वारकामें जा माधव, किये विवाह अष्ट सविधान॥
भौमासुरका वध कर, सोलह सहस राजकन्या ले साथ।
आये, की कामना पूर्ण, उनको पकड़ा निज मङ्गल हाथ॥
पाण्डव-राज-सभामें वध कर, किया सहज शिशुपाल निहाल।
कर स्वीकार अग्र-पूजनको, ऊँचा किया युधिष्ठिर-भाल॥
पाण्डव-कौरव समराङ्गणमें दे अर्जुनको गीता-ज्ञान।
अखिल लोक अघ-तम-हारी जो, मार्गदर्शिका ज्योति महान्॥
दे अनन्य, आश्रय अर्जुनको किया नित्य निज-जन स्वीकार।
दिव्य लोकमें दिव्य देह धर, करता जो सेवा अविकार॥
ऐसे सर्वेश्वर जो सर्वातीत, सर्वमय, सर्वाधार।
प्राकृत-गुण-विरहित जो नित कल्याण-गुण-गणोंके आगार॥
अखिलरसामृतसिन्धु, नित्य सौन्दर्य परम माधुर्यनिधान।
परम स्वतन्त्र, प्रेमवश लेते प्रेमीको निज प्रियतम मान॥
पल-पल प्रेम बढ़ाते रहते, करते नित नव-नव रस-दान।
नित्य-तृप्त, नित नव रस-आस्वादन करते, करते रस-पान॥
राजनीतिविद् कुशल, राज्य-निर्माता, नित्य पूर्ण निष्काम।
सबके दुखहर्ता सुख-दाता, सबके नित्य सहज हित-धाम॥
परम सखा प्रिय, परम प्रियतम, परम पिता, गुरु, बन्धु ललाम।
सहज सुहृद, शरणागत-वत्सल, परम वदान्य, आत्माराम॥
प्रकटे आज देव-मुनि-गो-द्विज-रक्षक सत्य-धर्म आधार।
करो सभी मिल मुक्त-कण्ठसे उनका पुनः-पुनः जयकार॥
जय वसुदेव-देवकी-नन्दन, जय नँद-नंद, यशोदा-लाल।

जय प्रेमीजन, मुनि-मन-मोहन, जयति सुकोमल हृदय विशाल॥
जय नँदबाबा, जयति यशोदा, जय गोपी, जय गैया-ग्वाल।
जय वंशी, जय यमुना जय जय, जय वृन्दावन, द्वापर-काल॥
जय वसुदेव, देवकी जय-जय, जयति कंसका कारागार।
जय रोहिणि बलराम जयति जय, जय उद्धव, अक्रूर उदार॥
जय मथुरा-द्वारका जयति जय, पटरानी हरि-उरकी माल।
जय षोडश सहस्र हरि-गृहिणी, जयति धनंजय कुन्ती-लाल॥
जय गीता, भारत महान् जय, जयति भागवत लीला-सार।
जय प्रेमी-ज्ञानी-जन, करते जो प्रभुका महिमा-विस्तार॥
बोलो वसुदेव-देवकीनन्दन, नन्द-यशोदालालकी जय।

~~~

'मानस' के राम

(डॉ० श्रीनन्दलालजी मेहता)

'श्रीरामचरितमानस' भारतीय लोकचित्तका संस्कर्ता भी है और संस्कार भी, आह्लादक भी है और आह्लाद भी, लक्षण भी है और लक्ष्य भी। गत चार सौ वर्षोंसे सामान्य-रूपसे समग्र भारतीय और विशेषरूपसे उत्तर भारतीय सामाजिक ढाँचेको गढ़नेमें जितनी व्यापक भूमिका 'रामचरितमानस' ने निभायी है उतनी किसी अन्य ग्रन्थ, व्यक्ति, घटना, विश्वास अथवा परम्पराने नहीं। सहृदय पाठकके लिये रामचरितमानस न केवल साहित्यिक महत्त्वका ग्रन्थ है अपितु उसके सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और लौकिक जीवनके लिये मार्गदर्शक भी है। भारतीय लोकमानसपर इस ग्रन्थका इतना प्रभाव है कि उसके भीतर रामचरितमानस, तुलसी और राम—ये तीनों संज्ञाएँ एकरूप होकर एक ही महाभावको उद्बोधित करती हैं।

'श्रीरामचरितमानस' की साहित्यिक श्रेष्ठताके पीछे तुलसीकी प्रबन्ध-पटुता और उनके अभिव्यक्ति-कौशलपर शब्दमनीषी भले ही नाना विधियोंसे विचारकर इस ग्रन्थका प्रशंसात्मक विश्लेषण करें, किंतु यदि तुलसीकी दृष्टिसे इस ग्रन्थको देखें तो यह कहना पड़ेगा कि श्रीराम ही तुलसीकी प्रबन्ध-पटुता हैं, राम ही तुलसीके अभिव्यक्ति-कौशल हैं। राम ही कथ्य हैं, राम ही शिल्प हैं। राम ही तुलसीकी प्रश्नाकुल जिज्ञासा हैं और राम ही तुलसीकी जिज्ञासाकी मधुर तृप्ति हैं। रामचरितमानसके प्रबन्ध-विस्तारके मूलमें यही जिज्ञासा है कि—

रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही। कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोही॥

इस जिज्ञासामूलक प्रश्नका समाधान भी स्वयं राम ही हैं—

जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥

तुलसीदासका रामचरितमानस वस्तुतः एकपात्रीय प्रबन्धकाव्य है और वह एक पात्र हैं—राम। शेष पात्र तो रामकथा-विस्तारके आन्तरिक और बाह्य प्रसंगमात्र हैं और रामके चरित्रके उत्कर्ष-प्रतिपादनमें सहायक हैं।

तुलसीने रामचरितमानसमें रामके ब्रह्मरूप, महाविष्णु-रूप और मर्यादापुरुषोत्तमरूपमें सामञ्जस्य साधते हुए रामके नररूप अर्थात् मर्यादापुरुषोत्तमरूपकी ही कथा कही है। भारतीय सामाजिक व्यवस्थाके आदर्श तुलसीके यही मर्यादापुरुषोत्तम राम हैं, जिन्होंने अपने आचरणसे मानवीय व्यवहारकी उच्च मर्यादाएँ स्थापित की हैं।

भारतीय मानसमें राम एक आदर्श नायकके रूपमें प्रतिष्ठित हैं। वे आदर्श पुत्र हैं, आदर्श भाई हैं, आदर्श सखा हैं, आदर्श पति हैं, आदर्श स्वामी और आदर्श राजा हैं। तुलसीके रामका सम्पूर्ण जीवन लोक-संग्रहके कर्म-सौन्दर्यसे ओत-प्रोत है। लोक-संग्रहके नायक राजा राम प्रजारञ्जनके एक ऐसे प्रतिष्ठित प्रतीक बन चुके हैं कि आजके लोकतान्त्रिक भारतीय मनका लक्ष्य भी रामराज्य है। आखिर हो भी क्यों न? क्योंकि रामराज्यमें सब प्रकारके कष्टोंसे मुक्त होकर सभी नर-नारी स्वधर्मका पालन करते हुए परस्पर प्रीतिपूर्वक रहते हैं—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥

वनप्रस्थानके समय रामको अपने कष्टोंकी चिन्ता नहीं है, किंतु प्रजाजनोंके सुख-सौख्यकी चिन्ता उन्हें अवश्य है। इसलिये वे लक्ष्मणसे अयोध्यामें ही रहकर राज-काज
~~~

देखनेका आग्रह करते हैं और प्रजारञ्जनका कर्तव्य समझाते हुए कहते हैं—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥
(रा०च०मा० २।७१।६)

राज्य अथवा शासनकी ऐसी व्यवस्था ही आदर्श मानी जायगी जिसके अन्तर्गत नागरिक स्वयं राजा अथवा शासकद्वारा लिये गये अनुचित निर्णय या किये गये अनुचित व्यवहार एवं कार्यका बिना किसी भयके विरोध कर सकें। चौदह वर्षके सुदीर्घ वनवासके उपरान्त जब रामका राज्याभिषेक होता है तो नागरिकोंकी सभामें राम-जैसा आदर्श शासक ही यह कह सकता है कि—

जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥

रामकी इस घोषणाके पीछे सच्चे हृदयकी वह निष्ठा है, जो अच्छी-से-अच्छी प्रजातान्त्रिक शासन-पद्धतिके लिये भी आदर्श हो सकती है।

रामका रामत्व कथनके माध्यमसे कम और आचरणके माध्यमसे अधिक व्यक्त हुआ है। रामकी पहचान ही यही है कि वे वाणीसे जो संकल्प लेते हैं उसे कर्ममें भी ढालते हैं। उनका कथन ही उनका संकल्प है। रामकी कथनी और करनी, गुण और स्वभाव, दृढ़ता और कोमलता, क्रोध और क्षमाशीलता सभी अनुकरणीय हैं। उनके व्यक्तित्वमें शील, शक्ति और सौन्दर्यका अनुपम सामञ्जस्य है। उनकी शक्ति और उनका सौन्दर्य दोनों उनके शीलके अनुशासनमें हैं। उनकी शक्ति शरणागत और दीनोंकी रक्षाके लिये तथा आततायी और अत्याचारियोंके मान-मर्दनके लिये है। करोड़ों कामदेवोंको भी लज्जित करनेवाला शीलसमन्वित उनका मोहक सौन्दर्य सात्त्विकताकी शीतल किरणोंसे आलोकित है, जिसके दर्शनमात्रसे मनके विकार धुल जाते हैं। उनके शीलका उत्कर्ष तब रमणीय हो उठता है जब चित्रकूटमें आयी सभी माताओंमें सबसे पहले सादर आगे बढ़कर वे माता कैकेयीके ही चरण-स्पर्श करते हैं—

प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई॥
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥
(रा० च० मा० २। २४४। ७-८)

रामचरितमानसमें रामके प्रशस्त शीलके अनन्त उदाहरण देखनेको मिलेंगे। जिस राज्यपदके आकर्षणसे बड़े-से-बड़े धैर्य धुरन्धर नहीं बच सके, उस राजसिंहासनको राम तिनकेकी भाँति छोड़कर चल दिये। न केवल उन्होंने सहर्ष राज्यका ही त्याग किया, अपितु अपने पिताके वचनकी प्रतिष्ठाके लिये चौदह वर्षोंके वनवासको भी सहर्ष स्वीकार किया। पितृवचनकी पालना-हेतु रामका यह अनुपम त्याग मानवीय सदाचरणके इतिहासका स्वर्णिम पृष्ठ है।

रामकी मर्यादाका विस्तार जीवनके सभी क्षेत्रोंतक व्याप्त है। रामके आदर्श आचरणसे वस्तुतः जगत्के सभी रिश्ते-नातोंको प्रतिष्ठा मिली है। बन्धु-प्रीतिका कोई आदर्श सीखे तो रामसे। वनगमनके समय रामकी जो अटल दृढ़ता, गुरुजनों, माताओं, भरत-जैसे बन्धु और प्राणोंसे भी प्रिय प्रजाजनोंकी आँसूभरी मनुहारसे भी नहीं पिघली, वही दृढ़ता लक्ष्मणको मूर्च्छित अवस्थामें देखकर बन्धु-विछोहकी आशंकामात्रसे तप्तविह्वलतामें पिघलकर बह निकली—

जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस बिचारि जियँ जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥
(रा०च०मा० ६।६१।६-८)

लक्ष्मणके प्रति कहे गये रामके इन शब्दोंसे भ्रातृत्व भावका नाता अनोखे माधुर्यसे भर उठता है। रामके संसर्गसे मैत्रीभाव भी महिमामण्डित हुआ है। सुग्रीवसे कहे गये रामके इन वचनोंमें सच्चे मित्रकी ऐसी कसौटी देखनेको मिलती है जो हर काल, हर देश और हर स्थितिमें लागू होती है—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
जिन्ह कें असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई॥
(रा०च०मा० ४।७।१-३)

रामकी शरणागतिका फल भी अमोघ है। विभीषणद्वारा शरण ग्रहण किये जानेपर वे उसे लङ्केश कहकर सम्बोधित करते हैं और लङ्काका राज्य देनेका तत्क्षण संकल्प लेते हैं। रामकी विनयशीलता भी अनुपम है जिस स्वर्ण-लङ्काको रावणने दस बार अपना शीश चढ़ाकर वरदानरूपमें शिवसे प्राप्त किया था, उसे मित्र विभीषणको देते समय तुच्छ भेंट

समझकर रामके मनमें संकोच हो रहा है—

जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥
(सुन्दरकाण्ड ४९ (ख))

राम एक ऐसे प्रतीक विनायक हैं जो मर्यादाकी रक्षाके लिये सतत सृजनशील जागरूक हैं। सृजनशील जागरूक इसलिये कि राम न केवल मर्यादा-रक्षणमें ही जागरूक हैं, वरन् अपने आचरणसे मर्यादाका आदर्शरूप भी प्रस्तुत करते हैं। रामका मर्यादारूप भारतीय लोकजीवनको सदासे प्रभावित करता रहा है। किशोरावस्थामें ही रामने विश्वामित्रके यज्ञ-रक्षार्थ अनेक उच्छृङ्खल और परपीड़क राक्षसोंका वध कर ऋषि-मुनियोंको अभयदान दिया। पिताके अनुक्त भावको सत्कृत करते हुए उन्होंने वनगमन किया। उनका शील लोकके सुखका विधान करनेवाला है। राजसिंहासनसे वञ्चित कर वनवासकी भूमिका तैयार करनेवाली विमाता कैकेयीके प्रति भी उनके मनमें किंचित् रोष नहीं है। लक्ष्मण जब भी क्रोधाविष्ट होते हैं, तब रामका शील ही उन्हें मर्यादित करता है। इतना ही नहीं, अपने शत्रु रावणके प्रति भी उनकी वाणी शालीनताका परित्याग नहीं करती। शरणागतकी रक्षा करना उनकी सम्पूर्ण मर्यादाका अंग है। समस्त वैरभावको भूलकर मुमूर्षु रावणके पास लक्ष्मणको ज्ञानप्राप्तिके लिये भेजना रामकी समग्र मर्यादामें ही सम्भव है। वस्तुतः उनकी मर्यादाकी व्यावहारिक चेतना अभंग है। अपने सम्पर्कमें आनेवाले प्रत्येक मनुष्यके साथ अपने व्यवहारको वे आदर्शकी उस सीमातक पहुँचा देते हैं जहाँसे आगेकी स्थिति सम्भव ही नहीं। उनके चरितमें कहीं भी अतिचारिता नहीं, सर्वत्र मर्यादाकी शालीनता है।

संस्कृतकी एक सूक्ति है—**'धर्मो रक्षति रक्षितः'** धर्म क्या है? मर्यादित आचरण ही धर्म है। मर्यादाका हननकर्ता कालान्तरमें स्वयं तो दुर्गतिको प्राप्त होता ही है, स्वजनोंके विनाशका कारण भी बनता है। राम—मर्यादारक्षक हैं तो रावण मर्यादाभंजक। रावण अतिचारिताका साकाररूप है। अतिचारिता चाहे स्वभावमें हो चाहे कर्ममें, सर्वत्र निन्दनीय है। सृष्टिकी स्थितिका बीजमन्त्र है मर्यादा और यही रामकथाका केन्द्रीय भाव है। विश्वके सभी समुदाय अपने-अपने जातीय संस्कार और आस्था-वैशिष्ट्यके बावजूद मर्यादारक्षणके महाभावकी इस भारतीय कर्म-कथामें अपने युगके प्रश्नोंका समाधान पा सकते हैं। मर्यादापालन ही दूसरे शब्दोंमें धर्माचरण है। यही कारण है कि व्यक्ति और समाजके स्तरपर मर्यादाके इस लोकमङ्गलकारी विधानको अपने कर्म-सौन्दर्यसे मूर्त करनेवाले श्रीराम मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं और धर्मके मूर्तिमन्त विग्रह हैं।

* * *

ममता त्यागकर रामको भजो

सुनु कान दिएँ, नितु नेमु लिएँ रघुनाथहिके गुनगाथहि रे।
सुखमंदिर सुंदर रूपु सदा उर आनि धरें धनु-भाथहि रे॥
रसना निसि-बासर सादर सों तुलसी! जपु जानकीनाथहि रे।
करु संग सुसील सुसंतन सों, तजि कूर, कुपंथ कुसाथहि रे॥
सुत, दार, अगारु, सखा, परिवारु बिलोकु महा कुसमाजहि रे।
सबकी ममता तजि कै, समता सजि, संतसभाँ न बिराजहि रे॥
नरदेह कहा, करि देखु बिचारु, बिगारु गँवार न काजहि रे।
जनि डोलहि लोलुप कूकरु ज्यों, तुलसी भजु कोसलराजहि रे॥
(कवितावली ७। २९-३०)

* * *

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क पृ०-सं० ७९४ से आगे]

अपनेको शुद्ध (अच्छा) बनाना चाहिये। अपनेको शुद्ध बनायें तो लोक-परलोक सब ठीक हो जायँगे। **'मामकाः'** और **'पाण्डवाः'**—यह भेद ही नाश करनेवाला है। अन्तमें विजय उसकी होती है, जो धर्मका ठीक पालन करता है। **धर्मका बल ही बल है।** न्याययुक्त मनुष्यके भीतर जो बल रहता है, वह अन्यायीके भीतर नहीं रहता।

× × ×

जीवन्मुक्ति अभी हो सकती है, क्योंकि वह है। आदर और निरादर—दोनोंके समय आप वही रहते हो तो फिर आपमें क्या फर्क पड़ा? हरा और पीला दोनों अलग-अलग हैं, पर उनको देखनेवाली आँखमें क्या फर्क पड़ा? राजी और नाराजीके समय आप एक हुए कि दो हुए? जब जाननेमें फर्क नहीं पड़ा तो फिर जाननेवालेमें क्या फर्क पड़ा? **मेरी बातकी तरफ ध्यान दो तो आप सब-के-सब अभी तत्काल जीवन्मुक्त हो सकते हो।**

× × ×

आजकल गुरु और शिष्य दोनोंका ही मिलना दुर्लभ है। **आजकल गुरुभक्ति तो है नहीं, गुरु बनाना केवल तमाशा है।**

संसारसे लाभ लेना चाहो तो यह नाशवान् है और सेवा करना चाहो तो यह 'वासुदेवः सर्वम्' है। संसारसे सुख लेना चाहो तो यह दुःखालय है।

मैं यहाँ (गीताभवन, स्वर्गाश्रममें) संवत् १९८९ से आता हूँ, पर अभीतक मैंने नीलकण्ठ नहीं देखा; क्योंकि मैं वहाँ गया ही नहीं। ऐसे ही आप कहते हो कि इतने वर्ष सत्संग करते हो गये, लाभ नहीं दीखता तो आपने माना ही नहीं, फिर दीखे कैसे? जिससे पतन हो जाय, वह न भी दीखे, फिर भी आप उसे मान लेते हो, पर जिससे उद्धार हो जाय, उसे मानते ही नहीं! समझमें न आये तो भी मान लो कि सब कुछ परमात्मा ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**। आपकी समझ ठीक है कि गीताकी? मनसे सबको परमात्माका स्वरूप देखो। शरीरसे सबका आदर करो। कम-से-कम किसीका अहित मत करो, किसीको दुःख मत दो। किसीका बुरा नहीं करोगे तो दुनियामात्रकी सेवा हो जायगी। **किसीकी मौतपर राजी होना उसको मारनेमें सहमत होना है।** किसीको दुःख न दे और किसीके दुःखमें राजी न हो।

× × ×

संसारका वियोग ही सत्य है। संयोगका वियोग तो अवश्यम्भावी है, पर वियोगका संयोग अवश्यम्भावी नहीं है। परमात्माके साथ एकता 'योग' है। यह योग नित्य है। संसारका वियोग नित्य है। संसारका ज्ञान संसारके वियोगसे होगा और परमात्माका ज्ञान परमात्माके योगसे होगा। कारण कि संसार अलग है, परमात्मा अलग नहीं हैं।

जीना अनित्य है, मरना नित्य है। **जिसका वियोग अवश्यम्भावी है, उसकी सेवा करो। जिसका संयोग अवश्यम्भावी है, उससे प्रेम करो।** जो अवश्यम्भावी है, उसे पहलेसे ही स्वीकार कर लेना चाहिये।

× × ×

हमारा जीवन ऐसा होना चाहिये कि किसीको भी हमारे द्वारा तकलीफ न हो। ऐसा हो जाय तो दुनियाका भला हो गया! किसीका बुरा न करना सबसे बड़ी सेवा है।

संसारका संयोग अनित्य और असत् है, पर संसारका वियोग नित्य और सत् है। परमात्माके साथ सबका नित्ययोग है। संसारके साथ सबका नित्यवियोग है। यह स्वीकार कर लो। जो आपको छोड़ रहा है, उसको छोड़ दो और जो कभी नहीं छोड़ता, उसे पकड़ लो। **जो हमारा नहीं है, उसकी सेवा कर दो। जो हमारा है, उसको अपना मान लो।**

× × ×

निषेधात्मक साधन बहुत ऊँचा है। करनेकी अपेक्षा न करना श्रेष्ठ है। कारण कि संसारका नित्यवियोग है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि ऊँचे साधन नहीं हैं; ये विध्यात्मक साधन हैं। विध्यात्मक साधनमें प्रकृतिका सम्बन्ध रहेगा ही। संसारसे नित्यवियोग स्वीकार करते ही योगकी प्राप्ति हो जायगी। निषेधात्मक साधनमें स्वतःसिद्धि होती है। परमात्मामें विधि नहीं है, प्रत्युत सब चीजोंका निषेध है। **विहित कार्य सब नहीं कर सकते, पर निषिद्धका त्याग सब कर सकते हैं।** विहितको देखें तो सातों वारोंके व्रत कौन रख सकेगा?

× × ×

आने-जानेवाली चीजोंसे समताका नाश नहीं होता। समता ज्यों-की-त्यों रहती है।

सुखी-दुःखी होनेमें मूर्खता कारण है, प्रारब्ध कारण नहीं है। बालकको कितनी ही अनुकूलता दे दो, फिर भी वह रो देगा; क्योंकि मूर्खता है। ऐसे ही जो रोते हैं, वे बालक हैं।

जो कर्म कामनाको लेकर किये जायँ, वे सब अशुभ कर्म

हैं। उनसे जन्म-मरण नहीं मिटेगा; ब्रह्मलोकतक जाकर भी पीछे लौटना पड़ेगा। कामनासे बन्धन है, निष्कामतासे मुक्ति है।

किसी भी योगसे चलो, निर्मम और निरहंकार होना ही पड़ेगा। शरीर आदिका त्याग 'त्याग' नहीं है, प्रत्युत मैं-मेरेका त्याग ही 'त्याग' है।

कर्तृत्वाभिमान और कामना न हो तो सब कर्म 'अकर्म' हो जाते हैं अर्थात् कर्म जली हुई मूँजकी रस्सीकी तरह हो जाते हैं, बन्धनकारक नहीं होते। कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छा—इन दोसे कर्म बन्धनकारक होते हैं। फलेच्छा नहीं रहे तो कर्तृत्वाभिमान भी नहीं रहेगा। कर्मयोगमें फलेच्छाका और ज्ञानयोगमें कर्तृत्वाभिमानका त्याग मुख्य है। दोनोंमें एकका त्याग होनेपर दोनोंका त्याग हो जायगा। मेरा और दूसरोंका, अभी और परिणाममें सबका हित हो, वही कार्य करना चाहिये।

कामनाको मिटानेके लिये ऐसा विचार करना चाहिये कि कामनाकी पूर्ति होनेपर मिला क्या? जहाँ थे, वहीं लौटकर आ गये, फायदा क्या हुआ? सौ रुपयेकी कामना पूरी हो गयी तो हजार रुपयोंकी कामना हो गयी, फायदा क्या हुआ?

साधु, गृहस्थ, राजा, निर्धन आदि सभीके लिये वैराग्य बड़े कामकी चीज है। राग मूर्खताकी पहचान है—**'रागो लिङ्गमबोधस्य।'**

× × ×

नाशवान्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है और जो इसको जाननेवाला है, उसका अभाव विद्यमान नहीं है। दोनोंका तत्त्व है—भावरूपसे रहनेवाला चेतन। जो है ही नहीं, उसको क्या जानना? शरीरके नाशसे अपना नाश मानना गलती है। शरीरका वियोग ही सत्य है और नित्य है। **अपनेको जानेवालेके साथ मानना बन्धन है और नित्य रहनेवालेके साथ मानना मुक्ति है।** शरीर और संसार अनित्य-विभागमें हैं। आत्मा और परमात्मा नित्य-विभागमें हैं।

× × ×

संसारकी चीजोंपर तो हमारा थोड़ा-थोड़ा अधिकार है, पर भगवान्‌पर जीवमात्रका पूरा अधिकार है। माँकी गोदीमें जानेका सब बालकोंका पूरा अधिकार है।

संसारके साथ सम्बन्ध रखना है केवल सेवाके लिये। **सेवा करो और पिण्ड छुड़ाओ!** सेवा सबकी कर दो, पर लेनेकी आशा किसीसे भी मत रखो। भगवान्‌से भी लेनेकी आशा मत रखो। संसारकी आशा रखनेवाला कभी सुखी नहीं होता। एक संत बीमार हुए तो जिनसे सेवाकी आशा थी, उनमेंसे किसीने भी उनकी सेवा नहीं की। एक अपरिचित व्यक्तिने उनकी सेवा की और जब संत स्वस्थ हो गये तो उसने ब्राह्मणभोजन भी किया!

ठाकुरजीके प्रसादमें मीठा भी होता है और करेला भी होता है। दोनों ही प्रसाद हैं। ऐसे ही कड़वा-मीठा (सुख-दुःख) जो आये, सब भगवान्‌का प्रसाद है। **जो हम बुद्धिमें नहीं ला सकते, वह काम भी भगवान् कर देते हैं, फिर हम चिन्ता क्यों करें?**

जो जिस परिस्थितिका तिरस्कार करता है, उसको वह परिस्थिति पुनः मिलती नहीं। अतः जो मिले, उसका सदुपयोग करो।

ठीक-बेठीक हमारी दृष्टिमें होता है। भगवान्‌की दृष्टिमें सब ठीक-ही-ठीक होता है।

भगवान्‌ने कृपा करके हमें दुनियाभरमें सबसे बढ़िया जगह (इस सत्संगमें) पहुँचा दिया! नहीं तो ऐसी जगहकी हम खुद खोज नहीं कर सकते। विचार करें, हम कहाँ जन्मे, कहाँ पढ़े, कहाँ रहे और कहाँ पहुँच गये!

× × ×

सुखी-दुःखी स्वयं ही होता है। **स्वयं सुखी-दुःखी नहीं होता—यह बात तो सुनी हुई और सीखी हुई है, पर हम स्वयं सुखी-दुःखी होते हैं—यह हमारा अनुभव है।**

दुःख मैं-मेरेपनसे होता है। जबतक मैं-मेरेकी मान्यता है, तबतक कितना ही सीख लो, दुःख नहीं मिटेगा। जिस मकानको हम अपना मानते हैं, उसमें कोई कोयलेकी लकीर भी खींच दे तो दुःख होता है। उसी मकानको जब हम बेच देते हैं, तब उसके टूटनेका भी हमें दुःख नहीं होता। अतः जिनमें हमारा अपनापन नहीं है, उनसे हम मुक्त ही हैं। इस दृष्टिसे अधिक मुक्ति तो हो गयी है, थोड़ी-सी बाकी है! संसारमें कई मकान नष्ट होते हैं, कई मनुष्य मरते हैं, पर उनका हमारेपर असर नहीं पड़ता। जिसमें हमारा मैं-मेरापन होता है, उसीका असर पड़ता है।

जहाँ ममता नहीं होती, वहाँ व्यवहार बढ़िया होता है। जहाँ ममता होती है, वहाँ इलाज भी बढ़िया नहीं होता! डॉक्टरके घरमें कोई बीमार होता है तो वह दूसरे डॉक्टरको बुलाता है। **घरवालोंकी सेवा करनेका पुण्य नहीं होता; क्योंकि पुण्यको ममता खा जाती है।** अगर आप शरीरको मैं-मेरा नहीं मानो तो शरीरको अन्न देनेका भी पुण्य होगा। **मेरापन ही आपके पुण्यका, धर्मका नाश करनेवाला है।**

संसारसे सम्बन्ध जोड़ो तो दुःखोंका पार ही नहीं है और भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ो तो सुखोंका पार ही नहीं है।

सेवा करनेके लिये दुनिया हमारी है और लेनेके लिये कोई हमारा नहीं है। (क्रमशः)

× × ×

धर्मका प्रायोगिक पक्ष

(श्रीप्रदीपकुमारजी पाण्डेय)

धर्मका जीवनमें किस प्रकार आचरण किया जाना चाहिये अर्थात् धर्मको प्रयोगात्मक रूपसे जीवनमें कैसे अपनाया जाय? इस सम्बन्धमें यहाँ संक्षिप्त चर्चा की जा रही है। धर्मका अनुकरण करनेके लिये निम्न बातें आवश्यक हैं—

विश्वास—सर्वप्रथम हमें ईश्वरके अस्तित्वपर पूर्ण विश्वास करना अत्यावश्यक है, इसके साथ ही स्वयंपर, धार्मिक ग्रन्थोंपर और महापुरुषोंके वाक्योंपर भी पूर्ण विश्वास होना आवश्यक है। हमारा शरीर ईश्वरद्वारा बनाया गया है और इसके संचालन करनेमें ईश्वरके अतिरिक्त कोई भी सक्षम नहीं है। अतः ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करते हुए ईश्वरपर एवं स्वयंपर पूर्ण विश्वास करना धर्म-पथका प्रथम सोपान है।

स्कूलमें जैसे विद्यार्थी इतिहास, विज्ञान आदिकी पुस्तकोंका पूर्ण विश्वासके साथ अध्ययन करता है, उसी प्रकार मनुष्यको धार्मिक ग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिये, भगवान्‌की लीलाओंको विश्वासके साथ पढ़ना चाहिये और भगवान्‌के उपदेशोंका अनुकरण करना चाहिये। ऐसा करनेसे चित्त भ्रमित नहीं होगा। क्या और कैसे अध्ययन करना है—इसके लिये सद्‌गुरुकी आवश्यकता पड़ती है। गुरुके उपदेशोंके अनुसार चलनेसे जीवनयात्रा आसान हो जाती है। हमारे धार्मिक ग्रन्थ ऋषि-मुनियोंकी खोज हैं। ऋषियोंने ईश्वरकी तपस्या करनेके उपरान्त धार्मिक ग्रन्थोंका सृजन किया है। श्रीमद्भगवद्‌गीता तो भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे ही निकली है। अतः हमारे ग्रन्थ साक्षात् ईश्वरस्वरूप ही हैं। उनपर पूर्ण विश्वास करना चाहिये। जीवका ज्ञान तो अज्ञानसे ढका हुआ है और उसी अज्ञानके कारण सभी जीव मोहित हो रहे हैं। अतः प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि अपने अज्ञानको दूर करे। ईश्वर दयानिधान हैं, कृपानिधान हैं और करुणानिधान हैं। इसलिये ईश्वरसे प्रेम करना चाहिये।

ईश्वरको आत्मारूपसे शरीरमें विराजमान माननेसे पूर्ण विश्वास एवं अभयकी प्राप्ति होती है। विश्वाससे ही ईश्वरकी भक्ति प्राप्त होती है तथा भक्ति ही ईश्वर-प्राप्तिका सरल मार्ग है।

आहार—आजके तथाकथित वैज्ञानिक युगमें आहारपर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। फलस्वरूप शारीरिक तथा मानसिक रोग—राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि उत्पन्न होते हैं और मनुष्य अनेक प्रकारके कष्ट सहता है। आहारसे इन्द्रियाँ शक्ति प्राप्त करती हैं और सारे कर्म इन्द्रियोंसे ही सम्पन्न होते हैं। सर्वदा सात्त्विक आहार करना चाहिये तथा कुछ व्रत आदि भी करने चाहिये। व्रत करनेसे ईश्वरमें विश्वास उत्पन्न होता है। शरीरको ईश्वरकी धरोहर समझकर ही आहार, व्यवहार, विचार, चिन्तन आदि करने चाहिये। आहारकी शुद्धिसे सत्त्वकी शुद्धि होती है, सत्त्वशुद्धिसे निरन्तर भगवत्स्मृति बनी रहती है और इससे अज्ञानजन्य सभी ग्रन्थियोंका विमोचन हो जाता है तथा व्यक्ति भगवत्पथपर आरूढ़ हो जाता है।

मनपर नियन्त्रण—काम, क्रोध, लोभ तथा मोह आदि मनके विकार हैं। इनका नियमन परम आवश्यक है। सामान्यतया मनुष्य इनके कुप्रभावपर ध्यान नहीं देता, फलतः ये स्वयंको अधिक हानि पहुँचाते हैं, दूसरोंको कम। जैसे कोई किसीके प्रति क्रोध करता है तो ऐसा करनेसे उसकी ऊर्जाका ह्रास होता है तथा मन कमजोर हो जाता है। अतः सबसे सम व्यवहार करना चाहिये ताकि मन प्रसन्न रहे। कहा गया है—**'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'** अर्थात् जो अपने लिये अनुकूल न हो ऐसा व्यवहार दूसरोंके साथ न करे। भगवान् श्रीकृष्णने गीता (६। ३२)-में कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

अर्थात् हे अर्जुन! जो सबको अपनी आत्माके समान देखता है और दूसरोंके सुखों एवं दुःखोंको अपना समझता है, वह सर्वश्रेष्ठ योगी है। अतः इस प्रकार सबके साथ एक-सा व्यवहार करनेपर मन नियन्त्रित होने लगेगा और प्रसन्नताका स्वतः ही अनुभव होने लगेगा।

अभय—धर्मका पालन निर्भय होकर करना चाहिये। आलोचकोंकी परवाह न करते हुए लज्जाका परित्याग कर निर्भय होकर प्रभुका चिन्तन करना चाहिये। शरीरकी प्रतिष्ठा या मानकी चिन्ताका त्याग कर देना ही उचित है। धर्मका पालन करनेपर वह धर्माचरण ही कर्ताका संरक्षक बन जाता है—**'धर्मो रक्षति रक्षितः'**।

धर्मपथपर चलनेके लिये किसी साथीकी तलाश

करना भी आवश्यक नहीं है। इस मार्गपर अकेले ही पदार्पण करना होता है। इस पथमें तो 'हरिनाम'का साथ सदाके लिये हो जाता है, तथापि यदि संग त्यागा न जा सके तो महापुरुषोंका या सद्ग्रन्थोंका संग करना चाहिये।

वैराग्य—संसार असार है, अनित्य है और यह शरीर प्रभुप्राप्तिके लिये मिला है—ऐसा चिन्तन बार-बार करनेपर सांसारिक वस्तुओंसे वैराग्य होने लगता है। संसारकी वस्तुएँ उपयोगके लिये हैं, उपभोगके लिये नहीं। विषयोंसे कभी तृप्ति नहीं होती। विषयोंके अधिक सेवनसे शरीरमें रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अतः धीरे-धीरे वैराग्यका अभ्यास करना चाहिये।

धर्मयुक्त जीवनयापन करनेके लिये धर्मके मूल नियमों—सत्य, दया, तप एवं दानका पालन करना अत्यावश्यक है। इन नियमोंका पालन किस प्रकार किया जाय, अब इस सम्बन्धमें विचार करते हैं—

सत्य—तुलसीदासजीने कहा है—*'धरमु न दूसर सत्य समाना'* अर्थात् सत्यके समान कोई दूसरा धर्म नहीं है। सत्यपर ही सब कुछ टिका है। अतः सत्यका अनुकरण करना अनिवार्य है। यदि सत्यको अपनानेका निश्चय कर लिया जाय तो असत्यका बड़ा भाग स्वतः ही समाप्त हो जाता है। यदि पूर्णतया सत्यका अनुकरण नहीं हो सकता है तो यह नहीं सोचना चाहिये कि असत्यके बिना कार्य नहीं चल सकता। ऐसा सोचनेसे असत्यका पोषण होगा। अतः ऐसी स्थितिमें पश्चात्ताप करना चाहिये ताकि असत्य धीरे-धीरे छूट सके। जैसे हम चाहते हैं कि हमारा बच्चा झूठ न बोले, ऐसा ही ईश्वर भी चाहता है कि मनुष्य झूठ न बोले; क्योंकि हम उसकी संतान हैं। मनुष्य सत्यस्वरूप है अतः सत्यके अनुकरणमें कोई कठिनाई नहीं है।

किसीके प्रति मनमें बुरे विचार नहीं होने चाहिये। यदि कोई हमारे प्रति बुरा व्यवहार करता है तो उसे हृदयसे क्षमा कर देना चाहिये। ऐसा करनेसे मन निर्मल हो जाता है और निर्मल मनवाला मनुष्य ही ईश्वरको प्राप्त कर सकता है; क्योंकि भगवान् श्रीरामजीने कहा है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥
(रा०च०मा० ५।४४।५)

तप—भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें तीन प्रकारके तप बताये हैं। ये हैं—शारीरिक तप, वाणीका तप एवं मानसिक तप। भगवान् गीता (१७।१४—१६)-में कहते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

अर्थात् देवता, ब्राह्मण, गुरुजन एवं महापुरुषोंका पूजन, शुद्धि, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—ये शारीरिक तप कहे जाते हैं। किसीको उद्विग्न न करनेवाला, सत्य, प्रिय और हितकारक वचन, स्वाध्याय और नाम-जपका अभ्यास वाणीके तप कहे जाते हैं। मनकी प्रसन्नता, सौम्यभाव, मननशीलता, मनका निग्रह तथा भावोंकी भलीभाँति शुद्धि—ये मानसिक तप कहे जाते हैं। इस प्रकार धर्मके सभी चरण तपमें निहित हैं, इसीलिये सभी महापुरुषोंने ईश्वरप्राप्तिके लिये तपस्याका मार्ग अपनाया। अतः धीरे-धीरे तपस्याका यथासम्भव अभ्यास करना चाहिये।

दान—भगवान्‌ने गीताके १७वें अध्यायमें दानके विषयमें कहा है। अतः दानको भी धर्मका एक मुख्य अंग समझकर सुपात्रको संकल्पपूर्वक दान देना चाहिये। दीनजनोंको भी दान दिया जाना चाहिये।

दान दयाभावसे न करके ईश्वरभावसे करना उचित है। ईश्वर ही सबमें व्याप्त है अतः देनेवाला और लेनेवाला एक ही है—इस भावसे दान दिया जाना चाहिये।

धर्ममय जीवनका आरम्भ कैसे करें—धर्मका अनुकरण करनेके लिये कुछ अलगसे करनेकी आवश्यकता नहीं है। यह कार्य अपनी वर्तमान स्थितिसे ही आरम्भ करना चाहिये। जो भी कार्य हमें मिला है उसे धर्मयुक्त समझकर करना चाहिये। **'ईशा वास्यमिदꣳसर्वम्'** अर्थात् यह समस्त संसार ईश्वरसे व्याप्त है। अतः हम जो भी कार्य करते हैं, वह ईश्वरके लिये ही करते हैं—इस प्रकारकी भावनासे यदि कर्म किया जाता है तो वह कर्म कर्मयोग हो जाता है। यदि हम धर्मको शरीरकी आवश्यकता समझें तो धर्मका पालन भी स्वतः होने लगेगा।

वर्तमान स्थितिमें ही धर्मके मूल नियमोंका धीरे-धीरे अनुपालन करना चाहिये। नियमोंको सर्वप्रथम अपने ऊपर लागू करना चाहिये। यदि हम स्वयं सुधर जायँ तो सब कुछ सुधर जाता है।

धर्म-मार्गपर चलनेमें कठिनाइयाँ—हम कोई भी कार्य

करते हैं तो विघ्न अवश्य आते हैं। अतः धर्म-पथपर चलनेमें भी विघ्न अवश्य आयेंगे किंतु विघ्नोंसे विचलित नहीं होना चाहिये, अपितु उन्हें ईश्वरका प्रसाद समझकर अपने कार्यमें तत्परतासे आगे बढ़ना चाहिये। अनेक जन्मोंके बुरे संस्कार हमारे अन्दर रहते हैं उन्हें समाप्त करनेमें समय अवश्य लगता है। अतः ईश्वरपर पूर्ण विश्वास करके कठिनाइयोंका धैर्यपूर्वक सामना करते हुए यात्रा करनी चाहिये। जिस प्रकार शिशु अच्छी तरह चलना सीखनेसे पूर्व अनेक बार गिर पड़ता है, परंतु बार-बार प्रयत्न करनेसे एक दिन वह बिना सहारे अवश्य चलने लगता है। इसी प्रकार धर्म-पथपर बार-बार गिरनेपर भी अविचलितभावसे निरन्तर यात्रा जारी रखनी चाहिये।

मनके नियन्त्रित होनेसे धर्म-मार्गपर आनेवाली कठिनाइयाँ सरलतापूर्वक दूर हो जाती हैं। यथा—

(क) प्रायः मनमें यह विचार आते हैं कि धर्मपथपर चलनेकी अभी हमारी उम्र नहीं है और इस कार्यको वृद्धावस्थामें करेंगे। धर्म-पथपर चलनेके लिये कर्मका त्याग करना पड़ेगा, यह सोचकर भी मनुष्य शुरुआत नहीं करता है। यह हमारा भ्रम है; क्योंकि धर्मका अनुकरण तो बचपनसे ही किया जाना चाहिये। अच्छा कार्य जितनी शीघ्रतासे प्रारम्भ करें उतना ही अच्छा है।

(ख) प्रायः यह देखा गया है कि हम उसी कार्यका अनुशीलन करते हैं जिसे समाजमें अधिक लोग करते हैं, परंतु धर्मका अनुकरण बहुत कम लोग करते हैं। अतः निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णने गीता (७।३)-में कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

अर्थात् हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है तथा सिद्धोंमेंसे भी कोई मुझे (भगवान्‌को) तत्त्वसे जानता है। अतः इस प्रकारके नकारात्मक भावोंको त्यागकर धर्मका अनुकरण दृढ़तापूर्वक करना चाहिये।

(ग) प्रायः हम सोचते हैं कि धर्माचरणके लिये समय नहीं मिलता, किंतु यह बात तो बहानामात्र है। सच पूछिये तो धर्ममय कर्म करनेहेतु तो समय-ही-समय है। प्रत्येक कार्य प्रभुके निमित्त करना चाहिये। इससे स्वयं ही धर्माचरण सध जाता है। जैसे भोजन ग्रहण करते समय यह भावना होनी चाहिये कि यह शरीर प्रभुके द्वारा धर्मपालनके लिये मिला है अतः इसे शुद्ध भोजन खिलाना चाहिये। स्नान करते समय यह सोचे कि इस स्नानके द्वारा प्रभुका स्नान हो रहा है। सेवा-कार्य करते समय यही सोचे कि ईश्वर सबमें व्याप्त है अतः प्रभुका ही कार्य सम्पन्न हो रहा है अर्थात् प्रत्येक कार्य प्रभुको अर्पण करनेसे समस्त कर्म धर्ममय हो जायँगे। ऐसा करनेसे संसारके प्रति राग कम हो जायगा और वही राग ईश्वरोन्मुखी हो जायगा।

(घ) धर्मका क्या लाभ है, यह सोचकर भी धर्म-मार्गमें कदम रखनेमें झिझक होती है। आरम्भमें प्रत्यक्ष तो कोई लाभ नहीं दिखता है परंतु होता अवश्य है। वह लाभ कैसा है, इस विषयमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—**'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'** अर्थात् जिसको पाकर कोई भी दूसरा लाभ अधिक नहीं लगता है। दीर्घकालके बाद आध्यात्मिक लाभ मिलता है तथा दृष्टिगोचर भी होता है।

(ङ) असफलताओंसे मनुष्य घबरा जाता है, परंतु असफलताओंको भगवान्‌का प्रसाद समझकर आगे बढ़ना चाहिये। क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** अतः हमारा अधिकार तो मात्र कर्म करनेमें है, फल तो प्रभु ही देता है। इससे फलकी आशा त्याग करके कर्म करते रहना चाहिये।

(च) अध्यात्मपथपर निर्भय होकर यात्रा करनी चाहिये। मृत्युसे भी नहीं डरना चाहिये। मृत्यु तो शरीरकी होती है फिर मृत्यु जीवनका अन्त नहीं है, मृत्युके पश्चात् पुनः नया जीवन प्राप्त होता है। इन दिये गये निम्न श्लोकोंको याद करना चाहिये। भगवान् गीता (६।४०—४२)-में कहते हैं—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥

अर्थात् हे पार्थ! उस (साधक)-का न तो इस लोकमें न परलोकमें विनाश होता है, क्योंकि हे प्रियतम! कल्याणकारी कार्य करनेवाला कोई भी व्यक्ति दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता है। वह योगभ्रष्ट पुण्य कर्म करनेवालोंके लोकोंको प्राप्तकर

वहाँ बहुत वर्षोंतक रहकर फिर यहाँ शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है या ज्ञानवान् योगियोंके कुलमें जन्म लेता है और इस प्रकारका जन्म इस लोकमें अति दुर्लभ है। अतः हमारा जो भी शरीर है वह हमारे कर्मानुसार ही प्राप्त है तथा भविष्यमें भी उसके अनुसार ही प्राप्त होगा। फिर अपने धर्मपालनमें यदि शरीरकी मृत्यु भी हो जाती है तो कोई चिन्ताकी बात नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण गीता (३।३५)-में कहते हैं—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

अर्थात् भलीभाँति आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे कम गुणोंवाला अपना धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भय देनेवाला है।

(छ) भूतकालमें किये हुए शास्त्रविरुद्ध कार्योंकी याद आनेपर यह विचार आता है कि हमने बहुत-से गलत कार्य किये हैं, फिर हम अध्यात्मपथपर कैसे यात्रा कर सकते हैं? इस प्रकारकी हीन भावनाका त्याग करना चाहिये। क्योंकि प्रभु दीनदयाल हैं, कृपानिधान हैं और करुणानिधान हैं। इस प्रकार विश्वासपूर्वक धर्मका अनुकरण करना चाहिये। भगवान् श्रीराम विभीषणसे कहते हैं—

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥
जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥
(रा० च० मा० ५।४८।१—३)

अर्थात् हे सखा! सुनो मैं तुम्हें अपना स्वभाव कहता हूँ जिसे काकभुशुण्डि, शिवजी एवं पार्वतीजी भी जानते हैं। कोई मनुष्य जड़-चेतन जगत्का द्रोही हो, यदि वह भी भयभीत होकर मेरी शरण आ जाय और मद, मोह तथा नाना प्रकारके छल-कपट त्याग दे तो मैं उसे शीघ्र साधुके समान कर देता हूँ अर्थात् यदि मनुष्य भविष्यमें धर्मके अनुसार ठीक कार्य करे तो भगवान् उसे अपना लेते हैं। गीता (९।३०-३१)-में भगवान्ने कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

अर्थात् हे अर्जुन! यदि कोई अतिशय दुराचारी मनुष्य भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने भक्तिका निश्चय कर लिया है। वह तत्काल धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे कुन्तीनन्दन! तुम निश्चयपूर्वक सत्य जान लो कि मेरे भक्तका पतन नहीं होता है। अतः पूर्वमें किये हुए अपने कर्मोंको भुलाकर भगवान्की शरणमें जाना चाहिये और धर्मका पालन करना चाहिये।

(ज) साधकके मनमें भिन्न-भिन्न प्रकारके भाव आते हैं। जिससे मनकी स्थितिका ज्ञान होता है। मनकी स्थिति हमेशा एक-सी नहीं रहती है, अतः मनके अनुसार बहना उचित नहीं है। मनमें बुरे विचार आनेपर चिन्तित नहीं होना चाहिये, अपितु भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि हे प्रभो! इन विचारोंको समाप्त कर दो। प्रत्येक कार्यमें गुण और दोष दोनों ही होते हैं। अतः अच्छे कार्योंके गुणोंका स्मरण करके उन्हें अपनाना चाहिये और बुरे कार्योंके दोषोंको देखकर उन्हें त्याग देना चाहिये। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यके अन्दर गुण और दोष होते हैं। अतः अच्छे गुणोंका पोषण करना चाहिये।

इस प्रकार विघ्नोंका सामना करते हुए प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक अवस्थामें धर्मका अनुकरण कर सकता है। इसके लिये श्रद्धा, विश्वास एवं साहसकी आवश्यकता है।

चूँकि अपना कल्याण करना मनुष्यमात्रका कर्तव्य है और यह कार्य स्वयं ही करना पड़ता है। अतः प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह धर्मका अनुसरण करते हुए अपना जीवन-यापन करे। कहा भी गया है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥
(मनु० ८।१५)

अर्थात् धर्मका परित्याग करनेसे धर्म मनुष्यका नाश कर देता है तथा धर्मकी रक्षा करनेसे धर्म मनुष्यकी रक्षा करता है। कहीं धर्म हमें नष्ट न कर दे, इसलिये धर्मका परित्याग नहीं करना चाहिये।

* * *

साधक-प्राण-संजीवनी

[दीवानोंका यह अगम पंथ संसारी समझ नहीं पाते]

साधुमें साधुता—

(गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज)

[गताङ्क पृ०-सं० ७९९ से आगे]

प्रारब्धवश जो मिलि जाय, वाहीमें संतुष्ट रहै, भले ही कछु कष्ट होय तौ सह ले, परंतु शारीरिक सुख-सुविधाकी इच्छा न करै। संसारी पदार्थ पायकैं प्रसन्न न होय। श्रीभगवान् जो दै दें, वाहीमें संतोष करै।

जैसें संसारी लोग पूरी सत्यतासौं तथा पूरी लगनसौं अपने कामनमें लगें हैं, वैसें ही हमकूँ हू लगनौं चहिये, यही हमारी सचाई है।

भले ही धाम-बास है रह्यौ होय, भजन है रह्यौ होय, सत्संग मिलि रह्यौ होय, परंतु जबतक वाकूँ जीवनमें नहीं उतारिंगे, तबतक कोई लाभ नहीं। सत्संगकी बड़ी महिमा है। आजतक जितने हू उठे हैं, सत्संगसौं ही उठे हैं। जा काहूने सत्संगकूँ अपने जीवनमें उतारिवेकौ प्रयत्न कियौ है, सो ही उठ्यो है। ऊपरी बातनसौं काम नहीं चलैगौ। यामें पूरी सत्यता होय, तब ही उठाव होयगौ।

कोई भूल हैवे पै यदि मनमें प्रसन्नता होय तौ जानि लेउ कोई बड़ी विपत्ति आयवे वारी है। यदि खेद होय, पश्चात्ताप होय तौ वह भूल कबतक टिकैगी। धीरे-धीरे किनारौ करि ही जायगी। विकारनकूँ रोकिवेमें यह खेद और पश्चात्ताप बड़ौ ही सहायक सिद्ध होय है। निराश न होय, विकारनसौं बचिवेकौ प्रयत्न जीवनपर्यन्त करतौ ही रहै।

सरलता, सबरे सद्गुणनकी जननी है। या पथमें याके बिना कछु हाथ नहीं लगै है।

मन अपने-आप विषयनमें और संसारमें दौड़े तो वह क्षम्य है, परंतु यदि हम वा समय वाकूँ रोकिवेकी अपेक्षा वाकौ साथ दै रहे हैं तौ अपराधी हैं।

उपासनाकौ एक यह क्रम है कि पहले भगवान् श्रीशंकरजीकी उपासना करै तौ विकार मिटि जायँ हैं। तब श्रीरामजीकी उपासना करै तौ जीवनमें सदाचार मर्यादाकौ पालन होयगौ। ताके फलस्वरूप तब भगवान् श्रीकृष्णकौ प्रेमस्वरूप समझमें आवैगौ। तब ही श्रीव्रजकी लीला समझमें आवैगी। तब ही श्रीनन्दलालमें प्रेम होयगौ।

संतकी (श्रीसद्गुरुकी) आज्ञा-पालन करिवेसौं ही जीवन निष्पाप बनैगौ।

यथा संनिपात रोगग्रस्त रोगीके ताँई प्रतिक्षण औषधिकौ प्रयोग तथा उपचार होतौ रहै है एवं सब प्रकारकी सावधानता राखनी परै है। तद्वत् मनके शान्त करिवेमें हू ऐसौ ही प्रयत्न कम-सौं-कम तौ हौनौ ही चहिये। साधारण रोगीकौ सौ उपचार यदि कियौ जाय तौ संनिपाताक्रान्त रोगी निरोग है ही नहीं सकैं। तथैव मनके विषयमें समझनौं चहिये।

सम्प्रति प्रायः नीची अवस्थाकौ ही पालन साधक जगत्में होय है। मनके ऊपर शनैः-शनैः बहुत दबाव परनौं चहिये। तब कहूँ याके शान्त होयवेकी आशा करी जाय सकै है।

इन्द्रियनकूँ मन मानौ छोड़ि देय है, फिरि मनकूँ शान्त करनौं चाहै है। यह मूर्खता है। जा समय साधक वास्तविकरूपमें आय जायगौ वा समयकी अवस्था श्रीप्रियतमके अत्यन्त सांनिध्यकी है।

सम्प्रति साधक जगत्में नवीन विचार उत्पन्न है गये हैं तथा है रहे हैं। शास्त्रकौ आज्ञानुसार साधन बननौं कठिन परै है। अतएव साधक सरल मार्ग खोजिवे लगै है।

सर्वतोभाव सौं विकारनकौं नाश तौ तब ही होय है, जब श्रीप्राणनाथके प्रेमसागरमें साधक डूबि जाय है।

यदि साधककूँ साधनके नियमनकी चिन्ता होयवे लगै तौ अन्य चिन्ताएँ स्वतः भाग जायँगी। यह लाभ सुलभ है।

प्रारम्भमें आश्रय, आगें चलिकैं अनुयायित्व, यह क्रम उचित जानि परै है। या यौं समझैं कि आश्रयत्व ही अनुयायित्वमें परिणित है जायगौ।

सबकौ फल—एकान्तप्रियता, उपरति, निरन्तर भजन तथा श्रीजीवनसर्वस्वसौं पूर्ण आत्मीयता।

दास और कान्त—ये दो भाव प्रभुकी किशोरावस्थामें ही ठीक बैठैं हैं। सख्य तथा वात्सल्य, बालमूर्तिमें।

जो दीर्घकाल ठीक-ठीक भजन करिवेकी इच्छा होय, तौ शरीरकूँ सँभारते भये भजन करिवेकौ विचार राखै। हाँ, देहाभ्यास न बढ़ाय बैठै। यह ध्यान राखै—

> **'तन बिनु बेद भजन नहिं बरना॥'**
>
> (रा० च० मा० ७। ९६। ५)

पापके क्षीण भये पीछैं अन्तःकरणमें सत्त्वकौ विकास होय है। तब विवेक उपजै है। तदनन्तर जितेन्द्रियता एवं अन्तर्मुखताकी वृद्धि होयवै लगै है। यही आत्मोत्थानकौ सोपान है। अतएव पापनके क्षीण करिवेके ताँईं साधककूँ पूर्ण प्रयत्न करनौं चहिये। प्रयत्न है—श्रद्धा आदिक।

सर्वतोभावेन साधन तौ—श्रद्धा, संयम, तप, त्याग, वैराग्य।

एवं ईश्वर-स्मृति बढ़ातो ही रहै। इनसौं सदैव अतृप्त ही रहै। इनके ताँईं पूर्ण व्रत होय। इनकौ पालन करिकैं इनकी ही याचना होय। इत्यादि।

सफलता तौ श्रीप्राणनाथके हाथ है। हाँ, साधक स्वप्नमें हू अपने संयममें शिथिलता न होने देय तथा यह न मानि बैठे कि मैं अब पूर्ण संयमी बनि गयौ।

यदि करते बनि जाय तौ भजनके समान अन्य कोई शुभ काम नहीं है।

जो कार्य विधिपूर्वक कियौ जाय है, वाहीकौ फल उत्तम मिलै है। विपरीत ढंगसौं किये भयेकौ फल हू विपरीत ही होय है।

भजनकौ फल वास्तवमें भजनमें अतृप्ति है। उत्तरोत्तर संवर्धनकी आकाङ्क्षा उपजती रहै। किंतु जब ठीक ढंगसौं नहीं कियौ जाय, तब भोगनकी उपलब्धि कराय बैठै है। जासौं पतन अवश्यम्भावी है। ऐसे ढंगसौं भजन करनौं चहिये, जासौं हृदयमें आह्लाद उत्पन्न होय एवं रसकी उपज होयवे लगै। श्रीनाम-जपकी अनेकन विधियाँ हैं। कोई बाजा-गाजाके साथ संकीर्तनकौ महत्त्व वर्णन करैं हैं। कोई जोर-जोरसौं गायवेमें रुचि राखैं हैं। कोई-कोई होठ-ही-होठमें श्रीनामकौ उच्चारण अच्छौ समझैं हैं। बहुत-से साधकनकौ मत है कि मानसिक जप ही सर्वोत्तम है। वस्तुतः साधकके अधिकारभेद सौं समस्त विधियाँ उत्तम ही हैं। एकान्तमें कछु जोरसौं, तालके साथ यदा-कदा ठाढ़े है कैं, अङ्ग-संचालन करते भये। श्रीप्रदक्षिणामें हू तालध्वनिके साथ श्रीनामोच्चारण तदनुसार पाँवनकी गति हू होती रहै। विधि सबकी ठीक है।

मृत्युकी पहलेंसौं ही पूरी तैयारी करै। जो जीवनभर कियौ जाय है, वही अन्तकालमें स्मरण होय है। ऐसौ नहीं कि जीवनभर संसारमें डूबे रहे और अन्तकालमें श्रीठाकुरजीकौ चित्रपट सामने धरिकैं कीर्तन करिवेसौं ही मान लियौ कि बस पार है गये। वासना अति सूक्ष्म बस्तु है। वह हृदयमें सदैव चिपकी रहै है। जो अन्तकालमें विराट्रूप लैकैं सम्मुख ठाढ़ी ह्वै जाय है। वासनाके अनुसार ही दूसरौ जन्म होय है। या कारण बाल्यकालसौं ही उपासनाकौ विधान है अर्थात् अपनौं सम्पूर्ण जीवन प्रभुके काममें ही आवै। अन्तकालमें जो मनमें रहैगौ, वही जन्म होयगौ।

भोजन, शयन, शौच, स्नान आदिक सब शरीरकी रक्षाके ताँईं होय और शरीर होय साधनके ताँईं तथा साधन होय श्रीभगवत्प्राप्तिके ताँईं। तब जी-जीवनकी सफलता है।

प्रत्येक कार्य करिवेसौं पूर्व बड़ी गहराईसौं यह विचारिकैं देखि लेय कि यह कार्य संसारके ताँईं है या अपने ताँईं है अथवा श्रीजीवनधनके ताँईं है। यदि अपने और संसारके ताँईं है तौ कदापि न करै। यदि प्रभुके रिझायवेके ताँईं है तौ तुरंत करि डारै। यही युक्ति है, प्रपञ्च सौं बचिवेकी और यही परम कर्तव्य है साधककौ।

कामना-वासना नैंकऊ रह गयी तौ फिर लौटिकैं आनौं परैगौ। भले ही तुलसीदासजीकी भाँति रामचरितमानस-जैसौ ग्रन्थ लिखिकैं लाखन लोगनकौ उद्धार ही क्यौं न करि दियौ होय। परंतु कामना लैकैं मरे तो आयकैं पूरीं करनी ही परैगी। भले ही काम बहुत ऊँचौ होय, किंतु वासना रहैगी तौ बाके ताँईं संसारमें जन्म तौ लैनौं ही परैगौ।

वैराग्यकौ अर्थ कपड़ा रँगनौं नहीं है। वैराग्य माने अन्तःकरण खाली। इनके अतिरिक्त कोई इच्छा ही नहीं उठै। त्याग केवल टाट लपेटिकैं, दिगम्बर रहकैं, वृक्षनके नीचैं रहवेकौ नाम नहीं है। वास्तविक त्याग तौ इनके और हमारे बीच बाधक वस्तुकूँ त्यागिवेकौ नाम ही त्याग है।

मन तौ एक है, चाहैं याकूँ संसारके रिझायवेमें लगाय लेउ, चाहैं इनके रिझायवेमें। जब ससारकौ रिझानौं बंद है जायगौ, तब ही इनकूँ रिझाय पाओगे।

हम अपने जीवनकी कहैं। कहानी नहीं है। चाहैं याके कहवे सौं सुकृत नष्ट होते हौयँ तौ भले ही है जायँ, पर हम कहिंगे अवश्य। सम्भव है, कौई याकूँ सुनिकैं चलिवे लगि जाय।

हाथरसमें हमारौ सब समय जैसैं इनकी चर्चा और भजनमें बीतिही रह्यौ हो कि इनके अतिरिक्त दूसरी कोई चर्चा ही नहीं। धन नहीं बटोर्‌यौ। जबकि दूसरे पण्डित हमारी मूर्खतापै उपहास हू करते। यह सब है ही रह्यौ हौ कि रासबिहारी बनिकैं गये और पकरि लाये। वा समय हमारी जो दशा भई वाकूँ हम ही जानैं। कोई भुक्तभोगी ही अनुमान लगाय सकै है। हम रासबिहारी कूँ रासबिहारी मानि बैठे। न कछु देखनौं, न कछु सुननौं, यहाँतक कि देहाध्यास हू नहीं रह्यौ। वा दशाके ताँईं हम आज हू तरसैं हैं। अब तौ हमारौ जगिवे ते सोयवेतक कोई हू क्षण व्यर्थ ही नहीं जाय है। शौचके समय नाम बंद है जाय है, वह समय हू बिना नामके हमैं अखरै है। हम कबहूँ बौलैं हैं तो बिवशतासौं ही बोलैं हैं। इच्छा यही रहै है कि बोलनौं ही न परै। या प्रकार पूरौ समय श्रीनाम-जपमें ही लगानौं है, तब कहूँ जायकैं प्रेम-देवताकी प्राप्ति होयगी। जो इनसौं हू बढ़िकैं है। प्रेम-देवता आये न कि? प्रभु तौ पीछैं-पीछैं घूमैं हैं।

प्रश्न—पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणासौं कैसैं बच्यौ जाय? हम ग्रहस्थनकूँ प्रवृत्तिमें निवृत्तिकौ लाभ कैसें मिलैं?

उत्तर—अध्यात्ममें ठीक-ठीक प्रवेश तौ निवृत्तिमार्गमें ही होय है। निज इष्ट-चिन्तन तब ही सम्भव है, जब चित्तमें कोई वासना न होय तथा चित्त कहूँ अन्यत्र आसक्त न होय। आचार्यनने प्रवृत्तिमार्ग बारेनके ताँईं युक्ति निकारी है कि जो कछु करै, इष्टके निमित्त ही करै। तब कहुँ आसक्ति नहीं रह सकै। भले ही अपनौं ही पुत्र है, किंतु पिताकौ परम कर्तव्य है कि बाल्यकालसौं ही पुत्रकूँ श्रीभगवत्की ओर झुकावतौ चलै। पूर्ण सदाचारी बनायकैं, श्रीप्राणनाथके अर्पण करि देय। अब याकूँ श्रीभगवद्वस्तु मानिकैं पालै, पौषै, पूर्ण संरक्षण करै एवं सब प्रकारसौं सत्पात्र बनावै, जासौं यह श्रीप्रियतमकौ कृपापात्र बनि सकै। हाँ, यासौं अपनौं कोई स्वार्थ-साधन नहीं सोचै। या प्रकारसौं सँभारै तौ पुत्रकौ उद्धार तौ है ही जायगौ, साथ ही याकूँ श्रीप्राणनाथकौ जन बनायवेके कारण या सत्कर्मसौं अपनौं हू उद्धार है जायगौ।

अब यह वस्तु श्रीभगवान्‌की बनि गयी। ऐसौ करिवे सौं अब पुत्रमें आसक्ति नहीं रह सकै है। यह विचारणीय बात है कि आसक्ति श्रीभगवद्विमुख वस्तुमें ही होय है, वामें मोह रहै है और श्रीभगवद्वस्तुमें कर्तव्यपालन रहै है। श्रीप्रियतमकी वस्तु है, यह मानिकैं संरक्षणमात्र रहै है, उपेक्षा नहीं, अनासक्त योगसौं पूरौ सँभारै। अब कहाँ रही पुत्रेषणा?

याही प्रकार गाढ़ी कमाईके द्वारा उपार्जित कियौ भयौ धन ही वास्तवमें धन है। अन्याय तथा पापकी एक कौड़ी हू यामें न मिलन पावै। या पवित्रतम धनकूँ सर्वप्रथम श्रीइष्टकी सेवामें अर्पण करै। करै अपनी सामर्थ्यके अनुसार ही। फिर ब्राह्मण-साधुनकी सेवामें तथा दीन-दुःखीनकी सहायतामें लगावै अब यह द्रव्य अत्यन्त शुद्ध बनि गयौ। या श्रीभगवत्प्रसादकूँ अपने कुटुम्बके पालन-पोषणमें लगावै। यामें यदि कछु कष्ट सहनौं परै तौ याकूँ तप ही मानैं। या तपसौं श्रीजीवनधनकी प्रसन्नता प्राप्त होय है, व्यर्थ खर्च न बढ़ावै। सात्त्विकी जीवन ही बनावै। ऐसे द्रव्यमें आसक्ति नहीं है सकै। अशुद्ध पापके द्रव्यमें स्वतः आसक्ति बढ़ि जाय है। या आसक्तिकौ रोकनौं कठिन परि जाय है। यही बन जाय है—वासना, यही बनै है—नरककौ कारण। अनेकन जन्मनपर्यन्त पाप यौंनिनमें भयंकर कष्ट भोगनौं परै है।

अतएव शुद्ध कमाई, पवित्र स्थानमें व्यय, यह भयौ सत्कर्म। अब वित्तेषणा रह ही नहीं सकै। यदि ऐसौ वानिक बनि जाय अर्थात् संतति और द्रव्य यह दौनौं ही श्रीप्रियतमकी वस्तु बनाय सकै तौ याके परिणाममें संसारसौं वैराग्य है जायगौ तथा श्रीजीवनधनकौ कृपाभाजन बनि जायगौ और जीवन-सफल है जायगौ। [क्रमशः]

* * *

मानसमें मानवीय मूल्य

(श्रीकैलाशजी त्रिपाठी)

गोस्वामी तुलसीदासजी सार्वभौम कवि हैं और उनका श्रीरामचरितमानस सार्वभौम ग्रन्थ है। तुलसीदासजीका लक्ष्य मानवमात्रको भगवन्मार्गमें आरूढ़कर उसका आत्यन्तिक कल्याण करना रहा है। इसके लिये उन्होंने सात्त्विक गुणोंकी प्रतिष्ठा होना आवश्यक बताया है। इसी दृष्टिसे उन्होंने अपने मानसमें प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्षरूपसे ऐसे गुणों तथा मानवीय मूल्योंका समावेश किया है जिससे मानव उनसे प्रेरित होकर अपना सर्वविध कल्याण कर सके। गीतामें मानवीय आचरणसे सम्बन्धित जिन तत्त्वोंको दैवी सम्पदाकी संज्ञा दी गयी है, प्रकारान्तरसे उन्हें सर्वोत्तम मानवीय मूल्य भी कहा जा सकता है। जैसे—अभय, तप, सत्य, अहिंसा, सरलता, त्याग, शान्ति, दया, क्षमा, धैर्य एवं तेज आदि।* तुलसीदासजीने मानसकी भागीरथी प्रवाहित कर मानवीय चेतनाका संचार किया; क्योंकि मानवीय मूल्योंकी दृढ़ अवधारणा एवं स्थापनामें मानवकल्याण निहित है।

आजकी विषम स्थितियोंमें तुलसीके नीतिगत मानवीय संदेशोंका प्रचार, प्रसार एवं अनुपालन आवश्यक है। तुलसीदासजीकी अवधारणा है कि मानवको विवेकका आश्रय लेना चाहिये। विवेकद्वारा मनुष्य दुर्गुणोंसे विमुख होकर सद्गुणोंकी ओर उन्मुख होता है। *'अस बिबेक जब देइ बिधाता। तब तजि दोष गुनहिं मनु राता॥'* मानसमें समाविष्ट कुछ ऐसे ही मानवीय मूल्य यहाँ स्थालीपुलाक न्यायसे सांकेतिक रूपमें द्रष्टव्य हैं—

लोकहित—हमारी मानसिक अशान्ति, उद्विग्नता, क्षोभ, नैराश्य, क्लेश और दुःखादिके मूलमें है हमारे द्वारा लोकहितका बाधित होना। तत्त्वतः 'स्व' ही 'पर' है और 'पर' ही 'स्व'। परहितमें स्वहित निहित है। दूसरेके अपकार या उत्पीड़नमें भले ही वह मानसिक ही क्यों न हो, स्वहितका दिखायी देना मृगमरीचिका है। प्रकृतिमें लोकहित स्वाभाविक रूपसे समाहित है। सूर्यका प्रकाश, वायु, पृथ्वी, जलवृष्टि, वनस्पतियाँ, नदी, पर्वत आदिमें भी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष लोकहित समाविष्ट है। मानवीय मूल्योंमें तुलसीदासजीने लोकहितको सर्वोच्च मान्यता प्रदान की है। रामचरितमानसकी रचना लोकभाषामें सबके कल्याणकी भावनासे ही की गयी। मानसमें उनका स्पष्ट उद्घोष है कि यश, काव्य एवं सम्पत्ति वही श्रेष्ठ है, जिसमें गङ्गासदृश सभीका हित समाहित हो—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

उनका स्पष्ट संदेश है—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
पर हित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥

(रा० च० मा० ३। ३१। ९; १। ८४। २)

उनकी दृष्टिमें परहितके समान कोई धर्म नहीं है तथा दूसरेके उत्पीड़न एवं शोषणके समान कोई अधमता नहीं है। मनुष्य-शरीर धारणकर जो दूसरोंको पीड़ित करते हैं, उन्हें महान् सांसारिक कष्ट सहन करने पड़ते हैं—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भव भीरा॥

(रा०च०मा० ७। ४१। १, ३)

सर्वमङ्गलकी भावनासे अनुप्राणित होकर ही हम अपने भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नतिहेतु प्रयास करें। दूसरेके हितको बाधित करके अथवा अहित करके अपनी उन्नतिकी अवधारणा नितान्त गलत है।

सत्य—हमारे द्वारा प्रतिक्षण किसी-न-किसी रूपमें मन, वाणी और कर्मसे सत्य बाधित हो रहा है। सत्य बाधित होनेसे व्यक्तिका व्यक्तित्व एवं कृतित्व प्रभावित होता है तथा उसका नैतिक पतन होता है। साथ ही मानसिक विकृति भी सम्भाव्य है। शास्त्र, वेद और पुराणोंके आधारपर गोस्वामीजीकी मान्यता है कि सत्यके समान दूसरा धर्म नहीं है—

धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥

गोस्वामीजी कहते हैं कि असत्य समस्त पापोंके

---

* अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः। दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्। दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता। भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ (गीता १६। १—३)

समूहसे भी बड़ा पाप है। सत्यके अभावमें श्रेष्ठ कर्म सम्भव नहीं। जबकि सत्य समस्त सुकृतोंकी जड़ है—

नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा॥
सत्यमूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए॥
(रा०च०मा० २।२८।५-६)

तप—विपरीत परिस्थिति या कष्टको सहना तप है। तपके तीन रूप हैं—शारीरिक, वाचिक और मानसिक। व्रत-उपवास, निराहार अथवा संकल्पानुसार एकाहार या संयमित आहार, ब्रह्मचर्य, गुरुजनों (बड़ों)-का आदर-सत्कार आदि शारीरिक तप है। वाक्संयम, सत्य और प्रिय बोलना एवं वेद-शास्त्र पढ़ना वाचिक तप है।* आत्मनिग्रह, सहिष्णुता मानसिक तप है। वस्तुतः साधन भावसे ऊर्ध्वमुखी जीवनपद्धतिके निमित्त अपनायी गयी सहनशीलता ही तप है।

तुलसीदासजी मानसमें तपकी महत्ताके सम्बन्धमें कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्रद्वारा सृष्टिसंरचना, पालन एवं संहार तपबलसे ही सम्पादित होते हैं। शेषजी पृथ्वीका भार तपबलसे ही धारण करते हैं—

तपबल रचइ प्रपंचु बिधाता। तपबल बिष्नु सकल जग त्राता॥
तपबल संभु करहिं संघारा। तपबल सेषु धरइ महिभारा॥
(रा०च०मा० १।७३।३-४)

यहाँ मानसकारका स्पष्ट संकेत है कि तपसे असीम शक्ति प्रादुर्भूत होती है।

अहिंसा—शरीर, मन, वाणी आदिके द्वारा किसीका अनिष्ट न चाहना या किंचिन्मात्र भी किसीको दुःख न देना अहिंसा है। मानसकारने अहिंसाको परम धर्म बताया है। ***'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा'*** तुलसीने मानसमें कल्याणकारक धर्म और सदाचारमें यम और नियमका संकेत किया है—

जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥

गोस्वामीजीकी मान्यता है कि यम-नियमके अनुपालनसे सुमति और शान्ति प्राप्त होती है—

भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदर रानी॥

'स्तेय'का अर्थ है चोरी। 'अस्तेय' अर्थात् चोरी न करना। किसी भी रूपमें दूसरेके स्वत्वका अपहरण स्तेय है। वास्तविक आवश्यकतासे अधिक धन-सम्पत्ति आदिका संग्रह न करना 'अपरिग्रह' है। मन, वाणी एवं कर्मसे सभी प्रकारके मैथुनोंका अभाव 'ब्रह्मचर्य' है। तात्पर्य यह है कि ये यम और नियम मानवमात्रके लिये कल्याणकारी होनेसे मानवीय मूल्य ही हैं।

अहिंसाकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर उसके निकट सब प्राणी वैरका त्याग कर देते हैं। इस सिद्धान्तका संकेत मानसमें स्थान-स्थानपर उपलब्ध है। यथा—

करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगतबैर बिचरहिं सब संगा॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥
(रा०च०मा० २।१३८।१; ७।२३।२)

मैत्रीभाव—मन, वचन और कर्मसे सर्वविध कल्याणका भाव ही मैत्रीभाव है। प्राणिमात्रके प्रति मैत्रीभाव रखना एक उच्च मानवीय मूल्य है। गोस्वामीजी मैत्रीभावविषयक अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि जिन्हें अपने विशद दुःख न्यून तथा मित्रके स्वल्प कष्ट विशद प्रतीत नहीं होते वे मित्रभावका प्रदर्शनमात्र क्यों करते हैं? मित्रको असत् अर्थात् अवाञ्छनीय मार्गसे हटाकर सन्मार्गकी ओर लाना, मित्रके गुणोंको प्रकटकर अवगुणोंको छिपाना मित्रका कर्तव्य है। लेन-देनके व्यवहारमें शंका न करना तथा विपत्ति अर्थात् प्रतिकूलतामें सौ गुना स्नेह करना मैत्रीभाव है। मैत्रीभावके प्रति वे इतनातक कह जाते हैं कि जो मित्रके दुःखसे दुःखी नहीं होता उसे देखना भी पाप है—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
जिन्ह कें असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
आगें कह मृदु बचन बनाई। पाछें अनहित मन कुटिलाई॥
जा कर चित अहि गति सम भाई। अस कुमित्र परिहरेहिं भलाई॥
(रा०च०मा० ४।७।१-८)

अनुशासन—अनुशासनके अभावका परिणाम है उच्छृंखलता एवं स्वेच्छाचारिता। इससे विभिन्न पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, साथ ही सामाजिक संरचना एवं संगठनपर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता

---

* अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ (गीता १७।१५)

है। सामाजिक उत्थान, राष्ट्रिय एकता तथा सुरक्षामें अनुशासनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इसीलिये तुलसीदासजीने मानसमें परिवार, समाज तथा राजकीय सभी स्तरोंपर अनुशासनको विशेष महत्त्व प्रदान किया है। यहाँ अनुशासनसम्बन्धी कतिपय संकेत द्रष्टव्य हैं। भगवान् श्रीरामद्वारा सभी घरेलू एवं राजकीय कार्य आज्ञा लेकर ही सम्पादित किये जाते हैं—

आयसु मागि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥
(रा०च०मा० १।२०५।८)

भगवान् श्रीराम जो अति विशिष्ट राजकीय अतिथिके रूपमें मिथिलापुरी पधारे हैं, उद्यानसे प्रसून लेनेमें मालियोंकी भी स्वीकृतिकी अपेक्षा अनुभव करते हैं। यह है अनुशासनके प्रति तुलसीदासकी विचारधारा—

चहुँ दिसि चितइ पूँछि मालीगन। लगे लेन दल फूल मुदित मन॥
(रा०च०मा० १।२२८।१)

माता-पितामें पूज्यभाव—गोस्वामीजीने माता-पिताके प्रति पूज्यभावका होना तो अनिवार्य माना ही है, गुरुके प्रति भी पूज्यभावका होना अनिवार्य बताया है। माता-पिता और गुरुमें पूज्यभावसम्बन्धी मानसके संकेत देखें—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी॥
(रा०च०मा० १।२०५।७; १।७७।३)

मानसमें मानवीय मूल्योंका प्रस्तुतीकरण गोस्वामीजीने विभिन्न रूपोंमें किया है। प्रसंगानुकूल अपेक्षित है उनपर भी एक विहङ्गम दृष्टि।

श्रीरामके रहनेहेतु उपयुक्त स्थानोंके रूपमें—वनपथमें वाल्मीकि-आश्रमपर पहुँचकर श्रीरामद्वारा महर्षिसे अपने निवासहेतु उपयुक्त स्थानकी जिज्ञासा करनेपर महर्षिने निकेतोंके रूपमें जीवनमूल्योंकी ओर भी संकेत किया है। वे कहते हैं कि जो विकाररहित हैं, सबका प्रिय और सबका हित करनेवाले हैं, सुख-दुःख तथा निन्दा-स्तुतिमें समभाव रखते हैं, सत्य और प्रिय वचन बोलते हैं, अवगुणोंका परित्याग कर सबके गुणोंको ग्रहण करते हैं, उनके सुन्दर हृदय और मन सदैव आपके रहनेयोग्य शुभ भवन हैं—

काम कोह मद मान न कोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
जिन्ह कें कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह कें हृदय बसहु रघुराया॥
सब के प्रिय सब के हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥
जननी सम जानहिं परनारी। धनु पराव बिष तें बिष भारी॥
जे हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी॥
(रा० च० मा० २।१३०।१—३, ६-७)

यह मानवीय मूल्योंका न केवल प्रस्तुतीकरण है, बल्कि प्रतिष्ठापन भी है।

भक्तिके रूपमें मानवीय मूल्योंका प्रस्तुतीकरण—मानवीय मूल्योंको मन, वाणी और कर्मसे आत्मसात् करना भक्तिका व्यावहारिक रूप है। भक्ति केवल औपचारिक न रह जाय इसलिये भक्तिका अनौपचारिक अर्थात् व्यावहारिक पक्ष आवश्यक और अनिवार्य है। श्रीरामद्वारा शबरीके प्रति नवधा भक्ति-प्रकरण इसी सामञ्जस्यका निदर्शन है। श्रीराम कहते हैं इन्द्रियोंका निग्रह, शील, कर्मोंसे वैराग्य एवं निरन्तर श्रेष्ठ पुरुषोंके धर्मका आचरण ही छठी भक्ति है। सहजरूपसे प्राप्त लाभमें संतोष एवं दूसरोंके दोषोंको न देखना आठवीं भक्ति है। सरलता और सभीके साथ कपटरहित व्यवहार, ईश्वरपर विश्वास तथा हर्ष एवं विषादमें समभाव नवीं भक्ति है—

छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥
(रा०च०मा० ३।३६।२, ४-५)

श्रीरामद्वारा अयोध्यावासियोंको किये गये उद्बोधनमें भी भक्तिके व्यावहारिक पक्षका सामञ्जस्य वस्तुतः मानवीय मूल्योंका स्थापन ही है—

सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥
(रा०च०मा० ७।४६।२, ५, ७)

संतस्वभावके रूपमें मानवीय मूल्योंका प्रस्तुतीकरण—मानसमें नारदमुनिकी जिज्ञासापर संतस्वभावका वर्णन करते हुए श्रीराम कहते हैं कि संत काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन छः दोषोंको जीते हुए पाप एवं कामनारहित स्थिर, बाह्य-आभ्यन्तर पवित्र, सुखके धाम, असीमं, ज्ञानवान्, स्वल्पाहारी, सत्यनिष्ठ, दूसरोंको मान देनेवाले,

अभिमानरहित, धैर्यवान्, न्यायका परित्याग न करनेवाले, सम और शीतल तथा सभीसे प्रेम करनेवाले होते हैं—

षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमितबोध अनीह मितभोगी। सत्यसार कबि कोबिद जोगी॥
सावधान मानद मदहीना। धीर धर्म गति परम प्रबीना॥
निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
(रा० च० मा० ३।४५।७—९; ३।४६।१-२, ६)

मानवीय मूल्यस्थापनकी प्रबल अवधारणाके परिणामस्वरूप मानसमें संतस्वभावकी आवृत्ति उनके द्वारा कई बार की गयी। उत्तरकाण्डमें हनुमान्‌जीके माध्यमसे भरतजीकी जिज्ञासापर पुनः श्रीराम संतस्वभावका वर्णन करते हुए कहते हैं कि संत विषयोंमें लिप्त नहीं होते। शील और सद्‌गुणोंकी खान वे परदुःखसे दुःखी और परसुखसे सुखी होते हैं। समताकी स्थितिमें रहते हुए उनके मनमें कभी किसीके प्रति शत्रुभाव नहीं आता। वे मदरहित, वैराग्यवान्, लोभ, क्रोध, हर्ष एवं भयका त्याग किये रहनेवाले होते हैं। वे सम, दम, नियम और नीतिसे कभी विचलित नहीं होते तथा मुखसे कभी कठोर वचन नहीं बोलते—

बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥
(रा०च०मा० ७।३८।१-२, ८)

यही नहीं मानवीय मूल्योंके विपरीत मानवसमुदायके लिये अहितकारक तत्त्वोंको असंतके लक्षणोंके रूपमें प्रस्तुत करनेका गोस्वामीजीका स्पष्ट उद्‌देश्य मानवमूल्य-स्थापन ही रहा है।

मानसरोगोंके रूपमें मानवीय मूल्योंका स्थापन—मानवीय मूल्योंके स्थापनके लक्ष्याधीन ही गोस्वामीजीने मानवीय मूल्योंके प्रतिकूल निषिद्ध भावों एवं विचारोंको मानसरोगके रूपमें प्रस्तुत करते हुए कामको वात, लोभको कफ, क्रोधको पित्त बताया तथा काम-क्रोध-लोभके संयोगको सन्निपातकी संज्ञा दी। ममताको दाद, ईर्ष्याको खुजली, हर्ष-विषादको गरह (गलेका रोग), परसुखसे उत्पन्न जलनको क्षय तथा दुष्टता और मनकी कुटिलताको कोढ़ बताया। अहंकारको डमरू (गाँठका रोग) तथा दम्भ, कपट, मद और मानको नहरुआ (नसोंका रोग) कहा। इसी प्रकार तृष्णाको उदरवृद्धि तथा पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणाको प्रबल तिजारी माना और मत्सर एवं अविवेकको दो प्रकारके ज्वरोंके रूपमें चिह्नित किया। समस्त व्याधियोंकी जड़ मोहको मानकर उसीसे विभिन्न प्रकारके शूलोंका उत्पन्न होना बताया—

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई॥
बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥
ममता दादु कंडु इरषाई। हरष बिषाद गरह बहुताई॥
पर सुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई॥
अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नेहरुआ॥
तृस्ना उदरबृद्धि अति भारी। त्रिबिधि ईषना तरुन तिजारी॥
जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका। कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका॥
(रा० च० मा० ७।१२१।२९—३७)

नीतिके रूपमें मानवीय मूल्योंका प्रस्तुतीकरण—नीतिके रूपमें भी मानवीय मूल्योंको मानसमें स्थान-स्थानपर निरूपित किया गया है। गोस्वामीजी नीतिके रूपमें कहते हैं कि सर्वहितकी कामनाके रहते क्या कभी दुःख हो सकता है? दुष्टसंगसे क्या किसीको सद्‌बुद्धि उत्पन्न हुई है? क्या परस्त्रीगामीको उत्तम गति प्राप्त हो सकती है? पुण्यके बिना क्या पवित्र यश प्राप्त हो सकता है तथा बिना पापकर्मके कोई अपयशका भागी हो सकता है—

कबहुँ कि दुख सब कर हित ताकें। तेहि कि दरिद्र परस मनि जाकें॥
परद्रोही की होहिं निसंका। कामी पुनि कि रहहिं अकलंका॥
पावन जस कि पुन्य बिनु होई। बिनु अघ अजस कि पावइ कोई॥
(रा०च०मा० ७।११२।१-२, ७)

संवादके रूपमें मानवीय मूल्योंका प्रतिपादन—मानसमें संवादके रूपमें भी समाजके मानवीय मूल्योंकी ओर प्रेरित किया गया है। श्रीराम बालिसे कहते हैं कि अनुजवधू, बहिन, पुत्रवधू तथा कन्या—ये चारों समान हैं। इन्हें कुदृष्टिसे देखनेवालेको मारनेमें पाप नहीं है—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधें कछु पाप न होई॥
(रा० च० मा० ४।९।७-८)

वसिष्ठजी राजा दशरथके देहावसानपर भरतजीको समझाते हुए कहते हैं—मोहवश कर्ममार्गका त्याग करनेवाला गृहस्थ, ज्ञान-वैराग्यरहित जगत्‌के प्रपञ्चमें रत संन्यासी शोचनीय है। चुगलखोर, अकारण क्रोध करनेवाला, माता-पिता, गुरु एवं भाई-बन्धुओंसे विरोध रखनेवाला भी शोचनीय है। दूसरेका अपकार करनेवाला, केवल अपने तनका पोषण करनेवाला और निर्दयी शोचनीय है—

सोचिअ गृही जो मोह बस करइ करम पथ त्याग।
सोचिअ जती प्रपंच रत बिगत बिबेक बिराग॥
सोचिअ पिसुन अकारन क्रोधी। जननि जनक गुर बंधु बिरोधी॥
सब बिधि सोचिअ पर अपकारी। निज तनु पोषक निरदय भारी॥
(रा० च० मा० २। १७२; २। १७३। २-३)

प्रसंगानुकूल भरतजीके ये उद्‌गार भी द्रष्टव्य हैं। वे कहते हैं कि श्रीराम-वनवासप्रकरणमें यदि मेरी सहमति रही हो तो मेरी वही घोरगति हो जो कपटी, कुटिल, कलहप्रिय, क्रोधी तथा वेदोंका विरोध करनेवाले, सर्वविरोधी, लोभी-लम्पट, लालचियोंका आचरण करनेवाले तथा पराये धन और परस्त्रीपर दृष्टि रखनेवालेकी होती है—

कपटी कुटिल कलहप्रिय क्रोधी। बेद बिदूषक बिस्व बिरोधी॥
लोभी लंपट लोलुपचारा। जे ताकहिं परधनु परदारा॥
पावौं मैं तिन्ह कै गति घोरा। जौं जननी यहु संमत मोरा॥
(रा०च०मा० २। १६८। २—४)

मानवीय मूल्योंका विजयरथके रूपमें प्रस्तुतीकरण— रणक्षेत्रमें रथारूढ रावणके समक्ष श्रीरामको रथ एवं कवचादिसे रहित देखकर बिभीषणको श्रीरामकी विजयमें शंका हुई। इसपर श्रीराम मानवीय मूल्योंको रथादि-अवयवोंके रूपमें रूपायित करते हुए कहते हैं कि जिस रथसे जय प्राप्त होती है वह रथ दूसरा ही है। शौर्य और धैर्य उस रथके पहिये हैं। सत्य और शील उसकी सुदृढ़ ध्वजा और पताका है। बल, विवेक, दम और परोपकाररूपी अश्व समताकी रज्जुसे रथसे संयुक्त हैं। ईश्वरभजन सारथि है। संतोष कृपाण और वैराग्य ढाल है। दान फरसा, बुद्धि प्रचण्ड शक्ति और विज्ञान कठिन धनुष है। निर्मल स्थिर मनरूपी तरकस शम, यम, नियमरूपी बाणोंसे पूरित है। बौद्धिक सम्पदायुक्त व्यक्तियोंका सम्मान अभेद्य कवच है—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
(रा०च०मा० ६। ८०। ४—१०)

इस प्रकार मानसमें स्थान-स्थानपर विभिन्न जीवनमूल्योंको समाविष्ट किया गया है। तुलसीका मानस आज भी जन-जनमें मानवीय चेतनाका संचार कर रहा है। जनमानस आज भी रामायण (श्रीरामचरितमानस)-का आश्रय लेकर विपत्तिमें धैर्य धारण करता है, शील, सत्य एवं धर्मयुक्त आचरणमें प्रवृत्त होता है। मानवीय मूल्योंसे ओत-प्रोत भारतीय संस्कृतिके मूल तत्त्व मर्यादा, सदाचार, लोकहित, शालीनता, उदारता, विनम्रता, दयालुता आदि अनेक शुभ संस्कारोंके प्रतिष्ठापनमें तुलसीदासजीका असीम अवदान है। ऐसे रामभक्तको कोटिशः प्रणाम।

* * *

मनोऽभिरामं नयनाभिरामं वचोऽभिरामं श्रवणाभिरामम्।
सदाभिरामं सतताभिरामं वन्दे सदा दाशरथिं च रामम्॥
(आनन्दरामायण)

'मनके लिये मनोरम, नयनोंके लिये रमणीय, वचनकी दृष्टिसे सुन्दर, श्रवणके लिये मनोरम, सर्वदा अभिराम, निरन्तर सुन्दर दाशरथि रामकी मैं सदा वन्दना करता हूँ।'

* * *

प्रेम-विमर्श

(डॉ० श्रीसत्येन्दुजी शर्मा, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

‘प्रेम’ शब्दका मूलरूप संस्कृतमें **‘प्रेमन्’** है। प्रेमका अर्थ है—‘प्रियका भाव’ **‘प्रियस्य भावः’ (प्रिय+इमनिच्=प्र+इमन्= प्रेमन्)**। एक और प्रकारकी व्युत्पत्ति दिखलायी पड़ती है, जहाँ प्रेमको **‘प्रीञ्’** धातुसे **‘मनिन्’** प्रत्यय करके सिद्ध किया गया है **(प्रीञ्+मनिन्=प्रेमन्)**। इस द्वितीय व्युत्पत्तिके अनुसार प्रेमका अर्थ है—प्रेम होना, तृप्त होना, आनन्दित होना या प्रेम, तृप्त और आनन्दित करना।

निर्गुण-निराकार ब्रह्मको अद्वैतवादियोंने ‘सच्चिदानन्द’ कहा है। वह सत् है क्योंकि उसका विनाश नहीं होता, वह चित् है क्योंकि स्वयंप्रकाश और ज्ञानमय है तथा आनन्दरूप है इसलिये कि वह प्रेममय है। यदि वह आनन्दात्मक न हो तो उसके अस्तित्व और चैतन्यकी क्या सार्थकता? सत्-चित्का भी प्रयोजन यह आनन्द या प्रेम ही है। इसी प्रेमलक्षणके वशीभूत होकर वह परिपूर्ण, अखण्ड ब्रह्म सृष्टिके लिये विवश हो गया। वह न तो अकेले प्रेम कर सका, न तृप्त हो सका और न आनन्द मना सका। तब उसके मनमें एकसे अनेक बन जानेकी इच्छा हुई और वह सृष्टि-कर्ममें प्रवृत्त हुआ। श्रुतिवचनोंमें आया है—

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्।
(बृहदारण्यकोपनिषद् १। ४। ३)

सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय। (तै०उप० २।६)

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय। (छा०उप० ६।२।३)

स ईक्षत लोकान्नु सृजै। (ऐ०उप० १।१।१)

आनन्दस्वरूप प्रेमसे ही सभी भूतोंकी उत्पत्ति होती है, उसमें ही लोग जीते हैं और उसमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं। यही तथ्य तैत्तिरीयोपनिषद् (३।६)-की पंक्तियोंमें प्रतिपादित किया गया है—

‘आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति’।

कारण-कार्य-सिद्धान्तके विषयमें सभी आस्तिक दर्शन एकमत हैं कि कारणका गुण कार्यमें भी अन्तर्भूत रहता है। अतः ब्रह्मकी प्रेमवृत्ति सम्पूर्ण सृष्टिमें व्याप्त है—यह स्वयं सिद्ध है। यही प्रेमतत्त्व सृष्टिका मूल कारण रहा और इसकी स्थितिका आधार भी यही है। इसी श्रुतिमूलक प्रेमतत्त्वकी महिमाको संसारके सभी विचारकोंने न्यूनातिरिक्तरूपमें समझा है और इसीलिये प्रेमाचरणका संदेश दिया है।

भगवान् शिवने विष-पान किया, श्रीरामने शबरी, केवट, वानर-भालुओंको गले लगाया। श्रीकृष्णने सहर्ष अर्जुनके रथका सारथ्य स्वीकार किया, हजरत मुहम्मदने सलामतीका संदेश दिया, ईसा मसीहने सूली चढ़ानेवालोंके लिये दुआ की, बुद्धने करुणाकी धारा बहायी, महावीरने कीट-पतंगोंतकका खयाल किया, आदिशंकराचार्य अद्वैतवादमें समर्पित हो गये, रामकृष्ण परमहंसने सभी धर्मोंमें एकत्वका अनुभव दिया और विवेकानन्दने जन-सेवामें जीवन लगा दिया—इन सभीके कार्योंका मूल केन्द्र यही प्रेमतत्त्व रहा है।

मीरा, सूर, तुलसी, कबीर, अमीर खुसरो आदि सभी महाकवियोंने *‘ढाई आखर प्रेम का…’* अपने-अपने ढंगसे अनुभव किया, संदेश दिया और वे पूर्णत्वको प्राप्त हुए।

सूफी-सम्प्रदाय, सखि-सम्प्रदाय आदि अनेक सम्प्रदायोंने प्रेमतत्त्वकी प्रतिष्ठा की। इन्होंने उस प्रेमकी साधना की, जिसमें मग्न होकर साधक भवसागरसे पार कर देनेवाला पद ‘मोक्ष’ भी ठुकरा देता है और उसकी एक ही साध रह जाती है कि वह बार-बार जन्म लेता रहे और अपने आराध्यके प्रेममें डूबा रहे। वस्तुतः प्रेमसे पृथक् प्राणीका अस्तित्व असम्भव है। बिना प्रेमके वह क्षणमात्र भी जीवित नहीं रह सकता। प्राणीका लक्षण—स्वभाव ही है प्रेम। यह प्रेम ही उसे तृप्त कर सकता है, आनन्द दे सकता है और भगवत्प्राप्ति करा सकता है।

आखिर यह प्रेम है क्या? यह शब्द इतना व्यापक है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और उससे परे जो कुछ है—सब इसकी परिधिमें आ जाते हैं। प्रेम संज्ञा भी है और क्रियावाचक भी। संज्ञा इसलिये कि सबमें अन्तःस्थ भावरूप है और यह भाव व्यक्त तथा अव्यक्तरूपमें द्विविध है। क्रियावाचक इसलिये कि समस्त चराचरके व्यापारोंका प्रेरक भी है और व्यापारात्मक भी है। किंतु मूल है अन्तःस्थ अव्यक्तभाव, जो अनादि और अनन्त है, जो सर्वत्र और सबमें व्याप्त है। यही अव्यक्तभावरूप प्रेम सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंके प्रभाववशात् विविध विकारोंके रूपमें बुद्धिमें प्रतिबिम्बित होता है और व्यवहारोंसे व्यक्त होता है।

यही प्रेम बड़ोंके प्रति आदर, छोटेके लिये स्नेह,

समान उम्रवालोंमें प्यार, बच्चोंके लिये वात्सल्य, भगवान्के प्रति भक्ति, आदरणीय पात्रोंके लिये श्रद्धा, जरूरतमन्दोंके प्रति दया एवं उदारतासे युक्त होकर सेवा, विषय-सुखोंके सम्बन्धसे राग और उससे उदासीनताके कारण विराग, स्वसे जुड़े रहनेकी प्रबलतामें मोह और प्रदर्शनसे युक्त होकर अहंकार, यथार्थमें आग्रहके कारण सत्य, जीवमात्रके अहितसे विरत होनेमें अहिंसा, अप्रियके प्रति अनुचित प्रतिक्रियाके कारण घृणा और न जाने किन-किन नामोंसे सम्बोधित होता है। इस प्रकार ये सब प्रेम नहीं, प्रेम-विकार हैं। प्रेम तो वह है जो ईश्वर और क्षुद्र जीवतकमें अन्तर मिटा देता है। जब अपनेमें और विश्वमें एक-जैसा ही भाव आ जाय, बना रहे तो वह गुणत्रयसे परे शुद्ध प्रेम है।

यह प्रेम साध्य है और इस प्रेमको पानेका साधन भी प्रेम ही है। साधारण प्राणी एक साथ सर्वत्र प्रेम नहीं कर सकता—इस तथ्यको देखते हुए ही महर्षियोंने भक्ति-मार्गका उपाय प्रस्तुत किया, जिसके माध्यमसे मनुष्य अदृष्ट किंतु भावगम्य ईश्वरके साथ प्रेम कर सके। इन्द्रियोंके वशीभूत दुर्बल प्राणियोंके लिये ईश्वरसे प्रेमकी साधना निरापद है, जबकि लौकिक प्रेममें भटकावका भय पग-पगपर बना रहता है। ईश्वरीय प्रेमको सर्वोच्च प्रतिपादित करनेके पीछे यही रहस्य छिपा है और फिर ईश्वरीय प्रेमका अभ्यास सिद्ध होनेके पश्चात् प्राणी 'तादात्म्य भाव' की स्थितिमें आरूढ़ हो जाता है और तब शुद्ध प्रेमकी स्थिति उसे स्वयंसिद्ध हो जाती है। प्रेमकी इस दशामें पहुँचकर साधकको अपने ही अंदर सारा विश्व दृष्टिगोचर होने लगता है और सम्पूर्ण विश्वमें उसे अपने ही स्वरूपके दर्शन होने लगते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

(गीता ६। ३०)

सीय राममय सब जग जानी।

(रा० च० मा० १। ८। २)

समस्त चराचर जगत्‌में जब अपने प्रियतमके दर्शन होने लगें, तब समझ लेना चाहिये कि अनन्य प्रेमकी प्राप्ति हो गयी—

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा० च० मा० ४। ३)

~~~~~~

कैवल्य-रत्न

(भिक्षु श्रीगौरीशङ्करजी)

(१) क्षमारहित पुरुषसे सहनशील श्रेष्ठ है एवं क्रोधरहितसे क्षमावान् उत्तम है।

(२) मर्म-भेदी कठोर वाणीके शूलोंसे छिदे हुए पुरुषको तीन दिनोंतक क्षोभ रहता है, अतः कठोर वचन कहकर किसीका भी चित्त न दुखाओ।

(३) प्रेम उसीके साथ करना चाहिये कि जो किसी भी अवस्थामें उसको न घटाकर अन्ततक बराबर एक-सा निभा दे।

(४) अभिलाषाओंकी वृद्धिसे कार्योंकी वृद्धि और कार्योंकी वृद्धिसे वासनाओंकी वृद्धि हुआ करती है। इन दोनोंकी अधिकताके कारण ही मनुष्यके बन्धन नहीं छूटते।

(५) स्वप्नमें वस्तुतः विषयोंके विद्यमान न होनेपर भी जब अनर्थकी निवृत्ति नहीं होती, तब जाग्रत्‌में इनके इकट्ठे करनेपर अनर्थसे कैसे बचा जा सकता है?

(६) न कुछ करे, न कुछ बोले एवं बुरे-भलेका कुछ भी ध्यान न रखे, क्योंकि आत्मरत विद्वान् पुरुषकी जिज्ञासा और जिहासा दोनों ही निवृत्त हो जाती है।

(७) तू जो मुझसे पूछता है कि 'मैं' कौन हूँ? सो तू परिपूर्ण ब्रह्म ही है। वस्तुतः तू निष्प्रपञ्च है, स्वभावसे नित्यमुक्त है, तुझमें बन्ध एवं मोक्ष नहीं है, सब फंदे तुझमें कल्पित हैं, इसमें कोई संशय नहीं। यह देह जलमें या स्थलमें कहीं पड़ा ठोकरें खाता रहे, मैं इसके धर्मोंसे कभी लिप्त नहीं होता, ऐसा निश्चय कर।

(८) देव, पितृ, ऋषि और मनुष्योंके ऋण-बन्धनसे करोड़ों पुरुष मुक्त हुए हैं, परंतु संसारबन्धनसे तो कोई ज्ञानी ही मुक्त हुआ है।

(९) हृदयका नम्र होना प्रेमकी शोभा है, उसपर चलना प्रेमका स्वभाव है, निन्दा होना प्रीतिकी पुष्टि है, लोक-लाज प्रीति-मार्गके काँटे हैं, पापोंमें प्रवृत्ति स्नेहका जेलखाना है और अपने-आपको भूल जाना प्रेमका फल
~~~~~~

है। याद रहे कि आत्मासे भिन्न पदार्थोंमें जो प्रेम है, वह प्रेम नहीं, उसका नाम तो राग है।

(१०) श्रेष्ठ पुरुषोंसे प्रशंसनीय रहे परंतु हर्ष न करे। परोक्षमें भी श्रेष्ठोंसे रक्षित रहे और उनके विवाद-वचनोंको सहे, कहे हुए वाक्योंका पालन भी करे और साथ ही सहनशीलता-व्रतको धारण करे।

(११) १-वासना छोड़कर शुभ कर्म करे, २-अनात्मपदार्थोंमें मोह न रखे, ३- निर्वाहसे अधिक कुछ भी संग्रह न रखे और ४-सच्चे संतोंके चरणोंकी धूल हो जाये।

(१२) सत्यपर चलना, सत्य बोलना, सत्य सुनना, सत्य देखना और सत्यमें ही चित्त देना चाहिये।

(१३) जैसा निश्चय करेगा वैसा ही फल पायेगा। जैसे मृग तो घास खाकर कस्तूरी देता है, गौ वही घास भक्षण कर दूध देती है और गदहा लीद देता है। इसी प्रकार निश्चयकी विजय है, इसलिये 'मैं देह हूँ' इस नीच निश्चयका परित्याग कर 'ब्रह्म' निश्चय कर।

(१४) जिसके कारण-शरीरमें अज्ञान न हो, सूक्ष्म देहमें वासना न हो एवं स्थूल शरीरमें रोग न हो वही पुरुष जीवन्मुक्तिके अपूर्व सुखको अनुभव करता है।

(१५) जैसे स्वर्गमें रोना, वैकुण्ठमें शोक और कुबेरके पास कंगाली शोभा नहीं पाती, वैसे ही इस संसारमें हँसना नहीं बनता। यह प्रपञ्च तिलकनबाजी है, इसमें हँसनेवाले तथा ज्यादा कमानेवाले फिसल गये हैं। सुखी वही है जो सदैव नंगा रहे और भूखा सोवे।

(१६) परमात्माके नाम बिना श्वासोंका बहुमूल्य खजाना नष्ट हो रहा है, अतः शास्त्र-संतोंसे नाम-श्रवण कर लेना चाहिये। यदि नामके स्वरूपका ज्ञान न भी हो तो भी अपने कर्तव्यसे हटना ठीक नहीं।

(१७) धन-धान्यादि घरमें, पशु अपनी शालामें, भार्या द्वारपर एवं बान्धवजन श्मशानतक जाकर रह जाते हैं और देह चितामें भस्म हो जाता है। धर्माधर्मको साथ लिये जीव अकेला ही परलोकको यात्रा करता है।

(१८) १-धन-कुटुम्बमें ग्लानि, २- जहाँ-तहाँ निन्दा और निरादर, ३-दुःख तथा बीमारियाँ—ये तीन खजाने उनको मिलते हैं जिनपर परमेश्वर अत्यन्त ही अनुग्रह करता है। यथार्थमें बिना कारण परमात्मा कोई दुःख जीवके गले नहीं मँढ़ता, वह पूर्व कर्तव्योंका फल भुगता देता है। इसलिये शोक नहीं करना चाहिये।

(१९) इन्द्रियोंकी पड़ी हुई आदतें तुरंत नहीं छूटतीं अतः उनसे सदैव सावधान रहना चाहिये।

(२०) जैसे गुड़की भेली कितनी भी बड़ी हो वह सब-की-सब मिठासरूप है और जितना कपूरका टुकड़ा हो वह सब-का-सब सुगन्धरूप ही है। ऐसे ही वृक्ष, पर्वत, नगर आदि जो कुछ भी रमणीय जगत् देख रहे हो, सब चैतन्यस्वरूप ही है।

(२१) माँगनेवाला रूईके फौवेसे भी हलका हो जाता है। संतोषीसे बढ़कर कोई वस्तु वजनदार नहीं। ईर्ष्यावालेसे बढ़कर कोई दुःखी नहीं। क्रोध-जैसी कोई अग्नि नहीं। ब्रह्मचर्य-जैसी दवा नहीं। सत्य-जैसी निर्भयता नहीं। समदर्शी-जैसा कोई श्रेष्ठ नहीं। भोगी-जैसा कोई रोगी नहीं, अभ्यासी-जैसा कोई आनन्दी नहीं और इन बातोंको जो भुला दे, उससे अधिक कोई प्रमादी भी नहीं।

(२२) धन-धामादिके उपार्जन करनेमें, प्राप्त किये हुए पदार्थोंकी रक्षामें और उनके नाश तथा व्ययमें दुःख-ही-दुःख है, ऐसे निरन्तर क्लेशकारी अर्थोंको धिक्कार है।

(२३) गौडी, पैष्टी तथा माध्वी तीन प्रकारकी सुरा संसारमें प्रसिद्ध है, चौथी स्त्रीकी आसक्तिको भी सुरा ही जानना चाहिये। इस सुराने जगत्को मोहित कर रखा है।

(२४) कोई पुरुष दाखकी तरह अंदरसे भी मधुर होते हैं और बाहरसे भी कोमल रहते हैं। कोई नारियलकी तरह ऊपरसे अत्यन्त सख्त दीखते हैं, परंतु भीतरसे नरम तथा मीठे होते हैं। कोई बेरके सदृश बाहरसे मीठे एवं कोमल हैं, परंतु अंदरसे महान् कठोर हैं और कोई सुपारीके सदृश एकरस—अंदरसे भी बड़े सख्त हैं और ऊपरसे सख्त हैं ही।

* * *

भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी विशुद्ध प्रेमभक्ति और भगवत्-साक्षात्कारके सिवा अन्य किसी भी सांसारिक वस्तुकी कामना, याचना या इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये।

—परम श्रद्धेय श्रीगोयन्दकाजी

* * *

अहिंसाका व्यावहारिक जीवनमें उपयोग

(श्रीरामनिवासजी लखोटिया)

अहिंसाके महत्त्वपर सभी धर्मोंद्वारा बहुत प्रकाश डाला गया है। अष्टाङ्गयोगके प्रवर्तक महर्षि पतञ्जलिने योगके आठ अङ्गोंमें प्रथम अङ्ग—यमके पाँच महत्त्वपूर्ण अङ्ग बतलाये हैं, जिनमें प्रथम स्थान अहिंसाको दिया गया है। महाभारतके अनुशासनपर्वमें विश्वविख्यात वाक्य **'अहिंसा परमो धर्मः'** कहा गया है। भगवान् महावीरने अपनी शिक्षाओंका मूल आधार अहिंसाको ही कहा है। अहिंसाके विभिन्न कार्यक्रमोंको आयोजित करना तभी वास्तविक रूपमें सफल गिना जायगा, जब हम व्यावहारिक जीवनमें अहिंसा-पालनके व्यापक स्वरूपको समझें और अपने दैनन्दिन, सामाजिक, राजनैतिक और पारिवारिक जीवनमें उसको उतारें। कुछ विशेष बिन्दुओंद्वारा प्रस्तुत लेखमें इसका विवेचन करनेका प्रयास किया गया है—

अहिंसात्मक जीवन-शैली क्या है?—किसी भी जीवका संकल्पपूर्वक वध नहीं करना और किसी जीवको अकारण दुःख नहीं पहुँचाना, ऐसी जीवन-शैली अपनानेका नाम ही अहिंसात्मक जीवन-शैली है। अहिंसाकी इस प्रारम्भिक बातका पालन किये बिना कोई भी व्यक्ति किसी भी हालतमें न तो पूर्ण योगी ही हो सकता है, न ही उसे ध्यान आदिमें पूर्ण सफलता ही मिल सकती है और न वह पूर्णरूपसे धार्मिक या आध्यात्मिक कहा जा सकता है। जीवनके परम उद्देश्य अर्थात् ईश्वर-साक्षात्कार या आत्मसाक्षात्कार अथवा मुक्ति या निर्वाण आदिकी प्राप्तिकी प्रथम सीढ़ी है—व्यावहारिक जीवनमें अहिंसा।

ईर्ष्या-द्वेषरहित जीवन—यदि हम पक्का निश्चय कर लें और अपने हृदयको शुद्ध बनानेके संकल्पसे यह तय करें कि दूसरे व्यक्तिकी उन्नतिमें उसके प्रति मुदिताका भाव रखना है तो हमारे मनमें गलत तरीकेसे उसके साथ प्रतिस्पर्धा करनेकी भावना नहीं पनपेगी। यदि हमने ऐसी भावनाके स्थानपर ईर्ष्या या द्वेषको स्थान दिया तो यह वैचारिक हिंसा होगी जिसका सबसे बड़ा नुकसान हमें होगा; क्योंकि ईर्ष्या और द्वेष वह जहर है जो उस घड़ेको अधिक नुकसान पहुँचाता है जिसमें वह एकत्र किया जाता है बजाय उस व्यक्तिके जिसके प्रति ऐसा भाव अपनाया जाता है।

आवश्यकताओंकी सीमा बाँधना—भारतीय संस्कृतिके आधारभूत मूल्योंमेंसे एक मूल्य है संतोष और अपरिग्रह। हमें चाहिये कि हम अपने प्राप्त संसाधनोंका सदुपयोग परोपकारके लिये करें। हम अपनी परिस्थितियों, भावनाओं और आवश्यकताओंके अनुसार अपनी जरूरतकी चीजोंकी एक सीमा-रेखा बाँध लें और धीरे-धीरे अपनी आवश्यकताओंको घटाते हुए इच्छाओं, कामनाओंपर अंकुश लगानेका प्रयत्न करें।

शाकाहारी तथा व्यसनमुक्त जीवन—अहिंसाके पालन किये बिना अर्थात् बिना जीवहत्याके रोके हम पूर्णरूपसे धार्मिक या आध्यात्मिक हो ही नहीं सकते। इसके लिये यह नितान्त आवश्यक है कि हम पूर्णरूपसे शाकाहारी बनें और किसी भी प्रकारके मांस, मछली, अण्डे तथा जीव-जन्तु या क्रूरतासे उत्पन्न अन्न आदिका ग्रहण नहीं करें। यह तभी सम्भव होगा जब हम दयाकी भावना हृदयमें धारण करेंगे। आज यदि हम तथाकथित मुर्गीपालनके केन्द्रोंको देखें तो हम पायेंगे कि कितनी यातना मुर्गियोंको दी जाती है। उनकी चोंच और पंख काट दिये जाते हैं। उन्हें तेज रोशनीमें रखा जाता है और बड़ी क्रूरतासे उन्हें कृत्रिम तरीकेसे अनिषेचित अण्डे उत्पन्न करनेके लिये बाध्य किया जाता है, यह घोर हिंसात्मक कार्य है। इसलिये किसी भी हालतमें अण्डेकी कोई भी चीज और अण्डामिश्रित केक, पैस्ट्री, रशियन सलाद आदि हमें जीवनमें कभी भी नहीं खाना चाहिये और अपने परिवार एवं मित्र तथा बन्धु-बान्धवोंको भी ऐसा करनेसे रोकना चाहिये। तभी व्यावहारिक जीवनमें अहिंसाको हम उतार सकते हैं। इसी प्रकार किसी भी रूपमें शराब और अन्य मादक द्रव्योंका सेवन न करें; क्योंकि मदिरा-पानसे बुद्धि भ्रष्ट होती है और जब बुद्धि ही भ्रष्ट हो जाती है तो मनुष्य किसी भी प्रकारका अनर्थ करनेमें नहीं हिचकता। दूसरी बात यह है कि अधिकांश महँगी शराबोंमें इजिनगलास और कई प्रकारके मांसाहारके तत्त्व जैसे—रक्त, हड्डी आदि

मिलाये जाते हैं, जिससे मदिरा-पान हिंसाके अन्तर्गत आता है। इसलिये व्यावहारिक जीवनमें अहिंसाको उचित स्थान देनेके लिये यह नितान्त आवश्यक है कि हम पूर्णरूपसे शाकाहारी बने रहें और किसी भी रूपमें मदिरा-पान न करें तथा अन्य विभिन्न प्रकारके व्यसनोंसे अपने-आपको मुक्त रखें।

क्रोधपर संयम—अकारण या बात-बातमें क्रोध आ जाना हिंसाकी प्रवृत्तिका एक प्रारम्भिक रूप है। जीवनमें कई बार ऐसे प्रसंग उत्पन्न होते हैं जब हमें तुरंत ही तब क्रोध आ जाता है जब हमारी बात नहीं मानी जाती या हमारी भावनाके अनुरूप कोई कार्य नहीं होता। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने बताया है कि क्रोध बुद्धिके नाशका मूल कारण है। इसलिये व्यावहारिक जीवनमें यह अति आवश्यक है कि हम क्रोधपर नियन्त्रण रखें।

क्षमा-दान—प्रत्येक वर्ष जैनसमाज पर्युषणका महापर्व मनाता है। जिसमें मुख्यरूपसे 'क्षमा'के संदेशको प्रसारित किया जाता है। हमें सच्चे मनसे यह भावना मनमें लानी होगी कि पर्युषण-पर्वपर ही नहीं बल्कि पूरे वर्षभर हम ऐसे विचार रखें कि 'मैं सभीसे क्षमा-याचना करता हूँ, मुझे सभी क्षमा करें, मेरे सभी प्राणी मित्रवत् हैं और मेरा किसीसे भी वैर नहीं है इत्यादि।' ऐसी भावनासे प्रेरित होकर हम व्यावहारिक जीवनमें अहिंसा एवं प्रेमको उतारनेका प्रयत्न करें तो फिर अहंकारवश उत्पन्न हुए क्रोध या द्वेषकी भावना स्वतः ही समाप्त हो जायगी। इसी प्रकार क्षमाका दूसरा पहलू भी हम ध्यानमें रखें कि हम अपने हृदयमें किसीके प्रति जो द्वेष आदिकी भावना रखते हैं उसे निकाल दें। दूसरोंके द्वारा हमारे प्रति किये गये दुर्व्यवहारके घावको हरा रखनेवाली प्रवृत्तिको समाप्त करनेसे ही हमारा हृदय विकाररहित हो सकता है और वह अहिंसा-व्रतके पालनका प्रमुख अंग बनता है।

परिवारमें अहिंसा—यह दुर्भाग्यकी बात है कि आजकल टी०वी० आदिके माध्यमसे पारिवारिक सम्बन्धों यथा—सास-बहू, परिवार तथा पति-पत्नी, भाई-भाई आदिके मध्य वैचारिक मतभेद तथा आपसी मनमुटावको अनपेक्षित रूपसे बहुत बढ़ा-चढ़ाकर और विकृत बनाकर प्रदर्शित किया जा रहा है, जिससे प्रभावित होकर पारिवारिक सदस्योंमें प्रेमकी जगह द्वेष, अविश्वास एवं घृणाकी भावना पनप रही है और फिर पारस्परिक कलह तथा हिंसा प्रकट होकर सामने दिखायी दे रही है, यह अत्यन्त भयावह स्थिति है। इसमें अप्रत्यक्षरूपसे प्रायः मानसिक हिंसाका भाव छिपा रहता है और यही मानसिक हिंसा बादमें प्रत्यक्ष भी उतर आती है। इसको दूर करनेका सबसे बड़ा उपाय है—सहनशीलता। जब हम उदारता और सहनशीलताका परिचय देंगे तथा सम्बन्धोंकी मर्यादा एवं महिमाको समझेंगे तो पायेंगे कि सास बहूको प्यार करेगी और बहू सासको आदर देगी। भाई-भाई लोभकी प्रवृत्तिसे जब ग्रस्त नहीं होंगे और अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिकी सीमा बाँधकर ईर्ष्या और द्वेषकी भावनाओंको अपने हृदयसे निकाल देंगे तो परिवारमें अपने-आप ही सामञ्जस्य और प्रेम पैदा होगा और तब पारिवारिक जीवनमें उभरेगी व्यावहारिक अहिंसा।

स्वयंका प्रभावी उत्कृष्ट जीवन और आचरण—हमें अपने जीवनमें अहिंसाको परम स्थान देना है तथा ईर्ष्या और द्वेषरहित लोभवृत्तिका त्याग करते हुए सात्त्विक खान-पान एवं व्यवहार और क्षमाकी भावनाको जीवनमें उचित स्थान देते हुए ऐसा उत्कृष्ट जीवन जीना है कि हमें किसी दूसरेको अहिंसाका पालन करनेकी शिक्षा देनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़े, बल्कि हमारा स्वयंका आचरण और दैनन्दिन-व्यावहारिक जीवन ऐसा हो कि जिसे देखकर दूसरा व्यक्ति स्वयं ही अपने व्यावहारिक जीवनमें अहिंसाको समुचित स्थान दे।

* * *

यदि तुम क्रोधसे विक्षुब्ध होनेपर दाँतको पीस, पैरोंको पटक तथा शरीरको कम्पितकर अपनी आत्माको शान्त करनेके लिये प्रयास करते हो तो वह शान्ति नहीं है। वह तो क्रोधका संताप है। शान्ति प्रशान्तसागरके सदृश है जो कि मनुष्योंद्वारा फेंके हुए अशुद्ध जलको भी अपने सदृश शुद्ध कर ही देता है।—महात्मा एकनाथ

* * *

भक्तोंके पावन-चरित —

भक्तिमती आण्डाळ या रङ्गनायकी

प्राचीन कालमें दक्षिण भारतमें कावेरी-तटपर स्थित एक गाँवमें विष्णुचित्त नामके एक परम वैष्णव भक्त रहते थे। वे बड़े ही आस्तिक एवं धर्मनिष्ठ पुरुष थे। अहर्निश वे भगवद्भजन, हरिकीर्तन और नाम-जपमें निरत रहते थे। उन्हें भगवान्‌के सिवा और कुछ सुहाता ही न था। बड़ा ही सुरम्य उनका एक तुलसीका उपवन था। वे नित्य प्रातःकाल तुलसीके थाल्होंमें जल डालते और तुलसीदलकी ही माला बनाकर भगवान्‌का शृङ्गार करते। एक समय प्रातःकाल जब वे घड़ेमें जल भरकर तुलसी सींचने गये, तब वहाँ उन्हें एक परम मनोहर नवजात कन्या दिखायी पड़ी। उन्होंने बड़े स्नेहसे उस बालिकाको उठा लिया तथा उसे वटपत्रशायी भगवान् नारायणके चरणोंमें रखकर कहा—'प्रभो! यह तुम्हारी ही सम्पत्ति है, जो तुम्हारी सेवाके लिये आयी है। इसे अपने पादपद्मोंमें आश्रय दो।' इसपर मूर्तिमेंसे शब्द आया—'इस लड़कीका नाम 'कोदई' रखो और इसे अपनी ही लड़की मानकर इसका लालन-पालन करो।' 'कोदई' का अर्थ है— 'फूलोंके हारके समान कमनीय।' इसी लड़कीको आगे चलकर जब भगवान्‌का प्रेम और उनकी कृपा प्राप्त हो गयी, तब लोग 'आण्डाळ' कहने लगे थे।

रातमें भगवान्‌ने स्वप्नमें विष्णुचित्तजीको कन्याका सारा हाल बताया—'वाराहावतारमें मैंने पृथ्वीका उद्धार किया था, तब पृथ्वीने मुझसे पूछा—'आपको किस प्रकारकी पूजा परम प्रिय है?' उस समय मैंने बतलाया था कि 'मुझे नाम-कीर्तन तथा पत्र-पुष्प-फल-तोयकी पूजा सर्वप्रिय है। मुझे प्राप्त करनेके लिये भक्त मेरे नामका कीर्तन करे और प्रेमभक्तिके साथ मेरी पूजा-अर्चा करे।' मेरी उस बातको हृदयमें धारणकर पृथ्वी इस कन्याके रूपमें प्रकट हुई है और अब तुम्हारे घरमें बसना चाहती है। यदि तुम इस कन्याकी सेवा करते रहोगे तो अवश्य परम पदको प्राप्त होओगे।' ब्राह्मण-ब्राह्मणी इस कन्याको पाकर परम प्रसन्न हुए। यथासमय उन्होंने कन्याके जातकर्मादि संस्कार कराये।

लड़की जब बोलने लगी, तब उसके मुखसे 'विष्णु'-के अतिरिक्त कोई दूसरा नाम ही नहीं निकलता था। जब वह कुछ सयानी हुई, तब भगवान्‌के गीत गाने लगी। पिताके मन्दिर चले जानेपर वह उनके पीछे उपवनकी रखवाली करती और भगवान्‌की पूजाके लिये फूलोंके हार गूँथती। कन्याकी बनायी मालाको लेकर विष्णुचित्त ब्राह्मण श्रीरङ्गनाथजीके मन्दिरमें जाते और माला भगवान्‌को चढ़ा आते। जब वह कुछ और बड़ी हुई, तब भगवान् रङ्गनाथको अपने पतिके रूपमें भजने लगी। वह अपने प्रियतमके प्रेममें अपने-आपको इतना भूल जाती कि भगवान्‌के लिये गूँथे हुए हारको स्वयं पहनकर दर्पणके सम्मुख खड़ी हो जाती और अपने सौन्दर्यकी स्वयं प्रशंसा करती हुई कहती—'क्या मेरा सौन्दर्य मेरे प्रियतमको आकर्षित कर सकेगा?'

एक दिन मन्दिरके पुजारीने विष्णुचित्तकी माला यह कहकर लौटा दी कि उसमें किसी मनुष्यके सिरका बाल लगा हुआ है। ब्राह्मणको यह सुनकर बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने ताजे पुष्प चुने, नवीन हार बनाया और भगवान्‌को अर्पण किया। दूसरे दिन भी पुजारीने कहा कि माला कुछ मुरझायी हुई है। विष्णुचित्तने अपने मनमें सोचा कि अवश्य ही इसमें कोई-न-कोई रहस्य होना चाहिये। वे जब इसका कारण घरपर ढूँढ़नेमें लगे, तब उनकी दृष्टि अकस्मात् अपनी लड़कीपर गयी। उन्होंने देखा कि वह परदेके पीछे नवीन पुष्पोंका हार पहने दर्पणके सम्मुख खड़ी है और मन-ही-मन अपने प्रियतम भगवान्‌से कुछ बातें कर रही है। वे दौड़कर लड़कीके पास गये और चिल्लाकर बोले— 'बेटी! यह तूने क्या किया? तू पागल तो नहीं हो गयी जो भगवान्‌के लिये तैयार किये हारोंको स्वयं धारण करके जूँठा कर रही है?' विष्णुचित्तने फिरसे दूसरे हार बनाये और प्रभुको चढ़ाये, परंतु आण्डाळ तो अपनेको प्रभुके चरणोंमें समर्पित कर चुकी थी। समर्पण जब सम्पूर्ण होता है, तब देवताको स्वीकार होता ही है। आवश्यकता इस बातकी है कि हृदयको प्रभुके चरणोंमें चढ़ाते समय वह सर्वथा शून्य, सर्वथा निरावरण रहे। आण्डाळका मधुर और सम्पूर्ण समर्पण भला भगवान्‌को अङ्गीकार क्यों न हो? उसी दिन रातको विष्णुचित्तको भगवान्‌ने स्वप्नमें आदेश दिया। 'मुझे आण्डाळकी पहनी हुई माला धारण करनेमें

विशेष सुख मिलता है, इसलिये वही हार मुझे चढ़ाया करो।' अब तो विष्णुचित्तको अपनी कन्याके महत्त्वका पूरा निश्चय हो गया। कुछ दिनों बाद आण्डाळकी धारण की हुई मालाओंको ही वे भगवान्‌को निवेदन करने लगे।

आण्डाळ अहर्निश प्रभुके प्रेममें मतवाली रहती। एक दिन उसने अपने धर्मपितासे बड़े ही अनुनय-विनयके साथ दिव्य धामों तथा तीर्थस्थानोंके विषयमें पूछा। विष्णुचित्तका चित्त प्रभुके चरणोंका अनुरागी था ही। उन्होंने बहुत प्रेम और श्रद्धाभरे शब्दोंमें अपनी बेटीसे भगवान्‌के वैकुण्ठ आदि दिव्य धामोंके नाम बतलाये और अन्तमें कहा, 'दक्षिणमें कावेरीके तटपर भगवान् श्रीरङ्गनाथका वास है।' भगवान् श्रीरङ्गनाथका नाम सुनते ही आण्डाळके रोमाञ्च हो आया और उसकी आँखोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बरस पड़ी। उनसे विह्वल होकर अपने इष्टदेवके सम्बन्धमें अधिक जाननेकी इच्छा प्रकट की। तब विष्णुचित्त सुनाने लगे— 'इक्ष्वाकुके यज्ञकी पूर्तिके लिये ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर भगवान् विष्णु वहाँ प्रकट हुए। भगवान्‌का साक्षात्कार हो जानेपर इक्ष्वाकु कृतार्थ हो गये और ब्रह्माकी आज्ञासे वे सरयूके तटपर अयोध्यामें तपस्या करने लगे। तपस्यासे प्रसन्न होकर ब्रह्माने इक्ष्वाकुसे वर माँगनेके लिये कहा। इक्ष्वाकुने यही वर माँगा कि 'भगवान् विष्णुका यहीं अवधमें अवतार हो और वे श्रीरङ्गनाथजीके रूपमें उनके कुलदेव रहें।' ब्रह्माने उन्हें मुँहमाँगा वरदान दे दिया।

'भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जब लङ्काको जीतकर अयोध्या आये, तब उनके साथ विभीषण भी पधारे थे। वे जब लङ्का जाने लगे, तब उन्होंने भगवान्‌से कहा कि 'आपका वियोग मेरे लिये सर्वथा असह्य है। अतएव मुझे ऐसी कोई वस्तु दीजिये, जिससे मेरे हृदयको धीरज हो।' विभीषणके अटल प्रेमको देखकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें श्रीरङ्गनाथजीकी प्रतिमा दी। जब विभीषण कावेरी-तटपर आये, तब वे किसी दूसरे यज्ञ-अनुष्ठानमें संलग्न हो गये। फिर भगवान् श्रीरङ्गनाथजीने लङ्का जाना अस्वीकार कर दिया और विभीषणने वहीं भगवान्‌की मूर्ति स्थापित की। विभीषण भगवान्‌की पूजा-अर्चाके लिये नित्य लङ्कासे यहाँ आया करते थे।'

भगवान् श्रीरङ्गनाथका वर्णन सुनकर आण्डाळकी उत्कण्ठा और भी तीव्र हो गयी। उसने पितासे भगवान्‌की प्राप्तिका साधन पूछा। अब आण्डाळके लिये एक क्षणका वियोग भी असह्य था।

आण्डाळकी विरहव्यथा बढ़ती ही गयी। उसके प्राण रात-दिन जीवनधनमें अटके रहते थे। वह उसीका नाम जपती, उसीका कीर्तन करती और उसीकी धुनमें डूबी रहती। उसकी आँखोंमें, हृदयमें, प्राणोंमें, रोम-रोममें श्रीरङ्गनाथजी ही छाये हुए थे। वह रोती और दहाड़ मारकर छाती पीटती—'प्रियतम! स्वप्नमें आकर तुमने मिलनेका जो उपक्रम किया है, उससे तो मेरे भीतरकी विरहाग्नि और भी धधक उठी है। यों तड़पानेमें तुम्हें कौन-सा रस मिलता है। हाय! एक क्षण भी तुम्हारे बिना रहा नहीं जाता। देव! मेरे जीवनधन! यदि मेरे प्राणोंकी इस आकुल तड़पसे तुम्हारा कठोर हृदय तनिक भी पसीजे तो अभी आकर मुझे अपने चरणोंमें स्वीकार कर लो। प्रभो! ओ मेरे प्राणाधार! सीताकी सुधि लेनेके लिये तुमने समुद्रमें पुल बँधवाया और रावणको मारकर उन्हें अयोध्या लौटा लाये। शिशुपालका वध करके रुक्मिणीको अपनी शरणमें ले लिया। द्रौपदी, गज, गणिका और गोपियोंकी टेर सुन ली; परंतु मेरी ही बार इतना विलम्ब क्यों कर रहे हो? मैं जानती हूँ कि मैं अपराधिनी हूँ; परंतु जैसी भी हूँ, तुम्हारी हूँ—तुम्हीं मेरे प्राणवल्लभ, हृदयेश्वर, जीवनसर्वस्व और अवलम्ब हो! तुम्हें छोड़कर किसकी शरणमें जाऊँ? जिस प्रकार चकोर चन्द्रमाको और चातक श्यामघनको चाहता है, वैसे ही मेरा हृदय तुम्हें देखनेके लिये व्याकुल है।'

आण्डाळ सदा अपने शरीरसे ऊपर उठी रहती थी, वह अपने बाहर-भीतर सर्वत्र अपने प्राणवल्लभ प्रभुके अतिरिक्त और किसी वस्तुको देखती ही न थी। वह शरीरसे विष्णुचित्तके बगीचेमें रहती थी; किंतु उसका मन नित्य वृन्दावनमें विचरता रहता था। वह गोपियोंके साथ खेलती और मिट्टीके घरौंदे बनाती। इतनेमें ही श्रीकृष्ण आकर उसके घरौंदोंको ढहा देते और हँसने लगते। कभी वह गोपियोंके साथ सरोवरमें स्नान करने लगती और प्रियतम श्रीकृष्ण आकर उन सबके वस्त्रोंको उठाकर ले जाते और कदम्बपर चढ़कर बैठ जाते। कभी-कभी वह मनसे ही वृन्दावनमें विचरती और रास्ता चलनेवालोंसे पूछती, 'क्या तुमने मेरे प्राणवल्लभको इधर कहीं देखा है?' और अपने-क्या किसीको मेरे कमलनयनका पता है?' और अपने-आप ही अपने प्रश्नोंका उत्तर भी देती—'अजी, देखा क्यों

नहीं? वह तो वृन्दावनमें बाँसुरी बजाकर गोपियोंके साथ विहार कर रहा है।'

वसन्त-ऋतुमें वह कोयलको सम्बोधन करके बड़े करुण स्वरमें कहती—'अरी कोयल! मेरा प्राणवल्लभ मेरे सामने क्यों नहीं आता? वह मेरे हृदयमें प्रवेश करके मुझे अपने वियोगसे दु:खी कर रहा है। मैं तो उसके लिये इस प्रकार तड़प रही हूँ और उसके लिये यह सब मानो निरा खिलवाड़ ही है।'

गोपीभावमें विभोर हुई कहती—प्यारे! क्या तुम हमारा वह मनोरथ जानना चाहते हो, जिसके लिये हम बड़े सबेरे तुम्हारी वन्दना करने और तुम्हारे चरणारविन्दोंकी महिमाका गान करने तुम्हारे द्वारपर आती हैं। गोप-वंशमें उत्पन्न होकर भी तुम हमारी ओरसे मुख मोड़ लो, सेवाकी भावनासे आयी हुई हम दासियोंका प्रत्याख्यान कर दो—यह तो तुम्हारे योग्य नहीं है। हम आजकी तुम्हारी चेरी थोड़े ही हैं? प्यारे गोविन्द! हम तो तुम्हारी जनम-जनमकी दासी हैं। एकमात्र तुम्हीं हमारे सेव्य—हमारे भरतार हो। कृपा करके हमारी अन्य सारी आसक्तियों, अन्य सारे स्नेह-बन्धनोंको काट डालो!

एक दिन जब वह अपने प्रियतम भगवान्‌के विरहमें अत्यन्त व्याकुल हो गयी, भगवान् रङ्गनाथने स्वप्नमें मन्दिरके अधिकारियोंको दर्शन देकर कहा—'मेरी प्रियतमा आण्डाळको मेरे पास ले आओ।' इधर उन्होंने विष्णुचित्तको भी स्वप्नमें दर्शन देकर कहा—'तुम आण्डाळको लेकर शीघ्र मेरे पास चले आओ, मैं उसका पाणिग्रहण करूँगा।' यही नहीं, उन्होंने स्वप्नमें आण्डाळको भी दर्शन दिये और उसने देखा कि मेरा विवाह बड़ी धूमधामके साथ श्रीरङ्गनाथजीके साथ हो रहा है। उसका स्वप्न सच्चा हो गया। दूसरे ही दिन श्रीरङ्गजीके मन्दिरसे आण्डाळ और उसके धर्मपिता विष्णुचित्तको लेनेके लिये कई पालकियाँ और दूसरे प्रकारका लवाजमा भी आया। ढोल बजने लगे, शङ्खकी ध्वनि होने लगी, वेदपाठी ब्राह्मण वेद पढ़ने लगे और भक्तलोग आण्डाळ और उसके स्वामी श्रीरङ्गनाथजीकी जय बोलने लगे। आण्डाळने प्रेममें मतवाली होकर मन्दिरमें प्रवेश किया और तुरंत वह भगवान्‌की शेष-शय्यापर चढ़ गयी। इतनेमें ही लोगोंने देखा कि सर्वत्र एक दिव्य प्रकाश छा गया और उस प्रकाशमें देवी आण्डाळ सबके देखते-ही-देखते बिजली-सी चमककर विलीन हो गयी। प्रेमी और प्रेमास्पद एक हो गये। आण्डाळके जीवनका कार्य आज पूरा हो गया। वह भगवान् नारायणमें जाकर मिल गयी।

दक्षिणके वैष्णव-मन्दिरोंमें आज भी आण्डाळके विवाहका उत्सव प्रतिवर्ष सर्वत्र मनाया जाता है। विष्णुचित्तने भी अपना शेष जीवन भगवान् श्रीरङ्गनाथ और उनकी प्रियतमा श्रीआण्डाळदेवीकी उपासनामें व्यतीत कर भगवद्धामको प्रयाण किया।

⁂

'हरि मुख निरखत नैन भुलाने'

हरि मुख निरखत नैन भुलाने।
ए मधुकर रुचि पंकज लोभी, ताहीं तैं न उड़ाने॥
कुंडल मकर कपोलनि के ढिंग जनु रबि रैनि बिहाने।
भ्रुव सुंदर, नैननि गति निरखत, खंजन मीन लजाने॥
अरुन अधर, दुज कोटि बज्र दुति, ससि घन रूप समाने।
कुंचित अलक, सिलीमुख मिलि मनु लै मकरंद उड़ाने॥
तिलक ललाट, कंठ मुकुतावलि भूषन मनिमय साने।
सूर स्याम रस निधि नागर के, क्यौं गुन जात बखाने॥

(श्रीकृष्ण-माधुरी ९८)

⁂

सुख-दुःख केवल दृष्टिकोण

(श्रीकैलाशजी अग्रवाल 'बेगाना')

प्रत्येक प्राणी प्रसन्न एवं सुखी रहना चाहता है और रह भी सकता है। आवश्यकता है केवल प्रभुरचित विधानानुसार चलते हुए उसमें सदा अपना हित समझनेकी। अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा ईश्वरने विशेष अनुग्रह करते हुए मनुष्यको विशेष बुद्धि (विवेक) प्रदान की है ताकि वह उसका सदुपयोग कर अपना उद्धार कर सके, किंतु मनुष्य बुद्धि पाकर इतना फूल गया कि वह ईश्वरपर ही दोषारोपण करता है और उसके न्यायको अन्याय मानकर व्यर्थ ही दुःखके भवसागरमें गोते लगाता रहता है।

दुःख-सुख, दिन-रात, धूप-छाँव परस्पर विरोधी शब्द होकर भी एक-दूसरेसे जुड़े हुए हैं तथा पूरककी तरह क्रमसे आते-जाते रहते हैं। एकको जाने बिना दूसरेको समझना कठिन हो जाता है या यों कह सकते हैं कि एकको भोगनेके पश्चात् ही दूसरेका महत्त्व समझमें आता है। जैसे रात्रिका अन्धकार भी हमें कई पाठ पढ़ाता है, हमारा ज्ञान बढ़ाता है, वैसे ही दुःख भी शिक्षाप्रद है। दुःख आनेपर ही सुखके आनन्दकी अनुभूति होती है। दुःख आनेपर ही परमात्माकी याद आती है, वरना सुख भोगनेमें मनुष्य ईश्वरको भी भुला बैठता है। महाभारतकी कथामें एक प्रसंग आता है, जिसमें देवी कुन्ती ईश्वरसे केवल दुःख ही माँगती हैं ताकि प्रभुकी याद बनी रहे, उन्हें एक पलके लिये भी भुला न सके।

धूपमें तपे हुए शरीरको ही छायाकी शीतलता अति प्रिय लगती है। किंतु धूप न हो तो प्रकृतिका विस्तार ही न हो, जलका वाष्पीकरण भी न हो तथा वर्षाकी फुहार भी न हो। इस प्रकार दुःखकी उपयोगिताको नकारना भी मूर्खता ही है।

वस्तु या परिस्थितियाँ मनुष्यके 'सुख-दुःख' का कारण नहीं होतीं, अपितु व्यक्तिका अपनी सोच या दृष्टिकोण ही सुख-दुःखका कारण बन जाता है। प्रतिकूल परिस्थितिमें दुःखी होना स्वाभाविक है, किंतु यदि मनुष्य अपनी बुद्धिके सदुपयोगसे प्रतिकूल परिस्थितिमें भी अनुकूलताका अनुभव कर ले तो हर स्थितिमें सुखी रह सकता है।

एक बार भगवान् बुद्धने अपने शिष्यकी परीक्षा लेते हुए पूछा था कि 'यदि कोई तुम्हें गाली देगा तो क्या करोगे?' शिष्यका उत्तर था—'मैं यह सोचकर प्रसन्न हो जाऊँगा कि उसने केवल गाली ही दी शारीरिक प्रहार नहीं किया।' शारीरिक प्रहार हो जानेके बादकी प्रतिक्रिया पूछनेपर उसका उत्तर था—'ईश्वरको धन्यवाद दूँगा कि उसने जानसे नहीं मारा।' जब जानसे भी मारे जानेका भय दिखाया गया तो भी शिष्यने शान्तचित्तसे मृत्युको असार संसारसे मुक्तिके रूपमें सहर्ष स्वीकार करनेका भाव व्यक्त कर अपने विलक्षण धैर्यका परिचय दिया।

कहनेका तात्पर्य यह है कि सुख-दुःख परिस्थितिजन्य नहीं होता, अपितु भावजन्य होता है। उच्चस्तरीय भावना रखनेवाला प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितिमें भी सुखानुभूति कर सकता है। सुख-दुःख दोनों एक ही सिक्केके दो पहलू हैं अथवा एक ही वस्तुके दो सिरे हैं। दृष्टिकोण बदलकर दुःखके सिरेसे ध्यान हटाकर सुखके सिरेको देखनेमें ही बुद्धिमानी है।

मनुष्य अपने साथ कुछ नहीं लाता। परिवार, सम्पत्ति, साधन आदि उसे सदुपयोग एवं रक्षार्थ प्राप्त होते हैं तथा आयु पूरी होनेपर सब कुछ यहीं छोड़कर जाना ही पड़ता है। फिर भी इस सत्यको भुलाकर, सांसारिक वस्तुओंपर अपना अधिकार समझ उनसे ममत्व बढ़ाकर उनसे बिछुड़नेपर वह व्यर्थ ही दुःखी होता है। परिस्थितियाँ परिवर्तनशील हैं—यह बात भी समझमें आ गयी तो जैसे दिन ढल जानेपर रात्रिका मातम कोई नहीं मनाता, वैसे ही प्रत्येक अवस्थामें सहज एवं प्रसन्न रहा जा सकता है। आवश्यकता है केवल दृष्टिकोणमें परिवर्तन करनेकी और प्रभुकृपामें विश्वास रखनेकी।

* * *

साधनोपयोगी पत्र

(१)

श्रेष्ठ साध्यके लिये श्रेष्ठ साधन ही आवश्यक है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपने लिखा कि 'एक आदमी चाहता है कि मैं बहुत धन कमाकर उसके द्वारा लोकसेवा तथा भगवत्सेवाके पवित्र कार्य करूँ। परंतु धन कमानेमें असत्य, छल, कपट, चोरी, हिंसा, दूसरोंका स्वत्वहरण और बहीखातोंमें झूठा जमा-खर्च आदि करने पड़ते हैं। इनके बिना काम ही नहीं चलता। ये न किये जायँ तो आजकल सीधे उपायसे धन आना असम्भव है और धनके न होनेपर लोकसेवा तथा भगवत्सेवाके कार्य नहीं हो सकते। ऐसी अवस्थामें क्या करना चाहिये? क्या श्रेष्ठ उद्देश्यकी सिद्धिके लिये इस प्रकारके अनिवार्य दोषोंका स्वीकार करना पाप है? जब साध्य उत्तम है, कर्ताका भाव शुद्ध है और उसकी नीयत अच्छी है, तब फिर साधन यदि निकृष्ट भी हों तो क्या हानि है? भगवत्प्राप्तिके लिये यदि कभी निषिद्ध कर्म भी करने पड़ें तो क्या वह कोई बुरा बात है?'

इसका सीधा उत्तर यह है कि फल वही होता है, जिसका बीज होता है। जब साधन निकृष्ट है, तब साध्य श्रेष्ठ कहाँसे आयेगा? एक आदमीका सर्वथा शुद्ध उद्देश्य है कि मुझको आम मिले, उसका भाव भी यही है और नीयत भी अच्छी है; पर वह बोता है आकके बीज तो बताइये उसे आम कहाँसे मिलेंगे। इसी प्रकार नीयत, उद्देश्य और भाव कुछ भी हो—झूठ, कपट, छल, चोरी और हिंसा आदि साधनोंसे सच्ची लोकसेवा और भगवत्सेवारूपी परिणाम कभी नहीं हो सकता। बुरेका अच्छा फल होगा यह तो अज्ञानविमोहित आसुरी भाववालोंकी मान्यता है। वे कहते हैं—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥

(गीता १६। १३—१५)

'आज यह कमाया, कल वह कमाऊँगा। मेरे पास इतना धन तो हो गया है, फिर और भी हो जायगा। मेरे उस शत्रु (एक मार्गके रोड़े)-को तो मारकर हटा दिया गया है, शेष दूसरोंको भी मार दूँगा। मैं सत्ताधीश हूँ, मैं भोगमें समर्थ हूँ, मैं सफलताओंका केन्द्र हूँ, मैं बलवान् हूँ और सुखी हूँ। मैं धनी हूँ, मैं जनवान् हूँ—जनता मेरे पीछे चलती है, मेरे समान दूसरा है कौन। मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आनन्द लूटूँगा (भगवान् कहते हैं) वे इस प्रकारके अज्ञानसे विमोहित हैं।'

बुरेका फल अच्छा कभी हो नहीं सकता। तुलसीदास महाराजने कहा है—*'साधन सिद्धि राम पग नेहू।'* भगवच्चरणोंमें प्रेम ही साधन है और वही साध्य है। वस्तुतः साधनके स्वरूपपर ही साध्यका स्वरूप निर्भर करता है। इसलिये मनमें किसी भी साध्यकी कल्पना हो, साधकको तो पहले साधनकी श्रेष्ठता ही देखनी है। अतएव 'साध्य उत्तम हो तो साधन निकृष्ट होनेपर भी कोई हानि नहीं है' ऐसा मानना भ्रमपूर्ण है।

धनके द्वारा लोक-सेवा और भगवत्सेवाकी भावना उत्तम है (यद्यपि केवल धनके द्वारा सेवा बनती नहीं, उसके लिये तो सेवाके योग्य मन चाहिये), परंतु इसका क्या निश्चय है कि मनुष्य अपने इच्छानुसार धन कमा ही लेगा। सम्भव है, जीवनभर जीतोड़ प्रयत्न करनेपर भी धन न मिले। कदाचित् मिल भी गया तो फिर यह कौन कह सकता है कि उस समय लोकसेवा और भगवत्सेवाकी विशुद्ध भावना बनी ही रहेगी। सच्ची और युक्तिसङ्गत बात तो यह है कि असत्य, चोरी, छल, कपट, हिंसा आदि दुष्ट-साधनोंमें लगे रहनेसे चित्तकी अशुद्धि बढ़ जायगी और अशुद्ध चित्तमें शुद्ध भावनाओंका टिकना सम्भव नहीं है। अतएव लोकसेवा और भगवत्सेवा नहीं बन सकेगी। लोकसेवा और भगवत्सेवाके नामपर कहीं कोई दम्भ भले ही बन जाय। हाँ, एक फल अवश्य होगा, जीवनभर दूषित कर्मोंमें लगे रहनेसे पापोंकी वृद्धि होगी। दूषित संस्कारोंके कारण अन्तकालमें बुरी वस्तुका चिन्तन होगा और परिणामस्वरूप बुरी गति अवश्य प्राप्त होगी।

अवश्य ही कुछ समझदारलोग भी ऐसा मानते हैं कि

'साध्य उत्तम है तो फिर साधन कैसा भी क्यों न हो। हमें तो साध्यको प्राप्त करना है, फिर चाहे वह किसी भी साधनसे हो।' पर यह बड़ी भूल है। जैसा साधन होगा, वैसा ही साध्य बनेगा और जैसा साध्य होगा, वैसा ही साधन होगा। यदि किसीका साधन निकृष्ट है तो सच मानना चाहिये कि उसका साध्य भी श्रेष्ठ नहीं है, भले ही वह भूलसे, धोखेसे या दम्भसे अपने साध्यको श्रेष्ठ कहता हो। चोरी करके साधु-सेवा करना, अतिथि-सत्कारके लिये व्यभिचार करना, भगवान्‌की पूजाके लिये द्वेषपूर्वक हिंसा करना, वैर और क्रोधके द्वारा धर्मकी रक्षा करना, दम्भ करके भगवान्‌को प्रसन्न करना और आत्महत्या करके भगवान्‌को पा लेना आदि कुछ ऐसी बातें हैं जो किसी विशेष परिस्थितिमें विशेष व्यक्तियोंद्वारा हुई हों, पर वे अपवाद हैं, नियम कदापि नहीं। नियम तो यही है कि साधन उत्तम होगा, तभी साध्य उत्तम होगा।

फिर जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे तो श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ उद्देश्यकी सिद्धिके लिये भी नीच कर्मको कदापि स्वीकार नहीं करेंगे। भगवान्‌से मिलना अवश्य है, भगवत्प्रेम अवश्य चाहिये, पर वह चाहिये भगवान्‌के अनुकूल परम श्रेष्ठ शास्त्रीय साधनोंके द्वारा ही। निषिद्ध कर्मके द्वारा कहीं भगवान् या भगवत्प्रेम मिलता भी हो तो श्रेष्ठ पुरुष उसे स्वीकार नहीं कर सकते। इसीलिये प्रेमी भक्त अपने भगवान्‌से यहाँतक कह दिया करते हैं कि 'भगवन्! हमें तो तुम्हारा भजन प्यारा है। यदि तुम्हारी प्राप्ति हो जानेपर तुम्हारा भजन छूटता हो तो हम ऐसी प्राप्ति नहीं चाहते। हमें चाहे जहाँ, चाहे जैसी परिस्थितिमें रहना पड़े, पर तुम्हारा प्रेमपूरित भजन कभी न छूटे। हमें सुगति, सुमति, सम्पत्ति, ऋद्धि-सिद्धि और विशाल कीर्ति नहीं चाहिये। हमारा तो बस, तुम्हारे युगलचरणकमलोंमें नित्य नया अनुराग ही बढ़ता रहे—

चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥

गोस्वामीजीने दोहावलीमें कह दिया है कि मुझे नरकमें रहना स्वीकार है, यदि रामप्रेमका फल अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष हो तो इन चारों पुरुषार्थ-शिशुओंको मौत डाकिनी खा जाय। मुझे तो केवल 'रामप्रेम' चाहिये। यदि रामप्रेमका और कोई फल भी होता हो तो उसमें आग लग जाय—

परौं नरक फल चारि सिसु मीच डाकिनी खाउ।
तुलसी राम सनेह को जो फल सो जरि जाउ॥

(२)

घोर पतन और दुःखकी सम्भावना

प्रिय महोदय! आपका कृपापत्र मिला। भविष्यमें क्या होगा—इसका पूरा पता तो विधान-कर्ता भगवान्‌को ही है। पर यह निश्चय है कि भगवान् सब मङ्गल करते हैं और जो कुछ भी हमारे लिये फलरूपमें विधान करते हैं, वह मङ्गलमय ही होता है—अवश्य ही उसका स्वरूप अत्यन्त भयानक, रौद्र तथा प्रलयङ्कर हो सकता है अथवा अत्यन्त सौम्य, शान्त तथा सुखकर भी हो सकता है। वह भी होता है हमारे किये कर्मोंके फलस्वरूप ही। अतएव वर्तमानमें हमारे जैसे कर्म हो रहे हैं और हमारे कर्मोंके प्रेरक हमारे मनके जैसे विचार हैं, उन्हें देखते परिणाम भयानक दुःखमय ही प्रतीत होता है, यद्यपि वह भी होगा मङ्गलमय ही!

इस समय हमारे जीवनमें 'अहं' का अत्यन्त प्रभाव है और वह अहं संकुचित होते-होते इतना सीमित और क्षुद्र हो गया है कि हमारा हित और हमारा सुख बहुत छोटे-से दायरेमें आकर गन्दा और कुवासनापूर्ण हो गया है। इसीसे आजका मानव प्रायः सर्वमय सर्वाधार भगवान्‌को, एक आत्माको, विश्व-चराचरको, विश्वके चेतन प्राणियोंको, मानव-जातिको, राष्ट्रसमूहोंको, देशको, जातिको और अपने कुटुम्बको भी भूलकर केवल अपने व्यक्तिगत भौतिक वैभव-पद-अधिकार-सुखकी प्राप्तिको ही एकमात्र जीवनका ध्येय समझ बैठा है और केवल इसी क्षुद्र सीमित उद्देश्यकी सिद्धिके लिये चिन्तामग्न तथा क्रियाशील बना हुआ है। उसे न ईश्वरका भय है, न धर्मकी परवा है, न दूसरोंके कष्ट-दुःखका विचार है—केवल उसका अपना काम सधना चाहिये, भले ही सबका विनाश हो जाय। जो दूसरोंके ह्रास-विनाशपर अपना विकास सिद्ध करना चाहता है, वह तो विनाशको ही प्राप्त होगा; जब सभी दूसरोंका विनाश करके अपना विकास चाहेंगे, तब सहज ही सब सबके विनाशमें लगेंगे और परिणामतः सभीका विनाश होगा। इस आसुरी भावनासे सभीकी अधोगति और दुर्गति होगी!

आज समस्त विश्वमें और हमारे भारतमें भी एक-दूसरेको नीचा दिखानेकी, गिरानेकी, हानि पहुँचानेकी, मारनेकी, मिटानेकी, लूटनेकी जो घोर हिंसामयी कुप्रवृत्ति बढ़ रही है, फिर चाहे वह धर्मरक्षा, देशहित, मानव-सेवा, लोक-सेवा या समाज-सेवाके नामपर अथवा किसी भी तन्त्र या वादके सिद्धान्तके नामपर होती हो। उस प्रवृत्तिका मूल हेतु है सीमित क्षुद्र अहंके हित या भोग-सुखका भ्रम—मनुष्यकी व्यक्तिगत अदम्य भोग-लालसा अथवा भौतिक वैभव-पद, अधिकार-सुखकी अज्ञानमयी क्षुद्र कामना। इसका फल तो दुःख ही होगा।। इस अवाञ्छनीय अनर्थकी मूल सहायक तथा प्रेरक होती है—अज्ञानजनित तीनों पापवृत्तियाँ—काम, क्रोध और लोभ—इन तीनोंका स्वरूप तथा फल बतलाते हुए भगवान् इन तीनोंका त्याग करनेकी आज्ञा देते हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥
(गीता १६।२१)

'काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके आत्माका नाश—पतन करानेवाले नरकके द्वार हैं। अतएव इन तीनोंका त्याग करना चाहिये।' परंतु उन क्षुद्र अहंवृत्तिवाले भोग-सुखकामियोंके यही तीन साथी, सहायक और प्रेरक होते हैं। अतएव उनके लिये इनका त्याग बहुत ही कठिन होता है। फल यह होता है कि इस प्रकारके मनुष्य अपने ही दुर्विचारों तथा दुष्कर्मोंसे अपना और जगत्का दुःख बढ़ाने और उसे अधोगतिकी ओर ले जानेमें लगे रहते हैं। आज यही हो रहा है और इससे अनुमान यही होता है, अभी जगत्के दुर्दिन शेष नहीं हुए हैं, वरं उनमें प्रबलता आ रही है और इसका फल दुःखोंकी उत्तरोत्तर वृद्धि तथा मानवताके स्वरूपका ह्रास-विनाश ही होगा। भगवान् सबको सद्बुद्धि दें। सबका मङ्गल करें।

शेष भगवत्कृपा!

(३)

भगवत्कृपा—अनिर्वचनीय

सम्मान्य महोदय! सादर नमस्कार। आपका कृपापत्र मिले बहुत दिन हो गये। मेरा शरीर अस्वस्थ था। इससे उत्तर नहीं लिख पाया। अब कुछ ठीक है और आपका दूसरा पत्र भी मिल गया है। अतएव उत्तरमें कुछ शब्द लिख रहा हूँ। मुझपर भगवान्की कैसी तथा कितनी कृपा है, इसके सम्बन्धमें आपने पूछा है। इसका क्या उत्तर दिया जाय? भगवान्की कृपा अनन्त और अपार है, अहैतुकी है और प्राणिमात्रपर है। **'सुहृदं सर्वभूतानाम्'**—उनके श्रीमुखके वाक्य हैं, फिर किसपर कितनी कैसी कृपा है, कौन कैसे बताये? अतुलनीय, अवर्णनीय, अचिन्त्य, अनन्त, अगाध कृपा-समुद्रकी थाह कौन पा सकता है? मनुष्यके पास ऐसा कोई यन्त्र, मन्त्र या साधन है ही नहीं, जिससे वह भगवत्कृपाकी इयत्ताका पता लगा सके। ऐसा कोई थर्मामीटर बना ही नहीं। फिर मेरी बात तो मैं क्या बताऊँ—मैं अपनी तथा अपने कार्योंकी ओर देखता हूँ तो ऐसा लगता है कि मैं नरकमें रहने लायक पापी भी नहीं हूँ, मेरे पाप उससे भी बड़े हैं। मैं सर्वथा दीन, हीन, मलिन, साधनहीन, पापपीन हूँ और उत्तरोत्तर अधोगतिमें जाना ही मेरे लिये उचित तथा न्याय्य है। पर जब भगवत्कृपाकी ओर देखता हूँ तो चकित रह जाता हूँ। कहाँ मैं नरकका भी अनधिकारी और कहाँ भगवत्कृपासे भगवान्का परम निज-जन! भगवत्कृपा मुझे दिखलाती है—प्रत्यक्ष, मानो स्वयं भगवान् अपनी सारी कल्याण-सम्पत्ति, प्रेम-सम्पत्तिके अगाध समुद्रको लेकर मेरे हृदयमें उतर आये हैं और उसको उन्होंने अपना नित्यनिवास बना लिया है। दिन-रात उन्हींकी लीला चल रही है—बाहर-भीतर। विशुद्ध प्रेमस्वरूप तथा ब्रह्मानन्दको भी आनन्द देनेवाले दिव्य रसके आधार, आगार-स्वरूप अनन्त रसरूप भगवान् स्वयं दिव्यातिदिव्य आनन्दमें निमग्न हुए आनन्द-नृत्य कर रहे हैं—नित्य-निरन्तर अविराम, अभिराम!

न लोक है, न परलोक; न भोग है, न त्याग; न बन्धन है, न मुक्ति; न मैं है, न तू; न प्रारब्ध है, न पुरुषार्थ; न जन्म है, न मृत्यु। बस, एक ही रस विविध रसोंके आकारमें विविध विचित्र रंगोंमें अबाध गतिसे प्रवाहित और उच्छलित है। एक ही लीलामय नित्य लीलायमान हैं। यह है भगवत्कृपाका एक संकेतमात्र।

विशेष भगवत्कृपा।

* * *

व्रतोत्सव-पर्व

आश्विन कृष्णपक्ष (११-९-२००३ से २६-९-२००३ तक) सूर्य दक्षिणायन, वर्षा-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	गुरु	पू० भा०	११ सितम्बर	मीनके चन्द्रमा दिन १०-३३ बजे, प्रतिपदाका श्राद्ध, यायिजययोग सायं ४-४९ बजेसे रात्रि ९-५५ बजेतक, प्रतिपदा तिथि रात्रि ९-५५ बजेतक
द्वितीया	शुक्र	उ० भा०	१२ ,,	अशून्यशयनव्रत, चन्द्रोदय रात्रि ७-२३ बजे, द्वितीया-श्राद्ध, सर्वार्थामृतसिद्धियोग सायं ६-१८ बजेसे
तृतीया	शनि	रेवती	१३ ,,	मेषके चन्द्रमा रात्रि ८-११ बजे, तृतीया-श्राद्ध, ललितादेवी-यात्रा, यायिजययोग रात्रि ८-११ बजेतक, पञ्चक समाप्त रात्रि ८-११ बजे, भद्रा दिन ११-३४ बजेसे रात्रि १२-१४ बजेतक
चतुर्थी	रवि	अश्विनी	१४ ,,	श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय रात्रि ८-२५ बजे, चतुर्थी-श्राद्ध, हिन्दी दिवस, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रके सूर्य दिन २-३६ बजे (झंझावात-वृष्टि), सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि १०-२८ बजेतक
पञ्चमी	सोम	भरणी	१५ ,,	पञ्चमी-श्राद्ध, भरणी-श्राद्ध, यायिजययोग रात्रि १ बजेतक, पञ्चमी तिथि रात्रि शेष ४ बजेतक, सूर्योदय प्रातः ५-५४ बजे, सूर्यास्त सायं ६-०६ बजे
षष्ठी	भौम	कृत्तिका	१६ ,,	वृषके चन्द्रमा प्रातः ७-४० बजे, चन्द्रषष्ठीव्रत, षष्ठी-श्राद्ध, सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि ३-३७ बजेतक, कृत्तिका नक्षत्र रात्रि ३-३७ बजेतक
षष्ठी	बुध	रोहिणी	१७ ,,	षष्ठी तिथि प्रातः ६-०५ बजेतक, सप्तमी-श्राद्ध, विश्वकर्मापूजन, सायन कन्याराशिके सूर्य रात्रि १२-४३ बजे, (दूसरे दिन पुण्यकाल दोपहरतक), सर्वार्थसिद्धियोग तथा रवियोग सायं ६-०५ बजेतक, भद्रा प्रातः ६-०६ बजेसे रात्रि ७-०४ बजेतक
सप्तमी	गुरु	रोहिणी	१८ ,,	रोहिणी नक्षत्र प्रातः ६-१० बजेतक, मिथुनके चन्द्रमा रात्रि ७-१९ बजे, **सौर आश्विनमासारम्भ**, सप्तमी तिथि दिन ८-०५ बजेतक, श्रीजीवत्पुत्रिकाव्रत, श्रीमहालक्ष्मीव्रत, चन्द्रोदय रात्रि ११ बजे, अष्टमी-श्राद्ध, लक्ष्मीकुण्डस्नान समाप्त, अष्टका-श्राद्ध (दोपहर), [आज संक्रान्तिजन्य पुण्यकाल], गोदावरीमें स्नान, गृह, वस्त्रका दान, 'शरद्-ऋतु'
अष्टमी	शुक्र	मृगशिरा	१९ ,,	अष्टमी दिन ९-४९ बजेतक, जीवत्पुत्रिकाव्रतकी पारणा दिन ९-५० बजेसे, अन्वष्टका-श्राद्ध, मातृनवमी, स्थायिजययोग दिन ८-२१ बजेतक
नवमी	शनि	आर्द्रा	२० ,,	कर्कके चन्द्रमा रात्रि शेष ५-३३ बजे, नवमी तिथि दिन ११-०९ बजेतक, भद्रा रात्रि ११-३७ बजेसे
दशमी	रवि	पुनर्वसु	२१ ,,	भद्रा दिन १२-०४ बजेतक, सर्वार्थसिद्धियोग दिन ११-५८ बजेसे, दशमी तिथि दिन १२-०४ बजेतक, दशमी-श्राद्ध
एकादशी	सोम	पुष्य	२२ ,,	संन्यासी-यति-वैष्णव-श्राद्ध, एकादशी तिथि दिन १२-२९ बजेतक, इन्दिरा एकादशीव्रत (सबका), एकादशी-श्राद्ध, सर्वार्थसिद्धियोग दिन १२-५९ बजेतक
द्वादशी	भौम	आश्लेषा	२३ ,,	सिंहके चन्द्रमा दिन १-३० बजे, **राष्ट्रीय आश्विनमासारम्भ**, त्रयोदशी-श्राद्ध, आश्लेषा नक्षत्र दिन १-३० बजेतक, मघा-श्राद्ध, भौमप्रदोषव्रत
त्रयोदशी	बुध	मघा	२४ ,,	चतुर्दशी-श्राद्ध, त्रयोदशी तिथि दिन ११-४६ बजेतक, आज केवल शस्त्रादिसे मरे हुए लोगोंका श्राद्ध, मासशिवरात्रिव्रत, सायन तुलाराशिके सूर्य प्रातः ६-४४ बजे, भद्रा दिन ११-४७ बजेसे रात्रि ११-१३ बजेतक
चतुर्दशी	गुरु	पू० फा०	२५ ,,	कन्याके चन्द्रमा सायं ६-५४ बजे, अमावास्या-श्राद्ध, सर्वपैत्री अमावास्या, चतुर्दशी तिथि दिन १०-४१ बजेतक, पितृविसर्जन, आज ही श्राद्ध जिनकी तिथि ज्ञात न हो, महालय समाप्त
अमावास्या	शुक्र	उ० फा०	२६ ,,	स्नान-दानकी अमावास्या, अमावास्या तिथि दिन ९-१४ बजेतक, मातामह-श्राद्ध

आश्विन शुक्लपक्ष (२७-९-२००३ से १०-१०-२००३ तक) सूर्य दक्षिणायन, शरद्-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	शनि	हस्त	२७ सितम्बर	तुलाके चन्द्रमा रात्रि १०-३१ बजे, चन्ददर्शन, शारद नवरात्रारम्भ, कलशस्थापन प्रातः ७-२६ बजेतक, ध्वजारोपण, हस्त नक्षत्रके सूर्य रात्रि शेष ५-५९ बजे (स्वल्प वृष्टियोग), द्विपुष्करयोग दिन ११-१४ बजेसे रात्रि शेष ५-२१ बजेतक, सूर्योदय प्रातः ६-०३ बजे, सूर्यास्त सायं ५-५७ बजे
द्वितीया		तिथिका क्षय		प्रतिपदा तिथि प्रातः ७-२६ बजेतक तदुपरि द्वितीया तिथि रात्रि शेष ५-२१ बजेतक
तृतीया	रवि	चित्रा	२८ ,,	तृतीया तिथि रात्रि ३-०४ बजेतक, चित्रा नक्षत्र दिन ९-४९ बजेतक, यायिजययोग दिन ९-५० बजेसे रात्रि ३-०४ बजेतक
चतुर्थी	सोम	स्वाती	२९ ,,	वृश्चिकके चन्द्रमा रात्रि १-०१ बजे, वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, रवियोग दिन ८-१७ बजेसे, भद्रा दिन १-५२ बजेसे रात्रि १२-४० बजेतक
पञ्चमी	भौम	विशाखा	३० ,,	विशाखा नक्षत्र प्रातः ६-२७ बजेतक तदुपरि अनुराधा नक्षत्र रात्रि शेष ४-५६ बजेतक, उपाङ्गललिताव्रत (महाराष्ट्र), पञ्चमी तिथि रात्रि १०-१५ बजेतक
षष्ठी	बुध	ज्येष्ठा	१ अक्टूबर	धनुके चन्द्रमा रात्रि ३-२१ बजे, रवियोग रात्रि ३-२१ बजेतक
सप्तमी	गुरु	मूल	२ ,,	पत्रिका प्रवेशन, सप्तमी तिथि सायं ५-३६ बजेतक, महानिशापूजा, बलिदान, श्रीअन्नपूर्णापरिक्रमा सायं ५-३७ बजेसे, मूल नक्षत्र रात्रि १-५३ बजेतक, मूल नक्षत्रमें सरस्वतीदेवीका आवाहन, गाँधी-जयन्ती, भद्रा सायं ५-३७ बजेसे रात्रि शेष ४-३४ बजेतक
अष्टमी	शुक्र	पू० षा०	३ ,,	अष्टमी तिथि दिन ३-३३ बजेतक, महाष्टमीव्रत, दुर्गाष्टमीव्रत, श्रीअन्नपूर्णापरिक्रमा दिन ३-३३ बजेतक, महानवमीव्रत, अष्टमीमें उपवास, जबतक नवमी तिथि तबतक हवन, स्थायिजययोग दिन ३-३३ बजेतक
नवमी	शनि	उ० षा०	४ ,,	उ० षा० नक्षत्र रात्रि ११-४८ बजेतक तदुपरि श्रवण नक्षत्र, मकरके चन्द्रमा प्रातः ६-२८ बजे, नवमी तिथि दिन १-४६ बजेतक, जगद्गुरु माधवाचार्य-जयन्ती, यायिजययोग दिन १-४६ बजेतक
दशमी	रवि	श्रवण	५ ,,	दशमी तिथि दिन १२-१९ बजेतक, विजयादशमी, नवरात्रव्रतकी पारणा, दुर्गाविसर्जन, (सायंकाल), अपराजितापूजन, विजय-यात्रा, शमीपूजन, नीलकण्ठदर्शन, राज्ञापट्टाभिषेक योग्य विजयादशमी, जयन्तीग्रहण, रवियोग रात्रि ११-१२ बजेतक, श्रवण नक्षत्र रात्रि ११-१२ बजेतक, भद्रा रात्रि ११-४८ बजेसे
एकादशी	सोम	धनिष्ठा	६ ,,	भद्रा दिन ११-१७ बजेतक, कुम्भके चन्द्रमा दिन ११-०९ बजे, पञ्चक आरम्भ दिन ११-१० बजेसे, पापाङ्कुशी एकादशीव्रत (सबका), भरतमिलाप, यायिजययोग दिन ११-१७ बजेतक
द्वादशी	भौम	शतभिषा	७ ,,	द्वादशी तिथि दिन १०-४४ बजेतक, एकादशीव्रतकी पारणा, भौमप्रदोषव्रत, पद्मनाभ द्वादशीव्रत, दुग्धदान, द्विदल (दाल)-त्याग व्रतारम्भ, रवियोग रात्रि ११-२७ बजेतक
त्रयोदशी	बुध	पू० भा०	८ ,,	मीनके चन्द्रमा सायं ६-०५ बजे, सर्वदोषोपघातक रवियोग रात्रि १२-१७ बजेतक
चतुर्दशी	गुरु	उ० भा०	९ ,,	चतुर्दशी तिथि दिन ११-०९ बजेतक, व्रतकी पूर्णिमा, शरत्पूर्णिमा, कोजागरीपूर्णिमा, रात्रिमें लक्ष्मी-इन्द्र-कुबेर आदिकी पूजा, आधीरातमें वरदादेवीपूजा, भद्रा दिन ११-१० बजेसे रात्रि ११-३८ बजेतक
पूर्णिमा	शुक्र	रेवती	१० ,,	स्नान-दानकी पूर्णिमा, मेषके चन्द्रमा रात्रि ३-२८ बजे, पञ्चक समाप्त रात्रि ३-२८ बजे, पूर्णिमा तिथि दिन १२-०८ बजेतक, महर्षि बाल्मीकिजयन्ती, कार्तिक व्रत-स्नान-नियम आजसे आरम्भ

व्रतोत्सव-पर्व

कार्तिक कृष्णपक्ष (११-१०-२००३ से २५-१०-२००३ तक) सूर्य दक्षिणायन, शरद्-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	शनि	अश्विनी	११ अक्टूबर	कार्तिकमें द्विदल (दाल खाना) वर्जित, प्रतिपदा तिथि दिन १-३३ बजेतक, अशून्यशयनव्रत, चन्द्रोदय रात्रि ६-३४ बजे, चित्रा नक्षत्रके सूर्य रात्रि ६-२९ बजे (सुवृष्टियोग), अश्विनी नक्षत्र रात्रि शेष ५-४० बजे, सूर्योदय प्रातः ६-१३ बजे, सूर्यास्त सायं ५-४७ बजे
द्वितीया	रवि	भरणी	१२ ,,	द्वितीया तिथि दिन ३-२१ बजे, यायिजययोग दिन ३-२२ बजेसे, भद्रा रात्रि शेष ४-२२ बजेसे
तृतीया	सोम	भरणी	१३ ,,	भद्रा सायं ५-२२ बजेतक, वृषके चन्द्रमा दिन २-४८ बजे, करक (करवा) श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय रात्रि ७-४१ बजे, चन्द्रार्घ्यदान, भरणी नक्षत्र दिन ८-०९ बजेतक, तृतीया तिथि सायं ५-२२ बजेतक
चतुर्थी	भौम	कृत्तिका	१४ ,,	चतुर्थी तिथि रात्रि ७-३० बजेतक, स्थायिजययोग तथा सर्वार्थसिद्धियोग दिन १०-४७ बजेसे
पञ्चमी	बुध	रोहिणी	१५ ,,	मिथुनके चन्द्रमा रात्रि २-३२ बजे, सर्वार्थसिद्धियोग दिन १-२२ बजेतक
षष्ठी	गुरु	मृगशिरा	१६ ,,	रवियोग दिन ३-४४ बजेसे, भद्रा रात्रि ११-१९ बजेसे
सप्तमी	शुक्र	आर्द्रा	१७ ,,	भद्रा दिन १२ बजेतक, सप्तमी तिथि रात्रि १२-४१ बजेतक
अष्टमी	शनि	पुनर्वसु	१८ ,,	कर्कके चन्द्रमा दिन १-०१ बजे, श्रीराधाष्टमी, अहोई अष्टमीव्रत, चन्द्रोदय रात्रि ११-३८ बजे, अष्टमी तिथि रात्रि १-३८ बजेतक, सायन तुलाराशिके सूर्य दिन ११-४० बजे, (पुण्यकाल दोपहर बादसे), तिल-गोरस आदिका दान, गोदावरीमें स्नान, कराष्टमी (महाराष्ट्र)
नवमी	रवि	पुष्य	१९ ,,	सौर कार्तिकमासारम्भ, पुष्य नक्षत्र रात्रि ८-३५ बजेतक, यायिजययोग रात्रि ८-३६ बजेसे रात्रि २-०५ बजेतक
दशमी	सोम	आश्लेषा	२० ,,	सिंहके चन्द्रमा रात्रि ९-१४ बजे, भद्रा दिन २-०२ बजेसे रात्रि १-५९ बजेतक
एकादशी	भौम	मघा	२१ ,,	रम्भा एकादशीव्रत (सबका), मघा नक्षत्र रात्रि ९-२४ बजेतक, स्थायिजययोग रात्रि १-२५ बजेसे
द्वादशी	बुध	पू० फा०	२२ ,,	कन्याके चन्द्रमा रात्रि ३-१४ बजे, द्वादशी तिथि रात्रि १२-२२ बजेतक, गोवत्स द्वादशी
त्रयोदशी	गुरु	उ० फा०	२३ ,,	राष्ट्रीय कार्तिकमासारम्भ, प्रदोषव्रत, मासशिवरात्रिव्रत, धनत्रयोदशी (धनतेरस), त्रयोदशी तिथि रात्रि १०-५५ बजेतक, धन्वन्तरि-जयन्ती, कामेश्वरी-जयन्ती, सायंकाल यमराजके लिये नवदीपदान, यमपञ्चकारम्भ, नरकचतुर्दशी, चन्द्रोदय रात्रि ३-४१ बजे, यायिजययोग रात्रि १०-५५ बजेतक, भद्रा रात्रि १०-५६ बजेसे
चतुर्दशी	शुक्र	हस्त	२४ ,,	भद्रा दिन १०-०३ बजेतक, तुलाके चन्द्रमा रात्रि शेष ६-१६ बजे, सायंकाल घरसे बाहर यमराजके लिये चार बत्तीवाला दीपदान, हनुमज्जन्म चतुर्दशी (सायंकाल), आधीरातमें कालीपूजा, स्वाती नक्षत्रके सूर्य रात्रि शेष ४-०९ बजे (स्वल्पवृष्टियोग), स्थायिजययोग रात्रि ७-२१ बजेसे रात्रि ९-०९ बजेतक
अमावास्या	शनि	चित्रा	२५ ,,	स्नान-दान-श्राद्धकी अमावास्या, हनुमद्दर्शन, दीपावली, लक्ष्मी-इन्द्र-कुबेर आदिकी पूजा, यमतर्पण, महावीर निर्वाण दिवस (जैन), रात्रि शेषमें द्ररिद्रानिःसारण, सर्वार्थसिद्धियोग सायं ६-०२ बजेसे

कार्तिक शुक्लपक्ष (२६-१०-२००३ से ८-११-२००३ तक) सूर्य दक्षिणायन, शरद्-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	रवि	स्वाती	२६ अक्टूबर	प्रतिपदा तिथि सायं ४-५१ बजेतक, अन्नकूट, काशीसे अन्यत्र गोवर्धनपूजा, यायिजययोग सायं ४-२९ बजेतक, त्रिपुष्करयोग सायं ४-५२ बजेसे
द्वितीया	सोम	विशाखा	२७ ,,	चन्द्रदर्शन, वृश्चिकके चन्द्रमा दिन ९-१५ बजे, काशीमें गोवर्धनपूजा, भ्रातृद्वितीया, भैयादूज, यमद्वितीया, यमुनास्नान, यमतर्पण, बहनके घर भोजन, वस्त्र आदिसे बहनका पूजन, दूत चित्रगुप्तके साथ यमपूजन, मत्स्याधार (दवात)-पूजा (बिहार), यमपञ्चक-निवृत्ति, यायिजययोग दिन २-५२ बजेसे
तृतीया	भौम	अनुराधा	२८ ,,	वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, तृतीया तिथि दिन १२-०७ बजेतक, भौम चतुर्थीव्रत, श्रीसूर्यषष्ठी व्रतारम्भ (तीन दिनतक), रवियोग तथा स्थायिजययोग दिन १-११ बजेसे, भद्रा रात्रि १०-५७ बजेसे
चतुर्थी	बुध	ज्येष्ठा	२९ ,,	भद्रा दिन ९-४५ बजेतक, धनुके चन्द्रमा दिन ११-३२ बजे, श्रीसूर्यषष्ठीव्रतका दूसरा दिन, रवियोग तथा स्थायिजययोग दिन ११-३३ बजेतक
पञ्चमी	गुरु	मूल	३० ,,	श्रीसूर्यषष्ठीव्रत, (सायंकालीन आजका अर्घ्यदान, रात्रिशेष सूर्य निकलनेपर दूसरा अर्घ्यदान, स्कन्दषष्ठीव्रत, ज्ञानपञ्चमी (जैन), रवियोग दिन १०-०४ बजेसे
षष्ठी		तिथिका क्षय		पञ्चमी तिथि प्रातः ७-३२ बजेतक तदुपरि षष्ठी तिथि रात्रि शेष ५-३० बजेतक, सूर्योदय प्रातः ६-२६ बजे, सूर्यास्त ५-३४ बजे
सप्तमी	शुक्र	पू० षा०	३१ ,,	मकरके चन्द्रमा दिन २-३१ बजे, श्रीसूर्यषष्ठीव्रतकी पारणा, रवियोग दिन ८-४६ बजेतक, भद्रा रात्रि ३-४६ बजेसे
अष्टमी	शनि	उ० षा०	१ नवम्बर	भद्रा दिन ३-०३ बजेतक, गोपाष्टमी, गोओंको अलंकृतकर पूजन (सायंकाल), सर्वार्थसिद्धियोग प्रातः ७-४७ बजेसे
नवमी	रवि	श्रवण	२ ,,	कुम्भके चन्द्रमा सायं ६-५८ बजे, अक्षयनवमी, रत्नगर्भकुष्माण्ड आदिका दान, आँवलावृक्षके नीचे भोजन, कृतयुगादि नवमी, नवमीमें उपवास रहकर अयोध्या और मथुराकी परिक्रमा, नवमी तिथि रात्रि १-२१ बजेतक, विष्णुभगवान्‌की मूर्ति सोनेकी बनवाकर तीन रात्रितक तुलसीवृक्षकी पूजाकर द्वादशी तिथिको दान, रवियोग तथा यायिजययोग प्रातः ७-०७ बजेसे रात्रि १-२१ बजेतक, पञ्चक आरम्भ सायं ६-५९ बजेसे
दशमी	सोम	धनिष्ठा	३ ,,	दशमी तिथि रात्रि १२-४९ बजेतक, धनिष्ठा नक्षत्र प्रातः ६-५२ बजेतक
एकादशी	भौम	शतभिषा	४ ,,	मीनके चन्द्रमा रात्रि १-३७ बजे, प्रबोधिनी एकादशीव्रत (सबका) प्रबोधनोत्सव, इक्षुरसप्राशन, भीष्मपञ्चकारम्भ, स्थायिजययोग रात्रि १२-४८ बजेसे, भद्रा दिन १२-४९ बजेसे रात्रि १२-४७ बजेतक
द्वादशी	बुध	पू० भा०	५ ,,	एकादशीव्रतकी पारणा, द्वादशी तिथि रात्रि १-१९ बजेतक, विष्णुभगवान्‌की तीन रात्रितककी पूजासे निवृत्ति, तुलसीविवाह, चातुर्मास्यव्रतकी समाप्ति, द्विदल (दाल)-दान
त्रयोदशी	गुरु	उ० भा०	६ ,,	प्रदोषव्रत, रवियोग तथा सर्वार्थसिद्धियोग दिन ९-०४ बजेसे, यायिजययोग रात्रि २-२० बजेतक
चतुर्दशी	शुक्र	रेवती	७ ,,	मेषके चन्द्रमा दिन १०-४५ बजे, वैकुण्ठ चतुर्दशीव्रत, महाविष्णुपूजा, श्रीनर्मदेश्वरजीके लिये तुलसीपत्र समर्पण, सूर्योदयके समय मणिकर्णिकास्नान, श्रीकाशीविश्वनाथ प्रतिष्ठादिन, विशाखा नक्षत्रके सूर्य दिन ११-१७ बजे, सर्वार्थसिद्धियोग सायं ५-२९ बजेतक, भद्रा रात्रि ३-४८ बजेसे, चतुर्दशी तिथि रात्रि ३-४८ बजेतक, पञ्चक समाप्त दिन १०-४५ बजे
पूर्णिमा	शनि	अश्विनी	८ ,,	भद्रा सायं ४-४३ बजे, स्नान-दान-व्रतकी पूर्णिमा, गुरुनानकदेव-जयन्ती, रासयात्रा, जगद्गुरु निम्बार्काचार्य-जयन्ती, कार्तिकेयदर्शन, त्रिपुरोत्सव, पुष्करमें त्रिपुरके लिये दीपदान, भीष्मपञ्चक निवृत्ति, देवदीपावली दीपोत्सव, पूर्णिमा तिथि रात्रि शेष ५-३८ बजेतक

पढ़ो, समझो और करो

(१)

ईमानदार युवकके रूपमें प्रभु श्रीराम

बात १२ मई सन् २००३ सोमवारकी है। मेरी भाभीके माता-पिता हमारे यहाँ आये थे। सौभाग्यसे हमारे गाँवमें अखण्ड श्रीराम-नाम-सप्ताह चल रहा था। जो लगातार सात दिनतक चलता है। भारी भीड़ उमड़ती है। अन्तिम दिनोंमें दूर-दूरके गाँवसे आयी कीर्तनमण्डलियाँ श्रीरामनाम-जप-संकीर्तनमें अपना विशेष योगदान देती हैं। मेरी भाभीके पिताजी बहुत ही सज्जन, मिलनसार और धार्मिक प्रवृत्तिके हैं।

जिस दिन भाभीके माता-पिताजी आये, उसी दिन रातको अखण्ड श्रीराम-नाम-सप्ताहकी आरतीमें सम्मिलित होनेके लिये उन्हें लेकर मैं और मेरी छोटी बहन मण्डलीकी ओर निकल पड़े।

आरती समाप्त होनेके पश्चात् मैं और मेरी बहन घर आ गये और भाभीके माता-पिता वहीं पूजास्थलमें रुक गये। वहाँ पिताजीने कुछ रुपये योगदानके रूपमें मण्डलीको दिये। रुपये निकालते समय उनकी जेबसे ४०० रुपये मण्डलीपरिसरमें गिर गये, पर इस बातका भान उनको उस समय न हो पाया। वे वापस घर आ गये। संकीर्तनकी चर्चा करते-करते रातके १२ से भी अधिक बज गये। फिर हमलोग सो गये। सुबह उन लोगोंको जाना है। इस बातका ख्याल भी न रहा।

सुबह पाँच बजे मैं और भाभीके माता-पिता पहले उठ गये; क्योंकि सुबह सात बजेकी बससे उन्हें जाना था। स्नान-पूजा आदि करके दोनों जानेकी तैयारीमें जुट गये। अचानक पिताजी अपने कुर्तेके पॉकेटमें रुपये टटोलने लगे। पर ये क्या, पॉकेटमें तो दस रुपयेके अलावा और कुछ था ही नहीं।

वे घबराकर बहुत दुःखी हो गये। उन्होंने हमलोगोंको सारी बात बतायी। हम सब भी बहुत परेशान होकर, घरमें इधर-उधर ढूँढ़ने लगे, किंतु पैसा नहीं मिला।

हमें इस बातका विशेष दुःख होने लगा। एक तो हमारे घरसे आजतक कभी भी एक रुपयेकी भी चोरी नहीं हुई थी, फिर चार-चार सौ रुपये कहाँ गायब हो गये। माता-पिताजी हमलोगोंके बारेमें क्या सोचते होंगे। हमें बहुत अफसोस हो रहा था और दूसरी बात यह कि चार सौ रुपये भाभीके पिताजीकी मेहनत एवं खून-पसीनेकी कमायी थी। मन-ही-मन मैं ईश्वरसे बहुत प्रार्थना करने लगी—'हे ईश्वर! हमारे घरकी लाज तुम्हारे हाथमें है। तू ही जानता है कि पैसा हमारे घरसे चोरी नहीं हुआ है। पर यह बात सब थोड़े ही जानते हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है तू ही कोई चमत्कार करेगा और वह पैसा जरूर मिल जायगा।'

और हुआ भी यही। भाभीके पिताजीके वे चार सौ रुपये, कीर्तन-मण्डलीमें ही गिर गये थे। भला, ईश्वर अपने भक्तका बिगाड़ क्यों करने लगे। वे रुपये ईश्वरकी अनुकम्पासे हमारे गाँवके एक २१-२२ वर्षीय युवक सफेद कुमारको मिले। उसने उन रुपयोंको खर्च न करके, वे रुपये जिसके हैं उन्हें लौटानेका निर्णय लिया।

उसे रुपये मिले हैं यह बात वहाँ और लोगोंको भी मालूम हो गयी, लोग तरह-तरहके परामर्श देने लगे। कुछ लोगोंने कहा कि रुपया यहाँ भगवान्के नामसे चढ़ा दो तब उन लोगोंकी भावनाका सम्मान करते हुए उस युवकने १०० रुपये सहर्ष भगवान्के चरणोंमें चढ़ा दिये।

इधर हमारे घरवाले बहुत परेशान थे। पर भगवान्पर भरोसा करनेके अतिरिक्त कोई उपाय न था। पुनः तीन दिन बाद जब हम आरतीमें गये तो वार्तालापके दौरान एक स्त्रीने बताया कि तीन दिन पहले हमारे गाँवके युवक सफेद कुमारको यहाँ चार सौ रुपये पड़े हुए मिले थे। इतना सुनना ही था कि भाभीकी खुशीका ठिकाना न रहा। उन्होंने कहा—वे रुपये मेरे पिताजीके थे, जो यहाँ गिर गये थे।

अगले दिन बुद्धपूर्णिमाको उस युवकको पता चला कि वे रुपये मेरे भैयाके ससुरजीके हैं। तब वह स्वयं तीन सौ रुपये लेकर हमारे घर आया। हम सबने उसे विशेष आभार और धन्यवाद प्रदान किया और कहा

भी—आजके युगमें ईमानदारीका सर्वथा अभाव होता जा रहा है तथापि आपने जो काम किया है, वह अत्यन्त सराहनीय है। इसपर उस युवकने कहा—ये तो मेरा कर्तव्य था। मैंने सबके बार-बार कहनेपर १०० रु० ईश्वरके चरणोंमें चढ़ा दिये। मैं वह १०० रु० अपनी ओरसे आपको फिर कभी लौटा दूँगा। हमने कहा—नहीं, नहीं, आपने जो किया अच्छा किया, ईश्वर सबके लिये हैं। ईश्वरका ही दिया सब कुछ है। ईश्वरके नामपर जितना भी दिया जाय, वह कम ही है, आपने अच्छा ही किया। पुनः सबने उसे साधुवाद दिया।

हमें लगा कि ईमानदार युवकके रूपमें प्रभु श्रीरामने ही उस रुपयेकी रक्षा कर हमें वापस लौटाया। मैं तो ईश्वरकी न्यायपरायणताके वशीभूत हो गयी और बार-बार अन्तर्मनसे उन्हें प्रणाम करने लगी।

—कु० पूर्णिमा पण्डा

(२)

सच्ची प्रार्थना

घटना १३ जुलाई सन् २००१ की है। मैं अपने गुरुजीके साथ सुल्तानगंजसे काँवर लेकर बाबा वैद्यनाथके दर्शनहेतु जा रहा था। रातको हम सुईया (बिहार) कस्बेमें बाबा हनुमान्‌के मन्दिरमें ठहरे हुए थे। रातको लगभग दो-तीन बजे मैंने स्वप्नमें देखा कि एक आदमी मुझे कुछ रुपये दे गया है। इस आश्चर्यमें मेरी आँखें खुल गयीं। मैंने अपने गुरुजीको जगाकर यह बात बतायी। वे कहने लगे—भोलेनाथ जो करेंगे, अच्छा ही करेंगे। बात आयी-गयी हो गयी और हम बाबाकी पिण्डी नहलाकर घर वापस आ गये।

घर पहुँचनेपर पता चला कि १३ ता० को ही रातको जब मैं स्वप्न देख रहा था, उसी समय घरपर चोरी हो गयी। चोरीमें दो सोनेकी चेन तथा साढ़े चार सौ रुपये नकद चले गये, जिनकी कीमत लगभग २६ हजार थी। मैंने अपनी पत्नीको समझाया और चोरीकी घटनाको भोलेबाबाकी मर्जी मान ली। परंतु संध्या करते, जप करते समय मेरा मन भी अस्थिर रहने लगा। लगभग एक माह बीत गया।

अपनी पत्नीके कहनेपर मैंने चोरीका पता लगानेकी बहुत कोशिश की, किंतु कुछ भी पता न चल सका, मैं निराश-सा हो गया। मुझे परेशान देख मेरे एक मित्रने सलाह दी कि कहीं न जाकर अपने भोलेबाबासे कहो। मुझे उसकी बात अच्छी लगी, फिर मैंने और पत्नीने भोलेबाबाकी पूजाका मन बनाया और अगले दिन सोमवारको प्रातः मैं और मेरी पत्नी दोनोंने पूजा-पाठ पूराकर बाबाको अपने सम्मुख जानकर प्रार्थना की कि अगर हम अपने धर्म-कर्मपर सही हैं तो अगली काँवर भरनेसे पहले हमारा धन हमें मिल जाय।

इस प्रार्थनाके बारहवें दिन शाम ८ बजे मैं खाना खाकर लेटा हुआ था तो गाँवके सात आदमी आये और उस घटनाको अपने लड़कोंकी गलती मानकर उन्होंने मेरा धन लौटा दिया। उस समय हमारा रुपये मिलनेकी खुशीपर उतना ध्यान नहीं गया जितनी कि भोलेबाबाकी दयालुता, कृपालुता और भक्तजनपरवशताका ख्याल आया। फिर क्या था, हम दोनों पति-पत्नी अगले ही दिन प्रातः नीलकण्ठ महादेवके दर्शनार्थ घरसे चल पड़े। बाबाके दर्शन किये और भावविभोर हो उनकी स्तुति की।

इस घटनाने मेरी जीवनधाराको ही बदल दिया। मुझे लगा कि सच्चे मनसे की हुई भक्ति एवं प्रार्थना कभी निष्फल नहीं जाती। —रणवीरसिंह मोर

(३)

संतस्वरूप डॉक्टर

बात मार्च सन् १९८१ की है। मैं 'एप्लास्टिक एनीमिया' से पीड़ित था। इस रोगमें शरीरके अंदर रक्त बननेकी प्रक्रिया रुक जाती है। मैं स्थानीय के०जी० मेडिकल कॉलेजमें भर्ती हुआ। स्थितिमें सुधार न दिखनेपर मुझे दिल्लीके अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थानमें दिखानेकी सलाह दी गयी। मै अपने पिताजीके साथ दिल्ली आ गया, वहाँ जाँच-पड़तालका नया दौर शुरू हुआ। इसी क्रममें मुझे जी०एन०एच स्टडी करानेके लिये कहा गया, इसमें मेरे रक्तकी जाँच किसी स्वस्थ व्यक्ति, जो मेरे ही ब्लड ग्रुप (रक्तसमूह)-का हो, के साथ की जाती है। अतः जाँच करवानेवाले मरीजके साथ किसी स्वस्थ व्यक्ति, जिसका रक्तसमूह मरीजसे मिलता हो, उसे भी आना पड़ता

है। मुझे इस बातकी जानकारी नहीं थी, न ही किसीने यह बात मुझे बतायी। शायद यह सोचा होगा कि डॉक्टर होनेके नाते यह बात मुझे पहलेसे मालूम होगी।

निश्चित दिन एवं समयपर मैं पिताजीके साथ लैब पहुँच गया। तकनीशियनने मेरा रक्त ले लिया, फिर पूछा 'हेल्दी डोनर' (स्वस्थ रक्तदाता) कहाँ है। मैंने इस बारेमें अनभिज्ञता जाहिर की तो वह नाराज हो गया। मेरे पिताजीने अपना रक्तसमूह तुरंत जाँच करवाया, पर दुर्भाग्यसे वह दूसरा निकला। अब क्या करें? कुछ समझमें नहीं आ रहा था। दिल्ली हमारे लिये अजनबी शहर था। मेरा रक्त निकाला जा चुका था। तकनीशियनका बड़बड़ाना जारी था, एक-दो बार उससे प्रार्थना की गयी कि वही किसी रक्तदाताकी व्यवस्था करा दे, उसका मूल्य दे दिया जायगा, पर वह तो कुछ सुननेको राजी ही नहीं था।

शोर सुनकर सामनेवाले कमरेसे एक वरिष्ठ डॉक्टर निकलकर आये, पूछनेपर तकनीशियनने सारी बात उन्हें बढ़ा-चढ़ाकर बता दी। वे हमलोगोंकी तरफ मुड़े। हमसे थोड़ा पूछताछ की कि हमलोग कहाँसे आये हैं? क्या करते हैं? फिर उन्होंने मुझसे मेरा रक्तसमूह पूछा, मेरे द्वारा 'बी-पॉजिटिव' कहते ही वे प्रफुल्लित हो गये। और वाह, मेरा भी यही ग्रुप है—कहते हुए वे पास पड़े स्टूलपर बैठ गये और अपनी बाँह खोलते हुए तकनीशियनसे बोले, लो जितना रक्त चाहिये ले लो। हमलोग तो भौंचक्के रह गये, मुँहसे शब्द भी नहीं निकल पा रहे थे और वे रक्त देकर उठे और बिना हमारी तरफ देखे अपने कमरेमें चले गये।

सुना था कि संत अगर किसीकी भलाई करते हैं तो प्रतिदानकी अपेक्षा नहीं करते हैं। वे डॉक्टर तो सचमुच संत ही थे। आज इस घटनाको बीते बहुत समय हो गया, पर उन डॉक्टर साहबकी उदारता हमें भूली नहीं है। जब भी उनका स्मरण आता है सिर श्रद्धासे झुक जाता है। —ज्ञानप्रकाश अग्रवाल

* * *

मनन करने योग्य

सत्सङ्गका सदुपयोग

संसारमें सभी कुछ सुलभ है, किंतु सत्सङ्ग बड़ा ही दुर्लभ है। भाग्यशालियोंको ही सत्सङ्ग प्राप्त होता है। संसारमें सभीका मूल्य है, किंतु सत्सङ्गका कोई मूल्य नहीं, वह अमूल्य है। इस सम्बन्धमें एक पौराणिक कथा है—

एक बार विश्वामित्रजीने वसिष्ठजीसे कहा—'संसारमें तप ही श्रेष्ठ है। तपके प्रभावसे ही त्रिदेव सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय करते हैं। तपके प्रभावसे ही मैं क्षत्रियसे ब्राह्मण हो गया।'

वसिष्ठजीने कहा—'तप तो श्रेष्ठ है ही, किंतु तप सर्वश्रेष्ठ नहीं। तप तो असुर भी कर लेते हैं और बड़े-से-बड़े वर प्राप्त कर लेते हैं। मेरी बुद्धिमें तो सत्सङ्ग ही सर्वश्रेष्ठ है।'

दोनोंमें वाद-विवाद बहुत देरतक होता रहा। अन्तमें निश्चय यह हुआ कि 'शेषजी सर्वज्ञ हैं, वे तप, ज्ञान, सत्सङ्ग—सभीके मर्मज्ञ हैं, उन्हें मध्यस्थ बनाया जाय। वे जो निर्णय कर दें, वही माना जाय।'

दोनों शेषजीके समीप पहुँचे। दोनोंने अपनी-अपनी बातें सुनाकर अन्तमें कहा—'आप निर्णय कर दें कि तप श्रेष्ठ है या सत्सङ्ग?'

शेषजीने कहा—'मुझे तो इतना अवकाश नहीं। मैं सम्पूर्ण भूमण्डलके बोझको धारण किये हुए हूँ। आपमेंसे कोई इस भूमण्डलको तनिक देरके लिये धारण कर लें तो मैं आपके प्रश्नका उत्तर दूँ।'

विश्वामित्रजीने कहा—'मैंने चारों दिशाओंमें लाखों वर्ष तप किया है, उसीके प्रभावसे मैं इस समस्त भूमण्डलको धारण किये लेता हूँ।' यह कहकर उन्होंने भूमण्डलको ज्यों ही उठाना चाहा कि खिंचने लगे। वे बोले—'शेषजी! आप इसे छोड़ें नहीं, मैं धारण करनेमें असमर्थ हूँ।'

तब शेषजीने वसिष्ठजीसे कहा—'आप धारण कर सकते हैं?'

वसिष्ठजीने सरलतासे कहा—'देखिये प्रयत्न करता हूँ, मैंने स्वप्नमें आधी घड़ी सत्सङ्ग किया था, उसका यदि कुछ

फल हो तो मैं इस भूमण्डलको धारण कर सकूँ।'

देखते-ही-देखते भूमण्डल हल्का हो गया और उन्होंने बड़ी सरलतासे भूमण्डलको धारण कर लिया।

जब वसिष्ठजी भूमण्डलको लेकर खड़े हो गये, तब विश्वामित्रजीने कहा—'अब आप हमारे प्रश्नका उत्तर दें।'

शेषजीने कहा—'अब भी उत्तर देना शेष रह गया क्या?' जब स्वप्नके आधी घड़ी सत्सङ्गका इतना प्रभाव है, तब जाग्रत्‌में जो सदा-सर्वदा सत्सङ्ग करते हैं, उनका कहना ही क्या?

यह है सत्सङ्गकी महिमा। परंतु बड़े खेदकी बात है कि आज—संसारमें सत्सङ्गके नामसे दुःसङ्ग होने लगा है। सत्सङ्ग जहाँ 'वृत्ति' बन जाती है, लोग उसके द्वारा संसारी स्वार्थोंका साधन करने लगते हैं, तब वे परमार्थसे वञ्चित हो जाते हैं, लौकिक स्वार्थोंकी सिद्धि होने लगती है।

सत्सङ्ग तथा कथा-कीर्तन मुक्तिका मार्ग है। इसके फलस्वरूप संसारी समस्त भोग तुच्छ हो जाते हैं, ब्रह्मपद भी उसे बुरा लगता है। ऐसे सत्सङ्ग तथा कथा-कीर्तनसे जो तुच्छ भोग चाहते हैं, वे इनका दुरुपयोग ही करते हैं।

मुझसे एक व्यक्तिने कहा कि, 'अमुक महात्माके पास लाखों रुपयोंका वैभव है, उनके पास सुवर्णके छत्र-चँवर, सिंहासन हैं।' एक सेठजीने कहा—'इससे तो वे पूजनीय नहीं हो सकते। हम तो सट्टेमें दस-बीस लाख रुपये एक दिनमें कमा लेते हैं।' हमलोग यदि सत्सङ्ग तथा कथा-कीर्तनको वृत्ति बनाकर संसारी स्वार्थ—साधन करें तो यह हमारा दुर्भाग्य है। यह तो सुवर्णकी ईंटसे भूसा तौलनेके समान है। इस विषयमें एक छोटा-सा दृष्टान्त है—

एक राजा थे, वे एक दिन अपने कुछ साथियोंको लेकर जंगलमें आखेटके लिये गये। उन्हें एक जंगली सूअर दिखायी दिया। उसके पीछे उन्होंने अपना घोड़ा दौड़ा दिया। सूअर एक जंगलमें जाकर छिप गया। अब राजाको जोरकी भूख-प्यास लगी। वे पानीकी खोजमें दूरतक गये। आगे चलकर उनको एक जंगली भीलकी कुटिया दिखायी दी। राजा उसमें गये।

वहाँ एक भील, एक भीलनी और एक उनका बच्चा था। राजाने कहा—'भैया! हमें बड़ी भूख-प्यास लगी है, तुम्हारे पास कुछ खानेको हो तो दो और थोड़ा जल भी।'

भीलने कहा—'हमारे पास तो कुछ नहीं है।'

भीलनीने कहा—'बच्चेके लिये आधी रोटी रखी है, इसे दे दो कोई बेचारा दुःखी है।'

यह सुनकर भीलने छींकेपर रखी आधी रोटी दी।

राजाने आजतक ऐसी रोटी कभी देखी नहीं। उन्होंने समझा भूलसे भीलने गोबरका कंडा दे दिया है। उन्होंने पूछा—'भैया! यह तुमने क्या दे दिया।'

भीलने कड़ककर कहा—'अरे, बेझरकी नमकीन रोटी है रोटी। खा ले।'

राजाने उस रोटीको खाया। बड़े जोरकी भूख लग रही थी। आज उन्हें जो उस बेझरकी नमकीन रोटीमें स्वाद आया, वह जीवनभरमें भी कभी छप्पन भोगोंमें भी नहीं आया था। राजाने आज अनुभव किया कि स्वाद पदार्थोंमें नहीं है किंतु भूखमें ही है।

राजा आधी रोटी खा गया। भीलने सुराहीसे ठंडा जल पिलाया। उस ठंडे जलमें राजाको अत्यद्भुत आनन्द आया। जल पीकर राजा सो गये। इतनेमें ही घोड़ोंके पैरोंके चिह्नोंको देखते-देखते उनके साथी भी आ गये। अपनी झोंपड़ीपर फौज देखकर भील घबरा गया, सिपाहियोंने उसे डाँट-फटकार सुनायी। भील डर गया। उसने भीलनीसे कहा—'सुनती हो जिसको हमने रोटी दी, वह तो इस देशका राजा है। बड़ा बुरा हुआ राजाको हमने ऐसी रोटी दी। वह हमें शूलीपर चढ़ा देगा।'

राजा जगे और घोड़ेपर सवार होकर चले गये। अपनी राजधानीमें पहुँचकर उन्होंने चार सिपाही भेजे कि अमुक भीलको बुला लाओ।

सिपाही सुनते ही पहुँचे और कहा—'ओ भील! चल, तुझे राजाजीने बुलाया है।' यह सुनते ही वह रोने लगा। उसने रोते-रोते अपनी स्त्रीसे कहा—'मैं तो पहले ही कह रहा था, राजा फाँसीपर चढ़ा देगा। तू यहाँ रहना, जैसे हो बच्चेका पालन करना।'

स्त्रीने रोते-रोते कहा—'मैं यहाँ जंगलमें अकेली क्या करूँगी। मैं कुछ करना जानती नहीं। यहाँ भी भूखों मरना है। इससे अच्छा है राजा हम तीनोंको ही एक-सा दण्ड दे।' ऐसा निश्चय करके वे तीनों ही चले गये। राजाने उसे बुलाया और उससे पूछा—तुम्हारा नाम क्या है?'

उसने कहा—'महाराज! मेरा नाम खिच्चू है।'

राजाने कहा—'खिच्चू! तुमने हमारी बड़ी सेवा की!'

उसने डरते-डरते कहा—'सरकार! मुझे पता नहीं था कि आप राजा हैं, सरकार! मेरा अपराध क्षमा किया जाय।'

राजाने आश्चर्यसे कहा—'अरे भाई! तुमने क्या अपराध किया? तुमने तो हमारे साथ बड़ा उपकार किया है, तुमने तो हमें रोटी दी।' उसने रोते-रोते डरकर कहा—'सरकार! मुझे पता होता कि आप राजा हैं तो मैं कभी रोटी न देता।'

राजाने कहा—'अरे भाई! हम तो तुमपर प्रसन्न हैं, तुम जो चाहो सो माँग लो।'

उसने कहा—'सरकार! यही मेरे ऊपर दया कर दो कि मुझे छोड़ दो। मेरा बच्चा अबोध है।'

राजाने कहा—'अरे भाई! तुम गाँव माँगो, धन माँगो, जो माँगो मैं वही दूँगा।'

उसने कहा—'मुझे प्राणदान ही दो।'

राजाने कहा—'तुम्हारे प्राण कौन लेता है, हम तो तुम्हें इनाम देना चाहते हैं।'

उसने कहा—'मुझे छोड़ दो बस, यही बड़ा इनाम है।'

राजा समझ गये—यह मूर्ख है। उनका एक बड़ा चन्दनका बगीचा था, वह उस भीलको दे दिया।

मन्त्रियोंने वह चन्दनका बाग उसके नाम कर दिया। उसमें एक कोठी थी, वह भी उसे दे दी। वह उसीमें रहने लगा। राजा राजकाजमें दो-चार वर्षमें इस बातको भूल गये।

कुछ वर्षोंके पश्चात् राजा उस बागको देखने गये कि उस भीलने उसमें कितनी उन्नति की है।

राजा अपने मन्त्रियोंके साथ गये, देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, वहाँ चन्दनका बाग तो है नहीं मात्र कोयलोंका ढेर पड़ा है।

राजाने उस भीलको बुलाकर पूछा—'कहो खिच्चू! कैसे हो?'

उसने कहा—'महाराज! मैं बड़ा प्रसन्न हूँ, इतना प्रसन्न हूँ, जितना आप भी प्रसन्न न होंगे।'

राजाने पूछा—'तुम इतने प्रसन्न क्यों हो?'

उसने कहा—'महाराज! वहाँ जंगलमें बड़ी दूरसे लकड़ी लाता था, तब उसके कोयले बनाता था, वे चार आनेमें बिकते थे। अब तो मुझे दूर भी जाना नहीं पड़ता यहींसे लकड़ी काट लेता हूँ। मेरे कोयले अब एक रुपयेमें बिक जाते हैं। इससे मैं बड़ा प्रसन्न हूँ।'

राजाने उसे एक चन्दनकी लकड़ी देकर कहा—'इसे बेच आओ।' वह छोटी-सी लकड़ी पाँच रुपयेमें बिकी। तब तो उस भीलकी आँख खुली। उसने कहा—'हाय! इतनी बहुमूल्य चन्दनकी लकड़ियोंके मैं कोयले बनाकर व्यर्थ ही तनिक-से पैसोंपर बेचता रहा!'

आज उसी भीलका अनुकरण हमलोग कर रहे हैं। भगवान्‌के नामसे स्वयं भगवान् मिल जाते हैं। भगवान् स्वयं अपनी कथा सुनकर पिघल जाते हैं। उस कथा-कीर्तनको हम संसारी विषयोंके लिये उपयोगमें ला रहे हैं, हमसे अधिक अभागा और कौन होगा?

वे महात्मा धन्य हैं जो एकमात्र प्रभु-प्रेमके लिये ही भगवान्‌का कथा-कीर्तन करते हैं, भगवान्‌की प्रीतिके लिये भगवत्-कथा श्रवण करते हैं। ये बातें कहनेमें बड़ी सरल हैं, किंतु इनका उपयोग बड़ा कठिन है। जहाँ मान-प्रतिष्ठाकी तथा विषय-भोगकी वासना उठती है, वहाँ हम कथा-कीर्तनका दुरुपयोग करते हैं। सर्वान्तर्यामी प्रभुके पादपद्मोंमें हमारी यही प्रार्थना है कि हम कथा-कीर्तनको कथा-कीर्तनके लिये ही करें, एकमात्र प्रभु-प्रीति ही हमारे समस्त साधनोंका उद्देश्य हो। यह स्वभावसे, अपने पुरुषार्थसे न होकर प्रभुकी कृपासे ही होगा। प्रभु हम सबपर कृपा करें।

—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

* * *

सेवामें त्यागकी आवश्यकता है और त्यागके लिये इन्द्रिय-संयमकी। जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं होतीं वह सेवा नहीं कर सकता।—श्रद्धेय श्रीभाईजी

* * *

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्धस्त्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

वर्ष ७७
गोरखपुर, सौर कार्तिक, वि० सं० २०६०, श्रीकृष्ण-सं० ५२२९, अक्टूबर २००३ ई०
संख्या १०
पूर्ण संख्या ९२३

वरदायिनी श्रीलक्ष्मीमाता

जय अनन्त वैभवमयि जय दारिद्र्य-विदारिणि।
जय अनन्त ऐश्वर्यखानि हरिहृदय-विहारिणि॥
जयति देव-दानव-मानव सब दुःख-निवारिणि।
जय वरदायिनि माता लक्ष्मी मङ्गलकारिणि॥
अरुणाभा अरुणाम्बरा दिव्यभूषणा जयति जय।
कमलकरा कमलासना द्युतमति कमला जयति जय॥

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,५०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक, वि० सं० २०६०, श्रीकृष्ण-सं० ५२२९, अक्टूबर २००३ ई०

विषय — पृष्ठ-संख्या

१- वरदायिनी श्रीलक्ष्मीमाता ८७७
२- कल्याण (शिव) ८७९
३- कल्याणप्राप्तिकी कई युक्तियाँ (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ८८०
४- 'रामहि केवल प्रेमु पिआरा' (डॉ० श्रीगणेशदत्तजी सारस्वत) ८८३
५- दर्जा (श्रीमुकेशमोहनजी तिवारी) ८८५
६- भक्त और भगवान्‌का सम्बन्ध (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ८८६
७- 'कौन गली गये श्याम?' ८८८
८- 'भजो रे मन, मदन गोपाल हरी' [कविता] (श्रीविजयजी प्रजापति 'उदास') ८९०
९- साधनकी चरम सीमा (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ८९१
१०- 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई' (डॉ० श्रीसुरेशनन्दनप्रसादसिंहजी 'नीलकण्ठ') ८९४
११- प्रार्थना (डॉ० श्री एन० एस० रामसुब्रह्मण्यम्, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ८९६
१२- साधक-प्राण-संजीवनी (गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज) ८९७
१३- रामनाम-जपकी महिमा (श्रीकान्तजी अग्रवाल) ८९९
१४- संत-उद्‌बोधन (श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज) ९०१
१५- श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें प्रेमा-भक्तिका स्वरूप (प्रोफेसर श्रीलालमोहरजी उपाध्याय) ९०२
१६- पान-मसाला यानी मृत्युका निवाला (डॉ० सुश्रीमधुजी पोद्दार) ९०३
१७- भगवत्प्रेमप्राप्तिका शीघ्र सिद्धिदायक साधन (डॉ० श्रीभगवतीप्रसादजी अग्रवाल) ९०५
१८- एक वयोवृद्ध विरक्त महात्माके उपदेश) ९०६

१९- *भक्तोंके पावन चरित—*

श्रीकुलशेखर आळवारकी भगवत्प्रेम-निष्ठा ९०७
२०- साधनोपयोगी पत्र ९०९
२१- व्रतोत्सव-पर्व [मार्गशीर्षमासके व्रत-पर्व] ९१२
२२- श्रीभगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना ९१३
२३- पढ़ो, समझो और करो ९१८
२४- मनन करने योग्य ९२१
२५- श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना (राधेश्याम खेमका) ९२३

चित्र-सूची

१- सरयू-तट-विहारी श्रीराम .... (रंगीन) .... आवरण-पृष्ठ
२- वरदायिनी श्रीलक्ष्मीमाता .... (") .... मुख-पृष्ठ

वार्षिक शुल्क—भारतमें
१३० रु० (सजिल्द १५० रु०)
चालूवर्षका शुल्क—
१२० रु० (सजिल्द १३५ रु०)
विदेशमें—
US$25 (Air Mail)
US$13 (Sea Mail)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

पञ्चवर्षीय शुल्क
भारतमें ६५० रु०
सजिल्द ७५० रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$125 (Air Mail)
US$ 65 (Sea Mail)

संस्थापक— ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक— नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक— राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित
website : www.gitapress.org | e-mail : booksales@gitapress.org

कल्याण

याद रखो—एकमात्र भगवान् ही 'रस' हैं। इसी रसका जगत्में सर्वत्र विस्तार है, पर प्रकृतिके संयोगसे मूल तत्त्वके रूपमें नित्य एक-रस रहते हुए ही सृजन-पालन-संहार-लीलाके लिये इसके नौ रस हो जाते हैं—शृङ्गार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त।

याद रखो—इन्हीं नौ रसोंमें सृजन-पालन-संहारके सारे कार्य चलते रहते हैं। जो समष्टिमें है, वही व्यष्टिमें—इस दृष्टिसे प्रत्येक मानवका जीवन भी इन्हीं नौ रसोंसे ओतप्रोत है।

याद रखो—इस विश्वमें नित्य-निरन्तर रसमय भगवान्की रसमयी लीला हो रही है। भगवान् ही नटवर नटराजके रूपमें यहाँ लीलानृत्य कर रहे हैं। इस लीलानृत्यके दो प्रधान भेद हैं—लास्य और ताण्डव। नौ रसोंमें पहले चार लास्यनृत्यके रस हैं और दूसरे चार ताण्डवके। जहाँ इन दोनों नृत्योंका समरस ग्रहण है वहाँ शान्तरस है। यह शान्तरस रसमय भगवान्की ओर ले जानेवाला है।

याद रखो—शान्तरसके दो भेद हैं—साधन-शान्तरस और साध्य-शान्तरस। इस साधन-शान्तरससे ही भगवद्भक्तिके रसोंका—रतिका प्रारम्भ होता है। ये पाँच रस या रति हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। दास्यसे लेकर मधुरतक चारों ही रसोंमें शान्तरसकी भूमिका अत्यावश्यक और अनिवार्य है। शान्तरसमें साधक इन्द्रियदमन, मनकी शान्ति, विषय-वैराग्य, स्व-सुख-वासनाजनित विषयासक्ति तथा विषयकामनासे रहित त्यागभाव एवं भगवान्के अनुकूल सदाचार-सद्विचार-सद्भाव आदिको न्यूनाधिक रूपसे प्राप्त कर लेता है। इस साधन-शान्तरसकी वेदान्त-साधनके साधन-चतुष्टयकी तीसरी स्थिति—षट्सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधानरूपा छः सम्पत्ति, वैराग्य तो इनके पहले ही हो जाता है)-से तुलना की जा सकती है।

याद रखो—जबतक मनुष्य अपनी अलग किसी प्रकारके सुखकी स्थितिकी कल्पना करके उसको चाहता रहता है, तबतक वह भगवान्के 'अनन्य दासत्व' में अपनेको नियुक्त नहीं कर सकता। भक्तराज श्रीहनुमान्जीकी भाँति अपनेको भूल जानेपर ही यथार्थ 'सेवक'-भावका प्रकाश होता है। जबतक सेवक एकमात्र अपने स्वामीकी अनन्य सेवा-सुखके अतिरिक्त अन्य किसी प्राणी-पदार्थमें सुखकी कल्पना करता है, तबतक वह सच्चा सेवक—'दास्य-रति' वाला दास नहीं बन सकता।

याद रखो—जब दास्य-रति उत्तरोत्तर प्रगति करती हुई मधुर-रतिमें परिणत हो जाती है या भगवत्कृपासे बिना ही क्रमोन्नतिके—मधुर-रतिका विकास हो जाता है, तब उसमें एक महान् मधुरतम दिव्य उच्छलन आता है, जो परम प्रियतम भगवान्के सुखके लिये जीवनके कण-कणको—अणु-अणुको नचा देता है। इसका परिणाम होता है—महाभाव, जिससे एक दिव्य अनिर्वचनीय—अचिन्त्य, मधुरतम शान्तरसका प्रादुर्भाव होता है, जो प्रेमी-प्रेमास्पदका भेद मिटाकर परस्पर परम और चरम एकत्व, सुखैकत्व तथा स्वरूपैकत्वरूपमें प्रकट होता है और नित्य-निरन्तर परस्पर-सुखसम्पादनमें निरत मधुरतम प्रेमानन्दमय लीलातरङ्गमय होनेपर भी परम विलक्षण अपूर्व शान्तस्वरूपमें परिणत हो जाता है। यही है—साध्य-शान्तरस। यही प्रियतम भगवान्का दिव्य सेवालाभ है। यही भक्तका परम ज्ञान है। यही साक्षात्कार है। यही ज्ञानोत्तर कालमें प्राप्त प्रेम है और यही दिव्यातिदिव्य भगवत्सेवा-सुख है। —**'शिव'**

* * *

कल्याणप्राप्तिकी कई युक्तियाँ

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

सभी कार्योंमें स्वार्थत्याग प्रधान है। किसी भी वैधकार्यमें स्वार्थका त्याग होनेसे नीच-से-नीच प्राणीका भी कल्याण हो जाता है।

उतने ही भोगोंका ग्रहण किया जाय जितने शरीरनिर्वाहके लिये आवश्यक हैं। यदि यह न हो सके तो भोगोंमें आसक्तिका त्याग कर देनेसे भी कल्याण हो जाता है।

जो कुछ भी कार्य करे उसमें अहंकारका त्याग कर दे। किसी भी उत्तम कार्यमें अहंकारको पास न आने दे।

घरमें भगवान्‌की मूर्ति रखकर भक्तिभावसे उसकी आरती, स्तुति एवं प्रार्थना करनेसे भी कल्याण हो जाता है।

प्रतिदिन नियमपूर्वक एकान्तमें बैठकर मनसे सम्पूर्ण संसारको भूल जाय। इस प्रकार संसारको भुला देनेसे केवल एक चैतन्य आत्मा शेष रह जायगा। तब उस चैतन्य स्वरूपका ध्यान करे। ध्यान करनेसे समाधि हो जाती है और मुक्ति हो जाती है।

यह नियम ले ले कि शरीरसे वही कार्य निष्कामभावके साथ किया जायगा कि जिससे दूसरेका उपकार हो। इसके समान कोई भी धर्म नहीं है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कहा है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

इस नियमको धारण कर लेनेसे भी संसारसे मुक्ति हो जाती है।

यदि इन्द्रियाँ और मन वशमें हों तो भगवान्‌का ध्यान ही सबसे बढ़कर कल्याणका साधन है। यदि मन, इन्द्रियाँ वशमें न हों तो ऐसी अवस्थामें बिना किसी कामनाके केवल आत्माके कल्याणके लिये व्रत एवं उपवास आदिका साधन करना चाहिये। परमात्माकी प्राप्तिके अतिरिक्त और कुछ भी कामना नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार साधन करनेसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है। सारांश यह है कि यदि मन एवं इन्द्रियाँ वशमें हों तब तो योगका साधन करे। नहीं तो बिना किसी कामनाके केवल भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही तप एवं उपवास आदिका साधन करे। लेकिन इन सबसे भी सुगम उपाय तो भक्ति ही है।

उठते, बैठते, चलते हर समय नामहीका जप किया जाय। नामको कभी भी न भूले, यह भगवत्प्राप्तिका बहुत सुगम उपाय है। कहा भी है—

कलिजुग केवल नाम अधारा। सुमिरि सुमिरि नर उतरहिं पारा॥

कलियुगमें केवल नामहीका आधार है।

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥

भगवान्‌के पवित्र नामका स्मरण करनेसे ही भगवान् श्रीहनूमान्‌जीके वशमें हो गये।

अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥

इसी प्रकार अजामिल, गजराज और गणिका आदि अनेकका नामके प्रभावसे उद्धार हो गया।

एक ऐसा साधन भी है कि जिससे हर समय आनन्द रहता है और जिसमें परिश्रम भी नहीं करना पड़ता। वह है आनन्दमयका अभ्यास— **'आनन्दमयोऽभ्यासात्'।** आनन्द परमात्माका स्वरूप है। चारों तरफ बाहर-भीतर आनन्द-ही-आनन्द भरा हुआ है, सारे संसारमें आनन्द छाया हुआ है। यदि ऐसा दिखलायी न दे तो वाणीसे केवल कहते रहो और मनसे मनाते रहो। जलमें डूब जाने, गोता खा जानेके समान निरन्तर आनन्दहीमें डूबा रहे और गोता लगाता रहे। रात-दिन आनन्दमें मग्न रहे। किसीकी मृत्यु हो जाय, घरमें आग लग जाय अथवा और भी कोई अनिष्ट कार्य हो जाय तो भी आनन्द-ही-आनन्द, कुछ भी हो केवल आनन्द-ही-आनन्द। इस प्रकारका अभ्यास करनेसे सम्पूर्ण दुःख एवं क्लेश नष्ट हो जाते हैं। वाणीसे उच्चारण करे तो केवल आनन्दहीका, मनसे मनन करे तो आनन्दहीका तथा बुद्धिसे विचार करे तो आनन्दहीका, परंतु यदि ऐसी प्रतीति न हो तो कल्पितरूपसे ही आनन्द-अनुभव करे। इसका भी फल बहुत अच्छा होता है। ऐसा करते-करते आगे चलकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। इस साधनको सब कर सकते हैं। पुराने जमानेमें मुसलमानोंके राज्यमें हिन्दुओंसे कहा गया कि तुम मुसलमान मत बनो, हिन्दू ही रहो एवं हिन्दूधर्मका ही पालन करो, केवल मुसलमानोंमें अपना नाम लिखा दो। कोई पूछे तो कहो कि हम मुसलमान हैं। इसमें तुम्हारा क्या बिगड़ता है। उन्होंने यह बात स्वीकार कर ली। आगे चलकर उनकी संतानसे काजियोंने कहा कि तुम तो मुसलमान हो इसलिये मुसलमानोंके धर्मका पालन करो। अन्तमें यहाँतक हुआ कि वे लोग कट्टर मुसलमान बन गये। इसी प्रकार हमलोगोंको भी यह निश्चय कर लेना चाहिये

कि हम सब एक आनन्द ही हैं। ऐसा निश्चय कर लेनेसे आनन्द-ही-आनन्द हो जायगा।

भगवान्की मूर्ति या तसवीरको सामने रखकर तथा आँखें खोलकर उनके नेत्रोंसे अपने नेत्र मिलाये। त्राटककी भाँति आँख खोलकर उसमें ध्यान लगा दे। ध्यानके समय यह विश्वास रखे कि इसमें भगवान् प्रकट होंगे। विश्वासपूर्वक ऐसा ध्यान करनेपर इससे भी भगवान् मिल जाते हैं। यह भगवत्प्राप्तिका सुगम साधन है।

वृक्ष, पत्थर, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि संसारकी जो भी वस्तुएँ दिखलायी दें उन सबमें यह भाव करे कि भगवान्ने ही ये सब रूप धारण कर रखे हैं। मनसे कहे, जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहीं जाओ, सब रूप तो भगवान्ने धारण कर रखे हैं। जो भी वस्तुएँ दिखलायी देती हैं, वे सब परमात्मा नारायणका रूप हैं। सारे संसारमें सबको भगवान्का रूप समझकर मन-ही-मन भगवद्बुद्धिसे सबको प्रणाम करे। एक परमात्माने ही अनन्त रूप धारण कर लिये हैं, इस प्रकारके अभ्याससे भी कल्याण हो जाता है। इस प्रकार शास्त्रोंमें हजारों उपाय बतलाये गये हैं। जिसको जो सुगम मालूम पड़े उसको उसीका साधन करना चाहिये। एकके साधनसे ही कल्याण हो जाता है। जब सब कुछ एक परमात्माका ही है तो सबमें समबुद्धि हो जायगी, इस एक ही बातसे उद्धार हो जायगा।

वृत्तियाँ दो हैं—अनुकूल और प्रतिकूल। जो मनको अच्छी लगे वह अनुकूल एवं जो मनके विरुद्ध हो वह प्रतिकूल कही जाती है। कोई भी काम जो मनके अनुकूल होता है उसमें स्वाभाविक ही प्रसन्नता होती है और जो मनके प्रतिकूल होता है उसमें दुःख होता है। उस दुःखको भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर उसमेंसे प्रतिकूलताको निकाल दे और यह विचार करे कि जो कुछ भी होता है भगवान्की इच्छासे होता है। भगवान्की इच्छाके बिना पेड़का एक पत्तातक नहीं हिल सकता। जो कुछ भी होता है सब भगवान्की इच्छासे होता है। हमलोग अनुकूलमें तो प्रसन्न होते हैं और प्रतिकूलमें द्वेष करते हैं। भला, इस प्रकार कहीं भगवान् मिल सकते हैं? भगवान्की प्रसन्नतामें ही प्रसन्नताका निश्चय करना चाहिये। जो बात मनके अनुकूल होती है उसमें तो ऐसा निश्चय करनेमें कोई कठिनाई है ही नहीं, लेकिन जो मनके प्रतिकूल हो उसको अनुकूल बना लेना चाहिये। स्मरण रखना चाहिये कि भगवान्के प्रतिकूल तो वह है नहीं, उनके प्रतिकूल होता तो होता ही कैसे? इस एक ही साधनसे उद्धार हो जायगा। सदाके लिये आनन्द-ही-आनन्द हो जायगा।

यदि उपर्युक्त बात समझमें न आये तो सत्यका पालन करे। वाणीसे सत्य बोले, व्यवहार सत्य करे, सत्य आचरण करे। इससे कल्याण हो जाता है।

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदै साँच है, ताके हिरदै आप॥

यह साधन यद्यपि कठिन है लेकिन निश्चय रखे, इससे परमात्माकी प्राप्ति अवश्य होगी।

संसारके जितने पदार्थ जिस रूपमें दिखलायी देते हैं वे सब सचमुच नाशवान् हैं। वे जैसे हैं हमारी आँखोंके सामने हैं। उन सब पदार्थोंमें समबुद्धि कर ले। उनमेंसे भेदभाव उठा दे। किसी भी वस्तुमें भेद न रखे। संसारको ईश्वर न मान सके तो उसमेंसे भेदभाव उठा दे। जैसे शरीरमें अपनापन है, भेद नहीं, अङ्गोंमें अन्तर नहीं, इसी तरह एक दूसरेसे भेद न रखे। सबमें समता कर ले, भेदबुद्धि उठा दे। इस भेदबुद्धिके उठानेसे ही कल्याण हो जायगा। यदि भगवान् याद न आयें तो यह साधन करे।

यह भी न हो तो गङ्गाजीके प्रवाहका, हवा, पशु, पक्षी आदिका जो भी शब्द सुनायी दे उसमें शब्द भगवान् हैं, ऐसी भावना करे। यह कल्याणप्राप्तिका सीधा साधन है। किसी प्रकारका भी शब्द सुनायी दे वह शब्द भगवान् है **'नादं ब्रह्म'** शब्दको ही ब्रह्म समझे। जो कुछ भी सुनायी दे वह भगवान् है। चाहे कोई गाली दे चाहे आशीर्वाद दे, दोनोंको ही भगवान् समझे। किंतु गाली सुनकर हमें दुःख होता है तो फिर हमने शब्दको भगवान् कहाँ समझा। भगवान् समझनेपर तो आनन्द-ही-आनन्द होगा। भगवान्के दर्शनसे जो आनन्द हो, गाली सुननेसे भी उसी आनन्दका अनुभव करे। कोई हमें गाली देता है या कोई हमारी स्तुति करता है इस बातपर ध्यान ही क्यों दे। इस एक ही बातसे कल्याण हो जाता है।

यदि यह भी न हो सके तो भगवान्का ध्यान करे। एकान्तमें आँखें मीचकर बैठ जाय। मन जहाँ जाता है और जो कुछ देखता है सब भगवान् है ऐसी भावना करे। मन ही मेरा मित्र है यही मेरा कल्याण करेगा। यह निश्चय कर ले कि मेरा मन भगवान्के सिवा और किसी भी वस्तुका चिन्तन ही नहीं करता है। मन घड़ी, लोटा आदि जिस किसी भी पदार्थका

चिन्तन करे उसीको भगवान् समझ ले, उसमें भगवद्बुद्धि कर ले। यह विश्वास कर ले कि जो कुछ मन चिन्तन करता है वह भगवान् है। भगवान्का स्वरूप वही है जो मन चिन्तन करता है। यदि कहो कि मन कुछ भी चिन्तन नहीं करता तो जो कुछ भी चिन्तन न करे वही भगवान्का स्वरूप है। चाहे वह स्त्री, पुत्र, धन आदिका ही चिन्तन करे, उनको स्त्री, पुत्र एवं धन मत समझे किंतु भगवान् समझे। पत्थर तथा वृक्ष जिस किसीका भी चिन्तन करे सब भगवान् है। जैसा दीखे वैसा ही भगवान्का स्वरूप मान ले। यह कल्याणप्राप्तिका सीधा रास्ता है। ऊपर जितनी बातें बतलायी गयी हैं उनमेंसे एक-एकके पालनसे कल्याण हो सकता है। हाँ, यह बात जरूर है कि किसी साधनमें समय अधिक लगता है और किसीमें कम। लेकिन कल्याण सबसे होता है।

स्वप्नमें जो संसार दीखता है, आँखें खोलनेसे जागनेपर वह नहीं दीखता। इसी तरह यह विश्वास कर ले कि मैं स्वप्नमें हूँ, मुझे जो कुछ भी प्रतीत होता है वह सब स्वप्न है। जब स्वप्न समाप्त हो जायगा तब अपने-आप ही असली सत्य वस्तु दीखने लगेगी। यह विश्वास कर ले कि जो दीखती है वह सच्ची वस्तु नहीं है, यह स्वप्नवत् है। जो भासती है वह है नहीं। स्वप्न मिटनेवाला जरूर है। आँख खुलते ही मिट जायगा। इसपर यदि यह कहा जाय कि आजतक आँख क्यों नहीं खुली? तो इसका उत्तर यह है कि आजतक संसारके स्वप्नवत् होनेका निश्चय ही कब किया था? आत्माका सङ्कल्प सत्य है। इसलिये यह निश्चय करो कि यह संसार स्वप्न है। चाहे वह सत्य ही क्यों न दिखायी दे उसे स्वप्नवत् मानते रहो। यह कैसे भी दिखायी दे लेकिन इसे स्वप्नवत् मानते रहे। मानते-मानते एक दिन स्वप्नका नाश हो जायगा और सत्य वस्तु प्राप्त हो जायगी।

यह हर समय याद नहीं रहता है तो क्या याद रहता है? स्त्री, पुत्र, धन आदि प्रिय वस्तुएँ याद रहती हैं। इनमें खोजो सबसे बढ़कर प्यारी चीज क्या है? प्राण ही सबसे बढ़कर प्यारे हैं?। प्राणके समान प्यारा कुछ भी नहीं है, तब यह विश्वास करो कि प्राण ही ब्रह्म है। प्रिय-से-प्रिय वस्तु तो याद रहेगी ही। प्राण तो जीवन है। प्राणोंमें ब्रह्मकी भावना करे। प्राणोंद्वारा निकलनेवाले शब्दमें ब्रह्मके नामकी भावना करे। आने-जानेवाले श्वासकी तरफ लक्ष्य रखे। बस इतनेमें ही उद्धार है। श्वास तो अन्ततक आता ही है। यदि इस तरह अभ्यास किया जायगा तो अन्त समयमें उद्धार हो जायगा। प्राणको ब्रह्म मान ले। उसमें होनेवाले शब्दको नाम मान ले तो भी उद्धार हो जाता है। प्राणोंसे सोऽहं सोऽहं शब्दका उच्चारण होता रहता है। यह भी परमात्माका नाम है। प्राण ही ब्रह्म है ऐसा निश्चय करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। अब जिसको जो उपाय सुगम एवं प्यारा मालूम हो वह उसीका साधन करे।

सबसे अधिक प्रकाश भगवान्का है। अधिक प्रकाश ही भगवान् है। हमलोगोंके सामने सूर्यका प्रकाश ही सबसे अधिक है। इसलिये सूर्यको भगवान्का साक्षात् प्रकाश मानकर उसकी उपासना करे। यदि यह कहा जाय कि सूर्य तो हर समय दिखलायी नहीं देता तो उसके लिये दूसरा उपाय यह है कि आकाशका तो हर समय दर्शन होता रहता है, इस आकाशको भी भगवान् मान लो। इसमें एक बात और जोड़ दो कि शरीरमें स्थित आत्माको जाननेवाला चेतन है वह आकाशके सदृश है और उसमें ज्ञान है। इतना माननेसे कल्याण हो जाता है। यदि यह न भी माना जाय तो कोई बात नहीं, केवल आकाशको ही मानो। शेष सब भगवान्के जिम्मे है। वे इस प्रकारकी बुद्धि देते हैं कि जिससे ऐसा अनुभव होने लगता है। यह मान लो कि आकाश ही भगवान् है। भगवान् जब दर्शन देंगे तब उसमें चेतनता आप ही आ जायगी। इस प्रकार समझकर आकाशमें भगवान्के निराकाररूपका ध्यान करे।

इस प्रकार कल्याणकी प्राप्तिके भी और भी सैकड़ों उपाय हैं, परंतु कुछ-न-कुछ करना होगा। कोई साधन किये बिना, कुछ परिश्रम किये बिना कल्याण नहीं हो सकता। ये सब साधन गीता, वेद तथा श्रुतिमें बतलाये गये हैं। सबके लिये प्रमाण हैं। श्रेयार्थियोंको इनमेंसे कोई-सा भी एक साधन, जो उन्हें पसंद हो, करना चाहिये। ये ही साधन अगर स्वार्थके लिये किये जायँगे तो उनसे स्वार्थसिद्धि होगी। भगवान् नहीं मिलेंगे। उसका फल सांसारिक आराम होगा। यदि उसकी इच्छा हो तो वह करे और यदि सच्चे आनन्दकी इच्छा हो तो स्वार्थको छोड़कर प्रभुकी मूर्तिपूजाकी, नाम-जपकी, आनन्दके ध्यानकी युक्तियोंसे साधन करे। ये साधन सबसे उत्तम और सुगम हैं।

* * *

'रामहि केवल प्रेमु पिआरा'

(डॉ० श्रीगणेशदत्तजी सारस्वत)

एक बोध-कथा है—वीरान जंगलमें एक सुन्दर मकान था। एक साधुने उसे देखकर सोचा—कितना सुन्दर स्थान है यह! यहाँ बैठकर ईश्वरका ध्यान करूँगा। एक चोरने उसे देखा तो सोचा—वाह! यह तो सुन्दर स्थान है, चोरीका माल लाकर यहाँ रखूँगा। एक दुराचारीने देखा तो सोचा—यह तो अत्यन्त एकान्त स्थान है, दुराचारके लिये इससे उत्तम स्थान और कहाँ मिलेगा? एक जुआरीने देखकर सोचा—अपने साथियोंको यहाँ लाऊँगा, यहाँ बैठकर हम जुआ खेलेंगे।

अलग-अलग दृष्टिकोण होनेके कारण एक ही मकानको प्रत्येक व्यक्तिने अलग-अलग रूपमें देखा। इसलिये आवश्यकता है दृष्टिकोण बनानेकी। जैसा दृष्टिकोण होगा, वैसा ही अन्तःकरण होगा। फल भावनापर निर्भर है—

सब जग ईश्वर रूप है, भला बुरा नहिं कोय।
जैसी जाकी भावना, तैसा ही फल होय॥

तुलसीदासजी कहते हैं—

जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

भावनाके राममय होनेपर सर्वत्र रामके ही दर्शन होंगे। भावनाका सम्बन्ध कारणशरीरसे है, स्थूल अथवा सूक्ष्मशरीरसे नहीं। कारणशरीरकी पुष्टताके लिये आवश्यक है विवेक, जो बिना सत्संगके सम्भव नहीं—

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥

अर्थात् विवेकके उत्पन्न होते ही मोहका नाश हो जाता है, जो समस्त मानसिक रोगोंका मूल कारण है—

होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥

अन्यत्र तुलसीदासजी लिखते हैं—

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

अथवा—

साधु संग जग में बड़ो, जो करि जानै कोय।
आधो क्षण सतसंग को, कलमख डारै खोय॥

भगवान् रामको वे लोग कतई नहीं सुहाते *'जो भजन करहिं नित नेम सों, भोग करैं दिन रात।'*

मानसिक शान्ति ही सत्संगका प्रत्यक्ष लाभ है। इसकी स्थिति विवेकयुक्त बुद्धिसे होती है। अतः भक्तवत्सल भगवान् भक्तको ज्ञान प्रदान करके ही उसकी रक्षा करते हैं, पशुपालककी तरह दण्ड लेकर नहीं—

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम्॥

(महाभारत, उद्योगपर्व ३५।४०)

ज्ञान होते ही संसारकी अनित्यताका भाव दृढ़ होता है तथा ब्रह्म-चिन्तनकी प्रेरणा प्राप्त होती है—

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री-
रर्थाः सङ्कल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूगाः।
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम्॥

अर्थात् आयुष्य जलतरङ्ग-सी चञ्चल है, युवावस्थाकी शोभा अल्पकाल रहनेवाली है, धन मनके संकल्पसे भी क्षणिक है, भोगके समूह वर्षाकालके मेघकी बिजलीसे भी चञ्चल हैं। स्त्रीका प्रगाढ़ आलिङ्गन बहुत दिन स्थिर नहीं रहता, इसलिये संसारके भयरूपी समुद्रसे पार होनेके लिये ब्रह्मका चिन्तन ही एकमात्र आधार है।

ऐसा ज्ञानी व्यक्ति अपने मनको निरन्तर सचेत करता रहता है—

मानव मन तू चेत जा, बहुरि न बनिहै बात।
चार दिना की चाँदनी, फिर अँधियारी रात॥
काल खड़ा है शीश पै, भजि लीजै भगवान।
पछितैहै तू बाद में, यह निश्चय ले जान॥

हृदयमें हृदयेश्वर भगवान्‌का भजन करो। तभी सार्थकता प्राप्त होती है जब जीवके 'मैं' का तिरोभाव हो जाता है। उसी स्थितिमें कबीरके ये शब्द पाथेय बन जाते हैं—

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, का लागत है मोर॥

जीव जबतक निर्मम, निष्काम तथा निरहंकार नहीं होता, तबतक भगवत्प्राप्तिका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ये भगवत्-मार्गके बाधक हैं।

मैं कुछ नहीं हूँ—ऐसा भाव दृढ़ होते ही जीव अहंकाररहित हो जाता है। मेरा इस संसारमें कुछ नहीं—इस भावके दृढ़ होते ही जीव निर्मम हो जाता है। हमें कुछ नहीं चाहिये—ऐसा भाव होते ही जीव निष्काम हो जाता है। केवल प्रभु ही हमारे अपने हैं—ऐसा भाव दृढ़ होते ही भगवद्भक्ति मिल जाती है, जिसमें जीवनकी सार्थकता निहित है। ईरानके प्रसिद्ध योगी शम्सतब्रेज कहते हैं— ***'दुई रा चूँबदर करदम यकीं दुआलम रा, यकीं वीनम, यकीं जूयम, यकीं खानम, यकीं दानम'*** जबतक मैं अपने-परायेके प्रपञ्चमें पड़ा रहा, तबतक मुझे ईश्वरीय सत्ताका ज्ञान नहीं हुआ, पर जबसे मैंने अपने अहंभावको नष्ट कर दिया है, तबसे वह परमात्मा ही दिखायी देता है। उसे ही ढूँढ़ता, उसे ही पढ़ता और उसे ही जानता हूँ।

अतः आवश्यकता है स्वार्थकी पगडण्डी छोड़कर परमार्थकी ओर मुड़नेकी, सत्सङ्ग-स्वाध्याय एवं संतोंकी कृपा प्राप्त करनेकी तथा भगवत्कृपाश्रित होकर रो-रोकर प्रार्थना करनेकी। प्रार्थना करनेवाला मनुष्य स्वयंको कभी अकेला और असहाय अनुभव नहीं करता; क्योंकि वह अपने भीतर दिव्य सत्ताकी दिव्य उपस्थितिका अनुभव करता रहता है।

एक बार इब्राहिम बिन आदमसे लोगोंने प्रश्न किया—'नित्य प्रार्थना करनेपर भी हमारी प्रार्थनाएँ स्वीकार क्यों नहीं होतीं?' उत्तर मिला—'परमात्मा हैं, ऐसा तुम सब जानते तो हो, परंतु उनकी उचित ढंगसे आराधना नहीं करते; धर्म-ग्रन्थोंको मानते तो हो, परंतु उनकी बातोंपर आचरण नहीं करते; स्वर्ग-नरकको भी मानते हो, परंतु एकको प्राप्त करने और दूसरेसे बचनेका उपाय नहीं करते; मौतका आना अवश्यम्भावी है, यह भी जानते हो, परंतु उसकी भी तैयारी नहीं करते; अपने बन्धु-बान्धवोंको मरते देखकर भी कुछ सीखते नहीं; अपने दोषोंको जानते हुए भी दूसरेमें ही दोष निकालते रहते हो; तब बताओ किस प्रकार तुम्हारी प्रार्थनाएँ स्वीकार हों। प्रार्थनाकी स्वीकृतिके लिये आवश्यक है मन तथा कर्ममें एकता हो। मृत्युका भय ही मनको एकाग्र कर सकता है।'

महापुरुष ईसाकी वाणी है—'वे पुरुष धन्य हैं जिनके अन्तःकरण पवित्र हो गये, क्योंकि शुद्ध आत्मावाले व्यक्ति ही ईश्वरको प्राप्त कर सकते हैं। आत्माका गुण है आत्मीयता। आत्मीयताका अर्थ है अपनी विशेषताओं और परिस्थितियोंसे दूसरोंको सजानेकी प्रवृत्ति। हमें जो वैभव मिला है, उसे मिल-बाँटकर खानेके लिये आत्मीयता ही प्रेरित करती है। येन केन प्रकारेण किसीको भी सुख पहुँचाना ही सच्ची पूजा है—

येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः।
सन्तोषं जनयेत् प्राज्ञस्तदेवेश्वरपूजनम्॥

साधु उन्हींकी संज्ञा है, जो मनुष्योंपर विपत्ति देखकर उसको दूर करनेके लिये दुःख उठाते हैं। दूसरोंका दुःख दूर करना ही भगवान्‌की परम आराधना है—

तप्यन्ते लोकतापेन प्रायशः साधवो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥

सच तो यह है—

चार वेद छः शास्त्रमें बात मिली है दोय।
सुख दीने सुख होत है दुख दीने दुख होय॥

सेवाका यह अर्थ नहीं कि स्वार्थ तथा अपने सुखकी पूर्तिके लिये दूसरोंकी सेवा करे। सेवाका तो अर्थ है अपने जीवनको कष्टमें डालकर भी औरोंको सुख पहुँचाये। अपनी स्वार्थलिप्सा तथा वासनापूर्तिकी भावनाका तिरस्कार करके शुद्ध पवित्र मनसे परमेश्वरमें तल्लीन होकर सेवा करे—

'आशका और बकद्रे होश कुफ्र है आशकी नहीं।
उसकी खुशी पै जान दे अपनी खुशी खुशी नहीं॥'

सेवा वह उत्तम होती है जिसमें सेवकका नामतक सेव्यको न ज्ञात हो सके। तुम्हारे द्वारा किसी प्राणीकी सेवा हो जाय तो यह अभिमान न करो कि मैंने उसका उपकार किया है। यह निश्चित समझो कि उसको तुम्हारे द्वारा बनी सेवासे जो सुख मिला है, वह निश्चय ही उसके शुभ कर्मका फल है। तुम तो उसमें केवल निमित्त बने हो, ईश्वरका धन्यवाद करो जो उसने तुम्हें किसीको सुख पहुँचानेमें निमित्त बनाया और उस प्राणीका उपकार मानो जो उसने तुम्हारी सेवा स्वीकार की। वह यदि तुम्हारा

उपकार माने या कृतज्ञता प्रकट करे तो मन-ही-मन सकुचाओ और भगवान्से प्रार्थना करो कि हे भगवन्! तुम्हारे कार्यमें मुझे यह झूठी बड़ाई क्यों मिल रही है? और उससे नम्रतापूर्वक कहो कि भाई! तुम ईश्वरके प्रति कृतज्ञ होओ, जिसने तुम्हारे लिये ऐसा विधान किया और पुनः-पुनः सत्कर्म करते रहो, जिनके फलस्वरूप तुम्हें बार-बार सुख ही मिले। मैं तो निमित्तमात्र हूँ, मेरी बड़ाई करके मुझे अभिमानी न बनाओ···· उसपर कभी अहसान न करो कि मैंने तुम्हारा उपकार किया है। अहसान करोगे तो उसपर भारी बोझ पड़ जायगा। वह दुःखी होगा, भविष्यमें तुम्हारी सेवा स्वीकार करनेमें उसे संकोच होगा। उसके अहसान न माननेसे तुम्हें दुःख होगा, तुम उसे कृतघ्न समझोगे, परिणाममें तुम्हारे और उसके—दोनोंके हृदयमें द्वेष उत्पन्न हो जायगा। इस बातको भूल ही जाओ कि मैंने किसीकी सेवा की है।

हृदयका दर्पण निर्मल बना रहे, इसका प्रयत्न अपेक्षित है। दर्पणमें काई लग गयी हो तो दर्शन सम्भव नहीं। निर्मल मनसे ही भगवान्को पाया जा सकता है। श्रीरामकी स्पष्ट घोषणा है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

कामनाएँ ही परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक हैं—पूर्वजन्मके पापोंके कारण ही हरि-चर्चामें वृत्ति नहीं रमती है, बिलकुल वैसे ही जैसे ज्वरके अंशसे भूख समाप्त हो जाती है—

तुलसी पिछले पाप से हरि चर्चा न सुहाय।
जैसे ज्वर के अंश से भूख बिदा है जाय॥

निर्बन्धकी सेवासे ही मुक्ति सम्भव है—

बँधे को बन्धा मिलै, छूटै कोन उपाय।
सेवा कर निर्बन्ध की, पल में देय छुड़ाय॥

वास्तवमें समस्त सुखोंके मूल श्रीराम ही हैं। उनके प्रति जिनके हृदयमें प्रेम उत्पन्न हो गया, मोह-निद्रासे उन्हें छुटकारा मिल गया। प्रेमका 'नश्तर' होता ही ऐसा है कि हृदयमें बिंध जाय तो नींद ही उड़ जाय—

जो हैं प्रेमी राम के, तिन को कैसी नींद।
नश्तर लागा प्रेम का, गया हृदय में बींध॥

राम तो केवल प्रेमके ही वशीभूत हैं—

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥

इस कलिकालमें जो प्रेमसे प्रकट होते हैं, उन्हीं रामकी शरण लेना चाहिये। वे सर्वदा सर्वथा अर्चनीय, पूजनीय, वन्दनीय तथा सेवनीय हैं। दयासागर श्रीराम अपनी राजधानी (उत्तर कोसल) अयोध्याके जीव, कीट, पतङ्ग, मनुष्यादिको भी अपने साथ सशरीर स्वधाम ले गये—

सुरोऽसुरो वाप्यथ वानरो नरः
सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम्।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं
य उत्तराननयत्कोसलान् दिवम्॥
(श्रीमद्भा० ५।१९।८)

अर्थात् देवता, असुर, वानर अथवा मनुष्य कोई भी हो, उसे सब प्रकारसे श्रीरामरूप आपका भजन करना चाहिये; क्योंकि आप नररूपमें साक्षात् श्रीहरि ही हैं और आप थोड़े कियेको भी बहुत अधिक मानते हैं। आप ऐसे आश्रित-वल्लभ हैं कि जब स्वयं दिव्य धामको सिधारे थे, तब समस्त उत्तर कोसलवासियोंको भी अपने साथ ही ले गये थे।

* * *

दर्जा

एक बार सालेह आमरी नामक संतने संत रबियासे प्रश्न किया—आपने यह दर्जा कैसे पाया है? संत रबिया बोली—अपनी सारी चीजोंको खुदाकी चाहमें डुबा दिया और खुदाको पाया इबादतसे। संत सालेहने पूछा—क्या मुझे भी ऐसा दर्जा मिल सकता है? बेशक। मगर तुममें जो कमी है, उसे दूर करना होगा। तुम्हें कुछ नसीहत लेनी होगी तभी यह दर्जा हासिल कर सकोगे—रबियाने उत्तर दिया। फिर उन्होंने एक मोमबत्ती, सुई और बाल लाकर कहा—मोम यह नसीहत देती है कि खुदको जलाकर दूसरोंको रोशनी दो। सुईकी खासियत यह है कि वह खुद तो नंगी रहती है लेकिन दूसरोंको तन ढकनेके लिये कपड़े सिलकर देती है और रहा बाल तो उसके माफिक लचकीले हलीम बनो। इन तीनोंके समान खल्ककी खिदमतमें अपनेको लगा दो, तब निश्चय ही इस दर्जेको हासिल करनेके काबिल हो जाओगे।

—श्रीमुकेशमोहनजी तिवारी

* * *

भक्त और भगवान्‌का सम्बन्ध

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

भगवान् और भक्तके सम्बन्धका रहस्य तो भगवान् और भक्त ही जानते हैं। भगवान् श्रीराम और भरतजीके प्रेम-सम्बन्धके जाननेमें विदेहराज जनक भी अपनेको असमर्थ पाते हैं। वे अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहते हैं—

धरम राजनय ब्रह्मबिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू॥
सो मति मोरि भरत महिमाही। कहै काह छलि छुअति न छाँही॥
(रा० च० मा० २।२८८।४-५)

× × ×

देबि परंतु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥
भरतु अवधि सनेह ममता की। जद्यपि रामु सीम समता की॥
(रा० च० मा० २।२८९।५-६)

'धर्म, राजनीति और ब्रह्मविचार—इन तीन विषयोंमें अपनी बुद्धिके अनुसार मेरा प्रवेश है अर्थात् मैं धर्मकी व्यवस्था दे सकता हूँ, राजनीतिक उलझनोंको सुलझा सकता हूँ और ब्रह्मज्ञानका भी उपदेश कर सकता हूँ, इन विषयोंमें मेरी बुद्धि काम करती है, परंतु मेरी वही बुद्धि भरतजीकी महिमाका वर्णन तो क्या करे, छल करके भी उसकी छायातकको नहीं छू पाती। देवि! भरतजी और श्रीरामचन्द्रजीका प्रेम और परस्परका विश्वास अतर्क्य है, वह बुद्धि और विचारकी सीमासे परे है। यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी समताकी सीमा हैं तथापि भरतजी प्रेम और ममताकी सीमा हैं।'

भक्तके भावको केवल भगवान् पहचानते हैं और भगवान्‌के भावको भक्त। इसीसे तो वे एक-दूसरेका स्वाभाविक अनुसरण करते हैं। भक्त चाहता है—मैं भगवान्‌की रुचिका अनुसरण करूँ और भगवान् अपने भक्तकी क्रियाके अनुसार ही बरतते हैं। सीताजी रामजीके लिये रोती हैं तो रामजी सीताजीके लिये। लक्ष्मणजी रामजीका वियोग नहीं सह सकते और रामजी लक्ष्मणजीके मूर्च्छित होनेपर विकल होकर प्राण-त्यागतकको तैयार हो जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण इसीसे कहते हैं—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥
न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।१५-१६, २०)

'उद्धवजी! मुझे तुम-जैसे भक्त जितने प्रियतम हैं, अपने पुत्र ब्रह्माजी, साक्षात् मेरे स्वरूप श्रीशंकरजी, भाई बलरामजी, निरन्तर मेरी सेवामें रहनेवाली पत्नी लक्ष्मीजी और मेरा अपना आत्मा भी मुझे उतना प्रिय नहीं है। किसी बातकी चाह न रखनेवाले, मेरा ही मनन करनेवाले, शान्तचित्त, निर्वैर और मुझको सर्वत्र देखनेवाले अपने भक्तोंके पीछे-पीछे मैं नित्य इसलिये फिरता हूँ कि उनकी चरण-धूलिसे अपनेको पवित्र कर सकूँ। बढ़ी हुई विशुद्ध और अनन्य मेरी भक्ति जैसे मुझको वशमें करती है, वैसे योग, ज्ञान, धर्म, वेदाध्ययन, तप और त्याग मुझको वशमें नहीं कर सकते।'

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥
(श्रीमद्भा० ९।४।६६, ६८)

'(दुर्वासाजी!) जिनका हृदय मेरे साथ बँधा हुआ है और जो सब जगह सबमें सब समय समरूपसे मुझको ही देखते हैं, वे अपनी भक्तिसे मुझे वैसे ही अपने वश कर लेते हैं, जैसे पतिव्रता स्त्रियाँ अपने श्रेष्ठ पतियोंको वशमें कर लेती हैं। अधिक क्या कहा जाय, ऐसे साधु मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ, वे मेरे सिवा किसीको नहीं जानते और मैं उनके सिवा किसीको नहीं जानता।'

यह तो भगवान्‌का भाव है। अब भक्तका भाव देखिये और उसको भी भगवान्‌की ही वाणीमें सुनिये—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।१४)

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम्॥
(श्रीमद्भा० ९।४।६७)

'जिसने अपना चित्त मुझको दे दिया है, वह मुझको छोड़कर ब्रह्माके आधिपत्य, देवराज इन्द्रके राज्य, सार्वभौम साम्राज्य, पातालके आधिपत्य, योगकी समस्त सिद्धियाँ, यहाँतक कि कैवल्य मोक्षतकको नहीं चाहता।'

'मेरे भक्त मेरी सेवासे ही पूर्णमनोरथ होते हैं, वे मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्तियोंको भी नहीं चाहते, फिर कालसे नाश होनेवाली अन्यान्य वस्तुओंकी तो बात ही क्या?'

यह भगवान् और भक्तके भावोंका बाह्य दिग्दर्शन है जो भगवान्‌ने लोकशिक्षाके लिये भक्ति और भक्तका महत्त्व बतलाते हुए कराया है। वस्तुतः भगवान् और भक्तके पारस्परिक भाव तो हमारे लिये अचिन्त्य ही होते हैं, वे हमारी वाणीमें और हमारे मनोंमें कभी आ नहीं सकते। उनका कैसा क्या नाता होता है, इस बातको तीसरा कोई नहीं बतला सकता। हाँ, उनके पारस्परिक व्यवहारकी बाह्य लीलाको पढ़-सुनकर, गाकर तथा मनन करके हम परम पवित्र हो सकते हैं। वस्तुतः भगवान् और भक्त दो स्वरूपोंमें एक ही परम वस्तु हैं। उनके दो स्वरूप तो लीलानन्दके लिये हैं और लीला लोकपावनी होती है।

× × ×

भगवान्‌का वास्तविक स्वरूप कैसा है, इस बातको भगवान् ही जानते हैं या किसी अंशमें वे जानते हैं, जिनको भगवान् जनाना चाहते हैं। आजतक जगत्‌में कोई भी यह नहीं कह सका कि भगवान् ऐसे ही हैं, न कोई कह सकता है और न कह सकेगा। यदि कोई ऐसा कहनेका साहस करता है तो वह या तो भोला है या आग्रही अथवा मिथ्यावादी है। ऐसा होनेपर भी भगवान्‌के जितने वर्णन जगत्‌में हुए हैं, वे अपने-अपने स्थानमें सभी सच्चे हैं; क्योंकि महान् परमात्मामें सभीका अन्तर्भाव है—उसी प्रकार जैसे अनन्त आकाशमें घटाकाश, मठाकाश सभी समा जाते हैं। किसी गाँवमें होनेवाली घटनाको लेकर हम कहें कि जगत्‌में ऐसा होता है तो ऐसा कहना मिथ्या नहीं है; क्योंकि गाँव जगत्‌में ही है, अतएव वह भी जगत् ही है, परंतु यह बात नहीं कि वह गाँव ही जगत् है। फिर जगत्‌का तो वर्णन हो भी सकता है; क्योंकि वह प्राकृतिक, ससीम और सूक्ष्म-बुद्धिके द्वारा आकलन करने योग्य है; परंतु अप्राकृतिक, असीम, अनन्त, अपार, अकल, अलौकिक, परमात्माका वर्णन तो हो ही नहीं सकता, इसीलिये वेद उन्हें 'नेति-नेति' कहकर चुप हो जाते हैं। निर्गुण अक्षरब्रह्म विकारशील और जड अपरा प्रकृतिमें स्थित निर्विकार परा-प्रकृतिरूप जीवात्मा अपरा-प्रकृति और उसके विकारसे उत्पन्न, उत्पत्ति और विनाश धर्मवाले सब पदार्थ, भूतोंका उद्भव और अभ्युदय करनेवाला विसर्गरूप कर्म, व्यक्त जगत्‌का अभिमानी सूत्रात्मा अधिदैव और इस शरीरमें अन्तर्यामिरूपसे स्थित विष्णुरूप अधियज्ञ—ये सब उस नित्य—निर्विकार सच्चिदानन्दघन भगवान्‌के विशेष भाव हैं या उसके आंशिक प्रकाश हैं। अवश्य ही स्वभावसे ही पूर्ण होनेके कारण आंशिक प्रकाश होनेपर भी भगवद्रूपमें सभी पूर्ण हैं। ऐसे सबमें स्थित, सर्वनियन्ता, सर्वाधार, सबको सत्ता और शक्ति देनेवाले, सबके अद्वितीय कारण, सबसे परे और सर्वमय भगवान्‌का वर्णन कौन कर सकता है?

भगवान्‌ने गीता (९।४-५)-में कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

'मुझ अव्यक्तमूर्तिके द्वारा यह सारा जगत् व्याप्त हो रहा है, सब भूत मुझमें हैं, परंतु मैं उनमें नहीं हूँ। वे सब भूत भी मुझमें नहीं हैं, मेरा यह ऐश्वरयोग देखो कि सम्पूर्ण भूतोंका उत्पादक और धारण-पोषण करनेवाला होकर भी मैं स्वरूपतः उन भूतोंमें स्थित नहीं हूँ।'

भगवान्‌के रूप-कथनमें परस्पर-विरोधी बातें प्रतीत होती हैं। 'मैं सबमें हूँ और किसीमें नहीं हूँ, सब मुझमें हैं और कोई भी मुझमें नहीं हैं—इस कथनका अर्थ सहज ही समझमें नहीं आता। इसीलिये 'परमार्थ' और 'व्यवहार'का भेद करके इसकी व्याख्या की जाती है। परंतु यही तो भगवान्‌का 'ऐश्वरयोग' है, हमारी विषय-विमोहित जडबुद्धि इसे कैसे जान सकती है। हमारे लिये जो असम्भव है, भगवान्‌के लिये वह सब कुछ सम्भव है। भगवान्‌में परस्पर-विरोधी गुण-धर्मोंका युगपत् प्रकाश है तथा सब विरोधोंका समन्वय है। इसीलिये तो भगवान्‌का किसी भी प्रकारसे किया हुआ वर्णन भगवान्‌पर सत्यरूपसे लागू होता है। **(क्रमशः)**

* * *

'कौन गली गये श्याम?'

कबका सुना हुआ वह गीत आज भी प्राणोंमें गूँज रहा है। जगत्के कोलाहलमें अथवा इससे हटकर एकान्तमें जहाँ कहीं, जब कभी अपने अन्तरकी ध्वनि सुननेकी चेष्टा करता हूँ तो वहाँ बस, एक ही रागिनी छिड़ी रहती है और हृदयके रेशे-रेशेको अपने आनन्द-विह्वल उन्मादमें भिगोये रखती है। हृदयमें वह कैसे आ बसी यह कहना कठिन है; उस बेहोशीमें, आत्मार्पणकी उस मधुर वेलामें कोई अपरिचित, परंतु चिर-परिचित खिलाड़ी अचानक हृदयका द्वार खोलकर अन्तःपुरमें जा घुसा और प्राणोंके साथ खेलने लगा। प्राण उसके मधुपाशमें बँधे बेसुध थे। आँखें जब खुलीं, प्राणोंमें नवचेतना आयी तो देखता हूँ बस, एक झङ्कारमात्र रह गयी है मानो भीतर कोई गा रहा है—

कौन गली गये श्याम?

बता दे सखि! कौन गली गये श्याम?

इस प्रश्नको, वेदनामथित हृदयकी इस कातर पुकारको सुनकर भी वह अनसुनी कर देता है। भीतर जा छिपा है वह छलिया और द्वार बंद कर लिये हैं। मेरा अपना हृदय ही आज अपना न रहा। उसे मैंने कब बुलाया था? आज इतनी निठुरताके साथ मुझे ही मेरे घरसे निकालकर वह मालिक बन बैठा है और मेरी बेवशीपर मुसका रहा है। कहता हूँ, रोता हूँ, गिड़गिड़ाता हूँ—जरा-सा द्वार खोल दो मैं भीतर आ जाऊँ और फिर सदाके लिये भीतरसे द्वार बंद कर लेना! हृदयकी गुफामें वह जा छिपा है और वहीं बैठा-बैठा कभी मुसकाता है, कभी अपने सुकोमल चरणोंमें बँधी पैंजनी बजा-बजाकर नाचता है और कभी तिरछे खड़े होकर शरारतभरी नजरसे देखता हुआ अपनी वेणुमें न जाने क्या-क्या जादू गाने लगता है।

मैं बाहर खड़ा-खड़ा ज्वालामें, जगत्की भीषण ज्वालामें जल रहा हूँ, लूकी लपटोंमें झुलस रहा हूँ और उस निठुर सुन्दरसे बार-बार अभ्यर्थना कर रहा हूँ ओ मेरे हृदयके भीतर बसनेवाले जादूगर! आज एक बार तो द्वार खोल दो और मुझे भीतर ले लो। परंतु वह क्यों सुनने लगा? वह तो स्वयं अपनी वेणुपर लट्टू हो रहा है—क्या गाता है वही समझे। कभी-कभी अपनी विजयपर इतराकर जब वह प्राणोंके सघन कुञ्जमें नाचने लगता है, एक साथ ही पैंजनी, करधनी और मुरली एक दिव्य लास्यमें बज उठती हैं, कुञ्चित केशराशि हवाके झोंकेमें लहराकर कभी कुण्डलको ढक लेती है और कभी वंशीको छू लेती है—उस समय, उस समय तो ऐसी इच्छा होती है कि वज्रके किवाड़ तोड़कर भीतर समा जाऊँ और रोम-रोमसे, प्राण-प्राणसे उसकी इस दिव्य लीलाको पीऊँ। परंतु वह कपट—कितना निठुर, उफ़ कितना निठुर है। हृदयमें बैठा हुआ है और एक बार भेंट नहीं हो पाती—यह कैसी दारुण यातना, कितना कठोर अत्याचार है!

कैसे, किस राहसे, कबसे वह भीतर जा पैठा है यह कुछ समझ नहीं पाता। अपने आकर्षणका मधु पिलाकर, मेरी समग्र चेतनाको अपने नूपुरोंके रुमझुममें घुलाकर, मेरे रोम-रोमको अपने रूपके अमृतमें नहलाकर, मेरे अनजानमें, सर्वथा अनजानमें वह भीतर जा बैठा है, अर्धचेतनाकी अर्धविस्मृत दशामें जब मैं अपने भीतर उसके मधुर-मधुर स्पर्शका अनुभव कर रहा था—उसके स्निग्ध चरणतल मेरे अन्तरतमको अपने स्पर्शका दान देकर जब कृतकृत्य कर रहे थे—उस समय उसके चरणोंके चुम्बनका वरदान पाकर मैं उसके हाथ बेमोल बिक गया। मैंने कहा ओ मेरे जन्म-जन्मके अतिथि! तुम बाहर क्यों भींग रहे हो, भीतर आओ, मेरे हृदयके सिंहासनपर विराजो—मैं तुम्हारे लिये अपनी कुटिया खाली कर दूँगा। वह मेरी अल्हड़तापर मुसकाया, दोनों चरण जब भीतर रखे तो मैंने बड़ी आतुरतासे कहा—यह सब कुछ तुम्हारा है, तुम अपना सँभालो! वह फिर मुसकाया! हृदयके द्वारपर खड़ा होकर मैंने कहा—तुम्हारे स्वच्छन्द विहारमें मैं बाधा नहीं डालना चाहता—तुम-ही-तुम रह जाओ, यह मेरा सारा लोक-परलोक तुम्हारे चरणोंमें निछावर है तुम इसमें सुखसे बसो!

आज वह भीतरका एकच्छत्र सम्राट् बना बैठा है और अपनी विजयपर स्वयं हँस रहा है। चर-अचर सबका हृदय छीनकर वह स्वयं हृदयहीन-सा निठुर कठोर बन गया है।

एक पलके लिये भी द्वार नहीं खोलता—कहीं उसे कोई देख न ले! ऐसा पर्दा? ऐसा घना अवगुण्ठन? हृदयके बाहर, द्वारपर खड़े-खड़े भींगते हुए जब भीतर आनेकी याचना कर रहे थे—और बार-बार मेरी नाँ-नाँ सुनकर कुण्ठित—लज्जित हो रहे थे उस समय क्यों न कठोर बने? आज मेरे प्राणोंको अपनी मायाके जादूसे संज्ञाहीन करके भीतर जा बैठे हो; एक बार तुम्हें भर आँख देखनेके लिये प्राण तड़फड़ा रहे हैं और तुम पत्थरका हृदय लिये निठुर बने बैठे हो? तुम्हारी यह कैसी प्रवञ्चना है ओ सुन्दर!

सब कुछ देखूँ पर अपने ही हृदयके भीतर न झाँक सकूँ यह कितनी बेवशी है। आप ही अपना द्वार न खोल पाऊँ यह कितनी दीनता है! कितना झीना आवरण है जिससे छन-छनकर उसकी आभा लोक-लोकान्तरमें छा रही है। परंतु वह दीख नहीं पाता—ऐसी ही उसकी माया है। कभी सुकोमल चरणोंके तलवोंकी प्यारी-प्यारी लाली प्राणोंको चुरा ले जाती है, कभी पीतपटकी फहरान। वह भीतर छिपकर अन्तःपुरसे इतना प्रबल आकर्षणभरा, जादूभरा संकेत क्यों कर रहा है—बीन बजाकर चर-अचर सबको मोहे हुए है, सबको बुला रहा है—सभी समस्त लोक-परलोक उसके चरणोंमें निछावर होनेके लिये विह्वल, उत्कण्ठ उसके द्वारपर खड़े हैं—सबके प्राण छटपटा रहे हैं! सबको अपने चरणोंमें खींचकर वह छलिया कह रहा है—अभी नहीं, अभी नहीं, अभी द्वार नहीं खुलता! चराचरका हाहाकार उसकी एक मृदुल मुसकानके लिये ही तो है।

वह, देखो न, भीतर बैठा-बैठा मुसका रहा है, कभी आँखोंसे इशारा करता है, कभी वेणुसे। कह रहा है, संकेत दे रहा है—भीतर चले आओ, अपने एक स्पर्शसे तुम्हारे जन्म-जन्मान्तरकी तपन बुझा दूँगा, तुम्हारे युग-युगकी प्यास बुझा दूँगा—जो कहोगे वही करूँगा, बाहर-भीतर केवल मैं-ही-मैं रहकर तुम्हारे हृदयको जुड़ा दूँगा—तुम मुझमें और मैं तुममें समा जाऊँगा, तुम्हारे कहनेपर अपना गीत सुनाऊँगा, तुम्हारे संकेतपर नाचूँगा! आओ, भीतर चले आओ, हम दो ही इस एकान्त कुञ्जमें विचरें, अपनी मनमानी करें। तुम्हारे मस्तकको मैं सूँघूँ, तुम्हारे भूखे-प्यासे प्राणोंको अपने आलिङ्गनका दान देकर सदाके लिये अपनेमें मिला लूँ!

ऐसे हैं उसके छलभरे, प्रलोभनभरे, आकर्षणभरे, जादूभरे वचन! कौन है जो इसपर बिक न जाय; कौन है जो अपना लोक-परलोक भूलकर इसपर लुट न जाय। कैसी-कैसी मीठी बातें बनाकर वह अपने निकट बुलाता है, कैसे-कैसे संकेत देकर वह प्राणोंको अपना किंकर बनाकर मनमानी नाच नचाता है। कभी कुछ कर देगा, कभी कुछ। कभी गायेगा तो कभी नाचेगा। कभी राजा बनकर रूठ बैठेगा; मानो उसकी मुझसे कभी मुलाकात ही नहीं हुई है, मानो उसको मुझसे कुछ मतलब ही नहीं है—ऐसा मानो उसका मुझसे परिचय ही नहीं है, मानो उसने पहले किसी औरके लिये वंशी छेड़ी थी, मन्द-मन्द मुसकाकर किसी औरको आमन्त्रित किया था! कैसी निराली है उसकी छलना! बुलाता भी है, न आनेपर बार-बार छेड़ता भी है और लोकका लाज, कुलशीलका भय, अपने प्राणोंका मान छोड़कर जब पागल-से दौड़े-दौड़े हम उसके चरणतलमें अपने हृदयकी भेंट चढ़ाने आते हैं तो वह पता नहीं किस गुफामें जा छिपता है और भीतरसे बोलता है—तुझे कब बुलाया था, यों आनेके लिये कब संकेत किया था। तुम लौट जाओ, अपने पहलेके संसारमें लौट जाओ।

यह है उसका प्यार और दुतकार, दुतकार और फिर आमन्त्रण। एक साथ ही निमन्त्रण और तिरस्कार; तिरस्कार और फिर जादूभरा संकेत! आओ, पर मिल न पाओगे। देखो, पर छू न पाओगे। कैसा सुन्दर कितना झीना घूँघट काढ़े बैठा है कि एक क्षणके लिये भी जिसकी दृष्टि गयी वहीं अपना सर्वस्व बेंचकर आ गया। घूँघट हिलता-डुलता है मानो अभी वह हटानेहीवाला है, मानो एक बार वह हमारी ओर प्यारभरी दृष्टि डालेगा ही पर .... पर ....!!!

यही उसकी नित्यकी लीला है। बड़ा कौतुकी है न! देखता रहता है भीतर-ही-भीतर। कहीं सर्वथा निराश न हो जाऊँ इसलिये कभी-कभी एक क्षणके लिये अपनी झिलमिल-झिलमिल रूप-श्रीकी आभा बिखेरकर प्राणोंमें

सम्मोहन तान छेड़ देता है—गाने लगता है, आओ हम दोनों—केवल हम दोनों सदाके लिये एक साथ बस जायँ। तुम मुझे देखो, मैं तुम्हें देखूँ! तुम्हारे लिये मैं और, मेरे लिये केवल तुम ही रह जाओ—सब कुछ, और सब कुछ बीचका लोप हो जाय। आओ, देखो मैं अपना आवरण हटा रहा हूँ, केवल तुम्हारे लिये हटा रहा हूँ—देखो, देखो; जी भरकर मुझे देख लो, निराश होकर लौट न जाओ!

सोचता हूँ जिसे इतना निठुर-कठोर मान रखा था वह कितना सदय है; मेरी कितनी चिन्ता रखता है, कितना प्यार करता है, कितना अधिक मुझे चाहता है। मान एक पल भी टिक नहीं पाता, सारी खीझ, सारी निराशा, सारा रूठना भूलकर हाहाकार करते हुए प्राण उसके चरणोंमें जा दौड़ते हैं—परंतु वह अपनी चाल, अपनी पुरानी चाल क्यों छोड़ने लगा। मुझे अपने संकेतपर लुटा हुआ दौड़े आते देख फिर वही आवरण, वही घूँघट सरकाकर जोरसे हँस पड़ता है और कहता है—अरे! मैंने तुम्हें कब बुलाया था, तुम्हें इस एकान्तमें आनेके लिये कब संकेत दिया था, कब कहा था कि सब कुछ छोड़कर मेरी ओर भागे-भागे आओ। लौट जा ऐ भोले प्राणी! यहाँ तो लेनेके देने पड़ते हैं। मुझे छू लेना सरल नहीं है! मुझे पा जाना खिलवाड़ नहीं है!!

यही है उसका सबके साथ, समस्त चर-अचर, लोक-लोकान्तरके सभी प्राणियोंके साथ रसरंग! बुलाता है और नट जाता है; 'ना' कहकर फिर वंशी फूँकता है कि चले आओ! उसे देखते हुए भी हम छू नहीं पाते, छूकर भी पकड़ नहीं पाते, पकड़कर भी अपना नहीं पाते, अपनाकर भी केवल एकमात्र अपना नहीं बना पाते; वह एकमात्र अपना होकर भी, हमारे प्राणोंका बंदी होकर भी, जीवनका सर्वस्व, प्राणोंका आधार, हृदयका सर्वेश्वर होते हुए भी, इतना पास होते हुए भी, कितनी दूर, कितनी दूर, उफ़ कितनी दूर है! देख रहे हैं वह वहाँ, दूर-सुदूर हृदयके करीलकुञ्जमें प्राणोंकी यमुनापर खड़ा-खड़ा मुसका रहा है, बुला रहा है, संकेत दे रहा है, परंतु अपने ही अन्तःपुरमें प्रवेश करनेका साहस नहीं होता। इसीलिये तो हम सभीके प्राणोंकी एक ही पुकार है—एक ही विह्वल प्रश्न है—

कौन गली गये श्याम?

बता दे सखि! कौन गली गये श्याम?

इसका उत्तर उस भीतर बसनेवाले कौतुकीके सिवा कौन दे?

* * *

'भजो रे मन, मदन गोपाल हरी'

राधा रमन सदा अविनाशी, महिमा अमित बरी।
भजो रे मन, मदन गोपाल हरी॥

छोड़ सकल जग के जंजाला
काम, क्रोध अरु लोभ मलाला
श्रीहरि सरन सदा सुखदाई
कारज सकल सरी॥ भजो रे मन०॥
भगत उधारन नाथ प्रबीना
विरद प्रभु की भगति अधीना
चरन सरन जो आयो प्रानी
नैया पार करी॥ भजो रे मन०॥

पार होय वो चौरासी से
फिर न डरे वो जग फाँसी से
सुमरन भजन मनन करें जो जन
बाकी सब सगरी॥ भजो रे मन०॥
सब में समायो प्रभु अविनाशी
काहे मनवा रहत उदासी
कहत 'उदास' बचन जो धारे
विपदा सकल टरी॥ भजो रे मन०॥

—श्रीविजयजी प्रजापति 'उदास'

* * *

साधनकी चरम सीमा

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

किसी भी मार्गका साधक क्यों न हो, उसे अन्तमें **'वासुदेवः सर्वम्'** तक पहुँचना है। सब कुछ परमात्मा ही हैं, मैं-तू-यह-वह नहीं है—यहाँतक पहुँचना है। इस विषयमें साधकको कभी निराश नहीं होना चाहिये, बड़े उत्साहसे चलना चाहिये। कारण यह है कि यह सच्ची बात है।

नाशवान् पदार्थोंकी तरफ चलते हुए जीवको कभी सुख-शान्ति नहीं मिल सकते। इसलिये धन, सम्पत्ति, वैभव, जमीन-जायदाद आदि कितने ही मिल जायँ, तृष्णा छूटती नहीं। कारण यह है कि जीव साक्षात् परमात्माका अंश है। परमात्माका अंश प्राकृत पदार्थोंसे कैसे तृप्त हो सकता है? भगवान्ने कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५। ७)

'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा (स्वयं) मेरा ही सनातन अंश है।'

भगवान्ने यहाँ **'ममांशः' (मम अंशः)** नहीं कहा, प्रत्युत **'ममैवांशः' (मम एव अंशः)** कहा। इसका तात्पर्य है कि जीव केवल भगवान्का ही अंश है, इसमें प्रकृतिका अंश किंचिन्मात्र भी नहीं है। यद्यपि अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्की ही हैं, तथापि भगवान्ने कभी भी तथा कहीं भी अपरा प्रकृतिको अपना अंश नहीं बताया। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—ये आठ प्रकारकी 'अपरा प्रकृति' हैं और जीवात्मा 'परा प्रकृति' है*। **'ममैवांशः'** कहनेका तात्पर्य है कि जीव अपरा प्रकृतिसे सर्वथा रहित है। जैसे शरीरमें माता और पिता—दोनोंके अंशका मिश्रण है, ऐसे जीवमें भगवान् और प्रकृति—दोनोंके अंशका मिश्रण नहीं है। जीव केवल भगवान्का अंश है; अतः जैसे भगवान् हैं, वैसे ही यह भी है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस, उत्तर० ११७। १)

शुद्ध परमात्माका अंश होनेसे जीवात्मा कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित है। इसलिये गीतामें आया है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(गीता १३। ३१)

'हे कुन्तीनन्दन! यह (पुरुष स्वयं) अनादि होनेसे और गुणोंसे रहित होनेसे अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है। यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

कर्तृत्व-भोक्तृत्व वास्तवमें प्रकृतिमें ही हैं। इसलिये साधकको कर्तृत्व-भोक्तृत्वका त्याग नहीं करना है, प्रत्युत इनको अपनेमें स्वीकार ही नहीं करना है। वास्तवमें शरीरमें रहता हुआ भी स्वयं कभी कर्ता-भोक्ता बना ही नहीं, कभी बनेगा ही नहीं, कभी बन सकता ही नहीं। गीतामें आया है—

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

'जिसका अहंकृतभाव (मैं कर्ता हूँ—ऐसा भाव) नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह (युद्धमें) इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।'

यह अहंकृतभाव (अहंकार) अपरा प्रकृतिका अंश है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—ये उत्तरोत्तर पूर्वकी अपेक्षा सूक्ष्म हैं। इनमें अहंकार सबसे अधिक सूक्ष्म है। सबसे सूक्ष्म होनेपर भी यह है प्रकृतिका अंश। यह अपरा प्रकृति ही बन्धन करनेवाली है। अपरा प्रकृतिके सिवाय स्वयंमें कोई दोष नहीं है। स्वयं सर्वथा निर्दोष और भगवान्का अंश है। प्रकृतिका अंश प्रकृतिमें स्थित रहता है और भगवान्का अंश भगवान्में स्थित रहता है। परंतु जीव प्रकृतिके अंश

---

* भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ (गीता ७। ४-५)

(मन-बुद्धि-इन्द्रियों)-को अपनी तरफ खींचता है अर्थात् अपना मान लेता है—

मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(गीता १५। ७)

प्रकृति ईमानदार है कि अपनेमें ही स्थित रहती है, पर हम भूलसे प्रकृतिमें स्थित स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीरको अपना मान लेते हैं और बँध जाते हैं। स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रियाएँ, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीरसे होनेवाली समाधि—ये सब प्रकृतिमें ही हैं। हम स्वयं प्रकृतिसे अतीत हैं—**'गुणातीतः स उच्यते'** (गीता १४। २५)। हम स्वयं साक्षात् भगवान्‌के हैं। इसलिये साधकको चाहिये कि वह एक बार, सरल हृदयसे, दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर ले कि मैं केवल भगवान्‌का ही हूँ और केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं। केवल इतना ही साधकका काम है और कोई काम नहीं है।

स्वीकृति दो बार नहीं होती, प्रत्युत एक ही बार होती है। स्वीकृतिमें अभ्यास नहीं है। विवाह होनेपर कन्या अपनेको पत्नीरूपसे स्वीकार कर लेती है तो इसके लिये उसको माला नहीं फेरनी पड़ती। स्वीकृतिमात्रसे वह पतिकी हो जाती है। ऐसे ही स्वीकृतिमात्रसे साधकका बेड़ा पार हो जायगा। परंतु प्रायः एक बार स्वीकृति होती नहीं है। इसमें दो कारण मुख्य मालूम देते हैं—१-अभ्यासका महत्त्व और २-भोग तथा संग्रहकी आसक्ति।

आजतक जितने काम किये हैं, सब अभ्याससे किये हैं। इसलिये अन्तःकरणमें यह बात बैठी हुई है कि परमात्माकी प्राप्ति भी अभ्याससे होगी। वास्तवमें अभ्याससे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। अभ्याससे नया सीखना होता है। अभ्यासमें जड़की सहायता लेनी ही पड़ती है; परंतु परमात्माकी प्राप्ति जड़की सहायतासे नहीं होती, प्रत्युत जड़के त्यागसे होती है। जड़की सहायतासे संसारका कार्य होता है। परमात्माकी प्राप्तिमें कुछ भी करना है ही नहीं। बिना जड़की सहायतासे कुछ भी करना होता ही नहीं। परंतु अभ्यास करनेका बहुत ज्यादा आग्रह होनेसे, अभ्यासका स्वभाव पड़ा हुआ होनेसे साधक पूछता है कि बोलो, फिर क्या करें? यह विषय तो जान लिया, अब क्या करें?

जैसे अभ्यास प्रिय लगता है, ऐसे भोग और संग्रह भी प्रिय लगते हैं। भोग और संग्रहकी आसक्ति जल्दी छूटती नहीं। इस आसक्तिके कारण साधनमें दृढ़ता नहीं आती—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

(गीता २। ४४)

'उस पुष्पित वाणीसे जिसका अन्तःकरण हर लिया गया है अर्थात् भोगोंकी तरफ खिंच गया है और जो भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्योंकी परमात्मामें एक निश्चयवाली बुद्धि नहीं होती।'

उपर्युक्त दो कारणोंके रहते हुए कहनेपर भी, सुननेपर भी, पढ़नेपर भी परमात्माकी स्वीकृति नहीं होती। परमात्माके अंश तो हम पहलेसे ही हैं, अंश बनना थोड़े ही है! परंतु ऐसा होते हुए भी हम स्वीकार नहीं करते। जो परमात्माको स्वीकार कर लेता है, उसका गोत्र बदल जाता है। वह संसारका नहीं रहता। वह 'अच्युतगोत्र' हो जाता है। गोस्वामीजी महाराजने भी लिखा है—*'साह ही को गोतु गोतु होत है गुलामको'* (कविता० उत्तर० १०७)

वेदान्तके ग्रन्थोंमें भी अभ्यासकी बात आती है। श्रवण, मनन, निदिध्यासनके बाद विविध समाधियोंकी बात आती है। समाधि वास्तवमें कारणशरीरसे अभ्यास है, जिसमें समाधि और व्युत्थान—दो अवस्थाएँ होती हैं। परमात्माको प्राप्त होनेके बाद फिर व्युत्थान नहीं होता—**'सदा भवति तन्मयः'**। पातञ्जलयोगदर्शनमें अभ्यासका लक्षण बताया है—**'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥'** (१। १३) अर्थात् चित्तकी स्थिरताके लिये प्रयत्न करना (बार-बार चेष्टा करना) अभ्यास है।

भगवान्‌को एक बार स्वीकार करनेका तात्पर्य है कि इसमें अभ्यास नहीं है। एक बार भी इसलिये कहना है कि हमने अपने-आपको संसारी मान रखा है। इसलिये एक बार कह दें कि मैं संसारी नहीं हूँ, मैं तो केवल भगवान्‌का हूँ और केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं। स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि कोई भी जीव क्यों न हो, वह खास परमात्माका अंश है—**'अमृतस्य पुत्राः'**। जो जिसका अंश होगा, वह उसीमें लीन होगा। जैसे जलका

अंश जलमें ही लीन होगा। पृथ्वीका अंश पृथ्वीमें ही लीन होगा। ऐसे ही परमात्माका अंश परमात्मामें ही लीन होगा। परमात्मामें लीन होनेपर फिर एक परमात्मा ही रहेंगे—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

यहाँ **'वासुदेवः'** शब्द पुँल्लिङ्गमें होनेसे **'वासुदेवः सर्वः'** कहना चाहिये था। परंतु यहाँ **'सर्वः'** की जगह **'सर्वम्'** कहा गया है, जो नपुंसकलिङ्गमें है। अगर तीनों लिङ्गों (**सर्वः, सर्वा, सर्वम्**)-का एकशेष किया जाय तो नपुंसकलिङ्ग (**'सर्वम्'**)ही एकशेष रहता है*। नपुंसकलिङ्गके अन्तर्गत तीनों लिङ्ग आ जाते हैं। अतः **'सर्वम्'** शब्दमें स्त्री, पुरुष और नपुंसक—सबका समाहार हो जाता है। गीतामें जगत्, जीव और परमात्मा—इन तीनोंके लिये पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—इन तीनों ही लिङ्गोंका प्रयोग किया गया है†। इससे यह सिद्ध होता है कि जगत्, जीव और परमात्मा—ये तीनों ही **'सर्वम्'** शब्दके अन्तर्गत हैं। अतः तीनों लिङ्गोंसे कही जानेवाली सब-की-सब वस्तुएँ तथा व्यक्ति आदि एक परमात्मा ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

वास्तवमें यहाँ **'सर्वम्'** कहनेकी भी आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि वास्तवमें **'सर्वम्'** की सत्ता ही नहीं है—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता २। १६)। एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं। अतः वास्तवमें वासुदेव-ही-वासुदेव है, **'सर्वम्'** है ही नहीं। परंतु हमारी दृष्टिमें 'सर्वम्' (संसार)-की सत्ता है, इसलिये हमें समझानेके लिये भगवान्ने **'वासुदेवः सर्वम्'** पदोंका प्रयोग किया है, अन्यथा **'सर्वम्'** कहनेकी जरूरत ही नहीं थी। एक भगवान्के सिवाय जो कुछ हम मानते हैं, वह सब-का-सब बनावटी है, कल्पित है, असली चीज एक भगवान् ही हैं। यहीं हम सबको पहुँचना है।

सर्वथा पूर्ण होते हुए भी भगवान्में प्रेमकी भूख है—**'एकाकी न रमते'** (बृहदा० १। ४। ३)। इसलिये भगवान् प्रेम-लीलाके लिये एकसे अनेक हो जाते हैं—

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति।' (छान्दोग्य० ६। २। ३)

'सोऽकामयत्। बहु स्यां प्रजायेयेति।' (तैत्तिरीय० २। ६)

'एकं रूपं बहुधा यः करोति।' (कठ० २। २। १२)

प्रेम-लीलाके लिये भगवान्ने अपने लिये तथा अपनेमेंसे जीवोंकी रचना की। इसके साथ ही खेल-सामग्रीके रूपमें संसारकी भी रचना की। परंतु जीवने खेल-सामग्रीके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया और भगवान्से विमुख हो गया। तभीसे वह जन्म-मरणके चक्रमें पड़ गया।

जबतक संसारकी कोई भी वस्तु अच्छी, प्रिय, सुन्दर लगती है, तभीतक भोगासक्ति है। इस भोगासक्तिको ही 'काम' कहते हैं। इस कामके रहते हुए 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इसका अनुभव नहीं होता।

कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम्।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(महाभारत, शान्ति० २५१। ७)

'जगत्में काम ही एकमात्र बन्धन है, दूसरा कोई बन्धन नहीं। जो कामके बन्धनसे छूट जाता है, वह ब्रह्मभाव प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है।'

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

(कठ० २। ३। १४; बृहदा० ४। ४। ७)

'साधकके हृदयमें स्थित सम्पूर्ण काम जब समूल नष्ट हो जाते हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और यहीं (मनुष्यशरीरमें ही) ब्रह्मका भलीभाँति अनुभव कर लेता है।'

जबतक काम-नाशपूर्वक **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव न हो जाय, तबतक साधककी साधना अपूर्ण रहती है। साधनकी पूर्णताके लिये एक बार सरल हृदयसे दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर ले कि 'मैं केवल भगवान्का ही हूँ तथा केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं।' कारण कि शरीर-संसार कभी किसीके साथ रहते ही नहीं और भगवान् कभी किसीका साथ छोड़ते ही नहीं।

* * *

---

* उदाहरणार्थ, गीतामें आया है—**'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्'** (१८। ५)। इसमें **'यज्ञः'** शब्दका प्रयोग पुँल्लिङ्गमें और **'दानम्'** तथा **'तपः'** शब्दोंका प्रयोग नपुंसकलिङ्गमें किया गया है। अतः एकशेषमें नपुंसकलिङ्ग और बहुवचन **'पावनानि'** शब्दका प्रयोग हुआ है।

† द्रष्टव्य—**'गीता-दर्पण'** पुस्तककी लेख-संख्या ९९—'गीतामें ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृतिकी अलिङ्गता'।

'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई'

(डॉ० श्रीसुरेशनन्दनप्रसाद सिंहजी 'नीलकण्ठ')

यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(गीता ६। ३०)

जो सब कहीं मुझे (ब्रह्मको) देखता है और सबको मुझ (ब्रह्म)-में देखता है, मैं (ब्रह्म) उससे तिरोहित नहीं होता और वह (प्राणी) मुझ (ब्रह्म)-से तिरोहित नहीं होता।

यदि यह वाक्य हृदयमें बैठ गया तो अवश्य जीव एक-न-एक दिन ब्रह्मके दर्शनका सुलाभ प्राप्त कर लेगा। वैदिक संस्कृतिमें ब्रह्मको ब्रह्माण्डमय देखा गया है। वेदवाणी कहती है—**'न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः'**—अर्थात् उसे उत्पन्न करनेवाला कोई नहीं और उसका स्वामी भी कोई नहीं।

श्रुतियाँ **'नेति-नेति'** कहकर जिस परमात्माका गुणगान करती हैं, जो मन तथा वाणीसे परे है, सम्पूर्ण विश्वका जो मूल कारण है, जो सर्वेश्वर और सर्वाधार है, जो निर्गुण, निराकार, अनादि-अनन्त, अव्यक्त, अलख है; उस ब्रह्मकी अनुभूति प्रभु-कृपासे भक्तको हुआ करती है। संत तुलसीदासजीने उस निर्गुण ब्रह्मकी महिमाका गुणगान करते हुए लिखा है—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
(रा०च०मा० १। ११८। ५)

युग-युगके, जन्म-जन्मके साधनोंका जब परिपाक होता है, तब कहीं बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्र अपने निष्पाप, निर्मल, एकाग्रचित्तमें उस ब्रह्मके सौन्दर्य-सिन्धुकी एक झलकभर प्राप्त करते हैं, वह भी मात्र एक क्षणके लिये।

संत-भक्त तुलसीदासजी उसी ब्रह्मकी वन्दना करते हुए लिखते हैं—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥
(रा०च०मा० १। ७ (ग))

इस श्रद्धासे, इस दैन्यसे और इस नम्रतापूर्ण निर्मलतासे मन सदाके लिये नम्र हो जाता है। ऐसे 'नमन'से, ऐसे 'नमः' कारसे और ऐसे समर्पणसे मनके समस्त माया-बन्धन स्वतः खुल जाते हैं और प्राणी अनिर्वचनीय मोक्षभावभूमिमें विचरण करने लग जाता है। यही दुर्लभ ज्ञान है, यही ब्रह्मज्ञान है। इसकी प्राप्तिके चार सोपान हैं—१-श्रद्धा, २-विश्वास, ३-प्रेम और ४-समर्पण। इसीका पर्याय भक्ति, ज्ञान और निष्काम कर्म है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(गीता ४। ३९)

संयतेन्द्रिय होकर ज्ञानप्राप्तिमें लगा हुआ श्रद्धावान् प्राणी ज्ञान प्राप्त करता है और ज्ञान प्राप्त करके अविलम्ब परम शान्ति पा जाता है।

लेकिन श्रद्धा, विश्वास, प्रेम, समर्पण और भक्तिका प्रसाद बिना प्रभुकृपाके प्राप्त नहीं हो सकता है। वैदिक ऋषियोंने स्पष्ट निर्देश दिया है—'ब्रह्मानुभूतिके लिये परम शुद्ध जीवन व्यतीत करना होगा, संयतेन्द्रिय होना होगा।' कहा गया है—'सदाचार आध्यात्मिक जीवनकी भूमिका है' भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं 'श्रद्धा' और 'ब्रह्मानुभूति' के सार-तत्त्वको पारिभाषित किया है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(गीता १८। ५५-५६)

केवल भक्तिसे मुझ (ब्रह्म) भगवान्‌को जाना जा सकता है। जब मनुष्य ऐसी भक्तिसे मेरे (ब्रह्मके) पूर्ण भावनामृतमें होता है तो वह वैकुण्ठजगत्‌में प्रवेश कर जाता है। मेरा (ब्रह्मका) शुद्ध भक्त मेरे (ब्रह्मके) संरक्षणमें, समस्त प्रकारके कार्योंमें संलग्न रहकर भी मेरी (ब्रह्मकी) कृपासे नित्य तथा अविनाशी धामको प्राप्त होगा।

यही है निरंकुश आस्तिकता। यही है सम्पूर्ण भक्ति।

इस भक्तिका उपहारमय प्रभु-प्रसाद है—सच्चिदानन्दस्वरूपका साक्षात्कार। चाहे जिस रूपका साक्षात्कार करना हो, उनके व्यापक ब्रह्मस्वरूपकी अनुभूतिके पश्चात् ही उस परम तत्त्व (सगुणस्वरूप)-का साक्षात्कार होगा। ब्रह्मभूत होनेके पश्चात् केवल भगवत्कृपाद्वारा ही पराभक्ति पाकर जीव प्रभुको जानकर कृतकृत्य होता है। भगवत्कृपा पाकर साध्य और साधन अभेदको प्राप्त हो जाते हैं। संत-भक्त तुलसीदासजी उस अवस्थाका वर्णन करते हुए लिखते हैं—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥
(रा०च०मा० २। १२७। ३-४)

ईश्वर तर्ककी कसौटीसे परे है। वह अनुभूतिका विषय है। अनुभूतिका अन्वेषण ही सत्यका अन्वेषण है। वही सत्य-चिन्तन है, वही सत्य-पूजन है, वही प्रभु-अर्चन है। जीवन-यापनका यही वैदिक संदेश है।

सत्यके अन्वेषणमें कोई नहीं कह सकता कि यह भगवत्कृपा और ब्रह्म-अनुभूति कब प्राप्त होगी, किसे प्राप्त होगी और कहाँ प्राप्त होगी। प्रभुप्रदत्त जन्मजात भक्तिके कारण मात्र सात वर्षकी अवस्थामें स्वामी रामकृष्ण परमहंसको अर्थात् गदाधरको ब्रह्मानुभूतिका क्षीण प्रकाश दिखा था। गाँवमें शिवरात्रिके दिन अभिनय रङ्गमञ्चपर दर्पणमें स्वयंको जटाजूटधारी भगवान् शिवशङ्करस्वरूपमें देखकर वे समाधिस्थ हो गये थे। बड़ी कठिनाईसे उस दिन उनकी समाधि भंग हुई थी।

बादमें सम्पूर्ण जीवन सत्य-अन्वेषणमें और प्रभु-दर्शनमें व्यतीत हो गया, यह कहते हुए—

कत दिन हबे से प्रेम संचार।
हये पूर्णकाम, बलबो हरिनाम, नयने बहिबे प्रेम-अश्रुधार॥

× × ×

प्रेम-पागल हये हाँसिब-काँदिब, सच्चिदानन्द-सागरे भासिब।
आपनि मातिये, सकले माताब, हरिपदे नित्य करिब बिहार॥
(श्रीरामकृष्णपरमहंसकथामृत बंगला प्रथम भाग)

यही भक्तिकी पूर्णावस्था है। यहाँ पहुँचकर भक्त भगवन्मय और भगवान् भक्तमय हो जाते हैं। समस्त भौतिक हर्ष-विषाद, मद-अहंकार, ताप-परिताप, सुख-दुःख, रुदन-गान, क्रन्दन-नर्तन भक्तिमय हो जाते हैं। भावातिरेककी यह अवस्था परमानन्दकी अवस्था है, सच्चिदानन्दकी अवस्था है। इसीलिये सनातन संस्कृतिका परमात्मा कल्पित नहीं, अपितु सच्चिदानन्दस्वरूप है, राधाका प्रियतम है, यशोदाका कन्हैया है, नन्दका लाला है, भक्तोंका मुरलीवाला है। बहुत जादू है मुरलीके अनाहतनादमें—

मेरे रोम-रोम में पैठा, प्रियतम! प्रेम तुम्हारा।
तन के तार-तार में धावित, उसकी विद्युत-धारा॥
ऐसा स्वर मुरली में फूँको, आह उठे अन्तर से।
ऐसा तारों को झंकारो, नयन हमारे बरसे॥

यही है राधाभावकी भक्ति, यही है चैतन्यभावकी भक्ति। शास्त्रोंमें नवधाभावकी भक्ति वर्णित है। प्रभु श्रीरामके मुखसे संत-भक्त तुलसीदासने नवधा भक्तिका वर्णन करते हुए यह लिखा है—

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥
(रा०च०मा० ३। ३६। ६-७)

भक्तिमार्ग भगवान्‌का मार्ग है। वही ज्ञानका मार्ग है। वही कर्मका मार्ग है। भक्तिमार्गका पथिक भगवान्‌के अनुग्रहमार्गका पथिक होता है। वह भगवान्‌के श्रीचरणोंमें सर्वस्व अर्पण कर अहर्निश उन्हींके चिन्तन, मनन, श्रवण, अर्चन और कीर्तनमें लगा रहता है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥
(गीता ९। १४)

मेरे (ब्रह्मके) भक्त निरन्तर मेरा (ब्रह्मका) कीर्तन करते हुए, दृढ़ नियमपूर्वक मुझे (ब्रह्मको) नमस्कार करते हुए तथा नित्य मुझमें (ब्रह्ममें) लगे हुए उपासना करते रहते हैं।

'नवधा भक्ति' में उपासनाका 'मङ्गल-सूत्र'—कीर्तन भक्तके निज मन, प्राण और आत्माको स्पन्दित करता हुआ एक साथ सहस्रों प्राणियोंको, जीव-जन्तुओंको तथा जड़-चेतनको स्पन्दित कर देता है। समस्त वायुमण्डलमें

ब्रह्मानुभूति होने लगती है। कीर्तन-ध्वनि अनन्त कर्णकुहरोंमें पहुँचकर ब्रह्मकी प्राप्तिकी स्पृहा उत्पन्न करने लगती है। अनाहतनाद चित्तमें पहुँचकर सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी कृति एकत्र कर लेता है। इन्द्रियनिरोध हो जाता है। बड़ी माधुरी है इस साधनमें। नाम-कीर्तनके दो अक्षरोंकी ध्वनिमें कितने अमृतघट समाहित हैं, इसे श्रद्धा, विश्वास, प्रेम और भक्तिकी गङ्गामें अवगाहन करनेवाला महाप्रभु चैतन्य-जैसा भक्त ही जानता है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥
हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

तृणसे भी अपनेको छोटा मानकर, वृक्षसे अधिक सहिष्णु रहते हुए, स्वयं सम्मानसे दूर तथा दूसरोंका सम्मान करते हुए सदा हरिका कीर्तन करना चाहिये। श्रीहरिका नाम, हरिका नाम, एकमात्र श्रीहरिका नाम या प्रभुकी अनन्त नामावलिमेंसे जो नाम प्रिय लगे, उसीके गायन (कीर्तन)-के अतिरिक्त कलियुगमें दूसरी कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं है।

इसकी पुष्टि करते हुए स्वयं श्रीहरि कहते हैं—हे नारद! मैं वैकुण्ठमें निवास नहीं करता और योगियोंके हृदयमें भी निवास नहीं करता। मेरे भक्त जहाँ गायन करते हैं, कीर्तन करते हैं, मैं वहीं निवास करता हूँ। कीर्तनमें सात्त्विकभावोंका प्रकाश (प्रादुर्भाव) होनेसे प्रभुके आगमनका अनुभव होता है, ब्रह्मानुभूति होती है, ब्रह्मज्ञान मिलता है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड ९२।२२)

प्रार्थना

प्रार्थना मानव-जीवनका उपयोगी साधन और भगवान्से वार्तालाप करनेका एक माध्यम है। प्रार्थना व्यक्तिगत भी हो सकती है और सामूहिक भी। मौन भी हो सकती है और उच्चस्वरमें भी। प्रार्थनासे मानसिक शान्तिकी प्राप्ति होती है। मानसिक शान्तिसे शारीरिक स्वास्थ्यका लाभ होता है।

प्रार्थनाद्वारा भक्त निःसंकोचभावसे अपने मनकी सारी बातोंको प्रकट करके अपनी मानसिक वेदना या दुःखको हलका कर सकता है। इस तरह वह अपनी त्रुटियोंके लिये क्षमा भी माँग लेता है तथा अपने मनको लघु करके गृह-जीवनमें सुख-शान्तिका अनुभव प्राप्त कर लेता है। वह भगवान्को महान्, अपनेको बहुत छोटा मानकर गृह-जीवनमें ही नहीं, सामाजिक जीवनमें भी आदर्शप्राय बन जाता है। धीरे-धीरे आध्यात्मिक क्षेत्रकी ओर उसका लगाव हो जाता है। प्रार्थनामें उच्च-निम्नका भाव नहीं रहता है। सब समान हो जाते हैं।

प्रार्थनाके माध्यमसे भक्त भगवान्के चरणोंमें अपनेको अर्पितकर अपने जीवनको धन्य मान लेता है। प्रार्थनाद्वारा मानवका मन कपटरहित हो जाता है। इससे उसे भगवान्का विशेष अनुग्रह प्राप्त हो सकता है, आशीर्वाद प्राप्त हो सकता है। भक्तिद्वारा वह आध्यात्मिक शान्ति, समाधान तथा सहयोग प्राप्त कर लेता है। प्रार्थनाद्वारा मानव जीवनकी समस्याओंका उचित समाधान प्राप्त कर सकता है। भगवान्के चिन्तन, मनन, स्मरण तथा ध्यानसे साधक सांसारिक चिन्ताओं, तापत्रयोंके भयसे मुक्त हो सकता है।

प्रार्थनाद्वारा मानसिक शान्तिके साथ मानसिक निर्मलताका अनुभव होता है। चञ्चल मन स्थिर हो जाता है। इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं। कष्ट-सहिष्णुताका अनुभव हो जाता है। भूख-प्यासका अनुभवतक भूल जाता है। सुख-दुःखका समानरूपसे अनुभव करनेका अभ्यास हो जाता है। कालक्रमेण वैराग्यका अनुभव होकर सांसारिक बन्धनोंसे मुक्ति प्राप्त करनेकी इच्छा जाग्रत् हो सकती है। धीरे-धीरे माया-मोहसे मुक्त होकर वह भगवद्धर्मका अनुगमन करनेवाला हो सकता है। प्रार्थनाकी अनुभूति अवर्णनीय है। प्रार्थनासे परोपकारकी भावनाका अभ्यास हो जाता है और सहानुभूतिकी भावना भी जाग उठती है। जो प्रतिदिन प्रार्थना करता है, वह संतृप्त रहकर उद्वेग-आवेशसे मुक्त होकर आध्यात्मिक शान्तिकी प्राप्ति कर सकता है।

(डॉ० श्री एन० एस० रामसुब्रह्मण्यम्, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

* * *

साधक-प्राण-संजीवनी

[दीवानोंका यह अगम पंथ संसारी समझ नहीं पाते]

साधुमें साधुता—

(गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज)

[गताङ्क पृ०-सं० ८५२ से आगे]

माँ अपने शिशुकूँ नहलावै है, वस्त्र पहरावै है, काजल लगावै है, आभूषण धारण करावै है और खूब सँभारै है। फिर अपनी गोदमें लैकैं वाकूँ चूमैं है, देखिकैं अति प्रसन्न होय है। अबोध शिशुकूँ कछू खबरि नहीं, वह तौ चाहै है, केवल माँकी गोद तथा माँकौ प्यार। ठीक याही प्रकार श्रीभगवान् अपने भक्तकूँ सँभारै हैं, याकी प्रशंसा करवावैं हैं, यहाँतक कि, मान-प्रतिष्ठा हू कराय बैठें हैं। किंतु भक्त यह कछू नहीं मानै है और न यह सब कछू चाहै ही है। भक्त तौ केवल अपने ही प्राणवल्लभके प्रेमकौ भूखौ रहै है। हाँ, श्रीप्रियतमके इन खेलनकूँ देखिकैं यही कह बैठै है कि मेरे श्रीजीवनधन! आप कछू करैं, किंतु करैं अपनी प्रसन्नताके ताँईं ही। जामैं आपकी प्रसन्नता होय, आप जानैं। मैं तौ वही पामर अधम जीव हूँ, मैं यह कबहूँ नहीं मानि सकूँ हूँ कि मैं प्रशंसाके योग्य हूँ। हाँ, आपकूँ यामैं प्रसन्नता हौती होय तौ आप जानैं। जैसें माँ शिशुकूँ देखिकैं प्रसन्न होय है, वैसें ही आपकी प्रसन्नता आप ही जानैं।

हाँ, यहाँ अत्यन्त सावधान रहै, कहूँ यह न मानि बैठैं कि मैं कछू हूँ। याकी बड़ी सावधानता चाहिये। यहाँ प्रायः जीव चूकि जाय है। अपनेकूँ दीन, हीन, पामर ही मानतौ रहै। यह तौ श्रीप्रियतमकी उदारता है। बस, लोकेषणा ठहर ही नहीं सकै। ऐसौ बानिक यदि बनि जाय तौ प्रवृत्तिमें ही परम-निवृत्ति बनि जाय है।

'संपति सब रघुपति कै आही' यही विचार दृढ़ रहै। जीव धर्म है उद्योग करिवैकौ। अकर्मण्यता नहीं ग्रहण करनी। या सम्पत्तिमें सौं अपनी आवश्यकताके ताँईं ग्रहण कर लैनौं। यहाँ नौकरी करि लई जाय है। यथाशक्ति यामैं सौं शुभ काममें लगाते रहनौं। उचित तौ यही है कि आयमेंसौं दशमांश शुभ कामनके ताँईं निकारि दैनौं। खूब परिश्रम तथा पूर्ण प्रयत्नके साथ व्यापारमें लगे रहनौं। जहाँ ताँईं है सकै पाप कर्मनसौं भय खाते रहनौं। हरिश्चन्द्र या युधिष्ठिर नहीं बनि सकै तौ कोई हानि नहीं। किंतु दुष्कर्मनकूँ कबहूँ न अपनावै। परस्परमें मेलभाव राखै। जो काम करै, सबकी सम्मतिसौं करै। काम करते भये श्रीनाम-जप होतौ रहै। यही प्रयास करनौं।

जीवके पवित्र बनिवेमें समय लगैगौ, ऐसौ माननौं या कृपा जब कराय लेगी तब है जायगौ, ऐसौ माननौं, हमतौ याकूँ बहानेबाजी ही मानैं है। जब हमकूँ श्रीसद्गुरु प्राप्त हैं तौ उनमें दृढ़ श्रद्धा करै। अवलम्बन लैकैं प्रयत्न करै तौ कछु असाध्य नहीं है।

प्रश्न—काहूने पूछ्यौ कि ब्रह्म, परब्रह्म परात्पर परब्रह्म कौनसौं कहै? याकी व्याख्या करिवेकी कृपा करैं?

उत्तर—काहू विद्वान्के और काहू शास्त्रके मतसौं नहीं अपने ही विचारसौं ऐसौ समझमें आवै कि 'ब्रह्म' शब्दकी रचना चार संयुक्ताक्षरसौं भई है—ब+र+ह+म=ब्रह्म। इन चार्‌यौनकौ आशय है—'ब' कौ अर्थ है बनायवे वारौ अर्थात् सृष्टिको निर्मार्णकर्ता=श्रीब्रह्माजी। 'र' कौ अर्थ है रक्षा करिवे वारौ अर्थात् सृष्टिकौ रक्षण, पालन, पोषण करिवे वारौ अर्थात् रमापति श्रीविष्णुजी। 'ह' कौ अर्थ है हरण करिवे वारौ (हर्ता) अर्थात् सृष्टिकौ संहारकर्ता श्रीहर—श्रीशङ्करजी। 'म' कौ अर्थ है मृत्युके पीछैं मोक्ष प्रदान करिवै वारौ अर्थात् मोक्षदाता श्रीभगवान् मुकुन्द। इन चार्‌यौं कार्यनके एक साथ करिवेकी सामर्थ्य जामें है, वही है ब्रह्म। प्रत्येक प्राणीकी जन्मसौं लैकैं मुक्तितक चार अवस्था होयँ हैं—जन्म, जीवन, मृत्यु और मोक्ष। ये चार्‌यौनकूँ जो अबाध गतिसौं सदैव सौं करतौ चल्यौ आय रह्यौ है, वही है ब्रह्म।

अब बात आयी परब्रह्मकी। '……**तौ ब्रह्मात् परः इति परंब्रह्म**'। अर्थात् ब्रह्म सौं परै है जो, वही है परंब्रह्म। 'पर' शब्दकौ सामान्य अर्थ है—ऊपर या ऊँचौं अथवा बड़ौ अर्थात् ब्रह्मसौं जो बड़ौ है, ऊँचौ है अथवा ऊपर है

वही है परंब्रह्म। यासौं कहलैं कि जो ब्रह्मपै हू शासन करिवेकी सामर्थ्य राखतौ होय। अजन्मा, अगोचर, ब्रह्मकूँ हूँ जो इन आँखिनके सम्मुख विविध रूप धरिकैं साक्षात् प्रकट हैवे के ताँईं विवश करि दे, वह है परंब्रह्म अर्थात् कौन? संत। या विवेचनासौं अब यह स्पष्ट है गयौ कि संत अर्थात् गुरु ही परंब्रह्म है। दूसरे अर्थमें यौं कह लेउ कि वह ब्रह्म ही अपने वास्तविक स्वरूपकौ ज्ञान करायवैके ताँईं संतकौ रूप धरिकैं, हम पाँवर जीवनके बीचमें अपनौं ऐश्वर्य त्यागिकैं प्रकट है गयौ है और स्वयं ही आचरण करि-करिकैं अपनी प्राप्तिकौ मार्ग हम अबोधनकूँ दिखाय रह्यौ है। भक्तकौ आचरण अलग और श्रीभगवान्‌कौ आचरण अलग। तब वही ब्रह्म संतके रूपमें परंब्रह्म कहलावै है और वही संत हमकूँ गुरुदेवके रूपमें मिलिकैं हमारे कल्याणकौ ठेकेदार बनि जाय है। प्रत्येक शिष्यके ताँईं बाके अपने श्रीगुरुदेव पूर्णरूपेण परंब्रह्म ही हौयँ हैं। यथा—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परंब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

अब प्रश्न उठै है कि संत कौन? ····चाहे वह गृहस्थ होय, चाहे विरक्त। चाहे स्त्री शरीर होय, चाहे पुरुष। चाहे पढ्यौ लिख्यौ होय, चाहे बिना पढ्यौ लिख्यौ। चाहे जा देशकौ वासी होय। चाहे जा धर्मकौ मानिवे वारौ होय। चाहे धनवान् होय, चाहे निर्धन। चाहे रंगकौ गौरौ होय चाहै कारौ और चाहे जा जातिकौ होय····।

जाके स्मरण और दर्शन मात्रसौं अपने-आपकूँ श्रीभगवत्स्मरण हैवे लगि जाय। अपने जीवनपै ग्लानि पैदा है जाय। मन-बुद्धि अपने-आपकूँ धिक्कारिवे लगैं। मैं कौन हूँ? काहेके ताँईं संसारमें आयौ हूँ? मेरौ कहा कर्तव्य है? आदि-आदि अपने स्वरूपकौ बोध है वे लगि जाय। मनमें सौं विकार, वासना स्वतः भागिवे लगि जाय और पवित्रताकौ संचार हैवे लगि जाय तथा जिह्वा श्रीभगवन्नाम-जप करिवे लगि जाय। मनमें एक अद्भुत शान्तिकौ स्रोत फूटि परै। एक विशेष प्रकारकौ स्वादसौं आयवे लगै। वही है संत। वही है परंब्रह्म अर्थात् विकारी-सौं-विकारी जीवकूँ हूँ जाके स्मरणमात्रसौं मायाराज्यसौं परेकी बात स्फुरण हैवे लगि जायँ, ब्रह्मके राज्यकी बात सूझिवे लगि जायँ, वही है संत।

ऐसे संतकूँ श्रीगुरुरूपमें पायकैं, जीव जन्म-जन्मकी वासनानसौं मुक्त हैकैं, मायाके बन्धनसौं सदा-सदाकूँ छुटकारौ पाय जाय है। यासौं श्रीगुरु ही परंब्रह्म हैं; क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु और महेश—तीनों जैसैं सृष्टिकी रचना, पालन, पोषण और संहार करैं हैं। ठीक वैसैं ही श्रीगुरुदेव हू साधकके ताँईं साधनमार्गकी समस्त सामग्रीकी रचना करैं हैं, या कारण गुरु-ब्रह्मा हैं और साधनकालमें बीच-बीचमें आयवे बारी समस्त बाधानसौं रक्षा करैं हैं तथा बाहरी-भीतरी (आत्मा और शरीर दोऊनकौ) पालन-पोषण हू करैं हैं या कारण श्रीगुरुदेव विष्णु हूँ हैं तथा साधकके मनके विकार वासनानकूँ समूल उखारिकैं फैंकि डारैं हैं, संहारकरि डारैं हैं और मायासौं उबारिकैं, जीतेजी मुक्त करिकैं, श्रीप्रियतमकौ प्यारौ बनाय देय हैं, या कारण श्रीशिव और श्रीभगवान् मुकुन्द हू हैं। या विवेचनासौं श्रीगुरुदेवमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश और श्रीमुकुन्द भगवान् आदिक सबनकौ समावेश है अर्थात् श्रीगुरुदेव इन चारयौनकी पुञ्जीभूत प्रतिमा हैं। या कारण गुरु परंब्रह्म हैं।

एक संतके विचारनसौं—गुरु या कारण हू परंब्रह्म है कि एक ओर जहाँ ईश्वरने हमें विकारनके गारेमें सानिकैं यह मानव-शरीर दियौ और मायाकी झाड़ीमें फँसाय दियौ। दूसरी ओर वहीं श्रीगुरुदेवने हमें मायाके बन्धनसौं मुक्त करिकैं, प्रभुसौं मिलिवेकौ मार्ग बतायौ है। या कारण श्रीगुरुदेव वा ब्रह्मसौं हूँ बहुत ही परेकी वस्तु हैं अर्थात् परंब्रह्म हैं।

अब परात्पर परब्रह्म कौन?

एक संतके विचारसौं—जैसैं गुरु परंब्रह्म हौयँ हैं, वैसैं ही श्रीसद्गुरु परात्पर परंब्रह्म हौयँ हैं। जैसैं ब्रह्मसौं आगे परंब्रह्म होय है, वैसैं ही गुरुसौं आगे श्रीसद्गुरु हौयँ हैं। श्रीरामचरितमानसमें श्रीसद्गुरु शब्द केवल चार बार ही प्रयुक्त भयौ है। जबकि गुरु शब्दकी अनेक बार आवृत्ति भई है। यासौं स्पष्ट होय है कि गुरुसौं श्रीसद्गुरु शब्द अपने-आपमें कछु विशेष अर्थ राखै है। [क्रमशः]

※※※

LIBRARY
Gurukul Kangri Vishwavidyalaya
HARIDWAR

रामनाम-जपकी महिमा

(श्रीकान्तजी अग्रवाल)

कलियुगमें केवल श्रीहरिका नाम ही परम कल्याण करनेवाला है। इसको छोड़कर कल्याण-प्राप्तिका और कोई सुगम उपाय नहीं है—

कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥

(रा० च० मा० ७। १०३। ४)

रामनामका तत्त्व, रहस्य, गुण, प्रभाव समझना चाहिये। इससे नाम-जपमें स्वाभाविक रुचि होती है। रुचि होनेसे नामका जप अधिक होता है। गीतामें दैवी-सम्पदाके गुण (अध्याय १६ श्लोक १ से ३ तक) बतलाये गये हैं, वे सब भजनेवालेमें आ जाते हैं। नाम-जपसे नामीका अक्स (बिम्ब) जापकपर पड़ता है। नाम और नामीमें भेद नहीं है। श्रीहरिके नाम-जपसे भगवान्‌की स्मृति हो जाती है।

भगवान्‌के नाम-स्मरणसे हृदयमें विशेष रुचि-प्रेम होता है। मनुष्य कोई भी काम करे, करते-करते उसमें रुचि हो जाती है। उसी प्रकार नाम-स्मरण करनेसे ही आगे जाकर उसमें रुचि हो जाती है। नाम-जपसे दया, क्षमा, समता, शान्ति, प्रीति, ज्ञान सब आ जाते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

(रा० च० मा० १। २१)

जैसे दीपकको देहरीपर रखनेसे बाहर-भीतर प्रकाश हो जाता है, इसी प्रकार राम-नामरूपी मणि जिह्वारूपी देहरीपर रख दे तो बाहर-भीतर प्रकाश हो जाता है। मणि हवासे नहीं बुझती। मुँह फाटक है। 'रा' उच्चारण करनेसे सब पाप बाहर निकल जाते हैं और 'म' के उच्चारणसे कपाट बन्द हो जाते हैं। जिससे पाप फिर नहीं आ सकते। तुलसीदासजीने कहा है कि नामका प्रभाव इतना है कि इससे दुर्गुण, दुराचार और पाप सब नष्ट हो जाते हैं तथा मनुष्य पवित्र हो जाते हैं।

नाम हृदयमें धारण करते ही क्षणभरमें सारे पापोंका नाश वैसे ही हो जाता है, जैसे सूखी घासमें चिनगारी पड़नेसे वह भस्म हो जाती है। रामनामका ऐसा प्रभाव है कि पापी-से-पापी व्यक्तिका भी उद्धार हो जाता है। भगवान्‌के भजनके प्रभावसे भगवान् स्वयं वशमें हो जाते हैं। कहा भी गया है—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥

(रा० च० मा० १। २६। ६)

पवनसुत हनुमान्‌जीने भगवान्‌के नाम-स्मरणसे भगवान्‌को अपने अधीन कर रखा है।

भगवान्‌का नाम निराधारका आधार है। भगवान्‌से भी बढ़कर भगवान्‌के नामको कहें तो भगवान्‌की ही बड़ाई है और अतिशयोक्ति भी नहीं है। नामका गुण, प्रभाव जानना चाहिये। भगवान्‌के जितने गुण हैं वे सब नाम लेनेवालेमें अपने-आप आ जाते हैं। यह नाम-जपकी महिमा है। दोष, दुर्गुण, दुराचारका अपने-आप नाश हो जाता है, यह प्रभाव है। नामका तत्त्व समझना चाहिये। जैसे बर्फ और जल एक है। व्यापक अग्नि और प्रज्वलित अग्नि एक है, उसी प्रकार भगवान्‌का नाम और स्वरूप एक है। भगवान्‌के नामका रहस्य समझना चाहिये। भगवान्‌के नामका बड़ा भारी प्रभाव है, जिससे पापीके सब पापोंका नाश हो जाता है। इसका मतलब यह नहीं है कि खूब पाप करो। जो मनुष्य यह समझता है कि पाप कर लो और भजन करके पापका नाश कर लेंगे, यदि इस आशयसे पाप करने लगे तो 'नाम' पापकी वृद्धिमें हेतु हो गया। जो यह समझकर पाप करता है, उसके पापका नाश नहीं होता। उसने नामके रहस्यको नहीं समझा।

नामकी ओटमें पाप करना भगवान्‌का अपराध है। पूर्वके पापोंके लिये क्षमा माँग ले और भविष्यमें पाप न करनेकी प्रतिज्ञा कर ले तो पूर्वके पापोंकी माफी है—ऐसा न्याय है। भगवान्‌के नाममें बड़ा भारी रहस्य भरा है। नामका तत्त्व, नामका गुण, नामका प्रभाव समझमें आ जाय तो नाम-जप छूट नहीं सकता। निरन्तर करता ही रहता है। छोड़ नहीं सकता फिर बेड़ा पार है।

ऐसा विचार कर जो कोई रामनाम-जप करता है; उसके सभी अशुभ कर्म जल जाते हैं। रामनाम ही ज्ञान-

विज्ञानका मूल आधार है और सुखका बीज भी यही है। रामनामको महामन्त्रराज कहा गया है—

राम नाम मंत्र है, सकल मंत्र को राज॥

यह एक ऐसा मन्त्र है जो सभी मन्त्रोंका बीज है। जो रामनामका स्मरण करता है उसे भक्ति और मुक्ति दोनों मिल जाती है। रामके नामका जप महान् यज्ञ है; क्योंकि गीतामें यज्ञोंमें सर्वोत्तम यज्ञ जपयज्ञको माना गया है।

इसलिये सभी साधकोंको जो भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं, धर्मपथपर आरूढ़ होना चाहते हैं और किसी उत्कृष्ट कामनाकी सिद्धि चाहते हैं, उन्हें रामनाम-जप करना चाहिये।

'मननात् त्रायते इति मन्त्रः' अर्थात् जिसके मननसे मनुष्यकी रक्षा होती है उसे मन्त्र कहते हैं। ये मन्त्र अक्षरात्मक होते हैं। 'राम' नाम भी द्व्यक्षर-मन्त्र है और इसके जपसे पुण्य-लाभ मिलता है।

इस कलिकालमें रामका नाम ही जीवनदायक है। कलियुगमें प्राणियोंकी दूसरी गति नहीं है। एकमात्र रामनाम ही कलियुगमें मुक्तिका आधार है।

भगवान् श्रीरामकी सरस सुन्दर भक्ति ही भक्तोंकी पोषिका है। रामनामके 'र' कार और 'म' कार—ये दो अक्षर परमार्थपथ-पथिकोंके लिये एकमात्र अवलम्ब हैं। यदि रामनाम और उसके युगल अक्षरोंका मानव-जीवनमें अभाव हो तो इस संसार-सागरसे पार होनेका कोई साधन नहीं है।

इस कलिकालमें प्राणिमात्रके लिये मुक्तिका एकमात्र सरलतम उपाय भगवान् श्रीरामके नामका जप ही है; क्योंकि सत्ययुगमें हरिका ध्यान करनेसे; त्रेतामें तप, यज्ञ और संयम रखनेसे, द्वापरमें व्रत, पूजा और आचारसे जो गति प्राणी प्राप्त करता है वही गति कलियुगमें केवल रामनाम-जपसे प्राप्त हो जाती है। कलियुगमें संसाररूपी सागरसे पार उतरनेके लिये रामनाम दृढ़ नौकाके समान है।

संसारमें 'रामनाम'से बढ़कर कुछ नहीं है। सब कुछ शान्ति इसमें भरी हुई है। इसलिये संतोंने कहा है—

राम नाम सुमिरन करो रिध सिध याके माँय॥

रामनाममें ऋद्धि-सिद्धि सब भरी हुई है। विश्वास न हो तो रात-दिन जप करके देख लो। सब काम हो जायगा, कोई काम बाकी नहीं रहेगा।

यह रामनाम सगुण और निर्गुण दोनोंको जनानेवाला है। इसलिये सगुण-उपासक भी रामनाम जपते हैं और निर्गुण-उपासक भी रामनाम जपते हैं। सगुण-साकारके उपासक हों चाहे निर्गुण-निराकारके उपासक हों, रामनामका जप सबको करना चाहिये। यह दोनोंको प्राप्ति करा देता है।

रामनामकी महिमा वर्णन करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—'सुगतिरूपी जो सुधा है यह सदाके लिये तृप्त करनेवाली है। सदाके लिये लाभ हो जाय, जिस लाभके बादमें कोई लाभ बाकी नहीं रहता, जहाँ कोई दुःख पहुँच ही नहीं सकता है, उसका रस 'रामनाम'का जप करनेसे आता है। जो 'रामनाम'के जपसे परिपूर्ण हो जाते हैं, वे फिर सांसारिक भोगोंमें फँसेंगे नहीं।'

सज्जनो! यह बहुत सुगम उपाय है। भगवान्‌के नामका जप करो और प्रभुके चरणोंका सहारा रखो। जैसे साधारण मनुष्य धन कमाने और भोग भोगनेमें रस लेते हैं वैसे ही भगवत्प्रेमीको भगवन्नाम, सत्संग और सत्-शास्त्रोंके अध्ययनमें रस लेना चाहिये। इस रसके लिये ही मानव-जीवन मिला है। जिसे रामनाम लेनेमें रस आने लगेगा, वह दिन-रात जपमें लग जायगा, फिर वह संसारके विषयोंमें फँसेगा ही कैसे?

रामनामकी अपार महिमाका वर्णन करते-करते गोस्वामीजीने अन्तमें लिख दिया—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

प्रभु श्रीराम उसकी महिमाका वर्णन कर भी कैसे सकते हैं; क्योंकि रामका नाम तो प्रभु रामसे भी बड़ा है। रामनामकी महिमा अपार है। रामनाम प्रभु श्रीरामसे भी अधिक प्रभावशाली है। अतः समस्त मानवजातिको इस संसाररूपी भवसागरसे पार उतरनेके लिये रामनामरूपी नौकाका आश्रय लेना चाहिये।

* * *

संत-उद्बोधन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

क्षोभ और क्रोधके रहते हुए क्या किसीको कभी भी चैन मिल सकता है? कदापि नहीं। अब विचार यह करना है कि क्रोध तथा क्षोभका मूल कारण क्या हो सकता है? अपनी रुचि-पूर्तिके लिये दूसरोंसे आशा करनेसे क्या सदैव रुचि-पूर्ति सम्भव है? जीवनका अनुभव तो यह है कि सदैव कभी किसीकी रुचि पूरी नहीं होती। रुचिका जन्म पराधीनतासे उत्पन्न होनेवाली सुखलोलुपतासे होता है। प्राकृतिक विधानके अनुसार सुखलोलुपता भयंकर दुःखकी जननी है। रुचिकी आपूर्ति होनेसे सजग साधकको रुचि-निवृत्तिकी प्रेरणा लेनी चाहिये। जब रुचि नाश हो जाती है, तब आनन्ददायक वास्तविक माँग सबल तथा स्थायी होती है, जिसके होते ही भूलसे उत्पन्न होनेवाली सभी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं और फिर प्रभुके मङ्गलमय विधानसे अविनाशी-स्वाधीन-रसरूप जीवनकी माँग पूरी हो जाती है। इस दृष्टिसे रुचिकी पूर्ति न होना प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्यायमें सभीका मङ्गल है, किसीका अमङ्गल नहीं है। पर यह रहस्य वे ही सजग साधक जान पाते हैं, जिन्होंने निजज्ञानके प्रकाशमें अपने जीवनका अध्ययन किया है और उसके फलस्वरूप जीवनका जो सत्य है, उसे अपनाया है।

सच्चा आदर, सम्मान, प्यार किसे मिलता है? जिसके पास कुछ नहीं है और जिसे कुछ नहीं चाहिये तथा जिसका जीवन शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेमसे भरपूर है। शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम किसी परिस्थितिसे प्राप्त नहीं होते, अपितु प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगपूर्वक सभी परिस्थितियोंसे अतीत जो वास्तविक जीवन है, उसकी आवश्यकता अनुभव करनेसे शान्तिकी प्राप्ति होती है और शान्तिकी पूर्णतामें स्वाधीनताकी अभिव्यक्ति होती है। स्वाधीनतामें ही प्रेम अभिव्यक्त होता है। यह अनन्तका मङ्गलमय विधान है। हम सबसे बड़ी भूल यह होती है कि हम वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदिके द्वारा शान्ति प्राप्ति करना चाहते हैं, जो सर्वदा असम्भव है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वस्तु आदिका कोई दोष है। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु आदिका आश्रय नहीं रखना चाहिये। वस्तुओंका सदुपयोग व्यक्तियोंकी सेवामें साधनरूप हो सकता है। वस्तुओंका संग्रह और व्यक्तियोंकी ममता समस्त दुःखोंका मूल है। यद्यपि वस्तुओंका अभाव भी कष्टदायक है, परंतु वस्तुओंका प्रभाव (दासत्व) अभावसे भी कहीं अधिक दुःखद है। इतना ही नहीं, वस्तुओंके अभावसे तो केवल शारीरिक कष्ट होता है, किंतु वस्तुओंके प्रभावसे तो शारीरिक, मानसिक और आन्तरिक अनेक भयंकर कष्ट अनन्त कालतक भोगने पड़ते हैं।

इस दृष्टिसे वस्तुओंका प्रभाव अभावसे भी अधिक दुःखद है। इसी वास्तविकताको बतानेके लिये प्रभु-विश्वासी भक्त ईसाने कहा था कि सुईके छेदमेंसे ऊँट भले ही निकल जाय, किंतु धनके गुलामका सत्यके साम्राज्यमें प्रवेश सम्भव नहीं है। शरणागत साधकोंका अनुभव है कि अकिञ्चन हुए बिना शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती। इतना ही नहीं, अर्थ-सम्पन्न प्राणियोंको स्थायी आदर तथा प्यार भी नहीं मिलता। यदि कोई उनकी सेवा भी करता है तो पैसेवाला मान लेता है कि मेरे पैसेका प्रभाव है और यदि कोई सेवा नहीं करता है तो बेचारे पैसेवालेको क्रोध आता है। इतना ही नहीं, निम्न-कोटिके लोग तो उसके पैसेको छीन ही लेना चाहते हैं।

आज वर्तमान युगमें अर्थके अभाव तथा प्रभावमें आबद्ध व्यक्तियोंके बीच घोर संघर्ष प्रत्यक्ष हो रहा है। अर्थसे प्रदत्त जो सुविधाएँ थीं, वे आज घोर दुःखमें बदल रही हैं। इस कारण सजग मानवको अर्थके प्रभावसे मुक्त होकर प्राप्त अर्थका सदुपयोग शीघ्र-से-शीघ्र करनेका प्रयास करना चाहिये और अकिञ्चन होकर परम उदार, परम स्वतन्त्र, परम प्रेमसे भरपूर प्रभुसे आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर सदा-सदाके लिये सर्वदुःखोंकी निवृत्ति, जीवन-मुक्ति एवं पराभक्तिका अधिकारी हो जाना चाहिये। नहीं तो अनमोल मानव-जीवन अपनी भूलसे बरबाद हो जायगा।

किसी दुःखीको देखकर करुणित होनेपर जो प्रेरणा मिली वह अनन्तके नाते निवेदन कर दी। रुचे तो अपनाइये और मानव-जीवन सफल बनाइये। इसी सद्भावनाके साथ बहुत-बहुत प्यार। सर्वसमर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपासे अर्थके अभाव तथा प्रभावसे पीड़ित प्राणियोंको साधननिष्ठ बनायें—यही मेरी सद्भावना है। ॐ आनन्द।

* * *

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें प्रेमा-भक्तिका स्वरूप

[सिख धर्मगुरुओंकी प्रेम-साधना]

(प्रोफेसर श्रीलालमोहरजी उपाध्याय)

प्रेमा-भक्तिकी अबाध मन्दाकिनी सिख धर्मगुरुओंकी वाणीमें प्रवाहित हुई है। परमात्माकी प्रेमा-भक्ति ही कर्मयोगको निष्काम कर्मयोग बनाती है, ज्ञानको ब्रह्मज्ञानका रूप देती है और योगको सहज योगमें परिणत करती है। यही कारण है कि सिख धर्मगुरुओंके अनुसार किसी भी मार्गकी साधना बिना प्रेमा-भक्तिके निष्प्राण और निस्तत्त्व है। सच तो यह है कि सिख धर्मगुरुओंका समस्त जीवन प्रेमा-भक्तिसे ओत-प्रोत है। उनका आचार-विचार, रहन-सहन, हर्ष-विषाद, सुख-दुःख यहाँतक कि उनके जीवनके समस्त क्रिया-कलाप प्रेमा-भक्तिके दिव्य रंगमें रँगे हैं।

सारे अहङ्कारको मिटाकर अत्यन्त विनयी बनकर, एकनिष्ठ भावसे परमात्माका चिन्तन ही प्रेमा-भक्ति है। इसीलिये तो गुरु अर्जुनदेवजी महाराज कहते हैं—

हरि पढ़ु हरि लिख हरि जपि हरि गाउ
हरि भवजल पारि उतारी।
मनि बचनि रिदै धिआई, हरि होई संतुष्ट
इव भारी हरि नाम मुरारी॥

(श्रीगुरुग्रन्थसाहिब पृष्ठ ६६९)

अर्थात् परमात्माके विषयमें निरन्तर पढ़ना-लिखना, जपना और उन्हींका अहर्निश गुण-गान करना ही प्रेमा-भक्ति है। मन, वचन और हृदयमें परमात्माको बसा लेना ही प्रेमा-भक्तिका सबसे बड़ा लक्षण है।

प्रेमा-भक्ति वह है जिसमें एक क्षणके लिये भी परमात्माका विस्मरण न हो और परमात्मा साधकके हृदयमें सदैवके लिये विराजमान हो जाय। इसका प्रमाण हमें गुरु अमरदासजीकी निम्नाङ्कित वाणीमें मिलता है—

मेरे मन हरि का नाम धिआई।
साथी भगति ता थीए जा हरि बसै मनि आई॥

(श्रीगुरुग्रन्थसाहिब पृष्ठ ३५)

सिख धर्मगुरुओंने प्रेमा-भक्तिके विरहकी तड़पनका हृदयस्पर्शी वर्णन किया है जो श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें संगृहीत है। श्रीगुरुनानकदेवजीने कहा है—

नानक मिलहु कपट दर खोलहु एक घड़ी खटु मास।

(श्रीगुरुग्रन्थसाहिब पृष्ठ १३०९)

श्रीगुरुनानकदेवजी महाराजका *'एक घड़ी खटु मास'* निश्चितरूपसे मीराबाईके 'छमासी रैन' की याद दिलाता है। इतना ही नहीं, श्रीगुरुनानकदेवजी यह भी कहते हैं—

बैदु बुलाइआ बैदगी पकड़ि ढंढोले बांह।
भोला बैद न जानई करक कलेजे माहि॥

(श्रीगुरुग्रन्थसाहिब पृष्ठ १२७९)

गुरु अर्जुनदेवजी महाराज कहते हैं—

खोजत खोजत भई वैरागिनी।
प्रभु दरसन कउ हउ फिरत तिसाई॥

(श्रीगुरुग्रन्थसाहिब पृष्ठ २०४)

प्रेमा-भक्तिकी अभिव्यञ्जना कलम-दवातके माध्यमसे नहीं की जा सकती बल्कि यह प्रेम हृदयमें ही लिखा जा सकता है। हृदयका प्रेम कभी टूटता नहीं, अन्य प्रेम तो टूट जाते हैं। गुरु अमरदासजी महाराजकी वाणीमें इसका पूर्णतः वर्णन है—

कलम मसागनी किया सदाईए, हिरदै ही सिख लेहु।
सदा साहिब कै रँगि रहै, कबहु न टूटसि नेह॥

(श्रीगुरुग्रन्थसाहिब पृष्ठ ८४)

गुरु अमरदासजी महाराज तो यहाँतक कहते हैं कि कृत्रिम मदिरा क्यों पीते हो? परमात्माकी कृपारूपी मदिराका पान करो, जिससे सद्गुरुकी प्राप्ति हो जाय—

झूठा मद भूलि न पीयई जेका पारि पसाइ।
नानक न दरी समु मदु पाइऐ सतिगुर मिलै जिस आई॥

(श्रीगुरुग्रन्थसाहिब पृष्ठ ५५४)

गुरु अर्जुनदेवजी इसी प्रेमा-भक्तिमें आत्मविभोर होकर ऐसे नेत्र चाहते हैं जिनसे अहर्निश परमात्माके दर्शन हों। लाखों जीभकी कामना इसलिये करते हैं ताकि उनसे परमात्माका गुण-गान कर सकें। करोड़ों कानोंकी कामना इसलिये करते हैं ताकि उनसे प्रियतम हरि अविनाशी रामकी कीर्ति सुन सकें, जिसके श्रवणमात्रसे मन निर्मल

हो जाय और कालकी फाँसी कट जाय। करोड़ों हाथोंकी याचना इसलिये करते हैं ताकि उनसे प्रभुकी टहल—सेवा कर सकें। करोड़ों चरण इसलिये चाहते हैं ताकि उनसे प्रभुतक पहुँचनेका मार्ग तय हो सके। वे परमात्मासे इस प्रकारके मनकी याचना करते हैं जो निरन्तर प्रभुके चरणोंमें लगा रहे और उनकी शरणको छोड़कर अन्यत्र न जाय—

करि किरपा मेरे प्रीतम सुआमी नेत्र देखहि दरसु तेरा राम।
साख जिह्वा देहु मेरे पिआरे मुखु हरि आराधे मेरा राम॥
हरि आराधे जग पंथु साधे दुख न विआपै कोई।
जलि थलि महीअलि पूरन सुआमी जत देखा तत सोई॥
कोटि करन दो जाहि प्रभु प्रीतम हरि गुण सुनी आई अविनासी राम।
सुणि सुणि इह मनु निरमलु होवै कटीए काल की फाँसी राम॥
करोड़ि हस्त तेरी टहल कमावहि चरण चलहि प्रभु मारगि राम।
कहु नानक प्रभ कीरपा कीजै मनु सदा चलै तेरे मारगि॥

(श्रीगुरुग्रन्थसाहिब पृष्ठ ७८०-८१)

इस तरह हम देखते हैं कि श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें सिख धर्मगुरुओंकी वाणियोंमें प्रेमा-भक्तिकी तीव्र मार्मिक अनुभूति बहुत अधिक मात्रामें पायी जाती है।

संत-सिपाही-साहित्यकार श्रीगुरुगोविन्दसिंहजी महाराजने तो अपनी रचना श्रीदशम ग्रन्थसाहिबमें यहाँतक कहा है—

साचु कहौ सुन लेहु सभै जिन प्रेम किओ तिनही प्रभु पायो।

अर्थात् मैं सत्य कहता हूँ और सब लोग इसे सुन लें कि जिन्होंने प्रेम किया है उन्होंने ही प्रभुको प्राप्त किया है।

पान-मसाला यानी मृत्युका निवाला

(डॉ० सुश्रीमधुजी पोद्दार)

पाश्चात्त्य संस्कृतिके अन्धानुकरणके साथ-साथ भ्रामक एवं लुभावने विज्ञापनोंके सम्मोहनमें बँधकर आजका युवावर्ग पान-मसाला, गुटखा, तम्बाकू एवं शराब-जैसे दुर्व्यसनोंका शिकार हो रहा है, जिसके दुष्प्रभावसे एक ओर जहाँ हमारे सामाजिक मूल्यों, नैतिकता, सच्चरित्रता और मानसिकताका पतन हो रहा है वहीं दूसरी ओर कैंसर-जैसे प्राणघातक रोगोंमें वृद्धि भी हो रही है। जिसे अगर समय रहते नहीं रोका गया तो यह एक महामारीका रूप ले लेगा जिसमें न जाने कितने अमूल्य जीवन नष्ट हो जायँगे।

मीठे एवं सुगन्धित पान खानेकी प्रथा तो भारतमें सदियोंसे रही है। देवपूजनमें भी देवताओंको नैवेद्य, निवेदनके बाद लौंग, इलायची एवं कर्पूरादिसमन्वित पान अर्पित किया जाता है। अतिथियोंको पान देना सम्मानका द्योतक माना जाता रहा है। तुलसीदासरचित श्रीरामचरितमानसमें सीता-विवाहके समय राजा जनकद्वारा बारातियोंको भोजनके बाद पान खिलानेका उल्लेख मिलता है, परंतु तम्बाकूका प्रचलन मुगलकालसे ही शुरू हुआ, शायद तभीसे हुक्के, बीड़ी एवं पानमें तम्बाकू डालकर पीने-खानेकी प्रथा प्रारम्भ हुई। तम्बाकूकी वजहसे पान थूकने (पीक फेंकने)-की आदत आयी जिससे चारों ओर गंदगी फैलती थी तथा साथ ही पान बनानेमें दिक्कतें भी आती थीं। इन्हीं कमियोंका लाभ उठाते हुए करीब २५-३० वर्ष पहले कुछ उद्योगपतियोंने पान-मसाला बाजारमें उतारा जो पाउडरके रूपमें डिब्बों एवं विशेष पैकेटोंमें उपलब्ध कराया तथा विज्ञापनोंद्वारा इसका प्रचार किया गया। चूँकि इसमें पानकी सभी चीजें कत्था, चूना, सुपारी एवं सुगन्धित मसाले इत्यादि थे तथा पान बनानेका कोई झंझट नहीं था। अतः इसकी लोकप्रियता बढ़ती गयी और धीरे-धीरे कई कम्पनियाँ विभिन्न प्रकारके पान-मसाले बाजारमें ले आयीं और उसीमें तम्बाकू डालकर गुटखाके नामसे बाजारमें उपलब्ध कराकर दिनोंदिन मालामाल होने लगीं।

पान-मसाला क्या है—पान-मसालेमें पानके पत्तेको छोड़कर पानकी बाकी चीजें पाउडररूपमें होती हैं जैसे कि सुपारी ८० प्रतिशत, कत्था १० प्रतिशत, चूना १ प्रतिशत तथा सुगन्धित मसाले (सौंफ, लौंग, इलायची) और चीनी ९ प्रतिशत।

गुटखा—सुपारी ७०-८० प्रतिशत, तम्बाकू १०-२० प्रतिशत तथा बाकी कत्था, चूना इत्यादि।

गुजरातका मावा—सुपारी ९५ प्रतिशत एवं तम्बाकू ५ प्रतिशत।

मैनपुरी तम्बाकू—तम्बाकू ९५ प्रतिशत तथा सुपारी ५ प्रतिशत।

खैनी—तम्बाकू तथा चूना।

दुष्प्रभाव—विभिन्न सर्वेक्षणोंसे यह बात स्पष्ट हो गयी है कि सुपारी और तम्बाकू दोनों ही विभिन्न प्रकारके कैंसर एवं अन्य रोगोंके लिये जिम्मेदार होते हैं। जैसे कि दाँतोंके स्टेन, पायरिया, मुँह, ग्रासनली एवं आमाशयके कैंसर, उच्च रक्तचाप और हृदयरोग, फालिज, लकवा, पैरोंके गेंग्रीन एवं जल्दी बुढ़ापा। परंतु मुँहका कैंसर तम्बाकूकी अपेक्षा सुपारी खानेसे जल्दी होता है। जबकि सरकार सिर्फ तम्बाकूकी वजहसे गुटखेपर तो प्रतिबन्ध लगानेकी बात करती है, पर सुपारीवाले पान-मसालेकी तरफ कोई ध्यान नहीं दे रही है। उत्तर प्रदेशमें मि० वाहीने मैनपुरीमें १० लाख लोगोंमें ३१ महीनेतक सर्वे किया जिसमें मैनपुरी तम्बाकू लेनेवालोंमें मुँहके कैंसरकी सम्भावना ४.५१/१००० पायी गयी जबकि बिना सुपारीवाले तम्बाकू लेनेवालोंमें यह सम्भावना सिर्फ ०.८/१००० थी। जो लोग न सुपारी लेते थे न ही तम्बाकू उनमें सिर्फ ०.१८/१००० की सम्भावना पायी गयी यानी तम्बाकूके साथ सुपारी लेनेसे मुँहके कैंसरकी ज्यादा सम्भावना रहती है अर्थात् पान-मसाला भी गुटखेकी तरह हानिकारक होता है। इसी तरहसे गुजरातके भावनगरमें भी एक सर्वेक्षण किया गया, जिसमें देखा गया कि मावा या पान-मसाला जिनमें सुपारी होती है खानेवालोंमें मुँहकी बीमारियोंकी सम्भावना ३.२ प्रतिशत थी। साथ ही बिना तम्बाकूवाले पान-मसालेकी बढ़ती लोकप्रियता एवं प्रचार तथा आसानीमें उपलब्धताकी वजहसे बाकी कैंसरोंके अनुपातमें, मुँहके कैंसरके रोगियोंकी संख्या बढ़ती जा रही है। अहमदाबाद—३९.८ प्रतिशत, भोपाल—३३.१ प्रतिशत, मुम्बई—२५.१ प्रतिशत, चेन्नई—२२.९ प्रतिशत एवं दिल्ली—१६.७ प्रतिशत। अगर अब भी पान-मसालेका सेवन नहीं रोका गया तो कैंसर एक महामारीका रूप ले लेगा।

पानका पत्ता लाभदायक—विभिन्न प्रयोगोंसे यह साबित हो चुका है कि पानके पत्तेमें लौहतत्त्व, बीटा कैरोटीन, यूजीनोल तथा हाइड्रोक्सी चेवीकोल-जैसे एण्टीऑक्सीडेण्ट पाये जाते हैं, जो सुपारी एवं तम्बाकूमें पाये जानेवाले कैंसर पैदा करनेवाले तत्त्वों (नाइटोसमीन, बेंजोपाइरिन इत्यादि)-के प्रभावको खत्म करते हैं, साथ ही कत्थेमें पायी जानेवाली कैंटेचीन भी कैंसररोधक क्षमता प्रदान करती है, जबकि यही कत्था चूनेके साथ मिलकर उसकी क्षारक्षमताकी वजहसे प्रभावहीन हो जाता है। पान-मसालेमें पाया जानेवाला सिन्थेटिक कत्था तो लाभके बजाय नुकसान ही पहुँचाता है अर्थात् सादा या मीठा पानका पत्ता (बिना तम्बाकू या सुपारीवाला) तो लाभदायक होता है जबकि पान-मसालेमें लाभदायक पानका पत्ता तो बिलकुल नहीं डाला जाता बल्कि हानिकारक तत्त्व जैसे— सुपारी, चूना, कत्था इत्यादि प्रचुर मात्रामें पाये जाते हैं, जो मुँहके कैंसरकी सम्भावनाको तम्बाकूसे भी जल्दी बढ़ा देते हैं। अतः कैंसरकी रोकथामके लिये पान-मसाले और गुटखा दोनोंपर ही प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिये एवं इसके शौकीन लोगोंको अगर लेना ही है तो सादे पानके पत्तेका या सौंफ, इलायची तथा पिपरमिंटवाले पानके पत्तेका सेवन करना चाहिये जिसमें कुछ लाभ ही मिले हानि नहीं; क्योंकि सौंफ और इलायची पाचनक्रिया बढ़ाने तथा एसिडिटी खत्म करनेमें मदद करते है तो पिपरमिंट पराबैंगनी किरणोंके प्रभावको खत्म करके कैंसर रोकनेमें सहायक होता है तथा पानका पत्ता खून बनानेमें सहायक एवं एण्टीऑक्सीडेण्टका काम करता है।

अतः थोड़ी-सी परेशानीसे बचनेके लिये हानिकारक पान-मसालेका प्रयोग तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता और तम्बाकूके साथ सुपारीके दुष्प्रभावोंको भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। अतः इन सबसे सावधान रहनेकी आवश्यकता है।

* * *

भगवत्प्रेमप्राप्तिका शीघ्र सिद्धिदायक साधन

(डॉ० श्रीभगवतीप्रसादजी अग्रवाल)

मनुष्य विवेकप्रधान प्राणी है। विवेकका अर्थ है सत्य-असत्य तथा क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये—इसका ज्ञान। आज हम अपने विवेकको महत्त्व नहीं देते जिसके कारण हमें तरह-तरहके कष्ट, दु:ख, प्रतिकूल परिस्थितियाँ तथा नरक भोगने पड़ते हैं। यदि हम अपने विवेकको महत्त्व दें तो इनसे सदाके लिये छुटकारा पाया जा सकता है।

हमारी सत्ता अनादि है। अबतक हमने अनेक शरीर धारण किये, अनेक योनियाँ भोगीं जो याद नहीं, इसे भगवान् ही जानते हैं। जिन-जिन योनियोंमें हम गये उन-उन योनियोंमें हमने अनेक वस्तुओं, व्यक्तियों, क्रियाओंको अपना माना लेकिन सब कुछ छूट गया, आज जिनकी यादतक नहीं है। आगे भी यही क्रम तबतक जारी रहेगा जबतक भगवत्प्राप्ति न कर ली जाय। अंशका अपने अंशीकी तरफ स्वत: आकर्षण रहता है। प्रत्येक जीवमें अपने अंशी (भगवान्)-की तरफ स्वत: आकर्षण है। मनुष्यके अलावा अन्य योनियोंमें विवेक न होनेसे उनमें यह आकर्षण प्रकट नहीं है।

गीतामें भगवान् कहते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
(७।४-५)

'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—इस प्रकार यह आठ प्रकारसे विभाजित मेरी प्रकृति है। यह आठ भेदोंवाली तो अपरा अर्थात् मेरी जड़ प्रकृति है और हे महाबाहो! इससे दूसरी, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति है।'

हम स्वरूपसे भगवान्के हैं तथा प्रकृति (संसार) भगवान्की है। हमने जो अपना हैं, उसको तो अपना माना नहीं तथा जो अपना नहीं है उसको अपना मान लिया। बन्धन हमने ही बाँधा है, भगवान्ने नहीं। इस बन्धनको हम ही छुड़ा सकते हैं, केवल भगवान्को अपना मानकर संसार (शरीरसहित)-को अपना न मानकर। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें सूईकी नोंक-जितनी वस्तु भी अपनी नहीं है, परंतु भूलसे हमने सारे संसारको अपना मान लिया। भगवान् पूरे-के-पूरे अपने हैं जिन्हें हमने अपना नहीं माना। इसी भूलको मिटाना है।

मैं केवल भगवान्का हूँ तथा केवल भगवान् ही मेरे हैं और मैं संसारका नहीं हूँ अत: संसार मेरा नहीं है। संसारका अर्थ है जगत्-शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा अहम्। यदि हम (परा प्रकृति) संसार (अपरा प्रकृति)-को अपना तथा अपने लिये न मानें तो मुक्त होनेमें देरी नहीं है। संसारका सम्बन्ध ही बाँधनेवाला है। यहाँ संसारके सम्बन्धका अर्थ है—शरीर-संसारमें मोह, ममता, कामना, आसक्ति।

जिन-जिन वस्तुओं, व्यक्तियों, क्रियाओंको हम अपना तथा अपने लिये मान लेते हैं उनसे हम बँध जाते हैं। क्रिया, वस्तु, व्यक्ति हमें नहीं बाँधते, उनका सम्बन्ध ही हमें बाँधता है, जो केवल और केवल भगवान्को ही अपना मानकर छुड़ाया जा सकता है।

कमी है तो हमारे माननेमें है, वास्तविकतामें कमी नहीं है। भगवान्को अपना मानने एवं संसारको अपना न मानने (जो कि वास्तविक है)-में कौन-सी मुसीबत है, कौन-से रुपये खर्च होते हैं, कौन-सा काम बिगड़ता है तथा कौन-सा अपमान होता है!

केवल भगवान्को ही अपना मानकर साधन-भजन आदि किया जाय तो उसके सिद्ध होनेमें देरी नहीं है। केवल और केवल भगवान्को ही अपना माननेसे हमारा जो प्रेम (जो संसारमें रागके रूपमें प्रतीत होता है) संसारमें है, वह संसारसे हटकर केवल भगवान्में हो जायगा। जो सिद्धि वर्षों तपस्या, साधन, भजन करनेसे नहीं होती वह उपर्युक्त साधनसे शीघ्र हो सकती है। भगवत्प्रेमप्राप्तिका यह एक श्रेष्ठ एवं सुगम उपाय है।

इसमें न प्राणायामकी आवश्यकता है, न योगकी और न ही ध्यानकी। इन्द्रियोंके संयमकी भी अधिक आवश्यकता नहीं है। इसमें आवश्यकता है केवल दृढ़ मान्यताकी कि केवल और केवल भगवान् ही मेरे हैं, अन्य कोई मेरा नहीं है। अपनी वस्तु सबको प्रिय होती है, फिर जो (भगवान्) सदासे अपने हैं वे प्रिय लगें इसमें आश्चर्य ही क्या!

⁂

एक वयोवृद्ध विरक्त महात्माके उपदेश

प्रश्न—भगवान्‌में प्रेम कैसे हो?

उत्तर—भगवान्‌के उपकारोंको याद करनेसे उनमें प्रेम हो सकता है। भगवान्‌के उपकार अनन्त हैं, उनकी गणना नहीं की जा सकती। देखो, यह जो शरीर दिखायी दे रहा है उसका कारण रज और वीर्य है, जिनके वस्त्रोंसे भी स्पर्श होनेपर शरीर अपवित्र समझा जाता है, किंतु भगवान्‌की कृपासे आज इसे यह गौरव प्राप्त हुआ है। यह बात इसे माता-पिताके कारण प्राप्त नहीं हुई, यह तो ईश्वरकी ही कृपा है।

शरीरमें भी नेत्रोंको देखिये। इनका प्राप्त होना इतना दुर्लभ है कि बम्बई-कलकत्ता आदि बड़े-बड़े नगरोंमें जाकर ढूँढ़ा जाय तो बड़े-से-बड़े व्यापारीके यहाँ भी करोड़ों रुपयोंमें भी इनका मिलना कठिन है। ये ऐसे प्रकाशमय हैं कि रात-दिन बिना किसी प्रकारके तेल-बत्तीके समस्त पदार्थोंको प्रकाशित किया करते हैं। ये कभी नहीं बुझते और अन्य दीपकोंकी भाँति इन्हें जलाने या बुझानेकी भी आवश्यकता नहीं होती।

इसी प्रकार पैर भी हमारे अत्यन्त उपकारी हैं। यदि हम कोई अच्छा घोड़ा खरीदना चाहें तो उसके लिये हजार-दो हजार अथवा दस-बीस हजार रुपयेतकको आवश्यकता हो सकती है। किंतु भगवान्‌ने हमें चरणरूप ऐसे घोड़े दिये हैं जो किसी प्रकारकी साईसगीरीकी भी परवा नहीं करते और न कुछ खाने-पीनेको ही माँगते हैं। घोड़ेको यदि एक दिन भी न खिलाया-पिलाया जाय तो वह काम नहीं दे सकता। किंतु ये ऐसे घोड़े हैं कि बिना किसी प्रकारकी रसद लिये इस शरीररूप बोझेको लेकर पर्वत-वन आदि विकट-से-विकट स्थानमें जा सकते हैं।

इसी तरह हाथोंसे भी हमारे अनेक कार्य सधते हैं। एक अच्छे-से-अच्छा सेवक भी ऐसी सेवा नहीं कर सकता। यदि साधारण सफाईके लिये एक नौकर रखा जाय तो उसे भी दस-बीस रुपया मासिक वेतन देना पड़ता है और वह भी हमारे मनके अनुसार सफाई कर सकेगा ऐसी सम्भावना नहीं है। जिह्वाको देखिये, यह मांसका एक टुकड़ा ही तो है तथापि इससे वह काम हो सकता है जिससे मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। यदि इससे भगवन्नामोच्चारण किया जाय तो हमारे जन्म-जन्मान्तरके पाप क्षीण हो सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान्‌ने हमें एक-एक अवयव प्रदानकर हमारे ऊपर अनन्त उपकार किया है। हमें निरन्तर उनके उपकारोंका स्मरण करना चाहिये। ऐसा करते-करते हमारा उनके प्रति अनुराग हो सकता है। फिर भगवत्प्रेम प्राप्त होनेपर हमें दुर्लभ ही क्या रह सकता है? हमें प्रभुसे कुछ माँगना नहीं पड़ेगा, वे स्वतः ही हमारा सारा योगक्षेम चलाते रहेंगे। जो लोग वृक्ष लगाते हैं और उसे जल आदिसे सींचकर पल्लवित करते हैं, उन्हें परिणाममें उसके सुस्वादु फल मिलेंगे ही। इसी प्रकार जो भगवत्प्रेमरूपी वृक्ष लगाते हैं, उन्हें उसके फल स्वयं मिल जाते हैं। जो गौ पालता है उसे स्वतः ही दूध, दही और मक्खन आदि प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार भगवत्प्रेम मिलनेपर स्वयं ही सारे पदार्थ करतलगत हो जाते हैं। सच्चे भक्त भगवान्‌से कोई भी वस्तु नहीं माँगते, वे तो उनके भक्तोंके दासोंके दासोंकी चरणधूलि ही चाहते हैं।

प्रश्न—महात्मा लोग अपनी कृपासे ही प्रेमदान कर देते हैं या उनके प्रति श्रद्धा होनेसे ही लाभ हो सकता है?

उत्तर—उच्च कोटिके महात्मा अपनी कृपासे ही सारे तापोंको दूर कर देते हैं; परंतु हमारे ऐसे पुण्य कहाँ हैं जो उनके दर्शन हों।

प्रश्न—हम देखते हैं कि महात्माओंके दर्शन करनेपर भी हमारे चित्त शान्त नहीं होते—इसका क्या कारण है?

उत्तर—एक हलवाईके यहाँ भट्ठीपर कढ़ाई चढ़ी हुई है। किसी समय ऐसा होता है कि उसमें पकौड़े नहीं पकते। उस समय कहा जाता है कि अग्निकी शक्ति प्रतिबद्ध हो गयी है। इसी प्रकार महात्माके पास रहनेपर भी यदि शान्ति प्राप्त न हो तो समझना चाहिये कि इसमें हमारे चित्तका ही दोष है। देखो, चन्दनकी सन्निधिमें सब प्रकारकी लकड़ीमें चन्दनकी गन्ध आ जाती है, किंतु बाँसपर उसका कोई असर नहीं होता; क्योंकि उसमें थोथ है, गाँठ है और ऊँचाई है। इसी प्रकार हमारे भीतर जो नाना प्रकारके दोष हैं वह थोथ है, भगवान्‌में और अपनेमें अन्तर मानना गाँठ है तथा अहंकाररूपी ऊँचाई है। इन्हींके कारण हमारे ऊपर संतोंकी सन्निधिका भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः हमें चाहिये कि हम इन दोषोंको दूर कर दें। ऐसा होनेपर फिर संतकृपा और उसके साथ-ही-साथ भगवत्कृपा होनेमें भी कोई विलम्ब नहीं होता।

* * *

भक्तोंके पावन चरित—

श्रीकुलशेखर आळवारकी भगवत्प्रेम-निष्ठा

कोल्लिनगर (केरल)-के राजा दृढ़व्रत बड़े धर्मात्मा थे, किंतु उनके कोई संतान न थी। उन्होंने पुत्रके लिये तप किया और भगवान् नारायणकी कृपासे द्वादशीके दिन पुनर्वसु नक्षत्रमें उनके घर एक तेजस्वी बालकने जन्म लिया। बालकका नाम कुलशेखर रखा गया। ये भगवान्‌की कौस्तुभमणिका अवतार माने जाते हैं। राजाने कुलशेखरको विद्या, ज्ञान और भक्तिके वातावरणमें संवर्धित किया।

कुछ ही दिनोंमें कुलशेखर तमिळ और संस्कृत भाषामें पारङ्गत हो गये और इन दोनों प्राचीन भाषाओंके सभी धार्मिक ग्रन्थोंका उन्होंने आलोडन कर डाला। उन्होंने वेद-वेदान्तका अध्ययन किया और चौंसठ कलाओंका ज्ञान प्राप्त किया। यही नहीं, वे राजनीति, युद्धविद्या, धनुर्वेद, आयुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा नृत्यकलामें भी प्रवीण हो गये। जब राजाने देखा कि कुलशेखर सब प्रकारसे राज्यका भार उठानेमें समर्थ हो गया है, तब कुलशेखरको राज्य देकर वे स्वयं मोक्षमार्गमें लग गये। कुलशेखरने अपने देशमें रामराज्यकी पुनः स्थापना की।

प्रत्येक गृहस्थको अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार शिक्षा देनेका समुचित प्रबन्ध किया। उन्होंने व्यवसायों तथा उद्योग-धन्धोंको सुव्यवस्थित रूप देकर प्रजाके दारिद्र्यको दूर किया। अपने राज्यको धन, ज्ञान और संतोषकी दृष्टिसे एक प्रकारसे स्वर्ग ही बना दिया। यद्यपि वे हाथमें राजदण्ड धारण करते थे, उनके हृदयने भगवान् विष्णुके चरण-कमलोंको दृढ़तापूर्वक पकड़ रखा था। उनका शरीर यद्यपि सिंहासनपर बैठता था और हृदय भगवान् श्रीरामका सिंहासन बन गया था।

राजा होनेपर भी उनकी विषयोंमें तनिक भी प्रीति नहीं थी। वे सदा यही सोचा करते 'वह दिन कब होगा, जब ये नेत्र भगवान्‌के त्रिभुवनसुन्दर मङ्गलविग्रहका दर्शन पाकर कृतार्थ होंगे? मेरा मस्तक भगवान् श्रीरङ्गनाथके चरणोंके सामने कब झुकेगा? मेरा हृदय भगवान् पुण्डरीकाक्षके मुखारविन्दको देखकर कब द्रवित होगा, जिनकी इन्द्रादि देवता सदा स्तुति करते रहते हैं? ये नेत्र किस कामके हैं, यदि इन्हें भगवान् श्रीरङ्गनाथ और उनके भक्तोंके दर्शन नहीं प्राप्त होते? मुझे उन प्यारे भक्तोंकी चरण-धूलि कब प्राप्त होगी? वास्तवमें बुद्धिमान् वे ही हैं, जो भगवान् नारायणके पीछे पागल हुए घूमते हैं और जो उनके चरणोंको भुलाकर संसारके विषयोंमें फँसे रहते हैं, वे ही पागल हैं।'

भक्तकी सच्ची पुकार भगवान् अवश्य सुनते हैं। एक दिन रात्रिके समय भगवान् नारायण अपने दिव्य विग्रहमें भक्त कुलशेखरके सामने प्रकट हुए। कुलशेखर उनका दर्शन प्राप्तकर शरीरकी सुध-बुध भूल गये, उसी समयसे उनका एक प्रकारसे कायापलट ही हो गया। वे सदा भगवद्भावमें लीन रहने लगे। भगवद्भक्तिके रसके सामने राज्यसुख उन्हें फीका लगने लगा। वे अपने मनमें सोचने लगे—'मुझे इन संसारी लोगोंसे क्या काम है, जो इस मिथ्या प्रपञ्चको सत्य माने बैठे हैं। मुझे तो भगवान् विष्णुके प्रेममें डूब जाना चाहिये। ये संसारी जीव कामदेवके बाणोंके शिकार होकर नाना प्रकारके भोगोंके पीछे भटकते रहते हैं। मुझे केवल भक्तोंका ही सङ्ग करना चाहिये। सांसारिक भोगोंकी तो बात ही क्या, स्वर्गका सुख भी मेरे लिये तुच्छ है।' ऐसा निश्चय करके वे अपना सारा समय सत्सङ्ग, कीर्तन, भजन, ध्यान और भगवान्‌के अलौकिक चरित्रोंके श्रवणमें ही व्यतीत करने लगे। उनके इष्टदेव श्रीराम थे और वे दास्यभावसे उनकी उपासना करते थे।

एक दिन वे बड़े प्रेमके साथ श्रीरामायणकी कथा सुन रहे थे। प्रसङ्ग यह था कि भगवान् श्रीराम सीताजीकी रक्षाके लिये लक्ष्मणको नियुक्तकर स्वयं अकेले खर-दूषणकी विपुल सेनासे युद्ध करनेके लिये उनके सामने जा रहे हैं। पण्डितजी कह रहे थे—

चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्।
एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धो भविष्यति॥

अर्थात् धर्मात्मा श्रीराम अकेले चौदह हजार राक्षसोंसे युद्ध करने जा रहे हैं, इस युद्धका परिणाम क्या होगा?

कुलशेखर कथा सुननेमें इतने तन्मय हो रहे थे कि उन्हें यह बात भूल गयी कि यहाँ रामायणकी कथा हो रही है। उन्होंने समझा कि 'भगवान् वास्तवमें खर-दूषणकी सेनाके साथ अकेले युद्ध करने जा रहे हैं।' यह बात उन्हें कैसे सह्य होती, वे तुरंत कथामेंसे उठ खड़े हुए। उन्होंने उसी समय शङ्ख बजाकर अपनी सारी सेना एकत्र कर ली और सेनानायकको आज्ञा दी कि 'चलो, हमलोग श्रीरामकी सहायताके लिये राक्षसोंसे युद्ध करने चलें।' ज्यों ही वे

वहाँसे जानेके लिये तैयार हुए, उन्होंने पण्डितजीके मुँहसे सुना कि 'श्रीरामने अकेले ही खर-दूषणसहित सारी राक्षससेनाका संहार कर दिया।' तब कुलशेखरको शान्ति मिली और उन्होंने सेनाको लौट जानेका आदेश दिया।

भक्तिका मार्ग भी बाधाओंसे शून्य नहीं है। मन्त्रियों और दरबारियोंने जब यह देखा कि महाराज राजकाजको भुलाकर रात-दिन भक्तिरसमें डूबे रहते हैं और उनके महलोंमें चौबीसों घंटे भक्तोंका जमाव रहता है, तब उन्हें यह बात अच्छी नहीं लगी। उन्होंने सोचा—'कोई ऐसा उपाय रचना चाहिये, जिससे राजाका इन भक्तोंकी ओरसे मन फिर जाय।' परंतु यह कब सम्भव था।

एक दिनकी बात है, राज्यके रत्नभण्डारसे एक बहुमूल्य हीरा गुम हो गया। दरबारियोंने कहा—'हो-न-हो, यह काम उन भक्तनामधारी धूर्तोंका ही है।' राजाने कहा—'ऐसा कभी हो नहीं सकता।' मैं इस बातको प्रमाणित कर सकता हूँ कि 'वैष्णव भक्त इस प्रकारका आचरण कभी नहीं कर सकते।' उन्होंने उसी समय अपने नौकरोंसे कहकर एक बर्तनमें बंद कराकर एक विषधर सर्प मँगवाया और कहा—'जिस किसीको हमारे वैष्णव भक्तोंके प्रति संदेह हो, वह इस बर्तनमें हाथ डाले, यदि उसका अभियोग सत्य होगा तो साँप उसे काट नहीं सकेगा।' उन्होंने यह भी कहा—'मेरी दृष्टिमें वैष्णव भक्त बिलकुल निरपराध हैं। किंतु यदि वे अपराधी हैं तो सबसे पहले इस बर्तनमें मैं हाथ डालता हूँ। यदि ये लोग दोषी नहीं हैं तो साँप मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।' यों कहकर उन्होंने अपना हाथ झट उस बर्तनके अंदर डाल दिया और लोगोंने आश्चर्यके साथ देखा कि साँप अपने स्थानसे हिला भी नहीं, वह मन्त्रमुग्धकी भाँति ज्यों-का-त्यों बैठा रहा। दरबारीलोग इस बातपर बड़े लज्जित हुए और अन्तमें वह हीरा भी मिल गया। इधर कुलशेखर तीर्थयात्राके लिये निकल पड़े और अपनी भक्तमण्डलीके साथ भजन-कीर्तन करते हुए भिन्न-भिन्न तीर्थोंमें घूमने लगे।

वे कई वर्षोंतक श्रीरङ्गक्षेत्रमें रहे। उन्होंने वहाँ रहकर 'मुकुन्दमाला' नामक संस्कृतका एक बहुत सुन्दर स्तोत्र-ग्रन्थ रचा, जिसका संस्कृत जाननेवाले अब भी बड़ा आदर करते हैं। इसके बाद ये तिरुपतिमें रहने लगे और वहाँ रहकर इन्होंने बड़े सुन्दर भक्तिरससे भरे हुए पदोंकी रचना की। उनके कुछ पदोंका भाव नीचे दिया जाता है। वे कहते हैं—

'मुझे न धन चाहिये, न शरीरका सुख चाहिये; न मुझे राज्यकी कामना है, न मैं इन्द्रका पद चाहता हूँ और न मुझे सार्वभौमपद चाहिये। मेरी तो केवल यही अभिलाषा है कि मैं तुम्हारे मन्दिरकी एक सीढ़ी बनकर रहूँ, जिससे तुम्हारे भक्तोंके चरण बार-बार मेरे मस्तकपर पड़ें, अथवा प्रभो! जिस रास्तेसे भक्तलोग तुम्हारे श्रीविग्रहका दर्शन करनेके लिये प्रतिदिन जाया करते हैं उस मार्गका मुझे एक छोटा-सा रजःकण ही बना दो अथवा जिस नलीसे तुम्हारे बगीचेके वृक्षोंकी सिंचाई होती है, उस नलीका जल ही बना दो या अपने बगीचेका एक चम्पाका पेड़ ही बना दो, जिससे मैं अपने फूलोंके द्वारा तुम्हारी नित्य पूजा कर सकूँ,' अथवा मुझे अपने यहाँके सरोवरका एक छोटा-सा जलजन्तु ही बना दो।'

इन्होंने मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या आदि कई उत्तरके तीर्थोंकी भी यात्रा की थी और श्रीकृष्ण तथा श्रीरामकी लीलाओंपर भी कई पद रचे थे। इनके सबसे उत्तम पद अनन्य शरणागतिपरक हैं, जिनमेंसे कुछका भाव नीचे दिया जाता है।

वे कहते हैं—

'यदि माता खीझकर बच्चेको अपनी गोदसे उतार भी देती है तो भी बच्चा उसीमें अपनी लौ लगाये रहता है और उसीको याद करके रोता-चिल्लाता एवं छटपटाता है। उसी प्रकार हे नाथ! तुम चाहे मेरी कितनी ही उपेक्षा करो और मेरे दुःखोंकी ओर ध्यान न दो तो भी मैं तुम्हारे चरणोंको छोड़कर और कहीं नहीं जा सकता, तुम्हारे चरणोंके सिवा मेरे लिये कोई दूसरी गति ही नहीं है। यदि पति अपनी पतिव्रता स्त्रीका सबके सामने तिरस्कार भी करे तो भी वह उसका परित्याग नहीं कर सकती। इसी प्रकार चाहे तुम मुझे कितना ही दुतकारो, मैं तुम्हारे अभय चरणोंको छोड़कर अन्यत्र कहीं जानेकी बात भी नहीं सोच सकता। तुम चाहे मेरी ओर आँख उठाकर भी न देखो, मुझे तो केवल तुम्हारा और तुम्हारी कृपाका ही अवलम्बन है। मेरी अभिलाषाके एकमात्र विषय तुम्हीं हो। जो तुम्हें चाहता है, उसे त्रिभुवनकी सम्पत्तिसे कोई मतलब नहीं।'

'जो संसार-सागरमें गिरे हुए हैं, (सुख-दुःखादि) द्वन्द्वरूपी वायुसे आहत हो रहे हैं, पुत्र, पुत्री, स्त्री आदिके पालन-पोषणके भारसे आर्त हैं और विषयरूपी विषम-जलराशिमें बिना नौकाके डूब रहे हैं, उन पुरुषोंके लिये

एकमात्र जहाजरूप भगवान् विष्णु ही शरण हों।'

'नरकासुरका अन्त करनेवाले मधुसूदन! स्वर्गमें, भूलोकमें अथवा भले ही नरकमें मुझे रहना पड़े, उसकी चिन्ता नहीं है; किंतु शरद्-ऋतुके प्रफुल्ल कमलोंकी शोभाको तिरस्कृत करनेवाले आपके युगल चरणोंका चिन्तन मृत्युकालमें भी न छूटे।'

'श्रीकृष्ण! मेरा मानसरूपी राजहंस आपके चरणारविन्दरूपी पिंजड़ेमें आज ही प्रविष्ट हो जाय। प्राण निकलनेके समय जब वात-पित्त और कफसे गला रुँध जायगा, उस अवस्थामें आपका स्मरण कैसे सम्भव होगा।'

'रे मेरे मन! 'मैं अगाध एवं दुस्तर भवसागरके पार कैसे होऊँगा' इस चिन्तासे तू कातर न हो; नरकासुरका नाश करनेवाले कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णमें जो तेरी अनन्य भक्ति है, वह तुझे अवश्य इस संसार-सागरसे पार कर देगी।'

'कमलनयन श्रीकृष्ण! हम हाथ जोड़कर, मस्तक नवाकर, रोमाञ्चित शरीर, गद्गद कण्ठ तथा आँसुओंकी धारा बहानेवाले नेत्रोंसे आपकी स्तुति करते हुए नित्य-निरन्तर आपके युगल चरणारविन्दोंके ध्यानरूपी अमृतरसका आस्वादन करते रहें, ऐसा हमारा जीवन बन जाय।'

'ओ खोटी बुद्धिवाले मूढ़ मानव! यह शरीर सैकड़ों स्थानोंमें जोड़ होनेके कारण जर्जर है। देखनेमें कोमल और सुन्दर होनेपर भी परिणामी है (वृद्ध होनेवाला है)। एक दिन इसका पतन अवश्यम्भावी है। तू ओषधियोंके चक्करमें पड़कर क्यों क्लेश उठा रहा है। रोग-शोकको सदाके लिये दूर भगा देनेवाले श्रीकृष्णनामरूपी रसायनका निरन्तर पान करता रह।'

'श्रीगोविन्दके चरणकमलोंसे निकले हुए मधुकी यह विलक्षणता है कि उसका पान करनेवाले तो मोहित नहीं होते, उसे न पीनेवालोंपर ही मोह छाया रहता है।'

'अरे मूढ़ मन! तू नाना प्रकारकी सुदीर्घ यातनाओंका विचार करके भयभीत मत हो। भगवान् श्रीधर जिनके स्वामी हैं, उनका यह पापरूपी शत्रु कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। तू तो आलस्यको दूर भगाकर भक्तिसे सहजमें ही मिल जानेवाले भगवान् नारायणका ध्यान कर। जो सारे संसारकी वासनाओंका नाश करनेवाला है, वह क्या दासको भी नहीं बचा सकेगा?'

* * *

साधनोपयोगी पत्र

(१)

विषयकामनाकी आग

आपने अपने दोषोंकी बात लिखी सो यह आपकी सौजन्यता है। दोष दीखने लगते हैं तो उनका प्रतीकार करनेकी भी इच्छा और चेष्टा होती है। दोष तो मनुष्यमें आ ही गये हैं और तबतक उनका पूरा नाश नहीं होता, जबतक कि भगवत्साक्षात्कार न हो जाय। सत्संग, शुद्ध सात्त्विक वातावरण, भजन आदिसे वे दोष दब जाते हैं, वैसे ही छिप जाते हैं जैसे अच्छे शासकके राज्यमें चोर-डाकू। परंतु वे सहज ही मरते नहीं। यदि बाहरसे कोई सहायक या साथी न मिले और लगातार दबते ही चले जायँ तो क्षीण होते-होते अन्तमें वे मरण-तुल्य हो जाते हैं, सिर उठानेलायक नहीं रहते और फिर भगवत्साक्षात्कार होते ही सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, उनकी जड़ ही नहीं रह जाती। परंतु जबतक ऐसा नहीं होता तबतक उनसे सावधान ही रहना चाहिये। इसका उपाय यही है कि सदा-सर्वदा शुद्ध वातावरणमें रहे, सत्संगका पहरा रखे और भजनके द्वारा उन्हें दबाता चला जाय। दरवाजा बंद हो, बाहर पहरा हो और अंदर बराबर मार पड़ती रहे तो स्वाभाविक ही फिर नये दोष आ नहीं सकते और पुराने क्षीण होते रहते हैं। ऐसा न होनेसे, द्वार खुला रखने और पहरा न बैठानेसे अर्थात् विषयमोहपूर्ण वातावरणमें रहने और सत्संग न करनेसे बाहरके दोष आते रहते हैं जिनसे अंदरवालोंको बल मिलता रहता है और नये डाकुओंके आ जानेसे जैसे पुरानोंका बल बढ़ता है एवं पुरानोंके मिल जानेसे नये भी प्रबल हो उठते हैं, ऐसे ही नये दोषोंके आते रहनेसे पुराने उभड़ पड़ते हैं, बलवान् हो जाते हैं और नयेको भी बलवान् बना देते हैं। इसलिये जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है उसे बड़ी सावधानीके साथ नये दोषोंको समीप आने न देना चाहिये और सदा जागृत रहकर पुरानोंको मारनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये। उन्हें दबे देखकर— सामने प्रत्यक्ष न पाकर यह नहीं समझ लेना चाहिये कि मैं निर्दोष हो गया; अब कुछ भी

करूँ, कोई भय नहीं है। जरा-सी ढिलाई पाते ही, मौका मिलते ही इर्द-गिर्दमें छिपे हुए नये दोष आकर पुरानोंको प्रबल कर देंगे और जगत्‌में मनुष्य-जीवनके लिये इससे बढ़कर और कोई हानि नहीं है। संसारका बड़े-से-बड़ा ऐश्वर्य प्राप्त होनेपर भी यदि ये दोष रह जाते हैं और मनुष्य भगवान्‌की ओर नहीं लग पाता तो उसका जीवन व्यर्थ ही नहीं, भावी दुःखके कारणरूप पाप बटोरनेका साधन हो जाता है। वह यहाँ और वहाँ कहीं भी शान्ति नहीं पा सकता। मोहवश किसी-किसी समय शान्ति मान बैठता है! विषयोंका कहीं अन्त आता ही नहीं, भला इनसे किसको शान्ति मिली है? ये तो ज्यों-ज्यों मिलेंगे त्यों-ही-त्यों कामनाकी आगको भड़काते ही रहेंगे। ज्वाला और ताप बढ़ेंगे, घटेंगे नहीं। यह ध्रुव सत्य है। मनुष्य मोहसे ही इनमें शान्ति और शीतलता खोजता है। आखिर किसी-न-किसी समय भगवत्कृपासे उसको इनसे निराशा होती है तब वह उस शाश्वत, नित्य और सत्य सुख-शान्तिकी खोजमें लगता है एवं तभी उसका जीवन सच्ची साधनाकी ओर अग्रसर होता है। दोष और पापोंका जन्म तो होता है इस विषयासक्तिसे। इससे बचना चाहिये और इसके बदलेमें विषयविरागपूर्वक भगवच्चरणोंमें आसक्ति पैदा करनी चाहिये। वस्तुतः वे ही बड़भागी हैं, जो भगवच्चरणानुरागी हैं। विषयोंके पीछे पड़े हुए सदा अतृप्तिकी आगमें जलनेवाले मनुष्य बड़भागी नहीं हैं। भले ही उनके पास औरोंकी अपेक्षा विषयसम्पत्ति कहीं प्रचुर हो। आग जितनी बढ़ी होगी उतनी ही अधिक भयानक होगी, यह याद रखना चाहिये।

धनमें तो एक विशेष प्रकारका नशा होता है, जो मनुष्यकी विचारशक्तिको प्रायः भ्रमित कर देता है। उसकी बुद्धि चक्कर खा जाती है। इसीसे वह अशुभमें शुभ और अकल्याणमें कल्याण देखता है—

कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात है यह पाये बौराय॥

हाँ, यदि संसारके सब कर्म शुद्ध और निष्कामभावसे केवल भगवत्-पूजाके लिये ही होते हों तो अवश्य ही वे बाधक नहीं होते। वैसी स्थितिमें धन कमाना और विषयसेवन करना भी बुरा नहीं है बल्कि उससे भी लाभ होता है परंतु यह होना कठिन है। उसका तरीका और फल भगवान् बतलाते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

'राग-द्वेष न हो, शरीर-मन-इन्द्रियाँ पूर्णरूपमें वशमें हों। किसी विषयपर मन-इन्द्रियाँ न चलें, कर्तव्यवश भगवत्सेवाके लिये ही बिना किसी आसक्तिके और द्वेषके निर्दोष विषयोंका सेवन हो तो उससे प्रसादकी प्राप्ति होती है' और प्रसादसे सारे दुःखोंका नाश हो जाता है—'**प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।**' परंतु संसारमें ऐसे कितने विषयसेवी हैं जो इस प्रकार विषयोंको भगवान्‌की पूजाकी सामग्री बनाकर केवल भगवत्पूजाके लिये ही उनका अनासक्तभावसे सेवन करते हैं।

आपने बहुत सत्संग किया है। आप सब समझते ही हैं। थोड़ी-बहुत जो काई आ गयी है उसे हटाकर भगवत्-भजनमें लग जाना चाहिये। इससे यह मत समझिये कि मैं काम छोड़नेके लिये कहता हूँ। छोड़नेके लिये कहता हूँ विषयासक्तिको, जिससे दोष जागृत होते हैं और बढ़ते हैं। भगवान्‌पर विश्वास रखकर साधनमें लगे रहिये। फिर वे आप ही बचा लेंगे। कातरभावसे उनके सामने व्याकुल होकर कभी-कभी रोइये, दीन और करुण पुकारपर उनका मन बहुत शीघ्र खिंचता और द्रवित होता है। शेष प्रभुकृपा।

(२)

संस्कृति—विनाशकी ओर

आपका पत्र मिला। आजका युवक जिस पथपर चल रहा है मेरी तुच्छ सम्मतिमें वह विनाशका पथ है। कम-से-कम हमारी भारतीय संस्कृतिके तो सर्वथा प्रतिकूल ही है। पता नहीं, इसका परिणाम क्या होगा। भगवान् मङ्गलमय हैं, इसलिये यह विश्वास तो होता है कि यह विपरीत गति भी हमारे कल्याणके लिये ही है। परंतु कल्याण किस प्रकार होगा, यह बात समझमें नहीं आती। भगवान्‌की लीला अति विचित्र है, पता नहीं वे किस पर्देसे क्या दृश्य दिखलाना चाहते हैं।

आजका युवक जिस पथपर चलना चाहता है उसका उद्‌गमस्थान पश्चिमकी विचारधारा है। भारतीय संस्कृतिके साथ इसका कोई श्रद्धाका सम्बन्ध तो है ही नहीं, उसके साथ इसका मेल भी नहीं खाता। अध्यात्म और धर्म उसके सामने व्यर्थकी वस्तुएँ हैं। सारे विचारोंका मानदण्ड है केवल अर्थ, केवल भोग। भारतका आदर्श है भगवान् और भगवान्‌के

लिये त्याग। भला, उससे इसका मेल कैसे खायगा? भारतकी स्वाधीनताका झंडा जिस पथकी ओर बढ़ रहा है, खेदके साथ कहना पड़ता है कि वह भारतीय संस्कृतिके ध्वंसका मार्ग है। यह मार्ग तो जडवादका है। पार्थिव भोग ही इस मार्गके पथिकोंका लक्ष्य है। **'कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः'** यह कामभोगपरायणता पता नहीं, हमें कहाँ ले जायगी। आज इसीसे भोगत्यागकी खिल्ली उड़ायी जाती है और भोगविमुखताको मूर्खता कहा जाता है। मानो भोगके बिना उन्नति हो ही नहीं सकती। इसीसे आज भोगप्राप्तिके लिये हम भारतीय युवकोंको बड़े वेगसे बिना सोचे-समझे अपनी संस्कृतिके विनाशके मार्गपर जाते देख रहे हैं। बस, भोग मिले, आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो, विदेशी शासनका इसीलिये नाश हो कि वह हमारी भोगकामनामें—आर्थिक स्वतन्त्रतामें बाधक है। भोगकामनामें बाधा देनेवाले ईश्वरका, धर्मका, माता-पिताका, गुरुजनोंका, अपनी संस्कृतिका—किसीका भी तिरस्कार करनेसे उसे इनकार नहीं है। किसीके स्वार्थका नाश करना हो, किसीको पीड़ा पहुँचानी हो, कोई परवा नहीं, हमारी भोगलालसाका कण्टक दूर होना चाहिये।

वर्णाश्रमधर्म, पातिव्रतधर्म, खान-पानका संयम, स्वामी-सेवक या गुरु-शिष्यके भाव भी इसीलिये नष्ट हो जाने चाहिये कि इनसे उच्छृङ्खलतामयी भोग-वासनामें किसी-न-किसी तरह न्यूनाधिकरूपसे बाधा पहुँचती है। इसीसे आज मनमाने विवाह, हर किसीकी जूँठन खाने, स्त्रियोंको पुरुषोंके विरुद्ध उभाड़ने, हरिजनोंको उच्च वर्णोंके साथ लड़ाने, किसान-जमींदारोंमें झगड़ा खड़ा करने, मालिकोंके साथ मजदूरोंका विरोध कराने आदिमें जनहित समझा जाता है और दम्भसे नहीं, स्वार्थसे नहीं—बहुत-से महानुभाव तो सचमुच इसीमें जनकल्याण समझकर ऐसा करते-कराते हैं। इसका प्रधान कारण हमारी संस्कृतिके महत्त्वज्ञानका अभाव ही है। शिक्षापद्धति और पाश्चात्त्य देशीय साहित्यका प्रचार इसमें विशेष सहायक हो रहा है। इसीसे आज जगह-जगह कलह और हिंसा-द्वेषका बोलबाला हो रहा है। युवती बालिकाएँ माता-पिताको रुलाकर आये दिन अपने गुरुओंके साथ भाग रही हैं। पुत्र पिता-माताकी आज्ञा नहीं मानकर उन्हें अपने मतके अनुकूल बनाना चाहते हैं। जो सौम्य प्रकृतिके हैं, वे माँ-बापको रुलाकर भाग निकलते हैं, आत्महत्या कर बैठते हैं और जो कठोर प्रकृतिके हैं, वे तीव्र आग्रह करके बलपूर्वक माता-पिताको बाध्य करते हैं। माँ-बाप चुपचाप आँसू पोंछ लेते हैं और हृदयसे रोते हुए स्नेहवश संतानसुखकी कामनासे उन्हें मनमानी करने देते हैं!

स्त्रियोंमें तलाककी बात उठने लगी है। हिन्दू स्त्री तो आज भी इस गिरी अवस्थामें भी घरकी रानी है। आज भी सब नहीं तो भारतकी अधिकांश स्त्रियाँ घरमें अपने स्वामित्वका गौरव अनुभव करती हैं। परंतु पाश्चात्त्य उच्छृङ्खलतामयी सभ्यताका असर यहाँ भी—हमारी युवती बहनोंपर भी होने लगा है। वे यह नहीं सोचतीं कि स्त्री-पुरुषका आध्यात्मिक बन्धन यदि नष्ट हो गया और यदि उनका पारस्परिक सम्बन्ध केवल भोग या रुपयेके लिये ही रह गया तो वही दशा होगी जो आज यूरोपमें हो रही है। यूरोपमें जब विवाह होता है तब पत्नीके नाम प्रायः अलग रुपये जमा करने पड़ते हैं। कम-से-कम वहाँकी स्त्रियाँ अपने भावी पतियोंसे इतना तो लिखवा ही लेती हैं कि वे उनको साप्ताहिक खर्चके लिये इतने पैसे देंगे। विषयोपभोगके लिये स्त्रीकी आवश्यकता है तो रुपये देने ही पड़ेंगे। सम्बन्ध है तो केवल रुपयोंको लेकर ही है। अब वहाँ एक Wives trade union नामक संस्था बनी है, इसका उद्देश्य है स्त्रियोंको पतियोंसे आर्थिक अधिकार प्राप्त कराना। इस संस्थाकी एक प्रधान महिलाने अभी कहा है—'पति बहुत जुल्म करते हैं, वे पत्नियोंको सिर्फ भोजन, वस्त्र और रहनेके लिये स्थान ही देते हैं। स्त्रियाँ दिन-रात घरका काम करती हैं, बच्चोंका पालन-पोषण करती हैं। फिर भी उन्हें कोई निश्चित वेतन नहीं मिलता। न उन्हें बीमाका फायदा मिलता है, न छुट्टी मिलती है और न पेंशन ही।' जब हमारे यहाँकी स्त्रियाँ भी स्वतन्त्र हो जायँगी, ऑफिसोंमें काम करने लगेंगी, पतियोंपरसे उनके पालनका भार कम हो जायगा तब यहाँ भी यही दशा होगी। यह उन्नति है या अवनति, उत्थान है या पतन? क्या कहा जाय? स्थिति देखकर सब रोते हैं, परंतु चलते हैं उसी मार्गपर। यही तो मोह है। हमारा आजका सुधार तो सचमुच संहार ही है।

शेष प्रभुकृपा।

* * *

व्रतोत्सव-पर्व

मार्गशीर्ष कृष्णपक्ष (९-११-२००३ से २३-११-२००३ तक) सूर्य दक्षिणायन, शरद्-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	रवि	भरणी	९ नवम्बर	वृषके चन्द्रमा रात्रि ९-५५ बजे, कार्तिकव्रतकी पारणा, यायिजययोग दिन ३-१६ बजेतक, सूर्योदय प्रात: ६-३२ बजे, सूर्यास्त सायं ५-२८ बजे
प्रतिपदा	सोम	कृत्तिका	१० ,,	प्रतिपदा तिथि प्रात: ७-४३ बजेतक, सर्वार्थसिद्धियोग सायं ५-५२ बजेके बाद
द्वितीया	भौम	रोहिणी	११ ,,	रोहिणी नक्षत्र रात्रि ८-२८ बजेतक, भद्रा रात्रि १०-५३ बजेके बाद
तृतीया	बुध	मृगशिरा	१२ ,,	भद्रा दिन ११-५५ बजेतक, मिथुनके चन्द्रमा दिन ९-४१ बजे, तृतीया तिथि दिन ११-५५ बजेतक, श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय रात्रि ७-४७ बजे, सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि १०-५४ बजेतक
चतुर्थी	गुरु	आर्द्रा	१३ ,,	चतुर्थी तिथि दिन १-४३ बजेतक, यायिजययोग तथा सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि १-०४ बजेके बाद
पञ्चमी	शुक्र	पुनर्वसु	१४ ,,	कर्कके चन्द्रमा रात्रि ८-२१ बजे, बालदिवस, पं० जवाहरलाल नेहरू-जयन्ती, रवियोग तथा सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि २-४७ बजेके बाद
षष्ठी	शनि	पुष्य	१५ ,,	पुष्य नक्षत्र रात्रि शेष ४-०४ बजेतक, रवियोग तथा सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि शेष ४-०४ बजेतक, भद्रा सायं ४-०५ बजेके बाद रात्रि शेष ४-१८ बजेतक
सप्तमी	रवि	आश्लेषा	१६ ,,	सिंहके चन्द्रमा रात्रि शेष ४-५१ बजे, सप्तमी तिथि सायं ४-३३ बजेतक, कालभैरवाष्टमीव्रत, भैरवोत्पत्ति, कालाष्टमी, यायिजययोग सायं ४-३३ बजेतक
अष्टमी	सोम	मघा	१७ ,,	सायन वृश्चिकराशिके सूर्य दिन ९-११ बजे, आज ही संक्रान्तिजन्य पुण्यकाल, नर्मदामें स्नान तथा दीप-वस्त्रका दान, 'हेमन्त-ऋतु', कार्तिकपूजा (बंगाल), अष्टमी तिथि सायं ४-२८ बजेतक
नवमी	भौम	पू० फा०	१८ ,,	**सौर मार्गशीर्षमासारम्भ**, मृत्युबाण दिन ८-५५ बजेके बाद, भद्रा रात्रि ३-२२ बजेके बाद
दशमी	बुध	उ० फा०	१९ ,,	भद्रा दिन २-५१ बजेतक, कन्याके चन्द्रमा दिन १०-४५ बजे, मृत्युबाण दिन ८-३७ बजेतक, सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि शेष ४-१६ बजेके बाद
एकादशी	गुरु	हस्त	२० ,,	उत्पन्ना एकादशीव्रत (सबका), अनुराधा नक्षत्रके सूर्य दिन ४-१३ बजे, यायिजययोग दिन १-२५ बजेतक
द्वादशी	शुक्र	चित्रा	२१ ,,	तुलाके चन्द्रमा दिन २-४१ बजे, द्वादशी तिथि दिन ११-३९ बजेतक, प्रदोषव्रत, स्थायिजययोग दिन ११-३९ बजेतक
त्रयोदशी	शनि	स्वाती	२२ ,,	**राष्ट्रीयआग्रहायणमासारम्भ**, मासशिवरात्रिव्रत, यायिजययोग दिन ९-३८ बजेतक, भद्रा दिन ९-३८ बजेके बाद रात्रि ८-३० बजेतक
चतुर्दशी	रवि	विशाखा	२३ ,,	वृश्चिकके चन्द्रमा सायं ५-२१ बजे, स्नान-दान-श्राद्धकी अमावास्या, सायन धनुराशिके सूर्य दिन ९-४९ बजे
अमावास्या	तिथिका क्षय			चतुर्दशी तिथि प्रात: ७-२४ बजेतक तदुपरि अमावास्या तिथि रात्रि शेष ५-०३ बजेतक

मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष (२४-११-२००३ से ८-१२-२००३ तक) सूर्य दक्षिणायन, हेमन्त-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	सोम	अनुराधा	२४ नवम्बर	रुद्रव्रत (पिड़िया), अनुराधा नक्षत्र रात्रि १०-०९ बजेतक, यायिजययोग तथा सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि १०-०९ बजेतक
द्वितीया	भौम	ज्येष्ठा	२५ ,,	धनुके चन्द्रमा रात्रि ७-३७ बजे, चन्द्रदर्शन
तृतीया	बुध	मूल	२६ ,,	मूल नक्षत्र सायं ६-०५ बजेतक, मृत्युबाण रात्रि शेष ५-५९ बजेके बाद, सूर्योदय प्रात: ६-४१ बजे, सूर्यास्त सायं ५-१९ बजे, रवियोग सायं ६-०५ बजेके बाद
चतुर्थी	गुरु	पू० षा०	२७ ,,	मकरके चन्द्रमा रात्रि १०-२८ बजे, वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, मृत्युबाण रात्रि शेष ५-३७ बजेतक, रवियोग सायं ४-४४ बजेतक, यायिजययोग रात्रि ८-११ बजेके बाद, भद्रा दिन ९-१० बजेके बाद रात्रि ८-११ बजेतक
पञ्चमी	शुक्र	उ० षा०	२८ ,,	द्वितीया नागपञ्चमी, गुरु तेगबहादुर शहीद दिवस, रवियोग तथा सर्वार्थसिद्धियोग दिन ३-३९ बजेके बाद
षष्ठी	शनि	श्रवण	२९ ,,	कुम्भके चन्द्रमा रात्रि २-४४ बजे, श्रीस्कन्दषष्ठीव्रत, चम्पाषष्ठीव्रत (महाराष्ट्रमें प्रसिद्ध), सर्वार्थसिद्धियोग दिन २-५५ बजेतक, रवियोग दिन २-५५ बजेके बाद, यायिजययोग सायं ५-०७ बजेके बाद, पञ्चक आरम्भ रात्रि २-४४ बजेसे
सप्तमी	रवि	धनिष्ठा	३० ,,	भानुसप्तमीपर्व, मित्रसप्तमी, यायिजययोग तथा द्विपुष्करयोग दिन २-३३ बजेतक, भद्रा सायं ४-०९ बजेके बाद रात्रि ३-५५ बजेतक
अष्टमी	सोम	शतभिषा	१ दिसम्बर	अष्टमी तिथि दिन ३-४१ बजेतक, रवियोग दिन २-३९ बजेके बाद
नवमी	भौम	पू० भा०	२ ,,	मीनके चन्द्रमा दिन ९-०७ बजे, नन्दानवमी, देवीपूजनसे विष्णुलोककी प्राप्ति, कल्पादि नवमी, रवियोग सायं ५-१६ बजेतक, सूर्योदय प्रात: ६-४४ बजे, सूर्यास्त सायं ५-१६ बजे, सर्वार्थसिद्धियोग दिन ३-१६ बजेके बाद
दशमी	बुध	उ० भा०	३ ,,	ज्येष्ठा नक्षत्रके सूर्य रात्रि ७ बजे, रवियोग रात्रि ७ बजेके बाद, भद्रा रात्रि शेष ५ बजेके बाद
एकादशी	गुरु	रेवती	४ ,,	भद्रा सायं ५-४४ बजेतक, मेषके चन्द्रमा सायं ५-५७ बजे, मोक्षदा एकादशीव्रत (सबका), गीता-जयन्ती, मौन एकादशी (जैन), रवियोग सायं ५-५७ बजेतक, पञ्चक समाप्त सायं ५-५७ बजे
द्वादशी	शुक्र	अश्विनी	५ ,,	द्वादशी तिथि रात्रि ६-५२ बजेतक, एकादशीव्रतकी पारणा, अश्विनी नक्षत्र रात्रि ७-५९ बजेतक, मृत्युबाण रात्रि २-२४ बजेके बाद
त्रयोदशी	शनि	भरणी	६ ,,	वृषके चन्द्रमा रात्रि शेष ४-५८ बजे, शनिप्रदोषव्रत; पुत्र-प्राप्तिहेतु आजसे व्रतका आरम्भ, मृत्युबाण रात्रि १-५८ बजेतक, रवियोग रात्रि १०-१९ बजेके बाद
चतुर्दशी	रवि	कृत्तिका	७ ,,	काशीमें पिशाचमोचनयात्रा, पिशाचत्व विमुक्तिके लिये श्राद्ध-तर्पण, पार्वणश्राद्ध, कपर्दीश्वरदर्शन, रवियोग रात्रि १२-५३ बजेतक, भद्रा रात्रि १०-५१ बजेके बाद
पूर्णिमा	सोम	रोहिणी	८ ,,	भद्रा दिन ११-५६ बजेतक, स्नान-दान-व्रतकी पूर्णिमा, पूर्णिमा तिथि रात्रि १-०१ बजेतक, नगर परिक्रमा, दत्तात्रेय-जयन्ती, दत्त-जयन्ती (प्रदोषमें), रोहिणी नक्षत्र रात्रि ३-२९ बजेतक, सर्वार्थसिद्धियोग (यावद्दिनम्)

श्रीभगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना

(इस जपकी अवधि कार्तिक पूर्णिमा, विक्रम-संवत् २०५९ से चैत्र पूर्णिमा, विक्रम-संवत् २०६० तक रही है)

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम्।
स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे॥

'राजन्! मनुष्योंमें वे लोग भाग्यवान् हैं तथा निश्चय ही कृतार्थ हो चुके हैं, जो इस कलियुगमें स्वयं श्रीहरिका नाम-स्मरण करते और दूसरोंसे नाम-स्मरण करवाते हैं।'

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस वर्ष भी इस षोडश नाम-महामन्त्रका जप पर्याप्त संख्यामें हुआ है। विवरण इस प्रकार है—

(क) मन्त्र-संख्या ४५,२७,७५,००० (पैंतालीस करोड़, सत्ताईस लाख, पचहत्तर हजार)

(ख) नाम-संख्या ७,२४,४४,००,००० (सात अरब, चौबीस करोड़, चौवालीस लाख)

(ग) षोडश नाम-महामन्त्रके अतिरिक्त अन्य मन्त्रोंका भी जप हुआ है।

(घ) बालक, युवक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, गरीब-अमीर, अपढ़ एवं विद्वान्—सभी तरहके लोगोंने उत्साहसे जपमें योग दिया है। भारतका शायद ही कोई ऐसा प्रदेश बचा हो, जहाँ जप न हुआ हो। भारतके अतिरिक्त बाहर नेपालसे भी जप होनेकी सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं।

स्थानोंके नाम—

अंगुल, अंता, अंधराठाढ़ी, अंधारकाच, अंधेरी, अंबहैटा (पीर), अंबाजोगाई, अंबाला, अंबाला कैंट, अंबाला छावनी, अंबाह, अंबिकापुर, अकबरपुर, अकरौंजा, अकलतरा, अकलैरा, अकांवाली, अकोट, अकोटफैल, अकोदिया, अखोप, अगौस, अचलपुर सिटी, अचौसा, अजबपुरा, अजमतपुर, अजमेर, अजीतपुर, अतर्रा, अथाईखेड़ा, अधोया, अनपरा, अनाईठ, अनूपशहर, अभुआपुरा, अमकोट, अमगवाँ, अमनौर, अमरगढ़, अमरपुरा (मोहनियाँ), अमरा, अमरोहा, अमायन, अमिला (नवकापुरा), अमिलिया, अमृतपुर, अमृतसर, अमौली, अयाना, अरड़का, अरनेठा, अरनोदा, अररिया-बैरगाछी, अरैला, अर्जुनपुर, अर्रोली, अलवर, अलीगढ़, अलीपुराकलाँ, अलीसरिया, अल्मोड़ा, अशराफ-टोला, अशोकनगर, अशुरेश्वरपातल, असदपुर, असनावर, असरीखेड़ा, अहमदनगर, अहमदाबाद, आंचलखेड़ा, आंजना, आंटा-परसपुर, आऊबा, आगरा, आजमगढ़, आजमपकरिया, आटकोट, आटरगा, आदर्शचवा, आदीपुर, आनंदनगर (घोर्टप), आभानेरी, आमगाँव बड़ा, आमन्दा, आमला, आमल्या, आमामुड़ा, आरणी, आरा, आलनपुर, आवाँ, आशापुरा (आखर), आशापुरी, आष्टा, आसनकुंडिया, आसी, इंदवार, इंदवे, इंदा (खड़गपुर), इंदौर, इगलास, इचलकरंजी, इछावर, इटेवा, इटारसी, इटावदी, इटावा, इमामनगर, इरोड, इलाहाबाद, इसलासपुर, इस्लामपुर, ईंछापुरी, ईगतपुरी, ईटही, ईशाकचक, ईश्वरनगर, उंथू, उछती उजैनीकलाँ, उज्जैन, उटकमंड, उटरावली, उथनोल, उदयपुर, उदयाखेड़ी, उपरदाहा, उमरगा, उमरहा, उमरिया, उमरियापान, उरई, उरतुम, उस्मानाबाद, ऊँचिया, ऊगू, ऊदपुर, ऊधमपुर, ऊना, ऊमरी, ऊसरी, एकवनडाँड़, एकवारी, एटा, एतला, एरु, ऐंचाया, ओछापुरा, ओड़ेकेरा, ओसरना, औरंगाबाद, औराही-मोतीनगर, औरैई, औरैया, कंदकुर्ती, कंनौद, कंहारी (पेंड्रारोड), ककडई, ककराला, ककरिया, कचंदा, कचेड़ी, कजीना (देवीधुरा), कटक, कटनी, कटरा, कटरा सलेहा, कटरिया, कटिहार, कटौली, कठार, कड़ैल, कनखल, कनानखर्क, कनेछणकलाँ, कपरपुरा, कपासन, कपूरीसर, कबीलपोर, कबूलपुर, कमलेनगला, कमासिन, करकबेल, करकेली, करजोदा, करटाह, करतलापुर, करंडी, करपी, करमाला, करम्मर, करवाड़, करसौत, करही, करायपरसराय, कराह, करिहारा, करेला, करेली, करोंदा रेलवे स्टेशन, करोरा, करौली, कलपाथरी, कल्याण, कल्याण टोला, कल्याणपुर, कवडयाल, कवलपूरा मठियाँ, कविसूर्यानगर, कसरावाँ, कसहापूर्व, कस्बाशहर, कांगड़ा, कांटाबांजी, काँटी, कांडे (देवीधुरा), कांदीवली, काछवा, काटोल, काठमांडू (नेपाल), कादरगंज, कानड़ीसिंम, कानपुर, कानूडीह, कापड़ीवास, कामता, कामदेवपुर, कारंजा (रमजानपुर), कारव, कालंद्री, कालाकोट, कालाझर, कालाडेरा, कालियागंज, कालीपुर, कालू, कालूखांण, काशीपुर, कासगंज, किच्छा, किरढ़ान, किरतीनगर, किरी, किलोदा, कुंडरडिहारी, कुंडल, कुंदेवाड़ी, कुंभराज, कुंवारिया, कुंहटी, कुआहेड़ी, कुटवारा, कुटिलिया, कुनिहार, कुमारडीह, कुमाल्डीपैनो, कुरदा, कुराड़िया,

कुलताजपुर, कुलियारा, कुल्लू, कुवारीया, कुशमुंडाकॉलरी, कुसुमी अतरिया, कुसेंडी, कुसैला, कूंचलवाड़ाकलाँ, कृष्णनगर, केकड़ी, केडगाँव (देवी), के० माहीम, केवलविगदा, केवलारीकलाँ, केशोपुर, केशोपुर (बेताड़ी), केसुली, कैडी, कैथल, कैनखोला, कैराना, कैलारस, कोंडागाँव, कोटवा, कोटहा, कोटा, कोटा छावनी, कोठी, कोठीखोह, कोठीचारकलाँ, कोडलहंगरमा, कोतमा, कोदंडा, कोद, कोनाग, कोमना, कोयम्बटूर, कोयलादेवा, कोरोराघवपुर, कोल, कोलकाता, कोलवा, कोहिना, कौड़ीहार, कौहाकुड़ा (पिथौरा), खंडवा, ख़ंतौली, खगौल, खजूरी, खजूरीखास, खजूरीरुंडा, खटौराखुर्द, खड़गवाँकलाँ, खडगौर, खड़हारा, खड़ात-तरतोली, खड़ावदा, खड़िया परियोजना, खतौली, खत्रीवाड़ा, खम्मम, खरगोन, खरड, खरसिया, खरेड़ा, खरौदनगर, खलीलपुर, खवासपुरा खाङबोक, खाईखेड़ी, खाटूखुर्द, खातीपुरा, खानपुर, खामखेडा, खारुपेटिया, खालगाँव, खालेगाँव, खितौली, खिलचीपुर, खुँटपला, खुरई, खुरपा, खुरसीपार, खुरहानमिलिक, खुरुसलेंगा, खूँटलिया, खूँटापाली, खेड़का-गुजर, खेडी (खींवसी), खेत, खेतिया, खेमादेई, खेरली, खेलदेशपांडे, खैरखाँ, खैरथल, खैरथल (छाछरो), खैरा, खैराचातर, खोकसा, खोडी टिहरी-गढ़वाल, खोपा, खोलाखेत बांखेत, खोलीघाट-मुवाणा, खौड़, खौना, ख्यामई, गंगधार, गंगाखेड़, गंगापुर, गंगोह, गंज बासौदा, गजनई, गजनेरगढ़ी, गड़थ (हातड़), गड़सा, गढ़उमरिया, गढ़खेरा, गढ़पहरा, गढ़पुरा, गढ़बसई गढ़वा, गढ़िया, गढ़ूका (मोंठ), गणकोट, गदग, गदाईपुर, गनियारी, गया, गरनियाँ, गरसाहड़, गरीबनगर, गरोठ, गलगलहाकोठी, गल्ला टोला, गवाखेड़ा, गहासाँड़, गांटोक, गांधीधाम, गाजियाबाद, गाजीपुर, गाडखारा, गाड़ाटोल, गारासणी, गिदौली, गिरिजास्थान, गिरीडीह, गीधा पश्चिम टोला, गुंजेवाही, गुंटूर, गुड़गाँव, गुड़ा (श्रीकोलायत), गुड़ाकलाँ, गुढाकटला, गुढ़ाचन्द्रजी, गुतासी, गुतुरमा, गुना, गुमानीवाला, गुराड़ियाजोगा, गुलबर्गा, गुहाला, गूंठगरसाड़ी, गैंता, गैहरा, गोंसली, गोईन्दा, गोई मिश्र लगमा, गोकुलेश्वरनायल, गोगराबस्ति, गोड़हिया नं०१, गोधरा, गोनेर, गोपालपुर, गोपालपुर (कुंड), गोरखपुर, गोलवा, गोलाघाट, गोव्रडीहा, गोविंदगढ़, गोविंदपुर, गोहद, गौराबनगहा, गौरालाला, गौरिया वरारी, गौरीगंज, गौरीपुर, गौहाटी, ग्यानसू, ग्वालियर, घगोंट, घघरा, घड़सीकनैता (क्यार), घराकड़, घैरहली, घाटाबिल्लोद, घिंगारुकोट (देवीधुरा), घुंसी, घुघली, घुटकूनवापारा, घुनवारा, घुमका, घुमाखी, घेनड़ी, घेवड़ा, घोड़ास, घोड़ेगाँव, घौघरी, चंगईपुर, चंगर-तरसूह, चंडीगढ़, चंडीस्थान, चंडेश्वर, चंदउपुर, चंदनकियारी, चंदला, चंदूरा, चंदेरी, चंदौखी, चंदौसी, चंद्रपुर, चंद्रहटी, चंबा, चकलोकभान, चकवृन्दा, चकसिंगार, चक्रधरपुर, चटोल, चट्टी अनंतपुर, चनावग, चनौट, चमरौला, चरखीदादरी, चरपोखरी, चलाखुटोल साँखु (नेपाल), चांचौड़ा, चाँदपुराकलाँ, चाईबासा, चास, चिंचोली, चिकना, चिकिती, चिचोली, चिटगुप्पा, चितगुवाँ, चितनगला, चितभवन, चितवन (नेपाल), चित्तौड़गढ़, चिनारथलकलाँ, चिरकुंडा, चिलौआ, चिलौली, चिल्हमरवा, चीचगढ़, चुखियारा, चुरहट, चुरू, चेन्नई, चैनपुर, चैसार-मथुरा बाजार, चोरबरी, चोरास, चोरिया, चौकी, चौखा, चौड़ागाँव, चौधराना, चौधरी बसंतपुर, छतरपुर, छपड़ा-धरमपुर-जदू, छपरतल्ला, छपरा, छयालसिंग, छापड़ा, छापर, छापीहेड़ा, छिंदवाड़ा, छिउलहा, छिछोर, छिनका, छोटा लांबा, छोटीखाटू जंगबहादुरगंज, जंडियालागुरु, जकड़पुरा (वृन्दावन टोला), जगटी, जगतपुर, जगदलपुर, जगदीशपुर-बघनगरी, जगदेवपुर, जगराओं, जगवन, जगहथा, जगाधरी, जड़वा, जनकपुर, जनोटी-पालड़ी, जबलपुर, जमशेदपुर, जमोड़ी-सेंधव, जम्मू, जयनगर, जयपुर, जयपुरा, जरूड, जरौली, जलगाँव, जलगाँव खुर्द, जलसैन, जलहलकुकुरमुड़ा, जलालगढ़, जलालपुरबाजार, जल्लापुर मसेढ़ा, जवल, जवाहर सागर (कोटाडेम), जसरासर, जसवन्तगढ़, जसो, जहरमऊ, जहाँगीरपुर शाम, जहाँगीराबाद, जहाजपुर, जहीराबाद, जाँजगीर, जाँता, जांभुलपाडा, जाखपंत, जागीवाडा, जागुवास, जाजोता, जादौंदासनगर-महुआखेड़ा, जानडोल, जानेफल, जामनगर, जामनेर, जामपाली (छोटे), जामोन्या, जायल, जारंग, जालन्धर, जालना, जालमऊ, जावरा, जावली, जितवारपुर, जियाराम राघोपुर, जूनाखेड़ा, जूनालखनपुर, जैतपुर, जैतारण, जैपुर, जैसलमेर, जैसलसर, जैसीनगर, जोजवा, जोधपुर, जोरी, जोलदापका, जौलखेड़ा, ज्वालापुर, झाँसी, झाड़ली, झाड़ोल, झापा (नेपाल), झाबुआ, झामर, झारसुगुड़ा, झालरापाटन, झालावाड़, झिंगुरदा, झिंझरी, झिंझाना, झिकटिया, झिरकन, झुंझुनू, झूलाघाट, झूँसी, झोथराखेड़ा, झौंथरी, टिकरिया, टिकौली रावतपुर, टिमरनी, टिल्हार, टुंडी, टुकनोली, टूंडला, टेंटरा, टेकनिया, टेघरा, टेमर, टेमाभेला, टोडारायसिंह, टोरड़ा (खारली), टोला शिवनराय, ठकठौलिया कौडिया, ठठारी, ठाढ़ी विश्वासपट्टी (नेपाल), ठेंगहा, डकाचा, डकोर, डग, डगडइया, डबरेड़ा, डमक, डहरिया, डाढ़ीबाढ़ी, डाबरा, डिडवाड़ी, डिहरी, डीग,

डीनापानी, डुंगरिया, डुमरा, डुमरा सरोपट्टी, डुमरिया, डुमरी, डूँगरपुर, डूमाईगढ़, डेरवा, डेलपुरा, डेहनी, डोंडेकलाँ, डोंबिवली, डोकरबुड़ा, डोभ, डोलामण्डपसाही, ढंढेरी, ढाँगू, ढुंगासिल, ढेंगाडीह, ढेबो, ढोलानाकलाँ, ढोसर, ढौर, तँवरा, तबड़ा, तरकेड़ी, तरोडारोड, तरौका, तलेगाँव ढमढेरे, तलोटी, तसीमों, ताजनीपुर, तारेथाङ्ग कपुरपाते, ताल, तालकिया, तालकोइला, तालझारी, तालबेहट, तालमेंडा, तालिकोटि, तितरा आशानंद, तियारा, तिरुवण्णामलै, तिरोजपुर, तिरोंधा, तिलताली डोटी, तिलहर, तिलोबदार, तुनि, तुल्लाह, तुसरा, तेरुवाय, तेलगवाँ, तेवाड़ीखोला, तोपाकोलियरी, तोरना, तोरनी, तोलरा, तोला चम्फावत, त्यारा, त्रिवेन्द्रम्, थलोटा, थांदला (अगराल), थाणे, थालनेर, दड़ीबा, दतिया, दमदमा, दयाछपरा, दवतोरी, दवला, दसूहाशहर, दहमी, दांतारामगढ़, दाऊदनगर, दाडलाघाट, दानपुरा, दापोरी, दामाखेड़ा, दामापुर छटन, दाहोद, दिगौड़ा, दिग्घी, दिमाड़ा-बिसैर दिरखोला, दिल्ली, दीनी, दुगाहाखुर्द, दुघरा, दुधवाखारा, दुधवारा, दुर्ग, दुलचासर, दुलावनी, देदौल, देरगाँव, देवखेड़ी, देवखैरा, देवगढ़, देवगढ़-मदारिया, देवतालाब, देवतोली (तल्ली), देवनगर-बानूछपरा, देवपुरा, देवबन्द, देवभोग, देवरिया, देवरी, देवरीकलाँ, देवरीनाहरमऊ, देवरीबखत, देवला, देवली, देवसर, देवास, देवीपुर-गम्हरिया, देवेन्द्रनगर, देशनोक, देहरा, देहरादून, देहीखेड़ा, दैपरा, दोरवाँ, दौरई, दौलतगढ़, दौलतपुर, दौलतपुरा, दौसा, धगोगी, धनकोसा, धनपतगंज, धनपुरी, धमधा, धमौरा, धरगाँव, धरबार, धरमपुर, धर्मशाला, धरौंची, धलिगाँव, धवाली, धामंदा, धार, धारकिरो, धावा, धावाबाद, धुले, धूमसाइ, धोडापुर, धोबघट, धौलादेवी, धौलाभारा, ध्रांगध्रा, ध्रुवगढ़, नंगल टाउनशिप, नङतड़ी, नअगाँ (क), नगरिया देवधरपुरे, नगरोटा बगवाँ, नगलाखंगर, नगलामहासिंह, नगावली, नगीना, नटावद, नयानगर, नयापाली, नयी दिल्ली, नरवन, नरसिंहपुर, नराँव, नरियालगाँव, नरी (पैलानी), नरेत, नर्वदानगर, नलका नलवाड़, नलजर्ला, नवलगढ़, नवलपुर, नवाआहर, नवादा, नवादा-गिद्धौर, नवापारा (राजिम), नवाबगंज, नसीराबाद, नाँगलदेवत, नांगलोई, नांदेड़, नाकोट, नागदा जंक्शन, नागपुर, नागोद, नाघरदिगौली, नाचनी, नाडोली, नानकमता, नानपारा, नानामांडवा, नारकंडा, नारनौद, नारनौल, नारवा, नारायणगढ़, नारायणपुरा, नारेपुर (पश्चिम, धर्मपुर, अयोध्याटोला, बैंकबाजार), नावली वृन्दावन (देवाला), नासिक, नाहरगढ़, नाहली, निंबाहेड़ा, निटर्रा, निठोरिया, निफाड, निवारी, नीदर (मंडरायल), नूहँ, नेगाडियाँका खेड़ा, नेपुरा, नेरचौक, नेरी (रिहाड़ी), नेवरा, नेवारी, नैकीना, नैल, नोएडा, नोनरा (पंडितपुरा), नोनहर, नोहर, नौगाँव, नौगाँव (बृद्धकेदार), नौतनवाँ, नौताना, नौबाद, नौहाटगड़ी, न्याड़, न्यालकल, न्हावी, पंचकूला, पंचरुखी, पंडतेहड़, पंडरीरायपुर, पंढरपुर, पंत्यूड़ी, पकड़िया-नौगवाँ, पकवाइनार, पकहाँ, पगरावदकलाँ, पचगवाँ, पचपदरानगर, पचपहाड़, पचरा, पचलाना, पचानपुरा, पचौरी, पटना, पटियाली, पटेगना, पटोरी, पड़िहारा, पत्तेरापाली, पत्यौरा, पद्मपुर, पथरहा, पथाँय, पथौली, परतुर, परदूकापुरा, परभणी, परमानंदगैतरा, परवानू, परसाई-पिपरिया, परसापाली, परासन, परासिया, परासी चकलाल, परियर, पलाई, पलाणा, पलियाकलाँ, पलीता, पलेई, पसगवाँ, पस्तोड़ाधार, पहाड़पुर, पहूर (दाभा), पांडुकेश्वर, पांडेडीह (हीरोडीह), पाँतली पुनाली, पातल, पातली, पानापुर, पायली, पारदसिंगा, पारा, पालमपुर, पालवी, पाली, पालीरजापुर, पावँटा साहिब, पावटा, पाहल, पिंडरई, पिंपलगाँव बसवंत, पिठोरिया, पिपरा, पिपरा झाँपी, पिपरा पांडे, पिपरिया, पिपरिया उड़नी, पिपरी-गहरवार, पिपलगाँव काले, पिपला शिवनगर, पिपल्याबुजुर्ग, पिलखना- रसीदपुर, पिलखुवा, पिहोवा (पृथुदक), पीपलपानी, पीपलरावाँ, पीपलवाड़ा, पीपलाज, पीपली आचार्यान्, पीपल्या जोधा, पीपल्या मंडी, पीलीभीत, पुंयावगड़, पुखरायाँ, पुजारागाँव, पुणें, पुनहद, पुनहा, पुनाहाना, पुरसंडा (अलीगंज), पुराना भर्थना, पुराना भोजपुर, पुरूलिया, पुलगाँव, पूँछ, पूगलगढ़, पूराभैरव (हिमकरवाला), पूरे दिरगजसिंह, पेंड्रा, पेटेरू, पेण, पेशोक टी०ई०, पैंची, पैकपार, पैकौरी, पैगम्बरपुर, पैसिया उर्फ कनघुसरी, पोखरभिंडा, पोटसो, पोरसा, पौना, प्रतापगिरि, प्रताबगढ़, प्रयाग, प्रांहेड़ा, प्रागपुरा, प्रीतमपुरी, प्रेमकापुरा, प्रेमपुरा, फगवाड़ा, फतेहगढ़, फतेहपुर, फरीदाबाद, फर्रूखनगर, फर्रूखाबाद, फागी, फिंगेश्वर, फिरोजपुर छावनी, फुलझर, फुलंब्री, फुलरुवा, फुलहर, फूलपुररामा, फूलबेहड़, फैजाबाद, बंका बाजार, बंदू, बंधनाऊ, बंधार, बंबेली, बक्सर, बक्षेरा (हनुमान टोला, अधिआरी टोला, टिकुरा टोला, हनुमानगढ़ी, रामपुर, मझटोलवा), बगरू, बगही, बघवाड़ा, बघेरा, बघेला, बचकोट पीपली, बछौनी, बछौर, बजरंगपुर नवागाँव, बटाला, बड़कागाँव, बड़पारी, बड़वानी, बड़सू, बड़ागाँव, बड़ालू, बड़ी बलिया, बड़ीला, बड़ू, बडैंहर (मेवा), बडोड़ा गाँव, बड़ौदा, बथुवाखास, बदनावर, ब़दौसा,

बनवारी-बसंत, बनियाँगाँव, बनियापुर, बनेठा, बनेड़ा, बमनाला, बमनुवाँ, बमरोली, बम्हौरी (देवपुर), बयाना, बरगढ़, बरगदही बसन्तनाथ, बरघाट, बरड़ा (रावजी), बरनमहगवाँ, बरमसर, बरमसिया, बररी, बरवाही, बरसुणा, बरही, बराकर, बरास, बराहरूप, बरिगवाँ, बरीका नगला, बरीपुरा, बरुवासागर, बरुड़ (टाँडा), बरेला, बरेली, बलईपुर पकवलिया, बलकुवा, बलवाड़ा, बलिगाँव, बलिया, बलिया नबाबगंज, बलौदा, बशारतपुर, बसखली, बसंत, बसंतपुर, बसव कल्याण, बसान, बसिमारा, बसोहली, बस्ती, बहनेरा, बहरोड, बहादुरगढ़, बहुरीबाँध, बहेराडाबर, बहोरवा, बाँकी, बांगरेड़, बांगरोद, बाँदनवाड़ा, बाँदा, बाँधा बाजार, बाँसतालेश्वर, बाँसवाड़ा, बाँसाकलाँ, बाठोडा शुक्लेश्वर, बाड़मेर, बाड़वा, बाढ़, बाढ़ बाजार, बानसी, बाबई, बायतू, बाराकोट बैतड़ी, बाराबंकी, बालपुर, बालसी, बालाघाट, बालू-१, बालेश्वर, बालोतरा, बालोद, बाहेर, बिच्छीदौना, बिछड़ौद, बिछिया, बिजनी, बिजनौर, बिजेथुआ, बिठोली, बिड़वी, बिनका, बिनौली, बिरखड़ी, बिरनियाँ, बिरहा-कन्हई, बिरौंधी, बिलंदपुर, बिलासपुर, बिशुनपुर बघनगरी, बिशुनपुरवा, बिशौनी, बिषाड़, बिसरा, बिसून्दनी, बिसैर (दिमाड़ा-बिसैर), बिस्कोहर बाजार, बिहटा, बिहारशरीफ, बीकानेर, बीकापुर, बीजापुर, बीड, बीना, बीनागंज, बीरखाम (गर्गन टोला), बीरगंज, बीरपाड़ा, बीरपुर, बीरपुरा, बीरमपुर, बीरवाँ (बाबूटोला), बीरा, बीसलपुर, बुँडारा खुर्द, बुधवाई, बुरदा, बुरहानपुर, बुर्जबाजी, बुलंन्दशहर, बूँदी, बूढ़ीश्यामर, बूढ़ीश्यामर (बेरखेरी), बूरमाजरा, बृजघाट, बेतिया, बेनियाँका बास, बेनीपुर, बेनोडा (शहीद), बेमेतरा, बेरखेड़ी (बूढ़ी श्यामर), बेरला, बेरलीखुर्द, बेरी, बेलरगाँव, बेलसर, बेला, बेलागंज बाजार, बेलाही, बेलौड़ी, बेलौनाकलाँ, बेल्लारी, बैकली, बैका-विष्णुपुर, बैतूल, बैनी, बैरमपुर, बैरवार, बोकारो स्टील सिटी, बोटाद बोड़खी (आमला), बोडवद, बोतराई, बोबाड़ी, बोरनार, बोरीवली, बोरीस, बौलाई, ब्यावर, ब्रह्मावली, ब्राह्मण टोला सबलपुर, भंजनगर, भंडारा, भंदेमऊ, भखराईन, भखरी, भगवानपुर, भगैया, भचाऊ, भटवाड़ा, भटवारा, भटेड़, भटेवरा, भड़ूको, भदरथी, भदलिया-नोसर-गोकुल, भदवर, भद्रक, भदानीनगर, भनसुली (आर), भरतपुर, भरथुआ, भरपूरा, भरूच, भरूब, भरेह, भरोहिया, भलस्वा ईसापुर, भलुहा-रामनई, भवानी, भाऊगढ़, भागलपुर, भागो (देवतालाब), भाटापारा, भादरा, भारौलखुर्द, भालूई, भावनगर, भिंभौरी, भिलाई, भिवानी, भीखापाली, भीनकगाँव, भीरानी, भीलवाड़ा, भुंडी-नौतनवाँ, भुलसी, भुवनेश्वर, भुसावल, भूतखेड़ी, भूतेश्वर, भूल, भूलीनगर, भेड़वन, भैंसमुंडी, भैंसवाही, भैरमऊ, भैसोदा, भोगपुर, भोगाँव, भोगीपुर-सेवाराम, भोजपुर, भोजपुर (कोल्हुइया), भोजवली, भोजासर बड़ा, भोपाल, भोरड़ा, भौर, भ्रमरपुर, मँगटा, मंगतोला, मंगरी, मंगरूलदत्त, मंगरूलनाथ, मंगलनगर, मंगलौर टाउन, मंगुरही, मंझौली, मंडला फोर्ट, मंडी धनौतरा, मंडी बामोरा, मंडोर, मंडोली, मकराना, मकवा, मखदुमपुर, मगरमू, मगोर्रा, मचकना, मजिरकांणा, मझगवाँ, मझगुवाँखुर्द, मझारा, मटवारी चौक, मड़ावदा, मडोरी, मढेवा, मतवाना, मत्तेपुर, मथानिया, मथुरा, मदाना, मदैडीह, मधासिया, मधुवन, मधुवन (तिरहुतिया टोल, भूमिहार टोल), मधेपुरा, मनकहरी, मनासा, मनिगाँव, मनेन्द्रगढ़, मनैतापुर (मंगलपुर), मनोहरपुर, ममरेजपुर, मयसपुर (नेपाल), मरौद, मर्दनपुरवा, मलंगवा, मलकलीपुर डेवढ़ी, मलयपुर, मलहरा निवादा, मलाड, मलार, मलिनियाँदिरा, मवीकलाँ, मशरक, मसवासीसेराँय, महथी, महमदा बाजार, महाबर, महाभारा, महाराजपुर, महोसमुंद, महिषी, महुआखेड़ा, महुआर, महुआवा, महुआशाला, महुगाँई, महुड़र, महुरा, महुवाखेरा, महू, महेशाफरकपुर, महेश्वर, महोबा, महोली, मांजू-अर्की, मांडल, मांडलगढ़, मांडावास, माखननगर, माचगाँव, माचाडी चौक (सी), माछरा, माजरा, माडीसरई, माणिकपुर, माधवनगर, माधोडीह, माधोपुर, माधोपुर गोविन्द, मानपुरा, मानहड़, मानिला, मानेगाँव, मारकन, मालती-नेपुरा, मालतीपुर, मालथान, मालपुर, मालाड, मालास, मालूवी, मालेरकोटला, माल्देसिरौलीगरूड़, माहीपुरा, मिरज, मिरजानहाट, मिरजापुर, मिझौना, मिश्रपुर, मिहोना (लहार), मीतली, मीरापुर, मुंगेर, मुंगेली, मुँगौली, मुंडगोड, मुंबई, मुखबार, मुखेड़, मुगलसराय, मुजफ्फरनगर, मुजफ्फरपुर, मुड़ाडीह, मुढ़ीपार, मुबरिकपुर, मुबारकपुर (काँटी), मुरबारा, मुरादाबाद, मुरार, मुलुन्द, मुल्लनपुर, मुशेदपुर, मुश्ता, मुस्तफाबाद, मूड़ासवारान, मूलाकोट (देवीधुरा), मूसापुरबिल्सी, मेड़ता रोड, मेदनीपुर, मेरठ, मेवडा, मेहकर, मैनपुरी, मोईहुड्डा, मोगा, मोड़वाल माजरी, मोडासा, मोदीनगर, मोरेड़, मोहगाँव खुर्द, मोहतरा, मोहदा, मोहना, मोहभट्ठा (सरगाँव), मोहम्मदपुरखाला, मोहरेंगा, मौनाहुस्से छपरा, म्याऊ, यमुनानगर, यवतमाल, यादवपुर, येताला, येनखेड़ा, येवदा, रंगपुरी, रंगली, रंगिया, रंथभंवर, रक्सौल, रगजा, रघुनाथपुरा, रजडीहाँ, रजपुरा, रजवास, रजीगंज, रठेरा,

रतनगवाँ, रतलाम, रत्ताटिब्बा, रत्नागिरी, रमपुरा, ररी, रहसापूर्वी, राँची, राँवसरबड़ी, राउरकेला, राघोपुर डुमरी, राजगांगपुर, राजग्राम, राजगीर, राजनांदगाँव, राजबोड़ासम्बर, राजाका सहसपुर, राजा-कोमना, राजुरवाड़ी, राजेपुर चौक, राजेश्वर, राधाऊर, रानिटोला, रानीगंज, रानीपुर, रानीपुरलाद, रानीबाग, राबर्ट्सगंज, रामगंजमंडी, रामगढ़-जबंधे, रामगढ़ (लखोनी), रामनगरगढ़ी, रामपट्टी, रामपुरडीह, रामपुरदुल्लह, रामपुरबखरा, रामपुरबरहो, रामपुराकलाँ, रामपुरी, रामपुरी बुजुर्ग, रामेश्वरकंपा, रायपुर, रायपुर-कल्चुरियान्, रायपुर छोटा, रायपुरसानी (रावत), रायबरेली, रायरंगपुर, रावटी, रावतभाटा, रावलामंडी, रीवा, रुचिदा, रुदावल, रूठियाई, रूड़की, रूदासी, रूदौली, रेमोक बाजार, रेवड़ापुर, रैघड़पुरैना, रैनी, रैल, रैहन, रोंसरा, रोतरा, रोलपा रासी आँचल, रोलाहेड़ा, रोसावाँ, रोहतक, रोहनिया, रोहिडा, रोहिणी, रौजा-गाजीपुर, लक्ष्मीपुर-ककढ़िया, लक्ष्मीपुर-भित्ता, लक्ष्मीपुरसायत, लखनऊ, लखनादौन, लखीमपुर-खीरी, लखोरिया, लखौरा, लछीमा, लतार (पंडित टोला), लधौनटुकड़ा, ललयार, ललितपुर, ललितललाम-सन्हौली, ललेहड़, लवहरफरना, लश्कर, लहरीतिवारीडीह, लहार हवेली, लाठी, लाडवा, लातूर, लादूगाँव, लाबरिया, लारेनकेलो, लालपुरा (भीम), लालसिंग, लालसोट, लालसोट-तालेड़ा, लालाके बाँसी, लावन, लियाद, लिलुआ, लीमाचौहान, लुणसरिया, लुनठूड़ा-पिथौरागढ़, लुहारी, लैलूँगा, लोअरत्रांबली, लोईसिंहा, लोचीनगला, लोटना-पलमार, लोणखेड़ा, लोपड़ा, लोहंडिया बाजार, लोहा, लोहारली, लोहारा, लौड़ी, लौयांशी, लौर, वंडविहार, वगुलया, वजीरनगर, वडनेर-गंगाई, वडोदरा, वणकरवास, वरुडजरुलका, वरोरा, वरोरी, वरौधा (कठार), वरौरी, वर्दघाट, वल्लभनगर, वांबल, वागर, वागलकोट, वाडा, वाडी-नयकोटा, वापची, वापी, वारा, वाराणसी, वाशिम, वासुलीकटिया, वास्को-डि-गामा, वाहेगाँव-देमणी, विजयग्राम, विजयराघवगढ़, विजयवाड़ा, विजियानगरम्, विधूना, विराटनगर, विलकीसगंज, विलसंडा, विलौंद, विशनपुर समथु, विशाखापट्टनम्, विश्वम्भरपुर, वीरभद्र (ऋषिकेश), वृंदावन, वेमुलवाडा, वेरावल, वैद्यनाथधाम, वैर, शकरा, शनिचरा, शाहकोट, शाहगढ़, शाहजहाँपुर, शाहजहाँपुर-निनायाँ, शाहपुर (पंडितटोला), शाहोपुर-बरमा, शिकारपुर, शिमला, शिवपुरी, शिवरीनारायण, शीवगढ़, शेखपुरा, शेरगढ़, शेरुणा, शेषपुर (दखिना), शोभापुर, श्योपुर, श्योपुरकलाँ, श्रीणपुरकलाँ, श्रीनगर, श्रीबालाजी, संगरूर, संतालडीह, संभल, सकरवाड़ा सावीक, सगौली, सतघरा (खोसलपुर), सतना, सतरामगंजबाजार, सतारा रोड, सतावड़िया, सतुआँ, सथरा, सदरपुर, सदाशिवपेठ, सनवी, सनाय, सनावल, सपरून, सपलेड़, सपोटरा, सफीपुर, (ब्राह्मणटोला), सबलपुरा, सब्जीमंडी, समर्था, समेसर, सरखों, सरगाँव, सरथुआ, सरदमपिंडरा, सरदारशहर, सरसिया, सराईखेत, सरायपाली, सरिया, सरेंजा, सरेई-चम्पुआ, सरेयाँ-हरदीटोला, सरोरे, सलैयासिहोरा, सलोन, सहरी, सहार, सहोखर, साँकाकलाँ, सांचोर, सांभर-लेक, सांवड़, सांवली, साईवाड़, सागर, सादुलपुर, सादुलशहर, साधपुर, साधासर, साबरमती, सामी, सारसंडा, सालोन-बी, साल्हेघोरी, सावनेर, सासन, सासाराम, सिंगहा-युसुफपुर, सिंगोली, सिंघलद्वीप, सिंद्री, सिंहपुर बड़ा, सिकन्दराबाद, सिगोली चारभुजाकी, सितारगंज, सिनगौड़ी, सिमरिया, सिमलगैर बाजार, सिरपुर कागजनगर, सिरसकंहर, सिरहौल, सिर्रौंद, सिलचर, सिलाटि, सिलीगुड़ी, सिलेपुर, सिलौटा, सिलौत-बासुदेव, सिवनी, सिवेरा, सिहाल, सिहोरा, सीतापुर, सीतामढ़ी, सीथल, सीधी, सीनखेड़ा, सीवाँ, सीवानटेनरी, सीसवाली, सीहीमुर, सीहोर, सुंदरनगर, सुंनी, सुंहेत, सुआरहा, सुगभटौली, सुगवाँ, सुगाँव, सुजानगढ़, सुजिया-मोहलिया, सुठालिया, सुतरी, सुनवाहा (मांदपुर), सुमावली, सुमेरपुर, सुरखंडनगरी, सुरखी, सुरपुरा, सुरही, सुर्री, सुलतानपुर, सुलताना, सुसनेर, सूरत, सूरतगढ़, सेंट्रल-पल्प-मिल, सेऊ, सेजहरा, सेनाकलाँ, सेमरा बाजार, सेमरी हरचंद, सेमलियाहिरा, सेमा, सेरी, सैदपुर, सैफाबाद, सोजित्रा, सोनगाँव (गोरखपुर), सोनतलाई सोनदत्ति, सोनपुरराज, सोनवला, सोनहटी चौराहा, सोनीपत, सोमाखेड़ी, सोहड़ी, सोहनपुर, सोहसराय, सोहागपुर, सोहाद, स्योहारा, हजारीबाग, हजौली, हटनी, हटवा, हड़ल, हथौड़ाखेड़ा, हबीपुर, हमीरपुर, हरखपुर, हरखांहीमठिया, हरगनपुर, हरदी, हरदोई, हरपुरबोचहा, हरपुर-रेवाड़ी, हरसोली, हरिद्वार, हरिपुर, हरिपुरनायक, हरिशंकरपुर (असीनचक), हरिहरपुर-वैद्यालय, हर्षरू, हल्द्वानी, हल्दीबाड़ी, हल्दीरामपुर (बरतर), हसनबाजार, हसामपुर, हसुवा, हस्तिनापुर, हाँफा, हाँसपुर, हाजीपुर, हाडेचा, हातोद, हापुड़, हारीज, हालीशहरकोना, हावड़ा, हासलपुर, हिंगनघाट, हिंगोली, हिंडौन सिटी, हिंदमोटर, हिमराजपुर, हिम्मतपुरा, हिरनोदा, हिसार, हिसार-ड्योढ़ी, हुमायूँपुर, हुम्नाबाद, हूर, हैंजा, हैदरगढ़, हैदराबाद, होजाई, होशंगाबाद, ५६ ए०पी०ओ०, ९९ ए०पी०ओ०।

* * *

पढ़ो, समझो और करो

(१)

पिताकी सीख

मेरे जीवनकी एक सत्य घटना उस समयकी है जब मेरी उम्र ७-८ सालकी रही होगी। घटना तो बहुत पुरानी हो गयी है, लेकिन उसका प्रभाव मेरे ऊपर ज्यो-का-त्यों है तथा उसकी स्मृति आज भी वैसी ही बनी हुई है। मेरे पिताजीको रामायणपाठ करना बहुत प्रिय था। अवकाशके क्षणोंमें निरन्तर रामायणपाठ किया करते थे। घरमें भाई-बहनोंको भी रामायणका अभ्यास कराते थे। मुझपर उनकी विशेष कृपा थी। वे मुझे अपने पास बैठाकर रामायण सुनाया करते थे तथा हिन्दी, संस्कृतके शुद्ध उच्चारण और सुन्दर लिखावटपर बहुत ध्यान देते थे। इसका यह प्रभाव हुआ कि मैं बहुत छोटी अवस्थामें ही रामायणका शुद्ध उच्चारण-पाठ पिताजीकी कृपासे कर लेता था। निरन्तर अभ्याससे राघवेन्द्र सरकारके प्रति मुझे श्रद्धा-विश्वास हो गया। पिताजीने हम भाई-बहनोंको यह भी बता रखा था कि रामायणमें रामजीकी महिमा भरी है। वे बड़े ही दयालु एवं कृपालु हैं। हर संकटसे उबारते हैं, बच्चो! तुम लोग भी जब संकटमें पड़ना तो रामजीको याद करना, वे तुम्हारे सारे कष्ट दूर कर देंगे। उस समय पिताजीकी उस बातका ठीकसे अर्थ समझमें नहीं आता था, तब भी बातें हमने याद कर ली थीं।

हमारे गाँवके पास लूनी नदी बहुत बरसोंसे बहती है। उस समय गाँवमें आजकी तरह नल वगैरह नहीं थे। कपड़े धोने एवं स्नानके लिये कुओं और नदीके किनारे जाना पड़ता था। उस दिन मैं अपनी माँके साथ तथा पास-पड़ोसके मेरी उम्रके बालक भी अपनी-अपनी माँके साथ नदीपर गये थे। महिलाएँ कपड़े धोनेके काममें व्यस्त हो गयीं और हम सब बालक नदीके किनारे खड़े-खड़े तमाशा देखने लगे।

मेरी उम्र छोटी होनेके कारण मुझे कुछ भी व्यावहारिक ज्ञान न था। रिश्तेमें मेरे भानजेने ही अचानक मुझे पीछेसे धक्का दे दिया। मैं सीधा गहरे पानीमें जा गिरा और ऊपर-नीचे होने लगा। मुँह और नाकके द्वारा पेटमें पानी जा रहा था। थोड़े ही समयमें मेरा पेट पूरा भर गया। चेतन मन सोच रहा था कि पानीमें लोग ऐसे ही मरते होंगे, लगता है अब मेरा भी मरनेका समय आ गया है। तभी पिताजीकी पढ़ाई हुई रामायण एवं उनकी बतायी बातें याद आ गयीं। मैंने संकटके इस अवसरपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको याद किया कि हे प्रभो! पिताजीकी बातको सही कर दो। संकटमें पड़े हुए मुझे बचा लो।

मेरा भगवान्‌को याद करना ही था कि पलक झपकते ही मैंने वहाँसे सौ फुटकी दूरीपर जहाँ केवल मेरे घुटनेभर पानी था, अपने-आपको पाया और मैं बाहर चला आया। पिताजी (बड़ों)-की सीख कितनी सच्ची सीख होती है, यह समझ-समझकर मैं आज भी मुग्ध हो उठता हूँ।

—मदनलालकोठारी (जैन)

(२)

रामनामरूपी महौषधिसे जीवनदान

आजसे लगभग दो वर्ष पूर्वकी घटना है। शुजालपुर मण्डी रेलवे स्टेशनके पास एक गाँव है 'डाबला'। वहाँपर मेरे जीजाजीने अपना क्लीनिक खोल रखा है। उस गाँवमें वे ही एक डॉक्टर हैं। पूरा गाँव प्रायः उनके पास ही अपना इलाज करवाता है।

जीजाजीका क्लीनिक जिनके घरमें था वे बड़े ही सज्जन स्वभावके इन्सान हैं। उनकी रामनाममें बड़ी प्रीति है। वे निरन्तर रामनामका जप और रामायणपाठ करते रहते हैं। उनके साथ जो घटना घटी, उसे जीजाजीने ही मुझे सुनाया था। घटना इस प्रकार है—

बारिशका मौसम था। सावनकी फुहार उस दिन सुबहसे ही बरस रही थी। चारों ओर अँधेरा छा गया। घरके पीछे ही रामायणीजीका खेत था, जहाँपर लगे बिजलीके खम्भेसे ही उन्होंने बिजलीका कनेक्शन ले रखा था। वे सज्जन बिजलीके तारोंको देखने अपने घरके पीछे गये। उन्होंने चारों ओर देखा तो अँधेरा था। जब टार्च जलाकर देखा तो खम्भेपर लगा हुआ एक तार निकलकर खेतमें गिरा पड़ा है। उन्होंने सोचा कि अभी बिजली बंद है इसलिये मैं यह तार उठाकर खेतसे बाहर रख दूँ ताकि कोई

अनजानमें यहाँ आयेगा तो उसे करेंट न लगे। पर जैसे ही उन्होंने उस तारको अपने हाथोंसे उठाया कि बिजली जो चली गयी थी अचानक पुनः चालू हो गयी। उनके हाथोंसे वह तार चिपक गया और उन्हें बड़े जोरका झटका लगा। उनके मुखसे रामनाम निकला और वे खेतमें गिर पड़े। वह तार उनके हाथोंमें चिपका हुआ था और वे निरन्तर राम-राम जपे जा रहे थे। तारमें बहुत करेंट था और ऊपरसे पानी गिर रहा था। गीलेमें करेंट बहुत जल्दी लगता है।

वे सज्जन गीले खेतमें पड़े हुए थे और उनके मुखसे केवल राम-राम ही निकल रहा था। उनको ऐसा लग रहा था कि पूरा शरीर शिथिल हो रहा है और अब बचना मुश्किल है। उन्हें एक रामनामका ही अवलम्बन था। उनकी आवाज भी धीमी पड़ती जा रही थी। लेकिन वे रामनाम निरन्तर जपे जा रहे थे। इस स्थितिमें वे लगभग आधे घण्टेतक पड़े रहे।

उनके बड़े भाईने सोचा कि देखें 'छोटा' काफी देर हो गयी लेकिन अभीतक वापस नहीं आया।

उस वक्त करीब शामके साढ़े सात बज चुके थे। हलका-सा अँधेरा हो गया था। उनके बड़े भाईने चारों ओर देखा लेकिन छोटा भाई कहीं नजर नहीं आया। इतनेमें दूर उन्हें राम-रामकी मन्द आवाज सुनायी दी। उन्होंने पास जाकर देखा तो उनका छोटा भाई खेतमें अचेत पड़ा हुआ है और उसके हाथोंमें करेंटका तार चिपका हुआ है। उन्होंने तुरंत ही स्थितिको जानकर एक सूखी लकड़ीद्वारा उसके हाथोंसे उस तारको अलग किया। उनको खेतसे उठाकर वे जीजाजीके क्लीनिकमें ले आये।

जीजाजीने देखकर कहा कि इन्हें करेंट बहुत तेज लगा है तुरंत ही इन्दौर अस्पताल ले जाइये। उन्हें तुरंत ही गाड़ीसे इन्दौर अस्पताल ले जाया गया। वहाँपर डॉक्टरोंने उन्हें देखा और तुरंत ही उपचार आरम्भ किया। एक हफ्ते बाद वे सज्जन स्वस्थ हो गये। उनके हाथकी तीन उँगलियोंको काटना पड़ा।

जब यह घटना डॉक्टरोंको बतायी गयी तो सभी आश्चर्यचकित होकर कहने लगे—रामनामने ही इनके प्राणोंकी रक्षा की, वरना केवल पाँच मिनिटमें ही व्यक्ति करेंटसे दम तोड़ देता है, लेकिन ये तो तीस मिनिटतक करेंटको पकड़े हुए गीलेमें पड़े रहे। यह सब रामनामका ही चमत्कार है।

जब उन सज्जनसे सभीने पूछा कि आपको पीड़ा तो बहुत हुई होगी तो उनका जवाब था कि मुझे तो एक रामनामके अलावा कुछ भी याद नहीं था। मुझे बस रामनामका ही अवलम्बन था। इसी महामन्त्रने मेरे प्राणोंकी रक्षा की है।

जीजाजीके मुखसे इस घटनाको सुनकर तो मेरे रोंगटे खड़े हो गये, बिजलीकी मेन लाईनका तार आधे घण्टेतक चिपके रहनेपर भी कोई जीवित बच सकता है, यह कल्पनाकी ही बात है। सचमुच भगवन्नाममें ही यह अमोघ शक्ति है कि जो असम्भवको भी सम्भव बना देती है। वास्तवमें रामनाम महौषधि है, इसके सेवनसे व्यक्ति मौतसे भी जूझ सकता है। तबसे मेरी भी प्रीति रामनाममें हो गयी।

—राजेश जोशी

(३)

भगवत्कृपासे कार्यसिद्धि

कुछ समय पहलेकी बात है, मुझे प्रोन्नतिके साक्षात्कारके लिये कानपुरसे मुम्बई जाना था। यात्रा लखनऊसे वायुयानद्वारा प्रस्तावित थी। उड़ानका समय मध्याह्न एक बजकर पचास मिनिट था। उड़ानके प्रायः एक घंटे पूर्व विमानतलपर पहुँचना आवश्यक होता है। इसलिये मैंने कानपुरसे बसद्वारा दस बजे लखनऊको प्रस्थान किया। साढ़े बारह बजेतक हवाईअड्डे पहुँचना सम्भावित था, किंतु कानपुर-लखनऊ यात्राके दौरान उन्नावसे थोड़ी दूर राजमार्गपर एक ट्रकके दुर्घटनाग्रस्त हो जानेसे दोनों ओर मार्ग अवरुद्ध था। दुर्घटनास्थलसे दोनों ओर तीन-तीन कि०मी० तक पंक्तिबद्ध वाहन खड़े थे। अन्य कोई मार्ग था नहीं। असम्भावित विलम्ब प्रारम्भ हो गया। आधा घंटा, एक घंटा, डेढ़ घंटा एक ही स्थानपर खड़ा रहना पड़ा। अति विलम्ब हो रहा था। एक-एक क्षण दुःखदायी था। निरालम्ब स्थितिमें ईश्वरस्मरण होने लगा—प्रभो! तुम्हारी इच्छा ही सर्वोपरि है। जैसा तुम चाहो वैसा ही हो।

साढ़े बारह बजेके बाद अवरोध हटनेपर बसयात्रा आरम्भ हुई। विमान पकड़ना असम्भव लग रहा था। मनमें आने लगा कि यह विमान तो छूट जायगा, पर भगवन्नाम-जपसे एक आशाकी किरण दिखायी दे रही थी।

जैसे-तैसे मनमें निरन्तर रामनामका स्मरण करते हुए सवा दो बजेके बाद मैं निराशाकी स्थितिमें विमानतलपर हताश-सा पहुँचा। किंतु यह क्या चमत्कार देखता हूँ कि एक एजेंट आगे आता है, पूछता है—'आपको मुम्बई जाना है? जल्दी आइये, विमान तीस मिनट लेट है, जल्दी आइये।'

मैंने स्वयंमें जीवन-संचार पाया। मानो प्राण मिल गये हों। मैं हतप्रभ-सा हो गया था। मुझे लगा कि केवल मुझे लेनेके लिये ही विमान विलम्बित हुआ। यह प्रभुकी कृपा नहीं तो और क्या है, जो मुझ अकिंचनके लिये वरदान सिद्ध हुई, अन्यथा मैं साक्षात्कारसे वञ्चित रह जाता और प्रोन्नतिसे भी वञ्चित रह जाता।

वास्तवमें प्रभुकृपा तो सबपर सदासे सब समय बरसती आयी है। इस कृपाकी निरन्तर अनुभूति होती रहे, यह विशेष बात है। कदाचित् ऐसा हो सके तो समझो कि बेड़ा पार है। प्रभुकृपाकी कोई सीमा नहीं है। छुट-पुट चमत्कार—जैसी प्रतीत होनेवाली कार्यसिद्धियोंसे प्रभुकृपाका अन्तिम आकलन करना सम्भव नहीं। वे तो साक्षात् कृपासागर, दयासागर, करुणासागर हैं। अकारण करुणा-वरुणालय हैं। उनकी कृपा अहैतुकी है, तथापि किसी चमत्कारके रूपमें भी हमें उनकी करुणाका भान हो जाय तो यह भी उन्हींकी कृपाका रूप है। अतः हमें चाहिये कि हम हर परिस्थितिमें उनकी कृपाका ख्याल करते हुए निश्चिन्त रहें और आने-जानेवाली परिस्थितियोंपर ध्यान न दें।

—डॉ० विजयनारायण गुप्त

(४)

पितरोंकी प्रत्यक्ष कृपा

घटना ३० अगस्त सन् २००२ ई० की हिसार, हरियाणा की है। उस दिन मेरे पूज्य पितामहकी पुण्यतिथि थी तथा हमारे घर राजस्थानसे मेरा भान्जा और मेरा लड़का भी जो बाहर रहता है आया हुआ था। श्राद्ध सम्पन्न हो जानेपर मैं ऑफिस चला गया। घरमें कमरोंके आगे एक छोटा-सा बरामदा है। बरामदेमें छतवाला पंखा चल रहा था, पंखा पुराना होनेसे उसकी मशीन बहुत भारी है। बरामदेमें वॉशबेसिनके आगे मेरा भान्जा दाढ़ी बना रहा था। उसी समय चलता हुआ पंखा नीचे गिरा, बहुत जोरसे धमाका हुआ। पड़ोसी भी डर गये। परंतु पंखा एकदम सीधा जमीनपर ऐसे गिरा मानो किसीने उठाकर रखा हो, वैसे चलता हुआ पंखा गिरता है तो दायें-बायें साइडमें गिरता है। हो सकता है इसकी मशीन भारी होनेसे सीधा गिरा हो। मेरे भान्जेको खरोंचतक नहीं आयी। वह घबरा जरूर गया था। उस समय पंखेके नीचे कोई नहीं था अन्यथा हमारा सबका बरामदेमें आना-जाना और बैठना हर वक्त होता है, क्योंकि इसके एक तरफ रसोई तथा दूसरी ओर स्नानघर आदि है। किसीके ऊपर गिरता तो क्या होता—यह सोचकर हैरानी होती है। पितामहने सबकी रक्षा की यह पितृकृपा ही तो है। मैं जब भोजन करने घर आया, तब सारी घटनाका पता चला। मैं सोचने लगा कि आज तो कुछ भी हो सकता था। किंतु पितरोंने बचा लिया।

—राजाराम जालुका

(५)

आज भी सच्चे पुरुष हैं

घटना लगभग २५ वर्ष पूर्वकी है। चौबेजी नामके एक सच्चे एवं स्पष्टवादी सज्जन पुलिसमें कार्यरत थे। वे हमारी दूकानसे कपड़ा उधार ले जाया करते थे तथा समयपर रुपया वापस कर देते थे। अन्तिम बार जब कपड़ा उधार खरीदा, तब उन्हें यह नहीं मालूम था कि उनका अन्तिम समय आ गया है। वे कपड़ा खरीदकर अपने गाँव चले गये, वहाँ जाकर बीमार पड़ गये और उन्हें भरोसा हो गया कि अब बचना मुश्किल है। उनके इकलौते पुत्रको मालूम पड़ा तो वह सेवा-शुश्रूषाके लिये ग्वालियरसे अपने गाँव चला आया। चौबेजीने अपने बेटेसे कहा—रामदेव! भूल मत जाना, मैं ग्वालियरके भूरा सेठकी दूकानसे कपड़ा उधार लाया था। मेरे मरणोपरान्त तुम उनके रुपये जरूर दे आना। भगवान्की मर्जी कुछ दिन बाद उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी। रामदेवको ग्वालियरमें सर्विसपर ड्यूटी ज्वाइन करनी थी अतः वे वापस आ गये।

इधर देहावसानके कुछ दिन बाद हमें मालूम पड़ा कि चौबेजीका स्वर्गवास हो गया। हमारे मनमें विचार आया कि चौबेजी तो बड़े सच्चे, ईमानदार तथा स्पष्टभाषी एवं हमारे अत्यन्त प्रेमी थे, उनके खातेमें हमारे रुपये लेना निकल रहे हैं, भगवान्की बहीमें भी जरूर बाकी निकल रही

होगी। चौबेजीको कहीं इसकी सजा न मिल जाय, इसलिये हमने अपनी जेबसे रुपये निकालकर दूकानके गल्लेमें रख दिये और खातेमें जमा कर दिये।

पाँच-सात दिन बाद उनके सुपुत्र आये और बोले—पिताजीकी तरफ कितने रुपये लेना बाकी हैं? हमने कहा कुछ नहीं लेना है। वे बोले पिताजीने मृत्युसे पहले मुझसे कहा है कि तुम रुपये जरूर देकर आना। हम दोनोंमें रुपये लेने तथा न लेनेके विषयमें बहस होती रही। आखिर वे बोले कि आप अपना खाता निकालें। हमने खाता निकालकर उन्हें दिखा दिया, उन्होंने जमाकी तारीख पकड़ ली और हँसकर कहा कि हमारे पिताजी तो इस तारीखके १० दिन पूर्व स्वर्गलोक पधार चुके थे, रुपये कौन जमा कर गया, क्या वे स्वर्गसे आकर जमा कर गये? हमने उत्तर दिया कि हमारे यहाँ खातेमें जमा हैं इसलिये हम रुपये नहीं लेंगे। वे फिर हँसकर बोले कि आप झूठे और आपका खाता झूठा। हमने सोचा कि ये तो सच्चे और स्पष्टभाषी पिताके पुत्र हैं। आखिर हमने मान लिया और सच्ची बात बता दी और निवेदन किया कि भाई चौबेजी आपके पिता और हमारे मित्र थे। हम उन्हें बहुत आदरकी दृष्टिसे देखते थे, इसलिये कृपा करो। वे नहीं माने और हठपूर्वक हमें पूरे रुपये दे गये। आजके महान् घोर कलियुगमें ऐसी भी नजीर देखनेको मिल जाती है। धन्य है स्वर्गवासी पिताको एवं पितृभक्त आज्ञाकारी पुत्रको।

—भूरामल मित्तल

* * *

मनन करने योग्य

माँका उपदेश

[बालकोंके लिये]

'माँ! ऐसा कौन-सा उपाय है जिसके करनेसे तुम्हारी ही तरह सब लोग मुझसे प्रेम करने लगेंगे।' माँने बड़े प्यारसे अपने पुत्रको दुलारते हुए कहा—'बेटा! तुम्हारी यह इच्छा बड़ी अच्छी है। मुझे तो तुम यों भी बड़े अच्छे लगते हो, परंतु इसमें मेरी ममता भी कारण हो सकती है। जब तुम्हारे अन्दर अच्छे-अच्छे गुण आ जायँगे तब तो सभी लोगोंकी दृष्टिमें तुम अच्छे हो जाओगे, सब लोग तुम्हारा सम्मान करेंगे और तुम्हारे मनमें भी बड़ी प्रसन्नता होगी। देखो, मेरे पड़ोसीका लड़का ध्रुव कितना अच्छा लड़का है। उससे सब लोग खुश रहते हैं। उसकी बातका सब विश्वास करते हैं। वह कभी झूठ नहीं बोलता। उसके मुँहसे कभी किसीने कड़वी बात नहीं सुनी। जरूरत न होनेपर वह सच्ची बात भी नहीं कहता, चुप रह जाता है। समय देखकर किसीकी भलाईकी बात तब कहता है जब उसकी समझमें वह बात ठीक-ठीक बैठ जाती है। इसीसे बड़े-बड़े लोग भी उसकी बात बड़े ध्यानसे सुनते हैं। यदि तुम भी बोलनेमें हमेशा खयाल रखोगे तो सब लोग तुम्हें भी उसी तरह मानेंगे।

बेटा! सच बोलनेका इतना ही लाभ नहीं है कि लोग उसकी बात मानें और उसका सम्मान करें, जो सत्य बोलनेका नियम ले लेते हैं वे सच्ची बात जाननेकी चेष्टा भी करते हैं और सावधान रहते हैं कि कहीं मेरे मुँहसे झूठ न निकल जाय, कहीं मैं गलती न कर बैठूँ। इससे उनके मनमें सचाई जाननेकी इच्छा बढ़ती है और वे सत्यस्वरूप परमात्माको जान लेते हैं। सत्यकी खोज और सत्यवाणीसे भगवान् प्रसन्न होते हैं तथा उसकी मुँहमाँगी चीज दे देते हैं। यहाँतक सुना गया है कि जो बारह वर्षतक सच ही बोलता है, कभी अनजानमें भी झूठ नहीं बोलता, उसकी वाणी सिद्ध हो जाती है और वह यदि कभी किसी वस्तुके बारेमें असावधानीसे भी कुछ कह देता है तो वह वैसी ही हो जाती है।

'माँ! तुम तो कहती हो कि सच बोलना चाहिये परंतु मेरे कई साथी तो झूठ बोलते हैं, छल करते हैं और लोग उनका ही आदर करते हैं। तब मैं कैसे मानूँ कि सच बोलना अच्छा है?'

'बेटा! उन लोगोंकी चालाकी तभीतक चलती है जबतक उनकी पोल नहीं खुलती। जब सब लोग जान जायँगे कि ये झूठ बोलते हैं, तब उनकी सच्ची बातका भी

विश्वास नहीं करेंगे। जो लोग झूठ बोलते हैं वे भी झूठोंका विश्वास नहीं करते। उन्हें किसी बातका पता लगाना होता है तब वे झूठोंसे नहीं पूछते, सच्चे लोगोंसे ही पूछते हैं। इससे सिद्ध होता है कि झूठे लोग भी सचाईका महत्त्व स्वीकार करते हैं। झूठ भी सचकी आड़में ही चलता है। यदि सत्यका परदा न हो तो झूठ चल ही नहीं सकता। परंतु सत्य झूठके परदेके बिना भी चलता है, इससे भी सत्यका ही गौरव सिद्ध होता है। इसलिये बेटा! तुम्हें हमेशा सच ही बोलना चाहिये।'

'माँ! सच बोलनेपर कई बार डाँट-फटकार भी सहनी पड़ती है। यदि मैं पिताजीसे कह दूँ कि मेरे पैसे फलाँ काममें खर्च हुए हैं तो वे नाराज होते हैं और कभी-कभी दण्ड भी देते हैं। परंतु यदि वही बात छिपा लेता हूँ तब वे कुछ नहीं बोलते, फिर मैं उनसे सच-सच कैसे कहूँ?'

'बेटा! तुम्हारे पिता बड़े समझदार हैं, उन्होंने दुनिया देखी है, उनका बड़ा अनुभव है, वे जिस कामसे रोकते हैं वह तुम्हें नहीं करना चाहिये। वे जब चाहते हैं कि तुम उन कामोंमें फजूल पैसे न खर्च करो और तुम कर देते हो तब उन्हें नाराज होना ही चाहिये। वे तुम्हारे भलेके लिये ही तुमपर नाराज होते हैं। तुम वैसा काम ही न करो जिससे वे नाराज हों। झूठ बोलकर छिपाना तो बड़ा पाप है, इससे तुम्हारी आदत बिगड़ जायगी और तुम्हारे अन्दर बहुत-सी बुराइयाँ आ जायँगी। जब उन्हें मालूम होगा कि तुमने झूठ बोलकर उन्हें धोखा दिया है तब तो उनकी नाराजगी और भी बढ़ जायगी। झूठ बोलनेसे ही मनमें तरह-तरहके पाप आ बसते हैं। यदि तुम अपनी बातें सच-सच बतला दिया करोगे तो तुम्हारे सब पाप, तुम्हारी सब बुराइयाँ स्वयं ही छूट जायँगी।'

बेटा! तुम्हारे जो साथी झूठ बोलते हैं, उनसे अलग रहना ही अच्छा है; क्योंकि वे झूठके बलपर अपनी बहुत-सी बुराइयाँ छिपाये रखते हैं। उनके साथ रहने और हेल-मेल करनेसे वे दोष अपने अन्दर भी आ जाते हैं और उसी तरह झूठ बोलकर दोष छिपानेकी आदत पड़ जाती है। तुम केवल वैसे लोगोंमें ही रहा करो जो सच बोलते हों और जिनका चरित्र पवित्र हो। चरित्र ही सब कुछ है। जिसका आचरण ठीक है उसकी बुद्धि बड़ी तेज होती है, वह किसीसे डरता नहीं, उसका चेहरा चमकता रहता है। शरीरके सुगठित, बलवान् और सुन्दर होनेके लिये, मनके निर्भय और ज्ञान-सम्पन्न होनेके लिये चरित्रकी रक्षा परम आवश्यक है। चरित्रकी रक्षाके लिये सत्य सबसे बड़ा सहारा है।

सत्यके साथ-साथ पहले कही हुई बातोंका भी ध्यान रखनेसे सबका प्यार और सबसे बढ़कर परमात्माका प्यार प्राप्त हो जाता है। उन बातोंको फिरसे याद कर लो—

१—सत्य ही बोला जाय।

२—कड़वी बात न कही जाय।

३—भलाईकी ही बात कही जाय।

४—जहाँतक हो सके, थोड़ेमें ही अपनी बात पूरी कर दी जाय।

५—बिना मौकेके कोई बात न कही जाय।

आशा है तुम इन गुणोंको अपनाओगे। जब ये गुण तुम्हारे अन्दर आ जायँगे तब सब लोग तुम्हें अपना समझने लगेंगे। क्या तुम इनका अभ्यास करोगे? 'हाँ, माँ! मैं अवश्य करूँगा। कुछ और बताओ।' 'अच्छा, अब दूसरे दिन।'

* * *

जड पंच मिलै जेहिं देह करी, करनी लखु धौं धरनीधरकी।
जनकी कहु, क्यों करिहै न सँभार, जो सार करै सचराचरकी॥
तुलसी! कहु राम समान को आन है, सेवकि जासु रमा घरकी।
जगमें गति जाहि जगत्पतिकी परवाह है ताहि कहा नरकी॥

(कवितावली)

* * *

LIBRARY Gurukul Kangri Vishwavidyalaya

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

आज सारे संसारमें जीवनकी जटिलताएँ बढ़ती जा रही हैं। अधिकतर लोग अपनी असीमित भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेमें संलग्न हैं। वे अपने क्षुद्र स्वार्थकी सिद्धिके लिये दूसरोंका अहित करनेमें भी कोई संकोच नहीं करते। परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, कलह और हिंसाके वातावरणमें अशान्त स्थिति है। देशके कुछ भागोंमें तो हिंसाका नग्न ताण्डव दिखायी दे रहा है। अधिकतर लोग मानसिक तनावके शिकार बनते जा रहे हैं। कलिका प्रकोप सर्वत्र व्याप्त है। प्रश्न यह होता है कि इस स्थितिका समाधान क्या है? ऋषि-महर्षि, मुनि और शास्त्रोंने इस स्थितिको अपनी अन्तर्दृष्टिसे देखकर बहुत पहलेसे यह घोषित कर दिया है कि 'कलिकालमें मानव-कल्याण और विश्वशान्तिके लिये श्रीहरि-नामके अतिरिक्त कोई दूसरा सुलभ साधन नहीं है।' इसीलिये यह बात जोर देकर शास्त्रोंमें कही गयी है कि 'भगवान् श्रीहरिका नाम ही एकमात्र जीवन है। कलियुगमें इसके अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा—चारा नहीं है'—

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(ना० पूर्व० ४१। ११५)

हमारे शास्त्रोंके अतिरिक्त अनुभवी संत-महात्माओंने भी भगवन्नाम-स्मरण-जपको कलियुगका मुख्य धर्म (ऐहिक-पारलौकिक कल्याणकारी कर्तव्य) माना है। इतना ही नहीं, जगत्‌के समस्त धर्म-सम्प्रदाय भी किसी-न-किसी रूपमें भगवान्‌के नाम-स्मरण-जपके महत्त्वको प्रतिपादित करते हैं। नामके जप-स्मरणमें देश-काल-पात्रका कोई भी नियम नहीं है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुने भी कहा है—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।

'हे भगवन्! आपने लोगोंकी विभिन्न रुचि देखकर नित्य-सिद्ध अपने बहुत-से नाम कृपा करके प्रकट कर दिये। प्रत्येक नाममें अपनी सारी शक्ति भर दी और नाम-स्मरणमें देश-काल-पात्रका कोई नियम भी नहीं रखा।'

विपत्तिसे त्राण पानेके लिये आज श्रीभगवन्नामका स्मरण ही एकमात्र उपाय है। ऐसा कौन-सा विघ्न है, जो भगवन्नाम-स्मरणसे नहीं टल सकता और ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो नहीं मिल सकती? इस कलिकालमें मङ्गलमय भगवान्‌के आश्रयके लिये भगवन्नामका सहारा ही एकमात्र अवलम्बन है। अतएव भारतवर्ष एवं समस्त विश्वके कल्याणके लिये, लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक सुख-शान्तिके लिये तथा साधकोंके परम लक्ष्य एवं मानव-जीवनके परम ध्येय भगवान्‌की प्राप्तिके लिये सबको भगवन्नामका स्मरण-जप-कीर्तन करना चाहिये।

अतः 'कल्याण' के भाग्यवान् ग्राहक-अनुग्राहक, पाठक-पाठिकाएँ स्वयं तथा अपने इष्ट-मित्रोंसे प्रतिवर्ष भगवन्नाम-जप करते-कराते आये हैं।

गत वर्ष पचास करोड़ नाम-जपकी प्रार्थना की गयी थी, परंतु इस वर्ष विभिन्न स्थानोंसे जो सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं उनके अनुसार पैंतालीस करोड़, सत्ताईस लाख, पचहत्तर हजार मन्त्रके नाम-जप हुए हैं, जिन्हें इसी अङ्कमें प्रकाशित किया गया है। पिछले वर्ष इस नाम-जपकी संख्या लगभग अड़तालीस करोड़, अस्सी लाख, दस हजार थी, परंतु इस वर्ष यह संख्या कुछ कम हुई है। यद्यपि जपकर्ताओंकी सूचना अभीतक लगातार आ रही है, किंतु विलम्बसे सूचना आनेपर उसे प्रकाशित करना सम्भव नहीं है। अतः जपकर्ताओंको जप पूरा होनेके अनन्तर तत्काल सूचना प्रेषित करनी चाहिये, जिससे उनके जपकी संख्या प्रकाशित की जा सके।

आप महानुभावोंसे इस वर्ष पचास करोड़ भगवन्नाम-मन्त्र-जपकी प्रार्थना की जा रही है, यह नाम-जप अधिक उत्साहसे करना तथा करवाना चाहिये। जिससे भगवन्नाम-जपकी संख्यामें उत्तरोत्तर वृद्धि हो।

निवेदन है कि पूर्ववत् कार्तिक शुक्ल पूर्णिमासे जप आरम्भ किया जाय और चैत्र शुक्ल पूर्णिमा

(वि० सं० २०६१)-तक पूरा किया जाय। पूरे पाँच महीनेका समय है।

भगवान्‌के इस प्रभावशाली नामका जप स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र सभी कर सकते हैं। इसलिये 'कल्याण' के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे हाथ जोड़कर विनयपूर्वक प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक सबके परम कल्याणकी भावनासे स्वयं अधिक-से-अधिक जप करें और प्रेमके साथ विशेष चेष्टा करके दूसरोंसे भी जप करवायें। नियमादि सदाकी भाँति ही हैं—

(१) जप प्रारम्भ करनेकी तिथि कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा (दिनाङ्क ८।११।२००३ ई०) शनिवार रखी गयी है। इसके बाद किसी भी तिथिसे जप आरम्भ कर सकते हैं, परंतु उसकी पूर्ति चैत्र शुक्ल पूर्णिमा वि० सं० २०६१ को कर देनी चाहिये। इसके आगे भी अधिक जप किया जाय तो और उत्तम है।

(२) सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

(३) एक व्यक्तिको प्रतिदिन उपरिनिर्दिष्ट मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार (एक माला) जप अवश्य ही करना चाहिये, अधिक तो कितना भी किया जा सकता है।

(४) संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे अथवा अङ्गुलियोंपर या किसी अन्य प्रकारसे भी रखी जा सकती है। तुलसीजीकी माला उत्तम होगी।

(५) यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय—सोनेके समयतक इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

(६) बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा न हो सके तो बादमें अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

(७) संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं; उदाहरणके रूपमें—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—सोलह नामके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपें तो उसके प्रति मन्त्र-जपकी संख्या १०८ होती है, जिसमें भूल-चूकके लिये ८ मन्त्र बाद कर देनेपर गिनतीके लिये एक सौ मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिन जो भाई-बहन मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ल पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर हमें अन्तमें सूचित करें। सूचना भेजनेवाले सज्जन जपकी संख्याकी सूचना ही भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि नहीं। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

(८) प्रथम सूचना तो मन्त्र-जप प्रारम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र पूर्णिमातक जितनी जप-संख्याका संकल्प किया हो, उसका उल्लेख रहे और दूसरी बार जप आरम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या उल्लिखित हो।

(९) प्रथम सूचना प्राप्त होनेपर जपकर्ताको सदस्यता दी जाती है। द्वितीय सूचना भेजते समय सदस्य-संख्या अवश्य लिखनी चाहिये।

(१०) जप करनेवाले सज्जनको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव नष्ट हो जायगा। स्मरण रहे, ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साहवृद्धिमें सहायक होकर प्रभावक बनते हैं।

(११) सूचना संस्कृत, हिन्दी, मराठी, मारवाड़ी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी, उर्दूमें भेजी जा सकती है।

सूचना भेजनेका पता—
नामजप-कार्यालय, द्वारा—'कल्याण' सम्पादकीय विभाग,
गीताप्रेस, पो०—गीताप्रेस—२७३००५ (गोरखपुर)

प्रार्थी—
राधेश्याम खेमका
सम्पादक—'कल्याण'

* * *

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्धस्त्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

वर्ष ७७
गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष, वि० सं० २०६०, श्रीकृष्ण-सं० ५२२९, नवम्बर २००३ ई०
संख्या ११
पूर्ण संख्या ९२४

भाइयोंसहित श्रीरामकी भाँवरी

कुअँरु कुअँरि कल भावँरि देहीं। नयन लाभु सब सादर लेहीं॥
जाइ न बरनि मनोहर जोरी। जो उपमा कछु कहौं सो थोरी॥
राम सीय सुंदर प्रतिछाहीं। जगमगात मनि खंभन माहीं॥
मनहुँ मदन रति धरि बहु रूपा। देखत राम बिआहु अनूपा॥
दरस लालसा सकुच न थोरी। प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी॥
भए मगन सब देखनिहारे। जनक समान अपान बिसारे॥
प्रमुदित मुनिन्ह भाँवरीं फेरीं। नेगसहित सब रीति निबेरीं॥

* * *

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,५०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष, वि० सं० २०६०, श्रीकृष्ण-सं० ५२२९, नवम्बर २००३ ई०

विषय — पृष्ठ-संख्या

१- भाइयोंसहित श्रीरामकी भाँवरी ९२५
२- कल्याण (शिव) ९२७
३- अपना जीवन दूसरोंके हितके लिये हो (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ९२८
४- भगवत्प्राप्तिके चार साधन (श्री जय जय बाबा) ९३१
५- भक्त और भगवान्‌का सम्बन्ध (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ९३३
६- क्या मृत्युके बाद नेत्रदान उचित है? (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ९३५
भगवान्‌की अनन्त महिमा तथा भक्तिनिष्ठा (पं० श्रीविष्णुदत्तरामचन्द्रजी दुबे) ९३६
८- साधकोंके प्रति—(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ९३८
९- पतित-पावन (श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम') ९४१
१०- 'नामु राम को कलपतरु' (डॉ० श्रीचन्द्रभूषणलालजी वर्मा, एम्० ए०, पी-एच्०डी०) ९४४
११- साधक-प्राण-संजीवनी (गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज) ९४६

विषय — पृष्ठ-संख्या

१२- प्रेमके लक्षण (अनुभाव) (पं० श्रीकृष्णानन्दजी उपाध्याय) ९५०
१३- अब न द्रवहु केहि लेखे? ९५३
१४- 'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना' (श्रीहरिहरजी उपाध्याय) ९५५
१५- सामाजिक मर्यादा—श्रीरामचरितमानसका सुन्दरकाण्ड (डॉ० श्रीघनश्यामजी व्यास, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न) ९५८
१६- *भक्तोंके पावन चरित—* संकीर्तन-प्रेमी कवि चण्डीदास (डॉ० श्रीविद्यानन्दजी 'ब्रह्मचारी', एम्० ए०, बी० एड्०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०) ९६१
१७- साधनोपयोगी पत्र ९६३
१८- व्रतोत्सव-पर्व [पौषमासके व्रत-पर्व] ९६५
१९- व्रतोत्सव-पर्व [माघमासके व्रत-पर्व] ९६६
२०- गुरुजीका उपदेश ९६७
२१- पढ़ो, समझो और करो ९६८
२२- मनन करने योग्य [धनकी अन्धपूजा] ९७१

* * *

चित्र-सूची

१- ध्रुवपर कृपा .... (रंगीन) .... आवरण-पृष्ठ
२- चारों भाई वर-रूपमें .... (") .... मुख-पृष्ठ

* * *

वार्षिक शुल्क—भारतमें
१३० रु० (सजिल्द १५० रु०)
चालूवर्षका शुल्क—
१२० रु० (सजिल्द १३५ रु०)
विदेशमें—
US$25 (Air Mail)
US$13 (Sea Mail)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

पञ्चवर्षीय शुल्क
भारतमें ६५० रु०
सजिल्द ७५० रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$125 (Air Mail)
US$ 65 (Sea Mail)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित
website : www.gitapress.org | e-mail : booksales@gitapress.org

कल्याण

याद रखो—दुःखोंसे घबराओ मत। दुःख तुम्हारी भलाईके लिये ही तुम्हारे पास आते हैं। प्रत्येक दुःखको अपने पहले किये हुए किसी कर्मका ही फल समझो।

याद रखो—दुःखकी प्राप्तिसे तुम्हारे कर्मका भोग पूरा हो जाता है और तुम कर्मफलके बन्धनसे मुक्त होकर निर्मल हो जाते हो। भीष्मपितामहने तो देहत्यागके पूर्व कर्मोंको पुकारकर कहा था कि 'यदि मेरे कोई कर्म शेष हों तो वे आकर मुझे अपना फल भुगता दें।' अतएव कोई भी दुःख प्राप्त हो तो उसको शान्तिपूर्वक भोगो और मनमें यह जानकर सुखी होओ कि कर्मफलका भोग हो गया यह बहुत उत्तम हुआ।

याद रखो—तुम्हारे प्रत्येक सुख-दुःखका विधान भगवान् किया करते हैं, भगवान् परम दयालु हैं, उनका कोई विधान ऐसा नहीं होता जिसमें तुम्हारा कल्याण न भरा हो। इसलिये प्रत्येक दुःखकी प्राप्तिमें उनका विधान समझकर आनन्द प्राप्त करो। निश्चय समझो, इस दुःखको तुम्हारे मङ्गलके लिये ही भगवान्ने तुम्हारे ऊपर भेजा है।

याद रखो—अभावके अनुभव या प्रतिकूल अनुभवका नाम ही दुःख है। अभावका अथवा प्रतिकूलताका बोध राग-द्वेषके कारण तुम्हारी अपनी भावनाके अनुसार होता है। राग-द्वेष न हो तो सब अवस्थाओंमें आनन्द रह सकता है। संसारमें जो कुछ होता है, सब भगवान्की लीला है, उनका खेल है, यह समझकर कहीं राग और ममता तथा द्वेष एवं विरोध न रखकर प्रतिकूलता या अभावके बोधका त्याग कर दो, फिर कोई भी दुःख तुमपर असर नहीं डाल सकेगा।

याद रखो—मनके अनुकूल विषयोंकी अप्राप्ति अथवा नाशका नाम ही दुःख है। विषयोंकी प्राप्तिसे मन विषयोंमें अधिक फँसता है। इसीलिये मुमुक्षु साधक जानबूझकर धन-मान, सम्पदा, यश आदि सुखरूप विषयोंका त्याग किया करते हैं। यदि तुम्हारे पास ये विषय न रहें या होकर नाश हो जायँ तो यही समझो, तुम एक बहुत घने दुःखजालसे छूट गये हो। इस अवस्थामें किसी प्रकारसे भी व्यथित मत हो।

याद रखो—सांसारिक सुख-दुःख नाम और रूपको लेकर होते हैं, तुम आत्मस्वरूप हो, तुम न शरीर हो, न नाम हो। तुम तो सदा ही सब सुख-दुःखोंके द्रष्टा हो। तुमने लड़कपनको देखा, जवानी देखी, बुढ़ापा देखते हो। अवस्थाएँ बदल गयीं, परंतु तुम देखनेवाले वह-के-वह हो, इसीसे तुम्हें वे देखी हुई बातें याद आती हैं। निश्चय करो, तुम भोक्ता नहीं हो, तुम तो द्रष्टामात्र हो, सुख-दुःखोंसे सर्वथा परे हो, निर्लेप हो। तुम्हारे आत्मस्वरूपमें आनन्द-ही-आनन्द है। वह न कभी धनहीन होता है, न अपमानित होता है, न निन्दित होता है, न बीमार होता है और न मरता है। वह सब अवस्थाओंमें सम रहता है। फिर तुम नामरूपसे सम्बन्धित घटनाओंको दुःखका नाम देकर व्यथित क्यों होते हो? इस मूर्खताको छोड़कर हर-हालतमें आनन्दका अनुभव करो। तुमपर कभी दुःख आ ही नहीं सकता। तुम दुःखको ग्रहण करते हो, इसीसे दुःख आता है। ग्रहण करना छोड़ दो फिर कोई भी दुःख तुम्हारे पासतक नहीं फटकेगा।

याद रखो—अपना तन-मन-धन सब भगवान्को अर्पण कर दो; तुम्हारा है भी नहीं, भगवान्का ही है। अपना मान बैठे हो—ममता करते हो, इसीसे दुःखी होते हो। ममताको सब जगहसे हटाकर केवल भगवान्के चरणोंमें जोड़ दो, अपने माने हुए सब कुछको भगवान्को अर्पण कर दो। फिर वे अपनी चीजको चाहे जैसे काममें लायें, बनायें या बिगाड़ें। तुम्हें उसमें व्यथा क्यों होने लगी? भगवान्को समर्पण करके तुम तो निश्चिन्त और आनन्दमग्न हो जाओ।

याद रखो—विधान और विधातामें कोई भेद नहीं है। खेल भी वही और खिलाड़ी भी वही। इस परम रहस्यको समझकर हर-हालतमें, प्रत्येक अवस्थामें विधानके रूपमें आये हुए विधाताको पहचानकर उन्हें पकड़ लो! फिर आनन्द-ही-आनन्द है।—**'शिव'**

* * *

अपना जीवन दूसरोंके हितके लिये हो*

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

संसारमें शिक्षा देनेवालोंकी कमी नहीं है, परंतु उसी पुरुषकी शिक्षाका असर हो सकता है जो स्वयं उस बातका पालन करे। मैं किसीको विवाह शादीमें कम खर्च करनेके लिये कहूँ, यदि स्वयं वैसा नहीं करता तो असर नहीं होगा।

मैं सन्ध्या-गायत्रीके लिये कहूँ, किंतु स्वयं पालन न करूँ तो कुछ असर नहीं पड़ेगा। शास्त्रकी आज्ञा है जो बात स्वयं पालन करे वही कहनी चाहिये, उसका ही असर पड़ता है।

बहुत उच्च श्रेणीके पुरुष होते हैं, उनके व्यवहारका दूसरोंपर असर पड़ता है, वे चाहे मौन ही रहें। संसारमें ऐसे बहुत-से संत हैं, जो गुफामें ही बैठे रहते हैं। वे वहाँ बैठे हुए भी दुनियाका उपकार करते हैं। अच्छी बात किसीमें हो, उसे ग्रहण कर लेना चाहिये।

वृक्ष हमें शिक्षा दे रहे हैं, छाया देते हैं, दातुन तोड़ लो मना नहीं करते। इनसे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हमारे अधिकारमें जो चीज है, उसे कोई भी काममें ले ले। हमलोग वटवृक्षके नीचे बैठते हैं, छाया मिलती है, वह किसीसे कुछ नहीं माँगता। कोई इसमें जल डालता है, कोई नहीं, वह तो सबको समानभावसे छाया देता है। ऐसे ही हमें निष्कामभाव रखना चाहिये। बहुत-से वृक्ष फल देते हैं बदलेमें कुछ नहीं चाहते। इनमें सहनशक्ति कितनी है, ऐसे ही हमें सहनशक्ति धारण करनी चाहिये।

हम देखते हैं छोटे-छोटे पौधे हमलोगोंको कितनी शिक्षा दे रहे हैं। उनका शरीर दूसरोंके लिये ही है। हमलोगोंको भी अपना शरीर दूसरोंके लिये ही समझना चाहिये। जो दूसरोंके लिये जीता है, उसीका जीवन धन्य है।

पौधे हमारे देखते-देखते बढ़ते हैं, फिर गिर जाते हैं। हमें शिक्षा लेनी चाहिये कि हमारा शरीर भी उसी तरह उत्पन्न होता, स्थित होता और अन्तमें मर जाता है। सारे पदार्थ हमें शिक्षा दे रहे हैं, हमें अपना कर्तव्य सोचना चाहिये कि हमारा क्या कर्तव्य है?

संसारमें कोई भी चीज हो उससे शिक्षा लेनी चाहिये। वर्तमानमें हममें बुरी आदतें हैं, बुरा भाव है, उसे हटाना चाहिये। जो चीज जिसमें अच्छी हो उससे ग्रहण करनी चाहिये। अच्छे पुरुषोंकी जीवनी, दर्शन और गुणोंसे हमें शिक्षा मिलती है, वे तो शिक्षालय ही हैं।

चादरसे हमें शिक्षा मिल सकती है। जिसकी चादर है वह सिरपर रखे, चाहे पैरोंमें रखे वह कुछ नहीं कहती। चाहे फाड़ो, आगमें डाल दो कुछ नहीं बोलती, अपने-आपको अपने मालिकको सौंप रखा है। यह शिक्षा दे रही है कि जैसे मैं अपने स्वामीकी शरण हूँ यही शरणका भाव है। जहाँतक अपना अधिकार है, वह सब कुछ भगवान्‌के अर्पण कर देना, भगवान्‌के काममें ही लगा देना है।

कठपुतलीने अपने-आपको सूत्रधारके अर्पण कर रखा है। हमें भी अपने-आपको परमात्माके अर्पण कर देना चाहिये। वे जो कुछ करें, उनकी सारी क्रियामें मौन रहना चाहिये। उनके नाम-गुणोंका कीर्तन, भजन, स्मरण, ध्यान भी करना चाहिये। कठपुतली यह नहीं कर सकती। हमें यह विशेष करना चाहिये। गीतामें भगवान्‌ने बताया है—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥
(१८।५७)

सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो।

इसी प्रकार हमें अपने शरीरकी तरफ देखकर निर्णय करना चाहिये कि यह किस कामकी चीज है। दुनियामें ऐसा कोई काम नहीं जो मनुष्य नहीं कर सके। चादर तो मनुष्यकी ही सेवा कर सकती है। मनुष्य, देवता, भूत, पितर, यक्ष, राक्षस, वृक्ष तथा पशु आदि दुनियामें जितने प्राणी हैं, सबकी सेवा मनुष्य कर सकता है। मनुष्यके अलावा कोई प्राणी ऐसा नहीं कर सकता। मनुष्य-शरीर तुम्हारे हाथ है, यह जबतक तुम्हारे पास है सबकी सेवा करो, सबकी सेवा करना ही महायज्ञ है।

हमलोगोंको जो कर्तव्य बताये गये हैं पञ्च महायज्ञ आदि, वे इसी बातका उपदेश देते हैं कि सबकी सेवा करो। बलिवैश्वदेव हम करते हैं। विश्वको बलि देनेका नाम बलिवैश्वदेव है, उससे सारे विश्वको भोजन दिया जाता है। अग्निमें आहुति दी जाती है उससे देवता, यक्ष, राक्षस आदि सब तृप्त होते हैं और बलिवैश्वदेवमें जो आहुतियाँ भूमिपर

---

* प्रवचन दिनाङ्क ६।५।१९४१, दोपहर, वटवृक्ष, स्वर्गाश्रम।

दी जाती हैं, वह अन्न अतिथिको, गौको दिया जाता है। गौको देनेसे सबकी तृप्ति होती है। वह अन्न गौको देनेसे सबको पहुँच जाता है।

घृताक्त अन्नाहुतिका पहला मन्त्र है—**'ॐ ब्रह्मणे स्वाहा, इदं ब्रह्मणे न मम।'**

इसका फल मैं नहीं चाहता हूँ कितना त्याग भरा हुआ है, कितना ऊँचा भाव है, भगवान्‌की तृप्तिसे सबकी तृप्ति हो जाती है।

एक समय दुर्वासा ऋषि दुर्योधनके पास गये, कहा मेरे साथ दस हजार शिष्य हैं, हमारे लिये भोजन तैयार रखना। दुर्योधनने भोजन तैयार करा दिया। जब-जब दुर्वासा आते भोजन हर समय तैयार मिलता। रात्रिको आते तब भी तैयार मिलता। ऋषि प्रसन्न हो गये, कहा—'मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, क्या चाहते हो?' दुर्योधनने कहा—जैसे मेरे पास आप आये, इसी प्रकार युधिष्ठिरके पास भी उस समय जायँ, जब द्रौपदी भोजन कर चुके। दुर्योधनने सोचा ये वहाँ जायँगे, वे भोजन करा नहीं सकेंगे, शाप दे देंगे तो मामला खतम हो जायगा, युद्ध नहीं करना पड़ेगा। दुर्वासाने कहा ठीक है। वे गये, युधिष्ठिरसे कहा हमारे लिये भोजन तैयार करो, हम स्नान करके आते हैं। युधिष्ठिरने कहा ठीक है। द्रौपदीके पास गये और कहा— दुर्वासाजी आये हैं, द्रौपदीने कहा मैं तो भोजन कर चुकी। द्रौपदीको एक पात्र मिला हुआ था, उससे जबतक द्रौपदी भोजन नहीं कर ले, चाहे जितने आदमी भोजन कर सकते थे। अब उस पात्रमें भोजन नहीं बनाया जा सकता था। द्रौपदीने एकान्तमें जाकर भगवान्‌से प्रार्थना की, भगवान् वहाँ प्रकट हो गये, आते ही कहा मुझे भूख लगी है। द्रौपदीने कहा प्रभो! मैं भोजन कर चुकी, अब भोजन कहाँ है? भगवान्‌ने कहा उस पात्रको लाओ। द्रौपदी पात्र लायी और उसे सामने रख दिया। उसमें एक पत्ता सागका लगा हुआ रह गया था। उस पत्तेको लेकर भगवान्‌ने भोग लगाया और कहा—**'विश्वात्मा प्रीयतां देवस्तुष्टश्चास्त्विति यज्ञभुक्'** (महा० वन० २६३। २५)। अब तो सारा विश्व तृप्त हो गया। सहदेवको भेजा कि सबको बुला लाओ। भगवान् बैठे हैं अब क्या चिन्ता है। सहदेव नदीपर गये। वहाँ किसीका पता नहीं लगा। सबके पेट भर गये थे। दुर्वासा जान गये कि ये भगवान्‌के भक्त हैं। यहाँ हमारी दुर्दशा होगी। इसलिये कहा—जल्दी भागो। सहदेव लौट आये, सारी बात कह दी। भगवान्‌ने कहा—ठीक है जब आवें तब बुला लेना।

अपना प्रकरण था परमात्माकी तृप्तिसे सबकी तृप्ति हो जाती है। हमलोगोंको नित्य बलिवैश्वदेवयज्ञ करना चाहिये और भगवान्‌को भोग लगाना चाहिये। उससे सारे विश्वकी तृप्ति हो जाती है। मनुष्यको क्या करना चाहिये? दूसरोंके लिये जीना चाहिये, अपने लिये नहीं जीना चाहिये।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(गीता ३। १३)

यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपने शरीर-पोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं।

देवताओंका दिया हुआ भोजन उन्हें बिना दिये करना चोरी है, वह इन्द्रियाराम है, उसका जीना धिक्कार है। इस प्रकार भगवान्‌ने उसकी बहुत निन्दा की है, जो बिना यज्ञ किये भोजन करता है। सारे विश्वको भोजन देकर फिर भोजन करनेमें खर्च एक पैसेका तथा समय तीन मिनटका लगता है, तब भी हम गालियाँ सहें, भगवान्‌की आज्ञाकी अवहेलना करें, यह कहाँतक उचित है। स्त्री, और शूद्र बिना मन्त्र पढ़े राम-राम बोलकर बलिवैश्वदेव करें। भगवान्‌के भोग लगानेमें तो सबका अधिकार है।

कोई अतिथि आये, उन्हें अपनी शक्तिके अनुसार सुख पहुँचाये, अतिथिसेवा भी महायज्ञ है। होम करना, हजारों ब्राह्मणोंको भोजन करवाना तो यज्ञ है ही, अतिथि-सेवा महायज्ञ है। जो कुछ हम भोजनके लिये लाते हैं, दूसरोंको देते-देते वह समाप्त हो जाय, हम भूखे रह जायँ तो वह अश्वमेधयज्ञके समान है।

अतिथिकी सेवा एवं बलिवैश्वदेव—ये महायज्ञ हैं। नित्य प्रति जो तर्पण करता है वह भी महायज्ञ करता है। जैसे बलिवैश्वदेवमें सबको अन्न दिया जाता है, इसी प्रकार तर्पणमें सबको जल दिया जाता है। यदि कहो क्या उससे सबको जल मिलता है, शास्त्र कहता है—मिलता है। थोड़ी देरके लिये मान लो नहीं मिलता तो हमारा भाव तो पवित्र होता है। सारे संसारको भोजन और जल देकर स्वयं भोजन करना कितना पवित्र भाव है।

हम सन्ध्या करते हैं—**'पश्येम शरदः शतम्'** आदि

बोलते हैं, सबका कल्याण चाहते हैं, कितना त्याग है, इसीलिये तो यह महायज्ञ है। इसी प्रकार गायत्रीमें परमात्मासे प्रार्थना करते हैं, हम सबकी बुद्धिको अपनेमें लगायें। केवल मेरी ही नहीं, हम सबकी, इसलिये यह भी महायज्ञ है।

हमको सबके लिये अपना जीवन धारण करना चाहिये। वेदभगवान् कहते हैं जो इस प्रकार कर्म करता है, वह लिपायमान नहीं होता। हम माला फेरें, किसके लिये, सबके कल्याणके लिये, इससे बड़ा लाभ होता है। सबका हित हो ऐसा त्याग किया, उसका जो फल हुआ वह भी सबके लिये त्याग दिया, कोई भी अच्छा काम करे, जगत्-जनार्दनके लिये उसका फल अर्पण कर दे, यह निष्कामभाव है, बड़ा ऊँचा भाव है।

हर एक काममें हमें शास्त्रोंने त्याग सिखाया है। आहुति देते हैं **'न मम'** इसका यही भाव है—मेरे लिये नहीं।

जितने त्यागकी शिक्षा हमारे हिन्दू धर्ममें दी गयी है, किसी भी अन्य धर्ममें नहीं है। हमें त्याग सीखना चाहिये।

यह चद्दर वैराग्य भी सिखाती है। इस चद्दरको देखनेसे वैराग्य होता है। यह चद्दर अब पुरानी हो गयी, यह शिक्षा दे रही है कि तुम अपने शरीरकी पहलेकी अवस्थाका ख्याल करो। अब तुम भी पुराने होते जा रहे हो। जबतक तुम्हारा यह शरीर कायम है, तबतक इससे जो काम लेना हो, सो ले लो।

शास्त्र कहता है जबतक वृद्धावस्था दूर है, जबतक शरीर स्वस्थ है, तबतक जो करना हो कर लो, नहीं तो पश्चात्ताप करना पड़ेगा। तुलसीदासजी कहते हैं—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

कबीरदासजी कहते हैं—

कबीर नौबति आपणीं, दिन दस लेहु बजाइ।
ए पुर पट्टन ए गली, बहुरि न देखै आइ॥
हाड़ जलै ज्यूँ लाकड़ी, केस जलै ज्यूँ घास।
सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास॥
आजि कि काल्हि कि पचे दिन, जंगल होइगा बास।
ऊपरि ऊपरि फिरहिंगे, ढोर चरंदे घास॥

इसलिये क्या करना चाहिये? बस, भगवान्‌का भजन करना चाहिये।

राम राम रटते रहो जब लग घटमें प्रान।
कबहुँ तो दीनदयालके भनक पड़ेगी कान॥
केसौ कहि कहि कूकिये, नां सोइयै असरार।
रात दिवस कै कूकणैं, कबहूँ लगै पुकार॥

यदि प्रेम होगा तो विलम्बका काम नहीं है, जैसे द्रौपदीकी सुनी, ऐसे सुन लेंगे। संसारसे वृत्तियोंको हटाना चाहिये। संसारके पदार्थोंको क्षणभंगुर—नाशवान् समझकर इनसे वृत्तियोंको हटाकर प्यारे प्रभुमें लगाना चाहिये। संसारमें जो आनन्द मिलता है, उससे लाखों गुना अधिक आनन्द वैराग्यमें है। उससे लाखों गुना अधिक परमात्माके ध्यानमें है, उससे भी ज्यादा आनन्द परमात्माकी प्राप्तिमें है। वह परमात्माकी प्राप्ति प्रेमसे होती है। उस परमेश्वरके लिये ही हमें जीना चाहिये। सोना, खाना, जीना और रोना सब परमात्माके लिये ही होना चाहिये। ऐसे भावसे तुरंत भगवान् मिलते हैं। जैसे प्रह्लादने भगवान्‌के लिये जीवन बिताया, शबरी भीलनीने भगवान्‌के लिये अपना जीवन बिताया, इसी प्रकार हमें अपना जीवन भगवान्‌के लिये बिताना चाहिये या सबको नारायणका रूप समझकर सबकी सेवामें बिताना चाहिये। भगवान्‌ने कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९।२७)

हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
(गीता १०।९)

भाव यह है जिनका मुझमें चित्त है, जिनका जीवन केवल मेरे लिये है, जो मेरे तत्त्व-रहस्यको जाननेके लिये आपसमें वार्तालाप करते हैं, मेरे नाम, रूप, गुण और प्रभावका प्रचार करते हैं, इस प्रकार सारी इन्द्रियोंसे मेरेमें ही रमण करते हैं, इस प्रकारके रमणसे ही संतोष-लाभ करते हैं, ऐसे भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मेरेको प्राप्त हो जाते हैं।

यह भगवान्‌का उपदेश है, इसलिये हमें ऐसे ही अपना समय बिताना चाहिये।

* * *

भगवत्प्राप्तिके चार साधन

(श्री जय जय बाबा)

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।'
(गीता ९।३४, १८।६५)

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको उपदेश देते हुए कहते हैं—मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर।

यह एक ही श्लोकार्ध ऐसा है जिसकी पूरे गीताशास्त्रमें पुनरावृत्ति की गयी है। इसीसे इसका महत्त्व जान लेना चाहिये।

(१) **'मन्मना भव'**—मुझमें मनवाला हो। हमारा मन अनेक जन्मोंके भोगे हुए विषयोंके स्मृति-संस्कारोंसे भरा पड़ा है, उसमें भगवान्‌के लिये जगह ही कहाँ है? अतः पहले मनको इन स्मृति-संस्कारोंसे खाली करना होगा। उसके बाद हमको अपने मनका निरन्तर ध्यानसे निरीक्षण करना होगा कि यह किसका चिन्तन कर रहा है?

साधारणतया मन उसी बातका चिन्तन करता है जो उसे प्रिय लगती है। संस्कारवश मनको विषयभोग ही प्रिय लगते हैं। विवेकद्वारा इन नश्वर भोगोंमें वैराग्य होनेपर ही भगवान्‌की तरफ मन लग सकता है। यह वैराग्य सत्सङ्गसे तथा भगवान्‌के दिव्य जन्म-कर्म और लीला-कथा-श्रवणसे प्राप्त हो सकता है। भगवान् कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थ रूपसे जानता है।

हम थोड़ा अपने मनको ध्यानसे देखें कि वह भगवच्चिन्तन कर रहा है या फिर जगच्चिन्तन करता है। अधिकांश संसारी लोग भागवतकारके शब्दोंमें—**'सुतेषु दारेषु धनेषु चिन्तयन्'** (५।१९।१४) अपने स्त्री, पुत्र और धन-सम्पत्ति आदिके चिन्तनमें ही व्यस्त रहते हैं। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने (गीता १२।८ में) कहा है—**'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥'** हे अर्जुन! मुझमें मन लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा। इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

(२) **'मद्भक्तः'**—मेरा भक्त बन जा।

भगवान्‌का भक्त बनना क्या है? भगवान्‌को ही अपने जीवनका आधार समझना। गीताके नवम अध्यायके श्लोक १८ में श्रीभगवान्‌ने उनके साथ बारह प्रकारके सम्बन्ध बताये हैं, उन्हें सर्वदा याद रखना चाहिये। वे इस प्रकार हैं—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

प्राप्त होनेयोग्य परम धाम, भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, शुभाशुभका फल देनेवाला, सबका वास-स्थान, शरण लेनेयोग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाला, सबकी उत्पत्ति-प्रलयका हेतु, स्थितिका आधार, निधान और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ। भक्त वह है, जो कभी भगवान्‌से विभक्त अर्थात् अलग न हो।

(३) **'मद्याजी'**—अर्थात् मेरी पूजा कर। गीताका परम उपदेश यही है कि प्रत्येक कर्मको यज्ञमें अर्थात् भगवान्‌की पूजामें परिवर्तित कर देना। प्रत्येक कर्मद्वारा भगवान्‌की पूजा करना ही उस कर्मको यज्ञमें परिवर्तित कर देना है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

(४) **'मां नमस्कुरु'**—मुझको नमस्कार कर, प्रणाम कर। श्रीभगवान्‌को नमस्कार करना भी एक तरहसे उनका पूजन है। भगवान् श्रीकृष्णका विराट् विश्वरूप देखकर अर्जुन भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहते हैं—

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
(गीता ११।३९-४०)

आपके लिये हजारों बार नमस्कार! नमस्कार हो। आपके लिये फिर भी बारम्बार नमस्कार! नमस्कार! हे अनन्त सामर्थ्यवाले! आपके लिये आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार! हे सर्वात्मन्! आपके लिये सब ओरसे ही नमस्कार हो! 'श्रीदुर्गासप्तशती' में तो भगवतीको नमस्कारकी शृङ्खला ही बनी हुई है—**'या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै नमो नमः॥'** इस प्रकार

भगवान्‌को नमस्कार करना भी उनकी पूजा करना है।

साधारणतया अपनेसे बड़ोंको ही नमस्कार—प्रणाम किया जाता है। अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहते हैं—तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो कोई कैसे हो सकता है?

नवधा भक्तिमें भी वन्दनभक्ति बतायी गयी है। वन्दनभक्तिमें बहुत गुण हैं। हर व्यक्ति वन्दन किये जानेसे प्रसन्न होता है। कोई अपरिचित बालक आपके चरणोंका स्पर्श करके आपको नमस्कार करता है तो आपके हृदयमें प्रेम उमड़कर आपका आशीर्वाद उसतक पहुँच जाता है। प्रत्येक मन्त्रमें पहले या अन्तमें '**नमः**' शब्द होता है। जैसे— '**नमः शिवाय**' या फिर '**रां रामाय नमः**' '**क्लीं कृष्णाय नमः।**'

गीताशास्त्रमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको जो उपदेश दिया है, उसके अन्तिम दो श्लोक इस प्रकार हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा; यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको मुझमें त्याग करके तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा तू शोक मत कर।

उपर्युक्त दोनों ही श्लोक गीताके महामन्त्र हैं, सिद्ध मन्त्र हैं। इन दोनों श्लोकोंका उपदेश देनेके पूर्व भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

सम्पूर्ण गोपनीयोंमें अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको फिरसे सुन! तू मेरा अत्यन्त प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा। गुह्य, गुह्यतर, गुह्यतम और सर्वगुह्यतम इस प्रकार ये चार श्रेणियाँ हुईं। इनमेंसे श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको सर्वगुह्यतम बताकर आगेके श्लोक ६५ और ६६ का उपदेश दिया। इसमें एक विशेष बात यह है कि भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे श्लोक ६५ में प्रतिज्ञा ही नहीं, सत्य प्रतिज्ञा की है कि इन साधनोंको करनेसे निश्चय ही उसे भगवत्प्राप्ति होगी। भगवान्‌की तरफसे इससे बड़ा आश्वासन और क्या हो सकता है?

जो साधक उपर्युक्त चारों साधन पूर्णरूपसे करके भगवत्प्राप्ति कर लें तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, परंतु सत्य और अनुभवकी बात तो यह है कि इनमेंसे किसी एककी भी साधना पूर्णरूपसे हो जानेपर भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि चारों साधनोंमें किसी अंशमें एक-दूसरेका समावेश रहता है।

श्रीमद्भगवद्गीताके श्लोक १८।६६ में बताये हुए शरणागति-तत्त्वको श्रीमद्भागवतके श्लोक ११।१२।१४-१५ में अधिक विस्तारसे इस प्रकार समझाया है—

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतो भयः॥

इसलिये हे उद्धव! तुम श्रुति-स्मृति, विधि-निषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति और सुननेयोग्य तथा सुने हुए विषयोंका परित्याग करके सर्वत्र मेरी ही भावना करते हुए समस्त प्राणियोंके आत्मास्वरूप मुझ एककी ही शरण सर्वात्मभावसे ग्रहण करो; क्योंकि मेरी शरणमें आ जानेसे तुम सर्वथा निर्भय हो जाओगे। ऊपर श्लोक १५में प्रयुक्त सर्वात्मभावका क्या अर्थ है? इसको समझना आवश्यक है। विवेक-चूडामणिके श्लोक ३४० में कहा है—

सर्वात्मता बन्धविमुक्तिहेतुः
सर्वात्मभावान्न परोऽस्ति कश्चित्।
दृश्याग्रहे सत्युपपद्यतेऽसौ
सर्वात्मभावोऽस्य सदात्मनिष्ठया॥

संसार-बन्धनसे सर्वथा मुक्त होनेमें सर्वोत्तम भाव (सबको आत्मरूप देखनेका भाव)-से बढ़कर और कोई हेतु नहीं है। निरन्तर आत्मनिष्ठामें स्थित रहनेसे दृश्यका अग्रहण (बाध) होनेपर इस सर्वात्मभावकी प्राप्ति होती है।

दृश्य पदार्थका आत्मज्ञानद्वारा निरसन होनेपर मालूम होगा कि तात्त्विक दृष्टिसे अपनी आत्मा ही शेष रहती है तथा विचार करके देखनेपर मालूम होगा कि इस दृश्य प्रपञ्चका तीनों कालमें भी कोई अस्तित्व नहीं है। अतः जो त्रिकालाबाधित भगवत्तत्त्व है उसीका ही शरण सर्वथा ग्रहण करनेयोग्य है।

* * *

भक्त और भगवान्का सम्बन्ध

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[गताङ्क पृ० सं० ८८७ से आगे]

भगवान् निर्गुण भी हैं, सगुण भी, निराकार भी हैं, साकार भी, वे निष्क्रिय, निर्विशेष, निर्लिप्त और निराधार होते हुए ही सृष्टि-स्थिति-संहार करनेवाले, सविशेष, सर्वव्यापी और सर्वाधार हैं। सांख्योक्त परस्पर विलक्षण अनादि पुरुष और प्रकृति, चेतन और अचेतन दोनों शक्तियाँ, जिनसे सारा जगत् उत्पन्न होता है, भगवान्की ही परा और अपरा प्रकृतियाँ हैं। इन दो प्रकृतियोंके द्वारा वस्तुतः भगवान् ही अपनेको प्रकट कर रहे हैं। वे सबमें रहकर भी सबसे परे हैं। वे ही सबको देखनेवाले उपद्रष्टा हैं और वे ही यथार्थ सम्मति देनेवाले अनुमन्ता हैं। वे ही इसका भरण-पोषण करनेवाले भर्ता हैं, वे ही जीवरूपसे भोक्ता हैं, वे ही सर्वलोकमहेश्वर हैं, वे ही सबमें व्याप्त परमात्मा हैं और वे ही समस्त ऐश्वर्य-माधुर्यसे परिपूर्ण भगवान् हैं। वे एक होनेपर भी अनेक रूपोंमें विभक्त हुए-से जान पड़ते हैं। अनेक रूपोंमें व्यक्त होनेपर भी एक ही हैं। व्यक्त, अव्यक्त और अव्यक्तसे भी परे सनातन अव्यक्त वे ही हैं, क्षर, अक्षर और अक्षरसे भी परे उत्तम पुरुषोत्तम वे ही हैं। वे अपनी ही महिमासे महिमान्वित हैं, अपने ही गौरवसे गौरवान्वित हैं और अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित हैं।

इन भगवान्का यथार्थ स्वरूप-ज्ञान या दर्शन इनकी कृपाके बिना नहीं हो सकता। ये जिनपर अनुग्रह करके अपना ज्ञान कराते हैं, वे ही इन्हें जान सकते हैं। उनकी कृपा भक्तोंपर ही व्यक्त होती है। भक्तिरहित कर्मसे, प्रेमरहित ज्ञानसे भगवान्का यथार्थ स्वरूप नहीं जाननेमें आता। निष्कामकर्मसे भगवान्का ऐश्वर्यरूप जाना जाता है और तत्त्वज्ञानसे उनका अक्षर परब्रह्मरूप, परंतु उनके मधुरातिमधुर पुरुषोत्तम भावका तो अनन्य प्रेमभक्तिसे ही साक्षात्कार होता है। वैधीभक्ति करते-करते जब वह नित्य प्रेमरूपमें परिणत होती है, जब भगवान्की अचिन्त्य शक्ति और अनिर्वचनीय ऐश्वर्यको जानकर भक्त केवल उन्हींको परम गति, परम आश्रय और परम शरण्य मानकर बुद्धिसे, मनसे, चित्तसे, इन्द्रियोंसे और शरीरसे सब भाँति सर्वथा अपनेको उनके चरणोंमें निवेदन कर देता है, जब वह उन्हींको मन दे देता है, उन्हींमें बुद्धि लगा देता है, उन्हींको जीवन अर्पण कर देता है, उन्हींकी चर्चा करता है, उन्हींके नाम-गुणका गान करता है, उन्हींमें संतुष्ट रहता है और उन्हींमें रमण करता है; इस प्रकार जब देह-मन-प्राण, काल-कर्म-गुण, लौकिक और पारलौकिक भोग, आसक्ति, कामना, वासना सब कुछ उनके अर्पण कर देता है, तब वे उस प्रेमसे भजनेवाले भक्तको अपनी वह दिव्य बुद्धि दे देते हैं, जिससे वह अनायास ही उनको समग्ररूपसे पुरुषोत्तमरूपमें पा जाता है।

एक बात और है—ज्ञानके साथमें भगवान् निर्गुण, निराकार, निरञ्जन, परम अगम्य तत्त्व हैं और ज्ञानयुक्त कर्ममें भगवान् सर्वैश्वर्य-सम्पन्न, सर्वगुणाधार, सर्वाश्रय, सर्वेश्वर, सृष्टिकर्ता, पालन और संहारकर्ता, नियन्त्रणकर्ता प्रभु हैं, परंतु भक्तिमें भगवान् ये सब होते हुए भी भक्तके निजजन हैं। भक्ति विश्वातीत और गुणातीत तथा विश्वमय और सर्वगुणमय परमात्माका अवतरण कराकर, उन्हें नीचे उतारकर भक्तके साथ आत्मीयताके अत्यन्त मधुर बन्धनमें बाँध देती है। भक्तिका साधक—प्रेमी भक्त भगवान्को केवल सच्चिदानन्दघन परब्रह्म या सर्वलोकमहेश्वर ऐश्वर्यमय स्वामी ही नहीं जानता, वह उन्हें अपने परम पिता, स्नेहमयी जननी, प्राणोपम सुहृद्, प्यारे सखा, प्राणेश्वर पति, प्रेममयी प्राणेश्वरी, जीवनाधार पुत्र आदि प्राणोंके प्राण और जीवनोंके जीवन परम आत्मीयरूपमें प्राप्त करता है। भगवान्के दिव्य स्नेह, अलौकिक प्रेम, अनुपमेय अनुग्रह, परम सौहार्द, अनिर्वचनीय दिव्य नित्य सौन्दर्य और नित्य नवीन माधुर्यका साक्षात्कार तथा उपभोग भक्तिके द्वारा ही किया जा सकता है। निरे ज्ञान और कर्मके द्वारा नहीं। जिनमें भक्ति नहीं है, उनकी तो कल्पनामें भी यह बात नहीं आ सकती कि भगवान् हमारे पिता-पुत्र, मित्र-बन्धु और जननी-पत्नी भी बन सकते हैं। इसी प्रेमरूपा भक्तिके प्रभावसे भगवान्के दिव्य अवतार होते हैं, इसीके प्रतापसे भक्त अपने भगवान्की दिव्य लीलाओंका आस्वादन करता है और इसीके कारण भगवान्को जगत्के सामने अपना महत्त्व छिपाकर परम गोपनीय भावसे भक्तके सामने अपने परम

तत्त्वका अपने ही श्रीमुखसे प्रकाश करना पड़ता है। तर्कशील अभक्तोंके लिये यह तत्त्व सर्वथा गुप्त ही रहता है।

भगवान्‌का अपने प्रेमी भक्तोंके साथ बिलकुल खुला व्यवहार होता है; क्योंकि वहाँ योगमायाका आवरण हटाकर ही लीला करनी पड़ती है। उनके सामने सभी तत्त्वोंका प्रकाश हो जाता है। निर्गुण और सगुण-साकार तथा निर्गुण-निराकार दोनों ही रूपोंका परम रहस्य भगवान् खोल देते हैं। इसीलिये भगवान्‌ने भक्तिकी इतनी महिमा गायी और इसीलिये परम चतुर ऋषि-मुनि भी भक्तिके लिये लालायित रहते हैं।

भगवान् इतना ही नहीं करते, वे स्वयं भक्तका योगक्षेम वहन करते हैं और उसके साथ खेलते हैं, खाते हैं, रहते हैं और प्रेमालाप करते हैं। कभी वे पुत्र बनकर गोदमें खेलते हैं—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥

(रा०च०मा० १।१९८)

कभी माता-पिता और गुरुकी वन्दना और उनकी सेवा करते हैं—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
आयसु मागि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥

(रा०च०मा० १।२०५।७-८)

कहीं मित्रोंके साथ खेलते हैं, कहीं प्रियाके साथ प्रेमालाप करते हैं, कहीं भक्तके लिये रोते हैं। कहीं भक्तकी सेवा करते हैं। कहीं भक्तकी बड़ाई करते हैं, कहीं भक्तके शत्रुओंको अपना शत्रु बतलाते हैं, कहीं भक्तोंकी स्तुति सुनते हैं और कहीं भक्तोंको ज्ञान देते हैं। यह आनन्द भक्त और भगवान्‌में ही होता है। भक्त और भगवान्‌में न मालूम क्या-क्या रसकी बातें होती हैं, न मालूम कैसे-कैसे रहस्य खुलते हैं और न मालूम वे भक्तको कब किस परम दुर्लभ दिव्य लोकमें ले जाकर वहाँका आनन्द अनुभव कराते हैं। वे उसके हो जाते हैं और उसको अपना बना लेते हैं। उसके हृदयमें आप बसते हैं और उसको अपने हृदयमें बसा लेते हैं। सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान, सम्पूर्ण आत्मानुभूति, सम्पूर्ण एकात्मबोध सब यहाँ दिव्य प्रेमके रूपमें परिणत हो जाते हैं। मुक्ति तो भक्तकी सेवा करनेके लिये पीछे-पीछे फिरती है, उसके चरणोंमें लोटती है—

यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्दसान्द्रा
विलुठति चरणाग्रे मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीः॥

(प्रपन्नगीता)

जिसकी श्रीमुकुन्दके चरणोंमें परमानन्दरूपा भक्ति होती है, उसके चरणोंमें मोक्ष-साम्राज्यलक्ष्मी लोटती है।

इस परम भक्तिको तो प्राप्त करना ही भगवत्प्राप्तिका प्रधान उपाय है। इस भक्तिसाधनकी नौ सीढ़ियाँ हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, पूजन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७।५।२३)

इस नवधा भक्तिके तीन विभाग हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरणसे भगवान्‌के नामकी सेवा; पाद-सेवन, पूजन और वन्दनसे रूपकी सेवा और दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदनसे भावद्वारा भावसेवा सम्पन्न होती है। इनमें—भगवान्‌को एकमात्र स्वामी और अपनेको नित्य सेवक मानकर भक्ति करना 'दास्य'-भक्ति है। केवल सेवक मानना ही नहीं, परंतु प्रतिक्षण बड़ी सावधानी, नित्य नये उत्साह और बढ़ती हुई प्रसन्नतामें मन, बुद्धि एवं शरीरद्वारा निष्कामभावसे वाह्यान्तर सेवा करते रहना कर्तव्य है। जितनी अधिक सेवा हो, उतना ही हर्ष बढ़ना दास्य-भक्तिका लक्षण है। सच्चा भगवत्-सेवक सदा सेवा मिलती रहनेके अतिरिक्त और कोई फल नहीं चाहता। जिन भाग्यवानोंका चित्त भगवान्‌की सेवामें संलग्न है, उनको मोक्ष भी तुच्छ प्रतीत होता है। जो सेवाके बदलेमें भगवान्‌से कुछ चाहता है, वह भृत्य नहीं, व्यापारी है। निष्काम सेवकको किसी भी फलकी अभिसंधि नहीं होती। निष्काम सेवाका धर्म स्वामीके इशारेपर चलना होता है। कोई कैसा ही मनके प्रतिकूल कार्य हो, प्रभुका इशारा मिलते ही वह उसके अनुकूल बन जाता है, जैसे आदर्श सेवक श्रीभरतजीका श्रीरामके संकेतानुसार वनसे पुनः अयोध्यामें लौट आना। सेवक कभी मन मारकर या बेगार समझकर सेवा नहीं करता। सेवामें प्रतिक्षण उसकी प्रसन्नता बढ़ती रहती है और वह किसी तरहका शुल्क लेकर सेवा नहीं करना चाहता। इसीसे गोपियोंने अपनेको 'निःशुल्क-सेविका' और प्रह्लादजीने 'निष्कामदास' बतलाया है।

अपूर्व दासभक्त हनुमान्‌जीने कभी कुछ नहीं माँगा, बिना माँगे उन्हें अमूल्य हार दिया गया तो उसको भी रामसे रहित जानकर नष्ट कर दिया। कभी माँगा तो केवल नित्य सेवाका सुअवसर माँगा और कहा कि 'हे नाथ! मुझे वह

भव-बन्धनको काटनेवाली मुक्ति मत दीजिये, जिससे आपका और स्वामी-सेवकका सम्बन्ध छूटता है, मैं ऐसी मुक्ति नहीं चाहता।' हनुमान्‌जी इस निष्काम दास्य-भक्तिके परम आदर्श हैं। श्रीरामचरितमानसमें श्रीशिवजी कहते हैं—

हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥
(७।५०।८-९)

'हे गिरिजे! हनुमान्‌जीके समान न तो कोई बड़भागी है और न कोई श्रीरामजीके चरणोंका प्रेमी ही है, जिनके प्रेम और सेवाकी स्वयं प्रभुने अपने श्रीमुखसे बार-बार बड़ाई की है।

'उन अतुल बलके धाम, सोनेके पर्वत-सुमेरुके समान कान्तियुक्त शरीरवाले, दैत्यरूपी वनको ध्वंस करनेके लिये अग्निरूप, ज्ञानियोंमें अग्रगण्य, सम्पूर्ण गुणोंके निधान, वानरोंके स्वामी और भगवान् श्रीरघुनाथजीके प्रिय भक्त पवनपुत्र श्रीहनुमान्‌जीको मैं प्रणाम करता हूँ'—

अतुलितबलधामं हेमशैलाभदेहं
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं
रघुपतिप्रियभक्तं वातजातं नमामि॥
(रा०च०मा० ५। श्लोक ३)

* * *

क्या मृत्युके बाद नेत्रदान उचित है?

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

मेरी दृष्टिमें मृत्युके बाद नेत्रदान करना सर्वथा अनुचित है। जैसे अपनी सम्पत्ति देनेका अधिकार बालिग (वयस्क)-को होता है, नाबालिग (अवयस्क)-को नहीं, ऐसे शरीरके किसी अङ्गका दान करनेका अधिकार जीवन्मुक्त महापुरुषको ही है। जिसने अपना कल्याण कर लिया है, अपना मानव-जीवन सफल कर लिया है, वह बालिग है, शेष सब नाबालिग हैं। जीवन्मुक्त महापुरुष भी शरीरके रहते हुए ही नेत्रदान कर सकता है, शरीर छूटनेके बाद नहीं। दधीचि ऋषिने जीवितावस्थामें ही इन्द्रको वज्रनिर्माणके लिये अपना शरीर दिया था। राजा अलर्कने भी जीवितावस्थामें ही एक अन्धे ब्राह्मणको नेत्रदान किया था।

शैब्यः श्येनकपोतीये स्वमांसं पक्षिणे ददौ। अलर्कश्चक्षुषी दत्त्वा जगाम गतिमुत्तमाम्॥
(वाल्मीकि०अयो० १२।४३)

'राजा शैब्यने बाज और कबूतरके झगड़ेमें (कबूतरके प्राण बचानेकी प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेके लिये) बाज पक्षीको अपने शरीरका मांस काटकर दे दिया था। इसी तरह राजा अलर्कने (एक अन्धे ब्राह्मणको) अपने दोनों नेत्रोंका दान करके परम उत्तम गति प्राप्त की थी।'

शवके साथ छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिये। शवका कोई अङ्ग काटनेसे अगले जन्ममें वह अङ्ग नहीं मिलता। अङ्ग मिलता भी है तो उसमें कमी अथवा चिह्न रहता है। कुछ व्यक्तियोंमें पूर्वजन्मका चिह्न इस जन्ममें भी देखा गया है। बालकके मरनेपर माताएँ उसके किसी अङ्गपर लहसुन लगा देती हैं तो वह चिह्न अगले जन्ममें भी रहता है।

मृत्यूपरान्त नेत्रदानके औचित्यके विषयमें हमने वाराणसीकी 'श्रीगीर्वाणवाग्वर्धिनीसभा' से पूछा तो उन्होंने अपना यह निर्णय लिखकर भेजा—

'पुरुषाहुतिर्ह्यस्य प्रियतमा' इत्यादि वचनोंके अनुसार अग्निमें शवकी आहुति दी जाती है। 'सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतु' आदि भी वाक्य हैं। हवनीय द्रव्य शवमें अग्निका अधिकार होनेसे उसे बुद्धिपूर्वक व्यङ्ग करनेका कोई औचित्य नहीं है। मूल शरीरके अभावमें पुत्तल बनाते समय कौड़ियोंसे नेत्रोंकी कल्पना बतायी गयी है। इससे सिद्ध होता है कि मूल शरीरमें नेत्रोंका अस्तित्व आवश्यक है। एवञ्च नेत्रदानके लिये शवके अङ्ग-भङ्गका निषेध आर्थिक (अर्थप्राप्त) है।

* * *

भगवान्की अनन्त महिमा तथा भक्तिनिष्ठा

(पं० श्रीविष्णुदत्तरामचन्द्रजी दुबे)

भगवान् सर्वव्यापक, सर्वज्ञ , सर्वसमर्थ और सर्वसुहृद् हैं। उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको जानकर निरंतर चिन्तन करनेसे उनकी प्राप्ति शीघ्र होती है।

सूक्ष्म और स्थूलरूपमें प्रकट होनेसे पहले यह जड-चेतनमय सम्पूर्ण जगत् अव्यक्तरूपमें ही था। उस अव्यक्तावस्थासे ही यह नामरूपमय प्रत्यक्ष जड-चेतनात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है। परमात्माने अपनेको स्वयं ही इस जड-चेतनात्मक जगत्के रूपमें बनाया है। भगवान्के नाम, रूप, लीला और धाम सब कुछ अप्राकृत हैं, चिन्मय हैं। उनके जन्म और कर्म दिव्य हैं। भगवान्के प्राकट्यका रहस्य बड़े-बड़े देवता और महर्षिलोग भी नहीं जानते (गीता १०।२)। जबतक इन परम प्राप्य आनन्दस्वरूप परमेश्वरसे जीवात्माका संयोग नहीं हो जाता तबतक इसे किसी भी स्थितिमें पूर्णानन्द, नित्यानन्द, अखण्डानन्द और अनन्तानन्द नहीं मिल सकता। समस्त प्राणी सुखस्वरूप परमात्माके ही सहारे जीते और चेष्टा करते हैं।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—वे परब्रह्म परमात्मा सत्यस्वरूप हैं। 'सत्य' शब्द यहाँ नित्य सत्ताका बोधक है। अर्थात् वे परब्रह्म नित्य सत् हैं। किसी भी कालमें उनका अभाव नहीं होता तथा वे ज्ञानस्वरूप हैं, उनमें अज्ञानका लेश भी नहीं है और वे अनन्त हैं अर्थात् देश और कालकी सीमासे अतीत—सीमारहित हैं।

उन सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमात्माको जानकर ही मनुष्य इस मृत्युरूप संसार-समुद्रसे पार हो सकता है। वे ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा सम्पूर्ण जगत्की रचना करनेवाले, सर्वज्ञ और स्वयं ही अपनेको प्रकट करनेमें हेतु हैं। वे कालके भी महाकाल हैं। वे कालातीत हैं। वे सौहार्द, प्रेम, दया आदि समस्त कल्याणमय दिव्य गुणोंसे सम्पन्न हैं। संसारमें जितने भी शुभ गुण देखनेमें आते हैं वे उन दिव्य गुणोंके किसी एक अंशकी झलक हैं। वे समस्त जीवोंको, उनके कर्मोंको और अनन्त ब्रह्माण्डोंके भीतर तीनों कालोंमें घटित होनेवाली छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी घटनाको भलीभाँति जानते हैं। वे प्रकृति और जीवसमुदाय (अपनी अपरा और परा दोनों प्रकृतियों)-के स्वामी हैं। वे ही जन्म-मृत्युरूप संसारमें जीवोंको उनके कर्मानुसार बाँधकर रखते हैं। उनका पालन-पोषण करते हैं और इस बन्धनसे जीवको मुक्त भी करते हैं। उनकी कृपासे ही जीव मुक्तिके साधनमें लगकर साधनके परिपक्व होनेपर मुक्त हो जाते हैं। वे ही इस जगत्का यथायोग्य नियन्त्रण और संचालन करते हैं। वे ही इस जगत्के स्वरूपमें स्थित अमृतस्वरूप—एकरस हैं और वे ही इस समस्त ब्रह्माण्डकी रक्षा करते हैं।

परमेश्वरकी सब जगह आँख है, सब जगह मुख है, सब जगह हाथ हैं, सब जगह पैर हैं। भाव यह है कि वे सम्पूर्ण लोकोंमें स्थित समस्त जीवोंके कर्म और विचारोंको तथा समस्त घटनाओंको अपनी दिव्य शक्तिके द्वारा निरंतर देखते रहते हैं। कोई भी बात उनसे छिपी नहीं रहती।

परमात्मा अचिन्त्य एवं सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म होनेपर भी साधन करते-करते स्वयं अपने स्वरूपको साधकके हृदयमें प्रकाशित कर देते हैं। परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ वे न हों। अतः वे दूरसे भी दूर हैं अर्थात् जहाँतक हम दूरका अनुभव करते हैं वहाँ भी वे हैं, उससे भी परे हैं और निकटसे भी निकट यहीं अपने भीतर भी हैं।

जो भगवान्की आज्ञाके अनुसार पवित्र कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करता है तथा भगवान्को अर्पण किये हुए भोगोंका राग-द्वेषरहित हो निष्कामभावसे शरीर-निर्वाहके लिये उपभोग करता है, वह परमेश्वरके उस परमधामको प्राप्त कर लेता है, जहाँसे फिर लौटना नहीं होता।

जबतक जीव अपने स्वामी परमेश्वरको प्रत्यक्ष नहीं कर लेता तबतक उसका इस प्रकृतिसे छुटकारा नहीं हो सकता। अतः मनुष्यको उन परमात्माको जानने और पानेकी उत्कट अभिलाषा रखनी चाहिये। परमेश्वरको प्राप्त करनेका सार्वभौम एवं सुगम उपाय सर्वतोभावसे उन्हींपर निर्भर होकर उन्हींकी शरणमें चले जाना है।

परब्रह्म परमात्मा अचिन्त्य शक्ति हैं और विरुद्ध धर्मोंके आश्रय हैं। एक ही समयमें उनमें विरुद्ध धर्मोंकी लीला होती है। इसीसे वे एक ही साथ सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्-से-महान् बताये गये हैं। वे परमेश्वर अपने नित्य परमधाममें विराजमान रहते हुए भी भक्ताधीनतावश उनकी पुकार सुनते ही दूर-से-दूर चले जाते हैं। परमधाममें निवास करनेवाले पार्षद भक्तोंकी दृष्टिमें शयन करते हुए ही वे सब ओर चलते

रहते हैं। वे सर्वत्र सभी रूपोंमें नित्य अपनी महिमामें स्थित हैं। उन्हींकी शक्तिसे शक्तियुक्त होकर मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा मनुष्य नाना प्रकारके शुभाशुभ कर्म करते हैं तथा उनका फलरूप सुख-दुःखादि भोगते हैं।

मनुष्यके प्रति वेदभगवान्‌का आदेश है कि अखिल विश्व ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी यह चराचरात्मक जगत् तुम्हें देखने-सुननेमें आ रहा है, सब-का-सब सर्वाधार, सर्वनियन्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वाधिपति, सर्वकल्याणगुणस्वरूप परमेश्वरसे व्याप्त है। सदा-सर्वदा उन्हींसे परिपूर्ण है—यों समझकर उन ईश्वरको निरन्तर अपने साथ रखते हुए सदा-सर्वदा उनका स्मरण करते हुए ही तुम इस जगत्‌में ममता और आसक्तिका त्याग करके केवल कर्तव्य-पालनके लिये ही विषयोंका यथाविधि उपभोग करो अर्थात् विश्वरूप ईश्वरकी पूजाके लिये ही कर्मोंका आचरण करो। विषयोंमें मनको मत फँसने दो, इसीमें तुम्हारा निश्चित कल्याण है।

मन ही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण है। जीवात्मा अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेता है।

परमात्मा उसीको प्राप्त होते हैं, जिसको वे स्वीकार कर लेते हैं और वे स्वीकार उसीको करते हैं, जिसको उनके लिये उत्कट इच्छा होती है। जो उनके बिना रह ही नहीं सकता, जो उनकी कृपाकी ही प्रतीक्षा करता रहता है।

भगवान् समस्त प्राणियोंके स्वामी, सुहृद्, प्रियतम और आत्मा हैं। वे समस्त सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्योंकी खान हैं। इस जगत्‌के आदि, मध्य और अन्त उन्हींसे होते हैं, परंतु वे स्वयं आदि, मध्य और अन्तसे रहित हैं। वे आर्तिहरण हैं।

भगवान् कल्पवृक्ष हैं। उनके चरणकमल समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले हैं तथा भवसागरसे पार जानेके लिये जहाज हैं। भगवान्‌के सिवा और किसीका आश्रय लेनेसे मृत्युरूप महाभयसे छुटकारा नहीं मिल सकता।

भगवान्‌के भयसे वायु चलती है, भगवान्‌के भयसे सूर्य तपता है, भगवान्‌के भयसे इन्द्र वर्षा करता है और अग्नि जलाती है तथा भगवान्‌के भयसे मृत्यु अपने कार्यमें प्रवृत्त होती है।

निर्गुण ब्रह्मविषयक ज्ञानयोग और भगवान्‌के प्रति किया हुआ भक्तियोग—इन दोनोंका फल एक ही है। भगवान् साकार, निराकार दोनोंसे ही अविरुद्ध सम परब्रह्म है।

वे श्रीहरि ही समस्त देहधारियोंके एकमात्र आत्मा हैं। वे ही जगत्‌के निमित्तकारण, काल, उपादानकारण और नियन्ता पुरुषोत्तम हैं तथा अपनी कालशक्तिसे वे ही इन गुणोंके प्रवाहरूप प्रपञ्चका संहार कर देते हैं। संसारमें मनुष्यके लिये सबसे बड़ी कल्याणप्राप्ति यही है कि उसका चित्त तीव्र भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌में लगकर स्थिर हो जाय। भगवान्‌के गुणोंका गान परम मङ्गलमय है।

वे भगवान् ज्ञानियोंके आत्मा हैं, भक्तोंके स्वामी हैं, कर्मकाण्डियोंके लिये वेदमूर्ति हैं, धार्मिकोंके लिये धर्ममूर्ति हैं और तपस्वियोंके लिये तपःस्वरूप हैं।

हम अपने जीवनको ऐसा बना लें कि शरीरसे तो हम संसारके कार्य करते रहें लेकिन हमारा मन परमात्माके चरणकमलोंका चञ्चरीक बनकर रहे।

कल्याणकी कामना करनेवालेको चाहिये कि वह विषय-चिन्तन छोड़कर भगवच्चिन्तन करे।

कलियुगमें तो केवल भक्ति ही ब्रह्मसायुज्य (मोक्ष)-को देनेवाली है—

कलौ तु केवला भक्तिर्ब्रह्मसायुज्यकारिणी।

भगवान् केवल भक्तिभावके भूखे हैं। भगवान् भक्तिसे—प्रेमसे प्रसन्न होते हैं।

सबके प्रेरक और स्वतन्त्र होनेपर भी भगवान् अपना भजन करनेवाले भक्तोंके प्रेमबन्धनसे बँधे हुए हैं। वे श्रद्धा, विश्वास, भक्ति और प्रेमभावसे पकड़े जाते हैं।

जो परमेश्वरकी भक्ति करता है उसकी वे सब प्रकारसे रक्षा और सहायता करते हैं एवं उचित बुद्धि देकर इस असार-संसारसे उसका उद्धार भी कर देते हैं। भगवान्‌का नाम भगवान्‌की ही भाँति चेतन है। नाम-स्मरणसे भवरोग नष्ट होता है, भगवान्‌के चरणोंमें अनुराग उत्पन्न होता है—**'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्'** भगवान्‌की स्मृति समस्त विपत्तियोंसे मुक्त कर देती है।

हमारे धर्मशास्त्र, संत, महात्मा हमें सावधान करते हुए अज्ञान एवं निद्राका परित्याग करके भगवद्भजन करनेका एवं भगवान्‌की अहैतुकी भक्ति करनेका उपदेश देते हैं। स्वयं श्रीभगवान्‌ने शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर हमारे-सरीखे पाप-पङ्कमें फँसे हुए जीवोंके कल्याणके लिये भगवद्भजन—भगवद्भक्ति करनेकी आज्ञा दी है। उनकी आज्ञाओंका पालन करना हमारा पुनीत कर्तव्य है।

* * *

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[संख्या ९ पृ०-सं० ८४५ से आगे]

शरीर-संसार निरन्तर बदलते हैं, परमात्मा कभी नहीं बदलते। परमात्माकी प्राप्ति चाहनामात्रसे होती है। उसकी प्राप्तिमें संसारकी चाहना ही बाधक है। मनुष्य भोगोंमें कितना ही रच-पच जाय तो भी परमात्माकी चाहना मिटती नहीं, प्रत्युत दब जाती है; क्योंकि वह सत्य है।

× × ×

जैसे आप हरेक बातमें यह सोचते हैं कि अधिक लाभ कैसे लें, ऐसे ही **मानवशरीर, सत्संग, गीता, संत-महात्मा आदि जो मिले, उससे अधिक लाभ कैसे लें—ऐसा विचार करें।** सत्संगमें जो-जो सुगम बातें दीखें, उन्हें चुन लो और अपने जीवनमें उतारो। फिर कठिन बातें भी सुगम हो जायँगी और परिणाममें परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी। जो संत मिले हैं, उनसे पूरा लाभ ले लो तो आगे और मिल जायँगे। जो मिला है, उससे अधिक-से-अधिक लाभ उठा लो। मोटरके प्रकाशसे जितना मार्ग दीखता है, उतना तय कर लो तो आगे बढ़ जाओगे और ठीक लक्ष्यतक पहुँच जाओगे।

परमात्मप्राप्तिके लिये सामग्रीकी कमी नहीं है, केवल उसकी चाहना होनी चाहिये। पारमार्थिक मार्गमें भगवान् कमी रखते ही नहीं। बछड़ा तो एक थनसे दूध पीता है, पर भगवान् चार थनोंसे दूध देते हैं! बालककी चिन्ता माँ करती है, बालक नहीं। भगवान् सदासे हमारी माँ हैं। *'रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥'* (मानस १।२९।५)—ऐसा आदर करनेवाला संसारमें कोई नहीं है! *'उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥'* (मानस ४।१२।१)

× × ×

परमात्माकी दो प्रकृतियाँ हैं—क्षर (जड़) और अक्षर (चेतन)। **क्षरकी साधना कर्मयोग है, अक्षरकी साधना ज्ञानयोग है और पुरुषोत्तम (परमात्मा)-की साधना भक्तियोग है।** कर्मयोग तथा ज्ञानयोग संसारसे असंग करते हैं और भक्तियोग भगवान्‌से अभिन्न करता है।

× × ×

दोषदृष्टिसे रहित होना साधकके लिये बहुत आवश्यक है। श्रद्धा भी हो और दोषदृष्टि भी न हो—**'श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तः'** (गीता ३।३१), **'श्रद्धावाननसूयश्च'** (गीता १८।७१)। दोषदृष्टि होनेसे श्रद्धा कमजोर होती है। प्रेम भी नहीं होता। अगर कहीं दोष दीखे तो वहाँ अपनी कमी समझनी चाहिये। हमें अपनी कमी देखनेका अधिकार है।

अगर किसीमें ज्यादा दोष दीख ही जायँ तो उसका संग मत करो। जैसा संग, वैसा रंग! **ईश्वर, धर्म और परलोकको न माननेवाले नास्तिकका संग सबसे अधिक पतनकारक है।** ऐसे ही मदिरा सबसे अधिक पतन करनेवाली है। वह मनुष्यके अन्तःकरणमें स्थित धार्मिक भावोंके परमाणुओंको, अङ्कुरोंको नष्ट कर देती है। **परस्त्रीगमन भी आस्तिकभावको नष्ट कर देता है।**

दूसरा आदमी खराब हो अथवा नहीं, पर 'वह खराब है'—यह वृत्ति तो खराब हो ही गयी! **दोषदृष्टि करनेसे मुफ्तमें पाप हो जाता है।** निन्दा करनेसे मुफ्तमें पाप लगता है। **सत्संगसे मुफ्तमें उद्धार होता है और कुसंगसे मुफ्तमें पतन होता है।** जैसे, पत्थर गङ्गाजीके प्रवाहमें पड़े-पड़े स्वतः गोल सुन्दर हो जाते हैं।

सब भगवान्‌के हैं। जो ठीक नहीं हैं, वे भगवान्‌के लाड़ले बेटे हैं, जो लाड़से बिगड़ गये! **सत्संग करनेवाले भी ऐसी गलती करते हैं, कितनी बुरी बात है—यह न देखकर ऐसा देखो कि गलती करनेवाले भी सत्संग करते हैं, कितनी अच्छी बात है!**

× × ×

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

—यह भाव हमारे भीतर हर समय रहे तो बड़े लाभकी बात है। जैसे हनुमान्‌जीके लिये कहा है—*'राम काज करिबे को आतुर'*, ऐसे ही हम सबके हितके लिये आतुर हो जायँ। सबके हितका स्वभाव बन जाय। ऐसी सावधानी रखें कि हमारे द्वारा किसीको दुःख न पहुँचे। सबका कल्याण हो, सब जीवन्मुक्त बनें—यह भाव

बनानेकी आवश्यकता सभी साधकोंको है। **अपनेको ऊँचा बनानेका भाव राक्षसी, आसुरी भाव है। दूसरोंको ऊँचा बनानेका भाव दैवी भाव है।** सबका हित चाहनेवाले साधकका भगवान् और संत-महात्माओंसे तार मिल जाता है।

तत्त्व करणसे अतीत है। उसकी प्राप्ति करणसे नहीं होती। परंतु मन-बुद्धि-इन्द्रियोंको लगानेकी बात ही पढ़ाईमें ज्यादा आती है, स्वयंको लगानेकी बात नहीं! वास्तवमें स्वयंको ही लगाना है।

× × ×

ज्ञान अटल है। ज्ञानके अन्तर्गत उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होते हैं, पर ज्ञानमें कोई फर्क नहीं पड़ता। वह ज्यों-का-त्यों रहता है। **अन्तःकरण शुद्ध हो या अशुद्ध, ज्ञानमें कोई बाधा नहीं लगती।** अन्तःकरण प्रकृतिका कार्य है, तत्त्व प्रकृतिसे अतीत है। **अन्तःकरण शुद्ध होनेसे क्रिया शुद्ध होगी, तत्त्वज्ञान कैसे हो जायगा?** ज्ञान अपार, असीम है। प्रकृति भी उसके आगे छोटी-सी है।

× × ×

परमात्मा सर्वोपरि हैं। उनको जानने-पानेके बाद फिर कुछ भी करना-जानना-पाना बाकी नहीं रहता। उस तत्त्वकी प्राप्तिके सब अधिकारी हैं, कोई अनधिकारी, अयोग्य, निर्बल, असमर्थ नहीं है। कोई जानना चाहे तो उसके समान सुगम कोई वस्तु नहीं। परंतु जानना चाहते ही नहीं—यह बड़े आश्चर्यकी बात है! उसकी प्राप्तिके लिये केवल चाहनाकी जरूरत है, योग्यताकी जरूरत नहीं। वह **सर्वोपरि है, इसलिये उसकी चाहना भी सर्वोपरि होनी चाहिये।**

निर्जीवकी अपेक्षा सजीव मुख्य है। उनमें भी स्थावरकी अपेक्षा जंगम मुख्य है। जंगममें गाय मुख्य है। उससे भी मनुष्य मुख्य है। मनुष्यमें विवेक मुख्य है। महिमा मनुष्यशरीरकी नहीं है, प्रत्युत विवेककी है। विवेकसे भी श्रेष्ठ सत्-तत्त्व है। विवेक अनादि है, कर्मोंका फल नहीं है। विवेक भगवान्‌ने दिया है। **विवेक देना ही भगवान्‌की विलक्षण कृपा है।** विवेककी अपेक्षा भी विवेकका सदुपयोग मुख्य है। **विवेकका सदुपयोग किया जाय तो सब** परिस्थिति कल्याणकारक हो जायगी। वह विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जायगा। जिससे अभी और परिणाममें, हमारा और दूसरोंका हित हो, वह काम करना विवेकका सदुपयोग है।

× × ×

व्यवहार बिगड़ा है, परमार्थ नहीं बिगड़ा है। **जिसका स्वभाव सुधरा हुआ है, उसकी दुर्गति नहीं हो सकती।** जिसका स्वभाव दयालु है, उसे भगवान् सिंह, सर्प आदि कैसे बनायेंगे? अपने स्वभावका सुधार करनेमें सब स्वतन्त्र और समर्थ हैं! स्वभाव त्यागसे शुद्ध होता है, भोग भोगनेसे नहीं। देवतालोग भोग भोगते हैं। अतः वहाँ स्वभाव-सुधार नहीं हो सकता। यह मनुष्यशरीरमें ही हो सकता है।

कामनासे भविष्यमें बन्धन होता है, भोग भोगनेसे वर्तमानमें बन्धन होता है।

हमारा और सब काम हो चुका है, केवल एक निश्चयकी कमी है कि अब हमें एक भगवान्‌को ही प्राप्त करना है। जो यहाँ आये हैं, वे सबसे अधिक पापी (‘**पापकृत्तमः**’ गीता ४।३६, ‘**सुदुराचारः**’ गीता ९।३०) तो हैं नहीं, केवल एक निश्चयकी कमी है—‘**सम्यग्व्यवसितो हि सः**’ (गीता ९।३०)।

× × ×

संसारके सब पदार्थ मेढककी तरह फुदकनेवाले हैं, टिकनेवाले नहीं हैं। रहनेवालेको आप लेते नहीं, न रहनेवालेको लेते हो तो शान्ति कैसे मिलेगी? परमात्मा नित्यप्राप्त हैं, उनके लिये परिश्रम कैसा? भीतरमें संसार भरा है, केवल उसीको निकालना है।

शास्त्रोंके अध्ययनसे जिज्ञासुको लाभ होता है, नहीं तो अभिमान आ जाता है। अभिमान पतन करनेवाला होता है।

नाशवान्‌से सुख मत चाहो तो अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा। **मल-विक्षेप-आवरण आदिकी बातें केवल सीखनेके लिये हैं और यह लम्बा रास्ता है।**

× × ×

अनुभवी पुरुषोंसे सुननेपर सहजावस्था तत्काल प्राप्त हो जाती है। शास्त्र-चिन्तनसे देरी लगती है; क्योंकि उसमें केवल हमारी बुद्धि काम करती है।

जो साधन हमें निर्विवाद और सुगम लगे, उसमें तत्परतापूर्वक लग जाना चाहिये।

सगुण-निर्गुण हमारी मान्यता है। परमात्मा सगुण-निर्गुणसे विलक्षण हैं। यदि हमने परमात्माको सगुण अथवा निर्गुण ही जान लिया तो फिर परमात्माकी प्राप्ति हो गयी! अब उपासना करनेकी क्या जरूरत? गजेन्द्रने कहा—'**यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्**' (श्रीमद्भा० ८।२।३३)। इसलिये **सबसे सीधा-सरल मार्ग यह है कि 'परमात्मा है और वह हमारा है'—ऐसा मान लो।** भगवान् भावग्राही हैं। वे हमारे भावको जानते ही हैं, हम चाहे उनको न जानें।

जैसे बालक माँ-माँ पुकारता है तो सभी माताएँ दौड़कर नहीं आतीं, प्रत्युत वह जिस माँका होकर पुकारता है, वही माँ दौड़कर आती है। ऐसे ही आप भगवान्के होकर भगवान्को पुकारो तो—

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥
(दोहावली २२)

जो भगवान्के परायण हो जाते हैं, भगवान् उनके परायण हो जाते हैं! **हम संसारके लिये रोते हैं, तभी दुःखी रहते हैं। यदि हम भगवान्के लिये रोयें तो दुःखी नहीं रहेंगे।** भगवान् सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ और सर्वहृदय हैं, फिर देरी किस बातकी?

अर्जुन कहता है कि युद्ध करनेसे पाप लगेगा, पर भगवान् कहते हैं कि युद्ध न करनेसे पाप लगेगा! इसका तात्पर्य है कि **पाप राग-द्वेषमें भरे हैं, क्रियामें नहीं।**

× × ×

साधककी प्रायः यह शिकायत रहती है कि हमारी वृत्ति एक समान नहीं रहती, क्या करें? वास्तवमें वृत्ति किसीकी भी एक समान नहीं रहती, ज्ञानीकी भी नहीं—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥
(गीता १४।२२)

'हे पाण्डव! प्रकाश और प्रवृत्ति तथा मोह—ये सभी अच्छी तरहसे प्रवृत्त हो जायँ तो भी गुणातीत मनुष्य इनसे द्वेष नहीं करता और ये सभी निवृत्त हो जायँ तो इनकी इच्छा नहीं करता।

साधकका काम है—वृत्तिसे अपनेको अलग अनुभव करना। वह अपने स्वरूपकी तरफ ख्याल रखे कि स्वरूप तो वही रहा। वह यह सावधानी रखे कि 'मैं साधक हूँ।' वह वृत्तियोंमें बहे नहीं—'**तयोर्न वशमागच्छेत्**' (गीता ३।३४)। वह राग-द्वेषको सामने रखकर कोई कार्य न करे।

भोगोंका राग मिटानेके लिये भोग भोगना है। उद्देश्य सुखके त्यागका हो, सुख लेनेका नहीं।

अपने सिद्धान्तमें प्रेम होना चाहिये, राग नहीं। जैसे, कोई सत्संगमें न जाने दे तो 'प्रेम' होनेपर रोना आयेगा और 'राग' होनेपर क्रोध आयेगा।

साधकका काम है—अपने मतका अनुसरण करना तथा दूसरेके मतका आदर करना।

× × ×

सबसे पहले यह भाव होना चाहिये कि 'मैं साधक हूँ'। अतः साधनविरुद्ध काम मेरेको नहीं करना है। **'मैं साधक हूँ'—इसमें 'हूँ'-भागकी मुख्यता और 'मैं'-भागकी गौणता है।** 'मैं संसारी हूँ'—इसमें 'मैं'-भागकी मुख्यता और 'हूँ'-भागकी गौणता है।

कर्मयोगी 'सेवा'के द्वारा (परहितके लिये) त्याग करता है, जो सुगम पड़ता है। ज्ञानयोगी 'विचार'के द्वारा त्याग करता है, जो कठिन पड़ता है।

वैराग्यवान् मनुष्यको सुख-सुविधामें आराम नहीं मिलता। उसको स्वाभाविक ही बढ़िया चीज अच्छी नहीं लगती। ज्ञानयोगमें तेजीका वैराग्य होनेसे ही सिद्धि होती है। **तेजीका वैराग्य न हो तो सीखना हो जाता है, अनुभव नहीं होता।**

वृत्तियोंकी तरफ ध्यान न देकर वृत्तिवालेकी तरफ ध्यान देना चाहिये।

× × ×

अनुकूलता-प्रतिकूलतासे राजी-नाराज होना गलती है। **अनुकूलता-प्रतिकूलता विचलित करनेके लिये नहीं आती, प्रत्युत अचल बनानेके लिये आती है।** अनुकूलता-प्रतिकूलतासे विचलित होते हैं—यहाँ पाप है। गीताका उपदेश समताका है। युद्ध-जैसी परिस्थितिमें भी समता रखना गीताका योग है। जो **राजी-नाराज होता है, वह साधु नहीं, स्वादु है!**

× × ×

(क्रमशः)

पतित-पावन

(श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम')

पाप किया था मैंने—आज फिर! और भी कई बार किया था। कितनी ही बार मैंने अपने भगवान्‌के सम्मुख शपथ खायी थी कि अब फिर पाप नहीं करूँगा। कितना ही रोया था और कितनी ही बार क्षमा माँगी थी। कितनी बार प्रार्थना की थी कि 'भगवन्! मुझमें बल नहीं है; आप कुछ अपना बल दो, जिससे मैं इस अमृत-से लगनेवाले विषकी घूँटसे बच सकूँ। प्रभो! तुमने कहा भी था कि 'आत्मसंयम करो, मैं बल दूँगा।' फिर क्यों नहीं दिया? क्या मैंने ग्रहण नहीं किया? छिः, कितना मूर्ख हूँ मैं! भगवन्! रुष्ट हो गये हो तुम? मैंने अपने वादोंको ठुकरा दिया, इसीसे—प्रायश्चित्त केवल शब्दोंका एक आडम्बर रहा; नहीं तो आज फिर क्यों मैंने पाप किया। प्रभो! मैंने भूल की। आप ही मुझे शरण न देंगे तो मैं कहाँ किसके शरण जाऊँगा? यदि आपका आसरा खो दूँगा तो सदाके लिये हताश हो जाऊँगा। आपके ही आसरे लुढ़कता-पुढ़कता मैं उस अनन्त चोटीपर पहुँचनेकी आशा रखता हूँ। दयालु हैं न प्रभो, आप! अत्यन्त दयालु! दयालु न होते तो थप्पड़ मारकर एक क्षणमें ही ठीक न कर देते? मेरे पापोंपर आप केवल मुसकरा देते हैं। मेरी पीठपर थपकी देकर कह देते हैं 'वत्स! फिर प्रयत्न करो।' आप दीनबन्धु, दीनानाथ हैं—पतित-पावन हैं। प्रभो! इस बार फिर क्षमा करो—क्षमा तो करोगे ही। प्रभो! मेरी मूढ़ता मुझसे हर लो—मेरी अज्ञानताका नाश कर दो। मुझे शक्ति दो, जिससे मैं अपनेपर विजय पा सकूँ। नहीं दोगे? मुझे स्वयं ही प्रयत्न करना होगा। अच्छा प्रभो! रोशनी तो दिखाओगे ही। मेरा आधार नष्ट न होने पाये, मेरे प्रभो! मेरी आशा न टूटने पाये, मेरे विश्वासमें ठेस न लगे। यह तो करोगे ही! आप हँसते हैं—प्रभो! आज मैं फिर प्रायश्चित्त करता हूँ। आपके चरणोंकी शपथ लेकर कहता हूँ कि अब पाप नहीं करूँगा—मैं सत्य कहता हूँ, विश्वास कीजिये। प्रभो! कुविचार आते ही मैं आपके सम्मुख आ जाऊँगा—फिर शान्त हुए बिना यहाँसे नहीं हटूँगा। मैं अब प्रतिज्ञा करता हूँ। प्रभो! मैं बेबस हूँ, मुझे सहारा दीजिये। शत्रु किस मार्गसे आहिस्ता-आहिस्ता कब आ जाता है, पता भी तो नहीं चलता। पाप हो ही जाता है। मैं जानता हूँ, प्रभो! रोनेसे कुछ लाभ नहीं; पर रोये बिना रहा भी तो नहीं जाता। यही मेरा प्रायश्चित्त है—ग्लानिसे मेरा हृदय फटा जाता है, कितना झूठा हूँ मैं! वादे करता हूँ तोड़नेके लिये! बाहरसे कितना साज-बाज—साधु-ज्ञानी, समाजमें मुखिया! छिः, अंदरसे वास्तवरूप—दुराचारी, पापी, झूठा और अत्यन्त ही दुर्बल!

आज प्रभुके सामने मैं फिर घंटों रोया हूँ! अपना बोझ तो अवश्य ही हल्का किया, आन्तरिक सूक्ष्मता-सी प्रतीत हुई। कुछ ज्योति दीख पड़ी। पापका प्रायश्चित्त है—भावनासे कर्तव्य ऊँचा है। आज मैंने कर्तव्यपर फिर पैर रखा। 'पतित-पावन'—बस, इसी नामके आसरे तो मैं जी रहा हूँ, इसीके सहारे तो मैं आगे बढ़ूँगा।

मैंने आज भोग नहीं चढ़ाया, घंटी नहीं बजायी, शङ्ख नहीं छुआ और भगवान्‌की आरती भी नहीं उतारी। हाथ नहीं उठते थे। किन हाथोंसे भगवान्‌की पूजा करूँ! आँख उठानेका भी साहस नहीं हुआ। जी-भरकर अश्रुजलसे मैंने अपने भगवान्‌के पाद-पद्म पखारे, अपने हृदयकी कालिमा धो डाली, प्रणाम किया, चरण छुए और पूजागृहसे उठा!

सायंकालकी धुँधली ज्योतिमें मैं यमुना-तटकी ओर चल दिया—यमुनाकी गोदमें मातृस्नेह-सी सान्त्वना पाता था। इसीसे चला उस ओर—उस शून्य निर्जन स्थानपर, जहाँ प्रकृतिकी प्रत्येक वस्तु ही मूक वाणीसे बातें करती थी। यमुनाकी लहरें थीं—न कहीं अटकती थीं, न कुछ सोचने-विचारनेके लिये ठहरती ही थीं। माँकी गोदमें खेलती हुई बस, आगे ही बढ़ती चली जाती थीं—सागरसे मिलने। अपनी छोटी-सी हस्तीको गुम कर देनेके लिये इतना उत्साह!

एक पीपलके वृक्षके नीचे मैं बैठा-बैठा बीते समयकी उधेड़-बुनमें लगा था। चन्द्रमाका प्रकाश धीरे-धीरे फैलने लगा। चन्द्रमा शान्त था और प्रतिबिम्ब—लहरोंमें भूला हुआ अत्यन्त विचलित—यह सोचते-सोचते मैं इसी धारा-प्रवाहमें बह चला और भगवान्‌की यादमें पुकार उठा—

प्रभु तुम अपनो बिरद सँभारौ।
अधम-उधारन नाम धरायौ, अब मत ताहि बिसारौ॥
मोसों अधिक अधम को जग महँ, पापिन महँ सरदारौ।
ढूँढ़-ढूँढ़ जग अघ अति कीन्हे, गनत न आवै पारौ॥
मोरे अघकौं लिखत-लिखावत चित्रगुप्त पचि हारौ।
तऊ न आयौ अंत अघन कौ, छाड़ी कलम बिचारौ॥
अब लौं अधम अनेक उधारे, मो सों पल्लौ डारौ।
राखो लाज नाम अपने की, मत खोऔ पतियारौ॥

एक ओर यमुना बह रही थी और एक मैं नेत्रोंसे नीर बहा रहा था—सिसकियाँ बँधी हुई थीं और मैं गाता जा रहा था।

मैंने देखा—यमुनाकी उस चाँदनी-सी निर्मल रेतीपर भगवान्‌का दिव्य स्वरूप और उनके साथ थे भक्तशिरोमणि नारदजी! धीरे-धीरे वे मेरी ही ओर बढ़ते आ रहे थे। नारदजीने पूछा—'भगवन्! संसारमें कितने मर रहे हैं, आप अब दया कीजिये।' प्रभु बोले—'नारद! मेरे लिये मरनेवाले कितने हैं, फिर जान देनेवाले तो बहुत हैं—मैं तो प्रसन्न हूँ उससे, जो मेरे लिये जीवित रहता है। अपनी शरणमें आये हुएको मैं चोरोंकी भाँति ढूँढ़ता हूँ। उनके अवगुणोंकी चोरी करता हूँ और उन्हें गुणोंसे भरपूर करता हूँ। वे सोते हैं, मैं जागता हूँ; मैं मणि नहीं चाहता, बलिदान नहीं भोगता, थोड़ा-सा मनुष्यका प्रेम माँगता हूँ। संसारमें मनुष्य प्रेमको लुटाता-बखेरता चलता है; परंतु मुझे प्रेम देनेवाले कितने हैं, नारद? फिर भी मनुष्य-जीवनकी काली रातोंमें मैं उनके पापकी चोरी करता हूँ—यह मेरा प्रेम है उनके प्रति!' नारदजीकी वीणा गूँज उठी—'धन्य प्रभु!' मेरी ओर दिखाकर प्रभु बोले—'नारद! देखते हो इसको—मैं इससे प्रसन्न हूँ। पाप करता है, पापका प्रायश्चित्त करता है; उठनेका प्रयत्न तो करता है। जो गिरता नहीं, वह चलना ही क्या सीखेगा। इसकी सहायता करो, नारद!'

'यह तो पापी है, भगवन्!' नारदजी बोले—'चलिये, साधु-समाजमें चलिये। गोपियोंमें रास कीजिये। कहाँ आ पड़े आप!' भगवान् मुसकरा दिये—बोले, 'नारद! प्रत्येक पापीका भविष्य है, जैसे हर संतका एक भूत था। ज़रा गहराईसे देखो—अन्तस्तलकी ओर निहारो! प्रत्येक मानवात्मामें ईश्वरके दर्शन करोगे। यदि नारद! कोई किसीमें कुछ अच्छाई ही नहीं पाता तो वह सूक्ष्मदर्शी नहीं है। जानते हो, नारद! एक गिरते हुए मनुष्यके पतित जीवनका ही ध्यान करनेसे हम उसको पापकी जंजीरोंसे और जकड़ देते हैं; और यदि हम उसके उस भविष्यका ध्यान करें जब कि वह उन्नतिकी ओर बढ़ा चला जाता होगा तो हम उसके एक उज्ज्वल भविष्यके लिये सुगम मार्गका द्वार खोल देते हैं। किसीसे घृणा न करना। प्रत्येक जीव ब्रह्ममय है। प्रत्येक आत्मामें विश्वकी ज्योति है। बादलका टुकड़ा सूर्यको कितने समयतक छिपा सकता है, नारद!' नारद हाथ जोड़कर बोले—'सब समझा, प्रभो! आप करुणासिन्धु, जगत्पति, दीनबन्धु, दीनानाथ—मुख्य तो यह कि आप चोर हैं। बुद्धि हर लेते हैं, मन हर लेते हैं—क्रोध और कामके तो आप डाकू ही हैं। धन्य प्रभो! आप-से चोरको बड़ा-सा प्रणाम। वीणा बजी—

व्रजे प्रसिद्धं नवनीतचौरं गोपाङ्गनानां च दुकूलचौरम्।
अनेकजन्मार्जितपापचौरं चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि॥

भगवान् मुसकरा दिये।

अबतक मैं उसे दिव्य ज्योतिमें चकाचौंध हुआ सुध-बुध बिसारे सुनता रहा; जरा होश ठिकाने हुए तो भगवान्‌को अपने निकट ही पाया। भगवान्‌के चरणोंमें मैंने साष्टाङ्ग दण्डवत् किया। जीनेका साहस हुआ—नेत्रोंमें जल था। हृदयमें अग्नि, मनमें उल्लास था और जीवनमें हर्ष था—आशा थी।

भगवान्‌ने कहा—'कौन' और धीरे-से उठा लिया! देखकर मुसकरा दिये। कितना प्रेम था उस मुसकराहटमें, कितनी आत्मीयता—ऐसा लगा जैसे मैं खो गया। फिर सिरपर हाथ रखकर मेरे भगवान् बोले—

बीती ताहि बिसारि दे, आगेकी सुधि लेइ।
जो बन आवे सहजमें ताहीमें चित देइ॥

घावको बार-बार खोलकर देखने-कुरेदनेसे घाव अच्छा नहीं होता। मानव-जीवनमें भूल तो होती ही है; परंतु भूल जाननेके पश्चात् फिर भूल करना पाप है। उसका प्रायश्चित्त है—दृढ़ प्रतिज्ञा। 'मेरी शरणमें रह—मेरा स्मरण कर। पाप धुल जायगा। आशा और पूर्ण विश्वाससे प्रयत्न करता रह।'

करत-करत अभ्यासके जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते पत्थर परत निसान॥

'गीताका पाठ निरन्तर करना—मनमें चञ्चलताका प्रवेश हो तो गीता उठा लेना। दिलमें कमजोरी मालूम हो—निराशाके बादल यदि घेर लें तो पढ़ना—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥*
(९।३२)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥†
(१८।६६)

बोले—'अच्छा, जा; साहससे फिर जीवन-संग्रामके कार्यक्षेत्रमें कार्य कर।'

कितना माधुर्य था इन वचनोंमें! मैंने चरणोंमें सिर नवाया। भगवान्ने आशीर्वाद दिया और चल दिये। एक क्षणमें ही तो वे आँखोंसे ओझल हो गये। भगवान्की चरण-रज लेकर मैं वहीं यमुना-रेतीपर बैठ गया।—गीताके श्लोकोंको गाता रहा। कितना आनन्द था—कितनी शान्ति थी इनमें। आज भी यही श्लोक मेरे जीवनकी ज्योति बनकर मुझे राह दिखाते हैं—मैं इन्हींके सहारे चलता हूँ। अपने उज्ज्वल भविष्यपर पूर्ण विश्वास है—भगवान्की शरणमें जो हूँ।

ऐसे अपूर्व यमुना-तटके वातावरणमें अपना सारा संसार ही बदला हुआ था—सुखमय, शान्तिमय! माँ यमुने! तेरी गोदमें कितना आनन्द! कहीं घुँघरू बज उठे—कौन राधे! हाँ, श्रीमती ही तो गाती आ रही थीं। विरहसे पीडित कुछ गाती चली आ रही थीं। सखियाँ घेरे हुए कितना ही समझा रही थीं, परंतु राधाजी प्रीतमकी यादमें बेहाल थीं।

प्रभूके सँग मैं क्यों न गई री।
सँग जाती, सोना बज जाती,
अब माटीके मोल भई री॥ प्रभू०॥
जो प्रभु प्राणाधार हमारे,
तिनकी शरण मैं क्यों न गई री।
प्राणोंके प्राणका छोड़, सखी!
मैं माया-जालमें उलझ रही री॥ प्रभू०॥
सारको छोड़ असारसे लिपटी,
डग-डगमें गति मंद भई री।
प्रभु मेरे स्वामी, मैं दासी प्रभूकी,
स्वामी न भूले, मैं भूल रही री॥ प्रभू०॥

एक सखी बोली—'राधे! प्रिये! कन्हैया तो तुमसे आँखमिचौनी खेल रहे हैं। तुम तो क्षणभरमें ही बेचैन हो जाती हो। चलो—आगे चलो।' राधा बोलीं—

बहुत बेर भइ, प्रभु नहीं आये।
प्राण बिना सखि! राधा कैसे जिये—प्रभु तो बिसराये॥

दूसरी सखी बोली—प्रिये राधे! तुम तो उनके लिये बावली हो रही हो—वे नहीं आते तो उन्हें हृदयसे निकाल दो। स्वयं ठिकाना ढूँढ़ते आयेंगे।

एक सखी हँसती हुई बोली—

उरमें माखनचोर गड़े।
अब कैसे निकसे मेरी आली! तिरछे आन अड़े॥

सब ठहाका मारकर हँस दीं—इतनेमें कुछ दूर एक वृक्षपरसे बाँसुरीकी मधुरी तान कानोंमें पड़ी। राधाने चकित होकर उस ओर एक क्षण देखा और बेतहाशा दौड़ीं। मैं देखता ही रह गया।—राधे! कितना असीम प्रेम है तुम्हारा। धन्य हो राधे! मेरा प्रणाम। तेल-बत्ती सुरक्षित रखकर रोशनी नहीं हो सकती, जलना तो पड़ेगा ही।

मैं उठा। धीरे-धीरे रेतीको उड़ाता हुआ यमुनाके तटपर एक बड़ी-सी शिलापर जा बैठा। लहरोंसे खेलने लगा। सोच रहा था—कितना अभाव है मुझमें। मैं देख रहा था—लहरें सागरसे मिलनेको कितनी उतावली थीं! कितनी प्रगाढ़ प्रीति थी। बही चली जा रही थीं—दिन हो, रात हो, उजेला हो, अँधेरा हो, हर समय एक ही धुन। बस, प्रीतमकी ओर बढ़ते ही जाना। कितना मैला गन्ध साथ लिये बही जा रही थीं, पर किसीको कुछ भान-आभास नहीं। धुनकी पक्की—सागरकी गोदमें न वहाँ छोटी-छोटी लहरें और न इनका लाया हुआ मैला गन्ध। कुछ पता नहीं—सागर सब अपना लेता है। मैं सोच रहा था—यदि

---

* नीच कुलोद्भव अथवा नारी, वणिक् शूद्रतक भी हे पार्थ! मेरा आश्रय करके पाते उत्तमगति, हो सकल कृतार्थ॥
(श्रीकृष्णविज्ञान ९।३२)

† सब धर्मोंको तजकर आ जा शरण एक मेरी बेरोक। मैं तुझको सारे पापोंसे मुक्त करूँगा, मत कर शोक॥ (श्रीकृष्णविज्ञान १८।६६)

इतनी ही प्रीति मेरी प्रभु-चरणोंमें हो और ऐसी ही धुन हो, फिर पाप? प्रभुके अथाह प्रेमसागरमें फिर मेरे किञ्चित्‌से पापकी क्या हस्ती। कुछ नहीं! बस—

मन-मन्दिरमें प्रीति बसा ले, ओ मूरख! भोले-भाले।
दिलकी दुनिया कर ले रोशन, अपने घरमें ज्योति जगा ले॥

यही गुनगुनाता मैं भावावेशमें बह चला और उसी शिलापर निद्रादेवीकी गोदमें लेट गया!

किसीकी आवाज कानोंमें पड़ी—'ओ सोनेवाले! उठ।'

'जवानीमें अदमके वास्ते सामान कर, मुसाफिर!'
मुसाफिर शबसे उठते हैं जो जाना दूर होता है।

मेरी नींद टूट गयी। आँख खुली तो एक मस्त साधुको सामने खड़े पाया। वे हँसकर बोले—

हँसके दुनियामें मरा कोई, कोई रोके मरा।
ज़िन्दगी पाई मगर उसने, जो कुछ होके मरा॥
जी उठा मरनेसे वह, जिसकी प्रभूपर थी नज़र।
जिसने दुनियाहीको पाया, वह सभी खोके मरा॥

मेरे कन्धोंपर जोरकी थपकी दी उन्होंने। कहा—'सुनते हो फ़कीरोंकी बात?'

यह हाल हुआ उसके फ़कीरोंसे हवेदा।
आलूदये दुनिया जो है, बेगाना है उसका॥

जितनी मस्तीसे वे आये थे, उतनी ही मस्तीसे गुनगुनाते हुए चल दिये।

अपनी खुदी ही परदा है दीदारके लिये।
वरना कोई नक़ाब नहीं यारके लिये॥

थोड़ी देर मैं उनकी ओर देखता रहा—फिर उठा, यमुना-जलसे मुँह धोया। पौ फटनेही वाली थी, मैंने घरकी राह पकड़ी।

सुबह हुई, दिन हुआ। फिर वही दफ़्तर, वही मनुष्यसे मनुष्यका झगड़ा। ज़रके लिये, जमीनके लिये वही मुकद्दमे। वही पुराना जीवन; परंतु अब शान्ति है, राग नहीं है। जीवनमें माधुर्यका आभास है। आशाका दीपक जल उठा है। जब कभी टिमटिमाने लगता है—गीता उठा लेता हूँ, बत्ती जला देता हूँ। दीपकका प्रकाश फिर फैल जाता है। 'पतित-पावन' नामने मुझे बचा लिया। प्रभुके शब्द अब भी मेरे कानोंमें गूँजते हैं। विश्वास दृढ़ है कि उन्नतिके शिखरपर अवश्य ही पहुँचूँगा। इसी आशा और अभिलाषासे जीता हूँ। यह मेरी आस पूरी होगी, न भगवन्? अवश्य!

'नामु राम को कलपतरु'

(डॉ० श्रीचन्द्रभूषणलालजी वर्मा, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

प्रारम्भसे ही तुलसीदासजीके मनमें यह धारणा दृढ़ हो गयी थी कि दशरथ-पुत्र राम साक्षात् भगवान् हैं और उनके सहस्र नामोंमें उनका 'राम' नाम सर्वश्रेष्ठ है। कदाचित् इसीलिये अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'श्रीरामचरितमानस', जो एक आदर्श 'नर' के जीवन-चरित्रकी मनोहारिणी कथा है, एक मर्यादापुरुषोत्तमकी लीलाकी अनुपम गाथा है, उसमें उन्होंने रामके परात्पर ब्रह्म होनेकी झलक देते हुए उनके नामके महत्त्वका वर्णन बड़ी कुशलताके साथ समाविष्ट किया है। यथा—

माता कौसल्याको प्रभुने अपने विराट् रूपके दर्शन करा दिये—*'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड'*। काकभुशुण्डिजीको शिशु रामने अपने उदरमें प्रवेश कराकर तीनों लोकोंमें घुमा दिया जहाँ भुशुण्डिजीने अनेक ब्रह्मा और अनेक शिव देखे, परंतु रामको शिशुरूपके अतिरिक्त अन्य किसी रूपमें नहीं देखा—

भिन्न भिन्न मैं दीख सबु अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन॥
(रा०च०मा० ७।८१ (क))

अपने अन्त समयमें बालि श्रीरामके ब्रह्मस्वरूपको पहचान गया। उसने कहा—हे राम! मुझे जीवनदान नहीं चाहिये। जिस स्थितिको बड़े-बड़े ऋषि-मुनि अनेक जन्मोंके प्रयत्नोंके पश्चात् भी नहीं पा पाते, वह स्थिति मुझे अनायास ही प्राप्त हो गयी है, साक्षात् प्रभु मेरे सामने खड़े हैं। ऐसा अवसर बार-बार कहाँ आता है—

जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा॥
(रा०च०मा० ४।१०।३, ५)

गोसाईंजी सीताजीको रामसे अलग नहीं मानते। उन्हें सारा जग *'सीय राममय'* दीखता है। कौन कहता है कि

सीताजी श्रीरामसे विलग हो गयी थीं, उनका हरण हो गया था? वह सब तो माया थी। लता-वृक्षोंसे पूछते रामकी परीक्षा लेने जब सती सीताजीका रूप धरकर उनके मार्गमें जा पहुँचती हैं तब लक्ष्मणजी तो भ्रममें पड़ जाते हैं, पर राम मुसकराकर पूछते हैं—हे माता! शिवजी कहाँ हैं? वनमें आप इस प्रकार अकेली क्यों घूम रही हैं? अत्यन्त लज्जित हो सती लौट पड़ती हैं, पर मार्गमें उन्हें अनेक ऋषि-मुनि और देवता राम-लक्ष्मण तथा सीताकी सेवा करते दिखायी देते हैं, पलटकर पीछे देखती हैं तो वहाँ भी वही राम, वही लक्ष्मण और वही सीता! आश्चर्यचकित सती भयसे कम्पित हो अपनी आँखें मूँद लेती हैं।

सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता। देखि सती अति भईं सभीता॥

(रा०च०मा० १।५५।५)

जिस प्रकार वाणी और उसके अर्थ अथवा जल और उसकी लहर भिन्न-भिन्न होते हुए भी यथार्थमें एक है, उसी प्रकार सीता और राम भी अभिन्न हैं—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥

(रा०च०मा० १।१८)

तुलसीदासजी कहते हैं—रे मूढ़ मन! ऐसे रामको तू क्यों नहीं भजता जिन्होंने रावणके अस्त्रोंद्वारा क्षत-विक्षत जटायु, मकरद्वारा ग्रसित गजेन्द्र-जैसे आर्त-प्राणियोंको तार दिया और गणिका तथा अजामिल-जैसे पापियोंका उद्धार कर दिया। इनमेंसे किसे सद्‌गति प्राप्त नहीं हुई?

पाई न केहिं गति पतित पावन राम भजि सुनु सठ मना।
गनिका अजामिल ब्याध गीध गजादि खल तारे घना॥

(रा०च०मा० ७।१३० छंद)

प्रभुसे भी अधिक प्रभुके नामकी महिमा गायी गयी है। यों तो उनके अनेक नाम हैं, एकसे बढ़कर एक, किंतु उन सब नामोंमें उनका 'राम' नाम ही सबसे बढ़कर है जो पापरूपी पक्षियोंके समूहको नाश करनेके लिये बधिकके समान है। रामने जितने लोगोंको तारा है उनकी तो गणना की जा सकती है पर उनके नामने जितनोंको तारा है, वे अगणित हैं। यद्यपि नाम और रूप दोनों ईश्वरकी उपाधि हैं तथापि उन दोनोंमें स्वामी और सेवकका सम्बन्ध है। जैसे स्वामीके पीछे सेवक चलता है वैसे ही नामके पीछे नामी। नामके बिना रूपका ज्ञान नहीं होता।

ब्रह्मके दो स्वरूप बतलाये गये हैं—निर्गुण और सगुण। दोनों ही अकथनीय, अथाह, अनादि और अनुपम हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि 'मेरी सम्मतिमें' नाम इन दोनोंसे बड़ा है जिसने अपने बलसे दोनोंको अपने वशमें कर रखा है। वह वरदान देनेवालोंको भी वर देनेवाला है—***'ब्रह्म राम तें नामु बड़ बर दायक बर दानि।'*** रघुवरके उस नामकी मैं वन्दना करता हूँ जो अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाका हेतु है एवं ब्रह्मा, विष्णु, महेशस्वरूप 'र', 'आ' तथा 'म' के रूपमें बीज है, जिसे महामन्त्र समझकर शिवजी भवानीसमेत निरन्तर जपते हैं।

बंदउँ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥

(रा०च०मा० १।१९।१)

इस नामरूपी बीजको प्रेमसे भजो या वैरसे, रीझकर भजो या खीजकर, यदि हृदयरूपी खेत उर्वर होगा तो बीज जमकर अङ्कुरित हो जायगा, बीज चाहे सीधा पड़े या उलटा। सारा संसार जानता है कि वाल्मीकिजी उलटा नाम 'मरा-मरा' जपकर ही ब्रह्मज्ञानीके पदको प्राप्त हो गये थे—

उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥

(रा०च०मा० २।१९४।८)

सतयुग, त्रेता एवं द्वापरमें जो गति पूजा, यज्ञ और योगसे प्राप्त होती है वही गति कलियुगमें लोग केवल रामके नामको जपनेसे प्राप्त कर लेते हैं। इसी नामको भजकर भाँग-जैसा निकृष्ट तुलसीदास तुलसी-जैसा पवित्र हो गया है—

नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु॥

(रा०च०मा० १।२६)

जिसे किसी अन्यका भरोसा हो वह उसे भजे। तुलसीदासजी कहते हैं—मेरे लिये तो रामहीका नाम साक्षात् कल्पवृक्ष है जो न केवल अगणित शुभ वर देनेवाला है वरन् जिसमें कलिके लोक-कल्याणरूपी अनेक फल लदे पड़े हैं।

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो रामको नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो॥ १॥

(विनय-पत्रिका २२६)

* * *

साधक-प्राण-संजीवनी

[दीवानोंका यह अगम पंथ संसारी समझ नहीं पाते]

साधुमें साधुता—

(गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज)

[गताङ्क पृ०-सं० ८९८ से आगे]

गहराईसौं बिचारिकैं देखैं तौ यह स्पष्ट होय है कि गुरु और श्रीसद्‌गुरुमें बहुत ही अन्तर है। गुरुमें बसिवे बारे समस्त सद्‌गुण, शक्ति, सामर्थ्य तौ श्रीसद्‌गुरुमें हौयँ ही हैं। साथ ही इनसौं आगेकी विशेषता यह होय है कि जो जीव श्रीसद्‌गुरुकी शरणमें आय जाय है, वाकूँ अपनेसौं हू पहले प्रियतमकी गोदमें बैठारि दैयँ हैं। साथ ही शरणागतसौं अपनौं कछु स्वार्थ हू नहीं साधैं हैं और स्वयं एक-एक बात आचरण करि-करिकैं सिखावैं हैं। मात्र आदेश करिकैं ही छुट्टी नहीं पाय जायँ हैं। साधनकालमें साधक यदि काहू कारणवश गिरि हू जाय है तौ वाकूँ जननीकी भाँति उठायकैं बार-बार उत्साहित करि-करिकैं चलावैं हैं। जबकि गुरु केवल साधनमार्गकौ निर्देश करिकैं ही छुट्टी पाय जाय है। फिर शिष्य कछु करौ अथवा मत करौ, अपनी कोई जिम्मेदारी नहीं निभावै है। जबकि श्रीसद्‌गुरु कटिबद्ध है कैं येन-केन प्रकारेण, अपने संरक्षणमें ही राखिकैं, शरणागतकूँ तन-मन-बचनसौं पूर्णरूपेण सँभारे हैं। जा हृदयसौं अपने जीवनसर्वस्व श्रीप्रभुकौ चिन्तन करैं हैं, वाही अन्तःकरणसौं अपने शरणागतके विषयमें सोचतौ रहै है कि जब यह जीव मेरी शरणमें आयौ है तौ याकौ उद्धार याही जन्ममें, आज ही, अबही है जानौं चहिये। और कबहूँ-कबहूँ श्रीप्राणनाथसौं हू यह कह बैठे है कि हे मेरे जीवनधन! मैं अपने विषयमें आपसौं पीछैं बतराय लुंगौ, मेरौ उद्धार आप भले ही पीछैं करि लीजौं, परंतु या शरणागतकौ हाथ तौ अबही अपने करकमलनमें थाम लेउ। मैं आपकूँ सौपूँ हूँ। शरणागतके लोक-परलोकके अतिरिक्त शरीरके स्वास्थ्यकौ हू पूरौ-पूरौ ध्यान राखे हैं। याके आहार, विहार, व्यवहार, विचार, आचरण, वृत्ति, रहनी, स्वभाव आदि एक-एक बातकी क्षण-क्षण जननीकी भाँति रखवारी करैं हैं तथा भरिपेट लाढ़ लढावैं हैं। प्रतिक्षण यह देखते रहैं हैं कि कहूँ साधक मार्गसौं गिर न परै।

श्रीसद्‌गुरु तौ वह महतारी है कि जाकी तुलनामें कोई **'न भूतो न भविष्यति।'** जैसैं जननी अपने गोद खिलौनाकूँ नह्वाय धुवायकैं, शृंगार करिकैं, पिताकी गोदमें बैठारिकैं, बड़ी भारी प्रसन्न होय है। मन-ही-मन अति आनन्दित होय है। ठीक वैसैं ही श्रीसद्‌गुरु अपने शिष्यकूँ विकार-वासनानसौं मुक्त करिकैं, सद्‌गुणनसौं अलंकृत करिकैं, अपने प्रियतम प्रभुकी गोदमें बैठारिकैं, बड़े-बड़े आनन्दित हौयँ हैं तथा समाजमें बैठिकैं वाकी भूरि-भूरि प्रशंसा करैं हैं। मेरे विचारसौं तौ श्रीसद्‌गुरु-जैसी लाढ़-दुलार करिवे बारी महतारी या जगत्‌की तौका चलै सम्पूर्ण सृष्टिमें हूँ सम्भव नायँ। मैं या बातकूँ भुजा उठायकैं, पाम रोपिकैं, ढोल बजायकैं, निस्संदेह कहूँ हूँ कि श्रीसद्‌गुरु-जैसौ श्रीभगवान, गुरु, माता, पिता, सखा, इष्ट, धन, भवन, परिवार, त्रिलोकीमें दूसरौ कोई नहीं। इतनौं सब कछु करते भये हू स्वार्थकी गन्धतक नहीं राखैं हैं कि मेरौं यासौं यह स्वार्थ सधैगौ, वह सधैगौ। या काम आवैगौं, वा काम आवैगौ? ***'ऐसो को उदार जग माहीं'।*** यासौं श्रीसद्‌गुरु ही परात्पर परंब्रह्म है। त्रिलोकीमें सबसौं ऊँची वस्तु यदि कोई है तौ वह है, श्रीसद्‌गुरु देव। निस्संदेह ये ही परात्पर परंब्रह्म हैं।

साधक और विकार संसार (एक साधकके विचारसौं)—

जैसैं कोई माली आमके दो पौधा लगावै। एककूँ तौ विधिवत् भूमी तैयार करिकैं, खाद तथा नाना प्रकारके उर्वरक डारिकैं तब लगावै और दूसरेकूँ जल्दबाजीमें लापरवाहीसौं प्रमादबस वैसैं ही लगाय देय है। अब तीन-चार वर्ष पश्चात् देखै हैं तौ दौनौं पौधा एक दूसरेसौं भिन्न आकारमें दीखैं हैं। जाकूँ बिधिवत् लगायौ गयौ हो, वह आज फल दै रह्यौ है और जाकूँ वैसैं ही रोपि दियौ हो, वह ज्यौं-की-त्यौं अवस्थामें ही कछु टूट्यौ सौ, कछु मुरझायौ सौ ही ठाढ़ौ है। या बातपै माली बैठिकैं बिचार करिवे लग्यौ कि ऐसौ क्यौं भयो? तौ पतौ चल्यौ कि याकूँ तौ बिधिवत् भूमि तैयार करिकैं लगायौ हो, जो आज फलीभूत है और वाकूँ ऐसैं ही लगाय दियौ हो, जो मुरझायौसौं दीखि रह्यौं हैं। या कारण ऐसौ भयौ। दूसरी

बात याके आस-पास तौ चार्यौं ओर झाड़ जरकटानकौ बाड़ौ हू सुरक्षाके ताँई लगायौ हो और सहारेकूँ एक बाँस हूँ लगायौ हो। परंतु वाकूँ जो यथावत् ठाड़ौ है, कोई सुरक्षा नहीं प्रदान करी, यौं ही छौड़ि दियौ हो। जब आँधी आयी, तब बाँसके सहारे बारौ पौधा सुरक्षित बचि गयौ है और दूसरौ आँधीमें ऊपरसौं टूटि गयौ तथा पल्लवनकूँ हूँ भैंस-बकरी खामती रही। तद्वत् साधक, साधन करिवेसौं पहलें अपने अन्त:करणकूँ साधनके योग्य बनावै तथा श्रद्धा-सदाचाररूपी उर्वरक लगावै, तब साधन प्रारम्भ करै। कामना, वासनारूपी भैंस-बकरीनसौं बचिवेके ताँईं अव्यर्थत्व और निष्कामतारूपी बाड़ौ लगावै। मोह और अंहकाररूपी आँधीसौं बचिवेके ताँईं दृढ़तम-महदाश्रयरूपी बाँस गाढ़ि दे। काम, क्रोधरूपी अग्निसौं बचिवेके ताँईं आस-पास पड़े भये स्त्री, धन, प्रतिष्ठारूपी कूड़े-कचड़ेकूँ वैराग्यरूपी सौहनीसौं झारिकैं दूर फैंकि देय। निरन्तर नियमसौं भाव आत्मीयतारूपी स्वच्छ जलसौं सिञ्चन करै। तब कहूँ साधनरूपी पौधा बढ़ै है। फिर कालान्तरमें जायकैं प्रेमरूपी सुन्दर मधुरातिमधुर सुपक्व फल आवै है, जाकूँ खायकैं, जाकौ रस पीकैं, साधक तथा वाके स्वजन एवं वाकौ संसार, प्रेमरसमें सराबोर है जाय है। मस्त है जाय है।

यदि साधन करते-करते ऐसौ नहीं होय तौ, अर्थात् साधक अपने साधनरूपी पौधाकी ऐसी सुरक्षा न करै, तौ अहंकार, मोहरूपी आँधी-तूफान, साधनरूपी पौधाकूँ उखारि फैंकैं हैं और स्त्री, पुत्र, धन, भाई, सगे-सम्बन्धी, घर-परिवारकी आसक्तिरूपी काँटिनमें फँसायकैं, वाके स्वरूपकूँ वैसैं ही विकृत करि दैयँ हैं, जैसैं पौधा। या प्रकार साधककौ सबरौ श्रम व्यर्थ ही चल्यौ जाय है। व्यर्थ सब संसारमें ही खर्च है जाय है। साधककौ जीवन ऐसैं व्यर्थ है जाय है, जैसैं किसानकौ बिना नर्यौ खेत। खूब उर्वरक खाद, पानी, दियौ, पर घास ही बढ़ी। पैदावार कछु हू हाथ नहीं लगी, यहाँतक बात है कि गाँठिकौ बीज हू व्यर्थ गयौ।

अन्तमें सारकी बात है यह कि साधन स्वतन्त्र न होय, दृढ़तम-महादाश्रय होय, दृढ़तम-श्रद्धा होय, कामनाशून्य अन्त:करण होय। सरलता, विनम्रता, सहनशीलताकी त्रिवेणी हृदयमें निरन्तर बहती ही रहै, भजन भले ही कम होय, परंतु रहनी होय श्रीअम्बरीष और श्रीप्रह्लादजी जैसी। कटुता, रूक्षता, अहंकार, छल, कपट, राग-द्वेष छू न जाय। प्रधान है रहनी, तब ही पूरौ लाभ होय है।

प्रश्न—लक्ष्य का वस्तु है? लक्ष्यतक कैंसैं पहुँच्यौ जाय?

उत्तर—लौकिक और पारलौकिक जितनौं हू हम देखि रहे हैं, सुनि रहे हैं, बिचारि रहे हैं, वह सब लक्ष्यकौ ही ताण्डव-नृत्य तौ है। प्रत्येक मनुष्य क्रियाशील है। सबके भीतर कोई-न-कोई लक्ष्य शासक बन्यौ बैठ्यौ है। जो वाकेद्वारा क्रिया कराय रह्यौ है। अपने-अपने लक्ष्यकी प्राप्तिकूँ ही सब जग नाँचि रह्यो है। यासौं यह स्पष्ट है रह्यौ है कि लक्ष्य ही सब कछु है। सफलता-असफलता हू लक्ष्यकी ही अनुगामिनी हैं। जो अपने लक्ष्यमें दृढ़ है, वाकूँ सफलता अवश्य ही प्राप्त होयगी और जाके लक्ष्यमें शिथिलता है, वही असफलताकूँ प्राप्त होय है। यासौं निश्चय भयो कि काहू कार्यके करिवेसौं पूर्व वाकौ लक्ष्य अवश्य निर्धारित करनौं ही परैगौ।

उदाहरणके ताँईं—जैसैं कोई फौजी सैनिककूँ निशानेबाजीकी परीक्षाके ताँईं पर्याप्त दूरीपै, एक पर्दापै लाल चिह्न लगायकैं, जब लक्ष्यभेदनकौ आदेश दियौ जाय है, तब वह अपने लक्ष्यभेदनकूँ जैसी स्थितिमें, जैसी लगनसौं, जैसी लालसासौं, जैसी एकाग्रतासौं, जैसी सत्यतासौं निशानौं लगायवेकूँ ठाढ़ौ होय है, ठीक यही लालसा, एकाग्रता, सत्यता, लगन आदर्श है साधक-जगत्के ताँईं।

सैनिक जबतक अपने लक्ष्यबिन्दुपै ठीक-ठीक निशानौं नहीं लगाय लेय है, तबतक बाण नहीं छोड़ै है। जैसैं ही लक्ष्यपै ठीक-ठीक निशानौं लग्यौ कि फट सौं बाण छोड़ि देय है और लक्ष्यकौ भेदन करिकैं अति प्रसन्नताके सागरमें डूबि जाय है। लक्ष्यभेदनके समय सैनिककूँ न तनकौ, न धनकौ, न भवनकौ, न परिवारकौ और न शरीरके सुख-दु:ख, भूख-प्यास आदि द्वन्दनकौ किञ्चित् हू ध्यान नहीं रहै है, बल्कि वा समय तौ समस्त इन्द्रिय, मन, बुद्धि, शरीर पूर्णरूपेण लक्ष्यपै ही केन्द्रित रहै हैं। तब ही लक्ष्यकौ भेदन करि पावै है। यदि ये सब वा समय बहिर्मुख हौयँ तौ त्रिकालमें हू लक्ष्यकौ भेदन नहीं करि सकै है।

ठीक यही स्थिति साधक-जगतकूँ आदर्श है। यदि श्रीभगवत्प्राप्तिकी या श्रीभगवत्प्रेमप्राप्तिकी लालसा है तौ; अपने लक्ष्य-प्राप्तिकूँ या सैनिककी स्थितिकूँ आदर्श बनानौं ही परैगौ। ठीक वही लगन, वही सत्यता, वही लालसा, वही एकाग्रता अपनानी होयगी। अपने समस्त इन्द्रिय, मन,

बुद्धि, वाणी, विचार, समय, शरीर एकजुट अपने लक्ष्यपै केन्द्रित करने ही परिंगे। तब ही लक्ष्यकी प्राप्ति होयगी।

लक्ष्यकी प्राप्ति तौ भई भायी है ही, कमी है अपनी एकाग्रता, लगन, सत्यता, लालसाकी। कमी है अपने श्रीसद्गुरु-प्रदत्त साधनके माध्यमसौं उद्यम करिवेकी। यदि अपने मन, बुद्धि, वाणी, विचार, समय और शरीरमेंसौं एक हू वस्तु अपने ताँईं बचाय लई तौ लक्ष्यसौं कोसन दूर जाय गिरैगौ। लक्ष्यप्राप्तिमें एक क्षणकौ हू विलम्ब नहीं है। यदि विलम्ब है तौ अपने लगिवेकौ। मेरे बिचारसौं जितनौ समय सैनिकके बाणकूँ लक्ष्यविन्दुतक पहुँचिवेमें लगै है, उतने ही समयमें साधककूँ हू अपनौं लक्ष्यप्राप्ति है जाय है। यदि वह पूर्णरूपेण सत्यतासौं लगि जाय तौ। श्रीभगवत्प्राप्ति सरल, अति सरल—यदि सत्यतासौं चलते बनै तौ।

श्रीजीकी हरिणी—(रंगिणी)
श्रीजीकी चकोरी—(चारुचन्द्रिका)
श्रीजीकी वृद्धा मरकटी—(कक्खटी)
श्रीजीकी सारिका—(सूक्ष्मधी तथा शुभा)
श्रीजीकी मयूरी—(तुण्डिका)

सबसौं बड़ौ ज्ञान है—श्रीभगवान्‌में मोह है जानौं।

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यस्तरेत्सागरम्॥
(भर्तृहरिशृंगारशतक)

भौंह-कमान सँधान सुठान जे नारि-बिलोकनि-बानतें बाँचे।
कोप-कृसानु गुमान-अवाँ घट-ज्यों जिनके मन आव न आँचे॥
लोभ सबै नटके बस ह्वै कपि-ज्यों जगमें बहु नाच न नाचे।
नीके हैं साधु सबै तुलसी, पै तेई रघुबीरके सेवक साँचे॥
(कवितावली, उत्तरकाण्ड ११८)

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥
(गीता १६। २१)

नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥
लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
(गीता १६। २२)

राम चरन पंकज प्रिय जिन्हही। बिषय भोग बस करहिं कि तिन्हही॥
(रा०च०मा० २। ८४। ८)

जा जीवनमें लक्ष्य श्रीभगवत्-प्रेम है, वास्तवमें वही जीवन है।

पूरी ममता केवल श्रीप्राणवल्लभमें ही, अन्यत्र व्यवहारमात्र।

शम्भुरीशः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः।
ईश्वरः शर्व ईशानः शंकरश्चन्द्रशेखरः॥
भूतेशः खण्डपरशुर्गिरीशो गिरिशो मृडः।
मृत्युञ्जयः कृत्तिवासाः पिनाकी प्रमथाधिपः॥
उग्रः कपर्दी श्रीकण्ठः शितिकण्ठः कपालभृत्।
वामदेवो महादेवो विरूपाक्षस्त्रिलोचनः॥
कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटिर्नीललोहितः।
हरः स्मरहरो भर्गस्त्र्यम्बकस्त्रिपुरान्तकः॥
गङ्गाधरोऽन्धकरिपुः क्रतुध्वंशी वृषध्वजः।
व्योमकेशो भवो भीमः स्थाणू रुद्र उमापतिः॥
(अमरकोश, स्वर्गवर्ग १। ३०—३४)

तुम अपनायौ तब जानिहौं, जब मन फिरि परि है॥
भव सरिता कहँ नाव सन्त, यह कहि औरन्ह समुझावत।
हौं तिन्ह सौं हरि परम वैरु करि, तुम्ह सन भलौ मनावत॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(गीता १४। २६)

जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता। ते जन बंचित किए बिधाता॥
(रा०च०मा० १। २०४। २)

इस रंग रँगीली दुनिया में सब देखि देखि सुधि भूलि गये।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥
(कठोपनिषद् १। ३। ९)

'उत् स्वेन क्रतुना संवदत।' (ऋग्वेद)

'उत्तम कर्म करिकैं तब ऊँची बात बोलौ।'
निष्ठा दृढ़ हौनी चहिये।
संदेह न रहै।
पूरौ विश्वास है जाय।
(अपनौ हृदय बजायकैं कह दे—शब्द होय टन-टन, फट्फद् नहीं)

कैसी हू परिस्थिति बनै। किंतु अपने मनमें द्वेष काहूके प्रति न उपजन पावै।

मुझ नगण्य को नहीं भूलते, पलभर एक सच्चिदानन्द।
मैं प्रियतम का प्रियतम मेरे, यही नित्य निर्मल सम्बन्ध॥

श्रीप्राणनाथ जाकूँ अपनाय लेयँ हैं, फिर वाकौ त्याग नहीं करें।

इनकौ चिन्तन बढ़ायवेकी पूरी चेष्टा करै। भूलौ प्रपञ्च। फिर तौ सब वन्यौ बनायौ है ही।

'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु।'

उत्तम संकल्प ही हमारे भीतर आने चहिये।

जाकी आवश्यकता जितनी कम हौयँगी, वह उतनौं ही ईश्वरके निकट होयगौ।

मुख्यतस्तु महत् कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा॥
महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च॥ लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव॥
(ना०भ०सू० ३८—४०)

'तमेवैकं जानथ'—केवल एकको ही जानौं।

'अन्या वाचो विमुञ्चथ'—अन्यको मत बोलौ।

यह वही मन है, जानैं चौरासी लाख योनिनमें भटकायौ है। का यह मायासौं पार करि देगौ? याने मार्ग चौरासीकौ ही देख्यौ है, परमार्थकौ नहीं।

यदि मनमें लौकिक कामना है तौ श्रीसद्गुरु प्राप्त हैवेपै हू कछु लाभ नहीं मिल सकै।

अनेकन अपकार करिवेपै हू जो दया ही करै, वह है संत। जब पापकौ अवसर आवै, तब कोई नहीं चूकै और जब अध्यात्मकौ नम्बर आवै, तब सब चूकैं। कोई लाखनमें एकाध ही सँभरै।

जबतक शरीर स्वस्थ है, तबतक ही कछु करिलेउ। या पथमें परमावश्यक है, ऊँचौ संग। आश्रय मिल तौ जाय है, पर निभनौं कठिन है, निभैं ही नहीं हैं।

बात बनाई जग ठग्यौ, मन परबोध्यौ नाँहिं।
कबिरा यह मन लै गयौ, लख चौरासी माँहिं॥

संसारकौ उलझ्यौ भयौ तौ पार है सकै है। परंतु शास्त्रकौ उलझायौ भयौ पार नहीं है सकै है।

जब आँख फूटि जायँ और पाँव टूटि जायँ, तब बनै भजन।

जीवके बीचमें दो हैं—माया और संत।

एक अपनौं पाठ पढ़ावै और लै जाय है नरक। दूसरौ अपनौं पाठ पढ़ावै और लै जाय है माया और नरकसौं पार।

जीव चाहै तौ सब कछु है सकै—

स्त्री, तौ लेउ—
धन, तौ लेउ—
पुत्र, तौ लेउ—
प्रतिष्ठा, तौ लेउ—
वैभव, तौ लेउ—और
उद्धार, तौ लेउ।

होयगौ अवश्य, यदि सच्ची लालसा है तौ। संसारसौं उपरति हैवे लगै और उद्धारकी लालसा है जाय तौ उद्धारकौ कोई-न-कोई उपाय अवश्य ही बनि जायगौ।

यदि संसार और शरीर प्रधान है तौ पाप अवश्य ही करने परिंगे। यदि श्रीसद्गुरुकी आज्ञापै चलिंगे तौ आनन्दकी बाढ़ आवैगी। जो चाहे करिकैं देखिले। मिर्च खायकैं देखिले या मिस्री। परिणाम प्रत्यक्ष ही होयगौ।

दूध, दही, घी, मधु और चीनी—जैसैं ये पञ्चामृत हैं, वैसैं ही अध्यात्मकौ पञ्चामृत है—शुद्ध सात्त्विक आहार, पेट साफ, मन साफ, बुद्धिमें सात्त्विक विचार तथा दृढ़ महदाश्रय।

कितनोऊ कछु करिलेउ। चाहे प्रवचन करिलेउ, चाहे कथा कहलेउ, चाहे यज्ञ करिलेउ, चाहे दान करिलेउ, चाहे जो करिलेउ, रहोगे इनमें ही—दाम, काम, नाम, चाममें।

यदि श्रीभगवान्‌की भक्ति करि रहे हो? और करि रहे हौ केवल श्रीभगवान्‌के ताँईं ही तौ समस्त सद्गुण वेद-शास्त्रनमें जो बताये हैं, वे स्वतः ही तुम्हारेमें आय जायँगे।

अद्यावधि जा काहूने कछु पायौ है, ऊचे चढ़िकैं ही पायौ है। जबतक वृत्ति ऊँची नहीं बनैगी, तबतक लाभ नहीं।

संसारमें यदि फँसौगे तो पाप अवश्य करने परिंगे। काहू संतके हाथ यदि फँसौगे तो अवश्य उठनौं परैगौ।

या पथमें अपने मनकौ तथा बुद्धिकौ बलिदान करनौं परै है, तबही आगे बढ़ि सकै है। यदि मनके सुझाव मानिकैं ही कार्य करै तौ श्रद्धा कहाँ रही।

एक हानि तौ सहनी ही परैगी। चाहें लोककी या परलोककी। एककी हानि बनि जायगौ।

कबिरा मन निर्मल भया, जैसैं गंगा नीर।
पाछैं लागे हरि फिरैं, कहत कबीर कबीर॥

(क्रमशः)

प्रेमके लक्षण (अनुभाव)

(पं० श्रीकृष्णानन्दजी उपाध्याय)

सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसंज्ञकः॥
(चैतन्यचन्द्रोदय ३।८)

जहाँ सभी रस और भाव समुद्रमें तरंगतुल्य उन्मज्जित और निमज्जित होते हैं, वह प्रेम नामसे प्रथित है।

प्रेमका पात्र कौन हो? किससे प्रेम किया जाय? इतना महत्त्वपूर्ण महारस, रसोंका सार—'**रसो वै सः**', सर्वरसराजका रस, सर्वोत्कृष्ट तत्त्व प्राप्त कैसे हो, किसके लिये इस रसका संचय किया जाय, इसका प्रेमी या प्रेमाश्रय है कौन? इस विषयके गाम्भीर्यमें जानेसे सर्वशास्त्र-सिद्धान्त एवं सर्वमान्य मतमें श्रीहरि सर्वोत्कृष्ट ही नहीं, अपितु एकमात्र प्रेमपात्र सिद्ध हैं।

वे श्रीहरि प्रेमसे ही प्राप्त होते हैं, भगवान् विश्वनाथकी उक्तिको गोस्वामिपाद तुलसीदासजी लिखते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
(रा०च०मा० १।१८५।५)

श्रीशंकरभगवान् भगवत्प्रेमके परमाचार्य हैं। वे विश्वासपूर्वक कहते हैं—'***प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना***' भगवत्प्राप्तिमें प्रेमका बहुत बड़ा साम्राज्य है, जगज्जननी श्रीजानकीजीके दिव्य पूजन एवं विनय-प्रेमवशीभूता माँ पार्वतीका श्रीविग्रह हँसता है और गलेकी माला खिसककर नीचे आती है, जिसे श्रीकिशोरीजी प्रसाद समझकर शिरोधार्य करती हैं। यहाँ भी भगवान् श्रीरामकी प्राप्तिमें किशोरीजीको देवीका आशीर्वाद एवं प्रेमकी सत्ता ही भासित होती है—

बिनय प्रेम बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी॥
(रा०च०मा० १।२३६।५)

प्रेमके लक्षण (अनुभाव)—भक्तके शरीरमें प्रकट होकर कृष्णप्रेमको अभिव्यक्त करनेवाले लक्षण अनुभाव कहलाते हैं। अनुभाव ये हैं—नाचना, लोटना, गाना, चिल्लाना, देह मोड़ना, हुंकार भरना, जम्हाई लेना, दीर्घ श्वास लेना, लोककी चिन्ता न करना, लार टपकाना, अट्टहास करना, चक्कर आना, हिचकी आना आदि।

जब प्रेममें अद्भुत अतिशयता आ जाती है तो इन शारीरिक लक्षणोंके प्रकट होनेसे दिव्य आनन्दकी अनुभूति होती है। इन अनुभावोंके दो भाग हैं—शीत और क्षेपण। जम्हाई लेना आदि शीत हैं तथा नाचना आदि क्षेपण।

नाचना—गोपियोंके साथ रासलीला करते हुए भगवान् श्रीकृष्णके मुखचन्द्रको निहारकर शिवजी डिण्डिम डमरू बजाते हुए नाचने लगे और गणेशजी भी उनके साथ सम्मिलित हो गये।

विलुण्ठन (लोटना)—श्रीमद्भागवत (३।१।३२)-में विदुरकी उद्धवसे जिज्ञासा है—'हे सखे! अक्रूरजी सुखपूर्वक तो हैं न? वे विद्वान् और निर्मलचित्त होनेके साथ ही भगवान्के भक्त भी हैं। मैंने स्वयं देखा है कि कृष्णके प्रेममें अधीर होकर वे श्रीकृष्णके चरणचिह्नोंसे अङ्कित भूमिपर लोट गये थे।' इसी प्रकार किसी गोपीने श्रीकृष्णसे कहा कि उनकी अभिनव अनुरागवती राधारानी उनकी वनमालाकी सुगन्धसे मत्त होकर विरहवश कठोर भूमिपर लोट-लोटकर अपने मृदु शरीरका मर्दन कर रही हैं। भरतलालजी भी श्रीरामजीसे भेंट करने वनमें जाते समय निषादराजके साथ उस स्थानको देखते हैं, जहाँ श्रीराम एवं सीताजीने विश्राम किया और उस स्थान, वृक्ष एवं भूमिको श्रीभरतलाल प्रणाम करते हैं। वहाँकी रज अपने सिरपर धारण करते हैं अर्थात् उस भूमिमें लोट-पोट होते हैं।

जहँ सिंसुपा पुनीत तर रघुबर किय बिश्रामु।
अति सनेहँ सादर भरत कीन्हेउ दंड प्रनामु॥
(रा०च०मा० २।१९८)

भरतलालजी कहते हैं—प्रभु श्रीराम पैदल वन गये और हम रथ-घोड़ोंपर। नहीं, मुझे तो सिरके बल चलना चाहिये। वे प्रभुके चरणारविन्द-रजको बार-बार दण्डवत् करते हैं—'*सिर भर जाउँ उचित अस मोरा।*' इत्यादि।

उच्च स्वरसे गाना—एक गोपीने श्रीकृष्णको बताया कि राधाजी उनका गुणगान कर रही हैं। उन्होंने सखियोंको कुछ इस प्रकार मुग्ध कर लिया है कि वे पाषाणवत् जड़ हो गयी हैं, जबकि उस प्रेमसे पत्थर द्रवीभूत हो चले हैं।

'हरे-कृष्ण'-कीर्तन करते-करते नारदजी ऐसे चिल्लाने लगे कि नृसिंहदेवको प्रकट हुआ समझकर दानवदल भयवश तुरंत सब दिशाओंमें भाग खड़े हुए।

चिल्लाना—एक गोपीने श्रीकृष्णसे कहा—हे व्रजराज-कुमार! तुम्हारी मुरलीध्वनिको सुनकर व्याकुल हुई सुन्दरी राधा रुद्ध कण्ठसे कुररीके समान चिल्ला रही है।

देह मोड़ना—उल्लेख है कि कभी-कभी जब वीणाधारी नारदजी तीव्र भावावेशमें श्रीकृष्णका स्मरण करते हैं तो उनका शरीर कुछ इतने वेगसे मोड़ खाता है कि यज्ञोपवीत भी खण्डित हो जाता है।

हुंकार भरना—श्रीकृष्णकी वंशीध्वनिको सुनकर चकित हुए शंकरजी आकाशमें हुंकार भरने लगे, जिससे दानवोंका विनाश हो गया और भक्तोंके हृदयमें आनन्दसिन्धु उमड़ आया।

जम्हाई लेना—चन्द्रोदयके होनेपर कुंमुद प्रस्फुटित होते हैं। इसी प्रकार जब श्रीकृष्ण राधारानीके सामने जाते हैं तो राधाका मुखरूप कमल जम्हाईके रूपमें विकासको प्राप्त होता है।

दीर्घ श्वास लेना—एक श्लोकमें उल्लेख है कि ललिता उस चातकी-जैसी है जो केवल मेघजलको ग्रहण करती है। यहाँ श्रीकृष्णको श्याम मेघकी उपमा दी गयी है और ललिताको उस चातकीके समान बताया है, जो केवल कृष्णमेघके संगके लिये उत्कण्ठित हैं। अलंकारमें आगे कहा है—'झंझावातसे मेघके तिरोहित हो जानेके समान वह अपने दीर्घ निःश्वासके कारण श्रीकृष्णको खो बैठी, जो उसके फिर सचेत होनेतक अदृश्य हो गये।'

अन्य लोगोंकी चिन्ता न करना—मथुराके याज्ञिक ब्राह्मणोंकी पत्नियोंने जैसे ही सुना कि श्रीकृष्ण निकट आये हैं, वे तुरंत घर छोड़कर वहाँ चल दीं। उन्होंने अपने विद्वान् पतियोंकी ओर ध्यान नहीं दिया। पति आपसमें कहने लगे—'श्रीकृष्णमें कैसा अद्भुत दिव्य आकर्षण है जो ये स्त्रियाँ हमारी आज्ञाके बिना ही श्रीकृष्णके पास चली गयीं।' यह श्रीकृष्णका प्रभाव है। श्रीकृष्णकी ओर आकृष्ट भाग्यवान् जन्म-मृत्युके बन्धनसे मुक्त हो जाता है जो उन यज्ञपत्नियोंद्वारा परित्यक्त बंद घरों-जैसा है।

पद्यावलीमें कोई भक्त कहता है—हमें संसारके लोगोंकी चिन्ता नहीं है। यदि वे हमारी निन्दा करते हैं तो किया करें। हम तो बस 'हरे-कृष्ण' महामन्त्रके कीर्तनरूपी दिव्य रसका पान करेंगे और भूमिपर लोटते हुए भावोन्मत्त नृत्य करेंगे। हमें परमानन्द सुलभ हो गया है—

भक्तिमती मीराबाईकी प्रेम-निष्ठाकी निर्भयता अवलोकनीय है—

(१)

श्रीगिरिधर आगे नाचूँगी॥

नाच-नाच पिव रसिक रिझाऊँ प्रेमी जनकूँ जाचूँगी।
प्रेम प्रीतिका बाँधि घूँघरू सुरतकी कछनी काछूँगी॥
लोक लाज कुळकी मरजादा यामें एक न राखूँगी।
पिवके पलँगा जा पौढूँगी मीरा हरि रँग राचूँगी॥

(२)

मेरो मन रामहि राम रटै रे।
राम-नाम जप लीजे प्राणी, कोटिक पाप कटै रे।
जनम जनमके खत जु पुराने, नामहि लेत फटै रे॥

(३)

सीसोद्यो रूठ्यो तो म्हाँरो काँई कर लेसी।
म्हे तो गुण गोबिंदका गास्याँ हो माई॥
राणोजी रूठ्यो बाँरो देस रखासी।
हरि रूठ्याँ किठे जास्याँ हो माई॥

—इत्यादिसे यही झलकता है कि मीरा प्रेमदीवानी थीं, भगवत्प्रेमका रंग ऐसा चढ़ा कि अन्तमें उन्होंने कह दिया—

राम नाम बिन नहीं आवड़े, हिवड़ो झोला खाय।

यह प्रेमकी पराकाष्ठा है। इसी दिव्य प्रेमोन्मादमें विष भी अमृत बन गया और सर्प शालग्राम या नौलखे हारके रूपमें परिणत हो गया।

लार टपकाना—कभी-कभी 'हरे-कृष्ण' महामन्त्र जपते हुए नारदजी कुछ क्षणके लिये सर्वथा निश्चिन्त हो जाते हैं और उनके मुखसे लार टपकने लगती है।

उन्मत्तके समान अट्टहास करना—जब कोई मस्त पागल-जैसा अट्टहास करता है तो ऐसा हृदयमें प्रेमके विलक्षण विक्षेपके कारण होता है। अट्टहास हृदयकी एक विशिष्ट अवस्थाको प्रकट करता है। इस मनोभावसे भक्तका

प्रेम अधरोंपर फूट पड़ता है। लगता है कि हृदयमें भक्ति-लता खिल उठी है, जिस कारण मुखसे अट्टहासरूपी पुष्पोंका समुदाय बार-बार बिखरता जाता है। चैतन्यचरितामृतके अनुसार भक्ति वह लता है जो गोलोक वृन्दावनमें श्रीकृष्णके चरणकमलतक बढ़ती है।

चक्कर आना—गोपी कहती है—हे सखि मुरलि! लगता है अघारि तुम्हारे भीतर फूँक मारनेके ब्याजसे आँधीका प्रवेश करा देते हैं जो तुम्हारे सिरको घुमाती है और अब गोपियोंकी भी वही दशा कर रही है।

हिचकी आना—कभी-कभी हिचकी भी श्रीकृष्णप्रेमका अनुभाव बन जाती है। इसके प्रमाणमें पौर्णमासी राधाकी एक सखीसे कहती है—हे पुत्रि! प्रिय सखी राधारानीके हिक्कारके लिये औषधि रचनेकी आवश्यकता नहीं है और उसके अनिष्टकी आशंका भी व्यर्थ है। हे मृगनयनी! तुम चिल्लाती क्यों हो? इसका कारण अपच नहीं है, यह तो कृष्णप्रेमका ही विकार है।

इसीलिये कृष्ण-नामके साथ हिचकी-पर-हिचकी हो रही है। पौर्णमासीका यह वाक्य इस बातका प्रमाण है कि कृष्णप्रेम कभी-कभी हिक्कारके रूपमें अभिव्यक्त होता है।

लोक-कहावतोंमें भी अतिशय हिचकी होनेपर कहा जाता है कि कोई विशेष प्रेमी याद कर रहा है 'अस्तु'।

कदाचित् सम्पूर्ण शरीरका कम्पित होना या फूल जाना तथा किसी अङ्गसे रक्त निकलना आदि अनुभाव भी होते हैं किंतु ये अति दुर्लभ हैं, इसलिये श्रीरूपगोस्वामी महाभागने इनका अधिक वर्णन नहीं किया है।

प्रेमतत्त्वकी प्राप्ति एवं अनुभूति या समझ बिना दीर्घ सत्संगके हो नहीं सकती। उपर्युक्त अवस्थाएँ—शरीरगत लक्षण तीव्र भक्तियोगके द्वारा ही सम्भव हैं।

भक्तियोगकी प्राप्ति श्रवण-भक्तिसे प्रारम्भ होती है। अहर्निश निष्कपट निश्छल प्रेमसे भगवदाराधनस्वरूप प्रेमकक्षामें प्रवेश एवं अधिकार प्राप्त होता है।

योगीन्द्र दुर्गमगति भगवान् मधुसूदन भी प्रेम साम्राज्याधिष्ठात्री भगवती श्रीश्रीजीके सौन्दर्य, माधुर्य, कौमार्य, कैशोर्य, औदार्य एवं अनुरागात्मिका प्रेमके वशीभूत होकर नृत्य करने लगते हैं तो साधारण जनकी तो बात ही क्या है। श्रीजीको ही लेकर क्यों? श्रीश्यामसुन्दर तो श्रीराधारानीके दुकूल—दुपट्टेको स्पर्श करके आनेवाली वायु एवं उस दिशाको प्रणाम करते हैं जहाँ श्रीराधारानी अपनी अन्तरङ्ग सखियोंके साथ क्रीडामग्न हैं और इधर उनकी क्रीडा-कलाका प्रभाव देखते ही बनता है। अमलात्मा, परमहंस, बड़े-बड़े सिद्ध, योगीन्द्र-मुनीन्द्र जिनको ध्यानके द्वारा वशीभूत नहीं कर पाते, वे मधुसूदन बरसानेकी वीथियोंमें श्रीजीके कृपाकटाक्षरूप प्रेमके वशीभूत हैं। यथा—

यस्याः कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थ
धन्यातिधन्यपवनेन कृतार्थमानी।
योगीन्द्रदुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि
तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवो दिशेऽपि॥

(राधासुधानिधि १)

ऐसे दिव्य प्रेमकी कक्षामें प्रवेशहेतु सद्धर्मानुष्ठान, नित्य कथाश्रवण एवं लीलादर्शन ही एकमात्र अवलम्बन एवं सहायक है। आजकलके तथाकथित बुद्धिमान् लोगोंकी दृष्टिमें ये प्रेमलक्षणरूपी अनुभाव हिस्टीरियाके सिवाय और कुछ नहीं, किंतु जिन्होंने गीता, रामायण एवं वेदोपनिषद् साहित्यका अनुशीलन, मनन एवं अधिकारी बनकर पठन-पाठन किया है, वे ही प्रेमके भाव एवं भाषा तथा अभिव्यक्तिको समझ सकते हैं। धर्मसम्राट् करपात्रस्वामिपाद भक्तिसुधा ग्रन्थके भक्तिरसामृतास्वादन नामक निबन्धमें प्रेमतत्त्व—प्रेमलक्षणके विषयमें वर्णन करते हैं—

रसात्मक प्रेम-रसस्वरूप ही है। कहा भी गया है कि प्रादुर्भावके समय जिसने जरा भी हेतुकी अपेक्षा नहीं की, जिसके स्वरूपमें अपराधपरम्परासे हानि एवं प्रणाम परम्परासे वृद्धि नहीं होती, जो अपने निजी रसास्वादके समान अमृतास्वादको भी तुच्छ कर देता है और तीनों लोकोंके दुःखका विनाश करता है, उस महान् प्रेमको वाणीका विषय बनाकर ओछा क्यों किया जाय—

प्रादुर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि
क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यो वर्धते।
पीयूषप्रतिपादनस्त्रिजगती दुःखद्रुहः साम्प्रतं
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठतालाघवम्॥

वाणीका विषय बनाते ही प्रेम या तो हलका हो जाता

है या अस्त हो जाता है। दो रसिकोंका प्रेम एक दीपकके समान है जो हृदयरूप गृहोंको निश्चलरूपसे प्रकाशित करता है। यदि उसे वाणीरूप दरवाजेसे बाहर कर दिया जाय तो या तो वह बुझ जाता है या मन्द हो जाता है—

प्रेमा द्वयो रसिकयोरपि दीपएव
हृद्वेश्म भासयति निश्चलमेव भाति।
द्वारादयं वदनतस्तु बहिष्कृतश्चे-
न्निर्वाति शीघ्रमथवा लघुतामुपैति॥

प्रेमका वर्णन करते हुए स्वामिपाद श्रीकरपात्रीजी महाराज लिखते हैं कि ज्ञानीकी तत्त्वनिष्ठा और भक्तका भगवदाराधन-अर्चन प्रेमीके प्रेमका ही स्वरूप है, दोनों बराबर हैं, प्रेम होनेसे ही तत्त्वनिष्ठा है और प्रेम होनेसे ही अर्चा।

प्रेमके लक्षणों—स्तम्भ, स्वेद आदिकी पुष्टि साहित्य-दर्पणकार भी मनोविकाररूप सात्त्विक भावोंके रूपमें भक्तिरसके अन्तर्गत करते हैं। भगवत्प्रेमपरिपूरित अवस्थामें देह-गेहकी सुध नहीं रहती। एक अद्भुत अवस्था होती है, जिसका वर्णन वाणी नहीं कर सकती अर्थात् वह वर्णनातीत अवस्था होती है, जो अनुभव करता है उसे वाणी नहीं है और वाणीको वह विषय उपलब्ध नहीं अथवा वाणीका वहाँ प्रवेश नहीं, ऐसी उत्तमोत्तमावस्थाको प्रेमावस्था कहते हैं जो गोपियोंमें देखी जाती है। लक्ष्मणादि भ्राता तथा श्रीसीताजी, श्रीराधाजी ही उसका अनुभव-आनन्द प्राप्त करती हैं अथवा वे मुनीन्द्र-योगीन्द्र अमलात्मा, परमहंस-शिव-सनकादि-नारद-शुक-व्यासादि महर्षिगण जिनका मन, वाणी, चित्त, मनोवृत्ति भगवल्लीला-दर्शन गुणगानसे तदाकार—प्रेमाकार हो चुकी है, प्रेमके स्वरूप, लक्षण, अनुभावका वर्णन या दर्शन कर सकते हैं। इसमें भगवत्कृपा ही मुख्य हेतु है। अस्तु।

* * *

अब न द्रवहु केहि लेखे ?

एक बार भी तो मेरी ओर निहारो, कुछ भी तो बोलो! मैं कैसे समझूँ देव तुम्हारा क्या संकेत है, मेरे लिये तुम्हारी क्या आज्ञा है। कैसे जानूँ तुम मुझसे क्या कराना चाहते हो। मुझे क्या पता तुमने मुझे यहाँ क्यों भेजा है? जबतक तुमसे परिचय नहीं था, जबतक तुम्हें न जाना था तबतक तो कोई बात न थी। रास्ता रोककर, बलात् हठपूर्वक तुम मेरे जीवनपथमें आये, मेरी सारी अल्हड़ता और नादानीपर मुसकराहटकी वर्षा करते हुए आये; मेरे अबोध हृदयमें अपनी मोहिनी डालकर अपने आकुल स्पर्शसे मुझे नहला दिया, मेरे रोम-रोम उस स्पर्शजन्य आनन्दमें भींग गये। अर्धचेतन, स्पर्श-विस्मृत दशामें तुमने मेरी बाँह पकड़ ली; मेरे सिरको अपनी छातीमें छिपा लिया और मेरे सारे शरीरको अपने सुकुमार वरद करोंसे सहलाया। मेरे जन्म-जन्मके पुण्य उदय हुए—तुम्हारे दर्शन हुए।

उस अचेतनाकी स्मृतिमात्र आज हृदयके कोने-कोनेमें छायी हुई है। उस क्षणका स्मरणमात्र भीतर बना हुआ है। उस स्पर्शकी हलकी सिहरन भर रह गयी है। बड़ी व्याकुलता और आतुर उत्कण्ठासे अपने भीतर डूबकर तुम्हें पकड़ना चाहता हूँ, तुम्हें बाँध लेना चाहता हूँ, ऐसा कभी-कभी बोध भी होता है कि बाहुपाशमें तुम आ गये पर······ न पूछो, तुम्हारा ही छल तुमसे कैसे कहूँ। यह तरसाना भी कैसे कहा जाय! जहाँ प्राणोंमें हाहाकार है, अतृप्त उत्कट लालसा है, वहाँ परछाईंके भी दर्शन न हों—यह तुम्हारी कैसी निष्ठुर लीला है!

यह सम्बन्ध भी तो नाथ! तुम्हारा ही स्थापित किया हुआ है। तुम्हारी ओर दृष्टि जाते ही समग्र चेतना, समग्र शिराओंने एक स्वरसे कहा यही-यही हमारी 'माँ' है, यही हमारा 'स्वामी' है, यही हमारा 'सब कुछ' है। तुम्हीं मेरी माँ, प्राणप्यारी माँ; तुम्हीं मेरे पिता, प्राणप्यारे पिता; तुम्हीं मेरे सुहृद्, अभिन्न सुहृद्; तुम्हीं मेरे स्वामी, रोम-रोमके, श्वास-श्वासके, जन्म-जन्मके स्वामी—तुम्हीं मेरे प्राणवल्लभ, जीवनधन, हृदयसर्वस्व हो—सब कुछ हो—तुम्हारे चरणोंको छोड़कर अब मैं कहाँ जाऊँ और किसकी ओर निहारूँ? मैं तो तुम्हारी ही, एकमात्र तुम्हारी ही लाज हूँ! संसारकी

आँखें मेरे नग्नरूपपर पड़ें यह तुम कैसे सह सकोगे प्राण!

तुम्हारे देखते-देखते संसार मेरे भीतर पैठकर नग्न ताण्डव कर रहा है, मेरा चीर लूट रहा है—यह कैसे विश्वास करूँ। संसारके हाथों मैं हरा जा रहा हूँ यह तो प्रतिपल देख ही रहा हूँ! वासनाकी आँधी आती है और मुझे उड़ा ले जाती है। भीतर मनमें ऐसे-ऐसे जघन्य पाप घट रहे हैं कि इच्छा होती है तुमसे मुँह छिपा लूँ। पर मुँह छिपाकर कहाँ जाऊँगा? चारों ओरसे तो तुम्हीं घेरे खड़े हो! तो फिर क्या यह मान लूँ कि तुम मेरी ओर देख ही नहीं रहे हो, क्या यह समझ लूँ कि मेरी पतवार तुमने छोड़ दी है और मेरी नाव लहरोंकी मौज और प्रवाहपर बही जा रही है! परंतु तुम तो प्रणतपाल हो प्रभो! एक बार भी जिसे अपनाया सदाके लिये उसे 'अपना' बना लिया। तुम मेरी बाँह कैसे छोड़ोगे? मेरी नाव क्यों बहने दोगे? अरे—मैं और मेरी नाव—यह सब कुछ तो तुम्हारे करुणासागरमें ही तैर रहे हैं। तुम्हारी गोदमें ही सारी सृष्टि, अनन्त ब्रह्माण्ड नन्हे-नन्हे बच्चोंकी भाँति खेल रहे हैं! समस्त चराचर तुम्हारी अपनी संतान है इन्हें बिलखने क्यों दोगे? समस्त प्राणी तुम्हारे उद्यानके पुष्प हैं इन्हें मुरझाने क्यों दोगे?

प्रतिपल, प्रतिक्षण तुम मेरी ओर देख रहे हो; मैं तुम्हारी आँख बचाकर मुँह फेर लेता हूँ। पापोंसे इतनी प्रगाढ़ मैत्री मेरी क्यों हो गयी प्रभो! उनमें इतनी आसक्ति क्यों हो गयी कि उनसे एक क्षणका भी वियोग असह्य और दारुण हो उठता है! हाँ, मुँह फेरकर, आँखें बचाकर फिर ज्यों ही पाप-पङ्कमें डूबनेके लिये आमादा होता हूँ कि त्यों ही तुम्हारी मञ्जुल मङ्गल मनोहर मूर्ति सामने हँसती हुई आ जाती है! मैं लजा जाता हूँ, अरे 'वह' देख रहा था! पर सच मानो यह भाव एक क्षण भी ठहर नहीं पाता कि पुन: वासनाओंके लुभावने-ललचीले बाजार सामने अपनी माया पसार देते हैं और मैं पुन: अतृप्त भावसे उनमें रमने लगता हूँ!

यही चित्तकी स्थिति है, यही हृदयका चित्र है, यही भीतरका संसार है। तुम भी हो विषय भी हैं, आग भी है पानी भी! प्रकाश भी है अन्धकार भी! यह भी स्वीकार करनेमें संकोच नहीं कि तुम्हारी अपेक्षा संसारका ही प्रभुत्व अधिक है, प्रकाशकी अपेक्षा तमतोमका ही साम्राज्य अधिक है। तुम्हारे रहते, तुम्हारे देखते यह दशा है यह और भी लज्जाकी बात है।

मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥
तम, मोह, लोभ, अहंकारा। मद, क्रोध, बोध-रिपु मारा॥
अति करहिं उपद्रव नाथा। मरदहिं मोहि जानि अनाथा॥
मैं एक, अमित बटपारा। कोउ सुनै न मोर पुकारा॥
भागेहु नहि नाथ! उबारा। रघुनायक करहु सँभारा॥

मेरा हृदय तुम्हारा मन्दिर है, उसमें चोरोंने घर कर रखा है। बड़ा उत्पात मचा रहे हैं! सदा जबरदस्ती ही करते रहते हैं। मेरी विनती-निहोरा कुछ भी नहीं मानते। लाख मिन्नतें करता हूँ, हाथ जोड़ता हूँ कि मेरा पल्ला छोड़ दो, पर वे एक भी नहीं सुनते! अज्ञान, मोह, लोभ, अहंकार, मद, क्रोध और काम—ये सब प्रबल हैं और मनमानी कर रहे हैं। मुझे अनाथ जानकर कुचले डालते हैं। मैं सर्वथा अकेला हूँ और ये शत्रु अपार हैं। कोई मेरी पुकारतक नहीं सुनता! भागकर भी इनसे पिण्ड नहीं छुड़ाया जा सकता! ये सदा-सदैव मेरे पीछे लगे ही रहते हैं। प्रभो! दीनबन्धु! मेरी रक्षा करो, इनसे मुझे बचाओ, नहीं तो मैं लुटा, मेरा सर्वस्व गया!

* * *

पाप हरे, परिताप हरे, तनु पूजि भो हीतल सीतलताई।
हंसु कियो बकतें, बलि जाउँ, कहाँ लौं कहौं करुना-अधिकाई॥
कालु बिलोकि कहै तुलसी, मनमें प्रभुकी परतीति अघाई।
जन्मु जहाँ, तहँ रावरे सों निबहै भरि देह सनेह-सगाई॥

* * *

'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना'

(श्रीहरिहरजी उपाध्याय)

परमात्मा सर्वव्यापी हैं। सृष्टिके कण-कणमें ईश्वरीय सत्ता निहित है। कोई कण उनकी चेतनासे वञ्चित नहीं है। प्रत्येक जीव-जन्तु, वृक्ष, वनस्पति और जल-थलमें उनकी समान व्यापकता है। प्रत्येक प्राणी ईश्वरकी प्राणचेतनासे ही प्राणान्वित है। न केवल सजीव प्राणी, अपितु निर्जीव पदार्थोंमें भी वे सदा विद्यमान रहते हैं। उनके परम प्रकाशसे ही सूर्य, चन्द्र तथा अन्य ज्योतिपिण्ड प्रकाशित होते हैं। पौराणिक साहित्यमें ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं जो यह प्रमाणित करते हैं कि वे परमेश्वर निर्जीव माने जानेवाले पदार्थोंमें भी विद्यमान हैं। भक्त प्रह्लादकी रक्षाके लिये भगवान् नृसिंहरूप धारणकर पत्थरके एक खम्भेसे अवतरित हुए थे। द्रौपदीकी करुणपुकारपर उसकी लाज बचानेके लिये द्वारकावासी गोविन्दने वस्त्रमें भी अपनी उपस्थितिका आभास कराया था। उस अनन्तकी उपस्थितिने ही द्रौपदीकी साड़ीको अनन्त बना दिया था। दु:शासनकी बलिष्ठ भुजाएँ साड़ी खींचते-खींचते थक गयीं, किंतु उसका अन्तिम छोर नहीं आया। ये दृष्टान्त इस तथ्यको प्रमाणित करते हैं कि भगवान् सर्वव्यापी हैं। वे भक्तकी भावनाके अनुसार किसी भी जड़-चेतन पदार्थमें कहीं भी और कभी भी प्रकट हो सकते हैं।

इस सत्यको सिद्धान्तरूपमें प्राय: सभी स्वीकार करते हैं, किंतु इसकी अनुभूति सबको नहीं होती। भगवान्के विश्वव्यापी रूपका दर्शन हमें नहीं हो पाता। जड़ पदार्थोंकी कौन कहे, चैतन्य प्राणियोंमें भी हम भगवान्को नहीं देख पाते हैं। संकीर्ण मानसिकता किसी मन्दिर अथवा अन्य देवालयमें स्थापित मूर्तिमें भगवान्को प्रतिष्ठित मान लेती है किंतु अन्यत्र उस परमात्मसत्ताका भान नहीं होता। इसका कारण है कि हमारे अन्त:करणचतुष्टयपर काम, क्रोध, लोभ और मोहका आवरण चढ़ा हुआ है। हमारे मनपर कुसंस्कारका मैल जमा हुआ है। हमारी अन्तर्दृष्टि बंद है। ऐसी स्थितिमें परमेश्वर दिखायी कैसे पड़ेंगे? उनकी सर्वव्यापक सत्ताका आभास हमें कैसे हो?

मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। राम रूप देखहिं किमि दीना॥

(रा० च० मा० १।११५।४)

मनका दर्पण स्वच्छ हो और अन्तर्दृष्टि (प्रज्ञाचक्षु) खुली हो तभी ईश्वरके दर्शन हो सकते हैं। चराचर जगत्में व्याप्त परमेश्वरका यह रूप उनके निर्गुण, निराकार और चिन्मय स्वरूपका द्योतक है। वह व्याप्ति सूक्ष्म है। अत: उसे चर्मचक्षुषोंसे नहीं देखा जा सकता है। सगुणरूपमें तो वे महिमामय किसी विशिष्ट स्थानपर ही विराजमान रहते हैं। पुराणों तथा अन्य धर्मग्रन्थोंमें सर्वव्यापी भगवान्के निवासस्थानके सम्बन्धमें कई मान्यताएँ हैं। एक मान्यता यह है कि भगवान् विष्णु (श्रीहरि) लक्ष्मीजीके साथ परमधाम वैकुण्ठमें निवास करते हैं। जिन जीवोंको सालोक्य मुक्ति प्राप्त होती है, वे इसी धाममें जाते हैं और भगवान्के पार्षदके रूपमें वहीं निवास करते हैं। एक मान्यता यह भी है कि भगवान् श्रीहरि योगनिद्राका आश्रय लेकर क्षीरसागरमें शयन करते हैं। इस प्रकार क्षीरसागर भी भगवान्का विश्रामस्थान है। इस प्रचलित धारणाके अनुसार भगवान्को उपर्युक्त दोनों स्थानोंमें खोजा और पाया जा सकता है। देवता भी इस मान्यताको स्वीकार करते हैं।

रावण आदि राक्षसोंके अत्याचार एवं अधर्माचरणसे व्याकुल एवं व्यथित होकर पृथ्वी गौका रूप धारण कर देवताओंके साथ ब्रह्माजीके पास सत्यलोक गयी और अपनी व्यथा सुनाकर अपनी रक्षाकी प्रार्थना की। पृथ्वीकी बात सुनकर ब्रह्मा आदि सभी देवताओंने निश्चय किया कि पृथ्वीका दु:ख निवारण करनेमें केवल भगवान् श्रीहरि ही सक्षम हैं। अत: उन्हींसे इस सम्बन्धमें निवेदन किया जाय। सब देवता बैठकर विचार करने लगे कि प्रभुको कहाँ पायें ताकि उनके सामने पुकार करें। कोई वैकुण्ठपुरी जानेको कहता था और कोई कहता था कि प्रभु क्षीरसागरमें निवास करते हैं—

पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥

(रा० च० मा० १।१८५।२)

देवताओंके इस मतभेदका समाधान करते हुए भगवान् श्रीशङ्करजीने अपना मन्तव्य दिया कि भगवान् सब जगह समान रूपसे निवास करते हैं, वे सर्वव्यापी हैं। प्रेमसे पुकारनेपर वे कहीं भी प्रकट हो सकते हैं। देश, काल, दिशा, विदिशामें ऐसी कोई जगह नहीं है जहाँ प्रभु न हों—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥

(रा० च० मा० १।१८५।५-६)

भगवान् श्रीशङ्करजीका मन्तव्य सभी देवताओंको अच्छा लगा और उन्होंने अपनी सहमति व्यक्त करते हुए उसी स्थानपर भगवान्‌की प्रार्थना की। उनकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने आकाशवाणीद्वारा आश्वासन दिया कि मैं शीघ्र ही अयोध्यापुरी (रघुकुल)-में अवतार लूँगा और पृथ्वीका सब भार हर लूँगा।

भगवान् श्रीशङ्करजीके कथनका समर्थन स्वयं भगवान्‌ने भी किया है। वे नारदजीसे कहते हैं कि न तो मैं वैकुण्ठमें रहता हूँ, न योगियोंके हृदयमें ही बसता हूँ। मेरे भक्त जहाँ मेरा नाम-संकीर्तन करते हैं, मैं वहीं रहता हूँ—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

(पद्मपु० उ० ९४। २३)

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जहाँ भी भगवान्‌को विश्वास और श्रद्धासे पुकारा जायगा, वहीं वे प्रकट हो जायँगे; क्योंकि वे सृष्टिमें सर्वत्र विद्यमान हैं।

वेदान्तने व्यापकताके आधारपर ईश्वरके दो रूप माने हैं। परमात्मा सम्पूर्ण चराचर जगत्‌में सर्वत्र व्याप्त हैं, किंतु उनकी सत्ता दृश्य जगत्‌तक ही सीमित नहीं है; वे उससे भी परे हैं। परमेश्वर विश्वव्यापी होते हुए विश्वातीत भी हैं। ईश्वरका यह उभयात्मक रूप उपनिषदों और अनुवर्ती वेदान्तसाहित्यमें पाया जाता है। 'पुरुषसूक्त' में इसका स्पष्ट उल्लेख है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वत स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

(शु० यजु० ३१।१, ३)

अर्थात् उस परमात्माके मस्तक, नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ और चरण आदि कर्मेन्द्रियाँ हजारों—असंख्य हैं। वह इस समस्त ब्रह्माण्डकी भूमिको सब ओरसे व्याप्त करके स्थित है अर्थात् ब्रह्माण्डमें व्यापक होते हुए भी वह इससे भी परे है। भूत, भविष्य और वर्तमानकालसे सम्बन्ध रखनेवाला जितना भी जगत् है, वह सब इसी पुरुषकी महिमा है। उसका पारमार्थिक स्वरूप इतना ही नहीं है, अपितु वह पुरुष इस ब्रह्माण्डमय विराट् स्वरूपसे भी बहुत बड़ा है। यह सारा विश्व तो उसके एक पाद (चतुर्थांश)-में है। उसके तीन पाद शेष हैं। यह त्रिपादस्वरूप अमृत है, अविनाशी है, जो परम प्रकाशमय द्युलोक अर्थात् अपने स्वरूपमें ही स्थित है।

श्रीमद्भगवद्गीता (१०।४२)-में अपनी विभूतियोंका वर्णन करके अन्तमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ—

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।

वस्तुतः परमेश्वरकी सत्ता देश-कालकी सीमासे परे है। सृष्टिके पूर्वमें भी उनकी सत्ता थी और सृष्टिके विनाशके बाद भी उनका अस्तित्व रहता है।

श्रीमद्भागवत (२।९।३२)-में भगवान् ब्रह्माजीसे कहते हैं—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

अर्थात् सृष्टिके पहले भी मैं ही विद्यमान था, मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था और सृष्टि होनेके बाद जो कुछ भी यह संसार दीखता है, वह भी मैं ही हूँ। सत् (चेतन-अविनाशी), असत् (जड-नाशवान्) तथा सत् और

असत्से परे जो कुछ कल्पना की जा सकती है, वह भी मैं ही हूँ। सृष्टिके अतिरिक्त भी जो कुछ है, वह मैं ही हूँ तथा सृष्टिका नाश हो जानेपर जो कुछ शेष रहता है, वह भी मैं ही हूँ।

तात्पर्य यह है कि परमात्मा अनन्त और असीम हैं। वे देश-कालकी सीमासे परे होते हुए भी इस ब्रह्माण्डमें सर्वत्र व्याप्त हैं।

प्रतिपाद्य विषयकी दार्शनिक विवेचनाके बाद अब इस सम्बन्धमें भक्तिपरक दृष्टिकोणसे विचार करें। भक्तके लिये यह सृष्टि उस भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है तथा उस लीलामयकी लीला है। अतः सृष्टिके सभी जड़-चेतन पदार्थ उसके ही अङ्ग हैं। भक्त जिस प्रकार भगवान्‌की पूजा-अर्चना करता है, उसी प्रकार अश्वत्थ, वट और तुलसीके वृक्षको भी अर्घ्य, पुष्प आदि निवेदित कर उसको प्रणाम तथा प्रदक्षिणा करता है। सजीव ही नहीं, अपितु निर्जीव पदार्थोंमें भी भक्त अपने प्रभुकी झाँकी पाता है। यही सच्चा भगवत्प्रेम है। भक्तिकी सार्थकता और पराकाष्ठा यही है। प्रेमीको जब सर्वत्र सभी वस्तुओंमें अपने प्रेमास्पदकी झलक मिलने लगे तो उस स्थितिको प्रेमकी सर्वोच्च अवस्था—परिपक्वावस्था माना जा सकता है।

भक्तके लिये इस सृष्टिमें शुभ और अशुभ, सत् और असत् जो कुछ भी है, वह भगवान्‌का ही रूप है। वस्तुतः वैसे भगवत्प्रेमीके लिये अशुभ कुछ है ही नहीं। सच्चिदानन्द परमेश्वरकी यह सृष्टि सत्य, शिव और सुन्दर ही है। भक्तकी इसी भावनाकी पुष्टि करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

(गीता ७।७)

अर्थात् मेरे अतिरिक्त इस सृष्टिमें दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी नहीं है। अमृत और मृत्यु, सत् और असत् सब कुछ मैं ही हूँ—'**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥**' (गीता ९।१९) एवं '**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७।१९) भगवत्प्रेमका सर्वश्रेष्ठ महामन्त्र है।

श्रीमद्भागवत (११।२।४१)-में इसी भगवत्प्रेमका उल्लेख करते हुए कहा गया है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, सभी प्राणी, सभी दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी-समुद्र सभी भगवान्‌के शरीर हैं अर्थात् इन सभी रूपोंमें भगवान् स्वयं प्रकट हैं—ऐसा समझकर जो कोई भी हमारे सामने आता है—चाहे वह प्राणी हो या अप्राणी—उसे अनन्यभावसे—भगवद्भावसे प्रणाम करना चाहिये।

गोस्वामी तुलसीदासजी-जैसे संतोंको ईश्वरके इस विश्वात्मरूपका दर्शन होता था। इसीलिये उन्होंने श्रीरामचरितमानस (१।७ (ग), १।८।१-२)-में लिखा है—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥
आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ बासी॥
सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

भगवत्कृपासे इस प्रकारकी दृष्टि जिसे मिल जाती है, उसके लिये शुभ, अशुभ, भला-बुरा, उत्कृष्ट-निकृष्टका भेदभाव मिट जाता है। उसे सभी जीवोंमें परमेश्वर दिखायी पड़ते हैं। विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण और चाण्डालमें एक ही भगवान्‌के दर्शन होते हैं। उसे पारमार्थिक भेद नहीं मालूम पड़ता। गीतामें उसे समदर्शी कहा गया है।

ऐसा समदर्शी व्यक्ति किसी जीवसे द्वेष नहीं करता है, किसीके प्रति वैरभाव नहीं रखता है। सभी जीवोंके प्रति मित्रता और करुणाका भाव रखता है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

(गीता १२।१३)

उसे सभी जीवोंमें—सम्पूर्ण सृष्टिमें अपने प्रभुके दर्शन होते हैं। अतः किसीसे उसका किसी प्रकारका विरोध हो ही नहीं सकता।

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(रा०च०मा० ७।११२ (ख))

⁂

सामाजिक मर्यादा—श्रीरामचरितमानसका सुन्दरकाण्ड

(डॉ० श्रीघनश्यामजी व्यास, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, साहित्यरत्न)

सेवक और सेव्यका अनन्य सम्बन्ध है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका महाकाव्य श्रीरामचरितमानस इस विषयमें प्रत्यक्ष प्रमाण है। रामचरितमानसका भारतीय जीवनमें आकण्ठ प्रभाव है। सम्पूर्ण भारतमें यत्र-तत्र श्रीरामचरितमानसके अखण्ड पारायणहेतु मण्डल स्थापित हैं। ये मण्डल प्रायः रामचरितमानसका पाठ शनिवारसे प्रारम्भ करते हैं तथा रविवारको रातके प्रथम प्रहरतक पूर्ण करते हैं। ये मण्डल रामचरितमानसके 'सुन्दरकाण्ड' का भी पाठ करते हैं, जो दो घण्टेकी अवधिमें पूर्ण हो जाता है। मन्दिरोंमें, घरोंमें भी लोग श्रीसुन्दरकाण्डका पाठ करते हैं। रामचरितमानस श्रीरामचन्द्रजीकी पावन कथासे पुष्ट है। इसमें निहित 'सुन्दरकाण्ड' वीरवर जाम्बवन्तके द्वारा श्रीरामभक्त श्रीहनुमान्जीकी महिमासे प्रारम्भ होता है। सच तो यह है कि श्रीरामकथा-पठन-मण्डल सम्पूर्ण रामचरितमानसके स्थानपर अपेक्षाकृत 'सुन्दरकाण्ड' का पाठ अधिक करते हैं। प्रभु स्वयं कहते हैं कि मुझसे मेरे भक्त श्रेष्ठ हैं। यही कारण है कि श्रीरामभक्त श्रीहनुमान्जीकी महिमासे सम्बद्ध 'सुन्दरकाण्ड' का पाठ मण्डलोंद्वारा विशेष रूपसे किया जाता है। 'सुन्दरकाण्ड' में निहित जीवनगत पक्षोंको स्वीकार करनेसे मानव-जीवन ही सफल हो जाय। इसमें सामाजिक जीवनकी मर्यादाओंका भण्डार भरा हुआ है। 'सुन्दरकाण्ड' में उल्लिखित विचारोंकी चर्चा करनेके पूर्व संक्षेपमें 'मर्यादा' के सम्बन्धमें चर्चा की जा रही है।

'मर्यादा' शब्द अपने-आपमें गाम्भीर्य लिये हुए है। 'मर्यादा' के अनेक अर्थ हैं—न्याय-पथकी स्थिति, धर्म, दो या अधिक मनुष्योंके बीचकी प्रतिज्ञा, मान, गौरव, सदाचार, नियम, सीमा, नदीका किनारा आदि। सामाजिक संदर्भमें मर्यादाका तात्पर्य नियम, सीमा, धर्म, सदाचार तथा गौरवसे लिया जा सकता है। इन सभी अर्थोंमें सामाजिक क्रमके उच्च विकासका ही लक्ष्य निरूपित होता है।

गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानसका सुन्दरकाण्ड श्रीरामभक्त हनुमान्जीपर आधारित है। श्रीहनुमान्जी सीताजीकी खोजमें जाम्बवन्तके द्वारा प्रोत्साहित करनेके उपरान्त लङ्काकी ओर प्रस्थान करते हैं। इस संदर्भमें गोस्वामी तुलसीदासने कथा-प्रसंगका विवरण देते हुए सहज भावसे अनेक पक्ष निरूपित किये हैं। पढ़ते समय ऐसा लगता है कि जो कुछ कहा जा रहा है वह परिस्थिति, काल, समय और पक्षकी दृष्टिसे सर्वथा अनुकूल है। गोस्वामी तुलसीदास जीवनगत स्थितियोंके प्रकाण्ड ज्ञाता रहे हैं। समाज, परिवार और जीवनकी स्थितियोंको ध्यानमें रखते हुए किस प्रकार बात, कार्य और अन्य क्रम निभाने चाहिये इसका सुन्दरकाण्डमें सुन्दर निर्वाह किया है। सुन्दरकाण्डका प्रारम्भ वीरवर जाम्बवन्तके वचनोंसे होता है। वे हनुमान्जीको समझाते हैं तथा उनके कार्योंका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि हनुमान्जी, केवल आप ही सीताजीकी खोजका कार्य पूर्ण कर सकते हैं। आप ही श्रीरघुपतिके प्रिय भक्त हैं।

किसी कार्यहेतु प्रस्थान करते समय बड़ोंका आशीर्वाद लेना चाहिये। इसी कारण श्रीहनुमान्जी भी वही क्रम निरूपित करते हैं—'*यह कहि नाइ सबन्हि कहुँ माथा।*' तथा हर्षके साथ कार्यहेतु श्रीरघुनाथजीका हृदयसे ध्यान करते हुए आगे बढ़ते हैं।

समाजमें इस बातकी मर्यादा रखनी आवश्यक है कि जो कार्य समाजहितहेतु पहले करनेका निश्चय किया गया हो, उसे पहले करना चाहिये, इस तथ्यका श्रीहनुमान्जी निर्वाह करते हुए कहते हैं कि '*राम काजु करि फिरि मैं आवौं।*' यह बात वे सुरसासे कहते हैं। इस प्रकार सुन्दरकाण्डमें कार्य करनेके पूर्व अर्थात् कार्य प्रारम्भ करनेके पूर्व बड़ोंसे आशीर्वाद लेने तथा जो कार्य पहले प्रारम्भ कर दिया है उसे पहले पूर्ण करनेका स्पष्ट संकेत दिया गया है। तदनन्तर अन्य कार्यकी ओर सत्यताके साथ आनेका वचन देनेकी बात भी कही है। इतना ही नहीं, कार्य करते समय केवल बल अथवा केवल बुद्धिसे काम नहीं चलता। श्रीहनुमान्के चातुर्यको समझकर सुरसा कहती है '*बुधि बल मरमु तोर मैं पावा।*' अतः कार्यसिद्धिके लिये बुद्धि और बल दोनों ही आवश्यक हैं। श्रीहनुमान्का लङ्का-

प्रवेश एक साथ उनकी बुद्धि और बलको व्यक्त करता है।

विभीषणसे भेंट करनेके पूर्व श्रीहनुमान्‌जी विचार करते हैं तथा सोचते हुए साधु-रूप धरनेका निश्चय करते हैं—कारण *'साधु ते होइ न कारज हानी'*। विभीषण और हनुमान् आपसमें चर्चा करते हैं। उस समय विभीषण कहता है कि—*'जिमि दसनन्हि महुँ जीभ बिचारी'* यह सच है कि समाजमें सज्जन पुरुष समाजकी मर्यादाका ध्यान रखते हुए उसी प्रकार जीवन व्यतीत करते हैं, जिस प्रकार दाँतोंके बीच जीभ। साथ ही सज्जनोंकी मर्यादाका निरूपण भी किया है। हनुमान्‌जी विभीषणसे सीताजीका स्थान पूछकर अशोक वनमें पहुँचते हैं। सीताजीने हनुमान्‌जीको इसके पूर्व नहीं देखा था और न ही हनुमान्‌जीने सीताजीको देखा था। सीताजी और हनुमान्‌जी आपसमें वार्तालाप करते हैं। समानधर्मा तथा समान भावधारासे सम्पन्न एक ही इष्टके प्रति श्रद्धावनत सहजमें ही आपसमें स्नेहपूर्ण हो जाते हैं। इसी कारण सीताजीका हृदय स्नेहपूर्ण हो जाता है—*'हरिजन जानि प्रीति अति गाढ़ी'*। यह वास्तवमें समाजकी दृष्टिसे विशिष्ट ढंगकी मर्यादा है। अपने-आप ही आपसमें स्नेह करने लगते हैं। इसका कारण है केवल इष्टकी महिमाका गुणगान करना—भक्तोंको आपसमें स्नेहकी डोरमें बाँधनेमें समर्थ है। इष्टके प्रति भक्तका समर्पण भाव भी अपने-आपमें विशिष्ट एवं मर्यादापूर्ण होता है। जिस समय हनुमान्‌जीको नागपाशके बन्धनसहित रावणकी सभामें उपस्थित किया जाता है, उस समय वे अपने इष्टकी महिमाका गुणगान अत्यन्त निर्भय होकर करते हैं तथा रावणके वैभवको तुच्छ बतानेमें किसी भी प्रकारका भय नहीं करते। श्रीहनुमान्‌जी सहज ढंगसे कहते हैं—*'राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥'* यहाँ मर्यादाके दो स्वरूप स्पष्ट होते हैं—एक इष्टके प्रति पूर्ण समर्पण भाव और दो अपने स्वामीके कार्यके प्रति पूर्ण निष्ठा। इसीके साथ यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि श्रीराम-विमुख होनेपर सब कुछ व्यर्थ है और वाणीकी महत्ता श्रीरामगुणगान करनेमें ही है। यही है सामाजिक मर्यादाका पक्ष।

सामाजिक मर्यादाका पालन ज्येष्ठ और लघुभ्रातामें किस प्रकार सम्पन्न होता है। इसको सुन्दरकाण्डमें तुलसीदासने यों निरूपित किया है—जिस समय हनुमान्‌जीको निशाचर मारनेहेतु तत्पर होते हैं, उस समय विभीषण अत्यन्त आदर भावसे अपना मस्तक झुकाकर शालीनतापूर्वक ज्येष्ठ भ्रातासे प्रार्थना करता है—दूतको मारना नीतिविरुद्ध है। हाँ, आप इसे कुछ दण्ड अवश्य दे सकते हैं। विभीषणका उच्च भावापन्न विचार सुनकर रावण भी विभीषणके मतसे सहमत हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदासने लिखा है—*'नाइ सीस करि बिनय बहूता। नीति बिरोध न मारिअ दूता॥'*

समाजमें शुद्ध विचारोंका विशेष महत्त्व है—इसका सुन्दरकाण्डमें अत्यन्त मार्मिक ढंगसे निरूपण हुआ है। मनुष्यके मनमें उच्च और निम्न विचार स्थित रहते हैं। जहाँ शुद्ध विचार अर्थात् सुमतिका साम्राज्य होता है, वहाँ अनेक प्रकारके सुख निवास करते हैं। इसके विपरीत जहाँ कुमतिका प्रभाव रहता है, वहाँ अनेक विपदाएँ उपस्थित होती हैं—

सुमति कुमति सब कें उर रहहीं। नाथ पुरान निगम अस कहहीं॥
जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥

सामाजिक मर्यादा है कि शरणमें आये हुए व्यक्तिको अभय दान देना चाहिये तथा उसे किसी भी प्रकारका कष्ट नहीं होना चाहिये। यही कारण है कि जब विभीषण श्रीरामकी शरणमें आता है तब सुग्रीवादिके कहनेपर श्रीराम कहते हैं—*'मम पन सरनागत भयहारी।'* अर्थात् मेरा प्रण है—शरणागतको भयमुक्त कर देना। इसी क्रममें श्रीरामचन्द्रजी सामाजिक दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचारद्वारा समझाते हैं। जीवनमें जो मोहका त्याग कर देता है वही सज्जन है। मोहका त्याग ही श्रेष्ठ है। इसमें संदेह नहीं कि परिवारमें माता-पिता, भाई, पुत्र सभी आपसमें सहृदय होते हैं—धन रहनेपर। परंतु यहाँ ऐसा कुछ नहीं है। मैं सज्जनके प्रति सदा उदार हूँ। सज्जन मेरे मनमें तदनुरूप निवास करते हैं जैसे लोभीके मनमें धनके प्रति भाव रहता है। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासने लोभरूप मानसिक विकारको निरूपित

करनेके साथ-साथ श्रीरामके मूल भावको भी अभिव्यक्त कर दिया है। चौपाइयाँ इस प्रकार हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाही । हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

समाजमें ऐसे लोग भी रहते हैं जो कार्य करनेसे जी चुराते हैं। गोस्वामी तुलसीदासने लक्ष्मणके द्वारा यह बात सहज ढंगसे कहलवा दी है—'*दैव दैव आलसी पुकारा।*' श्रीराम विभीषणके कहनेपर सागर-पूजनकी ओर उन्मुख होते हैं।

सागर-पूजन करते हुए तीन दिन व्यतीत होनेपर श्रीरामचन्द्र अपना धनुष सँभाल लेते हैं। उस समय भी महत्त्वपूर्ण स्थिति निरूपित की है। सामाजिक दृष्टिसे किसी भी कार्यको पूर्ण करनेहेतु विनम्रताके क्रमका निर्वाह करना चाहिये। कार्यकी स्थिति न बदलनेपर अपने प्रतापको स्फूर्त करनेकी ओर अग्रसर होना चाहिये। श्रीरामचन्द्रजी भी इसी क्रमको स्वीकार करते हुए अपने प्रतापसे कार्य-सम्पन्न करनेकी ओर अग्रसर होते हैं। अन्तमें श्रीरामके असीम प्रतापको दृष्टिगत कर सागर ही विनम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर उपस्थित होता है। उस समय सागर ही कहता है कि—हे प्रभो! आपने मुझे मर्यादाका ज्ञान कराया है। उल्लेख यों है—'*प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही। मरजादा पुनि तुम्हरी कीन्ही॥*' सागर श्रीरामचन्द्रजीके समक्ष—'*बिप्र रूप आयउ तजि माना।*'—अर्थात् अभिमान त्यागकर उपस्थित होता है एवं कहता है—'*छमहु नाथ सब अवगुन मेरे॥*' श्रीरामचन्द्रजी सागरकी धृष्टताकी ओर ध्यान न देकर उसे क्षमा कर देते हैं तथा उसके कहनेपर बाणानुसन्धान उत्तरकी ओर करते हैं। यह सामाजिक मर्यादा है कि कोई अभिमान त्यागकर क्षमा माँग ले तो उसके प्रति विनम्रताका ही व्यवहार करना चाहिये। वास्तवमें समाजमें ऐसा करनेपर ही मर्यादाका निर्वाह होता रहता है, अन्यथा केवल संघर्ष और वैमनस्यकी ही स्थिति बनी रहेगी। सुन्दरकाण्डमें सामाजिक मर्यादाका निरूपण विशिष्ट रूपसे दृष्टिगत होता है। गोस्वामी तुलसीदासने जीवनके अनेक पक्षोंका विवरण रामचरितमानसमें दिया है। मूलरूपमें रामचरितमानसकी मर्यादाएँ जीवनकी सच्ची सीख है।

भक्तोंके पावन-चरित —

संकीर्तन-प्रेमी कवि चण्डीदास

(डॉ० श्रीविद्यानन्दजी 'ब्रह्मचारी', एम्०ए०, बी०एड्०, पी-एच्०डी०, डी०लिट्०)

भारत-भूमि धन्य है, बंग-भूमि धन्य है, वीरभूमि जनपद धन्य है और धन्य है नानूर ग्राम, जहाँ भगवत्प्रेमी कवि चण्डीदास-जैसे सिद्ध पुरुषका अवतरण हुआ। चण्डीदास नानूरके मूल निवासी नहीं थे, वहाँ वे घूमते-घामते पहुँचे थे। वे जातिके ब्राह्मण थे तथा मैथिलकोकिल महाकवि विद्यापतिके समसामयिक थे और मित्र भी।

उन्होंने सर्वप्रथम रामी नामक रजक स्त्री (धोबिन)-के साथ श्रीराधा-कृष्णके प्रेमका कीर्तन प्रारम्भ किया।

नानूर ग्राम-स्थित विशालाक्षीदेवीके भव्य मन्दिरमें वे दोनों रहते थे। चण्डीदास मन्दिरके पुजारी थे और रामी मन्दिरकी सेविका थी। चण्डीदास देखनेमें रूपवान् थे। दिन-रात कोई-न-कोई भजन गुनगुनाते रहते, अपनेमें एकदम मशगूल, जैसे अन्तरके रससे ही फुरसत न हो।

भगवान्‌के इच्छानुसार सबका सबसे मिलन होता है। कहा जाता है कि परमात्मा जिससे जैसा कार्य कराना चाहता है, उसके अन्तःकरणमें बैठकर वैसी ही प्रेरणा देता है और तदनुकूल परिस्थितियाँ भी बनाता है। ऐसा ही कुछ हुआ कविवर चण्डीदास और रामीमें। दोनोंके हृदयमें परस्पर विशुद्ध प्रेमका सञ्चार हो गया। उसमें वासना और आसक्तिकी गन्धतक न थी। रामी ब्राह्मण देवताकी चरणधूलि ले सकती थी, ब्राह्मण चण्डीदास उसे केवल आशीर्वाद दे सकते थे। दोनों राधा-कृष्णके प्रेमगानमें विभोर रहते थे।

सहसा एक दिन मन्दिरमें अन्धकारपूर्ण रात्रिमें वातावरणको आलोकित करती हुई एक ज्योतिर्मयी देवी प्रकट हुईं। चण्डीदासने रूपका ऐसा ऐश्वर्य कभी देखा नहीं था। उस रूपकी द्युतिसे उनकी आँखें चौंधिया गयीं। उन्होंने आखें बंद कर लीं।

देवी बोलीं—मैं विशालाक्षी हूँ, चण्डीदास! तुम डरो

नहीं। आँखें खोलकर मुझे देखो।

चण्डीदास उठ बैठे, हाथ जोड़कर स्तवभावसे देवीकी ओर देखने लगे। फिर अवाक्! रूपाग्निकी झलक चन्द्रकिरणकी तरह सहसा शीतल हो गयी। वैसा रूप निहारकर चण्डीदासके हृदयमें परम शान्ति भर गयी।

उसी स्वप्नवत् स्थितिमें देवीने कहा—चण्डीदास!

चण्डीदास बोले—आदेश करें माँ?

—तुम्हें राधा-कृष्णके प्रेमका कीर्तन करना होगा और इस रस-कीर्तनके माध्यमसे लोगोंमें प्रेम-प्रचार करके उन्हें जाग्रत् करना होगा।

—यह गुरुतरकार्य मैं कैसे कर सकूँगा माँ?

—तुम्हें रामीके साथ प्रेमकी साधना करनी पड़ेगी। राधा-कृष्ण बन करके उनके प्रेमकी लीला करनी पड़ेगी।

इतना कहकर देवी अन्तर्धान हो गयीं। मन्दिरमें पुनः अन्धकार छा गया। चण्डीदास मूर्च्छित हो गये। उसी रातको रामीने स्वप्नमें देखा वाशुलीदेवी कह रही हैं—

याहा कहि रामी, सुनह रामिनी, ए कथा भुवन सार,
चण्डीदास नामे, आछे एक जन ताहींरे आरोप कर,
अवश्य करिले, नित्य धामे यावे आमार वचन धर।

दूसरे दिन वेला अधिक हो गयी। फिर भी मन्दिरका दरवाजा नहीं खुला। पड़ोसियोंने बार-बार पुकारा। किन्तु चण्डीदास जागे नहीं। अन्ततः लोग दरवाजा तोड़कर मन्दिरमें घुसे और देखा चण्डीदास मृतवत् पड़े हैं। लोगोंने नाकपर हाथ रखकर देखा, श्वास चल रहा है। मुँहपर पानी छिड़का गया। सिरपर पानी डाला गया, तब कहीं चण्डीदास चैतन्य हुए। लोगोंने पूछा—क्या हुआ था? चण्डीदास बोले—एक अद्भुत स्वप्न देखकर सो गया था।

तदनन्तर चण्डीदास और रामी अनमनस्क रहने लगे। देवीकी वह लीला अपूर्व एवं आश्चर्यजनक थी। अन्ततः रामी और चण्डीदासने ढाई अक्षरके प्रेमका अर्थ जो साधारण मनुष्योंकी धारणा एवं अनुभूतिसे अतीत था, विशालाक्षीदेवीकी कृपासे समझकर हृदयङ्गम कर लिया।

रामी रसवती थी और चण्डीदास नागर थे। दोनों एक-दूसरेके स्नेहरसमें निमज्जित। स्वतः-स्फूर्त प्रतिभासे चण्डीदास पद्य-रचना करने लगे और रामीके साथ ढोल बजा-बजाकर पद गाने लगे। श्रीराधा-कृष्णके प्रेममें मानो दोनों ही पागल थे।

चण्डीदासकी राधा नवनीत-सी कोमल हैं। इतनी कोमल और करुण राधा दूसरी नहीं हुईं। श्रीकृष्णसे क्षणभरका वियोग भी उन्हें असह्य है। संयोगके आनन्दमें भी भावी वियोगकी कल्पना करके सिहर उठती हैं। चण्डीदासने भक्ति-विह्वल आँसुओंसे उनकी सृष्टि की है। विरहका अश्रुरूप अर्घ्य लेकर खड़ी चण्डीदासकी तन्मयासक्त राधाकी प्रीति सचमुच निराली है—

ए मन पीरित कभु देखी नाइ शुनि।
पराणे पराण बाँधा आपने आपनि॥
दुहुँ कोरे दुहुँ काँदे विच्छेद भाविया।
आध तिल न देखिल चायये मरिया॥
जल बिनु मीन जनु कबहुँ ना जीये।
मानुखे ए मन प्रेम कभूना देखिए॥

चण्डीदासने अपनी 'नायिकार पूर्वानुराग' नामक रचनामें राधाजीके भावुकतापूर्ण आवेशका वर्णन किया है। श्यामको देखते ही वे शरीरकी सुध-बुध खो बैठती हैं। योगिनकी तरह एकान्तमें अपना हाथ कपोलपर रखकर मनकी आँखोंसे आँसू बहाती रहती हैं। उनकी आँखोंमें सावन उमड़ा होता है। वस्त्र और वेणी सँभालनेका तो उन्हें कभी ध्यान ही नहीं रहता। यथा—

यमुना जाइया श्यामरे देखिया घरे आइलो विनोदिनी;
बिरले बसिया काँदिया-काँदिया धेयाय श्याम-रूप खानि।
निज करो पर राखिया कपोल महायोगिनीर पारा;
ओ दुटी नयने बहिछे सघने, श्रावण मेघेरि धारा।

और—

चाँचर, चिकुर, कभू ना संबर, केने होइल अगेयान;
चण्डिदास कहे, बेंझेंछे हृदय, श्यामेर पिरीति बान॥

इस प्रकार चण्डीदासकी राधाकी दसों इन्द्रियाँ मुग्ध एवं मौन हैं।

इस प्रकार कीर्तन-प्रेमी चण्डीदासके गानेकी शक्ति और उनके द्वारा रचित पदोंका माधुर्य दूर-दूरतक प्रचरित हो गया। राजूरका गणेश कीर्तनिया, जिसने कभी किसीके सामने सिर नहीं झुकाया था, वह भी चण्डीदासके पास आया। 'कटुआ' के घनश्यामदास आये। कांदीके रामचरण चक्रवर्ती आये, जो केवल कीर्तनिया ही नहीं, बल्कि राढके सभी गुणीजन उनके नामसे पूर्णतया परिचित थे। लावपुरसे रसिकदास

तथा साथ ही इनके शिष्य और प्रशिष्य भी आये। प्रत्येक दिन विख्यात रसज्ञ व्यक्ति नानूरमें उपस्थित होने लगे और उन लोगोंने एक स्वरसे यह घोषित किया कि 'चण्डीदास-जैसे परम प्रेमसिद्ध पुरुषको पाकर नानूर धन्य हो गया।'

किसीने सच ही कहा है—'भगवत्प्रेमकी साधना भी एक अजीब नशा है। जहाँ एक बार लौ लगी कि लगी। प्रेमकी एक नन्ही-सी चिनगारी हृदयमें प्रवेश करते ही सब कुछ आत्मसात् कर लेती है।'

चण्डीदास और रामी एक वर्षतक दोनों समाजसे बिलकुल अलग रहे। वे घरमें ही छिपे रहते थे। इस एक वर्षकी अवधिमें वे दोनों दिव्य रासलीलामें डूबे रहे। एक वर्षकी कठोर प्रेम-साधनाके बाद चण्डीदास और रामीके अन्तरमें पूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्ण विराजमान हो गये। भगवान् श्रीकृष्ण एवं राधाकी कैशोर-लीला-प्रचार करनेकी पूर्ण योग्यता उन दोनोंने अर्जित कर ली। उनके अन्तरमें लीलाप्रचारहेतु श्रीभगवान्का स्पष्ट निर्देश मिला। इस एक वर्षकी अवधिमें उन दोनोंको हेमकान्त रूप प्राप्त हो गया। उनके चेहरेकी अपार्थिव आभासे लोगोंको शान्ति मिलने लगी। अब चण्डीदास प्राणपणसे पद रचना करने लगे।

चण्डीदासके निविड़ संयोगसे रामीमें भी आत्मिक परिपुष्टता और साथ-साथ साहित्यिक प्रतिभा भी स्फुटित हो गयी थी। चण्डीदासके आदर्शपर वह भी पद-रचना करने लगी।

संकीर्तन-प्रेमी कवि चण्डीदासने गणेश कीर्तनिया, घनश्यामदास, रामचरण चक्रवर्ती एवं केतुग्रामके उद्धव रायको साथ लेकर एक कीर्तन-मण्डलीकी स्थापना की। यह मण्डली उस समय सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी। कई बार नानूरके बाहर भी कीर्तन हुआ। अब रामी और चण्डीदासकी कीर्ति-गाथा सर्वत्र फैल गयी। लोग उनका कीर्तन सुननेको पागल हो उठते थे। पहले तो किसी व्यक्तिके बैठक-बरामदेमें कीर्तन होता था, लेकिन अब इसके लिये विस्तृत मैदानमें वेदी बनायी जाती थी। वेदीके ऊपर चँदोवा ताना जाता था। झाड़ और बत्तीकी व्यवस्था की जाती थी। वेदीके चतुर्दिक् हजारों लोग बैठकर मन्त्रमुग्ध हो कीर्तन सुनते थे। उनके कीर्तनकी सहजता और सरसताके कारण श्रीराधा-कृष्णके प्रेमका उच्च तत्त्व समझनेमें लोगोंको कोई कष्ट नहीं होता था। हाड़ी, डोम, चाण्डाल, मोची और बाउरी भी कीर्तन सुनते और समझते थे। कीर्तनके माध्यमसे चण्डीदासने समाजको जागृति प्रदान की। हर वर्गके लोग रामी और चण्डीदासके पदोंका मर्म समझकर श्रीराधा-कृष्णके प्रेममें पागल होने लगे। भगवत्प्रेमका मूलाधार यही है।

चण्डीदासका प्रचार-कार्य दिन दूना रात चौगुना बढ़ने लगा। वे अब नगर-कीर्तन करते थे। राधा-कृष्णके प्रेमकी गाथा अपूर्व पदावलीमें चण्डीदास खड़े होकर गाते थे। चण्डीदासके प्रत्येक बोल, प्रत्येक अङ्ग-संचालनमें अपूर्व कवित्व दिखायी पड़ता था। विशाल जनसमूह मन्त्र-मुग्ध होकर श्रीराधा-कृष्णप्रेम-सिन्धुमें डुबकियाँ लगाता था। चण्डीदासके कोकिल कण्ठस्वर एवं उनकी शिक्षासे सभी आश्चर्यचकित हो गये थे।

एक बार राजूरसे नानूरतक कीर्तनियोंका जुलूस निकला। सभी लोग कीर्तन करते-करते उन्मत्तकी तरह नाचते-गाते चल रहे थे। शोभायात्रा धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी। ऊँच-नीच सभी जातिके लोग भेद-भाव भूलकर अग्रसर हो रहे थे। चण्डीदासने एक स्वरमें घोषणा की—'मनुष्य ही सत्य है।' ***'सुनहु मानुस भाई सबार ऊपरे मानुस सत्य, तारे ऊपर नाई।'*** चण्डीदासके प्रेम-प्रचारका परिणाम यह हुआ कि मानवताकी माँग समाजमें प्रतिष्ठित हो गयी। समाजमें न्यायका राज्य उपस्थित हो गया। ठगोंने ठगी छोड़ दी एवं डकैतोंने डकैती। समाजमें लोगोंने सब जगह नगर-कीर्तनका श्रीगणेश कर दिया।

नानूरके जमींदार दुर्लभरायने स्वप्नमें भी यह नहीं सोचा था कि चण्डीदास इतना व्यापक रूपसे कीर्तनके माध्यमसे जन-जागरण कर सकेंगे। दुर्लभरायकी पत्नी रमा देवीने स्पष्ट शब्दोंमें कहा—'हमलोग मर जायँगे, लेकिन वे दोनों (चण्डीदास और रामी) चिरकालतक जीवित रहेंगे।'

किसीने ठीक ही कहा है—'संसारमें कुछ लोग जन्मजात बड़प्पन लिये पैदा होते हैं और कुछ स्वयं अपने परिश्रम एवं अध्यवसायसे प्रतिष्ठित होते हैं।' संकीर्तन-प्रेमी कवि चण्डीदासजी प्रथम कोटिके देवपुरुष थे, जिन्होंने दैवी कृपासे श्रीराधा-कृष्णका लीलागान करके अपने जीवनमें अप्रतिम सफलता प्राप्त की और यश अर्जित किया। प्रेमी चण्डीदासके चरणोंमें शत-शत नमन।

साधनोपयोगी पत्र

(१)

बर्ताव सुधारनेके उपाय

आपने लिखा कि 'मेरा स्वभाव तामसी होता चला जाता है, सबसे अच्छा व्यवहार नहीं होता। ऐसा कौन-सा साधन है जिससे स्वभाव बदल जाय और सबसे सात्त्विक व्यवहार होने लगे?' सो ठीक है। सात्त्विक व्यवहार न होना आपको बुरा लगता है और सात्त्विक व्यवहार हो, ऐसी आपकी इच्छा है। एक तो यही स्वभाव बदलनेमें बड़ा कारण हो सकता है। मनुष्यको जो चीज वस्तुतः बुरी मालूम होने लगती है और उसका रहना काँटेकी-ज्यों चुभता है, तब वह चीज धीरे-धीरे छूट ही जाती है और जिसकी सच्ची चाह होती है, वह चीज आगे-पीछे मिलती ही है। परंतु बात यह है कि किसीके साथ बुरा बर्ताव करना, यह असलमें 'स्वभाव' नहीं है। आत्माका तो स्वभाव है आनन्द और प्रेमसे परिपूर्ण! वह स्वयं आनन्दमय है और इसलिये आनन्द ही वितरण करना चाहता है। न यह अन्तःकरणका ही धर्म है। यह तो बाहरसे आया हुआ दोष है, जो सावधानीके साथ प्रयत्न करनेपर नष्ट हो सकता है। निम्नलिखित बातोंपर ध्यान देकर चेष्टा करनी चाहिये। साधना या चेष्टा जबतक लगनसे नहीं होती, तबतक फल नहीं होता। पथ्य-परहेजका खयाल रखते हुए सावधानीके साथ दवा लेनेसे रोग मिटता है।

१-सब जीवोंमें भगवान् बसते हैं, भगवान् ही सब जीव बने हुए हैं; फिर बुरा बर्ताव किसके साथ किया जाय।

अब हौं कासों बैर करौं।
कहत पुकारत हरि निज मुख तें घट घट हौं बिहरौं॥

हम किसीके भी साथ बुरा बर्ताव करते हैं तो वह श्रीभगवान्‌के साथ ही करते हैं।

२-बुरा बर्ताव करनेसे भगवान् नाराज होते हैं, क्योंकि सभी जीव भगवान्‌की संतान हैं। किसीके बालकको कष्ट पहुँचानेसे माँ जरूर नाराज होगी।

३-बुरा बर्ताव करनेसे द्वेष, वैर, क्रोध, विषाद आदि दोषोंका जन्म-जन्मान्तरतक बड़ा विस्तार होता है; इससे अपनी और जगत्‌की बड़ी हानि होती है—लौकिक भी और पारमार्थिक भी।

४-बुरा बर्ताव हम तभी करते हैं जब कोई हमें बुरा लगता है, बुरा लगता है दोषदृष्टिसे। दोषदृष्टि सदा ही द्वेष और जलन पैदा करती है, इससे अपनी बड़ी हानि होती है। जिसको सबमें दोष देखनेकी आदत पड़ जाती है, वह जगत्‌से कुछ सीख ही नहीं सकता और सदा जला करता है, न अच्छे रास्तेपर ही जा सकता है; क्योंकि उसे रास्ता बतलानेवालोंमें और रास्तेमें भी दोष-ही-दोष दीखता है।

५-जब हमारे साथ कोई बुरा बर्ताव करता है तो हमें दुःख होता है; इसी प्रकार हम जब दूसरेके साथ बुरा बर्ताव करते हैं तो उसे भी दुःख होता है। हम स्वयं तो यह चाहें कि सब हमसे अच्छा बर्ताव करें और हम दूसरोंसे बुरा बर्ताव करें, यह अधर्म है। शास्त्र कहते हैं—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'धर्मका सार सुनो और सुनकर उसे धारण करो। जो बात अपनेको प्रतिकूल लगती है, वह दूसरोंके साथ कभी न करो।'

६-अच्छे बर्तावसे प्रेम बढ़ता है, बुरे बर्तावसे वैर।

७-बुरा बर्ताव कामना, अभिमान, द्वेष और प्रतिकूल भावना आदिके कारण होता है; अतएव इनका सावधानीके साथ त्याग करना चाहिये।

८-भगवान्‌से कातर प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे भगवन्! किसी भी हेतुसे मैं किसी भी प्राणीके साथ कभी बुरा बर्ताव न करूँ।'

९-श्रीचैतन्य महाप्रभुकी यह वाणी याद रखनी चाहिये—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

'अपनेको एक तिनकेसे भी बहुत छोटा समझनेवाले, वृक्षसे भी अधिक सहनशील, स्वयं अमानी और दूसरोंको मान देनेवाले पुरुषोंके द्वारा हरि सदा कीर्तनीय हैं।' इस प्रकारका भाव हो जानेपर सहज ही किसीसे बुरा बर्ताव नहीं होगा।

और भी बहुत-सी बातें हैं। इनमेंसे किसी भी एक या एकाधिक बातपर पूरा खयाल रखनेसे बुरा बर्ताव दूर हो सकता है। संसारमें हम सभी मुसाफिर हैं। आपसमें हिल-मिलकर, एक-दूसरेके दोषोंको सहकर परस्पर सबकी सेवा करते हुए रहेंगे तो आरामसे मुसाफिरीके दिन कटेंगे और नये मुकद्दमे नहीं लगेंगे एवं यदि लड़ते-झगड़ते रहेंगे तो मुसाफिरी भी भय-दायक और अशान्तिरूप हो जायगी तथा बीचमें ही नये-नये फौजदारीके मुकद्दमोंमें फँसकर हैरान और परेशान भी होंगे।

तुलसी एहि संसार में भाँति भाँति के लोग।
सब सो हिलमिल बोलिये नदी नाव संयोग॥
तेरे भावें जो करौ भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठकर अपनो भवन बुहार॥
बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजा आपना मुझ-सा बुरा न होय॥

श्रीभगवान्‌का स्मरण और जप निरन्तर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। शेष प्रभुकृपा।

(२)

बोझ भगवान्‌पर डाल दीजिये

'तमाम बोझ सम्हालनेवाले' तो एकमात्र श्रीभगवान् हैं, यदि हम उनपर अपना बोझ छोड़ सकें। छोड़ दीजिये न! बिलकुल हलके हो जाइयेगा। अवश्य ही उनपर सब बोझ छोड़ देनेपर आप प्रायश्चित्तके भागी नहीं होंगे, यह निश्चित बात है। हाँ, बोझ अपने सिरसे उतारे भी नहीं और उनको सौंप दिया बतलावें, तब तो बोझसे आप मरेंगे ही। बोझा तो उतारनेसे ही भार हटेगा, कहनेमात्रसे नहीं। यह अनुभव करके देख लीजिये। सभीको अनुभव है। बोझा उतारकर दूसरेको दिया कि हलके हुए। जबतक हलके नहीं होते तबतक यह सिद्ध ही है कि बोझा सिरपर ही है, चाहे भूलसे मानें नहीं।

(३)

कुछ आवश्यक बातें

(१) भगवान्‌से प्रार्थना तो इसी बातकी करनी चाहिये कि 'वे जो ठीक समझें, वही होने दें। उसके विरुद्ध कोई चाह हो ही नहीं, हो तो वे उसे कभी पूरा न करें।'

(२) बलिवैश्वदेव न करनेमें कर्मलोपका दोष है, करनेमें पवित्रता आती है। हो सके तो रोज करना चाहिये।

(३) सारे संसारमें दुःख बढ़नेके कारण हैं—जीवोंके प्रारब्ध। आजकल जो—

(क) दम्भ, दर्प, काम, क्रोध, ईर्ष्या, कामना आदि फैले हैं, (ख) भगवान्‌पर आस्था घट रही है, (ग) भोग-सुखकी स्पृहा बढ़ रही है और (घ) सभी बातोंमें जीवनका व्यवहार नकली-दिखावटी हो रहा है, श्रद्धा नष्ट हो रही है, सत्य जा रहा है, जीवन कृत्रिमतासे भर रहा है।

—यह भी दुःखका कारण है। इससे विपरीत होनेसे ही सुख हो सकता है।

(४) गृहस्थके लिये आवश्यक बात है भगवान्‌को याद रखते हुए भगवत्पूजाके भावसे कर्तव्यका पालन करना। गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासीके पालनीय धर्म मनुस्मृतिमें देखिये। सबसे अधिक परमावश्यक वस्तु है भगवान्‌की शरणागति और भगवदर्पणका सच्चा भाव।

(५) सबसे अधिक हानि भगवान्‌में अविश्वास, नकली जीवन, पापोंके आश्रय और दैवी सम्पत्तिके त्यागसे हो रही है।

(६) स्त्रियों और बच्चोंमें बुरी आदत हो तो उन्हें प्रेमसे समझाकर आवश्यकतानुसार बिना क्रोधके कभी डाँटकर और स्वयं उस बुरी आदतके विपरीत उत्तम आचरणका आदर्श उनके सामने रखकर उन्हें सुधारना चाहिये।

भगवान्‌की दयासे ही सब मोहका नाश हो सकता है। उनकी दयापर विश्वास कीजिये, यह आपके किये ही होगा। मुझमें ऐसी कोई ताकत नहीं है। यदि आप मुझमें श्रद्धा रखते हैं तो इस बातको सत्य मानिये। नहीं तो झूठा आदमी आपका क्या उपकार कर सकता है?

शरणके योग्य तो एक श्रीभगवान् ही हैं, वही बल देंगे। उनसे प्रार्थना कीजिये।

(७) ध्यान नहीं होता तो श्रीभगवन्नामका जप ही करें। श्वासके साथ मन्त्र-जपकी जिस प्रकारसे चेष्टा करते हैं, वह ठीक ही है। भगवान्‌की कृपाशक्तिपर विश्वास और सावधानी रखनेसे ठीक हो सकता है। शेष प्रभुकृपा।

व्रतोत्सव-पर्व

पौष कृष्णपक्ष (९-१२-२००३ से २३-१२-२००३ तक) सूर्य दक्षिणायन, हेमन्त-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	भौम	मृगशिरा	९ दिसम्बर	मिथुनके चन्द्रमा दिन ४-४४ बजे, मृगशिरा नक्षत्र रात्रि शेष ५-५९ बजेतक, सूर्योदय प्रातः ६-४६ बजे, सूर्यास्त सायं ५-१४ बजे, द्विपुष्करयोग रात्रि ३-०६ बजेके बादसे रात्रि शेष ५-५९ बजेतक
द्वितीया	बुध	आर्द्रा	१० ,,	द्वितीया तिथि रात्रि शेष ४-५४ बजेतक, आर्द्रा नक्षत्र दिन-रात (समस्त)
तृतीया	गुरु	आर्द्रा	११ ,,	कर्कके चन्द्रमा रात्रि ३-३६ बजे, आर्द्रा नक्षत्र दिन ८-२० बजेतक, तृतीया तिथि रात्रि शेष ६-१८ बजेतक, भद्रा सायं ५-३६ बजेके बादसे रात्रि शेष ६-१८ बजेतक
चतुर्थी	शुक्र	पुनर्वसु	१२ ,,	श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय रात्रि ८-१३ बजे, स्थायिजययोग दिन १०-०२ बजेके बाद
चतुर्थी	शनि	पुष्य	१३ ,,	चतुर्थी तिथि प्रातः ७-१७ बजेतक, पुष्य नक्षत्र दिन ११-२७ बजेतक, यायिजययोग दिन ११-२७ बजेके बाद
पञ्चमी	रवि	आश्लेषा	१४ ,,	सिंहके चन्द्रमा दिन १२-२० बजे, यायिजययोग प्रातः ७-४३ बजेतक, रवियोग दिन १२-२० बजेके बादसे, मृत्युबाण रात्रि १०-१० बजेके बादसे
षष्ठी	सोम	मघा	१५ ,,	रवियोग दिन १२-४२ बजेतक, मृत्युबाण रात्रि ९-४४ बजेतक, भद्रा प्रातः ७-३७ बजेके बादसे रात्रि ७-२० बजेतक
सप्तमी	भौम	पू० फा०	१६ ,,	कन्याके चन्द्रमा सायं ६-२९ बजे, अष्टकाश्राद्ध (पार्वणश्राद्धकी तरह), सायन मूल नक्षत्रमें धनुराशिके सूर्य रात्रि ९-१३ बजे (पुण्यकाल दोपहरके बादसे), वस्त्र-अन्नदान तथा गोदावरीमें स्नान, '**खरमास प्रारम्भ**'
अष्टमी	तिथिका क्षय			सप्तमी तिथि प्रातः ७-०२ बजेतक तदुपरि अष्टमी तिथि रात्रि शेष ६ बजेतक
नवमी	बुध	उ० फा०	१७ ,,	अन्वष्टकाश्राद्ध, '**सौर पौषमासारम्भ**', नवमी तिथि रात्रि शेष ४-३३ बजेतक, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र दिन १२-०८ बजेतक
दशमी	गुरु	हस्त	१८ ,,	तुलाके चन्द्रमा रात्रि १०-५२ बजे, पौष दशमी (जैन), श्रीपार्श्वनाथ-जयन्ती, भद्रा दिन ३-४० बजेके बादसे रात्रि २-४७ बजेतक
एकादशी	शुक्र	चित्रा	१९ ,,	सफला एकादशीव्रत (सबका), चित्रा नक्षत्र दिन १०-०६ बजेतक
द्वादशी	शनि	स्वाती	२० ,,	वृश्चिकके चन्द्रमा रात्रि १-२९ बजे, त्रिपुष्करयोग दिन ८-४१ बजेके बादसे रात्रि १०-३१ बजेतक, द्वादशी तिथि रात्रि १०-३१ बजेतक
त्रयोदशी	रवि	विशाखा	२१ ,,	प्रदोषव्रत, मासशिवरात्रिव्रत, यायिजययोग प्रातः ७-०५ बजेके बादसे रात्रि ८-११ बजेतक, विशाखा नक्षत्र प्रातः ७-०५ बजेतक तदुपरि अनुराधा नक्षत्र रात्रि शेष ५-२५ बजेतक, भद्रा रात्रि ८-११ बजेके बादसे
चतुर्दशी	सोम	ज्येष्ठा	२२ ,,	भद्रा प्रातः ६-५९ बजेतक, धनुके चन्द्रमा रात्रि ३-४६ बजे, **राष्ट्रीय पौषमासारम्भ**, सायन मकरराशिके सूर्य रात्रि ८-३४ बजे
अमावास्या	भौम	मूल	२३ ,,	स्नान-दान-श्राद्धकी अमावास्या, भौमवती अमावास्या, कपिलधारा तीर्थमें श्राद्ध, बकुल अमावास्या (उड़ीसा), अमावास्या तिथि दिन ३-३१ बजेतक

पौष शुक्लपक्ष (२४-१२-२००३ से ७-१-२००४ तक) सूर्य दक्षिणायन, हेमन्त-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	बुध	पू० षा०	२४ दिसम्बर	मकरके चन्द्रमा रात्रि शेष ६-२९ बजे, चन्द्रदर्शन, प्रतिपदा तिथि दिन १-१९ बजेतक, सूर्योदय प्रातः ६-४७ बजे, सूर्यास्त सायं ५-१३ बजे
द्वितीया	गुरु	उ० षा०	२५ ,,	महामना पं० मदनमोहन मालवीय-जयन्ती, क्रिसमस डे (बड़ा दिन), ईसामसीह-जयन्ती, यायिजययोग दिन ११-२१ बजेके बादसे रात्रि ११-३७ बजेतक, रवियोग रात्रि ११-३७ बजेके बादसे
तृतीया	शुक्र	श्रवण	२६ ,,	वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, रवियोग रात्रि १०-४८ बजेतक, स्थायिजययोग दिन ९-४२ बजेके बादसे रात्रि १०-४८ बजेतक, भद्रा रात्रि ९-०२ बजेके बादसे
चतुर्थी	शनि	धनिष्ठा	२७ ,,	भद्रा दिन ८-२२ बजेतक, कुम्भके चन्द्रमा दिन १०-३३ बजे, रवियोग रात्रि १०-१९ बजेके बादसे, यायिजययोग दिन ८-२२ बजेके बादसे रात्रि १०-१९ बजेतक, पञ्चक आरम्भ दिन १०-३३ बजेसे
पञ्चमी	रवि	शतभिषा	२८ ,,	रवियोग रात्रि १०-१७ बजेतक, पञ्चमी तिथि प्रातः ७-२७ बजेतक
षष्ठी	सोम	पू० भा०	२९ ,,	मीनके चन्द्रमा दिन ४-३७ बजे, पूर्वाषाढ़ा नक्षत्रके सूर्य रात्रि १०-११ बजे, यायिजययोग रात्रि १०-४३ बजेके बादसे
सप्तमी	भौम	उ० भा०	३० ,,	गुरुगोविन्द सिंह जयन्ती, सर्वार्थसिद्धियोग रात्रि ११-४१ बजेतक, भद्रा प्रातः ७-०७ बजेके बादसे रात्रि ७-२६ बजेतक
अष्टमी	बुध	रेवती	३१ ,,	मेषके चन्द्रमा रात्रि १-०९ बजे, बुधाष्टमीपर्व (सूर्यग्रहणके समान), रवियोग रात्रि १-०९ बजेके बादसे, पञ्चक समाप्त रात्रि १-०९ बजे
नवमी	गुरु	अश्विनी	१ जनवरी	जनवरी १ सन् २००४ ई०, **ईसाई नववर्षारम्भ**, रवियोग (यावद्दिनम्), सूर्योदय प्रातः ६-४६ बजे, सूर्यास्त सायं ५-१४ बजे
दशमी	शुक्र	भरणी	२ ,,	रवियोग रात्रि शेष ५-१९ बजेतक, भद्रा रात्रि ११-१९ बजेके बादसे, भरणी नक्षत्र रात्रि शेष ५-१९ बजेतक
एकादशी	शनि	कृत्तिका	३ ,,	भद्रा दिन १२-१६ बजेतक, वृषके चन्द्रमा दिन ११-५६ बजे, पुत्रदा एकादशीव्रत (सबका), मन्वादि एकादशी, अनोदनव्रत
द्वादशी	रवि	कृत्तिका	४ ,,	कृत्तिका नक्षत्र प्रातः ७-५० बजेतक, एकादशीव्रतकी पारणा, द्वादशी तिथि दिन २-२४ बजेतक, प्रदोषव्रत, कूर्मद्वादशीव्रत
त्रयोदशी	सोम	रोहिणी	५ ,,	मिथुनके चन्द्रमा रात्रि ११-४४ बजे, रवियोग दिन १०-२८ बजेके बादसे, रोहिणी नक्षत्र दिन १०-२८ बजेतक
चतुर्दशी	भौम	मृगशिरा	६ ,,	रवियोग दिन १ बजेतक, मृगशिरा नक्षत्र दिन १ बजेतक, भद्रा सायं ६-३७ बजेके बादसे
पूर्णिमा	बुध	आर्द्रा	७ ,,	भद्रा प्रातः ७-३१ बजेतक, पूर्णिमा तिथि रात्रि ८-२४ बजेतक, स्नान-दान-व्रतकी पूर्णिमा, आजसे माघ स्नान-व्रत-यम-नियम आरम्भ, प्रतिदिन सूर्योदयके समय समुद्र, काशीमें दशाश्वमेध अथवा प्रयागमें स्नान

व्रतोत्सव-पर्व

माघ कृष्णपक्ष (८-१-२००४ से २१-१-२००४ तक) सूर्य दक्षिणायन, हेमन्त-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	गुरु	पुनर्वसु	८ जनवरी	कर्कके चन्द्रमा दिन १०-४८ बजे, यायिजययोग सायं ५-१७ बजेतक, सर्वार्थसिद्धियोग (यावद्दिनम्)
द्वितीया	शुक्र	पुष्य	९ ,,	पुष्य नक्षत्र सायं ६-४८ बजेतक, द्वितीया तिथि रात्रि ११-५४ बजेतक
तृतीया	शनि	आश्लेषा	१० ,,	सिंहके चन्द्रमा रात्रि ७-५१ बजे, यायिजययोग रात्रि ७-५१ बजेतक, भद्रा दिन ११-३० बजेके बादसे रात्रि ११-०६ बजेतक, सूर्योदय प्रातः ६-४४ बजे, सूर्यास्त सायं ५-१६ बजे
चतुर्थी	रवि	मघा	११ ,,	श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय रात्रि ८-४७ बजे, उत्तराषाढ नक्षत्रके सूर्य रात्रि १०-४८ बजे
पञ्चमी	सोम	पू० फा०	१२ ,,	कन्याके चन्द्रमा रात्रि २-१७ बजे, यायिजययोग रात्रि ८-२४ बजेके बादसे रात्रि १०-१९ बजेतक
षष्ठी	भौम	उ० फा०	१३ ,,	लोहरी (पंजाब, जम्मूकश्मीर), रवियोग रात्रि ७-५७ बजेके बादसे, भद्रा रात्रि ९-१५ बजेके बादसे
सप्तमी	बुध	हस्त	१४ ,,	भद्रा दिन ८-३१ बजेतक, तुलाके चन्द्रमा रात्रि शेष ६-३७ बजे, सायन मकरराशिके सूर्य रात्रि शेष ५-०१ बजे, (पुण्यकाल दूसरे दिन), **'निरयन सौम्यायन' (सूर्य उत्तरायण)**, देवताओंके लिये दिन और दैत्योंके लिये रात्रि, **खरमास समाप्त, 'शिशिर-ऋतु'**, स्वामी विवेकानन्द-जयन्ती, रवियोग रात्रि ७-११ बजेतक
अष्टमी	गुरु	चित्रा	१५ ,,	अष्टकाश्राद्ध (पार्वणश्राद्धकी तरह), **सौर माघमासारम्भ, मकर-संक्रान्तिजन्य पुण्यकाल** सायं ५-१८ बजेतक, खिचड़ी-मूँग-लड्डू (मिठाई) आदिका दान, प्रयागमें अथवा गोदावरीमें स्नान, पोंगल (दक्षिण भारत)
नवमी	शुक्र	स्वाती	१६ ,,	नवमी तिथि दिन ३-५० बजेतक, स्वाती नक्षत्र सायं ४-३९ बजेतक, भद्रा रात्रि २-४५ बजेके बादसे
दशमी	शनि	विशाखा	१७ ,,	भद्रा दिन १-४१ बजेतक, वृश्चिकके चन्द्रमा दिन ९-२५ बजे, यायिजययोग दिन ३ बजेके बादसे
एकादशी	रवि	अनुराधा	१८ ,,	यायिजययोग दिन १-२९ बजेतक, षट्तिला एकादशीव्रत (सबका), अनुराधा नक्षत्र दिन १-२९ बजेतक
द्वादशी	सोम	ज्येष्ठा	१९ ,,	धनुके चन्द्रमा दिन ११-४५ बजे, तिलद्वादशी, द्वादशी तिथि दिन ८-५९ बजेतक, सोमप्रदोषव्रत, पुत्र-प्राप्तिहेतु आजसे व्रतका आरम्भ, मेरुत्रयोदशी (जैन)
त्रयोदशी	भौम	मूल	२० ,,	मासशिवरात्रिव्रत, रटन्ती कालिकापूजन, सायन कुम्भराशिके सूर्य रात्रि शेष ४-२० बजे, स्थायिजययोग दिन १०-०८ बजेके बादसे रात्रि शेष ४-३१ बजेतक, भद्रा प्रातः ६-४० बजेके बादसे सायं ५-३६ बजेतक
चतुर्दशी	तिथिका क्षय			त्रयोदशी तिथि प्रातः ६-४० बजेतक तदुपरि चतुर्दशी तिथि रात्रि शेष ४-३१ बजेतक
अमावास्या	बुध	पू० षा०	२१ ,,	मकरके चन्द्रमा दिन २-२४ बजे, स्नान-दान-श्राद्धकी अमावास्या, मौनी अमावास्या, मौनव्रत धारण करके स्नान करे, प्रयागमें अथवा काशीमें दशाश्वमेधस्नान, कलियुगादि अमावास्या, त्रिवेणी अमावास्या (उड़ीसा), राष्ट्रीय माघमासारम्भ, अभिजित्प्रविष्ट सूर्य सायं ५-३५ बजे

माघ शुक्लपक्ष (२२-१-२००४ से ६-२-२००४ तक) सूर्य उत्तरायण, शिशिर-ऋतु

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	व्रतोत्सव-पर्व
प्रतिपदा	गुरु	उ० षा०	२२ जनवरी	प्रतिपदा तिथि रात्रि १२-५६ बजेतक, बल्लभ-जयन्ती, उत्तराषाढ नक्षत्र प्रातः ७-२९ बजेतक तदुपरि श्रवण नक्षत्र रात्रि शेष ६-३७ बजेतक, सूर्योदय प्रातः ६-३९ बजे, सूर्यास्त सायं ५-२१ बजे
द्वितीया	शुक्र	धनिष्ठा	२३ ,,	कुम्भके चन्द्रमा सायं ६-२० बजे, चन्द्रदर्शन, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस-जयन्ती, पञ्चक आरम्भ सायं ६-२० बजेसे
तृतीया	शनि	शतभिषा	२४ ,,	श्रवण नक्षत्रके सूर्य रात्रि ११-५७ बजे, मृत्युबाण रात्रि ११-५७ बजेके बादसे, रवियोग रात्रि शेष ५-५६ बजेसे
चतुर्थी	रवि	पू० भा०	२५ ,,	मीनके चन्द्रमा रात्रि १२-१३ बजे, वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, रवियोग रात्रि शेष ६-१८ बजेतक, मृत्युबाण रात्रि ११-२९ बजेतक, तिलचतुर्थी, कुन्दचतुर्थी, कुन्दपुष्पसे देवपूजन, सोपपदाचतुर्थी, वेदारम्भानध्याय, अभिजित्प्रवृत्त सूर्य रात्रि ७-३४ बजे, पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र रात्रि शेष ६-१८ बजेतक, भद्रा दिन १०-३६ बजेके बादसे रात्रि १०-२५ बजेतक
पञ्चमी	सोम	उ० भा०	२६ ,,	वसन्तपञ्चमी, श्रीपञ्चमी, तक्षकपूजापञ्चमी, वागीश्वरी-जयन्ती तथा यात्रा, भारतीय गणतन्त्र दिवस, राष्ट्रीय ध्वजोत्तोलन, सरस्वतीपूजन, पञ्चमी तिथि रात्रि १०-३२ बजेतक
षष्ठी	भौम	उ० भा०	२७ ,,	शीतलाषष्ठी (बंगाल), रवियोग प्रातः ७-१४ बजेके बादसे, उत्तराभाद्रपद नक्षत्र प्रातः ७-१४ बजेतक
सप्तमी	बुध	रेवती	२८ ,,	मेषके चन्द्रमा दिन ८-३३ बजे, अचलासप्तमीव्रत, रथसप्तमी, मन्वादि सप्तमी, रवियोग दिन ८-३३ बजेतक, पञ्चक समाप्त दिन ८-३३ बजे, भद्रा रात्रि १२-१९ बजेके बादसे
अष्टमी	गुरु	अश्विनी	२९ ,,	भद्रा दिन १-१० बजेतक, भीमाष्टमी, श्रीदुर्गाष्टमीव्रत, अश्विनी नक्षत्र दिन १०-२३ बजेतक
नवमी	शुक्र	भरणी	३० ,,	वृषके चन्द्रमा रात्रि ७-१३ बजे, श्रीहरसूब्रह्मदेव-जयन्ती (चैनपुर-भभुआ बिहार), महानन्दा नवमी, महात्मा गाँधी स्मृति दिवस, शहीद दिवस
दशमी	शनि	कृत्तिका	३१ ,,	कृत्तिका नक्षत्र दिन ३-०४ बजेतक, दशमी तिथि रात्रि शेष ५-५७ बजेतक, सर्वार्थसिद्धियोग दिन ३-०४ बजेके बादसे
एकादशी	रवि	रोहिणी	१ फरवरी	रोहिणी नक्षत्र सायं ५-४१ बजेतक, यायिजययोग सायं ५-४१ बजेतक, भद्रा रात्रि ७-०२ बजेके बादसे
एकादशी	सोम	मृगशिरा	२ ,,	भद्रा दिन ८-०७ बजेतक, मिथुनके चन्द्रमा प्रातः ६-५७ बजे, जया एकादशीव्रत (सबका), मृत्युबाण रात्रि ७-५३ बजेके बादसे
द्वादशी	भौम	आर्द्रा	३ ,,	एकादशीव्रतकी पारणा दिन १०-०८ बजेतक, द्वादशी तिथि दिन १०-०८ बजेतक, भीष्मद्वादशी, सोपपदाद्वादशी, वेदारम्भानध्याय, तिलद्वादशी, तिलोत्पत्ति (आज), भौमप्रदोषव्रत, ऋणको दूर करनेके लिये श्रेयस्करव्रत, मृत्युबाण रात्रि ७-२९ बजेतक, रवियोग रात्रि १०-३७ बजेके बादसे
त्रयोदशी	बुध	पुनर्वसु	४ ,,	कर्कके चन्द्रमा सायं ६-०८ बजे, रवियोग रात्रि १२-३९ बजेतक, पुनर्वसु नक्षत्र रात्रि १२-३९ बजेतक
चतुर्दशी	गुरु	पुष्य	५ ,,	चतुर्दशी तिथि दिन १-०९ बजेतक, व्रतकी पूर्णिमा, पुष्य नक्षत्र रात्रि २-१५ बजेतक, भद्रा दिन १-०९ बजेके बादसे रात्रि १-३६ बजेतक
पूर्णिमा	शुक्र	आश्लेषा	६ ,,	सिंहके चन्द्रमा रात्रि ३-२३ बजे, स्नान-दानकी पूर्णिमा, संत रविदास-जयन्ती, तिल-पात्र-ऊनीवस्त्र आदिका दान, माघ स्नान-व्रत-नियम आदि समाप्त, पूर्णिमा तिथि दिन २-०३ बजेतक, धनिष्ठा नक्षत्रके सूर्य रात्रि २-०९ बजे

गुरुजीका उपदेश

बच्चोंके लिये

आज अष्टमीका दिन है, पढ़ाई बंद है। परंतु गुरुजीका यह नियम था कि वे अष्टमीकी छुट्टीके दिन सब लड़कोंको एक घंटे अपने घर बुलाकर कुछ उपदेश सुनाया करते थे। गुरुजी बड़े स्नेहसे उपदेश करते थे और उपदेशके बाद सब बच्चोंको ठाकुरजीका प्रसाद बाँटा करते थे। इससे बच्चे खुशी-खुशी छुट्टीके दिन भी गुरुजीके घर आते थे। आज भी सब बच्चे आये और बारी-बारीसे गुरुजीके चरणोंमें माथा टेककर उनका आशीर्वाद पाकर अपनी-अपनी जगह बैठ गये। गुरुजीने भगवान्‌की स्तुति गायी। बच्चे भी उनके पीछे-पीछे गाते रहे।

दीनन दुख हरन देव संतन सुखकारी।
अजामील गीध ब्याध, इनमें कहो कौन साध,
पंछीहू पद पढ़ात, गनिका-सी तारी॥ दीनन०
ध्रुवके सिर छत्र देत, प्रहलादको उबार लेत,
सीता हेतु बाँध्यो सेत, लंकपुरी जारी॥ दीनन०
तंदुल देत रीझ जात, सागपात सों अघात,
गिनत नहिं जूँठे फल, खाटे मीठे खारी॥ दीनन०
गजको जब ग्राह ग्रस्यो, दु:सासन चीर खस्यो,
सभा बीच कृष्ण कृष्ण, द्रौपदी पुकारी॥ दीनन०
इतने हरि आय गये, बसनन आरूढ भये,
सूर कूर द्वारे ठाढ़ो आँधरो भिखारी॥ दीनन०

फिर गुरुजी उपदेश करने लगे—उन्होंने कहा—बच्चो! तुम्हें तीन चीजें भगवान्‌ने ऐसी दी हैं कि जो तुम इनको साफ और पवित्र रख सको तो तुम्हारा बहुत बड़ा काम और नाम हो जाय। बुद्ध, शंकराचार्य आदि बड़े-बड़े महापुरुषोंको आजतक लोग इसीलिये पूजते हैं कि उन्होंने इन तीनों चीजोंको सदा साफ और पवित्र रखा था। तुम भी वैसे ही महापुरुष बन सकते हो अगर तीनोंको साफ और पवित्र रखो। ये तीन चीजें हैं—शरीर, वचन और मन। शरीरकी सफाई और पवित्रताके लिये इन बातोंपर ध्यान रखो।

शरीरपर गंदगी मत रहने दो, रोज नहाओ। कपड़े साफ रखो, अपने हाथसे उन्हें धोनेकी आदत डालो। कुछ भी खा-पीकर पहननेके कपड़ेसे हाथ-मुँह मत पोंछो। कहीं बैठो तो जगह झाड़कर बैठो। सादे और साफ कपड़े पहनो। रोज समयपर पाखाने जाओ। खाने-पीनेमें जीभके स्वादके वश मत होओ। भूखसे ज्यादा न खाओ। बहुत मीठी, बहुत खट्टी और बहुत चटपटी चीजें मत खाओ। दिनमें तीन बारसे ज्यादा मत खाओ। दूसरेकी चीज कभी चोरी मत करो। किसीको मारो मत। घरमें माता, पिता, ताऊ, चाचा, बड़े भाई आदि जो तुमसे बड़े हों सबको रोज सबेरे प्रणाम करो। भगवान्‌की मूर्तिको रोज प्रणाम करो। गरीबों और दु:खियोंकी सेवा करो; बड़ोंकी सेवा करो। किसी भी जीवको तकलीफ मत दो। ऐंठकर मत बैठो। अकड़कर न चलो। अच्छे खेल खेलो!

जबानसे किसीको गाली मत दो, किसीकी चुगली मत करो, निन्दा मत करो, झूठ मत बोलो, कड़वे मत बोलो। जो बोलो—सच बोलो, मीठे बोलो। दूसरेका भला हो ऐसी बात कहो। भूलकर भी ऐसी बात न कहो जिससे किसीका जी दुखे या किसीका बुरा हो। नियमसे रोज भगवान्‌के नामका कीर्तन करो, उनकी स्तुति-प्रार्थना गाओ और अच्छे-अच्छे भजन गाओ। गरबके वचन मत बोलो। नरमीसे बात करो। माता-पिता, गुरु, वगैरहके सामने बहुत विनयसे बात करो। सभीके साथ प्रेमसे हँसकर बोलो। रूखी-तीखी वाणी मत बोलो। गरीबोंके साथ विशेष स्नेहसे बात करो। वाणीसे सभीका सम्मान करो।

मनसे सबका भला चाहो, दूसरोंका भला होता देखकर सुखी होओ। किसीको दु:खमें देखकर दया करो। किसीसे डाह मत करो। सदा प्रसन्न रहो। फालतू बातें मत सोचा करो। मनमें कोई बुरी बात आये तो उसे रोको। मनसे भगवान्‌को याद करो। भक्तोंकी तथा महात्माओंकी बातें याद करो। किसीसे वैर मत रखो। कभी ऐसा मत खयाल करो कि धनके कारणसे या और किसी कारणसे मैं बड़ा हूँ, और लोग छोटे हैं। मनमें किसीको छोटा मत मानो। भगवान् सबमें हैं, इसलिये सभीका मन-ही-मन सम्मान करो। रोज सबेरे मन-ही-मन भगवान्‌की स्तुति करो।

सब बच्चे बड़े चावसे उपदेश सुन रहे थे। उपदेश समाप्त होनेपर गुरुजीने सबको प्रसाद बाँटा। सबलोग गुरुजीको प्रणाम करके प्रसन्न होकर अपने-अपने घरोंको लौटे।

◆

पढ़ो, समझो और करो

(१)

मित्रकी मित्रता

आजसे लगभग तेरह वर्ष पूर्व मैं एक निजी संस्थामें कार्यरत था। मेरा एक बालसखा जो कि काफी सम्पन्न था, मेरे प्रत्येक सुख-दु:खमें पूरी तरह मेरे साथ रहता था। हमेशा स्वयंका व्यापार करनेके लिये प्रेरित करता था, लेकिन अर्थाभावके कारण मैं अपना व्यापार करनेमें असमर्थ था। ये बातें वह भी जानता था। एक बार उसने मुझसे कहा कि तुम मेरे साझेदारके रूपमें व्यापार करो—रुपया मेरा मेहनत तुम्हारी। मैं तुरंत तैयार हो गया। मैंने बाजारमें एक अच्छी-सी दूकान लेकर व्यापार शुरू कर दिया। भगवत्कृपासे व्यापार दिन-रात बढ़ने लगा। समय-समयपर दूकानकी कई तरहकी समस्याके निवारणहेतु साझेदार होनेकी वजहसे मैं उससे कहा भी करता था और वह उसका शान्तमनसे निवारण भी करता था। वह १५-२० दिनपर दूकान आकर व्यापार कैसे बढ़े इसके लिये सलाह-मशविरा भी किया करता था। इस बीच उसके नामसे मैंने एक बैंक-एकाउण्ट खोलकर उसके मुनाफेकी रकम उसमें जमा करनी शुरू कर दी। हर वर्ष मुनाफेकी रकम लाखोंमें हो जाती थी। चार-पाँच वर्षोंके बाद उसने मुझसे पूछा कि मेरे एकाउण्टमें कितना रुपया तुमने जमा कराया है, मैंने जब उसे बताया तो उसने कहा—दूकान खोलनेके लिये जितना रुपया तुमने लिया था, उतना लगभग तुमने मेरे एकाउण्टमें जमा करा दिया है, अब आजसे यह दूकान पूर्णरूपसे तुम्हारी है। मैं तो अवाक् होकर उसे देखता ही रह गया। इतना बड़ा अर्थत्याग, आजके अर्थप्रधान-युगमें! मैंने उससे काफी कहा कि कम-से-कम तुम अपने रुपयोंका, जो कई वर्षोंतक मेरे व्यापारमें लगा रहा; उचित ब्याज तो ले लो। लेकिन उसने मित्रताका वास्ता देकर ऐसी बात दुबारा न कहनेको कहा। मेरा मन उसकी बातें सुनकर भावविह्वल हो गया। मैंने मनमें सोचा, अगर किसीका कोई मित्र हो तो मेरे मित्र-जैसा। प्रभो! आपकी ही असीम कृपासे ही मुझे ऐसा मित्र मिला।—सुशील डालमिया

(२)

ईश्वरपर अटूट विश्वास

बात आजसे लगभग ३६ वर्ष पुरानी है। जब मैं तेजपुर, आसाममें सरकारी नौकरीमें था और मेरे पिताजी परिवारके साथ मथुरामें अध्यापक पदसे अवकाश प्राप्त कर भगवद्भजन करते हुए शान्ति एवं संतोषके साथ रह रहे थे। उन्होंने जो वृत्तान्त मुझे सुनाया मैं उन्हींके शब्दोंमें प्रस्तुत कर रहा हूँ और आज भी ईश्वरकी भक्ति एवं शक्तिको सोचता हूँ कि उस परमपिता परमात्मामें उनका जो अटूट विश्वास था, वह अन्त समयतक बना रहा।

मेरे पिताजी अपने मकानके ऊपरके हिस्सेपर दूसरी मंजिल बनवा रहे थे। उन्होंने बताया कि मकानकी छत पड़ रही थी और राजमिस्त्री बड़ी तन्मयतासे जल्दी-जल्दी काम पूरा करके अपने घर चार-पाँच दिनकी छुट्टी लेकर शाम दिन छिपनेसे पूर्व घर जाना चाह रहे थे, क्योंकि दीपावलीका अवसर था। साथ-साथमें मिस्त्री ५०० रुपये भी माँगते जा रहे थे और कह रहे थे कि पण्डितजी ५०० रुपये लेकर ही घर जायँगे। मैं अपने साथी (अवकाशप्राप्त अध्यापक)-के साथ छतपर बैठा कार्यका निरीक्षण भी कर रहा था और यह सोचता भी जा रहा था कि मिस्त्री लोगोंको देनेके लिये जेबमें ५ रुपये भी नहीं हैं, ५०० रुपये कहाँसे दूँ। पर ईश्वरपर भरोसा रखते हुए उनसे कहता जा रहा था कि तुम काम करो, पैसे मिल जायँगे। गाँवमें कोई दूसरा आदमी ऐसा नहीं था जिससे उस समय ५०० रुपये मिल जायँ। गाँवमें केवल एक छोटा-सा डाकखाना था और उसमेंसे भी रुपये निकालनेके लिये एक-दो दिन पहले कहना पड़ता था। बड़ी विचित्र स्थिति थी। मिस्त्री लोग बार-बार अपनी ५०० रुपयेवाली बात दोहराते हुए कार्यकी समाप्तिकी ओर बढ़ रहे थे और मैं ईश्वरको याद करते हुए सोच रहा था कि पैसेका प्रबन्ध कैसे और कहाँसे करूँ। मन-ही-मन भगवान्‌को याद किये जा रहा था और घबरा भी रहा था। तभी गाँवका डाकिया आया और मुझसे बोला—पण्डितजी! आपको पोस्टमास्टर साहबने डाकखानेमें बुलाया है। मैंने कारण पूछा तो उसने कहा—पोस्टमास्टर साहब ही जानें।

मैं मिस्त्री लोगोंसे अभी आनेकी बात कहकर आनेके लिये साथीके साथ पासमें ही डाकखाने गया तो पोस्टमास्टरने बताया कि आपका एक हजार रुपयेका मनीआर्डर तेजपुर, आसामसे आया है, क्योंकि रुपया अधिक था इसलिये मैंने आपको स्वयं बुलाया है। उस समय एक हजार रुपया काफी होता था। मेरी खुशीका ठिकाना नहीं रहा, मैंने मन-ही-मन ईश्वरको कोटिशः धन्यवाद दिया और उनकी कृपाका ख्याल करते हुए मैं मुग्ध-सा हो गया। मैं शीघ्र ही डाकखानेसे लौटकर घर आया तथा मैंने सभी काम करनेवालोंको उनका माँगा हुआ पारिश्रमिक दिया और वे प्रसन्नतापूर्वक चार-पाँच दिनके लिये छुट्टीपर चले गये।

मेरे पिताजीने यह वृत्तान्त मुझे घर छुट्टी आनेके बाद सुनाया। ईश्वरने अपने भक्तोंकी हमेशा लाज रखी है—मेरा भी यह दृढ़ विश्वास है।—सुरेशचूड़ामणि

(३)

भूलका प्रायश्चित्त तथा शुद्ध बुद्धिके विचार

घटना पुरानी है—मेरे प्रवासस्थित ग्राममें एक व्यक्ति रहता है, जो शिक्षित न होनेपर भी बुद्धिमान् है, किंतु पहले उसकी सारी बुद्धिमत्ता अपकर्मोंकी ओर ही उसे प्रोत्साहित कर रही थी। लगभग बीस वर्ष पहले उसके निकट ग्रामका एक सनकी-सा ब्राह्मण अपनी बहिनके यहाँ जा रहा था। मार्गमें इस व्यक्तिसे उस ब्राह्मणकी भेंट हुई। ब्राह्मणने अपने नवजात भागिनेयको देनेके लिये एक चाँदीके रुपयेकी अत्यन्त आवश्यकता बतायी। उस समय चाँदीके रुपयोंका प्रायः अभाव हो चला था। ब्राह्मणने अपने हाथकी सोनेकी अँगूठी इस व्यक्तिको दी और कहा कि 'इसे कहीं बन्धक रखकर मुझे एक चाँदीका रुपया ला दो।' इसने वैसा ही कर दिया।

कुछ दिनोंके बाद उक्त ब्राह्मणके पिताने रुपया वापस देकर अपनी अँगूठी माँगी, किंतु इसके मनमें लोभ उत्पन्न हो गया था, अतः यह तरह-तरहकी आनाकानी करने लगा—बात जब कुछ आगे बढ़ी, तब इसने एक नकली (पीतलकी) अँगूठी दिखाकर असली अँगूठी पचा ली।

दस वर्षोंसे मुझे भी कृषि-कार्यके लिये उसी ग्राममें जाकर रहना पड़ रहा है। इस बीचमें एक बार उसने लौरिया चीनी मिलमें काम करने (स्थान पाने)-के लिये मुझसे कुछ सहायता चाही। ईश्वरकी कृपा कहिये, संयोग बैठ गया; एक उच्च-पदस्थ तथा निकट सरोकारीका सिफारिशीपत्र केन-मैनेजरके पास पहुँच गया। इससे मुझे भी पूर्ण विश्वास हो गया कि अब इसे काम अवश्य मिल जायगा, किंतु काम मिला नहीं।

कारणोंका अन्वेषण करते हुए मेरे मनमें यही बात बैठ गयी कि इसने जो उस ब्राह्मणकी अँगूठी अनुचित रीतिसे (विश्वासघात करके) हड़प ली है, वही स्वर्णस्तेय इसे दरिद्रतासे मुक्त नहीं होने देता। मैंने यह बात स्पष्ट शब्दोंमें उससे कही भी तथा उसने भी अपनी भूल तो स्वीकार की, किंतु उसके प्रतीकारकी कोई बात नहीं की।

इधर इसे किसी तरह नहर-विभागमें काम मिल गया था; किंतु थोड़े ही दिनोंमें अपने असदाचरणके कारण इसे वहाँसे भी हट जाना पड़ा।

बहुत दिनों पहले मेरे एक सम्बन्धी व्यक्तिने मेरे ही यहाँसे कुछ स्वर्णाभूषण चुरा लिये थे। प्रसङ्गवश उसीकी चर्चा करते हुए एक दिन मैंने उसके सामने ही कहा कि 'सोना चुराना पञ्चमहापातकोंमेंसे एक बड़ा भारी पाप है।' ईश्वरकी कृपासे बात उसके मनमें बैठ गयी। सुधरी बुद्धिने यथाशक्य प्रायश्चित्तकी उचित युक्ति सोची। कुछ दिनों बाद उसने आकर मुझसे कहा—'बाबू! मुझसे बड़ी भूल हो गयी है! अब मैं उस ब्राह्मणकी सोनेकी अँगूठी वापस कर देना चाहता हूँ।' मुझे यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई।

मैंने उसके विचारकी प्रशंसा करते हुए जिज्ञासा की—'क्या अभी वह अँगूठी वर्तमान है?' उसने अँगूठी लाकर दिखायी। मैंने भी वापस देनेकी पूरी प्रेरणा दी।

तबसे उस ब्राह्मणके गाँवके जिस-जिस व्यक्तिसे उसकी भेंट हुई, उस-उससे उसने संवाद भेजा कि पाँड़ेजी आकर अपनी अँगूठी ले जायँ। पाँड़ेजीके आनेमें कुछ विलम्ब हुआ। उसे कहीं बाहर जाना था। उसने अँगूठी मुझे देकर कहा—'पाँड़ेजी कल आनेवाले हैं।

उनसे पाँच रुपये या वे जो भी दें, उसे ही लेकर यह अँगूठी उन्हें दे दीजियेगा।' पाँड़ेजी तो सनकी ही ठहरे, काहेको आते? उनके छोटे भाई दो-तीन व्यक्तियोंके साथ आये। मैंने रुपयेकी बात उठायी तो उनके पास दो रुपये थे, सो उन्होंने दे दिये। मैंने बहुतोंके सामने अँगूठी उन्हें दे दी। सबने आश्चर्य प्रकट किया तथा धन्य-धन्य कहा! उसी समय कहींसे घूमते-फिरते मुखियाजी भी वहीं आ गये और उन्होंने इस कार्यकी प्रशंसा की।

इधर इसी व्यक्तिपर बेमतलब किसीको मारनेका केस हो गया था। सजा होनेकी सम्भावना तो नहीं किंतु उस गरीबके कुछ रुपये व्यर्थ खर्च हो रहे थे। इसपर मैंने एक दिन कुछ खेद प्रकट किया तो उसने हँसकर कहा—'अच्छा होता है बाबू! मेंरे अनुचित कमाये पैसे ही तो इस तरह निकल रहे हैं!' मैंने मन-ही-मन सोचा—'बुद्धि शुद्ध होनेपर ऐसे ही विचार होते हैं।'

—नन्दकिशोर

(४)

'संकट तें हनुमान छुड़ावै'

घटना २२ अक्टूबर सन् १९९४ ई० की है। मेरा बड़ा पुत्र बम्बई मेलसे कलकत्ता आ रहा था। ट्रेनमें सब लोग रातको गहरी निद्रामें सोये थे, अचानक ट्रेनके डब्बे (एस ६)-में सत्तर नम्बरकी शय्याके पाससे रातको लगभग १-३० बजे चक्रधरपुर स्टेशनके समीप आग लग गयी। मेरा पुत्र सत्तर नम्बरकी शय्यापर ही सोया था। आगका आभास होते ही वह आग-आग चिल्लाता हुआ अपना सामान लेकर डिब्बेकी दूसरी ओर भागा तथा दूसरे डिब्बेकी भीतरसे जानेवाले दरवाजेकी सिटकनी खोलनेमें सफल हो गया और आगेवाले डिब्बे (एस ५)-में चला गया। आग शीघ्र ही फैल गयी और सारे डब्बेमें धुआँ भर गया, जिससे ४-५ व्यक्तियोंको छोड़ सब बेहोश हो गये। अनेक यात्री उस भीषण अग्निकी भेंट चढ़ गये। इस अग्निकाण्डका समाचार चक्रधरपुर स्टेशनपर पहुँच जानेसे कुछ कनेक्शन काट देनेसे ट्रेनकी गति धीमी हो गयी थी। भयकी त्रासदीमें मेरा पुत्र डब्बेसे नीचे कूद पड़ा। इस समय उसे जान बचानेकी चिन्ता थी, अपने सामानका भी ध्यान नहीं रहा। बगलमें दूसरी रेलपटरी थी। गिरते ही उसका हाथ रेलकी पटरीपर आ गिरा, पर वह तुरंत उठ खड़ा हुआ। उसी समय एक रेलगाड़ी धड़धड़ाती हुई उसी पटरीसे गुजर गयी। उसे उठनेमें एक क्षणकी भी देरी होती तो पटरीपर पड़ा हाथ कट ही चुका होता।

गाड़ी वहाँसे चक्रधरपुर स्टेशनपर लायी गयी तथा २०-२५ मिनटतक कई यात्रियोंको ऑक्सीजन दी गयी, इनमें मेरा पुत्र भी था। ऑक्सीजन मिल जानेसे वह सामान्य अवस्थामें तो आ गया, पर उस भयावह दृश्यको भूला नहीं। किसी तरह दूसरी स्पेशल ट्रेनसे दोपहर करीब १ बजे वह कलकत्ता पहुँचा। दैवयोगसे उसका सामान भी सही-सलामत वापस मिल गया।

मेरा पुत्र हनुमान्जीपर असीम श्रद्धा रखता है। हनुमानचालीसा सब समय अपने पासमें रखता है और यही बात थी कि आज वह बच सका। इस हादसेके पश्चात् तो उसकी ईश्वरपर आस्था और भी दृढ़ हो गयी। उसे लगा कि उनकी अनुकम्पासे ही उसे नया जीवन प्राप्त हुआ।

हनुमान्जी एवं श्रीसीतारामजीकी असीम कृपाका ध्यान कर मेरी आँखें छलछला आयीं कि प्रभो! आप कितने दयालु हैं—एक बार जो आपसे सम्बन्ध जोड़ लेता है, आप अन्ततक उसे निभाते हैं, उसीके हो जाते हैं। अपने भक्तोंपर तो आपकी विशेष कृपा रहती ही है। —मधु बाफना

(५)

धन्य है वह

अपने बहनोईके द्वारा सुनी हुई यह बात उन्हींके शब्दोंमें लिख रहा हूँ—

बहुत समय पहलेकी बात है। मैं बम्बईमें लोकमान्य तिलक रोडपर स्थित कपड़ेकी एक दूकानपर काम करता था। एक दिन दूकानपर ग्राहकोंकी भीड़ थी। रातके लगभग साढ़े आठ बज चुके थे; फिर भी ग्राहकोंकी भीड़ होनेसे तीन-चार आदमी अलग-अलग ग्राहकोंको निपटाकर भेज रहे थे। इसी गड़बड़में गल्लेसे पैसे निकालते समय या पैसे डालते समय भूलसे किसीके द्वारा एक सौ रुपयेका नोट फूलोंकी टोकरीमें गिर गया। वह टोकरी एक (गरीब) फूल

बेचनेवालेकी थी, जो दिनभर फूल बेचकर अपने पत्नी-बच्चोंका पालन करता था और रातको टोकरी हमारी दूकानमें रख जाया करता था। रातको १० बजे रोकड़ मिलाते समय सौ रुपये कम थे, सभी हैरान और दुःखी थे। मैं सबसे ज्यादा दुःखी था; क्योंकि गल्लेकी और दूकानकी सारी जिम्मेवारी मुझपर थी। सभी लोग एक-दूसरेपर संदेहभरी दृष्टिसे देख रहे थे। रातके १२ बजेतक सारी छान-बीन की गयी, मगर मैं रुपये नहीं ढूँढ़ सका। आखिर मैंने हैरान होकर सबके सामने यह कहा कि सही चोरका पता लग जायगा। मैंने कह तो दिया, पर मैं खुद काँप रहा था कि न मालूम क्या होगा। हालाँकि मैंने नोट नहीं लिया, परंतु मेरी जिम्मेवारीमें हुई इस गलतीका मैं क्या जवाब दूँगा। मेरे सहज, स्वच्छ और उज्ज्वल चरित्रपर धब्बा न लगने पाये—इसके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करते हुए ही मैंने सबको सोनेके लिये कह दिया और मैं खुद भी सो गया भगवान्‌का स्मरण करते-करते।

सुबह फूलवाला आया। टोकरीमेंसे कपड़ा और पत्ते निकालते समय सौ रुपयेका नोट भी पत्तोंके साथ बाहर पड़ा देख वह काँपने लगा। उस नोटको उठाकर वह मेरे पास आया और मुझे नोट दिखाते हुए बोला कि 'शायद यह नोट आपका है, मेरी टोकरीमें था।' हमलोग सन्न रह गये। हमें टोकरीमें रुपये गिरनेका बिलकुल ही ख्याल नहीं था। वह चाहता तो सौ रुपये दबा सकता था, परंतु वह ईमानदार था। मैंने उसे अपनी तरफसे पुरस्कारस्वरूप कुछ रुपये देनेके लिये निकाले, पर उसने नहीं लिये। सब लोग सजल नेत्रोंसे उसकी तरफ देखते ही रह गये और वह नीचे उतरकर वापस अपने काममें लग गया। अब वह हमारी दूकानकी पटरीपर नहीं है, फिर भी गल्ला खोलते ही मुझे उसकी याद आ जाती है और मेरी आँखें बरबस जल बरसाने लगती हैं। धन्य है वह, जिसने मुझपर और सबपर किये जानेवाले संदेह और कलंकसे हमें बचाया। —मिठालाल जोशी

* * *

मनन करने योग्य

धनकी अन्धपूजा

मेरे समीप एक पुष्प पड़ा है; साथ ही एक रुपया भी पड़ा है।

रुपया न जाय, इसके लिये मैं सावधानी रखता हूँ; पुष्पको कोई ले जाय तो मैं उसे ले जाने देता हूँ।

परंतु मेरे सामने एक महाप्रश्न आ खड़ा होता है।

'पसंद कर ले! जीवनभर तुझे एक ही वस्तु मिलेगी, पुष्प या रुपया।'

मैं क्या पसंद करूँगा?

पुष्प; रुपया नहीं। जिस जीवनमें बिना पुष्पका रुपयोंका ढेर सामने आनेवाला हो, उस जीवनमें सौरभ कहाँ?

आज एक रुपयेके चाहे दो सेर गुलाब मिलते हों; परंतु यह रुपया जिस दिन एक भी गुलाब न दिला सकेगा, उस दिन किसका मूल्य अधिक होगा?

गुलाबका ही। हम जरा सच्चा मूल्य आँकनेका प्रयत्न करें।

मेरे पास धनका ढेर है। मैं रेतीके कछारमें चला जा रहा हूँ। मुझे प्यास लगती है। यह प्यास उग्र हो उठती है। पैसे-दो-पैसेमें सामान्यतः जलका एक घड़ा प्राप्त करनेवाला मैं दो रुपये, दो हजार रुपये, दो करोड़ या दो अरब रुपये देकर जलका एक प्याला प्राप्त करना चाहता हूँ।

पानीके प्यालेकी कीमत मेरे धनभण्डारसे बढ़ जाती है। यहाँ किसका मूल्य अधिक है? करोड़पति धनवान्‌का या पानीका प्याला प्राप्त करनेवाले किसी बनजारेका?

बंगाल या उड़ीसाके उपवासियोंसे पूछो—

तुझे सेरभर चावल दूँ या सेरभर सोनेकी मुहरें? वह मनभर सोनेकी मोहरोंको ठोकर मारकर एक सेर चावल झड़प लेगा।

जीवनकी पहली जरूरत है—अन्न; धन नहीं।

सन्तानरहित एक धनीने गाँवमें रहनेवाले एक सम्बन्धीके

बालकको शहरमें अपने भव्य भवनमें बुलाया। झोंपड़ीमें रहनेवाला वह बालक बिना माँ-बापके महलमें झूरने लगा। झोंपड़ीपर वापस पहुँचा, तब उसके चेहरेपर प्रकाश दिखायी दिया।

महल झोंपड़ीसे ज्यादा बड़ा, अधिक मूल्यवान्, अधिक सुख-सुविधासे युक्त, पर उस बालकके लिये नहीं। बालकके मनमें उसकी झोंपड़ी ही अधिक प्रशस्त है, अधिक मूल्यवान् है और अधिक सुखप्रद है। सुख-सुविधाका मूल्य बालकके मनमें दूसरा ही है।

एक गायिका नवाबी-दरबारके मुजरेमें जाकर हजारोंका इनाम पाती है, पर अजमेरकी दरगाहमें बिना इनाम मनसे गाती है। इन दोनों संगीतोंके भेदपर भी ध्यान दिया है? बिना इनामका संगीत ज्यादा बढ़िया होता है। कारण? नवाबी दरबारमें संगीतका मूल्य है।

अजमेर-शरीफकी दरगाहके पासका संगीत अमूल्य है, इसीलिये वह बढ़िया है।

यों रुपयेसे पुष्प बढ़िया, पैसोंसे पानी बढ़िया, धनसे अन्न बढ़िया, महलसे झोंपड़ी बढ़िया और भाड़ेके संगीतकी अपेक्षा दिलका संगीत बढ़िया।

इतना होनेपर भी हमारा यह युग धन-पूजक बन गया है। धन—माल, सुख, साधन और सुविधाकी अदला-बदली करनेका बाट—अनाज, कपड़ा, मकानकी अदला-बदली करनेवाली तकड़ी; इस तकड़ीको—इस बाटको देवता बनाकर हमलोग बुतपरस्त हो गये हैं और इस झूठे देवताके पूजनमें सुख, सुविधा और संतोष—सब कुछ खो बैठे हैं।

छोटा-सा साधन हमारी सिद्धि बन गया है। जादूगर धनको फुलकेकी तरह फुलाते हैं और वह फुलका पानीके बुदबुदेकी तरह फूट जाता है।

यह धन विपुल बन गया है, सर्वत्र फिरनेवाला बन गया है—इतनेपर भी आज सर्वत्र दुर्भिक्ष फैल रहा है! जगत्की भूख मिट जाय, इतना अनाज होनेपर भी जगत् भूखों मरता है! धन-पूजाका यह परिणाम!

सब सुखसे रह सकें—इतनी जमीन है, इतने मकान हैं, इतना सामान है; इतनेपर भी जगत्के असंख्य मनुष्योंके रहनेके लिये घर नहीं है, पहननेको वस्त्र नहीं है और खानेको दाना नहीं है। कारण यही कि धनका ढेर जमा करके उसपर धनी लोग नाग बनकर चढ़ बैठे हैं।

तालियोंसे फूलनेवाले अनेक कथित देशसेवक—आज धन-पूजनमें युद्धपूजन कर रहे हैं। उनकी शरम सूख गयी है। अपने आस-पास हम उन्हें देख सकते हैं।

और इसी धन-भक्ति—अन्ध धन-भक्तिमें बड़े-बड़े लोग, बड़े-बड़े देश जगत्में महाभारत रचाकर करोड़ों मनुष्योंको तबाह कर रहे हैं।

जगत्को संस्कारी बनानेवाले स्मरणीय पुरुषोंमें भी कोई धनी था क्या?

ईसामसीह—गरीब-से-गरीब यहूदी था।

बुद्ध—राज-पाट छोड़कर अपनी खुशीसे बना हुआ एक भिक्षु था।

मुहम्मद—उपवास करनेवाला एक फकीर था।

शङ्कर—बचपनमें ही संन्यास ग्रहण करनेवाला एक अकिञ्चन ब्राह्मण था।

धनकी अन्धपूजा धनको राक्षस—Moloch बना देती है और धनकी सच्ची कीमत धनको लक्ष्मी बनाती है।

आज तो धन संहारका, सन्तापका, अश्रुओंका और असूयाका मूल झरना बन गया है। इसके आस-पास चन्द्रमाकी चाँदनी नहीं, अमावसकी कालिमा है। आजका धन शापित धन है।

आजका मेरा संकल्प है—

जो धन रुधिरसे सना हो, आँसुओंसे भींगा हो, असूयाकी कालिमासे कलुषित हो, आतंकवादका पर्याय हो, जो सबके काममें न आनेवाला हो, उस धनका मुझे स्पर्श न मिले।

चाहे मैं भूखा होऊँ, घरविहीन होऊँ, वैभवहीन होऊँ; आजके इस काले धनसे धनी होनेकी अपेक्षा धनहीन उपवासी होनेमें अधिक गौरव है।

* * *

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

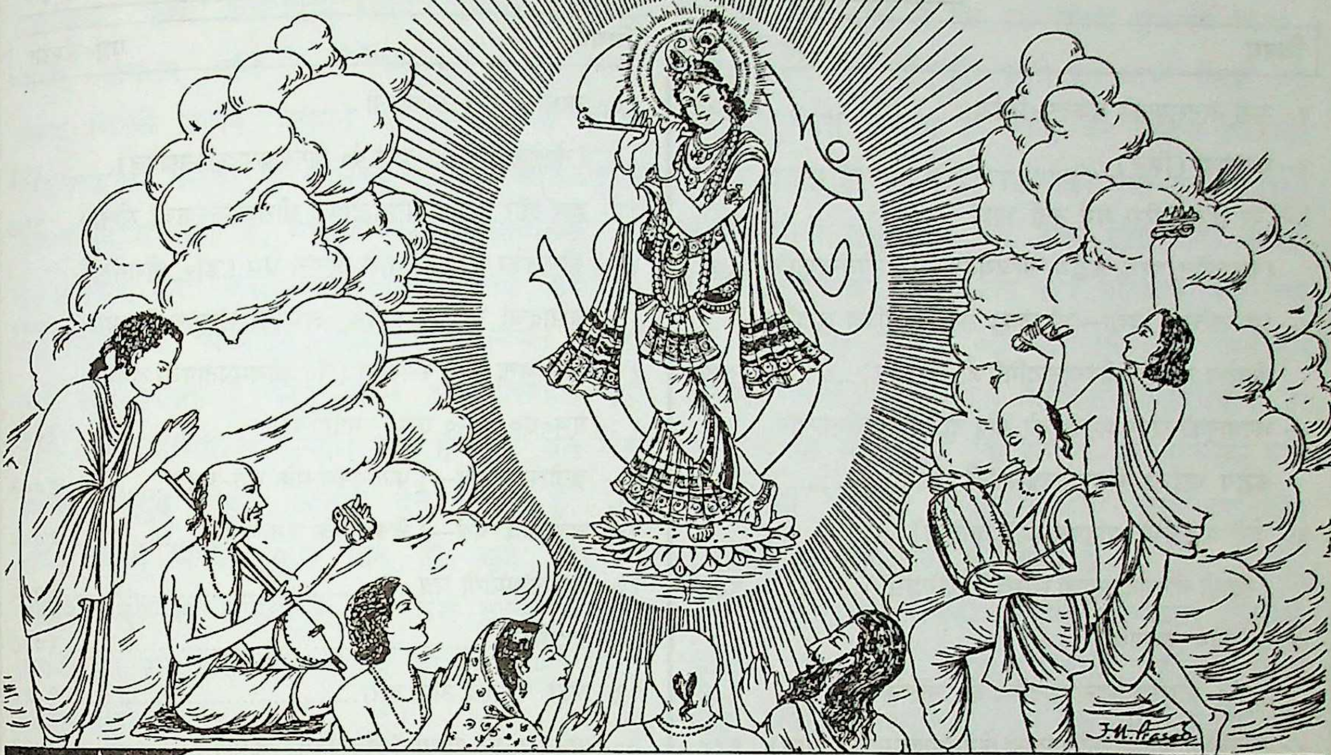

कल्याण

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्धस्त्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

वर्ष ७७

गोरखपुर, सौर पौष, वि० सं० २०६०, श्रीकृष्ण-सं० ५२२९, दिसम्बर २००३ ई०

संख्या १२

पूर्ण संख्या ९२५

सती अनसूयाकी संकल्प-सिद्धि

पतिव्रता अनसूया निज गृह राखे बाल बनाई।
सुनि ह्वै बिकल सिवा उठि धाई, धात्रिहि सुगति सुनाई।
दोऊ तिय अकुलाय कही सब सिंधु सुता ढिग जाई॥
सोच सँकोच बिबस तिहुँ बनिता ह्वै जिय निपट निरासा।
भूरि गरूर दूर धरि गमनी अत्रितिया के पासा॥

* * *

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,५०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष, वि० सं० २०६०, श्रीकृष्ण-सं० ५२२९, दिसम्बर २००३ ई०

विषय — पृष्ठ-संख्या

१- सती अनसूयाकी संकल्प-सिद्धि ९७३

२- कल्याण (शिव) ९७५

३- 'पर हित सरिस धर्म नहिं भाई' (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ९७६

४- आध्यात्मिक विद्या—जीवनका सत्य (श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग स्वामी श्रीदयानन्दगिरिजी महाराज) ९७९

५- भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌को सौंप दो (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ९८४

६- 'तेरी याद प्रभो! प्रतिपल हो' [कविता] (स्वामी श्रीनर्मदानन्दजी सरस्वती 'हरिदास') ९८५

७- प्राणनाथ रघुनाथ (डॉ० श्रीसुरेशनन्दनप्रसादसिंहजी 'नीलकण्ठ') ९८६

८- साधकोंके प्रति—(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ९८८

९- शिक्षित ही नहीं, सुसंस्कृत भी हों (श्रीकाशीगोपालजी श्रीवास्तव) ९९१

१०- सबसे छोटा (श्रीसुरेन्द्रकुमारजी तरुण) ९९२

विषय — पृष्ठ-संख्या

११- साधक-प्राण-संजीवनी (गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज) ९९३

१२- हम और हमारा भगवद्भाव (श्रीरामबालकजी सोनी) ९९७

१३- श्रीरामका सभी जीवोंसे अनन्य प्रेम (डॉ० श्रीरामेश्वरप्रसादजी गुप्त, एम्०ए०, अध्यक्ष-संस्कृत-विभाग) ९९९

१४- कृष्णभक्त कवि रसखान (पं० श्रीरामप्रतापजी व्यास, एम्०ए०, एम्० एड्०, साहित्यरत्न) १००२

१५- व्रतोत्सव-पर्व—[फाल्गुनमासके व्रत-पर्व] १००३

१६- व्रतोत्सव-पर्व—[चैत्रमासके व्रत-पर्व] १००४

१७- साधनोपयोगी पत्र १००५

१८- हृदयोद्गार १००८

१९- पढ़ो, समझो और करो १०१०

२०- मनन करने योग्य [भगवान्‌की कृपा] १०१३

२१- अधर्म जो धर्म जान पड़ता है १०१५

२२- संख्या २ से १२ तक प्रकाशित लेखादिकी वार्षिक विषय-सूची १०१७

⁂

चित्र-सूची

१- भगवान् कार्तिकेयजी .... (रंगीन) .... आवरण-पृष्ठ

२- सती अनसूयाकी संकल्प-सिद्धि .... (") .... मुख-पृष्ठ

⁂

वार्षिक शुल्क—भारतमें
१३० रु० (सजिल्द १५० रु०)
चालूवर्षका शुल्क—
१२० रु० (सजिल्द १३५ रु०)
विदेशमें—
US$25 (Air Mail)
US$13 (Sea Mail)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

पञ्चवर्षीय शुल्क
भारतमें ६५० रु०
सजिल्द ७५० रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$125 (Air Mail)
US$ 65 (Sea Mail)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित
website : www.gitapress.org | e-mail : booksales@gitapress.org

कल्याण

याद रखो—साधनके तीन स्वरूप होते हैं—'अभ्यास', 'रुचि' और 'रति'। मनमें उत्साह, उल्लास, लगन, तत्परता आदि न होनेपर भी; साधन करते समय चित्तके ऊबने, घबराने या कभी-कभी साधन छोड़नेका मन होनेपर भी लाभकी आशासे जो हठपूर्वक साधन किया जाता है, वह अभ्यासका प्राथमिक रूप है। साधन करते-करते जब अभ्यास बढ़ जाता है, तब उकताहट, घबराहट नहीं होती, साधन अच्छी तरह होने लगता है परंतु उसमें आनन्दोल्लास नहीं होता—वह अभ्यासका मध्यम रूप है और जब वही अभ्यास सुदृढ़ होकर आनन्द देने लगता है, जब उसके लिये मनकी कुछ टान हो जाती है और छोड़नेमें बुरा-सा लगता है, तब उसे उत्तम अभ्यास कहते हैं। इस उत्तम अभ्याससे ही साधनमें 'रुचि' उत्पन्न होती है।

याद रखो—'रुचि' उत्पन्न होनेपर साधनमें स्वाद आता है, रसकी अनुभूति होती है, मन चाहता है, बराबर साधन चलता रहे और उससे सुन्दर रस मिलता रहे। जैसे भोजनमें रुचि होनेपर भोज्यपदार्थ स्वादिष्ठ लगते हैं, उनके खानेको मन चलता है, वैसे ही इसमें साधनपर मन चलता है। पर जैसे पेट भर जानेपर कुछ समयके लिये रुचि मिट जाती है, वैसे ही इस क्षेत्रमें भी साधन करनेमें रसानुभूति होनेपर भी कभी-कभी मन अघाया हुआ-सा दीखता है, और साधनका प्रवाह रुक-सा जाता है। पर इस प्रकार रुचिका साधन करते-करते अन्तमें साधनमें अनुराग पैदा हो जाता है। यह अनुराग ही 'रति' का रूप धारण करता है।

याद रखो—जब साधनमें 'रति' हो जाती है, तब फिर कभी उसके रुकनेका प्रश्न ही नहीं रह जाता। फिर तो जैसे गङ्गाकी धारा सदा-सर्वदा अविच्छिन्नरूपसे समुद्रकी ओर बहती रहती है, वैसे ही साधनकी धारा अविराम गतिसे चलती है। इसमें विशेषता यह होती है कि इस रतिके साधनमें नित्य-नवीन आनन्दकी अनुभूति होती है। कभी किसी भी स्थितिमें चित्त अघाता ही नहीं; वरं जितना ही यह साधन बढ़ता है, उतनी ही साधनकी नयी-नयी लालसा जाग्रत् होती है। कोई भी क्षण ऐसा नहीं जाता, जिसमें साधनका तार टूटता हो। प्रतिक्षण नया-नया रस प्राप्त होनेसे उत्साह और उल्लास बढ़ते रहते हैं। अन्तमें मनपर पूरी तरहसे साध्यका एकाधिपत्य हो जाता है या यों कहिये कि समस्त मन साध्यके प्रति सम्पूर्णतया समर्पित होकर उसीका बन जाता है। तदनन्तर साध्यकी प्राप्ति हो जाती है।

याद रखो—योगकी भाषामें 'अभ्यास' चित्तकी 'विक्षिप्त' स्थिति है, 'रुचि' 'एकाग्र' स्थिति है और 'रति' 'निरुद्ध' स्थिति है। या अभ्यास 'धारणा' है, रुचि 'ध्यान' है और रति 'समाधि' है। ज्ञानकी भाषामें अभ्यास 'पहली भूमिका' है, रुचि 'दूसरी' और रति 'तीसरी भूमिका' है, जिसके अन्तमें वस्तुतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। भक्तिकी भाषामें अभ्यास 'वैधीभक्ति' है, रुचि 'साधनभक्ति' है और रति 'प्रेमाभक्ति' है, जो भगवान्‌को प्रेमास्पदरूपसे प्राप्त करा देती है।

याद रखो—साधकका जिस मार्गमें विश्वास हो, जिस मार्गमें उसे सुविधा प्रतीत होती हो, निर्देशकने जो मार्ग बतलाया हो, उसको उसीपर श्रद्धाके साथ धैर्य धारण करके चलना चाहिये। अभ्यास करते-करते वह अपने-आप ही अभ्यासकी परिपक्वता होनेपर 'रुचि' और 'रति' के स्तरपर पहुँच जायगा और तब वह अपनेको साध्यके समीप जानकर परम प्रसन्न होगा; परंतु जो साधक क्षण-क्षणमें मार्ग-परिवर्तन करेगा, उसका तो अभ्यास ही सिद्ध होना कठिन हो जायगा। 'रुचि' और 'रति' की बात तो अलग रही।—**'शिव'**

* * *

‘पर हित सरिस धर्म नहिं भाई’*

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

एक बात बतायी जाती है, बात बड़े कामकी, सबके हितकी है। जिनके थोड़ी भी बुद्धि हो, उनके भी समझमें आ जानी चाहिये। असली समझना वही है कि धारण हो जाय।

हमलोग जितने आदमी हैं सभी सुख चाहते हैं, कोई भी ऐसा आदमी नहीं मिलेगा जो दुःख चाहता हो, पशु, पक्षी और देवता कोई भी यह नहीं चाहता कि दुःख मिले। सारी दुनियाके प्राणी सुख चाहते हैं। जो कुछ कर्म करते हैं वह अपने सुखके लिये करते हैं, यदि मालूम हो जाय कि इसमें दुःख है तो उसके नजदीक भी नहीं जाते, किंतु दुःख भोगना पड़ता है। सब दुःखी हो रहे हैं। पशु-पक्षी जो दुःख भोग रहे हैं उनमें तो बुद्धि नहीं है। वे दुःख भोगें तो उपाय ही क्या है, किंतु मनुष्योंमें बुद्धि होती है। मनुष्य-जन्म पाकर भी दुःख भोगे तो मूर्खता है। मनुष्य-शरीर पाकर भी दुःखोंका अभाव नहीं किया तो फिर किस शरीरमें करेंगे।

हमलोग दुःख भोग रहे हैं। इसका कारण मूर्खता है। हमारी समझमें आ जाय तो क्यों दुःख भोगें। एक रोगी कुपथ्य करके दुःख भोगता है, उसका कुपथ्य करना मूर्खता है, यदि यह बात समझमें आ जाय तो दुःख नहीं भोगना पड़े। दुःख पापका फल है। आप पाप न करें तो दुःख क्यों हो।

ईश्वरके घर न्याय है। कोई आदमी अपराध न करे तो उसे दण्ड कौन देगा। बिना अपराध किये माँ-बाप भी दण्ड नहीं देते, फिर भगवान् क्या ऐसे निर्दयी हैं कि बिना अपराध किये ही दण्ड दे देंगे।

एक बात और समझनी है, पहले अपराध कर चुके तो उसका फल तो भोगना पड़ेगा। वह भी क्षमा हो सकता है। कोई आदमी कितना ही अपराध कर ले, क्या उसका दण्ड भोगना ही पड़ेगा? नहीं, वह भी क्षमा हो सकता है।

हम जो अपराध कर चुके उसका दण्ड नहीं भोगना पड़े, उसके लिये सूक्ष्म मनसे विचार करना चाहिये कि दुःखोंकी निवृत्ति कैसे हो? दुःख पा रहे हैं यह अपराधोंका फल है, फिर भी यह समझकर पाप करे तो और मूर्खता हुई। फिर यह बात कहाँ समझे। कितनी मूर्खताकी बात है।

संसारमें प्रत्यक्षमें आप किसीको दुःख पहुँचायेंगे तो वह क्या करेगा? आपको दुःख पहुँचानेकी कोशिश करेगा। फल क्या होगा? आपको भी दुःख होगा, दोनों ही दुःखी होंगे। आपने किसीको दुःख पहुँचा दिया, यदि वह निर्बल होनेके कारण आपसे बदला नहीं ले सका तो खयाल रखें भगवान् उसका दण्ड आपको अवश्य देंगे।

आज एक बच्चा पैदा हुआ। जन्मते ही उसे बुखार हो जाता है। उसने इस जन्ममें तो पाप नहीं किया, फिर दुःख क्यों हो रहा है? पूर्व जन्ममें पाप किया है इसलिये दुःख हो रहा है। अतः हमें चाहिये कि अब हम कोई नया पाप न करें।

स्त्रियाँ प्रायः लड़ाई करती हैं, कोई अहंकारको लेकर, कोई रुपया-पैसाको लेकर और कोई काम-धंधेको लेकर, उसका फल होता है दुःख, वे उसका काम नहीं करतीं, फिर भी एक-दूसरेको देखकर जलती हैं, वे क्यों जल रही हैं? अपने पापसे। घरमें लड़ाई करके ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर ली हैं कि दोनों ही दुःखी हैं, इसमें हेतु क्या है? मूर्खता।

हर एक माता-बहनको यह विचार करना चाहिये कि यदि आप दूसरोंको आराम पहुँचायेंगी तो दूसरी स्त्री भी आपको सुख पहुँचायेगी।

हमारे शास्त्र कहते हैं कि सब अपनी ही आत्मा हैं। जैसे हम अपने शरीरको आराम पहुँचाते हैं, उसी तरह महात्मा पुरुष सारे संसारको अपनी आत्मा समझकर सुख पहुँचाते हैं।

भगवान्‌का भक्त सबको अपना इष्ट-नारायण समझकर सबकी सेवा करता है। उसका फल क्या होता है सब उसकी सेवा करते हैं, उसे आराम पहुँचाते हैं। मैं आप सबकी सेवा करूँ तो आप सब मुझे सुख पहुँचायेंगे। मैं सबको दुःख पहुँचाऊँ तो सब लोग मुझे दुःख पहुँचानेके लिये मुझपर टूट पड़ेंगे।

---

* प्रवचन—दिनाङ्क, ८। ५। १९४१, दोपहर, वटवृक्ष, स्वर्गाश्रम।

हर एक माता-बहन, भाईको दूसरोंको सुख पहुँचाना चाहिये। इसका फल अच्छा होता है, इसलिये सबको सुख पहुँचाना चाहिये। तुलसीदासजी कहते हैं—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

दूसरेकी आत्माको दुःख पहुँचानेके समान कोई पाप नहीं है, दूसरेको सुख पहुँचानेके समान कोई धर्म नहीं है।

यदि कहो कि पूर्वमें हमने पाप किये हैं, उनके विनाशके लिये क्या उपाय करें? उसका उपाय है कि दुनियाको सुख तो पहुँचायें पर बदलेमें उनसे सुख न चाहें।

एक भाईके ऊपर ५,००० रु० का कर्ज है। वह १०० रु० महीना कमाता है, सब खर्च कर देता है तो पाँच हजारका कर्ज ज्यों-का-त्यों रहा, यदि रुपया खर्च न करे तो रुपया इकट्ठा हो जाय और कर्ज उतर जाय। हम दूसरोंको सुख पहुँचाते हैं, सेवा करते हैं, पर बदलेमें उनसे सुख ले लेते हैं तो सब बराबर हो जाता है यानी सेवाका फल यहीं मिल गया।

एक भाईने किसीको चार जूते मार दिये, दूसरेने भी बदलेमें उसे चार जूते मार दिये तब तो मामला खतम, यदि वह नहीं मारे और मुकदमा कर दे तो न्यायालयके द्वारा दण्ड मिलता है। न्यायाधीशने कहा कि छः महीनेकी कैद होगी। वकीलने पूछा कि कैदसे बचनेका क्या कोई उपाय है? न्यायाधीशने कहा—उपाय है, जिसको जूता मारा है उसे जाकर राजी कर लो। वह क्षमा कर देगा तो मैं मुकदमा खारिज कर दूँगा। अब छः महीनेकी जेल भोगनी अच्छी है या उससे क्षमा माँग लेनी ठीक है, आप ही सोचें।

इसी प्रकार किसीके प्रति अपराध बन जाय तो उससे जाकर क्षमा माँग ले, नहीं तो उसका दण्ड राज्य देगा, यदि उससे किसी तरह चालाकीसे निकल भी जाय तो परमात्मा उसका दण्ड देते हैं। उस पापके फलसे हम बच नहीं सकते। जितने दिन निकलते हैं, उतना ही समझो कि ब्याज बढ़ता है, इसलिये किसीको दुःख देना ही नहीं चाहिये।

जो आदमी सुख तो पहुँचाता है, किंतु बदलेमें सुख नहीं चाहता तथा नहीं लेता, उसके अन्तःकरणमें पूँजी इकट्ठी होती जाती है, जिससे सारे पाप धुल जाते हैं।

नया पाप तो हम करें ही नहीं और पहले जो पाप किये हुए हैं, उनको क्षमा करवानेके लिये हम दूसरोंको सुख पहुँचायें। यदि हम सेवा करेंगे तो लोग हमारी प्रशंसा करेंगे। यदि प्रशंसासे आप प्रसन्न होंगे तो आपकी पूँजी घट गयी, जितना सुख मिल गया उतनी पूँजी घट जायगी। तुम्हारा पुराना पाप पड़ा ही रहेगा, फिर उसका दण्ड मिलेगा।

एक भाई तुमको ताना मारता है तो तुम प्रसन्न होते हो क्या? नहीं, नाराज होते हो, इसी प्रकार कोई तुम्हारी स्तुति करे तो नाराज होना चाहिये। कोई बाघ यहाँ आये तो हम भागते हैं, इसी प्रकार बड़ाई बाघ है, यह कण्ठ पकड़ती है, इसे बाघ समझना चाहिये। जब यह प्राप्त होती है तो अमृतके समान लगती है, किंतु उसमें जहर भरा है। लड्डू खानेमें बड़े अच्छे हैं, पर उनमें जहर भरा है, परिणाम बुरा है। यही बात खयाल करनेकी है।

घरमें सबसे बढ़िया स्त्री कौन है? जो सबको सुख पहुँचाये। अपने साथ कोई लड़ाई करे तो उससे भी प्रेम करना चाहिये। हमारे लिये हमारा वैर घातक है। दूसरा कोई हमारा बाल भी बाँका नहीं कर सकता। *'बाल न बाँका कर सके जो जग बैरी होय।'* यह समझकर अपनी बुद्धिमानी यही है कि कोई हमसे वैर भी करे तो हमें उसका हित ही करना चाहिये।

जिस घरमें स्त्रियाँ परस्पर वैर रखती हैं, वे जीवनभर जलती रहती हैं, उनके दोनों जन्म नष्ट हो जाते हैं। इसका उपाय समझदारके लिये यही है कि हम किसीसे वैर न करें। यदि हम किसीसे वैर नहीं करेंगे तो हम तो वैरसे मुक्त हो गये।

दुनियामें जो लोगोंको दुःख हो रहा है, इसी प्रकारकी मूर्खतासे हो रहा है। इस दुःखको मनुष्य हटा सकता है, परंतु पशु नहीं। बुद्धिमान् मनुष्य सारे दुःखोंको हटा सकता है। जो दुःखोंको हटाये वही बुद्धिमान् है। सभी विषयोंमें यही समझना चाहिये। इन दुःखोंको मूलसहित उखाड़ दे। ऐसे व्यक्तिके आसपास रहनेवाला भी सुखी हो सकता है। जहाँ ज्ञान है वहाँ अज्ञान नहीं आ सकता। चिन्ता, भय और शोकको हटानेके लिये जो प्रयत्न करता है, वही बुद्धिमान् है।

जो आदमी पाप करता है, यदि उसे इस जन्ममें दण्ड नहीं मिला तो अगले जन्ममें अवश्य मिलेगा। बच्चा जो दुःख भोगता है, वह गवाही दे रहा है कि पूर्वमें कियेका फल मैं भोग रहा हूँ।

बच्चा जन्मते ही रोता है, यह विद्या पूर्व जन्ममें सीखी हुई है। माता स्तन मुखमें देती है, वह चूसने लग जाता है। लड़का हँसता है, रोता है, काँपता है, इन सब बातोंसे पूर्वजन्म सिद्ध हो जाता है। यह सब बातें समझकर हमें सबको सुख पहुँचाना चाहिये।

हमलोग दुःखी हो रहे हैं इसका यही उपाय है कि सारी दुनियाको सुख पहुँचाओ, बदलेमें सुख मत चाहो। यदि तुम सुख चाहोगे तो बराबर हो जाओगे, यानी दूसरोंको जो सुख पहुँचाया इसके बदलेमें सुख मिल जायगा, किंतु पहलेके किये हुए पाप बाकी रह जायँगे, इसलिये फल न चाहकर सुख पहुँचाना चाहिये।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

(गीता ४।२३)

जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, जो देहाभिमान और ममतासे रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्माके ज्ञानमें स्थित रहता है—ऐसे केवल यज्ञ-सम्पादनके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं।

दूसरोंको सुख पहुँचाना महायज्ञ है। इसका फल क्या है? उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। जितनी दुःख मिलनेकी पूँजी है सब खतम हो जाती है।

सदाके लिये आप सुखी हो जायँ, इसका यही उपाय है कि आप सबको सुख पहुँचायें और बदलेमें उसका फल न चाहें। ऐसा पुरुष ही बुद्धिमान् है। आप दुःख पा रहे हैं यह केवल आपकी मूर्खता है।

जो आदमी सबको अपनी आत्मा समझ लेता है, वह सबको सुख पहुँचाता है या जिसको अपना इष्ट मान लेता है, उसे सुख पहुँचाता है। सबको नारायणका रूप मानकर हम सबकी सेवा करें।

बच्चे जैसे अपने माता-पिताकी, पतिव्रता जैसे पतिकी सेवा करती है, ऐसे ही हम सबकी सेवा करें तो प्रत्यक्षमें आनन्द है। यह दुःखकी निवृत्तिका उपाय है। पाप ही तो दुःख देते हैं, जब पाप नष्ट हो जायँगे तो दुःख कैसे मिलेगा। इसीलिये स्वार्थ, आसक्तिको त्यागकर योगी लोग अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥

(गीता ५।११)

कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं।

साधक लोग कायासे, मनसे और इन्द्रियोंसे आत्माकी शुद्धिके लिये कर्म करके दूसरोंको सुख पहुँचाते हैं। फिर फल-आसक्तिको त्यागकर भगवत्प्राप्तिरूपी शान्तिको प्राप्त हो जाते हैं।

परमात्मामें शान्तिकी सीमा है क्या? वही शान्ति, वही आनन्द उस पुरुषको मिल जाता है, जो इस प्रकार करता है; क्योंकि वह सारे संसारको ईश्वर समझकर सबकी सेवा करता है।

हमलोगोंको सदाके लिये सुखी होनेके लिये यह प्रयत्न करना चाहिये। मैं यदि आपको सुख पहुँचाऊँगा तो आपके मनमें यह भाव पैदा होगा कि मैं भी इन्हें सुख पहुँचाऊँ।

गधोंमें भी यह बात है कि वे एक-दूसरेकी खाज खुजलाते हैं। पशुओंमें भी यह बात है कि एक-दूसरेको आराम पहुँचाते हैं, यदि एक लात मारता है तो दूसरा उसको लात मारता है इसका नाम है मूर्खता। इसी प्रकार जो मनुष्य दूसरेको दुःख पहुँचाता है वह मूर्खता करता है। इस बातको सोचकर आपको सदाके लिये सुखी होना हो तो किसीको दुःख नहीं पहुँचाना चाहिये प्रत्युत सबको सुख पहुँचाना चाहिये।

फिर भी यह सदैव याद रखना चाहिये कि यह सांसारिक सुख है, इससे ऊँचे दर्जेका सुख वैराग्यसे मिलता है। जब वैराग्य हो जाता है तो सारे संसारके भोग फीके लगने लगते हैं। स्त्रियाँ जितना गहना पहनती हैं, उनमें जो सुख मिलता है, उससे लाखों गुना अधिक सुख

वैराग्यमें है। सारी दुनियाके सुखको इकट्ठा कर लो, किंतु एक विरक्त पुरुषके सुखके बराबर सारी दुनियाका सुख नहीं हो सकता।

एक समय दधीचिके पास इन्द्र गये, कहा—आप जिस सुखका अनुभव करते हैं, उसीके लिये मैं आया हूँ। दधीचिने कहा—तुम इसके पात्र नहीं हो। तुम्हारा सुख कुत्तों-जैसा है। समझना चाहिये दधीचि किस सुखमें स्थित थे, जिस सुखके सामने इन्द्रका भोग कुत्तोंके भोगके समान लगता है।

वैराग्यमें कितना सुख है। वैराग्यमें यदि सुख नहीं होता तो हमलोग वेश्याकी प्रशंसा करते। संसारके भोगोंमें ही सुख माना जाय तो वेश्याको ही ज्यादा सुख हुआ। यह सारा सुख वैराग्यके सुखके सामने कुछ नहीं है। वैराग्यसे जो सुख है उससे भी ज्यादा सुख उपरतिमें है। उस उपरामतामें हमें जो सुख मिलता है, उससे हजारों-लाखों गुना अधिक भगवान्‌के ध्यानमें मिलता है। इतने बड़े आनन्दको छोड़कर जो संसारके भोगोंमें रमण करते हैं वे मूर्ख हैं। जो विवेकी होते हैं वे इनमें नहीं रमते, विवेकी पुरुष तो परमात्माके ध्यानमें मस्त रहते हैं।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(गीता ५। २१)

बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्त:करणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित वह पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।

इसलिये हमें उस सुखमें स्थित होना चाहिये। यह होता है ईश्वरकी शरण होनेसे, सत्संग करनेसे और संसारके भोगोंको तुच्छ मानकर उनसे वैराग्य करनेसे।

आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

* * *

आध्यात्मिक विद्या—जीवनका सत्य

(श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग स्वामी श्रीदयानन्दगिरिजी महाराज)

राग एक बड़ा भारी बन्धन है और इससे मनुष्यकी भलाई नहीं होती है। यदि रागका ही चिन्तन करता-करता व्यक्ति मर गया, तो मृत्युके पश्चात् वह न जाने क्या-क्या दृश्य देखेगा? अर्थात् जो अधिक कामी जीव-जन्तु इस सृष्टिमें हम देखते हैं वह उनके भी शरीरको प्राप्त हो सकता है। हमारे अंदर भगवान्‌की काम-रूप शक्ति है अर्थात् जैसी कामना या इच्छा हम अंदरके मनमें करते हैं, वैसी ही सृष्टि आगे हमको रची हुई मिलती है। इसके बीचमें ऐसी माया है कि जैसा सच्चे हृदयके अंदर होता है, वह शक्ति वैसी ही सृष्टि रच देती है। इस प्रकार मनुष्य जीवनकालमें और मृत्युके बाद भी इन्हीं सांसारिक उलझनों और बन्धनोंमें घिरा रहता है।

यदि आप चाहेंगे कि हम अभी सब बन्धनोंसे मुक्त होकर उसी प्रभुके अंदर सदा आनन्दरूपसे टिके रहें अर्थात् स्थित रहें तो अंदरके सब सत्य अपने-आपमें जानने पड़ेंगे कि किस तरह हमारा जीवन प्रकृतिकी शक्तियों (काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि)-से चलता है और कैसे इसके अंदर इनकी तरङ्गें फैलती है? ये सब अंदर अपना फैलाव करके मनुष्यको बाहरकी तरफ संसारमें ही कुछ करनेके लिये प्रेरित करती हैं, अर्थात् बाहरकी तरफ चलाती हैं और अन्तमें दु:खी करती हैं। इसलिये इन सब सत्योंको अपने अंदर समझ करके इनके चंगुलसे निकलनेका यत्न करना और अपने श्वासको ठीक रीतिसे चलाते रहना चाहिये; ताकि शरीर ठीक रहे। इन सब बन्धनोंको छोड़नेके लिये इन्हीं बन्धनोंके बाहर फैलाये जालकी तुच्छता समझ करके अपने मनको उनसे निवृत्त करना है। निवृत्त करनेका यही तात्पर्य है कि हरिहरकी भक्ति हो गयी अर्थात् अपने-आपको पीछे लौटाना या हटाना। अर्थात् राग-द्वेष आदि सब बन्धनोंसे और काम, क्रोध आदि उनके विकारोंसे अपने-आपको मुक्त करना है। ऐसे अपने-आपको मुक्त करते श्वास लेना और छोड़ना इस प्रकारका अभ्यास करना है। जैसे-जैसे उन सब बन्धनोंके जालसे आप पीछे लौटते जायँगे, मन हलका होता जायगा। हलका होता हुआ मन यदि कल्याण या परमपद पहुँचनेकी पूर्ण यात्रा नहीं भी कर

पाया अर्थात् इस धर्मके मार्गपर चलते-चलते मर ही गया तो भी वह उत्तम गति ही पायेगा।

मनकी आदत बाहर संसारकी ओर भागनेकी है। हर समय इसकी यही लगन बनी रहती है कि 'यह वस्तु चाहिये', 'वह वस्तु चाहिये', 'वह मनुष्य ऐसा-वैसा है।'- यह सब बाहरकी मिथ्या (खोटी) सोचें हैं और इनके विषयमें सोचनेके समय तो मन बड़ा जागरूक रहता है तथा बड़ी लगन एवं इच्छासे संसारका चिन्तन आदतवश करता है। परंतु यदि आपने विचार किया कि बाहर संसारकी ओर भागनेमें कुछ नहीं रखा, प्रत्युत अन्तमें दुःख-ही-दुःख है तो आप अपने मनको संसारसे थोड़ा लौटाना भी चाहेंगे। मन उस समय या तो दूसरी तरफसे संसारमें ही निकल जायगा या फिर नींदकी तरफ जाना शुरू कर देगा। उस समय वह नींद भी लेनी ठीक नहीं है। उस नींदसे भी थोड़ा टलनेका यत्न करे, कारण कि वह नींद भी उत्तम नहीं है। अच्छी नींद लेनेवाले उस मिथ्या नींदको जीतनेका प्रयास करते हैं। जबतक वह संसारमें ही भागनेवाला मिथ्या मन बना हुआ है, तबतक वे शब्द बोल-बोलकर एवं विचार जगा-जगा करके उस मिथ्या मनको तोड़ते हैं और राग-द्वेषवाली नींदको भी जीतते हैं अर्थात् जब राग-द्वेषसे मन टलता है तो बलपूर्वक उनसे खिंचा हुआ मन निद्राके सुखकी ओर झुकता है। ऐसी निद्राकी ओर मनुष्यका झुकना कल्याणके रास्तेसे विपरीत है।

मनका संसारकी तरफ भागना एवं संसारसे थककर नींदमें चले जाना—ये दोनों ही तृष्णारूप हैं। एकका नाम भव-तृष्णा और दूसरीका नाम विभव-तृष्णा। भव-तृष्णा यही है कि संसारमें ही कुछ होना या बनना अर्थात् किसीका मित्र या वैरी (दुश्मन) होना, किसीको सुख देनेवाला होना, यह सब होना-बनना संसारकी तृष्णा है, जिसे भव-तृष्णा या भव-सागर भी कहा जाता है। जब संसारसे थककर मन लौटता है तो आलस्य (सुस्ती) या आराममें जाना चाहता है। यह भी एक बन्धन ही है। उधर संसारसे लौटा हुआ मन अपने-आपको नींदमें ही डालता है और निद्रावस्थामें भी वही संसारवाला मन छुपा रहता है; नष्ट नहीं होता तथा फिर नींदसे उठनेपर मनुष्यको संसारमें ही घसीटकर ले जाता है। इसलिये विभव-तृष्णा रूप नींदको भी जीतना ठीक है। एक घंटा, डेढ़ घंटा, दो घंटा नींदसे लड़नेपर यदि आपका मन जाग गया और इस जागे हुए मनमें ज्ञान पैदा हो गया, तो अपने अंदर असलियत भासने लगेगी अर्थात् मालूम होगा कि संसारमें बाहर प्राणी और पदार्थोंके पीछे भागना तथा उनसे लौटकर नींदमें चले जाना व्यर्थ है एवं अन्तिम कल्याण करनेवाला नहीं है। सत्यका ज्ञान होनेपर मनमें प्रेरणा भी मिल जायगी कि इस संसारसे हटना चाहिये। पहलेवाले ज्ञान तो सारे संसारके बचपनवाले जीवनके थे, जो कि राग-द्वेष आदि तृष्णाके जालको लपेटे बैठे थे। अब सच्चा ज्ञान तो यही होगा कि जितना इस बचपनवाले ज्ञानसे बचकर रहे, उतना ही अपने लिये अच्छा होगा। इस तरह मनको जगा करके एवं उसको सही रास्तेपर प्रेरित करके फिर यदि आप सोयेंगे तो यह भगवान्‌के बीचकी उचित निद्रा है। शुद्ध नींद वही है, जब मन संसारसे टलकर अंदर जाग जाय एवं ज्ञान पैदा करने लग जाय और ऐसी अवस्थामें यदि आप सो जाते हैं तो यही भगवान्‌के रास्तेकी सही नींद कही जायगी।

इस प्रकार सारी विधि-मर्यादा अपने अंदर समझ करके उसके अनुसार अपने जीवनको ढालना है। अपने जीवनको सही दिशामें ले जाकर ठीक ज्ञान उत्पन्न करना है कि 'देखो जी, मनके अंदर ऐसी तरङ्गें उठती हैं, तो ये किधर-किधर मनुष्यको ले जाती हैं। जिधरसे तरङ्गें मनको ले जाती हैं, उस संसारमें भलाई नहीं है।' 'देह बिगड़ता है, रोग-बीमारियाँ आती हैं, मनमें शोक-दुःख आते हैं, जहाँपर इनकी समाप्ति होती है, वहाँपर हाय-हाय करके जीवन व्यतीत करना पड़ता है।' ये सारे ज्ञान उस समय मनके अंदर होने लगेंगे, जब निद्रा एवं मिथ्या तृष्णासे जीता हुआ मन अपने अंदर ही देखेगा और उसकी बाहर किसी प्रकारकी भी लपक नहीं होगी। यही आध्यात्मिक विद्या है। जैसे कोई बाहर संसारके ज्ञानकी विद्या जानता है और भी कई प्रकारकी विद्याएँ जानता है, ऐसे ही अपने मनको संसारसे मोड़कर एवं निद्राको जीतकर अपने अंदरके सत्योंको जानना ही आध्यात्मिक विद्या कहलाती है।

निद्रासे जागा हुआ मन ही इस तृष्णाके सारे कार्य पहचानेगा। यह तृष्णा मनको किसी वस्तुकी याद बार-बार दिलवा करके एवं उसीको पानेकी इच्छाएँ पैदा करके, उसी वस्तुकी तरफ दौड़ाती रहती है और उसीको पूरा करनेतक बहुत उलटे-सीधे कर्म करवाती है। जहाँपर ये कर्म समाप्त होते हैं अर्थात् जहाँपर ये कर्म ले जाकर दुःखके गड्ढेमें पटकते हैं, वह सारा संसारमें बदले हुए प्राणीके लिये अभी पर्देमें है। अभी उसका पता नहीं लगता है कि यह मनके बाहर फैलनेकी तृष्णा बहुत दुःख देनेवाली है और अन्तमें दुःख-व्याधियाँ ही मिलती हैं। इसलिये यह तृष्णा तो फिर ठीक नहीं है। इस तृष्णाके रास्ते जा करके जो थोड़ा सुख मिलता है, उसके पीछे जो दुःख आयेगा, वह खोटा ही है। ये सब अंदरके सत्य जैसे-जैसे आप समझेंगे तो वैसे अंदर पड़ी हुई अविद्या भी तृष्णाकी समाप्तिके साथ ही समाप्त हो जायगी। यही सब आध्यात्मिक ज्ञान या विद्या है, जिसके अंदर उतरते ही अविद्याका नाश हो जाता है और मन हलका होकर भगवान्‌के आनन्दका अनुभव करता है। इन सब अंदरकी विद्याओंको समझ करके यहाँतक अपने मनको प्रेरित करना है कि अन्तमें बाहरके सब राग-द्वेष आदि बन्धन समाप्त हो जायँ और मन इनसे अत्यन्त (बिलकुल) खाली हो जाय। वह अपने-आपमें इकट्ठा हुआ मन ही भगवान्‌का स्पर्श कर पायेगा अर्थात् परमसुखको प्राप्त कर सकेगा।

भगवान्‌को सीधा-सीधा कोई भी मनुष्य नहीं पकड़ सकता। उसके लिये रास्ता यही है कि बाहर संसारकी उलझनसे छुटकारा हो। इस उलझनसे छुटकारा यही आध्यात्मिक (अपनी आत्माके अंदरका) ज्ञान और अपना अच्छा चला हुआ जीवन ही दिलवा पायेगा। पहले अच्छे जीवनके नियमोंको जानना और फिर उन्हींके अनुसार चलना पड़ेगा। जब आपने जान लिया कि यह तृष्णाकी आग है और नाना प्रकारके सुखोंको दिखाकर उधर संसारमें ही बाँधती है एवं मनको बाहर ही भटकाती है, तो इस आगमें जलना उचित नहीं है। इस प्रकार बाहर भटकी एवं बिखरी हुई ज्ञानशक्ति और प्राणशक्ति मनमें शोक, दुःख तथा शरीरमें रोग-व्याधियाँ ही पैदा करती हैं। यदि आपके अंदर यह समझ पैदा हो गयी तो समझें कि आपने आध्यात्मिक सत्य जान लिया। इसके अनुसार आपने अच्छी स्थिति ले ली अर्थात् अपनी अवस्था बना ली तो धीरे-धीरे ही बाहर संसारकी तरफसे लौटना है। अर्थात् मनका मोड़ना सम्भव हो जायगा। एकदम जल्दीमें ऐसा नहीं हो पायेगा और ऐसी जल्दबाजी करनेसे नुकसान ही होता है। ऐसा करनेसे ज्यादा तंगी भी मनमें आ जायगी और ऐसा मन बुद्धि भी खो बैठता है। धीरे-धीरे बुद्धिको रखते हुए बाहरके संसारसे निवृत्त होना है अर्थात् लौटना है। ऐसा करते हुए किसीको उसके बारेमें पता लगानेकी भी जरूरत नहीं है कि वह मनुष्य जिस तरह पहले रहता था, अब उससे अन्य प्रकारके जीवनके मार्गपर चल रहा है। बड़े आरामके साथ इसी संसारमें रहते हुए और सब आवश्यक कार्योंको करते हुए, अपने मनसे इस संसारसे अलग होता चला जाय। ऐसा होते-होते एकान्तमें बैठे हुए आप देखेंगे कि उन तरङ्गोंकी अब खिंचावट नहीं है अर्थात् मन शान्त बैठा हुआ है और उसे तरङ्गें बाहरकी तरफ नहीं खींच रही हैं तो समझो तृष्णा नहीं है। जब तृष्णाकी खींच नहीं है तो उस समय मन हलका होगा। इससे श्वास भी हलका और आरामसे चलेगा और देहमें भी सुख प्राप्त होगा। मनसे भी सुख प्राप्त होगा। जिस दिन मनमें यह सुख प्रतीत (मालूम) होने लग गया तो समझो उसी दिन मनुष्यको छुट्टी मिलने लग गयी अर्थात् इस संसारके बन्धनसे मुक्ति मिलनी आरम्भ हो गयी। अब यह छुट्टी मिलते-मिलते एक दिन ऐसी छुट्टी मिलेगी कि वह अनुभव करेगा कि संसारसे फुर्सत पाते ही मुझे तो यह सच्चिदानन्दरूप वैकुण्ठधाम ही मिल गया। परंतु जबतक यह छुट्टी (मुक्ति) नहीं मिलती है, तबतक वैकुण्ठधाम नहीं है।

सच्चिदानन्दभगवान् तब जागेगा, जब अंदरका पूरा ज्ञान हो जायगा, कारण! कि अभी ज्ञान अंदर सोया हुआ है। बाहरकी वस्तुओंको जाननेके लिये तो मनुष्य बहुत बुद्धिमान् है, क्योंकि बांहरकी छोटी-से-छोटी वस्तुको भी वह जानता है। वह दूसरोंकी सब बातें भी जानता है कि 'यह दुष्ट है', 'इसके इरादे कैसे हैं और यह क्या करना चाहता है?' इत्यादि-इत्यादि। उसीके लिये मन जागता

रहता है। यह सब बाहरके बारेमें सोचा हुआ सब ज्ञान अविद्या ही अधिक फैलाता है। जहाँपर यह अविद्या अन्तमें ले जाकर पटकेगी, वहाँ दुःखके सिवाय और कुछ भी मिलनेवाला नहीं है। यत्न यही करना है कि अपना जीवन ज्यादा उलझनवाला न बने। मान इत्यादिके चक्करमें न पड़कर एवं राग-द्वेषके कारण ऐसा न कुछ कर बैठे, जो कि इस संसारमें ही बाँधनेवाला है। क्षमा इत्यादि थोड़ी रखे एवं मैत्री रखे अर्थात् दूसरोंके सुखमें थोड़ा सुखी होवे। दूसरोंके दुःखमें हमदर्दी (दयाभाव) रखे और अपना बर्ताव भी यदि सही रख लिया तो ज्यादा उलझन नहीं बढ़ेगी।

उन भगवद्गुणोंके साथ भगवद्भक्ति बढ़ानी है। भगवद्भक्ति यही है कि उस सबके अंदर बैठे हुए सर्वान्तर्यामी भगवान्‌की भक्ति करनी है और इसके लिये सब उलझनोंसे छुट्टी पानी पड़ेगी। इन उलझनोंसे छुट्टी पाना तभी सम्भव होगा, जब अंदरके सत्योंकी परख होगी। अंदरके सत्योंकी परख करनेके लिये थोड़ा एकान्तमें बैठकर अपनी आत्मामें ज्ञान जगाना पड़ेगा। इसके लिये आलस्य-सुस्तीको भी हटाये और नींदको भी थोड़ा जीतना पड़ेगा। जैसे कोई मनुष्य जप करता है और जपमें भगवान्‌का कोई नाम बोलता है। आप भी थोड़ी निद्राको जीतनेके लिये उसी जपकी तरह अपने अंदर विचारका शब्द जगा लो कि जैसे अपने-आपको देखते-देखते किसीसे बदला लेनेके लिये मन बाहर चला गया तो झटपट समझ करके कि मन बाहरके किसी मनुष्यसे बदला लेनेके बारेमें अपने अंदर आग जला रहा है तो आपने उस मनसे ही विचारका शब्द बोलना शुरू कर दिया कि 'देख मन! तू किधर बाहर जा रहा है, जहाँ बदला लेनेकी सोच रहा है, उसमें कुछ लाभ है या नहीं? यदि लाभ नहीं है तो अपना नुकसान ही उठायेगा एवं दूसरा मनुष्य तेरा दुश्मन ही बनेगा।' जैसे आप ये शब्द अपने मनसे बोले तो यह भी जप ही-जैसा है। पहले आपने कुछ शब्द बोले और कुछ उन शब्दोंके बारेमें समझे और कुछ विचार करने लग गये। जो कुछ शब्द बोलनेके बाद आप समझे तो यह एक प्रकारका चिन्तन हो गया। समझ करके कुछ सीखनेके लिये चल पड़े कि किस प्रकार मन अंदरसे आग लगाता है— 'देखो! उस मनने उस दूसरे मनुष्यकी थोड़ी याद करके कैसे आग अंदर जला दी' इस प्रकार मनकी अग्निमें जलना तो ठीक नहीं है, कारण कि मनकी आदत तो बाहर भटकना एवं दूसरोंका अच्छा-बुरा ही सोचना है। जितना-जितना शब्द बोल-बोलकर आप अपने मनको समझाते जाओगे तो यह विचारमय ध्यान हो गया। अब इस विचारमय ध्यानको इतना अपने अंदर उपजाना है कि मनुष्य कई घंटोंतक अपने-आपमें जागता रहे और बाहरी संसारके ध्यानोंको थोड़ा कम करके अपना उत्तम जीवन बनानेका ध्यान अर्थात् इसी प्रकारके आध्यात्मिक ध्यान करता रहे।

अपने अंदर ध्यान करे कि जिस संसारकी वस्तुके लिये सोचनेमें मन काफी समयसे बहता जा रहा है और मैं इसको मोड़ना भी चाहता हूँ, परंतु यह मन उधर ही बहता जा रहा है, जिसमें कुछ भी अपना हित (भला) होनेवाला नहीं है। इस प्रकार अंदर-ही-अंदर यह सब अपने विचारमें लाये और उस मनके प्रवाहको देखते-देखते यदि आप पाँच मिनटतक जागते रहे तो वह उत्तम ध्यान ही समझा जायगा। फिर आपके मनमें चेत (होश) आ गयी तो यही चेतन होना है। अब आपको पता लग गया कि 'देखो जी! पाँच मिनट हो गये, जिधर यह मन जा रहा था, उधर कोई मतलबकी वस्तु भी नहीं थी, परंतु आदतका बन्धन बड़ा विकट है', थोड़ा अनुभव किया। इस प्रकार अपने मनको पहचानते-पहचानते अपने अंदरकी आँख खोलते गये अर्थात् सही ज्ञान प्राप्त करते गये। ज्यों-ज्यों अंदरकी आँख खुलती जायगी अर्थात् अंदरके सत्योंकी समझ पड़ती जायगी त्यों-त्यों अविद्या समाप्त होती जायगी और विद्या प्रकट होती जायगी तथा उत्तम मार्गपर चलनेकी प्रेरणा भी बल पकड़ती जायगी। मन हलका होता जायगा, कारण कि बाहरकी उलझनोंसे अब वह छूट गया है। हलका-मन होनेपर आगे-आगे ज्ञान बढ़ता जायगा। अन्तमें मन सब अनर्थोंसे छुटकारा पाकर अपने-आपमें शान्त हो जायगा। अपने-आपमें शान्त होनेका यही तात्पर्य है कि जैसे सारे संसारको ठोकर मारकर मन नींदमें शान्त होता है और अंदरका सुख लेता है, इसी प्रकार मन जागते-जागते यदि शान्त हो गया तो आत्माका परम सुख पा जायगा। जब मन अंदर टिक गया अर्थात् अपने अंदर ही स्थिर हो गया तो

मनुष्य अनुभव करेगा कि 'देखो, कुछ जाननेकी इच्छा शेष (बाकी) नहीं रही और बड़ा आराममें हूँ।' जबतक अपने-आपका सही ज्ञान नहीं है, तभीतकका बन्धन है। जिस समय अपने अंदर ज्ञान हो गया तो समझो मनुष्यको अपने-आपमें टिकाव (ठहराव) या स्थान मिल गया।

अपने अंदरकी सारी विद्याएँ जाननेके लिये थोड़ा एकान्तमें बैठनेकी आदत डाले। अभी भले एकान्त आसनपर कुछ भी पता नहीं लगता अर्थात् चाहे ज्ञान अभी नहीं जागता तब भी धीरे-धीरे आसनपर बैठनेका समय बढ़ानेका अभ्यास करता जाय और अकेला बैठे। जब भी मन संसारमें जाय, उधरसे विचारके शब्द बोल-बोलकर लौटानेका यत्न करे। शब्द यही बोलने हैं कि 'क्या रखा है, जितना करना था, सो कर लिया, अब ज्यादा संसारमें क्या है।' यदि मन कहे 'नहीं जी! फिर भी सोचनेकी वस्तु या बात है, हमारा उसके साथमें मतलब है, वहाँ हमारा स्वार्थ है' तो ऐसी अवस्थामें मनसे कहना कि 'कोई बात नहीं, फिर सोच लेना।' ध्यानके समयमें अपने अंदरके बारेमें सोच करके उनको समझना शुरू करे। कुछ सुना हुआ होता है, कुछ शास्त्रोंमें पढ़ा हुआ होता है। उन शब्दोंका अपने मनमें विचार करके ध्यान करे। अपने मनमें विचार करते-करते यदि सही ज्ञान उपजता जाय तो यह अविद्या अन्तमें नष्ट हो जायगी। अविद्याको नष्ट करनेके लिये साधना होनी चाहिये। इस विद्यासे यदि अविद्या नष्ट होने लग गयी और फिर यदि उस बाहर संसारके संस्कार भी नहीं जागते हैं तो यह अपने-आपकी शान्त-अवस्था है। संसारके संस्कार मनके खाली होनेपर ही जागते हैं, क्योंकि पत्थर-जैसा कोई भी नहीं रहना चाहता है। सब जीव यही चाहते हैं कि अंदर कोई-न-कोई ज्ञान हर समय बना रहे।

जीवन ज्ञानमय है। मनुष्यका रूप ज्ञान है। कुछ ज्ञान उत्पन्न करनेके लिये और खाली नहीं रहनेके लिये मन तो पुरानी (बीती हुई) बातें और पुराने सुखोंके ही संस्कार जगायेगा। उसी बचपनकी लगन और रास्ते आदिकी याद दिलायेगा, उधर ही प्रेरणा करेगा और उधर ही ले जायगा। यदि अविद्या टल गयी और उस परमेश्वरका सीधा-सीधा ज्ञान हर समय जाग रहा है, तो ज्ञान तो है, पत्थर-जैसा तो नहीं है वह ज्ञान आनन्दमय भी है और दुःखरूप भी नहीं है। यदि ज्ञान दुःखरूप है और मन ऐसे ही खाली शून्यमें पड़ा है, तब तो संसारके संस्कार जागेंगे। यदि उस परमेश्वरका ज्ञान हो जाय और अपने अंदर आनन्दकी प्राप्ति हो जाय तो उस समय मन संसारके संस्कार नहीं जगा पायेगा। इसलिये संसारके संस्कार हटानेके लिये भगवान्की विद्या उत्पन्न करे।

इस भगवान्की विद्या पानेके लिये बन्धनोंसे छुटकारा पाये। बन्धनोंसे मुक्ति (छुटकारा) इसलिये नहीं मिलती है कि मनकी लगन बाहर संसारकी वस्तुओंकी है। इस बाहरकी लगन एवं तृष्णाको तोड़नेके लिये शब्द बोल-बोलकर थोड़ा अपने अंदर सत्यको जाननेके लिये ही विचार जगाये। विचार जगानेसे आपको सत्यका ज्ञान होगा। ज्ञान होनेसे अविद्या नष्ट हो जायगी। अविद्या (तृष्णाकी माता)-के समाप्त होनेपर ही परमेश्वरमें टिकाव (स्थान) मिलता है। यह सब आध्यात्मिक जीवनकी अन्तमें होनेवाली प्राप्ति है। इसके विपरीत भौतिक जीवनका फल है कि अन्तमें रोग, शोक आदि दुःखोंकी प्राप्ति अर्थात् भौतिक जीवन इसी अनर्थमें समाप्त होता है। आध्यात्मिक जीवनका फल यही है कि दुःखोंसे छुटकारा हो करके अपनी आत्मा और परमात्मामें स्थिति होना। वह स्थिति सदा शान्त, आनन्दमय या सुखरूप है। इसके लिये दो-तीन बातोंकी आवश्यकता है अर्थात् थोड़ा एकान्तमें बैठे, थोड़ा शब्दके सहारे (विचारके शब्द बोल-बोलकर) अपने मनको जगा ले ताकि वह बाहर संसारकी ओर न भागे और नींदमें भी न पड़े, मनके जगनेपर जो अंदरके सत्य हैं, उनको समझना। यही आध्यात्मिक विद्या है। अंदरके सत्यको समझते-समझते अपने मनको इतना प्रेरित करना कि वह बाहर संसारकी ओर जानेकी इच्छा भी न करे। अपने अंदरके ज्ञानसे देख ले कि संसारके अंदर तो रोग एवं व्याधियाँ ही हैं। परंतु अभी वे दिखलायी नहीं देतीं, कारण कि अविद्याका पर्दा छाया हुआ है। इसी अविद्याको तोड़नेके लिये ये सारे धर्म हैं। अविद्याके समाप्त होनेपर अंदर ज्ञानरूप चेतन भगवान् अपना आनन्द प्रकट करता है, जो कि परम धाम या परम पद है। यही सुख और शान्तिका पानेयोग्य स्थान है, बस यही सारेका निचोड़ है।

* * *

भगवान्की वस्तु भगवान्को सौंप दो

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

श्रीमद्भागवतमें नारदजीके वचन हैं कि 'जितनेसे अपना पेट भरे, उतनेहीपर मनुष्यका अधिकार है। जो इससे अधिकपर अपना अधिकार मानता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिये।'—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(श्रीमद्भा० ७।१४।८)

भगवान्ने स्वयं गीतामें कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(गीता ३।१३)

यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं (और) जो पापीलोग अपना शरीर पोषण करनेके लिये ही (अन्न) पकाते हैं, वे तो पापको (ही) खाते हैं।

इससे यह सिद्ध है और यही उचित भी है कि हमारे पास जो कुछ है या हम जो कुछ भी कमाते हैं, वह केवल हमारे अपने लिये ही नहीं है, सबके लिये है। उसमेंसे हमारा उतनेपर ही हक है, जितनेसे दूसरोंकी तरह ही हमारा जीवन-निर्वाह हो सके। हम स्वयं बहुत शान-शौकतसे रहें, बहुत कीमती कपड़े पहनें, विशाल तथा सुसज्जित महलोंमें रहें, बढ़िया-बढ़िया मखमली गद्दोंपर सोयें, तेल, साबुन, पाउडर, क्रीममें पैसे लगायें, विलासितामें भी प्रचुर धन व्यय करें, खाने-पीनेमें जीभके स्वादके लिये पचासों प्रकारके पदार्थोंमें धन व्यय करें, खेल-तमाशोंमें, आडम्बरमें एवं अपनी व्यर्थ तथा अनर्थमयी इच्छाओं—वासनाओं और आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये अनाप-शनाप पैसे खर्च करें और उधर हमारे ही-जैसे हाथ-पैर-मन-बुद्धिवाले नर-नारी पेटभर अन्नके बिना तड़पते रहें, लाज ढकने तथा सर्दी-गरमीसे बचनेके लिये कपड़ा न पायें, रहनेके लिये छायाका अभाव अनुभव करें, बिछाने-ओढ़नेके लिये टाट भी न प्राप्त कर सकें, रोगी बच्चोंतकके लिये दवा-पथ्यका प्रबन्ध न कर सकें और निरन्तर अभावकी आगमें जलते रहें। यह सर्वथा पाप है। दुःखियोंकी ओर ध्यान न देकर अपनी स्वार्थपरतामें लगे रहनेवाले ऐसे ही लोगोंको भागवतने 'चोर' और गीताने 'पाप खानेवाला' बताया है। वास्तवमें यह आसुरी-राक्षसी सम्पत्तिका एक जीता-जागता स्वरूप है।

अभी देशमें जगह-जगह बाढ़ आयी। लाखों घर बह गये। करोड़ोंकी खेती नष्ट हो गयी। हजारों जानें गयीं। असंख्य पशु-धनका विनाश हुआ। बाढ़-पीड़ित लाखों हमारे ही-जैसे मन-बुद्धि-शरीरवाले नर-नारियों, वृद्ध-बालकोंको दाने-दानेके लिये तरसना पड़ा! अवश्य ही सरकारने तथा उदार-दयालु सज्जनोंने, अनेक संस्थाओंने उनकी सहायताके लिये तन-मन-धनका सदुपयोग किया तथा कर रहे हैं। तथापि हमारे मनमें जितनी और जैसी समवेदना तथा पीड़ा होनी चाहिये, उतनी और वैसी नहीं हो पायी। हममेंसे कुछने उनपर दया की, दयालुताके अभिमानकी रक्षा और वृद्धि की। पर यह नहीं हुआ कि हमने अपनी विलासिताके व्ययको घटाकर बचाये हुए सब पैसोंको स्वाभाविक ही उनकी सेवामें लगा दिया हो।

मनुष्यका कर्तव्य तो यह है कि एक बाढ़के समय ही क्यों, सदा-सर्वदा ही वह अपने लिये कंजूस और दूसरोंके लिये उदार रहे। स्वयं खूब सादगीसे रहे—उसकी अपनी आवश्यकता कम-से-कम हो और दूसरोंकी आवश्यकताकी वह उदारतापूर्वक पूर्ति करता रहे। असल बात यह है कि हमारे पास जो कुछ भी धन, वैभव, पदार्थ, मन, बुद्धि तथा अन्यान्य साधन-सामग्री है—सब भगवान्की है, हम तो सेवकमात्र हैं। जब जहाँ जिस किसी वस्तुका अभाव होता है, तब वहाँ भगवान् ही हमसे, यदि वह वस्तु हमारे पास है तो अपनी उस वस्तुको अभावग्रस्तके रूपमें माँगते हैं। जहाँ अन्नका अभाव है, वहाँ वे अन्न माँगते हैं, जहाँ वस्त्रका अभाव है, वहाँ वस्त्र माँगते हैं। हमें उचित है कि ऐसे अवसरपर हम बिना किसी अभिमानके नम्रतापूर्वक भगवान्की वस्तु भगवान्की सेवामें ईमानदारीसे समर्पण करते रहें और इसमें अपना परम सौभाग्य समझें।

अपनी आवश्यकताको बहुत बढ़ाकर तथा झूठी शान दिखानेके लिये बहुत अधिक खर्च करनेवाले लोग यदि विचारपूर्वक अपनी आवश्यकता कम कर लें और सादगी अपना लें तो उस बची हुई रकमसे आसानीके साथ बहुत सेवा हो सकती है। जैसे एक धनी आदमी पाँच सौ रुपयेका कोट पहनता है, वह यदि बीस रुपयेका कोट पहनकर चार सौ अस्सी रुपये बचा ले और उनसे दस-दस रुपयेके अड़तालीस कोट अड़तालीस व्यक्तियोंको दे दे तो एकके बदले उनचासका तन ढक सकता है। इसी प्रकार पाँच सौ रुपयेकी साड़ी पहननेवाली अमीर बहिन स्वयं बीस रुपयेकी साड़ी पहन ले और शेष चार सौ अस्सी रुपयोंसे पाँच-पाँच रुपयेकी छियानबे साड़ी छियानबे गरीब बहिनोंको दे दे तो एकके बदले सत्तानबेको साड़ी मिल जाती है। इसी प्रकार अनावश्यक मिथ्या आवश्यकता और झूठी शानके बहुत-से खर्च घटाये जा सकते हैं और उन पैसोंसे दूसरोंकी आवश्यकता पूरी की जा सकती है। इससे अपनी विलासिताकी, फिजूलखर्चीकी तथा शानसे रहनेकी बुरी आदत छूटेगी, जीवन सुखी रहेगा और अनायास ही भगवान्‌की सेवा बनेगी। ऊँचा स्तर अधिक खर्च लगाकर शानसे रहनेमें नहीं है, ऊँचा स्तर है—हृदयकी विशालतामें। जो हृदय सबकी सेवाके लिये—सबके सुख-हितके लिये सदा ललचाता रहता है और अपना सब कुछ देकर प्रसन्नताका अनुभव करता है, वही हृदय विशाल है और यही जीवनका उच्च स्तर है।

याद रखना चाहिये—संसारके ये धनादि साधन रहेंगे नहीं, ये तो छूटेंगे ही। अतएव इनको अभावग्रस्त भाई-बहिनोंकी सेवाके द्वारा भगवान्‌की सेवामें लगाकर सार्थक कर लेना चाहिये।

ग्रहोंके प्रकोपसे बचनेका भी यह एक परम साधन है। यह नियम है कि थोड़ेसे बीजसे बहुत फल प्राप्त होनेके न्यायसे हम दूसरोंके लिये जो देंगे, वही हमें अनन्तगुना होकर वापस मिल जायगा। हम दूसरोंको विपत्तिसे बचायेंगे तो भगवान् हमें घोर विपत्तिसे बचायेंगे।

* * *

'तेरी याद प्रभो! प्रतिपल हो'

(स्वामी श्रीनर्मदानन्दजी सरस्वती 'हरिदास')

सुख सौरभ या दुख-दलदल हो।
तेरी याद प्रभो! प्रतिपल हो॥

सुख में तू न अलग हो जाये,
दुख में कहीं न तू छुप जाये।
हर स्थिति में तू छवि छाये,
ऐसा मेरा ध्यान अचल हो॥
तेरी याद प्रभो! प्रतिपल हो॥

आयें कितने भी संशय भय,
होवे जग जय या कि पराजय।
रहे वृत्ति फिर भी बस तुझमय,
तेरे चरणों का संबल हो॥
तेरी याद प्रभो! प्रतिपल हो॥

नित नव आशा और निराशा,
यह तो जीवन की परिभाषा।
बनी रहे दर्शन अभिलाषा,
मिलन हेतु नित मन व्याकुल हो॥
तेरी याद प्रभो! प्रतिपल हो॥

हे सच्चिदानन्द मम स्वामी,
दीनबन्धु प्रभु अन्तर्यामी।
स्वीकृत करो विनय अनुगामी,
भव सरवर 'हरिदास' कमल हो॥
तेरी याद प्रभो! प्रतिपल हो॥

* * *

प्राणनाथ रघुनाथ

(डॉ० श्रीसुरेशनन्दनप्रसादसिंहजी 'नीलकण्ठ')

प्राननाथ करुनायतन सुंदर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान॥

(रा०च०मा० २।६४)

जगज्जननी जानकीद्वारा 'प्राणनाथ' शब्दका सम्बोधन अनेक दिव्य अर्थोंका परिपोषक है। सनातन संस्कृतिसे संस्कारित नारियाँ निज पतिको प्राणनाथ, प्राणेश्वर, प्राणपति-जैसे शब्दोंसे सम्बोधित किया करती हैं। 'मनुस्मृति' में नारी-धर्म और पत्नी-धर्मको परिभाषित करते हुए कहा गया है कि पति ही परमेश्वररूप होता है—

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥

(मनुस्मृति ५।१५५)

दूसरा अर्थ है कि श्रीराम मात्र सीतापति ही नहीं हैं, अपितु वे तो परमब्रह्म हैं। करुणाके सागर हैं। सुन्दर हैं अर्थात् 'सुन्दरम्'के प्रतीक हैं। सुखद हैं अर्थात् 'शिवम्' के साक्षात् स्वरूप हैं। सुजान हैं अर्थात् परमज्ञानमय 'सत्यम्' के रूप हैं। 'सत्यम्'-'शिवम्' और 'सुन्दरम्' श्रीराम ही सत्-चित्-आनन्द हैं। जगज्जननी जानकी यह भी स्पष्ट कर देती हैं कि ब्रह्मरहित वैकुण्ठ भी नरकके समान होता है। अयोध्याको शास्त्रों तथा श्रीरामचरितमानसमें भी वैकुण्ठ कहा गया है। अयोध्यारूपी वैकुण्ठ श्रीरामके बिना नरकके समान है। श्रीराम ही अयोध्याके सूर्य हैं। सूर्यके बिना कमल और चन्द्रमा दोनों ही प्राणहीन हो जाते हैं अर्थात् श्रीराम ही उनके प्राणवायु हैं।

तीसरा अर्थ है 'प्राणवायु' का। प्राणवायु अर्थात् पञ्चतत्त्वमय भौतिक कायाको गतिशील एवं क्रियाशील रखनेवाला। वायुके निकलनेके बाद ही शरीरकी गति शून्य हो जाती है, उसकी क्रियाशीलता नष्ट हो जाती है। तब सामान्यजन कहते हैं 'प्राण-पखेरू उड़ गये'। 'प्राणवायु' प्रदाता ब्रह्म होते हैं। श्रीरामके अयोध्या त्यागनेके बाद वहाँके समस्त जीवोंके प्राणवायु निकल जायँगे और वे प्राणहीन हो जायँगे। फलतः श्रीराम ही एकमात्र सबके प्राणवायु हैं अर्थात् प्राणनाथ हैं।

श्रीरामचरितमानस भक्ति-महाकाव्य है। इस ग्रन्थमें वर्णित शब्द-शब्दमें भक्तिका पावन प्रसाद है। संत तुलसीने मानसमें प्राण, प्राण-प्राण, प्राणप्रिय, प्राणनाथ-जैसे शब्दोंका प्रयोग विभिन्न पात्रोंके माध्यमसे करवाया है और उन्हींके द्वारा प्राणनाथ रघुनाथके ब्रह्मस्वरूपको रूपाङ्कित किया गया है।

माता कौसल्याके 'प्राण'—माता कौसल्या भी श्रीरामको जन-जनके प्राण कहकर सम्बोधित करती हैं—

पूत परम प्रिय तुम्ह सबही के। प्रान प्रान के जीवन जी के॥

(रा०च०मा० २।५६।७)

वन जानेका प्रसंग है। श्रीराम अपनी माता कौसल्याको वन जानेकी सूचना देते हैं। चलनेके पूर्व माताका आशीर्वाद प्राप्त करना चाहते हैं। माता कौसल्याने बचपनमें ही श्रीरामके चतुर्भुज ब्रह्मस्वरूपके दर्शन कर लिये थे। अतः वे पूर्ण भक्तिके साथ कहती हैं—'हे प्राणोंके प्राण! तुम तो सब प्राणियोंके प्राण हो। प्राणपखेरू उड़ते ही जीव निष्क्रिय हो जाता है। मैं तो बस इतना ही कहूँगी—

तुम्ह करुनाकर धरम धुरीना॥
अस बिचारि सोइ करहु उपाई। सबहि जिअत जेहिं भेंटहु आई॥

पिता दशरथके 'प्राणप्रिय'—धनुष-यज्ञके बाद राजा जनकका दूत 'विवाह-पत्रिका' लेकर आता है। महाराज दशरथके मुखसे प्रथम वाक्य निकलता है—

कुसल प्रानप्रिय बंधु दोउ अहहिं कहहु केहिं देस।
सुनि सनेह साने बचन बाची बहुरि नरेस॥

(रा०च०मा० १।२९०)

गुरु वसिष्ठके 'प्राण-प्राण'—चित्रकूटमें श्रीराम अपने कुलगुरु वसिष्ठजीसे निवेदन करते हैं—'हे नाथ! अवधवासियों, माताओं, भरत-शत्रुघ्न, महाराज जनक और आप-सबको वनमें अपार कष्ट हो रहा है। आप जो उचित समझें, आदेश करें।'

इसपर गुरु वसिष्ठ भाव-विभोर होकर कह उठते हैं—

प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।
तुम्ह तजि तात सोहात गृह जिन्हहि तिन्हहि बिधि बाम॥

(रा०च०मा० २।२९०)

विमाता कैकेयीके 'प्राणप्रिय'—संत तुलसीने विमाता कैकेयीके द्वारा 'प्राणप्रिय' शब्दके दो पक्षोंको बड़ी कुशलतासे रूपाङ्कित किया है। पहला पक्ष है सत्का। सत्के द्वारा सर्वदा परमानन्द प्रतिभासित होता है। राम-राज्याभिषेकका समाचार सुनकर कैकेयी अत्यन्त प्रमुदित हो उठती है—

प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरें। तिन्ह कें तिलक छोभु कस तोरें॥
(रा०च०मा० २।१५।८)

वही कैकेयी कुमन्त्रणा प्राप्तकर स्वार्थान्ध हो जाती है। तब उसीके मुखसे उच्चरित 'प्रानप्रिय' शब्द असत्का बोध कराता है। जैसे चोरके लिये अँधेरी रात प्रिय हो जाती है, लोभीके लिये दाम प्रिय हो जाता है, वैसे ही कैकेयीके लिये कुमार्गदर्शी मन्थरा प्राणोंसे प्रिय लगने लगती है—

कुबरिहि रानि प्रानप्रिय जानी। बार बार बड़ि बुद्धि बखानी॥
(रा०च०मा० २।२३।१)

माता सुमित्राके ब्रह्मरूप 'प्राणप्रिय'—माता सुमित्राके श्रीराम ब्रह्मस्वरूप हैं। गुरु, माता, पिता, बन्धु और सबके सखास्वरूप हैं—

गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं॥
रामु प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के॥
(रा०च०मा० २।७४।५-६)

श्रीराम जो सबके प्राणोंके प्राण हैं, उनके वन जानेके बाद अवध तो प्राणहीन हो जायगा। ऐसा सोचकर सुमित्रा माता अपने प्राणप्रिय सर्वस्व पुत्र लक्ष्मणको आदेश देती हैं—'पुत्र! तुम्हारा अवधमें क्या काम?'

जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं राम के नातें॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू॥
(रा०च०मा० २।७४।४, ७-८)

प्रियतमाके 'प्राणनाथ'—माता, पिता, गुरु, विमाता, भ्राताका जो इतना प्राणप्रिय है, वह अपनी प्रियतमाका कितना प्रिय होगा, यह जगत्-जननी जानकीके वचनोंसे सहज ही प्रतिभासित हो जाता है—

प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जनिअहिं प्रान।
दीनबंधु सुंदर सुखद सील सनेह निधान॥
(रा०च०मा० २।६५।६, २।६६)

जगज्जननीने श्रीरामको प्राणनाथ ही नहीं कहा है, अपितु उन्हें दीनबन्धु कहकर भी सम्बोधित किया है। 'दीनबन्धु' का अर्थ होता है परमेश्वर। परमेश्वर समदर्शी होते हैं। जगज्जननी जानकीने उसी समदर्शीकी अभ्यर्थना की है।

स्पष्ट है कि मानसके 'प्राणनाथ रघुनाथ' माता-पिता, गुरु, भ्राता, प्रजा, सेवक, भक्त, चर-अचर सबके प्राणप्रिय हैं, प्राणोंके प्राण हैं। इस तथ्यको संत तुलसीदासने भक्तों तथा स्वयं श्रीरामके मुखसे भी अभिव्यञ्जित करवाया है।

भक्तोंके प्राणप्रिय और प्राणप्रिय भक्त—श्रीराम भक्तोंके प्राणप्रिय हैं और भक्त भी उन्हें प्राणप्रिय हैं। श्रीराम तो समदर्शी हैं और उनके लिये तो सभी जीव समानरूपसे प्राणप्रिय हैं। वे केवल भक्तोंके प्राणप्रिय कैसे हो सकते हैं और उनके प्राणप्रिय भक्तोंकी कोटि अलगसे कैसे हो सकती है। संत भक्त तुलसीदासने इस तथ्यको स्पष्ट करते हुए कहा है कि श्रद्धा, विश्वास, प्रेम और भक्तिसे जो प्राणी पूर्णरूपेण स्वयंको भगवान्के श्रीचरणोंमें समर्पित कर देता है, उसके लिये श्रीरामके वचन हैं—

भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

ऐसे प्राणियोंपर विशेष अनुग्रह करके भगवान् स्वयं साक्षात् दर्शन देकर भक्त और भगवान्के बीचकी दूरी मिटा देते हैं। तब भक्त भी भगवन्मय हो जाता है और भगवान् भक्तमय हो जाते हैं—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

ऐसे कृपापात्र भक्तोंमें परम भक्त भरत, रामदूत हनुमान् और सेवाधर्मी लक्ष्मण आते हैं। मानसमें इन तीनों भक्तोंके चरित्रके प्रतिपादनके द्वारा संत तुलसीने इस तथ्यको सुस्पष्ट कर दिया है। रामसेवक लक्ष्मण तो सर्वप्रिय हैं, किंतु सीतारामके 'प्रानपिआरे' हैं—

लालन जोगु लखन लघु लोने। भे न भाइ अस अहहिं न होने॥
पुरजन प्रिय पितु मातु दुलारे। सिय रघुबीरहि प्रानपिआरे॥
(रा०च०मा० २।२००।१-२)

क्योंकि—

प्राननाथु रघुनाथ गोसाईं। जो बड़ होत सो राम बड़ाईं॥

'जनम जनम रति राम पद' की भक्तिके लिये संकल्पित भक्त भरतकी भक्ति-महिमाका गान करते हुए *'राम काज करिबे को आतुर'* परम भक्त हनुमान् कहते हैं—

राम प्रान प्रिय नाथ तुम्ह सत्य बचन मम तात।
पुनि पुनि मिलत भरत सुनि हरष न हृदयँ समात॥
(रा०च०मा० ७।२ (क))

सम्पूर्ण श्रीरामचरितमानस 'प्राणनाथ रघुनाथ' की भक्ति-मण्डित गरिमा-महिमाकी गाथा है। इस पावन कथा-गङ्गामें स्नान करनेसे प्राणीके समस्त पाप-मल धुल जाते हैं और वह अपने 'प्राणनाथ रघुनाथ' का प्राणप्रिय हो जाता है—

निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥
(रा०च०मा० ७।३८)

* * *

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क पृ०-सं० १४० से आगे]

मैं साधक हूँ और मेरेको परमात्माकी तरफ चलना है—यह भाव साधकमें स्थायी होता है। साधन और असाधन, अच्छाई और बुराई तो सबमें रहती है, पर साधक वही होता है, जिसमें असाधन नहीं रहता। **जड़की तरफ जितना आकर्षण है, उतना ही असाधन है।** जितना असाधन है, उतनी ही साधनमें कमी है।

हमें योगी होना है, भोगी नहीं होना है। **जो भोग और आराममें लगे हैं, वे सत्संगी नहीं हैं।**

काम-क्रोधादि विकार पहलेकी अपेक्षा कम आयें, देरीसे आयें और थोड़ी देर ठहरें—यह अगर न हो तो समझो कि असली सत्संग नहीं मिला है।

कुसंगसे भीतरके दुर्भाव विकसित होते हैं और सत्संगसे भीतरके सद्भाव विकसित होते हैं।

× × ×

लोग कहते हैं कि चाहना मिटती नहीं, पर वास्तवमें चाहना टिकती ही नहीं। चाहनाकी पूर्ति चाहनाके अधीन (आश्रित) नहीं है। **कुछ भी इच्छा न करें तो निर्वाहका प्रबन्ध परमात्माकी तरफसे है।** चिता मुरदेको जलाती है, चिन्ता जीवितको जलाती है। सब दुःख इच्छाके कारण हैं। इच्छा निकाल दो तो दुःख मिट जायगा। जैसे, घड़ीकी इच्छा हुई। घड़ी मिल गयी तो सुख हुआ। यह सुख घड़ीके मिलनेका नहीं है, प्रत्युत भीतरसे घड़ीके निकलनेका है। इच्छापूर्ति होनेपर हम पुनः उसी अवस्थामें आ गये, जिसमें पहले (इच्छा उत्पन्न होनेसे पूर्व) थे। इच्छा करनेसे केवल आफत ही मिली, नया कुछ नहीं मिला।

बच्चा कोई चाहना नहीं करता तो उसके लिये माँ चाहना करती है। **ऐसे ही भक्त कोई चाहना नहीं करता तो उसके लिये भगवान् चाहना करते हैं—**

गिरह गाँठ नहिं बाँधते, जब देवे तब खाहिं।
गोबिन्द तिनके पाछे फिरें, मत भूखे रह जाहिं॥

हमारे लेनेकी इच्छासे उतना नहीं मिलेगा, जितना देनेवालेकी इच्छासे मिलेगा। देनेवालेकी इच्छा होती है न लेनेकी इच्छासे। पैसा रखनेसे निर्वाह नहीं होता। निर्वाह करनेकी शक्ति अलग है, उससे स्वतः निर्वाह होता है। **अपने-आप जो वस्तु प्राप्त होती है, वह विलक्षण तथा आवश्यक होती है। कुछ भी इच्छा न करें तो जीवन-निर्वाह बढ़िया होता है, जो मिलता है, पथ्य ही मिलता है, कुपथ्य मिलता ही नहीं।**

× × ×

संसारमें जो स्थायीपना दीखता है, वह परमात्माका है। जो प्रतिक्षण बदलता है, वह स्थायी कैसे हो सकता है? संसारमें परमात्माकी ही सत्ता, आभा झलकती है। जिसको परिवर्तनका ज्ञान है, उसमें परिवर्तन नहीं है। अपरिवर्तनशीलमें स्थिति होनेसे ही परिवर्तनका ज्ञान होता है। वास्तवमें आपकी स्थिति अपरिवर्तनशीलमें है।

काम-क्रोधादिका वेग आ जाय तो '**आगमापायिनोऽनित्याः**' (गीता २। १४)-का जप शुरू कर दो, वह वेग टिकेगा नहीं।

समझदार वही है, जो सच्ची बातको पहलेसे स्वीकार कर ले।

× × ×

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, तारे-नक्षत्र, वृक्ष, लता, जलचर, नभचर, थलचर, नदियाँ, समुद्र आदि सभी भगवान्‌के स्वरूप हैं। एक भगवान्‌के सिवाय कुछ है ही नहीं। सब विराट्‌रूप भगवान्‌के ही रूप हैं। जिधर दृष्टि पड़े, वहाँ भगवान्‌को देखो। यह बहुत बढ़िया साधन है।

× × ×

व्यवसायात्मिका बुद्धिकी बड़ी महिमा है। मनके लगनेसे भी श्रेष्ठ है बुद्धिका लगना। एक निश्चय करना ही बुद्धिका लगना है। पतिव्रताका मन नहीं लगता, प्रत्युत बुद्धि लगती है—'***सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।***' व्यवसायात्मिका बुद्धिमें बड़ी ताकत है। पतिव्रताके बलका सामना करनेकी

ताकत रावणमें भी नहीं थी।

सुदुराचारी मनुष्य अभी साधु बना नहीं है, पर भगवान्‌ने शाटीसूत्रन्यायसे उसे साधु माननेके लिये कह दिया; क्योंकि उसकी बुद्धि व्यवसायात्मिका हो गयी—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९।३०)

‘अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्य भक्त होकर मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है।’

जो साधन किया जाता है, उसका आदि-अन्त होता है। जो साधन होता है, उसका आदि-अन्त नहीं होता।

× × ×

सत्-चित्-आनन्दकी चाहना सबमें है। इसलिये सब चाहते हैं कि हम सदा रहें, कभी अनजान न रहें और सदा सुखी रहें। इससे सिद्ध होता है कि यह चाहना पूरी होनेवाली है, मिटनेवाली नहीं है। सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिसे पूर्णता नहीं होती। हमारेमें कमीका अनुभव होता है तो इससे सिद्ध होता है कि कोई पूर्ण चीज है। वह पूर्ण चीज परमात्मा है। उसको प्राप्त करनेपर कुछ करना, जानना तथा पाना बाकी नहीं रहता। हम भोग चाहते हैं तो उसकी जातिकी कोई चीज (जड़) हमारेमें है। हम मोक्ष चाहते हैं तो उसकी जातिकी कोई चीज (चेतन) हमारेमें है। हमारेमें दो चीजें हैं—जड़ और चेतन। इसको तादात्म्य अथवा चिज्जड़ग्रन्थि कहते हैं। अनित्यका आकर्षण ही नित्यकी प्राप्तिमें बाधक है।

× × ×

यदि आप वैराग्य चाहते हो तो वैराग्यवान्‌का संग करो। **जिस गुणको आप अपनेमें लाना चाहते हैं, उस गुणवालेका संग करो।** यह बहुत बढ़िया उपाय है।

एकदेशीयपना, मैंपना जितना दृढ़ होगा, उतना ही पतन होगा।

भगवान्‌की कृपाकी पहचान है सत्संग मिलना— *‘जब द्रवै दीनदयालु राघव, साधु-संगति पाइये’*। (विनय-पत्रिका १३६।१०)। सूर्य बाहरका अन्धकार दूर करता है, सत्संग भीतरका।

भक्तोंका अपराध करना ‘भागवत अपराध’ कहलाता है। **भागवत अपराध भगवान् भी क्षमा नहीं करते।** भक्तोंका अपराध करनेवालोंकी बड़ी दुर्दशा होती है।

× × ×

अभी भगवत्प्राप्तिका बड़ा सुन्दर, दुर्लभ मौका मिला हुआ है। केवल एक बात याद रखो कि जो सामने आये, उसमें भगवद्भाव करके उसे नमस्कार करो। उससे अच्छे-से-अच्छा बर्ताव करो। बाहरसे सबको दण्डवत् करनेमें शर्म लगती हो तो मन-ही-मन प्रणाम करो। भगवान् हृदयकी बात जानते हैं।

कपटसे बड़ी हानि होती है। कपट अधिक समयतक छिप नहीं सकता। सीधा-सरल स्वभाव रखो। छिपाव करनेसे फजीती होगी। कपट कृत्रिम है, सरलता स्वतःसिद्ध है। **छिपानेसे पाप और पुण्य दोनों अधिक फल देनेवाले हो जाते हैं।**

× × ×

सुषुप्तिमें अहम् अविद्यामें लीन हो जाता है, पर अपना होनापन रहता है—यह विशेष ध्यान देनेकी बात है। सुषुप्तिमें जैसा सुख होता है, वैसा सुख भोग और संग्रहसे नहीं होता। अतः भोग और संग्रहके बिना कैसे जीयेंगे—यह धारणा गलत है। सुषुप्तिमें आप हैं, पर पासमें कुछ नहीं है, फिर भी सुखपूर्वक हैं। अतः ममता-कामनाके बिना हम सुखसे रह सकते हैं। इस अनुभवका हम आदर करेंगे तो हम पराधीन नहीं रहेंगे, स्वाधीन हो जायँगे।

विचार करें, जिसमें हम ममता-कामना करते हैं, उसपर हमारा वश चलता है क्या? उसे सदा साथमें रख सकते हैं क्या? ममता-कामना रखनेवाला मनुष्य सुखपूर्वक नहीं रह सकता। परंतु ममता-कामनाके बिना हम सुखपूर्वक रह सकते हैं। **ममता-कामनारहित संत खुद भी सुखी रहते हैं और दूसरोंको भी सुखी करते हैं।**

मेरा कुछ नहीं है और मुझे कुछ नहीं चाहिये—यह हमारा (ममता-कामनारहित) स्वरूप है। सुषुप्तिका सुख तो

परतन्त्रतापूर्वक होता है, पर जाग्रत्‌में हम ममता-कामनाका त्याग कर दें तो हमें स्वतन्त्रतापूर्वक तथा निरन्तर रहनेवाला सुख मिल जायगा।

मैंपन, ममता और कामना—ये तीनों दुःखके कारण हैं। इनसे रहित हो जाना ‘ब्राह्मी स्थिति’ है—**‘एषा ब्राह्मी स्थितिः’** (गीता २। ७२)।

× × ×

धन, मान-बड़ाई, जमीन-मकान आदि हमारे क्या काम आयेंगे?

अरब खरब लौं द्रव्य है, उदय अस्त लौं राज।
तुलसी जो निज मरन है, तो आवहि किहि काज॥

अपनी चीज है, जिसपर अपना अधिकार चले। मिली हुई चीज भी अपनी नहीं है, फिर और मिलनेकी इच्छा क्यों करें? जो मिलेगी, वह अपने पास कैसे रह जायगी? संयोग अनित्य है, वियोग नित्य है। कम-से-कम अनित्यकी इच्छा छोड़ दें। **सच्ची बातको स्वीकार करना मनुष्यका धर्म है।**

× × ×

गीताने कामनाके त्यागपर विशेष जोर दिया है। ऐसा होना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये—यह कामना है। शान्ति स्वतःसिद्ध है। अशान्ति कामनासे ही होती है। संत-लोग कामना नहीं करते तो उनका निर्वाह दुनिया करती है। कामनाकी पूर्ति करना हाथकी बात नहीं है, पर कामनाका त्याग करना हाथकी बात है। कामनाके त्यागसे तत्काल शान्ति मिलती है—**‘त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्’** (गीता १२। १२)। करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहो।

× × ×

सब कुछ परमात्माका स्वरूप है। बीजसे सब पैदा होते हैं, पर कोई भी वैज्ञानिक बीजको नहीं बना सकता। जो बीज बोया जाता है, उसीसे वृक्ष होकर अनेक बीज पैदा होते हैं। परमात्मा संसारमात्रके अव्यय और सनातन बीज हैं। जैसे हवाई जहाज, ट्रेन आदि तो दीखते हैं, पर उनके भीतर बैठे हुए आदमी नहीं दीखते, ऐसे ही सबके भीतर परमात्मा हैं। ***‘प्रभुमय जग लखि नयन सफल कर’***! समझदार मनुष्य सबमें भगवान्‌को ही देखते हैं। आप सब रूपोंमें परमात्माको देखने लग जाओ तो फिर वैसा ही अनुभव होने लग जायगा। है जैसा दीखने लग जाय—इसका नाम है ‘ज्ञान’। परमात्मस्वरूप संसारकी सेवा करो, उससे सुख मत चाहो।

× × ×

मुक्तिके सब साधनोंमें भक्ति सर्वश्रेष्ठ है—**‘मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी’** (विवेक० ३२)। भक्ति, नाम भजनका है। भजन है—प्रेम। ***‘पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन। अस बिचारि मुनि पुनि पुनि करत राम गुन गान॥’*** (मानस, अरण्य १० में पाठभेद)। इसका तात्पर्य है कि भगवान्‌का गुणगान करनेसे प्रेम होता है।

नवधा भक्तिके तीन भाग हैं। श्रवण, कीर्तन और स्मरण—ये अपनेको भगवान्‌से दूर समझनेसे हैं। पादपूजन, अर्चन और वन्दन—ये भगवान्‌को नजदीक समझनेसे हैं। दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन—ये सबसे अधिक भगवान्‌के नजदीक हैं।

भगवान् भक्तोंकी कथामें भी खिंच जाते हैं और अपनी कथामें भी खिंच जाते हैं।

× × ×

जो हम मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसे जानते हैं, वह मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका विषय है। परमात्मा मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका विषय नहीं है। परमात्माको स्वयंसे ही जाना जा सकता है। कारण कि स्वयं परमात्माका अंश है। स्वयंसे जानना हो तो पहले स्वयंको जानो कि स्वयं क्या है? अपने होनेपनका अनुभव सबको है। जैसे अपना होनापन है, ऐसे ही परमात्माका होनापन है। परमात्माके होनेपनके अन्तर्गत यह सब संसार है। शरीर तथा संसार एक हैं। ‘हूँ’ तथा ‘है’ एक हैं। अपनी सत्तासे ही समष्टि सत्ताको जाना जा सकता है।

जैसे सज्जन पुरुष दुष्टोंके साथ भी सज्जनता करता है, ऐसे ही सत् असत्‌को भी सत्ता देता है—***‘जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥’*** (मानस, बाल० ११७। ८)। तात्पर्य है कि **सत् असत्‌का विरोधी नहीं है, प्रत्युत उसका प्रकाशक है। सत्‌की जिज्ञासा ही असत्‌की विरोधी है।** सत्‌की जिज्ञासा असत्‌को निवृत्त कर देती है।

× × ×

[क्रमशः]

शिक्षित ही नहीं, सुसंस्कृत भी हों

(श्रीकाशीगोपालजी श्रीवास्तव)

आजका युवावर्ग सुसंस्कारोंके अभावमें दिशाहीनताकी स्थितिमें है, इतना ही नहीं वह बाह्य चकाचौंधमें पड़कर अपने पथसे भटकता भी जा रहा है, तथापि विडम्बना यह है कि वह अपने निर्णयको सही मान रहा है—यह बड़े ही दुःख और चिन्ताकी बात है। इसके लिये कौन उत्तरदायी है ? और क्यों ऐसा हो रहा है—यह एक बड़ा ही विचारणीय विषय है। यद्यपि मुख्य रूपसे परिवार तथा विद्यालय इसके लिये जिम्मेदार कहे जाते हैं, किंतु न तो परिवार इस समस्याके लिये सजग और सक्रिय हैं और न ही विद्यालय। परिवारोंमें विशेषकर लड़कोंद्वारा माता-पिता और वृद्धोंके प्रति सम्मान, उनकी सेवा एवं आज्ञापालनमें तत्परताकी अपेक्षा उनकी उपेक्षा तथा उनसे अनुचित व्यवहार और विद्यालयोंमें शिक्षक एवं शिक्षिकाओंके प्रति श्रद्धाका अभाव, बढ़ती अनुशासनहीनता, उच्छृंखलता और हिंसात्मक प्रवृत्ति, पश्चिमी भोगवादी संस्कृतिके प्रति बढ़ता आकर्षण, मादक द्रव्योंका सेवन, अश्लील पत्र-पत्रिकाओंके पठन और अश्लील चलचित्रोंके देखनेमें दिलचस्पी आदि बातें संस्कारोंके अभाव और कुसंस्कारोंके प्रभावको दर्शाती हैं।

आज अधिकांश परिवारोंमें युवावर्ग अपने कर्तव्योंके निर्वाहसे दूर है और विद्यालयोंमें भी उसका कार्य-कलाप सराहनेयोग्य नहीं है। यही नहीं वे घर, विद्यालयके अलावा बाहर भी अपनी अच्छी छवि प्रस्तुत नहीं कर पा रहे हैं। यह आश्चर्य और दुःखकी बात है कि युवावर्गका अभद्र एवं अशिष्ट व्यवहार उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। आजकल तो चोरियों, हत्याओं, अपहरणों आदिकी घटनाओंमें भी शिक्षित युवकोंके सम्मिलित होनेके समाचार विशेषरूपसे पढ़नेमें आते हैं। किसी छोटी-सी बातपर आपसमें संघर्ष एवं छुरेबाजी आम बात हो गयी है।

आज कुछ छात्र-छात्राओं विशेषकर छात्रोंमें परिश्रमसे जी-चुरानेकी प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है और ऐसे छात्रोंकी संख्या भी बढ़ रही है, वे किसी प्रकारके श्रम, चाहे मानसिक हो या शारीरिक उसे अच्छा नहीं समझते और यथासम्भव उससे बचना तथा सहजमें सफलता प्राप्त करना चाहते हैं और इसके लिये किसी अनैतिक साधनका आश्रय लेनेमें भी वे हिचकते नहीं। इससे वास्तवमें सच्ची उन्नति मिलना बड़ा कठिन है। यह तो पतनका मार्ग है।

वर्तमानमें एक ओर परिवार और विद्यालय छात्र एवं छात्राओंमें अच्छे संस्कार डालनेकी दिशामें सक्रिय नहीं हैं तो दूसरी ओर हमारे राजनेता सत्ताके प्रति प्रबल आकर्षण और अपनी स्वार्थपूर्ण राजनीतिके कारण नैतिकताविहीन राजनीतिमें छात्रोंको लाकर उन्हें और दिशाहीन कर रहे हैं।

भूले-भटके छात्र-छात्राओंको सही दिशा प्रदान करना सुसंस्कारोंद्वारा ही सम्भव है। यह गुरुतर कार्य परिवार और विद्यालय—दोनोंको पूरे दायित्वके साथ निभाना होगा। संतानमें सुसंस्कार डालनेका कार्य सर्वप्रथम परिवारका है। लेकिन इस कार्यमें सफलताके लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक परिवारमें बड़े सदस्य विशेषकर माँ-बाप पहले स्वयं अपने दैनिक आचरण, व्यवहारमें श्रेष्ठता लायें। यही नहीं, प्रत्येक परिवारमें माँ-बाप अपनी संतानके दादा एवं दादीके प्रति विनम्रता और उनकी सेवामें तत्परता दिखायें। उनकी किसी भी प्रकार उपेक्षा न करें और अपनी संतानको अपने दादा-दादीके प्रति सम्मान और उनकी सेवा करनेकी बराबर सीख देते रहें। हमें बच्चोंको सुधारनेके लिये स्वयंको सुधारना होगा और अपने आचरण-व्यवहारद्वारा उनके सामने नैतिक आदर्श प्रस्तुत करना होगा।

यह भी एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जहाँ परिवारोंमें माँ-बाप अपनी संतानको पर्याप्त समय नहीं देते हैं या नहीं दे पाते हैं, वहाँ वे संतानसे अपनी दूरी बढ़ाते हैं। यह उचित नहीं है। प्रत्येक परिवारमें माँ-बापको अपनी संतानको न केवल पर्याप्त समय देना चाहिये, वरन् उनके कार्योंमें दिलचस्पी लेनी चाहिये। यही नहीं, उनके हर अच्छे कार्यकी प्रशंसा करनी चाहिये और उनके द्वारा अनुचित कार्य किये जानेपर अपनी अप्रसन्नता व्यक्त कर आगे ऐसा न करनेकी सीख देनी चाहिये।

आजकल लड़के और लड़कियोंकी अश्लील और हिंसाप्रधान फिल्में देखने और अश्लील पत्र-पत्रिकाओंको पढ़नेमें दिलचस्पी बढ़ रही है। अतः उन्हें ऐसा न करनेके

लिये माँ-बापद्वारा अच्छी तरह समझाया जाना चाहिये। यह प्रवृत्ति कहाँसे और कैसे उपजी, इसके कारणोंका पता लगाना चाहिये तथा इसके औचित्य-अनौचित्यपर भी विचार करना चाहिये। यही नहीं माता-पिता अपनी संतानको शास्त्रीय-संगीत, चित्रकारी, लेखन, खेल-व्यायाम आदिमें अभिरुचि उत्पन्न कर और इसमें दक्षता प्राप्त करनेके लिये प्रेरित कर उनके भावनात्मक प्रवाहको रोक सकते हैं।

धार्मिक शिक्षा अच्छे संस्कार डालनेके लिये अत्यावश्यक है। यह शिक्षा परिवारों, घरोंमें बेहतर तरीकेसे दी जा सकती है। धार्मिक शिक्षाके लिये परिवारों, घरोंमें प्रतिदिन अपने इष्टदेवकी पूजा, प्रार्थना और रामायण-गीता आदि धार्मिक ग्रन्थोंका पठन आवश्यक है। बच्चोंमें 'हनुमानचालीसा' के पाठकी प्रवृत्ति डालनी चाहिये तथा अपने ऋषि-मुनियोंके चरित्रोंसे अवगत कराना चाहिये। अपने गौरवमय इतिहासकी झाँकीसे उन्हें प्रेरित करना चाहिये। बदलते परिवेशमें कोमल मनवाले बच्चोंपर आजकी तथाकथित संस्कृतिका बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ रहा है, इसे रोकना होगा।

बहुत-से परिवारोंमें माता-पिता और दूसरे बड़े लोग प्रातः और संध्या समय अपने इष्टदेवकी मूर्ति या प्रतिमाके सामने अगरबत्ती, दीपक जलाकर और हाथ जोड़कर प्रार्थना, जप-ध्यान किया करते हैं। इस कार्यमें बड़े लोगोंको अपने लड़के और लड़कियोंको भी सम्मिलित करना चाहिये। यह कार्य भी उनके मन-मस्तिष्कपर धार्मिक प्रभाव डालनेमें सहायक होगा। जिन परिवारों, घरोंमें ऐसा नहीं होता है, वहाँ यह प्रारम्भ किया जाना चाहिये।

परिवारों, घरोंमें लड़के एवं लड़कियोंमें सुसंस्कार डालनेकी प्रक्रिया सतत जारी रखना आवश्यक है। लेकिन जब परिवार, घरसे किसी लड़के या लड़कीका प्रवेश विद्याध्ययन-हेतु विद्यालयमें होता है तो उसमें सुसंस्कार डालनेके कार्यमें सहयोग देनेका दायित्व विद्यालयपर भी आ जाता है और इस दायित्वकी सफलताके लिये पहला कार्य यह होता है कि शिक्षक, शिक्षिकाएँ श्रेष्ठ आचरण प्रस्तुत करें। वे कोई ऐसा कार्य न करें जो छात्र-छात्राओंमें सुसंस्कार डालनेके उनके प्रयासोंमें अवरोधक हो।

विद्यालयोंमें छात्र-छात्राओंको सुसंस्कृत करनेके लिये अनुशासन, श्रम, स्वावलम्बन, शालीनता, सहिष्णुता, साहस, सादगी, सेवा, समयकी पाबन्दी, दृढ़ इच्छाशक्ति, नैतिक मूल्यों आदिकी महत्ता बताकर इन सद्गुणोंको अपनेमें लानेके लिये प्रेरित करना चाहिये।

परिवार और विद्यालय यदि छात्र-छात्राओंके बौद्धिक विकासके साथ-साथ उनको सुन्दर संस्कार देने, उनके चरित्र-निर्माणमें सफल होते हैं तो वे अच्छे परिवार बनानेके साथ छात्र-छात्राओंका ऐसा समुदाय तैयार कर सकेंगे जो न केवल समता, पारस्परिक सद्भाव, सहिष्णुता, स्नेह, अहिंसक और नैतिक विचारोंसे युक्त तथा सदाचरणसम्पन्न होगा, अपितु वह विश्वबन्धुत्वकी भावनाको आत्मसात् कर न केवल अपना ही अभ्युदय कर सकेगा, बल्कि उसका चरित्र दूसरोंके लिये भी आदर्श बन जायगा और उसकी शिक्षा सार्थक हो जायगी। बिना सुसंस्कृत हुए शिक्षित होनेका कोई अर्थ नहीं है।

* * *

सबसे छोटा

अवन्तिकाकी विशाल जनसभा समाप्त हो गयी थी, थोड़ेसे बौद्धभिक्षु और श्रेष्ठ सामन्तजन शेष रह गये थे। यह विचारवान् वर्ग था। सब अपनी-अपनी शङ्काओंका समाधान तथागतसे करा रहे थे। एक बालक जो अति जिज्ञासु दिखायी देता था, वहीं समीप ही खड़ा था। अवसर मिलते ही उसने पूछा—'भगवन्! संसारमें सबसे छोटा कौन है?' बालककी प्रतिभा देखकर भगवान् बुद्ध कुछ गम्भीर हुए और बोले—'जो केवल अपनी बात सोचता है, अपने स्वार्थको सर्वोपरि मानता है।' इन शब्दोंमें भिक्षुराजने व्यावहारिक अध्यात्मकी रूपरेखा थोड़े और सरल शब्दोंमें समझा दी।

आत्मनिर्माणका उद्देश्य यह है कि मनुष्यकी इच्छाएँ, लालसाएँ और मनोवृत्तियाँ उनके निजी सुख और उपभोगतक ही सीमित न रहें, वरन् उनका विस्तार हो। जबतक केवल पानेकी अभिलाषा रहती है, तबतक मनुष्य बिलकुल छोटा, दीन, असहाय, अकाम और बेकार-सा लगता है, किंतु जैसे ही उसके शरीर, मन, बुद्धि और सम्पूर्ण साधनोंकी दिशा चतुर्मुखी होने लगती है, चारों ओर फैलने लगती है, वैसे ही उसकी महानता भी बिखरने लगती है और वह अपने जीवनलक्ष्यकी ओर अग्रसर होने लगता है।

—श्रीसुरेन्द्रकुमारजी तरुण

* * *

साधक-प्राण-संजीवनी

[दीवानोंका यह अगम पंथ संसारी समझ नहीं पाते]

साधुमें साधुता—

(गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज)

[गताङ्क पृ०-सं० ९४९ से आगे]

यदि नावमें पानी भरिगयौ तौ वो तौ डूबैगी ही। ऐसे ही यदि मनमें संसार भरिगयौ तौ वह तौ डूबैगौ ही।

जितने संत भये हैं, उन सबने विकारन कूँ कुचल्यौ है, तब ही संत बनि पाये। विकारन कौ दास कबहूँ संत नहीं बनि सकै है। जबतक मनमें विकार हैं, तबतक फूटे घड़ाके समान ही है।

या शरीर कूँ पापकी कमाई सौं पालौगे तौ याही कूँ तौ भोगनौं परैगौ।

जहाँ कामना-वासनारूपी लाश (शव) सड़ैं हैं, वहाँ राग-द्वेषरूपी चील, कौआ अवश्य मड़रावैं हैं।

जब काहूके कोटिन-जन्मनके पाप उदय हौयँ हैं, तब अहंकार उपजै है। ऐसैं ही जब कोटिन-जन्मनके सुकृत उदय हौयँ हैं, तब दीनता, विनम्रता, सरलता, सहनशीलता, निरहंकारिताकी उपज होय है।

जाने कछु कियौ है, वाहीने कछु पायौ है। यदि प्रियतमकौ प्रेम पानौं है तौ सब कछु करनौं परैगौ। यदि लालसा है तौ सब कछु कराय लेगी। कमी है लक्ष्य की। लक्ष्य यदि दृढ़ है तौ न प्रमाद होयगौ, न उपेक्षा। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि—इन सबकूँ श्रीभगवान्‌में लगानौं है। ये अशुद्ध है गये हैं, संसारकौ चिन्तन करते-करते। अब प्रभुकी सेवा, चिन्तन सौं इनकूँ पवित्र बनानौं है। जैसैं द्विज ही मन्दिरमें सेवा करि सकै है, शूद्र नहीं, वैसैं ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि पवित्र बनैंगे, तब ही श्रीभगवत्प्रेम तथा सेवाके अधिकारी बनिंगे।

गृहस्थ-शरीरकी पवित्रता माता-पिता आदिक गुरुजननकी सेवा सौं होय है और विरक्तकी—संतसेवा तथा श्रीभगवद्भजन सौं। साधनके योग्य बनायवेके ताँईं याकौ पालन-पोषण करै। सबसौं मुख्य बात है कि शरीर सौं पाप न बनन पावै। काहू कूँ कष्ट न होय। हृदय कूँ श्रीभगवद्-स्मरण सौं पवित्र करै। एकान्तमें बैठिकैं इनकूँ याद करै तथा इनकी कृपाकौ चिन्तन करैं। यह हृदय कूँ पिघलायवे कौ उपाय है। जैसैं बनै हृदय पिघलायवे कौ ही चिन्तन करै। जब-जब संकल्प करै, तब-तब जान बूझिकैं संसारमें फँसिवे कौ संकल्प न करै। मान-प्रतिष्ठा आदिके संकल्प न करैं। यह है जाय, वह है जाय, ऐसे संकल्प न करै। संकल्प करै केवल इनके ताँईं। मनीराम कूँ समझाय दे कि तुम्हारे ताँईं अबतक बहुत भटकि लिये, अब बस करौ। जैसैं बालक कूँ समझावै, वैसैं ही मन कूँ समझावै। ऐसौ अभ्यास करिवे सौं मनकी चञ्चलता रुकि जावैगी। सावधान! अपनी ओर सौं कोई संसारी संकल्प न बनन पावै। श्रीसद्गुरुभगवान्‌ने हमें कृपा करिकैं सब विधि अपनाय लियौ है तौ हम हूँ पूर्णरूप सौं इनके निकट पहुँचिवेकी पूरी तैयारी करैं।

कल्पना करै कि मैं इनके पास पहुँचुंगौ, श्रीचरणनमें साष्टाङ्ग गिरि परूँगौ, ये मोकूँ उठाय लिंगे, छाती सौं लगाय लिंगे, पूरी तैयारी इनके पास पहुँचिवे की। चिन्तन केवल इनकौ ही, व्यर्थ-चिन्तन न बनै।

कामना, लालसा।

वासना केवल श्रीभगवत्प्रेमकी तथा वैसौ ही जीवन बनै। दृढ़-वासना बनै केवल इनके ताँईं ही और कोई नहीं बस, यही है तैयारी। काहू काममें अधूरौपन न रहै। जो करै वह पूरौ-पूरौ करै। पूरे मन सौं, पूरी सत्यता सौं तथा पूरी लगन सौं करै। छल, कपट, दम्भ, दिखाऊपन छू न जाय। वास्तवमें अपरस तौ यह है कि जब हम इनकी सेवाके ताँईं हैं तौ अन्तःकरण कूँ कोई विकार छू न जाय। जैसैं शरीरके काममें कोई उपेक्षा-प्रमाद नहीं होय है, वैसैं ही इनके काममें उपेक्षा-प्रमाद छू न जाय।

ईश्वर ऊपरी बात नहीं देखै है, देखै यह है कि ये जीव मेरे ताँईं कितनौं प्रयत्नशील है। याके हृदयमें हम सौं मिलिवेकी कितनी आग है? कितनी चटपटी है? कितनी लालसा है? कितनी बिकलता है?

या पथमें आमूल परिवर्तन है। कन्या सौं बहू बननौं है। यह प्रतिज्ञा करिले कि मेरै समस्त शरीर, हृदय, मन, बुद्धि, वाणी, विचार केवल इनके ताँईं है। सबन कूँ समेटि

कैं इनमें लगाय दे और कहूँ न लगन पावैं। ये अपवित्र न बनन पावैं। जैसैं पतिव्रता सती कौ हाथ नहीं जर्‌यौ। ऐसैं ही कोई वस्तु ऐसी न बन जाय जो इनके काम न आय सकै। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अन्तःकरण, समय, विद्या, चतुरता जो कछु अपने पास है, सब-के-सब पूरे-पूरे इनमें लगाय दे। नैंकहूँ न बचाय राखै। प्रमाद, उपेक्षा, आलस्य छू न जाय। आज शरीर ठीक है, कल न जानें का होय। यासौं सब काम आज ही पूरे। पूरी तैयारी मरिवे की। कल हमें मरनौं है, ऐसौ दृढ़भाव बनै तौ संसार सौं उपरति होयगी। न प्रमाद होयगौ, न उपेक्षा ही। अभिप्राय यह है कि जो कछु हो इनके ताँईं हो। पूरी सत्यताके साथ हो, दम्भ न होय तौ याही जन्ममें जीते जी जीवन-मुक्त। संसारी लोग अपने ताँईं संतोष नहीं करैं हैं, और, और, और। ऐसैं ही हम इन सौं शिक्षा लैलैं कि हमहूँ सदैव प्यासे रहैं श्रीभगवत्प्रेमके ताँईं। संतोष रहैं संसारी कामनमें। यह है गयौ तौ का? न भयौ तौ का?

वास्तवमें दोष-दुर्गुण कौ पूरा नाश तौ तब ही होय है। जब प्रेममें डूवि जाय। उपाय यही है कि सतत याही प्रयत्नमें जुटे रहैं। प्रेम-देव पधारें तब सब काम बनि जाय। बार-बार जितने संकल्प उठैं, तब-तब केवल इनके ताँईं ही। बार-बार संसारी वस्तुन कौ संकल्प बनतौ रह्यौ और वह मिलती रहीं। **अब उलटे चलैं—**

बन्धन कौ संकल्प एक हू न उठन पावै। देहाध्यास विकार तबतक ही है, जबतक प्रेम नहीं। तीन बातें हैं देहाध्यास मिटायवेकी—

१-आत्मज्ञान हो, २-ब्रह्मज्ञान हो, और ३-प्रेम हो।

यह सब करे नहीं जायँ हैं, हौयँ हैं। बार-बार यह भाव उठै कि मैं केवल इनकौ हूँ। विकार मिटानौं, संसार कूँ भुलानौं। बस इनमें लगि जाऔ।

प्रेम-देवके बुलायवेके उपाय ये हैं—

१-प्रेमीकी चर्चा, २-बार-बार इनकौ ही चिन्तन।

बस हृदय सौं एक ही पुकार उठै कि मैं हूँ कबहूँ ऐसौं बनूँगौ। याहूँ सौं बढ़िकैं है प्रेमी कौ संग। जितने उपाय बनैं, केवल इनके ताँईं।

प्रीतिर्न यावन् मयि वासुदेवे न मुच्यते देह योगेन तावत्।

जबतक श्रीभगवान् सौं प्रेम न होयगौ, तबतक शरीरके बन्धन ही बढ़िगें। लौकिक, पारलौकिक, सुख, सुविधा, आराम झौंकि दे सब आगमें। कोई इच्छा, लालसा, कामना, बासना न रहै। बासना रहै केवल एक प्रेम की। अभ्यास वैराग्य दीर्घकालतक चलै। प्रेमीमें श्रद्धा, वाही सौं प्रार्थना सतत, यह है गयौ अभ्यास। मनमें और कछु न आमन पावै यह है वैराग्य। कसनौं चहिये मन कूँ (शरीर कूँ नहीं)। शरीर कसिवे सौं बुढ़ापेमें सेवा छूट जायगी। प्रत्येक इन्द्रियकी वहाँके ताँईं तैयारी करनी परैगी। काम क्रमशः होय है। शरीर, इन्द्रिय, समय, द्रव्य आदि सब लगाते जायँ। शंका-संदेह न रहन पावै। न हौनौं हौंतौ तौ ये बानिक ही नहीं बनतौ।

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥

(मनुस्मृति ४।१५८)

बेष बिसद बोलनि मधुर मन कटु करम मलीन।
तुलसी राम न पाइऐ, भएँ बिषय जल मीन॥

श्रीगोस्वामीजी कह रहे हैं कि जबतक तेरे मन मैं कटुता है और तेरे कर्म खोटे हैं (मलिन हैं) तथा जबतक तू भले ही खूब सुन्दर वेष बनाय लै, चाहैं खूब मीठी वाणी बोललै, तोकूँ जीवनधन प्रभु श्रीराम नहीं मिलि सकैं है।

तीन गाँठ कोपीन में, भाजी हू बिन नौन।
तुलसी मन सन्तोष जो, इन्द्र बापुरौ कौन॥

को जिय कै रघुबर बिनु बूझा॥
कहहु कवनि सिधि लोक रिझाएँ॥
सोचनीय सबहीं बिधि सोई।
जो न छाड़ि छलु हरि जन होई॥

श्रीप्राणनाथने तुम्हैं सुखकौ अबसर दियौ है तौ सबकूँ बाँटते रहौ। अपने काममें कमलेउ।

साधू ऐसा चाहिए, जो दुखै दुखावै नाँहिं।
फूलपात तौरै नहीं, रहै बगीचा माँहि॥

जो तुम तौरौ मैं नहीं तोरौं।
तुमसौं तोरि कवन सन जोरौं।
समुझहु छाँड़ि प्रकृति अभिमानी॥

ऊँची समझ तब ही आवै है, जब *'छाँड़ि प्रकृति अभिमानी।'* अर्थात् अभिमानी प्रकृति कूँ छोड़ै तब।

ब्रह्मके निकट हौनौं ही उपनिषद् है।

सोभा सिंधु न अंत रही री।
नंद-भवन भरि पूरि उमँगि चलि, ब्रजकी बीथिनि फिरति वही री॥

काहू बातकूँ दृढ़ करिवेके ताईं बार-बार दुहरावै तौ वाही कूँ अभ्यास कहैं हैं।

घातक वार—

मेष राशि वारेके ताँईं रविवार घातक है।
वृष राशि वारेके ताईं शनिवार घातक है।
मिथुन राशि वारेके ताँईं सोमवार घातक है।
कर्क राशि वारेके ताँईं शुक्रवार घातक है।
सिंह राशि वारेके ताँईं शनिवार घातक है।
कन्या राशि वारेके ताँईं शनिवार घातक है।
तुला राशि वारेके ताँईं बृहस्पतिवार घातक है।
वृश्चिक राशि वारेके ताँईं शुक्रवार घातक है।
धनु राशि वारेके ताँईं शुक्रवार घातक है।
मकर राशि वारेके ताँईं मंगलवार घातक है।
कुम्भ राशि वारेके ताँईं बृहस्पतिवार घातक है।
मीन राशि वारेके ताँईं शुक्रवार घातक है।

अब मैं कासौं वैर करूँ ?

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥ (नारदभक्तिसूत्र ५१)

गुणरहितं कामनावर्जितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥ (ना०भ०सू० ५४)

उतते कोई न आवई, जासूँ पूछूँ धाय।
इतते सब ही जात हैं, भार लदाय॥

पावक परत निसिद्ध लाकरी होत अनल सम जानौं।

बाँधै लोटा डोरि तू, जब चालै द्वै कोश।
जा पथ सौं नहीं लौटनौं, तासौं क्यौं वेहोश॥

जीव दया, हरिनाम रुचि, सेवन सन्त सुजान।

केवल एक के ही बनौ, अवश्य होयगौ प्रेम।

अच्छौ है वह, जानैं अपनौं सब कछु श्रीभगवान् कूँ सौंपि दियौ है।

बुरौ है वह, जानैं अपनौं सब कछु माया कूँ सौंपि दियौ है।

नाटक ठीक खेलौ, व्यवहार ठीक बरतौ, परंतु रहौ सावधान! मन कहूँ संसारमें चिपकन न पावै।

सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। माया कृत परमारथ नाहीं॥
सँभर सँभर कर चलना है रे। **गिरि गिरि कैं फिर उठना है रे॥**

सुधारनी है अपनी भूल।

अपनेमें दुर्गुण बढ़ानौ, पशुता लानौं है। एवमेव अपनेमें श्रीसद्गुण भरनौं, दिव्यता लानौं है। अपनौं उत्थान करनौं है।

अँसुअन कूँ अपने अँचरान सौं लालन पौंछि करैं बड़भागी।

श्रीकृष्णकी········कौ नाम है मण्डाना।

श्रीकृष्णकी दोहनी कौ नाम है—अमृत दोहनी।

यह काम हम करैंगे तौ हमें पुण्य मिलैगौ अथवा ख्याति। यह विचार लैकैं कोई काम न करै। प्रीति और ज्ञान मिलकैं भक्ति बनैं है।

श्रीकृष्ण मेरे हैं, यह है प्रीति। श्रीकृष्ण ब्रह्म हैं, ईश्वर हैं, यह है ज्ञान॥

मानवकी मानवताके अन्तर्गत जो पशुता घुसि गयी है, वह साधक कूँ उठन नहीं देय है। उलटे भौग-वासनाकी ओर ही घसीटै है।

इष्टके ताँईं याही पशु कौ बलिदान कर दैनौं है।

प्रीतिराम सौं नीति पथ, चलिय राग रस जीति।
तुलसी संतन के मते, यही भगति की रीति॥

सबरी सफलता कौ मूल मन्त्र है—प्रबल इच्छा-शक्ति।

अपने सौं यह प्रश्न है—

श्रीजीवन धनमें आत्मीयताकी पराकाष्ठा करिदेय।

तुमने या सुअवसर कूँ शरीरके लालन-पालनमें लगायौ है अथवा श्रीप्रियतमकी प्राप्तिमें।

अहम् तथा मम कौ परिवर्तन करिदेउ—मैं केवल इनकौ हूँ, यह अहम् कौ परिवर्तन बन्यौ। मेरे जीवन-सर्वस्व केवल एक ये ही हैं, यह मम कौ परिवर्तन भयौ।

जानैं वासनान कूँ पद दलित करि दियौ है। वास्तवमें वही मुक्त है।

अपने कूँ बार-बार देखते रहनौं—हम उठि रहे हैं, या मायाके फन्दामें फँसि रहे हैं।

सत्य प्रिय-भाषण, ब्रह्मचर्य, मौन तथा रस-त्याग—ये उत्थानमें परम सहायक हैं।

यह सत् है—यह असत् है—यह ठीक-ठीक समझि लैनौं (**यह भयौ ज्ञान**)।

ज्ञान भयौ तब समझौ, जब असत् सौं सर्वथा चित्त हटि जाय (**यह भयौ वैराग्य**)।

अब बच्यौ सत् (**श्रीभगवान्**), इनकूँ दृढ़ता सौं पकरि लैनौं (**यह बनी भक्ति**)।

मानवताका रूप एक ही—ईश समर्पित हो जीवन।

घट-घट माहीं साँई रमता कटुक बचन मत बोल रे।

बुद्धि विशुद्ध, तपोमय जीवन।

नारायण जब अन्त में, यम पकरैंगे बाँहि।
उनसौं हू कहि दीजियौ, हमें सोपतौं नाँहि॥

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते॥ (ब्र० सू० ४।१।१९)

इतरे=संचित और क्रियमाणके अतिरिक्त दूसरे प्रारब्धरूप शुभाशुभ कर्मनकौ,

तु=तौ,

भोगेन=उपभोगके द्वारा,

क्षपयित्वा=क्षीण करिकैं,

सम्पद्यते=परमपद कूँ प्राप्त है जाय है।

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः॥
(श्रीमद्भा० ११। १७। १६)

प्रेमपथकी कुञ्जी—हमारौ वही है, जो हमारौ चिन्तन करै और हम सौ बनैं।

यह शरीर जब श्रीभगवान्की वस्तु है?

तौ—यह पाप नहिं करि सकै। काहूकौ अहित नहीं करि सकै। नेत्र संसार कूँ नहीं देखि सकैं। वाणी कटु, असत्य और व्यर्थ नहीं बोलि सकै। कान श्रीभगवद् गुणानुवाद ही सुनैं, संसारकी कैसी हूँ चर्चा नहीं सुन सकैं अर्थात् समस्त इन्द्रिय, हाथ, पैर, मन, बुद्धि, अन्तःकरण केवल श्रीभगवान्के ही काम आवैं। ये ही है जीवन केवल इनके ताँईं। वास्तवमें ये ही है हमारी ईमानदारी।

एक बात सदैव ख्याल रहै—हम साधु भये हैं, केवल साधनके ताईं, प्रपञ्चके ताँईं नहीं।

कहूँ आसक्ति न हौन पावै **(जड भरतकी भाँति सावधान)**

कामिनी, काञ्चन दोउनके चक्कर सौं सावधान। नहीं तौ याद राखौ! लोक-परलोक दोऊ स्वाहा है जायँगे। इनसौं कैसैं हूँ सम्पर्क न हौन पावै।

सनमुख स्वामि। तौ विमुख दुख दोषू।

कुबिचारी रिपु पर जय पाता संयम का सेनानी।

निरन्तर अपनौं ही लौकिक स्वार्थ सोचते रहनौं, मायाकौ बन्धन दृढ़ बनानौं है।

कर्मकी सफलता तीन बातनमें है—

१-प्रेम, २-ज्ञान और ३-कर्म।

जगके नश्वर सुखमें रह जाय न कुछ राग।

ललित किशोरी बीते वरस अनेकह।
देखे नाँहि प्राण प्यारे छार ऐसे जीवे पै॥
त्यक्त मद मन्यु कृत सुकृत रासि।

काहू पुस्तक कूँ केवल मनोरञ्जनमात्रके ताँईं न पढ़ै, अपितु जीवन उन्नयन तथा परिष्कारके विचार सौं ही पढ़ै।

तेरे बहुतसे जन्म ऐसैं ही व्यर्थ गये, जो कर्तव्य रह्यौ, वह ना कियौ।

अब यह मानव-जन्म वाहीकी पूर्तिके ताँईं मिल्यौ है। **('चिन्त्यते')**

उत्तम-विचारनमें रहते भये, उत्तम-आचरण करते भये, सर्वोत्तम वस्तु प्रेम प्राप्त करै।

क्लेशसे जुटाता संगियौं का झमेला रे।
प्रिय के प्रदेश जाना पड़ता अकेला रे॥

बाहरी त्याग तौ ठीक ही है, तथापि मनमें हूँ कोई संग्रह न करै।

कस्तरति कस्तरति मायाम्?
यः संगांस्त्यजति यो महानुभावं सेवते निर्ममो भवति॥
(ना० भ० सू० ४६)

कौन तरै है? कौन तरै है? माया सौं।

जो अकेलौ रहै और जो महापुरुषन कौ सेवन करै है और जो संसार सौं निर्मम होय है अर्थात् संसारमें जाकी कहूँ हूँ ममता नहीं होय है।

उपासनाकौ मूल उद्देश्य है, देहात्मभाव कूँ विलुप्त करनौं।

अहिंसासत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचं सन्तोष आर्जवम्॥
(शारीरकोपनिषद् १)

अति आवश्यकता तौ है नहीं तथापि यदि दूसरौ जल मिलि जाय तौ शौच कर्म सौं निवृत्त हैकैं दूसरे जलमें साधारण स्नान करिकैं, वे वस्त्र बदलिकैं, दूसरे वस्त्र पहनिकैं तब देव-प्रयाग आदिक तीर्थनमें गोता लगानौं। तीर्थ-स्नानकी विधि उत्तम यही है। निभि सकै तौ।

विहंगम मार्ग है—(ज्ञान-मार्ग)

पिपीलिका मार्ग है—(कर्म-मार्ग)

मत्स्य मार्ग है—(उपासना-मार्ग) ईश्वर है जल, मत्स्य है प्रेमी।

सच्चरित्रता ही जीवन कौ आधार है।

जासौं कछु काम करनौ, वाकूँ पारिश्रमिक दै दैनौं।

परदोषदर्शन, आलोचना, निन्दा—ये न हौन पावैं।

मन्दिरके पुजारी तथा पण्डा आदिकन कौ यथाशक्ति सम्मान करनौं। इनमें दोष न देखै।

प्रभु अपने मुख ते कही, साधू मेरी देह।
इनके चरणन की मुझे, प्यारी लागै खेह॥

दीवानोंका यह अगम पंथ संसारी समझ नहीं पाते।

[समाप्त]

* * *

हम और हमारा भगवद्भाव

(श्रीरामबालकजी सोनी)

'श्रीहरि' की माया बड़ी दुस्तर है। बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी भी इसके मोहपाशमें फँसकर पथविमुख हो जाते हैं, फिर सामान्य जनकी तो बात ही क्या? तब कोई भी पुरुषार्थ काम नहीं आता। वर्तमानमें तो वातावरण अत्यन्त विषम है। सर्वत्र भोग-लिप्साका खुला ताण्डव हो रहा है। नैतिकताके आर्ष मानदण्ड लुप्त होते जा रहे हैं। ऐसी स्थितिमें सतत निष्काम कर्मशीलता, सत्-स्वाध्याय, आत्मचिन्तन या भगवत्स्वरूपका ध्यान और उनका अनवरत नाम-जप, कीर्तन, कथा-श्रवण आदि ही इस रोगकी महौषधि बन सकते हैं।

अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात् ।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

अच्युत, अनन्त और गोविन्द नामोंके उच्चारणरूपी औषधिसे समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं—यह बात मैं सत्य-सत्य कहता हूँ।

आजके इस कल्मषप्रधान वातावरणमें हम-आप सभी अपने-आपको किसी-न-किसी रूपमें अशान्त, क्लान्त और भयभीत अनुभव करते हैं। हम इनसे बचें कैसे? इस बातपर विचार एवं चिन्तनकी आवश्यकता है।

यह एक विचित्र बात है कि हम केवल अपना ही सुख चाहते हैं। हम केवल अपना ही मङ्गल चाहते हैं। दूसरा चाहे दुःखी रहे, कष्टमें रहे, अस्वस्थ रहे, हमें इसकी चिन्ता नहीं। इस नितान्त स्वार्थपरताने हमें और भी अधिक दुःखी और अशान्त बना रखा है।

इससे मुक्तिका उपाय है—चिन्तनकी दिशामें परिवर्तन करना—सभी सुखी हों, सभी स्वस्थ रहें, सभीका कल्याण हो। अपना कल्याण मात्र इतने विचारसे ही हो जायगा। यह बात सिद्ध है कि दूसरेके कल्याणकी सच्ची कामनामात्रसे, दूसरेकी सेवामात्रसे अपना सर्वविध कल्याण स्वयं ही सध जाता है। ऐसा होनेपर आप अपनेको अशान्त, क्लान्त और भयसे सर्वथा दूर पायेंगे।

उदात्त भगवद्भावोंका विश्वासपूर्वक आश्रय लेनेसे सारी विपत्तियाँ दूर हो जाती हैं, यहाँ दो-एक दृष्टान्त दिये जा रहे हैं—

एक बहिन जिसका विवाह सात-आठ वर्ष पूर्व हुआ था। संतान न होनेके कारण बहुत दुःखी रहती थी। वह सास, नाते-रिश्तेदारों, पड़ोसियोंके तानोंसे तंग आ चुकी थी। जहाँ जाती, वहीं तानोंका शिकार बन जाती। सभी उपाय कर लिये गये पर लाभ न हुआ, बेचारी दुःखी रहती। एक बार एक भगवत्प्रेमीसे भेंट हुई—संकोचवश अपनी समस्या उनके सामने रखी। वे थोड़ी देर मौन रहे, फिर एक भगवत्प्रसंग सुनाया तथा एक मन्त्र लिखकर दिया और कहा—जितनी श्रद्धा और विश्वास इस मन्त्रमें होगा उतनी ही शीघ्र तुम्हें संतान प्राप्त होगी। इस मन्त्रका श्रद्धाभक्तिपूर्वक जप करना है। मन्त्र है—

देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः॥

(संतानगोपालस्तोत्र ११)

हे देवकीपुत्र! हे गोविन्द! हे वासुदेव! हे जगदीश्वर! हे श्रीकृष्ण! मैं तुम्हारी शरणमें आया हूँ। मुझे पुत्र प्रदान कीजिये।

उस बहिनके मनमें इतना विश्वास जगा कि उसका शरीर रोमाञ्चित हो उठा। जब वह ससुराल गयी तो नित्य स्नानके बाद जपका क्रम चलाती रही—उसके पड़ोसमें एक गुजराती-दम्पति थे। उनके भी संतान न थी—उनके विवाहको भी आठ वर्ष हो चुके थे। उस बहिनने वह मन्त्र उसे भी दिया। बहिनकी सच्ची निष्ठा और विश्वासने दोनोंमें तीन माहमें ही गर्भके लक्षण स्पष्ट दिखायी दिये। वे बहुत प्रसन्न हुईं। यह है भगवद्भाव और प्रभुपर सच्चा विश्वास।

एक भाईका पुत्र पाँच-छः महीनोंसे ज्वरसे पीड़ित था, उसका ज्वर ठीक ही न हो पा रहा था। सभी उपचार किये गये। पर ज्वर जानेका नाम ही नहीं ले रहा था। पूरा परिवार इस ज्वरके कारण परेशान था। किसीने मेडिकल कॉलेजमें जाँच करवानेकी सलाह दी। वे भाई अपने परिवारके चार-पाँच लोगोंको साथ लेकर मेडिकल कॉलेज

जा रहे थे। बसमें एक परिचित भगवत्प्रेमीसे भेंट हुई। यात्राके दौरान चर्चाएँ हुईं, उन्होंने एक कागज निकाला और उसमें कुछ लिखा। फिर बालकको देकर कहा—इसे आज पूरी यात्रामें पढ़ते रहना, तुम शीघ्र ही स्वस्थ होकर विद्यालय जाओगे। बालकने पढ़ना आरम्भ किया। उसमें लिखा था—'हे नृसिंह! हे महासुदर्शन चक्र! मेरे शरीरमें व्याप्त ज्वरको विदीर्ण कर मुझे पूर्ण स्वस्थ कीजिये, मैं आपकी शरण हूँ।' बालक दुःखी था ही, उसे उन सज्जनकी बातपर पूर्ण विश्वास हो गया। वह उस मन्त्रका बार-बार पाठ करने लगा। कुछ समय बाद उसके शरीरमें ऊर्जाका सञ्चार होने लगा। रास्तेभर उसने पाठ किया। मेडिकल कॉलेज जानेपर पता चला कि रिपोर्ट नॉर्मल है।

एक भाईके पुत्रको मिर्गी आती थी। एक ही पुत्र था। कब क्या हो जाय, वह सदा भयभीत रहता था। उपचारमें कोई कमी न थी। एक बार एक संत महापुरुष पधारे। वह भाई उनसे मिला, अपनी समस्या बतायी एवं उसने उपचार पूछा। उन्होंने कहा—पहले तुम यह बताओ कि मांस-मदिराका सेवन करते हो क्या? उसने तत्काल उत्तर दिया—हाँ, महाराज! तब तुम पहले इनका त्याग करो, फिर मिलना। महाराज! आप तो चले जायँगे, मुझे मन्त्र कैसे मिलेगा? महाराजने उत्तर दिया—तुम्हें मन्त्र और विधि मिल जायगी, पहले अभक्ष्य पदार्थोंका त्याग करो। जी महाराज कहकर वह व्यक्ति चला गया। एक माह बाद वह पुनः महात्माजीके पास गया। उसे सनिर्देश वह मन्त्र मिल गया, जिससे उसका बालक पूर्ण स्वस्थ एवं मिर्गी रोगसे दूर हो गया। उसके लिये निर्देश था—'जब वह मांस-मदिराका त्याग कर दे, तब नित्य भगवान् शिवके मन्दिरमें जाकर घृतका दीपक जलाकर सवा लाख संकल्प लेकर '**प्रमथेश्वर पाहि माम्**' का जप करे—जपके पश्चात् पूर्णाहुति दे। कन्याओंको भोजन करवाये।'

उपर्युक्त श्रद्धामय भावोंद्वारा अपने जीवनकी दिनचर्याको भगवन्मय बनानेका क्रम बनाना चाहिये। जैसे किसी अवगुणकी लत हमारे जीवनमें आ जाय तो अवकाशके समय भी वह लत याद आती है, वैसे ही नामसंकीर्तनका अभ्यास बनाना है—

नामसंकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥

(श्रीमद्भा० १२।१३।२३)

हमारा विज्ञान इस बातको स्वीकार करता है कि हमारे शरीरके 'सेल्स (कोशिकाएँ) तीन माह (नब्बे दिन)-में परिवर्तित हो जाते हैं। परंतु हमारे सनातन मनीषी तो कहते हैं—संतों, महापुरुषोंके स्पर्शमात्रसे, दृष्टिमात्रसे जीवनकी दिशा बदल जाती है, मनके विकार चले जाते हैं, जीवन भगवन्मय बनते देर नहीं लगती।

भगवान्के नाम अनेक, रूप अनेक। इन नाम-रूपोंमें बड़ा रहस्य छिपा है। नामसंकीर्तनका अभ्यास कीजिये, वे स्वयं अपने नाम-रूपके रहस्यको आपके हृदयमें प्रतिष्ठित कर देंगे।

सम्पूर्ण साधनाओं-उपासनाओंका एकमात्र फल यही है कि हम अपने स्वरूपको जानें, पहचानें। फिर सत्-स्वरूपसे प्रीति तो स्वाभाविक ही हो जायगी। प्रभु हमारे प्रियतम हैं, प्रेममय हैं, परम उदार हैं, हमारे परम हितचिन्तक हैं। इस बातको परम सत्य मानकर उन्हींके प्रेममें मस्त रहना चाहिये और भगवद्भाव प्राप्त करनेकी प्रार्थना करनी चाहिये—

केवल तुम्हें पुकारूँ प्रियतम! देखूँ एक तुम्हारी ओर।
अर्पण कर निजको चरणोंमें बैठूँ हो निश्चिन्त, विभोर॥
प्रभो! एक बस, तुम ही मेरे हो सर्वस्व सर्वसुखसार।
प्राणोंके तुम प्राण, आत्माके आत्मा आधेयाऽधार॥
भला-बुरा, सुख-दुःख, शुभाशुभ मैं, न जानता कुछ भी नाथ!
जानो तुम्हीं, करो तुम सब ही, रहो निरन्तर मेरे साथ॥
भूलूँ नहीं कभी तुमको मैं, स्मृति ही हो बस, जीवनसार।
आयें नहीं चित्त-मन-मतिमें कभी दूसरे भाव-विचार॥
एकमात्र तुम बसे रहो नित सारे हृदय-देशको छेक।
एक प्रार्थना इह-परमें तुम बने रहो नित सङ्गी एक॥

(पद-रत्नाकर ६८)

श्रीरामका सभी जीवोंसे अनन्य प्रेम

(डॉ० श्रीरामेश्वरप्रसादजी गुप्त, एम्० ए०, अध्यक्ष—संस्कृत-विभाग)

भगवान् स्वयं प्रेम हैं, वे प्रेमके स्वरूप या प्रेमके सुरूप हैं—

प्रेम हरी कौ रूप है, त्यौं हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै यौं लसैं, ज्यौं सूरज अरु धूप॥

प्रेम-सुरूप भगवान् श्रीरामको प्रेम ही प्रिय है और वे प्रेमसे ही प्रकट होते हैं—

रामहि केवल प्रेमु पिआरा।
× × ×
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।
(रा०च०मा० २।१३७।१; १।१८५।५)

प्रेममय ब्रह्मसे प्रेममय सृष्टि ही उत्पन्न होती है और उस प्रेममय सृष्टिका प्रत्येक जीवांश उस प्रेममय परब्रह्मको प्रिय होता है। स्वयं परब्रह्मस्वरूप रामने इसे स्पष्ट किया है—

सब मम प्रिय सब मम उपजाए।
(रा०च०मा० ७।८६।४)

श्रीरामको मनुष्य, यक्ष, असुर, वानर, निषाद, शबरी, पशु-पक्षी (गीध) आदि (अपनी सृष्टिके सभी जीव, जीवांश) अपने ही समान प्रिय हैं। उनका सभीपर समान प्रेम है।

प्रेमी-हृदयसे प्रेमी-हृदयको कोई भय नहीं होता । राम एक राजाके सुपुत्र हैं, लेकिन एक प्रेमी-हृदय केवट उनके प्रेमरूप परमात्मतत्त्वसे अवगत है, अत: वह उनसे अभय है। केवट जानता है कि प्रेममय आत्मा कभी किसीको उत्पीडित नहीं करता, न डराता है, न धमकाता है और न ही अकारण दण्ड देता है, अपितु प्रेमसे व्यवहार करता है अत: श्रीरामके मर्मको जानकर उनके लिये अपनी नाव लाना वह अस्वीकार कर देता है—

मागी नाव न केवटु आना। कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना॥
(रा०च०मा० २।१००।३)

प्रेमसुरूप राम अपने लिये नाव न लानेवाले केवटसे कुपित नहीं होते, अपितु वे केवटके प्रेमयुक्त वचन सुनकर हँसते हुए उसकी शर्त माननेको तैयार हो जाते हैं और केवटको प्रेमसे आह्लादित कर देते हैं—

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहसे करुनाऐन चितइ जानकी लखन तन॥
कृपासिंधु बोले मुसुकाई। सोइ करु जेहिं तव नाव न जाई॥
(रा०च०मा० २।दो० १००; १०१।१)

श्रीरामके प्रेमका यह सहज रूप परम वन्दनीय एवं मानवमात्रके द्वारा अनुकरणीय है। समस्त द्वन्द्वोंसे रहित रामका ऐसा प्रेम हृदयस्पर्शी एवं अतुलनीय, अवर्णनीय आदर्श है।

नागर हो या वनका तापस, श्रीरामको तो वह अपने-जैसा ही प्रिय है। प्रेमी-हृदयको तो सर्वत्र प्रेमी-हृदय ही दिखायी देता है और वह उसपर अपना सम्पूर्ण प्रेम उड़ेल देना चाहता है। एक तपस्वी श्रीरामसे प्रेमपूर्वक मिलते हैं, तथा श्रीराम भी सप्रेम उन्हें हृदयसे लगा लेते और हृदयमें बैठा लेते हैं—

सजल नयन तन पुलकि निज इष्ट देउ पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनितल दसा न जाइ बखानि॥
राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारसु पावा॥
मनहुँ प्रेमु परमारथु दोऊ। मिलत धरें तन कह सबु कोऊ॥
(रा०च०मा० २।दो० ११०; १११।१, २)

श्रीरामका सामान्य जनों या पथिकोंके प्रति भी प्रेममय मृदुल व्यवहार है। पथिकजन श्रीरामकी सहायताके लिये उद्यत होते हैं, लेकिन श्रीराम हँसकर प्रेमसे विनयावनत होकर उन पथिकोंको स्नेह प्रदान करते हैं—

करि केहरि बन जाइ न जोई। हम सँग चलहिं जो आयसु होई॥
जाब जहाँ लगि तहँ पहुँचाई। फिरब बहोरि तुम्हहिं सिरु नाई॥
एहि बिधि पूँछहिं प्रेम बस पुलक गात जलु नैन।
कृपासिंधु फेरहिं तिन्हहि कहि बिनीत मृदु बैन।
(रा०च०मा० २।१११२।७-८; दोहा ११२)

चित्रकूटका पावन धराधाम। श्रीरामके साथ मुनिवृन्दोंका रुचिर समागम। रामकी प्रेमरूपी छबीली छवि देखकर मुनिजन इतने मुदित और मोहित हो जाते हैं कि वे श्रीरामको अनेकानेक आशीषोंसे सम्पन्न कर देते हैं। अनन्य प्रेमका कैसा मृदुल मन है श्रीरामका कि सभी कोटिके जीव उन्हें देखकर प्रेमविह्वल और प्रेममग्न होकर अपनेको धन्य मानते हुए स्वयं प्रेममय हो जाते हैं। राम अपने प्रेमसे

सभीको प्रेमासक्त कर परम परितोष देते हैं।

'कोल, किरात' रामको देखनेमात्रसे प्रेमानुरागी बन जाते हैं। वे सभी श्रीरामके द्वारा प्रेमपूर्ण वचनोंसे सम्मानित भी होते हैं—

कहत सुनत रघुबीर निकाई। आइ सबन्हि देखे रघुराई॥
करहिं जोहारु भेंट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकहिं अति अनुरागे॥
राम सनेह मगन सब जाने। कहि प्रिय बचन सकल सनमाने॥
(रा०च०मा० २।१३५।४-५, ७)

'कोल, किरात' श्रीरामकी सब प्रकारसे सेवा करनेके लिये तत्पर हैं, लेकिन परमात्मा इन्द्रियोंका दास नहीं है। वह तो प्रेमका आकाङ्क्षी है। वह मात्र प्रेमसे संतुष्ट होता है। प्रेम ही उसका लेना है और प्रेम ही उस परमसत्ताका देना है। उसके प्रेममें ही पूर्णता है और इसी पावन प्रेममें ही शाश्वत शान्तिका निवास है। जीवके प्रेमसे संतुष्ट होकर वह परमात्मा जीवको प्रेमसे परिपुष्ट कर उसे अभय देता है—

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
राम सकल बनचर तब तोषे। कहि मृदु बचन प्रेम परिपोषे॥
(रा०च०मा० २।१३७।१, २)

प्रेममूर्ति श्रीराम अन्तः और बाह्यसे केवल प्रेममय हैं। तन, मन और वचनकी प्रेममयी एकरूपताको देखकर मानवकी तो बात ही क्या, पशु-पक्षी भी आपसका वैरभाव छोड़कर प्रेममग्न हो जाते हैं—

करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगतबैर बिचरहिं सब संगा॥
फिरत अहेर राम छबि देखी। होहिं मुदित मृगबृंद बिसेषी॥
(रा०च०मा० २।१३८।१-२)

आचरणका प्रभाव अलौकिक होता है। जो प्रभाव वाणी अपने उपदेशसे नहीं कर पाती, आचरण उस उपदेशको सहजतासे प्रभावी बना देता है। श्रीराम वाणीसे प्रेमका पाठ नहीं पढ़ाते, वे आचरणसे अपने अन्तःके प्रेमको समाजपर उड़ेल देते हैं। यही कारण है कि मनुष्य एवं नर-नारी ही नहीं, अपितु पशु-पक्षी भी उनके प्रेमपूर्ण सांनिध्यको पाकर परम प्रेमी बन जाते हैं।

श्रीरामका निश्छल प्रेम 'प्रेम' के रूपको, उसकी परिभाषाको एवं उस प्रेमके निःस्पृह व्यवहारको स्पष्ट करता है। वनके कोल, किरात, भील एवं वनवासी चित्रकूटमें आये हुए अयोध्यावासियोंको दोनोंमें भर-भरकर मीठे कन्द-मूल-फल खिलाते हैं, लेकिन उन फलोंका दाम नहीं लेते। जैसे लिखा गया है—

कोल किरात भिल्ल बनबासी। मधु सुचि सुंदर स्वादु सुधा सी॥
भरि भरि परन पुटीं रचि रूरी। कंद मूल फल अंकुर जूरी॥
सबहिं देहिं करि बिनय प्रनामा। कहि कहि स्वाद भेद गुन नामा॥
देहिं लोग बहु मोल न लेहीं। फेरत राम दोहाई देहीं॥
(रा०च०मा० २।२५०।१–४)

प्रेममें न व्यापार होता है और न ही आकाङ्क्षा। प्रेम एक सात्त्विक समर्पण है। श्रीरामका जीवोंके प्रति प्रेम हमें यही सिखाता है। निषाद, उसका परिवार और उसकी सम्पूर्ण प्रजा श्रीराम-प्रेमसे आह्लादित उन्हींके प्रेमका प्रतिबिम्ब सम्पूर्ण जगत्के समक्ष प्रकट करती है—

यह जियँ जानि सँकोचु तजि करिअ छोहु लखि नेहु।
हमहि कृतारथ करन लगि फल तृन अंकुर लेहु॥
(रा०च०मा० २।२५०)

पक्षियोंके प्रति श्रीरामका अगाध प्रेम, आजके मानव-समाजको पशु-पक्षियोंके प्रति प्रेमान्वित होनेके लिये पर्याप्त प्रेरणा प्रदायक है। गीधराजके प्रति श्रीरामका प्रेम मानवमात्रको जीवोंके प्रति प्रेम करनेकी उच्च कोटिकी शिक्षा प्रदान करता है—

गीधराज सैं भेंट भइ बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ।
गोदावरी निकट प्रभु रहे परन गृह छाइ॥
(रा०च०मा० ३।१३)

श्रीराम निर्मल प्रेमपात्र हैं, अतः असुर भी ऐसे प्रेमरसामृत सुपात्रको कष्ट नहीं पहुँचाना चाहते। असुर भले ही स्वार्थी हैं, लेकिन श्रीरामके अमल निर्मल प्रेम-सुधारसभरे तनको देखकर वे एक बार तो मोहित हो ही जाते हैं और कह उठते हैं—

हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥
जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥
(रा०च०मा० ३।१९।४-५)

श्रीरामके प्रेमकी सुन्दरता अनुपमेय है। उनका प्रेम, सौन्दर्य शत्रुको भी मुग्ध कर देता है।

प्रेमरूपभक्तिरसप्रिय श्रीरामका प्रेम निर्मल सुधारस

है। उन्हें प्रेममें छलना स्वीकार नहीं है। निर्मल मनको वे अपना सम्पूर्ण प्रेम प्रदान कर उसे प्रेमासिक्त कर प्रसन्नता और आनन्दसे भर देते हैं, संतृप्त और सुखी कर देते हैं।

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

(रा०च०मा० ५।४४।५)

प्रेमीजनको श्रीराम अपने हृदयसे लगा लेते हैं, अपने हृदयमें बैठा लेते हैं, चाहे वह किसी भी वंशका हो, या राक्षसकुलका ही क्यों न हो। विभीषणकी अनुरक्ति देखकर श्रीरामने उसे अपनी विशाल बाहोंसे गहकर हृदयसे लगा लिया—

दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा॥

(रा०च०मा० ५।४६।२)

श्रीरामका राज्याभिषेक होता है, वे राजा बनते हैं। लेकिन मित्रों, परिजनों एवं प्रजाजनोंके प्रति उनका सहज प्रेम न्यून नहीं होता। राजा बन जानेपर भी उनके अन्तस्तलमें अहम्मतिकी भावनाका अङ्कुर भी उदय नहीं होता, क्योंकि वे एक प्रेमपात्र हैं, प्रेममें अभिमान कहाँ? वे वानरोंको सखासे कम नहीं मानते एवं उन्हें अपने समीप ही आसन देते हैं—

परम प्रीति समीप बैठारे। भगत सुखद मृदु बचन उचारे॥

(रा०च०मा० ७।१६।३)

प्रेममें सम्मानकी भावना होती है। श्रीराम सभी वानरों एवं विभीषण आदिको हृदयसे स्वयं ही प्रेम-सम्मान प्रदान करते हैं। वे वालिपुत्र अंगदको अपनी उरमाला, वस्त्र तथा मणि भेंट करते हैं—

निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ।
बिदा कीन्हि भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ॥

(रा०च०मा० ७।१८ ख)

श्रीराम भगवत्-अवतार हैं, सर्वेश्वर हैं, सर्वात्मा हैं एवं सभी जीवों तथा चराचरके स्वामी हैं। सर्वसृष्टिके स्रोत श्रीराम अपनी सृष्टिके प्रत्येक घटकसे एक-सा प्रेम करते हैं—

सब मम प्रिय सब मम उपजाए।

(रा०च०मा० ७।८६।४)

प्रत्येक प्राणी श्रीरामका है, इसलिये वह उन्हें प्रिय है। लेकिन वह प्राणी उन्हें अतिशय प्रिय है, जो अहंताको छोड़कर भक्तिरूप प्रेमसे उन परम प्रभुके प्रति समर्पित होता है—

भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

(रा०च०मा० ७।८६।१०)

श्रीरामका कथन है कि एक पिताके अनेक पुत्र उस पिताके लिये समान प्रिय होते हैं, लेकिन मन-कर्म और वचनसे जो पुत्र पिताका भक्त होता है, वह उस पिताको प्राणके समान प्रिय होता है, उसी प्रकार सर्वभावसे मुझे प्रेम करनेवाला प्राणी मुझे परम प्रिय है—

एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा॥
कोउ सर्बग्य धर्मरत कोई। सब पर पितहि प्रीति सम होई॥
कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा॥
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥
अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजै मोहि मन बच अरु काया॥
पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

(रा०च०मा० ७।८७।१, ३—५, ७-८)

प्रेमी हृदय श्रीराम सब जीवोंसे अनन्य प्रेम करते हैं। जीवमात्रका भी यही कर्तव्य है कि वह नश्वर कायासे मुक्त होकर शान्त, शाश्वत, अप्रमेय, अनघ, शान्तिप्रदायक, परम प्रेमी श्रीरामका पावन प्रेम पानेके लिये निर्मल मनसे उन मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके प्रति प्रेम प्रकट कर परम शान्तिको प्राप्त करे। श्रीरामका पावन प्रेम परमार्थहिताय है, इसीलिये सहस्रों वर्ष पूर्व अवतारप्राप्त श्रीराम अपने उस प्रेमके कारण ही घर-घर एवं घट-घटमें अपना सुरम्य नाम रमाये हुए हैं—

सब जीवन हित प्रेम रस, बरषायौ श्रीराम।
घट घट में रम रहा सोइ, दो अक्षर का नाम॥

हमारे आदर्श प्रेमघट श्रीराम हैं। संत कबीरके शब्दोंमें यदि हम श्रीरामके ढाई अक्षरके प्रेम गुणको सीख लें, पढ़ लें, आत्मसात् कर लें तो हमारा परम कल्याण सुनिश्चित है—

ढाई अक्षर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होइ॥

* * *

कृष्णभक्त कवि रसखान

(पं० श्रीरामप्रतापजी व्यास, एम्०ए०, एम्०एड्०, साहित्यरत्न)

हिन्दीसाहित्यके भक्तिकालमें सूर, तुलसी, नन्ददास, कुम्भनदास, मीरा आदि अनेक भक्त कवियोंने राम-कृष्णकी लीलाओंका गान किया है, वहीं मुसलिम भक्त कवियों—नजी, आलम, यारी साहब, दरिया साहब आदि भी श्रीकृष्णका गुणगान करनेमें पीछे नहीं रहे हैं। इन्हींमें एक प्रसिद्ध भक्त कवि थे—रसखान। रसखान वास्तवमें रसोंकी खान थे। उन्होंने श्रीकृष्णकी लीलाओंका गुणगान करके अपने-आपको धन्य कर लिया। कृष्णके प्रति रसखानकी वह प्रेमतल्लीनता ही थी, जो उन्हें अफगानिस्तानके पठारसे व्रजकी करील-कुञ्जोंमें खींच लायी।

रसखानने श्रीकृष्णको अपना इष्टदेव बनाया तथा व्रजमें आकर बस गये। यहाँ रहकर वे श्रीकृष्णकी लीलाओंमें रम गये। वे भक्त पहले थे, कवि बादमें। उनका सम्पूर्ण जीवन ही इस बातका प्रमाण है। श्रीकृष्णके प्रति उनकी प्रेमकी जो पीर परिलक्षित होती है, वह अन्यत्र नहीं मिलती। निम्नलिखित पंक्तियोंमें यह बात द्रष्टव्य है—

मोहन छबि रसखानि लखि, अब दृग अपने नाहिं।
ऐंचे आवत धनुष से, छूटे सर से जाहिं॥
मो मन मानिक लै गयौ, चितै चोर नँदनंद।
अब बेमन मैं का करूँ, परी फेर के फंद॥
सीस मुकुट सुचि क्रीट कौ, सुंदर सी श्रीभाल।
पेखत ही छबि बनत है, धन्य धन्य गोपाल॥

रसखानने श्रीकृष्णके रूपपर मोहित होकर अपना कुल, समाज, धर्म आदि सभी कुछ छोड़ दिया था। वे वैष्णव हुए, उनकी भक्तिपर रीझकर श्रीनाथजीको कहना पड़ा कि *'अब कहाँ जात हो'* वार्ता इस प्रकार है—

'जब बाहर निकसिवे लागे, तब श्रीनाथजीने रसखानजीकी बाँह पकरि, क्यों अरे 'अब कहाँ जात हो।'—ऐसा कहा।

रसखान सदैव श्रीकृष्णके रूप-सौन्दर्यपर ही रीझते रहे। वे श्रीकृष्णके रूप-लावण्यपर ही मतवाले थे। इसीलिये उनकी रचनाओंमें शृङ्गार-रसकी ही बाहुल्यता है—

जा दिनते निरख्यौ नँद-नंदन, कानि तजी घर बन्धन छूट्यो।
चारु बिलोकनिकी निसि मार, सँभार गयी मन मारने लूट्यो॥
सागरकौं सरिता जिमि धावति रोकि रहे कुलकौ पुल टूट्यो।
मत्त भयौ मन संग फिरै, रसखानि सुरूप सुधा-रस घूट्यो॥

रसखानकी भक्तिकी दूसरी विशेषता यह थी कि वे सदैव कृष्णके निकट ही रहना चाहते थे। चाहे वे अगले जन्ममें मनुष्य बनें, चाहे पशु, उनको चाहे पत्थर बनना पड़े अथवा पक्षी, वे तो श्रीकृष्णसे यही विनती करते हैं कि वे उन्हें अगले जन्ममें भी अपने निकटस्थ ही रखें, ताकि उनके रूप-सौन्दर्यका आनन्द लूट सकें। यही तथ्य दृष्टिगोचर हो रहा है—

मानुष हौं तो वही रसखानि, बसौं ब्रज गोकुल गाँवके ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्दकी धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरिकौ, जो धर्‍यौ कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं मिलि, कालिंदी-कूल कदम्बकी डारन॥

रसखान तो भक्तिके अवतार ही थे। वे अपना सर्वस्व त्यागकर वृन्दावन आ बसे। यहीं रहकर वे श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाओंका अनवरत गान करते रहे और अन्तमें इसी व्रजधाममें समा गये।

उनकी भक्ति माधुर्यभावकी थी। इसीलिये उन्होंने नख-शिख और विहार-वर्णनोंमें रुचि दिखलायी। रसखानजी श्रीकृष्णभक्त बनकर रामरङ्गके दीवाने रह गये।

इस प्रकार व्रजका यह मुसलमान भक्त कवि श्रीकृष्णकी लीलाओंपर मोहित हो गया। उनके रूप-सौन्दर्यपर रीझ गया। ऐसे ही भक्त मुसलमान कविको देखकर हिन्दीके प्रसिद्ध कवि एवं लेखक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रने कहा था—*'इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिंदुन वारियै।'*

* * *

व्रतोत्सव-पर्व

सं० २०६०, शक १९२५, सूर्य उत्तरायण, शिशिर ऋतु, फाल्गुन कृष्णपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	मूल, भद्रा, पञ्चक, व्रत-पर्व तथा योगादि
प्रतिपदा दिनमें २।२२ तक	शनि	मघा रात्रिमें ४।०० तक	७ फरवरी	मूल रात्रिमें ४।०० बजेतक।
द्वितीया ,, २।१० तक	रवि	पू० फा० रात्रिशेष ४।८ तक	८ ,,	भद्रा रात्रिमें १।५० बजेसे, यायिजय तथा सर्वार्थसिद्धियोग रात्रिशेष ४।८ बजेसे।
तृतीया ,, १।२९ तक	सोम	उ० फा० रात्रिमें ३।४७ तक	९ ,,	कन्याराशि दिनमें १०।२ बजेसे, भद्रा तथा यायिजययोग दिनमें १।२९ बजेतक, श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय रात्रिमें ८।३० बजे।
चतुर्थी ,, १२।२१ तक	मंगल	हस्त ,, ३।४ तक	१० ,,	× × × × × ×
पञ्चमी ,, ११।१५ तक	बुध	चित्रा ,, २।०० तक	११ ,,	तुलाराशि दिनमें २।३२ बजेसे, रवियोग रात्रिमें २ बजेसे, मृत्युबाण सायं ४।२६ बजेसे।
षष्ठी ,, ९।०० तक	गुरु	स्वाती ,, १२।३९ तक	१२ ,,	भद्रा दिनमें ९ बजेसे रात्रिमें ७।५७ बजेतक, मृत्युबाण सायं ४।५ बजेतक, रवियोग रात्रिमें १२।३९ बजेतक।
[सप्तमी प्रातः ६।५३ तक [अष्टमी रात्रिशेष ४।३८ तक	शुक्र	विशाखा ,, ११।७ तक	१३ ,,	वृश्चिकराशि सायं ५।३० बजेसे, श्रीजानकी-जयन्ती, कुम्भ-संक्रान्ति दिनमें ३।४५ बजे, स्थायिजययोग प्रातः ६।५३ बजेसे रात्रिमें ११।७ बजेतक, अष्टकाश्राद्ध, सर्वार्थसिद्धियोग रात्रिमें ११।७ बजेसे।
नवमी रात्रिमें २।१८ तक	शनि	अनुराधा ,, ९।३० तक	१४ ,,	सौर फाल्गुन मासारम्भ, मृत्युबाण दिनमें ३।२६ बजेसे, यायिजययोग रात्रिमें ९।३० बजेतक, मूल रात्रिमें ९।३० बजेसे।
दशमी ,, ११।५६ तक	रवि	ज्येष्ठा ,, ७।४९ तक	१५ ,,	धनुराशि रात्रिमें ७।४९ बजेसे, भद्रा दिनमें १।७ बजेसे रात्रिमें ११।५६ बजेतक, मृत्युबाण दिनमें ३।८ बजेतक, स्वामि दयानन्द सरस्वती-जयन्ती, मूल (अहोरात्र)।
एकादशी ,, ९।३८ तक	सोम	मूल सायं ६।११ तक	१६ ,,	मूल सायं ६।११ बजेतक, विजया एकादशीव्रत।
द्वादशी ,, ७।२८ तक	मंगल	पू० षा० ,, ४।४२ तक	१७ ,,	मकरराशि रात्रिमें १०।२३ बजेसे, यायिजययोग सायं ४।४२ बजेतक, त्रिपुष्करयोग सायं ४।४२ बजेसे रात्रिमें ७।२८ बजेतक।
त्रयोदशी सायं ५।३१ तक	बुध	उ० षा० दिनमें ३।२६ तक	१८ ,,	प्रदोषव्रत, महाशिवरात्रिव्रत, भद्रा सायं ५।३१ बजेसे रात्रिशेष ४।४३ बजेतक, चतुर्दशलिंग-पूजा, श्रीवैद्यनाथ-जयन्ती, कृतिवासेश्वर-दर्शन।
चतुर्दशी दिनमें ३।५३ तक	गुरु	श्रवण ,, २।२९ तक	१९ ,,	कुम्भराशि तथा पञ्चक रात्रिमें २।१० बजेसे, शतभिषा नक्षत्रके सूर्य रात्रिशेष ५।५७ बजे, सायन मीनराशिके सूर्य सायं ४।२३ बजे।
अमावास्या ,, २।३७ तक	शुक्र	धनिष्ठा ,, १।५० तक	२० ,,	पञ्चक (अहोरात्र), स्नान-दान-श्राद्ध इत्यादिकी अमावास्या, राष्ट्रीय फाल्गुन-मासारम्भ।

सं० २०६०, शक १९२५, सूर्य उत्तरायण, शिशिर ऋतु, फाल्गुन शुक्लपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	मूल, भद्रा, पञ्चक, व्रत-पर्व तथा योगादि
प्रतिपदा दिनमें १।४५ तक	शनि	शतभिषा दिनमें १।३७ तक	२१ फरवरी	पञ्चक (अहोरात्र), चन्द्रदर्शन।
द्वितीया ,, १।२३ तक	रवि	पू० भा० ,, १।५० तक	२२ ,,	मीनराशि प्रातः ७।४६ बजेसे, पञ्चक (अहोरात्र), स्वामि रामकृष्ण-जयन्ती, त्रिपुष्करयोग दिनमें १।२३ बजेतक, यायिजय तथा सर्वार्थसिद्धियोग दिनमें १।५० बजेसे।
तृतीया ,, १।३३ तक	सोम	उ० भा० ,, २।३८ तक	२३ ,,	पञ्चक (अहोरात्र), भद्रा रात्रिमें १।५३ बजेसे, मूल तथा रवियोग दिनमें २।३८ बजेसे, यायिजययोग दिनमें १।३३ बजेतक।
चतुर्थी ,, २।१५ तक	मंगल	रेवती ,, ३।५५ तक	२४ ,,	मेषराशि प्रारम्भ तथा पञ्चक समाप्ति दिनमें ३।५५ बजे, मूल (अहोरात्र), भौमवती चतुर्थी, वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, रवियोग दिनमें ३।५५ बजेतक, भद्रा दिनमें २।१५ बजेतक।
पञ्चमी ,, ३।२२ तक	बुध	अश्विनी सायं ५।३८ तक	२५ ,,	मूल सायं ५।३८ बजेतक, रवियोग सायं ५।३८ बजेसे।
षष्ठी सायं ४।५९ तक	गुरु	भरणी रात्रिमें ७।४७ तक	२६ ,,	वृषराशि रात्रिमें २।२३ बजेसे, रवियोग रात्रिमें ७।४७ बजेतक, यमघंटयोग रात्रिमें ७।४७ बजेसे।
सप्तमी ,, ६।५४ तक	शुक्र	कृत्तिका ,, १०।१३ तक	२७ ,,	भद्रा सायं ६।५४ बजेसे, यमघंटयोग रात्रिमें १०।१३ बजेसे, स्थायिजययोग सायं ६।५४ बजेसे रात्रिमें १०।१३ बजेतक।
अष्टमी रात्रिमें ९।७ तक	शनि	रोहिणी ,, १२।५० तक	२८ ,,	भद्रा प्रातः ८ बजेतक, होलाष्टकारम्भ, सर्वार्थसिद्धियोग रात्रिमें १२।५० बजेतक, रवियोग रात्रिमें १२।५० बजेसे, यायिजययोग रात्रिमें ९।७ बजेसे १२।५० बजेतक।
नवमी ,, ११।९ तक	रवि	मृगशिरा ,, ३।२५ तक	२९ ,,	मिथुनराशि दिनमें २।७ बजेसे, रवियोग (अहोरात्र)।
दशमी ,, १।७ तक	सोम	आर्द्रा रात्रिशेष ५।५० तक	१ मार्च	रवियोग रात्रिशेष ५।५० बजेतक।
एकादशी ,, २।४९ तक	मंगल	पुनर्वसु अहोरात्र	२ ,,	कर्कराशि रात्रिमें १।२६ बजेसे, आमलकी एकादशीव्रत, रंगभरी एकादशी, भद्रा दिनमें १।५८ बजेसे रात्रिमें २।४९ बजेतक, श्रीकाशीविश्वनाथ शृंगार-दिवस।
द्वादशी ,, ४।३ तक	बुध	पुनर्वसु प्रातः ७।५८ तक	३ ,,	मृत्युबाण दिनमें ११।२६ बजेसे।
त्रयोदशी रात्रिशेष ४।५२तक	गुरु	पुष्य दिनमें ९।३९ तक	४ ,,	प्रदोषव्रत, पूर्वाभाद्रपद नक्षत्रके सूर्य दिनमें ११।१९ बजे, मृत्युबाण दिनमें ११।१९ बजेतक, रवियोग दिनमें ९।३९ बजेसे ११।१९ बजेतक, मूल दिनमें ९।३९ बजेसे।
चतुर्दशी ,, ५।९ तक	शुक्र	आश्लेषा ,, १०।५४ तक	५ ,,	सिंहराशि दिनमें १०।५४ बजेसे, मूल (अहोरात्र), भद्रा रात्रिशेष ५।९ बजेसे, रवियोग दिनमें १०।५४ बजेसे।
पूर्णिमा ,, ४।५१ तक	शनि	मघा ,, ११।३८ तक	६ ,,	भद्रा सायं ५।०० बजेतक, स्नान-दान-व्रत इत्यादिकी पूर्णिमा, होलिकादाह (प्रदोषकालमें), श्रीचैतन्यमहाप्रभु-जयन्ती, मूल तथा रवियोग दिनमें ११।३८ बजेतक।

व्रतोत्सव-पर्व

सं० २०६०, शक १९२५, सूर्य उत्तरायण, शिशिर ऋतु, चैत्र कृष्णपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	मूल, भद्रा, पञ्चक, व्रत-पर्व तथा योगादि
प्रतिपदा रात्रिशेष ४। ६ तक	रवि	पू० फा० दिनमें ११।५२ तक	७ मार्च	कन्याराशि सायं ५। ४९ बजेसे, वसन्तोत्सव, होली, यायिजययोग दिनमें ११।५२ बजेसे रात्रिशेष ४। ६ बजेतक, सर्वार्थसिद्धियोग दिनमें ११। ५२ बजेसे।
द्वितीया रात्रिमें २।५५ तक	सोम	उ० फा० ,, ११। ३८ तक	८ ,,	यायिजययोग रात्रिमें २।५५ बजेसे।
तृतीया ,, १। २२ तक	मंगल	हस्त ,, १०।५८ तक	९ ,,	तुलाराशि रात्रिमें १०। २९ बजेसे, भद्रा दिनमें २। ८ बजेसे रात्रिमें १।२२ बजेतक, स्थायिजययोग रात्रिमें १। २२ बजेसे।
चतुर्थी ,, ११। २८ तक	बुध	चित्रा ,, १०। ०० तक	१० ,,	श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय रात्रिमें ९। २७ बजे।
पञ्चमी ,, ९। २० तक	गुरु	स्वाती ,, ९। ६ तक	११ ,,	वृश्चिकराशि रात्रिमें १। ४१ बजेसे, श्रीरङ्गपञ्चमी, विजयगोविन्द हालंकर दिवस (मनिपुर), यायिजययोग दिनमें ९। ६ बजेतक।
षष्ठी ,, ७। २ तक	शुक्र	विशाखा प्रातः ७। १२ तक अनुराधा रात्रिशेष ५। ३६ तक	१२ ,,	भद्रा रात्रिमें ७। २ बजेसे रात्रिशेष ५। २७ बजेतक, मृत्युबाण दिनमें १०।५६ बजेसे, रवियोग तथा सर्वार्थसिद्धियोग प्रातः ७। १२ बजेसे रात्रिशेष ५। ३६ बजेतक।
सप्तमी सायं ४। ४० तक	शनि	ज्येष्ठा रात्रिमें ३।५६ तक	१३ ,,	धनुराशि रात्रिमें ३।५६ बजेसे, मृत्युबाण दिनमें १०।५७ बजेतक।
अष्टमी दिनमें २। १६ तक	रवि	मूल ,, २। १७ तक	१४ ,,	मीन-संक्रान्ति एवं खरमासारम्भ दिनमें १०।५९ बजे, श्रीशीतलाष्टमीव्रत, अष्टकाश्राद्ध, वर्षीत प्रारम्भ (जैन) सर्वार्थसिद्धियोग रात्रिमें २। १७ बजेतक।
नवमी ,, ११।५६ तक	सोम	पू० षा० ,, १२। ४६ तक	१५ ,,	भद्रा रात्रिमें १०।५२ बजेसे, सौर चैत्रमास प्रारम्भ।
दशमी ,, ९। ४६ तक	मंगल	उ० षा० ,, ११। २६ तक	१६ ,,	मकरराशि प्रातः ६। २५ बजेसे, भद्रा दिनमें ९। ४६ बजेतक, वृद्धअङ्गारक (बुढ़वामंगल) पर्व।
एकादशी प्रातः ७। ४९ तक	बुध	श्रवण ,, १०। २३ तक	१७ ,,	पापमोचनी एकादशीव्रत, उत्तराभाद्रपद नक्षत्रके सूर्य रात्रिमें ७। ११ बजे।
द्वादशी प्रातः ६। १२ तक त्रयोदशी रात्रिशेष ४।५५ तक	गुरु	धनिष्ठा ,, ९। ४१ तक	१८ ,,	कुम्भराशि तथा पञ्चक दिनमें १०। २ बजेसे, भद्रा रात्रिशेष ४।५५ बजेसे, प्रदोषव्रत, वारुणी-पर्व, मधुकृष्णा त्रयोदशी, यायिजययोग प्रातः ६। १२ बजेसे रात्रिमें ९। ४१ बजेतक।
चतुर्दशी रात्रिशेष ४। ४ तक	शुक्र	शतभिषा ,, ९। २३ तक	१९ ,,	पञ्चक (अहोरात्र), भद्रा सायं ४। २९ बजेतक, मास शिवरात्रिव्रत।
अमावास्या रात्रिमें ३। ३९ तक	शनि	पू० भा० ,, ९। ३२ तक	२० ,,	मीनराशि दिनमें ३। २९ बजेसे, पञ्चक (अहोरात्र), स्नान-दान-श्राद्ध इत्यादिकी अमावास्या, सायन मेषराशिके सूर्य दिनमें १।५४ बजेसे।

सं० २०६१, शक १९२६, सूर्य उत्तरायण, वसन्त ऋतु, चैत्र शुक्लपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनाङ्क	मूल, भद्रा, पञ्चक, व्रत-पर्व तथा योगादि
प्रतिपदा रात्रिमें ३।५० तक	रवि	उ० भा० रात्रिमें १०।११ तक	२१ मार्च	चैत्र नवरात्रारम्भ, कलश-स्थापन, 'हेमलम्बनाम' संवत्सर संकल्प इत्यादिमें प्रारम्भ, मूल रात्रिमें १०। ११ बजेसे, ध्वजारोपण, वर्षपति पूजा, गुड़ीपड़वा (दक्षिण भारत), शक १९२६ प्रारम्भ, यायिजययोग रात्रिमें ३। ५० बजेतक, सर्वार्थसिद्धियोग रात्रिमें १०। ११ बजेतक।
द्वितीया रात्रिशेष ४। ३३ तक	सोम	रेवती ,, ११। २२ तक	२२ ,,	मेषराशि प्रारम्भ तथा पञ्चक समाप्ति रात्रिमें ११। २२ बजे, मूल (अहोरात्र), चन्द्रदर्शन, श्रीझूलेलाल-जयन्ती।
तृतीया ,, ५। ४० तक	मंगल	अश्विनी ,, १२।५९ तक	२३ ,,	मत्स्य-जयन्ती, गणगोर (राजस्थान), मूल रात्रिमें १२।५९ बजेतक सौभाग्य सुन्दरीव्रत।
चतुर्थी अहोरात्र	बुध	भरणी ,, ३। ३ तक	२४ ,,	भद्रा सायं ६। २७ बजेसे, वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, रवियोग रात्रिमें ३। ३ बजेतक।
चतुर्थी प्रातः ७। १५ तक	गुरु	कृत्तिका रात्रिशेष ५। २७ तक	२५ ,,	वृषराशि दिनमें ९। ३९ बजेसे, भद्रा प्रातः ७। १५ बजेतक, श्रीरामराज्यमहोत्सव, श्रीपञ्चमी, यमघंटयोग रात्रिशेष ५। २७ बजेतक, रवियोग रात्रिशेष ५। २७ बजेसे।
पञ्चमी दिनमें ९। ९ तक	शुक्र	रोहिणी अहोरात्र	२६ ,,	श्रीस्कन्ददमनकोत्सव, यमघंट तथा रवियोग (अहोरात्र)।
षष्ठी ,, ११। १४ तक	शनि	रोहिणी दिनमें ८। १ तक	२७ ,,	मिथुनराशि रात्रिमें ९। १९ बजेसे, श्रीसूर्यषष्ठीव्रत, सर्वार्थामृतसिद्धि एवं रवियोग दिनमें ८। १ बजेतक।
सप्तमी ,, १। १९ तक	रवि	मृगशिरा ,, १०। ३८ तक	२८ ,,	भद्रा दिनमें १। १९ बजेसे रात्रिमें २। १८ बजेतक, श्रीअन्नपूर्णा परिक्रमा दिनमें १। १९ बजेसे, ओली प्रारम्भ (जैन), महानिशापूजा, द्विपुष्करयोग दिनमें १०। ३८ बजेतक।
अष्टमी ,, ३। १६ तक	सोम	आर्द्रा ,, १। ५ तक	२९ ,,	श्रीदुर्गाष्टमीव्रत, श्रीअन्नपूर्णा परिक्रमा दिनमें ३। १६ बजेतक, यायिजययोग दिनमें ३। १६ बजेसे।
नवमी सायं ४। ५५ तक	मंगल	पुनर्वसु ,, ३। १९ तक	३० ,,	कर्कराशि दिनमें ८। ४५ बजेसे, श्रीरामनवमीव्रत, श्रीरामावतार, दिनमें १२। २० बजेसे २। ३८ बजेतक श्रीरामजन्ममहोत्सव, अयोध्यामें श्रीरामजन्मभूमिका दर्शन, रेवती नक्षत्रके सूर्य रात्रिशेष ५। ४६ बजे, रवियोग दिनमें ३। १९ बजेतक।
दशमी ,, ६। ६ तक	बुध	पुष्य सायं ५। ६ तक	३१ ,,	मूल सायं ५। ६ बजेसे, नवरात्रव्रतकी पारणा, श्रीदुर्गा-विसर्जन, रवियोग (अहोरात्र)।
एकादशी ,, ६। ५२ तक	गुरु	आश्लेषा ,, ६। २८ तक	१ अप्रैल	सिंहराशि सायं ६। २८ बजेसे, भद्रा प्रातः ६। २९ बजेसे रात्रिमें ६।५२ बजेतक, मूल (अहोरात्र), श्रीविष्णुदोलोत्सव, यायिजय एवं रवियोग सायं ६। २८ बजेतक।
द्वादशी रात्रिमें ७। ५ तक	शुक्र	मघा रात्रिमें ७। १९ तक	२ ,,	मूल रात्रिमें ७। १९ बजेतक, मदनद्वादशीव्रत, एकादशीव्रतकी पारणा।
त्रयोदशी सायं ६। ४६ तक	शनि	पू० फा० ,, ७। ३९ तक	३ ,,	कन्याराशि रात्रिमें १। ३७ बजेसे, शनिप्रदोष (संतानके लिये व्रतारम्भ), श्रीमहावीर-जयन्ती (जैन), श्रीअनङ्ग त्रयोदशीव्रत।
चतुर्दशी ,, ५।५७ तक	रवि	उ० फा० ,, ७। ३१ तक	४ ,,	व्रत-पूर्णिमा, भद्रा सायं ५। ५७ बजेसे रात्रिशेष ५। २१ बजेतक, सर्वार्थसिद्धियोग (अहोरात्र)।
पूर्णिमा ,, ४। ४३ तक	सोम	हस्त सायं ६। ५५ तक	५ ,,	स्नान-दान इत्यादिकी पूर्णिमा, श्रीहनुमज्जयन्ती, वैशाख-स्नानारम्भ, ओली समाप्ति (जैन), यायिजययोग सायं ६। ५५ बजेतक।

साधनोपयोगी पत्र

(१)

दोषनाशके उपाय

आपका लम्बा पत्र मिला। आपने ‘काम’ और ‘मान’ इन दो दोषोंकी बात लिखी, सो मेरी समझमें ये दोष आपमें ही नहीं, न्यूनाधिकरूपमें अधिकांश लोगोंमें रहते हैं। वेष-भूषा तो बहुत मोटी बात है; भजन, कीर्तन, ध्यान, वैराग्यका स्वाँग, वेष-भूषाका त्याग और अन्य भाँति-भाँतिके त्याग भी कहीं-कहीं ‘काम’ और ‘मान’ के लिये ही होते हैं। स्त्रियाँ समझें ये बड़े भक्त हैं, महात्मा हैं, त्यागी हैं और हमारी ओर आकर्षित हों; लोग समझें ये वैराग्यवान्, ध्यानके अभ्यासी सत्पुरुष हैं और हमें सम्मान प्राप्त हो; इसीलिये शुभ चेष्टाएँ की जाती हैं। फिर, स्त्रीको देखनेपर, मनमें विकार होनेमें और मान न मिलनेपर विषाद होनेमें कौन बड़ी बात है? इसका कारण है—विषयासक्ति। मनुष्य बहुत ही कम समय अपने चित्तको वस्तुतः भगवच्चिन्तनमें लगाता है। उसका अधिकांश समय केवल विषयचिन्तनमें जाता है। जैसा चिन्तन होता है, वैसे ही पदार्थोंसे वह घिर जाता है। विषय-चिन्तन ही अशुभचिन्तन है; इसीसे उसकी अशुभमें आसक्ति उत्पन्न होती और दृढ़तर होती जाती है। अशुभचिन्तनके समान मनुष्यका पतन करनेवाला और शत्रु नहीं है। इसीसे सारे दोष उत्पन्न होते हैं। अतएव मनुष्यको निरन्तर बड़ी सावधानीके साथ ऐसी चेष्टा करनी चाहिये जिसमें मन भगवच्चिन्तनके अभ्यासमें लगे। इसके लिये दृढ़ निश्चय और लगनकी आवश्यकता है। भगवत्कृपापर विश्वास और आत्मशक्तिका दृढ़ निश्चय हो जानेपर कोई भी बाधा टिक नहीं सकती। लोग विषयचिन्तन करते हैं, मनमें विषयोंके प्रति आसक्ति है और यह निश्चय नहीं है कि भगवान्की अनन्त शक्ति सदा हमारी रक्षा करनेके लिये हमारे साथ मौजूद है। इसीसे वे काम, क्रोध और मानादि शत्रुओंके सामने आनेपर उनके वश हो जाते हैं और उनसे हारकर पतनके गड्ढेमें गिर जाते हैं। हार पहले ही माने हुए हैं—क्योंकि मनमें दृढ़ निश्चय नहीं है। भगवान्की, रक्षा करनेवाली चिरसङ्गिनी आत्मशक्तिपर विश्वास नहीं है। आत्मशक्तिपर विश्वास हो और यह दृढ़ धारणा हो कि यह आत्मशक्ति भगवान्की है—हमारी बुद्धि, हमारे मन, प्राण, इन्द्रियाँ सब आत्मशक्तिके द्वारा भगवान्के साथ सम्बन्धित हैं—भगवान् ही इनके स्वामी हैं और भगवान्के अनन्त शक्तिमान् होनेसे उनकी यह शक्ति भी अनन्त शक्तिमती है तो फिर कभी काम, मानादि आक्रमण न कर सकें—वे दूरसे ही भाग जायँ, चित्तमें तो कभी प्रवेश करें ही नहीं। यह स्मरण रखना चाहिये कि जो वस्तु भगवान्के समर्पित हो गयी, वह सुरक्षित हो गयी। उसको भगवान् ही दूसरे रूपमें बदलना चाहें तो भले ही बदल दें—किसी अन्य शक्तिकी ताकत नहीं कि उसकी ओर देख भी सके। अम्बरीषका देह भी भगवान्के अर्पण था, इससे दुर्वासाकी क्रोधाग्नि उसका कुछ भी न बिगाड़ सकी। घोररूपा कृत्याके सामने अम्बरीष स्थिर खड़े रहे—न पीछे हटे, न बचनेकी कोशिश की, न उसपर कोई प्रहार ही किया। भगवान्की शक्तिने अपने-आप कृत्याका काम समाप्त कर दिया। भगवान्की शक्ति सुदर्शनके रूपमें पहले ही अम्बरीषके देहकी रक्षाके लिये नियुक्त थी। इसीलिये थी कि अम्बरीषने उसको पहलेसे ही भगवान्की सम्पत्ति बना दिया था। दोषोंसे बचनेका एक प्रधान उपाय यह भी है कि जिन अङ्गोंमें ये दोष आते हैं, उन्हें भगवान्के अर्पण कर दिया जाय और उनके द्वारा भगवान्की ही सेवा की जाय। अपने प्रयत्नमें त्रुटि न हो और अपनी ईमानदारीमें—अर्पणकी इच्छामें त्रुटि न हो। फिर जो कमी होगी उसे भगवान् अपनी शक्तिसे आप ही पूरी कर लेंगे और जो चीज भगवान्की हो जायगी, उसकी रक्षा पाप-तापसे वे आप ही करेंगे। अथवा भगवान्पर निर्भर किया जाय—पूरे भरोसेके साथ। यह निश्चित बात है कि यदि हमारी निर्भरता सच्ची होगी तो भगवान्की सहायता हमें ठीक वक्तपर, ऐन मौकेपर अवश्य ही प्राप्त होगी। हाँ, प्राप्त होगी उसी अनुपातसे, जिस अनुपातमें हमारी निर्भरता होगी। सच्ची बात तो यही है। आप इतना काम कीजिये—

१-यथासाध्य चेष्टा कीजिये कि अधिक-से-अधिक समयतक चित्तके द्वारा भगवच्चिन्तन हो।

२-भगवान्की कृपापर भरोसा बढ़ाइये।

३-मनमें यह दृढ़ निश्चय कीजिये कि भगवान् सदा अपनी पूरी शक्तिके सहित मेरे साथ हैं। मुझपर कामादिके आक्रमण नहीं हो सकते। यदि कभी ये दोष सामने आयेंगे तो निश्चय ही भगवान्की शक्तिसे मारे जायँगे।

४-मन, बुद्धि, इन्द्रिय, अहङ्कार आदि सभीको प्रतिक्षण सावधानीके साथ भगवान्के लिये अर्पण करते रहिये—जिस समय वे सच्ची पूरी बात देखेंगे, उसी क्षण इनको ग्रहण कर लेंगे।

५-भगवान्‌की कृपापर निर्भर होनेका अभ्यास कीजिये। ये पाँच बातें कीजिये, फिर देखिये कितनी जल्दी इन दोषोंका नाश होता है। और भी उपाय हैं—

आत्मशक्तिके द्वारा पूरा निश्चय—दृढ़ संकल्प कर लिया जाय कि ये दोष मुझमें नहीं आ सकते तो फिर कम आयेंगे। आयें तब आत्माके द्वारा उनका तिरस्कार, अपमान किया जाय, उनपर तीव्र प्रहार किये जायँ, उन्हें एक क्षणके लिये भी सुखसे न टिकने दिया जाय तो वे आना छोड़ देंगे। दूरसे सताना भी छोड़ देंगे। आत्माकी मूक अनुमतिसे ही पाप होते हैं, जो आत्माकी कल्पित दुर्बलता और दृढ़ अध्यवसायके अभावसे इन्हें मिलती रहती है। यदि आत्मा बलपूर्वक पापोंको रोकना चाहे तो पाप नहीं आ सकते।

आपसे हो सके तो एक उपाय बहुत उत्तम है—प्रतिज्ञा कर लीजिये प्रतिक्षण लगातार नाम-जपकी। नाम-जपका तार यदि जाग्रत्-अवस्थामें कभी नहीं टूटेगा तो निश्चय ही ये सब पाप मर जायँगे। यह महात्माओंका अनुभूत सरल प्रयोग है।

आपने लिखा कि 'मैं कई बार सुन चुका हूँ, परंतु दोष छूटते ही नहीं—इस बार ऐसा बल दीजिये जिससे मैं इन्हें फटकार बतला सकूँ।' इसका उत्तर यह है—वस्तुतः कई बार सुननेसे कुछ विशेष लाभ नहीं होता। कहनेवाला यदि हृदयसे कहता हो अर्थात् जो बात वह कहता हो वह उसके द्वारा अनुभूत, आचरित और सत्य हो एवं सुननेवाला भी हृदयसे सुनता हो—उसके चित्तमें पूर्ण श्रद्धा हो और उसी प्रकार करनेका दृढ़ संकल्प हो एवं सुनते ही वैसा ही करने लगे तो एक ही बारके सुननेसे काम हो जाता है। हम सुनते हैं मुर्दा वाणीको—मुर्दा मनसे, इसीसे इसका कोई असर नहीं होता। बल्कि अधिक सुनते-सुनते मन और कान बहरे हो जाते हैं। सुनना चाहिये जीवित मनसे और कहना भी चाहिये जीवित मनसे—जीवित मन वही है जिसके साथ परम श्रद्धा है और सत्यरूपसे आत्माके दृढ़ अध्यवसायका संकल्प है और जिसके करनेके लिये प्राण आतुर हैं।

रही बल देनेकी बात सो....................मेरे पास एक ही बल है—'हारेको हरिनाम' और आपसे भी यही कहता हूँ, उसका आश्रय लीजिये। सारे पाप-तापोंसे छुड़ानेमें वह पूरा समर्थ है। अधिक क्या लिखूँ?

(२)

भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके साधन

सचमुच मनुष्य, जो अपने जीवनको भगवान्से विमुख बिता देता है, बड़ी भारी भूल करता है। जीवन बीत जानेपर बड़ा पश्चात्ताप होता है—हाय! जीव-जीवनमें मिला हुआ सुअवसर बड़ी बुरी तरह खो दिया! मनुष्य-जीवनका एकमात्र प्रयोजन होना चाहिये भगवान्‌की या भगवत्प्रेमकी उपलब्धि। गङ्गाकी धारा जैसे निरन्तर अनवरतरूपसे समुद्रकी ओर जाती है—सारी विघ्न-बाधाओंको हटाती हुई, एक लक्ष्यसे, वैसे ही हमारी चित्तवृत्तियाँ, हमारी चेष्टाएँ, हमारी चिन्तनाएँ, हमारी क्रियाएँ, हमारे अनुभव, सब जाने चाहिये केवल भगवान्‌की ओर!

यह सत्य है, भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये और सारे प्रेमोंका त्याग कर देना पड़ेगा। सब कुछ उस प्रेमकी आगमें जला डालनेके लिये हँसते-हँसते तैयार हो जाना पड़ेगा और मौका पाते ही बिना चूके इस सब कुछको वैसे ही जला डालना चाहिये, जैसे बिना विलम्ब तत्परतासे हम मुर्देको फूँक देते हैं। मुर्दा फूँककर तो आत्मीयताके सम्बन्धसे हम रोते हैं; परंतु भगवत्प्रेमकी आगमें जब विषयोंका मुर्दा फुँक जाता है, तब तो रोने—विषादसे और शोकसे रोनेके मूल कारण ही नष्ट हो जाते हैं। फिर कभी रोना भी होता है तो वह बड़े ही आनन्दका कारण होता है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति आनन्दसे ही होती है।

इसलिये केवल भगवान्‌का ही चिन्तन कीजिये।

भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये, हमारा तमाम जीवन, जीवनकी क्षुद्र-से-क्षुद्र चेष्टा भगवान्‌के लिये ही हो। पूर्ण हृदयसे हम भगवान्‌को ही भजें। दूसरेके लिये न मनमें स्थान हो और न दूसरेकी सेवामें कभी तन लगे। तन, मन, धन जो कुछ है, उन्हींका तो है। उनकी वस्तु उन्हींके अर्पण हो जाय। जो वस्तु उनके अर्पण हो जाती है, वही बचती है; वह हो जाती है अनमोल और वह हमें विपत्तिके अथाह समुद्रोंसे तार देती है।

प्रेममें खोना और अलग नहीं होता। खोने और अलग होनेमें भी पाना ही होता है। यही तो प्रेमका रहस्य है।

(३)

भजनका प्रभाव

बाहरकी क्रियाओंसे मेरा मतलब 'शरीरसे होनेवाले पापोंसे' था। मनसे यदि पाप न भी छूटें और बाहर शरीरसे छूट जायँ तो इस कलिकालमें इतना ही काफी है। जान-बूझकर दूसरेकी निन्दा करना, अपने स्वार्थके लिये किसीको कष्ट पहुँचाना, क्लेश पहुँचानेके लिये किसीसे दिल्लगी करना, परस्त्रीको बुरी नजरसे देखना आदि अवश्य ही बाहरके पाप हैं; परंतु यदि ये पाप किसीको खलते हों, परंतु

अभ्यासवश न छूटते हों और वह यदि इन पापोंको छोड़नेकी इच्छा और चेष्टा करता हुआ पूरे भरोसेके साथ श्रीभगवान्का एकनिष्ठ भजन करता हो तो उस भजनके प्रतापसे इन पापोंसे ही नहीं, इनसे भी बहुत बड़े-बड़े पापोंसे मुक्त होकर वह भगवान्के परमधामको—शाश्वती शान्तिको पा जायगा। भगवान्की सर्वशक्तिमत्ता, दयालुता और सुहृदपनपर सच्चा विश्वास और उनका एकनिष्ठ भजन होना चाहिये।

गीताके श्लोकोंका तात्पर्य मैं नहीं जानता। परंतु अध्याय ७।३ में आये हुए 'यत्न करनेवाले सिद्धोंमें भी कोई (**कश्चित्**) ही मुझको (**माम्**) तत्त्वसे जानता है' इसमें 'कश्चित्' का अर्थ 'हजारोंमेंसे कोई' न लेकर यह लेना चाहिये कि ऐसी साधनामें स्थित सिद्ध पुरुषोंमें कितने ही—जो किसी भी सिद्धि तथा मुक्तितककी परवा न करके केवल श्रीभगवान्को ही जानना चाहते हैं, वे ही भगवत्कृपासे भगवान्को तत्त्वसे जान सकते हैं। शेष सिद्ध पुरुष तो थोड़े-थोड़े लाभमें ही रह जाते हैं। कोई जीव-तत्त्व जान लेता है, कोई कर्मके रहस्यको समझकर कर्मपर विजय प्राप्त कर लेता है, कोई भूतजयकी सिद्धि प्राप्त कर लेता है, कोई ब्रह्माके पदका रहस्य जान जाता है, कोई सर्वव्यापी स्वरूपको समझ लेता है, बहुत आगे बढ़नेवाले कोई 'ब्रह्म' के अक्षर स्वरूपको जानकर अविद्यासे मुक्त हो जाते हैं; परंतु भगवान्को तत्त्वसे जानना बहुत कठिन है। यहाँ '**माम्**' पदसे समग्र ब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्का लक्ष्य है—ब्रह्मका या किसी एकाङ्गी अन्य स्वरूपका नहीं। पहले श्लोकमें इसी बातको बतलाया है और अध्यायके अन्तमें इसीकी व्याख्या है तथा पन्द्रहवें अध्यायके अन्ततक प्रकार-भेदसे इसी 'समग्र' का निरूपण है। मेरी ऐसी समझ है; यही इस श्लोकका अर्थ है, यह मेरा दावा नहीं है।

शरीर तो दिनोंदिन सभीके क्षीण हो रहे हैं। प्रतिक्षण मृत्युको प्राप्त होना ही जन्मे हुए शरीरका स्वभाव है। इसलिये भजन तो करना ही चाहिये। परंतु काम छोड़नेकी मेरी राय बिलकुल नहीं है। मेरी समझसे सबसे सरल साधना है—नामका अभ्यास। मुखसे निरन्तर भगवान्के नामका उच्चारण होता रहे और हाथोंसे काम। अभ्यास होनेपर ऐसा होना खूब सम्भव है—बस, *'मुख नामकी ओट लई है'*। विश्वास होगा तो इस नामोच्चारणमात्रसे ही कल्याण हो जायगा।

संसारका स्वरूप ही संयोग-वियोगात्मक है। यहाँ तो मिलना-बिछुड़ना अनिवार्य है। इसीलिये मनुष्यको श्रीभगवान्से प्रेम करना चाहिये, जो न कभी बिछुड़ते हैं न मरते हैं।

(४)

मोहनकी मुसकान

जाना और आना, यही तो संसारका स्वरूप है। यह यात्राका प्रसङ्ग चला ही आ रहा है, चलता ही रहेगा। भगवान्की सृष्टिमें इसका कभी कहीं विराम नहीं है। परंतु सभी अवस्थाओंमें सभी जगह भगवान् हमारे साथ हैं। इस पार्थिव संसारमें बस, एक भगवान् ही नित्य हैं, जो सदा सब जगह रहते हैं—जीवन-मृत्यु, दुःख-सुख, हानि-लाभ, मान-अपमान—सभीमें ये मुँह छिपाये सदा हँसते रहते हैं। इनकी मुसकान है बड़ी मधुर; परंतु ये दीखते नहीं, छिपे रहते हैं। जो अपने सुखकी स्पृहा छोड़कर केवल इन्हींकी ओर अपने मानस नेत्रोंको लगाना चाहता है, उसके सामनेसे ये योगमायाका पर्दा हटा लेते हैं। फिर तो सर्वत्र असीम माधुर्य-सौन्दर्य, महान् आनन्द और विशाल शान्ति, दिव्य ज्योति और शीतल प्रकाश ही दिखायी देता है; इनकी हँसी ऐसी ही होती है।

आपने साधन-भजन और आचरणकी बात लिखी सो ठीक है। भगवत्कृपासे असम्भव भी सम्भव हो सकता है, इस बातपर विश्वास कीजिये। अपनी ओरसे आप जैसे और जो कुछ भी हैं, स्पष्ट होकर अपनेको सदा भगवान्के प्रति निवेदन करते रहिये। आप तो बहुत अच्छे हैं, बहुतोंसे बहुत भले हैं। वे तो महान् पापीको भी ग्रहण करनेमें नहीं सकुचाते। पापीका सारा पाप लेकर स्वयं उसको धोते हैं—वैसे ही जैसे माँ छोटे शिशुका मल धोती है, बिना किसी घृणाके, अत्यन्त स्नेहसे, प्रसन्न हुई! माताका उदाहरण भी पूरा नहीं घटता—क्योंकि माताका स्नेह उनके स्नेहकी छायाकी भी छाया नहीं है।...........आपको जो कुछ करना पड़े, करिश्मे देखने पड़ें, उन्हें आप अभिमानके पल्ले बाँधकर उनका महत्त्व गँवाइये मत। ये सब करिश्मे भगवान्के हैं। उनकी लीलाके अङ्ग हैं। देख-देखकर प्रसन्न होते रहिये। आनन्द लूटिये। रोनेके अभिनयमें भी अंदर-ही-अंदर हँसिये। उनके विधानके उत्ससे सदा आनन्दका ही स्रोत बहता है। विपत्ति-आपत्ति, प्रतिकूलता-अनुकूलता, अपमान-तिरस्कार, पीड़ा-मृत्यु—सभीमें उनकी आनन्दभरी मुसकान देखिये। भगवान्के प्रत्येक दानको आनन्दसे ग्रहण कीजिये।

* * *

हृदयोद्गार

(१)

चेतावनी

मेरे प्राणधन! तुम कैसे हो, कहाँ रहते हो और कैसे मिल सकते हो, यही सोचते-सोचते मेरे जीवनके इतने दिन व्यतीत हो गये। प्रातःकाल भगवान् अंशुमालीकी दिव्य ज्योतिके प्रस्फुटित होते समय, प्रकृतिकी अनिर्वचनीय रूप-राशिमें, गगनाङ्गनकी अपूर्व दीप्तिमें, भूमण्डलके अलसाये हुए जागरणमें और अपने वातावरणकी मादकतामें, सब कुछ, जो इस जीवनमें देखा जा सकता है देखा; परंतु तुम न दिखायी दिये।

धीरे-धीरे संसारके कोलाहलसे परिपूर्ण इस हृदयाकाशमें, प्रचण्ड-से-प्रचण्ड आतपद्वारा झुलसाये हुए अभिलाषाओं और कहीं-कहीं मदन-दहन-जैसे अद्भुत व्यापारके दृश्योंमें, अपने मनकी प्रगतिशील—डूबती-उतराती हुई संसार-यात्रामें, एक धीमा-सा अस्फुट, अस्पष्ट शब्द-सा सुनायी दिया। जान पड़ा किसीने कोमल, परंतु दृढ़ स्वरमें कहा 'सावधान!' शब्द वायुमण्डलमें विलीन हो गया, परंतु उसकी याद कभी-कभी अब भी आ जाती है और एक प्रकारके अज्ञात भयसे शरीर कण्टकित-सा हो उठता है। इस यादमें कैसी मधुर टीस है, क्या यह भी शब्दोंद्वारा व्यक्त किया जा सकता है?

दोपहरके जाज्वल्यमान प्रकाशमें बिखरी हुई सूर्यरश्मियोंके देदीप्यमान जालीमेंसे किसके पीताम्बरका छोर सहसा एक बार फहराकर अनन्तमें विलीन हो गया और उस पीताम्बरपर रौप्य अक्षरोंमें किस प्रकार लिखा हुआ दिखायी पड़ा—'सावधान!' माथा थामकर बैठ गया, परंतु यह भी एक इन्द्रजाल-सा जान पड़ा और विस्मृतिके घनान्धकारमें समा गया।

सन्ध्या-समय, जब तपते हुए दिवाकरका भी अस्त समीप आया और संसारके थके-माँदे लोग दिनभरका काम समाप्त करके अपनी सुध-बुध खोनेका उपक्रम करने लगे, उस समय भी मेरे मनमें अस्थिरताका ही साम्राज्य दिखायी पड़ा। सोचने लगा कि अनन्त शोभाराशिको जगत्के कोने-कोनेमें बिखरानेवाला, सुषुप्तिमें अपनी शक्तिको अन्तर्निहित किये हुए मानव-जीवनमें, नवीन बलका सञ्चार करनेवाला, कोलाहलके वातावरणको जागृत करनेवाला, इन चिपके हुए चर्मचक्षुओंको सहसा अपनी ज्योतिराशिके कोमल स्पर्शसे खोल देनेवाला सूर्य, अपनी दिनभरकी यात्राको समाप्त करके, अब किस लोकको जा रहा है और नित्य ही जाया करता है। भावावेशमें तन्मय हो गया—उस अनादि और अनन्त पथका पथिक बनना कितना कठिन है, जिसपर सूर्य भगवान् नित्य ही चलते हैं और कभी विश्राम नहीं लेते।

अन्धकार फैल चुका था। परंतु दीपककी टिमटिमाती हुई ज्योतिका प्रकाश मेरे घरके एक कोनेमें हो रहा था और उस प्रकाशके मधुमय आमन्त्रणको स्वीकार करके कितने ही पतिंगे अपने जीवनको समाप्त करनेका आयोजन कर रहे थे। मैंने कहा कि 'इस प्रकारकी मूर्खताकी भी कोई हद है। अरे, पतिंगो! तुम जिसके आलिंगनको अपने जीवनकी निधि समझ रहे हो, वह तुमको झुलसा देनेवाला केवल एक वञ्चक रूप-जाल है। मूर्खो! अभी भी समय है। जाओ यहाँसे चले जाओ, अपने जीवन-नाशका उपाय न करो।' परंतु मेरी यह चेतावनी व्यर्थ गयी और पतिंगोंने अपना वही क्रम जारी रखा। सहसा मेरी दृष्टि अपने कमरेकी खिड़कीकी ओर गयी। सघन आम्रवृक्षके पत्तोंपर जुग-जुग चमकते हुए असंख्य जुगनू दिखायी दिये और उनकी उस चमकमें, मुझको दिखायी-सा दिया कि किसीने लिख रखा है, 'सावधान'! मेरे नेत्र सहसा बंद हो गये और उसी नेत्रनिमीलित अवस्थामें मुझको जान पड़ा कि कोई कह रहा है कि 'मूर्ख! तू अब भी नहीं समझा। जिस दीपकके प्रेममें पतिंगोंने अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया, जिसकी ज्योतिमें उन्होंने अपने तन, मनको भस्म कर दिया, वही ज्योति उनके आत्मबलिदानके कारण किस प्रकार उनसे एकाकार हो गयी है। देख! इन जुगनुओंको देख और अब भी अपने वास्तविक मार्गका अनुसरण कर। जबतक इन पतिंगोंका अपना पृथक् अस्तित्व, अपना निजत्व, अहम्मन्यता तथा अहङ्कार बना रहा तबतक ये अपनी प्रियतम ज्योतिसे कोसों दूर रहे। परंतु आत्मसमर्पण करके, जैसे ही इन्होंने अपना सब कुछ अपने प्रेम-पात्रको दे दिया, उसी समय ये पतिंगे, पतिंगे नहीं रहे, जुगनू हो गये और अब वही ज्योति इनके जीवनकी चिरसंगिनी बन गयी है।'

(२)

अश्रुहार

तुमको कैसे समझाऊँ कि मेरे इन नेत्रोंकी पुतलियोंके पीछे छिपे हुए कोटरोंमें, किस प्रकार मेरी अन्तर्व्यथा पिघल-पिघलकर इकट्ठी हो गयी है! जो तुम्हारी ही भाँति अलख और अगोचर है, जिसके एक-एक बूँदमें मेरी चिरसञ्चित अभिलाषाओं और मेरे जीवनकी अपूर्ण साधके

कण घुल-मिलकर एकत्र हो रहे हैं तथा जिसमें छिपे हुए मुक्तामणिकी समतामें तुम्हारे रत्नाकरके अमूल्य रत्न भी लज्जित हो जाते हैं, उस कल्लोलिनीमें किस प्रकारकी तरङ्गें नित्य ही उठा करती हैं, यह तुमको कैसे समझाऊँ! जिस समय मेरे हृदयमें वेदनाकी आग धक-धक जल उठती है और उसकी उष्णतामें मेरे रक्तमें सञ्चार होनेवाला जलतत्त्व भाप बनकर उड़ जाता है; जिस समय मैं अपने इस शुष्क और नीरस जीवनसे व्यथित होकर ऊब उठता हूँ, उसी समय यह सब भाप न जाने किस प्रकार मेरे नेत्रोंके कोटरोंमें भर जाता है।

जिस साधनाका अणु-अणु मेरे जीवनकी धमनियोंमें सदा ही प्रवाहित हुआ करता है और जिससे मेरी आशा-अभिलाषाओंके सुख-दु:खपूर्ण सपने सदा ही अठखेलियाँ किया करते हैं, उसका प्रवाह किस अलक्षितरूपसे मेरे नेत्र-युग्ममें हुआ करता है, यह भी क्या तुम नहीं जानते!

न जाने कितने जन्म-जन्मान्तरसे सञ्चित की हुई मेरी यह साधकी सुधा अब सुधाधामसे मिलनेको उतावली हो रही है और चाहती है कि किसी प्रकार अपने जीवनधनसे सर्वसन्तापहारी पीताञ्चलके एक कोनेमें छिपकर द्वन्द्वातीत हो जाय। प्राणनाथ! मैं बड़े यत्नसे एक-एक कोमल और तरल अश्रुविन्दुको अपने अहङ्कारके तागेमें पिरोकर, तुम्हारे लिये माला प्रस्तुत किये बैठा हूँ। आओ, जीवनधन! आज उसी अश्रुहारको तुम्हारे गलेमें पहनाकर एक बार अपना तन, मन सुखी कर लूँ।

(३)

अभिसार

तरल तोया, पुण्यसलिला जाह्नवी किस प्रकार अपने जीवननाथसे मिलनेका अभिसार करती है और इस अभिसारमें वह कैसे-कैसे दुर्गम स्थानोंका अतिक्रमण करती हुई, मन्थर-गतिसे, अपने अस्तित्वतकको भुलाकर—यह भी भुलाकर कि उसका वास्तविक स्थान देवलोकमें है—अबाध गतिसे चलती ही जाती है। किस प्रकार सूर्य, चन्द्र नित्य ही अभिसार करते हैं और सदा ही दिवाभिसार तथा शुक्लाभिसारके रूपमें अपने एक निश्चित मार्गका अनुसरण करते हुए आते और चले जाते हैं। उनको न किसी प्रकारका भय है और न लज्जा। उनको यह भी भय नहीं है कि आज इस बीसवीं शताब्दीमें, कोई उनकी प्राचीन परिपाटीकी हँसी उड़ायेगा। अपने गन्तव्य स्थानकी ओर जाते-जाते वे कभी-कभी हमारी ओर सहास नेत्रोंसे एक बार देखकर और हमारी दयनीय दशापर अपनी सहानुभूतिसूचक इंगितका भ्रूक्षेप करके फिर चलते ही जाते हैं। नित्य ही भगवान् अंशुमालीके अभिसारका अन्त जान करके सन्ध्यादेवी श्याम-परिधान धारण करके, अपने रूप-माधुर्यकी तन्द्रामयी मदिरा ढरकाती हुई अपने प्रियतमसे मिलनेका उपक्रम करती हैं और श्याम अञ्चलमें, अपना मुख छिपाये हुए मदमाती चालसे धीरे-धीरे आती हैं और फिर उसी प्रकार चली जाती हैं। उस मोहमयी मदिराके नशीले प्रभावसे मनुष्य तो मनुष्य, पशु-पक्षीतक निद्राभिभूत हो जाते हैं और सन्ध्यादेवी रात्रिका रूप सँवारकर अपने प्राणनाथसे कैसी अनुपम भेंट करती हैं।

प्रकृतिकी इस अभिसार लीलाको देखकर कभी-कभी हमारे भी व्याकुल, विरह-व्यथित प्राण, अपने प्राणधनसे मिलनेके लिये उतावले-से हो उठते हैं, परंतु उनको यह भी नहीं मालूम कि अपने प्राणाधारतक पहुँचनेका मार्ग क्या है। इस शरीरमें बंद-बंद उनकी सारी दुनिया इस शरीरहीमें बन गयी है। दुर्भेद्य दुर्गको पार करनेके लिये वे भीतर-ही-भीतर मन मसोसकर रह जाते हैं। ऐ मेरे जीवनके मार्गदर्शक! एक बार तो बता दे कि मेरे जीवन-धनका निवास कहाँ है? मेरे प्राण अपने प्राणोंका न्योछावर करके भी—उनतक पहुँचनेमें आगा-पीछा न करेंगे।

क्या कहा? अपने प्राणोंसे ही अपने प्राणाधारका पता पूछ। क्या कहा? मोहान्धकारकी सघनतामें ही प्राणोंके अभिसारसे प्रियतमका मिलन होगा। आह! मेरे व्याकुल प्राण! चल उस अनन्त पथकी ओर जहाँपर शरीरके व्यापार-जनित लोकापवादका भय नहीं है। चल उस स्थानकी ओर जहाँ जवाबका डर नहीं है और न जहाँ तेरे अनुरागको विलासिताका नाम देकर लोग तेरी हँसी उड़ायेंगे।

क्या कहा? डरते हो कि इस प्रकारके गुप्त अभिसारसे तुम्हारी लाज धुल जायगी, तुम किसीको मुँह दिखानेयोग्य न रह जाओगे और तुम्हारा जीवनसखा यह शरीर छूट जायगा। यदि तुमको ऐसा ही मोह है तो अभिसारका स्वाँग भरनेकी भी क्या आवश्यकता है? अपने हृदयमें ही आँखें खोलकर सावधानतापूर्वक देख। देख, वहीं किसी कोनेमें तेरा प्राणाधार छिपा हुआ बैठा होगा। क्या कहा? वहाँ कुछ दिखायी नहीं पड़ता है। अरे, तनिक उस हृदयाकाशमेंसे, अहंकारके बादलोंको, अपनी अनुभूतिकी हवासे उड़ा तो दे। देखा! उन बादलोंके पीछेसे वह कौन झाँक रहा है? भलीभाँति पहचान ले। वही तेरा प्राणाराम, जीवनधन है।

* * *

पढ़ो, समझो और करो

(१)

प्रार्थनासे गो-माताकी रक्षा

प्रार्थनामें असीम शक्ति है। प्रार्थना असम्भवको भी सम्भव बना देती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें हालहीमें घटित एक घटनासे मिला।

बात ३ सितम्बर सन् २००३ ई० की है। राँची-स्थित श्यामलीमें मेरा निवास है। बँगलेके मुख्य दरवाजेपर लगभग चार फीट गहरी और डेढ़ फीट चौड़ी एक पक्की नाली है। सायंकाल ६ बजे जब मैं दफ्तरसे घर लौटा, तब देखा कि दरवाजेपर बच्चोंकी भीड़ जमी है। पूछनेपर पता चला कि वहाँपर नालीमें एक गाय गिर गयी है जो सामान्य रूपसे बाहरसे दिखायी नहीं दे रही थी। मैंने उत्सुकतावश वहाँ जाकर देखा तो एक मोटी-तगड़ी गाय नालीमें आहत एवं असहाय अवस्थामें खड़ी है, जिसका सिर नाली ढकनेकी स्लेबके नीचे छुपा है। गायको निकालनेका मैंने असफल प्रयास किया। नाली इतनी छोटी और गहरी थी कि गायका स्वप्रयाससे या एक-दो लोगोंकी मददसे बाहर आना सम्भव नहीं था। अतः हम पति-पत्नी गायकी प्राणरक्षाके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करने लगे और मनमें यह बात थी कि यदि इसे जल्दी नालीसे बाहर न निकाला गया तो रातभरमें इसके प्राण-पखेरू उड़ सकते हैं।

निरन्तर प्रभु-प्रार्थनासे हमें यह विचार सूझा कि क्यों न हम सुरक्षाकर्मियोंको इसकी सूचना दें और गायकी प्राणरक्षाकी गुहार करें? अतः हमलोगोंने तुरन्त सुरक्षाकर्मियोंके नियन्त्रण-कक्षमें जाकर सूचना देकर हर प्रकारसे गायको बाहर निकालनेका आग्रह किया। उनसे ऐसा निवेदन कर हम दोनों पति-पत्नी कुछ आवश्यक कार्यवश बाहर चले गये। बादमें पता चला कि सुरक्षाकर्मी आये थे और वहाँकी स्थितिका अवलोकन करके चले गये। हम दम्पति पुनः प्रार्थनाहेतु पूजा-कक्षमें चले गये और लगभग आधे घण्टेतक ईश्वरसे गायके संकटको दूर करनेकी प्रार्थना करते रहे।

रात्रि गहराने लगी थी। प्रभु-प्रार्थनाके साथ-साथ गायको संकटसे उबारनेकी हमारी चिन्ता भी बढ़ती जा रही थी। किंतु हमारी असहाय-सी अवस्था हो गयी थी, कुछ न कर पानेकी ग्लानिसे हम बड़े दुःखी थे। गायकी रक्षाके लिये केवल प्रार्थनाके बलका ही भरोसा बना हुआ था। रात्रिमें शयनसे पूर्व एक बार पुनः हमने गायके पास जाकर उसे निकालनेकी एक और कोशिश करनेकी ठानी, किंतु उस स्थलपर जानेपर हमने देखा कि वहाँ गो-माता नहीं थी पर वहाँपर बाहर निकाले जानेके पर्याप्त चिह्न थे। हम तो आश्चर्यचकित थे, कुछ समय पूर्वतक तो बेचारी गाय यहीं थी, फिर इतनी जल्दी कौन आया और कैसे चुपचाप गायको बाहर निकाल गया। पूछनेपर पता चला कि सुरक्षाकर्मीगण पुनः आये थे और गायको सुरक्षित निकालकर चले भी गये।

यह सब प्रभुकी कृपासे ही सम्भव हो पाया। हमें यह लगा कि भगवान्‌से की गयी प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं जाती। इस घटनाके बाद तो ईश्वर-प्रार्थनामें हमारा विश्वास दृढ़तर होता गया। हमने सुरक्षाकर्मियोंको मन-ही-मन बहुत धन्यवाद दिया और प्रभुसे विनती की कि प्रभो! आप ही सबकी रक्षा करनेवाले हैं और सबको सद्बुद्धि प्रदान करनेवाले हैं। आपको बार-बार प्रणाम है।

—रामसनेहीपाण्डेय

(२)

पञ्चामृतसे प्रेतको शान्ति

घटना पुरानी है। उन दिनों मैं अपने परिवारके साथ एक कस्बेमें रहता था। पिताजीकी वहीं सर्विस थी। एक दिन हमारे दूरके रिश्तेके एक सम्बन्धीके यहाँ श्रीसत्यनारायणकी कथा थी। वे निकटके एक छोटे-से गाँवमें रहते थे। हमको भी उन्होंने कथामें सम्मिलित होनेके लिये निमन्त्रण भेजा था और आनेके लिये बहुत आग्रह भी किया था। अतः मैं और पिताजी वहाँ गये। माताजी और छोटे बच्चे घरपर रहे; क्योंकि उन दिनों माताजीकी तबीयत कुछ खराब थी और गाँव थोड़ा दूर भी था। कथा समाप्त होनेपर मैं और पिताजी वापिस घर लौटनेके लिये चले। रात्रिके बारह बजेका समय हो गया था। हमारा गाँव दो मील दूर था। मैं, पिताजी और हमारे साथ एक महाशय और थे। हम तीनों रवाना हुए। साथमें घरवालोंके लिये पञ्चामृत और कथाका प्रसाद भी ले लिया। पूर्णमासीकी चाँदनी रात थी। आधे रास्तेपर एक विशाल वट-वृक्ष था। ज्यों ही हम इस वट-वृक्षके पास पहुँचे, त्यों ही वृक्षके ऊपरसे आवाज आयी, 'ठहरो'। आवाज सुनकर हमें बड़ा आश्चर्य हुआ। पिताजीने पूछा, 'आप कौन हैं और क्या चाहते हैं?' उत्तर मिला, 'मैं प्रेत हूँ, मुझे इस योनिमें कई वर्ष व्यतीत

हो गये हैं। पूर्वजन्मके पापोंके कारण घोर यन्त्रणाका अनुभव करता हूँ, अगर आप कृपाकर पञ्चामृतका पात्र वृक्षके नीचे रख देंगे तो मैं उसे ग्रहण करूँगा, इससे मुझे असीम शान्ति मिलेगी।' आवाज भर्रायी हुई थी। हमने पात्र वृक्षके नीचे रख दिया और दूर खड़े हो गये। थोड़ी देर बाद देखा कि उसमेंसे पञ्चामृत गायब था। फिर प्रेतकी कोई आवाज नहीं आयी और एक शीतल वायुका झोंका आया। हम अपने गाँव लौट आये।

इससे विदित होता है कि पवित्र जलसे प्रेतात्मातकको बहुत शान्ति और सुख मिलता है। —श्याममनोहर व्यास

(३)

लालचके बदले ईमानदारी

बहुत पहलेकी बात है, मैं और मेरे पिताजी श्रीरामचरित्र पाण्डेयजी छपरासे आ रहे थे। छपरामें हमलोग श्री एस० एम० राजा एक्सपोर्टके यहाँसे आ रहे थे। छपरामें भगवानबाजार स्टेशनपर चढ़े। वहाँसे हमलोगोंको मोतीहारी आना था। हमलोगोंके पास करीब छ: सौ रुपये थे, जिसमें सौ मेरे पास और शेष पाँच सौ पिताजीके पास थे। पिताजीने उन रुपयोंको अपनी ऊपरवाली जेबमें रख लिया था। ट्रेनमें अधिक भीड़ होनेके कारण पिताजी ऊपरके पाटियेपर, जिसपर सामान रखा जाता है, चढ़ गये और बिस्तरा बिछाकर सो गये। उनके चढ़नेके समय ही रुपये जेबसे निकलकर, नीचे एक बंगाली महिला बैठी थी, उसके पैरोंपर गिर पड़े थे। उस समय तो उस महिलाने कुछ भी नहीं कहा, किंतु जब गाड़ी मुजफ्फरपुरमें पहुँची और हमलोग अपने बिस्तरोंको सँभालकर चलने लगे, तब उस महिलाने पूछा कि 'आपका कुछ छूटा भी जा रहा है क्या?' पिताजीने देखा तो उनको कुछ मालूम नहीं हुआ। उसने नोटोंका बंडल निकालकर दिया और नोट कब और कैसे गिरे थे यह सुनाया। पिताजी बहुत प्रसन्न हुए और उन देवीका परिचय प्राप्तकर हमलोग प्रसन्नतासे अपने घर लौटे। उन देवीका नाम श्रीविमला कुमारी था। वे कलकत्तामें रहती हैं। उनकी सदाशयता और महानताके हमलोग सदा कृतज्ञ हैं।

—रामदर्शन पाण्डेय

(४)

माँकी कृपा

कभी-कभी हमारे जीवनमें ऐसी घटनाएँ घटित हो जाती हैं कि उस सर्वोपरि शक्तिपर हमारा विश्वास और भी दृढ़ हो जाता है। यूँ तो मेरे जीवनकी सभी घटनाएँ ईशकृपासे जुड़ी हैं परंतु मुझे उनकी कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव इसी घटनासे हुआ।

बात अप्रैल मासकी है। हमारे घरसे लगभग तीस कि०मी०की दूरीपर माँ ज्वाल्पाका एक भव्य मन्दिर है। यहाँ प्रतिदिन सैकड़ों भक्तजन माँके दर्शनहेतु आते हैं। इन्हीं दिनों मेरी भाभीजीने भी मुझसे कहा कि क्यों न हम भी माँके दर्शन कर आयें। 'माँके दरबार जाना है', यह बात ही मेरे लिये अपार हर्षदायक थी। यात्राकी तैयारियाँ करके हम प्रात:काल ज्वाल्पा-धामकी ओर निकल पड़े। हम लगभग ७। ३० बजे बस-स्टैण्ड पहुँच गये, ८ बजे बस आयी और हम उसपर सवार हो गये। १० कि०मी० की दूरीपर एक छोटा-सा कस्बा सतपुली पड़ता है। यहाँसे ज्वाल्पा-धामके लिये बस बदलनी पड़ती है। कुछ देरमें ही ज्वाल्पा-धाम जानेवाली बस भी आ गयी और हम उसमें सवार हो नियत समयपर धाम पहुँच गये। मेरे मनमें माँके दर्शनके लिये अपार हर्ष था। वहाँ माँके दर्शन कर हमने सत्सङ्गका भी लाभ लिया। अब हमें वापस आनेकी फिक्र थी, परंतु अचानक आकाश काले-काले बादलोंसे घिर गया एवं जोरकी आँधी आनेकी भी सम्भावना लगी। यहाँ मार्च-अप्रैलमें चक्रवाती तूफान आते ही रहते हैं, अत: हम बहुत चिन्तित हो गये और अतिशीघ्र सड़कतक आनेका प्रयास करने लगे। दस मिनटमें हम सड़कतक आनेमें सफल रहे, परंतु तबतक आँधी एवं वर्षा शुरू हो चुकी थी। एक विश्रामालयमें मुश्किलसे थोड़ी-सी जगह हमें मिल पायी; क्योंकि वहाँ भी हम-जैसे बहुत-से यात्री खड़े थे। झंझावात जारी था और हमारे पास छाता भी न था। हमारी हालत तो यह सोचकर और भी खराब थी कि घर जानेवाली कच्ची सड़क टूट जायगी। अब तो मन-ही-मन हम दोनों जगज्जननी माँसे कातर होकर प्रार्थना करने लगे। लगभग तीन घंटे गुजरनेके पश्चात् वर्षाका वेग थमा एवं थोड़ी देरमें ही वाहनोंका आवागमन भी शुरू हो गया। इतनेमें हमारी बस भी वहाँ आ गयी। हमारी प्रार्थना जारी थी। सभी यात्री इधर-उधर बस पकड़नेके लिये लपके। भाभीने मुझसे कहा कि जल्दी करो यह आखिरी बस है, मैं भी हड़बड़ाकर दूसरी ओरसे बसकी ओर लपकी ही थी कि पीछेसे एक ट्रकने हॉर्न दिया। जल्दबाजीमें मैंने उसको नजरअंदाज करते हुए आगे कदम रखा ही था कि एक दूसरी बस ट्रकसे सटकर आयी और मेरा पैर बस एवं ट्रकके बीच फँस गया। वर्षाके कारण दोनों ही चालकोंने मुझे नहीं देखा, क्षणभरमें ही मेरी आँखोंपर

काला पर्दा पड़ गया। अपने बचावमें मैं चिल्ला सकूँ इतना भी साहस मुझमें न था, अतः जडवत् नेत्र मूँदे मैं उसी हालतमें खड़ी रही।

इधर हमारे बस-चालकने यह दृश्य देखा और चिल्लाकर दोनों ड्राइवरोंको डाँटा, दोनोंने ब्रेक मारे और मेरा पैर स्वतः बाहर निकल गया, मैं भयवश थर-थर काँप रही थी। तभी किसी स्त्रीने मुझे लगभग घसीटते हुए बसके दरवाजेतक पहुँचा दिया, मैं उनका मुख न देख पायी, पर जाने उनके स्पर्शमें क्या मोहनी थी कि मेरा दर्द समाप्त-सा हो गया, मेरी चेतना लौटी तो मैं शीघ्र ही बसपर सवार हो गयी। मेरी भाभी इस घटनासे अनभिज्ञ थीं, बसमें इतनी भीड़ थी कि वे बाहर न झाँक सकी थीं। मैं उनके गले लगकर रो पड़ी, जब बस चलने लगी तो मैंने उन महिलाको क्षणभरको मुसकराते देखा, वे कोई दिव्य स्त्री-सी लग रही थीं। फिर न जाने वे कहाँ अदृश्य हो गयीं। मेरा गला भर आया, हाथ स्वतः जुड़ गये, हम घर सकुशल वापस लौट आये, परंतु मेरे मनसे उन देवीकी छवि आज भी नहीं उतरती।

धन्य हैं मेरी ज्वाल्पा माँ! वे स्त्री माँ ही थीं, जिन्होंने मेरी प्राणरक्षा की। — कु० पूजा

(५)

सच्ची पुकार

बात ५ अप्रैल, सन् २००३ ई० की है। अपने गाँव ईस्हाक (कुरुक्षेत्र)-में हमारा स्कूल है। उस स्कूलकी एक छात्रा परीक्षाके समय बीमार हो गयी। उसको पहले भी बेहोशीके दौरे पड़ते थे। लेकिन परीक्षासे दो दिन पहले उसकी हालत बहुत खराब हो गयी। उसके परिवारके सदस्योंने मुझे बुलाया, मैंने भी उसकी हालत देखी। मैंने देखा कि वह चारपाईपर लेटी हुई है और अपने ऊपर सामाजिक-विषयकी पुस्तक रखे हुए है। उस समय वह जोर-जोरसे रो-रोकर यही पुकार रही थी—मेरा पेपर, मेरा पेपर। क्योंकि अगले दिन ही उसका सामाजिक-विषयका पेपर था। लड़कीकी हालत इतनी खराब हो गयी थी कि उससे बैठा भी नहीं जा सकता था। उसे बहुत ज्यादे सिरदर्द था तथा चक्कर भी आ रहा था। वह मुझे देखकर और अधिक रोने लगी और बार-बार कहने लगी—'मैं फेल हो जाऊँगी।' मैंने उसे बहुत समझाया, किंतु वह एक ही रट लगाये हुए थी। मैंने भी उसकी हालत देखकर मनमें सोचा कि बिना परीक्षा दिये इस लड़कीका पास होना नामुमकिन है। फिर भी मैं उसका धैर्य बढ़ा रहा था। उसके परिवारवाले भी साथमें आँसू बहा रहे थे। मैंने कहा—भगवान् सब ठीक करेंगे, उनका नाम लो। पता नहीं मेरी बातका उसे सच्चा विश्वास-सा हो गया और वह भाव-विह्वल होकर भगवान् श्रीरामका नाम लेकर उन्हें पुकारने लगी, देवी माँ दुर्गाके पावन नामोंको भी उच्चारित करने लगी और बार-बार यह कहने लगी कि 'प्रभो! मेरी हालत आप देख ही रहे हैं, ऐसेमें मैं कैसे परीक्षा दे सकती हूँ, यदि परीक्षा नहीं दूँगी तो फेल हो जाऊँगी और भगवन्! मैं फेल होना नहीं चाहती, अतः आप किसी प्रकार कलका पेपर कैंसिल हो जाय, ऐसी कृपा कर दीजिये।'

यद्यपि पेपर कैंसिल होनेके कोई भी आसार दिखायी नहीं दे रहे थे, फिर भी लड़की बार-बार भगवान्का नाम लेकर पेपर कैंसिल करनेकी प्रार्थना किये जा रही थी। अगले दिन पेपर था और लड़कीकी हालत पहलेसे भी ज्यादा बिगड़ चुकी थी। मैंने उसके घरवालोंसे कहा कि इसे शहर ले जाकर किसी अच्छे डॉक्टरसे इसका इलाज करवाना चाहिये, लेकिन वह परीक्षामें बैठनेकी जिदपर अड़ी रही। उसकी जिदपर लोग गाँवसे ही एक टाटा सूमो गाड़ीमें उसे बिठाकर तेरह किलोमीटर दूर शहर परीक्षा दिलवाने ले गये। मैं भी साथ था। हमने वहाँके सुपरिंटेंडेंटको सारी बात बतायी, उन्होंने भी यही सलाह दी कि सर्वप्रथम इसका इलाज करवाना चाहिये। लेकिन लड़की मानी नहीं। सबके मना करनेपर भी एक घण्टा परीक्षा-केन्द्रमें बैठी रही और रोती रही। उसने परीक्षा-सीटपर कुछ भी नहीं लिखा, उसके बाद वह वहीं लेट गयी। उसके परिवारवाले उसे उठाकर करनाल हॉस्पिटल ले गये।

सामाजिक-विषयका पेपर हो गया। करनाल हॉस्पिटलसे लड़कीको तीन दिनमें छुट्टी मिली। अगले दिन सुबह हमने अखबारमें पढ़ा कि 'मैट्रिकका सामाजिक-विषयका पेपर कैंसिल हो गया, साथमें अगले दो दिनके पेपर भी कैंसिल कर दिये गये, जो सबसे अन्तमें लिये जायँगे।' अगला पेपर होनेमें १० दिनका समय था। ६-७ दिन दवा लेनेके बाद वह लड़की ठीक हो गयी। उसने फिर अपनी सभी परीक्षाएँ अच्छे ढंगसे दीं। जब उसका परीक्षा-परिणाम निकला तो हमें यह देखकर बड़ी खुशी हुई थी वह लड़की अच्छे अंकोंसे पास हो गयी। जब भी मुझे यह घटना याद आती है तो मैं सोचता हूँ कि भगवान् सच्ची पुकार अवश्य सुनते हैं। जो सच्चे मनसे उन्हें पुकारता है वे जरूर उसकी सहायता करते हैं। —सत्यनारायण शर्मा

* * *

मनन करने योग्य

भगवान्‌की कृपा

यह संसार एक विलक्षण मायाजाल है और हमलोग प्रायः सभी उस पक्षीके समान हैं जो चारेकी लालचमें जालके समीप जाता है और उसीमें फँस जाता है। फिर वह जितना ही उससे छूटनेका प्रयत्न करता है, उतना ही अधिकाधिक फँसता जाता है। भगवान् उसे कर्मानुसार घुमाया करते हैं, परंतु वे हैं बड़े दयालु। जो उनका भजन करते हैं उनको प्रेममार्गसे और जो मदान्ध होकर विपरीत आचरण करते हैं उनको दण्ड देकर पुनः सन्मार्गपर ले आते हैं। इतना होनेपर भी मनुष्य भगवत्कृपाका आश्रय न लेकर दुःखमय मिथ्यासुख विषयोंको ही अपनाते हैं और बार-बार एक संकटसे दूसरे संकटमें पड़ते रहते हैं। भगवान्‌की दयालुताकी ओर देखकर जो परम सुखरूप भगवान्‌का आश्रय लेते हैं, वे ही धन्यजीवन हैं।

बहुत समय पहलेकी बात है—काशीमें एक अत्यन्त निर्धन मनुष्य रहता था। उसके पास धन तो दूर रहा, खानेतकको नहीं था। जो मिलता वही खा लेता, जहाँ जगह मिलती वहीं सो रहता। पर उसका भगवान्‌की प्रार्थनामें विश्वास था। वह नित्य गङ्गास्नान करने जाता और गङ्गाकी धवल धाराको देखकर प्रमुदित होता। वहाँ लोगोंको दान-पुण्य करते देखता तब मन-ही-मन कहता—'भगवन्! मेरे पास धन होता तो मैं भी इसी प्रकार दीन-दुःखियोंकी सहायता करता।'

दूसरे ही क्षण उसे क्षोभ होता देवपर कि 'या तो मुझे इतना विशाल हृदय न देना था और यदि हृदय दिया तो उसके साथ धन भी देना था। जिससे वह अपनी अभिलाषाओंको पूर्ण कर सकता।'

अन्तमें करुणामय ईश्वरको उसपर दया आ गयी और उन्होंने उसकी मनोकामना पूर्ण की। एक दिन जबकि वह गङ्गास्नान करके लौट रहा था तो उसे अपने सम्मुख कोई चमकती हुई वस्तु दिखलायी पड़ी। उसने उसे उठा लिया। वह एक बहुमूल्य रत्न था। उसकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा। उसे विचार हुआ कि यह सब कृपालु ईश्वरकी ही कृपा है। उसने अपने जीवनमें कभी ऐसा रत्न नहीं देखा था और न कभी स्वप्नमें भी उसे ऐसी कल्पना हुई थी कि उसे एकाएक ऐसा रत्न प्राप्त हो जायगा। वह ईश्वरको धन्यवाद देता हुआ कृतज्ञहृदयसे चल दिया।

उसने रत्नको ले जाकर एक जौहरीको दिखलाया। जौहरीकी आँखें रत्नकी चमकसे चौंधिया गयीं। उसने रत्न बेच देनेके लिये उससे कहा। उधर वह मनुष्य भी आवश्यकतामें था। दोनोंमें सौदा पट गया और जौहरीने पाँच सौ रुपये उसके हाथमें दे दिये। उसने उन रुपयोंसे व्यापार करनेका विचार किया। एक छोटी-सी दूकान ले ली और व्यापार प्रारम्भ किया। भगवान्‌की कृपासे उसे व्यापारमें सफलता मिली और शनैः शनैः वह उन्नति करने लगा। अब वह पहलेका निर्धन व्यक्ति न था। उसके पास एक बहुत बड़ी कोठी थी और वह अब सेठ घीसारामके नामसे समस्त काशीमें विख्यात था।

कुछ दिनों पश्चात् उसने अपना विवाह कर लिया। विवाह बड़े धूम-धामसे सम्पन्न हुआ। दिल खोलकर रुपये व्यय किये गये। ऐसा विवाह काशीमें बहुत दिनोंसे नहीं हुआ था। लोग दाँतोंतले अंगुली दबाते थे। अब सेठजी सब प्रकारसे सुखी हो गये थे। उन्हें किसी बातका अभाव न था।

शनैः शनैः उनके चार पुत्र उत्पन्न हुए। उन्हें सब तरहसे सम्मान-सत्कार प्राप्त था। अब सेठसाहबकी प्रसन्नताका ठिकाना न था। पर इस धनका मद उनमें आने लगा। आखिर वे उसके नशेमें इतने चूर हुए कि ईश्वरकी कृपाकी बात तो दूर, ईश्वरतकको बिलकुल भूल गये। दिन-रात गुलछर्रे उड़ने लगे। प्रमादकी सरितामें बाढ़ आ गयी। सत्कर्मसे कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। साधु-संन्यासी या भक्तके नामसे ही उन्हें घृणा-सी हो गयी। कोई साधु या भिखारी आता तो उसे दरवाजेपर फटकनेतक न दिया जाता। चौकीदारोंको यह आज्ञा थी कि वे किसी ऐसेको दरवाजेपर भी न आने दें।

भगवान्‌ने देखा कि उनका भक्त पथभ्रष्ट होकर अब दिनोंदिन भोग-विलासके नरकमें निमग्न होता जाता है, तब उन्होंने उसकी आँखें खोलनी चाहीं। उसे एक बार सचेत करना चाहा और उसके सामनेसे अज्ञानका पर्दा हटाना चाहा।

एक दिन सेठसाहबके यहाँ भगवान् एक साधुका रूप धरकर गये। दरवाजेपर पहुँचे तो उन्हें चौकीदारने डाँटा-फटकारा। साधुने कहा कि 'मैं सेठसाहबसे मिलना चाहता हूँ।' इसपर दरबानने उन्हें गालियाँ दीं और धक्के देकर बाहर निकालना चाहा, पर साधुके तेजसे वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। अब साधु बिना किसी रोक-टोकके अंदर चले गये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि सेठसाहब पलंगपर पड़े हुए हुक्का गुड़गुड़ा रहे हैं। साधुने सेठसे कहा—'भाई! सीताराम!' यह सुन सेठसाहबने ऊपर आँख उठाकर देखा तो उनके सम्मुख एक साधु खड़े थे। सेठसाहब अपनी आँखें लाल करके बोले—'तुम यहाँ कैसे चले आये! सीताराम-सीताराम चिल्लाकर मेरी नाकमें दम

कर दी। जल्दी भाग चलो, नहीं तो अभी धक्के देकर निकलवा दूँगा।' ऐसा कहकर उन्होंने अपने चौकीदारको पुकारा; परंतु वह तो पहलेसे ही मूर्च्छित पड़ा था। जब साधुने सेठमें इतना अभिमान देखा और इस प्रकार तिरस्कार करते पाया, तब उन्होंने कहा—'अरे राम! राम! तुम्हें सीतारामके नामसे इतनी घृणा हो गयी है? तो लो मैं स्वयं ही बाहर जाता हूँ।' यों कहकर वे बाहर चले गये।

दूसरे दिन सेठसाहब गङ्गास्नानको गये और वहाँ जाकर उन्होंने अपने वस्त्रादि उतार दिये तथा स्नान करने गये। इतनी देरमें भगवान् स्वयं ठीक उन्हीं सेठजीका रूप धारणकर आये और उन्होंने मोटर-ड्राइवरसे घर चलनेको कहा। ड्राइवरने पूछा—'सेठजी! आप बहुत जल्दी स्नान कर आये?' सेठजीने उत्तर दिया—'आज मुझे बहुत जल्दी हुंडीका भुगतान देना है। इसीलिये जल्दी चल रहा हूँ।' ऐसा कहकर वे मोटरमें बैठ गये और थोड़ी ही देरमें घर आ पहुँचे।

उनके पुत्रोंने देखा कि आज पिताजी बहुत शीघ्र लौट आये तो उन्होंने पूछा कि आज आप इतनी जल्दी कैसे लौट आये। सेठजीने कहा कि 'आज गङ्गाजीपर एक ऐसा बहुरुपिया आया है जो न जाने कितने लोगोंको ठग चुका है। जब मैं पहुँचा, तब मैंने देखा कि वह बिलकुल मेरे-जैसा ही रूप बनाये हुए है। मैं उसे देखकर आश्चर्यमें पड़ गया और मैंने यह विचार किया कि कहीं यह घर जाकर तुमलोगोंको ठग न ले। इसीलिये मैं शीघ्र चला आया।' यह सुनकर उनके पुत्रोंने कहा—'पिताजी! आपने बहुत अच्छा किया जो जल्दी लौट आये। नहीं तो, कहीं वह आकर हमें ठग ले जाता।'

इधर जब सेठ घीसाराम गङ्गा-स्नान करके लौटे, तब देखा कि उनकी मोटर लापता है। उन्होंने चारों ओर नजर दौड़ायी किंतु उन्हें मोटर कहीं भी न दिखायी दी। तब उन्होंने यह विचार किया कि कदाचित् लड़कोंके स्कूलमें देर हो जानेके कारण ड्राइवर मोटर ले गया हो। ऐसा विचारकर वे ताँगेमें बैठकर घर पहुँचे। वहाँ तो लोगोंको पहलेसे ही ज्ञात था। चारों तरफ लोगोंने शोर मचाना प्रारम्भ किया कि 'देखो-देखो वह बहुरुपिया आ गया।' सेठसाहबके पुत्रोंने जूतोंसे उसके सिरकी खूब मरम्मत की। सेठजी रोने-चिल्लाने लगे और कहने लगे—'अरे! मैं तुम्हारा पिता हूँ और तुमलोग मुझे जूतोंसे मार रहे हो।' यह सुनकर उनके लड़कोंने उनकी और भी पूजा की। लड़कोंने कहा कि 'हमारे पिताजी तो ऊपर बैठे हैं।' यह सुनकर तो सेठसाहब किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। इतनेमें वे सेठरूपी भगवान् नीचे उतर आये। जब सेठने अपने ही समान दूसरे सेठको भी देखा, तब उनके होश हवा हो गये!

अन्तमें उन्होंने न्यायाधीशके यहाँ जाकर यह प्रार्थना-पत्र भेजा कि एक ऐसा बहुरुपिया आया है जिसने उनकी-जैसी ही आकृति बनाकर उनके लड़कोंको ठग लिया है और उनकी सम्पत्तिपर अधिकार कर लिया है। न्यायाधीशने यह सुना तो वे भी बड़े असमंजसमें पड़ गये। उन्होंने दोनोंको उपस्थित होनेकी आज्ञा दी।

जब दोनों उपस्थित हुए, तब न्यायाधीश भी चक्करमें पड़ गये। उन्होंने दोनोंकी आकृतिमें तनिक भी अन्तर न देखा। अन्तमें न्यायाधीशने कहा कि 'जो बहीखातेके सब हिसाबोंको बतला देगा, वही वास्तविक सेठ माना जायगा।' तब बहीखाते मँगवाये गये और दोनोंसे पूछा गया। सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ सेठरूपधारी भगवान्ने सब बातें ठीक-ठीक बतला दीं। किंतु सेठ घीसारामको सब खातोंकी रकमें याद नहीं थीं। वे एक-आधी बात ही बतला सके। तब न्यायाधीशने कहा कि 'मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ कि तुमने बहुत सफल बहुरुपियेका रूप धारण किया है। पर तुमने सेठ घीसारामके लड़कोंको ठगनेकी चेष्टा करके अपराध भी किया है, इसलिये मैं तुम्हें पुरस्कार और दण्ड दोनों दूँगा। दण्ड यह दूँगा कि तुम्हें सारे शहरमें काला मुख करके गदहेपर चढ़ाकर घुमाऊँगा और पुरस्कार यह दूँगा कि तुम्हें जेल नहीं भेजूँगा।' यह सुनकर सेठजीको बहुत दुःख हुआ; किंतु वे विवश थे, कुछ कह न सके।

दूसरे दिन सेठरूपधारी भगवान् पुनः गङ्गा-स्नान करने गये। वहाँ उन्होंने देखा कि सेठजी ठंढके मारे ठिठुरे जा रहे हैं। जब सेठजीने उनको देखा, तब उन्होंने भगवान्के चरणोंपर पड़कर बहुत प्रार्थना की, बहुत रोये-गिड़गिड़ाये। अब भगवान्को भी उनपर दया आ गयी। उन्होंने कहा कि 'जाओ, घर जाकर सुख भोगो। मुझे तुम्हारी सम्पत्ति और ऐश्वर्यसे कुछ प्रयोजन नहीं है, पर तुम्हें अपनी स्थितिको याद रखकर सदा विनयशील रहना चाहिये। धनके मदमें भगवान्को भूलना नहीं चाहिये। धन तो भगवान्का है, वह केवल जन-सेवाके लिये तुमको मिला है, उससे दुःखी जनरूपी भगवान्की सेवा करो और संसारमें स्वयं वैसे ही निर्लिप्त रहो जैसे जलसे कमल रहता है। कभी ममता, मोह और अहंकार मत करना और ईश्वरको कभी न भूलना।' यों कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

आज सेठ घीसाराम गङ्गा-स्नान करके घर पहुँचे तो उनका नशा उतर चुका था, अब तो वे बिलकुल बदले हुए थे। उन्होंने भगवान्का एक मन्दिर बनवाया। अब सम्पत्तिका गरीबोंकी निष्काम सेवामें सदुपयोग होने लगा और वे अपना अधिकतर समय ईश्वर-आराधनामें ही बिताने लगे।—शम्भूनाथ

* * *

अधर्म जो धर्म जान पड़ता है

विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत्॥
(श्रीमद्भा० ७।१५।१२)

अनेक बार ऐसा होता है कि मनुष्य कोई कार्य धर्म समझकर करना चाहता है; किंतु वह उसके लिये धर्म होता नहीं है। ऐसा भ्रम कहाँ-कहाँ होता है, इसके लिये देवर्षि नारदने अधर्मकी पाँच शाखाएँ बतलायी हैं—विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा और छल।

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।

अपनी योग्यता, रुचि, सामाजिक परिस्थितिके अनुसार जो अपना धर्माचरण एवं साधनका अधिकार है, उसमें निष्ठा—दृढ़ताका होना ही गुण कहा गया है। उसके अनुसार आचरण ही अपने लिये धर्म है।

धर्मबाधो विधर्मः स्यात्।

अपने धर्माचरणमें, अपने साधनमें जो बाधा डालता हो, वह अपने लिये विधर्म है। भले वह आचरण, वह साधन बहुत श्रेष्ठ हो, बहुत श्रेष्ठजन उसका आचरण भले करते हों, शास्त्रोंमें भले ही उसकी बहुत प्रशंसा हो; किंतु यदि वह अपने अधिकार-प्राप्त धर्ममें बाधा देता है तो अपने लिये वह अधर्म है।

उदाहरणके लिये देश-रक्षाके लिये सीमापर नियुक्त सैनिक हैं। उनका धर्म है सतत सावधानीपूर्वक देशकी रक्षा करना और यदि शत्रु आक्रमण करे तो उसपर पूरी शक्तिसे आघात करना। शत्रुने आक्रमण किया और उसी समय कोई शत्रुका गुप्तचर साधुका वेश बनाकर देशके सैनिकोंको उपदेश करे—'**अहिंसा परमो धर्मः**' तो यद्यपि अहिंसा परम धर्म है, यह बात ठीक है और यह बात भी ठीक है कि अहिंसाकी महिमा संतों तथा शास्त्रोंने बहुत गायी है; किंतु उस समय सैनिकोंके शत्रुपर आघात करने-रूप स्वधर्ममें बाधक होनेके कारण अहिंसा उन सैनिकोंके लिये उस समय विधर्म होनेसे अधर्मकी शाखा है।

अर्जुन युद्धक्षेत्रमें पहुँचकर जब कहने लगे—

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥
(गीता १।४६)

तब अर्जुनके लिये यह युद्ध-त्यागका भाव 'विधर्म' ही था। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने गीताका उपदेश करके अर्जुनको उसके वास्तविक कर्तव्यपर स्थिर किया।

देश, काल, पात्र तथा अवस्थाके अनुसार व्यक्तिके धर्मसम्मत कर्तव्यका निश्चय होता है। इस प्रकार निश्चित हुए कर्तव्यमें जो कोई भी भाव या कार्य बाधक होता हो, वह धर्म जान पड़े, तब भी समझना चाहिये कि यहाँ अधर्म धर्म जान पड़ता है। यह विधर्म है और अधर्मके समान ही त्याज्य है।

परधर्मोऽन्यचोदितः।

अपने अधिकारप्राप्त कर्तव्यमें तो कोई बात बाधा नहीं देती और उसका विधान भी शास्त्रमें है। अच्छे सत्पुरुष उसका अनुष्ठान-आचरण भी करते हैं। लेकिन उसका विधान अपनेसे भिन्न अधिकारीके लिये, भिन्न परिस्थितिके लिये किया गया है। ऐसी अवस्थामें भी उसका आचरण अधर्म ही है; क्योंकि वह परधर्म है। जो स्वधर्म नहीं है, वह दूसरेके लिये धर्म हो तो भी अपने लिये अधर्म ही है।

अश्वमेध अथवा राजसूय यज्ञ है तो यज्ञ ही। यज्ञ ब्राह्मणके किसी कर्ममें बाधा नहीं देता। लेकिन इन यज्ञोंको करनेका अधिकार मूर्धाभिषिक्त राजाको ही है। इसलिये कोई ब्राह्मण इन्हें करने लगे तो यह उसके लिये अधर्म होगा। इसी प्रकार बृहस्पतिसव नामक यज्ञका विधान ब्राह्मणके लिये है। कोई क्षत्रिय उसे करे तो यह उसके लिये अधर्म होगा।

लौकिक उदाहरण लीजिये इस सम्बन्धमें। न्यायाधीशकी अपेक्षा कई वकील कानूनके अच्छे ज्ञाता होते हैं। कोई न्यायाधीश न्यायालयमें किसी दिन अनुपस्थित हो, कोई बड़ा वकील खाली हो, उस दिन उसके पास कोई भी मुकदमा न हो, ऐसी दशामें वह बिना अधिकारियोंकी अनुमतिके न्यायाधीशकी कुर्सीपर बैठकर उस दिनका न्यायाधीशका कार्य करने लगे तो सरकार उसे पुरस्कार देगी या दण्ड? वह अपराधी माना जायगा या परोपकारी? यदि वह पागल ही नहीं सिद्ध हुआ तो अपराधी ही माना जायगा।

इसलिये धर्माचरणमें सर्वोपरि महत्ता विधानकी है। जिसके लिये जिस परिस्थितिमें जो विधान किया गया है, उसके लिये उस परिस्थितिमें वही धर्म है। दूसरेके लिये जो विधान है अथवा अपने लिये ही भिन्न स्थितिके लिये जो विधान है, वह दूसरी स्थितिमें अपनाया जानेपर परधर्म हो जानेके कारण अधर्म हो जाता है।

एक ही व्यक्ति आज गृहस्थ है तो गृहस्थके लिये जो धर्माचरणका विधान है, वह उसका स्वधर्म है। लेकिन कल वह संन्यासी हो जाता है तो गृहस्थ-धर्म उसके लिये परधर्म बन जायगा और संन्यासीके लिये वर्णित धर्माचरण उसके लिये स्वधर्म हो जायगा।

ग्रहण लगा हो तो देवपूजन नहीं करना चाहिये, यह विधान है। ग्रहण लगा हो तो देव-पूजन करना अधर्म होगा; क्योंकि देव-पूजनका विधान भिन्न परिस्थितिके लिये है। लेकिन ग्रहण न लगा हो तो भी उपर्युक्त विधानकी बात करना भी अधर्म ही होगा।

उपधर्मस्तु पाखण्डो दम्भो वा।

उपमा अथवा उपधर्म है पाखण्ड। धर्माचरण करते तो हैं नहीं; किंतु प्रदर्शित ऐसा करते हैं कि बहुत धर्माचरण कर रहे हैं। यहाँ दम्भ तथा पाखण्ड दोनोंका नाम विशेष तात्पर्यसे लिया गया है। धर्माचरणका केवल दिखावा करना, यह पाखण्ड है और धर्माचरण करना किंतु मनमें उसके द्वारा किसी अधर्मेच्छाकी पूर्ति रखना दम्भ है। दम्भ पाप है, यह सर्वविदित है। दम्भी धर्मका दिखावा करता है, इसीसे दम्भको उपमा—धर्मके समान लगनेवाला अधर्म कहा गया है। यह उपधर्म—धर्म न होकर भी धर्मको उपक्रान्त करनेवाला है।

शब्दभिच्छलः।

शास्त्रमें जो आदेश हैं, उनके शब्दोंका ठीक तात्पर्य जानते हुए भी उनका उससे भिन्न अर्थ करके उसके अनुसार आचरण करना धर्मके साथ छल करना है और यह अधर्म है। यह काम सर्वसाधारण प्रायः नहीं करते। जो शास्त्रके विद्वान् पण्डित हैं, वही प्रायः शास्त्रके वचनोंका अन्यथा अर्थ करके अपनी दुर्बलता छिपाने तथा समर्थित करनेका प्रयत्न करते हैं। जैसे—'देवं मधु समर्पयेत्' इसका सीधा सरल अर्थ है कि देवताको शहद चढ़ावे; किंतु कोई आचारहीन सुरापी 'मधु'का अर्थ शराब करे और कहे कि 'इस देवताको सुरा चढ़ती है' तो यह छलरूप अधर्म हुआ।

यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्।

अपने वर्णाश्रम-धर्मसे भिन्न किसी भी आचरणको अपनी इच्छासे अपना लेना आभास—धर्माभास कहा जाता है और धर्माभास भी अधर्म ही है।

मैंने हरद्वारके एक कुम्भमें रोड़ियोंमें एक नंगे व्यक्तिको देखा था। उसने पूरे शरीरमें विष्ठा पोत रखी थी और दो पत्थर लेकर बजा रहा था। वह दूसरोंको भी जनेऊ उतारकर ऐसा ही करनेका उपदेश कर रहा था। पुलिस बुलाकर उसे मेलाक्षेत्रसे हटाना पड़ा। कलियुगके प्रभावसे आजकल बहुत-से धर्माभास चल पड़े हैं। मनमाना आचरण धर्म नहीं है। शास्त्रविहित कर्मका नाम ही 'धर्म' है। यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिये।

यहाँ उदाहरणके लिये कुछ थोड़ी बातें ऐसी दी जा रही हैं जो धर्म समझकर की जाती हैं; किंतु अधर्म हैं।

स्त्रियाँ पति-परिवारको त्यागकर साधुओंके आश्रयमें बिना अभिभावकके रहें और भजन-साधनका प्रयत्न करें, यह अधर्म ही है।

पतिकी सेवा-श्रद्धा त्यागकर, उसकी अवमानना करके किसी गुरुकी सेवा स्त्री करे तथा पतिसे पूछे बिना, उसकी अनुमतिके बिना, पतिसे छिपाकर या पतिको रुष्ट करके गुरुको धन या अन्य पदार्थ स्त्री भेंट करे, तो यह अधर्म है।

बिना ही वैराग्यके माता-पिता तथा परिवारकी सेवा त्यागकर आरामके लिये साधु बनकर कहीं किसी आश्रममें जा बसना अधर्म है।

भगवद्भजनमें चित्त न लगता हो और सांसारिक सुख-भोगकी इच्छा हो तो उसे पूर्ण करनेके लिये साधु-वेश धारण करना अधर्म है।

साधु, संत, महोपदेशक समझकर श्रद्धालुजन जो धन देते हैं, उसे अपना स्वत्व मानकर देहके सुखोपभोगमें व्यय करना अधर्म है।

* * *

॥ श्रीहरिः ॥

(भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र)

'कल्याण'

-के ७७वें वर्ष (वि०सं० २०५९-६०, सन् २००३ ई०)-के दूसरे अङ्कसे बारहवें अङ्कतकके

निबन्धों, कविताओं और संकलित सामग्रियोंकी वार्षिक विषय-सूची

(विशेषाङ्ककी विषय-सूची उसके आरम्भमें देखनी चाहिये, वह इसमें सम्मिलित नहीं है।)

निबन्ध-सूची

विषय पृष्ठ-संख्या

१-'अगुन अलेप अमान एकरस। रामु सगुन भए भगत पेम बस' (स्वामी श्रीराजेश्वरानन्दजी सरस्वती 'श्रीराजेश रामायणी') ५२१
२-अधर्म जो धर्म जान पड़ता है १०१५
३-अपना जीवन दूसरोंके हितके लिये हो (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ९२८
४-अब न द्रवहु केहि लेखे? ९५३
५-अमृतसे भी बहुमूल्य है श्रीमद्भागवतामृत (आचार्य डॉ० श्रीपवनकुमारजी शास्त्री, एम्०ए०, पी-एच्०डी०) ... ६६६
६-अशुभ वासनाको भस्म करनेका अमोघ उपाय (श्री जय जय बाबा) ५९५
७-'अष्ट सिद्धि नौ निधि के दाता' (डॉ० श्रीअरुणकुमारजी राय, एम्०ए०, पी-एच्० डी०) ७१०
८-अहिंसाका व्यावहारिक जीवनमें उपयोग (श्रीरामनिवासजी लखोटिया) ८६१
९-आगामी ७८वें वर्ष (सन् २००४ ई०)-का विशेषाङ्क—**'व्रतपर्वोत्सव-अङ्क'** ६८१
१०-आध्यात्मिक विद्या—जीवनका सत्य (श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ वीतराग स्वामी श्रीदयानन्दगिरिजी महाराज) ९७९
११-उद्बोधन (स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज, आदिबदरी) ६०६
१२-एक वयोवृद्ध विरक्त महात्माके उपदेश ९०६
१३-कल्याण (शिव) ५९१, ६३९, ६८७, ७३५, ७८३, ८३१, ८७९, ९२७, ९७५
१४-कल्याणकारी वेदोपदेश (स्वामी श्रीविज्ञानानन्द सरस्वतीजी महाराज) ७३६
१५-कल्याणके दो उपाय (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ७३८
१६-कल्याणप्राप्तिकी कई युक्तियाँ (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ८८०
१७-कविवर बिहारीका अलौकिक प्रेमवर्णन (प्रो० श्रीइन्द्रदेवप्रसादसिंहजी) ८१७
१८-कृष्णभक्त कवि रसखान (पं० श्रीसीतारामजी व्यास, एम्० ए०, एम्० एड्०, साहित्यरत्न) १००२

विषय पृष्ठ-संख्या

१९-कैवल्य-रत्न (भिक्षु श्रीगौरीशङ्करजी) ८५९
२०-'कौन गली गये श्याम?' ८८८
२१-क्या मृत्युके बाद नेत्रदान उचित है? (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ९३५
२२-गाय फिर लौटा सकती है भारतकी सम्पन्नता (श्रीशंकरलालजी बरमोटा, दाधीच) ६२२
२३-गाय सारे राष्ट्र और विश्वकी माता है (ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज) [प्रे०—श्रीलादूसिंहजी राजपुरोहित] ७०९
२४-गीता और प्रेमतत्त्व एवं श्रीगौराङ्ग (आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी) ७१५
२५-श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें प्रेमा-भक्तिका स्वरूप (प्रोफेसर श्रीलालमोहरजी उपाध्याय) ९०२
२६-गुरुजीका उपदेश ९६७
२७-गोघृत—अक्षय अमृतकलश (श्रीमती संतोष दाधीच) ... ७७०
२८-गोपिकाओंकी प्रेमोपासना ५१३
२९-गोवंश-हत्यापर प्रतिबन्ध मौलिक अधिकारोंमें शामिल किया जाय (श्रीगुमानमलजी लोढ़ा) ७६५
३०-'जय गंगे, आनन्द तरंगे' (डॉ० श्रीनागेश्वरसिंहजी 'शशीन्द्र') ७९५
३१-जीवोंपर परमात्माका अहैतुक अनुग्रह (आचार्य श्रीकृपानारायणजी उपाध्याय, नव्यव्याकरण-शास्त्राचार्य, एम्० ए०) ६९८
३२-तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त करानेवाला साधन (श्रीमनोजकुमारजी मिश्र) ७०५
३३-दर्जा (श्रीमुकेशमोहनजी तिवारी) ८८५
३४-द्वेष, परनिन्दा तथा घृणासे कैसे बचें? (श्रीगिरीशचन्द्रजी उप्रेती) ६५६
३५-धर्मका प्रायोगिक पक्ष (श्रीप्रदीपकुमारजी पाण्डेय) ८४६
३६-नटराज [लीला-दर्शन] ५३९
३७-'नामु राम को कलपतरु' (डॉ० श्रीचन्द्रभूषणलालजी वर्मा, एम्० ए०, पी-एच्०डी०) ९४४
३८-पढ़ना और है, गुनना और! (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ... ८१३

विषय पृष्ठ-संख्या

३९-पढ़ो, समझो और करो ६३३, ६७५, ७२७, ७७६, ८२४, ८७२, ९१८, ९६८, १०१०
४०- पतनमें उत्थानका भ्रम (सम्पादक) ६७९
४१- पतन या उत्थानमें मनुष्य स्वतन्त्र है (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ८३२
४२- पतित-पावन (श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम') ९४१
४३-'पर हित सरिस धर्म नहिं भाई' (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ९७६
४४- पान-मसाला यानी मृत्युका निवाला (डॉ० सुश्रीमधुजी पोद्दार) ९०३
४५- पूर्णपरात्पर भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ७८८, ८३८
४६- प्राणनाथ रघुनाथ (डॉ० श्रीसुरेशनन्दनप्रसादसिंहजी 'नीलकण्ठ') ९८६
४७- प्रार्थना (डॉ० श्री एन० एस० रामसुब्रह्मण्यम्, एम्०ए०, पी-एच्० डी०) ८९६
४८- प्रेम और भक्तिका सम्बन्ध (आचार्य पं० श्रीचन्द्रभूषणजी ओझा) ५४८
४९- प्रेमकल्पलता श्रीराधाजी (डॉ० श्रीसुरेशनन्दनप्रसादसिंहजी 'नीलकण्ठ') ५७७
५०-प्रेमके लक्षण (अनुभाव) (पं० श्रीकृष्णानन्दजी उपाध्याय) ९५०
५१- प्रेमतत्त्व-मीमांसा (आचार्य डॉ० श्रीशुकरत्नजी उपाध्याय, साहित्याचार्य, एम्०ए०, पी-एच्०डी०) ४९९
५२-'प्रेम न बाड़ी ऊपजै' (श्री एन० आर० शर्मा) ... ५६९
५३-'प्रेम पदारथ दूर है बिनु सेये रज रूख' (डॉ० श्रीराजेन्द्ररंजनजी चतुर्वेदी)...................... ६१५
५४- प्रेमयोग [लीला-दर्शन] ५४३
५५- प्रेमयोगी श्रीभरत (डॉ० सुश्रीपुष्पारानी गर्ग) ८०७
५६- प्रेमलक्षणा भक्तिके वेदोक्त उपदेश (प्रो० श्रीश्रीकिशोरजी मिश्र) ४९६
५७- प्रेम-विमर्श (डॉ० श्रीसत्येन्दुजी शर्मा, एम्०ए०,पी-एच्०डी०) .. ८५८
५८- प्रेम—संयोग और वियोग (श्रीश्रीधरसिंहजी 'दयालपुरी') ५१९
५९- प्रेम-साधन (म० श्रीप्रेमप्रकाशजी) ५०४
६०- प्रेमीकी प्रभुसे प्रार्थना (श्रीसुशीलजी चौमाल) ५७५
६१- ***प्रेमी भक्तोंके पावन चरित—***
  [१] (श्री) कुलशेखर आळवारकी भगवत्प्रेम-निष्ठा ९०७
  [२] नन्दलालकी सूरतपर क़ुरबान शाहजादी ताज (प्रो० श्रीइन्द्रदेवप्रसादसिंहजी) ५८३
  [३] परम प्रेमी भक्त कारे खाँ (प्रो० श्रीइन्द्रदेवप्रसादसिंहजी) ५३१
  [४] प्रेमका पन्थ निराला—भक्त सालबेग (पं० श्रीराम-किशोरजी त्रिपाठी, एम्० ए०, श्रीमद्भागवताचार्य) ६७०

विषय पृष्ठ-संख्या

  [५] प्रेममें आबद्ध रामलला ओरछा आये (डॉ० श्रीलखनलालजी खरे, एम्०ए०, पी-एच्० डी०) ६२६
  [६] प्रेमी भक्त बिल्वमङ्गलकी प्रेम-लीला...... ७१६
  [७] भक्तिमती आण्डाळ या रङ्गनायकी ८६३
  [८] भगवत्प्रेमके आदर्श—शबर-दम्पति (श्रीघनश्याम सीतारामजी पंत शुक्ल) ५८०
  [९] भगवत्प्रेमपरायणा महारानी अहल्याबाईजी होल्कर (कुमारी अमिता हरीचरण अवस्थी) ... ५२९
  [१०] भगवत्प्रेमी संत स्वामी रामतीर्थ (डॉ० श्रीविद्यानन्दजी ब्रह्मचारी, एम्०ए०, बी०एड्०, पी-एच्०डी०, डी० लिट्०) ... ५३४
  [११] महात्मा चरणदासजी और उनके प्रेमोद्गार (श्रीप्रभुदयालजी गोयल) ५३९
  [१२] महामति प्राणनाथकी प्रेमोपासना (स्वामी श्रीब्रह्मवेदान्ताचार्यजी) ५२८
  [१३] महाराज श्रीराजेन्द्रसिंहजी 'सुधाकर' का भगवत्प्रेम (श्रीगदाधरजी भट्ट) ६२५
  [१४] रसिकभक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ५८२
  [१५] (श्री) राम-प्रेम—एक रामबाण ओषधि (एक साधक) ५८६
  [१६] वात्सल्यकी मूर्ति माँ यशोदा (डॉ० श्रीशरद पगारे, एम्०ए०, पी-एच्०डी०) ७७१
  [१७] संकीर्तन-प्रेमी कवि चण्डीदास (डॉ० श्रीविद्यानन्दजी 'ब्रह्मचारी', एम्०ए०, बी०एड्०, पी-एच्०डी०, डी० लिट्०) ... ९६१
  [१८] संत पीपाचार्य एवं साध्वी सीता सोलंकीका भगवत्प्रेम (श्रीरघुनाथसिंहजी खीची) ५३८
६२- प्रेमी मुक्ति नहीं चाहता [प्रो०-श्रीबलरामजी सैनी] ... ५५९
६३- फल-विक्रयिणीपर कृपा [लीला-दर्शन] ५०८
६४- ब्राह्ममुहूर्त—उत्तम स्वास्थ्यका उत्प्रेरक (प्राचार्य डॉ० श्रीयोगेशचन्द्रजी मिश्र) ७९१
६५- भक्त और भगवान्का सम्बन्ध (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ८८६, ९३३
६६- 'भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे' (डॉ० श्रीगणेशदत्तजी सारस्वत) ७४०
६७- भक्ति एवं ज्ञानोत्तरा भक्ति (डॉ० श्रीश्यामाकान्तजी द्विवेदी, एम्०ए०, एम्० एड्०, पी-एच्०डी०, डी० लिट्०) ... ६५०
६८- भगवत्प्राप्तिके चार साधन (श्री जय जय बाबा) ९३१
६९- भगवत्प्रेमका तात्त्विक विवेचन (डॉ० श्रीनरेशजी झा, शास्त्रचूडामणि) ५६४
७०- भगवत्प्रेमका स्वरूप (श्रीशशिनाथजी झा, वेदाचार्य) ५०७
७१- भगवत्प्रेमकी निवासभूता वंशी (डॉ० श्रीसुरेशनन्दनप्रसादसिंहजी 'नीलकण्ठ') ७४५

विषय पृष्ठ-संख्या

७२- भगवत्प्रेमप्राप्तिकां शीघ्र सिद्धिदायक साधन (डॉ० श्रीभगवतीप्रसादजी अग्रवाल) ९०५
७३- भगवत्प्रेममें अनन्यता एवं प्रपन्नता (डॉ० श्रीकमलाकान्तजी शर्मा 'कमल', एम्०ए०, पी-एच्०डी०) ५५३
७४- भगवत्प्रेमी भक्तोंका शील (हर-शिव) ६१८
७५- भगवद्भक्ति और भगवत्प्रेमका तादात्म्य (डॉ० श्रीविश्वम्भरनाथजी पाण्डेय, एम्०ए, पी-एच्०डी०, एल्-एल्०बी०) ५६२
७६- (श्री) भगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना ९१३
७७- (श्री) भगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना (राधेश्याम खेमका) ९२३
७८- भगवान् और प्रेम (ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज) [प्रेषक—प्रो० श्रीबिहारीलालजी टांटिया] ६४३
७९- भगवान्‌की अनन्त महिमा तथा भक्तिनिष्ठा (पं० श्रीविष्णुदत्त रामचन्द्रजी दुबे) ९३६
८०- भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌को सौंप दो (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ९८४
८१- भगवान्‌के निराकार-तत्त्वका रहस्य (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ६४०
८२- भगवान् श्रीकृष्णकी अमोघ वाणी (श्री जय जय बाबा) ७६९
८३- भजन-भावकी सिद्धि कैसे? (डॉ० श्रीसत्यपालजी गोयल, एम्०,ए०, पी-एच्०डी०, आयुर्वेदरत्न) ५६७
८४- भूख लगी है [लीला-चिन्तन] ६६२
८५- भूतकालकी पूर्ण विस्मृतिके बिना हम स्वरूपस्थ नहीं हो सकते (श्री जय जय बाबा) ८३६
८६- भौतिक जीवन और सुख-दुःखकी अवस्था (श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग स्वामी श्रीदयानन्दगिरिजी महाराज) ७५७
८७- मनन करने योग्य ६३५, ६७८, ७३०, ७८०, ८२७, ८७४, ९२१, ९७१, १०१३
८८- मनुष्यकी विनाशकी ओर प्रगति और उससे बचनेके उपाय (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ६९४
८९- मनोऽभिराम भगवान् श्रीराम (श्रीगोपीकृष्णजी शर्मा, एम्० ए०, बी०एड्०, साहित्यालंकार) ६५९
९०- महात्याग ७३१
९१- मांसाहारद्वारा रोगोंको बुलावा (डॉ० श्रीपीरबख्शजी उस्ता) [प्रेषक—श्रीकालूरामजी मल्ल] ६६८
९२- 'मानस' के राम (डॉ० श्रीनन्दलालजी मेहता) ... ८४१
९३- मानस-प्रसंगोंमें श्रीराम और तुलसीका गङ्गा-प्रेम (श्रीअरुणकुमारजी पाठक) ६०४
९४- मानसमें मानवीय मूल्य (श्रीकैलाशजी त्रिपाठी)... ८५३
९५- मुगल सम्राटोंद्वारा गोवध-निषेधाज्ञा (श्रीगोवर्धनलालजी पुरोहित) ८११
९६- मुझे ढूँढ़ो [लीला-दर्शन—] ६०९
९७-(श्री) रामका सभी जीवोंसे अनन्य प्रेम (डॉ० श्रीरामेश्वरप्रसादजी गुप्त, एम्०ए०, अध्यक्ष—संस्कृत-विभाग) ९९९
९८-(श्री) रामचरितमानसके पाँच उपदेश (श्रीउदयनारायणजी सिन्हा) .. ६१०
९९- रामनाम-जपकी महिमा (श्रीकान्तजी अग्रवाल) ... ८९९
१००- 'रामहि केवल प्रेमु पिआरा' (डॉ० श्रीगणेशदत्तजी सारस्वत) ८८३
१०१- 'रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही' (श्रीरूपनारायणजी काबरा) ७०६
१०२- लक्ष्यकी आवश्यकता (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ५९२
१०३- लोकहितार्थ नर्मदाजीका भूमण्डलपर अवतरण (पं० श्रीविष्णुदत्त रामचन्द्रजी दुबे) ७६३
१०४- लौकिक प्रेम और अलौकिक प्रेम (वैद्य पं० श्रीज्ञानेन्द्रकुमारजी पाण्डेय, एम्०ए०, विद्यावाचस्पति, साहित्यरत्न) ८१६
१०५- 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में विश्व-प्रेमका दर्शन (डॉ० श्रीअशोककुमारजी पण्ड्या) ६००
१०६- वियोग (आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी)..... ७३९
१०७- वेदादि वाङ्मयमें भगवत्प्रेम-साधना (पं० श्रीदत्तपादाचार्यजी भिषगाचार्य) ५४६
१०८- वेदोंमें वाग्देवी और श्रद्धादेवी (पद्मश्री डॉ० श्रीकपिलदेवजी द्विवेदी) ६९१
१०९- व्रजगोपियोंकी योगधारणा (श्रीप्रेमनारायणजी त्रिपाठी 'प्रेम') ५५८
११०- व्रजलीला-विमर्श (पं० श्रीउमाशंकरजी दीक्षित, विद्यावारिधि, पी-एच्०डी०) ७४९
१११- व्रतोत्सव-पर्व—
  [१] चैत्रमासके व्रत-पर्व ६३१
  [२] वैशाखमासके व्रत-पर्व........................... ६३२
  [३] ज्येष्ठमासके व्रत-पर्व ६७४
  [४] आषाढ़मासके व्रत-पर्व.......................... ७२६
  [५] श्रावणमासके व्रत-पर्व ७७५
  [६] भाद्रपदमासके व्रत-पर्व ८२३
  [७] आश्विनमासके व्रत-पर्व........................ ८७०
  [८] कार्तिकमासके व्रत-पर्व.......................... ८७१
  [९] मार्गशीर्षमासके व्रत-पर्व ९१२
  [१०] पौषमासके व्रत-पर्व ९६५
  [११] माघमासके व्रत-पर्व.............................. ९६६
  [१२] फाल्गुनमासके व्रत-पर्व......................... १००३
  [१३] चैत्रमासके व्रत-पर्व १००४
११२- शहद खाइये, स्वस्थ-दीर्घ जीवन पाइये (श्रीहरनारायणजी 'महाराज') ६२३
११३- शाश्वत आनन्द (स्वामी श्रीब्रह्मवेदान्ताचार्यजी महाराज) ७८६
११४- शिक्षित ही नहीं, सुसंस्कृत भी हों (श्रीकाशीगोपालजी श्रीवास्तव)........................ ९९१
११५- श्रीमद्भागवतमें प्रेम-साधनाका निरूपण (डॉ० श्रीअजीतजी कुलकर्णी, एम्०ए०, पी-एच्०डी०) ५२३

विषय पृष्ठ-संख्या

११६- संत-उद्‌बोधन (श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज) ८०५, ९०१
११७- संत कबीरकी प्रेम-साधना (डॉ० श्रीबाबूलालजी वत्स, एम्०ए०,पी-एच्०डी०) ७१३
११८- संत कबीरकी प्रेम-साधना (श्रीनरेन्द्रदेवजी उबाना) ८१०
११९- संत कवियोंकी लोक-कल्याणकारी भावनाएँ (डॉ० श्रीअवधेशजी शर्मा, एम्०एस्-सी०,पी-एच्०डी०) ८०६
१२०- संतवाणी (श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज) ६१३
१२१- संत-साहित्यमें मधुरभाव (पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र) .. ७६०
१२२- संसार-बन्धन (स्वामी श्रीचिदानन्दजी महाराज) ८००
१२३- सगुणोपासना—भगवत्प्राप्तिका साधन (श्रीमती मंजुरानी गुटगुटिया) ७६८
१२४- सत्यका महत्त्व (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ६८८
१२५-'सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम पद पंकज नेहा' (पं० श्रीविष्णुदत्त रामचन्द्रजी दुबे) ६२०
१२६- सबसे छोटा (श्रीसुरेन्द्रकुमारजी तरुण) ९९२
१२७- साइटिका-रोगसे मुक्ति (श्रीएस० नारायणजी वैद्य) ७२१
१२८- साधक-प्राण-संजीवनी (गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज).....६०७, ६५७, ७०३, ७५५, ७९७, ८५०, ८९७, ९४६, ९९३
१२९- साधकोंके प्रति—(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ६०२, ६५३, ७००, ७४७, ७९२, ८४४, ९३८, ९८८
१३०- साधनकी चरम सीमा (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) ८९१
१३१- साधनाके विघ्न—भय और प्रलोभन (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ५९६, ६४६

विषय पृष्ठ-संख्या

१३२- साधनोपयोगी पत्र.....६२७, ६७२, ७२२, ७७२, ८२०, ८६७, ९०९, ९६३, १००५
१३३- सामाजिक मर्यादा— श्रीरामचरितमानसका सुन्दरकाण्ड (डॉ० श्रीघनश्यामजी व्यास, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, साहित्यरत्न) ९५८
१३४- सुख-दुःख केवल दृष्टिकोण (श्रीकैलाशजी अग्रवाल 'बेगाना') ८६६
१३५- सुरक्षा-रहस्य (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')...८०४
१३६- 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई' (डॉ० श्रीसुरेशनन्दन-प्रसादसिंहजी 'नीलकण्ठ') ८९४
१३७-स्वार्थरहित व्यवहार (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ७८४
१३८- हनुमदुपासनाकी व्यापकता (श्रीजोखूप्रसादजी तिवारी) ... ७५४
१३९- हम और हमारा भगवद्भाव (श्रीबालकरामजी सोनी) ९९७
१४०- हमारा मोह (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ७४३
१४१- 'हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी' (डॉ० श्रीसत्य-पालजी गोयल, एम्०ए०,पी-एच्०डी० आयुर्वेदरत्न) ६६३
१४२- 'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना' (श्रीहरिहरजी उपाध्याय) ... ९५५
१४३- 'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना' (श्रीरामपदारथसिंहजी) ५७१
१४४- हिन्दी-साहित्यमें संत कवियोंकी प्रेम-साधना (ठाकुर श्रीनवलसिंहजी सिसौदिया) ५२५
१४५- हृदयोद्गार १००८

* * *

पद्य-सूची

१-'कर लीजै निज दासा' (स्वामी श्रीरसिकमाधुरीशरणजी महाराज) ७६२
२-'तेरी याद प्रभो! प्रतिपल हो' (स्वामी श्रीनर्मदानन्दजी सरस्वती 'हरिदास') ९८५
३-'भजो रे मन, मदन गोपाल हरी' (श्रीविजयजी प्रजापति 'उदास') ८९०
४-'मैं खोजत-खोजत हारी रे' (श्रीविजयजी प्रजापति 'उदास') ७१२
५-'मोपे रीझ गये मनमीत, सखि तू का जाने' (श्रीबेताबजी केवलारवी) ५५२
६-'मोहन महबूब हमारी री' [प्रे०—श्रीअलबेली माधुरीशरणजी महाराज]...... ६९०
७-'सीख भजनकी रीति' (श्रीरामशंकरजी ठाकुर) ६३०

* * *

संकलित पद्य-सूची

१-'आँगन खेलत आनँदकंद' ६८५
२- भाइयोंसहित श्रीरामकी भाँवरी ९२५
३-ममता त्यागकर रामको भजो ८४३
४-माखन-रोटीकी माँग ७८१
५-रसराज श्रीराधा-माधव ४९३
६- श्रीरामकथाके संदर्भमें शिव-पार्वती-संवाद ५४१
७- लीलाधरकी लीला ७३३
८- वरदायिनी श्रीलक्ष्मीमाता ८७७
९- सती अनसूयाकी संकल्प-सिद्धि ९७३
१०- 'हरि बिनु कोऊ काम न आयौ' ८३७
११- 'हरि मुख निरखत नैन भुलाने' ८६५

* * *

संकलित सामग्री

१-'त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य' ५८९
२- देवताओंद्वारा भगवती दुर्गाका स्तवन ८२९
३-भगवान् साम्बसदाशिवकी मार्कण्डेयपर कृपा ६३७
४-'(श्री) रामप्रेमाष्टकम्' ४९५

* * *

Entered in Database

Signature with Date 14/6/08